UNIVERSAL
LIBRARY
OU_182891
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81 T9IS P. G. Accession No. H2767

Author तुलसीदास

Title श्रीरामचरितमानस भाग - 1

This book should be returned on or before the date last marked below.

विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त-समेत

श्रीगोस्वामीतुलसीदासकृत

श्रीरामचरितमानस

'सिद्धान्त-भाष्य'

[बालकाण्ड]

भाष्यकार

श्री श्रीरामनारायणशरण

समस्त तुलसी साहित्य के विशद व्याख्याकार

श्रीसद्गुरु कुटी, गोलाघाट, श्रीअयोध्याजी

सम्पादक

आचार्य श्रीरामलोचनशरण

मैथिली श्रीरामचरितमानस के रचयिता

पुस्तक-भंडार, पटना-४

प्रकाशक
पुस्तक-भंडार,
पटना—४



सर्वस्वत्व प्रकाशकाधीन

मुद्रक
श्री हिमालय प्रेस,
पटना—१

श्रीसीतारामाभ्यां नमः ।

भगवते श्रीरामानन्दाय नमः ।

श्रीमते गोस्वामितुलसीदासाय नमः ।

ॐ नमो गुरुभ्यः ।

उपोद्घात

प्रातःस्मरणीय परम-पूज्य जगद्गुरु श्रीमद्गोस्वामि-तुलसीदासजी की भक्ति-रसमयी और जगन्मनोहारिणी वाणी के द्वारा निष्पन्न सर्वमान्य द्वादश ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, यथा—"राम-लला नहछू, त्यों विराग संदीपनिहुँ, बरवै बनाइ बिरमाई मति साँई की। पारबती, जानकी के मंगल ललित गाय, रम्य राम-आज्ञा रची कामधेनु नाईं की॥ दोहा औ कवित्त, गीतबंध कृष्णकथा कही, रामायन बिनै माहिं बात सब ठाईं की। जग में सोहानी जगदीसहू के मनमानी, संत सुखदानी बानी तुलसी गोसाईं की॥" यह मिरजापुर-निवासी पं० रामगुलाम द्विवेदीजी ने लिखा है। इनमें श्रीरामचरितमानस, गीतावली, कवितावली, विनय-पत्रिका, दोहावली और रामाज्ञा—ये छः बड़े-बड़े ग्रन्थ हैं और रामलला नहछू, वैराग्यसंदीपिनी, जानकी-मङ्गल, पार्वती-मङ्गल, बरवै रामायण और कृष्णगीतावली—ये छः छोटे-छोटे हैं। श्रीहनुमानबाहुक कवितावली का ही अंश है।

श्रीगोस्वामीजी के इन ग्रन्थों में श्रीरामचरितमानस एक परम रहस्यमय ग्रन्थ है। यह निबन्ध पूर्वक लिखा गया है। इसमें समस्त सद्ग्रन्थों का सार तत्त्व अत्यन्त संक्षेप में कहा गया है, जैसा कि—"नाना पुराणनिगमागमसम्मतं यत्···" ग्रन्थकार की इस प्रारम्भिक प्रतिज्ञा से ही स्पष्ट है। यह इतना सरल है कि हिन्दी की साधारण वर्णमाला जाननेवाले भी इसे पढ़कर लाभ उठा सकते हैं, पर इसका आशय इतना गूढ़ और गम्भीर है कि बड़े-बड़े विद्वानों को आजीवन प्रयास करने पर भी सम्यक् रूप से उसका ज्ञान होना अति दुर्लभ है। अभ्यास करने से प्रति दिन नये-नये भाव प्रकट होते रहते हैं। यह केवल नर-काव्य नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट कहा भी गया है—"भनिति मोरि सिवकृपा बिभाती।" (बा० दो० १४), "तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे।" (बा० दो० ३०) एवं "गुरु-पद-रज···तेहि करि बिमल बिवेक बिलोचन। बरनउँ रामचरित भवमोचन॥" (बा० दो० १) इत्यादि इन सबकी सहायता से श्रीगोस्वामीजी की काव्य प्रतिभा के द्वारा इसका निर्माण हुआ है, अतएव इसकी महिमा अपरिमित है। इसीसे संसार-भर—कङ्गाल की झोपड़ियों से लेकर राजा के महलों तक—में इसका आदर है।

जिस तरह श्रीगोस्वामीजी ने श्रीरामनामाराधन से श्रीरामजी का साक्षात्कार किया, उसी तरह और उसी साधन से आपने 'श्रीरामचरितमानस' को भी प्राप्त किया है, यथा—"राम नाम को प्रभाउ, पाउ महिमा प्रताप, तुलसी से जग मनियत महामुनी सो।" (क० उ० ७२), तथा—"जानहिं सिय रघुनाथ भरत को सील-सनेह महा है। कै तुलसी जाको राम नाम सों प्रेम नेम निबहा है॥" (गी० अ० ६४), श्रीगोस्वामीजी की श्रीराम-नाम-निष्ठा साकेत-सभा में भी सराही गई है, यथा—"कलिकालहुँ नाथ नाम सों प्रतीति-प्रीति एक किंकर को निबही है। सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है।···बिहँसि राम कह्यो सत्य है···" (वि० २७९)। इस ग्रन्थ के द्वारा आपने सारे जगत् को अपना लिया है। इस ग्रन्थ के कहने पर कोई भी वस्तु ऐसी नहीं रह गई जिसके कहने की आवश्यकता हो। यह प्रधानतया अध्यात्म-विद्या का ग्रन्थ है, साथ ही इसमें प्रकृति-चित्रण एवं लोकरीतियों के भी पूर्ण रूप से प्रदर्शन कराये गये हैं।

प्राचीन टीकाकार करुणासिन्धु श्रीरामचरणदासजी, श्रीशिवलाल पाठकजी, श्रीजानकीदासजी, श्रीसन्तसिंहजी पंजाबी, श्रीहरिहर प्रसादजी, श्रीवैजनाथजी, श्रीराम बकस पाँडेजी, श्रीवंदन पाठकजी, श्रीहरिदासजी और श्रीविनायकरावजी आदि ने टीकाएँ लिखकर और रामायणी श्रीरामबालकदासजी ने टिप्पणियाँ लिखकर एवं परमहंस श्रीअवध विहारी दासजी ने जहाँ-तहाँ के गूढ़ प्रसंगों की विवेचनात्मक-व्याख्या लिखकर तथा पं० विजयानन्द त्रिपाठी ने ज्ञानदीपक स्पष्टीकरण एवं कुछ मानस-प्रसंग व्याख्या द्वारा तथा और भी बहुत-से महानुभावों ने इस ग्रन्थ पर अपने-अपने विशद भाव व्यक्त किये हैं। पं० रामकुमारजी ने माधुर्य के जितने विशद भाव प्रकट किये हैं, उतने और किसीके नहीं पाये जाते।

ऐसे टीकाकारों एवं रामायणी व्यासों के भाव उनकी कथाओं से लिख-लिखकर महान् परिश्रम से महात्मा श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजी ने मानसपीयूष का निर्माण किया। पहले मैंने इस श्रीरामचरितमानस पर 'सिद्धान्त-तिलक' संज्ञक तिलक लिखा था। उसके समक्ष अपने मानस पीयूष की विक्री में शिथिलता का अनुमान कर उसके सम्पादक श्रीअञ्जनीनन्दनशरण ने फैजाबाद में मुकदमा कर दिया था। उन्हें यहाँ कई कारणों से कुछ खर्च नहीं था, इधर पुस्तक-भंडार को दरभंगे से जा-जाकर पैरवी करनी बड़ी कठिन थी। तब भी उन्होंने दो-ढाई वर्ष जैसे-तैसे चलाया। अन्त में कई दुर्घटनाओं से ऊबकर उन्होंने वहाँ सुलह कर ली। उसकी अनुचित शर्तों से मुझसे और उनसे मतभेद हो गया।

यद्यपि फिर भी उन्होंने फौजदारी कोर्ट में उस लाचारी से की हुई शर्तों के विरुद्ध दरभंगे में दीवानी से कुछ कोशिश की भी, तथापि आगे चलकर उसमें भी असफल ही रहे।

इन कारणों से मैंने श्रीगोस्वामी जी के शेष ग्रन्थों के सिद्धान्त-तिलक उन्हें न देकर उनका स्वयं प्रकाशन कराया है।

इधर मेरे जब श्री गोस्वामीजी के द्वादशो ग्रन्थों पर तिलक हो गये तब मुख्य ग्रन्थ श्रीरामचरित-मानस पर ग्रहण लगा हुआ देख मुझे चिन्ता थी ही। मैं भी दूसरे तिलक की सामग्री एकत्र कर रहा था। पूर्व 'सिद्धान्त-तिलक' की मूल कापियों में भी बहुत विषय विस्तार-भय से रह गये थे, उन्हें इस भाष्य में उपयुक्त जान देना भी निश्चित किया था। और, इस विचार में था कि किस प्रकार इसका प्रकाशन हो। इसी समय दैवयोग से पुस्तक-भंडार ने भी करवट बदली और मुझसे दूसरे तिलक के प्रणयन का साग्रह अनुरोध किया।

मुझे भी इतने विशाल ग्रन्थ के प्रकाशन का दूसरा मार्ग नहीं दीखता था। इससे मैंने भी इस विधि-विहित-संयोग को शिरोधार्य किया और पूर्वार्जित सामग्री के साथ पटने आया और प्रकाशन में लग गया। लगभग दो वर्षों के दिन-रात अथक परिश्रम से श्रीरामकृपा से कार्य सम्पन्न हो पाया है।

सिद्धान्त-भाष्य

अभी तक श्रीगोस्वामी जी के द्वादशो काव्यों पर जो मेरे तिलक प्रकाशित हुए हैं। वे 'सिद्धान्त-तिलक' संज्ञक ही हुए हैं। श्रीरामचरितमानस पर दार्शनिक दृष्टि का वह पहला तिलक हुआ था, वह भाष्य रूप में ही हुआ था। गीता पर दार्शनिक दृष्टि से एक सिद्धान्त के अनुसार व्याख्या करने से रामानुज भाष्य तथा शांकर भाष्य आदि प्रसिद्ध हैं; वैसे श्रीरामचरितमानस पर विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की दृष्टि से व्याख्या होने से वह भी भाष्य ही था। उसके उपोद्घात में दार्शनिक विवेचन और तदनुसार सारे ग्रन्थ के दार्शनिक प्रसंगों पर दृष्टि डालने पर भाष्य के सभी अंग उत्तम रीति से उसमें भी आये थे। अतः, इस बार इस ग्रन्थ को इस दूसरी व्याख्या का 'सिद्धान्त-भाष्य' ही नाम रक्खा गया है।

यद्यपि पूर्व के तिलककार करुणासिन्धु श्रीरामचरणदासजी एवं मयङ्ककार श्रीशिवलाल पाठकजी आदि दार्शनिक विद्वान् थे, तथापि उस समय भाषा के ग्रन्थ पर दार्शनिक विवेचन की प्रथा नहीं थी। दिनोंदिन इस ओर लोगों की प्रवृत्ति बढ़ती गई। तब कुछ केवलाद्वैत सिद्धान्त के विद्वानों ने श्रीरामचरित मानस पर केवलाद्वैत सिद्धान्त लिखना प्रारम्भ किया। श्रीगोस्वामीजी श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णव हैं, यह प्रायः सभी जीवनी-लेखकों ने माना है। फिर इनके ग्रन्थों पर इस सम्प्रदाय के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की दृष्टि से साङ्गोपाङ्ग भाष्य होना ही चाहिये। इस विचार से मैंने पहले इसपर 'मानस-सिद्धान्त-विवरण' संज्ञक ग्रन्थ लिखा है, उसमें दार्शनिक विवेचन मात्र है।

वह जनता में निर्विरोध समादृत हुआ। तब सम्पूर्ण श्रीरामचरितमानस पर भी दार्शनिक-विवेचन के साथ 'सिद्धान्त-तिलक' छपा। वह भी विद्वानों में समादृत हुआ। इस बार तो दार्शनिक प्रसंगों को विशेष प्रमाणों से पुष्ट करते हुए 'सिद्धान्त-भाष्य' लिखने की चेष्टा की है। इस भाष्य में अपने सिद्धान्त की दृष्टि में व्याख्या की गई है। दूसरे सिद्धान्तों पर आक्षेप नहीं किया गया है। विशेषकर उपोद्घात में उपपत्ति आदि से अपने सिद्धान्त की दृढ़ता मात्र की गई है।

इस भाष्य का मुख्य उद्देश्य श्रीरामचरितमानस में निहित विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त दिखाने का है, जो श्रीगोस्वामीजी का हार्दिक अभिप्राय और उनकी गुरु-परम्परा से संरक्षित सम्पत्ति है। साथ-साथ अक्षरार्थ और भावार्थ भी दिये गये हैं कि जिससे भावों के साथ-साथ सिद्धान्त-सम्बन्धी बातें भी सबके सम्मुख आ जायँ। इस भाष्य के ऐश्वर्य-प्रसंग—जैसे नाम-वन्दना, पाँच गीताएँ [श्री लक्ष्मण गीता, रामगीता, भगवद्गीता (धर्मरथप्रसंग), पुरजनगीता, और भुशुण्डि-गीता] एवं अन्यत्र के ज्ञान, विराग, भक्ति और प्रपत्ति-प्रसंग आदि—प्रायः आज तक की अन्य टीकाओं से निराले हैं और अपने सिद्धान्त की दृष्टि से श्रुति-स्मृति के प्रमाणों के साथ लिखे गये हैं। शेष माधुर्य के भावों में से अधिकांश उपर्युक्त टीकाओं और श्रीअयोध्याजी के विद्वान् महात्माओं और रामायणी लोगों के हैं जो उनकी कथाओं एवं टिप्पणियों से प्राप्त हुए हैं। क्योंकि, इनके बिना सर्व-साधारण को सुलभता नहीं होती। एतदर्थ मैं उक्त महानुभावों का कृतज्ञ हूँ। विस्तार-भय से माधुर्य के भाव बहुत ही सूक्ष्मता से लिखे गये हैं। प्रासङ्गिक चरित भी टीका के साथ ही सूक्ष्म रूप में दे दिये गये हैं।

शङ्का-समाधान प्रायः एक ही प्रधान अर्थ से किये गये हैं। प्रमाण भी सर्वमान्य ग्रन्थों के ही लिये गये हैं। आवश्यकता के अनुसार कठिन श्लोकों के अर्थ भी स्पष्ट कर दिये गये हैं।

पाठ-संशोधन

पाठ के विषय में प्राचीन प्रतियों में भी बहुत भेद हैं। इसपर विचार करने के लिये श्रीअयोध्याजी के प्रसिद्ध रामायणी श्रीरामबालकदासजी के यहाँ बड़ी छावनी में एक दिन बैठक हुई। वहाँ श्रीअयोध्याजी के और-और रामायणी लोग एवं पं० श्रीअखिलेश्वरदासजी भी उपस्थित थे। उसपर फिर दूसरे दिन पंडितजी के स्थान में पं० श्रीरामपदार्थदासजी वेदान्ती के यहाँ भी उन्हीं लोगों के समक्ष विचार हुआ। यही निश्चय किया गया कि प्राचीन प्रतियों में जहाँ शब्दों का भेद है, वहाँ जिससे अर्थसौष्ठव हो वही रक्खा जाय। कवर्गी 'ख' की जगह जहाँ मूर्धन्य 'ष' है वहाँ 'ख' ही रक्खा जाय। 'रामु, लखनु, एकु, सबु' आदि के व्यर्थ उकार न रक्खे जायँ, क्योंकि किसी प्राचीन प्रतियों में भी इनका सर्वत्र निर्वाह नहीं पाया जाता। प्रायः आधे से अधिक स्थलों में इनका प्रयोग नहीं है। यदि यह कहा जाय कि बैसवाड़ी अवधी भाषा में ऐसे उकारान्त शब्दों का प्रयोग होता है, तो समाधान यह है कि वहाँ 'चोर' को 'चवार'; 'इनका' को 'इनकेर' न कहकर 'इनक्यार' कहते हैं। अर्थात् 'ओ' का 'वा' और 'ए का 'या' प्रयोग होता है। एवं, नहाने को 'हनाना' कहते हैं। ऐसे और भी बहुत-से शब्द हैं, जो मानस में नहीं पाये जाते, तो उकार-मात्र ही का इतना प्रयोग क्यों रहे!

पुनः गुरु शब्द का 'गुर' और प्रेम का 'पेम' एवं 'पेमु' पाठ भी कहीं-कहीं है। ऐसे प्रयोग अयोध्याकाण्ड में विशेष रूप से हैं, शेष छः काण्डों में कहीं-कहीं ही पाये जाते हैं। अतः, इनका भी शुद्ध प्रयोग ही लिया गया है। पुनः रायं, सुभायं, कौसिलां, हृदयं आदि के व्यर्थ विन्दु भी नहीं रहने चाहिये, क्योंकि इनका भी निर्वाह किसी प्राचीन प्रति में नहीं देखा जाता। 'य' पद के आदि में रहने पर 'ज' और अन्यत्र 'य' ही रहता है। 'व' भी आदि में रहने पर 'ब' और अन्यत्र 'व' ही रहता है। उक्त श्रीरामबालकदासजी रामायणी की संशोधित प्रति में उपर्युक्त रीति से ही पाठ रक्खा गया है।

ऐसे ही पूर्व के बालकाण्ड और अयोध्याकाण्ड में 'दोउ' शब्द मिलते हैं, आगे कहीं 'दोउ' और कहीं 'द्वौ' मिलते हैं। अतः, एक नियम रखते हुए मैंने सर्वत्र 'दोउ' ही रक्खा है, इत्यादि।

प्रथम पाठ संशोधन में आधे 'श' के स्थान पर 'स', और मूर्धन्य 'ष' के साथ 'ण' पर 'ण' ही रक्खे गये थे, पर वह नियम इस भाष्य में नहीं रक्खा गया। अतः, 'प्रश्न' और 'विष्णु' आदि पदों के 'प्रस्न' और 'विष्नु' ही रक्खे गये हैं। जैसा कि प्राचीन प्रतियों में मिलता है।

यद्यपि पाठ संशोधन के लिये गीताप्रेस की ओर से कुछ विशेष आयोजन किया गया है—उसमें मैं भी हूँ—तथापि वहाँ अभी कोई निर्णय नहीं हो पाया है।

प्रूफ संशोधन का सारा भार पुस्तक-भंडार के प्रूफ-संशोधक 'पं० श्रीशिवशङ्कर झा, शास्त्री' पर था। उन्होंने धार्मिक कृत्य मानकर बड़ी तत्परता से कार्य-सम्पादन किया है। फिर भी दृष्टि दोष एवं अनवधानता से त्रुटियाँ रह गई होंगी तथा मुझसे भी बहुत-सी त्रुटियाँ रह गई होंगी। इनके प्रति सुहृदय पाठक क्षमा ही करेंगे, यह पूर्ण आशा है।

श्रीरामनवमी
वि० सं० २०१६

—भाष्यकार

श्रीगोस्वामीजी के दार्शनिक विचार

श्रीगोस्वामीजी श्रीरामानन्दीय वैष्णव थे, यह सर्वसम्मति से निश्चित है। भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी भगवान् बोधायन (श्रीपुरुषोत्तमाचार्य्यजी) की शिष्य-परम्परा में हैं। अतः, बोधायन-वृत्ति में प्रतिपादित सिद्धान्त उनका दार्शनिक सिद्धान्त है। उसी बोधायन-वृत्ति का अनुसरण कर भगवान् श्रीरामानुजाचार्य ने भी विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त-परक 'श्रीभाष्य' लिखा है। भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी ने अपने आनन्द-भाष्य में बोधायन-वृत्ति के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—"एवञ्चाखिलश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणसामञ्जस्यादुपपत्तिबलाच्च विशिष्टाद्वैतमेवास्य ब्रह्ममीमांसाशास्त्रस्य विषयो न तु केवलाद्वैतम्।" (ब्र० सू० आनन्दभाष्य १।१।१), अर्थात् इस तरह सम्पूर्ण श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण की संगति से तथा उपपत्ति (युक्ति) के बल से विशिष्टाद्वैत ही इस ब्रह्ममीमांसा शास्त्र का विषय है, केवलाद्वैत नहीं। वही सिद्धान्त श्रीगोस्वामीजी का भी है। श्रीरामचरितमानस और विनय-पत्रिका एवं इनके सभी ग्रन्थों से यह बात स्पष्ट है।

पहले सूक्ष्म रीति से विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का परिचय करा देना आवश्यक है, फिर वही श्रीगोस्वामीजी के ग्रन्थों में दिखाया जायगा।

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का परिचय

चित्, अचित् और ब्रह्म—ये तीन तत्त्व हैं। चित् का अर्थ जीव, चेतन एवं आत्मा है। अचित् का अर्थ जड़, प्रकृति, माया और प्रधान है। ब्रह्म ईश्वर, परमात्मा, परब्रह्म, परमेश्वर, परतत्त्व, नर, आत्मा, भगवान् एवं श्रीराम आदि शब्दों से कहा गया है।

चित् और अचित् व्याप्य हैं और ब्रह्म व्यापक है। व्याप्य पदार्थ व्यापक में रहता है। जैसे घड़े में आम है, इसमें आम व्याप्य और घड़ा व्यापक है। उसी प्रकार पृथ्वी पर रहनेवाले पदार्थ व्याप्य हैं और पृथ्वी व्यापिका है। ऐसे ही ब्रह्म में चित् और अचित् स्थित हैं, यथा—"मत्स्थानि सर्वभूतानि" (गीता ९।४), "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।" (ईशा० १), अर्थात् चित् और अचित् का सम्यक् आधार ब्रह्म है।

जो पदार्थ जिसमें रहता है उसका उससे कुछ सम्बन्ध अवश्य रहता है। वैसे चित्-अचित् का ब्रह्म से अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध है। इनका सम्बन्ध कभी टूट नहीं सकता। ये तीनों तत्त्व यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं, तथापि एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते, यथा—"चिदचिद्वस्तुनोः शरीरतयाऽपृथक्सिद्धत्वेन, प्रकारत्वम्, तद्विशिष्टस्य ब्रह्मणश्च शरीरित्वेन प्रकारित्वं शाश्वतिकमेव" (ब्र० सू०—आनन्दभाष्य १।१।१), अर्थात् जीव और प्रकृति शरीर रूप से पृथक् सिद्ध सम्बन्ध के द्वारा विशेषण और इनसे विशिष्ट शरीरी होने से विशेष्य है। इनका यह सम्बन्ध नित्य है।

अचित् की दो अवस्थाएँ होती हैं—सूक्ष्म और स्थूल। सृष्टि बनने के पहले 'सूक्ष्म अचित्' रहती है। उस समय इसे 'नामरूप विभागानर्ह' कहते हैं। जब सृष्टि बन जाती है तब यह 'स्थूल अचित्' कही जाती है और 'नामरूप विभागार्ह' कहाती है। अर्थात् सूक्ष्मावस्था में इसमें घट-पट आदि नामों और नील-पीत आदि रूपों (आकृतियों) के विभाग नहीं होते और स्थूलावस्था में उन नामों और रूपों के विभाग होते हैं।

चित् (जीव) अणुपरिमाणवाला है। वस्तुतः इसमें न तो सूक्ष्मावस्था होती है और न स्थूलावस्था ही, परन्तु जब यह स्थूलावस्थ अचित् के साथ सम्बद्ध होता है, तब इसे भी स्थूल मान लिया

जाता है, यथा—"यो यच्छ्रद्धः स एव सः।" (गीता १७।३), ऐसे ही यह चित्-तत्त्व सूक्ष्म अचित् में सम्बद्ध रहने से सूक्ष्म कहा जाता है। अतः, चित् भी दो प्रकार का है—सूक्ष्म चित् और स्थूल चित्।

सूक्ष्म और स्थूल दोनों अवस्थाओं में चित् और अचित् दोनों ब्रह्म में ही रहते हैं। ये दोनों ब्रह्म के विशेषण हैं। अतः, इनसे विशिष्ट ब्रह्म भी इनकी उभयावस्थाओं के सम्बन्ध से दो प्रकार का कहा जाता है। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टब्रह्म और स्थूलचिदचिद्विशिष्टब्रह्म। यद्यपि ब्रह्म अभेद है तथापि दो भिन्न विशेषणों के कारण वह दो प्रकार का कहा जाता है। इस तरह ब्रह्म दो प्रकारों का हुआ और दोनों ही प्रकारों में वह विशिष्ट है।

इसपर यह शंका हो सकती है कि ब्रह्म तो सर्वत्र एक ही कहा गया है, इस सिद्धान्त में दो क्यों हुए? इस शंका के समाधान के लिये 'विशिष्ट' शब्द के साथ 'अद्वैत' शब्द की भी योजना हुई और इस तरह इस सिद्धान्त का नाम विशिष्टाद्वैत' कहा गया। इसकी परिभाषा इस प्रकार है "विशिष्टं च विशिष्टं च विशिष्टे ब्रह्मणी। विशिष्टयोः=ब्रह्मणोः, अद्वैतं=अभेदः, विशिष्टाद्वैतम्।" अर्थात् 'विशिष्टं च विशिष्टं च' इसमें विशिष्ट पद दो बार आया है। पहला 'सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट' कारण-परक है, और दूसरा 'स्थूल चिदचिद्विशिष्ट' कार्यपरक है। इन दोनों का अद्वैत (अभेद) है। दोनों अवस्थाओं में ब्रह्म के विशेषणों में विकार होते हुए भी उसके स्वरूप में विकार नहीं प्राप्त होता, वह सदा एकरस ही रहता है। यही विशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ है।

परिणामवाद

उपर्युक्त वर्णन से निश्चित हुआ कि प्रलय काल में ब्रह्म सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट था, वही सृष्टि-काल में स्थूलचिदचिद्विशिष्ट हो गया। इसीसे प्रपञ्च ब्रह्म का परिणाम कहा जाता है, यही परिणामवाद है।

श्रुतियाँ भी इसीका प्रतिपादन करती हैं, छान्दोग्योपनिषत् में कहा गया है कि महर्षि उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु व्रत-नियमपूर्वक विद्या पढ़ने पर जब पंडित होकर अहंकार से भरा हुआ आया, तब उसका अहंकार दूर करने के लिये महर्षि उद्दालक ने उससे प्रश्न किया—"हे पुत्र! क्या तुम वह विद्या भी जानते हो कि जिस एक के ही जानने से अन्य सबका ज्ञान हो जाता है?" तब श्वेतकेतु ने इस प्रश्न के उत्तर के लिये पिता से ही प्रार्थना की। तब महर्षि उद्दालक ने कहा—"यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वंमृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारोनामध्येय मृत्तिकेत्येव सत्यम्॥" (६।१।४), अर्थात्—हे सौम्य! एक मृत्पिण्ड के जानने से सब मृत्तिकामय (मिट्टी के बने हुए पात्रों) का ज्ञान हो जाता है। वाणी का प्रारम्भ करने के लिये उसके विकारों के नाम रख लिये गये हैं, मिट्टी ही सत्य (पदार्थ) है। भाव यह है कि जैसे मिट्टी के पिंड (लोंदे) के ज्ञान से सब मृन्मय (घड़ा-शरवा या परई आदि) पात्रों का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही उस एक कारण-सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के ज्ञान से कार्य-रूप सर्व जगत्—स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। मिट्टी के स्वरूप को विशेष स्पष्ट करती हुई श्रुति 'वाचारम्भणं विकारो नामध्येयं' कहकर समझाती है कि वह मिट्टी वाणी के आरम्भ करने के लिये (व्यवहार के उपयोगी होने के लिये) विकार (आकार)-विशेष और नाम-विशेष को धारण करती है, अर्थात मिट्टी घट आदि आकारों के पिण्ड धारण करती है तब उसको 'घट' नाम दिया जाता है और तभी "घट से जल लाओ" ऐसी वाणी का आरम्भ एवं उससे जल लाने का व्यवहार होता है। पिण्डाकृति में से मृन्मय (घटाकृति होना) रूप गुणवाली मिट्टी ही सत्य है। मिट्टी जैसे स्वयं सत्य है वैसे उसमें उसका गुण भी सत्य है, अर्थात् वह पिण्डाकृति में से घटाकृति होने के गुण से युक्त है। वह गुण उसमें नित्य है, जो कभी उससे अलग नहीं हो सकता। मिट्टी के पिण्ड को ऐसे गुण-विशेषवाला समझने से ही केवल उस मिट्टी के पिण्ड के ज्ञान से सर्व मृन्मय पदार्थों का ज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसी तरह ब्रह्म की सूक्ष्मावस्था में भी जगत् के

उत्पादक गुण उसमें वर्त्तमान थे। वे ही परिणाम में स्थूलावस्थापन्न हुए। तभी सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के ज्ञान से सम्पूर्ण जगत् के ज्ञान की प्रतिज्ञा सार्थक होती है।

इस दृष्टान्त के द्वारा महर्षि उद्दालक आगे सिद्धान्त की बात समझाते हैं, यथा—"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।" (६।२।१), अर्थात् हे सौम्य! आगे यह चेतनाचेतनात्मक जगत् सत् ही, एक ही एवं अद्वितीय था। 'इदम्-अग्र-आसीत्' अर्थात् यह जो देख पड़ता है, यही जगत् आगे (पहले)—प्रलयकाल में—था। फिर यह बात भी श्रुति ही कहती है कि अभी जैसा देख पड़ता है, वैसा नहीं था, किन्तु 'सदेव' (सत्+एव)—सत् ही अर्थात् एक ही रूप में था। इससे असत् कार्य-वाद का निराकरण हुआ। जब जीवमात्र सुषुप्ति-अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, तब प्राकृत पदार्थ-मात्र उत्तरोत्तर मिलते हुए अन्त में त्रिगुणसाम्य मूलप्रकृतिरूप हो जाते हैं और जीव-वर्ग के साथ वह प्रकृति सत् में पैठ जाती है। इसीका नाम प्रलय है। इसी बात को श्रुति समझाती है कि आगे सत् ही था। वह कैसा था? जैसा मृत्तिका का पिण्ड (जो ऊपर दृष्टान्त-रूप में कहा गया है)। घट-शराव (परई, कसोरा) आदि सूक्ष्म-रूप से मृत्पिण्ड में रहते हैं, इसीसे उसमें से कुलाल के व्यापार द्वारा प्रकट होते हैं। पुनः घट, शराव आदि टूट-फूटकर मृत्तिका हो जाने पर मृत्तिका कहे जाते हैं और फिर उसीसे वैसे ही घट आदि बनते हैं। उसी प्रकार जीव और प्रकृति प्रलय-काल में सूक्ष्म होकर उस सत् में रहते हैं और सत् ही कहे जाते हैं। पुनः सृष्टि-काल में नाम-रूप से प्रकट होते हैं। इसीसे सूक्ष्मावस्थापन्न प्रपंच 'कारण' और स्थूलावस्थापन्न प्रपंच 'कार्य' कहा जाता है।

'एकमेव' अर्थात् एक ही। इसका भाव यह है कि जो पहले प्रलयावस्था में सत् था, वही जगत् है। सत् को जगत् होने के लिये द्रव्यान्तर की अपेक्षा नहीं पड़ी, अर्थात् इस कार्य-रूप जगत् का कारण यही सत् है। अतः, कार्य और कारण—वह एक (अकेला) ही है। इससे स्पष्ट हुआ कि सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट सत् ही जगत् का उपादान कारण है। पुनः उसी सत् को आगे के 'अद्वितीयम्' शब्द से जगत् के निमित्त-कारण और सहकारी-कारण भी सूचित किया गया है।

कारण तीन प्रकार के होते हैं—उपादान कारण, निमित्त-कारण और सहकारी-कारण। जो वस्तु स्वयं कार्य-रूप में परिणत हो, उसे 'उपादान-कारण' कहते हैं। जैसे, मृत्तिका घट का उपादान-कारण है। जो उपादान वस्तु को कार्य-रूप में परिणत करता है, वह 'निमित्त कारण' है। जैसे, उपादान वस्तु मृत्तिका है, उसे घट-रूप में परिणत करनेवाला कुलाल है। अतएव कुलाल घट का निमित्त-कारण है। जो कार्य की उत्पत्ति में उपकरण (साधन)-रूप हो, वह 'सहकारी-कारण' कहा जाता है। जैसे, दण्ड-चक्र, चीवर आदि घटोत्पत्ति में साधन-रूप हैं। अतः, ये घट के सहकारी कारण हैं।

उपर्युक्त श्रुति के अनुसार जगत् के तीनों कारण वह सत् (ब्रह्म) ही है। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म उपादान कारण है। वही 'बहुस्यां प्रजायेय' अर्थात् 'मैं बहुत हो जाऊँ'—'अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ' इस प्रकार संकल्पविशिष्ट होकर निमित्त-कारण होता है और वही ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज—इन छः ऐश्वर्यों से विशिष्ट होकर सहकारी कारण होता है, क्योंकि ये छ ऐश्वर्य ब्रह्म में ही रहते हैं, यथा—"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥" (वि० पु० ६।५।७६)। इनमें ऐश्वर्य और वीर्य से उत्पत्ति, शक्ति और तेज से पालन तथा ज्ञान और बल से संहार-कार्य होते हैं।

उपर्युक्त 'सदेव' इस श्रुति में उपादान-कारणता स्पष्ट कही गई। उसके आगे की श्रुति से निमित्त-कारणता भी स्पष्ट की जाती है, यथा—"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" (छां० ६।२।३) अर्थात् उस (सत्) ने ईक्षण (अनुसन्धान) किया—'मैं बहुत हो जाऊँ—अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ'। इनमें 'तत्—ऐक्षत' में 'तत्' इस सर्वनाम से उपर्युक्त 'सत्' ही कहा गया है। अतः, बहुत होने का अनुसन्धान उस 'सत्' ने ही किया, इस तरह वही निमित्त-कारण है।

इस प्रकार ब्रह्म में 'अभिन्न निमित्तोपादानत्व' स्पष्ट हुआ। इसीको "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च।" (मुं० १।१।७)। इस श्रुति में मकड़ी के दृष्टान्त से भी समझाया गया है कि उर्णनाभि (मकड़ी) जाल को अपने मुँह में से फैलाकर उसमें खेलती है और फिर उसे अपने में ही समेट लेती है। पुनः दूसरी श्रुति भी कहती है, यथा—"सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वा प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः॥" (छां० ६।८।४), अर्थात्—हे सौम्य ! इन सब प्रजाओं (जगत्) का मूल सत् ही है तथा सत् ही इनका आश्रय है और सत् ही प्रतिष्ठा है। इनमें 'सन्मूलाः' कहकर जगत् का उत्पत्ति-कारण कहा गया है और 'सदायतनाः' कहकर सत् में ही जगत् का रहना कहा गया है और 'सत्प्रतिष्ठाः' से उसी सत् में इसकी लय-स्थिति भी कही गई है।

वह सत् ही जगत् का आधार है, जगत् के प्रत्येक पदार्थ के भीतर भी रहता है, वही सबका आत्मा है, यथा—"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा।" (छां० ६।८।७), अर्थात् एतद्रूप ही यह सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है। 'ऐतदात्म्यमिदं' जिन सबकी एतत् (सत्) आत्मा है उसे 'एतदात्म' कहते हैं, उसका भाव 'ऐतदात्म्य' है, अर्थात् सब जगत् का आत्मा सत् (भगवान्) ही है। इस तरह सब जगत् भगवान् का शरीर है, भगवान् इसके शरीरी हैं, यथा—"जगत्सर्वं शरीरं ते।" (वाल्मी० ६।११७।२७)। शरीर से शरीरी की और शरीरी से शरीर की सिद्धि होती है। इसी तरह जैसे प्रलयदशा में यह सब 'सदेव' अर्थात् सत् ही कहा जाता है। वैसे ही सृष्टि-दशा में भी यह सब ब्रह्म ही कहा जाता है, यथा—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म।" (छा० ३।१४।१), अर्थात् यह सारा जगत् निश्चय ब्रह्म ही है। तथा—"तस्माद्रामस्वरूपोऽयं सत्यं सत्यमिदं जगत्।" (श्रीरामस्तवराज-सनत्कुमार संहिता), "सत्याद्भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत्॥" (महा० आश्व० ३५।३४), अर्थात् सत्य से उत्पन्न सब भूत सत्य हैं और भूतमय जगत् सत्य है।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट हुआ कि सृष्टि और प्रलय इन दोनों अवस्थाओं में ब्रह्म चिदचिद्विशिष्ट ही रहता है। वही जगत् का उपादान, निमित्त और सहकारी कारण है। ये सभी बातें "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।" इस श्रुति की व्याख्या में कही गई हैं।

श्रीगोस्वामीजी ने भी उन्हीं बातों को अपने छन्द के एक ही चरण में कहा है, यथा—"जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई संग सहाय न दूजा।" (बा० दो० १८५)—इसका अर्थ उपर्युक्त 'सदेव' श्रुति के मिलान के साथ 'सिद्धान्त भाष्य' के पृ० ५६३-५६४ में देखिये। पुनः 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' की व्यवस्था भी इन वचनों में स्पष्ट कही गई है कि उसके संकल्प के साथ ही जगत् की रचना हो जाती है, यथा—"लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया।" (बा० दो० २२४), "भृकुटि-बिलास सृष्टि लय होई।" (अर० दो० २७), "एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥" (अर० दो० १४), तथा—"उत्पति पालन प्रलय समीहा।" (लं० दो० १४), इत्यादि।

भगवान् के शरीर-रूप में जगत् प्रवाहतः नित्य कहा जाता है, वैसे ही श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है, यथा—"बिस्व रूप रघुबंसमनि।" (लं० दो० १४), "बिधि प्रपंच अस अचल अनादी॥" (अ० दो० २८१), "पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे।" (उ० दो० १२)—'सिद्धान्त भाष्य' का पृ० ४३५ भी देखिये।

श्रीगोस्वामीजी ने बहुत जगह जगत् को मिथ्या भी कहा है, इसका समाधान यह है कि जहाँ मिथ्या कहा गया है वहाँ अविद्यात्मक दृष्टि के प्रकृति में नानात्व भ्रम से तात्पर्य है—देखिये, 'सिद्धान्त भाष्य' पृ० १२-१६ और ४२७-४३५।

केवलाद्वैत निराकरण

यदि कहा जाय कि "रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः। एवं "रजत सीप महँ भास जिमि···" आदि का अर्थ नानात्व भ्रम-परक न करके केवलाद्वैत-सिद्धान्त की दृष्टि से विवर्त्तवाद का क्यों न किया जाय ? तो इसका उत्तर यह है कि श्रीगोस्वामीजी के ग्रन्थों में केवलाद्वत-सिद्धान्त की और-और पारिभाषिक बातें नहीं पाई जातीं, जैसे—

केवलाद्वैत	श्रीगोस्वामीजी
(१) केवलाद्वैत-सिद्धान्त में निर्गुण ब्रह्म निर्विशेष माना गया है।	श्रीगोस्वामीजी ने निर्गुण ब्रह्म को अव्यक्त, षडैश्वर्यपूर्ण एवं प्रभु कहा है—बा० दो० २२ चौ० ६-८ का 'सिद्धान्त भाष्य' देखिये।
(२) अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्म ही जीव है, अन्तःकरण में पड़ा हुआ ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही जीव है। जीव एक है, इत्यादि रीति से जीव की व्यवस्था है।	जीव ईश्वर का अंश है और वह वास्तविक तत्त्व है, उ० दो० ११६ चौ० २ का 'सिद्धान्त भाष्य' देखिये।
(३) भक्ति का फल ज्ञान माना जाता है और फिर उससे मुक्ति का विधान है।	ज्ञान भक्ति का ही अंग है, यथा—"कहहिं भगति भगवंत के, संजुत ज्ञान बिराग॥" (बा० दो० ४४)। इन्होंने भक्ति से मुक्ति की प्राप्ति मानी है, यथा—"राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरियाईं॥" से "असि हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सुहाई॥" (उ० दो० ११८) तक। एवं "श्रुति पुरान सद्ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥" से "बारि मथे घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल। बिनु हरि-भजन न भव तरिय, यह सिद्धात अपेल॥" (उ० दो० १२२) इसमें नौ असम्भव दृष्टान्तों से भक्ति से ही भव-तरण का अपेल सिद्धान्त कहा गया है। अपरोक्ष सरस ज्ञान को पराभक्ति से अभेद कहा गया है—अर० दो० चौ० ७ का 'सिद्धान्त भाष्य' देखिये।
(४) निर्विशेष ब्रह्म के साक्षात्कार से कैवल्य-मुक्ति का विधान है।	सरस ज्ञान से भिन्न कैवल्य परक ज्ञान भी योग-शास्त्र के अनुसार उ० दो० ११६-११७ में लिखा है, वहाँ निर्विशेष ब्रह्म की चर्चा भी नहीं है, उसका 'सिद्धान्त भाष्य' देखिये।
(५) वाक्य-ज्ञान से मुक्ति मानी गई है।	इसका खंडन किया है, यथा—"वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावइ कोई। निसि गृह मध्य दीप की बातन्ह तम निवृत्त नहिं होई॥" (वि० १२३)—इसका 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये।

केवलाद्वैत	श्रीगोस्वामीजी
(६) शुद्ध निर्विशेष कारण ब्रह्म का अवतार लेना नहीं माना जाता, उनके मत में अशुद्ध मायोपहित कार्य-ब्रह्म (ईश्वर) है, वही अवतार लेता है।	शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही अवतार लेना लिखा है, यथा—"सुद्ध सच्चिदानंद मय, कंद-भानु-कुल केतु। चरित करत नर अनुहरत, संसृति सागर सेतु॥" (अ० दो० ८७), इसका 'सिद्धान्त-भाष्य' देखिये। "चिदानंद मय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥" (अ० दो० १२६)।
(७) निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा सगुण को न्यून कहा जाता है। निर्गुण को शुद्ध निर्विशेष और सगुण को अशुद्ध मायोपहित विग्रहवान् माना जाता है।	दोनों को अभेद मानते हैं, इन्होंने न्यूनाधिक कहनेवालों को अधम आदि कहकर बड़ी फटकार बताई है—कैवास-प्रकरण बा० दो० ११३ चौ० ८ से दो० ११५ तक देखिये।
(८) माया का अस्तित्व ही नहीं माना जाता। विवर्तवाद की दृष्टि से जगत्-रचना भ्रम-मात्र कही जाती है।	श्रीरामजी की अधीनता में उसका अस्तित्व मानते हैं, यथा—"यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं····" (बा० म० ६), "सो दासी रघुबीर के···" (उ० दो० ७१), "सोइ राम व्यापक ब्रह्म···मायाधनी।" (बा० दो० ५१)। जगत्-रचना को भी इन्होंने भ्रम से प्रतीत होना नहीं लिखा कि जिससे अद्वैत का विवर्त-वाद समझा जाय, प्रत्युत 'बनाई' कहा है, यथा—"जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई···" (बा० दो० १८५)।
(९) 'जहदजहत् भाग-त्याग-लक्षणा' से मुक्ति का विधान है। इस लक्षणा में ईश्वर का सर्वज्ञता-रूप ईश्वरत्व और जीव का अल्पज्ञता-रूप जीवत्व—दोनों का त्याग होकर केवल शुद्ध चिति में लक्षणा करके तात्पर्य माना जाता है। वह चिति भी ज्ञप्ति मात्र अर्थात् निर्विशेष-ज्ञान-स्वरूप है।	मोक्ष होने पर भी जीवों में जीवत्व एवं उनका सेवक-सेव्य भाव माना है, यथा—"हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥ निज इच्छा प्रभु अवतरइ, सुर महि गो द्विज लागि। सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥" (कि० दो० २६)। "खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं। येहि नाते नरकहु सचु पइहौं या बिनु परमपदहु दुख दहिहौं॥" (वि० २३१), इसका 'सिद्धान्त तिलक' भी देखिये। अर्थात् परम पद (मोक्ष) में भी किङ्कर-भाव से ही रहूँगा। इसके बिना (शुष्क ज्ञान की कैवल्य-मुक्ति) मेरे लिये दुःखद एवं दाहक है, इत्यादि।

उपर्युक्त प्रसङ्गों से स्पष्ट हो गया कि श्रीगोस्वामीजी का अभीष्ट केवलाद्वैत-सिद्धान्त नहीं है, किन्तु समन्वय (विशिष्टाद्वैत) सिद्धान्त है

समन्वय सिद्धान्त में तत्त्वत्रय (चित्-अचित्-ईश्वर) की व्यवस्था है, यथा—"सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे। पृथागात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥" (श्वे०

१।६)—अर्थात् समस्त प्राणियों के जीवन के हेतु-भूत, सबकी स्थिति के एक मात्र आधार, बहुत बड़े ब्रह्मचक्र में हंस (हन्ति गच्छतीति हंसः) = जीव भ्रमण करता रहता है। भ्रमण करनेवाला (प्रेरक) परमात्मा है और भ्रमण करनेवाला मैं उसका शेष (सेवक) हूँ, शरीर-भूत हूँ—इस प्रकार अपनेको पृथक् मानकर जब जीव ध्यान करता है, तब भगवान् की प्रसन्नता से वह मुक्ति पाता है। इसी भाव की और भी श्रुतियाँ हैं, यथा—"प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः ।" (श्वे० ६।१६), "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म चैतत् ।" (श्वे० १।१२), "संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।···क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।" (श्वे० १।८-१०)। इन श्रुतियों में स्पष्ट रूप से चिदचित् (जीव और प्रकृति) का प्रेरक (स्वामी) ब्रह्म कहा गया है।

श्रीनारद-पञ्चरात्र में भगवान् ने श्रीमुख से तत्त्वत्रय के वर्णन किये हैं। गीता में भी इसी तरह के सम्बन्ध सहित तीनों तत्त्वों के वर्णन किये गये हैं, यथा—"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय। अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥" (७।४-६) अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार यह आठ प्रकार की प्रकृति मेरी है। यह अपरा है। हे अर्जुन! अब इससे दूसरी मेरी जीव रूपा परा प्रकृति को जानो, जिससे यह जगत् धारण किया जाता है। ऐसा समझो कि सम्पूर्ण भूत प्राणी इन्हीं दोनों योनियोंवाले हैं (मेरी ये दोनों प्रकृतियाँ ही सबकी कारण रूपा हैं)। अतः, मैं इस सारे जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का स्थान हूँ।

भगवान् अपनी इन दोनों प्रकृतियों के प्रकृतिवान् हैं, इनके सम्यक् आधार, प्रेरक एवं नियामक हैं।

तत्त्वत्रय का वैसा ही वर्णन श्रीगोस्वामीजी ने भी किया है, यह इस श्रीरामचरितमानस के अनुबन्ध चतुष्टय से ही स्पष्ट हो जाता है

अनुबन्ध चतुष्टय

(१) विषय, (२) सम्बन्ध, (३) अधिकारी और (४) प्रयोजन—ये अनुबन्ध के चार भेद हैं।

(१) **विषय**—श्रीराम-नाम का तत्त्व-निरूपण इस ग्रन्थ का विषय है। यथा—"येहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा ॥" (बा० दो० ६)—इसका विशेष देखिये। इसे ही उपसंहार पर भी पुष्ट किया है, यथा—"मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं····"। इसीसे श्रीराम-नाम वन्दना प्रकरण विस्तारपूर्वक तत्त्वार्थ-निरूपण की दृष्टि से वर्णित है। मन्त्र एवं नाम का अर्थानुसन्धान के साथ आराधन होता है। नामार्थ ही चरित है। अतएव, चरित का विस्तार करना नाम का ही अंग है।

(२) **सम्बन्ध**—चार संवाद ही मानस के सम्बन्ध हैं, यथा—"सुठि सुंदर संबाद बर, बिरचेउँ बुद्धि बिचारि। तेइ येहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि ॥" (बा० दो० ३६)। चारो घाटों के श्रोता-वक्ता लोग कर्म, ज्ञान, उपासना और प्रपत्ति की दृष्टि से इस मानस से सम्बन्ध रखते हैं। श्रीगोस्वामीजी प्रपत्ति-घाट के, श्रीयाज्ञवल्क्यजी कर्मघाट के, श्रीशिवजी ज्ञान-घाट के और श्रीभुशुण्डीजी उपासना-घाट के वक्ता हैं।

(३) **अधिकारी**—यथा—"सदा सुनहिं सादर नरनारी। ते सुरबर मानस अधिकारी ॥" (बा० दो० ३७), "राम-कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह के सतसंगति अति प्यारी ॥ गुरु-पद-प्रीति नीति-रत जेई। द्विज - सेवक अधिकारी तेई ॥" (उ० दो० १२७)।

(४) **प्रयोजन**— यथा—"भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मेरे मन प्रबोध जेहि होई॥ जस कछु बुधि-बिवेक-बल मोरे। तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे॥ निज संदेह मोह-भ्रम हरनी। करउँ कथा भव-सरिता-तरनी॥" (बा० दो० ३०)। इन तीनों अर्द्धालियों में तत्त्वत्रय का ज्ञान ही प्रयोजन कहा गया है। भाष्य पृ० १६१–१६२ देखिये। अन्यत्र जो यह भी कहा गया है कि अपनी वाणी पवित्र करने के लिये मैं कथा कहता हूँ, यथा—"निज गिरा पावनि करन कारन राम-जस तुलसी कह्यो।" (बा० दो० ३६१)। उसका भी यही तात्पर्य है कि चरित के पठन-पाठन से उक्त तत्त्वत्रय का ज्ञान हो जायगा, उससे तीनों अवस्थाओं की शुद्धि के साथ-साथ तीनों वाणियों (वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती) की शुद्धि हो जायगी, तब तुरीयावस्था में शुद्ध परा वाणी प्राप्त हो जायगी। अतः, तत्त्वत्रय का ज्ञान प्राप्त करना इस ग्रन्थ के अध्ययन का प्रयोजन है।

तत्त्वत्रय में चित् और अचित् ईश्वर के शरीर हैं। अतः, शरीर सहित ईश्वर का ज्ञान ही प्रकर्ष-बोध एवं ब्रह्मविद्या का फल है, यथा—"नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्यं एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥" (गीता ११।५३), अर्थात् हे अर्जुन! जैसे (विराट् रूप जगत्-शरीर के साथ) तुमने मुझे देखा है, उस प्रकार मैं न वेदों से, न तपस्या से, न दान से और न यज्ञ से देखा जा सकता हूँ (आगे कहा है कि मैं अनन्य भक्ति से ही देखने एवं प्राप्त होने के लिये सुलभ होता हूँ)।

श्रीगोस्वामीजी ने तत्त्वत्रय की व्यवस्था विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की दृष्टि से मानी है। तीनों तत्त्वों का पृथक दिग्दर्शन कराया जाता है—

चित् (जीव)-प्रकरण

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में जीव वास्तविक तत्त्व है। यह सच्चिदानन्द-स्वरूप, अणुपरिमाण और ईश्वर का अंश एवं विशेषण है। जीव परस्पर भिन्न और अनन्त हैं। सब ब्रह्म के शरीर हैं। ब्रह्म सबका शरीरी है। इन सबका ब्रह्म के साथ अपृथक्-सिद्ध-सम्बन्ध है। जीव ईश्वर का धार्य, नियाम्य, सखा और शेष है। यह कर्त्ता, भोक्ता और निर्विकार है (इन सब लक्षणों पर श्रुतियों के प्रमाण साम्प्रदायिक ग्रन्थों में देखें, यहाँ विस्तार-भय से नहीं लिखे जाते)।

इन लक्षणों के उदाहरण—

जीव लक्षण		श्रीगोस्वामीजी
१	सच्चिदानन्द स्वरूप	—"चेतन अमल सहज सुखरासी॥" (उ० दो० ११६)—
२	अणु-परिमाण	—(भाष्य देखिये)।
३	ईश्वर का अंश	—"ईस्वर अंस जीव अबिनासी।" (उ० दो० ११६)।
४	,, विशेषण	—"बिस्वरूप रघुबंसमनि....." (लं० दो० १४)।
५	,, धार्य	—"बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता॥ सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥" (बा० दो० ११६)।
६	,, नियाम्य	—"जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ॥" (बा० दो० १२४), "ईस रजाइ सीस सबही के। उत्पति थिति लय बिषहुँ अमी के॥" (अ० दो० २८१)।
७	,, सखा	"राम प्रानप्रिय जीवन जीके। स्वारथरहित सखा सबही के॥" (अ० दो० ७३), "ब्रह्म जीव इव सहज सँघाती॥" (बा० दो० १६)।
८	,, शेष	"सेवक हम स्वामी सिय-नाहू।" (अ० दो० २३)।

जीवलक्षण	श्रीगोस्वामी
	"सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई ॥" (लं० दो० २१), "नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह ।" (अ० दो० ७१)।
६ ईश्वर का शरीर—	"हृदय घाव मेरे पीर रघुबीरै।....." (गी० लं० १५), "मम हृदय भवन प्रभु तोरा।" (वि० १२५), तथा लं० दो० १४-१५ में देवताओं को श्रीरामजी का अंग कहा गया है।
१० जीव परस्पर भिन्न और अनन्त हैं	—"जीव अनेक एक श्रीकंता।" (उ० दो ७७)।
११ कर्त्ता और भोक्ता—	"निज कृत करम-भोग सब भ्राता।" (अ० दो० ९१)। "जो जस करइ सो तस फल चाखा।" (अ० दो० ११८)। "निज कृत कर्म-जनित फल पायउँ। (अर० दो० १)।
१२ निर्विकार	—"निर्मल निरामय एक रस तेहि हर्ष सोक न व्यापई।" (वि० १३६)।

१३ ईश्वर अपृथक्सिद्ध सम्बन्ध। विशेषण दो प्रकार के होते हैं—एक पृथक्सिद्ध और दूसरा अपृथक्सिद्ध। जो विशेषण विशेष्य (धर्मी) से पृथक् भी रह सके, वह पृथक्सिद्ध-विशेषण है, जैसे 'कुंडली देवदत्त' इसमें 'कुंडली' (कुंडलवाला) यह विशेषण पृथक् सिद्ध है, क्योंकि देवदत्त से पृथक् भी कुंडल रह सकता है। जो विशेषण विशेष्य से पृथक् नहीं रह सके, वह अपृथक्सिद्ध कहा जाता है। जैसे, 'श्यामो युवा देवदत्तः' इसमें श्यामत्व और युवत्व देवदत्त से पृथक् नहीं रह सकते। अतएव ये उसके अपृथक्सिद्ध-विशेषण हैं। ऐसे ही समस्त जीवों का ईश्वर के साथ अपृथक्सिद्ध-सम्बन्ध है, यथा—"मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।" (गीता ७।७), तथा महा० शान्ति० २४८।२१-२४ में भी जीव-ईश्वर के इस सम्बन्ध का वर्णन है।

श्रीगोस्वामीजी ने इस सम्बन्ध को बहुत स्पष्ट रूप में कहा है, यथा—"अनवद्य अखंड न गोचर गो, सब रूप सदा सब होइ न सो। इति बेद बदंति न दंतकथा रवि-आतप भिन्न न भिन्न जथा।" (लं० दो० १०६), अर्थात् वास्तव में जीव पृथक् तत्त्व है, जैसे सूर्य और सूर्य का प्रकाश। सूर्य आकाश के बहुत ऊपर के भाग में रहते हैं, पर उनका प्रकाश भूमि पर सभीको प्राप्त होता रहता है। प्रकाश की सूर्य से पृथक् सिद्धि नहीं हो सकती। जब सूर्य रहेंगे तब ही उनका प्रकाश भी रहेगा। प्रकाश सूर्य के उदय पर फैलता है और उनके अस्त होने के साथ ही उन्हींमें लीन हो जाता है। वैसे ही प्रकाश-पुञ्ज की तरह समष्टि जीव-वर्ग है। जैसे, व्यष्टि-भेद से प्रकाश में किरणें अनन्त हैं, वैसे ही जीव-वर्ग भी व्यष्टि-भेद से अनन्त हैं। सूर्योदय की तरह सृष्टि-काल में ईश्वर की इच्छा से जीव-वर्ग नाना रूपों और नामों से फैलते हैं। फिर सूर्यास्त-रूपी प्रलयकाल में सब ईश्वर में ही लय को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे, उभय अवस्थाओं में किरणें सूर्य की सत्ता में ही रहती हैं, वैसे ही ईश्वर की सत्ता में जीवों की स्थिति है, यथा—"मत्स्थानि सर्वभूतानि" (गीता ९।४), "तू निज कर्मजाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो।" (वि० १३६), "ब्रह्म जीव इव सहज सँघाती।" (बा० दो० १६), "ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू। (दो० २१६), इत्यादि।

जीवों के भेद

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में जीवों के मुख्य तीन भेद कहे गये हैं—बद्ध, मुक्त और नित्य। इन्हींमें कोई पाँच और कोई छः भेद मानते हैं। बद्ध के दो भेद हैं—बुभुक्षु और मुमुक्षु। मुमुक्षु के दो भेद हैं—कैवल्य-परायण और भगवत्प्राप्ति-रूपी मोक्ष-परायण। मुक्त के दो भेद हैं—विदेहमुक्त और जीवन्मुक्त।

बद्ध—जो अपने कर्मानुसार संसार में जन्म-मरण-रूप धर्मों को प्राप्त हैं, वे बद्ध हैं। ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त जीव परवश होने से बद्ध हैं। बद्ध की दशा, यथा—"सो माया बस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मर्कट की नाईं॥ जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥ तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥" (उ० दो० ११६), तव बिषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे। भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥" (उ० दो० १२), "आकर चारि लाख चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी॥" (उ० दो० ४३), तथा—"भव-प्रवाह संतत हम परे।" (लं० दो० १०८)—यह देवताओं ने कहा है।

बुभुक्षु—ये धर्म, अर्थ और काम-परायण रहते हैं। इनमें एक तो अर्थ और काम-परायण होते हैं, यथा—"सिस्नोदर पर जमपुर त्रास न।" (उ० दो० ३६), दूसरे धर्म-परायण, यथा—"करि मज्जन पूजहिं नर-नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी॥ रमा-रमन-पद-बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी॥" (अ० दो० २७२)।

मुमुक्षु—जिसे सज्जनों के संग से अथवा भगवत्कृपा से संसार की करालता समझ पड़े और उसकी निवृत्ति के उपाय में तत्पर हो जाय कि 'मैं कैसे भव-बन्धन से छूटूँ'—वह मुमुक्षु है, यथा—"कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसमूढचेताः। यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥" (गीता २।७)। इस प्रकार शिष्य गुरु के पास जाकर प्रार्थना करे कि हे कृपालो! कृपया मेरी दुःख-निवृत्ति का उपाय कीजिये। फिर उपाय निश्चित करके साधन में लग जाय, यथा—"जहँ-जहँ बिपिन मुनीस्वर पावउँ। आश्रम जाइ जाइ सिर नावउँ॥ बूझउँ तिन्हहिं राम गुन गाहा। कहहिं सुनहुँ हरषित खगनाहा॥....छूटी त्रिविधि ईषना गाढ़ी। एक लालसा उर अति बाढ़ी॥ राम-चरन बारिज जब देखउँ। तब निज जन्म सुफल करि लेखउँ॥" (उ० दो०१०९)।

कैवल्य-परायण—इसका वर्णन ज्ञान-दीपक-प्रसंग उ० दो० ११७-११८ में देखिये, यथा—"सो कैवल्य परम पद लहई।"

भगवत्प्राप्ति रूप मोक्ष-परायण—इनके दो भेद हैं—भक्त और प्रपन्न।

भक्त—यथा—"राम भजत सोइ मुकुति गोसाँई। अनइच्छित आवइ बरियाई॥"....."भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा॥" (उ० दो० ११८)।

मोक्ष के इन्हीं दो भेदों (कैवल्यपद और भगवत्प्राप्ति) को अन्यत्र स्पष्ट भी कहा है, यथा—"राम-चरन-रति जो चहइ, अथवा पद निर्बान। (उ० दो० १२८)।

प्रपन्न—जो अकिञ्चन और अनन्य-गतिक होकर भगवान् की प्रपत्ति (शरणागति) करते हैं, वे प्रपन्न हैं। इनके दो भेद हैं—एकान्ती और परमैकान्ती।

एकान्ती—जो मोक्ष के साथ-साथ और फलों की इच्छा भी केवल भगवान् से ही (और स्वतन्त्र देवों से नहीं) रखता है, उसे एकान्ती कहते हैं, यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा॥" (उ० दो० ४५), तथा—"ये सेवक संतत अनन्य गति, ज्यों चातकहि एक गति घन की॥" (गी० अ० ७१)।

परमैकान्ती—जो ज्ञान-भक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहते हैं, यथा—"जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम्ह सन सन सहज सनेह।" (अ० दो० १३१), "अरथ न धरम न काम-रुचि, गति न चहउँ निरबान। जनम-जनम रति राम-पद, यह बरदान न आन॥" (अ० दो० २०४), तथा—"चतुर्विधा मम जना भक्ता एव हि मे श्रुतम्॥ तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः। अहमेवगतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम्॥" (महा० शान्ति० ३४१।३३-३४), अर्थात् मैंने ऐसा सुना है कि जिज्ञासु, आर्त्त, अर्थार्थी और ज्ञानी, ये चार प्रकार के पुरुष ही मेरे भक्त हैं। उनमें से जो लोग मुझसे पृथक् दूसरे देवताओं की आराधना न करके केवल मुझमें ही अत्यन्त निष्ठावान् हैं, वे ही श्रेष्ठ हैं। उन निष्काम कर्म करनेवाले भक्तों का मैं ही अवलम्ब हूँ।

परमैकान्ती के भी दो भेद हैं—दृप्त और आर्त्त।

दृप्त—'जो कुछ मेरे शुभाशुभ कर्म हैं, उनका फल-भोग अवश्य ही करना है'। इस सिद्धान्त पर आरूढ़ रहकर जो प्रारब्ध कर्म का भोग करता हुआ मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहता है, उसे दृप्त कहते हैं। इसके उदाहरण-रूप श्रीभरतजी हैं, यथा—"अवसि हौं आयसु पाइ रहौंगो। जनमि कैकई कोखि कृपा-निधि क्यों कछु चपरि कहौंगो॥" (गी० अ० ७७), "अब गोसाइँ मोहि देहु रजाई। सेवउँ अवध अवधि भरि जाई॥" (अ० दो० ३१२)।

आर्त्त—जो संसार की प्रबल ज्वाला से घबराया हुआ प्रपत्ति के पश्चात् ही मोक्ष की इच्छा रखता है, वह आर्त्त है। इसके उदाहरण रूप में श्रीलक्ष्मणजी हैं, यथा—"न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव। मुहुर्त्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ॥" (वाल्मी० २।५३।३१), अर्थात् श्रीलक्ष्मणजी जल से पृथक् मछली की नाईं श्रीराम के बिना नहीं जी सकते थे, इससे प्रभु ने तुरत उन्हें साथ लिया है; तथा—"राम बिलोकि बंधु कर जोरे। देह-गेह सब सन तृन तोरे॥" (अ० दो० ६६), "कृपासिंधु अवलोकि बंधु तन प्रान कृपान बीर सी छोरे।" (गी० अ० ११), अर्थात् क्षण-मात्र वियोग भी नहीं सह सके। अतः, "गहे चरन अकुलाइ" (अ० दो० ७१)। तब श्रीरामजी ने उन्हें साथ लिया ही।

(विदेह) मुक्त—जो भक्ति-प्रपत्ति आदि किन्हीं भी उपायों से भगवान् के स्वरूप का अनुभव करके बन्धन के कारण-रूप सम्पूर्ण कर्मों का नाश कर तदुपार्जित देह छोड़ दिव्यधाम में सायुज्य मुक्ति का आस्वादन करता है, वह मुक्त (विदेह मुक्त) कहाता है। उस अवस्था में भी ईश्वर और जीवों में भेद रहता ही है, यथा—"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।" विष्णुसूक्तम् इस वेदवाक्य में परम-पद-रूप नित्य-धाम में भी 'सदा पश्यन्ति सूरयः' कहा गया है। 'सूरयः' इस बहुवचन शब्द से मुक्तात्माओं का अनन्त होना और 'सदा पश्यन्ति' से उनका नित्य-पार्थक्य स्पष्ट है। वे सब उपर्युक्त रीति से अपृथक्-सिद्ध-सम्बन्ध सहित ब्रह्म के साथ-साथ उसके समान ही दिव्य भोगों को भोगते हैं, यथा—"भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" (ब्र० सू० १।४।१७), तथा—"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता।" (तै० २।१), अर्थात् मुक्तात्मा परमात्मा के साथ-साथ सब कामनाओं का भोक्ता होता है। इसीका नाम सायुज्य मुक्ति है, यथा—"सायुज्यं प्रतिपन्ना ये तीव्रभक्तास्तपस्विनः। किङ्करा मम ते नित्यं भवन्ति निरुपद्रवाः॥" (नारद पञ्चरात्र परम संहिता) अर्थात् क्षुधा-पिपासा आदि उपद्रवों से रहित होकर ब्रह्म के साथ-साथ कैङ्कर्य भाव से सब कामनाओं को भोगनेवाले जीव सायुज्य मुक्त कहाते हैं। सायुज्य भोग्यसाम्य को कहते हैं।

श्रीगोस्वामीजी को यही मुक्ति इष्ट थी, यथा—"खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं। यहि नाते नरकहु सचु पैहौं या बिनु परम पदहु दुख दहिहौं॥" (वि० २३१), अर्थात् परम पद (मोक्ष-अवस्था) में भी कैङ्कर्य भाव से ही रहूँगा। इसके बिना (शुष्क ज्ञान की कैवल्य मुक्ति पाकर भी) दुःख से जलूँगा। इस मानस ग्रन्थ के उपसंहार पर भी—"कामिहि नारि पियारि जिमि···"

इस निरन्तर भक्ति-याच्ञा का यही अभिप्राय है कि 'तत्कतुन्याय' से मुझे यही भक्ति मुक्तावस्था में भी रहे। श्रीगोस्वामीजी के ग्रन्थों में कहीं-कहीं मुक्ति की उपेक्षा भी की गई है, यथा—"गति न चहउँ निरबान।" (अ० दो० २०४), "सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं।" (लं० दो० १११), इत्यादि। इन वाक्यों में कैवल्य मुक्ति की ही उपेक्षा है, जो कि भक्ति-भाव के विरुद्ध है, क्योंकि उसमें मुक्तात्मा प्रभु-कैङ्कर्य से रहित रहता है।

मुक्त का उदाहरण, यथा—"मुकुत कीन्हि असि नारि।" (अर० दो० ३६)।

जीवन्मुक्त—जीवन्मुक्ति की व्यवस्था उ० दो० ४२ एवं ११७ चौ० ५ में देखिये, तथा अ० दो० २७६ चौ० १--३ भी देखिये।

यह भी कहा गया है "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये।" (छां० ६-१४।२) "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रियोरपहतिरस्ति। अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः॥" (छां० ८।१२।१), अर्थात् उस ज्ञानी के मुक्त होने में तभी तक देर है, जबतक उसका देहपात न हो, क्योंकि जिसका शरीर कर्मवश आरब्ध हुआ है, उसके प्रिय और अप्रिय भाव बने ही रहते हैं, नाश नहीं होते। जब वह शरीर-रहित होता है, तब उसे ये प्रिय-अप्रिय स्पर्श नहीं करते।

इन श्रुतियों का तात्पर्य उपर्युक्त विदेह-मुक्ति से है। वह साक्षात् मुक्ति है। वही देहावसान के पीछे प्राप्त होती है। इस जीवन्मुक्ति में भी श्रुति-प्रमाण है, यथा—"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥" (कठ० २।६।१४), अर्थात् जब इस आत्मा के हृदय में से विषय-सम्बन्धी सब मनोरथ निकल जाते हैं, तब उसी समय वह उपासक अमृत हो जाता है (अर्थात् उसके पूर्व पूर्व पापों का नाश हो जाता है और उत्तर पापों का त्याग हो जाता है)। उसी समय ब्रह्मोपासन-काल में ही वह ब्रह्म का अनुभव करता है।

जीवन्मुक्ति के उदाहरण—

"जीवन्मुक्त ब्रह्म पर, चरित सुनहिं तजि ध्यान।" (उ० दो० ४२)।

"ज्ञानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवन्मुक्त सकृत जग सोऊ॥" (उ० दो० ५३)।

"जीवन्मुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥" (उ० दो० ५२)।

"मुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ।" (वि० ८६)

नित्य—कर्मवश होकर जिनका जन्म-मरण न हो और जिन्हें भगवान् के अवतारों की तरह स्वेच्छा से अथवा भगवदिच्छा से ही कभी भूमण्डल में आना पड़े—कर्माधीन होकर नहीं—वे नित्य-जीव हैं। इस प्रकार के नित्य-जीव श्रीहनुमानजी, श्रीअनन्त और श्रीगरुड़जी आदि बहुत हैं। वे त्रिपाद विभूति (नित्य धाम) में ही सदा श्रीभगवान् का अनुभव करते हुए निवास करते हैं।

श्रीगोस्वामीजी ने इनका वर्णन भी कई स्थलों पर किया है, यथा—"तात राम कहँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु॥ हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥ निज इच्छा प्रभु अवतरइ, सुर महि गो द्विज लागि। सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥" (कि० दो० २६)। यह श्रीजाम्बवान्‌जी ने श्रीअङ्गदजी से कहा है, इसमें 'संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी होना और 'मोक्ष त्यागकर संग आना' उपर्युक्त नित्यत्व का सूचक है (क्योंकि मुक्तावस्था में भी सेवक-भाव से नित्य स्थिति कही गई है)। इनका नित्य-शेषत्व भी कहा गया है, यथा—"भरतादि अनुज बिभीषनांगद हनुमदादि समेत ते। गहे छत्र चामर व्यजन धनु असि चर्म सक्ति बिराजते॥" (उ० दो० ११), तथा बा० दो० १६--१७ का 'सिद्धान्त भाष्य' पृ० ११३-११६ भी देखिये।

अचित् प्रकरण

जो विविध विकारों का आश्रय है और जिसमें ज्ञान का अभाव है, उसे अचित् (जड़) कहते हैं।

इसे श्रीगोस्वामीजी ने विद्या-माया के नाम से कहा है, क्योंकि विद्या की दृष्टि से प्रकृति एवं उसका कार्य-रूप जगत् भगवान् के शरीर-रूप में ही साक्षात्कार होता है। इसके पूर्व-पक्ष रूप में जगत् में नानात्व-दृष्टि-रूपा अविद्या-माया है। माया के इन दोनों भेदों का वर्णन भाष्य के पृष्ठ १२-१६, ४२७--४३३, १६२६--१६२८ में देखिये।

यह तीन प्रकार की है—शुद्ध-तत्त्व, मिश्र-तत्त्व और सत्त्वशून्य।

शुद्ध सत्त्व—जो रजस् और तमस् से रहित केवल सत्त्व-रूप है, वह शुद्ध सत्त्व है। उसे त्रिपाद विभूति भी कहते हैं। वह नित्य, ज्ञान-जनक और आनन्दजनक है। भगवान् की इच्छामात्र से प्रासाद, मण्डप, गोपुर और विमान आदि रूप से भोगस्थान रूप में परिणत होता है, तथा ईश्वर-शरीर आदि के रूप से भोग्य भी है। भूषण, वस्त्र, आयुध, चन्दन, पुष्प आदि रूप से भोग का साधन भी होता है। निरवधिक तेजोरूप है, स्वयं प्रकाश-स्वरूप है। मुक्त-जीव, नित्य-जीव और ईश्वर से भी अपरिच्छेद्य है।

ईश्वर इसे 'अपरिच्छेद्य' रूप में ही जानता है। इयत्ताशून्य वस्तु की इयत्ता न जानने में उसको सर्वज्ञता में दोष नहीं है, प्रत्युत गुण-रूप है।

शुद्ध सत्त्व के उपर्युक्त नित्यत्व आदि में प्रमाण—"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।" विष्णुसूक्तम् इस श्रुति में 'सदा पश्यन्ति' शब्द से सूचित किया गया है कि वह धाम तीनों कालों में अविनाशी है। तभी तो सदा मुक्तात्माओं की दृष्टि का विषय होता रहता है। तथा—"न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥" (गीता १५।६), अर्थात् वह भगवान् का धाम स्वयं-प्रकाश-स्वरूप है, वहाँ सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि के प्रकाश की अपेक्षा नहीं है। इस गीता के वाक्य को कोई-कोई भगवान् के स्वरूप में लगाते हैं, जो ठीक नहीं है, क्योंकि 'मम धाम' यह भेद से कहा गया है और 'गत्वा' शब्द से भी आश्रय-रूप कहा गया है।

श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है--"पुनि मम धाम पाइहहु, जहाँ संत सब जाहिं।" (लं० दो० ११६), "हरि-पद-लीन भइ जहँ नहिं फिरे।" (अर० दो० ३६)। "राम बालि निज धाम पठावा।" (कि० दो० १०)। "देहिं राम तिन्हहु निज धामा।" (लं० दो० ४४), इत्यादि।

मिश्र सत्त्व—रजस् और तमस् के साथ मिलकर रहनेवाले सत्त्व को मिश्र सत्त्व एवं अशुद्ध सत्त्व भी कहते हैं। यह बद्ध-जीवों के ज्ञान और आनन्द का आच्छादक है, विपरीत ज्ञान का उत्पादक है। नित्य है, भगवान् की लीला का साधन है, क्योंकि जीव इस मिश्र सत्त्व के जाल में पड़कर विपर्यय बुद्धि से अनेक प्रकार के कर्म करने लगता है; वही कर्म इसका बाँधनेवाला हो जाता है। कर्मानुसार फल देना भगवान् का स्वभाव है। उसी स्वभाव-प्रवृत्ति को भगवान् की लीला कहते हैं।

भगवान् की लीला का प्रधान साधन होने से इसे लीला-विभूति एवं 'प्रधान' कहते हैं। विचित्र सृष्टि का साधनीभूत द्रव्य होने के कारण इसे 'माया' और विविध विकारों को उत्पन्न करने के कारण इसे 'प्रकृति' कहते हैं।

इसीसे अनन्त ब्रह्माण्डों की सृष्टि होती है। श्रुति कहती है, यथा—"गौरनाद्यन्तवती सा जनयित्री भूतभाविनी।" अर्थात् 'गौः' (प्रकृति) अनादि और अनन्त है (तीनों कालों में सत्य है,)। वही सब प्राणियों को पैदा करती है, सबकी माता है। तथा—"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।" (गीता ९।१०), अर्थात् हे अर्जुन! मुझ अध्यक्ष के द्वारा प्रेरित प्रकृति सारे चराचर जगत् को उत्पन्न करती है।

श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है—

"लव निमेष महँ भुवन निकाया । रचइ जासु अनुसासन माया ॥" (बा० दो० २२४) ।

"सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया । पाइ जासु बल बिरचति माया ।" (सुं० दो० २०) ।

"एक रचइ जग गुन बस जाके । प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके ॥" (अर० दो० १४) ।

इस जगत् को रचनेवाली प्रकृति के चौबीस भेद हैं, यथा—"महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च । इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥" (गीता० १३।५), अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि (महत्तत्त्व), अव्यक्त (प्रकृति), ११ इन्द्रियाँ (१० इन्द्रियाँ और १ मन) और पाँच इन्द्रिय-विषय एवं तन्मात्राएँ ।

इन चौबीसों का क्रमिक विवेचन इस प्रकार है—

(१) तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है, यथा—"सत्त्व-रजस्तमसांसाम्यावस्था प्रकृतिरिति ।" (सांख्यसूत्र) । इस अवस्था में तीनों गुण समान रहते हैं ।

(२) उपर्युक्त तीनों गुणों के विषम होने पर जो पहला परिणाम होता है, वह महत्तत्त्व है । यह धर्मी (गुण-क्रियादि का आश्रय) है ।

(३) महत्तत्त्व का जो कार्य है, वही अहंकार है । यह सात्त्विक, राजस और तामस—इन भेदों से तीन प्रकार का है । इनमें सात्त्विक अहंकार से एकादश इन्द्रियाँ और तामस से शब्द-तन्मात्रा उत्पन्न होती हैं । राजस अहंकार, सात्त्विक और तामस इन दोनों अहंकारों का सृष्टि करने में सहायक है । (मन को कोई-कोई इन्द्रिय और कोई-कोई अन्तःकरण भी मानते हैं) ।

(४) पञ्च तन्मात्रा—अहंकार के कार्य और पंच महाभूतों की सूक्ष्मावस्था का नाम तन्मात्रा है । ये शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन भेदों से पाँच हैं ।

'शब्द-तन्मात्रा' से आकाश और स्पर्श-तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है । स्पर्श-तन्मात्रा से वायु और रूप-तन्मात्रा' की, रूप-तन्मात्रा से तेज (अग्नि) और रस-तन्मात्रा की, रस-तन्मात्रा से जल और गन्ध-तन्मात्रा की और गन्ध-तन्मात्रा से पृथ्वी-मात्र की उत्पत्ति होती है । इस क्रमिक उत्पत्ति का विशेष विवरण वि० पु० १।२।३३--५० में देखना चाहिये ।

इन्द्रियों के नाम उनके विषय और देवता का वर्णन बा० दो० ११६ चौ० ५ के भाष्य पृ० ४२७ में देखिये ।

उदाहरण

पञ्च महाभूत—"गगन समीर अनल जल धरनी ।" (सु० दो० ५८) ।

दस इन्द्रियाँ—"दसइँ दसहुँ कर संजम जो न करइ ·····" (वि० २०४)

अन्तःकरण—"चौथि चारि परिहरहु बुद्धि मन चित अहँकार ।" ,,

पञ्च तन्मात्रा एवं विषय } "पाँचइं पाँच परस रस शब्द गंध अरु रूप ।" ,,

पञ्चीकरण

पुराणों के मत से पञ्चीकरण-प्रक्रिया इस प्रकार है—पञ्चभूतों में से एक-एक भूत को लीजिये और उनके दो-दो समान भाग कर डालिये । उन दो-दो भागों में से एक-एक को तो जहाँ का तहाँ रहने दीजिये, परन्तु प्रत्येक के दूसरे भाग के चार-चार समान भाग और कर डालिये । जिस भूत में चार भाग किये गये हैं, उसको छोड़कर शेष जो चार भूत हैं, उनके प्रधान-प्रधान भागों में इसके एक-एक करके चारो भागों को मिला दीजिये । इसी पञ्चीकरण-प्रक्रिया के द्वारा भूतों में शब्द आदि की प्रतीति होती है ।

पृथ्वी आदि सब भूतों में यद्यपि सब भूत मिले हुए हैं, तथापि किसीको पृथ्वी और किसीको जल आदि इसलिये कहा जाता है कि पृथ्वी में पृथ्वी का ही अंश अधिक है। अन्य तत्त्वों के अंश बहुत अल्प हैं। ऐसे ही जल और अग्नि आदि के विषय में भी जानना चाहिये।

कोई-कोई सप्तीकरण-प्रक्रिया भी मानते हैं। वे उपर्युक्त पञ्चमहाभूतों में अहङ्कार और महत्तत्त्व को भी मिला लेते हैं।

वैदिक (छां० ६।३।२-३ के) मत में तो त्रिवृत्करण ही माना गया है, इसमें तेज, जल और पृथ्वी, इन्हीं तीन तत्त्वों को मिलाकर सृष्टि बनना कहा गया है। त्रिवृत्करण का क्रम इस प्रकार है कि इन तीनों तत्त्वों के दो-दो भाग समान रूप में करना चाहिये। प्रत्येक के एक-एक भाग को जहाँ के तहाँ छोड़कर दूसरे-दूसरे भागों के पुनः दो-दो भाग करना चाहिये। फिर उन्हें स्वेतर (अपने से भिन्न) तत्त्वों के प्रधान भागों में मिला देना चाहिये—यही त्रिवृत्करण-प्रक्रिया है।

पञ्चीकृत पाँचो भूतों से बने हुए द्रव्य का नाम अण्ड है। इस अण्डोत्पत्ति से पूर्व सृष्टि का नाम समष्टि-सृष्टि है। अण्डोत्पादन के अनन्तर सृष्टि का नाम व्यष्टि-सृष्टि है।

सत्त्वशून्य— काल सत्त्वशून्य कहा जाता है। काल–"ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः।" (श्वे०६।१६), अर्थात् भगवान् ज्ञाता हैं, काल के भी काल हैं, सर्वगुणाधार हैं और सर्वज्ञ हैं। तथा—"कालोऽस्मि लोकक्षय कृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः।" (गीता ११।३२), अर्थात् भगवान् लोकों के क्षय करनेवाले काल हैं।

श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है—

"तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहु कर काला॥"—(सुं० दो० ३८)।

"अंड कटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी॥" (उ० दो० ६३)।

ईश्वर-प्रकरण

ईश्वर वह तत्त्व है जिसके द्वारा संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार होते हैं, यथा—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते॥ येन जातानि जीवन्ति॥ यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति॥ तद्विजिज्ञासस्व॥ तद्ब्रह्मेति॥" (तैत्त० ३।१), जैसे किसी खेत (क्षेत्र) को जो बोता है, रक्षा करता है और जिसके यहाँ उसका अन्न जाता है, वही उस खेत का स्वामी कहा जाता है। वैसे ही उपर्युक्त तीनों कार्य जिस परम तत्त्व से होते हैं, वही ईश्वर है। श्रीगोस्वामीजी ने श्रीरामजी में ही वह ईश्वरत्व कहा है, यथा—"उतपति पालन प्रलय समीहा।" (लं० दो० १४), "बिधि हरिहर मय···" (बा० दो० १८), हरि-हरहि हरता, बिधिहि बिधिता, श्रियहि श्रियता जेहिं दई। सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोद-मय मंगल-मई॥" (वि० १३५)—इसका 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये। "उमा राम की भृकुटि-बिलासा। होइ सृष्टि पुनि पावइ नासा॥" (लं० दो० ३४)। इस प्रकार श्रीरामजी को ही परात्पर तत्त्व कहा है। स्पष्ट कहा है, यथा—"यन्मायावशवर्त्ति ··वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥" (बा० मं० ६)। इसका भाष्य पृ० ११–१६ देखिये।

पुनः 'अशेषकारणपरम्' पर यहाँ कुछ विशेष भी कहा जाता है, यथा –"संक्षिप्य हि पुरा लोकान्मायया स्वयमेव हि। महार्णवे सयानोऽसु मां त्वं पूर्वमजीजनः" से "ततस्त्वमसि दुर्धर्षात्तस्माद्भावात्सनातनात्। रक्षां विधास्यन्भूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान्।" (वाल्मी० ७।१०४।४-९), अर्थात् परात्पर ब्रह्म श्रीरामजी ने लोकों को अपनेमें समेट लिया (महाप्रलय में सर्वजगत् को अपनेमें लीन कर लिया), फिर उन्होंने ही जल पैदा कर और उसमें नारायण-रूप से शयन कर अपने नाभि-कमल से ब्रह्मा को उत्पन्न करके सृष्टि की। उन्होंने ही विष्णु-रूप से सब प्राणियों की रक्षा का विधान किया—यह श्रीब्रह्माजी का वचन है इसमें सृष्टि के कारण ब्रह्मा, परम कारण श्रीमन्नारायण और उससे पूर्व के अशेषकारण रूप श्रीरामजी कहे गये हैं।

श्रुतियों में भी परब्रह्म-परत्व ऐसा ही कहा गया है, यथा—"तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥ न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥" (श्वे० ६।७।८), अर्थात् वह ईश्वरों का परम महेश्वर, देवताओं का परम देवता, पतियों का पति, सबसे उत्कृष्ट, भुवनों का ईश्वर और सबसे स्तुत्य है। उसके कोई कार्य और करण नहीं हैं। कोई न उसके समान ही है और न अधिक ही। उसकी परा-शक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है, उसके ज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक हैं।

ग्रन्थारम्भ में (मङ्गलाचरण में) ही श्रीगोस्वामीजी ने 'अशेष-कारण पर' श्रीरामजी को अपना ध्येय कहा है। श्रीरामजी के नित्य आयुध धनुष-बाण हैं। अतः उनके स्वरूप के साथ ही इनका भी ध्यान किया जाता है, यथा—"जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥" (मुं० दो० ४६), "सब साधन कर एक फल, जोइ जान्यो सोइ जान। ज्यों-त्यों मन मंदिर बसहिं, राम धरे धनुबान॥" (दोहावली ९०), तथा—"जासु हृदय आगार, बसहिं राम सर चाप धर।" (बा० दो० १७), इत्यादि।

धनुष और बाण, इन दोनों के कार्य श्रीरामजी के बिना कदापि सिद्ध नहीं हो सकते। श्रीरामजी धनुष को अपने हाथ से चढ़ाकर फिर उसे एक हाथ में लेते हैं। पुनः दूसरे हाथ से तरकस से बाण लेकर उसका सन्धान करते हैं। फिर जितने बल से छोड़ते हैं, उतनी ही दूर वह जाता है और वैसा ही कार्य करता है। इसी प्रकार जीव-समूह बाणों के समान और प्रकृति धनुष के समान है, यथा—"प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥" (मुं० २।४) अर्थात् प्रणव (ॐकार) धनुष और आत्मा (जीवात्मा) बाण हैं, ब्रह्म इनका लक्ष्य है। शान्त चित्त से वेधना चाहिये कि जीव बाण के समान तन्मय हो जाय। ॐकार से यहाँ प्रकृति का तात्पर्य है, यथा—"प्रणवत्वात्प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः।" (रामतापनीय उ०)। प्रकृति के सत्वादि गुणों से ज्ञान-भक्ति आदि उपाय होते हैं। उनका कार्य श्रीरामजी की ही सत्ता से होता है, यथा—"सत्त्वं सत्त्ववेतामहम्।" (गीता १०।३६), तथा—"रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।" (गीता ७।८), इत्यादि। जैसे श्रीरामजी के धारण करने से धनुष में कार्य-क्षमता है, वैसे प्रकृति के द्वारा भी उन्हींकी सत्ता से कार्य होता है, अन्यथा वह जड़ ही है, यथा—"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।" (गीता ९।१०)। पुनः जैसे श्रीरामजी बाणों को तरकस से निकालकर उन्हें धनुष के रोदे पर चढ़ाते हैं, वैसे ही जीवों को श्रीरामजी ही प्रेरणा करके उपायारूढ़ करते हैं। जैसे बाण को श्रीरामजी जितना बल लगाकर छोड़ते हैं उतने ही बल के अनुसार वह आघात करता है, वैसे ही जीवों को भी श्रीरामजी जितना सामर्थ्य देते हैं, वे तदनुसार ही साधन करते हैं, यथा—"पौरुषं नृषु।" (गीता ७।८), "यो यो यां यां तनु भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥" (गीता ७।२२)। पुनः जैसे सन्धान करके बाणों को श्रीरामजी ही लक्ष्य पर नियुक्त करते हैं वैसे ही स्व-स्वरूप और पर-स्वरूप का ज्ञान भी श्रीरामजी ही कराते हैं, यथा—"सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।" (अ० दो० १२६), "जानें बिनु भगति न जानिबो तिहारे हाथ···" (वि० २५१)।

श्रीरामजी के बाण कार्य करके पुनः लौटकर उनके तरकस में ही आ जाते हैं, यथा—"पुनि रघुबीर निषंग महँ, प्रविसे सब नाराच।" (लं० दो० ६७), "मंदोदरि आगे भुज सीसा। धरि सर चले जहाँ जगदीसा॥···प्रविसे सब निषंग महँ जाई।" (लं० दो० १०१), उसी प्रकार श्रीरामजी की प्रेरणा से

जीव उपायारूढ़ हो उनकी ही दी हुई शक्ति से साधन कर, रावण-रूपी मोह आदि विकारों का नाश कर, फिर श्रीरामजी को ही प्राप्त होते हैं। वे श्रीरामजी के शरीर-रूपी नित्य धाम में सायुज्य मुक्त होकर रहते हैं। ऊपर का 'विदेह मुक्त' प्रकरण भी देखिये। इसी दृष्टि से एवं इसी ज्ञान की प्राप्ति के लिये कर्मेन्द्रिय भुजाओं पर धनुष-बाण के चिह्न धारण किये जाते हैं कि जिससे कर्मों का कर्तृत्वाभिमान नहीं हो।

जैसे धनुष-बाण के कार्य श्रीरामजी के धारण करने एवं उनकी प्रेरणा के बिना सिद्ध नहीं हो सकते, वैसे ही जीवों और प्रकृति की व्यवस्था भी श्रीरामजी के द्वारा ही जाननी चाहिये। जैसे श्रीरामजी का धनुष एक है और उनके अक्षय तरकस में बाण अनन्त रहते हैं, वैसे ही प्रकृति एक और जीव अनन्त हैं। इससे चिदचित् का भगवान् से अपृथक्-सिद्धि-सम्बन्ध सिद्ध होता है और उपर्युक्त चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म की व्यवस्था भी प्रत्यक्ष होती है। अतएव, श्रीगोस्वामीजी की ध्येय-व्यवस्था भी विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त के ही अनुकूल है।

इनके ग्रन्थों में ईश्वर-सम्बन्धी और बातें भी विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त के अनुकूल ही हैं। कुछ मिलान आगे लिखे जाते हैं—

विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त	श्रीगोस्वामीजी
ईश्वर अखिल हेय प्रत्यनीक है, अर्थात् वह समस्त दोषों का विरोधी है। जैसे तेज तम का विरोधी है, यथा—"य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्य सङ्कल्पः।" (छां० ८।७।१), अर्थात् आत्मा पाप-रहित, जरा-रहित, मृत्यु-रहित, शोक-रहित, क्षुधा-रहित, पिपासा-रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है।	"सकल बिकार-रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहि बेदा॥" (अ० दो० ६२), "अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी।" (बा० दो० २२), "निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥" (सुं० दो० ४३), "छली न होइ स्वामि सनमुख ज्यों तिमिर सातहय जान सों।" (गी० सुं० ३३)।
ईश्वर दिव्य गुणों से युक्त है, अर्थात् वह वात्सल्य, सौशील्य एवं शौर्य, पराक्रम आदि गुणों से पूर्ण है।	"राम अमित गुनसागर, थाह कि पावइ कोइ।" (उ० दो० ६२), "गुनसागर नागर बर बीरा॥" (बा० दो० २४०)।
ईश्वर अनन्त है, अर्थात् वह सब देशों, सब कालों और सब वस्तुओं में है, क्योंकि वह सर्वात्मा, नित्य और व्यापक है।	"देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥" (बा० दो० १८४), "देस काल पूरन सदा बद बेद पुरान। सबको प्रभु सबमें बसै सबकी गति जान।" (बि० १०७), "राम अनंत अनंत गुन।" (बा० दो० ३३)।
ईश्वर सर्वान्तर्यामी है, यथा—"अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।" (तैत्त० आ० ३।११।२), अर्थात् वह सबके अभ्यन्तर में प्रविष्ट है, सब जीवों का शासक है और वही सर्वात्मा है।	"अंतरजामी राम सिय।" (अ० दो० २५६), "सबके उर अंतर बसहु।" (अ० दो० २५७), "राम उमा सब अंतरजामी।" (अर० दो ३८), "अंतरजामी प्रभु सब जाना।" (उ० दो० ३५), "रघुबर सब उर अंतरजामी।" (बा० दो० ११८)।
ईश्वर सच्चिदानन्द-स्वरूप है, यथा—"रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदे-	"सत चेतन घन आनँद-रासी।" (बा० दो० २२), "राम सच्चिदानंद दिनेसा।" (बा० दो०

विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त

नासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥" (रा० पू० ता० १।६), "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।" (तैत्त० २।१), "आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात् ॥" (तैत्त० ३।६) ।

ईश्वर षडैश्वर्य पूर्ण हैं, यथा—"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः । भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥" (वि० पु० ६।५।७९), "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरिणा ॥" (वि० पु० ६।५।७४) । ये ऐश्वर्य ईश्वर में निरुपाधिक (स्वाभाविक) एवं निस्सीम हैं, यथा—"पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।" (श्वे० ६।८), "यतो वाचो निवर्त्तन्ते ॥ अप्राप्य मनसा सह ॥" (तैत्त० २।४), इत्यादि ।

ईश्वर अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष देनेवाला है, यथा—"श्रुतत्वाच्च" ब्र० सू० ३।२।३८ । सर्वं भोगापवर्गादि लक्षणं फलं परमात्मैव प्रयच्छतीति श्रूयते—'स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विदन्ते वसु य एवं वेद ।' (बृह० ४।४।२४) इति ।" (ब्र० सू०– आनन्द भाष्य ३।२।३८) ।

ईश्वर ही जगत् का कारण है । कारण तीन प्रकार के होते हैं । उपादन, निमित्त और सहकारी । तीनों कारण ईश्वर ही हैं ।

ईश्वर की जगत-रचना का कारण लीलामात्र है । जैसे राजा आदि गेंद आदि की क्रीड़ा लीला-रूप में करते हैं वैसे ही सर्वकाम-पूर्ण ब्रह्म भी लीला-रूप में जगत् का व्यापार करता है । देव, मनुष्य, पशु

श्रीगोस्वामीजी

११५), "जय सच्चिदानंद जग पावन ।" (बा० दो० ४६), "सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानु-कुल-केतु । चरित करत····" (अ० दो० ८७), "चिदानंदमय देह तुम्हारी । बिगत बिकार जान अधिकारी ॥" (अ० दो० १२६) ।

षडैश्वर्य-प्रसंग बा० दो० १२ चौ० ४, बा० दो० २२ चौ० ६–७ और बा० दो० ११८ देखिये, तथा—ज्ञान, यथा—"ज्ञान अखंड एक सीतावर ।" (उ० दो० ७७), बल—"मरुत कोटि सत बिपुल बल ।" (उ० दो० ९१), "बल धामा ।" (उ० दो० ७१), शक्ति—"अखिल अमोघ सक्ति भगवंता ॥" (उ० दो० ७१) । ऐश्वर्य—"रोम-रोम प्रति लागे, कोटि-कोटि ब्रह्मंड ।" (बा० दो० २०१), वीर्य—"पुरुष सिंह दोउ बीर···" (बा० दो० २०८), "बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई ।" (उ० दो० ९१), तेज—"राम-तेज बल बुधि बिपुलाई । सेष सहस सत सकहिं न गाई ॥" (सुं० दो० ५५) ।

बा० दो० १८ चौ० ३–७ देखिये । तथा—अर्थ, यथा—"जो संपति सिव रावनहि, दीन्हि दिये दस माथ । सोइ संपदा बिभीषनहिं, सकुचि दीन्हि रघुनाथ ॥" (सुं० दो० ४९), धर्म, यथा—"चारिउ चरन धर्म जग माहीं । पूरि रहा·····" (उ० दो० २०), काम, यथा–"सकल काम पूरन करै, जानै सब कोइ ।" (वि० १०८), मोक्ष—शबरी, गृध्र आदि को गति दी, अन्त में आयोध्यावासी जन्तु पर्यन्त को साथ ले गये ।

ईश्वर में तीनो प्रकार की कारणता उपर्युक्त परिणाम वाद प्रसंग में लिखी जा चुकी और उससे श्रीगोस्वामी जी के ग्रन्थ का मिलान भी किया गया है ।

श्रीगोस्वामी जी ने भी लिखा है, यथा—"जग पेखन तुम्ह देखनिहारे । बिधि हरि संभु नचावनिहारे ॥" (अ० दो० १२६), "मुनि कर हित मम कौतुक होई ।" (बा० दो० १२८), तथा—"कर्म

विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त

और कीट आदि की विषम सृष्टि से उसमें विषमता नहीं आती और न संहार करने की निर्दयता ही। क्योंकि वह जीवों के प्राचीन कर्मानुसार ही सब विधान करता है, यथा—"पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।" (बृह० ४।४।५)।

श्रीगोस्वामीजी

प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥" (अर० दो० २१८)। "काहु न कोउ सुख-दुख कर दाता। निज कृत करम-भोग सब भ्राता॥" (अ० दो० ९१), करइ जो करम पाव फल सोई।" (अ० दो० ७६)।

प्रश्न—ऊपर कहा गया कि जगत् के तीनों कारण ईश्वर ही हैं। सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म ही स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म-रूप में परिणत होता है। इस तरह जगत् ब्रह्म का ही परिणाम है। ईश्वर ही जगत् रूप है। जगत् तो विकारी है, तब तो ईश्वर भी विकारी होगा। यह बात श्रुतियों के विरुद्ध है। श्रुतियाँ ईश्वर को निर्विकार कहती हैं।

उत्तर—परिणाम दो तरह का होता है—एक सद्वारक और दूसरा अद्वारक। सद्वारक वह है जो परिणाम अन्य पदार्थ में होता हो, पर उसका निर्देश अन्य वस्तु में किया जाता हो। अद्वारक वह है जिस पदार्थ में परिणाम होता हो उसीमें उस परिणाम का निर्देश किया जाता हो। यहाँ ब्रह्म में जो जगत् का परिणाम है वह सद्वारक है, अर्थात् चिदचिद्रूप विशेषण-विशिष्ट ब्रह्म का जगद्रूप से परिणाम होता है। चित् और अचित् ब्रह्म के विशेषण हैं। ये ब्रह्म से भिन्न रह नहीं सकते, क्योंकि इनका ब्रह्म से अपृथक्-सिद्ध-सम्बन्ध है। अतः, परिणामी अचित् में परिणाम होता है, परन्तु उसका परिणाम विशेष्यभूत ब्रह्म में निर्दिष्ट होता है। साक्षात् ब्रह्म का परिणाम नहीं होता, किन्तु अचित्-रूप विशेषण द्वारा होता है। अतः, ब्रह्म के स्वरूप में परिणाम-रूप विकार नहीं होता। जैसे ऊर्णनाभि (मकड़ी) अपने शरीर-भूत विशेषण के द्वारा तन्तु-रूप कार्य के प्रति उपादान कारण होती है, पर इस कार्य में उसके स्वरूप में विकार नहीं होता, जैसे जीवात्मा स्वरूपतः निर्विकार है, परन्तु मनुष्य आदि शरीर-विशिष्ट रहने से उसके शरीर के धर्म बालत्व, युवत्व और वृद्धत्व आदि के प्रति उसमें विकार नहीं आता, परन्तु बालत्व आदि उसीके प्रति कहे जाते हैं। ऐसे ही ब्रह्म का शरीर जगत् है, शरीर का परिणाम शरीरी (ब्रह्म) में कहा जाता है, फिर भी वह स्वरूप से निर्विकार ही है।

ईश्वर विभु (व्यापक) है। उसकी व्यापकता तीन प्रकार की है—(१) स्वरूप से, (२) धर्मभूत ज्ञान से और (३) विग्रह से। सर्वान्तर्यामित्व भगवान् का स्वरूप है। वे सर्वान्तर्यामित्व के द्वारा सर्वत्र व्यापक हैं। यह उनकी स्वरूप-व्याप्ति है, यथा—"उर-प्रेरक रघुबंस-बिभूषन।" (उ० दो० ११२), "सब को प्रभु सब में बसै, सब की गति जान।" (वि० १०७), इत्यादि। भगवान् अपने व्यापक ज्ञान के द्वारा समस्त चराचर जगत् का निरीक्षण करते हैं। यह उनकी ज्ञान व्याप्ति है, यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ।" (अ० दो० २५३), "सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी।" (बा० दो ११८), इत्यादि। सब जगत् भगवान् का शरीर है, यथा—"जगत् सर्वं शरीरं ते।" (वाल्मी० ६।११७।२७), "पादोऽस्य विश्वाभूतानि" (पुरुषसूक्त)। यह जगत् रूप शरीर सर्वत्र है, यही विग्रह-व्याप्ति है, यथा—"बिस्व-रूप रघुबंसमनि" से "मनुज बास सचराचर, रूप राम भगवान्॥" (लं० दो० १५) तक।

फल-दातृत्व—किसी भी साधन के द्वारा भोग एवं मोक्ष की प्राप्ति और किसी देवता एवं ऋषि के वरदान एवं आशिष-द्वारा प्राप्त होनेवाले फलों की सिद्धि ईश्वर के द्वारा ही होती है, यथा—"फलमत उपपत्तेः" (ब्र० सू० ३।२।३७) तथा—"स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥" (गीता ७।२२)

श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है, यथा—"सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फल हृदय बिचारी॥" (अ० दो० ७६), "कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥" (अ० दो० २८१)। इसीसे श्रीनारदजी ने भगवान् को ही स्मरण करके आशिष दी है, यथा—"अस कहि नारद सुमिरि हरि, गिरिजहि दीन्हि असीस॥" (बा० दो० ७०)।

जीवों के कर्मानुसार ही फल देने से ईश्वर में विषमता और निर्दयता का भी प्रसंग नहीं आता, यथा—"वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति।" (ब्र० सू० २।१।३४), अर्थात् परमेश्वर जीवों के किये हुए पूर्व के शुभाशुभ कर्मानुसार देव-मनुष्य आदि की विषम-सृष्टि करता और उसका संहार करता है। अतः प्रत्येक जीव के कर्म ही उसके वैषम्य और संहार में कारण हैं, ईश्वर नहीं। ऐसा ही श्रुतियाँ कहती हैं, यथा—"पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।" (बृह० ४।४।५), अर्थात् पुण्य-कर्म से पुण्य और पाप से पाप होते हैं। अतः, शुभाशुभ सृष्टि जीवों के पूर्वार्जित कर्मानुसार होती है।

शंका—जब कर्म ही देव-मनुष्य आदि सृष्टि का कारण है, तब ईश्वर की ईश्वरता का क्या महत्त्व रह गया?

समाधान—जैसे बीज बोने पर भी, वर्षा के जल बिना अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती वैसे ही कर्मों के होने पर भी परमात्मा के बिना देव मनुष्य आदि के आकार की सृष्टि नहीं हो सकती (ब्र० सू० आनन्दभाष्य २।१।३४), यथा—आबद्धा मानुषाः सर्वे निबद्धाः कर्मणोर्द्वयोः। दैवे पुरुषकारे च परं ताभ्यां न विद्यते॥....पर्जन्यः पर्वते वर्षन्किन्नु साधयते फलम्। कृष्टे क्षेत्रे तथा वर्षन्किन्न साधयते फलम्॥....सुवृष्टे च यथा देवे सम्यक् क्षेत्रे च कर्षिते। बीजं महागुणं भूयात्तथा सिद्धिर्हि मानुषी॥" (महा० सौप्तिक० २।२-७), "दैवं पुरुषकारश्च स्थितावन्योन्यसंश्रयात्। उदाराणां तु सत्कर्म दैवं क्लीवा उपासते॥" (महा० शान्ति० १३६।८२)। तथा महा० अनुशा० ६ में भी इसीका इसी प्रकार विस्तृत विवेचन है।

पुनः जीवों के पूर्व कर्मानुसार ही ईश्वर के संकल्प होते हैं, तदनुसार जीवों की प्रवृत्ति होती है। उन कर्मों का सम्पादन भी जीव ईश्वर की सत्ता में ही करता है। गीता में कहा है, यथा—"यो यो यां यां तनुं....स तया श्रद्धया...." (७।२१-२२) देखिये। जैसे घर के कोने में, जलते हुए दीपक के प्रकाश में, भोजन-शयन आदि कर्म सम्पन्न किये जाते हैं, यद्यपि उन कर्मों में दीपक तटस्थ रहता है, तथापि यह कहा जाता है कि इस दीपक ने मुझसे भोजन आदि व्यवहार अच्छी तरह कराये। वैसे ही ईश्वर की व्यापक सत्ता में जीवों के समग्र व्यवहार होते हैं। दीपक की तरह ईश्वर भी तटस्थ (पाप-पुण्य से अलिप्त) है, फिर भी ऐसा कहा जाता है कि ईश्वर ने अमुक-अमुक कर्म कराये, यथा—"एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमन्वानुनेषत्येष एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो नुनुत्सत एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेश्वरः स म आमेति विद्यात्स म आत्मेति विद्यात्॥" (कौषी० ३।९), अर्थात् जीव से वही उत्तम कर्म कराता है जिसे उत्तम गति देना चाहता है। वही असत्कर्म कराता है जिसे निकृष्ट गति देना चाहता है। वही लोकपाल, लोकाधिपति एवं सर्वेश्वर है, वही मेरी आत्मा है।

प्रश्न—किससे उत्तम कर्म कराता है और किससे निकृष्ट?

उत्तर—"उक्तञ्च स्वयमेव भगवता—तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥" (गीता १०।१०), "तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभा-नासुरीष्वेव योनिषु॥" (गीता १६।१९), इति। यः परमपुरुषाराधनं कुर्वन् स्वयं तु निर्ममः कर्मानुतिष्ठति तं तत्कर्मण्यभिरुचि जनयन सद्बुद्धिप्रदानद्वारा परमात्मैव प्रेरयति। यश्च स्वयमभिमानवान् हिंसादिरूपनिषिद्ध-कर्माण्याचरति तञ्च तथा भूतेष्वेव कर्मसु प्रीतिमुत्पादयन् तत्रैव प्रवर्त्तयतीति भावः। तथा च न परमात्मनो दोषलेशोऽपि न वा विहित प्रतिषिद्धानां कर्मणामपि वैयर्थ्यमिति सर्वं निरवद्यम्।" (ब्र० सू०—आनन्द

भाष्य २।३।४२), अर्थात् गीता के 'तेषां····' एवं 'तानहं···' इन वचनों का आशय यह है कि जो भगवान् का आराधन करते हुए ममत्वरहित कर्मानुष्ठान करते हैं उन्हें भगवान् उस कर्म में रुचि उत्पन्न कराते हुए सद्बुद्धि देकर वैसी ही प्रेरणा करते हैं। और जो अभिमानी हिंसा आदि निषिद्ध कर्मों का आचरण करता है, उसे वे उसी प्रकार के कर्मों में प्रीति उत्पन्न करते हुए वैसे ही प्रेरणा करते हैं। अतएव, इसमें परमात्मा का दोष-प्रसंग कुछ भी नहीं है और न इसमें विधि-निषेध कर्मों की ही व्यर्थता होती है।

जैसे अच्छे राजा की सामान्य दृष्टि प्रजा के हित-पक्ष में ही रहती है, वह शिक्षा-द्वारा प्रजा का उत्कर्ष ही चाहता है, पर विशेष दृष्टि से तो प्रजागण अपने-अपने कर्मानुसार ही सुख-दुःख पाते हैं, वैसे ही ईश्वर भी शास्त्र एवं सत्संग की प्रवृत्ति कराके जीवों का उत्कर्ष ही चाहता है। फिर भी जीव अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःख पाते ही हैं। जैसे राजा के स्वामित्व का महत्त्व रहता ही है, वैसे ईश्वर की ईश्वरता का महत्त्व है ही। जैसे कि ऊपर इसी प्रसंग में श्रुति-प्रमाण से ईश्वर का 'लोकाधिपति···' होना कहा गया है।

इसपर अ० दो० २१८ चौ० ३–८ का भाष्य एवं वि० २३८, २४६ के 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये।

सगुण-निर्गुण-प्रकरण

भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी ने निर्णय किया है—"निर्गता निकृष्टाः सत्वादयः प्राकृता गुणा यस्मात्तन्निर्गुणमिति व्युत्पत्तेर्निकृष्टगुणराहित्यमेव निर्गुणत्वम्। तथैव च—"सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः। स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु॥" (वि० पु० १।६।४४), योऽसौ निर्गुण प्रोक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः। प्राकृतैर्हेय सत्वाद्यैर्गुणैर्हीनत्वमुच्यते॥ प० पु०॥ इत्यादौ प्रतिपादितत्वात्प्राकृत-सत्त्वादिगुणनिषिद्धे सति ब्रह्मणो दिव्यगुणाश्रयत्वसिद्धेः। तादृश दिव्यगुणानाञ्च 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।' (श्वे० ६।८) इत्यादौ स्वाभाविकत्वाभिधानात्प्राकृतहेयगुणरहितत्वेन निर्गुणत्वं, दिव्यगुणवत्त्वेन च सगुणत्वमित्युभयथैकस्यैव ब्रह्मणो निर्देश इति न किञ्चिदनुपपन्नम्।" (ब्र० सू०—आनन्दभाष्य १।१।२), अर्थात् जिसमें सत्वादि प्राकृत गुण नहीं हों, वह निर्गुण है। यही 'सत्त्वादयो···' तथा 'योऽसौ···' इन स्मृति-वाक्यों से भी प्रतिपादित है। प्राकृत सत्त्वादिगुणों के निषिद्ध होने पर ब्रह्म का दिव्य-गुण-आश्रयत्व सिद्ध है। उस तरह के दिव्य गुण भी श्रुति में कहे गये हैं, यथा—'पराऽस्य····' अर्थात् ब्रह्म की पराशक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है, उसके ज्ञान, बल और क्रिया आदि स्वाभाविक हैं। दिव्य-गुणों के स्वाभाविक कहे जाने से प्राकृत हेय गुणों से रहित होना ही निर्गुणत्व है और दिव्य-गुण युक्त होना सगुणत्व है। दोनों प्रकार से एक ही ब्रह्म का निर्देश होता है। तथा—"तत्र यः परमात्मा हि स नित्यं निर्गुणः स्मृतः। स हि नारायणो ज्ञेयः सर्वात्मा पुरुषो हि सः॥ न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा।" (महा० शान्ति० ३४१।१४-१५), अर्थात् परमात्मा सदा ही निर्गुण है उसे नारायण कहते हैं। उसे ही सर्वात्मा जानना चाहिये। जैसे कमल का पत्ता जल से लिप्त नहीं होता वैसे वह भी कर्मफल से लिप्त नहीं होता। (इसमें भी एक ही नारायण भगवान् को निर्गुण और सर्वात्मा पुरुष कहकर सगुण कहा गया है)।

भगवान् को जहाँ निराकार कहा गया है वहाँ प्राकृत आकार का ही निषेध है। दिव्य आकार तो भगवान् का है ही। यदि कहा जाय कि आकार-विशेष मानने से ब्रह्म सावयव होगा, उससे अनित्यत्व का प्रसंग आवेगा तो उसका समाधान यह है कि सावयव पदार्थ वही अनित्य होता है जो अवयवों से बना हो। जैसे, घट अनेक अवयवों से बना है, अतएव अनित्य है। भगवान् का दिव्य विग्रह तो उनकी इच्छा से निष्पन्न है, यथा—"इच्छा मय नर बेष सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे॥" (बा० दो० १५१), "निज इच्छा निर्मित तनु, माया गुन गो पार।" (बा० दो० १९२), "समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्ति-

लेशावृतभूतवर्गः । इच्छागृहीताभिमतोरुदेहस्संसाधिताशेषजगद्धितो यः ॥" (वि० पु० ६।५।८४), अर्थात् वे परमात्मा सम्पूर्ण कल्याण गुणों का स्वरूप हैं । उन्होंने अपनी शक्ति के लेशमात्र से ही सम्पूर्ण प्राणियों को व्याप्त किया है और वे अपनी इच्छा से अपने मन के अनुकूल महान् शरीर धारण कर सारे जगत् का कल्याण साधन करते हैं । "सर्वे शाश्वता दिव्या देहास्तस्य परात्मनः । हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥" (वाराहपुराण) ।

श्रीगोस्वामीजी ने ब्रह्म की स्थिति उपर्युक्त रीति से ही मानी है । इन्होंने स्वतन्त्र रूप से निर्गुण ब्रह्म का प्रसंग कहते हुए उसमें षडैश्वर्य माना है और उसे 'प्रभु' एवं 'अविकारी' भी कहा है । बा० दो० २२ चौ० १–५ देखिये । 'प्रभु' शब्द से ब्रह्म का दिव्य-गुण-विशिष्ट होना और 'अविकारी' शब्द से प्राकृत हेय सत्त्वादि गुणों से रहित होना स्पष्ट है । मनु के प्रसंग में भी 'अगुन अखंड अनंत···' से निर्गुणत्व कहकर फिर उन्हीं के अंश से अनेकों त्रिदेवों का आविर्भूत होना कहा है । पुनः 'सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा ।' कहकर उसके दर्शनों की अभिलाषा की । तब दिव्य विग्रह से ही भगवान् ने अपने दर्शन दिये हैं ।

उसी दिव्य विग्रह के प्रकट होने पर आनन्द से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पूर्ण हो गया । सूर्य भगवान् भी एक महीना उस आनन्द में बेसुध रह गये । उस मर्म को किसीने नहीं जाना । अतः, सारा ब्रह्माण्ड वैसा ही मुग्ध हो गया था ।

श्रीगोस्वामीजी ने "अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा ।" (बा० दो० २२), कहा है और निर्गुण से सगुण होना कहा है, यथा—"निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा ।" (कि० दो० १६), "जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म व्यापक बिरज अज कहि गावहीं ।···सो प्रगट करुनाकंद सोभा-बृंद अग जग मोहई ॥" (अर० दो० ३१), "अगुन अरूप अलख अज जोई । भगत प्रेम-बस सगुन सो होई ॥" (बा० दो० ११५), इत्यादि । इसका रहस्य नाम-वन्दना-प्रसंग में विस्तृत रूप से प्रकट किया गया है । वहाँ निर्गुण रूप के प्रसंग में कहा है, यथा—"अस प्रभु हृदय अछत अविकारी । सकल जीव जग दीन दुखारी ॥" अर्थात् उस षडैश्वर्यपूर्ण प्रभु के बिना जाने ही जीव दुखी हैं, यथा—"आनंद-सिंधु मध्य तव बासा । बिनु जाने कत मरसि पियासा ॥' (वि० १३६) । इस तरह उसे अव्यक्त जनाया है, यथा—"कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव । अव्यक्त जेहि श्रुति गाव ॥" (ल० दो० १११) में यह स्पष्ट भी कहा है ।

इसी निर्गुण अव्यक्त ब्रह्म को वेदों से जानकर मनु-शतरूपा ने आराधन किया है, यथा—"सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा ।" (बा० दो० १४३) । उस समय उनके हृदय में निरन्तर अभिलाषा हुआ करती थी, यथा—"देखिय नयन परम प्रभु सोई ॥ अगुन अखंड···ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई । भगत-हेतु लीला तनु गहई ॥ जो यह बचन सत्य श्रुति भाषा । तौ हमारि पूजिहि अभिलाषा ॥" (बा० दो० १४३) । इस अभिलाषा के साथ आराधन करने पर प्रभु अव्यक्त से व्यक्त (प्रकट) हो गये । उन्हें दर्शन दिये । फिर क्रमशः अपने गुण प्रकट करते संसार का उन्होंने कल्याण किया । यह प्रसंग—"राम-भगत-हित नर-तनु धारी ।" से "राजा राम अवध रजधानी । गावत गुन सुर मुनि बर बानी ॥" (बा० दो० २४), तक कहा गया है । वहाँ अहल्या-प्रसंग के श्रीरामजी के उदारता-गुण से जीवों को कुमति का सुधरना और विश्वामित्र-यज्ञ-रक्षा-प्रसंग के वीर्य-गुण से दुःख-दोष के साथ दुराशा का नाश होना कहा गया है । इसी तरह वहाँ के नवों प्रसंगों में नव गुण कहे गये हैं, जिनके द्वारा मुमुक्षुओं को उत्तरोत्तर अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं । चरम-अवस्था-प्राप्ति—"फिरत सनेह-मगन सुख अपने । नाम-प्रसाद सोच नहिं सपने ॥" पर कही गई है । वहाँ दो दोहों में स्पष्ट रूप में सगुण का प्रसंग है । बा० दो० २२–२४, भाष्य पृ० १५०–१६३ देखिये ।

यों तो ब्रह्म श्रीरामजी में असंख्य गुण हैं, परन्तु आर अवतार लेने पर मुमुक्षुओं के उपयोगी गुणों को प्रकट करके उनके उद्धार का उपाय करते हैं । उन्हीं गुणों के द्वारा साधकों का कल्याण होता है ।

कहा भी है—"सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन-हित तनु धरहीं ॥" (बा० दो० १२१), तथा—"यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥" (गीता २।४६), अर्थात् जैसे सब ओर जलपूर्ण जलाशय से मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है, वह उसमें से उतना ही जल ले लेता है, वैसे ही वेदज्ञ लोग वेदों से प्रयोजन-मात्र (मोक्षसाधनीभूत) भगवान् के गुण ही लेते हैं। इसीलिये भगवान् मुमुक्षुओं के उपयोगी अपने गुणों को स्वयं प्रकट करके दिखाते हैं। यही उनका व्यक्त (सगुण) स्वरूप है।

यों भी समझना चाहिये कि जीव उस परमात्मा की सत्ता में विविध कर्म करते हैं और तदनुसार फल पाते हैं। वह निर्लिप्त भाव से साक्षी-मात्र रहता है, अपनेको प्रकट नहीं करता। यही उसका निर्गुणत्व है, यथा—"जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषू ॥ करम प्रधान बिस्व रचि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा ॥" (अ० दो० २१८)। इसका वर्णन बा० दो० १२ चौ० ३ के भाष्य में श्रुति के प्रमाणों के साथ किया गया है और उ० दो० ११० चौ० २-७ में भी इसका वर्णन है।

पुनः जब भक्त लोग उस (ब्रह्म) के दिव्य गुणों को जानकर प्रेमपूर्वक उसकी आराधना करते हैं तब वह उन्हीं दिव्य गुणों को प्रकट कर उनके द्वारा भक्तों का अभीष्ट सिद्ध करता है, यथा—"राम सगुन भये भगत प्रेम-बस।" (अ० दो० २१८), "प्रेम ते प्रभु प्रगटै जिमि आगी।" (बा० दो० १८४), "उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥" (श्रीरामतापनीय उ०)। यही व्यक्त भाव उसका सगुणत्व है।

सारांश यह है कि ब्रह्म एक ही है उसका अव्यक्त भाव निर्गुणत्व और व्यक्त भाव सगुणत्व है, यथा—"व्यक्तमव्यक्त गतभेद विष्णो।" (वि० ५४)—इसका 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये। "जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म व्यापक बिरज अज कहि गावहीं।...सो प्रगट करुनाकंद सोभाबृंद अग जग मोहई ॥" (अर० दो० ३१)। बा० दो० ११५ चौ० १-३, कि० दो० १६ चौ० २, लं० दो० १११ छं० ७ तथा—"जे ब्रह्म अज अद्वैत..." (उ० दो० १२) भी देखिये।

ईश्वर की पञ्चधा स्थिति

ईश्वर की स्थिति पाँच प्रकार की है, यथा—"परो व्यूहश्च विभवो नियन्ता सर्वदेहिनाम् ॥ अर्चावतारश्च तथा दयालुः पुरुषाकृतिः। इत्येवं पञ्चधा प्राहुर्मां रहस्यविदो जनाः ॥" ऐसा स्मृतियों में कहा गया है। पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार—ये पाँच प्रकार हैं।

पर—जो अनेक पार्षदों, नित्य एवं मुक्त जीवों से परिवेष्टित श्रीजानकीजी के साथ साकेतलोकनिवासी भगवान् श्रीरामजी का द्विभुज रूप है, वह 'पर' है, यथा—"स्थूलमष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्ममेव चतुर्भुजम्। परं तु द्विभुजं प्रोक्तमाद्यरूपमिदं हरेः ॥" (आनन्द सं०), "वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।" (बा० मं० ६)। इन्हींसे नाना अवतार हुआ करते हैं।

व्यूह—जो सब अवतारों का कन्दभूत पर (वासुदेव) परमात्मा है, उससे संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये तीन रूप होकर कार्य करते हैं। कहीं-कहीं इन्हें चतुर्व्यूह भी कहा गया है, उसका तात्पर्य इसी वासुदेव पर्यायी पर परमात्मा को व्यूह में परिगणित करने में है।

विभव—अवतारों को विभव कहते हैं। यद्यपि विभव अनन्त हैं, तथापि उनमें मुख्य और गौण ये दो भेद माने जाते हैं। साक्षात् अवतारों को मुख्य और आवेशावतारों को गौण कहा जाता है। आवेशावतारों में दो भेद कहे जाते हैं—स्वरूपावेश और शक्त्यावेश। परशुराम आदि स्वरूपावेश और ब्रह्मा, शिव आदि शक्त्यावेश हैं। आवेशावतार स्वरूपतः गौण नहीं, किन्तु भगवदिच्छा से गौण हैं।

श्रीरामजी और श्रीकृष्णजी आदि मुख्य विभव हैं। श्रीरामजी जब श्रीसीताजी के साथ नित्य

परधाम में विराजमान रहते हैं तब उन्हें 'पर' कहा जाता है। जब वे करुणावश अवतार-रूप में पृथ्वी पर पधारते हैं, तब 'विभव' कहे जाते हैं।

अवतार दस हैं—मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण, बुद्ध और कल्की। विनयपत्रिका के ५२ वें पद में दसों के वर्णन विशेष रूप से उसके 'सिद्धान्त-तिलक' में देखिये।

अन्तर्यामी—स्वर्ग-नरक आदि सर्वत्र जो सुहृद्भाव से हृदय में स्थित भगवत्स्वरूप है, उसे अन्तर्यामी कहते हैं, यथा—"तू निज कर्म-जाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो॥" (वि० १३६), "परिहरि हृदय कमल रघुनाथहि बाहेर फिरत बिकल भयो धायो॥" (वि० २४४), "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।" (गीता १८।६१)।

अर्चावतार—प्रतिमावतार को अर्चा कहते हैं, यथा—"अर्चावतारोऽपि च देशकालप्रकर्षहीनः श्रित सम्भवश्च। सहिष्णुरप्राकृतदेहयुक्तः पूर्णोऽर्चकाधीन समात्मकृत्यः॥" (वैष्णव-मताब्ज-भास्कर), अर्थात् देश-काल की उत्कृष्टता से रहित, आश्रिताभिमत, अर्चक के सम्पूर्ण अपराधों को क्षमा करनेवाले, दिव्य देह से युक्त, षडैश्वर्यपूर्ण एवं गृह, ग्राम, नगर, प्रदेश और पर्वत आदि में वर्त्तमान तथा अपने समस्त कृत्यों में अर्चक की अधीनता स्वीकार करनेवाले मूर्त्ति-विशेष को अर्चावतार कहते हैं।

अर्चावतार चार प्रकार के हैं—स्वयंव्यक्त, दैव, सैद्ध और मानुष। यथा—"स्वयं व्यक्तश्च दैवश्च सैद्धो मानुष एव च। देशादौ हि प्रशस्ते स वर्त्तमानश्चतुर्विधः॥" (वैष्णव-मताब्ज-भास्कर), अर्थात् प्रशस्त देश आदि में वर्त्तमान अर्चावतार स्वयं व्यक्त, दैव, सैद्ध और मानुष, इन भेदों से चार प्रकार के हैं।

जो विग्रह स्वयं प्रादुर्भूत हुआ हो, वह स्वयं व्यक्त है। जो देवों के द्वारा स्थापित हो, वह दैव है। जो सिद्धों के द्वारा स्थापित हो, वह सैद्ध है और जो मनुष्यों के द्वारा स्थापित हो, वह मानुष है।

आदि-ईश्वर के पाँचो प्रकारों का क्रमिक आविर्भाव एवं उनकी उपासना का रहस्य भी श्रीगोस्वामीजी ने बा० दो० १२ चौ० ३-५ में सूक्ष्मतया मार्मिक रीति से वर्णित किया है। भाष्य पृ० ६१-६३ देखिये। और भी—अर्चावतार भाष्य पृ० १३४, अ० दो० १२८ चौ० १-५, और दो० ३२५। विभव लं० दो० १०८ चौ० ७, अवतार-हेतु-प्रकरण पृ० भाष्य पृ० ४४२-५६८। व्यूह बा० दो० २० चौ० ४-६। 'पर' बा० मं० श्लोक ६ एवं कैलास-प्रकरण पृ० ३८६-४४२। अन्तर्यामी—बा० दो० २२ चौ० ६-७ देखिये।

उपर्युक्त 'पर', व्यूह आदि पाँचो अवस्थाओं में भगवान् श्रीजी के साथ ही रहते हैं। श्रीजी का विरह कभी नहीं होता। जैसा कि कहा है—"नित्यैवैषा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी। यथा सर्वगतो विष्णु-स्तथैवेयं द्विजोत्तम।" (वि० पु० १।८।१७), देवत्वे देवदेहेयं मनुष्यत्वे च मानुषी। विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषाऽऽत्मनस्तनुम्॥" (वि० पु० १।६।१४५), तथा "अनन्या हि मया सीता भास्करेण प्रभा यथा॥··· न विहातुं मया शक्या कीर्तिरात्मवता यथा।" (वाल्मी० ६।११८।२०-२१), "गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न। बंदउँ सीताराम-पद,···" (बा० दो० १८)—इसका भाष्य देखिये।

इस प्रकार ईश्वर की पञ्चधा स्थिति भी ग्रन्थकार ने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ही मानी है।

तात्पर्य-निर्णय

इस ग्रन्थ (श्रीरामचरित मानस) का तात्पर्य ज्ञान-विराग-युक्त भक्ति के प्रतिपादन का है। उपक्रमोपसंहार आदि छहों लिङ्गों से इसका निर्णय ग्रन्थ के अन्त में 'सतपंच चौपाई मनोहर' के प्रसंग में किया गया है। वहीं पर देखिये। यह भी विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की ही दृष्टि से है।*

---

* इन सब विषयों का विशेष रीति से वर्णन एवं शंका-समाधानपूर्वक निर्णय मेरे "मानस-सिद्धान्त-विवरण" ग्रन्थ में किया गया है। पुनः हमें यह आशा है कि इस 'सिद्धान्त-भाष्य' के आद्योपान्त मनन करने से मानसकार के सिद्धान्त-विषय में यथासम्भव पाठक का प्रवेश हो जायगा। —"भाष्यकार"

श्रीगोस्वामीजी की प्रामाणिक गुरु-परम्परा

मारवाड़ देश के झीथरा स्थान में श्रीकूवाजी की गद्दी है। श्रीकूवाजी के समकालीन गुरु-भाई श्रीरघुनाथदासजी महाराज ने श्रीकूवाजी की जीवनी लिखी है। वह उक्त गद्दी में वर्त्तमान है। वह संस्कृत में है, उसके बीच-बीच में भाषा के दोहे भी हैं। उसमें श्रीनरहरि दासजी के प्रथम शिष्य श्रीकेवलराम कूवाजी लिखे गये हैं। द्वितीय में श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी का नाम आया है, यथा—"द्वितीये नरहरि दास के, भये जो तुलसीदास। रामायण शुचि ग्रंथ रचि, जग में कियो प्रकास॥" उसमें यह भी लिखा है कि श्रीकूवाजी का जन्म संवत् १५४५ है। इससे वे श्रीगोस्वामीजी के समकालीन भी थे, क्योंकि श्रीगोस्वामीजी का जन्म संवत् मयङ्क-टीकाकार के मत से संवत् १५५४ है और अन्य लेखकों के मत से १५८९ है।

यह परम्परा इस प्रकार है—

१ भगवान् श्री रामानन्दाचार्यजी
२ अनन्त श्रीस्वामी सुरसुरानन्दजी
३ ,, ,, माधवानन्दजी
४ ,, ,, गरीबानन्दजी
५ ,, ,, लक्ष्मीदासजी
६ ,, ,, गोपालदासजी
७ ,, ,, नरहरिदासजी

८ ,, श्रीकेवल राम कूवाजी श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी

श्रीगोस्वाजी ने गीतावली रामायण में एक पद्य लिखा है, यथा—"जागिये कृपानिधान जानराय रामचन्द्र···" इसके 'जानराय' पद से स्पष्ट होता है कि यह पद श्रीगोस्वामीजी ने अपने गुरु-भाई के सम्बन्ध से झीथरा स्थान में रहते हुए वहीं पर निर्माण किया है। झीथरा गद्दी के श्रीठाकुरजी का नाम 'जानराय' है, यह बहुत प्रसिद्ध है। इसकी कथा भक्तमाल की टीका में भी है, यथा—"धरयो जानराय नाम जानि लई ही की बात" (भ० टी० क० १२४)।

इसी परम्परा को डाक्टर ग्रियर्सन साहब ने बहुत पहले लिखा है। जिसकी, उपर्युक्त गद्दी के प्रमाण को नहीं जानते हुए, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने समालोचना की है कि श्रीनाभाजी से श्रीगोस्वामीजी की भेंट हुई थी। श्रीनाभाजी श्रीरामानन्दाचार्य से पाँचवीं पीढ़ी में हैं, तब श्रीगोस्वामीजी की आठवीं पीढ़ी में होना युक्त नहीं है। (सभा की प्रति अभी खोजने पर मुझे नहीं मिली। सुनी हुई बात मैंने लिखी है)। उक्त सभा के सभापति बाबू श्यामसुन्दर दासजी 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं—"श्रीरामानन्दाचार्यजी का समय सं० १३५६ से १४६७ तक है।···अनुमान से सं० १४५० के लगभग उनके द्वादश शिष्यों का शिष्य होना मान्य है।" अर्थात् उक्त स्वामीजी की ९६ वर्ष की आयु के बाद शिष्य होने लगे और कुल ११ वर्षों में ही वे सब कुछ करके साकेत पधारे। उनका यह अनुमान कोई भी नहीं मान सकता।

रही नाभाजी के समकालीन होने की बात।

इसकी मीमांसा इस प्रकार होगी कि भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी का जन्म संवत् १३५६ है और श्रीगोस्वामीजी का, मानस के मयङ्क-टीकाकार के मत से, सं० १५५४ है। शेष लोगों ने १५८९ लिखा है। मयङ्ककार के मत से २०० वर्षों का और अन्यान्य लोगों के मत से २३३ वर्षों का अन्तर है। कम-से-कम २०० वर्ष का अन्तर तो है ही। इसमें श्रीनाभाजी पाँचवीं पीढ़ी में हैं। अतः, इनकी ५० वर्ष की प्रत्येक पीढ़ी लेने से चार पीढ़ियाँ बीतीं। ऐतिहासिक दृष्टि से गृहस्थों की वंश-परम्पराएँ सामान्यतया २५ वर्ष की प्रत्येक पीढ़ी ली जाती है। साधुओं की गुरु-परम्परा की प्रत्येक पीढ़ी ५० वर्ष तक मान्य हो सकती है।

उपर्युक्त परम्परा में श्रीगोस्वामीजी श्रीरामानन्दाचार्यजी से आठवीं पीढ़ी में हैं। अतः, दो सौ वर्षों में सात पीढ़ियों के बीतने में प्रत्येक पीढ़ी २९ वर्ष की ही पड़ती है। सामान्य रीति से यह ठीक है। साधुओं की परम्परा में अपने वर्त्तमान काल में आज दिन भी प्रायः ४-५ पीढ़ियाँ बीत जाती हैं। अधिक पीढ़ियों का होना कुछ भी असंगत नहीं, प्रत्युत कम होना ही असंगत है। यदि ५० वर्ष से भी अधिक में पीढ़ियाँ पड़ें, तो उन्हें ठीक नहीं जानना चाहिये, परन्तु हमारी ऊपर दी हुई परम्परा में कोई दोष नहीं है।

परम्परा के विषय में मतभेद होने का कारण यह है कि श्रीगोस्वामीजी ने मानस के मंगलाचरण में 'नर रूप हरि' कहकर 'नरहरि दास' मात्र अपने श्रीगुरुजी के नाम का सङ्केत किया है। इस नाम के पाँच महात्मा भक्तमाल में कहे गये हैं। इससे लोगों में दो तीन मत हो गये हैं। किन्तु, उपर्युक्त परम्परा एक बड़ी भारी गद्दी की है और डाक्टर ग्रियर्सन से लेकर अभी तक के प्रायः प्रतिष्ठित जीवनी-लेखकों ने इसको उद्धृत किया है। पर वे इसके दृढ़ मूल को न जानकर इसमें संशय कर बैठते थे। पुनः चिरान (छपरा) गादी के महान्त श्रीयुगल प्रिया शरणजी कृत रसिक प्रकाश भक्तमाल के टीकाकार श्रीवासुदेवदास उपनाम जानकी रसिक शरणजी (ग्रन्थकार के शिष्य) ने मू० २१ वें पद्य की टीका क० १०४ में लिखा है—"तिनके विमल नरहरि दास रस रास जिनके विदित कूवा केवल अधार हैं। कूवाजी के छोटे गुरु भाई श्री गोसाईं जिन रामायन गाथा गाई महिमा अपार हैं॥" इसमें उक्त परम्परा में ही श्रीगोस्वामीजी कहे गये हैं। वह भक्तमाल वि० संवत् १८९६-१८९८ में लिखी गई है, संवत् १९१९ में टीका लिखी गई है जिसमें इस परम्परा का प्रमाण है। यह अप्रैल सन् १८९३ ई० में लन्दन प्रिंटिंग प्रेस-लखनऊ में छपी है। श्रीगोस्वामीजी के शिष्य रघुवर दासजी ने भी श्रीगोस्वामीजी की बड़ी जीवनी लिखी है जिसमें १३३९६२ छन्द हैं। इसका कुछ भाग बाबू श्यामसुन्दर दासजी (काशी नागरी प्र० सभा) ने उद्धृत किया है, वह ग्रन्थ पूरा नहीं मिलता। उसका कुछ विशेष अंश श्रीबाबा बाचा, मैरीटार, पो० बाँसडीह, जि० बलिया के यहाँ है। उसमें भी यही परम्परा प्रामाणिक रूप में लिखी गई है। इन प्रामाणिक लेखों से अब मैं आशा करता हूँ कि इसके विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जायगा। —'भाष्यकार'

नवाह्न और मासिक विराम

नवाह्न	मासिक	विरामों के स्थान*			दोहा-संख्या
	१	राम-चरित - राकेस कर, सरिस सुखद सब काहु	बा०	दो०	३२
	२	बेदसिरा मुनि आइ तब, सबहि कहा समुझाइ	,,	,,	७३
	३	मगन ध्यान रस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह	,,	,,	१११
१	×	हरि गुन नाम अपार, कथा रूप अगनित अमित	,,	,,	१२०
	४	यह इतिहास पुनीत अति, उमहि कहा बृषकेतु	,,	,,	१५२
	५	मन संतोष सबन्हि के, जहँ तहँ देहिं असीस	,,	,,	१९६
	६	सतानंद - पद - बंदि प्रभु, बैठे गुरु पहिं जाइ	,,	,,	२३९
२	×	उदित उदय गिरि मंच पर, रघुबर बाल पतंग	,,	,,	२५४
	७	देवन्ह दीन्ही दुंदुभी, प्रभु पर बरषहिं फूल	,,	,,	२८५
	८	मुदित अवधपति सकल सुत, बधुन्ह समेत निहारि	,,	,,	३२५
	९	सिय - रघुबीर - बिबाह, जे सप्रेम गावहिं सुनहिं	,,	,,	३६१
३	×	प्रमुदित पुर-नर-नारि सब, सजहि सुमंगल चार	अ०	दो०	२३
	१०	द्वार भीर सेवक सचिव, कहहिं उदित रवि देखि	,,	,,	३७
	११	सुद्ध सच्चिदानंद मय, कंद भानुकुल केतु	,,	,,	८९
	१२	तात बचन पुनि मातु-हित, भाइ भरत अस राउ	,,	,,	१२५
४	×	तब बसिष्ठ मुनि समय सम, कहि अनेक इतिहास	,,	,,	१५६
	१३	मातु भरत के बचन मृदु, सुनि पुनि उठी सँभारि	,,	,,	१६४
	१४	तनु पुलकेउ हिय हरष सुनि, बेनि - बचन अनुकूल	,,	,,	२०५
	१५	भोर भये रघुनंदनहि, जो मुनि आयसु दीन्ह	,,	,,	२४७
	१६	बार बार मिलि भेंटि सिय, बिदा कीन्हि सनमानि	,,	,,	२८७
५	×	राखि राम-रुख धरम ब्रत, पराधीन मोहि जानि	,,	,,	२९३
	१७	भरत-चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं	,,	,,	३२६

नवाह्न	मासिक	विरामों के स्थान※	दोहा-संख्या
	१८	हरषित बरषहिं सुमन सुर, बाजहिं गगन निसान	अर० दो० २०
	१९	दीप-सिखा-सम जुवति-तन, मन जनि होसि पतंग	,, ,, ४६
६	×	बदरी बन कहँ सो गई, प्रभु आज्ञा धरि सीस	कि० ,, २५
	२०	नीलोत्पल तनु स्याम, काम कोटि सोभा अधिक	,, ,, ३०
	२१	निमिष-निमिष करुनानिधि, जाहिं कल्प सम बीति	सुं० ,, ३१
	२२	सकल सुमंगल - दायक, रघुनायक - गुन - गान	,, ,, ६०
	२३	रिपु-बल धरषि हरषि कपि, बालि - तनय बलपुंज	लं० ,, ३४
७	×	कछु मारे कछु घायल, कछु गढ़ चढ़े पराइ	,, ,, ४६
	२४	निसिचर अधम मलाकर, ताहि दीन्ह निज धाम	,, ,, ७०
	२५	मुरुछा बिगत भालु कपि, सब आये प्रभु पास	,, ,, ९७
	२६	यह कलिकाल मलायतन, मन करि देखु बिचार	,, ,, १२०
८	×	ज्ञान गिरा गोतीत अज, माया - मन - गुन पार	उ० ,, २५
	२७	एहि बिधि नगरनारिनर, करहिं राम - गुन - गान	,, ,, ३०
	२८	जथा अनेक बेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ	,, ,, ७२
	२९	सुनि सिव बचन हरषि गुरु, एवमस्तु इति भाखि	,, ,, १०९
९	३०	पुण्यं पापहरं सदाशिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं.....	अन्तिम श्लोक

इन विराम-स्थलों में प्रायः रामायणी लोगों में मतभेद रहता है। इनमें विचारना यही है कि नित्य के लिये बराबर-बराबर पाठ पड़ें और विश्राम अच्छे स्थल पर हों। किसी-किसीका ऐसा भी मत है कि मासिक पाठ के एक दिन के पाठ में काण्ड का उल्लंघन भी न करना पड़े। मेरे उपर्युक्त निबन्ध में इसका भी निर्वाह हो गया है और नित्य के लिये पाठ भी बराबर हैं।

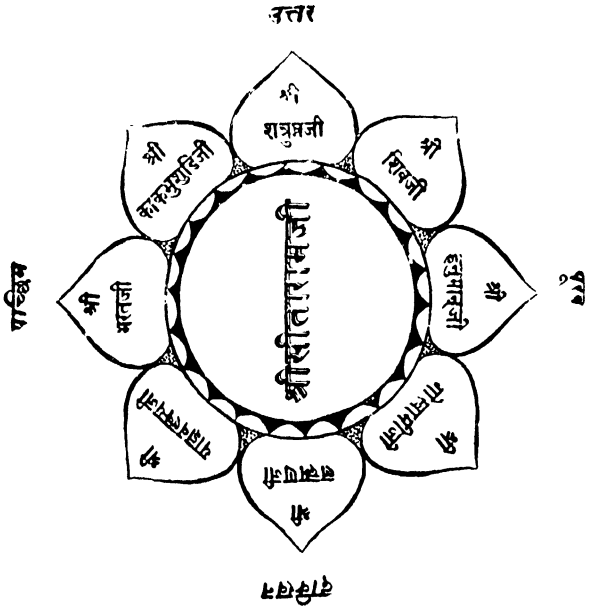
नोट—※ जिन दोहों एवं सोरठों पर विराम हैं, उनकी पहली पंक्ति ही यहाँ दी गई है, परन्तु पाठ इनके अन्तिम चरण पर समाप्त होते हैं।

पारायण-विधि

श्रीरामचरितमानस का विधिपूर्वक पाठ करनेवाले सज्जनों के लिये सामान्य और विशेष दो प्रकार की विधियाँ हैं। नवाह्न और मास-परायण—दोनों में इनकी आवश्यकता है।

"सामान्य विधि" यह है कि पाठ करनेवाला पाठ करने बैठे। जो नवाह्न एवं मासिक-परायण के विराम-स्थान इसके पूर्व में बतलाये गये हैं, उनमें क्रमशः एक का प्रति दिन पाठ करता हुआ नवाह्न का नौ दिन में एवं मासिक का एक मास में सम्पूर्ण पाठ समाप्त करे।

"विशेष विधि" इस प्रकार है कि पवित्र स्थान में एक चौकी को दिव्य वस्त्रादि से सुसज्जित करके उसपर श्रीचूर्ण (रोली) से अष्टदल कमलाकार यन्त्र बनावे। उस यन्त्र के आग्नेय, नैर्ऋत्य, वायव्य और ईशान कोणवाले चार दलों पर श्रीतुलसीदासजी, श्रीयाज्ञवल्क्यजी, श्रीकाकभुशुण्डीजी और श्रीमहादेवजी—इन श्रीमन्मानस के चारो आचार्यों का पूजन करे। दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन तीन दिशावाले दलों पर श्रीलक्ष्मणजी, श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी इन तीनों श्रीप्रभु के भ्राताओं का शक्तियों के साथ पूजन करे और पूर्व दिशावाले दल पर श्रीहनुमानजी का अर्चन करे। यन्त्र की मध्य कर्णिका में परात्पर प्रभु साकेताधीश्वर श्रीसीतारामजी का पूजन करे। यन्त्र का चित्र और पूजा के मन्त्र आगे दिये जाते हैं—



नमस्ते तुलसीदास रामभक्ति महोदधे ।
अग्निकोणे समाविश्य पूजां चेमां गृहाण मे ॥१॥ ॐ तुलसीदासाय नमः
याज्ञवल्क्य नमस्तुभ्यं रामतत्त्वप्रदर्शक ।
नैर्ऋत्ये तिष्ठ विप्रेन्द्र संगृहाण ममार्चनम् ॥२॥ ॐ याज्ञवल्क्याय नमः
भो भुशुण्डिन् नमस्तुभ्यं रामभक्ति दृढव्रत ।
वायव्ये ह्युपविश्याथ प्रतिगृह्णीष्व मेऽर्चनम् ॥३॥ ॐ भुशुण्डिने नमः
गौरीपते नमस्तुभ्यमिहागच्छ महेश्वर ।
ईशाने तिष्ठ देवेश गृहाण मम पूजनम् ॥४॥ ॐ गौरीपतये नमः
श्रीलक्ष्मण नमस्तुभ्यमिहागच्छ सहप्रियः ।
याम्यभागे समातिष्ठ पूजनं संगृहाण मे ॥५॥ ॐ सपत्नीकाय लक्ष्मणाय नमः
श्रीभरत नमस्तुभ्यमिहागच्छ सहप्रियः ।
पीठस्य पश्चिमे भागे तिष्ठ पूजां गृहाण मे ॥६॥ ॐ सपत्नीकाय भरताय नमः
श्रीशत्रुघ्न नमस्तुभ्यमिहागच्छ सहप्रियः ।
पीठकस्योत्तरे भागे पूजनं स्वीकुरुष्व मे ॥७॥ ॐ सपत्नीकाय शत्रुघ्नाय नमः
श्रीहनुमन्नमस्तुभ्यमिहागच्छ कृपानिधे ।
पूर्वभागे समातिष्ठ पूजनं स्वीकुरु प्रभो ॥८॥ ॐ हनुमते नमः

अथ प्रधानपूजा च कर्त्तव्या विधिपूर्वकम् । पुष्पाञ्जलिं गृहीत्वा तु ध्यानं कुर्यात्परस्य च ॥९॥
रक्ताम्भोजदलाभिरामनयनं पीताम्बरालंकृतम्, श्यामाङ्गं द्विभुजं प्रसन्नवदनं श्रीसीतयाशोभितम् ॥
कारुण्यामृतसागरं प्रियगणैर्भ्रात्रादिभिर्भावितम्, वन्दे विष्णुशिवादिसेव्यमनिशं भक्तेष्टसिद्धिप्रदम् ॥१०॥
आगच्छ जानकीनाथ जानक्या सह राघव । गृहाण मम पूजां च वायुपुत्रादिभिर्युतः ॥११॥
सुवर्णरचितं राम दिव्यास्तरण शोभितम् । आसनं हि मया दत्तं गृहाण मणिचित्रितम् ॥१२॥
इदं पाद्यं मया दत्तं दिव्यं नरवरोत्तम । प्रसीद जानकीनाथ गृहाण सम्मुखो भव ॥१३॥
दिव्यौषधिरसोपेतं दिव्यसौरभ्यसंयुतम् । तुलसीपुष्पदर्भाढ्यमर्घ्यं मे प्रतिगृह्यताम् ॥१४॥
सुगन्धवासितं दिव्यं निर्मलं सरयूदकम् । गृहाणाचमनं नाथ जानक्या सह राघव ॥१५॥
नमो रामाय भद्राय तत्त्वज्ञानस्वरूपिणे । मधुपर्कं गृहाणेमं जानकीपतये नमः ॥१६॥
पञ्चामृतं मयानीतं पयो दधि घृतं मधु । युतं शर्करया देव गृहाण जगतीपते ॥१७॥
दिव्य तीर्थाहृतैस्तोयैस्सर्वौषधिसमन्वितैः । स्नापयामि अहं भक्त्या गृह्यतां जानकीपते ॥१८॥
सन्तप्तकाञ्चनप्रख्यं पीताम्बरमिदं हरे । संगृहाण जगन्नाथ रामचन्द्र नमोस्तुते ॥१९॥
यज्ञोपवीतं सौवर्णं मया दत्तं रघूत्तम । गृहाण सम्मुखो भूत्वा प्रसीद करुणानिधे ॥२०॥
किरीटं कुण्डलं हारं कङ्कणाङ्गदनूपुरम । नानारत्नमयं त्वङ्गे भूषणं प्रतिगृह्यताम् ॥२१॥
प्रधानदेवनीयश्च सर्वमङ्गलकर्मणि । प्रगृह्यतां दीनबन्धो गन्धोऽयं मङ्गलप्रद ॥२२॥
मलयाचलसंभूतं शीतमानन्दवर्द्धनम् । काश्मीरघनसाराढ्यं चन्दनं प्रतिगृह्यताम् ॥२३॥
नमः श्रीरामचन्द्राय नमो मङ्गलमूर्त्तये । उत्तरीयमिदं वस्त्रं गृहाण करुणानिधे ॥२४॥
कोमलानि सुगन्धीनि मञ्जरी संयुतानि च । तुलस्याः सुदलान्येव गृहाण रघुवल्लभ ॥२५॥
सौरभाणि सुमाल्यानि सुपुष्पपरचितानि च । नानाविधानि पुष्पाणि गृह्यतां जानकीपते ॥२६॥
दूर्वादलसमायुक्तं पत्रं पुष्पं सहांकुरम् । यवं तिलं महाभाग गृह्यतां सीतया सह ॥२७॥
नमः श्रीजानकीनाथ सौन्दर्यादिगुणाम्बुधे । पादगुल्फादिष्वङ्गेषु ह्यङ्गपूजां गृहाण मे ॥२८॥

वनस्पतिरसोत्पन्नं सुगन्धाढ्यं मनोहरम्। धूपं गृहाण देवेश जानक्या सह राघव ॥२९॥
घृतवर्त्तिसमायुक्तं कर्पूरादिसमन्वितम्। दीपं गृहाण देवेश मम सिद्धिप्रदो भव ॥३०॥
पूपमोदकसंयावपयः पक्वादिकं वरम्। निर्मितं बहुसंस्कारैर्नैवेद्यं प्रतिगृह्यताम् ॥३१॥
शीतलं स्वादु शुद्धं च परितृप्तिकरं जलम्। समस्त देवदेवेश प्रीत्यर्थं प्रतिगृह्यताम् ॥३२॥
सर्वौषधिरसोपेतं सौरभं सरयूजलम्। आचम्यं च मया दत्तं गृहाण करुणानिधे ॥३३॥
इदं फलं मया देव स्थापितं पुरतस्तव। तेन मे सकला प्राप्तिर्भवेज्जन्मनि जन्मनि ॥३४॥
ताम्बूलं पूगसंयुक्तं चूर्णखादिरसंयुतम्। लवङ्गादियुतं दिव्यं राघव प्रतिगृह्यताम् ॥३५॥
आञ्जनेय महाभाग राम-भक्तिमहोदधे। प्रसादं रामचन्द्रस्य संगृहाण प्रसीद मे ॥३६॥
भ्रातृसुग्रीवकादिभ्यो देवेभ्यश्च यथार्हतः। प्रसादो रामचन्द्रस्य देयस्तुष्यन्ति तेन वै ॥३७॥
नृत्यगीतादि वाद्यादि पुराणपठनादिभिः। राजोपचारैरखिलैः सन्तुष्टो भव राघव ॥३८॥
कर्पूरवर्त्तिसंयुक्तं गोघृतेन सुपूरितम्। नीराजनं गृहाणेदं कृपया भक्तवत्सल ॥३९॥
मणिसौवर्णमाल्यैश्च युक्तं पुष्पाञ्जलिं प्रभो। गृहाण जानकीनाथ कृपया भक्तवत्सल ॥४०॥
श्रीफलं स्वादु दिव्यं च सुधाधिकतरं प्रियम्। सदक्षिणं गृहाणेदं प्रणतार्त्तिहर प्रभो ॥३१॥

श्रीवल्लभानन्त जगन्निवास श्रीराम राजेन्द्र नमो नमस्ते।
त्वया सनाथं कुरु मामनाथं नाथ प्रभो दीनदयालुमूर्त्ते ॥४२

समस्तैरुपचारैश्च या पूजा तु मया कृता। सा सर्वा पूर्णतां यातु अपराधं क्षमस्व मे ॥४३॥
यानि कानि च पापानि जन्मान्तरकृतानि च। तानि सर्वाणि नश्यन्तु प्रदक्षिण पदे-पदे ॥४४॥

राजेन्द्रपुत्राय परात्पराय स्वच्छाय सस्मेरशुभाननाय।
श्यामाय रामाय सहप्रियाय नमः सदाभीष्टफलप्रदाय ॥४५॥
सहप्रियस्त्वं हृदये वस प्रभो मुखे यशो नामगुणानुवादनम्।
प्रीत्यार्चनं ते करवाणि सन्ततं प्रदेहि मह्यं कृपया कृपाम्बुधे ॥४६॥

दयाब्धे जानकीनाथ महाराज कुमारक। ममाभीष्टं कुरुष्वाद्य शरणागतवत्सल ॥४७॥
आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम्। पूजां चैव न जानामि त्वं गतिः परमेश्वर ॥४८॥

इस प्रकार पूजन समाप्त करके हाथ में जल लेकर नीचे लिखा हुआ विनियोग करे—

ॐ अस्य श्रीमन्मानसरामचरितस्य श्रीशिव-काकभुशुण्डि-याज्ञवल्क्य-गोस्वामितुलसीदासाः ऋषयः चतुष्पाद्यादीनि छन्दांसि श्रीरामो देवता श्रीराम-नाम बीजं भवरोग हारिणी शक्तिः मम निरस्ताशेषविघ्नतया श्रीराम-नाम प्रीतिपूर्वक सकल मनोरथ-सिध्यर्थं पाठे विनियोगः ॥

फिर

श्रीरामाय नमः, श्रीरामभद्राय नमः, श्रीरामचन्द्राय नमः।

इन तीनों मन्त्रों से आचमन कर युगल बीज मन्त्र से प्राणायाम करे। इसके बाद नीचे लिखी चौपाइयों से करन्यास और अंगन्यास करे—

जग मंगल गुनग्राम राम के। दानि मुकुति धन धर्म धाम के ॥ अंगुष्ठाभ्यां नमः
राम-राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहि न पाप-पुंज समुहाहीं ॥ तर्जनीभ्यां नमः
राम सकल नामन्हते अधिका। होहु नाथ अघ खग गन बधिका ॥ मध्यमाभ्यां नमः
उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं ॥ अनामिकाभ्यां नमः
सनमुख होइ जीव मोहि जबही। जन्म कोटि अघ नासहिं तबही ॥ कनिष्ठिकाभ्यां नमः
मामभिरक्षय रघुकुल-नायक। धृत बर चाप रुचिर कर सायक ॥ करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः

जग मंगल गुनग्राम राम के। दानि मुकुति धन धर्म धाम के॥ हृदयाय नमः
राम-राम कहि जे जमुहाहीं। तिनहिं न पाप-पुंज समुहाहीं॥ शिरसे स्वाहा
राम सकल नामन्ह ते अधिका। होहु नाथ अघ-खग-गन-बधिका॥ शिखायै वषट्
उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं॥ कवचाय हुं
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥ नेत्राभ्यां वौषट्
मामभिरक्षय रघुकुल-नायक। धृतबर चाप रुचिर कर सायक॥ अस्त्राय फट्

फिर निम्नलिखित चौपाइयों से प्रभु का ध्यान करे—

मामवलोकय पंकज लोचन। कृपा बिलोकनि सोच बिमोचन
नील तामरस स्याम काम अरि। हृदय कंज मकरंद मधुप हरि
जातुधान बरूथ बल भंजन। मुनि सज्जन रंजन अघ गंजन
भूसुर ससि नव बृंद बलाहक। असरन सरन दीनजन गाहक
भुजबल बिपुल भार महि खंडित। खर दूषन बिराध बध पंडित
रावनारि सुख रूप भूपबर। जय दसरथ कुल कुमुद सुधाकर
सुजस पुरान बिदित निगमागम। गावत सुर मुनि संत समागम
कारुनीक ब्यलीक मद खंडन। सब बिधि कुसल कोसलामंडन
कलिमल मथन नाम ममताहन। तुलसिदास प्रभु पाहि प्रनत जन

तत्पश्चात् श्रीराम-मन्त्र की एक माला जपकर पाठ प्रारम्भ करे, विश्राम पर पाठ समाप्त करके श्रीराम-मन्त्र की एक माला फिर जपे और अष्टांग धूप वा यव तिल आदि से हवन करे।

जिस दिन पाठ समाप्त हो उस दिन यव, तिल, शक्कर आदि के सवा दो सेर, या सवा पाँच सेर साकल्य से आम की समिध के साथ १००० आहुति हवन करे और हवन से क्रमशः दशांश-दशांश तर्पण, मार्जन और ब्राह्मण-भोजन करावे।

पाठ करनेवाले को ब्रह्मचर्य व्रत से रहना चाहिये और दिन में एक बार सात्विक भोजन करना चाहिये।"

—अनन्त श्री पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज जानकीघाट, श्रीअयोध्या की प्रति से उद्धृत।

× × × × ×

नोट—जो प्रेम-पूर्वक पाठ के अर्थ पर चित्त रखते हुए निष्काम पारायण करते हैं उनके लिये विशेष विधियों का उतना बन्धन नहीं है।

———

अनुष्ठान के प्रयोग

श्रीरामचरित-मानस साक्षात् श्रीरामजी का स्वरूप * है। अतः, इसके द्वारा ऐहिक और पारमार्थिक सभी बातें प्राप्त हो सकती हैं। यह निश्चित है कि इसके द्वारा श्रीरामजी का प्रेम एवं श्रीरामजी का साक्षात्कार होता है, इस कारण प्राकृत वस्तुओं की प्राप्ति के लिये इसका प्रयोग करना ठीक नहीं, क्योंकि यह मणि देकर काँच लेने के समान गर्हित है। फिर भी पूर्व के महात्माओं ने पारमार्थिक और लौकिक दोनों ही प्रकार के प्रयोग लिखे हैं। लौकिक स्वामियों के समक्ष चापलूसी करके स्वार्थ साधने की अपेक्षा भगवान् से किसी वस्तु का माँगना उत्तम ही है। कहा भी है—"तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।" (वि० ७८)। पुनः, कतिपय लौकिक वस्तुओं की प्राप्ति से प्रतीति दृढ़ होने पर श्रीरामजी में निष्काम प्रेम करने की भी प्रवृत्ति होती है, तब परमार्थ भी बनता है।

आवश्यक बात तो यह है कि इस मानस को पुस्तक-मात्र न मानकर इसे श्रीरामजी का स्वरूप मानना चाहिये और इसपर दृढ़ श्रद्धा और विश्वास रखना चाहिये, तभी सब प्रयोग सिद्ध होंगे, यथा—"भवानी शङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥" (बा० मं०)

पारमार्थिक प्रयोग

(१) श्रीरामजी के प्रत्यक्ष दर्शन पाने के लिये

बालकाण्ड से आरम्भ करके उत्तरकाण्ड की समाप्ति पर्यन्त १०५ पाठ करना चाहिये, चाहे जितने दिनों में हो। प्रत्येक दिन पाठ के आदि में, विसर्जन के समय और बीच-बीच में भी इन चौपाइयों को पढ़ना चाहिये—

जौ अनाथ हित हम पर नेहू। तौ प्रसन्न होइ यह बर देहू॥
जो स्वरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥
जो भुसुंडि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन॥

(बा० दो० १४५)।

इस प्रयोग के विधान में बहुत प्रेम-पूर्वक एक पवित्र स्थान पर एकान्त में शुद्ध चित्त से दर्शनों की कांक्षा से नित्य श्रीरामजी का ध्यान करना चाहिये। १०५ पाठों की समाप्ति पर, आशा है कि परम कारुणिक श्रीरामजी दर्शन देंगे।

---

*बालकाण्ड प्रभु पाय, अयोध्या कटि मन मोहै।
उदर बन्यो आरण्य, हृदय किष्किधा सोहै॥
सुंदर ग्रीव मुखारविंद, लंका कहि आयो।
जेहि महँ रावन आदि, निसाचर सर्व समायो॥
मस्तक उत्तरकांड गनु, एहि बिधि तुलसीदासभनु।
आदि अंत लौं देखिये, श्रीमन्मानस रामतनु॥

२—श्रीसीताजी के साथ परम पुरुष श्रीरामजी के दर्शनों के लिये ।

नील सरोरुह नील मनि, नील नीरधर स्याम ।
लाजहिं तनु सोभा निरखि, कोटि कोटि सत काम ॥ (बा० दो० १४६)

इस दोहे से पाठ प्रारम्भ करके उत्तरकाण्ड की समाप्ति तक पढ़ जाय और फिर बालकाण्ड के आदि से प्रारम्भ कर इसी दोहे के पहले की चौ०—"भगत बछल प्रभु कृपानिधाना । बिस्ववास प्रगटे भगवाना ॥" पर समाप्त करे ।

३—भक्ति-प्राप्ति के लिये

भक्त कल्पतरु प्रनत हित, कृपासिंधु सुखधाम ।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु, देहु दयाकरि राम ॥ (उ० दो० ८४) ।

इस दोहे का सम्पुट या सम्पुटवल्ली लगाकर सम्पूर्ण श्रीरामचरितमानस का पाठ करना चाहिये ।

मनोरथ की चौपाई एवं दोहे को प्रत्येक पद्य (दोहे-चौपाई आदि) के साथ एक-एक बार पढ़ते हुए पाठ करना सम्पुट और दो-दो बार पाठ करते जाना सम्पुटवल्ली कहा जाता है । जो सम्पुट से कार्य-सिद्ध न हो तो सम्पुट-वल्ली पाठ करना चाहिये । मनोरथ वाले पद्य से प्रारम्भ कर ग्रन्थ-समाप्ति तक पाठ करके फिर बालकाण्ड के आदि से प्रारम्भ कर उसी पद्य पर पूर्त्ति करनी चाहिये ।

४—ज्ञान-प्राप्ति के लिये

छिति जल पावक गगन समीरा । पंच रचित अति अधम सरीरा ॥
(कि० दो० १०)

५—प्रेम-वैराग्य-प्राप्ति के लिये

भरत चरित करि नेम, तुलसी जो सादर सुनहिं ।
सीय राम पद प्रेम, अवसि होइ भव रस बिरति ॥ (अ० दो० ३२६)

६—वैराग्य सहित भक्ति-प्राप्ति के लिये

अब प्रभु कृपा करहु यहि भाँती । सब तजि भजन करउँ दिन राती ॥
(कि० दो० ६) ।

७—संशय-निवृत्ति के लिये

रामकथा सुंदर करतारी । संसय बिहँग उड़ावनहारी ।
(बा० दो० ११३)

८—पराभक्ति वशीकरण

केहरि कटि पट पीत धर, सुखमा सील निधान ।
देखि भानुकुल भूषनहि, बिसरा सखिन्ह अपान ॥ (बा० दो० २२३)

लौकिक प्रयोग

१—जल-वर्षा के लिये

सोइ जल अनल अनिल संघाता । होइ जलद जग जीवनदाता ॥
(बा० दो० ६)

२—विघ्न-नाश करने के लिये

सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं ताही । राम सुकृपा बिलोकहिं जाही ॥
(बा० दो० ३८)

३—कार्य की सिद्धि के लिये

स्वयंसिद्ध सब काज, नाथ मोहि आदर दियउ।
अस बिचारि जुबराज, तनु पुलकित हरषित हियउ॥ (लं० दो० १७)

४—रक्षा करने के लिये

मोरे हित हरि सम नहिं कोऊ। येहि अवसर सहाय सोइ होऊ॥
(बा० दो० १३१)

मामभिरक्षय रघुकुलनायक। धृत बर चाप रुचिर कर सायक॥
(ल० दो० ११८)

५—विपत्ति का नाश करने के लिये

राजिव नयन धरे धनुसायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥
(बा० दो० १७)

६—निजरा आदि ज्वर छुड़ाने के लिये

सुनु खगपति यह कथा पावनी। त्रिविध ताप भव भय दावनी॥
(उ० दो० १४)

५—प्रियतम-आकर्षण के लिये

जेहि कर जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥
(बा० दो० २५८)

(उपर्युक्त रीति से सम्पुट पाठ करे अथवा इसी चौपाई मात्र को बराबर जपता रहे, जबतक प्रियतम न आवे।)

८—दुःख मिटाने के लिये

जब ते राम ब्याहि घर आये। नित नव मंगल मोद बधाये॥ (अ० चौ० १)

९—भूत-प्रेत इत्यादि से बचने के लिये

प्रनवउँ पवन कुमार, खल बन पावक ज्ञानघन।
जासु हृदय आगार, बसहिं राम सर चाप धर॥ (बा० दो० १७)।

१०—उत्सव करने के लिये

सिय रघुबीर बिबाह, जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।
तिन्ह कहँ सदा उछाह, मंगलायतन राम जस॥ (बा० दो० ३६१)।

११—उपद्रव की शान्ति करने के लिये

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि ब्यापा॥ (बा० दो० २०)

१२—दरिद्रता नाश करने के लिये

अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के। कामद घन दारिद दवारि के॥ (उ० दो० २०)

१३—जीविका उपार्जन करने के लिये

बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥ (बा० दो १९६)

१४—यात्रा में सफलता के लिये

प्रबिसि नगर कीजै सब काजा। हृदय राखि कोसलपुर राजा॥ (सुं० दो० ४)

१५—संकट नाश करने के लिये

जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥ (बा० दो० २१)।

जो प्रभु दीनदयाल कहावा। आरति हरन बेद जस गावा॥ (बा० दो० ५८)
दीनदयाल बिरद संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥ (सुं० दो० २६)

१६—सुख और सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये

जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख संपत्ति नाना बिधि पावहिं॥ (उ० दो० १४)।

१७—विद्या की प्राप्ति के लिये

गुरु गृह गये पढ़न रघुराई। अलप काल बिद्या सब आई॥ (बा० दो० २०८)।

१८—विष का नाश करने के लिये

नाम प्रताप जान सिव नीको। कालकूट फल दीन अमी को॥ (बा० दो० १८)।

१९—मोहन प्रयोग करने के लिये

करतल बान धनुष अति सोहा। देखत रूप चराचर मोहा॥ (बा० दो० २०३)।

२०—क्लेश का नाश करने के लिये

हरन कठिन कलि कलुष कलेसू। महा मोह निसि दलन दिनेसू॥ (अ० दो० ३२५)।

२१—पुत्र की प्राप्ति के लिये

एक बार भूपति मन माहीं। भई गलानि मोरे सुत नाहीं॥ (बा० दो० १८८)।

यहाँ से आरम्भ कर उत्तरकाण्ड समाप्त करे और बालकाण्ड आरम्भ करके नीचे दोहे पर समाप्त करे—

कौसल्यादि नारि प्रिय, सब आचरन पुनीत।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़, हरि पद कमल बिनीत॥ (बा० दो० १८८)

संकेत-सूची

अ०—अयोध्याकाण्ड तथा अध्याय
अर०—अरण्यकाण्ड
उ०—उत्तरकाण्ड
क०—कवितावली रामायण
कि०—किष्किन्धाकाण्ड
गी०—गीतावली रामायण
गीता—श्रीमद्भगवद्गीता
चौ०—चौपाई
तै० + तैत्त०—तैत्तरीयोपनिषत्
दो०—दोहा
बा०—बालकाण्ड
ब्र० सू०—ब्रह्मसूत्र (वेदान्त)
बृ०, बृह०—बृहदारण्यकोपनिषत्
का०, कठ०—कठोपनिषत्
छां०, छांदो०—छान्दोग्योपनिषत्
मुं०, मुंड०—मुण्डकोपनिषत्
भाग०, श्रीमद्भाग०—श्रीमद्भागवत
वाल्मी०—श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण
श्वे०, श्वेता०—श्वेताश्वतरोपनिषत्
कौषी०—कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषत्
मं०—मङ्गल एवं मङ्गलाचरण
लं०—लङ्काकाण्ड
सुं०—सुन्दरकाण्ड
सो०—सोरठा
मनु०—मनुस्मृति
महा०—महाभारत
स०—सग
वि०—विशेष
वि० पु०—विष्णुपुराण

नोट—दो० = दोहा, दोहा की संख्या से आगे की चौपाइयाँ भी उसीसे सम्बद्ध मानी गई हैं। कोई-कोई दोहे की संख्या से उससे पूर्व की चौपाइयाँ ही लेते हैं। इस ग्रन्थ में वैसी गणनाएँ भी कहीं-कहीं लिखी गई हैं। छन्द प्रायः जिस दोहे के पूर्व होते हैं; उसीके साथ गिने गये हैं। पर, कहीं-कहीं दोहे के आगे दिये हुए छन्द भी दोहे के साथ ले लिये गये हैं। अतः, उभय प्रकार की गणनाएँ ठीक ही हैं।

श्रीरामशलाका प्रश्न

खु	प्र	उ	बि	हो	मु*	ग	व	सु	नु	बि	घ	धि	इ	द
र	रु	फ	मि	सि	रे	बस	है	मं	ल़	न	ल	य	न	अं
सुज	सो	ग़	सु	कु	म	स	ग	त	न	ई	ल	धा	बे	नो
त्य	र	ऩ	कु	जो	म	रि	र	र	अ	की	हो	सं	रा	य
पु	सु	थ	सी	जे	इ	ग	म	सं	क	रे	हो	स	स	नि
ति	ऱ	त	र	स	इ	ह	व	ब	प़	त्रि	स	य	स	तु
म़	का	ा	र	र	मा	मि	मी	म्हा	ा	जा	हू	हीं	ा	जू
ता	रा	रे	री	ह़	का	फ	खा	जि	ई	र	रा	पू	द	ल
नि	को	मि	गो	न	म	ज	य	ने	मनि	क	ज़	प	स	ल
हि	रा	म	स	रि	ग	द	न	प	म	खि	जि	मनि	त	जं
सिं	मु	न	न	कौ	मि	ज	र	ग़	धु	ख	सु	का	स	र
गु	क	म	अ	ध	नि	म	ल	ा	न	ब	ती	न	रि	भ
ना	पु	व	अ	ढा	र	ल	का	ए	तु	र	न	नु	व	थ
सि	ह	मु	म्ह	रा	र	स	हिं	र	त	न	प़	ा	जा	ा
र	सा	ा	ला	धी	ा	री	ज	ह़	हीं	पा	जू	ई	रा	रे

उपर्युक्त 'श्रीरामशलाका प्रश्न' के द्वारा जब किसीको अपने इच्छित प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने की अभिलाषा हो, तब सबसे पहले उसको भगवान् श्रीरामजी का स्मरण करना उचित है। तत्पश्चात् श्रद्धा और विश्वास के साथ अपने मन में इच्छित प्रश्न का स्मरण करते हुए प्रश्न की मनचाही बन्धनी में अँगुली रख देनी चाहिये और उस बन्धनी में जो अक्षर हो उसे किसी कोरे कागज अथवा स्लेट पर अलग लिख लेना चाहिये। ऐसा कोई चिह्न प्रश्न की बन्धनी में भी लगा देना चाहिये जिसके द्वारा न तो प्रश्न-संख्या गन्दी हो और न प्रश्नोत्तर की प्राप्ति होने तक वह बन्धनी भूल जाय। बन्धनी का जो अक्षर अब लिख लिया गया है, उससे आगे बढ़ना चाहिये और उसके दसवें कोष्ठ में जो अक्षर पड़े उसे भी लिख लेना चाहिये। इस तरह हरएक दसवें अक्षर को क्रम के साथ लिखते जाना चाहिये और जबतक उसी पहले कोष्ठ के अक्षर तक अँगुली पुनः न पहुँच जाय तबतक लिखते जाना चाहिये। पहले कोष्ठ का अक्षर जिस कोष्ठ के अक्षर से दसवाँ पड़ेगा, वहाँ तक जाते-जाते एक पूरी चौपाई हो जायगी। वही चौपाई प्रश्नकर्त्ता के इच्छित प्रश्न का उत्तर होगी। इस बात का यहाँ विचार रखना चाहिये कि किसी-किसी कोष्ठ में सिर्फ 'आ' की मात्रा (ा) और किसी कोष्ठ में दो-दो अक्षर हैं। अतएव गिनती करते समय मात्रावाले कोष्ठ को

न तो छोड़ना चाहिये और न दो अक्षरोंवाले कोष्ठ को दो बार गिनना चाहिये। मात्रा का कोष्ठ जहाँ आवे वहाँ पहले लिखे अक्षर के आगे मात्रा लिखनी चाहिये और दो अक्षरोंवाला कोष्ठ जहाँ आवे वहाँ एक साथ दोनों अक्षर लिखना चाहिये।

उदाहरण-स्वरूप उपर्युक्त 'श्रीरामशलाका प्रश्न' से एक चौपाई किसी प्रश्न के उत्तर में निकाली जा सकती है। पाठकों को ध्यान से देखना चाहिये। यदि किसी ने भगवान् श्रीरामजी का स्मरण और अपने इच्छित प्रश्न का चिन्तन करते हुए प्रश्न-संख्या * इस निशान से युक्त 'मु' वाले कोष्ठ में अँगुली रक्खी और वह क्रम के अनुसार ऊपर बनाये अक्षरों को गिन-गिनकर लिखता गया तो उत्तर में संख्या * ६ की चौपाई बन जायगी—

१—सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मन-कामना तुम्हारी॥ (बा० दो० २३५)।

—प्रश्न अच्छा है, कार्य होगा।

२—प्रविसि नगर कीजे सब काजा। हृदय राखि कोसलपुर राजा॥ (सुं० दो० ४)।

—भगवान् श्रीरामजी का स्मरण करके कार्य करो, सिद्ध होगा।

३—उघरे अंत न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू॥ (बा० दो० ६)।

—इस कार्य में भलाई नहीं है, कार्य की सफलता में सन्देह है।

४—बिधि-बस सुजन कुसंगति परही। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥ (बा० दो० २)।

—खोटे मनुष्यों का साथ छोड़ दो, कार्य पूरा होने में सन्देह है

५—होइहै सोइ जो राम रचि राखा। को करि तरक बढ़ावहि साखा॥ (बा० दो० ५१)।

—अपने कार्य को भगवान् पर छोड़ो, कार्य होने में सन्देह है।

*६—मुद मंगलमय संत समाजू। जिमि जग जंगम तीरथराजू॥ (बा० दो० १)।

—प्रश्न अच्छा है, कार्य सिद्ध होगा।

७—गरल सुधा रिपु करय मिताई। गो पद सिंधु अनल सितलाई॥ (सुं० दो० ४)।

—प्रश्न बहुत अच्छा है, कार्य सिद्ध होगा।

८—बरुन कुबेर सुरेस समीरा। रन सनमुख धरि काहु न धीरा॥ (लं० दो० १०२)।

—कार्य सिद्ध होने में सन्देह है।

९—सुफल मनोरथ होउ तुम्हारे। राम लखन सुनि भए सुखारे॥ (बा० दो० २३६)।

—प्रश्न बहुत अच्छा है, कार्य सिद्ध होगा।

॥ श्रीसीतारामाभ्यां नमः ॥

श्रीरामचरितमानस

(सिद्धान्त-भाष्य)

की

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ-संख्या
उपोद्घात	...	...	
श्रीगोस्वामीजी के दार्शनिक विचार	...	...	१
श्रीगोस्वामीजी की प्रामाणिक गुरुपरम्परा		...	२५
नवाह्न और मासिक विराम	...	...	२७
पारायण-विधि	...	...	२९
अनुष्ठान के प्रयोग	...	...	३३
संकेत-सूची	...	....	३६
श्रीरामशलाका-प्रश्न	....	...	३७

बालकाण्ड

मंगलाचरण देववन्दना	...	..	१
श्रीगुरुदेव-वन्दना-प्रसंग	...	...	२४
विप्र, सन्त-समाज एवं सन्त-वन्दना	...	...	३५
श्रीवाल्मीकिजी की कथा	...	...	४३
श्रीनारदजी की कथा	...	...	४३
श्रीअगस्त्यजी की कथा	...	...	४४
खल-वन्दना-प्रसंग	...	...	४९
सहस्रबाहु की कथा	...	...	५१
महिषासुर की कथा	...	...	५२
यमराज की कथा	...	...	५२
राजा पृथु की कथा	...	...	५४
साधु-असाधु-वन्दना-प्रकरण	....	...	५६
कार्पण्य-युक्त-वन्दना का प्रसंग	...	....	६७
कवि-वन्दना-प्रसंग	...	....	६७
वाल्मीकि-वेद-ब्रह्म-शिव आदि की (समष्टि) वन्दना		....	१००
धाम-परिकर-श्रीसीतारामरूप-वन्दना-प्रकरण		...	१०७
श्रीराम-नाम-वन्दना-प्रकरण	...	...	१२८
श्रीवाल्मीकिजी की बाल-कथा	...	...	१३१
कालकूट पान की कथा	...	...	१३३

विषय	पृष्ठ-संख्या
दण्डक वन की कथा	१५८
श्रीप्रह्लादजी की कथा	१६६
ध्रुवजी की कथा	१६७
अजामिल की कथा	१६९
गजेन्द्र की कथा	१७०
गणिका की कथा	१७१
अपनी दीनता एवं श्रीरामगुण-वर्णन-प्रकरण ...	१७८
श्रीरामकथा एवं चरित-माहात्म्य-प्रसंग ...	१८६
श्रीअयोध्याधाम-वर्णन एवं श्रीरामचरित-मानस-अवतार-प्रसंग	२०३
मानस-प्रसंग (कीर्त्ति सरयू सहित)	२१३
चार-घाट-वर्णन	२१९
सप्त-सोपान-वर्णन	२२१
नवो रसों का उदाहरण	२३०
श्रीयाज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद	२६१
भरद्वाज मुनि की कथा	२६१
याज्ञवल्क्य मुनि की कथा	२६७
त्रिपुरवध-कथा	२७२
उमा-शंभु-संवाद-प्रकरण का उपोद्घात	२७७
सती-मोह-प्रसंग	२७७
श्रीपार्वतीजी का चरित	३१६
शिव-चरित और पार्वती-प्रेम-परीक्षा	३३८
सप्तर्षियों का परिचय	३४१
चित्रकेतु की कथा	३४४
मदन-दहन प्रसंग	३५१
उमा-शंभु-विवाह	३६२
शिव-बारात-वर्णन	३६३
उमा-शंभु-विवाह-प्रक्रिया	३७६
कैलास-प्रकरण	३८६
उमा-शंभु-संवाद	३९३
प्रश्नोत्तर-प्रसंग	४०७
अवतार-हेतु-प्रकरण	४४२
वैकुंठवासी विष्णु भगवान् के रामावतार का हेतु ...	४४६
नारद-मोह एवं क्षीरशायी अवतार	४५२
श्रीरामावतारों के त्रिविध भेदों की समाप्ति	४८३
मनु-शतरूपा-प्रसंग	४८४
भानु-प्रताप-प्रसंग	५१०
मांसाहार-निषेध-मीमांसा	५४२

विषय			पृष्ठ-संख्या
रावणादि जन्म	...	...	५४८
अवतार और बालचरित-प्रकरण	....	...	५६६
शृंगी ऋषि की कथा	...	...	५७०
विश्वामित्र-आगमन एवं यज्ञ-रक्षा	...	...	६०५
महामुनि ज्ञानी विश्वामित्र	...	...	६०५
अहल्योद्धार-प्रकरण	...	...	६१६
अहल्या की कथा	...	...	६२०
श्रीमिथिला-यात्रा-प्रकरण	...	...	६२५
श्रीगंगाजी की कथा	...	...	६२६
पुष्प-वाटिका-प्रकरण	...	...	६५८
श्रीसीतारामजी का पूर्वराग	....	...	६५८
धनुष-यज्ञ-प्रकरण	...	...	६६६
परशुराम-पराजय	...	...	७५६
श्रीपरशुरामजी की कथा	...	...	७५७
श्रीसियरघुवीर-विवाह	...	...	७६३
श्रीविश्वामित्र की करणी	...	...	६१०

श्री सीतारामाभ्यां नमः।

श्रीगोस्वामीतुलसीदास कृत

श्रीरामचरितमानस

(सिद्धान्त-भाष्य)

प्रथम सोपान (बालकाण्ड)

वर्णानामर्थसङ्घानां रसानां छन्दसामपि।
मङ्गलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ॥१॥

मङ्गलाचरण

सीतानाथसमारम्भां रामानन्दार्यमध्यमाम्।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम् ॥

सोरठा

श्रीगुरु पद सिर नाइ, चरण रेणु मन मुकुर मलि।
नख दुति मति बिगसाइ, लहउँ मरम हरि चरित जेहि ॥

कुण्डलिया

जासु कवित वह जब कृपा, करइ त कछु दरसाय।
वन्दउँ तुलसीदास पद, सदा वचन मन काय॥
सदा वचन मन काय, पवन सुत पद सिर नावउँ।
रिपुहन लछिमन भरत, वन्दि सब सन मति पावउँ॥
करुनानिधि सिय पीय, वंदि पद सहित हुलासू।
रचउँ भाष्य सिद्धान्त, लहइ सुख कविता जासू॥

अन्वय—(अहम्) वर्णानाम् अर्थसङ्घानाम् रसानाम् छन्दसाम् अपि च मङ्गलानाम् कर्त्तारौ वाणी-विनायकौ वन्दे।

अर्थ—मैं अक्षरों, (उन अक्षरों के) अर्थसमूहों, रसों, छन्दों एवं समस्त मंगलों के करनेवाले श्रीसरस्वतीजी और श्रीगणेशजी की वन्दना करता हूँ ॥१॥

विशेष—(१) श्लोक के इस छन्द का नाम अनुष्टुप् है, इसके प्रत्येक चरण का छठा वर्ण गुरु और पाँचवाँ लघु होता है एवं द्वितीय और चतुर्थ चरणों के सप्तम वर्ण लघु तथा प्रथम और तृतीय चरणों के सप्तम वर्ण गुरु होते हैं।

इस श्लोक के आदि में मगण पड़ा है, जो तीन दीर्घ (गुरु) अक्षरों का होता है। इस गण का देवता भूमि है, जो दिव्य गुणवाली है, और मंगल-श्री देती है—'मो पृथ्वी श्रीप्राप्तिफल' ऐसा पिङ्गलशास्त्र में कहा है। ग्रन्थकार ने सातो काण्डों के आदि श्लोकों में मगण ही रक्खा है।

(२) ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति एवं उसके मंगलकारी होने के लिये मंगलाचरण करने की प्रथा है—"आदिमध्यावसानेषु यस्य ग्रन्थस्य मङ्गलम्। तत्पठनात् पाठनाद्वापि दीर्घायुर्धार्मिको भवेत् ॥" ऐसा सुना जाता है। ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ के सातो सोपानों के आदि में नमस्कारात्मक एवं वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण किया है। ग्रन्थकार ने यहाँ श्रीसरस्वतीजी और श्री गणेशजी के नमस्कार करने का प्रयोजन भी प्रकट किया है—

'वर्णानाम्'—"आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना॥ भाव भेद रस भेद अपारा। कबित-दोष-गुन बिबिध प्रकारा॥" (दो० ८), इन सबके उत्तम विधानकर्त्ता श्रीसरस्वतीजी और श्रीगणेशजी हैं। क से ह तक ३३ वर्ण हल् (व्यञ्जन) हैं और अ से औ तक ६ स्वर (अच्) हैं। सब ४२ अक्षर हैं, इन सबों के अनेक-अनेक अर्थ होते हैं। कविता में कौन अक्षर कहाँ पड़ना चाहिये, यह ज्ञान इन दोनों के द्वारा मुझे प्राप्त हो। यहाँ अक्षरों और उनके अर्थसमूहों के अन्तर्गत वेद की शिक्षा आदि छओं अंग आ गये। रसों में समस्त काव्य-ग्रन्थों का और छन्दों में वेदों का भाव गर्भित है। इन सबों के उपयुक्त भाव योग्य स्थलों पर आवें, ये सब इन्हीं दोनों के द्वारा प्राप्त होते हैं, यथा—"पुनि बंदउँ सारद सुरसरिता। जुगल पुनीत मनोहरचरिता॥ मज्जन पान पापहर एका। कहत सुनत एक हर अबिबेका॥" (दो० १८), तथा—"मोदक-प्रिय, मुद-मंगल-दाता। विद्या-वारिधि बुद्धि-बिधाता।" (विनय० १)।

(३) यह मानस काव्य ध्वन्यात्मक है, क्योंकि ध्वनि से इस श्लोक में सातो काण्डों का वस्तुनिर्देश भी किया गया है—'वर्णानाम्' से बालकाण्ड—क्योंकि जिस परब्रह्म की कोई जाति नहीं, उसने वर्ण (जाति) धारण किया और विवाह आदि जातीय लीलाएँ भी इसमें हैं। 'अर्थसङ्घानाम्' से अयोध्याकाण्ड, क्योंकि इसमें प्रथम राज्य हेतु फिर वनवास के लिये अनेकों अर्थों (प्रयोजनों) के साधन अवधवासियों और देवताओं ने किये। 'रसानाम्' से अरण्यकाण्ड, क्योंकि रस का अर्थ वीर्य (पराक्रम) है—'शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रस इत्यमरः'। इस काण्ड में केवल अपने ही पराक्रम से श्रीरामजी ने रावण के तुल्य खरादि चौदह हजार राक्षसों का वध किया है। 'छन्दसाम्' से किष्किन्धाकाण्ड, क्योंकि छन्द करोड़ों जातियों के होते हैं, वैसे इसमें करोड़ों वानरी सेनाएँ एकत्र हुईं। छन्द का अर्थ स्वतन्त्र भी है, ऐसे ही श्रीरामजी सेना सहित युद्धार्थ स्वतन्त्र हुए। 'अपि' से सुन्दरकाण्ड, क्योंकि अपि निश्चयार्थक है और इस काण्ड में श्रीसीताजी के लंका में होने का ठीक निश्चय हुआ। 'मङ्गलानाम्' से लंकाकाण्ड, क्योंकि रावण-नाश से जगत् का मंगल हुआ। 'कर्त्तारौ' से उत्तरकाण्ड, क्योंकि इसमें श्रीरामजी ने चक्रवर्त्ती होकर आज्ञा से जगत् का स्वामित्व किया है। कर्त्ता का अर्थ स्वामित्व भी होता है। इस भाव की संगति के लिये यहाँ 'वाणी विनायकौ' पद से वाणी के विशेष नायक रूप 'रा, म' ये दोनों वर्ण एवं इनका अर्थ श्रीरामजी करना चाहिये।

(४) मूर्त्तिमान गणेशजी के साथ में यहाँ सरस्वतीजी के मूर्त्तिमान् रूप की वन्दना की गई है, आगे प्रवाह-रूपा गंगाजी के साहचर्य में प्रवाह रूप में भी करेंगे, यथा—"पुनि बंदउँ सारद·····" उपर्युक्त गणेशजी प्रधानतया मंगल-विधानकर्त्ता हैं और सरस्वतीजी वर्णादि की कर्त्री हैं—दोनों का साथ ही प्रयोजन जानकर एक ही साथ वन्दना की। पुनः, श्री सरस्वतीजी सम्भाषण में अद्वितीय हैं, वैसे श्रीगणेशजी लिखने में—इसलिये भी एक साथ वन्दना की, क्योंकि यहाँ दोनों प्रयोजन साथ ही हैं।

(५) छन्दसाम्—पद की संख्या में जब मात्राओं की संख्या, विराम (यति) और गति नियमानुसार होती है, अन्त में अनुप्रास होता है, तब उसे 'छन्द' कहते हैं। छन्दों में दोष-गुण के विचार विविध भाँति के होते हैं। ग्रन्थकार यहाँ निर्दोष एवं उत्तम छन्दों की रचना चाहते हैं।

रसानाम्—मनोविकारों का वर्णन जब कार्यों, कारणों और सहकारियों के साथ किया जाता है, तब वे विकार पढ़नेवालों के मन में भी जाग्रत् होते हैं और एक प्रकार का आनन्द उत्पन्न करते हैं। इसीको रस कहते हैं। यथा—"रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" (तैत्ति० २।७)। रस के नव भेद कहे जाते हैं—"शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः। बीभत्साद्भुतशान्त्याख्या नवाप्येते रसा स्मृताः।" यहाँ रसों के वर्णन में ग्रन्थकार सफलता चाहते हैं।

प्रश्न—'व' अक्षर से क्यों प्रारम्भ किया?

उत्तर—(१) श्लोक में कहे हुए वाणी-विनायक का आदि अक्षर व है। अतः, बीजवत् है। बीजयुक्त मन्त्र अधिक प्रभावशाली होता है। अतः, इन दोनों के बीज से प्रारम्भ कर उसी अक्षर पर समाप्त किया है—'दह्यन्ति नो मानवाः' आदि-अन्त बीज से सम्पुटित करके ग्रन्थ को मानों इन दोनों देवों से प्रसादान्वित किया है।

(२) तन्त्रशास्त्र की दृष्टि से 'व' अमृत बीज है। अतः, इससे सम्पुटित ग्रन्थ के पठन-श्रवण से अमृत रूपा श्रीराम-भक्ति की प्राप्ति होकर अमर-पद का लाभ होगा, यथा—"कथा सुधा मथि काढ़हिं, भगति मधुरता जाहि।" उ० दो० १२०), तथा—"तौ लौं सुधा सहस्र सम, राम भगति सुठि सीठि॥" (दोहावली ८३)। श्रीराम-भक्ति से अमर पद रूप परम धाम प्राप्त होता ही है।

श्रीमद्वाल्मीकिजी के मुख से श्रीमद्रामायण का बीज-रूप यही छन्द प्रकट हुआ था, यथा—"मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥" इस छन्द के प्रथमोद्गार से तथा 'व' अक्षर प्रथम देने से आप (श्रीगोस्वामीजी) ने अपने को श्रीवाल्मीकिजी का अवतार सूचित किया है। और भी—"जनम जनम जानकीनाथ के गुनगन तुलसीदास गाये।" (गीतावली लं० २३), अर्थात् इन्होंने पूर्व जन्म में भी गाया था। अयोध्याकाण्ड में प्रायः आठ-आठ अर्द्धालियों पर दोहा और पचीस दोहों पर छन्द नियमित रूप से हैं, उसमें कुल तेरह छन्द हैं, बारह में तो 'तुलसी' नाम की छाप है और एक में—जो एक सौ पचीसवें दोहे पर है—'तुलसी' छाप नहीं है, क्योंकि वह श्रीवाल्मीकिजी का कथन कथा-प्रसंग में है ही, इस प्रसंग से अपना वही पूर्व रूप जनाया है। श्रीनाभाजी ने भी लिखा है—"कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकी तुलसी भयो॥" (भक्तमाल १२९)।

श्रीवाल्मीकिजी श्रीब्रह्माजी के अवतार हैं। श्रीशिवजी ने श्रीपार्वतीजी से कहा है—"वाल्मीकिरभवद्ब्रह्मा वाणी वक्तृत्वरूपिणी। चकार रामचरितं पावनं चरितव्रतः॥" (स्कन्दपुराण), तथा—"ब्रह्मणा निर्मितं यच्च शतकोटिप्रविस्तरम्। वाल्मीकिना च यत्प्रोक्तं श्रीरामोपाख्यानमुत्तमम्॥" (मत्स्यपुराण तथा स्कन्द पु० प्रभास०)। इसीसे जो वेद प्रथम चतुरानन श्रीब्रह्माजी के द्वारा प्रकट हुआ है, यथा—"तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।" (भाग० मंगलाचरण), तथा—"यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।" (श्वे० ६, १८) फिर वही वेद उन्हीं ब्रह्मा के द्वितीय विग्रह वाल्मीकिजी के द्वारा रामायण-रूप से प्रकट हुआ, यथा—"वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे। वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना॥" (वाल्मी० मू० रा० माहा०), इसीसे वाल्मीकीय रामायण वेदोपबृंहण एवं आर्ष कहाती है और उसके रचयिता उपर्युक्त ब्रह्माजी की तरह आदि कवि कहाते हैं। अतः, श्रीगोस्वामीजी श्रीब्रह्माजी के तृतीय विग्रह हैं, यथा—"मेरे जान जबतें हौं जीव ह्वै जनम्यो जग, तबतें बेसाह्यो दाम लोह, कोह कामको॥" (क० उ० ७०), अर्थात् प्रथम आप ब्रह्मारूप देव-कोटि में भी थे। वाल्मीकि-रूप से मनुष्यकोटि में कहे गये और वहाँ भी प्रथम काम-क्रोध के वश थे। 'आदि आचार्य' होने से ही इनके ग्रन्थों में सब शास्त्रों के सिद्धान्त पाये जाते हैं। अतएव, श्रीमद्वाल्मीकीय की तरह यह ग्रन्थ भी वेदोपबृंहण—वेदार्थ-प्रकाशक एवं आर्ष है।

शंका—श्रीगोस्वामीजी ने अपने इष्ट श्रीसीतारामजी को छोड़कर वाणी-विनायक की वन्दना आदि में क्यों की, जब कि इसी ग्रन्थ के शेष तीन वक्ताओं ने श्रीराम ही की वन्दना से मंगलाचरण किया है ?

श्रीयाज्ञवल्क्यजी—"प्रनवउँ सोइ कृपाल रघुनाथा। बरनउँ बिसद तासु गुनगाथा ॥" (दो० १०४)

श्रीशिवजी—"बंदउँ बाल रूप सोइ रामू·····

करि प्रनाम रामहिं त्रिपुरारि। हरषि सुधा सम गिरा उचारी ॥" (दो० १११)

श्रीकाकभुशुण्डीजी—"भयेउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहइ रघुपति गुनगाहा ॥

प्रथमहिं अति अनुराग भवानी। राम चरित सर कहेसि बखानी ॥" (उ०दो०६३)

समाधान—(१) श्रीगोस्वामीजी ने इष्ट की वन्दना प्रथम व्यष्टि रूप में की है कि चराचर जगत् श्रीरामजी का शरीर है, जैसा कि सर्वत्र विराट् रूप में दिखाया है—"अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान। मनुज बास सचराचर, रूप राम भगवान ॥" (लं० दो० १५), "ब्रह्मा शक्रश्च रुद्रश्च गणेशो भास्करस्तथा। विचिन्त्य वासुदेवस्य तनुभूताविभूतयः ॥" (नारदपञ्चरात्रे बृहद्ब्रह्मसंहितायाम्)। अतः, जिस अंग से श्रीरामजी जो कार्य करते हैं उस कार्य के निमित्त आपके उसी अंग की वन्दना की है। सरस्वतीजी भी आपकी नियाम्यभूता शक्ति हैं, यथा—"तदपि जथा श्रुत कहउँ बखानी। सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी ॥ सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी ॥ जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी।" (दो० १०४)। इसी प्रकार स्वशरीर-रूप नियाम्य गणेशजी के द्वारा मंगल आदि के विधायक श्रीराम ही हैं। पद्मपुराण-कार्त्तिक माहात्म्य अ० १ में लिखा है कि किसीने श्रीरामजी के नेत्र अंग-रूप सूर्य की पूजा जन्म भर की थी। उसीसे उसने भगवान् का धाम पाया है। लोगों के सन्देह निवारणार्थ भगवान् ने कहा है कि मैं इसके उसी कर्म से प्रसन्न हुआ हूँ, क्योंकि—"शैवाः सौराश्च गाणेशा वैष्णवाः शक्तिपूजकाः ॥२६॥ मामेव प्राप्नुवन्तीह वर्षाम्भः सागरं यथा। एकोऽहं पञ्चधा जातः क्रियया नामभिः किल ॥२७॥ देवदत्तो यथा कश्चित्पुत्राद्याह्वाननामभिः ॥२८॥" अर्थात् शैव, सौर, गाणपत्य, वैष्णव एवं शाक्त—ये सब मुझे ही प्राप्त होते हैं, जैसे वर्षा का जल सागर को। मैं ही अकेला क्रियाभेद से पाँच प्रकार के नामोंवाला होता हूँ, जैसे—कोई देवदत्त संज्ञक व्यक्ति पुत्र, शिष्य आदि संज्ञाओं से कहा जाता है, तथा—"येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव·····" (गीता ९।२३), इत्यादि।

इस प्रकार सर्व-शरीरी श्रीरामजी के प्रति यहाँ अनन्यता है। स्पष्ट कहा भी है, यथा—"सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत ॥" (कि० दो० ३)। "उमा जे राम-चरन-रत···निज प्रभुमय देखहिं जगत···॥" (उ० दो० ११२), एवं—"जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि। बंदउँ सबके पद-कमल"···से "सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥" (दो० ७) तक। तथा—"जगत्सर्वं शरीरं ते।" (वाल्मी० ६।११७।२५)।

(२) फिर आगे—"जनकसुता जगजननि जानकी··· (दो० १७) से इष्ट (श्रीसीतारामजी) के माधुर्य रूप की वन्दना प्रारम्भ करके प्रथम नव दोहों में नाम की, "सुमिरि सो नाम राम-गुन-गाथा।····" (दो० २७) से दो दोहों में रूप की, "निज संदेश मोह भ्रम हरनी" से दो दोहों में लीला की, और—नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा ॥" (दो० ३३) से एक दोहे में धाम की वन्दना की है। इस प्रकार नामादि चतुष्टय की वन्दना सम्यक् वन्दना हुई, यथा—"रामस्य नाम रूपं च लीलाधाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥" (वसिष्ठ-संहिता)। वन्दना के बाद कथा प्रारम्भ हुई। अतएव, इनकी वन्दना उभय प्रकार की अनन्यता से परिपूर्ण है। उपर्युक्त याज्ञवल्क्यादि तीन वक्ताओं की वन्दना सूक्ष्म है। अतः, माधुर्यरूप ही की है।

(३) श्रीगोस्वामीजी का प्रधान कार्य रामचरितमानस का प्रणयन है। श्रीरामचरित की दात्री

श्रीसरस्वती जी हैं, इसलिये इनकी वन्दना प्रथम हुई। विघ्न-रक्षण की आवश्यकता पीछे होती है, इससे गणेशजी की वन्दना पीछे की गई है। गणेशजी पूजा में प्रथम पूज्य हैं, यहाँ तो वन्दना है। रामाज्ञा प्रश्न १।१।१ में भी वाणी के पश्चात् ही विनायक की वन्दना है। इस रामचरित में श्रीजी—श्रीसीताजी—की प्रधानता है और वाणी उनकी सेविका है, इसलिये भी यहाँ प्रथम वन्दना हुई। विनायक श्रीगणेश की वन्दना 'प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ' के कारण श्रीरामनाम के महत्त्व के प्रतिपादन में हुई है। तथा—"देवतिर्यङ्मनुष्यादौ पुन्नामा भगवान्हरिः। स्त्रीनाम्नी श्रीश्च विज्ञेया नानयोर्विद्यते परम्॥" (वि० पु० १।८।३५); अर्थात् देव, तिर्यक् और मनुष्य आदि में पुरुषवाची भगवान् हरि हैं, तथा स्त्रीवाची श्रीजी, इनसे परे और कोई नहीं हैं। इस प्रकार यहाँ श्रीसीतारामजी की वन्दना है।

सम्बन्ध—पहले श्लोक से छन्द-रचना और उसमें मंगल का अवलम्ब प्राप्त करके, ग्रन्थ में जो वस्तु (श्रीरामचरित) कहना है, उसके आदि आचार्यरूप श्रीशिव-पार्वती की वन्दना करते हैं, कि जिनकी कृपा से प्राप्त श्रद्धा-विश्वास द्वारा उन्हें इस (मानस) की प्राप्ति हुई।

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥२॥

शब्दार्थ—श्रद्धाविश्वास—किसी विषय की गूढ़ता और विचित्रता से आकृष्ट हो, वेद, शास्त्र एवं गुरु से उसके जानने की प्रबल इच्छा को श्रद्धा कहते हैं, यथा—"तथापि वैचित्र्यरहस्यलुब्धाः श्रद्धां विधास्यन्ति सचेतसोऽत्र॥" (विक्रमोर्वशी १।१३), इसके बिना किसी धर्म में प्रवृत्ति नहीं होती, यथा—"श्रद्धा बिना धरम नहिं होई।" (उ० दो० ८९), और, जब उसपर किसी प्रकार ठीक-ठीक भरोसा हो जाता है तब वह विश्वास कहाता है। इसके बिना सिद्धि नहीं होती, यथा—"कवनिउँ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा" (उ० दो० ८६)।

अन्वय—(अहम्) श्रद्धाविश्वासरूपिणौ भवानीशङ्करौ वन्दे, याभ्याम् विना सिद्धाः (अपि) स्वान्तःस्थम् ईश्वरम् न पश्यन्ति।

अर्थ—मैं श्रद्धा और विश्वास के रूप श्रीपार्वतीजी और श्रीमहादेवजी की वन्दना करता हूँ, सिद्धलोग भी जिनके बिना अपने अन्तःकरण में विराजमान ईश्वर को नहीं देख पाते।

विशेष—(१) श्रीपार्वतीजी यहाँ श्रद्धा-रूपिणी हैं, क्योंकि श्रीराम के प्रति इन्हें सती-रूप में सन्देह हुआ। उसका निवारण कराने की इच्छा इन्हें दूसरे जन्म (पार्वती-रूप) में भी बनी ही रही। अतः, अत्यन्त आर्त्त होकर बार-बार इन्होंने प्रार्थनापूर्वक प्रश्न किया है, यथा—"हरहु नाथ मम मतिभ्रम भारी……" (दो० १०७) से "अति आरति पूछउँ सुरराया। रघुपतिकथा कहहु करि दाया॥" (दो० १०९) तक। यही श्रद्धा का यथार्थ रूप है।

(२) श्रीशङ्करजी विश्वास-रूप हैं, यथा—"नाम प्रभाव जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमी को॥" (दो० १८); "जरत सकल सुर बृंद, बिषम गरल जेहि पान किय॥" (कि० सं०), अर्थात् क्षीर-समुद्र के मथते समय अन्य सभी देवता थे और सभी श्रीरामनाम के महत्त्व के ज्ञाता थे, पर वे कालकूट की तीक्ष्णता न सह सके। शिवजी का नाम-प्रताप पर पूरा विश्वास था। अतः, वे उसे पी गये, जिससे मरने की अपेक्षा अजर-अमर हो गये, यथा—"खायो कालकूट, भयो अजर अमर तनु।" (क० उ० १५८)।

(३) यहाँ ग्रन्थकार श्रीपार्वतीजी की-सी श्रद्धा और श्रीशिवजी के समान विश्वास चाहते हैं। यह श्रीपार्वतीजी और श्रीशिवजी के प्रसाद से होगा। इसलिये इनकी वन्दना की कि श्रीरामचरित-ज्ञान के लिये वैसी श्रद्धा हो, यथा—"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्।" (गीता ४।३९)। चरित के साथ ही उसके बीज रूप

शंका—श्रीगोस्वामीजी ने अपने इष्ट श्रीसीतारामजी को छोड़कर वाणी-विनायक की वन्दना आदि में क्यों की, जब कि इसी ग्रन्थ के शेष तीन वक्ताओं ने श्रीराम ही की वन्दना से मंगलाचरण किया है ?

श्रीयाज्ञवल्क्यजी—"प्रनवउँ सोइ कृपाल रघुनाथा। बरनउँ बिसद तासु गुनगाथा ॥" (दो० १०४)

श्रीशिवजी—"बंदउँ बाल रूप सोइ रामू·····

करि प्रनाम रामहिं त्रिपुरारि। हरषि सुधा सम गिरा उचारी ॥" (दो० १११)

श्रीकाकभुशुण्डीजी—"भयेउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहइ रघुपति गुनगाहा ॥

प्रथमहिं अति अनुराग भवानी। राम चरित सर कहेसि बखानी ॥" (उ०दो०६३)

समाधान—(१) श्रीगोस्वामीजी ने इष्ट की वन्दना प्रथम व्यष्टि रूप में की है कि चराचर जगत् श्रीरामजी का शरीर है, जैसा कि सर्वत्र विराट् रूप में दिखाया है—"अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान। मनुज बास सचराचर, रूप राम भगवान ॥" (लं० दो० १५), "ब्रह्मा शक्रश्च रुद्रश्च गणेशो भास्करस्तथा। विचिन्त्य वासुदेवस्य तनुभूताविभूतयः ॥" (नारदपञ्चरात्रे बृहद्ब्रह्मसंहितायाम्)। अतः, जिस अंग से श्रीरामजी जो कार्य करते हैं उस कार्य के निमित्त आपके उसी अंग की वन्दना की है। सरस्वतीजी भी आपकी नियाम्यभूता शक्ति हैं, यथा—"तदपि जथा श्रुत कहउँ बखानी। सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी ॥ सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी ॥ जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी।" (दो० १०४)। इसी प्रकार स्वशरीर-रूप नियाम्य गणेशजी के द्वारा मंगल आदि के विधायक श्रीराम ही हैं। पद्मपुराण-कार्त्तिक माहात्म्य अ० १ में लिखा है कि किसीने श्रीरामजी के नेत्र अंग-रूप सूर्य की पूजा जन्म भर की थी। उसीसे उसने भगवान् का धाम पाया है। लोगों के सन्देह निवारणार्थ भगवान् ने कहा है कि मैं इसके उसी कर्म से प्रसन्न हुआ हूँ, क्योंकि—"शैवाः सौराश्च गाणेशा वैष्णवाः शक्तिपूजकाः ॥२६॥ मामेव प्राप्नुवन्तीह वर्षाम्भः सागरं यथा। एकोऽहं पञ्चधा जातः क्रियया नामभिः किल ॥२७॥ देवदत्तो यथा कश्चित्पुत्राद्याह्वाननामभिः ॥२८॥" अर्थात् शैव, सौर, गाणपत्य, वैष्णव एवं शाक्त—ये सब मुझे ही प्राप्त होते हैं, जैसे वर्षा का जल सागर को। मैं ही अकेला क्रियाभेद से पाँच प्रकार के नामोंवाला होता हूँ, जैसे—कोई देवदत्त संज्ञक व्यक्ति पुत्र, शिष्य आदि संज्ञाओं से कहा जाता है, तथा—"येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव·····" (गीता ९।२३), इत्यादि।

इस प्रकार सर्व-शरीरी श्रीरामजी के प्रति यहाँ अनन्यता है। स्पष्ट कहा भी है, यथा—"सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत ॥" (कि० दो० ३)। "उमा जे राम-चरन-रत···निज प्रभुमय देखहिं जगत···॥" (उ० दो० ११२), एवं—"जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि। बंदउँ सबके पद-कमल"···से "सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥" (दो० ७) तक। तथा—"जगत्सर्वं शरीरं ते।" (वाल्मी० ६।११७।२५)।

(२) फिर आगे—"जनकसुता जगजननि जानकी··· (दो० १७) से इष्ट (श्रीसीतारामजी) के माधुर्य रूप की वन्दना प्रारम्भ करके प्रथम नव दोहों में नाम की, "सुमिरि सो नाम राम-गुन-गाथा।····" (दो० २७) से दो दोहों में रूप की, "निज संदेश मोह भ्रम हरनी" से दो दोहों में लीला की, और—नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा ॥" (दो० ३३) से एक दोहे में धाम की वन्दना की है। इस प्रकार नामादि चतुष्टय की वन्दना सम्यक् वन्दना हुई, यथा—"रामस्य नाम रूपं च लीलाधाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥" (वसिष्ठ-संहिता)। वन्दना के बाद कथा प्रारम्भ हुई। अतएव, इनकी वन्दना उभय प्रकार की अनन्यता से परिपूर्ण है। उपर्युक्त याज्ञवल्क्यादि तीन वक्ताओं की वन्दना सूक्ष्म है। अतः, माधुर्यरूप ही की है।

(३) श्रीगोस्वामीजी का प्रधान कार्य रामचरितमानस का प्रणयन है। श्रीरामचरित की दात्री

श्रीसरस्वती जी हैं, इसलिये इनकी वन्दना प्रथम हुई। विघ्न-रक्षण की आवश्यकता पीछे होती है, इससे गणेशजी की वन्दना पीछे की गई है। गणेशजी पूजा में प्रथम पूज्य हैं, यहाँ तो वन्दना है। रामाज्ञा प्रश्न १।१।१ में भी वाणी के पश्चात् ही विनायक की वन्दना है। इस रामचरित में श्रीजी—श्रीसीताजी—की प्रधानता है और वाणी उनकी सेविका है, इसलिये भी यहाँ प्रथम वन्दना हुई। विनायक श्रीगणेश की वन्दना 'प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ' के कारण श्रीरामनाम के महत्त्व के प्रतिपादन में हुई है। तथा—"देवतिर्यङ्मनुष्यादौ पुन्नामा भगवान्हरिः। स्त्रीनाम्नी श्रीश्च विज्ञेया नानयोर्विद्यते परम्॥" (वि० पु० १।८।३५); अर्थात् देव, तिर्यक् और मनुष्य आदि में पुरुषवाची भगवान् हरि हैं, तथा स्त्रीवाची श्रीजी, इनसे परे और कोई नहीं हैं। इस प्रकार यहाँ श्रीसीतारामजी की वन्दना है।

सम्बन्ध—पहले श्लोक से छन्द-रचना और उसमें मंगल का अवलम्ब प्राप्त करके, ग्रन्थ में जो वस्तु (श्रीरामचरित) कहना है, उसके आदि आचार्यरूप श्रीशिव-पार्वती की वन्दना करते हैं, कि जिनकी कृपा से प्राप्त श्रद्धा-विश्वास द्वारा उन्हें इस (मानस) की प्राप्ति हुई।

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥२॥

शब्दार्थ—श्रद्धाविश्वास—किसी विषय की गूढ़ता और विचित्रता से आकृष्ट हो, वेद, शास्त्र एवं गुरु से उसके जानने की प्रबल इच्छा को श्रद्धा कहते हैं, यथा—"तथापि वैचित्र्यरहस्यलुब्धाः श्रद्धां विधास्यन्ति सचेतसोऽत्र॥" (विक्रमोर्वशी १।१३), इसके बिना किसी धर्म में प्रवृत्ति नहीं होती, यथा—"श्रद्धा बिना धरम नहिं होई।" (उ० दो० ८९), और, जब उसपर किसी प्रकार ठीक-ठीक भरोसा हो जाता है तब वह विश्वास कहाता है। इसके बिना सिद्धि नहीं होती, यथा—"कवनिउँ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा" (उ० दो० ८६)।

अन्वय—(अहम्) श्रद्धाविश्वासरूपिणौ भवानीशङ्करौ वन्दे, याभ्याम् विना सिद्धाः (अपि) स्वान्तःस्थम् ईश्वरम् न पश्यन्ति।

अर्थ—मैं श्रद्धा और विश्वास के रूप श्रीपार्वतीजी और श्रीमहादेवजी की वन्दना करता हूँ, सिद्धलोग भी जिनके बिना अपने अन्तःकरण में विराजमान ईश्वर को नहीं देख पाते।

विशेष—(१) श्रीपार्वतीजी यहाँ श्रद्धा-रूपिणी हैं, क्योंकि श्रीराम के प्रति इन्हें सती-रूप में सन्देह हुआ। उसका निवारण कराने की इच्छा इन्हें दूसरे जन्म (पार्वती-रूप) में भी बनी ही रही। अतः, अत्यन्त आर्त्त होकर बार-बार इन्होंने प्रार्थनापूर्वक प्रश्न किया है, यथा—"हरहु नाथ मम मतिभ्रम भारी……" (दो० १०७) से "अति आरति पूछउँ सुरराया। रघुपतिकथा कहहु करि दाया॥" (दो० १०९) तक। यही श्रद्धा का यथार्थ रूप है।

(२) श्रीशङ्करजी विश्वास-रूप हैं, यथा—"नाम प्रभाव जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमी को॥" (दो० १८); "जरत सकल सुर बृंद, बिषम गरल जेहि पान किय॥" (कि० सं०), अर्थात् क्षीर-समुद्र के मथते समय अन्य सभी देवता थे और सभी श्रीरामनाम के महत्त्व के ज्ञाता थे, पर वे कालकूट की तीक्ष्णता न सह सके। शिवजी का नाम-प्रताप पर पूरा विश्वास था। अतः, वे उसे पी गये, जिससे मरने की अपेक्षा अजर-अमर हो गये, यथा—"खायो कालकूट, भयो अजर अमर तनु।" (क० उ० १५८)।

(३) यहाँ ग्रन्थकार श्रीपार्वतीजी की-सी श्रद्धा और श्रीशिवजी के समान विश्वास चाहते हैं। यह श्रीपार्वतीजी और श्रीशिवजी के प्रसाद से होगा। इसलिये इनकी वन्दना की कि श्रीरामचरित-ज्ञान के लिये वैसी श्रद्धा हो, यथा—"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्।" (गीता ४।३९)। चरित के साथ ही उसके बीज रूप

श्रीरामनाम का महत्त्वज्ञान होगा, तब श्रीशिवजी के समान श्रीरामनाम में विश्वास होगा और नाम-कामतरु से चरित रचना रूपी मनोरथ की सिद्धि होगी, क्योंकि श्रीशिवजी को श्रीराम नाम से ही चरित का साक्षात्कार हो गया, यथा—"मंगल-भवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥" (दो० ९), "नाम-प्रभाव संभु अविनासी। साज अमंगल मंगलरासी॥" (दो० २५), "ब्रह्म राम ते नाम बड़, बरदायक बर दानि। रामचरित सत कोटि महँ, लिय महेस जिय जानि॥" (दो० २५), नाम के द्वारा चरित का ज्ञान अन्यत्र भी कहा है, यथा—"जानहिं सिय-रघुनाथ भरत को सील सनेह महा है। कै तुलसी जाको राम-नामसों प्रेम-नेम निबहा है॥" (गी० अ० ६४), तथा—"नाम राम को कल्पतरु, कलि कल्यान निवास। जो सुमिरत भयो भाँग ते, तुलसी तुलसीदास॥" (दो० २६), "हौं तो बलि जाऊँ राम नाम ही ते लह्यो हौं।" (वि० २६०), श्रीवाल्मीकि-तन में भी आप (गोस्वामीजी) उलटे रामनाम (म रा) के जपने से श्रद्धा-विश्वास के बल पर रामायण के आदि-निर्माता हुए, यथा—महिमा उलटे नाम की मुनि कियो किरातो।" (वि० १५१)।

(४) श्रद्धा और विश्वास भी श्रीशिव-पार्वती की भाँति अन्योन्य सापेक्ष एवं अभिन्न हैं। जैसे शिव-पार्वती की प्राप्ति दुर्लभ है वैसे श्रद्धा-विश्वास की भी। वे ही (श्रद्धा-विश्वास) इन (शिव-उमा)-की वन्दना से प्राप्त होते हैं। विश्वास के बिना श्रीराम-भक्ति की प्राप्ति नहीं होती, यथा—बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।" (उ० दो० ९०), तथा—"जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥" (दो० १३७)। ऐसे ही श्रद्धा बिना रामचरित की प्राप्ति नहीं, यथा—"जे श्रद्धा संबल रहित, नहिं संतन्ह कर साथ। तिन कहँ मानस अगम अति, जिनहिं न प्रिय रघुनाथ॥" (दो० ३८)। ये चरित्र-सुगमता के तीन साधन माने गये हैं, इनमें विश्वास द्वारा भक्ति से श्रीरामप्रियत्व और श्रद्धा ये दोनों स्पष्ट हैं, और 'संतन्ह कर साथ' के प्रति "अगनित गिरि-कानन फिरयों" (वि० २६६), अर्थात् पहले भी बहुत सत्संग किया है। पुनः आगे—"अवध पुरी यह चरित प्रकासा।" (दो० ३३), कहा है, अर्थात् आपने सत्संग के लिये सन्तों के बीच में (ग्रन्थ-रचना कार्य) प्रारम्भ किया है।

(५) 'याभ्यां विना···'—जब ईश्वर के दर्शनार्थ साधन पूर्ण हुआ, तभी वे सिद्ध कहे गये, फिर उन्हें वह ईश्वर क्यों नहीं दीख पड़ता? इसका समाधान यह है कि वे श्रद्धा-विश्वास के बिना केवल तर्क और ज्ञान से ही साधन करते हैं और ईश्वर तो इनसे परे है, यथा—"मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥" (दो० ३४०), "मायागुन-ज्ञानातीत अमाना····।" (दो० १९१), "नैषातर्केणमतिरापनेयः" (मुण्डक० उ०), जीव के मन, बुद्धि आदि परिमित हैं और ईश्वर अपरिमित है। हाँ, जीव जब श्रद्धानिष्ठ होकर साधन करे तब भगवान् उस श्रद्धा को अपनी शक्ति से धारण कर उसके हृदय के विश्वासानुसार प्राप्त होते हैं, यथा—"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान्॥" (गीता ७।२२), तथा—"मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युता। रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युतः॥" इत्यादि स्मृतियों में कहा है। अतः, उनकी दी हुई शक्ति से उनका प्राप्त होना युक्त है। 'स्वान्तःस्थमीश्वरम्'—यह श्रीरामजी का ही अव्यक्त रूप है, यथा—"परिहरि हृदय-कमल रघुनाथहि बाहर फिरत बिकल भयो धायो॥" (वि० २४४), तथा—"अंतरजामी राम सिय,·····" (अ० दो० २५६)।

(६) श्रद्धा और विश्वास से ही अज्ञान का नाश होता है। जिसको संशय है, श्रद्धा नहीं है उसको यहाँ-वहाँ (इहलोक और परलोक) कहीं भी सुख नहीं। अश्रद्धालु का कोई भी कर्म व्यर्थ है इसलिये उसके ध्यान और जप दोनों पूर्ण फलदायक नहीं, यथा—श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं

संशयात्मनः ॥ (गीता ४।३९-४०), तथा—"श्रद्धैव सर्वधर्मस्य चातीव हितकारिणी। श्रद्धैव नृणां सिद्धिर्जायते लोकयोर्द्वयो. ॥ श्रद्धया भजतः पुंसः शिलापि फलदायिनी। मूर्खोऽपि पूजितो भक्त्या गुरुर्भवति सिद्धिदः ॥ श्रद्धया पठितो मन्त्रस्त्ववद्धोऽपि फलप्रदः। श्रद्धया पूजितो देवो नीचस्थापि फलप्रदः ॥ अश्रद्धया कृता पूजा दानं यज्ञस्तपो व्रतम्। सर्वं निष्फलतां याति पुष्पं वन्ध्यतरोरिव ॥ सर्वत्र संशयाविष्टः श्रद्धाहीनोऽतिचञ्चलः। परमार्थात्परिभ्रष्टः संसृतेर्नहि मुच्यते ॥ मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ। यादृशी भावना यत्र सिद्धिर्भवति तादृशी ॥" (स्कन्द पु० ब्रा० ब्राह्मो० १७।३--८) इत्यादि बहुत प्रमाण हैं।

शंका—(क) अन्तर्यामी रूप अव्यक्त है, यथा—"कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्यावै, अव्यक्त जेहि श्रुति गावै ॥" (लं० दो० ११२), तथा—"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना।" (गीता ९।४), वह अनुभव-गम्य है, उसे 'पश्यन्ति' क्यों कहा गया ?

समाधान—अनुभव करने, विचारने और समझने आदि में भी बुद्धि रूपी नेत्र का देखना विचार-कर 'पश्यन्ति' कहना युक्त है, यथा—"पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः" (गीता १५।१०), तथा—"देखु गरुड़ निज हृदय बिचारी।" उ० दो० १२२) । पुनः, उपर्युक्त रीति से जब श्रद्धा-विश्वास से भजन किया जाता है तब वही रूप व्यक्त होकर दर्शन का विषय होता है, यथा—"अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत-प्रेम-बस सगुन सो होई ॥" (दो० ११५), "नाम निरूपन नाम जतन ते। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन ते ॥" (दो० २२)।

(ख)—श्रीशिव-पार्वतीजी में तो बहुत गुण हैं, यथा—"प्रभु समरथ सर्वज्ञ सिव, सकल-कला-गुन-धाम। जोग-ज्ञान-बैराग्या-निधि,·····" (दो० १०७), यहाँ श्रद्धा-विश्वास रूपमात्र ही क्यों कहे गये ?

समाधान—ग्रन्थकार को यहाँ मुख्य प्रयोजन इन श्रीशिव-पार्वतीजी के इन्हीं दो गुणों से था।

सम्बन्ध—ऊपर श्लोक से श्रद्धा-विश्वास द्वारा मानस-प्राप्ति के लिये श्रीशिव-पार्वती की वन्दना की, तब श्रद्धा-विश्वास को सदुपदेश से दृढ़ करनेवाले श्रीगुरु की वन्दना करते हैं। मानस के आदि आचार्य श्रीशिवजी हैं, फिर उन्होंने श्रीपार्वतीजी को दिया, और फिर शिवजी ने ही लोमशजी के द्वारा भुशुण्डीजी को एवं क्रमशः परम्परा द्वारा श्रीगुरु से इन्हें (गोस्वामीजी को) मिला, यथा—"रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमय सिवा सन भाषा। सोइ सिव···मैं पुनि निज गुरु सन सुनी,···तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा ॥ भाषाबद्ध करबि मैं सोई।" (दो० ३१)। अतः, साथ ही गुरुजी की वन्दना भी करते हैं।

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥३॥

अन्वय—यम् आश्रितः हि वक्रः अपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते, (एवं भूतम्) बोधमयम् नित्यम् शङ्कररूपिणम् गुरुम् (अहम्) वन्दे।

अर्थ—जिनके आश्रित होने से निश्चय ही टेढ़ा भी चन्द्रमा सर्वत्र वन्दित होता है, ऐसे प्रबोध-स्वरूप, नित्य, शङ्कररूप गुरुजी की मैं वन्दना करता हूँ।

विशेष—(१) 'बोधमयम्'—गुरु-लक्षण में कहा गया है, यथा—"गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्द-स्तन्निषेधकृत्। अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥" (गुरुगीता), अर्थात् 'गु' शब्द का अर्थ अज्ञान रूप अन्धकार है और 'रु' का अर्थ उसका निवारक है। श्रीगुरुजी अज्ञान-निवारक होने से 'गुरु' कहाते हैं, तथा—"महा-मोह-तम-पुंज, जासु बचन रबिकर निकर ॥" (दो० १) देखिये। "बिनु गुरु होइ कि ज्ञान—" (उ० दो० ९९), एवं—"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" (मुण्डको० १।२।१२)।

(२) 'नित्यम्'—गुरुत्व तत्त्व नित्य है, वह भगवान् से क्रमशः मन्त्र-परम्परा द्वारा श्रीगुरु में प्राप्त है। तन्निष्ठ होने से गुरुजी नित्य हैं, क्योंकि—"श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।" (गीता १७।३), अर्थात्—यह पुरुष श्रद्धामय है, (इसलिये) जो जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है, अर्थात् भगवान् के गुरुत्व अंश के श्रद्धानिष्ठ होने से भगवान् की तरह वे (गुरु) भी नित्य हैं, यथा—'भक्ति भक्त भगवंत गुरु, चतुर नाम वपु एक।" (भक्तमाल), वेद वाक्य भी है, यथा—"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।" (श्वे० ६।२३), इसमें गुरु को ब्रह्म तुल्य कहा है। एवं—"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥" (गुरुगीता) आगे भी—"बंदउँ गुरु-पद-कंज, कृपासिंधु नररूपहरि।" (मं०), गुरु के उपमान-रूप शंकर भी नित्य हैं, यथा—"नामप्रसाद संभु अविनासी।" (दो० २६)।

(३) 'शङ्कररूपिणम्'—श्रीरामचरितमानस सम्बन्धी गुरुत्व श्रीशिवजी से चलकर परम्परा द्वारा श्रीगुरुजी में आया। उपर्युक्त विशेष (१) की रीति से उस गुरुत्वांश में श्रद्धानिष्ठ होने से श्रीगुरुजी को शंकररूप कहा। वैसे ही मन्त्र-सम्बन्धी गुरुत्व से आगे 'नररूप हरि' कहेंगे, क्योंकि मन्त्र-परम्परा हरि (श्रीरामजी) से है। आपने कहा भी है, यथा—"हित उपदेश को महेस मानौ गुरु कै।" (हनु० बाहुक), तथा—"गुरु पितु मातु महेस भवानी।" (दो० १४), शंकर कल्याणस्वरूप हैं, वैसे गुरुजी भी हैं। इस वन्दना से अपने ग्रन्थ एवं इसके श्रोता-वक्ताओं का कल्याण मनाया गया है।

(४) 'वक्रोऽपि'—टेढ़े चन्द्रमा से शुक्ल द्वितीया का चन्द्रमा जानना चाहिये, यथा—"टेढ़ जानि बंदइ सब काहू। बक्र चन्द्रमहिं ग्रसइ न राहू॥" (दो० २८०)। स्कन्द पु० माहे० केदार० में कथा है कि राहु के डर से चन्द्रमा शिवजी की शरण हुआ, तब उस द्वितीया के चन्द्रमा को ललाट पर धारण कर शिवजी ने अपना आश्रय दिया। इससे उसकी वन्दना सब कोई करते हैं। इसी प्रकार श्रीगुरु-शरण होने से अनधिकारी चेले का भी मान होने लगता है। ऐसे ही मेरी वक्र-बुद्धि से निर्मित यह श्रीरामयश भी सर्वत्र आदर पावे और उस सम्बन्ध से मैं भी वन्दनीय होऊँ—यही गुरु-वन्दना का भाव है। आप वन्दनीय हुए भी, यथा—"राम नाम को प्रभाउ, पाउ, महिमा, प्रतापु, तुलसी-सो जग मनिअत महामुनी-सो॥" (क० उ० ७२)। श्रीकाकभुशुण्डीजी भी प्रथम वक्र थे, गुरु-कृपा से वन्दनीय हो गये, उत्तरकाण्ड में विस्तार से कथा है।

शंका—ऊपर के श्लोक १ में वाणी-विनायक, २ में भवानी-शंकर, एवं आगे भी ४ में कवीश्वर-कपीश्वर, पुनः ५-६ में श्री सीतारामजी दो-दो की साथ-साथ वन्दना की गई है। यहाँ श्रीगुरु की अकेले क्यों ? तथा चार ऊपर चार नीचे एवं गुरु बीच में रखने का क्या भाव है ?

समाधान—(१) श्रीगुरु महाराज अद्वितीय हैं, इनकी बराबरी का दूसरा कोई नहीं, यथा—"तुम (श्रीराम) ते अधिक गुरुहिं जिय जानी। सकल भाव सेवहिं सनमानी।" (अ० दो० १२८); "राखइ गुरु जौ कोप बिधाता। गुरु-बिरोध नहिं कोउ जगत्राता॥" (दो० १६५), अर्थात् ईश्वर से भी अधिक महत्त्व गुरु का है। इसलिये गुरुजी की वन्दना अकेले ही की गई है।

(२) चार-चार नीचे-ऊपर रख कर उनके बीच में इन्हें डब्बे में रत्न की भाँति रक्खा।

(३) यन्त्र-पूजाविधि में 'प्रधान' बीच में पधराये जाते हैं।

सम्बन्ध—तीन श्लोकों में ग्रन्थ-रचना के अंगभूतों की वन्दना करके अब रामयश के अनन्य श्रोता वक्ता श्रीवाल्मीकिजी और श्रीहनुमानजी की वन्दना से आप (ग्रन्थकर्त्ता) भी इस श्रीसीताराम-गुणग्राम में विहार चाहते हैं—

सीताराम-गुणग्राम-पुण्यारण्यविहारिणौ ।
वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ ॥४॥

अन्वय—सीताराम-गुणग्राम-पुण्यारण्य-विहारिणौ विशुद्ध-विज्ञानौ कवीश्वर-कपीश्वरौ (अहम्) वन्दे ॥४॥

अर्थ—श्रीसीतारामजी के गुण-समूह रूपी पवित्र वन में विहार करनेवाले, विशुद्ध विज्ञानी श्रीवाल्मीकिजी और श्रीहनुमानजी की मैं वन्दना करता हूँ ।

विशेष—(१) गुणग्राम को पुण्य-वन का रूपक इसलिये दिया कि ये दोनों पुण्य वन श्रीचित्रकूट एवं किष्किन्धा के रहनेवाले हैं और श्रीसीताराम-गुणग्राम भी पवित्र है । नौ वन पवित्र कहे गये हैं, यथा—"दण्डकं सैन्धवारण्यं जम्बूमार्गश्च पुष्करम् । उत्पलावर्त्तमारण्यं नैमिषं कुरुजाङ्गलम् । हिमवानर्बुदश्चैव नवारण्याश्च मुक्तिदाः ।" (स्कन्दपुराण) ; तथा श्रीचित्रकूट, श्रीप्रमोद वन एवं श्रीवृन्दावन आदि भी पवित्र वन प्रसिद्ध हैं । चरित्रपवित्रता—"मन क्रम बचन जनित अघ जाई । सुनइ जो कथा श्रवन मन लाई ॥" (उ० दो० १२५) ।

(२) 'सीता···विहारिणौ···—कवीश्वर'—"बंदउँ मुनि-पद-कंज, रामायन जेहि निरमयेउ ।" (दो० १४); "कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम् । आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥" श्रीनारदजी से प्रश्न करके वाल्मीकिजी ने श्रीरामचरित्र सुना भी है, जो मूलरामायण के नाम से ख्यात है । कपीश्वर—"जयति रामायण-श्रवण-संजात-रोमांच, लोचन, सजल, सिथिल बाणी ।" (वि० २६); "महानाटक-निपुन, कोटि कविकुल-तिलक, गान-गुन-गर्व गंधर्व-जेता (वि० २६) ; अर्थात् दोनों इस पुण्य वन में आदर्श श्रोता-वक्तारूप से विहार-कर्त्ता हैं । श्रीहनुमानजी चिरजीवी हैं, जहाँ-जहाँ रामचरित होता है, सुनते हैं । इन्होंने रामचरित-श्रवण के अधीन अपना जीवन ही बना रक्खा है । (वाल्मी० ७।४०।१५-२४ तथा महा० वन १४८।१६-१७ देखिये) । श्रीवाल्मीकिजी पहले ब्रह्मा रूप से वेदों के द्वारा रामगुण गान करते थे, फिर वाल्मीकि रूप से और फिर तुलसीदास रूप से भी जीवन भर इसी में रत रहे । (मं० १ की व्याख्या पृ० २ में देखिये) । 'कपीश्वर'—प्रायः अन्यत्र श्रीसुग्रीवजी कपीश कहे गये हैं, पर यहाँ के विशेषण श्रीहनुमानजी पर ही घटते हैं, यथा—"पवन-तनय बल पवन-समाना । बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना ॥" (कि० दो० २६); "अतुलितबल·····ज्ञानिनामग्रगण्यम् । सकलगुणनिधानं वानराणाम-धीशं रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि ॥" (सुं० मं०); "कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ।" (मूल रामायण); "नव तुलसिका बृंद तहँ, देखि हरष कपिराइ ॥" (सुं० दो० ५); गुण-गण-विहार के उदाहरण ऊपर दिये गये । श्रीसुग्रीवजी का चरित-रचयिता एवं विज्ञानी होना इस प्रकार प्रसिद्ध नहीं है ।

(३) 'विशुद्धविज्ञानौ'—(क) विज्ञानी के मन में भी कामादि से कभी-कभी क्षोभ हो जाता है, यथा—"तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ । मुनि बिज्ञान-धाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ ॥" (अर० दो० ३८) । अतः, 'विशुद्ध' विशेषण भी दिया गया है, क्योंकि इन दोनों का विज्ञान सदा एकरस रहता है । (ख) केवल 'विज्ञानी' से यह भी हो सकता है कि वे निर्गुण मत के विहारी होंगे, यथा—"ब्रह्म-ज्ञान-रत मुनि बिज्ञानी । मोहि परम अधिकारी जानी ॥ लागे करन ब्रह्म-उपदेसा । अज अद्वैत अगुन हृदयेसा ।" (उ० दो० ११०) । इस सन्देह-निवृत्ति के लिये 'विशुद्ध' पद दिया, क्योंकि ये दोनों सगुण ज्ञानी हैं, यथा—"सोह न राम-प्रेम बिनु ज्ञानू ।" (अ० दो० २७६) ; और श्रीसीताराम-गुणग्राम-विहारी भी कहकर उक्त दोष को छुड़ाते हुए सगुण मत को स्पष्ट किया ।

सम्बन्ध—अब उक्त गुणग्राम के देवता श्रीसीतारामजी की मन्त्रात्मक वन्दना दो श्लोकों में करते हैं—

उद्भव-स्थिति-संहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥५॥

अन्वय—उद्भव-स्थिति-संहारकारिणीम्, क्लेशहारिणीम्, सर्वश्रेयस्करीम्, रामवल्लभाम्, सीताम् अहम् नतः ।

अर्थ—उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाली, दुःखों को हरनेवाली, सम्पूर्ण कल्याणों को करनेवाली, श्रीरामजी की प्रिया श्रीसीताजी को मैं नमस्कार करता हूँ ।

विशेष—(१) लक्ष्य—"श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदानन्ददायिनी ।
उत्पत्ति-स्थिति-संहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ॥" (श्रीरामतापनीय०)

(२) विशेषणों के क्रम—उत्पत्ति, पालन और संहार त्रिदेवों की तीनों शक्तियों के कार्य हैं । अतः, 'उद्भव-स्थिति···' से इनकी कारणरूपिणी मूल-प्रकृति का भ्रम होता । यथा—"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।" (गीता ९।१०) । किन्तु, इसके निवारणार्थ 'क्लेशहारिणीं' भी कहा । यह गुण विद्यामाया में है । अतः, 'सर्वश्रेयस्करी' कहा । इससे भी महालक्ष्मी का भ्रम होता, किन्तु श्रीजानकीजी तो ब्रह्मस्वरूपिणी एवं सब मायाओं की मूलभूता हैं, यथा—"माया सब सिय माया माहू ।" (अ० दो० २५१) ; तथा—"जासु अंस उपजहिं गुनखानी । अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥" (दो० १४७) । अतः, 'रामवल्लभा' भी कहा है, यथा—"जनकसुता जगजननि जानकी । अतिसय प्रिय करुनानिधान की ॥" (दो० १७) ; इस अन्तिम पद से विशेषणों की अतिव्याप्ति (दोष) दूर हुई ।

(३) उक्त छः विशेषणों से श्रीसीताजी को षडैश्वर्यपूर्ण श्रीरामजी के तुल्य कहा । विशेष्य रूप में सीता नाम कहा गया है, क्योंकि यही मुख्य नाम है । इसका अर्थ—"सिनोत्यतिगुणैः कान्तं सीयते तद्गुणैस्तु या । वात्सल्यादिगुणैः पूर्णां तां सीतां प्रणतोऽस्म्यहम् ॥" अर्थात् 'षिञ्-बन्धने' धातु से सीता शब्द सिद्ध होता है । तदनुसार यह श्लोक है—जो अपने अति गुणों से कान्त (श्रीरामजी) को बाँधें एवं उनके गुणों से स्वयं बँधी रहें, वात्सल्यादि गुणों से पूर्ण ऐसी श्रीसीताजी को मैं प्रणाम करता हूँ । प्रथम श्रीमनुशतरूपा के वरदान-प्रसंग में भी यही नाम कहा गया है, यथा—"भृकुटिबिलास जासु जग होई । राम बामदिसि सीता सोई ॥" (दो० १४७) ; यह अवतार के पहले ही कहा गया है । अतः, यह नाम नित्य है ।

श्लोक का मन्त्र से मिलान—

(४) श्रीसीता-मन्त्र का प्रथमाक्षर बिन्दु-युक्त श्रीबीज है, वह श्री शब्द 'शृ-विस्तारे' धातु से सिद्ध होता है । तदनुसार सृष्टि-विस्तार रूप-उत्पत्ति यहाँ कही है । 'श्रण-दाने गतौ च' से श्री शब्द होता है । अतः, स्थिति-कार्य व्यक्त हुआ । 'शृ-हिंसायाम्' से श्री शब्द बनता है, इससे संहारकारिणी शब्द हुआ । 'श्रु-श्रवणे' से श्री शब्द हुआ, तदनुसार श्रीरामजी को चेतनों की प्रार्थना सुनाने एवं स्वयं सुनकर रक्षा करने को क्लेशहारिणी कहा है । 'श्रिञ्-सेवायाम्' से श्री शब्द निष्पन्न होता है । तदनुसार वे ब्रह्मा-इन्द्र-रुद्र आदि देव, मुनिगण एवं चराचर चेतनों से सेवित होकर उनका कल्याण करती हैं, इससे सर्वश्रेयस्करी कहा है । इस प्रकार धातुओं के अनुसार 'श्री' के पाँच अर्थ हुए । श्री शब्द का अर्थ शोभा भी होता है । अपनी शोभा से श्रीरामजी को वश करने से वे उनकी वल्लभा हैं, यथा—"देखि सीय-सोभा सुख पावा । हृदय सराहत बचन न आवा ॥" (दो० २२९) ; पुनः "प्रभु जब जात जानकी जानी । सुख-सनेह-सोभा गुनखानी ॥ परम-प्रेम-मय मृदु मसि कीन्ही । चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही ॥" (दो० २३४) ; इस शोभा से वशीभूत हो श्रीरामजी ने धनुष तोड़कर श्रीजी को वल्लभा किया । अतः, 'रामवल्लभा' यह श्री शब्द का छठा अर्थ है । इसी 'श्री' पद पर बिन्दु लगता है, तब इसका बीज रूप होता है, बीजयुक्त श्री पद का अर्थ होता है—श्री शब्द के उक्तार्थ गुणविशिष्टा श्रीसीताजी के लिये जीव वर्ग हैं, सब उन्हीं के शेष (भोग्य) एवं

अनन्य भक्त हैं। यह अर्थ भी उक्तार्थ में विशद रूप में सन्निहित है—उद्भव-स्थिति-संहारकारिणी···' होने से श्रीसीताजी सृष्टि के जीवमात्र से सेव्या हैं; यथा—"तज्जलानिति शान्त उपासीत।" (छान्दो० ३।१४।१); अर्थात् यह सारा जगत् उसी ब्रह्म से उत्पन्न होनेवाला, उसीमें लीन होनेवाला और उसीमें चेष्टा करनेवाला है। अतएव, विचार कर शान्त होकर इसे (जगत् को) उसीकी उपासना करनी चाहिये। इस श्रुति के विशेष भाव लं० दो० ६ में "तासु भजन कीजिय तहँ भरता। जो करता पालक संहरता॥" के विशेष में लिखे गये हैं, वहीं देखिये। श्री बीज के अतिरिक्त शेष चतुर्थी सहित सीता शब्द इस श्लोक के 'सीतां' से और मन्त्र का अन्तिम 'नमः' शब्द यहाँ के 'नतः' से अर्थ में अभेद है। अतः, यह श्लोक श्रीसीता मन्त्र का अर्थ ही है।

सम्बन्ध—पहले श्रीसीताजी की वन्दना की, क्योंकि यही रीति है कि शक्तिमान् के पहले उनकी शक्ति का नाम कहा जाता है, जैसे—राधाकृष्ण, लक्ष्मीनारायण एवं गौरीशंकर, इत्यादि। पुनः पहले बालक माँ को ही जानता है। जब वह शृङ्गार करके योग्य बना देती है, तब पिता की गोद का अधिकारी होता है। वैसे ही जगन्माता श्रीजी आश्रित को पहले निर्मल बुद्धि दे अधिकारी बना देती हैं, तब यह शरण हो श्रीरामजी का आश्रय प्राप्त करता है, आगे दो० १७ में 'जनकसुता···' आदि देखिये। श्रीजी अंशभूत जीवों का पुरुषकारत्व (घटकत्व) भी करती हैं, यथा—"कबहुँक अंब, अवसर पाइ। मेरीओ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ॥" (विनय, ४१); "कबहुँ समय सुधि द्याइबी, मेरी मातु जानकी। जन कहाइ नाम लेत हौं, किये पन चातक ज्यों, प्यास प्रेम-पान की॥" (विनय ४२)। अतः, अब इन्हीं श्रीजी से निर्मल मति प्राप्त कर श्रीराम-प्रार्थना करेंगे। यद्यपि तत्त्व की दृष्टि से दोनों तुल्य हैं, तथापि लोक में स्त्री की अपेक्षा पुरुष का प्राधान्य रहता है। अतः, शक्तिमान् अशेष-कारण पर श्रीरामजी की वन्दना शेष (अन्त) में करते हैं—

यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥६॥

अन्वय—यन्मायावशवर्त्ति ब्रह्मादिदेवाः असुराः अखिलम् विश्वम्, यत्सत्त्वात् सकलम् (विश्वम्) अमृषा इव भाति, यथा रज्जौ अहेः भ्रमः। भवाम्भोधेः तितीर्षावताम् यत्पादप्लवः एकः एव हि, तम् अशेषकारणपरम् हरिम् ईशम् रामाख्यम् अहम् वन्दे।

अर्थ—जिनकी माया के वश में ब्रह्मादि देवता और असुरगण के साथ सारा जगत् है, जिनकी सत्यता से सम्पूर्ण जगत् सत्य-सा जान पड़ता है, जैसे रस्सी में साँप का भ्रम हो; भवसागर तरने की इच्छावालों के लिये, जिनके चरण ही एक नाव हैं; उन सम्पूर्ण कारणों से परे, (आश्रितों के) दुःख हरनेवाले ईश्वर की, जिनका 'राम' (यह) नाम है, मैं वन्दना करता हूँ।

विशेष—(१) यह शार्दूलविक्रीड़ित छन्द* है। इस छन्दवाले मंगलाचरण से ग्रन्थकार ने अपने

* इस छन्द के प्रत्येक पद में १९ वर्ण हैं, यानी मगण (तीन गुरु), सगण (दो लघु + एक गुरु), जगण (एकलघु + एक गुरु + एक लघु), सगण, तगण (दो गुरु + एक लघु), तगण और एक गुरु रहते हैं। ऐसे इसमें चार चरण होते हैं।

इष्ट को सिंहवत् सर्वश्रेष्ठ पराक्रमी जनाया है, यथा—"सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहिं समर न जीतनिहारा॥" (अ० दो० १२८)।

(२) 'यन्मायावश···' अर्थात् ब्रह्मादि देवता सत्त्वगुणी, असुर तमोगुणी और अखिल विश्व में रजोगुणी भी आ गये। अतः, तीनों लोकों पर इनकी माया की आज्ञा चलती है, यथा—"बंध मोच्छप्रद सर्बपर, माया प्रेरक सीव॥" (अर० दो० १५); "जो माया सब जगहिं नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥ सोइ प्रभु भ्रू-बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥" (उ० दो० ७१); "मायाबस्य जीव अभिमानी। ईसबस्य माया गुनखानी॥" (उ० दो० ७७)।

(३) 'यत्सत्त्वादमृषैव'—यहाँ जगत् की नानात्व (अनेकत्व) सत्ता को 'सकलं' शब्द से जनाया है, जो 'सुत-बित्त-देह-गेह-नेह (स्नेह) इति जगत्' रूप में प्रसिद्ध है। इसका विस्तृत अर्थ आगे "जासु सत्यता तें जड़ माया।" से "जासु कृपा असि भ्रम मिटि जाई।" (दो० ११७) तक; तथा "झूठउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने॥ जेहि जाने जग जाइ हिराई"···(दो० १११) के स्वतन्त्र प्रसंग से किया जायगा।

यहाँ दृष्टान्त में रज्जु और सर्प तथा दार्ष्टान्त (उपमेय) में श्रीरामजी और जगत् हैं। श्रीरामजी सुत-कुटुम्बादि चर और पृथ्वी आदि अचर जगत् में वासुदेव रूप से व्यापक हैं। उनकी सत्ता से ही सब नातों का बर्ताव एवं गन्ध-रसादि की अनुभूति होती है, यथा—"जासों सब नातो फुरै, तासों न करी पहिचानि।" (वि० १६०); "गुरु पितु मातु बंधु पतिदेवा। सब मोकहँ जानइ दृढ़ सेवा॥" (अर० दो० १७); तथा—"पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।···॥ "गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृद्॥" (गीता ६-१७-१८); इति चर जगत्। पुनः—"रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः। पुण्योगन्धः पृथिव्यां च तेजाश्चास्मि विभावसौ॥" (गीता ७।८-९); इति अचर जगत्। इससे निश्चित हुआ कि श्रीराम ही इस जीव को चराचर जगत् रूप शरीर से पालते-पोसते हैं। चर माता-पितादि में वात्सल्यादि गुणों की प्रेरणा द्वारा और अचर पृथ्वी में गन्ध (भूमि में एक दाना बोने से दस देकर वासनापूर्त्ति), जल में रस (स्वाद), अग्नि में तेज आदि से पालते हैं। यही उनका रस्सी की तरह सब ओर से आवृत करना है, यथा—"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना।" (गीता ९।४); तथा—"मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।" (गीता ७।७)।

(क) रस्सी प्रधानतया कुँए से जल भरने के काम में आती है। कुँए में रस्सी डालने से गोलाकार बैठती जाती है। वहाँ अँधेरा रहता ही है। अतः, सर्पवत् दीखती है। उसके बीच में पड़ा हुआ मेढक, जैसे अँधेरे में उसे सर्प मानकर डरे, वैसे ही भवकूप में पड़े हुए जीवों को अज्ञान रूपी अँधेरे में भय लगता है। यद्यपि अपने सब शरीरों से श्रीरामजी ही उनका पोषण करते हैं तथापि वे भ्रम से सबको पृथक्-पृथक् सत्तावान् मानकर उन-उन रूपों के उपकारानुसार ऋणी होकर नानात्व जगत् में [नानात्व जगत् से प्रकृति के परिणाम रूप शरीरों के ही नानात्व को जानना चाहिये। जीवों का नानात्व; अर्थात् इनका अनन्त होना तो सिद्ध है ही, यथा—"जीव अनेक एक श्रीकंता॥" (उ० दो० ७७)] आसक्त होते हैं। इसीसे जन्म-मरण के कष्टों को भोगते हैं। अज्ञानी जीव नाना उपायों से जैसे अपने शरीर को पोसते हैं, भगवान् भी अपने शरीर रूपी जीवों को ज्ञानपूर्वक उनके अपने-अपने कर्मानुसार चराचर शरीर के व्यवहार द्वारा पोषण करते हैं। यही अपना स्वरूप विस्मृत होना, सर्प काटने की मूर्च्छा है। यथार्थज्ञान-रूपी उजाला होने पर चराचर रूप श्रीरामजी रस्सी की तरह देख पड़ते हैं। वे अपने नानारूपों से इसलिये उपकार करते हैं कि जीव सब प्रकार से मुझे ही पालक जानकर, मेरे लिये ही अपनी स्थिति समझें और सब ओर से ममता-रूप रस्सी हटा कर मुझमें ही दृढ़ प्रीति करें, यथा—"जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता-ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥" (सुं० दो० ४३)

(ख) जैसे कुएँ में पड़ा हुआ जीव जब जान ले कि मेरे चारों ओर यह सर्प नहीं, किन्तु रस्सी है और यह ऊपर से आई हुई मेरे चारों ओर लिपटी हुई है, तब वह उसी रस्सी को दृढ़ता से पकड़ धीरे-धीरे ऊपर चढ़कर कुँए से बाहर आ जाय। वैसे मुमुक्षु जीव जब श्रीरामजी को जगत् के कारण (मूल) रूप में ऊर्ध्व (ऊपर)-स्थित एवं शाखा-रूप में चराचर रूप से अपने सब ओर जानता है, यथा—"ऊर्ध्वमूलमधः शाखम्" (गीता १५।१); "अव्यक्तमूलमनादि तरु···" (उ० दो० १२); तब इन नानारूपों से किये हुए उनके उपकारों को समझ-समझ कर प्रीतिपूर्वक उनकी आराधना करता है, यथा—"समुझि-समुझि गुनग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ।" (वि० १००) ; यही ऊपर चढ़ना है। आयुपर्यन्त आराधना से प्रारब्ध कर्म-कूप की मर्यादा समाप्त करना भव-कूप से बाहर होना है। इसलिये आगे चरण में 'यत्पादप्लव' का आराधन ही इसका उपाय कहा गया है।

शंका—विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में जगन्मिथ्यात्व नहीं माना जाता, किन्तु जगत् प्रवाहतः सत्य एवं स्वरूपतः अनित्य माना जाता है। इस नानात्व के मिथ्यात्व की बात उसमें कैसे घटित होगी ?

समाधान—श्रीगोस्वामीजी ने माया के विद्या और अविद्या दो भेद माने हैं, अर० दो० १४ देखिये। विद्यामाया से भगवान् के शरीर रूप में जगत् को स्वरूपतः अनित्य और प्रवाहतः नित्य ही माना है। यही यथार्थ है, यथा—"पल्लवत फूलत नवलनित संसार विटप नमामहे।" (लं० दो० १२) उसे ही अविद्या दृष्टि से नानात्व कल्पना रूप जगत को आपने मिथ्या कहा है। आगे दो० १११ एवं ११७-११८ में 'विद्या-अविद्या' के प्रसंग देखिये।

श्रीव्यासजी ने भी ऐसा ही कहा है, यथा—"अव्यक्ताद्व्यक्तमापन्नं विद्यासर्गं वदन्ति तम्। महान्तं चाप्यहङ्कारमविद्यासर्गमेव च॥ अविधिश्च विधिश्चैव समुत्पन्नौ तथैकतः। विद्याऽविद्येति विख्याते श्रुतिशास्त्रार्थचिन्तकैः॥" (महा० शान्ति० ३०२।२२—२३); अर्थात् पण्डित लोग अव्यक्त से व्यक्त भावापन्न उस विश्वरूप (विराट्) को विद्यासृष्टि और महान् कहा करते हैं तथा अहङ्कार को अविद्या सृष्टि कहते हैं। एक ही ईश्वर के शरीर रूप जगत् में विद्या दृष्टि से विधि (उपासना) और अविद्या (नानात्व) दृष्टि से अविधि (राग द्वेष आदि) उत्पन्न हुई हैं। वेदशास्त्रों के अर्थ जाननेवाले उन दोनों की विद्या और अविद्या कहकर व्याख्या करते हैं। नारद पु० पूर्वभाग के प्रथमपाद में भी अभेद बुद्धि को विद्या और भेद बुद्धि को अविद्या कहा गया है।

(ग) इस प्रकार के नानात्व भ्रम का प्रमाण—"साँचो जान्यो झूठको, झूठे कहँ साँचो जानि। को न गयो, को जात है, को न जैहै करि हितहानि॥" (वि० १९०); इसमें नानात्व जगत् को 'झूठा' और सत्ता रूप से शरीरी श्रीरामचन्द्रजी को 'सच्चा' कहा है।

तथा—"तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा।" (श्रीमद्भागवत स्कं० १ मं०); अर्थात् जैसे तेजस् (अग्नि) में जल और काँच आदि मिट्टी का विनिमय (एक में दूसरे का भ्रम) हो, उसी तरह जहाँ (भगवान् के शरीर रूप में) मृषा त्रिसर्ग (त्रिगुणात्मिका सृष्टि) अमृषा (सत्य) है ; अर्थात् उनके शरीर रूप में तो सत्य है, अन्यथा मृषा है। जैसे काँच में जल की, अग्नि में काँच की और जल में अग्नि की भ्रान्ति दृष्टिदोष से हो, वैसे अविद्या के दोष से भगवान् के शरीर-रूप चराचर जगत् में 'सुत-वित-देह-गेह-स्नेह रूप नानात्व सत्ता की भ्रान्ति होती है। मानसोक्त 'यत्सत्त्वात्' के 'सकलम्' में इसके 'त्रिसर्ग' का और 'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' में 'तेजोवारि···' का अन्तर्भाव है।' "त्वमेक एवास्य सतः प्रसूतिस्त्वं सन्निधानं त्वमनुग्रहश्च। त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये॥" (भाग० १०।२।२८)।

"मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इहनानेवपश्यति॥" (कठो० २।४।११) ; अर्थ—(शुद्ध) मन से ही यह ज्ञान प्राप्त करने योग्य है, निखिल प्रपंच में कुछ भी ब्रह्म

से भिन्न (पृथक्-पृथक् सत्तावान्) नहीं है। जो कोई भी प्रपंच में भिन्न-भिन्न जैसा देखता है, वह मृत्यु से (फिर) मृत्यु को प्राप्त होता है। इसमें भी उपर्युक्त अविद्या का ही निषेध है।

एवं—"हिरण्मयेन पात्रेण[१] सत्यस्य[२] अपिहितं[४] मुखम्[३]। तत्त्वं[७] पूषन्नपावृणु[६] सत्यधर्माय[८] दृष्टये[९]॥" (यजुर्वेद सं० अ० ४० मन्त्र १५); अर्थ—स्वर्णमय पात्र के द्वारा सत्य का मुख आच्छादित हो गया है, हे पूषन् (जगत् के पालनेवाले भगवान् !), आप उसको (ढकने को) सत्य-धर्म के देखने के लिये खोल दीजिये।

भावार्थ—स्वर्णमय पात्र यहाँ 'सुत-वित्त-देह-गेह-स्नेह' रूप जगत् को कहा है। इसमें जीव का अनादि काल से स्नेह चला आता है। जैसे स्वर्ण में सहज प्रीति होती है, यथा—"सबु, मित्र, मध्यस्थ, तीनि ये, मनकीन्हें बरिआई। त्यागन, गहन, उपेच्छनीय, अहि, हाटक, तृन की नाईं॥" (वि० १२४)। इसमें यथासंख्य अलंकार से स्वर्ण में सहज प्रीति वर्णित है। अतः, कृत्रिम चमचमाता हुआ पात्र समष्टि जगत् हुआ।

सत्यस्य—सत्ता-विद्यमानता-उपस्थितिः तस्य भावं सत्यम्। अर्थात् उक्त देह-गेहादि में व्यापकता (भगवान् की उपस्थिति) का मुख (प्रवृत्ति) अपिहित (छिपा हुआ) है।

अर्थात् जीव कृत्रिम स्नेह में आसक्त हैं, क्योंकि वे यह नहीं जानते कि जगत् भगवान् का शरीर (व्याप्य) है और उसके द्वारा किये हुए कार्य भगवान् की प्रवृत्ति से हैं। आगे 'पूषन्' कहकर स्पष्ट किया है कि भगवान् ही सब रूपों से पोषण करनेवाले हैं। अतः, प्रार्थना है कि उस अविद्या रूप ढकने को खोल दीजिये। कारण स्पष्ट है—'सत्यधर्माय दृष्टये'। यहाँ 'सत्यधर्माय' में षष्ठी के अर्थ में वैदिक चतुर्थी हो गई है और 'सत्यधर्म' भी षष्ठीतत्पुरुष है। अतः, 'सत्यस्य धर्मस्तस्य' अर्थात् सत्य का धर्म जो सुत-वित्त-देह-गेह आदि में ईश्वर की सत्ता (व्यापकता) से (उन-उन रूपों से) किये हुए उपकार हैं, उसके 'दृष्टये' अर्थात् जानने के लिये (जिससे सबसे ममता छोड़ भगवान् में दृढ़ प्रीति हो)।

यहाँ स्पष्ट रूप में भगवान् के शरीर में नानात्व कल्पनारूप भ्रम के निवारणार्थ एवं उनके शरीर-रूप में जगत् के ज्ञानार्थ प्रार्थना है।

महर्षि शाण्डिल्य ने भी अपने 'भक्तिसूत्र' में यही कहा है—'शक्तित्वान्नानृतं वेद्यम्' अर्थात् ईश्वर की सत्ता में स्थित रहने के कारण यह जगत् मिथ्या नहीं है; तथा—"सत्याद्भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत्।" (महा० आश्व० ३५।३४); अर्थात् सत्य से उत्पन्न सब भूत सत्य हैं और भूतमय जगत् सत्य है।

(४) श्लोक के प्रथम चरण में माया का विद्यात्मक स्वरूप कहा, जिसे ग्रन्थकार ने विद्यामाया कहा है, यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥" (अर० दो० १४); अर्थात् जैसे मनुष्य के हाथ-पैर की प्रवृत्ति उसकी इच्छानुसार होती है, वैसे तीनों लोकों के जीवों की प्रवृत्ति भी श्रीरामजी की प्रेरणा से होती है। दूसरे चरण में उसीमें नानात्व कल्पना रूप भ्रम से माया का अविद्यात्मक रूप कहा, यथा—"एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव-कूपा॥" (अर० दो० १४)। यह अविद्या माया श्रीगोस्वामीजी की माया का पूर्वपक्ष है और विद्यामाया सिद्धान्त-रूपा है। ये दोनों पक्ष आगे (दो० ११७ में) स्पष्ट होंगे। तीसरे चरण 'यत्पादप्लव' में उक्त भ्रमनिवृत्ति का साधन कहा है।

(५) 'यत्पादप्लव'—यह भ्रम सामान्य नहीं है कि जीव अपने ज्ञान से जान लें, क्योंकि—'भ्रम न सकइ कोउ टारि' (दो० ११७) कहा है। अतः, मुमुक्षुओं के लिये प्रभु-चरण ही एक मात्र उपाय है। 'एक एव हि' से जनाया कि दूसरा उपाय है ही नहीं। अतः, अन्य उपायों का भरोसा छोड़कर चरण ही ग्रहण करना चाहिये। यही शरणागति है, यथा—"अनन्यलाभ्ये स्वाभीष्टे महाविश्वास-पूर्वकम्। तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः॥" (भरताचार्यः); अर्थात् अपना अभीष्ट अन्य उपायों से सिद्ध होता न देखकर 'आप ही मात्र मेरे उपाय हैं' इस महा-विश्वास पूर्वक ऐसी याचना करना शरणागति है; तथा—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥" (गीता ७।१४)। यही ऊपर वि० (३ ख) में रस्सी पकड़कर चढ़ने का भी भाव है।

(६) पुनः चौथे चरण में उपर्युक्त सर्व शरीरी एवं उपेय (फल) रूप श्रीरामजी की वन्दना, अशेष कारण पर, ईश और हरि कहकर करते हैं। अशेष कारणों से परे कहकर शरण्य—शरण में रखने की—योग्यता दिखाई गई, क्योंकि "अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि···" (वाल्मी०)। यह वही कह एवं कर सकता है, जो सबसे परे हो। अतः, "सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः।" (श्रुति) ; अर्थात् वह सबका प्रेरक और सबको वश में रखनेवाला है। यह ऐश्वर्य श्रीरामजी में ही है, यही स्पष्ट करने के लिये 'ईश' भी कहा गया है।

(७) 'ईशम्'—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥" (गीता १८।६१); अर्थात् हे अर्जुन ! शरीररूपी यन्त्र में आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से (उनके कर्मानुसार) घुमाता हुआ उनके हृदय में स्थित है। इसमें प्रथम चरणोक्त—'यन्मायावशवर्त्ति' वाला भाव ज्यों-का-त्यों है, क्योंकि श्रीरामजी ही अपने शरीररूप जगत् के कर्मानुसार दैवी-आसुरी सम्पत्तिरूपा माया के द्वारा नियामक हैं, यथा—"बिधि हरिहर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥ अहिप-महिप जहँलगि प्रभुताई। जोगसिद्धि निगमागम गाई॥ करि बिचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के॥" (अ० दो० २५३)

(८) 'हरिम्'—'हरिर्हरति पापानि' पाप एवं उसके फलस्वरूप दुःखों के हरनेवाले को, 'हरि' कहते हैं। यह ऊपर द्वितीय चरण में कही अविद्या से उत्पन्न दुःखों को तृतीय चरण की शरणागति-द्वारा हरण करने के प्रति है। 'हरि' शब्द इन्द्र, विष्णु, अग्नि, सूर्य आदि का बोधक है। अतः, 'रामाख्य' कहा। राम से भी बलराम-परशुराम आदि का बोध होता है। अतः, 'ईश' भी कहकर अतिव्याप्ति दोष मिटाया है।

(९) **शंका**—ऊपर के १-२ चरणों में जो रामरूप संसार अर्थ किया गया है, उसके अनुरोध से 'रामाख्यमीशं हरिम्' में संसाररूप राम क्यों नहीं कहा गया ? और 'सकलम्' के अर्थ में सर्वात्मना (सम्यक् रूप से) जगत् का मिथ्यात्व क्यों न माना जाय ?

समाधान—ईश विशेषण में स्पष्ट है, ऊपर वि० (७) देखिये। यही दृष्टान्त-'रजुभुजंग' का (दो० १११ में) है। वहाँ स्पष्ट रूप में—'जेहि जाने जग जाइ हेराई।' कहा है, और 'जग' का नानात्व ही अर्थ है। आगे उस प्रसंग में देखिये।

(१०) **सारांश**—श्लोक के प्रथम चरण में श्रीरामजी का शरीररूप जगत् कहा गया। दूसरे में अविद्या के द्वारा विपर्यय बुद्धि से नानात्व रूप सर्प मानकर क्लेश-भाजन होना और तीसरे में उसका उपाय शरणागति ही मात्र कहा गया। चौथे चरण में 'अशेष कारणपर' से श्रीरामजी में शरण्य-योग्यता और 'ईशं-हरिम्' से रक्षा करने का प्रकार जनाया गया है कि शरणागत होने पर आसुरी सम्पत्ति से डरे हुए जीवों के हृदय में (ईशन्=प्रेरण द्वारा) दैवी-सम्पत्ति प्रबल करके उनके क्लेश हरते हैं, यथा—"सतरंजको सो राज, काठ को सबै समाज, महाराज बाजी रची, प्रथम न हति। तुलसी प्रभु के हाथ हारिबो-जीतिबो नाथ ! बहु वेष, बहु मुख सारदा कहति॥" (वि० २४६) ; ये ही भाव गीता अ० १० के श्लोक ९-१०-११ में भी हैं।

(११) **सिद्धान्त**—यहाँ उपक्रम में ग्रन्थकार ने अपने उपास्य देव रामाख्य ब्रह्म की चिदचिद्विशिष्ट—जीव-माया-युक्त—रूप में वन्दना की है। इसके १-२-३ चरणों में क्रमशः तीन बार प्रारम्भ में यत् शब्द से इष्टनाम (राम) का र, अ, म तीनों वर्णों के अर्थ रूप में महत्त्व कहा है, जैसे—'रश्च रामेऽनिले वह्नौ' (एकाक्षरकोशे); अर्थात् 'र' श्रीरामजी का वाचक है, जो ब्रह्म हैं, यथा—"राम ब्रह्म परमारथ रूपा।" (अ० दो० ९२)। ब्रह्म का स्वरूप—"बंध मोच्छप्रद सर्व पर, मायाप्रेरक सीव॥" (अ० दो० १७) ; अपनी माया की प्रेरणा द्वारा—जो बद्ध को विद्या द्वारा मुक्त करे और अविद्या द्वारा मुक्तप्राय को भी बद्ध करे—जैसे नारद कामवश और सनकादि क्रोधवश हुए—ये दोनों कार्य ब्रह्म अपनी दैवी और आसुरी सम्पत्ति से करता है, यथा—"दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता॥" (गीता १६-५); तथा—"तुलसिदास येहि

जीव मोह-रजु जेहि बाँध्यो सोइ छोरै ॥" (वि० १०२) ; यही बात श्लोक के प्रथम चरण 'यन्माया ···' में है। अतः, प्रथम चरण र का अर्थ है।

द्वितीय वर्ण अ वासुदेव-वाचक है, यथा—'अकारो वासुदेवः स्यात्' (एकाक्षरकोशे) ; वासुदेव का अर्थ है जो सबमें बसे एवं सबको अपने में बसावे। वैसे ही अकार वर्ण भी सब वर्णों में सत्ता (व्यापक) रूप से बसता है तभी सब सार्थक होते हैं। वैसे ही 'यत्सत्त्वात्' ···में भी 'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' से सर्प-भ्रम निवृत्त होने पर रज्जु के दार्ष्टान्त—उपमेय से व्यापक (वासुदेव) रूप श्रीरामजी का बोध हुआ, यथा—"सर्वं समाप्नोपि ततोऽसि सर्वः।" (गीता ११।४०)। अतः, द्वितीय चरण अ का अर्थ है।

तृतीय वर्ण म भक्ति का कारण है, यथा—"रकारहेतुर्वैराग्यं परमं यत्र कथ्यते। अकारो ज्ञानहेतुश्च मकारो भक्तिहेतुकम् ॥" (महारामायणे)। यही भक्ति—'यत्पादप्लव···' इस तीसरे चरण में कही गई है। अतः, यह मकारार्थ है। श्रीराममन्त्र में नाम ही अपने मकार का स्वरहीन होने पर बीज होता है और उसी-का विवरण (अर्थ) अवशिष्ट मन्त्र होता है। अतः, यह श्लोक मन्त्रार्थगर्भित है *।

चौथे चरण में उपर्युक्त गुणविशिष्ट श्रीरामजी की वन्दना है। इस श्लोक में ब्रह्म, माया और जीव की व्यवस्था विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के रूप में ही कही गई है। उपाय भी शरणागति ही को कहा गया है, जो विशिष्टाद्वैत-वादियों के सम्प्रदाय में प्रधान रूप में है।

सम्बन्ध—वन्दना के प्रथम श्लोक में वक्तृत्व और लेख के सहायक वाणी-विनायक की वन्दना की, फिर जिस काम के लिये वन्दना है, उसके आचार्य उमा-समेत श्रीशिवजी की वन्दना की, तब जिन (श्रीगुरुजी) से मानस कथा प्राप्त हुई, उनकी वन्दना की। पुनः रामायण के मुख्य रचयिता श्रीवाल्मीकिजी और श्रीहनुमानजी की वन्दना हुई। तत्पश्चात् इस चरित के प्रतिपाद्य श्रीसीतारामजी की पाँचवें और छठे श्लोकों में वन्दना की है। अब सातवें में 'इस ग्रन्थ' के वर्ण्य विषय की प्रतिज्ञा करते हैं—

नानापुराण-निगमागम-सम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥७॥

अन्वय—(१) यत् (यस्मिन्) रामायणे नानापुराणनिगमागमसम्मतम् निगदितम्, क्वचिदन्यतः अपि (निगदितम्), (तत्) अति मञ्जुलम् रघुनाथगाथाभाषानिबन्धम् तुलसी(दासः) स्वान्तःसुखाय आतनोति।

(२) यस्मिन् रामायणे नानापुराणनिगमागमसम्मतम् निगदितम्, (तत्) अति मञ्जुलम् रघुनाथगाथा स्वान्तःसुखाय तुलसीदासः भाषानिबन्धम् आतनोति, (प्रसङ्गतः) क्वचित् अन्यतः अपि (निबन्धम्)।

अर्थ—(१) जिस रामायण में नाना पुराणों, वेदों और शास्त्रों का सम्मत कहा गया है और कुछ अन्यत्र से भी कहा हुआ है; श्रीरघुनाथजी की उसी बड़ी उज्ज्वल कथा को भाषा की रचना में तुलसीदास (जी) अपने अन्तःकरण के सुख के लिये विस्तारपूर्वक कहते हैं।

(२) जिस रामायण में अनेकों पुराणों एवं वेद-शास्त्रों का सम्मत वर्णित है, श्रीरघुनाथजी की उसी अति निर्मल कथा को अपने हृदय के सुख के लिये तुलसीदास(जी) भाषा-रचना में विस्तार करते हैं, प्रसंगानुसार (साथ-साथ) कुछ और-और भी प्रबन्ध कहेंगे।

विशेष—(१) यह श्लोक 'वसन्ततिलका वृत्त' † है।

* इस श्लोक पर पूर्ण रूप से मन्त्रार्थ-मिलान मेरे 'श्रीमन्मानस नामवंदना' ग्रन्थ में है, यहाँ विस्तारभय से नहीं लिखा।

† इसके चारो चरणों में १४-१४ वर्ण होते हैं, प्रत्येक चरण के स्वरूप —त (दो गुरु + एक लघु), भ (एक गुरु + दो लघु), ज (आदि-अन्त लघु), जगण और दो गुरु रहते हैं।

(२) 'नानापुराण'—पद्मपुराण आदि १८ पुराण और १८ उपपुराण प्रसिद्ध हैं। पुराणों के दोनों प्रकारों में छः सात्त्विक, छः राजस और छः तामस हैं। पुराणों के नाम दो० २०४ की अर्द्धाली ६ में देखिये। दृष्टान्त-द्वारा विषय समझाने के लिये पुराणों की आवश्यकता पड़ती है। अतः, राजाओं के त्रिगुणात्मक चरित्र इनमें जहाँ-तहाँ कहे गये हैं, यथा—'सिबि दधीचि हरिचन्द कहानी' (अ० दो० ४७); 'ससि गुरु-तियगामी नहुष, चढ़ेउ भूमि सुर-जान। लोकबेद तें बिमुख भा, अधम न बेन समान॥' (अ० दो० २२८)। इसी प्रकार और भी बहुत कथाएँ हैं जो पुराणों से ही जानी जा सकती हैं।

'नानानिगम'—४ वेद और ४ उपवेद, वेद के ६ अंग—शिक्षा, व्याकरण, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त और छन्दस् और वेद के ४ उपांग—इतिहास, पुराण, स्मृति और न्याय। स्मृतियाँ भी मुख्य १८ हैं, इनमें ६-६ सत्त्व, रज और तमोगुण सम्बन्धी कही जाती हैं। इतिहास—जैसे श्रीमद्रामायण एवं महाभारत, आदि। धर्माधर्म के समझाने में स्मृतियों से सहायता ली गई है, यथा—"कहहिं बसिष्ठ धरम इतिहासा।" (दो० ३५८); एवं "नारि धरम सिखवहिं मृदु-बानी।" (दो० ३३३)। इतिहास—"तब बसिष्ठ मुनि समय सम, कहि अनेक इतिहास।" (अ० दो० १५६); वेद काण्डत्रय—कर्म-ज्ञान-उपासना—के रूप में प्रसिद्ध हैं, वे तीनों भी इसमें बहुत आये हैं। कर्म—"कठिन करम गति जान बिधाता।..." (अ० दो० २८१); एवं "करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥" (अ० दो० २१८)। ज्ञान—"ज्ञानमान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥" (अ० दो० १४)। उपासना—"बिनु हरि-भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल।..." "हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते॥" (उ० दो० १२२); "भगति स्वतंत्र सकल सुखखानी।" (उ० दो० ४४), इत्यादि।

'नानाआगम'—तन्त्र और अतन्त्र, तन्त्र, यथा—शैव, बौद्ध एवं कपिलोक्त। अतन्त्र के भी बहुत भेद हैं, सकाम जप-यज्ञ के विधान इनमें हैं, यथा—"आगम-बिधि जप-जाग करत नर सरत न काज खरो सो।" (वि० १७३)।

(३) 'यद्रामायणे...' यहाँ किस रामायण का तात्पर्य है—यह आगे के प्रसंगों से और उपसंहार के श्लोक से स्पष्ट हो जाता है, यथा—"रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमय सिवासन भाखा॥..." "कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई।" (दो० ३४); अर्थात् श्रीरामचरितमानस रचकर श्रीशिवजी ने अपने हृदय में रक्खा, फिर सुसमय पाकर उमा को सुनाया, शिवजी ने वही काकभुशुण्डी को दिया, उनसे याज्ञवल्क्य को मिला, फिर प्रयाग में कथा हुई और संसार में प्रचलित हुई, वही श्रीगोस्वामीजी के गुरु महाराज को श्रीशिवजी से प्राप्त हुई, फिर श्रीगोस्वामीजी को मिली। यथा—"मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।...तदपि कही गुरु बारहिं बारा..."भाषाबद्ध करबि मैं सोई" (दो० २६-३०)। उसका लक्षण भी यहाँ के 'नानापुराण .....' से मिलता है, यथा—"बरनहु रघुबर-बिसद-जस, श्रुति सिद्धान्त निचोरि॥" (दो० १०६)। उपसंहार में भी कहा है, यथा—"यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं..... भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्॥" (उ० दो० १३०); अर्थात् जिस रामायण (मानस) को प्रथम श्रेष्ठ कवि प्रभु श्रीशिवजी ने दुर्गम रचा था, उसी मानस को मैंने भाषाबद्ध किया है।

अतः, स्पष्ट हुआ कि 'यद्रामायणे' से उमा-शिव-संवाद में वह श्रीरामचरितमानस नामक ग्रन्थ है। जैसे गीता का ज्ञान प्रथम कानोंकान प्रचलित था, जब श्रीभगवान् ने अर्जुन से कहा, तब लेखबद्ध होकर जगत् में उसका विशेष प्रचार हुआ। कल्प के आदि में वेदों और शास्त्रों को तप के द्वारा महर्षियों ने ग्रहण किया, उसी तरह श्रीशिवजी की कृपा से श्रीरामनामनिष्ठ श्रीगोस्वामीजी ने इस रामायण को प्राप्त किया। इसके पूर्व यह लेखबद्ध नहीं हुआ था और न उतना ख्यात ही था। इसीसे तो कहा है—"जेहि यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरज करइ सुनि सोई॥ कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी।" (दो० ३२) अर्थात् कथा अलौकिक है। जैसे परतम प्रभु साकेतविहारी का अवतार मनु-शतरूपा द्वारा हुआ, वैसे

उनके चरित का (भाषा में) आविर्भाव श्रीगोस्वामीजी के द्वारा जगत् में लेखबद्ध होकर ख्यात हुआ। प्राचीन रामायणों में एक तो महारामायण और दूसरी अध्यात्मरामायण कुछ अंशों में इससे मिलती हैं, पर पहली तो बहुत कम अंश में ही मिलती है और दूसरी अध्यात्म में स्पष्ट रूप से सिद्धान्त-विरोध है। अतः, यह अलौकिक कथा उन दोनों से भिन्न रही है।

शंका—'नानापुराणनिगमागमसम्मतं···' ऐसी प्रतिज्ञा है। वेद-पुराण आदि में केवल राम-कथा ही है, यह तो देखने में नहीं आता।

समाधान—समस्त वेद-पुराणों में राम ब्रह्म के ही रूपों और गुणों का वर्णन है। जिनसे भगवान् आश्रितों का क्लेश-हरण करते हैं, वि० ५२ में सभी अवतार श्रीरामजी के कहे गये हैं। अतएव, सर्वत्र राम-चरित ही हैं, यथा—"मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी॥ जब-जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हहिं नसायो॥" (लं० दो० १०८); तथा—"वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ। आदौ चान्ते तथा मध्ये हरिः सर्वत्र गीयते॥" (महा० स्वर्गा० ६.६३)।

(३) 'क्वचिदन्यतोऽपि'—नाना पुराणादि जब आ ही गये तब कुछ और प्रसंग कौन हैं?

उत्तर—अन्वय (१) के अनुसार—"औरउ एक कहउँ निज चोरी। सुनु गिरिजा अति दृढ़मति तोरी॥" (दो० १६५)—यह प्रसंग, एवं—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना।" (अर० दो० ३८); "निज अनुभव अब कहउँ खगेसा।" (उ० दो० ८८); तथा काकभुशुण्डी और गरुड़ संवाद की कथाएँ तथा और भी श्रीपार्वतीजी के प्रश्न और उनके उत्तर की कथाएँ उक्त शिव-मानस में अन्यत्र की हो सकती हैं।

अन्वय (२) के अनुसार—ग्रन्थ के आदि में दो० ३३ तक अपनी दीनता, और सबकी वन्दना, उसके पश्चात् मानस-ग्रन्थ की चारघाट-रचना, सती-मोह, शिव-उमा-विवाह और जहाँ-तहाँ अपने मन के उपदेश एवं लोक-शिक्षात्मक बातें जो ग्रन्थकार ने भुशुण्डी आदि के कथन की लिखी हैं, वे अन्यत्र की कही गई हैं।

"क्वचिदन्यतोऽपि' में नाना पुराणनिगमागम के अतिरिक्त हनुमन्नाटक, उत्तर रामचरित, प्रसन्नराघव, हितोपदेश, पञ्चतन्त्र आदि अन्य ग्रन्थों से भी आशय लिये जाने के भाव हैं।

(४) 'भाषानिबन्धम्'—जब भाषा में रचना करने की प्रतिज्ञा करते हैं, तब यहाँ तक के सात श्लोक संस्कृत में क्यों बनाये? और, आगे प्रत्येक सोपान के आदि में, ग्रन्थ के उपसंहार में, कहीं-कहीं स्तुतियों में भी संस्कृत श्लोक क्यों बनाये?

उत्तर—(१) संस्कृत देववाणी है। अतः, पवित्र एवं मांगलिक है। इससे उसको मङ्गलाचरण में रक्खा और सम्मान दिया। देवों की स्तुतियों में भी उसकी वाणी से उनका सम्मान किया है। रीति है कि भाषा में बोलनेवाले भी संस्कृत वाणी से मंगलाचरण करके तब बोलना प्रारम्भ करते हैं।

(२) गोसाईंजी के विषय में कहा जाता है कि प्रथम श्रीकाशीजी में आपने संस्कृत में मानस-रचना प्रारम्भ की। दिन में जो रचना करते, रात में लुप्त हो जाती। सात दिनों तक यही होता रहा। तब रात में श्रीशिवजी ने स्वप्न में भाषा में रचना करने की आज्ञा दी और कहा कि तुम्हारे भाषा-काव्य की महिमा वेद ऋचा की तरह होगी—दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ेगी। फिर गोसाईंजी के जागने पर भी शिवजी प्रकट हुए और आश्वासन दे पूजित होकर अन्तर्धान हो गये, यथा—"सपनेहु साँचेहु मोहि पर, जौ हर-गौरि पसाउ। तौ फुर होउ जो कहेउँ सब, भाषा भनिति प्रभाउ॥" (दो० १५)। अतः, गोसाईंजी श्रीअवध में आकर भाषा में रचना करने लगे, तब पूर्वरचित श्लोकों से आगे यह सातवाँ श्लोक बनाकर प्रतिज्ञा जनाई। श्रीशिवजी के अनुरोध से यद्यपि मंगलाचरण के लिये संस्कृत में जहाँ-तहाँ श्लोक भी बनाये, तथापि उनमें जहाँ-तहाँ भाषा-सिद्धि के लिये सन्धि एवं विभक्ति आदि में भेद कर दिया है, जैसे—"मन-भृङ्ग-सङ्गिनौ" (उ० मं०); "गतिं स्वकं" (अर० दो० १२); आदि भी एक प्रकार के भाषा-छन्द ही हैं। श्रीगोस्वामीजी ने इन्हें जान-बूझकर रक्खा है, तोड़-मरोड़ की आवश्यकता नहीं है।

सात श्लोकों का एक कारण तो उत्तर (२) में आ ही गया। दूसरा कारण यह है कि वन्दना की बातें इन सात श्लोकों में आईं। तीसरा—"यहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पंथाना॥" (उ० दो० १२८); अर्थात् सातों सोपानों (काण्डों) के मंगलार्थ भी आदि में सात श्लोक रक्खे। चौथा कारण यह भी कहा जाता है कि सात की संख्या विषम एवं मांगलिक होने से संसार में अधिक है, जैसे—सागर, द्वीप, दिन और ऋषि आदि सात-सात ही ख्यात हैं।

(५) 'अति मंजुलम्'—यथा—"सुठि सुन्दर संवाद बर, बिरचेउँ बुद्धि बिचारि।" आदि रचनाएँ अति सुन्दर भाषा में हैं और श्रीराम-कथा तो मंजुल है ही।

(६) 'स्वान्तः सुखाय'—यहाँ हृदय-सुख के लिये प्रारम्भ किया, पूर्ति पर 'स्वान्तस्तमः शान्तये' कहा। अन्तः का तम (अज्ञान) दूर होने से भी सुख ही होता है। अतः, आदि-अन्त में एक ही कामना है और वह सिद्ध भी हुई, यथा—"पायेउँ परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।" (उ० दो० १३०)। यही अनुबन्ध चतुष्टय में प्रयोजन भी कहा गया है। भूमिका के अनुबन्ध प्रसंग में 'मोरे मन प्रबोध···' आदि से स्पष्ट है। प्रबोध से ही अज्ञान की निवृत्ति होती है।

सम्बन्ध—ऊपर ७वें श्लोक में भाषा निबन्ध की प्रतिज्ञा की। अतः, अब भाषा का मङ्गलाचरण करते हैं—

सोरठा—जो सुमिरत सिधि होइ, गननायक करिबरबदन।
करउ अनुग्रह सोइ, बुद्धिरासि सुभगुन-सदन॥१॥

शब्दार्थ—जो—जिसे, जिसको; यथा—"जो सुमिरत भयो भाँग ते, तुलसी तुलसीदास।" (दो० २६); 'जो अवलोकि मोर मन छोभा।" (अ० दो० १३); "जो अवलोकत लोकपति, लोकसंपदा थोरि (दो० ३३३)।

अर्थ—जिनका स्मरण करने से सिद्धि होती है, जो गणों के स्वामी और सुन्दर हाथी के समान श्रेष्ठ मुखवाले हैं, वे बुद्धि की राशि और शुभ गुणों के घर (श्री गणेशजी) मुझपर दया करें।

विशेष—(१) यह सोरठा छन्द है। इसके प्रथम और तृतीय चरणों में ११-११ मात्राएँ होती हैं और दूसरे तथा चौथे में १३-१३। अतः, प्रथम की अपेक्षा दूसरे में वृद्धिक्रम है, जिससे ग्रन्थ की दिनों-दिन वृद्धि हो, यह भाव है। दोहे, चौपाई और भिन्न-भिन्न छन्दों में यह बात नहीं होती। दोहे में प्रथम १३ तब ११ मात्राएँ होती हैं, ऊँचे से नीचे गिरने का रूप ह्रासक्रम होता है और चौपाई आदि छन्दों में समक्रम होता है।

(२) **शंका**—इस सोरठे में ज अक्षर प्रथम पड़ा है, वह दग्धाक्षर है, तब इससे मंगल कैसे किया ?

समाधान—(क) इसका जकार गुरु (दीर्घ) है और देव-काव्य है, फिर वन्दना भी उन्हीं देव की की गई है जो सिद्धि के दाता एवं विघ्नहर्ता हैं। अतः, दोष नहीं है, यथा—"सुर कविता मंगलमयी, आदि जो गुरु कल होय। दग्धाक्षर अरु गणन को, दोष न व्यापै कोय॥" ऐसा छन्दःशास्त्र में कहा है।

(ख) इसका प्रथम गण भगण है, दूसरा नगण है। दोनों मित्र हैं। अतः, दोष नहीं है।

(३) इसमें श्रीगणेशजी का नाम-रूप-लीला-धामात्मक स्मरण है। यथा—'गननायक' से नाम, 'करिबरबदन' से रूप, 'करउ अनुग्रह', 'बुद्धिरासि' और 'सुभगुन' से लीला और 'सदन' से धाम ध्वनित है।

(४) "श्रीगणेशजी का सारा शरीर मनुष्य का है, सिर हाथी का-सा है। इनके चार हाथ और एक दाँत हैं। तोंद निकली हुई है। सिर में तीन आँखें और ललाट पर अर्द्धचन्द्र हैं, इनकी सवारी चूहा है। ये महादेव के पुत्र माने जाते हैं। ये हिन्दुओं के पंचदेवों में हैं।" (हिन्दी शब्दसागर)।

(५) श्रीगणेशजी के सिद्धि और बुद्धि नाम की दो शक्तियाँ हैं, उनके साथ प्रार्थना की है जिससे विघ्नों

से बचते हुए कार्य-सिद्धि हो और कार्य के योग्य बुद्धि हो, इसलिये दोनों के साथ प्रार्थना है तथा ग्रन्थ में शुभ-गुण पढ़ें; अतः, 'सुभगुन' सदन कहा। 'सुमिरत' से यह जनाया कि पूजा का अधिकार सबको नहीं होता, पर स्मरण सब कर सकते हैं। पुनः स्मरण करते ही सिद्धि होती है, देर नहीं लगती। किन बातों की सिद्धि होती है, यह नहीं लिखा, क्योंकि अमुक-अमुक कहने में इति हो जाती कि इतने ही की सिद्धि होती है। अतः, सिद्ध हुआ कि जो इच्छा करे, सबकी सिद्धि होती है। प्रस्थान करने में श्रीगणेशजी का स्मरण ही किया जाता है। 'जो' शब्द से यह भी निकलता है कि चाहे जो वर्ण हों, सब उनका स्मरण कर सकते हैं।

(६) क्रम—प्रथम स्मरण का फल सिद्धि कहकर स्मरणार्थ नाम 'गननायक' कहा। नामस्मरण के साथ रूप का ध्यान चाहिये, 'करिवरबदन' से रूप कहा। रूप के विशेषण में पशुत्व दोष है। अतः, बुद्धिराशि और शुभगुणसदन कहा। साथ ही इन दो गुणों की कामना भी रूप से की। पुनः गणनायक से स्वामि-कार्त्तिक भी समझे जाते हैं, यथा—"स्कन्दः सेनानीः" (अमरकोष); तथा—"सेनानीनामहं स्कन्दः" (गीता १०।२४); इसके निवारणार्थ 'करिवरबदन' साथ ही कहा है।

(७) 'करिवरबदन'—इतने बड़े महत्त्वशाली देव का मुख हाथी का क्यों ? इसकी कथा ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के गणेश खण्ड में इस प्रकार है—

"श्रीशिवजी ने गणेश जन्मोत्सव में देवों को आमन्त्रित किया। वे सब आये, बालक को आशीर्वाद दे विराजमान हुए। पीछे सूर्यपुत्र शनैश्चर वहाँ आये। वे भी श्रीगणेशजी के दर्शनार्थ गये। आशीर्वाद दे सिर नीचाकर बैठ गये। श्रीपार्वतीजी ने सिर नीचाकर बैठने का कारण पूछा। शनि ने कहा कि मेरी स्त्री ने मुझे शाप दे रक्खा है कि मैं जिसे देखूँ, उसका नाश हो जाय। श्रीपार्वतीजी ने हँसी में उस बात को टालते हुए बालक को देखने का अनुरोध किया। शनि ने ज्योंही आँख के कोण से बालक के सिर को देखा, त्योंही उसका सिर धड़ से अलग हो गया और गोलोक धाम में श्रीकृष्ण के यहाँ चला गया (क्योंकि, श्रीकृष्ण के अंश से ही गणेशजी उत्पन्न थे)। इस दुर्घटना पर श्रीपार्वतीजी को बड़ा भारी खेद एवं शोक हुआ। वहाँ पर उपस्थित सभी देवगण दुःखी हुए।

श्रीविष्णुभगवान् ने गरुड़ पर चढ़, पुष्पभद्रा नदी के तट पर अपनी हथिनी के साथ सोये हुए एक' गजेन्द्र को देखा। सुदर्शन चक्र से उसका सिर काट कर ले आये। बालक को गोद में लेकर उसके धड़ पर वह हाथी का सिर लगा दिया और बालक को आध्यात्मिक ज्ञान भी दिया। इन्हें श्रीकृष्ण का कला-अंश कह इनकी प्रशंसा की। (अ० ११-१२)।

"हाथी ही का सिर क्यों लगाया गया ? इसका कारण भी श्रीनारदजी के पूछने पर श्रीनारायण ने कहा कि एक समय इन्द्र अत्यन्त अभिलाषा से रम्भा को प्राप्त कर उसमें रत थे। संयोग से दुर्वासाजी आ गये। उन्होंने भगवान् विष्णु के यहाँ से लाये हुए पुष्प को उपहार रूप में इन्द्र को दिया और साथ ही उसका धारण करने का माहात्म्य भी कहा। देवराज ने उसकी उपेक्षा कर रम्भा को दे दिया। रम्भा ने उसे हाथी के मस्तक पर रख दिया। जब रम्भा ने देवराज को भ्रष्टश्री देखा तो वह स्वर्ग चली गई। देवराज को छोड़कर वह हाथी उस फूल को फेंक कर जंगल चला गया। वहाँ एक हथिनी के साथ रमण किया और सन्तान बढ़ाई। विष्णुभगवान् ने उस पुष्प के प्रभाव से उसीका मस्तक गणेश के धड़ पर लगाया।" (ब्रह्म० वै० अ० २०)।

(८) अपने इष्ट श्रीसीतारामजी के अतिरिक्त श्रीगणेशजी की प्रार्थना क्यों की ? इसका समाधान ऊपर प्रथम श्लोक के 'वाणी-विनायक' प्रसंग में हो चुका है।

(९) प्रथम श्लोक की तरह इस पहले सोरठे में अक्षरों की ध्वनि से सातो काण्डों का अनुसन्धान टीकाकारों ने किया है। रामायणी लोग भी यही कहते हैं, यथा—'जो सुमिरत सिधि' से बालकाण्ड, क्योंकि इसमें शिव-पार्वतीजी, नारदजी, मनुशतरूपा का स्मरण और उससे सिद्धि वर्णित है और श्रीदशरथजी एवं जनकजी की कामना-सिद्धि कही गई है।

'होइ गननायक' से अयोध्याकाण्ड, क्योंकि इसमें राजा-प्रजा सभी चाहते थे कि श्रीरामजी युवराज हों। मन्थरा-कैकेयी चाहती थीं कि श्रीभरतजी युवराज हों।

'करिवरबदन'—से अरण्यकाण्ड, क्योंकि इसमें श्रीरामजी ने श्रेष्ठ प्रतिज्ञा की और अपने सुन्दर मुख से निशिचरों को मोहित किया।

'करउ अनुग्रह सोइ'—से किष्किन्धाकाण्ड, क्योंकि 'सोइ' पूर्व परिचयसूचक है, यथा—"प्रभु पहिचानि परेउ···" (दो० १); श्रीहनुमानजी, श्रीसुग्रीवजी, बालि, तारा, अंगदजी और सब ऋक्ष-वानरों पर श्रीरामजी ने अनुग्रह किया।

'बुद्धिरासि'—से सुन्दरकाण्ड, क्योंकि इसमें जाम्बवान्‌जी, विभीषणजी और श्रीहनुमानजी की बुद्धि की चतुरता की परीक्षा वर्णित है।

'सुभ गुन' से लंकाकाण्ड, क्योंकि इसमें निशिचरों को भी शुभ गति का मिलना, सुरों का बन्दीगृह से छूटना, विभीषण का राज्य पाना, जगत् में शुभ गुणों का पुनः प्रचार होना आदि शुभ घटनाएँ हैं।

'सदन' से उत्तरकाण्ड, क्योंकि इसमें श्रीरामजी अपने सदन श्रीअवध में आये, और बन्दर-भालू तथा विभीषण आदि भी अपने-अपने घर गये, देवता लोग भी अपने-अपने लोकों में सुख से बसे।

उपर्युक्त कथन की पुष्टि के लिये उदाहरण विस्तार-भय से नहीं दिये गये। और टीकाओं में देखें।

अलङ्कार—'अन्त्यानुप्रास' क्योंकि चारो चरणों के अन्तिम तुकान्त मिलते हैं। आगे के सोरठों मे भी यह है।

मूक होइ बाचाल, पंगु चढ़इ गिरिवर गहन।
जासु कृपा सो दयाल, द्रवउ सकल कलिमलदहन ॥२॥

शब्दार्थ—बाचाल = बोलने में तेज वाक्‌पटु। गहन = गम्भीर, दुर्गम। पंगु = लँगड़ा, जो पैरों से न चल सकता हो।

अर्थ—जिनकी कृपा से गूँगा भी श्रेष्ठ वक्ता होता है, तथा लँगड़ा भी दुर्गम पहाड़ पर चढ़ता है, वे कलि के पापों को जलानेवाले दयालु (मुझपर) दया करें।

विशेष—(१) इसका अर्थ कोई विष्णुपरक और कोई सूर्यपरक करते हैं—

विष्णुपरक—(क) विष्णु भगवान् का नाम पापनाशन है, वही अर्थ 'कलिमलदहन' का है। ये पाँव के देवता हैं। अतः, इनकी कृपा से पंगु का पर्वत पर चढ़ना कहा गया है। पाप से लोग पंगु एवं मूक होते हैं, 'सकल कलिमल दहन' उस पाप का नाश कर, वह दोष दूर कर, चलने की शक्ति एवं वक्तृत्व देते हैं। वे गिरा के पति हैं—'सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी।' (दो० १०८); "बागीस बैकुंठस्वामी" (वि० ५५)। अतएव, मूक का वाचाल होना भी स्वयंसिद्ध है।

इसमें वैकुंठवासी विष्णु का और आगे क्षीरशायी का वर्णन करेंगे, क्योंकि दोनों के अवतार कहने हैं। दो कल्पों (जय-विजय, जलन्धर) के लिये वैकुंठ से और एक कल्प (रुद्रगणों) के लिये क्षीरसागर से अवतार कहा जायगा। साकेतवासी की वन्दना आगे प्रधान रूप में है ही। अतः, चारो कल्पों के अधिदेवता का मंगलाचरण हो जाता है।

(ख) पुनः—"मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्। यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्।" यह प्राचीन श्लोक है जिसे श्रीधरजी ने श्रीभागवत-टीका के मंगलाचरण में लिखा है। यह इस सोरठे से मिलता है, केवल 'सो दयाल···' की जगह—'तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्' है। श्लोक में 'माधवम्' से स्पष्ट विष्णु को कहा है। यह बहुत प्रसिद्ध है। अतः, सोरठे में नाम नहीं कहा।

(२) सूर्यपरक—(क) बालक जन्म-काल में मूक और पंगु भी रहता है, सूर्य बालक को दिनोंदिन पोसते तथा उक्त दोष दूर करते हैं। सोरठे में कथित गुण भी इनमें हैं, यथा—"दीनदयाल दिवाकर देवा।'''दहन दोष दुख दुरित रुजाली।'''सारथि पंगु दिव्य रथगामी।" (वि० २)।

(ख) प्राचीन श्लोक से विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि सूर्य नारायण के रूप भी हैं, यथा—"हरि संकर बिधि मूरति स्वामी।" (वि० २); "एष ब्रह्मा च विष्णुश्च शिवः स्कन्दः प्रजापतिः।" (वाल्मी० यु० स० १०६); यह सूर्य-स्तुति में कहा गया है।

(ग) विनय-पत्रिका में गणेशजी के पश्चात सूर्य की स्तुति है। उस क्रम से यहाँ भी सूर्यपरक अर्थ चाहिये। सूर्य रघुकुल के गुरु (पूर्वज) भी हैं, इनसे चरित जानने में सहायता मिले, यथा—"कुल रीति प्रीति समेत रवि कहि देत सब सादर किये।" (दो० ३२३); गुरु—"उदय करहु जनि रवि रघुकुल-गुरु।" (अ० दो० ३६)। इस विचार से भी यह अर्थ युक्त है।

यहाँ किसी देव का नाम स्पष्ट नहीं है, विशेषणों से ही अर्थ किये गये हैं। इससे इसमें सूर्य और विष्णु के भी अर्थ आये हैं। इसी प्रकार यहाँ पाँचो सोरठों में विशेषणों से ही उनके देव कहे गये हैं—'गननायक', 'सदा छीरसागर सयन', 'उमारमन' और 'नर रूप हरि'।

श्रीगोस्वामीजी ने इस ग्रन्थ का प्रारम्भ श्रीअवध में किया। अवधवासियों का मत भी पंचदेवोपासना से श्रीरामजी की प्राप्ति और प्राप्त होने पर रक्षा चाहना है, यथा—"करि मज्जन पूजहिं नर-नारी। गनप गौरि त्रिपुरारि तमारी॥ रमारमन पद बंदि बहोरी।" (अ० दो० २७२); अतः, इसे सूर्यपरक मानने से पंचदेव की पूर्ति हो जाती है, जो भाषा के मंगलाचरण में आवश्यक है।

(३) 'सकल कलिमल'—"जे पातक उपपातक अहहीं। करम-बचन-मन-भव कबि कहहीं।" (अ० दो० १६६); "मन क्रम बचन जनित अघ जाई।" (उ० दो० १२५); अर्थात् पाप कायिक, वाचिक और मानसिक होते हैं। बड़े पाप पातक हैं और छोटे उपपातक। मूक और पंगु होना पापों के फल हैं। वे पाप इनकी कृपा से नष्ट होकर पुण्य-प्राप्ति से मूक वाचाल होते और पंगु पहाड़ पर चढ़ते हैं।

यहाँ श्रीरामचरित रूपी पहाड़ पर चढ़ना है और मानसकार पंगु हैं, यथा—"सूझ न एकउ अंग उपाऊ। मन-मति रंक मनोरथ राऊ॥" (दो० ७); अर्थात् बुद्धि से पंगु हैं। वाणी से मूक हैं—"सुनिहहिं बाल बचन मन लाई॥ जौं बालक कह तोतरि बाता।" (दो० ७); हृदय को कलिमल-भरा माना है, इसीसे उक्त तीनों गुणों का स्मरण करते हुए प्रार्थना की है।

शंका—'कलिमल दहन' गुणवाले से 'द्रवउ' की प्रार्थना क्यों की? परस्पर विरोध है—दहन अग्नि का और द्रव जल का धर्म है।

समाधान—पाला भी जल ही है, पर कृषि को जला देता है, यथा—"सियरे बचन सूखि गये कैसे। परसत तुहिन तामरस जैसे॥" (अ० दो० ७०)। अतः, विरोध नहीं प्रत्युत युक्त ही है।

अलंकार—'विरोधाभास', क्योंकि मूक का बोलना आदि विरुद्ध भावपरक वर्णन है।

नील सरोरुह स्याम, तरुन अरुन बारिज नयन।
करउ सो मम उर धाम, सदा छीरसागर-सयन॥३॥

शब्दार्थ—अरुन = वह लालिमा जो प्रकट न हो, नेत्रों के किनारे लाल डोरों की-सी थोड़ी ललाई, यथा—"अव्यक्तरागस्त्वरुणः" (अमरकोष)।

अर्थ—जो नील कमल के समान श्याम हैं, जिनके नेत्र नवीन खिले हुए अरुण कमल के समान हैं और जो सदा क्षीरसमुद्र में शयन करनेवाले हैं, वे (श्रीमन्नारायण) मेरे हृदय में घर करें।

विशेष—(१) श्रीरामचरित की प्रेरणा करने के लिये हरि को हृदय में निवास कराते हैं, यथा—"जस कछु बुधि बिबेक बल मेरे। तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे॥" (दो० ३०)।

(२) 'नील सरोरुह स्याम'—श्याम रंग नेत्रप्रिय होता है। वैसे उस वर्णवाले भगवान प्रिय दर्शन हैं। कमल की भाँति कोमल आपका स्वभाव भी है, यथा—"करुनामय रघुबीर गोसाँई। बेगि पाइअहि पीरपराई॥" (अ० दे० ८४); श्याम रंग फीका नहीं पड़ता और उसपर दूसरा रंग नहीं चढ़ता, वैसे ही प्रभु शरणागत को सँभाल रखते हैं, त्यागते नहीं, उनपर कृपारूप रंग एक रस रहता है।

'तरुन अरुन ···'—नवीन कमल आर्द्र होता है, वैसे आपके नेत्र करुणारस-पूर्ण हैं, तरुणता के कारण दुःख हटाने में आलस्य न करेंगे। भक्तों के दारिद्र्य आदि पर भी नेत्र लाल हो रहे हैं।

'सदा छीरसागर··· ···'—दुर्वासाजी के कोप से श्रीलक्ष्मीजी क्षीरसिन्धु में लुप्त हो गईं और मथने पर प्रकट हुईं, वैसे कलि-कोप से भक्ति का लोप है। अतः, मेरा हृदय मथकर श्रीराम-भक्ति प्रकट कीजिये जिससे जगत् का उद्धार हो। जहाँ राजा रहता है, वहाँ चोर नहीं रह सकते। अतः, आप बसें, तब कामादि नहीं आवेंगे। आपके साहचर्य में सर्प रूप से भी शेषजी निरन्तर श्रीराम-यश गाते हैं, मेरा हृदय भी कामादि सर्पों के संग से विकृत हो गया है, उससे भी श्रीराम-यश गान कराइये। यह अभिप्राय है।

अलंकार—(३) 'नील सरोरुह श्याम' में 'नील कमल' उपमान और 'श्याम' धर्म है, वाचक और उपमेय लुप्त हैं। अतः, वाचकोपमेयलुप्तोपमालंकार है। 'तरुन अरुन' धर्म, 'बारिज'—उपमान, 'नयन'—उपमेय है। अतः, वाचकलुप्तोपमालंकार है।

शंका—(४) सर्वत्र तो श्रीरामजी को ही हृदय में निवास कराते हैं, यथा—'बसहिं रामसिय मानस मोरे।' (वि० १); यहाँ क्षीरशायी रूप को क्यों निवास कराया ?

समाधान—(क) श्रीरामजी के नाम रूपादि का परत्व जानने के कारण क्षीरशायी भगवान् भी श्रीराम-रूप धारण कर लीला करते हैं। नारद-शाप की कथा इसी प्रसंग में है। तथा—"पयपयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय राम लखन रहे आई॥" (अ० दो० १३८); अतः, श्रीगुसाईंजी ने चरित-वर्णन में उनकी सहायता पाने की इच्छा से उन्हें हृदय में बसाया। "तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे।" (दो० ३०); कहा ही है।

(ख) क्षीरशायी रूप से भगवान् हृदय में बसेंगे, तब क्षीरसमुद्र की तरह हृदय स्वच्छ हो जायगा और वह श्रीसीताराम रूप के निवास योग्य होगा, यथा—"हरि निर्मल, मलग्रसित हृदय, असमंजस मोहि जनावत। जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत॥" (वि० १८१)।

(ग) अगस्त्य-संहिता, श्रीरामतापनीय उपनिषद् आदि में क्षीरशायी भगवान् पीठदेवता कहे गये हैं। अतः, इष्ट श्रीरामरूप के पूर्व इनका निवास कराना योग्य ही है। पीठ पूजन के पश्चात् प्रधान पूजन होता है।

कुंद इंदु सम देह, उमारमन करुना-अयन।
जाहि दीन पर नेह, करहु कृपा मर्दन-मयन॥४॥

शब्दार्थ—कुंद उज्ज्वल, कोमल और सुगन्धित फूल का नाम है, इसका पौधा जूही की तरह होता है।

अर्थ—कुन्द और चन्द्रमा के समान (गौर) देहवाले, करुणा के घर, जिनका दीनों पर स्नेह रहता है, (ऐसे) काम को जलानेवाले श्रीपार्वती के स्वामी (शिवजी मुझपर) कृपा करें।

विशेष—(१) यहाँ 'उमारमन' से शक्तिविशिष्ट भाव जनाया है, क्योंकि शिवजी अर्द्धनारीश्वर हैं। अतः, यहाँ श्रीशिव-पार्वती दोनों का बोध होता है। इसके ऊपर के तीन सोरठों के क्रमशः गणेश, सूर्य और रमापति को लेने से पंचदेव-वन्दना की पूर्त्ति हो जाती है।

शंका—(२) 'उमारमन' में शिव-उमा दोनों का अर्थ लेने से उमा में 'मर्दन-मयन' कैसे घटेगा ?

समाधान—शिवजी की काम जलाने की कथा प्रसिद्ध है। उमा ने अपने त्याग से ही काम का मर्दन कर रक्खा है, यथा—"अब भा झूठ तुम्हार पन, जारेउ काम महेस।" (दो० ८२); इस प्रकार सप्तर्षियों के कहने पर उमा का उत्तर है—"तुम्हरे जान काम अब जारा। अबलगि संभु रहे सबिकारा॥ हमरे जान सदासिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥ जो मैं सिव सेयेउँ अस जानी।" (दो० ८३)।

(३) 'कुन्द इन्दु'—गोराई के साथ कोमलता और प्रकाश-युक्त होना भी प्रकट किया। जब उमा-रमण से श्रीशिव-पार्वती दोनों का अर्थ हो, तब कुन्द के समान कोमलता, दया-युक्त सरसता और सुगन्ध गुण युक्त उमा का शरीर और शुद्ध ज्ञान स्वरूप, शीतल स्वभाववाले, चन्द्रमा के समान प्रकाशमान यशःपूर्ण शिवजी का रूप जानना चाहिये। तथा—"कुंद-इंदु दर गौर सरीरा।" (दो० १०५); "कुन्दइन्द दर गौर सुन्दरं" (उ० मं० श्लोक ३), इत्यादि।

(४) 'मर्दन-मयन—उमारमन'—जब काम को भस्म ही कर दिया, तब उमा-रमण कैसे ? उत्तर यह है कि इनका विहार दिव्य चिन्मय है। इस नाम से ग्रन्थकार ने अपने हृदय को निष्काम बनाने की कामना ध्वनित की है।

(५) 'उमारमन-करुनाअयन'—शिवजी ने उमा को तप करते और देवताओं को तारकासुर से दुखी देखा, तब उमा से विवाह किया। फिर उमा की प्रार्थना से करुणा करके उन्हें श्रीरामचरित सुनाया।

(६) 'मर्दन·····दीन पर नेह'—काम को जलाने पर रति रोती हुई गई, तब शिवजी ने उसकी दीनता पर करुणा करके वर दिया—"अब ते रति तव नाथ कर, होइहि नाम अनंग। बिनु बपु ब्यापिहि सबहि पुनि, सुनु निज मिलन-प्रसंग॥ जब जदुबंस···कृष्णतनय होइहि पति तोरा।" (दो० ८७)।

देव वन्दना-प्रसंग समाप्त

सम्बन्ध—यहाँ चार सोरठों में वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण किया गया है, क्योंकि कथा के प्रयोजनीय गुणों के निमित्त प्रार्थना की गई है। यहाँ देव-वन्दना का प्रथम प्रसंग पूरा हुआ। अब आगे नमस्कारात्मक मंगलाचरण प्रारम्भ करते हैं—

बंदउँ गुरु-पद-कंज, कृपासिंधु नर-रूप हरि।
महामोह तम-पुंज, जासु बचन रबिकर-निकर॥५॥

अर्थ—मैं श्रीगुरुजी के चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ, वे कृपा के समुद्र और नर के रूप में हरि (भगवान्) ही हैं, जिनके वचन महामोह-रूपी अन्धकार समूह के विनाश के लिये सूर्य-किरण समूह हैं।

विशेष—(१) श्रीगोस्वामीजी ने इस ग्रन्थ में तीन गुरुओं का आश्रय लिया है—

(क) श्री शिवजी का—"गुरु-पितु-मातु महेस भवानी।" (दो० १४)।

(ख) निज मन्त्रोपदेष्टा गुरु अनन्त श्रीस्वामीनरहरिदासजी का, यथा—"मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकरखेत।" (दो० ३०)।

(ग) श्रीरामचरित का—"सद् गुरु ज्ञान बिराग जोग के।" (दो० ३१)।

तीनों से काव्य को गौरव प्राप्त होना भी कहा है। क्रमशः—

(क) "भनिति मोरि सिवकृपा बिभाती। ससि समाज मिलि मनहुँ सुराती॥" (दो० १४)।

(ख) "तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा। भाषाबद्ध करबि मैं सोई···" (दो० ३०) इसकी ख्याति प्रत्यक्ष ही है।

(ग) "प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजन मनभावनी ॥" (दो० ६)।

तीनों गुरुओं का कर्त्तव्य भव-सागर से पार उतारना है। क्रमशः—

(क) "गुणागारसंसारपारं नतोऽहम्।" (उ० दो० १०७)।

(ख) "गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई।" (उ० दो० ९२)।

(ग) "भवसागर चह पार जो पावा। राम-कथा ता कहँ दृढ़ नावा।" (उ० दो० ५२)।

(२) गुरुजी का नाम प्रत्यक्ष लेने का निषेध जानकर रूप शब्द की ओट से लिखा है और युक्ति से जनाया है। श्रीगोस्वामीजी के गुरु का नाम अनन्त श्रीनरहरिदासजी था। जीवनी से प्रसिद्ध है। साथ ही महत्त्व भी उन्हीं शब्दों में कहा है कि गुरु नर रूप में हरि ही हैं। जैसे—हरि मीन, कमठ, वाराह आदि अवतार धारण करते हैं, वैसे ये नरावतार हरि हैं। हरि के अवतार का कारण कृपा है, यथा—"कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं।" (दो० १२१), "भये प्रकट कृपाला···" (दो० १९१), "कृपासिंधु मानुप तनुधारी।" (सु० दो० ३८), ऐसे ही यहाँ भी 'कृपासिंधु' शब्द से नर-रूप में अवतार का कारण कहा। 'महामोह तमपुंज, जासु बचन रविकर-निकर' से अवतार की लीला कही गई है।

श्रीरामजी और श्रीगुरुजी के अवतार का मिलान

श्रीरामजी	श्रीगुरुजी
श्रीरामावतार रावणवध के लिये हुआ।	(१) श्रीगुरु का अवतार महामोह-नाश के लिये है। महामोह ही रावण है,—'महामोह रावण···' (वि० १८१)।
श्रीरामजी ने बाण से रावण को मारा।	(२) यहाँ श्रीगुरुजी के वचन ही बाण हैं, उनसे महामोह का नाश किया। यथा—'जीभ कमान बचन सर नाना।' (अ० दो० ४०)।
श्रीरामबाण सूर्य के समान हैं।	(३) यहाँ गुरु-वचन को भी 'रविकर-निकर' कहा है। यथा—'रामबान रवि उये जानकी।' (सु० दो० १५)।

(३) श्रीगुरुजी के हरि-रूप होने के प्रमाण—"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुः साक्षात्परं-ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥" (गुरु-गीता), और भी—"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।" (श्वे० ६।२३), तथा—"बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥" (भाग ११।२।३७), अर्थात् बुद्धिमान् पुरुष को अपने गुरुदेव को ही आराध्यदेव परम प्रियतम मानकर अनन्यभक्ति के द्वारा उस ईश्वर का भजन करना चाहिये। "मामेव गुरुमादृतः" (भाग० ११।१७।३९), अर्थात् मुझे गुरु रूप में समझता हुआ उनकी सेवा करनी चाहिये, एवं—"गुर्वात्मदैवतः।" (भाग ११।३।२२), अर्थात् गुरु को ही आत्मा और देवता माननेवाला। एवं—विद्यामन्त्रज्ञानदाता निपुणः पारकर्मणि। स शक्तः शिष्यमुद्धर्तुमीश्वरश्चेश्वरात्परः ॥ गुरुर्विष्णुर्गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुर्धर्मो गुरुः शेषः सर्वात्मा निर्गुणो गुरुः ॥ सर्वतीर्थाश्रमश्चैव सर्वदेवाश्रयो गुरुः। सर्वदेवस्वरूपश्च गुरुरूपी हरिः स्वयम् ॥" (ब्रह्मवैवर्त्त पु० ४।५९।१५०–१५२)।

(४) 'जासु बचन रविकर···'—जिनके वचनों में मोह-नाशक सामर्थ्य हो वे ही गुरु हैं, क्योंकि गु शब्द का अर्थ अन्धकार और रु का अर्थ उसका निरोधक है। मोहान्धकार का नाश करने से गुरु कहाते हैं, यथा—"गु शब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निषेधकृत्। अन्धकारनिरोधत्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥" (गुरु गीता), ऐसे ही गुरु हरि के रूप हैं। यह लक्षण श्रुति में कहा है, यथा—'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवा-भिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।" (मुण्डको० १।२।१२), इसमें श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ शब्दों के द्वारा सामर्थ्य जनाया है।

(५) यहाँ श्रीगुरु के मन, वचन और शरीर तीनों दिखाये। मन—कृपासिंधु, शरीर—नर-रूप हरि और वचन—'महामोह तमपुंज' के लिये 'रविकर-निकर' हैं।

(६) 'रविकर निकर'—किरणें चन्द्रमा में भी हैं, पर उनसे तम का नाश नहीं होता। अतः, 'रविकर' कहा। सूर्य सहस्रांशु कहे जाते हैं। अतः, यहाँ भी 'निकर' कहा है। जब गुरु-वचन रविकर हैं, तब उनका हृदय ब्रह्माण्ड और ज्ञान सूर्य है, यथा—"जासु ज्ञान रवि भवनिसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा।" (अ० दो० २७७), ऊपर श्लोक में 'बोधमयं नित्यं' कहा है, अर्थात् हृदय में सदा ज्ञान-रूप सूर्य का उदय रहता है। ऊपर 'शंकर' रूप और यहाँ 'हरि' रूप कहकर दिखाया गया कि गुरु सम्पूर्ण कल्याण करते हैं और (भवसागर का) क्लेश हर लेते हैं।

'महामोह'—ईश्वर में सन्देह होना महामोह है—"भवबंधन ते छूटहिं, नर जपि जाकर नाम। खर्ब निसाचर बाँधेउ, नागपास सोइ राम॥" इसे ही आगे कहा है—"महामोह उपजा उर तोरे।" (उ० दो० ५८), तथा ऐसे ही सन्देह के प्रति—"जिन्ह कृत महामोह मद पाना।" (दो० ११४) भी कहा है। श्रीगुरुजी ईश्वर का ज्ञान कराते और उस सम्बन्ध के सब संशय-समूह रूप अन्धकार निवृत्त करते हैं। इसीलिये महामोह को 'तमपुंज' कहा है।

(७) पाँच सोरठों में भाषा का मंगलाचरण क्यों हुआ ? इसका उत्तर 'मूकं करोति···' में विष्णु-परक अर्थवाले यह देते हैं कि गोस्वामीजी ने सूर्य में खास प्रयोजन की बात न देखी और उनका ज्ञानांश गुरु द्वारा प्राप्त होता है। अतः, गुरु की ओट से उपमान रूप में वन्दना करके पंचदेव वन्दना की पूर्त्ति की। पुनः, 'नर-रूप-हरि' का अर्थ नर-रूप सूर्य भी होता है।

(८) 'नर-रूप-हरि'—से नरहरि अर्थात् नृसिंह (नर रूप में सिंहाकृति) का भी ध्यान होता है, क्योंकि श्रीगुरु महाराज पंच संस्कार-विशिष्ट हैं। सिंह को 'पंचानन' भी कहते हैं, क्योंकि उसके चार पंजे भी चीर-फाड़ का काम मुख के समान ही करते हैं। सिंह अजा (बकरी) के मुख को मुख से और उसके चार पाँवों को अपने पंजों से पकड़े तो क्षण-भर में मार लेता है। वैसे ही श्रीगुरु महराज भी पंच संस्कारों द्वारा माया (अजा) के पाँचो अंगों (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) सहज में नाश कर सकते हैं। माया प्रकृति का पर्यायवाची शब्द है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति का नाम भी 'अजा' है, तथा—"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।" (श्वे० ४।५), इस श्रुति में माया का अजा नाम और रक्त-श्वेत-कृष्ण से क्रमशः रज, सत्त्व, तम के अनुसार उसका रंग भी कहा है। वैसे बकरियाँ भी कुछ लाल एवं श्वेत रंग की होती हैं, विशेषकर काली ही होती हैं, क्योंकि माया विशेषतः तमरूपा ही है। बकरी 'में-में' बोलने से जानी जाती है। माया की पहचान भी 'मैं' ही है, यथा—"मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव-निकाया॥" (अर० दो० १४), इसमें मैं से तैं हुआ, फिर मैं से मोर और तैं से तोर भी हुआ। बकरी के चार खुर (पाँव) दो-दो भागों में बँटे रहते हैं तथा मुख भी नीचे ऊपर दो फाँकों का होता है, वैसे माया के भी शब्दादि पाँचों विषय शुभ और अशुभ दो-दो प्रकार के होते हैं।

श्रीगुरुजी स्वयं पाँचो संस्कार (नाम, माला, ऊर्ध्वपुण्ड्र, मुद्रा और मन्त्र) धारण किये रहते हैं, और उन्हीं से शिष्यों की रक्षा माया के उपर्युक्त पाँचों अंगों से करते हैं। शब्द-ग्रहण की इन्द्रिय कान है, रक्षार्थ मन्त्र कान में ही देते हैं और उसीको कर्मेन्द्रिय वाक् से जपाते हैं। स्पर्श के वायु-तत्त्व की कर्मेन्द्रिय हाथ है। रक्षार्थ धनुष-बाण हाथ पर देते हैं। रूप का केन्द्र ललाट है, क्योंकि रूप मुख एवं ललाट ही पर देखा जाता है, रक्षार्थ ऊर्ध्वपुण्ड्र ललाट पर (द्वादश तिलक सर्वाङ्ग में भी, क्योंकि सब रूप ही हैं) देते हैं। रस विषय की इन्द्रिय रसना से गृहीत पदार्थ कंठ होकर भीतर जाता है। रक्षार्थ कंठी (माला) भी कंठ ही में पहनाते हैं और नाम का सम्बन्ध पृथ्वी-भर में रहता है—भाई, पिता, मित्र आदि सम्बन्धों से बँधा रहता है, रक्षार्थ भगवत्-सम्बन्धी नाम देकर पृथ्वी के सांसारिक वासनात्मक गन्ध-विषय से भी बचाते हैं।

कौन संस्कार किस अर्थ के अनुसन्धान से किस विषय से रक्षा करता है, ये सब विस्तार-पूर्वक मेरे ग्रन्थ 'श्रीमन्मानस नाम-वन्दना' एवं 'प्रपत्ति-रहस्य' में हैं, यहाँ इन्हें विस्तारभय से नहीं लिखा गया। और, पंच संस्कार की नृसिंहस्वरूपता भी उन्हीं ग्रन्थों में 'राम नाम नरकेसरी···' एवं 'पञ्च संस्कार विशिष्ट गुरु महिमा' के प्रसंगों में दिखाई गई है, क्योंकि नाम बीज है और मन्त्र उसका विवरण (अर्थ) है, यथा—"न च नाममन्त्रयोर्भेदाशङ्का तयोर्बीजतद्विवरणरूपेणैक्यात्।" (श्रीरामतापनीय उ० भाष्य पृ० २०४)।

इस प्रकार पञ्च संस्कार विशिष्ट श्रीगुरुजी के चरणकमलों के प्रभाव से माया का उसके शब्दादि पाँचो विषयों के साथ नाश होना कहा गया। इस पक्ष में 'महामोह' का अर्थ पञ्चविषयों की कामनाओं का है। मोह का अर्थ देहाभिमान है, इसीसे देहाभिमानी जीव को दशमुख रावण रूप कहा गया है, यथा—"मोह दसमौलि···" (वि० ५८); तथा—"अभिष्वङ्गस्तु कामेषु महामोह इति स्मृतः। ऋषयो मुनयो देवा मुह्यन्त्यत्र सुरेश्वराः॥" (महा० आश्व० ३६।३२); तात्पर्य यह कि श्रीगुरुजी के चरणध्यान से पञ्चविषयात्मक माया का नाश और उनके वचनों एवं मन्त्रोपदेश से ईश्वर-विषयक अज्ञानरूप महामोह का नाश होता है।

सम्बन्ध—इस सोरठे में मोह-नाश कराने के लिये 'पदकंज' की वन्दना की, आगे उसके कार्य-रूप भव-रोगों के नाश के लिये 'गुरु-पद-पदुम-पराग' की वन्दना करते हैं—

चौपाई *

बंदउँ गुरु-पद-पदुम-परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥ १॥

अर्थ—(१) मैं श्रीगुरुजी के चरणकमलों की धूल की वन्दना करता हूँ, जो सुरुचि रूपी सुगन्ध तथा अनुराग रूपी रस से संयुक्त है।

(२) मैं श्रीगुरुजी के चरण-कमलों की धूल की वन्दना करता हूँ, जो सुष्ठु (उत्तम) रुचि, सुष्ठु वास, सम्यक्-रस और अनु (अल्प) ललाई से युक्त है (श्रीगुरुचरण के तलवे लाल कमल के समान हैं। अतः, उनकी धूल में भी कुछ लालिमा होना युक्त है।)

(३) मैं श्रीगुरुजी के चरण-कमलों के रज की वन्दना करता हूँ, जो सु-रुचि, सु-वास और श्रेष्ठ अनुराग से पूर्ण है।

(४) मैं सुष्ठु रुचि, सुष्ठु वासना और श्रेष्ठ अनुराग सहित गुरु-पद-पद्म-पराग की वन्दना करता हूँ।

विशेष—(१) अर्थ (१) 'पदुम'-शब्द दीपदेहली न्याय से पद और पराग दोनों का विशेषण है। ऊपर सोरठे में 'पद-कंज' की वन्दना की, तब विचारा कि श्रीगुरुचरणों को कमल क्या कहूँ, जब कि कहीं से लिपटी हुई धूल में ही कमल के धर्म हैं, कमल में सुगन्ध और रस होते हैं, उसमें सुरुचि ही सुगन्ध और अनुराग ही रस है। यहाँ यह शंका नहीं कि पराग में रस कैसा? कमल के पराग में भी उसका रसांश रहता है। कहा भी है, यथा—"पद कमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करइ पाना॥" (दो० २१०)।

शंका—धूल तो जड़ पदार्थ है, उसमें रुचि और अनुराग कैसा?

समाधान—श्रीगुरु-पद-पद्म-पराग में शिष्य की जितनी उत्तम रुचि एवं श्रद्धा होगी, पराग से उसको उतनी ही सुगन्ध की प्राप्ति होगी और जितना शिष्य का अनुराग होगा, उतना ही रस का अनुभव होगा। भगवान् की मूर्त्ति और तीर्थों में भी यही देखा जाता है, यथा—"न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये। भावेषु विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम्॥" "मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ। यादृशी भावना यत्र सिद्धिर्भवती तादृशी॥" (स्कन्द पु० ब्रा० ब्राह्मो० १७।८); "न देवो विद्यते काष्ठे पाषाणे

* इस छन्द के प्रत्येक चरण में सोलह-सोलह मात्राएँ होती हैं।

मृत्तिकासु च। भावेषु विद्यते देवो मन्त्रसंयोगसंयुतः॥" (स्कन्द पु० ना० खं० १६८। १६-१७), इत्यादि। जैसे श्रीगोस्वामीजी ने श्रीरामयश के विषय में अपनी कार्पण्य रूपी लघुता को श्रीरामयश रूपी जल का हलकापन रूप गुण कहा है, यथा—"आरति बिनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुबारि न खोरी।" (दो० ४२)।

(२) अर्थ (२) लाल कमल के पराग के रूप में पीत के साथ कुछ ललाई की आभा आती ही है और उसके धर्म के तीन प्रकार हैं—गुण, स्वभाव और क्रिया। पराग में 'रुचिकारकता' गुण, 'सुगन्ध' स्वभाव और 'रस' उसकी क्रिया है, यह उपमान में है और उपमेय रूप श्रीगुरु-पद-पद्म-पराग का भी रूप अल्प ललाई से युक्त है, क्योंकि चरण लाल हैं, उनके सेवन का गुण है कि शिष्य के हृदय में उत्तम रुचि उत्पन्न हो, तब वह अच्छे धर्म में रत होता है और उसकी सुष्ठुयश रूपी सुगन्ध का फैलना स्वाभाविक है। अतः, यह स्वभाव हुआ। पुनः उस शिष्य में रसरूपा भक्ति जाग्रत होती है। यही सरसता रूप क्रिया है।

(३) श्रीगुरु-पद-पद्म-पराग के चार विशेषण हैं, उनके सेवन से चारों फल भी प्राप्त होते हैं। सुरुचि से अर्थ, क्योंकि रुचि चाह को भी कहते हैं, यथा—"सब पायउँ रज पावनि पूजे" (अ० दो० २) यहाँ राजा दशरथजी ने अर्थ-प्राप्ति ही कही है। सुवास से धर्म, क्योंकि धर्म से यशरूपी सुगन्ध फैलती है। सरस से काम, क्योंकि वह भी रसरूप है। ,रज की किंचित् ललाई के समान अनुराग से भक्ति की प्राप्ति जनाई, यथा—"मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।" (उ० दो० ६१); इस भक्ति से प्रभुप्राप्ति रूपी मोक्ष का मिलना है। अनुराग का रंग लाल कहा गया है। कमल में चार गुण हैं, वही पराग में आते हैं, वैसे ही श्रीगुरु-चरण के गुण धूल में हैं।

(४) अर्थ (३) के अनुसार इसमें अधिक तद्रूपकालंकार है, क्योंकि कमल-पराग में रुचि, वास और रस है और गुरु-पद-पद्म-पराग में सुष्ठु रुचि, सुष्ठु वास और श्रेष्ठ अनुराग है। इस पराग की उपासना से शिष्य की भी उत्तम रुचि एवं भक्ति भगवान् में होती है। श्रीगुरु के साथ इसका भी यश होता है। यह सुवास है और गुरु के संसर्ग से गुरु के समान इसमें भी श्रेष्ठ अनुराग होता है, जैसे श्रीभरत के प्रसंग में कहा है—"जबहिं राम कहि लेहिं उसासा। उमगत प्रेम मनहुँ चहुँपासा॥ द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना। पुरजन प्रेम न जाइ बखाना॥" (अ० दो० २१६)।

(५) पदुम-पराग उपमान, गुरु-पद-पराग उपमेय, सुवास और सरस के अनुरूप सुरुचि और अनुराग धर्म हैं, वाचक जनु, मनु, सम आदि लुप्त हैं। अतः, वाचकलुप्तोपमा अलंकार है।

(६) प्रथम शंकर-रूप में स्वरूप की वन्दना की और द्वितीया के चन्द्रमा के समान उनके आश्रित हुए, तब स्वरूप की अगाध महिमा समझी और अपने को उसके अयोग्य मानकर चरण-कमल की वन्दना कर वचनों द्वारा महामोह की निवृत्ति चाही। फिर श्रीचरण-कमल की समीपता में धृष्टता समझकर उसकी धूल की वन्दना कर भव-रोग नाश आदि का उपाय ग्रन्थकार कर रहे हैं, आगे अपनेको धूल के भी योग्य न मानकर नख-प्रकाश की शरण लेंगे, जो श्रीचरण से कुछ दूर है, क्योंकि धूल तो चरण में लगी हुई है।

सम्बन्ध—इस अर्द्धाली में जो गुण सुरुचि आदि कहे गये हैं, उनका चरितार्थ अगली तीन अर्द्धालियों में दिखाते हैं—

अमिअ-मूरि-मय चूरन चारू। समन सकल भवरुजपरिवारू॥२॥

अर्थ—(यह धूल) अमृत मूरि-(जड़ी)-मय सुन्दरचूर्ण है, यह भव-रोग के सब परिवार (कामादि) का नाश करनेवाली है।

विशेष—(१) अमिअ-मूरि—लोग संजीवनी जड़ी के सेवन से अमर (देवरूप) हो जाते हैं, वैसे यह चूर्ण मोक्ष रूपी अमृतमय है, असाध्य भव-रोगों का नाश करता है, परिणाम में दिव्य रूप प्राप्त कराता है। वह चूर्ण खाने में मधुर, देखने में सुन्दर, रोगनाशन गुणवाला है, वैसे यह सेवन में सुलभ (मधुर अर्थात् माहात्म्य ज्ञान से स्वादु), लोक में शोभा और असाध्य भव-रोगों का नाशक है।

(२) इसमें अधिक तद्रूपकालंकार है—वह देह-रोग दूर करता है, यह भव-रोग। देह-रोग दो-चार हैं और भव-रोग बहुत, यथा—"एक व्याधि बस नर मरहिं, ये असाध्य बहुव्याधि।" (उ० दो० १२१); असाध्यत्व—"नेम धरम आचार तप, ज्ञान जज्ञ जप दान। भेषज पुनि कोटिक नहिं, रोग जाहिं हरिजान।" (उ० दो० १२१)। अर्थात् देह-रोग साध्य हैं और ये असाध्य, यह चूर्ण उनका भी नाश करता है। अतः, उपमान से उपमेय में बहुत अधिकता है।

शंका—भव-रोग सूक्ष्म हैं, यथा—"बड़े अलेखी लखि परे परिहरे न जाहीं।" (वि० १४७); और श्रीगुरु-पदरज स्थूल है। फिर इससे उनका नाश कैसे हो सकता है?

समाधान—जैसे यज्ञ, तीर्थ, व्रत आदि से साधक की भावना के अनुसार मन की शुद्धि होती है, वैसे यहाँ भी उत्तम रुचि से शिष्य के हृदय में रुचि अर्थात प्रकाश (रुच् दीप्तौ धातु है) होगा। अविद्या-नाश के साथ ही भव-रोग भी नष्ट होंगे, यथा—"प्रबल अविद्याकर परिवारा। मोह आदि तम···" (उ० दो० ११७); यहाँ उपर्युक्त सुरुचि चरितार्थ हुई।

शंका—ग्रन्थारम्भ में रोग-निवारण का ही रूपक क्यों लिखा गया?

समाधान—चारो फलों के साधन का आधार नीरोगता ही है, यथा—"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।" (कुमार संभव ५।३३)। नीरोगता की सफलता पर ही ग्रन्थ समाप्ति भी की गई है, यथा—"विमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई॥" (उ० दो० १२१); बस, इसीपर ग्रन्थ समाप्ति जान पंचायत ठन पड़ी—'सतपंच चौपाई···' का प्रसंग देखिये।

सुकृत संभु-तनु बिमल बिभूती। मंजुल-मंगल-मोद-प्रसूती ॥३॥

शब्दार्थ—मंगल = बाह्य इन्द्रियों का सुख। मोद = अन्तःकरण का सुख।

अर्थ—(यह धूल) पुण्य रूपी शिवजी के शरीर को (ही) निर्मल करने वाली विभूति (भस्म) है तथा सुन्दर मंगल और मोद को पैदा करने वाली (माता) है।

विशेष—(१) यहाँ 'सुकृत' को 'संभु-तनु' कहा है, क्योंकि शिवजी स्वयं धर्म के मूल हैं, यथा—'मूलं धर्मतरोः' (अर० मं०); सुकृत-सेवन और शिव-सेवन का फल एक है, यथा—"सकल सुकृत फल राम-सनेहू।" (दो० २६); एवं—"सिव-सेवा कर फल सुत सोई। अविरल भगति राम-पद होई॥" (उ० दो० १०५)।

(२) श्मशान की धूल स्वयं तो अपवित्र है, परन्तु शिवजी के शरीर के स्पर्श से पवित्र होती है। गुरुजी के चरण-कमलों की धूल स्वयं इतनी अधिक पवित्र है कि सुकृत रूपी शिवजी के शरीर ही को निर्मल करती है। अतएव, उपमान से उपमेय में बहुत अधिकता है। इससे अधिक तद्रूपकालंकार है।

पुण्य का विमल होना यह है कि गुरु-आश्रित होकर जो सुकृत किया जाता है, शास्त्र-सम्मत होने के कारण उसमें ममता, फलेच्छा और कर्तृत्वाभिमान रूप मल नहीं रह पाते। अतः, कल्याणरूप होने से 'संभुतनु' हो गया है, क्योंकि शम्भु शब्द का अर्थ 'कल्याणकर्त्ता' होता है। वैसे ही शिष्य गुरु आश्रित शुद्ध कर्मयोग से परम नैष्कर्म्यसिद्धि पा परम कल्याण प्राप्त करता है।

(३) 'मंजुल' शब्द से पाया गया कि कोई-कोई मंगल और मोद मलिन भी होते हैं, जो निन्दित कर्मों द्वारा बाह्य सुख कामादि सम्बन्धी हैं। ऐसे विचारों से जो प्रकट होते हैं, वे मंगल-मोद मलिन हैं।

'विमल' विशेषण देकर सुकृत से मंजुल मंगल और मोद पैदा करने में उपर्युक्त 'सुवास' चरितार्थ हुआ, उत्तम पुण्य से यश-रूप सुगन्ध फैलती ही है।

जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किये तिलक गुन गन बस करनी ॥४॥

शब्दार्थ—मल = मैल, यथा—"मोह जनित मल लाग·····मन मलिन विषय संग लागे।" (वि० ८२); 'काई विषय-मुकुर-मन लागी।' (दो० ११४)।

अर्थ—(यह धूल) जन (दास) के सुन्दर (स्वच्छ) मन रूपी दर्पण की मैल को हरनेवाली है और तिलक करने से शुभ गुणों के समूह को वश में करनेवाली है।

विशेष—(१) जन का मन स्वभावतः निर्मल होता है, फिर भी 'मंजु' विशेषण से उसकी उत्तमता व्यक्त की गई है, तब यह मल कैसा ?

उत्तर—यद्यपि दासों का मन निर्मल रहता है, यथा—"बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा॥" (कि० दो० १६); 'जिमि हरिजन हिय उपज न कामा।' (कि० दो० १५); तथापि—"काल सुभाव करम बरियाई। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई॥" (दो० ६); इस नियम से—"बिधि-बस सुजन कुसंगति परहीं।" (दो० २); क्योंकि—"बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहुँ हृदय का नर बापुरे॥" (उ० दो० १२१); और—"बिषय बश्य सुर नर मुनि स्वामी।" (कि० दो० २०); भी कहा ही है। श्रीनारदजी कामवश और सनकादि क्रोधवश हुए, जिनके मन प्रथम 'मंजु' ही थे। जनों का स्वधर्माचरण मंजुता है, भगवान एवं उनके भक्तों से विमुख होना मलिनता है।

(२) यहाँ तक त्रिविध जीवों का हित जनाया—"बिषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥" (अ० दो० २३६); यथा—'जनमन मंजु···' से विषयी का हित होगा, उनके मन की मैल दूर होगी। 'समन सकल भव रुज···' से मुमुक्षु का हित होगा, क्योंकि कामादि शत्रु साधन में बाधा डालते हैं। 'मंजुल मंगल मोद प्रसूती।' से मुक्त कोटि के सिद्धों का हित होगा, क्योंकि उनके 'मुद' (आनन्द-कल्याण) आदि बने रहेंगे।

(३) "किये तिलक गुन गन बस करनी"—तन्त्र-शास्त्र की रीति से वशीकरण प्रयोग होता है। वह जिसके उपलक्ष्य में किया जाता है, वह वश में आ जाता है, वैसे यह धूल श्रद्धालु के लिये (निष्ठा से) तिलक करने से शुभ गुणों को वश में कर देती है, यथा—"जे गुरु-चरन-रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं॥" (अ० दो० २)।

(४) 'समन·····परिवारू'—में मारण, 'मंजुल मंगल मोद प्रसूती।' से सुकृति को सुशोभित कर मंगलादि को मोहित करके लाने में मोहन, 'मल हरनी' में उच्चाटन, 'गुनगन बस करनी' में वशीकरण—ये चार प्रयोग-सिद्धियाँ रज से दिखाईं।

ग्रन्थकार का प्रयोजन ग्रन्थ-रचना के सम्बन्ध में 'भवरुज' से नीरोग होना और शुभ गुणों से युक्त होना प्रत्यक्ष था। अतः, दो प्रयोग प्रकट कहे गये और शेष दो युक्ति से बतलाये गये हैं।

(५) श्रीगुरु-पद पद्म-पराग का यश सं० व्याकरण के तीनों लिंगों में गाया है, यथा—'परागा' पुँल्लिग है। अतः, 'चूर्ण' पुँल्लिग, 'बिभूति' स्त्रीलिंग है, उसे वैसे ही प्रसूती, मलहरनी, बसकरनी कहा और 'रज' नपुंसक है, इसे ही आगे अंजन (नपुंसक) भी कहेंगे।

(६) यहाँ तक यह दिखाया कि रज को वचन से वन्दना करना, चूर्ण रूप में उसे खाना, सुकृत के शरीर में लगाना, मन से सेवन करना और उसका तिलक करना चाहिये। आगे नेत्रों में उसका लगाना भी कहते हैं, यथा—"गुरुपदरज मृदुमंजुल अंजन।" इस प्रकार वचन, मन और कर्म से श्रीगुरु-चरणरज का सेवन करना चाहिये।

यहाँ उपर्युक्त 'सरस अनुरागा' की चरितार्थता है, क्योंकि जनों के मन की निर्मलता पर अपने अंशी की उपासना ही होगी, तत्सम्बन्धी गुण-गण प्राप्त होंगे, यथा—"बिपुल सकल सेवा बिधि गुनी।" (उ० दो० २३); भागवत (५।१२।१२) में जड़ भरत ने रहूगण से भी कहा है कि महात्माओं के चरण-रज की निष्ठा से ही ब्रह्म-विद्या रूपिणी उपासना आती है।

श्रीगुरु-पद-नख मनिगन जोती । सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ॥५॥

शब्दार्थ—दिव्यदृष्टि = दिव्यनेत्र = बुद्धि में पारमार्थिक प्रकाश, यथा -'ज्ञान बिराग नयन उरगारी ।' (उ० दो० ११६); 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' (गीता ११।८) ।

अर्थ—श्रीगुरुजी के चरणों के नखरूपी मणि-समूह के प्रकाश का स्मरण करते ही हृदय में दिव्य दृष्टि होती है । (मैं उनकी वन्दना करता हूँ) ।

विशेष—(१) यहाँ ग्रन्थकार ने 'बंदउँ' न देकर 'श्री' शब्द दिया, इससे श्री शब्द को उपर्युक्त 'पदकंज' और 'पद-पद्म-पराग' के साथ जनाया और 'बंदउँ' शब्द को यहाँ के नख-प्रकाश के साथ भी जनाया । इस प्रकार थोड़े अक्षरों से अधिक काम लिया । यह काव्य-कला का चमत्कार है । यथा—"सौंपे भूप रिषिहिं सुत, बहु बिधि देइ असीस । जननी-भवन गये प्रभु, चले नाइ पद सीस ॥" (बा० दो० २०८); इसमें एक जगह आशीष और दूसरी जगह शीश नवाना कहकर दोनों जगह दोनों बातें दिखाई हैं ।

किसी-किसीका यह भी भाव है कि 'बंदउँ' शब्द 'पदकंज' के साथ दे चुके हैं, नख चरणों में ही है । अतः, फिर नहीं दिया । रज को श्रीचरण से भिन्न पदार्थ जानकर 'बंदउँ' शब्द उसमें दिया है । नखों को मणिगण कहा, मणिगण श्री (लक्ष्मी) जी के विभव हैं । अतः, 'श्री' शब्द गुरु के साथ भी दिया है ।

(२) पहले 'रज' से भव-रोगों का शमन करके मन रूपी दर्पण भी स्वच्छ किया, तब नख-प्रकाश के स्मरण के अधिकारी हुए । अब 'दलन मोहतम···' तक में मोह का सूक्ष्मांश भी निवृत्त करेंगे । तब हृदय के 'विमल' नेत्र का उघरना कहेंगे ।

(३) श्रीचरण में कई नख हैं । अतः, उपमान में 'मनिगन' कहा । मणि कहने का हेतु यह है कि ज्योति तो दीपों में भी होती है, पर वायु एवं पतंगों से उनके बुझने का भय होता है । मणि का प्रकाश एक रस रहता है, यथा—'परम प्रकास रूप दिन-राती ।' (उ० दो० ११८) ।

(४) 'हिय होती'—सिद्धांजन आदि लगाने से बाहर की दिव्य दृष्टि होती है । यन्त्र, मन्त्र आदि से देवता द्वारा एवं ज्योति से बाहर की दृष्टि अधिक होती है, परन्तु हृदय के ज्ञान-विराग रूप नेत्र ऐसी दिव्य मणियों के प्रकाश से ही खुलते हैं ।

(५) **शंका**—'रज' का प्रसङ्ग फिर आगे कहेंगे, उसे अधूरा छोड़कर बीच में नखों का प्रसङ्ग क्यों कहने लग गये ?

समाधान—आगे दोनों का मेल दिखाना है । अतः, प्रथम चार अर्द्धालियों में 'रज' का प्रसङ्ग कहकर यहाँ से चार ही में नख-प्रकाश का भी गुण दिखाते हैं, नख-प्रकाश से जब हृदय के निर्मल नेत्र उघरेंगे, तब अंजन की आवश्यकता होगी । फिर अंजन-रूप में 'रज' का प्रसङ्ग चलेगा ।

दलन मोहतम सोसुप्रकासू । बड़े भाग उर आवहि जासू ॥६॥

शब्दार्थ—सोसुप्रकासू = सो-सुप्रकासू = वह सुन्दर प्रकाश अथवा (सोसु = सहस्रांशु = हजार किरणोंवाले सूर्य) सूर्य का प्रकाश ।

अर्थ—(क) (नख का) वह सुन्दर प्रकाश मोहरूपी अन्धकार का नाश करनेवाला है । जिसके हृदय में (नख-प्रकाश का ध्यान) आता है, उसके बड़े भाग्य हैं ।

(ख) वह सुन्दर प्रकाश मोहरूपी अन्धकार का नाश करने के लिये सूर्य के प्रकाश के समान है···।

विशेष—(१) अर्थ (क) के अनुसार—'बड़े भाग'—जैसे अनमोल मणियाँ भाग्यवान ही को प्राप्त होती हैं, वैसे गुरु-पद-नखों की ध्यान-रूपी परम भक्ति बड़े भाग्य के उदय पर ही होती है, यथा—"जे गुरुपद-अंबुज अनुरागी । ते लोकहु बेदहु बड़ भागी ॥" (अ० दो० २५८); अर्थात् यह भक्ति अति दुर्लभ है ।

(२) अर्थ (ख) के अनुसार मणियों में सामान्य प्रकाश विचारकर उनके साथ सूर्य के प्रकाश से तुलना की। भव-रजनी की निवृत्ति सूर्यप्रकाश से ही होती है।

(३) **शंका**—'महामोह तम पुंज' का तो नाश कर चुके, अब यहाँ 'दलन मोहतम' की क्या आवश्यकता पड़ी ?

समाधान—महामोह और मोह दोनों पंचपर्वा (तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र—ये पाँच पोरों वाली) अविद्या में पृथक्-पृथक् माने गये हैं। अतः, यहाँ दोनों का नाश भी भिन्न-भिन्न उपाय से कहा। यहाँ भी ग्रन्थकार की विलक्षण सँभाल है कि महामोह का नाश मुख से वचन द्वारा कहा और मोह महामोह से प्रजा की भाँति छोटा है, उसके लिये पैरों के नखों को ही योग्य समझा। अतः, मुख से मुखिया को और चरण से प्रजा को जोना।

(४) रज से प्रथम मन मुकुर के 'भव रज परिवारू' को साफ करके तब नख-प्रकाश का हृदय में लाना कहा, क्योंकि अब मन परम तत्त्व के स्मरण का अधिकारी हुआ।

उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव-रजनी के ॥७॥

शब्दार्थ—बिलोचन ही के=हृदय के दोनों नेत्र—'ज्ञान बिराग नयन उरगारी।' (उ० दो० ११६)।

अर्थ—(उक्त नखों के प्रकाश से) हृदय की निर्मल आँखें खुल जाती हैं तथा संसार रूपी रात के दोष और दुःख निवृत्त हो जाते हैं।

विशेष—(१) **शंका**—'उघरहिं' से प्रथम बन्द रहना सूचित होता है। मन-मुकुर की शुद्धता एवं 'दिव्य दृष्टि हिय होती' से तो हृदय के नेत्र शुद्ध थे ही, फिर बन्द क्यों थे ?

समाधान—जब तक सूर्य का प्रकाश न था, तब तक 'भवरजनी' थी। अँधेरे में नेत्र खुलकर ही क्या करते ? उजाला होते ही लोग जागते हैं और नेत्र भी खोलते हैं। जब रात्रि का दोष रूप अन्धकार दूर हुआ और दुःख रूप चोर, साँप, बिच्छू आदि का भय मिटा, तब नेत्रों का भी खुलना योग्य ही है। अतः, नख-सूर्य का प्रकाश कहकर नेत्रों का खुलना कहा।

(२) 'दोष दुख'—'भव-रजनी' का दोष अविद्या रूपी तम (अन्धकार) है, चोर रूपी कामादि, राग रूपी सर्प, मत्सर रूपी बिच्छू, अविद्या रात्रि के दुःख हैं। मोह रूपी तम से न सूझना भी दुःख ही है, यथा—'मत्सर मान मोह मद चोरा।' (उ० दो० ३०); 'रागादि-सर्पगन-पन्नगारि।' (वि० ६४); 'मोह आदि तम मिटइ···' (उ० दो० ११७)। "अब प्रभात···भागे मद मानचोर···" (वि० ७४); यह प्रसंग देखिये। 'मिटहिं' लोक में दिन समाप्त होने पर फिर रात आती है, पर यहाँ तो ये दोष-दुःख सदा के लिये मिट जाते हैं, फिर भव-रजनी आती ही नहीं। यह विशेषता है।

(३) बाहरी नेत्रों के देवता सूर्य हैं, सूर्य से उनमें प्रकाश होता है, वैसे ज्ञान-विराग रूपी नेत्रों के देवता नख-रूपी सूर्य हैं। अतः, नखों के प्रकाश से नेत्रों का 'उघरना' कहा।

(४) मणिगण रूप नखों की ज्योति से दिव्य दृष्टि हुई। जब रात का मिटाना हुआ, तब सूर्य की उपमा दी, वस्तु दीखने लगी। फिर नेत्रों का खुलना योग्य ही है। नेत्र खुलने पर क्या देख पड़ता है, यह आगे कहते हैं—

सूझहिं राम-चरित-मनि-मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक ॥८॥

अर्थ—(क) श्रीरामचरित रूपी मणि और माणिक्य, जो जहाँ और जिस खान में गुप्त और प्रत्यक्ष हैं, देख पड़ने लगते हैं।

(ख) श्रीरामचरित रूपी मणि और माणिक्य, जो जहाँ जिस खान में गुप्त हैं, वे प्रकट देख पड़ने लगते हैं।

विशेष—(१) अर्थ—(क)—'मनि-मानिक'—मणि सर्प में गुप्त रहती है, दैव-योग से मिलती है, पारखी (मर्मी) की समझ से बाहर है, वैसे ही गुप्त चरित भी श्रीरामकृपा होने पर अनुभवी सन्तों से मिलते हैं, यथा—"बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।" (सुं० दो० ६); गुप्त चरित—"मास दिवस कर दिवस भा, मरम न जानइ कोइ।" (दो० १२५); "प्रभु चरित काहु न लखे, नभ सुर सिद्ध मुनि देखहिं खरे।" (लं० दो० १०७); तथा कौशल्याजी को विराट् रूप दिखाना एवं सतीजी को अपना प्रभाव दिखाना, इत्यादि। माणिक्य पर्वतों और खानों में होता है, उसके मर्मी उसे जानते हैं, वैसे श्रीरामचरित वेद-पुराण रूपी पर्वतों में गुप्त हैं, सज्जन (विद्वान्) मर्मी हैं, यथा—"पावन पर्वत वेद पुराना। राम-कथा रुचिराकर नाना॥ मरमी सज्जन सुमति कुदारी। ज्ञान विराग नयन उरगारी···" (उ० दो० ११६); यह माणिक्य रूप बाह्य चरित मर्मी से मिलता है। अतः, प्रकट कहा। प्रमाण—"मनि मानिक मुकता छबि जैसी। अहिगिरि गज सिर सोह न तैसी॥" (दो० १०); इसमें यथासंख्यालंकार से 'अहि' में मणि और 'गिरि' में माणिक्य कहा गया है। यहाँ 'मनि मानिक···' में भी यथासंख्यालंकार की रीति से 'मनि' गुप्त, और 'मानिक' प्रकट में है। ऐसा ही भाव लिखा गया है।

(२) अर्थ (ख) 'जहँ जो जेहि खानिक'—इसमें कोई-कोई अनेक रसों के चरित्रों का भाव लेते हैं—शृङ्गार-श्याम, करुण-पीत, वीर-लाल, वात्सल्य-हरा, शान्त-श्वेत, इत्यादि। लंका में वीर, लक्ष्मण के शक्ति-प्रसङ्ग में करुण, फुलवारी में शृङ्गार, इत्यादि। सूक्ष्मता = रसानुसार चरित-चित्रण होना है।

(३) आवृत्तियाँ—१—रज मुक्त-मुमुक्षु-विषयी से सेव्य, २—रज मन-कर्म-वचन से सेव्य, ३—रज मारणादि चार प्रयोगों का साधक, ४—लिंग-त्रय में रज की महिमा, ५—सात गुण रज के और सात ही नख-प्रकाश के कहे गये हैं, ६—रज का छः प्रकार से सेवन, और ७—रज से भवरोग का, नख-प्रकाश से भव के दोष-दृश्य का और श्रीरामचरित से भव का (स्वयं) भी मिटना तटस्थ ही में कहते हैं। इन भेदों से सात आवृत्तियाँ इस प्रसंग में हैं।

सम्बन्ध—चार-चार अर्द्धालियों में रज-महिमा और नख-प्रकाश कहकर अब कहते हैं कि साधक आदि सिद्धांजन से भूतल आदि के द्रव्य देखते हैं, वैसे मैं रज-रूप अंजन से श्रीरामचरित का अनुभव करता हूँ—

दोहा—जथा सुअंजन अंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं सैल बन, भूतल भूरि निधान॥१॥

शब्दार्थ—सुअंजन = सिद्धांजन - जिसको नेत्रों में लगाने से भूमि में गड़ी वस्तुएँ, पहाड़ों में खानें और जल एवं वन में गुप्त पदार्थ देख पड़ते हैं। भूरि निधान = अनेक लयस्थान।

अर्थ—जिस प्रकार नेत्रों में सिद्धांजन लगाकर साधक, सिद्ध और सुजान लोग पहाड़ों, वनों और पृथ्वी पर अनेक लयस्थानों के कौतुक देखते हैं।

* १. 'अमिअ-मूरि-मय चूरन चारू' चूर्ण खाते हैं। २. 'सुकृत संभु-तनु बिमल बिभूती' भस्म देह में लगाते हैं। ३. 'जन मन मंजु मुकुर मल हरनी' मल हरण करने के लिये ध्यान करते हैं। ४. 'किये तिलक गुन गन बस करनी' गुण-गण वश करने के लिये तिलक करते हैं। ५. 'नयन-अमिअ दृग-दोष-बिभंजन' नेत्र में लगाते हैं। ६. "तेहिकरि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनउँ रामचरित भवमोचन" वर्णन करने के लिये निर्मल विवेक पाते हैं। यह महत्त्व कहकर रज की स्तुति करते हैं।

विशेष—(१) जीव तीन प्रकार के हैं—विमुक्त, विरक्त और विषयी (प्रमाण उ० दो० १४ में देखिये); इसीसे यहाँ भी तीन 'साधक-सिद्ध-सुजान' कहे। इससे यह दिखलाया कि जीव की योग्यता से प्रयोजन नहीं, अंजन के प्रभाव से ही दृश्य पड़ता है। ऐसे ही 'रज' के सब अधिकारी हैं, दृश्य देखने में साधक प्रधान होते हैं। अतः, इसे प्रथम रक्खा।

(२) निधान का अर्थ हिं० श० सा० कोश में जयस्थान (जहाँ जाकर कोई वस्तु लीन हो जाय) लिखा है और कौतुक का अर्थ आश्चर्य भी होता है। अतः, शैल आदि के अनेक गुप्त स्थलों के आश्चर्यजनक पदार्थ भी दीखते हैं, जैसे—पहाड़ों में माणिक्य। वन का अर्थ जल भी है। अतः, उसमें मुक्ता और 'भूतल' (भू + तल = थल) में सर्पों की मणि आदि दृश्य पड़ती हैं। जगत् में तीन स्थान हैं—नभ (आकाश), स्थल और जल। पहाड़ों में नभ, भूतल में स्थल और वन में जल कहा। वन का अर्थ जंगल लेने से वहाँ दिव्य ओषधियों को देखते हैं।

(३) 'अथा''' में उपमान कहा गया है, उपमेय में रज-रूपी अंजन से 'रामचरित' ही आगे कहा है, उसमें शैल आदि की गुप्त बातें क्या हैं ?

उत्तर—(क) वेद-पुराणादि पर्वतों से राम-कथा रूपी खानें हैं, जिनमें माणिक्य रूप चरित हैं, यथा—"पावन पर्वत वेद-पुराना। राम-कथा रुचिराकर नाना" (उ० दो० ११८); चराचर संसार ही वन है, उसमें अन्तर्यामी श्रीरामजी के बहुत चरित्र हुआ करते हैं जो भवरोग के दिव्य ओषधि-रूप हैं, यथा—'संसाऋकालि अति घोर गंभीरनि''' (वि० ५६); सिद्ध भक्तों का हृदय 'भूतल' है, उनके अनुभवात्मक श्रीरामचरित मणि हैं, यथा—'संकर-हृदय भक्ति भूतल पर''' (गी० उ० १५)।

(ख) श्रीचित्रकूट-सुबेल आदि पर्वत, दण्डकादि वन और श्रीअवध-मिथिला आदि 'भूतल' हैं, इन स्थलों में होनेवाले गुप्त-प्रकट चरित ही मणि, माणिक्य और मुक्ता हैं।

सम्बन्ध—दोहे में उपमान कहा, अब उपमेय-रूप रज-अंजन का वर्णन करते हैं—

गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन। नयन-अमिअ दृग-दोष-बिभंजन ॥१॥

अर्थ—श्रीगुरुजी के चरणों का रज कोमल स्वच्छ अंजन है, (यह) नयनामृत नेत्रों के दोषों को दूर करनेवाला है।

विशेष—(१) यह अंजन नेत्रों के लिये अमृत-रूप है, इसीसे इसका नाम 'नयनामृत' है। 'नयनामृत' नाम का अंजन होता है, वह नेत्रप्रिय और गुणद होता है, (उसकी विधि श्रीवैजनाथजी की टीका में है) उसीका रूपक यहाँ है। श्रीरामचरित के गुरु-मुख से 'ज्ञान-विराग' नेत्र हैं (उ० दो० ११६); इन्हीं से चरित दीखना लिखा है—"ज्ञान नयन निरखत मनुजाता।" (दो० ३६); इन नेत्रों के दोष अहं-मम हैं, यथा—"कबिहि अगम जिमि ब्रह्म-सुख। अहं मम मलिन जनेहु ॥" (उ० दो० २२५); अर्थात् चरित गुरु-द्वारा प्राप्त होने से 'मैंने शास्त्रों द्वारा ज्ञान से प्रकट चरित जाना एवं वैराग्य से चित्त एकाग्र करके अनुभव से गुप्त चरित जाना' आदि दृग-दोष नहीं रहते। अतः, 'दृग-दोष-बिभंजन' यह इसका गुण है। अंजन लगाने में मृदु और देखने में सुन्दर है, अर्थात् तत्त्वज्ञ गुरु दयालु होते हैं। अतः, सेवन में मृदुता है, तत्त्वार्थ बतला देते हैं, शास्त्र-मन्थन-रूप कठिनाई नहीं पड़ती। गुरु-मुख से चरित प्राप्त करने में शोभा है, यही सौन्दर्य है।

(२) प्रथम रज और नख-प्रकाश को समान कहा। अब यहाँ रज-द्वारा ही चरित-वर्णन करते हैं, इससे यह दिखलाया कि मैं रज का ही अधिकारी हूँ।

तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनउँ रामचरित भवमोचन ॥२॥

अर्थ—उस अंजन से विवेकरूपी नेत्र स्वच्छ करके जन्म-मरण को छुड़ानेवाले श्रीरामचरित का वर्णन करता हूँ।

विशेष—'तेहि करि.....' नख-प्रकाश से भी विवेक-नेत्र खुलता (निर्मल होता) है, यथा—'उघरहिं बिमल.....' और उससे भी श्रीरामचरित सूझता है—'सूझहिं रामचरित.....', पर मैं रज-अंजन से ही दृग दोष रूप अज्ञान का निवारण कर ज्ञान-नेत्र से वर्णन करता हूँ अर्थात् नख-प्रकाश और रज-अंजन का प्रभाव बराबर है—

मिलान

नख-प्रकाश		रज
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के।	(१)	तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन।
सूझहिं रामचरित मनि-मानिक॥	(२)	बरनउँ रामचरित भवमोचन॥
मिटहिं दोष दुख भव-रजनी के।	(३)	समन सकल भव-रुज-परिवारू।

सिद्धांजन से बाहरी नेत्र और रज-रूप अंजन से हृदय के नेत्र निर्मल होते हैं। अतः, उपमेय में बहुत विशेषता है।

श्रीगुरुदेव-वन्दना-प्रसंग समाप्त

बंदउँ प्रथम महीसुर - चरना। मोह-जनित संसय सब हरना॥३॥

शब्दार्थ—मोह = माया का ज्ञान के ढक जाने से अज्ञान का छा जाना।

अर्थ—मैं पहले ब्राह्मणों के चरणों की वन्दना करता हूँ, जो मोह से उत्पन्न सब सन्देहों का हरण करनेवाले हैं।

विशेष—(१) चार सोरठों में स्वर्ग के देवों की वन्दना का एक प्रकरण हुआ। फिर 'बरनउँ राम चरित भवमोचन' तक 'नर रूप हरि' कहकर ईश्वर-कोटि ही में गुरु वन्दना-प्रकरण हुआ। अब तीसरा प्रकरण प्रारम्भ करने के अवसर पर प्रथम-प्रथम पृथ्वी के देवता-रूप ब्राह्मणों की वन्दना करते हैं, क्योंकि पृथ्वीतत्त्व में वे ही श्रेष्ठ हैं। 'महीसुर' शब्द ही से प्रथम शब्द का भाव एवं ब्राह्मणों की वन्दनीय-योग्यता दिखाई कि चारों वर्णों में वे प्रथम हैं। अतः, प्रथम शब्द सार्थक है—

ब्राह्मण ब्रह्माजी के मुख से हुए एवं प्रथम हुए। अतएव, लोक में वे प्रथम पूज्य हैं। ब्राह्मण कुल में जन्ममात्र से पूज्यत्व उन्हें प्राप्त है, यथा—"ब्राह्मणः सम्भवेनैव देवानामपि दैवतम्। प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्मात्रैव हि कारणम्॥" (मनु० ११।८४); अर्थात् ब्राह्मण जन्म से ही देवों के भी देव हैं, इसमें लोक और वेद प्रमाण हैं, तथा—"पुरुषेष्वपि राजेन्द्र सुश्रेष्ठं ब्राह्मणं विदुः। तपसा विद्यया तुष्ट्या धत्ते वेदं हरेस्तनुम्॥ नन्वस्य ब्राह्मणा राजन कृष्णस्य जगदात्मनः। पुनन्तः पादरजसा त्रिलोकीं दैवतं महत्॥" (भा० ७।१४। ४१-४२); अर्थात् पुरुषों में वेदधारी ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। अपने चरणों की रज से तीनों लोकों को पवित्र करनेवाले ब्राह्मणगण जगदात्मा और अन्तर्यामी श्रीकृष्ण के भी इष्टदेव हैं—भागवत (१२।१०।३८) में श्रीशिवजी का ब्राह्मणों को प्रणाम करना कहा गया है। पुनः, भागवत (१०।६८।४२) में श्रीकृष्ण भगवान का ब्राह्मणों को सावधानी से प्रणाम करना कहा गया है। यहाँ तक कि "गर्भस्थान्ब्राह्मणान्सम्यक्नमस्यन्ति किल प्रभुः।" (महा० अनुशा० १५३।१०); अर्थात् भगवान् गर्भस्थ ब्राह्मणों को भी अच्छे प्रकार से सदा प्रणाम किया करते हैं, यह वायु ने अर्जुन से कहा है, तथा—"अविद्वान्ब्राह्मणो देवः पात्रं वै पावनं महत्। विद्वान्भूयस्तरो देवः पूर्णसागरसन्निभः॥ अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्। प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत्। श्मशाने ह्यपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति। हविर्यज्ञे च विधिवद् गृह एवातिशोभते॥ एवं यद्यन्निष्टेषु वर्त्तते सर्वकर्मसु। सर्वथा ब्राह्मणो मान्यो दैवतं विद्धि तत्परम्॥" (महा० अनु० १५१। २०-२३) स्कन्द पु० प्रभास खण्ड में भी इसी प्रकार विस्तृत रूप से ब्राह्मण-महिमा कही गई है।

इन प्रमाणों से ब्राह्मण तीनों लोकों से वन्द्य है, इससे श्रीगोस्वामीजी ने यहाँ तीनों लोकों की वन्दना के उपक्रम में प्रथम महीसुर-चरण की वन्दना की है। आगे जहाँ से त्रिपाद् विभूति में नित्य साथ रहनेवाले परिकरों की वन्दना करने लगेंगे, वहाँ फिर "प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना।" (दो० १६); कहेंगे, क्योंकि त्रिपाद्विभूति त्रिलोक से परे है।

(२) 'मोह-जनित·····'—मोह देहाभिमान को कहते हैं, इससे देह के हितैषियों में राग और विपक्षियों में द्वेष होता है, यथा—"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।" (गीता ३।३४); राग-द्वेष सर्व-शरीरी ब्रह्म को न जानने से होते हैं, क्योंकि जगत् भगवान का शरीर है। भगवान् अपने व्यष्टि अर्थात् विभिन्न शरीरों से तत्तत्कर्मानुसार (उन-उन जीवों के कर्मानुसार) उनके साथ यथायोग्य ही व्यवहार कर रहे हैं, जैसे—मनुष्य अपने शरीर के फोड़े को एक हाथ से चीरता है और दूसरे से उसमें दवा भी भरता है। ये सब संशय ब्राह्मण लोग कथा-द्वारा दूर करते हैं, क्योंकि कथा ब्राह्मणों से सुनी जाती है।

ब्राह्मण कथा कहते हैं, कथा के प्रसंगों से संशय दूर करते हैं। जैसे, इस श्रीरामचरितमानस के तीन घाट के जिज्ञासुओं को मोहवश संशय हुए। उनके वक्ताओं ने उनका हरण किया है—श्री भरद्वाजजी ने संशय कहा—"नाथ एक संसउ बड़ मोरे।" (दो० ४४) इसका समाधान करते हुए श्रीयाज्ञवल्क्य ने मोह-हरणी कथा कहते हुए कहा है—"महामोह महिषेस बिसाला। रामकथा कालिका कराला॥" (दो० ४६); ऐसे ही पार्वतीजी एवं गरुड़जी के मोह एवं तज्जन्य संशय-हरण के उदाहरण बहुत एवं स्पष्ट कहे गये हैं।

सम्बन्ध—प्रथम गुरु-वन्दना की, तब विप्रों की वन्दना की, क्योंकि विप्र श्रीराम-रूप हैं, यथा—'मम मूरति महिदेवमयी है।' (वि० १३६); गुरु को उनसे भी श्रेष्ठ मानना कहा है—"तुम्हते अधिक गुरहिं जिय जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी॥" (अ० दो० १२८); यही चरितार्थ भी है, यथा—"पुनि बसिष्ठ-पद सिर तिन्ह नाये। ···विप्र बृन्द बन्दे दुहुँ भाई।" (दो० ३०७); तथा—"पूजहु गनपति गुरु कुलदेवा। सबबिधि करहु भूमिसुर-सेवा॥" (अ० दो० ५)। अतः, श्रीगुरु के पीछे ब्राह्मणों की वन्दना की।

विप्र-पूजन का फल सन्तों का मिलना है, यथा—"पुन्य एक जगमँह नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र-पद-पूजा॥" (उ० दो० ४४); ऐसे पुण्य-समूह हों, तब सन्त मिलते हैं, यथा—"पुण्य पुंज बिनु मिलहिं न संता।" (उ० दो० ४४); इस नियम के चरितार्थ-द्वारा संसार को शिक्षा देते हुए, विप्र-वन्दना के पीछे अब सुजन-(सन्त)-वन्दना करते हैं।

सुजन-समाज सकल गुनखानी। करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी॥४॥

अर्थ—(मैं) सर्व गुणों की खान सज्जनों (साधुओं) के समाज को, प्रेम के साथ सुन्दर वाणी से प्रणाम करता हूँ।

विशेष—(१) 'सुजन···'—जैसे माणिक्य और चाँदी इत्यादि की खानें होती हैं, वैसे सन्त-समाज भी गुणों की खान हैं। जो इन सन्तों का सङ्ग करेगा, उसीको शुभ गुण प्राप्त होंगे। यहाँ 'गुनखानी' के साथ 'सुजन', आगे परोपकार साधक गुण के साथ 'साधु' और 'मुद-मंगलमय' के साथ इन्हें ही 'सन्त' भी कहेंगे। यद्यपि ये तीनों शब्द पर्यायी हैं, तथापि गुणों के अनुसार शब्दों में कुछ भेद भी ध्वनित किया गया है। 'सुबानी'—यथा—"अर्थ बड़ो आखर अलप, मधुर श्रवण सुखदानि। साँची समय सुहावनी, कहिये ताहि सुबानि॥" (बैजनाथ टीका)। 'सकल गुन खानी'—कुछ गुण यहीं पर आगे कहते हैं तथा अन्यत्र कहे गये हैं और कुछ अर० दो० ४४-४५ तथा उ० दो० ३६-३८ में विशेष द्रष्टव्य हैं। 'सकल' पद में वे सब हैं।

सम्बन्ध—'गुनखानि सुजन समाज' के गुणों का अब विस्तार करते हैं—

साधु-चरित सुभ चरित-कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू ॥५॥

अर्थ—साधु का चरित कपास के चरित से (अधिक) शुभ है, जिसका फल नीरस, उज्ज्वल और गुणमय होता है।

विशेष—यहाँ विशेषणों के सब शब्द श्लिष्ट हैं जो साधु और कपास दोनों विशेष्यों में लागू हैं। कपास-चरित उपमान और साधु-चरित उपमेय है। कपास के फल में तीन भाग होते हैं। अतः, तीन ही विशेषण भी दिये गये हैं। 'सुभ'—अभिप्राय यह है कि ये सन्त शुभ ही कर्म करते हैं एवं कपास से अधिक शुभ हैं। फल का अर्थ कपास-पक्ष में वनस्पति-विकार और साधु-पक्ष में कर्म परिणाम है।

जो सहि दुख पर-छिद्र दुरावा। बंदनीय जेहिं जग जस पावा ॥६॥

अर्थ—जो कष्ट सहकर पराये दोषों को ढक लेते हैं, जिससे वे जगत में वन्दनीय हैं। उन्हीं को जगत में यश प्राप्त है।

विशेष— कपास और साधु चरित का मिलान (क्रमशः)

कपास	साधु
'नीरस' है=इसमें रस नहीं होता।	(१) साधु काम-क्रोधादि विकारात्मक रसों से रहित होते हैं, इसीसे विषय में लिप्त नहीं होते—'विगत काम···' 'विषय अलंपट···' (उ० दो० ३७); "तौ नव रस षट रस रस अनरस ह्वै जाने सब सीठे।" (वि० १६६); वा चरित का फल नीरस है=वे अनासक्ति भाव से कर्म करते एवं भोगास्वाद नहीं चाहते।
'विसद'=उज्ज्वल है।	(२) साधु के कर्म निष्काम और भक्ति-रूप में सात्त्विक होते हैं। इसी कारण इनका हृदय निष्काम एवं चरित्र उज्ज्वल होता है। यथा—"सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत-हृदय जस गत मद मोहा।···हरिजन इव परिहरि सब आसा॥" (कि० दो० १५)।
'गुनमय'=सूत्रमय है।	(३) सन्त सी गुणमय हैं—'सुनु मुनि संतन के गुन कहऊँ।" से "सुनु मुनि साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद स्रुति तेते॥" (उ० दो० ४१) तक।
'फल'=तीन फाँकें, छिलके, बिनौले और रुई।	(४) साधु के तीन गुण फाँकें, तीन अवस्थाएँ छिलके और तीनों गुणों के अभिमान बिनौले हैं। इन तीनों पदार्थों को प्रकृति का कर्त्तृत्व मानते हुए अपने को उनसे पृथक् मानकर रुई की तरह तुरीयावस्था ही को सार समझ ग्रहण किये रहते हैं, यही परिणाम (फल) अवस्था है, यथा—"तीनि अवस्था तीनि गुन, ते कपास ते काढ़ि। तूल तुरीय सँवारि पुनि, बाती करइ सुगाढ़ि॥" (उ० दो० १२०)।
'सहि दुख'=प्रथम ओटी जाती है, फिर धुनकी से रेशा अलग कर काती जाती है, फिर वह सूत के रूप में बाँटी और पीटी जाती और वस्त्र के रूप में बुनी जाती है और अन्त में सुई से छेदी जाती है।	(५) साधु का जन्म गृहस्थी में होता है। वे उसकी ममता के त्याग का कष्ट तथा गुरु के यहाँ की शिक्षा एवं परीक्षा का कष्ट पाते हैं, भिक्षाटन में अपमान सहने पड़ते हैं। ज्ञान-विराग एवं भक्ति के साधनों का कष्ट और तीर्थाटन में शीत-उष्णादि कष्ट सहते हैं, पराये हित के लिये कष्ट सहते हैं और खलों के अपकार भी सहते हैं। दूसरों के दोष छुड़ाने में कहीं-कहीं अपमान भी सहने पड़ते हैं।

कपास

परछिद्र दुराव = ब्रह्म-रूप होकर दूसरे की (गुह्य-उपस्थ आदि) छिद्रात्मक इन्द्रियों के साथ शरीर को ढकती है।

साधु

(६) साधु दूसरों के अवगुणरूप छिद्रों को छिपाते हैं, यथा— गुन प्रगटहिं अवगुनन्हि दुरावा।" (कि० दो० ६); अर्थात् उपदेश से गुण प्रकट करते हैं और पहले के रहे हुए अवगुण छुड़ा देते हैं। वे अवगुण फिर देखने में न आवें, यही ढकना है। ढकना इस प्रकार नहीं कि दूसरों की दृष्टि में वे दोष न आवें और रहें। ऐसा करने से तो दोषों की प्रवृत्ति बढ़ेगी और छिपाने में दोषी लोगों से और पूजा मिलेगी। तब दुःख सहने की बात व्यर्थ हो जायगी, तथा—"पापान्निवारयति योजयते हिताय गुह्यं च गूहति गुणान् प्रकटीकरोति। ..." (भर्तृहरि-नीतिशतक ७३); अर्थात् पाप करने से रोककर उसे हित कार्य में लगाते हैं, उसकी गुप्त बात को छिपाते और गुणों को प्रकट करते हैं।

प्रश्न—उक्त रीति से सन्तों के चरित दूसरों के लिये होते हैं, तब उन सन्तों का उद्धार कैसे होता है?

उत्तर—साधुओं के साधन ऊपर कहे गये हैं, उनसे सम्पन्न होकर विश्वरूप श्रीरामजी की ही उपासना परोपकार के रूप में भी करते हैं, यथा—"सदा सर्वगत सर्वहित, जानि करेहु अति प्रेम।" (उ० दो० १६); तथा—"सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत॥" (कि० दो० ६); इसीसे वे परमात्मा को प्राप्त होते हैं, यथा—"ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।" (गीता १२।४)।

मुद-मंगलमय संत-समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू॥७॥

शब्दार्थ—मुद-मंगलमय = भीतर-बाहर सुखमय। संत = जो साधन कर रहे हैं वे साधु हैं और जिनका साधन पूर्ण हो गया है, वे पहुँचे हुए साधु सन्त हैं। जंगम = चलनेवाला।

अर्थ—सन्त-समाज भीतर-बाहर आनन्दमय है जो जगत् में चलता-फिरता तीर्थराज (प्रयागराज) है।

विशेष—सन्त-समाज में भक्ति-सम्बन्धी परमानन्द और ज्ञानात्मक ब्रह्मानन्द-रूप में 'मुद' तथा भगवान के सम्बन्ध के उत्सवादि में बाह्यसुख रूप में 'मंगल' रहता है। 'जंगम' शब्द द्वारा स्थावर प्रयाग से इसमें विशेषता दिखाई है कि प्रयाग एक स्थल पर ही है, वहाँ जाकर ही उससे लाभ होता है, पर सन्त विचरनेवाले होते हैं, सर्वत्र जा-जाकर कल्याण करते हैं।

शंका—यदि सन्तसमाज स्वयं तीर्थराज है तो वे सामान्य तीर्थों में क्यों जाते हैं?

समाधान—सन्त स्वयं तीर्थों को इष्ट भगवान् के विविध रूपों एवं गुणों के स्मारक जानकर सर्वत्र स्वामी को ही देखते हैं, इससे वे उपासना दृष्टि से विचरते हैं। पर इनके द्वारा उन-प्रेरक श्रीरामजी तीर्थों को ही पवित्र करते हैं, यथा—"सुर तीरथ तासु मनावत आवन, पावन होत हैं ता तनु छूँ। .....सतिभाय सदा छल छाँड़ि सबै तुलसी जो रहै रघुवीर को ह्वै॥" (क० उ० ३४); तथा—"भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो। तीर्थीं कुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥" (भाग० १।१३।१०); अर्थात् युधिष्ठिरजी ने विदुरजी से कहा है, प्रभो! आप सदृश भगवद्भक्त स्वयं तीर्थ रूप होते हैं, आप लोग अपने हृदय में स्थित भगवान् के द्वारा तीर्थों को भी महातीर्थ सम्पन्न करते हुए विचरण किया करते हैं, तथा—"प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः॥" (भाग० १।१९।८); अर्थात् प्रायः तीर्थयात्रा के व्याज से सन्त जन स्वयं उन तीर्थों को ही पवित्र करते हैं।

सम्बन्ध—यहाँ से सन्त-समाज और प्रयाग का सांग रूपक कहते हैं—

राम-भगति जहँ सुरसरि-धारा। सरसइ ब्रह्म-बिचार प्रचारा ॥८॥
बिधि-निषेधमय कलिमलहरनी। करम-कथा रबि-नंदिनि बरनी ॥९॥
हरिहर-कथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी ॥१०॥
बट बिस्वास अचल निज धर्मा। तीरथराज समाज सुकर्मा ॥११॥

शब्दार्थ—ब्रह्म-बिचार-प्रचार=ब्रह्मज्ञान कथन करना। बिधि=ग्राह्य कर्म। निषेध=त्याज्य कर्म। हरिहर-कथा=भगवत्-भगवत कथा। हरि=भगवान्। हर=शिवजी। वे भगवत हैं, यथा—"वैष्णवानां यथा शम्भुः" (भा० १२।१३।१६)। निजधर्म=शास्त्र दृष्टि से गुरुद्वारा उपदेश किया हुआ अपना धर्म। समाज=समुदाय, परिकर।

अर्थ—जहाँ (सन्त-समाज में) श्रीरामजी की भक्ति श्रीगंगाजी की धारा और ब्रह्म-विचार का विस्तार सरस्वतीजी हैं ॥८॥ विधि-निषेधात्मक कर्मों की कथा, जो कलि के पापों को हरनेवाली है, यमुनाजी हैं ॥९॥ भगवत् और भागवत-कथा त्रिवेणी रूप से शोभित है, (वह) सुनने से समस्त आनन्द-मंगल को देनेवाली है ॥१०॥ अपने धर्म में अटल विश्वास वट-वृक्ष (अक्षयवट) है और शुभ कर्मों के समूह ही तीर्थराज के परिकर हैं ॥११॥

विशेष—(१) प्रयाग में श्रीगंगाजी श्रेष्ठ हैं और सन्तसमाज में श्रीराम-भक्ति श्रेष्ठ है, यथा—"बिनु श्रम नदी महिमा अधिकाई ॥" (अ० दो० ८६); तथा—"राम भगति महिमा अतिभारी ॥" (उ० दो० ११३); इसलिये प्रथम इन्हींका कथन हुआ। दोनों की समता—(क) दोनों सर्वतीर्थमयी हैं, यथा—'सर्वतीर्थमयी गङ्गा' (महा० भीष्म० ४३।२); तथा—"ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन।.....तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल....." (उ० दो० ४८)। (ख) दोनों की उत्पत्ति हरिचरणों से है। भक्ति भी गंगा की तरह चरणों के ध्यान से उपजती है। (ग) दोनों छोटे-बड़े को पावन कर अपने समान बनाती हैं, यथा—"कर्मनास जल सुरसरि परई। तेहि को कहहु सीस नहिं धरई ॥" (अ० दो० १९३); 'पाई न गति केहि पतितपावन राम भजि.....' (उ० दो० १३०); "निज संगी निज सम करत.....मलयाचल हैं संत जन....." (वैराग्य सं० १८); तथा—"यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्वि-नामशेषजन्मोपचितं मलं धियः। सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ॥" (भाग० ४।२१।३१); अर्थात् जिनके चरणकमलों की सेवा के लिये निरन्तर बढ़नेवाली अभिलाषा उन्हीं के चरणनख से निकली हुई श्रीगङ्गाजी के समान, संसार ताप से सन्तप्त जीवों के समस्त जन्मों के एकत्र मनोमल को तत्काल नष्ट कर देती है। (घ) दोनों का शिवजी के यहाँ आदर है, यथा—'देखावगा मस्तके' (अ० म०); 'संकर हृदय भगति भूतल...' (गी० उ० १५)।

(२) यमुना और कर्मकथा की समता—(क) यमुनाजी की सूर्य से उत्पत्ति है और कर्म का सूर्योदय से (सन्ध्यादि रूप में) प्रारम्भ। (ख) यमुना श्याम वर्ण हैं और कर्म कुछ अहंकार के सम्पर्क से श्यामल। (ग) 'जमुना कलिमलहरनि सुहाई।' (लं० दो० ११६); 'कलिमलहरनी कर्मकथा' (उपर्युक्त)।

(३) सरस्वती और ब्रह्मविचार की समता—(क) सरस्वती ब्रह्मा की पुत्री हैं और ब्रह्मविद्या भी ब्रह्माजी ने प्रथम अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा ऋषि से कही है, यथा—'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥" (मुण्डको० १।१।१); अर्थात् उन ब्रह्माजी ने सर्वविद्याओं की आधारभूता ब्रह्मविद्या अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को कही। (ख) सरस्वती गंगा-यमुना के मध्य में गुप्त रहती है और ब्रह्म-विचार भी कर्म एवं भक्ति में गुप्त रीति से रहता है। सरस्वती का रंग लाल है, यथा—"स्याम बरन पद पीठ, अरुन तल, लसति बिसद नखश्रेनी। जनु रबिसुता सारदा सुरसरि मिलि चलीं ललित त्रिबेनी ॥" (गी० उ० १५)।

(४) त्रिवेणी और हरिहर-कथा की समता—त्रिवेणी में तीनों नदियों की धाराएँ मिली हुई हैं, वैसे कथा में कर्म-ज्ञान-भक्ति तीनों साथ ही होते हैं, यथा—"कहहिं परस्पर हरिगुन गाहा ॥ ब्रह्मनिरूपन धरमबिधि, बरनहिं तत्त्वबिभाग । कहहिं भगति भगवंत के, संजुत ज्ञान-बिराग ॥" (दो० ४४) ।

(५) अक्षयवट और अपने धर्म में अटल विश्वास—(क) वट का प्रलय में भी नाश नहीं होता, वैसे सन्त का विश्वास आमरण बना रहता है—"कोटि बिघ्न ते संत कर, मन जिमि नीति न त्याग ॥" (लं० दो० ३३); तथा—"स्वधर्मनिरतो विष्णुमाराधयति नान्यथा ॥१८॥"·····वर्णाश्रमेषु ये धर्माश्शास्त्रोक्ता नृपसत्तम । तेषु तिष्ठन्नरो विष्णुमाराधयति नान्यथा ॥१९॥" (वि० पु० ३।८); अर्थात् स्वधर्म-निरत ही भगवान् की आराधना कर सकता है और नहीं । (ख) दोनों शिव-रूप हैं—"प्राकृतहु बट बृच्छ बसत पुरारि हैं ।" (क० उ० १३८); तथा—श्रद्धाविश्वासरूपिणौ' (मं० २) । (ग) प्रलय में अक्षयवट पर भगवान् रहते हैं, यथा—"सिय सनेह बट बाढ़त जोहा । तापर राम प्रेम सिसु सोहा ॥" (अ० दो० २८५) ; वैसे ही विश्वास में भगवान् रहते हैं । "बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम ॥" (उ० दो० ९०) कहा है ।

(६) तीर्थ-राज—"त्रिवेणीं माधवं सोमं भरद्वाजं च वासुकिम । वन्देऽक्षयवटं शेषं प्रयागं तीर्थ-नायकम ॥" कहा है, वैसे सन्तों में पाप-नाशक सुकर्म-समूह के आचरण होते हैं ।

(७) 'राम-भगति····· जहँ' का भाव यह कि उत्तमा भक्ति यहीं (सन्तसमाज में) है । 'धारा' उत्तमा भक्ति भी तीन धारा के समान कहाती है । 'ब्रह्म-विचार'—सन्त-समाज में ही गुप्त रूप से सरस्वती की तरह रहता है, क्योंकि और लोग उसके अनधिकारी होते हैं । कर्म भी अधिकारी से साध्य है । भक्ति का अधिकारी सब जगत् है । गंगाजी में मिला होने से आगे श्रीसरस्वती का जल भी सबको सुलभ हो जाता है, वैसे ही भक्ति के सहारे ब्रह्मविद्या भी सबको सुलभ हो जाती है, यथा—"जुग बिच भगति देवधुनि-धारा । सोहति सहित सुबिरति बिचारा ॥" (दो० ३९) ।

(८) हरिहर-कथा को त्रिवेणी कहा, क्योंकि कथा भी धारा-प्रवाह के तुल्य कही जाती है या हरिहर-कथा में उपर्युक्त तीनों धाराएँ शोभित होती हैं, क्योंकि इसमें उसी कथा का विस्तार है ।

(९) पहले 'कर्म-कथा' को यमुना कहा है, उसका तात्पर्य कर्मशास्त्र से है, जिसमें उसके विधि-निषेध कहे गये हैं और 'समाज सुकर्मी' का सुकर्म-समूह के आचरण से तात्पर्य है । अतः, पुनरुक्ति नहीं है ।

सम्बन्ध—आगे सन्त-समाज में प्रयाग से अधिकता दिखाते हैं—

सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा । सेवत सादर समन कलेसा ॥१२॥
अकथ अलौकिक तीरथराऊ । देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ ॥१३॥

शब्दार्थ—अलौकिक = लोक से परे । कलेस = क्लेश, दुःख । दुःख योग-सूत्र में ५ प्रकार के माने गये हैं—'[1]अविद्या[2]स्मितारा[3]गद्वेष[4]भिनिवेशाः ।' (अस्मिता = अहं भाव, अहंकार । अभिनिवेश = मृत्यु का भय ।)

अर्थ—सन्त-समाज रूप प्रयाग सभी को, सब दिन और सभी देशों में सुलभ है, आदर-पूर्वक सेवन करने से यह क्लेशों का नाश करनेवाला है ॥१२॥ यह तीर्थ-राज बड़ा ही अलौकिक है और (इसकी महिमा) अकथनीय है । इसका प्रभाव (ऐसा) प्रसिद्ध है कि यह तत्काल फल देता है ॥१३॥

विशेष—(१) उपमेय में उपमान से अधिक अभेदरूपक—(एवं व्यतिरेक) अलंकार द्वारा विशेषता दिखाते हैं—

प्रयाग	सन्त-समाज
स्थावर—एक ही जगह है । धनी और नीरोग को ही प्राप्त होता है, सबको नहीं ।	(१) जंगम है, क्योंकि सन्त सर्वत्र विचरण करते हैं । 'सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा ।'—ऊँच-नीच, धनी-निर्धन—आदि सबको सुलभ है ।

प्रयाग	सन्त-समाज
इसका विशेष माहात्म्य माघ महीने एवं मकर के सूर्य-सम्बन्ध में है।	(२) इसका माहात्म्य सब दिन एकरस रहता है, सत्संग सब देशों में प्राप्त होता है, यथा—"भरत-दरस देखत खुलेउ, मगलोगन्ह कर भाग। जनु सिंहलबासिन्ह भयो, बिधि-बस सुलभ प्रयाग॥" (अ० दो० २२३)।
इसकी महिमा कथ्य है, यथा—'बंदी बेद-पुरानगन, कहहिं बिमल गुनग्राम।' (अ० दो० १०५)।	(३) इसका माहात्म्य अकथ्य है, यथा—"बिधि-हरिहर कविकोबिदबानी। कहत साधु-महिमा सकुचानी॥" (दो० २)।
यह लौकिक है=इसके अंग देख पड़ते हैं।	(४) इनके निष्ठा-विश्वास-भाव आदि अचिन्त्य हैं।
पंचप्रयाग तीर्थ हृषीकेश में दूसरा भी है, जो इससे अधिक भी कहाता है।	(५) इसके तुल्य और तीर्थ देवता आदि लोक में नहीं हैं, क्योंकि इसके सेवन से सन्त-स्वभाव तुरत प्राप्त होता है।
इससे चारो फल प्राप्त होते हैं, यथा-'चारि पदारथ भरा भँडारू।' (अ० दो० १०४); पर मोक्ष मरने पर ही मिलना है। अतः, प्रभाव प्रकट नहीं है।	(६) इससे चारो फल इसी शरीर में शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं। सत्संग से मुमुक्षु जीवन्मुक्त हो जाता है। इसे इसी शरीर में मोक्ष-सुख प्राप्त होता है। अतः, प्रभाव प्रकट है।

'सेवत सादर···'—श्रद्धापूर्वक तीर्थ सेवन करना उसका सादर सेवन है, यथा—"सोइ सादर सर मज्जन करई। महाघोर त्रयताप न जरई॥" "सादर मज्जन पान किये ते। मिटहिं पाप परिताप हिये ते॥" (दो० ३८, ४२); श्रद्धा मं० श्लोक २ में देखिये।

(२) 'जंगम', 'सबहिं', 'सब दिन', 'सब देसा', 'अकथ', 'अलौकिक' और 'सद्य' शब्द सन्त-समाज की विशेषता के सूचक हैं।

दोहा—सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारि फल अछत तनु, साधु-समाज प्रयाग॥२॥

अर्थ—जो लोग एवं भक्त-जन साधु-समाज रूपी प्रयाग (की महिमा) को प्रसन्न-मन से सुनकर समझते हैं और अनुराग के साथ (उसमें) स्नान करते हैं, वे इसी शरीर में रहते हुए चारो फल पा जाते हैं।

विशेष—(१) सन्तों में सप्रेम सत्संग ही स्नान है, यथा—"कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥" (दो० ४०); यहाँ सुनना किनारे पहुँचना, समझना धारा में प्रवेश करना और अनुराग होना गोते लगाना है।

(२) 'सुनि' से श्रवण, 'समुझहिं' से मनन, 'मुदितमन' से निदिध्यासन (पुनःपुनः स्मरण) कहा गया है। फिर समझते हुए अति अनुराग-युक्त होना जीवन्मुक्तावस्था है। ऊपर 'हरिहर कथा' को साधु-समाज प्रयाग में त्रिवेणी कहा गया था। उसीका श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन जानना चाहिये। उसका ऐसा ही प्रभाव है, यथा—"प्रभु गुन सुनि तनु हरषिहै, नीर नयनन्हि ढरिहै। तुलसिदास भयो राम को विस्वास प्रेम लखि···" (वि० २६८)।

(३) उपमान-रूप प्रयाग के माहात्म्य को सुन तथा समझकर प्रसन्न मन से अनुराग-पूर्वक स्नान रे तो चारों फल मिलते हैं, पर उनमें मोक्ष तो मरने ही पर मिलता है। 'अछत'=रहते हुए, यथा— तुम्हहि अछत को बरनइ पारा ॥" (दो० २७३)।

सम्बन्ध—'अछत तनु' में भी कितने काल में प्राप्त होगा, अब यही कहते हैं—

मज्जन-फल पेखिय ततकाला। काक होहिं पिक बकउ मराला ॥१॥
सुनि आचरज करइ जनि कोई। सतसंगति महिमा नहिं गोई ॥२॥
बालमीकि नारद घटजोनी। निज निज मुखनि कही निज होनी ॥३॥

शब्दार्थ—पेखिय (प्रेक्षण) = देखा जाता है। बकउ = बगला भी। घटजोनी (घटयोनि) = अगस्त्यजी। नी = क्या-से-क्या हो गये, वृत्तान्त।

अर्थ—सन्त-समाज रूपी प्रयाग में स्नान करने का फल तत्काल ही देखा जाता है कि कौए कोयल ौर बगले भी हंस हो जाते हैं ॥१॥ यह सुनकर कोई व्यक्ति आश्चर्य न करे, क्योंकि सत्संगति की हिमा छिपी हुई नहीं है ॥२॥ वाल्मीकिजी, नारदजी और अगस्त्यजी ने अपना-अपना वृत्तान्त अपने-पने मुख से कहा है ॥३॥

विशेष—(१) 'ततकाला' शब्द देहलीदीपक है, जो 'मज्जन-फल' के साथ है और 'काक-पिक' ादि के साथ भी। काक और बक नीच पक्षी हैं और कोयल तथा हंस उत्तम। यथा—'जहँ तहँ काक तूक बक, मानस सकृत मराल।" (अ० दो० २८१); भीतर-बाहर की शुद्धि दिखाने के लिये दो दृष्टान्त ये गये हैं।

'काक होहिं पिक'—काक कटुभाषी और (निम्ब आदि) तिक्त फल खानेवाला होता है। कोयल मधुर ाषी और सरस (आम्रादि) फल खानेवाली होती है, बाहरी रूप दोनों का मिलता हुआ होता है। कटुवादी ौर विषयी ["विषय सिंव कटु लगत न ताही।" (वि० १२१)] लोग कौए के समान हैं। वे सत्संग में ाने से मधुर-भाषी और श्रीराम-नाम का कीर्त्तन करनेवाले हो जाते हैं, यथा—"आखर मधुर मनोहर ाक।" (दो० १९); और भगवत्प्रसाद सात्त्विक भोजन करने लगते हैं। यह उनकी बाह्य शुद्धि हुई। यथा—कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम्। आरुह्य कविता-शाखां वन्दे वाल्मीकि-कोकिलम् ॥" यह प्रसिद्ध है।

'बकउ मराला'—बक के समान जो दुष्ट, दम्भी और कपटी होते हैं, वे सत्संग से विवेकी और सुहृद् ा जाते हैं। यथा—"संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि-बिकार ॥" (दो० ६); यह भीतरी शुद्धि ई अर्थात् सत्संग से प्रथम बाह्य आचरण सुधरता है, तब भीतरी शुद्धि होती है, यह क्रम का भाव हुआ।

(२) ऊपर चारों फलों की प्राप्ति इसी शरीर से बतलाई थी। अब यह दिखाते हैं कि उनमें अनेक ण भी आ जाते हैं और रूप वही बना रहता है। बगले और हंस में, बाहरी आकृति में, कौए और कोयल ा-सा सादृश्य नहीं होता, चरणों तथा चोंचों के रंग और चाल में भेद होता है, पर उनके अन्तरंग से ही पमा का प्रयोजन है।

काक-बक का स्वभाव बदल जाना कहा गया, यह आश्चर्य है, यथा—"एष मे सहजो पः स्वभावोदुरतिक्रमः।" (वाल्मी० ६।३६।११); तथा—"सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।" गीता ३।३३)। अतः, सन्देह-निवारण के लिये कहते हैं—

(३) 'सुनि आचरज ...' महिमा बढ़ाकर कही गई जान पड़ती है। अतः, प्रसिद्ध प्रमाण की ावश्यकता हुई। इसीसे कहा कि सत्संगति की महिमा छिपी नहीं है। यदि कहो कि काक से पिक आदि ौन-कौन, कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे हुए? तो इसको सत्य सिद्ध करने के लिये प्रसिद्ध महात्माओं की स्वयं ही हुई घटनाएँ—आत्मकथाएँ—कहते हैं। 'निज-निज ...'—दूसरा कोई कहता तो संशय भी होता, इन ात्माओं ने तो आत्मकथा (स्वयं कही हैं।

(४) 'वालमीकि·····' इन तीनों महात्माओं की उक्तियों को संसार प्रमाण-रूप में मानता है। वाल्मीकिजी के आश्रम पर जब श्रीरामजी गये थे, तब उन्होंने अपनी कथा कही थी। सत्संग के अवसर पर श्रीनारदजी ने व्यासजी से और अपने आश्रम में अगस्त्यजी ने शिवजी से अपना वृत्तान्त कहा था। यथा—"एक बार त्रेता जुग माहीं। संभु गये कुंभज रिषि पाहीं॥" (दो० ४७)।

श्रीवाल्मीकिजी की कथा

महर्षि वाल्मीकिजी त्रेतायुग में श्रीरामजी के अवतार-समय में थे। वनवास में एक समय जब श्रीरामजी इनके आश्रम पर पधारे थे—इन्होंने स्वयं अपनी कथा उनसे इस प्रकार कही है—"हे श्रीरामजी! आपके नाम की महिमा कैसे कही जा सकती है जिसके प्रभाव से मैं ब्रह्मर्षि पद को प्राप्त हुआ। मैं पहले किरातों में पाला गया। जन्ममात्र से तो मैं ब्राह्मण था, पर मेरा आचार शूद्रों का था। शूद्रा स्त्री से मेरे बहुत पुत्र हुए, मैं चोरों के संग से चोर हो गया। मैं धनुर्बाण लिये हुए काल के समान जीवों का घात करता था। एक समय वन में मुझसे सप्तर्षि लोगों से भेंट हुई। वे बड़े तेजस्वी थे। उनका सब कुछ हरण करने के लिये मैंने उनपर धावा किया। उन्होंने कहा, द्विजाधम! तू क्यों आ रहा है? मैंने कहा, मेरे पुत्र आदि बहुत हैं और वे भूखे हैं। मैं उनकी रक्षा के लिये वन में विचरता हूँ। उन्होंने कहा कि तू अपने कुटुम्बियों से जाकर पूछ कि जो मैं नित्य पाप करके धन लाता हूँ, इस पाप में भी वे भागी होंगे कि नहीं जबतक तू आवेगा, हमलोग निश्चय यहाँ रहेंगे। मैंने घर जाकर पुत्रों और स्त्री आदि से वैसा ही पूछा। उन्होंने कहा कि पाप आपके ही हैं, हमलोग तो केवल फल (चोरी के धन आदि) के ही भागी हैं। यह सुनकर मुझे वैराग्य हुआ। मैं फिर वहाँ आया, जहाँ वे मुनि थे। करुणापूर्ण उन मुनियों के दर्शनों से मेरा हृदय शुद्ध हो गया।

मैंने धनुर्बाण त्याग कर उनको दण्डवत-प्रणाम किया और प्रार्थना की कि मुझे नरक-सागर से बचाइये। उन्होंने कहा, उठ, उठ, तुझे सन्त-समागम सफल हुआ। हम तुझे उपदेश देंगे, जिससे तू मोक्ष पावेगा। उन्होंने विचारा कि यह द्विजाधम यद्यपि उपेक्ष्य है, तथापि शरण में आया है। अतः, रक्ष्य है। उन्होंने मुझे—आपका नाम उलट कर 'मरा' इस नाम के जप करने का उपदेश दिया (क्योंकि जीवों को मारकर मरा, मरा, कह कर नित्य दौड़ने का मेरा अभ्यास था) और कहा कि हम जबतक लौटकर न आवें, तू तबतक इसी तरह जप किया कर। वे चले गये और मैं उनकी आज्ञा के अनुसार एकाग्र मन कर उसी नाम का जप करने लगा। मुझे अपनी बाह्य दशा भूल गई। बहुत काल में मेरे ऊपर वल्मीक (बाँबी) हो गया।

हजार युग बीतने पर वे सप्तर्षि फिर आये और मुझसे बोले, निकल, मैं तुरत वल्मीक से निकल आया, जैसे कुहरे से सूर्य, उन्होंने कहा कि तेरा दूसरा जन्म वल्मीक से हुआ है। अतः, तू वाल्मीकि नाम का मुनीश्वर है। हे श्रीरामजी! मैं श्रीरामनाम के प्रभाव से ऐसा हुआ कि मुझे श्रीसीता-लक्ष्मणजी के साथ आपके साक्षात् दर्शन हुए।"—यह कथा अध्यात्म रा० अयो० अ० ६ के अनुसार है। स्कन्द पु० आवन्त्य खण्ड, अ० मा० में भी उक्त कथा के अनुसार ही वाल्मीकिजी की कथा है।

श्री नारदजी की कथा

श्रीनारदजी ने श्रीव्यासजी से सत्संग-प्रभाव की अपनी (होनी) कथा इस प्रकार कही है। "मुने, पिछले कल्प में अपने पूर्व जीवन में मैं वेदवादी ब्राह्मणों की एक दासी का पुत्र था। वर्षाऋतु में कुछ योगी लोग चातुर्मास्य कर रहे थे। बचपन से मैं उनकी सेवा में नियुक्त था। मैं शान्तिपूर्वक आज्ञानुसार उनकी सेवा करता था। मैं बोलता कम था, मेरा शील स्वभाव देखकर समदर्शी मुनियों ने मुझ सेवक पर अत्यन्त अनुग्रह किया। उनकी अनुमति से बरतनों में लगा हुआ उच्छिष्ट मैं एक बार खा

लिया करता था। इससे मेरे सारे पाप धुल गये। मेरा हृदय शुद्ध होने लगा। उनके भजन-पूजन में मेरी अभिरुचि होने लगी। उन महात्माओं से मैं नित्य श्रीकृष्ण की मनोहर कथाएँ सुना करता था। कथा में मेरी अभिरुचि हुई और बुद्धि निश्चल हो गई। मुझे सदसद्विवेक हो गया।

इस प्रकार वर्षा और शरद्—इन दो ऋतुओं में तीनो समयों में उन महात्माओं से हरि यश संकीर्त्तन प्रेमपूर्वक सुनने से रजोगुण और तमोगुण-निवारिणी हरि-भक्ति का मेरे हृदय में प्रादुर्भाव हुआ। मुझ अनुरागी पर उन महात्माओं ने जाते समय कृपा की। गुह्यतम ज्ञान का मुझे उपदेश दिया। जिसका उपदेश स्वयं श्रीकृष्ण ने श्री मुख से किया है। उससे मैंने श्रीकृष्ण की माया का प्रभाव जाना, जिससे परम पद की प्राप्ति होती है।

वे महात्मा चले गये। मैं अपनी माँ का एक ही पुत्र था। एक तो वह स्त्री जाति, दूसरे मूढ़ थी और फिर दासी थी। मुझे भी दूसरा सहारा नहीं था इससे उसके स्नेहपाश में बँधा था। मेरी अवस्था पाँच वर्ष की थी। एक समय रात में मेरी माँ गौ दुहने के लिये निकली। साँप के काट लेने से उसकी मृत्यु हो गई। इसमें मैंने भगवान् का अनुग्रह ही समझा। तत्पश्चात् मैं उत्तर दिशा की ओर चल पड़ा।

घोर वन में जाते हुए जब शिथिल हो गया और भूख-प्यास से दुःखी हुआ, तब एक नदी के कुण्ड में स्नान, जलपान और आचमन किया, इससे श्रम दूर हो गया। वहीं पर एक पीपल के नीचे आसन लगाकर बैठ गया। उन महात्माओं की बतलाई हुई रीति से ध्यान करने लगा। भगवान् की प्राप्ति की उत्कट लालसा से मेरे आँसू भर आये और हृदय में भगवान् प्रकट हो गये। मेरा रोम-रोम पुलकित हो गया। हृदय शान्त एवं शीतल हो गया। मुझे कुछ भान न रह गया। भगवान् के उस लुभावने रूप पर विकल हो मैं उठ कर खड़ा हो गया, किन्तु फिर नहीं देख सका।

भगवान् ने अन्तरिक्ष वाणी से मुझे समझाया कि तुझे लालसा जाग्रत् करने के लिये एक बार मैंने दर्शन दे दिये, क्योंकि साधु-सेवा से तू अधिकारी हो गया था। अब तुम यह प्राकृत शरीर छोड़कर मेरा पार्षद होगे। मुझे प्राप्त करने का यह मनोरथ नहीं टूटेगा। मेरी स्मृति रहा करेगी। समय आने पर शरीर त्यागकर मैं भगवान का पार्षद हुआ "—यह कथा भाग० १।५-६ के अनुसार सूक्ष्म में लिखी गई है।

श्रीअगस्त्यजी की कथा

"श्रीअगस्त्यजी मित्रावरुण के पुत्र थे। ऋग्वेद (७।३३।१३) में लिखा है कि मित्रावरुण ने उर्वशी को देख और काम-पीड़ित हो वीर्यपात किया, जिससे अगस्त्य उत्पन्न हुए। सायणाचार्य ने अपने भाष्य में लिखा है कि इनकी उत्पत्ति एक घड़े से हुई, इसीसे इन्हें मैत्रावरुणि, और्वशेय एवं कुम्भज कहते हैं। इन्होंने विन्ध्य पर्वत को लिटा दिया इससे अगस्त्य नाम पड़ा। समुद्र पी गये इससे समुद्रचुलुक भी इनका नाम हुआ।" (हिन्दी शब्द सागर)।

वाल्मीकीय रामायण में भी इनकी कथा है। श्रीरामजी का आप से समागम हुआ है। दण्डकारण्य में इनका आश्रम था। सनकादि और शिवजी भी इनके यहाँ सत्संग के लिये जाया करते थे। सम्भवतः इन्हीं में किसीसे अपनी कथा इन्होंने कही है—

वाल्मी० उ० एवं विष्णुपुराण ४।५ में कथा है कि राजा निमि ने वसिष्ठजी से सहस्रवर्ष का यज्ञ कराने को कहा। वसिष्ठ जी ने कहा कि मैंने इन्द्र को ५०० वर्ष का यज्ञ कराने का वचन दिया है, वह पूर्णकर आपका यज्ञ भी कराऊँगा। निमि चुप रह गये। वसिष्ठजी ने उनकी स्वीकृति मानली। वहाँ से यज्ञ पूर्ण कर लौटे कि 'मुझे वह यज्ञ कराना है'। यहाँ निमि को गौतम मुनि के आचार्यत्व में यज्ञ करते जानकर, सोते हुए राजा निमि को वसिष्ठ जी ने शाप दिया कि 'इसने मेरा अपमान कर यज्ञकर्म का भार गौतम को दिया है, इससे यह देह-हीन हो जायगा।' सोकर उठने पर निमि ने सुना, तब उन्होंने भी

गुरु वसिष्ठजी को शाप दिया कि 'मुझसे विना कुछ पूछे शाप दिया है, इससे इनका भी यह देह न रहेगा।' दोनों के शाप सत्य हुए। प्रथम श्रीवसिष्ठजी की आत्मा ने लिंग देह से ब्रह्माजी से देह माँगी कि मैं पुत्र आपका ही कहाऊँ और मुझे देह प्राप्त हो। इसपर ये उसी घड़े में (जिसमें अगस्त्यजी की गर्भस्थिति थी) प्रवेश कर कुछ काल रह उसीसे प्रकट हुए (वहीं कुछ काल श्रीवसिष्ठजी के सत्संग-प्रभाव से अगस्त्यजी इतने बड़े प्रभावशाली ऋषि हुए)। उधर निमि की आत्मा ने प्राणिमात्र की पलकों पर निवास प्राप्त किया, तब से लोगों के निमेषों का खुलना-मूँदना होने लगा। अगस्त्य जी के आश्चर्य कर्म की कथाएँ आगे (दो० २५८।७ एवं अ० दो० १३७।८ में) देखिये।

अलंकार—'प्रथम उल्लास' क्योंकि यहाँ सत्संग के गुण से काक से कोयल होने की बात है। लक्षण—"औगहि के गुण दोष ते औगहि को गुण दोष। होत तहाँ उल्लास कहि, वर्णत मति के कोष॥ (काव्य प्रभाकर)।

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥४॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥५॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ॥६॥

शब्दार्थ—जड़=श्वास रहित, ज्ञानशून्य (स्थावर)। चेतन=श्वास-सहित, ज्ञानयुक्त (जंगम)। जहान=संसार। गति=शुभ गति, मोक्ष। भूति=वैभव, वृद्धि।

अर्थ—जल, स्थल और आकाश में विचरनेवाले अनेकों जीव, जड़ या चेतन जो जगत् में हैं॥४॥ (उनमें) जब कभी और जिस यत्न से, जहाँ भी जिसने बुद्धि, कीर्त्ति, सद्गति, वैभव एवं भलापन पाये, ये सब सत्संग के ही प्रभाव से जानना चाहिये। लोक में भी तथा वेदों में (इनके मिलने का) दूसरा उपाय नहीं है।

विशेष—(१) सृष्टि में प्रथम जल, तब स्थल और फिर नभचरों की प्रवृत्ति हुई तथा प्रथम जड़ पदार्थ हुआ, तब चेतन हुए, उसी क्रम से ये कहे भी गये हैं। ये जड़-चेतन विशेषण तीनों प्रकार के जीवों के साथ हैं। संसार के सभी जीव सत्संग से ही बढ़ते हैं।

(२) 'जलचर'—जड़ मैनाक पर्वत था, पवन और समुद्र के संग से सुमति उपजी, तब उससे श्रीरामजी के दूत को विश्राम मिला। चेतन—मकरी थी। श्रीहनुमानजी के संग (स्पर्श) से सुमति उपजी और उसने कालनेमि का छल बतलाया।

'थलचर'—जड़ वनों के वृक्षादि थे, जिन्होंने श्रीरामजी और उनके भक्तों के संग से परोपकार कर कीर्त्ति कमाई। यथा—"सब तरु फरे राम हित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी॥" (लं० दो० ४)। चेतन शबरीजी, सुग्रीवादि वानरों, जाम्बवान् आदि भालुओं, कोल-भील आदि जंगली मनुष्यों की सुमति एवं कीर्त्ति प्रसिद्ध है, यथा—"करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥" (अ०दो०१३७)।

'नभचर'—जड़ मेघों को श्रीभरतजी के संग (दर्शनों) से सुमति मिली। उन्होंने उनकी सेवा कर कीर्त्ति और गति पाई, यथा—"किये जाहिं छाया जलद, सुखद बहइ बर बात। तस मग भयेउ न राम कहँ, जस भा भरतहिं जात।" (अ० दो० २१६)। चेतन सम्पाति को चन्द्रमा मुनि के संग से सुमति हुई, यथा—"तिन्हहि देखाय दिहेसु तैं सीता।...राम हृदय धरि करहु उपाई॥" (कि० दो० २७-२८), इत्यादि। सीताजी को दिखाने का और वानरों से भलाई का श्रेय मिला। बदले में दिव्य पंख, लोचन एवं गति को पाया।

उपर्युक्त सब जीवों ने मति-कीर्त्ति आदि प्राप्त कीं, सत्संग से प्रधानतया विवेक की प्राप्ति कही जाती है, यथा—'बिनु सतसंग बिबेक न होई।' अतः, 'मति' को प्रथम कहा।

(३) इस प्रसंग का अर्थ यथासंख्यालंकार से यों भी होता है। 'जलचर, थलचर, नभचर, जड़ और चेतन' ये पाँच प्रकार के जीव तथा 'मति, कीरति, गति, भूति और भलाई' पाँच ही प्रकार की प्राप्ति कही गई है। अतः, क्रमशः लगाना चाहिये—जैसे, जलचर मकरी को सुमति मिली। थलचर (स्थलचर) गजेन्द्र को (पूर्व के राजा इन्द्रद्युम्न के शरीर में) अगस्त्य का संग हुआ, उससे गजेन्द्र का शरीर पाकर विशाल कीर्ति मिली। गजेन्द्र-मोक्ष प्रसिद्ध है। नभचर जटायु को उस समय श्रीदशरथ महाराज का संग हुआ था, जब शनैश्चर-पराजय में उन्होंने राजा की सहायता की थी (पद्मपुराण में कथा है)। इससे सुमति पाकर श्रीसीताजी के लिये प्राण दिये और उत्तम गति पाई। जड़ अहल्या गौतम के संग (शाप) से श्रीरामजी का चरण-रज चाहती थी, जिसे पाकर पति को भूति को प्राप्त हुई। चेतन श्रीसुग्रीव-विभीषण आदि ने श्रीहनुमानजी के संग से भलाई का श्रेय प्राप्त किया।

(४) सन्तों के संग से मति आदि पाँच फलों की प्राप्ति हुई और इनके विरुद्ध कामी के संग (विषय) से इन्हीं पाँचों का नाश भी कहा है, क्योंकि—"संत संग अपबर्ग कर, कामी भव कर पंथ।" (उ० दो० ३३); यह नियम है, यथा—"जो आपन चाहइ कल्याना। सुजस सुमति सुभगति सुख नाना॥ सो परनारि लिलार गोसाईं। तजइ चौथि के चंद कि नाईं॥" (सुं० दो० ३७); इसमें—'जो चाहइ' से उपर्युक्त जलचरादि सब जीव आ गये, और उपर्युक्त मति, कीरति, गति, भूति, भलाई—ये पाँचो यह के सुमति, सुयश, शुभगति, सुख, कल्याण में क्रमशः अभेद हैं। अतः, ये पाँचो सुसंग से प्राप्त और कुसंगों से नष्ट होते हैं।

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम-कृपा बिनु सुलभ न सोई॥७॥
सतसंगति मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥८॥

अर्थ—सत्संग के बिना विवेक नहीं होता और वह (सत्संग) श्रीरामजी की कृपा के बिना सुलभ नहीं है॥७॥ सत्संगति मानसिक आनन्द और मंगल की जड़ है, सब साधन फल हैं, वही (सत्संगति) सिद्धि (रूप) फल है।

विशेष—(१) इन दोनों अर्द्धालियों में सत्संग के दो साधन और दो फल कहे गये हैं। सत्संग का एक फल विवेक और दूसरा 'मुद-मंगल' हुआ। इसी तरह एक साधन तो श्रीरामकृपा है और अन्य फूल रूप में कथित सब साधन हैं, क्योंकि फल में ही सिद्धि-(परिपक्व अवस्था)-रूप फल कहा है। अतः, एक प्रकार का सत्संग कृपासाध्य और दूसरे प्रकार का साधनसाध्य है। कृपासाध्य का सदसद्विवेक फल है और साधनसाध्य का मुदमंगल फल कहा है।

कृपासाध्य—"बिनु हरि-कृपा मिलहिं नहिं संता।" (सुं० दो० ६); "जब द्रवैं दीनदयालु राघव, साधु-संगति पाइये॥" (वि० १३६)।

साधनसाध्य—"पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥ पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन-क्रम-बचन बिप्रपद-पूजा।" (उ० दो० ४४)।

(२) विवेक—"कहहिं बेद इतिहास"—से "संत हंस गुन गहहिं पय,'''अस बिबेक जब देइ बिधाता।" (दो० ५-६); तक में कहा गया है। आगे यह प्रसंग देखिये।

(३) इस प्रसंग में 'मुद-मंगल' तीन बार तीन भावों के लिये आया है, यथा—'मुद-मंगलमय संत समाजू।"—सन्त मुद-मंगल के स्वरूप हैं। "सुनत सकल मुद मंगल देनी।" कथा सुनाकर मुद मंगल देते हैं। यहाँ 'मुद मंगल मूला' कहा है कि 'मुद मंगल' उत्पन्न करते हैं।

(४) प्रथम 'मति-कीरति' आदि की प्राप्ति कही गई, इसपर यह प्रश्न होता है कि सत्संग सब लोग क्यों नहीं करते ? इसका उत्तर यहाँ है कि श्रीरामकृपा के बिना सत्संग की प्राप्ति नहीं होती।

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई । पारस-परस कुधातु सुहाई ॥९॥
बिधि-बस सुजन कुसंगति परहीं । फनि मनि सम निजगुन अनुसरहीं ॥१०॥

अर्थ—सत्संग पाकर शठ सुधर जाते हैं, जैसे पारस का स्पर्श पाने से लोहा शोभित होता है ॥९॥ दैवयोग से सज्जन (यदि कभी) कुसंगति में पड़ भी जाते हैं, (तो वे) सर्प की मणि के समान अपने गुणों के अनुसार ही बर्ताव करते हैं ॥१०॥

विशेष—(१) लोहा कुधातु है, पारस उसे सुधातु (सोना) बना देता है, तब वह शोभा पाता है। वैसे सत्संग से शठों की शठता विनष्ट होकर उनकी महिमा बढ़ती है और वे शोभा पाते हैं।

शंका—सन्त तो संगी को अपने समान करते हैं, यथा—"निज संगी निज सम करत,··· मलयाचल हैं संत जन,···" (वैराग्य स० १८); और यहाँ तो पारस सोना मात्र ही बनाता है, पारस नहीं। यह क्यों ?

समाधान—जो शठ नहीं हैं, उनको अपने समान करते हैं और शठ को नीच से उत्तम बनाते हैं। पुनः, 'मज्जन फल पेखिय ततकाला' का ही प्रसंग चल रहा है। अतः, तत्काल ही स्पर्श मात्र से उत्तम बनाते हैं। तत्काल का भाव दिखाने का भी यह दृष्टान्त है, तथा—"यथा चिन्तामणिं स्पृष्ट्वा लोहं काञ्चनतां व्रजेत्। यथा जम्बूनदी प्राप्य मृत्तिका स्वर्णतां व्रजेत्॥ यथा मानसमभ्येत्य वायसा यान्ति हंसताम्। यथाऽमृतं सकृत्पीत्वा नरो देवत्वमाप्नुयात्॥ तथैव हि महात्मानो दर्शनस्पर्शनादिभिः। सद्यः पुनन्त्यघोपेतान्सत्सङ्गो दुर्लभः कुतः॥" (स्कन्द पु० ब्राह्म० ब्राह्मे० १५।१२-१४); 'पारस परस···' के अनुरूप ही यह प्रसंग है।

इस दृष्टान्त से यह भी दिखलाया कि सत्संग निष्कपट भाव से करना चाहिये, क्योंकि पारस और लोहे के बीच में यदि महीन भी कागज या कपड़े का अन्तर रहे, तब वह सोना नहीं होता।

(२) 'बिधि-बस···'—ऊपर पारस-लोहे के दृष्टान्त से दूसरों को सुधारना कहा। अब मणि के दृष्टान्त से दिखाते हैं कि उनके संग से स्वयं नहीं बिगड़ते, यथा—"अहि अघ अवगुन नहिं मनि गहई। हरइ गरल दुख दारिद दहई॥" (अ० को० १८३); बिधिबस अर्थात् जैसे मणि की उत्पत्ति सर्प के यहाँ हुई, वैसे प्रारब्ध की प्रबलता से शठों के यहाँ सज्जनों का अवतार हो, तब ही वे कुसंगति में पड़ते हैं—कुछ अपनी इच्छा से नहीं पड़ते। 'परहीं' अर्थात् जैसे मणि सर्प के पास उसके जन्म भर भी रहे, तो भी उसके विष का दुर्गुण मणि में नहीं आता प्रत्युत मणि विष ही को मारती है, वैसे सन्त शठ के यहाँ चाहे जन्म-भर भी पड़े रह जायँ, तो भी वे नहीं बिगड़ते प्रत्युत शठों को ही सुधारते हैं, जैसे—श्रीप्रह्लादजी और श्रीविभीषणजी की कथाएँ प्रसिद्ध हैं।

अलंकार—'पारस-परस···' में 'प्रथम उल्लास' तथा 'तद्गुण' और 'फनि मनि···' में 'अतद्गुण' हैं, अर्थात् अपना रंग छोड़कर लोहे ने सोने का रंग ग्रहण किया है और मणि ने सर्प के साथ रहकर भी उसका गुण नहीं ग्रहण किया, इससे उक्त दोनों अलंकार यहाँ साथ ही आये हैं।

बिधिहरिहर कबि कोबिद बानी । कहत साधु महिमा सकुचानी ॥११॥
सो मोसन कहि जात न कैसे । साक-बनिक मनि गुन गन जैसे ॥१२॥

शब्दार्थ—साक (शाक) = साग, भाजी वा काँच की पोत वा गुरिया। कोबिद = (बृहस्पति के समान) पंडित।

अर्थ—ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, कवि और कोविद की वाणी भी साधुओं की महिमा कहने में सकुच गई ॥११॥ वह (महिमा) मुझसे कैसे नहीं कही जाती, जिस प्रकार साग वा काँच की गुरिया बेचनेवाला मणियों के गुणों को नहीं कह सकता ॥ १२ ॥

विशेष—(१) ब्रह्मा आदि दिव्य ज्ञानवाले और ईश्वर-कोटि के सन्त मणि के जौहरी कहलाते हैं। 'कवि' पद से यहाँ व्यास आदि विविध ग्रन्थ रचयिता हैं और 'कोविद' पद से उन ग्रन्थों के व्याख्याकार शुकदेव आदि पंडित कहे जा सकते है। वे भी इस रत्न का यथार्थ मोल नहीं कर पाते हैं तो उसकी महिमा कुंजड़े एवं गुरिया बेचनेवाले के समान मै कैसे कह सकता हूँ ? महिमा कह देने में उतनी ही उसकी मिति हो जाती है, यही मोल कर देना है। सन्तों की महिमा अपरिमित है, क्योंकि सच्चे भक्तों के अधीन भगवान् सेवक की तरह रहते हैं, तब उनकी महिमा का क्या अन्दाजा है ? यथा—"अहं भक्तपराधीनो-ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ॥" से "मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनः। वशी कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥" (भाग० ९।४।६३-६४); तक। एवं—"भगति अवसहि बस करी।" (अर० दो० २६)।

'सकुचानी'—इतने बड़ों-बड़ों की भी वाणी असमर्थ होकर नहीं कह सकती है तो आश्चर्य है। अतः, लज्जा होती है। ग्रन्थकार ने और जगह भी कहा है, यथा—"क्यों बरनै मुख एक, तुलसी महिमा संत की। जिन्हके बिमल बिबेक, सेष गनेस न कहि सकहिं ॥" (वैराग्य सन्दीपनी)।

इसपर एक आख्यायिका भी है कि किसी समय स्वर्ग में सब देवगण इकट्ठे हुए और साधु-महिमा कहने में उद्यत होकर श्रीब्रह्माजी को नियुक्त किया। उन्हें कहते हुए बहुत काल बीते। तब श्रीसरस्वतीजी की प्रेरणा से श्रीशिवजी नियुक्त हुए, क्योंकि वे पंचानन हैं। बहुत काल के पीछे देवताओं ने षड़ानन को नियुक्त किया, पर वे भी अन्त न पा सके। तब श्रीपार्वतीजी की प्रेरणा से देवताओं ने शेषजी को नियुक्त किया, क्योंकि उनके सहस्र मुख और प्रति मुख में दो-दो जिह्वाएँ हैं। अतः, शीघ्र साधु-महिमा कह लेंगे। इन्हें भी कई कल्प बीत गये, तब ये हार मानकर पाताल लोक में जा सिर झुकाकर बैठे, लज्जा से आज तक बैठे ही हैं। यथा—"सहस्रास्यः शेषः प्रभुरपि ह्रिया क्षितितलमगात्।" (स्कन्दपुराण)।

दोहा—**बंदउँ संत समान-चित, हित अनहित नहिं कोउ।**
अंजलि गत सुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर दोउ ॥
संत सरल चित जगत हित, जानि सुभाव सनेहु।
बाल-बिनय सुनि करि कृपा, राम-चरन रति देहु ॥३॥

शब्दार्थ—सुभ सुमन = उत्तम एवं सुगन्धित फूल। कर = हाथ, करता है।

अर्थ—मै समान चित्तवाले सन्तों को प्रणाम करता हूँ, जिनके कोई मित्र और शत्रु नहीं हैं और जो अंजलि में प्राप्त उत्तम फूल की तरह (दाहिने-बायें) दोनों हाथों को बराबर सुगन्धित करते हैं ॥ सन्त सरल-चित्त और संसार के हितैषी होते है, इस प्रकार स्वभाव और स्नेह जानकर (विनती करता हूँ कि मुझ) बालक की विनती सुन कृपा करके (मुझे) श्रीरामजी के चरण में प्रीति दीजिये ॥ ३ ॥

विशेष—(१) 'बंदउँ' शब्द आदि में देने से यह दोनों दोहों के साथ अन्वित हो गया है। 'समान चित' से सन्तों को पराभक्तिनिष्ठ जनाया, यथा—"समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।" (गीता १८।५४); प्रथम समान चित्त कहकर फिर उसे 'हित अनहित नहिं कोउ' से स्पष्ट किया, यथा—"सबु न काहू करि गनै, मित्र गनै नहिं काहि। तुलसी यह मत संत को, बोलै समता माहि ॥" (वैराग्य संदी० १३)। फिर भी इससे जगत से उदासीन होने की शंका हुई। अतः, 'अंजलि·····' कहा। भाव यह कि एक हाथ फूल को तोड़ता है तो दूसरा ग्रहण करके रखता है। अतः, तोड़नेवाला शत्रु और रखनेवाला मित्र हुआ। फूल दोनों भावों पर दृष्टि न देकर दोनों हाथों को बराबर सुगन्धित करता है, ऐसा ही सर्व-हितैषी स्वभाव सन्त का है, यथा—"काटै परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई ॥" (उ० दो० ३९)।

'संत सरल·····' उपर्युक्त दोहों में कथित गुण लेकर इसमें अपना प्रयोजन प्रगट करते हुए

कहते हैं कि सन्त सरल अर्थात् सीधे एवं निश्छल चित्त हैं। अतः, मुझे भी वैसा ही निश्छल मानेंगे, यथा—"नाथ सुहृद सुठि सरलचित, सील-सनेह-निधान। सब पर प्रीति प्रतीति जिय, जानिय आप समान॥" (अ० दो० २२७); फिर उनका जगत्-हितैषी एवं स्नेही स्वभाव भी है, तब मुझ बालक की विनती पर कृपा अवश्य होगी, मुझे श्रीरामचरण में रति प्राप्त होगी। आगे भी कहा है—'बाल-विनय सुनि सुरुचि लखि, मोपर होहु कृपाल' (दो० १४)।

'बाल-बिनय'—बालकों की साधारण बात माता-पिता पूरी करते हैं, यदि वह विनय पूर्वक भी कहे तो क्या कहना?

(२) 'समान चित' और 'सरल चित' में मन से, "हरिहर कथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी॥' में वचन से और 'जो सहि दुख परछिद्र दुरावा।' में कर्म एवं शरीर से परोपकार करना दिखाया, यथा—"पर उपकार बचन मन काया। सन्त सहज सुभाव खगराया॥" (उ० दो० १२०)।

सन्त-वन्दना प्रकरण का यहाँ उपसंहार हुआ जिसका उपक्रम "सुजन समाज सकल गुनखानी" से हुआ था।

अलंकार—'चतुर्थ तुल्य योगिता' है। लक्षण—"हित में अनहित में जहाँ करिये एकै धर्म।" (अ० मं०)।

सन्त-समाज एवं सन्त-वन्दना प्रसंग समाप्त

बहुरि बंदि खल गन सतिभाये। जो बिनु काज दाहिनेहु बाँये॥१॥
परहित हानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हरष बिपाद बसेरे॥२॥

शब्दार्थ—बहुरि=फिर (सन्त-वन्दना के पीछे)। सतिभाये=सच्चे भाव से।

अर्थ—फिर (मैं) सच्चे भाव से खल-समाज की वन्दना करता हूँ जो बिना प्रयोजन ही अपने हितैषियों के भी प्रतिकूल हो जाते हैं॥१॥ दूसरों के हित की हानि करना ही जिनका लाभ है तथा दूसरों के उजड़ने में हर्ष और बसने में जिनको दुःख होता है॥२॥

विशेष—(१) प्रश्न—एक तो खलों की वन्दना और 'सतिभाय' से—ऐसा क्यों?

उत्तर—(क) जैसे 'सुजन-समाज' को 'सप्रेम सुबानी' से प्रणाम किया है वैसे खलों के साथ भी चाहिये, क्योंकि अभी ऊपर 'संत समान चित ... ...अंजलि—' से सन्त-लक्षण कह आये हैं। स्वयं आचरण करके दिखाया। सन्त ऐसा इसलिये करते हैं कि वे चराचर-रूप में भगवान ही को देखते हैं, यथा—"मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत।" (कि० दो० ३); वे ही दैवी और आसुरी सम्पत्ति युक्त संसार में व्याप्त हो रहे हैं। अतः, 'सतिभाय' शब्द की सार्थकता होती है। अन्यथा व्यंग्य में कवि की गम्भीरता में दोष आवेगा।

(ख) इसका समाधान स्वयं ग्रन्थकार ने भी किया है, यथा—"तेहि ते कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥" (दो० ४); अर्थात् इस प्रसंग से सन्तों के गुण संग्रह के लिये और खलों के अवगुण त्याग के लिये कहे गये। अतः, इससे लोगों को ग्रहण और त्याग का उपदेश हुआ।

(२) 'बंदि' का अर्थ 'वन्दना करके' भी है, जो अपूर्ण क्रिया है। इसका भाव यह है कि अभी खलगण (साधारण खलों) की वन्दना है, आगे इनके (खलों के) राजाओं की वन्दना करेंगे, तब वहाँ पूर्ण क्रिया देंगे, यथा—"बंदउँ खल जस सेष सरोषा॥" से "सहस नयन परदोष निहारा॥" तक। अतः, प्रजा में अपूर्ण और राजा में पूर्ण वन्दना देकर उनकी एकता और यथायोग्य बर्ताव भी दिखाया। अपूर्ण क्रिया से खल राजाओं को धैर्य भी देते हैं कि आपके गणों की वन्दना करके शीघ्र ही आपकी भी करूँगा।

(३) 'दाहिनेहु बाँये'—सन्त स्वयं दुःख सहकर भी शत्रुओं की भलाई ही करते हैं, यह 'सम सुगंध कर दोउ' में कहा गया है। वैसे खल अपने दाहिनेहु अर्थात् हितैषियों का भी निष्प्रयोजन अहित करते हैं, यथा—"जो कर हित अनहित ताहू सों।" (उ० दो० ३८); "खल बिनु स्वारथ पर-अपकारी।" (उ० दो० १२०)। प्रयोजन के लिये बाम (शत्रु) के साथ साधारण लोग भी बाम होते हैं और ये बिना प्रयोजन दाहिने (मित्र) से भी बाम होते हैं, यही इनकी विशेषता है।

(४) 'परहित हानि·····'—दूसरे की हानि देखकर इनको सुख होता है। 'उजरे हरष' किसीके यहाँ चोरी हो या आग लगे तो हर्ष होता है, यथा—"जब काहू की देखहिं बिपती। सुखी भये मानहुँ जगनृपती॥" (उ० दो० ३६); तथा—"एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये, सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये। तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये, ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥" (भर्तृहरि-नीतिशतक ७१); अर्थात् स्वार्थ छोड़ परार्थ-साधक उत्तम पुरुष, स्वार्थ के साथ परार्थ साधक सामान्य और जो स्वार्थ के लिये परहित नष्ट करते हैं, वे मानुष राक्षस हैं तथा जो निरर्थक ही परहित नाशक हैं, वे कौन हैं, यह हम नहीं जानते। इन्हीं अन्तिम अवर्ण्य पुरुष को यहाँ पर 'खल' कहा गया है।

अलंकार—'चतुर्थ उल्लास' लक्षण—"अवगुण ते जहँ और के गुण औगहि परकास॥" (अ०मं०)।

(५) 'बिपद बसेरे'—किसीका घर धन-जन से पूर्ण देखकर इनको दुःख होता है, यथा—"खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर-संपति देखी॥" (उ० दो० ३८)।

हरि-हर-जस राकेस राहु से। पर-अकाज भट सहसबाहु से॥३॥
जे पर-दोष लखहिं सहसाखी। पर-हित घृत जिन्हके मनमाखी॥४॥

शब्दार्थ—राकेस (राका + ईस = राकेस) = पूर्णचन्द्रमा। से = सदृश = समान। सहसाखी = सहस-आँखी, सह-साखी (साक्षी) और सहसा (बलात्) आँखी।

अर्थ—(खल) हरि भगवान् और उनके भक्त महादेव के यश-रूपी पूर्ण चन्द्रमा के लिये राहु के समान हैं, दूसरे का कार्य बिगाड़ने के लिये सहस्रबाहु के समान योद्धा हैं॥३॥ जो दूसरों के दोषों को 'सहसाखी' देखते हैं, दूसरे के हित-रूपी घी में जिनके मन मक्खी (की भाँति जा पड़ते) हैं।

विशेष—(१) 'हरि-हर-जस····' भगवान् और उनके भक्त महादेव की कथा को पूर्णचन्द्र कहा, क्योंकि 'चदि-आह्लादने' धातु से 'चन्द्र' शब्द बनता है अर्थात् चन्द्रमा अमृतमय किरणों से जगत्-मात्र को आह्लादित करता है, वैसे कथा के ज्ञानामृत से जगत का उपकार होता है। पूर्णचन्द्र ही से राहु का वैर है। अतः, उसीको पूनो में ग्रसता है, अन्य तिथियों में नहीं। यथा—"बक्र चन्द्रमहिं ग्रसइ न राहू।" (दो० २८०); वैसे खलों का हरिकथा से वैर है, यथा—"संत-संग हरिकथा न भावा।" (उ० दो० ३६); क्योंकि कथा में उनका दोष प्रकट होता है। पूर्णचन्द्र-रूपी रसीली कथा यदि कहीं सौम्य स्वभाव के भोलेभाले पंडित कहते हैं, वहाँ खल जाकर तर्क करके विघ्न डालते हैं। यदि कोई ऐसा कुतर्क कर दें, जिससे कथा बन्द हो जाय तो यही सर्वग्रास होना है। हर पूर्णिमा को राहु नहीं ग्रसता, अपनी सन्धि पाकर ही ग्रसता है, यथा—"ग्रसइ राहु निज संधिहिं पाई।" (दो० २३७); वैसे खल भी जिस प्रसंग में कुतर्क की सन्धि पाते हैं, उसीके अवसर पर आकर विघ्न डालते हैं। यदि पंडित वक्रोक्ति वाले हों तो उनकी कथा में नहीं आते, जैसे टेढ़े चन्द्रमा को राहु नहीं ग्रसता।

(२) 'पर अकाज····' यह कथा नीचे लिखी जाती है।

सहस्रबाहु की कथा

"माहिष्मती नगरी में सहस्रभुजयुक्त महाबली श्रीमान् कार्त्तवीर्य (कृतवीर्य का पुत्र) अर्जुन नाम का राजा सारे संसार का प्रभु हुआ। उसने किसी कारण से दत्तात्रेय मुनि को अपना धन प्रदान किया, उसने क्षात्रधर्म एवं विनय से मुनि की आराधना की। मुनि-श्रेष्ठ ने प्रसन्न होकर तीन वर माँगने को कहा। कार्त्तवीर्य ने वर माँगा—(१) सेना के बीच मेरी सहस्र भुजाएँ हो जायँ और गृह में इसके अन्यथा हो (अर्थात् दो ही भुजाएँ रहें)। (२) रण में सैनिक लोग मेरी सहस्र भुजाएँ देखें। (३) मैं पराक्रम से सारी पृथ्वी की जय करूँ और उसका धर्मपूर्वक आलसरहित पालन करूँ। इन तीनोंके अतिरिक्त मैं चौथा वर भी माँगता हूँ कि यदि मैं मिथ्या उद्धत हो जाऊँ तो साधुगण मुझे अनुशासित करें। मुनि ने 'तथास्तु' कहा।" (महाभारत अनुशा० १५२।२-११)।

इसकी कथाएँ और भी बहुत प्रकार की हैं, पर यहाँ इतनी ही का प्रयोजन है। सहस्रबाहु पर-अकाज अर्थात् शत्रु को हानि पहुँचाने के लिये सहस्रबाहु हो जाता था, वैसे ही ये खल पर-अकाज अर्थात् दूसरों को हानि पहुँचाने में दो ही भुजाओं से सहस्रभुजाओं के-से बल से काम कर सफलता भी प्राप्त कर लेते हैं। उसके शत्रु से लड़ने में सहस्रभुजाएँ हो जाती थीं, वैसे इन्हें पर-अकाज करने में उत्साह एवं बल आ जाता है मानों सहस्रभुजाओं से काम कर रहे हैं। पर (किसीके भी) अकार्य के लिये जा धमकते हैं। "उसने जमदग्नि मुनि की गौ छीनने में अत्याचार किया।" (वाल्मी०); वैसे ही ये भी पर-वस्तु हरण करते हुए पर-अकार्य करते हैं।

(३) 'जे परदोष लखहिं···' (क) यहाँ 'लखहिं' का अर्थ लक्ष्य करते हैं, यथा—"लखा न मरम राम बिनु काहू।" (अ० दो० २११); जो दोष प्रकट नहीं है, उसे भी (खल) जान लेते हैं। ऐसी सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं मानों हजार आँखों से देखते हों। (ख) वे दुष्ट हैं। अतः, अकेले उनके कहने से लोग सत्य न मानेंगे, इसलिये साक्षी के सहित देखते हैं। (ग) 'सहसा-आँखी'=बलात् देख लेते हैं कि कोई दोष छिपाने भी न पावे।

(४) यहाँ पर 'पर-दोष लखहिं' और 'पर-दोष निहारा' कहा है, पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि 'लखहिं' का अर्थ गुप्त दोष जानने में है और 'निहारा' का अर्थ प्रकट दोष देखने का है।

(५) 'पर-हित घृत···' हित को घी के समान कहा, क्योंकि घी भी आयु एवं बल-वर्द्धक रूप से हितकर है। मक्खी घृत में पड़ने पर चिपक जाती है, उसका अंग भंग हो जाता है, लोग उसे निकाल फेंकते हैं, फिर वह मर जाती है। इसी प्रकार 'खल' भी पर-हित हानि में मन से लगते हैं। यदि हानि न हो सकी तो मनोरथ-भंग से दुःख होता है यही अंग-भंग के समान है। इनकी बातें झूठी होने से फिर कोई इनका विश्वास नहीं करता, यही मरने के समान है। मन से सदा पर-हित बिगाड़ कर मर मिटने तक की भावना रखते हैं।

तेज कृसानु रोष महिषेसा। अघ अवगुन धन धनीधनेसा ॥५॥
उदय केतु सम हित सबही के। कुंभकरन सम सोवत नीके ॥६॥
पर-अकाज लगि तनु परिहरहीं। जिमिहिम-उपल कृषी दलि गरहीं ॥७॥

शब्दार्थ—महिषेसा = (क) महिषासुर। यह असुर बड़ा क्रोधी था। इसके क्रोध से देवतागण काँपते थे। इसे कालिका देवी ने मारा। (ख) महिषेश = महिष-ईश = भैंसे का देवता = वह देवता जिसका वाहन भैंसा है = यमराज।

अर्थ—(ये दुष्ट) तेज में अग्नि के और क्रोध में महिषेश के समान हैं तथा पाप और अवगुण रूपी धन में धनाधीश कुबेर के समान धनी हैं ॥५॥ ये सभी के हित में पुच्छल तारा केतु के समान उदय हो जाते हैं। अतः, कुम्भकरण की नाईं इनका सोते रहना ही अच्छा है ॥६॥ दूसरे की कार्यहानि के लिये शरीर भी छोड़ देते हैं, जिस प्रकार ओले खेती का विनाश करके (स्वयं भी) गल जाते हैं ॥७॥

विशेष—(१) "तेज कृसानु···" (क) अग्नि स्वयं तपता रहता है, जितना ईंधन पाता है, उतना ही दूसरों को अधिक तपाता है, वैसे 'खल' स्वयं क्रोधाग्नि से जलते रहते हैं, जितना ही विभव पाते हैं, उतने ही अधिक प्रचंड होते हैं दूसरों को सन्ताप पहुँचाते हैं, इससे अपनेको तेजस्वी समझते हैं।

(ख) अग्नि जो पाता है, सभी को जलाता है, वैसे ये 'खल' शत्रु-मित्र किसीको नहीं छोड़ते।

महिषासुर की कथा

"कालिकापुराण और वामनपुराण में भी इसकी कथा है, परन्तु मार्कण्डेयपुराण में चण्डी-माहात्म्य की कथा विशेष प्रचलित है, उसीका सूक्ष्मांश लिखता हूँ। पूर्व समय में देवों और असुरों में सौ वर्ष तक घोर युद्ध हुआ। देवों की हार हुई। देवता स्वर्ग से भाग गये। महिष स्वयं इन्द्र बन गया और शासन करने लगा। देवगण ब्रह्माजी के साथ हरि-हर के पास गये और वहाँ महिषासुर के अत्याचार की कथा कही। हरि और हर क्रुद्ध हुए। उन्होंने सभी देवों की देहों से तेज निकालकर महत् तेज एकत्र किया। उस तेजःपुञ्ज से एक अद्भुत नारी का प्रादुर्भाव हुआ। उस सहस्रभुजावाली प्रशान्ताकृति देवीमूर्त्ति को देख देवों ने उन्हें अपने-अपने आयुध देकर सम्मानित किया। देवी खिलखिलाकर हँस पड़ीं। उस हँसी से सारी पृथ्वी काँप उठी, इससे देवों को आशा हुई और वे सिंह-वाहिनी देवी की स्तुति करने लगे।

उधर महिषासुर ने घोर गर्जन कर दल-बल के साथ सामना किया। युद्ध होने लगा। महिषासुर की बहुत सेना मारी गई। देव प्रसन्न हुए। फिर उसके प्रधान सेनापति देवी के साथ लड़ने लगे। उनके बहुत-से युद्धोपकरण विध्वस्त हो गये। अन्त में महिषासुर स्वयं नाना मायावी मूर्त्तियों से, विपुल वीर्य से युद्ध करने लगा। उसके दौरात्म्य से तंग आकर देवी ने उसे खड्ग से मार डाला।

कालिकापुराण में लिखा है कि महिषासुर रम्भ दैत्य के वीर्य से एक महिषी से उत्पन्न हुआ था। अतः, भयंकर महिष के आकार का था। इसने तीन बार जन्म लिया, तीनों बार देवी ने ही तीन रूप धारण कर इसका वध किया है।" (विश्वकोष)।

यमराज की कथा

"विश्वकर्मा के संज्ञा नाम की कन्या से सूर्य के द्वारा एक पुत्र यमराज हुए और एक कन्या यमुना हुई (मार्कण्डेय पु० अ० ७७); स्मृतियों में चौदह यमों के नाम हैं। यमराज पापी और पुण्यात्मा के कर्मानुसार उन्हें नरक एवं स्वर्ग देते हैं। पापियों को भयंकर और पुण्यात्माओं को भगवान की भाँति सौम्यरूप-से दीखते हैं। वे धर्मराज कहे जाते हैं।" (विश्वकोष)

यहाँ भैंसे के वाहनवाले भयंकर मूर्त्ति यमराज से तात्पर्य है।

(ग) बात-बात में खलों का रोष प्रचंड हो जाता है। ये महिषासुर की तरह लाल आँखें निकालकर हाँफने लगते हैं तथा यमराज की भाँति भयंकर रूप धारण कर प्राण हरने को उद्यत हो जाते हैं।

(२) "अघ अवगुन धन···"—'खल' कुबेर की तरह पाप और अवगुन रूप धन बटोरते हैं और उन्हीं की तरह इनके भी इस धन की संख्या नहीं है, यथा—"खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा॥" (दो० ५); कुबेर के भंडार से जितना धन नित्य निकलता जाता है, वह भरा ही रहता है, वैसे खलों के हृदय से भी नित्य चाहे जितने 'अघ-अवगुन' प्रकट होते जायँ, पर हृदय उनसे भरा ही रहता है—कभी खाली नहीं होता।

(३) "उदय केतु सम···" (क) केतु पुच्छल तारा है। इसके उदय से राजा-प्रजा सबकी हानि होती है। लोगों को अनेक कष्ट होते हैं। वैसे ये खल किसीका भी हित होता जानकर वहाँ जा धमकते हैं, उसे हानि का भय होता है।

(ख) भाग्य से कुछ विभव-प्राप्ति रूप उदय हुआ तो 'खल' सभी के बाधक होते हैं। अतः, 'बुध बरन-

सम···' कुम्भकर्ण की तरह जब ये सोते ही रहें अर्थात् ऐश्वर्य एवं अधिकार-हीन अवस्था में दबे रहें तभी संसार का कल्याण हो। जैसे, केतु के अस्त होने पर जगत् सुखी होता है, यथा—"दुष्ट उदय जग आरत-हेतू। जथा प्रसिद्ध अधमग्रह केतू॥" (उ० दो० १२०)।

(४) पूर्व 'हरिहर-जस राकेस राहु से' कहा था, यहाँ केतु के समान भी कहा, क्योंकि दोनों एक ही शरीर के सिर और धड़ हैं। अतः, एक ही प्रसंग में प्रथम सिर कहा, तब धड़। समुद्र-मन्थन के पीछे चोरी से अमृत पीते समय भगवान् ने राहु का सिर काटा था। तब सिर राहु और धड़ केतु कहलाया।

(५) 'पर अकाज लगि···' प्रथम सहस्रबाहु के समान पुरुषार्थ करने में खलों को योद्धा कह आये हैं। अब दिखाते हैं कि यदि न हो सका तो पराये अकाज के लिये ये स्वयं भी मर मिटते हैं। शरीर का भी त्याग हो जाय, पर अकाज करके ही मरते हैं, यथा—"पर-संपदा बिनासि नसाहीं। जिमि ससि हति हिम-उपल बिलाहीं॥" (उ० दो० १२०); जैसे ओले बहुत संख्या में एक साथ गिरकर कृषि का नाश करते हैं, वैसे 'खल' भी अपने दल बाँधकर 'अकाज' करते हैं, क्योंकि यहाँ 'परहरहीं' और 'गरहीं' बहुवचन हैं। 'खल-गन' का ही प्रसंग भी है।

सम्बन्ध—यहाँ तक 'खल-गन' के अवगुण कहे, अब उनके राजाओं के अवगुण कहते हैं—

बंदउँ खल जस सेष सरोषा। सहस बदन बरनइ पर-दोषा॥८॥
पुनि प्रनवउँ पृथुराज समाना। पर-अघ सुनहिं सहस दस काना॥९॥
बहुरि सक्र सम बिनवउँ तेही। संतत सुरानीक हित जेही॥१०॥
बचन बज्र जेहि सदा पियारा। सहस नयन पर-दोष निहारा॥११॥

शब्दार्थ—यहाँ सरोषा, सहस बदन, पर-दोषा, पर-अघ और सुरानीक पद श्लिष्ट हैं, अर्थात् इनके एक अर्थ खल-पक्ष के और दूसरे अन्य पक्षों के हैं—

'सरोषा'	= (१) जोश के साथ, क्रोध-पूर्वक।	(२) प्रसन्नतापूर्वक (सहर्ष) यथा—"सर्वस देउँ आजु सह रोषा।" (दो० २०७); वा शेषनाग के प्रलयकालीन रोष की भाँति।
'सहस बदन'	= (१) स+हास्य-बदन =हँसते मुखसे।	(२) हजार मुखों से।
'पर दोषा'	= (१) पराये दोषों को।	(२) दोषों से परे हरि (का यश)।
'पर-अघ'	= (१) दूसरे के पाप।	(२) पापों से परे हरि (का यश)।
'सुरानीक'	= (१) अच्छी शराब, मदिरा प्रिय।	(२) सुर + अनीक = देव-सेना।

अर्थ—मैं खलों की शेषजी के समान वन्दना करता हूँ, जो हजार मुखों से जोश के साथ 'पर-दोष' का वर्णन करते हैं॥८॥ पुनः राजा पृथु के समान (मानकर उनको) प्रणाम करता हूँ, जो दस सहस्र कानों से 'पर-अघ' को सुनते हैं॥९॥ फिर इन्द्र के समान (मानकर) उनकी विनय करता हूँ, जिनको 'सुरानीक' सर्वदा प्रिय है॥१०॥ जिन्हें वचन-रूपी वज्र सदा प्यारा लगता है और जो सहस्र नेत्रों से 'पर-दोष' को देखते हैं॥११॥

विशेष—(१) 'बंदउँ खल जस···' पहले सन्त समाज को तीर्थराज से उपमित किया था, वैसे ही खल को भी तीनो लोकों के बड़े-बड़े राजाओं से उपमित करते हैं—

शेषजी की कथा

"शेषजी कद्रु और कश्यप के पुत्रों में हैं। इन्होंने सर्पों का साथ छोड़कर कठिन तपस्या की। ब्रह्माजी से इन्होंने यही वर प्राप्त किया कि धर्म, शान्ति और तपस्या में मेरा चित्त बना रहे। ब्रह्माजी इसपर बड़े

प्रसन्न हुए और उन्होंने शेषजी को पृथ्वी धारण करने की आज्ञा दी। इन्होंने अचल रूप से पृथ्वी का धारण किया। यह ब्रह्माजी का प्रिय कार्य हुआ।" (महा० आदि० ३६)। ये शेषजी अपने सहस्र मुखों की दो सहस्र जिह्वाओं से भगवान का यश गाते रहते हैं, यथा—"गायन्गुणान् दशशतानन आदि देवः शेषोऽधुनापि समवस्यति नाम्य पारम् ॥" (भाग० २।७।४१); अर्थात् आदिदेव भगवान् शेषजी अपने सहस्र मुखों से उनके गुणों का गान करते ही आ रहे हैं, वे अबतक भी उसके पार पाने की कल्पना नहीं कर सके।

(क) जैसे शेषजी प्रलय काल में क्रोध करते हैं, वैसे 'खल' दूसरे का सर्वनाश करने के लिये क्रुद्ध होते हैं, शेष हजार मुखों की दो हजार जिह्वाओं से हरियश उत्साह-जोश-पूर्वक कहते हैं, 'खल' हँसते हुए मुख से एवं एक मुख से ही हजार मुखों के तुल्य पराये दोष कहते हैं।

(ख) शेषजी प्रसन्नता के साथ हरियश और 'खल' क्रोध-पूर्वक पराये दोषों को नित्य कहा करते हैं। 'पर-दोषा' से अपने दोषों पर ध्यान नहीं देते—यह भी ध्वनित है।

(२) 'पुनि प्रनवउँ पृथुराज ···' राजा पृथु की कथा नीचे दी जाती है—

राजा पृथु की कथा

भाग० ४।१४-२३ में विस्तारपूर्वक पृथु-चरित है, किन्तु यहाँ सूक्ष्म रूप में लिखता हूँ। राजा वेन को जब कुपित हो ऋषियों ने हुंकार मात्र से मार डाला। फिर, जंघा के मन्थन से निषाद वंश उत्पन्न हुआ। राजा वेन के भयंकर पापों को निषाद ने अपने ऊपर ले लिया, इसीसे उसके वंशज वन में रहते एवं हिंसा आदि से जीविका चलाते हैं। फिर वेन की भुजाओं का मन्थन होने पर एक स्त्री-पुरुष का जोड़ा प्रकट हुआ। वे दोनों श्रीलक्ष्मी और श्रीविष्णु भगवान के अंश-कलावतार थे। ऋषियों ने पुरुष का 'पृथु' और स्त्री का 'अर्चि' यह नामकरण किया और यह भी कहा कि यह पृथु सम्राट् होगा। पृथ्वी पर प्रथम राजा यही होगा। पृथु वीररूप एवं वीर बाना से सुसज्जित थे, उन्होंने ऋषियों से कर्त्तव्य पूछा कि सूक्ष्म बुद्धि से मैं क्या करूँ? उन्होंने धर्मपूर्वक राज्य पालन एवं धर्म-विरोधी का दमन करना कहा। फिर ब्रह्मा आदि ने इनका राज्याभिषेक किया। राजा पृथु आदि सभी अन्न-भोजन करनेवालों ने भिन्न-भिन्न दोहन-पात्रों और वत्सों के द्वारा अपने-अपने विभिन्न अन्न रूप दूध पृथ्वी से दुहे। पृथ्वी को राजा ने प्रेमपूर्वक कन्या के रूप में माना। फिर पृथु ने अपनी धनुष-कोटि से पृथ्वी को समतल कर ग्राम-नगर आदि बसाये।

तत्पश्चात् पृथु ने अश्वमेध यज्ञ-दीक्षा ग्रहण की। ९९ यज्ञ हो जाने पर इन्द्र बाधा करने लगे। ब्रह्माजी के समझाने पर पृथु शान्त हो गये और इन्द्र पर प्रतिकार न कर क्षमा धारण की, यज्ञ कर्म से भी मन हटा लिया। उन्होंने श्री हरि का पूजन किया और उनसे यही वरदान माँगा—"न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः। महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः॥" (२०।२४); अर्थात् मुझे उस मोक्षपद की भी कांक्षा नहीं है, जिसमें महापुरुषों के हृदयों एवं मुखों से निकला हुआ आपके चरणकमलों का रस नहीं है। जहाँ आपकी कथा सुनने का सुख नहीं प्राप्त होता। इससे मेरी यही विनती है कि आप मुझे दस हजार कान दें, जिनसे मैं आपके गुणों का श्रवण किया करूँ।" वैसी शक्ति से पृथु 'अज' से परे भगवान् का यश सुनते हैं, 'खल' भी अपने दो ही कानों से दस हजार कानों की तरह चाव के साथ पराये पापों को सुना करते हैं।

(३) 'बहुरि सक्र सम ···' इन्द्र को देव-सेना प्रिय है, वैसे खलों को तेज मदिरा प्रिय है, (मादक पदार्थ गाँजा आदि भी मद में गिने जाते हैं)। इन्द्र देव-सेना को हितैषी जानकर, उनके भरोसे निश्चिन्त रहते हैं, वैसे खल भी नशे में निश्चिन्त रहते हैं।

(४) 'बचन बज्र ···' इन्द्र को वज्र भी प्रिय है तो खलों को भी वज्रवत् कठोर वचन प्रिय है। इन्द्र वज्र को सदा धारण नहीं किये रहते हैं पर इन्हें वचन रूप वज्र सदा प्रिय रहता है। 'खल' वचन ही

से वज्रवत् चोट करते हैं, जिससे पर्वत के समान धीरों के हृदय भी विदीर्ण हो जाते हैं। 'सहस नयन ···' इन्द्र हजार नेत्रों से 'अघ' से परे (श्रीरामजी) को निहारते हैं, यथा—"रामहिं चितव सुरेस सुजाना। ···आजु पुरंदर सम कोउ नाहीं॥" (दो० ११६); 'खल' दो ही नेत्रों से हजार नेत्रों की तरह पराये छिद्र देखते हैं और वैसा ही सुख पाते हैं।

(५) इस प्रसंग में सहस्र संख्या की चार बातें कही गई हैं—(१) 'पर-दोष लखहिं सहसाखी।' (२) 'सहस बदन बरनइ पर-दोषा।' (३) 'पर-अघ सुनहिं सहस दस काना।' (४) 'सहस नयन पर-दोष निहारा।' अर्थात् खल पराये दोष परखते हैं, कहते हैं, सुनते हैं और देखते हैं। अतः, इन चारों दोषों से सज्जनों को बचना चाहिये। खलों का लक्ष्य करना, कहना, सुनना और देखना—सब दोष-युक्त ही हैं। खलों के वर्णन, श्रवण, परुष भाषण तथा परदोष निहारने की उपमाओं के लिये तीनो लोकों में श्रेष्ठ-श्रेष्ठ एक-एक ही व्यक्ति मिले—शेष पाताल के, पृथुराज भूमि के और इन्द्र स्वर्ग के। अतः, एक-एक कर्म के लिये तीनो लोकों में ढूँढ़ना पड़ा। उपमानवाले तीनों अपने-अपने गुणों से बड़े हैं और खल अवगुणों से बड़े हैं।

खल-वन्दना प्रकरण में बड़े-बड़े वन्द्य राजाओं की उपमाएँ दी गईं कि वे प्रसन्न हों।

अलंकार—'मालोपमा' क्योंकि एक खल के लिये कई उपमाएँ दी गई हैं।

दोहा—उदासीन अरि मीत हित, सुनत जरहिं खल रीति।
जानि पानि जुग जोरि जन, बिनती करइ सप्रीति॥४॥

अर्थ—चाहे कोई उदासीन (शत्रु-मित्र से पृथक्=मध्यस्थ) हो, शत्रु हो या मित्र ही हो, खल तीनों का हित सुनकर जलते हैं, यह उनकी रीति है—ऐसा जान यह जन (मानसकार) दोनों हाथ जोड़कर प्रेम सहित उनसे विनती करता है।

विशेष—(१) ऊपर 'परहित हानि' में लाभ कह आये हैं। यहाँ स्पष्ट किया कि 'खल' मित्र को भी हानि में लाभ ही मानते हैं और उनकी उन्नति में जलते हैं, यथा—"खलन्ह हृदय अति ताप बिसेखी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥" (उ० दो० ३८); प्रायः शत्रु के हित में साधारण लोग भी जलते हैं, पर मित्र के हित में जलना खलों की रीति है। यह दोष उनका स्वाभाविक है। सब जगत् भगवान् का शरीर है। अतः, इन रूपों में मैं विचित्र-स्वभाववाले श्रीरामजी की ही सप्रीति विनती करता हूँ, यह सप्रीति का भाव है। अन्यथा अहितकर्त्ताओं के प्रति 'सप्रीति' विनती नहीं हो सकती।

(२) 'जन...' अपने अनुगतों एवं बालकों पर तो बाघ आदि हिंसक जन्तु भी स्नेह करते हैं, इसी तरह 'जन' होकर विनती से वे 'खल' भी कृपा करेंगे, यह आशा है। 'जानि' का पाठान्तर 'जानु' भी है जिसका अर्थ 'घुटना' है।

मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा। तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा॥१॥
बायस पलियहिं अति अनुरागा। होहिं निरामिष कबहिं कि कागा॥२॥

अर्थ—मैंने अपनी ओर से प्रार्थना की, (पर) वे (खल) अपनी तरफ से नहीं चूकेंगे, (क्योंकि स्वभावज-दोष छोड़ना कठिन है— दो० ६ चौ० ४ देखिये)॥१॥ कौए को अत्यन्त प्रीति-पूर्वक पालें, तो क्या कौए कभी मांस खाना छोड़ सकते हैं?॥२॥

विशेष—(१) 'कबहिं कि...' यहाँ काकु वक्रोक्ति है, अर्थात् कभी नहीं। अब यह शंका होती है कि प्रार्थना का ही व्यर्थ प्रयास क्यों करते हैं? इसका उत्तर 'अपनी दिसि' से दिया है कि वे दुष्ट हमारे ग्रन्थ

में दोष लगाने से नहीं चूकेंगे, पर जैसे वे अपना स्वभाव नहीं छोड़ते; वैसे मैं भी अपना (सन्त) स्वभाव नहीं छोड़ता। उनका स्वभाव पर-निन्दा का है, तो मेरा स्वभाव सभी को सम्मानित करने का है।

(२) **शंका**—इसमें 'बायस' और 'कागा' शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं और दो बार होने से पुनरुक्ति दोष की शंका है।

समाधान—'कागा' से पुनरुक्ति दोष तब होता जब एक 'बायस' कर्त्ता शब्द से ही 'पलियहिं' और 'निरामिष होहिं' इन दोनों क्रियाओं का काम चल जाता, पर यहाँ तो 'निरामिष होहिं' के लिये 'बायस' का ही सर्वनाम 'वह' कर्त्ता की विवक्षा करनी पड़ती है। अतः, 'वह' न देकर 'कागा' ही दे दिया गया है, दो क्रियाएँ होने से पुनरुक्ति नहीं है। यदि कहा जाय कि संज्ञा के दुहराने के बदले उसका सर्वनाम-रूप ही वाक्य-निबन्ध में उत्तम है—'कागा' शब्द का प्रयोग कुछ न्यून है तो समाधान यह है कि महाकवि के द्वारा प्रयुक्त होने में यह न्यूनता नहीं के समान है। कोई-कोई 'पायस' (खीर खिलाकर), पाठान्तर देकर दोष-परिहार करने की चेष्टा करते हैं, पर यह (पाठान्तर) प्राचीन प्रतियों में नहीं मिलता। तथा, कोई 'बायस पलियहिं' का अर्थ 'कौआ पालनेवाले के (हृदय में) ...' ऐसा अर्थ करते हैं, जब उसके हृदय में अत्यन्त अनुराग है, तो वह इसका विधिवत पालन करता ही रहता है, फिर भी कौआ क्या निरामिष होता है ? अर्थात् कभी नहीं—पर यह अर्थ स्वाभाविक नहीं, ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा है—"सरल कवित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान।" (दो० १४)।

खल-वन्दना प्रसंग समाप्त

बंदउँ संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना ॥३॥
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दारुन दुख देहीं ॥४॥

अर्थ—मैं सन्त और असन्त (इन दोनों ही) के चरणों को (एक साथ ही) प्रणाम करता हूँ। दुःख देनेवाले दोनों हैं, (पर उनके बीच में) कुछ अन्तर कहा गया है ॥३॥ एक (सन्त) बिछुड़ते ही प्राण हर लेते हैं और दूसरे (असन्त) मिलने पर तीव्र दुःख देते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'बंदउँ संत-असज्जन.....' पहले 'सुजन समाज' पद से सन्त समाज की और फिर खल समाज की वन्दना थी, अब सन्त-असज्जन के चरणों की वन्दना करते हैं। यहाँ से सन्त-असन्त के गुण-अवगुण का वर्णन एक चमत्कार-युक्त रीति से करते हैं। प्रथम भिन्न-भिन्न वर्णनों से यह सन्देह हो सकता था कि सन्तों और खलों में जाति-भेद एवं देश-भेद होगा। अतः, एक-साथ वन्दना से सूचित करते हैं कि सन्त और खल एक ही देश एवं जाति में होते हैं। इनका भेद लक्षणों से जाना जाता है। जैसे एक ही भूमि में बीज-भेद से विष और संजीवनी ओषधियाँ होती हैं, वैसे पूर्व के संस्कार-भेद से एक ही देश और जाति में खल और साधु होते हैं। वैद्यक शास्त्र के अनुसार गुण-दोष जानकर ओषधियों का संग्रह या त्याग होता है, वैसे यह वर्णन भी संग्रह-त्याग के लिये है। यहाँ चरण की वन्दना है, इससे 'बिछुरत' और 'मिलत' कहा गया है, क्योंकि चलकर मिलना एवं बिछुड़ना होता है, ये चरण के धर्म हैं।

(२) 'दुखप्रद उभय...' यहाँ प्रथम तो सन्तों की निन्दा जान पड़ी, पर जब कहा कि एक (सन्त) बिछुड़ते ही प्राण हर लेते हैं, तब बड़ाई हुई कि इनका संग सदा बना रहे कभी वियोग न हो, यथा—"कहु कपि केहि बिधि राखउँ प्राना। तुम्हहूँ तात कहत अब जाना॥" (सु० दो० २६)। पुनः, 'बंदउँ संत असज्जन...' से प्रथम खलों की स्तुति हुई, फिर जब प्रयोजन का भेद खुला कि ये मिलते ही प्राण हर लेते हैं। जैसे यती के वेष से रावण ने मिलते ही श्रीसीताजी को प्राणान्त-तुल्य दुःख दिया, तब दोष-कथन हुआ, अर्थात् इनका संयोग न हो, तभी भला, यथा—"बरु भल बास नरक कर ताता।

दुष्ट संग जनि देइ विधाता ॥" (सु० दो० ४५)। यहाँ क्रम से 'व्याजस्तुति', 'व्याजनिन्दा' तथा 'द्वितीय व्याघात' अलंकार है।

सन्त अपने समागम से भगवत्-कथा-रूपी अमृत पान कराते हैं। अतः, वियोग में उस अमृत के बिना प्राण जाने का दुःख होता है। खलों के मिलने पर उनके विष-रूप वचनों से प्राण जाने की दशा आ जाती है अर्थात् दोनों के गुण भिन्न-भिन्न हैं। इसीको आगे दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं—

उपजहिं एक संग जग माहीं। जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं ॥५॥
सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग जलधि अगाधू ॥६॥

अर्थ—जगत् में (दोनों) एक साथ पैदा होते है, जैसे—(जल में) कमल और जोंक, (परन्तु उन) के गुण भिन्न-भिन्न होते हैं ॥५॥ साधु अमृत और असाधु मदिरा के समान है, दोनों का उत्पत्ति-स्थल एक ही जगत्‌रूपी अगाध सागर है ॥६॥

विशेष—(१) 'उपजहिं एक संग ···' यहाँ 'जग माँही' से एक देश केउत्पन्न में भेद दिखाते हैं। कमल जड़ है और जोंक चेतन। दोनों जल ही में उत्पन्न होते हैं। वैसे साधु और खल भी विषय-रूप जल के सम्बन्ध से जन्म लेते हैं। पर, कमल जड़ रूप से जल में निर्लिप्त रहता है, वैसे सन्त भी विषय-रूप जल के सम्बन्धियों—नातों से निर्लिप्त एवं मानापमान आदि द्वन्द्व-सहिष्णु होने से जड़ के तुल्य रहते हैं यथा—"जे बिरंचि निरलेप उपाये। पदुमपत्र जिमि जग जल जाये ॥" (अ० दो० ३१६); जोंक चेतन है, जल को प्रिय जानती है, उसीमें डूबती-उतराती हुई लिप्त रहती है, वैसे 'खल' संसार को प्रिय जानते हैं, और उसीके सुख-दुःख में डूबते-उतराते रहते हैं।

कमल सूँघने से रक्त-वृद्धि होती है और आनन्द होता है। जोंक खून चूसती है और उसे देखकर डर लगता है। ऐसे ही सन्तों के दर्शनों से क्षमा आदि गुण बढ़ते हैं और आनन्द होता है। खलों के देखने से डर लगता है, इससे खून सूखता है। इनके संसर्ग से क्षमा आदि गुण घटते है। जैसे कमल देवों के सिर पर चढ़ता है, वैसे सन्त अपने गुणों से देवताओं से भी अधिक सम्मान पाते हैं। जोंक फोड़े का दूषित रक्त ही पीती है, वैसे 'खल' राग-द्वेष सम्बन्धी धान्य (अन्न) से निर्वाह करते है। ग्रन्थकार ने अन्यत्र खलों को जोंक से अधिक दुःखद भी कहा है—"जोंक सूध-मन कुटिल गति, खल विपरीत बिचारु। अनहित सोनित सोष सो, सो हित सोषनिहारु ॥" (दोहावली ४००)। कहीं-कहीं 'जल माँही' भी पाठ मिलता है वह प्राचीन नहीं है।

(२) 'सुधा सुरा सम ···' इसमें 'जनक एक' से एक जाति में भेद होना दिखाते हैं। सुधा (अमृत) और मदिरा एक ही समुद्र के मन्थन से निकलीं, वैसे एक ही जगत्-रूप अगाध समुद्र के साधु और असाधु भी रत्न हैं। कमल और जोंक का उत्पत्तिस्थान नियत नहीं। अतः, जलमात्र ही कहा जाता है, क्योंकि इन (जलज-जोंक) दोनों का जन्म तालाब, नदी, गढ़े एवं समुद्र में भी होता है, किन्तु सुधा-सुरा का नियत जन्म-स्थान समुद्र ही है। इससे इसमें नियत 'जलधि अगाधू' कहा है। सागर की भाँति जगत् भी भारी, विस्तृत एवं विविध पदार्थमय है, इससे दोनों ही अगाध हैं।

भल अनभल निज-निज करतूती। लहत सुजस अपलोक बिभूती ॥७॥
सुधा सुधाकर सुरसरि साधू। गरल अनल कलिमल सरि ब्याधू ॥८॥

शब्दार्थ—अपलोक = अपयश। कलिमल सरि = कर्मनाशा नदी। ब्याधू (व्याध) = खल, असाधु।

अर्थ—अच्छे और बुरे मनुष्य (दोनों) अपनी-अपनी करनी से (जगत् में) सुयश और अपयश की विभूति (विशेष ऐश्वर्य एवं विगत-ऐश्वर्य = नरक आदि दुर्दशा) पाते हैं ॥७॥ साधु अमृत, चन्द्रमा और देवनदी श्रीगंगाजी के समान हैं और असाधु विष, अग्नि और कर्मनाशा नदी के समान हैं ॥८॥

विशेष—'भल अनभल ..' उपर्युक्त दृष्टान्तों की करनी यहाँ दिखाते हैं कि कमल और अमृत के समान साधु अपनी भली करनी से सराहे जाते है और अन्त में सुयश की विभूति स्वर्ग (वा परविभूति) को पाते हैं। जोंक और मदिरा के समान असाधु अपनी बुरी करनी से दूषित हो जाते है और अन्त में अपयश की विभूति (नरक) को पाते है।

(२) 'सुधा-सुधाकर. .' यहाँ साधुओं और खलों के तीन-तीन दृष्टान्त क्रमशः उनके वचन, मन और तनु (कर्म) दिखाने के लिये हैं। साधु का वचन सुधा के समान मधुर, सन्तुष्टि-प्रद, पुष्टि-रूप, विराग-वर्द्धक और अमरत्व-रूप मोक्षदाता है। मन चन्द्रमा के समान शीतल, स्वभाव सबको आह्लाद-कारक है और शरीर गंगाजी की तरह पवित्र है जिसका कर्म स्पर्श से पाप का हरण करना है, यथा—"जेहि दरस-परस-समागमादिक पापरासि नसाइये।" (वि० १३६) यहाँ दर्शन को चन्द्रमा के समान तापहारी, स्पर्श को गंगा के समान पापहारी और समागम को सुधा के समान वचना द्वारा संशयहारी कहा गया है। सन्त इन तीन प्रकारों से पापराशि का नाश करते हैं। खलों के वचन विष के समान मृत्युकर, मन अग्नि के समान तापकर और तनु कर्मनाशा के समान शुभ कर्म हरनेवाला है। इनके भी समागम से मृत्यु, दर्शनों से ताप और स्पर्श से पाप की प्राप्ति दिखलाई।

गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई ॥६॥

दोहा—भलो भलाइहि पै लहइ, लहइ निचाइहि नीच।
सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीच ॥५॥

अर्थ—गुण और अवगुण सब कोई जानते हैं, पर जिसको जो रुचता है, उसे वही अच्छा लगता है ॥६॥ भला भलाई ही पर (प्रशंसा) पाता है और नीच निचाई ही पर (शोभा) पाता है, जैसे अमृत अमरता पर सराहा जाता है और विष मृत्यु पर सराहा जाता है ॥५॥

विशेष—(१) 'गुन अवगुन'·· 'उपर्युक्त प्रसंग से शंका हुई कि 'खल' अवगुणों को नहीं जानते होंगे, जानते तो वैसा नहीं करते। इसपर कहते हैं कि जानते है, पर प्रारब्धानुसार जिस विषय में जैसी चित्त-वृत्ति होती है, वही भाव हुआ करता है। यह भाव बिना गुण-दोष विचारे ही स्वतः हो जाता है, यही स्वभाव कहाता है। यह सत्संग से ही बदलता है, जैसे—'काक होहिं पिक बकउ मराला।' इसपर कहा गया, अन्यथा अमिट है, यथा—"जो जो जेहि-जेहि रस मगन, तहँ सो मुदित मन मानि ॥" (दोहावली ३७१); "महादेव अवगुनभवन, बिष्नु सकल गुनधाम। जेहि कर मन रम जाहि सन, तेहि तेही सन काम ॥" (दो० ८०); अर्थात् 'खल' सुधा आदि के गुण भी जानते हैं, पर 'गरल' आदि के गुण उनके भावानुसार हैं। यहाँ 'सुधा' मात्र कहकर इनके वर्गवाले 'सुधाकर, सुरसरि' के भाव भी ले लिये हैं, इसी प्रकार 'गरल' इस आदि कथित पद से इसके वर्गवाले 'अनल कलिमलसरि' के भाव भी सूचित कर दिये हैं। अतः, उन्हीं को ग्रहण किया है और उन्हीं में उन्हें हर्ष रहता है। सन्त भी दोनों पक्षों के ज्ञाता है, पर वे सुधा आदि की भाँति गुण-ग्रहण किये हुए है, उन्हींमें उन्हें हर्ष होता है, यह प्राकृतिक प्रवृत्ति है, तथा—"असतां शीलमेतद्धि परिवादोऽथ पैशुनम्। गुणानामेव वक्तारः सन्तः सत्सु नराधिप ॥" (महा० शान्ति० १३२।१३); अर्थात् हे राजन! दूसरों के दोष कथन एवं चुगली यह खलों का स्वभाव है और सन्तों में कितने ऐसे हैं जो दूसरों के गुणों का ही कथन किया करते है।

अलंकार—'भलो भलाई·····' इसमें 'दीपकालंकार' है, क्योंकि भले और नीच दोनों के धर्म 'लहइ' पद में ही हैं।

खल अघ अगुन साधु गुनगाहा । उभय अपार उदधि अवगाहा ॥१॥
तेहि ते कछु गुन-दोष बखाने । संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने ॥२॥

शब्दार्थ—गाहा (गाथा) = कथा, यथा—"करन चहउँ रघुपति गुन गाहा । लघु मति मोरि चरित अवगाहा ॥" (दो० ७); इसमें 'गुन गाहा' को ही उत्तरार्द्ध में 'चरित अवगाहा' स्पष्ट कहा गया है । 'गाथा' को सुखोच्चारणार्थ गाहा लिखा गया है । अवगाहा = अथाह । अगुन = अवगुण ।

अर्थ—खलों के पापों और अवगुणों की तथा साधुओं के गुणों की कथाएँ—ये दोनों अपार और अथाह समुद्र की भाँति है ॥१॥ इसीसे कुछ ही गुण-दोष कहे गये हैं, क्योंकि बिना पहचाने इन (गुण-दोषों) का ग्रहण और त्याग नहीं हो सकता ।

विशेष—(१) 'खल अघ···' अर्थात् खलों के पापों का पार और थाह नहीं मिल सकता । इनके विस्तार और गम्भीरता का अन्त नहीं है । दैवी-आसुरी सम्पत्ति अनादि काल से आ रही है और आगे भी कल्पान्त तक जायगी । तब कहने का प्रयास क्यों किया ? इसपर कहते हैं—

(२) 'तेहिते कछु···'—साधारणतया तो गुण-अवगुण सभी जानते ही हैं, ऊपर कह आये हैं, पर उतना ही जानना प्रकृति-प्रवाह में काम नहीं देता, इसलिये यहाँ 'बखाने' कहा है अर्थात् विस्तार-पूर्वक कहा, जैसे—साधुओं को सुधा आदि तीन और खलों को गरल आदि तीन दृष्टान्तों द्वारा जनाया । ऊपर भी बड़े-बड़े दृष्टान्तों द्वारा बतलाया है, यही सत्संग स्वभाव-भंग का साधन है, जो पूर्व 'काक होहिं पिक···' में कहा गया था ।

शंका—गोस्वामीजी तो श्रीरामचरित लिखते हैं, इन गुण-दोषों के कथन से क्या प्रयोजन है ?

समाधान—विस्तार-पूर्वक कहने से उसपर चित्त-वृत्ति रहेगी । अतः, संग्रह-त्याग में सहायता होगी । गुणी का संग और अवगुणी का त्याग करेंगे । अतः, यह विवेक का रहस्य वर्णन शिक्षात्मक है ।

सम्बन्ध—ऊपर गुण-अवगुण के स्वरूप कहे गये हैं, इनका ग्रहण और त्याग विवेक से होता है । विवेक का स्वरूप अब कहते हैं—

भलेउ पोच सब बिधि उपजाये । गनि गुन दोष बेद बिलगाये ॥३॥
कहहिं बेद इतिहास पुराना । बिधि-प्रपंच गुन अवगुन साना ॥४॥

शब्दार्थ—इतिहास = श्रीमद्वाल्मीकीय, महाभारत आदि । पुराण = पद्मपुराण, आदि ।

अर्थ—भले और बुरे सभी को ब्रह्माजी ने उत्पन्न किया है, गुणों और दोषों को विचार कर वेदों ने उन्हें पृथक्-पृथक् कर दिया है ॥३॥ वेद, इतिहास और पुराण कहते हैं कि विधाता की सृष्टि गुण-अवगुण से सनी हुई है॥४॥

विशेष—'भलेउ पोच···' ब्रह्माजी ने भला-बुरा मिलाकर उपजाया है, उसे ही समझाने एवं अलग-अलग करने के लिये वेद की प्रवृत्ति हुई, यहाँ उपक्रम में 'बिधि' कहा है, इन्हें ही उपसंहार में "बिस्व कीन्ह करतार ।" से स्पष्ट किया है कि इस प्रपंच एवं विश्व के रचयिता ब्रह्मा ही हैं । 'विद्-ज्ञाने' धातु से 'वेद' शब्द निष्पन्न है—जो भले-बुरे का ज्ञान करावे, वह वेद है । 'गनि'—विचार-पूर्वक संख्या कर दी है कि विधि-प्रपंच में ये गुण और ये अवगुण हैं । वेद के कहे हुए उन्हीं गुणों को गुण और दोषों को दोष हम भी कह रहे हैं । ग्रहण-त्याग के लिये यह विवेक-पूर्ण परिपाटी वेद की चलाई हुई है । वेद के बिलगाने के स्वरूप का जैसा विस्तार इतिहास-पुराणों ने किया है, वही आगे कहते हैं—

दुख सुख पाप पुन्य दिन राती । साधु असाधु सुजाति कुजाती ॥५॥
दानव देव ऊँच अरु नीचू । अमिअ सजीवन माहुर मीचू ॥६॥

माया ब्रह्म जीव जगदीसा । लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा ॥७॥
कासी मग सुरसरि कबिनासा । मरु मारव महिदेव गवासा ॥८॥
सरग नरक अनुराग बिरागा । निगम अगम गुन दोष बिभागा ॥९॥

शब्दार्थ—लच्छि = लक्ष्मी । मरु = मारवाड़ । मारव = मालवा । गवासा = गोभक्षी = कसाई । कबिनासा = कर्मनाशा नदी, ['क + बिनासा' = 'क' से कर्म अर्थ हुआ—'नामैकदेशग्रहणे नाममात्रग्रहणम्—इति न्यायात्, यथा—"अंगद हनू समेत ।" (सुं० दो० ४४); और विनाश का अर्थ नाश लेने पर 'कर्मनाशा' स्पष्ट हुआ, इसका पाठान्तर 'क्रमनासा' भी है । यह भी कर्मनाशा का ही बोधक है, पर प्राचीन प्रतियों का पाठ 'कबिनासा' ही है] कर्मनाशा नदी जो शाहाबाद जिले के कैमोर पहाड़ से निकलकर चौसा के पास गंगाजी में मिलती है । श्रीमद्वाल्मीकीय रा० सर्ग ५७-६० में कथा है कि राजा त्रिशंकु ने सदेह स्वर्ग-प्राप्ति के लिये यज्ञ कराने को गुरु वसिष्ठजी से कहा । गुरुजी ने कहा कि इस देह से स्वर्ग-प्राप्ति नहीं हो सकती । तब राजा ने गुरुपुत्रों से भी वही कहा । उन्होंने भी अस्वीकार किया । जब फिर राजा ने कहा कि हम दूसरा गुरु कर लेंगे, तब गुरुपुत्रों ने चांडाल होने का शाप दिया । फिर चांडाल-रूप से वे श्रीविश्वामित्रजी की शरण में गये । उन्होंने त्रिशंकु को अपने तपोबल से स्वर्ग पहुँचाया । वहाँ से देवताओं ने उसे ढकेल दिया, तब वह 'त्राहि-त्राहि' करता हुआ उल्टा नीचे गिरा । श्रीविश्वामित्रजी ने उसे तपोबल से आकाश ही में रोक दिया । उसी त्रिशंकु के मुख से जो लार गिरी, उससे कर्मनाशा नदी हुई, जो स्पर्श से शुभ कर्मों का नाश करती है । उसी त्रिशंकु के रथ की छाया ९६ कोस पूर्व-पश्चिम और ६४ कोस उत्तर-दक्षिण पर पड़ी, वही स्थान मगह (मगध) देश है । यह बिहार प्रान्त का दक्षिण भाग कर्मनाशा नदी के पूर्व में है । कई लोगों का विचार है कि पूर्व समय में कर्मनिष्ठ ब्राह्मण कर्मनाशा नदी पार कर कीकट और वंग देश को नहीं जाते थे इसी कारण अब भी आर्य कीकट (मगध) को हेयदृष्टि से देखते आ रहे हैं—इसमें कुछ अंश हिं० श० सा० के भी हैं ।

अर्थ—दुःख और सुख, पाप और पुण्य, दिन और रात, साधु और असाधु उच्च जाति और नीच जाति ॥५॥ दैत्य और देवता, ऊँच और नीच, अमृत जीवनरूप और विष मृत्युरूप ॥६॥ माया और ब्रह्म, जीव और जगदीश (ईश्वर), लक्ष्मी और दरिद्रता, रंक और राजा ॥७॥ काशी और मगध, गंगा और कर्मनाशा, मारवाड़ और मालवा, ब्राह्मण और कसाई ॥८॥ स्वर्ग और नरक, अनुराग और विराग—[सृष्टि के इन द्वन्द्व (जोड़े) पदार्थों में] वेदों और शास्त्रों ने गुणों और दोषों का विभाग कर दिया है ॥९॥

विशेष—यहाँ एक साथ सम्बन्धवाली परस्पर विरोधी बातें कही गई हैं । दुःख-सुखादि स्पष्ट हैं । माया—त्रिगुणात्मिका—सत्त्व, रजस् और तमस् तीन गुणोंवाली, जो जीवों को मोहित करती है, यथा—"मैं अरु मोर तोर तैं माया । जेहि बस कीन्हें जीव निकाया ॥" (अर० दो० १६) । ब्रह्म—जो जीव को मोह के रज्जु (रस्सी) से छुड़ाता है, यथा—"बंध मोच्छप्रद सर्बपर, मायाप्रेरक सीव ।" (अर० दो० १७) । जीव—नियाम्य—किसी के बनाये हुए नियमों से चलनेवाला । 'जगदीश' से यहाँ लोकपाल, इन्द्रादि एवं त्रिदेव लिये जायँगे, जो जीव की बाहर-भीतर इन्द्रियों में एक-एक रूप से रहकर सामान्य जीवों के नियामक (नियमों में चलानेवाले) हैं ।

शंका—माया, ब्रह्म और जीव ब्रह्मा के 'उपजाये' कैसे हैं ? क्योंकि माया से शिव-ब्रह्मा स्वयं डरते हैं, जीव ईश्वर का अंश और ब्रह्म ब्रह्मा का ही अंशी है ।

समाधान—ग्रन्थकार ने यहाँ दो भूमिकाएँ लिखी हैं । एक—'भलेउ पोच सब बिधि उपजाये ।' की और दूसरी—'बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना ।' की । अतः, जो ब्रह्मा के 'उपजाये' हैं, पहली भूमिका के अनुसार उनकी गणना 'बिधि-प्रपंच' में करनी चाहिये और जो स्वतः सने हुए हैं, जैसे—माया ब्रह्म और जीव, दूसरी भूमिका के अनुसार उन्हें 'बिधि प्रपंच' में नहीं गिनना चाहिये । अतः, यह विचार रखकर ही ऊपर के अर्थ को समझना चाहिये, यथा—"सभयः रानि कह कहसि किन, कुसल राम महिपाल ।

लखन भरत रिपुदमन सुनि, भा कुबरी-उर साल ॥" (अ० दो० १३); इस दोहे में कुबरी के हृदय हुई, परन्तु भरत-शत्रुघ्न के प्रति नहीं, क्योंकि उन्हीं की भलाई के लिये ही तो प्रपंच रचा गया है। प्रकार यहाँ भरत-शत्रुघ्न को कुबरी अपने हृदय में प्रपंच से दूर रखती है और इनके प्रति पीड़ा का अनुभ नहीं करती, उसी प्रकार इस प्रसंग में 'माया, ब्रह्म और जीव' को विधि-प्रपंच में नहीं गिनना चाहिये।

जीव कर्मानुसार फल-भोग के लिये हैं, माया का कार्य ही प्रपंच है और ब्रह्म अन्तर्यामी-रूप से प्रपंच में सना हुआ-सा है।

(२) 'निगम अगम गुन दोष···' इस द्वन्द्व कथन का उपक्रम 'भलेउ पोच सब···गनि गुन दोष वेद बिलगाये।' से है और यहाँ उप 'हार हुआ। इसके बीच में दुःख दोषरूप और सुख गुणरूप तथा पाप दोष रूप और पुण्य गुणरूप है, इसी तरह सब द्वन्द्वों में समझना चाहिये।

सम्बन्ध—ऊपर वेदों का गुण-दोष विभाग करना कहा, अब उसका प्रयोजन कहते हैं—

दोहा—जड़ चेतन गुन-दोष-मय, बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार ॥६॥

अर्थ—इस जड़-चेतन और गुण-दोषमय जगत् (प्रपंच) को ब्रह्माजी ने रचा है, हंस रूपी सन्त दोष रूपी जल का त्यागकर गुण रूपी दूध का ग्रहण करते हैं।

विशेष—यहाँ गुण-अवगुण से सने हुए प्रपंच का स्वरूप प्रकट करते हैं कि वह जल और दूध की तरह एक दूसरे में सना (मिला) है, जैसे जल-मिश्रित दूध यन्त्र के द्वारा जाना जा सकता है कि इसमें इतना जल है और इतना दूध, पर दोनों के मिश्रण से जल त्यागकर दूधमात्र पी लेना हंस ही का कार्य है। वैसे ही यन्त्र-रूप वेद-शास्त्र के द्वारा गुणों और दोषों का स्वरूप जाना जा सकता है, पर उनमें से दोषों को त्यागकर गुणमात्र ग्रहण करना सन्तों का ही कार्य है। यह सामर्थ्य दूसरे में नहीं होता, यथा—"सगुन खीर अवगुन जल ताता। मिलइ रचइ परपंच बिधाता॥ भरत हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥ गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्ह उजियारी॥" (अ० दो० २३१) अर्थात् सन्तों को चाहिये कि उपर्युक्त द्वन्द्वों में दोषों का त्याग और गुणों का संग्रह करें। इस प्रमाण से ये; बातें परम विवेकी श्रीभरतजी में चरितार्थ हैं, तथा—"भरत बिबेक बराह बिसाला। ·····बिमल बिबेक धरम नय साली। भरत भारती मंजु मराली॥" (अ० दो० २६६)।

अलंकार—'परंपरित रूपक' क्योंकि सन्त को हंस कह गुण को पय और विकार को वारि कहा गया है। कोई-कोई यहाँ 'द्वितीय-निदर्शना' भी मानते हैं, क्योंकि यहाँ उपमान हंस के गुण सन्त में स्थापित किये गये हैं।

अस बिबेक जब देइ बिधाता। तब तजि दोष गुनहिं मन राता॥१॥

अर्थ—जब विधान कर्त्ता ब्रह्माजी ऐसा (उपर्युक्त हंस का-सा) विवेक दें, तभी मन दोषों को छोड़कर गुणों में रत (अनुरक्त) होता है।

विशेष—'अस बिबेक···' 'अस' शब्द से स्पष्ट हुआ कि उपर्युक्त दोष-रूपों का त्याग और गुण-रूपों का ग्रहण ही विवेक का स्वरूप है। उसकी प्राप्ति ब्रह्मा के देने से कही गई है अर्थात् वेद के बिलगा कर कहने से ही विवेक नहीं हो सकता, क्योंकि विवेक बुद्धि से होता है, उसके देवता (प्रकाशक) ब्रह्मा हैं, यथा—"अहंकार सिव बुद्धि अज।" (लं० दो० १५)। वे जब बुद्धि में वेद का तात्पर्य समझने की शक्ति दें, तब विवेक हो। ब्रह्माजी ने 'भलेउ पोच' को उपजाया है। अतः, गुण-दोषों के यथार्थ ज्ञाता भी वे ही हैं।

तात्पर्य यह है कि श्रीब्रह्माजी ने जगत् की रचना की और वेद का भी विस्तार करके संसार को गुणों और दोषों का रूप बतलाया। तब लोग उपर्युक्त गुणों में अनुरक्त होने लगे, अर्थात् काशी और मालवा में निवास करते तथा मगह और मारवाड़ का त्याग करते, इसी प्रकार वे ब्राह्मण का संग, कसाई का त्याग, माया का त्याग, ब्रह्म का ग्रहण आदि करते हैं। वैसे शरीर-रूपी अंड (सृष्टि) में भी एक रूप से बुद्धि में ब्रह्मा हैं और प्रत्येक इन्द्रिय और अन्तःकरण में शुभ-अशुभ वृत्ति रूप दो-दो देश हैं। सन्त को ब्रह्मा से प्रसादित (अनुगृहीत) बुद्धि-द्वारा शुभ ही को ग्रहण करना चाहिये। जैसे काशी के पास ही मगह भी है, पर सन्त काशी में बसते हैं, मगह का त्याग करते हैं, वैसे बुद्धि में परमार्थ-वृत्ति काशी है और संसार-वृत्ति मगह, चित्त से श्रीरामजी में प्रेम होना मालवा और व्यावहारिक राग-द्वेष-वृत्ति 'मरु' देश है। भक्ति-सम्बन्धी अहंकार-वृत्ति गंगाजी और कर्म की अहंकार-वृत्ति कर्मनाशा है। मन की परमार्थ-वृत्ति ब्राह्मण और सांसारिक वृत्ति कसाई है। इसी प्रकार श्रवण आदि इन्द्रियों में भी परमार्थ पक्ष की वृत्तियाँ गुणरूपिणी और सांसारिक वृत्तियाँ दोषरूपिणी हैं। गुण-रूपिणी वृत्तियों का ग्रहण और दोष-रूपिणी वृत्तियों का त्याग करना विवेक है। अतः, असत् पक्ष का त्याग और सत् पक्ष का ग्रहण-रूप विवेक जो शास्त्रों में कहा गया है, यहाँ स्पष्ट हुआ, यथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि-भजन जगत सब सपना॥" (अर० दो० ३८); तथा—"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।" (गीता २।१६); इसमें भी सत् से जीवात्मसम्बन्धी परमार्थ पक्ष और असत् से देहसम्बन्धी व्यवहारपक्ष लिया गया है।

सत्संग से भी विवेक का होना कहा गया है, यथा—"बिनु सतसंग बिवेक न होई।" (दो० २); अर्थात् सन्त लोग सब इन्द्रियों से गुण-रूप भगवद्भजन ग्रहण कर चुके हैं, शुद्ध सत्त्वमय होने से भगवद्भजन दूध के समान है उसके ग्रहण से सन्त हंस के समान होते हैं। इन्द्रियों से विषय-व्यवहार त्याग कर रक्खा है यही 'बारि-बिकार' का त्याग है, क्योंकि विषय को 'बारि' कहा गया है, यथा—"बिषय-बारि मन-मीन भिन्न नहिं होत…" (वि० १०२); सन्तों के संग से इन्द्रियाँ भजन में लग जाती हैं, विषय व्यवहार छूट जाता है। यही विवेक का होना है।

काल सुभाव करम बरियाई। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई॥२॥
सो सुधारि हरिजन जिमि लेहीं। दलि दुख दोष बिमल जस देहीं॥३॥
खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू। मिटइ न मलिन सुभाव अभंगू॥४॥

अर्थ—काल, स्वभाव और कर्म की प्रबलता से भले लोग भी मायावश होकर भलाई में चूक जाते हैं॥२॥ उस चूक को हरिजन (अपने सत्संग से) जैसे सुधार लेते हैं और दुःख-दोष का संहार कर निर्मल यश देते हैं॥३॥ (वैसे ही) दुष्ट भी सुसंग पाकर भलाई करने लगते हैं, (पर) उनका मलिन एवं अमिट स्वभाव नहीं छूटता॥४॥

विशेष—(१) 'काल सुभाव करम …' इन कालादि की प्रबलता सबपर व्याप जाती है, यथा—"काल, कर्म, गुन, सुभाव सबके सीस नपत।" (वि० १३०); काल अपने अनुकूल मनुष्यों की प्रवृत्ति बना देता है, जैसे—राजा परीक्षित भलाई से चूक गये, मुनि के गले में साँप डाल दिया। महाभारत, वन पर्व ५३–७६, इन सत्ताइस अध्यायों में नल-दमयन्ती की कथा है। वहाँ कालिदास ने नल की मति फेर कर रानी के साथ भारी विश्वासघात कराया एवं नाना प्रकार से कष्ट दिया है। फिर मित्र कर्कोटक के सुसंग से एवं दमयन्ती के सन्त-समाज के संग से वे दोष-दुःख दूर हुए। वि० २४ के 'सिद्धान्त-तिलक' में कथा देखिये। वहाँ नल ने भाई पुष्कर से स्पष्ट कहा है—"न त्वया तत्कृतं कर्म येनाहं विजितः पुरा। कलिना तत्कृतं कर्म त्वं च मूढ न बुद्ध्यसे॥" (अ० ७८।२२)। दुर्भिक्ष आदि काल के वश में कितनों का धर्म छूट जाता है। कर्म की प्रबलता से ही राजा नृग भलाई से चूक गये जिससे उन्हें,

गिरगिट होना पड़ा। स्वभाव की प्रबलता किसी अंश में ज्ञानी को भी वश में रखती है, यथा—"सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।" (गीता ३।३३); मायावश होने से सतीजी भलाई से चूक गईं, यथा—"बहुरि राम-मायहिं सिर नावा। प्रेरि सतिहिं जेहि झूठ कहावा॥" (दो० ५५)।

(२) 'सो सुधारि···' यहाँ हरिजनों का सुधार-कार्य करना कहते हैं। अतः, उपर्युक्त भले लोग जो कालादिवश चूके हैं वे सामान्य हैं और ये हरिजन विशेष हैं, इनपर कालादि की प्रबलता नहीं पड़ती यथा—"विधिबस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥" (दो० २) तथा—"कोटि विघ्न ते संत कर, मन जिमि नीति न त्याग॥" (लं० दो० ३३; ये सन्त हंस की तरह विवेकी हैं। अतः, दुग्धरूप गुण छोड़कर दोषरूप जल को ग्रहण नहीं करते। कहा भी है—"जे रहीम साँचे प्रकृति, का करि, सकत कुसंग। चंदन विष व्यापय नहीं, लिपटे रहत भुजंग॥" इत्यादि। अतः, ये संग करनेवालों के भी दोष-दुःख का नाश कर और उन्हें अपना गुण देकर निर्मल यश देते हैं।

(३) 'खलउ करहिं भल···' खल स्वाभाविक मलिन होते हैं। यदि संयोगवश उन्हें सत्संग प्राप्त हो गया, तब कुछ काल तक भलाई करने लगते हैं, पर ज्योंही उन्हें कुसंग मिला कि फिर वे पूर्व स्वभाव के हो जाते हैं, तथा—"कोटि जतन कोऊ करै, परै न प्रकृतिहि बीच। नल बल जल ऊँचो चढ़ै, अंत नीच को नीच।" (विनयकी टीका)। अतः, साधारणतया तो स्वभाव अभंग ही होता है। (दोहावली ४८३ से ४८६ तक का 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये।) अनेक जन्मों की कुटेवें थोड़े सुसंग से नहीं सुधरतीं, विशेष श्रद्धा पूर्वक सत्संग की आवश्यकता रहती है। तभी उनका सुधार होता है, यथा—"सठ सुधरहिं सतसंगति पाई॥" (दो० २)।

(४) 'दुख दोष···' दुःख उक्त चूक का है और दोष कालादिवश होने से आ जाते हैं। दुःख-दोष मिटने पर उनकी प्रशंसा होने लगती है। राजा परीक्षित की चूक के प्रति हरिजन शुकदेवजी ने उनके दुःख दोष मिटाये और निर्मल यश भी दिया। ऐसे ही सती की चूक को शिवजी ने और काकभुशुण्डी की चूक को उनके गुरुजी ने सुधारा और निर्मलयश प्राप्त कराया। हरिजन अपने परोपकारी स्वभाव से दुःख-दोष छुड़ाते हैं, यथा—"पर-उपकार वचन-मन-काया। संत सहज सुभाव खगराया॥" (उ० दो० १२०)।

सम्बन्ध—ऊपर स्वभाव-व्यतिक्रम कहा, अब वेष-व्यतिक्रम कहते हैं—

लखि सुबेष जगबंचक जेऊ। बेष-प्रताप पूजिअहिं तेऊ॥५॥
उघरहिं अंत न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू॥६॥
कियेहुँ कुबेष साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत हनुमानू॥७॥

अर्थ—जो जगत् को ठगनेवाले हैं, सुन्दर वेष (धारण करते हैं, उसको) देखकर उस वेष के प्रताप से वे भी पूजे जाते हैं॥५॥ परन्तु अन्त में खुल जाते हैं, (फिर उनका) निर्वाह नहीं होता, जैसे कालनेमि, रावण और राहु का (निर्वाह नहीं हुआ) ॥६॥ कुवेष किये रहने पर भी साधु का सम्मान ही होता है, जैसे संसार में श्रीजाम्बवानजी और श्रीहनुमानजी का हुआ॥७॥

विशेष—(१) 'लखि सुबेष···' 'जगबंचक', यथा—"बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के॥" (दो० ११); बिरचि हरिभगति को बेष बर टाटिका, कपट-दल हरित पल्लवनि छावौं॥" (वि० २०८)। ऐसे ठग भी सुवेष के प्रताप से पूजे जाते हैं, पर हृदय शुद्ध न रहने से कलई खुल जाती है, यथा "बचन बेष में जो बनइ, सो बिगरइ परिनाम। तुलसी मन में जो बनइ, बनी बनाई राम॥" (दोहावली १५४)।

(२) 'उघरहिं अंत···' बंचक कपट खुलने पर मारे जाते हैं, जैसे—सुवेष देखकर ही श्रीहनुमानजी

ने पहले कालनेमि की पूजा की (माथ नवाया), फिर कपट खुलने पर मारा। इसकी कथा लंकाकाण्ड (दो० ५५-५६) में है। रावण पंचवटी में यति-वेष बनाकर श्रीसीताजी के पास गया। वेष देखकर उन्होंने 'गोसाईं' कहा और दुष्ट वचन सुनकर भी 'दुष्ट की नाईं' कहा, दुष्ट नहीं कहा। अन्त में कपट खुला, श्रीहनुमानजी से जानकर श्रीरामजी ने उसे मार ही डाला। राहु ने भी सुवेष (देव-रूप) करके अमृत पीने पाया, यह आदर हुआ, फिर तुरत कपट खुला, तब शिर काटा गया।

अलंकार—'उदाहरण' 'जिमि' पद से स्पष्ट है। इन लोगों ने पहले साधु रूप धारण किया, फिर अपने पूर्व रूप राक्षस एवं दैत्य में परिणत हो गये, इसपर मारे गये, इससे 'पूर्व रूप प्रथम भेद' भी हो सकता है।

(३) 'कियेहुँ कुबेष·····' साधु अपने कल्याण के लिये कुवेष बनाये रहते हैं, यथा—"सब बिधि कुसल कुबेष बनाये।" (दो० १६०); क्योंकि सुवेष से लोक में प्रतिष्ठा होगी, उससे अपनी हानि है, यथा—"लोकमान्यता अनल-सम, कर तप-कानन दाहु।" (दो० १६१);—इसका विशेष देखिये। खल तो पुजाने के लिये सुवेष बनाते हैं, यथा—"बंचक बिरचि बेष जग छलही।" (अ० दो० १६७); और सन्त पूजने के डर से कुवेष बनाये रहते हैं।

सम्बन्ध—अब आगे कुसंग-सुसंग से हानि-लाभ दिखाते हैं—

हानि कुसंग सुसंगति लाहू । लोकहु बेद बिदित सब काहू ॥८॥
गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा । कीचहिं मिलइ नीच जल संगा ॥९॥
साधु असाधु सदन सुक सारी । सुमिरहिं राम देहिं गनि गारी ॥१०॥

अर्थ—कुसंग से हानि और सुसंग से लाभ होता है, यह बात संसार में भी और वेदों में, सभी को प्रकट है ॥८॥ वायु के संग से धूल आकाश पर चढ़ जाती है और वही नीच (गतिवाले) जल के संग से कीचड़ में मिलती है ॥९॥ साधुलोगों के घर के (पले हुए) तोता-मैना राम-नाम का स्मरण करते हैं और असाधु के घर के, चुनी हुई गालियाँ देते हैं ॥१०॥

विशेष—(१) 'हानि कुसंग·····' यथा—"को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मते चतुराई॥" (अ० दो० २३) एवं—"केहि न सुसंग बड़प्पन पावा।···" (दो० ६)।

(२) 'गगन चढ़इ·····' वायु आकाश से उत्पन्न है और आकाश में ही रहती है। इससे यह ऊर्ध्वगति रहती है, क्योंकि इसकी संगति ऊर्ध्ववर्त्ती की है। जल अधोवर्त्ती पृथ्वी के आधार पर रहता है, इससे यह अधोगतिवाला है। यहाँ सुसंग वायु रूप है और कुसंग जल रूप है। वायु का आकाश से संसर्ग रहता है, वैसे सत्संग में आकाश के गुण रूप शब्द (सदुपदेश) से जीव रूपी रज ऊपर चढ़ता है और विषय-वारि में मन-मीन बनानेवाले विषयी लोगों के कुसंग में पड़कर इसकी अधोगति होती है, यथा—"रज मग परी निरादर रहई। सब कर पद-प्रहार नित सहई॥ मरुत उड़ाव प्रथम तेहि भरई।" (उ० दो० १०५); अर्थात् सबकी लात सहनेवाली तुच्छ धूल को ऊर्ध्व गतिवाली हवा ऊँचे ले जाती है, वही धूल नीचे जानेवाले जल के संग कीचड़ में जा मिलती है, फिर हवा उड़ाना भी चाहे तो नहीं उड़ा सकती, वैसे जो कुसंग में बहुत समय तक पड़े रहने से अति मूर्ख हो गये हैं, उनके हृदय में सत्संग का प्रभाव नहीं पड़ता, यथा—"फूलइ फरइ न बेत, जदपि सुधा बरषहिं जलद। मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं बिरंचि सम॥" (लं० दो० १६)।

अलंकार—'प्रमाण' (प्रत्यक्ष)।

(३) 'साधु असाधु—' साधु के संग से तोते-मैना की पहले तो लोक में प्रशंसा होती है, फिर राम-नाम से परलोक बनता है। असाधु के संग से लोक में उनकी निन्दा होती है और परलोक भी बिगड़ता है, यथा—"संत संग अपबर्ग कर, कामी भव कर पंथ।" (उ० दो० ३३)। गनि गारी = चुनी-चुनी गालियाँ—यह मुहावरा है।

अलंकार—साधु पक्ष में 'प्रथम उल्लास' और असाधु संग में 'द्वितीय उल्लास' है।

धूम कुसंगति कारिख होई। लिखिय पुरान मंजु मसि सोई ॥११॥
सोइ जल अनल अनिल संघाता। होइ जलद जग जीवनदाता ॥१२॥

शब्दार्थ—कारिख = कालिख (स्याही)। अनिल = वायु। संघाता = मेल से। जीवन = प्राण।

अर्थ—कुसंग से धुआँ कालिख होता है, (सुसंग से) वही सुन्दर स्याही (मसि) बनता है और उससे पुराण लिखे जाते हैं ॥११॥ वही (धुआँ) पानी, अग्नि और वायु के संग से मेघ होकर संसार का जीवनाधार बनता है ॥१२॥

विशेष—(१) 'धूम कुसंगति···' धुएँ लकड़ी, कंडे आदि के कुसंग से स्याही होकर घर काला करता है, तेल-बत्ती आदि के सुसंग से काजल बनकर 'मसि' बनता है और पुराण लिखने में काम आता है, जिससे वह पूजनीय हो जाता है। पुराण ही का लिखा जाना कहा है, वेद का नहीं, क्योंकि वेद श्रुति कहाता है। अतः, कानों-कान ही आने में उसका सम्मान है, लिखना मना है, यथा—"वेदविक्रयिणश्चैव वेदानां चैव दूषकाः। वेदानां लेखकाश्चैव ते वै निरयगामिनः॥" (महा० अनुशा० २३।७२); अर्थात् वेद बेचनेवाले, वेद विदूषक और वेदों के लेखक अवश्य नरकगामी होते हैं।

अलंकार—'तद्गुण' क्योंकि अपना गुण छोड़कर संगति का गुण लेना कहा गया है।

(२) 'सोइ जल···' ताप-बल से जल ज्योंही भाप बनकर अन्तरिक्ष में इकट्ठा होता है और धूम-कण अथवा रजःकण से जमता है, त्योंही जलद (मेघ) बन जाता है, यथा—"धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः॥" (मेघदूत); तथा—'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' (गीता ३।१४); "धूम अनल-संभव सुनु भाई। तेहि बुझाव घन पदवी पाई॥" (उ० दो० १०५)।

'जीवनदाता'—(धुआँ) स्याही बनकर पंडितों का जीवनदाता हुआ, मेघ बनने पर अन्न आदि पैदा कर जगत्मात्र का जीवनाधार बना अर्थात् जगत् को हरा-भरा कर देता है।

(३) इस प्रसंग में 'रज, पवन, जल, धूल'—इन जड़ों में और 'सुक-सारी' आदि चेतनों में भी परस्पर संग का प्रभाव कहा गया, अर्थात् जड़ में जड़ के संग का और चेतन में चेतन के संग का प्रभाव पड़ता है।

दोहा—**ग्रह भेषज जल पवन पट, पाइ कुजोग सुजोग।**
होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग, लखहिं सुलक्खन लोग॥
सम प्रकास तम पाख दुहुँ, नाम भेद बिधि कीन्ह।
ससि सोषक पोषक समुझि, जग जस अपजस दीन्ह॥

शब्दार्थ—सुलक्खन (सुलक्षण) = अच्छे लखनेवाले, ज्योतिषी, वैद्य, आदि।

अर्थ—(इसी प्रकार) ग्रह, ओषधि, पानी, पवन और वस्त्र—(ये) बुरे और भले योग (संग) पाकर संसार में बुरे और भले पदार्थ हो जाते हैं, अच्छे लखनेवाले लोग ही इसे लख (जान) सकते हैं॥ दोनों (कृष्ण-शुक्ल) पक्षों में उजाला और अँधेरा बराबर ही रहता है, (पर) विधाता ने नाम में भेद कर दिया (एक का कृष्ण और दूसरे का शुक्लपक्ष नाम रख दिया), एक चन्द्रमा को घटानेवाला और दूसरा उसकी वृद्धि करनेवाला है। अतः, संसार ने एक (कृष्णपक्ष) को अपयश और दूसरे (शुक्लपक्ष) को यश दिया।

विशेष—(१) 'ग्रह भेषज···'—'ग्रह'—रवि, सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु—ये नौ हैं। ये ग्रह शत्रु-मित्र के संयोग से क्रूर और शुभ होते हैं, यथा—"ससि सर नव दुइ छ दस गुन, मुनि फल बसु हर भानु। मेषादिक क्रम तें गनहि, घातचन्द्र जियँ जानु॥" (दोहावली ४५६); अर्थात् चन्द्रमा इन-इन स्थानों पर घातक है—मेषादि राशियों पर क्रमशः १, ५, ९, २, ६, १०, ३, ७, ४, ९, ११, १२। ऐसे ही और ग्रहों के भी संयोगादि की व्यवस्था ज्योतिषी जानते हैं। इनमें कुछ शुभ हैं और कुछ अशुभ। कितने अशुभ भी शुभ के योग से शुभ और शुभ भी अशुभ के योग से अशुभ हो जाते हैं।

'भेषज'—रोग के निदान, समय एवं अनुपान के योग से ओषधियों में गुण या दोष होता है। जैसे सर्पादि जंगम के विष से संखिया आदि स्थावर विष से रक्षा होती है (महा० आदि० अ० १२८ श्लोक ३१–४८ में भीम के स्थावर विष पर सर्प के जंगम विष से रक्षा हुई है।) अन्यथा संखिया प्राणघातक है, यह भेद वैद्य लोग ही जानते हैं।

'जल'—गुलाब आदि के संग से सुगन्धित और मोरी आदि के संग से दुर्गन्धित होता है। कर्मनाशा में पड़ने से अशुभ और गंगाजी में पड़ने से शुभ होता है तथा स्वाती का जल अनेक स्थलों के योग से अनेक रूपों का होता है, ऐसा प्रसिद्ध है। 'पवन'—फुलवारी आदि के संग से सुगन्धित एवं सड़े चमड़े आदि के संग से दुर्गन्धित होता है। 'पट'—देवता का चढ़ा हुआ तथा महात्मा की मृतक देह पर का भी प्रसाद-रूप शुभ माना जाता है। साधारण मृतक का कफन अशुभ है, आदि।

अलंकार—'प्रमाण' (प्रत्यक्ष)।

(२) 'सम प्रकास तम···' दोनों पक्षों में पन्द्रह-पन्द्रह ही तिथियाँ होती हैं और चन्द्रमा की कलाएँ बराबर रहती हैं, परन्तु कला घटानेवाले को कृष्णपक्ष और बढ़ानेवाले को शुक्लपक्ष नाम रक्खा गया। तदनुसार संसार एक को अँधेरा एवं अशुभ पक्ष और दूसरे को उजेरा एवं शुभ पक्ष कहकर अपयश और यश देता है।

पाठान्तर—'ससि पोषक सोषक' भी अन्य प्राचीन प्रतियों का पाठ है जिससे पहले प्रकाश और पोषक, फिर तम और शोषक एवं यश और अपयश का क्रम लेने से प्रथम शुक्ल तब कृष्णपक्ष सूचित होता है। पुनः; आगे—"घटइ बढ़इ बिरहिनि दुखदाई।" (दो० २३७); में प्रथम कृष्ण, तब शुक्लपक्ष कहा है। इसपर कहा जाता है कि नर्मदा के उत्तरार्द्ध में प्रथम कृष्ण और दक्षिणार्द्ध में प्रथम शुक्लपक्ष माना जाता है। अतः, ग्रन्थकार ने दोनों मतों की रक्षा कर दी है।

मैंने उपर्युक्त 'सोषक-पोषक' श्रीअयोध्या के श्रावण-कुंज का पाठ रक्खा है, जिसका बालकाण्ड सब से प्राचीन एवं प्रमाणिक माना जाता है। उसके अनुसार प्रथम कृष्ण तब शुक्लपक्ष ही ग्रहण होता है। अतः, 'घटइ बढ़इ·····' में कवि के वर्त्तमान देश की अनुकूलता है। भेद इसमें केवल 'जस अपजस' के क्रम-भंग का है, क्योंकि इस पाठ से 'अपजस जस' होना चाहिये, पर इसमें दक्षिण और उत्तर देशों का समन्वय नहीं करना पड़ता।

अलंकार—'उन्मीलित' लक्षण—"जहँ मीलित में हेतु लहि, कछुक भेद बिलगाय। उन्मीलित सुरसरि मिले, ज्यों जमुना लखि जाय (अ० मं०)।

साधु-असाधु-वन्दना-प्रकरण समाप्त।

जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि।
बन्दउँ सबके पद कमल, सदा जोरि जुग पानि॥
देव दनुज नर नाग खग, प्रेत पितर गन्धर्व।
बन्दउँ किन्नर रजनिचर, कृपा करहु अब सर्व॥ ७॥

शब्दार्थ—गंधर्व = ये देवयोनि हैं, स्वर्ग में रहते हैं, गान-विद्या में निपुण और रूपवान् होते हैं। किन्नर = ये पुलस्त्य वंशज देवयोनि के हैं, संगीतवेत्ता हैं, इनके मुख घोड़े की भाँति होते हैं। नाग = ये कश्यप से कद्रू के द्वारा हुए हैं। अष्टकुल नाग प्रसिद्ध हैं, भोगावती पुरी में रहते हैं। जत (यत्) = जितने।

अर्थ—संसार में जड़ और चेतन जितने भी जीव हैं, सबको 'राममय' मानकर, मैं सदा दोनों हाथ जोड़ उन सबके चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ। मैं देवता, दैत्य, मनुष्य, नाग, पक्षी, प्रेत, पितर, गधर्व, किन्नर और निशाचर सबको प्रणाम करता हूँ कि अब सब कोई मुझपर कृपा करें।

विशेष—'जड़ चेतन···' अब उपर्युक्त साधु-असाधु से पृथक् जीवों की वन्दना करते हैं। वन्दना आदि कोई भी व्यवहार किसी नाते से होता है। यहाँ 'राममय' का नाता है अर्थात् एक श्रीरामजी के शरीर-रूप में ही सर्व जगत् है, श्रीरामजी सबके अन्तर्यामी हैं, यथा—"विस्वरूप व्यापक रघुराई।" (कि० दो० २१); "हरि व्यापक सर्वत्र समाना।···देसकाल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥ अग जग मय·····" (दो० १८४); "जगत् सर्वं शरीरं ते" (वाल्मी० ६।११७।२७); "खं वायुमग्निं सलिलं महीञ्च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशोद्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥" (भाग० ११।२।४१)।

सम्बन्ध—ऊपर जीवों की समष्टि (समूह-रूप से) वन्दना की, अब व्यष्टि (पृथक्-पृथक्) करते हैं—

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ बासी॥१॥
सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥२॥

शब्दार्थ—आकर चार—जीवों की चार खानें हैं,—१. अंडज = जो अंडे से पैदा होते हैं, २. जरायुज = जो जाली में बँधे हुए पैदा होते हैं, ३. उद्भिज् = जो बीज से भूमि फोड़कर उगते हैं और ४. स्वेदज—जो पसीने से पैदा होते हैं। यथा—"भूतानां जन्म सर्वेषां विविधानां चतुर्विधम्। जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजं चोपलक्षयेत्॥" (महा० शान्ति० २३७। ११); इनमें से प्रत्येक के लक्षण कुछ विस्तार से मनु० १। ४३-४६ में देखिये। जाति का अर्थ यहाँ योनि है, चौरासी लाख योनियाँ = स्थावर (वृक्षादि) २० लाख, जलचर ९ लाख, कृमि ११ लाख, पक्षी १० लाख, पशु ३० लाख, वानर ४ लाख—इन ८४ लाख योनियों से मानव-योनि भिन्न है, यथा—"स्थावरं विंशतेर्लक्षं जलजं नवलक्षकम्। कृमयो रुद्रलक्षं च दशलक्षं च पक्षिणः॥ त्रिंशल्लक्षं पशूनां च चतुर्लक्षं च वानराः। ततो मनुष्यतां प्राप्य ततः कर्माणि साधयेत्॥" प्रसिद्ध हैं।

अर्थ—जो जीव जल, पृथ्वी और आकाश पर रहनेवाले तथा चार खानों और चौरासी लाख योनियों में हैं॥१॥ (उन जीवों से पूर्ण) सारे जगत् को 'श्रीसीतारामय' जानकर और दोनों हाथ जोड़कर मैं प्रणाम करता हूँ॥२॥

विशेष—(१) 'आकर चारि···' यथा—"आकर चारि लाख चौरासी। जोनिभ्रमत यह जिव अबिनासी ॥ कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस·····" (उ० दो० ४३); यहाँ 'जल, थल, नभ' के रहनेवाले जीवों को उनकी उत्पत्ति के क्रम से कहा है, यथा—"जलचर थलचर नभचर नाना।" (दो० २); देखिये। तथा—"त्रीणि स्थानानि भूतानां चतुर्थं नोपपद्यते। स्थलमाप्तस्थाकाशं जन्म चापि चतुर्विधाम् ॥" (महा० आश्व० ४२। ३२)।

प्रथम ग्रन्थकार ने श्रीराममय जगत् की वन्दना ऐश्वर्य दृष्टि से की, क्योंकि जड़-चेतनात्मक जगत् के श्रीरामजी प्रकाशक हैं, जगत् उनका प्रकाश्य है, यथा—"विषय करन सुर जीव समेता ॥ सकल एक ते एक सचेता। सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई ॥ जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।" (दो० १३६); 'जड़ चेतन जग···' दोहे के 'सकल' की व्याख्या के रूप में 'देव दनुज नर.....' यह दोहा कहा और उन श्रीराम-प्रकाश्य रूप जीवों से कृपा माँगी ॥ अब माधुर्य रीति से श्रीसीतारामम्य जगत् की वन्दना करते हुए प्रथम जीवों के व्यष्टि-भेद को 'जल, थल, नभ' वासियों, चार-खानों और चौरासी लाख योनियों द्वारा कहकर और पीछे दोनों हाथ जोड़कर वन्दना की। ऐश्वर्य रूप की वन्दना में 'जोरि जुगपानी' कहा था, वैसे यहाँ भी कहा है। अतः, दोनों में तुल्यभाव दिखाया।

(२) 'सीयराममय···' अन्तर्यामी-रूप में भी श्रीरामजी सीता-सहित ही हैं, यथा—"अंतरजामी रामसिय,···" (अ० दो० २५६)। और दोनों मिलकर अखण्ड ब्रह्म है (दो० १८ देखिये)।

अलंकार—'हेतु प्रथम' क्योंकि कारण और कार्य साथ ही कहा गया है, सीयराममय जानना और उसीसे प्रणाम करना। तथा 'विशेष तृतीय' क्योंकि एक श्रीसीतारामजी को सारे जगत् में देखना कहा गया है।

सम्बन्ध—ऐश्वर्य-प्रसंग में जैसे 'कृपा करहु···' माँगा था, वैसे माधुर्य में भी माँगते हैं—

जानि कृपाकर किंकर मोहू। सब मिलि करहु छाँड़ि छल छोहू ॥३॥

शब्दार्थ—कृपाकर = कृपा के आकर, कृपा की खान, कृपा करनेवाले।

अर्थ—मुझे भी कृपालु श्रीरामजी का दास समझते हुए आपलोग सब मिल छल छोड़कर कृपा करें।

विशेष—(१) प्रथम जगत् को 'सीयराममय' कहा, फिर यहाँ 'किंकर' कहा, यह श्रीगोसाईंजी की अनन्यता है, यथा—"सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत ॥" (कि० दो० ३); इस भाँति सचराचर रूप स्वामी से सेवक भाव द्वारा कृपा चाहते हैं कि कृपा के 'आकर' श्रीरामजी आपलोगों पर कृपा करते हैं। आप यह जानकर मुझ श्रीरामजी के किंकर पर कृपा करें, इससे श्रीरामजी आपलोगों पर अधिक प्रसन्न होंगे।

(२) 'सब मिलि'—(क) एक-दो की कृपा से मुझे उतनी बुद्धि न हो सकेगी, जिससे अगाध श्रीरामचरित कहा जाय। अतः, सब मिलकर कृपा करें। (ख) सबसे 'सीयराममय' मानकर प्रार्थना है। अतः, श्रीसीतारामजी सर्वान्तर्यामी रूप से सबकी एक मति करके कृपा करावें, यह भी धारणा है। अन्यथा आपस के वैर से एक दूसरे का भक्त जानकर बाधा करते हैं, इसलिये एक अन्तर्यामी का शरीर मानकर प्रार्थना है।

(३) 'छाँड़ि छल छोहू'—स्वार्थ ही छल है, यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई। (अ० दो० ३००); संसार स्वार्थी है, यथा—"स्वारथ मीत सकल जग माहीं।" (उ० दो० ४६) ; "सुर नर मुनि सबकै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥" (कि० दो० ११ ; इसलिये कहते हैं कि मुझसे स्वार्थ

की इच्छा नहीं कीजिये, क्योंकि इन सबमें देव, पितर आदि भी कहे गये हैं। सब जीवों पर इनका ऋण रहता है। जबतक ये तृप्त न किये जायँ, परमार्थ-साधन में बाधक भी होते हैं, जैसे जरत्कारु ऋषि के पितरों ने विघ्न किया है। महाभारत के आस्तीक-अनुपर्व में इनकी कथा है। कहा भी है—"ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥" (मनु० ६।३५)।

यहाँ श्रीगोस्वामीजी ने 'कृपाकर-किंकर' कहकर प्रथम अपने को शरणागत-रूप अधिकारी सिद्ध किया, क्योंकि प्रपन्न (प्रभु-शरण में आया हुआ) ही उपाय-शून्य होकर केवल कृपा से गति चाहते हैं, तब स्वार्थ त्याग कर 'छोह' करना कहा, क्योंकि शरणागत पर किसीका भी ऋण नहीं रहता, यथा—"देवर्षि-भूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥" (भाग० ११।५।४१)। अतः, स्वार्थ छोड़कर अब यशःप्राप्ति के लिये मुझपर 'छोह' करें।

निज बुधि-बल भरोस मोहिं नाहीं। तातें बिनय करउँ सब पाहीं॥४॥
करन चहउँ रघुपतिगुनगाहा। लघुमति मोरि चरित अवगाहा॥५॥

अर्थ—मुझे अपनी बुद्धि के बल का भरोसा नहीं है, इससे सबके निकट विनय करता हूँ॥४॥ मैं श्रीरघुनाथजी के गुणों की गाहा (गाथा=कथा) करना (कहना) चाहता हूँ, परन्तु मेरी बुद्धि थोड़ी है और यह चरित अथाह है॥५॥

विशेष—'लघुमति···अवगाहा' यथा—"क्व सूर्यप्रभवोवंशः क्व चाल्पविषयामतिः। तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥" (रघुवंश); अर्थात् कहाँ सूर्य-वंश का चरित और कहाँ मेरी अल्पश्रुत मति! मैं मोह वश उडुप (घन्नई-बेड़ा) से दुस्तर सागर पार करना चाहता हूँ।

सूझ न एकउ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ॥६॥
मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी। चहिय अमिअ जग जुरइ न छाछी॥७॥

अर्थ—मुझे काव्य का एक भी अंग (दोष, गुण, रीति और अलंकार) और उन अंगों के उपाय (साधन) नहीं सूझते, मेरे मन और बुद्धि दरिद्र हैं और मनोरथ राजा के समान है॥६॥ मेरी बुद्धि तो अत्यन्त नीची है और रुचि (इच्छा) ऊँची एवं अच्छी है, (कहावत है कि 'चाहैं अमृत मिलै न छाछ') संसार में अमृत की चाह है और जुड़ती छाछ भी नहीं॥७॥

विशेष—(१) 'मन मति रंक···' श्रीराम-गुण गाने का मनोरथ राजा है, मन और मति उसकी साधन-सम्पत्ति से रंक हैं। अतः, प्रवेश नहीं कर पाते, इसलिये आगे इन्हें तीर्थस्नान के योग्य बनावेंगे। बुद्धि को मानस तीर्थ में—"अस मानस मानस-चख चाही। भइ कबि-बुद्धि बिमल अवगाही॥" (दो० ३८); और मन को कविता-सरयू में—"मति-अनुहारि सुबारि-गुन, गन गनि मन अन्हवाइ।" (दो० ४३) नहलावेंगे। इस प्रकार दोनों निर्मल होने पर योग्य बनेंगे, तब कथा कहेंगे।

(२) 'मति अति नीचि···' मति—यथा—"कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा॥" (दो० ११); अतः, 'अति नीचि' कहा, इसे प्राकृत राजा-रईसों के चरित-गान रूपी छाछ की भी योग्यता नहीं है। श्रीरामचरित गान रूपी अमृत चाहते हैं। अतः, रुचि को ऊँची और अच्छी कहा है। छाछी मट्ठे की हंडी की धोवन को भी कहते हैं, उसमें और अमृत में जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर प्राकृत चरित और श्रीरामचरित में सूचित किया। 'जग···'—अर्थात् छाछी जगत् की तुच्छ वस्तु है। अतः, प्राकृत है और श्रीरामचरित अप्राकृत (अमृत) है।

अलंकार—'लोकोक्ति' क्योंकि प्रसंग लोकोक्ति पर घटाया गया है।

छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बाल-बचन मन लाई ॥८॥
जौं बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता ॥९॥
हँसिहहिं कूर कुटिल कुबिचारी। जे पर - दूषन - भूषन - धारी ॥१०॥

अर्थ—तथापि सज्जन मेरी ढिठाई को क्षमा करेंगे और मुझ बालक के वचनों को उसी प्रकार मन लगाकर सुनेंगे ॥८॥ जिस प्रकार जब बालक तोतली बोली बोलता है, तब माता-पिता प्रसन्न मन से उसे सुनते हैं ॥९॥ क्रूर, कुटिल और कुत्सित विचारवाले—जो दूसरों के दोष रूपी भूषण को धारण किये रहते हैं—हँसेंगे ॥१०॥

विशेष—(१) 'छमिहहिं·····' ऊपर कहा है कि 'ऊँचि रुचि आछी' आगे भी कहेंगे—'साधु-समाज भनिति सनमानू' (दो० १३)। इसपर यह सन्देह हो सकता है कि मैं ऊँची रुचि से व्यास-वाल्मीकि की श्रेणी में बैठने की धृष्टता करता हूँ। इसपर कहते हैं कि मैं सज्जनों का बालक बनकर प्राकृत भाषा के टूटे-फूटे शब्दों में श्रीरामचरित सम्बन्धी अपनी ऊँची रुचि की पूर्त्ति चाहता हूँ। अतः, पिता-माता रूप सज्जन क्षमा करेंगे ही, जैसे श्रीभरतजी ने कहा है—"जद्यपि मैं अनभल अपराधी।··· आपन जानि न त्यागिहहिं, मोहि रघुबीर भरोस ॥" (अ० दो० १८३); वैसे मुझे भी सज्जनों का विश्वास है।

(२) 'जौं बालक···' बालक जैसे लड्डू को अड्डू, रोटी को ओटी आदि अशुद्ध शब्दों में कहता है, उन्हें सुनकर माता-पिता प्रसन्न हो उसकी रुचि पूरी करते हैं, वैसे सज्जन मेरी भद्दी वाणी भी सुनेंगे। इसका सम्मान करना ही लड्डू देना है, यथा—"बेद बचन मुनि-मन अगम, ते प्रभु करुनाअयन। बचन किरातन्ह के सुनत, जिमि पितु बालक-बयन ॥" (अ० दो० १३६)।

(३) 'हँसिहहिं कूर···' क्रूर अर्थात् जो मुझ बालक पर भी दया न करें वे निर्दय और कुटिल हैं, यथा—"आगे कह मृदु बचन बनाई। पाछे अनहित मन कुटिलाई ॥" (कि० दो० ६)। 'कुबिचारी' अर्थात् कुत्सित विचारवाले, यथा—"येहि पापिनिहिं बूझि का परेऊ। छाइ भवन पर पावक धरेऊ ॥" (अ० दो० ४६)।

'जे परदूषन भूषन धारी।'—जिसमें स्वयं ऐसे गुण नहीं हैं कि जिनसे भूषित हों। अतः, छिद्रान्वेषी बनकर उलटे-सीधे कुतर्क करके अपने को अच्छे ज्ञाता एवं समालोचक सिद्ध करते हैं, और इसी बड़ाई से अपने को भूषित करते हैं।

यहाँ हँसनेवालों के क्रूर आदि चार विशेषण दिये गये हैं। इनका हँसना आगे 'काक कहहिं कलकंठ कठोरा' (दो० ८) से प्रारम्भ करके कहेंगे। पुनः, यहाँ सज्जनों से तो माता-पिता का नाता जोड़ा, पर खलों से नहीं जोड़ा, क्योंकि—"खल परिहरिय स्वान की नाईं।" (उ० दो० १०५); कहा है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त कथन से पाया गया कि हँसनेवालों की कविता उत्तम होती होगी। इसपर आगे कहते हैं—

निज कबित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका ॥११॥
जे पर-भनिति सुनत हरषाहीं। ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं ॥१२॥
जग बहु नर सर-सरि सम भाई। जे निज बाढ़ि बढ़हिं जल पाई ॥१३॥
सज्जन सकृत सिंधु सम कोई। देखि पूर बिधु बाढ़इ जोई ॥१४॥

अर्थ—अपनी (बनाई हुई) कविता किसे नहीं अच्छी लगती है—वह चाहे रसीली हो या अत्यन्त फीकी ? ॥११॥ जो दूसरे की कविता को सुनकर प्रसन्न होते हैं, ऐसे श्रेष्ठ पुरुष संसार में बहुत नहीं हैं ॥१२॥ हे भाई ! संसार में तालाब और नदी के समान बहुत-से मनुष्य हैं, जो जल पाकर अपनी बाढ़ से बढ़ जाते हैं ॥१३॥ समुद्र के समान कोई एक ही सज्जन होता है जो चन्द्रमा की पूर्णता (के समान पराई बढ़ती) देखकर बढ़ता है ॥ १४ ॥

विशेष—(१) 'निज कवित्त केहि···' की उपमा 'जग बहु नर···' है, और 'जे परभनिति सुनत···' की उपमा 'सज्जन सकृत···' है जो क्रम से हैं। अतः, यथासंख्य अलंकार है। अपनी कविता नीरस होने से भी अच्छी ही लगती है, जैसे—'दहीवाली अपने खट्टे दही को भी खट्टा नहीं कहती'—यह कहावत है। इसे ही 'सर-सरि' की उपमा से समझाते हैं।

(२) 'जग बहु नर···' नदियाँ और तालाब जगत् में बहुत हैं जो थोड़े जल की बाढ़ से ही मर्यादा छोड़ देते हैं, वैसे तुच्छ लोग भी बहुत हैं, जो थोड़ी विद्या-बुद्धि पाकर मर्यादा भंग करके सबको तुच्छ समझने लगते हैं। यथा—"छुद्र नदी भरि चली तोराई। जस थोरे धन खल इतराई ॥" (कि० दो० १३)। 'भाई'—यह प्रिय सम्बोधन सबके लिये तथा अपने मन के लिये भी है, यथा—"जो नहाइ चह येहि सर भाई।" (दो० ३८); "चली सती सिव-आयसु पाई। करहिं बिचार करउँ का भाई ॥' (दो० ५१), इत्यादि।

(३) 'जे पर-भनिति···' तथा 'सज्जन सकृत···'—विद्या-रूपी जल से पूर्ण समुद्र के समान सज्जन विरले (एक) ही होते हैं, जो बहुत उन्नति से भी नहीं उछलते, जैसे समुद्र बहुत नदियों का जल पाकर अपनी बाढ़ से नहीं उछलता। वरन् जब चन्द्रमा की पूर्णता देखता है, तभी उछलने लगता है, यही उसका हर्ष है, जिसे 'ज्वार आना' कहते हैं, यथा—"राका ससि रघुपतिपुर, सिंधु देखि हरषान। बढ़्यो कोलाहल करत जनु, नारि-तरंग समान ॥" (उ० दो० ३); इसी तरह सज्जन भी दूसरे की वृद्धि पर आनन्दित होते हैं।

चन्द्रमा पर समुद्र का वात्सल्य भी है, क्योंकि वह समुद्र का पुत्र है, वैसे श्रीगोस्वामीजी ने भी अपने को बालक और सज्जनों को पिता-माता माना है। अतः, उनकी काव्य-कीर्त्ति पर भी सज्जन आनन्दित होंगे—यह गर्भित है। 'निज कवित्त···नाहीं' तक के भाव को मिलाइये—'अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः परभणितिषु तोषं यान्ति सन्तः कियन्तः' (प्रसन्नराघव १।१६)।

पाठान्तर—कहीं-कहीं 'सकृत' की जगह 'सुकृत' भी है। अतः, सुकृत-सिंधु का अर्थ 'पुण्य समुद्र के समान' होगा। 'सरसरि' की जगह 'सुरसरि' भी है, पर इसमें 'बहु नर' के साथ मेल नहीं है। 'सुरसरि' एकवचन भी है। यहाँ 'सरसरि' (क्षुद्र नदी-तालाब) ही पाठ संगत है।

अलंकार—'प्रथम उल्लास'—'सज्जन सकृत···' में (दो० २ चौ० १ देखिये)।

दोहा—**भाग छोट अभिलाष बड़, करउँ एक बिस्वास।**
पैहहिं सुख सुनि सुजन सब, खल करिहहिं उपहास ॥८॥

अर्थ—मेरा भाग्य छोटा है और रुचि बड़ी है, पर एक विश्वास करता हूँ कि इसे सुनकर समस्त सज्जन सुख पावेंगे और खल उपहास करेंगे।

विशेष—(१) प्रथम 'मन' और 'मति' को रंक कहा, तब 'मनोरथ' को राजा कहकर उसकी दुर्लभता कही, फिर भाग्य का सहारा लिया, उसे भी छोटा देखकर निराश हुए। हाँ, यही एक विश्वास है कि सज्जन इससे सुख पावेंगे। इसीसे मेरा श्रम सफल होगा, यथा—"जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो

श्रम बादि बाल कवि करहीं।" (दो० १३); अपनी बुद्धि और भाग्य का भरोसा नहीं है, यथा—"निज बुद्धि-बल भरोस मोहि नाहीं ॥" (दो० ७)।

'भाग छोट'—मेरा भाग्य छोटा है अर्थात् मैं प्राकृत कवियों में बैठने योग्य हूँ और अभिलाषा बड़ी है कि मैं व्यास आदि की श्रेणी में जाऊँ, पर उतनी योग्यता नहीं है। हाँ, सज्जनों के सुख मानने से मेरा श्रम सफल हो जायगा, यथा—"तुम्हरी कृपा सुलभ सोउ मोरे।" (दो० १३)। सुख पाना तो खलों का भी सूचित किया, क्योंकि परिहास सुख से ही होता है।

(२) 'छमिहहिं सज्जन···' से 'पैहहिं सुख सुनि···' तक में साधुओं और खलों में कविता का आदर और निरादर बतलाया। सज्जनों के सुनने एवं आदर करने में पाँच हेतु कहे हैं, १—मुझ बालक की तोतली बात मानकर—"सुनिहहिं बाल-बचन मन लाई।" २—दूसरे की वृद्धि पर प्रसन्न होने के स्वभाव से—"सज्जन सकृत सिंधु···"। ३—इसे राम-भक्ति से भूषित जानकर—'राम-भगति भूषित···'। ४—श्रीरामयश से अंकित जानकर—'प्रभु-सुजस संगति भनिति भलि···' ५—श्रीरामनाम का यश अंकित जानकर—'सब गुन रहित···'। इसी तरह खलों के परिहास में भी पाँच ही हेतु हैं—१. 'हँसिहहिं कूर', २. 'कुटिल', ३. 'कुविचारी', ४. 'जे परदूषन भूषनधारी', ५. 'जे निज बाढ़ बढ़हिं···'।

खल-परिहास होइ हित मोरा। काक कहहिं कलकंठ कठोरा ॥१॥

अर्थ—खलों के परिहास करने से मेरा हित होगा, (जैसे) कौए मधुरकंठ (कोयल) को कठोर कहते हैं (पर इससे कोयल का कुछ नहीं बिगड़ता)।

विशेष—कौए और कोयल की बोली सुनकर सभी जान लेते हैं। इससे कोयल का आदर और कौए का निरादर होता है। खल मेरा पक्ष लेते तो मैं भी वैसा ही नीच समझा जाता। अतः, उनकी निन्दा से सन्त समझा जाऊँगा और मेरी कविता का आदर होगा।

अलंकार—'चतुर्थ उल्लास'।

हंसहिं बक गादुर चातक ही। हँसहिं मलिन खल बिमल बतकही ॥२॥

अर्थ—(जैसे) बगले हंसों को और चमगादर पपीहों को हँसते हैं, (वैसे) मलिन स्वभाववाले खल (असज्जन) निर्मल बातों पर हँसते हैं।

विशेष—(१) हंस और चातक, बगले और चमगादर की निन्दा से, निन्दित नहीं माने जाते, वैसे मलिन खलों की हँसी से मेरी कविता निन्दित नहीं होगी।

(२) तीन उपमानों द्वारा खलों के वचन, कर्म और मन की व्यवस्था बतलाई है। कौआ कोयल के वचन को कठोर कहता है। बगुला हँस के क्षीर-नीर अलग-अलग करने रूप कर्म को हँसता है। चमगादर चातक की टेक को हँसता है, टेक मन का धर्म है, परन्तु संसार में जैसे रात की अपेक्षा दिन और कटु की अपेक्षा मधुर सराहा जाता है, वैसे कौए के कठोर शब्द के साथ तुलना में कोयल के मधुरस्वर की, बक के हृदय की कुटिलता के प्रति हंस के विवेकपूर्ण कर्म की और चमगादर के स्वमल-भोजन-रूप कुविचार की अपेक्षा चातक की अनन्यतापूर्ण टेक की सराहना होती है, वैसे खलों की कुयुक्तियों से की हुई मन-वचन-कर्मात्मक निन्दा को जान-सुनकर सज्जन लोग अपनी सुन्दर युक्तियों से उनका खंडन करेंगे और इस कविता को सराहेंगे, तब इसका महत्त्व बढ़ेगा, यही हित होगा।

(३) उपर्युक्त 'हँसिहहिं कूर···' के चारों प्रकारों को यहाँ चरितार्थ किया, 'काक' क्रूर, 'बक' कुटिल, 'गादुर' कुविचारी और, 'मलिन खल' 'परदूषन भूषन धारी' हैं। 'बिमल···' बतकही निर्मल भी है तब भी वे हँसते हैं।

(४) इन दो अर्द्धालियों में तीनों दृष्टान्त पक्षी के ही दिये, क्योंकि ये सब पक्षपाती हैं और विपक्ष की अपेक्षा अपने पक्ष का हित भी सिद्ध किया। स्वपक्ष-ग्रहण से काकभुशुण्डीजी ने पक्षी होने का शाप पाया।

(५) 'बिमल बतकही···'—'बतकही' का अर्थ बात-चीत एवं वार्त्तालाप है। श्रीगोस्वामीजी ने इसे बड़ा महत्त्व दिया है और धर्म-सम्बन्धी बात में इसका प्रयोग कर शिक्षा दी है कि धर्म ही की बात करनी चाहिये। आपने सात काण्डों में सात ही बार यह शब्द लिखा है। अतः, सातो काण्डो को 'बतकही' जनाया, यथा—१. 'हंसहिं बक गादुर चातकही···' यह यहीं पर है, पर इसे अयोध्याकाण्ड में लेना चाहिये, क्योंकि उसमें 'भरत हंस···' कहा है और उनके विरुद्ध मलिनों—दुष्टों को कौसल्याजी, वसिष्ठजी एवं श्रीरामजी ने भी शाप दिया एवं दोष लगाया है। २. "करत बतकही अनुजसन····" (दो० २३१), यह बालकाण्ड में है। ३. "दसकंधर मारीच बतकही।" (उ० दो० ६५), यह अरण्यकाण्ड में ही हुई है। ४. "यहि बिधि होत बतकही।···" यह किष्किन्धाकाण्ड (दो० २१) में है। ५. "तब बतकही गूढ़ मृगलोचनि।" (लं० दो० १५), इसे सुन्दरकाण्ड में लगाना चाहिये, जो श्रीरामपरत्व श्रीहनुमानजी ने कहा था, वही मन्दोदरी ने प्रथम कहा, फिर यह विराट्रूप में कहा है। ६. "काज हमार तासु हितहोई।···बतकही सोई।" (लं० दो० १६)। ७. "निज-निज गृह गये आयसु पाई। बरनत प्रभु बतकही सुहाई॥" (उ० दो० ४६)।

पाठान्तर—'गादुर' की जगह 'दादुर' पाठ भी है। दादुर और चातक दोनों मेघ-प्रेमी और वर्षा के आकांक्षी हैं। दादुर सामान्य जल में सन्तुष्ट रहता है, जल का विचार नहीं करता और चातक विशिष्ट जल (स्वाती) का प्रेमी है। दादुर चातक के विचार के प्रति हँसता है कि नाहक प्यास से मरता है, मेरी तरह सब जल में विहार नहीं करके प्राण गँवाता है। पर 'गादुर' में विशेषताएँ हैं, १. दोनों (गादुर-चातक) पक्षी हैं। यहाँ तीनों पक्षियों के ही दृष्टान्त हैं, यहाँ वाणी का प्रसंग है, जिसकी उत्प्रेक्षा पक्षियों के गान आदि में दी जाती है, २. 'काक' क्रूर तथा 'बक' कुटिल हैं और साथ ही 'गादुर' कुविचारी भी ठीक है, क्योंकि स्वमल भोजी है, ३ दोनों नभचर हैं, वृक्ष पर टँगा रहना भी शून्यावास है, ४. जैसे काक-पिक और हंस-वक का एक रंग है, वैसे इन दोनों का भी वर्ण साम्य है, ५. पक्षी का पक्षी के प्रति हँसना भी युक्त है, सजातीय ही एक दूसरे को हँसते हैं।

सम्बन्ध—प्रथम 'खल परिहास' से अपना हित कहकर आगे सब प्रकार के श्रोताओं का हित कहते हैं—

कवित - रसिक न रामपद नेहू। तिन्ह कहँ सुखद हास-रस येहू॥३॥
भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी॥४॥
प्रभु-पद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहिं कथा सुनि लागिहि फीकी॥५॥
हरिहर-पदरति मति न कुतरकी। तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुबर की॥६॥
राम-भगति - भूषित जिय जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी॥७॥

अर्थ—जो (केवल) कविता के रसिक (तो) हैं, (पर) श्रीरामचरणों में प्रेम नहीं रखते, उनको भी यह (मेरी रचना) हास्य-रस के रूप में सुख देगी॥३॥ (एक तो यह) भाषा की कविता और (फिर भी) मेरी भोली बुद्धि (से रचित, अतः,) हँसने के योग्य ही है, हँसने में उनका दोष नहीं है॥४॥ जिनकी प्रभु श्रीरामजी के चरणों में न तो प्रीति है और न समझ ही अच्छी है, उन्हें यह कथा

सुनने पर फीकी लगेगी ॥५॥ हरिहर के चरणों में जिनकी प्रीति है और बुद्धि कुतर्कवाली नहीं है, उनको श्रीरघुवर की कथा मीठी लगेगी ॥६॥ सज्जन लोग इसे हृदय से श्रीराम-भक्ति-भूषित जानकर सुन्दर वाणी से सराह-सराहकर सुनेंगे ॥७॥

विशेष—(१) 'कवित-रसिक न ' हँसिबे जोग···'—यहाँ से पात्रानुसार सभी का सुख सूचित करते हैं। जो संस्कृत काव्य के अभिमानी हैं, उनका इस टूटी-फूटी 'भाषा-भनिति' पर हँसना योग्य ही है। यद्यपि श्रीरामचरित चाहे भाषा में हो चाहे संस्कृत में, हँसना दोष ही है, तथापि ग्रन्थकार उन्हें भी निर्दोष बनाते हैं, यह इनकी साधुता है।

(२) 'प्रभु-पद प्रीति न···'—'प्रभु-पद' में प्रीति के बिना भक्ति-रस का स्वाद नहीं मिलेगा। समझ अच्छी नहीं रहने के कारण काव्य में भी रस नहीं मिलेगा एवं तर्क भी बहुत होंगे। अतः, फीकी लगेगी।

(३) 'हरिहर-पद-रति मति····'—हरि = विष्णु, हर = शिव, इन दोनों में दोनों के उपासक लोग प्रायः कुतर्क करते हैं, वह न हो, किन्तु अभेद बुद्धि रहे, तब कथा मधुर लगती है, क्योंकि शिवजी परम भागवत हैं। अतः, श्रीरामजी के प्रिय हैं। शिवजी श्रीरामजी को इष्ट-रूप में प्रिय मानते हैं, इसके विरुद्ध भाव पर दोनों अप्रसन्न होंगे।

अथवा यदि 'हरिहर पदरति' को पृथक् मानें तो 'मति न कुतरकी' का अर्थ श्रीरामजी के अवतार एवं माधुर्य लीलाओं में कुतर्क बुद्धि करना होगा, यथा—'तजि कुतर्क संसय सकल' (उ० दो० ६०), 'मधुर कथा'—"कथा सुधा मथि काढ़हिं, भगति मधुरता जाहि ॥" (उ० दो० १२०), इस अर्द्धाली में मधुरता के साधन के ठीक विरुद्ध ऊपर की अर्द्धाली फीकी लगने की है।

(४) 'राम-भगति-भूषित····'—सुजन कवित्व-विवेक पर ही नहीं रीझते, वे भक्ति के भावुक होते हैं। अतः, इसमें भक्ति-भूषित देखकर सुनेंगे और सराहेंगे कि कैसी उत्तम रचना है।

(५) इन पाँच अर्द्धालियों में क्रमशः चार प्रकार के श्रेष्ठ श्रोता हैं—(१) अधम—'कवित-रसिक न·····भाषा भनिति····' (२) निकृष्ट—'प्रभु-पद प्रीति न····' (३) मध्यम—'हरिहर···' (४) उत्तम—'राम भगति···'।

इन्हीं उत्तम श्रोता-रूप सुजनों को श्रोता के रूप में जहाँ-तहाँ कहा है, यथा—"सादर सुनहु सुजन मन लाई।" (दो० ३४), "पैहहिं सुख सुनि सुजन सब" एवं "छमिहहिं सज्जन···" यह ऊपर कह आये हैं।

कवि न होउँ नहिं बचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्याहीनू ॥ ८ ॥
आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद - प्रबंध अनेक बिधाना ॥ ९ ॥
भाव-भेद रस - भेद अपारा। कवित-दोष-गुन बिबिध प्रकारा ॥१०॥
कवित - बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे ॥११॥

शब्दार्थ—सकल कला = गाना, बजाना आदि ६४ कलाएँ हैं (शब्दकोषों में देखिये)। सब विद्या = विद्या हेतु शास्त्र ही यहाँ 'सब विद्या' पद में अभिप्रेत हैं—छः अंग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष और निरुक्त), चार वेद (साम, ऋक्, यजुः और अथर्व), मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण, ये चौदह विद्या की संज्ञा से कहे जाते हैं, तथा—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्वशास्त्र और अर्थशास्त्र, इन चार उपवेदों को मिलाकर कोई-कोई अठारह विद्या भी मानते हैं। कागद = कागज।

अर्थ—मैं न कवि हूँ और न वक्तृत्व में ही निपुण हूँ, (प्रत्युत) सारी कलाओं और विद्याओं से हीन हूँ ॥८॥ अक्षर, अर्थ, नाना प्रकार के अलंकार और अनेक प्रकार के छन्दों की रचनाएँ ॥९॥ भावों और

रसों के अगणित भेद, अनेक प्रकार के दोष और गुण, कविता में होते हैं ॥१०॥ (इनमें से) एक भी कविता का विवेक मुझमें नहीं है, कोरे कागज पर लिखकर यह मैं सत्य ही कहता हूँ ॥११॥

विशेष—(१) 'कवि न होउँ···' (क) आप काव्य के सब गुणों से पूर्ण हैं, यह कार्पण्य शरणागति है। जैसे, श्रीहनुमानजी भक्ति के पूर्ण ज्ञाता हैं, फिर भी शपथ करके कहा है, यथा—"तापर मैं रघुबीर-दोहाई। जानउँ नहिं कछु भजन-उपाई ॥" (कि० दो० २)।

(ख) आप यह यथार्थ भी कह रहे हैं कि मेरे कवित्व-विवेक से ऐसी उत्तम कविता नहीं बनी, प्रत्युत देव-प्रसाद से बनी है, यथा—"जदपि कवित-गुन एकउ नाहीं। रामप्रताप प्रगट येहि माहीं ॥ (दो० ६); और—"भनिति मोरि सिव-कृपा बिभाती।" (दो० १४); पुनः, स्मरण-द्वारा आकर श्रीसरस्वतीजी ने काव्य के अंग भी सम्पन्न कर दिये, यथा—"सुमरित सारद आवति धाई।···जौं बरखइ बर···होहिं कबित मुकता-मनि चारू ॥" (दो० १०)। अतः, यह अलौकिक काव्य है, इसके प्रेरक और संयोजक और हैं।

(ग) यह भी भाव कहा जाता है कि मेरी दृष्टि केवल श्रीरामयश पर ही है, काव्य के अंगों पर नहीं। वे स्वतः आवें तो आते जायँ, अन्यथा दोष-गुण का विचार नहीं करूँगा। मेरी कविता श्रीरामयश ही से भूषित होगी।

(२) 'सत्य कहउँ लिखि ···' कोरे कागज पर स्याही चढ़ाना शपथ है अर्थात् मैं निष्कपट भाव से कहता हूँ। लेखबद्ध बात अधिक प्रामाणिक होती है, यह भी भाव है। इस शपथ की अक्षरशः सार्थकता यों भी होती है कि जो चरित-चित्रण करना है, वह उनका है जिन्हें श्रुतियाँ मन-वाणी से परे कहती हैं, यथा—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥" (तैत्तिरी० २ वल्ली); तथा—"ज्ञान गिरा गोतीत अज, माया-मन-गुन पार। सोई सच्चिदानंदघन, कर नर चरित उदार ॥" (उ० दो० २५)। उन श्रीरामजी के मुकाबले में एक मनुष्य की विद्या-बुद्धि क्या काम दे सकती है—भले ही संसार की दृष्टि में वह अद्वितीय विद्वान् हो। इसी दृष्टि से अभी आगे भी कहेंगे, यथा—"जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं ॥" (दो० ११)

(३) 'आखर अरथ···' यहाँ काव्य-रचना के अंगों का स्मरण करते हैं—'आखर' अर्थात् अक्षर ऐसे प्रयुक्त होने चाहिये जो सार्थक एवं प्रसंगपोषक हों। शब्द से अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। अतः, साथ ही अर्थ भी कहा है। 'अलंकृति' का अर्थ अलंकार है। अलंकार-ग्रन्थों में प्रधान अलंकार १०८ प्रकार के कहे गये हैं। उनमें भी बहुत भेद हैं। जैसे, भूषण धारण करने से मनुष्य की शोभा होती है, वैसे शब्दार्थ की शोभा अलंकारों से होती है। 'छन्द' से गायत्री, दोहा, चौपाई आदि का ग्रहण है। छन्द वर्णिक और मात्रिक इन दो भेदों में बहुत प्रकार के होते हैं और 'प्रबंध' का अर्थ वाक्य-विस्तार है, यथा—"कोटि छानवे जाति हैं, नाग-सूत्र में छंद। तैंतिस कोटि प्रबंध हैं, भेद अनेक अमंद ॥" (छन्दः-शास्त्र)।

(४) 'भाव भेद रस भेद···' भाव का अर्थ मन का विकार है, यथा—"विकारो मानसोभावः" (अमरकोष १।७ २१); अर्थात् किसी रस के अनुकूल मन के विकार को भाव कहते हैं, जैसे—"कंकन किंकिनि नपुर-धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि ॥ (दो० २२६); यहाँ शृङ्गार-रस के अनुकूल मन की दशा हो गई। यही मनोविकार हुआ। इसके प्रथम चार भेद हैं—विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी (संचारी) और स्थायी। एतदतिरिक्त और २८ भेद भी हैं। फिर उन एक-एक में भी बहुत भेद हैं। रस के शृङ्गारादि नव भेद हैं (मं० के १ श्लोक में देखें)।

(५) 'कबित दोष गुन ·····' उपर्युक्त बातें काव्य के गुण हैं। काव्य में दोष वे हैं जो उसके उत्कर्ष को नष्ट करते हैं। यदि छन्दों के आदि में म, न, भ, य ये चार उत्तम गण पड़ें तो गुण और ज, र,

स, त गण पड़ें तो दोष हैं। और भी दोष प्रथम ५ प्रकार के हैं—अन्ध, बधिर, पंगु, नग्न और मृतक। फिर बारह दोष और भी हैं—देश-काल-आगम-विरोध, यतिभंग, पुनरुक्ति आदि छन्दः-शास्त्र में हैं। इनका विवरण एवं उदाहरण विस्तारभय से यहाँ नहीं दे सके। पुनः गुण प्रधानतया तीन कहे जाते हैं—

(१) माधुर्य, जिसके सुनते ही मन द्रवीभूत हो जाय, यथा—"कहहु सखी अस को तनुधारी। जो न मोह यह रूप निहारी॥" (दो० २२०)।

(२) ओज, जिसके सुनते ही मन उत्तेजित हो और उसमें टवर्ग एवं संयुक्ताक्षर विशेष हों, यथा—"कट-कटहि जंबुक प्रेत···" (अर० दो १९) तथा—'चिक्करहिं मर्कट भालु···' (लं० दो० ८०)।

(३) प्रसाद—जिसके वर्ण रुचिकर एवं अर्थ स्पष्ट हों, यथा—"ज्ञानी तापस सूर कवि, कोविद गुन आगार। केहि के लोभ बिडंबना, कीन्ह न येहि संसार॥" (उ० दो० ७०)।

पाठान्तर—'बचन प्रबीनू' की जगह 'चतुर प्रबीनू' भी पाया जाता है, उसका अर्थ है चतुरों में प्रवीण। यदि चतुर और प्रवीण को एकार्थी मानें तो पुनरुक्ति हो जाती है। पर कथा-रचना में वचन-प्रवीणता की आवश्यकता विशेष है कि पाठकों का चित्त मुग्ध हो जाय। अतः, 'बचन' पाठ ही उत्तम है। 'श्रावण-कुंज' का यही पाठ भी है।

दोहा—भनिति मोरि सब गुन रहित, बिस्वबिदित गुन एक।
सो बिचार सुनिहहिं सुमति, जिन्हके बिमल बिबेक॥९॥

येहि महँ रघुपति-नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति-सारा॥१॥
मंगलभवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥२॥

अर्थ—मेरी कविता सारे गुणों से रहित है, (परन्तु उसमें) एक जगत्-प्रसिद्ध गुण है, उसे विचार कर अच्छी बुद्धिवाले व्यक्ति और वे, जिनका विवेक निर्मल है, इसे सुनेंगे॥९॥ इसमें अत्यन्त पवित्र वेदों और पुराणों का निचोड़, मंगलों का घर और अमंगलों का हरण करनेवाला श्रीरघुनाथजी का उदार नाम है जिसे श्रीपार्वतीजी के साथ श्रीमहादेवजी जपते हैं॥१-२॥

विशेष—(१) 'भनिति मोरि···गुन एक'—मेरी कविता काव्य के सब गुणों से रहित है, परन्तु इसमें एक ही गुण है। जो एक अर्थात् अद्वितीय है और जिसे संसार जानता है तथा जिसके बराबर दूसरा गुण नहीं है, वह श्रीराम नाम है। आगे स्पष्ट होगा, यथा—"यस्य नाममहच्छशः न तस्य प्रतिमास्ति"—यह वेद-वाक्य है। इस गुण (नाम) के प्रताप से कविता भी विश्वविदित होगी। यथा—"नाम, राम! रावरो सयानो किधौं बावरो, जो करत गिरीतें गरु तृन तें तनक को॥" (कविता० उ० ७३)। 'बिस्वबिदित', यथा—"रामनाम भुविख्यातमभिरामेण वा पुनः" (श्रीरामतापनीय उ०); अर्थात् श्रीरामनाम सर्वप्रियत्व से जगत् में ख्यात है, जैसे लोग शपथ में रामदुहाई, सत्य में रामौराम, आश्वासन में राम-राम, मिलने में राम-राम-सीताराम, सौदा तौलने में राम-राम आदि कहते हैं। 'सो बिचारि सुनहहि···' उसके विचारने के लिये निर्मल विवेक वाली सुन्दर बुद्धि चाहिये, यथा—"उघरहिं बिमल बिलोचन ही के।" (दो० १); वह गुण यदि लौकिक होता तो 'मति' और 'विवेक' ही पर्याप्त थे, किन्तु वह अलौकिक एवं दिव्य है। अतः, 'सु' और 'विमल' विशेषण दिये। फिर केवल 'सुमति' भी हो तो सदसद्विवेक के बिना मनुष्य शास्त्रों के वाद ही में रह जाते हैं, फिर विवेक भी हो, पर विमल न हो तो कामादि के क्षोभ का भय रहता है। अतः, विमल विवेक हो, तब श्रीराम-नाम में निष्ठा होगी और तभी लोग मेरी कविता को प्रीति से सुनेंगे।

सम्बन्ध—यहाँ से इस 'बिस्वबिदित गुन एक' की व्याख्या आगे की छः अर्द्धालियों में करेंगे। श्रीगोस्वामीजी श्रीरामनाम निष्ठा से कृतार्थ हुए हैं। अतः, श्रीरामनाम के अर्थ-विस्तार-रूप चरित का वर्णन कर रहे हैं। ग्रन्थ के उपक्रम के छठे श्लोक के अन्त में 'सिद्धान्त' शीर्षक प्रसंग देखिये। ग्रन्थ के उपसंहार पर भी 'मत्वा तद्रघुनाथनाम निरतं···' की व्याख्या भी देखिये। इस प्रकार उपक्रमोपसंहार में ग्रन्थ का तात्पर्य नाम-निष्ठा-प्रकाश का है। ग्रन्थ के मध्य में भी नाम-रहस्य बहुत स्थलों पर विशेष रूप में कहा गया है। नाम, रूप, लीला और धाम चारो की वन्दना में नाम का रहस्य नव दोहों में विस्तार से कहा गया है, शेष तीनों का दो-दो दोहों में ही है। यहाँ पर युक्ति से इस ग्रन्थ का विषय सूचित कर रहे हैं कि इस ग्रन्थ में ऐसे राम-नाम का यश प्रतिपादन है। अतः, सज्जन इसका आदर करेंगे।

(२) 'येहि महँ रघुपति नाम···' उपर्युक्त गुण को यहाँ अंगुल्या-निर्देश किया—साफ-साफ बतला दिया कि वह उदार श्रीराम नाम है। उदार अर्थात् श्रेष्ठ एवं अत्यन्त दाता है, यथा—"जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक ते एका॥ राम सकल नामन्ह ते अधिका॥" (अ० दो० ४१); पुनः जो देश, काल एवं पात्र का विचार न करके सब को दे, वह उदार है, यथा—"पात्रापात्रविवेकेन देशकालाद्युपेक्षणात्। वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्यवचसा हरेः॥" (भगवद्गुणदर्पणे)। उदारता—"पाई न गति केहि···कहि नाम बारक तेऽपि पावन होहिं···" (उ० दो० १२६); वही इस ग्रन्थ में है, यथा—"राम नाम जस अंकित जानी।" आगे कहते हैं।

'अति पावन···' अन्यान्य नाम पावन हैं, यह अति पावन है, यथा—"तीरथ अमित कोटि सत पावन। नाम अखिल अघपूग-नसावन॥" (उ० दो० ९१); 'पुरान श्रुति सारा'—वेद का उपबृंहण-(वृद्धि, सञ्चय)-रूप रामायण है, उसका सार राम नाम है, यथा—"रामचरित सतकोटि महँ, लिय महेस जिय जानि॥" (दो० २५); तथा वेद-पुराण का प्रतिपाद्य ब्रह्म है, उसके साक्षात् सच्चिदानन्द स्वरूप का वाचक यह नाम है। अतः, 'सार' कहा, क्योंकि नाम और नामी अभिन्न होते हैं।

(३) श्रीरामजी के नाम, रूप, लीला और धाम—चारो उदार एवं मंगलकारी हैं, यथा—नाम—औदार्य और मंगलकारित्व दोनों इसी चौपाई में स्पष्ट हैं। रूप—'सुनहु उदार सहज रघुनायक।' (अर० दो० ४१); 'मंगलभवन अमंगलहारी। द्रवउ सो दसरथ अजिरबिहारी॥" (दो० १११) लीला—"देखन चरित उदार" (लं० दो० ११५); "मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की॥" (दो० ९); धाम—"नृप-गृह कलस सो इंदु उदारा।" (दो० १९४); "सब बिधि पुरी···मंगलखानी।" (दो० ३४); क्योंकि चारो सच्चिदानन्दरूप हैं—"रामस्य नामरूपञ्च लीलाधामपरात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्।" (वसिष्ठ-संहिता)।

(४) 'मंगलभवन···उमा सहित···' पूर्वार्द्ध में नाम का फल प्रापक (प्राप्त करानेवाला गुण) कहकर उत्तरार्द्ध में साधन कहा है कि जिस श्रीराम-नाम के जपने से अमंगल साज वाले शिवजी मंगल-राशि हो गये, यथा—"नाम-प्रसाद संभु अबिनासी। साज अमंगल मंगलरासी॥" (दो० २५); 'उमासहित' से विधि बतलाई कि जप भी यज्ञ है, यथा—'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (गीता १०।२५); अतः, वह सपत्नीक होना ठीक ही है। नाम का शिष्ट-परिग्रहत्व भी जनाया कि आद्याशक्ति-सहित ईश्वर शिवजी भी जपते हैं। साथ ही 'पुरारी' कहने से दिखाया कि इसीके प्रभाव से शिवजी ने त्रिपुरासुर का वध भी किया।

भनिति बिचित्र सुकबि-कृत जोऊ। राम-नाम बिनु सोह न सोऊ॥३॥
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥४॥

अर्थ—विलक्षण कविता हो और अच्छे कवि की बनाई (क्यों न) हो, वह भी श्रीराम-नामके

बिना नहीं सोहती ॥ ३ ॥ (जैसे) सब प्रकार से सजी हुई चन्द्रमुखी श्रेष्ठ स्त्री भी बिना वस्त्र के शोभा नहीं पाती ॥ ४ ॥

विशेष—'भनिति बिचित्र ···' यह अर्द्धाली उपमेय है और 'बिधुबदनी ···' उपमान है। अतः, 'चन्द्रमुखी' की तरह सुकवि-कृत कविता स्वरूप से सुन्दर हो, 'सब भाँति सँवारी' अर्थात् सब अलंकारों से युक्त हो, तो भी वस्त्ररूप श्रीराम नाम के बिना वह नहीं सोहती, यथा—"बादि बसन बिनु भूषन भारू।" (अ० दो० १७७); प्रत्युत उसके देखने से पाप होता है, जैसे नंगी स्त्री के देखने से पाप होता है, यथा—"न नग्नां स्त्रियमीक्षेत पुरुषो वा कदाचन ॥" (कूर्म-पुराण); तथा—"नाग्निं मुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम्। नामेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥" (मनु० ४।५३); अर्थात् आग को मुख से न फूकना चाहिये, नग्न स्त्री को न देखना चाहिये, आग में अपवित्र वस्तु न डालनी चाहिये और न पैरों को अग्नि पर तपाना ही चाहिये। 'सब भाँति सँवारी' से वस्त्र छोड़कर शेष पन्द्रह शृङ्गारों से युक्त अर्थ है, यथा—"न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित। तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः ॥" (भाग० १।५।१०); अर्थात् जगत् को पवित्र करनेवाला भगवान् का यश गान जिस वाणी (निबन्ध एवं रचना) से नहीं होता, चाहे वह रस, भाव एवं अलंकार आदि सम्पन्न भी क्यों न हो, वह कौओं के लिये उच्छिष्ट फेंके जानेवाले स्थान के समान अपवित्र है। मानस-सर के कमलवन में विचरनेवाले हंसों के समान ब्रह्मधाम में विहरणशील हरिचरणाश्रित परमहंस भक्त कभी उसमें रमण नहीं करते।

इन्हीं के प्रतिरूप दो अर्द्धालियाँ सुन्दरकाण्ड में भी हैं—"राम नाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्यागि मद मोहा ॥ बसन हीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी ॥" (दो० २२)।

अलंकार—'विनोक्ति प्रथम'।

सब गुन रहित कुकवि-कृत बानी। राम-नाम जस अंकित जानी ॥५॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुनग्राही ॥६॥

अर्थ—सब गुणों से हीन और फिर बुरे कवि की कही हुई वाणी को भी, श्रीरामजी के नाम-यश की छाप से युक्त जानकर, बुद्धिमान् लोग आदर के साथ कहते और सुनते हैं, (क्योंकि) सन्त लोग भ्रमर की भाँति गुण ही का ग्रहण करनेवाले होते हैं ॥ ५-६ ॥

विशेष—(१) 'राम-नाम जस अंकित' वाक्य 'बानी' और 'जानी' दोनों के बीच में देहली-दीपक रूप है। अंकितअर्थात् चिह्नित जैसे राजा का नाम और रूप अंकित होने से, ताँबे और मिलट के भी सिक्के एवं कागज के भी नोट बहुमूल्य रूप में माने जाते हैं, वैसे ही जिस कविता में श्रीराम-नाम-यश की छाप होती है, सन्त उसीका आदर करते हैं, यथा—"नाम-नरेस-प्रताप प्रबल जग, जुग-जुग चालत चाम को।" (वि० ९९)।

(२) 'सादर करहिं ···' सन्त आदर करते हैं। अतः 'श्रीराम-नाम-रूपी गुण को ग्रहण करते हैं, इसी-से गुणग्राही हैं और असन्त अवगुणग्राही, क्योंकि वे निरादर करते हैं। पूर्वार्द्ध में 'बुध' और उन्हें ही उत्तरार्द्ध में 'सन्त' कहा। अतः, पर्यायी सूचित किया। पूर्व काव्य विचित्र और उसके रचयिता सुकवि थे। अतः, कार्य और कारण दोनों उत्तम थे और यहाँ दोनों ही बुरे हैं, पर श्रीराम-नाम-यश ही से इसे ग्राह्य और सुशोभित कहा, क्योंकि—"राम नाम हीन तुलसी न काहू काम को।" (क० उ० १७८)।

'मधुकर सरिस ···' भ्रमर सब जगहों के और सब प्रकार के फूलों से रस लेता है—वह रसग्राही है, वैसे सन्त भी सब देशों एवं सब जातियों के द्वारा की हुई कविता से श्रीराम-नाम-यश ग्रहण करते हैं।

पुनः, फूल चाहे काला हो या लाल, भ्रमर की दृष्टि रस पर रहती है, वैसे कविता चाहे भाषा में हो या संस्कृत आदि में—चाहे उत्तम हो या निकृष्ट—सन्तों की दृष्टि श्रीराम-नाम-यश पर ही रहती है, वे उसीको पाकर आदर करते हैं, यथा—"तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि। नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत् शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥" (भाग० १।५।११) अर्थात् (इसके विपरीत) जिस वाक्य-निबन्ध में सुन्दर रचना भी नहीं है एवं जो दूषित शब्दों से भी युक्त है, पर उसके प्रत्येक श्लोक भगवान् के यश सूचक नामों से युक्त है, वह रचना (वाणी) लोगों के समस्त पापों का नाश करती है, इससे महापुरुष लोग ऐसी ही वाक्य रचना का गान, श्रवण और कीर्त्तन किया करते हैं। ठीक ऐसा ही श्लोक स्कन्द पु० वैष्णव वै० मा० में भी है।

(३) 'सब गुन रहित···' में 'सब गुन' का अर्थ काव्य के समस्त गुण और 'गुनग्राही' में गुण का अर्थ उपर्युक्त 'गुन एक' में कथित श्रीराम-नाम अर्थ है। अतः, 'गुन' से उपक्रम और 'गुन' ही पर उपसंहार करके छः अर्द्धालियों में श्रीराम-नाम का महत्त्व कहा गया, क्योंकि श्रीराम-नाम में छः मात्राएँ हैं, यथा—"रामनाम्नि तु विज्ञेयाः षण्मात्रास्तत्त्वबोधकाः।" (शिवरहस्य)। इसी प्रकार विनय-पत्रिका का विषय पद ६४ से प्रारम्भ है, वहाँ भी प्रथम नाम-रहस्य के छः पद कहकर आगे और प्रार्थना की बातें हैं।

जदपि कबित-रस एकउ नाहीं। राम-प्रताप प्रगट येहि माहीं॥७॥
सोइ भरोस मोरे मन आवा। केहि न सुसंग बड़प्पन पावा॥८॥
धूमउ तजइ सहज करुआई। अगर-प्रसंग सुगंध बसाई॥९॥
भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी। रामकथा जगमंगल करनी॥१०॥

शब्दार्थ—अगर=सुगन्धित लकड़ी। प्रसंग=साथ। बसाई=वास देता है। भदेस=भद्दा।

अर्थ—यद्यपि इस (कविता) में कविता का रस एक (कुछ) भी नहीं है, तथापि इसमें श्रीरामचन्द्र जी का प्रताप प्रत्यक्ष है॥७॥ वही भरोसा मेरे मन में आया है कि अच्छे के संग से किसने बड़प्पन नहीं पाया? (अर्थात् सबने पाया)॥८॥ धुआँ भी अगर के साथ से अपना स्वाभाविक कड़ुआपन छोड़ देता है और सुगन्ध से वासित होता है॥९॥ वाणी तो भद्दी है, पर इसमें जगत् का मंगल करनेवाली श्रीराम-कथारूप अच्छी वस्तु कही गई है॥१०॥

विशेष—(१) जदपि कबित-रस···' 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' अर्थात् जिस वाक्य से लोकोत्तर आनन्द प्राप्त हो, वह काव्य है। रस का सहज अर्थ स्वाद एवं आनन्द होता है, इसीसे खट्टे-मीठे आदि स्वाद भेदों को षड्रस कहा जाता है। अतः, भाव यह है कि मेरी कविता में आस्वाद्य गुण—माधुर्य आदि गुण, उपमा-रूपक आदि अर्थालङ्कार, अनुप्रास-यमक आदि शब्दालङ्कार और शृङ्गारादि रस—ये, साहित्यिकों के आस्वादन वाले गुण एक भी नहीं हैं। इसमें प्रत्यक्ष रूप में श्रीरामजी का प्रताप है। प्रताप यथा—"कीरति स्तुति दान ते, भुजबल ते यशथाप। कीरति यश सुनि सब डरैं, कहिये ताहि प्रताप॥" (टीका-बैजनाथ); भाव यह कि मैं तो केवल श्रीरामजी की कीर्त्ति और यश कहूँगा, इस प्रताप के डर से यदि सरस्वती आदि मेरी वाणी से कविता के उक्त रसों का आस्वादन इसमें ला दें, तो ला दें।

(२) ऊपर श्रीरामनाम-द्वारा कविता की शोभा बतलाई, अब श्रीरामजी के प्रताप-द्वारा कहते हैं कि अन्य कविताओं में वह प्रताप गुप्त है, पर इसमें तो प्रकट है, यथा—"जिन्हके जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रवि सीतल लागे॥" (दो० २६१); "बान-प्रताप जान मारीचा।" (लं० दो० ३५-३७); "प्रभु-प्रताप उर सहज असंका।"···से—"समुझि राम-प्रताप कपि कोपा।···"(लं० दो० १७-३४) तक,

"जबते राम-प्रताप खगेसा। उदित भयो···" से "यह प्रताप रवि जाके, उर जब करइ प्रकास।" (उ० दो० ३०-३१) तक। 'सोइ भरोस···' उसी श्रीराम-प्रताप के भरोस को धुएँ के दृष्टान्त से समझाते हैं।

(३) 'धूमउ तजइ···' कविता धुएँ के समान है, 'अगर' श्रीराम-प्रताप है। धुएँ में कोई गुण नहीं है, पर अगर के संग से वह देवताओं के योग्य हो जाता है, यही धुएँ को बड़ाई मिलती है। धुआँ अगर के सम्बन्ध से ही निकलता है, जो उसमें गन्ध-रूप से रहता है, वैसे मेरी कविता में कोई गुण नहीं है, पर यह श्रीरामप्रताप-द्वारा ही निकलती है और वही प्रताप इसमें प्रत्यक्षरूप से है। अतः, यह भी सन्तरूप देवताओं के योग्य होगी, यही इसे बड़ाई मिलेगी।

अलंकार—'तदगुण'

'जदपि कवित···' से 'सुगन्ध बसाई' तक में प्रताप कहा, आगे—'भनिति भदेस···' से 'सरित पावन पाथ की।' तक में कथा के गुण कहते हैं—

*** छन्द—मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।**
गति कूर कविता सरित की ज्यों सरित पावन पाथ की॥

शब्दार्थ—पाथ = जल। कूर (क्रूर) = टेढ़ा।

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी कथा मंगल करनेवाली और कलियुग के पाप हरण करनेवाली है। इस कविता रूपिणी नदी की चाल टेढ़ी है, जिस प्रकार पवित्र जलवाली नदी (श्रीगंगाजी आदि) की (हुआ करती है।)

विशेष—(१) यहाँ 'कविता-नदी' उपमेय, 'सरित पावन पाथ की' उपमान, 'ज्यों' वाचक और 'गति कूर' धर्म है। अतः, पूर्णोपमा अलंकार है। उपमान में किसी पवित्र नदी का नाम न देकर सरयू, गंगा, यमुना, मन्दाकिनी एवं नर्मदा आदि सभी को सूचित किया। वाणी (सरस्वती) का स्थूलरूप नदी है और 'एकतार भाषण' को धाराप्रवाह कहते भी हैं। अतः, इस पुण्य यश-युक्त कविता को यहाँ तथा अन्यत्र भी नदी का रूपक दिया है, यथा—"पावन गंग तरंग माल से।··· राम कथा मन्दाकिनी,···जग जमुना सी।··· मेकल सैल-सुता सी॥" (दो० ३०-३१); "चली सुभग कविता सरिता सी।···सरजू नाम···" (दो० ३८)।

(२) 'गति कूर···' क्रूर का अर्थ कविता-पक्ष में भद्दी और नदी-पक्ष में टेढ़ी है। जैसे, गंगा आदि के पवित्र जल के सम्बन्ध से टेढ़ाईरूप दोष पर कोई दृष्टि नहीं देता, वैसे ही इस कविता में पवित्र कथा के सम्बन्ध से भद्दापन दोष नहीं है, प्रत्युत पावन है।

(३) 'सरित पावन पाथ की'—जैसे श्रीगंगाजी (भगवान् का चरणामृत) सबको पवित्र करती हैं, वैसे ही भगवान् श्रीरामजी की कथा भी सभीको अर्थात् वक्ता, श्रोता और प्रश्नकर्त्ता को पवित्र करती है, यथा—"वासुदेवकथा प्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि। वक्तारं पृच्छकं श्रोतृंस्तत्पादसलिलं यथा।" (भा० स्क० १०।१।१६)। पुनः 'सरित पावन पाथ की' और 'कविता सरित' का मिलान (क्रमशः)—(क) दोनों प्रवाहरूपा हैं, (ख) गति टेढ़ी—भद्दी, (ग) पवित्र जल—पावन कथावस्तु, (घ) पवित्र नदी पाप नाश करके मोक्ष देती है—कथा कलिमलहरणी और मंगलकरणी है और (ङ) पुण्य जल से टेढ़ाई दूषित नहीं—कथा की पावनता से कविता का भद्दापन भी दूषित नहीं।

* इस छन्द का नाम 'हरिगीतिका' है। लक्षण—'सोरह रवी लग अंत जन रचि, लीजिये हरिगीतिका।' (काव्य प्रभाकर) अर्थात् १६ और १२ के विश्राम से २८ मात्राएँ होती हैं। अन्त में क्रमशः लघु-गुरु होते हैं, इसकी ५, १२, १९, २६ वीं मात्राएँ लघु होती हैं।

इस कथा की चाल यों भी टेढ़ी है—श्रीअयोध्या से प्रारम्भ होकर मिथिला गई, फिर अयोध्या, चित्रकूट, कैकयदेश, अयोध्या, चित्रकूट, अयोध्या, लंका और पुनः अयोध्या आई। अतः, गंगा, सरयू आदि से भी अधिक टेढ़ी है।

सम्बन्ध—ऊपर टेढ़ाई से गुण दिखाकर अब 'असुहावनि अपावनि' को 'सुहावनि पावनि' कहते हैं—

प्रभु-सुजस-संगति भनिति भलि होइहि सुजन मनभावनी।
भव-अंग-भूति मसान की सुमिरत सोहावनि पावनी॥

शब्दार्थ—भव = शिवजी। भूति = विभूति, राख।

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी के सुन्दर यश के साथ से यह कविता अच्छी हो जायगी और सज्जनों के मन को भी अच्छी जँचेगी, जैसे शिवजी के अंग में लगने से श्मशान की (अपवित्र) विभूति भी स्मरण करनेवालों को देखने में सुहावनी और हृदय को पवित्र करनेवाली हो जाती है।

विशेष—यहाँ 'प्रभु-सुजस' और 'भव-अंग', 'भनिति' और 'मसान की भूति', 'सुजन मनभावनी'—'भलि होइहि' और 'सुहावनि-पावनी' (होती है), ('कहत-सुनत' गुप्त) और सुमिरत, क्रमशः उपमेय और उपमान हैं। यहाँ उपमेय और उपमान में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है, वाचक पद नहीं है और धर्म दोनों (उपमान-उपमेय) के भिन्न-भिन्न है, इससे 'दृष्टान्त-अलंकार' है। कविता श्मशान की राख की तरह भद्दी एवं अपवित्र है, पर प्रभु-सुयश रूपी शिवजी के अंग-संग से 'भली' एवं सुजन मनभावनी' होगी। कविता भद्दी है, इसीलिये इसका कहना-सुनना नहीं कहा। जैसे वह श्मशान की राख स्वयं पवित्र होती है और स्मरण करनेवाले के हृदय को पवित्र करती है, वैसे यह कविता भी प्रभु-सुयश संग से, स्मरण-मनन से हृदय पवित्र करेगी। इसके 'सुजन मनभावनी' होगी। वह विभूति औरों को सुहावनी लगती है, वैसे यह भनिति सुजनों को अच्छी लगेगी। उनका हृदय लुभाया रहेगा।

यहाँ तक कविता में योग्यता-प्राप्ति के पाँच हेतु कहे गये हैं—१—'राम-भगति भूषित जिय जानी॥' २—'येहि महँ रघुपति-नाम उदारा।' ३—'राम-प्रताप प्रगट येहि माहीं।' ४—'भनिति भदेस बस्तु··· रामकथा...'। ५—'प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि'···। इनमें एक हेतु भी पर्याप्त था, यहाँ तो पाँच हेतु आ गये हैं।

दोहा—**प्रिय लागिहि अति सबहि मम, भनिति रामजस-संग।**
दारु बिचार कि करइ कोउ, बंदिय मलय-प्रसंग॥

अर्थ—श्रीरामजी के यश के साथ मेरी कविता सभीको अत्यन्त प्यारी लगेगी। जैसे (मुख्य चन्दन वृक्ष वाले) मलय-गिरि के प्रसंग से सब काष्ठों की वन्दना की जाती है। फिर क्या कोई उनकी लकड़ियों का विचार करता है?

विशेष—मलय पहाड़ पर बबूल, निम्ब एवं कुरैया आदि जो भी वृक्ष हों, उनमें उसके असली चन्दन की गन्ध वायु-द्वारा प्राप्त होकर चन्दन की-सी सुगन्ध आ जाती है, उन वृक्षों के पत्ते आदि का पूर्व आकार ज्यों-का-त्यों रहता है, तब भी चन्दन के गन्ध-गुण की प्रधानता से उनकी लकड़ियाँ चन्दन ही मानी जाती हैं। उस चन्दन को भी लोग देवताओं पर चढ़ाते और मस्तक पर लगाते हैं। फिर बबूल, नीम आदि की लकड़ियों की पूर्व की न्यूनता पर कोई ध्यान नहीं देता। पूर्व के नाम भी उनमें नहीं रह जाते,

यथा—"किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्तएव। मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण कङ्कोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः॥" (भर्तृहरिनीतिशतक ८०); अर्थात् उस सोने के सुमेरु पर्वत और चाँदी के कैलास पर्वत से क्या (लाभ) ? कि जिसके आश्रित वृक्ष (जैसे-के-तैसे) सदा वृक्ष ही रह जाते हैं। हम तो मलयाचल को श्रेष्ठ मानते हैं कि जहाँ कंकोल, नीम और करंज आदि कड़वे-कसैले वृक्ष भी चन्दन हो जाते हैं। इसी प्रकार बबूल आदि के सदृश मेरी कविता है, वह भी श्रीरामयश रूप मलयाचल के संग से चन्दन के समान सुगन्धित अर्थात् यशस्विनी एवं आदृत होगी।

श्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सियराम - जस, गावहिं सुनहिं सुजान॥१०॥

अर्थ—काली गाय का दूध अति उज्ज्वल और गुणकारी होता है, (अतः उसे) सब लोग पीते हैं, इसी प्रकार श्रीसीतारामजी का यश ग्रामीण भाषा में होने पर भी सुजान लोग इसे गावेंगे और सुनेंगे।

विशेष—यहाँ 'श्याम सुरभि' और 'गिरा ग्राम्य', 'पय बिसद', 'अति गुनद' और 'सियराम जस', 'करहिं पान' और 'गावहिं' 'सुनहिं' 'सब' और 'सुजान' क्रमशः उपमान और उपमेय हैं। यहाँ भी उपमान-उपमेय के धर्म भिन्न-भिन्न हैं। अतः, 'दृष्टान्त-अलंकार' है।

यश का रंग उज्ज्वल है और श्रीसीतारामजी का यश परम उज्ज्वल है, यथा—"जिन्ह के जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रवि सीतल लागे॥" (दो० २६१)। इसीसे चारों दृष्टान्त उज्ज्वल वस्तुओं के दिये गये हैं—गंगा का जल, शिवजी का शरीर, मलयाचल और दूध। चारों दृष्टान्तों से यशः-सम्बन्धी पृथक्-पृथक् बातें दिखाई गईं। तीन के विषय में ऊपर कहा गया है। यहाँ सबके ग्रहण करने के लिये ग्राम्य भाषा का दृष्टान्त श्यामा गाय से दिया गया है।

वैद्यक ग्रन्थों में श्यामा गाय का दूध विशद एवं अति गुणद कहा गया है। गाय के शरीर की श्यामता (कालापन) दूध में नहीं आती, वैसे मेरी भाषा का भद्दापन यश में न्यूनता नहीं ला सकेगा।

'अति गुनद'—"कृष्णाया गोर्भवं दुग्धं वातहारि गुणाधिकम्" (वैद्यकग्रन्थ-वि०-टी०); अर्थात् काली गाय का दूध वात रोगों का नाशक और अधिक गुणवाला होता है। वैसे भाषा-काव्य में अधिक गुण यह है कि यह थोड़े परिश्रम में ही सबके पढ़ने-समझने में आ जाता है और इसके पाठ का अधिकार भी सब-को है। संस्कृत सत्वगुणी देववाणी है। अतः, उजली गाय के समान हुई। उजली गाय का दूध काली गाय के दूध की अपेक्षा कम गुणद होता है, क्योंकि वह कफवर्द्धक कहा जाता है, वैसे संस्कृत में वर्णित यश को कम ही लोग पढ़-समझ सकते हैं, यही कम गुणद हुआ, क्योंकि संसार की अधिकांश जनता उससे वंचित ही रह जाती है।

'गिरा ग्राम्य' एवं 'गावहिं सुनहिं सुजान' से यह भी आशय निकलता है कि जिस गाँव में जो चरित्र हुआ है, वहीं की भाषा में उसका वर्णन किया जाना अधिक उपयुक्त है। अतः, अवध का चरित्र अवधी भाषा में ही अधिक यथार्थ है। श्रीमद्वाल्मीकीय उसी समय की रचना है। उसमें श्रीहनुमान्‌जी के शुद्ध संस्कृत बोलने की प्रशंसा श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी से बहुत की है। अतः, उस समय भी प्राकृत-भाषा थी। श्रीहनुमान्‌जी लंका में अशोक-वृक्ष पर बैठे सोच रहे हैं—"यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्। रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥ वानरस्य विशेषेण कथं स्यादभिभाषणम्। अवश्य मेववक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवित्॥" (वाल्मी० सुन्दर० सर्ग ३०, श्लोक १८।१९); इन वाल्मीकीय श्लोकों से भी उस समय संस्कृत से भिन्न प्राकृत भाषा (मानुषवाक्य) का अस्तित्व सूचित होता है। संस्कृत का अर्थ

'व्याकरण द्वारा संस्कार की हुई भाषा' है। हाँ, उस समय संस्कृत विशेष रूप में प्रचलित थी। फिर भी प्राकृत का-सा स्वारस्य साधारण जनता के लिये संस्कृत में नहीं आता, यथा—'भैया! कहहु कुसल दोउ बारे।' यह वचन श्रीदशरथ महाराज का है जो वात्सल्य में मुग्ध होकर श्रीजनकपुर के दूतों से कहा गया है। श्री अवध में ज्येष्ठ पुत्र और बड़े भाई को 'भैया' कहते हैं। राजा ने श्रीरामजी का कुशल-समाचार लाने से उन्हें श्रीराम के समान मानकर 'भैया' कहा है। ऐसे ही श्रीकौशल्याजी ने भी श्रीरामजी को 'भैया' कहा है, यथा—"पितु समीप तब जायेहु भैया।" (अ० दो० ५२); इस 'भैया' शब्द का स्वारस्य संस्कृत में नहीं आ सकता। अतः, इस प्राकृत भाषा में चरित ज्यों-का-त्यों कहा गया है, इससे ग्राम्य भाषा 'अति गुणद' और 'सुजानों' से ग्राह्य कही गई है।

गाय के दृष्टान्त पर यशः-प्रसंग की समाप्ति से यह भी भाव है कि गाय सर्वत्र विचरनेवाली एवं पंचगव्य द्वारा कल्याण करनेवाली तथा लोकपूज्या है एवं कामधेनु सब मनोरथों को देती है, वैसे इस कविता का सर्वत्र प्रचार होकर कल्याण होगा। कामधेनु की तरह यह चारो फल देगी और लोक-पूज्या होगी, यथा—"राम-कथा कलि कामद गाई। सुजन सजीवन मूरि सुहाई॥" (दो० ३०)।

सम्बन्ध—ऊपर कविता के गुण-दोष दिखाकर वह गुण कहा जिससे सज्जन ग्रहण करेंगे। इसपर यदि कोई कहे कि कोई ग्रहण करे या न करे—आप तो गाते ही हैं। उसपर कहते हैं—

मनि-मानिक-मुकता छवि जैसी। अहि-गिरि-गज-सिर सोह न तैसी॥१॥
नृप-किरीट तरुनी-तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥२॥
तैसेहिं सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं।३॥

अर्थ—मणि, माणिक्य और मुक्ता जैसी छविवाले हैं, वे सर्प, पर्वत और हाथी के सिर में वैसे नहीं शोभित होते॥१॥ (वे सब ही) राजा के मुकुट और युवती स्त्री के शरीर से सम्बन्ध प्राप्त कर (उनके भूषण बन) अधिक शोभा पाते हैं॥२॥ पंडित कहते हैं कि उसी प्रकार सुकवि की कविता उत्पन्न और जगह होती है तथा और ही जगह शोभा पाती है॥३॥

विशेष—(१) 'मनि-मानिक-मुकता···' मणि-माणिक्य और मुक्ता का क्रमशः यथासंख्यालंकार की रीति से सर्प, पवत और हाथी से होना सूचित किया है। ये क्रमशः उत्तम, मध्यम और निकृष्ट होते हैं, वैसे कविता भी ध्वनि, व्यंग्य और सामान्य क्रम से उत्तम, मध्यम और निकृष्ट समझी जाती है।

(२) 'नृप-किरीट···' राजा के मुकुट में मणि आदि का जड़ा जाना और युवती के अंग में हार आदि के रूप में रहना कहा, इससे दोनों के अंगों और दोनों के भूषणों में इनका जटित होना भी जनाया, जैसे (दो० २०८) 'सौंपे भूप·····' में पिता के यहाँ आशीष और माता के यहाँ शीश नवाना कहा है, पर दोनों जगह दोनों बातें ली जाती हैं।

(३) 'तैसेहिं सुकवि'·····जैसे मणि आदि की उत्पत्ति सर्प आदि से होती है और उनकी शोभा 'नृप-किरीट' एवं 'तरुनी-तनु' में होती है, वैसे कविता उत्पन्न तो कवि से होती है और उसकी शोभा पंडितों के समाज में होती है, यथा—"कविः करोति काव्यानि बुधः संवेत्ति तद्रसान्। तरुः प्रसूते पुष्पाणि मरुद्वहति सौरभम्।" ऐसा प्रसिद्ध है।

अलंकार—'क्रम' और 'पर्याय प्रथम', क्योंकि मणि आदि ने और आश्रय ग्रहण किये, तथा—'लहहिं सकल···' में 'अनुगुण-अलंकार' भी है।

सम्बन्ध—ऊपर मणि-मुक्तादि की उपमा दी। आगे यह कहते हैं कि वैसी कविता श्रीसरस्वतीजी की कृपा से होती है और वे श्रीरामयश के सम्बन्ध में ही कृपा करती हैं—

भगति-हेतु बिधि-भवन बिहाई । सुमिरत सारद आवत धाई ॥४॥
रामचरित-सर बिनु अन्हवाये । सो श्रम जाइ न कोटि उपाये ॥५॥
कवि कोविद अस हृदय बिचारी । गावहिं हरिजस कलिमलहारी ॥६॥
कीन्हे प्राकृतजन गुन गाना । सिर धुनि गिरा लगति पछिताना ॥७॥

शब्दार्थ—कोविद = पंडित । प्राकृतजन = साधारण मनुष्य, सांसारिक मनुष्य । गिरा = सरस्वतीजी ।

अर्थ—कवि के स्मरण करते ही इसकी भक्ति के कारण सरस्वतीजी ब्रह्मलोक को छोड़ दौड़कर आती हैं ॥४॥ उनके तुरन्त दौड़कर आने की वह थकावट श्रीरामचरित-रूपी तड़ाग में स्नान कराये बिना करोड़ों उपाय करने पर भी नहीं जाती ॥५॥ कवि-कोविद लोग ऐसा हृदय में विचार कर कलियुग के पापों को हरनेवाले भगवान के यश गाते हैं ॥६॥ संसारी मनुष्यों के गुण गाने से सरस्वतीजी अपना सिर पीट-पीटकर पछताने लगती हैं (कि मैं श्रम करके व्यर्थ आई) ॥७॥

विशेष—(१) 'भगति हेतु''' सरस्वतीजी उपासिका हैं, यथा—"सारद उपमा'''एक टक रही रूप अनुरागी ।" (दो० ३४८); इसीसे वे श्रीराम-यश गान रूपिणी भक्ति के लिये ब्रह्मलोक का आनन्दपूर्ण भवन छोड़कर उत्साह से दौड़ी आती हैं । दौड़कर आना यों भी है कि परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी ये चार वाणियाँ हैं, जिनके स्थान क्रमशः नाभि, हृदय, कंठ और जिह्वा हैं । हरियश सम्बन्धी वाणी परा है, वह नाभि-स्थल में बुद्धि के देवता ब्रह्मा के पास रहती है । वह स्मरण होने से हृदय, कंठ होती हुई वैखरी पर शब्द-रूप होकर आती है । यही दौड़कर आना है, यथा—"हिय सुमिरी सारदा सुहाई । मानस ते मुख पंकज आई ॥"(अ० दो० २६६); अनुभवात्मक कविता का स्वतः उद्गार होना, शारदा का दौड़कर आना है, जैसे श्रीवाल्मीकिजी के मुख से 'मा निषाद'''' श्लोक निकला । थके हुए का श्रम स्नान से दूर होता है । अतः, इस 'रामचरित-सर' में नहलाना कहा । महाकवि जयदेव ने भी अपने 'प्रसन्नराघव नाटक' की प्रस्तावना में सूत्रधार से यही कहलाया है—'झटिति जगती मागच्छन्त्याः पितामहविष्टपान्महति पथि यो देव्या वाचः श्रमः समजायत । अपि कथमसौ मुच्येदेनं नचेदवगाहते । रघुपतिगुणग्रामश्लाघासुधामय-दीर्घिकाम् ॥ (प्रस्तावना ३।१५); अर्थात् ब्रह्मलोक से शीघ्रतापूर्वक बड़े लम्बे मार्ग होकर पृथ्वी पर आने में देवी शारदा को जो श्रम होता है, बिना श्रीरघुनाथजी के गुणग्राम का प्रेमपूर्वक वर्णन-रूपी अमृत-कुण्ड में स्नान किये, वह कैसे दूर हो सकता है ?

(२) 'कीन्हे प्राकृत'''सिर धुनि''' शारदा का सम्बन्ध श्रीरामजी से है, यथा—"सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी ।" (दो० १०४); अतः, उनका उपयोग अदिव्य के विषय में होने से उन्हें दुःख होता है, तब वे सिर पीट-पीटकर पछताती हैं और कोसती हुई कहती हैं कि जैसे मेरा आना व्यर्थ हुआ, वैसे तुम्हारी कविता भी व्यर्थ हो । मुझे नीच के कथन में लगाया । अतः, तुम भी नीच गति पाओगे । पुनः, मनुष्य-यशवर्णन में सूर्य के समान प्रताप, चन्द्रमा के समान यश आदि उपमानों द्वारा मिथ्या कथन भी होता है, जिससे उन्हें दुःख होता है, यथा—"मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम् ।" (भर्तृहरिवैराग्य-शतक २०) ।

हृदय सिंधु मति सीप समाना । स्वाती सारद कहहिं सुजाना ॥८॥
जौं बरषइ बर बारि बिचारू । होहिं कबित मुकुतामनि चारू ॥९॥

दोहा—जुगुति बेधि पुनि पोहियहि, रामचरित बर ताग ।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग ॥११॥

अर्थ—पंडित लोग कहते हैं कि कवि का हृदय अच्छे समुद्र, बुद्धि सीप और सरस्वती स्वाती नक्षत्र के समान हैं ॥८॥ यदि (शारदा-रूपिणी स्वाती) अच्छे विचार-रूपी अच्छे जल की वर्षा करे तो कविता-रूपी श्रेष्ठ मुक्तामणि उससे प्राप्त होते हैं ॥९॥ (उन कविता-रूपी मुक्तामणियों को) युक्ति से बेध (छेद) कर रामचरित-रूपी सुन्दर धागे में गूँथें (तो उसे) सज्जन लोग अपने शुद्ध हृदय पर पहनते (धारण करते) हैं और अति अनुरागरूपी शोभा पाते हैं।

विशेष—(१) 'हृदय सिंधु···' हृदय समुद्र के समान गम्भीर हो, उसमें सीप-(सितुही)-रूपिणी बुद्धि कविता-रूपी मुक्तामणि के उत्पन्न के लिये, शारदा-रूपिणी स्वाती के बरसे हुए सद्विचार-रूपी जल को धारण करे। प्रथम मूर्त्तिमती शारदा को कथा सुनने के लिये दौड़कर आना कहा था। यहाँ उनका वाणी रूप से विचार देना कहते हैं, इससे यहाँ उनके दो रूप सूचित किये।

(२) 'जौं बरखइ···' स्वाती की वर्षा प्रायः कम होती है, यथा—'कहुँ-कहुँ बृष्टि सारदी थोरी।' (कि० दो० १५); सब जगह उसकी वर्षा नहीं होती, वैसे शारदा भी श्रेष्ठ विचार-रूपी जल सब कवियों के हृदय में नहीं बरसातीं। स्वाती समुद्र के अन्य पात्रों पर एवं सब सीपियों पर वर्षा नहीं करती, वैसे शारदा की भी कृपा किसी विरले ही भाग्यवान् पर होती है। अतः, 'सन्दिग्ध सूचक 'जौं' कहा गया।

स्वाती का जल हाथी के कान में पड़े तो गजमुक्ता, कदली में कपूर, गाय में गोरोचन एवं बाँस में पड़ने से वंशलोचन पैदा करता है, पर सबसे अधिक मूल्य का पदार्थ सीप ही में पड़ने से होता है, वैसे ही सद्विचार बुद्धि ही द्वारा प्रकट होता है। अतः, 'मति' को 'सीप' कहा।

(३) 'जुगुति बेधि···' प्रथम कविता को मुक्ता के समान कहा था। वहाँ गजमुक्ता थी। यहाँ सीप की मुक्ता है। वहाँ उन मणि-मुक्ता आदि से 'नृप-किरीट' एवं 'तरुनी तनु' में शोभा होना कहा गया, यहाँ सज्जनों में शोभा होना कहा है। 'बिमल उर' के सज्जनों में अनुराग प्रकट करने से इस मुक्ता-हार की शोभा और इस हार से सज्जनों की शोभा है। अतः, अन्योन्य सापेक्ष्य हैं।

(४) पूर्ण सांग रूपक का क्रमशः उपमेय और उपमान—हृदय-सिन्धु, मति-सीप, शारदा-स्वाती, शारदा की कृपा कभी किसीपर होती है, जैसे स्वाती की वर्षा भी कहीं-कहीं होती है, वर विचार—वर वारि, कविता—मुक्तामणि, सूक्ष्म युक्ति से काव्य की शोभा-महीन छिद्र से मोती की शोभा, युक्ति—महीन बरमा, रामचरित का काव्य में वर्णन-रूप प्रवेश—डोरे का मोती में प्रवेश, हृदय में धारण करना—माला का छाती पर पहनना, सज्जन—धनी, अति अनुराग होना—शोभा होना।

इस मानस-ग्रन्थ में चार संवादों के द्वारा सब कथाएँ वर्णित हैं। सूक्ष्म युक्ति-रूप बरमे से कविता-मणि में छेद किया। फिर श्रीरामचरित-रूप धागे को लेकर प्रथम श्रीगोस्वामीजी ने याज्ञवल्क्य के संवाद में मिलाया। उन्होंने शिवजी के संवाद में, फिर शिवजी ने काकभुशुण्डी के संवाद में मिलाया, यही सम्पूर्ण चरित का गूँथना है।

(५) यहाँ 'बिमल उर' के साथ 'अति अनुराग' कहा गया है। अतः, समान्य लोगों का सामान्य अनुराग होना सूचित हुआ। मुक्ता के पक्ष में युक्ति का अर्थ चतुरता है और काव्य-पक्ष में अर्थ यह है कि वक्ता का वचन अपने गुप्त आशय को श्रोता के हृदय में प्रकट कर विनोद प्राप्त करे, यथा—"जुगुति सुनत रावन मुसुकाई।" (लं० दो० ३३)।

सम्बन्ध—उपर्युक्त कथन से जिज्ञासा हो सकती है कि क्या मानस की कविता ऐसी ही है? उसपर कहते हैं कि ऊपर की बातें तो सत्कवियों के विषय में कही गई हैं, मेरी कथा अब सुनिये—

जे जनमे कलि काल कराला । करतब बायस बेष मराला ॥१॥
चलत कुपंथ बेद - मग छाँड़े । कपट कलेवर कलिमल भाँड़े ॥२॥
बंचक भगत कहाइ राम के । किंकर कंचन कोह काम के ॥३॥
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी । धीग धरमध्वज धंधक धोरी ॥४॥

शब्दार्थ—कलेवर = देह । भाँड़ = बरतन । बंचक = ठग । कोह = क्रोध । रेख = गिनती । धीग (धिक्) = धिक्कार । धर्मध्वज = धर्म का आडम्बर खड़ा करके स्वार्थ साधन करनेवाला, पाखंडी । धंधक = काम-धन्धे का आडम्बर, जंजाल । धोरी = धुरी का धारण करनेवाला, वह बैल जो अधिक बोझे की गाड़ी में दो बैलों के आगे जोता जाता है । धंधक धोरी = हर घड़ी जंजाल में जुता रहनेवाला ।

अर्थ—जिनका जन्म इस कराल कलिकाल में हुआ है और जिनका वेष तो हंस के समान है, पर करनी कौए की-सी है ॥१॥ जो वेद-(विहित)-मार्ग को छोड़कर कुमार्ग पर चलते हैं, जो कपट के पुतले एवं कलियुग के पापों के बरतन हैं ॥२॥ जो ठग हैं, कहाते तो हैं श्रीरामजी के भक्त, पर लोभ, क्रोध और काम के दास हैं ॥३॥ जगत् के ऐसे लोगों में प्रथम मेरी गणना है, जो धिक्कार के योग्य और धर्मध्वजी हैं तथा हर घड़ी जंजाल में जुते रहनेवाले हैं ॥४॥

विशेष—'जे जनमे···' कलियुग सब युगों की अपेक्षा अति भयंकर है, इसका वर्णन—"सो कलि-काल कठिन उरगारी···" से 'सुनु ब्यालारि काल कलि, मल अवगुन आगार ।' (उ० दो० १०२); तक है ऐसे काल में इन पाखंडियों का जन्म है । अतः, तदनुसार ही इनका आचरण भी है, यथा—"ऐसे अधम मनुज खल,···बृन्द बहु, होइहहिं कलिजुग माँहि ॥" (उ० दो० ४०) ।

(२) 'करतब बायस ···' वे लोग कौए की तरह छली, मलिन एवं अविश्वासी हैं, यथा—"काक समान पाक-रिपु-रीती । छली मलीन कतहुँ न प्रतीती ॥" (अ० दो० ३०१); पाप का रूप काला है, वे भी पाप-रूपधारी हैं । अतः, काले कौए के समान कहे गये हैं । हंस का वेष उजला है, वैसे वे भी दूसरों को ठगने के लिये विवेकी साधुओं का-सा उज्ज्वल वेष धारण किये रहते हैं ।

(३) 'चलत कुपंथ···' पाखंडियों के चलाये हुए मार्ग कुग्रन्थ हैं, यथा—"दंभिन्ह निज मत कलपि करि, प्रगट किये बहु पंथ ।" (उ० दो० ६७); तथा—'इमि कुपंथ पग देत खगेसा ।' (अर० दो० २७); अर्थात् ये चोरी, व्यभिचार आदि भी करते हैं । 'कपट कलेवर'—कलियुग कपट-निधान है, यथा—कालनेमि कलि-कपटनिधानू ।' (दो० २६); ये कलि में जनमे हैं । अतः, कपट के पुतले हैं । 'भाँड़े' अर्थात् भीतर भी पाप ही भरा है । 'करतब बायस···' में कपट और 'चलत कुपंथ बेदमग छाँड़े' में पाप कहकर उत्तरार्द्ध 'कपट कलेवर कलिमल भाँड़े' में दोनों एकत्र कहे ।

(४) 'बंचक भगत ···' 'भगत' के साथ 'कहाइ' और 'कंचन' आदि के साथ 'किंकर' पद दिया, अर्थात् ये पाखंडी श्रीरामजी के भक्त कहाते मात्र हैं, पर दास तो 'कंचन' आदि के ही हैं । क्रोध और काम के साहचर्य से 'कंचन' शब्द लोभ का वाचक है । प्रस्तुत प्रसंग द्रव्य ठगने के लिये वेष बनाने का है । अतः, यहाँ लोभ प्रथम कहा गया है । राम-भक्त में ही ऐसे लोग कहे गये, क्योंकि ग्रन्थकार स्वयं राम-भक्त हैं और अपने ही पर सब दोष लाना चाहते हैं तथा राम-भक्त सर्वश्रेष्ठ हैं, यथा—"सब ते सो दुरलभ सुरराया । राम भजनि रत···" (उ० दो० ५३); ऐसे में ये दोष बड़े भारी पाप-रूप हैं । यह भी सिद्ध करना है ।

(५) 'तिन्ह महँ प्रथम ···' कलिकाल जब से हुआ एवं इसमें जन्मे हुए जिनके कर्म ऊपर तीन अर्द्धालियों में कह आये हैं, वैसे-वैसे जगत्-भर के पापियों में मैं सबसे अधिक हूँ । सत्ययुग में दैत्य, त्रेता में

राक्षस, और द्वापर में दुर्योधन आदि खल थे। वे सामान्य थे। कलि के 'खल बृन्द' उनसे अधिक हैं, उनमें भी मैं श्रेष्ठ हूँ।

(६) 'धोग धर्मध्वज···' यह धिक्कार केवल अपने प्रति है। धर्म का पताका लिये हुए अर्थात् उत्तम साधु के वेष में निकम्मे धन्धे (जंजाल) का भार ढोनेवाले (मुझ जैसे) बैल को धिक्कार है।

पाठान्तर—'धंधक' की जगह 'धंध्रक' भी पाठ है, पर कोष में उसका भी अर्थ 'धंधक' ही है।

जौं अपने अवगुन सब कहऊँ। बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊँ ॥५॥
ताते मैं अति अलप बखाने। थोरेहि महँ जानिहहिं सयाने ॥६॥

अर्थ—जो मैं अपने सब अवगुणों का कथन करूँ तो कथा बढ़ जायगी और अवगुणों का पार भी नहीं पाऊँगा ॥ ५ ॥ इसीसे मैंने (अपने दोषों के विषय में) बहुत थोड़ा ही कहा, बुद्धिमान् लोग थोड़े ही में समझ जायँगे॥ ६ ॥

विशेष—'जौं अपने···' मेरे अवगुण अपार हैं, यथा—"जद्यपि मम अवगुन अपार···" (वि० ११८); "मैं अपराधसिंधु···" (वि० ११७); इत्यादि लिखकर पूरा हो सकता तो लिखता भी, इतने ही से काम नहीं चलेगा। अपने अवगुण-कथन में एक तो बात बढ़ जायगी, दूसरे सयाने तो इशारे से भी जान लेते हैं। अतः, संक्षेप ही में कहा, यथा—"सुहृद सुजान सुसाहिबहिं बहुत कहब बड़ि खोरि।" (अ० दो० ३००); तथा अपने दोषों का कहना उनका प्रायश्चित्त है, यथा—"यथा लवणमम्भोभिरासुतं प्रविलीयते। प्रायश्चित्तहतं पापं तथा सद्यः प्रणश्यति ॥ तस्मात्पापं न गूहेत गूहमानं विवर्धयेत्। कृत्वा तत्साधुष्वाख्येयं ते तत्प्रशमयन्त्युत ॥" (महा० अनुशा० १६२।५८-५९); अर्थात् जैसे नमक जल में पड़ने से गल जाता है, वैसे ही प्रायश्चित्त के द्वारा पापकर्म उसी समय नष्ट हो जाते हैं। इसलिये पापकर्मों को छिपाना नहीं चाहिये, छिपाने से वह बढ़ता है। पाप करने पर साधुओं के निकट कहने से वे लोग उस पाप को नष्ट करते हैं। (मनु० ११।२२७ से २३० तक) चार श्लोकों में भी विस्तारपूर्वक यही समझाया गया है। इस दृष्टि से भी श्रीगोस्वामीजी ने लोक-शिक्षात्मक कहा है। सरस्वती कृत* अर्थ सयानों के लिये यह भी है कि यह ग्रन्थकार का कार्पण्य है, जो शरणागति के छः अंगों (अनुकूलता का संकल्प, प्रतिकूलता का त्याग, भगवान् के द्वारा रक्षा का विश्वास, रक्षा के लिये प्रार्थना करना, आत्म-समर्पण और कार्पण्य) में छठा है।

समुझि बिबिध बिधि बिनती मोरी। कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी ॥७॥
एतेहु पर करिहहिं जे असंका। मोहिं ते अधिक ते जड़ मति रंका ॥८॥

अर्थ—मेरी इन अनेकों प्रकार की प्रार्थनाओं को समझकर कोई भी कथा सुनकर मुझे दोष नहीं देगा ॥७॥ और इतने पर भी जो आशंका (शंका) करेंगे, वे मुझसे भी अधिक मूर्ख एवं बुद्धि के दरिद्र (सिद्ध) होंगे ॥८॥

विशेष—'समुझि···'—मैंने ही कह दिया तो कोई दोष क्यों देगा? शंका का तात्पर्य यहाँ दोष देने में ही है। भाव यह कि जो कोई चतुर हो, कवि हो तो उसकी समालोचना करके दोष निकालना बुद्धिमत्ता है, जड़मति की कविता में दोष निकालना जड़ता ही है। यही बात आगे कहते हैं—

* वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती हैं। वे भक्तों और भगवान् के अपकर्षवाले शब्दों के और ही अर्थ करती हैं। उदाहरणार्थ सप्तर्षिकृत शिव-निन्दा का प्रकरण देखिये।

कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति-अनुरूप राम गुन गावउँ ॥९॥
कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा ॥१०॥
जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं ॥११॥

अर्थ—न तो मैं कवि हूँ और न चतुर कहाता हूँ, किन्तु अपनी मति के अनुसार श्रीरामजी के गुण गाता हूँ ॥९॥ कहाँ श्रीरघुनाथजी के अपार चरित और कहाँ संसार में खचित मेरी बुद्धि ? ॥१०॥ जिस वायु से सुमेरु आदि पहाड़ उड़ जाते हैं, (उसके समक्ष) कहिये तो (भला,) रुई किस गणना में है ? ॥११॥

विशेष—(१) प्रथम मणि-मुक्ता के समान कविता से सज्जनों की शोभा कहकर अपना कार्पण्य कहने लगे कि मुझसे वैसी कविता नहीं बन सकती। अतः, इस कविता से मैं न तो कवि बनता हूँ और न चतुर कहलाना चाहता हूँ, प्रत्युत मति के अनुरूप ज्यों-त्यों करके राम-गुण गाता हूँ। फिर यह प्रश्न होता है, कि क्या आप इस मति से श्रीराम-गुण गा लेंगे ? इसपर कहते हैं—

(२) 'कहँ रघुपति···'—कहाँ यह और कहाँ वह ? यह बहुत अन्तरसूचक है—यहाँ 'विषम अलंकार' का प्रथम भेद है, तथा—"कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा।" (दो० २२५)। चरित की अपारता, यथा—"रघुबीर चरित अपार बारिधि पार कवि कवने लह्यो।" (दो० ३६१)। पूर्वोक्त दो० ७ की चौ० ५ भी देखिये। यहाँ से आगे—'करत कथा मन अति कदराई।' तक अपनी कादरता कहते हैं।

(३) 'जेहि मारुत···' श्रीरामचरित रूपी वायु के सामने शारदा-शेष आदि वक्ता भी, जो सुमेरु की भाँति हैं, हलके होकर उड़ जाते हैं अर्थात् 'नेति-नेति' कहकर हार मानते हैं, तब रुई के समान हलकी बुद्धिवाला मैं तो उड़ा हुआ हूँ ही।

अलंकार—'निषेधाक्षेप'—'कवि न होउँ···' में।

समुझत अमित राम-प्रभुताई। करत कथा मन अति कदराई ॥१२॥

दोहा—**सारद सेष महेस बिधि, आगम निगम पुरान।**
नेति-नेति कहि जासु गुन, करहिं निरंतर गान ॥१२॥

अर्थ—श्रीरामजी की अमित प्रभुता को समझकर कथा की रचना करते हुए मेरा मन अत्यन्त कदराता (डरता) है ॥१२॥ सरस्वतीजी, शेषजी, महादेवजी, ब्रह्माजी, शास्त्र, वेद और पुराण, जिन (श्रीरामजी) के गुणों को 'नेति-नेति' कहते हुए सदा गाते रहते हैं ॥१२॥

विशेष—(१) 'समुझत···'—'राम-प्रभुताई—यथा—"सुनु खगेस रघुपति-प्रभुताई।···" से—"देखि चरित यह सो प्रभुताई।" (उ० दो० ७३-८२) तक, तथा—"महिमा नाम रूप-गुन गाथा।" से—"राम अमित गुनसागर,···" (उ० दो० ९०-९२) तक, इत्यादि। 'करत कथा'—शब्द के भीतर जो बातें आती हैं, वे कहने पर अपने अर्थों से सीमित हो जाती हैं। इस प्रकार कहने से 'प्रभुताई' भी शब्दों के अनुसार ही सीमित रूप में अल्प समझी जाती है और तब उसकी लघुता होती है, यथा—"कहिय सुमेरु कि सेर सम, कबि-कुलमति सकुचानि ॥" (अ० दो० २८८)।

(२) 'सारद सेष···'—यहाँ से अपनी कादरता का निवारण और धैर्य का साधन कहते हैं कि उक्त शारदा आदि सातो वक्ता भी 'राम-प्रभुताई' को दिन-रात कहते रहते हैं, फिर भी 'इति' नहीं लगती। सब कोई 'नेति' ('न+इति' अर्थात् इति नहीं है,) ही कहते हैं, यथा—"तुमहिं आदि खग मसक

प्रजंता। नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता॥ तिमि रघुपति-महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा॥" (उ० दो० ६०); श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने मैत्रेयीजी से कहा था, यथा—"स एष नेति नेत्यात्मा, अगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यते। असङ्गो न हि सज्जते।" (बृहदारण्यक० ४।५।१५); अर्थात् वह यह 'नेति-नेति' इस प्रकार कहा हुआ आत्मा अगृह्य है, क्योंकि उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता, वह अशीर्य (टूटने-फूटने के अयोग्य) है, क्योंकि उसका विनाश नहीं होता, वह असङ्ग (आसक्ति रहित) है, क्योंकि आसक्त नहीं होता। यहाँ सात मुख्य वक्ताओं के नाम दिये गये हैं, इन्हें ही प्रथम 'गिरि मेरु' की उपमा से बतलाया था, क्योंकि ग्रन्थकार ने मुख्य सात ही पर्वत माने हैं, यथा—"उदय अस्त गिरिबर कैलासू। मंदर मेरु सकल सुरबासू॥ सैल हिमाचल आदिक जेते। चित्रकूट जस गावहिं तेते॥ बिंध मुदित मन सुख न समाई।" (अ० दो० १३०)। शारदा प्रथम कही गई हैं, क्योंकि वे वक्तृत्व की ही देवी हैं। अतः, सबकी जिह्वा पर रहती हैं।

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥१॥

अर्थ—(उन) श्रीरामजी की उसी प्रभुता को सब जानते हैं, तथापि बिना कहे कोई नहीं रहा।

विशेष—'सोई' वही, जिसके लिये मैं कदराता हूँ और शारदा आदि 'नेति-नेति' कहते हैं। तात्पर्य यह कि वे लोग एक दूसरे को थका हुआ एवं नहीं पार पाया हुआ देखकर भी चुप नहीं रहे, उसी नियम से मैं भी अपनी शक्ति-भर कहने का साहस करता हूँ। इसपर एक आख्यायिका है कि एक समुद्र के तट पर कुछ तैराक इकट्ठे हुए। वे एक-एक कर तैरने के लिये कूदते गये। कोई मील भर पर, कोई आधे मील पर, कोई अधिक, कोई कम दूरी पर डूबते ही चले गये। सब के पीछे एक तैराक कूदा। वह थोड़ी ही दूर पर डूबने लगा। लोगों ने उसे पकड़ लिया और डाँटा कि जब तैरने का साहस नहीं था तब कूदा क्यों? उसने उत्तर दिया कि जैसे सब कूदे, वैसे मैं भी कूदा। वे लोग भी तो पार नहीं ही हो सके।

भाव यह कि लोग गा-गाकर अपनी वाणी पवित्र करते हैं और साथ-साथ भगवान् के गुणों से तदनुसार लाभ उठाते हैं, यह आगे कहते हैं—

अलंकार—'विभावना तृतीय'; क्योंकि प्रतिबन्धक रूप अवर्ण्य विषय को जानते हुए भी वर्णन कार्य कहा गया है, यथा—"प्रतिबन्धक के होते हू, होय काज जेहि ठौर।" (अलंकार मंजूषा); तऊ, तो भी एवं तदपि आदि पद इसके सूचक हैं।

तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन-प्रभाव भाँति बहु भाखा॥२॥

अर्थ—इस (विषय) में वेदों ने ऐसा कारण रक्खा है कि भजन का प्रभाव (प्रकट करने के लिये एक ही ब्रह्म को) बहुत प्रकार से कहा है।

विशेष—प्रथम वेदों ने एक ही ब्रह्म को अनेक नामों से कहा है। उन नामों के अर्थों से प्रकट गुण उस ब्रह्म के विशेषण हुए। उन विशेषणों के अनुकूल भक्त लोग ध्यान करने लगे, तदनुसार ब्रह्म ने रूप धर कर लीला की, उन्हीं गुणों एवं लीलाओं को उपर्युक्त अन्य वक्ता लोग गाते हैं कि एक-एक गुण भी निःसीम हैं। उनका अन्त न पाकर वक्ता लोग 'नेति-नेति' कहते हैं; यथा—"सो नयन-गोचर जासु गुन नित नेति कहि श्रुति गावहीं (कि० दो० ६)। भगवान् का स्वभाव कल्पवृक्ष के समान है। अतः, जिस विशेषण के द्वारा उनमें जैसा ध्यान होता है, वैसे ही गुणों से वे मनोरथ-पूर्त्ति करते हैं, यथा—"उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप-कल्पना॥" (श्रीरामतापनीय)। स्मृति-वाक्य भी है—"मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभियुता। रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युतः।" इसीलिये आगे वेदों के कहे हुए ब्रह्म के 'एक, अनीह' आदि नाम और फिर उसका अनेक रूपों में आविर्भाव भी कहते हैं—

एक अनीह अरूप अनामा । अज सच्चिदानंद परधामा ॥३॥
व्यापक बिस्वरूप भगवाना । तेहि धरि देह चरित कृत नाना ॥४॥
सो केवल भगतन हित लागी । परम कृपाल प्रनत अनुरागी ॥५॥

शब्दार्थ—एक = अद्वितीय । अनीह = चेष्टा-रहित । अरूप = रूप में अनासक्त । अनामा = नामाभिमान रहित । अज = अजन्मा । सच्चिदानंद = जिसका आनन्द सत् (सदा एकरस रहनेवाला) और चित् (ज्ञानात्मक) हो वा नित्य-चैतन्य-आनन्द रूप । परधामा = जिसका धाम सबसे पर हो । व्यापक = जो सबका आधार एवं सब में हो । बिस्वरूप = विराट् रूप । भगवान् = ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज इन छः भगों (ऐश्वर्यों) से पूर्ण ।

अर्थ—जो ब्रह्म एक, चेष्टारहित, रूपासक्तिरहित, नामाभिमानरहित, अजन्मा एवं सच्चिदानन्द-स्वरूप है और जिसका धाम सबसे परे है ॥३॥ जो समस्त चराचर में व्याप्त है, जगत् ही जिसका शरीर है और जो षडैश्वर्य पूर्ण है; उसीने देह धारण करके अनेकों चरित किये ॥४॥ वह (देह धर करके नाना चरित करना) केवल अपने भक्तों का हित करने के लिये है, (क्योंकि) वह परम कृपालु और शरणागतों का अनुरागी है ॥५॥

विशेष—(१) यहाँ ब्रह्म के एक, अनीह आदि नौ विशेषण कहे गये हैं । इनमें सच्चिदानन्द में सत्, चित् और आनन्द—इस भेद से तीन और लिये गये हैं, इससे नव हुए हैं । नौ से आगे संख्या नहीं है, क्योंकि आगे फिर वह एक और शून्य से दस आदि संख्याएँ चलती हैं । इससे ब्रह्म के अनन्त नाम जनाये, यथा—'अनंत नामानी ।' (उ० दो० ५१); कहा है, इन्हीं नौ विशेषणों को वेद ने भी एक साथ ही कहा है—"एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥" (कृ० यजु० श्वे० ६।११); अर्थात् एक ही देव सब जीवों में गुप्त रूप से रहता है, सबमें व्यापक है, सब प्राणियों का अन्तरात्मा है, कर्मों का मालिक है, सब प्राणियों में अधिपति-रूप से निवास करता है, सबका साक्षी है, चैतन्यकर्त्ता और कैवल्य-स्वरूप तथा निर्गुण है ।

इनमें अन्त का 'निर्गुण' शब्द ब्रह्म का मुख्य वाचक है, यथा—'लागे करन ब्रह्म उपदेसा ।···' फिर इसे ही निर्गुण मत कहा—"निर्गुन मत मम हृदय न आवा ।" (उ० दो० ११०); पुनः—"अगुन सगुन दुइ ब्रह्म···' से प्रसंग लेकर उसे ही "ब्रह्म राम ते ।" (दो० २२); कहा । अतः, यह विशेष्य भी है, इसलिये निर्गुण शब्द सबके साथ भी लिया जायगा ।

'एकोदेवः···'—जो गुणासक्त नहीं है अर्थात् अपने प्रकाश (गुणों) से होनेवाले कर्म-फलों का भोक्ता नहीं है, वह एक ही देव (प्रकाशकरूप से) सब प्राणियों में गुप्तरूप से रहता है, चराचर रूप से पालन करता हुआ भी अपने को गूढ़ (गुप्त) रखता है, जिससे मोहासक्त जीवों को जगत् में नानात्व का भ्रम होता है, पर है वह 'एक' । संसार के पालन करने के श्रेय से निर्लिप्त (निर्गुण) है, इसीसे अपने को गुप्त रखता है । 'सर्वव्यापी', जल में रस, अग्नि में तेज आदि रूपों से सर्वव्यापी है, फिर भी निर्लिप्त होने से 'अनीह' है । 'सर्वभूतान्तरात्मा'—सब जीवों के शरीरों में अन्तर्यामी है, उसीके तेज से रूप-लावण्य है, यथा—"जिमि बिनु तेज न रूप गोसाईं ।" (उ० दो० ८६); फिर भी वह इन सब रूपों से निर्लिप्त है, क्योंकि समय पर सब रूपों को मृत्यु-द्वारा नष्ट करता है । अतः, रूप-ममत्वरहित होने से 'अरूप' है । 'कर्माध्यक्षः'—गीता (१८।२४); में देह, इन्द्रियाँ, प्राण, कर्त्ता (जीव) और दैव (ईश्वर)—इन पाँचों के द्वारा शुभाशुभ कर्मों का होना कहा गया है । पाँच में प्रथम तीन तो जड़ ही हैं, चौथा, जीव का कर्तृत्व ईश्वराधीन है, क्योंकि यह भगवान् का शरीर है, यथा—"यस्यात्मा शरीरम्" (माध्य० ५।७।२२ बृ० ३।७।२२)। अतः शरीर के कर्तृत्व का अभिमानी शरीरी होता है, इससे वह कर्माध्यक्ष है, पर स्वयं कर्मों से निर्लिप्त

है, यथा—"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।" (गीता ४।१४); अतः, वह 'अज' है, क्योंकि जीवों को कर्म-वश हो नाना जन्म लेने पड़ते हैं और उसके जन्मों (अवतारों) में कर्म हेतु नहीं है। 'सर्व भूताधिवासः'—वह सब जीवों के हृदय में अधिपति-रूप से बसता है, पर उन शरीरों का नामी नहीं होता। अतः, उपर्युक्त रीति से वह 'अनाम' है। 'साक्षी'—जीव पूर्ववासना के अनुसार अनेकों संकल्प करके कर्म करता है, ब्रह्म साक्षी रूप से देखता हुआ, लिप्त नहीं होता, उसीसे सदा एकरस रहता है। अतः, 'सत्' रूप है। 'चेता'—सबको चैतन्य करता हुआ स्वयं 'चित्' रूप है। 'केवलः'—वह 'आनन्द' रूप है, यथा—"तुरीयमेव केवलम्" (अर० दो० ४); अर्थात् वह आनन्दमय तुरीय में स्थित 'केवल' (शुद्ध ज्ञान) रूप है। 'निर्गुणः'—त्रिगुणात्मिका प्रकृति से परे है। अतः, 'परधामा' है।

इस प्रकार नौ विशेषणों के दिखाने का तात्पर्य है। श्रुति—"द्वासुपर्णा·····समाने वृक्षे पुरुषो..." (श्वे० ४।५–६); में कहा है कि ईश्वर और जीव दोनों पक्षी की तरह शरीररूप वृक्ष में रहते हैं। जीव शरीर-रूप वृक्ष के कर्मरूप फलों में स्वाद मानकर उनका भोक्ता होकर रहता है और ईश्वर प्रकाशक मात्र रहता है। जीव उस स्वाद में निमग्न हो असमर्थता के कारण मोह को प्राप्त होकर सोचता रहता है। जब अपने सहायक सखा समर्थ ईश्वर की महिमा देखे तब शोकरहित हो, वही महिमा वेद के 'एको देव···से' कही गई है कि जिससे 'एक-अनीह' आदि नवो विशेषणों के लक्ष्य से जीव क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, प्रकृति और स्वेच्छा नामक नवो आवरणों से मुक्त हो, (इन नवो लक्ष्यों से—नवो आवरणों से छूटना मेरे 'श्रीमन्मानसनाम-वन्दना' ग्रन्थ में विस्तार से है) जब वेद-वाक्य मात्र से कार्य न हो सका, तब व्यापकादि पाँच रूपों से जीवों के उद्धार का उपाय किया।

(२)—'व्यापक विस्वरूप···'—'व्यापक' अर्थात् अन्तर्यामी, 'विस्वरूप' अर्थात् विराट् (पर) रूप, 'भगवान्' में ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज'(वि० पु० ६।५।७६); ये छः ऐश्वर्य होते हैं, वे ही भगवान् ज्ञान-बल से युक्त संकर्षण; ऐश्वर्य-वीर्य से युक्त प्रद्युम्न और शक्ति-तेज से युक्त अनिरुद्ध-रूप से क्रमशः संहार, उत्पत्ति और पालन करने से व्यूह-रूप कहे जाते हैं। 'तेहि धरि देह'—मत्स्य, कूर्म आदि 'विभव' भगवान् के शरीर धारण के विषय में कहा गया है; यथा—"समस्त कल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशावृतभूतवर्गः। इच्छागृहीताभिमतोरुदेहस्संसाधिताशेषजगद्धितो यः॥" (वि० पु० ६।५।८४); अर्थात् वे (भगवान्) सारे कल्याण गुणों के स्वरूप हैं, उन्होंने अपनी शक्ति के लगाव मात्र से समस्त प्राणियों को व्याप्त कर रक्खा है। वे अपनी इच्छा ही से अपने अनुकूल महान् शरीर धारण कर सारे जगत् का कल्याण सम्पन्न करते हैं, तथा—"इच्छामय नरदेह सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे।" (दो० १५१)। और, 'चरित कृत नाना' से अर्चा रूप हुए, क्योंकि विभव-रूप में भगवान् ने जिस प्रकार जो चरित किये हैं, उनके पार्थिव आदि आठ प्रकार के विग्रहों से अर्चा-रूप होते हैं। इस प्रकार इस अर्द्धाली में ईश्वर की पंचधा स्थिति कही गई है।

जैसे किसीका प्यारा पुत्र किसी कारण जेलखाने में जा पड़े तो उसके छुड़ाने के लिये उसी मार्ग से (स्वेच्छापूर्वक-कृपावश) पिता भी जाता है और उसके सहित लौटने में व्यतिक्रम से उन्हीं मुकामों को तय करता हुआ आता है, वैसे प्रिय पुत्र रूप जीव क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी में आकर बद्ध हुआ सोचता है। इन पाँचो तत्त्वों के क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचो विषयों से छुड़ाने के लिये क्रमशः पाँचो तत्त्वों को स्वेच्छा एवं निर्लिप्ततापूर्वक धारण करते हुए ईश्वर के पाँच रूप होते हैं।

ब्रह्म का पहला व्यापक (अन्तर्यामी) शरीर आकाश है, यथा—"यद्वाऽकाशं सनातनम्।" (वाल्मी० उ० स० ११०); यहाँ सनातन आकाश-रूप में व्यापकही कहा है, तथा—"स पर्यगाच्छुक्रमकायम्"

(यजु० अ० ४०, मन्त्र ८)—यहाँ भी 'परि-अगात्' से आकाश के समान कहा है। इसका वर्णन ऊपर 'एको देवः···' में हो गया। आकाश का विषय शब्द है, उसके सुनने से उसके अर्थ से उत्पन्न विषयों में कामनाएँ होती हैं, जिनका विस्तार आकाश के समान है। वे कामनाएँ उपर्युक्त एक-अनीहादि के लक्ष्य से निवृत्त होती हैं, यथा—"ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।" (श्वेता० २।१५); अर्थात् उस देव (ब्रह्म) को जानने पर मुमुक्षु समस्त बन्धनों से छूट जाता है, तथा—"ज्ञात्वा देवं ····· केवल आप्तकामः।" (श्वेता० १।११); अर्थात् उस ब्रह्म के ज्ञान से ·····यह केवल पूर्णानन्द एवं पूर्णकाम हो जाता है।

दूसरा, विराट् रूप धारण करना ब्रह्म का वायु-तत्त्व में आना है, क्योंकि वह इस रूप में कर्म-परिणाम रूप जगत् को अपने शरीर में धारण करता है। कर्म प्राणवायु की चेष्टाओं से होते हैं और कर्मेन्द्रिय हाथ भी पवन-तत्त्व का है। अतः, सम्पूर्ण जगत् के द्वारा निष्पन्न कर्मों का कर्त्ता स्वयं ब्रह्म ही हुआ, क्योंकि शरीर-द्वारा किये गये कर्म शरीरी के कहे जाते हैं। इस रूप के ज्ञान से कर्म के कर्तृत्वाभिमान से जीव की रक्षा होती है। यही वायु के विषय से रक्षा है।

तीसरा, व्यूहरूप धारण करना ब्रह्म का अग्नि-तत्त्व में आना है, क्योंकि व्यूह देवरूप हैं। देवताओं के शरीर अग्नि, वायु और आकाश—इन तीन ही तत्त्वों के होते हैं। उनमें अग्नि प्रधान रहता है, यथा—"साऽपश्यद्विबुधान्सर्वानस्वेदान्स्तब्धलोचनान्। हृषितस्रग्रजोहीनान्स्थितानस्पृशतः क्षितिम्।" (महा० वन० ५७।२६); अर्थात् दमयन्ती ने देवताओं को पसीनारहित, पलक-चालन से रहित, न मुर्झानेवाली माला वाले, रजोहीन (छायारहित) और पृथ्वी को न स्पर्श करनेवाले देखा। इससे पसीना रहित में जलतत्त्व-रहित और रजोहीन होने में पृथ्वी तत्त्व रहित कहा गया है। पृथ्वी तत्त्वरहित होने से ही उनकी छाया नहीं पड़ती। व्यूह के तीन रूप हैं—संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। ब्रह्मरूप वासुदेव के उपर्युक्त छः ऐश्वर्यों में प्रत्येक व्यूह-रूप के दो-दो ऐश्वर्य होते हैं। संकर्षण का स्वरूप 'ज्ञान'मय होता है। वे 'बल' अर्थात् विराग-द्वारा मोह का संहार करते हैं, यथा—'जब उर बल बिराग अधिकाई।' (उ० दो० १२१)। प्रद्युम्न का रूप 'ऐश्वर्य'मय होता है। वे 'वीर्य' से दिव्य गुण उत्पन्न करते हैं। अनिरुद्ध का रूप 'तेजो'मय होता है। वे 'शक्ति' से भक्ति-द्वारा पालन करते हैं। इस (व्यूह) रूप से जीव की रक्षा अग्नि के रूप-विषय से होती है, क्योंकि रूप में आसक्ति ही मोह है—"मोह न नारि नारि के रूपा।" (उ० दो० ११५); तथा—"मुनिहिं मोह मन हाथ पराये।" (दो० १३३); पुनः, मोह से बुद्धि नष्ट हो जाती है, यथा—"मुनि मति-बिकल मोह मति नाठी।" (दो० १३४)। अतः, दिव्य गुण नहीं उपजते। रूपासक्ति रूपी कामुकता से भक्ति नहीं हो पाती, यथा—"···कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बये फल जथा।" (सुं० दो० ५७)। वे तीनों (मोह, बुद्धि-नाश, भक्ति-नाश) दोषों का निवारण इस (व्यूह) रूप से करते हैं। यही अग्नि के विषय से रक्षा है।

चौथा, विभवरूप धारण करना ब्रह्म का जल-तत्त्व में आना है, क्योंकि वे रज-वीर्य से होनेवाले शरीरों के समान बाल, युवा आदि अवस्थाओं को अपने दिव्य रूप में धारण करते हैं। इससे असुरों का संहार और धर्म-संस्थापन के द्वारा साधुओं की रक्षा होती है। जीव में कामादि आसुरी सम्पत्ति की प्रबलता रसना के द्वारा षट्रस पदार्थों से होती है। रसना-द्वारा इस रूप के लीला-गान से हृदय की आसुरी सम्पत्ति का नाश होकर धार्मिक वृत्ति होती है, इससे जीव रूप साधु की रक्षा जल के रस विषय से होती है।

पाँचवाँ, अर्चा-रूप में पाषाण आदि के विग्रहों में आना ब्रह्म का पृथ्वी-तत्त्व में आना है। इनका सेवक (साधक) अपनी देह और तत्सम्बन्धी वस्तुएँ इन्हीं (अर्चारूप) को अर्पण कर, सेवा में ही आयु समाप्त कर देता है, इससे वह पार्थिव देहसम्बन्धी तीनों (देव, पितृ, ऋषि) ऋणों से मुक्त हो जाता है, यथा—"देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥" (भाग० ११।५।४१) तथा भाग० ४।३१।१४ का भी ऐसा ही तात्पर्य है। यही पृथ्वी के विषय से रक्षा होती है।

जीव प्रतिलोम—उलटी रीति से इन पाँचो रूपों की उपासना करता हुआ उत्तरोत्तर अवस्थाओं का लाभ करता जाता है, क्योंकि इसे नीचे से ऊँचे चढ़ना है। अतः, यह क्रमशः अर्चा, विभव, व्यूह, पर (विराट्) और अन्तर्यामी के ज्ञान का अधिकारी होता है। जैसे जीव ब्रह्म के प्रथम अर्चा-रूप की आराधना करता हुआ, उसीकी सेवा के साथ-साथ विभव आदि का अनुभव करेगा, अन्त में परिज्ञान-सहित 'पर' की आराधना से अन्तर्यामी के साक्षात्कार करने में समर्थ होगा। भगवान् प्रत्येक अवस्था में षडैश्वर्य-पूर्ण ही रहते हैं। इस पंचधा स्थिति का विस्तार पंचरात्र एवं रहस्य-ग्रन्थों में है, यथा—"स एव करुणा-सिन्धुर्भगवान्भक्तवत्सलः। उपासकानुरोधेन भजते मूर्तिपञ्चकम्॥ तदर्चाविभवव्यूहसूक्ष्मान्तर्यामिसंज्ञकम्। यदाश्रित्यैव चिद्वर्गस्तत्तज्ज्ञेयं प्रपद्यते॥ पूर्वपूर्वोदितोपास्ति विशेषक्षीणकल्मषः। उत्तरोत्तरमूर्त्तीनामुपास्त्यधिकृतो भवेत्॥" इन श्लोकों के भावार्थ उपर्युक्त ही हैं।

इनमें आराधन-क्रम है और श्रीगोस्वामीजी ने भगवान् के रूप धरने का क्रम लिखा है। शेष करुणासिन्धु, भक्तवत्सल आदि विशेषण दोनों में समान हैं।

(३) 'सो केवल···' ऊपर के प्रसंग में स्पष्ट है कि भक्तों के ही लिये भगवान् ने पाँच रूप धरने की कृपा की, यथा—"तुम सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहि आन निहोरे॥" (सुं० दो० ४०); "राम सगुन भये भगत-प्रेमबस।" (अ० दो० २१८); "अवतरेउ अपने भगत हित,···" (दो०५१) तथा "भगत-हेतु भगवान् प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।" (उ० दो० ७२); तथा—"प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले। प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो॥" (भाग० १०।१४।३७); अर्थात् हे प्रभो! आप संसार के झगड़ों से सर्वथा रहित हैं, फिर भी अपने शरणागतों को आनन्द पात्र सम्पन्न करने के लिये पृथ्वी में अवतार लेकर जगत् व्यवहार की-सी लीला का विस्तार करते हैं। 'केवल'—दुष्टों का नाश और धर्म स्थापना साधुरक्षा के ही अंग हैं। ऊपर विभव-प्रसंग देखिये। 'परम कृपाल'—कृपा से ही सब रूप धारण करते हैं, यथा—"कृपासिंधु जन-हित तनु धरहीं।" (दो० १२१) एवं "भये प्रगट कृपाला···" (दो० १९१)। महर्षि शांडिल्य भी इस विषय में कहते हैं—"मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्।" इत्यादि।

सम्बन्ध—इसी परम कृपालुता को आगे दो अर्द्धालियों में दिखाते हैं—

जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहि करुना करि कीन्ह न कोहू॥६॥
गई बहोर गरीब-निबाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू॥७॥

अर्थ—जिसके (हृदय में) अपने दास पर अत्यन्त ममता और अत्यन्त दया है, जिसने करुणा करके फिर (उसपर) क्रोध नहीं किया॥६॥ जो गई हुई वस्तु को लौटा देनेवाले, गरीबनिवाज, सरल-स्वभाव, बलवान्, समर्थ स्वामी और रघुवंश के राजा हैं॥७॥

विशेष—(१) 'जेहि जन···' ऊपर के 'परम कृपाल' को 'अति छोहू' और 'प्रनत-अनुरागी' को 'ममता' शब्दसे व्यक्त किया। अति 'छोह' के कारण ही भक्त को शरणागत होते ही आप (श्रीभगवान्) स्वीकार करते हैं और उसके समस्त दोष भूल जाते हैं, यथा—"कोटि बिप्रबध लागहिं जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू॥ सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥" (सु० दो० ४३)।

उपर्युक्त 'प्रनत अनुरागी' के प्रति यह सन्देह हो सकता है कि फिर क्रोध भी करते होंगे, क्योंकि राग के साथ द्वेष भी होता है। यहाँ उसका भ्रम दूर किया कि आप जिसपर 'ममता' और 'छोह' करते हैं, उसपर क्रोध नहीं करते, यथा—"जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोई कीन्ह कुचाली॥ सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी।" (दो० २८); तथा—"कथञ्चिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति। न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥" (वाल्मी० अ० १।११)। क्रोध न करने का कारण

आपकी पूर्ण समर्थता है, क्योंकि कम सामर्थ्य होने पर क्रोध होता है, यथा—"भली भाँति पहिचाने-जाने साहिब जहाँ लौं जग, जूड़े होत थोरे, होत थोरे ही गरम ॥" (वि० २४६)। फिर ममता के कारण यह विचारते हैं कि जब यह मेरा है तब मुझे सँभालना था, मेरे ध्यान न देने पर ही इसमें यह विकार हो गया। अतः, इसका दोष नहीं है। करुण गुण ही दूसरे के दुःख दूर करने की प्रेरणा करता है। अतः, दास के दोष चित्त में आने नहीं पाते, यथा—"सरल प्रकृति···करुनानिधान की। ···दास दोष सुरति चित रहति न दिये दान को ॥" (वि० ४२)।

(२) 'गईबहोर···'—राजा दशरथ का कुल जा रहा था, जन्म लेकर आपने उसे लौटाया। विश्वामित्र का यज्ञ भी बन्द हो रहा था, बाहु-बल देकर सम्पन्न कराया। अहल्या का पातिव्रत्य पुनः प्राप्त कराया एवं गौतम को उनकी गई हुई स्त्री लौटा दी। सुग्रीव का गया हुआ राज्य फिर प्राप्त कराया। देवताओं की सम्पत्ति रावण-द्वारा छिन गई थी, फिर से लौटा दी, यथा—"दसमुख बिवस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना है। सुबस बसे गावत जिनके जस अमर नाग नर सुमुखि सना है ॥" (गीतावली उ० १३)।

'गरीब-निवाज', यथा—"बालि बली बलसालि दलि, सखा कीन्ह कपिराज। तुलसी राम कृपाल को बिरद गरीब-निवाज ॥" (दोहावली १५८); तथा—"राम कृपाल निषाद निवाजा।" (अ० दो० २४६)। भगवान् ने 'गहोरा-(जंगली देश)-वासियों एवं कोल-किरातों को निहाल किया। ऐसे उदाहरण अयोध्या-काण्ड-भर में तथा अन्यत्र भी बहुत हैं। 'सरल', यथा—"राम कहा सब कौसिक पाही। सरल सुभाव छुआ छल नाहीं ॥" (दो० २३६); "सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥" (अर० दो० ६)। 'सबल', यथा—"तब भुजबल महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु-बिघटन परिपाटी ॥" (दो० २३८)। "देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती।" (कि० दो० ६); "अतुलित बल अतुलित प्रभुताई।" (अर० दो० १)।

'साहिब', यथा—"बड़ो साहिबी में नाथ बड़े सावधान हो।" (कविता० उ० १२६); "हरि तजि और भजिये काहि। नाहिंने कोउ राम सों ममता प्रनत पर जाहि ॥·····" (वि० २१६); तथा—"नाहिं न भजिबे जोग हियो। श्रीरघुनाथ समान आन प्रभु पूरन कृपा हियो ॥" (गीतावली, सु० ४६); एवं "सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन-सेवकाई ॥" (लं० दो० २१)।

'रघुराजू'—रघुकुल में एक-से-एक शरणपाल राजा हुए हैं, उनमें आप श्रेष्ठ हैं। आपका-सा राज्य भी किसीने नहीं किया, यथा—"राम-राज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका ॥" से "बिधु महि पूर मयूखन्हि, रबि तप जेतनहिं काज। माँगे बारिद देहिं जल, रामचंद्र के राज ॥" (उ० दो० २३) तक देखिये।

(३) आप भक्तों के लिये 'सरल' हैं, राक्षसों के मारने को 'सबल' भी हैं और तीनों लोकों की रक्षा करने को 'साहिब' (समर्थ) हैं। धर्म-रक्षा तो 'रघुराज' शब्द से ही ध्वनित है।

(४) श्रीरामजी में पूर्व के सातों अवतारों के गुण सूचित किये गये हैं, क्योंकि ये सबके अवतारी हैं। यथा—'गईबहोर' में मीन, कमठ, बाराह के गुण हैं। मीन-रूप द्वारा शंखासुर से वेद लाकर ब्रह्मा को लौटाया, कमठ-रूप से समुद्र मथाकर लक्ष्मी को फिर प्रकट किया जो दुर्वासा के शाप से समुद्र में लुप्त हो गई थीं। बाराह-रूप से हिरण्याक्ष से पृथ्वी को लौटा लाये। 'गरीब निवाजू' से नृसिंह-अवतार के गुण जनाये जिन्होंने दीन प्रह्लाद की रक्षा की थी। 'सरल' से वामन-अवतार के गुण जनाये, क्योंकि प्रभुता छोड़कर भीख माँगी। 'सबल' से परशुराम के गुण सूचित किये, क्योंकि उन्होंने बल से पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रियरहित किया। 'साहिब रघुराजू' से श्रीरामरूप के गुण जनाये, क्योंकि इस अवतार से सम्पूर्ण वानरों और ऋक्षों को निःशुल्क सेवक बनाकर दुष्टों का निग्रह और आश्रितों की रक्षा की, यह उत्तम साहिबी है। पुनः, रघुवंशियों की गद्दी पर राज्य-शासन किया।

(५) इसमें सातो काण्डों के चरित भी सूचित किये गये हैं। 'गईबहोर' से बालकाण्ड, इसमें विश्वामित्र, अहल्या, गौतम, जनक आदि के प्रति उनकी खोई हुइ वस्तु लौटा लेने की बात ऊपर विशेष (२) में लिखी गई है। 'गरीब निवाज' के उदाहरण अयोध्याकाण्ड के दिये गये हैं। 'सरल' से अरण्यकाण्ड सूचित हुआ, क्योंकि इसमें भगवान् ने सब मुनियों के आश्रमों में जा-जाकर सुख दिया है। 'सबल' से किष्किन्धा सूचित है। कारण, बलशाली बालि का वध एवं बली वानरों को वशीभूत करना है। 'साहिब' से सुन्दर और लंका दोनों जनाये, क्योंकि भगवान् ने श्रीसीताजी का पता लगा सेना के साथ जाकर समुद्र को वश किया, भगवान् ने विभीषण को शरण में लिया, उसके विरोधी को मारकर उसे राज्य दिया और श्रीसीता-सम्बन्धी प्रतिकार भी रावण के प्रति किया। यह साहिबी प्रत्यक्ष है। 'रघुराजू' से उत्तर जानना चाहिये, क्योंकि इसमें रघुवंशियों की गद्दी पर उत्तम रीति से राज्य किया।

बुध बरनहिं हरिजस अस जानी। करहिं पुनीत सुफल निज बानी ॥ ८ ॥
तेहि बल मैं रघुपति-गुनगाथा। कहिहउँ नाइ रामपद माथा ॥ ९ ॥
मुनिन्ह प्रथम हरि-कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहिं भाई ॥१३॥

शब्दार्थ—सुफल=वाणी की सफलता उसके सत्य होने में है, ईश्वर के विषय में जितना भी बढ़ाकर कहा जाय—सत्य ही होगा। मोहिं भाई=हे भाई! मुझे वा मेरी समझ में।

अर्थ—ऐसा (जो ऊपर तीन अर्द्धालियों में कहा गया) जानकर बुद्धिमान् मनुष्य हरि-यश का वर्णन करते हैं, उससे अपनी वाणी को पवित्र तथा सुफल करते हैं ॥८॥ उसी बल से मैं भी श्रीरामजी के चरणों को सिर नवाकर, उन्हीं रघुनाथजी के गुणों की कथा कहूँगा ॥९॥ मुनियों ने प्रथम भगवान् की कीर्त्ति गाई है, उसी मार्ग पर चलना मेरी समझ में सुगम है। (वा हे भाई! उसी मार्ग पर चलना मेरे लिये सुगम है।)

विशेष—(१) 'करहिं पुनीत', यथा—"निज गिरा पावनि करन कारन रामजस तुलसी कह्यो ॥" (दो० ३६१); यहाँ यश गाने का यह भी प्रयोजन कहा।

(२) 'तेहि बल···' (क) उपर्युक्त वाणी के पावन एवं सफलता के लिये 'रघुपति गुनगाथा' कहता हूँ। (ख) बुधों अर्थात् पंडितों को ऐसा करते देखकर मैंने श्रीरामचरित-वर्णन को उचित समझा। अतः, मुझे भी अधिकार है। (ग) जैसे पंडित श्रीरामजी का वर्णन उन्हें 'गईबहोर···' आदि जानकर करते हैं, वैसे मैं भी 'कहिहउँ' अर्थात् आगे कहूँगा, तब माथा नवाकर—"अब रघुपति-पद-पंकरुह, हिय धरि पाइ प्रसाद। कहउँ 'जुगल···' (दो० ४२); वर्णन करने लगूँगा, अभी तो वन्दना करता हूँ।

(३) 'मुनिन्ह प्रथम···' पूर्व बहुत मुनियों ने गाया है, वही मार्ग मैं भी ग्रहण करूँगा। मार्ग का भाव यह है कि बाल, वन एवं रण-चरित आदि जिस क्रम से गाये हैं, उसी क्रम से मैं भी कहूँगा। पुनः भाव के साथ गाने से प्रभु प्रसन्न होते हैं। अतः, यह भी भजन का एक मार्ग है, यथा—"तदपि कहे बिनु रहा न कोई।" (उपर्युक्त); "यहि भाँति निज-निज मति-बिलास मुनीस हरिहिं बखानहीं। प्रभु भावगाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं ॥" (उ० दो० ९१)।

सम्बन्ध—मार्ग की सुगमता आगे के दोहे में दृष्टान्त-द्वारा समझाते हैं—

दोहा—अति अपार जे सरित बर, जौं नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु, बिनु श्रम पारहिं जाहिं ॥१३॥

येहि प्रकार बल मनहिं देखाई। करिहउँ रघुपति-कथा सुहाई ॥१॥

अर्थ—जो बड़ी नदियाँ अत्यन्त अपार (दुस्तर) हैं उनपर यदि कोई राजा पुल बनवा दें तो अत्यन्त छोटी-छोटी चींटियाँ भी बिना परिश्रम ही पार हो जाती हैं ॥१३॥ इस प्रकार का बल मन को दिखाकर श्रीरघुनाथजी की सुहावनी कथा बनाऊँगा ॥१॥

विशेष—(१) 'अति अपार···' ऊपर "कहँ रघुपति के चरित अपारा।" कहा था, इसीलिये अपार नदी की उपमा दी। समुद्र साधारणतः अपार होता ही है, उसकी उपमा न दी, क्योंकि अभी ऊपर चरित को 'कीरति' कह आये हैं, आगे भी 'रघुपति-कथा' कहेंगे; इसलिये स्त्रीलिंग के विचार से 'अति अपार' कहकर भी नदी ही की उपमा दी है। यहाँ उपमान—उपमेय, सरितवर—रामयश, नृप—वाल्मीकि आदि, सेतु—उनके ग्रन्थ, 'पिपीलिकउ'—श्रीगोस्वामीजी हैं। 'कराहिं' धर्म है, वाचक शब्द (जिमि, इव आदि) लुप्त हैं। अतः, वाचक-लुप्तोपमालंकार है।

(२) 'येहि प्रकार बल···' ऊपर 'तेहि बल मैं···' कहा था, यहाँ फिर 'येहि प्रकार बल···' कहा। इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम—"समुझत अमित राम प्रभुताई। करत कथा मन अति कदराई ॥" से मन के कदराने का प्रसंग लेकर 'तेहि बल मैं···' तक के प्रसंग से मन को धैर्य देकर प्रवृत्त किया। फिर मन को पार जाने में संशय आ पड़ा, तब 'मुनिन्ह प्रथम···' से इसका प्रसंग लेकर यहाँ 'येहि प्रकार···' पर पूरा किया।

ऊपर 'तेहि बल मैं···कहिहउँ नाइ राम···' कहा था और यहाँ 'करिहउँ रघुपति कथा सुहाई।' कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि ऊपर 'बुध बरनहिं हरिजस···' के बल पर अपने लिये भी वर्णन के पर्याय में 'कहिहउँ' पद दिया और यहाँ 'नृप सेतु कराहिं' के बल पर अपने लिये भी 'करिहउँ' दे रहे हैं कि मैं भी दूसरों के लिये वैसा ही करूँगा, यह ध्वनित किया। 'सुहाई'—कथा सुन्दर है। अतः, मुझे प्रिय लगती है और सबको प्रिय लगेगी, यथा—"प्रिय लागिहिं अति सबहिं मम, भनिति राम-जस संग।" (दो० १०)।

'सुहाई' पद में रुचने का भी भाव हो सकता है, यथा—"माँगेउँ जो कछु मोहिं सोहाना ॥" (अ० दो० ३६)। अतः, मैं अपनी रुचि अनुसार कहूँगा। जैसे किसीने बाल लीला अधिक कही और किसीने बन एवं रणलीला विशेष कही है, वैसे मैं भी लीलाओं में व्यास-समास आदि रीति से कहूँगा।

कार्पण्य-युक्त वन्दना का प्रसंग समाप्त।

ब्यास आदि कबिपुंगव नाना। जिन्ह सादर हरि-सुजस बखाना ॥ २ ॥
चरन-कमल बंदउँ तिन्ह केरे। पुरवहु सकल मनोरथ मेरे ॥ ३ ॥

अर्थ—व्यास आदि अनेक कवि-श्रेष्ठ (हुए), जिन्होंने आदर के साथ हरि का सुयश कहा है ॥२॥ उन सबके चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ, (वे) सब मेरे मनोरथ पूरे करें ॥३॥

विशेष—(१) 'ब्यास आदि···' पहले कहा था—"मुनिन्ह प्रथम हरि-कीरति गाई।" वहाँ उनके मार्ग अनुसरण की बात कही थी। यहाँ 'कवि पुंगव' कहकर उनकी ही वन्दना करते हैं, क्योंकि वन्दना ऐश्वर्यवान् की, की जाती है। 'नाना' से यहाँ अगस्त्य, वसिष्ठ, नारद आदि हैं। व्यासजी को आदि में रखकर उन्हें परम समर्थ सूचित किया, क्योंकि वे भगवान् के २४ अवतारों में हैं तथा १८ पुराणों एवं वेदों के भी शिरोभाग वेदान्तशास्त्र के रचयिता हैं। वे सत्यवती और पराशर ऋषि के पुत्र तथा श्रीशुकदेवजी के पिता हैं। उन्होंने ही संजय को दिव्यदृष्टि दी थी जिससे वे घर बैठे हुए धृतराष्ट्र को महाभारत का समाचार कहते थे। ग्रन्थकार भी व्यासजी से वैसी ही दिव्य दृष्टि चाहते हैं, जिससे श्रीरामचरित, सूझे

इसीलिये उन्हें आदि में रक्खा और बड़ाई दी, अन्यथा उनसे पहले के नारद-पराशर आदि कविपुंगव ही है।

'सादर बखाना'--मन से स्नेह-समेत, बुद्धि से समझकर, सावधानता-पूर्वक और चित्त से हर्षित होकर कहना आदर-सहित है, यथा—"जे येहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥" (दो० १८); "रघुपति-चरित महेस तब, हरषित बरनइ लीन्ह।" (दो० १११); तथा "सुनहु तात मन-मति चित लाई।" (अर० दो०१४)।

कलि के कविन्ह करउँ परनामा। जिन्ह बरने रघुपति-गुनग्रामा॥४॥
जे प्राकृत कवि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने॥५॥
भये जे अहहिं जे होइहहिं आगे। प्रनवउँ सबहिं कपट सब त्यागे॥६॥

अर्थ—मैं कलियुग के (उन) कविगणों को भी प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने श्रीरघुनाथजी के गुण-समूह का वर्णन किया है॥४॥ जो परम चतुर प्राकृत कवि हैं और जिन्होंने भाषा में हरि-चरित का बखान किया है॥५॥ और ऐसे जो हो गये एवं उपस्थित हैं तथा जो आगे होंगे, उन सभी को समस्त कपट छोड़-कर (मैं) प्रणाम करता हूँ॥६॥

विशेष—(१) 'कलि के कविन्ह···' उपर्युक्त व्यासादि को सत्ययुग, त्रेता और द्वापर के कवि व्यक्त किया। उन्हें 'कविपुंगव' एवं 'चरनकमल बंदउँ' कहा। कलियुग के कवियों को केवल 'प्रनवउँ' कहा। अतः, यथायोग्य सम्मान दिया। व्यासादि तीन युगों के कवियों को एक श्रेणी में रक्खा, कलि के कवियों के दो भाग किये--एक संस्कृत के कालिदास एवं भवभूति आदि की वन्दना इसी अर्द्धाली में की। दूसरी श्रेणी में भाषा के कवियों को रक्खा, इन्हें 'जे प्राकृत···' से कहते हैं।

(२) 'जे प्राकृत कवि···' प्राकृत गुण-विशिष्ट नायकों का यश रचनेवाले, यथा—"यह प्राकृत-महि-पाल-सुभाऊ।" (दो० २७); इन्हें 'परम सयाने' इसलिये कहा कि संस्कृतवालों ने समय पर ध्यान नहीं दिया कि इस कलि में संस्कृत के ज्ञाता बहुत कम होंगे और इन्होंने समयानुसार भाषा में सबके लिये 'हरि-चरित' सुलभ कर दिया।

(३) 'भये जे अहहिं···' 'भये' अर्थात् जो पूर्व हो चुके, यथा—चन्द कवि, विद्यापति ठाकुर आदि। 'अहहिं'—वर्त्तमान के सूरदास, केशवदास आदि और जो आगे भविष्य में होंगे।

(४) तीनों श्रेणियों के प्रति--"जिन्ह सादर हरि-सुजस बखाना।", "जिन्ह बरने रघुपति गुनग्रामा।" एवं "भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने।" कहा है अर्थात् इन तीनों में प्रयोजन हरिचरित-वर्णन का सम्बन्ध लेकर ही है।

(५) 'कपट सब त्यागे'—भाषावाले कवियों के प्रति कपट की सम्भावना है कि ऊपर से प्रणाम करता है, भीतर से बराबरी करने का अभिप्राय है अथवा इस स्वार्थ से कि कोई मेरे ग्रन्थ की निन्दा न करें। पुनः, भविष्यवालों के प्रति भी प्रणाम किया है। वे छोटे होते हैं। अतः, उनके प्रति कपट नहीं समझा जाय। इन सब प्रकारों के कपट त्याग कर सद्भाव से प्रणाम करता हूँ।

पाठान्तर—'कपट सब' की जगह 'कपट छल' भी पाठ है, इसमें 'कपट' का अर्थ भेद-भाव और छल का धूर्तता है।

होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु-समाज भनिति सनमानू॥७॥

जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कबि करहीं ॥८॥
कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि-सम सब कहँ हित होई ॥९॥

शब्दार्थ—प्रबंध = काव्य = निबंध। बादि = व्यर्थ। बाल = मूर्ख। भूति = ऐश्वर्य।

अर्थ—आपलोग प्रसन्न होकर वरदान दें कि इस मेरी कविता का आदर साधु-समाज में हो ॥७॥ क्योंकि जिस कविता का बुध (साधु) आदर नहीं करते, उसके रचने का श्रम ही व्यर्थ है—ऐसा काव्य मूर्ख कवि करते हैं ॥८॥ कीर्त्ति, कविता और सम्पत्ति वे ही अच्छी हैं, जो गंगाजी के समान सबका उपकार करनेवाली हों ॥९॥

विशेष—(१) 'जो प्रबन्ध बुध···' साधु-समाज में काव्य का सम्मान माँगने से सन्देह हो सकता है कि तुम यश चाहते हो। उसका निराकरण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि इसमें मैं आत्मश्लाघा नहीं करता, प्रत्युत श्रम की सफलता चाहता हूँ। साधुओं में सम्मान के योग्य कैसी कविता होनी है, इसे कहते हैं।

(२) 'कीरति भनिति···' जैसे भगीरथजी बड़े श्रम से श्रीगंगाजी को पृथ्वी पर ले आये, जिससे उनके ६०,००० 'पुरखे' तरे और आज तक गंगाजी से संसार भर का हित हो रहा है। गंगाजी प्राणिमात्र का हित करती हैं, वैसे कविता भी पवित्र और श्रीरामयश से युक्त तथा सरल हो जिससे प्राणिमात्र का हित हो सके। साथ ही वह 'निज सन्देह-मोह-भ्रम-हरनी।' भी हो एवं 'सकल जनरंजनि' तथा 'भव-सरिता तरनी।' होकर श्रीगंगाजी की तरह मोक्ष भी देनेवाली बने।

इसी तरह कीर्त्ति परोपकार एवं दान-पुण्य द्वारा निःस्वार्थ भाव से हो, जिससे अपना और जगत का हित हो। सम्पत्ति एवं ऐश्वर्य भी जो संसार के हित सम्बन्धी हैं, वही गंगाजी के समान हितकर हैं।

उपमान-रूपा श्रीगंगाजी त्रिपथगामिनी हैं। अतः उपमेय भी तीन कहे गये, परन्तु धर्म तीनों का एक ही कहा गया है। अतः, यहाँ 'तुल्ययोगिता-अलंकार' का पहला भेद है।

राम-सुकीरति भनिति भदेसा। असमंजस अस मोहि अँदेसा ॥१०॥
तुम्हरी कृपा सुलभ सोउ मोरे। सिअनि सुहावनि टाट पटोरे ॥११॥
करहु अनुग्रह अस जिय जानी। बिमल जसहिं अनुहरइ सुबानी ॥१२॥

शब्दार्थ—असमंजस = दुविधा। अँदेसा = चिन्ता। पटोर = रेशमी वस्त्र। अनुग्रह = कृपा। अनुहरइ = तुल्यता (योग्यता) पावे।

अर्थ—श्रीरामजी की कीर्त्ति सुन्दर है और मेरी कविता भद्दी है, यह असमंजस है, इसीकी मुझे आशंका है ॥१०॥ आप (कवि-कोविदों) की कृपा से वह भी मुझे सुलभ हो सकता है, (कि मेरी कविता कीर्त्ति के योग्य हो जाय) जैसे टाट रेशम की सिलाई से सुशोभित होता है ॥११॥ ऐसा जी में जानकर कृपा कीजिये कि निर्मल हरिचरित-वर्णन करने के योग्य मेरी सुन्दर वाणी हो जावे ॥१२॥

विशेष—(१) 'असमंजस अस···' मेरी वाणी कीर्त्ति के योग्य नहीं है। यदि इस असंगति से सन्त इसे ग्रहण न करें तो न कहना ही भला, पर रुचि प्रबल है। अतः, बिना कहे भी नहीं रहा जाता। परन्तु 'अँदेसा' इसी बात का आ पड़ा है कि कहीं मेरी भद्दी वाणी के संग से श्रीरामयश की न्यूनता न हो, जैसे नीच मनुष्यों के नाम-सम्बन्ध से देवी-देव के नाम भी निरादर से पुकारे जाते हैं, यथा—"तुलसी गुरु लघुता लहत, लघु संगति परिनाम। देवी देव पुकारियत, नीच नारि नर नाम॥" (दोहावली ३६०); इससे 'असमंजस' में पड़ गया हूँ कि करूँ या न करूँ।

(२) 'तुम्हरी कृपा सुलभ ···' इसमें 'पटोरे' और 'रामचरित्र', 'टाट' और मेरी 'भदेस भनिति' क्रमशः उपमान और उपमेय हैं। 'सुहावनि' धर्म है, वाचक जिमि-तिमि आदि लुप्त हैं। अतः, वाचक-लुप्तोपमालंकार है।

पूर्व 'रामचरित बर ताग' कह भी आये हैं। अतः, यहाँ भी वह 'पटोरे' (रेशम) के अर्थ में होगा। भदी 'भनिति' की उपमा टाट से दी गई, क्योंकि सर्वसाधारण लोगों में टाट का उस समय अधिक महत्त्व हो जाता है, जब दस भाई इकट्ठे होकर उसपर बैठते हैं, तब 'अमुक जगह टाट पड़ा है' इस तरह प्रशंसा होती है। इसी तरह कविता में श्रीरामचरित रूपी 'बर ताग' की 'सुहावनि सियनि' है, क्योंकि अच्छी सीवन से मोटे वस्त्र की शोभा बढ़ जाती है। उस सम्बन्ध से इसे सुशोभित देखकर आपलोग कृपा करके ग्रहण करेंगे तो इसकी भी शोभा हो जायगी, यही मेरे श्रम की सफलता होगी, तब वह असमंजस दूर हो जायगा, क्योंकि सन्तों के ग्रहण से सब यही कहेंगे कि योग्य है तब सन्तों ने इसे अपनाया, यही सुलभता है।

जैसे टाट में रेशम के तागे की 'सुहावनि सियनि' दूर से चमकती है और सबकी दृष्टि 'सियनि' की उत्तमता पर ही जाती है, वैसे इसमें 'सरल कवित कीरति बिमल' है, इसके अर्थ और भाव सर्व-साधारण को भी सुस्पष्ट बोध होंगे—यही चमकना है, तब भाषा की न्यूनता न देखकर लोग इसके चरित-चित्रण की ही प्रशंसा करेंगे।

(३) 'करहु अनुग्रह ···' अर्थात् टाट पर रेशम की 'सियनि' है, इसे अपने जी में जानकर अनुग्रह कीजिये कि टाट के समान मेरी वाणी रेशम के तुल्य हो जाय, तब रेशम में 'रेशम की सियनि' के योग्य हो। जैसे आजकल पाट (सन) को साफ करके रेशम की तरह बड़े चमकीले तसर आदि वस्त्र बनाये जाते हैं, उसी प्रकार आपलोग 'बिमल मति' देंगे तो 'सरल कविता' में ही निर्मल कीर्त्ति का सुन्दर चित्रण होगा, यही तसर की तरह रेशम की तुल्यता है, इसीका स्पष्टीकरण आगे तीन दोहों द्वारा करते हैं—

दोहा—सरल कबित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान॥
सो न होइ बिनु बिमल मति, मोहि मति-बल अति थोर।
करहु कृपा हरि-जस कहउँ, पुनि-पुनि करउँ निहोर॥
कबि कोबिद रघुबर चरित, मानस - मंजु - मराल।
बाल-बिनय सुनि सुरुचि लखि, मोपर होहु कृपाल॥

शब्दार्थ—सरल कविता = प्रसाद गुण की कविता जिसका आशय सुनते ही समझ में आ जाय। बिमल = (श्रीरामजी की) निर्मल कीर्त्ति, यथा—"बरनत रघुबर-बिसद जस।" (दो० १४)। सहज बैर = स्वाभाविक वैर, जो पूर्व के कर्म से प्रकृति के साथ निहित हो, जैसे मूसे बिल्ली का। बखान = प्रशंसा पूर्ण वर्णन।

अर्थ—कविता सरल हो और उसमें (श्रीरामजी की) निर्मल कीर्त्ति का वर्णन हो, चतुर लोग उसीका आदर करते हैं और उसे सुनकर शत्रु भी स्वाभाविक वैर छोड़कर प्रशंसा करते हैं॥ वह (ऐसी कविता) निर्मल बुद्धि के बिना नहीं हो सकती और मुझमें बुद्धि का बल बहुत कम है। अतः, आपसे बार-बार प्रार्थना करता हूँ कि आप ऐसी कृपा करें, जिससे मैं हरि (श्रीरामजी) का यश कह सकूँ॥ जो कवि एवं

पंडित श्रीराम-चरित रूपी उज्ज्वल-मानस-सरोवर के सुन्दर हंस हैं, वे मुझ बालक की प्रार्थना सुनकर और मेरी (रामकथा कहने की) सुन्दर रुचि देखकर मुझपर कृपा करें ॥१४॥

विशेष—(१) 'सरल कवित···' कविता में दोनों ही चाहिये। प्रथम तो कविता सरल हो, फिर उसमें भगवान् की निर्मल कीर्त्ति हो, तभी 'सुजान' आदर करते हैं, कठिन काव्य में कवि का विद्या-मद रूपी दोष रहता है और श्रीराम-कीर्त्ति के बिना चतुरों को उससे, कुछ प्रयोजन ही नहीं, यथा—"सब गुन-रहित कुकवि कृत बानी। राम-नाम जस-अंकित जानी॥ सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही॥ (दो० ६)। 'सहज बैर' छूटना यद्यपि असंभव-सा है, तथापि उत्तम काव्य उसे भी भुला देता है। शत्रु पहले तो सुनते ही नहीं, सुनें तो उपेक्षा कर देते हैं, पर 'बखान' करना असंभव-सा ही है और जब शत्रु भी 'बखान' करते हैं, तब उसे दिव्य कविता समझनी चाहिये।

(२) 'सो न होइ···' वैसी कविता मेरे थोड़े मति-बल से न हो सकेगी, इसलिये आपलोगों से बार-बार विनय करता हूँ, यथा—'होहु प्रसन्न देहु बरदानू।···करहु अनुग्रह···करहु कृपा···' आदि इसी प्रसंग में कहे गये हैं।

(३) 'कवि कोबिद···' कवि काव्य-रचयिता को कहते हैं, जैसे—व्यास, आदि। कोविद का अर्थ वक्ता एवं टीकाकार है, जैसे—श्रीशुकदेवजी, आदि। 'मंजु' शब्द देहलीदीपक न्याय से 'मानस' और 'मराल' दोनों के साथ है। हंस की उज्ज्वलता मानस-सरोवर के प्रति अनन्यता में है कि वह उसे छोड़कर अन्यत्र नहीं जाता। वैसे कवि-कोविद भी हरियश को नहीं छोड़ते, यथा—"कवि-कोबिद अस हृदय बिचारी। गावहिं हरि-जस कलिमलहारी॥" (दो० १०); यथा—"सीताराम गुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ··· कवीश्वरकपीश्वरौ" (मं० श्लोक)। 'बाल-बिनय'—पिता पुत्र के मानपूर्ण भी वचन को पूरा करता है, यदि बालक विनय-युक्त वचन कहे और अच्छे काम की रुचि प्रकट करे, तब पिता-माता उसको पूरा करने में देर नहीं करते, वैसा ही नाता यहाँ ग्रन्थकार चाहते हैं कि जैसे आपलोग श्रीराम-चरितमानस के 'मंजु मराल' हैं, वैसी ही रुचि मेरी भी है, कृपा से ही पूर्ण करें। पुत्रवत् भाव से विनय एवं सुरुचि प्रकट करने के अतिरिक्त और उपाय मेरे पास नहीं हैं। 'लखि'—मेरे हृदय के भाव को आपलोग लक्ष्य कर लें।

पूर्व ही ग्रन्थकार ने 'संत सरल चित···' से सरल स्वभाव पाया। इस कवि-प्रसंग में 'बिमल मति' पाई और बिमल-यश से काव्य को अंकित किया। पुनः सरल कविता की रीति भी प्राप्त की। अतः, इनका ग्रन्थ देश-भर में आदर पा रहा है, यह प्रत्यक्ष है।

कवि-वन्दना-प्रसंग समाप्त।

सम्बन्ध—सब कवियों की वन्दना करके अब मुख्य विषय रामायण के आदिकवि वाल्मीकिजी की वन्दना करते हैं, जैसे वीरता के काम में श्रीमहावीरजी की वन्दना होती है—

सोरठा—बंदउँ मुनि - पद-कंज, रामायन जेहि निरमयेउ।
स-खर सुकोमल मंजु, दोष-रहित दूषन-सहित॥

शब्दार्थ—स-खर=खर राक्षस की कथा सहित। दूषन=दूषण नामक राक्षस, दोष।

अर्थ—उन (महर्षि वाल्मीकि) मुनि के चरण-कमलों को मैं प्रणाम करता हूँ जिन्होंने रामायण का निर्माण किया है, जो (रामायण) खर-(राक्षस का नाम)-सहित होने पर भी सुष्ठु-(उत्तम), कोमल और मनोहर है तथा दूषण-(राक्षस का नाम)-सहित होने पर भी निर्दोष है।

विशेष—(१) "दंड जतिन्ह कर, भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज।" (उ० दो० २२); इस दोहे के अर्थ में कहा है कि श्रीराम-राज्य में दंड केवल यती के हाथ में और भेद नर्तकों के नृत्य-समाज में रह गया अर्थात् दंड और भेद-नीति का नाममात्र इन दो स्थलों में पाया जाता था और कहीं ये दोनों नीतियाँ न थीं, ऐसा उत्तम राज्य था। वैसे इस सोरठे का भी अर्थ है—रामायण के आदिकवि (निर्माता) मुनि को रामायण कैसी है कि उसमें कठोरता का नाममात्र खर राक्षस के नाम के साथ है, सारा ग्रन्थ सुकोमल एवं मंजु है। इसमें दोष भी नहीं है। हाँ, दोष के स्थल में दूषण राक्षस का नाम ही मिलेगा।

श्री मद्वाल्मीकीय रामायण के वर्णन में कठोरता कहीं भी नहीं है, कठोर कहने के प्रसंगों में भी वह दोष नहीं आने पाया। जैसे कैकेयीजी के अत्यन्त कठोर बर्तावों एवं बातों पर भी राजा दशरथ ने अत्यन्त कोमल ही बर्ताव एवं बातें की हैं, तदनुसार ही रामचरित मानस में भी चरित-चित्रण है। अन्त में कहा भी गया है—"भूप प्रीति कैकइ कठिनाई। उभय अवधि विधि रची बनाई ॥" (अ० दो० ३६); काव्य में दोष भी होते हैं—"कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा।" दो ८ के विशेष में देखिये। वैसे दोष वाल्मीकीय रामायण में कहीं भी नहीं है। यदि कोई ढूँढ़ना चाहे तो उसे दूषण नाम राक्षस का नाम ही मिलेगा, दोष नहीं।

(२) इसमें श्लेषालंकार का सुन्दर चित्रण किया गया है। 'स-खर' और 'दूषन-सहित' ये दोनों पद श्लिष्ट हैं। 'स-खर' का एक अर्थ कठोरता-सहित और दूसरा खर नाम राक्षस के सहित है। ऐसे ही 'दूषन-सहित' का एक अर्थ दोष-सहित और दूसरा दूषण नाम राक्षस के सहित है, यथा—"नमस्तस्मै कृता येन पुण्या रामायणी कथा। सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सकोमला ॥" यह प्रसिद्ध श्लोक है। इसमें भी महर्षि की ही वन्दना है और भाव एवं श्लेषालंकार ज्यों-के-त्यों मिलते हैं। अतः, सोरठे का उक्तार्थ ही यथार्थ है। 'सखर···'—'सखर' और 'सुकोमल-मंजु' तथा 'दोष रहित' 'दूषन सहित' में विरोध जँचता है, पर अर्थ पर विचारने से जरा भी विरोध नहीं रहता। अतः, 'विरोधाभास अलंकार' है। इस अर्थ के प्रति व्यर्थ ही लोग शंका करते हैं कि रावण-कुम्भकर्ण मुख्य हैं, उनके नाम न देकर खर दूषण ही क्यों कहे गये? समाधान यह है कि ग्रन्थकार को कठोरता और दोष के पर्याय नाम खर और दूषण ही में मिले। अतः, उसे ही ग्रहण किया।

बंदउँ चारिउ बेद, भव-बारिधि-बोहित सरिस।
जिन्हहिं न सपनेहुँ खेद, बरनत रघुबर-बिसद जस ॥
बंदउँ बिधिपद - रेनु, भव-सागर जेहि कीन्ह जहँ।
संत सुधा ससि धेनु, प्रगटे खल-बिष-बारुनी ॥

शब्दार्थ—बोहित = जहाज (बड़ी नाव)। खेद = दुःख, थकावट।

अर्थ—मैं उन चारों वेदों की वन्दना करता हूँ जो संसार-सागर के लिये जहाज के समान हैं, जिन वेदों को श्रीरघुनाथजी के उज्ज्वल यश का वर्णन करते हुए स्वप्न में भी थकावट नहीं होती। पुनः, उन श्रीब्रह्माजी के चरणधूलि की वन्दना करता हूँ, जिन्होंने संसार रूपी समुद्र का निर्माण किया, जहाँ से अमृत, चन्द्रमा और कामधेनु-रूपी सन्त उत्पन्न हुए और विष तथा मदिरा-रूपी खल प्रकट हुए।

विशेष—(१) वन्दना का क्रम—भगवान् का अवतार जानकर प्रथम व्यासजी की वन्दना की। वाल्मीकिजी प्रचेता के ही पुत्र हैं। अतः, उनकी वन्दना पीछे की। वाल्मीकिजी वेद के उपबृंहण-

(विस्तार)-रूप रामायण के रचयिता हैं। अतः, इनके पीछे रामायण के मूल-रूप वेदों की वन्दना की। फिर वेदों के आदिवक्ता ब्रह्मा की वन्दना की। तत्पश्चात् और देवों की वन्दना की। वाल्मीकि और ब्रह्मा के बीच में वेदों की वन्दना की गई है, क्योंकि ब्रह्मा के मुख से वेद आविर्भूत हुए और वे ही वेद रामायण-रूप से वाल्मीकिजी के द्वारा प्रकट हुए।

'भव-वारिधि·····'—वेदों के अनुसार चलने से मनुष्य भवसागर से सहज में पार हो सकता है। 'खेद'—श्रीराम-यश वेदों का प्रिय विषय है। अतः, उत्साहपूर्वक वर्णन करने से उन्हें क्लेश या थकावट नहीं होती। दूसरों को जानने में श्रम होता है, इन्हें नहीं, क्योंकि ये श्रीरामजी के ज्ञान-रूप हैं। 'बरनत रघुवर-बिसद जस'—इसमें प्रायः शंका की जाती है कि वेदों में तो श्रीराम शब्द भी बहुत कम आये हैं, फिर वेदों का निरन्तर 'रघुवर बिसद जस' वर्णन करना क्यों कहा गया? इसका समाधान यह है कि वेदों में अधिकतर ब्रह्म के 'इन्द्र' और 'देव' नाम आये हैं, वे राम शब्द के पर्यायी हैं, क्योंकि 'इंधी-दीप्तौ' धातु से 'इन्द्र' शब्द और 'राजृ दीप्तौ' से 'राम' शब्द बनता है तथा 'दिवु क्रीडायाम्' धातु से देव और 'रमु क्रीडायाम्' से राम शब्द निष्पन्न होता है। वेद परोक्षवादी कहे गये हैं। अतः, वे अपने इष्ट को साक्षात् नाम ('राम') के अतिरिक्त प्रायः अन्य नामों से पुकारते हैं। राम शब्द भी वेद संहिता के बहुत मन्त्रों में आया है जिस पर 'मन्त्ररामायण' है।

दूसरा समाधान यह है। श्रीरामजी ही ब्रह्म हैं। इसीको पुष्ट करने के लिये श्रीमद्रामायण का आविर्भाव हुआ, यथा—"जेहि इमि गावहिं बेद बुध,···सोइ दसरथ-सुत जगतहित,···" (दो० ११८); तथा "सो अज प्रेम-भगति-बस, कौसल्या के गोद।" (दो० १९८); यथा—"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥" (गीता ४।६)। अतः, जो ब्रह्म का यश है, वही रघुवर-यश है। फिर वेद तो अनन्त कहे गये हैं, कितने ग्रन्थ विधर्मियों के अत्याचार से नष्ट हो गये, यह इतिहास के पाठकों को विदित ही है। जैसे, रामायणें ही सौ करोड़ कही जाती हैं, पर उनमें बहुत कम ही उपलब्ध हैं।

वेद श्रीरामजी के माधुर्य-यश का भी गान करते हैं। यह स्वयं वेदों ने ही कहा है—"हम तव सगुन जस नित गावहीं।" (उ० वेदस्तुति)।

(२) 'बंदउँ बिधिपद···'—'भव' को 'सागर' रूप कहा। 'सागर' से भली और बुरी वस्तुएँ निकली हैं, वैसे 'भव' से भी। सन्त के वचन अमृत रूप हैं, जिसके द्वारा वे जीवों को मृत्यु-रूप 'भव' से बचाते हैं और प्रियभाषी होते हैं। सन्त का मन चन्द्रमा के समान शीतल है और वे उज्ज्वल यश को पाये हुए हैं। सन्त कर्म से कामधेनु के समान परोपकारी एवं सरल प्रकृति हैं। खल इनके विपरीत स्वभाव के हैं। जैसे विष घातक होता है, वैसे खल भी संसार का अहित करते हैं। मदिरा मादक एवं मोहक होती है, वैसे खलों में भी अज्ञान और उन्माद होता है। ब्रह्मा इन सबके परम-पितामह हैं। अतः, इनके चरणों की धूल की वन्दना करता हूँ। 'प्रगटे, यह दीपदेहली है, वैसा ही अर्थ किया गया है।

यहाँ यह शंका की जाती है कि शाप-वश ब्रह्माजी अपूज्य हैं, फिर यहाँ इनकी वन्दना क्यों हुई? समाधान यह है कि यहाँ तो नमस्कार है जो वर्जित नहीं है। इनका प्रणाम किया जाना बहुत जगह है।

दोहा—बिबुध बिप्र बुध ग्रह चरन, बंदि कहउँ कर जोरि।
होइ प्रसन्न पुरवहु सकल, मंजु मनोरथ मोरि॥१४॥

अर्थ—देवता, ब्राह्मण, पंडित, ग्रह—इन सबके चरणों की वन्दना करके मैं हाथ जोड़कर कहता हूँ कि आपसब मुझपर प्रसन्न होकर मेरे समस्त उज्ज्वल मनोरथों को पूर्ण करें॥१४॥

विशेष—'मनोरथ मोरि'—मनोरथ पुँल्लिग शब्द है। अतः, 'मोर' क्यों नहीं कहा ? समाधान यह है गोस्वामीजी कुछ शब्दों का व्यवहार दोनों लिंगों में करते थे। जैसे—प्रश्न और मनोरथ। इसके उदाहरण ब त हैं। यहाँ तो पूर्वार्द्ध के 'कर जोरि' से अनुप्रास भी मिलाना था, जैसे—"व्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोह पार परमीसा॥" (उ० दो० ५७); इसमें भी 'बागीसा' के अनुप्रास के अनुसार 'परमीसा' रक्खा गया है, अन्यथा वहाँ 'परमेसा' पाठ शुद्ध होना चाहिये। यदि कहा जाय कि 'गगरा-गगरी' की भाँति बड़े मनोरथ में पुँल्लिग और यहाँ छोटा समझकर स्त्रीलिंग है, तो यह भी ठीक नहीं ठहरता, क्योंकि—'पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी' (अ० दो० २८); इस प्रसंग में कैकेयीजी का बड़ा भारी मनोरथ है। अतः, वहाँ 'करजोरी' के अनुरोध से ही स्त्रीलिंग है।

यहाँ तक १४ दोहों में १४ भुवनों के जीवों की वन्दना 'सियाराममय' रूप से की गई है।

पुनि बंदउँ सारद सुरसरिता। जुगल पुनीत मनोहर चरिता॥१॥
मज्जन पान पापहर एका। कहत सुनत एक हर अबिबेका॥२॥

अर्थ—पुनः मैं सरस्वतीजी और गंगाजी की वन्दना करता हूँ। ये दोनों पवित्र एवं मनोहर चरित-वाली हैं॥१॥ एक (गंगाजी) में स्नान करने और उनके जल पीने से पाप नष्ट होते हैं और दूसरी (शारदा) के कहने-सुनने से अज्ञान का हरण होता है॥२॥

विशेष—ऊपर सब देवों के साथ ब्रह्माजी की वन्दना की गई है। फिर आगे श्रीशिवजी की वन्दना हुई है। बीच में यहाँ दोनों की शक्तियों की एक साथ वन्दना की गई है। ब्रह्माजी की शक्ति शारदाजी और शिवजी की गंगाजी हैं, यथा—"दास तुलसी त्रासहरनि भवभामिनी।" (वि० १८); गंगाजी की तरह सरस्वतीजी भी द्रव-रूपा हैं और गंगाजी की ही तरह वाणी भी धारा-प्रवाहवाली कहाती है। अतः, एक साथ वन्दना हुई। प्रथम शारदा का नाम लिखा, फिर गुण-कथन में प्रथम गंगाजी को कहा, इससे दोनों में तुल्य भाव दिखाया। प्रथम मंगलाचरण 'वाणी-विनायकौ' में स्वरूप की वन्दना थी, यहाँ वाणी के रूप की वन्दना की गई, इसलिये नदी-रूप के साथ कहा। 'मज्जनपान' और 'कहत-सुनत', यथा—"कहत-सुनत हरपहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं।" (दो० १४)। 'कहत-सुनत' से वक्ता-श्रोता—दोनों का अविवेकहरण कहा।

गुरु पितु मातु महेस भवानी। प्रनवउँ दीनबन्धु दिनदानी॥३॥
सेवक स्वामि सखा सिय-पी के। हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के॥४॥

अर्थ—मैं शिव-पार्वतीजी को प्रणाम करता हूँ जो मेरे गुरु, पिता और माता हैं, दीनबन्धु और प्रति दिन (नित्य) दान देनेवाले हैं॥३॥ जो श्रीसीताजी के पति (श्रीरामजी) के सेवक, स्वामी और सखा हैं, सब प्रकार से (मुझ) तुलसीदास के बाधारहित हितकारी हैं॥४॥

विशेष—(१) 'गुरु पितु मातु···'—'महेस भवानी' हित उपदेश के गुरु हैं, यथा—"हित उपदेस को महेस मानौ गुरु कै।" (हनु० बा० ४३); साथ ही माता-पिता रूप भी हैं, यथा—"जगत मातु पितु संभु भवानी।" (दो० १०२); अथवा किसी कल्प में ये उत्पत्ति-पालन एवं संहारकर्त्ता भी होते हैं। इससे भी माता-पिता हैं। 'दीनबंधु', यथा—"सकत न देखि दीन कर जोरे।" (वि० ७)। 'दिनदानी'—प्रति-दिन दान देनेवाले, यथा—"दानि बड़ो दिन देत दये बिनु बेद बड़ाई भानी॥ (वि० ७)।

(२) 'सेवक स्वामि···' शिवजी रामजी के सेवक हैं, यथा—"रघुकुल-मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायेउ माथ।" (दो० ११६)। स्वामी हैं, यथा—"तव मज्जन करि रघुकुलनाथा। पूजि पारथिव

नायेउ माथा।" (अ० दो० १०२) तथा सखा भी हैं, यथा—"संकर-प्रिय मम द्रोही, सिव-द्रोही मम दास। ते नर करहिं कलप-भरि, घोर नरक महँ बास॥" (लं० दो० २)।

पुनः, सेतु-बन्ध के प्रसंग में भी 'रामेश्वर' नाम की व्याख्या में तीनों भाव निकलते हैं, यथा—"रामस्तत्पुरुषं वक्ति बहुव्रीहिं महेश्वरः। ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे ऋषयः कर्मधारयम्।" अर्थात् 'रामस्य ईश्वरः रामेश्वरः' (तत्पुरुष), 'रामः ईश्वरो यस्यासौ रामेश्वरः (बहुव्रीहि), 'रामश्चासौ ईश्वरः' (कर्मधारय)—इन तीन प्रकारों में क्रमशः शिवजी के स्वामी, सेवक और सखाभाव पाये जाते हैं।

कोई-कोई यों भी भाव लेते हैं कि परात्पर साकेत विहारी श्रीरामजी के शिवजी सदा सेवक हैं। विष्णु रूप के अवतार श्रीरामजी के स्वामी हैं। लिंग स्थापन से प्रकट है, तथा—"सब सुर विष्नु बिरंचि समेता। गये जहाँ सिव कृपा निकेता॥" (दो० ८७); त्रिदेव सम हैं, इस दृष्टि से भी विष्णु कल्प के श्रीरामजी से शिवजी का सख्यत्व है। वह 'संकर प्रिय ममद्रोही।···' आदि से स्पष्ट है। कोई क्षीरशायी भगवान् में भी सख्यत्व कहते हैं, जिन्हें नारदजी ने शाप दिया है। वह अवतार भी सखा शिवजी के गणों के उद्धारार्थ था। "जपहु जाइ···कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे।" (दो० १३७); इन वचनों में सख्यत्व के भाव हैं।

श्रीरामचरित मानस के कल्प के परात्पर श्रीरामजी के सदा शिवजी सेवक ही हैं, यह कैलास-प्रकरण से सुस्पष्ट है।

शिवजी सदा सेवक-भाव ही रखते हैं, इसलिये प्रस्तुत प्रसंग में वही प्रथम दिया गया है। भक्ति-भाव में सभी नाते बन सकते हैं, यथा—"राम रावरो सुभाउ,·····साहेब सेवक रीति·····" (वि० २५१); इस पद का 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये। 'सब बिधि'—और लोगों को शिवजी एक-एक प्रकार ही के हितैषी हैं, यथा—'कलि बिलोकि जगहित···'। जिसे आगे कहते हैं। पर, मेरे लिये तो 'सब बिधि' हितैषी हैं।

कलि बिलोकि जग-हित हर-गिरिजा। साबर-मंत्र-जाल जिन्ह सिरजा॥५॥
अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रगट प्रभाव महेस-प्रतापू॥६॥

अर्थ—कलियुग को देखकर जिन शिव-पार्वतीजी ने जगत् के हित के लिये समूह साबर-मन्त्रों को रचा है॥५॥ जिन मन्त्रों में अक्षर बेमेल पड़े हैं, उनका (प्रसंग से ठीक) अर्थ नहीं है और न उनमें (विशेष) जाप (का विधान) है। तथापि शिवजी के प्रताप से उनका प्रभाव प्रकट है (प्रत्यक्ष फल देखा जाता है)॥६॥

विशेष—(१) 'कलि बिलोकि···' कलि के प्रारम्भ में प्रकट प्रभाववाले वैदिक एवं तान्त्रिक मन्त्र कील दिये गये, तब जीवों के दुःख-निवारणार्थ श्रीशिव-पार्वतीजी भील-रूप में प्रकट हुए। श्रीशिवजी भील-भाषा में मन्त्र-समूह रचते गये और श्रीपार्वतीजी की आज्ञा से श्रीगणेशजी उन्हें लिखते गये, वही ग्रन्थ 'सिद्ध शाबर' तन्त्र कहलाया। सर्प-बिच्छू आदि का विष झाड़ने से तुरत उतर जाता है। यह तो सर्वत्र उन मन्त्रों का प्रभाव प्रकट है। और भी नाना प्रकार की बाधाओं के लिये उसमें मन्त्र हैं जिनके प्रभाव प्रत्यक्ष रूप में देखे जाते हैं।

(२) 'अनमिल आखर···' अन्य मन्त्रों के सिद्ध करने में लाख, सहस्र इत्यादि बार जप का परिमाण होता है तथा कुछ विशेष विधि भी रहती है। विधिवत् जप में मन्त्रार्थ के अनुसन्धान से उसके देवता का स्मरण गुणों के साथ होता है, तदनुसार ही फल भी मिलता है। साबर मन्त्रों के अक्षर सार्थक तो हैं, पर उनके अर्थों और ठीक प्रसंगों का मेल नहीं है। कुछ सामान्य ही विधि एवं जप करना पड़ता है, पर उसका 'प्रगट प्रभाव' अर्थात् फल तुरत ही देखा जाता है। यह केवल महेश का ही प्रताप है—न कि अक्षर और उसके अर्थ का प्रभाव।

उदाहरणार्थ साबर का एक मन्त्र यहाँ दिया जाता है—"गौरा जाई अंजनी सुत जाये हनुमंत। बद्द खकारी गलसुआ तथैला ये चारों भसमंत ॥१॥ काली कंकाली कहाँ चली कैलास पर्वत को चली कैलास पर्वत पै जायके कहा करैगी, निहानी बसूली गढ़ावैगी। निहानी बसूली गढ़ाकर कहा करैगी, बद्दकौं कखारी कौं गलसुए कौं तथैले कौं तीनों कैं काटैगी कपटैगी करैगी विचार देखूँ तेरी शक्ति गुरु की भक्ति फुरो मंत्र ईश्वर उवाच ॥२॥" (पं० रामेश्वरभट्ट की टीका)।

श्रीबैजनाथजी की टीका में इसी प्रकार दृष्टि-निवारण मन्त्र, दाँत-पीड़ा का मन्त्र, अँगुली पकने पर बलाय का मन्त्र और बर्रे काटने का मन्त्र भी दिया गया है। विस्तारभय से यहाँ नहीं लिखा। साबर मन्त्र के द्वारा नीच-ऊँच सभी लाभ उठा सकते हैं, यथा—"हम सब भाँति करब सेवकाई। करि केहरि अहि बाघ बराई ॥" (अ० दो० १३५); अर्थात् नीच कोल-किरात भी इस मन्त्र से हाथी, सिंह और बाघ से रक्षा करना जानते थे।

सोउ उमेस मोहि पर अनुकूला। करहिं कथा मुद-मंगल मूला ॥७॥
सुमिरि सिवा-सिव पाइ पसाऊ। बरनउँ रामचरित चित चाऊ ॥८॥

शब्दार्थ—सिवा = श्रीपार्वतीजी। पसाऊ = प्रसाद, प्रसन्नता। चाऊ = चाव, उत्साह।

अर्थ—वे ही उमापति शिवजी मुझपर अनुकूल हों और (भाषा में भी) कथा को 'मुद-मंगल-मूल' करें ॥७॥ (मैं) श्रीशिव-पार्वतीजी का स्मरणकर और उनकी अनुकम्पा पाकर चित्त के उत्साह-सहित श्रीरामचरित का वर्णन करता हूँ ॥ ८ ॥

विशेष—(१) 'सोउ उमेस···' यहाँ उक्त साबर मन्त्र के प्रभाव का लक्ष्य करके शिवजी को 'उमेस' कहकर कहते हैं। यही आगे 'हर गौरि पसाउ' वाक्य से सिद्ध है। अतः, यही पाठ समीचीन है, कुछ प्रतियों में 'महेश' पाठ भी है। जैसे कलि के जीवों के हित के लिये आपने अनमिल आखर आदि में अपना प्रताप रक्खा, वैसे मेरी भाषा-कविता में भी अपना प्रताप रक्खें, जिससे यह भी कलि के जीवों के लिये 'मंगल-मूल' हो। इसपर यह शंका हो सकती है कि कथा तो स्वतः मंगल-मूलक है, यथा—"मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।" (दो० ९); फिर श्रीशिवजी की क्या अपेक्षा है ? इसका समाधान इस प्रसंग के उपसंहार से स्पष्ट हो जाता है, यथा—"सपनेहुँ साँचेहु मोहि पर, जौं हर-गौरि पसाउ। तौ फुर होउ जो कहउँ सब, भाषा भनिति प्रभाउ ॥" (दो० १५ ; "अर्थात् भाषा में भी होने से इसका प्रभाव वैसा ही हो। सन्दिग्ध वाक्य के निर्णय का यही नियम भी है, यथा—"सन्दिग्धं तु वाक्यशेषात्।" अर्थात् सन्दिग्ध बात का निर्णय वाक्य के उपसंहार से करे। उपक्रम में 'कथा' मात्र से सन्देह था, वही अन्त में 'भाषा-भनिति···' से स्पष्ट हो गया। संस्कृत देव (दिव्य) वाणी है। अतः, उसमें स्वतः भी प्रभाव है। ग्रन्थकार इस प्राकृत भाषा में देवों में श्रेष्ठ महादेव का प्रताप चाहते हैं जिससे भाषा की न्यूनता न रहे, क्योंकि अन्यत्र संस्कृत और भाषा में गंगाजल और सामान्य जल का-सा अन्तर कहा जाता है। वेद मन्त्रात्मक है, उसका उपबृंहण-रूप रामायण भी मन्त्र ही है। मन्त्र संस्कृत के ही द्वारा महत्त्वशाली होते हैं, अतः प्रार्थना की अपेक्षा हुई।

(२) 'सुमिरि सिवा-सिव···' श्रीगोस्वामीजी के प्रति श्रीशिव-पार्वतीजी की प्रसन्नता हुई, इसे अनुभव-द्वारा जानकर कथा के लिये चित्त में उत्साह हुआ, तब वर्णन में प्रवृत्त हुए।

पाठान्तर—'करहिं' की जगह 'करिहि' और 'करहु' भी है, पर अर्थ उपर्युक्त ही होगा।

भनिति मोरि सिव-कृपा बिभाती। ससि-समाज मिलि मनहुँ सुराती ॥९॥

जे येहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता ॥१०॥
होइहहिं राम-चरन-अनुरागी। कलिमल-रहित सुमंगल-भागी ॥११॥

शब्दार्थ—विभाती=सुशोभित। सुराती=सुष्ठु रात्रि, शुक्ल पक्ष की रात।

अर्थ—मेरी कविता (भाषा में होने पर भी) श्रीशिवजी की कृपा से ऐसी सुशोभित है—जैसे नक्षत्रों के साथ चन्द्रमा से मिलकर सुन्दर रात (सोहती है) ॥९॥ (अतः,) जो इस कथा को स्नेह-पूर्वक सावधानी से समझकर कहेंगे और सुनेंगे ॥१०॥ वे श्रीरामजी के चरणों में अनुरागी बन जायँगे तथा कलियुग के पापों से रहित होकर अच्छे मंगल के भागी होंगे।

विशेष—(१) 'भनिति मोरि···' इसमें 'भनिति मोरि' और 'राति', 'सिव-कृपा' और 'ससि-समाज' क्रमशः उपमेय और उपमान हैं, 'मनहुँ' वाचक और 'विभाती' उत्प्रेक्षा का विषय है। अतः, 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। रात अन्धकार एवं और भी बहुत दोषों से युक्त होती है, वैसे मेरी कविता विविध दोषों से युक्त है, पर शिव-कृपा से मिलकर सुशोभित हुई। अतः, 'सुराती' हुई। शिव-कृपा चन्द्रमा, पार्वतीजी की कृपा रोहिणी, गणेशजी की कृपा बुध और शिव-गणों की कृपा तारागण हैं, सब मिलकर 'ससि-समाज' हुए। शिवजी ने कृपा करके वही सावर मन्त्रवाला प्रताप इस ग्रन्थ में भी दिया। अतः, इसमें प्रकाश आ गया।

(२) 'जे येहि कथहिं·····' इसमें 'समुझि' अपूर्ण क्रिया है। अतः, सावधानी के साथ समझकर कहना और सुनना व्यक्त किया, यथा—"जे गावहिं यह चरित सम्हारे। ते येहि चाल चतुर रखवारे॥" (दो० ३७); तथा—"कहत सुनत हरपहिं पुलकाहीं।" (दो० ४०)। 'कहत सुनत'—इसका भाव यह है कि इसे कहे वा सुने अथवा दोनों ही करे। 'जे' पद से इसमें सर्वाधिकार भी जनाया। 'सनेह समेता' अर्थात् कहने एवं सुनने में तृप्ति न हो, प्रेम की उमंग बढ़ती जाय।

(३) 'होइहहिं राम-चरन·····' इसमें 'राम-चरन-अनुरागी' से उपासना का फल, 'कलिमल-रहित' से कर्म का फल और 'सुमंगल भागी' से ज्ञान का फल सूचित किया, क्योंकि 'सुमंगल' और मोक्ष पर्यायी शब्द कहे जाते हैं। कथा से काण्डत्रय के फलों की प्राप्ति ऐसे ही अन्यत्र भी साथ-साथ कही गई है, यथा—"कहेउँ परम पुनीत इतिहासा। सुनत श्रवन छूटहिं भव पासा॥ प्रनत कल्पतरु करुना पुंजा। उपजइ प्रीति राम पद कंजा॥ मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई॥" (उ० दो० १२५)—यहाँ क्रम से ज्ञान, उपासना और कर्म के फल कथा-श्रवण से एक साथ ही कहे गये हैं। इससे तीनों प्रकार के जीवों का कल्याण सूचित किया। विषयी जीव के लिये 'कलिमल-रहित' होना, विरक्त के लिये 'ज्ञान' और विमुक्त के लिये 'राम-चरन-अनुरागी' होना है। यथा—"सुनहिं बिमुक्त बिरत और विषयी। लहहिं भगति गति संपति नई॥" (उ० दो० १४)।

दोहा—सपनेहुँ साचेहुँ मोहिं पर, जौं हर-गौरि-पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब, भाषा-भनिति प्रभाउ ॥१५॥

अर्थ—जो मुझपर स्वप्न में भी सचमुच शिव-पार्वतीजी की प्रसन्नता है तो भाषा-कविता के जितने प्रभाव मैंने कहे हैं, सब सत्य हों ॥१५॥

विशेष—उपर्युक्त 'सुमिरि सिवासिव···' का स्मरण करके कहते हैं कि जो मैंने 'होइहहिं रामचरन···' ऊपर कहा है, वह 'फुर' हो। 'फुर' शब्द भी 'सावर मन्त्र' के प्रायः सब के अन्त में आता है।

अपनी कविता की उपमा उसके 'अनमिल आखर—' की दे ही चुके हैं, उसीका प्रसंग ले आ रहे हैं। उसमें 'प्रगट प्रभाव महेस प्रतापू।' कहा था, वैसे यहाँ भी 'भाषा भनिति प्रभाउ' कहते हैं। 'सपनेहुँ' यह मुहाविरा है अर्थात् किसी तरह एवं कैसी भी दशा में यदि ठीक-ठीक कृपा हुई हो तो 'फुर···'। पुनः, श्रीगोस्वामीजी को स्वप्न एवं प्रत्यक्ष में भी शिवजी की प्रसन्नता की कथा मं० श्लोक ७ की टिप्पणी में दी गई है, वह भी इस दोहे में घटित है।

समष्टि-वन्दना समाप्त

बंदउँ अवधपुरी अति पावनि। सरजू सरि कलि-कलुष नसावनि ॥१॥
प्रनवउँ पुर-नर-नारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहिं न थोरी ॥२॥

अर्थ—मैं अत्यन्त पवित्र और कलियुग के दोषों का नाश करनेवाली श्रीअयोध्यापुरी और श्रीसरयू नदी की वन्दना करता हूँ ॥१॥ फिर मैं अयोध्यापुरी के नर-नारियों को प्रणाम करता हूँ, जिनपर प्रभु (श्रीरामजी) के हृदय में ममता कम नहीं है अर्थात् बहुत है ॥२॥

विशेष—(१) 'बंदउँ अवध···' श्रीशिव-वन्दना के पीछे अब श्रीरामजी के धाम और परिकर की वन्दना करते हैं, क्योंकि शिव-कृपा से श्रीराम-भक्ति मिलती है, यथा—"जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी ॥" (दो० १२७)। श्रीअवध-सरयू का नित्य सम्बन्ध है, इसीलिये एक ही अर्द्धाली में साथ ही वन्दना की और 'बंदउँ' शब्द आदि में देकर दोनों की अभिन्नता भी सिद्ध की, क्योंकि दोनों के विशेषणों के भाव दोनों में हैं, जैसे अति पावन होने से अवधपुरी भी 'कलि कलुष नसावनि' है, ऐसे ही सरयूजी भी हैं। अतः, 'अति पावनि' भी हैं। श्रीसरयूजी श्रीअयोध्या का अंग हैं, इसीलिये महर्षिजी ने भी एक साथ ही वर्णन किया है, यथा—"कैलासपर्वते राम मनसा निर्मितं परम् ॥ ब्रह्मणा नरशार्दूल तेनेदं मानसं सरः। तस्मात्सुस्राव सरसः सायोध्यामुपगूहते ॥ सरःप्रवृत्ता सरयूः पुण्या ब्रह्मसरश्च्युता।" (वाल्मी० बा० स० २४।८–१०)।

'अति पावनि'—मोक्ष देनेवाली सप्तपुरियों (अयोध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार), काशी, कांची, अवन्तिका (उज्जैन) और द्वारका) में अयोध्याजी श्रेष्ठ हैं, यथा—"अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका। पुरी द्वारावती ज्ञेयाः सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥" (नारद पु० पूर्व० २७।३३–३५); क्योंकि सप्तपुरियों को विष्णु-अंग में कहते हुए इसे मस्तक (उत्तमांग) कहा है, यथा—"विष्णोः पादमवन्तिका···ऽयोध्यापुरी मस्तके।" यह प्रसिद्ध है। यहाँ सब तीर्थों के राजा प्रयाग भी नौमी पर आकर पवित्र होते हैं—"तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं।" (दो० ३३)। श्रीअयोध्याजी श्रीसीतारामजी का विहारस्थल एवं प्रिय पुरी है, यथा—"पावनि पुरी रुचिर यह देसा। ··· जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। वेद पुरान बिदित जग जाना ॥ अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ।" (उ० दो० ३)। सरयूजी की महिमा भी पुराणों में बहुत कही गई है, यथा—"मन्वन्तरसहस्रैस्तु काशीवासेषु यत्फलम्। तत्फलं समवाप्नोति सरयूदर्शनान्नरः ॥" (स्कन्दपुराण)। अतः, 'अति पावनि' है।

'कलिकलुष···' कलियुग में अन्य युगों की अपेक्षा अधिक पाप है, यथा—"ऐसे अधम मनुज खल, कृतजुग त्रेता नाहिं। द्वापर कछुक बृन्द बहु, होइहहिं कलियुग माँहिं ॥" (उ० दो० ४०); 'कलि केवल मलमूल मलीना। पापपयोनिधि जन मन-मीना ॥ (दो० २६)। जब ऐसे युग के भी पापों का नाश करती है, तब अन्य युगों को तो कोई बात ही नहीं।

(२) 'प्रनवउँ पुर नर नारि ···' अयोध्यानिवासियों पर प्रभु की बहुत ममता है, यथा—"अति प्रिय मोहिं इहाँ के बासी।" (उ० दो० ३)। 'पुर नर नारि' कहकर 'ममता' का प्रयोग किया। अतः, 'पुर' के

सम्बन्ध से ममता सूचित की। अतः, पुरी में भी ममता है—"मम पुरी सुहावनि" (उ० दो० ३); इससे पुरवासियों को पुण्य-पुञ्ज सूचित किया, यथा—"हम सम पुन्य पुंज जग थोरे। जिन्हहिं राम जानत करि मोरे॥" (अ० दो० २७३)। आगे ममता का उत्कृष्ट उदाहरण देते हैं—

सिय-निंदक अघ-ओघ नसाये। लोक बिसोक बनाइ बसाये॥३॥

अर्थ—(क) श्रीसीता जी की निन्दा करनेवालों (पुरजनों एवं रजक) के पाप-समूह का नाश कर उन्हें शोकहीन करके अपने शोकरहित लोक में बसाया।

(ख) श्रीसीताजी की निन्दा करनेवालों के पाप-समूह का नाश किया और विशोक लोक बनाकर (उसमें उनको) बसाया।

विशेष—(१) उपर्युक्त पुर के नर-नारियों पर श्रीरामजी की अत्यन्त ममता दिखाते हैं। उनमें कितनों ने श्रीजानकीजी की निन्दा में भाग लिया था। श्रीरामजी को राज्य करते हुए दस हजार वर्ष हो जाने पर जहाँ-तहाँ गुप्त रूप में श्रीसीताजी के विषय में अपवाद होने लगा। गुप्त-चरों द्वारा श्रीरामजी ने जान लिया, यथा—"चरचा चरनि सों चरची जानमनि रघुराइ। दूत-मुख सुनि लोक-धुनि घर घरनि बूझी आइ॥" (गीतावली उ० २७); निन्दकों में रजक प्रकट हो गया था, इसीसे उसका नाम 'विनय' में प्रकट आया है, यथा—"बालिस बासी अवध को बूझिये न खाको। सो पाँवर पहुँचो तहाँ जहँ मुनि-मन थाको॥" (वि० १५२) तथा—"सिय-निंदक मतिमंद प्रजा रज निज नय नगर बसाई॥" (वि० १६५)। श्रीमद्वाल्मीकीय में भी उपर्युक्त 'लोक-धुनि' गीतावली की तरह ही है। पद्मपुराण, पाताल खण्ड, रामाश्वमेध प्रकरण के ५५ वें अध्याय में केवल रजक की ही दुरुक्ति को सुनकर श्रीसीताजी के त्याग की कथा है। इसपर उ० दो० २४ (८) का 'सीता-वनवास-मीमांसा' प्रकरण भी देखिये।

दूसरे के दोष-कथन को 'परिवाद' और किसीपर झूठा दोष लगाने को 'अपवाद' (निन्दा) कहते हैं, यथा—"परिवादोपवादो वा राघवे नोपपद्यते।" (वाल्मी० अ० स० १२।२७)। निन्दा का स्वरूप—"अगुन अमान जानि तेहि, दीन्ह पिता बनबास।.....जब तेहिं कीन्ह राम कै निंदा।" (ल० दो० ३१)। यहाँ रावण ने झूठा दोष श्रीरामजी पर लगाया, यही निन्दा हुई। यह बहुत भारी पाप है, यथा—"पर-निन्दा सम अघ न गिरीसा।" (उ० दो० १२)। किसी सामान्य व्यक्ति की निन्दा भी भारी पाप है, फिर जगज्जननी एवं आदिशक्ति की, जो उमा-रमा आदि की कारणभूता एवं उनसे वन्दिता हैं, निन्दा तो पाप-समूह का ही संचय करना है, इसीसे 'अघ-ओघ' कहा है।

उपर्युक्त अर्थ—(क) के अनुसार ऐसे भारी पाप से उन लोगों को शोकमय नरक जाना चाहिये और जीवितावस्था में कराल दंड द्वारा शोक (कष्ट) होना चाहिये, परन्तु अति ममता के कारण उनके महान् पाप का नाश कर, उन्हें आदर-पूर्वक बसा रक्खा। इसके लिये श्रीसीताजी का भी त्याग कर दिया। फिर साथ-साथ उनलोगों को अपने नित्य विशोक धाम में ले गये। इस पक्ष में उपर्युक्त 'निज नय नगर...' का अर्थ 'अपनी लोकोत्तर नीति से नगर में ही बसाये रक्खा' है।

अर्थ—(ख) के अनुसार मनुष्य इस लोक में जैसे-जैसे भारी पुण्य करता है, तदनुसार उसके लिये परलोक में लोक बनता जाता है। जैसे परशुरामजी के बने हुए लोकों का श्रीरामजी के अमोघ बाण द्वारा नाश होना वाल्मी० बाल०, सर्ग ७५ में, लिखा है, वैसे इन निन्दकों के अन्य सुकृत एवं अवध-वास रूप पुण्य से जो लोक परलोक में बने थे, वे इस घोर निन्दा-जन्य पापों से नष्ट हो गये थे। उनके लिये श्रीरामजी ने नया 'विशोक लोक' बनाया और अपने साथ ले जाकर उनको उसमें बसाया, यही उनके पापों का (फल) नाश करना एवं नये नगर में बसाना है।

बंदउँ कौसल्या दिसि प्राची। कीरति जासु सकल जग माँची ॥४॥
प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू। बिस्वसुखद खल-कमल-तुषारू ॥५॥

अर्थ—मैं पूर्व दिशा रूपी श्रीकौशल्याजी को प्रणाम करता हूँ, जिसकी कीर्त्ति सम्पूर्ण संसार में फैली है ॥४॥ जहाँ से सारे संसार को सुख देनेवाले और खल-रूपी कमल के लिये पाले की भाँति श्रीरघुनाथजी सुन्दर चन्द्रमा के समान प्रकट हुए ॥५॥

विशेष—(१) इसमें कौशल्या और पूर्व दिशा, श्रीरामजी और चन्द्रमा, खल और कमल—क्रमशः केवल उपमेय और उपमान हैं। अतः, रूपकालंकार है। चन्द्रमा के उदय से पूर्व दिशा प्रकाशित होती है, वैसे कौशल्याजी की कीर्त्ति फैली, यही सफेदी है। चन्द्रमा पूर्व से प्रकट भर होता है, उसका जन्म वहाँ से नहीं होता, वैसे श्रीरामजी भी प्रकट-मात्र हुए—गर्भ से जन्म नहीं हुआ, यथा—'भये प्रकट कृपाला…' (दो० १९१)। चन्द्रोदय से संसार को सुख होता है, वैसे श्रीरामजी के प्रकट होने से संसार-भर को सुख हुआ। चन्द्रमा कमल को भस्म करता है, वैसे श्रीरामजी से खल भस्म हुए, यथा—"रजनीचर-वृंद पतंग रहे। सर-पावक तेज प्रचंड दहे।" (उ० दो० १३)। 'ससि चारू' से पूर्णिमा का चन्द्रमा ही अभिप्रेत है, वही पूर्व से उदित भी होता है और उस दिन चन्द्रमा सोलह कलाओं से युक्त होकर उगता है, वैसे श्रीरामजी का भी षोड़श कलापूर्ण अवतार है, यथा—"षोडशकलः सौम्यपुरुषः…" (छां० ६।७।१); अर्थात् परमात्मा षोड़श कलाओं से परिपूर्ण है, इस वेद-वाक्य के अनुसार परब्रह्म का पूर्ण अवतार यहाँ सूचित किया। इसी प्रकार व्यासजी ने भी कहा है, यथा—"देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः। आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः॥" (भाग० १०।३।८); अर्थात् सबके हृदय में रहनेवाले सर्वव्यापक भगवान् देवरूपिणी देवकी के गर्भ से इस प्रकार प्रकट हो गये जिस प्रकार पूर्व दिशा में परिपूर्ण (सोलहो कलाओं से पूर्ण) चन्द्रमा का उदय होता है।

'बिस्वसुखद'—शंका—खल भी तो विश्व में ही हैं, फिर 'विश्व-सुखद' कैसे? समाधान—अधिक लोगों को सुखद होने से समस्त कहा गया, यह 'प्रायोवाद' कहा जाता है। जैसे जिस ग्राम में मल्ल अधिक होते हैं, वह 'मल्ल ग्राम' कहा जाता है—चाहे भले ही उसमें कुछ व्यक्ति नरकंकाल हों। यहाँ चन्द्रमा के योग में कमल से खल की उपमा दी गई, यथा—"कीचहिं मिलइ नीच जल-संगा।" (दो० ६); यहाँ पर खल को कमल से उपमित किया गया है। कमल जल से पैदा होता है, जल का स्पर्श नहीं रखता, प्रत्युत ऊर्ध्वमुख हो उससे विमुख रहता है। वैसे ही खल भी अपने उत्पत्ति-पालन करनेवाले भगवान् से विमुख रहते हैं, यह समता भी है।

यहाँ अकेले श्रीकौशल्याजी की वन्दना, बीच में 'दसरथराउ सहित सब रानी' की और फिर अकेले 'अवधभुआल' की वन्दना की गई है। इसका भाव यह है—(क) इस प्रस्तुत अवतार में मनु-शतरूपाजी दशरथ-कौशल्या हुए हैं और अन्य कल्पों में कश्यप-अदिति होते हैं। अतः, इस कल्प की कौशल्या को आदि में और 'अवधभुआल' को अन्त में रक्खा, अन्य तीन कल्पों की रानियों के साथ राजा को बीच में कहा। (ख) श्रीकौशल्याजी सुकृति एवं कीर्त्ति में सब रानियों से बड़ी हैं। अतः, इन्हें सब रानियों की समता से भिन्न रक्खा और मनु-रूप में राजा ने भी शतरूपा के साथ-साथ समान तप किया था। अतः, रानो की समता के लिये उन्हें भी अन्त में अकेले कहा। आदि में शक्ति को और अन्त में शक्तिमान् को कहा, क्योंकि यह नियम है कि शक्ति का नाम पहले लिया जाता है।

दसरथराउ सहित सब रानी। सुकृत सुमंगल मूरति मानी ॥६॥

करउँ प्रनाम करम मन बानी। करहु कृपा सुत-सेवक जानी ॥७॥
जिन्हहिं बिरचि बड़ भयेउ बिधाता। महिमा-अवधि राम-पितु-माता ॥८॥

अर्थ—सब रानियों के साथ राजा दशरथ को पुण्यों और सुन्दर मंगलों की मूर्त्ति मानकर ॥६॥ कर्म, मन और वचन से मैं प्रणाम करता हूँ कि वे अपने पुत्र का सेवक जानकर मुझपर कृपा करें ॥७॥ जिनको रचनाकर ब्रह्माजी भी बड़े हुए। श्रीरामजी के पिता-माता हैं। अतः, महिमा की सीमा हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'दसरथ राउ·····' राजा और रानियों ने बराबर सुकृत किये हैं, इसीसे श्रीरामजी के पिता-माता हुए, यथा—"तुम्ह गुरु बिप्र धेनु सुर-सेवी। तसि पुनीत कौसल्या देवी ॥ सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयेउ न है कोउ होनेउ नाहीं ॥ तुम्हते अधिक पुन्य बड़ काके। राजन राम सरिस सुत जाके ॥··· तुम्ह कहँ सर्बकाल कल्याना।" (दो० २९३); अर्थात् सुकृत से कल्याण-रूप 'सुमंगल' होते हैं, वे दम्पती दोनों की मूर्त्ति हैं। 'सब रानी'—ये रानियाँ ७०० कही गई हैं, यथा—"पालागन दुलहियन सिखावति सरिस सासु सत-साता। देहिं असीस ते 'बरिस कोटि लगि अचल होउ अहिबाता' ॥" (गी० बा० १०८);

(२) 'सुत-सेवक जानी'—पुत्र का सेवक अत्यन्त प्रिय होता है। अतः, कृपा अवश्य करें।

(३) 'जिन्हहिं बिरंचि···' परात्पर ब्रह्म ने भी जिन्हें अपना माता-पिता बनाया, वे महिमा की सीमा क्यों न हों, क्योंकि उन्होंने निरवधि ब्रह्म को भी आकार-विशेष में नियुक्त कर गोद में लिया। फिर उनके निर्माणकर्त्ता ब्रह्माजी भी धन्य हैं कि जिनको ऐसी बड़ाई मिली। मनु-शतरूपा ब्रह्माजी के पुत्र हैं, वे ही दशरथजी और कौशल्याजी हुए, ब्रह्माजी इस प्रकार भी धन्य हुए।

दोहा—बंदउँ अवधभुआल, सत्य प्रेम जेहि राम-पद।
बिछुरत दीनदयाल, प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ ॥१६॥

अर्थ—मैं श्रीअयोध्याजी के राजा श्रीदशरथजी को वन्दना करता हूँ, जिनका प्रेम श्रीरामजी के चरणों में ऐसा सच्चा था कि (उन्होंने) दीनदयालु भगवान् के अलग होते ही अपने प्यारे शरीर को तृण की तरह त्याग दिया।

विशेष—(१) 'सत्य प्रेम ···' सत्य प्रेम का स्वरूप यही है कि प्रिय का वियोग न सह सके, प्राण तक त्याग दे, यथा—"मकर उरग दादुर कमठ, जल जीवन जल गेह। तुलसी एकै मीन को, है साँचिलो सनेह ॥" (दोहावली २१८); "निंदहिं आप सराहहिं मीना। धिग जीवन रघुबीर-बिहीना ॥" (अ० दो० ८५); "आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई ॥ सत्य करहि मम प्रीति सयानी।" (सु० दो० ११)।

मनुजी ने भगवान् से प्रथम अभीष्ट वर माँगा कि मुझे आपके समान पुत्र प्राप्त हो, यही शतरूपाजी ने भी माँगा। दोनों को श्रीरामजी ने वर दिया कि मैं ही पुत्र-रूप से प्रकट होऊँगा। फिर मनुजी ने पुत्र-विषयक प्रीति माँगी और उसका लक्षण भी कहा—"मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुमहिं अधीना ॥···एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ ॥" इसपर श्रीरामजी ने कहा—"होइहहु अवध-भुआल, तब मैं होब तुम्हार सुत ॥" (दो० १५१)। वही 'अवध-भुआल' शब्द यहाँ पड़ा है और उसी वर की—'जल बिनु मीना' की—सराहना भी है। प्रथम वर्णित श्रीकौशल्याजी और अन्त के 'अवध भुआल' प्रसंगवाले श्रीदशरथजी मनु प्रार्थित दशरथ-कौशल्या हैं और मध्य के 'दशरथ राउ सहित···' यह अन्य अवतार प्रसंगों के हैं, क्योंकि मनु प्रसंग में 'अवध भुआल' और 'कश्यप-अदिति' के प्रसंग आकाशवाणी में 'ते दशरथ कौसल्या ···' ऐसा वर्णन आया है। अतः, ऐसा भाव भी युक्त है।

(२) 'अवधभुआल' कहकर सूचित किया कि श्रीरामजी के बिना सब ऐश्वर्य एवं सुख-समन्वित शरीर को भी त्याग दिया, यथा—"अवध-राज सुरराज सिहाई। दसरथ-धन लखि धनद लजाई॥ (अ० दो० ३२३); तथा—"नृप सब रहहिं कृपा अभिलाखे। लोपक करहिं प्रीति-रुख राखे॥" (अ० दो० १)। दशरथजी की प्रीति सच्ची थी। अवध-धाम के और भी राजा हुए, पर 'सत्य प्रेम' आदि से राजा दशरथ ही का बोध होगा, क्योंकि—'जीवन राम-दरस आधीना।' 'जीवन मोर राम बिनु नाहीं।' (अ० दो० ३२); की बातें इन्हीं में थीं। 'रामपद'—इनका वात्सल्य भाव था। अतः, सामान्य रीति से चरणों में प्रेम कहना अयोग्य-सा लगता है, पर इन्होंने 'सत्य प्रेम' के साथ ही यह भी माँगा था कि—"सुतबिषयक तब पद-रति होऊ। मोहिं बड़ मूढ़ कहइ किन कोऊ॥" (दो० १५०)। जीवन-काल में 'पद-रति' रही भी—"अस कहि गे बिश्रामगृह, रामचरन चित लाइ॥" (दो० ३५५); इसपर यह भी कहा जाता है कि राजा दिन में तो सामान्य वात्सल्य की रीति रखते थे और रात को रामजी के चरणों में प्रेम की स्थिति रहती थी।

(३) 'बिछुरत दीनदयाल···'—इसपर यह सन्देह हो सकता था कि राजा का तो प्रेम सच्चा था, पर श्रीरामजी निष्ठुर थे, जिनके वन जाने ही से इनके प्राण छूटे। इसका समाधान 'दीनदयाल' कहकर किया कि राक्षसों के अत्याचार से 'संत-सुर' दुखी एवं दीन थे, उनपर दया करके वन गये, यथा—"तुलसिदास जौं रहौं मातु हित को सुर-बिप्र-भूमि-भय टारे।" (गी० अ० २); "तुलसिदास सुरकाज न साध्यो तौ तो दोष होय मोहिं महिआयक।" (गी० अ० ३); अर्थात् दीनदयालुता इतनी उत्कृष्ट है कि ऐसे प्रेम-निधि पिता का भी वियोग सहकर उसे बचा रक्खा। 'प्रिय तनु'—देह सबको प्रिय होती है, यथा—"सबके देह परम प्रिय स्वामी।" (सुं० दो० २१); "देह-प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।" (दो० २०७) तथा श्रीरामजी इसी शरीर से पुत्र-रूप से मिले, इससे यह परम प्रिय है, यथा—"राम-भगति येहि तनु उर जामी। ताते मोहिं परम प्रिय स्वामी।" (उ० दो० ६५)। श्रीराम ही के वियोग में उस शरीर को छोड़ा, अन्यथा वह परम प्रिय था।

'तृन इव परिहरेउ'—जैसे तृण (खरपात) के फेंकने में किसीको ममता नहीं होती, वैसे दशरथजी ने श्रीराम-वियोग के समक्ष शरीर का मोल कुछ नहीं समझा। अतः, त्याग दिया, यथा—"सो तनु राखि करबि मैं काहा। जेहि न प्रेम-पन मोर निबाहा॥" (अ० दो० १५८)। श्रीरामजी की वन-यात्रा इसी शरीर-द्वारा की गई प्रतिज्ञा के कारण हुई। अतः, शरीर को श्रीराम-विमुख मानकर त्याग दिया, क्योंकि "राम-बिमुख लहि बिधि सम देही। कवि-कोविद न प्रसंसहिं तेही॥" (उ० दो० ९५)।

शंका—राजा ने श्रीरामजी की वन-यात्रा के कई दिन पीछे शरीर त्याग दिया, फिर 'बिछुरत' क्यों कहा ?

समाधान—राजा ने रामजी के वन जाते समय ही सुमन्तजी से कह रक्खा था कि वन दिखलाकर चार दिनों में लौटा लाना, अथवा श्रीजानकीजी ही को लौटा लाना, जिससे मेरे प्राणों का अवलम्ब हो, क्योंकि जानकीजी श्रीरामजी की अर्द्धांगिनी एवं अभिन्नतत्त्व हैं। फिर श्रीसुमन्तजी के कहने से पिता के वचन मानकर श्रीरामजी रथ पर चढ़े, तब लौटानेवाले वचन भी माने जाने की आशा हुई और इसी आशा पर सुमन्तजी रामजी का रथ पुरजनों से छिपाकर रात में ले गये थे। जब तक श्रीसुमन्तजी नहीं आये थे, राजा 'मनि बिनु फनि' की तरह जीते थे, यथा—"जाइ सुमंत दीख कस राजा। अमिअ-रहित जनु चंद बिराजा॥" (अ० दो० १४७)। फिर सुमन्त से ठीक-ठीक रामजी का वन जाना सुनते ही व्याकुल होकर गिरे और तृणवत् प्राण त्याग दिये। इससे प्रथम 'मनि बिनु फनि' के अनुसार व्याकुल होकर जिये, पुनः 'जल बिनु मीन' के अनुसार शरीर छोड़ा, क्योंकि यही वरदान माँगा गया था।

शंका—पहले भी श्रीविश्वामित्र के साथ श्रीरामजी के जाने पर राजा को वियोग हुआ, तब उन्होंने शरीर क्यों नहीं छोड़ा ?

समाधान—इसमें प्रथम वसिष्ठजी ने समझाया, फिर विश्वामित्र ने भी कहा, यथा—"रिपु रन दलि, मख राखि, कुसल अति अलप दिननि घर अइहैं।" (गी० बा० ४८)। पुनः, राजा ने अपना पितृत्व भी विश्वामित्र में स्थापित किया था जिसमें वे पिता की तरह श्रीरामलक्ष्मण का लाड़-प्यार करते रहें, यथा—"तुम मुनि पिता आन नहिं कोऊ।" (दो० २०७)। श्रीरामजी इस यात्रा में वैसा तापस वेष बनाकर गये भी नहीं थे और उनके अंश एवं उन्हींके समान रूप भरत-शत्रुघ्न आधार के लिये भी थे, तब भी 'मनि बिनु फनि' की तरह व्याकुल जीते रहे। यह दशा जनकपुर पहुँचने पर कही गई है, यथा—"सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे।" (दो० ३००)। अतः, इसमें 'मनि बिनु फनि' की दशा रही और दूसरी बार १४ वर्षों के वियोग में 'जल बिनु मीन' की दशा चरितार्थ हुई।

प्रनवउँ परिजन सहित बिदेहू। जाहि राम-पद गूढ़ सनेहू ॥१॥
जोग-भोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई ॥२॥

शब्दार्थ—परिजन = परिवार। गूढ़ = गुप्त, गम्भीर। भोग = विषय। गोई = छिपा।

अर्थ—मैं परिवार के साथ जनकजी को प्रणाम करता हूँ, जिनका गूढ़ स्नेह श्रीरामजी के चरणों में था ॥१॥ (जिस स्नेह को उन्होंने) योग और भोग में छिपा कर रक्खा था, (पर) श्रीरामजी को देखते ही वह प्रकट हो गया ॥२॥

विशेष—(१) 'प्रनवउँ परिजन···' परिजन में भी श्रीजनक महाराज के गुण थे। अतः, 'सहित' पद से साहचर्य कहा। 'गूढ़ सनेह'—यह पद राजा दशरथ की वन्दना के पास ही है। अतः, गूढ़ कहने से जनकजी का गुप्त और दशरथजी का प्रेम प्रकट सूचित किया। दशरथजी ने रामजी के वियोग पर प्राण त्याग कर अपने प्रेम को प्रमाणित किया, यथा—"तुलसिदास तनु तजि रघुवर-हित कियो प्रेम परवान।" (गी० अ० ५९); और राजा जनक ने पहले स्नेह को गुप्त रक्खा था, श्रीरामजी के संयोग होने पर उसे प्रत्यक्ष करके प्रमाणित किया। गूढ़ स्नेह होने ही से जनकजी ने श्रीराम की वन-यात्रा पर अपना शरीर नहीं छोड़ा।

'बिदेहू'—श्रीवसिष्ठजी के शाप से राजा निमि का शरीर प्राण-रहित हुआ था। तब ऋषियों ने यज्ञ-द्वारा उन्हें शरीरधारी बनाना चाहा, पर निमि ने प्राणियों की पलकों पर वास करने की इच्छा की। फिर उनका शरीर मथा गया और उससे एक पुरुष प्रकट हुआ जिनका नाम 'मिथि' हुआ और उन्हींका नाम 'विदेह' एवं जनक भी पड़ा, क्योंकि उनका शरीर, माता-पिता के संयोग के बिना ही, यज्ञ-द्वारा अरणि-मन्थन से बना था, यथा—"अपुत्रस्य च भूभुजः शरीरमराजकभीरवो मुनयोऽरण्या ममन्थुः ॥२०॥ तत्र च कुमारो जज्ञे ॥२१॥ जननाज्जनकसंज्ञां चावाप ॥२२॥ अभूद्विदेहोऽस्य पितेति वैदेहः मथनान्मिथिरिति ॥२३॥" (वि० पु० ४।५); अर्थात् अराजकता के भय से मुनियों ने उस पुत्रहीन राजा निमि के शरीर को अरणि से मथा, उससे एक कुमार पैदा हुआ। वह जन्म लेने के कारण 'जनक' कहाया। इसके पिता विदेह थे, इससे यह 'वैदेह' कहाया और मन्थन से उत्पन्न होने के कारण 'मिथि' भी कहा गया। उनके नगर का नाम 'मिथिला' एवं 'विदेहपुर' पड़ा, जिसका नाम पहले 'वैजयन्त नगर' था। तबसे उस गद्दी के राजाओं की उपाधि 'विदेह' एवं 'मिथिलेश' होती आई है। दशरथजी के समकालीन विदेह महाराज का नाम सीरध्वज और उनके छोटे भाई का नाम कुशध्वज था। इस गद्दी के प्रायः सभी राजा योगीश्वर होते आये हैं, परन्तु महाराज सीरध्वज बड़े ज्ञानी थे और याज्ञवल्क्य मुनि के शिष्य थे, तथा—"इत्येते मैथिलाः। प्रायेणैते आत्मविद्याश्रयिणो भूपाला भवन्ति ॥" (वि० पु० ४।५।३३-३४); इनके ज्ञान की प्रशंसा गीता एवं उपनिषदों में भी है। श्रीजानकीजी इन्हीं की पुत्री हुईं।

शंका—अवधवासियों के बीच में ही मिथिलेश महाराज की वन्दना क्यों हुई ?

समाधान—श्रीदशरथजी श्रीरामजी के पिता हैं और श्रीजनकजी श्वशुर। अतः, तुल्य मानकर एक साथ रखना योग्य समझा। यथा—"सकल भाँति सम साज समाजू। सम समधी देखे हम आजू॥" (दो० ३१९)। शास्त्रों में श्वशुर को पिता के तुल्य कहा भी है, यथा—"जनिता च प्रणेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति। कन्यादाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः।" (चाणक्य); तथा—"प्रभु प्रिय पूज्य पिता सम आपू।" (अ० दो० २९२); यह श्रीभरतजी ने जनकजी से कहा है। तथा—कन्यादातान्नदाता च ज्ञानदाताभयप्रदः। जन्मदो मन्त्रदो ज्येष्ठभ्राता च पितरः स्मृताः॥" (ब्रह्मवैवर्त्त पु० कृष्णजन्मखण्ड ३५।५७); इत्यादि। सुकृत में भी दोनों तुल्य हैं, क्योंकि ब्रह्म युगल स्वरूप में तत्त्वतः अभिन्न होने से मिलकर एक ही है। उसने एक-एक रूप से दोनों के यहाँ प्रकट होकर तुल्य आदर दिया। यथा—"जनक-सुकृत-मूरति बैदेही। दसरथ-सुकृत राम धरे देही॥" (दो० ३०९)। दोनों भक्ति में भी तुल्य हैं, एक का प्रेम वियोग पर प्रगट हुआ तो दूसरे का संयोग पर। अतः, परिकर-रूप में इन्हें भी अवधवासियों के ही साथ रक्खा।

(२) 'जोग भोग महँ·····' श्रीविदेहजी योग की परिपाक दशा के साथ अनासक्त भाव से भोगों का भी अनुभव करते थे। तत्त्वज्ञ लोग उनको योगी और सामान्य लोग भोगी समझते थे। उनकी वृत्ति स्वाभाविक ब्रह्मानन्दमय रहती थी, अचानक श्रीराम-लक्ष्मण पर दृष्टि पड़ते ही वे उनके सौन्दर्य से मुग्ध हो गये। हठात् ब्रह्मानन्द को त्याग कर मन अत्यन्त अनुरागपूर्वक उनमें लग गया। उन्होंने महर्षि विश्वामित्र से पूछा—"कहहु नाथ!···बरबस ब्रह्म-सुखहिं मन त्यागा॥" (दो० २१५); इससे उन्हें ब्रह्म का निश्चय श्रीराम-रूप में हुआ और उनका परम उच्च कोटि का अनुराग श्रीरामजी में है, ऐसा सबने जाना। 'प्रगटेउ सोई', यथा—"भये बिदेह बिदेह नेहबस देह दसा बिसराए। पुलकगात, न समात हरष हिय, सलिल सुलोचन छाए॥ (गी० बा० ६३)।

शंका—जब श्रीविदेहजी पूर्ण ज्ञानी थे, तब फिर श्रीरामजी में प्रेमरूप साधन की क्या आवश्यकता थी ?

समाधान—श्री जनकजी सिद्ध ज्ञानी थे, यथा—"मुनिगन गुरु धुरधीर जनक से। ज्ञान अनल मन कसे कनक-से॥ जे बिरंचि निरलेप उपाये। पदुम पत्र जिमि जग जल जाये॥" (अ० दो० ३१६); इनकी जड़-चेतन ग्रन्थि भी निर्मुक्त थी, यथा—'गाँठि बिनु गुन की कठिन जड़ चेतन की, छोरी अनायास साधु सोधक अपान को।" (गी० बा० ८६) और ये भजननिष्ठ थे। यही उच्च कोटि के ज्ञानियों की रीति है। यथा—"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणोहरिः॥" (भाग० १।७।१०); क्योंकि—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जल-जानू॥" (अ० दो० २७६); श्रीनारदजी एवं सनकादि इसी दृष्टि से भजन करते हुए पाये जाते हैं।

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥३॥
राम-चरन-पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥४॥

अर्थ—मैं पहले श्रीभरतजी के चरणों को प्रणाम करता हूँ, जिनके नियम व्रत का वर्णन नहीं किया जा सकता॥३॥ जिनका मन श्रीरामजी के चरणकमलों में भौंरे की तरह लुभाया रहता है, कभी (उनका) पास नहीं छोड़ता॥४॥

विशेष—(१) 'प्रनवउँ प्रथम···' इतनी वन्दना कर चुकने पर भी 'प्रथम' कहा, क्योंकि (क) यहाँ से श्रीरामजी के नित्य विशिष्ट पार्षदों की वन्दना प्रारम्भ होती है। इनमें श्रीभरतजी प्रधान हैं। (ख) यहाँ से भ्राताओं एवं सखाओं की वन्दना प्रारम्भ हुई, उनमें भी श्रीभरतजी बड़े हैं। (ग) श्रीभरतजी

श्रीराम-प्रेम की मूर्त्ति ही हैं, यथा—"भरतहिं कहहिं सराहि सराही। राम-प्रेम मूरति तनु आही॥" (अ० दो० १८३); अतः—'जग जपु राम राम जपु जेही।' (अ० दो० २१७)। पुनः, अन्य भक्तों का जितना प्रेम श्रीराम-चरणों में था, इनका उससे कहीं अधिक प्रेम श्रीराम-पादुका में था। इन प्रेमियों में सर्वोपरि होने से 'प्रथम' कहा। (घ) अभी तक प्रायः मूर्त्ति की वन्दना होती आई, यहाँ से चरणों की प्रारम्भ हुई, तब प्रथम भरत की वन्दना की।

'चरना'—भगवान् के चरण वन्द्य हैं। अतः, जो भगवान् के तुल्य एवं उनके मुख्य अंश से उत्पन्न माने जाते हैं, उनके भी चरणों की वन्दना की जाती है। श्रीभरत आदि श्रीरामजी के विशिष्ट पार्षद एवं अंगभूत हैं। अतः, उनके चरणों की वन्दना हुई। 'जासु नेम ब्रत···' 'नेम-ब्रत'—"नित नव राम-प्रेम पन पीना।···सम दम संजम नियम उपासा। नखत भरत हिय बिमल अकासा॥···सुनि ब्रत नेम साधु सकुचाहीं।···मुनि-मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को।···" (अ० दो० ३२४)। 'जाइ नहिं बरना'—"भरत-रहनि-समुझनि-करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥ बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेष गनेस गिरा गम नाहीं॥" (अ० दो० ३२४); "मोहि भावति कहि आवति नहिं भरत जू की रहनि।" (गी० अ० ८१)।

(२) 'रामचरन पंकज मन···' उपर्युक्त 'नेम-ब्रत' शरीर से करते हैं। यहाँ मन का धर्म कह रहे हैं। यह नियम-ब्रत का फल है, यथा—"जप तप नियम जोग निज धरमा।···तव पद-पंकज-प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर॥" (उ० दो० ४८)।

'लुबुध मधुप इव···' भ्रमर सब फूलों का रस लेता है, पर जब कमल को पाता है, तब उसमें इतना लुभा जाता है कि कमल के सम्पुट होते समय उसीमें बँध जाता है। यद्यपि काष्ठ-भेदन में भी समर्थ होता है, तथापि प्रीतिवश कमल की कोमल पंखुरियों को नहीं काटता। इसी तरह श्रीभरतजी भी श्रीरामचरण-कमल के प्रेम-रस-पान में इतने निमग्न रहते हैं कि अन्य सामान्य धर्मों एवं प्राकृत सुख-ऐश्वर्य की ओर दृष्टि ही नहीं फेरते, प्रेम का यथार्थ स्वरूप यही है, यथा—"तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति। स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतोनेक्षुरकं हि वीक्षते॥" (आत्मबन्धस्तोत्र)।

बंदउँ लछिमन-पद-जल-जाता। सीतल सुभग भगत-सुखदाता॥५॥
रघुपति-कीरति बिमल पताका। दंड समान भयेउ जस जाका॥६॥

अर्थ—मैं श्रीलक्ष्मणजी के चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ, जो शीतल हैं, सुन्दर हैं और भक्तों को सुख देनेवाले हैं॥ ५॥ श्रीरघुनाथजी की कीर्त्तिरूपी निर्मल पताका (फहराने) में जिनका यश डंडे (पताके में लगनेवाले बाँस) के समान हुआ है॥ ६॥

विशेष—(१) 'बंदउँ लछिमन पद···' यहाँ चरणों की वन्दना करते हुए विशेषणों द्वारा स्वरूप के गुण कहते हैं। लक्ष्मणजी का स्वभाव शीतल है, वे शरीर से सुन्दर हैं और इनमें भक्तों को सुख देनेवाले गुण हैं, यथा—"सहज सुभाय सुभगतनु गोरे। नाम लषन लघु देवर मोरे॥" (अ० दो० २१६); अर्थात् इनके सुन्दर शरीर से भक्तों के नेत्रों को और शीतल स्वभाव से हृदय को सुख होता है। इसी तरह अन्यत्र भी चरण-वन्दना के साथ स्वरूप के गुण कहे गये हैं, यथा—"बंदउँ गुरु-पद-कंज, कृपासिंधु नररूप हरि।···" (मं० सो०); इत्यादि।

(२) 'रघुपति कीरति···' यहाँ कीर्त्ति की उपमा स्त्रीलिंग शब्द पताका से एवं यश की पुँल्लिंग दंड से दी गई है। दंड पताका का आधार होकर उसे ऊँचा करके दिखाता है, वैसे जब धनुर्भंग-प्रसंग में लक्ष्मणजी ने श्रीरामजी के प्रताप से अपना बल कहा और उसकी सत्यता प्रकट करने के लिये पृथ्वी

डोल गई तथा दिग्गज डोले, तब प्रथम इनका यश हुआ और इन सब कार्यों को ये केवल श्रीराम-प्रताप से ही कर सकते हैं, इनमें श्रीरामजी की कीर्त्ति फहराई।

सम्पूर्ण युद्ध-कीर्त्ति में भी ये सहायक रहे। मारीच आदि के वध में, विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा में, वन की एवं रण की लीलाओं में इन्होंने प्रधान भाग लिया है। श्रीरामजी के प्रति न्यूनता किये जाने का अनुमान करके इन्होंने श्रीजनकजी, श्रीपरशुरामजी एवं श्रीभरतजी से कुछ उठा नहीं रक्खा। श्रीराम-कीर्ति को उच्च रखने का विशेष प्रयत्न किया।

सेष सहस्रसीस जग-कारन। जो अवतरेउ भूमि-भय-टारन ॥७॥
सदा सो सानुकूल रह मो पर। कृपासिंधु सौमित्रि गुनाकर ॥८॥

अर्थ—जो हजार शिरोंवाले शेषजी और सारे जगत्, के कारण हैं तथा जिन्होंने पृथ्वी का भय निवारण करने के लिये अवतार लिया है ॥७॥ वे कृपा के समुद्र श्रीसुमित्राजी के पुत्र और गुणों की खान (लक्ष्मणजी) मुझपर सर्वदा अनुकूल रहें ॥८॥

विशेष—(१) 'सेष सहस्र सीस···' श्रीलक्ष्मणजी सहस्र शिरोंवाले शेषजी और जगत्, दोनों के कारण हैं, अर्थात् ये शेषजी के भी शेषी (अंशी) हैं, यथा—"दिसिकुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला॥ राम चहहिं संकर-धनु तोरा। होहु सजग सुनि आयसु मोरा॥" (दो० २५९)। यहाँ 'अहि' अर्थात् शेषजी को आज्ञा दे रहे हैं। अतः, शेषजी के भी कारण हैं। जहाँ ये शेष संज्ञा से कहे गये हैं, वहाँ चार कल्पों की कथा एक साथ होने के कारण अथवा कार्य-कारण की एकता की दृष्टि से जानना चाहिये। इनका महत्त्व अन्यत्र भी कहा गया है, यथा—"तुम कृतान्त-भक्षक सुर-त्राता।" (लं० दो० ८३); "सक संग्राम जीति को ताही। सेवहिं सुर-नर-अग-जग जाही॥" (लं० दो० ५४) तथा—"जय अनंत जय जगदाधारा।" (लं० दो० ७६)। शेषजी सहस्र फणों पर पृथ्वी को धारण करते हैं और इनके विषय में सम्पूर्ण ब्रह्मांडों का एक ही सिर पर रजःकण की तरह धारण करना लिखा है, यथा—"ब्रह्मांड भुवन बिराज जाके एक सिर जिमि रजकनी।" (लं० दो० ८२)। अतः, शेष की कारणता स्पष्ट है। श्रीलक्ष्मणजी का द्विभुज किशोर रूप ही नित्य है, क्योंकि श्रीसतीजी की परीक्षा में भी इनका स्वरूप नित्य, अखंड तथा एकरस सिद्ध हुआ, यथा—"सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता। देखि सती अति भई सभीता।" (दो० ५४)।

(२) 'सदा सो सानुकूल···' 'कृपासिंधु' कहकर अवतार लेने का कारणभूत गुण कहा और ऊपर 'भूमि-भय-टारन' कार्य कहा है। 'सौमित्रि' शब्द से श्रीसुमित्राजी के उपदिष्ट गुणों की स्थिति इनमें सूचित की, जो—"गुरुपितु मातु बंधु सुर साईं।—" से—"तुलसी प्रभुहिं सिष देइ···" (अ० दो० ७३–७५) तक में कहे गये हैं। 'गुनाकर' से और भी शुभगुणों की खान बतलाई। ग्रन्थकार इनको सदा अनुकूलता चाहते हैं, क्योंकि ये श्रीरामजी के प्राण-प्रिय एवं परम समीपी हैं, यथा—"सिय-रघुबीरहिं प्रानपियारे। (अ० दो० १९९)। 'लखन राम के नेव।' (अ० दो० १९)।

प्रश्न—इनकी वन्दना सबसे अधिक चार अर्द्धालियों में क्यों की गई?

उत्तर—श्रीगोस्वामीजी पर इनकी अनुकूलता सबसे अधिक है, जैसे जब 'विनय' में श्रीगोस्वामीजी ने कहा—'बहुरि बूझिये पाँचो।' तब पाँचो में प्रत्यक्षरूप से श्रीरामजी से इन्हीं ने पैरवी की है, यथा—"मारुति-मन रुचि भरत की लखि लखन कही है। कलिकालहुँ नाथ-नाम सो प्रतीति-प्रीति एक किंकर की निबही है।" (वि० २७९)। अतः, इनकी सेवा विशेष की है।

रिपु-सूदन-पद-कमल नमामी। सूर सुसील भरत-अनुगामी ॥९॥

अर्थ—(मैं) शूर, सुशील और श्रीभरतजी के अनुगामी श्रीशत्रुघ्नजी के चरण-कमलों को प्रणाम करता हूँ।

विशेष—आपका नाम रिपुसूदन है। शत्रु का नाश शूरता से होता है, इसलिये शूरता का वर्णन पहले किया। शूरता की शोभा शील से है। अतः, शूर के पीछे सुशील कहा। शील की प्राप्ति 'बुध-सेवकाई' से होती है, यथा—"सील कि मिल बिनु बुध-सेवकाई।" (उ० दो० ८९); इसलिये 'बुध' भरत की सेवा भी बताई है। आप भरतजी के अनुगामी हैं, यथा—"भरत सत्रुहन दूनउ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥" (दो० १९७)। आप शूर हैं, यथा—"जयति लवणांबुनिधि-कुंभसंभव, महादनुज-दुर्जन-दवन दुरित हारी।" (वि० ४०)। पद्मपुराण-पा० रामाश्वमेध प्रकरण में लिखा है कि श्रीशत्रुघ्नजी ने शिवजी से भी १२ दिन तक घोर युद्ध किया है।

महावीर बिनवउँ हनुमाना। राम जासु जस आप बखाना॥१०॥

सो०—प्रनवउँ पवनकुमार, खल-बन-पावक ज्ञान-घन।
जासु हृदय-आगार, बसहिं राम सरचाप धर॥१७॥

शब्दार्थ—ज्ञान-घन = ज्ञान-पूर्ण वा ज्ञान के मेघ अर्थात् ओरों को भी आप से ज्ञान प्राप्त होता है। आगार = घर। धर = धारण किये हुए वा धारण करनेवाले।

अर्थ—(मैं) महावीर्यवान् श्रीहनुमानजी की विनती करता हूँ, जिनके यश का वर्णन श्रीरामजी ने स्वयं किया है॥१०॥ वायुदेव के पुत्र, दुष्टरूपी वन को भस्म करने के लिये अग्निरूप, और ज्ञान से पूर्ण (अथवा ज्ञानरूपी मेघ) श्रीहनुमानजी को प्रणाम करता हूँ, जिनके हृदयरूपी घर में श्रीरामजी धनुषबाण धारण किये हुए निवास करते हैं।

विशेष—(१) 'महावीर' यथा—"कह्यो द्रोन-भीषम समीर-सुत महावीर, वीररस वारिनिधि जाको बल जल भो।" (हनुमानबाहुक ५); सुन्दरकाण्ड एवं लंकाकाण्ड में आपकी वीरता के उदाहरण स्थान-स्थान पर देखने योग्य हैं। 'हनुमान'—आपने जन्म-समय में ही प्रातःकालीन सूर्य को लाल फल समझकर, उन्हें निगलने के लिये छलाँग मारी। उसी समय ग्रहण का अवसर था। अतः, राहु ने आकर देखा कि आप सूर्य का ग्रहण कर रहे हैं और जाकर इन्द्र से कहा। राहु को डरा हुआ देख और हाल सुनकर इन्द्र चकित हो गये तथा राहु की रक्षा के लिये आये। तब आपने उनके ऐरावत हाथी को श्वेत फल समझकर पकड़ना चाहा। इतने में इन्द्र ने वज्र का प्रहार कर दिया। उस अमोघ अस्त्र से आपकी 'हनु' (ठुड्डीमात्र) दब गई और थोड़ी देर के लिये मूर्च्छित हो गये। फिर पवनदेव के कुपित होने पर सब देवों के साथ ब्रह्माजी आये और सबने वरदान दिया। इन्द्र ने आपकी अत्यन्त दृढ़ हनु (ठुड्डी) देखकर 'हनुमान' नाम रक्खा (वाल्मी० ७।३५-३६)।

'राम···आप बखाना' यथा—"सुनु कपि तोहि समान उपकारी।"···से—"सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।···" (सुं० दो० ३१) तक तथा "तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।" (कि० दो० २)। यही शिवजी ने भी कहा है, यथा—"गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार-बार प्रभु निज मुख गाई।" (उ० दो ४९); तथा—"न कालस्य न शक्रस्य न विष्णोर्वित्तपस्य च। कर्माणि तानि श्रूयन्ते यानि युद्धे हनूमतः॥" (वाल्मी० ७।३५।८); अर्थात् श्रीरामजी ने काल, इन्द्र और कुबेर तथा विष्णु से भी हनुमानजी के रण-कर्म को अधिक कहा है तथा—"हाथिनसों हाथी मारे,···बार-बार सेवक सराहना करत राम,····· देखो-देखो लखन लरनि हनुमान की॥" (क० लं० ४०)।

(२) प्रनवउँ पवनकुमार,·····' प्रथम आपकी वन्दना श्रीरामजी के भाइयों के साथ की गई, क्योंकि आप उनके भी सेवक एवं परम प्रिय हैं तथा उन्हींके साथ भी रहते हैं, यथा—"भ्रातन्ह

सहित राम एक बारा। संग परम प्रिय पवनकुमारा ॥" (उ० दो० ३१) तथा—हनूमान भरतादिक भ्राता। संग लिये सेवक-सुख-दाता ॥" (उ० दो० ४९)। अब वानरों के साथ भी वन्दना हुई, किन्तु सुग्रीव आदि से प्रथम आपकी वन्दना करते हैं, क्योंकि श्रीरामजी का सम्बन्ध प्रथम आपको, तब सुग्रीव को, फिर जाम्बवान् को और उसके पीछे विभीषणजी को प्राप्त हुआ। इसी क्रम से वन्दना भी की गई है। पुनः, सब वानरों की अपेक्षा आपपर श्रीरामजी का ममत्व भी अधिक है, क्योंकि राजगद्दी के पीछे और वानरों की विदाई हुई, परन्तु आप बराबर साथ रहे।

श्रीगोस्वामीजी पर आपकी कृपा निरुपाधि एवं निराली है, यथा—"तुलसी पर तेरी कृपा निरुपाधि निनारी।" (वि० ३४)। इसलिये मंगलाचरण में 'कवीश्वरकपीश्वरौ' कहा तथा दो बार यहाँ भी वन्दना की।

(३) विशेषणों के क्रम और भाव—यहाँ तीन विशेषण क्रम से हैं—'खल-बन-पावक', 'ज्ञान-घन' और 'जासु हृदय आगार बसहिं राम··· ।' काम-क्रोध-लोभादि विषय खल हैं, यथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना ॥" (सुं० दो० ४६)। प्रबल वैराग्य के द्वारा आप इनके नाशक हैं। यथा—"प्रबल वैराग्य दारुन प्रभंजनतनय विषय बन दहनमिव धूमकेतू।" (वि० ५८)। विषय-विकारों से चित्त का शुद्ध होना निष्काम कर्म का फल है। 'ज्ञान-घन' से ज्ञान की पूर्णता और श्रीरामजी के हृदय में बसने से उपासना की पूर्णता है। अतः, क्रमशः काण्ड-त्रय की पूर्णता आपमें दिखाई गई है।

जीव तीन प्रकार के होते हैं। इन गुणों से आप तीनों के सेवन करने योग्य हैं। यथा—"बिषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग बेद बखाने ॥" (अ० दो० २७६)। 'खल-बन-पावक' होने से विषयी के, 'ज्ञान-घन' से साधक के और 'बसहिं राम···' से सिद्धों के सेवन करने योग्य हैं, क्योंकि विषयी को हृदय-शुद्धि, साधक को ज्ञान और सिद्ध को भी भक्ति की आवश्यकता है। श्रीरामजी परम स्वतन्त्र हैं। अतः, सिद्धों के भी वश नहीं हो सकते, पर श्रीहनुमानजी के ऋणी हैं, यथा—"रिनियाँ राजा राम से, धनिक भये हनुमान ॥" (दोहावली १११)। अतः, सेवन करने से प्रसन्न होकर सिद्धों के भी हृदय में 'रामरूप' बसा देंगे।

निष्काम कर्म का फल ज्ञान है, यथा—"सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥" (गीता ४।३३); और ज्ञान का फल भक्ति है, यथा—"जप तप मख सम दम ब्रत दाना। बिरति बिबेक जोग बिग्याना ॥ सब कर फल रघुपति-पद-प्रेमा।···" (उ० दो० ९४); इसलिये उक्त तीनों विशेषण क्रम से कहे गये हैं।

(४) **शंका**—जब 'ज्ञान-घन' हैं, तब 'खल-बन-पावक' कैसे ? क्योंकि ज्ञान में तो समता चाहिये, यथा—"आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः ॥" (गीता ६।३२); और पूर्ण ज्ञान के पीछे उपासना क्यों ?

समाधान—ज्ञानी जगत् को विराट् रूप में देखता है। खल विराट् रूप में फोड़े-फुंसी की तरह है। अतः, जब एक बाँह में फोड़ा होता है, तब दूसरा हाथ चीरता-फाड़ता है। पीछे आरोग्य होने पर उस हाथ को भी सुख होता है। अतः, वह निष्ठुरता भी सौहार्द्र का साधन है। श्रीहनुमानजी ने राक्षसों को मारा, वे सब मुक्त होकर सुखी हुए, यथा—"रावन सो राजरोग बाढ़त बिराट उर···" (क० सुं० २५); इस कवित्त में विस्तार से वर्णित है। परमात्मा की अपेक्षा किसीकी भी बुद्धि अधिक सम नहीं है, परन्तु वह भी अवतार लेकर दुष्ट-निग्रह और साधु-अनुग्रह करता है। जैसे—श्रीरामजी ने दुष्ट कर्म के कारण रावण को दंड दिया, फिर विभीषण के प्रति सौहार्द्र दिखाते हुए उनसे स्वयं रावण की अन्त्येष्टि क्रिया करवाई, क्योंकि आपकी बुद्धि उसके प्रति निर्वैर थी। ज्ञान की पूर्णता पर उपासना से उसकी शोभा है, यथा—"सोह न राम-प्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू ॥" (अ० दो० २७६)।

ज्ञानी को कामादि शत्रुओं से स्वयं सावधान रहना पड़ता है और जब वह उपासक होकर श्रीरामजी को हृदय में बसाता है, तब वे धनुष-बाण सहित उन शत्रुओं से उसकी रक्षा करते हैं, यथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥" (सुं० दो० ४६) तथा—"भरत हृदय सिय-राम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि-प्रकासू॥" (अ० दो० २९४); "यह बिचारि पंडित मोहिं भजहीं। पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥" (अर० दो० ४२)।

श्रीहनुमानजी के हृदय में भी एक बार अभिमान हुआ था, यथा—"सुनि कपि-मन उपजा अभिमाना।" (लं० दो० ५९); तब उसी क्षण हृदय-स्थित प्रभु ने अपने प्रभाव स्मरण-द्वारा रक्षा की है, यथा—"राम-प्रभाव बिचारि बहोरी।..." (लं० दो० ५७-५८)। भक्त-वत्सल श्रीरामजी भक्तों की रक्षा करने में शीघ्रता के लिये सर्वदा धनुष-बाण धारण ही किये रहते हैं।

कपिपति रीछ - निसाचरराजा। अंगदादि जे कीस - समाजा॥१॥
बंदउँ सबके चरन सुहाये। अधम सरीर राम जिन्ह पाये॥२॥

अर्थ—वानरों के राजा सुग्रीवजी, ऋक्षों के राजा जाम्बवानजी, निशाचरों के राजा विभीषणजी और अंगद आदि जितने वानरों के समूह हैं, ॥१॥ जिन्होंने अधम शरीर से श्रीरामजी को प्राप्त किया है, इन सबके शोभायमान चरणों की मैं वन्दना करता हूँ॥२॥

विशेष—'अधम शरीर...।' सभी पाञ्चभौतिक शरीर अधम हैं, यथा—"छिति जल पावक गगन समीरा। पंच-रचित अति अधम सरीरा।" (कि० दो० १०); फिर उनमें वानरी देह तो और भी निकृष्ट है, यथा—"असुभ होइ जिन्ह के सुमिरे तें बानर रीछ बिकारी।" (वि० १६६); पर श्रीराम-भजन से वे वानर, ऋक्ष और भी पावन तथा सुहावन हो गये, यथा—"सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिय रघुबीरा॥" (उ० दो० ९६) और इसी जगत् में उनका सम्मान हुआ, यथा—"कियेहुँ कुबेष साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत हनुमानू॥" (दो० ६); क्योंकि—"जेहि सरीर रति राम सों, सोइ आदरहिं सुजान। रुद्रदेह तजि नेह-बस, बानर भे हनुमान॥" (दोहावली १४२)।

'चरन सोहाये'—मनुष्य-देह 'साधन धाम मोक्ष कर द्वारा' है, उसके द्वारा भी भगवत्प्राप्ति दुर्लभ है, उन्होंने तो पशु-राक्षस देह से भगवान् की प्राप्ति कर ली। अतः, इनके चरण शोभायमान कहे गये। उन्होंने इन्हीं चरणों से दौड़-धूप कर श्रीसीताजी को खोजा है, जिससे श्रीरामजी के प्रिय हुए।

रघुपति-चरन-उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते॥३॥
बंदउँ पद-सरोज सब केरे। जे बिनु काम राम के चेरे॥४॥

अर्थ—पक्षी, पशु, देवता, मनुष्य और असुर—इन सबको लेकर श्रीरामजी के चरणों के जितने उपासक हैं॥३॥ जो श्रीरामजी के निष्काम सेवक हैं, मैं उन सबके चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ॥४॥

विशेष (१) 'बंदउँ प्रथम भरत के चरना।' से नित्य-परिकरों की वन्दना प्रारम्भ करके 'बंदउँ सबके चरन सोहाये।...' तक में उसे पूरा किया। अब उन भक्तों की वन्दना समष्टि रूप से करते हैं, जिन्होंने उपासना-द्वारा इन परिकरों का साहचर्य प्राप्त किया और पूर्ण काम होकर श्रीराम-सेवा-परायण हैं। इसीसे यहाँ 'खग-मृग' के भी चरणों की उपमा कमल से दी है, क्योंकि वे भक्त उपासना-द्वारा संसार से मुक्त हो श्रीराम-रूप होकर दिव्य शरीर से श्रीभरत आदि के साथ श्रीराम-सेवा करते रहते हैं और दिव्य भोगों को भोगते हैं, यथा—"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता।" (तै० उ० २।१)।

(२) 'खग'-'मृग' और 'नर' से मृत्युलोक के, 'सुर' से देव-लोक के और 'असुर' से पाताल-लोक के उपासकों की वन्दना है। अतः, तीनों लोकों के उपासक आ गये।

कोई भी जीव हों, वे निष्काम भक्ति से अपने इष्ट के रूप को प्राप्त होते हैं। अतः, खग-मृग आदि भी निष्काम भक्ति से रामरूप हुए, तब इनके भी चरण 'सरोज' कहे गये। यहाँ खग से जटायु, मृग से सुग्रीव आदि, सुर से इन्द्रावतारी बालि, नर से अनेक नर-शरीरधारी भक्त और असुर से मारीच आदि पर लक्ष्य है।

शंका—प्रथम तो "देव दनुज नर नाग खग,···' (दो० ७) में 'सुर-असुर' आदि की वन्दना हो ही चुकी, फिर यहाँ दोबारा क्यों ?

समाधान—प्रथम सब जीवों की वन्दना है, यहाँ उनमें उन्हीं उपासकों की वन्दना की गई है, जिन्हें उपासना-द्वारा फल भी प्राप्त हो चुका है।

सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनिबर बिज्ञानबिसारद ॥५॥
प्रनवउँ सबहिं धरनि धरि सीसा। करहु कृपा जन जानि मुनीसा ॥६॥

शब्दार्थ—विज्ञान = तीनों अवस्थाओं एवं तीनों गुणों से अपनी स्थिति पृथक् समझते हुए तुरीयावस्था में स्थित रहना, प्रकृति-वियुक्त (रहित) आत्मा का ज्ञान। बिसारद = चतुर। जन = दास।

अर्थ—श्रीशुकदेवजी, श्रीसनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमारजी और श्रीनारद आदि जितने श्रेष्ठ मुनि भक्त हैं और विज्ञान में चतुर हैं ॥५॥ मैं उन सबको पृथ्वी पर सिर रखकर प्रणाम करता हूँ, हे मुनीशो ! अपना दास जानकर आपलोग मुझपर कृपा करें।

विशेष—(१) यहाँ भक्त, मुनि एवं विज्ञानी आदि विशेषण सबके साथ हैं। भक्त कहकर इनको 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि के रुक्ष ज्ञानियों से पृथक् किया। यहाँ पृथ्वी पर सिर रखकर प्रणाम से विशेष श्रद्धा एवं नम्रता दिखाई, क्योंकि ये सब ज्ञानी भक्त हैं, जो भगवान् के विशेष प्रिय हैं, यथा—"ज्ञानी प्रभुहि बिसेषि पियारा।" (दो० २१)।

'करहु कृपा...' आप सब मुनीश हैं और मैं आपका दास हूँ; इस नाते मुझपर कृपा कीजिये, क्योंकि—"बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं।" (दो० १६६)।

सुग्रीव आदि ने अधम शरीर से श्रीरामजी को पाया। शरीर की अधमता दूर होना कर्म का फल है। 'रघुपति चरन उपासक जेते।···' में उपासना-कोटि की और यहाँ के—'सुक सनकादि···' में ज्ञान-कोटि की वन्दना है।

शंका—सनकादि ब्रह्मा के मानसी पुत्र आदि सृष्टि के हैं और शुकदेवजी उनके बहुत पीछे हुए, फिर शुकदेवजी का नाम प्रथम क्यों रक्खा गया ?

समाधान—(क) शुक में दो ही वर्ण हैं और सनकादि में चार। छोटा शब्द बड़े के पूर्व रहे तो क्रम अच्छा बनता है, इसलिये ऐसा रक्खा। (ख) शुकदेवजी वैराग्य और विवेक में सनकादि से भी अधिक हैं, क्योंकि सनकादि को जब ब्रह्माजी ने सृष्टि करने की आज्ञा दी, तब उन्होंने अपने पिता से वाद कर वन की राह ली और तप करके वर माँगा कि हम नित्य बाल्यावस्था ही में स्थित रहें, पर इस अवस्था में भी जय-विजय को शाप दे ही दिया। शुकदेवजी जन्मते ही किशोर अवस्था के हो गये। गर्भ से पैदा होते ही वन की राह ली। माता-पिता की ओर देखा तक नहीं। पिता व्यासजी रोते हुए आपके पीछे-पीछे चले और समझाने का यत्न किया, तब आपने वृक्ष में प्रवेश कर उनसे बातें कीं। आपका विवेक ऐसा दृढ़ है कि किसीके प्रति क्रुद्ध न हुए कि शाप देने का संयोग लगे। राजा परीक्षित की सभा में भी बालक शुकदेवजी को आते देख उनको ज्ञानवृद्ध जानकर बड़े-बूढ़े ऋषि खड़े हो गये थे।

(२) ऊपर नित्य परिकरों की और आगे श्रीसीतारामजी की वन्दना है। बीच में इन मुनियों की दो अर्द्धालियों (१ चौ०) में वन्दना है, यह तो व्यास तथा वाल्मीकि आदि के साथ होनी चाहिये थी, पर ऐसा करने में एक रहस्य है और वह है ग्रन्थ के तात्पर्य-निर्णय की विधि जो उपक्रम-उपसंहार आदि छः लिंगों (चिह्नों) के द्वारा होता है। इस रामायण का उपक्रम इसी चौपाई से है, क्योंकि श्रीसीतारामजी की वन्दना अब प्रारम्भ होगी, जो ग्रन्थ के प्रतिपाद्य हैं। उपक्रम में पूर्व ही यह 'सुक सनकादि···' की चौपाई वन्दना-क्रम से भिन्न रक्खी गई है। ऐसे ही इस ग्रन्थ के उपसंहार पर जहाँ गरुड़जी के सातो प्रश्न पूरे हुए, वहाँ भी—"सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म-बिचार बिसारद ॥ सब कर मत खग-नायक येहा। करिय राम-पद-पंकज नेहा ॥" (उ० दो० १२१) है। बस, यहीं से मानस के चारों घाटों का विसर्जन प्रारम्भ हुआ। वहाँ पर भी ये मुनि एवं इनके विशेषण हैं, केवल 'सिव-अज' दो नाम और जोड़ दिये गये हैं और यह चौपाई वहाँ भी इसी प्रकार प्रसंग से अलग-सी है। इसका तात्पर्य यह है कि यह ग्रन्थ निवृत्तिपरक है। अतः, प्रवृत्ति की ओर से माया विरोध करेगी, तब पंचायत होगी (इस पंचायत का वर्णन 'सत पंच चौपाई मनोहर···' पर होगा); इसलिये अपने निवृत्ति-पक्ष के दो सत-पंच इन शुक-सनकादि का यहाँ वरण किया कि आपलोग मुझे अपना जन जानकर कृपा करें अर्थात् इस जन के यहाँ आवें और इस ग्रन्थ में शोभित हों, क्योंकि ये लोग महान् विरक्त एवं विवेकी हैं—प्रति-पक्षी के पक्षपाती नहीं हैं। तीसरे सत-पंच श्रीनारदजी हैं, इनका वर्णन मध्यस्थ (सरपंच) रूप से किया गया है, क्योंकि ये उभय पक्षों के मान्य हैं। रावण-कंस आदि के यहाँ भी इनका सत्कार होता था और इधर के देवर्षि तो हैं ही। श्रीनारदजी उभय पक्षों के ज्ञाता भी हैं, यथा—"अस कहि चले देवरिषि, करत राम-गुन-गान। हरिमाया-बल बरनत, पुनि-पुनि परम सुजान ॥" (उ०दो० ५९)। नारदजी व्यास-वाल्मीकि के भी गुरु हैं। सबको 'भगत' विशेषण देकर अपना तात्पर्य बताया कि मैं भक्ति-परक ही ग्रन्थ लिखूँगा, और 'बिज्ञान-बिसारद' से विज्ञान-सम्बन्धी अनुमति भी चाही कि मेरा भक्ति-सिद्धान्त विज्ञान-सम्मित रहे जिससे पंचायत में मेरी हार न हो। इतना प्रबन्ध करके 'जनकसुता जगजननि···' से ग्रन्थ का आरम्भ कर चले।

शंका—यहाँ यदि उपक्रम है तो उसका बोधक 'कहउँ, करउँ' आदि क्यों नहीं है और दो पक्षों के चुने हुए पञ्च सत्पञ्च कैसे ? वे तो पक्षपाती हुए।

समाधान—इन शंकाओं के विशेष समाधान यहाँ पाठकों को थोड़े में समझा देना उचित समझता हूँ।

यहाँ का उपक्रम तात्पर्य-निर्णय का है, इसके हेतु तो ऊपर कहे ही गये हैं। 'कहउँ, करउँ' आदि से ही उपक्रम जाना जाय, ऐसा नियम नहीं है। जैसे आगे यहीं पर "राम नाम कर अमित प्रभावा।" (दो० ४५) में 'राम' पद से कथा-प्रसंग का उपक्रम माना जाता है और अन्त के 'प्रिय लागहु मोहि राम' इस 'राम' पद ही पर उपसंहार कहा जाता है। इन प्रसंगों पर वैसा कोई 'कहउँ, करउँ' नहीं है। इस उपक्रम के उपसंहार पर बहुत स्पष्ट है। वहाँ उपसंहार की चौपाई का निर्णय 'करिय राम पद पंकज नेहा' है, उसी की पुष्टि 'विनिश्चितं वदामि···' तक की गई। बस, साथ ही 'कहेउँ नाथ···' यह स्पष्ट उपसंहार कहा ही गया है। वहीं से चारो घाटों के क्रमशः उपसंहार हैं।

दूसरी दो पक्षों के चुने हुए सत्पञ्च तो पक्षपाती हैं, यह शंका व्यर्थ है। किसी भी विषय पर जब दोनों ओर की बातें न कही जायँ, तबतक सरपंच किस आधार पर निर्णय देगा। इसलिये दोनों पक्षों की बातें समझाने पर निर्णय कर दोनों पक्षों को सन्तुष्ट किया जा सकता है। श्रीरामजी के युवराज पद का प्रस्ताव रखते हुए राजा दशरथ ने कहा है—"भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम्। यद्यप्येषा

मम प्रीतिर्हितमन्यद्विचिन्त्यताम् ॥१५॥ अन्या मध्यस्थचिन्ता हि *विमर्दाभ्यधिकोदया।" (वाल्मी० २।२); अर्थात् यदि मेरा कथन ठीक हो तो आपलोग इसमें सम्मति दें, कर्त्तव्य बतलावें, यद्यपि मुझे श्रीरामजी का अभिषेक करना अभीष्ट है तथापि और कोई हित की बात हो तो उसपर सोच-विचार करें, क्योंकि मध्यस्थों द्वारा पूर्वापर संघर्ष के हेतु से विवेचन होने के पश्चात् जो बात स्थिर होती है, वही उत्तम होती है। पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष से निर्णय करनेवाले पक्षपाती नहीं होते। वे सत्पञ्च हो हैं। दोनों पक्षों के यथार्थ ज्ञाता होने से ही उनका यथार्थ कथन होगा और उसपर सरपंच तथ्य निर्णय कर सकेगा।

जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुना-निधानकी ॥७॥
ताके जुग-पद-कमल मनावउँ। जासु कृपा निर्मल मति पावउँ ॥८॥

शब्दार्थ—करुना-निधान = करुणा के सागर। [करुणा-लक्षण—"सेवक को दुख देखि के, स्वामि विकल हो जाय। दुहि दुख-सुख साजै सकल, करुना गुन सो आय ॥" प्रसिद्ध है।]

अर्थ—श्रीजनकजी की कन्या, जगत् की माता और करुणा-सागर (श्रीरामजी) की अत्यन्त प्यारी श्रीजानकीजी के दोनों चरण-कमलों को मैं मनाता हूँ, जिनकी कृपा से (मैं) निर्मल बुद्धि पाऊँ ॥७-८॥

विशेष—(१) 'जनक-सुता जग जननि···' यहाँ श्रीजानकीजी की चारो प्रकार की उत्तमताएँ तीन विशेषणों से सूचित कीं—'जनक-सुता' से जन्म-स्थान की श्रेष्ठता, यथा—"पिता जनक देउँ पटतर केही। करतल भोग जोग जग जेही ॥" (अ० दो० १९८) तथा—जासु ज्ञान-रवि भव-निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा ॥" (अ० दो० २७६); 'जग-जननी'—से स्वभाव और रूप की श्रेष्ठता, यथा—"आदिसक्ति जेहि जग उपजाया।" (दो० १५१) तथा—"उमा-रमा ब्रह्मादि-बंदिता।" (उ० दो० २३); 'अतिसय-प्रिय···' से संग की श्रेष्ठता, अखिल ब्रह्मांड-नायक श्रीरामजी का संग एवं प्रियत्व है। यथा—"तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा ॥" (सु० दो० १४)।

'जनकसुता' मात्र कहने से श्रीजनकजी की और कन्याओं का भ्रम होता। 'जगजननि' शब्द भी गिरिजा आदि में प्रयुक्त होता है, यथा—"जगतजननि दामिनि-दुति गाता।" (दो० २३४) तथा—'अतिसय प्रिय' भी भक्तों के प्रति कहा गया है, यथा—"सुनु लंकेस सकल गुन तोरे। ताते तुम अतिसय प्रिय मोरे ॥" (सु० दो० ४८); एवं—"सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे ॥" (अर० दो० ३५)। अतः, तीनों को एक साथ कहकर अतिव्याप्ति दोष मिटाते हुए, श्रीजानकीजी का बोध कराया। जानकी शब्द विशेष्य और तीन विशेषण हैं। अतः, 'जनकसुता' शब्द से पुनरुक्ति नहीं है।

करुणा-निधान के प्रियत्व से जानकीजी का स्वभाव भी करुण सूचित हुआ, क्योंकि बिना प्रकृति मिले प्रियत्व नहीं होता। यह भी सुना जाता है कि श्रीजानकीजी पति के लिये सम्बोधन-रूप में करुणा-निधान' शब्द कहा करती थीं। जब श्रीहनुमानजी ने 'सत्य सपथ करुना-निधान की।' (सु० दो० १२) कहा, तब इस गुप्त संकेत से श्रीजानकीजी ने इनका विश्वास किया।

(२) 'ताके जुग-पद-कमल···' बालक माता के यदि दोनों चरण पकड़ ले, तो वह जिस वस्तु के लिये मचला रहता है, माता वह वस्तु को देती ही है, यथा—"हौं मचला लै छाड़िहौं जेहि लागि अखौ हौं।" (वि० २६७)। वैसे ही श्रीगोस्वामीजी निर्मल बुद्धि के लिये दोनों चरण मना रहे हैं। निर्मल बुद्धि से श्रीरामजी का ऐश्वर्य विदित होता है। श्रीरामजी का ऐश्वर्य उनके दोनों चरणों के २४-२४ चिह्नों के

*विमर्देन—'पूर्वापरपक्ष संघर्षेण हेतुना' ऐसा गोविन्दाचार्य का मत है।

परिज्ञान से जाना जाता है। जो-जो चिह्न श्रीरामजी के दाहिने-बायें चरणों में हैं, वे ही क्रमशः श्रीजानकी जी के बायें-दाहिने में हैं। अतः, दोनों चरणों के संकेत से अपना अभीष्ट भी जना रहे हैं।

सम्बन्ध—प्रथम शक्ति की वन्दना करके तब शक्तिमान् की करते हैं, यही नियम है—

पुनि मन बचन करम रघुनायक। चरन-कमल बंदउँ सब लायक॥ ९॥
राजिवनयन धरे धनु सायक। भगत-बिपति-भंजन सुखदायक॥१०॥

अर्थ—फिर मैं मन, वचन और कर्म से राजीवलोचन, धनुष-बाणधारी, भक्तों की विपत्ति का हरण करनेवाले और सुख देनेवाले श्रीरघुनाथजी के चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ, जो सब प्रकार से योग्य हैं॥९-१०॥

विशेष—(१) 'सब लायक'—(क) सबके लायक अर्थात् श्रीरामजी सबको सब कुछ देने में समर्थ हैं, यथा—"सुनु सेवक-सुरतरु-सुरधेनू। बिधि-हरि-हर-बंदित पद-रेनू (दो० १४५); "नाथ देखि पद-कमल तुम्हारे। अब पूरे सब काम हमारे॥" (दो० १४८)। (ख) इनके सेवन से मन-वचन-कर्म शुद्ध होते हैं, इसीलिये इन्हीं तीनों से यहाँ वन्दना भी की गई है। 'मन', यथा—"जे सकृत सुमिरत बिमलता मन सकल कलिमल भाजहीं॥ (दो० ३२४); वचन—"जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कबि उर-अजिर नचावहिं बानी॥" (दो० १०४); कर्म—"पाप करत निसि-बासर जाहीं। ·····जब ते प्रभु-पद-पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे॥" (अ० दो० २५०)। (ग) ये कोल-किरात ऐसे दीनों और ब्रह्मादि बड़ों से सेवा कराने के योग्य हैं, यथा—"बचन किरातन्ह के सुनत, जिमि पितु बालक-बयन।" (अ० दो० १३६); "जासु चरन अज-सिव अनुरागी।" (उ० दो० १०५)।

(२) 'राजिवनयन···' राजीव लाल कमल को कहते हैं। भक्तों की विपत्ति के भंजन में धनुष-बाण से रक्षण कार्य किया जाता है। अतः, रौद्र और वीर में लाल नेत्रों की आवश्यकता है। ऐसे ही प्रसंगों पर 'राजीवनयन' कहे गये हैं, यथा—"सुनि सीता-दुख प्रभु सुखअयना। भरि आये जल राजिवनयना॥" (मु० दो० ३१); "राजीवबिलोचन भव-भय-मोचन···" (दो० २१०); इत्यादि। ऐसे ही शान्त रस में पुण्डरीकाक्ष (श्वेत कमल-तुल्य नेत्र) और शृंगार रस में नील कमल के समान नेत्र कहे जाते हैं।

दोहा—गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीताराम - पद, जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥१८॥

अर्थ—मैं श्रीसीतारामजी के चरणों की वन्दना करता हूँ, जिन्हें दीन अत्यन्त प्यारे हैं। जो शब्द और अर्थ एवं जल की लहर के समान कहने मात्र में तो भिन्न हैं, पर (तत्त्वतः) भिन्न नहीं हैं।

विशेष—(१) प्रथम श्रीसीताजी और श्रीरामजी की पृथक्-पृथक् वन्दना की, अब एक ही में क्यों? उत्तर—(क) वे वाह्यतः भिन्न-भिन्न देखे-सुने जाते हैं। अतः, भिन्न-भिन्न ही वन्दना हुई। तत्त्वतः अभिन्न हैं। अतः, अभिन्न वन्दना हुई। (ख) श्रीगोस्वामीजी आगे नाम-वन्दना करेंगे, तब—'बंदउ नाम राम···' कहेंगे। वहाँ यह शंका होगी कि मानसकार केवल श्रीराम ही के उपासक हैं अन्यथा 'सीताराम नाम बंदउँ' या कोई युगल नामसूचक शब्द कहते। अतः, सीता नाम ब्रह्म का नहीं है। इसलिये यहाँ प्रथम ही दोनों रूपों को अभिन्न सिद्ध करते हैं। तब नाम की तत्त्वतः अभिन्नता स्वतः हो जायगी, क्योंकि नाम और नामी अभिन्न होते हैं, यथा—"न भिन्नो नाम नामिनोः। (पद्मपुराण में पार्वतीजी के प्रति शिवजी का वाक्य)। जो गुण एवं ऐश्वर्य रूप में होता है वही उसके नाम में भी रहता है। जैसे कोई

ज्योतिषी चोरी को प्रकट करने की विद्या में निपुण हो और इसमें उसकी ख्याति हो जाय, तब उसके निवास से दूरस्थल पर भी जहाँ चोरी होने पर घरवाला ज्योतिषी का नाम लेते हुए उससे जाँच कराने को कहता है, तब चोर डरकर चुराया माल भी किसी युक्ति से दे जाता है। इस रीति से ज्योतिषी की समग्र विद्या-शक्ति ने उसके नाम-द्वारा रूप का-सा कार्य किया। पुनः, नाम की प्रशंसा से रूप प्रसन्न होता है, नाम-द्वारा मुहूर्त्त शोधकर कार्य करने से रूप का कल्याण होता है, इत्यादि।

यही एकता अन्यत्र के प्रमाणों से भी पाई जाती है, यथा—"द्वौ च नित्यं द्विधारूपं तत्त्वतो नित्यमेकता। राममन्त्रे स्थिता सीता सीतामन्त्रे रघूत्तमः॥" (बृहद् विष्णुपुराण)। इसमें भी तत्त्वतः रूप की एकता दिखाते हुए मन्त्र एवं नाम की भी एकता कही गई है, यथा—"श्रीसीतारामनाम्नस्तु सदैक्यं नास्ति संशयः। इति ज्ञात्वा जपेद्यस्तु स धन्यो भाविनां वरः॥" (ब्रह्मरामायण)।

(२) 'गिरा अरथ···' इसमें 'गिरा-बीचि' और 'अर्थ-जल' उपमान है, क्रमशः सीता और राम उपमेय, 'कहियत भिन्न न भिन्न' धर्म और 'सम' वाचक हैं। अतः, पूर्णोपमा है। इसमें ग्रन्थकार का प्रयोजन धर्म के द्वारा दोनों रूपों को तत्त्वतः अभिन्न दिखाने का है। वाणी और अर्थ तत्वतः एक हैं, जैसे 'पय' वाणी और 'दूध' उसका अर्थ है। इसमें पय और दूध एक ही वस्तु हैं। ऐसे ही जल और उसकी लहर दोनों जल-रूप की एक ही वस्तु है, इसी प्रकार सीता और राम एक ही वस्तु हैं, दोनों ही मिलकर एक अखंड ब्रह्म-तत्त्व हैं। रघुवंश के मंगलाचरण में भी यही कहा है—'वागर्थाविव सम्पृक्तौ'। यही बात मनु-शतरूपा प्रकरण (दो० १४१ से १५२ तक) में खोलकर दिखाई गई है। वहाँ स्वायम्भुव मनु और शतरूपा प्रथम सच्चिदानन्द ब्रह्म का स्मरण करते थे, फिर उसीको हरि-(क्लेशहर्त्ता)-रूप से प्राप्ति के लिये तप करने लगे और यह अभिलाषा करने लगे कि हम उसी परम प्रभु को अपने नेत्रों से देखें, जो निर्गुण, अखंड, अनन्त और अनादि हैं, जिसका चिन्तन परमार्थ-वादी करते हैं, वेद 'नेति नेति' कहकर जिसका निरूपण करते हैं, जो स्वयं आनन्दरूप और उपाधिरहित एवं अनूप है, जिसके अंश से अनेक शिव, ब्रह्मा और विष्णु भगवान् उपजते हैं, ऐसा प्रभु भी सेवक के वश में है और वह भक्तों के लिये लीला को अपने शरीर में ग्रहण करता है। लीला का अर्थ यह कि अपने दिव्य शरीर में ही प्राकृत मनुष्यों की तरह बाल-पौगंड आदि अवस्थाओं को धारण करता है, वैसी बात करता एवं देख पड़ता है। यदि यह (ब्रह्म के 'लीला तन गहई' का) वचन वेद ने सत्य कहा है तो हमारी अभिलाषा पूरी होगी। ऐसा दृढ़ संकल्प करके तप करते थे, तब विधि-हरि-हर बहुत बार आये, वर के लिये बहुत प्रकार से लोभ दिखाया, पर इनकी अखंड वृत्ति परब्रह्म में लगी थी। अतः, उनके वचन ही न सुने। तब परब्रह्म परमात्मा ने मनु को अपना अनन्य दास जानकर ब्रह्म-वाणी द्वारा वर माँगने को कहा। उससे इनका क्षीण शरीर पहले की तरह हो गया। तब इन्होंने कहा कि जो स्वरूप शिवजी के मन में रहता है, जिसके लिये मुनि यत्न करते हैं और जो भुशुण्डी के मन-मानस का हंस है, वेद जिसकी प्रशंसा 'सगुण-निर्गुण' कहकर करते हैं, हम वही रूप नेत्र भरकर देखें। (अर्थात् हम देखकर ही जानेंगे कि उस अखंड ब्रह्म का कैसा रूप है ?) तब भक्त-वत्सल भगवान् युगल (सीताराम) रूप से ही प्रकट हुए अर्थात् यही अखंड ब्रह्म का स्वरूप है। ब्रह्म नित्य सर्वशक्तिमान् है। अतः, शक्ति-सहित ही अखंड है। यही प्रायः सभी दार्शनिकों का सिद्धान्त भी है कि शक्ति और शक्तिमान् को अभिन्न मानते हैं।

उपर्युक्त प्रसंग पर कोई-कोई कहते हैं कि 'लीला तन गहई' का अर्थ यह है कि ब्रह्म लीला का शरीर ग्रहण करता है और मनु ने लीला-शरीर के दर्शन माँगे। अतः, यह लीला का शरीर भगवान् ने दिखाया और उदाहृत शिव आदि भी इसी लीला-शरीर के प्रेमी हैं, परन्तु ब्रह्म का परस्वरूप और है।

यह कहना अयोग्य है, क्योंकि 'ब्रह्म नित्य रूप से अतिरिक्त लीला का शरीर दूसरा ग्रहण करता है।' इस तरह आदि विग्रह (शरीर) से पृथक् विग्रह धारण करने पर वह दूसरा शरीर आदि होने से

घटादिवत् अनित्य होगा, फिर उस रूप के उपासक की मुक्ति कैसे सिद्ध होगी और "यं यं भावं स्मरन्वापि त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति···" (गीता ८।६) यह वाक्य व्यर्थ होगा। ऐसे और भी इस अर्थ में बहुत दोष हैं। श्रीरामतापनीय भाष्य के पृ० १५७-१६६ में "उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना" की व्याख्या देखें। भगवान् के सब शरीरों के भाव इस प्रकार नित्य हैं, जैसे कोई स्फटिकमणि नील-पीतादि पुष्पों के बीच में रक्खी हो तो उस-उस ओर नील-पीतादि रूप से देख पड़ती है। ऐसे ही भगवान् उपासकों के ध्यान के अनुसार अपने आदिविग्रह में लीला के द्वारा अनेक रूपों और भावों के साथ दीखते हैं, यथा—"जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥" (दो० १४२)।

(३) **शंका**—एक ही दृष्टान्त से एकता सिद्ध हो जाती तो दो क्यों दिये गये और स्त्रीलिंग-पुँल्लिंग की उपमाओं का हेरफेर क्यों किया गया ?

समाधान—'गिरा-अर्थ' मात्र कहे गये होते तो 'गिरा' शब्द के स्त्रीलिंग होने से सीताजी का कारण होना और अर्थरूप श्रीरामजी का कार्य होना सिद्ध होता, क्योंकि 'गिरा' से अर्थ होता है। ऐसे ही 'जल-बीचि' में भी जल संस्कृत में नपुंसक लिंग होते हुए भी भाषा में पुँल्लिंग है। अतः, जल श्रीरामजी के लिये है और बीचि स्त्रीलिंग श्रीसीताजी के प्रति है। जल का कार्य 'बीचि' है। अतः, श्रीरामजी कारण और श्रीसीताजी कार्य समझे जाते।

इन दो दृष्टान्तों से दोनों में कार्य-कारण का निराकरण किया। इसपर यदि पूर्वपक्ष लिया जाय कि—"प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंद्र तजि जाई॥" (अ० दो० ९६); इसमें प्रभा और चन्द्रिका क्रम से सूर्य और चन्द्रमा की कार्यरूपा हैं, इस अनुरोध से यहाँ 'गिरा' को श्रीरामजी की उपमा मानकर श्रीरामजी कारण और श्रीसीताजी कार्य मान लिये जायँ।

सिद्धान्त—उपमा के धर्म से ही कविता का प्रयोजन रहता है, जैसे—'कमल के समान कोमल चरण' में 'कोमल' धर्म है। अतः, कोमलता ही दिखाने का प्रयोजन है, कमल के रंग-रूप रस आदि चाहे मिलें अथवा न मिलें। वैसे ही उक्त चौपाई में—प्रभा, चंद्रिका और श्रीसीताजी तथा भानु, चंद्र और श्रीरामजी क्रमशः उपमान-उपमेय हैं, 'जाइ कहँ···बिहाई'—'कहँ···तजि जाई' ये दोनों धर्म हैं, वाचक पद सम, इव आदि लुप्त हैं। अतः, उपमा-द्वारा कवि का प्रयोजन इस प्रसंग में केवल श्रीजानकीजी का अपृथक्-सिद्ध सम्बन्ध दिखाना मात्र है कि प्रभा और चन्द्रिका जैसे सूर्य तथा चन्द्र से पृथक् होकर नहीं रह सकतीं, वैसे मैं आपके बिना नहीं रह सकूँगी। ऐसे ही "तनु तजि रहित छाँह किमि छेकी॥" (अ० दो० ९६) में अपृथक्-सिद्ध-सम्बन्ध ही दिखाने का प्रयोजन है, वह सम्बन्ध इतने काल की लीलामात्र के लिये है और यहाँ 'गिरा-अरथ···' से नित्य स्थिति की अभिन्नता कही गई है। अतः, उपर्युक्त 'गिरा-अरथ' में लिंग-विरोध करके श्रीरामजी ही को कारण सिद्ध करना अयोग्य है। जहाँ लिंग के अनुकूल उपमान का अर्थ असंगत होता है, वहाँ लिंग-विरोध किया जाता है। यहाँ श्रीजानकीजी को कार्य कहने में अनित्यता होगी, जो भारी दोष है।

और भी देखिये। राजा दशरथ को वरदान था कि वे श्रीरामजी के दर्शनों के बिना 'जल बिनु मीन' की तरह नहीं जी सकते। उन्होंने सुमन्त से कहा कि यदि जानकी फिरें तो मेरे प्राणों का अवलम्ब हों (अ० दो० ८१)। यदि श्रीजानकीजी श्रीरामजी से भिन्न तत्त्व होतीं, तब राजा कैसे जी सकते थे ? इत्यादि।

श्रीसीताराम की नित्य अभिन्नता यहाँ के 'गिरा अरथ···' की भाँति अन्यत्र भी कही गई है, यथा—"नित्यैवैषा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी। यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम॥१७॥ अर्थो विष्णुरियं वाणी नीतिरेषा नयो हरिः। बोधो विष्णुरियं बुद्धिर्धर्मोऽसौ सत्क्रियास्वियम्॥१८॥" से "किञ्चातिबहुनोक्तेन समुच्चेपेणेदमुच्यते॥३४॥ देवतिर्यङ्मनुष्यादौ पुन्नामा भगवान्हरिः। स्त्रीनाम्नी श्रीश्च विज्ञेया नानयोर्विद्यते परम्॥ ३५॥" (वि० पु० १।८); अर्थात् श्रीपराशरजी ने मैत्रेयजी से

कहा है—हे द्विजोत्तम ! जिनका कभी तिरोभाव नहीं होता वे जगन्माता श्रीलक्ष्मीजी (एवं श्रीजानकीजी) तो नित्य ही हैं, जिस प्रकार विष्णु (श्रीरामजी) भगवान् सर्वव्यापक हैं, उसी प्रकार ये (श्री जी) भी (सर्वव्यापिका) हैं। विष्णु अर्थ हैं और ये (श्रीजी) वाणी हैं, हरि न्याय हैं और ये नीति हैं तथा विष्णु भगवान् बोध हैं और ये बुद्धि हैं, एवं वे धर्म हैं और ये सत्क्रिया हैं।·····अधिक कहने से क्या (प्रयोजन) है, संक्षेप में यही कहा जाता है कि देवता, तिर्यक् और मनुष्य आदि में पुरुष नामवाले भगवान् हरि हैं और स्त्री नामवाली श्रीजी हैं, इनसे परे और कोई नहीं है।

यहाँ पुण्यरत्न विष्णु पुराण में महर्षि पराशरजी १६ श्लोकों में दोनों को एकतत्त्व स्पष्ट कहा है, दोनों को सर्वव्यापक और सर्वव्यापिका भी कहा है। व्यापक तत्त्व तो एक ही होता है, यथा—"त्वं माता सर्वलोकानां देवदेवो हरिः पिता। त्वयैतद्विष्णुना चाम्ब जगद्व्याप्तं चराचरम् ॥" (वि० पु० १।९।१२६); अर्थात् इन्द्र ने श्रीजी को स्तुति करते हुए कहा है कि आप सर्वलोकों की माता हैं और देवाधिदेव श्रीहरिजी पिता हैं। आपसे और श्रीविष्णु से चराचर जगत् व्याप्त है। श्रुति का निर्णय भी यही है, यथा—"सीतारामौ तन्मयावत्र पूज्यौ···" (रामतापनीय उ० पू० १७); अर्थात् श्रीसीताजी और श्रीरामजी दोनों 'तत्' शब्द से उपर्युक्त रेफ (र्) के अर्थ में हैं, इससे दोनों ही एक तत्त्व हैं, यह सिद्ध है, तथा—"सीतारामौ तन्मयावत्रेति श्रीराममन्त्रस्यैव तन्मन्त्रत्व (श्रीसीतामन्त्रत्व) सूचनाच्च श्रीसीताया अपि जगत्कारणत्वोक्तेः परमकारणत्वोक्तेः परमकारणद्वयानुपपत्तेश्च श्रीसीतारामयोः सर्वथाऽभेदत्वं सूचितं भवति तथैवोक्तं शिवसंहितायाम् 'एकं ब्रह्म द्विधागतमिति'। ····सीतारामौ तन्मयावत्रेत्यनेन श्रीराममन्त्रस्य श्रीजानक्या अपि वाचकत्व निर्देशेन केवलषडक्षरोपासनेन श्रीसीताप्युपासिता भूत्वा प्रीता भवतीत्यवधेयम् ॥" (श्रीरामतापनीय उ० पू० २९—श्रीहरिदासभाष्य); अर्थात् 'सीतारामौ···' इस श्रुति के अनुरोध से राममन्त्र को ही श्रीसीतामन्त्र सूचित होने से श्रीसीताजी का भी जगत्कारणत्व एवं परमकारणत्व कहा गया है। दो कैसे परमकारण हो सकते हैं ? यदि ऐसी शंका हो तो उसका समाधान यह है कि दोनों में अभेद माना गया है, उसी प्रकार शिवसंहिता में कहा गया है—'श्रीसीताजी और श्रीरामजी एक ही ब्रह्मतत्त्व हैं, दो प्रकार में स्थित रहते हैं।···' अतः, श्रीराममन्त्र ही श्रीसीताजी का भी वाचक है, इससे केवल षडक्षर श्रीराममन्त्र की उपासना से श्रीसीताजी भी उपासित होकर प्रसन्न होती हैं, ऐसा जानना चाहिये।

जहाँ श्रुतियों में केवल ब्रह्म का परत्व कहा गया हो वहाँ श्रीतत्त्व को ब्रह्म में ही अन्तर्भूत समझना चाहिये, यथा—"तदन्तर्भावात्वां न पृथगभिधत्ते श्रुतिरपि।" (श्रीगुण रत्नकोश २८—भट्टारक स्वामी); अर्थात् श्रीजी को भगवत्तत्त्व में अन्तर्भूत मानकर ही पृथक् नहीं कहा।

ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म-जिज्ञासा प्रारम्भ कर प्रथम ही उसका असाधारण लक्षण 'जन्माद्यस्य यतः' (भा० १।१।२); इस सूत्र से कहा है, अर्थात् जिससे इस जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार होता है, वही ब्रह्म है, तथा—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयान्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति।" (तैत्त० ३।१); यह तीनों जैसे श्रीरामजी के द्वारा होना कहा गया है, वैसे श्रीजी से भी, यथा—"उतपति पालन प्रलय समीहा।" (लं० दो० १४) तथा—"उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं···सीतां···" (मं० ५); पुनः, जैसे श्रीरामजी जगत् के ईश्वर हैं, यथा—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।" (गीता १८।६१); वैसे ही श्रीजी का भी महत्त्व है, यथा—"ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम्।" (श्री सूक्त ९)। श्रीजी हरिवल्लभा हैं, यथा—"श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ।" (तै० आ० ३।१३।४१); अर्थात् श्रीजी और लक्ष्मीजी हरि की हैं। पत्नी पति की अर्द्धाङ्गिनी कही जाती है, यथा—"विप्रा प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्त्ता सा स्मृताङ्गना ॥" (मनु० ९।४१); अर्थात् वेदज्ञ ब्राह्मण कहते हैं कि जो भार्या है, वही भर्त्ता है। भर्त्ता और भार्या में कुछ अन्तर नहीं है।

इन सब दृष्टियों से दोनों एक हैं, ब्रह्मतत्त्व हैं, इनका कभी वियोग नहीं होता, यथा—"एवं यदा जगत्स्वामी देव देवो जनार्दनः। अवतारं करोत्येषा तदा श्रीस्तत्सहायिनी ॥१४२॥.....राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि। अन्येषु चावतारेषु विष्णोरेषानपायिनी ॥१४४॥ देवत्वे देवदेहेऽयं मनुष्यत्वे च मानुषी। विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषात्मनस्तनुम् ॥१४५॥" (वि० पु० १।९); अर्थात भगवान् जब-जब अवतार लेते हैं, तब-तब श्रीजी साथ ही रहती हैं।.....श्रीहरि के राम रूप होने पर ये श्रीसीताजी और कृष्ण जन्म में श्रीरुक्मिणीजी के रूप में रहती हैं। ऐसे ही अन्य अवतारों में ये कभी भगवान् से पृथक् नहीं रहतीं। भगवान् के देव होने पर दिव्य रूप और मनुष्य होने पर मानुषी रूप धारण करती हैं, भगवान् के अनुरूप ही ये भी शरीर बना लेती हैं।

परधाम में भी दोनों का नित्य संयोग ही रहता है, यथा—"प्राप्यं मिथुनमेवेति श्रीमते पदतो मतम्।" (वेङ्कट भाष्यकार); अर्थात् (मन्त्रद्वय के) 'श्रीमते' इस पद के अर्थानुसार श्रीजी के साथ ही श्रीरामजी (दोनों) प्राप्य हैं, तथा—"नारायणं सलक्ष्मीकं प्राप्तुम्।" अर्थात् श्रीलक्ष्मीजी के साथ ही श्रीनारायण प्राप्य हैं, एवं—"स्वर्गे ते सङ्गमो भूयो भविष्यति न संशयः (वाल्मी० ७।९८।१५); अर्थात् श्रीसीताजी के पाताल-प्रवेश पर श्रीब्रह्माजी ने श्रीरामजी से कहा है कि स्वर्ग (त्रिपाद्विभूति श्रीसाकेतधाम) में पुनः आपका (श्रीसीताजी से) साथ होगा, इसमें संशय नहीं है।

इन सब प्रमाणों से परधाम में भी दोनों का नित्य साथ रहता है, दोनों ही मुमुक्षुओं के प्राप्य एवं नित्य सेव्य हैं। सतीजी ने भी दो० ५३-५४ में दोनों का नित्य संयोग ही देखा है। कहा भी है—"कबहुँ जोग बियोग न जाके।" (दो० ८८); लीला में जो कुछ पृथक् होने की लीला करते हैं, वह दिखावमात्र रहता है, यथा—"जथा अनेक बेष धरि नृत्य करै नट कोइ। सोइ-सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ।" (उ० दो० ७२)। श्रीसीताजी और श्रीरामजी दोनों मिलकर पूर्ण (अखण्ड) ब्रह्म हैं, यह इस प्रकार भी समझना चाहिये, जैसे—ककार से लेकर २४ वर्ण चौबीसो प्रकृति के वाचक कहे जाते हैं, इसीसे पचीसवाँ वर्ण मकार पचीसवें तत्त्व जीव का वाचक कहा जाता है। ईश्वर छब्बीसवीं संख्या से कहा जाता है, यथा—"षड्विंशं विमलं बुद्ध्यमप्रमेयं सनातनम्। सततं पञ्चविंशं च चतुर्विंशं च बुद्ध्यते ॥" (महा० शान्ति० ३०८।७); इस प्रसंग में ब्रह्म २६, जीव २५ और प्रकृति २४ की संज्ञा से कही गई है।

'ब्रह्म' इस शब्द में चार अक्षर हैं—ब, र, ह, म। इन्हें ककार* आदि से गिनना चाहिये, 'ब' क से २३ वाँ, 'र' २७ वाँ, 'ह' ३३ वाँ और 'म' २५ वाँ है, इनको जोड़ने पर—२३ + २७ + ३३ + २५ = १०८—इस प्रकार १०८ की संख्या आती है। जप में १०८ मणियों की माला का एक यह भी हेतु है, क्योंकि परम जाप्य ब्रह्म ही है।

यही १०८ संख्या "सीता-राम" इस पूरे पद में भी उसी रीति से जोड़ने पर आती है—

सीता = स् + ई + त् + आ। इनमें 'स' क से ३२ वाँ, 'ई' अ से ४ था, 'त' क से १६ वाँ और 'आ' अ से २रा है—

३२ + ४ + १६ + २ = ५४, इस प्रकार 'सीता' में आधी संख्या है। राम = र, आ, म। इसमें 'र' क से २७ वाँ, 'आ' अ से २रा और 'म' क से २५ वाँ है—

२७ + २ + २५ = ५४, इस प्रकार 'राम' में आधी संख्या है। अतः, दोनों मिलकर (५४ + ५४ = १०८) ही पूर्ण अखण्ड ब्रह्म हैं, यह सिद्ध है।

उपर्युक्त रीति से स्पष्ट हो गया कि जो गणना 'ब्रह्म' इस शब्द में है, वही 'सीताराम' इस नाम में आती है।

* व्यञ्जनों को ककार से और स्वरों को अकार से गिनना चाहिये।

'राधेश्याम' अथवा 'राधाकृष्ण' को यदि 'राधिका कृष्ण' करके उसकी गणना की जाय तो उसमें भी १०८ की संख्या आती है।

मेरी समझ में 'सीताराम' जी को सगुण ब्रह्म अखण्ड तत्त्व समझने की यह बहुत उत्तम रीति है।

(४) 'परम प्रिय खिन्न'—साधारण रीति से प्रभु को सभी जीव प्रिय हैं, पर 'खिन्न' परम प्रिय हैं, यहाँ खिन्न का अर्थ दीन-हीन है, जो संसार को भयंकर जानकर प्रभु के शरणापन्न हैं, शरीर-निर्वाह के अतिरिक्त जगत् से सम्बन्ध नहीं रखते। इस तरह अभिमानरहित जीव ही श्रीसीतारामजी को परम प्रिय हैं, यथा—"करमठ कठमलिया कहैं, ज्ञानी ज्ञानविहीन। तुलसी त्रिपथ बिहाय गो, राम-दुआरे दीन। (दोहावली ९९); "जेहि दीनपियारे वेद पुकारे···" (दो० १८५)।

इति धाम-परिकर-श्रीसीतारामरूप-वन्दना-प्रकरण समाप्त

नाम-वन्दना-प्रकरण*

बंदउँ नाम राम रघुवर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को ॥१॥

अर्थ—(मैं) श्रीरघुकुल में श्रेष्ठ श्रीरामजी के राम-नाम की वन्दना करता हूँ, जो अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा का कारण एवं बीज है।

विशेष—(१) 'बंदउँ नाम···' अभी ऊपर रूप की वन्दना की थी, अब नाम की वन्दना प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि 'बंदउँ नाम', कौन नाम ? उसपर 'राम' कहा। फिर यह प्रश्न होगा कि कौन राम ? क्योंकि 'राम' शब्द से परशुराम एवं बलराम का भी बोध होता है। अतः, 'रघुवर को' कहा अर्थात् दशरथकुमार श्रीरामजी के 'राम'-नाम की वन्दना करता हूँ। अर्द्धाली के पूर्वार्द्ध से नाम का परिचय देकर उत्तरार्द्ध में उसके गुण कहते हैं—'हेतु कृसानु···'। राम-नाम में सामान्यतः तीन वर्ण 'र, अ और म' हैं। इनमें 'र' अग्नि-बीज, 'अ' भानु-बीज और 'म' चन्द्र-बीज है, यथा—"रकारोऽनलबीजं स्याद्ये सर्वे वाङवादयः। कृत्वा मनोमलं सर्वं भस्म कर्म शुभाशुभम् ॥ अकारो भानुबीजं स्याद्वेदशास्त्रप्रकाशकम्। नाशयत्येव सहीत्या याऽविद्या हृदये तमः ॥ मकारश्चन्द्रबीजञ्च सदम्बुपरिपूरणम्। त्रितापं हरते नित्यं शीतलत्वं करोति च ॥" (महारामायणे ५२।६२-६४)। इन्हीं गुणों से ये तीनों क्रमशः कर्म के फल रूप वैराग्य, ज्ञान एवं भक्ति के भी कारण हैं, यथा—"रकारो हेतुवैराग्यं परमं यच्च कथ्यते। अकारो ज्ञानहेतुश्च मकारो भक्तिहेतुकम् ॥" (महारामायण ५२।६५); अर्थात् शुभाशुभ कर्म भस्म होने से वैराग्य और अविद्या दूर होने से ज्ञान होता है तथा भक्ति रूपी उत्तम जल से इन्द्रियाँ तृप्त होती हुई तीनों (दैहिक, दैविक और भौतिक) तापों से बचती हैं, इस मकार से भक्ति को पहचान होती है। एकाक्षरकोश से भी—'रश्च रामेऽनिले वह्नौ', 'अकारो वासुदेवः स्यात्—वासुदेव, नारायण, विष्णु के पर्यायी नाम हैं, सूर्य भी नारायण-रूप हैं। 'मः शिवश्चन्द्रमाः' इस प्रकार उक्तार्थ ही सिद्ध होता है।

(२) यहाँ अग्नि आदि तीन ही का कारण कहने के प्रयोजन ये हैं—(क) नामी (रूप) का गुण ही नामार्थ-द्वारा प्रकट होता है। श्रीरामजी से तीनों की उत्पत्ति वेद में कही गई है, यथा—"चन्द्रमा मनसो-जातश्चक्षोः सूर्योऽजायत। मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥" (यजुर्वेद) तथा—"नयन दिवाकर··· आनन अनल···मन ससि···" (ल० दो० १४)।

---

* यह प्रकरण यहाँ से—"भाय-कुभाय अनख···" तक नौ दोहों में है। इसका विस्तार मेरे लिखे श्रीराम-नामार्थ पर नामाराधन रीति की अखिल-साधन-सम्पन्न व्याख्या रूपी 'तत्त्वार्थ-समिरनी' टीका सहित 'श्रीमन्मानस-नाम-वन्दना' ग्रन्थ में है। यहाँ यह विषय संक्षेप ही में लिखा जाता है।

(ख) श्रीराम-नाम अग्नि आदि तीनों का कारण है, मूल है और जिह्वा पर इन्हीं तीनों का निवास भी है, यथा—'जिह्वामूले स्थितो देवः सर्वतेजोमयोऽनलः। तदग्रे भास्करश्चन्द्रस्तालुमध्ये प्रतिष्ठितः॥" (अ गियाज्ञवल्क्यः ब्रह्म गायत्री भाष्य)। अतः, जिह्वा से इन तीनों वर्णात्मक श्रीराम-नाम के जपने से—अपने-अपने मूल की प्रकाश-प्राप्ति से—अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा की मूलकता से होनेवाले उपर्युक्त वैराग्य, ज्ञान और भक्ति का पूर्ण विकास होता है तब वैराग्य-द्वारा अन्तःकरण शुद्धि से कर्म-दोष, ज्ञान-द्वारा गुणातीत होने से गुण-दोष और भक्ति-द्वारा काल-दोष निवृत्त होता है, क्योंकि काल भगवान् की इच्छा है, यथा—"भृकुटिविलास भयंकर काला।" (लं० दो० १४); और भक्ति से भगवान् अधीन हो जाते हैं, यथा—"भगति अवसहिं बसकरी॥" (अर० दो० २५); यथा—"कबहूँ काल न व्यापिहि तोही। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही।" (उ० दो० ८७)।

(ग) श्रीराम-नाम में इन तीनों का कारण अन्यत्र भी कहा गया है, यथा—"जासु नाम पावक अघ तूला"। (अ० दो० २४७); "जासु नाम भ्रम-तिमिर-पतंगा।" (दो० ११५); "राका रजनी भगति तव, राम नाम सोइ सोम।" (अर० दो० ४२)।

(३) प्रश्न—श्रीरामजी के अनेकों नाम हैं, यहाँ श्रीराम-नाम की वन्दना क्यों ?

उत्तर—भगवान् के और सब नाम गुण-कर्म के द्वारा हैं और श्रीरामनाम साक्षात् सच्चिदानन्द-स्वरूप का वाचक होने से मुख्य है, यथा—"रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परंब्रह्माभिधीयते॥" (श्रीरामपूर्वतापनीय० १।६); अर्थात् अनन्त, नित्यानन्द और चिदात्मा में योगी रमण करते हैं। इस प्रकार राम शब्द के द्वारा ये दाशरथी श्रीरामजी परंब्रह्म कहे जाते हैं। 'राम' के नाम अर्थ में ब्रह्म-स्वरूप के सत्, चित् और आनन्द का अर्थ ज्यों-का-त्यों है, यथा—"चिद्वाचकोरकारः स्यात्सद्वाच्याकार उच्यते। मकारानन्दकं वाच्यं सच्चिदानन्दमव्ययम्॥" (महारामायण ५.२।५३); अर्थात् र चिद्वाचक, आ सद्वाची और म आनन्दवाची है। अतः, सच्चिदानन्द अविनाशी ब्रह्म श्रीरामजी हैं। तथा—"नारायणादि नामानि कीर्त्तितानि बहून्यपि। सम्यग्भगवतस्तेषु रामनामप्रकाशकः॥" (महारामायण ५.२।४०); इसी अभिप्राय से श्रीनारदजी ने—"राम सकल नामन्ह ते अधिका।" (अर० दो० ४१) कहा है और इसी नाम से श्रीवसिष्ठजी ने भी नामकरण किया है। अतः, मूल नाम की वन्दना से सम्पूर्ण शरीर के समान अन्यान्य नामों की भी वन्दना हो गई।

अलंकार—क्रम (यथाक्रम) है, क्योंकि र, आ, म क्रमशः अग्नि आदि के कारण कहे गये हैं।

बिधि-हरि-हर-मय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन-निधान सो॥ २॥

शब्दार्थ—अगुन = प्राकृत सत्व, रज और तमोगुण से परे। गुन-निधान = दिव्य गुणों की खान।

अर्थ—वह (श्रीराम-नाम) विधि-हरि-हर-मय है, वेद का प्राण है, गुणों से परे, उपमा-रहित और दिव्य गुणों की खान है॥ २॥

विशेष—(१) 'बिधि-हरिहर-मय'—'मय' तद्धित का एक प्रत्यय जो तद्रूप, विकार तथा प्राचुर्य्य अर्थ में शब्दों के साथ अन्त में लगाया जाता है। तद्रूप—'सियारामभय सब जग जानी।' विकार—'अमिय-मूरिमय चूरन चारू।' प्राचुर्य्य—'मुद-मंगल-मय संत-समाजू।'

ग्रन्थकार ने 'मय' के प्राचुर्यभाव को श्रीराम-नाम के विषय में लिया है, यथा—"जथा भूमि सब बीजमय, नखत निवास अकास। राम-नाम सब धरममय, जानत तुलसीदास॥" (दोहावली २९); अर्थात् जैसे अनन्त बीज पृथ्वी में रहते हुए, उसकी ही सत्ता से, वृक्ष-अन्न आदि उत्पन्न कर सकते हैं, वैसे ही श्रीरामनाम के द्वारा बुद्धि उत्तम पृथ्वी रूपिणी होती है उसमें सब धर्मों का विकास होता है, श्रीरामनाम रूपी भूमि में सब धर्म बीजवत् सन्निहित रहते हैं। आराधना रूपी वृष्टि पाकर वे विकसित

हो जाते हैं। फिर आकाश में अनन्त नक्षत्रों की स्थिति की भाँति नाम ही से हृदयाकाश में अनन्त दिव्य गुण ज्ञान-वैराग्य आदि जगमगाने लगते हैं।

इसी प्रकार यहाँ 'विधि-हरि-हर-मय' का अर्थ यह होगा कि श्रीराम-नाम ही के अंश से अनेकों त्रिदेव अपने-अपने ब्रह्मांडों के साथ आविर्भूत (प्रकट) होते हैं और इसीके आधार से उनमें उत्पत्ति, पालन और संहार की शक्तियाँ हैं, यथा—"राम-नामांशतोजाता ब्रह्माण्डाः कोटि-कोटिशः। रामनाम्नि परेधाम्नि संस्थिता स्वामिभिस्सह॥" (पद्मपुराण—ब्राह्मणों के प्रति व्यासजी का कथन) तथा—"राम-नाम-प्रभावेण स्वयम्भूः सृजते जगत्। विभर्त्ति सकलं विष्णुः शिवः संहरते पुनः॥" (महाशम्भुसंहिता)। यही अर्थ श्रीराम-नाम के अक्षरार्थ से भी प्रकट होता है अर्थात् राम शब्द में 'र्, आ, म्, अ' ये चार वर्ण हैं। उनमें प्रथम का 'र्' आधार और शेष तीनों उसके आधेय हैं, यथा—'रेफारूढा मूर्त्तयः स्युः शक्तयस्तिस्र एव च।" (श्रीरामतापनीय २।३)। 'रेफारूढा मूर्त्तयः वृक्षारूढा वानरा इव' अर्थात् जैसे वृक्ष के आधार से वानर स्थित रहते हैं, वैसे रेफ के आश्रित 'आ, म्, अ' तीनों वर्ण एवं उनके वाच्य त्रिदेव और उनकी शक्तियाँ हैं। रेफ के वाच्य श्रीरामजी, आ के ब्रह्मा, म् के शिव और अ के विष्णु हैं, यथा—"रश्च-रामेऽनिले वह्नौ, अकारो वासुदेवः स्यात्। ह्याकारस्तु प्रजापतिः। 'मः शिवश्चन्द्रमाः" (एकाक्षरकोश)।

नाम का यही अर्थ महत्त्व रूप में भी कहा गया है, यथा—हरि-हरहि हरता विधिहि विधिता श्रियहि श्रियता जेहि दई। सोइ जानकीपति···" (वि० १३५); यही परात्परत्व का असाधारण लक्षण है। यथा—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते॥ येन जातानि जीवन्ति॥ यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति॥ तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति॥" (तैत्तिरीयो० तृ० व०); अर्थात् जिसके द्वारा उत्पत्ति, पालन और संहार होते हैं, वही ब्रह्म है।

(२) 'वेद प्रान सो'—प्राण का अर्थ जीव, सार और तत्व है, यथा—"येहि महँ रघुपति-नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥" (दो० ९); तथा—"वेदे व्याकरणे चैव ये च वर्णाः स्वराः स्मृताः। रामनाम्नैव ते जाता सर्वे नैवात्र संशयः॥" (महारामायण ५२।६७)। पुनः, वेद का प्राण प्रणव (ओम्) है, वह राम-नाम से सिद्ध होता है, यथा—"रकारं गुरुराकारस्तथा वर्णविपर्ययः। मकारं व्यञ्जनं चैव प्रणवं चाभिधीयते॥ रामनाम्नः समुत्पन्नः प्रणवो मोक्षदायकः।" (महारामायण ५२।३३-३४); तथा—"स्वभूर्ज्योतिर्मयोनन्तरूपी स्वेनैवभासते। जीवत्वेनेदमोंयस्य सृष्टिस्थितिलयस्य च॥" (राम पू० ता० २।१४); अर्थात् "सर्ववेदमन्त्रकारणस्य प्रणवस्य तत्प्रकाश्यत्वमाह जीवत्वेनेदमों यस्येति यस्य बह्निबीजस्य जीवत्वेन स्फोटकत्वेनेदं सर्ववेदसर्वमन्त्रात्मकं ॐकाराक्षरं भासते नतु वस्तुतः तद्भिन्न ॐकारोस्तीत्यर्थः" (श्रीहरिदास कृत भाष्य)।

व्याकरण की रीति से 'राम' पद से प्रणव शुद्ध नहीं बनता, हठात् प्रषोदरादित्व की कल्पना कर बनाने से अर्थ प्रमाण मात्र ही रखना ठीक है।

(३) 'अगुन अनूपम···' अगुण अर्थात् गुणातीत, अनुपम अर्थात् इसकी उपमा के योग्य कुछ नहीं है, यथा—"यस्य नाम महद्यशः न तस्य प्रतिमास्ति।" (यजुर्वेद)। 'गुन-निधान' अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, शान्ति, क्षमा आदि दिव्य गुणों का भण्डार है।

महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू॥३॥
महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ॥४॥

अर्थ—जिसे कि शिवजी जपते हैं वह श्रीराम नाम महामन्त्र है, और जिसका उपदेश श्री काशीजी में मुक्ति का कारण है॥३॥ जिस (राम नाम) की महिमा को श्रीगणेशजी जानते हैं, वे इसी नाम के प्रभाव से (शुभ कर्मों में सब देवताओं से) प्रथम पूजे जाते हैं॥ ४॥

विशेष--(१) 'महामंत्र····' महेसू—महान् ईश अर्थात् सब देवताओं के स्वामी भी इसे जपते हैं। अतः, यही महामन्त्र है, यथा—"महामंत्र जपिये सोई जो जपत महेस।" (वि० १०८); "उमा सहित जेहि जपत पुरारी।" (दो० ९)। माहात्म्य-कथन में प्रथम शिवजी को कहा, क्योंकि—"नाम प्रभाउ जान सिव नीको।" (दो० १८ ; "महिमा रामनाम की जान महेस। देत परम पद कासी करि उपदेस॥" (बरवा ५३); तथा—"यत्प्रभावं समासाद्य शुको ब्रह्मर्षिसत्तमः। जपस्व तन्महामन्त्रं रामनामरसायनम्॥" (शुकपुराण)। भारी महत्त्व एवं सुलभता से भी यह महामन्त्र है, क्योंकि महा अपावन यवन, किरात, अजामिल आदि भी इस नाम के उल्टे-पुल्टे कहने से पावन हो गये। शुद्ध, अशुद्ध एवं मृतदेह लिये हुए भी लोग इसका उच्चारण कर मंगल-भागी होते हैं और यह विधि-अनुष्ठानादि की भी अपेक्षा नहीं रखता। 'भाय कुभाय अनख आलसहूँ' आदि सब भाँति कल्याण ही करता है।

संसार के संहारकर्त्ता ईश्वर महेश भी उसे जपते हैं। अतः, यह महामन्त्र शिष्टपरिगृहीत—बड़े-बड़ों से ग्राह्य है। 'कासी मुकुति·····' काशी में मरते समय जीवों को श्रीशिवजी श्रीराम-नाम ही का उपदेश करते हैं, उसीसे उनकी मुक्ति होती है, यथा—"जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहिं सम गति अबिनासी॥" (कि० दो० ९)।

शंका—श्रीरामतापनीय उपनिषद् में षड्क्षर मन्त्रराज के उपदेश से शिवजी का मुक्ति देना कहा है और यहाँ श्रीराम-नाम से कहते हैं। ऐसा क्यों ?

समाधान—श्रीराम-नाम ही मन्त्रराज का बीज होता है और उसीका विवरण अवशिष्ट-मन्त्र है। अतः, नाम और मन्त्र तत्त्वतः अभेद है, यथा—"सर्वेषां राममन्त्राणां श्रेष्ठं श्रीतारकं परम। षडक्षरमनुं साक्षात्तथा युग्माक्षरं वरम्॥" (मत्स्यपुराण)। 'उपदेसू', यथा—"पेयं पेयं श्रवणपुटके राम-नामाभिरामं, ध्येयं ध्येयं मनसि सततं तारकं ब्रह्मरूपम्। जल्प्यं-जल्प्यं प्रकृति-विकृतौ प्राणिनां कर्णमूले, वीथ्यां वीथ्यामटति जटिलः कोऽपि काशी निवासी॥" (स्कन्दपुराण—काशीखण्ड)। यहाँ श्रीशिवजी ने स्वयं मोक्ष-फल पाया और औरों को मोक्ष-फल लुटा रहे हैं। अतः, नाम का मोक्ष-फल देना सिद्ध है।

(२) 'महिमा जासु ·····' गणेशजी के राम-नाम-प्रभाव जानने की प्राचीन प्रसिद्ध कथा इस प्रकार है—एक समय श्रीब्रह्माजी ने सब देवताओं के समक्ष प्रथम पूज्य पद का प्रस्ताव किया। सभी अपने को योग्य कहने लगे। इसपर ब्रह्माजी ने कहा कि जो तीनों लोकों की परिक्रमा करके मेरे पास प्रथम आवेगा, वही यह पद पावेगा। सब देवता अपने-अपने वाहन पर शीघ्रता से चले। गणेशजी का वाहन चूहा है। अतः, वे सबसे पीछे रह गये और उदास हुए। तब भगवान् की दया से श्रीनारदजी आ गये और उपदेश किया कि श्रीराम-नाम सर्वब्रह्माण्डमय है, तुम उसे ही पृथ्वी पर लिखकर और उसीकी परिक्रमा करके श्रीब्रह्माजी के पास चले जाओ। इन्होंने ऐसा ही किया। अन्य देवता जहाँ जाते वहीं चूहे के पैरों के चिह्न आगे पाते थे। अतः, वे सब निराश हुए और गणेशजी ने ही वह पद पाया। श्रीबैजनाथजी ने वह कथा कुछ भेद से शैवतन्त्र की लिखी है। अन्यत्र भिन्न प्रकार की भी है। इन्होंने स्वयं कहा है—"अहं पूज्योऽभवँल्लोके श्रीमन्नामानुकीर्त्तनात्। अतः श्रीरामनाम्नस्तु कीर्त्तनं सर्वदोचितम्॥" (गणेश पुराण)।

यहाँ श्रीगणेशजी की अपनी कामना सिद्ध हुई और वे संसार की कामना सिद्ध करते हैं, इसीसे सम्पूर्ण शुभ कार्यों में इनका प्रथम पूजन होता है। श्रीसनत्कुमार ने कहा है, यथा—"यः समर्चयते भक्त्या तस्य विघ्नो न जायते। तस्मै ददाति सन्तुष्टः सर्वान् कामान् विनायकः॥" (स्कन्द पु० अ० अवन्ती-क्षेत्र माहात्म्य २८।२२); अर्थात् जो भक्ति से श्रीगणेशजी की पूजा करता है, उसे कभी विघ्नों की बाधा नहीं होती, प्रत्युत सन्तुष्ट होकर श्री गणेशजी उसे समस्त इच्छित वस्तुएँ दे देते हैं। अतः, यहाँ श्रीराम-नाम का काम फल देना सिद्ध है।

जान आदिकवि नाम प्रतापू। भयेउ सुद्ध करि उलटा जापू ॥५॥

अर्थ—आदि कवि श्रीवाल्मीकिजी श्रीराम-नाम के प्रताप को जानते हैं वे (राम नाम का) उलटा नाम (मरा) जपकर शुद्ध हो गये।

विशेष—'उलटा जापू', यथा—"राम बिहाइ 'मरा' जपते बिगरी सुधरी कबिकोकिलहू की।" (क० उ० ८९)। "जहाँ बाल्मीकि भये ब्याध ते मुनीन्द्र साधु 'मरा-मरा' जपे सुनि सिष रिषि सात की ॥" (क० उ० १३८)।

श्रीवाल्मीकिजी की कथा—उनका पूरा वृत्तान्त दो० २ की तीसरी चौ० में लिखा गया है। यहाँ प्रयोजन मात्र लिखते हैं। वे ऋषि के बालक थे। बचपन ही में भीलों का संग हो गया। एक भील-कन्या से विवाह भी हुआ। ससुराल ही में रहने लगे। उन्हींके संग से पूरा व्याधा हो गये। फिर तो वे ब्राह्मण-साधु को भी नहीं छोड़ते, जीव-हत्या करते थे और धन-वस्त्रादि लूटकर कुटुम्ब पालते थे। एक समय सप्तर्षियों को भी मारना चाहा, तब उनके प्रभाव एवं उपदेश से आँखें खुलीं और दीनता-सहित उद्धार का उपाय पूछा। उन्होंने राम-नाम का उपदेश किया। वह भी उनसे न बना। तब दयालु ऋषि 'मरा-मरा' जपने का उपदेश देकर चले गये। वे उसी शरीर से व्याधा से मुनि हुए। 'नाम-प्रतापू'—प्रताप, यथा—"जाकी कीरति सुयश सुनि, होत शत्रु उर ताप। जग डेरात सब आप ही, कहिये ताहि प्रताप ॥" (बेजनाथ-टीका); अर्थात् किसी व्यक्ति की कीर्त्ति और सुयश ही से शत्रु को भय हो जाय, उस व्यक्ति को वहाँ न जाना पड़े तो वह उसका प्रताप कहा जायगा। वैसे ही यहाँ साक्षात् नाम के बिना 'मरा-मरा' से करोड़ों ब्रह्महत्या आदि पापों की शुद्धि हुई। यही नाम का प्रताप है। 'हराम' कहने से यवन की गति हुई। अतः, वहाँ भी नाम का प्रताप कहा गया, यथा—"आँधरो अधम जड़ जाजरो जरा जमन " नाम के प्रताप बात बिदित है जग में।" (क० उ० ७६)। 'भयेउ सुद्ध'—जो पाप करोड़ों यज्ञों से शुद्ध नहीं हो सकता था, वह नाम के प्रताप से हुआ। अतः, यहाँ नाम का अमित अर्थ फल देना है, क्योंकि बहुत शुद्ध धान्य एवं द्रव्य प्राप्त होता, फिर उससे उत्तम समय में एवं अच्छे-अच्छे कार्यकर्त्ताओं द्वारा सैकड़ों यज्ञ किये-जाने से जो फल होता वह वाल्मीकिजी को केवल उलटा नाम जपने ही से प्राप्त हुआ। ऐसे वे श्रीवाल्मीकिजी भी नाम-द्वारा प्राप्त गुणों से रामायण रचकर उसके एक-एक अक्षर से संसार के पापों की शुद्धि करते हुए अर्थ-फल प्रदान कर रहे हैं, यथा—"एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्" (मू० रा० माहात्म्य)।

अन्य मन्त्र किंचित् भी अविधि होने पर उलटे विघ्न करते हैं, पर श्रीराम-नाम तो उलटे जप में भारी फल देते हैं। आश्चर्य महत्त्व है। इससे यह भी सूचित हुआ कि नाम का प्रत्येक अक्षर पृथक्-पृथक् भी बड़े महत्त्व का है। उलटा नाम जपने का एवं सप्तर्षियों के कहने का विशेष रहस्य मेरे 'श्रीमन्मानस नाम वन्दना' ग्रन्थ में है, यहाँ विस्तारभय से नहीं लिखा।

इस दोहे भर में सब श्रीशिवजी और उनके ही परिवार हैं। बीच में एक महर्षि कहे गये, क्योंकि श्रीराम-नाम एवं श्री रामचरित के सम्बन्ध से महर्षि भी शिवजी को गणेशजी के समान प्रिय हैं।

सहस नाम सम सुनि सिव-बानी। जपति सदा पिय संग भवानी ॥६॥
हरषे हेतु हेरि हर ही को। किय भूषन तिय-भूषन ती को ॥७॥

अर्थ—श्रीशिवजी की यह वाणी सुनकर—"एक 'राम' नाम (विष्णु) सहस्रनाम के समान है"—श्रीपार्वतीजी उस राम नाम को अपने पति के साथ सदा जपती रहती हैं ॥ ६ ॥ उनके हृदय की प्रीति एवं भक्ति को देखकर श्रीशिवजी प्रसन्न हुए और उन पतिव्रता स्त्रियों में शिरोमणि स्त्री (श्रीपार्वतीजी)

को उन्होंने अपना भूषण बना लिया अर्थात् भूषण की तरह उन्हें आधे अंग में धारण करके उसमें अपनी शोभा मानी ॥७॥

विशेष—(१) श्रीपार्वतीजी की कथा—श्रीशिवजी की आज्ञा से श्रीपार्वतीजी ने वामदेव ऋषि से वैष्णव मन्त्र का उपदेश लिया। गुरुजी ने उन्हें नित्य विष्णुसहस्रनाम के पाठ का नियम करा दिया। वे पाठ किया करती थीं। एक दिन भोजन के समय श्रीशिवजी स्वयं भोजन करने बैठे और श्रीपार्वतीजी को भी भोजन करने के लिये बुलाया। उन्होंने कहा कि अभी मेरा पाठ समाप्त नहीं हुआ। तब श्रीशिवजी ने सुअवसर समझकर श्रीपार्वतीजी को उपदेश दिया कि एक बार श्रीराम नाम कहकर आओ और भोजन कर लो। तुम्हारा नियम एक बार ही राम नाम कहने से पूरा हो जायगा, क्योंकि रामनाम विष्णुसहस्र नाम-समूह के तुल्य है, यथा—"राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे। सहस्रनामतातुल्यं रामनाम वरानने ॥" (पद्मपुराण); इन्होंने वैसा ही किया। तथा—"नाम्नां सहस्रं दिव्यानां स्मरणे यत्फलं लभेत्। तत्फलं लभते नूनं रामोच्चारणमात्रतः ॥" (ब्रह्म वै० ४।१११।२१); तथा—"विष्णोरेकैकनामापि सर्ववेदाधिकं मतम्। तेभ्यश्चानन्तनामाभ्योऽधिकं नाम्नां सहस्रकम्॥ तादृङ्नामसहस्रेण रामनाम समं मतम्॥" (स्कन्द पु० वैष्णव० वै० मा० २१।५३-५४)। "सिवबानी"—ईश्वर की वाणी है, अतएव कल्याणकारी एवं सत्य है, यथा—"संभु गिरा पुनि मृषा न होई।" (दो० ५०)। अतः, तत्काल प्रभाव पड़ा।

'जपत सदा···' यथा—"मंगलभवन अमंगलहारी। उमासहित जेहि जपत पुरारी॥" (दो० ९); "जपति सदा' पाठ अयोध्या श्रावणकुंज का है, यह उपर्युक्त कथा से भी मिलता है, ऐसा महत्त्व समझकर फिर सदा ही पार्वतीजी इसी नाम का जप किया करती हैं। परन्तु कई प्रतियों का पाठ 'जपि जेई' भी है जिसका अर्थ है 'जपकर भोजन किया।' इससे यह भाव नहीं आता कि वे सदा अब यही जपती हैं।

(२) 'हरषे हेतु हेरि···' पार्वतीजी का श्रीराम नाम में विश्वास एवं अपने वचन में हेतु (प्रीति) देखकर शिवजी को हर्ष हुआ। हर्ष का ध्वनितार्थ हेतु यह भी है कि सती-शरीर में सन्देह के कारण उपदेश नहीं लगा था, यथा—"लाग न उर उपदेस—" (दो० ५१); और अब पूर्ण श्रद्धा है।

इसमें श्रीपार्वतीजी को पातिव्रत्य धर्म के फलस्वरूप पति के रूप की प्राप्ति, जो अन्यत्र मृत्यु के बाद होती है, वह इसी शरीर से हो गई। पार्वतीजी भी संसार को यही धर्म लुटा रही हैं, यथा—"येहि कर नाम सुमिरि संसारा। तिय चढ़िहहिं पतिव्रत असि धारा॥" (दो० ६६); यह वचन हस्त-रेखा से भविष्य के लिये कहा गया है, नाम जपने पर यह सामर्थ्य हुआ। स्त्री के लिये यह एक ही धर्म है, यथा—"एकइ धरम एक व्रत नेमा। काय बचन मन पति-पद-प्रेमा॥" (अर० दो० ४)। अतः, यहाँ नाम का 'धर्म फल' प्रदान करना सिद्ध है।

इस प्रसंग से यह भी सिद्ध हुआ कि पतिव्रता को भी एवं उसके पति के रहते हुए भी, उसे भगवान् का भजन करना चाहिये। अन्य प्राकृत जीवों की भक्ति करनी उसके लिये मना है। भगवान् तो दिव्य एवं चराचर के पति हैं, यथा—'पतिं विश्वस्य' तथा—"पतिं पतीनां परमं···" (श्वेता० ६।७); अर्थात् वह परमात्मा संसार का पति (पालक-रक्षक) है तथा वे पतियों के भी परम पति हैं—वेद में कहा गया है। श्रीनारदजी ने याज्ञवल्क्यजी से कहा है—"रामनाम-रता नारी सुतं सौभाग्यमीप्सितम्। भर्तुः प्रियत्वं लभते न वैधव्यं कदाचन॥ पतिव्रतानां सर्वासां रामनामानुकीर्त्तनम्। ऐहिकामुष्मिकं सौख्यं दायकं सर्वशो मुने॥" (नृसिंहपुराण)।

नाम-प्रभाव जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमी को ॥८॥

अर्थ—इस नाम का प्रभाव श्रीशिवजी भली-भाँति जानते हैं, इसीसे कालकूट (विष) ने उनको अमृत के समान फल दिया।

विशेष—'नाम-प्रभाव जान···' प्रभाव और देवगण भी जानते हैं, पर उसे भली-भाँति श्रीशिवजी ही जानते हैं, इसीसे कहा है—"रामायन सतकोटि महँ, लिय महेस जिय जानि।" (दो० २६); "तुम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंगअराती॥" (दो० १०७); तथा—"जासु नाम सर्बस सदासिव पार्वती के।" (गी० बा० १२) उदाहरण उत्तरार्द्ध में देते हैं, यथा—'कालकूट फल···' श्रीशिवजी के कालकूट पीने की कथा दी जाती है—

कालकूट पान की कथा

"एक समय छठे मन्वन्तर में भगवान् ने अजित नाम से अंशावतार ग्रहण किया था। उस समय देवासुर संग्राम हो रहा था। असुरों ने देवताओं को बहुत प्रकार से पराजित किया। दुर्वासा मुनि के शाप से तीनों लोक और इन्द्र भी श्रीविहीन हो गये। [श्रीशिवजी के अंशावतार दुर्वासाजी पृथ्वी पर विचर रहे थे। उन्होंने एक विद्याधारी के हाथों में सन्तानक पुष्पों की दिव्य सुगन्धित माला देखी। मुनि के माँगने पर उसने दे दी। मुनि ने अपने मस्तक पर डाल लिया और विचरने लगे। उसी समय उन्मत्त ऐरावत पर चढ़कर इन्द्र को आते देखा। मुनि ने वह माला अपने सिर से उतार कर देवराज इन्द्र के ऊपर फेंक दी। इन्द्र ने उसे ऐरावत के मस्तक पर डाल दिया, उससे उस हाथी की बड़ी शोभा हुई। उस मतवाले हाथी ने उसे सूँढ़ से उठा, सूँघकर भूमि में डाल दिया।

इसपर मुनि बहुत क्रुद्ध हुए और कहा कि तूने मेरी दी हुई माला का अपमान किया है, इससे तेरा तीनों लोक शीघ्र ही श्रीविहीन हो जायगा। इन्द्र ने बहुत प्रार्थना की, पर मुनि ने कुछ नहीं सुनी" (वि० पु० १।९।१-२४); यहाँ तक कि यज्ञ आदि धर्म भी लुप्त हो गये।

सब देवगण मिलकर सुमेरु गिरि पर ब्रह्मा की सभा में गये। वहाँ सारी परिस्थिति कही। ब्रह्माजी ने भी स्वयं इन्हें श्रीविहीन देखा, तब ब्रह्माजी ने मन एकाग्र कर भगवान् का ध्यान किया। फिर देवों से कहा कि मैं और शिवजी तथा तुम सब एवं चराचर जिनके अंश हैं, हमलोग उन्हीं की शरण चलें। वे सबको साथ ले वैकुंठ गये। वह धाम प्रकृति से परे है। वहाँ ब्रह्माजी वेदवाणी द्वारा स्तुति करने लगे। बहुत स्तुति पर भगवान् प्रकट हुए। वहाँ सहस्रों सूर्य का-सा प्रकाश छा गया। देवगण चकित हो गये। शिवजी और ब्रह्माजी ने दर्शन किये। पुनः, स्तुति कर व्यवस्था कही। तब भगवान् ने कहा—इस समय तुमलोगों का दुर्दिन है। अतः, सुसमय की प्रतीक्षा करते हुए असुरों से सन्धि कर लो। काम बनने पर तुमलोग स्वार्थ साधन कर सकोगे। तुमलोग अमृत निकालने का प्रयत्न करो। क्षीरसागर में ओषधि डालकर मथो। मन्दराचल की मथानी और वासुकीनाग की नेती बना मेरी सहायता से समुद्र-मन्थन करो। दैत्यों को श्रम मात्र फल मिलेगा। अमृत पाकर तुमलोग अमर हो जाओ। अभी असुर गण जो-जो कहें, मान लो। पहले कालकूट निकलेगा, डरना नहीं, और कामना एवं क्रोध नहीं करना, ऐसा कह भगवान् अन्तर्धान हो गये।

शिव-ब्रह्मादि अपने-अपने लोक गये। इन्द्रादि देवों ने राजा बलि के यहाँ अस्त्र-शस्त्र-हीन हो सन्धि की बात करनी चाही। बलि इस समय त्रिलोक विजयी हो सिंहासनासीन थे। भगवान् की शिक्षा के अनुरूप ही इन्द्र ने बातें कीं। बलि को भी ये बातें रुचीं। असुरों और देवों की सन्धि हो गई। सब मिलकर समुद्र मथने पर उद्यत हुए। सब मिलकर मन्दराचल लाने गये, पर लाने में समर्थ न हुए। बीच में पटक दिया तो बहुत चोट खा गये। उनका उत्साह भंग देख भगवान् गरुड़ पर चढ़े हुए वहीं प्रकट हो गये और अपनी अमृतमयी दृष्टि से सबको स्वस्थ कर दिया। आपने खेल में ही पर्वत उठा गरुड़ की पीठ पर रख सागर पर पहुँचा दिया। गरुड़जी वहाँ से चले गये।

वासुकीनाग को अमृत दान का लोभ दे सम्मिलित किया। फिर सागर-मन्थन होने लगा।

पहले अजित भगवान् देवों के साथ सिर की ओर लगे। दैत्यों ने कहा—"साँप की पूँछ अशुभ है। हमलोग उसे नहीं पकड़ेंगे, हम देवों से किस बात में कम हैं ?" तब हँसकर भगवान् ने देवों के साथ पूँछ ही को ग्रहण किया। मन्थन होने लगा, किन्तु भाराधिक्य से मन्दराचल समुद्र में धँसने लगा। भगवान् ने कच्छप रूप से मन्दराचल को धारण किया। सभी में भगवान् ने शक्ति प्रदान की। फिर स्वयं भी भगवान् मन्थन करने लगे।

उस समय पहले हालाहल नाम का अत्यन्त उग्र विष निकला। वह सर्वत्र उड़ने लगा, उससे भयभीत हो भगवान् सदाशिव की शरण गये। वे सतीजी के साथ कैलास पर थे। सभी उनकी स्तुति करने लगे। चराचर के कष्ट से द्रवीभूत हो शिवजी ने सतीजी से कहा। देवीजी शिवजी के प्रभाव जानती थीं, उन्होंने इस प्रजा-रक्षण के प्रस्ताव का अनुमोदन किया। बस, उन्होंने अपनी हथेली पर उस हालाहल विष को रखकर (श्रीसीताराम नाम कहते हुए) उसे पी लिया, वह विष जल का पाप—मल था, उसके प्रभाव से शिवजी का कण्ठ नीला पड़ गया, प्रजा-कल्याणकारक चिह्न रूप हो वह भूषण हो गया। तभी से 'नीलकंठ' भी नाम पड़ा। इस आश्चर्य कर्म पर सारी प्रजा, सतीजी, ब्रह्माजी और विष्णु भगवान् भी शिवजी की प्रशंसा करने लगे। शिवजी के पान करते समय जो थोड़ा-सा अंश गिर पड़ा था, उसे ही सर्प, बिच्छू एवं विष की जड़ियों ने ग्रहण किया है। उसके बाद शेष रत्न एवं अमृत भी प्रकट हुए।

श्रीराम नाम के प्रभाव से ही शिवजी ने विष पीकर पचाया और वे अविनाशी हुए, यथा—"खायो कालकूट भयो अजर अमर तन···" (क० उ० १५८); तथा—श्रीनन्दीश्वर के वचन भी हैं—"शृणुध्वं भो गणास्सर्वे रामनामपरं बलम्। यत्प्रसादान्महादेवो हालाहलमयीं पिबेत्॥ जानाति रामनाम्नस्तु परत्वं गिरिजापतिः। ततोऽन्यो न विजानाति सत्यं सत्यं वचो मम॥" (नन्दीपुराण)। इससे जाना गया कि नाम-महत्त्व के ज्ञाता सब देव वहाँ थे भी, पर उन्हें विश्वास न था। शिवजी ही यथार्थ जानते थे, तभी विश्वासपूर्वक कालकूट पी गये।

मार्मिक—(क) इस दोहे में आदि-अन्त श्रीशिवजी कहे गये हैं, क्योंकि ये जापकों एवं ज्ञाताओं में आदि और फल पानेवालों में अवधि हैं, नाम से अविनाशी हो गये। (ख) श्रीगणेशजी और वाल्मीकिजी को साथ कहा, क्योंकि एक तो नाम से आदिपूज्य हुए और दूसरे आदि कवि बने। (ग) श्रीपार्वतीजी और श्रीशिवजी को साथ कहा, क्योंकि दोनों नाम के श्रद्धा-विश्वास के आदर्श हैं और श्रद्धा विश्वास से ही सिद्धि होती है। (देखिये, मं० श्लोक)। (घ) इस दोहे में चारों प्रकार के नाम के अर्चा-रूप कहे गये—स्वयंव्यक्त, दिव्य, सैद्ध और मानुष्य। जैसे श्रीशिवजी के हृदय में 'स्वयंव्यक्त' रूप प्रकट हुआ, क्योंकि इन्हें स्वयं नाम का ज्ञान एवं विश्वास हुआ। पार्वतीजी के हृदय में इसी विश्वास तथा ज्ञान को महादेवजी ने स्थापित किया। अतः, 'दिव्य' हुआ। वाल्मीकिजी के हृदय में सप्तर्षि सिद्धों ने स्थापित किया। अतः, 'सैद्ध' हुआ। गणेशजी ने स्वयं (अपने आप पृथ्वी पर लिखकर और नाममूर्त्ति निर्माण कर परिक्रमा करके फल पाया। अतः, यहाँ 'मानुष्य' हुआ। यद्यपि गणेशजी देवता हैं, तथापि इन्होंने स्वयं नाम की मूर्त्ति पृथ्वी पर लिखकर स्थापित की है, इससे मैंने मानुष्य के रूप में लिखा है, देवता पृथ्वी का स्पर्श नहीं करते हैं—"अस्पृशतः क्षितिम्" (महा० वन० ५७।२६); में प्रमाण है। यदि लिखा है तो उतने अंश में मनुष्यत्व ही समझना चाहिये। दिव्य एवं सैद्ध आदि स्थापनकर्त्ताओं के अनुसार हैं।

अलंकार—'व्याघात प्रथम', क्योंकि विष ने अपने विरुद्ध कार्य किया है।

दोहा—बरषा रितु रघुपति-भगति, तुलसी सालि सुदास।
राम नाम बर बरन जुग, सावन भादव मास॥१६॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी की भक्ति वर्षा-ऋतु है, तुलसी एवं अच्छे दास जड़हन धान हैं। श्रीरामनाम के दोनों श्रेष्ठ अक्षर सावन और भादों महीने हैं।

विशेष—(१) 'बरषा रितु ' ' ऋतुएँ छः होती हैं, वैसे भक्ति भी पाँच तो पंचदेवों की और एक रघुपति की हैं। वर्षा से ही पाँचों ऋतुएँ हरी-भरी रहती हैं, वैसे ही श्रीरामभक्ति से ही पाँचो देवों में महत्त्व है। अतः, वे लोग रामभक्त के प्रति स्वतः प्रसन्न रहते हैं।

पंचदेव—"करि मज्जन पूजहिं नर-नारी। गनप गौरि त्रिपुरारि तमारी॥ रमारमन पद बंदि बहोरी।" (अ० दो० २७२)। इनमें गणेश, गौरी और शिव का राम-भक्ति करना ऊपर कहा गया। सूर्य—"दिनमनि चले करत गुन गाना" (दो० १९५); विष्णु—"हरि हित सहित राम जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे॥" (दो० ३१६)। 'तुलसी सालि सुदास'—यहाँ 'सु' उपसर्ग उपमेय 'दास' में लगा है, पर उसकी उपमा 'सालि' में नहीं है, क्योंकि उसमें 'सु' का भाव स्वतः है। सालि (शालि) जड़हन धान को कहते हैं, जो प्रथम बीज रूप में बोया जाता है, वह ग्रीष्म-ऋतु के ही मृगशिरा नक्षत्र (जब इस नक्षत्र में सूर्य आते हैं) की तपन के पीछे आर्द्रा में बोया जाता है, फिर उखाड़कर श्रावण के पुष्य आदि नक्षत्रों में लगाया (रोपा) जाता है। इसमें बीज रूप में सामान्य धान रहता है। रोपने पर 'शालि' कहाता है और उसमें बड़ी-बड़ी बालें होती हैं। वैसे उपमेय रूप रघुपति-भक्ति के पक्ष में सुदास की अभक्त अवस्था का मन मृगशिरा की भाँति तीनों तापों से तपता हुआ वर्षा-रूपी रामभक्ति चाहता है। मन का देवता चन्द्रमा है, उसका वाहन मृग है। अतः, वह मृग का शिररूप स्वामी होने से मृगशिरा का उपलक्षक है। फिर आर्द्रा की वर्षा की तरह सत्संग द्वारा नाम-रटन होने लगा, यही बीज बोना है, परन्तु यों ही भक्ति रहने से श्रीराम-प्राप्ति-रूप उत्तम बालें नहीं लगतीं, क्योंकि अभी मिथुन राशि के सूर्य की तरह मैथुनी शरीर द्वारा की जानेवाली भक्ति है। अतः, 'मनमुखी' (गुरु-दीक्षा के बिना मनमानी) है। श्रावण में कर्क के सूर्य होते हैं, तब बीज उखाड़कर रोपा जाता है। वैसे ही मनमुखी भक्त भी कर्क अर्थात् दीनता से खिन्न होकर गुरुमुख होते हैं, तब उनका नया जन्म होता है। फिर वे शालि के समान होकर सुदास कहाते हैं। तदनन्तर रामनाम रटने लगते हैं। तब रकारार्थ का ज्ञान कर्क के सूर्य और मकारार्थ का ज्ञान सिंह के सूर्य के समान पोषक होता है। श्रावण-भादों में वर्षा होती है, तब शालि (धान) होता है, वैसे राम नाम के 'र' के अर्थ से ब्रह्मस्वरूप, 'म' के अर्थ में जीव स्वरूप और दोनों के बीच के अकारार्थ से जीव ईश्वर के सम्बन्ध का ज्ञान होता है, जिससे भक्ति होती है, यथा—"रकारार्थो रामः सगुणपरमेश्वर्यजलधिर्मकारार्थो जीवः सकलविधकैङ्कर्यनिपुणः। तयोर्मध्याकारो युगलमथ-सम्बन्धमनयोरनन्यार्हं ब्रूते त्रिनिगमस्वरूपोऽयमतुलः॥" (श्रीरामगन्त्रार्थ)। शालि का जीवन वर्षा है, वैसे तुलसी एवं सुदास का जीवन श्रीरामनाम है, यथा—"श्यामघन सींचिये तुलसी सालि सफल सुखाति।" (वि० २२१); "अति अनन्य जे हरि के दासा। रटहिं नाम निसि दिन प्रति श्वासा॥" (वैराग्य-संदी०)।

अलंकार—'समस्त वस्तु विषयक सांग रूपक'।

ऊपर के दोहे में तीन वर्णों के रूप में माहात्म्य कहा। यहाँ से एक दोहे में दो वर्णों के रूप में कहते हैं—

आखर मधुर मनोहर दोऊ। बरन बिलोचन जन जिय जोऊ॥१॥

शब्दार्थ—बिलोचन = नेत्र एवं विशेष नेत्र। जोऊ = देख लो। जिय = हृदय।

अर्थ—इस नाम के दोनों अक्षर (रा और म) मीठे और मनोहर हैं, सब अक्षरों के नेत्र हैं। हे जनो! हृदय में देख लो।

विशेष—(१) नाम का जप उसका अर्थ विचारते हुए करना चाहिये, यथा—"तज्जपस्तदर्थ-भावनम्" (योगसूत्र)। उपर्युक्त रीति से दोनों वर्णों से ब्रह्म और जीव के स्वरूप एवं सम्बन्ध का ज्ञान होते हुए मधुरता एवं मनोहरता का अनुभव हृदय में होता है। इसीलिये 'जन जिय जोऊ' कहा है। जैसे किसी सरस मिष्टान्न का स्मरण होने पर उसके मीठे स्वाद एवं रस पर मन जाता है, वैसे नाम का अर्थभूत महत्त्व उसके स्मरण करते ही हृदय में आता है, मधुर लगता और मन भी हर जाता है, यथा—"कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम्। आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्॥" प्रसिद्ध है, तथा—"हे जिह्वे! मधुरप्रिये सुमधुरं श्रीरामनामात्मकम्। पीयूषं पिब प्रेम-भक्ति मनसा···" (सनक-सनातन संहिता)।

(२) "बरन बिलोचन"—सब अक्षरों के नेत्र यों हैं कि ये दोनों स्वर-हीन हो सब वर्णों के शीर्षस्थान पर नेत्रवत् जाविराजते हैं। आगे दोहे में इसकी भी झलक है तथा कवर्ग आदि वर्णमाला के कुल अक्षरों द्वारा सरस्वतीजी का चित्र बनता है, तब कवर्ग कण्ठस्थान होकर सरस्वती का पाँव होता, इसी क्रम से सर्वांग में मकार वाम नेत्र, यकार नासिका और रकार दाहिना नेत्र होता है, इस प्रकार र और म नेत्र रूप से स्थापित किये जाते हैं। अतः, इन दो वर्णों के बिना सरस्वती भी अन्धी हैं। अथवा 'दोऊ' पद को दीप-देहली मानकर अर्थ करने से दोनों वर्णविशेष नेत्र अर्थात् ज्ञान-विराग रूपी नेत्र हैं, यथा—"ज्ञान बिराग नयन उरगारी।" (उ० दो० ११९); क्योंकि रकारार्थ से ईश्वर स्वरूप का ज्ञान होता है और मकारार्थ से ईश्वर के शेष (भोग्य) रूप जीव का ज्ञान होता है। उस दृष्टि से इसका जगत् से वैराग्य स्वतः होता है। तथा—"ताही को सूझत सदा दसरथ राजकुमार। चामा जाके दृगन में लग्यो रकार मकार॥" (श्री १०८ स्वामी युगलानन्यशरणजी, अयोध्या)।

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू॥२॥

अर्थ—उक्त दोनों अक्षर स्मरण करने में सबको सुलभ और सुख देनेवाले हैं तथा इनसे इस लोक में लाभ और परलोक में निर्वाह होता है।

विशेष—(१) 'सुमिरत सुलभ···' इन दोनों अक्षरों के उच्चारण में व्याकरण की अपेक्षा नहीं रहती, सहज ही में बच्चे एवं अनपढ़ भी कह लेते हैं तथा सबके लिये सुलभ (अधिकार) है एवं जैसे-तैसे स्मरण किया जा सकता है, किसी विशेष नियम और आसन-विधि आदि की अपेक्षा नहीं है। 'सुखद सब काहू···' शूद्र, अन्त्यज एवं स्त्री आदि सबको इस नाम में अधिकार भी है और सुख भी देता है, यथा—"नीचेहू को ऊँचेहू को, रंक हू को राय हू को, सुलभ सुखद आपनो सो धरु है।" (वि० २५५)। इसमें नाम का ही प्रसंग है। अपने घर में सब सुख एवं सबको अधिकार रहता है।

(२) 'लोक लाहु परलोक निबाहू' हरएक मन्त्र लोक (स्वार्थ) और परलोक (परमार्थ) दोनों नहीं बना सकता, पर इसमें दोनों लाभ हैं, यथा—"स्वारथ परमारथ सुलभ, राम नाम के प्रेम।" (दोहावली १५); "स्वारथ-साधक परमारथ-दायक नाम।" (वि० २५४) अर्थात् नाम लोक में रोटी, लूगा (वस्त्र), धन, यश और परलोक में श्रीरामजी को प्राप्त कराता है।

कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। राम लखन सम प्रिय तुलसी के॥३॥

शब्दार्थ—सुठि (सुष्ठु) = अत्यन्त वा पूरा-पूरा, यथा—"सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू।" (अ० दो० १६०)।

अर्थ—वे कहने, सुनने एवं स्मरण करने में बहुत ही अच्छे हैं और मुझ तुलसीदास को तो ये दोनों वर्ण श्रीराम-लक्ष्मण के समान प्रिय हैं।

विशेष—'कहत···नीके' तथा—"बारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥" (अ० बो० २१६); 'सुनत···' यथा—"जाकर नाम सुनत सुभ होई।" (दो० १९२)। 'सुमिरत'

यथा—"जासु नाम पावक अघ तूला। सुमिरत सकल सुमंगलमूला॥" (अ० दो० २४७); वचन से कहने में, श्रवण से सुनने में और मन से स्मरण करने में अत्यन्त 'नीके' हैं। तथा—"राम सुमिरन सब बिधि ही को राज रे।" (वि० ६७); यही 'सुठि 'नीके' है। 'रामलखन सम···' रा श्रीराम ब्रह्म का वाचक और म जीव-रूप श्रीलक्ष्मण का वाचक है। नाम-नामी अभेद होते हैं, इसलिये 'राम-लखन सम प्रिय' कहा है। श्रीरामलक्ष्मण सबको प्रिय हैं, यथा—"ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी।" (दो० २१५)। 'तुलसी' ग्रन्थकार इन्हींके उपासक हैं। अतः, प्रिय होने ही चाहिये, यथा—"बंदउँ राम लखन बैदेही। जे तुलसी के परम सनेही॥" (वि० ३६); कहा भी है—"सुमिरे सहाय राम लखन आखर दोउ..." (हनु० बाहुक ३९); अर्थात् नाम में नामी (रूप) के समान प्रेम करना चाहिये।

बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती॥४॥

अर्थ—रकार और मकार अक्षर (भिन्न-भिन्न वर्ण के रूप में) वर्णन करने में दोनों वर्णों की प्रीति-पृथक्ता (सी) जान पड़ती है, पर यथार्थ में ये दोनों वर्ण ब्रह्म और जीव के समान स्वाभाविक साथी हैं।

विशेष—(१) 'बरनत बरन···बिलगाती' अर्थात् अलग होती है, यथा—"सो बिलगाउ बिहाइ समाजा।" (दो० २७०); जैसे—(क) 'र' यवर्ग और 'म' पवर्ग। (ख) प्रयत्न के अनुसार 'र' तालु सम्बन्धी है 'म' ओष्ठ सम्बन्धी। अतः, इनके वर्णन में न संग है और न प्रीति, ऐसा जान पड़ता है, पर वास्तव में संग और प्रीति दोनों हैं। र ब्रह्मवाचक है और म जीववाचक। यहाँ वाच्य को उपमान और वाचक को उपमेय कहा है। अतः, अगले वि० २ से भाव स्पष्ट होगा।

(२) 'ब्रह्म जीव सम···' ब्रह्म से जीव का सम्बन्ध अपृथक् है। यही स्वाभाविक संग है, जीव का अस्तित्व ही ब्रह्म से भिन्न नहीं है और ब्रह्म सदा संग रहकर प्रकाश एवं रक्षा करता है, यथा—"तू निज कर्म जाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो॥" (वि० १३६); "ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू।" (दो० २१६); तथा—"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया···" (श्वे० ४।५)।

इसी तरह वर्णमाला में 'र' और 'म' के बीच में 'य' अक्षर पड़ता है, यही दोनों को विलग किये हुए है, तो भी ये दोनों उसी प्रकार एक हैं जैसे बीच में नाक होने पर भी दोनों नेत्रों के अवयव एक हैं। जहाँ एक आँख जाती है, वहाँ दूसरी भी। दोनों नेत्र एक-तत्त्व हैं और एक-सी शक्तिवाले हैं। वैसे ही सरस्वती के वर्णात्मक विग्रह में 'र' और 'म' नेत्र रूप तथा 'य' नासिका रूप माना जाता है (ऊपर चौ० १ देखिये)। इस तरह विचार करने पर सहज प्रीति स्पष्ट हो जाती है। पुनः, रा जब बीज रूप 'रां' रूप में कहा जाता है, तब म स्वयं अनुस्वार रूप से आ जाता है, यही सहज संघातीपन (मैत्री) है।

नरनारायन सरिस सुभ्राता। जगपालक बिसेषि जनत्राता॥५॥
भगति-सुतिय कल करनिबिभूषन। जग-हित-हेतु बिमल बिधु पूषन॥६॥

अर्थ—दोनों (वर्ण) नर-नारायण ऋषि के समान सुन्दर भाई हैं, साधारणतया तो जगत् भर के पालक हैं, पर अपने जनों के विशेष रक्षक हैं॥५॥ दोनों वर्ण भक्ति-रूपिणी सुन्दरी स्त्री के सुन्दर कानों के भूषणों (कर्णफूलों) के समान हैं तथा संसार के हित के लिये निर्मल चन्द्रमा और सूर्य के समान हैं॥६॥

विशेष—(१) 'नर-नारायन···' इनका भायप प्रसिद्ध है। जैमिनीय भारत में कथा है कि सहस्र-कवची दैत्य ने सूर्य भगवान् को तप से प्रसन्न करके वर माँगा कि मेरे शरीर में सहस्र कवच हों और

जब कोई एक सहस्र वर्ष युद्ध करे तब कहीं मेरा एक कवच टूट सके। फिर कवच के टूटते ही वह शत्रु भी मर जाय। उसको मारने के लिये नर-नारायण का अवतार हुआ। एक भाई सहस्र वर्ष युद्ध करके एक कवच तोड़कर मरता, तब दूसरा उसे मन्त्र से जिला लेता और स्वयं सहस्र वर्ष युद्ध कर दूसरा कवच तोड़कर मरता। फिर पहला दूसरे को जिलाता और स्वयं लड़ता। निदान जब एक कवच रह गया, तब वह दैत्य भागकर सूर्य भगवान् में लीन हो गया। नर-नारायण बदरीनारायण में तप करने लगे, वही असुर द्वापर में कर्ण हुआ, जो गर्भ ही से कवच धारण किये हुए निकला। कर्ण के इस कवच-कुण्डल धारण किये हुए जन्म लेने की कथा महा० वन० ३००-३१० में विस्तार पूर्वक है। इस एक कवच तोड़ने के लिये अर्जुन को फिर सहस्र वर्ष न लड़ना पड़े, इसलिये इन्द्र ने ब्राह्मण रूप से कर्ण के यहाँ आकर दान में कवच-कुण्डल को माँग लिया है। महादानी कर्ण ने जानकर भी दे दिया है। अपने हाथ से अपनी देह से खाल को तरह निकालकर और कुण्डल भी कानों से काढ कर देने से 'कर्ण' यह नाम हुआ है—दोहावली ३८२ के 'सिद्धान्त-तिलक' में इसकी कथा लिखी गई है। तब नर-नारायण ही ने अर्जुन और श्रीकृष्ण होकर उसे मारा, यथा—"नरस्त्वं पूर्वदेहे वै नारायणसहायवान्। बदर्यां तप्तवानुग्रं तपो वर्षायुतान्बहून॥ त्वयि वा परमं तेजो विष्णौ वा पुरुषोत्तमे। युवाभ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां तेजसा धार्यते जगत्॥" (महा० वन० ४०।१-२); अर्थात् श्रीशिवजी ने अर्जुन से कहा है कि तुम पूर्वजन्म में नर नामक ऋषि थे, नारायण तुम्हारे साथी एवं सहायक थे। बदरिकाश्रम में सहस्रों वर्षों तक तुमने तपस्या की थी। तुममें तेज है या पुरुषोत्तम विष्णु में तेज है। तुम्हीं दोनों के तेज से जगत् स्थित है। भगवान् कृष्ण ने स्वयं भी अर्जुन से कहा है—"नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम्। काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी॥" (महा० वन० १२।४७-४८); अर्थात् तुम नर हो और मैं हरि नारायण हूँ, समय पर यहाँ आकर हम दोनों प्राप्त हैं, पूर्व के हम दोनों नर-नारायण ऋषि हैं। विनय-पत्रिका पद ६० में नर-नारायण की कुछ कथा है। धर्मपत्नी के गर्भ से इनके अवतार एवं तपस्या की कथाएँ भाग० ११।४।६-१६ में हैं। 'जगपालक', यथा—"यो वै भारतवर्षेऽस्मिन्क्षेमाय स्वस्तये नृणाम्। धर्मज्ञानशमोपेतमाकल्पादास्थितस्तपः॥" (भाग० १०।८७।६); अर्थात् जो इस भारतवर्ष में सब जीवों के कल्याण के लिये कल्प के प्रारम्भ से धर्म, ज्ञान, और शम पूर्वक तपस्या में लगे हुए हैं।

इसी तरह दोनों वर्ण भी भाई हैं, क्योंकि जिह्वा रूपी माता से प्रकट होते हैं, यथा—"जीह जसोमति हरि हलधर से।" (दो० १९); तथा एक ही स्थल रूप वेद समुद्र से हुए, यथा—"ब्रह्माम्भोधि-समुद्भवं···" (कि० मं० श्लोक); यहाँ जगत् के पालन के अनुरोध से सगुण रूप की उपमा दी, क्योंकि निर्गुण से स्पष्टतया पालन नहीं होता। 'बिसेपि जनत्राता'—नर-नारायण ने जगत् भर की अपेक्षा भरत-खंड की विशेष रक्षा की, वैसे ही ये दोनों वर्ण जगत् मात्र की अपेक्षा जापक रूप जन की विशेष रक्षा करते हैं, अर्थात् ईश्वरत्व धर्म से सबकी रक्षा और भक्त-वात्सल्य गुण से जन की विशेष रक्षा करते हैं, यथा—"सब मम प्रिय सब मम उपजाये।···सुचि सेवक मम प्रान-प्रिय।···" (उ० दो० ८५-८७)।

(२) 'भगति सुतिय···' जैसा सुन्दर भूषण हो, वैसा ही सुन्दर धारण करनेवाला भी चाहिये, तब शोभा होती है। स्त्रियाँ कर्णफूल धारण करती हैं और स्त्रियों में भक्ति से सुन्दर और कोई नहीं, क्योंकि परम नागर श्रीरामजी इस भक्ति के रहते हुए, लोकत्रयमोहिनी माया की ओर ताकते भी नहीं, यथा—"माया भगति सुनहुँ तुम दोऊ।···पुनि रघुबीरहि भगति पियारी।" (उ० दो० ११५)। अतः, भक्ति को 'सुतिय' कहा है। कानों के भूषण कहने का भाव यह है कि यह और इन्द्रियों से श्रेष्ठ है, क्योंकि कान अन्य चार तत्त्वों के कारण आकाश तत्त्व के साहाय्य में निष्पन्न ज्ञानेन्द्रिय है। इसी नाम के मन्त्र रूप को कान के द्वारा श्रवण से उत्तम भक्ति प्रारम्भ होती है, एवं नवधा में भी श्रवण भक्ति आदि

है। कहा भी है—"मुक्तिस्त्रीकर्णपूरौ···" (महाशम्भुसंहिता में शिव-वाक्य)। कान में कर्णफूल का रहना सौभाग्य का चिह्न है। पुरुष अपने सम्बन्ध-सूचक कर्णफूल के बिना स्त्री को अपने से उदासीन जानकर उससे उपेक्षा रखता है, वैसे श्रीरामजी भी श्रीरामनाम के बिना भक्त से उपेक्षा रखते हैं। अतः, श्रीरामनाम भक्ति का कारण एवं रक्षक है। श्रीरामनाम के बिना भक्ति विधवा के समान अशोभन है और उससे उत्तम फल रूप सन्तान की भी आशा नहीं। कान से कर्णफूल का गिरना सुहाग (सौभाग्य) भंग का सूचक है, यथा—"मंदोदरी सोच उर बसेऊ। जब ते श्रवनपूर महि खसेऊ॥" (लं० दो० १३)। अतः, भक्त को सदा श्रीरामनाम जपना चाहिये।

'जग-हित-हेतु···' यथा—"पुरा सृष्टानि भूतानि पीड्यन्ते क्षुधया भृशम्।" से "एवं भानुभवं ह्यन्नं भूतानां प्राणधारणम्।" (महा० वन० ३।५-६) तक, अर्थात् पूर्व समय में सूर्य प्राणियों को भूख से अत्यन्त दुःखी देख पिता की नाईं दयालु हुए। उत्तरायण काल में किरणों से जल को उठाते, और दक्षिणायन काल में गर्मी धारण कर खेतों में गर्मी देते हैं। तब ओषधियों के स्वामी चन्द्रमा उसे अन्तरिक्ष में मेघ रूप में परिणत कर जल बरसाते और ओषधि उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार षड्रस अन्न उपजते हैं। इसीसे सब प्राणी जीवन रखते हैं। यहाँ 'रा' सूर्य और 'म' चन्द्रमा रूप हैं। सूर्य किरणों द्वारा अन्धकार हरते, जल बरसाते एवं अन्नादि उपजाते हैं, इसी प्रकार र कार अपने ज्ञान-रूप प्रकाश से अज्ञान तम का नाश कर अनुभव रूपी वर्षा से दिव्य गुण उपजाते हैं। चन्द्रमा अमृतमय किरणों से वनस्पतियों एवं अन्नादि में रस प्रदान करता और ताप हरता है, वैसे मकार जीव के शेषत्वपरक * अर्थ से विवेकविरागादि दिव्य गुणों को भक्ति रस से पूर्ण करता है। भक्ति ही अमृत है, यथा—"भगति सुधा सुनाज" (वि० २१९); वह मकार नवधा, प्रेमलक्षणा और परा भक्ति द्वारा क्रमशः दैहिक, भौतिक और दैविक ताप हरता है। 'विमल' अर्थात् 'रा' और 'म' विमल (निर्मल) हैं। सूर्य और चन्द्रमा समल हैं। सूर्य पानी बरसाता है और फिर सोखता है ऐसे ही कमल को पोसता है, फिर उसीको जलाता भी है, तथा चन्द्रमा जड़ी-बूटी को पुष्ट करता है, फिर पाले के द्वारा जलाता भी है, पर 'रा' और 'म' सदा दिव्य गुण प्रदान द्वारा वृद्धि ही करते हैं, यह इनमें निर्मलता है।

स्वाद तोष सम सुगति सुधा के। कमठ सेष सम धर बसुधा के॥७॥

अर्थ—(वे दोनों अक्षर) शुभ गति रूपी अमृत के स्वाद और तृप्ति के समान हैं तथा कच्छपजी और शेषजी के समान पृथ्वी का धारण करनेवाले हैं।

विशेष—(१) 'स्वाद तोष सम···' अमृत में स्वाद और सन्तोष दो गुण होते हैं। अमर करना तो उसका स्वरूप ही है, वैसे श्रीराम नाम शुभ गति प्राप्त करा देते हैं, जिसके अनुभव में आह्लाद रूपी स्वाद होता है। फिर अन्य साधनों की तृष्णा नहीं रह जाती, यथा—"राम नाम-मोदक सनेह-सुधा पागि है। पाइ परितोष तू न द्वार-द्वार बागि है॥" (वि० ७०); तथा—"जो संतोष-सुधा निसि-बासर सपनेहुँ कबहुँक पावै। तौ कत बिषय बिलोकि मूढ़ जल मन कुरंग ज्यों धावै॥" (वि० १६८); भाव यह है कि रकार समस्त साधनों के फल रूप स्वाद देकर अन्य साधनों की आकांक्षा दूर कर देता है और मकार स्वरूप प्रयुक्त सुख दे तृप्ति प्रदान करता है। (वि० २२६ का 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये)। जैसे स्वाद और सन्तोष के बिना अमृत व्यर्थ है, वैसे राम नाम के बिना मुक्ति व्यर्थ है। इस अवस्था में जीव फिर माया के चक्कर में नहीं पड़ता।

(२) 'कमठ सेष·····' 'वसु' का अर्थ धन और 'धा' का अर्थ धारण करना है, ऐसे ही

* जो वस्तु या व्यक्ति जिसके भोग में आवे वह उसका शेष है। जैसे चैत्र का जूता चैत्र का शेष कहलावेगा। इसी प्रकार जीव ईश्वर का शेष (अंश) है और ईश्वर शेषी (अंशी)।

धर्मजन्य अनेक सुख-धन हैं, उनका धारण नाम के 'रा' कमठ और 'म' शेष बनकर पृथ्वी की तरह करते हैं, यथा—"यथा भूमि सब बीजमय, नखत निवास अकास। राम-नाम सब धरममय, जानत तुलसीदास।" (दोहावली २९); "सकल धरम धरनीधर सेसू॥" (अ० दो० ३०५)। यहाँ धन धारण करनेवाली धरती के समान विविध दिव्य गुण उपजाने एवं धारण करनेवाली बुद्धि है। पृथ्वी को शेषजी धारण करते हैं और शेषजी के आधार कमठ भगवान् रहते हैं। तब पृथ्वी से नाना प्रकार के धन-धान्य उपजते हैं और पृथ्वी उनका धारण करती है, वैसे शेष रूप मकारार्थ के आधार पर बुद्धि दिव्य गुणों (जीव के स्वरूप प्रयुक्त गुणों) की कांक्षा रखकर श्रद्धा से आराधन करती है तो कमठ रूप रकारार्थ से उन गुणों की उत्पत्ति एवं पूर्त्ति होती जाती है, यथा—"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥२१॥ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्॥२२॥" (गीता ७); अर्थात् जो-जो भक्त जिस-जिस शरीर (देवरूप मेरे शरीर) को श्रद्धा के साथ पूजना चाहता है, उस-उस की उस श्रद्धा को मैं ही अचल धारण करता हूँ। वह उस श्रद्धा से युक्त होकर उसकी आराधना करता है और उससे उन भोगों को पाता है जो मेरे ही द्वारा नियुक्त हैं।

इस प्रकार समस्त धर्म फल नामाराधन से आ जाते हैं।

जन-मन मंजु कंज मधुकर से। जीह जसोमति हरि हलधर से॥८॥

अर्थ—(नाम के दोनों अक्षर) भक्त के उज्ज्वल मन रूपी सुन्दर कमल के लिये मधु (जल) और कर (सूर्य-किरण) के समान हैं तथा जीभ रूपी यशोदाजी के लिये श्रीकृष्ण और बलरामजी के समान हैं।

विशेष—(१) 'जन मन···'—उपर्युक्त अवस्था के अनुसार मन स्वच्छ हो चुका है। अतः, सुन्दर कमल की तरह है। कमल के लिये जल और सूर्य की किरण दोनों साथ-साथ चाहिये, तब वह प्रफुल्ल रहता है। 'मधु' जल का एक नाम है, यथा—'मधु मद्ये जले क्षौद्रे'—रत्नकोश। 'कर' का अर्थ किरण मात्र है, पर 'कंज' के साहचर्य से यहाँ 'सूर्यकिरण' ही अपेक्षित है। 'कर=सूर्य वा चन्द्रमा की किरण' (हिं० श० सा०)। यहाँ मधु रूप मकार और रवि-किरण रूपी रकार है। यहाँ 'रा' का सूर्य किरण रूप कहना इस प्रकार भी युक्त है कि 'राजृ-दीप्तौ' धातु के अनुसार 'रा' में प्रकाशत्व है तथा रा में रकारमात्र अग्नि बीज और इसमें के अकार सूर्य बीज है ही। इसमें चन्द्रबीज मकार का जल रूप कहा जाना संगत है, क्योंकि चन्द्रमा जलमय है ही। जीव के शेषत्व रूप के प्रकाशक मकार से भक्ति गुण रूपी जल की वर्षा हुआ करेगी और ब्रह्म रूप श्रीरामजी के अनुभव रूप किरणों का प्रकाश रकार से हुआ करेगा, तब इस मंजु 'मन' की 'मंजुता' एकरस रहेगी। इस प्रकार नामाधार से जन-मन-मंजुता अबाध रहेगी। 'मधुकर' पद का यहाँ भ्रमर अर्थ ठीक नहीं, क्योंकि ऊपर से दो अक्षरों के दो-दो उपमान बराबर आ रहे हैं। आगे भी वैसे ही हैं। 'मंजु' पद दीपदेहली रूप से मन और कंज दोनों के साथ है।

(२) 'जीह जसोमति·····' जैसे श्रीकृष्ण भगवान् देवकीजी से प्रकट हो गुप्त ही आकर यशोदाजी के पुत्र कहलाये और बलरामजी भी देवकी के ही गर्भ से योगमाता-द्वारा आकर रोहिणीजी के गर्भ से प्रकट हुए तथा मित्रता के संयोग से बाहर से आकर यशोदाजी के पुत्र कहलाये। वैसे ही नाम उच्चारण के समय प्रथम दोनों वर्ण नाभि स्थान रूप मथुरा में परावाणी रूपिणी देवकी से स्फुरित होते हैं। वाणी—"नाभिहृत्कण्ठजिह्वोत्थाश्चतस्रः क्रमतोगिरः। परा तथा च पश्यन्ती मध्यमा वैखरी च ताः॥ श्रीसीतारामयोस्तत्त्वं वर्णनं सा परा भवेत्। याथात्म्यजीवतत्त्वं च पश्यन्ति कथयेत्तदा॥ धर्मार्थस्वर्गकामादीन् वर्णयेत्सा तु मध्यमा। व्यवहारे वैखरी प्रोक्ता केवलं यच्च प्राकृतम्॥ (जिज्ञासापद्धक)।

अकेले श्रीकृष्णजी की तरह 'रा' मुख-रूप गोकुल में आकर जिह्वा-रूप यशोदा से प्रकट होता है। अतः, नाम-मात्र पुत्र हुआ, पर यशोदाजी की तरह जिह्वा भी 'रा' को अपना पुत्र अर्थात् अपने द्वारा उच्चारित ही जानती है और मकार रूप बलरामजी को ओष्ठ स्थानरूपिणी रोहिणी ने भी अपना पुत्र प्रसिद्ध रूप में समझा, यह भी इसे परावाणी रूपिणी देवकी के गर्भ से उत्पन्न नहीं जानती। वैखरी वाणी से नाम लेने में मकार के उच्चारण के समय जिह्वा से ओष्ठ का संयोग होता है, यही यशोदा-रोहिणी की मित्रता से बलराम की प्राप्ति है। जैसे श्रीकृष्ण-बलराम एकत्र हुए और यशोदा द्वारा ही उनका पुत्र-रूप से लालन-पालन स्नेह-पूर्वक हुआ, वैसे वैखरी वाणी द्वारा श्रद्धा एवं स्नेह सहित अहर्निश रटन करते रहना चाहिये, तब मन रूप मथुरा से स्वभाव रूप कंस से प्रेरित काल-कर्म-गुणादि द्वारा, जितनी बाधाएँ प्राप्त होंगी, नाम ही द्वारा नष्ट होती जायँगी। विस्तारभय से यहाँ नहीं लिखते हैं, प्रायः श्रीकृष्ण के मुख्य-मुख्य सब चरित्र 'राम-नाम' में आ गये हैं। मेरे 'श्रीमन्मानस नाम-वन्दना' ग्रन्थ में देखें। जैसे धन से भरा भी घर बिना बालक के सूना लगता है, वैसे ही मुख रूपी घर में जिह्वा रूपिणी माता की गोद में 'रा-म' बालक न हों, तो शोभा नहीं होती, यथा—"दम्पति रस रसना दसन, परिजन बदन सुगेह। तुलसी हर हित बरन सिसु, संपति सहज सनेह॥" (दोहावली २४); इसमें रूपक स्पष्ट है।

यहाँ एक ही वर्ण्य (विषय) के भिन्न-भिन्न धर्मों के लिये 'राम-लखन सम' से यहाँ तक नौ दृष्टान्त दिये गये। अतः, 'भिन्नधर्ममालोपमालंकार' है।

दोहा—**एक छत्र एक मुकुटमनि, सब बरननि पर जोउ।**
तुलसी रघुबर नाम के, बरन बिराजत दोउ॥२०॥

अर्थ—श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि देखो, श्रीरघुनाथजी के नाम के दोनों अक्षर—एक छत्र के समान रूप (ँ) से और दूसरा म (म्) मुकुट-मणि के समान रूप (◌्) से सब अक्षरों पर विराजमान होते हैं।

विशेष—यहाँ से दोनों वर्णों के वास्तविक रूप का महत्त्व कहते हैं। यथा—"निर्वर्णं रामनामेदं केवलं च स्वराधिपम्। मुकुटं छत्रं च सर्वेषां मकारो रेफवर्जनम्॥" (महारामायण ५.२।१०१); अर्थात् इस अर्थ के द्वारा नाम के दोनों वर्ण जीवों को भरोसा देते हैं कि जैसे स्वर-हीन होने पर हम सवर्गीय सब वर्णों के ऊपर शोभित होने लगते हैं, वैसे ही जापक को स्वर (श्वास) हीन (मृत्यु) होने पर ऊर्ध्व गति-रूप परात्पर साकेत लोक प्राप्त करावेंगे, यथा—"यन्नामसंसर्गवशाद्द्विवर्णौ नष्टस्वरौ मूर्ध्निगतौ स्वराणाम्। तद्रामपादौ हृदि संनिधाय देही कथं नोर्ध्वगतिं प्रयाति॥" यह प्रसिद्ध है। नाम का नित्य स्वरूप भी यही है। इस रूप से जैसे नाम स्वयं सवर्गीय वर्णों से पूज्य होते हैं, वैसे जापक भी प्राकृत रूप रहित होने पर लोकत्रय पूज्य आत्मरूप पाता है। यथा—"त्रयलोक पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई।" (वि० १३६); लोक में जिसके सिर पर छत्र और मणि-जटित मुकुट होता है, वह राजा कहाता है, वैसे जो भक्त श्रीरामनाम-नैष्ठिक होते हैं, वे भक्त-शिरोमणि कहाते हैं, जैसे—श्रीप्रह्लादजी और श्रीहनुमानजी।

समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परस्पर प्रभु अनुगामी॥२॥
नाम रूप दुइ ईस-उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥२॥

शब्दार्थ—नामी=रूप। दुइ (दु=दोनों, इ=यह)=ये दोनों। ईस (ईश)=समर्थ। उपाधि (१) उप=समीप, अधि=प्राप्त)=समीप प्राप्त हैं (२) उपाधि=धर्म चिन्तावाले, यथा—"उपाधि (र्नी) धर्म-चिन्ता" (अमरकोष)। सुसामुझि=सुन्दर समझवाली बुद्धि से। साधी (साध्य)=साधने के योग्य।

महिमा रूप उन्हीं गुणों के लक्ष्य से साधक-जीव के भी हृदय में कुछ अंशों में वे ही गुण आते हैं, जिनसे यह जीव नवो आवरणों—अष्टधा प्रकृति (भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार) और जीव की स्वेच्छावृत्ति—से मुक्त होता है। अतः, यहाँ रूप के सब ऐश्वर्य नाम में होने से नाम का 'ऐश्वर्य'मय रूप हुआ और भक्त हृदय रूपी भूमि में 'एक अनीह' आदि दिव्य गुण उपजाने में 'वीर्य' ऐश्वर्य का भी कार्य हुआ। इससे यहाँ नाम द्वारा 'प्रद्युम्न' रूप के 'ऐश्वर्य-वीर्य' के कार्य आये।

(२) 'सुमिरिय नाम रूप···' रूप (विशेष्य) के बिना देखे ही यदि विशेषण रूप नाम द्वारा स्मरण करें तो नामार्थ द्वारा रूप के अपने 'एक अनीह' आदि गुणों को प्रकट करते हुए, निर्हेतु जीवों की रक्षा करने की प्रतीति होकर विशेष्य (रूप) के प्रति प्रीति उपजती है, जिससे उसमें स्नेह-पूर्वक दृढ़ भक्ति होती है। स्नेह—"चलनि मिलनि बोलनि भली, ललित दृष्टि सो नेह। प्रीति होय सर्वांग उर, दृष्टि अधीन सदेह॥" तथा "प्रीति बिना नहि भगति दृढ़ाई। जिमि खगेस जल को चिकनाई॥" (उ० दो० ८८); उसी दृढ़ भक्ति से जीव को दिव्य सुख प्राप्त होता है, जिससे इसका पालन होता है, यथा—"सेवक सुमिरत नाम सप्रीती।···फिरत सनेह मगन सुख अपने। नाम-प्रसाद सोच नहिं सपने।" (दो० २४)।

रूप के बिना देखे हुए गुणों का ज्ञान कराके भक्ति द्वारा रूप का आविर्भाव कराने में नाम का प्रभावमय (तेजोमय) रूप हुआ और उक्त पालन कार्य 'शक्ति' का है। अतः, यहाँ अनिरुद्ध रूप के 'तेज-शक्ति' ऐश्वर्य के कार्य नाम द्वारा आये।

नाम-रूप-गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी॥७॥
अगुन-सगुन-बिच नाम सुसाखी। उभय-प्रबोधक चतुर दुभाषी॥८॥

अर्थ—नाम-रूप की गति की कहानी अकथ्य है जो समझने में सुख देती है—कहते नहीं बनती॥७॥ निर्गुण और सगुण (समझाने के लिये) दोनों के बीच में नाम अच्छा साक्षी है। चतुर दुभाषिये (दो भाषाएँ जाननेवाले) की तरह दोनों का प्रकर्ष बोध करानेवाला है॥८॥

विशेष— (१) 'नाम-रूप-गति···' भाव यह कि इन दोनों की गति परस्पर सुख के लिये है, इसीसे दोनों में ऐसी एकता है कि एक की बड़ाई में दूसरे की बड़ाई झलकती है। नामार्थ के अन्तर्गत गुणों की पूर्त्ति रूप करता है और नाम रूप के ही गुणों का विस्तार करता है। अतः, दोनों में अगाध प्रीति है, इसीसे अकथ्य है। यथा—"मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कविकुल अगम करम मन बानी॥" (अ० दो० २४०); पर समझने में सुखद है, यथा—"सो सुख जानइ मन अरु काना। नहिं रसना पहँ जाइ बखाना॥" (उ० दो० ८७); 'एक छत्र एक मुकुट मनि' से नाम और रूप की अनिर्वचनीयता का उपक्रम और यहाँ के 'अकथ' पर उपसंहार हुआ तथा 'समुझत सरिस ··' से नाम-नामी के समझौते का उपक्रम और यहाँ के 'समुझत सुखद···' पर उपसंहार है।

(२) 'अगुन-सगुन-बिच···' साक्षी तीन प्रकार के होते हैं—एक तो 'कुसाखी' होते हैं जो जिधर झुके उसकी रक्षा और प्रतिपक्षी का नाश कराते हैं। दूसरे 'साक्षी' हैं, वे जिधर रहते हैं, उसका हित लिये हुए सत्य कहते हैं और तीसरे 'सुसाक्षी' हैं, ये दोनों पक्षों के लिये निरपेक्ष कहते हैं। निर्गुण-सगुण के समझौता कराने में नाम ऐसा ही सुसाक्षी है। 'उभय प्रबोधक···' साधारण दुभाषिया तो दो देशों के लोगों को उनकी पृथक्-पृथक् भाषा में बोध कराता है, तब उन दोनों में प्रीति और व्यवहार होता है, पर नाम यहाँ चतुर दुभाषी है जो एक ही अपने शब्द 'राम' से निर्गुण-सगुण दोनों देशों का प्रकर्ष बोध कराकर प्रीति दृढ़ कर देता है। 'बोधक' के साथ 'प्र' उपसर्ग भी (प्रकर्ष अर्थ में) दिया गया है, क्योंकि इन दोनों का समझौता बड़ा कठिन है, यथा—"जिनके अगुन न सगुन बिबेक॥

जल्पहिं कल्पित बचन अनेका ॥" (दो० १४४); उनका भी एक ही शब्द से बोध कराते हैं। दोनों तत्त्वतः एक ही हैं, इसलिये एक ही शब्द से बोध कराते हैं, यथा—"अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा ॥ अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई ॥ जो गुन रहित सगुन सो कैसे। जलहिम उपल बिलग नहिं जैसे ॥" (दो० ११५)। श्रीजनकजी ने भी दोनों को एक ही तत्त्व कहा है, यथा—"ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा ॥" (दो० २१५)।

दोनों का बोध—'रमन्ते योगिनो यस्मिन्' अर्थात् जिसमें योगिगण रमण करते हैं, ये निर्गुण राम और—"कोटिकन्दर्पशोभाढ्यो सर्वाभरणभूषिते। रम्यरूपार्णवे 'रामे' रमन्ति सनकादयः ॥" (महारामायण ५२।५); ये सगुण राम हैं। दोनों का अर्थ 'रम्' धातु से निष्पन्न राम शब्द से होता है।

सम्बन्ध—दोनों का बोध और उसका फल अगले दोहे से कहते हैं—

दोहा—राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहरहुँ, जौं चाहसि उजियार ॥२१॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जो तू भीतर और बाहर भी उजाला चाहता है तो (मुख-रूपी) द्वार की जीभ रूपी देहली पर श्रीराम-नाम रूपी मणि-दीपक रख।

विशेष—(१) 'रामनाम मनि दीप·····' भाव यह कि तेल-बत्ती के दीप में तेल का घटना, पवन एवं पतंगों की अधिकता से बुझना और प्रकाश का भी न्यूनाधिक रहना रहता है, वैसे कर्म-ज्ञानादि साधनों में धन घटने का भय एवं कामादि भय रहते हैं। ये बाधाएँ मनि-दीप में नहीं होतीं, यहाँ अन्य दीपों के समान ज्ञानादि साधनों के समक्ष श्रीराम-नाम को मणि-दीप कहा है। अन्यत्र भी "राम-नाम महामनि फनि जग जाल रे।" (वि० ६८); तथा "पायो नाम चारु चिन्तामनि ··" (वि० १०६); प्रमाण हैं।

ऊपर दो० १६ के 'बर्षारितु·····' के प्रसंग में नाम को मुख्य भक्ति रूप कहा है, तदनुसार भक्ति-चिन्तामणि के रूप में भी इसके गुण कहे गये हैं—"परम प्रकास रूप·····" से—"तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई ॥" (उ० दो० ११९) तक। मणि-दीप के समान रखने का यह भी भाव है कि मणि-दीप बुझता नहीं और सदा एकरस प्रकाशित रहता है, वैसे नाम भी जिह्वा पर सदा एकरस चला करे।

'भीतर बाहरहुँ'—भीतर निर्गुण और बाहर सगुण देख पड़ता है, यथा—"हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम। मनहुँ पुरट संपुट लसत, तुलसी ललित ललाम ॥" (दोहावली ७); हृदय में भगवान् के अव्यक्त भाव रूप निर्गुणत्व के लक्ष्य से नामाराधन द्वारा मुमुक्षु अपने शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार करता है, इसका लक्ष्य दो० १२ की चौ० 'एक अनीह अरूप···', के विशेष में देखिये। इससे मुमुक्षु अपने नवो आवरणों की आसक्तियों से शुद्ध अपने स्वरूप का साक्षात् करता है, यही भीतर का उजाला है। सगुण के लक्ष्य पर उनके कृपा, करुणा और वात्सल्य आदि गुणों के लक्ष्य से भक्ति करता हुआ नामाराधन से सगुण को वश में करता है, यथा—"भगति अवसहि बस करी।" (अर० दो० २५)। रीति उपर्युक्त 'समुझत सरिस···' (दो० २०); तथा—"कमठ सेषसम···" (दो० १९ में) देखिये। यही बाहर का उजाला होना है।

आगे ग्रन्थकार स्वयं नाम द्वारा निर्गुण-सगुण के आराधन की रीति प्रकट करेंगे। आगे चौ० १-२ में निर्गुण का लक्ष्य और चौ० ३-७ में सगुण-आराधना का वर्णन है।

'जौं चाहसि·····' बिना (नाम) जपे (हृदय में) उजाला नहीं हो सकता, यथा—"सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं, निर्गुन मन ते दूरि। तुलसी सुमिरहु राम को, नाम सजीवनिमूरि ॥" (दोहावली ८)।

'जीह देहरी द्वार'—देह मन्दिर, मुख द्वार और जिह्वा देहली है। पूर्व 'हेतु कृसानु भानु हिम करके।' के अर्थ-प्रसंग में कहा गया है कि जिह्वा पर अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा के निवास हैं, वे अपने कारण श्रीराम-नाम के जप सम्बन्ध से क्रमशः वैराग्य, ज्ञान और भक्ति की पूर्णावस्था प्राप्त कराते हैं। अतः, यहाँ वैराग्य-ज्ञान से निर्गुण और भक्ति से सगुण का देखना जानना चाहिये। 'जीह' से यहाँ रूपक-द्वारा वैखरी वाणी ही स्पष्ट है, तथा—"जीहहू न जप्यों नाम, बक्यों आउ-बाउ मैं।" (वि० २६१); "कान मूँदि कर, रद गहि जीहा। एक कहहिं ··" (अर० दो० ४७); ये उदाहरण वैखरी वाणी के ही हैं।

नाम जीह जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि-प्रपंच-बियोगी ॥१॥
ब्रह्म-सुखहिं अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा ॥२॥

अर्थ—योगी लोग नाम को जीभ से जपकर जागते हैं और वैराग्यवान् होकर ब्रह्मा के प्रपंच से रहित हो जाते हैं ॥१॥ और उपमा-रहित ब्रह्म-सुख का अनुभव करते हैं, जो अकथनीय—कहने में नहीं आ सकता—तथा रोग-रहित है और जिस (अणु परिमाण अक्षर शुद्ध जीव) का नाम है, न रूप।

विशेष—(१) 'नाम जीह जपि··· ···' यहाँ 'जोगी' योग-शास्त्र के नियमानुसार साधक है जो कैवल्य ज्ञानी भी कहा जाता है। 'जागहिं', यथा—"मोह निसा सब सोवनिहारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा॥ येहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥" (अ० दो० ९२)। देहाभिमान मोह रूपी रात है, धन एवं कुटुम्ब की ममता सोना है और इनसे वैराग्य वृत्ति का जाग्रत होना जागना है, यथा—"सुत बित नारि भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी॥" (वि० १४१); "अहंकार ममता मद त्यागू। महामोह निसि सोवत जागू॥" (लं० दो० ५५); "जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा" (अ० दो० ९२)।

'बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी'—माया की गुण-अवगुण-मिश्रित रचना 'विधि-प्रपंच' है। यथा—"बिधि-प्रपंच गुन अवगुन साना।"·····से—"जड़ चेतन गुन-दोष-मय, बिस्व कीन्ह करतार॥" (दो० ६) तक। प्रपंच का विकार, यथा—"जोग-बियोग भोग भल मंदा।"·····से—"मोहमूल परमारथ नाहीं॥" (अ० दो० ९१); तक देखिये। उपर्युक्त 'जागहिं' में बिषय-बिलास रूपी गृह-कुटुम्ब की ममता का छूटना और 'बिरति बिरंचि प्रपंच' में प्रपंच-विकार का त्यागना है। पुनः 'बियोगी' इसलिये कहा गया है कि विषय-त्याग पर भी सूक्ष्म विषयानुराग रहने से तत्सम्बन्धी संकल्प हुआ करते हैं, उनका भी योग न रहे, तब योगिपना सार्थक हो। यथा—"नह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥" (गीता ६।२)।

इस प्रकार शुद्ध योगी होने पर ब्रह्मसुख का अनुभव होता है, यथा—"योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः। स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥" (गीता ५।२४)। इसी ज्ञान को उ० दो० ११७ में दीपक के रूप में कहा है। यहाँ 'बिरति' शब्द तक ज्ञान की सप्तभूमिकाओं में चौथी भूमिका का भाव कहकर शेष को 'बियोगी' से ध्वनित किया है।

(२) 'ब्रह्मसुखहिं अनुभवहिं···' 'ब्रह्मसुख'—यथा—"ब्रह्मपियूष मधुर शीतल जो पै मन सो रस पावै। तो कत मृगजल रूप बिषय कारन निसि बासर धावै॥" (वि० ११७); 'अनुभवहिं—ब्रह्मसुख के ज्ञानमात्र से आनन्द होता है, क्योंकि वह (अक्षर-शुद्धजीव स्वरूप) स्थूल वस्तु नहीं है। वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहों से भिन्न अणु-परिमाण है। अतः, रूप नहीं और जब रूप नहीं है, तब प्राकृत नाम भी नहीं है। अतः, अकथ्य भी है और इसीसे वह प्राकृत विकार क्षीण-पीनादि आमयों (रोगों) से रहित है। इस आत्मसुख के समान दूसरा प्राकृत सुख नहीं है। अतः, अनूप है।

यहाँ के 'ब्रह्मसुखहिं' पर जो ब्रह्मानन्द कहा गया है। वह कैवल्यज्ञान में भी जीवात्म-स्वरूप के साक्षात्कार का है। उत्तरकाण्ड ज्ञान दीपक का 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये। गीता में 'ब्रह्म' पद से ईश्वर,

प्रकृति और जीवात्मा तीनों के अर्थ होते हैं—गीता ५।१०, १४।३ में ब्रह्म पद प्रकृति के अर्थ में है, गीता ५।१६, २४, २५ में 'ब्रह्म' पद जीवात्मपरक है तथा गीता १०।१२ एवं १८।५० में 'ब्रह्म' पद ईश्वर एवं परब्रह्म के लिये आये हैं। श्रीरामानुज भाष्य एवं विशिष्टाद्वैत के और भाष्य भी देखें। अतः, ब्रह्म-सुख से यहाँ अक्षर स्वरूप (शुद्ध जीव स्वरूप) के साक्षात्कार के सुख से तात्पर्य है, यथा—"ब्रह्मानंद मगन कपि···" (उ० दो० १५); तथा—"राम भजत सोइ मुकुति···आवै···" (उ० दो० ११८); से मिलाइये।

जिस ज्ञान की परम दुर्लभता एवं घुणाक्षर न्याय से सिद्धि कही गई है, वही यहाँ श्रीरामनाम के जीभ से जपने मात्र से प्राप्त होना कहा गया है। नाम-जप भक्ति है, इससे तत्त्वज्ञान का फल कैसे मिलता है? उत्तर यह है! जो उसमें कष्ट से भी घुणाक्षरन्याय ही रहता है, वह नाम जप से सुगमता से प्राप्त होता है, यथा—"राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआई॥" (उ० दो० ११८); तथा गीता १४।२६ भी देखिये। इसी प्रकार चरित्र से भी निर्वाण-पद नाम-द्वारा इसी कैवल्य की प्राप्ति कही है, यथा—"राम-चरन रति जो चहइ, अथवा पद निर्वान। भाव सहित सो यह कथा, करउ श्रवन पुटपान॥" (उ० दो० १२८)।

यहाँ ऊपर निर्गुण-सगुण दोनों का प्रबोधक कहकर प्रसंग प्रारम्भ हुआ है। अतः, प्रथम योगी के प्रसंग द्वारा निर्गुण मत रूपी तत्त्वज्ञान की सिद्धि कहकर आगे चार प्रकार के भक्तों के उदाहरण देकर सगुण मत विस्तार से कहेंगे, उसमें सरस ज्ञानी भक्त को पृथक् कहेंगे।

जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ॥३॥
साधक नाम जपहिं लव लाये। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाये॥४॥
जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥५॥

अर्थ—जो गूढ़ गति-(वाले ब्रह्म) को जानना चाहते हैं, वे भी जीभ से नाम को जपकर जान लेते हैं॥३॥ साधन करनेवाले नाम को लौ लगाकर जपते हैं तो अणिमादिक सिद्धियों को पाकर वे सिद्ध हो जाते हैं॥४॥ जो भक्त बड़े आर्त्त होकर नाम जपते हैं, उनके कुसंकट दूर हो जाते हैं और वे सुखी होते हैं॥६॥

विशेष—(१) 'जाना चहहिं···' यहाँ जिज्ञासु भक्तों को कहते हैं। वे ब्रह्म की जिज्ञासा चाहते हैं और 'गूढ़ गति' ब्रह्म ही को कहा गया है, यथा—"एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः"—यह श्रुति अर्थ के साथ पूर्व दो० १२ चौ० ३ में कही गई है। 'जेऊ' और 'तेऊ' गूढ़तासूचक हैं। इनके सिवा वे भक्त और भी अपेक्षित गूढ़ गतियों को जानते हैं। अतः, कोई एक न कहा। 'जीह जपि'—क्योंकि जिह्वा पर ज्ञान-प्रकाशक सूर्य का वास है। यह पहले 'हेतु कृसानु भानु हिमकर को' के अर्थ में कहा गया है।

(२) 'साधक नाम···' सिद्धि-प्राप्ति की कामना में लौ लगाये हुए और एक लय (एकतार) से नाम जपते हुए नामरूपी कामतरु (कल्पवृक्ष) से सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। यथा—"कामतरु रामनाम जोई-जोई माँगि हैं। तुलसिदास स्वारथ परमारथ न खाँगि हैं॥" (वि० ७०); तथा—"सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू।" (दो० १११); यहाँ अर्थार्थी भक्त कहे गये। 'अनिमादिक'—ये आठ सिद्धियाँ भगवत् सम्बन्धी हैं, भगवान् में प्रधान रूप में रहती हैं औरों में गौण रूप से उनके देने से आती हैं। श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११ अ० १५ में भगवान् ने उद्धवजी से इनका वर्णन किया है और वहीं इनके नाम और प्राप्ति के उपाय भी कहे हैं। आठ सिद्धियों के नाम—१ अणिमा—जिससे देह अणु (सूक्ष्म) हो, २ महिमा—जिससे देह बढ़े, ३ लघिमा—देह हलकी करनेवाली, ये तीन शरीर सम्बन्धी सिद्धियाँ हैं। ४ प्राप्ति—

अप्राप्त वस्तु प्राप्त करानेवाली, यह इन्द्रियों की एक सिद्धि है। ५ प्राकाम्य—लौकिक और पारलौकिक पदार्थों के इच्छानुसार अनुभव करनेवाली सिद्धि, ६ ईशता—प्रेरणा करनेवाली, अर्थात् माया और उसके कार्यों को इच्छानुसार सञ्चालित करने की सिद्धि, ७ वशिता—विषयों में रहकर भी उनमें असक्त न होना, तथा ८ कामावसायिता—जिस-जिस सुख की कामना करे, उसकी सीमा तक पहुँच जाना। और भी गुण-सम्बन्धी तुच्छ सिद्धियाँ हैं, वे भी वहीं श्रीमद्भागवत में कही गई हैं। यहाँ आठ ही का प्रसंग है।

(३) 'जपहिं नाम जन···', 'जन' अर्थात् जिन्हें भगवान् के बल का भरोसा है, यथा—'जनहिं मोर बल···' (अर० दो० ४५)। 'आरत भारी' का भाव यह कि जन सामान्य दुःख में प्रभु को नहीं पुकारते, जब भारी संकट पड़ता है, तब शरणापन्न हो नाम का सहारा लेकर प्रभु को पुकारते हैं, जो संकट प्रभु ही से निवृत्त हो सकता है, यथा—"जेहिकर अभय किये जन आरत बारक बिबस नाम टेरे।" (वि० १३९); जैसे द्रौपदीजी ने प्रथम स्वयं चीर कसकर बाँधा, फिर भीष्म-द्रोणादि तथा समर्थ पाँचो पतियों की ओर देखा। निदान सबसे निराश होने पर पूर्ण दीनता से भगवान् की शरण में आने से कष्ट दूर हुआ। इसी प्रकार गजेन्द्र की भी व्यवस्था है। 'होहिं सुखारी'—दुःख छुड़ाकर फिर सुखी भी करते हैं। यहाँ आर्त्त भक्त कहे गये।

'जपहिं'—जप शब्द का अर्थ ग्रन्थकार ने जिह्वा से बार-बार कहने के रूप में जहाँ-तहाँ माना है। अतः, स्पष्ट उच्चारण को ही विशेष माना है, क्योंकि अन्तःकरण के जप से जीवन्मुक्ति और जीभ के जपने से भक्ति की प्राप्ति होती है। यथा—"अन्तर्जपन्ति ये नाम जीवन्मुक्ता भवन्ति ते। तेषां न जायते भक्तिर्न च रामसमीपकाः॥ जिह्वयाऽप्यन्तरेणैव रामनाम जपन्ति ये। तेषां चैव पराभक्तिर्नित्यं रामसमीपका॥" (महारामायण ५.२।७१-७२)।

राम-भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥६॥
चहूँ चतुर कहँ नाम-अधारा। ज्ञानी प्रभुहिं बिसेषि पियारा॥७॥
चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम-प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥८॥

अर्थ—संसार में श्रीरामजी के भक्त चार प्रकार के होते हैं, वे चारो पुण्यात्मा, पापहीन और उदार होते हैं॥६॥ चारो चतुरों का आधार नाम ही है, पर ज्ञानी भक्त प्रभु को अधिक प्यारे हैं॥७॥ यों तो चारो युगों और चारो वेदों में नाम का प्रभाव है, कलियुग में तो विशेषकर (नाम को छोड़कर) दूसरा उपाय ही नहीं है॥८॥

विशेष—(१) 'राम-भगत जग चारि···' इन चारो के नाम और 'सुकृती' आदि विशेषण भी गीता के उसी प्रसंग में कहे गये हैं, यथा—"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भारतर्षभ॥ तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥" (गीता ७।१६-१८)। ये चारो सुकृती हैं, तभी भजन करते हैं, यथा—"सकल सुकृत-फल राम-सनेहू।" (दो० २६); एवं अनघ भी हैं, यथा—"पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥" (सु० दो० ४३); तथा उदार का अर्थ श्रेष्ठ है। वे भक्त श्रेष्ठ इससे हैं कि अन्य अवलम्ब रूपी छल छोड़ मन-वचन-कर्म से श्रीरामजी को ही सर्वोपाय रूप जानकर भजन करते हैं। ऐसे ही भक्तों को श्रेष्ठता के विशेषण दिये जाते हैं, यथा—"सोइ सर्बज्ञ सोइ गुनज्ञाता" से—"जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा॥" (उ० दो० १२६) तक। 'चतुर' यथा—"परिहरि सकल भरोस, रामहिं भजहिं ते चतुर नर॥" (अर० दो० ८)।

'चतुर' अन्त में और 'नामअधारा' के साथ रखकर इन भक्तों की चतुराई दिखाई है कि उपर्युक्त बातें अन्य साधनों से दुर्घट थीं, पर इन सबने नाम-द्वारा अल्प प्रयास में प्राप्त कर लिया।

(२) 'ज्ञानी प्रभुहिं बिसेपि ···' यहाँ ज्ञानी प्रभु का विशेष प्यारा कहा गया है। इससे अन्य भक्त भी प्यारे हैं, पर ज्ञानी विशेष प्रिय हैं—यह गर्भित है, यथा—"भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान-प्रिय असि मम बानी॥" (उ० दो० ८५)। इस ज्ञानी को यदि उपर्युक्त 'योगी' मानें तो उसमें भक्ति-सम्बन्धी एक भी बात नहीं है, और भक्त ही जहाँ-तहाँ प्रभु के प्रिय कहे गये हैं। अतः, इसीके अगले दोहे में कथित 'सकल कामना हीन जे, राम-भगति रस लीन।···' का भक्त ही यहाँ का ज्ञानी भक्त है। वहाँ 'जे' शब्द से पूर्वोक्त इसी ज्ञानी को सूचित करते हुए कहा गया है, क्योंकि उपर्युक्त गीता में कहे हुए, ज्ञानी के लक्षण प्रियत्व के मिलते हैं, जैसे—'तेषां ज्ञानी···' में ज्ञानी 'एकभक्तिः' कहा गया है और 'ज्ञानी को प्रभु अति प्रिय हैं' तथा 'ज्ञानी प्रभु को अति प्रिय है' ऐसा कहा है। वैसे यहाँ योगी को ब्रह्म-सुख की चाह थी, कैवल्य होने से वह भक्त नहीं है। जिज्ञासु को तत्त्व-ज्ञान की और प्रभु की चाह (भक्ति), अर्थार्थी को अर्थ की और प्रभु की चाह एवं आर्त्त को दुःख निवारण की और प्रभु की चाह है। अतः, ये सब द्वि-भक्तिवाले हैं, पर ज्ञानी 'एकभक्तिः' है। वह एक प्रभु ही को चाहता है, इसीसे उसे प्रभु अति प्रिय हैं, यही बात उपर्युक्त दोहे के 'सकल कामनाहीन' में 'एकभक्तिः' का भाव और 'नाम सुप्रेम··· मीन' में प्रभु का अति प्रिय होना स्पष्ट है, तथा—'ज्ञानी प्रभु को अति प्रिय है'—यह बात यहाँ के 'ज्ञानी प्रभुहिं बिसेषि पियारा' में है। गीता में 'तेषां' से चार में ही एक ज्ञानी है, वैसे यहाँ भी तीन ही भक्त ऊपर के और एक इन्हें लेकर चार हुए।

(३) 'चहुँ जुग चहुँ श्रुति···' 'चहुँ जुग', यथा—"गायन्ति रामनामानि वैष्णवाश्च युगे-युगे। त्यक्त्वा च सर्वकर्माणि धर्माणि च कपिध्वज॥" (आदिपुराण)। सत्ययुग में श्रीप्रह्लाद, श्रीध्रुवजी आदि, त्रेता में श्रीहनुमानजी, श्रीशबरीजी आदि नाम-जापक हुए। इनके प्रमाण आगे दोहा २४-२५ में हैं। द्वापर में श्वपच आदि, यथा—"आभीर जमन किरात खस, श्वपचादि अति अघरूप जे। कहि नाम बारक तेऽपि पावन होहिं ···" (उ० दो० १२९) और कलियुग के भक्तों के उदाहरण भक्तमाल में बहुत प्रसिद्ध हैं, जिनमें श्रीगोस्वामीजी आदि भी हैं। 'चहुँ श्रुति', यथा—"यस्य नाम महद्यशः" (यजुर्वेद अ० ३२ मं० ३), इत्यादि। सब वेदों के संहिता-भागों में भी प्रमाण बहुत हैं।

'कलि बिसेपि···' यथा—"रामेति वर्णद्वयमादरेण सदा स्मरन्मुक्तिमुपैति जन्तुः। कलौ युगे कल्मष-मानसानामन्यत्र धर्मे खलु नाधिकारः॥ (ब्रह्मसंहिता); तथा—"कलि केवल मलमूल मलीना।" से "पालिहि दलि सुरसाल॥" (दो० २७-२८) तक। "नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं।" (उ० दो० १०३)। अन्य युगों में ध्यान-यज्ञ आदि के साथ रहने से नाम-प्रभाव उतना स्पष्ट नहीं दीखता था, कलियुग में जब अन्य उपाय रह नहीं गये, तब यह विशेष रूप से देखने में आया। आगे दो० २६ के आगे की चौपाइयों के प्रसंग भी देखिये।

दोहा—सकल कामनाहीन जे, राम-भगति-रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद, तिनहुँ किये मनमीन॥२२॥

अर्थ—जो समस्त कामनाओं से रहित और श्रीराम-भक्ति के रस में लीन हैं, उन्होंने भी नाम के सुन्दर प्रेम रूपी अमृत के कुण्ड में अपने मन को मछली बना रक्खा है।

विशेष—(१) यहाँ 'जे' शब्द से उसी ज्ञानी भक्त का संकेत है जिसके लिये 'बिसेपि पियारा' ऊपर कह चुके हैं। वहीं इसके गुणों के भाव भी देखिये।

यहाँ श्री 'राम-भक्ति' को 'रस' और 'नाम सुप्रेम' को 'पियूष ह्रद' कहा, इससे 'नाम सुप्रेम' को अन्य भक्ति से बहुत श्रेष्ठ सूचित किया गया है। यथा—"पसु सुरधेनु कलपतरु रूखा। अन्नदान अरु रस पीयूषा॥" (लं० दो० २५); अर्थात् पशुओं और अन्य वृक्षों के समान रस और कामधेनु और कल्पतरु के समान अमृत है। जल एवं गुड़-संतरे आदि के रस को भी रस ही कहते हैं, इन सब रसों में स्वाद तो होता है, पर सन्तोष नहीं होता। अमृत में स्वाद और सन्तोष दोनों हैं। अतः, इसके पीने पर और पदार्थ के खाने-पीने की इच्छा नहीं रहती, यथा—'स्वाद तोष सम सुगति सुधा के।' (दो० १६)। वैसे ही उपर्युक्त जिज्ञासु आदि भक्तों के और-और कामना-रूप स्वाद कहे गये, पर यह ज्ञानी सकल कामनाहीन है, क्योंकि इसे नाम सुप्रेम-रूपी अमृत-कुण्ड ही प्राप्त है। तात्पर्य यह कि नाम में उत्तम प्रेम होने से श्रीरामजी इसके हृदय में निरन्तर बसते हैं, फिर इसे कभी कोई कामना होती ही नहीं, यथा—"सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥" (दो० २५); इसीलिये निष्काम ज्ञानी भी नाम से उत्तम प्रेम करते हैं।

शंका—कोई-कोई यहाँ के 'सकल···' को उपर्युक्त चार प्रकारों से भिन्न प्रेमी मानते हैं और उस अर्थ में यह सन्देह करते हैं कि बीच में 'चहुँजुग···' की अर्द्धाली क्यों दी गई है?

समाधान—यहाँ का विशेष प्यारा ज्ञानी गीता-कथित ही है, ऊपर मिलान किया गया है। जब वह 'एक भक्ति' है, उसमें प्रभु के अतिरिक्त और कामनाएँ नहीं हैं, उसे प्रभु मात्र ही प्रिय हैं और प्रभु को वह, तब इस प्रेमी में उससे अधिकता कौन सी है? गीता में पाँचवें प्रकार का भक्त नहीं कहा गया, यहाँ व्यर्थ पाँचवें की कल्पना क्यों की जाय? बीच में "चहुँजुग···" चौपाई देकर इस ज्ञानी का वर्णन पृथक् क्यों हुआ? यह शंका तो उस कल्पित प्रेमी में भी है ही, चार भक्तों का साहचर्य छुड़ाकर उसे अलग क्यों कहा गया, जो 'प्रभुहिं बिसेषि पियारा' है, उसके संग में क्या इस प्रेमी को घृणा होती? गीता में प्रथम तीन के लक्षण कहकर पीछे इस चौथे निष्काम ज्ञानी की ही प्रशंसा कई श्लोकों में की गई है, वैसे यहाँ भी चारो का वर्णन कर फिर चारो वेदों और चारो युगों की बात कह पीछे चौथे के अवशिष्ट लक्षण-वर्णन की पूर्ति समीप में ही कर दी है।

उस योगी को 'प्रभुहिं बिसेषि पियारा' कहने की असंगतियाँ और निर्गुण-सगुण दोनों के प्रसंग उठाकर एक को छोड़ देना, इन दोषों का परिहार कैसे होगा? इन सब हेतुओं से मेरा उपर्युक्त विचार युक्त ही प्रतीत होता है।

अगुन सगुन दुइ ब्रह्मसरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥१॥
मोरे मत बड़ नाम दुहूँ ते। किय जेहि जुग निज बस निज बूते॥२॥

अर्थ—ब्रह्म के दो स्वरूप हैं—सगुण और निर्गुण। (दोनों) अकथ (अनिर्वचनीय), अगाध (अथाह), अनादि और उपमा-रहित हैं॥१॥ (श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि) मेरी सम्मति में नाम (निर्गुण-सगुण) इन दोनों से बड़ा है कि जिसने अपने पराक्रम से दोनों को अपने वश में कर रक्खा है॥२॥

विशेष—(१) 'अगुन सगुन दुइ·····' इसमें 'अकथ' आदि विशेषण दोनों के हैं। निर्गुण में ये सब सहज एवं प्रसिद्ध हैं। सगुण के उदाहरण—'अकथ'—"रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा॥" (दो० १९८); 'अगाध'—"प्रभु अगाध सतकोटि पताला॥" (उ० दो० ९१); "राम अमित गुनसागर, थाह कि पावइ कोइ।" (उ० दो० ९२); 'अनादि'—"आदि अंत कोउ जासु न पावा"····· से—"सोइ दसरथसुत·····" (दो० ११८); तक, 'अनूपा'—"निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।" (उ० दो० ९२); "चिदानंद निरुपाधि अनूपा।" (दो० १४३)।

निर्गुण और सगुण दोनों भगवान् के अव्यक्त और व्यक्त रूप हैं, यथा—"अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत-प्रेम-बस सगुन सो होई॥" (दो० ११५); "व्यक्तमव्यक्त गतभेद विष्णो।" (वि० ५४); "फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा॥" (कि० दो० १६); "कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव, अव्यक्त जेहि श्रुति गाव। मोहिं भाव कोसलभूप, श्रीराम सगुन सरूप॥" (ल० दो० ११२)।

(२) 'मोरे मत बड़ नाम' ....' भाव—औरों का चाहे जो मत हो, पर मेरा मत यही है। उत्तरार्द्ध में प्रमाण भी देते हैं—'किये जेहि युग.....' वश होने वाला छोटा और वश करनेवाला बड़ा कहा जाता है और नाम के अधीन निर्गुण-सगुण सर्वत्र प्रसिद्ध ही हैं, यथा—"मंत्र परम लघु जासु बस, बिधि हरि हर सुर सर्ब।" (दो० २५६)। नाम भी मन्त्र ही है—'महामंत्र जोइ.....' (दो० ८); में कहा गया है। मनु-शतरूपा ने प्रथम निर्गुण ब्रह्म का स्मरण किया, यथा—"सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा।" (दो० १४८)। स्मरण नाम से ही होता है, वह वश में हुआ, तब सगुणत्व धारण कर आकाशवाणी की और सगुण (व्यक्त) रूप से दर्शन भी दिये।

'निज बूते' का भाव यह है कि नाम को श्रुतियों की तरह प्रार्थना नहीं करनी पड़ती, किन्तु वह पराक्रम से वश कर लेता है। ऐसा बलवान् है कि 'अकथ अगाध अनादि अनूपा।' को भी वश कर लेता है।

प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की। कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥३॥
एक दारुगत देखिय एकू। पावक सम जुग ब्रह्म-बिबेकू॥४॥
उभय अगम जुग सुगम नाम ते। कहउँ नाम बड़ ब्रह्म राम ते॥५॥

अर्थ—इसे सज्जन लोग मुझ दास की प्रौढ़ता (एवं प्रौढ़ोक्ति) न समझें, मैं अपने मन की प्रतीति, प्रीति और रुचि कहता हूँ॥३॥ ब्रह्म के उपर्युक्त दोनों स्वरूपों का ज्ञान दो अग्नियों के समान है। एक अग्नि लकड़ी में रहता है और दूसरा प्रकट देखने में आता है॥४॥ दोनों (के साधन) कठिन हैं और दोनों इस नाम (के साधन) से सुगम हो जाते हैं, इसीसे मैं नाम को ब्रह्म (अगुण) और राम (सगुण) इन दोनों से बड़ा कहता हूँ॥५॥

विशेष—(१) 'प्रौढ़ि सुजन.....'—'मोरे मत' कहने से प्रौढ़ता समझी जाती है, इसलिये ग्रन्थकार यहाँ नम्र प्रतिज्ञा करते हैं कि थोड़ी देर आपलोग मुझ जन की प्रौढ़ि अर्थात् प्रौढ़ोक्ति पर ध्यान न दें तो मैं अपने मन की प्रतीति, प्रीति और रुचि कहूँ। वेद, शास्त्र और सद्गुरु द्वारा नाम-प्रभाव जानकर प्रतीति हुई, उससे प्रीति हुई, तब प्रीति-पूर्वक नाम रटने से जो मन में रुचि अर्थात् प्रकाश (ज्ञान) हुआ, वही कहता हूँ। अतएव यह आस्तिक्य है, 'प्रौढ़ि' नहीं। कहा भी है—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।..." (उ० दो० ८८)।

(२) 'एक दारुगत.....' प्रथम ब्रह्म के दो स्वरूप कहकर सामान्य परिचय दिया। अब दोनों का विशेष विवेचन करते हैं। एक अग्नि लकड़ी में है, वह रगड़ने से प्रकट होता है, वैसे निर्गुण ब्रह्म चराचर रूप लकड़ी में व्याप्त है, अव्यक्त होने से दिखाई नहीं देता, प्रकृति के सत्त्वादि गुण और मुमुक्षु जीव के योगादि साधन रूप रगड़ से वह ज्ञानाग्नि रूप से प्रकट होता है, यथा—"पुनि बिबेक पावक कहँ अरनी।" (दो० ३); "अति संघरषन जौं कर कोई। अनल प्रगट चन्दन ते होई।" (उ० दो० ११०); "अग्निर्दारुगतो यद्वद्भिन्ने दारौ न दृश्यते। तथैवात्मा शरीरस्थोऽयोगेनैवानुदृश्यते॥ अग्निर्यथा ह्युपायेन मथित्वा दारुदृश्यते। तथैवात्मा शरीरस्थो योगेनैवात्र दृश्यते॥" (महा० शान्ति० २१०।४१-४२); अर्थात् काष्ठ में छिपा हुआ अग्नि जैसे काष्ठ के काटने से नहीं देख पड़ता, वैसे ही शरीर में रहनेवाले

आत्मा को देह विदीर्ण करने पर भी नहीं देखा जाता। उपाय के द्वारा जैसे काष्ठ का मन्थन करने से उसमें अग्नि प्रकट होता है वैसे योग रूप उपाय के द्वारा शरीरस्थ आत्मा को इस शरीर में ही देखा जाता है। सगुण ब्रह्म प्रकट अग्नि के समान है। इसके गुण अग्नि के प्रकाश एवं उष्णत्व की तरह प्रकट देख पड़ते हैं। गुण रूपी प्रकाश से भक्तों का हित और क्रोध रूपी उष्णत्व के द्वारा दुष्टों का दलन होता है। तत्त्वतः दोनों अग्नि एक ही हैं—केवल उनमें अव्यक्त और व्यक्त रूप का ही भेद होता है। वैसे दोनों ब्रह्म के भी (व्यक्त-अव्यक्त) रूप मात्र का भेद है। ऊपर सप्रमाण कहा गया।

(३) 'उभय अगम जुग·····' दोनों ही अन्य साधनों से अगम हैं, नाम ही से सुगम हैं, यथा—"सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं, निर्गुण मन ते दूरि। तुलसी सुमिरहु राम को, नाम सजीवन मूरि।" (दोहावली ८); इसका 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये। नाम-द्वारा निर्गुण का सुगम होना अगली तीन अर्द्धालियों में और सगुण की सुगमता अगले दो दोहों में बड़ाई-छोटाई के द्वारा कहते हैं—

व्यापक एक ब्रह्म अविनासी। सत चेतन घन आनँदरासी ॥६॥
अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी ॥७॥
नाम निरूपन नाम जतन ते। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन ते ॥८॥

अर्थ—जो ब्रह्म सबमें व्याप्त है, अद्वितीय है, जिसका कभी नाश नहीं होता, जो सदा एकरस रहता है, चेतन है और घन-आनन्द की राशि है ॥६॥ ऐसे विकार-रहित समर्थ (ईश्वर) के हृदय में रहते हुए, सब जीव संसार में दीन और दुखी हैं ॥७॥ नाम के अर्थ-विचार-पूर्वक नाम के जपने से वह (निर्गुण ब्रह्म) भी प्रकट होता है, जैसे रत्न से मोल प्रकट होता है ॥८॥

विशेष—'अस प्रभु हृदय···'—ऊपर की अर्द्धाली में ब्रह्म के छः विशेषण कहे गये हैं। फिर उसे ही यहाँ 'प्रभु' और 'अविकारी' भी कहा है। भाव यह कि इन छः विशेषणों के अन्तर्गत वह छः ऐश्वर्यों से पूर्ण है, इसीसे प्रभु अर्थात् सब कुछ करने में समर्थ है और इन षडैश्वर्यों के रहते हुए, उसमें कामादि छः विकारों का अवकाश नहीं है। ऐसे प्रभु के हृदय में होते हुए भी जीवों के दीन-दुखी रहने का हेतु यह है कि ये उस प्रभु को नहीं जानते, यथा—"आनंदसिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कत मरसि पियासा ॥" (वि० १३६); इस आनन्दसिन्धु प्रभु के बिना जाने जीव विषयतृष्णा रूपी प्यास से 'दीन' है और उस अविकारी के ज्ञान के बिना काम-क्रोधादि छः विकारों से 'दुखारी' हैं।

ब्रह्म के षडैश्वर्य और षड्विकारराहित्य अर्थात् छः विकारों का अभाव—

निर्गुण ब्रह्म अव्यक्त रूप है। अतः, इसके षडैश्वर्य भी अव्यक्त रूप में ही हैं, युक्ति से व्यक्त होते हैं। जैसे, षडैश्वर्य—ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य ये छः हैं (वि० पु० ६।५।७४)। षड्विकार—काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मत्सर ये छः विकार हैं। तदनुसार ही क्रम से ब्रह्म के छः विशेषण भी हैं—व्यापक, एक, अविनाशी, सत्, चेतन और घन-आनन्दराशि। ब्रह्म शब्द विशेष्य है, यथा—"ब्रह्म राम ते नाम बड़" (दो० २५); अर्थात् यह मुख्य संज्ञा है। अब क्रम से प्रत्येक विशेषण से एक-एक ऐश्वर्य की पूर्णता और एक-एक विकार का राहित्य (अभाव) दिखाया जाता है—

१—'व्यापक', जैसे घड़े में आम हो तो आम व्याप्य और घड़ा व्यापक है, वैसे अखिल ब्राह्माण्ड रूप ऐश्वर्य व्याप्य है और वह (ब्रह्म) व्यापक है। अतः, सम्पूर्ण ऐश्वर्य उसमें है तो वह कामना किसकी करे? क्योंकि कामना अपने से भिन्न पदार्थ की होती है। इस प्रकार ब्रह्म के पहले 'ऐश्वर्य' की पूर्णता और 'काम' का राहित्य प्रकट हुआ।

२—'एक', वह एक ही चराचर रूप से जीवों की रक्षा एवं पालन करता है। अतः, उसे जानकर

उसकी शरण में जाने से तीनों के ऋणों के अधिकारियों का भय छूटता है, यथा—"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥" (गीता० १८।६६); अर्थात् अर्जुन ने भीष्म-द्रोणादि की सेवा को ही धर्म समझा था, उस भ्रम को भगवान् ने यह कहकर मिटाया कि मैं 'एक' ही सब रूपों से रक्षा-शिक्षा आदि करनेवाला हूँ। अतः, मेरी शरण में आओ, मैं सब पापों से मुक्त कर दूँगा। अतः, जो पाप सब धर्मों से छूटते हैं उन्हें एक प्रभु ही छुड़ाते हैं तो सब धर्म यहाँ 'एक' विशेषण में आये। जहाँ धर्म की पूर्णता होती है, वहाँ 'क्रोध' नहीं रह सकता, क्योंकि दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, यथा—"करइ क्रोध जिमि धर्महिं दूरी।" (कि० दो० १४)। क्रोध पाप-मूल और धर्म पुण्य-मूल है। इसमें 'धर्म' की पूर्णता और 'क्रोध' का राहित्य प्रकट हुआ।

३—'अविनासी'—'हेतु कृसानु भानु हिमकर को' दो० १८ के विशेष में श्रीरामजी से अनेकों चन्द्रमाओं का होना कहा गया। चन्द्रमा सुधाकर है, उसीसे अमृत पाकर देवता अमर रहते हैं, तब उसके परम कारण रूप ब्रह्म का अविनाशी होना युक्त ही है। चन्द्रमा की कारणता से यश की पूर्णता है, यथा—'भेन्दुर्यशोनिर्मलम्' (श्रुतबोध); अर्थात् भगण का देवता चन्द्रमा निर्मल यश का दाता है तो वह यश का भंडार है। अतः, उसका कारण-रूप ब्रह्म 'यश' पूर्ण है। जहाँ यश की पूर्णता होगी, वहाँ लोभ के लिये स्थान ही नहीं रह जायगा, यथा—"लोभी जस चह चार गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ये प्रानी॥" (अर० दो० १८)। अतः, इसमें 'यश' की पूर्णता और 'लोभ' राहित्य आया।

४—'सत' (सत्) इसका अर्थ 'सदा एक रस स्थित' होता है। इससे उसका हर्ष-विषाद-रहित एक रस रहने में ब्रह्म का 'श्री' ऐश्वर्य है, यथा—"प्रसन्नता या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः। मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मंजुलमङ्गलप्रदा॥" (अ० मं० श्लोक); मुख-श्री एकरस रहने में मद का अभाव है, क्योंकि धन-मद, विद्या-मद आदि की हर्षमय चेष्टाओं से श्री एकरस नहीं रह सकती। अतः, ब्रह्म के 'सत्' होने में 'श्री' की पूर्णता और 'मद' का अभाव प्रकट हुआ।

५—'चेतन'—ब्रह्म स्वयं चित् (ज्ञान) रूप है और सबका चैतन्यकर्त्ता है। अतः, उसमें 'ज्ञान' ऐश्वर्य की पूर्णता और 'मोह' का राहित्य है, क्योंकि ज्ञान की पूर्णता होने पर मोह नहीं रह सकता, यथा—"भये ज्ञान बरु मिटइ न मोहू।" (अ० दो० १६८)।

६—'घन आनँद रासी'—इससे ब्रह्म में 'वैराग्य' की पूर्णता और 'मत्सर' का राहित्य है, क्योंकि जब वह स्वयं पूर्ण आनन्द रूप है, तब नश्वर विषय-सुखों में राग क्यों करेगा तथा स्वयं सुख की पूर्णता पर 'मत्सर' नहीं रह सकता, क्योंकि जब अपने सुख की न्यूनता होती है, तब दूसरे के अधिक सुख के प्रति ईर्ष्या-रूप मत्सर होता है।

श्रीगोस्वामीजी ने यहाँ निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप, विवेक, लक्षण और अगली चौपाई में साधन भी स्वतन्त्र रूप में लिखा है। इसपर भी जो निर्गुण ब्रह्म को 'चिति मात्र' एवं 'निर्विशेष' कहते हैं, उन्हें इसपर अवश्य विचार करना चाहिये।

(२) 'नाम निरूपन नाम···' निरूपन, यथा—"निरूपणः स्यादालोके विचारे च निदर्शने।" (मेदिनी); अर्थात् किसी विषय का विवेचनापूर्वक निर्णय करना, यथा—"करइ निरूपन बिरति बिबेका।" (दो० १६२)। 'जतन' अर्थात् रटना, जपना, अभ्यास, आदि। 'सोउ' अर्थात् उपर्युक्त छः विशेषणोंवाला निर्गुण ब्रह्म भी। जो हृदय में रहकर भी स्वतः नहीं जनाता, जो अगम है, वह भी। 'प्रगटत जिमि मोल रतन ते'—जैसे किसी (हीरे, आदि) रत्न का मोल जौहरी के द्वारा प्रकट होता है, तब उसके भँजाने पर बड़े-बड़े मूल्यवाले सिक्के मिलते हैं, फिर उन प्रत्येक से बहुत-बहुत मुहरें मिलती हैं, फिर उनसे भँजानेवाले को भोजन-वस्त्रादि के लिये कुछ कमी नहीं रहती, यथा—"असन बसन पसु बस्तु बिबिध बिधि सब मनि महँ रह जैसे॥" (वि० १०४); वैसे नाम के निरूपण से प्रथम निर्गुण ब्रह्म के

षडैश्वर्य रूप छः बड़े-बड़े सिक्के प्रकट होंगे जिनसे साधक का उपर्युक्त दैन्य-दुःख दूर होगा, यथा—"जाके भवन बिमल चिन्तामनि सो कत काँच बटोरै।" (वि० ११६); "पायो नाम चारु चिन्तामनि" (वि० १०५); यहाँ साधन-क्रम होने से चिन्तामणि न कहकर रत्न ही कहा है, क्योंकि यहाँ भँजाने एवं मोल प्रकट करने का रूपक लेना था। जापक चिन्तामणि-रूप में नाम का महत्त्व सिद्धावस्था में जानेगा।

(३) 'नाम-निरूपन'—श्रीसीतारामजी कल्पवृक्ष के समान हैं, उनके निकट ज्ञानपूर्वक मनोरथ करने से अभीष्ट प्राप्त होता है, यथा—"देव देवतरु सरिस सुभाऊ।···जाइ निकट पहिचानि तरु, छाँह समनि सब सोच।" (अ० दो० २६७); वैसे ही सद्गुरुद्वारा नाम भी हृदय में ही कल्पवृक्ष के समान प्राप्त रहता है, यथा—"अपनेहि धाम नाम-सुरतरु···" (वि० २४४)। इससे भी निरूपण अर्थात् पहचान करके निकट जाय अर्थात् आराधन रूपी यत्न करे, तो यह भी अप्रकट ब्रह्म को प्रकट करके साधक की दीनता एवं दुःख दूर कर देता है।

नाम का अर्थ पूर्व ही "हेतु कृसानु भानु हिमकर को। बिधि हरि हर मय···" दो० १८ के विशेष में कहा गया है। इन्हीं छओ के साथ क्रमशः ब्रह्म के उपर्युक्त छओ ऐश्वर्यों की आराधना अनुसन्धानपूर्वक करनी चाहिये। जैसे षडैश्वर्यों में पहला 'ऐश्वर्य' है उन सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-रूप ऐश्वर्य का कारण यज्ञमूलक अग्नि है, यथा—"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा···" (गीता ३।१०); और अग्नि का कारण 'हेतु कृसानु' रूप नामार्थ से ब्रह्म है। अतः, इससे ब्रह्म के सम्पूर्ण 'ऐश्वर्य' का साक्षात्कार होगा। दूसरा ऐश्वर्य 'धर्म' है। उसके कारण सूर्य हैं, क्योंकि सूर्य ही सब धर्मों के प्रकाशक हैं और सूर्य का कारण 'हेतु भानु' के नामार्थ से ब्रह्म है। अतः, 'धर्म' ऐश्वर्य, साक्षात्कार होगा। तीसरा ऐश्वर्य 'यश' है। 'हेतु हिमकर' में राम नाम के यशोमय चन्द्रमा के कारण होने से उस 'यश' ऐश्वर्य का साक्षात्कार होगा। चौथा ऐश्वर्य 'श्री' है, इसके लिये 'विधिमय' नामार्थ सहित यत्न करना चाहिये। ब्रह्मा सम्पूर्ण संसार को कर्मानुसार रचकर सब जीवों से मान्य होने से 'श्री' ऐश्वर्ययुक्त (शोभायुक्त) विराजते हुए एक रस रहते हैं, ये औरों की भी श्री के विधाता हैं। अतः, इस लक्ष्य से 'श्री' ऐश्वर्य का साक्षात्कार होगा। पाँचवाँ ऐश्वर्य 'ज्ञान' है, इसके लिये 'हरिमय' नामार्थ सहित जपना चाहिये। विष्णु ज्ञान धाम हैं, यथा—"ज्ञानधाम श्रीपति असुरारी।" (दो० ५०)। अतः, 'ज्ञान' ऐश्वर्य का साक्षात्कार होगा। छठा ऐश्वर्य 'वैराग्य' है, इसके लिये 'हरमय' नामार्थ है। शिवजी वैराग्य के प्रकाशक हैं, यथा—"वैराग्याम्बुजभास्करम्···" (अर० मं० श्लोक)। अतः, 'वैराग्य' ऐश्वर्य का साक्षात्कार होगा। इन छः ऐश्वर्यों के साथ के उपर्युक्त 'कृसानु भानु हिमकर' इत्यादि छः विशेषण अनुसन्धान में क्रमशः रहने चाहिये। इस प्रकार षडैश्वर्य पूर्ण 'प्रभु' की आराधना से और उपर्युक्त रीति से साथ-साथ छः विकारों के अभाव से 'अविकारी' ब्रह्म प्रकट होता है।

इस प्रकार ब्रह्म के प्रभुत्व के ज्ञान से साधक की दीनता और उसके अविकारित्व से दुःख छूटता है, यथा—"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया···समाने वृक्षे···" (श्वे० ४।५-६)—इन दोनों श्रुतियों में कहा है कि सखा एवं सेव्यरूप ब्रह्म की महिमा के ज्ञान से जीव शोक रहित होता है।*

दोहा—निरगुन ते येहि भाँति बड़, नाम-प्रभाव अपार।
कहउँ नाम बड़ राम ते, निज बिचार अनुसार॥२३॥

अर्थ—निर्गुण ब्रह्म से इस प्रकार नाम बड़ा है और उसका प्रभाव निस्सीम है, अब मैं अपने विचार के अनुसार नाम को श्रीरामजी से भी बड़ा कहता हूँ॥२३॥

* इन छः ऐश्वर्यों के आधार से जीव के भी छः लक्षणों—ज्ञानानन्द स्वरूप, ज्ञानानन्द गुणक, अणुपरिमाण, देहादि-विलक्षण, स्वयंप्रकाश तथा नित्यरूप—के साक्षात्कार होने और षड्विकारों के छूटने का वर्णन 'श्रीमन्मानस नाम-वन्दना' में देखें।

विशेष—'येहि भाँति'—नामरूपी रत्न के अभ्यास से नामी का प्रकट होना ही मानों नामी को नाम से मोल लेना है। उपर्युक्त 'सुनि गुन भेद···' की प्रतिज्ञा के अनुसार यहाँ नाम के एक प्रकार के गुण द्वारा उसका बड़प्पन सिद्ध किया गया। इस रीति से सुलभता-द्वारा नाम अपने गुणों से बड़ा है। श्री राम नाम (महामन्त्र) में यह भारी एवं निस्सीम प्रभाव है कि वह निर्गुण ब्रह्म को भी प्रकट करके जीव का कल्याण करता है। अब नाम को सगुण ब्रह्म (राम) से भी बड़ा कहते हैं। पूर्व 'मोरे मत' कहा था। यहाँ भी 'निज बिचार अनुसार' कहते हैं, क्योंकि ग्रन्थकार का विचार विलक्षण है। अन्यत्र भी कहा है, यथा—"प्रिय राम नाम ते जाहि न रामो। ताको भलो···राम ते अधिक नाम करतब जेहि किये नगर गत गामो॥" (वि० २२८); तथा—"राम त्वत्तोऽधिकं नाम इति मे निश्चला मतिः। त्वया तु तारिताऽयोध्या नाम्ना तु भुवनत्रयम्॥" (हनुमत्संहिता)।

राम भगत-हित नर-तनु-धारी। सहि संकट किय साधु सुखारी॥१॥
नाम सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद-मंगल-बासा॥२॥

अर्थ—श्रीरामजी ने भक्तों के लिये मनुष्य का शरीर धारण किया और कष्ट सहकर साधुओं को सुखी किया॥१॥ परन्तु प्रेम के साथ नाम जपने से भक्त लोग विना परिश्रम (मानसी) आनन्द और (उत्सव आदि) मंगल के निवास-स्थान ही हो जाते हैं॥२॥

विशेष—'राम भगत-हित नरतनु धारी।' यथा—"कृपासिंधु जन-हित तनु धरहीं।" (दो० १२१); "राम सगुन भये भगत-प्रेम बस।" (दो० २१८)। 'नरतनुधारी'—श्रीमन्नारायण और विष्णु भगवान् जब श्रीराम-रूप में अवतार लेते हैं, तब चतुर्भुज से द्विभुज नराकार होकर लीला करते हैं और परात्पर साकेतविहारी का श्रीरामरूप में 'नरतनु' धरना यह है कि वे अपने नित्य किशोर दिव्य विग्रह में ही प्राकृत नरवत् बाल-पौगंड आदि अवस्थाएँ धारण करते एवं नरवत् ही सब व्यवहार करते हैं। आपका नराकार रूप ही परात्पर है, यथा—"आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुष विधः।" (बृहदा० १।४।१); "स्थूलं-चाष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मं चैव चतुर्भुजम्। परं तु द्विभुजं रूपं तस्मादेतत्त्रयं यजेत्॥" (आनन्दसंहिता)। वे नित्य किशोर अवस्था में रहते हैं, वे ही मनु-शतरूपा की प्रार्थना से प्रकट हुए। यह पहले 'तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्' (मं० श्लो०); कहा भी गया है।

'सहि संकट'—यथा—"अजिन बसन फल असन महि, सयन डासि कुसपात। बसि तरुतर नित सहत हिम, आतप बरषा बात॥" (अ० दो० २११)।

'किय साधु सुखारी' यथा—"सकल मुनिन के आश्रमन्हि, जाय जाय सुख दीन्ह॥" (अर० दो० ११) ; 'नाम सप्रेम जपत···बासा।' यथा—"नाम प्रसाद संभु अविनासी"···से "भये मुकुत हरि-नाम-प्रभाऊ॥" (दो० २५); तक।

तात्पर्य यह है कि श्रीरामजी ने भक्तों के लिये नर-नाट्य करते हुए, कष्ट सह-सहकर अपने एक-एक गुण का विस्तार किया जिससे साधुलोग सुखी हुए। वे ही गुण नाम-द्वारा लोक में अनन्त होकर विस्तृत हुए। जैसे कोई लता यदि किसी फल के बीज से उत्पन्न होकर बहुत शाखाओं में फैल जाय तो उसके फूल-फल आदि से लोककल्याण हो, वैसे ही श्रीराम रूप फल और उनका गुण बीज है। उन गुणों से कीर्त्ति का फैलना और तदनुसार सर्वत्र नाम का होना अनेक फल है। नाम के अर्थों में गुण विचार कर उसका जपना फल खाने के समान हुआ। इस फल के खानेवाले को भी पूर्व के बीज-कारण रूप फल के ही स्वादादि गुण प्राप्त होते हैं। यहाँ कारण के एक फल के समान श्रीराम रूप है, उसीसे होनेवाले बहुत फलों के समान नाम हुआ। रूप के गुण नाम-द्वारा एक ही समय करोड़ों स्थलों पर भक्तों

के हृदय में रूप का-सा कार्य करते हैं। पहले दो० १८ में ज्योतिषी के दृष्टान्त से भी यही लिखा गया था। यहाँ से दो दोहों में इसी प्रकार नाम-द्वारा रूप से कोटि गुण कार्य का होना कहा जायगा। यही नाम का बड़प्पन है।

राम एक तापस-तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी ॥३॥
रिपि हित राम सुकेतुसुता की। सहित सेन सुत कीन्ह बिबाकी ॥४॥
सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नाम जिमि रबि निसि नासा ॥५॥

अर्थ—श्रीरामजी ने एक तपस्वी (गौतम ऋषि) की स्त्री (अहल्या) को तारा और नाम ने तो करोड़ों खलों की कुत्सित बुद्धि सुधार दी ॥३॥ श्रीरामजी ने विश्वामित्र ऋषि के लिये सुकेतु यक्ष की कन्या (ताड़का) का उसकी सेना और पुत्र के साथ निःशेष किया ॥४॥ परन्तु नाम दासों की दुराशा को दुःख और दोष के साथ ऐसे नष्ट करता है, जैसे सूर्य रात को (बिना श्रम नष्ट करते हैं) ॥५॥

विशेष—(१) 'राम एक तापस-तिय···' —अहल्या की कथा आगे दो० २०६ में आवेगी। इसमें श्रीरामजी का गुण उदारता एवं निर्हेतु कृपालुता है, यथा—"अस प्रभु दीनबन्धु हरि, कारन-रहित कृपाल।" (दो० २११)। देश, काल एवं पात्र न देखकर याचक मात्र को देना उदारता है, वही यहाँ भी है। अहल्या शापित एवं दुराचारिणी होने से गति देने के योग्य नहीं थी। देश भयंकर जंगल था, तीर्थ आदि भी न थे। रूप का यही गुण लेकर नाम ने करोड़ों खलों की कुमति सुधारी, यथा—"सहस सिला ते अति जड़ मति भई है। कासों कहौं कौने गति पाहनहिं दई है।" (वि० १८१); रूपक—अहल्या ब्रह्माजी की पुत्री थी और गोतम मुनि की पत्नी थी। वैसे ही बुद्धि के देवता ब्रह्मा हैं, यथा—"बुद्धि अज" (लं० दो० १४); विराट् के अंगभूत देवता जीवों के उन्हीं अंगों के देवता होते हैं। जीवात्मा गोतम है, गो = किरण, तम = श्रेष्ठ, अर्थात् सूर्य के समान अनुभवात्मक जीव का स्वरूप होता है। मुमुक्षु जीव जब सत्संग से जानता है कि बुद्धि ने जड़ कर्मों में ममता एवं फलेच्छा तथा कर्तृत्वाभिमान किया है। इसीसे जड़-कर्म-निष्ठ-श्रद्धा से जड़ हो गई है, यथा—यो यच्छ्रद्धः स एव सः।" (गीता १७।३)। तब यह इससे उपेक्षा करता है, यही इसका कर्मेन्द्रिय हस्त के देवता इन्द्र के साथ व्यभिचार जानकर गोतम-रूप जीवात्मा का शाप दे इसे पत्थर बनाने के समान है। बुद्धि जड़वत् पड़ी है, यही इसका कुमति होना है। जैसे वहाँ श्रीरामजी ने अपनी कारणरहित दयालुता से अपने चरण-रज का संयोग कर इसे दिव्य बना चेतन कर दिया और फिर यह गोतम मुनि को प्राप्त हो गई। उनका नाम रूप के उसी गुण से जापक की जड़ बुद्धि को, भगवान् का अंशभूत अणु स्वरूप जीव का—जो अपनी अंशरूपता की दृष्टि से उनका उपासक चरण-रजवत् है—सम्बन्ध करा देता है। बुद्धि सदसद्विवेकिनी हो जाग्रत्-अवस्था को प्राप्त हो जाती है, इसमें शुद्ध मुमुक्षुता आ जाती है, यथा—"जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥ होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥" (अ० दो० ९२); यही कुमति का सुधरना है। जैसे सपनाते हुए को कोई भी अपने आप जगाता है, वैसे यहाँ पहले भगवान् निर्हेतु दया से जाग्रत् कराते हैं, तब और साधन होते हैं। रूप ने एक को तारा और वह भी तपस्वी की स्त्री थी, नाम करोड़ों खलों और कुमतियों को सुधार रहा है—यही इसमें विशेषता है।

(२) 'रिपि हित राम···'। ताड़का—"सुकेतु नाम का एक बड़ा बलवान् यक्ष था। उसने सन्तान प्राप्ति के लिये बड़ी तपस्या की, ब्रह्माजी ने उसे ताटका नाम की कन्या प्रदान की। उस कन्या के शरीर में सहस्र हाथियों का बल भी दिया। वह बढ़कर युवा हुई। तब उसका विवाह सुन्द के साथ हुआ। उस यक्षिणी के मारीच नाम का पुत्र हुआ; वह यक्ष होता हुआ भी शापवश राक्षस हुआ।

महर्षि अगस्त्यजी ने शाप देकर सुन्द को मार डाला। तब ताटका अपने पुत्र के साथ गरजती हुई मुनि को खाने के लिये दौड़ी। अगस्त्य मुनि ने मारीच को राक्षस होने का शाप दिया। फिर ताटका को भी मुनि ने शाप दिया कि तू विरूपा, भयानक एवं मनुष्य-भक्षिणी हो जा। यह सुन ताटका अत्यन्त कुपित हो उस पवित्र वन को उजाड़े देती थी। श्रीविश्वामित्र ने श्रीरामजी से कहा कि इसे शीघ्र मार डालिये। तुम्हारे अतिरिक्त और कोई इसे मार नहीं सकता। स्त्रीवध पर घृणा न कीजिये। मुनि ने और भी कई उदाहरण दे समझा कर इसे मारने की ही आज्ञा दी। 'रिषि हित' के लिये समझकर श्रीरामजी ने उसे एक ही बाण से मार डाला, अन्यथा वीरों के लिये स्त्रीवध निषिद्ध ही है"—यह कथा वाल्मी० १।२५-२६ के अनुसार है। इसका चरित-प्रसंग आगे दो० २०८ में आयगा।

'बिबाकी' अर्थात् उस स्थान पर किसी राक्षस को बाकी नहीं रक्खा। यह शब्द यहाँ उपयुक्त रक्खा गया है, क्योंकि उनमें मारीच को मारा नहीं, प्रत्युत मूर्च्छित कर अन्यत्र भेज दिया है। 'सहित दोष दुख' के अर्थ में उपमान के 'सेन' का होना 'स+हित' में है, हित का अर्थ सहायक (सेना)—उसके सहित, 'दुरासा' अर्थात् दुःखप्रद चाह, यथा—"अब तुलसिहिं दुख देति दयानिधि दारुन आस पिसाची॥" (वि० १६३); दुराशा से ही दोष-दुःख होते हैं, इससे पुत्रवत् हैं। यहाँ श्रीरामजी का वीर्य (वीरता) गुण है, क्योंकि थोड़ी ही अवस्था में जब साधारण भी युद्ध नहीं देखा था, खेलने के धनुषबाण से विकट वीर राक्षसों को युद्ध करके मारा तो भी क्लान्ति नहीं आई। वीर्य, यथा—"वीर्यं चाक्षीणशक्तित्वं वर्द्धमानातिपौरुषम्। अपि सर्वदशाश्वस्य रामस्याविकृतिश्च तत्॥ त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः। पराक्रममहावीरो धर्मवीरः सदा स्वतः॥ पञ्चवीराः समाख्याता राम एव स पञ्चधा। रघुवीर इति ख्यातिः सर्ववीरोपलक्षणा॥" (श्रीभगवद्गुण दर्पण वैज०); यहाँ पाँचो वीरताएँ हैं। पिता-माता एवं सुखमय अवध त्याग में त्यागवीरता, पिता की आज्ञा मानने एवं ऋषिरक्षा में धर्मवीरता, ऋषियों के दुःख दूर करने में दयावीरता; छः दिन-छः रात दोनों भाइयों ने यज्ञ-रक्षण किया एवं युद्ध में पराक्रम करने में पराक्रमवीरता और किसीको उड़ाकर सौ योजन भेजा एवं किसीको अग्निबाण से जलाया आदि में बाण-विद्या-वीरता है।

यही वीर्य गुण लेकर नाम अनन्त दासों की दुराशा एवं दोष-दुःख का नाश कर रहा है। हृदय की दुराशा के अनुसार इन्द्रियों के प्रवृत्त होने से उनमें कुटेव रूप दोष पड़ जाता है। इन इन्द्रियों का प्रेरक दूषित मन दोषरूप मारीच हुआ और दुराशा सम्बन्धी अनेक संकल्पों का समूह दुःखरूप सुबाहु एवं और उसकी सेना है, यथा—"पदराग याग चहौं कौसिक ज्यों कियो हौं। कलिमल खल देखि भारी भीति भियो हौं।" (वि० १८१); 'जिमि रबि निसि नासा।' अर्थात् रूप को श्रम हुआ और मारने के लिये निकट जाना पड़ा। पर नाम को कुछ भी श्रम नहीं होता है और न कहीं जाना पड़ता है। अतः, नाम बड़ा है। दुराशा आदि अज्ञान से होने से रात के समान है।

प्रश्न—अहल्या का प्रसंग विश्वामित्र से पहले क्यों रक्खा गया?

उत्तर—यहाँ नामाराधन क्रम के अनुसार अहल्या-प्रसंग के गुण की प्रथम आवश्यकता थी, क्योंकि प्रथम कुमति सुधरे, तब उससे दुराशा आदि दूर हों।

भंजेउ राम आप भव-चापू। भव-भय-भंजन नाम-प्रतापू॥६॥
दंडक बन प्रभु कीन्ह सोहावन। जन-मन-अमित नाम किय पावन॥७॥
निसिचर निकर दले रघुनन्दन। नाम सकल कलि-कलुषनिकंदन॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी ने तो स्वयं शिवजी का धनुष तोड़ा है और नाम का प्रताप ही जन्म-मरण के भय का नाश कर देता है॥ ६॥ प्रभु श्रीरामजी ने दंडक वन को शोभायमान कर दिया और नाम ने

असंख्य दासों के मन को पवित्र कर दिया ॥ ७ ॥ श्रीरामजी ने तो निशिचर-समूह का नाश किया, परन्तु नाम सम्पूर्ण कलि के पापों को जड़ से उखाड़ डालता है ॥ ८ ॥

विशेष—(१) 'भंजेउ राम आप भव-चापू ।' रूप (रामजी) को पिनाक धनुष तोड़ने में श्रम नहीं हुआ, क्षण-भर में तोड़ डाला । इससे यहाँ श्रीरामजी का बल गुण है । यथा—"तव भुज-बल महिमा उदघाटी । प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी ॥" (दो० २३८); तथा—"व्यायामस्य गुर्व्यान्तु खेदाभावो बलं गुणः ॥" (भगवद्गुण दर्पण); अर्थात् भारी गरुअ-कठोर धनुष तोड़ने में कुछ खेद न होने में बल-गुण है । इसी बल-गुण से जनकजी को रक्षा हुई, जिससे सुयश हुआ और अहल्योद्धार आदि की कीर्त्ति मिलकर प्रताप हुआ, यथा—"जाको कीरति सुयश मिलि, होत शत्रु-उर ताप । जग डेरात सब आप ही, कहिये ताहि प्रताप ॥" (वैजनाथ); यही प्रताप गुण नाम-द्वारा अनन्त होकर सर्वत्र जड़ धनुष के समान जन्म-मरण के दुःख का नाश करता है । शिवजी त्रिगुणात्मक अहंकार के देवता हैं, यथा—"अहङ्कारोऽग्नि सञ्ज्ञातो रुद्रस्तस्यास्ति देवता ।" (जिज्ञासा पंचक); तथा—"अहंकार सिव···" (लं० दो० १५); वही अहंकार धनुष है । जीव का गुणाभिमानी होना उसमें जड़त्व है, उसीसे 'भव-भय' है, यथा—"कारणं गुण सङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।" (गीता १३।२१) । अतः, धनुष और अहंकार में समता है । नाम की विशेषता यह है कि 'रूप' को जाकर हाथ से धनुष तोड़ना पड़ा और नाम का प्रताप ही वह कार्य किया करता है । इसीसे कहा है—"प्रभु हू ते अधिक प्रताप प्रभु-नाम को ।" (क० उ० ७०) । 'भव-चाप' श्रीरामजी से ही टूटा, वैसे भव-भय का नाश भी नाम से ही होता है ।

(२) 'दंडकवन प्रभु···' दंडक-वन—इस स्थान में पहले महाराज इक्ष्वाकु के कनिष्ठ पुत्र राजा दंड की राजधानी थी । पीछे यहाँ के सब पदार्थ झुलस गये, प्रजा का नाश हो गया और राक्षस रहने लगे । इसका कारण ग्रन्थकार ने लिखा है—"उग्र साप मुनिवर कर हरहू ।" (अर० दो० १८) ।

दण्डक-वन की कथा

मनु की आज्ञा से राजा इक्ष्वाकु राज्य करते थे । उन्होंने देव-तुल्य सौ पुत्र उत्पन्न किये । उनमें सबसे छोटा मूर्ख एवं विद्याहीन था । वह बड़ों की सेवा भी नहीं करता था । इस अल्प तेजस्वी का पिता ने दण्ड नाम रक्खा, क्योंकि उन्होंने समझ लिया कि इसपर अवश्य दण्डपात होगा । पिता ने इस उद्दण्ड पुत्र के योग्य विन्ध्य और शैवल पर्वत के बीच के देश का घोर राज्य ही दिया । दण्ड ने वहाँ बड़ा उत्तम नगर बसाया । उसका नाम मधुमन्त रक्खा और उसने शुक्राचार्य को अपना पुरोहित बनाया । वह इन्द्र की भाँति राज्य करने लगा । बहुत वर्षों तक वह निष्कण्टक राज्य करता रहा ।

एक समय रमणीय चैत्र महीने में वह दण्ड शुक्राचार्य के आश्रम में गया । वहाँ उसने परम सुन्दरी गुरु-कन्या अरजा को वन-भूमि में विचरती हुई देखा । वह मूर्ख काम पीड़ित हो गया और व्याकुल हो उसके पास जा उसके रूप की प्रशंसा कर परिचय पूछा और प्रणय की याच्ञा की । उसने विनम्र भाव से कहा कि मैं शुक्राचार्य की कन्या अरजा हूँ । मैं अभी कुमारी ही हूँ, पिता के अधीन हूँ । बलात् ग्रहण न करो, अन्यथा विपत्ति में पड़ोगे । प्रार्थना पर पिताजी तुम्हें दे भी सकते हैं । बलात्कार पर वे क्रुद्ध हो तुम्हें बहुत भारी शाप देंगे ।

इसने कुछ न सुन केवल प्रणय की ही बातें कीं और बलात् उसका कौमार्य भंग किया । फिर वह अपनी राजधानी को शीघ्र ही चला गया । अरजा रोती हुई भयभीत हो आश्रम में पिता की बाट देख रही थी । शुक्राचार्य ने घटना सुनी और वे शिष्यों के साथ वहाँ आये । उस समय वे भूख से व्याकुल भी थे । उन्होंने अरजा की दीन दशा देखी । इसपर ऋषि को बड़ा क्रोध हुआ । उन्होंने शिष्यों के समक्ष घोर शाप दिया—'यह दुर्मति राजा सात रात में पुत्र, सेना और वाहनों के साथ नष्ट हो जायगा । इसके राज्य में चारो ओर से इन्द्र सौ योजन तक धूल वर्षाकर ध्वस्त कर डालेंगे । दण्ड के राज्य का

नामो-निशान न रह जायगा।' ऐसा कह आश्रमवासियों को वहाँ से तुरत अन्यत्र जाने को कहा और वे सब चले गये।

मुनि ने अरजा से कहा—'तू इसी आश्रम में रह। इस एक योजन सरोवर के पास रह, कर्मफल भोगती हुई अपने उद्धार की बाट देख। तेरे समीप के जीव-जन्तु उस धूल वर्षा से बचे रहेंगे।' ऐसा कह मुनि अन्यत्र चले गये। फिर शाप वैसा ही हुआ। तभी से इस देश का नाम 'दण्डकारण्य' पड़ा।" (वाल्मी० ७–७९।८१)। 'कीन्ह सोहावन'—भयावन से शोभायुक्त (हरा-भरा, फल-फूल-युक्त) कर दिया, यथा—"जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भये मुनि बीती त्रासा॥ गिरि बन नदी ताल छवि छाये। दिन-दिन प्रति अति होत सोहाये॥" (अर० दो० १५); 'सोहावन' की जगह 'पुनीत' भी कहा है, यथा—"दंडक पुहुमि पाँय परसि पुनीत भई उकठे बिटप लागे फूलन फरन।" (वि० २५८)।

इसमें श्रीरामजी का दया-गुण है, क्योंकि आपने निःस्वार्थ रूप से जा अपने पतित-पावन चरणों से स्पर्श करके दंडक वन को 'पावन' तथा 'सोहावन' कर दिया। दया—"दया दयावतां ज्ञेया स्वार्थस्तत्र न कारणम्।" (भगवद्गुण दर्पण); तथा—"देङिधात्वर्थमादाय निर्मितो यो हरेर्गुणः। दयाख्यः श्रुति-विख्यातो नित्यो ह्येष स्वरूपतः॥" अर्थात् 'देङ्-पालने' इस धातु से निष्पन्न दया गुण निर्हेतु पालन में कहा जाता है, तथा—"दया सर्वसुखैषित्वमार्जवं समचित्तता॥" (महाशान्ति ३१३।९०); अर्थात् सबको सुख देने की अभिलाषा दया है। "क्रिया योग साधन में लिखा है कि दूसरे के कष्ट को निवारण करने के लिये जो प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है, वही दया है।" (विश्वकोष)। उसी दया गुण के साथ नाम ने अनन्त रूप से अनन्त भक्तों के मन को दण्डक-वन के समान पवित्र कर दिया है। यहाँ मन दण्ड राजा के समान है, विवेकी मुमुक्षु जीवात्मा शुक और उसकी सदसद्विवेकिनी बुद्धि अरजा है। मन का उससे बलात् सम्पर्क हुआ, तबसे रजोगुण प्रधान इन्द्रियों के विषय इसे तप्त-धूल-वर्षा के समान लगते हैं, यह दुःखी रहता है। नाम उसी दया-गुण से श्रीराम-पद-रजरूप जीव के शुद्ध स्वरूप का संयोग करा देता है (उपर्युक्त अहल्या-प्रसंग देखिये); तब यह स्वरूपानुरूप प्रभु–शेषत्व (भक्ति) करने लगता है। इससे इन्द्रियों को दिव्य सुख मिलता है, यही मन के इन्द्रिय-गण रूपी वन का पावन एवं सुहावन होना है।

(३) 'निसिचर निकर···' यहाँ पञ्चवटी के खर-दूषणादि चौदह हजार राक्षसों के वध का प्रसंग है। इसमें श्रीरामजी का शौर्य गुण है। सुर, असुर, नर, नाग आदि तीनों लोकों के वीर एकत्र होकर युद्ध करें तब भी आप उत्साह के साथ उनका सामना करें और क्षण-भर में सबका नाश करें, यथा—"सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहिं समर न जीतनिहारा॥" (अ० दो० १८८); तथा—"खरदूषन सुनि लगे पुकारा। छन महँ सकल कटक उन्ह मारा॥" (अर० दो० २१)।

इसी शौर्य गुण के साथ नाम अनन्त रूपों से अनन्त स्थलों के जीवों के हृदय की एकादश इन्द्रियाँ और तीन अन्तःकरण—इन चौदहों की कामादि सम्बन्धी सहस्र-सहस्र पाप रूप संकल्पों का निकन्दन (समूल नाश) करता है। काकभुशुण्डि स्वामी (देव) ने भी कहा है—"भाई! पंचवटी के रन में, बड़ो रंग समुझन में। चाह सुपनखा सदासुहागिनि खेलि रही मन बन में। लखन दास ताके धरि काटे नाक कान यक छन में। खर है क्रोध लोभ है दूषन काम बसै त्रिसिरन में। कामै क्रोध लोभ मिलि दरसै तीनों एकइ तन में॥ भाई०॥" (वैराग्यप्रदीप)।

दोहा—सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, बेदबिदित गुनगाथ॥२४॥

अर्थ—श्रीरामजी ने तो शबरीजी और जटायुजी-जैसे सुन्दर सेवकों को शुभ गति दी, पर नाम ने अगणित खलों का उद्धार किया। उन गुणों की कथा वेदों में प्रसिद्ध है।

विशेष—'सुसेवकनि'—श्रीशबरीजी की प्रेमपूर्ण सेवा गीतावली और भक्तमाल में प्रसिद्ध है। कथा आगे (अर० दो० ३५-३६ में) आयेगी। तथा—"घर गुरुगृह प्रियसदन सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई। तब तहँ कहे सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई।" (वि० १६४); "शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः ॥" (वाल्मी० मू० रा०)। गीधराज जटायुजी ने श्रीजानकी जी की रक्षा में अपने प्रिय प्राण ही दे दिये। इससे दोनों 'सुसेवक' कहे गये। 'सुगति दीन्हि'—यथा (शबरी)—"जोगि बृन्द दुर्लभ गति जोई। तो कहँ आजु सुलभ भइ सोई ॥" (अर० दो० ३५); (गीध)—"गीध अधम खल आमिषभोगी। गति दीन्ही जो जाँचत जोगी ॥" (अर० दो० ३२)। दोहावली २२२-२२७ में इनकी मृत्यु की सराहना छः दोहों में की है। 'नाम उधारे···' यथा—"श्वपच सबर खस जमन जड़, पामर कोल किरात। राम कहत पावन परम, होत भुवन-विख्यात ॥" (अ० दो० १९४)। "अपत अजामिल गज गनिकाऊ। भये मुकुत हरिनाम-प्रभाऊ ॥" (दो० २५)।

इन दोनों भक्तों के प्रति श्रीरामजी का अनुकम्पा-गुण है। यथा—"रक्षिताश्रितभक्तानामनुराग-सुखेच्छया। भूयोभीष्टप्रदानाय यश्च ताननुधावति ॥ अनुकम्पागुणो ह्येष प्रपन्नप्रियगोचरः ॥" (श्रीभगवद्गुणदर्पण); अर्थात् पूर्व से रक्षित एवं आश्रित भक्तों की अभिलाषा पूरी करके सुखी करने की इच्छा से जो सदा एवं बार-बार भक्तों के पीछे दौड़ा करता, वह शरणागतों का प्यार अनुकम्पा रूप गुण कहा जाता है। यही गुण नाम-द्वारा अनन्त होकर अमित खलों को भी शबरी-गीध की सी गति देता है। शबरीजी ने संचित फल दे श्रीरामजी से सद्गति पाई है, उसी प्रसंग के श्रीरामजी के अनुकम्पा-रूप गुण से उनके नाम ने अमित खलों की बुद्धियों के उनके अज्ञान से संचित कर्म-फलों को अपना (सिद्ध) कर उनकी बुद्धियों को भगवान् के चरण में लीन कर दिया, अर्थात् बुद्धियों में प्रकाशकत्व भगवान् की व्यापकसत्ता का है, यह स्थिर कर दिया। चरण के देवता विष्णु (व्यापक) हैं, वे ही हरिरूप में चरण हुए, चरण के चौबीस चिह्न चौबीस तत्त्व प्रकृति में उनकी व्यापकता के परिचायक हैं।

गृध्रजटायु ने श्रीजानकीजी की रक्षा में रावण से घायल हो श्रीरामजी के द्वारा यहीं पर चतुर्भुज रूप पाकर हरि पार्षद होने की सद्गति पाई है। वैसे उसी गुण से उनका नाम खलों के चित्तों को उनके अन्तर्यामी की शरीर-रूपता का साक्षात्कार कराता है। चित्त का देवता जीव है, यथा—"चित्तस्य देवता जीवो मनसश्चन्द्रमा तथा।" (जिज्ञासापद्धक); इसका सात्विक अहंकार ही गृध्र शरीर है, इससे रागद्वेष आदि की मांसाहारी सी वृत्ति रहती थी। अब इसने अपने को हरि-शरीर निश्चित किया तब अपने चारो अन्तःकरण हरि के चार भुजाओं के चार शस्त्र रूप हुए। बुद्धि (संख्या) शंख, चित्त चक्र, अहंकार गदा और मन पद्मवत् सिद्ध हुए। अतः, इनमें प्रकाश उन्हींके हैं। इसका सुगति पाना है।

राम सुकंठ बिभीषन दोऊ। राखे सरन जान सब कोऊ ॥१॥
नाम गरीब अनेक निवाजे। लोक बेद बर बिरद बिराजे ॥२॥

अर्थ—श्रीरामजी ने सुग्रीवजी और विभीषणजी इन दोनों को अपनी शरण में रक्खा—यह सब कोई जानते हैं ॥१॥ और नाम ने अनेक गरीबों की रक्षा की, इस (नाम) की श्रेष्ठ विरुदावली लोक और वेद में जगमगा रही है ॥२॥

विशेष—नाम में 'बर बिरद' कहा, क्योंकि श्रीरामजी ने परिश्रम करके सुग्रीवादि की रक्षा की। पीछे लोक-दिखावे में एक ने सेनासहित और दूसरे ने भेद बतलाकर कुछ सहायता भी की, किन्तु नाम में वह सहायता भी नहीं। रूप की विरद को 'जान सब कोऊ' कहा अर्थात् वेद-पुराण के बतलाने से लोग जानते हैं और नाम की विरद को 'बिराजे' कहा है कि अब भी जापक इससे सुखी होते हैं। यह प्रत्यक्ष है। अतः, नाम बड़ा है।

श्रीसुग्रीव और श्रीविभीषणजी आर्त्त भक्त थे, यथा—"सो सुग्रीव दास तव अहई ॥···दीन जानि तेहि अभय करीजै ॥" (कि० दो० ४); तथा—"कृत भूप बिभीषन दीन रहा ॥" (उ० दो० ११०); और दोनों दुःख से अकुला कर शरणागत हुए थे, यथा—"बालि-त्रास ब्याकुल दिन राती। तन बहु ब्रन चिंता जर छाती ॥ सो सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ ॥" (कि० दो० ११); तथा - "रावन-क्रोध अनल निज, श्वास समीर प्रचंड। जरत बिभीषन राखेउ·····" (सुं० दो० ४९)। इस प्रकार से आश्रित की रक्षा करने में श्रीरामजी का करुणा रूप गुण है, यथा—"सेवक को दुख देखि के, स्वामि विकल होइ जाय। दलि दुःख साजै सकल सुख, करुणा गुण सो आय ॥" यह प्रसिद्ध है, तथा—"आश्रितार्त्यग्निना हेम्नो रक्तितुर्हृदयद्रवः। अत्यन्तमृदुचित्तत्वमश्रुपातादिकृद्वत् ॥ कथं कुर्या कदा कुर्यामाश्रितार्त्तिनिवारणम्। इतिचेद्दुःखदुःखित्वमार्त्तानां रक्षणत्वरा। परदुःखानुसन्धानाद्विह्वलीभवनं विभोः। कारुण्याख्यगुणो ह्येष आर्त्तानां भीतिवारकः ॥" (श्रीभगवद्गुणदर्पण बैज०); अर्थात् आश्रित की विपत्ति रूपी अग्नि से हृदय का सोने के समान पिघल जाना, चित्त कोमल होकर उससे आँसू बहने लगना, आश्रित के दुःख का निवारण कैसे और कब करूँ, इस प्रकार दुःख से दुःखित होना एवं आर्त्तों की रक्षा में त्वरा का होना तथा दूसरों के दुःख को समझकर समर्थ भगवान् का विह्वल हो जाना, यह आर्त्तों का भय दूर करनेवाला भगवान् का करुणारूप गुण है। जैसे सेवक सुग्रीव का दुःख सुनते ही रामजी की भुजाएँ फड़क उठीं, अकुलाकर झट वालि-वध की प्रतिज्ञा कर ही दी, फिर गाली सहकर भी उसका निर्वाह करना पड़ा, ऐसे ही विभीषण का भी तुरत ही राज्याभिषेक कर दिया। रावण का संग्राम अभी शेष ही था। ये बातें करुणगुण की विह्वलता के सूचक हैं—'विह्वलीभवनं विभोः' ऊपर कहा ही गया। इसी गुण ने नाम द्वारा अनन्त रूप हो अनेक गरीबों को सुखी किया।

ऊपर के प्रसंग में बुद्धि और चित्त की सद्गति कही गई। यहाँ बुद्धि से होनेवाले ज्ञान के रक्षण और चित्त के देवता जीव के कल्याण का लक्ष्य है, यथा—"ज्ञान सुग्रीवकृत जलधि सेतू।" एवं "जीवभवदंघ्रि-सेवक बिभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसितचिंता।" (वि० ५८); श्रीरामजी ने वाली का वध कर सुग्रीव को स्वतन्त्र एवं कपिराज बना दिया, उसी गुण से उनका नाम मुमुक्षु के ज्ञान के विरोधी मान का नाशकर ज्ञान को उसके साधन शम-दमादि का स्वामित्व प्रदान करता है और जीव विभीषणजी की भाँति शुद्ध शरणागति प्राप्त करता है, तब इसके पूर्ण उपाय श्रीरामजी हो जाते हैं, यह निश्चिन्त हो जाता है।

राम भालु कपि कटक बटोरा। सेतु हेतु श्रम कीन्ह न थोरा ॥३॥
नाम लेत भव सिंधु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मन माहीं ॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी ने तो भालु-वानरों की सेना इकट्ठी की और पुल के लिये थोड़ा परिश्रम नहीं किया अर्थात् बहुत श्रम किया ॥३॥ नाम लेते ही लेते संसार रूपी समुद्र सूख जाते हैं, हे सज्जनो ! अपने मन में (नाम की बड़ाई पर) विचार कीजिये ॥४॥

विशेष—श्रीरामजी को प्रथम भालु-कपियों का कटक बटोरना, फिर तीन दिनों तक समुद्र से राह माँगना, फिर पत्थर आदि ढुलवाकर पुल बाँधना—आदि कामों में बहुत श्रम उठाना पड़ा, फिर भी सागर बना ही रहा, पर नाम के लेते ही संसार-सागर सूख जाते हैं। यहाँ 'सुखाहीं' बहुवचन है। जैसे—सागर सात हैं, वैसे भवसागर भी सात हैं। भव-सिंधु दैहिक, दैविक और भौतिक इन तीनों तापों से भरा है। इसके कारण संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण ये तीनों सकाम शुभाशुभ कर्म हैं। कर्म के सकाम होने का कारण अविद्या है। अतः, सब मिलकर सात हुए। ये सातो श्रीराम-नाम से नष्ट होते हैं—'हेतु कृसानु भानु हिमकर को···।' दो० १८ का अर्थ देखिये। ऊपर अविद्यात्मक कर्म का परिणाम देह कहा गया, उसे ही सागर भी कहा है, यथा—"कुनप अभिमान

सागर भयंकर घोर·····" (वि० ५८)। यह देह सप्त धातुओं से निर्मित है, यथा—"सातैं सप्त धातु निर्मित तनु करिय विचार।" (वि० २०४)। श्रीमद्भागवत में भी कहा है—"नाथमानो ऋषिभीतः सप्तवाध्रिः कृताञ्जलिः (भा० स्कं० ३।३१।११); अर्थात् तव सप्तधातुमय स्थूल देह से बँधा हुआ वह देहाभिमानी जीव अत्यन्त डरकर याचना करता हुआ···। इस प्रकार भी सप्त सागर आ जाते हैं। तीनों ताप देह के ही कार्य हैं। अतः, देहाभिमान को सोखना ही भव-सिंधु को सोखना है।

यहाँ श्रीरामजी का चातुर्य गुण है, क्योंकि आपने वानर-भालुओं एवं राक्षसों से उनकी भाषा में बोलने एवं प्रीति-व्यवहार से दुःसाध्य कार्य अपनी बुद्धि से किया, यथा—"केवलया स्वबुद्ध्यैव प्रयासार्थं विदुर्बुधाः। दुःसाध्यकर्मकारित्वं चातुर्यं चतुराः विदुः॥ साधकानां च सिद्धानां चतुराणां च राघवः। कीशानां भाषया रामः कीशेषु व्यपदेशकः। ऋक्षराक्षसपक्षीषु तेषां गीर्भिस्तथैव सः॥" (श्रीभगवद्गुणदर्पण, बैज०)। यही गुण लेकर नाम ने सप्तांग भव-सिन्धु को सुखा ही दिया। यह नाम की बड़ाई देखिये। आपलोग सुजान हैं। अतः, थोड़े ही में जान लें।

राम सकुल रन रावन मारा। सीय सहित निज पुर पगु धारा॥५॥
राजा राम अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनि बर बानी।६॥
सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह-दल जीती॥७॥
फिरत सनेह मगन सुख अपने। नाम-प्रसाद सोच नहि सपने॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी ने तो कुटुम्ब-समेत रावण को युद्ध में मारा और श्रीजानकी के साथ अपने पुर (श्रीअवध) में आये॥५॥ श्रीरामजी अयोध्या राजधानी में राजा हुए। देवता और मुनि श्रेष्ठ वाणी से उनके गुण गाते हैं॥६॥ पर सेवक प्रीति-सहित नाम-स्मरण करते हुए, बिना श्रम ही बड़े भारी बली मोह को उसकी सेना समेत जीतकर, नाम के स्नेह के साथ अपने सुख में मग्न हुए विचरते हैं और नाम के प्रसाद से उन्हें स्वप्न में भी सोच नहीं होता॥७-८॥

विशेष—'सकुल रावन' तथा 'प्रबल मोह दल'—"मोह दस-मौलि तद्भ्रात अहँकार पाकारि-जित काम विश्रामहारी। लोभ अतिकाय, मत्सर महोदर दुष्ट क्रोध पापिष्ठ विबुधांतकारी॥ द्वेष दुर्मुख, दंभ खर, अकंपन कपट, दर्प मनुजाद-मद-सूलपानी। अमितबल परम दुर्जय निसाचर निकर···" (वि० ५८)। तथा—"काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि।" (अर० दो० ४३)।

"गावत गुन सुर मुनि बर बानी।'—देवता बन्दीगृह से छूटे और मुनियों का भय मिटा। अतः, सब सुखी होकर गुण गाते हैं, यथा—"रिपुरन जीति सुजस सुर गावत।" (उ० दो० १); "बार-बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम के गावहिं।" (उ० दो० ४१)। देवता दिव्य होते हैं, उनकी वाणी भी दिव्य एवं सत्य होती है और मुनि लोग भी सुकृती होते हैं। अतः, सुकृत की रक्षा के लिये झूठ नहीं बोलते, यथा—"सत्यमूल सब सुकृत सुहाये।" (अ० दो० २७); "सुनहुँ भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥" (अ० दो० २०९)।

'सनेह मगन' अर्थात् नाम के स्नेह में डूबे हुए हैं, यथा—"राम सनेही सों तैं न सनेह कियो।··· जपि नाम करहि प्रनाम कहि गुन-ग्राम रामहिं धरि हिये। बिचरहि अवनि अवनीस चरन सरोज मन मधुकर किये॥" (वि० १३३); 'सुख अपने' अर्थात् निजानन्द (आत्मसुख)। 'सप्रीति'—"नाम सों प्रतीति प्रीति हृदय सुथिर थपत। पावन किय रावन रिपु तुलसिहुँ से अपत॥' (वि० १३०)।

'सेवक सुमिरत नाम··'। यहाँ के सकुल रावण-वध सम्बन्धी श्रीरामजी के स्थिरता, शौर्य, वीर्य, धैर्य, तेज और बल आदि गुणों को नामार्थ में विचारते हुए तथा 'सेवक' अर्थात् श्रीरामजी के प्रकट

अर्चारूप में एवं मानसी सेवा ध्यानपूर्वक करते हुए प्रीति से नाम जपना चाहिये। प्रीति, यथा—'अत्यन्त-भोग्यतावुद्धिरानुकूल्यादिशालिनी। अपरिपूर्णरूपा या सा स्यात्प्रीतिरनुत्तमा।" (श्रीभगवद्गुणदर्पण); अर्थात् जब इन्द्रियों के विषय मन में मिलें और मन, चित्त, अहंकार की वासना बुद्धि में मिले, तब शुद्ध बुद्धि अनुकूल होकर प्रभु के गुणों का स्मरण करते हुए लाखों अभिलाषाएँ करती रहे, वही उत्तम प्रीति है।

'फिरत सनेह मगन सुख अपने।'—जैसे श्रीरामजी अवध के राजा हुए, तब विभीषण आदि विशेष स्नेहपूर्वक सेवा-सहित ब्रह्मानन्द (आत्मसुख) के भोक्ता हुए, यथा—"ब्रह्मानन्द-मगन कपि, सबके प्रभु-पद-प्रीति। जात न जाने दिवस तिसि, गये मास षट बीति॥" (उ० दो० १५)। वैसे नाम-प्रसाद से जापक भी आत्मसुख में निमग्न रहता है।

'नाम-प्रसाद सोच नहिं सपने।'—जैसे श्रीरामजी के परिकरों के प्रति लिखा है—"बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं।" (उ० दो० १५); वैसे जापक के पक्ष में गृह रूप स्थूल-सूक्ष्म शरीर आदि में वृत्ति का जाना है। जापक नाम के प्रसाद से बराबर तुरीयावस्था में ही रहता हुआ आनन्दपूर्ण रहता है, फिर सोच कहाँ रहता है? यथा—"तरति शोकमात्मवित्" यह श्रुति है। तथा—"प्रीति रामनाम सो प्रतीति राम नाम की प्रसाद राम नाम के पसारि पाँय सूतिहौं॥" (क० उ० ६९)।

दोहा—ब्रह्म राम ते नाम बड़, बरदायक बरदानि।
रामचरित सतकोटि महँ, लिय महेस जिय जानि॥२५॥

अर्थ—(१) ब्रह्म (निर्गुण) और राम (सगुण) से यह (राम) नाम बड़ा है और वर देने-वालों का भी वरदाता है। शिवजी ने हृदय में ऐसा जानकर सौ करोड़ रामचरितों में से (अपने लिये 'राम' नाम) लिया॥ (२) शिवजी ने सौ करोड़ रामचरितों का जीव (वा प्राण) जानकर लिया।

विशेष—(१) ऊपर 'कहउँ नाम बड़ ब्रह्म रामते।' उपक्रम है, उसीका उपसंहार यहाँ—'ब्रह्म राम ते नाम बड़···' पर हुआ। 'बरदायक बरदानि' का भाव यह है कि वर देनेवाले त्रिदेव हैं, यथा—"बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु-समीप आये बहु बारा॥ माँगहु बर बहु भाँति लोभाये।···" (दो० १४४)। नाम इनका भी वरदाता है, यथा—"सावित्री ब्रह्मणा सार्द्धं लक्ष्मीर्नारायणेन च। शम्भुना राम रामेति पार्वती जपति स्फुटम्॥" (पुलहसंहिता); 'लिय महेस जिय जानि'। यथा—"सतकोटि चरित अपार दधि-निधि मथि, लियो काढ़ि बामदेव नाम घृतु है।" (वि० २५.८)।

शंका—तब तो शेष सभी चरित छाछ की तरह निस्सार रह गये?

समाधान—यहाँ उपमा का केवल इतना ही अंश लिया गया है कि जैसे घी दही में सार तत्त्व है, वैसे नाम चरित का सार रूप है। चरित नाम का अर्थ है और गिरा-(वाणी)-अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। यथा—'गिरा अरथ···' दो० १८ में कहा गया। इसीसे रामचरित के एक-एक अक्षर प्रभावशाली हैं, यथा—"चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्। एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्॥" कहा है। अतः, 'मथि लियो काढ़ि' का 'छानबीन करके निश्चित किया' यह भाव है।

इसकी कथा इस प्रकार है—ब्रह्माजी ने सौ करोड़ रामचरित रचे और नारदजी को पढ़ाये। श्रीनारदजी से सूत्र-रूप में प्राप्त कर ब्रह्माजी की प्रेरणा से श्रीवाल्मीकिजी ने सौ कोटि श्रीरामचरित बनाये और भक्तों में अगुआ जानकर श्रीशिवजी को दिखाये। कैलाश पर कथा होने लगी। वहाँ तीनों लोकों के श्रोता सुनने आये। सब सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। देवताओं ने चाहा कि ये सब सुर-लोक में ही रहें, तब श्रीशिवजी ने उनके तीन भाग कर दिये। अब जब सौ करोड़ श्लोकों में से प्रत्येक (स्वर्ग-मर्त्य-पाताल) को

३३३३३३३३३ मिलने पर १ श्लोक बचा, जो अनुष्टुप् छन्द का था; क्योंकि गणना इसी छन्द से होती है, इसके ३२ अक्षरों में भी दस-दस अक्षर फिर तीनों लोकों में बाँटे गये, शेष दो अक्षर 'रा-म' बचे। इन्हें श्रीशिवजी ने अपना भाग कहकर ले लिया कि इन्हीं से हम त्रिलोकों से न्यारी काशी के निवासियों का उद्धार करेंगे।

अतः, प्रथम अर्थ के अनुसार श्रीशिवजी ने अपने वर देने का प्रकाशक जानकर और दूसरे के अनुसार चरित का सार तत्त्व जानकर लिया। वे निरन्तर जपते रहते हैं। यहाँ तक दो दोहों में सगुण की अपेक्षा भी सौलभ्य गुण में नाम को बड़ा कहा।

नाम - प्रसाद संभु अविनासी। साज अमंगल मंगलरासी ॥१॥
सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी। नाम-प्रसाद ब्रह्म-सुख भोगी ॥२॥

अर्थ—इस नाम के प्रसाद से श्रीशिवजी अविनाशी हैं और शरीर में अमंगल साज रखते हुए भी मंगल की राशि हैं ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी और श्रीसनकादिक (सनक, सनातन, सनन्दन, सनत्कुमार) सिद्ध मुनि और योगी नाम के ही प्रसाद से ब्रह्मानन्द के भोगी हैं ॥ २ ॥

विशेष—(१) 'नाम प्रसाद संभु···' श्रीरामतापनीयोपनिषद् में कथा है कि श्रीशिवजी ने काशीवासियों को मुक्त करने के लिये हजारों मन्वन्तरों तक श्रीराम-मन्त्राराधन कर श्रीरामजी से वर माँगा। तब श्रीरामजी ने वर दिया और कहा कि आप इस काशी-क्षेत्र में जिसके कान में मेरा मन्त्र उपदेश करेंगे, वह मुक्त होगा। इसीसे श्रीशिवजी जन्तुमात्र को मुक्ति देते हैं। अतः, मंगल की राशि हैं। वे कालकूट पीकर नाम के प्रसाद से ही अविनाशी हुए, जो पूर्व दो० १८ में कहा गया। 'साज अमंगल'—भूत-प्रेतों का संग, भाँग-धतूर आदि का सेवन, चिता-भस्म आदि का लेपन, मुण्डमाल का धारण, बैल की सवारी, सर्पादि का लपेटना इत्यादि अमंगल साजों से भी नाम के प्रसाद से शिवजी मंगल-राशि हैं।

(२) 'सुक सनकादि···' शुकदेवजी, यथा—"यन्नामवैभवं श्रुत्वा शङ्कराच्छुकजन्मना। साक्षादीश्वरतां प्राप्तः पूजितोऽहं मुनीश्वरैः ॥ नातः परतरं वस्तु श्रुतिसिद्धान्तगोचरे। दृष्टं श्रुतं मया क्वापि सत्यं सत्यं वचोमम ॥" (शुकसंहिता); अर्थात् एक समय शिवजी पार्वतीजी को अमरकथा (रामनामार्थ) सुनाते थे। शिवजी ने यद्यपि करताली से सब पक्षियों को उड़ा दिया था, फिर भी संयोग से एक तोते का अंडा, जो सूख गया था, समीप में रह गया। बस, वह अमरकथा के प्रभाव से सजीव होकर सुनने लगा। 'छल से कथा सुन रहा है'—यह जानकर शिवजी ने उसे त्रिशूल से मारना चाहा। वह उड़ता हुआ आया और जम्हाई लेती हुई व्यासजी की पत्नी के मुख से उदर में प्रवेश कर गया। वही शुकदेव के रूप से प्रकट हुआ जो परमहंसों के भी गुरु हुए। (गणेशपुराण में भी यह कथा कही जाती है); इसी महत्त्व का स्मरण कर शुकदेवजी ने स्वयं कहा है कि जिनका नाम-वैभव शिवजी से सुनकर मैंने शुकजन्म से भी इतनी श्रेष्ठता पाई कि मुनीश्वरों से भी पूज्य हुआ। अतः, नाम से श्रेष्ठ कुछ नहीं है, यह मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ। श्रीमद्भागवत में भी उन्होंने नाम का प्रभाव बहुत कहा है। महा० शान्ति० ३२३-३२६ अ० में कथा है कि व्यासजी ने पुत्र के लिये तपस्या की, बहुत तप के पश्चात् शिवजी ने वरदान दिया कि जैसा पुत्र चाहते हो वैसा ही होगा। वह सिद्ध ब्रह्मज्ञानी होगा। व्यासजी ने अरणी मन्थन करते हुए घृताची अप्सरा को देखा। ये मोहित हो गये। वह भी शुकी हो गई, व्यासजी मन को न रोक सके। अरणी के बीच उनका वीर्यपात हुआ। उससे शुकदेवजी का जन्म हुआ। शुक्र मात्र से जन्म हुआ, इससे 'क्र' का रकार को त्यागकर 'शुक' नाम से प्रसिद्ध हुए। गंगाजी ने प्रकट होकर सुमेरु पर्वत के ऊपर अपने जल से इन्हें स्नान कराया। आकाश से इनके निमित्त दंड और कृष्ण मृग-चर्म गिरा। शिव-पार्वती ने उपनयन किया। इन्द्र ने इन्हें कमंडलु और दिव्यवस्त्र दिये। बृहस्पतिजी ने वेद-वेदांग पढ़ाया। ज्ञान और तप

से युक्त हुए, गार्हस्थ आदि तीन आश्रम में नहीं रँगे। फिर पिता की आज्ञा से जनकजी के यहाँ जाकर विशेष ज्ञान प्राप्त किया। सनकादि की नाम-निष्ठा उनकी (सनत्कुमार) संहिता से प्रकट है, यथा—"श्रीरामेति परं जाप्यं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम्।" (श्रीरामस्तवराज)। 'सिद्ध मुनि, जोगी', यथा—"सुक सनकादि मुक्त बिचरत···" (वि० ८६); तथा—"योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे।" (श्रीमद्-भागवत १२।१३।२१)। शुक को सनकादि से प्रथम कहे जाने का भाव पूर्व दो० १७ चौ० ५ के विशेष में कहा गया है।

नारद जानेउ नाम - प्रतापू। जग-प्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू ॥३॥
नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू ॥४॥

अर्थ—श्रीनारदजी ने राम-नाम का प्रताप जाना है। संसार को हरि प्रिय हैं और हरि को हर (महादेव) प्रिय हैं, तथा हर को (वा हरि-हर दोनों को) आप (नारदजी) प्रिय हैं ॥३॥ नाम जपने से प्रभु ने अनुग्रह (प्रसन्नता प्रकट) किया, उससे प्रह्लादजी भक्तों के शिरोमणि हुए ॥४॥

विशेष—(१) 'जग प्रिय हरि···' में मालादीपक अलंकार है, यथा—"जग जपु राम राम जपु जेही।" में है। जगत् को हरि प्रिय हैं, यथा—"ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी।" (दो० १२५); हरि को हर प्रिय हैं, यथा—"कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे।" (दो० १३०); और हरि-हर—दोनों को नारदजी प्रिय हैं, यथा—"करत दंडवत लिये उठाई। राखे बहुत बार उर लाई।···कवन बस्तु असि प्रिय मोहि लागी। जो मुनिबर न सकहु तुम माँगी॥" (अर० दो० ४०-४१); यह हरि-प्रियत्व है, तथा—"मार-चरित संकरहिं सुनाये। अति प्रिय जानि महेस सिखाये॥" (दो० १२६); यह हर-प्रियत्व है।

'नारद जानेउ नाम प्रतापू'—नारद-मोह के प्रसंग में नाम का प्रताप प्रकट है जो कथा आगे आवेगी। ये जब भगवान् का नाम-स्मरण करने लगे, तब शाप की गति रुक गई और अचल समाधि लग गई। इन्द्र ने काम को भेजा, वह सम्पूर्ण कला करके हार गया, यथा—"काम-कला कछु मुनिहिं न ब्यापी।" फिर काम ने डरकर चरण पकड़ लिये। नारद के मन में भी कुछ रोष नहीं हुआ। प्रत्युत उन्होंने उसे प्रिय वचनों से समझाया, यथा—"भयेउ न नारद मन कछु रोपा॥" उस समय उन्होंने नाम का प्रताप नहीं समझकर अपना प्रभाव मान लिया। इसपर जब विश्वमोहिनी-द्वारा काम-क्रोध दोनों से हारे, तब जाना कि पूर्व में नाम के प्रताप से ही मैंने काम को जीता था। काम जीतने से शिवजी के प्रिय हुए, क्योंकि शिवजी ने भी काम को जीता है। सजातीय में प्रियत्व होता ही है, यथा—'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्।' भृगु की परीक्षा में भगवान् क्रोधजित् सिद्ध हैं, इससे नारदजी क्रोध के जीतने से हरि के प्रिय हुए।

(२) 'नाम जपत···प्रहलादू।'—प्रह्लादजी भक्तशिरोमणि कहे गये, क्योंकि बारह परम भागवतों में इनकी प्रथम गणना है, यथा—"प्रह्लाद-नारद-पराशर-पुंडरीक-व्यासाम्बरीष-शुक-शौनक-भीष्म-दाल्भ्यान्। रुक्माङ्गदार्जुन-वसिष्ठ-विभीषणादीन् पुण्यानिमान्परमभागवतान्स्मरामि॥" (पाण्डवगीता); तथा—"भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः। भवान्मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक्॥" (भाग० ७।१०।२१); अर्थात् नृसिंह भगवान् ने प्रह्लादजी से कहा है कि जगत् में जो पुरुष तुम्हारे अनुयायी होंगे, वे मेरे भक्त हो जायँगे, निश्चय ही तुम मेरे सभी भक्तों के आदर्श हो। यहाँ श्रीनारदजी का नाम प्रह्लादजी से प्रथम लिखे जाने का कारण, एक तो नामार्थ के अन्तर्गत तत्त्व विचार का क्रम है, दूसरे यह कि नारदजी इनके गुरु हैं।

श्रीप्रह्लादजी की कथा

"पूर्व समय में दिति के पुत्र हिरण्यकशिपु ने घोर तप किया, श्रीब्रह्माजी उसे वर देने आये। हिरण्यकशिपु ने स्तुति की और फिर वर माँगा कि 'आपके बनाये हुए किसी भी जीव—मनुष्य, पशु, प्राणी, अप्राणी, देवता, दैत्य एवं नाग आदि—किसीसे भी मेरी मृत्यु न हो। भीतर-बाहर, दिन में, रात में, आपकी सृष्टि के अतिरिक्त किसी जीव से, अस्त्र-शस्त्र से, पृथ्वी एवं आकाश में, कहीं भी मेरी मृत्यु न हो। युद्ध में कोई सामना न कर सके, मैं स्वतन्त्र सम्राट् होऊँ। लोकपालों में आपकी-सी महिमा मेरी भी हो तथा तपस्वियों और योगियों के अक्षय ऐश्वर्य (अणिमादि) भी मुझे प्राप्त हों।' ब्रह्माजी ने उसे ये सभी वर दे दिये।" (भाग० ७।३-४)।

दैत्य-बालकों के पूछने पर प्रह्लादजी ने स्वयं कहा है—"मेरा पिता तप करने मन्दराचल पर गया था। तब इन्द्रादि देवों ने धावा किया। दैत्यगण इधर-उधर भाग गये। देवों ने लूटपाट कर मेरी माता कयाधू को बन्दी बना लिया। इन्द्र उसे ले जा रहे थे और वह रोती जाती थी। देवर्षि नारदजी वहाँ आ गये। उन्होंने इन्द्र से निरपराध सती अबला को छोड़ देने को कहा। इन्द्र ने कहा कि इसके उदर में दैत्यराज का वीर्य है। बालक होने पर उसे मारकर इसे छोड़ दूँगा। नारदजी ने कहा कि वह बालक हरिभक्त, निष्पाप और महात्मा है, उसे तुम नहीं मार सकते। देवर्षि की आज्ञा मान इन्द्र ने मेरी माँ को छोड़ दिया। गर्भ में भक्त है—ऐसा मानकर इन्द्र ने मेरी माँ की प्रदक्षिणा की और चले गये।

"मेरी माँ को नारदजी अपने आश्रम पर ले जाकर आश्वासित कर वहीं रहने की आज्ञा दी और कहा कि पति के तपस्या से आने तक यहीं रहो। मेरी माँ वहाँ आश्रम में मुनि की शुश्रूषा करती थी। दयालु श्री नारदजी ने भागवत धर्म और विशुद्ध ज्ञान का उपदेश मेरे सुनने के उद्देश्य से माँ के प्रति कहा। स्त्रीत्व स्वभाव से मेरी माँ को तो स्मृति नहीं रही, पर मुनि की विशेष कृपा से मुझे स्मृति है।" (भाग० ७।७।१-१६)।

"उधर हिरण्यकशिपु वर पाकर भाई का वैर स्मरण कर विष्णु से वैर करने लगा। उसने तीनों लोकों को वश में कर लिया। लोकपालों की शक्ति एवं उनके स्थान भी छीन लिये। देवगण स्वर्ग छोड़ जहाँ-तहाँ फिरते थे। आकाशवाणी ने देवों को भरोसा दिया कि यह पुत्र-द्रोह करेगा, तब मारा जायगा। उसके प्रह्लाद नाम का एक पुत्र हुआ। वह गर्भ के उपदेशानुसार धर्मात्मा और राम नाम जापक हरि-भक्त हुआ। इसीसे हिरण्यकशिपु इस पुत्र से वैर करने लगा। इन्हें मारने के लिये उसने बहुत-से उपाय किये। अस्त्रों-शस्त्रों से, साँपों से कटवा कर, हाथियों से कुचलवाकर, पहाड़ की चोटी से गिरवाकर, समुद्र में डलवाकर एवं पर्वतों से दबवाकर तथा अग्नि में जलवाकर हार गया। अन्त में उसने इन्हें सभा के खम्भे में बँधवा कर स्वयं तलवार से मारने पर उद्यत हुआ। उसने धमकी देते हुए कहा—'बता, तेरा रक्षक राम कहाँ है? अब मैं स्वयं मारता हूँ।' प्रह्लादजी ने कहा—'वह सर्वत्र है, तुममें, मुझमें, खड्ग में और इस खम्भ में भी है।' वह कूदकर उस खम्भे में मुष्टिका मारी, तो बड़े भारी शब्द के साथ उसी खम्भे से भगवान् नृसिंह रूप से प्रगट हुए। उस दैत्य के समक्ष विकराल रूप से खड़े हो गये। दैत्य गदा ले भगवान् से युद्ध करने लगा। भगवान् ने कुछ रण-क्रीड़ा कर उसे पकड़ लिया और घर की चौखट पर अपनी जाँघों पर गिराकर नखों से उसका कलेजा विदीर्ण कर दिया और उसकी आँतों की माला पहन ली।

ब्रह्मादि देव एवं श्रीलक्ष्मीजी भी नृसिंह भगवान् को शान्त न कर सकी तब श्रीप्रह्लादजी की ही प्रार्थना पर वे शान्त हुए और इन्हें वर माँगने को कहा। इन्होंने निष्काम भक्ति ही माँगी। फिर पिता के दोषों को भी क्षमा करने की प्रार्थना की। भगवान् ने कहा कि तुम सरीखे भक्तों के पिता की कौन कहे २१ पीढ़ियाँ तर जाती हैं। तुम मेरी आज्ञा से इस मन्वन्तर भर राज्य करो। मेरी भक्ति में रत रहते हुए अन्त में मेरे धाम आओगे। (भाग० ७।४-१०)।"

इस प्रकार नाम जपते हुए भक्त पर प्रभु की कृपा हुई और इन भक्त शिरोमणि की कीर्त्ति संसार में गाई जाती है।

ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायेउ अचल अनूपम ठाऊँ ॥५॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू ॥६॥

अर्थ—ध्रुवजी ने ग्लानि के साथ हरि का नाम जपा, (उससे) उन्होंने अचल और उपमारहित स्थान पाया ॥५॥ पवन के पुत्र श्रीहनुमान्‌जी ने इस पवित्र नाम का स्मरण करके श्रीरामजी को अपने वश में कर रक्खा है ॥६॥

विशेष—'ध्रुव सगलानि''' ध्रुवजी की कथा यहाँ संक्षेप में लिखी जाती है—

ध्रुवजी की कथा

स्वायम्भुवमनु के उत्तानपाद और प्रियव्रत नामक दो पुत्र थे। राजा उत्तानपाद के दो रानियाँ थीं—सुरुचि और सुनीति। सुरुचि से पिता का दुलारा 'उत्तम' नामक पुत्र था और सुनीति में राजा का प्रेम नहीं था, उसके पुत्र का नाम 'ध्रुव' था। एक दिन राजसिंहासन पर बैठे हुए पिता की गोद में अपने भाई उत्तम को बैठा हुआ देखकर ध्रुवजी की इच्छा हुई कि मैं भी पिता की गोद में बैठूँ, परन्तु राजा ने अपनी प्रेयसी के सामने उसके सौत के पुत्र का—प्रेमवश गोद के लिये उत्कंठित होने पर भी—आदर नहीं किया। इसपर सुरुचि कहने लगी—"अरे वत्स! बिना मेरे पेट से उत्पन्न हुए तू व्यर्थ ऐसा ऊँचा मनोरथ क्यों करता है? यह राज्यासन मेरे ही पुत्र के योग्य है, तू यह मनोरथ कर अपने चित्त को व्यर्थ सन्ताप दे रहा है, क्या तू नहीं जानता कि तेरा जन्म सुनीति से हुआ है?"

विमाता के ऐसे वचन सुनकर बालक ध्रुव कुपित होकर अपनी माता सुनीति के महल को चले गये। ध्रुव क्रोधयुक्त थे, इनके ओष्ठ काँप रहे थे। माता ने कारण पूछा, इन्होंने सब बातें कह दीं, गर्वीली सौत के मर्म वचन सुनकर सुनीति खिन्न होकर बोली—"पुत्र! सुरुचि ने सत्य ही कहा है, अवश्य ही तू मन्दभाग्य है। पूर्व कर्म के अनुसार ही इस जन्म में हानि-लाभ आदि होते हैं। राजा के यहाँ मेरा निरादर और सुरुचि का आदर है। वैसे ही उत्तम का आदर और तुम्हारा निरादर है। तुम भी सुकृत करके पात्र बनो, तो सम्पत्ति आप ही आकर प्राप्त होगी।"

ध्रुव के ग्लानि से क्षुभित हृदय में वे बातें नहीं ठहर सकीं, शान्ति नहीं दे सकीं। इन्होंने कहा—"मैं अब ऐसा प्रयत्न करूँगा कि जिससे सर्वश्रेष्ठ लोक प्राप्त करूँ, जिसे पिता ने भी नहीं पाया है। 'उत्तम' पिता का दिया हुआ पद प्राप्त करे, परन्तु मैं तो अपने पुरुषार्थ से प्राप्त किये हुए सर्वश्रेष्ठ लोक की इच्छा करता हूँ।" यह कहकर ध्रुव महल से निकल पड़े। नगर से बाहरी उपवन में पहुँचे। वहाँ बैठे हुए सप्तर्षियों को प्रणाम किया और अपना परिचय देते हुए अपनी ग्लानि कही। उन्होंने कहा—'अभी तो तू चार वर्ष का ही बालक है। तुझे वैराग्य एवं ग्लानि क्यों कर हुई?" ध्रुव ने सुरुचि के वचन कहे। यह सुनकर सप्तर्षियों ने कहा—"अहो क्षात्रं परं तेजो बालस्यापि यदक्षमा। सपत्न्या मातुरुक्तं यद्धृदयान्नापसर्पति॥" अर्थात् अहो! क्षात्र-तेज कैसा प्रबल है, जिससे बालक में इतनी असहनशीलता है कि इसके हृदय से विमाता के वचन नहीं टलते।

सप्तर्षियों ने कहा—"अब तू क्या चाहता है?" ध्रुव ने कहा—"मैं राज्य आदि कुछ नहीं चाहता, मैं तो वही लोक चाहता हूँ जो सर्वश्रेष्ठ हो और किसीने अभी तक उसे न भोगा हो।" इसपर सप्तर्षियों ने पृथक्-पृथक् परमात्मा श्रीहरि की आराधना ही एक मात्र उसकी प्राप्ति का उपाय कहा और यह भी कहा कि इससे तू और भी जो चाहे उत्तमोत्तम स्थान प्राप्त कर सकेगा। ध्रुव ने कहा कि मुझे

अब क्या जप करना चाहिये? उन्होंने विधान बतलाकर 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' यह मन्त्र बतलाया और उसकी परम्परा भी कह दी कि इसे ही पितामह स्वायम्भुव मनु ने भी जपा था और सिद्धि पाई थी। वैसे तू भी गोबिन्द को प्रसन्न कर। यह सुनकर ध्रुवजी उन्हें प्रणाम करके वन को चल दिये। यमुना तट पर मधु नामक वन में गये। इनके पहले वहाँ मधुदैत्य रहने लगा था, जिससे उस वन का नाम मधुवन पड़ा। मधुपुत्र लवण को मारकर वहीं पर श्रीशत्रुघ्नजी ने मधुरा (मथुरा) पुरी बसाई। वहाँ पवित्र स्थल पर ध्रुवजी तप करने लगे। वे अखिलेश्वर श्रीहरि का ही ध्यान करते थे और उपर्युक्त मन्त्र जपते थे।

अनन्य भाव पूर्वक इनकी आराधना से इनके हृदय में सर्वभूतान्तर्यामी भगवान् हरि सर्वतोभाव से प्रकट हुए। पृथ्वी इन्हें धारण में असमर्थ होने लगी। तब इन्द्रादि देवों ने विघ्न करना आरम्भ किया। वे इनका ध्यान-भंग करने के लिये बहुत उपाय किये। माया से रचकर इनकी माता बनाई, उसके द्वारा बहुत तरह से इनका ध्यान छुड़ाने के उपाय किये। उस माया की सुनीति ने ध्रुव को अपने प्राण त्याग का भी भय दिया, पर इन्होंने नहीं सुना। फिर बहुत-से राक्षस-गण नाना रूप से भयंकर विघ्न करने लगे, पर इनपर उनका कुछ प्रभाव न पड़ा। तब वे देवगण डरकर भगवान् की शरण गये। उन्होंने भगवान् की बहुत स्तुति की और ध्रुव के तप-निवारण की प्रार्थना की।

भगवान् ने इन्हें सान्त्वना दी और ध्रुव की आराधना से प्रसन्न होकर इनके पास आये। इनसे वर माँगने को कहा। इन्होंने प्रणाम किया और उनकी स्तुति करने की इच्छा की। भगवान् ने दया करके इनको अपने शंख के अग्र भाग से छू दिया। उससे इन्हें सम्पूर्ण विद्या का ज्ञान हो गया। फिर इन्होंने बड़ी स्तुति की। भगवान् ने कहा कि मेरा साक्षात् दर्शन तुझे हुआ, इससे तेरी तपस्या सफल हुई। मेरा दर्शन सफल है इससे तू जो इच्छा हो माँग ले। इन्होंने उपर्युक्त सर्वविश्व के आधारभूत अव्यय स्थान को माँगा। भगवान् ने कहा कि तूने पूर्व जन्म में भी मुझे सन्तुष्ट किया था, इससे तू अवश्य अभीष्ट लोक पावेगा।

मेरी भक्ति से तो मोक्ष भी मिलता है, तब और लोकों की क्या बात? फिर उस ध्रुव-लोक का माहात्म्य भी कहा और इन्हें कल्प भर के लिये उसमें स्थिति दी। यह भी कहा कि मेरी माता सुनीति भी तारा रूप से कल्प तक वहीं निवास करेगी।" यह कथा वि० पु० १।११-१२ के अनुसार है।

भाग० ४।६ में यह भी लिखा हुआ है कि ध्रुवजी तप कर और वरदान पा लौटकर घर आये और इनके पिता इन्हें राज्य देकर वन को गये। इन्होंने ३६००० वर्ष पृथ्वी पर राज्य किया है। पर विषयों से निर्लिप्त रूप में रहते थे। अन्त में अपने ध्रुवलोक को गये। जहाँ योगिजन जाकर फिर संसार में नहीं आते। कल्प भर उस लोक में रहकर हरि-धाम को प्राप्त होंगे।

यह ध्रुवजी की उपर्युक्त कथा विस्तृत रूप में स्कन्द पु० काशीखण्ड पूर्वार्द्ध में भी है। विशेष जिज्ञासु वहीं देखें।

(२) 'सुमिरि पवनसुत···'। 'पावन' नाम के साहचर्य में स्मरणकर्त्ता भी योग्य कहे गये, क्योंकि पवन स्वतः पवित्र है तथा औरों को भी पवित्र करता है, यथा—"पवनः पवतामस्मि।" (गीता १०-३१); उसके पुत्र परम पावन हैं। पावन वह है, जिसमें विकार न हो और छओ विकारों में सबका मूल काम है। कामनाएँ जिन पदार्थों की होती हैं, वे सब मणि में रहती हैं, यथा—"असन बसन बसु बस्तु बिबिध बिधि सब मनिमहँ रह जैसे।" (वि० १२५); ऐसी बहुमूल्य मणियों की माला को भी श्रीहनुमानजी ने श्रीरामनाम से हीन (निःसार) जानकर तोड़ डाला। फिर अपने रोम-रोम में श्रीरामनाम को ध्वनि समेत दिखा दिया।" (भक्तमाल-टीका-प्रियादास क० २७); तथा—"नाम्नः पराशक्तिपतेः

प्रभावं प्रजानते मर्कटराजराजः। यद्रूपरागीश्वरवायुसूनुस्तद्रोमकूपे ध्वनिमुल्लसन्तम्॥" (प्रमोदनाटक)। आपने निष्काम नाम जप किया है, इसीसे श्रीरामजी आपके वशीभूत हैं, यथा—"बचन करम मन मोरि गति, भजन करहिं निःकाम। तिन्हके हृदय कमल महँ, सदा करउँ विश्राम॥" (अर० दो० १६)। सकाम स्मरण अपावन है। श्रीहनुमानजी ने साधन एवं सिद्धि किसी भी अवस्था में कुछ नहीं चाहा, यही बात 'राखे' पद में है कि प्रभु को वश में कर लेने पर भी उनसे कुछ नहीं चाहते, यथा—"दीबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तु पत्र लिखाउ।" (वि० १००); और देवता मन्त्र से वश होते हैं, यथा—"मंत्र परम लघु जासु बस, बिधि हरिहर सुर सर्ब।" (दो० २५६); श्रीरामजी का मन्त्र 'राम' नाम है, इसीसे इसके जप से वे वश होते हैं।

यहाँ छः लक्ष्य उत्तम भक्तों के लिखे गये। इन लक्ष्यों के आधार पर मुमुक्षु जापक स्व-स्वरूप प्रयुक्त छहो लक्षणों [ज्ञानानन्दस्वरूपता, ज्ञानानन्दगुणकता, अणुपरिमाणता, देहादि विलक्षणता, स्वयं प्रकाशता और नित्यरूपता (रहस्यत्रय, अग्रस्वामिकृत)] को निर्विघ्न स्थिर रख पाता है। क्रमशः छहो लक्ष्य आधार रूप में कहे गये हैं, इन लक्ष्यों के रहस्य मेरे 'श्रीमन्मानस नाम वन्दना' ग्रन्थ में देखें।

यहाँ तक उच्चकोटि के छः भक्त कहे गये। आगे तीन पतित भी कहते हैं—

अपत अजामिल गज गनिकाऊ। भये मुकुत हरिनाम-प्रभाऊ॥७॥
कहउँ कहाँ लगि नाम बड़ाई। राम न सकहिं नाम गुन गाई॥८॥

अर्थ—अजामिल, गजेन्द्र और गणिका ऐसे पतित भी हरि-नाम के प्रभाव से मुक्त हुए॥७॥ मैं नाम की बड़ाई कहाँ तक कहूँ, श्रीरामजी भी नाम के गुण नहीं गा सकते॥८॥

विशेष—'अपत अजामिल···' 'अपत' = पतित, यथा—"पावन किय रावन-रिपु तुलसिहुँ से अपत।" (वि० १२६); तथा—"पतितपावन राम नाम सों न दूसरो।" (वि० ६९)।

अजामिल की कथा

कान्यकुब्ज देश में एक अजामिल नाम का ब्राह्मण था, वह पहले श्रुत-सम्पन्न, सुस्वभाव,, सदाचारशील एवं सद्गुणों का स्थान था। वह व्रतधारी, कोमल, इन्द्रियजित्, सत्यनिष्ठ, मन्त्रज्ञ और पवित्र था और भी उसमें बहुत सुलक्षण थे। वह एक दिन पिता की आज्ञा से वन को गया। वहाँ से फल फूल एवं लकड़ी तथा कुश आदि लेकर लौटा। लौटते समय उसने एक कामी शूद्र को मदिरा पिये हुए एक वेश्या से रमण करते हुए देखा। वह निर्लज्ज भाव से गलबाँही दिये हँसता और गाता था। उसे देखकर अजामिल सहसा कामवश हो गया। मन को रोक न सका। वह अपने को सँभाल न सका। उसीके ध्यान में निमग्न रहने लगा। वेश्या को अनुकूल करने में उसने पिता की सम्पत्ति नष्ट कर दी। वेश्या की कटाक्षों से घायल हो उसने अपनी सत्कुल-प्रसूता युवती ब्राह्मणी को शीघ्र ही छोड़ दिया। जैसे-तैसे उपायों से धन लाकर वह उसीके परिवार का पालन करता था। शास्त्र-विधि त्यागकर उसीके हाथ का मलरूप अन्न खाता था। ऐसे ही बहुत काल बीत गये, उसकी आयु समाप्त हो चली। यमदूत उसकी शुद्धि की ताक में थे।

उस दासी से उसके दस पुत्र थे, छोटे पुत्र का नाम नारायण था। उसकी अट्ठासी वर्ष की आयु बीत गई। जुए, चोरी आदि से उसके कुटुम्ब का पालन करता था। अजामिल छोटे पुत्र नारायण में ही अनुरक्त रहते थे। सहसा अजामिल का मृत्युकाल आ गया। उस समय उसका चित्त उसी पुत्र नारायण में लग गया। उसी समय हाथ में पाश लिये बड़े भयंकर यमदूत उसे लेने आ गये। अजामिल ने उन दूतों के देखते ही दूर पर खेलते हुए अपने पुत्र को ऊँचे स्वर से पुकारा—"नारायण! नारायण!!" मरते

हुए उसके मुख से अपने स्वामी का नाम सुनते ही भगवान् विष्णु के पार्षद आ गये। अजामिल के प्राण निकालते हुए यमदूतों को बलपूर्वक पार्षदों ने रोका। दूतों ने यमराज की आज्ञा तोड़नेवाले पार्षदों से उनका परिचय पूछा। फिर दोनों पक्षों में धर्मज्ञान पर वाद-विवाद हुआ।

अन्त में हरि-पार्षदों ने कहा कि उस ब्राह्मण ने अन्त में भगवान् का नाम लिया है, इससे उसके करोड़ों जन्मों के पापों का प्रायश्चित्त हो गया। पार्षदों ने इस बात की बहुत तरह पुष्टि की। "साङ्केत्यं परिहास्यं वा'''पतितः स्खलितः'''" (भा०६।२।१४-१५); श्लोक कहा, तथा—"अज्ञानादथवा ज्ञानाद्'''" (भा० ६।२।१८); यह भी कहा कि जान से और चाहे अनजान से लिया हुआ हरि नाम पापों को उसी तरह जला डालता है जैसे ईंधन को अग्नि। कोई बिना जाने भी ओषधि खा लेता है तो वह ओषधि अपना गुण दिखाती ही है। हरि नाम भी वैसा ही है।

ऐसा कहकर पार्षदों ने उसे यम-पाश से छुड़ा लिया। यमदूतों ने जाकर यमराज से सब समाचार कहा। इधर अजामिल ने सावधान होकर पार्षदों को प्रणाम किया और बड़ा आनन्द माना। फिर वे पार्षद अन्तर्धान हो गये। (हरि पार्षदों के दर्शन से उसकी आयु भी कुछ बढ़ गई); उसे पार्षदों और यमदूतों के संवाद सुनकर विवेक हुआ और फिर अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप हुआ। हरि भजन का दृढ़ निश्चयकर वह हरिद्वार तीर्थ में गया और वहाँ भगवान् का भजन करते हुए कुछ समय तक रहा। फिर सहसा उन्हीं हरि-पार्षदों के दर्शन हुए, उसने दण्डवत् प्रणाम किया। उनके दर्शनों के साथ शरीर त्यागकर उसने उनका-सा मनोहर और पवित्र रूप पाया। फिर विमान पर चढ़ परम धाम को गया। इसपर श्रीशुकदेवजी ने कहा है, यथा—"म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन्पुत्रोपचारितम्। अजामिलोऽप्यगाद्धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन्॥" (भाग० ६।२।४६); यह सम्पूर्ण कथा भाग० ६।१–२ के अनुसार है।

गजेन्द्र की कथा

"त्रिकूट नाम का एक बहुत प्रसिद्ध सुन्दर पर्वत था। उसकी चारो ओर क्षीरसागर था। वह अयुत योजन ऊँचा और उतना ही चारो ओर फैला था। उसके सोने, चाँदी और लोहे के तीन शिखर थे, उनके बीच में एक बड़ा भारी सरोवर था। उसमें तरह-तरह के कमल फूले रहते थे। वहाँ उस पर्वत पर वरुणदेव का ऋतुमत् नाम का बाग था, वह बड़ा सुशोभित था। एक दिन उस पर्वत पर वहीं के वन में रहनेवाला एक गजराज अपनी हथिनियों के साथ आया और क्रीड़ा करता हुआ उस सरोवर में घुस पड़ा। स्वयं जल पान किया और फिर अपनी हथिनियों और बच्चों को भी सूँड़ से जल ले-लेकर पिलाता हुआ क्रीड़ा कर रहा था। उसी सरोवर में एक महाबली ग्राह रहता था। उसने भावीवश उस गजेन्द्र का पैर पकड़ लिया। गजराज अपना पैर छुड़ाने की चेष्टा करने लगा, पर न छुड़ा सका। और गज भी सूँड़ से सूँड़ मिलाकर खींचने में सहायक हुए, पर उसे न छुड़ा सके। गज और ग्राह को परस्पर खींचते हुए एक हजार वर्ष बीत गये। इस युद्ध में न कोई हारा और न किसीकी मृत्यु ही हुई।

[पीछे उसने ब्रह्मा, शिव एवं लोकपालों का आवाहन किया। पर किसीने उसकी रक्षा नहीं की, यथा—"रहे संभु बिरंचि सुरपति लोकपाल अनेक। सोक सरि बूड़त करीसहि दई काहु न टेक॥" (वि० २१७)]

"अन्त में उसने भगवान् परम पुरुष श्रीरामजी की शरणागति की, यथा—"ग्राहेण पाशेन विधातुरावृतोऽप्यहं च तं यामि परं परायणम्॥'''भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भयान्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि॥" (भाग० ८।२।३२-३३); अर्थात् मैं उस परमात्मा की शरण में जाता हूँ।'''जो डरे हुए एवं शरणागतों की रक्षा करते हैं, जिनके भय से मृत्यु अपने कार्य में प्रवृत्त रहता है, मैं उन ईश्वर के शरणागत हूँ। तथा—"व्यथितः स निरुत्साहो गृहीतो घोरकर्मणा। परमापदमापन्नो मनसाऽचिन्तयद्धरिम्॥ स तु नागवरः

श्रीमान् नारायण परायणः। तमेव शरणं देवं गतः सर्वात्मना तदा॥" (भारत-गजेन्द्रमोक्ष); अर्थात् वह गजेन्द्र अपने घोर कर्म के बन्धन में पड़ा हुआ बहुत पीड़ित एवं उत्साह रहित हो गया। उसने आपद्ग्रस्त होने पर परमात्मा हरि का चिन्तन किया। उस श्रेष्ठ नागराज ने श्रीनारायण की सर्वात्मना शरणागति की। उस गजेन्द्र ने शरण होकर आर्त्तस्वर से भगवान् की स्तुति की। उसने ऊपर की ओर अपनी सूँड़ से एक कमल का फूल नारायण भगवान् को अर्पण के उद्देश्य से उठाया और आर्त्तस्वर से उनके नाम लिये। उसे पीड़ित देखकर भगवान् गरुड़जी की पीठ पर से कूद पड़े और अत्यन्त शीघ्रता पूर्वक वहाँ पहुँचकर ग्राह के साथ गज को उस सरोवर से बाहर निकाल दिया। चक्र से ग्राह का शिर काट डाला। इस प्रकार श्रीहरि ने गजेन्द्र को संकट से छुड़ाया।

"गजेन्द्र श्रीहरि के स्पर्श से अज्ञान मुक्त होकर वहीं पर दिव्य चतुर्भुज रूपवाला हो गया। यह गजेन्द्र पहले जन्म का इन्द्रद्युम्न नाम का राजा था। अगस्त्यजी के शाप से गज योनि को प्राप्त हुआ था। गजेन्द्र को पहले जन्म का स्मरण था।

"ग्राह भी पूर्व जन्म का हूहू नाम का गन्धर्व था। देवल ऋषि के शाप से ग्राह हुआ था। भगवान् के स्पर्श से वह अपना पूर्व रूप पा गया और विमान पर चढ़कर अपने लोक को गया। (भाग० ८।३।४)।"

उपर्युक्त भाग० ८।३-४ के प्रसंग में गजेन्द्र का पूर्ण 'नारायण नाम लेना लिखा है। वैखरी वाणी हाथी के नहीं होती। अतः, वह स्मरण हृदय का है और श्रीगोस्वामीजी ने उसे 'राम' नाम का आधा ही 'रा' मात्र बाह्य वाणी के संकेत से लेना वि० ८३ में लिखा है।

गणिका की कथा

क्रियायोग सार में लिखा है कि सतयुग में एक रघु नाम का वैश्य था। उसकी सुन्दर लड़की का नाम जीवन्ति था, वह परशू नाम के वैश्य के साथ ब्याही गई। वह विधवा हो गई और फिर व्यभिचारिणी हो जाने पर ससुराल से माता-पिता के घर आई। वह वहाँ भी वही नीचाचरण करने लगी। तब पिता के कोप के कारण किसी नगर में जाकर वेश्या हो गई। उसने एक दिन एक सुग्गा मोल लिया और किसी सन्त के कहने से सब वेदों से अधिक महत्त्वशाली श्रीरामनाम को सुग्गे के साथ पढ़ने एवं पढ़ाने लगी। समस्त पाप-नाशक श्रीराम नाम के प्रभाव से उन दोनों के सभी पाप नष्ट हो गये। समय पाकर साथ ही दोनों के शरीर छूटे और दोनों शीघ्र ही परमधाम गये (श्रीसीताराम नाम प्रताप प्रकाश, पृ० ७८ से उद्धृत)।

"सुग्गा और गणिका दोनों ही पूर्व के पापी थे, इससे इन्हें लेने के लिये यमराज के चण्ड आदि दूत फाँसी एवं अस्त्र-शस्त्र लिये हुए आये। इधर से विष्णु तुल्य पराक्रमी एवं शंखचक्रगदाधारी भगवान् विष्णु के दूत भी आ धमके। दोनों में वाद-विवाद हुआ। यमदूत इन्हें पापी कहते थे और विष्णुदूत कहते थे कि इन्होंने हरिनाम के जप किये हैं, फिर इनमें पाप कहाँ? अन्त में युद्ध छिड़ गया। यमदूत परास्त होकर भागे और विष्णुदूत इन्हें विमान पर बैठा विष्णुलोक ले गये।

घायल यमदूतों ने यमराज के यहाँ जाकर सब हाल कहा। यमराज ने कहा—"दूता यदि स्मरन्तौ तौ रामनामाक्षरद्वयम्। तदा न मे दण्डनीयौ तयोर्नारायणः प्रभुः॥" अर्थात् हे दूतो! यदि उन्होंने मरते समय 'राम' इन दो अक्षरों का स्मरण किया है तो वे मुझसे कभी दण्डनीय नहीं हैं, उनके स्वामी तो श्रीमन्नारायण ही हैं। तथा भगवान् व्यास ने कहा है—"मृत्युकाले द्विजश्रेष्ठ रामेति नाम यः स्मरेत्। स पापात्मापि परमं मोक्षमाप्नोति जैमिने॥" अर्थात् हे जैमिने! मृत्यु समय में राम-नाम-स्मरण करने से पापात्मा भी मोक्ष को प्राप्त होता है (पद्म पु० क्रियायोग०—भक्त-चरितांक)।

इन पतितों के द्वारा यह दिखाया कि जाने या अनजाने भी नामोच्चारणमात्र से मुक्ति होती है, यथा—"जानि नाम अजानि लीन्हें नरक जमपुर मनै। (वि० १६०); जैसे आग छू जाने मात्र से जलाती है। 'कहउँ कहाँ लगि नाम···' यहाँ ग्रन्थकार को नाम की बड़ाई असीम देख पड़ी कि अजामिल, गज और गणिका आदि 'अपत' ने भी जैसे-तैसे नाम के उच्चारणमात्र से गति पाई। फिर उस नाम का महत्त्व मैं कहाँ तक कहूँ ? स्वयं श्रीरामजी भी (जिनका यह नाम है और जो सर्वज्ञ हैं) इसके पूर्ण गुण नहीं कह सकते, यथा—"राम एवाभिजानाति रामनामफलं हृदि। प्रवक्तुं नैव शक्नोति ब्रह्मादीनां तु का कथा ॥" (वसिष्ठ तन्त्र)।

श्रीरामजी के भी न कह सकने के कारण—(क) नाम की महिमा अनन्त है, यथा—"महिमा नाम रूप-गुन-गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा ॥" (उ० दो० ९०); "रामनाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा ॥ (दो० ४५); यह सन्तों एवं वेदादि की कही हुई मर्यादा है। किसीके द्वारा भी कह चुकने पर मर्यादा का भंग होता है। फिर श्रीरामजी सर्वज्ञ हैं। अतः, अनन्त को अनन्त रूप में ही जानना सर्वज्ञता है। (ख) श्रीरामजी जीवों को रमण कराने से श्रीराम संज्ञा से सुशोभित हैं। उस कार्य में रूप की अपेक्षा नाम अनन्त रूप होकर जीवों को सुलभता से रमण कराता है। यही ऊपर दो दोहों में कहा है। अतः, श्रीरामजी कृतज्ञता से भी नाम की अनन्त महिमा की सिद्धि के लिये नहीं कह सकते।

शंका—ऊपर अजामिल आदि में कहीं-कहीं 'नारायण-वासुदेव' आदि अन्य नामों का भी प्रसंग है, फिर सब श्रीराम नाम में क्यों लिये गये।

समाधान—श्रीराम नाम ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप का साक्षात् वाचक है और विष्णु-नारायण आदि नाम गुण-कर्म-सूचक ब्रह्म के नाम हैं, पूर्वोक्त दो० १८ चौ० १ में भी देखिये। अतः, कारण-रूप रामनाम में सबका अन्तर्भाव हो जाता है, यथा - "विष्णुनारायणादीनि नामानि चामितान्यपि। तानि सर्वाणि देवर्षे जातानि रामनामतः ॥" (पद्मपुराण)।

इन तीनों पतितों के लक्ष्यों से मुमुक्षु कालक्षेप अवस्था में तीनो गुणों की प्रधानता में रहने वाली तीनों अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) से सुरक्षित रहता है, इनके रहस्य भी उक्त ग्रन्थ 'श्रीमन्मानस नाम वन्दना' में लिखे गये हैं।

दोहा—नाम राम को कलपतरु, कलिकल्यान निवास।
जो सुमिरत भये भाँग ते, तुलसी तुलसीदास ॥२६॥

अर्थ—कलियुग में श्रीरामजी का नाम कल्पवृक्ष है, जिसमें कल्याण का निवास है, जिसका स्मरण करने मात्र से तुलसीदास भाँग से तुलसी हो गये।

विशेष—कल्पवृक्ष के नीचे पहचानकर जानेवाला मनोरथ पाता है। वह अर्थ, धर्म और काम देता है, घाम हरता है और श्रीराम नाम मोक्ष भी देता है और त्रिताप हरता है, यथा—"राम नाम कामतरु देत फल चारि रे।" (वि० ६८); "सुमिरे त्रिबिध घाम हरत।" (वि० २५५); यहाँ पहचानना उपर्युक्त अर्थ जानना है। 'कलि-कल्याननिवास' का भाव यह है कि इस घोर कलियुग में अन्य साधन रूप वृक्षों में फल नहीं लगते। कल्याण-रूप ज्ञान-विरागादि फल नाम ही में आ बसे हैं, यथा—"यहि कलिकाल सकल साधन तरु हैं श्रम फलनि फरो सो। ···सुख सपनेहुँ न जोग सिधि साधन रोग बियोग धरोसो। काम क्रोध मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो ॥" (वि० १७३)। 'भाँग ते तुलसी'—भाँग और तुलसी की मंजरी एक प्रकार की होती है, पर गुण में बड़ा अन्तर है। भाँग अपावन एवं मादक

होती है। मादक सभी पदार्थों में विष के परमाणु रहते हैं, इनसे हानि होती है। तुलसी पावन होती है और यह ओषधि रूप होकर विविध प्रकार सेवन से अनेक रोगों का नाश करती है। वैसे ही श्रीगोस्वामी जी इसी नाम-स्मरण से विषयों से रामजी के भक्त हो गये। इनके उपदेश से औरों का विषय-रूप विष उतर जाता है, यथा—"केहि गिनती महँ गिनती जस बन घास। राम जपत भये तुलसी तुलसीदास॥" (बरवा० रा०); "राम नाम को प्रभाउ पाउ महिमा प्रताप तुलसी सो जग मनियत महामुनी सो॥" (क० उ० ७२); तथा तुलसीदासजी नाम का ही स्मरण कर तुलसी के समान पावन, लोकप्रिय एवं श्रीराम-प्रिय हुए, यथा—"रामहिं प्रिय पावनि तुलसी-सी।" (दो० ३०)।

अलंकार— यहाँ तुलसी और तुलसीदास में गुणों की समता हुई इससे 'तृतीय तुल्य योगिता' है।

चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भये नाम जपि जीव बिसोका॥१॥
बेद - पुरान - संत - मत येहू। सकल - सुकृत - फल राम-सनेहू॥२॥
ध्यान प्रथम जुग मख-बिधि दूजे। द्वापर परितोषन प्रभु पूजे॥३॥
कलि केवल, मलमूल मलीना। पाप-पयोनिधि जन - मन - मीना॥४॥
नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥५॥

अर्थ—चारो युगों, तीनों कालों तथा तीनों लोकों में नाम को जपकर जीव शोक-रहित हुए॥१॥ वेदों, पुराणों और सन्तों का यही मत है कि सब पुण्यों का फल श्रीराम-स्नेह है॥२॥ प्रथम युग सत्ययुग में ध्यान से, द्वितीय युग त्रेता में यज्ञ की विधि से और द्वापर में पूजा से प्रभु प्रसन्न होते थे॥३॥ कलियुग में 'केवल' (नाम से), क्योंकि कलि पाप का मूल और मलिन है तथा पापरूप समुद्र में लोगों के मन मछली हो रहे हैं॥४॥ ऐसे भयंकर काल में नाम कल्पवृक्ष है, स्मरण (करते ही) समस्त सांसारिक जाल का नाश करता है॥५॥

विशेष—(१) 'चहुँ युग तीनि काल···' चारो युग कहकर फिर तीन काल भी कहे गये अर्थात् जापक निरन्तर विशोक होते आये, होते हैं और होंगे। चारों युगों के जापकों के प्रमाण पूर्व दो० २१ चौ० ८ में देखिये।

(२) 'बेद-पुरान-संतमत···' सब सुकृत रूप साधनों का फल श्रीराम-स्नेह है, यह वेदादि सबका मत है, यथा—"जप तप नियम जोग निज धर्मा।···तब पद-पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुन्दर॥" (उ० दो० ४८); "साधन सिद्धि राम-पद नेहू। मोहिं लखि परत भरत मत येहू॥" (अ० दो० २२८); "तुम्ह तो भरत मोर मत येहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥" तथा—"सकल सुमंगल मूल जग, रघुबर-चरन सनेहु॥ ··सो तुम्हार धन जीवन प्राना॥" (अ० दो० २०७); अर्थात् श्रीभरतजी का सा स्नेह ही सर्वमत से उपर्युक्त 'चहुँ जुग···' के शोक के अभाव का कारण है। श्रीभरतजी का स्नेह अयोध्याकाण्ड भर में कहा गया है, उसीके लिये आगे चारो युगों में साधन कहते हैं—

(३) 'ध्यान प्रथम जुग···', यथा—"कृत जुग सब जोगी बिज्ञानी। करि हरि-ध्यान तरहिं भव प्रानी॥ त्रेता बिबिध जज्ञ नर करहीं। प्रभुहिं समर्पि कर्म भव तरहीं॥ द्वापर करि रघुपति-पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा॥" (उ० दो० १०७)। 'परितोषन' अर्थात् तृप्ति, प्रसन्नता। भगवान् प्रसन्न होते हैं, तभी शान्ति एवं परम स्नेह उनमें होता है, यथा—"तत्प्रासादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।" (गीता १८।६२); तथा—"तुम अपनायो तब जानिहौं···प्रभु-गुन सुनि हिय हरषि है नीर नयननि ढरिहै। तुलसीदास भयो राम को बिस्वास प्रेम लखि " (वि० २६८)।

(४) 'कलि केवल, मल मूल···' यहाँ कलि के साथ 'केवल' कहकर उसे उद्देश्यांश में साकांक्ष ही छोड़ कलि की करालता कहने लगे, उसे फिर अगली चौ०—'नाम काम तरु···' से खोलेंगे, क्योंकि फिर वहाँ 'कलि' का नाम नहीं है। अतः, वह करालता यहीं के 'कलि' प्रसंग की है। श्रीमद्भागवत में भी लिखा है—"कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः। द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात्॥" (१२।३।५२)।

इससे स्पष्ट हुआ कि जब कलि में केवल नाम ही अभीष्ट-पूरक है, तब अन्य युगों में दो-दो साधन थे। जैसे ऊपर चौ० में 'मखविधि' कही है। अतः, ध्यान और पूजा भी विधि हुई। जैसे प्रजा खेती, वाणिज्य आदि विधि (उपाय) करती है, तब राजा उसकी विधि का निर्वाह करता है। नहीं तो चोर, डाकू आदि से निर्वाह न हो, वैसे नाम सब युगों के विधि-रूप साधनों का राजा है। जैसे—"नाम जीह जपि जागहिं जोगी।" आदि कहे हैं कि योगी का योग विधि था, उसको रक्षा नाम ने की, इससे जाग्रत् अवस्था निबह गई। फिर जब कोई कराल काल (अकाल) पड़ता है तब वही राजा अपने ही कोप से प्रजा का अभीष्ट सिद्ध करता है। वैसे ही उपर्युक्त तीन युगों में नाम (राजा) विधि सहित लोगों का अभीष्ट पूरा करता था, परिपूर्ण श्रीराम-स्नेह प्राप्त कराता एवं रक्षा करता था। करालकाल (अकाल) रूप कलि में केवल जप (नामाराधन) मात्र ही श्रीराम-स्नेह प्राप्त कराता है। कारण भी कहते हैं। कलि पापमूल एवं मलिन है और लोगों के मन पाप-समुद्र की मछली हो रहे हैं जो पापमूलक विषय सामग्री बिना तड़पने लगते हैं, यथा—"बिषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।" (वि १००)।

शंका—'कलि केवल,···'—इसका सीधा अर्थ क्यों न किया जाय कि यह केवल पाप का मूल है···।

समाधान—वैसा अर्थ करने से सतयुग आदि में योग आदि ही थे, नाम कलि में ही है, ऐसा सिद्ध होगा। वह उपर्युक्त 'चहुँ जुग चहुँ श्रुति···' से तो प्रत्यक्ष विरोध पड़ेगा। हेतु मैंने ऊपर स्पष्ट कर दिया है जिसलिये मैंने वैसा अर्थ किया है। अतः, मेरे विचार से यही विशेष संगत है।

(५) 'नाम कामतरु काल···'—कल्पवृक्ष पहचान पूर्वक कामना करने से फल देता है, वैसे ही नाम भी अर्थज्ञान पूर्वक पहचान करने से जापक की कामना पूर्त्ति करता है। 'काल कराला' "सो कलि-काल कठिन उरगारी।"···से—"सुनु ब्यालारि कराल कलि, मलअवगुन आगार॥" (उ० दो० ९६-१०२); तक। 'जग जाला'—"जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥···जनम मरन जहँ लगि जग-जालू।" (अ० दो० ९१); अर्थात् योग वियोग आदि द्वन्द्वों से चित्त भ्रमित होकर जन्म-मरण में फिरने लगता है। यही जगत् रूप जाल है। जाल जल में मछलियों को फँसाता है, वैसे ही उपर्युक्त द्वन्द्व विषय-वारि में ही रहते हैं, यथा—"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।" (गीता ३।३४)। कलि में भी जापक के मन रूप मीन को जगत्जाल से हटाकर नाम अपने प्रेम रूप अमृत का कुंड प्राप्त कराता है, यथा—"सकल कामनाहीन जे।···मन मीन॥" में कहा गया, वही यहाँ का उपर्युक्त स्नेह है।

राम नाम कलि - अभिमत - दाता। हित परलोक लोक - पितु माता॥६॥
नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥७॥
कालनेमि कलि कपट निधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू॥८॥

अर्थ—कलियुग में राम नाम सब मनोरथों को देनेवाला है, परलोक का हितैषी और इस लोक के लिये माता-पिता के समान है॥६॥ कलियुग में न कर्म है, न भक्ति और न ज्ञान ही है, एक श्रीराम नाम ही का सहारा है॥७॥ कपट का खजाना कलियुग कालनेमि के समान है, (उसका नाशक) नाम सुन्दर मतिमान् बलवान् श्रीहनुमान जी है॥८॥

विशेष—(१) 'राम-नाम कलि अभिमत·····' ऊपर 'कामतरु' कहा था, यहाँ गुण-द्वारा जनाया। 'हित परलोक' से मोक्ष भी देना कहकर कल्पतरु से अधिकता कही। 'पितु-माता' रूप से भी नाम की अधिकता ही है, क्योंकि कल्पवृक्ष से माँगना पड़ता है, एवं वह कुपथ्य भी देता है, पर नाम माता-पिता रूप है। अतः, बिना माँगे ही देता है और कुपथ्य नहीं देता। उदाहरण दो० १६ चौ० २ में देखिये।

(२) नहिं कलि करम न भगति·····' यथा—"करम जाल कलि काल कठिन आधीन सुसाधित दाम को। ज्ञान बिराग जोग जप तप भय लोभ-मोह-कोह-काम को॥" (वि० १५५); "करम उपासना कुवासना बिनाग्यो ज्ञान, बचन बिराग बेष जगत हरो सो है॥" (क० उ० ८४); अर्थात् कलिकाल में मन पापरत होने से और कुसंग के कारण उक्त कर्म आदि के साधन नहीं निवहते। इसीसे कलि के जीव इनके अनधिकारी भी कहे जाते हैं, यथा—"रामेति वर्णद्वयमादरेण सदा स्मरन्मुक्तिमुपैति जन्तुः। कलौ युगे कल्मषमानसानामन्यत्र धर्मे खलु नाधिकारः॥" (ब्रह्मसंहिता)।

हाँ, श्रीरामनाम का अवलम्ब तीनों का फल सम्पन्न कर देता है, यथा—"भक्ति वैराग्य-विज्ञान-समदान दम नाम आधीन साधन अनेकं।" (वि० ४६); तथा वि० २२६ का 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये एवं मेरे 'श्रीमन्मानस नाम वन्दना' में 'जीह जसोमति हरि-हल-धर से।' के लक्ष्य पर विशेष रूप से समझाया गया है। इसीसे यहाँ 'एकू' अर्थात् प्रधान अवलम्ब कहा गया है। अन्य युगों के धर्मों में पापियों का अधिकार नहीं है, इस युग में अधिक पापी ही हैं, नाम में इनका भी अधिकार है, यथा—"पापिउ जाकर नाम सुमिरहीं। अति अपार भव सागर तरहीं॥" (कि० दो० २८)।

(३) 'काल नेमि कलि कपट·····', कलि ने राजा नल तथा राजा परीक्षित से भी छल ही किया, क्योंकि बल से उनको नहीं जीत सकता था। ऐसे ही कर्म-ज्ञानादि पर इसका बल चलता है, पर श्रीरामनाम को बल से नहीं जीत सकता। अतः, कपट से जीतना चाहता है। जैसे श्री हनुमानजी के प्रभाव से कालनेमि पहले ही डरा था, इससे कपट से मारना चाहा। जैसे श्रीहनुमानजी ने सुमति से उसके कपट को जान लिया और सामर्थ्य से मारा, वैसे नाम भी 'सुमति' से कपट जानकर सामर्थ्य से कलि का नाश करता है। नाम प्रसाद से जापक में सुमति आती है, यह कलिकाल के कपट को समझ लेता है, और फिर इसे सामर्थ्य (वैराग्य) भी प्राप्त होता है, उससे यह कलि के कपट का नाश कर देता है, बल वैराग्य है, यथा—"जब उर बल बिराग अधिकाई। (उ० दो० १२१); एवं प्रबल बैराग दाहन प्रभंजन तनय" (वि० ५८। कालनेमि का प्रसंग लं० दो० ५६-५७ में है। वहाँ प्रथम श्रीहनुमानजी उससे श्रीराम गुण-गाथा सुनते ही गये, जब वह अपने ज्ञान की बड़ाई करने लगा तब 'सुमति' से लख गये कि यह सन्त नहीं है, क्योंकि सन्त तो अपने गुण एवं प्रसंशा औरों से सुनकर भी सकुचते हैं। फिर मकरी-द्वारा भी सुनकर प्रमाण पाकर मारा। यहाँ नाम ने कलि का कपट नष्ट किया।

इस दोहे में—'नाम कामतरु काल ·····' से 'कालनेमि कलि···' तक की चार अर्द्धालियों में क्रमशः चित्त, बुद्धि, अहंकार और मन की काल, कर्म, गुण और स्वभाव की बाधाओं से रक्षण के लक्ष्य हैं कि नामाधार पर जापक कैसे इन बाधाओं से सुरक्षित रहता है, इनके रहस्य मेरे 'श्रीमन्मानसनाम वन्दना' में देखें।

दोहा—राम नाम नरकेसरी, कनककसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि, पालिहि दलि सुरसाल॥२७॥

शब्दार्थ—सुरसाल = देवताओं को दुखानेवाला एवं सुर-रूप सद्गुणों का नाशक, यथा—"सद्गुन सुरगन।"

अर्थ—जैसे नृसिंह भगवान् ने देवताओं को दुखानेवाले हिरण्यकशिपु को मारकर प्रह्लाद की रक्षा की, वैसे ही श्रीराम का नाम सद्गुण-नाशक कलिकाल का नाश करके जापक को पालेगा।

विशेष—(१) 'राम-नाम नरकेसरी ···' श्रीराम का नाम अपने जापक के विरोधी कलि पर महान् क्रोध करता है, इसलिये नृसिंह भगवान् की उपमा दी। हिरण्यकशिपु नृसिंह से अतिरिक्त सबसे अबध्य था, वैसे नाम ही से कलि का समूल नाश होता है। अन्य उपाय कलि में व्यर्थ हो जाते हैं।

'सुरसाल'—इस पद का उपमेय नहीं प्रकट किया गया, उपमान में यह 'कनक-कशिपु' का विशेषण है, उपमेय में यही 'कलिकाल' का भी विशेषण होगा और इसका अर्थ 'सद्गुण एवं सद्धर्म पर धक्का पहुँचानेवाला' होगा, यथा—"सद्गुन सुरगन अंब अदिति-सी।" (दो० ३०); "कलि सकोप लोपी सुचाल निज कठिन कुचाल चलाई।" (वि० १९५); "कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भये सदग्रंथ।" (उ० दो० ९७)।

अतः, जैसे हिरण्यकशिपु प्रथम बहुत काल से देवताओं को दुःख दिया करता था, पर नृसिंह भगवान् नहीं प्रकट हुए, किन्तु भक्त प्रह्लाद पर विघ्न करते ही प्रकट हुए, यथा—"सहे सुरन बहु काल बिषादा। नरहरि किये प्रगट प्रहलादा॥" (अ० दो० २६४); वैसे कलि भी सद्गुणों एवं सद्धर्मों पर बाधा करता रहता है, तब तक नाम उसकी उतनी परवाह नहीं करता, पर जापक रूप प्रह्लाद पर बाधा करने पर उसका समूल नाश कर डालता है।

श्री राम नाम ही श्रीराम षडक्षर मन्त्रराज का बीज होता है, उसी का विवरण मन्त्र के अवशिष्ट पाँच अक्षर हैं। श्रीमन्त्रराज अपने चार संस्कारों के साथ रहता है। इसकी नृसिंह स्वरूपता मंगलाचरण सो० ५ में कुछ दिखाई गई है। वहाँ पर उद्धृत ग्रन्थों से विशेष रूप में समझना चाहिये।

प्रश्न—श्रीहनुमान रूपी नाम के द्वारा कलि का नाश कह चुके, फिर दोहे में कलि का मारना क्यों कहा गया? प्रथम रूपक में 'कालनेमि' रूप कलि प्रथम है, दूसरे में 'राम नाम नरकेसरी' प्रथम क्यों?

उत्तर—प्रथम रूपक में 'कलि' का कपट नष्ट हुआ, उसमें जापक-रूप में श्रीलक्ष्मणजी हैं, वे मूर्च्छित थे, तब नाम के नामी (श्रीरामजी) ही ने नाम रूपी हनुमानजी को उपाय रूप नियुक्त किया। अतः, वहाँ की बाधा परम समर्थ श्रीरामजी एवं नाम पर ही थी। इसीलिये कलि ने कपट-द्वारा ही सामना किया और उसका वह कपट रूप नष्ट हुआ। इसमें अपने पर ही बाधा जानकर तुच्छ बाधक से निश्चिन्त रहे, सामने आने पर पीछे मारा। अतः, इसमें 'कलि' ही प्रथम कहा गया। दूसरे रूपक में जापक शिशु प्रह्लाद रूप में है, वहाँ कलिकाल ने इसे तुच्छ समझकर अपने पुरुषार्थ से ही मारना चाहा, तब नाम अपने वात्सल्य गुण-प्राधान्य से प्रथम ही 'नरकेसरी' संज्ञा से कहा गया और उसके पुरुषार्थ का भी नाश कर सर्वांश से उसे दूर किया।

अलंकार—'समस्त वस्तु विषयक सांग रूपक।'

भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥१॥

अर्थ—भाव, कुत्सित भाव, अनख (अन=बुरी, अक्ष=आँख=क्रोध) और आलस्य (किसी भी प्रकार) से नाम जपने से दशो दिशाओं में मंगल ही होता है।

विशेष—विजय-दोहावली में इन सबके भावगर्भित उदाहरण हैं—"भाव-सहित संकर जप्यो, कहि कुभाव मुनिबाल। कुंभकरण आलस जप्यो, अनख जप्यो दसभाल॥" . मानस में इनके क्रमशः उदाहरण—"सादर जपहु अनंगआराती।" (दो० १०७); "भयेउ सुद्ध करि उलटा जापू।" (दो० १८); "राम रूप गुन सुमिरत, मगन भयेउ छन एक।" (लं० दो० ६३); "कहाँ राम रन हतउँ प्रचारी।"

(लं० दो० १०२); अर्थात् चाहे शिवजी की तरह प्रेमपूर्वक मन, वचन की एकाग्रता एवं नामार्थ विचार-पूर्वक सादर जपे, चाहे श्रीवाल्मीकि की तरह उल्टा (अनादर-सहित) जपे, चाहे कुम्भकरण की तरह आलस्य में जँभाते-अँगड़ाते हुए नाम कहे, चाहे रावण की तरह क्रोध से कहे, नाम-द्वारा सब प्रकार से कल्याण ही होता है। 'दिसि दसहूँ'—चाहे मथुरा, अयोध्या आदि पुरियों में, चाहे प्रयाग आदि तीर्थों में, चाहे गिरि, वन आदि कैसे भी स्थल में नाम-जप से मंगल ही होता है। दश दिशाएँ—"देसकाल दिसि बिदिसिहुँ माँहीं।" (दो० १८४); अर्थात् पूर्व आदि ४ दिशाएँ, अग्नि आदि ४ विदिशाएँ (कोण), ऊपर और नीचे मिलकर दस दिशाएँ होती हैं।

नौ दोहों में नाम का विस्तृत महत्त्व कहकर अन्त में यहाँ सारांश रूप में कहा गया कि यह नाम देश-काल एवं पात्र की अपेक्षा न कर मंगल ही करता है, यथा—"श्रद्धया हेलया नाम वदन्ति मनुजा भुवि। तेषां नास्ति भयं पार्थ रामनामप्रसादतः॥" (आदिपुराण); तथा—"दंभहू कलि नामकुम्भज सोचसागर सोखु।" (वि० १५९); "मन्त्रोऽयं रसनास्पृशेव फलति श्रीरामनामात्मकः॥" (शुकसंहिता); तथा भाग० ६।२।१४, १५,१८ तथा वि० पु० ६।८।१६ आदि विशेष द्रष्टव्य हैं।

प्रश्न—श्रीरामनाम की वन्दना सबसे अधिक नौ दोहों में क्यों की गई ?

उत्तर—(क) श्रीरामनाम गोस्वामीजी का सर्वस्व है, इसीसे इनका कल्याण हुआ है। अतः, प्रेम से अंकों की सीमा तक वन्दना की। अंकों की सीमा नौ ही तक है, आगे शून्य है। तदनुसार कल्याण-दायक पुरुषार्थों की सीमा का भी इन्हीं में पर्यवसान किया अर्थात् इनसे आगे जो अन्य पुरुषार्थों को खोजें, तो शून्य ही हाथ लगेगा, क्योंकि विघ्नों से निर्वाह न होगा। यथा—"तुलसी अपने राम को भजन करहु निःसंक। आदि अंत निर्वाहिबो, जैसे नव को अंक॥" (तुलसीसतसई); "रामनाम छाड़ि जो भरोसो करै और रे। तुलसी परोसो त्यागि माँगै कूर कौर रे॥" (वि० ६६); "राम की सपथ सरबस मेरे राम नाम कामतरु कामधेनु मोसे छीन-छाम को।" (क० उ० १७८); "संकर साखि जो राखि कहउ कछु तो जरि जीह गरो। अपनो भलो राम नाम हि ते तुलसिहि समुझि परो॥" (वि० २२६)।

(ख) जैसे नौ का पहाड़ा लिखते हुए उसके दूने-तिगुने आदि में इकाई-दहाई जोड़ने पर भी वह (नौ का मान) नहीं घटता। समान ही (नव का नव ही) रहता है, वैसे ही नामाराधन काल, कर्म, गुणादि की किसी भी प्रकार की बाधाओं में नहीं घटेगा।

श्रीरामनाम वन्दना-प्रसंग समाप्त

सुमिरि सो नाम राम-गुनगाथा। करउँ नाइ रघुनाथहिं माथा॥२॥
मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपा अघाती॥३॥

अर्थ—उसी श्रीराम-नाम का स्मरण कर और श्रीरघुनाथजी को सिर नवाकर उनके गुणों की कथा की रचना करता हूँ॥२॥ वे मेरी त्रुटियाँ सब तरह से सुधार देंगे, जिनकी कृपा करते रहने से भी कृपा नहीं अघाती (तृप्त होती)॥३॥

विशेष—(१) 'सुमिरि सो नाम·····' ऊपर नाम की वन्दना कर चुके। अब यहाँ से—'येहि बिधि निज गुन दोष कहि' तक दो दोहों में अपनी दीनता और स्वामी के गुण वर्णन करते हुए रूप की प्रशंसा करते हैं कि जिस नाम के भाव-कुभावादि द्वारा भी स्मरण से सब देशों एवं सब कालों में मंगल होता है, अब मैं उसीका स्मरण कर और उसके नामी (श्रीरामजी) ही को माथा नवाकर उनकी गुण-गाथा की रचना करता हूँ। यदि कोई कहे कि गुण-गाथा करने में जो-जो त्रुटियाँ हैं, उनके लिये क्या प्रबन्ध किया ? तदर्थ आगे कहते हैं—

(२) 'मोरि सुधारिहि सो·····' 'सुधारिहि' अर्थात् मेरी बहुत तरह से बिगड़ी है—(क)

"सूझ न एकउ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ॥" (दो० ७); अर्थात् मन और मति अयोग्य हैं। (ख) भाग्य छोटा है—"भाग छोट अभिलाषु बड़ू,—" (दो० ८); इत्यादि सबको सुधारेंगे। (ग) "कवित-बिबेक एक नहिं मोरे। (दो० ८); "भनिति मोरि सब गुन-रहित,·····" (दो० ९); अर्थात् मेरी विवेकहीनता से रचना में काव्यगुण नहीं आ सकते।

(३) "जासु कृपा नहिं कृपा अघाती।" अर्थात् जिसपर कृपा हुई, फिर बराबर हुआ करती है। अतः, मुझपर भी हुई है, फिर बराबर होती रहेगी, इससे सब सुधर जायँगे। 'कृपू सामर्थ्ये' इस धातु से कृपा पद निष्पन्न होकर इस प्रकार अर्थ प्रकट करता है, यथा—"रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः। इति सामर्थ्यसन्धानं कृपा सा परमेश्वरी॥ स्वसामर्थ्यानुसन्धानाधीनः कालुष्यनाशनः। हार्दो भावविशेषो यः कृपा सा जगदीश्वरी॥" (श्रीभगवद्गुणदर्पण); अर्थात् समस्त प्राणियों की रक्षा करने में मैं ही एक परम समर्थ हूँ, इस प्रकार के अपने सामर्थ्य का अनुसन्धान करना परमेश्वर की कृपा है, तथा जीवों का पापनाश करना भी अपने सामर्थ्यानुसन्धान के अधीन जानते हुए जो विशेष प्रीत्यात्मक भाव है, वह जगदीश्वर की कृपा है।

ऐसी यह प्रभु की कृपा बहुत काल से भूखी है, क्योंकि "कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं।" (दो० १३९); त्रिपाद्विभूति में कोई दीन-दुःखी रहता ही नहीं, कृपा को आहार वहाँ कैसे प्राप्त हो? इससे वह कल्प-भर से बहुत भूखी रहती है। अतः, आश्रितों की रक्षा करने, उनके पापों का नाश करने तथा उनके हित-विधान से उसे तृप्ति नहीं होती। सर्वज्ञता यदि आश्रितों के दोष दिखलाती भी है तो भगवान् उसमें स्वयं लज्जित होते हैं कि मैंने इसकी सँभाल ठीक से नहीं की एवं इसको पूर्ण विवेक नहीं दिया, तभी तो यह दुःखी है। जब दोष नहीं सिद्ध होता तो दण्ड कैसे दें, इससे सर्वशक्तिमत्ता भी निरुद्यम रह जाती है। इस कृपा से ही प्रेरित हो जीवों के कल्याण-विधान के लिये अवतार लेते हैं, यथा—"भए प्रगट कृपाला···" (दो० १९१)।

किस प्रकार कृपा की और करेंगे, यही आगे कहते हैं—

राम सुस्वामि कुसेवक मो सो। निज दिसि देखि दयानिधि पोसो॥४॥
लोकहुँ बेद सुसाहिब रीती। बिनय सुनत पहिचानत प्रीती॥५॥

अर्थ—कहाँ श्रीरामजी-से अच्छे स्वामी और कहाँ मुझ-सा कुत्सित सेवक? पर दयासागर ने अपनी ही ओर देखकर मुझे पाला॥४॥ वेदों में और लोक में भी अच्छे स्वामी की यह रीति है कि वे विनय सुनते हुए, (अपने सेवक के) हृदय की प्रीति को पहचान लेते हैं॥५॥

विशेष—(१) 'राम सुस्वामि कुसेवक ··' और स्वामी कुसेवक को नहीं रखते, जिसको रखते भी हैं उसे सेवा के अनुसार ही फल देते हैं, पर श्रीरामजी ऐसे सुस्वामी हैं कि बिना सेवा ही कृपा करते हैं और कुसेवक पर भी दया करते हैं, ऐसा दयानिधि स्वामी कहीं नहीं, क० उ० १२-२३-२४ तथा "जो पै दूसरो कोउ होइ ··" (वि० २१७); आदि देखिये। तथा—"बेंचे खोटो दाम न मिलै, न राखे काम रे। सोउ तुलसी निवाज्यो ऐसो राजा राम, रे।" (वि० ७१)। 'निज दिसि', यथा—"तुलसी प्रभु निज ओरते बनि परै सो कीनो (वि० १४८); तथा—"मेरो भलो कियो राम आपनो भलाई। हौं तो साईं द्रोही, पै सेवक हित साँई॥" (वि० ७२)।

(२) 'लोकहुँ बेद सुसाहिब···' लोक में देखा जाता है और वेद में लिखा है, इसीका विस्तार करते हैं कि कैसे विनय सुनते और प्रीति पहचानते हैं—

गनी गरीब ग्रामनर नागर। पंडित मूढ़ मलीन उजागर॥६॥

सुकवि कुकवि निज-मति-अनुहारी। नृपहिं सराहत सब नर नारी ॥७॥

शब्दार्थ—गनी = अमीर, धनी। मलीन = मलिन वृत्तिवाले। उजागर = स्वच्छ, प्रसिद्ध।

अर्थ—धनी और निर्धन, गँवार और चतुर, पंडित और मूर्ख, मलिनवृत्ति और स्वच्छवृत्ति, अच्छे कवि और बुरे कवि—ये लोग सब स्त्री-पुरुष अपनी बुद्धि के अनुसार (अपने) राजा की बड़ाई करते हैं ॥६-७॥

विशेष—इन दसों की सराहना का विषय और उनके भेद आगे कहते हैं—

साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस-अंस-भव परम कृपाला ॥८॥
सुनि सनमानहिं सबहिं सुबानी। भनिति भगति नति गति पहिचानी ॥९॥

शब्दार्थ—साधु—सद्भाववाला। सुजान = अच्छा जानकार। नृपाल = नरों का पालक (राजा)। नति = प्रणाम एवं नम्रता। गति = पहुँच, दशा। भव = उत्पन्न।

अर्थ—वह राजा साधु, सुजान और सुशील तथा ईश्वर के अंश से उत्पन्न एवं परम कृपालु रहता है ॥८॥ सबकी वाणी सुनकर, उनकी कही हुई पद्यमय वाणी, भक्ति, नम्रता और गति पहचानकर, सुन्दर वचनों से उन सबका आदर करता है ॥९॥

विशेष—(१) 'ईस-अंस-भव'—यथा—"नराणां च नराधिपः ॥" (गीता १०।२७); तथा—"इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः। तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥" (मनुस्मृति ७।४-५); अर्थात् इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर, इन आठो लोकपालों का सारभूत अंशों को लेकर (परमात्मा ने) राजा को उत्पन्न किया है। इन सुरश्रेष्ठों के अंशों से राजा उत्पन्न होता है, इससे वह अपने तेज से समस्त प्राणियों को अधीन रखता है। फिर मनुस्मृति ५।९६ में लिखा है कि इन आठो लोकपालों का निवास राजा के शरीर में रहता है और फिर मनुस्मृति ९।३०३ में इन्हीं आठों के तेज के अनुरूप राजा को बर्त्ताव भी करना चाहिये। यहाँ राजा की स्तुति करनेवाले पाँच प्रकार के हैं—१. गनी-गरीब, २. ग्रामनर-नागर, ३. पंडित-मूढ़, ४. मलीन-उजागर, ५. सुकवि-कुकवि। राजा पंचगुण युक्त है—१. साधु, २. सुजान, ३. सुशील, ४. ईश-अंश-भव और ५. परम कृपालु। राजा भी अपने इन गुणों से प्रजा की पाँच ही बातों को पहचानकर उसका सम्मान करता है, १. प्रीति ('बिनय सुनत पहिचानत प्रीती।' ऊपर कहा है); २. गति, ३. नति, ४. भक्ति और ५. भनिति [इस भनिति, भक्ति, नति, गति में उलटा क्रम है, यथा—"कृतजुग त्रेता द्वापर, पूजा मख अरु जोग।" (उ० दो० १०२)।]

प्रशंसकों के नाम	गनी-गरीब	ग्रामनर-नागर	पंडित-मूढ़	मलीन-उजागर	सुकवि-कुकवि
सम्मान के हेतुभूत गुण	प्रीति	गति	नति	भक्ति	भनिति
पहचान के हेतुभूत राजा के गुण	साधुता	परम कृपालुता	ईशअंश भवता	सुशीलता	सुजानता

पं० रामकुमार जी के इस क्रम में विशेष संगति है, और टीकाओं में मतभेद भी हैं।

उपर्युक्त बातों के प्रमाण—साधुता से प्रीति को पहचान, यथा—"मानत साधु प्रेम पहिचानी।" (अ० दो० २४९)। 'ईश-अंश-भव' गुण से नति (प्रणाम) पहचानता है, क्योंकि ईश्वर एक बार प्रणाम से ही अपनाते हैं, यथा—"सकृत प्रनाम किये अपनाये।" (अ० दो० २९८); और सुजानता से काव्य के

गूढ़ आशय एवं काव्य कला आदि जानता है। परम कृपालुता से गति देखता है कि इसकी गति मुझ तक ही है। अतः, सम्मान कर लोप देता है तथा सुशीलता से इनकी भक्ति का आदर करता है।

यह प्राकृत महिपाल-सुभाऊ। जानि सिरोमनि कोसलराऊ ॥१०॥
रीझत राम सनेह निसोते। को जग मंद मलिन मति मो ते ॥११॥

शब्दार्थ—प्राकृत = साधारण। जानि = ज्ञानी, सुजान। निसोत = निस्स्रोत = तैल-धारावत् एकरस रहनेवाला वा मिलावट से रहित—'कहौं सो मोंच निसोतो।' (वि० १६१); "सहते विपति निसोती" (वि० १६८)।

अर्थ—यह तो प्राकृत राजाओं का स्वभाव है। कोशल के राजा श्रीरामजी तो सुजानों के शिरोमणि हैं ॥१॥ श्रीरामजी तो शुद्ध स्नेह से रीझते हैं, (परन्तु) संसार में मुझसे बढ़कर मन्द और मलिन मति दूसरा कौन है? ॥११॥

विशेष—(१) और राजा प्राकृत हैं, श्रीरामजी अप्राकृत (दिव्य) हैं, 'यह प्राकृत' इस पद में 'यह' गर्भित है, एवं और राजा सुजान हैं, तो श्रीरामजी सुजानशिरोमणि हैं, यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ ॥" (अ० दो० २५३); तथा—"राम सुजान जानि जन जी की।" (अ० दो० ३०३); "सबके उर अंतर बसहु जानहु भाव कुभाव।" (अ० दो० २५७)। जैसे सुजानता में अधिकता कही गई, ऐसी ही अधिकता उपर्युक्त राजा के अन्य गुणों की अपेक्षा भी श्रीरामजी में है, यह गर्भित है। यहाँ राजा की तुलना के सम्बन्ध से श्रीरामजी को भी 'कोशलराऊ' कहा है।

(२) 'रीझत राम ···' अर्थात् और राजा लोग उक्त गुणों के साथ स्नेह से रीझते और श्रीरामजी केवल शुद्ध स्नेह से रीझते हैं, पर मैं अति मलिन हूँ, क्योंकि 'निसोत' स्नेह नहीं है। स्नेह जल रूप है, उससे हृदय का मल नहीं रह जाता। यथा—"राम-चरन-अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै।" (वि० ८२)।

दोहा—सठ सेवक की प्रीति रुचि, रखिहहिं राम कृपालु।
उपल किये जलजान जेहि, सचिव सुमति कपि भालु ॥
हौंहुँ कहावत सब कहत, राम सहत उपहास।
साहिब सीतानाथ से, सेवक तुलसीदास ॥२८॥

अर्थ—(पर मुझ) शठ सेवक की प्रीति तथा रुचि को कृपालु श्रीरामजी (अवश्य) पूरी करेंगे, जिन्होंने पत्थरों को नाव और भालू-वानरों को सुन्दर मतिमान् मन्त्री बनाया है॥ मैं भी कहलाता हूँ और सबलोग कहते हैं तथा इस उपहास को श्रीरामजी सहते हैं—कहाँ श्रीसीतानाथ-ऐसे (परम ऐश्वर्यवान्) स्वामी और कहाँ तुलसीदास-सा (तुच्छ) उनका सेवक! ॥२८॥

विशेष—(१) 'सठ सेवक की···।' जब प्राकृत राजा भी कृपालुता-गुण से सबका सम्मान करते हैं, तब मुझे विश्वास है कि मुझ शठ की भी प्रीति और रुचि श्रीरामजी अवश्य पूरी करेंगे, क्योंकि वे कृपालु हैं, इसीको शठ कपि-भालुओं और जड़ पत्थरों की उपमा से पुष्ट करते हैं। जैसे—मुझे श्रीराम-कथा कहने की प्रीति एवं रुचि है वह सुमति के बिना नहीं हो सकती, यथा—"सो न होइ बिनु बिमल मति, मोहि मति बल अति थोरि।" (दो० १४)। अतः, जिन्होंने भालू-वानरों को सुमति देकर मन्त्री बनाया, वे मुझे भी सुमति देंगे।

पुनः—"करन चहउँ रघुपति-गुनगाहा। लघुमति मोरि चरित अवगाहा॥" (दो० ७); अर्थात् रघुपति की कथा अथाह सागर की तरह है। मैं शठ बुद्धि से कैसे पार पाऊँगा? अतः, दूसरा दृष्टान्त

दिया कि जिन्होंने जड़ पत्थरों को जल पर उतराया और उन्हींका पुल बनाकर शठ बन्दरों को पार लगाया, वे मुझ शठ-बुद्धि को भी पार लगावेंगे। जैसे पत्थर स्वयं डूबते और अपने आश्रित दूसरों को भी लेकर डूबते हैं, वैसे सगुणचरित ऐसे-ऐसे गुरु (भारी) हैं, जिनको बुद्धि से ग्रहण करते ही सती एवं गरुड़ आदि भी संशयसिन्धु में डूब गये। श्रीराम के प्रताप से ही पत्थर पुलरूप में जल पर उतरानेवाले हो गये, वैसे उन्हींकी कृपा से चरित-चित्रणरूपी सेतु हो सकता है, यथा—'जौं नृप सेतु कराहिं' (दो० १३); में रूपक है। नटों के नचाने योग्य पशु शरीरवाले वानर-भालुओं को सुमति देकर मन्त्री बनाया तो मैं तो नर-शरीर हूँ, क्यों न सुमति देंगे ?

ऊपर जो प्राकृत राजाओं के पाँच गुण कहे थे, उनमें से 'सुजानता' की जगह श्रीरामजी को 'जानि-सिरोमनि' ऊपर कहा, यहाँ 'कृपालुता' भी प्रकट की, शेष आगे कहते हैं।

(२) 'हौंहुँ कहावत···'—यहाँ अपने उपर्युक्त विश्वास का प्रमाण प्रत्यक्ष रूप में दे रहे हैं कि प्रभु मेरी प्रीति-रुचि अवश्य रक्खेंगे, क्योंकि 'सीतानाथ' शब्द से श्रीरामजी का बड़प्पन कहा गया है, यथा—"सो सीतापति-भजन को, प्रगट प्रताप प्रभाउ।" (अ० दो० २४३); "सीतापति से साहिबहि, कैसे दीजै पीठि।" (दोहावली ४८)। श्री सीताजी के विषय में कहा है—"उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता।" (उ० दो० २३) ; एवं—"लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहिं सेवहिं सब सिधि कर जोरे॥" (अ० दो० १०२); वे सीताजी भी जिनकी सेवा करती हैं, यथा—"राम-पदारविंद-रति करति सुभावहिं खोइ।" (उ० दो०२४); ऐसे सीतापति का मैं सेवक बनता हूँ, पूछने पर कहता हूँ कि 'मैं रामदास हूँ'। इससे लोग भी मुझे 'रामदास' कहते हैं। इसमें श्रीरामजी का बड़ा भारी उपहास होता है कि जिनकी सेवा त्रिदेव करते हैं, यथा—"देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाव एक ते एका॥ ···बंदत चरन करत प्रभु सेवा।" (दो० ५३)। फिर, त्रिदेव भी शक्तियों-सहित जिनके चरणों की वन्दना करते हैं, वे अमितप्रभावा ब्रह्म-स्वरूपिणी श्रीसीताजी भी जिनकी सेवा करती हैं, उनका दास ऐसा तुच्छ शठ हो, इस अयोग्यता पर लोग मजाक उड़ाते हैं कि भगवान् श्रीरामजी को कोई अच्छा सेवक नहीं मिला, तब तो ऐसे शठ को सेवक बना रक्खा है! इस उपहास को श्रीरामजी अपने शील-गुण से सहते हैं। सहने का प्रमाण यह है कि वे सर्वप्रेरक हैं, मेरा यह नाता न स्वीकार होता तो लोगों से न कहलाते अथवा मुझे ऐसा उद्वेग कर देते कि उनका वेष-बाना भी छोड़ बैठता। यहाँ 'सुशीलता' गुण प्रकट किया।

अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी। सुनि अघ नरकहुँ नाक सिकोरी॥१॥
समुझि सहम मोहि अपडर अपने। सो सुधि राम कीन्ह नहिं सपने॥२॥

अर्थ—(इतने बड़े स्वामी का सेवक बनना, यह) मेरी बड़ी ही ढिठाई और दोष है। मेरे इस पाप को सुनकर नरक भी नाक सिकोड़ता (घृणा दिखलाता) है॥ १॥ इस अपनी ढिठाई रूपी दोष को समझकर अपनी ही शंका के कारण मुझे डर हो रहा है, (पर) श्रीरामजी ने स्वप्न में भी इस बात का स्मरण नहीं किया॥ २॥

विशेष—(१) 'अति बड़ि मोरि ढिठाई'—ढिठाई यह कि जिनकी सेवा त्रिदेव-वन्दिता श्री सीताजी भी करती हैं, उनका सेवक बनना, फिर भी मैं इतना बड़ा निर्लज्ज हूँ कि जान-बूझकर इतना ऊँचा बनने का साहस करके सुशील स्वामी को उपहास सहने का कष्ट दे रहा हूँ। यथा—"धिगशुचिमविनीतं निर्दयं मामलज्जं, परमपुरुष योऽहं योगिवर्याग्रगण्यैः। विधिशिवसनकाद्यैर्ध्यातुमत्यन्तदूरं, तव परिजनभावं कामये कामवृत्तः॥" (आलवन्दार स्तोत्र-श्रीयामुनाचार्य); अर्थात् हे परम पुरुष! जो कामुकता वृत्तिवाला रहता हुआ भी मैं बड़े-बड़े योगिवर्यों में अग्रगण्य सनकादि एवं ब्रह्मा-शिव आदि के ध्यान में भी अत्यन्त दूर आपके परिजन भाव की कामना करता हूँ, ऐसे मुझ अशुचि, धृष्ट, निर्दय और निर्लज्ज को धिक्कार है।

तथा—"बड़ो साईंद्रोही न बराबरी मेरी को कोऊ नाथ की सपथ किये कहत करोरि हौं। दूरि कीजै द्वार ते लबार लालची प्रपंची सुधा सों सलिल सूकरी ज्यों गहडोरि हौं॥" (वि० २५८); इत्यादि। ऐसे महापाप के प्रति नरक को भी घृणा लगती है, मेरे पापों की दुर्गन्ध वह नहीं सह सकता। अतः, वह भी नाक सिकोड़ता है।

(२) 'समुझि सहम मोहिं···' 'अपडर' अर्थात् अपना माना हुआ डर—"अपडर डरेउँ न सोच समूले। रविहिं न दोष देव दिसि भूले॥" (अ० दो० २६६)। अपनी 'ढिठाई खोरी'-रूप पाप को समझकर मुझे अपनी ओर से डर हुआ। यद्यपि पापी पाप से नहीं डरता तथापि मेरा पाप इतना भारी है कि मैं स्वयं डर गया हूँ, पर श्री रामजी ने तो स्वप्न में भी इसका स्मरण नहीं किया। ईश्वर में स्वप्नावस्था नहीं होती, पर यह लोकोक्ति (मुहावरा) है अर्थात् भूलकर भी खयाल नहीं किया—यह माधुर्य दृष्टि से कहा है, क्योंकि लीलामानव 'कोसलराऊ' के गुण कह रहे हैं।

प्रत्युत इस ढिठाई को प्रभु ने भक्ति मानकर ही ग्रहण किया। यथा—"ऐसेहुँ कुमति कुसेवक पर रघुपति न कियो मन बाबौं॥" (वि० १७१); तथा—"सो मैं सब बिधि कीन्हि ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई॥" (अ० दो० २९७); अर्थात् श्री भरतजी ने जिसे ढिठाई कहा उसे ही श्री रामजी ने स्नेह एवं सेवकाई माना। अतः, सिद्ध है कि श्री रामजी ने इस ढिठाई की सुधि तक नहीं की। यह इससे भी जाना कि यदि वे सुधि करते तो मेरे हृदय में उद्वेग होता और रही-सही भक्ति-वृत्ति भी नहीं रहती।

सुनि अवलोकि सुचित चख चाही। भगति मोरि मति स्वामि सराही॥३॥

शब्दार्थ—सुचित = सुन्दर चित्त। चख = (चक्षु) नेत्र। चाही = देखी, विचारी। यथा—'सीय चकित चित रामहिं चाहा।' (दो० २४७)। सुचित चख चाही = हृदय से विचार कर।

अर्थ—(१) मैंने (गुरुओं एवं सन्तों से) सुनकर, अपने हृदय की सुन्दर चित्र रूपी आँख से देखा (विचारा), तब देख (समझ) पड़ा कि मेरी बुद्धि के अनुसार जो भक्ति मुझमें है, वह स्वामी श्रीरामजी की सराही हुई है।

(२) दूसरों से सुनकर और स्वयं भी सुन्दर चित्त रूपी हृदय की आँख से देखकर मेरी भक्ति एवं बुद्धि की स्वामी ने सराहना की है।

विशेष—अर्थ (१) का प्रसंग 'हौंहु कहावत···' से आ रहा है, उसीपर ढिठाई आदि का आरोपणकर विचारते आ रहे हैं, यहाँ निष्कर्ष कहते हैं कि जो अपने को मैं सीतानाथ का सेवक, कहता हूँ, वही भक्ति स्वामी की सराही हुई है, यथा—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥" (वाल्मी० ६।१८।३३); अर्थात् तीर्थपति समुद्र के तट पर और असंख्य भक्त परिकर रूप वानर-भालुओं के मध्य में बैठे हुए स्वामी ने अपना सनातन व्रत कहा है कि जो कोई एक बार ही दीन होकर 'मैं आपका हूँ' यह याचना करता है, उसे मैं सम्पूर्ण प्राणियों से (एवं सम्पूर्ण-प्राणियों के लिये) अभय देता हूँ। लोक-परलोक में उसे किसीका भय नहीं रहता।

'तवास्मि' अर्थात् 'मैं आपका दास हूँ' इस भाव की याचना करने एवं इस भाव की पुष्टि के लिये दृढ़ श्रद्धा-निष्ठा की याचना करनी ही शरणागति है। इसीकी सराहना स्वामी ने श्रीमुख से की है, यथा—"सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ।" से "तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥" (सुं० दो० ४७); तक। रामायण में विभीषणजी जीव रूप कहे गये हैं, यथा—"जीव भवदंघ्रि सेवक बिभीषन···" (वि० ५८); इनके श्रेय का एक मात्र साधन यही शरणागति है, इसीकी यहाँ श्रीमुख से

सराहना की गई है। महाभारत में सर्व शास्त्रमयी गीता का भी निष्कर्ष रूप श्रीमुख से "सर्वधर्मान् परित्यज्य···" (१८।६६); इसमें यही शरणागति ही कही गई है।

भागवत शिरोमणि श्रीभरतजी ने भी—"राउरि रीति···सकृत प्रनाम किहें अपनाए ॥····· भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी ॥" (अ० दो० २९८); इस प्रसंग के एक दोहे में इसकी सराहना की है। तथा—"अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।" से "भजस्व माम् ॥" (गीता० ९।३०-३३); में भी ऐसे ही भक्त की सराहना श्रीमुख से की गई है कि अनन्यभाव से प्रपन्न भजनकरता हुआ दुराचारी भी शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है। अतः, मेरे विचार में आचार्य करुणासिन्धु से आता हुआ यही अर्थ यहाँ युक्त है।

(२) अर्थ (२) के कुल भाव विनय पत्रिका के अन्तिम पद में आ गये हैं, यथा—"मारुति मन रुचि भरत की लखि लखन कही है। कलिकालहुँ नाथ नाम सों प्रतीति प्रीति एक किंकर की निबही है। सकल सभा सुनि लै उठी, जानी रीति रही है। कृपा गरीब-निवाज की, देखत गरीब को साहस, बाँह गही है। बिहँसि राम कह्यो 'सत्य है, सुधि मैं हूँ लही है।' मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ हाथ सही है ॥ (२७९); इसमें 'लखन कही है' और 'सुधि मैं हूँ लही है'—यह श्रीलक्ष्मण और श्रीसीताजी से सुनना, 'देखत' में 'अवलोकि' का भाव, 'बिहँसि राम कह्यो···' में 'सुचित चख चाही' का भाव और 'सत्य है' में उपर्युक्त सभा की सराहना-स्वीकार करने में 'सराही' का भाव है। प्रतीति प्रीति की सराहना 'मति' की सराहना है। चूक को भुला देते हैं और भक्ति को देखते, सुनते एवं सराहते हैं, क्योंकि आप भक्तिप्रिय हैं। यद्यपि ईश्वर का ज्ञान निरावरण है। अतः, देखना, फिर सुचित से देखना नहीं बनता, तथापि यहाँ माधुर्य लेकर कथन है। अतः, ठीक है। परन्तु इसमें यह अड़चन है कि यह पद विनय-पत्रिका का अन्तिम है, और यह प्रायः सभी के अनुमान एवं गोस्वामीजी की जीवनी से भी सिद्ध है कि उस पद की घटना रामचरित मानस निर्माण के बहुत पीछे की है, फिर इस रामचरित-मानस के आदि में यह कहना संगत नहीं है। तथा उस सभा में श्रीगोस्वामीजी की नाम-निष्ठा की प्रधानता में प्रीति प्रतीति की सराहना की गई है और यहाँ 'हौंहु कहावत···' का प्रसंग ही आ रहा है। शरणागति में नाम-निष्ठा भी है, पर यहाँ स्पष्ट रूप में नहीं कही गई है।

कहत नसाइ होइ हिय नीकी। रीझत राम जानि जन जी की ॥४॥
रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिये की ॥५॥
जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली ॥६॥
सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी ॥७॥
ते भरतहिं भेंटत सनमाने। राज सभा रघुबीर बखाने ॥८॥

शब्दार्थ—चूक=भूल, धोखा। किये की=की हुई। सय=सौ। सुरति=स्मरण। हेरी=देखी।

अर्थ—कहने में चाहे बिगड़ जाय, परन्तु हृदय की अच्छी हो, श्रीरामजी दास के हृदय की ही (अच्छाई) जानकर रीझते हैं ॥४॥ प्रभु श्रीरामजी के चित्त में अपने भक्त की की हुई चूक (याद) नहीं रहती। वे उसके हृदय की 'नीकी' का बारंबार स्मरण करते रहते हैं ॥५॥ जिस पाप से बालि को (श्रीरामजी ने) व्याध की तरह (छिपकर) मारा था, फिर सुग्रीवजी ने वही कुचाल की ॥६॥ और वही करतूत विभीषणजी की थी, (परन्तु) श्रीरामजी उस दोष को स्वप्न में भी हृदय में नहीं लाये ॥७॥ वे सब श्रीभरतजी से मिलते समय सम्मानित किये गये और राजसभा में भी श्रीरघुवीर ने उनकी बड़ाई की ॥८॥

तथा—"बड़ो साईंद्रोही न बराबरी मेरी को कोऊ नाथ की सपथ किये कहत करोरि हौं। दूरि कीजै द्वार ते लबार लालची प्रपंची सुधा सों सलिल सूकरी ज्यों गहडोरि हौं॥" (वि० २५८); इत्यादि। ऐसे महापाप के प्रति नरक को भी घृणा लगती है, मेरे पापों की दुर्गन्ध वह नहीं सह सकता। अतः, वह भी नाक सिकोड़ता है।

(२) 'समुझि सहम मोहिं···' 'अपडर' अर्थात् अपना माना हुआ डर—"अपडर डरेउँ न सोच समूले। रविहिं न दोष देव दिसि भूले॥" (अ० दो० २६६)। अपनी 'ढिठाई खोरी'-रूप पाप को समझकर मुझे अपनी ओर से डर हुआ। यद्यपि पापी पाप से नहीं डरता तथापि मेरा पाप इतना भारी है कि मैं स्वयं डर गया हूँ, पर श्री रामजी ने तो स्वप्न में भी इसका स्मरण नहीं किया। ईश्वर में स्वप्नावस्था नहीं होती, पर यह लोकोक्ति (मुहावरा) है अर्थात् भूलकर भी खयाल नहीं किया—यह माधुर्य दृष्टि से कहा है, क्योंकि लीलामानव 'कोसलराऊ' के गुण कह रहे हैं।

प्रत्युत इस ढिठाई को प्रभु ने भक्ति मानकर ही ग्रहण किया। यथा—"ऐसेहुँ कुमति कुसेवक पर रघुपति न कियो मन बाँकौ॥" (वि० १७१); तथा—"सो मैं सब बिधि कीन्हि ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई॥" (अ० दो० २९७); अर्थात् श्री भरतजी ने जिसे ढिठाई कहा उसे ही श्री रामजी ने स्नेह एवं सेवकाई माना। अतः, सिद्ध है कि श्री रामजी ने इस ढिठाई की सुधि तक नहीं की। यह इससे भी जाना कि यदि वे सुधि करते तो मेरे हृदय में उद्वेग होता और रही-सही भक्ति-वृत्ति भी नहीं रहती।

सुनि अबलोकि सुचित चख चाही। भगति मोरि मति स्वामि सराही॥३॥

शब्दार्थ—सुचित = सुन्दर चित्त। चख = (चक्षु) नेत्र। चाही = देखी, विचारी। यथा—'सीय चकित चित रामहिं चाहा।' (दो० २४७)। सुचित चख चाही = हृदय से विचार कर।

अर्थ—(१) मैंने (गुरुओं एवं सन्तों से) सुनकर, अपने हृदय की सुन्दर चित्र रूपी आँख से देखा (विचारा), तब देख (समझ) पड़ा कि मेरी बुद्धि के अनुसार जो भक्ति मुझमें है, वह स्वामी श्रीरामजी की सराही हुई है।

(२) दूसरों से सुनकर और स्वयं भी सुन्दर चित्त रूपी हृदय की आँख से देखकर मेरी भक्ति एवं बुद्धि की स्वामी ने सराहना की है।

विशेष—अर्थ (१) का प्रसंग 'हौंहु कहावत···' से आ रहा है, उसीपर ढिठाई आदि का आरोपणकर विचारते आ रहे हैं, यहाँ निष्कर्ष कहते हैं कि जो अपने को मैं सीतानाथ का सेवक, कहता हूँ, वही भक्ति स्वामी की सराही हुई है, यथा—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥" (वाल्मी० ६।१८।३३); अर्थात् तीर्थपति समुद्र के तट पर और असंख्य भक्त परिकर रूप वानर-भालुओं के मध्य में बैठे हुए स्वामी ने अपना सनातन व्रत कहा है कि जो कोई एक बार ही दीन होकर 'मैं आपका हूँ' यह याचना करता है, उसे मैं सम्पूर्ण प्राणियों से (एवं सम्पूर्ण-प्राणियों के लिये) अभय देता हूँ। लोक-परलोक में उसे किसीका भय नहीं रहता।

'तवास्मि' अर्थात् 'मैं आपका दास हूँ' इस भाव की याचना करने एवं इस भाव की पुष्टि के लिये दृढ़ श्रद्धा-निष्ठा की याचना करनी ही शरणागति है। इसीकी सराहना स्वामी ने श्रीमुख से की है, यथा—"सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ।" से "तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥" (सुं० दो० ४७); तक। रामायण में विभीषणजी जीव रूप कहे गये हैं, यथा—"जीव भवदंघ्रि सेवक बिभीषन···" (वि० ५८); इनके श्रेय का एक मात्र साधन यही शरणागति है, इसीकी यहाँ श्रीमुख से

सराहना की गई है। महाभारत में सर्व शास्त्रमयी गीता का भी निष्कर्ष रूप श्रीमुख से "सर्वधर्मान् परित्यज्य···" (१८।६६); इसमें यही शरणागति ही कही गई है।

भागवत शिरोमणि श्रीभरतजी ने भी—"राउरि रीति···सकृत प्रनाम किहें अपनाए ॥····· भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी ॥" (अ० दो० २९८); इस प्रसंग के एक दोहे में इसकी सराहना की है। तथा—"अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।" से "भजस्व माम् ॥" (गीता० ९।३०-३३); में भी ऐसे ही भक्त की सराहना श्रीमुख से की गई है कि अनन्यभाव से प्रपन्न भजनकरता हुआ दुराचारी भी शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है। अतः, मेरे विचार में आचार्य करुणासिन्धु से आता हुआ यही अर्थ यहाँ युक्त है।

(२) अर्थ (२) के कुल भाव विनय पत्रिका के अन्तिम पद में आ गये हैं, यथा—"मारुति मन रुचि भरत की लखि लखन कही है। कलिकालहुँ नाथ नाम सों प्रतीति प्रीति एक किंकर की निबही है। सकल सभा सुनि लै उठी, जानी रीति रही है। कृपा गरीब-निवाज की, देखत गरीब को साहस, बाँह गही है। बिहँसि राम कह्यो 'सत्य है, सुधि मैं हूँ लही है।' मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ हाथ सही है ॥ (२७९); इसमें 'लखन कही है' और 'सुधि मैं हूँ लही है'—यह श्रीलक्ष्मण और श्रीसीताजी से सुनना, 'देखत' में 'अवलोकि' का भाव, 'बिहँसि राम कह्यो···' में 'सुचित चख चाही' का भाव और 'सत्य है' में उपर्युक्त सभा की सराहना-स्वीकार करने में 'सराही' का भाव है। प्रतीति प्रीति की सराहना 'मति' की सराहना है। चूक को भुला देते हैं और भक्ति को देखते, सुनते एवं सराहते हैं, क्योंकि आप भक्तिप्रिय हैं। यद्यपि ईश्वर का ज्ञान निरावरण है। अतः, देखना, फिर सुचित से देखना नहीं बनता, तथापि यहाँ माधुर्य लेकर कथन है। अतः, ठीक है। परन्तु इसमें यह अड़चन है कि यह पद विनय-पत्रिका का अन्तिम है, और यह प्रायः सभी के अनुमान एवं गोस्वामीजी की जीवनी से भी सिद्ध है कि उस पद की घटना रामचरित मानस निर्माण के बहुत पीछे की है, फिर इस रामचरित-मानस के आदि में यह कहना संगत नहीं है। तथा उस सभा में श्रीगोस्वामीजी की नाम-निष्ठा की प्रधानता में प्रीति प्रतीति की सराहना की गई है और यहाँ 'हौंहु कहावत···' का प्रसंग ही आ रहा है। शरणागति में नाम-निष्ठा भी है, पर यहाँ स्पष्ट रूप में नहीं कही गई है।

कहत नसाइ होइ हिय नीकी। रीझत राम जानि जन जी की ॥४॥
रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिये की ॥५॥
जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली ॥६॥
सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी ॥७॥
ते भरतहिं भेंटत सनमाने। राज सभा रघुबीर बखाने ॥८॥

शब्दार्थ—चूक=भूल, धोखा। किये की=की हुई। सय=सौ। सुरति=स्मरण। हेरी=देखी।

अर्थ—कहने में चाहे बिगड़ जाय, परन्तु हृदय की अच्छी हो, श्रीरामजी दास के हृदय की ही (अच्छाई) जानकर रीझते हैं ॥४॥ प्रभु श्रीरामजी के चित्त में अपने भक्त की की हुई चूक (याद) नहीं रहती। वे उसके हृदय की 'नीकी' का बारंबार स्मरण करते रहते हैं ॥५॥ जिस पाप से बालि को (श्रीरामजी ने) व्याध की तरह (छिपकर) मारा था, फिर सुग्रीवजी ने वही कुचाल की ॥६॥ और वही करतूत विभीषणजी की थी, (परन्तु) श्रीरामजी उस दोष को स्वप्न में भी हृदय में नहीं लाये ॥७॥ वे सब श्रीभरतजी से मिलते समय सम्मानित किये गये और राजसभा में भी श्रीरघुवीर ने उनकी बड़ाई की ॥८॥

विशेष—'कहत नसाइ होइ···' यथा—"कहत नसानी ह्वै है हिये नाथ नीकी है। जानत कृपा-निधान तुलसी के जी की है॥" (वि० १७८); 'कहत नसाइ' अर्थात् मैं शठ होते हुए भी जो अपने को सेवक कहता हूँ, यह बात अयोग्य होने से 'नसानी'—नष्ट है पर जो हृदय में 'प्रीति रुचि' है, यह 'नीकी' है, यथा—"सठ सेवक की प्रीति रुचि" (उपर्युक्त)। इसीसे श्रीरामजी रीझते हैं, यथा—"तुम रीझहु सनेह सुठि थोरे।" (दो० ३४१); 'जानि जन जी की'—हृदय की निकाई (स्वच्छता) पर रामजी रीझते हैं चाहे कर्म और वचन ठीक न भी हों और वचन-कर्म मात्र से नहीं रीझते—यह गर्भित है। 'रहति न प्रभुचित···' उपर्युक्त 'कहत नसाइ' का विवरण करते हैं—'चूक किये की' चूक करना यह कर्म है। भाव यह कि कर्म एवं वचन ये बहिरंग हैं। इनके बिगड़ने को प्रभु नहीं देखते हैं, यदि हृदय का भाव अच्छा हो, यथा—"बचन बेष से जो बनै सो बिगरै परिनाम। तुलसी मन से जो बनै, बनी बनाई राम॥" (दोहावली १५४); "अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यसितो हि सः॥" (गीता ९।३०); अर्थात् जन के मन में तो अनन्य भजन का निश्चय है, पर काल-कर्मादि की बरियाई (बली प्रभाव) से क्रियात्मक चूक (धोखे में अनुचित) हो जाती है, उसे प्रभु नहीं देखते, प्रत्युत हृदय की 'निकाई' का ही बार-बार स्मरण करते हैं, यथा—"अपने देखे दोष, राम न सपनेहुँ उर धरयो॥" (दोहावली ४७); तथा—"कथञ्चिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति। न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥" (वाल्मी० २।१।११); अर्थात् थोड़े भी उपकार के एक ही कृत्य को वे बहुत मानते थे, वे अपकार करनेवाले के सैकड़ों अपकारों को भी मन में नहीं रखते, क्योंकि वे आश्रित से अपनापन के कारण मन पर इतना अधिकार रखते थे।

(२) 'जेहि अघ बधेउ···' इसमें 'जेहि अघ', 'सोइ कुचाली' और आगे 'सोइ करतूत' कहे गये। अतः, तीनों का एक ही अर्थ है। बालि ने छोटे भाई सुग्रीवजी की स्त्री को पत्नी बनाया, यथा—"हरि लीन्हेसि सर्बस अरु नारी (कि० दो० ५)। छोटे भाई की स्त्री कन्या के समान है, यथा—"अनुजबधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ये चारी॥" (कि० दो० ८)।

बालि के मरने पर सुग्रीवजी ने भी बालि की स्त्री तारा को अपनी स्त्री बनाया। बड़े भाई की स्त्री भी माता के समान है, यथा—"तात तुम्हारि मातु बैदेही।" (अ० दो० ७३)। इसी तरह विभीषणजी ने भी रावण के मरने पर मन्दोदरी को अपनी स्त्री बनाया है, यथा—"सज्जन सींव बिभीषन भी अजहूँ बिलसै बर बंधु बधू जो।" (क० उ० ५); यह भी इनकी माता के तुल्य थी। कन्या और माता पर कुदृष्टि का पाप बराबर है। फिर भी श्रीरामजी ने इन दोनों के अवगुणों पर भूलकर भी ध्यान नहीं दिया, क्योंकि वे इनके पूर्व की हृदय की नीकी (अच्छाई) का बार-बार स्मरण करते थे। इनके हृदय की निकाई, यथा—सुग्रीव—"सुख-सम्पति-परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥" (कि० दो० ६); तथा—विभीषण—"उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु-पद-प्रीति-सरित सब बही॥ अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु···" (सु० दो० ४८)। इन दोनों को श्रीरामजी ने अपनी प्रसन्नता से राज्य दिया, फिर राज्य-मद-संसर्ग से 'कुचालि' एवं 'करतूत' दोनों की बिगड़ी, पर हृदय की निकाई नहीं गई थी। अतः, उपर्युक्त नियम से उसे नहीं देखा।

'ब्याधि जिमि'—व्याधा छिपकर पक्षियों को मारता है, वैसे रामजी ने बालि का वध किया। अपने आश्रित के लिये गाली तक सुनी, यथा—"हत्यो बालि सहि गारी।" (वि० १६६)। जैसे सुग्रीव आदि के दोष न देखे, वैसे मेरी 'ढिठाई-खोरी' भी नहीं देखेंगे।

'ते भरतहिं भेटत···' श्रीभरतजी से मिलते समय सम्मान—"ये सब सखा सुनहुँ मुनि मेरे।" से "भरतहुँ ते मोहि अधिक पियारे॥" (उ० दो० ७) तक, तथा—"राम सराहे भरत उठि, मिले राम सम जानि।" (दोहावली २०८); में यह भी भाव है कि चौदह वर्ष पर श्रीरामजी श्रीभरतजी से मिले थे।

सम्भव था, उस समय सुग्रीव आदि को भूल जाते, पर उस समय भी श्रीरामजी ने इनकी प्रतिष्ठा पर दृष्टि रक्खी है। इस हार्दिक प्रीति से उपर्युक्त 'सपनेहुँ सो न राम हिये हेरी' की पुष्टि है, तथा—"तुलसी प्रभु सुग्रीव की, चितइ न कछू कुचालि।" (दोहावली १५७); शरणागत सुग्रीव का मन ठीक था, चूक इनके कर्म से हुई थी, उसका भी कारण इन्होंने विषय-वश होना कहा था, यथा—"नाथ विषय सम मद कछु नाहीं। ···नारि नयन सर···" (कि० दो० २०); मादकता-वश होनेवाले अपराध चूक ही हैं। अतएव क्षम्य होते हैं, यथा—"चत्वार्याहुर्नरेन्द्राणां व्यसनानि महीक्षिताम्। मृगयापोऽक्षवाक्चाथ ग्राम्येचैवाऽतिरक्तता ॥२०॥ एतेषु हि नरः सक्तो धर्ममुत्सृज्य वर्त्तते। तथाऽयुक्तेन च कृतां क्रियां लोको न मन्यते ॥२१॥" (महा० सभा० ६८); अर्थात् विकर्ण ने कहा है कि हे नरश्रेष्ठ सभासदो! राजाओं के चार व्यसन कहे गये हैं—शिकार, मद्यपान, जुआ और स्त्रियों पर अत्यन्त आसक्ति, इनमें आसक्त होकर पुरुष धर्म त्यागकर बरतता है, ऐसे अयुक्त मनुष्य के द्वारा की हुई क्रियाएँ लोक में प्रामाणिक नहीं मानी जातीं। इस दृष्टि से प्रभु ने सुग्रीव-विभीषण की कुचालों की उपेक्षा की है।

बाली ने तो सावधानी में सुग्रीव के जीते हुए उनसे छीनकर अपनी स्त्री बनाई है और वह शरणागत भी नहीं था। इससे वह दण्डभागी हुआ।

'राज-सभा रघुबीर···' यथा—"तब रघुपति सब सखा बुलाये।"···से—"मोरे अधिक दास पर प्रीती॥" (उ० दो० १५); तक। 'राज-सभा'—सभा के समक्ष में कही हुई बात अधिक प्रामाणिक होती है।

सम्बन्ध—सुग्रीव-विभीषण की बहिरंग चूक की क्षमा कहकर अब अन्य वानरों की (बहिरंग) चूक कहते हैं। इन्होंने तो श्रीरामजी ही के प्रति ढिठाई एवं अनादर किया है—

दोहा—प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आप समान।
तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सील-निधान॥
राम निकाई रावरी, है सबही को नीक।
जौं यह साँची है सदा, तो नीको तुलसीक।

शब्दार्थ—सील=हीन-दीन-मलिन से घृणा न करके आदर करना, यथा—हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च वीभत्सैः कुत्सितैरपि। महतोऽछिद्रपिहितं सौशील्यं विदुरीश्वरे॥" (श्रीभगवद्गुणदर्पण) तुलसीक=तुलसी को।

अर्थ—स्वामी श्रीरामजी तो वृक्ष के नीचे रहते हैं और वानर डाल पर! (कहाँ मर्यादापुरुषोत्तम चक्रवर्त्तिकुमार और कहाँ पशु-योनि वानर, फिर भी बेअदब इतने कि सिर के ऊपर चढ़कर बैठे!) उनको भी आपने अपने बराबर किया। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामजी के समान शील-निधान स्वामी कहीं नहीं है॥ हे श्रीरामजी! आपकी अच्छाई सभी को अच्छी है। यदि यह सदा सत्य है तो तुलसीदास के लिये भी अच्छी ही होगी॥

विशेष—(१) 'प्रभु तरु तर कपि डार पर···' वानर-भालु भी बेअदबी के कारण चूके हैं। श्रीरामजी ने इनके भी दोषों पर ध्यान नहीं दिया। केवल हृदय की निकाई ही देखते रहे कि जो इनलोगों ने प्रीतिपूर्वक रामकार्य करने में शरीर तक का छोह नहीं किया, यथा—"रामकाज लयलीन मन, बिसरा तनुकर छोह।" (कि० दो० २३); "ममहित लागि जनम इन्ह हारे।" (उ० दो० ७); "प्रेम-मगन नहिं गृह कै ईछा।" (लं० दो० ११७); इत्यादि।

'ते किय आप समान'—(क) यथा—"आप सरिस कपि अनुज पठावउँ।" (लं० दो० १०५); यहाँ वचन से अपने तुल्य कहा है। (ख) सखा बनाया, फिर अपने तुल्य रूप भी दिया, यथा—"ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे।" "हनुमदादि सब बानर बीरा। धरे मनोहर मनुज-सरीरा॥" (उ० दो० ७)।

(ग) कीर्त्ति भी अपने समान दी०-मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं। संसार-सिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं॥" (लं० दो० १०६)। अतः, श्रीरामजी के समान शील-निधान कोई स्वामी नहीं है। यहाँ तक दिखाया कि जैसे मेरी 'ढिठाई खोरी' पर स्वप्न में भी ध्यान नहीं दिया, उसकी पुष्टि के लिये सुग्रीव-विभीषण और वानरों का दृष्टान्त दिया कि इनकी भी 'ढिठाई-खोरी' को स्वप्न में भी नहीं देखा और राजसभा में बखान (बड़ाई) किया है। अतः, और भक्तों को भी उपदेश है कि श्रीरामजी हृदय की 'निकाई' से रीझते हैं।

(२) 'राम निकाई रावरी ···' सेवक का अपराध नहीं देखना—यह 'निकाई' है, यथा—"जन-अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥" (उ० दो० १); "जनगुन अलप गनत सुमेरु करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन॥" (वि० २०६)। यही इस दोहे भर में दिखाते आये कि सभी का भला होना है—"रावरी भलाई सबही की भली भई।" (वि० २५२); इसी नियम एवं स्वभाव से तुलसी का भी भला हुआ एवं होगा, यथा—"लहइ न फूटी कौड़िहू, को चाहै केहि काज। सो तुलसी महँगो कियो, राम गरीबनिवाज॥" (दोहावली १०८); "मेरो भलो कियो राम आपनी भलाई॥" (वि० ७२)।

येहि बिधि निज गुन दोष कहि, सबहिं बहुरि सिर नाइ।
बरनउँ रघुबर - बिसद जस, सुनि कलिकलुष नसाइ॥२९॥

अर्थ—इस प्रकार अपने गुण और दोष कहकर तथा सबको पुनः सिर झुकाकर श्रीरघुनाथजी के निर्मल यश का वर्णन करता हूँ जिसका श्रवण करने से कलियुग के दोष नष्ट होते हैं।

विशेष—'निजगुन दोष' 'गुन'—"है तुलसी के एक गुन, अवगुननिधि कहैं लोग। भलो भरोसो रावरो, राम रीझबे जोग॥" (दोहावली ८५); अर्थात् मैं श्रीरामजी का हूँ और उन्हीं की कृपा का भरोसा है। यही गुण है, यही ऊपर—"सठ सेवक की प्रीति रुचि, रखिहहिं राम कृपालु।"-से "तौ नीको तुलसीक।" तक कहा गया। साथ-साथ—"को जग मंद मलिन मन मोते।"—'सठ सेवक' 'अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी।' पूर्व भी—'जो अपने अवगुन सब कहऊँ।' (दो० ११); इत्यादि दोष भी कहे हैं। अपना गुण इसलिये कहा कि वह श्रीरामजी के प्रसन्न करने योग्य है। 'सुनि कलि-कलुष नसाइ', यथा—"बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा॥" (दो० ३४); "कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।" (दो० १०)। 'सबहिं बहुरि सिर नाइ।' प्रथम सबको सिर नवाकर नाम की बड़ाई की, यथा—"प्रनवउँ सबहि धरनि धरि सीता।" (दो० १०); फिर रूप को माथा नवाकर उसी की बड़ाई की—"करिहउँ नाइ राम-पद माथा।" (दो० २७); फिर यहाँ लीला की बड़ाई कहने के लिये सबको सिर नवाते हैं, ऐसे ही आगे धाम की बड़ाई कहने के लिये भी—"पुनि सबहीं बिनवउँ कर जोरी।" (दो० ३२) कहा है।

अपनी दीनता एवं श्रीरामगुणवर्णन-प्रकरण समाप्त।

जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनिबरहिं सुनाई॥१॥
कहिहऊँ सोइ संबाद बखानी। सुनहु सकल सज्जन सुख मानी॥२॥

अर्थ—(यहाँ से मानस-परम्परा कहते हैं) जो शोभायमान कथा श्रीयाज्ञवल्क्य मुनि ने मुनि-श्रेष्ठ श्रीभरद्वाजजी को सुनाई है॥१॥ उसी संवाद को मैं बखान कर कहता हूँ, हे सब सज्जनो! सुख-पूर्वक सुनिये॥२॥

विशेष—इस ग्रन्थ में चार संवाद चार घाट-रूप में हैं, चारों के प्रथम बीज कहकर, पीछे संवाद कहते हैं। 'कहिहउँ'—आगे कहूँगा। अभी तो परम्परा कहता हूँ।

(१) श्रीगोस्वामीजी और सज्जन-संवाद का बीज—"तेहि बल मैं रघुपति-गुनगाथा। कहिहउँ नाइ राम-पद माथा॥" (दो० १२); संवाद का प्रारम्भ—"कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥" (दो० ३४)।

(२) याज्ञवल्क्य और भरद्वाज-संवाद का बीज—"जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनिबरहिं सुनाई॥" यहाँ है, और प्रारम्भ—"कहउँ जुगल मुनिवर्य कर, मिलन सुभग संबाद॥" (दो० ४३); यहाँ से हुआ है।

(३) शिव-पार्वती संवाद का बीज—"कीन्हि प्रश्न जेहि भाँति भवानी। जेहि बिधि संकर कहा बखानी॥" (दो० ३२); प्रारम्भ—"कहउँ सो मति अनुहारि अब, उमा-संभु-संबाद।" (दो० ४७)।

(४) भुशुण्डी-गरुड़-संवाद का बीज—"सुनु सुभ कथा भवानि,···कहा भुसुंडि बखानि, सुना बिहँगनायक गरुड़॥" (दो० १२०)। प्रारम्भ—उत्तरकाण्ड दो० ६३ से किया गया है।

इन चारो घाटों के वर्णन आगे आवेंगे। ये चारो क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पच्छिम और उत्तर के घाट हैं। ग्रन्थकार यहाँ दक्षिण घाट से मानस-सर में प्रवेश करते हैं।

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा॥३॥
सोइ सिव काग भुसुंडिहिं दीन्हा। राम-भगत अधिकारी चीन्हा॥४॥
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥५॥

अर्थ—पहले श्रीशिवजी ने यह शोभायमान चरित रचा, फिर कृपा करके उन्होंने पार्वतीजी को सुनाया था॥३॥ वही चरित शिवजी ने श्रीराम-भक्त और अधिकारी जानकर काकभुशुण्डीजी को दिया॥४॥ उन (काकभुशुण्डीजी) से याज्ञवल्क्यजी ने पाया और फिर उन्होंने इसे भरद्वाजजी से कहा॥५॥

विशेष—(१) संभु कीन्ह यह·····' ऊपर 'कथा सुहाई' कहा था, यहाँ 'चरित सुहावा' स्त्रीलिंग और पुँल्लिंग दो प्रकार से कहा, क्योंकि आगे १ दोहे में कथा-रूप में स्त्रीलिंग और फिर १ दोहे में चरितरूप में पुँल्लिंग कहकर माहात्म्य कहेंगे, उसका बीज यहाँ परम्परा में भी जनाया। 'बहुरि' इस पद पर कुछ लोगों की धारणा है कि शिवजी ने इससे पहले ही लोमश द्वारा भुशुण्डीजी को दे रक्खा था, फिर यहाँ कृपा करके उमा को सुनाया है, उस पक्ष के प्रमाण (१) पार्वतीजी से कथा कहते हुए शिवजी ने भुशुण्डीजी से सुनी हुई कथा कहना कहा है। (दो० १२०); (२) श्रीपार्वतीजी को मनु कल्पवाले श्रीरामजी की कथा शिवजी ने सुनाई है। (दो० १४०-१४१); उसी प्रसंग में मनु ने कहा है—"जो भुसुंडि मन मानस हंसा।" (दो० १४५); (३) भुशुण्डी की सूक्ष्म कथा सूची में भी 'नारद कर मोह अपारा' का प्रसंग आया है, मनु एवं प्रताप-भानु प्रसंग की चर्चा नहीं है। (४) इस ग्रन्थ में नारद-मोह प्रसंग भी मनु से प्रथम कहा गया है। यह पूर्व पक्ष है।

इसपर दूसरे पक्ष का कहना है कि कैलास-प्रकरण (दो० १०३ से १२० तक) विस्तृत रूप से कथा के प्रकट होने का लिखा गया है। यदि इससे पहले यह कथा संसार में फैल चुकी होती तो इसके प्रकट करने की इतनी बड़ी भूमिका न कही जाती, तथा—"कथा जो सकल लोक हितकारी। सोइ पूछन चह सैल कुमारी॥ (दो० १०६); एवं "पूछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग-पावनि गंगा॥·····कीन्हिहु प्रस्न जगत हित लागी॥" (दो० १११); यह कैसे कहा जाता? इससे स्पष्ट है कि उमा प्रथम इसे जगत-हित के लिये प्रकट कर रही हैं। याज्ञवल्क्यजी ने कथा की प्रस्तावना में प्रथम सती-मोह कहा, फिर उनके जन्म की कथा कही और फिर उनकी अत्यन्त श्रद्धा पर उन्हें कथा का प्राप्त होना कह रहे हैं और इसी सती-मोह

वाले अवतार की ही सारी कथा है—"लीला कीन्हि जो तेहि अवतारा। सो सब कहिहौं मति अनुसारा॥" (दो० १४०)। इसपर मनु-शतरूपा की कथा आई, उसमें उनकी भारी तपस्या का वर्णन है। फिर उसी-के साथ की भानु-प्रताप की कथा है और उसके रावण होने पर ही अवतार लेना और समस्त लीला का वर्णन है।

ऊपर परम्परा कथन में भी प्रथम उमा का दिया जाना कहकर भुशुण्डीजी को देना एवं आगे की परम्परा है। अतः, प्रामाणिक यही है। हाँ, उपर्युक्त पूर्वपक्ष के समाधान भी चाहिये ही। कल्पभेद व्यवस्था ही इसका समाधान है, उसके प्रमाण दो० ३४ चौ० ४ में लिखे गये। तथा आगे स्वयं ग्रन्थकार ने दो० ३२ चौ० ३ से दो० ३३ चौ० १ तक लिखा है। पुनः, अवतार हेतु कहते हुए दो० १२० में भी यह विषय है। इससे सम्भव है कि मनु-प्रार्थित अवतार इससे पूर्व भी हुए हैं और वहाँ के चरित के साथ वे प्रभु भुशुण्डीजी के ध्येय-ज्ञेय रहे हों, तथा शिवजी ने उनसे सुन रक्खा हो। उसीका इस कथा के कल्प के मनु ने उदाहरण दिया हो। रहा नारद शाप प्रसंग, यह तो सभी कल्पों की लीलाओं में रहता ही है। जैसे वृन्दा का शाप भगवान् के एवं विष्णु रूप के प्रति था, पर शालग्राम होना सभी रूपों का होता है। ऐसे ही भृगुपद चिह्न धारण की व्यवस्था भी है।

जैसे शिवजी ने उमा को और याज्ञवल्क्यजी ने भरद्वाज को दिया—यह लिखा, वैसे काकभुशुण्डीजी का गरुड़जी को देना नहीं लिखा, क्योंकि इनका संवाद उत्तरकाण्ड में है, फिर भी वक्ता की चर्चा कर दी है। उमा को कृपा करके सुनाना कहा गया है, क्योंकि स्त्री होने से वे अनधिकारिणी थीं, यथा—"जदपि जोषिता अनअधिकारी। दासी मन-क्रम-बचन तुम्हारी॥ गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥ अति आरत पूछहुँ सुरराया। रघुपति कथा कहहु करि दाया॥" (दो० १०९); अर्थात् दासी और आर्त्त होने से शिवजी ने इनपर कृपा करके सुनाया। यह भी सूचित किया कि समर्थ वक्ता के कृपापात्र भी अधिकारी ही हैं।

(२) 'सोइ सिव काग……' यहाँ भी राम भक्त और अधिकारी पहचान कर देना कहा है, क्योंकि शाप होने के पीछे चरित की प्राप्ति हुई। भुशुण्डीजी चांडाल पक्षी के रूप में अनधिकारी थे, यथा—"देखु गरुड़ निज हृदय बिचारी। मैं रघुबीर-भजन अधिकारी॥ सकुनाधम सब भाँति अपावन।" (उ० दो० १२२)। अतः, लोमश के द्वारा परीक्षा लेकर सच्चा राम-भक्त जानकर दिया। भक्त चाहे किसी योनि में हो, उसे अधिकार है, यथा—"ताकहँ यह बिसेष सुखदाई। जाहि प्रान-प्रिय श्रीरघुराई॥" (उ० दो० १२७)।

शंका—भुशुण्डीजी को लोमशजी से राम-चरित मिला है। उ० दो० ११०-११२ में इसकी विस्तृत कथा भी है। फिर यहाँ शिवजी ने दिया, यह क्यों कहा गया?

समाधान—भुशुण्डीजी को शिवजी ने आशीर्वाद दिया था—"पुरी-प्रभाव अनुग्रह मोरे। राम-भगति उपजिहि उर तोरे॥" (उ० दो० १०९); इस वरदान के अनुसार भक्ति के भाव इनमें आ गये, तब शिवजी के भी अन्तर्यामी श्रीरामजी ने लोमश-रूप द्वारा परीक्षा ली, जब सच्चे निकले, तब मुनि-द्वारा श्रीरामचरितमानस इन्हें मिला। उसी समय लोमशजी ने कह भी दिया—"संभु-प्रसाद तात मैं पावा॥ तोहिं निज भगत राम कर जानी। ताते मैं सब कहेउँ बखानी॥" (उ० दो० ११२)।

श्री भुशुण्डीजी को अनेक जन्मों की सुधि भी है। अतः, यह बात जानते हैं कि शिवजी ने भक्ति दी और उस भक्ति को देखकर ही लोमशजी ने 'मानस' दिया और भी कहा कि यह शिवजी का दिया हुआ है, जो मैं तुम्हें देता हूँ। अतः, शिवजी का देना सिद्ध है, क्योंकि दाता चाहे स्वयं दे अथवा दूसरे के द्वारा दे, दोनों रीतियाँ हैं। इससे यहाँ 'दीन्हा' लिखा है, सुनाना या कहना नहीं, क्योंकि सुनने-कहने में श्रोता-वक्ता का समीप होना पाया जाता है। शिवजी का दिया हुआ जानकर उनमें गुरु-भाव सहित

भुशुण्डीजी का उनके साथ रहना भी पाया जाता है। गीतावली बा० पद १४ में 'सँग सिसु सिष्य' कहा है।

श्री पार्वतीजी का किसीको देना या सुनाना नहीं कहा गया। अतः, वे परम्परा में नहीं हैं। शिवजी से भुशुण्डीजी और उनसे याज्ञवल्क्यजी को मिला, फिर याज्ञवल्क्य ने जब भरद्वाज को सुनाया, तब साथ में बहुत ऋषियों ने भी सुना, जिनसे औरों को प्राप्त हुआ।

श्री भरद्वाजजी पूर्ण अधिकारी हैं। अतः, इनमें अधिकार-हेतु नहीं कहा गया।

ते श्रोता बकता समसीला। सबदरसी जानहिं हरिलीला ॥६॥
जानहिं तीनि काल निज ज्ञाना। करतल-गत आमलक-समाना ॥७॥
औरउ जे हरि-भगत सुजाना। कहहिं सुनहिं समुझहिं बिधि नाना ॥८॥

अर्थ—वे सुनने और कहनेवाले समान चरित्रवाले हैं, सर्वज्ञ हैं और हरिलीलाओं को जानते हैं ॥६॥ अपने ज्ञान से तीनों कालों (भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान) की बातों को हथेली में प्राप्त आँवले के फल के समान जानते हैं ॥७॥ और भी जो अनेक चतुर हरिभक्त हैं, वे अनेक प्रकार से इस चरित को कहते, सुनते और समझते हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'ते श्रोता बकता ' ' यहाँ समशीलता ग्रन्थकार ने अक्षरों से भी दिखा दी है, क्योंकि पूर्व शिव आदि वक्ताओं के ही नाम प्रथम आये हैं, वैसे ही याज्ञवल्क्य के पीछे भरद्वाज भी कहे गये हैं, पर यहाँ श्रोता पद ही प्रथम दिया है। अतः, दो बार में हेर-फेर से तुल्यता दिखाई है। सर्वज्ञ हैं, इसीसे हरिलीला भी जानते हैं, अथवा दो बार 'जानहिं' के प्रयोग से अनुभवात्मक लीला का भी जानना है।

(२) 'जानहिं तीनि काल···' उपर्युक्त 'सबदरसी' से सन्देह था कि वर्त्तमान काल ही जानते होंगे, इसलिये यहाँ 'तीनि काल' भी कहा गया। 'निज ज्ञाना' अर्थात् अपने ज्ञान-बल से जाना। जैसे व्यासजी के वर से संजय की दिव्य-दृष्टि महाभारत में कही गई है, वैसा ज्ञान नहीं। 'आमलक समाना'—हथेली पर आँवला रखने से यह पूर्णरूप से दिखाई देता है। उसी तरह तीनों काल की बातें उनके लिये प्रत्यक्ष-सी थीं, यथा—"सर्वं ह्येतद्भवान्वेद भूतभव्यभवत्प्रभुः। करामलकवद्विश्वं विज्ञानावसितं तव ॥" (भाग० २।५।३), अर्थात् आप यह सब जानते हैं, क्योंकि भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान सबके स्वामी होने से यह सम्पूर्ण विश्व हाथ पर रक्खे हुए आँवले के समान आपके ज्ञान का विषय है। तथा—"विदितं सर्वमेतत्ते पाणावामलकं यथा ॥" (महा० शान्ति० ३१४।१८); अर्थात् हाथ में रक्खे हुए आँवले की तरह यह सब आपको विदित है—यह श्रीजनकजी ने श्री याज्ञवल्क्यजी से कहा है। अयोध्याकाण्ड में—"गुरु बिबेक-सागर जग जाना। जिन्हहिं बिस्व करबदर समाना ॥" (दो० १८१); कहा है। आँवला पथ्य और बदरी फल कुपथ्य है, यथा—"धात्रीफलं सदा पथ्यं कुपथ्यं बदरीफलम्।" प्रसिद्ध है। दो जगह दो प्रकार से कहने का भाव यह है कि तीनों कालों पर दृष्टि रखना पथ्य और संसार पर दृष्टि (आसक्ति) रखना कुपथ्य है एवं निष्काम कर्मकाण्डी संसार को पथ्य और ज्ञानी कुपथ्य समझते हैं। यहाँ पर कर्मकाण्ड घाट के वक्ता-श्रोता की दृष्टि में तीनों कालों की सत्तावाला जगत् पथ्य कहा गया है और वहाँ 'बिबेक-सागर' वसिष्ठजी की दृष्टि में कुपथ्य, तथा—"भूप बोलि पठये मुनि ज्ञानी।" (दो० १९६)।

(३) 'औरउ जे हरि···' अर्थात् प्रयाग में भरद्वाज से और-और हरिभक्तों ने सुना, क्योंकि वहाँ तो प्रति संवत् सत्संग होता ही रहता है। क्रमशः यह श्री गोस्वामीजी के गुरु महाराज तक आया। यह आशय भी गर्भित है। प्रथम मुख्य-मुख्य वक्ता-श्रोताओं के नाम देते आये। अब बहुत हो गये। अतः, नाम नहीं देते।

(४) 'कहहिं सुनहिं···' भक्त लोग श्रद्धालु श्रोता से कहते हैं, श्रेष्ठ वक्ता से सुनते हैं और श्रोता-

वक्ता के न रहने पर समझते हैं। नाना विधि की शंकाएँ प्रकट करके समझौता करते हैं, यद्यपि सुजान हैं, तथापि 'मानस' शिवजी का बनाया हुआ है। अतः, गम्भीर है, इसीसे नाना विधियों से समझना पड़ता है। यहाँ तक श्रोता-वक्ता को समशील एवं सुजान कहते आये। आगे गुरु के समक्ष में स्वयं श्रोता होंगे, तब अपने को न्यून कहेंगे, क्योंकि गुरु से न्यूनता ही चाहिये।

दोहा—मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥
श्रोता - बकता ज्ञान - निधि, कथा राम कै गूढ़।
किमि समुझउँ मैं जीव जड़, कलिमल ग्रसित बिमूढ़॥३०॥

शब्दार्थ—सूकरखेत = वाराह क्षेत्र जो सरयू-घाघरा के संगम-स्थल पर श्रीअवध से बारह कोस पच्छिम है। तसि = यथार्थ वा जैसा उपर्युक्त श्रोताओं ने समझा।

अर्थ—फिर मैंने वाराहक्षेत्र में उस कथा को अपने श्रीगुरुजी से सुना। उस समय मैं बालकपन के कारण अत्यन्त अचेत था। इसीसे वह वैसी (भली-भाँति) समझ में नहीं आई, (जैसी औरों ने समझी थी)॥ श्रीरामजी की कथा गूढ़ है, इसके लिये श्रोता और वक्ता दोनों ज्ञान-पूर्ण होने चाहिये, मैं कलिमल का ग्रसा हुआ और अत्यन्त मूर्ख, जड़ जीव कैसे समझ सकूँ?॥ ३०॥

विशेष—(१) भरद्वाजजी तक उत्तम, हरिभक्त सुजान आदि मध्यम और यहाँ निकृष्ट श्रोता कहते हैं। तब मैं 'अति अचेत' था, भाव सामान्य अचेत तो अब भी हूँ, जिसे आगे 'कलिमल-ग्रसित' आदि से व्यक्त किया है। अपने गुरु का किसीसे मानस पढ़ना नहीं कहा, क्योंकि वे शिष्य के भगवान् हैं, यथा—"तुम ते अधिक गुरहिं जिय जानी॥" (अ० दो० १२८)। अतः, किसीका शिष्य होना प्रत्यक्ष में नहीं कहा, आशय से उपर्युक्त 'औरउ जे···' में जनाया है।

(२) 'कथा राम कै गूढ़' अर्थात् गम्भीर आशयवाली कथा, यथा—"उमा राम-गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरिबिमुख न धर्मरति॥" (अर० दो० १)।

तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥१॥
भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥२॥
जस कछु बुधि-बिबेक-बल मेरे। तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे॥३॥

अर्थ—तो भी श्रीगुरुजी ने बारंबार यह कथा कही, तब अपनी बुद्धि के अनुसार कुछ समझ पड़ी॥ १॥ उसीको मैं भाषा (निबन्ध = काव्य) में रचूँगा, जिससे मेरे मन को प्रकर्ष बोध होता रहे (वा हो)॥२॥ मुझमें बुद्धि-विवेक का जैसा कुछ बल है, मैं अपने हृदय में (स्थित) हरि की प्रेरणा से वैसा ही कहूँगा॥३॥

विशेष—(१) 'तदपि कही···' ग्रन्थकार का कहना है कि श्रीगुरुजी ने मेरे न समझने पर भी मुझे जड़ जानकर त्याग नहीं किया, प्रत्युत बारंबार समझाया। अतः, गुरुजी को ज्ञाननिधि एवं परम दयालु जनाया। ऐसे गुरु हों, तो कैसा भी शिष्य रहे, बोध करा ही देते हैं। ग्रन्थकार की बुद्धि थोड़ी थी। अतः, कुछ समझ पड़ा तो जगत्-भर का उपकार हुआ, मति भारी होती और यथार्थ समझते तो क्या होता? यह पाठक विचारें। 'बारहिं बारा' से १२+१२=२४ बार भी ध्वनितार्थ लिया जाता है अर्थात् गुरुजी ने मुझे २४ बार समझाया तो कुछ समझ पड़ा, क्योंकि गायत्री के २४ अक्षरों का विवरण ही रामायण है।

(२) 'भाषाबद्ध करबि···' 'सोई' अर्थात् जो गुरुजी से संस्कृत में पढ़ा था, उसे ही भाषा में बनाऊँगा।

शंका—गुरुजी के पढ़ाने से प्रबोध नहीं हुआ तो क्या स्वयं रचने से होगा ?

समाधान—आगे भूलने का भय नहीं रहेगा। गूढ़ विषय है, लिखा रहने से बार-बार देखने से हृदयस्थ रहेगा। उसीसे प्रकर्ष बोध रहेगा, यहाँ का प्रकर्ष बोध तत्त्वत्रय-सम्बन्धी है, आगे—'निज संदेह मोह भ्रम हरनी।' से स्पष्ट होगा। उसे बारंबार मनन करने की आज्ञा शास्त्र में है, यथा—"आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम्।" (ब्र० सू० ४।१।१२); तथा—"तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च।" (गीता ७।८); पुनः, यथार्थ समझना भी वही कहा जाता है, जो दूसरों को भी समझा सके। तभी अपने हृदय को सान्त्वना (तसल्ली) होती है, प्रबोध का अर्थ तसल्ली भी होता है।

यहाँ 'मन प्रबोध' ग्रन्थ के उपक्रम में 'स्वान्तः सुखाय' और अन्त में 'स्वान्तस्तमः शान्तये' कहा गया है—यही ग्रन्थकार का प्रयोजन है। अन्तः का अर्थ मन है। जब तत्त्वत्रय का बोध होता है, तभी मन में सुख एवं शान्ति आती है।

(३) 'जस कछु बुधि···' ग्रन्थकार 'कछु' कह रहे हैं, यह कार्पण्य है, क्योंकि इन्हें बुद्धि-विवेक का पूर्ण बल प्राप्त है, यथा—"जनकसुता···जासु कृपा निर्मल मति पावउँ॥" (दो० १७); तथा—"संभु-प्रसाद सुमति हिय हुलसी।" (दो० ३५); अर्थात् श्रीजानकीजी से और शिवजी से बुद्धि-बल प्राप्त है, तथा—"गुरु-पदरज मृदु मंजुल अंजन।···तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनउँ राम-चरित भव-मोचन॥" (दो० १); अर्थात् गुरु-प्रसाद से विवेक-बल प्राप्त है। फिर भी हरि-प्रेरणा का बड़ा बल है, यथा—"तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे॥" तथा—उरप्रेरक रघुबंसबिभूषन।" (उ० दो० ११२)। हरि-प्रेरणा से सरस्वतीजी वश हो जाती हैं, यथा—"सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतर्यामी॥ जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कबि-उर-अजिर नचावहिं बानी॥" (दो० १०४)।

पहले कहा था—"निज बुधि बल भरोस मोहिं नाहीं। ताते बिनय करउँ सब पाहीं॥" (दो० ७); अब उपर्युक्त रीति से 'बुधि-बल' प्राप्त हुए, तब कहते हैं—'जस कछु बुधि·····'।

निज संदेह-मोह-भ्रम-हरनी। करउँ कथा भवसरिता-तरनी॥४॥

अर्थ—मैं अपने सन्देह, मोह और भ्रम को हरनेवाली और संसार रूपी नदी के लिये नाव-रूपिणी कथा की रचना करता हूँ।

विशेष—यहाँ से २५ स्त्रीलिंग और २८ पुंल्लिग विशेषणों के द्वारा कथा-माहात्म्य कहते हैं। इस अर्द्धाली में 'संदेह, मोह और भ्रम' तीनों एक साथ कहे गये हैं, अन्यत्र ये पर्यायी भी माने जाते हैं। पर यहाँ तीनों तीन लक्ष्यों पर कहे गये हैं। अतः, ठीक है।

'संदेह'—अर्थात् संशय, किसी वस्तु के ज्ञान में द्विविधा होना, जैसे श्रीरामजी को परब्रह्म मानकर श्रीशिवजी ने प्रणाम किया और पार्वतीजी की चरित की दृष्टि से रामजी मनुष्य जान पड़े। अतः, सन्देह हो गया कि शिवजी ईश हैं, इनका निश्चय अन्यथा कैसे हो ? पर मुझे तो रामजी मनुष्य ही दीखते हैं, यथा—"सती सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेह बिसेखी॥ (दो० ४६)। फिर वहीं पर कहा—"अस संसय मन भयेउ अपारा।" शिवजी ने भी कहा—"संसय अस न धरिय उर काऊ।" और समझाया भी कि श्रीरामजी परब्रह्म हैं। न मानने पर भी शिवजी ने कहा—"जौं तुम्हरे मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू॥" इसपर सतीजी ने ईश्वरता की ही परीक्षा ली। फिर दूसरे शरीर से कैलाश-प्रकरण सुनकर ईश्वर-रूप का निश्चय होने पर कहा—"तुम कृपाल सब संसय हरेऊ। राम-सरूप जानि मोहिं परेऊ॥" (दो० ११९)। रामायण-उपसंहार पर भी गिरिजा का वचन है—"नाथ कृपा मम गत

संदेहा। राम-चरन उपजेहु नव नेहा॥" (उ० दो० १२८)। अतः, सन्देह का अर्थ ईश्वर के स्वरूप-ज्ञान में द्विधा है।

'मोह' का अर्थ अपने (जीव) स्वरूप में अज्ञान होना है, जिससे अपने को देह ही मानना और इन्द्रियाभिमानी होकर दसो इन्द्रियों के भोक्ता होने में दशमुख-रूप होना है। यथा—"मोह-दसमौलि···" (वि० ५८)। 'मुह-वैचित्ये' इस धातु से मोह का अर्थ मूर्च्छा एवं अविवेक होता है। मूर्च्छित व्यक्ति को अपने देह की सुधि नहीं रहती। वैसे अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर देह ही को अपना रूप मानकर इसी की सेवा में निमग्न रहना मोह एवं अविवेक है, यथा—"मूर्च्छा (तु) कश्मलं मोहः॥" (अमरकोष २।८।१०९); तथा—"सेवहिं लखन सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥" (अ० दो० १४१)।

'भ्रम' का अर्थ अवित् (माया) तत्त्व में अनिश्चय होना अर्थात् ब्रह्म के शरीर-रूप जगत् में नानात्व सत्ता का भ्रम होना है—यह "रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः" पर लिखा गया, आगे—"जासु सत्यता ते जड़ माया।···भ्रम न सकइ कोउ टारि॥" (दो० ११७); पर भी कहा जायगा।

अतः, यहाँ सन्देह, मोह और भ्रम क्रमशः ब्रह्म, जीव और माया के विषय में कहे गये हैं। इन्हीं तीनों (तत्त्वत्रय) का ज्ञान 'प्रकर्षबोध' कहा जाता है और इसीसे 'भव' का भी नाश होता है। यह कथा का मुख्य गुण प्रथम कहकर तब और सामान्य गुण कहेंगे।

भव को अन्यत्र 'भवसागर' रूप कहा जाता है, यहाँ 'सरिता' ही कहा, क्योंकि कथा के समय वह साधारण नदी-सा रह जाता है और कथारूपी नाव से शीघ्र ही उसका पार मिल जाता है।

बुध-बिश्राम सकल-जन-रंजनि। रामकथा कलि-कलुष-बिभंजनि॥५॥
रामकथा कलि-पन्नग-भरनी। पुनि बिबेक-पावक कहँ अरनी॥६॥

शब्दार्थ—पन्नग=साँप। भरनी=मयूरनी, यथा—'भरणी मयूरपत्नी स्यात् (मेदिनीकोश)। अरनी=अरणि, काठ का बना एक यन्त्र, जिससे यज्ञ में आग प्रकट की जाती है।

अर्थ—राम-कथा पंडितों के लिये विश्रामरूपा, सब प्राणियों को प्रसन्न करनेवाली और कलियुग के पापों का नाश करनेवाली है॥५॥ रामकथा कलियुग-रूपी साँप के लिये मोरनी के समान है और विवेकरूपी अग्नि के (उत्पन्न करने के) लिये अरणी के समान है॥६॥

विशेष—(१) 'बुध-बिश्राम···' जो पंडित वेद-शास्त्र पुराणादि पढ़ते हुए थक जाते हैं, पर यथार्थ तत्त्व-ज्ञान नहीं प्राप्त होता, वे इस ग्रन्थ में तत्त्वार्थ का निश्चय कर विश्राम पावेंगे, क्योंकि इसमें—"श्रुति-सिद्धान्त निचोरि।" (दो० १०९); कहा है। पहले जैसी कविता के प्रति कहा था—'सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही।' एवं 'जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि···'। उन प्रकारों की कविता बनने के योग्य सामग्री प्राप्त हो गई, उपर्युक्त—'जस कछु बुधि बिबेक···' का प्रसंग देखिये, इससे अब कहते हैं कि यह कथा बुद्धिमानों को विश्राम देनेवाली होगी। तथा इसमें पुराण-श्रुति का सार श्रीराम-नाम का यश कहा गया है, यथा—"येहि महँ रघुपति-नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥" (दो० ९)। उसमें निष्ठा प्राप्त कर 'बुध लोग' और सबको छोड़कर विश्राम ले लेते हैं, यथा—"विश्रामस्थानमेकं कविवर-वचसां,····भूतये राम-नाम॥" (हनुमन्नाटक)। प्रायः जहाँ बुद्धिमानों का विश्राम होता है, वहाँ 'सकल जन रंजन' नहीं होता, पर इस कथा में दोनों का हित है।

'कलि-कलुष·····' इसमें 'बि-भंजनि' अर्थात् कथा कलि के पापों को विशेष रीति से नष्ट करती है, जिससे वह फिर पनप नहीं सके। अन्यान्य सुकृतों से पाप नष्ट होते हैं, फिर बढ़ते भी हैं, यथा—

"करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रक्तबीज सम बाढ़त जाहीं॥" (वि० २२८)। यहाँ कलि का कार्य-रूप कलुष नाश कहा, आगे चौ० में कलि (कारण-रूप) का भी नाश कहते हैं।

यहाँ तक कथा से तीनों प्रकार के जीवों का कल्याण कहा गया। 'बुध-विश्राम' से मुक्त कोटि का, 'संदेह-मोह-भ्रम हरनी', एवं 'भव सरिता-तरनी' से मुमुक्षु का और 'सकल जन रंजनि' और 'कलि कलुष विभंजनि' से विषयी का हित निश्चित हुआ, यथा—"सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई।" (उ० दो० १४)।

(२) 'रामकथा कलि पन्नग ·····' मोरनी सर्प को पाते ही निगल जाती है, वैसे ही यह कथा कलि को निर्मूल करती है। अरणी देखने में काष्ठमय है, पर उसमें अग्नि भरा है, क्योंकि रगड़ने से अग्नि ही प्रकट होता है। वैसे ही यह कथा भी देखने में सर्वथा उपासना-रूपा है, पर इसके अभ्यन्तर ज्ञान भरा है। अभ्यास रूपी रगड़ से प्रकट होता है। अरणी में तीन लकड़ियों से मन्थन करने पर उसमें अग्नि प्रकट होता है, वैसे वक्ता और श्रोता दोनों बगल की लकड़ी हुए, क्योंकि इन्हींके आधार पर कथा की रगड़ होगी। बीच की लकड़ी कथा है, इसीसे अग्नि रूप विवेक प्राप्त होता रहता है। कलि और उसके पाप के रहते हुए विवेक नहीं होता। अतः, इनके नाश के पीछे विवेक का होना कहा, यथा—"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः। यथाऽऽदर्शतले प्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि॥" (महा० शान्ति० २०४८); अर्थात् पाप कर्मों के नष्ट होने पर मनुष्य में ज्ञान उत्पन्न होता है, तब मनुष्य निर्मल दर्पणतल की भाँति आत्मा से ही आत्मा के दर्शन करता है।

राम-कथा कलिकामद गाई। सुजन - सजीवन - मूरि सुहाई॥७॥
सोई बसुधातल सुधातरंगिनि। भयभंजनि भ्रम-भेक-भुअंगिनि॥८॥

अर्थ—श्रीराम-कथा कलियुग में कामधेनु गाय के समान है और सज्जनों के लिये सुहावनी संजीवनी जड़ी के समान है॥७॥ पृथ्वी पर वही (रामकथा) अमृत की नदी है, भय का नाश करनेवाली और भ्रम-रूपी मेढक (को निगल जाने) के लिये सर्पिणी के समान है॥८॥

विशेष—(१) 'राम-कथा कलि ··' कलि में और धर्म लुप्तप्राय हो गये। उसमें भी यह कथा कामधेनु के समान चार फल देती है, फिर और युगों में तो इसका महत्त्व अप्रमेय है। कलि में उद्धार करनेवाली यही एक है, यथा—"कलिजुग केवल हरिगुन-गाहा। गावत नर पावहिं भवथाहा॥" (उ० दो० १०२)।

कामधेनु सर्वत्र पूज्य है, इसी तरह कथा की भी पूजा करनी चाहिये।

'सुजन सजीवनि मूरि···'—यह कथा सज्जनों की जीवन-रूपा है, अत्यन्त प्रिय है। अतः, वे इसे अहर्निश सँजोये रहते हैं, यथा—"जिअनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ।" (अ० दो० ५८); इसीसे अविनाशी-पद पाते हैं, यही अमरत्व है।

सकामों के लिये 'कामधेनु' और निष्कामों के लिये 'सजीवन-मूरि' कहा है।

(२) 'सोइ बसुधातल···'—पृथ्वी तल पर अमृत की बूँद भी अप्राप्य है, पर कथा अमृत की नदी रूपिणी है, क्योंकि इससे पृथ्वी पर सबके जन्म-मरण छूट सकते हैं।

'भ्रम-भेक-भुअंगिनि'—सर्पिणी नदी के समीप के मेढकों को खाती है। वैसे ही कथा-प्रसंग के सम्बन्ध से जो-जो भ्रम होंगे, उनका इसीसे समझौता हो जायगा। ऊपर 'निज संदेह मोह भ्रम हरनी।' में माया-सम्बन्धी भ्रम का हरण कहा गया, यहाँ और-और कथा-सम्बन्धी भ्रमों का नाश कहा गया। अथवा वहाँ 'निज भ्रम' का नाश और यहाँ औरों के भ्रमों का नाश अर्थ है। अतः, पुनरुक्ति नहीं है।

असुर-सेन-सम नरक - निकंदिनि। साधु-बिबुध-कुल - हित गिरिनंदिनि॥९॥
संत - समाज - पयोधि - रमा-सी। बिस्व-भार-भर अचल छमा-सी॥१०॥

अर्थ—जैसे श्रीपार्वतीजी ने दुर्गा-रूप से देवताओं के समाज के हित के लिये असुरों की सेना का नाश किया, वैसे यह कथा साधु-समाज के लिये नरक-समूह को निर्मूल करती है ॥९॥ सन्त-समाज रूपी क्षीरसागर के लिये श्रीराम-कथा श्रीलक्ष्मीजी के सदृश है और सारे संसार का भार धारण करने को अचल पृथ्वी के तुल्य है ॥१०॥

विशेष—(१) 'असुर-सेन-सम···' पार्वतीजी ने असुर-सेना का संहार किया, यथा—"छमुख-हेरंबअम्बासि जगदम्बिके !···चंड-भुज दंड-खंडनि बिहंडनि मुंड महिप मद-भंग करि अंग तोरे। सुंभनिःसुंभ कुंभीसरनकेसरिनि क्रोधवारिधि बैरि बृन्द बोरे ॥" (वि० १५); इसी प्रकार यह कथा भक्तों के लिये नरकसमूह का नाश करती है। पार्वतीजी गिरिनन्दिनी हैं। वैसे कथा भी 'पुरारि-गिरि संभूता' है। उमा से देवताओं के साथ औरों का भी हित हुआ। वैसे कथा से साधुओं के साथ औरों का भी हित होता है। जैसे असुरों की सेना बहुत है, वैसे नरक भी शास्त्रों में २८ प्रकार के कहे गये हैं। उनमें एक-एक का विस्तार बहुत है। असुरों से प्राणियों को पीड़ा पहुँचती है, वैसे नरकों से भी। असुरों का रूप भयंकर और घृणित है, वैसे नरकों का भी। हिं० श० सा० में, मनुस्मृति और श्रीमद्भागवत् में वर्णित २१-२१ नरकों के नाम लिखे हैं। दोनों के नरकों के नामों में कुछ भेद हैं। उनके अतिरिक्त सात नरक और भी लिखे हैं, इन सबके नाम भिन्न-भिन्न है। कहते हैं कि भिन्न-भिन्न प्रकार के पाप करने के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के नरक भी भोगने पड़ते हैं। 'असुरसेन' का अर्थ गयासुर भी किया जाता है, पर उसमें लिंग-दोष एवं अप्रसिद्धि दोष भी है, क्योंकि वह पुँल्लिग है और यहाँ कथा की सब उपमाएँ स्त्रीलिंग ही हैं और इसका 'गयासुर' अर्थ कोषों की छानबीन से ही मिलता है। जहाँ साधारण अर्थ में असंगति होती हो, वहाँ ही इतनी दौड़ लगाने की रीति है। ग्रन्थकार की 'सरल कवित कीरति-बिमल' दो० १४ की प्रतिज्ञा भी है।

(२) 'संत-समाज-पयोधि-रमा-सी।'—क्षीरसागर श्वेत वर्ण है, वैसे सन्त समाज शुद्ध सत्त्वगुणी है। क्षीरसिन्धु से लक्ष्मी प्रकट हुईं, लक्ष्मीजी के सम्बन्ध से भगवान् भी वहीं रहते हैं। वैसे कथा भी सन्त-समाज से प्रकट हुई और यहीं रहती है, यथा—"बिनु सतसंग न हरि कथा।" (उ० दो० ६१); और कथा के सम्बन्ध से भगवान् भी सन्तों के हृदय में रहते हैं। लक्ष्मीजी क्षीरसिन्धु की सर्वस्व-रूपा हैं, वैसे ही कथा भी 'सन्तन को सर्वस' कही गई है।

'बिस्व-भार-भर·· '—यद्यपि पृथ्वी अचला-सी है, तथापि प्रलय आदि कारणों से चलायमान होती है, पर कथा भी सप्तर्षि एवं शिव आदि के हृदय में निवास होने से सदा अचल रहती है, यह अधिकता है। पृथ्वी की तरह कथा भी संसार के धर्मों की आधारभूता है, यथा—"धर्ममार्ग चरित्रेण; (रा० ता० उपनिषद्); यहाँ त्रिदेव की शक्तियों में 'पार्वती' और 'रमा' की उपमा तो दी, पर सरस्वती की न दी, क्योंकि कथा तो वाणी-रूपा है ही। यह बात "कहत सुनत यक हर अबिबेका।" (दो० १४); एवं—"जौं बरषै बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुक्तामनि चारू ॥" (दो० १०); में कही गई है।

जन-गन-मुँह-मसि जग जमुना-सी। जीवन-मुकुति-हेतु जनु कासी ॥११॥
रामहिं प्रिय पावनि तुलसी-सी। तुलसिदास-हित-हिय-हुलसी-सी ॥१२॥

अर्थ—यह कथा यमराज के गणों के मुख में स्याही लगाने के लिये संसार में यमुनाजी के तुल्य है और जीवों को मुक्ति देने के लिये एवं जीवन्मुक्ति दशा प्राप्त कराने के लिये मानों काशीपुरी ही है ॥११॥ श्रीरामजी को यह कथा पवित्र तुलसी के समान प्यारी है और मुझ तुलसीदास के लिये यह हृदय के आनन्द (उल्लास) के समान है ॥१२॥

विशेष—(१) 'जम-गन-मुँह-मसि···'—पद्मपुराण में कथा है कि कार्त्तिक शुक्ल द्वितीया को यमराज ने अपनी बहिन यमुनाजी के यहाँ भोजन किया और वर दिया कि इस दिन जो तुममें स्नान करेगा, उसे यमदूत नरक को नहीं ले जायँगे। पर श्रीगोस्वामीजी यह महत्त्व यमुना में नित्य मानते हैं, यथा—"जमुना ज्यों-ज्यों लागी बाढ़न।···ज्यों-ज्यों जल मलीन त्यों जमगन मुख मलीन भये आढ़न।" (वि० २१); यमदूतों के मुख में स्याही लगना यह है कि जब पापी को लेने दूत आते हैं, वहाँ उसके या उसके पास के किसीके मुख से एक-आध चौपाई रामायण की कही जाय तो तुरन्त श्रीराम-पार्षद आकर पापी को यमदूतों से छीन लेते हैं। दूत लज्जित होकर लौट जाते हैं। यही मुँह में कालिख (स्याही) लगना है। यमपुर से निवृत्त होने पर मुक्ति चाहिये। अतः, उत्तरार्द्ध में कथा को काशीरूपा कहते हैं। 'जीवनमुकुति हेतु ··' उपर्युक्त मुख्य अर्थ के अनुसार काशी मुक्ति की खान है, वैसे कथा भी मुक्ति देती है। दूसरा अर्थ यह भी होता है कि जीवन्मुक्ति की कारणरूपा कथा काशी के समान है जो जीते ही ज्ञान देकर मुक्तप्राय कर देती है। काशीजी में मुक्ति देना और ज्ञान देना, दोनों कहा गया है, यथा—"मुक्ति जन्म महि जानि, ज्ञान खानि अघ हानि कर।···सो कासी····' (कि० मं० मो०); इससे यहाँ उक्त दोनों भाव युक्त हैं। कथा में भी सत्संग से जीवन्मुक्ति एवं साक्षात् मोक्ष दोनों प्राप्त होते हैं, यथा—"सुनत श्रवन छूटहिं भव पासा॥" (उ० दो० १२५); "ज्ञान जोनि पावक जिमि अरनी।" (उपर्युक्त) तथा—"काक होहिं पिक बकउ-मराला॥" (दो० २)। जीवन्मुक्ति की व्यवस्था उ० दो० ४२ एवं दो० ११७ चौ० ५ भी देखिये।

(२) 'रामहिं प्रिय पावनि···' तुलसी पवित्र है एवं प्रभु में अनन्या है। अतः, श्रीरामजी को प्रिय है, वे अर्चारूप में बराबर धारण करते हैं। तुलसी की माला भी सदा धारण करते हैं। वनमाला में तुलसी मुख्य है। यों भी—"उरन्हि तुलसिका माल।" (दो० २४३); तथा—"अजहुँ तुलसिका हरिहिं प्रिय।" (अर० दो० ५); कहा ही है। तुलसी भगवान् को अत्यन्त प्यारी है, क्योंकि यह साक्षात् लक्ष्मीजी का ही स्वरूप है, यथा—"शशाप वाणी तां पद्मां महाकोपवती सती। वृक्षरूपा सरिद्रूपा भविष्यसि न संशयः॥" (ब्रह्मवैवर्त्त पु० प्रकृति० ६।३२); अर्थात् सरस्वतीजी ने लक्ष्मीजी को शाप दिया कि तुम वृक्ष रूप और नदी रूप हो जाओ (वे ही पद्माजी पद्मावती नदी और तुलसी वृक्ष हुईं), यह देखकर भगवान् ने भी कहा है—"लक्ष्मि त्वं···भूत्वा पश्चाच्च मत्पत्नी भविष्यसि न संशयः। त्रैलोक्यपावनी नाम्ना तुलसीति च भारते॥" (ब्रह्मवैवर्त्त पु० प्रकृति० ६।४५–४७); अर्थात् उक्त शाप को सत्य करने के लिये भगवान् ने भी कहा है कि हे लक्ष्मीजी! तुम त्रैलोकपावनी तुलसी होने पर भी मेरी पत्नी ही होगी। वैसी ही रामकथा भी पवित्र है, श्रीराम ही का यश-कथन है। अतः, उनमें अनन्या भी है, यथा—"आदिकाव्यमिदं राम त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्। नह्यन्योऽर्हति काव्यानां यशोभाग्राघवादृते॥" (वाल्मी० ७।९८।१८); और इसीसे प्रिय है। अतः, इस कथा को भी वे हृदय में धारण करते हैं। 'हुलसी सी'—कथा आनन्दरूपा एवं उल्लासरूपा है, यथा—सुखमूल दूलहु देखि दंपति पुलक तनु हुलस्यो हिये॥" (दो० ३२३); अर्थात् मेरे हृदय के श्रीरामविषयक उल्लास का उद्दीपन करनेवाली है, यथा—'प्रभु गुन सुनि तनु हरषिहै, नीर नयनन्हि ढरिहै। तुलसिदास भयो राम को विस्वास प्रेम लखि आनँद उमँगि उर भरिहै।" (वि० ३६८); कोई-कोई 'हुलसी' श्रीगोस्वामीजी की माता का नाम कहते हैं और अर्थ करते हैं कि हिय को हित करनेवाली माता के तुल्य है, पर उनकी माता का यही नाम था—इसमें सन्देह है। तुलसी के रूपक के पश्चात् तुलसी के दास को अपनी बात कहने का अवसर मिला, इससे कहा है।

सिव-प्रिय मेकल सैल-सुता-सी। सकल-सिद्धि-सुख-संपति-रासी॥१३॥
सद-गुन सुरगन अंब अदिति-सी। रघुवर-भगति-प्रेम परिमिति-सी॥१४॥

शब्दार्थ—मेकल सैल-सुता ['रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका ।' (अमरकोष १।१०।३२)]=नर्मदाजी । अदिति = देवताओं की माता । परिमिति = सीमा ।

अर्थ—यह कथा शिवजी को नर्मदाजी के समान प्यारी है, सब सिद्धियों, सुखों और सम्पत्तियों की राशि है ॥१३॥ सद्गुण रूपी देवताओं को (उत्पन्न करने में) यह कथा उनकी माता अदिति के समान है तथा श्रीरघुनाथजी की भक्ति और प्रेम की सीमा-सरीखी है ॥१४॥

विशेष—(१) 'सिवप्रिय ' शिवजी को नर्मदा नदी बहुत प्रिय है, इसीसे वे नर्मदेश्वर रूप से उसमें निमग्न रहते हैं । वे अनेक रूप धारण कर नर्मदा में क्रीड़ा करते रहते हैं । नर्मदा ही की तरह शिवजी को यह कथा प्रिय है, तभी तो निर्माण करके अपने 'मानस' में ही इसे बहुत समय तक रक्खा था । पुनः, इसे पूर्ण अधिकारियों को ही दिया । वे इसके अक्षर-अक्षर में निमग्न रहते हैं, यही अनेकरूपत्व है ।

(२) 'सद-गुन सुरगन ···'—जैसे अदिति से देवताओं की उत्पत्ति हुई वैसे कथा से सद्गुणों की उत्पत्ति होती है, तथा जैसे वे देवता अमर एवं दिव्य होते हैं, वैसे कथा से प्राप्त सद्गुण भी दिव्य एवं चिरस्थायी होते हैं । जैसे अदिति ने अपने पुत्रों (इन्द्रादिकों) की रक्षा एवं उनके सुख-विधान के लिये तप करके भगवान् को वामन-रूप से प्रकट कराया था, इसी तरह कथा भी भक्तों के सद्गुणों की रक्षा के लिये उनके हृदय में भगवान् का आविर्भाव कराती है । इससे कलिमल से रक्षा होती है और सद्गुण चिरस्थायी रहते हैं ।

(३) 'रघुवर-भगति···'—सद्गुणों के पीछे भक्ति होती है और वह कथारसिकों में प्रेम का उत्कृष्ट रूप उत्पन्न करती है, जिससे भगवान् हृदय में बसते हैं । यहाँ उपर्युक्त सद्गुण आदि के साधनों का फल है, यथा—"तव पद पंकज प्रीति निरंतर । सब साधन कर यह फल सुंदर ॥" (उ० दो० ४८) । 'परिमिति' का भाव यह है कि भक्ति और प्रेम का प्रतिपादक ऐसा ग्रन्थ दूसरा नहीं है । भक्ति-प्रतिपादक प्रधान ग्रन्थ श्रीमद्भागवत के सर्वश्रेष्ठ भक्त प्रह्लाद की भक्ति और रामचरित मानस के श्रीभरतजी की भक्ति का मिलान अ० दो० २०४ चौ० १-५ में देखिये । श्रीरामचरित मानस की रामकथा में प्रतिपादित भक्ति बहुत ऊँची प्रत्यक्ष है । इस दृष्टि से इसे भक्ति और प्रेम प्रतिपादक ग्रन्थों की परिमिति कहा जाना युक्त ही है । यहाँ 'भगति' पद से नवधा और 'प्रेम' पद से प्रेमलक्षणा भक्ति से तात्पर्य है ।

दोहा—रामकथा मंदाकिनी, चित्रकूट चित चारु ।
तुलसी सुभग सनेह बन, सिय-रघुबीर बिहारु ॥३१॥

अर्थ—श्रीरामकथा (श्रीचित्रकूट की) मन्दाकिनी नदी है, पवित्र चित्त चित्रकूट है । श्रीतुलसीदास जी कहते हैं कि उसमें सुन्दर स्नेह वन है, जिसमें श्रीसीतारामजी का विहार होता है ।

विशेष—मन्दाकिनी—यह नदी त्रिपथगा गंगाजी की एक धारा है जो अनसूया स्थान के पास पर्वत से निकली है और श्रीचित्रकूट में पयस्विनी से मिलती है । अतः, श्रीचित्रकूट भर में दोनों का मिलित माहात्म्य है, इसीसे चित्रकूट-रामघाट को 'पय उतर करारा' भी कहा गया है । आगे पयस्विनी की ही प्रधानता है—अ० दो० १३२ चौ० २ देखिये । चित्रकूट से आगे वह नदी श्रीयमुना में मिली है । अनसूया स्थान चित्रकूट से पाँच कोस दक्षिण है । इसे श्रीअनसूयाजी अपने वृद्ध पति अत्रि के स्नानार्थ अपने तपोबल से लाई हैं । इसकी कथा अ० दो० १३१ में है । 'सुभग सनेह' को वन कहा है, क्योंकि वन की तरह स्नेह में भी लोग भूल जाते हैं, वन में मार्ग भूलते हैं और स्नेह में मार्ग एवं देह भी भूल जाते हैं, यथा—"सखहिं सनेह बिबस मग भूला" (अ० दो० ३३७) । मन्दाकिनी का महत्त्व चित्रकूट के साहचर्य में विशेष है, यथा—"नदी पनच सर सम दम दाना । सकल कलुष कलिसाउज नाना ॥···चित्रकूट जनु

अचल अहेरी।" (अ० दो० १३२); वैसे 'चारु-चित्त' के चिन्तन से कथा का महत्त्व विशेष है। मन्दाकिनी में सब ऋतुओं में प्रवाह रहता है, वैसे कथा में सर्वत्र प्रेम-प्रवाह के गुण परिपूर्ण हैं। चित्रकूट और मन्दाकिनी की शोभा वन से है, तभी श्रीरामजी का मन रमा, यथा—"रमेउ राम मन देवन जाना॥" (अ० दो० १३२); वैसे सुभग स्नेह से कथा एवं चित्त की शोभा होती है और तभी 'सिय-रघुबीर बिहार' होना है अर्थात् क्रीड़ा-सहित श्रीसीतारामजी चित्त में बसते हैं। फिर खल कामादि भी निकट नहीं आते, जैसे श्रीरामजी के डर से राक्षस समीप नहीं आते थे।

चित्रकूट-विहार श्रीसीताराम-लक्ष्मण को इतना प्रिय है कि वे गुप्त रूप से सब दिन बसते हैं, यथा—"चित्रकूट सब दिन बसत, प्रभु सिय लखन समेत॥" (दोहावली ४); वैसे 'चारु-चित' से कथा के सुभग स्नेही के हृदय में वे सदा विहार करते हैं।

'रघुबीर' अर्थात् वीर हैं, तभी स्त्री के साथ वन में विहार करते हैं। रघुवीर से श्रीराम-लक्ष्मण दोनों का अर्थ लेना भी संगत है, क्योंकि विहार-गर्भित रूपक में तीनों हैं—"राम-लखन-सीता सहित, सोहत परन-निकेत। जिमि बासव बस अमरपुर, सची जयंत समेत॥ (अ० दो० १४१)।

राम - चरित-चिंतामनि चारू। संत-सुमति-तिय-सुभग-सिंगारू॥१॥
जगमंगल गुनग्राम राम के। दानि मुकुति धन धरम धाम के॥२॥

अर्थ—श्रीरामचरित सुन्दर चिन्तामणि के समान है और सन्तों की सुबुद्धिरूपिणी स्त्री का सुन्दर शृङ्गार है॥१॥ श्रीरामजी के गुणसमूह जगत् का मंगल करनेवाले हैं और मुक्ति, धन, धर्म तथा धाम के दाता हैं॥२॥

विशेष—(१) 'रामचरित चिंतामनि चारू।'—चिन्तामणि मनमाँगे पदार्थों को देकर चित्त की चिन्ता मिटा देती है, यथा—"तुलसी चित चिंता न मिटै बिनु चिंतामनि पहिचाने।" (वि० २३५); वैसे श्रीरामचरित भी तृप्त कर चिन्ता मिटाता है। चिन्तामणि के गुण भक्ति-रूपक में कहे गये हैं, यथा—"राम-भगति चिंतामनि सुन्दर।" ··से—"दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके॥" (उ० दो० ११९); तक। इन सब गुणों को यहाँ भी जानना चाहिये। चिन्तामणि में प्रधान चार गुण हैं—तम का नाश करना, दरिद्रता का हरण करना, रोग को दूर करना और विघ्नों को हटाना, वैसे इस कथा से अविद्या तम का नाश, मोह रूपी दरिद्रता का हरण, मानस रोगों का शमन और कामादि विघ्न निवारण होते हैं। चिन्तामणि मणियों में श्रेष्ठ है, यथा—"चिंतामनि पुनि उपल दसानन।" (लं० दो० २५); वैसे चरित सब धर्मों में श्रेष्ठ है। 'सुभग'—स्त्रियाँ मणि को सिर पर रखती हैं, वैसे सन्त इस कथा से सुमति की सर्वोपरि शोभा मानते हैं। स्त्री दिन-रात शृंगार रखती है, वैसे ही सन्तों की बुद्धि राम-गुण-ग्राम में ही लगी रहती है। सन्तों की बुद्धि का शृङ्गार ही कहा, कुछ देना नहीं कहा, क्योंकि सन्त श्रीराम-गुणग्राम से श्रीराम-स्नेह ही चाहते हैं, कोई कामना नहीं करते, यथा—"परहु नरक फल चारि सिसु, मीच डाकिनी खाउ। तुलसी राम सनेह को, जो फल सो जरि आउ॥" (दोहावली ९२)। 'चारू'—क्योंकि यह चरित भक्ति-मुक्ति भी दे सकता है।

(२) 'जगमंगल गुनग्राम···' 'संत सुमति···' ही नहीं, प्रत्युत सारे जगत् के मंगलकर्त्ता हैं। यह चारो फलों का देना सूचित किया, जैसे मुक्ति और धर्म स्पष्ट है और धन अर्थ का ही पर्याय है, तथा धाम अर्थात् गृह से गृहिणी समेत का तात्पर्य है, क्योंकि गृहिणी ही गृह है, यथा—"न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते। गृहं तु गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम्॥ वृक्षमूलेऽपि दयिता यस्य तिष्ठति तद्गृहम्। प्रासादोऽपि तया हीनः कान्तार इति निश्चितम्।" (महा० शा० १४४।६-१२)। अतः, काम भी आ गया।

गृह एवं स्त्री के सम्बन्ध में सारी कामनाएँ आ जाती हैं, इससे इनकी प्रधानता में काम का ग्रहण चार पदार्थों में किया है, दोहावली ३५६ देखिये।

सदगुरु ज्ञान बिराग जोग के। बिबुधबैद भव-भीम रोग के ॥३॥
जननि जनक सियराम-प्रेम के। बीज सकल ब्रत-धरम-नेम के ॥४॥

शाब्दार्थ—बिबुधबैद = अश्विनी कुमार, "त्वष्टा की पुत्री प्रभा नाम की स्त्री से उत्पन्न सूर्य के दो पुत्र। एक बार सूर्य के तेज को सहन करने में असमर्थ होकर प्रभा अपनी दो सन्तति यम और यमुना तथा अपनी छाया छोड़कर चुपके भाग गई और घोडी बनकर तप करने लगी। ····पीछे जानकर सूर्य भी घोडा बनकर उस अश्विनी के पास गये, इस संयोग से दोनों अश्विनीकुमारों की उत्पत्ति हुई जो देवताओं के वैद्य हैं।" "इन्होंने ही च्यवनप्राश नाम का अवलेह बनाकर महर्षि च्यवन का वृद्धत्व अन्धत्व, दूरकर सुन्दर युवा बनाया है।" (हि० श० सा०)।

अर्थ—श्रीरामजी के गुण-समूह ज्ञान, वैराग्य और योग के लिये सद्गुरु हैं और जन्म-मरण रूपी भयंकर रोग के लिये देवताओं के वैद्य अश्विनीकुमार हैं ॥३॥ श्रीसीतारामजी के प्रेम के (उत्पन्न करनेवाले) माता-पिता हैं तथा सम्पूर्ण व्रतों, धर्मों और नियमों के बीज हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'सदगुरु ज्ञान···' यथा—"सदगुरु मिले जाहिं जिमि, संसय भ्रम समुदाइ ॥" (कि० दो० १६)। वैसे श्रीरामचरित ज्ञानादि सम्बन्धी संशय-भ्रम के नाशक हैं और उसका यथार्थ बोध करानेवाले हैं। छोटे रोगों को छोटे वैद्य भी अच्छा कर सकते हैं, पर भव (संसार) भीम (भयंकर) रोग है। अतः, 'बिबुध-बैद' कहा। प्राकृत रोगों की चिकित्सा में वे बड़े हैं, भव रोग उससे भारी है, क्योंकि देवता स्वयं भव-प्रवाह में पड़े रहते हैं। अतः, ये चरित उनसे भारी वैद्य हैं।

(२) 'जननि जनक···' माता-पिता की तरह प्रेम को उत्पन्न करके फिर पालते (स्थिर रखते) भी हैं। बीज से वृक्ष होते हैं, वैसे चरित से व्रत आदि स्फुरित होते और बढ़ते हैं, यथा—"धर्ममार्ग चरित्रेण" (रामतापनीय उ०)।

समन पाप संताप सोक के। प्रिय पालक परलोक लोक के ॥५॥
सचिव सुभट भूपति-बिचार के। कुंभज लोभ-उदधि अपार के ॥६॥

अर्थ—श्रीरामजी के गुण पाप, सन्ताप और शोक के नाशक हैं, इस लोक और परलोक के प्यारे पालक हैं ॥५॥ विचार रूपी राजा के चतुर मन्त्री और अच्छे योद्धा हैं। लोभ-रूपी अपार समुद्र सोखने के लिये अगस्त्यमुनि हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'समन पाप···' ऊपर अर्द्धाली में 'बीज सकल—' कहा, धर्म से पाप का नाश होता है, तब 'संताप-सोक' की निवृत्ति होती है। अतः, पहले धर्म बीज कहकर तब पाप आदि का शमन कहा जाना बहुत ही उपयुक्त है। पहले पाप-सन्ताप एवं शोक नष्ट होते हैं, तब लोक-परलोक के सुखों का विधान होता है। वैसे क्रम से कहा गया है—'प्रिय पालक'—श्रीरामजी के गुण प्रेमपूर्वक इस लोक में सुख देकर अन्त में सुगति भी देते हैं। 'पाप' कारण और 'संताप-सोक' कार्य हैं—"करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक वियोग।" (उ० दो० १००)। ये कार्य-कारण दोनों का नाश करते हैं।

(२) 'सचिव सुभट···' राजा के सात अंग हैं, यथा—"स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च।" अर्थात् राजा, मन्त्री, मित्र, कोश, देश (भूमि), दुर्ग (किला) और सेना। इनमें मन्त्री और सुभट (सेना) मुख्य हैं। मन्त्री सलाह देता है, सेना रक्षा करती है। इससे राज्य स्थिर रहता है, तथा—"स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौसुहृत्तथा। सप्तप्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥" (मनु० ६।२९४); इस प्रकार चरित में विचार मुख्य राजा है। चरित-द्वारा सद्विचारों के लक्ष्य प्राप्त होंगे और कामादि

रक्षा उदाहरणों द्वारा होगी। राजा के ये दो अंग सदा साथ रहने चाहिये, यथा—"संग सचिव सुचि भूरि भट,……" (दो० २१४)। मन्त्री को चतुर और योद्धाओं को लड़ाका होना चाहिये, यथा—"नृप-हितकारक सचिव सयाना।…अमित सुभट सब समर जुझारा॥ (दो० १५३)। सप्तांगों में ये दो साथ रहे तो गया हुआ राज्य भी आ जाता है, जैसे सुग्रीव-विभीषण के मन्त्री साथ थे, इन्हें फिर राज्य प्राप्त हुए। रामचरित में दोनों योग्यताएँ पूरी हैं।

'कुंभज लोभ '। कुंभज=(कुंभ—ज=घड़े से पैदा) अगस्त्यजी। इन्होंने 'रामाय, रामचन्द्राय, रामभद्राय' कहकर तीन चुल्लुओं में समुद्र को पी लिया। इसीसे ये 'समुद्रचुलुक' एवं 'पीताब्धि' भी कहाते हैं। इनकी कथा दो० २५५ चौ० ७ में दी गई है। लोभ लाभ के साथ-साथ बढ़ता ही जाता है, यथा—"जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई" (लं० दो० १०१)। इसलिये उसे अपार समुद्र के समान कहा। श्रीरामचरित से सन्तोष प्रकट होता है, उसीसे लोभ सूखता है, यथा—"जिमि लोभहिं सोखइ संतोषा।" (कि० दो० १५); जैसे, समुद्र सोखने के पीछे अभी दीखता भर है, पर पीने के काम का नहीं रहा, वैसे सन्तोष की पूर्णता पर अनायास विभव आता भी है, पर अनासक्ति से जन्म-मरण का साधक नहीं रहता, यथा—"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापःप्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥" (गीता २।७०)।

काम कोह कलिमल करि-गन के। केहरि-सावक जन मन बन के॥७॥
अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के। कामद घन दारिद दवारि के॥८॥

अर्थ—(श्रीरामजी के गुण) हरि भक्तों के मनरूपी वन में बसनेवाले कलि के दोष रूप काम, क्रोध आदि हाथियों के झुंड (का नाश करने) के लिये सिंह के बच्चे के सदृश हैं॥७॥ त्रिपुरासुर के शत्रु शिवजी को अतिथि के समान पूज्य और अत्यन्त प्रिय हैं। दरिद्रतारूपी दावानल के (बुझाने के) लिये कामनापूरी करनेवाले मेघों के सदृश हैं॥८॥

विशेष - (१)'काम कोह कलि……'—ऊपर लोभ और यहाँ कामक्रोध भी कहकर तीनों कहे, क्योंकि ये तीनों ही नरक के द्वार हैं। यथा—"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोध-स्तथालोभः" (गीता १६।२१); ये तीनों पापमूल हैं। अतः, पहले कामादि कहकर तब 'कलिमल' कहा है। इस प्रकार साथ ही कार्य और कारण का नाश होना कहा गया है। जिस वन में सिंह रहते हैं, वहाँ हाथी नहीं जाते और यदि जाते हैं तो मारे जाते हैं, यथा—"मनहुँ मत्त गजगन निरखि, सिंघ किसोरहि चोप।" (दो० २६७); वैसे जिस जन के मन में श्रीरामचरित रहते हैं, वहाँ कामादि जाते ही नहीं, यदि जायँ तो नष्ट होते हैं।

(२) 'अतिथि पूज्य प्रियतम…' 'अतिथि', यथा—"अज्ञातगोत्रनामानं अन्यग्रामादुपागतम्। विपश्चितोऽतिथिं प्राहुर्विष्णुवत् तं प्रपूजयेत्॥" (नारदीय पु० पूर्व० २७।७३); अर्थात् जिसका नाम-गोत्र अज्ञात हो, अन्य ग्राम से आया हो, वह अतिथि विष्णुवत् पूज्य है। मनु० ३।१०२ में यह भी लिखा है कि एक रात रहनेवाला ही अतिथि है कि जो दूसरी तिथि में न रहे। सभी अतिथि पूज्य हैं, यथा—"…तस्मादेव सदापूज्यः सर्वदेवमयोऽतिथिः॥" (हितो०)। उनमें जो श्रेष्ठ हैं वे प्रियतम पूज्य हैं अर्थात् जीवन-सर्वस्व हैं, वैसे श्रीरामचरित शिवजी का सर्वस्व है। शिवजी कामारि हैं। अतः, निष्काम प्रेम करते हैं। इसीसे यहाँ उनके लिये फल देना नहीं कहा गया। सकामों के लिये उत्तरार्द्ध में देना कहा कि सुकृत मेघ होकर सुखरूपी जल की वर्षा करके दारिद्र्य-रूपी अग्नि बुझाते हैं। सभी कामनाओं की पूर्त्ति किया करते हैं। प्रियत्व में नर्मदा के समान और पूज्यत्व में अतिथि प्रियतम के समान कहा है।

मंत्र महामनि बिषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के॥ ९ ॥
हरन मोहतम दिनकर - कर से। सेवक-सालि-पाल जलधर से ॥१०॥

अर्थ—(श्रीरामजी के गुण) विषयरूपी साँप (का विष हरण करने) के लिये मन्त्र और महामणि के समान हैं, ललाट पर लिखे हुए कठिन कुत्सित अंकों को मिटा देनेवाले हैं ॥९॥ मोहरूपी अन्धकार का हरण करने के लिये सूर्य-किरण के समान हैं और सेवकरूपी धानों के पालनेवाले मेघों के तुल्य हैं ॥१०॥

विशेष—(१) 'मंत्र-महामनि···' 'विषय ब्याल'—शब्दादि विषय साँप हैं, उन विषयों में मन लगाना साँप से डसा जाना है, कामनाएँ विष हैं। कामना-हानि पर क्रोध होना विष की गर्मी का चढ़ना और फिर क्रोध से मोह होना मूर्च्छा तथा अपने प्रकृति-वियुक्त स्वरूप की विस्मृति मृत्यु है। इस अनर्थ परम्परा का प्रमाण गीता २।६२-६३ में देखिये। मन्त्र से झाड़ा जाता है और पीछे मणि (जहरमुहरा) चपका दिया जाता है तो वह विष को खींच लेता है। ऐसे गुणों को मन्त्र रूप में उसके रहस्यार्थ विवेकपूर्वक सुनना चाहिये और उन गुणोंवाले रूप का हृदय में ध्यान एवं मनन द्वारा धारण करना चाहिये, उससे गीता ७।२१-२२ की रीति से भगवान् इसकी श्रद्धा का धारण कर इसे उस विष-विकार से रहित करते हैं। इसीलिये दो उपमाएँ दी गईं, यथा—"अहि अघ अवगुन नहिं मनि गहई। हरइ गरल···" (अ० दो० १८३)। 'महा' पद को दीपदेहली रूप मानने से महामन्त्र और महामणि अर्थ होगा, इससे मन्त्र और मणि में समानता होगी।

'मेटत कठिन···' विषय सेवन के फल-स्वरूप भाल के कुअंक हैं। अतः, विषय-नाश के पीछे कुअंक का मिटना कहते हैं, कुअंक की कठिनता—"कह मुनीस हिमवंत सुनु, जो बिधि लिखा लिलार। देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनहार॥" (दो० ६८)। ये कुअंक पूर्वकृत बुरे कर्मों के फल-रूप हैं। अतः, अभाग्य भी कहे जाते हैं, यथा—"भाग है अभागहू को···" (वि० ६९); तथा—"बाम बिधि भाल हू न कर्मदाग दागि है।" (वि० ७०); यह नाम द्वारा कहा है, वैसे रामजी के चरितों से भी जानना चाहिये।

(२) 'हरन मोहतम···' यों तो मोह का नाश होना बहुत कठिन है, यथा—"माधव! मोह फाँस क्यों टूटे?" (वि० ११५); पर, चरित रविकिरण-रूप से बिना श्रम ही उसका नाश करते हैं, यथा—"उगेउ भानु बिनु श्रम तम नासा।" (दो० २३८)। पुनः, सूर्य-किरणों से वर्षा भी होती है, यथा—"आदित्याज्जायते वृष्टिः···" (मनु० ३।७६); अतः, साथ ही चरित को जलधर रूप भी कहते हैं कि सेवक को धान-समान पालते हैं। धान के समान सेवक भी 'रामचरित' से ही जीते हैं, तथा—"तुलसी सालि सुदास" (दो० १९); इसमें नाम-निष्ठा में भी यही रूपक है।

अभिमतदानि देव तरु - बर-से। सेवत सुलभ सुखद हरि-हर से ॥११॥
सुकबि-सरद-नभ मन उड़गन से। राम-भगत जन जीवन-धन से ॥१२॥

अर्थ—ये चरित वांछित फल देने में श्रेष्ठ कल्पवृक्ष के समान हैं तथा सेवा करने से हरि-हर की तरह सुलभ और सुख देनेवाले हैं ॥११॥ सुकविरूपी शरद ऋतु के मन-रूपी आकाश (को शोभित करने) के लिये तारागणों के समान हैं और श्रीरामजी के भक्तों के तो ये जीवन सर्वस्व ही हैं ॥१२॥

विशेष—(१) 'अभिमतदानि···' यहाँ चरितों को श्रेष्ठ कल्पतरु कहा है, क्योंकि ये हित ही करते हैं, चाहने पर भी अनहित नहीं करते। प्राकृत कल्पवृक्ष क्षीरसागर से प्रकट हुआ है, इसकी छाया में भली या बुरी जैसी कामना हो, उसी क्षण प्राप्त होती है, यथा—"देव देवतरु-सरिस सुभाऊ। सन्मुख बिमुख न काहुहिं काऊ॥ जाइ निकट पहिचानि तरु, छाँह समनि सब सोच। माँगत अभिमत पाव जग, राउ रंक भल पोच॥" (अ० दो० २६७)। ऊपर सेवक को 'सालि' स्थावर (जड़) और चरित को 'जलधर'

जंगम (चेतन) कहा है और यहाँ चरित को वृक्ष (स्थावर) तथा सेवक को जंगम सूचित किया अर्थात् चरित सेवक के पास जाकर (अपना आशय अल्प प्रयास से जनाकर) सुख देते हैं और उसके अपने पास आने पर भी तत्त्वार्थ ज्ञान से सुख देते हैं। प्रथम श्रोता धान के समान विषयवारि में ही रहता है, तब राम-गुण विचरणशील सन्तों के द्वारा उनके पास जाकर अपना श्रवण कराकर उनका पालन करते हैं। जब वे गुणों के रहस्य जान लेते हैं, तब कल्पवृक्षरूप चरित-मनन से वे स्वयं वांछित लाभ किया करते हैं। यह भी भाव है।

'सेवत सुलभ सुखद···' हरि की सुलभता—"सन्मुख होइ जीव मोहिं जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥" (सु० दो० ४३)। हर की सुलभता—"सेवा सुमिरन पूजिबो पात आखत थोरे।" (वि० ८)—दोनों सुखद भी हैं। शिवजी भुक्ति और श्रीराम नाम के द्वारा मुक्ति भी देते हैं। हरि (श्रीरामजी) के सुख-प्रदान के सहस्रों उदाहरण हैं। इसी तरह चरितों का सेवन (पढ़ना) भाषा में होने से बहुत ही सुलभ है और इनसे श्रुति-सिद्धान्त की प्राप्ति से सुख भी बहुत मिलता है। सुख देने में 'हरि-हर' ही की उपमा दी, क्योंकि इनकी सेवा में विघ्न नहीं होता और अत्यधिक सुख भी मिलता है।

(२) 'सुकवि सरद नभ···' जिन कवियों का मन शरद् ऋतु के आकाश की तरह निर्मल है, यथा—"बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा॥" (कि० दो० १५); उन्हींके मन में रामचरित उदित होकर शोभा बढ़ाते हैं। अतः, उडुगणों के समान रामचरित का अनन्त और अनादि होना भी सूचित किया। सुकवि के हृदय में उदित होते हैं, उनके बनाये नहीं हैं, यथा—"हर-हिय रामचरित सब आये।" (दो० १११); यहाँ 'सुकवि' भगवान् के यश गानेवालों को कहा है।

सकल-सुकृत - फल भूरि भोग - से। जगहित निरुपधि साधु लोग से॥१३॥
सेवक - मन - मानस - मराल - से। पावन गंग - तरंग माल - से॥१४॥

अर्थ—(ये चरित) सम्पूर्ण पुण्यों के फलस्वरूप में प्राप्त बहुत भोगों के समान हैं और संसार का एकरस हित करने के लिये साधु लोगों के समान हैं॥१३॥ भक्तों के मन-रूपी मानस-सरोवर के लिये हंस के तुल्य हैं तथा पवित्रता के लिये गंगाजी के तरंग-समूह के समान हैं॥१४॥

विशेष—(१) 'सकल-सुकृत-फल ···' सकल सुकृतों के फल होने से भोग भी 'भूरि' बहुत) कहे गये। तात्पर्य यह कि श्रीरामचरित में सब सुकृतों के फल हैं, यथा—"धर्ममार्ग चरित्रेण···" (श्रीरामतापनी०)।

ऊपर सेवकों एवं जनों का हित करना कहा था। यहाँ जगत्-भर का हितकारित्व भी कहा। निरुपधि (निः + उपाधि) = एकरस, उपाधि रहित। 'साधु लोग से', यथा—"पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥" (उ० दो० १२०)।

(३) 'सेवक-मन-मानस···' गंगाजी के समान श्रीरामजी और तरंगों के समूह के समान उनके चरित हैं। जैसे तरंग अनन्त हैं, वैसे चरित भी। गंगा से तरंगें उठती हैं, वैसे श्रीरामजी से चरित-समूह प्रकट होते हैं। तरंग और गंगा अभेद हैं, वैसे श्रीरामजी और चरित भी नित्य एवं अभेद हैं, यथा—"रामस्य नाम रूपं च लीलाधाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दमव्ययम्॥" (वसिष्ठसंहिता)।

दोहा—कुपथ कुतरक कुचालि कलि, कपट दंभ पाखंड।
दहन राम-गुन-ग्राम जिमि, इंधन अनल प्रचंड॥
रामचरित राकेस कर, सरिस सुखद सब काहु।
सज्जन - कुमुद चकोर चित, हित बिसेषि बड़ लाहु॥३२॥

अर्थ—कुमार्ग, कुत्सित तर्क, बुरी चाल, कलह, कपट, दम्भ और पाखंड रूपी ईंधन को जलाने के लिये श्रीरामजी के गुण-समूह प्रज्वलित अग्नि के तुल्य हैं ॥ श्रीराम के चरित पूर्णिमा के चन्द्रमा की किरणों के समान सब किसीको समान रूप से आनन्द देनेवाले हैं और सज्जन-रूपी कुई तथा चकोर के चित्त के विशेष हितकर एवं बड़े लाभदायक हैं ॥३२॥

विशेष—(१) 'कुपथ कुतरक···' 'कुपथ', यथा—"चलत कुपंथ बेद-मग छाड़े।" (दो० ११); कुतर्क = जो दोष न हो, उसकी कल्पना करनी, निन्दनीय तर्क। सुकृती को पापी सिद्ध करना, यथा—"तात कुतरक करहु जनि जाएँ।" (अ० दो० २६३)। कुचालि = खोटे कर्म करना। कलि = कलह, झगड़ा करना। कपट = भीतर से अपने स्वार्थ-साधन के भाव को छिपाये रखना और ऊपर से प्रिय बर्ताव—यह हृदय से होता है, यथा—"लखी न भूप कपट चतुराई।" (अ० दो० २६)। दंभ = औरों को दिखाने के लिये उत्तम वेष एवं आचरण करना, जिससे आदर हो, यथा—"नाना वेष बनाइ दिवस निसि परबित जेहि तेहि जुगति हरौं ॥" (वि० १८१)। पाखंड = दुष्ट तर्कों और युक्तियों से वेद-विरुद्ध मत की स्थापना करना, यथा—"जिमि पाखंडबाद ते, गुप्त होहिं सदग्रंथ ॥" (कि० दो० १५); अर्थात् कपट, दम्भ और पाखंड का क्रमशः मन, कर्म और वचन से सम्बन्ध है।

(२) 'रामचरित राकेस कर···' यहाँ 'सरिस' पद दीप-देहली है। अतः, सब किसीको समान सुखद हैं, पर सज्जन को विशेष हैं। चन्द्रमा से जगत् का हित होता है, यथा—"जग-हित हेतु बिमल बिधु पूपन।" (दो० १९)। सज्जन दो प्रकार के होते हैं—एक कुई की भाँति स्थावर अर्थात् प्रवृत्ति मार्गवाले और दूसरे चकोर की भाँति जंगम अर्थात् निवृत्ति मार्गवाले। प्रवृत्तिवाले चित्त लगाये हुए प्रफुल्लित रहते हैं, तथा चरित-सम्बन्ध में ही शोभा और इसी सम्बन्ध के सुयश-रूप सुगन्धवाले होते हैं। विषय-वारि सम्बन्ध में भी उससे निर्लिप्त चित्त रहते हैं। निवृत्तिवाले चकोर की भाँति चित्त लगाये हुए श्रीरामचरित का पान चन्द्रिका (अमृत) के समान करते हैं, शरीर-मन-सहित निमग्न रहते हैं, यथा—"राम-कथा ससि-किरन समाना। संत चकोर करहिं जेहि पाना ॥" (दो० ४६)। प्रवृत्तिवाले विशेषकर नवधा भक्तिवाले हैं और निवृत्तिवाले विशेषकर प्रेमा और परा भक्तिवाले हैं। इससे प्रवृत्तिवाले अपना बड़ा हित और निवृत्तिवाले बड़ा लाभ मानते हैं।

श्रीराम-कथा माहात्म्य तथा रामचरित-माहात्म्य—दोनों को चित्त ही के प्रसंग पर समाप्त किया—'चित्रकूट चित···' और 'कुमुद-चकोर चित' क्योंकि कथा की प्रवृत्ति चित्त ही तक है।

यहाँ तक दो दोहों के बीच भक्त-जनों के मन, बुद्धि और चित्त का लगना और कथा से तीनों का हित होना दिखाया गया है, यथा—"मोरे मन प्रबोध जेहि होई।" अर्थात् कथा में लगाकर मन को प्रकर्ष बोध किया करे, "जस कछु बुधि-बिबेक-बल मेरे। तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे ॥" अर्थात् बुद्धि से विचारपूर्वक कथा कहनी चाहिये। "राम-कथा मंदाकिनी, चित्रकूट चित चारु। तुलसी सुभग सनेह···" अर्थात् चित्त से स्नेहपूर्वक कथा को धारण करे।

इस प्रकार कथा में प्रवृत्ति रहने पर हरि-चरित से इन तीनों के लाभ दिखाये हैं, यथा—'सेवक मन मानस मराल से।' 'संत सुमति तिय · ' 'सज्जन कुमुद चकोर चित।' अर्थात् उसके मन-रूपी मानस सर में विवेकमय चरित हंसवत् विहार करते रहेंगे, उसकी सुमति की शोभा बढ़ावेंगे और उनके चित्त में उपर्युक्त 'हित बिसेषि बड़ लाहु' की व्यवस्था रहेगी। दार्शनिक दृष्टि से मति, मन और चित्त भिन्न-भिन्न हैं। प्रमाण—"थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई ॥" (अर० दो० १४)। 'रामचरित चिंतामनि···' उपक्रम है और 'रामचरित राकेसकर···' यह उपसंहार है। इतने में डब्बे में रत्न की भाँति रामचरित रक्खा गया है।

कथा-माहात्म्य और चरित-माहात्म्य में छः-छः बार साधुओं का ही हित होना, साधु के पर्यायो पदों द्वारा कहा गया है, क्योंकि चरित के विशेष अधिकारी वे ही हैं। अतः, यह उन्हींके बाँटे पड़ी है।

कथा-प्रसंग में १ 'बुध-विश्राम' २ 'सुजन सजीवनिमूरि···' ३ 'साधु बिबुध कुल हित···' ४ 'संत समाज पयोधि···' ५ 'तुलसिदास हित···' ६ 'सिव प्रिय मेकल ···'। चरित-प्रसंग में—१ संत-सुमति···' २ 'जन मन बन के···' ३ 'सेवक सालि···' ४ 'राम भगत जन···' ५ 'सेवक मन मानस···' ६ 'सज्जन कुमुद चकोर···'।

श्रीरामकथा एवं चरित-माहात्म्य-प्रसंग समाप्त

कीन्हि प्रस्न जेहि भाँति भवानी। जेहि बिधि संकर कहा बखानी ॥१॥
सो सब हेतु कहब मैं गाई। कथा-प्रबंध बिचित्र बनाई ॥२॥

अर्थ—जिस प्रकार श्री पार्वतीजी ने प्रश्न किया और जिस प्रकार श्रीशिवजी ने विस्तार से कहा है ॥१॥ उन सब कारणों को मैं कथा-प्रबन्ध की विचित्र रचना करके गाकर (प्रेम एवं विस्तार-पूर्वक) कहूँगा ॥२॥

विशेष—(१) 'कीन्हि प्रस्न जेहि भाँति'—यह प्रसंग दोहा १०७ से १११ पर्यन्त है। पुनः उ० दो० ५२ से ५४ तक है। 'जेहि बिधि संकर···'—यह दोहा १११ से प्रारम्भ है।

(२) 'सो सब हेतु कहब मैं···' अर्थात् उमा के प्रश्न करने के हेतु शिवकृत मानस में नहीं हैं, वे 'याज्ञवल्क्य-भरद्वाज' के संवाद में हैं, यथा—"जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनि बरहिं सुनाई। कहिहौं सोइ संवाद···" (दो० २९)। इसीलिये मैं उन कारणों को विस्तार से कहूँगा और उसीमें संवाद का हेतु भी कहूँगा। अतः, 'सब हेतु' कहा अथवा 'सब' अर्थात् विस्तार से कहूँगा, संक्षेप में नहीं।

'कथा-प्रबंध बिचित्र बनाई।'—प्रबन्ध का अर्थ एक दूसरे से सम्बद्ध वाक्यों की रचना है। इसमें विचित्रता यह है कि प्रथम मानस सरोवर का रूपक स्वयं रचेंगे। वह बड़ा ही विचित्र है, जिसमें चार घाटों, चार प्रकार के श्रोता-वक्ताओं के सम्बन्ध और उनके द्वारा काण्डत्रय एवं प्रपत्ति (शरणागति) की सँभाल रखते हुए, मुख्य उपासना रूपिणी ही कथा चलेगी। उसमें भी कल्पभेद के रहस्यों का भी सम्मिश्रण विचित्रता ही है। आगे कहा भी है, यथा—"सुनतेउँ किमि हरि कथा सुहाई। अति बिचित्र बहु बिधि तुम्ह गाई॥" (उ० दो० ६८)। कल्पभेद के अवतारों के हेतु आगे कहे जायँगे, यथा—"रामजनम के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक ते एका॥" (दो० १२१); यहाँ से कई हेतु कहे जायँगे। कथा में कल्पभेदों की अलौकिकता आगे कहते हैं—

जेहि यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरज करइ सुनि सोई ॥३॥
कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी। नहिं आचरज करहिं अस जानी ॥४॥
रामकथा कै मिति जग नाहीं। असि प्रतीति तिन्ह के मनमाहीं ॥५॥

अर्थ—जिन्होंने यह कथा अन्यत्र पहले न सुनी हो, वे सुनकर इसपर आश्चर्य न करें ॥३॥ जो ज्ञानी अपूर्व कथा को सुनते हैं, वे इस प्रकार जानकर आश्चर्य नहीं करते ॥४॥ संसार में राम-कथा की सीमा नहीं है—उनके मन में ऐसा विश्वास रहता है ॥५॥

विशेष—(१) 'जनि आचरज करइ···' क्योंकि यह कथा पूर्वोक्त रामायणों से विलक्षण है।

(२) 'कथा अलौकिक···' अब आश्चर्य न करने के कारण बतलाते हैं। पहला—ज्ञानी का प्रमाण देते हैं और कहते हैं कि उन्हीं के मन में यथार्थ प्रतीति होती है कि राम-कथा की 'मिति' नहीं है। यह

भी ध्वनि है कि अज्ञानी पर मेरा वश नहीं, यथा—"मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं बिरंचि सम ॥" (लं० दो० १६)। इस कथा में भी अलौकिकता है, जिसके लिये आश्चर्य नहीं करना कहते हैं, जैसे—सती-मोह-प्रसंग, भानु-प्रताप और मनु-शतरूपा-प्रसंग, फिर कश्यप-अदिति और नारद-शाप आदि चार कल्पों की लीलाएँ एक साथ सिद्ध हों, यह आश्चर्य ही सा है, क्योंकि प्रत्येक कल्प के परिकर भिन्न-भिन्न होते हैं और कालभेद होना भी स्वाभाविक है, पर इसमें सब एक परात्पर की लीला में अन्तर्भूत हैं।

नाना भाँति राम - अवतारा। रामायन सतकोटि अपारा ॥६॥
कलप - भेद हरि-चरित सुहाये। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये ॥७॥
करिय न संसय अस उर आनी। सुनिय कथा सादर रति मानी ॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी के अवतार अनेक प्रकार से हुए हैं। रामायणें सौ करोड़ एवं अपार हैं ॥६॥ कल्पभेद के कारण भगवान् के सुन्दर चरित मुनीशों ने अनेक प्रकार से गाये हैं ॥७॥ ऐसा मन में जानकर सन्देह नहीं करना चाहिये और कथा को आदर-पूर्वक प्रीति से सुनना चाहिये ॥८॥

विशेष—(१) अब आश्चर्य-निवारण का दूसरा कारण कहते हैं कि अनेक प्रकारों एवं कारणों से श्रीरामजी के अवतार हुए हैं। अतः, कुछ-न-कुछ भेद पड़ना स्वाभाविक है। ये ही अमित प्रकार होने के कारण हैं, जिससे ज्ञानियों की प्रतीति ऊपर कही गई।

'सतकोटि'—"रामचरित सतकोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनै पारा ॥" (उ० दो० ५१); एवं—"चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।" भी कहा है। अर्थात् रामायणें सौ करोड़ (अनन्त) हैं—इसी-से अपार कहा है।

'कलप भेद'—कल्प ब्रह्मा के एक दिन को कहते हैं, इसमें १४ मन्वन्तर होते हैं। इस एक दिन में एक-एक सहस्र बार चारो युग (सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि) बीत जाते हैं, फिर उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है, यथा—"सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥" (गीता ८।१७)। भिन्न-भिन्न कल्पों में अवतार होते हैं, उनमें एवं भिन्न-भिन्न मुनियों के वर्णन में भेद होना संभव है।

(२) 'करिय न संसय···' 'संशय' यह है कि अमुक-अमुक ग्रन्थ में तो और प्रकार हैं, गोस्वामीजी ने ऐसा कैसे लिखा ? अथवा इन्हीं ने अमुक जगह ऐसा लिखा, पर इस जगह ऐसा क्यों ? 'अस' उपर्युक्त कल्पभेद एवं अपारता आदि। 'सादर' अर्थात् मन-मति-चित्त लगाकर भाव-सहित, यथा—"सुनहु तात मति मन चित लाई।" (अर० दो० १४); "भाव-सहित सो यह कथा, करउ श्रवनपुट पान ॥" (उ० दो० १२८)।

दोहा—राम अनंत अनंत गुन, अमित कथा-बिस्तार।
सुनि आचरज न मानिहहिं, जिनके बिमल बिचार ॥३३॥

अर्थ—श्रीरामजी अनन्त हैं। उनके गुण भी अनन्त हैं, और उन गुणों की कथाओं का विस्तार भी निःसीम है, अतः, जिनके विचार निर्मल हैं, वे इस कथा को सुनकर आश्चर्य नहीं करेंगे।

विशेष—श्रीरामजी अनन्त हैं। अतः, इनके विषय में आश्चर्य न करें कि अमुक ग्रन्थ के एवं अमुक ऋषि के प्रतिपाद्य राम में और श्रीगोस्वामीजी के राम में अमुक अन्तर क्यों है ? गुण भी अनन्त हैं, यथा—"बिष्नु कोटिसत पालनकर्त्ता।·····" (उ० दो० ९१); आदि। कथा का विस्तार भी अमित है, पूर्व—'रामकथा कै मिति जग नाहीं।' से कथा के अनेकप्रकारत्व पर किये गये सन्देह का निवारण किया था। अब उसके विस्तार का भी सन्देह निवृत्त करते हैं कि अमुक कथा अमुक ग्रन्थ में इतनी ही है, यहाँ

इतनी अधिक कहाँ से लाये, इत्यादि। यहाँ आश्चर्य-निवारण का तीसरा हेतु समझाया। ऊपर ज्ञानियों और यहाँ विमल विचारवालों को प्रतीति होना दिखाया, यथा—"सो बिचारि सुनहहिं सुमति, जिन्हके बिमल बिबेक ॥" (दो० ९); अर्थात् अज्ञानियों और अविवेकियों को तो आश्चर्य होगा ही।

येहि बिधि सब संसय करि दूरी। सिर धरि गुरु-पद-पंकज-धूरी ॥१॥
पुनि सबही बिनवउँ कर जोरी। करत कथा जेहि लाग न खोरी ॥२॥

अर्थ—इस प्रकार सारे सन्देहों को दूर कर और श्रीगुरु-पद-कमल की धूल सिर पर धारण करके ॥१॥ फिर से हाथ जोड़कर सबसे विनती करता हूँ जिससे कथा (निर्माण) करने में कोई दोष न लगे ॥१॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि सब संसय···' उपर्युक्त तीनों प्रकारों के समाधानों को यहाँ इकट्ठे कहते हैं। 'सिर धरि गुरु ··' पूर्व ग्रन्थकार ने गुरु-पद-रज के अंजन से नेत्र (विवेक विलोचन) निर्मल किये थे, यथा—"तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनउँ राम-चरित भवमोचन ॥" (दो० १); अब यहाँ सिर पर धारण करना लिखा, इससे सब विभव वश होते हैं, यथा—"जे गुरुचरन-रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं ॥" (अ० दो० २)। फिर, आगे इसके सेवन से मन निर्मल करेंगे, यथा—"श्रीगुरु-चरन-सरोज रज, निज मन मुकुर सुधारि। बरनउँ रघुबर बिसद जस···" (अ० मं०); अर्थात् ग्रन्थ में तीन बार रज-सेवन तीन प्रयोजनों से लिखा है। यहाँ चरित-विभव के लिये है।

(२) 'पुनि सबही बिनवउँ···' प्रथम एक बार इस विषय पर सबसे विनती कर चुके हैं, यथा—"समुझि बिबिध बिधि बिनती मोरी। कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी ॥" (दो० ११); अर्थात् इस कथा को सुनकर कोई जिससे दोष न दे और यहाँ इसलिये फिर विनती की, जिससे इस कथा में दोष लगे ही नहीं। रचने में मेरी असावधानी से दोष न आ पड़े। अतः, वहाँ कार्य के लिये और यहाँ कारण-निवृत्ति के लिये विनती है। आगे धाम की बड़ाई करेंगे, इससे भी यहाँ प्रारम्भिक प्रणाम किया है, दो० २६ का विशेष देखिये। वन्दना की यह अन्तिम आवृत्ति है।

सादर सिवहिं नाई अब माथा। बरनउँ बिसद राम-गुन-गाथा ॥३॥
संबत सोरह सै इकतीसा। करउँ कथा हरि-पद धरि सीसा ॥४॥
नौमी भौमबार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा ॥५॥

अर्थ—अब मैं आदरपूर्वक शिवजी को सिर झुका (प्रणाम) कर श्रीरामजी के गुणों की उज्ज्वल कथा कहता हूँ ॥३॥ भगवान् के चरणों पर सिर रखकर संवत् १६३१ में मैं यह कथा आरम्भ करता हूँ ॥४॥ नवमी तिथि भौम अर्थात् मंगलवार और मधुमास अर्थात् चैत्र के महीने (शुक्लपक्ष) में, अयोध्याजी में, यह चरित प्रकाशित (प्रारम्भ) हुआ ॥५॥

विशेष—(१) 'सादर सिवहिं···' शिवजी इस ग्रन्थ के आचार्य हैं। अतः, प्रारम्भ-काल में फिर वन्दना की। यह इनकी तीसरी बार वन्दना है।

(२) 'संबत सोरह सै···' यहाँ से ग्रन्थकार इस ग्रन्थ का जन्म, संवत्, महीना, दिन, तिथि, आदि तथा जन्मभूमि, नामकरण और नाम का अर्थ एवं फल कहना प्रारम्भ करते हैं—

इस संवत् में प्रारम्भ करने का कारण यह कहा जाता है कि इसमें श्रीरामजन्म के प्रायः सब योग, लग्न आदि एकत्र थे। अतः, चरितों और उनके नायक के जन्म में समता हुई।

१६३१ संवत् पर यह भी भाव कहा जाता है कि श्रीरामजी १६ कलाओं से पूर्ण अवतार थे। अतः, चरित भी १६ कलाओं से पूर्ण कहे गये हैं, यथा—"बालचरित-मय चन्द्रमा, यह सोरह कला-निधान।" (गीतावली १९)। श्रीरामजी ने ३१ बाण जोड़कर रावण को मारा है, यथा—'छाड़े सर यकतीस'

(सं० दो० १०२); इसीलिये १६ में ३१ लगाने से जो संवत् बना, उसीमें चरित का प्रारम्भ किया कि इससे भी मोहरूपी रावण का संहार हो, यथा—"मोह दसमौलि— ।" (वि० ५८)।

(३) नौमी भौमवार···' नवमी तिथि यद्यपि रिक्ता कही जाती है, तथापि जो ईश्वर ने जन्म के लिये उस तिथि को ग्रहण किया तो वह परम श्रेष्ठ है। फिर भी रिक्तादोष भी कोई-कोई दिन के दस ही बजे तक मानते हैं और श्रीरामजी का और कथा का जन्म १२ बजे दिन में हुआ तथा मंगलवार भी परमभक्त श्रीहनुमानजी का जन्मदिन है और हनुमानजी की आज्ञा से श्री अवध में रामायणजी का प्रारम्भ भी कहा जाता है। इसीलिये उसीदिन प्रारम्भ किया। श्रीरामजन्म भी इसी दिन ग्रन्थकार ने लक्षित किया है जो जन्म-प्रसंग में कहा जायगा। ज्योतिष ग्रन्थों में भी कहा गया है—'शनिभौमगता रिक्ता सर्वसाम्राज्य-दायिनी'। वा 'स्थाप्यं-समाप्यं शनिभौमवारे'। 'प्रकासा'—अर्थात् श्रीरामजी की तरह उनके चरित भी नित्य हैं, जैसे वे प्रकट होकर चन्द्रवत् प्रकाशित हुए। यथा—"प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू।" (दोहा १५); वैसे चरित भी पूर्ण चन्द्र रूप से प्रकाशित हुए, यथा—"रामचरित राकेस कर, सरिस···।" (दोहा ३२); चरित भी सनातन हैं, ऋषियों के द्वारा प्रकट होते हैं।

जेहि दिन राम-जनम श्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं ॥६॥

अर्थ—जिस दिन श्रीरामजी का जन्म होता है, वेद कहते हैं कि (पृथिवी भर के) सब तीर्थ उस दिन वहाँ (श्रीअयोध्याजी में) चले आते हैं।

विशेष—(१) 'जेहि दिन राम-जनम ···' श्रीरामजन्म किस दिन हुआ, इसमें मतभेद है। कोई रवि, कोई सोम और कोई बुधवार को कहते हैं। ग्रन्थकार ने किसी एक दिन का नाम नहीं लिखा, परन्तु गीतावली बा० २ पद से (ध्वनि से) मंगल पाया जाता है, यथा—"चैत चारु नौमी तिथि सित पख मध्य गगनगत भान। नषत जोग ग्रह वार भले, दिन मंगल-मोद-निधान ॥" (गीता० बा० २); इसमें दिन के साथ मंगल पढ़ने से आ जाता है। ग्रन्थकार सब मतों की रक्षा करते हुए अपना मत रखते हैं। वही मंगलवार यहाँ मानस के जन्म में स्पष्ट कहा गया है।

श्रीगोस्वामीजी की यह रीति है कि जो बात दो जगहों में कहनी होती है, उसे कुछ एक जगह और कुछ दूसरी जगह कह देते हैं। दोनों को मिला देने से दोनों जगहों की पूर्त्ति होती है। अतः, श्रीराम-जन्म प्रसंग का—'काल लोक विश्रामा ॥' (दोपहर), 'शुक्लपक्ष' और 'अभिजित मुहूर्त्त' ये दो० १६० से लेकर यहाँ लगाना चाहिये और यहाँ का 'अवधपुरी' और 'भौमवार' वहाँ दो० १६० पर ले जाना चाहिये, तभी दोनों स्थलों की पूर्त्ति होगी।

इसपर यह शंका होगी कि जब योग आ गया, तब श्रीरामजी का ही अवतार क्यों न हुआ ? इसका समाधान यह है कि रूप की जगह लीला का ही अवतार हुआ। तत्त्वतः रूप और लीला तुल्य हैं, यथा—"रामस्य नामरूपञ्च लीलाधामपरात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दमव्ययम् ॥" (वसिष्ठसंहिता)।

कहा जाता है, इस सं० १६३१ के भौमवार को नवमी स्मार्त्तों की थी, क्योंकि उदयगामिनी तिथि न थी। वैष्णवों के व्रत की नवमी दूसरे दिन बुध को थी। ग्रन्थकार के इस दिन नवमी लिखने पर कुछ लोग उनको स्मार्त्त कहते हैं, पर यह भूल है। श्रीगोस्वामीजी उस दिन अपना व्रत करना नहीं लिख रहे हैं। वे तो मध्याह्नकालव्यापिनी नवमी को ग्रन्थारम्भ करना लिख रहे हैं। यदि बुध को लिखना प्रारम्भ करते तो मध्याह्न में सब योग एवं नवमी न मिलती। आज दिन भी वैष्णव एकादशी का व्रत जब दूसरे दिन करना होता है तब भी तिथि को एकादशी ही लिखते हैं। श्रीगोस्वामीजी अनन्य वैष्णव हैं। इसके लिये उन्होंने शपथ करके बहुत जगह कहा है। अन्य देवताओं की वन्दना-प्रार्थना इन्होंने श्रीराम-भक्ति के लिये ही की है। मंगलाचरण में इसपर कुछ लिखा जा चुका है। 'तीरथ ··चलि आवहिं' सब तीर्थों के अधिष्ठातृ देवता कामरूप से चलकर उस दिन अयोध्याजी में आते हैं, यथा—"बन सागर सब नदी तलावा।

हिमगिरि सब कहँ नेवत पठावा ॥ कामरूप सुन्दर तनु धारी। सहित समाज सहित बर नारी ॥ गये सकल तुहिनाचल-गेहा। " (दो० ९३)। भारत में रीति है कि जो ग्राम आदि प्रथम बसाये जाते हैं, उनके अधिष्ठातृ देवता भी स्थापित किये जाते हैं। तीर्थराज प्रयाग अन्य तीर्थों में नहीं जाते, पर वे भी उस दिन श्रीअवध में आते हैं। अयोध्या-माहात्म्य से सिद्ध है। इसीलिये यहाँ 'सकल' लिखा है। सब तीर्थ पाँव-पाँव चलकर आते हैं, इससे श्रीरामनवमी और अयोध्या का माहात्म्य सबसे बढ़कर दिखाया।

असुर नाग खग नर मुनि देवा। आइ करहिं रघुनायक - सेवा ॥७॥
जनम-महोत्सव रचहिं सुजाना। करहिं राम-कल-कीरति गाना ॥८॥

अर्थ—असुर, नाग, पक्षी, मनुष्य, मुनि और देवता आकर श्रीरघुनाथजी की सेवा करते हैं ॥७॥ सुजान लोग उस दिन जन्म के महान् उत्सव की रचना करते हैं और श्रीरामजी की सुन्दर कीर्त्ति का गान करते हैं।

विशेष—ऊपर स्थावर तीर्थ आदि का आना कहा, अब जंगम के बारे में कहते हैं—'असुर नाग खग' से श्रीरामोपासक असुर प्रह्लाद-विभीषण आदि, नाग से शेष-वासुकी आदि और खग से काक-भुशुण्डी, गरुड़, जटायु आदि को जानना चाहिये। 'असुर नाग' पाताल के, 'नर-खग मुनि' मर्त्य-लोक के और 'देवा' स्वर्ग के हैं। अतः, तीनों लोक-वासी भक्त उस दिन आते हैं, यह जनाया।

ऊपर तीर्थ आदि स्थावर का आना और यहाँ असुर आदि जंगम का आना कहा गया। अतः, चराचर जगत्-भर के हरि-भक्तों का आना सूचित हुआ।

श्रीराम-जन्म के समय देवता पृथ्वी पर नहीं आये, महोत्सव की रचना पुरवासियों ने ही की थी, दो० १६३ से १६५ तक कहा है। देवताओं ने आकाश ही से सेवा की थी और महोत्सव देखकर ऊपर ही से भाग्य सराहते चले गये थे, यथा—"गगन-बिमल संकुल सुर-जूथा।·····बहु बिधि लावहिं निज-निज सेवा॥" (दो० १९०); पुनः—"देखि महोत्सव सुर-मुनि-नागा। चले भवन बरनत निज भागा॥" (दो० १६१)। कारण यह था कि उस समय प्रभु को विधि-वचन सत्य करना था कि नर के ही हाथ से रावण का मरण हो, देवताओं के आकर प्रकट होने से ऐश्वर्य खुलता। शिवजी ने भी कहा है—"गुपुत रूप अवतरेउ प्रभु, गये जान सब कोइ।" (दो० ४८)। अतः, देवता लोग गुप्त रीति से ही उत्सव में आये थे। अब हर साल नवमी के अवसर पर आते हैं और महोत्सव-रचना में सम्मिलित होते हैं। 'सुजान', जो रचनाप्रवीण हैं। 'करहिं राम कल कीरति गाना', यथा—"उघरहिं छंद प्रबंध गीत पद राग तान बंधान। सुनि किन्नर गंधर्व सराहत बिथके हैं बिबुध बिमान॥" (गीता बा० २); इसमें नर का गान करना, तथा—"गावैं बिबुध बिमल बर बानी।·····जायो पूत कौसिला रानी।" (गी० बा० ४); इसमें देवों का गान करना है।

दोहा—मज्जहिं सज्जन बृन्द बहु, पावन सरजू - नीर।
जपहिं राम धरि ध्यान उर, सुन्दर स्याम सरीर ॥३४॥

अर्थ—झुंड-के-झुंड सज्जन पवित्र श्रीसरयू-जल में स्नान करते हैं और सुन्दर श्याम शरीरवाले श्रीरामजी का ध्यान हृदय में धारण करके उनका नाम जपते हैं ॥३४॥

विशेष—यहाँ ग्रन्थकार ने श्रीरामोपासकों को उस दिन का कर्त्तव्य बतलाया है कि श्रीसरयूजी में स्नान करके श्रीरामजी का रूप ध्यान-समेत नाम जपना चाहिये। समय के अनुरोध से यहाँ बाल-स्वरूप का ही ध्यान उपयुक्त है। यह स्नान महोत्सव के पीछे लिखा है। अतः, इसे 'दधिकाँदो' के पीछे का स्नान जानना चाहिये। 'जपहिं राम धरि ध्यान उर,···।' का भाव यह है कि रूप के ध्यान के साथ,

नाम जपना विधि है, क्योंकि नाम या मन्त्र का अर्थ उसके देवता का रूप है और अर्थ-विचार एवं भावना के साथ ही मन्त्र जपने से फल प्राप्त होता है, यथा—"तज्जपस्तदर्थभावनम्" (योगसूत्र); एवं—"मन्त्रोऽयं वाचको रामो वाच्यः स्याद्योगएतयोः । फलदश्चैव सर्वेषां साधकानां न संशयः ॥" (श्रीरामतापनीय उ०); रूप का ध्यान या तो श्रीसीताजी के साथ किशोर अवस्था का किया जाता है या बाल-रूप का। किशोरावस्था के ध्यान में कृपामयी श्रीजानकीजी के साहचर्य-वश कृपा-गुण का उद्दीपन रहने से श्रीरामजी को सर्वज्ञता (जो जीवों के दोष प्रकट करती है) और सर्व-शक्तिमत्ता (जो दोषानुसार दंडविधायिका है) की कुछ नहीं चलती और जीव का कल्याण हो जाता है। बाल-रूप के ध्यान में उस अवस्था के अनुरोध से भी भगवान् में उक्त दो गुण अन्तर्भूत रहते हैं और उदारता आदि गुण तो स्वाभाविक रहते ही हैं। अतः, जीव का कल्याण होता है, यथा—"बंदउँ बाल-रूप सोइ रामू । सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू ॥" (दो० १११); इसका विशेष भी देखिये। इसीसे अयोध्या-माहात्म्य में राम-जन्म-भूमि के स्थल पर नाम-जप का बहुत महत्त्व लिखा है। लौकिक दृष्टान्त भी दिया जाता है कि जैसे—भानुपीठ (आतशी शीशा) और भानु (सूर्य) का ठीक सामना होने पर ही अग्नि प्रकट होता है, वैसे ही रूप के ध्यान के साथ नाम के जप से रूप की प्राप्ति होती है।

दरस परस मज्जन अरु पाना । हरइ पाप कह बेद पुराना ॥१॥
नदी पुनीत अमित महिमा अति । कहि न सकइ सारदा बिमल मति ॥२॥

अर्थ—श्रीवेद-पुराण कहते हैं कि (श्रीसरयूजी के) दर्शन, स्पर्शन, स्नान और जलपान ये पापों को हर लेते हैं ॥१॥ यह नदी निस्सीम (बड़ी ही) पवित्र है, इसकी महिमा निस्सीम है, (जिसको) निर्मल बुद्धिवाली शारदाजी भी नहीं कह सकतीं ॥२॥

विशेष—(१) 'दरस परस मज्जन अरु पाना ।' ये चारों क्रम से होते हैं। प्रथम दूर ही से दर्शन होते हैं फिर पहुँचकर स्पर्शन, फिर जल में प्रवेश कर स्नान और पीछे जल-पान होता है। इन चारों कर्मों में एक भी हो, तो भी पाप नष्ट होते हैं। यहाँ से श्रीसरयू-माहात्म्य कहते हैं।

(२) 'नदी पुनीत अमित··· ।' श्रीसरयूजी की निस्सीम महिमा श्रीरामजी के सम्बन्ध से है। जैसे जहाँ-जहाँ क्षण-भर के लिये भी श्रीराम-सम्बन्ध हुआ, वहाँ-वहाँ की महिमा बहुत कही गई है, यथा—"जे सर सरित राम अवगाहहिं । तिन्हहिं देवसरसरित सराहहिं ॥' (अ० दो० ११२); "सुरसरि सरसइ दिनकरकन्या ।"···से—"कहहिं देव दिन राति ॥" "महिमा कहिअ कवनिबिधि तासू । सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू ॥" (अ० दो० १३८); तक और श्रीसरयूजा में तो श्रीरामजी की नित्य स्नान-क्रीड़ा होती थी। ऐसे ही ११,००० हजार वर्षों तक वे रहे। पुनः उनके गुरु की कन्या (महर्षि वसिष्ठ मनु के हित के लिये सरयूजी को मानससरोवर से ले आये थे। अतएव सरयूजी उनकी कन्या हुईं) एवं कुलमान्या भी हैं। अतः, अमित महिमायुक्त ही हैं। पद्मपुराण आदि में इनकी बहुत महिमा कही गई है।

'कहि न सकइ सारदा···।' शारदा एक तो विमल मति हैं, फिर अनन्त रूप से सबकी जिह्वा पर कहनेवाली भी हैं। जब वे नहीं कह सकतीं, तब दूसरे के लिये तो अकथ्य ही है।

रामधामदा पुरी सुहावनि । लोक समस्त बिदित अति पावनि ॥३॥
चारि खानि जग जीव अपारा । अवध तजे तनु नहिं संसारा ॥४॥

शब्दार्थ—राम-धाम-दा = रामजी के (परधाम = साकेत) धाम को देनेवाली।

अर्थ—यह सुहावनी पुरी साकेत धाम को देनेवाली है, समस्त लोकों में प्रसिद्ध है और अत्यन्त पवित्र है ॥३॥ जगत् के असंख्य जीवों की चार खानें (उत्पत्ति-स्थान) हैं, श्रीअयोध्याजी में शरीर

त्याग करने से फिर (उनका) संसार नहीं रहता अर्थात् वे जन्म-मरण के चक्कर से सदा के लिये मुक्त हो जाते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'राम-धाम-दा पुरी ···' इसमें पूर्व पाप का नाश होना कहा, तब रामधाम की प्राप्ति कही, क्योंकि पाप-नाश से ही परधाम की प्राप्ति होती है।

शंका—राम-धाम तो श्रीअयोध्या ही है, फिर वह कौन है जिससे यह अयोध्या देती है ?

समाधान—श्री अयोध्याजी दो हैं—एक भूतल पर और दूसरी ब्रह्माण्ड से परे। दोनों तत्त्वतः एक हैं। भेद केवल माधुर्य और ऐश्वर्य लीला का है, यथा—"भोगस्थानं पराऽयोध्या लीलास्थानं त्वियं भुवि।" (शिवसंहिता); भोगस्थान परायोध्या साकेत-नाम से ख्यात है और लीला-स्थान अयोध्या यही है, जो वर्त्तमान काल में उत्तर प्रदेश में कही जाती है। तत्त्वतः एकता से दोनों का एक नाम है, यथा—"अयोध्या नन्दिनी सत्या नामा साकेत इत्यपि। कोशलाराजधानी च ब्रह्मपूरपराजिता॥ अष्टचक्रा नवद्वारा नगरी धर्मसम्पदा। दृष्ट्वैवं ज्ञाननेत्रेण ध्यातव्या सरयूस्तथा॥" (शिवसंहिता अ० २० श्लोक १५-१६)। इसीका वेद में विस्तृत वर्णन है, यथा "पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥२८॥ यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्। तस्मै ब्रह्म च ब्रह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥२९॥ न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जसः पुरा। पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥ अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥३१॥ तस्मिन्हिरण्मये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते। तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥३२॥ प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा सम्परीवृताम्। पुरं हिरण्मयीं ब्रह्माविवेशापराजिताम् ॥३३॥" (अथर्ववेद संहिता, दशमकाण्ड, प्रथम अनुवाक्, द्वितीय सूक्त, मन्त्र २८-३३)। इन साढ़े पाँच मन्त्रों में अत्यन्त स्पष्टरूप में श्रीअयोध्याजी का वर्णन है। इनमें व्याख्याताओं को अपनी ओर से कुछ मिलाना नहीं पड़ता।*

लीला-स्वरूपा अयोध्या प्रकृति-मंडल में रहती है, परन्तु उसको प्रकृति का विकार नहीं लगता, प्रत्युत औरों के प्रकृति-विकार को हरकर अपने नित्य रूप को देती है। इसीसे यहाँ इस पुरी को 'राम-धाम-दा' कहा है।

(२) 'चारि खानि जग जीव ···'—ऊपर 'अति पावनि' कहा। वह पावनता यहाँ दिखाते हैं कि चारों खानों (इनका वर्णन—'आकर चारि···दो० ७ में हो गया) के सभी प्रकार के जीव इस धाम में शरीर-त्याग करके मुक्ति पाते हैं अर्थात् पाप-शुद्ध होकर श्रीरामजी के धाम को प्राप्त होते हैं। यहाँ एक शंका हो सकती है। श्रुतियों का सिद्धान्त है कि—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् ज्ञानोपासना के बिना मुक्ति नहीं होती और यहाँ धाम में शरीर-त्यागने मात्र से मुक्ति कही गई है। यह विरोध है। इसका समाधान यह है कि धाम से मुक्ति होने की भी श्रुतियाँ हैं, यथा—"काश्यां मरणान्मुक्तिः"—यह प्रसिद्ध है तथा यहाँ ऊपर की चौपाई के अर्थ में उद्धृत श्रुतियाँ अयोध्या के ध्यान से मुक्ति का विधान करती हैं। "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"—यह सामान्य रीति से सब जीवों के प्रति है। अतः, सर्वदेशीय एवं सामान्य है और—"काश्यां मरणान्मुक्तिः"—यह एक काशी के लिये है। अतः, विशेष है। विशेष (अपवाद) सामान्य (उत्सर्ग) की अपेक्षा बलवान् होता है, यथा—"···अपवादरिवोत्सर्गं···" (रघुवंश १५।७)। जैसे कोई विज्ञापन निकाले कि मैं अमुक गाँव के लोगों से व्यवहार नहीं करूँगा, यह उस गाँव के सर्वसाधारण के लिये है और वह उसी गाँव के किसी एक व्यक्ति के नाम पत्र लिखे कि आप कृपा करके आवें, मेरा अमुक प्रयोजन है। यह विशेष वाक्य है, तब आशय यह हुआ कि इसे छोड़कर शेष के लिये उक्त सामान्य वचन है। अतः, दोनों प्रकार की श्रुतियाँ सार्थक हैं, इनमें बाध्य-बाधक भाव कल्पना का भय नहीं है। यदि कोई उदाहृत 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' में रामनाम का उपदेश भी हेतु है, यह आक्षेप करें तो उन्हें

* इनकी व्याख्या "अयोध्या श्रीमद्रामप्रसाद ग्रन्थमालामणि ५" में विस्तारपूर्वक हिन्दी में है। पाठक वहीं देखें

यहाँ के 'राम धामदा पुरी' एवं 'अवध तजे तन नहिं संसारा।' तथा—"चारि पदारथ भरा भँडारू।" (अ० दो० १०४); आदि प्रयाग-माहात्म्य एवं मोक्षदा सप्त पुरियों आदि के प्रति भी दूसरा हेतु कहना चाहिये। तथा, काशी में भी यदि ज्ञानपूर्णता से मुक्ति होती है तो फिर काशी-मरणरूप परम्परया कारण की क्यों अपेक्षा रहती है एवं "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायः॥" (श्वेता ६।१५); अर्थात् उसे जानकर ही मनुष्य मृत्यु रूप संसार से सर्वथा पार हो जाता है। दिव्य परमधाम प्राप्ति के लिये दूसरा मार्ग नहीं है। इस श्रुति में ज्ञान में अन्य हेतु का निषेध है।

सारांश यह है कि काशीजी के विषय में दोनों हेतु स्वतन्त्र हैं। किसी कल्प में काशी में मरणमात्र से ही मुक्ति होती है और किसीमें शिवजी के द्वारा मरते समय राम नाम उपदेश से होती है। अतएव कल्पभेद की व्यवस्था ही समाधान है। पुराणों की कथाओं में मतभेद के विषय में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यदि कहीं एक-से दिखाई देनेवाले नाम, विषय, रूप एवं रचनाओं में कुछ विभिन्नता है तो उसका कारण कल्प एवं मन्वन्तर-भेद ही समझना चाहिये, अर्थात् वे स्थल विभिन्न दो कल्पों एवं मन्वन्तरों के हैं, एक के नहीं, इसीलिये उनमें भेद है। इस वचन का स्पष्टीकरण निम्न वचन से हो रहा है—"क्वचित् क्वचित्पुराणेषु विरोधो यदि लभ्यते। कल्पभेदादिभिस्तत्र व्यवस्था सद्भिरिष्यते॥" अर्थात् जहाँ कहीं पुराणों की कथाओं में भेद वा अन्तर्विरोध प्रतीत हो, वहाँ कल्पभेद से व्यवस्था लगाई जाती है।" (म० म० पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत 'अष्टादश पुराण दर्पण' उपोद्घात—नारदविष्णुपुराणांक) अतः, धाम से मुक्ति प्राप्त होना निर्विरोध है।

फिर भी यह शंका होगी कि तब तो सभी धामवासी साधन छोड़ बैठेंगे। इसका समाधान यह है कि साधन से क्रमशः मुक्ति के लक्षण यहीं प्राप्त होते जायँगे और अन्त के लिये भी निश्चय रहेगा, पर धामवास मात्र में विकारों का दौरा रहेगा और मरने का भी निश्चय नहीं। यदि किसी कारणवश अन्यत्र शरीर छूटा तो फिर पुनर्जन्म के चक्कर में पड़ना होगा।

'बंदउँ नाम राम रघुबर को···' से—यहाँ तक क्रमशः नाम, रूप, लीला और धाम की वन्दना एवं माहात्म्य-कथन हुआ। पृथक्-पृथक् का भेद दो० २६ के अर्थ में देखिये।

सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धि-प्रद मंगलखानी॥५॥
बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम-मद-दंभा॥६॥

अर्थ—श्रीअयोध्यापुरी को सब प्रकार से मनोहर और समस्त सिद्धियों की देनेवाली एवं सब मंगलों की खान समझकर॥५॥ मैंने इस निर्मल कथा का (वहीं) प्रारम्भ किया, जिसका श्रवण करने से काम, मद और दम्भ का नाश होता है॥६॥

विशेष—(१) 'सब बिधि पुरी···' विधियाँ ऊपर कही गईं कि यहाँ ब्रह्म का अवतार होता है और इस समय श्रीरामजन्म के योग भी पड़े हैं। इस अवसर पर सब तीर्थ भी आये हैं, जन्मोत्सव होता है, देवता भी आये हैं। यह मनोहरपुरी अति पवित्र एवं रामधाम देनेवाली तथा सर्व सिद्धियों एवं मंगलों की खान है। अतः, 'बिमल कथा' का जन्मस्थल होने के योग्य है, क्योंकि जैसी कथा 'बिमल' है वैसा ही उसका जन्मस्थल भी बिमल चाहिये। ऊपर 'रामधामदा' आदि से परलोक का बनना और यहाँ 'सकल सिद्धिप्रद' आदि से लोक-सुख का प्रदान करना भी जनाया।

'काम-मद-दंभा' ये तीनों ही कथा के विरोधी हैं, पर काम मुख्य है, यथा—"क्रोधिहि सम कामिहि हरि-कथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥" (सुं० दो० ५७)। अतः, काम प्रथम कहा गया। मानस का अवतार इन कामादि के नाश के लिये है। आगे नामकरण करते हैं—

रामचरित-मानस येहि नामा। सुनत श्रवन पाइय बिश्रामा॥७॥

मन-करि बिषय-अनल-बन जरई। होइ सुखी जो येहि सर परई ॥८॥

अर्थ—इस कथा का नाम 'रामचरित-मानस' है, कानों से इसका श्रवण करते ही विश्राम मिलता है ॥७॥ मन रूपी हाथी विषय रूपी दावानल में जल रहा है, यदि वह इस सर में पड़े तो सुखी हो ॥८॥

विशेष—'रामचरित-मानस···' यहाँ तो ग्रन्थकार नाम का परिचय दे रहे हैं, इसका नामकरण शिवजी ने किया है, यथा—"ताते रामचरित मानस बर। धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर।" आगे कहा है। भाग० ३।१२।७-१४ के अनुसार ब्रह्माजी के पुत्र रुद्र संज्ञक शिवजी हैं। जैसे श्रीरामजी का नामकरण ब्रह्माजी के पुत्र वसिष्ठजी ने किया है।

'सुनत श्रवन···'—कानों से सुनते ही विश्राम पाकर मन तृप्त हो जाता है, फिर इधर-उधर नहीं भटकता, यथा—"पायेउँ परम बिश्राम ···" (उ० दो० १३०)।—श्रीगोस्वामीजी, "सुनेउँ पुनीत राम गुन-ग्रामा। तुम्हरी कृपा लहेउँ बिश्रामा ॥" (उ० दो० ११४)।— गरुड़जी। तथा, इसी प्रकार और जो भी सुनेंगे, विश्राम पावेंगे।

(२) 'मन-करि बिषय···' मनरूपी हाथी। 'मन-मतंग' प्रसिद्ध है। कामादि विषय ही अग्नि हैं, यथा—"बुझइ न काम-अगिनि " (वि० १९८); इन्द्रिय-समूह वन हैं, उन सबकी कामनाएँ दावानल के समान हैं। मन इसी आग में जल रहा है, तथा—"अयं त्वत्कथामृष्टपीयूषनद्यां मनोवारणः क्लेश-दावाग्निदग्धः। तृषार्तोऽवगाढो न सस्मार दावं न निष्क्रामति ब्रह्मसम्पन्नवन्नः ॥" (भाग० ४।७।३५); अर्थात् यह मेरा मन रूपी हाथी नाना भाँति के क्लेश रूपी दावानल से दग्ध एवं अत्यन्त प्यास से आर्त्त होकर आपकी कथा रूपिणी विशुद्ध अमृतमयी नदी में घुसकर बैठा है, वहाँ ब्रह्मानन्द में लीन-सरीखा हो जाने से उसे न संसार रूपी दावानल का स्मरण है और न वह इस नदी से निकलना ही चाहता है, तथा—"जो अति आतप व्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई ॥" (उ० दो० ६८); वैसे ही यहाँ कहते हैं कि वह मन रूप हाथी इस सरोवर में हाथी की भाँति 'परई' अर्थात् पड़ा ही रहे तो सुखी हो जाय, क्योंकि यह कथा सुखमय है, यथा—"मम गुन ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ, परानंदसंदोह ॥" (उ० दो० ४६); तथा—"सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं। पुनि पुनि तात करहु गुन गानहि ॥ सुनि गुन-गान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी ॥" (उ० दो० ४१); तथा—"बिषइन्हि कहँ पुनि हरि-गुन-ग्रामा। श्रवन-सुखद अरु मन-अभिरामा ॥" (उ० दो० ५२)। 'येहि सर' अर्थात् मानस-सर हिमालय पर है। अतः, अन्य सरों की अपेक्षा अत्यन्त शीतल है, वैसे यह 'रामचरित-मानस' भी अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अत्यन्त शान्ति देनेवाला है।

रामचरितमानस मुनिभावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन ॥ ९ ॥
त्रिबिध-दोष-दुख-दारिद-दावन। कलि कुचालि-कुलि-कलुष नसावन ॥१०॥

शब्दार्थ—त्रिविध-दोष = कायिक-वाचिक एवं मानसिक कुटेवें एवं पाप। त्रिविध-दुख = जन्म, जरा और मरण एवं दैहिक-दैविक और भौतिक ताप। त्रिविध-दारिद = तनु-जन और धन-सम्बन्धी दरिद्रता। दावन = नाशक।

अर्थ—मुनियों के मन को प्रिय लगनेवाले, सुहावने और पवित्र इस 'रामचरित-मानस' को श्रीशिवजी ने रचा ॥९॥ यह तीनों प्रकार के दोषों, दुखों और दरिद्रताओं का दमन (नाश) करनेवाला और कलियुग के कुत्सित आचरणों तथा सम्पूर्ण पापों का नाशक है ॥१०॥

विशेष—'मुनि भावन'—रामचरित-मानस गम्भीर आशय युक्त एवं शान्तिरस पूर्ण है, इससे यह मुक्तकोटि के मुनियों (सिद्धों) को भी भाता है, क्योंकि वे आत्माराम हैं, इससे निष्काम-उपासना ही करते हैं। ऊपर—'मन करि बिषय···' से विषयियों का और—'सुनत नसाहिं काम-मद-दंभा' से मुमुक्षुओं

का हित कहा गया। अतः, तीनों प्रकार के जीवों का प्रियत्व जनाया, यथा—"सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई।" (उ० दो० १४)।

'बिरचेउ संभु'—ईश्वर का रचा हुआ है। 'सुहावन'—काव्य-गुणों से पूर्ण है।

'पावन'—क्योंकि इसमें पवित्र रामयश रूपी जल भरा है। यहाँ इसका अपना सौष्ठव कहा गया है। इसका सेवक को सुष्ठु बनाना तो प्रसिद्ध है जो 'त्रिविध-दोष···' से स्पष्ट है।

'त्रिबिध दोष···'—तीन प्रकार के दोष एवं पाप, यथा—"जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥" (अ० दो० १६६); पापों के फल दुःख होते हैं, यथा—"करहिं पाप पावहिं दुख," (उ० दो० १००); 'त्रिबिध दुख', यथा—"जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निर्बहे।" (उ० दो० १२); "जराजन्मदुःखौघतातप्यमानम्" "जनमत मरत दुसह दुख होई।" (उ० दो० १०८); तथा—"दैहिक दैविक भौतिक तापा।" (उ० दो० २०); एवं—नहि दरिद्र सम दुख जग माहीं।" (उ० दो० १२०)।

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमय सिवा सन भाषा॥११॥
तातें रामचरित-मानस बर। धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर॥१२॥

अर्थ—शिवजी ने रचकर (इसे) अपने हृदय में रक्खा था और अच्छा अवसर पाकर उन्होंने श्री पार्वतीजी से कहा॥११॥ इसीलिये श्रीशिवजी ने अपने हृदय में विचार कर हर्ष-पूर्वक इसका श्रेष्ठ नाम 'रामचरित-मानस' रक्खा॥१२॥

विशेष—(१) 'रचि महेस···' अब नामकरण का कारण कहते हैं। 'राखा' अर्थात् बहुत काल तक आठो पहर इसीके मनन में रहा करते थे। अतः, यह शिवजी का अष्टयाम-ध्येय था।

'पाइ सुसमय···' यहाँ तक श्री पार्वतीजी से तीन बार कथन करना कहा गया, यथा—"बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा।" (दो० २९); इसमें 'सुनावा' पद संवाद-सूचक है, फिर—"कीन्हि प्रस्न जेहि भाँति भवानी। जेहि बिधि संकर कहा बखानी॥" (दो० ३२); इसमें प्रश्नोत्तर के हेतु एवं प्रश्न-प्रकार की प्रस्तावना है और यहाँ 'सुसमय' में वर्णन जनाया। इन्हीं तीनों को आगे—"कहउँ सो मति-अनुहारि अब, उमा संभु-संबाद। भयेउ समय जेहि, हेतु जेहि, सुनु मुनि मिटिहि बिषाद॥" (दो० ४७ ; पर—एकत्र करेंगे और वहीं से इन तीनों सूत्रों की व्याख्या प्रारम्भ होगी।

(२) 'तातें रामचरित···'—'तातें' अर्थात् अपने मानस में रखने के कारण। 'बर-हेरि' अर्थात् बहुत विचारा, पर इससे श्रेष्ठ और नाम नहीं समझ पड़ा और चित्त में इसके स्फुरण से हर्ष हुआ। इस लिये 'हरषि' भी कहा है। 'धरेउ नाम···हर' अर्थात् मैंने गुरु परम्परा से पाकर इसका प्रारम्भ किया और नाम कहा, पर नाम-करण तो शिवजी ने ही किया था, मैंने नहीं। ऐसा ही रूप के प्रति कहा गया है, यथा—"धरे नाम गुरु हृदय बिचारी।" (दो १९७)।

कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥१३॥

अर्थ—मैं उसी सुख-दायिनी और सुहावनी (श्री रामचरित-मानस) कथा को कहता हूँ, हे सज्जनो! इसे मन लगाकर आदर-पूर्वक सुनिये।

विशेष—पूर्व—"जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनिवरहिं सुनाई॥" दो० २६ पर ग्रन्थ के चारो संवादों का बीज बोना और कथा का प्रारम्भ करना लिखा गया, उसके अनुसार श्रीगोस्वामीजी का संवाद यहाँ से प्रारम्भ हुआ। इनका प्रारम्भ-स्थल अयोध्या है—"अवधपुरी यह चरित प्रकासा।" दो० ३३ से निर्दिष्ट है। ऐसा ही याज्ञवल्क्यजी का कथास्थल प्रयाग है—"भरद्वाज मुनि बसहिं

प्रयागा।···जागबलिक मुनि परम बिवेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी॥" (दो० ४३-४४)। काकभुशुण्डीजी का नीलगिरि है, यथा—"उत्तर दिसि सुंदर गिरि नीला। तहँ रह कागभुसुंडि सुसीला॥ गयेउ गरुड़ जहँ बसइ भुसुंडी···।" (उ० दो० ६१-६२); और शिवजी का कैलाश है, यथा—"परमरम्य गिरिबर कैलासू। सदा जहाँ-सिव-उमा निवासू॥···कथा जो···सोइ पूछन चह सैलकुमारी॥" (बा० दो० १०४-१०६)।

'सुखद'—'सादर'—जो आदर-पूर्वक मन लगाकर सुनेगे, कथा उन्हींके लिये सुखद एवं सुहावनी होगी। 'सादर सुनहु सुजन···'—श्रीगोस्वामीजी के संवाद में श्रोता सुजन हैं, यथा "पैहहिं सुख सुनि सुजन सब," एवं "राम भगति भूपित जिय जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी।" (दं० ८); होइहि सुजन मन भावनी।" (दो० १०); छमिहहिं सज्जन···सुनिहहिं बालबचन मन लाई॥" (दं० ७)। वैसे ही यहाँ भी कहा है। सुजनों से ही कहा है, क्योंकि अनधिकारी तो उपहास करेंगे—"खल करिहहिं उपहास।" (दो० ८ देखिये)। 'सादर' इससे भी कहा है कि यह मानस तीर्थ है, इसका सादर सेवन करना चाहिये, यथा—"सादर मज्जन पान किये ते। मिटहिं पाप परिताप हिये ते।" (दो० ४२ देखिये)।

श्री अयोध्याधाम-वर्णन एवं श्रीरामचरितमानस-अवतार-प्रसंग समाप्त।

मानस-प्रसंग

दोहा—जस मानस जेहि बिधि भयेउ, जग प्रचार जेहि हेतु।
अब सोइ कहउँ प्रसंग सब, सुमिरि उमा-बृषकेतु॥३५॥

शब्दार्थ—बृषकेतु = (बृष=बैल, नन्दी, केतु=ध्वजा) जिनकी ध्वजा पर नन्दी है (शिवजी) वा बृष अर्थात् चारो चरणों (सत्य, शौच, दया, दान) से पूर्ण धर्म जिनकी ध्वजा पर हो एवं धर्म के ध्वजा-रूप (शिवजी)।

अर्थ—जैसा मानस का स्वरूप है जिस प्रकार जगत् में इसका प्रचार हुआ तथा वह जगत् प्रचार जिस (उत्पन्न करनेवाले व्यक्ति) के द्वारा हुआ। वे ही सब प्रसंग श्रीगौरी-शंकर का स्मरण करके, कहता हूँ।

विशेष—(१) यहाँ से दो० ४३ तक मानस-प्रसंग आठ दोहों में है। उस समस्त प्रसंग की प्रस्तावना इस दोहे में की गई है—

'जस मानस'—'सुमति भूमि थल'···से—'अस मानस मानसचख चाही।' (दो० ३८ चौ० ९); तक मानस का स्वरूप कहा गया है।

'जेहि बिधि भयेउ जगत् प्रचार'—जिस तरह इसका जगत् में प्रचार हुआ, यह प्रसंग—"भयेउ हृदय आनंद उछाहू।"···से—सुमिरि भवानी संकरहिं, कह कवि कथा सुहाइ॥" (दो० ४३); तक है। मानससर का जल सरयूजी के द्वारा संसार में फैला, वैसे सरयूजी के रूपक में इसके जगन्मोहक गुण कहे गये हैं।

'जग प्रचार जेहि हेतु' यह प्रसंग—"अब रघुपति-पद-पंकरुह, हिय धरि पाइ प्रसाद। कहउँ जुगल मुनिबर्य कर, मिलन सुभग संबाद।" (दो० ४३); से है। यहाँ 'जग प्रचार' पद दीप देहली है। 'सुमिरि उमा-बृष-केतु'—स्मरण के कारण—(क) ये दोनों श्रद्धा-विश्वासरूप हैं, मं० श्लोक में कहे गये हैं। इनके लक्ष्य से ये दोनों गुण दृढ़ होंगे, तब भगवान् से वैसी शक्ति प्राप्ति होगी, जिससे ग्रन्थ-रचना में

सफलता होगी। गीता ७-२१-२२ में प्रमाण है। (ख) दोनों की प्रसन्नता चरित-वर्णन के विषय में पा चुके हैं, यथा—"सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ।" (दो० १४); (ग) शिवजी ने इसे रचा और पार्वतीजी ने जगत् हित के लिये प्रकट कराया, यथा—"कीन्हेउ प्रस्न जगत हित लागी।" (दो० १११); अतएव ये मुख्य वक्ता-श्रोता हैं।

संभु-प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरित-मानस कवि तुलसी ॥१॥
करइ मनोहर मति - अनुहारी। सुजन सुचित सुनि लेहु सुधारी ॥२॥

शब्दार्थ—हुलसी=विकसित हुई, उल्लसित हुई। सुचित=ध्यान देकर वा सुन्दर चित से।

अर्थ—श्रीशिवजी की कृपा से मेरे हृदय में सुमति का विकास हुआ, इससे (मैं) तुलसीदास इस रामचरित-मानस का कवि बना ॥१॥ तुलसीदास इसे अपनी बुद्धि के अनुसार मनोहर ही बनाता है। हे सज्जनो! आपलोग सुन्दर चित्त से सुनकर इसे सुधार लें ॥२॥

विशेष—(१) 'संभु-प्रसाद सुमति ···' यहाँ 'सुमति हुलसी', अतः, ध्वनित हुआ कि ग्रन्थकार पहले कदराते थे, यथा—"मति अति नीच···" (दो० ७); तथा—"करत कथा मन अति कदराई।" (दो० ११)। इसके लिये ग्रन्थकार ने प्रथम 'सीयराममय' चराचर से मति माँगी, यथा—"निज बुधि-बल भरोस मोहिं नाहीं। ताते बिनय करउँ सब पाहीं ॥" (दो० ७)। फिर श्रीजानकीजी से भी मति माँगी। यथा—"जासु कृपा निर्मल मति पावउँ।" (दो० १७); उसी कृपा का फल शिवजी के प्रसाद-रूप से प्राप्त हुआ, यह पूर्व ही—"सुमिरि सिवा-सिव पाइ प्रसाऊ" दो० १४ में कहा गया, उसीको यहाँ कहते हैं। अतः, जो मति पहले अति नीच थी, वही 'सुमति' पाकर 'हुलसी'। और, तब इस भाषा रामचरित-मानस के कवि तुलसी हुए। भाव यह कि संस्कृत रामचरित मानस के कवि शिवजी हैं, यथा—"यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना" (उ० दो० १३०); उनके प्रसाद से मैं भी भाषा का कवि हुआ। इसके पहले न था, यथा—'कवि न होउँ···" (दो० ८)। 'संभु-प्रसाद' होने पर अपने को 'कवि' कहा, आगे भी कहते रहेंगे, यथा—'कह कवि कथा सुहाइ' (दो० ४३); "सुकवि लषन-मन की गति भनई।" (अ० दो० २३९); "सुनि कठोर कवि जानिहि लोगू।" (अ० दो० ३१७); "कवि-कुल कानि मानि सकुचानी।" (अ० दो० ३०२)। यहाँ अपने को 'कवि' कहना आत्मश्लाघा-रूप में नहीं है, किन्तु कवि का तात्पर्य ग्रन्थ-रचयिता होने से है। पूर्व योग्यता न थी, अब वह शिवप्रसाद से हुई, तब अपने को रचयिता कहा। अतः, यह शिवप्रसाद एवं उपर्युक्त उसकी कारणरूपा श्रीजानकीजी की कृपा को बड़ाई है, यथा—"रामनाम को प्रभाउ, पाउ महिमा प्रताप तुलसी से जग मानियत महामुनी सो ॥" (क० उ० ७२)। श्रीशिवजी के ही कहने एवं ग्रन्थ में प्रभावस्थापन के आश्वासन से ये ग्रन्थ-रचना में उत्साह-पूर्वक आरूढ़ हुए। पूर्व मं० श्लोक ७ और दो० १५ पर कहा गया, यहाँ उसका स्मरण किया गया है।

(२) 'करइ मनोहर मति···' 'मनोहर' अर्थात् काव्य-गुण युक्त एवं प्रत्येक रस के प्रेमियों के अनुकूल। जब 'संभुप्रसाद' से सुमति प्राप्त हुई, तब उससे विरचित कथा का प्रबन्ध मनोहर होगा, यह विश्वास है। फिर भी सुजनों की सहायता लेते हैं कि मानव-स्वभाव वश रचना में कहीं त्रुटि रह जाय, तो आपलोग सुधार लेंगे।

'मति अनुसारी···।' ईश्वर की देन पर भी 'मति अनुसारी' कहा है, क्योंकि मानव-हृदय परिमित सुमति ही धारण कर सकता है, इसीसे सुधारना भी कहा और यह कार्पण्य दृष्टि से शिष्ट परम्परा भी है।

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू ॥३॥

शब्दार्थ—[यहाँ से इस चरित का मानस सर से सावयव रूपक बाँध कर स्वरूप कहते हैं कि यह मुझे कैसे प्राप्त हुआ ?] -भूमि=तालाब के नीचे भाग की आधारभूमि, यहाँ वही ग्राह्य है। थल = तालाब की गहरी भूमि का गहरापन जिसमें जल आकर ठहरता है, यथा—"जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई।" (उ० दो० ११८)। उदधि=समुद्र।

अर्थ—सुमति भूमि है, हृदय गहरा स्थल है, वेद-पुराण समुद्र हैं और साधु बादल हैं ॥३॥

विशेष—'सुमति भूमि···'—जैसे भूमि चराचर का उत्पत्ति-स्थान है, वैसे सुमति भी गुणगण का उत्पत्ति-स्थान (योनि) है, यथा—"सोक कनकलोचन, मति छोनी। हरी बिमल गुनगन जगजोनी ॥ भरत-बिबेक बराह बिसाला। अनायास उधरी तेहि काला ॥" (अ० दो० २९६)। यहाँ संसार रूप हिरण्याक्ष ने सुमति रूपी पृथ्वी को हरा था। यथा—"कहँ मति मोरि निरत संसारा।" (दो० ११)। अब 'संभुप्रसाद' रूप वाराह ने उद्धार किया, तब यह सुमति भी गुणों का उत्पादक होकर राम-सुयश रूप 'बर बारि' के रखने योग्य हुई।

'थल हृदय अगाधू।' यहाँ हृदय का अर्थ 'सु-मानस' अर्थात् सष्ठु (श्रेष्ठ) मन है। यहीं पर आगे कहा गया है—"भरेउ सुमानस सुथल थिराना।" श्रुति भी है—"हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमाः।" (ऐतरेयो०)। सुमति भूमिवाला हृदय गहरा होता ही है, यथा—"कहि न सकत कछु अति गंभीरा। प्रभु-प्रभाव जानत मतिधीरा ॥" (दो० ५२)। 'बेद पुरान उदधि' वेद-पुराण ही ज्ञान की राशि हैं, जैसे समुद्र जल की राशि है। समुद्र का जल मेघ-द्वारा सर्वत्र प्राप्त होता है। नदी, तालाब, कुएँ, बावली आदि में पूर्ण रहता है, वैसे ही वेद-पुराण का ही ज्ञान संसार-भर में फैला है। इसके प्रचारक सब देशों के साधु ही हैं। जैसे समुद्र का जल प्रथम आकाश में जाकर भूमि पर आता और जमीन के नीचे जाता है। फिर खोदकर पाताल से निकाला जाता है—सहसा समझ में नहीं आता। वैसे ही रसायन, विज्ञान आदि सब विद्याएँ पहले यहाँ के आर्यों में थीं, फिर इसी विद्यासमुद्र से यूरोप और अमेरिका आदि देशों को प्राप्त हुईं, किन्तु गति सहसा समझ में नहीं आती।

शंका—पूर्व ग्रन्थकार ने कहा था कि मैं शिवकृत मानस को ही भाषा-बद्ध करूँगा और अब वेद-पुराण से साधुओं द्वारा प्राप्त करना कहते हैं। यह क्यों ?

समाधान—(क) कथा-भाग ही शिवकृत है। इसमें अन्य विचित्रताएँ और अनेक मत साथ-साथ हैं, वे सब गुनियों द्वारा-प्राप्त वेदपुराण-सम्मित हैं।

(ख) समुद्र का जल प्रथम सूर्य किरण से आकाश में जाकर चन्द्रकिरण और वायु आदि के संयोग से मेघ बनता है, तब भूमि पर जाता है, वैसे यह वेदादि से प्रथम शिवजी के हृदय में आया, यथा—"बरनहुँ रघुबर बिसद जस, श्रुति-सिद्धान्त निचोरि ॥" (दो० १०९); फिर भुशुण्डीजी, याज्ञवल्क्यजी तथा परम्परा से श्रीगुरुजी को प्राप्त हुआ। श्रीगुरुजी से श्रीगोस्वामीजी की मेधा में आया। श्रीभुशुण्डीजी ने श्रीगुरु को साधु कहा भी है, यथा—"परम साधु परमारथ-बिंदक।" (उ० दो० १९८)।

बरषहिं राम-सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी ॥४॥

अर्थ—(वे साधु-रूपी मेघ) राम-सुयश रूपी श्रेष्ठ जल बरसाते हैं, जो मधुर, मनोहर और मंगलकारी होता है।

विशेष—यहाँ 'राम-सुजस' को 'बर बारि' कहा, क्योंकि मेघ का जल भी श्रेष्ठ होता है, पर समुद्र का जल खारा होता है, जो न तो पीने ही योग्य होता है और न खेत ही सींचने योग्य। वैसे अखिल-धर्म-मूल होने से वेद-पुराणों में काम्य कर्म का भी विशेष प्रतिपादन है, वह ऐसे विषयी जलचरों के लिये अनुकूल है जिनका मन विषय-वारि में मछली के समान रहता है, यथा—"बिषय बारि मनमीन···" (वि० १०२); वे निवृत्ति मार्गवालों को अंध-पंगु आदि समझते हैं और इनके लिये त्याग की महिमा

मानते हैं, पर विवेकी साधुलोग वेदों का वास्तविक सिद्धान्त राम-यश ही निकालते हैं, यथा—"बंदउँ चारिउ वेद···बरनत रघुबर बिसद जस।" (दो० १४); "हम तव सगुन जस नित गावहीं।" (उ० दो० १२)। यह वेदों ने ही कहा है। साधुलोग काम्य कर्म आदि को खारा, अज्ञानियों से ग्राह्य होने से कुरूप और भवरोगमय होने से अमंगलकारी मानते हैं। राम-सुयश कहने-सुनने में प्रेमोत्पादक होने से मधुर, भवरोगहारक होने से मंगलकारी और इन्हीं गुणों से यह मन हर लेता है, यही इसमें मनोहरता है। भूमि में पड़ने से पहले मेघ के जल में मधुरता आदि गुण रहते हैं। वर्षा के प्रथम कुछ देर वायु रुककर गर्मी होती है, तब वर्षा होती है, ऐसे साधु भी राम-यश-कथन के पूर्व ध्यान विचार करने में चित्त-वृत्ति को एकाग्र करते हैं, यही वायु का रुकना है, उत्साह का होना गर्मी है, यथा—"मगन ध्यान रस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह। रघुपति-चरित महेस तब, हरषित बरनइ लीन्ह॥" (दो० १११); मेघ जंगम होते हैं, वैसे साधु-समाज भी—"ज्यों जग जंगम तीरथराजू।" (दो० १); में जंगम कथित हैं। राम-सुयस के गुणों के उदाहरण—मधुर, यथा—"श्रवनवंत अस को जग माहीं। जाहि न रघुपति-चरित सोहाहीं॥" (उ० दो० ४२); मनोहर, यथा—"लागे कहन कथा अति सुंदर॥" (सुं० दो० ३२); और मंगलकारी, यथा—"मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की॥" (दो० ९)।

लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करइ मल हानी॥५॥
प्रेम-भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई॥६॥

अर्थ—जो सगुण लीला का वर्णन करके कहते हैं, वही स्वच्छता मल का नाश करती है॥५॥ और इसमें जो प्रेम लक्षणा-भक्ति है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, वही इसकी मिठास और तरावट है॥६॥

विशेष—(१) 'लीला सगुन जो··· ···।' सगुण लीला कहने से निर्गुण लीला भी ध्वनित होती है। निर्गुण ब्रह्म अव्यक्त है, निष्क्रिय है, पर उसके सन्निधान (समीप की स्थिति) से माया-द्वारा संसार का व्यापार चलता रहता है, यही उसकी लीला है, यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु-प्रेरित नहिं निज बल ताके॥" (अ० दो० १४); तथा—"सुनु रावन ब्रह्मांडनिकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया।" (सुं० दो० २०)।

'सगुन लीला'—जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब साधुओं की रक्षा और दुष्टों का विनाश करने के लिये प्रभु अवतीर्ण होकर लीला करते हैं कि जिसे गा-गाकर भक्त लोग भवसागर से तर जायँ। "जब-जब होइ धरम कै हानी।··· " से—"कृपासिंधु जन-हित तनु धरहीं॥" (दो० १२०-१२१) तक। यही लीला सम्पूर्ण रामायण है, जो सूत्र-रूप में—"प्रथमहिं अति अनुराग भवानी।" ·····से—"कथा समस्त भुसंडि बखानी।" (उ० दो० ६३—६७) तक के ८४ प्रसंगों में कही गई है कि जिसे गाकर भक्त लोग ८४ लाख योनियों से मुक्त हो जायँ। 'कहहिं बखानी।'—निर्गुण लीला के विस्तार से कहने का कोई प्रयोजन नहीं। अतः, उसका बखान नहीं कहा और सगुण लीला तो गाने के लिये ही की जाती है, जिससे बड़ा लाभ यह होता है कि संसार से छुटकारा मिल जाता है। अतः, वह गाई जाती है, यथा—"सोइ जस गाइ भगत भव तरही॥" (दो० १२१)।

'सोइ स्वच्छता'—राम-यश रूपी जल में सगुण लीला का बखान स्वच्छता है। जल की शोभा स्वच्छता में है, वैसे राम-यश की शोभा, सगुण-लीला के बखान में है। भगवान् के जन्म-कर्म दिव्य हैं, यथा—"जन्म कर्म च मे दिव्यम्···" (गीता ४।९)। उनका जन्म स्वेच्छा से होता है, यथा—"इच्छामय नर-देह सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे॥" (दो० १५१); और वे कर्म की ममता तथा फलेच्छा से रहित हैं, इसीसे वे निर्लिप्त रहते हैं; यथा—"कर्म सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा।" (दो० १३६);

उनके जो कर्म देखे जाते हैं वे लोक-कल्याण के लिये लीला-रूप में हैं, यथा—"जथा अनेक वेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ। सोइ-सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ। असि रघुपति-लीला उरगारी।···" (उ० दो० ७२)। अतः, भगवान् की लीला कर्मवशता रूपी मलिनता से रहित है और लीला का दिव्य होना उसकी स्वच्छता है।

'करइ मलहानी'—स्वच्छ जल से ही मल छूटता है। सगुण ब्रह्म में मनुष्यता की कल्पना मल है जो भरद्वाज, पार्वती और गरुड़ के हृदय में हुई थी। इन सबने ब्रह्म में प्राकृतत्व (मनुष्यता) का आरोपण किया, फिर सम्पूर्ण सगुण लीला के सुनने से वह भ्रम निवृत्त हुआ, यथा—गरुड़ की मोहनिवृत्ति—"गयेउ मोर संदेह, सुनेउ सकल रघुपति-चरित।" (उ० दो० ६८); पार्वतीजी की मोहनिवृत्ति—"तुम्हरी कृपा कृपायतन, अब कृतकृत्य न मोह।" (उ० दो० ५२); और कवि ने स्वयं भी कहा है—"रघुबंसभूषनचरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं॥" (उ० दो० १३०); इस अर्द्धाली में उपर्युक्त 'मनोहरता' स्पष्ट हुई। आगे मधुरता और तरावट कहते हैं—

(२) 'प्रेम भगति जो बरनि···'—प्रेम लक्षणा भक्ति में मधुरता का अत्यन्त स्वाद है, जिससे उसका वर्णन नहीं होता, जैसे अत्यन्त मीठा खाने से मुख बँध जाता है, यथा—"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।" (नारद भक्तिसूत्र); "प्रेम अमिअ···" (अ० दो० २३८); तथा—"कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा। प्रेम भरा मन निज गति छूछा॥" (अ० दो० २४१); "परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥ कहहु सो प्रेम प्रगट को करई। केहि छाया कबि मति अनुसरई॥" (अ० दो० २४०); "बूझत कृपानिधि कुसल भरतहिं बचन बेगि न आवई। सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई॥" (उ० दो० ५); इत्यादि।

'सुसीतलताई' अर्थात् अनुकूल शीतलता (तरावट)। जो दुःख से तप्त है उसका सुखी होना शीतल होना है, यथा—"जराजन्मदुःखौघतातप्यमानम्।" (उ० दो० १०७); "मन करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौं येहि सर परई॥" (दो० ३४)।

शंका— पूर्व—'मधुर मनोहर मंगलकारी।' में मधुर कहा ही है, यहाँ फिर क्यों कहा ?

समाधान—वहाँ मधुर होना कहा था। यहाँ यह दिखाया कि मधुरता क्या वस्तु है।

सम्बन्ध—उक्त जल को मनोहर और मधुर कह चुके, आगे उसका मंगलकारित्व कहते हैं—

सो जल सुकृत सालि हित होई। रामभगत जन जीवन सोई॥७॥
मेधा महिगत सो जल पावन। सकिलि श्रवन-मग चलेउ सुहावन॥८॥

शब्दार्थ—मेधा = अन्तःकरण की धारणावती बुद्धि जिससे सुनी-गुनी बात हृदय में बनी रहती है, यथा—"धीर्धारणावती मेधा" (अमरकोष १।५।२)। सकिलि = सिमट कर।

अर्थ—वह जल पुण्यरूपी धान के लिये हितकारी है और श्रीरामभक्तजनों का जीवन वही है॥७॥ वह सुहावन पावन जल धारणवती बुद्धि रूपिणी पृथ्वी पर प्राप्त हुआ और कान के मार्ग से इकट्ठा होकर भीतर चला॥८॥

विशेष—(१) 'सो जल सुकृत सालि···' 'सुकृत'—"तीर्थाटन साधन समुदाई।"—से—"जहँ लगि साधन बेद बखानी॥" (उ० दो० १२५) तक देखें। धान की तरह सुकृत को भी रामसुयश रूपी जल की बड़ी प्यास है, यथा—"धर्ममार्ग चरित्रेण ज्ञानमार्गं च नामतः। (श्रीरामतापनीय उ०); तथा—"बीज राम-गुन गन नयन, जल अंकुर पुलकालि। सुकृती सुतनु सुखेत बर, बिलसत तुलसी सालि॥" (दोहावली ५६८)। सुकृत की वृद्धि से श्रीराम में स्नेह होता है, यथा—"सकल सुकृति फल राम-सनेहू।" (दो० २६)। वही—'रामभगत जन···' से उत्तरार्द्ध में कहा है कि रामकथा ही श्रीरामभक्तों का जीवन है,

यथा—"यावद्रामकथा वीर चरिष्यति महीतले। तावच्छरीरे वत्स्यन्तु प्राणा मम न संशयः॥ यच्चैतच्चरितं दिव्यं कथां ते रघुनन्दन। तन्ममाप्सरसो राम श्रावयेयुर्नरर्षभ॥" (वाल्मी० उ० स० ४०।१७।१८); अर्थात् श्रीहनुमानजी ने श्रीरामजी से वर माँगा है कि आपकी कथा जबतक सुना करूँ, तभी तक मेरे शरीर में प्राण रहें।

(२) 'मेधा महिगत सो जल···' जहाँ तक का जल बहकर आता है, वही मानस सर की प्रान्त-भूमि है, वैसे ही जहाँ तक की बात सुनाई दे, वही मेधा (धारणावाली बुद्धि) की प्रान्तभूमि है।

'सकिलि श्रवन मग···' जब जल सिमटकर बहता है, तब एक मार्ग बन जाता है। उसी मार्ग से होकर सब पानी चलता है। इसी तरह राम-सुयश श्रवण-बुद्धि द्वारा आकर धारण-बुद्धि (मेधा) में प्राप्त होता है। 'सकिलि' अर्थात् जो बात समझ में बैठती है वही श्रवण-बुद्धि में आती है। यहाँ जो श्रवण-धारण बुद्धि कही गई है उसका प्रमाण—"बुद्धयाह्यष्टाङ्गया युक्तम्···" (वाल्मी० कि० स० ५४।२); अर्थात् बुद्धि आठ प्रकार की है, यथा—"शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा। ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीर्गुणाः॥" बहती हुई नाली की तरह कान के छिद्र से बात आती है। यह रूपक का बाह्य मेल है, यथा—"मृतक जियावनि गिरा सुहाई। श्रवन-रंध्र होइ उर जब आई॥" (दो० १४४)।

भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना॥६॥

शब्दार्थ—सीत (शीत)=ठंढा। रुचि=स्वादिष्ट। चिराना (सं० चिरंतन)=पुराना जीर्ण।

अर्थ—(श्रवणमार्ग से आये हुए राम यश रूप जल से) सुन्दर मानस भर गया, अच्छे स्थल में जल स्थिर हुआ। फिर वह सुखद, ठंढा, स्वादिष्ट, सुन्दर और पुराना हुआ।

विशेष—(१) 'भरेउ सुमानस सुथल···' यहाँ 'मानस' शब्द श्लिष्ट है। उपमान-पक्ष में सुन्दर मानस सर के अर्थ में और उपमेय में सुन्दर मन के अर्थ में है। तालाब जल से भरा और मन रामसुयश से भर गया। यहाँ 'श्रवन-मग चलेउ' में श्रवण, 'भरेउ सुमानस' में मनन और 'सुथल थिराना' में निदिध्यासन तथा 'चिराना' में समाधि का भाव है। चिराना हुआ अर्थात् परिपक्व हुआ, जैसे दूसरे साल का चावल पुराना और तीसरे साल का 'चिराना' कहा जाता है, वैसे वर्षा का जल नया, शरद् का पुराना और हेमन्त का 'चिराना' कहा जाता है। यह जल वैद्यक में भी अत्यन्त गुणकारी कहा गया है। श्रीगोस्वामीजी ने बचपन में गुरुजी से सुना, तब नया था, फिर सत्संग-द्वारा मध्यावस्था में मनन किया, तब पुराना हुआ और वृद्धावस्था में 'चिराना' होने पर मानस प्रकट हुआ। प्रथम—'जस मानस' और 'थल हृदय' कहा गया था, यहाँ जब राम-सुयश रूप जल से भरा, तब 'सु-मानस' और 'सु-थल' कहा गया, यह कवि के भाव की अगाधता है।

वर्षा का जल भूमि पर पड़ने से ढाबर (गँदला) हो जाता है। पुराना होने पर उसकी मिट्टी बैठ जाती है। फिर चिराना होने पर जल में पूर्व गुण आ जाते हैं। यहाँ के 'शीत', 'रुचि' और 'चारु'—ये ही पूर्व के 'मंगलकारी', 'मधुर' और 'मनोहर गुण' हैं। वैसे ही राम-सुयश भी प्रथम सुनते ही संशय, तर्क आदि से ढाबर हो जाता है। सत्संग से स्वच्छ और फिर मनन आदि से पूर्व गुण युक्त होने पर सुखद होता है। बुद्धि में रजोगुण का भी अंश है, इसके संशय, तर्क आदि ही धूल के समान हैं, जिनसे ढाबरपना हुआ, बुद्धि पृथ्वी के अंश से उत्पन्न भी है, यथा—"बुद्धिर्जाता क्षितेरपि।" (जिज्ञासापञ्चक)।

दोहा—सुठि सुंदर संबाद बर, बिरचे बुद्धि बिचारि।
तेइ यहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि॥३६॥

अर्थ—अत्यन्त सुन्दर और श्रेष्ठ संवाद बुद्धि से विचार करके (मैंने) बनाये हैं, वे ही इस पवित्र और सुन्दर तालाब के मनोहर चार घाट हैं।

विशेष—(१) 'सुठि सुंदर संबाद बर'—श्रोता-वक्ता के प्रश्नोत्तर को 'संवाद' कहते हैं। इन संवादों के श्रोता-वक्ता श्रेष्ठ हैं। अतः, 'बर' कहा है। चारो संवाद श्रेष्ठ कहे भी गये हैं, (१) यथा—"कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥" (दो० ३४); (२) यथा—"कहउँ जुगल मुनिवर्य कर मिलन सुभग संवाद॥" (दो० ४३); (३) यथा—"सुनु सुभ कथा भवानि,..." (दो० १२०); यह सुभ संभु-उमा-संबादा॥" (उ० दो० १२९); (४) यथा—"सो संवाद उदार'...." (दो० १२०)। संवाद के सम्बन्ध में 'सुठि-सुंदर' और घाट के सम्बन्ध में 'मनोहर' कहा है, क्योंकि सुन्दरता से मनोहरता आ जाती है, यथा—"तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम नाम अंकित अति सुंदर॥" (सुं० दो० १२)। अतः, संवादों की सुन्दरता ही घाटों की मनोहरता कही गई है। श्रीरामजी के चरित मनोहर हैं। अतः, उनके घाट भी मनोहर होने ही चाहिये, यथा—"परम मनोहर चरित अपारा। करत फिरत चारिउ सुकुमारा॥" (दो० २०२)।

(२) इस ग्रन्थ में चार संवाद हैं, वे ही घाट-रूप हैं। घाट से जल ग्रहण करना सुगम होता है। वैसे इन संवादों से चरित-सम्बन्धी क्रमशः प्रपत्ति (शरणागति), कर्म, ज्ञान और उपासना एवं इनके साथ क्रमशः धाम, लीला, नाम और रूप के गूढ़ रहस्य सुगमता से समझ में आ जायँगे। जैसे कि भगवान् की शरणागति उनके घर पर एवं द्वार पर पड़कर आश्रयण करने के भाव में की जाती है। अतः, इसमें धाम निष्ठा है, तथा—"धर्ममार्ग चरित्रेण ज्ञानमार्गञ्च नामतः।" (रामतापनीय उ०); अर्थात् चरित के द्वारा धर्म मार्ग एवं नाम से ज्ञान मार्ग के अनुभव होते हैं यह स्पष्ट ही कहा गया है। रूप का ध्यान एवं उनकी सेवा ही उपासना है।

१—सबसे पूर्व श्री गोस्वामी जी का संवाद प्रारम्भ हुआ, यथा—"कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥" (दो० ३४); इसीसे यह 'पूर्व घाट' कहलाया। प्रायः तालाबों में पूर्व की ओर ही जल बहने की ढालू भूमि होती है। अतः, उधर ही से लूले, लँगड़े एवं पशु वगैरह भी जल पीने आते हैं। इसीसे वह 'गो-घाट' कहाता है। वैसे कर्म-ज्ञानादि हीन दीनों के लिये 'प्रपत्ति घाट' एवं 'दैन्य घाट' भी कहाता है। गोस्वामी जी ने प्रपन्नों (दीनों) के आश्वासन के लिये प्रपत्ति की सँभाल भी जहाँ-तहाँ की है, यथा—"भव-भंजन रघुनाथ, भजु तुलसी तजि मान मद॥" (दो० १२४)।

२—मानसकार ने अपना संवाद-रूप घाट कर्मप्रधान याज्ञवल्क्य-भरद्वाज के संवाद-रूप घाट से मिलाया है, यथा—"कहउँ जुगल मुनिवर्य कर, मिलन सुभग संबाद॥" (दो० ४३); यह माघ-स्नान के सम्बन्ध से प्रारम्भ है। अतः, कर्मप्रधान पंचायती घाट कहाता है। प्रदक्षिणा-क्रम से यह 'दक्षिण घाट' है। इन्होंने कर्म की सँभाल जहाँ-तहाँ की है, यथा—"भरद्वाज सुनु जाहि जब, होइ बिधाता बाम। धूरि मेरु सम जनक जम, ताहि ब्याल सम दाम॥" (दो० १७५)।

३—याज्ञवल्क्य ने अपना संवाद-रूप घाट ज्ञानप्रधान शिवजी के संवाद-रूप घाट में मिलाया है, यथा—"कहउँ सुमति अनुहारि अब, उमा-संभु-संबाद।" (दो० ४७); "झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने।..." (दो० १।१); आदि ज्ञान-सम्बन्ध से प्रारम्भ होने के कारण यह 'ज्ञान-घाट' है। उपर्युक्त क्रम से यह पच्छिम का 'राजघाट' है। इन्होंने ज्ञान की सँभाल भी की है, यथा—"बोले बिहँसि महेस तब, ज्ञानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ॥" (दो० १२४)।

४—शिवजी ने अपना संवाद रूप घाट उपासना प्रधान काकभुशुण्डीजी के संवाद-रूप घाट में मिलाया है, यथा—"सुनु सुभ कथा भवानि,.....कहा भुसुंडि बखानि, सुना बिहँगनायक गरुड़॥ सो संबाद उदार, जेहि बिधि भा आगे कहब॥" (दो० १२०)। इन्होंने अनुराग-पूर्वक प्रारम्भ किया, यथा—

"प्रथमहिं अति अनुराग भवानी···" (उ० दो० ६२); इसीसे 'उपासना-घाट' है। उपर्युक्त क्रम से यह उत्तर का 'पनिघट' है। इन्होंने उपासना की सँभाल भी जहाँ-तहाँ की है, यथा—"कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि। चित्त खगेस राम कर, समुझि परइ कहु काहि॥" (उ० दो० १९)।

इन चारो घाटों की समाप्ति विलोम (उलटे क्रम) से लगी है, क्योंकि जिसने जिसका आवाहन किया है, उसीके द्वारा उसका विसर्जन भी योग्य है, यथा—४. गयेउ गरुड़ बैकुंठ तब, हृदय राखि रघुबीर॥" (उ० दो० १२५); यह उत्तर घाट की इति शिवजी ने लगाई। ३. "राम-कथा गिरिजा मैं बरनी।" से "मैं कृतकृत्य भइउँ अब,···" (उ० दो० १२९); तक, यह पच्छिम घाट की इति है। २. "यह सुभ संभु-उमा-संवादा। सुखसंपादन समन बिषादा।" से "रघुपति कृपा जथामति गावा।···" (उ० दो० १२९); तक यह दक्षिण घाट की इति है। १. "एहि कलिकाल न साधन दूजा।" से "दह्यन्ति नो मानवाः॥" इस अन्तिम वाक्य तक यह श्री गोस्वामीजी के पूर्व घाट की इति है।

(३) तालाब के घाट जैसे एक दूसरे से मिले होते हैं, वैसे ही ये चारों संवाद भी परस्पर सम्बद्ध हैं। मानस सर के गोघाट पर देवों के वाहन एवं लूले लगड़े स्नानादि करते हैं। फिर पञ्चायती घाट पर सामान्य देवगण, राजघाट पर इन्द्रादि उत्तम देवगण और पनिघट झँझरीदार घाट पर देवाङ्गनाएँ स्नान करती हैं।

वैसे ही इन संवादात्मक घाटों के भी स्वरूप हैं—१. पहला गोघाट एवं दैन्य घाट दीनतापूर्वक है, यथा—"करन चहउँ रघुपति-गुन-गाहा। लघुमति मोरि चरित अवगाहा॥ सूझ न एकउ अंग उपाऊ।···" (दो० ७); इत्यादि। यह दोनों के लिये सुगम 'प्रपत्ति' घाट है जो आचार-विचार-हीन पशुतुल्य एवं कर्म-धर्म हीन लूले-लँगड़े हैं, वे इस दृष्टि से यहीं अवगाहन करें।

२. दूसरे पंचायती घाट में स्मार्तों की दृष्टि से श्रीराम-भक्ति का निरूपण है। श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने प्रथम श्रीराम-कथा कहने का संकल्प किया, यथा—"तात सुनहु सादर मन लाई। कहउँ राम कै कथा सुहाई।" (दो० ४६)। फिर प्रथम गौरी, गणेश और महेश का महत्त्व-वर्णन-पूर्वक मंगल किया, यथा—शिव-महत्त्व—"संकर जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावहिं सीसा॥" (दो० ४९ ; "सब सुर बिष्नु बिरंचि समेता। गये जहाँ सिव कृपानिकेता॥" (दो० ८७); शक्ति-महत्त्व—"मैना सत्य सुनहु मम बानी। जगदंबा तव सुता भवानी। अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि···।" (दो० ९७); गणेश-महत्त्व—"मुनि-अनुसासन गनपतिहिं, पूजे संभु भवानि।" (दो० १००); इत्यादि। इसका प्रयोजन यह कि इन सबके उपासक भी अपने इष्ट का महत्त्व पाकर इस मानस में प्रवेश करें तभी यह कथा 'सकल-जन-रंजनि' होगी, यथा—"बुध बिश्राम सकल जन रंजनि। रामकथा···" (दो० ३०)। अतः, सर्वसाधारण के प्रवेश योग्य होने से यह पंचायती घाट है।

३. तीसरा राजघाट है। इसमें ज्ञान-दृष्टि से मानस का प्रवेश एवं भक्ति का निरूपण है। अतः, श्रेष्ठ ज्ञानी लोग इस घाट से प्रवेश करें। इसमें प्रथम (केन० ३।१२ कथित) ब्रह्मविद्या रूपिणी श्रीउमाजी को ब्रह्म के सगुणत्व में सन्देह हुआ, यथा—"ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज,···सो कि देह धरि होइ नर,···" (दो० ५०)। शिवजी ने समाधान भी किया, यथा—"आदि अंत कोउ जासु न पावा।···सोइ दसरथ-सुत भगत हित, दो० ११८)। इनकी दृष्टि से प्रवेश करने पर यह 'मानस' "पुनि बिबेक पावक कहँ अरनी।" (दो० ३०); रूप से ज्ञात होगा।

४. चौथा पनिघट है, यथा—"पनिघट परम मनोहर नाना। तहाँ न पुरुष करहिं अस्नाना॥" (उ० दो० २८)। यह झँझरीदार घाट (सती) स्त्रियों के स्नान आदि के लिये होता है। यह अनन्य उपासना का घाट है। उपासक अपने इष्ट का अपकर्ष नहीं सह सकते। अतः, प्रभु के नागपाश पर तर्क एवं मोह हुआ, तब गरुड़जी ने काकजी से प्रश्न किया और उन्होंने अनुराग-पूर्वक इष्ट (उपास्य देव) का ही मंगलाचरण किया। इष्ट की महिमा ही से प्रबोध किया, यथा—"राम काम सतकोटि सुभग

तन।…" (उ० दो० ९०); तथा—"सेवक-सेव्यभाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।" (उ० दो० ११९); इत्यादि। इसी दृष्टिवालों के लिये कहा है कि—"रामकथा कलि कामद गाई। सुजन-सजीवनमूरि सुहाई॥" (दो० ३०)। इस संवाद में श्रीराम-परत्ववार्ता के अतिरिक्त अन्य वार्ता नहीं है, ऐसी ही अनन्यता सती स्त्रियों की होती है।

(४) 'बिरचे बुद्धि बिचारि'—श्रीगोस्वामीजी ने विचारा कि शिव-कृत मानस दुर्गम है। यथा—"यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमम्।" (उ० दो० १३०)। उसे उक्त चार प्रकार के अधिकारियों को सुगम कराने के लिये आपने चार संवाद-रूप घाटों का अपनी बुद्धि से निर्माण किया।

यहाँ एक तो चारो को 'मनोहर' कहा है। फिर भी 'बिरचे' भी कहा है। केवल 'रचेउँ' से काम चल जाता। यहाँ विशेषतासूचक 'बि' उपसर्ग है। लोक में घाट को जब विशेष रचना होती है, तब मणि-माणिक्य आदि भी लगाये जाते हैं। वैसी ही रचना इन घाटों में भी है। प्रथम श्रीगोस्वामीजी का प्रपत्तिघाट है, इसकी रचना श्वेत रंग को मणि-रचना के समान है, यथा—"तमेवशरणं गच्छ ……इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।" (गीता १८।६२-६३)। अतः, यह सत्वमय ज्ञान का परम श्रेष्ठ रूप होने से यह श्वेत रंग की मणि की रचना के समान है। द्वितीय पञ्चायतीघाट में श्रीरामजी के ही पंचांग-रूप देवों के लक्ष्य में रचना हरित रंग की मणियों की है, क्योंकि हरा रंग श्याम और पीत रंग मिल कर होता है, इससे मिश्रित उपासना हरे रंग मणियों की रचना के समान है। तृतीय ज्ञान घाट स्फटिकमणि की रचना के समान है, क्योंकि ज्ञान सत्व-गुण से बढ़ता है और सत्वगुण का रंग श्वेत है, वैसे ही ज्ञान घाट के वक्ता शिवजी भी 'शङ्खेन्द्वाभमतीव सुन्दरतनुम्' हैं। चतुर्थ उपासनाघाट की रचना लालरंग के माणिक की रचना के समान है, क्योंकि उपासना अनुराग से होती है और अनुराग का रंग लाल कहा गया है, तथा—"प्रथमहि अति अनुराग भवानी। रामचरित सर कहेसि बखानी॥" (उ० दो० ६२); यह इसी घाट-प्रसंग में कहा गया है।

प्रथम ग्रन्थकार ने प्रतिज्ञा की थी कि "मुनिन्ह प्रथम हरि-कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम, मोहिं भाई॥" (दो० २); पर यहाँ घाट-रूप संवाद-रचना में इन्होंने किसीका अनुकरण नहीं किया। इसीसे 'बिरचे बुद्धि बिचारि' लिखा है अर्थात् अपनी ही बुद्धि से काम लिया है।

'तेइ येहि पावन सुभग सर'—मैल एवं पाप दूर करनेवाली वस्तुएँ 'पावन' कहाती हैं और मन को आकृष्ट करनेवाली वस्तुएँ 'सुभग' (सुन्दर) कही जाती हैं। दोनों बातें एकत्र कम होती हैं, पर यहाँ दोनों हैं। पावन, यथा—"निज गिरा पावनि करन कारन राम-जस तुलसी कह्यो।" (दो० ३६१)। ये घाट सुन्दर हैं, तभी तो विषयी लोगों के भी चित्त को आकर्षित करते हैं, यथा—"बिषइन्ह कहँ पुनि हरिगुन-ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥" (उ० दो० ५२)।

सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ज्ञाननयन निरखत मन माना॥१॥

शब्दार्थ—प्रबंध = कई बातों का एक में ग्रथन, बँधा हुआ सिलसिला, यहाँ पर प्रबन्ध सातो काण्डों के अर्थ में आया है, ये सातो क्रमशः सम्बन्धित हैं ही। मन माना = मन स्वीकार करता है, मन प्रसन्न होता है, यथा—"कौसिक कहेउ मोर मन माना।" (दो० २१३)।

अर्थ—सातो प्रबंध (काण्ड) इस रामचरित-मानस रूपी मानस सर की सुन्दर सीढ़ियाँ हैं जिन्हें ज्ञानरूपी नेत्र द्वारा देखते ही मन प्रसन्न हो जाता है।

विशेष—(१) 'सप्त प्रबंध' प्रथम चारो घाट कहे गये, घाटों में सीढ़ियाँ भी होती हैं। उन्हें अब बतलाते हैं कि सातो काण्ड ही सातो सीढ़ियाँ हैं। इन सबपर राम-सुयशरूपी जल भरा है। इन्हींपर से आगे कविता-सरयू का बहना कहा जायगा। इसपर प्रश्न हो सकता है कि जल-भरा होने से सीढ़ियाँ दिखाई

कैसे देंगी ? इसलिये उत्तरार्द्ध में कहते हैं—"ज्ञाननयन निरखत मनमाना ।" सातो काण्ड—बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, लंका और उत्तर के नामों से प्रसिद्ध हैं। यद्यपि यह भी कहा जाता है कि ग्रन्थकार ने इन (बाल, आदि) नामों को नहीं लिखा, लोगों ने अन्य रामायणों की रीति से नाम रख लिये हैं, तथापि इन नामों की भी आवश्यकता है। जैसे ग्रन्थ भर में कहीं भी किष्किन्धा का नाम नहीं आया है। यदि चौथे प्रबन्ध का किष्किन्धा नाम न मानें तो—"मंत्रिन्ह पुर देखा बिनु साईं।" आदि वाक्यों में 'पुर' का नाम कहाँ से जाना जायगा ? सातो काण्डों में बाल और उत्तर चरित सम्बन्ध के नाम हैं और शेष पाँच काण्ड चरित-स्थल सम्बन्ध के हैं।

'प्रबंध' का अर्थ प्रकर्ष करके बाँधना है। नीचे की सीढ़ी दाबकर ऊपर की सीढ़ी बाँधी जाती है, वैसे यहाँ एक काण्ड की फल-स्तुति का दूसरे काण्ड के मंगलाचरण से संयोग होना ही 'दबाव' है और काण्डों का सम्बन्ध मिलाना सीढ़ियों का जोड़ना है, यथा—

बालकाण्ड का अन्त—"आये राम ब्याहि घर जबते। बसे अनंद अवध सब तबते ॥" पर है, इसका जोड़ अयोध्याकाण्ड के आदि—"जबते राम ब्याहि घर आये। नित नव मंगल मोद बधाये ॥" से है। इन दोनों अर्द्धालियों के बीच का प्रसंग ("प्रभु-विवाह जस भयेउ उछाहू।"—से—"जो दायक फल चारि" तक) 'दबाव' है। इस दबाव (दोनों जोड़ों के बीच) में चूना दिया जाता है, वैसे ही सातो काण्डों के मंगलाचरण में संस्कृत के श्लोक सात्विक देववाणी में होने से सफेद चूने की तरह हैं। इनसे दोनों जोड़ों को बाँधा गया है।

अयोध्याकाण्ड का अन्त—"भरत चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं···।" पर है, इसका जोड़ अरण्यकाण्ड के आदि—"पुर-नर-भरत-प्रीति मैं गाई।" से है। बीच का प्रसंग 'दबाव' है।

अरण्यकाण्ड का अन्त—"सिर नाइ बारहिं बार चरननन्हि···" वा "देखी सुंदर तरुवर छाया। बैठे अनुज सहित रघुराया ॥" पर है, इसका जोड़ किष्किन्धाकाण्ड के आदि—"आगे चले बहुरि रघुराया।" से है। बीच का प्रसंग 'दबाव' है।

किष्किन्धाकाण्ड का अन्त—"जामवंत मैं पूछउँ तोही।" पर है, इसका जोड़ सुन्दरकाण्ड के आदि—"जामवंत के बचन सुहाये।" से है। बीच का भाग 'दबाव' है।

सुन्दरकाण्ड का अन्त—"निज भवन गवनेउ सिंधु श्रीरघुपतिहिं यह मत भायेऊ।" पर है, इसका जोड़ लंकाकाण्ड के आदि—"सिंधु बचन सुनि राम, सचिव बोलि···" से है। बीच का प्रसंग 'दबाव' है।

लंकाकाण्ड का अन्त—"प्रभु हनुमंतहि कहा बुझाई। धरि बटु रूप···तुम चलि आवहु।" पर है, इसका जोड़ उत्तरकाण्ड के आदि—"राम-बिरह सागर महँ, भरत मगन मन होत। बिप्र-रूप धरि पवनसुत आइ गयेउ जनु पोत ॥" से है। इसके बीच में दोनों काण्डों के 'दबाव'-प्रसंग बहुत हैं, क्योंकि सीढ़ी नीचे से बँधती है और यह ऊपर की सीढ़ी है। अतः, इसमें 'दबाव' अधिक चाहिये ही।

बालकाण्ड के आदि में और उत्तरकाण्ड के अन्त में श्लोक अधिक हैं, क्योंकि नीव में चूने की मजबूती और ऊपरी भाग में भी चूने की गच चाहिये।

जैसे सरोवर में ऊपर से लोग प्रवेश करते हैं, वैसे ही चरित में बालकाण्ड से प्रवेश होता है, क्रमशः आगे बढ़ा जाता है। इस रीति के अनुसार यहाँ सीढ़ियों का निर्माण भी हुआ है। पथरीले देशों में भूमि काटते हुए एवं ऊपर से ही सीढ़ी बनाते हुए नीचे बढ़ना होता है। अतः, नीचे की अन्तिम सीढ़ी उत्तरकाण्ड है। आगे का फलश्रुति क्रम भी इसी भाव का पोषक है।

(२) 'ज्ञाननयन निरखत मनमाना'—उत्तरकाण्ड दो० १२८ में कहा है—"येहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति-भगति केर पंथाना ॥" इससे इसके भाव स्पष्ट हो जाते हैं अर्थात् सातो सोपान श्रीराम-भक्ति के क्रमशः ऊर्ध्वगति के मार्ग हैं। जैसे, प्रथम बालकाण्ड है, इसमें श्रीरामजी के जन्म, व्रतबन्ध एवं

विवाह आदि का वर्णन है, यथा—"उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं।" (दो० ३६१)। यह कर्म है। कर्म का फल सुख है। अतः, इसका नाम 'सुखसम्पादन' है, यथा—"इति श्री···सुखसम्पादनो नाम प्रथमः सोपानः समाप्तः।" यह काण्ड के अन्त में लिखा है। ऐसा ही आगे के काण्डों में भी जानना चाहिये। दूसरे सोपान में प्रेम-वैराग्य का वर्णन है. यथा—"सीयराम पद प्रेम, अवसि होइ भव-रस-बिरति।" (अ० दो० ३२६)। इसीसे इसका नाम 'प्रेम-वैराग्य सम्पादन' है। तीसरे में विमल-वैराग्य निष्कर्ष रूप में कहा गया है, यथा—"दीप-सिखा सम जुवति-तनु, मन जनि होसि पतंग।" (अर० दो० ४६); अतः, इसका नाम 'विमल वैराग्य सम्पादन' है। चौथे में मनोरथ-सिद्धि फलरूप में कही गई है, यथा—"तिनकर सकल मनोरथ, सिद्ध करहिं त्रिसिरारि।" (कि० दो० ३०); मनोरथ-सिद्धि से सन्तोष होता है। अतः, यह 'विशुद्ध-सन्तोष-सम्पादन' कहा गया है। पाँचवें में ज्ञान-प्राप्ति कही गई है, यथा—"सुख-भवन संसय-समन दमन विषाद रघुपति-गुनगना।···सादर सुनहिं ते तरहिं भव, सिंधु बिना जलजान॥" (सुं० दो० ६०); अर्थात् संसय-शमन एवं भव-निवृत्ति को ज्ञान कहते हैं। अतः, यह 'ज्ञान-सम्पादन' है। छठे को फलश्रुति में विज्ञान कहा गया है, यथा—"कामादि हर बिज्ञान कर···" (लं० दो० १२१); इसलिये यह 'विज्ञान-सम्पादन' कहा गया है। सातवें की फलश्रुति में 'अविरल-हरि-भक्ति' वर्णित है, यथा—"कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम। तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम॥" (उ० दो० १३०); इसीसे यह 'अविरल-हरि-भक्ति-सम्पादन' कहा गया है।

जैसे एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी पर चढ़ा जाता है, वैसे क्रमशः साधनों के फलरूप सातों सोपान हैं अर्थात् कर्म से प्रेम-वैराग्य, उससे विमल वैराग्य, फिर सन्तोष, तब ज्ञान, पुनः विज्ञान, तत्पश्चात् अविरल-हरि-भक्ति प्राप्त होती है। इसी प्रकार क्रम से ज्ञान-विज्ञान के फलरूप में परा भक्ति कही गई है, यथा—"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।" से "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥" (गीता १८।४५-५४)। ये ही (सीढ़ियाँ) ज्ञान-नयन से देखने पर मन प्रसन्न करनेवाली हैं, यथा—"उघरहिं बिमल बिलोचन ही के।···सूझहि राम चरित मनि मानिक।" (दो० १); तथा—"अस मानस मानस चख चाही।" (दो० ३८)।

रघुपति-महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर बारि अगाधा॥२॥

शब्दार्थ—अगुन = गुणातीत होना। अबाधा = बाधा-रहित, एकरस। बरनब = कथन करना।

अर्थ—श्रीरघुनाथजी की एकरस निर्गुण महिमा का कथन ही इस जल की गहराई है।

विशेष—'महिमा अगुन अबाधा', यथा—"करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोह मोह ममता मद त्यागी॥ ब्यापक ब्रह्म अलख अबिनासी। चिदानंद निरगुन गुनरासी॥···महिमा निगम नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस रहई॥" (दो० ३४०); तथा—"जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी॥···ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया···" (अर० दो० १४); इत्यादि।

सगुण की लीला के वर्णन से जल की स्वच्छता कही गई और निर्गुण-महिमा से अगाधता, क्योंकि ऐश्वर्य-वर्णन एवं उसकी निर्लिप्ति से यश की गम्भीरता होती है। प्रथम 'थल हृदय अगाधू' से स्थल की अगाधता कही थी, अब उसमें रहनेवाले जल की अगाधता बतलाई। 'अबाधा'—सगुण की महिमा लीला सम्बन्ध से न्यूनाधिक देखने में आती है। जैसे प्रभु ने श्रीसीता-विरह में विलाप आदि किये और नागपाश में बँधे, इत्यादि। पर निर्गुण-महिमा में बाधा नहीं है, सदा एकरस रहती है।

राम-सीय-जस-सलिल सुधासम। उपमा बीचि बिलास मनोरम॥३॥

अर्थ—श्रीसीतारामजी का यश ही अमृत के समान जल है, इसमें जो उपमाएँ दी गई हैं, वे ही मन को रमानेवाली इसकी लहरों के विलास हैं।

विशेष—'राम-सीय जस ···' का भाव यह कि श्रीरामयश में श्रीसीताजी का भी यश मिला, तो माधुर्य और शृंगार दोनों एकत्र हो गये। यह युगल यश भक्तों को विशेष आह्लादवर्द्धक होता है। इसीसे पुष्पवाटिका एवं विवाह का प्रसंग इस ग्रन्थ में सर्वोत्तम माना जाता है। "एक बार चुनि कुसुम सुहाये।"···से 'रघुपति चित्रकूट बसि नाना। चरित किये श्रुति-सुधा समाना॥" (अर० दो० १-२); तक। यहाँ श्रीसीतारामजी का गुप्त रहस्य है और 'श्रुति-सुधा समाना' कहा भी है, तथा—"रामसीय सोभा अवधि···" (दो० ३०९); "हृदय बिचारहु धीर धरि, सिय रघुबीर बिबाहु। जेहि बिधि संभु सुरन्ह समुझावा।" (दो० ३१४)। 'उपमा बीचि बिलास ···' उपमा एक अर्थालंकार है जिसमें दो वस्तुओं (उपमेय-उपमान) के बीच भेद रहते हुए भी उनका समान धर्म बतलाया जाता है। उसके चार अंग कहे जाते हैं—उपमेय, उपमान, वाचक और धर्म। इनके लक्षण—"जाकी तुलना कीजिये, सो उपमेय बखान। जासों तुलना कीजिये, सो जानो उपमान॥ तुलना बोधक शब्द जो, वाचक कहिये ताहि। गुण उपमे उपमान को, गहत धर्म सोइ आहि॥ (काव्य प्रभाकर-भानु); अर्थात् जिसकी तुलना की जाय—उपमेय, जिससे तुलना की जाय—उपमान, जिस पद से तुलना का बोध हो—सरिस, समान, इव, जिमि, तिमि आदि वाचक और जिस पद (मृदु, कठोर, लाल, पीले, उजले, आदि) से दोनों (उपमा-उपमेय) का एक ही गुण ग्रहण किया जाय, वह धर्म है। जहाँ ये चारो होते हैं, तब वह पूर्ण-उपमा होती है। जैसे—'कमलसम कोमल चरण' यह पूर्णोपमा है। इसमें कमल उपमान, चरण उपमेय, सम वाचक और कोमल धर्म है। इसीमें तमाम अर्थालंकारों का अन्तर्भाव हो जाता है और अर्थालंकारों के बिना सरस्वती विधवा की भाँति शोभाहीन हो जाती है, यथा—'अर्थालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती'॥ (अग्निपुराण)। इन चारो में जो लुप्त होता है, उसे लुप्तोपमा कहते हैं। उदाहरण—'ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू' (दो० २१६); तथा 'श्यामसरोज दाम सम सुंदर। प्रभुभुज करिकर सम दसकंधर॥' (गु० दो० ९); इत्यादि।

पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु-मनि-सीप सोहाई॥४॥

अर्थ—सुन्दर चौपाइयाँ ही इसमें सघन फैली हुई पुरइनें (कमल के पत्ते) हैं और कविता की युक्तियाँ उज्ज्वल मोतियों की सुहावनी सीपियाँ हैं।

विशेष—जैसे तालाबों में पुरइनें जल को आच्छादित कर, सघन फैली हुई हों, वैसे ही इस श्रीरामचरितमानस में विस्तृत चौपाइयाँ हैं। इन्हीं की ओट में श्रीराम-सुयश रूपी जल है। जो भावार्थ के मर्मी हैं, वे ही श्रीरामसुयश रूपी जल को देखते हैं, अन्य तो पत्ते ही देखते हैं, यथा—"पुरइनि सघन ओट जल, बेगि न पाइय मर्म। मायाछन्न न देखिये, जैसे निर्गुन ब्रह्म॥" (अर० दो० ४०)। अतः, मर्मी ही रामसुयश रूप जल का पान करते हैं, और लोग तो ऊपर की बातों में भटकते हुए, काव्य के ही गुण-दोषों पर दृष्टि रखते हैं।

यहाँ से ग्रन्थकार तीन श्रेणियाँ कहते हैं—तल्लीन, तद्गत और तदाशय। पहले तल्लीन (जो मानससर में लीन) हैं, उनको कहते हैं—पुरइनि, सीपी, मोती एवं कमल।

'जुगुति मंजु मनि सीप···' जुगुति (युक्ति)—क्रिया से किसी घटना या कर्म के छिपाने को युक्ति कहते हैं, यथा—"बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूपकिसोर देखि किन लेहू॥" "पुनि आउब एहि बिरियाँ काली।" (दो० २३३); तथा—"ऐसिउ पीर बिहँसि तेहि गोई। चोरनारि जिमि प्रगटि न रोई॥" (अ० दो० २६)। "गूलरि फल समान तव लंका। बसहु मध्य तुम्ह जन्तु असंका॥ मैं बानर फल खात न बारा। आयसु दीन्ह न राम उदारा॥···जुगुति सुनत रावन मुसुकाई।" (लं० दो० ३३); "दसमुख देखि सभा भय पाई। बिहँसि बचन कह जुगुति बनाई। सिरउ गिरे संतत सुभ जाही। मुकुट परे कस असगुन ताही॥" (लं० दो० १३)।

युक्ति के भीतर जो बात है, वही मोती है। मोती बहुमूल्य होता है, वैसे युक्ति की बात भी बुद्धि की चतुरता से प्रगट होने पर अच्छा विनोद प्रकट करती है। जैसे सीप में मोती दिखाई नहीं पड़ता, वैसे ग्रन्थकार ने भी मोती को स्पष्ट नहीं लिखा, किन्तु सीप की मणि कहकर जनाया है।

शंका—पुरइन के साथ ही कमल कहना था, पर यह न कहकर बीच ही में 'मणि-सीप' क्यों कहा ?

समाधान—पुरइन के नीचे मणि युक्त सीपियाँ रहती हैं, ऐसे ही चौपाई के भीतर युक्तियाँ हैं। सुन्दर युक्तियाँ सुन्दर मोती हैं, इसलिये इन्हें साथ ही कहकर तब ऊपर की अन्य बातों (कमल आदि) का वर्णन करेंगे।

छन्द सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा ॥५॥

अर्थ—जो सुन्दर छन्द, सोरठे और दोहे हैं, वे ही इसमें बहुत रंगों के कमल-समूह सुशोभित हो रहे हैं ॥५॥

विशेष—छंद—"वह वाक्य-निबन्ध है जिसमें वर्ण या मात्रा की गणना के अनुसार यति आदि का नियम हो। यह दो प्रकार का होता है—एक वर्णिक और दूसरा मात्रिक। जिस छन्द के प्रत्येक चरण की गणना वर्णों द्वारा हो और लघु गुरु के क्रम का नियम हो, वह वर्णिक (वर्णवृत्त) है और जिसमें केवल मात्राओं की संख्या के अनुसार यति आदि का एवं प्रत्येक चरण का नियम होता है, वह मात्रिक छन्द कहा जाता है। हरिगीतिका, दोहा, रोला, रूपमाला, सोरठा, चौपाई आदि मात्रिक छन्द हैं और अनुष्टुप, नगस्वरूपिणी, तोमर, वंशस्थ, इन्द्रवज्रा आदि वर्णिक छन्द हैं।" (हि० श० सा०)। इस ग्रन्थ में प्रायः १४ प्रकार के छन्द पाये जाते हैं, विस्तारभय से यहाँ नहीं लिखे गये।

'बहुरंग कमल-कुल'—बहुरंग से यह दिखाया कि इन कमलों में अनेक रस भरे हुए हैं। इस ग्रन्थ में चार प्रकार के कमलों का होना पाया जाता है, यथा—"मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा ॥" (दो० २८७); इसमें चार प्रकार के रत्नों के रंगों के अनुसार चार रंगों के कमल कहे गये। वे लाल, श्याम, पीत और श्वेत रंग के कहे जाते हैं, यथा—"नील पीत जलजाभ सरीरा।" (दो० २३२); "कंजारुन लोचन" (मु० दो० ४४); "कमल-श्रेनी।" (दो० २३१)। 'कुल' अर्थात् एक-एक रंग में कई-कई भाँति के होते हैं।

कमल पुरइन से प्रकट होता है, वैसे छन्द-सोरठा आदि भी चौपाई से निकलते हैं, यथा—'सो वर मिलिहि जाहि मन राँचा।" यह चौपाई का उत्तरार्द्ध है, इसीमें से छन्द निकला, तब उसके ही शब्दों को लेकर प्रकट हुआ, यथा—"मन जाहि राँच्यो मिलिहि सो वर···" (दो० २३६)। पुरइनों के बीच कहीं-कहीं कमल रहते हैं, वैसे ही आठ, नौ, दस और कहीं-कहीं ११, १५, २६ चौपाइयों (अर्द्धालियों) पर छन्द-सोरठा आदि होते हैं। कमलों में कुछ सामान्य और कुछ बड़े एवं बहुत दलोंवाले होते हैं, वैसे सोरठे कम हैं, ये सामान्य कमल हैं, दोहे अधिक हैं, ये कुछ अधिक दलों के कमल और छन्द बड़े-बड़े कमल हैं। अतः, ये सहस्र दलवाले कमलों के समान हैं। रंगों की व्यवस्था प्रसंग के रसों के अनुसार समझनी चाहिये। शृङ्गार रस श्याम, सख्य पीत, हास्य और शान्त श्वेत एवं रौद्र रस लाल, आदि।

"लाल कमल भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में मिलते हैं, इन्हें संस्कृत में कोकनद, रक्तोत्पल आदि कहते हैं। श्वेत कमल काशी के आस-पास और मिथिला में जहाँ-तहाँ हैं। नील कमल मिथिला के उत्तरी भाग में (नौआही, सीतामढ़ी की अगल-बगल) और काश्मीर के उत्तर तिब्बत तथा कहीं-कहीं चीन में होता है और पीत कमल अमेरिका, साइबेरिया, उत्तरजर्मनी आदि देशों में मिलता है।" (हि० श० सा०)।

विशेष—'राम-सीय जस ···' का भाव यह कि श्रीरामयश में श्रीसीताजी का भी यश मिला, तो माधुर्य और शृंगार दोनों एकत्र हो गये। यह युगल यश भक्तों को विशेष आह्लादवर्द्धक होता है। इसीसे पुष्पवाटिका एवं विवाह का प्रसंग इस ग्रन्थ में सर्वोत्तम माना जाता है। "एक बार चुनि कुसुम सुहाये।"···से 'रघुपति चित्रकूट बसि नाना। चरित किये श्रुति-सुधा समाना॥" (अर० दो० १-२); तक। यहाँ श्रीसीतारामजी का गुप्त रहस्य है और 'श्रुति-सुधा समाना' कहा भी है, तथा—"रामसीय सोभा अवधि···" (दो० ३०९); "हृदय बिचारहु धीर धरि, सिय रघुबीर बिबाहु। जैहि बिधि संभु सुरन्ह समुझावा।" (दो० ३१४)। 'उपमा बीचि बिलास ···' उपमा एक अर्थालंकार है जिसमें दो वस्तुओं (उपमेय-उपमान) के बीच भेद रहते हुए भी उनका समान धर्म बतलाया जाता है। उसके चार अंग कहे जाते हैं—उपमेय, उपमान, वाचक और धर्म। इनके लक्षण—"जाकी तुलना कीजिये, सो उपमेय बखान। जासों तुलना कीजिये, सो जानो उपमान॥ तुलना बोधक शब्द जो, वाचक कहिये ताहि। गुण उपमे उपमान को, गहत धर्म सोइ आहि॥ (काव्य प्रभाकर-भानु); अर्थात् जिसकी तुलना की जाय—उपमेय, जिससे तुलना की जाय—उपमान, जिस पद से तुलना का बोध हो—सरिस, समान, इव, जिमि, तिमि आदि वाचक और जिस पद (मृदु, कठोर, लाल, पीले, उजले, आदि) से दोनों (उपमा-उपमेय) का एक ही गुण ग्रहण किया जाय, वह धर्म है। जहाँ ये चारो होते हैं, तब वह पूर्ण-उपमा होती है। जैसे—'कमलसम कोमल चरण' यह पूर्णोपमा है। इसमें कमल उपमान, चरण उपमेय, सम वाचक और कोमल धर्म है। इसीमें तमाम अर्थालंकारों का अन्तर्भाव हो जाता है और अर्थालंकारों के बिना सरस्वती विधवा की भाँति शोभाहीन हो जाती है, यथा—'अर्थालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती'॥ (अग्निपुराण)। इन चारों में जो लुप्त होता है, उसे लुप्तोपमा कहते हैं। उदाहरण—'ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू' (दो० २१६); तथा 'श्यामसरोज दाम सम सुंदर। प्रभुभुज करिकर सम दसकंधर॥' (सुं० दो० ९); इत्यादि।

पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु-मनि-सीप सोहाई॥४॥

अर्थ—सुन्दर चौपाइयाँ ही इसमें सघन फैली हुई पुरइनें (कमल के पत्ते) हैं और कविता की युक्तियाँ उज्ज्वल मोतियों की सुहावनी सीपियाँ हैं।

विशेष—जैसे तालाबों में पुरइनें जल को आच्छादित कर, सघन फैली हुई हों, वैसे ही इस श्रीरामचरितमानस में विस्तृत चौपाइयाँ हैं। इन्हीं की ओट में श्रीराम-सुयश रूपी जल है। जो भावार्थ के मर्मी हैं, वे ही श्रीरामसुयश रूपी जल को देखते हैं, अन्य तो पत्ते ही देखते हैं, यथा—"पुरइनि सघन ओट जल, बेगि न पाइय मर्म। मायाछन्न न देखिये, जैसे निर्गुन ब्रह्म॥" (अर० दो० ४०)। अतः, मर्मी ही रामसुयश रूप जल का पान करते हैं, और लोग तो ऊपर की बातों में भटकते हुए, काव्य के ही गुण-दोषों पर दृष्टि रखते हैं।

यहाँ से ग्रन्थकार तीन श्रेणियाँ कहते हैं—तल्लीन, तद्गत और तदाशय। पहले तल्लीन (जो मानससर में लीन) हैं, उनको कहते हैं—पुरइनि, सीपी, मोती एवं कमल।

'जुगुति मंजु मनि सीप···' जुगुति (युक्ति)—क्रिया से किसी घटना या कर्म के छिपाने की युक्ति कहते हैं, यथा—"बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूपकिसोर देखि किन लेहू॥" "पुनि आउब एहि बिरियाँ काली।" (दो० २३३); तथा—"ऐसिउ पीर बिहँसि तेहि गोई। चोरनारि जिमि प्रगटि न रोई॥" (अ० दो० २६)। "गूलरि फल समान तव लंका। बसहु मध्य तुम्ह जन्तु असंका॥ मैं बानर फल खात न बारा। आयसु दीन्ह न राम उदारा॥···जुगुति सुनत रावन मुसुकाई।" (लं० दो० ३३); "दसमुख देखि सभा भय पाई। बिहँसि बचन कह जुगुति बनाई। सिरउ गिरे संतत सुभ जाही। मुकुट परे कस असगुन ताही॥" (लं० दो० १३)।

युक्ति के भीतर जो बात है, वही मोती है। मोती बहुमूल्य होता है, वैसे युक्ति की बात भी बुद्धि की चतुरता से प्रगट होने पर अच्छा विनोद प्रकट करती है। जैसे सीप में मोती दिखाई नहीं पड़ता, वैसे ग्रन्थकार ने भी मोती को स्पष्ट नहीं लिखा, किन्तु सीप की मणि कहकर जनाया है।

शंका—पुरइन के साथ ही कमल कहना था, पर यह न कहकर बीच ही में 'मणि-सीप' क्यों कहा ?

समाधान—पुरइन के नीचे मणि युक्त सीपियाँ रहती हैं, ऐसे ही चौपाई के भीतर युक्तियाँ हैं। सुन्दर युक्तियाँ सुन्दर मोती हैं, इसलिये इन्हें साथ ही कहकर तब ऊपर की अन्य बातों (कमल आदि) का वर्णन करेंगे।

छन्द सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा ॥५॥

अर्थ—जो सुन्दर छन्द, सोरठे और दोहे हैं, वे ही इसमें बहुत रंगों के कमल-समूह सुशोभित हो रहे हैं ॥५॥

विशेष—छंद—"वह वाक्य-निबन्ध है जिसमें वर्ण या मात्रा की गणना के अनुसार यति आदि का नियम हो। यह दो प्रकार का होता है—एक वर्णिक और दूसरा मात्रिक। जिस छन्द के प्रत्येक चरण की गणना वर्णों द्वारा हो और लघु गुरु के क्रम का नियम हो, वह वर्णिक (वर्णवृत्त) है और जिसमें केवल मात्राओं की संख्या के अनुसार यति आदि का एवं प्रत्येक चरण का नियम होता है, वह मात्रिक छन्द कहा जाता है। हरिगीतिका, दोहा, रोला, रूपमाला, सोरठा, चौपाई आदि मात्रिक छन्द हैं और अनुष्टुप, नगस्वरूपिणी, तोमर, वंशस्थ, इन्द्रवज्रा आदि वर्णिक छन्द हैं।" (हि० श० सा०)। इस ग्रन्थ में प्रायः १४ प्रकार के छन्द पाये जाते हैं, विस्तारभय से यहाँ नहीं लिखे गये।

'बहुरंग कमल-कुल'—बहुरंग से यह दिखाया कि इन कमलों में अनेक रस भरे हुए हैं। इस ग्रन्थ में चार प्रकार के कमलों का होना पाया जाता है, यथा—"मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा ॥" (दो० २८७); इसमें चार प्रकार के रत्नों के रंगों के अनुसार चार रंगों के कमल कहे गये। वे लाल, श्याम, पीत और श्वेत रंग के कहे जाते हैं, यथा—"नील पीत जलजाभ सरीरा।" (दो० २३२); "कंजारुन लोचन" (सुं० दो० ४४); "कमल-श्रेनी।" (दो० २३१)। 'कुल' अर्थात् एक-एक रंग में कई-कई भाँति के होते हैं।

कमल पुरइन से प्रकट होता है, वैसे छन्द-सोरठा आदि भी चौपाई से निकलते है, यथा—'सो वर मिलिहि जाहि मन राँचा।" यह चौपाई का उत्तरार्द्ध है, इसीमें से छन्द निकला, तब उसके ही शब्दों को लेकर प्रकट हुआ, यथा—"मन जाहि राँच्यो मिलिहि सो वर···" (दो० २३६)। पुरइनों के बीच कहीं-कहीं कमल रहते हैं, वैसे ही आठ, नौ, दस और कहीं-कहीं ११, १५, २६ चौपाइयों (अर्द्धालियों) पर छन्द-सोरठा आदि होते हैं। कमलों में कुछ सामान्य और कुछ बड़े एवं बहुत दलोंवाले होते हैं, वैसे सोरठे कम हैं, ये सामान्य कमल हैं, दोहे अधिक हैं, ये कुछ अधिक दलों के कमल और छन्द बड़े-बड़े कमल हैं। अतः, ये सहस्र दलवाले कमलों के समान हैं। रंगों की व्यवस्था प्रसंग के रसों के अनुसार समझनी चाहिये। शृङ्गार रस श्याम, सख्य पीत, हास्य और शान्त श्वेत एवं रौद्र रस लाल, आदि।

"लाल कमल भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में मिलते हैं, इन्हें संस्कृत में कोकनद, रक्तोत्पल आदि कहते हैं। श्वेत कमल काशी के आस-पास और मिथिला में जहाँ-तहाँ हैं। नील कमल मिथिला के उत्तरी भाग में (नौआही, सीतामढ़ी की अगल-बगल) और काश्मीर के उत्तर तिब्बत तथा कहीं-कहीं चीन में होता है और पीत कमल अमेरिका, साइबेरिया, उत्तरजर्मनी आदि देशों में मिलता है।" (हि० श० सा०)।

अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा ॥६॥
सुकृतपुंज मंजुल अलिमाला। ज्ञान-बिराग-बिचार मराला ॥७॥

शब्दार्थ—सुकृतपुंज = पुण्य-समूह वा पुण्य-समूह वाले। अलिमाला = भौंरों का समूह।

अर्थ— अनुपम अर्थ, सुन्दर भाव और अच्छी भाषा ही पराग, पुष्परस और सुगन्ध हैं ॥६॥ पुण्यों के समूह सुन्दर भ्रमरों की पंक्तियाँ हैं तथा ज्ञान, वैराग्य और विचार हंस हैं ॥७॥

विशेष—(१) 'अरथ अनूप···' ऊपर कमल कहे गये। अब उनके गुण कहे जाते हैं। जैसे अर्थ शब्द के भीतर होता है, वैसे ही फूल की पाँखुरी के भीतर की ओर पराग रहता है। जैसे पुष्परस पराग के नीचे रहता है और सहज में दिखाई नहीं पड़ता, वैसे सुन्दर भाव भी अर्थ के अन्तर्गत होते हैं। सुगन्ध का विस्तार दूर तक होता है, वैसे ही यह ग्रन्थ प्रधानतया अवधी भाषा में है, पर इसमें पूर्वी, मैथिली, बंगाली, पंजाबी, बुन्देलखंडी, गुजराती, फारसी, अरबी आदि दूर-दूर की भाषाएँ भी सम्मिलित हैं और दूर-दूर के देशों में प्रचार है। इसमें पूर्वार्द्ध में उपमेय और उत्तरार्द्ध में उपमान क्रमशः हैं। अतः, यथासंख्यालंकार है। यों तो यह प्रकरण ही सांगोपांग रूपक-अलंकार का है।

(२) 'सुकृतपुंज···' कमल और उसके गुण कहकर अब उसके स्नेही हंस को कहते हैं, क्योंकि हंस कमल पर बैठता है, यथा—"हिय सुमिरी सारदा सुहाई। मानस ते मुख पंकज आई॥ बिनय बिबेक धरम नयसाली। भरत-भारती मंजु मराली॥" (अ० दो० २९६); "पुनि नभसर मम कर-निकर, कमलन्हि पर करि बास। सोभत भयेउ मराल इव, संभु सहित कैलास॥" (लं० दो० २२)।

इस ग्रन्थ में जहाँ-तहाँ पुण्यकर्म के स्वरूप वर्णित हैं, जैसे विप्रपद-पूजा और परोपकार, आदि। और, पुण्य-पुरुष भी बहुत जगह कहे गये हैं, यथा—"पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्रपद-पूजा॥" (उ० दो० ४४); "परहित सरिस धर्म नहिं भाई।" (उ० दो० ४०); तथा—"ते पुनि पुन्य पुंज हम लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे॥" (अ० दो० ११९); "हम सम पुन्य-पुंज जग थोरे। जिन्हहिं राम जानत करि मोरे॥" (अ० दो० २७३); "पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई।" (दो० २९३)। 'ज्ञान बिराग बिचार मराला।' यहाँ ज्ञान, बिराग और बिचार हंस कहे गये हैं, क्योंकि हंस श्वेत रंग के होते हैं। वैसे ही ज्ञानादि भी सत्व गुण से होते हैं। उस गुण का भी रंग श्वेत ही माना जाता है। हंस दूध और जल अलग करके दूध-मात्र ही पी लेता है, वैसे ही इनसे सत्-असत् का निर्णय होकर सत्-मात्र का ग्रहण होता है।

'बिचार'—यह सोचना कि सुत-बित-देह-गेह-स्नेह रूप नानात्व जगत् का व्यवहार भ्रम से है। भ्रमात्मक व्यवस्था भी अनित्य है, यथा—"देखत ही कमनीय कछू नाहिन पुनि किये बिचार। ज्यों कदली तरु मध्य बिलोकत कबहुँ न निकसत सार॥" (वि० १८८); तब वैराग्य उत्पन्न होता है, जैसे मनु-शतरूपा को प्रथम विचार उठा कि—"होइ न बिषय बिराग, भवन बसत भा चौथपन। हृदय बहुत दुख लाग, जनम गयो हरि-भगति बिनु॥" (दो० १४२)। तब वैराग्य उत्पन्न हुआ, यथा—"नारि समेत गवन बन कीन्हा।" कहा है। फिर वैराग्य से ज्ञान होता है, यथा—"ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।" (उ० दो० ८९)। मान का सर्वथा निर्मूल हो जाना ज्ञान का लक्षण है, यथा—"ज्ञानमान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥ (अर० दो० १४)। विचार से सत्-असत् का निर्णय होता है, तब वैराग्य से असत् का त्याग किया जाता है और साथ ही ज्ञान (विवेक) से सत् मात्र का ग्रहण होता है, इस अन्योन्य सम्बन्ध से यहाँ तीनों साथ आये और हंस ही कहे गये हैं, क्योंकि विवेक की उपमा में हंस कहा ही जाता है। जहाँ-जहाँ ये ज्ञानादि का वर्णन हो, वहाँ-वहाँ हंस की उपमा से भाव

समझने में सहायता रहेगी कि जैसे हंस दूध मात्र पी लेता है, जल छोड़ देता है, वैसे इनमें अवगुण-त्याग और गुण का ग्रहण होता है।

ज्ञानादि तीन हंस कहे गये हैं, क्योंकि हंस तीन ही प्रकार के होते हैं—हंस, कलहंस और राज-हंस, यथा—'संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार॥" (दो० ६); "बोलत जल-कुक्कुट कल-हंसा।" (अर० दो० ३९); तथा—"सखी संग लइ कुँअरि तब, चलि जनु राज-मराल।" (दो० १३४); तीनों क्रमशः विवेक, मधुरभाषण और सुन्दर गमन के गुण-प्राधान्य में कहे गये हैं।

कमल में भ्रमर और हंस वास करते हैं, वैसे इन छन्दादि में सुकृत एवं ज्ञानादि वास करते हैं, अर्थात् इनके कहने-सुनने से सुकृत होता है और ज्ञान, विराग तथा विचार हृदय में आते हैं।

यहाँ कमल के साथ होने से भ्रमर और हंस भी कहे गये, अन्यथा यहाँ 'तल्लीन' के ही वर्णन का प्रसंग है और ये 'तद्गत' में हैं।

धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती॥८॥

अर्थ—(इस ग्रन्थ में) ध्वनि, अवरेव, गुण तथा जाति ही—जो कविता के भेद हैं—बहुत प्रकार की मनोहर मछलियाँ हैं।

विशेष—(१) यहाँ ध्वनि, अवरेव, कवित्त-गुण और कवित्त-जाति—इन चार को मछली कहा है, क्योंकि मछलियाँ चार जातियों की होती हैं। फिर उन एक-एक में भी अनेक भेद होते हैं। मछली जल के भीतर रहती है। इसी तरह ध्वनि आदि भी काव्य के अन्तर्गत रहती हैं। मीन के चार भेद हैं, यथा—"बुधि बल सील सत्य सब मीना।" (अ० दो० ४४)।

'धुनि' (ध्वनि)—श्रव्यकाव्य में तीन प्रकार के भेदों में ध्वनि प्रथम एवं उत्तम मानी गई है, यथा—"होत लक्षणा मूल जहँ गूढ़ व्यंगधुनि सोइ।" (काव्य प्रभाकर); जहाँ शब्दार्थ के सामान्य रूप के कुछ भिन्न ही अर्थ या भाव प्रकट होता हो, उसे ध्वनि कहते हैं—चाहे वह वाच्यार्थ से प्रकट हो अथवा लक्ष्यार्थ वा व्यंग्यार्थ से निकले। व्यंग्य भी ध्वनि के ही अन्तर्गत होता है। भेद यही है कि व्यंग्य में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न एक तीसरे ही प्रकार के विलक्षण अर्थ की प्रतीति होती है, यथा—"समर बालि सन करि जस पावा।" (सु० दो० २१); यह व्यंग्य है। पुनः—"पुनि आउब येहि बिरियाँ काली। अस कहि मन बिहँसी इक आली॥" (दो० २३३); इसमें ध्वनि यह है कि आज चला जाय, तब तो कल इसी समय फिर आने का संयोग होगा, तथा—"जेहि बिधि होइहि परम हित, नारद सुनहु तुम्हार। "कुपथ माँग रुज ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥ "येहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयेऊ।" (दो० १३२); इसमें ध्वनि यह है कि मैं अपना रूप तुम्हें न दूँगा, पर ऊपर अर्थ से हित कहने में मनोरथ-सिद्धि मालूम होती है, एवं—(१) "नीकि दीन्हि हरि सुन्दरताई।" (२) "इन्हहिं बरिहि हरि जानि बिसेषी।" (दो० १३३), इनमें सीधा अर्थ, और ही है, पर ध्वनि से यह अर्थ प्रकट होता है कि इन्हें वानर की कुरूपताई बड़ी बुरी दी गई है, (२) इन्हें वानर जानकर विशेष जल उठेगी।

इस ध्वनि के दो भेद कहे गये हैं—(१) अविवक्षित वाच्य, (२) विवक्षित वाच्य। १. यथा—"सब सेवक गन गरहिं गलानी॥" (अ० दो० २०२); अर्थात् भरतजी ने यह नहीं कहा कि तुम-लोग भी जूता तो उतार दो, परन्तु उनकी क्रिया मात्र से वह भाव ध्वनित है। २. यथा—"बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू।" (दो० २३३); यहाँ ध्वनि स्पष्ट यह है कि आँख क्यों मूँदे हो, श्रीरामजी को देख लो। इन दोनों के भी दो-दो भेद होते हैं, विस्तार भय से नहीं लिखा।

'अवरेव'—तिरछी चाल अर्थात् जिसमें शब्दों का उलट-फेर (अन्वय) करने पर ठीक अर्थ निकले, यथा—"रामकथा कलि पन्नग-भरनी।" (दो० ३०); इसमें 'भरनी' को उलटकर रामकथा के साथ लगाना पड़ता है। एवं—"रामकथा कलि बिटप कुठारी।" (दो० ३०); तथा—"इहाँ हरी निसचर बैदेही। बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही॥" (कि० दो० १); इसमें 'इहाँ' को 'खोजत' के साथ लगाना चाहिये। कोई ध्वनि (व्यञ्जना) और अवरेव (लक्षणा) इस प्रकार अर्थ करते हैं।

'गुन'—जिससे चित्त को हर्ष हो। उत्कर्ष सम्पादन में यह रस का मित्र कहाता है। गुण मुख्य तीन हैं और वे माधुर्य, प्रसाद और ओज के नामों से प्रसिद्ध हैं, यथा—"त्रयविधि गुण माधुर्य अरु, ओज प्रसाद विचारु।" (काव्य प्रभाकर)। माधुर्य—जिससे श्रोता का चित्त द्रवीभूत हो, टवर्ग और कटु वर्ण न पड़ें और अनुस्वार-युक्त हो, कोमल वर्ण भी पड़ें, यथा—"अनुस्वारयुत वर्णयुत, एक विहाय टवर्ग। मृदु समास अक्षर मधुर, सो माधुर्य निसर्ग॥ माधुरि करुणा, हास्य अरु शान्त सिंगारहि जान।" (काव्य प्रभाकर); यह कर्णप्रिय उपनागरिका वृत्ति में होता है, यथा—"उदित उदयगिरि मंच पर, रघुबर बालपतंग।" (दो० २५४); "रामचंद्र मुखचंद्र छवि, लोचन चारु चकोर। करत पान सादर सकल, प्रेम प्रमोद न थोर॥" (दो० ३२१); "कंकनकिंकिनि नूपुरधुनि सुनि।" (दो० २२९)।

'प्रसाद'—यथा—"सुगम बोध यति शुद्ध गति, नहिं संशय नहिं वाद। तिहिं कवित्त को जानिवो, पदुमन गुण प्रासाद॥"॥ (काव्य-प्रभाकर); अर्थात् जिसमें यति और गति की शुद्धता हो (सुगम में पढ़ा जाय), अर्थ में संशय एवं वाद न हो, वह 'प्रसाद' गुण है। यह गुण सब रसों में रह सकता है। जिसमें भाव की झलक स्पष्ट हो, पद कोमल हों, इसकी प्रवृत्ति गौड़ी वृत्ति में है, यथा—"लागे बिटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलि बिताना॥" (दो० २२६); तथा—"ज्ञानी तापस सूर कवि, कोबिद गुन आगार। केहि कै लोभ बिडंबना, कीन्ह न येहि संसार॥" (उ० दो० ७०)।

'ओज'—यथा—"आवैं उद्धत शब्द बहु, वर्ण सँयोगी युक्त। सकट वर्ण की अधिकई, इहै ओज गुण उक्त॥ ओज वीर, वीभत्स, भय, अद्भुत रौद्रहि मान॥" (काव्य प्रभाकर); अर्थात् यह प्रायः परुषा वृत्ति में होता है और वीर, रौद्र तथा वीभत्स रसों में इसकी प्रवृत्ति रहती है। इसमें उद्धत शब्द और संयोगी वर्ण एवं बड़े-बड़े समास होते हैं। इसमें पवर्ग कवर्ग, टवर्ग की अधिकता होती है, यथा—"धिग धर्मध्वज धंधक धोरी। (दो० ११); "धरु धरु मारु मारु धरु मारू।" (लं० दो० ५२); "कटकटहिं जंबुक भूत प्रेत पिसाच खप्पर संचहीं। (अर० दो० १९); "मर्कट बिकट भट जुटत कटत न लटत तन जर्जर भये।(लं० दो० ४८); इत्यादि।

यहाँ के 'गुन' पद पर 'गन' पाठ का अनुमान करते हैं कि वैसा होने से 'जानि' पद के मात्रिक छन्दों के साथ गणछन्दों का भी अर्थ आजाता, क्योंकि मानस में गण छन्द भी आये हैं। पर वैसा पाठ कहीं नहीं है। कोई 'गुन जाती' का अर्थ माधुर्य आदि गुण-समूह अर्थ करते हैं, पर इसमें चार प्रकार मीन फिर नहीं रह जायँगे।

'जाति'—जिसके अर्थ स्पष्ट देख पड़ें और जैसा जिसका रूप, गुण, स्वभाव हो वैसा ही वर्णन किया जाय, यथा—"जाको जैसो रूप गुन, कहिये ताकी साज। तासों जाति सुभाव कहि, बरनत सब कबिराज॥" (भाषाभूषण)। इसे मात्रिक जाति भी कहते हैं। उदाहरण—"मनु जाहि राँच्यो मिलिहि सो बर सहज सुन्दर साँवरो।" (दो० २३६); "बिद्या-बिनय-निपुन गुन सीला। खेलत खेल सकल नृप-लीला॥" (दो० २०३)। "राजकुमारि बिनय हम करहीं।"···से—"को आहिं तुम्हारे॥" (अ० दो० ११५-११६); तक।

(२) ध्वनि आदि के साथ मानससर की चार प्रकार की मछलियों से समता—

(क) पाठीन—यह बड़ी मछली होती है। इसे पढ़िना, रोहू भी कहते हैं। यह बिना सेहरे की होती है। इसका पेट लम्बा, मुख काला होता है और इसके कंठ में मंजरी होती है। यह जल के भीतर रहती है। भेदी ही इसको जानते हैं। वैसे ही ध्वनि भी शब्दों के भीतर होती है। यह भी काव्य में उत्तम है। इसे मर्मी ही जानते हैं।

(ख) बामी—यह मुख और पूँछ मिलाकर चलती है, जैसे अवरेव में आगे-पीछे के शब्द मिलाने से अर्थ निकलता है।

(ग) सिधरी (सहरी)—ये छोटी होती हैं और दस-बीस मिलकर एक साथ चलती हैं, वैसे ही गुणकाव्य में भी दो-दो तीन-तीन अक्षरों के पद होते हैं और उनमें यमक, अनुप्रास की आवृत्तियाँ होती हैं। उनमें दो-चार मिलकर चलने में समता है।

(घ) चेल्हवा—यह चमकती हुई चलती है और पृथक् रहती है। वैसे जातिकाव्य में भी अर्थ शब्दों से चमकता है।

सम्बन्ध—ऊपर—"पुरइनि सघन" से—"कवित गुन जाती।" तक तल्लीन जलचरों की उपमाएँ दी गईं, जो सर से बाहर क्षण भर भी नहीं रह सकते। वैसे ध्वनि आदि भी शब्दों के भीतर ही रहती हैं। अब आगे तद्गत की उपमा दी जायगी—अर्थात् मगर-घड़ियाल आदि की, जो कुछ समय के लिये सर से बाहर भी आ जाते हैं। पहले मीन और यहाँ जलचर कहकर शब्द-भेद भी किया है—

अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ज्ञान बिज्ञान बिचारी ॥९॥
नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा ॥१०॥

अर्थ—अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष—ये चारो और ज्ञान-विज्ञान का विचार करके कहना ॥९॥ नओ रसों एवं जप, तप, योग और वैराग्य (का कथन)—ये सब इस सुन्दर सरोवर के सुन्दर जलचर हैं॥१०॥

विशेष—(१) 'अरथ धरम कामादिक·····' यहाँ शंका होती है कि ऊपर—'ज्ञान-विराग-बिचार मराला।' कह ही आये हैं, फिर यहाँ ज्ञान क्यों कहा गया? इसका समाधान एक तो यह भी है कि वहाँ ज्ञान का स्वरूप कहा गया और यहाँ उसका कथन। दूसरा यह कि जैसे हंस दूर से देख पड़ता है, वैसे कहीं-कहीं ज्ञान का स्वतन्त्र प्रसंग विस्तार से कहा है। जहाँ ज्ञान का आनुषंगिक वर्णन संकोच से है, वहाँ जलचर जानना चाहिये, क्योंकि जलचर जल में गुप्त रहते हैं। कभी उछलने पर दीखते हैं।

जैसे मछली आदि जाल, वंशी से ऊपर करने से दिखाई पड़ती हैं, वैसे ध्वनि आदि बुद्धि की चतुरता से दिखाई देती हैं और मगर आदि जलचर स्वतः देख पड़ते हैं, वैसे यहाँ के अर्थ आदि स्वतः स्पष्ट रहते हैं।

यहाँ उपर्युक्त अर्थ आदि १९ वस्तु-कथनों के उदाहरण इस ग्रन्थ से दिये जाते हैं—

अर्थ—जैसे सुग्रीव और विभीषण को धन-धाम प्राप्त हुए, यथा—"पावा राजकोष पुर नारी।" (कि० दो० १७); तथा—"सोइ संपदा विभीषनहिं, सकुचि दीन्ह रघुनाथ।" (सुं० दो० ४९); यह अर्थ है।

धर्म—"बरनाश्रम निज-निज धरम, निरत बेद-पथ लोग।" (उ० दो० २०); यह धर्म है।

काम—कामना सिद्ध होना, जैसे 'पुत्र-काम सुभ यज्ञ' से राजा दशरथ की कामना-पूर्त्ति हुई है एवं औरों की कामना-पूर्त्तियाँ भी ग्रन्थ में वर्णित हैं, यह काम है।

मोक्ष—यथा—"मुकुति कीन्ह असि नारि।" (अर० दो० ३६); कीन्हें मुकुत निसाचरझारी।" (लं० दो० ११३); यह मोक्ष हुआ।

ज्ञान-विज्ञान—उ० दो० ११६ से ११७ तक तथा अर० दो० १३ से १६ तक।

नौरस—यथा—शृंगार—"नारि बिलोकहिं हरषि हिय, निज-निज रुचि अनुरूप। जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप॥" (दो० २४१); एवं और भी जनकपुर के प्रसंगों में देखें। अरण्यकाण्ड 'एक बार चुनि कुसुम सुहाये ···' (अर० दो० १); में भी शृंगार रस है। ये उदाहरण संयोग शृंगार के हैं। वियोग शृंगार के उदाहरण भी अरण्य, किष्किन्धा और सुन्दर में भरे पड़े हैं, यथा—"कहेउ राम वियोग तव सीता। मो कहँ सकल भयेउ विपरीता।" (सुं० दो० २४); इत्यादि।

हास्य—"नाना जिनिस देखि प्रभु कोसा। पुनि-पुनि हँसत कोसलाधीसा॥" (लं० दो० ११७)।
करुणा—"मुख मुखाहिं ···मनहुँ करुन रस कटकई, उतरी अवध बजाइ॥" (अ० दो० ४६)।
वीभत्स—"वृष्टि होइ रुधिरोपल छारा।" (लं० दो० ४५)।
रौद्र—"जौं सत संकर करहिं सहाई। तौ मारउँ रन राम-दुहाई॥" (लं० दो० ७४)।
भयानक—"डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहु भयानक मूरति भारी॥" (दो० २४०)।
वीर—"उठिं कर जोरि रजायसु माँगा। मनहुँ बीर रस सोवत जागा॥" (अ० दो० २२९)।
अद्भुत—"सो सब अद्भुत देखेउँ, बरनि कवनि बिधि जाइ।" (उ० दो० ८०)।
शान्त—"बैठे सोह कामरिपु कैसे। धरे सरीर सांत रस जैसे॥" (दो० १०६)।
जप—"द्वादस अच्छर मंत्र पुनि, जपहिं सहित अनुराग॥" (दो० १४३)।
तप—पार्वतीजी, नारदजी, मनु-शतरूपा और रावण आदि का तपः-प्रसंग देखिये।

योग—यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान धारणा और समाधि के भेदों से अष्टांग है। इस ग्रन्थ में शिवजी की एवं नारदजी के ध्यान एवं उनकी समाधि वर्णित है।

विराग—"कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी॥" (अर० दो० १४)।

सुकृती साधु नाम गुनगाना। ते बिचित्र जल-बिहँग समाना॥११॥
संत-सभा चहुँ दिसि अँबराई। श्रद्धा रितु बसंत सम गाई॥१२॥

अर्थ—पुण्यात्माओं, साधुओं और राम-नाम के गुणों के गान विचित्र जल में विहार करनेवाले पक्षियों के समान हैं॥११॥ (इस सर के) चारो दिशाओं की संत-सभा आम के बगीचे हैं और उनमें श्रद्धा वसन्त ऋतु के समान कही गई है॥ १२॥

विशेष—(१) 'सुकृती साधु नाम गुन···' यहाँ 'गुनगाना' पद सुकृती साधु और नाम, इन तीनों पदों के साथ है। पहले 'सुकृतपुंज' को भ्रमर कह आये हैं। यहाँ 'सुकृती-गुन-गान' को जलपक्षी कहते हैं। 'सुकृती-गुन-गान'—"सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयेउ न है कोउ होनेउ नाहीं॥ तुम्हते अधिक पुन्य बड़ काके। राजन राम-सरिस सुत जाके॥" (दो० २१३)।

'साधु-गुन-गान'—"सुजन समाज सकल गुनखानी।" ·····से—"सम-सुगंध कर दोउ॥" (दो० ३); तक तथा अरण्यकाण्ड दो० ४४ से ४६ तक एवं उ० दो० ३६ से ३८ तक, इत्यादि। 'नाम-गुन-गान'—दो० १८ से २७ तक एवं अन्यत्र भी जहाँ-तहाँ नाम-गुण कहे गये हैं।

'सुकृत' से साधु मिलते हैं, यथा—"पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता।" (उ० दो० ४४); इसलिये साधु से प्रथम सुकृत कहा गया। साधु ही नाम-गुण गान करते हैं। अतः, नाम से प्रथम कहे गये।

यहाँ जल के प्रसंग में ही जलचर, स्थलचर और नभचर तीनों प्रकार के जीव कहे गये हैं—

(क) 'पुरइनि सघन चारु·····' से 'मकरंद सुबासा' तक स्थलचर हैं—पुरइन स्थलचर है, क्योंकि यह स्थल के ही अधार से होती है।

(ख) 'सुकृतपुंज मंजुल अलिमाला।'·····से—'जलबिहँग समाना।' तक नभचर हैं।

(ग) 'धुनि अबरेब कवित'···से—"ते सब जलचर चारु तड़ागा॥" तक जलचर हैं।

'ते बिचित्र जलबिहँग···'—सुकृती और साधु प्रत्येक वर्ग के मनुष्यों, राक्षसों, मृगों तथा पक्षियों में भी कहे गये हैं, यही इनमें बहु रंग मिश्रण की-सी विचित्रता है। ऐसे ही भगवान् के नाम प्रसंग में भी साथ-साथ अन्य नामों के विविध प्रकार के गुण कहे गये हैं, यह नाम-गुण-गान में भी विचित्रता है।

(२) 'संत-सभा चहुँ दिसि·····' पूर्व साधु-गुण-गान को विहंग कहा। अब सन्त-सभा को अमराई कहते हैं। जैसे वसन्त ऋतु से अँवराई में शोभा रहती है, वैसे श्रद्धा से सन्त-सभा में लालित्य रहता है। सात्विक सन्त-सभा के योग से यहाँ सात्विक श्रद्धा से तात्पर्य है। 'चहुँदिसि'—जैसे मानस-सर के चारों तरफ आम के बगीचे हैं, वैसे इस चरित (मानस) के चारो घाटों के चारो वक्ताओं के पास की सन्त-सभाएँ हैं।

(क) पूर्व-दिशा की—"सादर सुनहु सुजन मनलाई।" श्रीगोस्वामीजी और सज्जनों की सभा।

(ख) दक्षिण-दिशा की— 'भरद्वाज आश्रम अति पावन ···" से—"जाहिं जे मज्जन तीरथराजा॥" तक याज्ञवल्क्य-भरद्वाज की सन्त-सभा है।

(ग) पच्छिम-दिशा की—"सिद्ध तपोधन जोगि जन, सुर-किन्नर मुनि बृंद। बसहिं तहाँ सुकृती सकल,·· " (दो० १०५); यह शिव-उमा तथा अन्य (श्रोताओं) की सभा है।

(घ) उत्तर-दिशा की – "बृद्ध-बृद्ध बिहँग तहँ आये। सुनहिं राम के चरित सुहाये॥ ··तेही समय गयउ खगनाहा॥" (उ० दो० ६२); यह श्रीभुशुण्डि-गरुड़ की सन्त-सभा है।

शंका—पूर्व 'सुठि सुंदर संवाद वर···' पर चारो संवादों का वर्णन हो चुका है, यहाँ फिर क्यों कहा जा रहा है।

समाधान—वहाँ चारो मुख्य श्रोता-वक्ताओं के प्रश्नोत्तर-निबन्ध का ही तात्पर्य है और यहाँ उनके साथ के समाज का वर्णन है, वे श्रद्धापूर्वक श्रवण करते हैं, इससे उनकी श्रद्धा सराही गई है। उपर्युक्त चारो दिशाओं के उद्धृत प्रमाणों में सभाओं का होना है। चारो घाटों के पास अमराई है, वैसे चारो वक्ताओं के साथ सन्त-सभाएँ हैं; तथा—जहाँ बैठि मुनि गन सहित, नित सियराम सुजान। सुनहिं कथा इतिहास नित, आगम निगम पुरान॥" (अ० दो० २३७); श्रद्धालु सभा की सम्मुखता, यथा—"मुनि समूह महँ बैठे, सन्मुख सब की ओर। सरद इंदु तन चितवत, मानहुँ निकर चकोर॥" (अर० दो० १२)।

पहले जल में तल्लीन और तद्गत—उसमें रहनेवाले पदार्थ कह आये हैं। इस अर्द्धाली से तदाश्रित—सर के आश्रित पदार्थ कहते हैं, क्योंकि अमराई आदि सर के बाहर हैं, पर रहते हैं सर के आश्रित ही।

भगति-निरूपन बिबिध बिधाना। छमा दया द्रुम लता बिताना॥१३॥
संयम नियम फूल फल ज्ञाना। हरिपद-रति रस बेद बखाना॥१४॥

अर्थ—अनेक प्रकार से भक्ति के निरूपण (जो सन्त-सभा में हुआ करते हैं) वृक्ष हैं। क्षमा और दया, लता और बितान (चँदोवा) हैं अथवा लताओं के बितान हैं॥१३॥ संयम और नियम (इस सन्त-सभा अमराई के) फूल हैं, ज्ञान फल है, भगवान् के चरणों में प्रीति का होना उस फल का रस है (यह) वेदों ने कहा है।

विशेष—(१) 'भगति निरूपन···' ऊपर श्रद्धा को वसन्त ऋतु कहा था। अब उसके धर्म कहते हैं कि लताएँ फैलती हैं और वृक्ष फूलते-फलते हैं, फिर पक्व होने पर फलों में रस होता है, वैसे ही श्रद्धालु सन्त-सभा में विविध प्रकार की भक्ति के निरूपण रूप वृक्ष के आधार पर क्षमा-दया का आविर्भाव एवं विस्तार होता है। जैसे लता-बितान से वृक्ष की शोभा होती है, वैसे ही क्षमा-दया से भक्ति की भी शोभा होती है। अमराई में वृक्ष रहते हैं और उनपर लताएँ लिपटती हैं, वैसे ही सन्त-सभा में भक्ति-निरूपण

और उसके आश्रित क्षमा-दया गुण रहते हैं। लता-वितान से धूप नहीं लगती, वैसे क्षमादि गुणों से खलों के अपकारों पर सन्ताप नहीं होता।

विविध विधान भक्ति के निरूपण—श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी से अर० दो० १५-१६ में कहा है, फिर अर० दो० ३५ में श्रीशबरीजी से भी कहा है। श्रीलक्ष्मणजी से श्रवणादिक नवधा तथा सूक्ष्मतया प्रेमा और परा भी कही है। श्रीशबरीजी से निवृत्तिपरक नवधाभक्ति कही गई है। अ० दो० १२७ से १३१ तक भी १४ आश्रम-वर्णन रूप में श्रीवाल्मीकिजी ने भक्ति के ही मार्ग बतलाये हैं। उ० दो० ४५-४६ में सज्जनों के प्रति श्रीरामजी ने भक्ति ही कही है। फिर भुशुण्डीजी ने भी उत्तरकाण्ड में गरुड़जी से कई प्रकार से कई प्रसंगों में इसे कहा है।

(२) 'संजम नियम फूल ···' योगदर्शन में ये दोनों पाँच-पाँच प्रकार के कहे गये हैं, संयम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी नहीं करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (दान नहीं लेना) ये पाँच प्रकार के यम (संयम) के भेद हैं। नियम—शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (अनुराग) ये पाँच प्रकार के 'नियम' के भेद हैं। ये यम-नियम दस-दस प्रकार के भी याज्ञवल्क्य-स्मृति में हैं और वैराग० ११।१६।३३-३५ में बारह-बारह प्रकार के भी कहे गये हैं। पूर्व 'योग' को जलचरों में कहा था, उसके अंग रूपी यम आदि उसके केवल्य परक ज्ञान के अंग हैं, यहाँ के संयम आदि सरस ज्ञान के अंग हैं, इसीसे परिणाम में 'हरिपद रति' कही गई है।

बसन्त में बौरें लगती हैं और आम फलते हैं। सन्त-सभा में श्रद्धा से संयम, नियम और ज्ञान होते हैं। फल पक्व होने पर उसमें रस होता है, वैसे ही ज्ञान की पूर्णता पर हरि-पद में प्रीति होती है। यही ज्ञान का रस है, यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (अ० दो० २७६) अर्थात् संयम-नियम का फल ज्ञान और ज्ञान का फल भक्ति है। यथा—"जप तप नियम जोग निज धर्मा।··· ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। ···तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर॥" (उ० दो० ८८); तथा होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ-चरन अनुरागा॥" (अ० दो० ९२)।

पाठान्तर—कहीं-कहीं 'संजम' की जगह 'सम जम' भी पाठ मिलता है।

यहाँ सब साधनों के फल रूप में भक्ति कही गई है, कहीं-कहीं भक्ति से ही भक्ति पूर्णता कही गई है; अर्थात् नवधा, प्रेम लक्षणा होकर पराभक्ति की प्राप्ति कही गई है। दोनों ही प्रकार ठीक हैं। जैसे कोई तिल को ही केवड़ा आदि में बासकर केवड़ा का तैल बनाते हैं और कोई पहले तिल का तेल निकाल कर उसको केवड़ा के पुष्प-रस से बास कर केवड़ा का तैल बनाते हैं।

औरउ कथा अनेक प्रसंगा। तेइ सुक पिक बहु बरन बिहंगा॥१५॥

अर्थ—और भी कथाओं के अनेक प्रकरण (जो इस रामचरित मानस में आये हैं तोते, कोयल आदि बहुत रंगों के पक्षी हैं॥१५॥

विशेष—जैसे उस मानस-सरोवर की अमराई में बाहर के शुक आदि पक्षी आते हैं, जल पीते और उस अमराई में कुछ ठहर फिर उड़कर चले जाते हैं वैसे ही इस श्रीरामचरितमानस में अनेक कथाओं के प्रसंग आते हैं। इन्हें को वक्ता लोग बाहर से प्रमाण लेकर विस्तार से कहते हैं। फिर मानस की कथा कहने लगते हैं, यही उन प्रसंगरूप पक्षियों का उड़ जाना है।

प्रसंग, यथा—'सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धरम-हित कोटि कलेसा॥ रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धरम धरेउ सहि संकट नाना॥". (अ० दो० ९४); तथा—"ससि गुरु-तिय-गामी नहुष, चढ़ेउ भूमिसुर-जान। लोक बेद ते बिमुख भा, अधम न बेनु समान॥ सहसबाहु सुरनाथ त्रिसंकू। केहि न राज-मद दीन्ह कलंकू॥" (अ० दो० २२८); इत्यादि।

दोहा—पुलक बाटिका बाग बन, सुख सु-बिहंग बिहारु ।
माली सुमन सनेह जल, सींचत लोचन चारु ॥३७॥

शब्दार्थ—पुलक = आनन्द से रोमांच होना । सुमन = सुन्दर (निर्मल) मन ।

अर्थ—(सन्त-सभा में इस कथा श्रवण से) रोमांच होना पुष्पवाटिका, बाग और वन हैं तथा जो सुख होता है, वही सुन्दर पक्षियों का विहार है । सुष्ठु एवं पवित्र मन माली है और वह स्नेहरूपी जल से सुन्दर नेत्र-(रूपी घट के) द्वारा उन्हें सींचता है ।

विशेष—यहाँ भीतर (सर) की ओर से अमराई की तीन परिखाएँ सूचित कीं कि प्रथम चारो ओर वाटिका है, फिर बाग और फिर वन । यही क्रम श्रीजनकपुर में है, यथा—"सुमनबाटिका बाग वन, बिपुल बिहंग निवास । फूलत फलत सुपल्लवत, सोहत पुर चहुँ पास ॥" (दो० २१२) । अन्य प्राकृत वनों में माली नहीं रहता, पर यहाँ मानस-सर के पास का वन वृन्दावन, प्रमोद वन आदि की तरह का है । अतः, माली का भी रहना युक्त है । पुलक के लिये तीन उपमाएँ हैं । अतः, पुलकावली तीन प्रकार की है । वैसे ही इस श्रीरामचरितमानस के पास की सन्त-सभारूपी अमराई में भी तीन परिखाएँ (विभाग) हैं । भक्तिकाण्डवालों की पुलकावली वाटिका है । वाटिका में दिन-भर जल की नहर लगी रहती है, वैसे भक्तिवालों के नेत्रों से बार-बार अश्रुपात हुआ करते हैं, इसीसे पुलकरूप वाटिका वाहों मास फूलती रहती है । इन पुलक-रूप फूलों में श्रीसीता-रामजी के गुण एवं रूप-माधुरी रस है । उसमें अपने भावानुकूल जो सुख होते हैं, वे ही रायमुनियाँ आदि पक्षी हैं । वे भक्त विहार-पूर्वक माधुरी रस को ग्रहण करते हैं । ज्ञानकाण्डवालों की पुलकावली बाग है । बाग में कहीं छठे-छमासे वा वर्ष में जल दिया जाता है, वैसे ज्ञान में 'पुलकावली' थोड़ी होती है । बाग में फल होता है, वैसे इनमें जीवन्मुक्ति फल है और ब्रह्मानन्द ही उसका रस है । बुद्धि के अनुसार सुक शुक आदि विहंग हैं जो ब्रह्मानन्द में विहार किया करते हैं । कर्मकाण्डियों की पुलकावली वन है । वन की सिंचाई दैवात् कभी होती है, वैसे कर्मकाण्डियों में और भी कम पुलकावली होती है और अर्थ, धर्म, काम ही मध्यम, उत्तम और निकृष्ट फल लगते हैं । अहंकारपूर्वक होनेवाले सुख ही तीन प्रकार के लवा आदि तीन पक्षी हैं । वे फलों के भोगरूप रस को ग्रहण करते हुए विहार किया करते हैं । तीनों प्रकारों में सुष्ठु मन की बड़ी आवश्यकता है ।

'माली सुमन सनेह जल···'—सुष्ठु (पवित्र) मन में ही स्नेह होता है, यथा—"पापवंत कर सहज सुभाऊ । भजन मोर तेहि भाव न काऊ ॥ निर्मल मन जन सो मोहिं पावा ।" (मु० दो० ४३); और स्नेह ही जल है, यथा—"रामचरन अनुराग नीर बिनु···" (वि० ८२); "राम भगति जल बिनु रघुराई ।···(मा० उ० ४८); 'सींचत लोचन चारु', यथा—"मम गुन गावत पुलक सरीरा । गदगद गिरा नयन बह नीरा ॥" (अर० दो० १५); "प्रभु गुन सुनि तनु हरिषिहै नीर नयननि ढरिहै । तुलसिदास भयो राम को विस्वास प्रेमलखि आनँद उमगि उर भरिहै ॥ (वि० २६८) ।

जे गावहिं यह चरित सँभारे । ते येहि ताल चतुर रखवारे ॥१॥
सदा सुनहिं सादर नरनारी । ते सुरबर मानस अधिकारी ॥२॥

शब्दार्थ—सँभारे = सावधान-पूर्वक । [illegible] यहाँ वक्ता-श्रोता बतला रहे हैं ।

अर्थ—जो इस रामचरितमानस को सावधानी से गाते हैं, वे इस तालाब के चतुर रखवाले हैं ॥१॥ जो स्त्री-पुरुष इसे आदर के साथ सदा सुनते हैं, वे ही इस सुन्दर मानस के श्रेष्ठ देवता रूप उत्तम अधिकारी हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'जे गावहिं यह ···' ऊपर दोहे तक सर का वर्णन हुआ। अब उसके बाहर की बात कहते हैं कि जैसे सर में बाहर की खराबियों (थूक-खखार, आदि) से रक्षा करने को पहरेदार रहते हैं, वैसे इस रामचरित-मानस के रखवालों को कहते हैं। 'जे गावहिं'—इस मानस के चार श्रोता-वक्ता तो घाट के ही रूपक में हैं। यहाँ अन्य गानेवालों को कह रहे हैं कि रखवालों का काम है कि स्त्री के घाट पर पुरुष न जाय, कोई सर में नहीं थूके और न निषिद्ध वस्तु ही डालने पावे। वैसे ही गानेवालों को चाहिये कि स्त्रीलिंग-पुँल्लिग का विचार रक्खें। पाठ बदलना एवं क्षेपक मिलाना निषिद्ध वस्तु डालना है और अशुद्ध पढ़ना थूकना है—ये सब बचाते हुए सँभालकर पढ़ें। प्रसंग पर ध्यान रखते हुए, तदनुसार अशुद्धि बचाते हुए, सावधानी से पढ़ना चतुरता है।

(२) 'सदा सुनहिं सादर···' मानस-सर में स्नान के अधिकारी ऋषि एवं देवता लोग हैं, वैसे इस रामचरितमानस के अधिकारी वक्ता ऊपर कहे गये। अब श्रोताओं को कहते हैं। श्रोताओं के लिये दो बातें आवश्यक हैं—एक तो सदा सुनना और दूसरी आदर के साथ सुनना। आदर यह कि बुद्धि, मन और चित्त लगाकर सुनें, यथा—"सुनहु तात मति मन चित लाई।" (अर० दो० १०); उत्तम श्रोता आदर के साथ ही सुनते हैं, यथा—"तात सुनहु सादर मन लाई। कहउँ राम कै कथा सुहाई॥" (दो० ४६); "सादर सुनु गिरिराजकुमारी।" (दो० ११३); "भरद्वाज सादर सुनहु।" (दो० १२८); अर्थात् यह मानस तीर्थ है। अतः, सादर स्नान करने से ही फल मिलता है, यथा—"सादर मज्जन पान किये ते। मिटहिं पाप परिताप हिये ते॥" (दो० ४२)। 'नर-नारी' अर्थात् उक्त दो नियमों से चाहे जो हो, सबको अधिकार है। यहाँ 'नर-नारी' उपमेय के अनुरोध से उपमान 'सुरबर' में देवांगना भी है। 'बर' पद दीपदेहली रूप से 'सुर' और 'मानस' दोनों के साथ है, क्योंकि कथा श्रवण भक्ति है और देवता लोग अपने ऐश्वर्य-मद से भक्ति नहीं कर पाते, यथा—"हम देवता परम अधिकारी। स्वारथ-रत प्रभु भगति बिसारी॥" (ल० दो० १०९)। अतः, श्रोता उन देवताओं से श्रेष्ठ देवता रूप हैं।

सम्बन्ध—ऊपर अधिकारी कहे गये, अब अनधिकारी कहते हैं—

अति खल जे बिषई बग कागा। एहि सर निकट न जाहिं अभागा॥३॥
संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न बिषय कथा रस नाना॥४॥
तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक बलाक बिचारे॥५॥

शब्दार्थ—संबुक = घोंघा। भेक = मेढक। सेवार = जलाशयों में किनारे के पास पानी में काई की तरह हरी-हरी घास जमती है, उसमें छोटे-छोटे जीव पैदाकर रहते हैं। काक-बक उन्हें खाते हैं। सेवार से हलवाई लोग चीनी साफ करते हैं। बलाक = बगुला।

अर्थ—जो विषयी अत्यन्त दुष्ट हैं, वे बगुले और कौए के समान हैं। वे अभागे इस तालाब के पास नहीं जाते॥३॥ (क्योंकि यहाँ) घोंघे, मेढक और सेवार की तरह विषय रस की अनेक प्रकार की कथाएँ नहीं हैं॥४॥ इसी कारण बेचारे कौए और बगुले रूपी कामी यहाँ आने में हृदय से हार मानते हैं॥५॥

विशेष—(१) 'अति खल जे बिषई···' भाव यह है कि सामान्य खल (विषयी-कामी) सत्संग से सुधर जाते हैं, यथा—"खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू।" (दो० ६); "काक होहिं पिक बकउ मराला।" (दो० २); "बिषइन्ह कहँ पुनि हरिगुन-ग्रामा। श्रवनसुखद अरु मन अभिरामा॥" (उ० दो० ५२); इसीसे यहाँ 'अति' विशेषण दिया गया कि ये स्वयं सत्संग से दूर रहते हैं। अतः, अभागे हैं, यथा—"सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होंहिं बिषय-अनुरागी॥" (अर० दो० ३२); "काई बिषय मुकुर मन लागी।···सपनेहुँ संत-सभा नहिं देखी॥" (दो० ११४); आगे के 'कामी काक बलाक

विचारे' के अनुरोध से पहले के 'जे विषई बग कागा।' पद में 'विषई' के अर्थ में कामी का भाव है। अतः, 'कामी काक बलाक' में क्रमशः कामी, क्रोधी और लोभी समझना चाहिये। काक कठोरवादी होता है और बक दम्भी, यथा—"लोभ के इच्छा दंभ बल, काम के केवल नारि। क्रोध के परुष बचन बल···" (अर० दो० ३८)। ये काक हैं, क्योंकि इन्हें विषयरूपी नीम कड़वी नहीं लगती, विषय के लिये दम्भ करते हैं। अतः, बक भी हैं। 'अभागा'—भाग्यवान् श्रीराम-यश सुनते हैं और अभागे विषयरस चाहते हैं, यथा—"सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं विषय अनुरागी" (अर० दो० ३२)।

(२) 'बिचारे'—इनका चारा सम्बुक, भेक और सेवार ही है, वे सब यहाँ नहीं हैं तो किसलिये आवें? इसीसे दीन-हीन पड़े रहते हैं। 'हिय हारे'—क्योंकि कामी के हृदय में हरि-कथा की जगह नहीं है, यथा—"क्रोधिहिं सम कामिहिं हरिकथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥" (सुं० दो० ५७)।

सम्बन्ध—उपर्युक्त 'विषयी बग कागा' तो इस सर में आते ही नहीं, जो आनेवाले हैं उनके लिये कहते हैं कि जैसे मानस-सर में जाने की कठिनाइयाँ एवं बाधाएँ हैं, वैसे रामचरितमानस में भी है। यही आगे कहते हैं—

आवत येहि सर अति कठिनाई। राम-कृपा बिनु आइ न जाई॥६॥
कठिन कुसंग कुपंथ कराला। तिन्हके बचन बाघ हरि ब्याला॥७॥

शब्दार्थ—हरि = सिंह। ब्याल = सर्प, खूनी हाथी (संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ)।

अर्थ—इस (रामचरितमानस) सरोवर पर आने में अत्यन्त कठिनाइयाँ हैं। श्रीराम-कृपा बिना यहाँ आया नहीं जाता॥६॥ कठिन कुसंग ही भयंकर कुत्सित मार्ग है, उन-(कुसंगियों) के वचन बाघ, सिंह और साँप (अथवा खूनी हाथी) हैं॥७॥

विशेष—(१) 'आवत येहि सर ···' उस मानस-सर में कठिनाई है और इसमें 'अति कठिनाई' है। इसमें आने का साधन श्रीराम-कृपा ही है, यथा—"अति हरि-कृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ येहि मारग सोई॥" (उ० दो० १२८); और कृपा का साधन भजन है, यथा—"मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥" (दो० ११९)।

(२) 'कठिन कुसंग···' मानस-सर में भयंकर, जंगली एवं पहाड़ी ऊबड़-खाबड़ रास्ते हैं और वहाँ बड़े-बड़े बाघ, सिंह और साँप एवं खूनी हाथी रहते हैं। वैसे इस रामचरितमानस में आने के मार्ग में कठिन कुसंग है। कठिन कुसंग वह है, जो छूटने योग्य न हो, जैसे—विद्यागुरु, माता, पिता, भ्राता और स्त्री-पुत्र आदि का होता है। यदि ये हरि-विमुख हुए तो इनकी परवशता कठिनता है, यथा—"सुत दार अगार सखा परिवार बिलोकु महा कुसमाजहि रे। सबकी ममता तजि कै समता सजि संत-सभा न बिराजहि रे (क० उ० ३०); "कह संग सुसील, सुसंजन सों तजि क्रूर कुपंथ कुसाथहिं रे॥" (क० उ० २९)। इन कुसंगियों के वचनों की तीन उपमाएँ हैं। उनमें बराबरवाले भाई-सखा आदि के वचन बाघ हैं, क्योंकि ये ईर्ष्या करते हैं और कहते हैं कि वहाँ (कथा में) लोग परस्त्रियों से नजर लड़ाने जाते हैं जिससे और पाप लगता है। यों तो अनजान का क्षम्य है, इत्यादि। पिता-माता आदि गुरु-जन यदि दुष्टप्रकृति हुए, तो चाहे स्पष्ट न भी रोकें, तब भी भय रहता ही है। जैसे सिंह चेरोंकर हाथी ही पर चोट करता है, पर उससे डर तो सभी को रहता है। यदि वे रोकें तो धर्मभय से सिंह के गर्जन की तरह उनसे हृदय दहल जाता है। स्त्री-पुत्रादि छोटों के वचन साँप हैं। ये प्रत्यक्ष न भी कहें तो भी फुफकार मारते हैं अथवा ममता के कारण इनका मधुर बोलना ही डँसना है या ममता में फँसे रहनेवाले को स्त्री-पुत्रादि खूनी हाथी की तरह कुचल डालते हैं। इन्हीं लोगों के प्रति कहा है—"जरउ सो संपति सदन सुख, सुहृद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो राम पद, करइ न सहस सहाइ॥" (अ० दो० १८५)।

गृहकारज नाना जंजाला । तेइ अति दुर्गम सैल बिसाला ॥८॥
गन बहु बिषम मोह मद माना । नदी कुतर्क भयंकर नाना ॥९॥

शब्दार्थ—बिषम = दुर्गम, तीक्ष्ण । मोह = शरीराभिमान वा आसक्ति । मद = अपने गुणों का गौरव प्रत्यक्ष रूप में मानना । मान = आत्मगौरव (मानसिक) रहना ।

अर्थ—घर के कार्यों और अनेक धन्धों के बन्धन ही अत्यन्त कठिन ऊँचे बड़े-बड़े पहाड़ हैं ॥८॥ मोह, मद और अभिमान ही बहुत-से बिषम वन हैं और भाँति-भाँति के कुतर्क ही अनेक प्रकार की भयंकर नदियाँ हैं ॥९॥

विशेष—(१) 'गृहकारज नाना···' मानस-सर के मार्ग में एक-से-एक ऊँचे पहाड़ पड़ते हैं। उनका ताँता नहीं टूटता । फिर चढ़ाई भी कठिन, इनसे मार्ग नहीं चुकता, वैसे यहाँ घर के एक कार्य से छुट्टी मिली नहीं कि दूसरे और भारी आ जाते हैं, उनमें भी शास्त्रोक्त कार्य—जैसे श्राद्ध, ब्याह, उपवीत आदि आ पड़ते हैं, इनकी चढ़ाई चुकने नहीं पाती । 'नाना जंजाला'—अपनी और मित्रों की अनेक प्रकार की उपाधियाँ (उपद्रव) और मामले आ पड़ते हैं, जिनकी मानसिक चिन्ताएँ भी पिण्ड नहीं छोड़तीं ।

(२) 'बन बहु बिषम ···' भाव यह है कि सामान्य वन एवं सामान्य नदी से पार जाना हो सकता है, वैसे सामान्य मोह, मद मानवाले एवं सामान्य तर्कवाले किसी तरह कथा में चले जाते हैं, पर बिषम एवं भयंकर मोहादिवाले नहीं जा सकते ।

गृहकार्य से किसी तरह छूटे भी तो मोह-मद-मान बड़े कठिन जान पड़ते हैं । यहाँ से पहाड़ों के ऊपर के वन कह रहे हैं । मद पाँच प्रकार के कहे जाते हैं, यथा—"जातिर्विद्या महत्त्वं च रूपयौवनमेव च । यत्नेन परिवर्ज्यंते पञ्चैते भक्तिकण्टकाः ॥" प्रसिद्ध है ।

मोह—घर में स्त्री अकेली है, बच्चा अत्यन्त हिलमिल गया है—जाने पर वह रोता है, घर में चोरी न हो जाय, परिवार में अमुक दुखी है, मित्र आये हैं, इनके पास बैठना ही चाहिये, इत्यादि ।

मद—मैं उत्तम ब्राह्मण हूँ, शूद्र से अथवा अपने से न्यून से कथा क्या सुनूँ, फिर वह हमसे अधिक पढ़ा हुआ भी नहीं है । श्रोता बनने से उसे श्रेष्ठ मानना होगा ।

मान—वक्ता अभिमानी है, वहाँ जाने से मेरा मान हो या न हो ।

कुतर्क - घरवाले लड़कों को स्वार्थ-दृष्टि से भय देते हैं कि रामायण तो साधुओं के लिये है, उसमें पड़कर मनुष्य फिर गृहस्थी के काम का नहीं रहता, दरिद्रता आ जाती है । देखो, अमुक ने कुछ काल सुना था, उसका वंश ही नष्ट हो गया । वक्ता लोगों ने स्वार्थ-साधने के लिये परलोक की लीला रच ली है । भला, किसी श्रोता के लिये स्वर्ग से विमान आया है या वहाँ से किसीका पत्र आया है ? इत्यादि ।

'कराल कुपंथ' से पहाड़ कठिन, फिर उनसे कठिन उसपर के बिषम वन और उनसे भी कठिन भयंकर नदियाँ हैं, वैसे उनके उपमेयों को क्रमशः अधिक कठिनता जाननी चाहिये ।

बिषमवन से यह भी जनाया कि प्रथमोक्त 'पुलक बाटिका बाग बन'-वाले वन ललित थे, क्योंकि वे मानस के पास के थे और ये बिषम वन मार्ग के हैं ।

यहाँ प्रथम पहाड़-वन कहकर नदी का वर्णन किया, क्योंकि नदियाँ अधिकतर पहाड़ से निकलती हैं, यथा—"अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी । मानहु रोष-तरंगिनि बाढ़ी ॥ पाप-पहार प्रगट भइ सोई । भरी क्रोध-जल जाइ न जोई ॥" अ० दो० ३३) । "स्रवहिं सैल जनु निर्झर भारी । सोनित सरि कादर भयकारी" ॥ (लं० दो० ८६); "भुवन चारि दस भूधर भारी । सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी ॥ रिधि-सिधि संपति नदी सुहाई ।" (अ० दो० १); इत्यादि ऐसे बहुत उदाहरण हैं ।

दोहा—जे श्रद्धा - संबल रहित, नहिं संतन कर साथ।
तिन्ह कहँ मानस अगम अति, जिनहिं न प्रिय रघुनाथ ॥३८॥

अर्थ—जिनके पास श्रद्धा रूपी मार्ग व्यय नहीं है और न सन्तों का साथ ही है एवं जिनको श्री रघुनाथजी प्यारे नहीं हैं, उनके लिये यह 'मानस' अत्यन्त अगम्य है ॥३८॥

विशेष—इस मानस की अगमता का उपक्रम—'आवत येहि सर अति कठिनाई।' से हुआ। बीच में कई प्रकार की अगमताएँ कहीं—जैसे कुसंग, कुसंगियों के वचन, गृहकार्य, नाना जंजाल, मोह-मद-मान और कुतर्क। इनसे भी मानस अगम ही है, पर यहाँ के कथित श्रद्धाहीन, सन्तसंग-रहित और श्रीराम-स्नेह-रहित मनुष्यों को तो 'अति अगम' है। इससे यह भी दिखाया कि मानस इन्हीं तीन उपायों से सुगम हो सकता है—श्रद्धा हो, सन्तों के साथ हो और श्रीरामजी में प्रियत्व हो।

जैसे तीर्थ में प्रेम हो, मार्ग व्यय पास हो अथवा किसी धनी का साथ हो तो मार्ग सुगम हो जाता है, वैसे इस मानस के देवता श्रीरामजी हैं। अतः, उनमें प्रेम हो, कथा में श्रद्धा हो और सत्संग करे तभी यह सुगम हो। श्रीभरतजी पैदल चित्रकूट गये, प्रेम में उन्हें मार्ग की कठिनाई जान ही नहीं पड़ी। श्रद्धा और सत्संग से इसका बोध हो जाता है।

जौं करि कष्ट जाइ पुनि कोई। जातहिं नींद जुड़ाई होई ॥१॥
जड़ता जाड़ बिषम उर लागा। गयेहुँ न मज्जन पाव अभागा ॥२॥

अर्थ—फिर भी जो कोई मनुष्य कष्ट झेलकर वहाँ पहुँच जाय, तो उसे जाते ही नींद रूपी जूड़ी आ जाती है ॥१॥ जड़ता रूपी विषम जाड़ा हृदय में लगा, (अतः) जाने पर भी वह अभागा स्नान नहीं कर पाया ॥२॥

विशेष—(१) 'जौं करि कष्ट···' अभी तक मार्ग के कष्ट कहे। अब पहुँचने पर भी स्नान में जो विघ्न होते हैं, उन्हें कहते हैं। 'करि कष्ट' जानेवाले न तो 'अति खल बिषयी कामी' ही हैं, क्योंकि वे तो जा ही नहीं सकते और न वे ही हैं जिनका श्रद्धा आदि साधनों से पहुँचना कहा गया। ये वे हैं जिनके पास श्रद्धा आदि तीनों नहीं हैं, किन्तु ईर्ष्या से कष्ट करके जा पहुँचते हैं। 'जातहिं' अर्थात् कुछ देर पीछे जूड़ी (जड़िया-बुखार) आवे तो स्नान कर लें, वैसे कथा में पहुँचकर कुछ तो सुन लें, पर जाते ही नींद आ जाती है उससे एक अक्षर भी न सुन पाते।

(२) 'जड़ता जाड़···' ऊपर का जाड़ा आग तापने से भी छूट जाता है, पर हृदय का जाड़ा किसी तरह नहीं छूटता। जड़ता (मूर्खता) हृदय से होती है, इसलिये 'उर लागा' कहा है। मूर्खता से कथा पर ध्यान न देने एवं न समझने से ही नींद आती है, इसीसे श्रवण-मनन रूपी स्नान नहीं हो पाता। ऊपर—'अति खल जे अभागा।' कहा था। फिर यहाँ भी 'अभागा' ही कहते हैं। तात्पर्य यह कि जो कथा में नहीं गये अथवा जो जाकर भी सो जाते हैं दोनों ही अभागे हैं।

श्रीरामजी में प्रेम न होना एवं श्रद्धा न होना तथा सत्संग में मन न लगना पाप और अभाग के ही फल हैं, यथा—"बड़े भाग अनुराग राम सन होय। एकहि एक सिखावत जपत न आप। तुलसी राम प्रेम कर बाधक पाप ॥" (बरवै रा० ६३-६४)।

करि न जाइ सर मज्जन पाना। फिरि आवइ समेत अभिमाना ॥३॥
जौं बहोरि कोउ पूछन आवा। सर-निंदा करि ताहि बुझावा ॥४॥

अर्थ—इस (श्रीरामचरितमानस-रूपी सरोवर) में स्नान और उसका जल पान तो किया नहीं जाता प्रत्युत अभिमान के साथ लौट आता है ॥३॥ फिर जो कोई मनुष्य पूछने आया तो सरोवर की निन्दा करके उसको समझा दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'करि न जाइ·····' स्नान से मैल छूटती है और पीने से प्यास बुझती है, वैसे ही कथा का श्रवण करना स्नान है, धारण करना पीना है, अभिमान ही मल है, यथा—"मैल अभिमान अंग अंगनि छुड़ाइये ।" (भक्तमाल-टीका-प्रियादास); और मैल ही पाप भी कहाती है। आशा ही प्यास है, यथा—"आस पियास मनोमल हारी ।" (दो० ४२)। आशा से ही भाँति-भाँति के परिताप होते हैं, कथा से पाप-परिताप दोनों ही छूटते हैं, यथा—"सादर मज्जन पान किये ते । मिटहिं पाप परिताप हिये ते ॥" (दो० ४२)। स्नान-पान होता तो अभिमान-रहित होकर लौटता।

(२) 'जौं बहोरि कोउ ···' 'बहोरि' अर्थात् दूसरी बार (लौटने पर)। 'बुझावा'—जैसे जल डालकर अग्नि बुझाया जाता है, वैसे निन्दा-रूपी जल से उसकी श्रद्धा-रूपी उत्तेजित अग्नि को बुझा दिया कि वहाँ क्या है, जाड़ा मरना है। पुरइनें भरी हैं। जल जो वहाँ है वही यहाँ भी, ऐसे ही मानस में दोहा-चौपाई ही तो हैं, हम घर में ही बाँच ले सकते हैं तथा और वक्ता-श्रोताओं के सम्बन्ध की भी निन्दा कर देता है।

सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही । राम सुकृपा बिलोकहिं जेही ॥५॥
सोइ सादर सर मज्जन करई । महा घोर त्रयताप न जरई ॥६॥

अर्थ—परन्तु जिसको श्रीरामजी अत्यन्त कृपा-दृष्टि से देखते हैं, ये सब विघ्न उसको बाधक नहीं होते ॥५॥ इस सर में वही आदर के साथ स्नान करता है और महा घोर दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से नहीं जलता ॥६॥

विशेष—(१) 'सकल बिघ्न—' ऊपर बतलाया गया है कि श्रीरामजी की कृपा के बिना कैसी गति होती है। अब कृपा-दृष्टि होने की व्यवस्था कहते हैं कि ऊपर जितने विघ्न कह आये हैं, उनमें से कोई भी विघ्न नहीं होता, यथा—"तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः। त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥" (भाग० १०।२।३३); अर्थात् (हे भगवन् !) आपके भक्त अपने सैकड़ों विघ्नों को लाँघते हुए निर्भय रहते हैं, मार्ग से नहीं गिरते, आपके द्वारा रक्षित रहते हैं। 'सुकृपा' अर्थात् अन्य वस्तुएँ कृपा के अवलोकन से प्राप्त होती हैं, पर श्रीरामचरितमानस का स्नान तो तभी होता है, जब 'सुकृपा' अर्थात् प्रभु अति कृपा करते हैं, यथा—"अति हरिकृपा जाहि पर होई । पाँव देइ येहि मारग सोई ॥" (उ० दो० १२८)।

(२) 'सोइ सादर सर·····' सोइ अर्थात् अति हरि-कृपा पात्र हो। 'त्रयताप'—'दैहिक-दैविक भौतिक तापा" (उ० दो० २०); अर्थात् शरीर सम्बन्धी ज्वर आदि दैहिक, साँप-चोर आदि की बाधाएँ भौतिक और ग्रहादि एवं दुःकाल आदि बाधाएँ दैविक ताप हैं, यथा—"श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये। ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः ॥" (उ० दो० १३०)।

'सादर'—यथा—"सादर मज्जन पान किये ते । मिटहिं पाप परिताप हिये ते ॥" (दो० ४२); मानस-सर के मज्जन से ताप दूर होता है, इससे त्रयताप दूर होते हैं—यह आधिक्य है। ऐसे स्थलों में व्यतिरेक अलंकार होता है। यहाँ श्रद्धा आना है, इसीसे सादर मज्जन हो रहा है।

ते नर यह सर तजहिं न काऊ । जिन्हके रामचरन भल भाऊ ॥७॥
जो नहाइ चह येहि सर भाई । सो सत्संग करउ मन लाई ॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी के चरणों में जिनका उत्तम प्रेम है, वे इस सर को कभी नहीं छोड़ते ॥७॥ हे भाई ! जो मनुष्य इस सरोवर में स्नान करना चाहे, वह मन लगाकर सन्तों का संग करे ॥८॥

विशेष—(१) पूर्व दोहे में श्रद्धा, श्रीरामपद-प्रेम और सत्संग को श्रीरामचरितमानस की प्राप्ति के साधन बतलाया। यहाँ की ६, ७, ८ वीं अर्द्धालियों में उनका ही क्रमशः विशेष आना वर्णन किया। जैसे—'सादर मज्जन' में श्रद्धा स्पष्ट है। शेष दो में भी श्रीराम-पद-प्रेम और सत्संग स्पष्ट कहा ही है।

'तजहिं न काऊ' अर्थात् श्रद्धा-हीनों को—'फिरि आवइ समेत अभिमाना।' कहा, पर ये श्रद्धालु इसे कभी छोड़ते ही नहीं। वे 'सर-निन्दा' करके औरों की भी श्रद्धा घटा देते हैं, पर इन्हें देखकर दूसरों को भी श्रद्धा होती है।

(२) 'जौं नहाइ चह···' यहाँ इसका साधन सत्संग ही कहा है, यथा—"बिनु सतसंग न हरि-कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।" (उ० दो० ६१)। 'मन लाई' अर्थात् बहुत काल तक बराबर सत्संग करे तब इसके संशय-भ्रम दूर होते हैं, यथा—"तबहिं होइ सब संसय भंगा। जब बहुकाल करिय सतसंगा।" (उ० दो० ६०)।

अस मानस मानस-चख चाही। भइ कबि-बुद्धि बिमल अवगाही ॥९॥

शब्दार्थ—चाही=देखकर, यथा—"सीय चकित चित रामहिं चाहा।" (दो० २४७)। मानस-चख=हृदय के नेत्र से, ज्ञानदृष्टि से।

अर्थ—कवि की बुद्धि ऐसे 'मानस' को हृदय के नेत्र से देखकर और (उसमें) गोता लगाकर, निर्मल हो गई।

विशेष—(१) 'अस मानस'—इसका 'जस मानस जेहि बिधि भयेउ,···' पर उपक्रम हुआ था, यहाँ 'अस मानस' कहकर उपसंहार किया अर्थात् इस उपक्रम-उपसंहार के बीच में मानस का स्वरूप कहा गया। तथा—"ज्ञान नयन निरखत···" कहा था, उसका यहाँ चरितार्थ है—'मानस-चख चाही'।

'मानस-चख चाही'—बारंबार मनन करके। 'अवगाही'—गोता लगाकर, थाह पाकर अर्थात् चरित-चित्रण का अन्दाजा करके। 'भइ कबि-बुद्धि बिमल'—भाव प्रथम जो काव्य करने में बुद्धि कदराती थी, वह मैल छूट गई, अब बुद्धि काव्य-निबन्ध के लिये उत्साहित हुई।

प्रश्न—इस मानस-प्रसंग में प्रथम 'आइ न जाई' और 'इहाँ' आदि निकटसूचक शब्द आये हैं। फिर बीच में 'जौं करि कष्ट जाइ, जातहिं, गयेउ' इत्यादि दूरसूचक पद आये हैं और फिर अन्त में 'अस मानस', 'यह' आदि (निकट) सूचक पद हैं। ऐसा क्यों ?

उत्तर—प्रथम समीप का वर्णन-प्रसंग था, तब समीप के शब्द पड़े, जब दूर का प्रसंग कहने लगे, तब वैसे शब्द दिये, फिर बुद्धि स्नान करने के लिये सर के समीप आई, तब फिर निकट-सूचक शब्द दिये।

अगली चौपाई से श्री सरयू के समान कीर्त्ति-सरयू का रूपक प्रारम्भ होता है, इसके लिये श्रीसरयूजी की जन्म-कथा जानने की आवश्यकता है। अतः, वह कथा सत्योपाख्यान अ० ३७ के अनुसार संक्षेप में दी जाती है—

श्रीसरयूजी ने स्वयं अपनी उत्पत्ति की कथा राजा दशरथजी से कही है कि सृष्टि के आदि में जब श्रीब्रह्माजी भगवान् के नाभि-कमल से उत्पन्न हुए और अपने आसन पर तप करने में मन लगाया। तब भगवान् वहाँ आये और ब्रह्माजी की अपनी भक्ति में तत्परता देखकर उनके नेत्रों से करुण-जल बह चला। ब्रह्माजी ने जाना कि यह प्रभु की कृपा से प्राप्त शुभ जल ब्रह्मद्रव है। तब उसको रखने के लिये उन्होंने अपने मन से मानस सर की रचना की और उसी सरोवर में उन्होंने उस करुण-जल रूप ब्रह्मद्रव की स्थापना की।

फिर बहुत काल बीतने पर तुम्हारे पूर्वज राजा इक्ष्वाकु की प्रार्थना से श्रीवसिष्ठजी मानस-सर पर गये। वहाँ मंजुकेशि ऋषि (जो इस जल की रक्षा के लिये नियुक्त थे) की स्तुति की। ऋषि ने वर माँगने को कहा, तब इन्होंने नदी माँगी। ऋषि ने ('नेत्रजा' को) ले जाने की आज्ञा दी, तब उस सर से हम नदी रूप होकर निकलीं। श्रीवसिष्ठजी आगे-आगे चले और हम पीछे-पीछे यहाँ श्रीअयोध्या को प्राप्त हुईं।

यहाँ कीर्त्ति-सरयू के सम्बन्ध में शिवजी ब्रह्मा हैं, जिन्होंने हरि के करुणामय नेत्र से चरित-जल प्राप्त करके अपने मन मानस रूप कमंडलु में रक्खा था। कवि का मन इक्ष्वाकु और मनोरथ वसिष्ठ हुआ, तब काव्यरूपा सरयूजी को सन्त-समाज रूपी अयोध्या में ले आये। मानस से सरयूजी नदी-रूप होकर निकलीं, वैसे हृदय-मानस में जो राम-यश-जल भरा था, वह कविता-रूपा नदी होकर निकला और उसका नाम 'कीर्ति-सरयू' पड़ा।

भयेउ हृदय आनंद उछाहू। उमँगेउ प्रेम-प्रमोद प्रवाहू ॥१०॥
चली सुभग कविता सरिता सो। राम बिमल जस-जल-भरिता सो ॥११॥

अर्थ—हृदय में आनन्द और उत्साह हुआ, (उससे) प्रेम और आनन्द का प्रवाह उमड़ आया ॥१०॥ उससे कविता-रूपी सुन्दर नदी बह चली, जो निर्मल श्रीराम-यश रूपी जल से भरी हुई है ॥११॥

विशेष— १) पूर्व दो० ३५ में—'जग प्रचार जेहि हेतु' कहा था, उसका प्रकरण यहाँ से प्रारम्भ हुआ कि हृदय में आनन्द और उत्साह बढ़ा जिससे कविता प्रवाह-रूप में निकल पड़ी। अतः, इस 'कीर्ति सरयू' की उत्पत्ति हृदय से हुई। हृदय और मानस (मन) एक ही हैं। सरयूजी भी मानस-सर से निकलीं, इससे दोनों मानस-नन्दिनी हैं। इसीसे इनका मूल पहाड़ नहीं कहा गया। करुणा भी मन से होती है, इसीलिये वहाँ—'सेन मनहुँ करुनासरित' (अ० दो० २७५) पर भी मूलस्थान रूप पहाड़ का वर्णन नहीं है।

(२)—'राम बिमल जस जल ···' सत्योपाख्यान में श्रीसरयूजी के जन्म-प्रसंग में कहा गया कि श्रीसरयूजी श्रीरामजी को सदा अपनी कुक्षि में रखती हैं, वैसे ही यहाँ 'कीर्त्तिसरयू' ने श्रीरामजी के यश रूप सच्चिदानन्दविग्रह को भी अपने उदर में भर रक्खा है, यहाँ यह भाव है।

शंका—श्रीराम-सुयश प्रथम मानसकार ने श्रीगुरुजी से वाराहक्षेत्र में सुना था, फिर साधुओं ने वेद-पुराण से लेकर मेघ-रूप से बरसाया, तब यह 'कीर्त्ति-नदी' किस प्रसंग की है ?

समाधान—प्रथम श्रीराम-सुयश श्रीगुरुजी से सुना था। वह हृदय-रूप कुण्ड में भरा था। फिर साधुओं द्वारा बरसकर भी आया, तब जहाँ-तहाँ भेद जान पड़ा। यही मलिनता हुई। जब बहुत काल मनन-रूप गोते लगाये, तब मानस का पूर्व रूप, जो श्रीगुरुजी से सुना था, यथार्थ रूप में देख पड़ा। इससे असन्दिग्ध बुद्धि निर्मल होकर उत्साहित हुई और राम-यश कविता-रूप से प्रवाहित हुआ। 'कीर्त्ति नदी' का जन्म कहकर आगे नामकरण भी कहते हैं—

सरजू नाम सुमंगल मूला। लोक - बेद - मत मंजुल कूला ॥१२॥
नदी पुनीत सुमानस-नंदिनि। कलि-मल-तृन-तरु-मूल-निकंदिनि ॥१३॥

अर्थ—इस कवितारूपिणी नदी का नाम सरयू है, जो सारे सुन्दर मंगलों की जड़ है। लोकमत और वेदमत ही इसके दो सुन्दर किनारे हैं ॥ १२ ॥ ये 'सुमानस नन्दिनी' नदी पुनीत हैं और कलियुग के पाप रूपी तृणों और वृक्षों को जड़ से उखाड़ फेंकनेवाली हैं ॥ १३ ॥

विशेष—(१) 'सरजू नाम ·····' सरश्च्युता होने से—सर से निकलने से—'सरयू' नाम है। लोक-रीति का वर्णन लोकमत है, यथा—"लोकरीति जननी करहिं, बर दुलहिनि सकुचाहिं।"

(दो० ३५०); तथा—"प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा" (दो० २०४); इत्यादि लौकिक रीतियों के वर्णन प्रसंग देखिये। वेदमत श्रीरामजी का परंब्रह्म परत्व प्रतिपादन एवं काण्डत्रय की बातों तथा और भी वेदविधियों का वर्णन है, यथा—"जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ज्ञान-गुन-धामू॥" (दो० ११६); दोनों मत, यथा—"निगम-नीति कुल-रीति करि···" (दो० ३४९); "करि लोक-बेद-बिधान कन्यादान नृपभूषन कियो।" (दो० ३२३); इत्यादि। ये 'कीर्त्ति-सरयू' दोनों मतों की प्रतिपादिका हैं। नदियों में एक किनारा खड़ा और दूसरा प्रायः ढालू होता है, वैसे इनमें कहीं वेदमत की प्रधानता तो कहीं लोकमत की प्रधानता है। ये कीर्त्ति-सरयूजी दोनों मतों का प्रतिपादन मंजुल रूप में करती हैं। दोनों मत राम-यश रूप में ही हैं। अतः, सुयश-वारि से पूर्ण हैं।

(२) 'नदी पुनीत···'—एक में भगवान् का नेत्र-जल और दूसरी में राम-सुयश-रूप जल है। अतः, दोनों पुनीत एवं सु-मानस-नन्दिनी हैं। उपर्युक्त चौ० १०-११ भी देखिये।

'कलिमल तृनतरु···'—पाप दो प्रकार के होते हैं—पातक और उपपातक, यथा—"जे पातक उपपातक अहहीं। करम-बचन मन-भव कबि कहहीं॥" (अ० दो० १६६)। यहाँ पातक तरु और उपपातक तृण हैं। 'मूलनिकंदिनि' पाप के मूल 'करम-बचन-मन' हैं, इन्हें शुद्ध कर देती हैं। अतः, पाप होते ही नहीं, यथा—"मन-क्रम-बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई॥" (उ० दो० १२५); अर्थात् मनन से मन शुद्ध होता है, कथन से बचन शुद्ध होता है, फिर तदनुसार कर्म भी होने लगते हैं।

(३) अधमता और उत्तमता भी चार प्रकार से देखी जाती हैं—जन्म, संग, स्वभाव और शरीर से, यथा—"निसिचर-बंस जनम सुरत्राता।" (सु० दो० ४४); जन्म-स्थान-दूषित, "नाथ दसानन कर मैं भ्राता।" (सु० दो० ४४); संग-दूषित, 'सहजपापप्रिय' स्वभाव-दूषित और 'तामस देहा' शरीर-दूषित। दो० २३७ में इसी प्रकार चन्द्रमा में भी चारो प्रकार की न्यूनताएँ स्पष्ट कही गई है। ऐसे ही यहाँ कीर्त्ति-सरयू में चारो की उत्तमता है, यथा - 'सुमानसनंदिनि' में जन्मस्थान, 'नदी पुनीत' में तनु, 'राम-भगति सुरसरितहिं जाई, मिली···' में संग और 'सुकीरति सरजु सुहाई।' में स्वभाव की उत्तमता है।

दोहा—श्रोता त्रिबिध समाज पुर, ग्राम नगर दुहुँ कूल।
संत-सभा अनुपम अवध, सकल सुमंगल मूल॥३६॥

अर्थ—तीन प्रकार के श्रोताओं के समाज ही इसके दोनों किनारों पर बसे हुए पुर, ग्राम और नगर हैं। उपमारहित और सब उत्तम मंगलों की खान सन्त-सभा श्रीअयोध्याजी हैं।

विशेष—(१) 'श्रोता त्रिविध'—यथा—"सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिपई। लहहिं भगति गति संपति नई॥" (उ० दो० १४)। उदाहरण—मुक्त—"जीवन्मुक्त महामुनि जेऊ। हरिगुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥" (उ० दो० ५२)। बिरत (विरक्त)—"महाराज कर सुभ अभिषेका। सुनत लहहिं नर बिरति बिबेका॥" (उ० दो० १४)। बिषई—"बिषइन्ह कहँ पुनि हरिगुन-ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥" (उ० दो० ५२); यहाँ जो 'बिरत' हैं, वे ही मुमुक्षु भी कहे जाते हैं।

(२) यों तो पुर, ग्राम, नगर पर्यायी भी कहे जाते हैं, पर यहाँ त्रिविध के रूपक में कहे गये हैं। अतः, लोक में जैसे पुर (पुरवा) से ग्राम बड़ा कहा जाता है और ग्राम से नगर बड़ा, वैसे यहाँ भी लेना चाहिये। यहाँ विषयी पुरवा हुए, जो कथा में श्रवण-सुख एवं मनोरंजन के लिये जाते हैं। अतः, इनकी निष्ठा दृढ़ नहीं होती। जैसे पुरवे के किनारे के स्थल प्रायः धार से कट जाते हैं। अतः, उजड़ जाते हैं, वैसे विषयी कथा में कम ठहरते हैं। मुमुक्षु (विरत) ग्राम-रूप हैं, इन्हें विराग-विवेक के लिये कथा में विषयी से अधिक निष्ठा रहती है। मुक्त-नगर रूप हैं। किनारे पर नगर कम होते हैं, वैसे जीवन्मुक्त श्रोता भी कम

होते हैं, पर ये नगर की तरह दृढ़ होते हैं। अतः, कथा से प्रायः नहीं हटते, जैसे नदी की धार से नगर प्रायः नहीं कटते, यथा—"जीवन्मुक्त ब्रह्मपर, चरित सुनहिं तजि ध्यान।" (उ० दो० ४२)।

(३) 'संत-सभा अनुपम अवध···'—यह सन्त-सभा उपर्युक्त तीनों प्रकार के श्रोताओं से पृथक् है। जैसे श्रीसरयूजी श्रीअयोध्या के लिये ही आईं, वैसे कीर्त्ति-सरयू भी सन्त-सभा के लिये प्रकट हुईं, यथा—"होहु प्रसन्न देहु वरदानू। साधु-समाज भनिति सनमानू॥" (दो० १३)। यह सन्त-सभा निष्काम अनुरागी है, इसीके लिये कहा है—"येहि सम प्रिय तिन्हके कछु नाहीं॥" (उ० दो० १२९); तथा—"संत-समाज पयोधि रमा सी।" (दो० ३०)।

(४) 'अनुपम'—अयोध्या और सन्त-समाज दोनों अनुपम हैं, यथा—"विधि हरि हर कवि कोविद बानी। कहत साधु-महिमा सकुचानी॥" (दो० २)। अतः, इनके बराबर दूसरा नहीं है, तथा—"जद्यपि सब बैकुंठ बखाना।···अवध-सरिस प्रिय मोहि न सोऊ।" (उ० दो० ३)। अतः, अनुपम हैं।

(५) दोनों सुमंगलमूल हैं, यथा—"मुदमंगलमय संत-समाजू।" (दो० १); एवं—"सतसंगति मुद-मंगल-मूला।' (दो० २); तथा—'अवध सकल सुमंगल मूल" है।

(६) दोनों (सन्त-सभा और अवध) ही श्रीसीतारामजी के विहारस्थल हैं। अयोध्याजी विहारस्थल प्रसिद्ध ही हैं और सन्त-समाज में कथा के सम्बन्ध से विहार रहता है, यथा—"रामकथा मंदाकिनी, चित्रकूट चित चारु। तुलसी सुभग सनेह बन, सिय-रघुबीर-बिहारु॥" (दो० ३१); एवं "संत-समाज पयोधि रमा सी।" (दो० ३०)।

(७) श्रीसरयू का महत्त्व श्रीअयोध्या में अधिक है, वैसे कीर्त्ति-सरयू का सन्त-सभा में। जैसे श्रीअयोध्या की शोभा श्रीसरयू से और श्रीसरयू की श्रीअयोध्या से है, वैसे ही सन्त-सभा और कीर्त्ति-सरयू में परस्पर शोभा-सापेक्ष्य है।

राम-भगति सुरसरितहिं जाई। मिली सुकीरति - सरजु सुहाई॥१॥

अर्थ—राम-भक्ति रूपिणी श्रीगंगाजी में सुकीर्त्ति रूपिणी सुन्दर श्रीसरयूजी जाकर मिली हैं।

विशेष—सुकीर्ति रूपिणी सरयू पहले शिवजी के मानस में थीं, गिरिजाजी के प्रश्न से उमड़ीं और निकल पड़ीं, यथा—"सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाये। बिपुल बिसद निगमागम गाये॥" (दो० १२०); से इसका प्रवाह चला। इसके प्रथम शिवजी ने—"अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा।···"···से—"मिटि गइ सब कुतर्क कइ रचना॥" (दो० ११८); तक श्रीराम-यश का स्वरूप कहा है।

जैसे श्री सरयूजी कुछ दूर चलकर छपरे के पास गंगाजी में मिली हैं, वैसे कीर्त्ति-सरयू का प्रवाह उपर्युक्त गिरिजाजी के प्रश्नोत्तर से चला। बीच के तीन कल्पों के अवतार-प्रसंग कथित होते हुए चौथे कल्प के परब्रह्म श्रीसाकेतविहारी के अवतार-प्रसंग तक पहुँचा। वहाँ मनु-शतरूपा की अनन्य भक्ति कही गई, यथा—"बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आये बहु बारा॥ माँगहु बर बहु भाँति लोभाये। परम धीर नहिं चलहिं चलाये॥" (दो० १४४); अर्थात् त्रिदेव के भी प्रलोभन में नहीं आये। यही उत्तम भक्ति है। यही कीर्त्ति-सरयूजी का गंगाजी में मिलना है। गंगाजी और श्रीराम-भक्ति का रूपक पूर्व—"राम भगति जहँ सुरसरि-धारा" दो० २ में कहा गया है।

शंका—श्रीसरयूजी राजा इक्ष्वाकु के समय में आई हैं और गंगाजी उनसे उन्नीसवीं पीढ़ी पीछे राजा भगीरथ के समय में आईं। फिर सरयूजी का गंगाजी में मिलना कैसे कहा गया?

समाधान—उपमा के जितने अंश मिलते हैं, कवि को उतने ही से प्रयोजन रहता है। वर्त्तमान काल में श्रीसरयूजी का ही मिलना श्री गंगाजी में कहा जाता है। अतः, काल के अनुरोध से कवि का कथन यथार्थ ही है।

स्कन्द पु० आवन्त्यखण्ड के अन्तर्गत रेवाखण्ड में कथा है कि अयोध्याजी के मनुजी ने अपनी त्रिपुरी-यात्रा में श्रीनर्मदा-तट पर यज्ञ किया और पीछे श्रीनर्मदाजी से स्तुति कर वरदान माँगा—"हे देवि! सारे जगत् को पवित्र करो और श्रीअयोध्या प्रदेश में अनेक नदियाँ प्रकट हो जायँ। गंगा आदि भूलोक में उतर आवें।" श्रीनर्मदाजी ने वरदान में कहा है—"त्रेता के प्रथम भाग में तुम्हारे कुल में भगीरथ नाम से विख्यात एक राजा होंगे। वे इस लोक में गंगाजी को लायेंगे। त्रेता के द्वितीय भाग में इस भारतवर्ष के भीतर कालिन्दी, सरस्वती, सरयू तथा महाभागा गण्डकी आदि नदियाँ प्रकट हो जायँगी।···।"

कल्प-भेद की इस प्रामाणिक कथा के अनुसार प्रथम श्रीगंगाजी का ही आना है, पीछे सरयूजी आईं, इसपर वह शंका ही नहीं रहती।

इस कीर्त्ति-सरयू का रूपक सम्पूर्ण श्री रामचरितमानस है। अतः, इसकी उपमाएँ इसी ग्रन्थ के प्रसंगों के साथ लगेंगी। जैसे, यहाँ मनु-शतरूपा का प्रसंग कहा गया।

सानुज राम-समर-जस पावन। मिलेउ महानद सोन सुहावन ॥२॥

अर्थ—छोटे भाई लक्ष्मणजी के साथ श्रीरामजी के युद्ध का पवित्र यश 'सुहावन' महानद शोण (सोन) उस (गंगा) में मिला है।

विशेष—'सानुज राम-समर··' मारीच-सुबाहु की लड़ाई में साथ-साथ श्रीलक्ष्मणजी भी थे। इन्होंने सम्पूर्ण सेना का संहार किया और श्रीरामजी ने सुबाहु को अग्निबाण से मारा और मारीच को वहाँ से उड़ा दिया। अन्य लड़ाइयों में श्रीरामजी अकेले हैं और आगे लंका में तो वानर-भालु भी थे। इस समर को महानद सोन कहा है, क्योंकि महासंग्राम हुआ। युद्ध में रक्त की धारा चलती है, सोन के जल में भी वर्षा का लाल रंग मिला होता है, यथा—"बरषा घोर निसाचर-रारी।" (दो० ४१)। सोन की धारा विस्तृत, तीव्र और भयावनी लगती है। वैसे समर भी भयावन लगता है। सोन नद मध्यप्रदेश के अमरकण्टक नर्मदाजी के उद्गम-स्थान के दो मील पास से निकला है और मगह होकर बहता हुआ दानापुर से दस मील उत्तर गंगाजी से मिल जाता है। समर-भूमि में राक्षसों की मुक्ति हुई। 'पावन'—क्योंकि निश्छल युद्ध हुआ है, इससे निशिचरों की मुक्ति हुई। अधर्म होना बन्द हो गया। भक्तों और देवताओं को सुख मिला। कहा ही है—"निर्वानदायक क्रोध जाकर···" (अर० दो० २५)।

यहाँ कोई-कोई महानद को पृथक् मानकर शोण के सामने गंगा में मिलनेवाले महानद संज्ञक नद (गण्डकी) को लेते हैं और दोनों भाइयों के यश को पृथक्-पृथक् मानते हैं, पर यह असंगत इसलिये मालूम होता है कि यहाँ 'सानुज' पद से अनुज का सहायक रूप में साथ होना है। अतः, एक ही यश का लेना ठीक है, फिर आगे त्रिमुहानी की संगति भी यहाँ के 'महानद सोन' को एक लेने में ही होगी, अन्यथा सरयू-गंगा-शोण और महानद ये चार प्रवाह हो जायँगे।

जुग बिच भगति देवधुनि-धारा। सोहति सहित सुबिरति बिचारा ॥३॥
त्रिबिध ताप-त्रासक तिमुहानी। राम-सरूप सिंधु समुहानी ॥४॥

शब्दार्थ—तिमुहानी = तीन मुखोंवाली = गंगा में सरयू, फिर सोन के मिलने के बाद की धारा। समुहानी = सामने की ओर चली।

अर्थ—दोनों के बीच में गंगाजी की धारा ऐसी सोहती है, जैसे ज्ञान और वैराग्य के साथ भक्ति (शोभित हो) ॥३॥ इस प्रकार तीनों तापों को डरानेवाली यह त्रिमुहानी (तीन धाराओं की एकमुखी गंगा) राम-स्वरूप-रूपी समुद्र की ओर चली ॥४॥

विशेष—(१) 'जुग बिच भगति···' यहाँ कीर्त्ति-सरयू विरति, सोन विचार और भक्ति गंगा हैं। कीर्त्ति सुनने से वैराग्य होता है, जैसे राजा परीक्षित को भूख-प्यास तक की भी सुधि न रही और समर-यश से विचार (ज्ञान)—क्योंकि लंकाकाण्ड का नाम ही विज्ञान-सम्पादन सोपान है। ऐसी ही ज्ञान विचारयुक्त भक्ति की शोभा है, यथा—"श्रुतिसंमत हरिभगति-पथ, संजुत बिरति बिवेक।" (उ० दो० १०); कहहिं भगति भगवंत कै, संजुत ज्ञान-बिराग।" (दो० ४४)।

(२) 'त्रिबिध ताप त्रासक···' सरयू, गंगा और सोन के संगम का नाम 'त्रिमुहानी' हुआ। आजकल सोन की धारा जहाँ गंगाजी में मिलती है, पहले उससे बहुत दूर पच्छिम ही यह संगम था जहाँ दूसरी ओर सरयूजी गंगाजी में मिलती हैं। इससे गोस्वामीजी ने उस स्थान को ठीक ही 'त्रिमुहानी' कहा है। इसका माहात्म्य ऐसा कहा जाता है कि राजा दशरथ की माता इन्दुमतीजी एक दिन छत पर विराजमान थीं। आकाश-मार्ग से जाते हुए, श्रीनारदजी की वीणा से एक पुष्पमाला खिसक पड़ी जो इन्दुमतीजी के हृदय पर आ पड़ी। अत्यन्त सुकुमारता के कारण इनका प्राणान्त हो गया। राजा अज बहुत विरहातुर हुए, इसपर उन्होंने अपने पुत्र दशरथजी को राज्य देकर इसी त्रिमुहानी में प्रायोपवेशन करके देह त्याग दिया। स्वर्ग में उन्हें वह इन्दुमती और अधिक रुचिर रूपवाली हो प्राप्त हुई तबसे इस तीर्थ का माहात्म्य प्रसिद्ध हुआ।" (रघुवंश सर्ग ८)। इसके माहात्म्य के उपलक्ष्य में रघुवंश के टीकाकार मल्लिनाथ ने स्कन्द पु० का श्लोक 'यथा कथञ्चित्···' लिखा है, अर्थात् इस तीर्थ में जैसे-तैसे भी जो देह-त्याग करता है, उसे आत्मघात नहीं लगता और इच्छित वस्तु की प्राप्ति होती है।

त्रिमुहानी से आगे गंगाजी प्रधान रहीं। वे ही इन दोनों के साथ समुद्र से मिलने चलीं, वैसे विराग और विचार के साथ भक्ति से श्रीरामजी मिलते हैं। अतः, श्रीराम-प्राप्ति कराने में भक्ति ही मुख्य है।

ये कीर्त्ति-सरयू कैलाश-प्रकरण से चलीं। मनुशतरूपा-प्रकरण की अनन्य भक्तिरूपा गंगा में मिलीं। फिर मारीच-सुबाहु के समर-प्रसंग में समर-यश सोन से भी मिलकर त्रिमुहानी हुई। फिर राजसिंहासनासीन श्रीराम स्वरूप समुद्र के सम्मुख चलीं। समुद्र में पहुँचने पर कुछ दूर समुद्र के भीतर भी गंगाजी चली गई है, वैसे राजगद्दी के—"प्रथम तिलक बसिष्ठ मुनि कीन्हा।" उ० दो० ११ से लेकर 'शीतल अमराई' के प्रसंग दो० ५१ तक चरित का वर्णन है। वह नित्य-चरित है। उस नित्य-चरित में कुछ दूरतक-प्रवेश ही सिन्धु में कुछ दूर जाना है। यहाँ तक त्रिमुहानी का फल कहकर अब केवल कीर्त्ति-सरयू का ही वर्णन करेंगे।

'त्रिबिध ताप त्रासक···' जैसे त्रिमुहानी की तीनो धाराओं की तीव्रता से भय लगता है, वैसे इस कथा से तीनों तापों को भय होता है। ताप—"दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम-राज नहिं काहुहिं ब्यापा॥" (उ० दो० २०)।

मानस - मूल मिली सुरसरिहीं। सुनत सुजन मन पावन करिहीं॥५॥
बिच-बिच कथा बिचित्र बिभागा। जनु सरि तीर - तीर बन बागा॥६॥

अर्थ—इन कीर्त्ति - सरयू का मूल (उत्पत्ति-स्थान) मानस है और ये श्रीगंगाजी में मिली हुई हैं, (अतः) सुनने पर ये सुजनों के मन को पवित्र करेंगी॥५॥ इसके बीच-बीच में जो भिन्न-भिन्न प्रकार की अनेक विचित्र कथाएँ हैं, वे ही इस नदी किनारे के पास-पास के वन और बाग हैं॥६॥

विशेष—(१) 'मानस मूल···' सब नदियों की अन्तिम गति सिन्धु है, जिसे त्रिमुहानी के द्वारा कह चुके। त्रिमुहानी से सरयूजी की प्रधानता मिट गई थी। अब फिर कीर्त्ति-सरयू का प्रसंग लेते हैं। अब मूल और संगम के द्वारा माहात्म्य कहते हैं। आगे भी इन्हीं दोनों के बीच के रूपक कहेंगे। जैसे इस

कीर्त्ति-नदी के आदि-अन्त शुद्ध हैं, वैसे यह श्रोता को भी शुद्ध करेगी। मन की मलिनता विषय है यथा—"काई बिषय मुकुर मन लागी।" (दो० ११४); 'मन मलिन बिषय सँग लागे।" (वि० ८२)। यह विषय-वासना दूर कर भगवान् को ही इन्द्रियों का विषय बना देगी अर्थात् भक्ति देगी। इससे भक्त का मन पावन होगा।

(२) 'बिच-बिच कथा···' जैसे नदी के किनारे-किनारे ऊपरी भाग में वन और बाग होते हैं, वे नदियों के सम्बन्ध से प्रफुल्लित रहते हैं, उनसे पथिकों को आनन्द मिलता है, वैसे कीर्त्ति-सरयू में भी विचित्र कथाएँ वर्णित हैं। वे मुख्य रामचरित से पृथक हैं, पर उससे सम्बन्ध रखती हैं। जैसे जलन्धर, नारद-मोह, भानुप्रताप आदि की कथाएँ। इनमें बड़ी कथाएँ वन और छोटी कथाएँ बाग हैं। मुख्य रामचरित छोड़कर इनका प्रसंग आता है। इनकी समाप्ति पर फिर मुख्य चरित का प्रारम्भ हो जाता है। अतः, ये बीच की कथाएँ हैं। जैसे वन-बाग से लोगों को आराम होता है, वैसे इन चित्र-विचित्र कथाओं से श्रोताओं को आनन्द होता है। कथाओं में नाना प्रकार के उद्देश्य आदि विचित्रता के द्योतक हैं। ये कथाएँ मुख्य श्रीरामचरित से सम्बन्ध रखती हैं, इसीसे ललित लगती हैं।

प्रथम भी सरयूजी 'कलिमल तृन तरु मूल निकंदिनि' कही गई हैं, पर वे 'तृन-तरु' बिल्कुल तट के हैं, इसीसे उनका उखाड़ फेंकना कहा गया है। मानस-सर के किनारे वाटिका भी वर्णित है—'पुलक बाटिका बाग बन।' पर यहाँ 'बाटिका' नहीं कही गई, क्योंकि तालाब के तट पर बाटिका होती है, नदी-तट पर नहीं।

उमा - महेस - बिबाह बराती। ते जलचर अगनित बहु भाँती ॥७॥
रघुबर - जनम अनंद बधाई। भँवर तरंग मनोहरताई ॥८॥

अर्थ—श्रीपार्वतीजी और श्रीशिवजी के विवाह को बारात के लोग ही (कीर्त्ति-सरयू के) बहुत प्रकार के अगणित जलचर हैं ॥७॥ श्रीरघुवर-जन्म की आनन्द-बधाइयाँ ही भँवरों और तरंगों की मनोहरता हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'उमा-महेस-बिबाह···' नदियों में रंग-बिरंग के और भाँति-भाँति की आकृतियों-वाले असंख्य जलचर होते हैं—कोई भयानक और कोई सुन्दर; वैसे ही शिवजी के विवाह के बरयात्री भी कहे गये हैं, यथा—"कोउ मुख-हीन बिपुल मुख काहू।···" से—"देखियत अति बिपरीत, बोलहिं बचन बिचित्र बिधि ॥" (दो० ९२-९३); तक, इत्यादि भयानक जलचर हैं। ब्रह्मा-विष्णु आदि के समाज सुन्दर जलचर हैं। शिवजी जलप्रिय हैं, क्योंकि उन्हें जल बहुत चढ़ाया जाता है, इससे भी उनके बरयात्री जलचरों की भाँति कहे गये। भयानक जलचरों से बचना चाहिये, वैसे ही बारात के भूत-प्रेतों से बचना चाहिये, अन्यथा उपासना करने से ये लील जायँगे; यथा—भूतानि यान्ति भूतेज्या।" (गीता ९।२५)। सर के रूपक में 'नव रस जप तप···' आदि जलचर कहे गये थे। कीर्त्ति-सरयू सर के जल का जगत् में प्रचार कर रही है। अतः, इसमें कथा सम्बन्धी रोचक रूपक ही कहे जा रहे हैं।

(२) 'रघुबर जनम अनंद·····' यहाँ आनन्द और बधाई क्रमशः भँवर और तरंग हैं। 'अनंद'—यथा—"दसरथ पुत्र-जनम सुनि काना। मानहुँ ब्रह्मानंद समाना॥ परम प्रेम मन पुलक सरीरा। चाहत उठन करत मतिधीरा॥" (दो० १९२)। आनन्द में मन वैसे ही डूब जाता है, जैसे नदी की भँवर में पड़कर मनुष्य का निकलना कठिन हो जाता है। इस आनन्द में पड़कर सूर्य की भी ऐसी दशा हुई। एक मास डूबे ही रह गये, निकल नहीं पाये, यथा—"मास दिवस कर दिवस भा, मरम न जानइ कोइ। रथ समेत रवि थाकेउ, निसा कवनि बिधि होइ॥" (दो० १९५)। 'बधाई' बजने पर तरंग उठने की तरह शब्द होता है, लोगों की भीड़ होती है, कितने भीतर से बाहर और बाहर से भीतर जाते हैं। यह आना-जाना भी तरंगों की तरह होता है। बधाई—यथा—"गृह-गृह बाज बधाव सुभ, प्रगटे सुषमाकंद। हरषवंत

सब जहँ-तहँ, नगर नारि नर-बृन्द ॥" (दो० १९४); "कनक कलस मंगल भरि थारा। गावत पैठहिं भूप-दुआरा।" (दो० १६३)।

'रघुबर' शब्द चारो भाइयों का भी बोधक है, यथा—"नामकरन रघुबरनि के नृप सुदिन सोधाये।' (गी० बा० ६); "नेकु बिलोकि धौं रघुबरनि। चारि फल त्रिपुरारि तो को दिये कर नृप-धरनि।" (गी० बा० २५); मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ·····" (कि० मं० श्लोक)। अतः, यहाँ चारो भाइयों की बधाइयाँ भी आ गईं।

दोहा—बालचरित चहुँ बंधु के, बनज बिपुल बहु रंग।
नृप रानी परिजन सुकृत, मधुकर बारिबिहंग ॥४०॥

शब्दार्थ—बनज (बन = जल, ज = उत्पन्न) = कमल। सुकृत = धार्मिक, शुभ कार्य-कर्त्ता।

अर्थ—चारो भाइयों (श्रीरामजी, श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी) के बाल-चरित (कीर्त्ति-सरयू में) विविध रंगों के बहुत-से कमल हैं। धार्मिक श्रीदशरथ महाराज और रानियाँ (उन कमलों पर के) भ्रमर हैं और धार्मिक कुटुम्बी लोग जलपक्षी हैं।

विशेष—(१) 'बाल-चरित' का प्रसंग—"बालकेलि रस तेहि सुख माना ॥"·····से—"यह सब चरित कहा मैं गाई।" दो० २०५ तक बहुत रंगों के कमलों का होना कहा गया, क्योंकि भाई चार हैं, कमल भी चार रंगों के होते हैं, यथा—"सोइ बहु रंग कमल कुल सोहा।" दो० ३६ में कहे गये हैं॥ ऐसे ही बाल-चरित भी सात्विकादि भेदों से चार रंगों के होते हैं, यथा—"बेद पुरान सुनहिं मन लाई आप कहहिं अनुजन्ह समुझाई ॥" (बा० दो० २०४); इसे श्वेत रंग, "देखरावा मातहिं निज अद्भुत रूप अखंड।"·····से—"अब जन कबहूँ ब्यापइ, प्रभु मोहिं माया तोरि।" (दो० २०२) तक, इसे पीत रंग, "आयसु माँगि करहिं पुरकाजा।" (दो० २०४); इसे अरुण रंग और—"पावन मृग मारहिं जिय जानी।" (दो० २०४); इसे नील रंग का कमल जानना चाहिये।

कोई हास्यरस, वीररस, रौद्ररस और शृंगाररस के चरितों को क्रमशः श्वेत, पीत, अरुण और श्याम रंग के कमल मानते हैं।

(२) 'नृपरानी परिजन·····' इसमें यथासंख्य अलंकार की रीति से धार्मिक नृप रानी को भ्रमर और धार्मिक परिजनों को 'बारिबिहंग' (जलपक्षी) जानना चाहिये। राजा-रानियों एवं परिजनों को वात्सल्य रस का आनन्द पाना शुभ कर्म के फल-रूप में ही है, यथा—"पुन्य फल अनुभवति सुतहिं बिलोकि दसरथघरनि।" (गी० बा० २४); "दसरथ सुकृत मनोहर बिरवनि रूप करह जनु लाग।" (गी० बा० २६)। भ्रमर कमल का आलिंगन करता है, रस चूसता है, वैसे राजा-रानी चारो भाइयों को दुलारते हैं गोद में लेते हैं और मुख चूमते हैं, यथा—"कर, पद, मुख, चख कमल लसत लखि लोचन भ्रमर भुलावौं।" (गी० बा० १५); और जलपक्षी कमल को देखकर प्रसन्न होते हैं, वैसे परिजन रघुवरों की बाल-केलि देखकर प्रसन्न होते हैं। भ्रमर और जल-पक्षी दोनों कमल से सुख पाते हैं, वैसे बाल-चरित से नृप रानी और परिजन सुख पाते हैं; यथा—"बंधु सखा सँग लेहिं बुलाई।·····" से—"देखि चरित हरषइ मन राजा ॥" (दो० २०४); तक और—"जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा ॥" (दो० २०४)। कमल में रस होता है, वैसे बाल-केलि में भी रस है, यथा—"बाल-केलि रस तेहि सुख माना।" (दो० १६७); तथा—"सुख मकरंद भरे श्रीमूला।" (अ० दो० ५२)।

सीय-स्वयंबर - कथा सुहाई। सरित सुहावनि सो छबि छाई ॥१॥
नदी नाव पटु प्रस्न अनेका। केवट कुसल उतर सबिबेका ॥२॥

शब्दार्थ—पटु=प्रवीण, अन्यत्र पटु का अर्थ सुन्दर भी होता है। कुसल=चतुर।

अर्थ—श्रीसीताजी के स्वयंवर की जो सुन्दर कथा है, वही इस सुहावनी नदी में छवि छा रही है ॥१॥ प्रवीणों के अनेक प्रश्नों का होना इस (कीर्त्ति) नदी की नावें हैं और उनका विवेक के साथ उत्तर देना चतुर केवट हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'सीय-स्वयंबर-कथा·····'—स्वयंवर चार प्रकार के होते हैं, १. इच्छा स्वयंवर (इस स्वयंवर में कन्या अपनी इच्छा से चुनकर अभिलषित वर के गले में जयमाल डाल देती है।) जैसे, विश्वमोहिनी का। २. शुल्क स्वयंवर (इसमें कन्या उस योग्य वर को चुनती है जो कन्या के मन के अनुसार उसके पिता या भाई की इच्छा पूरी करता है) जैसे, तारावती (जिसकी प्रतिज्ञा थी कि जो शत्रु को मारकर पिता का राज्य लौटा देगा उसे ही मैं पति बनाऊँगी) का। ३. पण या प्रतिज्ञा-स्वयंवर जैसे, द्रौपदी का। सीय-स्वयंवर भी इसी पण स्वयंवर के अन्तर्गत है, यथा—"टूटत ही धनु भयेउ बिबाहू।" (दो० २८५); फिर यहाँ जयमाल पड़ी, यथा—"रघुबर उर जयमाल,···" (दो० २६४); और ४. वीर्य-स्वयंवर (इसमें जो अधिक वीरता या उत्कर्ष गुण दिखाता है, कन्या उसीको पसन्द करती है।) जैसे, महाभारत में कथित काशिराज की कन्याओं का।

'सीय-स्वयंवर' कथा का प्रसंग—"धनुष-यज्ञ सुनि रघुकुलनाथा। हरषि चले कौसिक मुनि साथा।" (दो० २०९); से ही इसकी भूमिका है, किन्तु प्रसंग—"सीय-स्वयंवर देखिय जाई।·····" (दो० २३९); से—"गौतम-तिय गति सुरति करि, नहिं परसति पग पानि।·····" (दो० २६५); तक है।

'सरित···छवि छाई।' अर्थात् इस स्वयंवर की कथा से कीर्त्ति-नदी में छवि छा गई, जैसे कोई सुन्दरी स्त्री हो और फिर वह शृङ्गार करे, वैसे कीर्त्ति-नदी स्वयं सुन्दरी है, पर यह 'सुहाई कथा' इसका शृङ्गार है।

ऊपर 'रघुबर-जनम' कहा और यहाँ 'सीय-स्वयंबर' कहते हैं, क्योंकि पुत्र का जन्मोत्सव सुखवर्द्धक और कन्या का विवाह सुखद होता है।

(२) 'नदी नाव पटु···' ग्रन्थ में अनेक प्रश्न और उनके उत्तर हैं, वैसे अनेक नावें और केवट जानना चाहिये। जैसे छोटे-बड़े प्रश्न हैं, वैसी ही नावें और उनके उत्तरों को भी वैसे ही केवट समझना चाहिये। प्रश्न का उत्तर बनना नाव का डूबना है। इस ग्रन्थ में सब उत्तर चतुराई से दिये गये हैं। अतः, कोई नाव नहीं डूबी। प्रश्नोत्तर परशुराम-लक्ष्मण संवाद में हुए। श्रीरामजी के प्रश्नों के उत्तर श्री वाल्मीकिजी ने (अ० दो० १२५ में); दिये। यह विषय अंगद-रावण संवाद तथा श्री हनुमानजी और रावण के संवाद में भी देखना चाहिये।

सुनि अनुकथन परस्पर होई। पथिक-समाज सोह सरि सोई ॥३॥
घोर धार भृगुनाथ रिसानी। घाट सुबद्ध राम-बरबानी ॥४॥

शब्दार्थ—अनुकथन=(परस्पर) बातचीत। पथिक=नदी के उतरनेवाले राही।

अर्थ—कथा सुनकर पीछे परस्पर बातचीत होना ही इस कीर्त्ति-सरयू में यात्रियों का समाज शोभा पा रहा है ॥३॥ इसमें जो परशुरामजी का क्रोध है, वही नदी की घोर धारा है, (उनके क्रोध को शान्त करनेवाला) श्रीरामजी का श्रेष्ठ वचन ही अच्छी तरह से बाँधा हुआ (पक्का) घाट है ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि अनुकथन···' यहाँ अनुकथनवालों की ही शोभा वर्णित है, क्योंकि नदी की शोभा ऊपर 'सरित सुहावनि सो छवि छाई।' में कही गई।

(२) 'घोर धार भृगु···' घोर धार, यथा—"सीस जटा ससि बदन सुहावा। रिसि बस कछुक अरुन होइ आवा ॥"·····से—"देखत भृगुपति बेष कराला। उठे सकल भय-बिकल भुआला ॥"

(दो० २६७-६८); तक। यहाँ 'घोर धार' का स्वरूप प्रकट हुआ। 'घोर धार' देखकर डर लगता है, वैसे सब राजा डर गये। 'घोर धार' के समक्ष कोई खड़ा नहीं होता, वैसे "देखि महर्षि सकल सकुचाने।···" आदि कहा गया है। 'घोर धार' में बहुत-सी नावें डूबती हैं, वैसे इनके क्रोध में सहस्रबाहु ऐसे वीर नष्ट हुए तथा २१ बार सम्पूर्ण क्षत्रियों का नाश हुआ। 'घोर धार' से बड़े-बड़े नगर भी कट जाते हैं, वैसे इस समय भी इन्होंने जनकनगर को उलटना चाहा था, यथा—"उलटउँ महि जहँ लगि तव राजू।" (दो० २६९)। अतः, नगर-रक्षार्थ घाट बँधने की आवश्यकता हुई, तब श्रीरामजी सम्मुख हुए और शीतल वचनों से उन्हें शान्त करना चाहा। यही कोठी गलाना है। पर, वे शान्त न हुए, मानों धारा ने कोठी उखाड़ फेंकी तब श्री लक्ष्मणजी ने सामना किया, इन्होंने दो कोठियों को गलाना चाहा, यथा—"बहु धनुहीं तोरीं लरिकाईं।···येहि धनु पर ममता केहि हेतू।" इन दो बातों में से एक को तो इन्होंने उखाड़ फेंका, अर्थात् उत्तर दे दिया,—"धनुहीं सम त्रिपुरारि-धनु।" दूसरी का उत्तर न बना। अतः, एक कोठी जमी। धारा का मुख थोड़ा मुड़ा और विदेह की ओर 'निहोरा' करने लगे। फिर श्रीविश्वामित्र का निहोरा करने लगे। पीछे श्रीरामजी से भी कहा—'अनुहरइ न तोही।' इत्यादि। धारा कुछ शिथिल पड़ी, तब श्रीरामजी ने अपने वचनों से क्रोध शान्त किया, यही घाट का सुदृढ़ बँधना हुआ कि परशुरामजी की शक्ति भी श्रीरामजी में आ गई और शान्त हो हथियार भी सौंपकर तप के लिये चले गये।

'भृगुनाथ रिसानी'—भृगु की तरह परशुराम ने भगवान् ही पर क्रोध किया और उसी तरह यहाँ भी भगवान् ने क्षमा की है। ये भृगु के वंशज हैं। अतः, क्रोध होना योग्य ही है। इस चरित-प्रसंग का भी इसी नाम से उपक्रम तथा उपसंहार किया गया है। यथा—उपक्रम—"आये भृगुकुलकमल-पतंगा···", उपसंहार—"भृगुपति गये बनहिं तप हेतू॥" (दो० २८४)।

सानुज राम-बिवाह उछाहू। सो सुभ उमँग सुखद सब काहू॥५॥
कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥६॥

अर्थ—भाइयों के साथ श्रीरामजी का विवाह-उत्सव इस कीर्त्ति-सरयू की शुभ बाढ़ है, जो सब किसीको सुख देनेवाली है॥५॥ जिनको इसके कहने सुनने में हर्ष और रोमाञ्च होता है, वे ही सुकृती कीर्त्ति-सरयू में प्रसन्न मन से नहाते हैं॥६॥

विशेष—(१) 'सानुज राम···' चारों भाइयों के विवाह का उत्साह-प्रसंग—"धेनुधूलि बेला बिमल···" से—"प्रभु-बिवाह जस भयेउ उछाहू।" दो० ३६० तक है। इसे शुभ उमंग कहा है। और नदियों की अशुभ उमंग से बाढ़ आती है, तब वह तटस्थलों को दुःखद होती है, पर श्रीसरयूजी में शुभ उमंग की बाढ़ ग्रीष्म ऋतु में बर्फ गलने से आती है, वह सबको सुखदायी होती है, वैसे ही कीर्त्ति-सरयू में जनकपुरवासी विदेह की प्रतिज्ञा रूपी परिताप से तप रहे थे और अवधवासी प्रभु के वियोग से तप्त थे, इस विवाहोत्सव रूप बाढ़ से दोनों सुखी हुए।

सरयूजी की इस बाढ़ से दूर के लोगों को भी स्नान में सुलभता होती है और माँझा (कछार)-वाले लोग खेती से लाभ उठाते हैं, वैसे इस विवाह-उत्सव से और भी बहुतों को सुख हुआ एवं होता रहेगा। यथा—"सिय-रघुबीर-बिवाह, जे सप्रेम गावहिं सुनहिं। तिन्ह कहँ सदा उछाह, मंगलायतन राम जस॥" (दो० ३६१)

(२) 'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं···'—ऊपर सानुज राम बिवाह···' का प्रसंग था। आगे अयोध्याकाण्ड का प्रसंग है। अतः, यहाँ ब्याह-प्रसंग के ही कहने-सुनने पर प्रसंगानुसार विशेष लक्ष्य है। इसमें हर्ष-पुलक की विशेषता रहती है—'तिन्ह कहँ सदा उछाह···' यह ऊपर लिखा गया है। कहने-सुनने में हर्ष और पुलक का होना उत्साह। रूप की शोभा सुन हर्ष होता है और उनके कृपा-दया, चातुर्य एवं औदार्य

आदि गुणों पर पुलकावलियाँ होती हैं। उत्साह-पूर्वक ही तीर्थ-स्नान करना चाहिये, यथा—"मज्जहिं प्रात समेत उछाहा।" (दो० ४३); तथा—"सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग।" (दो० २); वैसे यहाँ भी कहा गया।

'तेइ सुकृती'—यह हर्ष-पुलक स्नेह से होता है और श्रीराम-स्नेह सब सुकृतों का फल है, यथा—"बेद पुरान संत मत येहू। सकल सुकृत-फल राम-सनेहू॥" (दो० २६)। अतः, सुकृती का स्नान करना कहा गया। 'हरष-पुलक'—"सुने न पुलकि तनु, कहे न मुदित मन, किये जो चरित रघुबंसराय।" (वि० ८३)। बड़े सुकृत से श्रीसरयू-स्नान प्राप्त होता है, वैसे चरित-सरित् का स्नान भी दुर्लभ है, यथा—"अति हरि-कृपा जाहि पर होई। पाँव देइ येहि मारग सोई॥" (उ० दो० १२८)।

राम-तिलक हित मंगल साजा। परब जोग जनु जुरेउ समाजा॥७॥
काई कुमति कैकई केरी। परी जासु फल बिपति घनेरी॥८॥

शब्दार्थ—परब (पर्व)=ग्रहण- अमावस्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति, गोविन्दद्वादशी आदि पर्व दिन हैं। पर्व-योग=पर्व के दिन। इन दिन पुण्य कर्म ही करना चाहिये, मांस-मैथुन आदि इन दिन बहुत निषिद्ध हैं, यथा—"चतुर्दशाष्टमी चैव तथामा चाथ पूर्णिमा। पर्वण्येतानि राजेन्द्र रविसंक्रान्तिरेव च॥ तत्रस्त्रीमांसाम्भोगी सर्वेष्वेतेषु वै पुमान्। विण्मूत्रभोजनं नाम प्रयाति नरकं मृतः॥" (वि० पु० ३।११।११६-११७)। इसके आगे श्लोक में पुण्य कर्म ही करने की आज्ञा है। साज=सामग्री।

अर्थ—श्रीरामजी के राज्याभिषेक के लिये जो मंगल-साज सजाया गया, वही इस कीर्त्ति-नदी पर पर्व के योग में यात्रियों के समाज का जुड़ना (एकत्र होना) है॥७॥ कैकेयी की दुर्बुद्धि कीर्त्ति-सरयू में काई है, जिसके कारण बहुत विपत्तियाँ आ पड़ीं॥८॥

विशेष—(१) 'राम-तिलक हित···' यह प्रसंग—"सबके उर अभिलाष अस,···जुबराज-पद, रामहिं देउ नरेस॥" (अ० दो० १); से प्रारम्भ होकर—"सकल कहहिं कब होइहिं काली॥" (अ० दो० १०); तक है। जैसे पर्वयोग दुर्लभ होता है, वैसे श्रीराम-राज्य दुर्लभ था। अतः, सब चाहते थे।

जब दिन को तीन प्रहर तक अमावस्या हो, तब प्रतिपदा के योग से सूर्यग्रहण लगता है, वैसे यहाँ राज्याभिषेक-समारोह के दिन तीन प्रहर तक मानों अमावस्या रही। कैकेयी ने चौथे प्रहर मन्थरा से सुनकर विघ्न का आरम्भ किया, वही प्रतिपदा का योग है, जिससे राज्याभिषेक-रूप पर बाधा-रूप ग्रहण लगा।

(२) 'काई कुमति कैकई केरी।···' इसका प्रसंग—"नाम मंथरा मंदमति, चेरी कैकइ केरि।···" (अ० दो० १२); से—"सजि बन साज···प्रभु चले करि सबहिं अचेत॥" (अ० दो० ७९); तक है।

सब विपत्तियों का कारण कैकेयी की कुमति ही है, यथा—"कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी। भइ रघुबंस-बेनु-बन आगी॥" से—"बर बिचारि नहिं कुमतिहि दीन्हा॥" (अ० दो० ४६-४७); तक, तथा—"भइ दिनकर-कुल-बिटप कुठारी। कुमति कीन्ह सब बिस्व दुखारी॥" (अ० दो० ९१)। 'बिपति घनेरी' का प्रसंग—"येहि बिधि बिलपहिं पुर नरनारी।···" से—"अति बिषाद-बस लोग-लोगाईं।" (अ० दो० ५०); तक। पुनः—"चलत राम लखि अवध अनाथा।···" (अ० दो० ८२); से—"बिषम बियोग न जाइ बखाना॥" (अ० दो० ८५); तक, इत्यादि।

ऊपर—'घाट सुबद्ध राम बरबानी।' पर पक्के घाट का बँधना कहा गया। पक्के घाट पर जल और कीचड़ के संयोग से काई जम जाती है। यहाँ मन्थरा कीचड़ और कैकेयी की राज्य-वासना रूप जल का संयोग होकर कुमति रूपिणी काई जम गई। काई का होना उत्पात है, वैसे ही कुमति का फल विपत्ति हुआ। राजा का मरण, रानियों का विधवापन, प्रजा का शोक और भरतजी का दुःख आदि विपत्तियाँ पड़ीं।

काई को बिना जाने बेधड़क चलने से लोग फिसल पड़ते हैं, वैसे इस काई को राजा दशरथ नहीं जानते थे। अतः, उन्होंने सहसा वचन दे दिया। फिर प्रतिज्ञा पूरी करने के लिये श्रीराम-शपथ भी कर डाली, यही इसपर चलना हुआ, उससे ऐसा गिरे कि फिर उठ नहीं पाये।

दोहा—समन अमित उतपात सब, भरत-चरित जप जाग।
कलि-अघ खल-अवगुन-कथन, ते जलमल बक काग ॥४१॥

अर्थ—असंख्य उपद्रवों को शान्त करनेवाला श्रीभरतजी का चरित जप-यज्ञ है, कलियुग के पापों और दुष्टों के अवगुणों का कहना इस नदी के जल की मैल के (लिये) बगले और कौए हैं ॥४१॥

विशेष—(१) 'समन अमित···' काई का होना उत्पात है। ऐसा जहाँ होता है, वहाँ धर्मात्मा लोग प्रथम तो काई निकलवाते हैं, फिर उत्पात-शान्ति के लिये यज्ञ करते हैं। वहाँ धर्मात्मा श्रीभरतजी आये और कैकेयी का कुमति के कारण त्याग किया। फिर उसे माता नहीं कहा, यही काई निकलवाना है। पश्चात् कैकेयी को कुमति नहीं रह गई, प्रत्युत उसके कारण उसे पश्चात्ताप हुआ, यथा—"गरइ गलानि कुटिल कैकेई।" (अ० दो० २७२); यही काई का सूखना है। यह भी श्रीभरतजी के चरित से ही हुआ।

पुनः एक-दो उत्पात हों तो सामान्य यज्ञ किया जाता है, पर यहाँ अमित उत्पात हैं। अतः, विशेष यज्ञ (जप-यज्ञ) की आवश्यकता हुई, यथा—"यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।" (गीता १०।२५); अर्थात् जप सब यज्ञों में श्रेष्ठ है। यहाँ जप-यज्ञ रूप श्रीभरतजी के चरित से श्रीसीताराम और लक्ष्मण तीनों प्रसन्न हुए, प्रजा सुखी हुई, और स्वर्गस्थ राजा दशरथ भी सन्तुष्ट हुए। यहाँ का यज्ञ प्रायश्चित्त रूप में है, वैसे श्रीभरत चरित भी कहा गया है, यथा—"दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे राज्यतृष्णापराङ्मुखः। मातुः पापस्य भरतः प्रायश्चित्तमिवाकरोत्॥" (रघुवंश १२।१९); अर्थात् श्रीभरतजी को ज्येष्ठ भाई में दृढ़ भक्ति थी। अतः, वे राज्य-तृष्णा से विमुख हुए, उन्होंने मानों अपनी माता के किये हुए पाप का प्रायश्चित्त किया है। अयोध्या-काण्ड के उत्तरार्द्ध में भरत-चरित ही है, उसमें भी मातु-कृत-खोरि का हरण हो है, यह मानस में भी स्पष्ट कहा गया है, यथा—"अहि अघ अवगुन नहिं मनि गहई। हरइ गरल दुख दारिद दहई॥" (अ० दो० १८३)। भरत-चरित का माहात्म्य, यथा—"परम पुनीत भरत-आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगलकरनू॥···समन सकल संताप समाजू।···राम-सनेह सुधाकर सारू॥" (अ० दो० ३२५); तथा—"मिटिहहिं पाप प्रपंच सब, अखिल अमंगल भार। लोक सुजस परलोक सुख, सुमिरत नाम तुम्हार॥" (अ० दो० २६३)।

(२) 'कलि अघ खल-अवगुन···' श्रीसरयूजी जब मानस-(दिव्य)-सर में थीं, तब वहाँ न तो जल के मलरूप घोंघे-सेवार थे और न बगले-कौए ही थे, यथा—"संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न बिषय-कथा रस नाना॥ तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक बलाक बिचारे॥" (दो० ३७)। जब श्रीसरयूजी प्राकृत देशों को चलीं, तब देश-देश की भूमि के योग से 'संबुक-भेक-सेवार' रहने लगे और इनके सम्बन्ध से बक-काक भी रहने लगे। वैसे ही कीर्त्ति-सरयू जबतक कवि के स्वच्छ हृदय रूप मानस में रहीं, तबतक वहाँ विषय-कथा के सम्बन्ध न थे, जब उनका काव्य-निबन्ध करने लगे, तब प्राकृत लोगों को समझाने के लिये प्राकृत दृष्टान्त दिये गये, वे ही जल में मैल हुए। जैसे कहा गया है—"कह बिनतहिं दीन्ह दुख" (अ० दो० १९); इत्यादि, तब राम-सुयश-वारि के साथ-साथ इसे भी सुनकर लोगों के मन में आया कि जब देव-कोटि वाले भी ऐसा करते हैं, तब हमलोग क्यों न करें ? यही जल में मैल है।

इन दोषों के निवारण के लिये कलि के पाप कहे गये हैं, यथा—"कलिमल ग्रसे धर्म सब"····· से—"सुनु ब्यालारि करालकलि, मल अवगुन आगार।" (उ० दो० ९८-१०२); तक। इन सब पाप-समूह के कथन बक-समूह हुए। पुनः—'खल-अवगुन कथन—"बहुरि बंदि खलगन सति भाये।"·····से—

'उभय अपार उदधि-अवगाहा ॥" (दो० ३-५); तक, तथा—"सुनहु असंतन केर सुभाऊ ।"—से—"ऐसे अधम मनुज खल,·····बृंद बहु, होइहहिं कलियुग माहिं ॥" (उ० दो० ३८-४०); तक, इत्यादि ।

जैसे जल की उक्त मैल को बगले-कौए खा जाते हैं, जल साफ हो जाता है, वैसे ही इन पापों और अवगुणों को सुनकर उपर्युक्त मल धारण करनेवालों को ग्लानि होती है कि ये सब कर्म, जो हम करते हैं, पाप हैं, कलि के विकार हैं और दुष्टों के कर्म हैं। अतः, इन कुकर्मों को त्यागना चाहिये। इस पश्चात्ताप से हृदय साफ हो जाता है, फिर वे कर्म छूट जाते है, इसीसे ये कथन बक और काक के रूप में कहे गये हैं।

सम्बन्ध—चरित के जितने अंश नदी के अंग-रूपक में आये, वे कहे गये। अभी बहुत मुख्य-मुख्य अंश छूट गये हैं, उन्हें तत्सम्बन्धी ऋतुओं के रूपक से कहते हैं—

कीरति सरित छहूँ रितु रूरी। समय सुहावनि पावनि भूरी ॥१॥

अर्थ—यह कीर्तिरूपिणी नदी छओं ऋतुओं में प्रशस्त है, पर समय-समय पर अत्यन्त सुहावनी और पवित्र है ॥१॥

विशेष—(१) 'छहूँ रितु रूरी'—अन्यत्र के ऋतु-भावों की अपेक्षा यहाँ छओ ऋतुएँ प्रशस्त रूप में सब काल रहती हैं, इसीसे यह नदी अत्यन्त सुहावनी है। कीर्त्ति श्रीरामजी की है, इसीसे अत्यधिक पवित्र है। आगे छओं के पृथक्-पृथक् निर्देश किये हैं, उनमें चार की सुन्दरता स्पष्ट है, शेष ग्रीष्म राम-वन-गमन है, वह भी 'सुहावा' है, यथा—"कहेउँ राम-बन-गवन सुहावा ।" (अ० दो० १४१); और—'बर्षा घोर·····' की सुन्दरता उत्तरार्द्ध में ही कह दी है कि वह—"सुरकुल-सालि सुमंगलकारी ।" है।

(२) 'समय सुहावनि···' श्रीसरयूजी सब ऋतुओं में सुन्दर ही रहती हैं, पर कातिक, श्रीरामनवमी आदि विशेष अवसरों पर अधिक सुहावनी एवं पवित्र मानी जाती हैं, वैसे कीर्त्ति-सरयू भी वन-चरित तथा युद्ध की लीलाओं द्वारा भी तारने में समर्थ हैं, पर पुष्पवाटिका एवं शरणागति आदि प्रसंगों के द्वारा अत्यन्त सुहावनी और पवित्र हैं।

'छहूँ रितु'—(१) हिम ऋतु —अगहन-पूस में, (२) शिशिर—माघ-फागुन में, (३) वसन्त—चैत्र-वैसाख में, (४) ग्रीष्म—जेठ-आषाढ़ में, (५) वर्षा—सावन-भादों में और (६) शरत्—आसिन-कातिक में रहती है।

शंका—वर्षा ऋतु में नदियाँ अपवित्र कही जाती हैं, क्योंकि वर्षा में उनका रजस्वला होना कहा जाता है, यहाँ कीर्त्ति-सरयूजी को सब ऋतुओं में प्रशस्त और पावन कैसे कहा है ?

समाधान—कीर्त्ति-सरयू में उपमा का उतना अंश न लेने से भी समाधान हो सकता है, पर इसकी उपमान-रूपा मातृस्वरूपिणी श्रीसरयूजी एवं गंगा-यमुना भी दिव्य होने से उक्त दोष से रहित हैं। यथा—"सिंहकर्कटयोर्मध्ये सर्वा नद्यः रजस्वलाः। तासु स्नानं न कुर्वीत वर्जयित्वा समुद्रगाः।" साथ ही यह भी लिखा है—"नदीसु मातृतुल्यासु रजोदोषो न विद्यते ॥" (कूर्मपुराणे); तथा—"न दुष्येत्तीर-वासिनाम्" (निगम)।

यह भी समाधान है कि रजोधर्म बाल्य और वृद्धावस्था में नहीं होता और सरयू-गंगा आदि काल से रहने वाली हैं। अतः, वृद्धावस्थावाली कही जाती हैं। अजर होने पर भी पृथ्वी के संयोग से देवताओं में वार्धक्य संभव है।

हिम हिमसैल-सुता सिव-ब्याहू। सिसिर सुखद प्रभु-जनम उछाहू ॥२॥

अर्थ—इसमें श्रीशिव-पार्वती का ब्याह हेमन्त ऋतु है। श्रीरामजी का जन्मउत्सव सुख देने-वाला शिशिर ऋतु है ॥२॥

विशेष—(१) यहाँ से ऋतु-धर्म का मिलान करते हैं। प्रथम हिम कहा, क्योंकि अमरकोष १।४।१७-२० में 'हिम' को प्रथम गिना है। इसका प्रथम मास अगहन है, यही मार्गशीर्ष भी कहाता है। इसे भगवान् ने अपनी विभूति कहा है, यथा—"मासानां मार्गशीर्षोऽहम् ···" (गीता १०।३५)। "प्राचीन वैदिक क्रम के अनुसार यह अग्रहायण अर्थात् वर्ष का प्रथम मास है। गुजरात आदि में यह क्रम अभी तक है।" (हि० श० सा०)।

(२) उमा-शम्भु के ब्याह ही से वर्णन का प्रारम्भ क्यों हुआ ? उत्तर यह है कि यह मानस-प्रसंग ग्रन्थ भर के चरित की एक प्रकार की सूची है और साथ ही यह भी दिखाना है कि—'जग प्रचार जेहि हेतु।' इसमें इस प्रसंग की प्रथम आवश्यकता है, तब श्रीराम-जन्म के प्रसंग को। ग्रन्थ में इसी क्रम से है भी। पुनः, इससे रूपक मिलान भी ठीक-ठीक होता है। और भी 'हिम गिरिसैल-सुता···' हिम ऋतु में पाला पड़ता है और पार्वतीजी 'हिमसैलसुता' हैं, यह मेल है। जाड़ा अमीरों को सुखद और गरीबों को दुःखद होता है और बहुतों को कँपाता है। वैसे अमीर रूप देवता लोग इस ब्याह से सुखी हुए, यथा—"तारक असुर भयेउ तेहि काला।" से—"येहि बिधि भलेहि देव हित होई॥" (दो० ८१-८३); तक। इसमें मैना आदि अबलाएँ गरीबिन हैं, इन्हें दुःख हुआ, यथा—"बिकट बेष रुद्रहिं जब देखा। अबलन्ह उर भय भयेउ बिसेखा॥" से—"बहुँ भाँति बिधिहिं लगाइ दूषन नयन बारि बिमोचहीं॥" (दो० ९५-९७); तक। शिवजी के कोप से तीनों लोक काँप उठे, यथा—"भयेउ कोप कंपेउ त्रयलोका॥" (दो० ८६)। शिव-उमा-विवाह-प्रसंग दो० ६८-१०३ में है।

शंका—यहाँ कीर्त्ति-सरयू में रामचरित हैं, फिर शिव-विवाह को गणना इसमें क्यों की गई ?

समाधान—वास्तव में यह प्रसंग सती-मोह से प्रारम्भ होता है। श्रीरामजी के परात्परत्व सिद्ध करने का अंग है, यह ग्रन्थारम्भ में परम आवश्यक है। सती-तन त्याग कर पुनः भारी तपस्या से शिवजी को प्राप्त कर फिर रामपरत्व प्रकाशनार्थ ही पार्वतीजी का प्रयास है। अतएव यह प्रसंग चरित-प्रकाशनार्थ की भूमिका रूप में भी है।

(३) 'सिसिर सुखद प्रभु ···' यह जन्म-प्रसंग दो० १९२-१९७ में है। शिशिर के माघ मास में तीर्थराज के समाज का सुख और फाल्गुन में होली की बहार सुखद है, वैसे श्रीरामजी के जन्म-समय पर देवता, ऋषि, गन्धर्व आदि का समाज एकत्र हुआ। फिर—"ध्वज पताक तोरन पुर छावा।··· मृग-मद-चंदन-कुंकुम-कीचा। मची सकल बीथिन्ह बिचबीचा॥ ···अगर धूप बहु जनु अँधियारी। उड़े अबीर मनहुँ अरुनारी॥" (दो० १९३-१९४); यह होली की बहार भी है। अतः, सुखद है।

बरनब राम - बिबाह - समाजू। सो मुद-मंगल-मय रितुराजू॥३॥
ग्रीषम दुसह राम-बन-गवनू। पंथ-कथा खर आतप पवनू॥४॥

शब्दार्थ—दुसह (दुस्सह) = असह्य। आतप = घाम। खर = तीक्ष्ण।

अर्थ—श्रीरामजी के विवाह के समाज का वर्णन ही आनन्द-मंगलमय ऋतुराज वसन्त है॥३॥ श्रीरामजी का वन-गमन असह्य ग्रीष्म-ऋतु है और वन के मार्ग की कथाएँ तीक्ष्ण धूप और लू हैं॥४॥

विशेष—(१) 'बरनब राम-बिबाह···' पहले 'सानुज राम बिवाह उछाहू' को कीर्त्ति सरयू में शुभ-उमंग कहा गया। यहाँ उस विवाह के समाज को पृथक् कहते हैं, जैसे उमा-शिव के ब्याह को हिम और उनकी बारात (समाज) को जलचर रूप में पृथक् कहा है। 'बराती' ही विवाह-समाज हैं, यथा—"बिहँसे सिव समाज निज देखा॥" (दो० ९२); वैसे यहाँ 'विवाह-समाज' को वसन्त-ऋतु कहते हैं, क्योंकि दोनों मुद-मंगलमय हैं। वसन्त में वृक्षों के पुराने पत्ते झड़ जाते हैं और फिर फूल-फलों से युक्त हो जाते हैं। वैसे ब्याह में बराती लोग पुराने वस्त्राभूषण उतारकर रंग-बिरंग के नये वस्त्राभूषण

पहनते हैं। जैसे राम-विवाह के 'बराती' जो वस्त्राभूषण अयोध्या से नये पहनकर गये थे, वहाँ बहुत दिन रहने के कारण वे सब उतर गये और नये दिव्य वस्त्राभूषणों से सजधज के आये, जो श्रीमिथिलेश महाराज के यहाँ से ऋद्धि-सिद्धियों-द्वारा प्राप्त हुए थे। कहा भी है—"बने बराती बरनि न जाहीं। महामुदित मन सुख न समाहीं॥" (दो० ३४७)।

(२) 'ग्रीषम दुसह राम-बन····'—ग्रीष्म और वन-गमन दोनों दुःसह हैं। ग्रीष्म में ताप होता है, वन-गमन में भी लोगों को विरह-ताप हुआ, यथा—"राम चलत अति भयेउ बिषादू। सहि न जाइ पुर आरत-नादू॥" (अ० दो० ८०), "सहि न सके रघुबर-बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी॥" (अ० दो० ८३), "सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा। धीरजहू कर धीरज भागा॥" (अ० दो० १५२), इत्यादि।

'बन-गवनू'—यह प्रसंग अ० दो० ७६ से १३२ तक है।

'पंथ-कथा', यथा—"सहित बिषाद परस्पर कहहीं।"—से—"होहिं प्रेम-बस लोग इमि, राम जहाँ जहँ जाहिं॥" (अ० दो० ११८-१२१), तक तथा क० अ० ११-१३ में भी कही गई है। आगे चलकर वन मार्ग में पैदल जाते एवं कष्ट से निवास करते देख बहुतों को यह लू लगी है। उन्हीं में निषादराज हैं—"ग्राम बास नहिं उचित सुनि, गुहहिं भयउ दुख भार।" (अ० दो० ८८), श्रीहनुमानजी ने भी कहा है—"कठिन भूमि कोमल पद गामी।···मृदुल मनोहर सुंदर गाता। सहत दुसह बन आतप बाता॥" (कि० दो० १)।

ग्रीष्म के दिन बड़े होते हैं, वैसे ही दुःख के दिन भी जल्द बीतते नहीं जान पड़ते, यथा—"अति परिताप सीय मन माहीं। लव-निमेष जुग सय सम जाहीं॥" (दो० २५७), "देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहिं कलप सम बीता॥" (सु० दो० ११)। सुख के दिन बीतते नहीं जान पड़ते, बहुत छोटे होते हैं, यथा—"कछुक दिवस बीते यहि भाँती। जात न जानिय दिन अरु राती॥" (दो० १९६), "सुख समेत संवत दुइ साता। पल सम होहिं न जनियहि जाता॥" (अ० दो० २७६)।

इसीलिये दुःख के दिनों की उपमा ग्रीष्म से दी गई है और उमा-शम्भु के विवाह और श्रीरामजन्म के उछाह से भरे सुखमय दिनों की उपमा हेमन्त शिशिर के छोटे दिनों से दी गई है। जैसे वसन्त के दिये हुए वन-ऐश्वर्य को ग्रीष्म की लू और तपन नष्ट कर देते हैं, वैसे ही वनगमन-कथा ने विवाह-समाज के आनन्द को नष्ट कर दिया।

यद्यपि वनगमन-कथा दुःखद है, तथापि श्रोताओं को परधाम देनेवाली है, यथा—"अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ। बसहिं लखन सिय राम बटाऊ॥ रामधाम-पथ पाइहिं सोई। जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई॥" (अ० दो० १२३), "भव भेषज रघुनाथ-जस,···" (कि० दो० ३०), इसीसे—"कहेउँ राम-बन गवन सुहावा।" (अ० दो० १४१), कहा है। ग्रीष्म-ताप से ही वर्षा आती है, वैसे वन-गमन लीला से ही 'बरषा घोर···' का संयोग होगा। वही आगे कहते हैं—

बरषा घोर निसाचर-रारी। सुरकुल सालि सुमंगलकारी॥५॥
राम-राज-सुख बिनय बड़ाई। बिसद सुखद सोइ सरद सुहाई॥६॥

अर्थ—घोर निशाचरों के साथ भयानक लड़ाई घोर वर्षा है, जो देव-समाज रूपी धानों के लिये अत्यन्त मंगलकारी है॥५॥ श्रीराम-राज्य का सुख और विशेष नीति की बड़ाई ही उज्ज्वल, सुखद और सुहाई शरद् ऋतु है॥६॥

विशेष—(१) 'बरषा घोर···'—घोर वर्षा और घोर-निशाचर-युद्ध दोनों भयावन हैं। 'घोर रारी' और 'घोर बरषा' में सामान्य 'रारी' और 'बरषा' भी गर्भित हैं, जैसे वर्षा ऋतु से प्रथम ही आर्द्रा और पुनर्वसु नक्षत्रों में सामान्य वर्षा भी होती है, वैसे विराध-कबन्ध-बध वर्षा होने के पूर्व की पुरवाई का

चलना और मेघों का एकत्र होना है। खर-दूषण आदि का समर आर्द्रा की वर्षा और सुन्दरकाण्ड में हनुमानजी का युद्ध पुनर्वसु की वर्षा है। लंकाकाण्ड की 'घोर-निसाचर-रारी' घोर वर्षा है, उसमें वर्षा का पूरा रूपक भी कहा गया है, यथा—"प्रलय काल के जनु घन घट्टा ॥" से—"जनु नावरि खेलहिं सरि माहीं ॥" (लं० दो० ८६-८७) तक। अन्यत्र भी कहा है—"लागे बरषन राम पर, अस्त्र-सस्त्र बहु भाँति ॥" (अर० दो० १६), "दस दिसि रहे बान नभ छाई। मानहुँ मघा मेघ झरि लाई ॥" (लं० दो० ७२), इत्यादि।

'सुरकुल सालि···'—जैसे-जैसे वर्षा होती है, धान का पोषण होता है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों राक्षस मरते हैं, देवता सुखी होते हैं, जैसा कि प्रथम खर-दूषणादि के युद्ध पर कहा है—"हरषित बरषहिं सुमन सुर, बाजहिं गगन निसान।" (अर० दो० २०)। यहाँ धान का अंकुर जमा, क्योंकि देवताओं को भरोसा हुआ, पुनः श्रीहनुमानजी के कर्त्तव्य से श्रीरामजी का प्रताप देखकर विभीषण शरणागत हुए। उनका तिलक देखकर देवताओं को पूर्ण भरोसा हुआ कि अब रावण-वध अवश्य होगा। अतः, देवताओं ने बहुत आनन्द मनाया, यथा—"अस कहि राम तिलक तेहि सारा। सुमन वृष्टि नभ भई अपारा ॥" (मुं० दो० ४८) यही धान का पुनः रोपा जाना है, क्योंकि यह आनन्द शरणागत (विभीषण) के नये जन्म के उपलक्ष्य में है, शरण होने पर दूसरा जन्म माना जाता है। पुनः कुम्भकर्णवध पर—"सुर दुंदुभी बजावहि हरषहिं।···" मेघनाद-वध पर—"बरषि सुमन दुंदुभी बजावहिं।···" और रावण-वध पर—"बरषहिं सुमन देव मुनि-बृंदा।" कहा है।

(२) 'राम-राज-सुख····'—जैसे राम-राज्य सुखद है, वैसे शरद् भी है। राम-राज्य में विशेष नीति है, क्योंकि श्रीरामजी नीति के विशेष ज्ञाता हैं, यथा—"नीति-प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ ॥" (अ० दो० २५३) विशेष नीति उज्ज्वल है वैसे शरद् भी उज्ज्वल है और विशेष नीति प्रजा को सुख देनेवाली तथा सुन्दर कीर्त्ति बढ़ानेवाली होती है। यही बड़ाई है जिसके अनुरूप शरद् को 'सुहाई' कहा है। श्रीरामराज उज्ज्वलता पर कहा गया है, यथा—"महाराजश्रीमञ्जगति यशसा ते धवलिते, पयः पारावारं परम पुरुषोऽयं मृगयते। कपर्दी कैलासं कुलिशभृद्धौमं करिवरं, कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसमधुना ॥" (रा० प्र०एवं सुभाषित र० भा० ३।२६), अर्थात् हे महाराज (श्रीरामजी !) पृथ्वी आपके यश से श्वेत हो गई है, यहाँ तक कि श्रीमन्नारायण क्षीरसागर, शिवजी कैलास, इन्द्र ऐरावत, राहु चन्द्रमा और ब्रह्माजी अपने हंस को खोज रहे हैं।

इसका प्रसंग—"राम-राज बैठे त्रयलोका।"···से—"करहिं राम-गुन गान ॥" (उ० दो० १९-३०) तक। यहीं तक मुख्य चरित है। अतः, यहीं पर ऋतुओं का प्रसंग समाप्त किया गया।

सती-सिरोमनि-सिय - गुन - गाथा। सोइ गुन अमल अनूपम-पाथा ॥७॥
भरत - सुभाव सुसीतलताई। सदा एकरस बरनि न जाई ॥८॥

अर्थ—पतिव्रताओं की शिरोमणि श्रीसीताजी के गुणों की कथा इस उपमा-रहित जल का अनुपम-निर्मल गुण है ॥७॥ श्रीभरतजी का स्वभाव इस नदी की सुष्ठु शीतलता है जो सदा एकरस रहती है और जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता है ॥८॥

विशेष—(१) 'सती-सिरोमनि····' यह गुण-गाथा,—"पति-अनुकूल सदा रह सीता।···" से—"राम-पदारबिंद-रति, करति सुभावहि खोइ ॥" (उ० दो० २३-२४), तक प्रधानतया वर्णित है, तथा—"पति-देवता-सुतीय-मनि, सीय···" (अ० दो० १९९), में भी है।

शरद् ऋतु कहकर जल के गुण कहते हैं, क्योंकि जल में निर्मलता, शीतलता और मधुरता आदि गुण शरद् ही में आते हैं। श्रीराम-सुयश-वरवारि को अनुपम कहकर भी श्रीसीताजी के सतीत्व को उसकी

निर्मलता कहा, क्योंकि श्रीसीताजी के पातिव्रत्य गुण से श्रीरामजी की कीर्त्ति निर्मल है, यथा—"पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोऊ॥"···से—"पितु कह सत्य सनेह सुबानी॥" (अ० दो० २८६); तक।

शंका—मानस-रूपक में 'सगुण-लीला' को स्वच्छता कहा है, यथा—"लीला सगुन···सोइ स्वच्छता···" (दो० ३५); वही गुण-'सिय-गुन-गाथा' में क्यों कहा गया?

समाधान—श्रीसीतारामजी तत्त्वतः एक हैं, यथा—"गिरा अरथ जल बीचि···" दो० १८ में कहा गया है। जब 'राम-सुजस-बारि' को 'बर' कहा तब 'सिय-गुन-गाथा' को 'अमल' बतलाया। पुनः, श्रीरामजी की सगुण-लीला श्रीजानकीजी की ही इच्छा के प्राधान्य से होती है। अतः, दोनों की गुण-गाथा एक ही है—ऐसा समाधान किया जाता है। फिर भी यह प्रश्न होगा कि एक बार स्वच्छता कह दी गई, पुनः यहाँ निर्मलता कहकर क्यों दोहराई गई। अतः, इस निर्मलता में कुछ विशेष भाव है, वह यह कि रामराज्य वर्णन के साथ 'सती-सिरोमनि' कहकर श्रीसीताजी के सतीत्व गुण पर लक्ष्य है, जो उनकी वाल्मीकि आश्रम-यात्रा एवं अन्त में सतीत्व की सफाई में भूमि से विमान प्रकट करने में प्रकट हुई है। उ० दो० २४ चौ० ६ पर लिखे हुए 'सीताबनवास-मीमांसा' देखिये, उसमें स्पष्ट है कि श्रीसीताजी को प्रथम की लंका यात्रा स्वामी के सुयश की निर्मलता के लिये ही हुई है और दूसरी बार की वाल्मीकि-आश्रम यात्रा पर भी तत्सम्बन्धी ही निर्मलता सिद्ध कर चरित रचवा कर चिरस्थायी बनाने के उद्देश्य पर है। यह पतिव्रता-शिरोमणि की सर्वोपरि पति सेवा है। उसीका यहाँ स्मरण किया गया है। यद्यपि नर-नाट्य में लोक-शिक्षा के लिये श्रीजानकीजी पातिव्रत्य धर्म के अनुसार सेवा करती हैं, फिर भी श्रीरामजी उनको सँजोते रहते हैं, यथा—"जोगवहिं प्रभु सिय-लखनहिं कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे॥" (अ० दो० १४१)।

(२) 'भरत-सुभाव···' यहाँ 'भरत-सुभाव' को 'बरनि न जाई' कहा है, यथा—"सुनहु लखन भल भरत-सरीसा।" ··से—"कहत-भरत गुन-सील सुभाऊ। प्रेम-पयोधि मगन रघुराऊ॥" (अ० दो० २३०-२३१); तक। यहाँ श्रीरामजी वर्णन करते-करते ही प्रेम में डूब गये, वर्णन भी न कर सके, यथा—"प्रभु पितु मातु सुहृद गुरु स्वामी। ··से—"भरत बिनय सुनि देखि सुभाऊ। सिथिल सनेह सभा रघुराऊ॥ रघुराउ सिथिल सनेह साधु-समाज मुनि मिथिलाधनी। मन महँ सराहत भरतभायप···" (अ० दो० २९७-३०१); तक। यहाँ इनका स्वभाव देखकर सब प्रेम-निमग्न हो गये और सराहना चाहा, पर सबके कंठ रुँध गये, इससे मन में ही सराहने लगे। तात्पर्य यह कि भरतजी का स्वभाव चित्त में आते ही प्रेम उमड़ आता है, फिर कोई कह ही नहीं पाता। जो कहीं कुछ कहा गया है, वह शाखाचन्द्र न्याय से लक्ष्य मात्र कराया गया है, स्वभाव की स्थिति यथार्थ वर्णन नहीं हो सका। इनका स्वभाव प्रेम-भक्तिमय है, प्रेम-भक्ति में भी यही गुण कहा गया है, यथा—"प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई॥" (दो० ३५)। प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है, यथा—'अनिर्वचनीयं प्रेम-स्वरूपम्।" (नारदभक्तिसूत्र)। इसीसे कहा है—"भरत-सुभाव न सुगम निगम हू। लघु मति चापलता कवि छमहू॥" (अ० दो० ३०३)। 'सुसीतलताई'—ऐसी शीतलता नहीं कि छूते ही कँपा डाले, प्रत्युत सुष्ठु शीतलता है अर्थात् सुखद है, यथा—"सनि सतकोटि सुसीतलता" (उ० दो० ९१)। भरतजी के स्वभाव में सदा एकरस शीतलता रहती है, कभी क्रोध-रूपी गर्मी नहीं आती।

दोहा—अवलोकनि बोलनि मिलनि, प्रीति परस्पर हास।
भायप भलि चहुँ बंधु की, जल - माधुरी सुबास॥४२॥

अर्थ—चारो भाइयों (सर्व श्री राम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्नजी) का परस्पर देखना, बोलना, मिलना, प्रीति करना, हँसना और सुन्दर भाईचारा—ये इस जल की मिठास और सुगन्ध हैं।

विशेष—इनमें बाह्य-इन्द्रियों के व्यवहार—"अवलोकनि, बोलनि, मिलनि और हास'—जल की 'सुवास' हैं, क्योंकि सुगन्ध जल के बाहर फैलती है। जल में सुगन्ध गुण स्वाभाविक नहीं है, बाहर से आता है, जैसे वायु सुगन्धित भी कही जाती है, वैसे यहाँ बाह्य व्यवहारों में भी सुवास की उपमा है। अन्तःकरण के व्यवहार—'भायप और प्रीति'—माधुरी हैं, क्योंकि माधुरी जल के भीतर का गुण है, यह समता है। उदाहरण—

'अवलोकनि'—"अनुरूप वर दुलहिनि परस्पर लखि सकुचि हिय हर्षहीं।" (दो० ३३५); इसमें 'लखि' से 'अवलोकनि' और 'सकुचि' से 'हास' है, क्योंकि चारों बड़े छोटे श्याम-गौर जोड़ों को एक साथ सपत्नीक बैठने से परस्पर देख-देखकर सकुच में ध्वनि से 'हास' है।

'बोलनि'—"बंधु-सखा सँग लेहिं बोलाई।" "आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई।"·····(दो० २०४); तथा—"करत बतकही अनुज सन।" (दो० २३१)।

'मिलनि'—"बरबस लिये उठाय उर, लाये कृपानिधान। भरत राम की मिलनि लखि, बिसरे सबहि अपान॥" (दो० २४०); "मिलि सप्रेम रिपुसूदनहिं, केवट भेंटेउ राम। भूरि भाय भेंटे भरत, लछिमन करत प्रनाम॥ भेंटेउ लखन ललकि लघु भाई॥···" (अ० दो० २४१); इत्यादि बहुत उदाहरण हैं।

'प्रीति'—"बारेहिं ते निज हित पति जानी। लछिमन राम-चरन-रति मानी॥ भरत सत्रुहन दूनउ भाई। प्रभु-सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥" (दो० १९०); "सेवहिं सानुकूल सब भाई। राम-चरन-रति अति अधिकाई॥" "राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती॥" (उ० दो० २४)।

'भायप'—"अनुज सखा संग भोजन करहीं।" (दो० २०४); यह श्रीरामजी का भायप है। "चलत पयादे खात फल, पिता दीन्ह तजि राज। जात मनावन रघुबरहिं, भरत सरिस को आज॥ भायप भगति भरत आचरनू।" (अ० दो० २२२); यह श्री भरतजी का भायप है। शत्रुघ्नजी का भायप श्रीभरतजी के साथ जानना चाहिये। "गुरु सिख देइ राय पहँ गयेऊ।···से—"प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। (अ० दो० ९); तक यह श्रीरामजी का भायप है। लक्ष्मणजी का भायप श्रीरामजी के साथ जानना चाहिये। और "जोगवहि प्रभु सिय लखनहिं कैसे।" (अ० दो० १४१); इत्यादि रीति से चारों भाइयों में परस्पर भायप हैं।

आरति बिनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुबारि न थोरी॥१॥
अदभुत सलिल सुनत गुनकारी। आस-पियास मनोमल हारी॥२॥

अर्थ—मेरी आर्ति, प्रार्थना और दीनता ये इस सुन्दर जल का हलकापन हैं। ये ललित हैं, इनसे इस सुन्दर जल की न्यूनता नहीं है॥१॥ यह जल-विलक्षण है, सुनते ही गुण करता है, आशा-रूपी प्यास और मन की मलिनता को दूर करता है॥२॥

विशेष—(१) 'आरति बिनय दीनता···'—ग्रन्थ के आदि में ३५ वें दोहे तक आर्ति आदि वर्णित हैं। 'मोरी लघुता'—रचयिता की लघुता से ग्रन्थ की भी लघुता होती है, जो मैंने अपने मुख से अपनी आर्ति आदि कही हैं, वे कार्पण्य रूप में गुण हैं, उनसे यश की लघुता नहीं है औरों की आर्ति आदि स्वार्थ के लिये होती हैं पर मेरी आर्ति आदि श्रीराम-यश के लिये हैं। अतः, इनसे यश-रूपी जल की बड़ाई ही है, क्योंकि जल में यदि हलकापन न हो तो वह बादी होता है। राम-यश में हलकापन कह नहीं सकते, इससे अपना हलकापन मिलाया है।

(२) 'अदभुत सलिल·····' ऊपर जल का बाह्य रूप एवं उसका स्वरूपभूत गुण कहा। अब दूसरों में प्रयोग-द्वारा उसके गुण दिखाते हैं—

'सुनत गुनकारी'—जल पीने से गुण करता है, इस यशरूपी जल का पान श्रवण से होता है, यथा—"राम-चरन रति जो चहइ, अथवा पद निर्बान। भाव-सहित सो यह कथा, करउ श्रवनपुट पान॥" (उ० दो०

१२८)। यह जल आशा-रूपी प्यास हरकर श्रीरामजी में विश्वास दृढ़ करता है, यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तो कहहु कहाँ बिस्वासा॥" (उ० दो० ४५); अर्थात् इससे श्रीरामजी के शरण्यत्व आदि गुणों से औरों की आशा छूटकर उनमें विश्वास होगा।

'मनोमलहारी।' विषय ही मन की मैल है, यथा—"मन मलिन बिषय सँग लागे।" (वि० ८२); तथा—"काई बिषय मुकुर मन लागी।" (दो० ११४); इसके श्रवण से श्रीरामजी में प्रीति होती है, तब सब इन्द्रियों के विषय श्रीरामजी ही हो जाते हैं। विषय-तृष्णा छूट जाती है, यथा—"उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु-पद-प्रीति सरित सो बही॥" (सुं० दो० ४८); "रामचरन अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै।" (वि० ८२)।

राम सुप्रेमहि पोषत पानी। हरत सकल कलि-कलुष-गलानी॥३॥
भव-श्रम-सोषक तोषक तोषा। समन दुरित दुख-दारिद-दोषा॥४॥

अर्थ—यह जल श्रीरामजी में सुष्ठु प्रेम को बढ़ाता है और कलियुग के सारे पापों की ग्लानि का हरण करता है॥३॥ संसार के आवागमन के परिश्रम का शोषण करनेवाला, सन्तोष को भी सन्तुष्ट करनेवाला तथा पाप और दुःख-दरिद्रता आदि दोषों का नाश करनेवाला है॥४॥

विशेष—(१) 'राम सुप्रेमहिं पोषत···'—वह जल देह पुष्ट करता है, यह राम-प्रेम को पुष्ट करता है, यही राम-प्रेम को उत्पन्न भी करता है, यथा—"जननि जनक सियराम-प्रेम के।" (दो० ३१); अर्थात् माता-पिता की तरह राम-प्रेम को पैदा करता है, फिर उसे पुष्ट भी करता है। 'पानी' पद 'पानीय' का रूप है, अर्थात् पीने योग्य, इससे रामयश जल को श्रवण-पुट से पान करने योग्य लक्ष्य कराया है।

'हरत सकल कलि···' कलि के पापों को, जो मलिन-स्वभाव से हो गये हैं, समझकर ग्लानि होती है, यथा—"तउ न मेरे अघ अवगुन गनि हैं।" (वि० ९५); "जौं करनी आपनी बिचारौं तउ कि सरन हौं आवउँ।" (वि० १४२)। ये सब ग्लानियाँ राम-सुयश रूपी जल से दूर होती हैं, यथा—"जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥" (उ० दो० १); "कोटि बिप्र-बध लागहिं जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू॥" (सुं० दो० ४३); इत्यादि सुयश सुनकर दृढ़ प्रतीति के साथ शरण होने से ग्लानि नहीं रह जाती।

प्रथम रामकथा 'कलि को हरनेवाली' कही गई, यथा—"रामकथा कलि पन्नग भरनी।" (दो० ३०); फिर कहा कि यह उससे उत्पन्न कलुष को भी नाश करती है, यथा—"रामकथा कलि-कलुष-बिभंजनि।" (दो० ३०)। यहाँ कलुष-जन्य ग्लानि को भी हरना कहा है, तथा—"समन पाप संताप सोक के।" (दो० ३१)।

(२) 'भवश्रम सोषक ···' अनेक योनियों का भ्रमण परिश्रम है, यथा—भव-पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे।" (उ० दो० १२)। यही श्रम भवसागर का जल हुआ, यह उसे सोखता है। भव श्रम हरि-धाम प्राप्ति से नष्ट होता है, यथा—"मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गता॥ ···मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥" (गीता ८।१५-१६); वह धाम चरित से प्राप्त होता है, यथा—"रघुबंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं॥" (उ० दो० १३०)।

'तोषक तोषा'—संसार को सन्तुष्ट करनेवाले सन्तोष को भी सन्तुष्ट करता है, इस तरह के प्रयोग 'मानस' में अन्यत्र भी हैं, यथा—धीरजहू कर धीरज भागा।" (अ० दो० १५२)। जो परम सन्तोष पाकर आत्माराम जीवन्मुक्त हैं, वे भी इस चरित में रत रहने हुए सन्तोष पाने के लालायित रहते हैं, यथा—"सुनि गुन गान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी॥ जीवन्मुक्त ब्रह्म पर, चरित

सुनहिं तजि ध्यान।" (उ० दो० ४२); जीवन्मुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥" (उ० दो० ५२)।

'समन दुरित···' दुरित का अर्थ पाप है, पाप कारण है और दुःख-दारिद्र्य आदि कार्य हैं, यथा—"करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक बियोग।" (उ० दो० १००)। यह जल कार्य-कारण दोनों को हरता है। ऊपर 'हरत सकल कलि ···' एवं 'भव श्रम सोषक···' देखिये।

काम-कोह-मद-मोह-नसावन। बिमल-बिबेक-बिराग-बढ़ावन॥५॥
सादर मज्जन-पान किये ते। मिटहिं पाप परिताप हिये ते॥६॥

अर्थ—(यह जल) काम, क्रोध, मद और मोह का नाश करनेवाला तथा निर्मल विवेक और विराग का बढ़ानेवाला है॥५॥ आदर के साथ स्नान-पान करने से हृदय के सारे पाप एवं तज्जन्य परिताप दूर होते हैं॥६॥

विशेष—(१) 'काम-कोह मद···' कथा का मुख्य शत्रु काम है, यथा—"क्रोधिहिं सम कामिहिं हरिकथा। ऊसर बीज बये फल यथा॥" (सुं० दो० ५१)। इसलिये इसका नाम प्रथम लिया। ये कामादि मानस रोग हैं, मूल काम है, कामना-हानि पर क्रोध होता है। गुण-धन आदि की कामना सिद्धि पर मद होता है, तब फिर मोहवश होकर अपना स्वरूप भूल कर देहाभिमानी हो जाता है, अतएव इनका नाश होने पर ही विवेक-विराग बढ़ते हैं। इसलिये क्रम से कहे हैं। सामान्य विवेक-विराग और साधनों से भी बढ़ते हैं, यथा—"धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना।" (अर० दो० १५); पर 'बिमल बिबेक-बिराग' राम-सुयश से ही बढ़ते हैं। ये विवेक आदि सद्गुण हैं, इनकी उत्पत्ति भी चरित से ही होती है, यथा—"सदगुन सुरगन अंब अदितिसी।" (दो० ३०); यह प्रथम ही कहा था। यहाँ इन्हींका बढ़ाना भी कहा। विवेक-विराग की विमलता, यथा—"जानिअ तब मन बिरुज गोसाँई। जब उर बल बिराग अधिकाई॥ सुमति छुधा बाढ़इ नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई॥ बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई॥" (उ० दो० १२१)। चरित से ये सब बातें आती हैं, इस प्रकार विवेक-विराग बढ़ते हैं।

(२) 'सादर मज्जन पान···' सादर का भाव यह है कि आदर ही से फल प्राप्त होते हैं, यथा—"सादर मज्जहिं सकल त्रिबेनी।" (दो० ४३); "सेवत सादर समन कलेसा" (दो० १); एवं—"सोइ सादर सर मज्जन करई। महा घोर त्रय ताप न जरई॥" (दो० ३८)। राम-यश रूपी जल के सम्बन्ध में कहना-सुनना ही मज्जन-पान है, यथा—मज्जन पान पाप हर एका। कहत सुनत एक हर अबिबेका॥" (दो० १४)। 'सादर'—मन-मति-चित्त लगाकर सुनने का फल पाप-परिताप का मिटना कहा है। पाप का फल ही परिताप है। परिताप मानसी व्यथा (आधि) को कहते हैं। यथासंख्यालंकार की रीति से मज्जन-रूप कहने से पान और पान रूप सुनने से परिताप का दूर होना जानना चाहिये।

इस प्रसंग में पाप का नाश तीन बार कहा गया, यथा—(क) "हरत सकल कलि कलुष गलानी।", (ख) "समन दुरित···", (ग) "मिटहिं पाप···"। अतः, कायिक, वाचिक और मानसिक—तीनो पापों का नाश जानना चाहिये, यथा—"जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥" (अ० दो० १६६)।

सम्बन्ध—यहाँ तक चरित-सम्मुखता का फल कहा, आगे विमुखता का परिणाम कहते हैं—

जिन्ह येहि बारि न मानस धोये। ते कायर कलिकाल बिगोये॥७॥
तृषित निरखि रबिकर भवबारी। फिरहहि मृग जिमि जीव दुखारी॥८॥

अर्थ—जिन्होंने इस (राम-सुयश-रूपी) जल से अपना हृदय नहीं धोया, उन कायरों को कलिकाल ने नष्ट कर दिया है ॥३॥ वे जीव उन प्यासे मृगों की तरह, जो सूर्य-किरणों से उत्पन्न जल को देखकर मारे-मारे फिरते हैं, भटकते हुए दुखी रहा करेंगे ॥८॥

विशेष—(१) 'जिन्ह येहि बारि···' जैसे देह पर मिट्टी आदि की मैल लगी रहती है, वह नहाने से छूटती है, वैसे मानस की मैल श्रीराम-सुयश रूपी जल के कहने-सुनने से छूटती है, यथा—"जनम अनेक किये नानाबिधि करम कीच चित सान्यो। होइ न बिमल बिबेक नीर बिनु, बेद पुरान बखान्यो ॥" (वि० ८८)। इसमें विवेक को जल कहा है। यह भी राम-सुयश से ही होता है, यथा—"पुनि बिवेक पावक कहँ अरनी।" (दो० ३०)। अतः, अभेद है, तथा—"आस पियास मनोमल हारी।" (उपर्युक्त ।

'ते कायर···' कायर शब्द कादर का ही रूपान्तर है। जैसे लोचन का लोयन, मदन का मयन, आदि। बिगोये (विगोपन) = नष्ट किये हुए, यथा—"राज करत निज कुमति बिगोई।" (अ० दो० २२)। जो लोग स्नान से डरते हैं, वे 'कादर' कहे जाते हैं, वैसे यहाँ राम-सुयश रूपी जल के श्रवण-कथन-रूप स्नान-द्वारा कलिकाल से युद्ध करना है, इसमें कदराने से कलिकाल नष्ट ही कर देगा। विषय में मन लगाना ही नष्ट होना है, यथा—"जो पै जानकीनाथ सों नातो नेह न नीच। स्वारथ परमारथ कहाँ कलि कुटिल बिगोयो बीच ॥" (वि० १९२)। वही नष्ट होने की दशा आगे कहते हैं—

(२) 'तृषित निरखि···' यहाँ उपर्युक्त नष्ट व्यक्तियों की दशा कहते हैं। बालू के मैदान में सूर्य-किरणों के संयोग से प्यासे मृग को जल का धोखा होता है। वह जल की आशा से दौड़ता फिरता है। इसीको 'मृगतृष्णा', 'मृगजल' आदि कहते हैं। सांसारिक विषय-सुख की आशा को 'मृगतृष्णा' कहते हैं, क्योंकि इससे तृप्ति नहीं होती और तृष्णा बढ़ती ही जाती है, यथा—"बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ बिषय-भोग बहु घी ते ॥" (वि० १९८); तथा—"जो पै राम-चरन रति होती।···तौ कत बिषय बिलोकि झूठ जल मन कुरंग ज्यों धावै।" (वि० १६८); "तौ कत मृगजल रूप बिषय कारन निसि बासर धावै।" (वि० ११६); यही आशा-रूप प्यास है, जिसका मिटना ऊपर श्रीराम-सुयश रूपी जल से कहा गया, यथा—"आस पियास मनोमलहारी।" अर्थात् यह मृगतृष्णा राम-सुयश रूपी जल की वर्षा से ही शान्त होती है।

दोहा—मति-अनुहारि सुबारि-गुन, गन गनि मन अन्हवाइ।
सुमिरि भवानी - संकरहिं, कह कवि कथा सुहाइ ॥

अर्थ—इस उत्तम जल के गुण-समूह को अपनी बुद्धि के अनुसार विचार कर और उसमें मन को स्नान (मनन) कराकर श्रीउमा-शिव का स्मरण-पूर्वक कवि (तुलसीदासजी) सुन्दर कथा कहता है।

विशेष—(१) 'मति अनुहारि···' श्रीरामजी के गुण तो अनन्त हैं, पर मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार उनमें से कुछ ही का विचार किया है, यथा—"यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके। तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥" (गीता २।४६); अर्थात् जैसे सब ओर से परिपूर्ण जलाशय में (प्यासा आवश्यकता भर ही ले लेता है) वैसे ही वेदविद ब्राह्मण को समस्त वेदों में जितना अंश आवश्यक हो, उतना ही (ग्रहण करना चाहिये)। प्रथम तीर्थ-माहात्म्य कह-सुनकर स्नान करने की विधि है। अतः, प्रथम गुण-गण कहकर मन को नहलाया, यथा—"गाधिसूनु सब कथा सुनाई। जेहि प्रकार सुरसरि महि आई ॥···तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाये। (दो० २११); तथा—"चित्रकूट-महिमा अमित, कही महामुनि गाइ। आइ नहाने सरितबर, सिय समेत दोउ भाइ ॥" (अ० दो० १३२); इत्यादि।

पूर्व ग्रन्थकार ने मन और मति को रंक कहा था, यथा—"मन मति रंक मनोरथ राऊ।" (दो० ७)। इसलिये मति को मानस-सर रूप चरित में नहलाया, यथा—"अस मानस मानस चख

चाही। भइ कवि बुद्धि बिमल अवगाही ॥" (दो० ३८); और यहाँ मन को कीर्त्ति-सरयू में स्नान कराया, यथा—"गुन गन गनि मन अन्हवाइ।" इस प्रकार दोनों को निर्मल करके अब श्रीराम-यश कहते हैं।

जल के गुण तीन बार कहे गये—१. पृथ्वी में आने से पूर्व के गुण—"बरषहिं राम-सुजस बर बारी।" से "राम भगत जन जीवन सोई ॥" (दो० ३५ ४-७); तक। २. फिर तालाब में आने पर के गुण—"भरेउ सुमानस सुथल थिराना।" से "राम सीय जस सलिल सुधा सम।" (दो० ३६); तक। ३. पुनः नदी में आने पर के गुण—"सती सिरोमनि सिय गुन गाथा।" से "सादर मज्जन पान किये ते। मिटहिं पाप परिताप हिये ते ॥" (दो० ४२।६); तक।

मानस-सर का माहात्म्य—"सोइ सादर सर मज्जन करई। महाघोर त्रय ताप न जरई ॥" (दो० ३८); कीर्त्ति सरयू का माहात्म्य—"नदी पुनीत सुमानस नंदिनि। कलिमल तृन तरु मूल निकंदिनि ॥" (दो० ३८); इसके पश्चात् रामायणी लोग मानस सर और कीर्तिसरयू के वर्णनों के मिलान भी कहते हैं, वे मिलान २१–२२ विषयों के हैं, विस्तार भय से यह मिलान प्रसंग यहाँ नहीं दिया गया।

मानस-सर एवं कीर्ति-सरयू प्रकरण यहाँ सम्पुटित हो रहा है। अमूल्य रत्न डब्बे में रक्खा जाता है, वैसे इस प्रकरण रूपी रत्न को आदि-अन्त के तीन-तीन उपक्रम-उपसंहार-रूपी डब्बों में सुरक्षित किया है, यथा—उपक्रम (क) "संभु-प्रसाद सुमति हिय हुलसी।" (ख) "सुमिरि उमा बृषकेतु।" (ग) "कवि तुलसी।" (दो० ३५); और उपसंहार, (क) "मति अनुहारि···" (ख) "सुमिरि भवानी-संकरहिं" (ग) "कह कवि कथा।" उपक्रम में नाम दिया और यहाँ 'कवि' मात्र लिखकर सम्बन्ध जनाया।

यह मानस-प्रकरण सम्पूर्ण चरित का बीज है। इसे हर-गिरिजा के स्मरण से सम्पुटित किया। अतः, इनके प्रसाद से साबर-मन्त्र जाल के महत्त्व की तरह इसके भी अक्षर-अक्षर से सर्व-सिद्धियाँ चाहते हैं। यह वर्णन दो० १४-१५ में किया गया है।

पूर्वोक्त—"जस मानस, जेहि बिधि भयेउ, जग प्रचार जेहि हेतु।" की तीनो प्रतिज्ञाएँ यहाँ तक पूरी हुईं। आगे संवादों का प्रसंग कहेंगे।

मानस-प्रकरण (कीर्त्ति-सरयू सहित) समाप्त।

अब रघुपति-पद - पंक-रुह, हिय धरि पाइ प्रसाद।
कहउँ जुगल मुनिवर्य कर, मिलन सुभग संबाद ॥४३॥

अर्थ—अब मैं श्रीरघुनाथजी के चरण-कमलों को हृदय में रखकर और उनकी कृपा प्राप्त कर दोनों मुनिश्रेष्ठों का मिलना और उनका सुन्दर संवाद (प्रसंग) कहता हूँ।

विशेष—(१) 'अब' से पूर्व प्रसंग का स्मरण करते हैं—"जगबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनिबरहिं सुनाई ॥···कहिहउँ सोइ संबाद बखानी।" (दो० २९)। वहाँ—'कहिहउँ' कहा था, वही अब ('कहउँ') कहते हैं।

ऊपर—'सुमरि भवानी संकरहिं' कहकर तब यहाँ 'रघुपति-पद···' अर्थात् श्रीराम-चरण-कमल का हृदय में धरना और प्रसाद पाना लिखा, क्योंकि शिव-कृपा से श्रीराम-पद की प्राप्ति होती है, यथा—"जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी ॥" (दो० १३७); एवं प्रथम—"सुमिरि सिवासिव पाइ पसाऊ।" (दो० १४); कहा ही था। अब यहाँ 'पाइ प्रसाद' अर्थात् श्रीराम-प्रसाद पाना लिखा है। अतः, यह काव्य देव-प्रसाद है। यद्यपि पूर्व में श्रीरामजी की बहुत प्रकार से वन्दना कर आये, तथापि अब यहाँ से रामायण के मुख्य प्रसंग का प्रारम्भ है। अतः, 'रघुपति-पद' से माधुर्य रूप की फिर वन्दना की।

'जुगल मुनिवर्य' का संवाद कर्मघाट का है, इसीसे कथा प्रारम्भ करते हैं। इसके बाद ज्ञानघाट और उसके पीछे उपासनाघाट कहेंगे, क्योंकि प्रथम कर्म से अन्तःकरण शुद्ध होकर भगवान् के स्वरूप का ज्ञान होता है, तब उत्तम उपासना की होती है। मुनिवर्य के संवाद से प्रारम्भ कर रहे हैं, क्योंकि पहले ही अपनी प्रतिज्ञा लिख चुके हैं—"मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥" (दो० १२)।

भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा। तिन्हहिं राम-पद अति अनुरागा॥१॥
तापस सम-दम-दया-निधाना। परमारथ-पथ परम सुजाना॥२॥

अर्थ—श्रीभरद्वाज नामक मुनि प्रयाग में रहते हैं, उन्हें श्रीरामजी के चरणों-में बहुत ही प्रेम है॥१॥ वे तपस्वी हैं तथा शम, दम और दया के निधान हैं, साथ ही परमार्थ-मार्ग में बड़े ही चतुर हैं॥२॥

विशेष—(१) 'भरद्वाज मुनि बसहिं ··' भरद्वाजजी का स्थान प्रयाग है। चारो वक्ताओं के स्थान दो० ३४ चौ० १३ के विशेष में देखिये।

भरद्वाज मुनि की कथा

विश्वकोष में लिखा है—'द्वाभ्यां जायते इति जन्=ड् ततः पृषोदरादित्वात् द्वाजः=सङ्करः, भ्रियते मरुद्भिरिति भृ-अप् भरः भरश्चासौ द्वाजश्चेति कर्मधा०, अर्थात् उतथ्य की पत्नी ममता थी। बृहस्पति ने उस भ्रातृभार्या से सहवास किया। अतः, अन्य के क्षेत्र से अन्य के द्वारा उत्पन्न होने से बालक द्वाज (संकर) हुआ। पुनः इस बालक के भरण-पोषण पर ममता-बृहस्पति में वाद हुआ, दोनों छोड़ कर चले गये। मरुद्गण ने बालक को ले जाकर इसका भरण-पोषण किया। इससे इनका नाम 'भरद्वाज' हुआ।

भरत ने पुत्र-कामना से मरुत्स्तोम यज्ञ किया। मरुद्गण इस यज्ञ से सन्तुष्ट हुए, तब यही पुत्र दिया। भरत ने वितथ (पुत्र सम्भावना विफल) रहने पर इन्हें यज्ञ से प्राप्त किया, इससे इनका एक नाम वितथ भी है। इनके पुत्र मनु थे—(भाग० ९।२०,२१ अ०, विष्णु पु० ४। १९ अ०)।

महाभारत में लिखा है—ये किसी समय हिमालय पर तपस्या कर रहे थे। घृताची अप्सरा को नग्न देख मुनि का वीर्य-स्खलन हुआ, उसे उन्होंने द्रोण में रक्खा, उससे द्रोणाचार्य का जन्म हुआ था। भाव-प्रकाश में लिखा है कि मुनियों की प्रेरणा से इन्होंने स्वर्ग जा इन्द्र से आयुर्वेद का यथाविधि अध्ययन किया और फिर भूतल में आकर ऋषियों को शिक्षा दी।

"प्रजा-जनों का भरण करते थे, इसलिये भरद्वाज नाम पड़ा"—महा० अनुशा० ६३।६२। ये श्री वाल्मीकिजी के शिष्य हैं। वन-यात्रा में श्रीरामजी की और श्रीभरतजी की पहुनई इन्होंने विशेष रूप से की है। यह कथा श्रीमद्वाल्मीकीय और इस ग्रन्थ में भी है।

(२) 'तापस सम दम···' तापस, यथा—"सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥" (अ० दो० २०९); इन्द्रियों को वश में करने के लिये तथा मनोरथ-सिद्धि के लिये भी सांसारिक व्यवहारों से पृथक् रहकर व्रतोपवास आदि नियम से रहने को 'तप' कहते हैं। तप कायिक, वाचिक और मानसिक और गुणत्रय रीति से तीन-तीन प्रकार के (गीता १७।१४-१९); माने गये हैं। 'सम'—अन्तःकरण का निरोध करना। 'दम'—बाह्य इन्द्रियों का रोकना। 'दया'—निःस्वार्थ परोपकार करना। भरद्वाज जी इन तीनों गुणों में पूर्ण हैं। यहाँ 'तापस' शब्द से अपने शरीर को बाह्य इन्द्रियों का और शम, दम, दया से अन्तःकरण का कसना जनाया है। साथ ही ये स्वयं तो कष्टसहिष्णु हैं ही, पर दूसरों के लिये दया के निधान हैं। प्रयाग में कल्पवास एवं तप, दया आदि करते हैं, इससे इनका कर्मकाण्डी होना सूचित हुआ। पूर्वोक्त 'घाट मनोहर चारि' की व्याख्या देखिये।

'परमारथ पथ परम···' अर्थ-द्रव्य आदि लौकिक वस्तुओं को कहते हैं और परम अर्थ से विवेक-विराग आदि पारलौकिक सामग्री का ग्रहण होता है, यथा—"येहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी ॥" (अ० दो० ९२)। परमार्थ पथ में 'परम सुजान' कहकर इनका श्रेष्ठ ज्ञानी होना भी जनाया।

ऊपर 'अति अनुरागा' से उपासना में श्रेष्ठता और इस चौ० में 'निधान' और 'परम सुजान' से कर्म और ज्ञान में श्रेष्ठता कही गई है। उपासना इनके हृदय में प्रधान है, इसलिये प्रथम उसीकी चर्चा की गई।

माघ मकर-गत रवि जब होई। तीरथपतिहिं आव सब कोई ॥३॥
देव - दनुज - किन्नर-नर-श्रेनी। सादर मज्जहिं सकल त्रिवेनी ॥४॥
पूजहिं माधव - पद - जलजाता। परसि अषयबट हरषहिं गाता ॥५॥

अर्थ—माघ के महीने में जब सूर्य मकर राशि में आते हैं तब तीर्थराज प्रयाग में सब कोई आते हैं ॥३॥ देवताओं, दैत्यों, किंपुरुषों और मनुष्यों के झुंड आदर के साथ त्रिवेणीजी में स्नान करते हैं ॥४॥ वे वेणीमाधव के चरण-कमलों की पूजा करते हैं और अक्षयवट का स्पर्श करके शरीर से हर्षित होते हैं। (अक्षयवट का स्पर्श करने एवं भेंटने की रीति है)।

विशेष—(१) 'माघ मकर-गत रवि···' यहाँ 'माघ' और 'मकरगत रवि' से चान्द्र (अमावस्या से अमावस्या तक चान्द्रमास है) और सौर (संक्रान्ति से संक्रान्ति तक सौरमास कहाता है) दोनों मास सूचित किये। आगे इन दोनों को स्पष्ट भी कहेंगे—"येहि प्रकार भरि माघ नहाहीं।" "एक बार भरि मकर नहाये।" (दो० ४४)। माघ-स्नान चन्द्रमा की तिथि के अनुसार पूर्णमासी तक होता है और मकर-स्नान मकर की संक्रान्ति से प्रारम्भ होता है, वह चाहे पौष में पड़े, चाहे माघ में। 'सब कोई' जिन्हें देव आदि नामों से आगे कहा है।

(२) 'देव - दनुज···' इनमें देव - किन्नर स्वर्ग के, दनुज पाताल के और नर मर्त्यलोक के हैं। नर शब्द को अन्त में दिया और उसकी श्रेणी भी लिखी। इससे जनाया कि सब कोई नर-रूप में ही आते हैं।

"सादर मज्जहिं···" क्योंकि सादर स्नानादि से ही तीर्थ का फल मिलता है, यथा—"सादर मज्जन पान किये ते। मिटहिं पाप परिताप हिये ते ॥" (दो० ४२); एवं—"सेवत सादर समन कलेसा।" (दो० १); प्रयाग में सादर मज्जन की रीति यह है कि लोग वहाँ भद्र होते हैं (सिर, मूँछ और दाढ़ी मुड़ाते हैं), माहात्म्य सुनते, स्नान-दान करते और त्रिवेणी की पूजा करते हैं।

(३) "पूजहिं माधव-पद···" क्योंकि भगवान् का चरण भी प्रयाग ही है, यथा—"रामचरन अभिराम कामप्रद तीरथराज बिराजै। ··प्रभु-पद प्रयाग अनुरागे ॥" (गी० उ० १५); इस पद में पूरा रूपक है। पुनः बारह महीनों में भगवान् बारह नामों से पूज्य माने जाते हैं, उनमें माघ के माधव नामधारी पूज्य हैं, इसीसे यहाँ इनकी पूजा की विशेषता है।

प्रलय-काल में माधव अक्षयवट के पत्र पर निवास करते हैं। इसलिये यहाँ साथ ही अक्षयवट का स्पर्श भी होता है।

'पूजहिं माधव' में 'दर्शन', 'परसि अषयवट' में स्पर्श और 'सादर मज्जहिं' में स्नान भी कहा, क्योंकि—"दरस परस मज्जन अरु पाना। हरइ पाप कह बेद-पुराना ॥" (दो० ३४); ऐसा कहा है।

यहाँ चार प्रयाग हैं—एक तो त्रिवेणी-रूप में भूमंडल का प्रयाग, दूसरा माधव-पद प्रयाग, तीसरा भानु-मंडल का प्रयाग होता है। काष्ठजिह्वा स्वामी ने कहा है—कुछ उदित रवि गंगा, प्रातःकाल की पूर्व की अरुणाई सरस्वती, कुछ रात्रि का सम्बध यमुना होकर वह काल प्रयाग माना जाता है। मकर के सूर्य

भी अरुण नाम के होते हैं, यथा—'अरुणो माघ मासे तु'। प्रयाग-स्नान इसी समय श्रेष्ठ माना जाता है। सन्त-समाज भी एकत्र होने पर चौथे 'साधु समाज प्रयाग' दो० २ का भी सत्संग-रूप मज्जन होता है।

भरद्वाज - आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिवर-मन-भावन ॥६॥
तहाँ होइ मुनि-रिषय-समाजा। जाहिं जे मज्जन तीरथराजा ॥७॥
मज्जहिं प्रात समेत उछाहा। कहहिं परस्पर हरि-गुन-गाहा॥८॥

शब्दार्थ—रम्य=रमणीक। मुनि और ऋषि, दोनों अन्यत्र पर्यायी शब्द रहते हैं, यहाँ दोनों हैं। (मुनि=मननशील, ऋषि=मन्त्र-द्रष्टा)। प्रात=रात के अन्त में सूर्योदय के पूर्व का काल। यह तीन मुहूर्त्त का माना गया है। सूर्योदय से डेढ़ घंटे पहले से अर्थात् जब पूर्व में कुछ प्रकाश (एवं अरुणाई) देख पड़ता है, तब से प्रातःकाल माना जाता है (हिं० श० सा०)। गाहा (गाथा)=कथा।

अर्थ—श्री भरद्वाजजी का आश्रम बहुत ही पवित्र और रमणीक तथा मुनिश्रेष्ठों के मन को रमानेवाला है ॥६॥ वहाँ (उन) मुनियों और ऋषियों का समाज एकत्र होता है, जो तीर्थराज (प्रयाग) में स्नान करने जाते हैं ॥७॥ प्रातःकाल सब उत्साह के साथ स्नान करते हैं और आपस में भगवान् के गुणों की कथा कहते हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'भरद्वाज-आश्रम···' 'अति पावन'—पावन तो औरों के भी आश्रम हैं, पर इनका अति पावन है, क्योंकि—'तहाँ होइ मुनि रिषय समाजा।' आगे कहा है। 'मुनिबर मन-भावन'—जो स्थान पवित्र और रमणीक होता है, वही मुनिवरों को भाता है, यथा—"आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा ॥" (दो० १२४); "सुचि सुन्दर आश्रम निरखि, हरषे राजिव-नैन ॥" (अ० दो० १२८)।

(२) 'तहाँ होइ मुनि रिषय···' अर्थात् आते सभी हैं, पर समाज बाहर से आनेवाले मुनियों तथा ऋषियों का ही होता है। औरों का समाज भी अन्य स्थलों पर भले ही होता हो, पर 'तहाँ' (भरद्वाज के आश्रम) पर नहीं।

(३) 'मज्जहिं प्रात समेत···'—स्नान तीन काल भी होता है, पर प्रातःकाल का स्नान मुख्य होता है और भरद्वाज-आश्रम पर समाज का जुड़ना इसी समय का नियम है। अन्यत्र अनेक स्थानों में प्रायः दिन के चौथे पहर में कथा होती है। पहले 'सादर मज्जहिं सकल त्रिबेनी' में सब किसीका स्नान कहा गया था, यहाँ 'मज्जहिं प्रात···' इस अर्द्धाली में 'तहाँ होइ ··जाहि जे ··' इनका स्नान कहा गया है।

'समेत उछाहा'—क्योंकि उत्साहपूर्वक कार्य से धन-धर्म की वृद्धि होती है, अन्यथा हानि, यथा—"उत्साहभंगे धन-धर्महानिः।" यह प्रसिद्ध है। यह भी भाव है कि वे सब शीत से नहीं डरते।

'परस्पर'—यह कोई नियम नहीं रहता कि कोई विशेष व्यक्ति ही कथा कहे, प्रत्युत देश-देश के मुनि-ऋषि रहते हैं। अतः सबकी वाणी सुनने की रुचि सबको रहती है। समय-समय पर अपनी अपनी मति के अनुसार सभी कहते हैं।

प्रथा भी चल पड़ी है कि प्रातः स्नान करे, फिर माधव-पूजन तथा अक्षयवट-स्पर्श करके भरद्वाज-दर्शन-पूर्वक कथा सुने।

सम्बन्ध—'भरद्वाज-आश्रम' से देश तथा 'प्रात' से काल का निर्देश किया। अब अगले दोहे में वस्तु कहते हैं, जो उस देश-काल में होती है—

दोहा—ब्रह्म-निरूपन धर्म-बिधि, बरनहिं तत्त्व-बिराग।
कहहिं भगति भगवंत के, संयुत ज्ञान-बिराग ॥४४॥

शब्दार्थ—ब्रह्म-निरूपन=ब्रह्म का विचार=उत्तर मीमांसा। धर्म-विधि=पूर्व-मीमांसा (जिसमें धर्म-कर्म का विधान है)। तत्त्व-विभाग=सांख्य-शास्त्र, यथा—"सांख्यसास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना। तत्त्व-बिचार निपुन भगवाना॥" (दो० १४१)। भगति अर्थात् भक्ति के एवं उसके ग्रन्थ=शाण्डिल्य सूत्र, आदि। ज्ञान=उत्तर मीमांसा के साधनांश।

अर्थ—(उस गोष्ठी में मुनि लोग) ब्रह्म के निरूपण, धर्म के विधान एवं तत्त्वों के विभाग की वर्णन करते हैं और ज्ञान-वैराग्य के साथ भगवान् की भक्ति कहते हैं।

विशेष—(१) 'ब्रह्म निरूपन ···' इस दोहे के पूर्वार्द्ध में तीन बातें कही गई हैं और इन्हीं तीनों की धर्मभूत तीन बातें उत्तरार्द्ध में हैं। जैसे ब्रह्म-विचार का निष्कर्ष ज्ञान है और धर्म-विधान का वैराग्य, यथा—"धरम ते बिरति जोग ते ज्ञाना।" (अर० दो० १५)। तत्त्व-विभाग का निर्णय होने पर जीव का कर्त्तव्य भगवान् की भक्ति ही रह जाता है। इनमें प्रथम ब्रह्म-निरूपण होता है, तब धर्म-विधि की आवश्यकता होती है, फिर धर्म-निष्ठ को तत्त्व-विभाग की अनिवार्य आवश्यकता होती है। तब तत्त्व-निर्णीत भक्ति के सहायक-रूप में ज्ञान-विराग रहते हैं।

(२) 'ब्रह्मनिरूपन'—यह प्रसंग पूर्व—"एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥" (दो० १२); के विशेष में कहा गया है। वहीं देखना चाहिये। उसका निष्कर्ष यह है कि ब्रह्म के एक अनीह-अरूप आदि नञ्रो विशेषणों के लक्ष्य से जीव क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, प्रकृति और स्वेच्छा नाम के नञ्रो आवरणों से मुक्त हों। ये नौ आवरण इसकी सांसारिक सुखों की चाह (राग) से हुए हैं। 'अतः, विराग की आवश्यकता होती है और विराग का साधन धर्म है। अतः, आगे 'धर्म-बिधि' कहते हैं।

(३) 'धर्म-बिधि'—धर्म-शास्त्र में कथित विधि। विधि-निषेधात्मक कर्म-धर्म का विधान कहा जाता है, यथा—"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु। यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥' (गीता १८।४५-४६); यहाँ 'सिद्धि' वैराग्य के अर्थ में है, क्योंकि इसे ही आगे 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' कहकर फिर 'सिद्धिं प्राप्तः' (गीता १८।४९ ५०); से यही वैराग्यपरक अर्थ बतलाया गया है, तथा—"प्रथमहिं बिप्र-चरन अति प्रीती। निज-निज कर्म-निरत श्रुति-रीती॥···येहि कर फल मन बिषय बिरागा।" (अर० दो० १५); इत्यादि रीतियों से वैराग्य होगा, परन्तु इसमें आसक्ति और फलेच्छा त्याग के साथ कर्म-योग के लिये तत्त्व-विभाग के ज्ञान की आवश्यकता है, यथा—"एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च। कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥" (गीता १८।६); इसमें के 'सङ्ग' अर्थात् कर्तृत्वाभिमान रूप आसक्ति और फलेच्छा की तभी निवृत्ति हो सकती है, जब कर्तृत्व से अपने को पृथक् जाना जाय। अतः, तत्त्व-विभाग का ज्ञान चाहिये।

(४) 'तत्त्व-विभाग'—यथा—"महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रिय-गोचराः (गीता १३।५)। इसमें पञ्चतत्त्व, अहंकार, बुद्धि और चित्त, ११ इन्द्रियाँ (मन और दसो इन्द्रियाँ) और पाँच विषय—इन चौबीस तत्त्वों का स्थूल शरीर कहा गया है। महा० शान्ति० अ० ३०८ में अव्यक्त प्रकृति को चौबीस की संज्ञा से और बुध्यमान जीव को पचीस की संज्ञा से कहा है। यह भी कहा है कि पचीसवाँ तत्त्व बुध्यमान जीव चौबीस संज्ञक प्रकृति को जानता है, पर यह छबीसवें ब्रह्म को नहीं जान सकता, तथा—"षड्विंशं विमलं बुद्धमप्रमेयं सनातनम्। सततं पञ्चविंशं च चतुर्विंशं च बुद्ध्यते॥

दृश्यादृश्ये ह्यनुगतं स्वभावेन महाद्युते। अव्यक्तमत्र तदब्रह्म बुद्ध्यते तात केवलम्॥" (श्लोक ७-८); अर्थात् जो कार्य-कारण रूप स्थूल-सूक्ष्म समस्त पदार्थों में सदा स्व-सत्ता से प्राप्त रहता है, वही छब्बीस की संज्ञा से कहा गया है। वह चौबीसवीं प्रकृति और पचीसवें जीव को भी जानने में समर्थ है।

चौबीस तत्त्वों का निष्पन्न शरीर प्रकृति का परिणाम है, इसका ज्ञाता एवं आधार क्षेत्रज्ञ संज्ञक जीव है, इससे यह पचीसवाँ कहा गया है, और इस चौबीसवें और पचीसवें का सम्यक् आधार व्यापक ब्रह्म है, इससे वह छब्बीसवाँ कहाता है। इस क्रम को श्रीगोस्वामीजी ने भी स्पष्ट कहा है, यथा—"बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता॥ सबकर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥" (दो० ११६); इसका भाष्य देखिये, इस प्रसंग में विषयों की आधारभूता इन्द्रियाँ, इन्द्रयों के आधार उनके देवता और उन देवों का आधार जीव तथा इस जीव का एवं सबका भी आधार एवं परमप्रकाशक ब्रह्म श्रीरामजी कहे गये हैं। प्रत्येक कर्म के पाँच कारण कहे गये हैं, यथा—"अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ शरीर-वाङ् मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥" (गीता १८।१४-१५); अर्थात् अधिष्ठान (शरीर), कर्ता (जीव), इन्द्रियाँ, प्राण और दैव (ईश्वर)—इन पाँच के द्वारा कर्म होते हैं। इनमें शरीर, इन्द्रियाँ और प्राण तो जड़ ही हैं। रहा जीव—उसका कर्तृत्व ईश्वर-परतन्त्र है, यथा—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥" (गीता १८।६१)। अतः, यह (जीव) ईश्वर का नियाम्य (नियम में चलनेवाला) मात्र है, तो इसका कर्तृत्वाभिमानी होना अयोग्य है। अपनी प्रकृति रूपी देह के द्वारा ईश्वर ही कर्त्ता है, यथा—"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥" (गीता ३।२७); अर्थात् प्रकृति के सत्त्वादि गुणों के प्राधान्य से तीनों अवस्थाओं के कार्य होते हैं।

आकाशादि तत्त्वों के साहाय्य में सात्त्विक अहंकार द्वारा कान आदि इन्द्रियों का निर्माण होता है, वे सब अपने-अपने मूल तत्त्व के शब्दादि विषयों के प्रवाह में निमग्न रहती हैं अर्थात् श्रोत्र (कान) आकाश के विषय (शब्द) में, त्वचा वायु के विषय (स्पर्श) में और नेत्र अग्नि के विषय (रूप) में स्वभावतः अनुरक्त रहा करता है। वैसे ही जीव ईश्वर का अंश है, यथा—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।" (गीता १५।७); तथा—"ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥" (उ० दो० ११६)। अतः, इसे गुण-कृत कार्यों से अनधिकार चेष्टा-रूप अहंकार-वृत्ति हटाकर अपने अंशी ईश्वर की भक्ति करनी चाहिये। उसीमें इसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होनी चाहिये, यथा—"तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै। जेहि सुभाय बिषयनि लग्यो त्यों सहज नाथ सों नेह छाड़ि छल करिहै॥" (वि० २६८); तथा—"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः, सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥" (वि० पु० १।२०।१९); अर्थात् श्रीप्रह्लादजी ने भगवान् से कहा है कि अविवेकी पुरुषों की जिस प्रकार विषयों में अविचल प्रीति रहती है, आपका स्मरण करते हुए वैसी ही प्रीति मेरे हृदय से कभी दूर न हो, एवं—"विषयेष्वविवेकानां या प्रीतिरुपजायते। वितन्वते तु तां प्रीति शतकोटिगुणां हरौ॥" (स्कन्द पु० वैष्णव खण्ड, उत्कल० १०।१०४-१०५); अर्थात् श्रीनारदजी ने राजा इन्द्रद्युम्न से कहा है कि अज्ञानी मनुष्यों की विषयों में जैसी प्रीति उपजती है, उससे सौकोटि गुणी अधिक प्रीति का विस्तार वे श्री हरि के प्रति करते थे, तथा—"सेवहिं लखन सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥" (अ० दो० १४१)। अतः, इस प्रकार ब्रह्म के अंशभूत जीव की स्वाभाविक वृत्ति है।

(५) 'भगति भगवंत कें'—भगवन्त (भगवान्) शब्द में ही भक्ति का बीज है अर्थात् भगवान् अपने षडैश्वर्यों (ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज) के द्वारा जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार करते हैं। जैसे खेत को जो बोता है, सींचता है और काटता है, उसका अन्न उसीके लिये होता

है। उस अन्न का वही भोक्ता है, अन्न भोग्य है। वैसे ही जगत् रूप खेत के तीनों कार्य (उत्पत्ति-पालन-संहार) करने से भगवान् ही भोक्ता हैं और सम्पूर्ण जगत् के चराचर जीव उनके भोग्य हैं। जीव का हर अवस्था में भगवान् के भोग्य रूप में रहना ही भक्ति है, तथा—"तासु भजन कीजिय तहँ भरता। जो करता पालक संहरता॥" (लं० दो० ६); इसका विशेष भी देखिये। कान से उनका यश श्रवण, हाथ से कैंकर्य (सेवा), नेत्र से दर्शन आदि करते रहना इन्द्रियों द्वारा भोग्यत्व है, यथा—'हृषीकैश्च हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते।" (नारद पञ्चरात्र)। यह नवधा भक्ति है, यही परिपक्व होने पर प्रेमा और फिर परा रूप में परिणत होती है। विस्तार-भय से इनके भेदों को यहाँ नहीं लिखते। अर० दो० १५-१६ एवं ३५ देखिये, तथा तीनों भक्तियों के लक्षण विशेष रूप से वि० १६७ के 'सिद्धान्त-तिलक' में देखिये।

(६) संयुत ज्ञान-विराग'—ऊपर कह आये हैं कि ब्रह्म-निरूपण का निष्कर्ष रूप ज्ञान और धर्म-विधि का निष्कर्ष रूप वैराग्य है। उन्हीं को यहाँ अंग-रूप में भक्ति का सहायक होना कहा है। उस ज्ञान के प्रसंग में वहाँ एक अमानित्व आदि गुणों के प्रदर्शन में भगवान् का निस्स्वार्थ भाव से जीवों का पालन करना दिखाया गया है; और उनकी महिमा भी ज्ञात हुई। इससे प्रतीतिपूर्वक प्रीति दृढ़ रहेगी। पुनः उक्त वैराग्य से अन्य कर्मों की चेष्टा से बची हुई इन्द्रियाँ भजन में लगी रहेंगी। प्राकृत कामनाओं से वैराग्य रहने में भक्ति की अनन्यता भी सुरक्षित रहेगी, यथा—"कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्य-देवताः। तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥" (गीता० ७।२०); अर्थात् कामनाओं की पूर्त्ति के लिये ही अन्य देवताओं की आराधना में चित्त-वृत्ति दौड़ती है।

अतएव, इस साधु-समाज प्रयाग के सत्संग का निष्कर्ष ज्ञान-विराग संयुक्त भक्ति है, यही और जगह भी कही गई है, यथा—"जुग बिच भगति देवधुनि-धारा। सोहति सहित सुबिरति बिचारा॥" (दो० ३९); "श्रुति-संमत हरि-भगति-पथ, संयुत बिरति बिवेक।" (उ० दो० १००); इत्यादि।

यह सत्संग इस ग्रन्थ का मूलाधार है, क्योंकि यहीं के सत्संग से कथा का उद्‌घाटन हुआ है। अतः, इस दोहे में कहे हुए विषय आगे ग्रन्थ में जहाँ-तहाँ विस्तारपूर्वक कहे जायँगे।

येहि प्रकार भरि माघ नहाहीं। पुनि सब निज-निज आश्रम जाहीं॥१॥
प्रति संबत अस होइ अनंदा। मकर मज्जि गवनहिं मुनिबृंदा॥२॥

अर्थ—इसी प्रकार सब माघ महीने भर स्नान करते हैं और फिर वे अपने-अपने आश्रमों को चले जाते हैं॥१॥ प्रत्येक वर्ष ऐसा ही आनन्द होता है और मुनियों की मंडलियाँ मकर-स्नान करके चली जाती हैं॥२॥

विशेष—(१) 'येहि प्रकार भरि माघ ·····' 'येहि प्रकार' से कथा का और 'भरि माघ' से माघ-स्नान का निरन्तर होना एवं पूरे माघ तक रहकर पूरा कल्पवास (किसी निश्चित समय तक अनवरत तीर्थ-सेवन) करना सूचित किया, क्योंकि कल्पवास में एक दिन भी कम होने से वह खंडित हो जाता है। ऐसा ही सौर मास के लिये भी आगे—'भरि मकर नहाये।' कहते हैं।

(२) 'प्रति संबत अस·····' कल्पवास में किसी वर्ष का अन्तर नहीं पड़ता अर्थात् किसी साल नियम खंडित हो जाने से कल्पवास अधूरा छूट जाता है। यहाँ 'चान्द्र', 'सौर' मास तथा वर्ष, इन तीनों की अखंडता कही गई।

'मकर मज्जि गवनहिं·····' प्रथम भी जाना कहा था—'पुनि सब निज'·····' ये चान्द्र मास वाले हैं, वे माघ की पूर्णिमा नहाकर चले जाते हैं। वे मकर की पूर्त्ति नहीं देखते और सौर मासवाले सौर मास देखते हैं, पर मुनिवृन्द तो दोनों रीतियों से मास की पूर्त्ति करके ही जाते हैं।

प्रथम भी 'आव सब कोई' और 'सादर मज्जहिं सकल त्रिवेनी।' सर्व साधारण के लिये कहकर, पीछे मुनियों का आना कहा गया है और मुनियों का स्नान भी पृथक् ही कहा गया है, यथा—"तहाँ होइ मुनि रिषय समाजा। जाहि जे मज्जन तीरथराजा॥" और—"मज्जहिं प्रात समेत उछाहू।" इसी तरह सर्वसाधारण का जाना भी प्रथम कहकर तब मुनियों का कहा।

एक बार भरि मकर नहाये। सब मुनीस आश्रमन्हि सिधाये॥३॥
जागबलिक मुनि परम बिबेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी॥४॥

अर्थ—एक बार मकर-भर स्नान करके सब मुनीश्वर अपने-अपने आश्रमों को चले गये॥३॥ परन्तु भरद्वाज मुनि ने परम विवेकी याज्ञवल्क्य मुनि के चरणों पर मस्तक लगा (प्रणाम कर) उनको रोक लिया॥४॥

विशेष—(१) 'एक बार भरि····' अर्थात् माघ और मकर बीतने पर फाल्गुन में कथा होगी।

(२) 'जागबलिक मुनि·····' ये देवरात के पुत्र और व्यास-शिष्य वैशम्पायन के भाँजे तथा शिष्य भी थे।

याज्ञवल्क्य मुनि की कथा

भाग० १२।६।५२–७४ में कथा है कि व्यासजी ने वेद के चार भाग किये। उन चारो में यजुर्वेदसंहिता अपने शिष्य वैशम्पायन को अध्ययन कराई, तथा ऋग्वेदसंहिता पैल को पढ़ाई। पैल ने उसके दो भाग कर एक भाग इन्द्रप्रमिति को और दूसरा वाष्कल को पढ़ाया। वाष्कल ने उसमें चार भागकर एक याज्ञवल्क्य को पढ़ाया।

वैशम्पायन के कुछ शिष्यों का नाम चरकाध्वर्यु था। उन्होंने गुरु आज्ञा से उनके प्रति लगी हुई ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त के व्रत का अनुष्ठान किया। इसपर याज्ञवल्क्यजी ने गुरुजी से कहा कि ये चरकाध्वर्यु अल्प शक्तिवाले हैं, मैं आपके प्रायश्चित्त के लिये कठिन तपस्या करूँगा। इसपर गुरुजी उन ब्राह्मणों का अपमान समझ इन शिष्य याज्ञवल्क्य पर कुपित होकर कहा कि मैं ब्राह्मण-अपमान करने वाले तुम ऐसे शिष्य को नहीं चाहता। तुम मुझसे प्राप्त विद्या का त्याग कर यहाँ से चले जाओ।

याज्ञवल्क्यजी देवरात के पुत्र थे। गुरु की आज्ञा पर उन्होंने उनसे पठित वेद का वमन कर दिया और वहाँ से चले गये। पीछे वैशम्पायन मुनि के और शिष्यों ने तीतर रूप धारण कर संहिता के उगले हुए मन्त्रों को धारण कर लिया, वे श्रुतियाँ 'तैत्तरीय' नाम से प्रसिद्ध हुईं।

याज्ञवल्क्यजी ने फिर सूर्य की उपासना की। गायत्री की विवृति रूप श्लोकों से सूर्य भगवान् की स्तुति की और अन्त में अपना अभीष्ट भी कहा कि मुझे ऐसे यजुर्वेद की प्राप्ति हो जो अबतक किसी को भी न प्राप्त हुआ हो। इसपर सूर्य भगवान् अश्व रूप से प्रकट हुए और उन्होंने उन यजुर्वेद के मन्त्रों का उपदेश किया, जो किसीको प्राप्त नहीं थे। फिर याज्ञवल्क्यजी ने यजुर्वेद के असंख्य मन्त्रों से उसको पन्द्रह शाखाओं की रचना की। वही वाजसनेय शाखा के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्हें कण्व, माध्यन्दिन आदि ऋषियों ने ग्रहण किया।

महाभारत शान्ति पर्व अ० ३१८ में भी जनकजी के पूछने पर याज्ञवल्क्यजी ने सूर्य से शुक्ल यजुर्वेद प्राप्ति की कथा कही है। वहाँ यह भी कहा गया है कि सूर्य भगवान् के वर से सरस्वतीजी ने याज्ञवल्क्य के मुख में प्रवेश किया है। तब मुहूर्त्त भर इन्हें जलन हुई। फिर शान्त होने पर सूर्य ने कहा कि अखिल आद्यन्त वेद तुममें प्रतिष्ठित होगा। तुम समस्त शतपथ ब्राह्मण का प्रणयन करोगे और फिर

तुम्हारी बुद्धि मोक्षमार्ग की अनुवर्त्तिनी होगी। पीछे सरस्वती प्रकट हुईं और रहस्य, संग्रह और परिशिष्ट के साथ सारा शतपथ ब्राह्मण प्रत्यक्ष हुआ।

फिर इन्होंने अपने मामा वैशम्पायन के सौ शिष्यों को भी उक्त शतपथ पढ़ाया और फिर मिथिलेश जनकजी के पिता के यज्ञ की पूर्त्ति कराई जो वैशम्पायनजी से न हो सकी थी। फिर दक्षिणा में दोनों का भाग हुआ।

इन्होंने सूर्य से प्राप्त विद्या से यह यज्ञपूर्त्ति की थी, इससे स्पष्ट है कि ये वैशम्पायन से भी अधिक वेदविद थे। इनकी कथा बृहदारण्य उपनिषद् में भी आई है। गार्गी और मैत्रेयी इन्हीं की पत्नियाँ थीं।

उपर्युक्त कथा से यह भी स्पष्ट है कि उस यज्ञपूर्त्ति के समय से आप निमिकुल गुरु वर्ग में हुए थे, यथा—"जोगी जागबलिक प्रसाद सिद्धि लही है।" (गी० बा० ८५); तथा—"यह सब जागबलिक कहि राखा।" (अ० दो० २८८)। इस कथा से 'परम विवेकी' होने का भाव प्रशस्त रूप में आ गया है।

'गाधेउ पद टेकी।'—'माथा टेकना,—पैर छूना, प्रणाम करना—भार्गव आ० हिं० कोष। अर्थात् चरणों पर सिर धरके प्रणाम करना। टेकना का अर्थ धरना है, यथा—"जानु टेकि कपि भूमि न गिरा। उठा सँभारि·····" (लं० दो० ८३); अर्थात् चरणों में प्रणाम करके चरण पकड़ लिये। भाव यह कि विदा करने की मेरी इच्छा नहीं है, बलात् आप भले ही चले जायँ। यह भी अभिप्राय है कि गुरु भाव से रोका, कुछ बराबरी से नहीं। गुह्य रहस्य पूछना था, इससे सब भीड़ के जाने पर सुस्थिर अवसर में पूछना चाहा था, क्योंकि यह अधिक काल में होने वाला विषय है।

सादर चरन सरोज पखारे। अति पुनीत आसन बैठारे ॥५॥
करि पूजा मुनि-सुजस बखानी। बोले अति पुनीत मृदुबानी ॥६॥

अर्थ—(भरद्वाजजी ने) आदर के साथ चरण-कमलों का प्रक्षालन करके उन (याज्ञवल्क्यजी) को अत्यन्त पवित्र आसन पर बैठाया ॥५॥ मुनि की पूजा करके उनका सुयश-वर्णन (स्तुति) किया और अति पवित्र कोमल वाणी में कहा ॥६॥

विशेष—'करि पूजा'—षोड़शोपचार पूजन किया, यथा—"आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्। मधुपर्काचमनं स्नानं वस्त्राण्याभरणानि च॥ सुगन्धं सुमनोधूपं दीपं नैवेद्यवन्दनम्।" इनमें यहाँ चरण धोना (पाद्य) और आसन—दो विधान कहकर स्तुति कही है। शेष को 'पूजा' शब्द से सूचित किया। 'सुजस बखानी'—आपने अमुक-अमुक का अज्ञान दूर किया था, अमुक-अमुक को भक्ति-उपदेश से कृतार्थ किया, बड़े-बड़े ज्ञानी जनक आदि भी आपके पद-कंज के भ्रमर हैं। 'अति पुनीत मृदुबानी।' निश्छल एवं सरल वाणी पुनीत कही जाती है, यथा—"लछिमन बचन कहे छलहीना।" (अर० दो० १३); "सुनत गरुड़ के गिरा बिनीता। सरल सप्रेम सुखद सु पुनीता॥" (उ० दो० ६३); अपनी चतुराई दिखाने अथवा परीक्षा लेने के विचार से किये हुए प्रश्न 'अपुनीत' हैं; पर ये वचन निश्छल (पुनीत) हृदय से कहे गये और कानों को सुनने में कोमल भी हैं।

नाथ एक संसय बड़ मोरे। करगत बेद-तत्त्व सब तोरे ॥७॥
कहत सो मोहिं लागत भय लाजा। जौ न कहउँ बड़ होइ अकाजा ॥८॥

अर्थ—हे नाथ! मेरे हृदय में एक बड़ा सन्देह है और सम्पूर्ण वेद-तत्त्व आपके हाथ में प्राप्त हैं (आप उसे भली-भाँति जानते हैं) ॥७॥ वह (संशय) कहने में मुझे डर और लज्जा लगती है और यदि नहीं कहता तो बड़ी भारी हानि होती है ॥८॥

विशेष—(१) 'नाथ ! एक संसय···'—सामान्य संशय होता तो स्वयं विचार करने से निवृत्त हो जाता, पर यह बड़ा संशय है, यथा—"नाना भाँति मनहिं समुझावा। प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा" (उ० दो० ५८)। अतः, यह सन्देह आप-जैसे परम विवेकी से ही निवृत्त होगा। 'करगत बेद-तत्त्व सब...' —उपर्युक्त परम विवेकी का भाव यहाँ खोला कि जिसे वेदतत्त्व का साक्षात्कार हो, वही परम विवेकी है। इनसे श्रीरामजी के विषय में प्रश्न करना है और श्रीरामजी ही वेद-तत्त्व हैं, यथा—"वेदतत्त्व नृप तव सुत चारी।" (दो० १९७) और श्रीरामजी के चरित भी वेद-तत्त्व हैं, यथा—"बरनहु रघुबर बिसद जस, श्रुति-सिद्धान्त निचोरि।" (दो० १०९)। तत्सम्बन्धी ही प्रश्न करना है, इसलिये 'करगत बेदतत्त्व' कहकर अपना अभीष्ट सूचित किया। फिर इसी (रामायण) से ही उन्होंने इनका सन्देह भी दूर किया है। अतः, इसे ही वेदतत्त्व जनाया है।

(२) 'कहत सो मोहिं लागत भय लाजा।'—भय का कारण यह कि ये यह न समझ लें कि मेरी परीक्षा ले रहे हैं। अतः, अप्रसन्न होकर कोई वैसा गूढ़ विषय न पूछ दें कि उत्तर न दे सकने पर मेरा सिर गिरने की दशा न आ जाय। महा० शान्ति० अ० ३१०-३१८ जनकजी और याज्ञवल्क्यजी के संवाद हैं। वहाँ बहुत प्रकार ज्ञानोपदेश हैं। बृहदारण्य अ० ३ के छठे ब्राह्मण में गार्गी का संवाद है। वहाँ याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा है कि तू अतिप्रश्न मत कर, कहीं तेरा मस्तक न गिर जाय (यहाँ गार्गी ने 'ब्रह्मलोक किसमें ओत-प्रोत है' ऐसा पूछा था, इसे 'अतिप्रश्न' माना गया था। वैसा ही प्रश्न यहाँ भरद्वाजजी करेंगे कि रामजी ये ही हैं कि इनसे पर कोई है)। पुनः बृहदा० अ० ३ के नवें ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य मुनि और शाकल्य मुनि का वाद है। वहाँ अन्त में याज्ञवल्क्य ने प्रश्न किया और कहा इसका उत्तर न दे सकोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा। शाकल्य के उत्तर न दे सकने पर उनका मस्तक गिर गया था।

इन कथाओं की दृष्टि से यहाँ कोई गूढ़ प्रश्न का एवं अतिप्रश्न मान लेने का भय है, जिन कारणों से सिर गिरने का भय है। "लोगों के बहुत वाद करने पर सूर्य भगवान् ने इन्हें यह भी वर दे रक्खा था कि तुम्हारे निश्चित सिद्धान्त की अवज्ञा करने पर हठवादी का सिर गिर जायगा।" यह उपर्युक्त कथा में भी गर्भित है।

अप्रसन्नता के और भी कारण हैं। जैसे—ये प्रश्न करेंगे—'प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ' वैसा ही अतिप्रश्न श्री पार्वतीजी ने किया, जिससे शिवजी ने अप्रसन्न होकर बहुत कटु वाक्य कहे थे, यथा—"कहहिं सुनहिं अस अधम नर···" से—"तिन्ह कर कहा करिय नहिं काना॥" (दो० ११४); तक। यहाँ भी याज्ञवल्क्यजी कहेंगे ही—"कीन्हेउ प्रश्न मनहुँ अति मूढ़ा।" अतः, भय का यही कारण है कि कहीं मेरा भी सिर फटने की दशा में न हो जाय !

'लाजा'—लाज का कारण यह है कि परम तत्त्व-वेत्ता महर्षि वाल्मीकिजी के शिष्य होकर भी (भरद्वाजजी को तत्त्व का) बोध नहीं हुआ, वृद्ध हो चले, इतना भी नहीं जाना। दम्भ से श्रेष्ठ बने प्रयाग-क्षेत्र में बैठे हैं। पुनः, इसमें गुरु वाल्मीकिजी की निन्दा होगी कि उन्होंने कुछ नहीं बतलाया।

'बड़ होइ अकाजा'—'बड़ संसय' है। अतः, अकाज भी बड़ा कहा, यदि स्वयं समझते हो कि लज्जा की बात है तो कहते क्यों हो ? इसपर कहा—'जौं न कहउँ···'। वह अकाज की बात अगले दोहे में कहते हैं—

दोहा—संत कहहिं असि नीति प्रभु, श्रुति-पुरान मुनि गाव।
होइ न बिमल बिबेक उर, गुरु सन किये दुराव॥४५॥

अर्थ—हे प्रभो ! सन्तलोग ऐसी नीति कहते हैं तथा वेद, पुराण और मुनि लोग भी यही कहते हैं कि गुरु से छिपाव करने पर हृदय में निर्मल विवेक नहीं होता।

विशेष—(१) लाज की बात औरों से भले ही न कहे, गुरु से अवश्य कहे, अन्यथा बड़ी हानि है, क्योंकि गुरु से कपट रहने से उनकी करुणा न होगी और उसके बिना विमल-विवेक भी नहीं होगा और न भव-निवृत्ति ही होगी, यथा—"तुलसिदास हरि-गुरु-करुना-बिनु बिमल बिवेक न होई। बिनु बिबेक संसार घोर निधि पार न पावइ कोई ॥" (वि० ११५)। 'बिमल'—गुरु के बिना जो 'मनमुखी' (गुरुहीन) ज्ञान होता भी है, वह 'उर' में नहीं प्रत्युत वाचिक होता है एवं वह समल होता है, यथा—"बाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावइ कोई। निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्ति नहिं होई ॥" (वि० १२३); तथा—"ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर, कहहिं न दूसरि बात। कौड़ी लागि लोभ बस, करहिं बिप्र गुरु घात ॥" (उ० दो० ९९)। जैसे—सतीजी ने शिवजी से 'दुराव' किया, यथा—"भयबस सिव सन कीन्ह दुराऊ।" (दो० ५५)। फिर उस शरीर में विमल विवेक हुआ ही नहीं। इसीसे श्रीरामजी ने सरलता दिखाई है, यथा—"राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाव छुआ छल नाहीं ॥" (दो० २३६)। अतः, गुरु से दुराव नहीं चाहिये। गुरु की सरल भाव से निष्ठा पर विमल विवेक होना है, यथा—"उघरहिं बिमल बिलोचन ही के।·····तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन।" (दो० १)।

यहाँ भरद्वाजजी के मन, वचन और कर्म, तीनों पवित्र हैं—"अति पुनीत आसन बैठारे।"—कर्म, "बोले अति पुनीत मृदु बानी।"—वचन और दुराव नहीं कर रहे हैं, इसमें मन की पवित्रता है—"होइ न···अस बिचारि प्रगटउँ···"। अतएव गुरु द्वारा विमल विवेक एवं उसका कार्य राम-तत्त्व का साक्षात्कार होगा।

अस बिचारि प्रगटउँ निज मोहू। हरहु नाथ करि जन पर छोहू ॥१॥
राम नाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा ॥२॥

अर्थ—ऐसा विचारकर अपना अज्ञान प्रकट करता हूँ, हे नाथ ! इस दास पर कृपा करके इस (अज्ञान) का हरण कीजिये ॥१॥ श्रीरामनाम का असीम प्रभाव है, उसे सन्तों, पुराणों और उपनिषदों ने गाया है ॥२॥

विशेष—(१) "अस बिचारि ···" मुझे उपर्युक्त विमल विवेक की इच्छा है। 'करि छोहू' दया करके ही मोह हरिये, क्योंकि मुझमें प्रत्युपकार की योग्यता नहीं है। ऊपर 'गुरु' कहा था, यहाँ उसका कार्य ['गु' से अन्धकार (मोह), रु=निवारण करना] प्रकट किया, यथा—"महामोह तम पुंज,···" (दो० १); देखिये।

(२) 'राम नाम कर···' सन्त, पुराण और उपनिषद्—तीन का प्रमाण दिया। "उपनिषदें वेद की शाखाओं के ब्राह्मणों के अन्तिम (शिरो) भाग हैं। इनमें ब्रह्मविद्या का ही निरूपण रहता है। ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्य—ये दस प्रधान हैं। इनके अतिरिक्त श्वेताश्वतर, मैत्रायणी और कौशीतकी भी आर्ष ही मानी जाती हैं।" (हि० श० सा०)। भक्ति एवं श्रीराम-नाम और मन्त्र के महत्त्व-प्रकाशन में श्रीरामतापनीय प्रधान है। उपनिषदें १०८ तक मानी जाती हैं।

उपनिषदों के गूढ़ तत्त्व पुराणों में उदाहरणों के साथ सविस्तर दिखाये गये हैं तथा सन्तों ने आराधन करके साक्षात्कार किया है और अपनी-अपनी संहिताओं में कहा भी है। अतः, तीनों जिसका वर्णन एक-स्वर से करते हैं, वह अवश्य मान्य है। तीनों ही इसे 'अमित प्रभाव' मानते हैं।

श्रीराम-यश के चरित (रामायण) का उपक्रम यहाँ के 'राम' शब्द से हो रहा है और उपसंहार भी 'प्रिय लागहु मोहिं राम' में 'राम' शब्द ही पर होगा। अतः, यह ग्रन्थ रामनाम से प्रसादित है।

संतत जपत संभु अविनासी। सिव भगवान ज्ञान-गुन-रासी ॥३॥
आकर चारि जीव जग अहहीं। कासी मरत परम पद लहहीं ॥४॥
सोपि राम-महिमा मुनिराया। सिव उपदेस करत करि दाया ॥५॥

अर्थ—कल्याण-स्वरूप, अविनाशी, ज्ञान और गुणों की राशि भगवान् महादेवजी (रामनाम को) निरन्तर जपा करते हैं ॥३॥ संसार में जीवों की चार खानें हैं, वे सब काशी में मरने से परम पद प्राप्त करते हैं ॥४॥ हे मुनिराज ! वह भी श्रीरामनाम के द्वारा श्रीरामजी ही की महिमा है, जो (जीवों पर) दया करके शिवजी उपदेश करते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'संतत जपत संभु ···' इन पाँच विशेषणों से विशिष्ट ईश्वर भी राम-नाम जपते हैं, फिर संतत जपते हैं, यथा—"तुम्ह पुनि राम-राम दिन-राती। सादर जपहु अनंग अराती ॥" (दो० १०७)। अतः, यह बड़े भारी प्रभाव का है। यहाँ स्वयं जपना और आगे—'उपदेस करत' से दूसरों को उपदेश भी करना कहा, यथा—"राम नाम को प्रताप कहैं हर जपैं आप···" (वि० १८४)। अविनाशी हैं, अतः, सन्तत जपते हैं। श्रीरामनाम के प्रसाद ही से शिवजी में अविनाशित्व और कल्याणरूपता है, यथा—"नाम-प्रसाद संभु अविनासी। साज अमंगल मंगलरासी ॥" (दो० २५)।

(२) 'आकर चारि जीव ···' चार खानें दो० ७ की चौ० १ में कही गईं। किसी भी योनि का कैसा भी जीव-जन्तु हो, सबको एक समान मुक्ति मिलती है, यथा—"देत सबहिं सम गति अविनासी ॥" (वि० दो० ९)। 'जग' अर्थात् कहीं का रहनेवाला क्यों न हो, काशी में मरने मात्र से मुक्ति मिलती है।

(३) 'सोपि राम महिमा···' यह काशी की महिमा नहीं है, मुक्ति का हेतु श्रीरामनाम है, यथा—"महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू ॥" (दो० १८) 'करि दाया'—शिवजी पात्रापात्र का विचार नहीं करते, क्योंकि श्रीरामनाम में असीम शक्ति है।

श्रीरामनाम के अमित प्रभाव के विषय में प्रथम शास्त्र-प्रमाण दिया—"संत पुरान उपनिषद गावा।" फिर ईश्वर का प्रमाण दिया—"संतत जपत संभु···" इससे शिष्ट प्रतीत कहा, तब लोक का प्रत्यक्ष प्रमाण दिया—"आकर चारि···" भी दिया। आगे दार्शनिक रीति से इसके पूर्व पक्ष का आरोपण करते हैं—

राम कवन प्रभु पूछउँ तोहीं। कहिय बुझाइ कृपानिधि मोहीं ॥६॥
एक राम अवधेसकुमारा। तिन्हकर चरित बिदित संसारा ॥७॥
नारि-बिरह दुख लहेउ अपारा। भयेउ रोष रन रावन मारा ॥८॥

अर्थ—हे प्रभो ! मैं आपसे पूछता हूँ कि ये राम कौन हैं ? हे दयासागर ! समझाकर मुझे कहिये ॥६॥ एक राम तो अवधेश (दशरथ) महाराज के पुत्र हैं, उनका तो चरित्र संसार-भर में प्रसिद्ध है ॥७॥ जिन्होंने स्त्री के विरह में अपार दुःख भोगे और क्रोध होने पर उन्होंने युद्ध में रावण को मार डाला ॥८॥

विशेष—(१) 'राम कवन प्रभु···'। प्रभु अर्थात् आप मेरे सन्देह का नाश करने में समर्थ हैं। आगे 'कृपानिधि' भी कहा है। अतः, सौलभ्य (सुगमता) भी है, क्योंकि प्रभुत्व और सौलभ्य दोनों की आवश्यकता साथ ही होती है, यथा—"प्रभु अकृपालु कृपालु अलायक···इहै समुझि सुनि रहौं मौन ही कहि भ्रम कहा गँवावौं ॥" (वि० २३३)। पुनः, ये दोनों शब्द कोमलता-सूचक हैं—'बोले मृदुबानी' कहा गया था।

'राम कवन'—दो राम हैं, एक तो जो शिवजी के इष्ट हैं और दूसरे अवधेश-कुमार हैं। ऐसा सन्देह करते हैं। रूप ही के गुण नाम द्वारा काम करते हैं, नाम-वन्दना में लिखा गया है। अतः, जिनके नाम में ऐसी शक्ति है, उनका रूप जानना आवश्यक है।

'पूछउँ'—क्योंकि बिना पूछे श्री रामतत्त्व को नहीं कहना चाहिये। फिर 'कृपानिधि' कहने का यह भाव है कि ऐसे प्रश्न पर क्रोध होने का योग है। अतः, दया से समझाकर कहें।

(२) 'एक राम अवधेस···' आगे कहेंगे—'ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी।' अर्थात् सतीजी की तरह इनको भी ब्रह्म के अवतार लेने में और उसके चरित में भी सन्देह है, यथा—"ब्रह्म जो व्यापक ·· सो कि देह धरि होइ नर···" (दो० ५०); जौं नृपतनय तो ब्रह्म किमि, नारि-बिरह मति भोरि॥" (दो० १०८)। ये ही दोनों सन्देह इन्हें भी हैं। इसीसे शिवजी के इष्ट राम का महत्त्व नाम द्वारा ही कहा—रूप नहीं बतलाया, क्योंकि उनके मत में ब्रह्म अरूप है। सगुण लीला में भी ब्रह्म को कामी-क्रोधी कहकर सन्देह प्रकट किया। कामी में राग और क्रोधी में द्वेष रहते हैं, ये द्वैत बुद्धि एवं अज्ञान से होते हैं, ब्रह्म में ये कैसे रह सकते हैं? ब्रह्म अजन्मा है और 'अवधेस कुमार' हुए हैं, यह 'अखण्ड ज्ञान' है और ये प्रत्यक्ष कामी-क्रोधी हैं, यह प्रत्यक्ष विरोध है। ये शिवजी के इष्ट कैसे हो सकते हैं। शिवजी सदा से जपते हैं और ये त्रेतायुग में हुए हैं।

'बिदित संसारा'—इनके इन काम-क्रोध के चरितों को संसार-भर जानता है, क्योंकि चक्रवर्त्ती के कुमार होने से प्रसिद्ध थे। ब्रह्म में ऐसे अज्ञान के विकार सुने भी नहीं गये।

(३) 'रन रावन मारा'—बराबर दोनों ओर से युद्ध हुआ। श्रीरामजी नागपाश से बाँधे भी गये तो ईश्वर कैसे? यथा—भृकुटि-भंग जो कालहिं खाई। ताहि कि सोहइ ऐसि लड़ाई॥" (लं० दो० ६५); "मोहिं भयेउ अति मोह, प्रभु-बंधन रन महँ निरखि। चिदानंद-संदोह, राम बिकल कारन कवन॥" (उ० दो० ६८); अर्थात् ब्रह्म होते तो इच्छामात्र से ही रावण को मार डालते, यथा—"उमा काल मरु जाकी ईछा।" (लं० दो० १०१); फिर इतना श्रम क्यों करते?

तात्पर्य यह कि शिवजी के इष्ट राम में तो अमित प्रभाव है, और इनमें कुछ नहीं। ऐसा ही गरुड़जी ने भी कहा है—"सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥" (उ० दो० ५९)।

दोहा—प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ, जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्यधाम सरबज्ञ तुम्ह, कहहु बिबेक बिचारि॥४६॥

अर्थ—हे प्रभो! ये वही राम हैं या कोई और हैं जिन्हें त्रिपुर के शत्रु (श्री महादेव जी) जपते हैं? आप सत्य के धाम और सर्वज्ञ है। अतः, विवेक से विचारकर कहिये॥४६॥

विशेष—'त्रिपुरारि'—त्रिपुरारि होने की कथा यहाँ दी जाती है—

त्रिपुरवध-कथा

"देवासुर संग्राम में तारकासुर के तीन बेटे बच गये। उनके नाम—तारात्त, कमलात्त और विद्युन्माली थे। तीनों ने घोर तप करके ब्रह्माजी से वर पाया कि हम जगत् में अपने तीन नगर बनाकर रहें। हमारे नगर सहस्र वर्ष तक जगत् में घूमा करें और फिर मिल जाया करें। जो हमारे तीनों नगरों का एक ही बाण से नाश कर सके, उसीके हाथों से हमारी मृत्यु हो। फिर उन्होंने मय दैत्य को तीन नगर बनाने की आज्ञा दी। उसने विद्याबल से सोने, चाँदी और लोहे के तीन नगर बनाये। सोने का नगर स्वर्ग में, चाँदी का अन्तरिक्ष में और लोहे के नगर का पृथ्वी में निर्माण किया। वे एक-एक नगर

सौ-सौ योजन लम्बे और उतने ही चौड़े और इच्छानुसार गमन करनेवाले थे। उनमें महल-अटारी आदि की रचना विविध प्रकार की थी। सोने के नगर में तारकाक्ष, चाँदी के नगर में कमलाक्ष और लोहे के नगर में विद्युन्माली राजा होकर रहने लगे। अपने अस्त्रबल से तीनों दैत्य तीनों लोकों का राज्य करने लगे। प्रजापति का अपमान करने लगे। करोड़ों दानव और भी आ गये और इनमें मिलकर रहने लगे। ये सब त्रिपुर निवासी हुए, निर्भय होकर रहने लगे। उनकी अभिलाषाओं को मयदानव माया से पूरी करता था। तारकाक्ष के पुत्र हरि ने घोर तप करके ब्रह्माजी से यह वर ले लिया कि हमारे नगर में एक बावली बन जाय। उसका यह प्रभाव रहे कि शस्त्र से मरा वीर उसमें पड़ते ही जी जाया करे और बलवान् हो जाया करे।

इस प्रकार अत्यन्त बलवान् होकर उनलोगों ने लोकों को पीड़ा देना प्रारम्भ किया। वे देवताओं को अत्यन्त पीड़ा देने लगे। इन्द्रादि देवताओं ने बहुत काल तक उनसे युद्ध किया। वरदान के कारण वे नगर न टूटे, तब भयभीत होकर उन्होंने ब्रह्माजी के पास अपने-अपने दुःख सुनाये। ब्रह्माजी ने कहा कि वे असुर हमारे भी अपराधी हैं। जो कोई एक ही बाण से उन तीनों नगरों का नाश करे, वही उन्हें मार सकता है। यह शक्ति शिवजी में ही है। तत्पश्चात् ब्रह्मादि सब देवता शिवजी की शरण गये, उनकी स्तुति की। शिवजी ने प्रसन्न होकर इन सबका स्वागत किया और कहा कि आपलोगों का क्या कार्य करें ?

तब ब्रह्माजी ने त्रिपुर के असुरों की उग्र व्यवस्था कही। शिवजी ने देवताओं से कहा कि हमारा आधा तेज लेकर उनका संहार करो। देवताओं ने उस तेज के धारण करने में अपने को असमर्थ कहा। तब शिवजी ने कहा कि अच्छा, मैं ही आपलोगों का आधा तेज लेकर उसका संहार करूँगा। देवताओं का आधा तेज लेकर शिवजी बहुत अधिक तेजस्वी और बलवान् हो गये, तभी से इनका नाम 'महादेव' प्रसिद्ध हुआ। देवताओं ने शिवजी का अद्भुत रथ बनाया। विष्णु, सोम और अग्नि मिलकर बाण बने — अग्नि बाण का शृंगाकार, सोम शल्य और विष्णु उसका अग्र भाग बन गये। संसार ही विविध अंगों का रथ बना। ···आकाश को ध्वजा का बाँस बनाया और उसपर बैल को बैठाया। ब्रह्माजी सारथी बने। शिवजी ने उस बाण से दानवों को भयभीत किया। शिवजी ने जब बाण धनुष पर चढ़ाया तब तीनों पुर इकट्ठे हो गये। उसी दिन से उसका नाम त्रिपुर पड़ा। शिवजी ने त्रिपुर पर बाण चलाया, उससे वे तीनों पुर (नगर) नष्ट हो गये। घोर शब्द होने लगा, तब शिवजी ने उन तीनों पुरों के दैत्यों को भस्म करके पश्चिम समुद्र में डाल दिया। फिर दयालु शिवजी ने अपना क्रोधाग्नि को निवारण करके अपने पास ले लिया। इस प्रकार उन्होंने जलते हुए लोकों की रक्षा की। सब देवताओं ने शिवजी की स्तुति की और कृतार्थ होकर अपने-अपने लोकों को गये।" (महा० कर्ण० अ० ३३-३४)। इस प्रकार शिवजी ने एक ही बाण से त्रिपुर को जलाया था।

(क) शिवजी ने भी जिनसे त्रिपुरवध में सहायता ली, क्या ये वे ही राम हैं ?

(ख) त्रिपुर के जीतनेवाले एवं कामारि शिवजी कामी-क्रोधी को कैसे भजेंगे ?

(ग) ऐसे समर्थ शिवजी जिन्हें भजते हैं, वे मनुष्य कैसे हो सकते हैं ? यथा—"हैं दससीस मनुज रघुनायक। जाके हनूमान से पायक॥" (लं० दो० ६२); अर्थात् सेवक के महत्त्व से स्वामी को उससे कहीं अधिक महिमा समझी जाती है।

'सत्यधाम सरबज्ञ·····' यथा—"कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला। सत्यधाम प्रभु दीन दयाला॥" (दो० ५६); एक तो आप सब जानते हैं, फिर सत्य ही कहेंगे। अतः, यथार्थ ही होगा।

यद्यपि भरद्वाज मुनि ने यह संशय पूर्व पक्ष रूप में किया है, तथापि सगुण-चरित्र ही ऐसे गूढ़ होते हैं कि मुनियों को भी भ्रम होता है, यथा—"निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन न जानइ कोइ। सुगम

अगम नाना चरित, सुनि मुनि-मन भ्रम होइ ॥" (उ० दो० ७३)। 'विवेक विचारि'—मुनि 'परम विवेकी' हैं। अतः, इन्हें उनके विवेक का भरोसा है।

जैसे मिटइ मोह भ्रम भारी। कहहु सो कथा नाथ बिस्तारी ॥१॥

अर्थ—हे नाथ! जिस प्रकार (मेरा) भारी मोह और भ्रम दूर हो, वही कथा विस्तार से कहिये ॥१॥

विशेष—(१) ऊपर—"अस बिचारि प्रगटउँ निज मोहू।" में मोह-कथन का उपक्रम है और यहाँ "जैसे मिटइ मोह भ्रम भारी।" पर उपसंहार हुआ। इससे प्रथम—"नाथ एक संसय बड़ मोरे।" इन्होंने ही कहा था। 'संसय' को बड़ और 'मोह-भ्रम' को भारी कहकर दोनों को बराबर कहा।

ये ही तीनों बातें चारों घाटों के प्रसंग में बीज-रूप में हैं—

श्रीपार्वतीजी—"हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी।" (दो० १०७); "जेहि बिधि मोह मिटइ सोइ करहू।" तथा "अजहूँ कछु संसय मन मोरे।" (दो० १०८)।

श्रीगरुड़जी—"जो नहिं होत मोह अति मोही।"—"भयेउ हृदय मम संसय भारी"॥ "सोइ भ्रम अब हित करि मैं माना।" (उ० दो० ६८)।

श्री गोस्वामीजी—"निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करउँ कथा भव-सरिता तरनी॥" (दो० ३०)। यहाँ सन्देह=संशय और मोह-भ्रम एक साथ ही कहे गये हैं जिनका अभिप्राय क्रमशः ईश्वर, जीव और माया (=तत्त्वत्रय) के अज्ञान में है। इस चौपाई के विशेष में लिखा गया कि इन्हीं तीनो तत्त्वों का बोध होना इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। यही प्रयोजन चारो घाटों का है। यह ग्रन्थकार की सावधानता है।

शंका—यहाँ तो 'ब्रह्म राम' और 'अवधेश कुमार राम' के सम्बन्ध में ही संशय आदि तीनो हैं न कि माया और जीव के सम्बन्ध में।

समाधान—इसीके उत्तर में सारी कथा कही गई है। माया और जीव का भी जहाँ-तहाँ वर्णन है ही। माया और जीव भी ब्रह्म के शरीर ही हैं। अतः, एक ब्रह्म के परिज्ञान में तीनों के ज्ञान की प्रतिज्ञा श्रुतियों में है। उपोद्घात के परिणामवाद प्रसंग में देखिये। अतः, चारो संवादों में इन तत्त्वत्रय के उपदेश का गर्भित रहना युक्त ही है।

(२) 'कहहु सो कथा···'—कथा ही से तीनों निवृत्त होंगे—अन्य उपायों से नहीं, यथा—"तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ-कथा बिधि नाना॥" (दो० १०७)। 'बिस्तारी'—मूढ़ बनकर प्रश्न किया है, इसलिये विस्तारपूर्वक कहने की प्रार्थना है, अन्यथा समझ में न आवेगी। पहले शिवजी ने संक्षेप में कहा था, उससे सती का मोह नहीं दूर हुआ तब सीता का रूप धारण किया एवं दूसरा जन्म लेना पड़ा, उसीसे यहाँ ये विस्तार से सुनना चाहते हैं।

जागबलिक बोले मुसुकाई। तुम्हहिं बिदित रघुपति-प्रभुताई ॥२॥
राम-भगत तुम्ह मन-क्रम-बानी। चतुराई तुम्हारि मैं जानी ॥३॥
चाहहु सुनइ राम-गुन-गूढ़ा। कीन्हेहु प्रस्न मनहुँ अति मूढ़ा ॥४॥

अर्थ—श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने मुसकुराकर कहा कि तुमको श्रीरघुनाथजी की प्रभुता ज्ञात है ॥२॥ तुम मन, कर्म और वचन से श्रीरामजी के भक्त हो, मैंने तुम्हारी चतुराई जान ली ॥३॥ तुम श्रीरामजी के गूढ़ गुणों को सुनना चाहते हो, (इसीसे ऐसे) प्रश्न किये हो, मानों बड़े मूर्ख हो ॥४॥

विशेष—(१) "जागबलिक बोले···" मुसुकुराने का कारण इनकी चतुराई का लखना है, यथा—"देखि कृपानिधि मुनि-चतुराई। लिये संग बिहँसे दोउ भाई॥" (अर० दो० ११)। स्वयं ज्ञाता

होकर भी मूढ़ बनकर पूछने में चतुराई है जिससे मुनि विस्तारपूर्वक कथा कहें। अन्यथा इस प्रकार का प्रश्न मूर्ख नहीं कर सकता। जैसे—प्रथम—"राम नाम कर अमित प्रभावा।···" से—"कहहु बुझाइ कृपा-निधि मोही॥" तक 'विषय' कहा। फिर "एक राम अवधेस" से—"भयेउ रोष रन रावन मारा॥" तक 'पूर्व पक्ष' किया। पीछे "प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ···" इस दोहे में 'संशय' किया। अब सिद्धान्त चाहते हैं। यह वेदान्तियों की रीति है, पर सरल भाव से 'नाथ! कृपानिधि! प्रभु!' आदि मृदु सम्बोधन भी हैं। अतः, बराबरी एवं वाद की छाया नहीं है। इसमें भीतर चतुराई है, पर ऊपर से मूढ़ता की तरह है। अतः, 'मनहुँ अति मूढ़ा' कहा है।

'चतुराई' का प्रयोग श्रीराम-भक्ति के विषय में अन्यत्र भी आया है, यथा—"रीझेउँ देखि तोरि चतुराई। माँगेहु भगति मोहिं अति भाई॥" (उ० दो० ८४)।

(२) 'राम-भगत तुम्ह मन क्रम बानी।'—चतुराई को देखकर इनकी भक्ति भाँप ली और इसीसे मोहादि का न होना भी समझा, यथा—"मोह गये बिनु राम-पद, होइ न दृढ़ अनुराग॥' (उ० दो० ६१); इसीसे 'मनहुँ अति मूढ़ा' कहा है, मूढ़ तो हो नहीं, पर बने हो। किसलिये बने हो? वही-'चाहहु सुनइ···' से कहा है। मूढ़ बनकर पूछने में आर्त्त अधिकारी होने का भाव है, चतुरता पर वक्ता को सन्देह हो जाता है कि मेरी परीक्षा तो नहीं ले रहा, इससे वह यथार्थ नहीं कहता। अतः, चतुराई से पूछना मूढ़ता है, क्योंकि—"गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं।" (दो० १०९)।

(३) 'राम-गुन गूढ़ा'—इसे ही ऊपर 'रघुपति-प्रभुताई' कहा था अर्थात् रघुपति की प्रभुता लीला में अप्रकट रूप में है। लीला के अति माधुर्य-प्रसंग में बहुत को भ्रम हो जाता है जैसे जिन दो बातों पर इन्होंने सन्देह प्रकट किया है, उन्हें ही सतीजी ने वास्तव में नहीं समझा। इसी लक्ष्य पर शिवजी ने कहा भी है—"उमा राम-गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति।" (अर० दो० १)।

(४) ऊपर कहा गया है कि भरद्वाज का, सती का और गरुड़ का संशय, मोह और भ्रम करना एक समान है। इसीसे तीनों श्रोताओं के प्रति इन तीनों वक्ताओं का बर्ताव भी समान है। प्रश्न सुनकर प्रथम जिज्ञासुओं का आदर किया गया कि वे घबरा न जायँ। फिर युक्ति से उनके प्रश्नों का अनौचित्य भी कह दिया। दोनों के अनौचित्य के कथन ऊपर आ गये हैं। गरुड़ के प्रति, यथा—"जे मति मलिन बिषय बस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी॥" (उ० दो० ७२)।

याज्ञवल्क्यजी—"तुम्हहिं बिदित···राम भगत तुम मन क्रम बानी। चतुराई···"

शिवजी—"तुम्ह रघुबीर-चरन-अनुरागी। कीन्हेहु प्रस्न जगत-हित लागी॥ राम-कृपा ते पारबति, सपनेहु तव मन नाहिं॥" (दो० ११२)।

भुशुण्डीजी—"सब बिधि नाथ पूज्य तुम मेरे।···तुम्हहिं न संसय मोह न माया।" (उ० दो० ६९)।

तात सुनहु सादर मन लाई। कहउँ राम कै कथा सुहाई॥५॥
महा मोह महिपेस बिसाला। राम-कथा कालिका कराला॥६॥

अर्थ—हे तात! आदर के साथ मन लगाकर सुनो। मैं श्रीरामजी की सुहावनी कथा कहता हूँ॥५॥ महामोह रूपी बड़े भारी महिषासुर को मारने के लिये श्रीराम-कथा बड़ी भयंकर कालीदेवी है॥६॥

विशेष—(१) 'तात सुनहु सादर···'—ऊपर 'राम-गुन-गूढ़ा' कहा था। अतः, 'सादर' और 'मन लाई' सुनने को कहते हैं, क्योंकि गूढ़ विषय के समझने की यही रीति है कि मन-मति-चित्त कथा में लगे रहें और स्नेहपूर्वक सुनें। 'तात' शब्द यद्यपि छोटे-बड़े सभी के प्रति आता है, पर यहाँ बराबर के भाव में है, यथा—"तात तात बिनु बात हमारी।" (अ० दो० ३०४)। इसमें पहला तात भाई के लिये और दूसरा पिता के लिये है। "सुनहु तात तुम कहँ मुनि कहहीं···" (अ० दो० ७६)। इसमें पुत्र के लिये आया है। यह अत्यन्त प्रेमसूचक सम्बोधन है।

(२) "महा मोह महिपेस···"—भरद्वाजजी ने कहा था—"जैसे मिटइ मोह भ्रम भारी।" उसी के प्रति यह वचन है। जीव के स्वरूप में अज्ञान होना 'मोह' है और ईश्वर के रूप में अज्ञान होना 'महा मोह' है, यथा—"महा मोह उपजा उर तोरे।" (उ० दो० ५८)। इस महा मोह को विशाल महिषासुर कहा गया है, क्योंकि महिषासुर को कालिका देवी ने मारा और इस महा मोह ने तो कालिका (सती) को ही जीत लिया, यथा—"भयउ मोह सिव कहा न कीन्हा।" (दो० ९७); दूसरे जन्म तक भी यह महा मोह रह ही गया, यथा—"जदपि मोहबस कहेहु भवानी।" (दो० ११३)। इसलिये महा मोह को विशाल महिषासुर और उसको नष्ट करनेवाली कथा को कराल कालिका कहा है।

'कालिका'—"महिषासुर से परास्त होकर देवता लोग ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा, शिव तथा और भी देववृन्द विष्णु के पास गये। वहाँ विष्णु से कहा कि ब्रह्माजी के वरदान से महिषासुर पुरुष से अवध्य है। कोई स्त्री वैसी देखने में नहीं आती जो उससे युद्ध कर सके। विष्णु भगवान् ने कहा कि उसके वध के लिये सब देवता अपनी-अपनी स्त्रियों से मिलकर थोड़ा-थोड़ा तेज निकालें। उससे एक स्त्री बनेगी और वही उस असुर का वध करेगी, क्योंकि वर के कारण वह किसी भी पुरुष से नहीं मर सकता। तब ब्रह्मा ने अपने मुख से रक्त वर्ण का, शिव ने रौप्य वर्ण का, विष्णु ने नील वर्ण का, इन्द्र ने विचित्र वर्ण का, एवं सब देवताओं ने अपना-अपना तेज निकाला, उससे एक तेजस्विनी देवी प्रकट हुई। इस भुवन मोहिनी की बाहु अठारह, मुख-मंडल श्वेत, नेत्र काले, अधर लाल और पाणितल ताम्र वर्ण था। फिर विष्णु आदि सभी ने अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र प्रदान किये। अस्त्र-शस्त्र-सुसज्जित देवी सिंह पर सवार हो महिषासुर से लड़ने गईं। महिषासुर से इनका घोर संग्राम हुआ और इन्हींने महिषासुर का संहार किया। (वर्ण काला होने से इनका नाम 'कालिका' पड़ा)—यह कथा देवी भागवत ८।८, विश्वकोष के दुर्गा शब्दार्थ की है।

'महिषासुर'—यह रम्भ नामक दैत्य का पुत्र था और इसकी आकृति भैंसे की-सी थी। यह मायावी था। एक दिन मनमोहिनी रूप धारण कर कात्यायन मुनि के आश्रम में गया। वहाँ मुनि-शिष्यों को लुभा कर इसने उनके तप में बाधा डालने की चेष्टा की। मुनि ने क्रुद्ध हो शाप दिया—'तुम स्त्री के हाथ से मारे जाओगे।' इसीसे यह भगवती दुर्गा के हाथ से मारा गया। इसने तीन बार जन्म लिया, देवी ने ही तीन रूपों से इसका बध किया है, देवी के रूप क्रमशः उग्रचण्डी, भद्रकाली और दुर्गा थे।"—विश्वकोष। ऊपर ब्रह्मा का शाप और इस कथा में कात्यायन का है—सम्भवतः तीन जन्मों का कल्प-भेद है।

जिस महा मोह ने सती को भी हराया, उसे कथा ने ही जीता, यथा—"ससि-कर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥" (दो० ११९); अर्थात् पार्वती तन में कथा से ही मोह निवृत्त हुआ।

राम-कथा ससि-किरन समाना। संत-चकोर करहिं जेहि पाना॥७॥
ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी। महादेव तब कहा बखानी॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी की कथा चन्द्रमा की किरणों के समान है, सन्त-रूपी चकोर जिसका पान करते हैं॥७॥ इसी प्रकार का सन्देह श्रीपार्वतीजी ने किया था। तब शिवजी ने विस्तारपूर्वक (राम-कथा का) वर्णन किया था॥८॥

विशेष—(१) 'राम कथा ससि-किरन···' चकोर चन्द्रमा का अनन्य प्रेमी होता है, वैसे सन्त श्रीरामचन्द्र के अनन्य भक्त होते हैं। वह किरण-पान करता है, वैसे सन्त कथा-श्रवण करते हैं, यथा—"नाथ तवानन ससि श्रवत, कथा-सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्हि मन पान करि, नहिं अघात मति-धीर॥" (उ० दो० ५२); "राम-चरित राकेस-कर, सरिस···" (दो० ३२)।

यहाँ कथा के लिये दो दृष्टान्त हैं—इनके भाव यह कि महा मोह नाश के लिये कराल है, सन्तों को सुख देने के लिये चन्द्र-कर के समान शीतल एवं आह्लादवर्द्धक है। प्रथम मोह नाश करके फिर सुख देती है, जैसे देवी ने महिषासुर का नाश कर देवताओं को सुखी किया था।

(२) 'ऐसेइ संसय कीन्ह···' ऐसेइ अर्थात् जैसे भरद्वाजजी ने ब्रह्म के अवतार लेने में सन्देह किया और उसकी लीला में कामुकता कही, इसी प्रकार श्रीपार्वतीजी ने भी संशय किया था, यथा—"एक राम अवधेस कुमारा ।···नारि विरह दुख लहेउ अपारा ।···"—"प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ, जाहि जपत त्रिपुरारि ।···" (दो० ४६); तथा—"तुम्ह पुनि राम राम दिन राती । सादर जपहु अनंग अराती ॥ राम सो अवध नृपति सुत सोई । की अज अगुन अलख गति कोई ॥ जौ नृप तनय तो ब्रह्म किमि, नारि विरह मति भोरि ।" (दो० १०८) । भवानी = भव-पत्नी = श्री पार्वतीजी, जिन्होंने सती-शरीर में संशय किया । फिर दूसरे (पार्वतीजी) शरीर से कथा सुनकर संशय-निवृत्त किया ।

श्रीयाज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद-प्रकरण समाप्त ।

उमा-शम्भु-संवाद-प्रकरण का उपोद्घात

दोहा—**कहउँ सो मति अनुहारि अब, उमा - संभु - संबाद ।**
भयेउ समय जेहि हेतु जेहि, सुनु मुनि मिटिहि बिषाद ॥४७॥

अर्थ— अब मैं (अपनी) बुद्धि के अनुसार वह शिव-पार्वती का संवाद, जिस समय और जिस कारण से हुआ, कहता हूँ । हे मुनि ! सुनो, उसके सुनने से तुम्हारा दुःख दूर हो जायगा ॥४७॥

विशेष—श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने 'ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी ।' से अपना संवाद उमा-शम्भु-संवाद में मिलाया । अब उनके संवाद-द्वारा भरद्वाज का सन्देह मिटाना चाहते हैं, क्योंकि शिवजी के इष्ट पर उनका विश्वास है, यथा—"राम नाम कर अमित···" से—"जाहि जपत त्रिपुरारि ।" तक कहा गया है । अतः, उन्हीं के मुख का कहा हुआ, भरद्वाजजी के विश्वस्त एवं प्रिय होगा । अतः, यह वक्ता की चातुरी है । पुनः यह प्रायः सभी वक्ताओं की रीति है कि वे श्रुति-परम्परा की ही कथा कहते हैं । जैसे आगे शिवजी भी भुशुण्डीजी से सुनी हुई ही कथा कहेंगे—यद्यपि यह भुशुण्डीजी को भी शिवजी से ही प्राप्त हुई है, क्योंकि सम्भव है कि अपने विचार मात्र में त्रुटि हो, शिष्ट लोगों से आई हुई में वह भय नहीं रहता । 'सो'—जिसके लिये दो० ३२ चौ० १-२ में प्रतिज्ञा भी की थी ।

एक बार त्रेता जुग माहीं । संभु गये कुंभज रिषि पाहीं ॥१॥
संग सती जग-जननि भवानी । पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी ॥२॥

अर्थ—त्रेता युग में एक समय महादेवजी अगस्त्य ऋषि के पास गये ॥१॥ उनके साथ में जगन्माता भवानी सतीजी थीं, ऋषि ने सर्वेश्वर जानकर उनकी पूजा की ॥२॥

विशेष—(१) 'एक बार त्रेता जुग···' यह त्रेता युग प्रथम कल्प के प्रथम मन्वन्तर का है जिसमें स्वायम्भुव मनु और शतरूपा के तप से परात्पर साकेतविहारी का अवतार हुआ था । इसीका प्रारम्भ श्रीशिवजी ने "अपर हेतु सुनु शैलकुमारी ।···" (दो० १४०); से किया है । शिवजी वहाँ (अगस्त्यजी के पास) बराबर जाया करते थे, पर यह प्रसंग एक बार का है ।

'कुंभज'—अगस्त्य ऋषि की उत्पत्ति विचित्र है कि घड़े से पैदा हुए और समुद्र सोख लिया । अतः, महत्त्व दिखाया कि महान् ऋषि भी अगस्त्यजी के पास सत्संग के लिये आते थे, यथा—"तहाँ रहे सनकादि भवानी । जहँ घट-संभव मुनिबर ज्ञानी ।।" (उ० दो० ३१); तभी शिवजी इनके पास गये, क्योंकि बड़े लोग बड़े के यहाँ जाते ही हैं ।

(२) 'संग सती जगजननि भवानी ।···'—कथा-श्रवण के लिये जाने में सतीजी के लिये तीन उत्तम विशेषण दिये गये और लौटते समय कथा के चरित में सन्देह होने के आगम पर 'दच्छ-कुमारी' ही

कहेंगे। इन तीन विशेषणों के द्वारा सतीजी का क्रमशः पालन, उत्पत्ति और संहार करना जनाया। 'सती' से सत्त्व गुण धारण कर जगत का पालन, 'जग-जननि' से उत्पत्ति और 'भवानी' (भव-पत्नी) से संहार-कर्तृत्व सूचित किया, यथा—"जग-संभव-पालन-लयकारिनि। निज इच्छा लीला वपु धारिनि॥" (दो० ९७)। 'जगजननि' के साथ ही 'भवानी' कहने का भाव यह है कि ये ईश्वर के साथ ही जगत् की उत्पत्ति आदि करती हैं।

केवल 'सती' कहने से अन्य सतियों का भी भ्रम होता। अतः, 'जगजननि' कहा, फिर रमा और सरस्वती का भ्रम होता, इसलिये 'भवानी' भी कहकर अतिव्याप्ति मिटाई। 'अखिलेस्वर जानी'—अतिथि मात्र जानकर नहीं, प्रत्युत (अ=नहीं, खिल=शेष) निःशेष (सम्पूर्ण) जगत् का ईश्वर जानकर नि ने शिवजी को पूजा की।

राम-कथा मुनिबर्य बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी॥३॥
रिषि पूछी हरि-भगति सुहाई। कही संभु अधिकारी पाई॥४॥

अर्थ—उस समय मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजी ने श्रीराम-कथा विस्तार पूर्वक कही और शिवजी ने अत्यन्त सुख मानकर सुनी॥३॥ ऋषि अगस्त्यजी ने भगवान् की सुन्दर भक्ति पूछी। शिवजी ने अधिकारी पाकर कही॥४॥

विशेष—(१) 'राम कथा मुनिवर्य···' अगस्त्यजी मुनिवर्य हैं, क्योंकि इनके श्रोता शिवजी हैं और इनके पास सनकादिक भी आते हैं। 'परम सुख मानी'—क्योंकि सनकादिक और शिवजी भी ध्यान के ब्रह्मानन्द आदि सुख छोड़कर चरित सुनते हैं, यथा—"जीवन्मुक्त ब्रह्मपर, चरित सुनहिं तजि ध्यान।" (उ० दो० ४२); तथा—"मगन ध्यान रस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह। रघुपति-चरित महेस तब, हरषित बरनइ लीन्ह।" (दो० १११)। क्योंकि, चरित परानन्द-रूप है, यथा—"मम गुनग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ, परानंद संदोह॥" (उ० दो० ४६); 'सुनी महेस'—महेश ने ही परम सुख मानकर सुनी, सती ने वैसा नहीं श्रवण किया, यह ध्वनि है। इसका फल यह हुआ कि वे आगे हरि माया के चक्कर में पड़ीं, मार्ग में ही राम-रूप में भ्रम हुआ, परीक्षा की विधि बिगड़ी, शिवजी ने त्याग किया, बहुत काल तक सन्ताप सहती हुई अन्त में जल मरने की दशा आ गई। अतः, उपदेश है कि हरि-कथा श्रद्धा पूर्वक सुननी चाहिये।

शंका—शिवजी के बिना जिज्ञासा किये ही मुनि ने कथा क्यों कही? इसमें कथा का अपमान है।

समाधान—अगस्त्यजी जानते हैं कि शिवजी राम-कथा से ही रीझते हैं, तथा कथा में ब्रह्मानन्द से अधिक परम सुख मानते हैं। क्योंकि यही उनको परम प्रिय है, यथा—"सिव-प्रिय मेकलसैल-सुता सी।" (दो० ३०); "अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के।" (दो० ३१)। अतः, पूजा के अन्त में स्तुति की जगह राम-कथा ही सुनाई। इसी तरह अनसूयाजी ने श्रीजानकीजी की पूजा वात्सल्य दृष्टि से करके अन्त में बिना उनके पूछे ही पातिव्रत्य धर्म कहा है, क्योंकि यह इन्हें प्रिय है। अतः, सुनकर प्रसन्न होंगी।

(२) 'रिषि पूछी हरि-भगति···' ऋषि ने पूछा, क्योंकि शिवजी श्रीरामभक्ति के कोषाध्यक्ष—'खजांची' हैं, यथा—"जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥" (दो० १३७)। जब शिवजी चरित सुनकर परम सुखी हुए, तब मुनि ने भक्ति पूछी, फिर भी शिवजी ने इन्हें अधिकारी पाकर ही कही, क्योंकि भक्ति परम दुर्लभ वस्तु है। यहाँ परा भक्ति से तात्पर्य है, जो शाण्डिल्य सूत्र आदि ग्रन्थों में कही गई है, क्योंकि वक्ता-श्रोता दोनों उच्च कोटि के रामभक्त हैं। यह भक्ति अनधिकारी से अग्राह्य है। कथा-श्रवण-भक्ति के अधिकारी के लक्षण, कथा-अधिकारी-वर्णन के प्रसंग उ० दो० ११२ और १२७ में कहे गये हैं। तथा—"राम-भगत-अधिकारी चीन्हा" (दो० २९); इसके अधिकारी पहचानने का प्रसंग

लोमश के वाद-प्रसंग में है, यथा—"लीन्ही प्रेम-परीछा मोरी।" वहाँ—"उमा जे रामचरन-रत, बिगत काम-मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहिसन करहिं बिरोध॥" (उ० दो० ११२)। इस दोहे में भक्ति के लक्षण कहे और उस प्रसंग में चरितार्थ रूप में दिखाये भी हैं। यहाँ यह भी जाना गया कि अगस्त्य ऐसे महर्षि भक्ति-श्रवण के उत्तम अधिकारी हैं।

कहत सुनत रघुपति - गुनगाथा। कछु दिन तहाँ रहे गिरिनाथा॥५॥
मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी। चले भवन सँग दच्छकुमारी॥६॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी के गुणों की कथा कहते-सुनते श्रीशिवजी वहाँ कुछ दिनों तक रहे॥५॥ अगस्त्य मुनि से विदा (जाने की आज्ञा) माँगकर दक्ष की पुत्री (सती) के साथ शिवजी अपने स्थान को चले॥६॥

विशेष—'कछु दिन तहाँ रहे गिरिनाथा'—क्योंकि सत्संग कुछ दिन रहने पर ही होता है, यथा—"मुनि मोहिं कछुक काल तहँ राखा। रामचरित मानस तब भाषा॥" (उ० दो० ११२); "तब कछु काल मराल तनु धरि तहँ कीन्ह निवास। सादर सुनि रघुपति गुन···" (उ० दो० ५७)। 'गिरिनाथा' परम रम्य गिरिवर कैलास का निवास छोड़कर गिरिवत् अचल स्थिति से सत्संग में रहे।

'बिदा माँगि'—यह प्रीति की रीति है। प्रीति का मुख्य अंग प्रणय है अर्थात् मैं आपका हूँ। अतः, आपकी आज्ञा के बिना नहीं जा सकता, यथा—"सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई। सीता सहित चले दोउ भाई॥" (अर० दो० २); "चले राम मुनि-आयसु पाई।" (अर० दो० १२)।

'चले भवन'—शिवजी का भवन कैलास है, यथा—"भवन कैलास आसीन कासी।" (वि० १०); आगे वही कहा भी गये, यथा—"बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा।" (दो० ५७)। 'त्रिपुरारी' पद में भविष्य की बातें गर्भित हैं कि त्रिपुरों को अधर्मी जानकर एक ही बाण में उनका नाश किया है, उसी प्रकार इस एक ही यात्रा में सती का शरीर योगाग्नि में जलेगा, कामदेव शिवजी को क्रोधाग्नि में जलेगा और दक्ष का सिर यज्ञाग्नि में जलेगा—त्रिपुर वध की कथा दो० ४६ में लिखी गई है।

'सँग दच्छकुमारी'—पहले आने पर कहा था—"संग सती···पूजे रिषि···" वैसे चलते समय भी 'सँग दच्छकुमारी' पद देने से शक्ति के साथ पूजा की गई। यह भाव भी गर्भित है। यहाँ पति का सम्बन्ध-सूचक नाम नहीं दिया, क्योंकि इसी यात्रा में आगे सतीजी पति-द्वारा त्यागी जायँगी। दक्ष ने जामाता ही मानकर शिवजी का निरादर किया और उसका फल भी पाया, वैसे सतीजी भी पति के इष्ट रामजी को प्राकृत मनुष्य मानकर परीक्षा-रूप से उनका निरादर करेंगी, यथा—"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनु-माश्रितम्। परंभावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥" (गीता ६।११); फिर पति का वचन न मानकर अपमान करेंगी और वैसा फल पावेंगी। इसीसे दक्ष-सम्बन्धी नाम दिया गया। दक्ष एक प्रजापति हैं "जिनका जन्म ब्रह्मा के दाहिने अँगूठे से और इनकी पत्नी का जन्म बायें अँगूठे से हुआ। इस पत्नी से दक्ष की बहुत-सी कन्याएँ हुईं, जिनमें एक सती हैं जो शिवजी से ब्याही गई थीं।" (गरुड़पुराण-विश्वकोष)।

यहाँ सती-मात्र का संग कहा गया है। अतः, और कोई गण शिवजी के साथ नहीं थे।

तेहि अवसर भंजन महि-भारा। हरि रघुबंस लीन्ह अवतारा॥७॥
पिता-बचन तजि राज उदासी। दंडक बन बिचरत अबिनासी॥८॥

अर्थ—उन्हीं दिनों पृथ्वी का भार उतारने के लिये भक्तों के दुःखहर्त्ता भगवान् श्रीरामजी ने रघुवंश में अवतार लिया॥७॥ पिता के वचन से राज्य छोड़कर और वे अविनाशी (भगवान्) उदासीन वेष से दंडक वन में विचरते-फिरते थे॥८॥

विशेष—(१) 'तेहि अवसर···'—शिवजी अगस्त्यजी के यहाँ सत्संग में थे और कथा का ही अनुकथन होता था। यहाँ 'लीन्ह अवतारा' से बालकाण्ड, 'तजि राज' से अयोध्याकाण्ड और 'दंडक वन बिचरत' से अरण्यकाण्ड की वर्त्तमान कथा तक हुई। वही इन दो अर्द्धालियों में कही गई है। सम्भवतः इसी प्रसंग में अगस्त्यजी ने कह दिया होगा कि वे ही प्रभु इस समय निर्जन वन में भाई और सीताजी के साथ घूम रहे हैं जिसे सुनकर शिवजी ने उत्कंठित हो, प्रभु-दर्शन का अच्छा अवसर जानकर विदा माँगी और चल पड़े। अतः, आगे कहते हैं कि—"हृदय बिचारत जात हर, केहि बिधि दरसन होइ।" ऐसा ही एक प्रसंग और भी है, यथा—"जानि समय सनकादिक आये।··· तहाँ रहे सनकादि भवानी। जहँ घटसंभव मुनिबर ज्ञानी॥ राम-कथा मुनिबर बहु बरनी।···" (उ० दो० ३१); वहाँ भी कथा में प्रभु के वाटिका (एकान्त) में आने की लीला और समय जानकर आना लिखा है।

'हरि'—'रामाख्यमीशं हरिं' (मंगल श्लोक ६) में कहे हुए श्रीरामजी।

'रघुबंस लीन्ह···' पहले यह वंश सूर्यवंश वा इक्ष्वाकु मनुवंश के नाम से प्रसिद्ध था। इसी कुल में उत्पन्न दीर्घबाहु दिलीप ने सन्तान-प्राप्ति के लिए गुरु वसिष्ठजी की आज्ञा से नन्दिनी धेनु की अराधना कर उससे वंश चलानेवाले पुत्र की याचना की। फल-स्वरूप 'रघु' नामक पुत्र हुआ। इसीसे पीछे इस वंश का नाम 'रघुवंश' पड़ गया। पद्मपुराण के आधार पर कवि कालिदास ने 'रघुवंश' में यह कथा लिखी है। इस वंश के लोग तेजस्वी होते आये हैं, उनमें प्रभु का तेज खप जायगा—प्रकट न होगा, क्योंकि ब्रह्मा का वचन सत्य करने लिये मनुष्यत्व ही दिखाना है। पुनः यह धर्मात्मा वंश है और हरि ने भी धर्म की रक्षा के लिये अवतार लिया है। 'लीन्ह'—स्वेच्छा से अवतीर्ण हुए। यथा—"इच्छामय नर-वेष सँवारे। होइहउँ प्रगट···" (दो० १५१); "इच्छागृहीताभिमतोरुदेहस्संसाधिताशेषजगद्धितो यः" (वि० पु० ६।५।८४)।

(२) 'पिता-बचन तजि राज···' पिता के वचन की रक्षा के लिये राज्य छोड़ा, उदासीन वेष धारण किये हुए, दंडक वन ऐसे दुःखमय वन में भी विचरते हैं अर्थात् आनन्द वृत्ति के साथ लीला कर रहे हैं। राज्य छोड़ने में त्याग-वीरता है, यथा—"पितु आयसु भूषन बसन, तात तजे रघुबीर। बिसमय हरष न हृदय कछु, पहिरे बलकल चीर॥" (अ० दो० १६५)। वेष—यथा—"तापस बेष बिसेषि उदासी।" (अ० दो० २८)। 'अविनासी'—'लीन्ह अवतारा' से जन्म कहा गया और जिसका जन्म होता है, उसका मरण भी निश्चित रहता है, यथा—"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" (गीता २।२७), पर भगवान् का जन्म-कर्म दिव्य एवं स्वेच्छा से होता है। अतः, अविनाशी हैं। पुनः खर-दूषणादि इनको न मार सके और न आगे कोई इनका विनाश कर सकेगा।

'दंडक वन'—इसकी कथा पूर्वोक्त दो० २३ चौ० ७ के विशेष में देखिये।

शंका—पिता ने वचन से नहीं कहा, कैकयी ने उनका वचन-बद्ध होना कहा, जिससे श्रीरामजी वन को चले आये। तब यहाँ 'वचन' क्यों कहा गया?

समाधान—पिताजी प्रतिज्ञा-बद्ध होने में श्रीरामजी की शपथ भी कर चुके थे, इसीसे उसके विरुद्ध कुछ कह न सके। पिता के सामने ही कैकयीजी ने वे वचन कहे, राजा ने क्रूर वचन स्वयं न कह सकने के कारण उन्हीं (कैकयीजी) को ही कह दिया था—"अब तोहिं नीक लाग करु सोई।" (अ० दो० ३५)। 'अपना नीक लगना'—उन्होंने अपनी इच्छा की बात पहले ही राजा से कह दी थी, यथा—"होत प्रात मुनिबेष धरि, जौं न राम बन जाहिं। मोर मरन राउर अजस···" (अ० दो० ३३); फिर राजा ने उसे आजन्म त्याग की प्रतिज्ञा भी कर ली। अतः, कैकयी द्वारा कहे हुए वचन राजा ही के हैं। यही चरितार्थ भी है, यथा—"हम पितु-बचन मानि बन आये।" (कि० दो० १); "पिता-बचन मैं नगर न आवउँ।" (लं० दो० १०५); इत्यादि। पिता के स्वयं स्पष्ट न कहने पर भी श्रीरामजी ने मान लिया तथा प्रतिज्ञाबद्ध पिता को कैकयी से उऋण किया और उन्हें सत्यव्रत सिद्ध किया। यह उत्कृष्ट पितृ-भक्ति है।

दोहा—हृदय बिचारत जात हर, केहि बिधि दरसन होइ।
गुपुत रूप अवतरेउ प्रभु, गये जान सब कोइ॥
सोरठा—संकर उर अति छोभ, सती न जानइ मरम सोइ।
तुलसी दरसन-लोभ, मन डर लोचन लालची॥४८॥

अर्थ—श्रीमहादेवजी हृदय में विचारते जाते हैं कि किस प्रकार से (श्रीरामजी) के दर्शन हों, क्योंकि प्रभु (परम समर्थ) श्रीरामजी ने गुप्त रूप से अवतार लिया है और मेरे (वहाँ) जाने पर सब कोई उन्हें जान जायँगे॥ शिवजी के हृदय में बड़ी खलबली है, इस भेद को सतीजी नहीं जानतीं, श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि दर्शनों की लालसा से उनके नेत्र ललचा रहे हैं, पर मन डर (भी) रहा है॥४८॥

विशेष—'केहि बिधि दरसन होइ'—'हृदय बिचारत ···' हृदय में ही रखने योग्य बात है, इससे सती से नहीं कहते। 'केहि बिधि'—दर्शन की विधि न बैठने की बात आगे कहते हैं—'गुपुत रूप···' आगे गुप्त रूप अवतरण का भी हेतु कहते हैं—'रावन मरन···'। इन कारणों से उनकी ईश्वरता प्रकट करना उचित नहीं और मेरे समीप जाकर अपने भाव के अनुकूल प्रणाम आदि व्यवहारों पर ईश्वरता प्रकट होगी ही। इससे मेरा जाना श्रीरामजी की इच्छा एवं विधि-वचन के प्रतिकूल पड़ेगा, वह असत्य होगा। 'सब कोइ' भाव यह कि अभी तो कोई-कोई (वसिष्ठ-विश्वामित्र, आदि) ही जानते हैं, किन्तु मेरे वहाँ जाने से एवं उचित व्यवहारों से सभी जान जायँगे।

'गुपुत रूप'—ब्रह्मा का वचन मनुष्य-रूप से रावण के मरने का है, उसकी रक्षा के लिये प्रभु ने रघुवंश में अवतार लिया कि वहाँ रघु आदि बड़े-बड़े तेजस्वी हुए हैं, जिनके प्रताप के आगे रावण भी ठंढा पड़ गया था। इस कुल में प्रभु के बल, प्रताप और वीरता को देखकर कोई ईश्वर न कहेगा। इस छिपाव का कारण अगली चौपाई में कहेंगे।

'संकर उर अति छोभ···'—उपर्युक्त कारण से क्षोभ है, उसे सती ने नहीं जाना, पर सती के भाव को हर (शिवजी) जान जायँगे, यथा—"जद्यपि प्रगट न कहेउ भवानी। हर अंतरजामी सब जानी॥" (दो० ५०); दर्शन का लोभ मन से होता है और साथ ही लोचन का लोभ भी रहता है, यथा—"लगे संग लोचन मन लोभा।" (दो० २१८); पर यहाँ मन तो डर रहा है, इससे केवल लोचन को लालची कहा गया है। मन प्रभु के ऐश्वर्य खुलने को डरता है। 'तुलसी दरसन लोभ'—यों तो 'तुलसी' पद कवि वाचक है। अतः, इसे अलग करके अर्थ किया जाता है। फिर भी ध्वनि से तुलसीदास को भी दर्शन का लोभ है, यथा—"सकल तनय चिरजीवहु, तुलसिदास के ईस॥" (दो० १९६); "तुलसिदास तेहि अवसर माँगी भगति अनूप। मृदु मुसुकाइ दीन्हि तब कृपादृष्टि रघुभूप॥" (गी० उ० २१)।

रावन-मरन मनुज-कर जाँचा। प्रभु बिधि-बचन कीन्ह चह साँचा॥१॥
जौं नहिं जाउँ रहइ पछितावा। करत बिचार न बनत बनावा॥२॥

अर्थ—(शिवजी सोच रहे हैं कि) रावण ने (ब्रह्माजी से) अपना मरण मनुष्य के हाथ से माँगा था। प्रभु ब्रह्माजी के उन वचनों को सत्य किया चाहते हैं॥१॥ जो नहीं जायँ तो मन में पछतावा रहता है। (इस प्रकार अनेक) विचार करते हैं, पर कोई बात बनाये नहीं बनती॥२॥

विशेष—(१) 'रावन-मरन मनुज···' रावन ने घोर तप से ब्रह्मा को प्रसन्न किया और वर माँगा—"हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे॥" इसपर ब्रह्मा ने कहा—"एवमस्तु तुम बड़ तप कीन्हा। मैं ब्रह्मा मिलि तेहि [illegible] (दो० १७६); अस्तु वर

देने में स्वयं शिवजी भी थे, पर यहाँ अपने वचन की बात नहीं कह रहे हैं, यथा—"जो सेवक साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥" (अ० दो० २६७)। 'प्रभु' अर्थात् परम समर्थ हैं, यथा—"प्रभु सक त्रिभुवन मारि जिआई।" (लं० दो० ११२); फिर भी उन्होंने विधि वचन सत्य करने के लिये ईश्वरत्व का महत्त्व न रखकर नरत्व धारण किया है। प्रभु की रुचि के विरुद्ध करना मुझे उचित नहीं।

(२) 'जौं नहिं जाउँ रहइ···'—'हृदय बिचारत जात हर···' उपक्रम है और यहाँ 'करत बिचार न बनत' पर उपसंहार हुआ। यहाँ तक विचार किया, परन्तु कुछ निश्चित न हुआ। पछतावा रहेगा कि स्वामी के समीप जाकर भी दर्शन नहीं किया, तब क्या करूँ? 'न बनत बनावा' अर्थात् न दर्शन करते ही बनता है और न छोड़ते ही बनता है। 'केहि बिधि दरसन होइ' इसकी विधि नहीं मिल सकी।

येहि बिधि भये सोच-बस ईसा। तेही समय जाइ दससीसा॥३॥
लीन्ह नीच मारीचहिं संगा। भयेउ तुरत सोइ कपट कुरंगा॥४॥
करि छल मूढ़ हरी बैदेही। प्रभु-प्रभाव तस बिदित न तेही॥५॥

अर्थ—इस प्रकार महादेवजी सोच के वश हुए। उसी समय नीच दशानन रावण ने जाकर नीच मारीच को साथ लिया और वह (मारीच) तुरन्त ही कपट का मृग बन गया॥३-४॥ मूर्ख (रावण) ने छल करके श्रीसीताजी को हर लिया, (क्योंकि) प्रभु का प्रभाव जैसा है, वैसा उसे मालूम नहीं था॥५॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि···' यद्यपि ईस (ईश) समर्थ शिवजी हैं, तथापि ऐसे सोच में पड़ गये हैं जैसे कोई असमर्थ किसीके वश में अचानक पड़ जाय और छूटने का उपाय न सूझे। 'तेही समय'—पूर्व कहा था—'दंडक बन बिचरत अबिनासी।' वहाँ शिवजी आये और दर्शन-उपाय के तर्क-वितर्क में पड़े हैं। 'बस'—बड़ी देर सोच के वश में रहे। उसी समय उधर नीच रावण अपने छल कार्य में लगा।

(२) 'लीन्ह नीच मारीचहिं···' 'नीच' विशेषण रावण और मारीच दोनों के लिये है, देहली दीपक है, क्योंकि दोनों ने नीचता की है, यथा—"बान-प्रताप जान मारीचा। तासु कहा नहिं मानहि नीचा॥" (लंका दो० ३५); यहाँ मन्दोदरी ने रावण को नीच कहा है, क्योंकि चोरी से पर-स्त्री-हरण नीचता है। मारीच नीच और कपटी था। श्रीरामजी ने विश्वामित्र के यज्ञ-रक्षण में उसे जीता छोड़ दिया था। वाल्मीकीय रामायण में वह एक बार और भी मृग बनकर श्रीरामाश्रम पर गया था, श्रीरामजी ने उस बार भी उसे छोड़ दिया। उसने हृदय से स्नेही बनकर भी उनके साथ कपट ही किया है। कपट-मृग बनकर गया और छल करके उन्हें दूर ले गया। अन्त में श्रीरामजी के स्वर में 'हा सीते! हा लक्ष्मण!' इस प्रकार कहकर श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी को भी धोखा ही दिया, यथा—"लछिमन कर प्रथमहि लै नामा। पाछे सुमिरेसि मन महँ रामा॥ प्रान तजत···" (अर० दो० २६); इस प्रकार प्राण छोड़ने के समय तक उसने कपट ही किये हैं।

उसने अपने स्वामी रावण के साथ भी ईर्ष्या ही की है, यथा—"मां निहत्य तु रामोऽसावचिरात्त्वां वधिष्यति। अनेन कृतकृत्योऽस्मि मृते चाप्यरिणा हतः॥" (वाल्मी० ३।४१।१७); अर्थात् श्रीरामजी मुझे मारकर तुरत तुम्हें मारेंगे, इससे मैं प्रसन्न हूँ, अर० दो० २५ चौ० ६ भी देखिये। अर्थात् रावण के सपरिवार नाश का संयोग लगाकर मरने में प्रसन्न है। इस प्रकार उसने उभय पक्ष में नीचता ही की है, यथा—इत रावन उत राम कर, बीच जानि मारीच। कपट कनक मृग बेष तब, कीन्ह निसाचर नीच॥" (रामाज्ञा० ३।२।६); तथा—"सुकृत न सुकृती परिहरइ, कपट न कपटी नीच। मरत सिखावन सो दियो गीधराज मारीच॥" (दोहावली ३४१)। 'लीन्ह···संगा' इसमें

ध्वनि है कि लंका से वहाँ तक अकेला ही आया था, यथा—"चला अकेल जान चढ़ि तहवाँ। बस मारीच सिंधु तट जहवाँ ॥" (अर० दो० २२)।

'कपट कुरंगा'—यथा—"तब मारीच कपट मृग भयेऊ। ···अति बिचित्र कछु बरनि न जाई। कनक देह मनि रचित बनाई ॥ ···सीता परम रुचिर मृग देखा।" (अर० दो० २६)।

(३) 'करि छल मूढ़ हरी···' रावण ने मारीच को छलकारी मृग बनाया और स्वयं छल से यती का रूप धारण किया, यथा—"होहु कपट मृग तुम्ह छलकारी। जेहि बिधि हरि आनउँ नृप नारी ॥" (अर० दो० २४)। मारीच ने छल किया भी—"प्रगटत दुरत करत छल भूरी। येहि बिधि प्रभुहिं गयउ लै दूरी ॥" (अर० दो० २६)। 'बैदेही' अब दोनों भाई अन्यत्र चले गये, तब छल किया, छल के साथ प्रभु से बर्ताव किया। अतः, बैदेही (प्रतिबिम्ब रूपिणी सीता को ही पा सका, यथा—"निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसेइ सील रूप सुबिनीता ॥" (अर० दो० २३)। अतः, स्वयं भी छला गया।

'रावण का छल'—"सून बीच दसकंधर देखा। आवा निकट जती के बेषा ॥" (अर० दो० २७)।

'प्रभु-प्रभाव तस···' 'तस' वैसा अर्थात् जैसा है वैसा नहीं जानता था। ध्वनि से आता है कि कुछ जानता भी था, यथा—"जौं रघुबंस लीन्ह अवतारा। तौ मैं जाइ···" (अर० दो०२२); पर वह सन्देह में पड़ गया। वही कपट-मृग से परीक्षा का भी अभिप्राय था। मारीच ने भी कुछ प्रभाव समझाया, यथा—"जेहि ताड़का सुबाहु हति, खंडेउ हर कोदंड। खर दूषन त्रिसिरा बधेउ, मनुज कि अस बरिबंड ॥" (अर० दो० २५); इसीलिये मृग-परीक्षा द्वारा मनुष्य निश्चित करके भी युद्ध नहीं किया, अन्यथा पहले इसने सोचा था—"जौं नर रूप भूपसुत कोऊ। हरिहौं नारि जीति रन दोऊ ॥" (अर० दो० २२); कुछ प्रभाव से ही डरकर लड़ न सका, छल किया, यथा—"सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं ॥" (अर० दो० २७)। यदि यथार्थ प्रभाव जानता तो अपनी वृत्ति के अनुसार भजन ही करता, यथा—"उमा राम प्रभाव जिन्ह जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना ॥" (सुं दो० ३३); तथा—"यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥" (गीता १५।१९); इत्यादि। प्रभाव न जानने और छल करने आदि से 'मूढ़' भी कहा है।

मृग बधि बंधु सहित प्रभु आये। आश्रम देखि नयन जल छाये ॥६॥
बिरह-बिकल नर इव रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई ॥७॥
कबहूँ जोग - बियोग न जाके। देखा प्रगट बिरह-दुख ताके ॥८॥

अर्थ—हिरन को मारकर प्रभु (श्रीरामजी) भाई (लक्ष्मणजी) के साथ आश्रम पर आये। उसे (शून्य) देखकर उनके नेत्रों में आँसू भर आये ॥६॥ श्री रघुनाथजी मनुष्यों की तरह विरह से व्याकुल हैं और दोनों भाई उस वन में (माया-सीता को) ढूँढ़ते-फिरते हैं ॥७॥ जिनके (यथार्थ में) कभी संयोग-वियोग (के विकार रूप हर्ष-विषाद) नहीं हैं, उनको प्रकट में विरह का दुःख देखा गया ॥८॥

विशेष—(१) 'मृग बधि··· प्रभु···' पूर्व कहा गया था—"सत्यसंध प्रभु बध करि येही। आनहु चर्म कहति बैदेही ॥" (अर० दो० २६)। कार्य पूरा हुआ, मारीच मारा गया और चर्म भी लाया गया। अतः, 'प्रभु' कहा गया। यहाँ माधुर्य लीला है। 'आश्रम देखि···' क्योंकि वहाँ श्रीजानकीजी को नहीं देखा, यथा—"आश्रम देखि जानकी हीना। भये बिकल जस प्राकृत दीना ॥" (अर० दो० २९)। इसलिये 'प्रभु' और 'नर इव' कहा जिससे इनमें पाठकों की प्राकृत बुद्धि न हो जाय। ऐश्वर्य दिखाया कि ये विरह आदि नर-नाट्य हैं, 'प्रभु' के स्थान पर 'हरि' भी पाठ श्रावणकुंज का है, उसका भाव भी 'नर-इव' के साथ ईश्वरत्व दिखाने का है। इस पाठ में 'प्रभु' पद का भाव ऊपर 'प्रभु' प्रभाव के बदले 'प्रभु' पद से लिया जा सकता है। कहा ही है—"जस काछिय तस चाहिय नाचा।" (अ० दो० १२६)।

श्रीरामजी सोचते हैं कि यदि दुःख प्रकट न करें तो सीताजी के हरण से हमको लौकिक दृष्टि में कलंक लगेगा। सीताजी कहाँ किस अवस्था में दुःख भोग रही हैं—इससे तथा प्रिय-वियोग आदि कारणों से भी उनकी आँखों में आँसू भर आये।

(२) 'बिरह बिकल···'—विरह की विकलता में केवल 'रघुराई' (श्रीरामजी) हैं और खोजने में दोनों भाई कहे गये हैं। चौपाई का पूर्वार्द्ध पृथक् और उत्तरार्द्ध पृथक् है। लक्ष्मणजी विकल नहीं हैं, वे तो समझा रहे हैं, यथा—"लछिमन समुझाए बहु भाँती।" (अर० दो० २९); 'नर-इव' नर के हाथ रावण-वध होने का विधि-वचन तथा नारद वचन सत्य कर रहे हैं—"नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी।" "बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा। सोइ तनु धरहु श्राप मम येहा॥" (दो० १३६); नारदजी के इन वचनों को सत्य करने की प्रतिज्ञा भी है; यथा—"नारद बचन सत्य सब करिहौं।" (दो० १८६)। विरह की विकलता दिखाने में 'रघुराई' यह माधुर्य का नाम कहा है, क्योंकि ऐश्वर्य में विकलता ठीक नहीं।

(३) 'देखा प्रगट ···'—दुःख प्रकट में (दिखाव में) ही है, यथा—"बाहिज चिंता कीन्हि बिसेषी।" (अर० दो० २९); विरह की दशा भी वहीं देखिये। वास्तव में दुःख नहीं है। श्रीसीताजी और श्रीरामजी तत्त्वतः एक ही हैं—दो० १८ देखिये। आगे सतीजी ने दोनों का नित्य संयोग ही देखा था, यह आगे—दो० ५३-५४ देखिये। जब कभी संयोग कहा जाय, तब वियोग भी हो सकता है। पर श्रीजी से श्रीरामजी का वियोग कभी होता ही नहीं, यथा—"नित्यैवैषा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी। यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम॥" (वि० पु० १।८।१७); अर्थात् जिनका कभी तिरोभाव नहीं होता, वे जगन्माता श्रीजी तो नित्य ही हैं और जैसे विष्णु (व्यापक श्रीरामजी) सर्व व्यापक हैं, उसी प्रकार (सर्व व्यापिका) ये (श्रीजी) भी हैं, तथा—"एवं यदा जगत्स्वामी देवदेवो जनार्दनः। अवतारं करोत्येषा तदा श्रीस्तत्सहायिनी॥१४२॥ ···राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि। अन्येषु चावतारेषु विष्णोरेषानपायिनी॥१४४॥ देवत्वे देवदेहेऽयं मनुष्यत्वे च मानुषी। विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषात्मनस्तनुम्॥१४५॥" (वि० पु० १।९); अर्थात् भगवान् जब-जब अवतार धारण करते हैं, श्रीजी सहायिका रूप में सदा साथ रहती हैं।···श्रीराम होने पर श्रीसीताजी के रूप से और श्रीकृष्ण होने पर श्रीरुक्मिणीजी के रूप से साथ रहती हैं। ऐसे ही सभी अवतारों में ये कभी भगवान् से पृथक् नहीं होतीं। भगवान् के देव होने पर ये भी वैसा ही दिव्य रूप धारण करती हैं और मनुष्य होने पर मानवी रूप में प्रकट होती हैं, भगवान् के शरीर के अनुरूप ही ये भी अपना रूप बना लेती हैं। 'प्रगट'—सारा संसार जानता है, यथा—"एक राम अवधेस कुमारा। तिन्ह कर चरित बिदित संसारा॥ नारि बिरह दुख लहेउ अपारा।" (दो० ४५)।

दोहा—अति बिचित्र रघुपति-चरित, जानहिं परम सुजान।
जे मतिमंद बिमोह - बस, हृदय धरहिं कछु आन॥४६॥

अर्थ—रघुपति श्रीरामजी का चरित्र बड़ा ही विचित्र है, इसे परम सुजान ही जानते हैं। जो मन्दबुद्धि विशेष मोह के वशीभूत हैं, वे अपने हृदय में कुछ और ही मान लेते हैं॥४६॥

विशेष—(१) 'अति बिचित्र ···' इस चरित में ब्रह्म-विद्यारूपिणी सती को ही भ्रम हो गया, तब 'अति विचित्र' अवश्य है और इसके ज्ञाता भक्तों में अग्रगण्य शिवजी के समान भगवान् के कृपापात्र ही 'परम सुजान' हैं, यथा—"जानहिं यह चरित्र मुनि ज्ञानी। जिन्ह रघुबीर चरन रति मानी॥" (कि० दो० १७); जगद्व्यापार रूप लीला भी ऐसी ही है, यथा—"जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥ तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुम्हहिं को जाननिहारा॥ सोइ जानइ जेहि···तुम्हरिहि कृपा

तुम्हहिं···' चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥ नरतनु धरेउ···राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥" (अ० दो० १२६); तथा "उमा रामगुनगूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरि-बिमुख न धर्मरति॥" (अर० मं०); अर्थात् दैवी बुद्धिवाले एवं भक्तजन ही परम सुजान हैं और हरि-विमुख आसुरी बुद्धिवाले मतिमन्द आदि हैं। परम सुजान ही 'चिदानंदमय देह···' रूप से प्रभु को जानते हैं।

लीला एक है—उसके समझनेवाले दो तरह के हो गये। जैसे पवन एक ही है, पर उसके स्पर्श से जल में शीतलता और अग्नि में उष्णता होती हैं, वैसे इस चरित से 'पंडित-मुनि' वैराग्य ग्रहण करते हैं, कि स्त्री को आसक्ति दुःखद है, तब तो श्रीरामजी भी रो रहे हैं। अतः, हमें इसका त्याग करने को उपदेश दे रहे हैं, पर 'विमूढ़' लोगों की बुद्धि में आता है कि स्त्री की आसक्ति बहुत उत्तम है, तभी तो श्रीरामजी इसके लिये रो रहे हैं, यथा—"कामिन्ह के दीनता दिखाई। धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई॥" (अर० दो० ३८)।

(२) 'अति बिचित्र'—पर अनेकों भाव हैं—जैसे (क)—"जहाँ अनेक रंग मिले होते हैं, वहाँ विचित्र रंग कहा जाता है। वैसे यहाँ अनेक रसों के मिले हुए चरित हैं, यही विचित्रता है। तपस्वी-वेष (शान्त रस) श्वेत रंग, धनुर्बाण धारण (वीररस) पीत, प्रिया संयोग (शृंगाररस) श्याम, मारीच बध (रौद्र रस) लाल, प्रिया-वियोग (करुणरस) कपोत रंग और विरह व्याकुलता (वीभत्स) नील रंग।" (श्रीवैजनाथजी)। (ख) अन्तर्यामी का चरित्र चित्र, विराट् का विचित्र, यथा—"मानहु जग रचना बिचित्र बिलसति बिराट अँग-अँग।" (गी० अ० ५०); और रघुपति का अति विचित्र है। इन्हें जाननेवाले क्रमशः जान, सुजान और परम सुजान हैं और न जाननेवाले भी क्रमशः मन्द, अतिमन्द और 'मतिमंद बिमोह बस' हैं।

संभु समय तेहि रामहिं देखा। उपजा हिय अति हरष बिसेषा॥१॥
भरि लोचन छबि-सिंधु निहारी। कुसमय जानि न कीन्ह चिन्हारी॥२॥

अर्थ—शिवजी ने उसी समय श्रीरामजी को देखा तो उनके मन में विशेष आनन्द हुआ॥१॥ (शिवजी ने) छवि के समुद्र श्रीरामजी को नेत्र भरकर देखा, परन्तु अनवसर जानकर जान-पहचान नहीं की॥२॥

विशेष—(१) 'संभु समय तेहि···'—विशेष हर्ष का कारण इष्ट-दर्शन है और नर-नाट्य की पूर्णता भी शोकादि के स्वाँग में देखी। इससे हर्ष हुआ कि कैसा स्वाँग रचा है।

(२) 'भरि लोचन···' नेत्र रूप घड़ों को छवि-समुद्र में भर लिया, अर्थात् रामजी के अंग-अंग में अपार छवि है, अल्पांश छवि में ही वे घड़े पूर्ण हो गये। पहले के लालची नेत्र तृप्त हो गये। कहा गया था—"तुलसी दरसन लोभ, मन डर लोचन लालची।" मन डरता था, इससे चिन्हारी नहीं की, लालची नेत्र दर्शन पा गये, दोनों बातें चरितार्थ हो गईं। 'कुसमय'—गुप्त रूप में अवतार है, ब्रह्मा का वचन रखना है, रावण-बध के पीछे सुसमय होगा, यथा—"देखि सुअवसर प्रभु पहिं, आये संभु सुजान।" (लं० दो० ११४)। चिन्हारी रूप में दण्ड-प्रणाम आदि नहीं किये।

जय सच्चिदानंद जगपावन। अस कहि चलेउ मनोज नसावन॥३॥
चले जात सिव सती - समेता। पुनि-पुनि पुलकत कृपानिकेता॥४॥
सती सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेह बिसेखी॥५॥

अर्थ—जगत् को पवित्र करनेवाले सच्चिदानन्द की जय हो, ऐसा कहकर काम का नाश करनेवाले महादेवजी चल दिये ॥३॥ कृपा के स्थान शिवजी बारंबार पुलकायमान होते हुए सतीजी के साथ चले जाते हैं ॥४॥ शिवजी की उस प्रेम की दशा को देखकर सती के हृदय में विशेष सन्देह उत्पन्न हो गया ॥५॥

विशेष—(१) 'जय सच्चिदानंद···'—हे सत् चित्-आनन्दस्वरूप भगवान् रामजी ! आपकी जय हो—(सच्चिदानन्द का अर्थ दो० १८ चौ० ३ में देखिये)। 'जग पावन' क्योंकि इस लीला को गाकर जगत् पवित्र होगा, यथा—"पूछेउ रघुपति कथा-प्रसंगा। सकल लोक जगपावनि गंगा ॥" (दो० १११)। श्रीरामजी के नाम, रूप, लीला और धाम, चारो जगपावन हैं, यथा—"सुमिरि पवनसुत पावन नामू।" (दो० २५); नाम, "मैं नारि अपावन प्रभु जग पावन" (दो० २११); रूप, "जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं" (लं० दो० ६५); लीला और "बदउँ अवधपुरी अति पावनि।" (दो० १५); धाम।

यहाँ 'जय सच्चिदानंद···' कहने के साथ अपनी ओर से मात्र प्रणाम करना है, मन के डर से वह प्रणाम मुद्रा प्रभु के दिखाव में नहीं है, क्योंकि आगे सतीजी के वचन में स्पष्ट है—"तिन्ह नृप सुतहिं कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा॥" 'मनोज नसावन' यद्यपि शिवजी काम का नाश आगे करेंगे, तथापि कवि भविष्य की बात पूर्व भी कहते हैं, उसे भाविक अलंकार कहा जाता है, जैसे—"रावनरिपुजन सुखदाई।" (दो० २११); यह अहल्या ने कहा—यद्यपि रावण की रिपुता आगे सिद्ध होगी। पुनः देवताओं के स्वरूप अनादि हैं और उनके गुण भी उनमें नित्य हैं, यथा—"मुनि-अनुसासन गनपतिहिं, पूजेउ संभु भवानि। कोउ सुनि संसय करइ जनि, सुर अनादि जिय जानि॥" (दो० १००)। शिवजी में कामजित् गुण भी नित्य है, यथा—"तुम्हरे जान काम अब जारा।···" "···अभोगी॥" (दो० ८६); तात्पर्य यह कि यदि श्रीरामजी यथार्थ कामी होते तो उनमें कामारि शिवजी की सच्ची निष्ठा कैसे रहती ? अतः, यह दिखाऊ लीलामात्र है। 'मनोज नसावन' इस विशेषण से शिवजी निर्दोष भक्त सूचित किये गये हैं, यथा—"भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥" (सुं० मं० श्लोक २)। 'चले' दर्शनार्थ कुछ ठहर गये थे, अब फिर चले।

(२) 'संदेह बिसेषी'—सतीजी को सन्देह तो विरहाकुल नर को 'सच्चिदानंद···' कहने ही पर हुआ था। शिवजी के प्रेम की दशा देखकर विशेष सन्देह हो गया। सतीजी ने श्रीरामजी को पुत्र ही मान रक्खा था, शिवजी के प्रीत्यात्मक भावों से ईश्वर होने का सन्देह हुआ, आगे—'ब्रह्म जो व्यापक···' पर स्पष्ट है। गरुड़जी ने ईश्वर मान रक्खा था, पर नागपाश-बन्धन-लीला पर सन्देह हुआ, यथा—"भव बंधन ते छूटहिं···" (उ० दो० ५८); भुशुण्डीजी को भी शिशुलीला पर मोह एवं सन्देह हुआ, यथा—"प्राकृत सिसु इव लीला, देखि भयउ मोहि मोह।···" (उ० दो० ७७)। सती का हार्दिक भाव आगे कहते हैं—

संकर जगत-बंद्य जगदीसा। सुरनर मुनि सब नावत सीसा ॥६॥
तिन्ह नृप-सुतहिं कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा ॥७॥
भये मगन छबि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी ॥८॥

अर्थ—वे हृदय में विचारती हैं कि शिवजी जगद्वन्दनीय और जगत् के ईश्वर हैं, देवता, मनुष्य और मुनि सभी उनको सिर झुकाते हैं ॥६॥ उन्होंने एक राज-पुत्र को 'सच्चिदानंद परधामा' कहकर प्रणाम किया ॥७॥ और उसकी छवि देखकर उसमें (ऐसे) निमग्न हो गये कि अभी भी उनके हृदय में प्रीति रोकने से नहीं रुकती ॥८॥

विशेष—'तासु' सतीजी श्रीरामजी को सामान्य राजपुत्र ही मान रही हैं, इसीसे 'तासु' हलका पद देती हैं। 'तिन्ह नृप सुतहिं···' यह नहीं कि राजपुत्र में "नराणां च नराधिपम्" गीता १०।२७ की दृष्टि से उसमें कुछ ईश्वरांश आदि मानकर प्रणाम किया हो, प्रत्युत उसे 'सच्चिदानंद परधामा' कहकर, अर्थात्

परब्रह्म मानकर प्रणाम किया है। 'कीन्ह परनामा' कर्म से, 'कहि सच्चिदानंद''' वचन से और 'अजहुँ प्रीति उर''' इसमें मन से प्रणाम करना स्पष्ट है। 'परधामा'—परधाम त्रिपाद्-विभूति साकेत लोक निवासी कहा है।

'भये मगन'''—उपर्युक्त 'छबिसिंधु-निहारी' के अनुरोध से यहाँ मग्न होना कहा गया है, दसवीं दशा प्रेम की न आ जाय, इसलिये रोकते हैं, यथा—"होत मगन बारिधि बिरह, चढ़े बिवेक जहाज ॥" (अ० दो० २२०)। 'रहति न रोकी'—शिवजी उस प्रेम की दशा को छिपाना चाहते हैं, पर प्रेमाश्रु एवं पुलकावली आदि दशाएँ उसे प्रत्यक्ष किये देती हैं। कहा भी है—"बैर प्रेम नहिं दुरइ दुराये।" (अ० दो० २६३)।

दोहा—ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद ॥५०॥

शब्दार्थ—बिरज = रजोगुण-रहित, निर्मल। अकल = कला-रहित, पूर्ण, जो घटता-बढ़ता नहीं। अनीह - वासना वा चेष्टा से रहित। अभेद = शत्रु-मित्र-उदासीन, भेद-रहित, समदृष्टि।

अर्थ—जो ब्रह्म व्यापक रजोगुण-रहित, अजन्मा, कला-रहित, चेष्टा-रहित और भेद-रहित है, जिसे वेद भी (यथार्थ) नहीं जानते, वह क्या देह धरकर मनुष्य हो सकता है ?

विशेष – सतीजी विचारती हैं कि यदि शिवजी के सच्चिदानन्द-परधाम कहने पर रामजी को ब्रह्म माना जाय तो बहुत तर्कनाएँ होती हैं। ब्रह्म बृहद् है और ये तो देखने में आते हैं तथा लघु हैं। ब्रह्म सर्वव्यापक है और ये एक तनुधारी हैं। वह बिरज है और ये मन के मलिन (कामी) हैं। काम रजोगुण का विकार है, यथा—"काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।" (गीता ३।३७); एवं इनका जन्म हुआ, ये बाल-युवादि रूप में बढ़े भी, इनमें चेष्टाएँ भी होती हैं, ये शत्रु-नाशन में तत्पर हैं तो अभेद कैसे हो सकते हैं। ब्रह्म को वेद भी नहीं जानते और इन्हें तो सब जानता है, प्रत्यक्ष हैं। अतः, उपर्युक्त ब्रह्म के लक्षणों के विरुद्ध हैं।

बिष्नु जो सुरहित नरतनुधारी। सोउ सरबज्ञ जथा त्रिपुरारी ॥१॥
खोजइ सो कि अज्ञ इव नारी। ज्ञानधाम श्रीपति असुरारी ॥२॥
संभु - गिरा पुनि मृषा न होई। सिव सरबज्ञ जान सब कोई ॥३॥

अर्थ—विष्णु भगवान् जो देवताओं के लिये मनुष्य-शरीर धारण किया करते हैं, वे भी शिवजी के समान सर्वज्ञ हैं ॥१॥ जो ज्ञान के स्थान, लक्ष्मीजी के पति और असुरों के शत्रु हैं, वे क्या अज्ञानियों की भाँति स्त्री को खोजते फिरेंगे ? ॥२॥ फिर शिवजी की वाणी भी तो झूठी नहीं हो सकती, क्योंकि शिवजी सर्वज्ञ हैं, यह सब कोई जानते हैं ॥३॥

विशेष— यहाँ तीन प्रकार के सन्देह आरोपित हुए—(क) ऊपर दोहे में कहा गया कि निर्गुण ब्रह्म नर-शरीर नहीं धारण कर सकता। (ख) यहाँ कहती हैं कि सगुण विष्णु भगवान् हैं, वे अवतार लेते हैं, यथा—"जब-जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हहिं नसायो ॥" (लं० दो० १०८)। पर वे सर्वज्ञ हैं, तब—'खोजइ सो कि अज्ञ इव नारी।' 'ज्ञान-धाम' हैं, अज्ञानियों की तरह रोते क्यों हैं ? 'श्रीपति'—जिनका श्री से वियोग नहीं हो सकता, ऊपर दो० ४६ चौ० ८ में प्रमाण देखिये। फिर वे तो 'असुरारी' हैं—असुर स्वयं डरते रहते हैं, वे उनकी स्त्री का हरण कर नहीं सकते। (ग) शिवजी न जानते हों, यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वज्ञ हैं, शिवजी ने 'सच्चिदानंद परधामा' कहा है, इत्यादि संशय ही हैं।

अस संसय मन भयेउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा ॥४॥
जद्यपि प्रकट न कहेउ भवानी। हर अंतरजामी सब जानी ॥५॥
सुनहिं सती तव नारि-सुभाऊ। संसय अस न धरिय उर काऊ ॥६॥
जासु कथा कुंभज रिषि गाई। भगति जासु मैं मुनिहिं सुनाई ॥७॥
सोइ मम इष्ट-देव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा ॥८॥

अर्थ—इस प्रकार से मन में अपार संशय हुआ। उनके हृदय में पूर्ण बोध का प्रकाश नहीं होता था ॥४॥ यद्यपि भवानी ने प्रकट नहीं कहा, तथापि हृदय के जाननेवाले शिवजी ने सब जान लिया ॥५॥ (और कहा) हे सती! सुनो, तुम्हारा स्त्री-स्वभाव है, तुम्हें मन में ऐसा सन्देह कभी नहीं करना चाहिये ॥६॥ जिनकी कथा अगस्त्यजी ने कही है और मुनि को जिनकी भक्ति मैंने सुनाई है ॥७॥ वे ही ये हमारे इष्टदेव श्रीरघुवीर हैं, जिनकी सेवा धीर मुनि लोग सदा करते रहते हैं ॥८॥

विशेष—'अस संसय मन भयेउ अपारा'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"उर उपजा संदेह बिसेषी।" से हुआ था। संशय दुविधा को कहते हैं, यहाँ दोनों ओर पार नहीं मिलता। विष्णु के सर्वज्ञ, ज्ञानधाम और असुरारी होना ठीक ही है और इधर शिवजी की सर्वज्ञता भी ध्रुव है। अतः, ये अन्यथा कह नहीं सकते। इससे प्रबोध नहीं होता, यथा—"नाना भाँति मनहिं समुझावा। प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा ॥" (उ० दो० ५८)।

'हर अंतरजामी···'—दो० ४७ में कहा गया—'संकर उर अति छोभ, सती न जानहिं मरम सोइ' यहाँ हर का जानना कहा, यह इनमें विशेषता है। सतीजी ने प्रकट न कहा कि शिवजी को अप्रिय लगेगी, इसीपर आगे कहा है—"कहहिं सुनहिं अस अधम नर ···" (दो० १२८)।

'नारि-सुभाऊ'—स्त्रियों के स्वाभाविक आठ अवगुण रावण ने कहे हैं, यथा—"अहो मोह महिमा बलवाना ॥ नारि-सुभाव सत्य कवि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं ॥ साहस अनृत चपलता माया। भय अबिवेक असौच अदाया ॥" (लं० दो० १५); इनमें यहाँ अविवेक प्रत्यक्ष है। इसीसे संशय हुआ है, यह न चाहिये, अन्यथा—"अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं ॥" (दो० ११८); यहाँ जान गया, क्योंकि—'होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा।' यह ऊपर कहा गया।

'मम इष्टदेव'—मेरा कहना यथार्थ है। ये ही इष्टदेव हैं। अतः, तुम्हें भी ऐसा ही मानना चाहिये। आगे—'सेवत जाहि'···से—'रघुकुलमनी' तक में प्रमाण देते हैं।

छंद—मुनिधीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं ॥
सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी।
अवतरेउ अपने भगत-हित निज तंत्र नित रघुकुलमनी ॥

अर्थ—धीर मुनि और सिद्ध योगी विमल मन से निरन्तर जिनका ध्यान करते हैं। वेद, पुराण और शास्त्र 'नेति-नेति' कहकर जिनकी कीर्त्ति को गाते हैं, उन्हीं व्यापक ब्रह्म, समस्त ब्रह्माण्डों के पति, माया के स्वामी, स्वतन्त्र, नित्य श्रीरामजी ने अपने भक्तों के लिये रघुकुलमणि रूप में अवतार ग्रहण किया है।

विशेष—धीर मुनि, सिद्ध योगी निर्मल मन से जिनका ध्यान करते हैं, यथा—"मुनीनां न्यस्त-दण्डानां शान्तानां समचेतसाम्। अकिञ्चनानां साधूनां यमाहुः परमांगतिम् ॥" (भाग० १०।८९।१७)। वेद

आदि जिसे ही नेति कहते हैं, इन सबका निश्चय अन्यथा नहीं हो सकता। 'नेति'—दो० १२ देखिये। 'अपने भगत हित', यथा—"सो केवल भगतन हित लागी।···" (दो० १२); भी देखिये। इससे अनन्य भक्त मनुशतरूपा का भी लक्ष्य है, क्योंकि यह प्रसंग उसी कल्प का है। 'निज तंत्र'=स्वतन्त्र, यह 'अवतरेउ' और 'रघुकुलमनी' दोनों के साथ है। यथा—"निज इच्छा प्रभु अवतरइ" (कि० दो० २६); "परम स्वतंत्र न सिर पर कोई।" (दो० १३६)। 'सेवत जाहि···' में कर्म, 'बिमल मन जेहि···' में मन और 'कहि नेति···' इसमें वचन की निष्ठा कही गई है। ये मुनि आदि इन तीनों प्रकारों से इन्हीं में रत रहते हैं। अतः, मेरे ही नहीं, प्रत्युत सबके इष्टदेव हैं। अतः, मेरे अनुसार तुम्हें भी इन्हें ही इष्टदेव मानना चाहिये, तुम तो पतिव्रता हो। 'बिमल मन' अर्थात् विषय से रहित मन। 'धीर' "ते धीर अछत विकार हेतु जे रहत मनसिज बस किये।" (पार्वती मंगल १५)। 'सोइ राम ब्यापक···'—सतीजी व्यापक ब्रह्म का अवतार लेना नहीं मानतीं—"ब्रह्म जो ब्यापक···सो कि देह धरि होइ नर" ऐसा कहा गया, उसपर शिवजी कहते हैं कि ये ही व्यापक ब्रह्म हैं। भुवन समूह एवं उनके रचनेवाली माया के भी ये ही स्वामी हैं। कार्य-कारण दोनों के स्वामी हैं। 'निज तंत्र'—मायावश नहीं, स्वेच्छा से अवतार लेते हैं। 'अपने भगत हित'—सो केवल भगतन हित लागी।'—इसका विशेष देखिये, तथा—"तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥" (सुं० दो० ४७)। 'अपने भगत' पद से 'निज भगत' अर्थात् अनन्य भक्त का अर्थ है।

सोरठा—लाग न उर उपदेस, जदपि कहेउ सिव बार बहु।
बोले बिहँसि महेस, हरि-माया-बल जानि जिय॥५१॥

अर्थ—यद्यपि शिवजी ने अनेक बार कहा, तथापि सतीजी के हृदय में उपदेश नहीं लगा, तब महादेवजी अपने हृदय में भगवान् की माया का बल जान बिहँस कर बोले॥५१॥

विशेष—'लाग न उर···'—हर ने अन्तर्यामी भाव से जान लिया। न लगना यों है कि इन्हीं बातों को लेकर पार्वती तन से प्रश्न किया है—"प्रभु जे मुनि ··" से "तुम्ह पुनि राम राम···राम सो अवध नृपति सुत···" (दो० १०७)। 'बार बहु'—यथा—"तदपि कही गुरु बारहि बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥" (बा० दो० ३०)।

'बोले बिहँसि'—हँसे इसलिये कि सतीजी मुझे देवता मानती हैं। अतः, इष्ट का उपदेश—फिर भी वह बहुत बार हुआ, पर उससे बोध नहीं होता, तो अवश्य भारी कारण है और वह हरिमाया ही है। 'हरि-माया-बल'—"सुनु खग प्रबल राम कै माया।"···से—"सिव बिरंचि कहँ मोहै, को है बपुरा आन॥" (उ० दो० ५८-६२) तक। अपने आश्रित पर हरिमाया बल जानकर भी खेद न कर हँसने का भाव यह कि हरि आश्रितों पर भगवान् की विद्यामाया ही व्याप्त होती है, यथा—"हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित तेहि ब्यापइ बिद्या॥ ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहंगबर॥" (उ० दो० ७८); इस माया से सती को परिणाम में विशेष तत्त्वज्ञान होगा। यहाँ 'विशेषोक्ति-अलंकार' है, क्योंकि कारण के रहते हुए भी फल नहीं हुआ। उपदेश होने पर भी फल नहीं हुआ।

जौ तुम्हरे मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू॥१॥
तब लगि बैठ अहउँ बट-छाहीं। जब लगि तुम्ह अइहहु मोहि पाहीं॥२॥
जैसे जाइ मोह भ्रम भारी। करेहु सो जतन बिबेक बिचारी॥३॥
चलीं सती सिव-आयसु पाई। करहिं बिचार करउँ का भाई॥४॥

अर्थ—जो तुम्हारे मन में बहुत ही सन्देह है तो तुम वहाँ जाकर परीक्षा क्यों नहीं ले लेतीं ? ॥१॥ जबतक तुम मेरे पास (लौटकर) आओगी, तबतक मैं इसी वट-वृक्ष की छाया में बैठा हूँ ॥२॥ जिस प्रकार तुम्हारा भारी मोह-भ्रम दूर हो, वही उपाय तुम विवेक-पूर्वक विचार कर करना ॥३॥ शिवजी की आज्ञा पाकर सतीजी चलीं और हृदय में विचारती हैं कि हे भाई, मैं क्या करूँ ? ॥४॥

विशेष—(१) 'अति संदेहू', फिर इसे ही 'मोह भ्रम भारी' भी कहा है, क्योंकि मेरे (शिवजी के) उपदेश से भी न मिटा (दूसरे शरीर तक लगा रहेगा)।

शंका—शिवजी सती को परीक्षार्थ भेज रहे हैं, जिससे उसे दुःख होगा, यह क्यों ?

समाधान—जाने बिना प्रतीति न होगी और न प्रीति ही, इसका उपाय अब परीक्षा ही शेष है। उसमें भी शिवजी सावधान करके भेज रहे हैं कि विवेक से काम लेना, सहसा अनुचित न कर बैठना। भावीवश अनुचित ही हो गया, शिवजी का दोष नहीं है।

'बट छाहीं'—वट-वृक्ष शिवजी को प्रिय है, यथा—"प्राकृतहुँ बट-बूट बसत पुरारि हैं।" (क० उ० १४०); तथा—"तेहि गिरि पर बट बिटप बिसाला।...सिव-बिश्रामबिटप श्रुति गाया॥" (दो० १०५); एवं पास में यही वृक्ष रहा होगा।

चैत-वैशाख महीना था, इससे दोपहर दिन के समय धूप कड़ी होने से भी इसकी छाया की आवश्यकता रहती है, क्योंकि यह जाड़े में गर्म और गर्मी में ठंढा रहता है, यथा—"कूपोदकं वटच्छाया श्यामास्त्री चेष्टकागृहम्। शीतकाले भवेदुष्णमुष्णकाले च शीतलम्॥" (हितोपदेश)। 'तब लगि···'—इससे परीक्षा का अवकाश दिया कि सावधानी से कर सकें।

'करेहु सो जतन बिवेक बिचारी'—शिवजी ने विवेक से परीक्षा लेने को कहा है और सतीजी अविवेक से परीक्षा लेने में प्रवृत्त हुईं, यही इनका अपराध हुआ, यथा—"सिय बेष सती जो कीन्ह तेहि अपराध संकर परिहरी।" (दो० ९७)। यदि यहाँ शिवजी ऐसा न कहते तो ये कह सकतीं कि जैसा मुझसे बना, परीक्षा ली। आयसु पाते ही तुरत चल देने से सतीजी की हार्दिक उतावली भी है, क्योंकि सन्देह विशेष है, इससे शिवजी से यत्न का प्रकार न पूछ सकीं—हरिमाया वश।

'करउँ का भाई'—'भाई' हृदय के प्रति सम्बोधन है, ऐसा मुहावरा है, यथा—"होइहि जात गहरु मोहि भाई।" (दो० १३१)। "सबही कहा मंत्र भल भाई।" (सुं० दो० २३)।

इहाँ संभु अस मन अनुमाना। दच्छसुता कहँ नहिं कल्याना ॥५॥
मोरेहु कहे न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं ॥६॥
होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तरक बढ़ावइ साखा ॥७॥
अस कहि जपन लगे हरिनामा। गईं सती जहँ प्रभु सुखधामा ॥८॥

अर्थ—यहाँ शिवजी ने मन में ऐसा अनुमान किया कि दक्ष की पुत्री (सती) का कल्याण नहीं है ॥५॥ जो मेरे कहने से भी सन्देह दूर नहीं होते, तो विधाता वक्र हैं। अतः, भलाई नहीं जान पड़ती ॥६॥ होगा वही, जो श्रीरामजी ने रच रक्खा होगा, तो तर्क करके शाखा कौन बढ़ावे ? ॥७॥ ऐसा (हृदय में) कहकर वे भगवान् का नाम जपने लगे और सतीजी वहाँ गईं, जहाँ सुख के धाम प्रभु श्रीरामजी हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'इहाँ संभु···' शम्भु कल्याणकर्त्ता हैं, इसीसे सती के कल्याण पर दृष्टि है। 'दच्छसुता'—हठी दक्ष की कन्या हैं। दक्ष ने मुझे नहीं माना, वैसे उनकी सुता ने कल्याणकर्त्ता पति मुझसे भी हठ ही किया, उपदेश नहीं माना। अतः, इसकी भी दक्ष की-सी दशा होगी, ऐसा अनुमान किया।

'इहाँ पद से कवि अपनी स्थिति शिवजी के साथ रक्खे हुए हैं, क्योंकि सतीजी का यहीं से जाना कह रहे हैं। सतीजी में कुमति भावना जानकर भी कवि उधर नहीं हैं।

(२) 'को करि तरक बढ़ावइ···' तर्क की शाखा बढ़ाना यह कि ऐसा होगा, फिर ऐसा, तब ऐसा भी हो सकता है, इत्यादि। यहाँ अपने किये हुए अनुमान का भी खण्डन किया। श्रीरामजी की रचना का मर्म शिवजी भी नहीं जान सकते, यहाँ यह जाना गया, यथा—"जग पेखन ··बिधि हरि संभु···तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा।" (अ० दो० १२६)। सती के हृदय के विचार इन्होंने प्रथम जान लिये थे—'हर अंतरजामी सब जानी' पर श्रीरामजी के मर्म नहीं जान सकते। यदि यहाँ की भविष्य घटना जान पाते तो सती को वैसा करने से रोक देते, क्योंकि उससे इन्हें बड़ा दुःख होगा, यथा—"सती कीन्ह सीता कर बेषा। सिव उर भयउ बिषाद बिसेषा॥" (दो० ५५)।

(३) 'जो राम रचि राखा'—जीव का भविष्य उसके कर्मानुसार भगवान् के हृदय में प्रथम ही आ जाता है, तदनुसार युक्त-निमित्त-द्वारा होता है। जैसे, गीता में युद्ध का भविष्य प्रथम ही अर्जुन को भगवान् ने अपने में दिखा दिया, यथा—"मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।" (गीता ११।३३)। भक्त लोगों को जब कोई दुविधा की बात आ पड़ती है, तब वे अपना तर्क छोड़कर हरि-इच्छा को ही मुख्य मानते हैं, यथा—"भरद्वाज कौतुक सुनहु, हरिइच्छा बलवान॥ राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करइ अन्यथा अस नहिं कोई॥" (दो० १२७); तथा—"राम रजाइ सीस सबही के।" (अ० दो० २५३); इत्यादि। फिर तर्क छोड़कर अपने भजन-नियम में लग जाते हैं। वैसे यहाँ भी आगे कहते हैं।

(४) 'अस कहि जपन लगे···' क्योंकि भजन ही माया से बचने का उपाय है, यथा—"हरि-माया कृत दोष गुन, बिनु हरि-भजन न जाहिं।" (उ० दो० १०४); 'हरि' शब्द यहाँ क्लेशहरण के लक्ष्य पर है। पूर्व 'मन अनुमाना' कहा था, वह प्रसंग 'भलाई नाहीं' तक रहा, फिर 'होइहि सो···' यह वचन से कहा भी गया, इससे यहाँ 'अस कहि···' कहा गया है। अथवा सब अनुमान था, वही पीछे कह भी दिया गया।

'प्रभु सुखधामा'—सतीजी उन्हें असमर्थ एवं दुःखपूर्ण समझकर जा रही हैं, पर वहाँ वे 'प्रभु' और 'सुखधाम' हैं ऊपर का दृश्य लीला-मात्र है, यथा—"पूरन काम राम सुख रासी। मनुज चरित कर अज अबिनासी॥" (अर० दो० २९)।

यहाँ श्रीशिवजी के मन, वचन और कर्म की व्यवस्था कही गई—'मन अनुमाना'—मन, 'अस कहि···' वचन और 'जपन लगे हरिनामा' यह कर्म है, क्योंकि जपने में हाथ में माला फेरना भी साथ-साथ चलता है। यदि माला साथ न होता तो स्मरण कहा जाता, यथा—"राम नाम सिव सुमिरन लागे।" (दो० ५९)। 'हरि नामा' शब्द से भी 'रामाख्यमीशं हरिम्' ही जानना चाहिये, क्योंकि शिवजी सदा रामनाम ही जपते हैं, बहुत प्रमाण हैं।

दोहा—पुनि पुनि हृदय बिचार करि, धरि सीता कर रूप।
आगे होइ चलि पंथ तेहि, जेहि आवत नरभूप॥५२॥

अर्थ—(सतीजी) बार-बार हृदय में विचार कर श्रीसीताजी का रूप धारण करके उस मार्ग की ओर आगे बढ़ चलीं, जिधर राजा रामजी आ रहे थे।

विशेष—'पुनि पुनि···' पहले 'करइ बिचार करौं का भाई' पर से प्रसंग लिया है। परीक्षा के विषय में बहुत सोचने पर यही हृदय में आया कि श्रीरामजी इस समय श्रीसीताजी के विरह में व्याकुल हैं। अतः, सीताजी का रूप धरने पर सहसा हर्षित होकर मिलने दौड़ेंगे। यह न जान पावेंगे कि ये 'सती' हैं, क्योंकि 'भूनरप' तो हैं ही और यदि ईश्वर होंगे तो जान जायँगे।

'आगे होइ चलि'—सोचा कि यदि पीछे होकर चलूँगी तो राजपुत्र सन्देह करेंगे कि वहाँ तो मैं खोज आया, यह कोई बनावटी तो नहीं है। आगे उन्होंने नहीं खोजा है। अतः, वहाँ सन्देह नहीं होगा। सीता का ही रूप इससे भी बनाया कि उन्हीं के विरह में हैं। अतः, देखते ही दौड़ पड़ेंगे, अन्यथा मनुष्य भी सन्देह होने पर ध्यान द्वारा कपट की एवं अन्यत्र की बात जान लेते हैं। जैसे व्यास-वाल्मीकि आदि में प्रसिद्ध है, ईश्वरत्व की परीक्षा 'निरावरणज्ञान' से ही होती है।

'नरभूप'—यथा—"तिन्ह नृपसुतहिं कीन्ह परनामा।" (दो० ४९); अर्थात् सती समझती हैं कि रामजी प्राकृत नर हैं। उनकी दृष्टि से कहा गया है। वा यदि विष्णु ऐश्वर्य छिपाकर नरभूप होंगे तो जान लेंगे।

लछिमन दीख उमा कृत बेषा। चकित भये भ्रम हृदय बिसेषा ॥१॥
कहि न सकत कछु अति गंभीरा। प्रभु-प्रभाव जानत मतिधीरा ॥२॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी ने सतीजी का वह कृत्रिम वेष देखा तो वे चकित हुए और उनके हृदय में विशेष भ्रम हुआ ॥१॥ कुछ कह नहीं सकते, क्योंकि अत्यन्त गम्भीर और मति के धीर हैं, तथा प्रभु श्रीरामजी के प्रभाव को जानते हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'लछिमन दीख ···' श्रीलक्ष्मणजी ने सती के कपट को नहीं जाना, क्योंकि जीव ध्यानावस्था ही में सर्वज्ञ हो सकता है, यथा—'तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना॥" (दो० ५५)। श्रीलक्ष्मणजी में जीवत्व दो० १६ चौ० ३-४ में देखिये। 'उमा कृत'—इस समय सती तन हैं, उमा तो आगे जन्म में नाम पड़ेगा। परन्तु देवों के नाम-रूप अनादि होते हैं। तथा लक्ष्मणजी की भ्रमात्मक दृष्टि के साथ ग्रन्थकार भी भ्रमात्मक शब्द देते हैं। सती ने अपने को छिपा रक्खा है, वैसे कवि ने उनका नाम छिपाया है। आगे श्रीरामजी में 'सती कपट जानेउ ···' कहेंगे, क्योंकि उनमें भ्रम नहीं है। स्वतः सर्वज्ञ तो श्रीरामजी ही हैं, यथा—"ज्ञान अखंड एक सीतावर।" (उ० दो० ७७); इसीसे लक्ष्मणजी चकित हुए कि रूप के अनुसार यदि श्रीसीताजी ही हैं तो ये निर्भय अकेली वनमार्ग में क्यों फिरेंगी? वे तो श्रीरामजी के सकुशल दर्शनों के लिये व्याकुल थीं, यहाँ क्योंकर आ गईं? 'भ्रम'—यह कि रूप तो ठीक-ठीक सीता ही का है। जैसे असत् में सत् का भ्रम होता है। वैसे इन्हें कृत्रिम रूप में सीता का भ्रम हुआ। श्रीलक्ष्मणजी को रावण की माया पर भी भ्रम हुआ, श्रीरामजी को नहीं, यथा—"सो माया रघुबीरहि बाँची। लछिमन कपिन्ह सो मानी साँची॥" (लं० दो० ८७); ऐसे ही श्रीभरत चरित में लक्ष्मणजी को भ्रम हुआ, श्रीरामजी को नहीं—अ० दो० २२६-२३१ देखिये। श्रीरामजी ईश्वर, सर्वदर्शी एवं सर्वांतर्यामी हैं। अतः, वे जानेंगे। श्रीलक्ष्मणजी ने ही सती को प्रथम देखा, क्योंकि खोजने में सावधान हैं। चित्रकूट में श्रीभरतजी को भी प्रथम इन्हींने देखा है।

(२) 'कहि न सकत कछु ···' कुछ न कहने के कारण—(क) अति गंभीर हैं। अतः, उतावली न की। (ख) मति के धीर हैं। अतः, विचार रहे हैं—सहसा कुछ-का-कुछ नहीं कह बैठते। (ग) 'प्रभु का प्रभाव जानते हैं—"लछिमन बिहँसि कहा सुनु माता॥ भृकुटि-बिलास सृष्टि लय होई। सपनेहुँ संकट परइ कि सोई॥" (अर० दो० २७); "सपने होइ भिखारि नृप,"···से—"सिय-रघुबीर-चरन-रति होहू॥" (अ० दो० ९२-९३); तक अर्थात् प्रभु सर्वज्ञ हैं, वे स्वयं निर्णय करेंगे।

यहाँ लक्ष्मणजी के तन, मन और वचन की व्यवस्था भी कही गई है—तन से 'चकित' हुए, मन से 'भ्रम' हुआ और वचन से 'कहि न सकत कछु।'

सती-कपट जानेउ सुरस्वामी। सबदरसी सब-अंतरजामी ॥३॥

सुमिरत जाहि मिटइ अज्ञाना । सोइ सरबज्ञ राम भगवाना ॥४॥
सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ । देखहु नारि - सुभाव - प्रभाऊ ॥५॥

अर्थ—देवताओं के स्वामी श्रीरामजी ने सती का कपट जान लिया, क्योंकि वे सर्वदर्शी और सब के अन्तःकरण की बात जाननेवाले हैं ॥३॥ जिनका स्मरण करने मात्र से अज्ञान मिट जाता है, वे ही सर्वज्ञ भगवान् श्रीरामजी हैं ॥४॥ (श्री याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि हे भरद्वाजजी !) स्त्री के स्वभाव का प्रभाव तो देखो, वहाँ भी सतीजी दुराव (छिपाव=कपट) ही करना चाहती हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'सती-कपट '—ये महादेवजी की शक्ति हैं और—"भव-भव-विभव-पराभव-कारिनि ।" (दो० २३४); कही गई हैं । इनका कपट नर क्या, देवता भी नहीं जान सकते । महादेवजी भी ध्यान धरकर ही जानेंगे । उस कपट को श्रीरामजी ने देखते ही जान लिया । अतः, वे 'सुरस्वामी' कहे गये । प्रथम सतीजी की दृष्टि एवं माधुर्य लीला के अनुसार 'नरभूप' कहे गये थे । देवता से कपट नहीं छिपता और ये तो उनके भी स्वामी हैं, क्यों नहीं जानेंगे ?

(२) यहाँ 'जानेउँ' क्रिया के लिये विशेष्य श्रीरामजी के तीन विशेषण कहे गये—सर्वदर्शी, सर्वान्तर्यामी और सर्वज्ञ । अतः, 'परिकरांकुर अलंकार' है । 'सबदरसी' अर्थात् आपके सूर्य और चन्द्रमा नेत्र हैं, यथा—"शशिसूर्यनेत्रम्" (गीता ११।१९) । अतः, दिन-रात में इनसे सूझता है । 'सबअंतरजामी' अर्थात् सब के भीतर की सब बातें जानते हैं, यथा—"सबके उर अंतर बसहु, जानहु भाउ कुभाउ ।" (अ० दो० २५७); "बाहेर अंतरजामी इहाँ क्यों दुरैगी बात मुख की औ हीय की ।" (वि० २६३) । 'सरबज्ञ' अर्थात् तीनों कालों की भी सब बातें जानते हैं । 'भगवाना'—षडैश्वर्य पूर्ण हैं, यथा—"उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ।" (वि० पु० ६।५।७८) ।

(३) दुराव करना नारि-स्वभाव है, यथा—"सत्य कहहिं कवि नारि-सुभाऊ । सब बिधि अगहु अगाध दुराऊ ॥" (अ० दो० ४६); तथा—"दुर्निवार्य्यश्च सर्वेश स्त्रीस्वभावश्च चापलः । दुस्त्यजं योगिभिः सिद्धैरस्माभिश्च तपस्विभिः ॥" (ब्रह्मवैवर्त्त पु० गणेश खण्ड ६।५४); अर्थात् हे सर्वेश ! स्त्री-स्वभाव अत्यन्त चपल होता है, वह किसीके समझाने पर छूटने का नहीं है, इतने पर भी स्त्री-रूप के वश में योगी लोग, सिद्धगण और हम तपस्वी भी हैं । त्याग नहीं कर सकते । यह शिवजी ने श्रीनारायण से कहा है । स्त्रियों के स्वभाव वाले आठ अवगुणों में यहाँ 'अविवेक' है । यहाँ राम भगवान् सर्वज्ञ के समक्ष भी दुराव कर रही हैं, यद्यपि शिवजी ने समझा रक्खा था । इसीसे स्वभाव देखना कहते हैं ।

निज माया-बल हृदय बखानी । बोले बिहँसि राम मृदु बानी ॥६॥
जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू । पिता-समेत लीन्ह निज नामू ॥७॥
कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू । बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू ॥८॥

अर्थ—अपनी माया के बल की हृदय में प्रशंसा करके श्रीरामजी बिहँसकर कोमल वाणी में बोले ॥६॥ प्रभु ने पहले हाथ जोड़कर सतीजी को प्रणाम किया और पिता के साथ अपना नाम लिया ॥७॥ फिर कहा कि 'बृषकेतु' (शिवजी) कहाँ हैं ? आप अकेली वन में किसलिये फिर रही हैं ? ॥८॥

विशेष—(१) 'निज माया-बल···' माया का काम है प्रभु को तमाशा दिखाना । उसने इतनी प्रभावशालिनी सती को भी मोहित कर लिया, इस कौतुक पर प्रभु हँसे । माया ने भारी काम किया, सती को भी मोहित किया, यथा—"अति प्रचंड रघुपति कै माया । जेहि न मोह अस को जग जाया ॥" (दो० १२७) । तथा नारि-स्वभाव पर हँसे एवं श्रीरामजी स्वभावतः हँसकर बोलते हैं, यथा—"स्मित-

पूर्वाभिभाषी च" (वाल्मी०); 'मृदुवानी' जिससे सती को दुःख न हो और हँसकर भी बोले कि इन्हें भय न हो, क्योंकि आप शील-सागर हैं।

(२) 'पिता समेत ···' प्राचीन काल में प्रणाम करने की ऐसी ही रीति पाई जाती है, यथा—"पितु समेत कहि निज निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा॥" (दो० २६८); तथा—"अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्। असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत्॥" (मनु० २।१२२); अर्थात् विप्र को चाहिये कि बड़ों को प्रणाम करते समय अपना नाम कहकर यह प्रार्थना करे कि मैं अमुक हूँ। यहाँ 'हृदय बखानी' में मन, 'जोरि पानि' में कर्म और 'कहेउ बहोरि' में वचन के भाव हैं। सती ने सीता रूप किया, तब भी श्रीरामजी ने माता ही माना और सती रूप से शिवजी के यहाँ गई, तब भी उन्होंने माता ही माना, उभयतः स्वामी सेवक भाव है, श्रीरामजी माधुर्य में दृष्टि रक्खे हुए वर्त्त रहे हैं, शिवजी ने ऐश्वर्य माना है।

'वीरभद्र-चम्पू' में भी ऐसा ही कहा गया है—"किं वाच्या दनुजा नागा वानराः किन्नरा नराः। वत्स लक्ष्मण पश्यैतां मायां मायाविमोहिताम्॥ नमस्ते दक्षतनये नमस्ते शम्भुभामिनि। किमर्थं घूर्जटिं देवं त्यक्त्वा भ्रमसि कानने॥"

'कहेउ बहोरि···'—पहले अपना परिचय एवं प्रणाम कह अब उधर की बात पूछते हैं। 'वृषकेतू' भाव यह कि शिवजी की ध्वजा का वृषभ तो दूर से ही दीखता था, पर आज वे कहाँ हैं, इससे सर्वज्ञता प्रकट की। यदि सर्वज्ञता से वह भी कह देते कि मेरी परीक्षा लेने आई हो तो उनको दुःख होता, इससे 'केहि हेतू' कहा है, मृदुवाणी रखना चाहते हैं। ध्वनि से यह भी कहते हैं कि तुम्हारी धर्म-ध्वजता कहाँ चली गई? पति को छोड़ दूसरे की पत्नी बनने क्यों आई हो? तथा—"वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।" (महा० शान्ति० ३४२।८८); अर्थात् हे भारत! लोक में भगवान् धर्म वृष रूप में विख्यात हैं। 'फिरहु···'—स्त्री को अकेली फिरना धर्म विरुद्ध है—"स्त्री भ्रमन्ती विनश्यति।" (नीतिशास्त्र-वि० टी०); "जिमि स्वतंत्र भये बिगरहिं नारी।" (कि० दो० १४)। हम तो अपनी स्त्री को खोजते फिरते हैं, आप किस लिये फिर रही हैं?

अलंकार—'पिहित' क्योंकि सती के छिपाये हुए कपटभाव को जानकर तदुपयुक्त उत्तर दिया गया है।

दोहा—राम-बचन मृदु गूढ़ सुनि, उपजा अति संकोच।
सती सभीत महेस पहिं, चलीं हृदय बड़ सोच॥५३॥

अर्थ—श्रीरामजी के कोमल और गूढ़ वचन सुनकर (सतीजी के) हृदय में बड़ा संकोच उत्पन्न हुआ, इससे डरती हुई सतीजी शिवजी के पास चलीं। उनके हृदय में बड़ा भारी सोच है॥५३॥

विशेष—'मृदु'—श्रीरामजी ने तीन बातें कही हैं—(क) मैं दाशरथी राम हूँ और आपको प्रणाम करता हूँ। (ख) वृषकेतु कहाँ हैं? (ग) आप वन में अकेली क्यों फिर रही हैं? तीनों कोमलता से कहे गये हैं।

'गूढ़'—अपने स्वरूप का परिचय दिया कि कथा में अगस्त्यजी ने मनु-शतरूपा का दशरथ-कौशल्या होना कहा है, हम उन्हीं के पुत्र वही राम हैं। शेष गूढ़ता ऊपर चौपाई के भावों में आ गई है।

'अति संकोच'—संकोच तो रामजी के चीन्ह जाने एवं प्रणाम ही करने पर हुआ था, वचनों की गूढ़ता से और भी हो गया। 'अति संकोच' से ही उत्तर नहीं दिया, यथा—"सीय सकुच बस उतर न देई।" (अ० दो० ७८)।

'सभीत'—क्योंकि शिवजी ने विवेक से यत्न करना कहा था, पर मैंने अनुचित किया। अतः, अवज्ञा हुई, वे कोप करेंगे। वही आगे कहती हैं—'मैं संकर कर···'। उन्हीं बातों का 'सोच' है।

मैं संकर कर कहा न माना। निज अज्ञान राम पर आना ॥१॥
जाइ उतर अब देइहउँ काहा। उर उपजा अति दारुन दाहा ॥२॥
जाना राम सती दुख पावा। निज प्रभाव कछु प्रगटि जनावा ॥३॥

अर्थ—मैंने शंकरजी का कहा न माना और अपना अज्ञान श्रीरामजी पर आरोपित किया ॥१॥ अब जाकर (शिवजी को) क्या उत्तर दूँगी? (यह विचार करने पर) उनके हृदय में बड़ी कठिन जलन उत्पन्न हुई ॥२॥ श्रीरामजी ने जान लिया कि सतीजी को दुःख हुआ। तब उन्होंने अपना कुछ प्रभाव प्रकट करके दिखाया ॥३॥

विशेष—(१) 'मैं संकर कर···'—वे वचन मेरे कल्याण-कर थे (शं=कल्याण)। अब मेरा कल्याण कैसे होगा? 'निज अज्ञान राम पर आना', यथा—"निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥ जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥" (दो० ११६)। सतीजी अपने दो अपराध मान रही हैं—(१) पति की कल्याणकारी आज्ञा नहीं मानी, (२) श्रीरामजी को अपने अज्ञान से नर माना, यथा—"मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना। पुनि पति बचन मृषा करि माना॥" (दो० ५८); यह स्पष्ट कहा गया है। यह 'सभीत' होने का कारण है। आगे भयवश इन्हीं दोनों बातों का शिवजी से दुराव करेंगी—"कछु न परीछा ··जो तुम्ह कहा सो मृषा न होई। मोरे मन प्रतीति अति सोई॥" (दो० ५५); और 'जाइ उतर अब···' इसका 'सोच' है। 'अति दारुन दाहा' 'मैं संकर कर···' इसका 'दाह', 'निजअज्ञान···' इसका 'दारुन दाह' और 'जाइ उतर अब···' इसका 'अति दारुन दाह' है। न तो शंकर के वचन झूठ हैं और न श्रीरामजी में अज्ञान ही है। उत्तर क्या दूँगी?

शिवजी ने पहले ही सती पर 'हरिमाया बल' का अनुमान किया है, 'निज माया बल हृदय बखानी' पर उसका समर्थन है, उससे इनके दुःख उत्तरोत्तर बढ़ते ही जा रहे हैं—१. 'अस संसय मन भयउ अपारा।' २. 'उपजा अति संकोच' ३. 'चली हृदय बड़ सोच' ४. 'उर उपजा अति दारुन दाहा।' (आगे भी—) ५. 'देखि सती अति भई सभीता।' ६. 'चिंता अमित जाइ नहिं बरनी।' ७. 'अकथनीय दारुन दुख भारी।' ८. 'प्रभु अपमान समुझि उर दहेऊ॥ पाछिलदुख···जस यह भयउ महा परितापा॥' ९. 'जोग अगिनि तनु जारा' १०. 'सती मरन'—यह अन्त में विरह की दसवीं दशा की प्राप्ति के समान है। विरह की दशाएँ कोई दस और कोई ग्यारह मानते हैं।

(२) 'जाना राम···' राम हैं, सबमें रमे हैं, इससे जान गये। पहले 'सुर स्वामी' एवं 'सबदरसी' रूप से सती के कपट रूप को जाना था, यहाँ अन्तर्यामी रूप से सती के हृदय के दुःख को जाना—'उर उपजा अति दारुन दाहा।' सती ने पति वचन में विश्वास नहीं किया था और श्रीरामजी में कुछ प्रभाव नहीं माना था, इसलिये अपना प्रभाव दिखाते हैं कि उन्हें बोध हो जाय और शिव-वाक्य भी सत्य हो जाय। 'कछु' क्योंकि प्रभाव अनन्त है, उसमें से कुछ ही सती धारण कर सकेंगी एवं जितना उन्हें अपेक्षित है। 'दुख पावा'—सती के दुःख पर दया उमड़ पड़ी और विचारा कि मेरे सामने आने पर तो इनका भ्रम मिट ही जाना चाहिये, इससे पति-वचन में भी विश्वास हो जायगा। मेरा प्रभाव मेरी ही कृपा से जाना जाता है, यथा—"तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन। जानहिं भगत-भगत उर चंदन॥" (अ० दो० १२६); और इसके बिना जाने प्रतीति-प्रीति नहीं होती, यथा—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥" (उ० दो० ८८)। अतः, अपना प्रभाव कुछ प्रकट करके जता दूँ तो सन्देह दूर हो जाय।

सती के हृदय में कई सन्देह थे। वे सब इस दृश्य में निवृत्त हो जायेंगे। 'प्रगटि'—पहले वचनों द्वारा 'गूढ़' रूप में कहा गया, अब दृश्य-द्वारा प्रकट कर देंगे। जैसे भगवान् ने अर्जुन को गीता के १० वें अध्याय में पहले वचनों से (विभूति-योग) कहा, फिर दया से ११ वें में (विश्वरूप) दिखाया।

गूढ़ वचनों से सतीजी श्रीरामजी को सर्वदर्शी, सर्वान्तर्यामी और सर्वज्ञ तथा भगवान् जान भी गई हैं, वे भाव भी दृश्य में पुष्ट होंगे। पहले के सन्देह निर्गुण ब्रह्म का अवतार नहीं लेना एवं सगुण (विष्णु) सम्बन्ध की बातें तथा सीताहरण और रामविरह आदि थे, वे इसमें निवृत्त होंगे।

इस प्रभाव-ज्ञान से सती के दुःख तुरत निवृत्त हो जायँगे, यथा—"जाना राम प्रभाव तब, पुलक प्रफुल्लित गात। जोरि पानि बोले बचन, प्रेम न हृदय समात॥" (दो० २८४); श्रीरामजी ने सोचा कि मेरे निमित्त से इन्हें दुःख हुआ तो इसे मैं मिटा दूँ। बड़े लोग कहकर नहीं प्रत्युत करके दिखाते हैं, इससे अब प्रभाव प्रकट करके दिखाते हैं।

सती दीख कौतुक मग जाता। आगे राम सहित श्री भ्राता॥४॥
फिरि चितवा पाछे प्रभु देखा। सहित बंधु सिय सुंदर बेखा॥५॥
जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना। सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रवीना॥६॥
देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाव एक ते एका॥७॥
बंदत चरन करत प्रभुसेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा॥८॥

दोहा—सती बिधात्री इंदिरा, देखीं अमित अनूप।
जेहि जेहि बेष अजादि सुर, तेहि तेहि तनु अनुरूप॥५४॥

अर्थ—सतीजी ने मार्ग में जाते-जाते यह कौतुक देखा कि श्रीरामजी श्री (सीता) जी और भाई लक्ष्मणजी के साथ आगे चले जा रहे हैं॥४॥ फिर कर पीछे की ओर देखा, तो भाई और श्रीजानकीजी के साथ प्रभु को सुन्दर वेष में देखा॥५॥ जहाँ देखती हैं, वहाँ प्रभु बैठे हैं, और प्रवीण सिद्ध और मुनीश्वर उनकी सेवा कर रहे हैं॥६॥ अनेक शिव, ब्रह्मा और विष्णु एक-से-एक अमित प्रभाव वाले देखे गये, वे सब प्रभु के चरणों की वन्दना और सेवा कर रहे हैं, तथा प्रभु के चरणों की वन्दना और सेवा करते हुए समस्त देवताओं को अनेक वेषों में देखा॥७-८॥ उपमा-रहित असंख्य सतियों, सरस्वतियों और लक्ष्मियों को देखा, जिस-जिस वेष में ब्रह्मादिक देवता थे, उन्हीं के अनुरूप इन देवियों के भी वेष थे॥५४॥

विशेष—पूर्व कहा गया था—"कबहूँ जोग बियोग न जाके। देखा प्रगट बिरह-दुख ताके॥" (दो० ४८); उसकी व्याख्या भी देखिये। वही नित्य संयोग यहाँ—'आगे राम सहित श्री भ्राता' और 'पीछे'—'सहित बंधु सिय' के दृश्य से दिखाया है। इससे—"खोजइ सो कि अज्ञ इव नारी। ज्ञानधाम श्रीपति असुरारी॥" (दो० ५०); यह सती का भ्रम दूर होगा अर्थात् श्रीसीताराम और श्रीलक्ष्मण का वियोग न तो पहले हुआ था और न आगे होगा। खोजना एवं विरह लीला मात्र हैं। माया-सीता का ही हरण हुआ है। सत्य श्री सदा आपके साथ हैं।

प्रथम 'आगे' देखने पर चित्त में आया कि अभी तो ये दो ही पीछे थे, तीनों आगे कैसे आ गये? लौट (फिर) कर पीछे भी देखा, किन्तु सुन्दर वेष (मुनि वेष में ही पूर्ण शृंगार युक्त) देखा, जिससे बन के कष्ट झेलने का भी भ्रम दूर हुआ कि वह भी लीला ही थी। आगे जाते हुए देखती हैं तो आगे श्रीरामजी तब श्रीजी और फिर श्रीलक्ष्मणजी पीछे देख पड़े। पीछे की ओर देखने पर भी आगे प्रभु हैं, उनके पीछे श्रीसीताजी और फिर उनके पीछे श्री लक्ष्मणजी हैं। मेरे पीछे से मेरी ओर आ रहे हैं। ऐसे ही क्रम से

वन में सर्वत्र चलते थे—अ० दो० १२२ चौ० १-२ भी देखिये। 'सुन्दर बेखा', यथा—"आगे राम अनुज पुनि पाछे। मुनिबर बेष बने अति काछे॥ उभय बीच श्री ·" (अर० दो० ६); तथा—"पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना॥" (कि० दो० १)।

फिर अब जहाँ देखती हैं, वहाँ ही प्रभु सिंहासनासीन (सिंहासन पर बैठे) हैं और सब देवता अपनी अनुरूप शक्तियों के साथ सेवा में तत्पर हैं। भाव यह कि न सीताहरण ही हुआ है और न हम दोनों भाई खोजते ही फिरते हैं, यह वाह्य चरित है। सिद्ध-मुनीश एवं त्रिदेव भी सेवा-परायण हैं। अतः, शिवजी ने जो श्रीरामजी को अपना और अगस्त्य आदि का इष्ट कहा था, "मुनिधरि जोगी सिद्ध संतत···" (दो० ५१); वह प्रत्यक्ष हुआ।

'जेहि जेहि बेष अजादि ··अनुरूप'—जिस रंग तथा आकृति के जो देवता हैं, उनकी शक्ति भी उसी आकृति एवं वर्ण की हैं, जैसे-जहाँ विष्णु चतुर्भुज हैं वहाँ वैसी ही और जहाँ अष्टभुज हैं, वहाँ उसी तरह की लक्ष्मी भी हैं, इत्यादि। सशक्ति देव प्रवृत्ति वाले और सिद्ध मुनीश निवृत्ति वाले, सभी सेवा करते हैं। सप्तशती चण्डी-पाठ में भी इसी भाव का एक श्लोक है—"यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषण-वाहनम्। तद्वदेव हि तच्छक्तिरसुरान्योद्धुमाययौ॥" (अ० ८)।

यहाँ अनेक आकृतियों के विष्णु आदि से अनेक ब्रह्माण्डों का होना जनाया। इस प्रकार अपने इस महत्त्व का स्मरण कराया, यथा "संभु बिरंचि बिसु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥" (दो० १४३); सती पहले आपको विष्णु का अवतार भी नहीं मानती थीं। त्रिदेव और देव, सबको शक्तियों के साथ रहकर सेवा करना दिखाया, भाव यह कि मेरे समान देवादि भी शक्तियों के साथ ही रहते, फिर उनके सेव्य मेरा शक्ति से वियोग कैसे होगा। 'सती···'—सती देख रही हैं, इससे इनका नाम प्रथम है। यह देखकर सती समझती हैं कि सभी ब्रह्माण्डों की सतियाँ श्रीराम सेवा कर रही हैं, एक मैं ही अभागिनी हूँ। इससे—"भुवन-निकायपति मायाधनी।" (दो० ५१); इस शिव वचन का प्रत्यक्षीकरण हुआ।

अलंकार—'विशेष तृतीय', क्योंकि एक श्रीरामजी को ही बहुत स्थल पर देखा है।

देखे जहँ तहँ रघुपति जेते। सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते॥१॥
जीव चराचर जे संसारा। देखे सकल अनेक प्रकारा॥२॥
पूजहिं प्रभुहि देव बहु बेषा। राम-रूप दूसर नहिं देखा॥३॥
अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न बेष घनेरे॥४॥
सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता। देखि सती मति भई सभीता॥५॥

अर्थ—(सतीजी ने) जहाँ-जहाँ जितने रघुकुलश्रेष्ठ रामरूप देखे, वहाँ-वहाँ शक्तियों के साथ उतने ही उतने सारे देवताओं को भी देखा॥१॥ चर और अचर जितने जीव संसार में हैं वे सब भी वहाँ अनेक प्रकार के देखे॥२॥ देवतागण तो अनेक वेषों से प्रभु को पूजते हैं, पर श्रीरामजी का दूसरा रूप कहीं नहीं देखा॥३॥ सीताजी के साथ बहुत-से रघुपति देखे, परन्तु उनमें वेषों की अनेकता न थी (प्रत्युत एक-सा ही वेष सब जगह था)॥४॥ वही रघुनाथजी, वही लक्ष्मण और वही सीता—(सर्वत्र इस दृश्य को) देखकर सतीजी बहुत ही डर गईं॥५॥

विशेष—'सकल अनेक प्रकारा' और 'रामरूप दूसर नहिं'—अर्थात् जीव अनेक हैं और वे कर्म-परन्त्र हैं। विविध-कर्मानुसार उनके वेष एवं आकृतियाँ भिन्न-भिन्न हैं। श्रीरामजी कर्म से निर्लिप्त हैं, यथा—"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।" (गीता ४।१४); तथा—"करम सुभासुभ तुम्हहि न बाधा।" (दो० ११६)। अतः, इनके वेष स्वेच्छानुसार हैं, यथा—"इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहउँ

प्रगट···" (दो० १५१); और ये अखण्ड ज्ञानस्वरूप हैं। अतः, इनके रूप में भेद नहीं है। इसी प्रकार श्रीसीताजी भी हैं। अतः—'सीता सहित न बेष घनेरे' कहा गया है।

इसी तरह भुशुण्डीजी ने भी देखा, यथा—"प्रति ब्रह्मांड राम-अवतारा। देखेउँ बाल-बिनोद अपारा॥ भिन्न-भिन्न मैं दीख सब, अति बिचित्र हरिजान। अगनित भुवन फिरउँ प्रभु, राम न देखउँ आन॥" (उ० दो० ८१)।

प्रत्येक ब्रह्माण्ड के ३३ कोटि देवतागण शक्तियों के साथ प्रत्येक रामरूप के साथ हैं। 'पूजहिं प्रभुहिं···'—यहाँ सबके कृत्यों को कहा है कि चराचर जगत् एवं समस्त देव प्रभु-पूजा ही करते हैं, क्योंकि जीवमात्र का यही स्वरूप प्रयुक्त धर्म है। 'चराचर जीव' कहने का यह भी भाव है कि वहाँ दण्डकारण्य के ही नहीं प्रत्युत संसार भर के चराचर सेवा करते हैं, यथा—सेवहिं सकल चराचर ताही।" (दो० १३०)।

सेवा के अधिकारियों में श्रेष्ठ सिद्ध-मुनि प्रथम कहे गये, फिर क्रमशः त्रिदेव, देव एवं चराचर न्यून कहे गये, तब 'पूजहिं प्रभुहिं···' कहा गया है। श्रीरामरूप में न्यूनाधिक्य नहीं है कि विशेष सेवकों के प्रति विशेष रूप से प्राप्त हों, सामान्य के प्रति सामान्य ऐसा तारतम्य भी नहीं है। यह भी भाव है कि ऐश्वर्य दिखाने में भी पितृ-आज्ञापालन वाले तापस वेष को नहीं छोड़ा, ऐसी उत्कृष्ट पितृ-भक्ति रक्खी है।

'अति भई सभीता'—अर्जुन भी विराट् रूप देखकर डर गये एवं कौशल्याजी तथा भुशुण्डीजी आदि सभी डर गये हैं। अन्त में डरना कहा। अतः, सबको देखकर भय हुआ। प्रथम 'मृदु गूढ़' वचन पर 'सभीत' हुई थीं—'सती सभीत महेस पहिं, चलीं···' यह कहा गया था। अब ऐश्वर्य प्रकट दिखाने से 'अति सभीत' हुईं। प्रभाव देखकर प्रसन्नता चाहिये, पर ये डर रही हैं, क्योंकि अपराधिनी हैं। अति सभीत होने की दशा आगे कही गई है।

शंका— यहाँ 'सोइ लछिमन' से लक्ष्मणजी का भी सर्वत्र एक वेष कहा गया, पर उ० दो० ८० में—'बिबिध रूप भरतादिक भ्राता।'—कथित है, यह भेद क्यों ?

समाधान—श्री भरत, लक्ष्मण आदि के विग्रह भी श्रीरामजी के समान दिव्य हैं, पर ये नित्य जीव-कोटि में हैं, कर्म-परतन्त्र नहीं हैं। ये स्वेच्छा से एवं भगवान् की इच्छा से अवतारों की तरह भू-मण्डल में आते हैं। श्रीहनुमानजी एवं गरुड़जी भी नित्य जीवों में ही हैं, इनमें जहाँ अज्ञान एवं कर्म-वशता के भेद की अनेक आकृतियाँ देखी जाती हैं, वे भगवान् की इच्छा से लीला-विधि के लिये अथवा किसी वैदिक धर्म की संस्थापना के लिये हैं, यथा—"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादयः। भवन्ति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीय गंभीरमनोनुसारिणः॥" (आत्मबोधस्तोत्र)।

यहाँ तीन अर्द्धालियों में तीन प्रकार हैं—जो केवल रामरूप के, जो युगल रूपों के और जो तीनों रूपों के उपासक हैं, उन-उन के ध्यान-भेदों से भी ऐसा दिखाया है।

'देखि सती अति भई सभीता।'—यह उपसंहार हुआ। इसका उपक्रम—'सती सभीत महेस पहिं, चलीं···' है।

सर्वत्र के विराट्-दर्शन की तरह यहाँ भी अद्भुत रस ही है।

हृदय कंप तनु सुधि कछु नाहीं। नयन मूँदि बैठीं मग माहीं॥६॥
बहुरि बिलोकेउ नयन उघारी। कछु न दीख तहँ दच्छकुमारी॥७॥
पुनि पुनि नाइ राम पद सीसा। चलीं तहाँ जहँ रहे गिरीसा॥८॥

दोहा—गईं समीप महेस तब, हँसि पूछी कुसलात।
लीन्हि परीछा कवन बिधि, कहहु सत्य सब बात॥५५॥

अर्थ—(सती का) हृदय काँपने लगा, देह की सुधि न रह गई, (तब) वे आँखें मूँदकर मार्ग में बैठ गईं ॥६॥ फिर आँखें खोलकर देखा तो वहाँ दक्ष की पुत्री सतीजी को कुछ नहीं देख पड़ा ॥७॥ बार-बार श्रीरामजी के चरणों में सिर झुकाकर, वे वहाँ को चलीं, जहाँ कैलास के स्वामी शिवजी थे ॥८॥ जब पास पहुँचीं तब महादेवजी ने हँसकर कुशल पूछा और यह भी कहा कि तुमने किस प्रकार परीक्षा ली, सब बातें सत्य-सत्य बताओ ॥५५॥

विशेष—'नयन मूँदि'—डरने पर लोग स्वभावतः ऐसा करते हैं, जिससे डरानेवाली वस्तु फिर न देख पड़े। शरीर सुधि की विस्मृति से कुछ देर में शान्ति आई, तब फिर आँखें खोलीं।

'कछु न दीख'—वह अद्भुत दृश्य नहीं देख पड़ा। पूर्ववत् प्रभु का नर-नाट्य ही रह गया।

'दच्छकुमारी'—'जब हृदय कंप तनु सुधि कछु नाहीं' यह दशा हुई, तब दुराव से धारण किया हुआ सीता रूप नहीं रह गया, यथा—"अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तन प्रगट प्रीति उर छाई ॥" (कि० दो० २); तथा—"प्रगट बखानहिं राम सुभाऊ। अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ॥ रिपु के दूत कपिन्ह तब जाने।" (सुं० दो० ५१); इससे अब सती रूप को दक्ष से उत्पन्न 'दच्छकुमारी' कहा गया है। तथा सतीजी परम भक्त शिवजी के विरोधी दक्ष की कन्या हैं। अतः, अभी भी पूर्ण बोध की धारणा न रहेगी, झूठ भी बोलेंगी।

'पुनि पुनि नाइ···' सतीजी प्रथम जब परीक्षा के लिये 'नर-भूप' समझकर रामजी के पास आई थीं, तब प्रणाम नहीं किया था। जब प्रभाव देखा तब बारंबार प्रणाम करती हैं। पूर्व की चूक क्षमा के लिये भी बार-बार प्रणाम है। पश्चात्ताप और भय की दशा है। ऐसे ही गीता में अर्जुन भी विराट् रूप देखने पर बारंबार प्रणाम करने लगे थे। तथा—"बार-बार नावइ पद सीसा। प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा॥" (कि० दो० ६)। 'चलीं' क्योंकि बीच में बैठ गई थीं। भगवान् के बार-बार प्रणाम करने के प्रभाव से ही इनका आगे कल्याण होगा, फिर शिवजी का संयोग होगा, परिणाम ही देखना चाहिये।

'हँसि पूछी'—क्योंकि सतीजी के मन का थाह लेना है, अथवा उनकी बाहरी चेष्टा से कुछ अनर्थ का भाव समझकर शिवजी अवहेलना से भी हँसे और इसीसे सत्य-सत्य बात पूछते हैं। शिवजी ने पहले ही अनुमान किया था—"दच्छसुता कहँ नहिं कल्याना।" अब चेष्टा देख कुछ शंका है, इससे 'कुसलात' पूछी। कल्याण और कुशल पर्यायी शब्द हैं। 'कहहु सत्य' भाव यह कि मेरे कहने पर नहीं मानती थी, अब तो देख आई, सत्य कहो। 'समीप' यदि दूर रहते ही पूछते तो हलकापन समझा जाता। 'होइहै सोइ जो···' पर निर्भर थे, इससे स्थिरता में पूछते हैं। 'परीछा कवन बिधि'—ईश्वर की परीक्षा साधारण बात नहीं है। अतः, विधि सुनना चाहते हैं। इसीसे पहले ही सावधान कर दिया था।

यहाँ तक सती-मोह और अद्भुत रूप-दर्शन-प्रकरण समाप्त हुआ।

सती समुझि रघुबीर-प्रभाऊ। भयबस सिव सन कीन्ह दुराऊ ॥१॥
कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं। कीन्ह प्रनाम तुम्हारिहि नाईं ॥२॥
जो तुम्ह कहा सो मृषा न होई। मोरे मन प्रतीति अति सोई ॥३॥
तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना ॥४॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी के प्रभाव को समझकर भय के वश होने से सतीजी ने शिवजी से भी छिपाव (छल) किया ॥१॥ (और कहा कि) हे गोसाईं! मैंने कुछ परीक्षा नहीं ली, आप ही की तरह उन्हें प्रणाम किया है ॥२॥ आपने जो कहा, वह झूठ नहीं हो सकता, मेरे मन में उसीका पूरा विश्वास है ॥३॥ तब महादेवजी ने ध्यान धरके देखा और सतीजी के किये हुए सब चरित जान गये ॥४॥

विशेष—'कीन्ह दुराऊ'—पहले पति के इष्ट से दुराव किया था, यथा—"सती कीन्ह चह तहउँ दुराऊ।" (दो० ५२); अब पति से भी करने लगीं।

शंका—प्रथम तो श्रीरामजी को नर मानकर अज्ञान से उनसे दुराव किया, यहाँ क्यों किया? शिवजी को तो सर्वज्ञ जानती ही हैं।

समाधान—हरिमाया ने कराया, आगे शिवजी ने कहा ही है—"बहुरि राम मायहिं सिर नावा। प्रेरि सतीहिं जेहि झूठ कहावा॥" तथा स्त्री-स्वभाव के भय-अविवेक आदि से भी ऐसा किया है।

अलंकार—'छेकापह्नुति' क्योंकि असत्य कहकर शंका छिपाने की चेष्टा कही गई है—'कछु न परीछा'...'।

'धरि ध्याना'—शिवजी ने सतीजी की चेष्टा देखी और फिर यह भी विचारा कि प्रथम बहुत समझाने पर भी न समझ सकीं, अब इन्हें कैसे प्रतीति आ गई? अतः, सन्देह हुआ। तब ध्यान किया। प्रभु ने स्वतः जान लिया था, क्योंकि वे ईश्वर हैं और ये जीव। अतः, ध्यान से जाना। जैसे व्यास-वाल्मीकि आदि ध्यान से जानते हैं।

बहुरि राम-मायहिं सिर नावा। प्रेरि सतिहिं जेहि झूठ कहावा॥५॥
हरिइच्छा भावी बलवाना। हृदय बिचारत संभु सुजाना॥६॥
सती कीन्ह सीता कर बेषा। सिव-उर भयउ बिषाद बिसेषा॥७॥
जौ अब करउँ सती सन प्रीती। मिटइ भगतिपथ होइ अनीती॥८॥

अर्थ—फिर (शिवजी ने) श्रीरामजी की माया को सिर नवा प्रणाम किया, जिसने प्रेरणा करके सतीजी से झूठ कहला दिया॥५॥ सुजान महादेवजी अपने हृदय में विचारते हैं कि हरि-इच्छा रूपी भावी बलवान है॥६॥ सतीजी ने श्रीसीताजी का रूप धारण किया, (इस बात का) महादेवजी के हृदय में भारी दुःख हुआ॥७॥ जो अब मैं सती से (दाम्पत्य) प्रेम करूँ तो भक्ति-मार्ग का नाश होगा और अनीति होगी॥८॥

विशेष—'राम-मायहिं...'—शिवजी ने राम-माया की प्रबलता समझकर प्रणाम किया, यथा—"सिव चतुरानन जाहि डेराहीं।" (उ० दो० ७०); तथा—"अस कहि चले देवरिषि,...हरिमाया बल बरनत, पुनि-पुनि परम सुजान।" (उ० दो० ५९); एवं—"सिव बिरंचि कहँ मोहै को है बपुरा आन। अस जिय जानि भजहिं मुनि, मायापति भगवान॥" (उ० दो० ६२)। 'प्रेरि'—बलात् नियुक्त करके। अन्यथा—'सतिहिं'—अर्थात् सामान्य देवता भी झूठ नहीं बोलते और पतिव्रताशिरोमणि देवी और फिर पति महादेव से झूठ कहें, यह असम्भव है।

'हरि-इच्छा-भावी'—जीवों के कर्मानुसार फल देने के लिये भगवान् की जो इच्छा होती है, वही भावी, दैव अथवा अदृष्ट कहाती है। उसीको कर्मवादी भावी-दैव, ज्ञानी अदृष्ट और उपासक हरि-इच्छा कहते हैं। 'बलवाना'—क्योंकि सती की मोह-निवृत्ति में अपने उपायों की निष्फलता हुई, यथा—"भूपति भावी मिटइ नहिं।" (दो० १७४)। यदि कहा जाय—"भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी।" (दो० ६६); ऐसा भी कहा गया है, उसका समाधान यह कि जिस भावी का मूलाधार सामान्य कर्म होता है, उसे अहंकार के देवता शिवजी की सहायता से कर्म सम्पन्नता एवं गीता ७।२१-२२ की रीति से भी मेटा जा सकता है। पर जिस भावी का मूलाधार विशेष कर्म होता है और वह सत्यसंकल्प हरि की इच्छा रूप में अवश्य भोग देने के लिये परिणत हो जाता है, वह स्वरूपतः नहीं मिटता। 'सुजाना'—यथा—"अति बिचित्र रघुपति चरित, जानहिं परम सुजान।" (दो० ४९); अर्थात् शिवजी जानते हैं, तभी हरि-इच्छा ही समझ रहे हैं। सुजान लोग ऐसे बलात् घटित भावी पर ऐसा ही कहते हैं, यथा—"सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कह्यो मुनिनाथ।" (अ० दो०१७१); तथा—"पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि

खोरी" (अ० दो० २।३)। 'बिषाद बिसेषा'—सामान्य दुःख तो सती के भ्रम के समय से था, जब उपदेश निष्फल हुए थे—"मोरेहु कहे न संसय जाहीं। बिधि-बिपरीत भलाई नाहीं॥" (दो० ५१)। अब अपनी इष्ट-देवी का रूप बनाना जानकर सती के प्रति विशेष दुःख हो गया।

दोहा—परम पुनीत न जाइ तजि, किये प्रेम बड़ पाप।
प्रगट न कहत महेस कछु, हृदय अधिक संताप॥५६॥

अर्थ—सतीजी परम पवित्र हैं। अतः, उनका छोड़ना नहीं बनता और उनसे प्रेम करने में बड़ा पाप है। शिवजी कुछ खोलकर नहीं कहते, पर उनके हृदय में बड़ा सन्ताप है।

विशेष—'परम पुनीत'—सती पतिव्रता-शिरोमणि हैं, क्योंकि—"जो मोरे सिव चरन सनेहू। मन क्रम वचन सत्य व्रत एहू॥ तौ सब दरसी···" (दो० ५९); सती की यह प्रतिज्ञा सिद्ध हुई है। इधर जो श्रीरामजी के रूप में सन्देह और पति के वचन का न मानना एवं झूठ बोलना आदि अपराध हुए वे तो राम-माया की अधीनता में हैं, ऐसा शिवजी का मत है। विवशता के दोष विवेकी नहीं गिनते। अतः, सती 'परम पुनीत' हैं। सामान्य धर्म की दृष्टि से पतिव्रता स्त्री त्याज्य नहीं है। याज्ञवल्क्य ने भी इसी दृष्टि से कहा है कि—"सिव सम को रघुपतिब्रतधारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी॥" (दो० १०३)।

'किये प्रेम बड़ पाप'—शिवजी रघुपति-व्रत-धारी हैं। अतः, इष्ट श्रीरामजी पिता-तुल्य हैं और श्रीसीताजी माता-तुल्य होती हैं। सती ने माता का वेष धारण किया। उपासना विशेष धर्म है। उसकी दृष्टि से सती से पत्नीत्व प्रेम में पाप है। इसी दृष्टि से श्रीनारदजी ने सती का अपराध कहा है, यथा—"सिय-बेष सती जो कीन्ह तेहि अपराध शंकर परिहरी।" (दो० ९७); जैसे मनु० ८।३५८-३५१ में—"आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्। नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥" अर्थात् आततायी का वध करने में कोई दोष नहीं है; यह सामान्य धर्म की दृष्टि है और फिर गीता १।३६ में—"पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः।" अर्थात् इन आततायियों को मारने से हमें पाप ही लगेगा, यह विशेष धर्म की दृष्टि से कहा गया है, क्योंकि अर्जुन इस समय सामान्य धर्म छोड़कर भिक्षाचरण द्वारा विशेष धर्म पर दृष्टि किये हुए हैं।

इधर तो अग्नि को साक्षी बना ब्याही हुई पाणि-गृहीता पतिव्रता पत्नी का त्यागना धर्म-संकट है और उधर-उपासना-व्रत की बाधा रूपी परम हानि है। शिवजी इस द्विविध संकट में पड़े हैं—खुलकर कुछ नहीं कहते, क्योंकि गम्भीर-स्वभाववाले हैं, यथा—"कहि न सकत कछु अति गंभीरा।" (दो० ५२)।

'हृदय अधिक संताप'—क्योंकि अपने भक्त के हृदय में 'उर उपजा अति दारुन दाहा' है, यथा—"जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगत बिरह दुख दुखित सुजाना॥" (दो० ७५); कहते तो कुछ घट भी जाता—" कहेहू ते कछु दुख घटि होई।" (मुं० दो० १४)।

तब संकर प्रभुपद सिर नावा। सुमिरत राम हृदय अस आवा॥१॥
येहि तनु सतिहि भेंट मोहि नाहीं। सिव संकल्प कीन्ह मन माहीं॥२॥
अस बिचारि संकर मतिधीरा। चले भवन सुमिरत रघुबीरा॥३॥
चलत गगन भइ गिरा सुहाई। जय महेस भलि भगति दृढ़ाई॥४॥
अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना। रामभगत समरथ भगवाना॥५॥

अर्थ—(जब असामञ्जस्य का निर्णय न हो सका) तब महादेवजी ने प्रभु के चरणों में सिर नवाया (प्रभुपद को उपाय-रूप में वरण किया)। प्रभु का स्मरण करते ही उनके हृदय में यह आया॥१॥

कि इस शरीर से सती को हमसे (दाम्पत्य भाव में) भेंट न होगी—शिवजी ने अपने मन में यह संकल्प किया ॥२॥ ऐसा विचारकर धीर-बुद्धि शिवजी श्रीरघुनाथजी का स्मरण करते हुए अपने घर (कैलास) को चले ॥३॥ चलते समय सुहावनी आकाशवाणी हुई कि हे महादेवजी ! आपकी जय हो, आपने भक्ति भली-भाँति दृढ़ की है ॥४॥ ऐसी प्रतिज्ञा आपके बिना और कौन कर सकता है, क्योंकि आप रामभक्त, समर्थ और भगवान् हैं ? ॥५॥

विशेष—'संकल्प कीन्ह'—जैसे किसी देवकार्य के लिये लोग 'दृढ़' प्रतिज्ञा रूप में संकल्प करते हैं, वैसे शिवजी ने सती-त्याग का संकल्प मन से किया। भाव यह कि प्रथम भी 'प्रगटि न कहत महेस कछु ···' और यहाँ त्याग भी मन ही में किया, शीलवश प्रकट नहीं कहा। श्रीरामस्मरण से यह विचार आया था। अतः, उत्तम है कि जिस शरीर से सती ने माता जानकीजी का वेष किया था, उसीका त्याग हुआ, दूसरे शरीर से संयोग होगा ही। इस शरीर से प्रेम करने के पाप से भी बचे। संकल्प इसलिये किया कि बहुत काल के स्नेह-सम्बन्ध से कहीं असावधानी में प्रेम न हो जाय जिससे बड़ा पाप लगे।

'मति धीरा'—'सुमिरत रघुबीरा'—(क) यद्यपि शिवजी नियम निबाहने में मति के धीर हैं तथापि कामादि शत्रु बड़े धोखेबाज हैं। कहीं पत्नी-सहवास पाकर विघ्न न करें। अतः, बचने के लिये रघुवीर का स्मरण किया, यथा—"तिनकी न काम सकै चापि छाँह, तुलसी जे बसहिं रघुबीर-बाँह ॥" (गी० अ० ४९)। (ख) मैंने दक्ष की पुत्री का त्याग किया है, उसका पक्ष लेकर दक्ष कोई उपाधि न करे, अथवा शाप न दे, जैसे कि अन्य पत्नियों को छोड़कर रोहिणी ही से प्रेम करने के कारण चन्द्रमा को क्षयी होने का शाप दिया था।

'चले भवन सुमिरत···' क्योंकि सुमिरने से वैसी बुद्धि हुई, जिससे उचित प्रतिज्ञा की गई, चित्त का संताप मिटा। 'भवन', यथा—"भवन कैलास आसीन कासी।" (वि० १०)। शिवजी ने सती का त्याग किया, वैसे कवि ने भी अब उनका संग चलना नहीं लिखा, यद्यपि वे भी साथ ही हैं। पहले बराबर लिखते थे—"संग सती जग जननि···" "चले भवन सँग दच्छकुमारी।" आदि। 'गिरा सुहाई'—यह आकाशवाणी श्रीरामजी की है, क्योंकि जानने पर सती के कल्याण का संयोग होगा।

'अस पन···'—प्रण के हेतुभूत तीन विशेषण हैं—रामभगत, समरथ और भगवाना। राम भक्त हो, इसीसे ऐसी भक्ति दृढ़ की है, इसके योग्य समर्थ हो, क्योंकि भगवान् हो। भाव यह कि सामान्य जीव ऐसे प्रण का निर्वाह नहीं कर सकता। भगवान्—सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन छः ऐश्वर्यों से युक्त—वि० पु० ६।५।७४।

शिवजी के सन्तोषार्थ आकाशवाणी भी हुई जिसमें इनकी मनःकामना की सफलता है। यह भी भाव है कि जो भक्ति का दृढ़ आश्रयण करेगा, उसकी जय है, यथा—"बिरति चर्म असि ज्ञान मद, लोभ मोह रिपु मारि। जय पाइय सो हरि भगति।···" (उ० दो० १२०)।

सुनि नभगिरा सती उर सोचा। पूछा सिवहिं समेत सकोचा ॥६॥
कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला। सत्यधाम प्रभु दीनदयाला ॥७॥
जदपि सती पूछा बहु भाँती। तदपि न कहेउ त्रिपुरआराती ॥८॥

अर्थ—इस आकाशवाणी को सुनकर सतीजी के मन में सोच हुआ और उन्होंने शिवजी से संकोच के साथ पूछा ॥६॥ हे कृपालो ! आपने कौन-सा प्रण किया है—वह कहिये। आप सत्य के धाम हैं और समर्थ तथा दीनदयालु हैं ॥७॥ यद्यपि सतीजी ने बहुत तरह से पूछा, तथापि त्रिपुरारि शिवजी ने नहीं बतलाया ॥८॥

विशेष—'उर सोचा' और 'समेत सकोचा' क्योंकि सतीजी से अपराध हो गया है और कपट इन्होंने किया ही था, उसे भी शिवजी ने ध्यान से जान लिया। इससे संकोच से छलती हैं।

'कीन्ह कवन पन···' इसमें चारो विशेषण साभिप्राय हैं। 'कृपाला'—आप कृपालु हैं। अतः, क्रोध न करें। 'सत्यधाम' होने से सत्य ही कह दें, 'प्रभु' अर्थात् आप 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः प्रभुः' है। अतः, मुझे दण्ड देने की कठिन प्रतिज्ञा भी की हो तो उसे मिटा सकते हैं, यथा—"साँसति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ॥" (दो० ८८); इस स्वभाव से मुझपर अब प्रसन्नता प्रकट करें। यदि कहें कि मुझे प्रतिज्ञा मेटने का क्या प्रयोजन है? तो आप 'दीनदयालु' हैं और मैं 'दीन' हूँ, यह नाता है।

'जदपि सती···'—'बहु भाँती'—उपर्युक्त चार विशेषणों के भावों से पूछा। 'न कहेउ'—तो भी नहीं कहा, क्योंकि 'त्याग' का वचन अप्रिय है, इसलिये चुप ही रहे, क्योंकि—"सत्यंब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्नब्रूयात्सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥" (मनु० ४।१३८); अर्थात् सत्य भी यदि अप्रिय हो तो न बोले। 'सत्यधाम' हैं तो बनाकर झूठ कैसे कहें? ऐसी मनुजी की आज्ञा है।

'त्रिपुरआराती'—यहाँ कामादि रूपी तीनो पुरों के साथ विजय का प्रसंग है। सती ऐसी स्त्री-रत्न के त्याग में काम और लोभ का जीतना और अवज्ञा एवं अपराध पर भी क्रोध न किया, इसमें क्रोध का जीतना भी है, इसलिये यह विशेषण साभिप्राय है।

दोहा—सती हृदय अनुमान किय, सब जानेउ सरबज्ञ।
कीन्ह कपट मैं संभु सन, नारि सहज जड़ अज्ञ॥
सोरठा—जल पय सरिस बिकाइ, देखहु प्रीति की रीति भलि।
बिलग होइ रस जाइ, कपट खटाई परत पुनि॥५७॥

अर्थ—सतीजी ने अपने हृदय में अनुमान किया कि सर्वज्ञ शिवजी ने सब जान लिया है। मैंने शम्भु (कल्याण-कर्त्ता) से कपट किया, क्योंकि स्त्रियाँ स्वभावतः मन्द और विवेकरहित होती हैं॥ दूध में (मिला हुआ) जल भी दूध के ही समान (भाव में) बिकता है, यह प्रीति की उत्तम रीति देखिये। परन्तु कपट रूप खटाई के पड़ते ही वे (दोनों) अलग हो (फट) जाते हैं और उसका रस (स्वाद) जाता रहता है॥५७॥

विशेष—'सती हृदय···'—आकाशवाणी हुई और शिवजी ने पूछने पर भी नहीं कहा, इन आधारों पर अनुमान हुआ। 'सब जानेउ सर्वज्ञ'—सतीजी जानती थीं कि सर्वज्ञ हैं, यथा—"सिव सर्बज्ञ जान सब कोई" "सोउ सर्वज्ञ जथा त्रिपुरारी।" यह इन्हीं के वचन हैं। अतः, शिवजी का सब जानना ठीक ही है। मैंने ऐसा किया क्यों? इस पर कहा है—"नारि सहज जड़ अज्ञ"।

'जल पय'—जल दूध में अभेद भाव से मिल जाता है, यह प्रीति है। उस जल में भी दूध का रस (स्वाद) आ जाता है, फिर दूध के भाव बिकता है, यह महत्त्व पाता है। अग्नि जब दूध को जलाने लगता है, तब जल प्रथम अपना शरीर जलाता है। इसकी पीर मिटाने के लिये दूध बार-बार अग्नि को बुझा देने एवं घृतांश देकर उसे तृप्त करने को उफनता है। पानी का छींटा पड़ने से मित्र को आया जानकर शान्त हो जाता है। फिर मित्र के बिना वह जितने अंश में रह जाता है, उसे लोग 'खोआ' कहते हैं कि इसने मित्र को खो दिया, पर इस दशा में भी वह मित्र को चाहता रहता है जिससे खोए में जल मिलाकर खाने से गुणद होता है। उसी जल और दूध में खटाई पड़ जाने से सब रस चला जाता है, वैसे प्रीति में कपट पड़ जाने से वह निस्तत्त्व (साररहित) हो जाती है। इसमें दृष्टान्त अलंकार है—"उपमान और उपमेय में साधारण धर्म की समता बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से

कही जाय, उसे दृष्टान्तालंकार कहते हैं" (काव्य प्रभाकर); यहाँ पूर्वार्द्ध में उपमान 'जल पय सरिस बिकाइ' प्रीति-रीति समझाने की बात कही गई है और फिर बिना वाचक पद के 'बिलग होइ···' पद से उपमेय का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से वर्णन है। तथा—"उभय बीच सिय ···" (अ० दो० १२२)। इसी प्रकार अन्यत्र भी कहा गया है, यथा—"दुःखेन श्लिष्यते भिन्नं श्लिष्टं दुःखेन भिद्यते। भिन्ना श्लिष्टा तु या प्रीतिर्न स स्नेहेन वर्त्तते॥" (महा० शान्ति १११।८५); अर्थात् पृथक् हुई वस्तु बहुत कष्ट से जुड़ती है और जुड़ी हुई कष्ट से पृथक् होती है, जो प्रीति पृथक् होकर फिर जुड़ती है वह स्नेह से मिश्रित नहीं रहती (गाँठ पड़ ही जाती है)।

हृदय सोच समुझत निज करनी। चिंता अमित जाइ नहिं बरनी॥१॥
कृपासिंधु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा॥२॥
संकररुख अवलोकि भवानी। प्रभु मोहि तजेउ हृदय अकुलानी॥३॥
निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। तपै अवाँ इव उर अधिकाई॥४॥

अर्थ—अपनी करतूत समझकर (सतीजी के) हृदय में इतना सोच और इतनी अपार चिन्ता है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता॥१॥ शिवजी कृपा के सागर एवं परम गम्भीर हैं, इससे उन्होंने मेरा अपराध प्रकट नहीं कहा॥२॥ शिवजी का रुख फिराहुआ देखकर भवानी समझ गईं कि स्वामी ने मेरा त्याग किया, (इससे) हृदय में बहुत व्याकुल हुईं॥३॥ अपना दोष समझकर कुछ कहा नहीं जाता, हृदय कुम्हार के अवाँ की तरह भीतर-ही-भीतर और भी अधिक जलने लगा॥४॥

विशेष—'चिंता अमित'—यथा—"चिंता ज्वाल शरीर बन, दावा लगि लग जाय। प्रगट धुआँ नहिं देखिये, उर अंतर धुँधुआय। उर अंतर धुँधुआय जरै ज्यों काँच कि भट्ठी। रक्त मांस जरि जाय रहै पाँजर की टट्टी॥ कह गिरिधर कविराय सुनो हो मेरे मिंता। वे नर कैसे जियैं जिन्हें तन व्यापै चिन्ता॥" तथा—"चिंता साँपिनि को नहिं खाया।" (उ० दो० ७०); के विशेष में और प्रमाण देखिये।

'प्रभु मोहि तजेउ···'—पहले अपनी करनी समझकर सोच था, फिर शिवजी की कृपासिंधुता आदि गुणों के साथ अपने अवगुणों को विचारकर वह बढ़ता गया। अब रुख देखा कि मुझसे प्रीति का त्याग कर दिया है—'जौं अब करउँ सती सन प्रीति। ···' कहा ही है, वह बात रुख फिरने से स्पष्ट हो गई। इससे निश्चित किया कि प्रभुने मेरा त्याग किया, तब हृदय से बहुत ही व्याकुल हुईं। 'न कछु कहि जाई।'—क्योंकि—'कहेहूँ ते कछु दुख घटि होई।' (सुं० दो० १४); पर ये जिससे कहेंगी, वही उलटे इन्हीं को दोष देगा। अतः, कहकर भरम गँवाना है। शिवजी से भी कैसे क्षमा की बात कहें, क्योंकि अपराध छिपाया है—'कछु न परीछा···'।

'अवाँ इव'—कुम्हार के आवाँ की तरह भीतर-ही-भीतर सन्ताप की आग से हृदय जल रहा है, कोई अंश खाली नहीं है, बाहर से नहीं देख पड़ता। वैसे ये अपराध प्रकट नहीं कहतीं।

सतिहिं ससोच जानि बृषकेतू। कही कथा सुंदर सुख-हेतू॥५॥
बरनत पंथ बिबिध इतिहासा। बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा॥६॥
तहँ पुनि संभु समुझि पन आपन। बैठे बटतर करि कमलासन॥७॥
संकर सहज सरूप सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥८॥

अर्थ—सतीजी को चिन्तान्वित जानकर वृषकेतु शिवजी ने उनको सुख देने के लिये सुन्दर कथा कही॥५॥ मार्ग में नाना प्रकार के इतिहासों का वर्णन करते (सतीजी का जी बहलाते) हुए शिवजी

कैलास पहुँचे ॥६॥ फिर अपना प्रण समझकर वहाँ वट के नीचे शिवजी कमलासन लगाकर बैठ गये ॥७॥ शिवजी ने अपना स्वाभाविक रूप सँभारा (स्मरण किया) तो उनकी अखण्ड और अपार समाधि लग गई ॥८॥

विशेष—(१) 'सतिहिं ससोच···' 'बृषकेतू'=शिवजी धर्म की ध्वजा हैं—दो० ५२ चौ० ८ देखिये। धर्म में दया श्रेष्ठ है, सती आश्रित हैं, उनको सन्तोष और आनन्द देने के लिये इतिहासात्मक कथाएँ कहते हैं, जिनके सुनने में दुःख भूल जायँ और सुख हो। कुछ सन्देह मिटाने के लिये नहीं कहते, क्योंकि वह प्रयास तो प्रथम ही व्यर्थ हुआ है।

(२) 'बरनत पंथ···' कथा-इतिहास से मार्ग शीघ्र कटता है, यथा—"सीय को सनेह सील तथा कथा लंक को कहत चले चाय सों सिरानो पथ छन में।" (क० मु० ३१); धारा-प्रवाह इतिहास-पर-इतिहास कहते ही गये कि सती को अपने त्याग आदि की बात कहने का संयोग ही न हो।

(३) 'तहँ पुनि संभु···' 'कमलासन'—यह योगक्रिया का एक आसन है। "इसे पद्मासन भी कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है— बद्ध और मुक्त। मुक्त में वाम पद पहले दक्षिण पद को जङ्घा पर चढ़ाया जाता है, फिर दक्षिण पद वाम पद की जङ्घा पर आता है। अन्त को दोनों हाथों की हथेलियाँ को जानु पर खुली रखते हैं। इसी प्रकार मेरुदण्ड को सीधा कर बैठने का नाम मुक्त पद्मासन है। बद्ध पद्मासन में पदों के चढ़ाने का नियम तो ऐसा ही रहता है किन्तु वाम हस्त को पीठ के पीछे घुमा वाम पद का और दक्षिण हस्त को पीठ के पीछे घुमा दक्षिण पद का अङ्गुष्ठ पकड़ते हैं। फिर चिबुक वक्षःस्थल पर रख और नासा के अग्र भाग पर दृष्टि लगा सीधे बैठा जाता है। यह पद्मासन अति उत्तम रहता है और घण्टे आध घण्टे अभ्यस्त होने पर साधक के सब रोगों का हरण करता है।" (विश्वकोष)।

'बैठे बट तर···'—सती-त्यागवाले अपने प्रण को समझकर उसके निर्वाह में समाधि लगाना ही युक्त समझा। मार्ग में सती का सम्पर्क कथा में निबह गया। शिवजी 'अगेह' हैं, वे सदा वट तर ही रहते हैं, यथा—"पञ्च रम्य गिरिवर कैलासू। सदा जहाँ सिव उमा निवासू। ···तेहि गिरि पर बट बिटप बिसाला। नित नूतन सुंदर सब काला॥···" (दो० १०५); वट शिवजी का स्वरूप भी है—"प्राकृत हू बट बूट बसत पुरारि हैं" (क० उ० १४०)।

(४) 'संकर सहज सरूप···' (क) जीव सच्चिदानन्द स्वरूप है और यह ईश्वर का अंश है, उस रूप से यह सदा से श्रीरामजी का परिकर है। उसे भूलकर संसार में आया और कष्ट झेल रहा है। मुक्त होने पर यह अपने उसी स्वरूप को प्राप्त करता है, यथा—"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता।" (तैत० २।१); अर्थात् मुक्तात्मा ब्रह्म के साथ-साथ सभी कामनाओं का उपभोग करता है, तथा—"अथैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते॥" (छान्दो० ८।१२।३); अर्थात् यह कृतार्थ मुमुक्षु इस शरीर से निकल 'परं ज्योति' को प्राप्त हो, अपने स्वरूप में प्राप्त होता है, यही इसका सहज स्वरूप है। उ० दो० ११६ चौ० २ तथा अर० दो० ३५ चौ० ६ देखिये। तथा वि० १३६।२ के 'निज सहज अनुभव रूप···' एवं १३६।११ के 'तब फिर निज स्वरूप अनुरागै।' से 'जा कहँ दसा ऐसी भई।' तक के 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये। शिवजी साकेत लोक में अपने सहज स्वरूप महाशम्भु-रूप से श्रीसीतारामजी की सेवा में नित्य रहते हैं, उस रूप में वृत्ति ले जाने तथा इस देह से वृत्ति का अभाव होने से अखण्ड तथा अपार समाधि लग गई। तथा—"तुलसी तोसों राम सों कछु नई न जान पहिचानि।" (वि० १९३)।

(ख) एक ब्रह्म ही गुण-त्रय सम्बन्ध से त्रिदेव रूप होकर उत्पत्ति-पालन और संहार करता है। लं० दो० २ का विशेष देखिये। शंकरजी ने उसी अपने ब्रह्मस्वरूप को सम्भारा, इसीसे अखण्ड तथा अपार समाधि लग गई।

दोहा—सती बसहिं कैलास तब, अधिक सोच मन माहिं।
मरम न कोऊ जान कछु, जुग सम दिवस सिराहिं ॥५८॥

अर्थ—जब सतीजी कैलास पर रहती थीं, तब उनके मन में सोच अधिक हो गया। इस सोच का भेद कोई कुछ भी नहीं जानता, सतीजी के दिन युग के समान बीतने लगे।

विशेष—कैलास परम रमणीक और सारे सुखों से पूर्ण है, यथा—"परम रम्य गिरिबर कैलासू।" ···से—"सेवहिं सिव सुखकंद ॥" (दो० १०५); तक। वहाँ भी सतीजी के लिए सुख न था, क्योंकि इनके मर्म का ज्ञाता कोई न था, जिससे दुःख कहें और कुछ घटे, यथा—"कहेहूँ ते कछु दुःख घटि होई। काहि कहउँ यह जान न कोई ॥" (मुं० दो० १४); पहले 'सोच' था—'हृदय सोच···' तब शिवजी कथा के द्वारा निवृत्त करते थे। अब वे भी समाधिस्थ हो गये, इससे 'अधिक सोच···' हो गया है। अब एक-एक दिन युग के समान बीतने लगे।

नित नव सोच सती - उर भारा। कब जइहउँ दुख - सागर-पारा ॥१॥
मैं जो कीन्ह रघुपति-अपमाना। पुनि पतिबचन मृषा करि जाना ॥२॥
सो फल मोहिं बिधाता दीन्हा। जो कछु उचित रहा सोइ कीन्हा ॥३॥
अब बिधि अस बूझिय नहिं तोही। संकरबिमुख जिआबसि मोही ॥४॥

अर्थ—सतीजी के हृदय में नित्य नई चिन्ता का बोझ उत्पन्न होता है कि मैं इस दुःख-समुद्र के पार कब जाऊँगी ? ॥१॥ मैंने श्रीरघुनाथजी का अपमान किया और पति के वचनों को झूठा करके जाना ॥२॥ उसका फल ब्रह्माजी ने मुझे दिया, जैसा उचित था, वही किया ॥३॥ अब हे विधि ! ऐसा आपको उचित नहीं जो शिवजी से विमुख रखकर मुझे जिला रहे हैं ॥४॥

विशेष—'सागर पारा'—दुःख सागर की तरह अपार है, सागर विविध नदियों से भरता रहता है, वैसे ही विविध सोच बढ़ते रहते हैं। अतः, पार जाने की प्रतीक्षा में हैं। आगे सोच के हेतु कहती हैं—

'मैं जो कीन्ह···'—श्रीरामजी को नर मानकर पति के प्रणाम करने पर प्रणाम नहीं किया, यह कर्म से उनका अपमान किया। फिर पति श्रीशिवजी के समझाने पर उनके वचनों पर विश्वास नहीं किया, झूठा माना, परीक्षा लेने गई, यह मन से पति का अपमान किया एवं पतिदेव के पूछने पर वचन से भी झूठ कहा। 'सो फल'—रघुपति के अपमान के फलरूप में व्यभिचारिणी बनाई गईं और पति के अपमान से पति-द्वारा त्यक्त हुईं। मेरे कर्मानुसार ही विधाता ने वैसी बुद्धि कर दी, जिससे मैंने सीता रूप बना वैसी परीक्षा ली और कर्म ही के अनुसार शिवजी के द्वारा त्यागी गई। 'उचित'—"जो जस करइ सो तस फल चाखा।" (अ० दो० २१८); "करइ जो करम पाव फल सोई ॥" (अ० दो० ७७)।

'अब बिधि···' आप विधिवत् विधान करने से ही 'विधाता' कहाते हैं। अतः, अब ऐसी बूझ (बुद्धि या समझ) आपके लिए होना अयोग्य है, ऐसा आपको उचित नहीं है। 'अब'—अभी तक तो कर्म फल ठीक ही दिया, अब यह उचित नहीं हो रहा है, पति-विमुख जीवन असह्य दुःख है, यथा—"बन दुख··· ···प्रभु बियोग लवलेस समाना। सब मिलि होहिं न कृपा निधाना ॥" (अ० दो० ६५); क्योंकि मैंने शंकर-विमुखता के अभिप्राय का कर्म अपनी बुद्धि से नहीं किया।

कहि न जाइ कछु हृदय गलानी। मन महँ रामहिं सुमिरि सयानी ॥५॥
जौ प्रभु दीनदयाल कहावा। आरतिहरन बेद जस गावा ॥६॥
तौ मैं बिनय करउँ कर जोरी। छूटउ बेगि देह यह मोरी ॥७॥

अर्थ—उनके हृदय में उस समय जैसा पछतावा है, वह कुछ भी कहा नहीं जा सकता, सयानी सतीजी ने उस समय मन में श्रीरामजी का स्मरण किया ॥५॥ हे प्रभो ! जो आप दीनदयालु कहाते हैं और 'विपत्तिहरण' कहकर आपका ऐसा यश वेद गाते हैं ॥६॥ तो मैं हाथ जोड़कर विनती करती हूँ कि मेरा यह शरीर शीघ्र छूट जाय ॥७॥

'सयानी'—सब उपायों से हताश होकर श्रीरामजी की शरण में प्राप्त होना अर्थात् उन्हीं को एक मात्र उपाय-रूप में वरण करना चतुरता है, यथा—"परिहरि सकल भरोस, रामहिं भजहिं ते चतुर नर ॥" (अर० दो० ६); पुनः श्रीरामजी के अपमान से दुःख हुआ। अतः, उन्हीं की शरण से उसकी निवृत्ति सोचना भी सयानपना है।

'जौ प्रभु ···'—यहाँ राम-स्मरण की बातें कहते हैं, यथा—"जेहि दीन पिआरे बेद पुकारे···" (दो० १८६); आप प्रभु अर्थात् समर्थ हैं, और मैं दीन हूँ, आर्त्त हूँ, अपने सामर्थ्य से रक्षा करें। यहाँ—'मन महँ' 'बिनय करउँ' और 'करजोरी' से क्रमशः मन, वचन और कर्म से शरणागत हुई, तब—'छूटउ बेगि देह यह'—अर्थात् शिवजी की प्रतिज्ञा जान गई—'येहि तन सतिहिं···' यह श्रीराम-स्मरण का फल है। ऐसे ही राम-स्मरण से शिवजी में भी प्रण करने की बुद्धि हुई थी। 'बेगि' क्योंकि दुःख सहा नहीं जाता, यथा—"पति परित्याग हृदय दुःख भारी ॥" (दो० ६०)।

जौ मोरे सिवचरन सनेहू। मन क्रम बचन सत्य ब्रत येहू ॥८॥

दोहा—तौ सबदरसी सुनिय प्रभु, करउ सो बेगि उपाइ।
होइ मरन जेहि बिनहि श्रम, दुसह बिपत्ति बिहाइ ॥५९॥

अर्थ—जो मेरा शिवजी के चरणों में मन, वचन एवं कर्म से स्नेह हो और यह व्रत मेरे मन, वचन तथा कर्म से सत्य हो ॥८॥ तो हे सर्वदर्शी प्रभो ! सुनिये और शीघ्र वह प्रयत्न कीजिये जिससे मेरी मृत्यु हो और बिना परिश्रम ही दुःसह दुःख दूर हो ॥५९॥

विशेष—'व्रत येहू'—मन, वचन और कर्म से पति के चरणों में सच्चा स्नेह ही पातिव्रत्य धर्म है, यथा—"एकइ धर्म एक ब्रतनेमा। काय बचन मन पति-पद-प्रेमा ॥" (अर० दो० ४)। 'सबदरसी'—मेरे मन, वचन और कर्म की व्यवस्था भी आप जानते ही हैं। 'होइ मरन···दुसह बिपत्ति ···', यथा—"तजउँ देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई ॥" (सु० दो० ११)।

प्रथम 'जौं प्रभु दीनदयालु कहावा।···तौ मैं बिनय करउँ···' कहा, उसमें 'कर जोरी' पद से प्रभु की शरण हो उनकी दीनदयालुता से अपनी आर्त्ति-हरण की प्रार्थना की, क्योंकि प्रभु को शरणागत प्रिय हैं। फिर 'जो मोरे सिव···तौ सबदरसी···' इसमें अपने पातिव्रत्य धर्म को आगे कर उससे विपत्ति दूर कराने की चेष्टा की है, क्योंकि प्रभु को यह धर्म भी परम प्रिय है, यथा—"जस गावत श्रुति चारि, अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय।" (अर० दो० ५); दोनों प्रकारों से शीघ्र देह छूटना और बिना श्रम ही दुस्सह विपत्ति का छूटना ही माँगा है। ये दोनों प्रार्थनाएँ सुफल शीघ्र ही होंगी।

येहि बिधि दुखित प्रजेसकुमारी। अकथनीय दारुन दुख भारी ॥१॥
बीते संबत सहस सतासी। तजी समाधि संभु अबिनासी ॥२॥
रामनाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे ॥३॥
जाइ संभुपद बंदन कीन्हा। सनमुख संकर आसन दीन्हा ॥४॥

अर्थ—इस प्रकार से दक्ष प्रजापति की कन्या सतीजी दुःखित हैं, उनका भारी और दारुण दुःख कहा नहीं जा सकता ॥१॥ सत्तासी हजार वर्ष बीतने पर अविनाशी महादेवजी ने अपनी समाधि छोड़ी ॥२॥ शिवजी श्रीरामनाम का स्मरण करने लगे, तब सतीजी ने जाना कि संसार के स्वामी शिवजी जाग गये हैं ॥३॥ इन्होंने जाकर शिवजी के चरणों की वन्दना की। उन्होंने बैठने के लिये सामने आसन दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि···'—"सती बसहिं कैलास···" से—"बिपत्ति बिहाइ ॥" तक अर्थात् पूरे एक दोहे में दशा कहकर श्रीराम-शरणागति के साथ ही विपत्ति की समाप्ति दिखाई। 'प्रजेस कुमारी'—क्योंकि सती शिव-विमुख दक्ष की कन्या हैं, दुःखित क्यों न हों? और, यह भी भाव है कि इष्ट और पति के अपमान से 'प्रजेस-कुमारी' तक की यह दशा है तो प्राकृत स्त्रियों के लिये क्या कहना? अब दक्ष प्रजेश हो रहे हैं, बस, इसी में विपत्ति छूटेगी, इस नाम से यह भी सूचित किया है। आगे कहते ही हैं—"दच्छ प्रजेस भए तेहि काला।"

"अकथनीय दारुन दुख भारी'—सती का दुःख इतना अधिक हो गया कि वक्ता लोग कथन में असमर्थ हो गये हैं—(१) 'चिंता अमित जाइ नहिं बरनी।' (२) 'कहि न जाइ कछु हृदय गलानी।' (३) 'अकथनीय दारुन दुख भारी।' सतीजी स्वयं भी नहीं कह सकतीं—(१) 'निज अघ समुझि न कछु कहि जाई।' (२) 'कहि न जाइ कछु हृदय गलानी।' इत्यादि।

(२) 'बीते संबत सहस···'—जब तक सतीजी विधि आदि के आश्रय लेती थीं, तब तक प्रभु ने कुछ नहीं किया। जब सब भरोसा छोड़कर शरण में आईं तब प्रेरक प्रभु ने आश्रित का दुःख हरने के लिये, वैसी प्रेरणा की जिससे शिवजी समाधि छोड़ें और सती के दुःख मिटें।

शंका—सत्तासी हजार वर्ष के बीच में ही श्रीरामजी की रण-क्रीड़ा एवं राज्याभिषेक-चरित में शिवजी का आना कहा है, यथा—"हमहूँ उमा रहे तेहि संगा।" (लं० दो० ८०); तथा—"···संभु तब, आये जहँ रघुबीर।" (उ० दो० १३); फिर इसकी संगति कैसे लगेगी?

समाधान—हिमाचल राज के निमन्त्रण में नदी-तालाब आदि का भी सुन्दर शरीर धर-धरकर आना इसी ग्रन्थ में लिखा गया है। उस समय वे सब दूसरे रूप से जगत् के कार्य में रहे। यदि नदी-तालाब आदि के अधिष्ठातृ देवताओं में यह सामर्थ्य है तो शिवजी तो महादेव हैं। ये एक रूप से कैलास में रहते हैं, दूसरे रूप से रण देखते तथा अन्य रूपों से किसी के तप का फल देते एवं संहार आदि कार्य करते हैं।

'तजी समाधि' शिवजी ने प्रभुप्रेरित होकर अपनी इच्छा से समाधि छोड़ी। दूसरी बार प्रभु की आज्ञा पर ध्यान न रखकर समाधिस्थ हो जायँगे, तब वह समाधि काम की उपाधि से छूटेगी। यह "छूटि समाधि···" (दो० ८६); पर कहा जायगा।

'राम नाम सिव···'—समाधि से जागते ही रामनाम स्मरण करने लगे, इससे सिद्ध है कि राम नाम-स्मरण के साथ समाधि लगाई भी थी, समाधि-अवस्था में भी तदनुसार ही वृत्ति थी, यथा—"जागत सोवत सरन तुम्हारी॥ तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं।" (अ० दो० २१९); "तेही समय बिभीषन जागा। राम नाम तेहि सुमिरन कीन्हा।" (सुं० दो० ५)। 'जगतपति जागे', तथा—"गुरु ते पहिलेहि जगतपति, जागे राम सुजान।" (दो० २२६)। पुनः, शिवजी ने पत्नीत्व भाव त्याग दिया है, यह विचार कर अपना पति नहीं कहतीं, जगतपति कहती हैं।

'अबिनासी'—प्राकृत-देहधारी की समाधि इतने काल तक नहीं रह सकती, शिवजी का शरीर अविनाशी है, इसीसे बनी रही, यथा—"नाम प्रसाद संभु अबिनासी।" (दो० २५)।

'सहस सतासी'—इस पर कोई-कोई १०८७ वर्ष का भी अर्थ लेकर कहते हैं कि शिवजी एकादश रुद्र की ख्याति के अनुसार ११००० वर्ष की समाधि लगाये हुए थे, इधर सतीजी के शरण होने पर प्रभु ने १३ वर्ष पूर्व ही प्रेरणा करके समाधि छुड़ा दी।

परन्तु 'सरल कवित' की प्रतिज्ञा के अनुसार ८७००० वर्ष का अर्थ अधिक संगत है। उसकी पुष्टि में 'अविनासी' कथन भी सहायक है।

'जागे'—क्योंकि समाधि में बाहर की इन्द्रियाँ अन्तर्मुख हो स्वरूप में लीन रहती हैं, निद्रा की तरह शरीर जड़ की भाँति रहता है। अतः, समाधि छूटने पर योगियों का जागना कहा जाता है।

(३) 'जाइ संभुपद ··' 'संभु-पद'—अर्थात् कल्याणकारी चरण हैं, सती इन्हीं से कल्याण चाहती हैं। शिवजी ने सती में पत्नी-भाव का त्याग किया है, इसीसे सम्मुख आसन दिया। आसन सम्मुख रख दिया कि कहीं वाम भाग में बैठ न जायँ।

यहाँ से आगे 'कैलास प्रकरण' के अन्तर्गत 'दक्ष-यज्ञ' प्रसंग चला—

लगे कहन हरिकथा रसाला। दच्छ प्रजेस भये तेहि काला ॥५॥
देखा बिधि बिचारि सब लायक। दच्छहिं कीन्ह प्रजापतिनायक ॥६॥
बड़ अधिकार दच्छ जब पावा। अति अभिमान हृदय तब आवा ॥७॥
नहिं कोउ अस जनमा जगमाहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं ॥८॥

अर्थ—(शिवजी सती से) भगवान् की रसीली कथाएँ कहने लगे, उसी समय में (सतीजी के पिता) दक्ष प्रजापति हुए ॥५॥ ब्रह्माजी ने विचारकर दक्ष को सब तरह योग्य देखा, तब उन्हें प्रजापतियों का नेता (सरदार) बनाया ॥६॥ जब दक्ष ने इतना बड़ा अधिकार (दर्जा) पाया, तब उनके हृदय में अत्यन्त अभिमान छा गया ॥७॥ (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) जगत् में ऐसा कोई नहीं उत्पन्न हुआ, जिसे प्रभुता (आधिपत्य) पाकर घमण्ड न हुआ हो ॥ ८ ॥

विशेष—'प्रजेस' एवं 'प्रजापति-नायक'—सृष्टि के उत्पन्न करनेवाले प्रजापति कहाते है। इनकी संख्या के कल्पभेद से कई प्रकार हैं। "पुराणों के मत से मरीचि, अत्रि आदि दस और कहीं इक्कीस प्रजापतियों का उल्लेख है, इन इक्कीस में चौथे में दक्ष का नाम आया है।"—(हिं० श० सा०)। दक्ष अपने कल्प के वर्ग में नेता हुए थे।

'बड़ अधिकार ···अति अभिमान···'; यथा—"यदाभिषिक्तो दक्षस्तु ब्रह्मणा परमेष्ठिना। प्रजापतीनां सर्वेषामाधिपत्ये श्रयोऽभवत् ॥ २ ॥ इष्ट्वा स बाजपेयेन ब्रह्मिष्ठानभिभूय च। बृहस्पतिसवं नाम समारेभे क्रतूत्तमम् ॥ ३ ॥" (भाग० ४।३); अर्थात् जब ब्रह्माजी ने दक्ष को समस्त प्रजापतियों का अधिपति बना दिया, तब उनका गर्व और भी बढ़ गया। उन्होंने भगवान् शंकर आदि ब्रह्मनिष्ठों को यज्ञभाग न देकर उनका अपमान करते हुए प्रथम वाजपेय यज्ञ किया और फिर बृहस्पतिसव नाम का महायज्ञ प्रारम्भ किया। 'बड़ अधिकार' इससे 'अति अभिमान' हुआ।

सम्बन्ध—दक्ष का अभिमान शिव-विरोध का कारण है। अब उसका कार्य कहते हैं—

दोहा—दच्छ लिये मुनि बोलि सब, करन लगे बड़ जाग।
नेवते सादर सकल सुर, जे पावत मख-भाग ॥६०॥

अर्थ—दक्ष ने सब मुनियों को बुलवा लिया और बड़ा भारी यज्ञ करने लगे। उन्होंने उसमें उन सब देवताओं को, जो यज्ञ में भाग पाया करते हैं, आदर-सहित नेवता दिया ॥६०॥

विशेष—जब यज्ञ करने लगे तब नेवता भेजा, क्योंकि उसी क्रम से कहा गया है। 'नेवते सादर' में शिवजी के निरादर का आशय है, क्योंकि शिवजी का नेवता काटना है। शिवजी को अपमानित करने के अभिप्राय से यह यज्ञ किया जा रहा है, अतएव 'तामस' है, यथा—"परस्योत्सादनार्थं वा

तत्तामसमुदाहृतम्।" (गीता १७।१९)। इसीसे इसमें विघ्न भी हुआ। 'जे पावत मखभाग'—इनमें सबको नेवता दिया और पूर्ण सत्कार के साथ सवारी, पूजा, भेंट आदि देते हुए बुलाया, जिससे सबको ज्ञात हो जाय कि शिवजी का नेवता काटा गया और उनका अपमान हुआ, वह समस्त जाति-वर्ग के मध्य में हुआ। आगे 'जे पावत ···' में कुछ का निर्देश भी करते हैं।

किंनर नाग सिद्ध गंधर्बा। बधुन्ह समेत चले सुर सर्बा ॥१॥
बिष्नु बिरंचि महेस बिहाई। चले सकल सुर जान बनाई ॥२॥
सती बिलोके ब्योम बिमाना। जात चले सुंदर बिधि नाना ॥३॥
सुरसुंदरी करहिं कल गाना। सुनत श्रवन छूटहिं मुनिध्याना ॥४॥

अर्थ—(निमन्त्रण पाते ही) किन्नर, नाग, सिद्ध, गन्धर्व और समस्त देवता अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ चले ॥१॥ विष्णु, ब्रह्मा और महेश को छोड़कर सभी देवगण अपने-अपने विमान सजाकर चले ॥२॥ सतीजी ने देखा कि विविध प्रकार के सुन्दर विमान आकाश-मार्ग में चले जाते थे ॥३॥ देव-नारियाँ सुन्दर गान कर रही थीं, जिन्हें कानों से श्रवण करते ही मुनियों का ध्यान भी छूट जाता था ॥ ४ ॥

विशेष—(१) 'बिष्नु बिरंचि महेस···' ब्रह्मा और विष्णु तो निमन्त्रित थे, पर तो भी नहीं गये, क्योंकि जानते थे कि इस यज्ञ में शिवजी को भाग नहीं दिया जायगा। शिवजी के अपमान में अपना भी अपमान मानते थे, यथा—"उपलभ्य पुरैवैतद्भगवानब्जसम्भवः। नारायणश्च विश्वात्मा न कस्याध्वरमीयतुः॥" (भाग० ४।६।३); अर्थात् ब्रह्माजी और विश्वात्मा श्रीमन्नारायण प्रथम से ही यह भावी उत्पात जानते थे। इसीसे दक्ष के यज्ञ में नहीं गये। 'बिहाई'—इन तीनों की उपेक्षा कर लोभवश गये और उत्साह पूर्वक यान बना-बनाकर गये। अतः, दण्ड पावेंगे, यथा—"सकल सुरन्ह बिधिवत फल दीन्हा। (दो० ६४)।

(२) 'सती बिलोके ··' शिवजी का स्थिर चित्त कथा कहने में लगा था और सतीजी का अन्तरंग दुःख के कारण व्यग्र था, इससे पूर्ण रीति से नहीं लगा था, इससे 'कलगान' सुनकर इन्होंने ही देखा।

(३) 'सुरसुंदरी करहिं···'—'कलगान' का प्रभाव ही है कि वह मुनियों का ध्यान छुड़ा दे, यथा—"कल गान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं कामकोकिल लाजहीं।" (दो० ३२१)। कैलास पर बहुत मुनियों के आश्रम थे, जिस होकर विमान जा रहे थे, यथा—"सिद्ध तपोधन जोगि जन, सुर किन्नर मुनिबृन्द। बसहिं तहाँ सुकृती सकल, सेवहिं सिव सुखकंद॥" (दो० १०५); इनके गाने से मुनियों को विघ्न हुआ। अतः, भविष्य के अमंगल का हेतु यह भी कहा जाता है। देवों की शोभा विमानों से और देवाङ्गनाओं की उनके शृंगार एवं कलगान से कही। 'सुर' पद ही यहाँ बार-बार आ रहे हैं—१. 'नेवते सादर सकल सुर', २. 'बधुन समेत चले सुर···', ३ 'सुर सुंदरी···', ४. 'चले सकल सुर···' तथा ५. 'सकल सुरन्ह बिधिवत् ··'। सुरा का ग्रहण करने से देवगण सुर कहे गये हैं। इससे यह भी ध्वनित है कि ये सब मद्यपान किये हुए हैं, इसीसे त्रिदेवों की भी उपेक्षा किये हुए और गाते हुए जा रहे हैं। 'सादर नेवते' पद में स्त्रियों के साथ सबको नेवता दिया गया था, इसीसे 'बधुन समेत' जाना कहा है।

पूछेउ तब सिव कहेउ बखानी। पिताजज्ञ सुनि कछु हरषानी ॥५॥
जौ महेस मोहि आयसु देहीं। कछु दिन जाइ रहउँ मिस येहीं ॥६॥
पतिपरित्याग हृदय दुख भारी। कहइ न निज अपराध बिचारी ॥७॥
बोलीं सती मनोहर बानी। भय संकोच प्रेम-रस सानी ॥८॥

दोहा—पिता - भवन उत्सव परम, जौ प्रभु आयसु होइ।
तौ मैं जाउँ कृपायतन, सादर देखन सोइ ॥६१॥

अर्थ—(सतीजी ने जब) पूछा, तब महादेवजी ने विस्तार-पूर्वक कहा। पिता के यहाँ यज्ञ-उत्सव सुनकर कुछ हर्ष हुआ ॥५॥ (हृदय में विचारती हैं कि) जो शिवजी मुझे आज्ञा दें, तो मैं इसी बहाने से वहाँ जाकर कुछ दिन (पिता के घर) रहूँ ॥६॥ पति के त्यागने का उनके हृदय में भारी दुःख था, (पर) अपना ही अपराध विचारकर कहती नहीं थीं ॥७॥ सतीजी भय, संकोच और प्रेम-रस से सनी हुई मनोहर वाणी बोलीं ॥८॥ हे प्रभो ! मेरे पिता के घर में बहुत बड़ा उत्सव है, जो आपकी आज्ञा हो, तो हे कृपालु ! मैं आदर के साथ उसे देखने जाऊँ ॥६१॥

विशेष—(१) 'पूछेउ तब ' ' पूछने पर कहा, अन्यथा उसकी चर्चा भी न करते। प्रायः सब उत्सवों में स्त्रियाँ नहीं भी जाती हैं। इसमें जा रही हैं। इससे सतीजी को भी उत्कण्ठा हुई। अतः, पूछा। 'कछु हरषानी'—यद्यपि यह बड़े हर्ष की बात थी, तथापि इनको कुछ ही हर्ष हुआ, क्योंकि हृदय में भारी परिताप है, हर्ष भी इससे हुआ कि कुछ दिन जी बहलेगा एवं पति-गृह की अपेक्षा पितु-गृह का सुख भी कुछ ही है।

(२) 'जौ महेस···' 'जौ' से दुविधा है कि आज्ञा दें या न दें, क्योंकि पिता शिवजी से विरोध रखता है। अतः, जाने को न कहेंगे, यह सम्भव है। 'कछु दिन जाइ···'—कन्याओं के रहने के दो स्थल हैं, पिता का घर या पति का घर, पिता के यहाँ 'कछु' ही दिन रहना होता है। 'जाइ'—स्वयं जाकर, क्योंकि वहाँ से न नेवता आया है और न कोई लेने ही आया है। विपत्ति के दिन काटने जाना है। 'मिस' अभी तक वहाँ जाने का कोई मिस नहीं था, अब है। पिता के यज्ञ महोत्सव में जाना युक्त है। 'मिस येहीं'···'सादर', क्योंकि पति का त्यागना अभी औरों को नहीं मालूम है, यज्ञोत्सव के बहाने वहाँ जाने और कुछ दिन रहने में यह कोई न जानेगा कि पति के त्यागने से आई हैं। पति से त्यागी हुई स्त्री को कहीं आदर नहीं मिलता है। गण आदि साथ देकर भेजेंगे तो त्याग न समझा जायगा, 'सादर' पद में यह भाव है।

(३) 'बोलीं सती मनोहर बानी···' भय, संकोच और प्रेम-रस से वाणी मनोहर है। 'जौ तौ', 'आयसु होइ' आदि में संकोच का भाव है। 'कृपायतन,' 'आयसु होइ' आदि के भावों में प्रेम-रस भरा है। 'महेस', 'प्रभु' आदि से भय दर्शित होता है। यों तो सम्पूर्ण वाणी इन तीनों गुणों से सनी है।

कहेहु नीक मोरेहु मन भावा। यह अनुचित नहिं नेवत पठावा ॥१॥
दच्छ सकल निज सुता बोलाई। हमरे बैर तुम्हउँ बिसराई ॥२॥
ब्रह्म-सभा हम सन दुख माना। तेहि ते अजहुँ करहि अपमाना ॥३॥
जौ बिनु बोले जाहु भवानी। रहइ न सील सनेह न कानी ॥४॥
जदपि मित्र-प्रभु-पितु-गुरु-गेहा। जाइय बिनु बोलेहु न संदेहा ॥५॥
तदपि बिरोध मान जहँ कोई। तहाँ गये कल्यान न होई ॥६॥

अर्थ—(शिवजी ने कहा) तुमने भली बात कही, वह मेरे मन को भी अच्छी लगी, (दक्ष ने) यहाँ निमन्त्रण नहीं भेजा, यह अनुचित है ॥१॥ दक्ष ने अपनी और सब कन्याओं को बुलाया, (परन्तु) हमारे बैर से उन्होंने तुमको भी भुला दिया ॥२॥ ब्रह्माजी की सभा में (दक्ष ने) हमसे दुःख माना था, इसीसे वे अब भी मेरा अपमान करते हैं ॥३॥ हे भवानी ! तुम जो बिना बुलाये जाओगी तो शील और स्नेह न रहेगा और न मर्यादा ही बचेगी ॥४॥ यद्यपि मित्र, स्वामी, पिता और गुरु के घर पर बिना बुलाये

भी जाने की रीति है, इसमें संशय नहीं ॥५॥ तथापि जहाँ कोई विरोध मानता हो, वहाँ जाने पर कल्याण नहीं होता ॥६॥

विशेष—(१) 'नीक'—यज्ञ भगवान् का अंग है। अतः, देखना अच्छा है। सती के वचन का समर्थन करके फिर उसमें अनुचित-अंश कहा, जिससे वे प्रीति से ग्रहण करें। 'यह अनुचित···', यथा—"अनाहूताश्च ये सुभ्रु गच्छन्ति पर-मन्दिरम्। तेऽपमानं प्राप्नुवन्ति मरणादधिकं ततः॥" (स्कन्द पु० माहेश्वर० के० २।५९); अर्थात् हे सुन्दरी ! जो लोग बिना बुलाये दूसरे के घर जाते हैं, वे वहाँ अपमानित होते हैं, उससे मरने से भी अधिक दुःख होता है।

(२) 'दच्छ सकल निज···' 'दच्छ' का अर्थ चतुर भी है। यह उन्होंने चतुराई की है कि सबको बुलाकर एक को न बुलाने में उसका अपमान होगा और वैर सधाया जायगा। वास्तविक चतुराई तो उनकी तब थी कि तुम्हारे सम्बन्ध से हमारा भी वैर भुला देते, पर उन्होंने हमारे वैर से तुम्हें भी भुला दिया।

(३) 'ब्रह्म सभा···' "मैत्रेयजी ने विदुरजी से कहा है कि एक समय प्रजापतियों के यज्ञ में बड़े-बड़े ऋषि, देवता, मुनि और अग्नि आदि समाज के साथ आये। दक्ष ने भी उस सभा में प्रवेश किया, वे अपने सूर्यवत् तेज से सभा को प्रकाशित करने लगे। अतः, उनके आने पर ब्रह्माजी और शिवजी के अतिरिक्त सभी उठ खड़े हुए। सर्वसम्मानित दक्ष ब्रह्माजी को प्रणाम कर उनकी आज्ञा से अपने आसन पर बैठ गये। शिवजी ने उनका अभ्युत्थान आदि सत्कार नहीं किया, वह दक्ष नहीं सह सके। अतः, उन्होंने क्रुद्ध हो अग्नि आदि देवों के समक्ष कहा कि मैं शिष्टाचार कहता हूँ कि यह निर्लज्ज महादेव सारे लोकपालों की पवित्र कीर्त्ति को नष्ट कर रहा है। इसने मेरी पुत्री का पाणिग्रहण किया है, इससे यह मेरा पुत्रवत् (दामाद) है। उठकर मेरा स्वागत करता, प्रणाम करता, परन्तु इसने वाणी से भी मेरा सत्कार नहीं किया। मैंने भाग्यवश एवं ब्रह्माजी के कहने से इसे कन्या दे दी। इसने सत्कर्म का लोप कर दिया है। भूतों-प्रेतों के साथ रहता है, श्मशान में निवास, चिता-भस्म लेपन आदि अमंगल वेष रखता एवं नंग-धड़ंग विचरता है, कभी हँसता और कभी रोता है, मुण्डों की माला एवं हड्डियों के भूषण रखता है, यह नाम भर का शिव है, है पूरा अशिव। भूत आदि तमोगुणियों का नेता है।

शिवजी ने कुछ भी नहीं कहा, दक्ष का क्रोध बढ़ता ही गया। मुख्य सभासदों के रोकने पर भी नहीं माना। उन्होंने हाथ में जल लेकर शाप दिया—'यह महादेव देवों में बड़ा अधम है अब से इसे इन्द्रादि देवों के साथ यज्ञ में भाग न मिले।' नन्दीश्वर ने भी दक्ष एवं उनके अनुयायी ब्राह्मणों को शाप दिया—'दक्ष और इसके अनुयायी शिव विमुख देहात्मवादी हों, तत्त्वज्ञान से विमुख रहें, विवेक भ्रष्ट अर्थवाद में मोहित रहें। गृही एवं विषयी हों। दक्ष का बकरे का मुख हो जाय। इसके अनुयायी ब्राह्मण लोग केवल पेट-पोषक हों, उसीके लिये विद्या-तप आदि करें। विषयी रह संसार में भीख माँगा करें। फिर उधर से शिवगणों को भृगुजी वैसे ही घोर शाप देने लगे—'शिवगण सत्-शास्त्र विरुद्ध आचरण वाले हों, जटा, राख और हड्डी धारण करें, सुरा आसव पान करें एवं पाखण्डी हों···'। इसपर शिवजी कुछ खिन्न हो, परिकरों के साथ उठकर चल दिये, (भाग० ४।२)।

'अजहुँ'—दक्ष द्वेष भाव रक्खे हुए थे। पीछे जब प्रजापतियों का आधिपत्य पाया, तब यह यज्ञ मेरा अपमान करने के उद्देश्य से ही कर रहे हैं।

(४) 'जौ बिनु बोले जाहु···' बिना बोलाये जाने पर शील, स्नेह और 'कानि' (मर्यादा) न रहेगी, यही तीनों आगे चरितार्थ होंगे, यथा—"दच्छ न कछु पूछी कुसलाता। सतिहिं बिलोकि जरे सब गाता॥"—यहाँ पिता का स्नेह न रहा। "दच्छ-त्रास काहु न सनमानी" "भगिनी मिलीं बहुत मुसकाता।" —शील न रहा। "कतहुँ न दीख संभु-कर भागा।" "प्रभु-अपमान समुझि उर दहेऊ।" इत्यादि मर्यादा भी न रही। 'भवानी'—भव-पत्नी मानकर अपमान करना मेरा ही अपमान होगा।

'जदपि मित्र-प्रभु···', यथा—"अनाहुता अप्यभियन्ति सौहृदं भर्तुर्गुरोर्देहकृतश्च केतनम्॥" (भाग० ४।३।१३); अर्थात् पति, गुरु और माता-पिता आदि सुहृदों के घर तो बिना बुलाये जाना चाहिये।

'तदपि बिरोध मान'···', यथा—"नैतादृशानां···" (भाग० ४।३।१८); अर्थात् जो अपने यहाँ आने पर टेढ़ी भौंहें चढ़ाकर कुटिल बुद्धि से दोष भरी दृष्टि से देखते हैं, उन अव्यवस्थितचित्त लोगों के यहाँ बान्धव बुद्धि से कभी नहीं जाना चाहिये।

भाँति अनेक संभु समुझावा। भावीबस न ज्ञान उर आवा॥७॥
कह प्रभु जाहु जो बिनहिं बोलाये। नहिं भलि बात हमारे भाये॥८॥

दोहा—कहि देखा हर जतन बहु, रहइ न दच्छकुमारि।
दिये मुख्य गन संग तब, बिदा कीन्ह त्रिपुरारि॥६२॥

अर्थ—अनेक प्रकार से शिवजी ने (सतीजी को) समझाया, पर भावीवश उनके मन में बोध नहीं हुआ॥७॥ फिर प्रभु (शिवजी) ने कहा कि जो तुम बिना बुलाये जाओगी, तो हमारी समझ में यह बात अच्छी नहीं होगी॥८॥ शिवजी ने बहुत उपाय से कहकर देखा कि दक्ष-सुता नहीं ही रहना चाहती है, तब त्रिपुरारि शिवजी ने मुख्य गण साथ कर दिये और इन्हें विदा किया॥६२॥

विशेष—(१) 'भाँति अनेक···'—१—बिना निमन्त्रण जाना अनुचित, २—सब सुता को बुलाया तुम्हें नहीं। अतः, न जाना चाहिये, ३—इस यज्ञ से हमारा अपमान करते हैं, इससे भी वहाँ तुम्हें नहीं जाना चाहिये। ४—बिना बुलाये जाने पर शील, स्नेह एवं कानि न रहेगी। ५—विरोधी के यहाँ नहीं जाना चाहिये, इत्यादि उपर्युक्त बातों का परिचय यहाँ कहा गया है, इसी प्रकार और भी कहा होगा।

(२) 'भावी बस न ज्ञान···' सतीजी अभी भावी-वश शिवजी के वचन नहीं समझ सकीं। जब शिवजी का भाग वहाँ न देखेंगी, तब यह ज्ञान होगा, यथा—"तब चित चढ़ेउ जो संकर कहेऊ।" (दो० ६२); पहले भी शिवजी का उपदेश नहीं माना, तब ऐसा ही कहा है—"हरि इच्छा भावी बलवाना।···सती कीन्ह सीता कर बेषा।···' वैसे यहाँ भी नहीं मान रहीं हैं तो इसे भी मूर्खता न कहकर भावीवश ही कहा गया है, क्योंकि यथार्थ बात हृदय में क्यों नहीं आ रही है? यह भावी ही है।

(३) 'नहिं भलि बात'—अर्थात् वहाँ तुम्हारा कुछ अमंगल न हो जाय, शिवजी के वचनों में भावी का ज्ञान होना गर्भित है, पर भावी अमिट होती है। फिर भी अपना कर्त्तव्य करना चाहिये। फल तो ईश्वर की इच्छा से होगा ही। इसी दृष्टि से शिवजी समझाते ही हैं। तथा—"बुध पुरान श्रुति-संमत बानी। कही बिभीषन नीति बखानी॥" (सुं० दो० ४०); "जदपि कही कपि अति हित बानी। भगति बिबेक बिरति नय सानी॥" (सुं दो० २३); इन दोनों महात्माओं के उपदेश कर्त्तव्य-पालन रूप में ही हुए। भावीवश रावण ने नहीं माने।

(४) 'कहि देखा हर ··'—'रहइ न' भाग० ४।४।३ में लिखा है कि सतीजी शिवजी को छोड़कर (बिना आज्ञा लिये ही) अपने माता-पिता के घर को चल दीं। 'दच्छ-कुमारि'—दक्ष हठी थे, वैसा इनमें भी हठ है। 'दिये मुख्य गन संग'—क्योंकि सतीजी ने 'सादर देखन' की आज्ञा माँगी थी। अतः, उनके आदरार्थ मुख्य गण साथ कर दिये ,उनके मानापमान में अपना भी मानापमान है ही। पुनः दक्ष से वैर है, यदि वे विघ्न करें तो उसके प्रतिकार के लिये अस्त्र-शस्त्र में निपुण मुख्य मणिमान्, मद आदि एवं और भी हजारों गण भेजे—ऐसा भाग० ४।४।४-५ में प्रमाण है। 'त्रिपुरारि'—शिवजी त्रिपुर के जेता (जीतनेवाले) हैं, दक्ष से कुछ भय नहीं है।

पिता-भवन जब गईं भवानी। दच्छत्रास काहु न सनमानी॥१॥

सादर भलेहि मिली एक माता । भगिनी मिलीं बहुत मुसकाता ॥२॥
दच्छ न कछु पूछी कुसलाता । सतिहिं बिलोकि जरे सब गाता ॥३॥
सती जाइ देखेउ तब जागा । कतहुँ न दीख संभु कर भागा ॥४॥
तब चित चढ़ेउ जो संकर कहेऊ । प्रभु-अपमान समुझि उर दहेऊ ॥५॥

अर्थ—सतीजी जब पिता के भवन में पहुँचीं, तब दक्ष के भय से किसीने भी उनका सम्मान नहीं किया ॥१॥ भले ही केवल एक माता आदर-पूर्वक मिली और बहनें बहुत मुसकुराती हुई मिलीं ॥२॥ दक्ष ने कुछ कुशलक्षेम भी नहीं पूछा, प्रत्युत सतीजी को देखकर उनके सब अंग (क्रोध से) जलने लगे। (क्योंकि पहले की शिवकृत अपमान की बातें चित्त में आ गईं) ॥३॥ तब सतीजी ने जाकर यज्ञ को देखा, जब वहाँ शिवजी का भाग कहीं नहीं देख पड़ा ॥४॥ तब शिवजी का कहा हुआ चित्त में चढ़ा और स्वामी का अपमान समझकर हृदय में सन्ताप हुआ ॥५॥

विशेष—(१) 'गईं भवानी'—प्रथम 'दच्छ-कुमारि' कहा था, क्योंकि दक्ष के यहाँ जाने को उद्यत थीं, यहाँ 'भवानी' कहा, क्योंकि भव (शिवजी) के सम्बन्ध से ही अपमान हो रहा है।

(२) 'सादर भलेहि···' माता का स्नेह कन्या पर अत्यन्त होता है। सतीजी की माता मनु की कन्या हैं। अतः, हृदय शुद्ध है और दक्ष की भी पत्नी होने से तुल्या हैं। अतः, उनका भय नहीं, इससे आदर से मिलीं। नेत्रों में आँसू चले और गद्गद स्वर से कुशल पूछा।

'भगिनी मिलीं बहुत मुसुकाता'—'बहुत' दीप देहली है। बहनें बहुत हैं, वे मिलीं, पर निरादर पूर्वक मिलीं, वह 'बहुत मुसुकाता' से कहा गया। हँसती हैं, क्योंकि ये सब नेवता देकर सादर बुलाई गई थीं। हँसने में व्यंग्य है, कि शिवजी का वह घमण्ड अब कहाँ गया, जो उन्होंने ब्रह्म-सभा में पिताजी के अपमान के लिये किया था। अब तो दीन होकर नेगयोग लेने के लिये पत्नी को भेजा है।

(३) 'सती जाइ देखेउ तब···'—'तब' अर्थात् जब पिता के रुख से अपना अपमान देखा, तब सन्देह हुआ कि कहीं शिवजी का तो अपमान न हुआ हो, इसलिये यज्ञशाला में गईं। पहले श्रीशिवजी ने राम-महिमा कही थी, पर वह इनके चित्त में नहीं चढ़ी थी, जब उन्होंने दिखाया, तब चढ़ी, इसी प्रकार यहाँ शिव-अपमान की शिवजी की बात अब यहाँ देखने पर चित्त में चढ़ी। 'कतहुँ न'—ब्रह्मा और विष्णु भी नहीं गये थे, तो भी उनके भाग रक्खे गये थे, केवल शिवजी का भाग ही न था। 'कतहुँ' से सूचित किया कि कई जगह भाग रहते हैं, इनका कहीं नहीं था। 'प्रभु अपमान'—प्रथम अपने अपमान पर वैसा सन्ताप नहीं हुआ था, पर जब शिवजी का अपमान देखा, तब पहले अपमान की भी प्रतीति हुई।

पं० रामकुमारजी ने यहाँ शिवजी के वचनों की चरितार्थता इस प्रकार लिखी है—

१—'दच्छ सकल निज सुता बोलाई।' —'भगिनी मिलीं बहुत मुसुकाता।'
२—'हमरे बैर तुम्हहु बिसराई।' —'दच्छ न कछु पूछी कुसलाता।'
३—'ब्रह्मसभा हम सन दुखमाना।' तेहिते०—'सती जाइ देखेउ···कतहुँ न दीख ··'
४—'जौ बिनु बोले ··रहै न सील···' —'दच्छत्रास काहु न ··दच्छ न कछु पूछी···'
५—'तदपि बिरोधमान ··तहाँ गये···' —'अस कहि जोग अगिनि तनु जारा।'

पाछिल दुख अस हृदय न ब्यापा । जस यह भयेउ महापरितापा ॥६॥
जद्यपि जग दारुन दुख नाना । सब ते कठिन जाति - अपमाना ॥७॥
समुझि सो सतिहिं भयेउ अति क्रोधा । बहुबिधि जननी कीन्ह प्रबोधा ॥८॥

दोहा—सिव-अपमान न जाइ सहि, हृदय न होइ प्रबोध।
सकल सभहिं हठि हटकि तब, बोलीं बचन सक्रोध ॥६३॥

अर्थ—(पति-त्याग का) पिछला दुःख हृदय में ऐसा नहीं व्यापा (लगा) था, जैसा यह पति-अपमान का अत्यन्त घोर दुःख हुआ ॥६॥ यद्यपि जगत् में विषम दुःख अनेक (भाँति के) हैं, तथापि जाति-अपमान उन सबसे कठिन है ॥७॥ यह समझकर सतीजी को अत्यन्त क्रोध हुआ, (इसपर) माता ने उनको बहुत तरह से समझाया ॥८॥ पर शिवजी का अपमान नहीं सहा जाता था और न हृदय को प्रबोध ही होता था। अतः, सतीजी सब समाज को हठ पूर्वक रोककर (हवन-पाठ आदि बन्द करा) क्रोधपूर्वक बोलीं ॥६३॥

विशेष—(१) 'पाछिल दुख अस···' प्रथम भी असह्य दुःख था, यथा—"येहि बिधि दुखित प्रजेसकुमारी। अथकनीय दारुन दुःख भारी ॥" (दो० ५९); परन्तु वह अपने हृदय की ही बात थी, कोई नहीं जानता था। यहाँ तो यज्ञ में सुर, मुनि आदि बहुत लोग निमन्त्रित हैं। इनमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश का बराबर भाग मिलता था, पर यहाँ शिवजी का अपमान हुआ है, इसे सभी जान गये। इससे अत्यन्त परिताप हुआ, यथा—"संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन-कोटि-सम दारुन दाहू ॥" (अ० दो० ९४); तथा—"अकीर्त्तिञ्चापि भूतानि···" से—"ततो दुःखतरं नु किम् ॥" (गीता २।३४-३६); तक। प्रथम मरण नहीं हुआ, यहाँ मरण भी हुआ। अतः, यह महापरिताप प्रत्यक्ष है।

(२) 'सब ते कठिन···' प्रथम का 'अकथनीय दारुन दुख भारी' सहा गया, पर यह भारी 'जाति अपमान' नहीं सहा गया। इसमें प्राण छोड़ा, इससे यह सबसे कठिन है।

(३) 'जननी कीन्ह प्रबोधा'—माता ने पिता से अपमानित सती की चेष्टा देखकर इसका साथ नहीं छोड़ा कि यह निमन्त्रित नहीं है, जिससे कोई कुछ कह न दे। प्रबोध भी किया कि तुम्हारी विदाई सब बहनों से अधिक रूप में मैं करूँगी, इत्यादि। प्रथम 'समुझि उर दहेऊ' कहा था, वह अपमान जाति के समक्ष है, इससे 'अति क्रोध' हुआ।

सुनहु सभासद सकल मुनिंदा। कही सुनी जिन्ह संकर - निंदा ॥१॥
सो फल तुरत लहब सब काहू। भली भाँति पछिताब पिताहू ॥२॥
संत - संभु - श्रीपति - अपवादा। सुनिय जहाँ तहँ असि मरजादा ॥३॥
काटिय तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूँदि न त चलिय पराई ॥४॥

शब्दार्थ—मुनिंदा (मुनीन्द्र) = मुनीश्वरो। लहब = पाओगे। अपवादा = निन्दा = झूठा दोषारोपण। मरजादा (मर्यादा) = नियम, रीति, रसम।

अर्थ—हे सभासदो और समस्त मुनीश्वरो! सुनिये। जिन्होंने शंकरजी की निन्दा कही और सुनी है, उन सबको उसका फल तुरन्त ही मिलेगा और मेरे पिता भी भलीभाँति पछतावेंगे ॥१-२॥ सन्त, शम्भु और विष्णु भगवान् की निन्दा जहाँ सुनी जाय, वहाँ नियम तो ऐसा है कि अपना वश चले, तो निन्दक की जीभ काट ले और नहीं तो कान में अंगुल दे (मूँद) कर भाग जाय ॥३-४॥

विशेष—'निंदा'—जो दोष किया गया हो और उसे कोई कहे, उसे 'परिवाद' कहते हैं और झूठा दोष लगाकर कहना अपवाद (निंदा) है—"परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते ॥" (वाल्मी० २।११।२७); यथा—"अगुन अमान जानि तेहि, दीन्ह पिता बनबास। सो दुख अरु जुवती-बिरह,···" से—"समुझु तजि टेक ॥" (कं० दो० ३१); तक—ये सब बातें श्रीरामजी के दोष रूप में ,रावण की गढ़ी हुई हैं और

मूठी हैं। अतः, इसे ही कहा—"जब ते कीन्ह राम कै निंदा।" इसपर अंगद ने रावण की जीभ किस तरह काटी है—अंगद ने श्रीरामप्रताप से वहाँ बहुत-कुछ कहा है और प्रभाव प्रकट करके भी दिखाया है। अतएव समर्थ थे, पर शास्त्र-प्रमाणों के द्वारा उसकी वाणी का खण्डन ही किया है, यथा—"सो नर क्यों दसकंध, बालि बध्यो जेहि एक सर।", नरत्व का खण्डन इस प्रमाण से एवं—"राममनुज कस रे सठ बंगा।···तव सुत मारि।" (लं० दो० २६); इत्यादि और भी प्रमाणों से किया है। फिर अंगद ने—"मैं तव दसन तोरिबे लायक।"···से—"आयसु दीन्ह न राम उदारा॥" (लं० दो० ३३); तक अपना पुरुषार्थ कहा। रावण ने 'लबार' कहकर उनकी निन्दा की, तब अंगद उसकी जीभ उखाड़ने को कहते हैं, यथा—"साँचेहुँ मैं लबार भुज बीहा। जौं न उपारउँ तव दस जीहा॥" (लं० दो० ३३); इसपर अंगद ने पाँव रोपकर उठाने को कहा। रावण समाज के साथ भी यह न कर सका, इस तरह अपने कर्म से उसकी वाणी (जीभ) को उखाड़ा (खण्डन किया)। दूसरे प्रकार में काटने का भाव छूरे से काटना एवं कहीं-कहीं 'काढ़िय' भी पाठ है, जड़ से उखाड़ फेंकने का भाव भी—"गिरहिं न तव रसना अभिमानी॥ गिरिहहिं रसना संसय नाहीं। सिरन्हि समेत समर-महि-माहीं॥" (लं० दो० ३२)। इस वचन से श्रीराम-पुरुषार्थ द्वारा कहा गया है। श्रीमद्भागवत् में भी इस अवसर में देवी ने यही कहा है—"कर्णौ पिधाय निरयाद्यदकल्प ईशे धर्मावितर्यसृणिभिर्नृभिरस्यमाने। छिन्द्यात्प्रसह्य रुशतीमसतीप्रभुश्चेज्जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत्स धर्मः॥" (४।४।१७); अर्थात् यदि उच्छृङ्खल लोग धर्म-रक्षक अपने पूज्य स्वामी की निन्दा करें तो उन्हें दण्ड देने की शक्ति न रहने पर कान बन्द करके वहाँ से चला जाना चाहिये, यदि शक्ति हो तो उसकी जिह्वा का खण्डन करना चाहिये। यहाँ भी 'छिन्द्यात्' से काटने (शास्त्र-प्रमाणों से वाणी-खण्डन करने) का ही भाव है, राख लगाकर जीभ उखाड़ने का नहीं! 'न त चलिय पराई'—बैठे रहने पर निन्दा में सहमत होना होता है। अतः, पाप है। यहाँ जोर से भाग चलना कहा है कि सुन न पड़े। सतीजी न भागीं और न जीभ काट सकीं, इससे ये देह ही त्यागेंगी। निन्दा भारी पाप है—"परनिंदा सम अघ न गिरीसा।" (उ० दो० १२०); एवं—"हरि-हर-निंदा सुनहिं जे काना। होइ पाप गोघात समाना॥" (लं० दो० ३१)।

'संत संभु श्रीपति'··' भगवान् श्रीपति के उपासक शम्भु हैं, इससे उन्हें उनसे पहले कहा और सन्त दोनों के उपासक हैं, इससे इन्हें दोनों से पहले कहा है, क्योंकि हरिहर से उनके दास अधिक हैं, तथा—"मो ते संत अधिक करि लेखा॥" (अर० दो० ३५); "राम ते अधिक राम कर दासा।" (उ० दो० ११९)।

जगदातमा महेस पुरारी। जगत-जनक सबके हितकारी॥५॥
पिता मंदमति निंदत तेही। दच्छ-सुक्र - संभव यह देही॥६॥
तजिहउँ तुरत देह तेहि हेतू। उर धरि चंद्रमौलि बृषकेतू॥७॥
अस कहि जोग अगिनि तनुजारा। भयेउ सकल मख हाहाकारा॥८॥

अर्थ—त्रिपुरासुर के शत्रु महादेवजी जगत् की आत्मा, जगत् के उत्पादक और सबका हित करनेवाले हैं॥५॥ मूर्ख पिता उनकी निन्दा करता है और यह मेरा शरीर उस (पति-निन्दक) के वीर्य से उत्पन्न है॥६॥ इस कारण (द्वितीया के) चन्द्रमा को ललाट पर धारण करनेवाले, धर्म की ध्वजा शिवजी को अपने हृदय में धारण करके मैं इस शरीर को शीघ्र ही त्याग देती हूँ॥७॥ ऐसा कहकर सतीजी ने योगाग्नि में अपना शरीर जला दिया, इससे सारी यज्ञशाला में हाहाकार मच गया॥८॥

विशेष—(१) 'जगदातमा महेस'··' जगत् के आत्मा से वैर करना अपने आत्मा ही से वैर करना है (कल्पभेद से शिवजी से सृष्टि भी होती है, यहाँ स्तुति-प्रसंग है। अतः, शिवकल्प का पूर्ण ऐश्वर्य कहा गया है)। 'महेस'—इन्द्रादि देवों की निन्दा भी भारी पाप है, ये तो महादेव हैं। 'पुरारी'—त्रिपुरासुर के

वध से इनका बल भी समझ लेना चाहिये। त्रिपुर को मारकर जगत् का उपकार किया है। 'जगतजनक'—निन्दक के भी पिता हैं। अतः, गुरुजन-निन्दा और भी भारी पाप है। 'सब के हितकारी'—अतएव शिव-निन्दक का किसी प्रकार हित नहीं हो सकता।

(२) 'पिता मंदमति निंदत···'—यदि प्रश्न हो कि तुम पिता की निन्दा क्यों करती हो, उसपर कहती हैं कि पिताजी ने पूर्व ब्रह्म-सभा में वचन से निन्दा की थी, अब यज्ञ करके उनका नेवता काटकर एवं भाग न रखकर अपमानपूर्वक सहस्रों ऋषियों और देवताओं के समक्ष कर्म-द्वारा शिवजी की निन्दा कर रहे हैं कि शिवजी अयोग्य हैं, तभी तो नेवता कटा एवं भाग बन्द हुआ।

(३) 'तजिहउँ तुरत देह···' भाग० ४।४।१८-२२ में दक्ष के प्रति सती के वचन हैं—"जैसे अज्ञान-वश अशुद्ध अन्न खाने पर वमन करने ही से उसकी शुद्धि होती है, वैसे तुझसे उत्पन्न इस देह का त्यागना ही प्रायश्चित्त है। तेरे सम्बन्ध से मुझे लज्जा है, ऐसे जन्म को धिक्कार है, इत्यादि"—कहकर देह त्यागना कहा है। 'तुरत' एक क्षण भी पति-द्रोही पिता का सम्बन्ध नहीं सह सकती।

'उर धरि चंद्रमौलि···' द्वितीया का चन्द्रमा दीन-क्षीण है, उसका धारण कर उसे महत्त्व दिया। वैसे शिवजी मुझ दीन को भी स्वीकार करेंगे और महत्त्व देंगे। वे धर्म की ध्वजा हैं, मेरे पातिव्रत्य-धर्म की रक्षा करेंगे—उसके फलस्वरूप में अपनी प्राप्ति देंगे। 'वृषकेतू'—धर्म की ध्वजावाले शिवजी, यथा—"वृषो हि भगवान्धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।" (महा० शान्ति० ३४२।८८); अर्थात् हे भारत! लोक में भगवान् धर्म वृष रूप से प्रसिद्ध हैं।

(४) अस कहि जोग···'—योगाग्नि में शरीर जलाने की क्रिया, भाग० ४।४।२४-२७ में कही गई है—"सतीजी उत्तर की ओर मुख करके मौन होकर भूमि पर बैठ गईं। पीताम्बर धारण कर आचमन किया। नेत्र बन्दकर आसन लगाकर, प्राणायाम द्वारा 'प्राण' और 'अपान' वायु को नाभिचक्र में एक रूप करके स्थित किया। फिर नाभिचक्र से 'उदान' वायु को धीरे-धीरे उठा तीनों मिले हुए वायुओं को हृदय में स्थिर करके, तब वहाँ से उन्हें कंठ-मार्ग से भृकुटियों के बीच में ले गईं। इस प्रकार वायु और अग्नि की धारणा की और एक मात्र शिवजी ही इनके ध्यान में रह गये। ऐसा होते ही समाधि से उत्पन्न योगाग्नि द्वारा शरीर तुरन्त जल उठा।" 'अस कहि'—ऐसा कहने से लोक-वेद मत में सफाई दी कि ईश्वर-विमुख से सम्बन्ध न रखना चाहिये, इससे मैं देह त्याग करती हूँ। निमन्त्रण न देने पर नहीं। शिवजी के त्याग करने पर ८७ हजार वर्ष ईश्वर से देह त्यागना चाहती थीं, पर योगाग्नि से शरीर नहीं छोड़ा, क्योंकि उसमें पातिव्रत्य में दोष आता कि पति के विरोध में शरीर त्याग दिया। अब पति-विमुख-सम्बन्ध त्याग के हेतु पर शरीर त्याग कर रही हैं, इसमें पातिव्रत्य का गौरव है।

शंका—योगाग्नि से शरीर जलने से पुनर्जन्म नहीं होता, यथा—"तजि जोग-पावक देह हरि-पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे।" (अर० दो० ३६); इसमें शबरीजी को मुक्ति कही गई है। फिर सतीजी का हिमाचल के यहाँ जन्म क्यों हुआ?

समाधान—शबरीजी ने वैसा कोई वर नहीं माँगा था, इससे लीन होना कहा गया है, पर यहाँ तो सतीजी ने वर माँगा था, यथा—"सती मरत हरिसन बर माँगा। जनम जनम सिव-पद-अनुरागा॥ तेहि कारन हिमगिरि-गृह जाई। जनमीं पारवती-तनु पाई॥" (दो० ६४); इसे ग्रन्थकार ने ही समझा दिया है। ऐसे ही शरभंग मुनि की भी व्यवस्था है, यथा—"अस कहि जोग-अगिनि तनु जारा।···ताते मुनि हरि-लीन न भयेऊ। प्रथमहि भेद भगति बर लयेऊ॥" (अर० दो० १०)।

(५) 'हाहाकारा'—भाग० ४।४।२८-३० में कहा गया है कि लोग कहने लगे—"हा-हा! बड़े खेद की बात है कि दक्ष के दुर्व्यवहार से शिवप्रिया सतीजी ने कुपित होकर प्राण ही त्याग दिये। देखो! इस

प्रजापति की सभी चराचर सन्तानें बराबर हैं। इसकी दुष्टता देखो कि इसने अपनी कन्या का ही निरादर किया जो सभी की माननीया एवं पूज्या हैं! इसने उसे रोका तक नहीं।"

दोहा—सती-मरन सुनि संभुगन, लगे करन मख खीस।
जज्ञ-बिध्वंस बिलोकि भृगु, रच्छा कीन्हि मुनीस ॥६४॥

अर्थ—सतीजी का मरना सुनकर शिवजी के गण यज्ञ को नष्ट करने लगे। यज्ञ का नाश होते देख कर मुनीश्वर भृगु ने उसकी रक्षा की ॥६४॥

विशेष—'मरन सुनि'—गण लोग यज्ञशाला में नहीं जाने पाये थे। आकाशचारी देवों के हाहाकार के शब्दों से जानकर अस्त्र-शस्त्र सजे हुए वहाँ घुस पड़े।

'भृगु'—महाभारत अनुशा० ८५ के अनुसार रुद्र के महायज्ञ में ब्रह्माजी के तेज-द्वारा अग्निशिखा से इनका जन्म हुआ। ये सप्तऋषियों में भी माने जाते हैं। त्रिदेवों की परीक्षा में इन्हीं ने विष्णु भगवान् की छाती पर लात मारी थी, जिसका तात्पर्य यह था कि उनकी छाती में श्री (लक्ष्मी) का निवास है, उनपर लात मारना अर्थात् विरक्त रहना ब्राह्मण को योग्य है। दैत्यगुरु शुक्राचार्य तथा श्रीपरशुरामजी इन्हीं के वंश में हुए। वाल्मी० उ० ५१।१३ में लिखा है कि दैत्यों का आश्रय देने के कारण इन्हीं की पत्नी को विष्णु ने मार डाला था।

'भृगु रच्छा कीन्ह'''—ब्रह्म-सभा के शिव-दक्ष-विवाद में भृगुजी दक्ष के पक्ष में थे और इस यज्ञ के अध्वर्यु भी थे। अतः, रक्षा की। "विघ्ननाशक 'अपहतं रक्षः''' इत्यादि मन्त्रों से आहुति दी, जिससे ऋभु नामक सहस्रशः वीर, तेजस्वी तथा यज्ञरक्षक देवगण तुरन्त प्रकट हुए और जलती हुई लकड़ियों से प्रहार करके शिवगणों को मार भगाया।" (भाग० ४।४।३२-३४)। 'मुनीस'—क्योंकि भृगुजी मुनियों में समर्थ भी थे।

समाचार सब संकर पाये। बीरभद्र करि कोप पठाये ॥१॥
जज्ञबिधंस जाइ तिन्ह कीन्हा। सकल सुरन्ह बिधिवत फल दीन्हा ॥२॥
भइ जगबिदित दच्छगति सोई। जसि कछु संभु - बिमुख कै होई ॥३॥
यह इतिहास सकल जग जाना। ताते मैं संछेप बखाना ॥४॥

अर्थ—जब शिवजी ने सब समाचार जाने तब क्रोधित होकर उन्होंने वीरभद्र को भेजा ॥१॥ उन्होंने वहाँ जाकर यज्ञ का नाश कर डाला और समस्त देवताओं को यथायोग्य फल दिया ॥२॥ दक्ष की वही जगत्-प्रसिद्ध दशा हुई, जैसी कुछ शिव-द्रोहियों की होती है (संसार में बड़ी अपकीर्त्ति हुई) ॥३॥ यह इतिहास सारा संसार जानता है, इसलिये मैंने संक्षेप ही में इसका वर्णन किया है ॥४॥

विशेष—(१) 'समाचार सब'''—भाग० ४।५।१ में श्रीनारदजी के द्वारा समाचार पाना कहा गया है।

'बीरभद्र करि कोप'''—श्रीमद्भागवत स्कं० ४ अ० ५ में लिखा है कि शिवजी ने क्रुद्ध होकर जटा उखाड़ी और उसे पृथ्वी पर पटक दिया जिससे वीरभद्र प्रकट हुए। उनका शरीर बड़ा विशाल था और हजार भुजाएँ थीं। सूर्य के समान प्रज्वलित तीन नेत्र थे, दाढ़ें कराल और सिर के केश अग्निज्वाला के समान थे। श्याम वर्ण, मुण्डमाला पहने और भाँति-भाँति के अस्त्रों-शस्त्रों से सजे हुए थे। (वे ही 'ज्वर' कहे जाते हैं।) उनके आज्ञा माँगने पर कुपित होकर शिवजी ने आज्ञा दी—"हे वीर! दक्ष के यज्ञ को नष्ट करो।" वे अपने को कृतार्थ मानकर आज्ञा पालन करने के लिये कुछ और गणों के साथ दौड़े हुए, यज्ञशाला की ओर चले। उधर यज्ञशाला की ओर अशुभसूचक महाघोर उत्पात आकाश और अन्तरिक्ष में होने लगे।

(२) जज्ञ बिधंस ···' वीरभद्र ने गणों के साथ यज्ञशाला को घेर लिया और उसे नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। किसीने होमकुण्ड में मूत्र कर दिया, अग्नि बुझा दी, इत्यादि।

'सकल सुरन्ह···' मणिमान् रुद्र ने भृगु ऋषि को बाँध लिया और वीरभद्र ने दक्ष को। चण्डीश ने पूषा को और नन्दीश्वर ने भग देव को जा दबोचा। वीरभद्र ने भृगु की दाढ़ी-मूँछें नोच लीं, क्योंकि जब दक्ष ने ब्रह्मसभा में शिवजी की निन्दा की थी, तब ये दाढ़ी हिला-हिलाकर इसका समर्थन करते हुए हँस रहे थे। इसी तरह भग देवता की आँखें और पूषा के दाँत निकाले गये तथा और भी जिन्होंने जिन अंगों से दक्ष का अनुमोदन किया था, उनके वे ही अंग नष्ट किये गये। वीरभद्र ने दक्ष को गिरा उसका सिर मरोड़कर उसीसे हवनकुण्ड की पूर्णाहुति की। (ऐसी ही विविध दशाएँ अन्य कार्यकर्त्ताओं की भी हुईं)। फिर यज्ञशाला को जलाकर रुद्रगण कैलास को लौट गये (भाग० ४।५।१७-२६)।

श्री पार्वतीजी का चरित

सती मरत हरि सन बर माँगा। जनम-जनम सिवपद-अनुरागा ॥५॥
तेहि कारन हिमगिरि-गृह जाई। जनमी पारवती - तनु पाई ॥६॥
जब ते उमा सैलगृह जाई। सकल सिद्धि संपति तहँ छाई ॥७॥
जहँ तहँ मुनिन्ह सुआश्रम कीन्हे। उचित बास हिमभूधर दीन्हे ॥८॥

अर्थ—मरते समय सतीजी ने हरि (श्रीरामजी) से वर माँगा कि जन्म-जन्म में शिवजी के ही चरणों में मेरा अनुराग हो ॥५॥ इसी कारण वे हिमाचलराज के घर पार्वती-शरीर पाकर उत्पन्न हुईं ॥६॥ जब से उमाजी का हिमाचल के यहाँ जन्म हुआ, तब से वहाँ सारी सिद्धियाँ और सम्पत्तियाँ छा गईं ॥७॥ मुनि लोग जहाँ-तहाँ सुन्दर आश्रम बनाकर रहने लगे, उन्हें (आश्रम बनाने के लिये) हिमाचल ने उचित स्थान दिये ॥८॥

विशेष (१) 'तेहि कारन···' पूर्व—'अस कहि जोग-अगिनि···' (दो० ६३); पर कहा गया कि योगाग्नि से शरीर त्याग होने पर पुनर्जन्म नहीं होता। उसीका समाधान यहाँ करते हैं कि इन्होंने ऐसा वर ही माँग लिया था, इसीसे जनमीं। वहाँ की बात यहाँ कही गई है, यथा—"रामानुज लघु रेख···" (लं० दो० ३५)।

श्रीसतीजी ने हरि से शिवजी के चरणों में अनुराग माँगा था, उसके योग्य हिमगिरि स्थल है, क्योंकि तपोभूमि है और कैलास का-सा स्वच्छ वर्ण एवं उसका सम्बन्धी है। स्कन्द पुराण, ब्राह्म० सती के देह-त्याग प्रसंग में लिखा है—"यज्ञवेदी में आकर प्राणायाम में तत्पर हो उन्होंने अग्निमयी धारणा के द्वारा अपना शरीर त्याग दिया। उनके शरीर में जो पैतृक अंश था, उसका परित्याग करके अपने भाग के साथ सती देवी ने मन ही मन शीतल हिमालय का चिन्तन किया। मृत्यु काल में अपने कर्म के अनुसार मन जहाँ-जहाँ जाता है, वहीं-वहीं उसका अवतार होता है। अतः, अग्नि में जली हुई सती देवी शीतल हिमालय का चिन्तन करने के कारण हिमालय की पुत्री हुईं।" (संक्षिप्त स्कन्द पुराणांक)।

उपर्युक्त प्रमाण के अनुसार तथा यहाँ के 'जाई' पद के अनुरोध से सती की इच्छा भी यहाँ के जन्म के विषय में कही जा सकती है। तथा—"निज इच्छा लीला बपु धारिनि।···अब जनमि तुम्हरे भवन निजपति लागि दारुन तप किया ॥" (दो० ९७-९८)। यहाँ सती-प्रकरण समाप्त हुआ।

(२) 'जब ते उमा सैल ···' घर में प्रभावशाली सन्तान के उत्पन्न होने से अभ्युदय होता ही है, यथा—"तब ते दिन दिन उदय जनक की जब ते जानकि जाई।" (गी० बा० ९६)। यहाँ से उमा-प्रकरण चला।

(३) 'जहँतहँ मुनिन्ह···'—ब्रह्म-विद्या की मूलरूपा एवं सिद्धियों की अधिष्ठात्री उमा के जन्म-संसर्ग से हिमालय को सिद्धपीठ जानकर मुनिलोग विशेष करके रहने लगे हैं। यहाँ 'सुआश्रम' मानकर रहने लगे।

दोहा—सदा सुमन-फल-सहित सब, द्रुम नव नाना जाति।
प्रगटीं सुंदर सैल पर, मनि आकर बहु भाँति ॥६५॥

अर्थ—उस सुन्दर पर्वत पर नाना भाँति के सभी नवीन वृक्ष सदा फूल-फलों से युक्त रहते हैं और बहुत भाँति की सुन्दर मणियों की खानें प्रकट हो गईं ॥६५॥

विशेष—पत्ते, फूल और फल वृक्षों की ये तीन सम्पत्तियाँ हैं। यहाँ तीनो सम्पत्तियाँ सदा रहती हैं। फूल, फल स्पष्ट हैं। 'नव' से नवीन पल्लव भी आ जाते हैं। पुनः 'नव' से अर्थान्तर के द्वारा 'नये' (झुके) हुए भी' अर्थ हो सकता है, यथा—"फल भारन नमि बिटप सब, रहे भूमि नियराइ।" (अर० दो० ४०); यह उमाजन्म के प्रभाव से है, यथा—"जबते आइ रहे रघुनायक। तबते भयो बन मंगलदायक ॥ फूलहिं फलहिं बिटप···" से—"सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू ॥" (अ० दो० १३६-१३८); तक। वहाँ सदा वसन्त ऋतु रहती थी। इससे वृक्ष सदा फूलते-फलते हैं। यह पहाड़ के ऊपरी भाग की उन्नति है। 'प्रगटीं सुंदर सैल ·', यथा—"प्रगटीं गिरिन्ह बिबिध मनि खानी।" (उ० दो० २२); इसमें पहाड़ के भीतरी भाग की उन्नति कही गई है।

सरिता सब पुनीत जल बहहीं। खग मृग मधुप सुखी सब रहहीं ॥१॥
सहज बैर सब जीवन त्यागा। गिरि पर सकल करहिं अनुरागा ॥२॥
सोह सैल गिरिजा गृह आये। जिमि जन रामभगति के पाये ॥३॥
नित नूतन मंगल गृह तासू। ब्रह्मादिक गावहिं जस जासू ॥४॥

शब्दार्थ—सरिता सब = (गंगा, यमुना आदि) सब नदियाँ। पुनीत = पवित्र। सहज बैर = स्वाभाविक बैर (जैसे, चूहे-बिल्ली एवं हाथी-सिंह का)।

अर्थ—वहाँ की सारी नदियाँ पवित्र जल प्रवाहित करने लगीं। पक्षी, मृग (जंगली जानवर) और भ्रमर—ये सब सुखी रहने लगे ॥१॥ सभी जीवों ने अपने स्वाभाविक बैर छोड़ दिये और उस पहाड़ पर सभी अनुराग रखते हैं ॥२॥ श्रीपार्वतीजी के घर में आने से पर्वतराज हिमाचल का स्थान (राज्य) शोभायमान हो रहा है, जैसे मनुष्य श्रीराम-भक्ति पाने से सोहता है ॥३॥ उसके घर में नित्य नये मंगल होते हैं और ब्रह्मादि उसका यश गाते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'सरिता सब पुनीत···'—पहले पहाड़ की शोभा कह नदी की कहते हैं, क्योंकि पहाड़ से नदी निकलती है। ऊपर वृक्ष एवं उनके फल-फूल कहे गये। अब उनके भोक्ताओं का वर्णन करते हैं। खग फल खाते एवं उससे सुखी रहते हैं। मृग विविध वृक्षों एवं उनके पत्तों से सुखी रहते हैं और पुष्प से भ्रमर सुखी रहते हैं।

(२) 'सहज···' 'बैर'—यथा—"करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा ॥" (अ० दो० १३७)। "अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।" (योगसूत्र)।

(३) 'सोह सैल गिरिजा···'—(१) 'सकल सिद्धि सुख···', (२) 'जहँ-तहँ मुनिन्ह सुआश्रम कीन्हें', (३) 'सदा सुमन फल···', (४) 'प्रगटीं सुंदर सैल पर मनि···', (५) 'सरिता सब पुनीत जल··', (६) 'खग मृग मधुप सुखी···', (७) 'सहज बैर सब जीवन्ह त्यागा।'—ये सब शोभा के भेद हैं।

'जिमि जन राम-भगति···'—श्रीराम-भक्ति परम दुर्लभ है, यथा—"नर सहस्र महँ···" से—"सो हरि-भगति काग किमि पाई।" (उ० दो० ५३); तक। अतः, उसकी प्राप्ति पर शोभा होती है। तब भक्तों के यहाँ भी वैसी ही शोभाएँ सम्पन्न होती हैं।

इस भक्ति के भेद—"भगति-निरूपन बिबिध बिधाना।···" (दो० ३६); में कहे गये हैं। इसके कुछ लक्षण, यथा—"कहहु भगति-पथ कवनि प्रयासा।" से—"परानंदसंदोह॥" (उ० दो० ४६); तक तथा अरण्यकाण्ड में कई जगह कहे गये हैं। इस भक्ति से श्रीरामजी हो भक्त के वश हो जाते हैं। इससे वह शोभा पाता है, यथा—"छाछी को ललात जे ते रामनाम के प्रसाद खात खुनसात सोंधे दूध की मलाई है।" (क० उ० ७४); तथा—"तुलसी सकल सुकृत सुख लागे मानो राम भगति के पाछे।" (गी० अ० ५०)। इसी प्रकार भक्ति-हीन अशोभित होता है, यथा—"भगतिहीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा॥" (अर० दो० ३४)।

(४) 'नित नूतन मंगल···' जैसे छठी, बारही, नामकरण, आदि। 'जासू'—हिमालय राज का, यथा—'एहिते जस पैहहिं पितुमाता'। (दो० ६६); आगे कहा है।

(५) यहाँ उमा के प्रभाव से काल, कर्म, गुण और स्वभाव की विषमता मिट गई है। 'सदा सुमन फल सहित···'—इसमें काल-विषमता निवृत्ति है। 'खग मृग मधुप सुखी···'—इसमें कर्म-विषमता निवृत्ति है। 'सहज बैर सब जीवन्ह त्यागा।'—इसमें स्वभाव-विषमता निवृत्ति है और 'गिरि पर सकल करहिं अनुरागा।'—इसमें सत्त्वगुण, 'खग मृग मधुप सुखी···'—इसमें रजोगुण और 'सहज बैर सब···'—इसमें तमोगुण की विषमता निवृत्ति है।

नारद समाचार सब पाये। कौतुक ही गिरिगेह सिधाये॥५॥
सैलराज बड़ आदर कीन्हा। पद पखारि बर आसन दीन्हा॥६॥
नारि-सहित मुनिपद सिर नावा। चरनसलिल सब भवन सिंचावा॥७।
निज सौभाग्य बहुत गिरि बरना। सुता बोलि मेली मुनिचरना॥८॥

अर्थ—जब नारदजी ने (उमा-अवतार के) सब समाचार पाये, तब वे मनोविनोद के लिये हिमाचल के घर गये॥५॥ पर्वतराज हिमालय ने उनका बड़ा आदर किया, चरण धोकर उन्हें बैठने को उत्तम आसन दिया॥६॥ फिर स्त्री के साथ मुनि के चरणों में प्रणाम किया और उनके चरणोदक से सारा घर सिंचाया (छिड़कवाया कि पवित्र हो)॥७॥ (मुनि के शुभागमन पर) गिरिराज ने अपना बहुत सौभाग्य कहा और कन्या (पार्वती) को बुलाकर मुनि के चरणों पर डाला (प्रणाम कराया)॥८॥

विशेष—(१) 'नारद समाचार···' ऊपर कहा है कि ब्रह्मादिक उमाजी का यश गाते थे। उन्हीं से नारदजी को भी समाचार मिला। दैवयोग से नारदजी अभीतक अन्य लोकों में विचरते थे। कन्या सयानी होने पर आये, तब वहाँ गये। श्रीरामजी के मनोनुकूल नारदजी की प्रवृत्ति है कि अब गिरिजा तप करने योग्य हो गई। अतः, अब आये। 'कौतुकही' क्योंकि नारदजी कौतुक-प्रिय हैं, यथा—"मुनि कौतुकी नगर तेहि गयेऊ।" (दो० १२९)। 'गिरिगेह'—क्योंकि नारदजी सर्वत्र जा सकते हैं और इनसे कहीं कोई परदा नहीं करता, यथा—"त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ तुम्ह, गति सर्वत्र तुम्हारि।' (दो० ६६); तथा—"नारद को परदा न नारदसों पारिखो।" (क० बा० १६)। कौतुकी को आलस्य नहीं। अतः, 'सिधाये' कहा है।

(२) सैलराज बड़ आदर···' बड़े आदर का ही वर्णन आगे है—परात में चरण धोना, चरणोदक लेना, चरणामृत से घर पवित्र करना, सुन्दर आसन देना और आगमन के सम्बन्ध से अपना

भाग्य सराहना—इत्यादि बड़ा आदर है, यथा—"गुरु आगमन सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायउ माथा॥ सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने॥ गहे चरन सिय सहित बहोरी।" (अ० दो० ८)। 'निज सौभाग्य ···', यथा—"पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता।" (उ० दो० ४४); "जौ रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तौ तुम्ह मोहिं दरस हठि दीन्हा॥" (सुं० दो० ६)। "बड़े भाग पाइय सतसंगा।" (उ० दो० ३२)। 'मेली'—डाल दिया, यथा—"पद-सरोज मेले दोउ भाई।" (दो० २६८); 'मेले' पद से उमा की मुग्धता कही गई है, इसीसे पिता ने प्रणाम कराया है, यथा—"पुनि चरननि मेले सुत चारी।" (दो० २०६); चरण धोये, चरण में प्रणाम किया। चरण प्राप्ति में भाग्य सराहा, चरण में सुता को प्रणाम कराया और चरण सलिल से सब भवन पवित्र किये। इससे सिद्ध है कि इनकी विप्र-चरण में बड़ी प्रीति है, यथा—"प्रथमहिं बिप्र-चरन अति प्रीति।" "संत चरन पंकज अति प्रेमा।" (अर० दो० १५)।

दोहा—त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ तुम्ह, गति सर्वत्र तुम्हारि।
कहहु सुता के दोष-गुन, मुनिबर हृदय बिचारि॥६६॥

अर्थ—हिमालय ने नारदजी से कहा कि आप तीनो कालों के जाननेवाले एवं सब विद्याओं के भी ज्ञाता हैं, और सब जगह आपकी पहुँच है। अतः, हे मुनिवर! अपने हृदय में विचार कर इस कन्या के दोष-गुण बतलाइये।

विशेष—'त्रिकालज्ञ'—आप तीनो कालों अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान के जाननेवाले हैं। अतः, तीनो कहिये! श्रीनारदजी ने तीनो कहा भी है—"सुता तुम्हारि सकल गुनखानी।···सब लच्छन संपन्न कुमारी।"—यह वर्तमान; "होइहि संतत पियहिं पियारी"।···से—"परी हस्त असि रेख॥" (दो० ६७); तक भविष्य कहा और भूतकाल के कथन में अभी ऐश्वर्य प्रकट हो जायगा, तब दम्पती को वात्सल्य का सुख न होगा। इसलिये इसे आगे—"पूरब कथा-प्रसंग सुनावा।···" से—"गिरिजा सर्वदा संकरप्रिया॥" (दो० ९८); तक के प्रसंग से कहेंगे।

'सर्वज्ञ'—आप सामुद्रिक शास्त्र भी जानते हैं। अतः, हाथ देखकर इसके गुण-दोष कहिये। 'गति सर्वत्र तुम्हारि'—अतः, इसके योग्य वर भी आप बतलावें, यह अभिप्राय है। 'दोष-गुन'—यहाँ के 'दोष' गुण ही होंगे, आगे दोहा १३० का विशेष देखिये। श्रीनारदजी आगे 'दोष-गुन' के साथ-साथ वर भी बतलाते हैं—

कह मुनि बिहँसि गूढ़ मृदु बानी। सुता तुम्हारि सकल गुनखानी॥१॥
सुंदर सहज सुसील सयानी। नाम उमा अंबिका भवानी॥२॥
सब लच्छनसंपन्न कुमारी। होइहि संतत पियहिं पियारी॥३॥
सदा अचल येहि कर अहिबाता। येहि ते जस पइहहिं पितु माता॥४॥

अर्थ—श्रीनारद मुनि ने हँसकर गूढ़ और कोमल वचन कहा कि तुम्हारी कन्या सम्पूर्ण गुणों की खान है॥१॥ यह स्वभाव से ही सुन्दरी, सुशील और चतुर है। इसके नाम उमा, अम्बिका और भवानी हैं॥२॥ यह कुमारी सब सुलक्षणों से पूर्ण है, यह निरन्तर पति की प्यारी होगी॥३॥ इसका अहिवात (सुहाग) सदा अचल रहेगा। इसके माता-पिता इसके द्वारा यश पावेंगे॥४॥

विशेष—(१) 'कह मुनि बिहँसि गूढ़···'—'बिहँसि'—कौतुकप्रियता के कारण मुनि हँसे, क्योंकि इस वर्णन से आगे बड़े-बड़े कौतुक होंगे। पुनः हिमालय गिरिजा का ऐश्वर्य नहीं जानते और नारदजी जानते हैं। अतः, प्रसन्न हुए।

'गूढ़ मृदु बानी'—दम्पती के समझने में स्पष्ट अर्थवाले प्रिय कोमल वचन हैं, पर इनके गूढ़ाशय में उमाजी की स्तुति और ऐश्वर्य भरा है। प्रकट अर्थ अक्षरार्थ में ही है। गूढ़, यथा—'सकल गुनखानी' सत्, रजस् और तमस् ये तीन गुण हैं, इनसे ये उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाली हैं, यथा—"जग-संभव-पालन-लय कारिनि।" (दो० ९७)। 'उमा अंबिका भवानी।'—उमा अर्थात् 'ओम्' (अ, उ, म्) के ही अक्षर उमा नाम में हैं।' अतः, ये प्रणव-स्वरूपा हैं। यह वर्तमान का नाम है, इससे स्वयं शोभा-युक्ता हैं, क्योंकि ब्रह्म-विद्या की मूलरूपा हैं। केनोपनिषद में ब्रह्म-विद्या का प्रकट होना और उसका उमा नाम भी कहा गया है। 'अंबिका'—यह मूल प्रकृति की भी संज्ञा है, इससे भूतकाल का नाम जनाया तथा स्वामिकार्त्तिक और गणेश की अम्बा (माता) हैं, इससे पुत्र सम्बन्ध की भी शोभासम्पन्ना हैं। 'भवानी' भव (शिवजी) की पत्नी रूप में होकर भवानी होंगी, यह भविष्य का नाम कहा। यह पति सम्बन्ध की महिमा है। ये तीनो नाम नित्य भी हैं; यथा—उमा कात्यायनी गौरी·····शिवा भवानी···चण्डिकाम्बिका।" (अमरकोष १।१।३७)।

'संतत पियहिं···सदा अचल···' से शिवजी का नित्य सम्बन्ध जनाया जिससे—"अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि॥" (दो० ९७); का महत्त्व भी सूचित हुआ। 'जस पइहहिं···'—इससे श्रीरामचरित मानस प्रकट होगा, जिससे इसके साथ पिता-माता की भी कीर्त्ति चलेगी, अन्यत्र पिता से सन्तान को ख्याति होती है, पर यहाँ संतान से ही पिता-माता की बड़ाई है, यथा—"ध्रुव हरि-भगत भयेउ सुत जासू।" (दो० १४१)।

होइहि पूज्य सकल जग माहीं। येहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं॥५॥
येहि कर नाम सुमिरि संसारा। त्रिय चढ़िहहिं पतिव्रत-असिधारा॥६॥
सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी। सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी॥७॥

अर्थ—(यह कन्या) समस्त जगत् में पूज्य होगी, इसकी सेवा करने से कुछ भी दुर्लभ न रहेगा। ॥५॥ सारे संसार में स्त्रियाँ इसका नाम स्मरण कर पातिव्रत्य रूपी तलवार की धार पर चढ़ेंगी॥६॥ हे गिरिराज! तुम्हारी यह कन्या सुलक्षणा है। जो दो-चार अवगुण हैं, अब उन्हें भी सुनो॥७॥

विशेष—(१) होइहि पूज्य···' यथा—"पतिदेवता सुतीय महँ, मातु प्रथम तव रेख॥" "देवि पूजि पद कमल तुम्हारे। सुरनर मुनि सब होहिं सुखारे॥" सेवत तोहिं सुलभ फल चारी। बरदायिनी पुरारि-पियारी॥" (दो० २३५); भाव यह कि दुर्लभ चारो फल भी सुलभ हो जायँगे।

(२) 'येहि कर नाम सुमिरि···' इसके नाम-स्मरण में ऐसी शक्ति होगी कि वह स्त्रियों को पतिव्रता बनावेगा। पातिव्रत्य धर्म पर आरूढ़ होना तलवार की धार पर चढ़ना है। तलवार की धार पर पैर रखना ही कठिन है, उसपर खड़ा रहना तो असम्भव-सा है, वैसे पातिव्रत्य धर्म पर आरूढ़ रहना अति कठिन है। वह भी इसके नाम के बल पर सुगम हो जावेगा। स्त्रियाँ पातिव्रत्य धर्म की दृढ़ता के लिये गौरी-पूजन करती भी हैं। ऊपर सेवा का फल कहा गया था, यहाँ नाम-स्मरण का कहा है।

(३) सैल सुलच्छन सुता ··'—'सुता तुम्हारी' अर्थात् जबतक तुम्हारी सुता-रूप में तुम्हारे यहाँ है, तबतक तो इसमें सब सुलक्षण ही हैं। 'सुंदर सहज सुसील सयानी' ये लक्षण हैं और पति प्रिय होना, अचल अहिबात होना, एवं पतिव्रता होना, ये सुलक्षण हैं। नारदजी उमां के सुलक्षणों का बार-बार वर्णन करते हैं—१. 'सुता तुम्हारि सकल गुनखानी' २. 'सब लच्छन संपन्न कुमारी' ३. 'सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी।' हिमवान् ने प्रथम दोष पूछा है, फिर गुण कहा है। मुनि ने पहले गुण ही कहा है, यदि पहले दोष कहते तो विकल होने पर गुण सुनने का भी सुख न होता। हाँ, विवाह के पीछे पति-सम्बन्ध से अवगुण होंगे,

(यहाँ पति-पत्नी एक मानकर पति के अवगुण इसमें कहते हैं, वही आगे स्पष्ट कहेंगे) यथा—'जे जे बर के दोष बखाने ।' (दो० ६८) ।

'दुइ चारी'—यह अल्पतासूचक मुहावरा है । प्रथम 'दुइ' कहकर 'चारी' कहा कि घबरा न जायँ ।

(४) प्रथम—'सुता तुम्हारि सकल गुनखानी ।' कहकर 'सुलच्छन सुता तुम्हारी ।' पर उपसंहार किया । इसमें उमा के ११ ही गुण कहे गये हैं—'सुंदर, सुशील, सयानी, उमा, अम्बिका, भवानी, संतत-पियहिं-पियारी, अचल अहिबात, येहितें जसु पैहहिं पितु-माता, होइहि पूज्य, येहि कर नाम सुमिरि···।' क्योंकि रुद्र ११ हैं और ये रुद्राणी हैं ।

अगुन अमान मातु-पितु-हीना । उदासीन सब संसय छीना ॥८॥

दोहा—जोगी जटिल अकाम मन, नगन अमंगल बेख ।
अस स्वामी येहि कहँ मिलिहि, परी हस्त असि रेख ॥६७॥

अर्थ—गुणहीन, मानहीन, माता-पिता-हीन, उदासीन, सब चिन्ता-रहित, योगी, जटाधारी, कामरहित मनवाला, नंगा और अमंगल (चिता-भस्मधारी) वेषवाला—ऐसा स्वामी (पति) इसको मिलेगा । क्योंकि इसके हाथ में ऐसी ही रेखा पड़ी है ॥८-६७॥

विशेष—उपर्युक्त दोष-परक प्रकट अर्थ हैं और इनके गूढ़ार्थ में नारद का हार्दिक अभिप्राय है—

	प्रकट अर्थ	गूढ़ार्थ
अगुन—	एक भी गुण नहीं है	गुणातीत हैं, सत्त्वादि गुणों से परे हैं ।
अमान—	स्वात्माभिमानरहित एवं अप्रतिष्ठित	अभिमान-जित् = निरभिमान
मातु-पितु-हीना—	शिवजी के माँ-बाप का पता नहीं	स्वयंभू = अजन्मा हैं ।
उदासीन—	रुक्ष स्वभाव एवं घर-बार-हीन	जीवमात्र पर शत्रु-मित्र भावरहित, निर्लेप ।
सब संसय छीना—	घर-द्वार तथा खाने-पीने की चिन्ता नहीं	औरों के भी संशय छुड़ानेवाले हैं, स्वयं तो जगद्गुरु हैं ही ।
जोगी—	जोगड़ा = भीख माँगनेवाला	परमात्मा में नित्य योगनिष्ठ एवं सिद्ध हैं ।
जटिल—	बड़ी भारी जटावाला (भयानक)	चिरकालीन तपस्वी हैं ।
अकाम-मन—	नपुंसक (कन्या पति-सुख से वंचित रहेगी)	कामजित् एवं पूर्णकाम हैं
नगन—	निर्लज्ज एवं एकाकी रहनेवाला	माया के आवरणरूपी वस्त्र-रहित हैं एवं दिगम्बर हैं ।
अमंगल वेष—	'ब्याल-कपाल-बिभूषन छारा' = अशुभ	अ + मंगल = अतिशय मंगल । 'अ' अतिशयार्थबोधक भी है, यथा—'बुंद अघात सहैं··· ।'

पं० रामकुमारजी ने सुता के बेमेल स्वामी का मिलान किया है—

सुता	स्वामी	सुता	स्वामी
१—सकल गुनखानी	अगुन	४—सुसील	उदासीन
२—जगत्पूज्या	अमान	५—सयानी	संसयछीन
३—माता-पिता को यशदात्री	माता-पिता से हीन	६—सहज सुंदरि	जोगी···अमंगल वेष

प्रश्न १—संशयक्षीण होना गुण है, दोष क्यों कहा गया ?

उत्तर—यह विरक्तों में गुण है, गृहस्थ को बेफिकरा होना दोष है ।

प्रश्न २—कन्या के उपलक्ष में तो अयोग्य-वर-प्राप्ति रूप एक ही अवगुण हुआ, 'दुइ चारी' अवगुण की प्रतिज्ञा कैसे युक्त है ?

उत्तर—वर के सम्बन्ध से कन्या में भी दोष आयेंगे—(१) वर मातु-पितु-हीन होने पर कन्या सासु-ससुर-हीन होगी, (२) वर के अमंगल वेष से कन्या की भी सुन्दरता अयुक्त, (३) योगी वर के साथ कन्या योगिनी और (४) नग्न वर के साथ कन्या दरिद्रा होगी, इत्यादि।

शंका—प्रसिद्ध अर्थ में 'अगुन-अमान' कैसे माना जाय ? उनमें जगत्प्रसिद्ध गुण एवं मान है।

समाधान—'अगुन', यथा—"एकहु हरहि न बर गुन" (पार्वती मंगल०) ; 'अमान' भिक्षुक वेष से घूमा करते हैं तो लोक-दृष्टि में मान कहाँ रहा ? यहाँ इतने में तात्पर्य है।

सुनि मुनिगिरा सत्य जिय जानी। दुख दंपतिहि उमा हरषानी ॥१॥
नारदहूँ यह भेद न जाना। दसा एक समुझब बिलगाना ॥२॥
सकल सखी गिरिजा गिरि मैना। पुलक सरीर भरे जल नैना ॥३॥
होहि न मृषा देवरिषि भाषा। उमा सो बचन हृदय धरि राखा ॥४॥

अर्थ—श्रीनारद मुनि की वाणी सुनकर और उसको जी में सत्य जानकर दम्पती (हिमाचल और मैना) को दुःख हुआ और श्रीपार्वतीजी हर्षित हुईं ॥१॥ श्रीनारद मुनि ने भी यह भेद नहीं जाना, क्योंकि दशा तो सबकी एक-सी थी, पर समझ भिन्न-भिन्न प्रकार की थी ॥२॥ सब सखियाँ, पार्वतीजी, हिमाचल और मैनाजी—इन सभी के शरीर पुलकपूर्ण हैं और सबके नेत्रों में आँसू भरे है ॥३॥ देवर्षि नारदजी के वचन मिथ्या नहीं हो सकते, (अतः) उमा ने उन वचनों को हृदय में धारण कर रक्खा ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि मुनि गिरा सत्य···'—यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—'कह मुनि बिहँसि गूढ़ मृदु बानी।' पर है। इसी अर्द्धाली का स्पष्टीकरण आगे की छः अर्द्धालियों में है।

(२) 'नारदहूँ यह भेद न ···'—श्रीनारदजी के वचन अमिट हैं। इससे अवगुणों को सुनकर दम्पती और सखीगण दुःखित हुईं और श्रीपार्वतजी ईश्वरी हैं, इन्हें वचनों का गूढ़ाशय समझ पड़ा। अतः, शिवजी की प्राप्ति के सम्बन्ध से हर्ष हुआ, परन्तु पुलक और नेत्रों में आँसू आदि की दशा अपाततः एक-सी दीखती है। श्रीनारदजी ने इसपर विशेष ध्यान नहीं दिया, लोकरीति के अनुसार यही समझा कि माँ, बाप एवं परिजनों का दुःख देखकर पार्वतजी भी दुःखित हो गई हैं, जैसे श्रीसीतारामजी को दुःखित समझकर निषादराज को दुःख हुआ है, यथा—"सोवत प्रभुहिं निहारि निषादू। भयेउ प्रेमबस हृदय बिषादू ॥ तन पुलकित जल लोचन बहई।" (अ० दो० ८९)। श्रीनारदजी की सर्वज्ञता ईश्वर के ध्यान पर निर्भर है, क्योंकि जीव हैं। जीव ईश्वर के ध्यान-द्वारा ही सर्वत्र की बातें जान सकता है, यथा—"तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना ॥" (दो० ५५); कहा भी है—"सर्वः सर्वं न जानाति सर्वज्ञो नास्ति कश्चन। नैकत्र परिनिष्ठाऽस्ति ज्ञानस्य पुरुषे क्वचित् ॥" (महा० वन० ७२।८); अर्थात् सब कोई सब विद्याओं को नहीं जानते, कोई भी सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि एक पुरुष में सब ज्ञान नहीं रहते। (अर्थात् अणु-स्वरूप जीव का ज्ञान परिमित ही होता है।)

विशेष दृष्टि देने पर हर्ष और दुःख की पुलकावली एवं आँसुओं का भेद भी बिलगाया जाता है, जैसे—"तासु दसा देखी सखिन्ह, पुलक गात जल नैन। कहु कारन निज हरष कर, पूछहिं सब मृदु बैन ॥" (दो० २२८); यहाँ सखियों ने हर्ष के पुलक एवं आँसू जान लिये। हर्ष में आँसू शीतल और पुलक उमंग से खिले हुए शरीर को प्रकट करता है। दुःख में आँसू गर्म और पुलक में शरीर के चर्म सिकुड़े रहते हैं, इत्यादि। अगली ४, ५, ६ अर्द्धालियों में पार्वतीजी के हर्ष का कारण कहते हैं—

उपजेउ सिव-पद-कमल-सनेहू। मिलन कठिन मन भा संदेहू ॥५॥

जानि कुअवसर प्रीति दुराई। सखी - उछँग बैठि पुनि जाई ॥६॥
झूठि न होइ देवरिषि-बानी। सोचहिं दंपति सखी सयानी ॥७॥
उर धरि धीर कहइ गिरिराऊ। कहहु नाथ का करिय उपाऊ ॥८॥

अर्थ—उन्हें शिवजी के चरण-कमलों में स्नेह उपज पड़ा, पर मिलना कठिन है, यह जानकर हृदय में सन्देह हुआ ॥५॥ फिर उमाजी अनवसर जानकर प्रीति को छिपा सखी की गोद में जा बैठीं ॥६॥ देवर्षि की वाणी झूठी नहीं होती, अतएव स्त्री-पुरुष (हिमाचल और मैना) और सयानी सखियाँ सोचती हैं ॥७॥ हृदय में धीरज धरकर हिमवान ने कहा कि हे नाथ ! कहिये, क्या उपाय किया जाय ? ॥८॥

विशेष—(१) 'उपजेउ सिव-पद···'—उमाजी ने नारदजी के गूढ़ाशय को जाना, शिवजी ही मुझे मिलेंगे, इसपर प्रेम उमड़ पड़ा, रोमांच एवं पुलकावली हुई।

(२) 'जानि कुअवसर···'—ऋषि त्रिकालज्ञ एवं सर्वज्ञ हैं। मेरे हार्दिक प्रेम को न जान जायँ और माँ, बाप एवं सखियों के समक्ष भी पति-विषयक प्रेम एवं दुःख भी छिपाना ही चाहिये। फिर कर्त्तव्य कर्म करूँगी ही। 'पुनि जाई'—प्रथम गोद से ही आई थीं, वहीं फिर जा बैठीं।

(३) 'झूठ न होइ···' सामान्य देवता भी झूठ नहीं बोलते और ये तो देवर्षि हैं, यथा—"ऋषयः सत्यवचसः" (अमरकोष २।७।४३); ये तो देव और ऋषि दोनों हैं। अतः, कभी झूठ नहीं बोल सकते। दम्पती और सयानी सखियाँ सोचती हैं कि ऐसी सुलक्षणा कन्या को ऐसा बुरा वर मिलेगा ! क्या करें ? 'सयानी'—ये प्रौढ़ा सखियाँ, जिन्हें इन बातों का ज्ञान है।

(४) 'उर धरि धीर···'—राजा प्रथम अधीर हो गये थे, अब उन्होंने धीर धारण किया। सामान्य स्त्रि भी गम्भीर एवं धीर होते हैं। ये तो गिरिराज हैं, फिर क्यों न धैर्य धारण करें।

दोहा—कह मुनीस हिमवंत सुनु, जो बिधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनहार ॥६८॥

अर्थ—मुनीश्वर (नारदजी) ने कहा कि हे हिमवान् ! सुनो, ब्रह्माजी ने जो ललाट पर लिख दिया है, उसे मिटानेवाला देवता, दानव, मनुष्य, नाग और मुनि—कोई भी नहीं है।

विशेष—यहाँ देवता से देवलोक, दैत्य, और नाग से पाताल, और नर तथा मुनि से मर्त्य लोकबासी कहे गये हैं। 'नाग'—शेष, वासुकि आदि, यथा—"तेषां प्रधानभूतास्तु शेषवासुकितक्षकाः ॥ शंखश्वेतो महापद्मः कम्बलाश्वतरौ तथा। एलापुत्रस्तथा नागः कर्कोटकधनञ्जयौ ॥" (वि० पु० १।२१।२०-२१); अर्थात् उनमें से शेष, वासुकि, तक्षक, शंखश्वेत, महापद्म, कम्बल, अश्वतर, एलापुत्र, नाग, कर्कोटक, धनञ्जय—ये सब नाग हैं।

ऊपर—'परी हस्त असिरेख।' कहा था, उसी को यहाँ—'बिधि लिखा लिलार' कहा गया है। इसी को 'भावी' भी कहते हैं अर्थात् जीव के कर्मानुसार हस्तरेखा और ललाट के अंक ब्रह्मा बनाते हैं, यथा—'बिधि के लिखे अंक निज भाला।" (लं० दो० २८); यह भावी विधान भोगना ही पड़ता है, यथा—"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥" (नारदपुराण पूर्व० ३१।६९-७०); तथा (ब्रह्मवैवर्त्त पु०, प्रकृति० ३७।१७); अर्थात् कोई भी कर्म सौ करोड़ कल्पों में भी बिना भोगे नष्ट नहीं होता, अपने किये हुए शुभ और अशुभ कर्मों के फल अवश्य भोगने पड़ते हैं, इत्यादि।

तदपि एक मैं कहउँ उपाई। होइ करइ जो दैव सहाई ॥१॥
जस बर मैं बरनेउँ तुम्ह पाहीं। मिलिहि उमहि तस संसय नाहीं ॥२॥

जे जे बर के दोष बखाने। ते सब सिव पहिं मैं अनुमाने ॥३॥
जौ बिबाह संकर सन होई। दोषउ गुन सम कह सब कोई ॥४॥

अर्थ--तो भी मैं एक उपाय कहता हूँ। जो दैव सहाय करे तो कार्य सिद्ध होगा ॥१॥ जैसे वर का मैंने तुमसे वर्णन किया है, उमा को वैसा ही मिलेगा, इसमें सन्देह नहीं ॥२॥ वर के जो-जो दोष मैंने कहे हैं, वे सब मेरे अनुमान से शिवजी में हैं ॥३॥ यदि शिवजी के साथ विवाह हो तो दोषों को भी गुणों के समान ही सब लोग कहेंगे ॥४॥

विशेष—(१) 'तदपि एक···' हिमवान् ने उपाय पूछा है तदनुसार कहते हैं कि दैव (ईश्वर) की सहायता से भावी भी मिट सकती है। अतः, कर्त्तव्य के साथ दैव का भरोसा भी चाहिये। जहाँ भावी के साथ हरिइच्छा भी रहती है, वह 'प्रबल' एवं 'बलवान' भावी अमिट होती है, यथा—"सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कह्यो मुनिनाथ।" (अ० दो० १७१); इसमें वन यात्रा की हरि इच्छा थी, इससे वसिष्ठजी नहीं रोक सके, यद्यपि वे सामान्य भावी मिटाने वाले थे, यथा—"सो गोसाइँ बिधि गति जेहि छेकी।" (अ० दो० २५४); तथा—'भाविउ मेंटि सकहि त्रिपुरारी।" (दो० ६९); ऐसे शिवजी सती की भावी विपत्ति नहीं रोक सके, क्योंकि वहाँ भी--'हरि इच्छा भावी बलवाना' है ही। उस लीला से हरि ने कुछ लीला-विधि सम्पन्न करनी चाही थी, इससे वह होकर ही रही। उसी प्रसंग में जब शिवजी ने दैव-बल का आश्रय लिया—'सुमिरत राम हृदय अस आवा।' तथा सती ने भी जब दैव का आश्रय लिया—"मन महँ रामहिं सुमिरि सयानी।" तब इन दोनों के कल्याण-मार्ग बन गये।

तात्पर्य यह कि सामान्य रीति से भावी अमिट ही होती है। जब गीता ७।२१-२२ की रीति से साधक दैव बल का आश्रयण कर उपायनिष्ठ होता है तब यह भावी के कष्टों से भी किसी प्रकार से रक्षा पाता है।

स्वामिकार्त्तिक ने भी कहा है, यथा—"दैवाधीनं जगत्सर्वं जन्म कर्म शुभाशुभम्। संयोगश्च वियोगश्च न च दैवात्परंबलम्॥ कृष्णायत्तञ्च तद्दैवं स च दैवात् परस्ततः। भजन्ति सततं सन्तः परमात्मानमीश्वरम्॥ दैवं वर्द्धयितं शक्तः त्वयं कर्त्तुं स्वलीलया। न दैवबद्धस्तद्भक्तश्चाविनाशी च निर्गुणः॥" (ब्रह्मवैवर्त्त पु० गणपति० १६।३-५); अर्थात् सारा जगत् दैवाधीन है, इसके जन्म, कर्म, संयोग, वियोग आदि दैवाधीन हैं। वह दैव भगवान् कृष्ण के वश में है। वे भगवान् दैव के घटाने-बढ़ाने में समर्थ हैं। इससे सन्त उन्हीं परमात्मा का भजन करते हैं। भगवान् और उनके भक्त दैवाधीन नहीं हैं (इस प्रसंग में दैव का अर्थ प्रारब्ध एवं उसके प्रवर्त्तक ब्रह्मा हैं)। परन्तु यहाँ 'करै जो दैव सहाई' में दैव पद का अन्तर्यामी परमात्मा अर्थ है--गीता १८।६१, १५।१५ आदि देखिये।

(२) 'दोषउ गुन सम···' अन्य लोगों में ये दोष हैं, पर शिवजी में गुणों ही के सदृश हैं, इसीके लिये आगे प्रमाण देते हैं। 'सब कोई' अर्थात् यह प्रसिद्ध बात है--कुछ अकेला मैं ही नहीं कहता। तथा—"भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी।" (दो० १०)।

जौ अहिसेज सयन हरि करहीं। बुध कछु तिन्ह कर दोष न धरहीं ॥५॥
भानु कृसानु सर्व रस खाहीं। तिन्ह कहँ मंद कहत कोउ नाहीं ॥६॥
सुभ अरु असुभ सलिल सब बहई। सुरसरि कोउ अपुनीत न कहई ॥७॥
समरथ कहँ नहिं दोष गोसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं ॥८॥

अर्थ—जो हरि (क्षीरसायी भगवान्) शेष-शय्या पर शयन करते हैं, तो भी पंडित लोग उनमें कुछ दोष नहीं लगाते ॥५॥ सूर्य और अग्नि सर्व-प्रकार के रस खाते (खींचते) हैं, किन्तु कोई उनको बुरा

नहीं कहता ॥६॥ गंगाजी के जल में शुभ और अशुभ सब प्रकार के जल बहते हैं, पर उन्हें कोई अपवित्र नहीं कहता ॥७॥ अतः जैसे गोस्वामी (हरि), सूर्य, अग्नि और गंगाजी को दोष नहीं लगता, उन्हीं की भाँति किसी भी समर्थ को दोष नहीं लगता ॥८॥

विशेष—'समरथ कहँ···' यहाँ प्रथम हरि का उदाहरण दिया, फिर उनके अंगों का, क्योंकि सूर्य हरि भगवान् के नेत्र, अग्नि मुख और गंगाजी चरणोदक हैं। भगवान् स्वयं समर्थ हैं और सूर्य आदि तीनों उनके अंग होने से समर्थ हैं, वैसे ही शिवजी भी भगवान् के अहंकारस्वरूप हैं, यथा—"अहंकार सिव बुद्धि अज,···" (लं० दो० १५); अतः, समर्थ हैं। समर्थ के संयोग से दूषण भी भूषण हो जाते हैं। भाग० १०। ३३। ३० के 'तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा' में केवल अग्नि ही का दृष्टान्त है।

'गोसाईं' शब्द का अर्थ 'इन्द्रियों के स्वामी' (हृषीकेश) 'हरि' ही यहाँ उपयुक्त है, क्योंकि ऊपर चार समर्थ क्रमशः कहे गये, उन्हीं को यहाँ उसी क्रम से एकत्र किया है। अन्यथा हिमाचल के लिये सम्बोधन मानना नारदजी की ओर से उतना संगत नहीं है। यहाँ 'समरथ' उपमेय, 'गोसाईं, रवि, पावक, सुरसरि' उपमान, 'नाईं' वाचक और 'नहिं दोष' धर्म है। अतः, पूर्णोपमा है।

दोहा—जौ असि हिसिषा करहिं नर, जड़ बिबेक अभिमान।
परहिं कलप भरि नरक महँ, जीव कि ईस समान ॥६६॥

शब्दार्थ—हिसिषा = ईर्षा = स्पर्धा = तुल्य भावना। जीव = मनुष्य, क्योंकि इसी अर्थ में पूर्वार्द्ध में 'नर' शब्द है। ईश = शिवजी, यथा—"भयेउ ईस मन छोभ बिसेखी।" (दो० ८६); यहाँ 'जीव' चराचर जीव के अर्थ में नहीं है, क्योंकि 'विवेक-अभिमान' मनुष्य को ही हो सकता है और 'ईस' भी परमेश्वर के अर्थ में नहीं है, प्रसंगानुसार शिवजी के लिये है।

अर्थ—जो मूर्ख मनुष्य अपने विवेक के अभिमान से ऐसी स्पर्धा करते हैं (वा करें) कि मनुष्य शिवजी के तुल्य हैं, अर्थात् मैं भी तो विवेकी हूँ। अतः, शिवजी के तुल्य हूँ), वे कल्प-भर नरक में पड़ते हैं (वा पड़ें)। मनुष्य क्या शिवजी के तुल्य हो सकता है?

विशेष—'जीव कि ईस समान'—कहा भी है, यथा—"नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः। विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥" (भाग० १०।३३।३१); अर्थात् जो लोग समर्थ नहीं हैं उनको वैसे (ईश्वर के से) आचरण कभी मन से भी नहीं करना चाहिये। जैसे समुद्र से उत्पन्न विष को भगवान् शिवजी ने पी लिया। यदि कोई मूर्खतावश वैसा करेगा तो नष्ट होगा। शिवजी और मनुष्य के अन्तर को आगे दृष्टान्त से दिखाते हैं—

सुरसरि-जलकृत बारुनि जाना। कबहुँ न संत करहिं तेहि पाना ॥१॥
सुरसरि मिले सो पावन जैसे। ईस अनीसहि अंतर तैसे ॥२॥

अर्थ—गंगाजी के किये हुए (छाड़न) जल को मदिरा जानकर कभी सन्त लोग उसे नहीं पीते हैं ॥१॥ और जो जल गंगाजी में मिला हुआ है वह जैसे पावन है, वैसे समर्थ (शिवजी) और असमर्थ (मनुष्य) में अन्तर है ॥२॥

विशेष—यहाँ के प्रसंग के अनुरोध से 'सुरसरि-जलकृत' है का अर्थ अवरेव से होगा। जैसे—"राम-कथा कलिबिटप - कुठारी।" में 'कुठारी' को राम-कथा के साथ लगाया जाता है, वैसे ही 'कृत' को 'सुरसरि' के साथ लगाना चाहिये। 'सो पावन' की जगह 'सुपावन' भी पाठान्तर है।

गंगाजी का छाड़न-जल 'गंगाकृत' है, क्योंकि वह न तो 'मेघकृत' है और न 'मनुष्यकृत'। इस जल को 'गंगोझ' (गंगोद) कहते हैं, यथा—"तुलसी रामहिं परिहरे, निपट हानि सुनु ओझ।

सुरसरि - गत सोई सलिल, सुरा - सरिस गंगोझ ॥" (दोहावली ६८)। तदनुसार ही अन्यत्र भी कहा है—"गङ्गायाः निस्सृतं तोयं पुनर्गङ्गां न गच्छति। तत्तोयं मदिरातुल्यं पीत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥" (यह प्रसिद्ध है) अर्थात् जो स्रोत गंगाजी से निकलकर फिर गंगाजी के धार-सम्बन्ध से भिन्न हो जाता है, वही छाड़न (गंगोझ) कहाता है, वह मदिरा-तुल्य हो जाता है। दूसरा वह स्रोत है जो गंगाजी से निकला हुआ पृथक् तो है, पर उसका सम्बन्ध गंगाजी की धार से है अर्थात् वह धारा में मिला हुआ है। अतः, पावन है।

यहाँ गंगाजी के तुल्य परब्रह्म परमात्मा हैं, मिले हुए स्रोतों के जल की तरह पूर्णब्रह्म के अंगभूत समर्थ शिवजी हैं और छाड़न जल की तरह अनीश (मनुष्य) हैं। जैसे गंगाजी में मिला हुआ जल और छाड़न जल तत्त्वतः एक हैं, वैसे शिवजी और मनुष्य तत्त्वतः जीव ही हैं, पर शिवजी नित्य परमात्मा से मिले हुए हैं। अतः, समर्थ एवं पावन हैं। मनुष्य अपनेको परमात्मा से पृथक् सत्ता मानने तथा मायावश परिच्छिन्न (परिमित रूप से भिन्न) होने से असमर्थ एवं अपावन हैं। अतः, तुल्य नहीं हो सकते।

यहाँ उपमा की वर्त्तमान व्यवस्था से ही प्रयोजन है कि एक वह जल जो मिला हुआ है और दूसरा वह जो भिन्न है। शिवजी प्रथम ही से परमात्मा में मिले हुए हैं, छूटकर नहीं मिले, क्योंकि इन्हें 'संभु सहज समरथ भगवाना।' आगे कहा है, अर्थात् ये 'सह-ज' = जन्म के साथ ही से समर्थ आदि हैं। इससे पावन हैं, छाड़न जल भी कभी वर्षा के सम्बन्ध से धारा में मिल जाय तो पावन है, पर उपमा में इसका प्रयोजन नहीं है।

'जाना' शब्द भी शास्त्र-दृष्टि से जानने के अर्थ में है। यदि कहा जाय कि 'गंगाजल की बनी हुई मदिरा' अर्थ क्यों न करें, तो यह 'जाना' शब्द व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि वह तो गंगाजल से बनी ही है, मदिरा है ही। पुनः 'जैसे तैसे' शब्द प्रत्यक्ष होनेवाली बातों में आते हैं, गंगाजल की मदिरा बनाना और गंगा में उसे छोड़ना आदि का बर्ताव कहीं नहीं देखा जाता। 'संत'—सन्त ही गंगोझ को मदिरातुल्य मानते हैं, और लोग प्रायः ग्रहण ही करते हैं और मदिरा का ग्रहण तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी प्रायः नहीं करते, इत्यादि कारणों से उपर्युक्त अर्थ-संगत है।

उत्तरकाण्ड दो० १११ के 'जीव कि ईस समान' का भाव यहाँ नहीं लेना चाहिये, क्योंकि वहाँ 'ईस' शब्द परमात्मा के अर्थ में है और यहाँ 'शिवजी' के अर्थ में। "तब संकर देखेउ धरि ध्याना।" (दो० ५५); से शिवजी का जीवत्व सिद्ध है।

संभु सहज समरथ भगवाना। येहि बिबाह सब बिधि कल्याना ॥३॥
दुराराध्य पै अहहिं महेसू। आसुतोष पुनि किये कलेसू ॥४॥
जौ तप करइ कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी ॥५॥

शब्दार्थ—आसुतोष = शीघ्र सन्तुष्ट होनेवाले। दुराराध्य = कठिनाई से सेवा करने योग्य।

अर्थ—शिवजी स्वाभाविक ही समर्थ एवं भगवान् हैं। अतः, इस विवाह से सब भाँति कल्याण ही है ॥३॥ परन्तु महादेवजी की आराधना बड़ी कठिन है, फिर भी (साधन) क्लेश करने से शीघ्र सन्तुष्ट होनेवाले हैं ॥४॥ यदि तुम्हारी पुत्री उनकी प्राप्ति के लिये तप करे तो त्रिपुरारि (शिवजी) भावी भी मिटा सकते हैं ॥५॥

विशेष—कल्याण के सम्बन्ध में 'शंभु' (कल्याणकर्त्ता) नाम सुसंगत है, वैसे ही 'दुराराध्य' और 'आसुतोष' के सम्बन्ध में महेश (महान्-ईश = परम समर्थ) नाम है कि उनमें दोनों विपर्यय (विरुद्धभाव) सिद्ध हैं। पुनः भावी मेटने में 'त्रिपुरारी' शब्द बड़ा चोखा है, जैसे त्रिपुरों को कोई देवता न जीत सका तो शिवजी ने जीता, वैसे जिस भावी को सुर-नर-नाग-मुनि इनमें कोई नहीं मिटा सकता, उसे वे मिटा देंगे।

भावी मेटना इसलिये है कि यदि उक्त लक्षणों से शिवजी ही पति होंगे तब मिलेंगे ही। यदि और कोई वर होगा तो उस भावी को मिटाकर शिवजी स्वयं इसे वरण करेंगे। शिवजी अहंकार के देवता हैं, यथा—"अहंकार सिव ···" (लं० दो० १५); भगवान् के अंगभूत देवता जीवों के उन्हीं अंगों के देवता हैं। ये जीवों को पुरुषकार (उद्योग, पौरुष) में प्रवृत्त कर शक्ति देते हैं, इससे वह बहुत अंशों में सफल होता है। महा० शान्ति० १३६।८२ एवं सौप्तिक० २।२ में कहा गया है कि दैव (प्रारब्ध) और उद्योग दोनों ही से कार्य-सिद्धि होती है। पुनः, महा० सौप्तिक० २।७ में दृष्टान्त से समझाया गया है कि जैसे दैव-वर्षा और खेत-जोताई से बीज की उपज होती है, वैसे किसी भी कार्य-सिद्धि में वर्षा रूपी प्रारब्ध और जोताई रूपी उद्यम दोनों ही अपेक्षित हैं।

जैसे वर्षा आदि के विशेष प्रकोप पर उद्योग द्वारा मनुष्य कार्य-सिद्धि कर लेता है, वैसे शिवजी की सहायता से उद्योग द्वारा सामान्य भावी भी मेटी जा सकती है।

'दुराराध्य', यथा—"दुर्विज्ञेयो महादेवो दुराधारो दुरन्तकः। दुरावाधश्च दुर्ग्राह्यो दुर्दृश्यो ह्यकृतात्मभिः॥" (महा० अनुशा० १४।१३४), अर्थात् अजितेन्द्रिय के लिये शिवजी दुर्विज्ञेय आदि हैं।

जद्यपि बर अनेक जग माहीं। येहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं॥६॥
बरदायक प्रनतारति-भंजन। कृपासिंधु सेवक - मन - रंजन॥७॥
इच्छित फल बिनु सिव अवराधे। लहिय न कोटि जोग जप साधे॥८॥

अर्थ—यद्यपि संसार में वर अनेक हैं, तथापि इसके लिये शिवजी को छोड़कर दूसरा (वर) नहीं है॥६॥ शिवजी वर देनेवाले, शरणागत का दुःख मिटानेवाले, कृपा के समुद्र और अपने सेवकों के मन को आनन्द देनेवाले हैं॥७॥ बिना शिवजी की उपासना किये योग-जप के करोड़ों साधन करने पर भी मनोभिलषित फल नहीं प्राप्त किया जा सकता॥८॥

विशेष—(१) 'जद्यपि बर···'—आगे सप्तर्षियों के बहुत प्रलोभन देने पर भी गिरिजा जी ने शिवजी में ही अटल निष्ठा दिखाई है, यथा—"महादेव अवगुनभवन" से—"बरउँ संभु नत रहउँ कुमारी॥" (दो० ८०); तक। प्रारब्धानुसार गिरिजा जी की वैसी धारणा रही है।

(२) 'सेवक-मन-रंजन' एवं 'इच्छित फल···' सेवक को प्रसन्न करने एवं उसकी इच्छा-पूर्त्ति में आप सहसा 'एवमस्तु' कह ही देते हैं, चाहे उसका परिणाम उलटे अपने ही सिर क्यों न पड़े! जैसे भस्मासुर ने आपसे वर पाकर फिर आप ही को भस्म करना चाहा था, तथा—"तं प्रपद्य सदा वत्स सर्वभावेन शङ्करम्। तत्प्रसादाच्च कामेभ्यः फलं प्राप्स्यसि पुत्रक॥" (महा० अनु० १४।१२८)।

दोहा—अस कहि नारद सुमिरि हरि, गिरिजहिं दीन्हि असीस।
होइहि यह कल्यान अब, संसय तजहु गिरीस॥७०॥

अर्थ—इस प्रकार कहकर श्रीनारदजी ने हरि (क्लेशहर्त्ता=भगवान्) का स्मरण करके पार्वतीजी को आशीर्वाद दिया कि अब इसका कल्याण होगा। हे हिमवान्! तुम सन्देह छोड़ दो।

विशेष—'सुमिरि हरि'—क्योंकि देवता और मुनि लोग जिस किसीको वर एवं आशीष देते हैं, उसकी पूर्त्ति भगवान् ही करते हैं। ब्रह्मसूत्र ३।२।३७ से ३।२।४१ तक इसपर विशेष विचार किया गया है। बाल्मी० ७।५१।१६-१८ में भृगु ने विष्णु को शाप दिया। भगवान् से उसे पूर्ण करने के लिये उन्होंने फिर भगवान् की आराधना की है। गिरिजा के दुःख-हरण में 'हरि' शब्द संगत है। 'दीन्हि असीस'—प्रथम मुनि आये, तब—'सुता बोलि मेली मुनि-चरना।' कहा है, पर वहाँ आशीर्वाद नहीं लिखा और यहाँ आशीर्वाद लिखते हैं, पर प्रणाम नहीं। अतः, दोनों जगह दोनों बातें लगा लेनी चाहिये। जैसे दो० २०८ में

पिता का आशीष देना और माता के यहाँ प्रणाम कहा गया है, पर दोनों जगह दोनों बातें ली जाती हैं। यहाँ प्रथम गिरि की भक्ति दिखाने में प्रणाम कराना लिखा, पीछे नारद की प्रीति प्रकट करने में आशीर्वाद लिखना उपयुक्त है। 'होइहि यह कल्यान ' ', यथा—"संभु सहज ''येहि बिबाह सब बिधि कल्याना।" इसी कल्याण का आशीर्वाद है। पूर्वोक्त 'दच्छसुता कह नहिं कल्याना।' की पूर्त्ति होगी।

कहि अस ब्रह्मभवन मुनि गयेऊ। आगिल चरित सुनहु जस भयेऊ ॥१॥
पतिहिं एकांत पाइ कह मैना। नाथ न मैं समुझे मुनिबैना ॥२॥
जौ घर बर कुल होइ अनूपा। करिय बिबाह सुता - अनुरूपा ॥३॥
न त कन्या बरु रहउ कुमारी। कंत उमा मम प्रान-पियारी ॥४॥

अर्थ—(श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं) ऐसा कहकर नारद मुनि ब्रह्मलोक को चले गये, आगे जैसा चरित हुआ, वह सुनो ॥१॥ पति को एकान्त में पाकर पार्वतीजी की माता मैनाजी ने कहा कि हे नाथ! मैंने मुनि के वचनों को नहीं समझा ॥२॥ जो घर, वर (दुलहा) और कुल कन्या के योग्य अनुपम हों तो विवाह कीजिये ॥३॥ नहीं तो चाहे कन्या कुँआरी ही पड़ी रहे, (पर अयोग्य से ब्याह न कीजिये), क्योंकि हे नाथ! उमा मुझे प्राणों से भी प्यारी है ॥४॥

विशेष—'न मैं समुझे···'—क्योंकि मैनाजी वर के दोष सुनकर विह्वल हो गई थीं, इसीसे समझने में सन्देह है, क्योंकि 'नारद वचन सगर्भ सहेतू' आगे कहा है, अब यथार्थ समझना चाहती हैं, अथवा इस रीति से प्रसंग छेड़कर अपना मनोरथ कहना चाहती हैं। 'मैना'—शिवपुराण के अनुसार ये पितरों की मानसी कन्या थीं जो हिमाचल से ब्याही गई थीं।

'घर बर कुल'—कन्या के ब्याह में वर के कुल-विचार में पिता की इच्छा, घर (भोजन-वस्त्र एवं परिवार उत्तम होने) के विचार में माता की इच्छा और वर के विषय में कन्या की इच्छा प्रधान रहती है, यथा—"कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता कुलम्। बान्धवा मानमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः॥" यह प्रसिद्ध है। यहाँ 'घर' प्रथम कहा गया है, क्योंकि मैना का कथन है, वे अपनी इच्छा आगे रखती हैं। 'न त कन्या···', यथा—"काममामरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यपि। न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥" (मनु० ९।८९); अर्थात् कन्या ऋतुमती होने पर भी (चाहे) आजीवन पिता के घर में कुमारी रह जाय, किन्तु उसे गुणहीन वर को न देना चाहिये, तथा—"शीलवृत्ते समाज्ञाय विद्यां योनिं च कर्म च। सद्भिरेवं प्रदातव्या कन्या गुणयुते वरे॥" (महा० अनुशा० ४४।३); अर्थात् भीष्मजी ने कहा कि स्वभाव, चरित्र, विद्या, योनि अर्थात् मातृ-पितृ-कुल की रीति तथा कर्म को अच्छी प्रकार जानकर साधु-पुरुष गुणवान वर को कन्यादान करें।

जौ न मिलिहि बर गिरिजहि जोगू। गिरि जड़ सहज कहहिं सब लोगू ॥५॥
सोइ बिचारि पति करेहु बिबाहू। जेहि न बहोरि होइ उर दाहू ॥६॥
अस कहि परी चरन धरि सीसा। बोले सहित सनेह गिरीसा ॥७॥
बरु पावक प्रगटइ ससि माहीं। नारद बचन अन्यथा नाहीं ॥८॥

दोहा—प्रिया सोच परिहरहु अब, सुमिरहु श्रीभगवान।
पारवतिहि निरमयेउ जेहिं, सोइ करिहि कल्यान ॥७१॥

अर्थ—जो गिरिजा के योग्य वर न मिलेगा तो सब लोग यही कहेंगे कि पहाड़ स्वाभाविक जड़ हैं (तभी तो योग्य वर नहीं ढूँढ़ सके) ॥५॥ हे नाथ! वही विचारकर विवाह करियेगा, जिससे फिर हृदय

में जलन न हो ॥६॥ ऐसा कहकर मैनाजी चरणों में सिर रखकर पड़ गईं, तब हिमाचल स्नेह-सहित बोले ॥७॥ चाहे चन्द्रमा में अग्नि प्रकट हो, परन्तु नारदजी के वचन अन्य प्रकार नहीं हो सकते ॥८॥ हे प्रिये ! तुम सब सोच छोड़कर श्रीभगवान् का स्मरण करो, जिन्होंने पार्वती का निर्माण किया है, वे ही इसके कल्याण (के विधान) भी करेंगे ॥७१॥

विशेष—'जौ न मिलहिं बर···'—लोक में अपकीर्त्ति होगी परलोक भी बिगड़ेगा, यथा—"अनर्हाय च यो दद्याद्वराय निजकन्यकाम्। कायकारणलोभेन नरकं स प्रगच्छति ॥" (स्कन्द पु० मा० उ० १८६।२-३); अर्थात् जो किसी कार्य-कारण से या लाभ से अयोग्य वर को अपनी कन्या (विवाह कर) देता है, वह नरक में जाता है। 'अस कहि परी···'—इस परिपूर्ण करुणा-सहित प्रार्थना पर गिरिराज को दया आ गई। अतः, स्नेहपूर्वक आश्वासन करने लगे—'प्रियासोच···'। 'पति' सम्बोधन में 'उर दाहू' से रक्षणार्थ भाव गर्भित है।

'बरु पावक ···'—चन्द्रमा हिमकर है, वह हिमालय पर हिम बरसाता ही रहता है, यह प्रत्यक्ष है। इसमें अग्नि का प्रकट होना असम्भव है। वैसे नारद के वचनों का विपर्यय (उलटा) होना भी असम्भव है। चन्द्रमा देवता और नारद देवर्षि हैं। चन्द्रमा भगवान् के मन से पैदा हुआ है और नारदजी भी ब्रह्मारूप भगवान् के मानस-पुत्र हैं और भगवान् के मन कहे जाते हैं। अतः, उपमा में देश एवं वस्तु की पूर्ण संगति है।

'श्रीभगवान'—क्योंकि योग्य-विधान में उनकी शोभा है। अतः, पार्वती के अनुरूप ही विधान करेंगे। इस भाव को सूचित करते हुए शोभा वाचक 'श्री' विशेषण दिया गया है। श्रीजी के साथ भगवान् का भाव भी है। भगवान् कहकर 'निरमयेउ' कहा है, क्योंकि भगवान् ही जगत् की उत्पत्ति करते हैं।

अब जौ तुम्हहिं सुता पर नेहू। तौ अस जाइ सिखावन देहू ॥१॥
करइ जो तप जेहि मिलिहि महेसू। आन उपाय न मिटिहि कलेसू ॥२॥
नारद-बचन सगर्भ सहेतू। सुंदर सब गुन-निधि बृषकेतू ॥३॥
अस बिचारि तुम्ह तजहु असंका। सबहि भाँति संकर अकलंका ॥४॥

अर्थ—जो कन्या पर तुम्हारा स्नेह है, तो अब जाकर उसे ऐसी शिक्षा दो ॥१॥ जिससे वह ऐसा तप करे कि महादेवजी मिलें, (क्योंकि) और उपायों से क्लेश नहीं मिटेगा ॥२॥ श्रीनारदजी के वचन गर्भित (गूढ़ आशययुक्त) और हेतु (कारण) युक्त हैं। शिवजी सुन्दर और समस्त गुणों की खान हैं ॥३॥ ऐसा विचार कर तुम व्यर्थ शंका छोड़ दो, शिवजी सभी भाँति से कलंक-रहित हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'अब जो···'—अभी अवसर है, मुनि के वचनों का प्रभाव सबपर है। अतः, तत्सम्बन्धी शिक्षा शीघ्र प्रभाव डालेगी। ऊपर दोहे में भगवान् का भरोसा कहा, अब उपाय भी कहते हैं, क्योंकि ऊपर दो० ६८ चौ० १ में ऐसा ही कहा है। 'अब' पद का अर्थ 'सिखावन' पद के साथ करना चाहिये। स्नेह तो मैना का सदा से है ही, यथा—"राम कथा कलि बिटप कुठारी।" (दो० ११३)।

(२) 'सो तप'—पूर्व—'दुराराध्य पै अहहिं महेसू।' कहा गया है, उसके अनुसार कठिन तप करे, जिससे इस बालिका के कष्ट पर शिवजी शीघ्र प्रसन्न हों।

(३) 'नारद-बचन सगर्भ सहेतू।'—श्रीनारदजी के वचनों में गूढ़ाशय है। जैसे गर्भ में बालक रहता है, पर दिखाई नहीं देता, वैसे उनके वचनों में अवगुणों के अन्तर्गत गुण भरे हैं। कुरूपता-वर्णन में सुन्दरता-गर्भित है, यही उत्तरार्द्ध में—'सुंदर सब···' से प्रकट है। 'सहेतू'—हेतुयुक्त है, उपाय-निष्ठ होने के विचार से वैसे वाक्य प्रबन्ध से कहे गये हैं, यथा—"करै सो तप जेहि मिलहिं महेसू।" इस प्रेरणा के हेतु से कहे गये हैं। शिवजी के सम्बन्ध से कन्या भवानी होकर जगत् में पूजी जायगी और हमारी भी महिमा बढ़ेगी, इत्यादि। 'बृषकेतू'—धर्म की ध्वजावाले हैं।

(४) 'असंका' (आशंका)=अनिष्ट की भावना, एवं (अ=नहीं, शंका) बिना शंका की शंका ।

सुनि पतिबचन हरषि मन माहीं । गई तुरत उठि गिरिजा पाहीं ॥५॥
उमहिं बिलोकि नयन भरे बारी । सहित सनेह गोद बैठारी ॥६॥
बारहिं बार लेति उर लाई । गदगद कंठ न कछु कहि जाई ॥७॥
जगतमातु सर्बज्ञ भवानी । मातु - सुखद बोलीं मृदुबानी ॥८॥

दोहा—सुनहि मातु मैं दीख अस, सपन सुनावउँ तोहि ।
सुंदर गौर सुबिप्रबर, अस उपदेसेउ मोहि ॥७२॥

अर्थ—स्वामी के वचन सुनकर और मन में प्रसन्न होकर तुरत उठकर मैनाजी पार्वतीजी के पास गईं ॥५॥ उमा को देखकर आँखों में आँसू भर लिये और स्नेहपूर्वक उनको गोद में बैठा लिया ॥६॥ बारंबार उनको हृदय में लगा लेती हैं, मैनाजी का कंठ गद्गद हो गया, कुछ कहा नहीं जाता ॥७॥ जगन्माता, सर्वज्ञ, भवानी माता को सुख देने के लिये कोमल वाणी से बोलीं ॥८॥ हे माता ! सुनिये, मैंने ऐसा स्वप्न देखा है, वह तुम्हें सुनाती हूँ कि एक सुन्दर गौर वर्णवाले श्रेष्ठ ब्राह्मण ने मुझे ऐसा उपदेश दिया है ॥७२॥

विशेष— यहाँ मैनाजी का मन, वचन और कर्म से स्नेह प्रकट हुआ, यथा—'हरषि मन माहीं'—मन, 'लेति उर लाई'—कर्म, 'न कछु कहि जाई'—वचन, एवं उमा के लिये पति से प्रार्थना में भी वचन-स्नेह है।

'न कछु कहि जाई'—बहुत कुछ कहने आईं, परन्तु राजकन्या की अति सुकुमारता पर मुग्ध हो गईं, प्रेम के कारण कंठावरोध हो गया—गला रूँध गया। तप की शिक्षा के लिये चलने में मन में हर्ष हुआ था, यह तप सिद्ध होने का उत्तम शकुन है।

'जगतमातु सर्बज्ञ भवानी'—माता के समक्ष विवाह-सम्बन्ध की बातें करना अयोग्य है। अतः, कहा कि ये सामान्य कन्या नहीं हैं, प्रत्युत जगत् की माता हैं। 'सर्वज्ञ' हैं, क्योंकि माता के मन की जान गईं, उनके अनुकूल ही कहेंगी। 'भवानी'—क्योंकि भव (शिव) का सम्बन्ध चाहती हैं, अथवा ये तो नित्य शिवजी की पत्नी हैं—'गिरिजा सर्बदा संकरप्रिया।' (दो० ९८); कोई नया सम्बन्ध नहीं चाहतीं कि जिसकी चर्चा माता के सामने अयोग्य हो।

अलंकार—सूक्ष्म, क्योंकि माता के कथन-अभिप्राय को उनके 'गदगद कंठ···' से जानकर उसके प्रति उचित समाधान कर दिया गया है। लक्षण—"सूछम कृति लखि आन की, करै क्रिया कछु भाय।" (अ० मं०)।

करहि जाइ तप सैलकुमारी । नारद कहा सो सत्य बिचारी ॥१॥
मातु-पितहिं पुनि यह मत भाआ । तप सुखप्रद दुख दोष नसावा ॥२॥
तपबल रचइ प्रपंच बिधाता । तपबल बिष्नु सकल-जग-त्राता ॥३॥
तपबल संभु करहिं संहारा । तपबल सेष धरइ महिभारा ॥४॥
तप-अधार सब सृष्टि भवानी । करहि जाइ तप अस जिय जानी ॥५॥

अर्थ—(कि) हे शैलकुमारी ! श्रीनारदजी का कहा सत्य समझकर और जाकर तप करो ॥१॥ फिर तुम्हारे माता-पिता को भी यह मत अभीष्ट है कि तप सुख देनेवाला और दुःख-दोष का नाश करनेवाला है ॥२॥ तप के बल से ब्रह्मा संसार को रचते हैं और विष्णु सब जगत् का रक्षण एवं शिवजी

संहार करते हैं। तप के बल से ही शेषजी पृथ्वी का भार धारण करते हैं ॥३-४॥ (कहाँ तक कहूँ) हे भवानी ! तप ही के आधार पर सारी सृष्टि है ऐसा जी में जानो और जाकर तप करो ॥५॥

विशेष—'करहि जाइ'—घर में रहते हुए तप न हो सकेगा, क्योंकि संसर्ग रहते हुए विषयों से वैराग्य नहीं होता, यथा—"होइ न बिषय बिराग, भवन बसत भा चौथपन।" (दो० १४२)।

'सैलकुमारी'—भाव यह कि धैर्य धारण करो, यथा—"धैर्येण हिमवानिव" (मूलरामायण)।

अलंकार—प्रहर्षण का प्रथम भेद, लक्षण—"जतन बिना ही होत है, जहँ चितचाही बात।" (अ० मं०); यहाँ बिना यत्न ही मैनाजी की चितचाही बात पार्वतीजी ने स्वप्न-कथन से सुना दी।

'दुख दोष'—वर के दोष और तत्सम्बन्धी दुःख अर्थात् कार्य-कारण दोनों नष्ट होंगे।

'तप बल रचै···', यथा—"दिव्यं सहस्राब्दममोघदर्शनो जितानिलात्मा विजितोभयेन्द्रियः। अतप्यत स्माखिललोकतापनं तपस्तपीयांस्तपतां समाहितः॥" (भाग० २।९।८); अर्थात् ब्रह्माजी अमोघ ज्ञान एवं तपस्वियों में श्रेष्ठ हैं, उन्होंने उस समय दिव्य सहस्रवर्ष तक एकाग्रचित्त से अपने प्राणों, मन, कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को वश में करके तपस्या की, जिससे वे समस्त लोकों को प्रकाशित करने में समर्थ हुए।

'तप बल बिष्नु'···तप बल संभु···', यथा—"सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः। बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुस्तरं तपः॥" (भाग० २।९।२३); अर्थात् भगवान् ने कहा है कि मैं तपस्या से ही उत्पत्ति, पालन और संहार करता हूँ, तपस्या मेरी दुर्लंघ्य शक्ति है।

'भवानी'—शिवजी का सम्बन्ध स्वप्न में विप्रमुख से प्राप्त हो चुका। अतः, सिद्धि निश्चय है।

'तप अधार सब सृष्टि·····', यथा—"जनि आचरज करहु मन माहीं। सुत तप ते दुर्लभ कछु नाहीं॥" से—"तप ते अगम न कछु संसारा॥" (दो० १६२); तक यह प्रसंग भी देखिये।

सुनत बचन बिसमित महतारी। सपन सुनायेउ गिरिहि हँकारी॥६॥
मातु पितहिं बहु बिधि समुझाई। चलीं उमा तप-हित हरषाई॥७॥
प्रिय परिवार पिता अरु माता। भये बिकल मुख आव न बाता॥८॥

दोहा—बेदसिरा मुनि आइ तब, सबहिं कहा समुझाइ।
पारबती-महिमा सुनत, रहे प्रबोधहिं पाइ॥७३॥

अर्थ—(उमा का वह) वचन सुनकर माता को आश्चर्य हुआ। उन्होंने गिरिराज को बुलाकर स्वप्न सुनाया॥६॥ माता-पिता को बहुत प्रकार समझा उमा हर्षित होकर तप करने के लिये चलीं॥७॥ प्यारे कुटुम्बी, पिता और माता विकल हो गये, (यहाँ तक कि) उनके मुखों से वचन नहीं निकलता॥८॥ तब वेद-शिरा मुनि ने आकर और सबको समझाकर कहा। पार्वतीजी की महिमा सुनकर सबको प्रबोध हुआ, तब वे लोग रहे (रुके)॥७३॥

विशेष—'बिसमित'—क्योंकि जिसके लिये आई, वह स्वप्न-द्वारा दैवी-गति से हो गया।

'बहु बिधि समुझाई'—उमाजी माता से कहती हैं कि श्रीनारदजी के वचन ही स्वप्न में भी सिद्ध हुए। तुम्हारा भी सम्मत स्वप्न में कहा गया, वह भी सत्य ही है, तो शेष वचन भी सत्य ही होंगे। मुझे तप के लिये श्रद्धा एवं उत्साह है। अतः, कष्ट न होगा। ध्रुव ने तो मुझसे कम अवस्था में ही तपस्या की थी। हृदय में उत्साह के कारण सिद्धि में भी विश्वास है, इत्यादि।

'बेदसिरा मुनि'—यथा—"मारकण्डेयो मृकण्डस्य प्राणाद्वेदशिरा मुनिः।" (भाग० ४।१।४५); अर्थात् मृकण्डु से मार्कण्डेय और प्राण से मुनिवर वेदशिरा उत्पन्न हुए। ये हिमालय पर ही रहते थे। इनका उग्र तप देखकर इन्द्र ने अप्सरा भेजी, पर इनके ऊपर उसके उपाय निष्फल हुए, अन्त में वह इनके

अंग में लिपट गई। तब इन्होंने शाप दे दिया कि जल हो जा। फिर उसकी प्रार्थना पर उद्धार किया कि तुझमें शालग्राम निवास किया करेंगे।" यह कथा प्रसिद्ध है।

'रहे'—ये सब पार्वती के साथ ही चले जाते थे, प्रबोध पाकर लौटे।

उर धरि उमा प्रान-पति-चरना। जाइ बिपिन लागीं तप करना ॥१॥
अति सुकुमार न तनु तपजोगू। पतिपद सुमिरि तजेउ सब भोगू ॥२॥
नित नव चरन उपज अनुरागा। बिसरी देह तपहिं मन लागा ॥३॥

अर्थ—पार्वतीजी प्राणपति शिवजी के चरणों को हृदय में रख वन में जाकर तपस्या करने लगीं ॥१॥ शरीर अत्यन्त सुकुमार है। अतः, वह तपस्या करने के योग्य नहीं है। इन्होंने पति के चरणों का स्मरण कर सारे भोग छोड़ दिये ॥२॥ (शिवजी के) चरणों में नित्य नया अनुराग उपजने लगा, तपस्या में (ऐसा) मन लगा कि देह की सुधि न रही ॥३॥

विशेष—'प्रानपति'—'पति-पद' आदि से उमा की निष्ठा पति-भाव से शिवजी की प्राप्ति के लिये ही है, 'प्रानपतिरचना'—सती-शरीर का त्याग करते समय भी चरण ही का ध्यान था, यथा—"ततः स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवं जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम्।" (भाग० ४।४।२७); वही संस्कार इस जन्म में भी बना है। 'पति'=रक्षक, वन में रक्षा के लिये पति के चरणों का ही भरोसा है, यथा—"भये कालबस जब पितु माता। मैं बन गयउँ भजन जन त्राता॥" (उ० दो० १०९)।

संबत सहस मूल फल खाये। साग खाइ सत बरष गँवाये ॥४॥
कछु दिन भोजन बारि बतासा। किये कठिन कछु दिन उपवासा ॥५॥
बेलपात महि परइ सुखाई। तीनि सहस संबत सोइ खाई ॥६॥
पुनि परिहरे सुखानेउ परना। उमहिं नाम तब भयेउ अपरना ॥७॥

शब्दार्थ—मूल=खाने योग्य मीठी जड़ें, जो पृथ्वी के नीचे होती हैं। फल=पृथ्वी के ऊपर वृक्षों में होते हैं। साग=मरसा, चँवराई आदि पत्ते। बतासा=पवन।

अर्थ—सहस्र वर्षों तक उन्होंने मूल-फल खाये और फिर सौ वर्ष शाक खाकर बिताये ॥४॥ कुछ दिन जल और पवन का ही आहार रहा, फिर कुछ दिन उन्होंने कठिन उपवास किया ॥५॥ बेल के जो पत्ते स्वयं सूखकर पृथ्वी पर गिरते थे, उन्होंने तीन सहस्र वर्षों तक उन्हीं को खाया ॥६॥ फिर सूखे पर्ण (पत्ते) भी छोड़ दिये, तबसे उमाजी का नाम 'अपर्णा' हुआ ॥७॥

विशेष—(१) श्रीपार्वती का शरीर अति सुकुमार था, इसलिये यहाँ क्रमशः भोग छोड़ना हुआ। जैसे प्रथम राज-भोग छोड़ मूल (नीरस) सेवन किया, फिर फल, तब साग, फिर जल और अन्त में पवन का आहार किया, फिर दूसरी आवृत्ति का प्रारम्भ बेलपत्र से किया, क्योंकि बेलपत्र इष्ट शिवजी को प्रिय है। इसमें सिद्धि ही हो गई।

आहार घटाने के साथ-साथ क्रमशः तप की निष्ठा अधिक होती गई। श्रीपार्वती-मंगल में भी तप एवं आहार का यही नियम है, यथा—"कंद मूल फल असन कबहुँ जल पवनहिं। सूखे बेल के पात खात दिन गवनहिं॥ नाम अपरना भयेउ परन जब परिहरे।" (छं० ४२-४३)। कुमार-संभव में भी 'अपर्णा' नाम की व्युत्पत्ति यही है—"स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः। तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः॥—(सर्ग ५); अर्थात् यह तप की पराकाष्ठा है जो वे स्वयं गिरे हुए सूखे बेल के पत्ते खाकर ही रहने लगीं। उन्हें भी छोड़ दिया, इसीसे 'अपर्णा' नाम पड़ा।

(२) तपः-क्रम के भाव – (क) श्रीपार्वतीजी ने यवाकार तपस्या की है। यव का एक सिरा पतला होता है, क्रमशः बीच तक अधिक मुटाई होती है, फिर घटते हुए, दूसरा सिरा प्रथम सिरे की तरह पतला होता है। यहाँ तप का ऐसा ही क्रम है। प्रथम १००० वर्ष, फिर १०० वर्ष (दशांश घटा, इस नियम से) १० वर्ष जल और पवन का और १ वर्ष कठिन उपवास का हुआ। इस प्रकार ११११ वर्षों का प्रथम पुरश्चरण हुआ। इसमें कोई वरदायक न आया। तब दूसरा पुरश्चरण तिगुना करके प्रारम्भ हुआ, तब ३००० वर्ष बेलपत्र आहार से रहीं, फिर ३०० वर्ष उसे भी त्याग के रहीं, इसपर मनोरथ सिद्धि का वर मिल गया। नहीं तो ३०,३ वर्ष का करके ३३३३ वर्षों का दूसरा पूरा होता। फिर ९९९९ का तीसरा, तब ३३३३ का चौथा, पुनः ११११ का पाँचवाँ पुरश्चरण यवाकृति होकर पूर्ण होता। पाँच आवृत्तियों का भाव यह कि शिवजी पंचमुख हैं।

शिवजी पंचमुख हैं। अतएव, पाँच आकृतियों की यह आराधना कही गई है। इसी प्रकार "पाँच दिन में पूर्ण होनेवाला यज्ञ भी 'यवमध्य' संज्ञा से कहा गया है, यथा—"यवमध्यः पञ्चरात्रो भवति।" (शतपथ ब्रा० १३।६।१।९); (त्रि०) "यवाकारमध्य, जौ का बीच" (सुश्रुत चि० १ अ०) ; (विश्वकोष)। मनु० १०।२१।७ में भी 'यवमध्यम चान्द्रायण' कहा गया है।

इन रीतियों के अनुसार यवाकार तपस्या भी युक्त है। ९९९९ के पश्चात् ३३३३ एवं ११११ में ह्रासक्रम की शंका नहीं, क्योंकि जैसे गोस्वामीजी ने १००० के पीछे १०० वर्षवाले अधिक कष्टसाध्य नियम रक्खे हैं, पुनः 'कछु दिन' भी उससे कठिन वृत्ति में कहे हैं, वैसे वहाँ भी उत्तरोत्तर अधिक कष्ट-साध्य वृत्तियों की व्यवस्था समझनी चाहिये।

इस प्रसंग में रुद्री एवं जप-यज्ञ की कल्पनाएँ भी रामायणियों ने की हैं, वे भी आगे लिखी जाती हैं—

(ख) रुद्री के क्रम से तपस्या की—प्रथम १००० + १०० = ११०० वर्षों की एक आवृत्ति हुई, यह १ रुद्री हुई, क्योंकि रुद्र ११ हैं। दूसरी आवृत्ति में संख्या नहीं है। परन्तु इसमें प्रथम के 'मूल-फल'—'साग' की तरह 'बारि-बतासा'—'उपवासा' तीन ही साधन वर्णित हैं। अतः, उसी क्रम से और वही संख्या लेने से जल-पवन १०० और उपवास १०० वर्ष = ११०० वर्ष की द्वितीय रुद्री हुई। फिर कठिन नियमों से ३००० + ३०० = ३३०० वर्षों की तीन रुद्रियाँ हुईं—सब पाँच रुद्रियाँ हुईं।

(३) जप-यज्ञ की रीति से तप किया है। इसमें जप, तर्पण, मार्जन, विप्र-भोजन और दक्षिणा—ये पाँच अंग हैं। यहाँ मूल-फल सहित १००० वर्ष जप-यज्ञ हुआ, इसका दशांश १०० वर्ष साग के सहित तर्पण, इसका दशांश १० वर्ष पवन-सहित जल का मार्जन, ३००० वर्ष बेलपत्र का अशन विप्रभोजन और इसके दशांश ३०० वर्ष उपवास में दक्षिणा-सहित पञ्चांग पूर्ण यज्ञ हुआ। तीनों में पाँच ही पाँच का भाव उपर्युक्त (क) में लिखा है।

श्रीबैजनाथजी ने यह भी लिखा है कि सहस्र वर्ष मूल-फलाहार से दसो इन्द्रियाँ शुद्ध हुईं। सौ वर्ष के शाकाहार से देहाभिमान जीता, दस वर्ष के बारि-बतास आहार से मन शुद्ध किया और एक वर्ष कठिन उपवास से चित्त स्थिर किया है। दूसरे पुरश्चरण में तीन सहस्र वर्ष सूखे बेलपत्तों के आहार से बुद्धि शुद्ध हुई। पुनः तीन सौ तेंतीस वर्ष पत्ता-त्याग से तीनों अवस्थाओं को जीतकर तुरीया में स्थित हो शिव रूप में (एकरस) लय लग गई।

देखि उमहिं तपखीन सरीरा। ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा ॥८॥

दोहा—भयेउ मनोरथ सुफल तव, सुनु गिरिराज - कुमारि।
परिहरु दुसह कलेस सब, अब मिलिहहिं त्रिपुरारि ॥७४॥

अर्थ—श्रीपार्वतीजी का शरीर तपस्या से क्षीण देखकर आकाश में यह गम्भीर ब्रह्म-वाणी हुई ॥८॥ हे गिरिराजकुमारी ! सुन, तेरा मनोरथ सफल हुआ। सब दुःसह (कठिन) क्लेश छोड़ दे। अब शिवजी मिलेंगे ॥७४॥

विशेष—'मिलिहहिं'—स्वयं तुम्हारे यहाँ आकर (सादर) तुम्हें मिलेंगे—यह नहीं कि तुम्हारे पिता वहाँ जाकर दे आवें। अन्यत्र वर माँगने पर मिलता है, पर पार्वतीजी का उद्देश्य पूर्वजन्म से ही शिव-प्राप्ति का आ रहा है। योगाग्नि में जलते समय भी यही माँगा था—'जनम-जनम सिव-पद अनुरागा।' इससे यहाँ माँगना न कहकर दे दिया गया है।

अस तप काहु न कीन्ह भवानी। भये अनेक धीर मुनि ज्ञानी ॥१॥
अब उर धरहु ब्रह्म - बर - बानी। सत्य सदा संतत सुचि जानी ॥२॥
आवइ पिता बुलावन जबही। हठ परिहरि घर जायेहु तबही ॥३॥
मिलहिं तुम्हहिं जब सप्तरिषीसा। जानेहु तब प्रमान बागीसा ॥४॥

अर्थ—हे भवानी ! अनेक धीर मुनि और ज्ञानी हो चुके हैं, पर ऐसा तप आजतक किसीने भी नहीं किया ॥१॥ अब तुम सदा सत्य और निरन्तर पवित्र श्रेष्ठ जानकर ब्रह्मवाणी को हृदय में धारण करो ॥२॥ जब तुम्हारे पिता बुलाने आवें तब तुरत हठ छोड़कर घर चली जाना ॥३॥ जब तुमको सप्त ऋषीश्वर मिलें, तब शिवजी की (ओर से भी) प्रमाण बात जानना ॥४॥

विशेष—(१) 'अस तप···' ऐसी सुकुमार अवस्था में जैसा कठिन तप इन्होंने किया है, वैसा किसीने नहीं किया। तप की प्रशंसा इसलिये की कि कहीं उमा यह न कहें कि मुझे अभी और तप करने ही की इच्छा है। 'भवानी'—ब्रह्म-वाणी ने आश्वासन के लिये अभी से ही भवानी (भव-पत्नी) कहा है। 'सत्य सदा संतत···' सत्य और शुचि के भाव ये हैं कि कहीं-कहीं वचन सत्य होते हुए भी उसमें वक्ता का वंचनात्मक भाव रहता है, जैसे 'कुंजरो नरो' की प्रसिद्धि है, किन्तु ब्रह्म-वाणी उक्त दोष से रहित और शुचि ही होती है।

(२) 'हठ परिहरि'—का भाव यह है कि प्रथम कई बार पिता के आग्रह करने पर भी घर न गई थीं। अब जाना चाहिये, क्योंकि विवाह वहीं होगा और मनोरथ सिद्धि भी हो ही गई।

(३) 'जानेहु तब प्रमान बागीसा।'—प्रायः 'बागीसा' का अर्थ ब्रह्मवाणी का ही किया जाता है, पर मनु आदि के प्रसंगों में इस प्रकार के प्रमाण की व्यवस्था नहीं देखी जाती, यहाँ भी उसे 'सत्य सदा' कहा ही है। हाँ, शिवजी की स्वीकृति के विषय में उमा को सन्देह-निवृत्ति चाहिये, क्योंकि यह उमा की दृष्टि में असम्भव सी है, यथा—"चहत बारि पर भीति उठावा।" एवं—"बिनु पंखन हम चहहिं उड़ाना।" (दो० ७७); आगे शिवजी इसीलिये सप्तर्षियों को भेजेंगे भी, यथा—"दूरि करेहु संदेहु।" (दो० ७७)। अतः, इसका उपर्युक्त अर्थ (वाक् ईसा = शिवजी का वचन) ही ठीक है।

सुनत गिरा बिधि गगन बखानी। पुलक गात गिरिजा हरषानी ॥५॥
उमा - चरित सुंदर मैं गावा। सुनहु संभु कर चरित सुहावा ॥६॥

अर्थ—ब्रह्मवाणी, जो आकाश से कही गई है, उसको सुनकर श्रीपार्वतीजी प्रसन्न हुईं और उनका शरीर पुलकित हो गया ॥५॥ (श्रीयाज्ञवल्क्यजी श्रीभरद्वाजजी से कहने लगे कि) मैंने सुन्दर श्रीपार्वतीजी का चरित कहा, अब शिवजी के सुहावन चरित सुनो ॥६॥

विशेष—'गिरा बिधि'—यहाँ इसका अर्थ सर्व-विधानकर्त्ता श्रीरामजी की वाणी लेना योग्य है, क्योंकि आगे शिवजी को समझाने के लिये श्रीरामजी ही प्रकट होंगे।

'उमा-चरित सुंदर···' यहाँ उपसंहार है। इसका उपक्रम—'जब ते उमा सैलगृह जाई।' (दो० ६४) पर हुआ था।

शिव चरित और पार्वती प्रेम-परीक्षा-प्रसंग

जब ते सती जाइ तनु त्यागा। तब ते सिवमन भयेउ बिरागा ॥७॥
जपहिं सदा रघुनायक - नामा। जहँ-तहँ सुनहिं-राम-गुन-ग्रामा ॥८॥

दोहा—चिदानंद सुखधाम सिव, बिगत-मोह - मद-काम।
बिचरहिं महि धरि हृदय हरि, सकल-लोक - अभिराम ॥७५॥

अर्थ—जब से सतीजी ने जाकर अपना शरीर त्याग दिया, तब से शिवजी के मन में वैराग्य हो गया ॥७॥ वे श्रीरघुनाथजी का नाम सदा जपने और जहाँ-तहाँ श्रीरामजी के गुण-समूह सुनने लगे ॥८॥ शिवजी ज्ञानानन्द-स्वरूप एवं सुख के धाम तथा मोह-मद-काम से रहित हैं, वे सारे लोकों के आनन्द देने-वाले हरि (श्रीरामजी) को हृदय में धारण कर पृथ्वी पर विचरने लगे ॥७५॥

विशेष—'तब ते सिव मन···'—यहाँ शंका होती है कि क्या पूर्व में शिवजी रागी थे ? प्रमाण तो ऐसा है—"वैराग्याम्बुजभास्करम्" (अर० मं०); अर्थात् शिवजी वैराग्य रूपी कमल के लिये सूर्य हैं।

समाधान—यहाँ 'बिरागा' का तात्पर्य कैलाश-स्थल से है, उसमें राग (प्रेम) था। सती के संग वहाँ रहते थे, त्याग-प्रतिज्ञा से सतीजी दुःखित रहती थीं, उनका दुःख देखकर शिवजी को भी दुःख होता था। सती के शरीर-त्याग से स्वतन्त्र हो गये, सती के सहवास से सत्संग होता था। अब सतीजी के बिना यहाँ से जी उचट गया, सत्संग के लिये जहाँ-तहाँ ऋषियों के धामों में विचरने लगे, यथा—"दुखी भयेउँ बियोग प्रिय तोरे॥ सुंदर बन गिरि सरित तड़ागा। कौतुक देखत फिरउँ बिरागा॥"···से—"सादर सुनि रघुपति-गुन, पुनि आयेउँ कैलास॥" (उ० दो० ५५-५७); तक। अतः, यहाँ घर छोड़कर तीर्थाटन करने को 'बिराग' कहा है। एवं स्त्री मरण से वैराग्य हो गया। 'जपहिं सदा···', यथा—"तुम्ह पुनि राम-राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती॥" (दो० १०७); "संतत जपत संभु अविनासी।" (दो० ४५)।

'चिदानंद सुखधाम···' स्वयं ज्ञानानन्द स्वरूप हैं, औरों के लिये सुख के धाम हैं। 'बिगत मोह मद काम', यथा—"मम गुन ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ, परानंद संदोह॥" (उ० दो० ४६); शिवजी सदा नाम एवं गुण-ग्राम-रत रहते हैं, इससे 'चिदानंद सुखधाम' हैं। 'सकल लोक अभिराम', यथा—"रामनाम भुवि ख्यातमभिरामेण वा पुनः।" (श्रीरामतापनी० उप०)।

कतहुँ मुनिन्ह उपदेसहिं ज्ञाना। कतहुँ रामगुन करहिं बखाना ॥१॥
जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगत-बिरह-दुख-दुखित सुजाना ॥२॥
येहि बिधि गयेउ काल बहु बीती। नित नइ होइ रामपद-प्रीती ॥३॥

अर्थ—(शिवजी) कहीं मुनियों को ज्ञान का उपदेश देते और कहीं रामयश का बखान करते हैं ॥१॥ यद्यपि निष्काम हैं, तथापि वे भगवान् सुजान हैं; अतएव अपने भक्त के विरह-दुःख से दुःखित हैं ॥२॥ इसी प्रकार बहुत समय बीत गया, श्रीरामजी के चरणों में उनकी नित्य नवीन प्रीति होने लगी ॥३॥

विशेष—(१) 'कतहुँ मुनिन्ह···' यहाँ 'सकल लोक अभिराम' की वृत्ति दिखाते हैं कि शिवजी ज्ञानियों को ज्ञान सिखाते हैं और उपासकों के प्रति राम-गुण-वर्णन करते हैं। जहाँ अन्य कोई न रहा, वहाँ निरन्तर श्रीराम-नाम जपते हैं, यथा—"तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती॥" (दो० १०७); माला से जप करना कर्म है, यहाँ शिवजी में काण्डत्रय निष्ठा है। शिवजी के मन, वचन

और कर्म-वृत्ति भी कही गई है, यथा—"जपहिं सदा···" यह कर्म, "तब ते सिव मन भयेउ बिरागा।" यह मन और "कतहुँ रामगुन करहिं बखाना।" यह वचन की वृत्ति है।

(२) 'जदपि अकाम···' भगवान् के छः ऐश्वर्यों में करुणा भी है। अपने आश्रित पर करुणा होती है। फिर भक्त के हृदय की बातें जानते भी हैं, क्योंकि सुजान हैं, यथा—"स्वामि सुजान जानि सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥" (अ० दो० ३१३)। अतः, सती के हृदय का प्रेम जानते हैं। साथ ही भक्त के दुःख में दुखी होना योग्य ही है, यथा—"जन के दुख रघुनाथ दुखित अति सहज प्रकृति करुनानिधान की।" (गी० सुं० ११)। सतीजी की आपमें मन, वचन और कर्म से पूर्ण भक्ति है, यथा—"जौ मोरे सिव-चरन-सनेहू। मन क्रम वचन सत्य व्रत येहू॥" (दो० ५८); "सती मरत हरि सन बर माँगा। जनम-जनम सिवपद अनुरागा॥" (दो० ६४); इत्यादि। इसीसे शिवजी भी उनके दुःख में दुखी हैं। गीता ४।११ देखिये। कुछ काम से नहीं, क्योंकि अकाम हैं, यथा—"हमरे जान सदासिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥" (दो० ८९)।

(३) 'नित नइ होइ राम-पद···'—भाव यह कि सती के विरह-दुःख में भी श्रीराम-प्रेम कम न हुआ, प्रत्युत दिनोंदिन बढ़ता ही जाता है, यथा—"कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहे॥" (अ० दो० २०४)। 'काल बहु'—पार्वती के तप का काल, आदि।

नेम प्रेम संकर कर देखा। अविचल हृदय भगति कै रेखा॥४॥
प्रगटे राम कृतज्ञ कृपाला। रूप-सील - निधि तेज बिसाला॥५॥

अर्थ—शिवजी का नियम, प्रेम और हृदय में अपनी भक्ति की अटल रेखा देखकर॥४॥ कृतज्ञ एवं कृपालु श्रीरामजी प्रकट हो गये, जो रूप और शील के स्थान हैं और जिनका तेज बड़ा विशाल है॥५॥

विशेष—(१) 'नेम प्रेम संकर···'—नियम (सती-त्याग का)—"येहि तनु सतिहिं भेंट मोहिं नाहीं। सिव संकल्प कीन्ह मन माहीं॥" (दो० ५६); प्रेम—'नित नइ होइ राम पद प्रीती।' 'अविचल हृदय···', यथा—"चलत गगन भइ गिरा सुहाई। जय महेस भलि भगति दृढ़ाई। अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना।" (दो० ५६); तथा—"सिव सम को रघुपति - व्रतधारी।" (दो० १०३)। प्रेम से प्रभु प्रकट होते हैं, यथा—"प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना!···प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥" (दो० अतः, आगे प्रकट होना कहते हैं।

(२) 'प्रगटे राम कृतज्ञ···'—श्रीरामजी कृतज्ञ हैं, यथा—"कथञ्चिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति। न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥" (वाल्मी० २।१।११); अर्थात् थोड़े ही उपकार को प्रभु बहुत मानते हैं, वे अपकार करनेवाले के सैकड़ों अपकारों को भी मन में नहीं रखते, क्योंकि उनका मन वश में है, तथा—"प्रभु कृतज्ञ सर्वज्ञ हैं···" (वि० १९३)। अतएव, शिवजी के उपर्युक्त नियम-प्रेम को अधिक करके जानते हैं, इसीसे कृपा उमड़ पड़ी और स्वेच्छा से प्रकट हो गये। अतः, 'कृपाला' भी कहे गये हैं। पुनः सती की अवज्ञा को भुलाकर उनपर भी कृपा करेंगे, शिवजी के संयोग के लिये उपाय करेंगे, रूप से शिवजी को सुखी करेंगे, रूप दिखा सुख देंगे और शील-गुण से कोमल वचनों द्वारा कार्य करायेंगे, जिसमें शिवजी और पार्वतीजी का भी हित हो। विशाल तेज से प्रकट हुए, जिससे शिवजी पर प्रभाव पड़े। अतः, वे आज्ञा उल्लंघन न करें।

यहाँ रूप और तेज की विशालता प्रत्यक्ष है कि उसमें निमग्न होकर शिवजी प्रणाम तक करना भूल गये।

बहु प्रकार संकरहिं सराहा। तुम्ह बिनु अस व्रत को निरबाहा॥६॥
बहु बिधि राम सिवहिं समुझावा। पारबती कर जनम सुनावा॥७॥
अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥८॥

दोहा—अब बिनती मम सुनहु सिव, जौ मो पर निज नेहु ।
जाइ बिवाहहु सैलजहिं, यह मोहिं माँगे देहु ॥७६॥

अर्थ—श्रीरामजी ने बहुत प्रकार से शिवजी की सराहना की—"तुम्हारे अतिरिक्त ऐसे व्रत का निर्वाह कौन कर सका है ? ॥६॥ श्रीरामजी ने शिवजी को बहुत तरह से समझाया और पार्वतीजी के जन्म का हाल कहा ॥७॥ कृपासागर श्रीरामजी ने पार्वतीजी की अत्यन्त पवित्र करनी का विस्तार-सहित वर्णन किया ॥८॥ (और कहा) हे शिव ! मेरी विनती सुनिये । यदि आपका मुझपर स्नेह है तो अब जाकर पार्वती को ब्याह लाइये, यह मुझे माँगा दीजिये ॥७६॥

विशेष—(१) **'अस व्रत'**—यथा—"सिव सम को रघुपति-व्रतधारी । बिनु अघ तजी सती असि नारी ॥" (दो० १०३); "अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना ।" (दो० ५६) । "सिवहिं समुझावा ।"—तुम्हारी प्रतिज्ञा सती-शरीर के विषय में थी, यथा—"येहि तनु सतिहिं भेंट मोहिं नाहीं ।" (दो० ५६); सती के उस शरीर का त्याग हो गया, दूसरा पार्वती-शरीर धारण हुआ, इस शरीर से तुम्हारे लिये बड़ा उग्र तप किया है और वह मन, वचन, कर्म से तुम्हारे प्रति प्रेम रखती है । अतः, ग्रहण करना ही चाहिये । तुम्हारी प्रतिज्ञा भी रही, इसमें तुम्हें कोई दोष नहीं । फिर ब्रह्मवाणी भी हो चुकी, उसे भी सत्य करना ही है, फिर यह तो तुम मेरे माँगने पर करोगे, स्वतः नहीं ।

'अति पुनीत···'—गिरिजा का अब सती-शरीर से सम्बन्ध नहीं रहा, इस शरीर से तो इसने परम 'पुनीत करनी' की है । तप के आचरण कहे, यही पवित्र करनी है ।

'अब बिनती मम···' यहाँ भक्त-पराधीनता का सुन्दर आदर्श है । प्रभु का जोर भक्तों पर नहीं चलता, इसलिये विनती की और 'माँगे देहु' कहा, यथा—"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।' (भाग० २।५।६३) । **'जाइ'**—सम्मान-पूर्वक बरात सजकर जाइये और ब्याह लाइये ।

कह सिव जदपि उचित अस नाहीं । नाथबचन पुनि मेटि न जाहीं ॥१॥
सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा । परम धरम यह नाथ हमारा ॥२॥
मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी । बिनहिं बिचार करिय सुभ जानी ॥३॥
तुम्ह सब भाँति परम हितकारी । आज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी ॥४॥

अर्थ—शिवजी ने कहा कि यद्यपि ऐसा उचित नहीं है, फिर भी हे नाथ ! (आपके) वचन मिटाये नहीं जा सकते ॥१॥ हे नाथ ! आपकी आज्ञा सिर पर चढ़ाकर करें, यही हमारा परम धर्म है ॥२॥ माता, पिता, गुरु और स्वामी की बात बिना विचारे ही शुभ जानकर करना चाहिये ॥३॥ (फिर) आप तो सब तरह से हमारे परम हितकारी हैं । अतः, हे नाथ ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है ॥४॥

विशेष—(१) **'कह सिव जदपि···'**—आप हमारे स्वामी हैं, आपको केवल आज्ञा ही देनी चाहिये । 'बिनती मम सुनहु' और 'मोहिं माँगे देहु'—ऐसा कहना यद्यपि योग्य नहीं है, तथापि नाथ ! कैसे भी कहें, आपके वचन मेटे नहीं जा सकते, क्योंकि "सिर धरि आयसु···मातु पिता···तुम्ह सब भाँति···", यथा—"गुरु पितु मातु स्वामि हित बानी । सुनि मन मुदित करिय भलि जानी ॥ उचित कि अनुचित किये बिचारू । धरम जाइ सिर पातक भारू ॥" (अ० दो० १७६); अर्थात् जहाँ-जहाँ पुत्र, शिष्य एवं सेवक का भाव है, वहाँ उचित-अनुचित विचार की आवश्यकता नहीं, वहाँ तो—"आज्ञा सम न सु-साहिब सेवा ।" (अ० दो० ३००); ही कर्त्तव्य है—अ० दो० १७६ चौ० ३-४ भी देखिये ।

अतः, 'उचित अस नाहीं' का उक्तार्थ ही ग्राह्य है, शिवजी को अनुचित ठहराने का अधिकार ही नहीं है।

'हमारा'—बहुवचन है, सब भक्तों के सहित अपना धर्म कह रहे हैं।

'बिनहिं बिचार'—क्योंकि—"उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरम जाइ सिर पातक भारू॥" (अ० दो० १७६); तथा—"तस्मात्पितुः वचः कार्यं न विचार्यं कदाचन। पातकान्यपि पूयन्ते पितुः शासन-कारिणः॥" (महा० शान्ति० २६६।१९)।

'तुम्ह सब भाँति ', यथा—"मोरे प्रभु तुम्ह गुरु पितु माता।" (उ० दो० १७); तथा—"गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।···से—"मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।" (अ० दो० ७१); "पितु मातु गुरु स्वामी अपनपौ तिय तनय सेवक सखा। प्रिय लगत जाके प्रेम ते···" (वि १३५)।

प्रभु तोषेउ सुनि संकरबचना। भगति-बिबेक धरमयुत रचना॥५॥
कह प्रभु हर तुम्हार पन रहेऊ। अब उर राखेहु जो हम कहेऊ॥६॥
अंतरधान भये अस भाखी। संकर सोइ मूरति उर राखी॥७॥
तबहिं सप्तरिषि सिव पहिं आये। बोले प्रभु अति बचन सुहाये॥८॥

दोहा—पारबती पहिं जाइ तुम्ह, प्रेम - परीछा लेहु।
गिरिहि प्रेरि पठयेहु भवन, दूरि करेहु संदेहु॥७७॥

अर्थ—भक्ति, विवेक और धर्मयुक्त रचना से परिपूर्ण श्रीशिवजी की वाणी सुनकर प्रभु सन्तुष्ट हुए॥५॥ प्रभु ने कहा कि हे शिवजी! तुम्हारा प्रण रहा (यथार्थ निबहा), अब जो मैंने कहा है, उसे हृदय में रखना॥६॥ ऐसा कहकर वे (प्रभु) अन्तर्धान हो गये, शिवजी ने (प्रभु की) वही मूर्त्ति हृदय में रखली॥७॥ उसी समय सप्तऋषि शिवजी के पास आये (शिवजी उनसे) अत्यन्त सुहावन वचन बोले॥८॥ कि तुम पार्वतीजी के पास जाकर उनके प्रेम की परीक्षा लो और गिरिराज को प्रेरित करके, उनके द्वारा पार्वती को घर भिजवाओ, उन (गिरिराज और पार्वती)-के सन्देह दूर करना॥७७॥

विशेष—(१) 'भगत बिबेक धरम···' सब बचनों में तीनों बातें मिश्रित हैं, अथवा उपर्युक्त तीन अर्द्धालियों में क्रमशः 'धरम', 'बिचार' और 'आज्ञा-पालन' शब्द पड़े हैं, उन्हींमें धर्म, विवेक और भक्ति लगा लेनी चाहिये।

(२) 'अंतरधान भये···' रामजी शिव के सामने ही प्रकट हुए थे, फिर वहीं अन्तर्धान भी हो गये। उनका कहीं से आना-जाना नहीं कहा गया, क्योंकि शिवजी का ऐसा ही विश्वास, भक्ति एवं प्रीति है, यथा—"जाके हृदय भगति जस प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती॥"···से—"प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥" (दो० १८४); तक।

'सोइ मूरति'—भक्तों के प्रति भगवान् की झाँकी नित्य नवीन एवं विलक्षण होती रहती है, शिवजी के हृदय में अभी तक वन के दर्शनों की झाँकी थी, अब इस नवीन छवि को उर में बसा लिया।

(३) 'तबहिं सप्तरिषि···' स्मरण करने से आये, यथा—"चिन्तितोवस्थितांस्तावत् शाधि नः करवाम किम्।" (कुमारसम्भव ६।३।२४); तथा—"सिव सुमिरे मुनि सात आइ सिरनाइन्हि। कीन्ह संभु सनमान जनम-फल पाइन्हि॥" (पार्वतीमंगल ८४)

सप्तर्षि—मार्कण्डेय पुराण के अनुसार सप्तर्षि में प्रत्येक मन्वन्तर में सात-सात ऋषि रहते हैं। यथा—

१. स्वायम्भुव मन्वन्तर में—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ।

२. स्वारोचिष मन्वन्तर में—अर्ज्जता, प्रम्भण, दत्तोली, ऋषभ, निश्चर, चारु और अवीर।

३. उत्तम मन्वन्तर में—प्रमद, विमद, अनुमद, शक्ति, ऋभु, उन्मद और कुमुद।
४. तामस मन्वन्तर में—ज्योतिर्धाम, पृथु, काव्य, चैत्र, अग्नि, वलक और पीवर।
५. रैवत मन्वन्तर में—हिरण्यरोमा, वेदश्री, ऊर्द्धबाहु, वेदबाहु, सुधामा, पर्जन्य और वसिष्ठ।
६. चाक्षुष मन्वन्तर में—सुमेधा, विरजा, हविष्मान्, उन्मत, मधु, अतिनामा और सहिष्णु।
७. वैवस्वत मन्वन्तर में—कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज।
८. सावर्णि मन्वन्तर में—गालव, दीप्तिमान्, परशुराम, अश्वत्थामा, कृप, ऋष्यशृंग और व्यास।
९. दक्षसावर्णि मन्वन्तर में—मेधातिथि, वसु, सत्य, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, सवल और हव्यवाहन।
१०. ब्रह्मसावर्णि मन्वन्तर में—आपोमूर्ति, हविष्मत्, सुकृति, सत्य, नाभाग, अप्रतिम और वसिष्ठ।
११. धर्मसावर्णि मन्वन्तर में—हविष्मत्, वसिष्ठ, आरुणि, निश्चर, अनघ, विष्टि और अग्निदेव।
१२. रुद्रसावर्णि मन्वन्तर में—द्युति, तपस्वी, सुतपा, तपोमूर्त्ति, तपोनिधि, तपोरति और तपोधृति।
१३. देवसावर्णि मन्वन्तर में—धृतिमान्, अव्यय, तत्त्वदर्शी, निरुत्सुक, निर्मोह, सुतपा और निष्कम्प।
१४. इन्द्रसावर्णि मन्वन्तर में—अग्नीध्र, अग्निबाहु, शुचि, मुक्त, माधव, शुक्र और अजित।

प्रत्येक कल्प में ये ही १४ मन्वन्तर होते हैं।

आकाश स्थित तारों में जो सप्तर्षि हैं, उपर्युक्त ऋषियों के नामों से प्रसिद्ध होते हैं।

(४) 'प्रेम-परीछा लेहु'—प्रश्न—शिवजी ने प्रभु के आज्ञा-पालन को परम धर्म माना है, प्रभु गिरिजा को पुनीत करनी कह गये और स्वीकार करने के लिये भी आज्ञा दे गये, फिर परीक्षा क्यों? उत्तर—ब्रह्मवाणी में सप्तर्षियों के गिरिजा के पास आने की बात शिवजी की तरफ से कही गई, शिवजी उसे पूरा करना और गिरिजा का प्रेम जगत्-प्रसिद्ध करना चाहते हैं, अन्यथा परीक्षा के साथ ही उनको घर भेजने एवं सन्देह मिटाने को नहीं कहते। इससे स्पष्ट है कि इनके सच्चे प्रेम पर शिवजी को पूर्ण विश्वास है। इसी प्रकार अग्नि-परीक्षा से श्रीरामजी ने श्रीजानकीजी का महत्त्व दिखाया है, तथा—"प्रेम अमिय मंदर विरह, भरत पयोधि गँभीर। मथि प्रगटेउ सुर साधु हित, कृपासिंधु रघुबीर॥" (अ० दो० २३८); अर्थात् भरतजी को १४ वर्ष के विरह का संयोग कर उनके प्रेम की महिमा प्रकट की है। यह स्वामी की अपने भक्तों पर दया है।

(५) 'दूर करेहु संदेहु'—गिरिजा को सन्देह है, यथा—"मिलन कठिन मन भा संदेहू।" (दो० ६७)। हिमाचल को गिरिजा के घर लौटने में सन्देह है जो ब्रह्मवाणी से सूचित होता है, यथा—"हठ परिहरि घर जायेहु तबहीं।" अर्थात् पिता कई बार घर लौटाने को गये थे, पर न लौटी थीं। अतः, गिरिजा को मिलने का भरोसा देकर गिरिराज को समझा देना कि अब मनोरथ-सिद्धि पर गिरिजा अवश्य लौटेंगी। अतः, लाइये।

रिषिन्ह गौरि देखी तहँ कैसी। मूरतिमंत तपस्या जैसी॥१॥
बोले मुनि सुनु सैलकुमारी। करहु कवन कारन तप भारी॥२॥
केहि अवराधहु का तुम्ह चहहू। हम सन सत्य मरम किन कहहू॥३॥

अर्थ—ऋषियों ने गौरी (श्रीपार्वतीजी) को वहाँ कैसी देखा कि मानों वह मूर्त्तिमती तपस्या ही हो॥१॥ मुनि बोले कि हे शैलकुमारी! सुनो, तुम किस कारण से भारी तप कर रही हो?॥२॥ तुम किसकी आराधना कर रही हो और क्या चाहती हो? हमसे अपना सत्य-सत्य भेद क्यों नहीं कहती हो॥३॥

विशेष—(१) 'देखी तहँ', यथा—"देखि उमहिं तपखीन सरीरा।" (दो० ७३)।

(२) 'मूरतिमंत तपस्या जैसी।' यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है, क्योंकि तपस्या का मूर्त्तिमान् होना कहा है, पर उसका विषय नहीं कहा गया।

सुनत रिषिन्ह के बचन भवानी । बोली गूढ़ मनोहर बानी ॥४॥
कहत बचन मन अति सकुचाई । हँसिहहु सुनि हमारि जड़ताई ॥५॥
मन हठ परा न सुनइ सिखावा । चहत बारि पर भीति उठावा ॥६॥
नारद कहा सत्य सोइ जाना । बिनु पंखन्ह हम चहहिं उड़ाना ॥७॥
देखहु मुनि अबिबेक हमारा । चाहिय सदासिवहिं भरतारा ॥८॥

अर्थ—ऋषियों के वचन सुनते ही श्रीपार्वतीजी ने गूढ़ और मनोहर वचन कहा ॥ ४ ॥ (सीधी) बात कहने में मन अत्यन्त सकुचता है, हमारी मूर्खता को सुनकर आपलोग हँसेंगे ॥ ५ ॥ मेरा मन हठ में पड़ा हुआ है, इसीसे किसीकी शिक्षा नहीं सुनता । यह पानी पर दीवार उठाना चाहता है ॥ ६ ॥ श्रीनारदजी का कथन सत्य समझकर हम बिना पंखों के उड़ना चाहती हैं ॥ ७ ॥ हे मुनियो ! हमारी अज्ञता तो देखिये कि हम सदाशिव को ही पति बनाया चाहती हैं ॥ ८ ॥

विशेष—(१) 'बोली गूढ़ मनोहर बानी'—क्योंकि भवानीजी जान गई हैं कि ये सप्तर्षि परीक्षा लेने आये हैं । गूढ़—क्योंकि ये जो वचन कहेंगी, उन्हीं पर ऋषियों की वचन-रचना होगी । अपने में अवगुण का आरोपण करना वचन में मनोहरता है । 'सैलकुमारी' के प्रति वक्ता लोग 'भवानी' कहते हैं, क्योंकि इन्होंने अपनेको भव-पत्नी के भाव में निश्चय कर रक्खा है ।

(२) 'कहत बचन मन···' ऋषियों ने सत्य मर्म पूछा था और सम्बोधन में शैलकुमारी (जड़ की पुत्री=जड़वत्) शब्द कहा था । जड़ न तो मर्म समझ सकता है और न कह सकता है, इसलिये भवानीजी 'बचन' कहती हैं कि मीठे वचन सुनिये । 'सकुचाई'—क्योंकि 'छोटा मुख बड़ी बात' का विषय कहना है, अथवा स्त्री को अन्य स्त्री के समक्ष भी पति-सम्बन्धी बातें करने में संकोच लगता है और आपलोग तो पिता-तुल्य एवं चिरकालीन हैं । अतः, अति संकोच है । 'जड़ताई'—क्योंकि 'शैलकुमारी' तो हूँ ही । अतः, जड़ की पुत्री में जड़ता योग्य ही है ।

(३) 'मन हठ परा···' इससे मेरा यह मन आपकी भी शिक्षा नहीं सुनेगा ।

'चहत बारि पर भीति···'—शिवजी का मन स्वाभाविक वैराग्य-निष्ठ है, यथा—"वैराग्याम्बुज-भास्करम् ।" (अर० मं०); वही जल है, श्रीपार्वतीजी उस मन में राग लाना चाहती हैं, यही 'जल पर भीति उठाना' है अर्थात् असम्भव को सम्भव करना है । शिवजी 'अगेह' हैं, 'अकुल अगेह···' यह आगे कहा है । उनकी गेहिनी (गृहिणी) बनना चाहती हैं ।

(४) 'बिनु पंखन हम···'—शिव-प्राप्ति के योग्य साधन पंख हैं, मैं उनके बिना शिवजी की प्राप्ति चाहती हूँ । यहाँ विभावना अलंकार स्पष्ट है ।

(५) 'सदासिवहिं भरतारा ।'—श्रीनारदजी ने कहा है कि—'सदा अचल येहि कर अहिबाता ।' उस 'सदा अचल' के अनुसार सदाशिव कहा है, अथवा वे सदा कल्याणरूप हैं ।

(६) श्रीपार्वतीजी की मन, वचन और कर्म से शिव-प्राप्ति की इच्छा स्पष्ट हुई—'मन हठ परा' यह मन, 'बिनु पंखन···' यह कर्म और 'कहत मरम···' यह वचन है ।

दोहा—सुनत बचन बिहसे रिषय, गिरिसंभव तव देह ।
नारद कर उपदेस सुनि, कहहु बसेउ किसु गेह ॥७८॥

अर्थ—पार्वतीजी की बात सुनते ही ऋषि लोग मुसकुराये कि वाह, क्यों न हो ? पहाड़ से तो तुम्हारा शरीर ही उत्पन्न हुआ है । (भला) कहो तो नारद का उपदेश सुनकर किसका घर बसा है ? (किसु=कस्य=किसका) ।

विशेष—'बिहँसे'—सप्तर्षि निरादर से हँसे, क्योंकि परीक्षा लेने आये हैं, इसीसे नारदजी के प्रति निन्दासूचक वचन कहते हैं, परन्तु भीतर स्तुति का भाव है। 'गिरिसंभव'—पहाड़ जड़ है, तुम उससे उत्पन्न हो, इसीसे तुम्हारी बुद्धि पथरा (जड़ हो) गई है। स्तुति-पक्ष—गिरि तपःस्थल एवं गम्भीर होते हैं, वैसे तुम्हारी देह तपःस्थल और बुद्धि गम्भीर है।

'बसेउ किसु गेह'—जीव का घर देह है, वह उजड़ जाती है अर्थात् देह से सम्बन्ध-रहित होने पर जीव मुक्त हो जाता है, यह स्तुति-पक्ष है।

दच्छसुतन्ह उपदेसेन्हि जाई। तिन्ह फिरि भवन न देखा आई ॥१॥
चित्रकेतु कर घर उन घाला। कनककसिपु कर पुनि अस हाला ॥२॥

अर्थ—(नारदजी ने) दक्ष के पुत्रों को जाकर उपदेश दिया, तो उनलोगों ने फिर लौटकर घर नहीं देखा ॥ १ ॥ चित्रकेतु का घर भी उन्होंने चौपट किया, फिर हिरण्यकशिपु की भी ऐसी ही हालत (दशा) हुई ॥ २ ॥

विशेष—स्तुति-पक्ष—'भवन न देखा' अर्थात् संसार में न फिरे, मुक्त हुए, चित्रकेतु का भी देहाभिमान मिटा और हिरण्यकशिपु भी मुक्त हुआ।

(१) 'दच्छसुतन्ह···'—पञ्चजन की कन्या असिक्नी से दक्ष प्रजापति ने हर्यश्व नाम के दस हजार पुत्र उत्पन्न किये। उन्हें दक्ष ने सृष्टि रचने के लिये तप करने की आज्ञा दी। वे पश्चिम दिशा में सिन्धु नदी के तट पर नारायण-सर नाम के महान् तीर्थ में तपस्या करने लगे। उस सर के स्नान से निर्मल उनके मन में भागवत धर्म की रुचि हुई, किन्तु पिता की आज्ञा में बँधे रहने से वे सृष्टि करने के उद्देश्य से तप करते थे। देवर्षि नारदजी ने उनकी हार्दिक रुचि जानकर उनके पास जाकर उनसे कहा—"अरे हर्यश्वो, तुम प्रजापति होते हुए भी मूर्ख हो, तुमने पृथ्वी का अन्त नहीं देखा, फिर सृष्टि कैसे करोगे ?" फिर श्रीनारदजी ने उनसे ऐसे दस प्रश्न कूट के किये। उनके पारमार्थिक भावों को समझकर उन्होंने संसार से विरक्ति का ही तात्पर्य निश्चित किया। अन्त में श्रीनारदजी की परिक्रमा कर वे मोक्ष-मार्ग के पथिक हो गये, जिसपर चलकर फिर लौटना नहीं होता।

दक्ष प्रजापति को जब यह ज्ञात हुआ कि नारदजी के उपदेश से मेरे पुत्र कर्त्तव्य-पथ से विमुख हो गये, तब वे शोक से व्याकुल हो गये। ब्रह्माजी ने उन्हें सान्त्वना दी, फिर उन्होंने एक हजार पुत्र शबलाश्व संज्ञक उत्पन्न किये। इन्हें भी वैसी ही आज्ञा दे, उसी स्थल पर तप करने भेजा। उस सर में स्नान मात्र से इनके भी हृदय स्वच्छ हुए। ये प्रजासृष्टि के लिये तपस्या में रत थे। इनके पास भी श्रीनारदजी ने आकर वैसे ही प्रश्न किये और यह भी कहा कि तुमलोग भी अपने बड़े भाइयों का अनुसरण करो। इन्होंने भी वैसा ही किया। इन्हें भी नारदजी के दर्शन सफल हुए।

दक्ष प्रजापति ने समाचार पा नारदजी से मिलकर उनको बहुत कटु वचन कहे। उनके निवृत्ति-मार्ग की निन्दा की और अपने सद्गृहस्थ-धर्म की प्रशंसा की। फिर श्रीनारदजी को शाप दिया—"लोक-लोकान्तरों में भटकते रहो, कहीं भी तुम्हारे ठहरने के लिये ठौर नहीं रहेगी।" श्रीनारदजी ने शाप-ग्रहण कर लिया। शुकदेवजी ने इनकी साधुता सराही है कि इन्होंने शक्ति रहते हुए भी अपकार सह लिया है। यह कथा भाग० ६।५ के अनुसार है।

'जाई'—प्रायः शिष्य गुरु के पास जाते हैं, पर नारदजी स्वयं उक्त शिष्यों के पास गये, ऐसे ही तुम्हारे (पार्वती के) पास भी स्वयं आये, क्योंकि स्वार्थी हैं (स्तुति-पक्ष—परोपकारी दयालु हैं)।

(२) 'चित्रकेतु कर घर···'—शूरसेन देश में चक्रवर्ती सम्राट् महाराज चित्रकेतु राज्य करते थे। उनके एक करोड़ रानियाँ थीं। फिर भी इनके कोई सन्तान नहीं थी। एक दिन परम समर्थ अंगिरा

ऋषि इनके महल में आये। राजा ने स्वागत किया, उसकी विशेष भक्ति एवं नम्रता से प्रसन्न हो ऋषि ने कुशल प्रश्न कर यह भी कहा कि तुम सन्तुष्ट नहीं हो, चिन्तित हो, क्या कारण है? राजा ने सन्तान-हीनता का दुखड़ा कह सुनाया और फिर पुत्र-प्राप्ति के लिये विनती की। ऋषि ने त्वष्टा देवता के योग्य चरु निर्माण कर उनका यजन किया। यज्ञ का अवशिष्ट भाग बड़ी रानी कृतद्युति को दिया। ऋषि ने कहा कि सन्तान होगी। वह तुम्हें हर्ष और शोक दोनों देगी। ऋषि चले गये। पुत्र उत्पन्न हुआ, राजा ने बहुत प्रकार से दान दिये। पुत्रवती उस बड़ी रानी पर राजा की बड़ी प्रीति बढ़ती गई। अन्य रानियाँ एक तो सन्तानहीन थीं, फिर राजा की भी उनमें प्रीति कम होती गई, इससे उनके हृदय में डाह होने लगी। उन्होंने आपस में अपनी हीनता पर बहुत ग्लानि की और फिर सबने सम्मति कर अवसर पा उस बच्चे को विष दे दिया, इससे वह बालक मर गया।

दासी से जानकर उसकी माँ रोने-चिल्लाने लगी। सहानुभूति दिखाती हुई, उसकी और सपत्नियाँ भी रोती थीं। राजा रोते हुए मूर्च्छित होकर गिर पड़े, मन्त्री आदि भी शोकग्रस्त हो गये।

उसी समय वहाँ पर अंगिरा ऋषि और श्रीनारदजी पहुँच गये। इन्होंने बहुत प्रकार से समझाया, तब राजा को धैर्य हुआ और उन्होंने शोक से मलिन मुख को हाथों से पोंछा। ऋषियों ने अपना परिचय दिया और कहा कि हम दोनों तुमपर अनुग्रह करने आये हैं। अंगिरा ने कहा कि मैंने ही प्रथम तुम्हें पुत्र दिया था। मैं वही अंगिरा हूँ और ये परम समर्थ नारदजी हैं। अब तो अनुभव कर लिया कि पुत्र आदि कैसे शोक के कारण एवं अनित्य हैं। संसार ही अनित्य है।

श्रीनारदजी ने राजा को मन्त्रोपदेश दिया और कहा कि इससे सात रातों में ही तुम्हें भगवान् संकर्षण के दर्शन होंगे। श्रीनारदजी ने सबके समक्ष उस मृत बालक को जिला दिया और इस शरीर में रहकर स्वजनों को सुखी करना कहा। उसके जीवात्मा ने उस देह से कहा—'मैं कर्मानुसार देव, नर, पशु, पक्षी आदि योनियों में न जाने कितने जन्मों से भटक रहा हूँ। उनमें से ये लोग किस जन्म में मेरे माता-पिता हुए? विभिन्न जन्मों में सभी एक-दूसरे के भाई, नाती, गोत्री, शत्रु, मित्र, मध्यस्थ आदि होते रहते हैं। जीव नित्य, मान-रहित, अविनाशी, सूक्ष्म, सबका आश्रय एवं स्वयं प्रकाश है, इसके स्वरूप से जन्म-मरण नहीं होते। ऐसे ही विवेक की बातें कह वह चला गया। उसके सम्बन्धी विस्मित हुए और शोक जाता रहा। राजा को ज्ञान हुआ। उन्होंने दोनों ऋषियों की वन्दना की।

श्रीनारदजी ने गृहरूपी अन्धकूप से विरत एवं आश्रित राजा को वह विद्या समझाई और वे ब्रह्मलोक को चले गये। राजा ने उक्त मन्त्र का सात दिन-रात अनुष्ठान किया। इससे भगवान् शेष (सङ्कर्षण) के दर्शन हुए। यह कथा भाग० ६।१४–१६ के अनुसार है।

'कनककसिपुकर···'—नारदजी ने हिरण्यकशिपु की स्त्री को उपदेश दिया, गर्भस्थ प्रह्लाद ने जिसको धारण किया, जिससे पिता से विरोध हुआ। पिता मारा गया। इस प्रसंग की कथा दो० २५ चौ० ४ में देखिये।

यहाँ तीनों लोकों के एक-एक उदाहरण हैं। दक्षसुत देवलोक के, चित्रकेतु भूलोक के और हिरण्य-कशिपु पाताल के हैं अर्थात् तीनों लोकों के घर बिगाड़नेवाले ये नारदजी ही हैं। तीन बहुवचन हैं। अतः, सूचित हुआ कि इनके द्वारा बहुत घर बिगड़े।

नारद-सिख जे सुनहिं नरनारी। अवसि होहिं तजि भवन भिखारी ॥३॥
मन कपटी तन सज्जन चीन्हा। आप सरिस सबही चह कीन्हा ॥४॥

अर्थ—जो स्त्री-पुरुष नारदजी की शिक्षा सुनते हैं, वे अवश्य घर-बार छोड़कर भिक्षुक होते हैं ॥३॥ वे (नारदजी) मन से तो कपटी हैं, उनके तन में सज्जनों के चिह्न हैं, वे अपने समान सभी को करना चाहते हैं ॥४॥

विशेष—'अबसि होहिं···भिखारी।'—नारद को द्वार-द्वार भीख माँगनी पड़ती है, दुःख उठाना पड़ता है। इसीसे स्पष्ट है कि वे मन के कपटी हैं और चाहते हैं कि जैसे हम घर-बार-रहित हैं, वैसे सब हो जायँ, बसा घर उजाड़ने की खोज में रहते हैं। देह में ऊपर से तिलक, कंठी, माला धारण किये हुए, वीणा लिये श्रीराम-यश गाते रहते हैं। ये सज्जनों के चिह्न रखते हैं, पर कर्त्तव्य तो निराला ही है कि सज्जन बिछुड़ों को मिलाते हैं और ये फोड़ते हैं। मन के कपटी और तन में सज्जन-चिह्न धारण करनेवाले हैं। नारद-सिख से—'अबसि होहिं तजि भवन भिखारी।' यह वचन का दोष है, अर्थात् वे इन तीनों से पर-घर-घालक हैं, यथा—"करम उपासना कुवासना बिनास्यो, ज्ञान वचन, विराग-वेष जगत हरो-सो है।" (क० उ० ८४)।

'नरनारी'—उपर्युक्त तीनों (दक्षसुत, चित्रकेतु और हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद) पुरुष हैं, उनमें भी प्रह्लाद-सम्बन्धी उपदेश उनकी माता को दिया गया है। स्पष्ट करने को यहाँ 'नर' और 'नारी' भी कहे गये कि कोई भी सुने, वही दशा होती है। यह भी भाव है कि तीनों नर बिगड़े, तुम नारी की भी वही दशा की। अतः, वे नर और नारी सबके घर बिगाड़नेवाले हैं। यहाँ तक उपदेष्टा की निन्दा की, आगे वर की निन्दा करते हैं—

स्तुति-पक्ष—भिखारी अर्थात् विरक्त बनाते हैं, मन को संसार से कपटे (अलग किये) हुए हैं और स्वयं सज्जन का बाना रखते हैं, वैसे ही औरों को भी बनाते हैं।

तेहि कै बचन मानि बिस्वासा। तुम चाहहु पति सहज उदासा ॥५॥
निर्गुन निलज कुबेष कपाली। अकुल अगेह दिगंबर ब्याली ॥६॥
कहहु कवन सुख अस बर पाये। भल भूलिहु ठग के बौराये ॥७॥
पंच कहे सिव सती बिबाही। पुनि अवडेरि मरायेन्हि ताही ॥८॥

शब्दार्थ—अवडेरना = फेर में डालना, झंझट में डालना, तंग करना।

अर्थ—उन्हींके वचन पर विश्वास करके तुम (ऐसे व्यक्ति को) पति बनाना चाहती हो, जो जन्म-सिद्ध-स्वभाव से ही उदासीन है ॥५॥ गुण-रहित, निर्लज्ज, बुरे वेषवाला, मुंडमाल-धारी, कुल-हीन, गृह-हीन, नंगा और सर्प लपेटनेवाला है ॥६॥ कहो तो भला, ऐसा वर पाकर कौन सुख मिलेगा? उस (नारद) ठग के बहकाने में तुम खूब भूल गई हो ॥७॥ पंचों के कहने से शिवजी ने सती को ब्याहा था, फिर उसे फेर (चक्कर) में डालकर मरवा डाला ॥ ८ ॥

विशेष—शिवजी 'सहज उदासा' 'अगेह'—उदासीन लोगों की तरह श्मशान एवं नदी-तट पर पड़े रहते हैं। वहाँ मुर्दा आदि देखते रहने से देह की अनित्यता एवं आत्म-बुद्धि बनी रहती है। शिवजी को किसीका संग नहीं सुहाता। जब गेह (घर) ही नहीं है, तब रहोगी कहाँ! 'दिगंबर'—वे स्वयं नंगे रहते हैं, तो तुम्हें कहाँ से वस्त्र लाकर पहनावेंगे? 'अकुल'—तुम्हें सास, श्वशुर आदि परिवार नहीं मिलेंगे, ऐसे सूने स्थान में कैसे रहोगी? घर का, पति का, कुल का, खाने का और पहनने का कोई भी सुख नहीं है।

इन शब्दों के स्तुति-पक्ष के अर्थ से शिवजी में सन्तों के लक्षण आ जाते हैं। दो० ६६ चौ० ८ के विशेष में देखिये।

दोहा—अब सुख सोवत सोच नहिं, भीख माँगि भव खाहिं।
सहज एकाकिन्ह के भवन, कबहुँकि नारि खटाहिं ॥७९॥

अर्थ—अब (शिवजी) सुख से सोते हैं, कुछ शोच (फिक्र) नहीं है और संसार में भीख माँगकर खाते हैं। भला, जो स्वाभाविक अकेले रहनेवाले हैं, उनके घर में क्या स्त्री कभी ठहर (निभ) सकती है?

विशेष—'अब सुख सोवत'—जब सती थीं, तब शोच था, उनके मरने से सुखी हैं। अकेले रहनेवाले को स्त्री के रहने का शोच था, वह मिट गया। दूसरा उन्हें अच्छा नहीं लगता।

स्तुति-पक्ष—यथा—"प्रसाद रामनाम के पसारि पायँ सूतिहौं।" (क० उ० ६९); तथा—"सोवे सुख तुलसी भरोसे एक राम के।" (क० उ० १०९)।

अजहूँ मानहु कहा हमारा। हम तुम्ह कहँ बर नीक बिचारा ॥१॥
अति सुंदर सुचि सुखद सुसीला। गावहिं बेद जासु जस लीला ॥२॥
दूषनरहित सकल - गुन - रासी। श्रीपति - पुर - बैकुंठ-निवासी ॥३॥
अस बर तुम्हहि मिलाउब आनी। सुनत बिहँसि कह बचन भवानी ॥४॥

अर्थ—अब भी हमारा कहा मान जाओ तो हमने तुम्हारे लिये अच्छा वर विचार रक्खा है ॥१॥ वह बहुत सुन्दर, पवित्र, सुखदायी और सुशील हैं, उनके यश और चरित को वेद गाते हैं ॥२॥ वे दोषों से रहित और सब गुणों की राशि हैं, लक्ष्मी एवं शोभा के स्वामी और वैकुण्ठपुरी के रहनेवाले हैं ॥३॥ ऐसे वर को लाकर (हम) तुमसे मिला देंगे। इन वचनों को सुनकर भवानी (पार्वतीजी) ने मुसकुरा कर कहा ॥४॥

विशेष—(१) 'अति सुंदर सुचि···बैकुंठ निवासी।'—विष्णु बड़े ही रूपवान् हैं। उनमें पंच मुख, जटा धारण, पन्द्रह नेत्र आदि की तरह कुरूपता नहीं है। स्त्रियों को रूप अति प्रिय होता है, इससे पहले रूप ही कहा है। 'सुचि'—पवित्र हैं, शिवजी की तरह चिताभस्म, मुण्डमाल आदि नहीं रखते। 'सुखद'—ये जगत् का पालन करते हैं, इनके दर्शनों से ही सुख होता है, व्याली शिवजी की तरह भयंकर नहीं हैं और न संहार ही करते हैं। 'सुसीला'—सबका योग्य आदर करते हैं, ऐसे नहीं हैं जैसे शिवजी ने दक्ष का अनादर किया है। प्रत्युत ऐसे शीलवान् हैं कि भृगु के लात मारने पर भी उनका सत्कार ही किया। 'दूषन-रहित'—निर्लज्जता आदि दूषणों से रहित हैं। 'पुर बैकुंठ निवासी'—इनका पुर अत्यन्त सुन्दर है और घर-बार भी है, शिवजी की तरह 'अगेह' नहीं हैं। 'श्रीपति'—लक्ष्मी के पति हैं, शिवजी की तरह सहज एकाकी नहीं हैं। यद्यपि श्री का प्रधान अर्थ लक्ष्मी है, तथापि यहाँ पार्वती की रुचि बढ़ाने का प्रसंग है, इसमें सपत्नी-द्वेष रुचिघातक होगा। अतः, शोभा अर्थ लेकर शिवजी की कुवेषता के विपर्यय में संगत कहा जाता है।

'मिलाउब आनी'—तुम्हारे इतने उग्र तप पर भी शिवजी न मिले और हम बिना श्रम ही वैसे सुन्दर वर को यहाँ लाकर मिला देंगे। 'बिहँसि'—यह यहाँ निरादर के भाव से है।

पूर्व शिवजी में नौ अवगुण कहे थे, उन्हीं के विपर्यय में यहाँ विष्णु में नौ गुण कहे हैं। पं० रामकुमारजी ने विष्णुजी के गुणों के साथ शिवजी के अवगुणों का मिलान यों किया है—

१ अति सुंदर—कुवेष,	४ सुशील—सहज उदासी,	७ सकल गुन रासी—निर्गुण,
२ सुचि—कपाली,	५ गावहिं बेद जासु जस—अकुल,	८ श्रीपती—दिगम्बर,
३ सुखद—व्याली,	६ दूषन रहित—निर्लज्ज,	९ पुर बैकुंठ निवासी—अगेह।

अंकों की सीमा नव है, इस तरह एक को अवगुणों की और दूसरे को गुणों की सीमा कहा है। श्रीपार्वतीजी ने भी ऐसा समझा और कहा है, यथा—"महादेव अवगुनभवन, बिष्नु सकल गुनधाम।" (दो० ८०)।

यहाँ परीक्षा के लिये ही शिव में अवगुण शब्द कहे गये हैं, वास्तव में वे सब उनमें गुण ही हैं, यथा—"जौ बिबाह संकर सन होई। दोषउ गुन सम कह सब कोई ॥" (दो० ६८)।

'बिहँसि कह···'—मुनियों की मूर्खता पर हँसीं कि इन्होंने हस्तरेखा एवं विधि अंक एक भी नहीं माना, अपने बल पर ऐसा कहते हैं। अतः, मूर्ख हैं।

सत्य कहेहु गिरिभव तनु येहा। हठ न छूट छूटइ बरु देहा ॥५॥
कनकउ पुनि पषान ते होई। जारेहु सहज न परिहर सोई ॥६॥
नारद - बचन न मैं परिहरऊँ। बसउ भवन उजरउ नहिं डरऊँ ॥७॥
गुरु के बचन प्रतीति न जेही। सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही ॥८॥

दोहा—महादेव अवगुन भवन, बिष्नु सकल गुनधाम।
जेहि कर मन रम जाहि सन, तेहि तेही सन काम ॥८०॥

शब्दार्थ—भव—उत्पन्न। कनकउ=सोना भी। पषान=पाषाण, पत्थर। सहज=स्वभाव (यहाँ रंग एवं कठोरता से तात्पर्य है)। बसउ=बसे। उजरउ=उजड़े।

अर्थ—आपने सत्य ही कहा है कि (मेरी) यह देह पहाड़ (जड़) से उत्पन्न है, (अतः, इसका) हठ नहीं छूटेगा, चाहे शरीर भले ही छूट जाय ॥५॥ सोना भी तो पत्थर से ही (उत्पन्न) होता है, वह भी अपना स्वभाव (रंग एवं काठिन्य) तपाने पर भी नहीं छोड़ता ॥६॥ मैं श्रीनारदजी का उपदेश नहीं छोड़ूँगी, घर बसे, चाहे उजड़े, मैं इसके लिये नहीं डरती ॥७॥ जिसको गुरु के वचनों पर विश्वास नहीं है, उसको स्वप्न में भी सुख एवं सिद्धि सुगम नहीं ॥८॥ शिवजी अवगुणों के घर और विष्णुजी समस्त गुणों के स्थान (ही) हों, परन्तु जिसका मन जिसमें रम जाता है, उसको उसीसे प्रयोजन रहता है ॥८०॥

विशेष—(१) 'सत्य कहेहु·····'—पूर्व सप्तर्षियों ने कहा था—'गिरि-संभव तव देह', उसीका उत्तर यहाँ दो अर्द्धालियों में है अर्थात् कारण के अनुसार कार्य होता है। अतः, 'गिरि-भव' होने से मेरा हृदय भी कड़ा है, वह 'टस से मस' नहीं होने का।

(२) 'कनकउ पुनि·····'—यथा—"कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रीतम-पद नेम निबाहे ॥" (अ० दो० २०४)।

(३) 'गुरु के बचन·····'—ऋषियों के वचन थे—'नारद कर उपदेस सुनि, कहहु बसेउ किसु गेह।' 'तेहि के बचन मानि बिस्वासा।' यहाँ उनके उत्तर हैं। विश्वास का कारण कहती हैं कि वे मेरे गुरु हैं। अतः, उनके वचन किसी तरह नहीं छोड़ूँगी, (गुरु में ऐसा ही विश्वास चाहिये)।

(४) 'जेहि कर मन रम·····' यथा—"मीठ काह कवि कहहिं जाहि जोइ भावइ।" (पार्वती मं० ७२); तथा—"गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई।" (दो० ४)। कवि कालिदास का 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' (रघुवंश, सर्ग ६) तो प्रसिद्ध है ही।

जौ तुम्ह मिलतेहु प्रथम मुनीसा। सुनतिउँ सिख तुम्हारि धरि सीसा ॥१॥
अब मैं जनम संभु - हित हारा। को गुन - दूषन करइ बिचारा ॥२॥
जौ तुम्हरे हठ हृदय बिसेखी। रहि न जाइ बिनु किये बरेखी ॥३॥
तौ कौतुकियन्ह आलस नाहीं। बर कन्या अनेक जग माहीं ॥४॥

अर्थ—(यदि ऋषि लोग कहें कि तुम एक के वचन पर दृढ़ रहकर दोषवाले स्वामी का भी ग्रहण करती हो और हम सातों के कहने पर गुणनिधि का भी न ग्रहण कर हम सातों का अपमान क्यों करती हो ?

तो उसका उत्तर उमाजी देती हैं) हे मुनीश्वरो ! यदि आपलोग पहले मिले होते तो आप ही के उपदेश सिर पर चढ़ाकर सुनती ॥१॥ अब तो मैंने अपना जन्म शिवजी के लिये हार दिया है, (फिर) गुणों और दोषों का विचार कौन करे ? ॥२॥ जो आपके हृदय में विशेष हठ है और बिना बरेखी (विवाह की ठहरौनी—घटकैती) किये नहीं रहा जाता हो ॥३॥ तो कौतुकियों को आलस तो होता नहीं । जगत् में अनेक वर तथा कन्याएँ हैं, (वहाँ अपनी साध पुरा लें) ॥४॥

विशेष—(१) 'धरि सीसा'—सादर सुनना, यह मुहावरा है ।

(२) 'जनम संभु-हित हारा'—प्रेम-रूप जुए में मैं अपने आपको हार गई, इसपर मेरा अधिकार नहीं रहा । यह उत्तम कुल की कन्या का धर्म नहीं कि मन एक में लगाकर फिर उसका गुणागुण विचारे और गुण सुनकर दूसरे में लगावे । 'अस बर मिलाउब आनी' के प्रति 'जौ तुम्हरे हठ ···' कहती हैं ।

(३) 'कौतुकियन्ह आलस नाहीं'—खेलाड़ी लोगों को आलस हो तो वे खेल में व्यर्थ काम क्यों करें ? तथा—'बिप्र बेष देखत फिरहिं, परम कौतुकी तेउ ।" (दो० १३३) । आपलोग तो खेल करने आये हैं, नहीं तो वर की तरफ से बरेखी नहीं की जाती । आप जो विष्णु की ओर से कन्या ढूँढ़ने निकले हों तो अन्यत्र बहुत घर हैं ।

जनम कोटि लगि रगरि हमारी । बरउँ संभु नतु रहउँ कुँआरी ॥५॥
तजउँ न नारद कर उपदेसू । आप कहहिं सत बार महेसू ॥६॥
मैं पा परउँ कहइ जगदंबा । तुम्ह गृह गवनहु भयेउ बिलंबा ॥७॥
देखि प्रेम बोले मुनि ज्ञानी । जय जय जगदंबिके भवानी ॥८॥

अर्थ—(यदि आप कहें कि अच्छा, यह जन्म गया तो गया, अगले जन्म के लिये हम अभी से कह रखते हैं । मैं तो यहाँ तक कहती हूँ कि यदि इस जन्म में शिवजी न मिलें, तब भी आशा न रखिये, क्योंकि) करोड़ जन्मों तक मेरी यही रगड़ रहेगी कि ब्याहूँगी तो शिवजी को ही, अन्यथा कुँआरी ही रहूँगी ॥ ५ ॥ मैं नारदजी के उपदेश नहीं छोड़नेवाली नहीं, (चाहे) स्वयं शिवजी ही सौ बार (क्यों न) कहें ॥ ६ ॥ जगन्माता (पार्वतीजी) कहती हैं कि मैं आपके पाँवों पड़ती हूँ, आप घर जायँ, विलम्ब हुआ ॥ ७ ॥ उमाजी का प्रेम देखकर ज्ञानी मुनि बोले, हे जगन्माता ! हे भवानी ! आपकी जय हो, जय हो ॥ ८ ॥

विशेष—(१) 'आप कहहिं सत बार महेसू'—यद्यपि शिवजी इष्ट हैं, तथापि आचार्य का पद इष्ट से भी अधिक माना जाता है, यथा—'तुम्हते अधिक गुरुहिं जिय जानी ।" (अ० दो० १२८); तात्पर्य यह कि कहीं-कहीं इष्ट ही सिद्धि के समय विघ्न करते हैं, जैसे परीक्षार्थ शिवजी का ही आना कुमारसम्भव तथा पार्वती-मंगल में कहा है । अतः, गुरु के वचन पर दृढ़ रहना चाहिये ।

(२) 'मैं पा परउँ···'—यहाँ 'जगदंबा' कहा है, क्योंकि मुनियों पर भी वात्सल्य है, इष्ट-निन्दा पर भी क्रोध न करके विनती ही करती हैं । यह मुहावरा है—"भाई ! हम तुम्हारे पाँवों पड़ते हैं, अपने घर जाओ, बहुत हो चुका ।" वैसे ही हैरान होने पर यहाँ उमा ने भी कहा है, तथा—"भइ बड़ि बार आलि कहुँ काज सिधारइ । बकि जनि उठइ···' (पार्वती मंगल ४०); भाव यह कि उमाजी गुरु-निन्दा और इष्ट-निन्दा से ऊब गई हैं, इससे वे उपेक्षा से कहती हैं कि अब आप अपने घर जायँ और अपना कोई काम-काज देखें ।

(३) 'देखि प्रेम बोले ··'—'ज्ञानी', क्योंकि यहाँ 'जगदंबा' और 'भवानी' कहकर फिर 'माया' और 'भगवान' कहते हैं । इस तरह माधुर्य को ऐश्वर्य से मिलाते हैं । 'जय-जय'—उमाजी को परीक्षा में ठीक पाया । अतः, मुनि लोग आनन्द के उद्गार से ऐसा कहने लगे ।

पूर्व "पारवती पहिं जाइ तुम्ह, प्रेम-परीछा लेहु।" (दो० ७७); से उपक्रम हुआ। यहाँ—'देखि प्रेम बोले मुनि···' पर उपसंहार है।

अलंकार—'विकलप' 'जनम कोटि···' में।

दोहा—तुम्ह माया भगवान सिव, सकल-जगत-पितु-मातु।
नाइ चरन सिर मुनि चले, पुनि पुनि हरषत गातु ॥८१॥

अर्थ—आप माया हैं तथा शिवजी भगवान् हैं, (आप दोनों) सारे संसार के माता-पिता हैं। (इतना कह) बारंबार (उमाजी के) चरणों में माथ नवाकर मुनि लोग चले, हर्ष से उनके शरीर बार-बार पुलकायमान होते हैं।

विशेष—सप्तर्षि प्रथम आये, तब उमा को प्रणाम नहीं किया, क्योंकि राजपुत्री मानकर उनकी परीक्षा लेना चाहते थे। इसीसे 'सैलकुमारी' ही कहा था, तब राजपुत्री को प्रणाम अयोग्य होता। अब उनको माया अर्थात् आद्याशक्ति कहा, तब प्रणाम भी किया। पहले ही यदि माता मानकर प्रणाम करते तो परीक्षा अनुचित होती।

'तुम्ह माया भगवान सिव···'—सारे जगत् के पिता-माता कहने के सम्बन्ध से माया और भगवान् पद-युक्त हैं, यथा—उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥" (वि० पु० ६।५।७८)।

मन, वचन, कर्म तीनों से स्तुति की—'जय जय' से वचन, 'नाइ सिर' से कर्म, 'हरषत गात' से मन द्योतित हुआ, क्योंकि हर्ष मन का धर्म है, उसके कारण देह पुलकित हो जाती है।

जाइ मुनिन्ह हिमवंत पठाये। करि बिनती गिरिजहिं गृह ल्याये ॥१॥
बहुरि सप्तरिषि सिव पहिं जाई। कथा उमा कै सकल सुनाई ॥२॥
भये मगन सिव सुनत सनेहा। हरषि सप्तरिषि गवने गेहा ॥३॥
मन थिर करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक-ध्याना ॥४॥

अर्थ—वहाँ से जाकर मुनियों ने हिमवान् को (गिरिजा के पास) भेजा। वे विनती करके पार्वतीजी को घर ले आये ॥१॥ फिर उन सातो ऋषियों ने शिवजी के पास आकर उमाजी की सारी कथा कही ॥२॥ पार्वतीजी का स्नेह सुनते ही शिवजी प्रेम में मग्न हो गये और सप्तऋषि प्रसन्न होकर अपने आश्रमों को गये ॥३॥ तब सुजान शिवजी अपने मन को स्थिर कर श्रीरघुनाथजी का ध्यान करने लगे ॥४॥

विशेष—'बहुरि'—जब श्रीपार्वतीजी घर आ गईं तब, क्योंकि शिवजी की आज्ञा थी कि—'गिरिहिं प्रेरि पठयेहु भवन' (दो० ७७); तथा पहले एक बार सप्तर्षि शिवजी के यहाँ गये थे। तब यहाँ भेजे गये, अब फिर गये, क्योंकि पार्वतीजी की निष्ठा सताती है।

'मन थिर करि···'—श्रीपार्वतीजी का प्रेम-समाचार सुनकर शिवजी आनन्द में मग्न हो गये। फिर वहाँ से मन स्थिर करके श्रीरामजी के स्मरण में लगे, यही 'सुजानता' है, यथा—"रामहिं भजहि ते चतुर नर।" (अर० दो० ६)।

श्रीपार्वती-प्रेम-परीक्षा-प्रकरण समाप्त।

मदन-दहन-प्रसंग

तारक असुर भयेउ तेहि काला। भुजप्रताप बल तेज बिसाला ॥५॥
तेहि सब लोक लोकपति जीते। भये देव सुख - संपति - रीते ॥६॥
अजर अमर सो जीति न जाई। हारे सुर करि बिबिध लराई ॥७॥
तब बिरंचि सन जाइ पुकारे। देखे बिधि सब देव दुखारे ॥८॥

शब्दार्थ—प्रताप = बिना सामना हुए ही शत्रु डर जाय, वह प्रताप है। तेज = सामने शत्रु दब जाय, वह तेज है। बिसाला = अधिक, बडा।

अर्थ—उन्हीं दिनों तारक नामक दैत्य हुआ, जो भुजाओं का बड़ा ही बलवान्, प्रतापी और तेजस्वी था ॥५॥ उसने समस्त लोकों और लोकपालों को जीत लिया। देवतागण सुख और सम्पत्ति से हीन हो गये ॥६॥ वह अजर-अमर था, इसीसे किसीके द्वारा जीता नहीं जा सकता था, देवतागण नाना प्रकार की लड़ाइयाँ करके हार गये ॥७॥ तब देवों ने ब्रह्माजी के पास जाकर गुहार लगाई। ब्रह्माजी ने सब देवों को दुखी देखा ॥ ॥

विशेष—'तारक असुर···' वज्रांग दैत्य ने पुत्र के लिये बड़ा उग्र तप किया। ब्रह्माजी ने उसे वर दिया कि तुम्हारे तारक नामक महा बलवान् पुत्र होगा। सहस्र वर्ष बीतने पर तारक पैदा हुआ। उसने भी उग्र तप किया, जिससे सुरासुर को भयभीत देखकर ब्रह्माजी ने उससे इच्छित वर माँगने को कहा। उसने देवताओं को जीतने की इच्छा प्रकट करते हुए वर माँगा कि किसी भी महापराक्रमी एवं किसी भी अस्त्र-शस्त्र से मेरी मृत्यु न हो। इसपर ब्रह्माजी ने कहा कि ऐसा वर माँगना अयोग्य है। तुमको अपने वरदान में एक-न-एक अपवाद रखना ही होगा जिससे शंका न हो। तब उसने विचारकर, यह माँगा कि सात दिनों के शिशु को छोड़कर और किसीसे मेरी मृत्यु न हो। 'एवमस्तु' कहकर ब्रह्मा चले गये। वह भी घर आया। ऐसा जानकर अन्य दैत्य लोग उससे मिले और उसे अपना राजा बनाया। फिर उसने सब देवताओं को जीत लिया, यहाँ तक कि विष्णु का चक्र भी उसका कुछ नहीं कर सकता था। तब सब देवताओं ने ब्रह्मा से पुकार की। यह कथा मत्स्य-पुराण अ० १४६–१५३ के अनुसार है।

'अजर अमर सो···'—यहाँ यह शंका की जाती है कि यदि अमर था तो मरा क्यों? समाधान भी हुए हैं—१. वह अजर-अमर देवों से जीता नहीं जाता था, इसमें आगे का 'सुर' पद विचारणीय है। २. वह अजर-अमर-सा था, इससे···, 'सो' का अर्थ 'यह' होता है, 'सों' होता तो यह हो सकता था। इसका ठीक अर्थ यही है कि वह ब्रह्माजी के वरदान से सात दिनों के बालक (श्री स्वामि कार्तिकेय) को छोड़कर किसीसे नहीं मर सकता था, इससे अजर-अमर कहा गया है, क्योंकि मारनेवाले काल-यम आदि कोई भी उसे नहीं मार सकते थे। इतना ही तात्पर्य है।

दोहा—सब सन कहा बुझाइ बिधि, दनुजनिधन तब होइ।
संभु - सुक्र - संभूत सुत, येहि जीतइ रन सोइ ॥८२॥

अर्थ—श्री ब्रह्माजी ने सबसे समझाकर कहा कि इस दैत्य का मरना तब होगा, जब शिवजी के वीर्य से उत्पन्न पुत्र हो, वही इसे युद्ध में जीतेगा ॥८२॥

विशेष—'कहा बुझाइ बिधि'—ब्रह्माजी ने समझाया कि इसके तप से सृष्टि जली जाती थी, उसीको बचाने के लिये मैंने इसे ऐसा वर दिया था। सात दिनों के शिशु से इसने मृत्यु माँगी है, जो तेजस्वी के वीर्य से उत्पन्न हो। शिवजी के वीर्य में ऐसा तेज है, जिससे सूर्यवत् प्रतापी पुत्र होकर तारक

का वध करेगा। अभी शिवजी पत्नी-रहित हैं। हिमवान् की कन्या इनकी पत्नी हों और उनके द्वारा शिवजी से पुत्र हो, उससे तारक का पराजय होगा।" (मत्स्यपुराण १५३।४७-५३)। यहाँ 'विरंचि' और 'बिधि' कहा है, क्योंकि वे सृष्टि के रचयिता हैं। अतः, पुकार सुनते हैं। विधि हैं। इससे सब विधान जानते हैं, विधान भी बतलाया कि शिवजी ऊर्ध्वरेता हैं, इनके वीर्य का पतन (रम्भादि) पर-स्त्रियों से न हो सकेगा। अतः, विवाह होना चाहिये।

मोर कहा सुनि करहु उपाई। होइहि ईश्वर करिहि सहाई ॥१॥
सती जो तजी दच्छमख देहा। जनमी जाइ हिमाचल-गेहा ॥२॥
तेहि तप कीन्ह संभु पति लागी। सिव समाधि बैठे सब त्यागी ॥३॥
जदपि अहइ असमंजस भारी। तदपि बात एक सुनहु हमारी ॥४॥

अर्थ—मेरा कहा सुनकर उपाय करो, ईश्वर सहायता करेगा उससे (कार्य) होगा ॥१॥ सतीजी ने, जिन्होंने दक्ष के यज्ञ में देह त्यागी थी, जाकर हिमाचल के घर में जन्म लिया है ॥२॥ उन्होंने शिवजी को पति होने के लिये तप किया है और शिवजी सब त्यागकर समाधि लगाये बैठे हैं ॥३॥ यद्यपि इसमें बड़ी दुविधा है, तथापि हमारी एक बात सुनो ॥४॥

विशेष—'समाधि बैठे'—पूर्व कहा गया है—"लगे करन रघुनायक-ध्याना।" (दो० ८१); उसी ध्यान में समाधि लग गई जो यहाँ के वचन से सूचित होता है।

'असमंजस भारी'—न जाने समाधि कब छूटे ? यदि छुड़ाई जाय तो छूटना कठिन है, फिर छुड़ाने-वाले की खैर नहीं, इत्यादि।

पठवहु काम जाइ सिव पाहीं। करइ छोभ संकर-मनमाहीं ॥५॥
तब हम जाइ सिवहिं सिर नाई। करवाउब बिवाह बरियाई ॥६॥
येहि बिधि भलेहि देवहित होई। मत अति नीक कहइ सब कोई ॥७॥
अस्तुति सुरन्ह कीन्हि अति हेतू। प्रगटेउ बिषम बान झखकेतू ॥८॥

दोहा—सुरन्ह कहीं निज बिपति सब, सुनि मन कीन्ह बिचार।
संभु-बिरोध न कुसल मोहि, बिहँसि कहेउ अस मार ॥८३॥

शब्दार्थ—भलेहि = भले ही = भली भाँति। हेतू = कारण तथा प्रेम से। झखकेतू—काम।

अर्थ—काम को भेजो कि वह जाकर शिवजी के मन को चलायमान करे ॥५॥ तब हमसब शिवजी के पास जाकर, प्रणाम करके बलात् उनका ब्याह करवा देंगे ॥६॥ इस प्रकार अच्छी रीति से देवताओं का हित होगा। सबने कहा कि यह मत बहुत अच्छा है ॥७॥ देवताओं ने बड़े प्रेम से (वा अत्यन्त कारण पड़ने से) स्तुति की तो मकरध्वज (जिसकी ध्वजा में मछली बनी है) पंचबाण-धारी (काम) प्रकट हुआ ॥८॥ देवताओं ने अपनी सारी विपत्ति कही, सुनकर उसने मन में विचार किया और फिर मुसुकुरा कर कामदेव ने ऐसा कहा कि यद्यपि शिवजी के वैर से मेरा कल्याण नहीं है ॥८३॥

विशेष—'बिषम बान'—बिषम = (यहाँ) पाँच, काम के बाण प्रायः फूल के ही पाये जाते हैं, यथा—"काम कुसुम धनु सायक लीन्हे।" (दो० २५६); "ते रतिनाथ सुमन सर मारे।" (अ० दो० २४)। ये पाँच हैं—कमल, अशोक, आम, नीलोत्पल और नवमल्लिका (बेला), तथा—"करना केतकि केवड़ा, कदम आम के बौर। ये पाँचों सर काम के, केसोदास न और॥" भी कहा है।

'बिहँसि'—हँसना देवताओं की स्वार्थ-साधकता पर उनके प्रति निरादर के भाव से है कि अपना कार्य हो, दूसरे का चाहे नाश ही क्यों न हो जाय! 'मार' अर्थात् काम—आज सबको मारनेवाला भी मारा जायगा, इसीसे 'मार' नाम कहा गया।

तदपि करब मैं काज तुम्हारा। श्रुति कह परम धरम उपकारा ॥१॥
पर-हित लागि तजइ जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही ॥२॥
अस कहि चलेउ सबहिं सिरनाई। सुमन धनुष कर सहित सहाई ॥३॥
चलत मार अस हृदय बिचारा। सिव-बिरोध ध्रुव मरन हमारा ॥४॥

अर्थ—तथापि मैं तुम्हारा काम करूँगा, (क्योंकि) श्रुतियाँ कहती हैं कि (पर-) उपकार करना परम धर्म है ॥१॥ दूसरे के हित के लिये जो शरीर छोड़ता है, सन्त लोग उसकी सदा प्रशंसा करते हैं ॥२॥ ऐसा कह और सबको प्रणाम कर वह (काम) फूलों का धनुष हाथ में लिये हुए सहायकों के साथ चला ॥३॥ चलते समय काम ने हृदय में ऐसा विचार किया कि शिवजी के विरोध से निश्चय मेरा मरण ही होगा ॥४॥

विशेष—'परम धरम उपकारा।', यथा—"परहित सरिस धरम नहिं भाई। पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥...निर्नय सकल पुरान बेद कर।" (उ० दो० ४०), तथा—"अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारं पुण्याय पापाय परपीडनम्।" (पुराणसमुच्चय)।

'संतत संत प्रसंसहिं...'—क्योंकि सन्त स्वयं भी मन, वचन और कर्म से परोपकारी होते हैं, यथा—"पर उपकार बचन मन काया। संत सहज स्वभाव खगराया ॥" (उ० दो० १२०)। सन्त मितभाषी भी होते हैं, कवि आदि कुछ बढ़ाकर भी कहते हैं।

'सबहिं सिर नाई।'—यहाँ पर सब लोकपालों और देवताओं के राजा इन्द्र भी हैं। अतः, बड़ों को प्रणाम करके जाना शिष्टाचार है। लङ्का-यात्रा में हनुमानजी और अङ्गदजी सबको सिर नवाकर यात्रा की है। अतः, सफलता के लिये भी बड़ों को प्रणाम करके चला। (इस देह से यह इसका अन्तिम प्रणाम है)।

'सहित सहाई'—वन, उपवन, वसन्त, भ्रमर, पक्षी आदि काम के सहायक हैं, यथा—'बिरह-बिकल बलहीन मोहिं, जानेसि निपट अकेल। सहित बिपिन मधुकर खग, मदन कीन्ह बगमेल ॥...' से—येहि के एक परम बल नारी। तेहिते उबर सुभट सोइ भारी ॥" (अर० दो० ३७) तक।

'सुमन धनुप कर'—काम का धनुप भी फूल का ही है, यथा—'धनुः पौष्पं...' (कालिदास), यहाँ बाण नहीं कहा गया, क्योंकि पूर्व—"बिषम बान मखकेतू।" में कह आये, दोनों जगहों पर दोनों बातें मिलाकर पढ़ना चाहिये। यह ग्रन्थकार की रीति है कि जो बात दो जगहों में कहनी होती है, उसका कुछ अंश एक जगह और कुछ दूसरी जगह कहते हैं। दोनों प्रसंग मिलाने से पूर्णता होती है।

कामदेव यहाँ मन, वचन, कर्म तीनों से परोपकार में लगा—"मन कीन्ह बिचार'—मन, 'चलेउ सबहिं सिर नाई।'—कर्म, 'तदपि करबि मैं काज...'—वचन।

'ध्रुव मरन हमारा'—पूर्व अनुमान किया था—'संभु-बिरोध न कुसल मोहिं।' अब निश्चय कर लिया कि मरण होगा ही। क्रमशः भय बढ़ता ही गया, यह शिवजी का प्रताप है।

तब आपन प्रभाव बिस्तारा। निजबस कीन्ह सकल संसारा ॥५॥
कोपेउ जबहिं बारि-चर-केतू। छन महँ मिटे सकल श्रुति सेतू ॥६॥

ब्रह्मचर्य ब्रत संयम नाना। धीरज धरम ज्ञान बिज्ञाना ॥७॥
सदाचार जप जोग बिरागा। सभय बिबेक-कटक सब भागा ॥८॥

अर्थ—तब उसने अपने प्रभाव का विस्तार किया और समस्त संसार को अपने वश में कर लिया ॥५॥ जिस समय कामदेव ने कोप किया, उसी समय क्षण-भर में सारी वेद-मर्यादाएँ मिट गईं ॥६॥ ब्रह्मचर्य, व्रत, नाना प्रकार के संयम, धैर्य, धर्म, ज्ञान, विज्ञान, सदाचार, जप, योग, विराग और विवेक की सारी सेना डरकर भाग चली ॥७-८॥

विशेष—'तब आपन प्रभाव···'—प्रश्न—इसे शिवजी से ही प्रयोजन था, सब संसार को क्यों सताया ?

उत्तर—इसने विचारा कि मेरी मृत्यु तो होगी ही, एक बार अपना प्रभाव तो जगत् को दिखा दूँ, नहीं तो लोग यही कहेंगे कि सामान्य था, इससे नष्ट हो गया। पुनः इसके विश्व-विजयी सिद्ध होने में शिवजी का भी महत्त्व होगा कि उन्होंने ऐसे को जीता।

(२) 'कोपेउ जबहिं·····'—काम को 'बारिचर केतू' कहा है, क्योंकि इसकी ध्वजा में मछली का चिह्न है। काम मन से उत्पन्न होता है। अतः, मनसिज कहाता है। मन, काम और मीन तीनों चंचल होते हैं, इसीसे साहचर्य है।

'बारिचर केतू' और 'श्रुतिसेतू'—काम द्रव-रूप होने से जल है। उसकी बाढ़ यहाँ तक बढ़ी कि वेदों के पुल टूट गये। कितना ऊँचा जल चढ़ा ? यह 'बारिचर केतू' से जनाया कि ध्वजा तक डूबी है, तभी मछली जीती रहती है। भला, पुल क्यों न टूट जायँ ? 'श्रुतिसेतू' अर्थात् वेदों की बाँधी हुई वर्णाश्रम आदि मर्यादाएँ। वही आगे कहते हैं—

(३) 'ब्रह्मचर्य ब्रत संजम·····'—ब्रह्मचर्य अर्थात् मन, वचन, कर्म से मैथुन त्याग करना। मैथुन के आठ प्रकार कहे गये हैं, यथा—"दर्शनं स्पर्शनं केलिः रहस्यं गुह्यभाषणम्। सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेवच ॥ एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।" इन आठों से बचना ब्रह्मचर्य व्रत है।

विवेक की सेना में ब्रह्मचर्य का नाम प्रथम कहा गया, क्योंकि काम के जीतने में यह प्रधान है और काम से युद्ध का प्रसंग ही है। संयम दो० ३६ चौ० १४ में कहा गया। 'धीरज'=धैर्य=कामादि के वेग से न घबराना। धर्म, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, योग आदि मानस-प्रसंग दो० ३६ में आ गये हैं।

छन्द—भागेउ बिबेक सहाय सहित सो सुभट संजुग-महि मुरे।
सदग्रंथ - पर्वत-कंदरिन्ह महँ जाइ तेहि अवसर दुरे ॥
होनिहार का करतार को रखवार जग खरभर परा।
दुइ माथ केहि रतिनाथ जेहि कहँ कोपि कर धनुसर धरा ॥

दोहा—जे सजीव जग अचर चर, नारि पुरुष अस नाम।
ते निज निज मरजाद तजि, भये सकल बस काम ॥८४॥

शब्दार्थ—संजुग-महि=रण-भूमि। मुरे=लौट पड़े, पीठ दी। दुरे=छिपे। खरभर=खलबली।

अर्थ—विवेक अपने सहायकों के साथ भाग खड़ा हुआ। उसके योद्धा लोगों ने रणभूमि में पीठ दे दी और उस अवसर पर वे सब सद्ग्रन्थ रूपी पहाड़ की कन्दराओं में जा छिपे ॥ क्या होनेवाला है ? हे ब्रह्मा ! हमारा रक्षक कौन है ? इस प्रकार जगत् भर में खलबली मच गई। ऐसा कौन दो सिरों वाला है

जिसके लिये रति के नाथ कामदेव ने क्रोध कर हाथ में धनुष-बाण धारण किया है ? संसार में जितने चर-अचर जीव हैं जिनके 'पुरुष' और 'स्त्री' ऐसे नाम हैं, वे सब अपनी-अपनी मर्यादा छोड़कर काम के वश में हो गये ॥८४॥

विशेष—इस काम की चढ़ाई के प्रसंग में यह छन्द चार बार आया है। इसका भाव यह है कि इसने अपने एक-एक चरण से एक-एक को अर्थात् चारो चतुष्टय को जीता है, १–जप, योग, ज्ञान, वैराग्य, २–देव, मनुष्य, तिर्यक, स्थावर, ३–चारो वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) ४–चारो आश्रम (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास)।

'सद्ग्रंथ पर्वत··· ···'—सद्ग्रन्थ पर्वत हैं, यथा—"पावन पर्वत बेद पुराना।" (उ० दो० ११९), उनके अध्याय-श्लोक आदि विभाग ही कन्दराएँ हैं। उनमें विवेक आदि लिखे मात्र रह गये, अब किसी व्यक्ति में दिखाई नहीं देते।

अलंकार—परिसंख्या, क्योंकि एक स्थल से वर्जित कर दूसरे स्थल पर ठहराये गये हैं।

'दुइ माथ को ···'—एक माथवाले जीव-मात्र को तो काम ने प्रभाव से जीत लिया, मानों एक-एक सिर कट गये। अब जिसके दो सिर होंगे, उसका एक अभी भले ही बचा हो, जिसका गर्व-नाश करने के लिये काम ने कुपित होकर धनुष-बाण उठाया है। (ये लोग नहीं जानते कि दो नहीं, वहाँ पाँच सिरों-वाला है, जिसके लिये काम ने धनुष-बाण धारण किया है)।

अलंकार—'प्रौढ़ोक्ति', क्योंकि यहाँ दो माथ का कोई नहीं है, पर उत्कर्ष दिखाने में कल्पित किया गया है।

सबके हृदय मदन अभिलाषा। लता निहारि नवहिं तरुसाखा ॥१॥
नदी उमगि अंबुधि कहँ धाई। संगम करहिं तलाव तलाई ॥२॥
जहँ असि दसा जड़न्ह कै बरनी। को कहि सकइ सचेतन्ह करनी ॥३॥
पसु पच्छी नभ-जल-थल-चारी। भये कामबस समय बिसारी ॥४॥
मदन-अंध ब्याकुल सब लोका। निसि दिन नहि अवलोकहिं कोका ॥५॥

अर्थ—सबके हृदय में काम-क्रीड़ा की इच्छा हुई। लताओं को देखकर वृक्ष अपनी शाखाओं को झुकाने लगे ॥१॥ नदियाँ उमंग में भर कर समुद्र की ओर दौड़ीं, तालाब और तलाई आपस में संगम (मिलन) करने लगे ॥२॥ जहाँ पर जड़ों की यह दशा कही गई है, वहाँ भला चैतन्य जीवों की करनी का वर्णन कौन कर सकता है ? ॥३॥ आकाश, जल और स्थल पर विचरनेवाले सारे पशु-पक्षी (अपने संयोग का) समय (ऋतु) भुलाकर कामदेव के वश में हो गये ॥४॥ सब लोग कामान्ध होकर व्याकुल हो गये, चकवे-चकई को रात-दिन तक नहीं दिखाई देता ॥५॥

विशेष—(१) 'सबके हृदय मदन···'—ऊपर 'चर-अचर' कह आये। अब उन्हें कुछ व्यष्टि (विस्तार) रूप में गिनाते हैं। यहाँ से तीन अर्द्धालियों में प्रथम अचर कहते हैं। फिर चर (चैतन्य) जीवों को कहेंगे।

'लता निहारि···' में पुरुष-वर्ग की और 'नदी-उमगि' में स्त्री-वर्ग की प्रबलता हुई। पुनः 'संगम करहिं···' में दोनों वर्गों में तुल्य प्रबलता है अर्थात् सबपर काम का प्रभाव बराबर पड़ा। 'को कहि सकइ ··'—क्योंकि घृणित एवं लज्जाजनक बात होने से अकथ्य है।

(२) 'लता निहारि'—इसपर शंका होती है कि जड़ों में नेत्र नहीं होते, फिर 'निहारना' क्यों कहा ? उत्तर भी दिया जाता है कि वर्त्तमान विज्ञान (साइंस) से भी वृक्षों का क्रोध करना, खाना, पीना,

मारना आदि सिद्ध हैं। कहावत भी है—'खरबूजा खरबूजे को देखकर रंग पकड़ता है', यथा—"इहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं। जे तरजनी देखि मरि जाहीं॥" (दो० २७२)।

(३) 'समय बिसारी'—कुत्ता-कुतिया कार्तिक में, गधा-गधी बैशाख में एवं चकवा-चकई दिन में ही संयोग करते हैं, इस समय सब बिना समय के ही कामवश हो गये।

(४) 'निसि दिन नहिं···'—कामोपभोग का समय रात है। इस समय ही काम ने अति प्रबल होकर शिवजी पर चढ़ाई की, पर चकवे-चकई की निराली रीति है कि ये दिन ही में संयोग करते हैं। इसलिये 'समय बिसारी' में इन्हें कहे हुए जीवों से भिन्न भी कहा। 'दिन' तो इनके उपयुक्त ही है, फिर भी न देखना कहा गया, क्योंकि इस तरह द्वन्द्व (जोड़ा) बोलने का मुहावरा है। जैसे 'इन्हें पाप-पुण्य का विचार नहीं', इसमें तात्पर्य पाप ही से है तथा मैंने उसे बहुत-कुछ 'भला-बुरा' कहा, इसका भी तात्पर्य 'बुरा' से ही है, वैसे चक्रवाक के भी 'निसि' न देखने में ही तात्पर्य है। यह काम-कौतुक ब्रह्माण्ड भर में है, इससे किसी समय के दो दण्डों में कहीं दिन कहीं रात रहती है। भारत के दिन के समय अमेरिका में रात रहती है।

'कोका'—सब-के-सब मानों कोक-शास्त्र के रचयिता 'कोका' पंडित ही हो गये। ऐसे कामोपभोग में निपुण हो गये कि रात-दिन, समय-कुसमय नहीं सूझता, क्योंकि सब कामान्ध हैं। यह भाव भी शब्द-ध्वनि से निकलता है।

देव दनुज नर किन्नर ब्याला। प्रेत पिसाच भूत बेताला॥६॥
इन्ह कै दसा न कहेउँ बखानी। सदा काम के चेरे जानी॥७॥
सिद्ध बिरक्त महामुनि जोगी। तेपि कामबस भये बियोगी॥८॥

अर्थ—देव, दैत्य, मनुष्य, किन्नर, सर्प, प्रेत, पिशाच, भूत और बेताल॥६॥ इनको सदा ही काम के चेरे (चेले एवं चाकर) समझकर मैंने इनकी दशा को विस्तार से नहीं कहा॥७॥ जो सिद्ध, वैरागी, महामुनि और महायोगी हैं, वे भी काम-वश होकर बिरही एवं योग-रहित हो गये॥८॥

विशेष—(१) 'देव दनुज नर···'—मनुष्य मरकर प्रेत होते हैं। 'पिशाच-भूत बेताल'—देवयोनि-विशेष हैं। पिशाच मांसाहारी, भूत भयंकर और बेताल ज्वलितमुख होते हैं।

(२) 'भये बियोगी'—वियोगी के यहाँ दो अर्थ हैं—विगत-योगी अर्थात् काम की प्रबलता में अष्टांग योग-वृत्ति-रहित हो गये। आलिंगन-चुम्बन आदि करने लगे। पुनः, ये लोग प्रायः स्त्री-रहित ही रहते हैं। अतः, महाकामी की तरह बिरही (वियोगी) देख पड़ते हैं। सबका ध्यान एवं सदाचार चला गया।

छन्द—भये कामबस जोगीस तापस पामरन्हि की को कहे।
देखहिं चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहे॥
अबला बिलोकहिं पुरुषमय जग पुरुष सब अबलामयं।
दुइ दंड भरि ब्रह्मांड भीतर कामकृत कौतुक अयं॥

सोरठा—धरी न काहू धीर, सबके मन मनसिज हरे।
जे राखे रघुबीर, ते उबरे तेहि काल महँ॥८५॥

शब्दार्थ—नारिमय = स्त्री-ही-स्त्री। ब्रह्ममय = ब्रह्म-ही-ब्रह्म (सब जगत् ब्रह्म ही है)। दंड = २४ मिनट का समय। मनसिज = काम। अयं = यह।

अर्थ—योगीश्वर और तपस्वी लोग ही जब काम-वश हो गये, तब बेचारे नीचों की (दशा) कौन कहे ? जो सब चराचर को ब्रह्ममय देखते थे, वे अब उसे स्त्रीमय देखने लग गये ॥ स्त्रियाँ सारे संसार को पुरुषमय और पुरुष सभी को स्त्री-मय देखने लग गये। दो दंडों (घड़ियों) तक ब्रह्मांड-भर के भीतर कामदेव ने यह कौतुक किया ॥ किसीने धैर्य धारण नहीं किया, क्योंकि सबके मन कामदेव ने हर लिया। जिनको श्रीरघुनाथजी ने रक्खा (बचाया), वे ही उस समय में उबरे (बचे) ॥८५॥

विशेष—'अबला बिलोकहिं···'—स्त्री देखती है कि मैं ही एक स्त्री हूँ और सब पुरुष हैं। यही दशा पुरुषों की भी जगत् के प्रति है।

'दुइ दंड भरि···कृत···'—कामदेव ने दो दंडों में ही ब्रह्मांड-भर में अपना कौतुक रचकर विस्तार कर दिया, ब्रह्मांड का कोई भाग शेष न रहा।

'जे राखे रघुबीर, ते उबरे···'—रक्षा के प्रसंग में रामजी को 'रघुबीर' कहा है, क्योंकि वीर ही रक्षा करता है। पूर्व विवेक का सहाय-सहित भागना कहा है। उसके सहायकों में जप, संयम आदि कर्म हैं। अतएव कर्म और ज्ञान का भागना कहा। उपासना की रक्षा अपनी वीरता से रघुवीर ने की, क्योंकि अमानी भक्त भगवान् के अबोध शिशु के समान होते हैं। अतः, वे उनकी रक्षा करते हैं, यथा—"सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू ॥" (दो० १२५), तथा—"तिनकी न काम सकै चापि छाँह। तुलसी जे बसहि रघुबीर-बाँह ॥" (गी० अ० ४९)। रघुवीर के रक्षा करने का रहस्य नारद के प्रति अर० दो० ४२-४३ में कहा गया है। दो दण्डों में ही मार्ग चलते हुए उसने सारे ब्रह्माण्ड क जीत लिया।

उभय घरी अस कौतुक भयेऊ। जब लगि काम संभु पहिं गयेऊ ॥१॥
सिवहिं बिलोकि ससंकेउ मारू। भयेउ जथाथित सब संसारू ॥२॥
भये तुरत जग जीव सुखारे। जिमि मद उतरि गये मतवारे ॥३॥

अर्थ—जबतक काम शिवजी के पास गया तबतक दो दंडों तक ऐसा कौतुक होता रहा ॥१॥ शिवजी को देखकर कामदेव डर गया, (तब) सब जगत् ज्यों-का-त्यों स्थिर हो गया ॥२॥ तुरंत ही संसार के सब जीव सुखी हो गये, जैसे मद के उतर जाने से मतवाले (सुखी होते हैं)।

विशेष—(१) 'उभय घरी अस···' पूर्व 'अस कहि चलेउ···' में काम का चलना कहा गया, इसीमें दो दंडों में कौतुक (क्रीड़ा) का विस्तार किया। काम मनोज है, एक साथ ही सबों के मन में व्याप्त हो गया, इससे सर्वत्र ब्रह्माण्ड भर में दो दण्ड भर उसका प्रभाव रहा। शिव-सम्मुख पहुँचते ही वह शान्त हो गया। पहले 'दुइ दंड···' कहकर ग्रन्थकार बचनेवालों की बात कहने लगे। फिर उसी 'दुइ दंड···' से प्रसंग लेते हुए 'उभय घरी···' कहा है। घड़ी और दंड हिं० श० सा० आदि कोषों में पर्यायी माने गये हैं। अतः, काम का कौतुक दो ही घड़ी हो पाया था कि वह शिवजी के पास पहुँच गया। 'अस कौतुक'—काम ने कौतुक में ही ब्रह्माण्ड भर को जीत लिया। यहाँ उसका उपसंहार 'उभय घरी···' पद पर हुआ है।

(२) 'ससंकेउ मारू', यथा—"स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रं पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम्। नालक्षयत् साध्वससन्नहस्तः स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात् ॥" (कुमार-सम्भव ३।५१), अर्थात् शिवजी पर जैसे ही काम की दृष्टि पड़ी, वह भय से शिथिल हो गया, उसे यह भी सुध न रही कि उसके हाथों से धनुष-बाण भय से गिर पड़े हैं। शंका हुई कि ये तो दुराधर्ष हैं, कैसे सामना करूँ ?

(३) 'जिमि मद उतरि गये ···'—मतवालों के मन, वचन और कर्म की सँभाल नहीं रहती, यथा—"बातुल भूत-बिवस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे ॥" (दो० ११४)। फिर नशा उतर

जाने पर सावधानता आ ही जाती है वैसे काम का नशा चढ़ने पर भी बुद्धि हर जाती है। जैसे हाथी मदान्ध होने पर व्याकुल रहता है, मद निकल जाने पर शान्त हो जाता है, वैसे काम को, नशा भी उतरने पर शान्ति आ जाती है। यहाँ 'मदन अंध ब्याकुल सब लोका।' पर व्याकुलता कामजन्य चंचलता की थी। यद्यपि काम भोग रूप है, तथापि अधिक को स्त्री सम्बन्ध भी नहीं हो पाया। जिन्हें था, उन्हें उपयुक्त समय भी नहीं रहा, इससे चंचलता की व्याकुलता रही। अब शान्त होने पर सुखी हुए, यथा—'तुलसी शान्ति समान सुख, अपर दूसरो नाहिं॥" (वैराग्य सं० ५०)। इससे 'सुखारे' होना लिखा गया है।

रुद्रहिं देखि मदन भय माना। दुराधर्ष दुर्गम भगवाना॥४॥
फिरत लाज कछु कहि नहिं जाई। मरन ठानि मन रचेसि उपाई॥५॥
प्रगटेसि तुरत रुचिर रितुराजा। कुसुमित नव तरुराजि बिराजा॥६॥
बन उपबन बापिका तड़ागा। परम सुभग सब दिसा बिभागा॥७॥
जहँ तहँ जनु उमगत अनुरागा। देखि मुयेहु मन मनसिज जागा॥८॥

शब्दार्थ—दुराधर्ष = जिसका दमन करना कठिन हो। दुर्गम = जहाँ जाना कठिन हो, कठिन, विकट। राजि = पंक्ति, कतार। उपवन = नजरबाग। अनुरागा = काम की लहर।

अर्थ—दुराधर्ष, दुर्गम और भगवान् रुद्र को देखकर कामदेव डर गया॥४॥ फिरने (लौटने) में लज्जा लगती है, उससे कुछ कहा नहीं जाता, अपना मरना मन में निश्चय जानकर वह उपाय रचने लगा॥५॥ तुरन्त ही सुन्दर वसन्त को प्रकट किया, नवीन वृक्षों की कतारें वृक्षों के फूलने से सुशोभित हो गईं॥६॥ वन, उपवन, बावलियाँ, तालाब और सब दिशाओं के विभाग परम सुन्दर लगने लगे॥७॥ जहाँ देखो वहाँ ही मानों अनुराग उमड़ रहा है, जिसे देखकर मरे हुओं के मन में भी काम जाग उठा॥८॥

विशेष—(१) 'रुद्रहिं देखि···'—रुद्र शिवजी का ही एक रूप है, इस रूप से वे प्रलय करते हैं। इसी रूप से कामदेव को भस्म किया। यह बड़ा भयंकर रूप है, यथा—"बिकट बेष रुद्रहि जब देखा। अबलन्ह उर भय भयउ बिसेखा॥" (दो० ९५)। 'मदन'—क्योंकि इसका मद नहीं रह गया।

(२) 'फिरत लाज···'—क्योंकि कामदेव ने देवताओं के सामने कहा था—"तदपि करब मैं काज तुम्हारा। श्रुति कह परम धरम उपकारा॥"—परहित लागि तजइ जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥" (दो० ८३)। लौटने पर लोग हँसेंगे कि झूठी ही डींग हाँकी थी।

(३) 'मुयेहु मन···'—यहाँ यदि मरे हुओं के मन का अर्थ करें, तो 'देखि' से विरोध पड़ता है, क्योंकि मरा हुआ देख नहीं सकता। अतः, यहाँ 'मुयेहु मन' पद से 'अत्यन्त बूढ़ों के मन में' यह अर्थ है, यथा—"मूएहि बधे नहिं कछु मनुसाई॥ ·····अति बूढ़ा।·····जीवत सब सम चौदह प्रानी॥" (लं० ३०), ये अत्यन्त बूढ़े मृतप्राय हैं, इनके भी मनों में काम जाग्रत हो आया। ऐसा कथन प्रायोवाद कहाता है, प्रायः किसी जड़ी आदि की प्रशंसा में लोग कह देते हैं कि यह मरे हुए को भी जिला सकती है, उसका भी तात्पर्य मरणासन्न लोगों को अच्छा करने में रहता है। यहाँ भी काम का प्रताप कथन है। अतः, यह संगत है। 'मुये मनवाले' का भाव तो उपर्युक्त 'सिद्ध बिरक्त महामुनि जोगी।' में आ ही गया है।

छन्द—जागइ मनोभव मुयेहु मन बन-सुभगता न परइ कही।
सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदन-अनल-सखा सही॥
बिकसे सरन्हि बहु कंज गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा।
कलहंस पिक सुक सरस रव करि गान नाचहिं अपछरा॥

दोहा—सकल कला करि कोटि बिधि, हारेउ सेन समेत।
चली न अचल समाधि सिव, कोपेउ हृदयनिकेत ॥८६॥

अर्थ—मरे हुओं के मनों में भी काम उद्दीप्त होने लगा। वन की सुन्दरता नहीं कही जाती। शीतल, सुगन्धित और सुन्दर मन्द पवन, जो कामरूपी अग्नि का सच्चा सखा (सहायं ख्यातीति सखा = सहायक) है, चल रहा है॥ सरोवरों में बहुत-से कमल खिल उठे, सुन्दर भ्रमरों का समूह गुंजार कर रहा है। कलहंस, कोयल और तोते सरस ध्वनि करते हैं और अप्सराएँ गान करके नाचती हैं॥ कामदेव करोड़ों प्रकार से अपनी सब कलाओं (उपायों) को करके सेना के साथ हार गया, परन्तु शिवजी की अचल समाधि नहीं डिगी, तब वह हृदय रूपी घर में ही रहनेवाला मनोज (काम) कुपित हुआ।

विशेष—'मदन-अनल-सखा सही।'—वायु अग्नि को उद्दीप्त करता है, इससे वह अग्नि का सखा है। इसी तरह त्रिविध वायु कामाग्नि को भी उद्दीप्त करता है, यथा—"चली सुहावन त्रिबिध बयारी। काम-कृसानु बढ़ावनि हारी॥" (दो० १२५), इसीसे वह काम का सखा है। जो आपत्काल में सहायक होता है, वह सच्चा सखा कहाता है, यथा—"धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपतकाल परखियहि चारी॥" (अर० दो० ४)। कहा भी है—"बिपति कसौटी जे कसे, तेई साँचे मीत।" इस समय काम घबराया हुआ है, वायु इस आपत्ति में उसका सहायक हुआ। अतः, 'सच्चा सखा' है।

'कलहंस'—यह हंसों की एक जाति है जिनका स्वर सुन्दर होता है, यथा—"बोलत जलकुक्कुट कलहंसा।" (अर० दो० ३९)।

'कोपेउ हृदयनिकेत'—हृदय ही काम का घर है, इसीसे वह मनोज कहाता है। शिवजी की समाधि अचल है। अतः, काम वहाँ जाने का मार्ग ढूँढ़ता है, अपने उस स्थल पर जाने का मार्ग न पाकर कोप किया है।

देखि रसाल - बिटपबर-साखा। तेहि पर चढ़ेउ मदन मन माखा॥१॥
सुमनचाप निज सर संधाने। अति रिसि ताकि श्रवन लगि ताने॥२॥
छाड़े बिषम बिसिष उर लागे। छूटि समाधि संभु तब जागे॥३॥

शब्दार्थ—रसाल = आम। माखा (मक्ष) = क्रोधित हुआ, यथा—"माखे लखन कुटिल भइ भौंहें।" (दो० २५.१)। संधाना = प्रत्यंचा पर बाण चढ़ाया। बिषम = तीक्ष्ण (एवं पाँच)।

अर्थ—मन से क्रुद्ध होकर कामदेव आम वृक्ष की एक शाखा देखकर उसपर चढ़ा॥१॥ और उसने अपने फूल के धनुष पर अपने (पंच) बाण चढ़ाये। फिर बड़े क्रोध से लक्ष्य कर और कान तक धनुष खींचकर तीक्ष्ण बाण छोड़े। वे (शिवजी के) हृदय में लगे। तब शिवजी की समाधि छूट गई और वे जाग पड़े॥२-३॥

विशेष—'देखि रसाल बिटप···' आम का पेड़ निकट और निशाने के योग्य था। आम काम का रथ कामांग, कामायुध एवं कामशर भी कहा जाता है (हिं० श० सा०), तथा रस का आलय (घर) है और काम भी रसरूप है। अतः, उसपर चढ़ा। यद्यपि संस्कृत में 'विटप' शाखा को कहते हैं और 'विटपी' वृक्ष को, तथापि भाषा में बिटप पेड़ का ही पर्यायी माना जाता है।

'छूटि समाधि'—शिवजी की इस समाधि में विघ्न हुआ, क्योंकि श्रीरामजी ने आज्ञा दी थी—"जाइ बिवाहहु सैलजहिं"—"अब उर राखेहु जो हम कहेऊ।" (दो० ७६)। इन्होंने आज्ञा शिरोधार्य करके फिर समाधि लगा ली थी। इधर पार्वतीजी का एवं देवताओं का दुःख शीघ्र मिटाना है।

भयेउ ईस - मन छोभ बिसेखी। नयन उघारि सकल दिसि देखी॥४॥

सौरभ - पल्लव मदन बिलोका । भयेउ कोप कंपेउ त्रैलोका ॥५॥
तब सिव तीसर नयन उघारा । चितवत काम भयेउ जरि छारा ॥६॥

शब्दार्थ—सौरभ = आम ।

अर्थ—श्रीशिवजी के मन में विशेष उद्वेग हुआ, (तब) उन्होंने आँखें खोलकर सारी दिशाओं में देखा ॥४॥ आम के पल्लवों में (छिपे हुए) काम को देखा तो उन्हें बड़ा क्रोध हुआ, उससे तीनों लोक काँप उठे ॥५॥ तब महादेवजी ने अपना तीसरा नेत्र खोला, उससे देखते ही वह कामदेव जलकर भस्म हो गया !॥६॥

विशेष—'ईस मन'—इतने समर्थ शिवजी के भी मन में क्षोभ हुआ, यह काम की बड़ाई है। 'तीसर नयन उघारा'—महादेवजी के प्रत्येक सिर में तीन नेत्र हैं, वे सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि के नाम से कहे जाते हैं, यथा—"भारती वदन, बिप्र अदन सिव ससि-पतंग पावक नयन।" (क० उ० १५२)। प्रथम दो नेत्रों (सूर्य-चन्द्रमा) से देखा था, तब काम को आम के पल्लव में पाया। फिर कुपित होकर तीसरा अग्नि-नेत्र खोला, उससे काम भस्म हो गया, क्योंकि जलाने का काम निष्ठुर अग्नि का है, यथा—"निठुर निहारिये उघारि डीठि भाल की (क० उ० १६६)।

हाहाकार भये जग भारी । डरपे सुर भये असुर सुखारी ॥७॥
समुझि काम सुख सोचहिं भोगी । भये अकंटक साधक जोगी ॥८॥

अर्थ—जगत् में बड़ा हाहाकार मच गया। देवगण डर गये और दैत्यगण प्रसन्न हुए ॥७॥ भोगी (विषयी) लोग काम-सुख का स्मरण करके चिन्ता कर रहे हैं और साधक-योगी बेखटके हो गये ॥८॥

विशेष—'डरपे सुर भये असुर···'—देवता लोग डरे कि जब काम भस्म ही हो गया, तब जो—'संभु-सुक्र-संभूत सुत, येहि जीतै रन सोइ' वाला ब्रह्मा का वरदान है—वह सत्य कैसे होगा ? अब तो शिवजी के वीर्य से पुत्र उत्पन्न होना असम्भव हो गया। ऐसे पुत्र के बिना तारकासुर मर नहीं सकता, अब तो दैत्य लोग और भी दुःख देंगे। देवताओं के डरने का यह भी कारण हो सकता है कि हम ही लोगों ने काम को भेजा था। अतः, शिवजी हमें भी दंड न दें।

असुरों को हर्ष हुआ कि अब हमलोग नाश से बचे, यह अच्छा हुआ।

'भये अकंटक···'—साधकों एवं योगियों के साधन-ध्यान में काम चंचलता लाता था, अब ये लोग निष्कंटक होकर प्रसन्न हैं, क्योंकि सब विकारों का मूल ही नष्ट हो गया।

यहाँ तक कामदेव के तीन आक्रमण कहे गये—१ 'तब आपन प्रभाव बिस्तारा' से 'धरी न काहू धीर···' तक, इससे ब्रह्माण्ड भर पराजित हो गया। २. शिवजी पर आक्रमण करते हुए उसने—'मरन ठानि मन रचेसि उपाई।' से 'सकल कला करि ···' तक अपने सहायक वसन्त, त्रिविध वायु एवं अप्सरा आदि के साथ सारी कलाओं से भी हार गया। ३. उसने स्वयं आम वृक्ष पर चढ़ कर धनुष-बाण चढ़ा प्रहार किया, तब समाधि छुड़ा पाया और साथ ही जल भी गया।

छंद—जोगी अकंटक भये पतिगति सुनति रति मुरछित भई ।
रोदति बदति बहु भाँति करुना करति संकर पहिं गई ॥
अति प्रेम करि बिनती बिबिध बिधि जोरि कर सन्मुख रही ।
प्रभु आसुतोष कृपाल सिव अबला निरखि बोले सही ॥

दोहा—अब ते रति तव नाथ कर, होइहि नाम अनंग।
बिनु बपु ब्यापिहि सबहि पुनि, सुनु निज मिलन-प्रसंग ॥८७॥

अर्थ—इधर योगी निष्कंटक हो गये, और उधर पति (काम) की दशा सुनकर रति मूर्च्छित हो गई। वह रोती, विलाप करती एवं बहुत प्रकार करुणा करती शिवजी के पास गई॥ बड़े प्रेम से नाना प्रकार की स्तुति करके हाथ जोड़कर सम्मुख खड़ी रह गई। समर्थ, शीघ्र प्रसन्न होनेवाले और कृपालु शिवजी ने अबला (दीन स्त्री) को देखकर सत्य वचन कहा (वा बोले ही तो सही)॥ हे रति! अब से तेरे पति का नाम अनंग होगा और वह बिना शरीर ही के सब में व्याप्त रहेगा। फिर तू अपने स्वामी से मिलने की कथा सुन ले ॥८७॥

विशेष—'रोदति वदति···'—'सुनति' इसने नारद जी से सुना, नारदजी ने ही आगे देवों से भी कहा—'देवन्ह समाचार···'। स्त्रियाँ मृत पति को देखकर छाती पीटकर रोती है, साथ ही उसके गुण, तेज, प्रताप आदि भी कहती हुई विलाप करती हैं। यही 'बदति' से कहा गया। पुनः आँसू गिराना करुणा करना है, यथा—"पति-सिर देखत मंदोदरी।" से—"सभय दिसिप नित नावहिं माथा॥" (ल० दो० १०३) तक। ऐसा ही रति का रोना विस्तार से कुमारसम्भव सर्ग ४ में है। उसमें काम की विलासिता का वर्णन भी विशेष है।

'अति प्रेम करि ···—इसमें 'अति प्रेम' से मन, 'करि बिनती' से वचन और 'जोरि कर' से कर्म दिखाया अर्थात् इसने मन, वचन, कर्म से स्तुति की, इससे शिवजी शीघ्र प्रसन्न हुए।

'प्रभु आसुतोष कृपाल सिव'—प्रभु अर्थात् आप समर्थ हैं, मरे हुए का जिलाना असम्भव है, उसे भी सम्भव कर सकते हैं। 'आसुतोष'—अर्थात् कोई आपके कितने भी अपराध करे, फिर दीन होकर प्रार्थना करे तो आप शीघ्र प्रसन्न होनेवाले हैं। आपका क्रोध शीघ्र शान्त हो जाता है, यह उत्तम श्रेणी का क्रोध है। प्रीति और विरोध के तीन भेद दोहावली में कहे हैं, यथा—"उत्तम मध्यम नीच गति, पाहन सिकता पानि। प्रीति परीक्षा तिहुन की, बैर व्यतिक्रम जानि॥" (३५२)। 'कृपाल'—इसपर कृपा भी करेंगे उससे काम के दोषों पर दृष्टि न देंगे। 'सिव'—कल्याण-स्वरूप हैं, देवताओं का कल्याण कैसे होगा? काम के बिना सृष्टि कैसे चलेगी? इत्यादि का प्रबन्ध भी करेंगे।

'अबला निरखि'—स्त्री का बल पति ही है, उसके मरने पर अब यह रति दीन हो गई है। अतः, यथार्थ अबला (बल-हीन) है, इससे दया करने के योग्य है।

'बिनु बपु ब्यापिहि ···'—कोप से प्रसाद में अधिकता हुई, क्योंकि पहले काम एकदेशीय एवं परिमित था, अब वह सर्वत्र व्याप्त रहनेवाला तथा सर्वदेशीय बन गया। इस प्रकार संसार का काम होगा। पुनः, रति के लिये उसके शरीर का भी वर देते हैं।

जब जदुबंस कृष्न अवतारा। होइहि हरन महा महिभारा॥१॥
कृष्नतनय होइहि पति तोरा। बचन अन्यथा होइ न मोरा॥२॥
रति गवनी सुनि संकर-बानी। कथा अपर अब कहउँ बखानी॥३॥

अर्थ—जब पृथ्वी का बड़ा भारी भार हरण करने के लिये यदुवंश में श्रीकृष्ण भगवान् का अवतार होगा॥१॥ तब उनका पुत्र (प्रद्युम्न) तेरा स्वामी होगा, मेरा वचन अन्य प्रकार नहीं होगा॥२॥ शिवजी की बात सुनकर रति चली गई। अब आगे की कथा बखान कर कहता हूँ॥३॥

विशेष—'जब जदुबंस···'—अर्थात् काम का भस्म होना द्वापर से पहले त्रेतायुग में हुआ था।

'होइहि पति तोरा'—तब वह सदेह होकर तुझे पति-सुख देगा। 'रोदति बदति···संकर पहिं गई' उपक्रम है और यहाँ 'रति गवनी···' उपसंहार है।

मदन-दहन-प्रकरण समाप्त।

उमा-शम्भु-विवाह

देवन्ह समाचार, सब पाये। ब्रह्मादिक बैकुण्ठ सिधाये ॥४॥
सब सुर बिष्नु बिरंचि समेता। गये जहाँ सिव कृपानिकेता ॥५॥
पृथक-पृथक तिन्ह कीन्हि प्रसंसा। भये प्रसन्न चंद्रअवतंसा ॥६॥

अर्थ—ब्रह्मादि देवताओं ने सब समाचार पाये, (तब) वे वैकुण्ठ को गये ॥४॥ वहाँ से विष्णु और ब्रह्मा-समेत सब देवता वहाँ गये जहाँ कृपा के स्थान शिवजी थे ॥५॥ उन्होंने पृथक्-पृथक् (शिवजी की) स्तुति की, तब चन्द्रभूषण शिवजी प्रसन्न हुए ॥६॥

विशेष—'कृपानिकेता'—अभी ही रति पर कृपा की है। फिर ब्रह्मादिक पर भी करेंगे, क्योंकि इन्होंने काम को भेजकर विघ्न किया, तब भी रुष्ट न होकर कृपा ही करेंगे।

'चंद्रअवतंसा—चन्द्रमा क्षीण-दीन था, भूषण-रूप में धारण करके उसको बड़ाई दी, वैसे देवता लोग भी 'सुखसंपति रीते' हो गये हैं। उन्हें आश्रय देकर सुखी करेंगे, फिर देवताओं की निर्विघ्न पूजा होने लगेगी।

बोले कृपासिंधु बृषकेतू। कहहु अमर आये केहि हेतू ॥७॥
कह बिधि तुम्ह प्रभु अंतरयामी। तदपि भगति-बस बिनवउँ स्वामी ॥८॥

दोहा—सकल सुरन्ह के हृदय अस, संकर परम उछाह।
निज नयनन्हि देखा चहहिं, नाथ तुम्हार बिबाह ॥८८॥

अर्थ कृपा के सागर और धर्म के ध्वजारूप शंकरजी बोले कि हे देवताओ! कहो किसलिये आये हो? ॥७॥ ब्रह्माजी ने कहा कि हे प्रभो! आप यद्यपि अन्तर्यामी हैं, तथापि हे स्वामिन्! भक्ति-वश मैं आपसे विनती करता हूँ ॥८॥ हे शंकर (कल्याणकर्त्ता)! सब देवताओं के मन में इसका बड़ा उत्साह है कि हे नाथ! ये अपनी आँखों से आपका ब्याह देखना चाहते हैं ॥८८॥

विशेष—'बोले कृपासिंधु ···' बृषकेतु हैं, धर्म की पताका धारण करते हैं, इससे परमधर्मरूप परोपकार करेंगे—'श्रुति कह परमधरम उपकारा।' इस प्रकार सब देवों पर कृपा करेंगे।

प्रश्न—यहाँ शिवजी ने ब्रह्मा-विष्णु को भी प्रणाम क्यों नहीं किया?

उत्तर—संसार के व्यापार चलाने के लिये एक ही ब्रह्म के तीन रूप हैं, शास्त्रों में ब्रह्मा, शिव और विष्णु इन तीनों की एकता कही गई। पद्मपुराण रामाश्वमेध ४६।७-८, भाग० ४।७।५०-५४, वि० पु० १।२।६६ आदि विशेष द्रष्टव्य हैं। इनका परस्पर तुल्य व्यवहार रहता है, जिसके द्वारा कार्य रहता है, उसके पास शेष दो जाते हैं और स्तुति-प्रणाम आदि से बड़ाई देते हैं। यहाँ ब्रह्मादिक से प्रथम अपराध भी हुआ था, शिवजी प्रसन्न हो गये और तुरत ही आगमन का कारण पूछ बैठे। आगे ब्रह्माजी पिता-रूप से समधी भी बनेंगे और विष्णु भगवान् से सखाभाव के हास-विलास भी होंगे, यथा—"मन-ही-मन महेस मुसुकाहीं। हरि के व्यंग्य बचन नहिं जाहीं ॥" (दो० ९२)।

यहाँ 'सब सुर···' के अनुसार आने में सुर प्रधान हैं, इससे शिवजी ने उन्हींको प्रधानता देते हुए—'कहहु अमर···' कहा है। विष्णु आदि से वर्ताव का अवसर नहीं आया और न कहा गया। ब्रह्माजी का 'तब हम जाइ सिवहि सिरनाई '...' यह वचन भी पूरा करना था।

'कह बिधि···'—यद्यपि आप अन्तर्यामी होने से जानते हैं तथापि भक्तिवश प्रार्थनारूप में भक्ति करता हूँ, यथा—"जद्यपि अवध··· तदपि प्रीति कै रीति···" (दो० २९५)।

'सकल सुरन्ह···'—देवों से ही पूछा गया है। अतः, उन्हीं की ओर से ब्रह्माजी कह रहे हैं कि इनकी अभिलाषा पूरी कीजिये।

यह उत्सव देखिय भरि लोचन। सोइ कछु करहु मदन-मद-मोचन ॥१॥
काम जारि रति कहँ बर दीन्हा। कृपासिंधु यह अति भल कीन्हा ॥२॥
सासति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ ॥३॥
पारवती तप कीन्ह अपारा। करहु तासु अब अंगीकारा ॥४॥
सुनि बिधि बिनय समुझि प्रभुबानी। ऐसेइ होउ कहा सुख मानी ॥५॥

अर्थ—हे कामदेव के मद का नाश करनेवाले शिवजी! ऐसा कुछ कीजिये, जिससे यह उत्सव आँखें भरकर देखें ॥१॥ हे कृपासिंधु! कामदेव को जलाकर रति को जो वरदान दिया, आपने यह बहुत ही अच्छा किया है ॥२॥ हे नाथ! समर्थ स्वामियों का तो यह सहज स्वभाव है कि दंड देकर फिर (उसपर) प्रसाद (कृपा) भी किया करते हैं ॥३॥ श्रीपार्वतीजी ने अपार तप किया है, अब उन्हें अंगीकार किया जाय ॥४॥ ब्रह्माजी की प्रार्थना सुन और प्रभु (श्रीरामजी) की वाणी का स्मरण करके तथा सुख मानकर (शिवजी ने) कहा, "ऐसा ही होगा" ॥५॥

विशेष—'यह उत्सव देखिय...'—शीघ्र विवाह हो, तब तो लोग जी-भरके देख लें, अन्यथा यदि कहीं तारकासुर ने कैद कर लिया अथवा कोई कराल दंड देकर दुखी कर दिया तो यह लालसा रह ही जायगी। अत्यन्त लालसा है। अतः, 'भरि लोचन' कहा है, यथा—'केहि बिधि दरसन होइ' इसपर दर्शन हुए, तब—'भरि लोचन छबिसिंधु निहारी।' कहा गया है।

'मदन-मद-मोचन'—आपने तो काम को जला ही दिया है, विवाह कुछ अपनी तृप्ति के लिये नहीं, वरन् हमलोगों के सुख के लिये करें, जिससे हमलोगों की विपत्ति दूर होगी।

'सासति करि पुनि···' यह अर्द्धाली दीप-देहली न्याय से ऊपर नीचे की अर्द्धालियों के साथ है। काम को 'सासति' दी, फिर रति के वरदान द्वारा उसपर प्रसन्नता भी की, ऐसे ही सती को अवज्ञा आदि कारणों से त्याग-रूप दंड दिया और तब उन्होंने पार्वती-रूप से आपके ही लिये अपार तप किया है। अतः, उसी प्रभुत्व-स्वभाव से इन्हें भी अंगीकार कीजिये। अपार तप से वे शुद्ध भी हो गई हैं।

'प्रभु-बानी'—"जाइ बिबाहहु सैलजहिं।" (दो० ७६)

तब देवन्ह दुंदुभी बजाईं। बरषि सुमन जय-जय सुरसाईं ॥६॥
अवसर जानि सप्तरिषि आये। तुरतहि बिधि गिरिभवन पठाये ॥७॥
प्रथम गये जहँ रहीं भवानी। बोले मधुर बचन छलसानी ॥८॥

दोहा—कहा हमार न सुनेहु तब, नारद के उपदेस।
अब भा झूठ तुम्हार पन, जारेउ काम महेस ॥८६॥

अर्थ—तब देवताओं ने नगाड़े बजाये और फूलों की बरसा कर वे 'जय जय सुरसाईं' ऐसा कहने लगे ॥६॥ उचित अवसर जानकर वहाँ सप्तऋषि आये। श्रीब्रह्माजी ने तुरन्त ही उन्हें हिमवान् के घर भेज दिया ॥७॥ वे पहले वहाँ गये, जहाँ पार्वतीजी थीं, वहाँ छल से सने हुए मीठे वचन बोले ॥८॥ हमारा कहना तुमने नहीं सुना, उस समय नारदजी के उपदेश पर मुग्ध थीं, लो! अब तो तुम्हारा प्रण झूठा हुआ न? क्योंकि शिवजी ने कामदेव को भस्म कर दिया ॥८६॥

विशेष—'सुरसाईं'—आप देवताओं के स्वामी हैं, तभी तो सबका मनोरथ पूरा किया, हमारी भी रक्षा होगी।

'अवसर जानि'—क्योंकि अभी सब देवता एकत्र है, यहीं पर लग्न आदि की व्यवस्था भी सबके सामने हो जाय, अवसर पर काम होना उत्तम है, यथा—"अवसर कौड़ी जो चुकै, बहुरि दिये का लाख। दुइज न चंदा देखिये, उदय कहा भरि पाख॥" (दोहावली ३४४)। इसीसे ब्रह्माजी ने भी तुरन्त ही सप्तर्षियों को भेजा ताकि देवताओं को धैर्य हो।

'प्रथम गये जहँ·····'—सप्तर्षियों के प्रथम जाने का कारण यह है कि पहले परीक्षा के समय उमाजी तप कर रही थीं, अब भोग-स्थान में हैं। देखें, यहाँ कैसी वृत्ति है! पुनः यह भी भाव है कि इसी बहाने शिवजी के विषय में उनसे कुछ सुनना भी चाहते हैं।

'बचन छल-सानी।'—वचन-मात्र में ही छल है, भीतर से प्रेम है, यथा—"कपट बोरि बानी मृदुल···" (दो० १६०)।

'अब भा झूठ तुम्हार पन'—तुम्हारा प्रण था—"बरउँ संभु न तु रहउँ कुमारी।" (दो० ८०)। वह अब नहीं सिद्ध हो सकता, क्योंकि शिवजी को ब्याह करना होता तो काम को क्यों जलाते? अब या तो तुम कुमारी ही रहोगी या दूसरे से ब्याह करोगी।

सुनि बोलीं मुसुकाइ भवानी। उचित कहेहु मुनिबर बिग्यानी॥१॥
तुम्हरे जान काम अब जारा। अब लगि संभु रहे सबिकारा॥२॥
हमरे जान सदासिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥३॥

शब्दार्थ—सविकारा = विकार-सहित। कामादि छः विकार हैं, यहाँ काम से तात्पर्य है। अनवद्य = अनिन्द्य, निर्दोष। अकाम = निष्काम एवं विषय-भोग-वासना-रहित। अभोगी = स्त्री आदि अंग रूप भोग की इच्छा से रहित [भोग—स्रगगन्ध वनिता वस्त्रं गीतं ताम्बूलभोजनम्। भूषणं वाहनं चेति भोगास्त्वष्टविधः स्मृतः॥" तथा—"सुरु चंदन वनितादिक भोगा।" (अ० दो० २१३)]।

अर्थ—यह सुनकर पार्वतीजी मुसुकराकर बोलीं—हे श्रेष्ठ विज्ञानी मुनियो! आपलोगों ने ठीक ही कहा है॥१॥ आपकी समझ में अब शिवजी ने काम को जलाया है और अब तक वे विकारी (कामी) रहे॥२॥ हमारी समझ में तो सदाशिव सदा से योगी तथा अजन्मा, निन्दारहित, निष्काम और भोग से रहित हैं॥३॥

विशेष—(१) 'मुसुकाइ'—मुसकुराना इस अभिप्राय से है कि अभी परीक्षा से तृप्ति नहीं हुई? और कुछ सुनना चाहते हैं क्या?

'उचित कहेहु·····'—यहाँ व्यंग्य कथन है। अतः, विपर्यय अर्थ होगा कि आप लोग कहाते हैं विज्ञानी, पर अज्ञानियों की तरह अनुचित कहते हैं।

(२) 'सदासिव जोगी', यथा—'नाम बामदेव दाहिनो सदा असंग रंग अर्ध अंग अंगना अनंग को महनु है।" (क० उ० १६०)।

जौ मैं सिव सेये अस जानी। प्रीति समेत करम मन बानी॥४॥
तौ हमार पन सुनहु मुनीसा। करिहहिं सत्य कृपानिधि ईसा॥५॥

अर्थ—जो मैंने शिवजी को ऐसा (उपर्युक्त प्रकार का) जानकर प्रीतिपूर्वक मन, वचन और कर्म से उनकी सेवा की है॥४॥ तो, हे मुनीश्वरो! सुनिये, वे कृपासागर ईश्वर हमारी प्रतिज्ञा को सच्ची करेंगे॥५॥

विशेष—'प्रीति समेत करम ····'—प्रीति, यथा—"नित नव चरन उपज अनुरागा।" (दो० ७३)। मन, यथा—"बिसरी देह तपहिं मन लागा॥" (दो० ७३), "उपजेउ सिवपद कमल-सनेहू। मिलन कठिन

मन भा संदेहू ॥" (दो० ६७)। वचन, यथा—"बरउँ संभु न तु रहउँ कुमारी।"·····से—"आप कहहिं सत बार महेसू ॥" (दो० ८०) तक। कर्म, यथा—"संवत सहस मूल फल खाये।" (दो० ७३)।

'जौ···तौ ···', यथा—"तन मन बचन मोर पन···तौ भगवान सकल उर बासी।···" (दो० २५८)।

'अब भा झूठ तुम्हार पन' का उत्तर यहाँ तक हुआ, आगे इसीका पिष्ट-पेषण है।

तुम्ह जो कहा हर जारेउ मारा। सोई अति बड़ अबिवेक तुम्हारा ॥६॥
तात अनल कर सहज सुभाऊ। हिम तेहि निकट जाइ नहिं काऊ ॥७॥
गये समीप सो अवसि नसाई। असि मन्मथ महेस कै नाई ॥८॥

दोहा—हिय हरषे मुनि बचन सुनि, देखि प्रीति बिस्वास।
चले भवानिहिं नाई सिर, गये हिमाचल पास ॥९०॥

अर्थ—आपने जो कहा कि शिवजी ने काम को जला दिया, यह आपका बहुत बड़ा अविचार है ॥६॥ हे तात! अग्नि का यह सहज स्वभाव है कि जाड़ा उसके पास कभी जा नहीं सकता ॥७॥ यदि समीप जाय तो अवश्य ही इस प्रकार नष्ट होता है, जैसे कामदेव शिवजी के पास जाने से (जल मरा)॥८॥ सप्तर्षि ये बचन सुनकर हृदय से हर्षित हुए और भवानी की प्रीति तथा विश्वास देख उन्हें सिर नवाकर चले और हिमवान् के पास पहुँचे ॥९०॥

विशेष—(१) 'असि···नाई।' ऐसे ही, जैसे।

(२) 'सोइ अति बड़ अबिवेक···' ईश्वर किसीका हित-अनहित नहीं करता, यथा—"जीव करम बस दुख सुख भागी।" (अ० दो० ११), तथा—"बिश्वद्रोह-रत यह खल कामी। निज अघ गयेउ कुमारग-गामी ॥" (लं० दो० १०९)। अतः, 'जारेउ काम महेस' यही 'अति बड़ अबिवेक' है। 'अब भा झूठ···'—इसका उत्तर 'तौ हमार पन···' है।

(३) 'तात अनल कर···'—अग्नि के पास हिम नहीं रहने पाता, यह नियम है। इसी तरह शिवजी में काम-विकार नहीं रहता। अपनी धृष्टता से काम वहाँ गया तो अग्निनेत्र के खुलते ही भस्म हुआ, यह उस नेत्र का स्वभाव ही है। 'तात!' सम्मान के लिये है, क्योंकि पूर्व अविवेकी कहे गये हैं। 'देखि प्रीति', यथा—"जो मैं सिव सेयेउँ·· प्रीति समेत करम मन बानी।" 'देखि बिस्वास' यथा—"तौ हमार पन सुनहु मुनीसा।···"

'नाई सिर'—यहाँ भी परीक्षा के पश्चात् ही प्रणाम किया। दो० ८१ देखिये। द्वितीय बार का प्रेम-परीक्षा-प्रकरण समाप्त हुआ।

सब प्रसंग गिरिपतिहिं सुनावा। मदन-दहन सुनि अति दुख पावा ॥१॥
बहुरि कहेउ रति कर बरदाना। सुनि हिमवंत बहुत सुख माना ॥२॥
हृदय बिचारि संभु - प्रभुताई। सादर मुनिबर लिये बोलाई ॥३॥
सुदिन सुनखत सुघरी सोचाई। बेगि बेदबिधि लगन धराई ॥४॥
पत्री सप्तरिषिन्ह सोइ दीन्ही। गहि पद बिनय हिमाचल कीन्ही ॥५॥

अर्थ—(ऋषियों ने) सारा समाचार हिमाचल को सुनाया। कामदेव का जलना सुनकर उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ ॥१॥ फिर उन्होंने जब रति का वरदान पाना कहा तब यह सुनकर हिमाचल बहुत सुखी हुए ॥२॥ हृदय में शिवजी की प्रभुता को सोचकर आदरसहित श्रेष्ठ मुनियों को बुला लिया ॥३॥

उन्होंने शुभ दिन, शुभ नक्षत्र और शुभ घड़ी शोधवाकर शीघ्र ही वेद-रीति से लगन का निश्चय किया ॥४॥ हिमाचल ने सप्तऋषियों को वह लग्न-पत्रिका दी और उनके पाँव पकड़कर विनती की ॥५॥

विशेष—(१) 'सब प्रसंग'—तारकासुर से तंग होकर देवताओं का ब्रह्माजी के पास जाना, फिर काम का शिवजी के पास भेजा जाना और उसका भस्म होना।

'दुख पावा'—पूर्व कन्या के पति के दोष सुनकर दुख पाया था, अब अति दुख पाया कि अब शिवजी से विवाह करना ही व्यर्थ है, क्योंकि कन्या को पति-सुख न मिलेगा और न मुझे नाती का। कन्या के महान् तप का श्रम व्यर्थ ही हुआ, इत्यादि।

'बहुत सुख माना'—जिस हानि पर जितना भारी दुःख था उसकी पूर्त्ति पर उतना ही अधिक सुख भी हुआ। इसीका हेतु आगे कहते हैं।

(२) 'प्रभुताई'—वही जो प्रथम कही गई, यथा—"सासति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ॥" (दो० ८८)।

'सादर मुनिवर ···'—ये मुनिश्रेष्ठ वे ही हैं, जो वहीं समीप में रहते हैं, यथा—"जहँ तहँ मुनिन्ह सुआश्रम कीन्हे। उचित बास हिमभूधर दीन्हे॥" (दो० ६८)। "बेदसिरा मुनि··" (दो० ७३)। इनमें ज्योतिषियों को बुलाया।

(३) 'सुदिन सुनखत ···'—शुभ दिन आदि पञ्चाङ्ग से निश्चित करके लगन लिखाई जाती है, वही वर के पिता के पास भेजी जाती है। 'बेगि'—शिवजी फिर कहीं समाधि न लगा लें और देवताओं की रुचि भी वैसी ही है।

(४) 'बिनय'—यह विनय सप्तर्षियों के द्वारा श्रीब्रह्माजी के लिये है कि आपने अपना सम्बन्ध देकर मुझे बड़ाई दी, अन्यथा मैं तो किसी योग्य न था। आपके स्वागत आदि के योग्य भी मैं नहीं हूँ, कृपया निर्वाह कर दें।

जाइ बिधिहिं तिन्ह दीन्हि सो पाती। बाँचत प्रीति न हृदय समाती ॥६॥
लगन बाँचि अज सबहिं सुनाई। हरषे मुनि सब सुर-समुदाई ॥७॥
सुमनबृष्टि नभ बाजन बाजे। मंगल सकल दसहुँ दिसि साजे ॥८॥

दोहा—लगे सँवारन सकल सुर, बाहन बिबिध बिमान।
होहिं सगुन मंगल सुभद, करहिं अपछरा गान॥९१॥

शब्दार्थ—पाती = चिट्ठी (लग्नपत्रिका)। बाहन = सवारी = ऐरावत, हंस, गरुड़, भैंसा, आदि। सुभद = शुभदायक, इसका पाठान्तर 'सुभग' = सुन्दर। बिमान = वायुयान।

अर्थ—जाकर उन्होंने वह लग्नपत्रिका श्रीब्रह्माजी को दी, बाँचने में उनके हृदय की प्रीति उमड़ी आती है ॥६॥ ब्रह्माजी ने लग्न-पत्रिका पढ़कर सबको सुना दी, (सुनकर) मुनि लोग और देवताओं के समूह प्रसन्न हुए ॥७॥ आकाश से फूलों की वृष्टि होने लगी और बाजे बजने लगे। दसो दिशाओं में सब मंगल पदार्थ सजाये जाने लगे ॥८॥ सब देवता भाँति-भाँति की अपनी-अपनी सवारियाँ और विमान सजाने लगे। शुभदायक मंगल शकुन होने लगे और अप्सराएँ गान करने लगीं ॥९१॥

विशेष—'बाँचत प्रीति ··लगन बाँचि···'—प्रीति के उमड़ने के कारण ये हैं कि अब देवताओं का दुःख शीघ्र दूर होगा, ब्रह्मवाणी का दिया हुआ वर पूरा होगा और स्वयं समधी बनेंगे। पुनः पत्रिका की रचना भी सुन्दर है। दोबारा बाँचने का कारण यह है कि प्रथम स्वयं पढ़कर समझ लिया, तब सबको

सुनाने के लिये बाँचा, यथा—"बारि बिलोचन बाँचत पाती पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची।···" (दो० २८९),

'मंगल सकल दसहुँ दिसि साजे', यथा—"मंगल मुदित सुमित्रा साजे॥ हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूगफल मंगल मूला॥"···से—"कनक थार भरि मंगलन्हि, कमल करन्हि लिये मात॥" (दो० ३४५-३४६) तक। दसो दिक्पालों के यहाँ मंगल सजाया गया है, वही दसो दिशाओं में है। पुष्प-वर्षा और बाजन आकाश से होना अच्छा है इसीसे वैसा किया, अन्यथा देव तो पास ही थे। बाजन बहुत हैं, गन्धर्व लोग आकाश में बजाते हैं।

'होहिं सगुन मंगल सुभद', यथा—"चारा चाप बाम दिसि लेई।···" से—"जनु सब साँचे होन हित, भये सगुन एक बार।" (दो० ३०२-३०३) तक।

सिवहिं संभुगन करहिं सिंगारा। जटामुकुट अहिमौर सँवारा॥१॥
कुंडल कंकन पहिरे ब्याला। तनु बिभूति पट केहरिछाला॥२॥
ससि ललाट सुंदर सिर गंगा। नयन तीनि उपवीत भुजंगा॥३॥
गरल कंठ उर नर-सिर-माला। असिव बेष सिवधाम कृपाला॥४॥
कर त्रिसूल अरु डमरु बिराजा। चले बसह चढ़ि बाजहिं बाजा॥५॥

अर्थ—शिवजी के गण उनका शृंगार करने लगे। जटाओं का मुकुट और उसपर सर्पों का मौर रचा॥१॥ शिवजी ने सर्प ही के कुंडल और कंकण पहने, देह में भस्म, बाघम्बर वस्त्र,॥२॥ सुन्दर ललाट पर चन्द्रमा और सुन्दर शीश पर गंगाजी, तीन आँखें और सर्पों का जनेऊ है॥३॥ कंठ में विष और छाती पर मनुष्यों की खोपड़ियों की माला धारण किये हुए हैं। (इस प्रकार के) अमंगल वेष में भी वे कल्याण के स्थान और कृपालु हैं॥४॥ उनके हाथों में त्रिशूल और डमरू शोभित हैं, वे बैल (नन्दीश्वर) पर चढ़ कर चले हैं। बाजे बजते जाते हैं॥५॥

विशेष—'सिवहिं संभुगन करहिं सिंगारा।'—आज विशेष सजाते हैं, क्योंकि दुलहा बनाना है। रंग-बिरंग सर्पों का मौर बनाया, जिनमें उनकी विविध रंगों की मणियों की चमक है। यही पगड़ी है पर मौर सजाना है। सर्प की पूँछ और सिर मिलाकर कुण्डल बना और सर्प ही कंकणाकार करके कर में लपेटे गये। उबटन की जगह पर विभूति है, जामे की जगह पीला बाघम्बर है, वह ऊपर से लपेटे हैं, पहने नहीं हैं। 'नगन जटिल भयंकरा' आगे कहा गया है। डिठौने की जगह तोसरा (अग्नि) नेत्र (कजरारे) ललाट पर है, दधि-अक्षत के तिलक की जगह चन्द्रमा है। तीन सूत्रों की तरह तीन सर्पों से जनेऊ बनाया। तलवार या लोहे की कोई चीज दुलहे के पास रक्षार्थ रहती है, वैसे यहाँ त्रिशूल और डमरू हैं। वर के गले में मुक्ता-मणियों का हार रहता है, वैसे यहाँ मुंडमाला है। दुलहे की शुद्धि के लिये स्नान होता है, वैसे यहाँ स्वयं गंगाजी ही सिर पर हैं जो परम पवित्र हैं।

'असिव बेष सिवधाम कृपाला।', यथा—"साज अमंगल मंगलरासी।" (दो० २५)। "बेष तो भिखारी को भयंकर रूप शंकर, दयालु दीनबंधु दानि दारिद-दहनु है।" (क० उ० १६०)।

देखि सिवहिं सुरत्रिय मुसुकाहीं। बरलायक दुलहिनि जग नाहीं॥६॥
बिष्नु बिरंचि आदि सुरब्राता। चढ़ि चढ़ि बाहन चले बराता॥७॥
सुरसमाज सब भाँति अनूपा। नहिं बरात दूलह-अनुरूपा॥८॥

दोहा—बिष्नु कहा अस बिहँसि तब, बोलि सकल दिसिराज।
बिलग-बिलग होइ चलहु सब, निज निज सहित समाज॥९२॥

शब्दार्थ—जाता = समूह, समाज। अनुरूपा = योग्य। दिसिराज = चार दिशाएँ और चार उपदिशाएँ हैं, उनके स्वामी। पूर्व के इन्द्र (कहीं-कहीं काल), अग्निकोण के अग्नि, दक्षिण के यम, नैर्ऋत्य के निर्ऋत, पश्चिम के वरुण, वायव्य के वायु, उत्तर के कुबेर और ईशान के ईशान (शिवजी), यथा—"रवि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥" (दो० १८१)।

अर्थ—शिवजी को देखकर देवताओं की स्त्रियाँ मुसकुराती हैं (और आपस में कहती हैं कि) संसार-भर में इस वर के योग्य दुलहिन नहीं है॥६॥ विष्णु-ब्रह्मा आदि देवताओं के समूह अपनी-अपनी सवारियों पर चढ़कर बारात में चले॥७॥ देव-समाज तो सब प्रकार से मनोहर है, पर बारात दुलहे के योग्य नहीं है॥८॥ तब विष्णु भगवान् ने सब लोकपालों को बुलाकर हँसते हुए कहा कि सब अपने-अपने समाज के साथ पृथक्-पृथक् होकर चलें॥९॥

विशेष—'वर लायक ' '—पार्वतीजी परम सुन्दरी हैं और दुलहा भयावन है, यह अयोग्यता है—यही मुसुकाने का कारण है अथवा चिद्रूपा पार्वती के अतिरिक्त इनके योग्य जगत् में दुलहिन नहीं है—यहाँ 'परनिष्ठउत्तमहास्य' है।

'बिष्नु बिरंचि आदि ' वर्णन-क्रम से सूचित हुआ कि आगे विष्णु भगवान् पार्षदों के साथ हैं, फिर ब्रह्माजी और इनके पीछे देव-समाज हैं।

'नहिं बरात दूलह-अनुरूपा'—सर्पादिक भूषणों से दुलहा ऐसी अनुपम बारात के योग्य नहीं है।

'बिष्नु कहा हँसि···' हँसकर कहना व्यंग्य है, वही आगे कहेंगे—"हरि के व्यंग्य बचन नहिं जाहीं।" अतः, यहाँ व्यंग्योक्ति से हास्य रस है। व्यंग्य में अभिप्राय उलटकर कहा जाता है, वही ऊपर कहते हैं—'दुलहे के अनुरूप बारात नहीं है', अभिप्राय यह कि 'बारात के योग्य दुलहा नहीं है'। व्यंग्य के और कई भाव हैं (क) या तो शिवजी बारात के अनुरूप सुन्दर वेष करें, अन्यथा अपने अनुरूप बारात बुलावें। देवों के साथ यह रूप उपयुक्त नहीं है। (ख) शिवगणों ने शृङ्गार किया है, वे यदि अपने समाज में रहते हुए चलेंगे तो विविध विनोद में उन्हें संकोच नहीं होगा। (ग) शिवजी की यह बारात है, यह तभी प्रकट होगी।

बर - अनुहारि बरात न भाई। हँसी करइहहु पर - पुर जाई॥१॥
बिष्नु-बचन सुनि सुर मुसुकाने। निज-निज सेन सहित बिलगाने॥२॥
मन-हीं-मन महेस मुसुकाहीं। हरि के ब्यंग्य बचन नहिं जाहीं॥३॥
अति प्रिय बचन सुनत प्रिय केरे। भृंगिहि प्रेरि सकल गन टेरे॥४॥
सिव-अनुसासन सुनि सब आये। प्रभु-पदजलज सीस तिन्ह नाये॥५॥
नाना बाहन नाना बेषा। बिहँसे सिव समाज निज देखा॥६॥

अर्थ—हे भाइयो, वर के योग्य तो बारात नहीं है, क्या पराये गाँव में जाकर हँसी कराओगे?॥१॥ विष्णु भगवान् के वचन सुनकर देवगण मुसकाये और अपनी-अपनी सेना के साथ बिलग हो गये॥२॥ शिवजी मन-ही-मन मुसकाते हैं कि हरि के व्यंग्य वचन नहीं जाते, (हरि का अभ्यास-सा पड़ गया है, वे व्यंग्य बोलना नहीं छोड़ते)॥३॥ अपने प्यारे के अत्यन्त प्यारे वचन सुनते ही भृङ्गीगण को कहकर (अपने) समस्त गणों को बुलवाया॥४॥ शिवजी की आज्ञा सुनकर वे सब चले आये और स्वामी के चरण-कमलों में सिर झुका दिये॥५॥ (वे शिवगण) अनेक प्रकार की सवारियाँ और अनेक प्रकार के वेषोंवाले हैं, शिवजी ऐसे अपने समाज को देखकर विशेष हँसे॥६॥

विशेष—'हँसी करइहहु···'—यहाँ कहते हैं कि क्या आपलोग अपनी हँसी कराइयेगा? पर व्यंग्य का तात्पर्य यह है कि वर की हँसी होगी, क्योंकि बारात अनुपम और वर कुरूप है।

'मन-ही-मन महेस···'—मन ही में मुसकाते हैं, क्योंकि यहाँ सभ्य समाज है। अतः, वर का प्रकट हँसना अयोग्य है। 'व्यंग्य बचन नहिं जाहीं।'—देवता बिलग होकर चले, तब भी हरि भगवान् बार-बार व्यंग्य करते ही जाते हैं। इनका सख्य भाव है। अतः, हँसना आत्मनिष्ठ उत्तम हास्य है।

'अति प्रिय बचन सुनत···' हरि हमारे प्रिय (सखा) हैं। अतः, उनके व्यंग्य का अभिप्राय पूर्ण करना चाहिये। 'भृंगी'—शिवजी का एक पार्षद या गण है, इसके द्वारा कहलाया। इसीसे आगे आज्ञा सुनकर गणों का आना कहा है। भृङ्गी, यथा—"भृङ्गिणं च सुबाहुकम्॥" (पद्मपुराण, पा० रामाश्वमेध ४३।२१); इसमें भृङ्गीगण को ही कहा गया है।

'सिव अनुसासन···' वे सब अमंगल वेषवाले हैं। अतः, मंगल अवसर पर न आते, पर स्वामी की आज्ञा सुनकर आये। आगे उनके भेद कहते हैं—

'बिहँसे सिव ··'—यहाँ शिवजी बिहँसे, क्योंकि अपना ही समाज है—वह भी भूत-पिशाचों (असभ्यों) का। यह विष्णु भगवान् की व्यंग्योक्ति का उत्तर है कि अब वर के 'अनुहारि' बारात हो गई? अब 'पर-पुर' में हँसी नहीं होगी? यहाँ परनिष्ठ मध्यम हास्य है।

कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू। बिनु पद कर कोउ बहु-पद-बाहू॥७॥
बिपुलनयन कोउ नयनबिहीना। हृष्टपुष्ट कोउ अति तनुखीना॥८॥

छन्द—तनुखीन कोउ अति पीन पावन कोउ अपावन गति धरे।
भूषन कराल कपाल कर सब सद्य सोनित तनु भरे॥
खर-स्वान-सुअर-सृगाल-मुख गन बेष अगनित को गनै।
बहु जिनिस प्रेत पिसाच जोगि जमात बरनत नहिं बनै॥

सोरठा - नाचहिं गावहिं गीत, परम तरंगी भूत सब।
देखत अति बिपरीत, बोलहिं बचन बिचित्र बिधि॥९३॥

शब्दार्थ—बिपुल=बहुत। हृष्टपुष्ट=मोटा-ताजा। पीन=मोटा। खीन (क्षीण)=दुबला। गति धरे=दशा धारण किये। जिनिस=भाँति। सद्य=ताजा। तरंगी=लहरी, भाँति-भाँति के स्वाँग करनेवाले। जमात=समाज। पावन गति=त्रिपुंड्र लगाये, रुद्राक्ष पहने, स्वच्छ वस्त्रादि धारण किये हुए।

अर्थ—(शिव-समाज में) कोई बिना मुख का है तो किसीके बहुत-से मुख हैं, कोई बिना हाथ-पैर का है तो किसीके बहुत-से हाथ-पैर हैं॥७॥ कोई बहुत नेत्रोंवाला तो कोई नेत्र-हीन, कोई मोटा-ताजा तो कोई बहुत ही दुबला॥८॥ कोई बहुत दुबला, कोई बहुत मोटा, कोई पवित्र और कोई अपवित्र दशा धारण किये हुए हैं। भयंकर भूषण (पहने) हाथ में खोपड़ी लिये हैं, सबके शरीरों में ताजा खून लिपा है॥ उनके मुख गधे, कुत्ते, शूकर और सियार के-से हैं। गण अगणित वेषोंवाले हैं, उनको कौन गिन सकता है? बहुत प्रकार के प्रेत और पिशाच हैं, इस प्रकार की योगी शिवजी की जमातें हैं, उनका वर्णन नहीं हो सकता॥ सब भूत बड़े तरंगी हैं। अतः, वे नाचते और गीत गाते हैं, देखने में अत्यन्त बेढंगे हैं और विचित्र प्रकार के वचन बोलते हैं॥९३॥

विशेष—'बोलहिं बचन बिचित्र बिधि'—भाँति-भाँति की बोलियाँ बोलते हैं अर्थात् कभी बकरे की, कभी उल्लू की, कभी भेड़िये की। ऐसी अनेक प्रकार की बोलियों को विचित्र कहा है, यथा—

"नाचहिं नाना रंग, तरंग बढ़ावहिं। अज, उलूक, बृकनाद गीत गन गावहिं ॥" (पार्वती मंगल १०४), इत्यादि। महाभा० शल्य० ४४।२४-२८ में भी शिव-गणों की कुरूपता का ऐसा ही वर्णन है।

जस दूलह तसि बनी बराता। कौतुक बिबिध होहिं मग जाता ॥१॥

अर्थ—(श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) जैसा दूलह है वैसी ही बरात बन गई है। यों ही मार्ग में जाते हुए तरह-तरह के तमाशे होते जाते हैं।

विशेष—यहाँ 'सम प्रथम' अलंकार है, क्योंकि यथायोग्य संग का वर्णन है। यहाँ तक बराती कहे गये, आगे सराती (कन्या पक्ष) के यहाँ की व्यवस्था कहते हैं—

इहाँ हिमाचल रचेउ बिताना। अति बिचित्र नहिं जाइ बखाना ॥२॥
सैल सकल जहँ लगि जग माहीं। लघु बिसाल नहिं बरनि सिराहीं ॥३॥
बन सागर सब नदी तलावा। हिमगिरि सब कहँ नेवत पठावा ॥४॥
कामरूप सुंदर तनु-धारी। सहित समाज सहित बर नारी ॥५॥
गये सकल तुहिनाचल-गेहा। गावहिं मंगल सहित सनेहा ॥६॥

अर्थ—यहाँ (कन्या-पक्ष में) हिमाचल ने अत्यन्त विचित्र मंडप बनवाया कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता ॥२॥ जगत् में जहाँ छोटे-बड़े सब पर्वत हैं, जो वर्णन करने से समाप्त नहीं हो सकते ॥३॥ (उनको) और सब वनों, समुद्रों, नदियों और तालाबों को हिमाचल ने नेवता भेजवाया ॥४॥ ये सब स्वेच्छानुसार रूप धरनेवाले, सुन्दर शरीर धारणकर अपने समाज और श्रेष्ठ स्त्रियों के साथ ॥५॥ हिमाचल के घर गये और स्नेह-पूर्वक मंगल गाने लगे ॥६॥

विशेष—'अति बिचित्र नहिं जाइ बखाना'—ग्रन्थकार जिस वस्तु के वर्णन के लिये जहाँ प्रधान स्थान देखते हैं, वहीं कहते हैं, दूसरी जगह वहीं के शब्द-संकेत से सूचित कर देते हैं। मंडप की विचित्र रचना जनकपुर में अति विस्तृत रूप में कही गई है, वहीं का 'अति बिचित्र' विशेषण यहाँ भी दिया है। अतः, वैसा ही जानना चाहिये, यथा—"रचहु बिचित्र बितान बनाई।"···से—"जाइ न बरनि बिचित्र बिताना।" (दो० २८६-८८ तक)।

'कामरूप सुंदर तनु धारी।'—गिरि-वन आदि के अधिष्ठातृ देवतागण स्वेच्छा से सुन्दर रूप धर-कर चले। ये लोग जब जैसा रूप चाहें, धर सकते हैं, यथा—"गिरि, बन, सरित, सिन्धु, सर ··धरि-धरि सुंदर बेष चले हरषित हिये। कँचन चीर उपहार हार मनि गन लिये ॥" (पार्वतीमंगल ९४-९५)।

यहाँ पहाड़ भाई हैं। अतः, छोटे-बड़े में भेद न रखकर सबको बुलाया है और बन-सागर आदि नातेदार हैं, इनमें जड़त्व का नाता है, यथा—"लता निहारि नवहिं···—जहँ असि दसा जड़न्हि कै बरनी ॥" (दो० ८४)। मंगल अवसर पर सुन्दर रूप से आये हैं, यथा—"हनुमदादि सब बानर बीरा। धरे मनोहर मनुज सरीरा ॥" (उ० दो० ७)। 'सहित समाज सहित बर नारी' आये हैं, इससे जान पड़ता है कि सबका 'चूल्हा-निवार' न्योता था।

प्रथमहिं गिरि बहु गृह सँवराये। जथाजोग जहँ तहँ सब छाये ॥७॥
पुर-सोभा अवलोकि सुहाई। लागइ लघु बिरंचि-निपुनाई ॥८॥

अर्थ—हिमाचल ने प्रथम ही से बहुत-से घर सजवाये थे। जो जिसके योग्य था वह उसमें जा बसा ॥७॥ नगर की सुहावनी शोभा देखकर ब्रह्मा की निपुणता तुच्छ जान पड़ती थी ॥८॥

विशेष—छाये = कुछ अधिक कालतक रहेंगे, यह गर्भित है, यथा—"चित्रकूट रघुनंदन छाये।" (अ० दो० ११३), डेरा डाल दिया।

छन्द—लखु लागि बिधि कै निपुनता अवलोकि पुरसोभा सही।
बन बाग कूप तड़ाग सरिता सुभग सब सक को कही॥
मंगल बिपुल तोरन पताका केतु गृह-गृह सोहहीं।
बनिता पुरुष सुंदर चतुर छबि देखि मुनि-मन मोहहीं॥

दोहा—जगदंबा जहँ अवतरी, सो पुर बरनि कि जाइ।
रिद्धि सिद्धि संपत्ति सुख, नित नूतन अधिकाइ॥९४॥

शब्दार्थ—तोरन=बन्दनवार। पताका=झंडी, फरहरा। केतु=ध्वजा। रिद्धि (ऋद्धि)=भोजन आदि की सामग्री। सिद्धि=अणिमादि सिद्धियाँ, तथा—रिद्धि-सिद्धि=समृद्धि और सफलता।

अर्थ—पुर की शोभा को देखकर सत्य ही ब्रह्मा की निपुणाई (रचना) छोटी जान पड़ती है। वन, बाग, कुएँ, तालाब और नदियाँ सब सुन्दर हैं, उनका वर्णन कौन कर सकता है?॥ सर्वत्र मंगल, बहुत-से बन्दनवार, झंडियाँ और ध्वजाएँ घर-घर शोभा दे रही हैं। वहाँ के सुन्दर और चतुर स्त्री-पुरुषों की छवि देखकर मुनियों के भी मन मुग्ध हो जाते हैं॥ जहाँ पर जगदम्बा ने ही अवतार लिया है, उस नगर का वर्णन कैसे किया जा सकता है? ऋद्धि-सिद्धि-सम्पत्ति और सुख नित्य नये-नये बढ़ते जाते हैं॥९४॥

विशेष—दिव्य विभूति है, जगदम्बा के साथ यह विभूति भी आविर्भूत है, इसके समक्ष विधि की प्राकृत रचना का ठीक-ठीक लघु लगना कहा गया है, तथा—"बसइ नगर जेहि लच्छि करि, ...तेहि पुर कै सोभा ..." (दो०२८९)। 'मंगल बिपुल', यथा—"कंचन कलस बिचित्र सँवारे।" से "नाना भाँति सुमंगल साजे।" (उ० दो० ८) तक।

नगर निकट बरात सुनि आई। पुर खरभर सोभा अधिकाई॥१॥
करि बनाव सजि बाहन नाना। चले लेन सादर अगवाना॥२॥
हिय हरषे सुर-सेन निहारी। हरिहिं देखि अति भये सुखारी॥३॥
सिव-समाज जब देखन लागे। बिडरि चले बाहन सब भागे॥४॥
धरि धीरज तहँ रहे सयाने। बालक सब लै जीव पराने॥५॥
गये भवन पूछहिं पितु माता। कहहिं बचन भयकंपित गाता॥६॥

शब्दार्थ—खरभर=खलबली, धूमधाम, दौड़-धूप। बनाव=सजावट। अगवाना=अभ्यर्थना, सम्मान के लिये आगे बढ़कर लेना। बिडरि=भड़ककर, बहुत डरकर। सयाने=समझदार, जो शिवजी के अमंगल रूप में भी मंगल-राशि भाव को जानते हैं।

अर्थ—बारात को नगर के निकट आई सुनकर सारे नगर में धूमधाम होने से उसकी शोभा और भी बढ़ गई॥१॥ लोग अपना-अपना शृंगार कर और अपनी-अपनी नाना प्रकार की सवारियों को सजाकर आदर-पूर्वक बारात की अगवानी लेने को चले॥२॥ देवताओं की सेना (समाज) को देखकर हृदय से प्रसन्न हुए और विष्णु भगवान् को देखकर तो उन्हें बहुत ही सुख हुआ॥३॥ जब शिवजी का समाज देखने लगे, तब सब वाहन भड़क-भड़क कर भागे, (यहाँ वाहन घोड़े आदि का ही भागना कहा है, वाहनों के कारण उनके सवार भी न रह सके, परन्तु और अगवानी के लोग रहे, वे बारात लेकर लौटेंगे, वे ही सयाने कहे गये हैं)॥४॥ सयाने (बड़े-बूढ़े) लोग धैर्य धरकर रहे और सब बालक लोग तो प्राण लेकर

भागे ॥५॥ घर जाने पर उनके पिता-माता पूछने लगे तो भय के मारे काँपते हुए शरीर से वे वचन कहते हैं ॥६॥

विशेष—यहाँ पर सयानों में शान्त रस, देवताओं में हास्य रस और बालकों में भयानक रस है।

'पूछहिं पितु माता'—पिता घर के बाहर द्वार पर रहने के कारण प्रथम मिले और माता घर के भीतर थीं, उसी क्रम से मिलना और पूछना लिखा है। आगे 'जननि जनक मुसुकाहिं' में माता प्रथम कही गई हैं, क्योंकि बात करने में पुरुष और मुसुकाने में स्त्री प्रधान रहती है।

कहिय काह कहि जाइ न बाता। जम कर धारि किधौं बरियाता ॥७॥
बर बौराह बसह असवारा। ब्याल कपाल बिभूषन छारा ॥८॥

छन्द—तनु छार ब्याल कपाल भूषन नगन जटिल भयंकरा।
सँग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि बिकटमुख रजनीचरा॥
जो जियत रहिहि बरात देखत पुन्य बड़ तेहि कर सही।
देखिहि सो उमाबिवाह घर-घर बात अस लरिकन्ह कही॥

दोहा—समुझि महेस-समाज सब, जननि जनक मुसुकाहिं।
बाल बुझाये बिबिध बिधि, निडर होहु डर नाहिं ॥९५॥

लै अगवान बरातहि आये। दिये सबहिं जनवास सुहाये ॥१॥

शब्दार्थ—धारि = लूट-मार के लिये आई हुई सेना। बरियाता = बारात। बौराह = पागल। बसह = बैल, नन्दी। छारा = राख भस्म। जनवास = बारात के ठहरने का स्थान।

अर्थ—क्या कहें, (डर से) वचन भी नहीं कहा जाता है—"यह यमराज की सेना है या बारात ॥७॥ दुलहा बावला है, बैल पर सवार है, सर्पों तथा मनुष्यों की खोपड़ियों की माला और राख ये ही उसके विभूषण हैं ॥८॥ देह में राख पुती है। सर्प और मुण्डमाल ही उसके भूषण हैं, वह नंगा, जटाधारी और डरावना है। उसके साथ में विकट-मुखवाले भूत, प्रेत, पिशाच, योगिनियाँ और राक्षस हैं॥ जो इस बारात को देखकर जीता बच जायगा सचमुच उसका बड़ा पुण्य समझा जायगा और वही उमा का विवाह भी देखेगा।" घर-घर लड़कों ने ऐसी बात कही। शिवजी के सब समाज को समझकर (बच्चों के) माता-पिता मुसका रहे हैं। फिर उन्होंने बालकों को बहुत प्रकार से समझाया कि निडर हो जाओ, डर की कोई बात नहीं है ॥९५॥ अगवानी लोग बारात को लेकर आये और सबको ठहरने के लिये सुन्दर जनवास दिये ॥१॥

विशेष—'बर बौराह'—वेष देखकर पागल कहा—'तन छार ब्याल···' लक्षण भी कहा है।

'नगन'—पूर्व कहा गया कि—"तनु बिभूति पट केहरिछाला।" (दो० ९१), अर्थात् बाघम्बर वस्त्र है, फिर यहाँ नंगा क्यों कहा? समाधान यह है कि शिवजी बाघम्बर को ऊपर से ही ओढ़े हुए हैं, लँगोट आदि नहीं लगाये हैं और नन्दी पर सवार हैं। बालक छोटे हैं और भूमि पर हैं, इससे उन्हें नंगे देख पड़े, तथा—"नाचहिं नगन पिसाच पिसाची जोवहि।" (पार्वती मं० ३१)।

'जम कर धारि···' बालक घबराये हुए हैं, इससे सीधा—'बरात है कि यम की धारि है। ऐसा न कहकर उल्टा कह गये, क्योंकि अभी तो वे यम-धारि ही निश्चित किये हुए हैं, बरात नहीं।

मैना सुभ आरती सँवारी। संग सुमंगल गावहिं नारी ॥२॥
कंचनथार सोह बर पानी। परिछन चलीं हरहिं हरषानी ॥३॥
बिकट बेष रुद्रहि जब देखा। अबलन्ह उर भय भयेउ बिसेखा ॥४॥
भागि भवन पैठीं अति त्रासा। गये महेस जहाँ जनवासा ॥५॥

शब्दार्थ—सुमंगल = मंगलाचार के गीत। परिछन (परि-अर्चन) = यह एक रीति है कि स्त्रियाँ वर के पास आकर उसे दही और अक्षत का टीका लगाती हैं, आरती उतारती हैं और उसके ऊपर मूसल बला आदि घुमाती हैं। बिकट = भयंकर। पैठीं = घुस गईं।

अर्थ—मैनाजी ने मंगल-आरती सँवारी, उनके साथ में सुमंगल गाती हुई स्त्रियाँ हैं। उनके श्रेष्ठ हाथ में मंगल-द्रव्य से पूर्ण सुवर्ण का थार शोभा दे रहा है। (इस रीति से) हर्ष-पूर्वक वे शिवजी का परिछन करने चलीं ॥२-३॥ जब भयंकर वेषवाले रुद्र (शिवजी) को देखा, तब स्त्रियों के हृदयों में बहुत डर उत्पन्न हुआ ॥४॥ अत्यन्त डर के कारण वे भागकर घर में पैठ गईं, तब महादेवजी वहाँ चले गये, जहाँ जनवासा था।

विशेष—'अबलन्ह उर भय···'—डरे तो पुरुष भी, क्योंकि—'धरि धीरज तहँ रहे सयाने।' कहा गया है, किन्तु स्त्रियाँ स्वाभाविक भीरु होती हैं। अतः, इन्हें विशेष भय हुआ। पुनः भय तो शिव-समाज देखकर ही हुआ, फिर जब शिवजी को देखा और आरती देखकर उनके भूषण रूपवाले सर्प जीभ लपलपाने लगे तब तो वे बहुत ही डर गईं।

यहाँ शिवजी के हर, रुद्र और महेस तीन नाम कहे गये हैं। प्रथम शिवजी के उपलक्ष्य में मैनाजी का मनोरथ था कि गिरिजा को पाणिग्रहण करके इसका क्लेश हरेंगे। फिर इससे देवताओं का दुःख हरण होगा, इसलिये मैनाजी का अभिलषित 'हर' नाम कहा गया। विकट वेष की भयंकरता के साथ 'रुद्र' (भयानक शिव-रूप) भी उपयुक्त है, यथा—"रुद्रहि देखि मदन भय माना।" (दो० ८५)। फिर जब परिछन न होने पर (अपमानित होने पर भी) उन स्त्रियों पर यह समझकर दया-दृष्टि रक्खी कि ये भीरु होती ही हैं, हमारा विकट-वेष देखकर डर गईं, क्योंकि हमारे ऐश्वर्य-भाव को नहीं जानतीं इससे जाकर जनवासा में ठहरे। अप्रसन्न नहीं हुए, इस कारण महेश (महान्-ईश) अर्थात् परम समर्थ कहा जाना भी उपयुक्त है।

मैना हृदय भयेउ दुख भारी। लीन्ही बोलि गिरीसकुमारी ॥६॥
अधिक सनेह गोद बैठारी। स्याम सरोज नयन भरे बारी ॥७॥
जेहि बिधि तुम्हहिं रूप अस दीन्हा। तेहि जड़ बर बाउर कस कीन्हा ॥८॥

अर्थ—मैनाजी के हृदय में बड़ा भारी दुःख हुआ, उन्होंने पार्वतीजी को बुला लिया ॥६॥ अधिक स्नेह (के कारण) उनको गोद में बैठा लिया और उनके नील कमल के समान आँखों में जल भर आया ॥७॥ (और उन्होंने कहा कि) जिस ब्रह्मा ने तुमको ऐसा सुन्दर रूप दिया, उस मूर्ख ने तुम्हारे वर को बावला क्यों बना दिया? ॥८॥

विशेष—(१) 'मैना हृदय···' 'भारी'—दुःख तो और स्त्रियों को भी हुआ, पर मैनाजी को भारी है। माता होने से इनका पार्वती पर अधिक ममत्व है, इससे उनके दुःख पर भारी दुःख है।

'लीन्ही बोलि···'—वात्सल्य के कारण करुणा हो गई, इसलिये बुला लिया, क्योंकि गोद में लेकर विलाप करेंगी। साथ ही इनके प्रति अपनी सहानुभूति (हमदर्दी) जनावेंगी। इससे दुःख और भय कुछ कम होंगे, यथा—"कहेहू ते कछु दुख घटि होई।" (सु० दो० १४)। यह भी कहा जाता है कि कहीं

गिरिराज बाहर-ही-बाहर ब्याह न दें, इसलिये बुला लिया। 'गिरीसकुमारी'—पर्वत गम्भीर होते हैं, ये (पार्वतीजी) पर्वतराज की कन्या हैं, इनमें भी बड़ी गम्भीरता एवं धैर्य है। अतः, माता के विलाप पर भी इनका धैर्य न छूटेगा, प्रत्युत माता को ही समझाकर धैर्य देंगी।

(२) 'श्याम सरोज नयन···'—मैनाजी ने सोलहो शृंगार किये हैं। अतः, नेत्रों में काजल अथवा सुरमा लगा है, इसलिये नेत्र श्याम कमल के समान कहे गये।

(३) 'जेहि बिधि···'—पार्वतीजी को रूप और तदनुसार ही गुण, बुद्धि, धैर्य आदि विधिवत् देने के सम्बन्ध से रचयिता को 'विधि' कहा। पुनः उनके वर को अयोग्य समझकर उन ब्रह्मा को जड़ कहा, क्योंकि उन्होंने यह काम मूर्खों का-सा किया है कि ऐसी सुन्दरी दुलहिन के लिये ऐसा कुरूप वर दिया! यहाँ विह्वलता में ब्रह्मा को 'जड़' कहा गया, यथा—'जौं जड़ दैव जिआवै मोही।" (लं० दो० ६०)। अतः, दोष नहीं है, यथा—"अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलग न मानिये बोलहिं न बिचारी॥" (वि० ३४)।

छन्द—कस कीन्ह बर बौराह बिधि जेहि तुम्हहिं सुंदरता दई।
जो फल चहिय सुरतरुहिं सो बरबस बबूरहिं लागई॥
तुम्ह सहित गिरि ते गिरउँ पावक जरउँ जलनिधि महँ परउँ।
घर जाउ अपजस होउ जग जीवत बिवाह न हौं करउँ॥

दोहा—भई बिकल अबला सकल, दुखित देखि गिरिनारि।
करि बिलाप रोदति बदति, सुता - सनेह सँभारि॥९६॥

शब्दार्थ—घर जाउ=घर बिगड़ जाय, लुट जाय, (शिवगण क्रुद्ध होकर लूट लें)। अपजस=अपकीर्ति (यह कि शिवजी का प्रसिद्ध वेष जानते हुए भी बारात बुलवाकर फिर विवाह नहीं किया)। हौं=मैं। बिलाप=विकल होकर रोना।

अर्थ—जिस विधि ने तुमको सुन्दरता दी, उसने तुम्हारे दुलहे को बावला कैसे बना दिया? जो फल कल्पवृक्ष में लगना चाहिये, वह बलात् बबूल में लगाया जा रहा है॥ मैं तुम्हारे साथ पहाड़ पर से गिर पड़ूँ, आग में जल मरूँ, समुद्र में जा पड़ूँ (डूब मरूँ)। घर चाहे बिगड़ जाय और जगत् में अपयश भले ही हो, पर मैं जीते-जी यह ब्याह नहीं करने दूँगी॥ हिमाचल की स्त्री को दुःखित देखकर सारी स्त्रियाँ विकल हो गईं। बेटी के स्नेह को स्मरण करके (मैनाजी) बिलख-बिलखकर रोती और कहती थीं॥९५॥

विशेष—(१) 'जो फल चहिय···'—यहाँ मैनाजी का भाव यह है कि उमा का विवाह तो अति सुन्दर विष्णु भगवान् से योग्य होता, पर महा कुवेष शिवजी से होने को है, यह बड़ा अयोग्य है। सुरतरु—विष्णु, बबूल—शिव, फल—पार्वती (परम सुन्दरी), तप कराके ब्याह कराना—बरबस फल लगाना है।

अलंकार—'विषम प्रथम' क्योंकि यहाँ अनमिल सम्बन्ध कहा गया है।

(२) 'तुम्ह सहित गिरि ते गिरउँ···'—प्रथम गिरि से गिरना कहा, फिर विचारने लगीं कि हिमाचल दया करके यदि मृत्यु न होने दें तो अग्नि में जल मरूँगी। अग्नि भी देवता हैं, उस पक्ष के हैं। यदि न जलावें, तो समुद्र में डूब मरूँगी। पुनः यों भी भाव कहा जाता है कि अन्त में शरीर की तीन ही गतियाँ कही गई हैं, यथा—"कृमि-भस्म-बिट-परिनाम तनु···" (वि० १३६), अर्थात् पहाड़ से गिरने से

मिट्टी में पड़कर कृमि हो जाऊँगी, अथवा अग्नि में जलकर भस्म होऊँगी और नहीं तो समुद्र में पड़ने पर जलचरों के खाने से विट तो हूँगी ही।

शंका—मैनाजी ने प्रथम ही शिवजी का रूप ऐसा सुना था, फिर इतनी डरीं क्यों ?

समाधान—स्त्री-स्वभाव अत्यन्त भीरु होने के कारण एवं पहले के सुने हुए से भी अत्यन्त भीषण वेष देखकर विह्वल हो गईं। अतः, वे वचन भूल गये हैं। पुनः इस लीला से पार्वतीजी की महिमा प्रकट होगी। अतः, हरि-इच्छा से ऐसी घटना हुई है। अभी तक विधि की निन्दा की, अब नारद की करती हैं कि इन्होंने ही तप करवा कर ऐसा वर मिलाया है। विधि ने तप का फल दिया है, दोषी नारद ही हैं—

नारद कर मैं काह बिगारा। भवन मोर जिन्ह बसत उजारा ॥१॥
अस उपदेस उमहिं जिन्ह दीन्हा। बौरे बरहिं लागि तप कीन्हा ॥२॥
साँचेहु उन्हके मोह न माया। उदासीन धन धाम न जाया ॥३॥
पर-घर-घालक लाज न भीरा। बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा ॥४॥

शब्दार्थ—माया = कृपा, (माया दम्भे कृपायां च)। जाया = वह ब्याही स्त्री जो बच्चा जन चुकी हो। घालक = नाशक। भीरा = भय। प्रसव = बच्चा जनना। मोह = प्रेम।

अर्थ—(कि) नारद का मैंने क्या बिगाड़ा है जिन्होंने मेरा बसता हुआ घर उजाड़ दिया ॥१॥ जिन्होंने उमा को ऐसा उपदेश दिया कि जिससे उसने इस बावले वर के लिये तप किया ॥२॥ सत्य ही उनके कृपा और प्रेम नहीं हैं, वे उदासीन (रुक्ष-वृत्ति) हैं, न उनके धन है, न घर और न स्त्री ही है ॥३॥ वे दूसरों के घर के उजाड़नेवाले हैं, उनके न लज्जा ही है और न डर। भला, बाँझ स्त्री प्रसव की पीड़ा को क्या जान सकती है ? ॥४॥

विशेष—'भवन मोर जिन्ह···'—इसमें घर उजाड़ना कहकर उसका विवरण अगली तीन अर्द्धालियों में कहा है।

'बौरे बरहिं लागि···'—ऐसा वर मुफ्त भी मिलता तो न ब्याहती, फिर उसके लिये तप करवाया कि जिससे उनका अभिप्राय पक्का हो जाय। यही 'बरबस बबूरहिं लागई' में कहा गया था। 'पर घर घालक'—"चित्रकेतु कर घर उन घाला।···" आदि पूर्वोक्त सप्तर्षियों के वचन स्मरण हो रहे हैं, जो परीक्षार्थ कहे गये थे। भाव यह कि मैंने उन वचनों को सच्चा नहीं माना था, पर सत्य ही थे, यथा—"घर घाल चालक कलह प्रिय···" (पार्वती मं० ६७)। 'बाँझ कि जान···' उनके स्त्री और कन्या होती और ऐसा वर मिलता, तब जान पड़ता कि माता-पिता को ऐसी बातों से कितना दुःख होता है ! 'लाज न भीरा'—दक्ष ने शाप भी दिया, तब भी घर घालने की आदत नहीं छोड़ी, यह निर्लज्जता है। लोक का भय नहीं कि ऐसा अयोग्य सम्बन्ध कराने पर लोक क्या कहेगा ?

जननिहिं बिकल बिलोकि भवानी। बोलीं जुत बिबेक मृदुबानी ॥५॥
अस बिचारि सोचहि मति माता। सो न टरइ जो रचइ बिधाता ॥६॥
करम लिखा जौ बाउर नाहू। तौ कत दोष लगाइय काहू ॥७॥
तुम्ह सन मिटिहि कि बिधि के अंका। मातु ब्यर्थ जनि लेहु कलंका ॥८॥

अर्थ—माता को विकल देखकर श्रीपार्वतीजी विवेक-सहित कोमल वाणी बोलीं ॥५॥ हे माता ! ऐसा विचार कर तुम सोच न करो कि जो विधाता लिखता है, वह नहीं टल सकता ॥६॥ मेरे कर्म (प्रारब्ध) में जो बावला ही पति लिखा है, तो फिर क्यों किसीको दोष लगाती हो ? ॥७॥ क्या तुमसे विधाता के लिखे हुए अंक मिट सकते हैं ? (तो फिर) हे माता ! वृथा कलंक मत लो ॥८॥

विशेष—(१) 'जननिहिं बिकल ···'—'भवानी' अर्थात् यद्यपि माता आदि व्याकुल हैं और शिवजी में सबकी अप्रीति है तो भी इनकी निष्ठा अटल है, अपने को भव-पत्नी ही मानती हैं। पुनः ये लीला-मात्र में मैना की बेटी हैं, पर अपने को—'सदा संभु-अरधंग निवासिनि' जानती हैं, नहीं तो लड़की माँ को उपदेश क्योंकर करती ?

'बोलीं जुत ···'—इनके समझाने का कारण यह कि सब सखियाँ व्याकुल हैं। अतः, समझा नहीं सकतीं। जैसे दो० २५५ में श्रीसुनयनाजी को उनकी चतुर सखी ने समझाया है। अतः, माता के दुःख मिटाने के लिये उमाजी को स्वयं समझाना पड़ा। दूसरा यह भी कारण है कि जब मैनाजी श्रीनारदजी को अनुचित कहने लगीं, तब उमा के लिये बोलना आवश्यक हुआ, क्योंकि गुरु-निन्दा सुनना पाप है, इस मर्यादा-रक्षा के लिये बोलीं। 'जुत बिबेक ···', यथा—"कहि मृदु बचन बिबेकमय, कीन्ह मातु परितोष।" (अ० दो० ६०)।

(२) 'सो न टरइ जा ···'—यहाँ गिरिजाजी पूर्वकथित नारद के वचनों का ही स्मरण कराती हैं, जो उन्होंने हस्त-रेखा देखकर कहा था। उन्होंने तो हमारे कर्मानुसार ब्रह्मा का लिखा कहा है तो किसीका क्या दोष है ? यथा—"करम लिखा जो बाउर नाहू।" —"जोगी जटिल अकाम मन, नगन अमंगल बेष। अस स्वामी यहि कहँ मिलिहि, परी हस्त असि रेख॥" (दो० ६७)।

(३) 'तुम्ह सन मिटिहि कि ···'—'कह मुनीस हिमवंत सुनु, जो बिधि लिखा लिलार। देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनिहार॥" (दो० ६८), तब तुमसे कैसे मिटेगा ?

'व्यर्थ जनि लेहु कलंका'—जब मेरे कर्म ही का दोष है, इसमें न तो मुनि का दोष और न विधाता का ही दोष है, तब फिर व्यर्थ किसीको दोष लगाने से क्या लाभ ? तथा गिरि से गिरने आदि में लोग तुम्हींको दोष देंगे। जब विधि के लिखे के अनुसार ब्याह होगा ही, तब रोने से भी कलंक ही है, लोग कहेंगे कि बहुत रो-पीटकर क्या कर लिया ? इत्यादि।

छन्द—जनि लेहु मातु कलंक करुना परिहरहु अवसर नहीं।
दुख सुख जो लिखा लिलार हमरे जाब जहँ पाउब तहीं॥
सुनि उमा-बचन बिनीत कोमल सकल अबला सोचहीं।
बहु भाँति बिधिहिं लगाइ दूषन नयन बारि बिमोचहीं॥

दोहा—तेहि अवसर नारद सहित, अरु रिषिसप्त समेत।
समाचार सुनि तुहिनगिरि, गवने तुरत निकेत॥९७॥

शब्दार्थ—करुना (करुणा) = मन का वह धर्म जो आश्रित के दुःख पर विकलता लाकर उस दुःख के मिटाने के लिये उद्यत करता है, पर यहाँ पर इसका अर्थ 'शोक प्रकट करना' है। बिनीत = नम्र। तुहिन = हिम। निकेत = घर।

अर्थ—हे माता ! अपने सिर पर कलंक मत लो, करुणा त्याग करो, इसका अवसर नहीं है। दुःख और सुख जो हमारे लिलार में लिखा है, उसे तो जहाँ ही जाऊँगी, वहीं पाऊँगी॥ उमाजी के ऐसे नम्र और कोमल वचन सुनकर सब स्त्रियाँ सोचती हैं और बहुत भाँति से विधाता को ही दूषण लगा-लगाकर आँखों से आँसू गिरा रही हैं॥ यह समाचार सुनकर उसी समय हिमाचल-राज श्रीनारदजी के साथ और सप्त ऋषियों को भी साथ में लिये हुए शीघ्रतापूर्वक घर गये।

विशेष—'सकल अबला सोचहीं'—उमा के विनम्र और कोमल वचनों का प्रभाव पड़ा। अब नारद का दोष देना सबने छोड़ दिया, क्योंकि आगे—'बिधिहिं लगाइ ···' कहा है। सोचती हैं कि ऐसी

सयानी कन्या को अयोग्य वर मिला। विधि ने ऐसी अविधि क्यों की ? अतः, उसपर बहुत भाँति से दोष लगाने लगीं, यथा—"बिधि करतब उलटे सब अहहीं।"···से—"तेहि इरषा बन आनि दुराये॥" (अ० दो० ११९) तक, आदि। 'तुरत' पद यहाँ 'त्वरित'=शीघ्रतापूर्वक, इस अर्थ में है।

'तेहि अवसर नारद सहित···'—इसमें 'सहित' और 'समेत' दोनों एक ही अर्थ के हैं और एक साथ आये हैं। इससे जनाया कि केवल नारदजी से काम न चलेगा। अतः, गवाही रूप में सप्तर्षियों को भी साथ ले गये। इसे बहुत जरूरी दिखाने के लिये एक 'समेत' पद अधिक दे दिया।

श्रीनारदजी को तो स्त्रियाँ दोष देती ही थीं और इनके विरुद्ध में परीक्षार्थ कहे हुए सप्तर्षियों के वचनों को रखती थीं। अतः, नारदजी के समझाने के साथ-साथ ये भी रहेंगे और उसमें अपनी सम्मति देते रहेंगे, तब मैना आदि को प्रतीति होगी।

यह भी कहा जाता है कि नारद सहित जाते थे, सप्तर्षि भी आ गये, तब इन्हें भी आवश्यक जानकर साथ ले लिया। यह घटना-क्रम दिखाने के लिये वैसा ही लिख दिया।

तब नारद सबही समुझावा। पूरब - कथा - प्रसंग सुनावा॥१॥
मैना सत्य सुनहु मम बानी। जगदंबा तव सुता भवानी॥२॥
अजा अनादि शक्ति अबिनासिनि। सदा संभु-अरधंग-निवासिनि॥३॥
जग-संभव - पालन - लय-कारिनि। निज इच्छा लीला-बपु-धारिनि॥४॥

शब्दार्थ—अजा = कर्म-वश जन्म-रहित। अविनासिनि = नाश रहित, मोहादि से आत्म रूप नहीं भूलतीं—सदा एकरस स्वरूप-स्मृति रहती है। बपु = शरीर।

अर्थ—तब नारदजी ने सबको समझाया और (उमा के) पहले जन्म की कथा का प्रसंग सुनाया॥१॥ उन्होंने कहा—हे मैना! मेरी सत्य वाणी सुनो। तुम्हारी बेटी पार्वती जगत् की माता और भवानी (शिवपत्नी) है॥२॥ यह अजन्मा, अनादिशक्ति और अविनाशिनी है तथा सदा शिवजी के आधे अंग में निवास करनेवाली है॥३॥ यह जगत् की उत्पत्ति, पालन और लय करनेवाली है और अपनी इच्छा से लीलापूर्वक शरीर धारण करनेवाली है॥४॥

विशेष—श्रीनारदजी ने ही समझाया, क्योंकि इनकी पूर्वोक्त बातों पर मैना को सन्देह था। अब दूसरे के समझाने से प्रबोध होता तो इनकी लघुता होती। पुनः पूर्व में हिमाचल ने इनको त्रिकालज्ञ कहा था, उस समय इन्होंने वर्त्तमान और भविष्य को ही कहा था। भूतकाल का महत्त्व ऐश्वर्यमय होने से नहीं कहा गया था। अब उसको पूर्ति करेंगे। इस ऐश्वर्य को सुनकर सबको सन्तोष हो जायगा और विधाता को भी दोष देना छूट जायगा। 'सत्य'—क्योंकि इस समय मैनाजी के हृदय में नारदजी के वचन में आस्था नहीं है।

'अजा अनादि···'—अजन्मा होने से अनादि हैं। अतः, अजा के साथ ही अनादि भी कहा है। अविनाशिनी हैं, इससे इनका अन्त नहीं है। फिर आदि-अन्त (जन्म-मरण) रहित नित्य स्थिति 'सदा संभु···' इस उत्तरार्द्ध वाक्य से कहा है।

'सदा संभु-अरधंग···'—शिवजी से इनका कभी वियोग नहीं है—ये लीला-मात्र से पृथक् देख पड़ती हैं, तब यहाँ जन्म होना आदि प्रत्यक्ष बातों का क्या रहस्य है ? इसपर आगे कहते हैं कि निज इच्छा लीला···' अर्थात् जब चाहती हैं, स्वेच्छा से जन्म लेती हैं, यथा—"जनमी जाइ हिमाचल गेहा।" (दो० ८२)। इसमें 'जाइ' पद का भाव यह कि स्वेच्छा से जाकर, कर्मपरवश नहीं। आगे कहते हैं कि पहले भी इनका जन्म हुआ है—

जनमी प्रथम दच्छगृह जाई। नाम सती सुंदर तनु पाई ॥५॥
तहँउ सती संकरहिं बिबाहीं। कथा प्रसिद्ध सकल जग माहीं ॥६॥
एक बार आवत सिव - संगा। देखेउ रघुकुल - कमल-पतंगा ॥७॥
भयेउ मोह सिव कहा न कीन्हा। भ्रमबस बेष सीय कर लीन्हा ॥८॥

अर्थ—प्रथम (इन्होंने) दक्ष के घर में (इच्छा से) जाकर जन्म लिया था। वहाँ इनका नाम सती था और इन्होंने सुन्दर शरीर पाया था ॥५॥ वहाँ भी सतीजी शिवजी से ब्याही गई थीं, यह कथा सब जगत् में प्रसिद्ध है ॥६॥ एक बार शिवजी के संग (कैलास को) आते हुए, (इन्होंने) रघुकुल-रूपी कमल के (विकाशक) सूर्य-रूप (श्री रामजी) को देखा ॥६॥ तब इनको मोह हो गया। फिर शिवजी का कहा भी नहीं माना और भ्रम के वश श्रीसीताजी का वेष बना लिया ॥८॥

विशेष—'कथा प्रसिद्ध·····'—"सतीजन्म और उनका दक्ष-यज्ञ में शरीर त्यागना और वीरभद्र-द्वारा यज्ञ-विध्वंस तथा पार्वती जन्म"—ये कथाएँ स्कन्दपुराण और भाग० ४।१।६ में विस्तार से हैं। संक्षेपतः इस ग्रन्थ में भी पहले (दो० ६० से ६५ तक) कह ही आये हैं।

'तहउँ सती···' इसपर सन्देह हो सकता है कि ऐसे पति को सती कैसे ब्याही गई होंगी, इसपर इस कथा की जगत्प्रसिद्धि कहकर इसे पुष्ट किया है।

'देखेउ रघुकुल कमल पतंगा। भयेउ मोह···'—यद्यपि श्रीरामजी सूर्यवत् मोह रूप तम से पृथक् हैं, यथा—"राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा ॥" (दो० ११५), 'भ्रम बस बेस···' राम रूप में भ्रम किया, वह भी उनमें अयुक्त ही था, यथा—"जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा ॥" (दो० ११५)।

"सती-मोह, उनका सीता-रूप-धारण, श्रीराम-परीक्षा, सती-त्याग"—ये कथाएँ शिव-पुराण में हैं। इस ग्रन्थ में ये सब कथाएँ दो० ४९–५६ में हैं।

छन्द—सिय-बेष सती जो कीन्ह तेहि अपराध संकर परिहरी।
हरबिरह जाइ बहोरि पितु के यज्ञ जोगानल जरी ॥
अब जनमि तुम्हरे भवन निज पति लागि दारुन तप किया।
अस जानि संसय तजहु गिरिजा सर्वदा संकरप्रिया ॥
दोहा—सुनि नारद के बचन तब, सब कर मिटा बिषाद।
छन महँ ब्यापेउ सकल पुर, घर-घर यह संबाद ॥९८॥

अर्थ—सतीजी ने जो सीताजी का वेष धारण किया, उसी अपराध से श्रीशिवजी ने इनका त्याग किया। शिवजी के विरह (दुःख) में (जलती ही थीं) फिर ये अपने पिता के यज्ञ में जाकर योगाग्नि में जल गईं। अब तुम्हारे घर में जन्म लेकर अपने पति की प्राप्ति के लिये (इन्होंने) अत्यन्त कठिन तप किया है। ऐसा जानकर सन्देह छोड़ दो। गिरिजाजी तो सर्वदा से ही शिवजी की प्यारी (पत्नी) हैं ॥ तब नारदजी की बात सुनकर सबका बिषाद (शोक) मिट गया और क्षण-भर में सम्पूर्ण नगर में घर-घर यह संवादात्मक कथा फैल गई ॥९८॥

विशेष—'तेहि अपराध'—भाव यह कि 'कहा न कीन्हा' आदि कारणों से शिवजी ने सती का त्याग नहीं किया, क्योंकि शिवजी ने रामजी के विषय के मोह एवं भ्रम का निवारण कहा था, वह उनके

हृदय में नहीं बैठा, वह त्याज्य दोष नहीं था। अपराध यही था कि सतीजी ने सीता जी का वेष किया था।

श्री नारदजी यहाँ अपराध कह रहे हैं और इसी प्रसंग पर आगे याज्ञवल्क्यजी 'बिनु अघ' कहेंगे, इसका समाधान वहीं (दो० १०३ चौ० ७) पर देखिये।

इस प्रसंग में भगवती के नाम, रूप, लीला और धाम कहे गये—१. 'नाम सती'—नाम, २. 'सुंदर तनु पाई'—रूप, ३. 'एक बार आवत सिव संगा।···'—लीला, ४. 'दच्छ गृह जाई'—धाम।

'छन महँ ब्यापेउ···'—पहले विषाद की बात 'घर-घर बात असि लरिकन्ह कही' (दो० ९५) के प्रसंग में व्याप्त हो चुकी थी। राजा के दुःख में सब दुखी थे। अतः, अब विषाद मिटने का संवाद भी सबके घरों में पहुँचाया गया कि सब सुखी हों।

तब मैना हिमवंत अनंदे। पुनि पुनि पारवतीपद बंदे ॥१॥
नारि पुरुष सिसु जुवा सयाने। नगर लोग सब अति हरषाने ॥२॥
लगे होन पुर मंगल गाना। सजे सबहि हाटकघट नाना ॥३॥
भाँति अनेक भई जेवनारा। सूपसास्त्र जस कछु ब्यवहारा ॥४॥
सो जेवनार कि जाइ बखानी। बसहिं भवन जेहि मातु भवानी ॥५॥

अर्थ—तब मैना और हिमाचलराज बहुत आनन्दित हुए और बार-बार पार्वतीजी के चरणों को वन्दना करने लगे ॥१॥ स्त्री, पुरुष, बालक, जवान और सयाने (वृद्ध)—नगर के सभी लोग अति हर्षित हुए ॥२॥ नगर भर में मंगल-गान होने लगे, सभी ने सोने के अनेक कलशे सजाये ॥३॥ पाक-शास्त्र में जैसी-कुछ रीति थी, तदनुसार अनेक प्रकार के भोजन बने ॥४॥ जिस घर में माता भवानी ही रहती हैं, वहाँ की रसोई का वर्णन क्या हो सकता है ? ॥५॥

विशेष—यहाँ आनन्दित होने में मैना का नाम प्रथम है, और सब लोगों में 'नारि' प्रथम कही गई है, क्योंकि इनकी व्याकुलता अधिक थी। नारदजी ने मैना के प्रति सम्बोधन करके कहा भी है, इससे आनन्दित होनेवालों में भी प्रथम इन्हींका नाम लिया।

'भाँति अनेक भई·····'—चर्व्य (चबाकर खाने योग्य पदार्थ), चोष्य (चूसे जाने योग्य पदार्थ), लेह्य (चाटे जाने योग्य पदार्थ) और पेय (पीने योग्य पदार्थ)—ये चार प्रकार के भोजन के भेद हैं। यह महाराज नल-रचित 'पाकशास्त्र' में प्रमाण है। कोई-कोई भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य—भोजन के ये ही चार भेद मानते हैं। प्रत्येक में षट् रस (छः रस) के व्यंजन होते हैं—खट्टा, मीठा, चरपरा, कड़वा, क्षार (नमकीन) और कषाय (जैसे आँवला), यथा—"चारि भाँति भोजन बिधि गाई। एक-एक बिधि बरनि न जाई ॥ छरस रुचिर बिंजन बहु जाती। एक-एक रस अगनित भाँती" (दो० ३२८)।

'सूपसास्त्र'—(सूप = दाल) रसोई में दाल का उत्तम बनना मुख्य है। अतः, पाक-शास्त्र को सूप-शास्त्र कहते हैं।

'लगे होन मंगल·····'—प्रथम मंगल गान होते थे, यथा—"संग सुमंगल गावहिं नारी।" (दो० ९५), पर शिवजी का भयंकर वेष देखने पर स्त्रियों के डरने से वे बन्द हो गये थे। अब फिर होने लगे। प्रथम 'सिसु' वर्ग का डरना कहा था। अतः, यहाँ उन्हें भी 'हरषाने' कहा।

'सो जेवनार··· मातु भवानी।'—भोजन बनाने और खिलाने में माता प्रधान है, यथा—"अनुजन्ह संजुत भोजन करहीं। देखि सकल जननी सुख भरहीं ॥" (उ० दो० २५)। अतः, यहाँ माता के प्रभाव से भोजन अवर्ण्य है।

सादर बोले सकल बराती। बिष्नु बिरंचि देव सब जाती ॥६॥
बिबिधि पाँति बैठी जेवनारा। लागे परुसन निपुन सुआरा ॥७॥
नारिबृंद सुर जेंवत जानी। लगीं देन गारी मृदु बानी ॥८॥

शब्दार्थ—देव सब जाती = आठ दिक्पाल, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, उनचास मरुत्, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर इत्यादि देवताओं की जातियाँ (भेद) हैं।

अर्थ—समस्त बरातियों को—विष्णु-ब्रह्मा और सब जातियों के देवताओं को—आदर के साथ (गिरिराज ने) बुलवा लिया ॥६॥ भोजन करनेवाले विविध (तरह-तरह की कई) पंक्तियों में बैठे, (तब) चतुर सुआर (रसोइये) परोसने लगे ॥७॥ देवताओं को भोजन करते हुए जानकर स्त्रियाँ कोमल वाणी में गालियाँ देने लगीं ॥८॥

विशेष—'बिबिधि पाँति···' क्योंकि देवताओं की कई जातियाँ हैं। सब देव अलग-अलग बैठे हैं, यथा—"जथा जोग पीढ़न बैठारे ॥ सादर लगे परन पनवारे।···" (दो० ३२७)। 'निपुन सुआरा'—चतुराई से परोसनेवाले हैं, भोजन इधर-उधर नहीं गिरने पाता, नम्रतापूर्वक प्रिय वचन कहकर परोसते हैं, यथा—"सूपोदन सुरभी सरपि, सुंदर स्वादु पुनीत। छनमहँ सब कहँ परुसिगे, चतुर सुआर बिनीत ॥" (दो० ३२८)।

श्रीसीताराम-विवाह में प्रथम विवाह हुआ, तब जेवनार और यहाँ प्रथम भोजन तब विवाह कहा गया है। इसके कारण—(क) श्रीरामजी मनुष्यावतार में हैं। अतः, भूलोक की रीति कही गई है और शिव-विवाह में देवलोक की रीति है। (ख) श्रीरामविवाह में एक जाति के लोग हैं। निमिवंश और रघुवंश एक वंश की दो शाखाएँ हैं। अतः, खाने में सन्देह नहीं था, देवताओं में विविध जातियाँ हैं। सम्भव था कि विवाह हो जाने पर, उनका प्रयोजन निकल जाने पर, इधर-उधर चल दें, इसलिये गिरिराज ने प्रथम ही भोजन करा दिया।

'जेंवत जानी'—देखकर नहीं कहा गया, क्योंकि परदे के भीतर हैं, यथा—"जेंवत देहिं मधुर धुनि गारी। लै लै नाम···" (दो० ३२८)।

छन्द—गारी मधुर सुर देहिं सुंदरि व्यंग्य बचन सुनावहीं।
भोजन करहिं सुर अति बिलंब बिनोद सुनि सचु पावहीं ॥
जेंवत जो बढ़्यौ अनंद सो मुख कोटिहू न परै कह्यौ।
अँचवाइ दीन्हे पान गवने बास जहँ जाको रह्यौ ॥
दोहा—बहुरि मुनिन्ह हिमवंत कहँ, लगन सुनाई आइ।
समय बिलोकि बिवाह कर, पठये देव बोलाइ ॥९९॥

शब्दार्थ—सुर (स्वर) = आवाज। बिनोद = हास-विलास। सचु = सुख।

अर्थ—सुन्दरी (स्त्रियाँ) मीठे स्वर से गालियाँ देती (गाती) और व्यंग्य वचन सुनाती हैं। देवता हास-विलास सुनकर आनन्दित होते हैं, (इसीलिये) वे भोजन करने में बड़ा विलम्ब कर रहे हैं ॥ भोजन करने के समय जो आनन्द बढ़ा, वह करोड़ों मुखों से भी नहीं कहा जा सकता। हाथ-मुख धुलवाकर पान दिये गये, (तब) जिनका जहाँ निवास-स्थल था, वे वहाँ गये ॥ फिर आकर मुनियों ने हिमाचल को लग्न-घड़ी सुनाई। उन्होंने विवाह का समय जानकर देवताओं को बुलावा भेजा ॥९९॥

विशेष—'गारी मधुर सुर देहिं···' ये प्रेम की गालियाँ हैं और विवाह के अवसर की हैं। इनसे देवता लोग विनोद मानते हैं, यथा—"अमिय गारि गार्‌यो गरल, गारि करी करतार। प्रेम बैर की जननि जुग, जानहिं बुध न गँवार॥" (दोहावली ३२८), तथा—"समय सुहावनि गारि बिराजा। हँसत राउ सुनि सहित समाजा॥" (दो० ३२८)। 'अँचवाइ दीन्हें पान···'—प्रत्येक बराती के समक्ष भृत्य खड़े हैं। आचमन करा तुरत पान दिये गये।

'व्यंग्य'—दुलहा शिवजी के तो माँ-बाप ही नहीं हैं। ब्रह्माजी समधी हैं। अतः, इनकी स्त्री सरस्वती से गिरिराज का सम्बन्ध लगाकर गाली देती हैं, इत्यादि।

बोलि सकल सुर सादर लीन्हे। सबहिं जथोचित आसन दीन्हे॥१॥
बेदी बेदबिधान सँवारी। सुभग सुमंगल गावहिं नारी॥२॥
सिंहासन अति दिब्य सुहावा। जाइ न बरनि बिरंचि बनावा॥३॥
बैठे सिव बिप्रन्ह सिर नाई। हृदय सुमिरि निज प्रभु रघुराई॥४॥

अर्थ—(हिमालय ने) सब देवताओं को आदरपूर्वक बुलवा लिया और सबको बैठने के लिये यथायोग्य आसन दिया॥१॥ वेद की रीति से वेदी सँवारी (रची) गई और स्त्रियाँ सुन्दर मंगल गीत गाने लगीं॥२॥ (वेदी पर) अत्यन्त दिव्य सिंहासन शोभित है जो ब्रह्मा का (अपने हाथ से) बनाया हुआ है, (इसीसे) इसका वर्णन नहीं किया जा सकता॥३॥ अपने इष्टदेव (स्वामी) श्रीरघुनाथजी का हृदय में स्मरण करके और ब्राह्मणों को सिर नवाकर (प्रणाम करके) शिवजी (उस सिंहासन पर) बैठ गये॥४॥

विशेष—'जाइ न बरनि बिरंचि बनावा।'—पूर्व में कहा गया है—"पुर-सोभा अवलोकि सुहाई। लागइ लघु बिरंचि निपुनाई॥" (दो० ९३)। उसके अनुसार यहाँ ऐसा अर्थ करना चाहिये कि और सृष्टि ब्रह्मा संकल्प से रचते हैं, वह लघु लगती है, पर इसे अपने हाथों से बनाया है। अतः, विशेष है। इसी-से—'जाइ न बरनि' कहा है। इसी तरह अन्यत्र भी कहा गया है, यथा—"जनु बिरंचि निज हाथ सँवारे।···मन भावहिं मुख बरनि न जाहीं।" (दो० ३१०), इत्यादि। जहाँ भी ब्रह्मा के हाथ से रचना का वर्णन है, वहाँ अवर्ण्य भी कहा गया है।

'बैठे सिव बिप्रन्ह···'—विवाह करानेवाले ब्राह्मण लोग सम्मुख थे। सदाचार एवं लोकरीति के अनुसार उन्हें प्रणाम किया, यहाँ तो सिंहासन पर बैठना है और ब्राह्मण लोग कुछ नीचे पड़ जायँगे, इससे क्षमापन के लक्ष्य से भी प्रणाम किया है। मंगल कार्य में इष्टदेव का स्मरण करना भी योग्य ही है। हृदय में ही स्मरण किया, क्योंकि मानसिक स्मरण श्रेष्ठ है। इष्टदेव से भी उचित कर्त्तव्य की प्रेरणा चाहते हैं, यथा—"सुमिरत राम हृदय अस आवा।" (दो० ५६)।

बहुरि मुनीसन्ह उमा बोलाई। करि सिंगार सखी लै आई॥५॥
देखत रूप सकल सुर मोहे। बरनइ छबि अस जग कबि को है॥६॥
जगदंबिका जानि भवभामा। सुरन्ह मनहि मन कीन्ह प्रनामा॥७॥
सुंदरता - मरजाद भवानी। जाइ न कोटिहु बदन बखानी॥८॥

अर्थ—फिर मुनीश्वरों ने उमा को बुलवाया। सखियाँ शृंगार करके उनको वहाँ ले आईं॥५॥ (उमा का) रूप देखते ही सारे देवता मुग्ध हो गये, ऐसा कवि कौन है, जो उस छवि का वर्णन कर सके ?॥६॥ जगत् की माता और भव-पत्नी जानकर देवताओं ने उमा को मन-ही-मन प्रणाम किया॥७॥ पार्वतीजी सुन्दरता की सीमा हैं, (अतः) करोड़ों मुखों से भी उनकी सुन्दरता बखानी नहीं जा सकती॥८॥

पत्नी) जानकर भव (शिवजी) को समर्पित कर दिया ॥२॥ जब महादेव ने (पार्वतीजी का) पाणिग्रहण कर लिया, तब समस्त सुरेश्वर (लोक-पाल) हृदय में हर्षित हुए ॥३॥ श्रेष्ठ मुनि लोग वेद-मन्त्र (स्वस्ति-वाचन, आदि) का उच्चारण कर रहे हैं, देवगण "जय जय जय शंकर" (की ध्वनि) करने लगे।

विशेष—'गहि गिरीस कुस···'—इसमें 'पानी' शब्द अन्त में है, उसका 'गिरीस', 'कुस' और 'कन्या' इन तीनों के साथ होना प्रकट किया गया है। पुनः 'पानी' शब्द यहाँ श्लेषार्थक भी है, इसके अर्थ 'हाथ' और 'जल' दोनों हैं।

'समरपी जानि भवानी'—यहाँ कन्यादान करना नहीं है, क्योंकि गिरीश इनकी महिमा जान चुके हैं। अतः, भवानी अर्थात् भव-पत्नी जानकर भव की वस्तु भव (शिवजी) को समर्पित किया है कि ये तो आपकी सदा अर्द्धांगनिवासिनी हैं ही, हमारे यहाँ कुछ काल आकर धरोहर की तरह रहीं, अब मैं आपकी वस्तु आपको सौंपता हूँ, यथा—त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पितम्" यह प्रसिद्ध है। 'जानि भवानी', यथा—"तहउँ सती संकरहि बिवाही" 'निज पति त्यागि दारुन तप किया।···गिरिजा सर्वदा संकरप्रिया ॥" इस उपर्युक्त नारद वचन से जानकर। यहाँ समर्पण करने में गिरिराज के साथ श्रीमैनाजी भी हैं, यथा—"जनक बाम दिसि···हिमगिरि संग बनी जनु मयना ॥" (दो० ३२३)।

'हिय हरषे तब···'—पाणि-ग्रहण होने पर तारकासुर के वध का निश्चय हो गया इससे देवताओं को पूर्ण हर्ष हुआ। इससे प्रथम गिरिजा के सती-शरीर से हुए अपराध एवं अपने द्वारा काम भेज कर की हुई अवज्ञा और शिवजी के प्रबल वैराग्य के कारण सन्देह था।

'जय जय जय···'—यहाँ 'जय' शब्द में आदर प्रकट करने में वीप्सा-अलंकार है, यथा—"आदर अचरज आदि हित, एक सब्द बहु-बार। ताहि वीप्सा कहत हैं, जे सुबुद्धि-भंडार ॥" (अलंकार मं०)। यह भी भाव लिया जाता है कि तीन बार मन, वचन, कर्म से एवं शिवजी की कालत्रय की जय के लिये कहा तथा तीन बहुवचन हैं। अतः, अनन्त बार जय की भी सूचना दी।

बाजहिं बाजन बिबिध बिधाना। सुमनबृष्टि नभ भइ बिधि नाना ॥५॥
हर गिरिजा कर भयेउ बिबाहू। सकल भुवन भरि रहा उछाहू ॥६॥
दासी दास तुरग रथ नागा। धेनु बसन मनि बस्तु बिभागा ॥७॥
अन्न कनक-भाजन भरि जाना। दाइज दीन्ह न जाइ बखाना ॥८॥

अर्थ—तरह-तरह के बाजे बजने लगे और आकाश से नाना प्रकार के फूलों की वर्षा हुई ॥५॥ शिव-पार्वती का विवाह हुआ, सब भुवनों (लोकों) में भरपूर उत्साह छा गया ॥६॥ दासी, दास, घोड़े, रथ, हाथी, गायें, वस्त्र और मणि आदि बहुत तरह की चीजें ॥७॥ अन्न और सुवर्ण के बरतन रथों में भर-भरकर इतने पदार्थ दहेज में दिये गये कि उनका वर्णन नहीं हो सकता ॥८॥

विशेष—(१) 'बाजहिं बाजन···' यथा—"झाँझि मृदंग संख सहनाई। भेरि ढोल दुंदुभी सुहाई ॥ बाजहिं बहु बाजने सुहाये।" (दो० २६२)। 'वृष्टि'—मघा की सी झड़ी। 'बिधि नाना', यथा—"बरषहिं सुमन बजाइ निसाना।" (दो० ३१३), "बरषहिं सुमन रंग बहु माला।" (दो० २६१), "बार-बार कुसुमांजलि छूटीं।" (दो० २६४), "सुरतरु सुमन माल सुर बरषहिं।" (दो० ३४६)।

(२) 'हर गिरिजा···'—हर देवताओं के दुःख हरनेवाले और गिरिजा परोपकारिणी हैं, यथा—"संत बिटप सरिता गिरि-धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी ॥" (उ० दो० १२४)।

यहाँ सिन्दूर दान, कोहवर एवं भाँवरी आदि रीतियाँ नहीं क्यों हुईं ? उत्तर—(क) इन्हीं ग्रन्थकार ने 'पार्वती मंगल' में सब कुछ कहा है—"साखोच्चार समय सब सुर मुनि बिहँसहिं। लोक-बेद बिधि कीन्ह लोन्ह जल कुस कर। कन्यादान संकलप कीन्ह धरनिधर ॥७६॥ पूजे कुलगुरु देव कलस सिल सुभ घरी।

लावा होम विधान बहुरि भाँवरि परी ॥ बंदन बंदि ग्रन्थि बिधि करि ध्रुव देखेउ । भा बिवाह सब कहहिं जनमफल पेखेउ ॥८८॥ इसमें 'बंदन बंदि' पद में सिन्दूर दान का अर्थ है । यहाँ इस ग्रन्थ में भी कहा गया है कि "जसि बिवाह कै बिधि श्रुति गाई । महामुनिन्ह सो सब करवाई ॥" तथा—"हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि···" (दो० ३२४), अर्थात् श्रीराम-विवाह की रीति से ही कन्यादान आदि हुए हैं । अतः, यहाँ संक्षेप में कहा गया है, विधियाँ सब हुई हैं ।

(ख) कल्प भेद की रीति से यों भी भाव हो सकता है कि रामचरित मानस में देवलोक की रीति से विवाह विधि कही गई है, वहाँ पाणिग्रहण मात्र की प्रथा है । किसी कल्प में ऐसा भी हुआ है, क्योंकि यहाँ के वर्णन में 'श्रुति गाई' विधि मात्र का होना कहा गया है । लोकरीतियों की चर्चा नहीं है । केवल भोजन विधि एवं गारि-गान मात्र हुए हैं ।

(३) 'दासी दास तुरग रथ नागा ।···'—ये दासी-दास वे हैं जो गिरिजा के शुचि सेवक हैं, यथा—"दासी दास दिये बहुतेरे । सुचि सेवक जे प्रिय सिय केरे ॥" (दो० ३३८), तथा—"दाइज बसन मनि धेनु धन हय गय सुसेवक सेवकी । दीन्ही मुदित गिरिराज जे गिरिजहिं पियारी पेव की ॥" (पार्वतीमंगल ८१), दासी-दास सेवा के लिये, घोड़े, हाथी, रथ सवारी के लिये, गाय दूध के लिये, वस्त्र और मणि पहनने के लिये, अन्न खाने के लिये और तदुपयोगी कनक-भाजन भी दिये । 'वस्तु बिभागा'—प्रत्येक वस्तु के कई-कई प्रकार । इस रीति से सभी पदार्थ इतने दिये कि वे कहे नहीं जा सकते । 'रथ' पद 'तुरग' और 'नागा' के बीच में देने से यह भी भाव है कि घोड़े एवं हाथी से चलनेवाले रथ दिये और अलग से हाथी-घोड़े भी दिये, तथा—"गजरथ तुरग हेम गो हीरा । दीन्हे नृप नाना बिधि चीरा ॥" (दो० १९५), इसमें भी ऐसा ही अर्थ किया जाता है ।

छन्द—दाइज दियो बहु भाँति पुनि कर जोरि हिमभूधर कह्यौ ।
का देउँ पूरनकाम संकर चरनपंकज गहि रह्यौ ॥
सिव कृपासागर ससुर कर संतोष सब भाँतिहि कियो ।
पुनि गहे पद-पाथोज मैना प्रेमपरिपूरन हियो ॥

दोहा—नाथ उमा मम प्रान सम, गृहकिंकरी करेहु ।
छमेहु सकल अपराध अब, होइ प्रसन्न बर देहु ॥१०१॥

शब्दार्थ—भूधर=पर्वत । पूरनकाम=(पूर्णकाम)=सदा तृप्त एवं औरों की भी कामना पूर्ण करनेवाले । पाथोज=कमल । प्रानसम=प्राणों के समान (प्रिय) । 'सम' का पाठान्तर 'प्रिय' भी है ।

अर्थ—बहुत प्रकार के दहेज दिया और फिर हाथ जोड़कर हिमाचल ने कहा कि हे शङ्कर ! आप पूर्णकाम हैं । मैं आपको क्या देने योग्य हूँ ? (इतना कहकर वे श्री शिवजी के) चरणकमलों को पकड़कर रह गये ॥ कृपा के समुद्र शिवजी ने सब तरह से श्वसुर को सन्तुष्ट किया । फिर मैनाजी ने प्रेम परिपूर्ण हृदय से (शिवजी के) चरण-कमल पकड़ लिये । उन्होंने कहा—हे नाथ ! मुझे उमा प्राणों के समान (प्यारी) है, इसे अपने गृह की टहलनी बनाइयेगा और अब उसके सब अपराधों को क्षमा कीजियेगा, प्रसन्न होकर यही वर (मुझे) दीजिये ॥ १०१ ॥

विशेष—'कर जोरि हिम···'—देने के साथ विनय करने की रीति है, अन्यथा अभिमान पाया जाता है । दीनता पर शङ्कर ने प्रसन्न हो श्वसुर को सन्तुष्ट कर कहा कि मुझे बहुत मिला ।

'गृहकिंकरी करेहु···'—पूर्व 'अकुल अगेह' सुन चुकी हैं। अतः, कहती हैं, अब इससे घर की ही सेवा कराइयेगा अर्थात् घर बनाकर रहियेगा। भाव—पूर्व में सती को अकेली बाहर न छोड़ते तो उसकी वह दशा न होती। अतः, यह मर्यादा से बाहर न जाने पावे।

'छमेहु सकल अपराध ···' अपराधों के लिये सती को माफी नहीं दी, पर अब इसके अपराधों को क्षमा कीजियेगा, यह मुझे वर मिले। 'सकल' में यह भी ध्वनि है कि अब सती-शरीर के भी इसके अपराध और जो मैं आपका परिछन न करके भाग गई थी, वह अपराध भी क्षमा कीजियेगा, इत्यादि।

मैनाजी ने मन, वचन, कर्म से विनय की—'प्रेम परिपूरन हियो' से मन, 'गहे पद' से कर्म और 'नाथ उमा मम···' आदि से वचन से विनय जानना चाहिये।

बहु बिधि संभु सासु समुझाई। गवनी भवन चरन सिर नाई ॥१॥
जननी उमा बोलि तब लीन्ही। लै उछंग सुंदर सिख दीन्ही ॥२॥
करेहु सदा संकर-पद-पूजा। नारिधरम पतिदेव न दूजा ॥३॥
बचन कहत भरे लोचन बारी। बहुरि लाइ उर लीन्हि कुमारी ॥४॥
कत बिधि सृजीं नारि जग माहीं। पराधीन सपने सुख नाहीं ॥५॥

अर्थ—शिवजी ने बहुत तरह से सास को समझाया। वे चरणों में सिर नवाकर घर को गईं ॥१॥ तब माता ने उमा को बुला लिया और उछंग (उत्सङ्ग=गोद) में लेकर सुन्दर शिक्षा दी ॥२॥ (कि हे पुत्री!) शिवजी के चरणों की सदा पूजा करना, (क्योंकि) स्त्रियों के धर्म में पति ही देवता है, दूसरा नहीं ॥३॥ यह वचन कहते हुए नेत्रों में जल भर आया, तब कन्या को फिर हृदय से लगा लिया ॥४॥ (और कहने लगीं) विधाता ने जगत् में स्त्री को क्यों बनाया? जिसे पराधीन रहने के कारण स्वप्न में भी सुख नहीं मिलता ॥५॥

विशेष—(१) 'बहु बिधि संभु···'—हम इस (उमा) पर कभी अप्रसन्न न होंगे, आप जो डर गई थीं और परिछन न कर सकीं, वह तो हमारे उस वेष के कारण था, इसमें आपका कोई दोष नहीं, वह वेष भी हम भगवान् की आज्ञा से असुरों को मोहने के लिये बनाये रहते हैं। आपके बड़े भाग्य हैं कि सब देवताओं ने आकर दर्शन दिये और भोजन किया, इत्यादि।

(२) 'नारि धरम पतिदेव ···' यथा—"एकै धर्म एक व्रत नेमा। काय बचन मन पति-पद प्रेमा॥" (अर० दो० ४), अर्थात् स्त्री का पूज्य देवता पति ही है, दूसरा नहीं।

(३) 'लाइ उर लीन्हि'—वचन कहते हुए, वात्सल्य से करुणा उमड़ पड़ी। अतः, फिर हृदय में लगा लिया। भाव यह कि तन से तो जाती हो, पर हृदय से कभी मत जाना।

(४) 'पराधीन सपनेहु···'—स्त्रियाँ बाल-अवस्था में पिता के, युवावस्था में पति के और वृद्धावस्था में पुत्र के अधीन रहती हैं, क्योंकि इनका स्वतन्त्र रहना हानिकर है, यथा—"पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने। पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥" (विदुरनीति तथा महा० अनुशा० २०।२१), तथा—"जिमि स्वतन्त्र भये बिगरहिं नारी। (कि० दो० १४), मनु० ५।१४८-१४८ में भी ऐसा ही लिखा है। स्त्रियों को इसीमें सुख रहता है, क्योंकि ब्रह्मा ने स्त्री को परतन्त्र बनाया है। यहाँ विदाई के करुण प्रसंग में विह्वल होकर माता कह रही हैं कि इन्हें पराधीनता में सुख नहीं रहता। विह्वलता में ज्ञान, धैर्य एवं लज्जा नहीं रहते। लं० दो० ५६ में श्रीरामजी ने भी लक्ष्मण-मूर्च्छा को विह्वलता में कुछ (चार वचन) ऐसे कहे हैं।

भइ अति प्रेमबिकल महतारी। धीरज कीन्ह कुसमय बिचारी ॥६॥
पुनि-पुनि मिलति परति गहि चरना। परम प्रेम कछु जाइ न बरना ॥७॥
सब नारिन्ह मिलि भेंटि भवानी। जाइ जननि-उर पुनि लपटानी ॥८॥

छन्द—जननिहिं बहुरि मिल चलीं उचित असीस सब काहू दई ।
फिरि फिरि बिलोकति मातुतनु तब सखी लै सिव पहिं गई ॥
जाचक सकल संतोषि संकर उमा-सहित भवन चले ।
सब अमर हरषे सुमन बरषि निसान नभ बाजे भले ॥

दोहा—चले संग हिमवंत तब, पहुँचावन अति हेतु ।
बिबिध भाँति परितोष करि, बिदा कीन्ह वृषकेतु ॥१०२॥

शब्दार्थ—कुसमय = इस समय करुणा करने से कन्या और भी दुखी होगी, विदाई का समय है । भेंटि = हृदय से लगाकर मिलना भेंटना है । संतोषि = उन्हें फिर किसी पदार्थ की इच्छा नहीं रही ।

अर्थ—(उस समय उमा की) माता अत्यन्त प्रेम से व्याकुल हो गईं, फिर उन्होंने कुसमय समझकर धैर्य धारण किया ॥६॥ बार-बार मिलती हैं और उनके चरणों को पकड़कर उनपर गिर पड़ती हैं, परम प्रेम है । अतः, कुछ कहा नहीं जा सकता ॥७॥ श्रीपार्वती जी सब स्त्रियों से मिल-भेंटकर, फिर अपनी माता की छाती से जा लिपटीं ॥८॥ माता से मिलकर फिर पार्वतीजी चलीं, सब किसीने इन्हें योग्य असीसें दीं । वे फिर-फिरकर माता की ओर देखती थीं कि सखियाँ उन्हें शिवजी के पास ले गईं ॥ सब याचकों को सन्तुष्ट करके महादेवजी उमा के साथ अपने घर (कैलास) को चले । सब देवता फूल बरसाकर प्रसन्न हुए और आकाश में भलीभाँति नगाड़े बजाये ॥ तब अत्यन्त प्रेम से हिमाचल पहुँचाने के लिये साथ चले । वृषकेतु (शिवजी) ने बहुत प्रकार से समझा-बुझा कर उनको बिदा किया ॥१०२॥

विशेष—'मिलति परति गहि चरना'—(माताजी) पुत्री भाव से फिर-फिर मिलती हैं और उनके जगदम्बा भाव के ऐश्वर्य की स्मृति होते ही चरणों पर पड़ती हैं ।

'फिरि-फिरि बिलोकति···'—यह लोक रीति है कि विदा होते समय कन्या पीछे लौट-लौटकर देखती है, अन्यथा लोग कहने लगते हैं कि यह तो मानों पति के यहाँ जाने को उत्सुक थी !

'जाचक सकल···'—यहाँ दायज में जो मिले थे उन्हें वहीं पर याचकों को दे डाला । केवल उमा मात्र को साथ लेकर चले ।

'बिदा कीन्ह वृषकेतु'—आप धर्म की ध्वजा हैं, श्वशुर के प्रति जिस प्रकार उचित व्यवहार है, उस प्रकार से उन्हें सन्तुष्ट किया, क्योंकि यह भी धर्म है । बहुत दूर नहीं जाने दिया ।

तुरत भवन आये गिरिराई । सकल सैल सर लिये बोलाई ॥१॥
आदर दान बिनय बहु माना । सब कर बिदा कीन्ह हिमवाना ॥२॥
जबहिं संभु कैलासहिं आये । सुर सब निज-निज लोक सिधाये ॥३॥

अर्थ—हिमवान तुरत ही घर लौट आये, और सब (स्वेच्छा रूपधारी) पर्वतों और तालाबों को बुला लिया ॥१॥ बहुत आदर, दान, विनय और सम्मान के साथ हिमाचल ने सबकी विदाई की ॥२॥ (यहाँ) शिवजी जब कैलास पहुँचे, तब सब देवता अपने-अपने लोकों को चले गये ॥३॥

विशेष—(१) 'सकल सैल सर लिये···'—पूर्व दो० ६३ में कहा है—"सैल सकल जहँ लगि जग माहीं । लघु बिसाल नहिं बरनि सिराहीं ॥ बन सागर सब नदी तलावा । हिमगिरि सब कहँ नेवत पठावा ॥" इस प्रकार बहुत को नेवता देकर बुलाना कहा है और यहाँ विदाई के समय 'सैल-सर' दो ही कहे गये ।

पूर्व निमन्त्रण के समय आदि में 'सैल' और अन्त में 'तलावा' कहे गये हैं, उन्हीं दो को कहकर प्रत्याहार (आदि-अन्त को कहकर बीच के सबको कह देने की रीति) से सबको सूचित किया।

'तुरत' क्योंकि ये लोग बहुत पहले से आये थे। बराती विदाकर तुरत इन सरातियों को भी विदा किया।

(२) 'आदर दान बिनय बहु माना।'—जिनकी लड़कियाँ हिमवान् के यहाँ ब्याही हैं, वे यहाँ से द्रव्य आदि नहीं ले सकते, उनका आदर किया। ब्राह्मणों और छोटों को दान, मुनियों से विनय और जो मान्य हैं, जिनके यहाँ अपने घर की कन्याएँ ब्याही हैं, उनका मान किया, इन भेदों से सबकी विदाई की।

हिमाचल ने नेवता देकर बुलवाया था। अतः, इनका विदा करना भी कहा गया है। शिवजी के यहाँ देवगण स्वतः आये थे, उसी प्रकार उनका स्वतः जाना भी कहा गया।

जगत - मातुपितु संभु - भवानी। तेहि सिंगार न कहउँ बखानी ॥४॥
करहिं बिबिध बिधि भोग-बिलासा। गनन्ह समेत बसहिं कैलासा ॥५॥
हर-गिरिजा-बिहार नित नयेऊ। येहि बिधि बिपुल काल चलि गयेऊ ॥६॥
तब जनमेउ षटबदन कुमारा। तारक असुर समर जेहि मारा ॥७॥
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। षण्मुख-जनम सकल जग जाना ॥८॥

शब्दार्थ—सिंगार = शृंगार = दम्पती की नख-शिख-शोभा और भोग चेष्टा का उद्दीपक वर्णन। भोग-बिलासा = आमोद-प्रमोद, रति-क्रीड़ा, यथा—"सुगन्धं वनिता वस्त्रं गीतं ताम्बूलभोजनम्। भूषणं वाहनं चेति भोगस्त्वष्टविधः स्मृतः॥" अर्थात् माला, सुगन्ध, स्त्री, वस्त्र, गान, पान-चर्वण, भूषण और वाहन-ये आठ प्रकार के भोग हैं। बिहार = रति-क्रीड़ा, सम्भोग, टहलना, आदि। बिपुल = बहुत, देवताओं के सौ वर्षों तक, यथा—"दृष्ट्वा च भगवान्देवी मैथुनायोपचक्रमे। तस्य संक्रीड-मानस्य महादेवस्य धीमतः। शितिकण्ठस्य देवस्य दिव्यं वर्षशतं गतम्॥" (वाल्मी० बा० स० ३६।६)।

अर्थ—श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि श्रीशिवजी और श्रीपार्वतीजी जगत् के माता-पिता हैं, इसीसे मैं उनका शृंगार बखान कर नहीं कहता ॥४॥ वे नाना भाँति से भोग-विलास करते हैं और गणों के साथ कैलास पर निवास करते हैं ॥५॥ शिव-पार्वतीजी के विहार नित्य नये थे, इस प्रकार बहुत समय (दिव्य सौ वर्ष) बीत गये ॥६॥ तब षट्-वदन (स्वामिकार्त्तिक) कुमार का जन्म हुआ, जिन्होंने युद्ध में तारकासुर को मारा ॥७॥ शास्त्रों, वेदों और पुराणों में षडानन का जन्म प्रसिद्ध है और उसे सारा संसार जानता है ॥८॥

विशेष – 'करहिं बिबिध बिधि···'—शिवजी ने अब प्रवृत्ति मार्ग ग्रहण किया है। इससे भोग भोगते हैं। गणों के साथ रहते हैं। घर (कैलास) में रहते हैं, यथा—"भवन कैलास आसीन कासी।" (वि० १०)। स्त्री-विहार करते हैं—"हर गिरिजा बिहार नित नयऊ।" पुत्र-उत्पन्न करते हैं—"तब जनमें षटबदन कुमारा।" 'षण्मुख जनम सकल जग जाना'—श्रीमद्वाल्मीकीय, बा० सर्ग ३६–३७ में इनकी कथा है। इनका जन्म होने पर कृत्तिकाओं ने इनका पालन किया, इससे शिवजी के पुत्र का नाम कार्त्तिकेय पड़ा। छः तारांओं का समूह कृत्तिका कहलाती है। अतः, बालक ने छः मुख धारण कर छओं का दूध पिया, तबसे षडानन नाम हुआ। गंगाजी और अग्नि के धारण करने से ये गांगेय, अग्निभू तथा स्कन्द भी कहे जाते हैं। इनके शस्त्र का नाम शक्ति है, इससे शक्तिधर भी कहे जाते हैं। इन्द्र की सेना के सेनापति होकर इन्होंने तारकासुर से युद्ध करके उसे मारा है, इसीसे सेनानी भी कहे गये।

महा० वन० २३१ तथा शल्य० ४४ में जन्म की कथा, महा० अनुशा० ८६ में जन्म-कर्म की कथा, महा० शल्य० ४५।७८-१०७ में कार्त्तिकेय के अनेक रूपवाले भयंकर गणों का वर्णन शिवगणों के समान किया गया है और महा० शल्य० ४६। ४४-६४ में तारकासुर आदि बहुत दैत्यों को युद्ध में शक्ति-शस्त्र से ही मारना कहा गया है। ब्रह्म वैवर्त्त पु० गणेश० १४-१७ तथा मत्स्य पु० १४५-१५२ तारकासुर का प्रताप,

१५८-१५६ स्वामिकार्त्तिक की उत्पत्ति, तारकासुर से युद्ध और विजय की कथा है। स्कन्दपुराण माहेश्वर (केदार) खण्ड में तारकासुर की कथा एवं पार्वती जन्म, तपस्या, काम-दहन, शिवजी द्वारा प्रेम-परीक्षा, सप्तर्षि आगमन, उमा-शिव-विवाह, बारात, हिमवान् की स्वागत तैयारी, कन्यादान, भोजन, विदाई, शिव-महिमा, कुमार जन्म, देव-तारक-युद्ध तथा स्वामिकार्त्तिक द्वारा तारक वध आदि सभी कथाएँ हैं।

छन्द—जग जान षण्मुख जनम करम प्रताप पुरुषारथ महा।
तेहि हेतु मैं बृषकेतु-सुत कर चरित संछेपहि कहा॥
यह उमा-संभु-बिवाह जे नर-नारि कहहिं जे गावहीं।
कल्यान काज बिवाह मंगल सर्वदा सुख पावहीं॥

दोहा—चरितसिंधु गिरिजारमन, वेद न पावहिं पार।
बरनइ तुलसीदास किमि, अति मतिमंद गँवार॥१०३॥

अर्थ—स्वामिकार्त्तिक के जन्म, कर्म, प्रताप और महापुरुषार्थ को सारा संसार जानता है। इसी कारण से मैंने श्रीशिवजी के पुत्र का चरित संक्षेप ही में कहा है॥ इस उमा-शम्भु के विवाह (की कथा) को जो स्त्री-पुरुष कहेंगे और गावेंगे वे कल्याण-कार्य और विवाह-मंगल में सदा ही सुख पावेंगे। श्रीउमा-रमण शिवजी के चरित-समुद्र का पार वेद भी नहीं पाते, तो अत्यन्त मन्दबुद्धि और गँवार मैं तुलसीदास उसका वर्णन कैसे कर सकता हूँ? ॥१०३॥

विशेष—(१) 'जग जान षण्मुख जनम···'—षडानन कार्त्तिक के कर्म, प्रताप और पुरुषार्थ तारकासुर आदि बहुत असुरों के वध-चरित से ही स्पष्ट हैं। इनके प्रमाण ऊपर लिखे गये हैं। 'बृषकेतु सुत'—तारक-वध से धर्म की रक्षा हुई। अतः, यह नाम साभिप्राय है।

(२) 'कल्यान काज···'—जो धन, धाम आदि कल्याण के लक्ष्य से गावेगा, उसका कल्याण होगा। जो विवाह आदि मंगल-कार्य के निमित्त गावेगा, उसे उसमें मंगल होगा और जो निष्काम गावेंगे, उन्हें सदा सुख मिलेगा। यहाँ इस प्रसंग का माहात्म्य-कथन है।

इस विवाह-प्रसंग में दो० ९२ से यहाँ तक प्रत्येक दोहे के साथ छन्द दिया गया है, अतः, कुल ११ छन्द हैं। भाग० ३।१२।१२-१३ में ११ रुद्र और ११ रुद्राणियाँ कही गई हैं और 'वेद के रुद्रानुवाक या अघमर्षण सूक्त की ग्यारह आवृत्तियाँ' (विश्वकोष) भी रुद्री संज्ञा से कही गई हैं। इन प्रमाणों के अनुसार ग्रन्थकार ने मानों ११ छन्दों की रुद्री के रूप में उमा-शिव-विवाह का मंगल-गान किया है, फिर अन्तिम छन्द पर मांगलिक फलश्रुति भी कही है।

(३) 'चरितसिंधु···'—अपार होने से सिन्धु कहा। सिन्धु अपार होते हैं, इससे 'बेद न पावहिं पार' कहा, तो मैं कैसे कह सकता हूँ? गिरिजा-रमण कहकर चरित अपारता कहने का भाव यह है कि गिरिजा के पति होने से सम्बन्धित चरित के सभी अंग अपार हैं—१. "इहाँ हिमाचल रचेउ बिताना। अति बिचित्र नहिं जाइ बखाना॥" २. "जगदम्बा जहँ अवतरी, सो पुर बरनि न जाइ।" ३. "सो जेवनार कि जाइ बखानी। बसहिं भवन जेहि मातु भवानी॥" ४. "जेंवत जो बढ़्यो अनंद सो मुख कोटिहू न परै कह्यो।" ५. "सिंहासन अति दिव्य सुहावा। जाइ न बरनि बिरंचि बनावा।" ६. "सुंदरता मरजाद भवानी। जाइ न कोटिहु बदन बखानी।"

'अति मतिमंद गँवार'—जब वेद ही नहीं पार पाते, तो वेद पढ़नेवाले पण्डित भी पार नहीं पा

सकते। फिर मैंने तो मतिमन्द होने से वेद पढ़ा भी नहीं है और गँवार (अपढ़ एवं असभ्य) होने से वेद-श्रवण से भी हीन हूँ, तो कैसे कह सकता हूँ।

शिव-महिम्नस्तोत्र के—'असित गिरि समं···' इस प्रसिद्ध श्लोक में यह अपारता स्पष्ट है।

संभु चरित सुनि सरस सुहावा। भरद्वाज मुनि अति सुख पावा ॥१॥

अर्थ—श्रीमहादेवजी का सुहावन, सरस (रसीला एवं नओ रस पूर्ण) चरित सुनकर श्रीभरद्वाज मुनि ने अत्यन्त सुख पाया।

विशेष—शम्भु-चरित का उपक्रम—"सुनहु संभु कर चरित सुहावा।" (दो० ७४) पर है और यहाँ—"सम्भुचरित सुनि सरस सुहावा।" पर उपसंहार हुआ है।

'सरस'—सम्भुचरित नओ रसों से पूर्ण है। यथा—

शृङ्गार—"छबिखानि मातु भवानि···"। (दो० ९९)।

हास्य—"देखि सिवहिं सुरतिय मुसुकाहीं। बरलायक दुलहिन जग नाहीं ॥" (दो० ९१)।

करुणा—"रोदति बदति बहु भाँति करुना करति संकर पहिं गई।" (दो० ८६)।

रौद्र—"भयेउ कोप कंपेउ त्रय लोका।" (दो० ८६)।

वीर—"छाड़े बिषम बिसिष उर लागे।" (दो० ८६)।

भयानक—"अबलन्ह उर भय भयेउ बिसेखा।" (दो० ९५)।

वीभत्स—"भूषन कराल कपाल कर सब सद्य सोनित तनुभरे।" (दो० ९२)।

अद्भुत—"अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि"···से—"नाम सती···" (दो० ९७) तक।

शान्त—"मन थिर करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक-ध्याना ॥" (दो० ८१)।

भक्ति के पंच-रस भी इसमें आ गये हैं जिनमें शृङ्गार और शान्त के लक्षण ऊपर कहे गये।

वात्सल्य—"लै उछंग सुंदर सिख दीन्हीं।···" (दो० १०१)।

सख्य—"अति प्रिय बचन सुनत प्रिय केरे।" (दो० ९२)।

दास्य—"सिव-अनुसासन सुनि सब आये।" (दो० ९२)।

'अति सुख पावा'—श्रेष्ठ वक्ताओं की कथा से ऐसा ही सुख होता है, यथा—"हरि-चरित्र मानस तुम्ह गावा। सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा ॥" (उ० दो० ५२), यह पार्वतीजी ने कहा है, तथा—"राम-कथा मुनिबर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी ॥" (दो० ४७), कथा सरस है, नौरस पूर्ण है, इससे 'सुख पावा', पुनः 'सुहावा' भी है, इससे 'अति सुख पावा' की व्याख्या है, इत्यादि।

उमा-शम्भु-विवाह-प्रकरण समाप्त

कैलास-प्रकरण

बहु लालसा कथा पर बाढ़ी। नयनन्हि नीर रोमावलि ठाढ़ी ॥२॥
प्रेम-बिबस मुख आव न बानी। दसा देखि हरषे मुनि ज्ञानी ॥३॥

अर्थ—कथा सुनने पर भरद्वाज मुनि की लालसा बहुत बढ़ी, उनकी आँखों में आँसू भर आये और रोमावलियाँ खड़ी हो गईं ॥२॥ (ऐसे) प्रेम के विवश हो गये कि मुख से बात नहीं निकलती, उनकी यह दशा देखकर ज्ञानी मुनि याज्ञवल्क्यजी हर्षित हुए ॥३॥

विशेष—(१) 'बहु लालसा···'—ऊपर कहा गया है कि—"भरद्वाज मुनि अति सुख पावा।" क्योंकि कथा सरस और सुहावनी थी और मुनि की कथन-शैली भी उत्तम थी, इसीसे और कथा सुनने के लिये भी रसज्ञ मुनि की अति लालसा बढ़ी, तथा—"रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं ॥" (उ० दो० ५२)।

(२) 'दसा देखि हरषे·····'—याज्ञवल्क्य मुनि सरस ज्ञानी हैं। अतः, प्रेम की दशा देखकर प्रसन्न हुए। ज्ञान की शोभा यही है, यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (अ० दो० २७६)।

श्रीभरद्वाजजी के मन, वचन और कर्म तीनों कथा-प्रेम में निमग्न हुए—

'अति सुख पावा' और—'बहुत लालसा···'—से मन, 'नयनन्हि नीर रोमावलि ठाढ़ी।' से तन एवं कर्म और 'प्रेम-बिबस मुख आव न बानी।' से वचन स्पष्ट है।

'आव न बानी'—कृतज्ञता प्रकट करने की उत्कट इच्छा है, पर वाणी ही प्रेम में गद्गद हो गई, यथा—"कोउ कछु कहइ न कोउ कछु पूछा। प्रेम भरा मन निज गति छूँछा॥" (अ० दो० २४१)

अहो धन्य तव जनम मुनीसा। तुम्हहिं प्रान सम प्रिय गौरीसा॥४॥
सिव-पद-कमल जिन्हहिं रति नाहीं। रामहिं ते सपनेहुँ न सुहाहीं॥५॥
बिनु छल बिस्वनाथ-पद-नेहू। रामभगत कर लच्छन येहू॥६॥

अर्थ—(याज्ञवल्क्यजी बोले कि) अहो! मुनीश्वर! तुम्हारा जन्म धन्य है, (क्योंकि) तुम्हें गौरी-पति (श्रीशिवजी) प्राणों के तुल्य प्यारे हैं॥४॥ श्रीशिवजी के चरण-कमलों में जिनकी प्रीति नहीं है, वे श्रीरामजी को स्वप्न में भी नहीं सुहाते॥५॥ संसार के स्वामी श्रीशिवजी के चरणों में निष्कपट प्रेम रहना यही श्रीराम-भक्त का लक्षण है॥६॥

विशेष—(१) 'अहो धन्य·····'—प्रथम याज्ञवल्क्यजी इनकी राम-भक्ति कह चुके हैं, यथा—"राम-भगत तुम्ह मन क्रम बानी।" (दो० ४६), परन्तु भागवत-निष्ठा नहीं देखी थी। इसके बिना केवल भगवान् की ही भक्ति करनेवाले दम्भी कहे गये हैं, यथा—"अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान्नार्चयन्ति ये। न ते रामप्रसादस्य भाजनो दाम्भिका जनाः।" (आर्ष वाक्य), तथा—"आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्। तस्मात्परतरं देवि तदीयाराधनं स्मृतम्॥" (वाराह पु०)। शिवजी परम भागवत हैं, यथा—"निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा। वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा॥" (भाग० १२।१३।१६), यहाँ, भरद्वाजजी की भागवत-निष्ठा भी देखी तब प्रशंसा करने लगे।

(२) 'सिव-पद-कमल···', यथा—"सिव-द्रोही मम दास कहावा। सो नर सपनेहु मोहिं न पावा॥" (लं० दो० २)।

(३) 'बिनु छल बिस्व···'—किसी कामना की सेवा करते हुए उपासक कहाना छल है, क्योंकि उसका इष्ट तो अपना स्वार्थ ही है, यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (अ० दो० ३००), अर्थात् चार फलों तक का स्वार्थ छल ही है, इसीलिये कहा है कि—"स्वामि-धरम स्वारथहिं बिरोधू।" (अ० दो० २९२)। अतः, 'बिनु छल' = निस्वार्थ = निष्काम, यथा—"होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगत मोरि तेहि संकर देइहि॥" (लं० दो० २)।

सिव-सम को रघुपति-ब्रतधारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी॥७॥
पन करि रघुपतिभगति देखाई। को सिव सम रामहिं प्रिय भाई॥८॥

अर्थ—शिवजी के समान श्रीरघुनाथजी की भक्ति का व्रत धारण करनेवाला और कौन होगा, (जिन्होंने) बिना पाप के ही सती ऐसी स्त्री को त्याग दिया?॥७॥ उन्होंने प्रतिज्ञा करके श्रीरघुनाथजी की भक्ति दिखा दी है। अतः, हे भाई! शिवजी के समान श्रीरामजी का प्यारा कौन है?॥८॥

विशेष—(१) 'बिनु अघ तजी सती ···'—शिवजी ने श्रीराम-भक्ति का उज्ज्वल स्वरूप दिखाने के लिये ही सती का त्याग किया है, यथा—"जौ अब करउँ सती सन प्रीती। मिटइ भगति-पथ होइ अनीती॥" (दो० ५५), तथा—"पन करि रघुपति-भगति देखाई।" यहाँ भी कह रहे हैं; यहाँ भक्ति-व्रत की रक्षा के लिये शिवजी के त्याग की प्रशंसा कर रहे हैं। अतः, 'बिनु अघ' का निष्पाप ही अर्थ है, क्योंकि

पाप-कर्म से तो सभी त्याग करते हैं, जैसे परम सुन्दरी अहल्या को भी पाप कर्म पर गौतम ने त्याग दिया तो उनकी कुछ प्रशंसा नहीं है।

शंका—"मैं जो कीन्ह रघुपति-अपमाना। पुनि पति-बचन मृषा करि जाना॥" (दो० ५८), "प्रगट न कहेउ मोर अपराधा।...निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। (दो० ५७), "सिय-बेष सती जो कीन्ह तेहि अपराध संकर परिहरी॥" (दो० ९८), इत्यादि से तो सतीजी के पाप पाये जाते हैं, फिर वे 'बिनु अघ' कैसे सिद्ध होंगी?

समाधान—जो कर्म पाप के उद्देश्य से किया जाता है, वही उसका पाप कहाता है, यथा—"यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥" (गीता १७।३)। सतीजी ने प्रभु को जानने के लिये ही परीक्षार्थ सीता-रूप धारण किया था, न कि पाप-बुद्धि से। कहा भी है—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।" (उ० दो० ८८), अर्थात् प्रभु को जाने बिना प्रतीति नहीं होती, बिना प्रतीति के प्रीति नहीं और उसके बिना भक्ति दृढ़ नहीं होती। भक्ति-दृढ़ता में गोपियों का काममोहित होकर प्रेम करना भी उत्तम ही माना गया है, यथा—"काममोहित गोपिकन्ह पर कृपा अतुलित कीन्ह। जगत-पिता बिरंचि जिन्ह के चरन की रज लीन्ह॥" (वि० २१८)। यज्ञ में वैदिक-विधान-कर्त्ता प्रधान पंडित ब्रह्मा बनाया जाता है, यज्ञ-पूर्णता के पीछे फिर उसे ब्रह्मा नहीं कहते। श्रीराम-कृष्ण के लीलानुकरण में आज दिन भी लड़के श्रीराम-कृष्ण के रूप बनते हैं, फिर भी वे नित्य के लिये उस भाव में नहीं माने जाते, अन्यथा उनके माता-पिता उन्हें दण्ड दें, तो लोक-वेद से उन्हें दोष लगे, वैसे ही भगवत्-सम्मुखता के लिये सती का सीता-रूप धारण करना पाप नहीं है। यह स्मृतिकार याज्ञवल्क्यजी की सम्मति है। इसे सामान्य धर्म की दृष्टि कहते हैं। इसी दृष्टि से कहा गया है कि—"परम पुनीत न जाइ तजि" (दो० ५६) एवं यहाँ भी—'सती असि नारी' कहा है।

(श्रीशिवजी की दृष्टि विशेष धर्म पर है, इसीसे साथ ही वे यह भी कहते हैं—'किये प्रेम बड़ पाप' (दो० ५६)। जैसे गीता अ० १।३६ में अर्जुन ने आततायी के मारने में भी पाप माना है, यद्यपि मनुस्मृति (८।३५०-५१) में आततायी के वध पर पाप न होना ही कहा है। उसका भी यही समाधान होता है कि स्मार्त्त धर्म सामान्य है, उसकी अपेक्षा भागवत धर्म विशेष है। अतः, वह बलवान् है, इसमें तो 'जो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल' कहा गया है, और सामान्य धर्म में 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' कहा गया है।

इस विशेष धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है। शिवजी ने सीता का रूप धारण करने से सतीजी में मातृ-बुद्धि कर ली थी। असली माता की अपेक्षा वह विशेष होती है जिसमें मातृबुद्धि मानी जाती है। जैसे लक्ष्मणजी सुमित्राजी की गोद में भी बैठ सकते थे, पर सीताजी में उन्होंने मातृ-भाव माना था। अतः, चरण-मात्र ही देख सकते थे। इसी विशेष धर्म की दृष्टि से शिवजी ने सती में पत्नीत्व भाव का त्याग किया था। सती का सीता रूप धारण करना उच्च भागवत धर्म की दृष्टि से अपराध है। इसी दृष्टि को लेकर उपर्युक्त शंका में कही हुई बातें हैं। शिवजी ने राम-भक्ति को अमल एवं परम शुद्ध रखने का व्रत दिखाया है। यदि कहा जाय कि पति से झूठ बोलना तो पाप हुआ ही है तो इसे शिवजी ने राम-माया का कृत माना है, यथा—बहुरि राम-मायहिं सिर नावा। प्रेरि सतिहिं जेहि झूठ कहावा (दो० ५५)।

दोहा—**प्रथमहिं मैं कहि सिवचरित, बूझा मरम तुम्हार।**
सुचि सेवक तुम्ह राम के, रहित समस्त बिकार॥१०४॥

अर्थ—पहले मैंने शिवजी का चरित कहकर तुम्हारा रहस्य समझ लिया कि तुम सम्पूर्ण दोषों से रहित श्रीरामजी के पवित्र सेवक हो।

विशेष—'सुचि सेवक ··' श्रीरामजी और शिवजी में भेद-बुद्धि रखना विकार है। शिवजी के चरित में भी तुम्हें श्रीरामचरित की तरह प्रेम है, क्योंकि रामचरित के प्रश्न पर मैंने शिवचरित कहा, पर तुमने कहा भी नहीं कि दूसरा क्यों कहते हैं? यह कहाँ का राग अलाप रहे हैं? इसीसे तुम श्रीरामजी के शुचि सेवक हो। शिवजी परम भागवत हैं, इनका द्रोही श्रीरामप्रिय नहीं हो सकता लं० दो० २ भी देखिये।

मैं जाना तुम्हार गुन - सीला। कहउँ सुनहु अब रघुपति-लीला ॥१॥
सुनु मुनि आजु समागम तोरे। कहि न जाइ जस सुख मन मोरे ॥२॥

अर्थ—मैंने तुम्हारा गुण और शील (उत्तम-आचरण) जान लिया, अब मैं श्रीरघुनाथजी का चरित्र कहता हूँ, सुनो ॥१॥ हे मुनि! सुनो, तुम्हारे समागम (सत्संग) से आज जैसा सुख मेरे मन में हुआ, वह कहा नहीं जा सकता ॥२॥

विशेष—(१) 'मैं जाना तुम्हार···'—उत्तम वक्ताओं की रीति है कि वे अधिकारी पाकर तब कथा कहते हैं। श्रोता के लक्षण—"श्रोता सुमति सुसील सुचि, कथारसिक हरिदास। पाइ उमा अति गोप्यमपि, सज्जन करहिं प्रकास ॥" (उ० दो० ६९)। इसमें 'सुमति, सुसील, सुचि, कथारसिक और हरिदास' होना—ये पाँच लक्षण कहे गये हैं। इन (भरद्वाजजी) में पाँचो की जाँच कर चुके। अब कथा कहेंगे। क्रमशः उदाहरण—"चतुराई तुम्हारि मैं जानी।" (दो० ४६), इसमें 'सुमति' जान ली। "मैं जाना तुम्हार गुन-सीला।" "सुचि सेवक तुम्ह राम के।" "बहु लालसा कथा पर बाढ़ी।" "रामभगत तुम्ह मन क्रम बानी।" (दो० ४६)। 'अब'—प्रथम श्रीराम-चरित का प्रारम्भ किया, यथा—"कहँउ राम के कथा सुहाई" (दो० ४६) और शिव-चरित कहने लगे थे इसीसे—'अब रघुपति-लीला' सुनो, ऐसा कहा।

(२) 'सुनु मुनि आजु समागम···'—'आजु' अर्थात्—"भरद्वाज राखे पद टेकी।" (दो० ४४) से यहाँ तक का सम्पूर्ण शिवचरित एक ही दिन में कहा गया। 'समागम' से 'सुख' होता है, यथा—"संत-मिलन सम सुख जग नाहीं।" (उ० दो० १२०)।

रामचरित अति अमित मुनीसा। कहि न सकहिं सतकोटि अहीसा ॥३॥
तदपि जथाश्रुत कहउँ बखानी। सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी ॥४॥

अर्थ—हे मुनीश्वर! यद्यपि रामचरित अत्यन्त अपरिमित है, उसे सौ करोड़ शेषजी भी नहीं कह सकते ॥३॥ तथापि वाणी के स्वामी धनुषधारी प्रभु श्रीरामजी का स्मरण करके जैसा मैंने सुना है, वह बखान (विस्तार) कर कहता हूँ ॥४॥

विशेष—(१) 'रामचरित अति अमित ··' यथा—"जल-सीकर महिरज गनि जाहीं। रघुपति-चरित न बरनि सिराहीं ॥" (उ० दो० ५१)।

(२) 'तदपि जथाश्रुत···'—यही श्रेष्ठ वक्ताओं की रीति है कि वे पूर्व वक्ताओं से सुनी हुई ही कथा कहते हैं, यथा—"मैं पुनि निज गुरु सन सुनी।" (दो० ३०)—गोस्वामीजी, "तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी।" (दो० ११३)—शिवजी; "संतन्ह सन जस कछु सुनेउँ, तुम्हहि सुनाये सोइ।" (उ० दो० ६२)—भुशुण्डीजी। ऐसे ही यहाँ पर याज्ञवल्क्यजी भी 'जथाश्रुत···' कह रहे हैं अर्थात् इस ग्रन्थ के चारो वक्ताओं की एक रीति है। इन्होंने परम्परा से सुना है। दो० १६ चौ० ४-५ देखिये।

(३) 'सुमिरि गिरापति···'—वाणी के अधिष्ठाता और प्रभु (प्रेरक) श्रीरामजी ही हैं। वाणी के 'वैखरी', 'मध्यमा', 'पश्यन्ति' और 'परा' ये चार भेद हैं। परा वाणी से श्रीरामतत्त्व-कथन होता है, वह तुरीयावस्था के साथ रहती है, जिसके स्वामी अन्तर्यामी-रूप से श्रीरामजी ही हैं। इसीसे श्रीरामजी

को 'बागीश भी' कहा है, यथा—"विमल बागीस बैकुंठस्वामी।" (वि० ५५), "बरद बनदाभ बागीस ···" (वि० ५६), तथा—"लक्ष्मीः सरस्वती गङ्गा तिस्रो भार्या हरेरपि। प्रेम्णा समास्तास्तिष्ठन्ति सततं हरिसन्निधौ॥" (ब्रह्मवैवर्त पु० ३।६।१७)। 'गिरापति के साथ 'प्रभु' भी कहा है कि यथार्थ यश-कथन में वे वाणी को प्रवृत्त करें और तत्सम्बन्धी विघ्नों को धनुषबाण से रोकें, क्योंकि सबके प्रभु हैं, अतएव सबपर शासन कर सकेंगे।

सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥५॥
जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कबि-उर-अजिर नचावहिं बानी॥६॥
प्रनवउँ सोइ कृपाल रघुनाथा। बरनउँ बिसद तासु गुनगाथा॥४॥

अर्थ—श्रीसरस्वतीजी कठपुतली के समान हैं और अन्तर्यामी स्वामी श्रीरामजी सूत्रधार हैं॥५॥ (वे प्रभु) जिस कवि पर अपना भक्त जानकर कृपा करते हैं, उसके हृदय रूपी अजिर (आँगन) में सरस्वती को नचाया करते हैं॥६॥ उन्हीं कृपालु श्रीरघुनाथजी को मैं प्रणाम करता हूँ और उन्हींके उज्ज्वल गुणों की कथा कहता हूँ॥७॥

विशेष—परदे के भीतर बैठा हुआ, सूत्रधार सूत्र के सहारे कठपुतली को आँगन में नचाता है, वैसे यहाँ शारदा कठपुतली, स्वामी राम अन्तर्यामी सूत्रधार, कवि-उर—आँगन, क्रमशः उपमेय और उपमान हैं। 'सम' वाचक और 'नचावहिं' धर्म है। अतः, पूर्णोपमा है। कृपा-सूत्र, यथा—"कृपा डोरि बंसी पद अंकुस···" (वि० १०२)। कठपुतली का नचानेवाला उसका स्वामी है, वैसे वाणी के नचाने-वाले स्वामी श्रीरामजी हैं।

यहाँ तक उमा-शम्भु संवाद का उपोद्घात कहा गया। आगे संवाद कहते हैं, यह कैलास प्रकरण के अन्तर्गत ही है।

उमा-शम्भु-संवाद

परम रम्य गिरिबर कैलासू। सदा जहाँ सिव-उमा-निवासू॥८॥

दोहा—सिद्ध तपोधन जोगिजन, सुर किन्नर मुनिबृंद।
बसहिं तहाँ सुकृती सकल, सेवहिं सिव सुखकंद॥१०५॥

शब्दार्थ—रम्य = रमणीक। तपोधन = तपस्वी, तप ही जिनका धन हो। सुखकंद = आनन्द के मेघ वा आनन्द के मूल।

अर्थ—परम रमणीक, पर्वतों में श्रेष्ठ कैलास पर्वत है, जहाँ शिव-पार्वतीजी सदा निवास करते हैं॥८॥ सिद्ध, तपस्वी, योगी लोग, देवता, किन्नर और मुनियों के समूह, सब पुण्यात्मा वहाँ रहते और आनन्दकन्द महादेवजी की सेवा किया करते हैं॥१०५॥

विशेष—(१) 'परम रम्य ···' हिमालय पर के और भी पर्वत-शिखर रमणीय हैं, पर कैलास परम रमणीय है, इसीसे वहाँ सदाशिव-उमा रहते हैं वा वहाँ सदा उमा-शिव रहते हैं, इससे वह परम रमणीय है अर्थात् स्थान और स्थानी दोनों श्रेष्ठ हैं।

(२) 'सिद्ध तपोधन···'—इसमें 'बृंद' पद अन्त में होने से सिद्ध आदि सबके साथ है। 'सुखकंद'—अर्थात् सभी पर सुख की वर्षा करते हैं, यथा—"सुकृत मेघ बरषहिं सुखकारी।" (अ० दो० १)। 'कंद' का मूल अर्थ लेने का भाव यह कि शंकरजी सुख-रूपी वृक्ष की जड़ हैं, इनकी सेवा के बिना सुख स्थिर नहीं रह सकता, यथा—"जिमि सुख लहइ न संकरद्रोही।" (कि० दो० १६)।

हरि-हर-बिमुख धरमरति नाहीं। ते नर तहँ सपनेहुँ नहिं जाहीं ॥१॥
तेहि गिरि पर बट बिटप बिसाला। नित नूतन सुंदर सब काला ॥२॥
त्रिबिध समीर सुसीतलि छाया। सिव-बिश्राम-बिटप श्रुति गाया ॥३॥

शब्दार्थ—बिमुख = प्रतिकूल। बिटप = वृक्ष। नित-नूतन = सदा ही हरा भरा। सुसीतल = अनुकूल, ठंढा। बिश्राम = श्रम-निवृत्ति का स्थान, वा कालक्षेप का स्थान, सन्तों का बिश्राम कथा में होता है, यथा—"सुनत श्रवन पाइय बिश्रामा।" (दो० ३४), तथा—"येहि बिधि कहत राम-गुन-ग्रामा। पावा अनिर्वाच्य बिश्रामा ॥" (सुं० दो० ७)। भोजनोपरान्त दोपहर में लोगों के विश्राम का समय है, तब भी सन्तों में कथा ही से विश्राम होता है, यथा—"करि भोजन मुनिबर बिज्ञानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी ॥" (दो० २३६), अर्थात् इस बट के नीचे कथा हुआ करती है। इसीसे अति सुख भी होता है।

अर्थ—जो हरि-हर से प्रतिकूल हैं, जिनकी प्रीति धर्म में नहीं है, वे मनुष्य स्वप्न में भी वहाँ नहीं जा सकते ॥१॥ उस पहाड़ पर एक बड़ा भारी बरगद का पेड़ है, जो सब समय नित्य हरा-भरा और सुन्दर बना रहता है ॥२॥ शीतल, मन्द और सुगन्धित वायु के साथ अनुकूल ठंढी छाया वहाँ रहती है, उसे वेदों ने महादेव जी के विश्राम करने का वृक्ष कहा है ॥३॥

विशेष—'हरिहर-बिमुख'—हरि के बिमुख हर को प्रिय नहीं लगते, वैसे हर के बिमुख हरि को नहीं भाते, यथा—"संकर-प्रिय मम द्रोही, सिव-द्रोही मम दास। ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महँ बास ॥" (लं० दो० २)।

'धरम रति नाहीं।'—क्योंकि यह सुख-स्थल है और सुख का साधन धर्म है, यथा—"सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता।" (उ० दो० १०१)।

शिवजी एवं उनके नित्य परिकर तो वहाँ के सदा निवासी हैं, यथा—"सदा जहाँ सिव-उमा निवासू।" (दो० १०४), और दूसरे 'सुकृती सकल' (दो० १०५) हैं, वे ही यहाँ 'धरम-रत' कहे गये हैं, वे सुकृति-भोग पर्यन्त रहते हैं, पुण्यक्षीण होने पर इन्हें फिर मर्त्यलोक में आना पड़ता है। धर्महीन तो वहाँ जा ही नहीं सकते।

'नित नूतन सुंदर सब काला'—वे सब कैलासवासी प्राकृत विकार से रहित हैं। 'बिसाला' और 'श्रुति गाया' से यह बट अनादि काल का जाना गया, क्योंकि वेद अनादि हैं। 'त्रिबिध समीर' वहाँ स्वतः चलता है।

एक बार तेहि तर प्रभु गयेऊ। तरु बिलोकि उर अति सुख भयेऊ ॥४॥
निज कर डासि नागरिपु-छाला। बैठे सहजहिं संभु कृपाला ॥५॥

शब्दार्थ—डासि = बिछाकर। नाग = हाथी। नाग-रिपु छाला = बाघम्बर (सं० व्याघ्राम्बर)। सहजहिं = स्वाभाविक (कथा एवं समाधि के लिये नहीं)।

अर्थ—एक समय उस वृक्ष के नीचे प्रभु (शिवजी) गये, वृक्ष को देखकर उनके हृदय में बहुत ही सुख हुआ ॥४॥ अपने हाथ से वहाँ बाघम्बर बिछाकर कृपालु शिवजी स्वाभाविक ही उसपर बैठ गये ॥५॥

विशेष—(१) 'एक बार तेहि···'—प्रायः और दिन भी जाते थे, वैसे यह एक बार (समय) की बात है। 'अति सुख'—क्योंकि स्थान और बिटप आदि रमणीय हैं, यथा—"परम रम्य आराम यह, जो रामहिं सुख देत ॥" (दो० २२७), बट सुखदायी होता ही है, यथा—"तिन्ह तरुबरन्ह मध्य बट सोहा। मंजु बिसाल देखि मनमोहा ॥" (अ० दो० २३६), "बट तर गयेउ हृदय हरषाना।" (उ० दो० ६२)। शिवजी को बट वृक्ष बहुत ही प्यारा है, यथा—"प्राकृतहुँ बट बूट बसत पुरारि हैं।" (क० उ० १४०)।

(२) 'निज कर डासि···'—आप तपस्वी-रूप में रहते हैं, इससे सेवकों की अपेक्षा नहीं रखते, क्योंकि—'स्वयं दासास्तपस्विनः' (चण्डकौशिक) कहा गया है। यहाँ आचार्य के लक्षण भी दिखाये कि वक्ता को ऐसा ही निरभिमान एवं निरपेक्ष होना चाहिये, तभी जिज्ञासुओं पर उसका प्रभाव पड़ता है।

जिस प्रकार श्रीगोस्वामीजी ने श्रीरामनवमी को श्रीअयोध्याजी में और याज्ञवल्क्यजी ने फाल्गुन वदि द्वितीया को प्रयाग में कथा का प्रारम्भ किया, वैसे यहाँ शिवजी ने ग्रीष्म के जेष्ठ महीने में कैलास पर कथा का प्रारम्भ किया है, घटना से ऐसा अनुमान है।

कुंद - इंदु - दर-गौर-सरीरा। भुज प्रलंब परिधन मुनिचीरा ॥६॥
तरुन-अरुन-अंबुज-सम चरना। नखदुति भगत-हृदय-तम-हरना ॥७॥
भुजग-भूति - भूषन त्रिपुरारी। आनन सरद-चंद-छबि - हारी ॥८॥

दोहा—जटामुकुट सुरसरित सिर, लोचननलिन बिसाल।
नीलकंठ लावन्यनिधि, सोह बालबिधु भाल ॥१०६॥

शब्दार्थ—कुंद-इंदु=इसके शब्दार्थ एवं भाव भी मं० मो० ४ में आ गये हैं। दर=शंख। भुजप्रलंब=आजानुबाहु, घुटनों तक लटकनेवाली भुजाएँ। सामुद्रिक शास्त्र के मत से ऐसा लक्षणवाला व्यक्ति जगद्वन्द्य होता है। परिधन=कपड़ा, कपड़ा पहनना वा कटि के नीचे पहनने के वस्त्र, धोती, आदि। नलिन=कमल। लावन्यनिधि=सुन्दरता का खजाना वा समुद्र। बालबिधु=शुक्ल द्वितीया का चन्द्रमा।

अर्थ—(शिवजी का) शरीर कुन्दफूल, चन्द्रमा और शंख के समान गौर है, बड़ी लम्बी भुजाएँ हैं, और मुनियों के (वल्कल) वस्त्र पहने हुए हैं ॥६॥ उनके चरण नवीन प्रफुल्ल लाल कमल के समान हैं, उनके नखों की ज्योति भक्तों के हृदय का अन्धकार नष्ट करनेवाली है ॥७॥ साँप और चिता-भस्म उनके भूषण हैं। वे त्रिपुर दैत्यों के शत्रु हैं। उनका मुख शरद ऋतु के पूर्ण चन्द्रमा की छवि को हरण करता है ॥८॥ उनके सिर पर जटाओं का मुकुट और (उसपर) गंगाजी (विराजमान) हैं, कमल की तरह बड़े-बड़े नेत्र हैं, कंठ नीला है। वे सुन्दरता के सागर हैं और उनके माथे पर द्वितीया का चन्द्रमा शोभायमान है ॥१०६॥

विशेष—(१) 'कुंद-इंदु-दर···'—शिवजी की देह कुन्द पुष्प के समान उज्ज्वल, सुगन्धित और कोमल है और चन्द्रमा के समान शीतल, प्रकाशयुक्त तथा आह्लादरूप है। (अमृत के समान वचन हैं)। शंख के समान सचिक्कन, सुडौल है। कंठ त्रिरेखायुक्त है।

कुन्द पृथ्वी पर, इन्दु आकाश में और शंख समुद्र में होता है। समुद्र से पाताल लिया जायगा। इन तीनों उपमानों से शिवजी तीनों लोकों की सुन्दरता की सीमा हैं तथा इनकी सुन्दरता स्थल, नभ और जल तीनों स्थानों में ख्यात सर्वोपरि है।

(२) 'भुज प्रलंब···'—ऐसे विरक्त, भोजपत्र ही वस्त्र रखते हैं, फिर भी दान देने के लिये भुजा बढ़ाये रहते हैं।

(३) 'तरुन अरुन···'—यहाँ पूर्णोपमा है—'चरन' उपमेय, 'अंबुज' उपमान, 'सम' वाचक, और 'अरुन' धर्म है।

(४) 'नखदुति···' शिवजी में सद्गुरु के लक्षण हैं, यथा—"श्रीगुरु-पद-नख मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ॥ दलन मोहतम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू ॥" (दो० १), तथा—"वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।" (मं० श्लोक)।

'दुति' शब्द स्त्रीलिंग है, इसके योग से क्रिया 'हरनी' चाहिये, पर 'हरना' है, यह 'चरना' के योग से है।

(५) 'भुजग-भूति-भूषन···'—शेषजी हरि-भक्त हैं। अतः, शिवजी उनके सम्बन्धी सर्पों को लपेटे रहते हैं। विभूति को सांसारिक व्यवहार से उदासीनताद्योतक जानकर ग्रहण किये हुए हैं। त्रिपुर-वध से जैसे तीनों लोक सुखी हुए, वैसे अपने सदुपदेश से भक्तों के स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीररूप पुरों के विकार का नाश कर उनको सुखी करते हैं।

(६) 'आनन सरद चंद ···'—चन्द्रमा तापहारक है और अमृतमय किरणों से रोग दूर करता है, शिवजी अपनी चन्द्रकिरण समान वाणी से उपदेश-द्वारा अज्ञान-रूपी अन्धकार का नाश करते हैं और उसीसे विषयाग्नि सम्बन्धी तीनों तापों को हर लेते हैं।

(७) 'जटामुकुट सुरसरित सिर···'—सिर पर श्रीगंगाजी को धारण करते हैं, क्योंकि शिवजी सदा ही सत्य बोलते हैं। उनके बड़े-बड़े नेत्र श्रोताओं के आनन्दवर्द्धक हैं, कृपा-रस भरे हैं।

(८) 'नीलकंठ लावन्यनिधि···'—'नीलकंठ'—दयालुता का द्योतक है, यथा—"जरत सकल सुरबृंद, बिषम गरल जेहि पान किय।" (कि० मं०), 'बालबिधु भाल'—चन्द्रमा को दीन जानकर ग्रहण करके उसे बड़ाई दी, फिर उसका त्याग नहीं किया। बराबर धारण किये रहते हैं।

'लावन्यनिधि'—शिवजी शोभा के समुद्र हैं। समुद्र से १४ रत्न प्रकट हुए, वैसे इस शोभा-वर्णन में कई रत्न आये हैं—'नीलकंठ'—बिष[1], 'बालबिधु'—चन्द्रमा[2], 'दर'—शंख[3], 'नखदुति···' में—कौस्तुभ-मणि[4], (ऊपर टि० ४ देखिये), 'पार्वती'—लक्ष्मी[5] (रूपा), नाम—कल्पतरु[6] ('प्रनत कलपतरु नाम' दो० १०७), 'कथा'—कामधेनु[7] ('रामकथा सुरधेनु सम' दो० ११३), वचन—अमृत[8] ('हरषि सुधासम गिरा उचारी।' दो० १११)। ये आठ रत्न योग्य जानकर गृहीत हुए हैं।

बैठे सोह कामरिपु कैसे। धरे सरीर सांतरस जैसे ॥१॥
पारबती भल अवसर जानी। गईं संभु पहिं मातु भवानी ॥२॥
जानि प्रिया आदर अति कीन्हा। बाम भाग आसन हर दीन्हा ॥३॥

अर्थ—कामदेव के शत्रु श्रीमहादेव जी बैठे हुए कैसे सोह रहे हैं जैसे शान्तरस ही शरीर धारण किये हुए हो ॥१॥ जगन्माता भवानी श्रीपार्वतीजी अच्छा अवसर जानकर शिवजी के पास गईं ॥२॥ प्यारी पत्नी जानकर महादेवजी ने उनका अत्यन्त आदर किया और अपनी बाईं ओर बैठने के लिये आसन दिया ॥३॥

विशेष—(१) 'बैठे सोह कामरिपु···'—शिवजी के ध्यान-वर्णन का उपक्रम—"बैठे सहजहिं संभु कृपाला।" (दो० १०५) पर है, यहाँ उपसंहार हुआ। बीच में "कुंद इंदु दर गौर···" से "बालबिधु भाल।" तक उज्ज्वल उपमाओं से उज्ज्वल स्वरूप का वर्णन हुआ, तब 'कामरिपु' कहकर शान्तरस का (उज्ज्वल) स्वरूप कहा, क्योंकि जबतक काम-विकार से रहित न हो, शान्तरस नहीं रह सकता। काम कथा का बाधक है, यथा—कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥" (मु० दो० ५७)। अतः, शिवजी कामरिपु हैं।

'धरे सरीर सांतरस जैसे।', यथा—"कस्तं चराचरगुरुं निर्वैरं शान्तविग्रहम्। आत्मारामं कथं द्वेष्टि जगतो दैवतं महत्॥" (भाग० ४।२।२)।

'सांतरस'—यहाँ मन का वैराग्य-युक्त होना स्थायी, रामतत्त्व का ज्ञान अनुभाव, वट उद्दीपन और क्षमा विभाव है जो रस का आधार बन रही है, करुणा संचारी है। इस रस के स्वामी रामरूप विष्णु (ब्रह्म) हैं, जिनकी कथा शिवजी कहेंगे और प्रमाणितरूप में उन्हें अपना स्वामी बतलायेंगे।

(२) 'पारवती भल···'—'पार्वती' अर्थात् पर्वत परोपकारी होते हैं, उनकी कन्या होने से ये भी परोपकार करेंगी। इन्हींके द्वारा कवितारूपा नदी निकलेगी, जो रामराज्याभिषेकरूपी समुद्र में जा मिलेगी। कहा भी है, यथा—"वाल्मीकिः गिरिसम्भूता रामसागरगामिनी।" नदियाँ प्रायः पर्वत से ही निकलती हैं और समुद्र की ओर जाती हैं।

'मातु'—पुत्र रूप जीवों का कल्याण चाहती हैं। 'भवानी'—भव (शिवजी) कल्याण-रूप हैं, वे पत्नीभाव से इनका आदर कर कल्याण करेंगे। 'भल अवसर' यहाँ एकान्त है और शिवजी प्रसन्न बैठे हैं, अपना भ्रम कहने में लाज या डर नहीं है, यथा—"कहत सो मोहि लागत भय लाजा।" (दो० ४४), अर्थात् जैसे भरद्वाजी ने सबके जाने पर याज्ञवल्क्य से पूछा है। अवसर पर कार्य करना उत्तम है, यथा—"समरथ कोउ न राम सों, तीय-हरन अपराधु। समयहिं साधे काज सब, समय सराहहिं साधु॥" (दोहावली ४४८), "अवसर कौड़ी जो चुके, बहुरि दिये का लाख।" (दोहावली ३४४)। उदाहरण—"देखि सुअवसर प्रभु पहिं, आये संभु सुजान॥" ((लं० दो० १४४)।

(३) 'जानि प्रिया आदर···'—'हर'—क्योंकि इसी जगह पर प्रथम सती-शरीर में मातृ-भाव मानकर शिवजी ने इनका पत्नीत्व का आसन हरण कर लिया था, यथा—"सन्मुख संकर आसन दीन्हा।" (दो० ९५), वह आसन आज पुनः प्राप्त हुआ। 'जानि प्रिया'—पूर्व माता मान चुके थे, अब इस पार्वती-शरीर में प्रिया जानकर बाईं ओर आसन दे रहे हैं। 'आदर अति'—बाम भाग में पास आसन देना ही आदर है, प्रसन्नता-पूर्वक प्रिय वचन कहते हुए बैठाया, यह अति आदर दिया, यथा—"अति आदर समीप बैठारी। बोले बिहँसि कृपाल खरारी।" (लं० दो० ३७)।

सम्बन्ध—इसी वट के नीचे पार्वतीजी का सती-शरीर में सम्मुख आसन देने से अपमान हुआ था। अब आदर हुआ तो पूर्व प्रसंग चित्त में आ गया। अतः कहते हैं—

बैठीं सिवसमीप हरषाई। पूरब-जनम-कथा चित आई॥४॥
पति-हिय-हेतु अधिक अनुमानी। बिहँसि उमा बोलीं प्रिय बानी॥५॥
कथा जो सकल-लोक-हितकारी। सोइ पूछन चह सैलकुमारी॥६॥

अर्थ—(पार्वती) हर्षित होकर जब शिवजी के पास बैठ गईं। तब अपने पिछले जन्म की कथा उनके चित्त में आ गई॥ ४॥ स्वामी (शिवजी) के हृदय में अपने पर अधिक हेतु (प्रेम) समझकर, उमाजी हँसकर प्रिय वाणी बोलीं॥ ५॥ (श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) जो कथा सब लोकों का हित करनेवाली है, उसे ही आज हिमाचल की पुत्री (पार्वतीजी) पूछना चाहती हैं॥६॥

विशेष—'बिहँसि उमा···' अत्यन्त प्रसन्नता के कारण आनन्द उमड़ पड़ा। अतः, हँसकर बोलीं। 'कथा जो सकल···' 'लोक-हितकारी' के सम्बन्ध से 'सैलकुमारी' कहा, ऊपर चौ० २ देखिये तथा आगे कहेंगे—"धन्य-धन्य गिरिराजकुमारी। तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी॥" (दो० १११)। जैसे गंगा आदि नदियाँ पहाड़ से प्रकट होकर प्रवाह-रूप से संसार का हित करती हैं, वैसे कथा भी शैलकुमारी द्वारा प्रकट होकर जगत् का हित करेगी, यथा—"पूछेहु रघुपति-कथा-प्रसंगा। सकल लोक जगपावनि गंगा॥" (दो० १११)।

बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी। त्रिभुवन महिमा बिदित तुम्हारी॥७॥
चर अरु अचर नाग नर देवा। सकल करहिं पद-पंकज-सेवा॥८॥

दोहा—प्रभु समरथ सर्वज्ञ सिव, सकल-कला-गुन-धाम।
जोग-ज्ञान-बैराग्य-निधि, प्रनतकलपतरु नाम॥१०७॥

अर्थ—हे विश्वनाथ ! हे मेरे स्वामी ! हे त्रिपुरारि ! आपकी महिमा तीनो लोकों में प्रसिद्ध है ॥७॥ चर (चेतन जीव) और अचर (जड़ जीव), नाग, मनुष्य और देवता—सब आपके चरण-कमलों की सेवा करते हैं ॥८॥ हे प्रभो ! आप समर्थ, सर्वज्ञ, कल्याणरूप तथा सब कलाओं और गुणों के स्थान हैं। योग, ज्ञान और वैराग्य के सागर हैं। शरणागतों के लिये आपका नाम कल्पवृक्ष के समान है ॥१०७॥

विशेष—(१) विश्वनाथ मम नाथ···' 'सकल-लोक-हितकारी' कथा पूछनी है, इसलिये विश्वनाथ कहा। साथ ही 'मम नाथ' पृथक् भी कहा, जगत् की अपेक्षा अपने पर विशेष कृपा चाहती हैं, यथा—"हरहु नाथ मम मतिभ्रम भारी।" आगे कहना है। जगत् के स्वामी जगत् की अपेक्षा अपने जन पर विशेषता रखते हैं, यथा—"जगपालक बिसेषि जनत्राता ॥" (दो० ११), तथा—"सुर नर मुनि सचराचर साईं। मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं ॥" (अर० दो० १३)। 'पुरारी' होने के सम्बन्ध से त्रिभुवन में आपकी महिमा प्रसिद्ध है और इसीसे चराचर आदि आपकी सेवा करते हैं।

(२) 'चर अरु अचर···' अचर की सेवा, यथा—"सब तरु फरे राम-हित लागी।" (लं० दो० ४), "किये जाहिं छाया जलद, सुखद बहइ बर बात।" (अ० दो० २१६), तथा—"खेलिबे को खग मृग तरु किंकर होइ रावरो राम हौं रहि हौं।" (वि० २३१)। पुनः सेवा करने का हेतु आगे—'प्रभु समरथ ··' आदि से भी कहा है। जो 'प्रनत'—शरणागत हैं, उनके लिये तो आपका नाम ही कल्पतरु है। 'नाग नर देवा'—पाताल, मर्त्य और स्वर्ग के हैं।

यहाँ शिवजी के नाम, रूप, लीला और धाम महिमा के साथ कहे गये हैं—"प्रनत कलपतरु नाम।" में नाम, "कुंदइंदु···" से "धरे सरीर सांतरस जैसे।" (दो० १०५-६) तक रूप, "यह उमा-संभु-बिबाह जे"·····से "चरितसिंधु गिरिजारमन" (दो० १०३) तक लीला, और—"परम रम्य गिरिबर कैलासू।" ·····से "सिवबिश्राम बिटप श्रुति गाया।" (दो० १०५) तक धाम।

(४) पूर्व दो० १०४ चौ० १ पर श्रोता के लक्षण कहे गये हैं, यहाँ वक्ता के लक्षण भी सूचित किये। यथा—'जटामुकुट ··' से विरक्त होना, 'सकल-कला-गुन-धाम' से ६४ कलाओं और सम्पूर्ण गुणों के पूर्ण ज्ञाता (शास्त्रज्ञ) होना, "सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा।" (दो० ५०) से वैष्णव होना, 'वन्दे ब्रह्मकुलं···' (अर० मं० श्लोक) से ब्राह्मण होना, 'कामरिपु' से निष्काम और 'सांतरस जैसे' से धैर्यवान् होना आदि वक्ता के लक्षण हैं।

सम्बन्ध—उत्तम वक्ता के सम्पूर्ण लक्षण कहकर पार्वतीजी आगे प्रश्न करती हैं—

जौ मो पर प्रसन्न सुखरासी। जानिय सत्य मोहि निज दासी ॥१॥
तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ-कथा बिधि नाना ॥२॥
जासु भवन सुरतरु-तर होई। सह कि दरिद्रजनित दुख सोई ॥३॥
ससिभूषन अस हृदय बिचारी। हरहु नाथ मम मतिभ्रम भारी ॥४॥

अर्थ—हे आनन्द की राशि ! जो आप मुझपर प्रसन्न हैं और जो मुझे सत्य ही 'निज दासी' जानते हैं ॥१॥ तो हे प्रभो ! अनेक प्रकार से श्रीरघुनाथजी की कथा कहकर मेरा अज्ञान हरिये ॥२॥ जिसका घर कल्पवृक्ष के नीचे हो, भला, वह क्यों दरिद्रता से उत्पन्न दुःख सहे ? ॥३॥ हे चन्द्रभूषण ! हे नाथ ! हृदय में ऐसा विचार कर, मेरी बुद्धि के भारी भ्रम को हरिये ॥४॥

विशेष—(१) 'जौ मोपर प्रसन्न···'—'सुखरासी' यह विशेषण शिवजी के उपर्युक्त गुणों के अनुसार है, जो—'प्रभु समरथ ··' आदि में कहे गये हैं। पुनः पार्वतीजी ने यहाँ सुखराशि कहकर तुरन्त ही कल्पतरु कहा और उपदेश-द्वारा सुख चाहेंगी, वही भाव आगे के वचन से भी सिद्ध होता है, यथा—"नाथ कृपा अब गयेउ बिषादा। सुखी भइउँ प्रभु-चरन-प्रसादा ॥" (दो० ११९)।

(२) 'जानिय सत्य मोहि ···'—इसमें 'सत्य' विशेषण जानिय के साथ है, और 'निज दासी' पद में मन, कर्म, वचन से दासी का भाव है, यथा—"मन क्रम बचन राम पद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक ॥··· ··देखि दसा निज जन मन भाए।" (अर० दो० ९), क्योंकि आगे इसे ही पुष्ट किया है, यथा—"दासी मन क्रम बचन तुम्हारी ॥" (दो० १०९)। पूर्व में जो कहा गया कि—"जानि प्रिया आदर अति कीन्हा।" उससे यहाँ अपने को 'निज दासी' और शिवजी को 'सुखरासी' कहा।

(३) 'कहि रघुनाथ-कथा···' अर्थात् अज्ञान-निवृत्ति वेदान्त से भी होती है, पर मेरा भ्रम सगुण ब्रह्म श्रीरघुनाथजी के प्रति है। अतएव उनकी कथा ही से समाधान कीजिये। ऐसे ही दो० ४६ में भरद्वाज-जी ने और उ० दो० ६३ में गरुड़जी ने कहा है। 'बिधि नाना'—क्योंकि—'मति भ्रम भारी' कहा है, एक-दो विधियों में न मिटेगा। नाम, रूप, लीला, धाम आदि का महत्त्व विस्तार करके कहियेगा, तब मेरा भारी भ्रम दूर होगा।

(४) 'जासु भवन सुरतरु तर·····'—यहाँ शिवजी सुरतरु (कल्पवृक्ष) हैं, उनके पास एवं आश्रित रहना, 'सुरतरु' के नीचे रहना है। मोह दारिद्र्य है, यथा—"मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।" (उ० दो० ११९); दारिद्र्य दुःख रूप ही है, यथा—"नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।" (उ० दो० १२०)।

(५) 'ससिभूषन अस' ''—चन्द्रमा को भूषण बनाया। अतः, प्रकृति का मेल होना युक्त ही है। चन्द्रमा शरदातप—शरद ऋतु की गर्मी हरता है जो असह्य और दुखद होती है। आपका मुख ही चन्द्रमा है और वचन किरण हैं। उनसे मोह-रूप 'भारी भ्रम' का नाश होता है। मोह ही भारी ताप है, यथा—"ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी ॥" (दो० ११९)।

सम्बन्ध—आगे अपने भ्रम के स्वरूप को दार्शनिक रीति से क्रमशः विषय, पूर्वपक्ष और संशय के रूप में प्रकट करती हैं। प्रथम 'विषय' कहती हैं—

प्रभु जे मुनि परमारथवादी। कहहिं राम कहँ ब्रह्म अनादी ॥५॥
सेष सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति-गुन-गाना ॥६॥
तुम्ह पुनि राम-राम दिन-राती। सादर जपहु अनंग - अराती ॥७॥
राम सो अवध-नृपति-सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई ॥८॥

दोहा—जौ नृपतनय तो ब्रह्म किमि, नारिबिरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि ॥१०८॥

जौ अनीह ब्यापक बिभु कोऊ। कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ ॥१॥

शब्दार्थ—परमारथवादी = ब्रह्मज्ञानी। अनंग-अराती = काम के शत्रु शिवजी। बिभु = समर्थ।

अर्थ—हे प्रभो! जो परमार्थतत्त्व का कथन करनेवाले मुनि लोग हैं, वे श्रीरामजी को अनादि ब्रह्म कहते हैं ॥५॥ शेष, शारदा, वेद और पुराण (आदि) सब श्रीरघुनाथजी के गुणों का गान करते हैं ॥६॥ फिर (यही नहीं प्रत्युत) हे कामदेव के शत्रु श्रीशिवजी! आप भी आदर-पूर्वक राम-राम जपते हैं ॥७॥ वे राम (जो) अवध-नरेश के पुत्र हैं, वे ही हैं या अजन्मा, निर्गुण और अलक्ष गतिवाले कोई दूसरे राम हैं? ॥८॥ यदि राज-पुत्र हैं, तो वे ब्रह्म कैसे? और स्त्री के विरह में उनकी बुद्धि बावली क्यों हुई? उनके चरित देख और महिमा सुनकर, मेरी बुद्धि अत्यन्त भ्रमित हो रही है ॥१०८॥ जो अनीह, व्यापक और समर्थ कोई दूसरा (राम) हो, तो हे नाथ! मुझे वह भी समझाकर कहिये ॥१॥

विशेष—(१) श्रीपार्वतीजी यहाँ से प्रश्न का विषय क्रमशः रूप, लीला, नाम और धाम के महत्त्व से कहती हैं कि परमार्थवादी मुनि राम (ब्रह्म) के 'रूप' को अनादि कहते हैं। ये मुनि ध्यानवाले हैं और ध्यान रूप का होता है। शेष आदि गुण गाते हैं, गुण ही 'लीला' हैं। आप 'राम-नाम' जपते हैं, यह 'नाम' का प्रश्न है। 'राम सो अवध-नृपति सुत'—इसमें 'धाम' का महत्त्व गर्भित है।

पार्वतीजी एक-से-एक श्रेष्ठ प्रमाण देती गईं, ध्यान करनेवाले मुनियों से गुण गानेवाले शेष-शारदा आदि श्रेष्ठ हैं, यथा—"सुनि गुन-गान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी॥"···"चरित सुनहिं तजि ध्यान।" (उ० दो० ४२), और उनसे शिवजी, क्योंकि वेद आदि भी शिवजी के गुण गाते हैं।

(२) 'तुम्ह पुनि···'—और कहें तो कहें, पर आप भी, जो—'प्रभु समरथ सर्बज्ञ ··' हैं, दिन-रात (विराम-रहित) उनके नाम जपते हैं। 'अनंग अराती'—आपको काम से अत्यन्त घृणा है, तब तो उसे जला डाला, फिर उन्हें कामी की तरह महाविरही अवस्था में देखकर भी आपकी प्रीति कम न हुई, प्रत्युत बढ़ती ही गई तो उन्हें अवश्य ही परात्पर जानना चाहिये। पुनः आप कामना जीते हुए हैं, तभी दिन-रात एक रस राम-राम जपते रहते हैं।

पूर्व कहा गया कि—"पूरब जनम कथा चित आई।" (दो० १०६)। पूर्व में श्रीशिवजी ने इसी क्रम से और ऐसे ही तीन प्रकार के प्रमाणों से इन्हें श्रीरामपरत्व कहा था, उन्हींको यहाँ गिरिजाजी ने प्रश्न के विषय-रूप में कहा है, यथा—"जासु कथा कुंभज रिषि गाई।" ···से—"मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।" (दो० ५०) तक—ये ही 'परमार्थवादी मुनि' हुए। "कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं।" (दो० ५०), इसमें शेष-वेद आदि गये। "सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा।" (दो० ५०)। यहाँ शिवजी स्वयं हुए।

(३) 'राम सो अवध ··'—उपर्युक्त महत्त्व को अवध-नरेश के पुत्र में कहकर प्रश्न के विषय को पूरा किया। 'सोई'—जिन्हें वन में पहले देखा था, वही हैं क्या ? अब इसके उत्तरार्द्ध से पूर्व पक्ष के रूप में उक्त 'विषय' का खंडन करती हैं—

(४) 'की अज अगुन··· ··'—इनमें 'अज-अगुन' के भाव पूर्व आ चुके हैं। 'अलख-गति'—जिसकी गति नेत्र, मन, बुद्धि आदि से परे हो।

(५) 'जौ नृपतनय तो ·· ·'—ब्रह्म 'अज' हैं और ये तो नृप के तनय हैं। अतः, जन्मवाले हैं। ब्रह्म 'निर्गुण' है अर्थात् अखिल ब्रह्मांड से निर्लिप्त है और ये तो स्त्री ही के विरह में पागल हो रहे थे। ब्रह्म 'अलख-गति' है और इनका तो 'देखि चरित' अर्थात् प्रत्यक्ष चरित देखा गया है, यथा—"देखा प्रगट बिरह-दुख ताके।" (दो० ४८)।

(६) 'देखि चरित महिमा सुनत ··'—अब यहाँ से 'संशय' करती हैं कि चरित देखा कुछ और, पुनः महिमा उनकी सुनती हूँ परात्पर ब्रह्म की। यह सुनना पूर्व जन्म का है, जिसे ऊपर वि० (२) के दो० ५० में शिवजी का कहा हुआ लिखा गया है। इससे बुद्धि में अत्यन्त भ्रम होता है।

(७) 'जौ अनीह · '—ऊपर पार्वतीजी ने कहा है—"तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ-कथा बिधि नाना॥" इससे निश्चय होता है कि ये श्रीरामजी को सगुण ही जानकर उनसे लीला का होना तो मानती हैं, पर निर्गुण ब्रह्म नहीं मानतीं, इसीसे इसे समझाकर कहने को कहती हैं। यहाँ तक 'संशय' किया।

सारांश—'प्रभु जे मुनि ·····' से—'राम सो अवध-नृपति-सुत सोई।' तक 'विषय', 'को अज अगुन'·····से—'देखि चरित'—तक 'पूर्व पक्ष' और 'देखि चरित महिमा सुनत'··· ··से 'कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ।' तक संशय कहा गया। इन तीनों के पीछे 'सिद्धान्त' होना चाहिये, वह वक्ता शिवजी की ओर से होगा।

किन्तु, प्रश्न करने में जो इन्होंने निर्गुण से भिन्न सगुण को माना। इतना ही नहीं, प्रत्युत उन्हें प्राकृत नर एवं विरही आदि कहा, यह इष्ट का अपकर्ष परम उपासक शिवजी को अच्छा नहीं लगा। इसे ही आगे कहेंगे—"एक बात नहि मोहि सुहानी।" "से—"तिन्ह कर कहा करिय नहिं काना॥" (दो० ११३-११४) तक। अतः, शिवजी का रुख बदल गया, क्रोध के चिह्न आ गये, यह देखकर गिरिजाजी आगे प्रार्थना करती हैं—

अज्ञ जानि रिस उर जनि धरहू। जेहि बिधि मोह मिटइ सोइ करहू॥२॥
मैं बन दीखि रामप्रभुताई। अति-भय-बिकल न तुम्हहिं सुनाई॥३॥
तदपि मलिनमन बोध न आवा। सो फल भली भाँति हम पावा॥४॥
अजहूँ कछु संसय मन मोरे। करहु कृपा बिनवउँ कर जोरे॥५॥

अर्थ—मुझे अबोध जानकर हृदय में क्रोध न लाइये। जिस प्रकार मेरा अज्ञान दूर हो, वही कीजिये॥२॥ मैंने (पूर्व जन्म में) वन में श्रीरामजी की प्रभुता देखी थी, अत्यन्त भय से व्याकुल (होने के कारण) उसे आपको नहीं सुनाया॥३॥ तो भी मेरे मलिन मन को चेत नहीं हुआ। उसका फल मैंने अच्छी तरह पा लिया॥४॥ मेरे मन में अब भी कुछ सन्देह है। (उसके निवृत्त करने के लिये) मुझपर आप कृपा करें। मैं हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हूँ॥५॥

विशेष—(१) 'अज्ञ जानि ···' अज्ञ अर्थात् अनजान सम्य है, यथा—"छमहु चूक अनजानत केरी।" (दो० २८१), "अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता। छमहुँ छमामंदिर दोउ भ्राता॥" (दो० २८४)।

(२) 'मैं बन दीख ···'—प्रभुता देखने का प्रसंग—"निज प्रभाव कछु प्रगटि जनावा।"···से—"कछु न दीख तहँ दच्छकुमारी॥" (दो० ५३-५४) तक है। भय से व्याकुल होने का प्रसंग—"सती सभीत महेस पहिं, चली ···" (दो० ५३) से "सोइ रघुबर···देखि सती अति भई सभीता॥···भयबस सिव सन कीन्ह दुराऊ॥" (दो० ५४-५५) तक है।

(३) 'तदपि मलिन मन बोध ···'—यहाँ सती-शरीर में मन की मलिनता माया से थी, यथा—"निज माया-बल हृदय बखानी।" (दो० ५२), "बहुरि राम-मायहिं सिर नावा। प्रेरि सतिहिं जेहि झूठ कहावा॥" (दो० ५५), पुनः—"माया-बस न रहा मन बोधा।" (दो० १३५), इसमें नारदजी के मन का मलिन होना कहा है।

वहाँ साक्षात् दर्शन पर भी मन मलिन ही रह गया, क्योंकि भगवान् ने अपनी माया के द्वारा इन पात्रों से लीला के कुछ अंगों को बनाना चाहा। अतः, वैसे ही संयोग होते गये, यथा—"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादयः। भवन्ति लीलाविधयश्च वैदिका-स्त्वदीय गम्भीरमनोऽनुसारिणः॥" (आ० खंडार)। 'सो फल ···' यथा—"सो फल मोहि बिधाता दीन्हा। जो कछु उचित रहा···" (दो० ५८)।

(४) 'अजहूँ कछु संसय ···'—पूर्व सती-शरीर में अपार संशय था, यथा—"अस संसय मन भयेउ अपारा।" (दो० ५०), इसीसे त्रिभुवन-गुरु शिवजी के समझाने से भी नहीं गया, यथा—"मोरेहु कहे न संसय जाहीं।" (दो० ५१), फिर श्रीरामजी की प्रभुता देखने पर निश्चय हो गया कि ये सर्वज्ञ हैं और त्रिदेवों के भी इष्ट हैं, किन्तु इतना रह गया था कि निर्गुण-सगुण दो ब्रह्म हैं। सगुण के अवतार आदि होते हैं, निर्गुण के नहीं। इसपर शिवजी की चेष्टा बहका देकर यह भी चित्त में आ गया कि ये दाशरथी राम ही ब्रह्म (निर्गुण) हैं। अब संशय इतना ही रह गया कि निर्गुण ब्रह्म किस प्रकार सगुण होता है? शेष बातें इसीके आनुषंगिक हैं। इसीको 'कछु संसय' कहकर कृपा चाहती हैं। शिवजी कृपा करेंगे और यह भी दूर होगा, यथा—"तुम्ह कृपाल सब संसय हरेऊ। राम-स्वरूप जानि मोहिं परेऊ॥" (दो० ११९)।

प्रभु तब मोहि बहु भाँति प्रबोधा । नाथ सो समुझि करहु जनि क्रोधा ॥६॥
तब कर अस बिमोह अब नाहीं । रामकथा पर रुचि मन माहीं ॥७॥
कहहु पुनीत राम - गुन - गाथा । भुजगराजभूषन सुरनाथा ॥८॥

दोहा—बंदउँ पद धरि धरनि सिर, बिनय करउँ कर जोरि ।
बरनहु रघुबर-बिसद-जस, श्रुतिसिद्धांत निचोरि ॥१०६॥

अर्थ—हे प्रभो ! उस समय मुझे आपने बहुत प्रकार से समझाया था, (फिर भी मैंने नहीं समझा) उसका स्मरण कर क्रोध न कीजिये ॥६॥ उस समय के समान विशेष मोह अब नहीं है, (क्योंकि) श्री रामकथा पर मन में चाह है ॥७॥ हे सर्पराज-भूषण ! हे सुरनाथ ! श्रीरामजी के पवित्र गुणों की कथा कहिये ॥८॥ पृथ्वी पर सिर रखकर चरणों की वन्दना कर और हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हूँ कि (कृपा करके) वेदों का सिद्धान्त निचोड़कर श्रीरघुनाथजी का उज्ज्वल यश-वर्णन कीजिये ॥१०६॥

विशेष—(१) 'प्रभु तब मोहि···'—प्रबोध करने का प्रसंग—"जासु कथा कुंभज रिषि गाई ।" ···से—"लाग न उर उपदेस, जदपि कहेउ सिव बार बहु ।" (दो० ५०-५१) तक । 'करहु जनि क्रोधा'—ऊपर अज्ञता के लिये क्षमा माँग चुकी हैं । अब ऐसा इसलिये कहती हैं कि इन प्रश्नों में इष्ट का अपकर्ष-कथन हो गया है अथवा अब यह क्षमा तो सती-शरीर में उपदेश न समझने के कारण माँगती हैं कि अब उसे जी में लाकर क्रोध न कीजिये ।

(२) 'रामकथा पर रुचि···'—बार-बार कथा के लिये प्रार्थना करना रुचि प्रकट करता है, यथा—"कहि रघुनाथ-कथा बिधि नाना ।" (दो० १०७) । आगे पास ही कहती हैं—"कहहु पुनीत राम-गुन-गाथा ।···बरनहु रघुबर-बिसद-जस,···" इत्यादि, क्योंकि इसीसे मोह की निवृत्ति होती है, यथा—"बिनु सतसंग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग ॥" (उ० दो० ६१) ।

(३) 'कहहु पुनीत···', यथा—"पावन गंग तरंग माल से ।" (दो० ३१), पुनः—"मन क्रम बचन जनित अघ जाई । सुनइ जो कथा श्रवन मन लाई ॥" (उ० दो० १२५) ।

(४) 'भुजगराजभूषन···'—शेषजी भारी वक्ता हैं, क्योंकि इन्होंने वात्स्यायन ऋषि से रामजी की कथा कही है । पद्मपुराण के पातालखंड में इसका प्रमाण है । वे भी आपके भूषण हैं, अर्थात् अंगभूत हैं और देवता गण सत्त्व प्रधान विबुध (विशेष बुद्धिमान्) होते हैं । आप उनके भी स्वामी हैं । अतः, आप सर्वश्रेष्ठ वक्ता हैं ।

(५) 'बंदउँ पद धरि···'—पृथ्वी पर सिर रखना वन्दना की सीमा और हाथ जोड़कर विनय करना विनय की पराकाष्ठा है, 'बिसद रघुबर-जस'—ही वेदों का सिद्धान्त है, यथा—"बंदउँ चारिउ वेद,···बरनत रघुबर बिसद जस ॥" (दो० १४), यह वेदों ने स्वयं कहा भी है, यथा—"हम तव सगुन जस नित गावहीं ।" (उ० दो० १२) ।

जदपि जोषिता नहिं अधिकारी । दासी मन क्रम बचन तुम्हारी ॥१॥
गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं । आरत अधिकारी जहँ पावहिं ॥२॥
अति आरति पूछउँ सुरराया । रघुपतिकथा कहहु करि दाया ॥३॥

शब्दार्थ—जोषिता = स्त्री । अधिकारी = योग्य पात्र । आरत अधिकारी = भगवत्प्राप्ति के वास्ते जिन्हें अत्यन्त आतुरता हो । आरति = आतुर होकर, दुःखित होकर ।

अर्थ—यद्यपि स्त्रियाँ (सामान्य रीति से श्रुति-सार रूपा श्रीराम-कथा की) अधिकारिणी नहीं हैं,

तथापि मैं मन, कर्म और वचन से आपकी दासी हूँ ॥१॥ साधु लोग जहाँ आर्त्त (सुनने के लिये आतुर) अधिकारी पाते हैं, वहाँ गूढ़ तत्त्व को भी वे नहीं छिपाते ॥२॥ हे सुरराज ! मैं अत्यन्त आतुर होकर पूछ रही हूँ। अतः, दया करके श्रीरघुनाथजी की कथा कहिये ॥३॥

विशेष—(१) ऊपर श्रीराम-कथा को 'श्रुतिसिद्धान्त' कह आई। इसीसे यहाँ स्त्री को अनधिकारिणि कहती हैं, क्योंकि स्त्री और शूद्र को वेद में अधिकार नहीं माना जाता, यथा—स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।" (भा० १।४।२५), अर्थात् स्त्री, शूद्र और पतित द्विजाति, ये तीनों ही वेद श्रवण के अधिकारी नहीं हैं। यहाँ अधिकारी होने के तीन प्रकार कहे गये—(क) जो मन, कर्म और वचन से सेवक हो, (ख) जो कथा के लिये आतुर (आर्त) हो और (ग) जिसपर वक्ता की दया हो आवे।

गिरिजाजी में ये तीनो अधिकार प्राप्त हैं,—(क) ये तो पतिव्रताशिरोमणि हैं, यथा—"पति देवता सुतीय महँ, मातु प्रथम तव रेख।" (दो० २३५)। (ख) कथा के लिये इतनी आतुर हैं कि बारंबार पूछ रही हैं। ऊपर—'रामकथा पर रुचि···' पर लिखा गया। (ग) स्त्री हैं एवं अत्यन्त कठिन तप करके यहाँ प्राप्त हुई हैं। अतः, दया की भी पात्री हैं।

शिवजी अनधिकारी से श्रीराम-यश नहीं कहते, यथा—"यह न कहिय सठ ही हठसीलहिं।····" से—"सुरपति-सरिस होइ नृप जबहूँ ॥" (उ० दो० १२७) तक एवं—"कही संभु अधिकारी पाई।" (दो० ४७)।

(२) 'सुरराया'—सामान्य देवता भी आर्त की बिनती सुनकर उसपर दया करते और दुःख मिटाते हैं। आप तो महादेव एवं देवताओं के राजा हैं। अतः, मेरा दुःख अवश्य मिटाइये।

प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन-बपु-धारी ॥४॥
पुनि प्रभु कहहु राम-अवतारा। बालचरित पुनि कहहु उदारा ॥५॥
कहहु जथा जानकी बिवाही। राज तजा सो दूषन काही ॥६॥

अर्थ—विचार कर पहले वह कारण कहिये जिससे निर्गुण ब्रह्म सगुण देह धारण करता है ॥४॥ फिर हे प्रभो ! श्रीरामजी का अवतार कहिये और फिर उनका उदार बल-चरित कहिये ॥५॥ जिस तरह श्रीजानकीजी ब्याही गईं, वह कहिये। (फिर रामजी ने) राज्य का त्याग किया है, वह किस दोष से ? ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रथम सो कारन···' पार्वतीजी का पहले तो यही मत था कि निर्गुण ब्रह्म सगुण होता ही नहीं, यथा—"सो कि देह धरि होइ नर" (दो० ५०), किन्तु अब इतना ही रह गया है, कि निर्गुण ब्रह्म किस कारण से सगुण होता है ? उपर्युक्त दो० १०८ (चौ० ४) भी देखिये। शिवजी इसका समाधान—"सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा।" (दो० ११५) से करेंगे।

'बपु धारी'—वह ब्रह्म प्राकृत मनुष्य की देह की तरह पंचतत्त्व का शरीर धारण करता है, या उसका शरीर किसी और प्रकार का होता है। आगे फिर कहेंगी, यथा—"राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी। सर्बरहित सब उर पुर बासी ॥ नाथ धरेउ नर-तनु केहि हेतू। मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू ॥" (दो० ११९), इसीलिये 'बिचारी' कहा है कि स्वयं विचार कर और मुझे समझाकर कहिये।

(२) 'पुनि प्रभु कहहु···'—इस प्रश्न में अवतार पूछा है कि ब्रह्म ने कैसे अवतार लिया—गर्भ से उत्पन्न हुए अथवा साक्षात् प्रकट हो गये ? किन्तु जब शिवजी ने यह अच्छी तरह समझा दिया कि सगुण-निर्गुण दोनों ये ही हैं और इनमें हर्ष-विषाद आदि नहीं हैं, तब गिरिजा को विश्वास हो गया। यथा—"राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी। सर्बरहित सब उर पुर बासी ॥" (दो० ११९), फिर 'अवतार' की जगह पर अवतार का हेतु पूछा, यथा—"नाथ धरेउ नर-तनु केहि हेतू।" (दो० ११९), और

इसका उत्तर प्रसंग—"हरि-अवतार हेतु जेहि होई।"···से—"यह सब रुचिर चरित मैं भाषा।" (दो० १२० से १८७) तक कहा गया। फिर आगे परात्पर ब्रह्म का मुख्य अवतार कहा गया है।

'बाल-चरित पुनि कहहु उदारा।'—यहाँ बाल-चरित को उदार कहा है। उदार का अर्थ सरल और पात्रापात्र-विचार-रहित दान-शील है। यहाँ चरित के साहचर्य में उदार शब्द आया है। अतः, शीलवान् एवं ऊँचे दिल का भी अर्थ होगा। सरल, यथा—"बालचरित अति सरल सुहाये।" (दो० २३०) दानशील, यथा—"जिमि उदार-गृह जाचक भोरा।" (अर० दो० ३८)। शीलवान्, यथा—"मन, भावत बर माँगउँ स्वामी। तुम उदार उर अंतर्यामी॥···"—"सुनु बायस तइँ सहज सयाना।"··· (उ० दो० ८३-८४), यहाँ कौए का भी आदर किया और उसे परम श्रेष्ठ वर दिया।

बाल-चरित का प्रसंग—भुशुण्डीजी ने मूल रामायण कही है, उसमें शिशु-चरित और बाल-चरित ऋषि के आगमन तक माना गया है, यथा—"तब सिसु-चरित कहेसि मन लाई॥ बाल-चरित कहि बिबिध बिधि, मन महँ परम उछाह। रिषि-आगवन कहेसि पुनि, श्रीरघुबीर-बिबाह॥" (उ० दो० ६४)। शिशु-चरित, यथा—"कीजै सिसु-लीला अति प्रियसीला"···से—"येहि बिधि सिसु-बिनोद प्रभु कीन्हा।" (दो० १९२ से १९९) तक। बाल-चरित, यथा—"बाल-चरित कर गान"। से—"यह सब चरित कहा मैं गाई।" (दो० २०० से २०५) तक। श्रीपार्वतीजी ने शिशु-चरित को भी बाल-चरित में ही माना है।

(३) 'कहहु जथा जानकी···'—मूलरामायण में 'ऋषि-आगमन' और 'श्रीरघुवीर-विवाह' दो प्रसंग हैं, पर यहाँ ऋषि-आगमन विवाह-चरित में ही लिया गया है, क्योंकि विवाह का कारण ऋषि-आगमन ही है। विश्वामित्रजी ने कहा भी है—"इन्ह कहँ अति कल्यान" (दो २०७), इसमें—"कल्यान काज बिबाह मंगल···" (दो० १०३) गर्भित है, तथा—कौसिक मिस सीय स्वयंबर गायो।" (गी० बा० १४), "जस रावरो, लाभ छोटनिहूँ," (गी० बा० ४८)। पुनः—"अथ राजा दशरथस्तेषां दार-क्रियां प्रति॥ चिन्तयामास धर्मात्मा···अभ्यागच्छन्महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः।" (वाल्मी० १।१८।३०-३९), अर्थात् राजा अपनी सभा में श्रीराम आदि के विवाह की चिन्ता में थे कि विश्वामित्र आ गये।

अतः, विवाह-प्रसंग—"आगिल कथा सुनहु मन लाई॥" (दो० १०५) से बालकाण्ड के अन्त तक है।

(४) 'राज तजा सो दूषन काही।'—इससे जान पड़ता है कि राज्य छोड़ने की लीला आपने किसी दूषण को देखकर की है। वह यह कि जब राज्य-ग्रहण के लिये चक्रवर्त्तीजी की आज्ञा श्रीवसिष्ठजी ने सुनाई, तभी आपको उस दूषण का लक्ष्य हुआ और स्पष्ट कहा गया, यथा—"गुरु सिख देइ राय पहिं गयऊ। राम-हृदय अस बिसमय भयऊ।"···से—"बिसमय यह अनुचित एकू। बन्धु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥" (अ० दो० १) तक अर्थात् श्रीभरत-शत्रुघ्नजी के न रहने से अकेले राजा होना नहीं चाहा, इसीसे तदनुसार कारण हो गये। यही पाँचवाँ प्रश्न है। इसका उत्तर सम्पूर्ण अयोध्याकाण्ड में दिया गया है, क्योंकि काण्ड के पूर्वार्द्ध में राज्य छोड़कर जाना है और उत्तरार्द्ध में श्रीचित्रकूट में श्रीभरतजी से प्रार्थित होने पर भी त्यागना ही है।

बन बसि कीन्हे चरित अपारा। कहहु नाथ जिमि रावन मारा॥७॥
राज बैठि कीन्हीं बहु लीला। सकल कहहु संकर सुखसीला॥८॥

दोहा—बहुरि कहहु करुनायतन, कीन्ह जो अचरज राम।
प्रजासहित रघुबंस-मनि, किमि गवने निज धाम॥११०॥

शब्दार्थ—सुखसीला=सुख (देने) में प्रवीण (तत्पर)। करुनायतन=करुणा के स्थान। अचरज = आश्चर्य। निजधाम=श्री साकेत लोक, जहाँ से आकर रामजी ने मनु-शतरूपा को दर्शन एवं वरदान दिये थे।

अर्थ—हे नाथ! वन में रहकर उन्होंने बहुत चरित किये और जिस तरह रावण को मारा, वह कहिये ॥७॥ हे कल्याण करनेवाले! हे सुख देने में तत्पर! उन्होंने राज्य पर बैठकर अनेक लीलाएँ कीं, उन सबको कहिये ॥८॥ फिर, हे करुणा के स्थान! वह आश्चर्य की बात भी कहिये, जो श्रीरामजी ने की है कि वे रघुवंशशिरोमणि श्री रामजी प्रजा के साथ अपने धाम को किस प्रकार गये? ॥१०॥

विशेष—(१) 'बन बसि कीन्हे चरित अपारा'—वन के चरित को 'अपारा' कहा है, क्योंकि सतीजी इसीमें परीक्षा के लिये रामजी के पास गई थीं। अपार महिमा देखी और घबरा गईं। पुनः 'बन बसि' से आरण्य, किष्किन्धा और सुन्दरकाण्डों के सम्पूर्ण चरितों से तात्पर्य है, इसीसे 'अपार' कहा है, क्योंकि भुशुण्डीजी द्वारा कथित मूल रामायण के अनुसार इसमें—"सुरपतिसुत-करनी।"...से—"सागर-निग्रह-कथा सुनाई॥" (उ० दो० ६४६६) तक ४७ चरित्रों का वर्णन है।

(२) 'जिमि रावन मारा।'—'जिमि'=जिस तरह, इससे सेतु बाँधना, अंगद का दौत्य और सम्पूर्ण सेना के साथ रावण का नाश होना, अर्थात् सम्पूर्ण लंकाकाण्ड का ग्रहण होगा।

(३) 'राज बैठि कीन्हीं बहु लीला।'—यह प्रसंग उत्तरकाण्ड के आदि से—"अस कहि मुनि बसिष्ठ गृह आये।" (उ० दो० ४९) तक है।

(४) 'सकल कहहु संकर सुखसीला।'—'सुखसीला' विशेषण 'लीला' और 'शंकर' दोनों के साथ है, क्योंकि श्रीरामजी की राज्य-लीला से पुरवासियों को बहुत सुख मिला, यथा—"रघुपति-चरित देखि पुरवासी। पुनि-पुनि कहहिं धन्य सुखरासी॥" (उ० दो० १९) से लेकर—"अवधपुरी बासीन्ह कर, सुख संपदा समाज। सहस सेष नहिं कहि सकहिं, जहँ नृप राम बिराज॥" (उ० दो० २६) तक सुख देना कहा गया है।

गिरिजाजी वही सुख शंकरजी के द्वारा वह चरित सुनने से प्राप्त किया चाहती हैं, यथा—"भरत, राम, रिपुदवन, लखन के चरित-सरित अन्हवैया। तुलसी तव के से अजहुँ जानिबे रघुवरनगर-बसैया॥" (गी० वा० ९)। इसीलिये उन्हें 'सुखशीला' कहती हैं।

(५) 'बहुरि कहहु करुनायतन...'—'करुनायतन' क्योंकि परधाम यात्रा रुचि-विरुद्ध है, उसे कहलाने के लिये 'करुनायतन' कहकर प्रार्थना की। 'अचरज'—सदेह और प्रजा-समेत परधाम जाना इसी अवतार में हुआ, यह बड़ा आश्चर्य है, यथा—"चतुर्विधाः प्रजा रामः स्वर्गं नीत्वा दिवं गतः॥" (महा० दो० ४६।२३) अर्थात् चारों प्रकार की प्रजा के साथ उसी शरीर से श्रीरामजी स्वर्ग (साकेत) को चले गये।

इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट रूप में तो नहीं दी है। हाँ, गुप्त रीति से जना दिया है। विषय जानकर कोमल चित्त से नहीं कहा गया। उपासकों का भाव ही है कि श्रीरामजी नित्य श्री अवध में विहार करते हैं। गुप्त रीति के उत्तर में उपासना-भाव भी रहा और उत्तर भी हो गया। नित्य अवध (साकेत) और लीला-विभूति की अयोध्या एक ही हैं, जिसका जो भाव यहाँ पर जिस प्रकार रहता है, वही वहाँ साकेत में भी उसी प्रकार रहता है एवं वैसा ही विहार-स्थल रहता है। अतः, यहाँ से वहाँ जाना लिखना अनावश्यक जानकर प्रकट में नहीं लिखा गया।

इस प्रश्न का उत्तर गुप्त रीति से—"हनूमान भरतादिक भ्राता। संग लिये सेवक सुखदाता॥ पुनि कृपाल पुर बाहर गये।"...से—"गये जहाँ सीतल अमराई॥" (उ० दो० ४९) तक है। यहाँ 'पुर बाहर' जाने में परधाम-यात्रा सूचित की है, क्योंकि फिर लौटकर महल में आना नहीं लिखा। 'संग लिये सेवक' में 'सेवक' से प्रजागण ध्वनित है, यथा—"सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात यह ओर निबाहू॥"

(अ० दो० २३), तथा 'सेवक' से सुग्रीव आदि भी आ गये। 'गये जहाँ सीतल अमराई।' से साकेत-लोक सूचित किया है।

पुनि प्रभु कहहु सो तत्त्व बखानी। जेहि बिज्ञान मगन मुनि ज्ञानी ॥१॥
भगति ज्ञान बिज्ञान बिरागा। पुनि सब बरनहु सहित बिभागा ॥२॥
औरउ रामरहस्य अनेका। कहहु नाथ अति बिमल बिबेका ॥३॥
जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई। सोउ दयाल राखहु जनि गोई ॥४॥
तुम्ह त्रिभुवनगुरु बेद बखाना। आन जीव पामर का जाना ॥५॥

अर्थ—फिर हे प्रभो! वह तत्त्व बखान कर (विस्तृत रूप में) कहिये, जिसके विशेष ज्ञान से ज्ञानी मुनि उसमें निमग्न रहते हैं ॥१॥ फिर भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य के वर्णन, प्रत्येक के विभाग-सहित (पृथक्-पृथक्) कीजिये ॥२॥ हे नाथ! और भी जो श्रीरामजी के अनेक गुप्त चरित हैं, उन्हें कहिये, (क्योंकि) आपका विवेक अत्यन्त निर्मल है ॥३॥ हे प्रभो! जो मैंने नहीं भी पूछा हो, हे दयालो! वह भी छिपाकर न रखियेगा ॥४॥ आप तीनो लोकों के गुरु हैं, यह वेदों ने कहा है, दूसरे नीच प्राणी क्या जानें? ॥ ५ ॥

विशेष—(१) श्रीरामजी के अवतार प्रसंग से परधाम-यात्रा तक के प्रश्नों में सम्पूर्ण रामायण कहकर, आगे के प्रश्न 'तत्त्व···' से 'जो प्रभु मैं पूछा नहिं···' आदि ऊपर से उत्तर देने के विचार से किये गये हैं, पर वक्ता शिवजी ने इन सबके उत्तर चरित के साथ ही दिये हैं, क्योंकि ये सब बातें रामायण में ही हैं। जिज्ञासु अज्ञ होता है और वक्ता सर्वज्ञ, वही यहाँ चरितार्थ किया गया है।

(२) 'तत्त्व' का अर्थ ब्रह्म है, यथा—'तत्त्वं ब्रह्मणि यथार्थे' ऐसा कोश में कहा है।

उदाहरण—"बेदतत्त्व नृप तव सुत चारी।" (दो० १९७), "जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा।" (दो० २४१)।

'भगति'—दोहा ३६ चौ० १३ में देखिये।

'ज्ञान'—"ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं (अर० दो० १४), पुनः—"प्रभुहिं जानि मन हरष कपीसा॥ उपजा ज्ञान बचन तब बोला।"···से—"सुनि बिराग-संजुत कपि-बानी।" (कि० दो० ६), एवं—"तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ज्ञान हरि लीन्ही माया॥"···से—"उपजा ज्ञान चरन तब लागी।" (कि० दो० १७) तक। कैवल्यपरक ज्ञान—उ० दो० ११६-११८ में विस्तार से कहा गया है।

'बिज्ञान'—ब्रह्म में लीन, यथा—"दुर्लभ ब्रह्मलीन बिज्ञानी।" (उ० दो० ५३), "ब्रह्मानंद सदा लयलीना। (उ० दो० ३१)। कैवल्य परक विज्ञान, यथा—"तब बिज्ञाननिरूपिनी, बुद्धि बिसद घृत पाइ।" ···से—"तेजरासि बिज्ञानमय॥" (उ० दो० ११७) तक है।

'बिरागा'—"कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥" (अर० दो० १४)। "निज-निज करम-निरत श्रुति-रीती॥···यहि कर फल मन बिषय-बिरागा।" (अर० दो० १५), इत्यादि। 'सहित बिभागा'—जैसे भक्ति नवधा, प्रेमा, परा आदि भागों में विभक्त है, वैसे ज्ञान की सप्त भूमिकाएँ हैं, इन रीतियों से प्रत्येक में विभाग होते हैं।

(३) 'औरउ राम-रहस्य···'—पूर्व जो कहे गये, वे भी रहस्य ही हैं। जैसे उपर्युक्त ज्ञान के विषय में कहा है, यथा—"यह रहस्य रघुनाथ कर, बेगि न जाने कोइ।" (उ० दो० ११६)। इनसे भी और जो अनेक गुह्य रहस्य हैं, जो विमल विवेक से ही जाने जाते हैं, उनके लिये यहाँ प्रश्न है। शिवजी 'अति

बिमल बिवेका' हैं, यथा—"को बरनै मुख एक, तुलसी महिमा संत की। जिन्हके बिमल बिवेक, सेष महेस न कहि सकहिं ॥" (वैराग्यसन्दीपनी ३४)। और लोग सिद्धांजन लगाकर गुप्त वस्तु देखते हैं, गुरु-भक्त लोग गुरु-पद-रज लगाकर गुप्त चरित देखते हैं, पर शिवजी तो स्वाभाविक ही अति बिमल विवेकवाले हैं। अतः, उपाय बिना ही सब गुह्य रहस्य देखते हैं।

वे अनेक रहस्य जो श्रीरामजी के ही हों और जहाँ तक आपको प्रत्यक्ष हों, सब कहिये। रहस्यों के कुछ उदाहरण—"मास दिवस कर दिवस भा, मरम न जानइ कोइ। ·····यह रहस्य काहू नहिं जाना।" (दो० १९५), "निज-निज रुख रामहिं सब देखा। कोउ न जान कछु मरम बिसेखा ॥" (दो० २४३) "लछिमनहूँ यह मरम न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना ॥" (अर० दो० २३), इत्यादि।

(४) 'सोउ दयाल·····' अर्थात् कोई भी बात छिपाइये नहीं। यहाँ प्रश्न से अलग की भी बातें जानना चाहती हैं, इसलिये 'दयाल' कहती हैं। ऐसी बातों के उदाहरण—"औरउ एक कहउँ निज चोरी।" ·····से—"यह सुभ चरित जान पै सोई। कृपा राम कै जापर होई ॥" (दो० १९५) तक, "उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना ॥" (अर० दो० ३८), इत्यादि।

उमा के चरित विषयक प्रश्नों का उपक्रम—"रघुपति-कथा कहहु करि दाया।" से हुआ और यहाँ के—"सोउ दयाल·····" पर उपसंहार हुआ। इस प्रसंग को दया से ही सम्पुटित किया है। भाव यह कि इन सबके उत्तर दया से ही दीजिये, यह प्रार्थना है।

'तुम्ह बिनु गुरु ···', यथा—"कस्तं चराचरगुरुं निर्वैरं शान्तविग्रहम्।" (भाग० ४।२।२), अर्थात् महादेवजी चराचर के गुरु, निर्वैर एवं शान्त विग्रह हैं। उमा के प्रश्न (की भूमिका) का उपक्रम—"विस्वनाथ मम नाथ पुरारी। त्रिभुवन महिमा बिदित तुम्हारी ॥" (दो० १०६) से हुआ था। यहाँ—"तुम्ह त्रिभुवन गुरु···" पर उपसंहार हुआ।

सम्बन्ध—यहाँ 'उमा-प्रश्न-प्रसंग' समाप्त हुआ। आगे 'प्रश्नोत्तर-प्रसंग' प्रारम्भ हो रहा है—

प्रस्न उमा कै सहज सुहाई। छल-बिहीन सुनि सिव मन भाई ॥६॥
हर-हिय रामचरित सब आये। प्रेम पुलक लोचन जल छाये ॥७॥
श्रीरघुनाथ-रूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा ॥८॥

अर्थ—श्रीपार्वतीजी के सहज सुन्दर और छलरहित प्रश्न सुनकर शिवजी के मन को अच्छे लगे ॥६॥ महादेवजी के हृदय में सब श्रीरामचरित आ गये, प्रेम से पुलकावली हो आई और उनकी आँखों में आँसू छा गये ॥७॥ श्रीरघुनाथजी का रूप उनके हृदय में आ गया और उन्हें परमानन्दरूपी अमित सुख प्राप्त हुआ ॥८॥

विशेष—(१) 'प्रस्न उमा कै ···'—प्रश्न यद्यपि पुँल्लिंग है, तथापि ग्रन्थकार ने जहाँ-तहाँ स्त्रीलिंग में इसका प्रयोग किया है, यथा—"उमा प्रस्न तव सहज सुहाई।" (दो० ११३)। 'छलबिहीन'—चार प्रकार के प्रश्न होते हैं—उत्तम प्रश्न छलविहीन ही होते हैं, जो जिज्ञासु के द्वारा अज्ञात बातों की जानकारी के लिये गुरु से किये जाते हैं, जिससे भ्रम दूर हो और फिर समझकर उसका मनन करे, यथा—"एक बार प्रभु सुख-आसीना। लछिमन बचन कहे छलहीना ॥" (अर० दो० १३)। मध्यम वह है, जिसमें प्रश्न करनेवाले अपनी विद्वत्ता भी प्रकट करते हैं कि जिससे वक्ता एवं तटस्थ लोग भी जान जायँ कि ये भी कुछ ज्ञाता हैं। निकृष्ट वह है, जो वक्ता की परीक्षा के लिये किया जाता है। अधम वह है जो सत्संग में विघ्न डालने के उद्देश्य से किया जाय। इन चारो में तीन के हृदय में छल रहता है, परन्तु गिरिजाजी का प्रश्न उत्तम श्रेणी का है, और छल रहित है, क्योंकि यह केवल अपना सन्देह मिटाने के लिये किया गया है,

Post Graduate Library
College of Arts & Commerce, U. P.

यथा—"तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना ॥" (दो० १०७), "जेहि बिधि मोह मिटइ सो करहू ।"—"करहु कृपा बिनवउँ करजोरे ॥" (दो० १०८) । 'सहज सुहाई'—क्योंकि इसमें बार-बार नाथ ! प्रभु ! आदि प्रिय सम्बोधन आये है । 'छलबिहीन'—यह भी भाव है कि पूर्व के कपट एवं दुःख को यहाँ स्पष्ट कह दिया है—"मैं बन दीख···सो फल भली भाँति मैं···", तथा—"राम कहा सब कौसिक पाहीं । सरल सुभाव छुवा छल नाहीं ॥" (दो० २३६), इससे भी प्रश्न को 'सहज सुहाई' कहा गया । 'सिव मन भाई'—शिवजी ने आगे स्वयं कहा भी है—"उमा प्रस्न तव सहज सुहाई । सुखद संत संमत मोहि भाई ॥" (दो० ११३) ।

(२) 'हर-हिय रामचरित ··'—जैसे-जैसे श्रीपार्वतीजी के प्रश्न होते गये, वैसे-वैसे उनके उत्तर रूप में चरित स्मृति पथ में आते गये । जैसे किसी पंसारी के पास ग्राहक जो-जो वस्तुएँ मागता जाता है, उसे उनका स्मरण होता जाता है कि अमुक-अमुक प्रकार की चीजें अमुक-अमुक जगह रक्खी हैं, यथा—"सुनि तव प्रस्न सप्रेम सुहाई । बहुत जनम कै सुधि मोहिं आई ।" (उ० दो० ९८), यह काकभुशुण्डीजी ने कहा है । 'प्रेम पुलक ··'—चरित-स्मरण से प्रेम होता ही है, यथा—"रघुबर-भगति प्रेम-परिमिति सी ।" (दो० ३०), अर्थात् यह कथा प्रेम की पराकाष्ठा-रूपा है ।

(३) 'श्री रघुनाथ-रूप उर आवा ।'—आगे—'बंदउँ बालरूप···' कहा गया है । अतः, यहाँ भी उसी रूप का ध्यान जानना चाहिये । प्रथम चरित से प्रेम होता है, तब रूप का ध्यान होता है, यथा—"बारि बिलोचन बाँचत पाँती । पुलक गात आई भरि छाती । रामलखन उर कर बर चीठी ।" (दो० २८९)।

'परमानंद अमित सुख···' श्रीरामजी के दर्शनों से परमानन्द होता ही है, यथा—"जाहिं जहाँ जहँ बंधु दोउ, तहँ तहँ परमानंद ।" (दो० २२३), पुनः—"जेहि सुख लागि पुरारि, असिव बेषकृत सिव सुखद । अवधपुरी-नरनारि, तेहि सुख महँ संतत मगन ॥ सोई सुख लवलेस, जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ । ते नहिं गनहिं खगेस, ब्रह्म-सुखहिं सज्जन सुमति ॥" (उ० दो० ८८) । इन्हीं वचनों के अनुसार यहाँ कहा गया है, अर्थात् ब्रह्मानन्द से विशेष सुख की संज्ञा परमानन्द है और वही अमित सुख की संज्ञा से अपरिमित कहा गया है ।

दोहा—मगन ध्यानरस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह ।
रघुपतिचरित महेस तब, हरषित बरनइ लीन्ह ॥१११॥

शब्दार्थ—ध्यानरस = ध्यान का आनन्द, यथा—"जाग न ध्यानजनित सुख पावा ।" (अर० दो० ९) ।

अर्थ—श्रीशिवजी के ध्यान के आनन्द में दो दंड तक निमग्न रहे, फिर उन्होंने अपने मन को बाहर किया, तब वे श्रीरघुनाथजी के चरित्रों का हर्ष-सहित वर्णन करने लगे ॥

'मन बाहेर कीन्ह'—यहाँ 'कीन्ह' शब्द से मन का बलात् बाहर करना जान पड़ता है । इसका कारण यह है कि पार्वतीजी ने उत्कंठा-पूर्वक प्रश्न किया है । अब यदि अचानक समाधि लग गई तो वे बैठी ही रह जायँगी । इस कथा से जगत् का हित होगा । पुनः कथा में ध्यान के आनन्द से अधिक आनन्द है, यथा—"मम गुनग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह । ताकर सुख सोइ जानइ, परानंदसंदोह ॥" (उ० दो० ४६) । इसके अधिकारियों ने इसको ऐसा ही माना है, यथा—"जीवन्मुक्त ब्रह्मपर, चरित सुनहिं तजि ध्यान ।" (उ० दो० ४२) । इष्ट का ध्यान करके कार्य का आरम्भ करना भक्तों का नियम भी है जिससे कर्त्तव्य-कार्य में सफलता हो ।

'हरषित बरनइ लीन्ह—श्रीरामचरित-वर्णन में वक्ता को हर्ष-सहित प्रवृत्त होना चाहिये । यही इस ग्रन्थ के चारो वक्ताओं ने दिखाया है, यथा—भयेउ हृदय आनंद उछाहू ।' 'चली सुभग कबिता सरिता सी ।" (दो० ३८), श्रीगोस्वामीजी, सुनु मुनि आजु समागम तोरे । कहि न जाइ जस सुख मन मोरे ॥··· तदपि यथाश्रुत कहउँ बखानी ।" (दो० १०४)—याज्ञवल्क्यजी, 'करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी । हरषि सुधा

सम गिरा उचारी ॥" (दो० १११)—शिवजी तथा—"भयेउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहइ रघुपति-गुन गाहा ॥" (उ० दो० ६३)—भुशुण्डीजी।

झूठउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने ॥१॥
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे यथा सपनभ्रम जाई ॥२॥

अर्थ—जिसको बिना जाने झूठा भी सत्य-सरीखा जान पड़ता है, जैसे बिना पहचाने रस्सी में साँप का भ्रम होता है ॥१॥ जिनके जानने से जगत् 'हेराय' (खो) जाता है, जैसे जागने पर स्वप्न का भ्रम जाता रहता है ॥२॥

विशेष—यहाँ 'जाहि' और 'जेहि' से श्रीरामजी और 'झूठउ' और 'जग' से नानात्व रूपवाला जगत् कहा गया है। ऐसे ही सर्प-रूप नानात्व जगत् और रस्सी रूप श्री रामजी हैं। श्री रामजी का जानना जागना है, जानने पर सम्पूर्ण जगत् का बोध श्री रामजी के शरीर-रूप में हो जाता है, तब उस (जगत्) के प्रेरक-नियामक श्री रामजी जाने जाते हैं और जगत् की भ्रमात्मक नानात्व सत्ता नहीं रह जाती, यही जगत् का 'हेराय' (खो) जाना है। जैसे स्वप्न की मनःकल्पित सृष्टि जागने पर नहीं रह जाती, वैसे जगत् का नानात्व रूप भी मन से कल्पित है, यथा—"जौं निज मन परिहरै बिकारा। तौ कत द्वैत-जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा ॥ सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हें बरियाई। त्यागब गहब उपेछनीय अहि हाटक तृन की नाईं ॥" (वि० १२८), अर्थात् जगत् श्री रामजी का शरीर है, यथा—"जगत्सर्वं शरीरं ते।" (वाल्मी० ६।११७।२५)। ऐसा ज्ञान होने पर फिर शत्रु-मित्र आदि नहीं रह जाते, क्योंकि श्री रामजी सर्वज्ञ हैं। अतः, अपने शरीर रूप व्यष्टि जगत् के प्रति दूसरे सब अंगों से (प्रत्येक के कर्म के अनुसार) यथायोग्य ही बर्ताव कर रहे हैं अर्थात् शत्रु-मित्र आदि सबके प्रेरक वे ही हैं, हमारे कर्मानुसार सुख-दुःख आदि दे रहे हैं। तब जगत् का नानात्व रूप उनका ज्ञान-पूर्वक विलास ही सिद्ध होता है, यथा—"तुलसिदास प्रभु चिद्विलास जग बूझत बूझत बूझै ॥" (वि० १२४)। अतः, हित करनेवाले माता, पिता आदि को मित्र और अनहित करनेवालों को शत्रु आदि की भावना मन की भ्रमात्मक कल्पना है। यही नानात्व दृष्टि 'सुत-बित-देह-गेह-स्नेह' रूप जगत् के नाम से प्रसिद्ध है। इस नानात्व जगत् का दश-दिगात्मक रूप—"जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा ॥ सब कै ममता ताग बटोरी।···" (मं० दो० ४७) है।

इसमें 'रस्सी' और 'सर्प' के दृष्टान्त का स्पष्टीकरण पूर्व मंगला० के—'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' में किया गया है। इसको चराचररूपता आगे—'रजत सीप महँ···' (दो० ११७) में दृष्टान्तों के आधार से कही जायगी।

बंदउँ बालरूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू ॥३॥
मंगलभवन अमंगलहारी। द्रवउ सो दसरथ-अजिर बिहारी ॥४॥
करि प्रनाम रामहिं त्रिपुरारी। हरषि सुधासम गिरा उचारी ॥५॥

शब्दार्थ—सब सिधि = योगशास्त्र में अणिमादि आठ सिद्धियाँ कही गई हैं, उनके नाम भी पूर्व दो० २१ चौ० ५ में कहे गये हैं तथा—सब मनोरथों की सिद्धि। जिसु (यस्य) = जिसका। अजिर = आँगन।

अर्थ—मैं उन्हीं बालक-रूप श्रीरामजी की वन्दना करता हूँ, जिनका नाम जपने से सब सिद्धियाँ (सब प्रकार के मनोरथों की सिद्धियाँ) सुलभता से प्राप्त हो जाती हैं ॥३॥ मंगल के घर, अमंगल का हरण करनेवाले महाराजा श्रीदशरथजी के आँगन में विहार करनेवाले वे (बालरूप श्रीरामजी) मुझपर कृपा करें ॥४॥ त्रिपुरारि श्रीशिवजी श्रीरामजी को प्रणाम करके हर्षित होकर अमृत के समान वाणी बोले ॥५॥

विशेष—(१) 'बंदउँ बालरूप सोइ रामू ।'—'सोइ' अर्थात् जिनके विशेषण ऊपर दो चौपाइयों में कहे गये हैं एवं ऊपर दोहे में जिनका ध्यान किया था, तथा—"श्रीरघुनाथ-रूप उर आवा ।" (दो० ११०) भी कहा गया था, उसे यहाँ खोला कि वह यही बालरूप था। शिवजी की स्थायी स्थिति शान्त रस में रहती है, इससे यह बालरूप उनका इष्ट है। अतः, लोमशजी को भी चरित देने के साथ (सम्भवतः) यही ध्यान बतलाया है और लोमशजी ने काकभुशुण्डीजी को भी यही बतला दिया है, यथा—"बालक-रूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहि गुरु कृपानिधाना ॥" (उ० दो० ११२ , "इष्टदेव मम बालक रामा ।" (उ० दो० ७४) ।

यहाँ बिना किसी उद्दीपन आदि कारणों के हृदय से स्वतः बालरूप का उद्गार हुआ है। इसी कारण यह रूप शिवजी का सहज एवं एकान्त ध्येय समझा जाता है। यों तो ये जगद्गुरु हैं, यथा—"तुम्ह त्रिभुवन-गुरु बेद बखाना ।" (दो० ११०)। अतः, सभी रसों के भोक्ता हैं, इसीसे बाल, विवाह, वन एवं राज्याभिषेक आदि सभी अवस्थाओं की रूप-माधुरी में इनका निमग्न होना कहा गया है।

(२) 'सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू ।'—बालरूप के साथ नाम-द्वारा सर्व-सिद्धियाँ कहने का तात्पर्य यह है कि 'जप' मन्त्र की अर्थ-भावना के साथ होता है, यथा—"तज्जपस्तदर्थभावनम् ।" (योगसूत्र)। नाम का अर्थ रूप है और नाम के शब्दार्थ में कथित गुण रूप के ही होते हैं। अतः, रूप के ध्यान के साथ उसके नामार्थ के अन्तर्गत गुणों को उसमें विचारते हुए जप करना चाहिये। श्रीरामनाम का अर्थ श्रीवसिष्ठजी ने कहा है, यथा—"जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रयलोक सुपासी ॥ सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोकदायक बिश्रामा ॥" (दो० १९६), अर्थात् रामजी में जीवों को आनन्दित करने की अपरिमित शक्ति है। फिर बहुत बार नाम जपते हुए भी जीव सुखी क्यों नहीं होते ? इसका कारण यह है कि श्रीरामजी में जो सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता गुण हैं, ये दोनों बद्ध जीवों के लिये बाधक हैं। सर्वज्ञता तो इनके पापों की चुगुली करती है, तदनुसार सर्वशक्तिमत्ता उन्हें दंड देने में प्रवृत्त रखती है। अतः, पूर्वकृत पापों एवं जप के साथ-साथ के भी हुए अपराधों से ही जीव मुक्त नहीं हो पाते। जिस समय इन दोनों की प्रवृत्ति न हो, वही अवसर जीवों के कल्याण का है। यह बाल-रूप में सहज ही है, क्योंकि बालक भोला-भाला होता है और उसमें शक्ति भी नहीं रहती, क्योंकि दूसरा गोद में ले अथवा अंगुल पकड़ाकर चलावे, तब वह चलता है। अतः, इस अवस्था के ध्यान से साधक के चित्त में स्थित श्रीरामजी में उक्त दो गुण नहीं आते, इसीसे शीघ्र ही सर्व सिद्धियाँ होती हैं।

बालरूप के अतिरिक्त किशोर-रूप का ध्यान श्रीसीताजी के साथ रहता है। श्रीजानकीजी कृपामयी हैं। अतः, श्रीरामजी की चित्तवृत्ति उनके अनुसार कृपामय रहती है, तब उस कृपा के उदय में भी जीवों के दोष नहीं रह जाते, क्योंकि 'कृपू-सामर्थ्ये' धातु से 'कृपा' शब्द बनता है। भगवान् जब अपने सामर्थ्य पर ध्यान देते हैं, तब यह आता है कि मेरी शक्ति के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता और जीव जो माया-वश होकर दुखी है, यह हमारी ही असावधानी है। हम सँभालते तो ऐसा दुखी यह क्यों होता ? अतः, 'श्रीसीताराम' नाम जपने से भी सर्व सिद्धियाँ सुलभ होती हैं।

(३) 'मंगलभवन अमंगलहारी ।···'—श्रीरामजी का ध्यान मंगलमय है। कहा भी है—"मङ्गलं भगवान् विष्णुः मङ्गलं गरुडध्वजः। मङ्गलं पुण्डरीकाक्षो मङ्गलायतनो हरिः ॥" यहाँ श्रीशिवजी ने नाम, रूप, लीला और धाम—चारो से मंगल किया है, यथा—रूप—'बंदउँ बालरूप ···', नाम—'जपत जिसु नामू ।', धाम—'दशरथ-अजिर', लीला—'बिहारी'। चारो का मंगलकारी होना पूर्व—"मंगल भवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी ॥" दो० ६ के विशेष में लिखा गया है।

श्रीगोस्वामीजी ने भी ऐसा ही मंगल कथा के प्रारम्भ में किया है। यथा—"नाम जपत मंगल दिसि

दसहूँ।'''सुमिरि सो नाम राम-गुन-गाथा। करउँ ···" (दो० २७), अर्थात् नाम और रूप दोनों ही तुल्य 'मंगल भवन अमंगलहारी' हैं।

माधुर्य में यह भी भाव है कि प्रभु ने बाल-स्वरूप से प्रकट होकर दशरथजी के वंश लोप-रूप अमंगल को हर लिया, फिर चारो भाइयों के क्रमशः जन्म, छठी, बरही आदि उत्सवों से मंगल-ही-मंगल भर दिया, क्योंकि एक-एक उत्सव तीन-तीन दिनों तक होता था, यथा—"ज्यों आजु कालिहु परहुँ जागन होहिंगे नेवते दिये ॥" (गी० बा० ५)।

(४) 'दसरथ-अजिर-बिहारी।'—बाल-रूप आँगन में ही विहरते हैं, वैसे मेरे हृदय-रूप आँगन में भी विहरें, यह भाव है, यथा—"अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन-मंदिर में बिहरें ॥" (क० बा० ३)। 'सो'—वही, जिनका—'झूठउ सत्य···जेहि जाने···' से निर्गुण रूप और—'बंदउँ बाल-रूप'—'मंगलभवन···' से सगुण रूप कहा गया। यहाँ 'सोइ' और 'सो' शब्द से निर्गुण-सगुण की एकता मंगल में भी की है, क्योंकि पार्वतीजी से यही एकता कहनी है।

(५) 'करि प्रनाम रामहिं···'—त्रिपुरों को मारकर तीनो लोकों को सुखी किया, वैसे इस कथा से तीनो लोक सुखी होंगे। 'सुधासम'—इस कथा से श्रोतागण मृत्यु-धर्म से निवृत्त होंगे।

शिवजी ने मन, कर्म और वचन तीनों से वन्दना की है, यथा—"श्रीरघुनाथ-रूप उर आवा।"—मन से, 'करि प्रनाम'—कर्म से और आगे—"रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायेउ माथ ॥" (दो० ११६) में—वचन से है।

धन्य धन्य गिरिराज-कुमारी। तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी ॥६॥
पूछेउ रघुपति - कथा - प्रसंगा। सकल - लोक - जगपावनि गंगा ॥७॥
तुम्ह रघुबीर-चरन - अनुरागी। कीन्हिहु प्रस्न जगतहित लागी ॥८॥

अर्थ—हे गिरिराजकुमारी पार्वतीजी ! तुम धन्य हो ! धन्य हो !! तुम्हारे बराबर कोई उपकारी नहीं है ॥६॥ तुमने श्रीरघुनाथजी की कथा एवं उसके प्रसंग पूछे हैं, जो समस्त लोकों के लिये जगत्-पावनी गंगा के समान (पवित्र करनेवाले) हैं ॥७॥ तुम रघुवीर श्रीरामजी के चरणों की अनुरागिणी हो, तुमने संसार के हित के लिये ये प्रश्न किये हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'धन्य-धन्य गिरि···' दो बार धन्य अधिक आदरार्थ में कहा है। अतः, आदर की वीप्सा (अलंकार-विशेष) है। 'गिरिराजकुमारी' परोपकार के सम्बन्ध से कहा गया है, क्योंकि गिरि (पर्वत) परोपकारी होते हैं, यथा—"संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी ॥" (उ० दो० १२४)। गिरिजा के 'सहज सुहाई' प्रश्न से प्रसन्न होकर शिवजी ने उन्हें 'धन्य-धन्य' कहा है, यथा—"धन्य धन्य तव मति उरगारी। प्रस्न तुम्हारि मोहि अति प्यारी ॥" (उ० दो० ९४)। परोपकार का रूप आगे कहते हैं—

(२) 'पूछहु रघुपति-कथा···'—प्रसंग का अर्थ चर्चा वा वार्ता है। श्रीपार्वतीजी ने प्रथम कथा पूछी थी—'रघुपति-कथा कहहु करि दाया।' और फिर उसमें एक-एक प्रसंग पृथक्-पृथक् पूछा, वैसे ही यहाँ भी 'कथा' और 'प्रसंग' दोनों कहे गये।

'सकल लोक जग ···'—जैसे भगीरथ महाराज के द्वारा गंगाजी आईं, उनसे उनके पूर्वज तो तरे ही, साथ ही तीनो लोकों का भी हित हुआ। गंगा की एक-एक धारा तीनो लोकों में गई, इसी तरह तुम्हारे प्रश्न रूप भगीरथ के द्वारा कथा-रूपा गंगा भी सब लोकों का हित करेगी।

(३) 'तुम्ह रघुबीर चरन···'—भरद्वाज जी के प्रश्न-प्रसंग में कहा गया था कि उत्तम वक्ताओं की रीति है कि वे प्रथम श्रोता का आदर करते हैं जिससे वह घबरा न जाय और उसके अनौचित्य को युक्ति

से कह भी देते हैं कि ऐसा सब कोई न कहने लगें। (इन श्रोताओं ने तो अनुचित बातें पूर्वपक्ष के रूप में कथा कहलाने के लिये कही हैं), तथा—"राम भगत तुम्ह मन क्रम बानी। चतुराई···चाहहु सुनै राम गुन···" (दो० ४६), "सब बिधि नाथ पूज्य···तुम्हहिं न संसय·· " (उ० दो० ६९), वैसे ही यहाँ शिवजी ने गिरिजाजी के हृदय के शुद्ध भाव की सराहना की है। ये यदि श्रीराम-चरण की अनुरागिणी न होतीं तो श्रीरामजी इनकी प्रशंसा क्यों करते और इनको ग्रहण करने के लिये शिवजी से निहोरा क्यों करते ? (दो० ७६ देखिये)।

'जगत-हित लागी'—सन्त स्वयं श्रीरामानुरागी होते हैं, वैसे दूसरों को भी करना चाहते हैं, यथा—"जग-हित निरुपधि साधु लोग से।" (दो० ३१), शिवजी पार्वतीजी को रामानुरागिणी जानते हुए भी कथा कहेंगे, यथा—"सुनु सीता तव नाम, सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं। तोहिं प्रानप्रिय राम, कहेउँ कथा संसारहित।" (अर० दो० ५), अर्थात् पार्वतीजी के साथ जगत् का हित होगा।

दोहा—रामकृपा ते पारवति, सपनेहु तव मन माहिं।
सोक मोह संदेह भ्रम, मम बिचार कछु नाहिं ॥११२॥

तदपि असंका कीन्हिहु सोई। कहत सुनत सब कर हित होई ॥१॥

अर्थ—हे पार्वतीजी ! (यद्यपि) श्रीरामकृपा के कारण हमारे विचार से तो तुम्हारे मन में शोक, मोह, सन्देह और भ्रम स्वप्न में भी कुछ नहीं हैं ॥११२॥ तथापि तुमने वह अ-शंका (बनावटी शंका = पूर्वपक्ष) की है कि जिसके कहने और सुनने से सबका हित हो ॥१॥

विशेष—(१) 'राम-कृपा ते···'—श्रीपार्वतीजी पर श्रीराम-कृपा है, तभी इनके लिये रामजी शिवजी के यहाँ प्रकट हुए और इनकी प्रशंसा की। (दो० ७६ देखिये)। शोक-अज्ञान के कारण भव में पड़ने की चिन्ता, सन्देह, मोह, भ्रम के भाव दो० ३० चौ० ४ में कहे गये हैं। यहाँ सन्देह आदि को पार्वतीजी ने अपने में होना प्रश्नों के साथ स्वयं कहा है, यहाँ उन्हींका निराकरण है।

(२) 'तदपि असंका···'—'असंका' का अर्थ झूठी शंका = बनावटी शंका है जैसे दार्शनिक लोग पूर्वपक्ष किया करते हैं। बनावटी शंका वह है, जिसे ऊपर (दो० १०८ में) पूर्वपक्ष के रूप में कहा है।

(३) 'कहत सुनत सबकर···' अर्थात् इसके कहने और सुनने का अधिकार सबको है—वह किसी भी वर्ण का क्यों न हो, सभी का हित होता है, केवल शुद्ध निष्ठा चाहिये। हित, यथा—"सुनत श्रवन छूटहिं भव-पासा ॥ उपजइ प्रीति राम-पद-कंजा। मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई ॥" (उ० दो० १२५)।

शंका—यहाँ शिवजी कहते हैं कि मेरे विचार में मोह आदि तुम्हारे मन में नहीं हैं और आगे कहेंगे—"तजु संसय···भ्रम-तम रबिकर बचन मम।" (दो० ११५)। "जदपि मोह-बस कहेहु भवानी।" (दो० ११३)। फिर पार्वतीजी भी जगह-जगह पर "मिटा मोह', 'संसय हरेऊ', 'गयेउ बिषादा" (दो० ११९), फिर याज्ञवल्क्यजी भी कहेंगे "सुनि सिव के भ्रम-भंजन बचना।·· दारुन असंभावना बीती ॥" (दो० ११८) ऐसा क्यों ?

समाधान—श्रीशिवजी और याज्ञवल्क्यजी ने इनके पूर्व पक्ष के अंशों को लेकर कहा है कि जिनमें ये मोह आदि वास्तविक रूप में होंगे, वे इन वचनों से छूट जायँगे। इस तरह इस प्रसंग के महत्त्व को कहा है। श्रीपार्वतीजी ने जिस भाव से अज्ञान बनकर पूर्व पक्ष किया है उसका अन्त तक निर्वाह किया है और इस तरह श्रोताओं के लिये प्रसंगों का महत्त्व और वक्ताओं के प्रति कृतज्ञता वर्णन की रीति बतलाई है।

सम्बन्ध—यहाँ जो 'कहत सुनत सब कर हित होई' कहा, उसीकी पुष्टि के लिये आगे कहते हैं—

जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना। श्रवनरंध्र अहि - भवन समाना ॥२॥
नयनन्हि संतदरस नहिं देखा। लोचन मोरपंख कर लेखा ॥३॥
ते सिर कटुतुंबरि समतूला। जे न नमत हरि-गुरु-पद-मूला ॥४॥
जिन्ह हरिभगति हृदय नहिं आनी। जीवत सव-समान तेइ प्रानी ॥५॥

शब्दार्थ—श्रवनरंध्र (श्रवणरन्ध्र) = कानों के छेद। समतूला = तुल्य, सदृश। पदमूला = चरणों के तलवे। लेखा = गिनती वा रेखाएँ। सव (शव) = मुर्दा।

अथ—जिन्होंने कानों से हरि की कथा नहीं सुनी, उनके कानों के छिद्र साँप के बिल के समान हैं ॥२॥ जिन नेत्रों ने सन्तों के दर्शन नहीं किये, वे मोर के पंख के (बने हुए) लोचनों (नेत्रों की आकृति) की गिनती में हैं अर्थात् व्यर्थ हैं ॥३॥ वे सिर कड़वी तुम्बी (लौकी) के समान हैं जो हरि और गुरु के चरणों पर नहीं झुकते ॥४॥ जिन्होंने हरिभक्ति को हृदय में नहीं रक्खा, वे प्राणी जीते हुए भी मुर्दे के समान हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'जिन्ह हरिकथा···'—'हरि'—'रामाख्यमीशं हरिम्' के प्रमाण से हरि = रामजी हैं, उनकी कथा अथवा भगवान् के सब रूपों की कथा से भी तात्पर्य है। 'अहिभवन' (उन कानों में) विषैले सर्पों के समान विषय-वार्ता ही पैठती है। विषी तो एक ही बार मारता है, विषय से बार-बार जन्म-मरण होते हैं। सर्प के बिल में दूसरा जीव नहीं जाता, वैसे इन कानों में रामकथा नहीं सुहाती। नवधा भक्ति में श्रवण भक्ति प्रथम है, इससे प्रथम इसीका वर्णन है।

(२) 'नयनन्हि संत-दरस···'—'दरस' का प्रयोग स्वरूप (द्रष्टव्य) के अर्थ में हुआ है, यथा—"भरत-दरस देखत खुलेउ···(अ० दो० २२३), "देखहिं दरस नारि-नर धाई।" (अ० दो० १०८), अर्थात् ऐसी प्राचीन भाषा थी।

'लोचन मोरपंख···'—वे नेत्र मोरपंख की नेत्राकार चन्द्रिका की तरह चाहे कितने ही सुन्दर हों, पर व्यर्थ ही हैं, नाममात्र के हैं।

(३) 'ते सिर कटु···'—'समतूल' गहोरा (चित्रकूट के जंगल देश) की बोली है जो बराबर के अर्थ में प्रयुक्त होता है, यथा—"कहहिं सीय समतूल।" (दो० २४७)। 'पदमूल'—चरण का तलवा, जिसकी धूल सिर पर रक्खी जाती है, चरणामृत लिया जाता है और चरण-चिह्न का ध्यान भी किया जाता है। इन सब महत्त्वों के स्मरणपूर्वक नमस्कार करना चाहिये अर्थात् जो गुरु-गोविन्द को प्रणाम नहीं करते, उनके सिर व्यर्थ हैं। कड़वी तुम्बी सिर के आकार से मिलती-जुलती है। कड़वी होने से खाने के काम की नहीं।

(४) 'जीवत सव-समान···'—उनका जीवन व्यर्थ है, क्योंकि उनके जीवन से कुछ मनुष्योचित लाभ न हुआ। मुर्दे के छूने से लोग अशुद्ध होते हैं, फिर स्नान-दान से शुद्धि होती है, वैसे हरि-भक्ति से हीनों को अपवित्र समझना चाहिये। वे मुर्दे की तरह घृणा के पात्र हैं। अन्यत्र भी—"बिष्नुबिमुख श्रुति-संत-बिरोधी।···जीवत सव-सम चौदह प्रानी॥" (लं० दो० ३०), तथा—"कृष्णं कमलपत्राक्षं नाऽर्चयिष्यन्ति ये नराः। जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न सम्भाष्याः कदाचन॥" (महा० सभा० ३९।९), अर्थात् कमलनयन श्रीकृष्ण भगवान् की पूजा जो लोग नहीं करते वे जीते ही मरे हुए के समान हैं। उनसे बोलना भी नहीं चाहिये।

सारांश—प्रथम हरि-कथा का न सुनना कहा गया। कथा सन्तों से प्राप्त होती है, यथा—"बिनु

सतसंग न हरि-कथा।" (उ० दो० ६१)। इसलिये फिर सन्त-दर्शनों का न होना कहा गया। सन्त-दर्शन भी हों, पर अहंकार-वश उनके प्रणामादि न करने से भी कुछ फल नहीं होता, इसलिये फिर प्रणाम न करना कहा गया। इस प्रकार सत्संग के फल-रूप हरि-भक्ति से वंचित रह गये, यथा—"बिनु सत-संग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गये बिनु राम-पद, होइ न दृढ़ अनुराग॥" (उ० दो० ६१), फलतः, मृतकतुल्य कहे गये।

इन तथा अगली दो चौपाइयों के भी अर्थ और भाव श्रीमद्भागवत में भी हैं, यथा—"बिलेवतोरुक्रमविक्रमान्ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य। जिह्वाऽसती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगाय-गाथाः॥ भारः परं पट्टकिरीटजुष्टमप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्।.....वर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये॥...जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु॥...तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः। न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥" (२।३।२०-२४), अर्थात् हे सूत! जो मनुष्य श्रीकृष्ण की कथा नहीं सुनता, उसके श्रवण बिल के सदृश हैं। जो जिह्वा भगवान् की कथा का गान नहीं करती, वह मेढक की जीभ के समान व्यर्थ टर्र-टर्र करनेवाली है, उसका न रहना ही ठीक है। जो सिर कभी भगवान् को प्रणाम नहीं करता, वह सुसज्जित भी बोझा ही है। जो आँखें भगवान् की मूर्त्ति, तीर्थ आदि के दर्शन नहीं करतीं, वे मोर पंख में बनी आँखों के समान व्यर्थ हैं। जिस मनुष्य ने हरि-भक्तों के चरणों की धूल सिर पर नहीं चढ़ाई, वह जीता हुआ मुर्दा है। वह हृदय नहीं, प्रत्युत लोहा है, जो हरि के नाम-कीर्तन पर द्रवीभूत होकर प्रेमाश्रु एवं पुलक युक्त शरीर को नहीं करता।

जो नहिं करइ राम-गुण-गाना। जीह सो दादुर-जीह समाना॥६॥
कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरिचरित न जो हरषाती॥७॥
गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुरहित दनुजबिमोहनसीला॥८॥

दोहा—रामकथा सुरधेनु-सम, सेवत सब-सुख-दानि।
सतसमाज सुरलोक सब, को न सुनइ अस जानि॥११३॥

शब्दार्थ—निठुर (निष्ठुर) = दया-हीन, क्रूर। सीला (शील) = प्रवृत्त, तत्पर, यहाँ यह विमोहन का विशेषण है। अतः, यही अर्थ है। बिमोहनसीला = विशेष मोहित करनेवाली।

अर्थ—जो जिह्वा श्रीरामजी के गुणों का गान नहीं करती, वह मेढक की जीभ के समान है॥६॥ वह छाती वज्र के समान कठोर और निर्दय है, जो हरि-चरित सुनकर भी प्रसन्न नहीं होती॥७॥ हे गिरिजे! सुनो, श्रीरामजी की लीला देवों का हित करने और दानवों को विशेष मोहित करनेवाली है॥८॥ श्रीरामजी की कथा कामधेनु के समान है जो सेवा करने से सब सुखों को देनेवाली है। सन्तों का समाज सम्पूर्ण देवलोक (के तुल्य) है, उसे ऐसा जानकर कौन नहीं सुनेगा?॥११३॥

विशेष—(१) 'दादुर-जीह'—मेढक के जिह्वा होती ही नहीं। इसकी कहावत यों है कि एक समय अग्निदेव अप्रसन्नहोकर पाताल चले गये। इनकी गर्मी से मेढक निकलकर ऊपर आ गये। देवगण अग्नि की खोज में थे, मेढक से पता पा गये। तब अग्निदेव ने अप्रसन्न होकर मेढक को शाप दिया कि तुम जिह्वा-हीन रहो। इसपर अन्य देवों ने उसे आशीर्वाद दिया कि तुम गर्मी से मर भी जाओगे तो पावस के पहले पानी से सजीव हो जाया करोगे, यथा—"जल ज्यों दादुर मोर, भये पीन पावस प्रथम।" (अ० दो० २५१), तथा—"पततां शतखण्डा तु सा जिह्वा रोगरूपिणी। श्रीकृष्ण कृष्ण-कृष्णेति श्रीकृष्णेति न जल्पति॥" (स्कन्द पु० वै० मा० मा० १५।६६), अर्थात् भगवान् का नाम न कहनेवाली जीभ रोग रूपिणी है, वह सौ टुकड़े होकर गिर जाय।

(२) 'कुलिस कठोर निठुर···'—वे बड़े निर्दय हैं, अपने आत्मा का नाश करने में भी दया नहीं रखते, यथा—"ते जड़ जीव निजातम घाती। जिन्हहिं न रघुपति-कथा सुहाती॥" (उ० दो० ५२), चाहिये तो ऐसा, यथा—"कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं।" (दो० ४०)।

(३) 'गिरिजा सुनहु राम···'—सुर से यहाँ दैवी संपत्ति और दनुज से आसुरी सम्पत्तिवाले कहे गये हैं, यथा—"द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।" (गी० १६।६)। हरिभक्त लोग दैवी और हरि-विमुख आसुरी सम्पत्तिवाले कहाते हैं।

श्रीरामजी की लीला एक ही वस्तु है, पर अधिकारियों के भेद से गुण में भेद होता है। जैसे स्वाती का जल एक ही वस्तु है, किन्तु पात्रों के भेद से उसके गुण भिन्न होते हैं—सीप में पड़ने से मोती होता है और केले से कपूर इत्यादि, प्रसिद्ध है। इसी तरह श्रीरामजी की लीला दैवी (सात्त्विक) प्रकृतिवालों को भक्ति, वैराग्य आदि प्राप्त कराती है और राजस-तामस वृत्ति रूपी आसुरी प्रकृतिवालों के हृदय में मोह की वृद्धि करती है कि वे ईश्वर को प्राकृत मनुष्य ही मानने लगते हैं, यथा—"उमा राम-गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरि-बिमुख न धर्म-रति॥" (अर० दो० १), "असि रघुपति लीला उरगारी। दनुजबिमोहनि जनसुखकारी॥" (उ० दो० ७२)। जैसे श्रीकृष्ण भगवान् का विराट् रूप देखकर अर्जुन शरणापन्न हुए और दुर्योधन ने भी विराट् रूप देखा है, पर उसने नट का खेल माना। यहाँ शिवजी उमा को सावधान करते हैं कि देखना, पूर्व की तरह फिर न मोहित हो जाना, मोहारोपण आसुरी प्रकृतिवालों का काम है।

(४) 'रामकथा सुरधेनु···'—कामधेनु देवलोक में प्राप्त है जो देवताओं द्वारा पूजित होकर उन्हें अर्थ, धर्म, काम देती है। विचरनेवाली है। अतः, सर्वत्र प्राप्त रहती है। ऐसे ही कथा सन्त-समाज में प्रवृत्त रहती है, सन्तों में पूजित होकर उन्हें चारो फल देती है। सन्त-समाज विचरनेवाला है, उसके साथ कथा भी विचरती है। 'सब सुखदानि'—सबको और सब सुख देती है। 'सुरलोक सब'—स्वर्ग अनेक कहे जाते हैं—स्वः महः जनः तपः और सत्य लोक—ये सब देवलोक ही हैं। मत्स्य पुराण ६१।१ में 'भूः भुवः' भी मिलाकर सात देवलोक कहे गये हैं। 'रामकथा सुरधेनु'—अन्यत्र भी कहा है—"रामकथा कलि-कामद गाई।" (दो० ३०)।

रामकथा सुंदर करतारी। संसयबिहग उड़ावनिहारी॥१॥
रामकथा कलि-बिटप-कुठारी। सादर सुनु गिरिराज-कुमारी॥२॥

अर्थ—श्रीरामजी की कथा सुन्दर कर-ताली के समान है। अतः, सन्देह रूपी पक्षियों को उड़ानेवाली है॥१॥ श्रीरामजी की कथा कलि-रूपी वृक्ष (को काटने) के लिये कुल्हाड़ी के सदृश है, हे पार्वतीजी! इसे आदर के साथ सुनो॥२॥

विशेष—(१) 'रामकथा सुंदर···'—'करतारी' का भाव यह कि ऊपर सुरलोक की तरह सत्संग में कथा की स्थिति कही गई। सत्संग यद्यपि भूमि पर ही है, तथापि सन्तों की प्राप्ति दुर्लभ है, यथा—"सतसंगति दुर्लभ संसारा।" (उ० दो० ११२)। इसलिये दूसरी उपमा करताली की दी कि हाथ सभी के होते हैं, वैसे रामायण भी घर-घर में प्राप्त हो सकती है। सभी अपने-अपने समाज में कह-सुन सकते हैं। इस तरह श्रोता और वक्ता दो हाथ हैं। प्रश्नोत्तर होना एवं कहना-सुनना ताली बजाना है, इससे संशय निवृत्त हो जाते हैं। ऊपर रामायण को कामधेनु कह आये, अतएव इसमें संशय-निवृत्ति की कामना से लगे रहने पर यह धीरे-धीरे अपना ज्ञान कराकर संशय मिटा देती है।

अलंकार—'सम अभेद रूपक' है।

(१) 'रामकथा कलिबिटप···'—कलि के अर्थ कलह, पाप और कलियुग हैं। ऊपर संशय-रूपी पक्षी का उड़ाना कहा गया, किन्तु जबतक वृक्ष बना रहता है, पक्षी फिर भी आ बैठते हैं, वैसे यहाँ कलि

(पाप) को वृक्ष कहते हैं, क्योंकि इसीके आधार से संशय रहते हैं, यथा—"तदपि मलिन मन बोध न आवा।" (दो० १०८)। इस पाप रूपी वृक्ष को ही कथा काट डालती है, यथा—"मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनइ जो कथा श्रवन मन लाई॥" (उ० दो० १२५)। यहाँ कथा—कुल्हाड़ी, वक्ता—काटनेवाला, वचन—प्रहार (चोट) और कलि—विटप है।

'सादर सुनु गिरि···'—उपर्युक्त संशय-निवृत्त एवं पाप-नाश तभी होते हैं जब कथा श्रद्धापूर्वक और मन, बुद्धि, चित्त लगाकर सुनी जाय, यही सादर सुनना है, यथा—"सुनहु तात मति मन चित लाई।" (अर० दो० १४), श्री गोस्वामीजी—"कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई।" (दो० ३४ , श्री याज्ञवल्क्यजी—"भरद्वाज सादर सुनहु।" (दो० १२४)। वैसे यहाँ शिवजी ने भी कहा है, क्योंकि—"सदा सुनहि सादर नर नारी। तेइ सुरबर मानस अधिकारी।" (दो० ३७), क्योंकि—"सादर मज्जन पान किये ते। मिटहिं पाप परिताप हिये ते॥" (दो० ७२)।

इस कथा-माहात्म्य-कथन का उपक्रम—"धन्य-धन्य गिरिराजकुमारी।" पर हुआ और यहाँ—"सादर सुनु गिरिराजकुमारी।" पर उपसंहार हुआ।

राम-नाम-गुन-चरित सुहाये। जनम करम अगनित श्रुति गाये॥३॥
जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना॥४॥
तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी। कहिहउँ देखि प्रीति अति तोरी॥५॥

अर्थ—(यद्यपि) श्री रामजी के सुहावने नाम, गुण, चरित, जन्म और कर्म (इन सब) को वेदों ने असंख्य कहा है॥३॥ (क्योंकि) जिस प्रकार भगवान् श्री रामजी अनन्त हैं, उसी प्रकार उनकी कथा, कीर्त्ति और नाना गुण (भी अनन्त) हैं॥४॥ तथापि तुम्हारी अत्यन्त प्रीति देखकर, जैसा मैंने सुना है और जैसी मेरी बुद्धि है, (वैसा) कहूँगा॥५॥

विशेष—(१) 'राम-नाम गुन···'—नाम आदि पाँचो कथा में हैं, अगणित होने से अकथ्य हैं। उपसंहार में भी कहा है—"रामचरित सत कोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनइ पारा॥" (उ० दो० ५१)।

(२) 'यथा अनंत राम···'—उपसंहार में भी कहा है—"राम अनंत अनंत गुनानी। जनम करम अनंत नामानी॥" (उ० दो० ५१), यहाँ उपर्युक्त पाँचो को भी अनन्त रूप में उपमित (उपमा से युक्त) किया।

(३) 'तदपि जथाश्रुत···'—उत्तम वक्ताओं की रीति है कि वे पूर्वजों से सुनी हुई ही कथा कहते हैं। प्रमाण पूर्व दो० १०४ चौ० ४ में लिखे गये। यहाँ 'जस मति' भी लगा है। इसका भाव यह है कि सुना तो अधिक भी है, पर मेरी बुद्धि जैसा कुछ धारण रख सकी, वैसा कहूँगा, ऐसे ही और वक्ताओं ने भी कहा है, यथा—गोस्वामीजी—"करइ मनोहर मति-अनुसारी।" (दो० ३५), याज्ञवल्क्यजी—"कहउँ सो मति-अनुहारि अब,···" (दो० ४७), भुशुण्डीजी—"निज मति सरिस नाथ मैं गाई।" (उ० दो० ६०)। वैसे ही शिवजी ने यहाँ कहा और उपसंहार में भी कहा है—"मैं सब कही मोरि मति जथा।" (उ० दो० ५१)।

श्री पार्वतीजी ने इन्हें—'प्रभु समरथ सर्वज्ञ···' आदि कहकर प्रश्न किया था, उसपर भी कहते हैं कि हम ऐसे होते हुए भी इन नाम आदि अनन्त का वर्णन यथार्थ नहीं कर सकते। हाँ, यथामति कहता हूँ, यथा—"निज निज मति मुनि हरि-गुन गावहिं। निगम सेष सिव पार न पावहिं॥" (उ० दो० ९०)।

(४) 'कहिहउँ देखि प्रीति···'—श्रीपार्वतीजी ने प्रश्न के पूर्व अपने श्रवण-अधिकार के विषय में तीन बातें कही थीं कि 'मैं मन-वचन-कर्म से आपकी दासी हूँ', 'अति आरति पूछउँ' 'कहहु करि दाया'। उनमें शिवजी ने 'अति आरति' को यहाँ ग्रहण किया। उसीको अतिप्रीति कहा है। उपसंहार में भी शिवजी ने कहा है—"तब मन प्रीति देखि अधिकाई। तब मैं रघुपति-कथा सुनाई॥" (उ० दो० १२७)।

उमा प्रस्न तव सहज सुहाई। सुखद संत-संमत मोहि भाई ॥६॥
एक बात नहिं मोहि सोहानी। जदपि मोहबस कहेहु भवानी ॥७॥
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना ॥८॥

दोहा—कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जे मोह - पिसाच।
पाषंडी हरि - पद - बिमुख, जानहिं झूठ न साँच ॥११४॥

शब्दार्थ—सहज सुहाई=स्वाभाविक ही सुन्दर। संतसंमत=दार्शनिक सन्तों की स्थिति है कि किसी गूढ़ विषय के निर्णय में वे पूर्वपक्ष करते हुए मूखंवत् उलटा पक्ष रखते हैं, इस प्रकार यहाँ संतसंमत का अर्थ है। भाई=अच्छी लगी।

अर्थ—हे उमा! तुम्हारे प्रश्न स्वाभाविक ही सुहावने, सुख देनेवाले और सन्त-सम्मत हैं, (अतएव) मुझे अच्छे लगे ॥६॥ (परन्तु) मुझे (उनमें) एक बात नहीं अच्छी लगी—यद्यपि हे भवानी! मोहवश (बनकर) तुमने कहा है ॥७॥ तुमने जो कहा कि—'(क्या) वे राम कोई दूसरे हैं जिनको वेद गाते हैं और मुनि जिनका ध्यान धरते हैं?' ८॥ ऐसा अधम लोग कहते-सुनते हैं, जो मोह-रूपी पिशाच से ग्रस्त हैं, पाखंडी हैं, हरिपद-विमुख हैं तथा झूठ और सत्य कुछ भी नहीं जानते ॥११४॥

विशेष—(१) 'एक बात नहिं मोहिं ···'—शिवजी ने प्रथम इनके प्रश्नों की सराहना की। फिर उनमें एक बात निकाल आक्षेप करते हैं। इसका कारण यह है कि गिरिजा को मोह नहीं है। इन्होंने मोहवश के समान बनकर प्रश्न (पूर्वपक्ष) किया है। उत्तर में शिवजी ऐसा समाधान करें, जिससे जगत् के मोहवश जीवों का कल्याण हो, परन्तु यह अन्तरंग भाव शिवजी ही जानते हैं। सर्वसाधारण लोगों को तो श्रीरामजी की निन्दा का मार्ग मिल जायगा। इसलिये उसपर ऐसा कहनेवालों के लिये वाग्दंड दे रहे हैं।

(२) 'तुम्ह जो कहा राम···'—श्रीपार्वतीजी ने पूर्व दो० १०७ के—'प्रभु जे मुनि'···से—'अनंग-अराती।' तक श्रीराम-परत्व के लिये तीन प्रमाण दिये—१. परमार्थवादी मुनियों का, २. शेष-शारदा-वेद-पुराण आदि का, ३. शिवजी का। उनमें प्रथम दो को तो यहाँ शिवजी ने वैसा ही दोहराया है, पर अपना नाम नहीं लिया। इसका भाव यह कि इन दाशरथी रामके अतिरिक्त जहाँ दूसरा राम प्रतिपादन होता हो, वहाँ मेरा नाम भी नहीं रहेगा। सहमत होना तो दूर है।

(३) 'कहहिं सुनहिं अस·····'—अधम=पापात्मा, पुण्य-रहित। अतः, 'अधम नर' से कर्म-काण्ड-रहित, 'ग्रसे जे मोह-पिसाच' से ज्ञान-काण्ड-रहित और 'हरि-पद-बिमुख' से उपासना-काण्ड-रहित होना जनाया, अर्थात् वे काण्डत्रयहीन हैं। अतः, 'भव-साँसति' से नहीं छूट सकते, यथा—"योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया। ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥" (भाग० ११।२०।६), अर्थात् मनुष्यों के कल्याण के लिये ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्ति योग मैं-(श्रीकृष्ण)-ने ही कहे हैं इनके अतिरिक्त (मोक्ष प्राप्ति का) और कोई मार्ग नहीं है। 'मोह' को पिशाच कहने का भाव यह कि जिन्हें भूत-पिशाच लगते हैं वे बावले से हो जाते हैं, यथा—"बातुल भूत-बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे॥ जिन्ह कृत महामोह-मद-पाना।····" (दो० ११४), तथा—"लागेउ तोहि पिसाच जिमि, काल कहावत मोर।" (अ० दो० ३५)।

अज्ञ अकोविद अंध अभागी। काई-बिषय मुकुर-मन लागी ॥१॥
लंपट कपटी कुटिल बिसेखी। सपनेहु संतसभा नहिं देखी ॥२॥
कहहिं ते बेद-असंमत बानी। जिन्ह के सूझ लाभ नहिं हानी ॥३॥
मुकुर मलिन अरु नयन-बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना ॥४॥

शब्दार्थ—अकोविद = जो पंडित नहीं, मूर्ख। अंध = ज्ञान-विराग एवं शास्त्र—इन दोनों प्रकार के नेत्रों से हीन (यहाँ ऐसे ही अंधे का प्रसंग है)। काई = मैल, मुर्चा, जंग। मुकुर = दर्पण। लंपट = व्यभिचारी। असंमत = विरुद्ध। दीना = बेचारे।

अर्थ—जो अज्ञानी, मूर्ख, अन्धे और अभागे हैं और जिनके मन-रूपी दर्पण में विषय-रूपी मैल लगा है ॥१॥ जो विशेष कर व्यभिचारी, कपटी और कुटिल हैं, स्वप्न में भी जिन्होंने सन्तसभा नहीं देखी है ॥२॥ जिन्हें हानि-लाभ की सूझ (समझ) नहीं है, वे ही वेद के विरुद्ध वाणी कहा करते हैं ॥३॥ दर्पण मैला है और नेत्ररहित हैं, इससे वे बेचारे श्रीराम-रूप को कैसे देखें ? ॥४॥

विशेष—(१) 'अज्ञ अकोविद अंध ···'—इसका सम्बन्ध चौथी चौपाई—'मुकुर मलिन···' से है। 'अज्ञ' हैं अर्थात् ज्ञान-विराग रूप नेत्र-हीन हैं, यथा—"ज्ञान बिराग नयन उरगारी।" (उ० दो० ११६), यही 'मन मुकुर' की मलिनता है। 'अकोविद' हैं, अर्थात् शास्त्र-रूपी नेत्र से हीन हैं, यथा—"सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः।" (हितोपदेश)। यही बाह्य-नयन-विहीनता है, इन दोनों प्रकार के नेत्रों से हीन होने से 'अंध' कहे गये और इसीसे 'अभागी' हैं। दर्पण-रूपी मन में विषय-रूपी काई लिपटी है अर्थात् मन विषयी हो रहा है, तब राम-रूप कैसे देख पड़े ? यथा—"राम प्रेम पथ पेखिये, दिये बिषय तन पीठि। तुलसी केचुलि परिहरे, होति साँपहू डीठि॥" (दो० ८२)। मुकुर की उत्प्रेक्षा से मन के समक्ष में ही श्रीरामजी का होना जनाया, यथा—"दूरि न सो हितू हेरु हिय ही है।" (वि० १३५), "परिहरि हृदय कमल रघुनाथहिं ·····" (वि० २४४)। इस मुकुर-मलिनता का उपाय भी कहा गया है, यथा—"श्रीगुरु-चरन-सरोज-रज, निज मन मुकुर सुधारि।" (अ० मं०), एवं—"गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन।·····तेहि करि बिमल बिवेक बिलोचन।" (दो० १)।

(२) 'लंपट कपटी कुटिल·····' व्यभिचारी है, इसीसे कपटमय व्यवहार रहता है और बाहरी आचरण में कुटिलता रहती है, वही इसे स्वप्न में दिखाई देती है, क्योंकि मनुष्य-जैसा व्यवहार जाग्रत में करता है, तदनुसार ही इसे स्वप्न में दिखाई पड़ता है। इसीसे यह स्वप्न में भी सन्त-सभा नहीं देख पाता। सन्त-सभा देखना कहने का कारण यह है कि सन्त-सभा के संग से सुधर जाता, यथा—"काक होहिं पिक बकउ मराला।" (दो० २), तथा—"सठ सुधरहिं सतसंगति पाई" (दो० २), किन्तु सन्त-संग हो कैसे ? ऐसे लोग ऊपर 'अभागी' कहे गये और सत्संग तो बड़े भाग्य से प्राप्त होता है, यथा—"बड़े भाग्य पाइय सत्संगा।" (उ० दो० ३२), क्योंकि—"सत संगति दुर्लभ संसारा।" (उ० दो० ९२२)।

(३) 'कहहिं ते बेद-असंमत ·····'—बेद-विरुद्ध वाणी वही है, जिसे श्रीपार्वतीजी ने दो० १०८ में पूर्व पक्ष रूप में कहा है।

(४) 'लाभ नहिं हानी'—लाभ श्रीराम-भक्ति है, यथा—"लाभ कि रघुपति-भगति अकुंठा।" (लं० रा० २५), "लाभ कि किछु हरि-भगति समाना।" (उ० दो० १११) और हानि, यथा—"हानि कि जग येहि सम कछु भाई। भजिय न रामहिं नर-तनु पाई॥" (उ० दो० ११६), तथा—"लाभ राम सुमिरन बड़ो, बड़ी बिसारे हानि।" (दोहावली २१)।

(५) 'राम रूप देखहिं किमि दीना।'—उपर्युक्त उभय नेत्र ही श्रीराम-रूप देखने के साधन हैं, उनसे हीन होना ही दीनता है, अतएव अन्धे के समान दया के पात्र हैं। यह दीनता माया-वश होने से है, यही आगे कहते हैं—

जिन्ह के अगुन न सगुन बिबेका। जलपहिं कलपित बचन अनेका॥५॥
हरि-माया-बस जगत भ्रमाहीं। तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं॥६॥

शब्दार्थ—जलपहिं = बकते हैं, डींग हाँकते हैं। कलपित = मन-गढ़न्त, शास्त्र-विरुद्ध। अघटित = अयोग्य, अनुचित।

अर्थ—जिनके हृदय में निर्गुण-सगुण का विवेक नहीं है, वे अनेक प्रकार की मन-गढ़न्त बातें बका करते हैं ॥५॥ भगवान् की माया के वश में पड़कर संसार में भ्रमते हैं, कुछ भी कह डालना उनके लिये अनुचित नहीं ॥६॥

विशेष—(१) 'जिन्हके अगुन न·····'—निर्गुण-सगुण के स्वरूप और उनके विवेक दो० २२ चौ० १ और ४ में लिखे गये। उनके स्वरूप के विरुद्ध कहना जल्पना है। निर्गुण का प्रकट होना दो० २२ चौ० ८ में नाम-द्वारा लिखा गया है। सगुण का, यथा—"प्रम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।" (दो० १४४), तथा—"नेम प्रेम संकर कर देखा।·····प्रगटे राम ·····" (दो० ७५)। यहाँ भी आगे—'सगुनहि अगुनहि नहिं···' में इनका विवेचन होगा।

(२) 'हरि-माया-बस जगत·····'—भगवान् की माया, यथा—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया" (गीता ७।१४)। श्रीगोस्वामीजी के मत से यहाँ अविद्या माया से तात्पर्य है, यथा—"एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥" (अर० दो० १४)। ऐसा ही भुशुण्डीजी ने भी कहा है, यथा—"मायाबस मतिमंद"···से—"ते किमि जानहिं रघुपतिहिं, मूढ़ परे तम-कूप॥" (उ० दो० ७२) तक।

बातुल भूत - बिवस मतवारे। ते नहिं बोलहि बचन बिचारे॥७॥
जिन्ह कृत महा-मोह-मद-पाना। तिन्ह कर कहा करिय नहिं काना॥८॥

सो०—अस निज हृदय बिचारि, तजु संसय भजु रामपद।
सुनु गिरिराज - कुमारि, भ्रम-तम-रवि-कर बचन मम॥११५॥

शब्दार्थ—बातुल = बावला, उन्मत्त। मद = मदिरा। मतवारे = जो नशे से पागल हों।

अर्थ—जो उन्मत्त हैं, भूतों के विशेष वश और नशे से पागल हैं, वे विचारकर वचन नहीं बोलते ॥७॥ जिन्होंने महामोह रूपी मदिरा का पान किया है, उनके वचनों पर कान नहीं देना चाहिये॥८॥ ऐसा अपने हृदय में विचार कर सन्देह छोड़ो और श्रीरामजी के चरणों का भजन (सेवन) करो, हे पार्वती भ्रम रूपी अन्धकार के नाश करनेवाले सूर्य की किरणों के समान मेरे वचन सुनो ॥११५॥

विशेष—(१) 'बातुल भूत ··'—'बातुल' का स्वरूप—"लंपट कपटी ··" में कहा गया, क्योंकि लम्पट व्यभिचारी कामी को कहते हैं, काम वात-रूप है, यथा—"काम बात कफ लोभ···" (उ० दो० १२०), वात-वश=सन्निपात-ग्रस्त लोग बावले होकर बकते हैं और 'भूत-बिवस' का स्वरूप—'ग्रसे जे मोह पिसाच।' में हो गया, क्योंकि भूत और पिशाच एक ही हैं। रहे 'मतवारे', इनकी नशेबाजी अगली चौपाई से कहते हैं—

(२) 'जिन्ह कृत महा मोह···'—सामान्य मदिरा पीनेवाले नशेबाज की भी बातों का ठिकाना नहीं रहता और इन्होंने तो महामोह रूपी भारी मद का पान किया है। अतः, इनकी बातों का क्या ठिकाना ?

यह प्रसंग—'ग्रसे जे मोह-पिसाच।' से उठाया और यहाँ—'महामोह मदपाना' पर समाप्त किया। इसमें छः बार अनुचित कथन कहा गया—१. कहहिं सुनहिं अस अधम नर।" २. 'कहहिं ते वेदअसंमत बानी।" ३. "जलपहिं कलपित बचन अनेका।" ४. "तिन्हहिं कहन कछु अघटित नाहीं।" ५. "ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे।" ६. "तिन्ह कर कहा करिय नहिं काना।" यह अन्त में कहा गया। अतः, इसका भाव यह है कि इस प्रकार के इन छओ का कहना नहीं मानना चाहिये।

(३) 'करिय नहिं काना'—यह कथन वर्त्तमानकाल के रूप में पार्वतीजी के प्रति है और शिवजी ने यह कथा त्रेतायुग में कही है, क्योंकि—"जब जदुबंस कृष्न-अवतारा। होइहिं···" (दो० ८७) से स्पष्ट है कि मदन-दहन त्रेता में हुआ और फिर पार्वतीजी के ब्याह होने पर कथा प्रारम्भ है। उस समय तो

उपर्युक्त अधम, लम्पट, कपटी आदि नहीं थे, यथा—"ऐसे अधम मनुज खल, कृतजुग त्रेता नाहिं।" (उ० दो० ४०), तब शिवजी ने 'करिय' क्यों कहा ? इसका उत्तर यह है कि शिवजी तो निश्चित रूप में जानते हैं कि पार्वतीजी में शोक, मोह, सन्देह और भ्रम नहीं हैं, जो दो० ११२ में कहे गये। गिरिजाजी ने संसार के उपकार के लिये प्रश्न किया है, तदनुसार भविष्य-जगत् के लिये शिवजी कह रहे हैं।

(४) 'अस निज हृदय···'—निज हृदय अर्थात् उपर्युक्त विरुद्ध बातें आसुरी सम्पत्तिवालों की हैं और तुम 'गिरिराजकुमारि' हो। अतः, दैवी प्रकृति की हो। फिर तुम्हें तो उन संशयात्मक बातों से अलग ही रहना चाहिये। अतः, 'तजु संसय' कहा। पुनः जब तक संशय रहता है, श्रीराम-भजन नहीं होता, यथा—"अस बिचारि तजि संसय, रामहिं भजहिं प्रबीन।" (उ० दो० ११२)। 'भ्रमतम'—क्योंकि गिरिजाजी ने कहा था—"भ्रमति बुद्धि अति मोरि।" (दो० १०८)। 'रविकर बचन'—ज्ञान सूर्य है, और ज्ञान के वचन किरणें हैं, यथा—"जासु ज्ञान-रवि भव-निसि नासा। बचन किरन मुनिकमल बिकासा॥" (अर० दो० २७६), तथा—"सद्गुरु मिले जाहिं जिमि, संसय भ्रम समुदाय।" (कि० दो० १६)।

अलंकार—'परंपरित रूपक'—किष्किन्धाकाण्ड के अन्तिम दोहे में लक्षण लिखा गया है।

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥१॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत-प्रेम बस सगुन सो होई॥२॥
जो गुनरहित सगुन सोइ कैसे। जल हिमउपल बिलग नहिं जैसे॥३॥

अर्थ—सगुण और निर्गुण में कुछ भेद (अन्तर) नहीं है—मुनि, पुराण, पंडित और वेद ऐसा कहते हैं॥१॥ जो गुणरहित, रूपरहित, अलक्ष्य और अजन्मा है, वही भक्तों के प्रेमवश होकर सगुण हो जाता है॥२॥ जो गुणरहित है—वही सगुण है, यह कैसे हो सकता है ? जैसे, जल और ओले में भेद नहीं है, अर्थात् जल ही कई संयोगों से घनीभूत होकर बर्फ बनता है, वैसे निर्गुण ही कई संयोगों से अपने ही अप्रकट गुणों को प्रकट करके सगुण होता है (उपाधि भेद से नहीं)। अतः, जल और ओले की तरह दोनों तत्त्वतः अभिन्न हैं॥३॥

विशेष—(१) 'सगुनहि अगुनहिं···'—श्री पार्वतीजी का पहला प्रश्न है कि—"प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपुधारी॥" (दो० १०९)। यहाँ से उसीका उत्तर हो रहा है कि सगुण और निर्गुण दो पदार्थ नहीं हैं—एक ही हैं, इनमें कुछ भी भेद नहीं है। यह मैं ही नहीं कहता, किन्तु—"गावहिं मुनि···" अर्थात् ये सब ऐसा ही गाते हैं अर्थात् मेरा मत इन सबके सिद्धान्त के अनुसार ही है। आगे भी कहेंगे—"तदपि संत मुनि बेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना॥ तस मैं सुमुखि सुनावउँ तोही।···" (दो० १२०)

(२) 'अगुन अरूप अलख अज···'—श्रीपार्वतीजी ने प्रथम—"को अज अगुन अलख गति कोई॥" (दो० १०७) कहकर निर्गुण को सगुण से अन्य परब्रह्म सूचित किया था, उसका उत्तर इस चौपाई में दिया कि जो गुण, रूप, लक्ष्य और जन्म से रहित है वही भक्तों के प्रेमवश होकर सगुण अर्थात् गुण-सहित, रूप-सहित, लक्ष्य-सहित और जन्मधारी होता है, यथा—"तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥" (सुं० दो० ४७)। "अवतरेउ अपने भगत-हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥" (दो० ५१), "कृपासिंधु जन-हित तनु धरहीं।" (दो० १२१), "राम भगत हित नर-तनु-धारी। सहि संकट किय साधु सुखारी॥" (दो० २३)।

(३) 'जो गुन-रहित सगुन···'—पार्वतीजी ने 'व्यापक बिरज ··सो कि देह धरि···' माना था, उसका उत्तर देते हैं। जो गुण रहित है वही सगुण है। यही समझाने के लिये जल और ओले की एक-तत्त्वता का दृष्टान्त देते हैं। बर्फ (ओला) देखने में कठोर और अत्यन्त ठंढी जान पड़ती है, जल से

भिन्न-सी जान पड़ती है, पर उसमें दूसरी वस्तु नहीं है—जल ही है, केवल घनीभूत होने से शीतत्व अधिक हो जाता है। ऐसे निर्गुण का ही गुण प्रकट होने से सगुण कहाता है (उपाधि-भेद से नहीं)। सगुण भी चिदानन्दमय ही है—"चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥" (अ० दो० १२७), "सुद्ध सच्चिदानंदमय, कंद भानुकुलकेतु।" (अ० दो० ८७)।

जल के परमाणुओं में स्वाभाविक शीतलत्व रहता है, क्योंकि जल गर्म भी रहे, तो उसके पीने से प्यास शान्त होती है, (प्यास अग्नि-प्रकृतिक है), वैसे ही परमात्मा के व्यापक (निर्गुण) रूप में भी जीवों के प्रति उदारता, दयालुता आदि गुण रहते हैं। वे गुण निस्सीम होने से संकुचित ज्ञानवाले जीवों को नहीं देख पड़ते, जैसे अत्यन्त प्रकाश के कारण सूर्य का रूप देखने से चकाचौंध आ जाती है।

जैसे मनुष्य के शरीर की उत्पत्ति मलिन जल की एक बूँद से होती है। पहले उस बूँद में बुद्धि, श्रवण, नेत्र, शीश, हाथ, पाँव, रसना आदि कुछ नहीं थे, केवल श्वेत जल ही था, व्यापक रूप भगवान् ने ही इतने आश्चर्यजनक पदार्थ पैदा किये हैं, यह उनमें कितना चातुर्य एवं जीवों पर दया है! किसी बादशाह से करोड़ों रुपये देकर नेत्र माँगा जाय, तो न देगा, पर उदारशिरोमणि ने वह चींटी पर्यन्त को दिया है! एक पुरजे (आँख, कान आदि किसी-) के बिगड़ जाने पर यदि कोई वैद्य अच्छा करता है, तो लोग उसके हाथ बेदाम बिक जाते हैं और जिसने इन यन्त्रों को ही बनाया एवं बिना मूल्य दिया, उसके उपकार भूले हुए हैं! यथा—"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।" (गीता ७।२५)। कृपालु श्रीगोस्वामीजी ने भी दिखाया है, यथा—"कोटिहुँ मुख कहि जाहिं न प्रभु के एक-एक उपकार।" (वि० २०२)। जल के परमाणुओं में शीतत्व की तरह ये सब गुण श्रीरामजी में नित्य और निस्सीम हैं। जैसे वह (जल) अमुक-अमुक कारणों से हिमोपल बनकर प्रत्यक्ष होता एवं अधिक शीतत्व का परिचय देता है, वैसे भगवान् भी अमुक-अमुक हेतु बनाकर भक्तों के प्रेमवश सगुण होते हैं और अपने गुणों एवं रूपों को प्रकट करते हैं। भगवान् में गुण तो असंख्य हैं, पर जीवों के उद्धार के लिये जिन-जिन गुणों का प्रयोजन रहता है, क्रमशः उन्हीं-उन्हीं गुणों को व्यक्त करते हुए, शोभा पाते हैं। जैसे भगवान् ने अहल्या के उद्धार में अकारण कृपालुता, विश्वामित्रजी की यज्ञ-रक्षा में दया, वीर्य आदि गुण दिखाये, यथा—"फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा॥" (कि० दो० १६)।

निर्गुण-सगुण की एकता गीता में भी कही गई है, यथा—"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त-मूर्त्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥" (९।४), अर्थात् मुझ अव्यक्त मूर्त्ति (सच्चिदानन्द-घन परमात्मा) से यह सब जगत् व्याप्त है (मैं सर्वत्र व्यापक हूँ), सब भूत (प्राणी) मुझमें स्थित हैं, (किन्तु , मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।

भावार्थ—घड़े में रक्खे हुए आम के दृष्टान्त में आम व्याप्य और घड़ा व्यापक है। घड़े में आम की तरह व्यापक ईश्वर में जगत् स्थित है, किन्तु वह (व्यापक) जगत् में, आम में घड़े की तरह, स्थित नहीं है अर्थात् जगत् से निर्लिप्त है। भगवान् के आधार के बिना जगत् नहीं रह सकता, यही उनमें इसकी स्थिति है, परन्तु भगवान् का जगत् से कोई प्रयोजन नहीं है, यही उनका निर्लेपत्व एवं निर्गुणत्व है, यथा—"नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।" (गीता ३।२२)। 'अव्यक्तमूर्त्तिना' शब्द से जनाया कि यह ऐश्वर्य कोई नहीं जान पाता, क्योंकि अपरिमित है और जीवों की बुद्धि परिमित है। अर्जुन ने कहा भी है—"आप स्वयं अपने को जानते हैं और कोई नहीं (आपको जान सकता)। अतः, मुझसे कहिये··· जैसे आप सब लोकों में व्याप्त हैं।" (गीता १०।१५-१६)। तब प्रथम भगवान् ने नियामकत्व से व्यापकता कही, फिर दिव्य चक्षु देकर अपनी देह ही में सब जगत् दिखाया। ऐसे ही भुशुण्डीजी को भी उदर में ही करोड़ों ब्रह्माण्डों का होना दिखाया है। यही सर्व जगत् का अपने में स्थित रखना है। वे भगवान् अपनी

देह की तरह सब जगत् का पालन-पोषण करते हैं, यही सगुणत्व है। फिर समय पर सबका प्रलय भी कर देते हैं, यह निर्लेपत्व है, यही उनका जगत् में न स्थित रहना निर्गुणत्व है।

व्यापक-रूप परमात्मा में सब गुण अव्यक्त भाव में नित्य रहते हैं, पर उन्हें न जानने से उनके हृदय में रहते हुए भी जीव दुखी रहते हैं। मनु-शतरूपा ने वेदों से जानकर उनके गुणों एवं रूप की भावना से तप किया तो उनके प्रेमवश भगवान् ने रूप एवं गुण प्रकट किये, देख भी पड़े और जन्म भी धारण किया। यही—"अगुन अरूप अलख अज जोई।·····" का भाव है। लीला रूप से प्रकट किये हुए गुणों की भावना से भक्त लोग सहज में सुखी होते हैं, क्योंकि भगवान् के समक्ष भक्त जैसी भावना करते हैं, उनके प्रति वे वैसे ही प्राप्त होते हैं, यथा—"तुलसी प्रभु-सुभाव सुरतरु सों ज्यों दर्पन मुख-कांति।" (वि० २३३), तथा—"उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप-कल्पना।" (श्रीरामतापनीय उ०), तथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११)

अतः, निर्गुण-सगुण में कोई भेद नहीं है, तत्त्वतः दोनों एक ही हैं—अव्यक्त-व्यक्त भाव में दोनों की स्थिति है। जैसे उपर्युक्त गीता ६।४ में निर्गुण को अव्यक्त-मूर्त्ति कहा है, वैसे ही श्री गोस्वामीजी ने भी कहा है—"कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अव्यक्त जेहि श्रुति गाव॥" (लं० दो० ११२), "व्यक्तमव्यक्तगत-भेद विष्णो।" (वि० ५४) , अर्थात् पहले श्रीराम ब्रह्म सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट रूप में (अव्यक्त) रहते हैं, तब उन्हें 'सत्' संज्ञा से कहा गया है, यथा—"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।" (छान्दो० ६।२।१, इस श्रुति की व्याख्या उपोद्घात के 'परिणामवाद' प्रसंग में देखिये), फिर वे ही जब स्वयं स्थूलचिदचिद्विशिष्ट रूप में परिणत होकर (व्यक्त) जगत् रूप होते हैं, तब भी—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दो० ३।१४।१), अर्थात् ब्रह्म ही कहे जाते हैं। उपर्युक्त 'सत्' संज्ञक अव्यक्त ब्रह्म (निर्गुण) को 'एकमेवाद्वितीयम्' कहकर निमित्त, उपादान और सहकारी कारण उसे ही कहा है। अतः, सूक्ष्मावस्था से स्थूल जगत् रूप होने में उसे द्रव्यान्तर की आवश्यकता नहीं पड़ी। वह सूक्ष्म चित् और सूक्ष्म अचित् से विशिष्ट था ही। जगत् रूप होने में उसके शरीर रूप चित् और अचित् में ही परिणाम हुआ स्वरूप में नहीं। स्वरूप से वे ब्रह्म श्री रामजी सदा एक रस ही रहते हैं, यथा—"तुम्ह चहुँ जुग रस एक राम···" (वि० २६६), इसीसे वे दोनों अवस्थाओं एक रस (अद्वैत) रहते हैं। ब्रह्म की यही स्थिति विशिष्टाद्वैत संज्ञा से कही जाती है, तथा—"व्यक्ता-व्यक्तस्वरूपस्त्वं समष्टिव्यष्टिरूपवान्" (वि० पु० ५।१।४६), अर्थात् आप (भगवान्) ही व्यक्त (सगुण)-अव्यक्त (निर्गुण) स्वरूप हैं, समष्टि और व्यष्टि स्वरूप हैं। उपर्युक्त 'सदेव···' श्रुति के अनुसार ही श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है—"जेहि सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई संग सहाय न दूजा।" (दो० १८५ देखिये), तथा—"सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" (छान्दो० ६।८।४), अर्थात् हे सौम्य! इन सब प्रजाओं (जगत्) का मूल (आदि) सत् ही है तथा सत् ही इनका आश्रय (मध्य) और सत् ही प्रतिष्ठा (अन्त की लय स्थिति) है, एवं—"अन्ते चादौ च मध्ये च दृश्यसे च परन्तप। ·····अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव।" (वाल्मी० ६।११७।९,१४), इन प्रमाणों से सगुण-निर्गुण की अभेदता समझनी चाहिये। पूर्वोक्त दो० २२ चौ० १-४ भी देखिये।

जासु नाम भ्रम-तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिय बिमोह-प्रसंगा॥४॥
राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह-निसा-लवलेसा॥५॥
सहज प्रकासरूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिज्ञानबिहाना॥६॥

शब्दार्थ—तिमिर = अँधेरा। पतंगा = सूर्य। प्रसंगा = सम्बन्ध, लगाव। लवलेसा = थोड़ा भी, अल्प संसर्ग, थोड़ा-सा लगाव (हिं० श० सा०)।

अर्थ—जिसका नाम भ्रम-रूपी अँधेरे के (नाश करने के लिये) सूर्य के समान है, उसके विषय में

मोह का सम्बन्ध कैसे कहा जाय ? ॥५॥ श्री रामजी सच्चिदानन्द विग्रह रूपी सूर्य हैं, वहाँ मोह-रूपी रात का अल्प संसर्ग भी नहीं है ॥५॥ वे भगवान् (षडैश्वर्यपूर्ण) और स्वाभाविक प्रकाशरूप हैं, इसीसे वहाँ फिर विज्ञान रूपी सवेरा (प्रातः) नहीं होता ॥६॥

विशेष—(१) 'जासु नाम भ्रम ···' यह भी नहीं कहा जा सकता कि निर्गुण ब्रह्म उपाधि सहित (मायायुक्त) होकर सगुण हो जाता है, क्योंकि जिनके नाम के द्वारा ही औरों का भ्रम नष्ट हो जाता है, उनमें भ्रम होना कैसे सम्भव है। अतः, 'भ्रमवश वह विद्यामाया की उपाधि से सगुण होता है', इस मत का निराकरण हुआ, तथा—"सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुल केतु। चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु।" (अ० दो० ८७), इसमें भी शुद्ध ब्रह्म का सगुणत्व कहा गया है, औपाधिक (अशुद्ध) ब्रह्म का नहीं।

श्री पार्वतीजी ने—'नारि-बिरह मति भोरि।' कहा था, उसका उत्तर भी शिवजी देते हैं कि जिनके नाम के द्वारा हो भ्रमनाश हो जाता है, उनमें भ्रम होना तो बहुत असम्भव है, यथा—"हरिबिषयक अस मोह बिहंगा॥ सपनेहुँ नहिं अज्ञान प्रसंगा॥" (उ० दो० ७२)। प्रमाण—"सेवक सुमिरत नाम सप्रीतो। बिनु श्रम प्रबल मोह-दल जीतो॥" (दो० २४), तथा—"रुचिर रसना तू राम राम राम क्यों न रटत। ·····बिनु श्रम कलि कलुष जाल कटु कराल कटत। दिनकर के उदय जैसे तिमिर तोम फटत॥" (वि० १२९),

(२) 'राम सच्चिदानंद दिनेसा।' जैसे सूर्य का उदय बतलाना नहीं पड़ता, वैसे श्रीरामजी का परब्रह्म होना उनके चरित से स्वतः प्रकट हो जाता है। परशुराम का गर्व जिनके देखते ही चला गया, रावण को काँख में दाबनेवाले बालि को जिन्होंने एक शर से मारा, इत्यादि उनके चरित्र ब्रह्मपरत्व को स्पष्ट जनाते हैं। 'नहिं तहँ मोह निसा···' यथा—"इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रबि-सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं॥" (उ० दो० ७१)। जैसे सूर्य ने कभी रात देखी ही नहीं, वैसे श्रीरामजी में कभी अज्ञान हुआ ही नहीं। प्रत्युत औरों के मोह का नाश करते हैं, यथा—"अति प्रबल मोह तम मारतंड" (वि० ६४), "सर्बदानंद संदोह मोहापहं" (वि० ४६)।

प्रथम नाम को, फिर रूप को भी, पतंग (सूर्य) कहा, क्योंकि नाम के अभ्यास से रूप का साक्षात्कार होता है, दोनों अभेद भी हैं, यथा—"न भेदो नामनामिनोः॥" (पद्मपुराण में शिव-वाक्य)।

(३) 'सहज प्रकास रूप···'—भगवान् स्वाभाविक प्रकाश-स्वरूप हैं, अर्थात् जैसे सूर्य का प्रकाश भगवान् की सत्ता से है, यथा—"यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥" (गीता १५।१२), तथा—"सूर्यमण्डलमध्यस्थं रामं सीतासमन्वितम्॥" (सनत्कुमार सं०) वैसे श्रीरामजी की प्रकाशस्वरूपता दूसरे से नहीं है, प्रत्युत वे ही सूर्य आदि के प्रकाशक हैं, यथा—"तमेव, भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥" (कठ० ५।१५)।

'नहिं तहँ पुनि बिज्ञान···'—पूर्व कह आये हैं कि—"तेहि किमि कहिय बिमोह-प्रसंगा।" और—"नहिं तहँ मोह-निसा लवलेसा।' अर्थात् उनमें 'अज्ञान' नहीं है। अब उनमें विज्ञान के होने का भी निषेध करते हैं, क्योंकि रात रहने पर ही सवेरा होता है, जब उनमें अज्ञान रूपी रात कभी हुई ही नहीं, तब सवेरा होना कैसे कहें, वे तो नित्य सहज प्रकाशरूप ही हैं। 'पुनि' का भाव यह कि जीव प्रथम ज्ञान-स्वरूपता से अज्ञानवश होता है, तो फिर वह विज्ञान-रूपी प्रभात भी प्राप्त करता है, श्रीरामजी में इस प्रकार पुनर्विज्ञान की आवश्यकता नहीं है।

हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव-धरम अहमिति अभिमाना॥७॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥८॥

दोहा—पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि, प्रगट परावरनाथ।
रघुकुल-मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायेउ माथ ॥११६॥

शब्दार्थ—अहमिति—(अहं + इति = मैं यह हूँ) = यथार्थ स्थिति, सत्स्वरूपता। अभिमान = अहंकार, जैसे मैं ब्राह्मण, मैं विद्वान्, मैं धनी आदि वृत्तियों से नाना-स्थिति, असत्स्वरूपता। परेस (पर + ईश)—परब्रह्म। पुराना (पुराण) = सनातन। पुरुष = पुराणपुरुष। प्रसिद्ध = विख्यात, (वेद से) प्रकर्ष रूप से सिद्ध। प्रकासनिधि = वह जहाँ से सबको प्रकाश मिलता है। प्रगट = प्रत्यक्ष, जिसे सब देखते हैं। परावर = (पर + अवर) पर = त्रिपादविभूति (नित्यधाम साकेत), अवर = एकपाद विभूति (अखिल ब्रह्मांड)। परावरनाथ = उभय विभूतियों के स्वामी।

अर्थ—हर्ष और शोक, ज्ञान और अज्ञान, सद्रूपता और असद्रूपता—ये (बद्ध) जीव के धर्म हैं ॥७॥ श्रीरामजी ब्रह्म, व्यापक, परमानन्दरूप, परात्पर ईश्वर और सनातन हैं—यह सारा संसार जानता है ॥८॥ जो पुरुष प्रसिद्ध हैं, प्रकाश के कोश हैं, दोनों विभूतियों के स्वामी हैं और जो रघुकुलमणि-रूप से प्रकट हुए हैं, हमारे वे ही स्वामी हैं—ऐसा कहकर शिवजी ने सिर नवाया अर्थात् प्रणाम किया ॥ ११६॥

विशेष—(१) 'हरष बिषाद···' - यहाँ बद्ध जीव के लक्षण कहे गये हैं, और "ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥" (उ० दो० ११६) में शुद्ध जीव के लक्षण हैं। उसमें 'चेतन' से 'चित्', 'अमल' से 'सत्' और 'सहज सुखरासी' से 'आनन्द'-स्वरूपता कही गई है, वही जीव जब माया-वश होता है, तब आनन्द के पर्यायी हर्ष के साथ विषाद, चित् के पर्यायी ज्ञान के साथ अज्ञान और सद्रूपता के साथ असद्रूपता भी उसमें आ जाती है अर्थात् ये द्वन्द्व जीवों में होते हैं, जैसे ज्ञानी जीव लोमश और सनकादि में क्रोध का आना कहा गया है, क्रोध अज्ञान का कार्य है। श्रीरामजी इन द्वन्द्वों से परे हैं। वे ब्रह्म हैं, लक्षण आगे कथित हैं।

(२) 'राम ब्रह्म व्यापक ··'—पार्वतीजी ने समझा था—"ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर ··" (दो० ५०), उनके समझाने के लिये शिवजी श्रीरामजी ही को उन लक्षणोंवाला व्यापक ब्रह्म कहते हैं।

(३) 'पुरुष प्रसिद्ध···'—जो पुरुष संज्ञा से प्रसिद्ध हैं, यथा—"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥" (श्वेता० ३।१९), अर्थात् वह परमात्मा हाथ-पैर से रहित होकर भी समस्त वस्तुओं का ग्रहण करनेवाला एवं वेग से सर्वत्र गमन करनेवाला है, वह आँखों के बिना ही सब देखता है, कानों के बिना ही सब सुनता है, वह ज्ञातव्य वस्तुओं को जानता है और उसे कोई नहीं जानता है, (ज्ञानी पुरुष) उसे ही महान् आदि पुरुष कहते हैं। तथा ऋग्वेदोक्त पुरुषसूक्त में ब्रह्म को पुरुष संज्ञा से ही आठ मन्त्रों में कहकर उसका परम महत्त्व कहा गया है। यही उसकी परम प्रसिद्धि है। 'प्रकासनिधि'—ऊपर 'सहज प्रकास रूप···' के विशेष में उद्धृत प्रमाण देखिये, तथा—"अथ यदतः परो दिवोज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः" (३।१३।७), अर्थात् इस द्युलोक से परे जो परम ज्योति विश्व के पृष्ठ पर (सबके ऊपर), जिनसे उत्तम कोई दूसरा लोक नहीं है, ऐसे उत्तम लोकों में प्रकाशित हो रही है, वह निश्चय यही है जो कि इस 'पुरुषे' के भीतर ज्योति है। महा० शान्ति० ३४१।४८-४९ में भी कहा है कि सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि की किरणें मेरे केश संज्ञक है, इसीसे मेरा केशव नाम है। "हेतु कृसानु भानु हिमकर को" (दो० १८) भी देखिये। ये ही उभय विभूतियों के स्वामी हैं, पर (भक्त-प्रेम-वश) रघुकुलमणि-रूप में प्रकट हुए अर्थात् उभय विभूतियों के स्वामी होते हुए भी भक्तों के हितार्थ एक देश-विशेष अयोध्या के रघुकुल में प्रकट हुए। परात्परत्व के सब विशेषण

प्रथम कहकर विशेष्य रूप 'रघुकुलमनि' कहा, यथा—"यत्परं यद्गुणातीतं यज्ज्योतिरमलं शिवम्। तदेव परमं तत्त्वं कैवल्यपदकारणम्॥ श्रीरामेति···" (श्री सनत्कुमार सं०-रामस्तवराज)। इसमें भी 'परं' आदि सब विशेषण परात्परत्व के कहकर तब 'श्रीराम'—यह विशेष्य पद कहा गया है। 'रघुकुल-मनि' शब्द दाशरथी रामजी का ही बोधक है, यद्यपि 'रघुकुल मनि' श्रीदशरथ आदि भी कहे गये हैं तथापि 'सोहू' पद से यहाँ उपर्युक्त सभी विशेषणों से युक्त जो रघुकुल मणि श्रीरामजी हैं, वे ही, यह अर्थ है। इसलिये यही निर्भ्रान्त विशेष्य पद दिया।

'परावरनाथ'—यथा—"पादोऽस्य विश्वा-भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।" (पुरुषसूक्त), अर्थात् ब्रह्म की पाद (चतुर्थांश) विभूति में सम्पूर्ण ब्रह्मांड है और शेष त्रिपाद (तीन-चौथाई) विभूति में उसका नित्य धाम है। अतः, श्रीरामजी नित्यधाम रूप पर-विभूति और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड रूप अवर-विभूति, इन दोनों के स्वामी हैं, उभय विभूति नायक हैं तथा 'परावर' का अर्थ सर्वश्रेष्ठ भी होता है, यथा—"क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥" (मुण्डक० २।२।८), अर्थात् उस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर इसके सर्व कर्म क्षीण हो जाते हैं।

'कहि सिव नायउ माथ'—श्री शिवजी ने "बंदउ बाल रूप सोइ रामू।" (दो० १११) में मानसिक प्रणाम किया है, तथा—"करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी।" (दो० १११) में कायिक एवं कर्म से प्रणाम किया है और यहाँ 'कहि···' इसमें वाचिक के साथ कायिक भी प्रणाम किया है। अतः, इस प्रसंग में शिवजी ने मन, कर्म और वचन से इष्ट श्रीरामजी की वन्दना की है।

निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥१॥
जथा गगन घनपटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥२॥
चितव जो लोचन अंगुलि लाये। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाये॥३॥

अर्थ—अज्ञानी मनुष्य अपना भ्रम तो समझते नहीं, (उल्टे) प्रभु (श्रीरामजी) के विषय में मोह का आरोपण करते है॥१॥ जैसे आकाश में मेघों का आवरण देखकर निन्दनीय विचारवाले लोग कहते हैं कि सूर्य ढँक गया॥२॥ जो मनुष्य आँख के सामने अंगुली लगाये हुए चन्द्रमा को देखता है, तो उसकी समझ में दो चन्द्रमा प्रकट हुए जान पड़ते हैं॥३॥

विशेष—(१) 'जथा गगन घन···'—उपर्युक्त प्रसंगों का भाव समझाने के लिये यह चौपाई उपमान-रूप में कही गई है। निर्विकार श्रीरामजी आकाशवत् हैं, घन-पटल मोह और कुविचारी अज्ञानी मूर्ख हैं। सूर्य का ढँक जाना श्रीरामजी का मोहित होना है।

गिरीजा ने पूर्व पक्ष में कहा था—"खोजै सो कि अज्ञ इव नारी।" (दो० ५०) तथा भारद्वाजजी ने कहा था—"नारि बिरह दुख लहेउ···" यहाँ उन्हीं आक्षेपों के प्रति कहा जा रहा है—

वास्तव में मेघ का आवरण अज्ञानी मूर्ख-रूप कुविचारियों पर रहता है न कि सूर्य पर, इसी तरह अज्ञानियों की बुद्धि में ही भ्रम है, जिससे वे यह नहीं समझ पाते कि श्रीमराजी जो श्रीजानकीजी को खोज रहे हैं, वह तो नर-नाट्य करते हैं। शिवजी तो जानते ही हैं कि गिरिजाजी ने सती-शरीर में श्रीराम-प्रभाव देखने में जान ही लिया है कि श्रीजानकी जी और श्रीरामजी का नित्य संयोग है (वही यहाँ सूर्य का न ढँकना है)। अतः, अन्य अज्ञानियों के लिये कहते हैं। पहले भी कह चुके हैं—"कीन्हिहु प्रस्न जगत-हित लागी (दो० १११), याज्ञवल्क्यजी ने भी वहीं कहा है—"कबहूँ जोग बियोग न जाके। देखा···" (दो० ४८)।

(२) 'चितव जो लोचन·····'—इसमें चन्द्रमा-रूप श्रीसीतारामजी हैं, आँखों में अँगुली लगाकर देखना भ्रमात्मक बुद्धि से देखना है। दो चन्द्रमा देखना श्रीसीताजी और श्रीरामजी को पृथक्-

पृथक् देखना है कि वे लंका में पड़ी हैं और ये विरही होकर खोजते हैं। वास्तव में श्रीरामजी श्रीनारद-वचन पूरा करने का नाट्य कर रहे हैं, यथा—"कबहूँ जोग बियोग न जाके। देखा प्रगट बिरह-दुख ताके॥" (दो० ४८)।

इन चौपाइयों के जोड़ की चौपाइयाँ उ० दो० ७२ में—'नयन-दोष जाकहँ···' से—'नहिं अज्ञान प्रसंगा।' तक हैं। यहाँ एक सूर्य और एक चन्द्रमा के प्रसंग से दिन-रात (नित्य) सीताराम का संयोग कहा गया है।

उमा रामबिषयक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥४॥

अर्थ—हे उमा! श्रीरामजी के विषय (सम्बन्ध) का मोह ऐसा ही है, जैसे आकाश में अन्धकार, धुआँ और धूल—ये सब शोभा देते हैं।

विशेष—ऊपर देखनेवालों का भ्रम कहा था। अब यहाँ दिखाते हैं कि जिन बातों को देखकर भ्रम होता है, वास्तव में वे श्रीरामजी में किस प्रकार रहती हैं?—

भुशुण्डीजी को बाल-चरित में, सतीजी को वन-लीला (सीता-विरह) में और गरुड़जी को रण-लीला में मोह हुआ है। ये ही तीनों मोह क्रमशः 'तम', 'धूम' और 'धूल' कहे गये हैं। जैसे तम, धूम और धूल आकाश में देखनेवालों को देख पड़ते हैं, पर आकाश इन सब विकारों से परे है। तम आदि दर्शकों की ही दृष्टि में हैं, वैसे उपर्युक्त तीनो लीलाओं के विकार से श्रीरामजी परे हैं, चरित्र तो बाहरी स्वांग मात्र हैं, यथा—"बाहिज चिंता कीन्हि बिसेषी।" (अर० दो० २९)। जैसे तम, धूम, धूल आकाश में कारण पाकर होते हैं, वैसे श्रीरामजी में तीनो लीलाएँ कारण से हुई हैं। तम, धूम और धूल के कारण क्रम से कुहरा, अग्नि और पवन हैं, वैसे बाल-लीला का कारण मनु-शतरूपा का वरदान, सीता-विरह (वन-लीला) का कारण नारदजी का शाप और रण-(बन्धन)-लीला का कारण युद्ध की शोभा दिखानी है। कुहरे आदि कारणों का अभाव होने से तम आदि कार्य नहीं रह जाते, वैसे उक्त तीनो लीलाओं की पूर्त्ति पर श्रीरामजी में भ्रम के दृश्य नहीं देख पड़ते। आकाश की तरह श्रीरामजी सदा इन कार्यों और कारणों से परे हैं, यथा—"सुद्ध सच्चिदानंदमय, कंद भानुकुलकेतु। चरित करत नर अनुहरत, संसृति-सागर-सेतु॥" (अ० दो० ८७)।

'सोहा'—स्वांग (लीला) की शोभा यही है कि यदि वह वेष के अनुकूल हो, तो सब प्रशंसा करते हैं, यथा—"नर-तनु धरेहु"···से—"तुम्ह जो कहहु करहु सब साँचा। जस काछिय तस चाहिय नाचा॥ (अ० दो० १२६), तथा—"जथा अनेक बेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ। सोइ-सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ॥" (उ० दो० ७२)

बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता॥५॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥६॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ज्ञान-गुन-धामू॥७॥

शब्दार्थ—करन (करण)=इन्द्रियाँ। प्रकास्य-प्रकाशक=प्रकाशित होनेवाला और प्रकाश करनेवाला। जैसे दीपक से कोई वस्तु देखी जाती है, तो दीपक प्रकाशक और वह वस्तु प्रकाश्य कहाती है। दीपक हटने से वह वस्तु (दृष्टि में) न रह जायगी। वैसे श्रीरामजी दीपक, उनकी सत्ता प्रकाश और वस्तु-रूप जगत् प्रकाश्य है।

अर्थ—विषय, इन्द्रिय, इन्द्रियों के देवता और जीव—सब एक-से-एक चेतन (स्फूर्त्त) होते हैं॥५॥ इन सबके जो परम प्रकाशक हैं, अर्थात् जिनसे सबका अस्तित्व है, वे ही अनादि (ब्रह्म) अयोध्या के स्वामी श्रीरामजी हैं॥६॥ (अतः) सारा जगत् प्रकाश्य है और श्रीरामजी इसके प्रकाशक हैं जो माया के स्वामी और ज्ञान-गुण के स्थान हैं॥७॥

विशेष—(१) 'बिषय करन···'—ऊपर ब्रह्म को प्रकाशनिधि कहा था, उसकी प्रकाशकता यहाँ दिखाते हैं कि विषय इन्द्रियों से, इन्द्रियाँ देवताओं से और देवता जीव से सचेत हैं अर्थात् इन्द्रियों के बिना उनके विषयों की, देवताओं के बिना इन्द्रियों की और जीव के बिना देवताओं की सत्ता नहीं रह सकती। अतः, विषयों के प्रकाशक इन्द्रियगण, इन्द्रियों के प्रकाशक देवता और देवताओं के प्रकाशक जीव हैं, क्योंकि शरीर के जीव-रहित होने पर देवतागण इन्द्रियों को सचेत नहीं कर सकते। ऐसे ही देवता अपना वास हटा लें तो इन्द्रियाँ बेकार हो जायँ और चक्षु आदि इन्द्रियों के बिना रूप आदि विषयों का अनुभव नहीं हो, यथा—"इन्द्रिय द्वार झरोखा नाना। तहँ-तहँ सुर बैठे करि थाना॥ आवत देखहिं बिषय-बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी॥" (उ० दो० ११७)।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, विषय हैं, क्रमशः श्रवण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका इनकी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और दिशा, पवन, सूर्य, वरुण और अश्विनीकुमार देवता हैं। बोलना-खाना, ग्रहणकरना, चलना, प्रस्राव और मल-त्याग (विसर्ग) करना—ये विषय हैं, क्रमशः वाक्-मुख, हाथ, पैर, लिंग और गुदा, इनकी कर्मेन्द्रियाँ हैं और अग्नि, इन्द्र, यज्ञविष्णु (वामन), दक्ष और यम देवता हैं। 'मन' भी इन्द्रिय है, इसका विषय 'लगा रहना' और देवता 'चन्द्रमा' है। अहंकार, बुद्धि और चित्त अन्तःकरण हैं, इनके देवता क्रमशः शिव, ब्रह्मा और विष्णु और अहंता (अहंभाव) होना, निर्णय करना तथा धारणा विषय हैं।

(२) 'सबकर परम···'—उपर्युक्त (जीव, देव और इन्द्रियाँ) क्रमशः एक दूसरे के प्रकाशक हैं, पर श्रीरामजी सबके परम प्रकाशक हैं। सब एक-एक के प्रकाशक हैं, श्रीराम सबके हैं। अतः, इन्हें 'परम' कहा है। 'अनादि'—श्रीरामजी का आदि कोई नहीं है, ये त्रेतायुग से ही अवधपति नहीं हुए, किन्तु अनादि काल से हैं, श्रीरामजी का नित्यधाम साकेत भी अयोध्या ही है। (दो० ३४ चौ० ३ देखिये), 'अनादि' से निर्गुणत्व का बोध होता है, इसलिये 'अवधपति सोई' कहा गया।

(३) 'मायाधीस ज्ञान···'—रामजी जगत् ही के प्रकाशक नहीं हैं, किन्तु जगत् की रचनेवाली माया के भी अधिष्ठाता हैं, यथा—"सो दासी रघुबीर कै" (दो० ७१)। इसपर शंका होती है कि माया के साहचर्य से उसके अज्ञान और अवगुण भी रामजी में होंगे, उसके निवारण के लिये—'ज्ञान गुन धामू' कहा गया। ज्ञान, यथा—"ज्ञान अखंड एक सीतावर।" (उ० दो० ७७), गुण, यथा—"गुनसागर नागर···" (दो० २४०)।

जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥८॥

दोहा—रजत सीप महँ भास जिमि, जथा भानुकर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकइ कोउ टारि॥११७॥

येहि बिधि जग हरिआश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥१॥
जौ सपने सिर काटइ कोई। बिनु जागे न दूरि दुख होई॥२॥

शब्दार्थ—रजत = चाँदी। भास (आभास) = झलक वा मिथ्या ज्ञान। मृषा = झूठा।

अर्थ—जिसकी सत्यता से जड़-माया मोह की सहायता पाकर सत्य सरीखी जान पड़ती है॥८॥ जैसे सीप में चाँदी का और सूर्य की किरणों में जल का आभास होता है, यद्यपि ये बातें तीनो कालों में असत्य हैं, तथापि इस भ्रम को कोई हटा नहीं सकता अर्थात् भ्रम होता ही है॥११७॥ इस प्रकार संसार भगवान् के सहारे पर रहता है, यद्यपि (भ्रम-रूप नानात्व जगत्) झूठा है, तथापि दुःख देता ही है॥१॥ जैसे, यदि कोई स्वप्न में सिर काटे तो बिना जागे उसका दुःख दूर नहीं होता॥२॥

विशेष—(१) यहाँ से शिवजी माया का वर्णन करते हैं। इसका स्वरूप एवं भेद आदि अर० दो० १४ में कहे गये हैं। वहाँ माया के दो भेद कहे गये हैं—एक विद्या और दूसरी अविद्या। विद्या-दृष्टि से भगवान् के शरीर-रूप में जानी हुई प्रकृति को 'विद्यामाया' और इससे उलटी (अविद्या) दृष्टि से वह जैसी जानी जाती है, उसे 'अविद्यामाया' कहा है जो वास्तविक प्रकृति का पूर्व पक्ष है। यहाँ दोनों का पृथक्-पृथक् वर्णन-प्रसंग प्रारम्भ कर प्रथम अविद्या कहते हैं, क्योंकि ऐसा ही नियम है, यथा—"ज्ञान कहइ अज्ञान बिनु, तम बिनु कहइ प्रकास। निर्गुन कहइ जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास॥" (दोहावली २५१)।

(२) अविद्यामाया भ्रम-रूपा है, यथा—"एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव-कूपा॥" (अर० दो० १४)। इसकी दुष्टता, यथा—"देखी माया सब बिधि गाढ़ी।" (दो० २०१), "तव बिषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे। भव-पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल-कर्म गुननि भरे॥" (उ० दो० १२)। यह भ्रम से उत्पन्न होकर किस प्रकार दुःख देती है, यही आगे कहा जाता है—

(३) 'जासु सत्यता·····'—'जासु' अर्थात् उपर्युक्त सर्वप्रकाशक एवं मायाधीश श्रीरामजी हैं और उनकी सत्ता से जड़-माया सत्य-सी भासती (जान पड़ती) है। 'मोह सहाया'—अर्थात् सबको नहीं, वरन् जो मोह के वशीभूत प्राणी हैं, उन्हींको सत्य भासती है। मोह ही को अज्ञान एवं अविवेक भी कहते हैं, यथा—"जिमि अबिवेकी पुरुष सरीरहिं।" (दो० १५१), अर्थात् देह को ही अपना रूप मानकर उसीके पालने-पोसने में लगी हुई अवस्था को मोह कहते हैं। अतः, दसो इन्द्रियों का अभिमान ही मोह है, यथा—"मोह दसमौलि·····" (वि० ५८), अर्थात् दसो इन्द्रियों के भोक्ता होने में मोह की 'दशमुखता' है।

(४) प्रथम 'जासु सत्यता ते···' से माया कहकर उसके लिये ही—'रजत सीप···' में दृष्टान्त दिया, पुनः उसीको—'येहि बिधि जग···' में जगत् कहा अर्थात् इस माया का भ्रमात्मक रूप ही जगत् है। जगत्, यथा—"सुत-वित्त-देह-गेह-नेह (स्नेह) इति जगत्" अर्थात् देह और तत्सम्बन्धी सुत आदि (माता, पिता, भाई, स्त्री, आदि) का स्नेह एवं गेह और तत्सम्बन्धी वित्त (पदार्थ मात्र जैसे भोजन, वस्त्र) आदि का स्नेह—यही जगत् है। देह से सुत आदि और गेह से वित्त (धन) आदि आ ही जाते हैं, यथा—"देह जीव जोग के सखा मृषा टाँचनि टाँचो।" (वि० २७७)। अतः, श्रीगोस्वामीजी ने 'देह-गेह-नेह' ही को जगत् कहा है, यथा—"जिव जब ते हरि ते बिलगान्यो। तबते देह गेह निज जान्यो। मायाबस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते नाना दुख पायो॥" (वि० १३६)। इसमें 'देह-गेह-नेह' ही को 'मायावश' होना और फिर उसी को 'भ्रम' कहकर उसका कार्य 'नाना दुख पाना' भी कहा है। इसमें 'बिलगाने' का अर्थ यही है कि जीव हरि का शरीर था, भ्रम से इसने उनसे अपनी सत्ता पृथक् मानी। तथा—"जागु-जागु जीव जड़ जोहै जग जामिनी। देह-गेह-नेह जानु जैसे घन दामिनी॥" (वि० ७४)। इसमें भी 'जग जामिनी' कहकर फिर उसे ही 'देह-गेह-नेह' कहा, तथा—"सुत-बित नारि भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी।" (वि० १४०)। इसमें स्नेह ही को ममता कहा है। "येहि जग जामिनि जागहिं जोगी।" (अ० दो० ९२)। ऐसा ही—"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥" (गीता २।६९) का भी तात्पर्य है। इसी 'देह-गेह-नेह' रूप जगत् को दार्शनिक लोग 'नानात्व रूप जगत्' कहते हैं।

(५) इस देह-गेह-नेह रूप जगत् में देह और तत्सम्बन्धी नर, पशु आदि में सम्पूर्ण चर जगत् तथा गेह और तत्सम्बन्धी वित्त अर्थात् फल, फूल जौ, चने, घृत आदि में सारा अचर जगत् आ जाता है, यही इसकी 'चराचररूपता' है, तथा—"जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि बरि डोरी॥" (सुं० दो० ४७)। इसमें जो जननी आदि दस प्रकार की ममताएँ कही गईं, ये ही दश-दिशारूप हैं।

(६) इन सब उद्धरणों से स्पष्ट हुआ कि देह-गेह आदि को एक श्रीरामजी का शरीर न मानकर भ्रम से व्यष्टि रूप में पृथक्-पृथक् सत्तावान् मानना तथा उस-उसके किये उपकार के अनुसार ऋणी होकर आसक्ति में नाना दुःख पाना अविद्या से कल्पित नानात्व रूप जगत् है, यथा—"अहं ममेत्यविद्येयं व्यवहारस्तथानयोः।" (वि० पु० ६।७।१००), अर्थात् 'मैं' और 'मेरा' ऐसी बुद्धि तथा इनका व्यवहार अविद्या ही है। "पञ्चभूतात्मके देहे देही मोहतमोवृतः। अहं ममेतदित्युच्चैः कुरुते कुमतिर्मतिम्॥" (वि० पु० ६।७।१२), अर्थात् यह कुमति जीव मोह रूपी अन्धकार से आवृत होकर इस पंचभूतात्मक देह में 'मैं' और 'मेरेपन' का भाव करता है। भगवान् पराशर ने कहा है, यथा—"अहं ममेति भावोऽत्र यत्पुंसामुपजायते। संसारमातुस्सा माया।" अर्थात् अहंकार और ममकार का भाव जो चेतन पुरुष को उत्पन्न होता है, वही संसार की माता माया है, संसार इसीसे आया है और है, तथा—तच्छ्रूयतामविद्याया स्वरूपं कुलनन्दन॥" से "तदेतत्कथितं बीजमविद्याया मया तव।" (वि० पु० ६-७।१०-२५), इन पन्द्रह श्लोकों में उक्त रीति के 'मैं' 'मेरा' के भाग को ही विस्तृत रूप में अविद्या गया है, एवं—पितृपुत्र सुहृद्भ्रातृमातृ-बन्धुमयीमिमान्। यन्मायां नालमुत्तर्तुं जगत्तस्मै नमोनमः॥" (वि० पु० ५।१७।१३), अर्थात् जिनकी इस पिता, पुत्र, सुहृद, भ्राता, माता और बन्धु रूपिणी माया को पार करने में संसार सर्वथा असमर्थ है, उन मायापति को बार-बार नमस्कार है। यही भ्रम 'रजत सीप·····' के दृष्टान्त से कहा गया है।

देह-गेह-नेह के गेह-स्नेह को 'सोप-रजत' और देह-स्नेह को 'भानुकर बारि' के समान मिथ्या कहा है। यहाँ दृष्टान्त में 'सोप-रजत' और 'भानुकर बारि' है और दार्ष्टान्त (दृष्टान्त देकर समझाये हुए) में अचर-चर जगत् रूप श्रीरामजी हैं। चन्द्रमा की किरणें पड़ने पर खुली हुई सीपी में रजत (चाँदी) की और सूर्य की किरणें पड़ने पर बालू के मैदान में जल की भ्रान्ति होती है। श्रीरामजी सूर्य-चन्द्रमा, सत्ता रविचन्द्र-किरण और जड़-माया बालू एवं सीपी है तथा 'मोह सहाया' (मोह के वशीभूत) जीव की बुद्धि और मन हैं। चर-अचर जगत् के रूप स्पष्ट करने के लिये क्रमशः दो-दो दृष्टान्त हैं, अब दोनों को पृथक्-पृथक् दिखाते हैं।

(७) अचर जगत्—पदार्थों में स्वादादि सुख समझकर उनमें स्नेह करना अचर जगत् है, यही सीप में रजत समझना है। वस्तुतः मन का देवता चन्द्रमा है, वह जब स्वादादि की क्षुधा रूप किरणें फैलाता है, तब पदार्थों से सुख होता है, अन्यथा अजीर्ण में भोजनादि से स्वाद का सुख नहीं होता। उधर पदार्थों में स्वादादि सत्ताएँ भी श्रीरामजी की हैं, यथा—"रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशि-सूर्ययोः।···" (गीता ७।८)। चन्द्रमा भी भगवान् का शरीर है। यथा—"मन ससि चित्त महान।" (लं० दो० १५), तथा—"यस्य चन्द्रतारकं शरीरम्।" (बृहदा० ३।७।११)। अतः, श्रीरामजी चन्द्रमा के भी प्रवर्त्तक हैं। अब स्पष्ट हुआ कि मन तो प्रकृति के अंश से उत्पन्न जड़ है। उससे चन्द्रमा के द्वारा श्रीरामजी ही जीव के लिये पदार्थों के प्रति स्वाद आदि की इच्छा करवाते हैं और स्वयं जड़ पदार्थों में भी स्वादिष्ट रूप से सुख देते हैं। श्रीरामजी की सत्ता के बिना मन और पदार्थ जड़ ही हैं, उनके द्वारा सुख नहीं प्राप्त किया जा सकता, इसीसे माया को जड़ (जड़-माया) कहा है।

(८) जैसे देही (जीव) अपनी देह का पालन-पोषण करता है, वैसे श्रीरामजी भी जीवों का पालन करते हैं, क्योंकि जीव उनके शरीर हैं, यथा—"यस्यात्मा शरीरम्।" (बृहदा० ३।७।२२, माध्य० ५।७।२९)। अतः, उनका पोसा हुआ शरीर उनके (सेवा के) लिये रहना चाहिये, यथा—"देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई॥" (कि० दो० २२), इससे इन्द्रियाँ कामादि विकारों से बचेंगी, यथा—"ऊसर बरपे तृन नहिं जामा। जिमि हरिजन-हिय उपज न कामा॥" (कि० दो० १४)। तब उनमें सत्य रूप चाँदी के भूषण धारण करने के समान शोभा प्राप्त होगी, यथा—"करुना-सिन्धु भक्त-चिन्तामनि सोभा सेवतहूँ।" (वि० ८६), यह तो हुई सत्य, चाँदी और उससे स्वार्थ साधना एवं

अचर जगत् के प्रति विवेक दृष्टि। पुनः इसके विरुद्ध अविवेक (भ्रम) दृष्टि की कल्पित चाँदी (सीप-रजत) दिखाते हैं –

(६) अविद्या (अविवेक दृष्टि) से जीव मन आदि इन्द्रियों का अभिमानी हुआ और उनके द्वारा क्षुधा आदि के द्वारा स्वादकारक (भोक्ता) स्वयं बना। पदार्थों के द्वारा विषय भोगने में स्वादादि सुख पदार्थों के ही समझे। अतः, नाना वस्तुओं में आसक्त होकर बद्ध हुआ। विषय के पदार्थ देने-दिलानेवालों में राग (प्रेम) और हरण करनेवालों में द्वेष होने लगा, यथा—"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे राग-द्वेषौ व्यवस्थितौ।" (गीता ३।३४), और इसीसे कामादि विकार हुए, यथा—"सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।" (गीता २।६२), इत्यादि से मलिनता एवं अशोभा हुई। जैसे सीप में चाँदी नहीं रहती, इससे भूषण धारण करने का शोभारूप स्वार्थ नहीं सधता, वैसे जड़ पदार्थों में स्वादादि सुख देने की शक्ति है ही नहीं जिससे सुख रूप स्वार्थ सधे। इसीसे इन विषयों के भोगने से तृप्ति नहीं होती।

अतएव, जब तक जीव अचर जगत् को श्रीरामजी का शरीर न मानकर, भ्रम से पृथक् देखता हुआ, उसके नानात्वरूप में स्नेहबद्ध है, तब तक तीनों कालों में इसका दुःख अनिवार्य है।

(१०) चर जगत्—ऊपर जो देह और तत्सम्बन्धी कुटुम्ब एवं पशु आदि में स्नेह करना 'भानु कर बारि' के समान मिथ्या कहा गया, उसीका विस्तार किया जाता है, यथा—"देह जीव जोग के सखा मृषा टाँचनि टाँचो।" (वि० २७७), अर्थात् देह-सम्बन्धी नातों का बन्धन झूठा है, यथा—"तृषित निरखि रविकर भव बारी। फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी॥" (बा० दो० ४२), अर्थात् संसार में जीव मृगवत् मोहित रहते हैं। मृग नेत्र से मोहित होकर बालू के मैदान में सूर्य-किरणों को जल की लहर के समान देखता है और हृदय से भी उन्हें जल मानकर दौड़ता है। यहाँ बालू (रेत) का मैदान समष्टि में चर जगत् है, इसके व्यष्टिरूप में सिकता के समान अनन्त नाते हैं, यथा—"ज्यों सर्करा मिलै सिकता महँ बल ते न कोउ बिलगावै। अति रसज्ञ सूछम पिपीलिका बिनु प्रयास ही पावै॥" (वि० १६८), इस पद में प्रेमाभक्ति का प्रसंग है कि सिकता (बालू) रूप माता-पिता आदि सम्बन्धियों में श्रीरामजी के वात्सल्य आदि गुण शर्करा (चीनी) होकर मिले हुए हैं, चींटी के समान मुमुक्षु-प्रेमी उन-उन रूपों से किये हुए उपकारों के गुणों का स्मरण करते हुए प्रेम करे। श्रीरामजी सूर्य, उनके वात्सल्य, करुणा आदि गुण किरणें और नाते सिकता-रूप हैं। मृग सूर्य और उसकी किरणों को नहीं जानता, केवल रेत के आश्रय से किरणों को जल-रूप देखता है, वैसे जीव नेत्र और बुद्धि से मोहित होकर माता-पिता आदि से ही वात्सल्य-करुणा आदि गुणों का होना मान लेते हैं और प्रीति पूर्वक उन-उनके किये उपकारों के अनुसार व्यवहार करते हुए सुख की आशा में आयु बिता देते हैं तथा मृग की तरह तीनों तापों से तपते हुए तृष्णा रूप प्यास से व्याकुल रहते हैं एवं काल-वश होकर भी वासनानुसार उन्हीं के कुत्ता-बिल्ली आदि होते हैं, पर मृग की जलप्राप्ति के समान जीव को अपने स्वरूप के अनुसार सुख नहीं मिलता, इसीसे स्थिरता नहीं आती, यथा—"निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा।" (उ० दो० ८९), तृष्णा के साथ मरकर चौरासी लाख योनियों में जाना मृग के मरने के समान है। जब तक यह भ्रम नहीं मिटता, भव-दुःख तीनों कालों में अनिवार्य है।

(११) अब विवेक-दृष्टि से उसी भानुकर-बारि से सच्चा जल और उससे प्यास का बुझना भी दिखाते हैं। वस्तुतः सूर्य उन्हीं किरणों के द्वारा सिकतामय पृथ्वी का जल शोषण करके फिर मेघ-द्वारा सच्चा जल बरसाता है, यथा—"आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥" (मनु० ३।७६), वह जल यदि मृग को मिले तो उसकी प्यास निस्सन्देह निवृत्त हो जाय। सूर्य भी श्रीरामजी के नेत्ररूप शरीर है, यथा—"नयन दिवाकर···" (लं० दो० १४)। ऐसे ही शास्त्र-दृष्टि का समष्टि ज्ञान-रूप सूर्य नाना वाक्य रूप किरणों द्वारा सिकता-रूप चर जगत् के वात्सल्यादि गुण एवं रक्षकत्वादि कार्य रूप जल का

शोषण करे, यथा—"पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।" (गीता ९।१७), "जासों सब नातो फुरै तासों न करी पहिचान ॥" (वि० १९०), अर्थात् इन नाना रूपों से उपकार श्रीरामजी ने ही किये हैं, इस सुख का देना उनसे मानना मानों जल का आकाश में जाना है और श्रीरामजी में ही एकत्र होना मेघ बनना है, यथा—"येहि जग में जहँ लगि यहि तन की प्रीति प्रतीति सगाई। ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं सिमिटि यक ठाईं ॥" (वि० १०३)। अतः, संसार भर के नातों में छिटकी हुई प्रीति सिमटकर श्रीरामजी में ही एकत्र होगी। इससे भक्ति दृढ़ होगी, यही प्रेम-भक्ति जल होगी, यथा—"प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ कि जाई ॥" (उ० दो० ४८)। इस जल से हृदय की मल रूप तृष्णा आदि प्यास निवृत्त होगी और परमानन्द की प्राप्ति होगी, यथा—"मम गुन ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ, परानंदसंदोह ॥" (उ० दो० ४६), तात्पर्य यह कि जबतक जीव अपने एवं सम्पूर्ण चर जगत् को श्रीरामजी का शरीर न मानकर भ्रम से अलग-अलग सत्तावान् मानता है, तब ही तक मृगतृष्णा में पड़ा है, यह भ्रम यद्यपि तीनो कालों में मिथ्या है, तथापि इसको कोई हटा नहीं सकता।

(१२) 'येहि बिधि जग हरि···'—उपर्युक्त दो दृष्टान्तों के अनुसार जगत् हरि के आश्रित रहता है। उपक्रम में—'जासु सत्यता···' कहा था, उसे ही उपसंहार में 'हरि-आश्रित' कहा। इससे सत्ता का ही अर्थ आश्रित रहना है, यथा—"मत्स्थानि ···" (गीता ९।४)। यही—"भ्रम न सकइ कोउ टारि" का कारण है, क्योंकि यद्यपि असत्य है, तथापि दुःख दे रहा है, यह क्यों ? इसे ही दृष्टान्त के द्वारा समझाते हैं—

(१३) 'जौ अपने सिर···'—'स्वप्न'—उपर्युक्त दोहे के दोनों दृष्टान्तों में मन और बुद्धि के मोहवश होने से भ्रम की सत्यता कही गई, उसका कारण यह है कि—"मोह निसा सब सोवनिहारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा ॥" (अर० दो० ९२), जाग्रत अवस्था की देखी-सुनी वस्तुओं का स्वल्पनिद्रा में सूक्ष्म-शरीर से अनुभव होना स्वप्न है। सूक्ष्म शरीर, यथा—पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम्। अपञ्चीकृतमस्थूलं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधकम् ॥" (जिज्ञासापञ्चक), अर्थात् ५ प्राण, १० इन्द्रियाँ और मन तथा बुद्धि, इन १७ तत्त्वों से सूक्ष्म शरीर होता है। इनमें मन और बुद्धि प्रधान हैं। अतः, इस स्वल्पनिद्रा में मन और बुद्धि की निर्बलता से पूर्वकृत कर्मों के अनुसार जो—"जोग बियोग भोग भल मंदा ॥ हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा ॥" (अ० दो० २६३), इन सब की प्रतीति होना स्वप्नवत् अविद्यामाया का व्यापार है। ऐसे स्वप्न मोह-निशा में होते हैं। मूर्च्छा आदि अवस्थाओं की तरह अर्थपरक 'मुह-वैचित्त्ये' धातु के अनुसार मोह शब्द है अर्थात् जब श्रीरामजी के शरीर रूप अपने स्वरूप एवं जगत् की स्मृति नहीं रहती, तब इस निशा में उपर्युक्त स्वप्न-व्यापार सत्यवत् होते हैं। सब पुरुषसंज्ञक (पुरुषार्थनिष्ठ) जीव समष्टि में श्रीरामजी के शरीर हैं, तब श्रीरामजी पुरुषोत्तम होने से उत्तमाङ्ग (सिर) रूप हुए, यथा—"द्वाविमौ पुरुषौ लोके···अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥" (गीता १५। १६-१८), उन्हें अपने सबसे पृथक् समझना सिर कटना है, यथा—"आपनो हित रावरे सों जो पै सूझै। तौ कत तनु पर अछत सोस सुधि क्यों कबंध ज्यों जूझै ॥" (वि० २३८), अर्थात् जगत् की नानात्व सत्ता को श्रीरामजी से भिन्न मानना अपना सिर कटना है।

(१४) 'बिनु जागे न दूरि···'—'दुख' यथा—"जिव जबते हरि ते बिलगान्यो।···तेहि भ्रम ते नाना दुख पायो।···भव सूल सोक अनेक जेहि तेहि पन्थ तू हठि-हठि चल्यो। बहु जोनि जन्म जरा बिपति मतिमंद हरि जान्यो नहीं।" (वि० १३६)।

सम्बन्ध—यहाँ तक के इस भ्रमात्मक अविद्या माया के प्रमाण पूर्व मं० श्लोक ६ के विशेष (३ ख, ग) ('रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' के प्रसंग) में तथा ऊपर (६) में लिखे गये। पूर्वपक्ष में अविद्या माया का स्वरूप कहा गया। आगे इसका उत्तर पक्ष पास ही करते हैं जिसमें विद्यामाया का वर्णन सिद्धान्त रूप में किया गया है, क्योंकि पूर्वपक्ष के पास ही सिद्धान्त भी कहा जाता है। यही जागने का उपाय है।

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई ॥३॥
आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा ॥४॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना ॥५॥
आननरहित सकल - रस - भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥६॥
तनु बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा ॥७॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥८॥

अर्थ—जिनकी कृपा से ऐसा भ्रम मिट जाता है, हे गिरिजे! वे ही कृपालु श्रीरघुनाथजी हैं ॥३॥ जिनका आदि और अन्त किसीने नहीं (जान) पाया, वेद (अनादि हैं वे) भी बुद्धि की अटकल से ऐसा गाते हैं ॥४॥ कि वह (ब्रह्म) पैर के बिना चलता है और कान के बिना सुनता है एवं हाथ के बिना नाना प्रकार के कर्म करता है ॥५॥ वह मुख से रहित है, पर सब रसों को भोगता है, वाणी के बिना ही बड़ा योग्य वक्ता है ॥६॥ बिना शरीर के स्पर्श करता है और बिना आँख के ही देखता है, नाक के बिना ही निःशेष गन्ध को ग्रहण करता (सूँघता) है ॥७॥ इस प्रकार से उसकी करणी सब भाँति अलौकिक है, जिसकी महिमा कही नहीं जा सकती ॥८॥

विशेष—'जासु कृपा अस'''—ऊपर 'बिनु जागे न दूरि दुख होई' कहा है और यहाँ कृपा से दुःख मिटना कहते हैं। भाव यह कि सपनाते हुए को दूसरा कोई जगा दे, तभी उसका स्वप्नजन्य दुःख दूर होता है, वैसे श्रीरामजी इन दुखी जीवों को अपनी निष्कारण कृपा से जगाते हैं, तब इनकी जड़ बुद्धि चैतन्य होकर सर्व जगत् को श्रीराम शरीर-रूप में जानती है। अहल्या-उद्धार का प्रसंग इसका चरितार्थ है, यथा—"सहस सिला ते अति जड़मति भई है। कासों कहौं कौने गति पाहनहिं दई है ॥" (वि० १८१), तथा—"जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव जागु'''" (वि० ७४)। कृपा का कार्य—"मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ॥" (गीता ११।४७), अर्थात् जब भगवान् प्रसन्न होते हैं, तब सब जगत् अपने शरीर (विराट् रूप) में दिखाते हैं। शरीर से किये हुए कार्य शरीरी के होते हैं। अतएव जगत् (के ऋणत्रयाधिकारियों) से किये गये उपकार श्रीरामजी के हैं। इस ज्ञान से साधक जीव तीनों ऋणों का भय छोड़ जगत्-सम्बन्ध से पृथक् होकर और जगत् रूप से किये हुए उपकार-सम्बन्धी गुणों का स्मरण करके भगवान् में प्रीति करता है, यथा—"जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा ॥ होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ-चरन-अनुरागा ॥" (अ० दो० ९२)।

इस प्रकार वह जगत् के नातों को श्रीराम-रूप मानता हुआ माता-पितादि की यथोचित सेवा को ही श्रीरामोपासना बना लेता है।

यही (विराट्-रूप का ज्ञान ही) विद्यामाया का अंग है, यथा—"रघुपति प्रेरित ब्यापी माया ॥ सो माया न दुखद मोहिं काहीं।'''" इसे ही आगे वहीं पर "हरिसेवकहिं न ब्याप अबिद्या। प्रभु-प्रेरित तेहि ब्यापइ बिद्या ॥" (उ० दो० ७८) से विद्यामाया कहा है, क्योंकि जैसे यहाँ 'रघुपतिप्रेरित' और 'प्रभुप्रेरित' कहा है, वैसे ही—"एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु-प्रेरित नहिं निज बल ताके ॥" (अर० दो० १४)। विद्या-माया के इस प्रकट वर्णन में भी कहा गया है। इसी विद्या-माया से—"उदर माँझ'''''" से—"राम उदर देखेउँ जग नाना।" तक देखना कहकर "तहँ पुनि देखेउँ राम सुजाना। मायापति कृपाल भगवाना।" पर दृश्य का उपसंहार है। इससे आगे भी "देखि कृपाल बिकल मोहिं, बिहँसे तब रघुबीर। बिहँसत ही मुख बाहेर, आयेउँ सुनु मतिधीर ॥" (उ० दो० ८२)। यहाँ बार-बार कृपालु एवं मायापति कहने से उपर्युक्त "जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई।" का ही चरितार्थ है। ऐसा

ही कौशल्याजी का विराट्-दर्शन जानना चाहिये। यह विद्या वेदों से भी परे है, यथा—"नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥" (गीता ११।५३)। इसी विद्या-माया का स्वरूप आगे विराट्-रूप वर्णन के द्वारा शिवजी कहते हैं—

(२) 'आदि अंत कोउ···'—यहाँ बहुत तरह से लोग अर्थ किया करते हैं। अतः, प्रथम निर्णय करके तब भाव कहेंगे—यहाँ प्रथम ही उपक्रम में आदि-अन्त-राहित्य (अभाव) कहा है, यह विराट् वर्णन की भूमिका है, यथा—"भ्रमत मोहिं कल्पान्त अनेका। बीते मनहुँ कल्प सत एका॥" (उ० दो० ७१)। 'मति अनुमान निगम' से भी, यथा—"विस्वरूप रघुवंसमनि,···लोक कल्पना बेद कर, अंग-अंग प्रति जासु॥" (लं० दो० १४) यही कहा है। यह कल्पना और अनुमान एक ही है। अतः, वेद का 'अनुमान' भी विराट्-परक है।

इस वर्णन के अन्त (उपसंहार) में—'महिमा जासु जाइ···' से भी—'अजानता महिमानं तवेदम्।' (गीता ११।४१) के अनुसार विराट्-प्रसंग है। पुनः—"जेहि इमि गावहिं बेद बुध,···" यह भी उपसंहार में कहा है। बुध, पंडित और विदुष पर्यायी शब्द हैं। विदुषों का ध्येय विराट् ही कहा है, यथा—"विदुषन्ह प्रभु विराट्मय दीसा।" (दो० २४१), और यह प्रसंग ज्यों-का-त्यों वेद में भी विराट्-प्रकरण में ही है, यथा—"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।" ···"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं नच तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥" (श्वे० ३।१४-१९) अतः, मानस में यहाँ विराट्-परक ही अर्थ चाहिये।

(३) 'बिनु पद चलइ···महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।'—बृहदा० ३।७।३ के "यस्य पृथ्वी शरीरम्···" से २३ वें मन्त्र तक जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि सम्पूर्ण जगत् को भगवान् का शरीर कहा है। शरीर से हुए कार्य शरीरी के कहे जाते हैं, वही यहाँ क्रम से कहे गये हैं। क्रम, यथा—"महा-भूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।" (गीता १३।५) अर्थात्—अव्यक्त (प्रकृति), बुद्धि, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—यह अष्टधा प्रकृति है, इसे ही भगवान् के शरीर-रूप में कहते हैं कि प्रकृति बिना पैर के चलती है, क्योंकि मरने पर जीवात्मा संकल्पानुसार अन्य शरीरों में प्रकृति के द्वारा ही जाता है। बुद्धि बिना कान के ही सुनती है, यथा—"मति अनुमानि निगम अस गावा" ऊपर कहा है। वेद श्रुति (सुनी हुई बात) कहा जाता है। बुद्धि के देवता ब्रह्मा ही वेद के विस्तारकर्त्ता हैं। त्रिधा (सत्त्व-रज-तम) अहंकार बिना हाथ के ही अनेक कर्म करते हैं, जैसे सात्त्विक अहंकार (चित्त) इन्द्रियों की रचना करता है। राजस अहंकार उभय का अनुग्राहक है और तामस अहंकार से शब्द तन्मात्रादि की सृष्टि होती है। आकाश बिना मुख के ही भक्षण करता है, क्योंकि सब उसीमें समा जाते हैं और जल जिह्वा-बिना ही सर्व (षट्) रस धारण करता है तथा व्योम बिना वाणी के ही वक्ता है, क्योंकि उसमें सहज ही शब्द होता है। [आकाश के साहाय्य में मुख और वाक् दो कर्मेन्द्रियाँ हैं। अतः, दोनों कही गई हैं और जल को क्रम-भंग करके यहाँ कहने का कारण यह है कि मुख में ही रसना है, उसीसे वाणी और षड्रस-ग्रहण दोनों कार्य होते हैं तथा जल मेघ-द्वारा आकाश से गरज-गरजकर बरसाया जाता है। अतः, इससे व्योम शब्द का भी साहचर्य है। पुनः वेद अपौरुषेय (बिना पुरुष की वाणी से कहा गया) है, पर प्रभु की निजी वाणी है, यथा—"मारुत स्वास निगम निज बानी।" (लं० दो० १४)] पवन बिना शरीर का है, पर उसका स्पर्श सबको होता है। अग्नि बिना नेत्र के देखता है, और उसके प्रकाश में सब कोई देखते हैं। पृथ्वी नासिका इन्द्रिय के बिना ही सर्व गन्ध धारण करती है, यथा—"बिनु महि गंध कि पावइ कोई।" (उ० दो० ८९)।

यहाँ तक क्रम से आठों प्रकृतियाँ कहीं गईं, इन शरीरांगों से ब्रह्म (भगवान्) की 'करनी' अलौकिक है, क्योंकि लोक में बिना इन्द्रियों के उसके कार्य नहीं देखे जाते। यह उसकी अपार महिमा है।

अलंकार—'विभावना', क्योंकि 'कारण' पैर आदि के बिना उनके 'कार्य' कहे गये हैं।

दोहा—जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथसुत भगतहित, कोसलपति भगवान ॥११८॥

अर्थ—जिसे इस प्रकार से वेद और पण्डित लोग गाते हैं तथा मुनि जिसका ध्यान धरते हैं, वे ही श्रीदशरथजी के पुत्र भक्तों के हित करनेवाले अयोध्या के स्वामी भगवान् श्रीरामजी हैं।

विशेष—(१) यह दोहा विराट्-वर्णन का उपसंहार है। इसका भाव यह कि विराट्-रूप में जगत् ही भगवान् का शरीर है। वे अयोध्या के एक व्यक्तिविशेष के पुत्र हुए, यह क्यों? इसका उत्तर 'भगत-हित' से दिया गया है कि भक्तों के हित के लिये लीला करनी है, यथा—"सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं॥" (दो० १२१), अर्थात् भगवान् में असंख्य गुण हैं, पर लीला में वही-वही गुण क्रमशः दिखाते हैं, जिनसे भक्तों का उद्धार हो, यथा—"यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके। तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥" (गीता २।४६)। 'कोसलपति भगवान'—का भाव यह कि यहाँ के परिमित स्थल में परिमित रूप में भी आप षडैश्वर्य युक्त हैं। षडैश्वर्य के उदाहरण—

ऐश्वर्य—"राम-राज नभगेस सुनु, सचराचर जग माहिं। काल कर्म सुभाव गुन, कृत दुख काहुहि नाहिं॥" (उ० दो० १९)।

धर्म—"चारिहु चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥" (उ० दो० २८)।

यश—"हम तव सगुन जस नित गावहीं।" (उ० दो० १२), यह वेद-स्तुति है।

श्री—"रमानाथ जहँ राजा,...अनिमादिक सुख संपदा, रही अवधपुर छाय।" (उ० दो० २९)।

ज्ञान—"धर्म तड़ाग ज्ञान बिज्ञाना। ये पंकज बिकसे बिधि नाना॥" (उ० दो० ३०)।

वैराग्य—"सुख संतोष बिराग बिवेका। बिगत सोक ये कोक अनेका॥" (उ० दो० ३०)।

दूसरे प्रकार का षडैश्वर्य—"उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥" अर्थात् 'उत्पत्ति, प्रलय, प्राणियों का आना तथा जाना, विद्या और अविद्या' के जाननेवाले को भगवान् कहते हैं।

(२) श्रीरामजी प्रथम श्रीदशरथजी के पुत्र हुए, तब उन्होंने लीला करके भक्तों का कल्याण किया और अयोध्या के पति होकर षडैश्वर्य भी दिखाये कि मुझे जानकर भक्त लोग प्रीति-पूर्वक मेरा भजन करें, यथा—"यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥" (गीता १५।१९)। 'भगवान्' पद का प्रयोग प्रायः भक्तों के हितार्थ ही होता है, यथा—"व्यापक बिस्वरूप भगवाना।...सो केवल भगतन हित लागी।" (दो० १२), "भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥" (दो० १४५), "भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनुभूप॥" (उ० दो० ७२)। भगवान् पद षडैश्वर्य पूर्ण का वाचक है, इसकी व्याख्या दो० १२ चौ० ४ तथा लं० दो० ६ चौ० ४ में देखिये। इससे 'भगवान' पद में ही प्रभु का उपास्य स्वरूप प्रतिपादित है कि जीवमात्र को उनकी उपासना करनी चाहिये। उन उभयस्थलों पर इनके प्रमाण भी हैं।

(३) विद्यामाया, यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥" (अर० दो० १४), अर्थात् एक (विद्या) वह है जिसके वश में गुण हैं, वह जगत् की रचना करती है, पर प्रभु की प्रेरणा से ही करती है, उसके अपना बल नहीं है, यथा—"लवनिमेष महँ भुवननिकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥" (दो० २२४)। 'गुन बस'—यह त्रिगुणात्मिका है। 'प्रभुप्रेरित नहिं निज बल ताके।', यथा—"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥" (गी० ९।१०),

अर्थात् जैसे कोई अपने जड़ हाथ-पैरों से प्रेरणा-द्वारा कार्य करे, वैसे भगवान् अपनी शरीररूपिणी प्रकृति द्वारा जगत्-रचना का कार्य करते हैं। अतएव भगवान् के शरीर-रूप में प्रकृति को जानना विद्यादृष्टि रूपा विद्यामाया है, यही सिद्धान्तरूपा माया है जो जीवों के अविद्यामाया से उत्पन्न भ्रम छुड़ाने के लिये है। इसके द्वारा साक्षात्कार जगत् स्वरूप से अनित्य और प्रवाह से नित्य है, यथा—"पल्लवत फूलत नवल नित संसारबिटप नमामहे।" (उ० दो० १२), इसमें 'नवल नित' से प्रवाहतः नित्य संसार भगवान् के शरीर-रूप में कहा गया है।

जगत् को पृथक्-पृथक् सत्तावान् (नानात्व रूप में) देखना अविद्या है और उसे श्रीरामजी के शरीर-रूप में देखते हुए, अपनेको भी शरीर-रूप में ही, किन्तु और जीवों से भिन्न देखना विद्या है। इससे जगत् के द्वारा किये हुए उपकारों को श्रीरामजी के किये उपकार जानकर प्रीतिपूर्वक भजन होता है, यथा—"सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत॥" (कि० दो० ३), तथा —"एवमेकमिदं विद्धि न भेदि सकलं जगत्। वासुदेवाभिधेयस्य स्वरूपं परमात्मनः॥" (वि० पु० ३।१५।३५), अर्थात् इस प्रकार इस सारे जगत् को एक वासुदेव परमात्मा का ही स्वरूप जान, इसमें कुछ भी भेद-भाव नहीं है। "तस्माद्रामस्य रूपोऽयं सत्यं सत्यमिदं जगत्।" (सनत्कु० सं० रामस्तवराज)। मंगल श्लोक ६ भी देखिये।

इस विराट्-रूप-वर्णन में 'मति अनुमानि निगम अस गावा।' उपक्रम है और 'जेहि इमि गावहिं बेद बुध' उपसंहार है।

कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाममल करउँ बिसोकी॥१॥
सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी॥२॥

अर्थ—काशी में मरते हुए जन्तु (जन्म लेनेवाले जीवमात्र) को देखकर जिनके नाम के बल से मैं विशोक (मुक्त) करता हूँ॥१॥ वे ही हमारे प्रभु (इष्टदेव) हैं और चराचर (जगत्) के स्वामी हैं, उनका नाम रघुवर है। वे सबके हृदय की वृत्ति जाननेवाले एवं प्रेरक हैं॥३॥

विशेष—(१) 'कासी मरत जंतु···', यथा, "महामंत्र जोइ जपत महेसू।···" (दो० १८) देखिये, तथा—"जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहिं सम गति अबिनासी॥" (कि० दो० ९)।

(२) 'सोइ प्रभु मोर···'—केवल औरों को ही मुक्ति देने के लिये उपदेश नहीं देता, वरन् मैं भी इष्ट माने हुए उन्हीं को जपता हूँ, तथा—"मरत महेस उपदेस हैं कहा करत सुरसरि तीर कासी धरम-धरनि। रामनाम को प्रताप हर कहैं जपैं आपु, जुग-जुग जानें जग बेद हू बरनि॥" (वि० १८४), "गनि न लहै रामनाम सों बिधि सो सिरिजा को? सुमिरत कहत प्रचारि कै बल्लभ गिरिजा को॥" (वि० १५२)। वे ही चराचर के स्वामी और अन्तर्यामी अर्थात् परात्पर ब्रह्म हैं। यहाँ जन्तु को भी मुक्ति देने में नाम का प्रताप है।

श्रीगिरिजाजी ने मुनि, वेद और शिवजी—इन तीनों की सिद्धान्त-एकता में ही ब्रह्म का निश्चय माना है, यथा—"प्रभु जे मुनि परमारथबादी।" "सेष सारदा बेद पुराना। ···" "तुम्ह पुनि राम-राम दिन-राती। ···" (दो० १०७), उन्हीं तीनों के प्रमाणों से यहाँ शिवजी ने समाधान किया है, यथा—"जाहि धरहिं मुनि ध्यान।" "जेहि इमि गावहिं बेद···" "सोइ प्रभु मोर।"

श्रीशिवजी श्रीगिरिजाजी की श्रद्धा पर बहुत प्रसन्न हैं, क्योंकि इसी जिज्ञासा पर गिरिजाजी ने कितने कष्ट झेले और फिर भी श्रद्धा बढ़ती ही गई। इससे यहाँ शिवजी ने पाँच प्रकार से श्रीरामजी के ऐश्वर्य कह-कहकर उनके माधुर्य रूप में घटित किया है, रामकुमारजी ने इसकी तालिका यों लिखी है—

१—"राम ब्रह्म व्यापक जग जाना।" से "प्रगट परावर नाथ।" तक ऐश्वर्य कहकर 'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ,···" कहा है।

२—"विषय करन सुर जीव समेता।" से "सबकर परम प्रकासक जोई।" तक ऐश्वर्य कहकर—'राम अनादि अवधपति सोई।' कहा है।

३—"जासु सत्यता ते जड़ माया।" से "जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई।" तक ऐश्वर्य कह 'गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई।' कहा है।

४—"आदि अंत कोउ जासु न पावा।" से "जाहि धरहिं मुनि ध्यान।" तक ऐश्वर्य कह—'सोइ दसरथ सुत भगत हित,···' कहा है।

५—"कासी मरत जंतु···जासु नाम बल करौं बिसोकी॥" प्रभु का यह ऐश्वर्य कहकर "सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी॥" कहा है।

पाँच आवृत्ति में ऐश्वर्य-माधुर्य मिलने का भाव यह कि आनन्द विभोर होकर शिवजी मानों अपने पाँचो मुखों से इन बातों का समर्थन किया है।

बिवसहु जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं॥३॥
सादर सुमिरन जे नर करहीं। भवबारिधि गोपद इव तरहीं॥४॥

अर्थ—विवश होने पर भी जिन (ईश्वर)-का नाम मनुष्य कहते हैं, तो उनके अनेक जन्मों के सञ्चित पाप जल जाते हैं॥३॥ और जो मनुष्य आदरपूर्वक उनका स्मरण करते हैं, वे तो भवसागर को गाय के खुर की तरह तर जाते हैं॥४॥

विशेष—(१) 'बिवसहु जासु नाम···'—विवश, जैसे यवन, अजामिल आदि ने यमदूतों के भय से पुत्र के बदले तथा शूकर का धक्का लगने पर किसी प्रकार 'राम' शब्द मुख से निकाला। 'दहहीं', यथा—"जासु नाम पावक अघतूला।" (अ० दो० २४७), अर्थात् जैसे अग्नि रुई को तुरत भस्म कर देता है, वैसे ही रामजी का नाम पापों को जला डालता है, तथा—"यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति। तेनैकजन्मशमलं सहसैव हित्वा संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये॥" (भाग० ३।९।१५), अर्थात् जिनके अवतारों के गुण-कर्म-सूचक नामों का प्राण-त्याग के समय विवश होकर भी उच्चारण करनेवाले मनुष्य अनेकों जन्मों के पापों से तत्काल मुक्त होकर माया आदि आवरणों से रहित ब्रह्मपद को प्राप्त होते है, उन अजन्मा हरि की मै शरण हूँ। भाग० १।१।१४ में भी ऐसा ही कहा गया है, तथा—"प्रमादादपि संस्पृष्टो यथानलकणो दहेत्। तथौष्ठपुटसंस्पृष्टं हरिनाम हरेदघम्॥" (स्कन्द पु० काशी० पू० २१।५७), अर्थात् जैसे आग का कण भूल से भी छू जाने पर जलाता ही है, वैसे ही हरिनाम ओष्ठ से छू जाने मात्र से पापों को जलाता है।

(२) 'सादर सुमिरन जे····'—इससे जाना गया कि पूर्व के 'बिवसहु' वाले अनादरवाले हैं। अनादर और सादर का भाव, यथा—"आँधरो अधम जड़ जाजरो जरा जवन सूकर के सावक ढका ढकेल्यो मगमैं। गिरयो हिये हहरि 'हराम हो हराम हन्यो' हाय हाय करत परी गो काल फँग मैं॥ तुलसी बिसोक ह्वै तिलोकपति लोक गयो, नाम के प्रताप बात बिदित है जग मैं। सोइ राम नाम जो सनेह सों जपत जन ताकी महिमा मोपै कही क्यों जाति अगमैं॥" (क० उ० ७६)। इसमें प्रथम के तीन चरणों में विवश एवं निरादर-पूर्वक स्मरण और चौथे चरण में सादर का उदाहरण है।

यहाँ तक नामपरत्व की चार अर्द्धालियों में प्रथम दो में श्रवण का और पिछली दो में कथन का माहात्म्य बराबर रूप में कहा गया है। 'विशोक होना' और 'भव-सागर तरना' एक ही हैं। पुनः श्रवण प्रसंग में उपदेष्टा योग्य थे, पर श्रोता 'जन्तु' पर्यन्त अनधिकारी थे और कथन प्रसंग में वक्ता 'नर' हैं तो इनका नाम-कथन विधिहीन है। अतः, दोनों प्रसंगों में नाम का प्रताप ही सद्गतिदाता है। साथ ही 'सादर सुमिरन' का भी उत्तम फल कह दिया है, इसमें नाम का प्रभाव है।

ऊपर "जेहि जाने जग जाइ हेराई।" (दो० १११) में ज्ञान-दृष्टि कही गई है और यहाँ—"भव बारिधि गोपद इव···" से भक्तों की दृष्टि कही, क्योंकि सादर स्मरण भक्त ही करते हैं। प्रीति-पूर्वक स्मरण करना सादर है। ऊपर का कवित्त देखिये अर्थात् जानने मात्र में तो जगत् श्रीरामजी का शरीर होने से उन्हीं में हेराय (लीन हो) जाता है। फिर "मैं सेवक, सचराचर, रूप स्वामि भगवंत ॥" (कि० दो० ३) की दृष्टि से भजन करते समय प्रारब्ध-क्षय पर्यन्त जगत् का अल्प संसर्ग रहता है, वह भी भजन के साथ आनन्दपूर्वक समाप्त होने से गाय के खुर के समान ही कहा जाता है।

राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी ॥५॥
अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं ॥६॥

अर्थ—हे भवानी! वही परमात्मा श्रीरामजी हैं, उनके विषय में तुम्हारे भ्रम की बातें अत्यन्त अयोग्य हैं ॥५॥ हृदय में ऐसा सन्देह लाते ही ज्ञान-वैराग्यादि सब गुण चले जाते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'राम सो परमातमा···'—ऊपर 'राम ब्रह्म व्यापक ··' में ज्ञान-दृष्टि, 'कोसलपति भगवान्' में भक्ति-दृष्टि और यहाँ 'सो परमातमा' में योग-दृष्टि है, क्योंकि ईश्वर को ज्ञानी 'ब्रह्म', भक्त 'भगवान' और योगी 'परमात्मा' कहते हैं, यथा—"ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान्। दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते ॥" (भाग० ३।३२।२६), अर्थात् एक ही ज्ञान स्वरूप पदार्थ दृश्य आदि अनेक भावों से प्रकट हो रहा है। वही (उपनिषदों में) परंब्रह्म, (योग शास्त्र में) परमात्मा, ईश्वर, (सांख्य शास्त्र में) पुरुष और (भक्ति शास्त्र में) भगवान् कहा जाता है।

(२) 'अस संसय आनत ··'—श्रीरामजी का निश्चय होने पर ही उनके लिये सबका त्याग होने से वैराग्य होता है और फिर ज्ञान होता है। श्रीरामजी ही ज्ञान-वैराग्य के स्थान हैं, यथा—"ज्ञान बिराग सकल गुन अयना।" (दो० २०५)। उनमें सन्देह होने से ये गुण कैसे रह सकते हैं? ये बातें चरितार्थ भी हुई हैं, यथा—"अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा ॥" (दो० ५०), सतीजी के हृदय से ज्ञान की प्रवृत्ति चली गई, तथा—"सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ जाइ सो प्रभु नाग पास सोइ राम" इस प्रकार संशय लाते ही—"नाना भाँति मनहिं समुझावा। प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा ॥" (उ० दो० ५८), गरुड़जी में ज्ञान प्रवृत्ति गई।

यहाँ तक "अजहूँ कछु संसय मन मोरे।" (दो० १०८) के उत्तर में श्रीरामजी का परात्परत्व दाशरथी (दशरथकुमार) स्वरूप में ही कहा गया। तब संशय करने का निषेध किया।

सुनि सिव के भ्रमभंजन बचना। मिटि गइ सब कुतर्क कै रचना ॥७॥
भइ रघुपति-पद-प्रीति-प्रतीती। दारुन असंभावना बीती ॥८॥

दोहा—पुनि पुनि प्रभु-पद-कमल गहि, जोरि पंकरुहपानि।
बोलीं गिरिजा बचन बर, मनहुँ प्रेमरस सानि ॥११६॥

शब्दार्थ—रचना=गढ़न्त, स्थिति। दारुन=अति कठिन, भयंकर। असंभावना (सम्भावना=कल्पना-अनुमान, अ उपसर्ग यहाँ दूषित अर्थ में आया है, जैसे—अभागा, अकाल)=दूषित कल्पना (यह कि परब्रह्म का नर-देह धारण करना असम्भव है। अतः, नर ही मानना), इसमें उनका अनादर है, यथा—"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परंभावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥" (गीता० ९।११)।

अर्थ—श्री शिवजी के भ्रम दूर करनेवाले वचन सुनकर (उमा की) सब कुतर्कों की स्थितियाँ मिट गईं ॥७॥ श्रीरघुनाथजी के चरणों में उनकी प्रतीति और प्रीति हुई तथा अति कठिन अनुचित कल्पना भी

दूर हो गई ।।८।। प्रभु (शिवजी) के चरण-कमलों को बारंबार पकड़कर और अपने कमलवत् हाथों को जोड़कर श्रीपार्वतीजी मानों प्रेमरस में सानकर श्रेष्ठ वचन बोलीं ।।११६।।

विशेष—(१) 'सुनि सिव के भ्रम ·····'—शिवजी ने पूर्व ही प्रतिज्ञा (उपक्रम) की थी—"भ्रम तम रविकर बचन मम ।" (दो० ११५), उसीका यहाँ तक चरितार्थ (उपसंहार) हुआ । भ्रम निवृत्ति—१. जासु नाम भ्रमतिमिर पतंगा ।" २. "निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी ।" ३. "जदपि मृषा···भ्रम न सकै कोउ टारि ।" ४. "जासु कृपा असि भ्रम मिटि जाई ।" ५. "तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी ।" ६. "सुनि सिव के भ्रम भंजन बचना ।" इन छः प्रकारों से भ्रम का निवारण हुआ । 'कुतर्क कै रचना', यथा—"सो कि देह धरि होइ नर" (दो० ५०), "जौ नृपतनय तो ब्रह्म किमि" (दो० १०८) । पूर्व इन्हें अपार संशय हुआ, यथा—"अस संसय मन भयेउ अपारा ।" (दो० ५०) इसीसे बहुत कुतर्कों की रचना (सृष्टि) भी हुई, क्योंकि संशय कारण और कुतर्क कार्य है, यथा—"संसय-सर्प ग्रसेउ मोहिं ताता । दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता ।।" (उ० दो० ९२), अर्थात् सर्प काटने पर विष चढ़ने से लहरें आती हैं, वैसे संशय होने पर कुतर्कनाएँ होती हैं । ऊपर चौपाई में संशय रूप कारण और इसमें उसके कार्य निवृत्त हुए ।

(२) 'भइ रघुपति पद·····'—संशय निवृत्त हुआ और श्रीरामजी का स्वरूप जान पड़ा, यथा—"राम सरूप जानि मोहिं परेऊ ।" आगे ही कहती हैं । यही प्रतीति और प्रीति का कारण है, यथा—"जाने बिनु न होइ परतीती । बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ।।" (उ० दो० ८८), 'दारुन असंभावना बीती'—प्रतीति होने से असम्भावना की और प्रीति होने से दारुण असम्भावना की निवृत्ति स्पष्ट हुई तथा प्रतीति से भावना और प्रीति से सम्भावना हुई । ऐसे ही कुतर्क की रचना मिटने में असम्भावना का मिटना है । ब्रह्म में नरबुद्धि लाकर जो उसका अनादर होता है, उस भ्रम के मिटने में दारुण असम्भावना की निवृत्ति हुई ।

(३) 'पुनि पुनि प्रभुपद···'—बार-बार चरण पकड़ना कृतज्ञता में है, यथा—"मो पहिं होइ न प्रतिउपकारा । बंदउँ तव पद बारहिं बारा ।" (उ० दो० १२४), यह गरुड़जी ने कहा है । बार-बार चरण पकड़ना प्रेम की अधिकता से भी है, यथा—"पुनि-पुनि मिलति परति गहि चरना । परम प्रेम कछु जाइ न बरना ।।" (दो० १०१) ।

उमाजी की प्रीति मन, वचन और कर्म से शिवजी में प्रकट हुई, यथा—"प्रेमरस सानि"—मन, "बोली"—वचन और 'पद गहि' एवं 'जोरि पानि' से—कर्म स्पष्ट है ।

'गिरिजा'—क्योंकि गिरि (पहाड़) की तरह प्रीति अचल हो गई ।

ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी । मिटा मोह सरदातप भारी ।।१।।
तुम्ह कृपाल सब संसय हरेऊ । रामसरूप जानि मोहिं परेऊ ।।२।।
नाथ कृपा अब गयेउ बिषादा । सुखी भइउँ प्रभु-चरन-प्रसादा ।।३।।

शब्दार्थ—सरदातप = शरद ऋतु के चित्रानक्षत्र में स्थित सूर्य का घोर ताप जिससे मृग काले पड़ जाते हैं ।

अर्थ—चन्द्रमा की किरणों के समान आपके वचनों को सुनकर मेरा (भारी) मोह रूपी भारी शरदातप मिट गया ।।१।। हे कृपालो ! आपने मेरे सब संशय हर लिये, मुझे श्रीरामजी का स्वरूप (यथार्थ) समझ पड़ा ।।२।। हे नाथ ! अब आपकी कृपा से दुःख निवृत्त हुआ और, हे प्रभो ! आपके चरणों के प्रसाद से मैं सुखी हो गई ।।३।।

विशेष—(१) 'ससिकर सम···'—पूर्व में कहा था—"आनन सरदचंद-छबिहारी ।।" (दो० १०५) एवं "ससिभूषन अस हृदय बिचारी । हरहु नाथ मम मति-भ्रम भारी ।।" (दो० १०७) । अतः यहाँ वचनों को 'ससिकर' कहा, इसमें मुख चन्द्रमा और वचन किरणें हैं । कथा-पूर्ति पर भी कहेंगी, यथा—

"नाथ ! तवानन ससि स्रवत, कथा सुधा रघुबीर।" (उ० दो० ५२), पूर्व पार्वतीजी ने प्रार्थना की थी — १. 'हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी।' २. जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू।' ३. 'अजहूँ कछु संसय मन मोरे।' यहाँ तीनो की निवृत्ति कही गई है—१. सुनि सिव के भ्रम भंजन बचना।' २. 'मिटा मोह सरदातप भारी।' ३. 'तुम्ह कृपाल सब संसय हरेऊ।'

पूर्व शिवजी ने इन्हीं वचनों को रवि-किरण कहा था, यथा—"भ्रमतम रविकर बचन मम।' (दो० ११५), और यहाँ गिरिजाजी ने 'ससिकर सम' कहा। भाव यह —(क) भ्रम को तम कहा, इस सम्बन्ध से वचन को 'रविकर' कहा और यहाँ मोह को 'सरदातप' कहा। अतः, वचन को 'ससिकर' कहा। अन्धकार रात का और ताप दिन का विकार है अर्थात् रात-दिन के दुःख दूर हुए। (ख) शिवजी ने इनके भ्रम की निवृत्ति के लिये ही उक्त वचन कहे। श्रीपार्वती ने भ्रम-निवृत्ति के साथ आह्लाद का भी अनुभव किया, इसीसे 'ससिकर सम' कहा। चन्द्रमा की किरणें अन्धकार को दूर करती हुई आह्लादकारक भी होती हैं। पार्वतीजी ये ही दोनों गुण क्रमशः आगे की दो अर्द्धालियों से प्रकट करती हैं, यथा—"तुम्ह कृपाल सब संसय हरेऊ।···" यह अन्धकार का दूर होना है और—"नाथ कृपा अब···सुखी भइउँ···" यह आह्लाद पाना है। 'चदि-आह्लादने' इस धातु से चन्द्र शब्द निष्पन्न होता है।

देवी को मोह क्यों हुआ ? यह शंका उठाकर समाधान किया जाता है कि मोह किसको नहीं हुआ, यथा—"नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनि नायक आतमबादी॥ मोह न अंध कीन्ह केहि केही॥" (उ० दो० ६९), यहाँ तो ईश्वर की लीला में मोह होना है, ब्रह्माजी को लीला में मोह हुआ, इससे उन्होंने वत्स हरण किया था। शिवजी को मोहिनी रूप पर मोह हुआ, इन्द्र को गोवर्धन लीला में मोह होना है, इत्यादि।

(२) 'तुम्ह कृपाल सब संसय···'—श्रीपार्वतीजी ने प्रथम संशय-हरण ही के लिये कृपा करने की प्रार्थना की थी, यथा—"अजहूँ कछु संसय मन मोरे। करहु कृपा बिनवउँ कर जोरे॥" (दो० १०८)। उसीका फलितार्थ स्वरूप यहाँ कहा है। संशय के रहते हुए श्रीराम-स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता और न विषाद ही दूर होता है, यथा—"प्रभुहिं जानि मन हरष कपीसा॥ उपजा ज्ञान बचन तब बोला।··· मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥" (कि० दो० ६), अर्थात् सुग्रीवजी ने परीक्षा द्वारा संशय-निवृत्त किया, तब राम-स्वरूप में प्रतीति और प्रीति हुई तथा उनका विषाद दूर हुआ। वैसे ही यहाँ भी—'नाथ कृपा·····' से कहा है।

अब मोहि आपनि किंकरि जानी। जदपि सहज जड़ नारि अयानी॥४॥
प्रथम जो मैं पूछा सोइ कहहू। जौ मो पर प्रसन्न प्रभु अहहू॥५॥

अर्थ—यद्यपि मैं स्वाभाविक ही मूर्ख हूँ, फिर भी नारी और ज्ञानहीन हूँ तथापि अपनी दासी जानकर मुझे अब॥४॥ यदि मुझपर आप प्रसन्न हैं तो, हे प्रभो ! मैंने जो पहले पूछा है, वही कहिये॥५॥

विशेष—(१) 'अब मोहि आपनि···'—प्रथम ही श्रीपार्वतीजी ने दासी होने से कथा-श्रवण में अपना अधिकार ही कहा था, यथा—"जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी।" (दो० १०९)। वही हेतु यहाँ भी है। दासी कह प्रियत्व उद्दीप्त भी कराती हैं, यथा—"सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीति॥" (उ० दो० १५), फिर श्रीमैनाजी ने भी वर माँगा था—"नाथ उमा मम प्रान-प्रिय, गृह-किंकरी करेहु। छमहु सकल अपराध अब, होइ प्रसन्न बर देहु॥" (दो १०१), उसीका स्मरण कराते हुए 'किंकरी' कहा। अपने में नीच अनुसन्धान की दृष्टि से 'जड़, अयानी' कहा कि मैं पर्वत से उत्पन्न हूँ, तो सहज जड़ होना युक्त ही है और स्त्री होने से अज्ञानी होना भी योग्य ही है, यह कथन शिवजी के कहे हुए—"अज्ञ अकोविद अंध··· (दो० १४८) आदि वचनों पर है।

(२) 'प्रथम जो मैं पूछा···'—जो पूर्व में प्रश्न कहा गया—"प्रथम सो कारन कहहु बिचारी।

निर्गुन ब्रह्म सगुन बपुधारी ॥" (दो० १०१), उसीका स्मरण कराती हैं। 'जौ मोपर प्रसन्न ···' प्रसन्नता का अनुमान शिवजी के इन वचनों पर है कि—"धन्य धन्य गिरिराजकुमारी।···राम कृपा ते पारवति, सपनेहु···" (दो० ११२)।

राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी। सर्बरहित सब-उर-पुर-बासी ॥६॥
नाथ धरेउ नरतनु केहि हेतू। मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू ॥७॥

अर्थ—श्रीरामजी ब्रह्म हैं, वे ज्ञानमय, अविनाशी सबसे निर्लेप और सबके हृदय-रूपी पुर में निवास करनेवाले हैं॥ ॥ हे नाथ! उन्होंने नर-शरीर किसलिये धारण किया? हे वृषकेतु (शिवजी)! (वह) मुझे समझाकर कहिये ॥७॥

विशेष—(१) 'राम ब्रह्म चिन्मय···'—जो ज्ञानमय स्वरूप हैं, वे स्थूल शरीरधारी क्यों होंगे? ब्रह्म अर्थात् बृहत् हैं, यथा—"अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचराचरम्।" वह एक देशीय और एक छोटी सी देह क्यों धारण करेंगे? जो अविनाशी हैं, वे नाशवान प्राकृत देहधारी कैसे होंगे? जो सर्वरहित हैं, वे किसीके मित्र, शत्रु आदि क्यों होंगे? जो सबके हृदय के वासी हैं, वे एक के घर में आकर क्यों बसेंगे? पहले गिरिजा निर्गुण ब्रह्म और ही मानती थीं, अब राम-स्वरूप जान पड़ा, तब इन्हीं को 'राम ब्रह्म···' कहती हैं।

(२) 'नाथ धरेउ नर-तनु···'—उपर्युक्त गुणविशिष्ट का नर-तन (पाञ्चभौतिक शरीर) धरना बड़ा भारी आश्चर्य है, यह मेरी समझ में नहीं आता। अतः, मुझे समझाकर कहिये। 'बृषकेतू' आप धर्म को गौरव देनेवाले हैं, मैं आपकी दासी हूँ, जड़-अज्ञ आदि हूँ, मेरा अज्ञान दूर करना आपका धर्म है।

'समुझाइ कहहु—इसीसे शिवजी चार कल्पों के हेतु लेकर समझावेंगे। उनमें तीन कल्पों में तो विष्णु-नारायण का चतुर्भुज से नराकार द्विभुज रूप-धारण करना और उससे प्राकृत नरवत् लीला करना तथा एक कल्प में अपने अनन्य भक्त मनु-शतरूपा के वरदान की पूर्त्ति के हेतु एवं भानुप्रताप के रावण होने पर उससे संसार के उद्धार के लिये अपने नित्य द्विभुज किशोर-विग्रह में ही प्राकृत मनुष्य के समान शिशु, बाल, पौगण्ड आदि अवस्थाओं की लीलाएँ एवं और भी अनेक नर-नाट्य करना नर-शरीर धरने का तात्पर्य होगा।

उमाबचन सुनि परम बिनीता। राम-कथा पर प्रीति पुनीता ॥८॥

दोहा—हिय हरषे कामारि तब, संकर सहज सुजान।
बहु बिधि उमहिं प्रसंसि पुनि, बोले कृपानिधान ॥

अर्थ—तब श्रीपार्वतीजी के अत्यन्त नम्र वचन सुनकर और श्रीराम-कथा में उनकी पवित्र प्रीति देखकर ॥८॥ काम के शत्रु, स्वाभाविक सुजान शिवजी हृदय में प्रसन्न हुए और बहुत प्रकार से उमा की प्रशंसा करके वे कृपानिधान फिर बोले॥

विशेष—(१) 'उमा बचन सुनि···'—'परम बिनीता', यथा—"अब मोहि आपनि किंकरि जानी। जदपि सहज जड़ नारि अयानी॥" एवं और भी नाथ! प्रभु! आदि सम्बोधन नम्रतासूचक हैं। 'प्रीति पुनीता'—निःस्वार्थ भाव से कथा सुनने के लिये ही प्रश्न किये हैं, साथ ही जगत् के उपकार पर भी दृष्टि है। इसीलिये प्रीति को पवित्र कहा है, यथा—"सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥" (अ० दो० ३००) एवं—"भाइहि भाइहि परम समीती। सकल दोष छल-बरजित प्रीती॥" (दो० १५२)। उमा के प्रश्नों में अपनी विद्वत्ता दिखानी आदि दोष नहीं हैं, इससे भी प्रीति 'पुनीत' है।

(२) 'हिय हरषे कामारि ··'—छलहीन एवं पवित्र प्रीति-युक्त वचनों से हर्ष होता ही है, यथा—"सबके बचन प्रेम-रस साने। सुनि रघुनाथ हृदय हरषाने। (उ० दो० ४६)। ऐसे ही यहाँ भी गिरिजा के वचन हैं, यथा—"बोलीं गिरिजा बचन बर, मनहुँ प्रेम रस सानि ॥" (दो० ११९)। यहाँ शिवजी के विशेषण साभिप्राय हैं। 'कामारि'—हर्ष पार्वतीजी के रूप पर मोहवश नहीं है, किन्तु 'राम-कथा पर प्रीति पुनीता' देखकर ही है। वक्ता को ऐसा ही निष्काम भी होना चाहिये। 'संकर'—उमा के भ्रम दूर करके उनके द्वारा जगत् का कल्याण करते हैं। 'सहज सुजान'—श्रोता के हृदय के मर्म को सहज ही जान लेनेवाले हैं, यथा—"राम सुजान जानि जन जी की।" (अ० दो० ३०३)। इसीसे गिरिजाजी के भी हार्दिक प्रेम को जान लिया, यथा—"अंतर प्रेम तासु पहिचाना। मुनि-दुर्लभ-गति दीन्ह सुजाना ॥" (अर० दो० २६)। 'कृपानिधान'—क्योंकि अपने मानस का परम रहस्य कृपा करके सुनाते हैं, यथा—"संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा ॥" (दो० २९)।

(३) 'बहुबिधि उमहिं प्रसंसि ··' पूर्व—"धन्य धन्य गिरिराजकुमारी···"—से—"राम-कृपा ते पारवति···" (दो० ११२) तक में कह आये। उसीके अनुसार 'बहु बिधि' वाली प्रशंसा समझ लेनी चाहिये। यहाँ उसे न दुहराकर संकेत कर दिया। यह काव्य का चमत्कार है। 'पुनि' शब्द को दीप-देहली रूप में लेने से वह प्रशंसा भी स्वयं आ जाती है।

सोरठा—सुनु सुभ कथा भवानि, रामचरितमानस बिमल।
कहा भुसुंडि बखानि, सुना बिहगनायक गरुड़ ॥
सो संबाद उदार, जेहि बिधि भा आगे कहब।
सुनहु राम-अवतार, चरित परम सुन्दर अनघ ॥
हरिगुन नाम अपार, कथारूप अगनित अमित।
मैं निज मति अनुसार, कहउँ उमा सादर सुनहु ॥१२०॥

शब्दार्थ—उदार = बड़ा, श्रेष्ठ, दानशील। अनघ = निष्पाप एवं पापनाशक।

अर्थ—हे भवानी! रामचरितमानस की निर्मल एवं कल्याणकारिणी कथा सुनो, जिसे श्रीकाकभुशुण्डीजी ने विस्तारपूर्वक कहा है और पक्षियों के स्वामी गरुड़जी ने सुना है। वह उदार (भुशुण्डि-गरुड़) संवाद जिस रीति से हुआ, उसे मैं आगे कहूँगा। अभी श्रीरामजी के परम सुन्दर, निष्पाप एवं पाप-नाशक अवतार और चरित सुनो। हरि के गुण, नाम, कथा और रूप—ये सब अपार, अगणित और अमित हैं, मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहता हूँ, हे उमा! आदर के साथ सुनो ॥१२०॥

विशेष—(१) 'सुनु सुभ कथा···'—शुभ अर्थात् मंगल, यथा—"रामकथा जग मंगलकरनी ॥" (दो० ९), तथा—"सुनि सुभ कथा उमा हरषानी।" (उ० दो० ५१), "यह सुभ संभु-उमा-संबादा।" (उ० दो० १२९)। 'बिमल', यथा—"बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा ॥" (दो० ३४), "बिमल कथा हरि-पद-दायिनी। भगति होइ सुनि अनपायिनी ॥ (उ० दो० ५१)।

'कहा भुसुंडि बखानि···'—यहाँ शिवजी ने अपना संवाद भुशुण्डीजी के संवाद से मिलाया है। शिवजी ने भुशुण्डीजी को भी श्रीरामचरित दिया है और फिर स्वयं वहाँ जाकर सुना भी है, इससे इनके संवाद के बहुत अंश मिलते हैं—

	उमा-शम्भु (यहाँ)		गरुड़-भुशुण्डी (वहाँ)
	'गिरिजा सुनहु राम कै लीला।	१.	'असि रघुपति लीला उरगारी।
	सुरहित दनुज विमोहन सीला॥		दनुज विमोहन जन सुखकारी॥
	निज भ्रम नहि समुझहिं अज्ञानी।	२.	जे मति मलिन विषय बस कामी।
	प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥		प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी॥
	जथा गगन घनपटल निहारी।	३.	जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा।
	झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥		सो कह पच्छिम उयेउ दिनेसा॥
	चितव जो लोचन अंगुलि लाये।	४.	नयन दोष जा कहँ जब होई।
	प्रगट जुगल ससि तेहि के भाये॥		पीत बरन ससि कहँ कह सोई॥
	उमा राम विषयक अस मोहा।	५.	हरि बिषयक अस मोह बिहंगा।
	नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥		सपनेहु नहिं अज्ञान प्रसंगा॥
	अज्ञ अकोविद अंध अभागी।	६.	माया बस मतिमंद अभागी।
	काई विषय मुकुर मन लागी॥		हृदय जमनिका बहु बिधि लागी॥
	मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना।	७.	काम क्रोध.....ते किमि जानहिं।
	राम रूप देखहिं किमि दीना॥		रघुपतिहि, मूढ़ परे तम कूप॥

(२) 'सो संबाद उदार···'—वह संवाद-प्रसंग बड़ा है, उसके कहने में तुम्हारा प्रश्न पड़ा ही रह जायगा। अतः, उसे आगे (उ० दो० ५२) से कहूँगा। पुनः उदार का अर्थ देश, काल, पात्र न देखकर याचक मात्र को तृप्त करना है, वैसे उस संवाद में भक्ति का पक्ष है जो ऊँच-नीच—सभी का उद्धार करनेवाली है।

(३) 'सुनहु राम-अवतार···हरि-गुन नाम···'—पूर्व से शिवजी ने प्रतिज्ञा की थी—"राम नाम गुन चरित सुहाये। जनम करम अगनित श्रुति गाये॥···तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी। कहिहउँ देखि प्रीति अति तोरी॥" (दो० ११३)। फिर श्रीराम रूप-विषयक सगुण-निर्गुण-प्रसंग कहने लग गये, उसे पूरा करके फिर वही प्रसंग ग्रहण करके कहते हैं। यहाँ के 'अपार', 'अगनित', 'अमित', जथाश्रुत', 'सादर' आदि शब्दों के भाव एवं उदाहरण भी वहीं (दो० ११३ चौ० २, ४–५ में) देखिये।

कैलास-प्रकरण समाप्त।

अवतार-हेतु-प्रकरण

सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाये। बिपुल बिसद निगमागम गाये॥१॥
हरि-अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥२॥

शब्दार्थ—इदमित्थं (इदम् = यह, इत्थम् = ऐसे = यों) = यह ऐसा (ही) है।

अर्थ—हे पार्वती! सुनो, भगवान् के चरित सुन्दर हैं, बहुत हैं, उज्ज्वल हैं और वेदों तथा शास्त्रों के द्वारा गाये हुए हैं॥१॥ हरि का अवतार जिस कारण से होता है, वह 'यह ऐसा ही है' (इस प्रकार) नहीं कहा जा सकता॥२॥

विशेष—(१) 'सुनु गिरिजा···' श्रीशिवजी ने हरि के नाम, गुण और चरित की अनन्तता वर्णन में एक-एक को प्रधानता देते हुए गिरिजा को तीन बार सुनने को कहा और सावधान किया है—१. "राम नाम गुन चरित सुहाये। जनम करम अगनित श्रुति गाये॥" (दो० ११३) २. "हरि गुन नाम अपार, कथा रूप अगनित अमित।" ३. "सुनु गिरिजा हरि चरित सुहाये। बिपुल बिसद निगमागम गाये॥" तीन

बार कह कर इनकी अनन्तता विशेष पुष्ट की गई है। 'गिरिजा' पद का भाव यह कि सुनने में गिरि की तरह अचल—सावधान—रहना। 'हरिचरित'—क्योंकि चार कल्पों के चरित एक साथ रहेंगे, उनमें प्रथम विष्णु-नारायण के ही अवतार के हेतु कहेंगे। तब साकेत विहारी श्रीरामजी के अवतार के हेतु कहेंगे। 'हरि' शब्द से सबके भाव आ गये।

(२) 'हरि-अवतार हेतु जेहि···' कोई भी मुनि निश्चित करके यह नहीं कह सकता कि अमुक अवतार का अमुक कारण ही है। एक ही अवतार के भी अनेक हेतु होते हैं। जैसे साकेतविहारी के ही अवतार में प्रथम श्रीजानकीजी की प्रार्थना हेतु है। यह भगवद्गुणदर्पण में कहा है। फिर मनु शतरूपा का वरदान और भानुप्रताप-रूपी रावण का उद्धार एवं विप्र-धेनु-सुर-सन्त-रक्षा आदि कई हेतु हैं।

यहाँ से—"नाथ धरेउ नर-तनु केहि हेतू॥" (उपर्युक्त) का उत्तर चल रहा है। यद्यपि श्रीपार्वतीजी ने साकेतविहारी को ही वन में देखा और परीक्षा में उसी रूप में नित्यत्व भी देखा था। अतः, उनका उस नित्यरूप में बाल-पौगंडादि अवस्थाएँ एवं प्राकृत नर नाट्य ही पूछने का अभिप्राय 'नर-तनु धरेउ' कहने में है, तथापि शिवजी और प्रकार के भी अवतारों के हेतु कहेंगे जिससे अन्य अवतारों की बात सुनकर फिर भ्रम न हो जाय कि यह ऐसा क्यों ? मैंने तो ऐसा ही सुना था।

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी॥३॥
तदपि संत मुनि बेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति-अनुमाना॥४॥
तस मैं सुमुखि सुनावउँ तोही। समुझि परइ जस कारन मोही॥५॥

शब्दार्थ—अतर्क्य = तर्क-शास्त्र से न सिद्ध होने योग्य, यथा—"मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥" (दो० ३००), तथा—"यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह॥" (तैत्तिरीय २।४)। अनुमान = अटकल, अंदाज।

अर्थ—श्रीरामजी बुद्धि, मन और वाणी—तीनों से अतर्क्य हैं, हे सयानी ! सुनो, ऐसा हमारा मत है॥३॥ तो भी जैसा कुछ सन्त, मुनि, वेद और पुराण अपनी-अपनी बुद्धि की अटकल से कहते हैं॥४॥ (और) जैसा कुछ कारण मुझे समझ पड़ता है, हे सुमुखि ! मैं तुमको वैसा ही सुनाता हूँ॥५॥

विशेष—(१) 'राम अतर्क्य···' सयाने लोग थोड़े ही इशारे से बहुत-कुछ समझ लेते हैं। इससे तुम समझ लो कि श्रीरामजी की तरह उनके जन्म, कर्म आदि सभी अतर्क्य ही हैं, यथा—"बेद बचन मुनि-मन अगम" (अ० दो० १६६), अर्थात् वेद के वचन और मुनियों के मन उत्कृष्ट हैं। रामजी उन दोनों से भी अगम्य हैं, ऐसा स्पष्ट कहा गया है। शास्त्रों में कहा गया है—"अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत" अर्थात् अचिन्त्य भावों का तर्क से निर्णय करना मना है, क्योंकि मनुष्य की बुद्धि, मन और वाणी परिमित हैं और श्रीरामजी एवं उनके चरित आदि अगणित-अमित आदि हैं। फिर वे इनके कोरे तर्क में कैसे आ सकते हैं ?

(२) 'तदपि संत मुनि···'—पहले तर्क से कहना मना किया गया है फिर यहाँ कहना भी कहा गया है। भाव यह कि शुष्क तर्क (मनुष्य की बुद्धि मात्र से उत्पन्न तर्क) से मना किया गया है, परन्तु वेद-पुराण के अनुसार फिर सन्त-मुनि आदि का 'स्वमति अनुमान' से कहना भी कहा गया है, यथा—"प्रत्यक्षं चानुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥ आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राऽविरोधिना। यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥" (मनु० १२।१०५-१०६), अर्थात् धर्मशुद्धि चाहनेवाले पुरुषों को प्रत्यक्ष, अनुमान और विविध प्रकार के आगम शास्त्र—इन तीनों (प्रमाणों) को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। ऋषियों के द्वारा प्रकट किये हुए वेद और स्मृति आदि के धर्मोपदेश का जो वेद-शास्त्र से अविरुद्ध तर्क के द्वारा अनुसन्धान करता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नहीं।

इस दृष्टि से शिवजी 'स्वमति अनुमान' से कह रहे हैं, तथा—"सब जानत प्रभु-प्रभुता सोई । तदपि कहे बिनु रहा न कोई ॥" (दो० १२), "निज निज मति मुनि हरि-गुन गावहिं । निगम सेष सिव पार न पावहिं ॥" (उ० दो० ९०) ।

(३) 'तस मैं सुमुखि···' 'तस' शब्द दीपदेहली रूप में है । अतः, अर्थ होगा कि सन्त-मुनि आदि का और मेरा अपना (शिवजी का) मत भी । शिवजी का अपना पृथक् मत—जैसे भानुप्रताप की कथा जहाँ कही गई है, वहाँ शिव-उमा के संवाद-रूप में ही प्रायः पाई जाती है अथवा सन्त-मुनि-वेद-पुराण तो बहुत कहते हैं, पर उनमें जितना मेरी बुद्धि में आ सका, उसके अनुसार कहता हूँ, यह कार्पण्य भी है ।

जब जब होइ धरम कै हानी । बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥६॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी । सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी ॥७॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा । हरहिं कृपानिधि सज्जनपीरा ॥८॥

दोहा—असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति-सेतु ।
जग बिस्तारहिं बिसद जस, रामजनम कर हेतु ॥१२१॥

अर्थ—जब-जब धर्म की हानि होती है, नीच (पापी) अभिमानी असुर बढ़ जाते हैं ॥६॥ वे ऐसी अनीति करते हैं कि जो कही नहीं जा सकती । (उनसे) ब्राह्मण, गाय, देवता और पृथ्वी सीदते (दुःख पाते) हैं ॥७॥ तब-तब वे कृपासागर प्रभु भाँति-भाँति के शरीर धारणकर सज्जनों की पीड़ा दूर करते हैं ॥८॥ वे असुरों को मारकर देवों को स्थापित करते हैं, अपनी वेदों की मर्यादा की रक्षा करते हैं और जगत् में अपना उज्ज्वल यश फैलाते हैं—ये (कार्य) श्रीराम-जन्म के कारण हैं ॥१२१॥

विशेष—(१) 'जब जब होइ···' यथा—"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थान-मधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः । त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥" (गीता ४।७-९), तथा—"इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति । तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरि-संक्षयम्" (मार्कण्डेयपुराण, सप्तशती, अ० ११), इत्यादि सब प्रसंग विशेष मिलते हैं । धर्म, यथा—"प्रभवार्थाय भूतानां धर्म प्रवचनं कृतम् ॥ यत्स्यादहिंसा संयुक्तं स धर्म इति निश्चयः । अहिंसार्थाय हिस्राणां धर्मप्रवचनं कृतम् ॥ धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजाः । यत्स्याद्धारण संयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥" (महा० कर्ण० ६९।५६-५८), अर्थात् मनुष्यों की उन्नति के लिये ही मुनियों ने समयानुसार धर्म के लक्षण निर्माण किये हैं । मेरी बुद्धि के निश्चय से तो किसी की हिंसा न करना, यही धर्म है । मुनियों ने हिंसकों की हिंसा रोकने के लिये ही धर्म के अनेक वचन लिख दिये हैं । जो धारण करता है वही धर्म कहाता है, धर्म प्रजा को धारण करता है, इसलिये उसे धर्म कहते हैं ।

(२) धर्म की हानि का कारण असुरों की बाढ़ है, वे अनीति करते हैं, यथा—"बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं । हिंसा पर अति प्रीति, तिन्ह के पापहिं कवन मिति ॥" (दो० १८३) । 'सीदहिं बिप्र···' यथा—"जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं । नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं ॥" (दो० १८२), "देवन्ह तके मेरु-गिरि-खोहा (दो० १८१), "अतिसय देखि धरम कै हानी । परम सभीत धरा अकुलानी ॥" (दो० १७३), इत्यादि ।

(३) 'तब तब प्रभु···'—'बिबिध सरीरा', यथा—"मीन कमठ सूकर नरहरी । बामन परसुराम बपु धरी । जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो । नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो ॥" (लं० दो० १०९) । जब

जैसा काम पड़ा, वैसा ही शरीर धारण किया, विविध शरीर धरने में 'प्रभु' कहा, क्योंकि यह प्रभुता का कार्य है और पीड़ाहरण में कृपानिधि कहा, क्योंकि यह कृपा एवं करुणा का काम है।

(४) 'जग बिस्तारहिं बिसद जस···' यथा—"यस्यामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्। तन्नाकपालवसुपालकिरीटजुष्टपादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये॥" (भाग० ९।११।२१), अर्थात् श्रीरामजी का निर्मल यश सारे पापों का नाशक है। वह इतना फैल गया कि दिग्गजों का श्याम शरीर भी उसकी उज्ज्वलता से चमक उठता है। आज भी (जब कि दूसरा वर्त्तमान का कृष्णावतार हो चुका है) बड़े-बड़े ऋषि राजाओं की सभा में उसका गान करते रहते हैं। स्वर्ग के देवता और पृथ्वी के राजा अपने कमनीय किरीटों से उनके चरण-कमलों की सेवा किया करते हैं। मैं उन्हीं रघुकुल शिरोमणि भगवान् श्रीरामजी की शरण ग्रहण करता हूँ, तथा—"जिन्हके जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रवि सीतल लागे॥" (दो० २९१)। और बातें सब अवतारों में प्रायः तुल्य रहती हैं, पर विशद यश विस्तार करना श्री रामजी ही में सर्वोपरि है, क्योंकि आप मर्यादापुरुषोत्तम हैं, यथा—"मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षो वधायैव न केवलं विभोः।" (भाग० ५।१९।५ , अर्थात् भगवान् का यह मनुष्यावतार केवल रावणादि राक्षसों के मारने के लिये ही नहीं हुआ, किन्तु मनुष्यों को शिक्षा देने के लिये हुआ है, तथा—"चारित्रेण च को युक्तः।" (वाल्मी० मू०)।

सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं॥१॥
रामजनम के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक ते एका॥२॥
जनम एक दुइ कहउँ बखानी। सावधान सुनु सुमति भवानी॥३॥

अर्थ—वही यश गाकर भक्तलोग संसार-सागर तरते हैं, (अतः) वे कृपा के समुद्र अपने भक्तों का हित करने के लिये शरीर धारण करते हैं॥१॥ श्रीरामजी के जन्म के बहुत से कारण हैं, वे एक-से-एक परम विचित्र हैं॥२॥ मैं उनके दो-एक जन्म बखान कर कहता हूँ, हे सुन्दर बुद्धिवाली भवानी! तुम सावधान होकर सुनो॥३॥

विशेष—(१) 'सोइ जस गाइ भगत···'—यहाँ तरने में भक्त मुख्य होते हैं। इससे ये ही कहे गये, और जो कोई यश गावेंगे, वे भी तरेंगे, यथा—"करिहउँ चरित भगत सुख दाता॥ जेहि सुनि सादर नर बड़ भागी। भव तरिहहिं ममता मद त्यागी॥" (दो० १५१), तथा—'मोहि सहित-सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं। संसार सिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं॥" (लं० दो० १०५), जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ-गाइ भवनिधि नर तरिहहिं॥" (लं० दो० ६४)।

(२) 'जनम एक दुइ कहउँ···'—श्री पार्वतीजी को सती-शरीर में शंका हुई थी—"बिष्नु जो सुर-हित नरतनुधारी। सोउ सर्बज्ञ जथा त्रिपुरारी॥ खोजइ सो कि अज्ञइव नारी।" (दो० ५०), इसीसे शिवजी प्रथम विष्णु भगवान् के दो जन्म और क्षीरशायी भगवान् का एक जन्म कहेंगे। इन तीन कल्पों के तीन हेतु कहकर विश्राम देते हुए चौथे में श्रीराम-जन्म के हेतु कहेंगे, जिसके लिये गिरिजाजी के मुख्य प्रश्न हैं। 'एक दुइ'—लोकोक्ति के अनुसार अनेकों हेतुओं में एक-दो (कुछ थोड़े) कह दूँगा। यहाँ यही अर्थ है। यद्यपि यहाँ प्रथम दो और फिर एक कहेंगे, तथापि यहाँ वैसे क्रम से शब्द नहीं हैं, प्रत्युत प्रथम एक पद है, तब दो (दुइ) है। 'सावधान'—क्योंकि उमा ने कहा था—"मोहिं समुझाइ कहहु···"। अतः, कहते हैं कि चित्त लगाकर विचारती हुई सुनो। 'सुमति'—संक्षेप ही में कहूँगा तो भी सुन्दर मति से समझ लो, यथा—"ताते मैं अति अलप बखाने। थोरे महँ जानिहहिं सयाने॥" (दो० ११)।

उपर्युक्त विष्णु से त्रिदेव-गत विष्णु ही समझना चाहिये, क्योंकि उनके लिये 'जथा त्रिपुरारी' कहा गया है। ये भी श्रीरामजी का अवतार लेते हैं, यथा—"भार्गवोऽयं पुरा भूत्वा स्वीचक्रे नाम ते

विधिः। विष्णुर्दाशरथिर्भूत्वा स्वीकरोत्यधुना पुनः॥ सङ्कर्षणस्ततश्चाहं स्वीकरिष्यामि शाश्वतम्। एकमेव त्रिधायातं सृष्टिस्थित्यन्तहेतवे॥" (स्कन्दपुराण, निर्वाणखण्ड, श्रीरामगीता, महादेवजी की उक्ति *)

द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ। जय अरु बिजय जान सब कोऊ॥४॥
बिप्रस्राप ते दूनउँ भाई। तामस असुर देह तिन्ह पाई॥५॥
कनककसिपु अरु हाटकलोचन। जगतबिदित सुरपति-मद-मोचन॥६॥
बिजई समर बीर बिख्याता। धरि बराहबपु एक निपाता॥७॥
होइ नरहरि दूसर पुनि मारा। जन प्रहलाद-सुजस बिस्तारा॥८॥

शब्दार्थ— तामस = तमोगुण सम्बन्धी। कनककसिपु = हिरण्यकशिपु। हाटकलोचन = हिरण्याक्ष। बिजई (विजयी) = जय पानेवाले। बपु = देह। बराह (वाराह) = शूकर। निपाता = नाश किया। नरहरि = नृसिंह भगवान्। जन = भक्त।

अर्थ—भगवान् विष्णु के प्रिय द्वारपाल (ड्योढ़ीदार) जय और विजय दोनो हैं, इन्हें सब कोई जानते हैं॥४॥ दोनों भाइयों ने विप्र (सनकादिक) के शाप से तामसी असुर शरीर पाया॥५॥ वे हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष के नामों से जगत् में प्रसिद्ध हुए, जो इन्द्र के गर्व को छुड़ानेवाले थे॥६॥ वे युद्ध में विजयी और वीरों में प्रसिद्ध हुए। (हरि ने) वाराह-शरीर धारण कर एक (हिरण्याक्ष) को मार डाला॥७॥ फिर नृसिंह होकर दूसरे (हिरण्यकशिपु) को मारा और प्रह्लाद भक्त का सुयश फैलाया॥८॥

विशेष—(१) 'द्वारपाल हरि के प्रिय ··'—यह कथा भाग० ३।१५-१६ के अनुसार यों है—ब्रह्माजी ने देवताओं से कही है—सनकादिक इच्छानुसार विचरते हुए योग-बल से एक बार शुद्ध सत्त्वमय वैकुण्ठधाम गये। वहाँ इन्हें बड़ा आनन्द मिला। श्रीहरि के दर्शनों की लालसा में भगवद्धाम की छः कक्षाएँ (ड्योढ़ियाँ) पार कर गये। सातवीं पर भी वैसे ही जाना चाहते थे। वहाँ के जय-विजय द्वारपाल थे। उनके देखते हुए भी समदर्शी मुनियों ने निःशंक भाव से बिना उनसे पूछे प्रवेश करने लगे। ये चारो ब्रह्मसृष्टि में सबसे ज्येष्ठ हैं, पर शिशु अवस्था में नंगे रहते हैं। शुद्धसत्त्वमय धाम के विपरीत इनकी हँसी उड़ाते हुए जय-विजय ने बेंत अड़ा कर रोक दिया। इस अपमान पर वे चारो कुमार क्रुद्ध हो गये और कहा—"तुमलोग समदर्शी भगवान् के पार्षद हो, पर उनके विपरीत बहुत मन्द बुद्धि हो। अतः, तुम्हारा कल्याण करते हुए हम तुम्हें दण्ड का विचार करते हैं। तुम भेद-बुद्धि से इस वैकुण्ठ से निकलकर पापमय योनियों में जाओ। जहाँ काम, क्रोध, लोभ ये प्राणियों के तीन शत्रु निवास करते हैं।"

इस घोर शाप पर दोनों मुनियों के चरणों पर पड़ प्रार्थना करने लगे—"हमने हरि का अभिप्राय न समझ कर उनकी आज्ञा का उल्लंघन किया है। अतः, इस दण्ड से वह पाप धुल जायगा, पर हमारी दुर्दशा पर यदि आपको करुणा हो तो ऐसी कृपा कीजिये कि नीच-से-नीच योनियों में जाने पर भी हमें भगवत्स्मृति का नाश करनेवाला मोह न हो।"

इधर श्रीहरि ने यह जानकर श्रीजी के साथ स्वयं चल कर वहाँ आ गये। सनकादिक उनकी स्तुति करने लगे। भगवान् ने कहा—"ये दोनों मेरे पार्षद हैं, इन्होंने मेरी अवहेलना कर आपलोगों का अपमान किया है, आपलोग भी मेरे भक्त हैं। जो इन्हें दण्ड मिला है, वह मुझे भी अभिमत है। आप मुझ-पर प्रसन्न हों और ऐसी कृपा करें कि ये लोग शीघ्र मेरे पास आ जायँ।" भगवान् के गूढ़ अभिप्राय मुनि

* इन दो श्लोकों की विस्तृत व्याख्या श्रीरामस्तवराज भाष्य (पृ० ५६-५९) में देखिये।

न समझ सके, उन्होंने कहा—"प्रभो ! आपने कहा 'यह आपने, मुझपर अनुग्रह किया है' इसका क्या भा है ? आप जैसा चाहें, वैसा विधान करें, यदि हमने इन्हें अनुचित शाप दिया है तो हमें दण्ड दे वह हमें स्वीकार है।" भगवान् ने कहा—"यह शाप मेरी ही प्रेरणा से हुआ है। अब ये शीघ्र दैत्य योनि को प्राप्त होंगे, फिर शीघ्र मेरे पास लौट आयेंगे।"

मुनि प्रदक्षिणा कर चले गये। पीछे भगवान् ने पार्षदों (जय-विजय) से कहा—"जाओ, मन में किसी प्रकार का भय मत करो। तुम्हारा कल्याण होगा। मैं सब कुछ करने में समर्थ होकर भी ब्रह्म शाप को मिटाना नहीं चाहता। एक बार जब मैं योग-निद्रा में स्थित हो गया था, तब तुमने द्वार में प्रवेश करती हुई लक्ष्मीजी को रोका था। उस समय उन्होंने क्रुद्ध होकर पहले ही तुम्हें यह शाप दे दिया था। अब शुद्ध होकर मेरे पास आ जाओगे।"

(२) 'कनककसिपु अरु···'—ग्रन्थकार प्रायः बड़े-छोटे भाई को क्रम से लिखकर सूचित करते हैं यथा—"नाम राम लछिमन दोउ भाई।" (कि० दो० १), "नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई।" (कि० दो० ५) अतः, यहाँ हिरण्यकशिपु को बड़ा और हिरण्याक्ष को छोटा जनाया, यथा—"हिरण्यकशिपुर्ज्येष्ठो हिरण्याक्षोऽनुजस्ततः। (भाग० ७।१।३९)।

(३) 'धरि बराह-बपु···'—भाग० स्कं ३, अ० १३, १८ और १९ में यह कथा विस्तार से है। यह संक्षेप में दी जाती है - सृष्टि के आदि में ब्रह्माजी से मनु-शतरूपा हुए। उन्हें ब्रह्माजी ने धर्म से प्रजा-पालन की आज्ञा दी, तब मनु ने कहा कि मेरे और प्रजा के लिये स्थान बतलाइये। पृथ्वी तो महाजल में डूबी हुई है। ब्रह्माजी चिन्ता करने लगे कि सहसा उनकी नासिका से एक अंगुष्ठ-प्रमाण का वराह शिशु निकल पड़ा। वह उनके देखते-देखते पल-मात्र में हाथी के समान हुआ, फिर पर्वताकार होकर गरजने लगा। ब्रह्माजी और उनके पुत्र मरीचि आदि चकित हुए। फिर निश्चय किया कि यज्ञपुरुष ने मेरी चिन्ता हरने के लिये अवतार लिया है, फिर उनकी स्तुति की। तब वाराह भगवान् प्रलय के महाजल में प्रवेश करके डूबी हुई पृथ्वी को अपने दाँत पर उठाये हुए रसातल से निकले।

उनके मार्ग में बाधा करते हुए जल में ही हिरण्याक्ष ने सामने आकर रोका और अनेक कटु वचन कहे, परन्तु भगवान् ने उनपर ध्यान न देकर उसके देखते-देखते पृथ्वी को जल पर स्थित कर और उसमें अपनी आधारशक्ति देकर तब व्यंग्य वचन कहते हुए दैत्य का सामना किया। दैत्य ने गदा-त्रिशूल आदि से घोर युद्ध किया, फिर अपने माया-बल से छिपकर भी लड़ता रहा। भगवान् भी गदा और सुदर्शन चक्र से प्रहार करते रहे, अन्त में लीलापूर्वक उसको ऐसा तमाचा जड़ दिया कि उसका प्राणान्त ही हो गया।

(४) 'होइ नरहरि दूसर···'—इसकी कथा सूक्ष्म रूप से दो० २७ में भी है और अत्यन्त प्रसिद्ध है। ऊपर कहा गया—'जग बिस्तारहिं बिसद जस' और यहाँ—'जन प्रहलाद-सुजस बिस्तारा।' कहते हैं। भाव यह कि भगवान् जैसे अपने यश का विस्तार करते हैं, वैसे अपने भक्तों का भी, क्योंकि दोनों से संसार का हित होता है। जनों का यश इस तरह फैलाते हैं कि जैसे श्रीभरतजी परम प्रिय भक्त हैं, फिर भी १४ वर्षों का वियोग देकर एवं वैसा हेतु रचकर उनका प्रेम, त्याग एवं निष्ठा प्रकट की, जिससे उनका यश फैला और जगत् को उपदेश हुआ। श्रीजानकीजी का महत्त्व प्रकट करने के लिये अग्नि-परीक्षा कराई। ऐसे ही श्रीप्रह्लादजी का सुयश फैलाने के लिये उनके वचनानुसार खम्भे से प्रकट हुए, यथा—"सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः। अदृश्यताद्भुतरूपमुद्वहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥" (भाग० ७-८।१८), अर्थात् भगवान् अपने दास प्रह्लाद के वचन को एवं अपनी सर्वव्यापकता को सत्य प्रमाणित करने के लिये सभा में खम्भे में अपूर्व रूप से प्रकट हुए, भगवान् का शरीर न मृग था और न मनुष्य ही, अर्थात् आधा शरीर मनुष्य का आधा सिंह का था। पुनः उनके विरोधी के वध में

विलम्ब लगाया, पीछे सन्ताप करते हुए अपना वात्सल्य प्रकट किया है, यथा—"क्वेदं वपुः क्व च वयः सुकुमारमेतत्क्वैताः प्रमत्तकृत दारुणयातनास्ते। अवलोकितं विषमेतदभूतपूर्वं क्षन्तव्यमङ्ग यदि चागमने विलम्बः॥" अर्थात् नृसिंह भगवान् प्रह्लाद को गोद में लेकर कहते हैं कि इस प्रकार का विषम काण्ड! कहाँ तो तुम्हारी शिशु-अवस्था तथा सुकुमार शरीर और कहाँ इस प्रमत्त दैत्य की, की हुई दारुण यातनाएँ? हे वत्स! यह देखते हुए भी मुझे आने में विलम्ब हुआ, इसे क्षमा करो (विलम्ब लगा कर इनकी निष्ठा दिखाई है)।

'प्रहलाद-सुजस', यथा—"प्रेम बदौं प्रहलादहिं को जिन्ह पाहन ते परमेश्वर काढ़े।" (क० उ० १२७)।

'बिप्र साप···तामस असुर ··'—यहाँ सनकादि मुनियों को विप्र ही कहा है, ऋषि-मुनि नहीं, क्योंकि विप्र ही प्रायः क्रुद्ध हो विना विचारे शाप दे दिया करते हैं, जैसे भानु-प्रताप के प्रसंग में स्पष्ट है, तथा—"शापो मयैव निमितस्तदैव विप्राः।" (भाग० ३।१६।२६)। यह इसी प्रसंग के शाप देने पर कहा गया है तथा इन्हींके तीसरे जन्म के प्रसंग पर भी "विप्रशापात्पदाच्च्युतौ" (भाग० ७।१।३२) कहा गया है। इन दोनों प्रसंगों पर शाप देने के प्रसंगों में व्यासजी ने भी विप्र ही कहा है। 'तामस असुर···'—पहले दैत्य होने में तमोगुण प्रधान था, इससे भगवान् ने भी दोनों को अत्यन्त क्रोध से मारा था। फिर रावण-कुम्भकर्ण होने में राक्षस रावण में तमोगुण गौण और रजोगुण प्रधान रह गया था—"काटत बढ़हिं सीस समुदाई। जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई॥" (लं० दो० १००), फिर तीसरे जन्म में शिशुपाल रूप तमोगुण रजोगुण के साथ कामुकता प्रधान थी, क्योंकि विवाह-विरोध से इसने भारी वैर किया और फिर मारा गया। अतः, तीन जन्मों में क्रमशः क्रोध, लोभ और काम विकार की प्रधानता थी, भगवान् के द्वारा शुद्ध हुई।

ऊपर शाप-प्रसंग में कहा गया है—काम, क्रोध, लोभ वाली पापमय योनियों में जाओ और फिर भाग० ७।१।३८ में स्पष्ट कहा भी है कि 'तीन जन्मों में इस शाप को भोगकर तुमलोग फिर वैकुण्ठ में आ जाना।'

दोहा—भये निसाचर जाइ तेइ, महाबीर बलवान।
कुम्भकरन रावन सुभट, सुरबिजई जग जान॥१२२॥

मुकुत न भये हते भगवाना। तीनि जनम द्विजबचन प्रमाना॥१॥

अर्थ—वे ही (दोनों) महावीर और बलवान् कुम्भकर्ण और रावण (नाम के) राक्षस हुए, जो बड़े योद्धा और देवताओं को जीतनेवाले हुए, उन्हें सारा जगत् जानता है॥१२२॥ भगवान् के हाथ से मारे जाने पर भी वे मुक्त नहीं हुए, क्योंकि ब्राह्मणों के वचन का प्रमाण तीन जन्मों के लिये था॥१॥ (प्रमाण = सीमा, अवधि, पर्यन्त)।

विशेष—(१) 'भये निशाचर ··' वे दोनों सत्ययुग में दैत्य, त्रेता में निशाचर और द्वापर में आसुरी प्रकृति के क्षत्रिय हुए। क्रमशः विकारावस्था कम होती आई। अन्त में मुक्त हुए। 'निसाचर' शब्द से त्रेता युग में 'कुंभकरन-रावन' का होना जनाया। पूर्वार्द्ध में कारण कहकर उत्तरार्द्ध में कार्य कहा। वे महावीर हैं, इसीसे सुभट कहे गये, बलवान् हैं, इसीसे सुरविजयी हुए और इन्हीं बातों से उनकी प्रसिद्धि जगत् में हुई।

तीनों रूपों में वे जगत्-प्रसिद्ध ही हुए, यथा -"जय अरु बिजय जान सब कोऊ। "जगत बिदित सुरपतिमदमोचन।" और यहाँ—"सुरबिजई जग जान।" इसमें 'सुर' से इन्द्रादि समस्त देवताओं का अर्थ है।

(२) यहाँ शिवजी ने दो ही जन्म कहे, तीसरा नहीं, क्योंकि इन्हें श्रीराम-जन्म के हेतु पर्यन्त ही कहने का प्रयोजन है। आगे की बात अगली अर्द्धाली से जना दी है।

(३) 'मुकुत न भये हते···'—भगवान् के हाथ से मरने पर मुक्ति होती है, पर उनकी न हुई। उसका कारण यहाँ कहा। ब्रह्म-शाप तीन बार जन्म लेने के लिये था। प्रमाण ऊपर लिखे गये हैं। भगवान् ब्रह्मण्यदेव हैं, अतएव ब्राह्मणों के वचन रखते हैं। भक्तों पर भी वात्सल्य है। तभी तो उनके उद्धार के लिये आपने चार बार जन्म लिया—बाराह, नृसिंह, श्रीराम और श्रीकृष्ण। भगवान् ने कृष्ण-रूप से द्वापर में उन दोनों के शिशुपाल और दन्तवक्र होने पर वध कर उनको मुक्त किया।

शंका—जय-विजय भगवान् के प्रिय पार्षद थे। फिर शाप से उनकी रक्षा क्यों न की ?

समाधान—(क) जगत् के सभी व्यापार किसी कारण पर ही होते हैं, वैसे उनके भी कारण लिखे गये। भगवान् अपने प्रिय भक्तों के सूक्ष्म पाप भी शुद्ध कर लेते हैं। जय-विजय भगवान् के पार्षद हैं। अतः, उनकी प्रकृति भी स्वामी के अनुकूल चाहिये। भगवान् तो ब्रह्मण्यदेव हैं और वे ब्राह्मणों का अनादर करनेवाले हुए। स्वामी के इष्ट का अपमान भारी पाप है। भगवान् ने उनके प्रियत्व से उनकी अपेक्षा एक जन्म अधिक भी लिया और उन्हें शुद्ध किया।

(ख) भगवान् वैदिक विधि स्थापन के लिये एवं अपनी लीला-विधि में प्रिय भक्तों को भी माया-वश करके उनके साथ क्रीड़ा करते हैं, जैसे श्रीनारदजी को मोहवश किया। आगे दोहा १२७ के विशेष में प्रमाण देखें।

एक बार तिन्ह के हित लागी। धरेउ सरीर भगत - अनुरागी ॥२॥
कस्यप अदिति तहाँ पितु माता। दसरथ कौसल्या बिख्याता ॥३॥
एक कलप येहि बिधि अवतारा। चरित पवित्र किये संसारा ॥४॥

अर्थ—एक बार भक्तों के अनुरागी भगवान् ने उनके हित के लिये शरीर (नराकार द्विभुज शरीर-श्रीरामरूप) धारण किया ॥२॥ वहाँ (उस अवतार में) उनके पिता-माता कश्यप और अदिति हुए, जो दशरथ और कौशल्या के नाम से प्रसिद्ध हुए ॥३॥ एक कल्प में इस तरह अवतार लेकर उन्होंने अपने चरित्रों से संसार को पावन किया।

विशेष—(१) 'एक बार तिन्ह के·····'—यद्यपि उपर्युक्त ब्रह्म-शाप के सम्बन्ध से एक ही कल्प में चार बार आपने शरीर धारण किया, तथापि यहाँ एक बार कहा है, क्योंकि उमाजी ने श्रीरामजी के ही अवतार-विषय में प्रश्न किया, वह एक बार ही रावण-कुम्भकर्ण के वध के लिये हुआ। 'हितलागी'—रावण-कुम्भकर्ण के शरीर छुड़ाकर शिशुपाल-दन्तवक्र के कर दिये।

(२) 'कस्यप अदिति तहाँ···'—भाव यह कि और भी दशरथ-कौशल्या होते हैं, जैसे मनु-शतरूपा की कथा आगे आवेगी। आगे दो० १८६ चौ० २ भी देखिये।

एक कलप सुर देखि दुखारे। समर जलंधर सन सब हारे ॥५॥
संभु कीन्ह संग्राम अपारा। दनुज महाबल मरइ न मारा ॥६॥
परम सती असुराधिपनारी। तेहि बल ताहि न जितहिं पुरारी ॥७॥

दोहा—छल करि टारेउ तासु ब्रत, प्रभु सुरकारज कीन्ह।
जब तेहि जानेउ मरम तब, स्राप कोप करि दीन्ह ॥१२३॥

अर्थ—एक कल्प में जब सब देवता लोग जलन्धर दैत्य से संग्राम करके हार गये, (श्रीयाज्ञवल्क्यजी

कहते हैं कि) तब उन्हें दुःखी देखकर ॥५॥ शिवजी ने घोर संग्राम किया, पर वह दैत्य महाबली था, मारे न मरता था ॥६॥ उस दैत्यराज की स्त्री (वृन्दा) बड़ी पतिव्रता थी, उसीके बल से त्रिपुर दैत्यों के नाशक (शिवजी) भी उस दैत्य को नहीं जीत पाते थे ॥७॥ प्रभु ने छल करके उस स्त्री का पातिव्रत्य छुड़ाया और देवताओं का कार्य किया, जब उसने यह भेद जाना, तब कोप करके शाप दिया ॥१२३॥

विशेष—(१) 'एक कलप सुर···'—'जलंधर'—यह शिवजी के कोपाग्नि से समुद्र में उत्पन्न हुआ था। पैदा होते ही बड़े जोर से रोने लगा, जिससे देवता व्याकुल हो गये। ब्रह्माजी के पूछने पर समुद्र ने इसे अपना पुत्र कहकर उन्हें दे दिया। ब्रह्माजी ने ज्यों ही इसे गोद में लिया कि इसने उनकी दाढ़ी बड़े जोर से खींची। इससे उनके आँसू निकल पड़े, इसीसे ब्रह्माजी ने इसका नाम 'जलन्धर' रक्खा। इसने इन्द्र की अमरावती पर अधिकार कर लिया। इन्द्र के पक्ष से शिवजी ने इससे बड़ा घोर संग्राम किया, पर जीत न हुई, क्योंकि इसकी स्त्री वृन्दा परम सती थी। (वह कालनेमि की कन्या थी)। शिवजी पातिव्रत्य-प्रभाव की मर्यादा रक्षा करते हुए लड़ रहे थे। वृन्दा ने पति के प्राण बचाने के लिये ब्रह्माजी की पूजा प्रारम्भ की। तब शिवजी ने भगवान् का स्मरण करके सहायता चाही। (भगवान् यती-रूप से वृन्दा के घर के पास विचरने लगे। वृन्दा ने पूजा छोड़कर पति का हाल पूछा। यती ने कहा कि वह तो मर गया। वृन्दा ने कहा कि मेरा पातिव्रत्य बना है तो वह कैसे मर सकता है? यती ने आकाश की ओर दृष्टि की तो दो बन्दर जलन्धर के शरीर को विदीर्ण करते हुए देख पड़े। थोड़ी ही देर में शरीर के टुकड़े वृन्दा के समीप आ गिरे तब वह रोने लगी। यती ने कहा कि इसके अंगों को तू जोड़ दे, तेरे पातिव्रत्य धर्म से यह जी उठेगा। उसने वैसा ही किया। उस विग्रह में भगवान् ने प्रवेश किया और जलन्धर बन गये)। कारण, जलन्धर भी युद्ध-काल में ही माया से शिव-रूप बनकर पार्वतीजी को मोहने के लिये कैलास गया था। पर पार्वतीजी के तेज और कोप से वह वहाँ से भाग आया। इसीका बदला भगवान् ने जलन्धर बनकर लिया। उस विग्रह के स्पर्श करने से वृन्दा का पातिव्रत्य भंग हुआ, तभी इधर शिवजी ने जलन्धर को मारा। वृन्दा को यह बात मालूम हो गई। तब उसने कोप करके शाप दिया कि मेरा पति (जलन्धर) ही राक्षस रावण होकर तुम्हारी स्त्री को हरेगा। तुमने वानरों की सहायता से छला है, वे ही वानर सहायक भी होंगे। यह कथा पद्मपुराण (कार्तिक माहात्म्य) एवं उसीका आधार लेकर विश्वकोष तथा हिं० श० सा० में भी कुछ-कुछ भेद से लिखी है। कुछ-कुछ प्रसंग अन्यत्र के भी हैं।

पुराणान्तर में कल्प-भेद की कथा यों भी है कि वृन्दा ने भगवान को पत्थर होने का शाप दिया जिससे भगवान् शालग्राम-रूप हुए। फिर वृन्दा अपनी चिता से तुलसी-रूपा होकर प्रकट हुई। छल करके भगवान् ने वशीभूत होकर उसे सिर पर धारण करने का व्रत लिया, यथा—"अजहुँ तुलसिका-हरिहिं प्रिय।" (अर० दो० ५)।

पहले 'धरेउ सरीर भगत अनुरागी।' कहा था, क्योंकि जय-विजय भक्त थे, उनका उद्धार करना प्रधान था। यहाँ 'सुर देखि दुखारे' कहा गया है, क्योंकि देवों की रक्षा प्रधान है। आगे भी 'प्रभु सुर कारज कीन्ह' कहा गया है।

(२) 'न जितहिं पुरारी'—त्रिपुरासुरों का ही नाश कर दिया, तो यह कुछ बहुत न था, किन्तु पातिव्रत्य धर्म की मर्यादा बचाने के लिये नहीं जीतते थे। इसमें पातिव्रत्य-प्रभाव और इधर मर्यादा की रक्षा—दोनों दिखाये गये।

'तेहि बल', यथा—यस्य पत्नी भवेत्साध्वी पतिव्रतपरायणा। स जयीःसर्वलोकेषु स सुखी स धनी पुमान्॥ कम्पते सर्वतेजांसि दृष्ट्वा पातिव्रतं महः। भर्त्ता तस्याः सुखं भुङ्क्ते रममाणः पतिव्रताम्॥' इत्यादि प्रसिद्ध हैं। जलन्धर के विषय में तो उसकी परम सती स्त्री का धर्म-बल कहा गया, वैसा शिवजी

के विषय में भी परम सती गिरिजा का धर्म-बल नहीं कहा गया, क्योंकि शिवजी स्वयं सहज समर्थ हैं, उनका सामर्थ्य स्त्री के सतीत्व धर्म से (कृत्रिम) नहीं है। "संभु सहज समरथ भगवाना।" (दो० ६९)।

(३) 'छल करि टारेउ···'—छल का दोष न लगा, क्योंकि आप 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, यथा—"समरथ कहँ नहिं दोष गोसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं॥" (दो० ६८)। पुनः परोपकार के लिये भी छल का दोष नहीं लगता। यहाँ भी प्रभु ने 'सुर-कार्य' के लिये छल किया है। तीसरा कारण यह है कि भगवान् ने छल के बदले छल किया है। ऊपर नं० १ देखें।

'जब तेहि जानेउ···'—भगवान् का मर्म उनकी कृपा ही से कोई जानता है—अन्यथा नहीं, यथा—"तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन। जानहिं भगत···" (अ० दो० १२६), "लछिमनहू यह मरम न जाना।" (अर० दो० २३), "तेहि कौतुक कर मरम न काहू। जाना अनुज न मातु-पिताहू॥" (उ० दो० ७८)। प्रभु को वैसी लीला करनी थी, इसलिये जना दिया, यथा—"मम इच्छा कह दीनदयाला।" (दो० १३७)। इसीसे आगे पास ही आपको—'कौतुक निधि' कहा है। 'कोप करि'—क्योंकि शाप क्रोध के अनुसार ही लगता है, यथा—"बेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा। तिन्हहिं सराप दीन्ह अति गाढ़ा॥" (दो० १३४), "बोले बिप्र सकोप तब···जाइ निसाचर होहु···" (दो० १७३)।

तासु स्राप हरि कीन्ह प्रमाना। कौतुकनिधि कृपाल भगवाना॥१॥
तहाँ जलंधर रावन भयेऊ। रन हति राम परम पद दयेऊ॥२॥
एक जनम कर कारन येहा। जेहि लगि राम धरी नरदेहा॥३॥
प्रति अवतार कथा प्रभु केरी। सुनु मुनि बरनी कविन्ह घनेरी॥४॥

अर्थ—उसके शाप को हरि ने प्रमाणित (सत्य) किया, (क्योंकि वे) कौतुक के स्थान, कृपालु और षडैश्वर्यपूर्ण हैं॥१॥ वहाँ जलन्धर रावण हुआ और श्रीरामजी ने उसे रण में मारकर परमपद (नित्य धाम) दिया॥२॥ एक जन्म का यही कारण है जिसके लिये श्रीरामजी ने नर-शरीर धारण किया है॥३॥ (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि हे भरद्वाज) मुनि! सुनो, भगवान् के प्रत्येक अवतार की बहुत-सी कथाएँ हैं और कवियों ने उनका वर्णन किया है॥४॥

विशेष—(१) 'तासु स्राप हरि·····' जैसे शिवजी पातिव्रत्य धर्म की मर्यादा की रक्षा के लिये उसे नहीं मार सकते थे, वैसे यहाँ हरि ने भी उसके शाप को मान लिया जिससे पातिव्रत्य धर्म की महिमा रहे। अन्यथा हरि के स्मरण मात्र से शाप नहीं लगता, तो हरि को शाप कैसे लगेगा? यथा—"सुमिरत हरिहिं स्राप-गति बाधी" (दो० १२४)। जैसे श्रीमद्वाल्मीकीय उ० में कथा है कि भृगुजी भगवान् (हरि) को शाप दिया, उन्होंने अंगीकार नहीं किया, तब भृगु ने विचारा कि यदि मेरा शाप सत्य न हुआ तो ऋषित्व न रहेगा। इसलिये बड़ा तप कर भगवान् को प्रसन्न करके वर माँगा कि मेरा शाप अंगीकार करें, तथा—"मृषा होउ मम स्राप कृपाला। मम इच्छा कह दीनदयाला॥" (दो० १३०), इसमें नारदजी का ऋषित्व रखने के लिये भगवान् ने 'मम इच्छा' कहकर शाप ग्रहण करने की दया की है। ऊपर दोहे में 'प्रभु' कहा है। 'प्रभु'—भाव यह है कि शाप को अन्यथा करने में भी समर्थ हैं।

(२) 'कौतुकनिधि कृपाल भगवाना'—यहाँ शाप ग्रहण में तीन हेतु दिखाये, १. आप कौतुकप्रिय हैं, कौतुकार्थ ग्रहण किया। अतः, इसमें आपको दुःख नहीं हुआ। २. कृपालु हैं, वृन्दा पर कृपा की कि उसका शाप सत्य किया, जिससे उसे सन्तोष हो गया। ३. भगवान् हैं, अपने षडैश्वर्य से उत्पत्ति-पालन-संहार रूप महान् कौतुक के करनेवाले हैं, फिर यह तो बहुत थोड़ा कौतुक है, इसमें आपको किंचित् भी श्रम न होगा।

(३) 'तहाँ जलंधर रावन ···'—जय-विजय, दो रुद्रगण और भानुप्रताप अरिमर्दन—ये तीन कल्पों के प्रसंगों में दो-दो कहे गये, तो वहाँ-वहाँ रावण-कुम्भकर्ण भी दो-दो कहे गये हैं। यहाँ एक जलन्धर का ही रावण होना कहा है। अतः, एक ही का वध होना भी कहा गया है। भानु-प्रताप ने परिवार के साथ ब्राह्मणों को बुलाया था और नष्ट होने का संयोग हुआ, इससे वहाँ उसे परिवार के साथ राक्षस होना कहा गया है। अतः, जहाँ जैसा हुआ, वैसा ही कहा गया है। कल्पभेद से सब ठीक हैं। टीकाकार बैजनाथजी कहते हैं कि जो जलन्धर के प्रिय सखा थे, वे ही कुम्भकर्ण आदि हुए। श्रीहरिहर प्रसाद और पंजाबीजी ने किसी कल्प में एक रावण ही का होना लिखा है।

'घनेरी'—यहाँ तक दो जन्मों के हेतु कहे, उनमें 'एक बार तिन्ह के हित लागी।', पुनः 'एक जनम कर कारन येहा···', 'एक कलप सुर देखि दुखारे।' आदि—एक-एक ही कहे गये हैं, एक के बाद दूसरा, तीसरा आदि नहीं कहे गये। इसका भाव यह कि अवतारों में आगे-पीछे होने के क्रम का कोई नियम नहीं है। गिनती न देकर घनेरी (अर्थात् अगणित) जनाया। इसीसे अन्त में स्पष्ट 'घनेरी' कथाएँ कहीं।

वैकुण्ठवासी विष्णु के रामावतार-हेतु प्रसंग पूरे हुए। आगे क्षीराब्धि वासी श्रीमन्नारायण के रामावतार

का

नारद-मोह-प्रसंग

नारद स्राप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा ॥५॥
गिरिजा चकित भईं सुनि बानी। नारद बिष्नु भगत पुनि ज्ञानी ॥६॥
कारन कवन स्राप मुनि दीन्हा। का अपराध रमापति कीन्हा ॥७॥
यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी। मुनिमन मोह आचरज भारी ॥८॥

अर्थ—श्रीनारदजी ने एक बार शाप दिया, इस कारण एक कल्प में अवतार हुआ ॥५॥ यह वाणी सुनकर श्रीपार्वतीजी चकित हुईं कि श्रीनारदजी तो भगवान् विष्णु के भक्त हैं और फिर मुनि हैं ॥६॥ उन्होंने किस कारण भगवान् को शाप दिया ? लक्ष्मीजी के स्वामी भगवान् ने ही उनका क्या अपराध किया ? ॥७॥ हे त्रिपुरारि ! यह कथा मुझसे कहिये। मुनि के मन में मोह हुआ; यह भारी आश्चर्य की बात है ॥८॥

विशेष—(१) 'गिरिजा चकित भईं···'—प्रथम सनकादिक ज्ञानी के प्रति आश्चर्य न हुआ था, क्योंकि वहाँ विप्र-शाप ही कहा था, सनकादिक के नाम नहीं कहे। यों तो विप्र-शाप दिया ही करते हैं और वहाँ जय-विजय का भी कुछ दोष था ही। यह भी हो सकता है कि पार्वतीजी वह कथा जानती रही हों। श्रीनारदजी गिरिजा के गुरु हैं, उनके महत्त्व बहुत जानती हैं। अतः, उनके विषय की बात सुनकर चकित हुईं कि उनमें शाप के कारण क्रोध आदि कैसे हो सकते हैं ?

(२) 'नारद बिष्नुभगत···'—भाव यह कि ज्ञानी और भक्त दोनों में मोह का होना आश्चर्य ही है, यथा—"भये ज्ञान बरु मिटइ न मोहू।" (अ० दो० १६८), "मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।" (उ० दो० ११९), अर्थात् भक्ति-चिन्तामणि के पास मोह नहीं आ सकता। भक्त अपने स्वामी को ही शाप दे, यह असम्भव-सा है।

(३) 'कारन कवन स्राप···'—शाप कारण के बिना नहीं होता। शाप का कारण क्रोध है, क्रोध में अपराध ही कारण है। अभीष्ट-हानि से क्रोध होता है। भगवान् तो भक्तवत्सल और परम शीलवान् हैं, इसीसे रमा (लक्ष्मीजी) ने सब देवों को छोड़कर उन्हें ही वरण किया है, यथा—"अब जानी मैं श्रीचतुराई। भजी तुम्हहिं सब देव बिहाई॥ जेहि समान अतिसय नहिं कोई। ताकर सील कस न अस

होई ॥" (अर० दो० ५) । उन 'रमापति' ने ही क्या अपराध किया ? 'मुनि' तो शान्त होते हैं, उन्हें क्रोध कैसे हुआ ?

(४) 'यह प्रसंग कहहु' - शिवजी इतना ही कहकर समाप्त करना चाहते थे, पर गिरिजाजी की प्रेरणा से अब इसे कुछ विस्तार से कहेंगे ।

दोहा—बोले बिहँसि महेस तब, ज्ञानी मूढ़ न कोइ ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ ॥

सो०—कहउँ राम-गुन - गाथ, भरद्वाज सादर सुनहु ।
भवभंजन रघुनाथ, भजु तुलसी तजि मान मद ॥१२४॥

अर्थ—तब शिवजी ने हँसकर कहा कि न तो कोई ज्ञानी है और न मूर्ख, रघुकुलपति श्रीरामजी जिसको जब जैसा करते हैं, उसी क्षण में वह वैसा ही हो जाता है । श्री याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि हे भरद्वाज ! मैं श्रीरामजी के गुणों की कथा कहता हूँ, आदरपूर्वक सुनो । श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि हे तुलसी ! (हे मन !) मान और मद को छोड़कर जन्म-मरण को नाश करनेवाले श्रीरघुनाथजी का भजन करो ॥१२४॥

विशेष—(१) 'बोले बिहँसि ···'—हँसने के भाव—(क) हम और ब्रह्मा भी मायावश नाच चुके हैं, इन्हें नारद ही पर आश्चर्य है । (ख) अपनी बात भूल गई कि क्या-क्या दशाएँ हुई थीं । अभी भी छाया नहीं मिटती । (ग) अभी तो शाप ही की बात सुनी है, सब कौतुक सुनेंगी, तो और भी कौतूहल होगा ।

(२) 'ज्ञानी मूढ़ न कोइ'—श्रीरघुनाजी जब जिसे जैसा चाहें, कर सकते हैं, यथा—"बंध मोच्छ प्रद सर्बपर, मायाप्रेरक सीव ।" (अर० दो० १५), "मसकहिं करइ बिरंचि प्रभु, अजहिं मसक ते हीन ।" (उ० दो० १२२) । जैसे ध्रुव अबोध शिशु थे, उन्हें क्षण-भर में ज्ञान की सीमा बना दिया । श्रीनारदजी व्यास-वाल्मीकि आदि के भी गुरु हैं, उन्हें क्षण-भर में मूढ़ बना दिया, यथा—"माया-बिबस भये मुनि मूढ़ा ।" (दो० १३२) । आगे 'हरि इच्छा बलवान' (दो० १२७) भी देखिये ।

जीव की निष्ठा एवं श्रद्धा देखकर भगवान् उसे ज्ञान की उच्च दशा तक प्राप्त करा देते हैं, असावधानी से जो कहीं उसे ज्ञान का अभिमान हो आया, तो वे भक्तवत्सल प्रभु उसे शुद्ध करने के लिये माया को प्रेरणा करते हैं, जिससे अभिमान टूटने का उपाय हो जाता है, यथा—"सुनहु राम कर सहज सुभाऊ । जन-अभिमान न राखहिं काऊ ॥···" से—"मातु बिबाध कठिन की नाईं ॥" (उ० दो० ७३) तक, यही 'राम-गुन-गाथ' है, जिसे शिवजी, याज्ञवल्क्यजी और श्रीगोस्वामीजी ने उपदेश-रूप में ग्रहण किया है । 'तजि मान मद'—मान और मद भजन के बाधक हैं, इसलिये इनका छोड़ना कहते हैं, यथा—"जिमि बुध तजहिं मोह मद माना ।" (कि० दो० १४), इन मान-मद से कैसी दुर्दशा होती है, यह आगे इसी प्रसंग में दिखावेंगे ।

'भरद्वाज सादर सुनहु'—भरद्वाजजी के गुरु श्रीवाल्मीकिजी और उनके गुरु श्रीनारदजी हैं । अतः, कहते हैं कि अपने दादा-गुरु की कथा को मन-मति-चित्त लगाकर सुनो ।

हिम-गिरि-गुहा एक अति पावनि । बह समीप सुरसरी सुहावनि ॥१॥
आश्रम परम पुनीत सुहावा । देखि देवरिपि मन अति भावा ॥२॥
निरखि सैल सरि बिपिनबिभागा । भयेउ रमा-पति-पद-अनुरागा ॥३॥
सुमिरत हरिहिं स्रापगति बाधी । सहज बिमल मन लागि समाधी ॥४॥

शब्दार्थ—गुहा=गुफा। देवरिषि=देवर्षि श्रीनारदजी। बिभागा=अलग-अलग अंश। गति बाधी=शाप की राह रुक गई अर्थात् शाप की दशा नष्ट हो गई।

अर्थ—हिमालय पहाड़ में एक अत्यन्त पवित्र गुफा थी, उसके पास ही में सुहावनी गंगाजी बह रही थीं ॥१॥ आश्रम (स्थान) परम पवित्र और सुहावन था। देखकर देवर्षि श्रीनारदजी के मन को वह बहुत ही प्रिय लगा ॥२॥ पहाड़, तालाब और वन के पृथक्-पृथक् अंशों को देखकर लक्ष्मीपति भगवान् के चरणों में उनका अनुराग हुआ ॥३॥ भगवान् का स्मरण करने से शाप की गति (अस्थिर रहने की दशा) नष्ट हो गई। नारदजी का मन स्वाभाविक ही निर्मल है, अतएव उनकी समाधि लग गई ॥४॥

विशेष—(१) 'आश्रम परम···'—'परम पुनीत' होने से 'भावा' और 'सुहावा' भी है। अतः, 'अति भावा' कहा है। पुनः यहाँ 'सुरसरी' हैं और ये 'देवि-रिषि' हैं, तो अच्छा लगेगा ही, यथा—"भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिबर मनभावन॥" (दो० ४३), तथा—"सुचि सुंदर आश्रम निरखि, हरषे राजिवनैन। (अ० दो० १२४)।

(२) 'हिमगिरिगुहा···'—हिमालय पवित्र स्थल है, उसमें गुफा और भी पवित्र है, फिर श्री गंगा-तट पर होने से 'अति पावनि' कही गई है।

(३) 'निरखि सैल सरि ···'—श्रीगंगाजी का जल रमापति का चरणामृत है, उसे देखकर उनके चरण में अनुराग हुआ। चरणोदक की महिमा से चरण की महिमा का उद्दीपन हुआ, वे भक्ति के अनुराग से रूप में मग्न हो गये, यथा—"रघुबर-बरन बिलोकि बर, बारि समेत समाज। होत मगन बारिधि बिरह···" (अ० दो० २२०), "देखत स्यामल धवल हलोरे। पुलक सरीर भरत कर जोरे॥" (अ० दो० २०३)। प्रत्येक त्रिभाग से भाँति-भाँति के सुभीते हैं—शुद्ध वायु के लिये शैल, तप के लिये घोर वन एवं भोजन के लिये फल-मूल भी वन से प्राप्त होते हैं। 'सरि' से जल का सुपास आदि अन्य सुविधाएँ हैं ही। अतः, भजन के लिये उपयुक्त स्थल है।

(४) 'सुमिरत हरिहिं स्रापगति ·'—हरि के स्मरण-प्रभाव से शाप का प्रभाव नष्ट हो गया, जो दक्ष ने दिया था कि तुम एक स्थल पर अधिक न ठहर सकोगे, तुम्हारा समय तीनो लोकों में घूमते ही बीतेगा। वह शाप नष्ट हो गया। अतः, बहुत काल तक ठहर गये। समाधि में मन की मलिनता बाधक है, यथा—"मन मलिन बिषय संग लागे।" (वि० ८२), श्रीनारदजी का मन जन्म से ही निर्मल है। अतः, समाधि लग गई।

भगवान् का निष्काम भजन करने में तत्सम्बन्धी बाधाएँ नष्ट हो जाती हैं, यहाँ यह दिखाया।

मुनिगति देखि सुरेस डेराना। कामहिं बोलि कीन्ह सनमाना ॥५॥
सहित सहाय जाहु मम हेतू। चलेउ हरषि हिय जल-चर-केतू ॥६॥

अर्थ—मुनि की यह उत्तम दशा देखकर देवराज इन्द्र डर गया। उसने कामदेव को बुलाकर उसका बड़ा सत्कार किया ॥५॥ (और कहा कि) मेरी भलाई के लिये तुम अपने सहायकों के साथ (मुनि की समाधि भंग करने) जाओ। (इस आज्ञा पर) मकरध्वज कामदेव हृदय में हर्षित होकर चला ॥६॥

विशेष— १) 'मुनिगति ·'—शाप की गति का रुकना एवं समाधिस्थ होना देखकर इन्द्र डरा कि अब मेरा लोक प्राप्त करना इनके लिये कुछ कठिन नहीं है।

'कीन्ह सनमाना।'—अपने स्वार्थ साधने में, विशेषकर युद्ध में चढ़ाई के समय, सेवकों के सम्मान की रीति है, यथा—"देखि सुभट सब लायक जाने। लेइ लेइ नाम सकल सनमाने॥ भाइहु लावहु धोख जनि, आजु काज बड़ मोहि।" (अ० दो० १९१)।

(२) 'सहित सहाय'—मुनि का प्रभाव भारी देखकर इन्द्र बहुत डरा है, इससे अकेले कामदेव से कार्य होना न समझकर सहाय सहित भेज रहा है।

(३) 'हरषि हिय जलचरकेतू।'—ध्वजा कहने से रथ पर चढ़कर चलना जनाया। हर्ष के साथ चला, क्योंकि उसे अभिमान है कि नारदजी को जीतना कुछ कठिन नहीं है, अभी कृतकार्य होकर लौटूँगा तो स्वामी के यहाँ अधिक महत्त्व पाऊँगा। स्वामि-कार्य में हर्ष चाहिये ही। शूर भी है। अतः, युद्ध का उत्साह है। पूर्वोक्त—"कोपेउ जबहिं बारिचरकेतू।" (दो० ८३) के भाव भी देखिये।

सुनासीर मन महँ अति त्रासा। चहत देवरिषि मम पुर बासा ॥७॥
जे कामी लोलुप जग माहीं। कुटिल काक इव सबहिं डेराहीं ॥८॥

दोहा—सूख हाड़ लै भाग सठ, स्वान निरखि मृगराज।
छीन लेइ जनि जानि जड़, तिमि सुरपतिहिं न लाज ॥१२५॥

शब्दार्थ—सुनासीर = इन्द्र।

अर्थ—इन्द्र के मन में यह बड़ा डर है कि देवर्षि नारदजी मेरे पुर (स्वर्ग) में बसना (अधिकार करना) चाहते हैं ॥७॥ जगत् में जो कामी और लोभी लोग हैं, वे कुटिल कौए की भाँति सभी से डरते हैं ॥८॥ जैसे मूर्ख कुत्ता सिंह को देख सूखा हाड़ लेकर भागे और वह मूर्ख यह समझे कि कहीं सिंह उस हाड़ को छीन न ले, वैसे ही इन्द्र को लाज नहीं आरही है ॥१२५॥

विशेष—(१) 'चहत देवरिषि···' पहले तो तप करके देवर्षि ही हुए थे, अब देवराज भी होना चाहते हैं। 'अति त्रासा'—क्योंकि काम के भेजने पर भी शान्ति न हुई भय बना रहा।

(२) 'जे कामी लोलुप···'—डर का कारण उसकी कुटिलता है, इससे कुटिल कौए की नाईं कहा, यथा—"काकसमान पाकरिपु-रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती ॥" (अ० दो० ३०१)

(३) 'सूख हाड़ लै भाग···'—कुत्ता सूखी हड्डी को चूसता है तो उसके ही तालू से रक्त निकलता है, जिसे चूसकर वह सन्तोष मानता है, वैसे ही सौ यज्ञों के फल से भोग-रूप इन्द्रासन मिलता है। सुकृत की सीमा तक ही भोग रहता है। अपने ही पुण्य का फल भोगना होता है। पुण्य क्षीण हो जाने पर फिर नीचे आना होता है। श्वान को हड्डी का मोह व्यर्थ है, वैसे इन्द्र को इन्द्रासन का। इसीसे कहा है—"सरिस स्वान मघवान जुवानू।" (अ० दो ३०१)।

यहाँ नारदजी सिंह रूप हैं, संसार-सुख त्यागे हुए, एक मन-रूपी मतवाले हाथी के मारनेवाले हैं, वे सूखी हड्डी रूपी इन्द्रासन क्यों चाहेंगे? यथा—"लखि गयंद भजि चलत लखि, स्वान सुखानो हाड़। गज गुन मोल अहार बल, महिमा जान कि राड़॥" (दोहावली ३८०)। जैसे सिंह दूसरे का मारा हुआ शिकार भी नहीं ग्रहण करता, तो सूखी हड्डी क्यों लेगा? वैसे नारदजी ब्रह्मलोक के ऐश्वर्य के भी विरागी हैं तो उसकी अपेक्षा बहुत अल्प स्वर्ग के सुख की कब इच्छा करेंगे? इन्द्र को इतना भी विचार नहीं है, इसीसे वह 'सठ' और 'जड़' कहा गया।

तेहि आश्रमहिं मदन जब गयेऊ। निज माया बसंत निरमयेऊ ॥१॥
कुसुमित बिबिध बिटप बहुरंगा। कूजहिं कोकिल गुंजहिं भृंगा ॥२॥
चली सुहावनि त्रिबिध बयारी। काम कृसानु बढ़ावनिहारी ॥३॥
रंभादिक सुरनारि नबीना। सकल असमसर-कला-प्रबीना ॥४॥

करहिं गान बहु तान-तरंगा। बहु बिधि क्रीड़हिं पानि-पतंगा ॥५॥
देखि सहाय मदन हरषाना। कीन्हेसि पुनि प्रपंच बिधि नाना ॥६॥

शब्दार्थ—बयारी = हवा। सुरनारी = अप्सराएँ। असमसर = विषम-बाण, कामदेव। असम-सर-कला = काम-कला, हाव-भाव-कटाक्ष एवं नृत्य-गान, आदि। तान-तरंगा = लय की लहर। क्रीड़हिं = केलि अर्थात् कल्लोल करती हैं। पानि-पतंगा = एक प्रकार का नृत्य जो हाथ चमकाकर किया जाता है वा गेंद की क्रीड़ा। प्रपंच = माया, ढोंग।

अर्थ—कामदेव जब उस आश्रम में गया, तब उसने वहाँ अपनी माया से वसन्त ऋतु का निर्माण किया ॥१॥ नाना प्रकार के वृक्ष बहुत रंगों के फूलों से खिल उठे, कोकिलाएँ कूज (कू-कू कर) रही हैं, भौंरे गुंजार कर रहे हैं ॥२॥ काम की आग को प्रचंड करनेवाली सुहावनी (शीतल, मन्द, सुगन्ध) तीनों प्रकार की हवाएँ चलने लगीं ॥३॥ रम्भा आदि नव-यौवना अप्सराएँ, जो कामदेव की सारी कलाओं में प्रवीण हैं ॥४॥ बहुत लयदारी के साथ गाने लगीं और बहुत तरह की पानि-पतंग आदि क्रीड़ाएँ करने लगीं ॥५॥ अपने सहायकों को देखकर कामदेव प्रसन्न हुआ, फिर उसने अनेकों प्रकार के ढोंग रचे ॥६॥

विशेष (१) 'तेहि आश्रमहिं मदन···'—इन्द्र ने सहाय-सहित जाने की आज्ञा दी थी, उसीका वर्णन यहाँ से पाँच अर्द्धालियों में है। इसके उपक्रम में 'मदन' और उपसंहार में भी 'देखि सहाय मदन' कहा है। भाव यह कि जाता तो मद के साथ है, पर वहाँ मद न रहेगा, लौटेगा मदरहित होकर। 'वसन्त' इसके सहायकों में आदि है।

(२) 'कुसुमित बिबिध·····'—विविध वृक्षों में रंग-विरंग के फूल खिले हैं, उनकी सुगन्ध रक्त में गर्मी उत्पन्न करती है, जिससे काम उत्पन्न होता है। कोकिलाओं के कूजने से ध्यान में विक्षेप (बाधा) होता है, यथा—"कुहू-कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं ॥" (अर० दो० ३९)।

(३) 'चली सुहावनि त्रिबिध··· ···'—यहाँ गंगा तट होने से शीतल, फूलों से सुगन्धित और वन में रुक-रुककर चलने से मन्द-मन्द वायु सुहावना (अनुकूल) चल रहा है, जैसे वायु अग्नि को भड़काता है, वैसे यह कामाग्नि को। 'वायु' पुँल्लिंग न कहकर 'बयारी' स्त्रीलिंग कहा गया है, क्योंकि जैसे स्त्री का स्पर्श कामोद्दीपक है, वैसे इस बयारि का भी, यथा—"सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदनअनल-सखा सही।" (दो० ८६)।

(४) 'रंभादिक सुर-नारि·····'—रंभा अप्सरा को आदि में दिया, क्योंकि यह क्षीर-सागर से प्रकट होनेवाले १४ रत्नों में है, एवं 'आदि' से मेनका, उर्वशी आदि अप्सराओं की स्थिति भी जनाई। 'नवीना'—ये सर्वदा नवीन अवस्था की बनी रहती हैं।

(५) 'करहिं गान बहु···'—स्त्री कामदेव के लिये परम बल है, यथा—"येहि के एक परम बल नारी। तेहि ते उबर सुभट सोइ भारी ॥" (अर० दो० ३०), उनमें भी देवांगनाएँ और फिर वे हाव-भाव के साथ गान आदि करती हों तो कहना ही क्या है? यथा—"सुरसुंदरी करहिं कलगाना। सुनत श्रवन छूटहिं मुनि ध्याना ॥" (दो० ६०)। गान-सहित अप्सराओं को अन्त में कहा, क्योंकि ये उसके बल की पराकाष्ठा हैं। 'तान-तरंगा', यथा—"बहु भाँति तान-तरंग सुनि गंधर्व किन्नर लाजहीं ॥" (गी० उ० १९)। 'पानि पतंगा'—हाथों से गेंद क्रीड़ा, यथा—"नैकत्र ते जयति शालिनि पादपद्मं घ्नन्त्या मुहुः करतलेन पतत्पतङ्गम्।" (भाग० ३।२०।३६), अर्थात् हे सुन्दरि! जब तुम उछलती हुई गेंद पर हथेली को थपकी मारती हो तब तुम्हारा चरण-कमल एक स्थान पर नहीं ठहरता। काम की सेना का विशेष वर्णन—'सहित बिपिन मधुकर खग'··· से—'सुभट सोइ भारी ॥' (अर० दो० ३७) तक है।

'देखि सहाय···कीन्हेसि पुनि···'—सहायकों की कलाओं से मदन हर्षित हुआ, अर्थात् उन्होंने सामर्थ्य भर खूब प्रपंच किया, पर नारद पर कुछ प्रभाव न पड़ा।

काम-कला कछु मुनिहिं न ब्यापी । निज भय डरेउ मनोभव पापी ॥७।
सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू । बड़ रखवार रमापति जासू ॥८॥

दोहा—सहित सहाय सभीत अति, मानि हारि मन मैन ।
गहेसि जाइ मुनिचरन तब, करि सुठि आरत बैन ॥१२६॥

अर्थ—जब मुनि पर कामदेव की कोई भी कला कुछ व्याप्त न हो सकी, (तब) वह पापी काम अपने ही (कल्पित) डर से डर गया ॥७॥ जिसके बड़े रक्षक लक्ष्मी के पति भगवान् ही हों उसकी सीमा (मर्यादा=हद) को (भला) कौन दबा सकता है ? ॥८॥ सहायकों के साथ कामदेव मन में हार मानकर अत्यन्त डरा, तब जाकर अत्यन्त आर्त्त वचन कहते हुए उसने मुनि के चरणों को ग्रहण किया ॥१२६॥

विशेष—(१) 'कामकला कछु···'—पहले काम ने सहायकों-द्वारा उपाय किया, फिर स्वयं बहुत तरह की माया की, तब क्रोध में आकर धनुष चढ़ाकर बाण भी चलाया, यथा—"सकल कला करि कोटि बिधि, हारेउ सेन समेत ।···कोपेउ हृदयनिकेत···छाड़ेउ बिषम बिसिष उर लागे ।" (दो० ८६) ।

(२) 'निज भय डरेउ···'—श्रीनारदजी ने प्रतिकारात्मक दृष्टि नहीं की, तब भी स्वयं डरा, क्योंकि—"पर-द्रोही की होइ निसंका ।" (उ० दो० १११) । शाप देने की कल्पना कर स्वयं डरा । 'पापी'—शिवजी की समाधि छुड़ाने में पापी नहीं कहा गया, क्योंकि वहाँ इसका कार्य सर्व-सम्मत से था, श्रीरामजी से भी शिवजी ने ब्याह की आज्ञा पाई थी, फिर भी समाधि लगा ली । ब्रह्माजी एवं सर्व देवताओं ने तीनो लोकों के हित के लिये काम को भेजा था । इसने भी कहा था कि—"परहित लागि तजइ जो देही । संतत संत प्रसंसहिं तेही ॥" (दो ८३), इस शुद्ध विचार से गया था । अतः, पापी नहीं कहा गया । यहाँ तो स्वार्थी इन्द्र के मत में आकर ऐसा अन्याय किया, इसीसे इन्द्र काक-श्वान कहा गया और यह पापी ।

(३) 'सीम की चाँपि···'—काम की प्रवृत्ति मन से होती है । मन को वश में करना ही भूमि को दखल करना है, उस मन के किंचित् अंश को दबाना सीव (हद, मेड़) दबाना है, यथा—"तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ । मुनि बिज्ञानधाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ ॥" (अर० दो० ३८) । 'रमापति'—क्योंकि पूर्व कहा गया कि—"भयेउ रमापति-पद-अनुरागा ।" (दो० १२४) । भाव यह कि वे जैसे रमाजी की रक्षा किया करते हैं, वैसे भक्तों की भी करते हैं, यथा—"तिनकी न काम सकै चापि छाँह । तुलसी जे बसे रघुबीर-बाँह ॥" (गी० अ० ४९), तथा—"हैं काके द्वै सीस ईस के जो हठि जन की सीम चरै ।" (वि० १३७) ।

(४) 'सहित सहाय सभीत अति '—इसने प्रथम सहायकों द्वारा अन्याय किया, फिर स्वयं भी किया, इसलिये सबके साथ डरा और शरणागत हो रहा है । मन, वचन और कर्म से शरण में आया । 'मानि हारि मन' में मन, 'कहि आरत बैन'—में वचन और 'गहेसि···चरन' में कर्म की शरणागति है ।

भयेउ न नारद - मन कछु रोषा । कहि प्रिय बचन काम परितोषा ॥१॥
नाइ चरन सिर आयसु पाई । गयेउ मदन तब सहित सहाई ॥२॥
मुनि - सुसीलता आपनि करनी । सुरपति - सभा जाइ सब बरनी ॥३॥
सुनि सबके मन अचरज आवा । मुनिहिं प्रसंसि हरिहिं सिर नावा ॥४॥

अर्थ—श्रीनारदजी के मन में क्रोध कुछ भी नहीं हुआ, (प्रत्युत) प्रिय वचन कहकर उन्होंने कामदेव को प्रसन्न किया ॥ १ ॥ तब मुनि के चरणों में सिर नवाकर और उनकी आज्ञा पाकर कामदेव सहायकों के साथ चला गया ॥ २ ॥ उसने इन्द्र की सभा में जाकर मुनि की सुशीलता और अपनी 'करनी'

(करतूत) का वर्णन किया ॥ ३ ॥ सुनकर सबके मन में आश्चर्य हुआ, (इसपर सबने) नारद मुनि की प्रशंसा करके भगवान् हरि को सिर नवाया ॥ ४ ॥

विशेष—(१) 'भये न नारद मन'''—रम्भा आदि की कलाएँ न व्यापने में काम पर जय हुई थी और यहाँ क्रोध पर हुई। 'प्रिय वचन' - यह कि तुम्हारा दोष नहीं है, तुमने तो इन्द्र की प्रेरणा से ऐसा किया है, इत्यादि तथा 'प्रिय' जो कामदेव को प्रिय लगे। ऊपर कहा गया कि कामदेव ने मुनि की मन, वचन, कर्म से शरणागति की। यहाँ श्रीनारदजी ने भी मन, वचन, कर्म से प्रसन्न किया, यथा—'नारद मन', 'कहि प्रिय वचन', 'परितोषा' (इसमें पीठ पर हाथ फेरना आदि कर्म होंगे ही)।

शंका—मुनि की समाधि का उपराम नहीं कहा गया, फिर ये परितोष आदि कार्य कैसे हुए ?

समाधान—समाधि दो प्रकार की होती है—(१) सम्प्रज्ञात, जिसमें निर्लिप्त भाव से व्यवहार-दृष्टि रहते हुए भी ध्येय का रूप प्रत्यक्ष रहता है, यथा—"मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तनु-सुधि-बुधि कहु केही ॥" (अ० दो० २७४)। (२) असम्प्रज्ञात, यथा—"जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पाक्हीं ॥" (कि० दो० १०), इसे जड़ समाधि भी कहते हैं। यहाँ मुनि की समाधि सम्प्रज्ञात थी। अतः, ऐसा होना युक्त है।

(२) 'नाइ चरन सिर'''—प्रथम अभिमान सहित जीतने के लिये आया था, तब प्रणाम नहीं किया था। फिर हारने पर शरणापन्न होने में प्रणाम किया। अब विदाई का प्रणाम है, यह शिष्टाचार है। 'गयेउ मदन तब सहित सहाई।' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम 'सहित सहाइ जाहु मम हेतू' है।

(३) 'मुनि-सुसीलता आपनि'''—यद्यपि पहले इसने 'करनी' ही की थी, तथापि मुनि का सौशील्य इसके हृदय में ऐसा बिंध गया है कि प्रथम वही कहा। अपराध पर क्रोध न करना शील है, उस-पर प्रिय वचन कहकर परितोष करना सु-शील है, उसका भाव सुशीलता है।

'सब बरनी'—यद्यपि 'करनी' का परिणाम इसकी न्यूनता का है, तथापि उसे भी न छिपाया, क्योंकि देवता सत्य-भाषी होते हैं। पुनः मुनि के शील से उनमें प्रीति हो गई, इससे अपनी न्यूनता में उनका प्रभाव होना विचार कर विस्तार से कहा। 'सभा' में कही बात और भी प्रामाणिक होती है।

(४) 'सुनि'''अचरज आवा।', यथा—"नारि-नयन-सर जाहि न लागा। घोर-क्रोध-तम-निसि जो जागा। लोभ-पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया ॥ यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई ॥" (कि० दो० २०)। 'हरिहिं सिर नावा'—काम-क्रोध से बचना असम्भव-सा है, ये भगवान् की ही कृपा से बचे, ऐसे भक्तवत्सल भगवान् को प्रणाम है, इत्यादि से भक्त और उनके प्रभु को धन्य माना।

तब नारद गवने सिव पाहीं। जिता काम अहमिति मन माहीं ॥५॥
मारचरित संकरहिं सुनाये। अतिप्रिय जानि महेस सिखाये ॥६॥
बार बार बिनवउँ मुनि तोही। जिमि यह कथा सुनायेहु मोही ॥७॥
तिमि जनि हरिहिं सुनायेहु कबहूँ। चलेहु प्रसंग दुरायेहु तबहूँ ॥८॥

शब्दार्थ—अहमिति (अहं + इति) = अहंकार। मार = काम। दुरायेहु = छिपा लेना, टाल देना।

अर्थ—तब नारदजी शिवजी के पास गये, 'मैंने काम को जीता है'—ऐसा अहंकार उनके मन में है ॥ ५ ॥ शिवजी को काम का चरित सुनाया, (इनको) अपना अतिप्रिय जानकर महादेवजी ने सिखाया ॥ ६ ॥ कि हे मुनि ! मैं आपसे बार-बार बिनती करता हूँ कि जैसे आपने यह कथा मुझे सुनाई है ॥ ७ ॥ वैसे भगवान् को कभी न सुनाना। प्रत्युत प्रसंग (चर्चा) चलने पर भी, छिपाना (प्रकट न करना, किन्तु तरह दे जाना।) ॥ ८ ॥

विशेष—(१) 'तब नारद गवने सिव···'—स्वर्ग में तो कामदेव ने कहा ही है। कैलास में भी जना दें, इस अभिप्राय से चले। शिवजी कामारि हैं तो मैंने भी काम को जीता है, अब मैं भी कामारि हो गया, उनके तुल्य हुआ तो चलकर उनसे मिलूँ। इस अभिमान से गये। 'अहमिति'—(मैं ऐसा !) अर्थात् शिवजी को तो काम के जीतने पर क्रोध हो ही गया, तब काम को भस्म किया। मेरी समाधि निर्विघ्न निबही, क्रोध भी न हुआ। विष्णु ने भी क्रोध को ही जीता है—भृगु-परीक्षा में, पर काम-जित् नहीं कहे जा सकते। पर मैंने दोनों को जीता तो मेरे बराबर तीनो लोकों में अब कोई नहीं है, ऐसा मन में है।

इन्होंने काम-क्रोध को जीता तो उन्हींका भाई अहंकार दोनों का बदला ले रहा है।

(२) 'मारचरित संकरहिं···'—यहाँ शिवजी को प्रणाम भी न किया, तुरन्त मार-चरित सुनाने लगे कि जिससे शिवजी ही मुझे बड़ा जानकर अधिक मानें, क्योंकि इसमें मेरी काम-क्रोध दोनों पर विजय है। जीव भगवान् का शरीर-रूप नियाम्य एवं परतन्त्र है, अहंकार होने से उल्टी वृत्ति हो जाती है, यह जानने के लिये महाकवि ने काम के 'मार' नाम को ही चुना। श्रीनारदजी सदा रामचरित गाते थे, यथा—"गावत रामचरित मृदुबानी। प्रेम सहित बहु भाँति बखानी॥ (अर० दो० ४०), "बार-बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम के गावहिं॥" (उ० दो० ४१), इत्यादि। अब वृत्ति उल्टी होने से मार-चरित ही रुचता है। राम का उल्टा 'मार' है। कहा भी है—"जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम। तुलसी कबहुँ कि होत हैं, रवि रजनी यक ठाम॥" (तुलसीसतसई)।

शंका—काम को शिवजी ने जला डाला, फिर नारदजी के साथ उसका बर्ताव कैसे हुआ ?

समाधान—यथा—"कलप-भेद हरि-चरित सुहाये। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये॥" (दो० ३१)। अतः, किसी कल्प में नारद-मोह के पहले शिवजी ने काम को नहीं जलाया था, वह सदेह था।

(३) 'अति प्रिय जानि महेस···'—श्रीनारदजी परम भागवत एवं श्रीरामनाम के जापक हैं और निष्काम एवं परम विरक्त हैं। शिवजी में भी ये सब गुण हैं, इस सजातित्व से प्रियत्व है, यथा—"नारद जानेउ नाम-प्रतापू। जग प्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू॥" (दो० २५)। शिवजी जानते हैं कि श्रीरामजी को अभिमान नहीं भाता, यथा—"होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवइ चह कृपानिधाना॥" (उ० दो० ६), वही (गरुड़ की-सी) दशा इनकी न हो, अतः सिखाया।

(४) 'बिनवउँ मुनि तोही।'—विनय-युक्त वचन श्रोता की धारणा में आता है, इसलिये विनती पूर्वक कहते हैं, यथा—"औरउ एक गुपुत मत, सबहिं कहउँ कर जोरि।" (उ० दो० ४५), "बिनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥" (सु० दो० २१)। अति प्रियत्व से उनके कल्याण के लिये शिवजी विनय भी करते हैं—यद्यपि स्वयं बड़े हैं।

(५) 'चलेहु प्रसंग···' यहाँ तो आपने चर्चा छेड़ी, पर वहाँ दूसरा भी छेड़े, तब भी न कहना।

दोहा—संभु दीन उपदेश हित, नहिं नारदहिं सोहान।
भरद्वाज कौतुक सुनहु, हरिइच्छा बलवान॥१२७॥

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करइ अन्यथा अस नहिं कोई॥१॥
संभुबचन मुनि मन नहिं भाये। तब बिरंचि के लोक सिधाये॥२॥

अर्थ—(श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) शिवजी ने तो भलाई की शिक्षा दी, पर वह शिक्षा श्रीनारदजी को अच्छी न लगी। हे भरद्वाज ! हरि की इच्छा बड़ी बलवती है, उसका कौतुक सुनो॥१२७॥ श्रीरामजी जो किया चाहते हैं, वही होता है, उसे अन्य प्रकार से कर दे, ऐसा कोई नहीं है॥१॥ शिवजी के वचन नारद मुनि के मन में अच्छे न जँचे, तब वे वहाँ से ब्रह्मलोक को गये।

विशेष—(१) 'नहिं नारदहिं सोहान'—मति उल्टी होने के कारण नारदजी ने उल्टा ही समझा कि शिवजी ईर्ष्या से मना करते हैं, जिससे हम ही काम-विजयी प्रसिद्ध रहें दूसरा नहीं प्रसिद्ध होने पावे। 'हरि-इच्छा बलवान।'—अन्यत्र हरि-इच्छा से भावी का भी अर्थ होता है, यथा—"हरि-इच्छा भावी बलवाना।" (दो० ५५), जो पूर्व कर्मानुसार होती है, पर यहाँ लीला के लिये ही हरि-इच्छा है, हरि अपनी लीला का विधान रचना चाहते हैं। अतः, वैसी ही मति कर दी है, यथा—"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थिति-प्रणाशसंसारविमोचनादयः। भवन्ति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीय गम्भीरमनोनुसारिणः॥" (आलवंदार स्तोत्र), इसी 'हरि-इच्छा' को आगे—'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई।' से और 'बलवान' को—'करइ अन्यथा अस नहिं कोई।' से स्पष्ट किया, तथा—"यस्मै देवा प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम्। बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽर्वाचीनानि पश्यति॥.....कालस्य बलमेतावद्विपरीतार्थदर्शनम्॥" (महा० सभा० ८१।८-११), अर्थात् देवता जिसका पराभव चाहते हैं, उसकी बुद्धि नष्ट कर देते हैं, तब उसे विपरीत ही दीखता है।..... ...विपरीत दिखाना ही काल का बल है, एवं—"हित पर बढ़इ बिरोध जब, अनहित पर अनुराग। राम बिमुख बिधि बामगति, सगुन अधाइ अभाग॥" (रामाज्ञा० ७।४।२, दोहावली ४२०)।

इस हरि-इच्छा का बीज प्रथम ही शिवजी ने बो दिया है—'जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ॥" (दो० १२४)। यहाँ नारदजी प्रथम ज्ञानियों के सिरमौर बनाये गये, अब मूर्खों के सिरमौर बनेंगे। इस नारद-चरित से यही चरितार्थ हुआ है, प्रथम सूक्ष्म में कहा था।

(२) 'संभु-बचन मुनि...'—शिवजी के कल्याणकारक वचन अच्छे न लगे, तब उठकर अपने लोक चल दिये। ये ब्रह्माजी के पुत्र हैं और ब्रह्मलोक में रहते हैं। ब्रह्माजी से न कहेंगे, क्योंकि काम का चरित पिता से कहना अयोग्य है। वहाँ रहने से औरों से कहेंगे तो कानोंकान ब्रह्माजी सुन ही लेंगे। तब क्षीरसिंधु भी जायँगे।

एक बार करतल बर बीना। गावत हरिगुन-गान प्रबीना॥३॥
छीरसिंधु गवने मुनिनाथा। जहँ बस श्रीनिवास श्रुतिमाथा॥४॥
हरषि मिलेउ उठि रमानिकेता। बैठे आसन रिषिहिं समेता॥५॥

शब्दार्थ—बीना (वीणा) = एक प्रसिद्ध बाजा। श्रीनिवास = जिनमें श्री का निवास है, लक्ष्मीपति। श्रुतिमाथा = वेदों के मुख्य प्रतिपाद्य। रमानिकेता = रमापति, श्रीमन्नारायण।

अर्थ—एक बार गान (विद्या) में निपुण मुनिनाथ नारदजी हाथ में श्रेष्ठ वीणा लिये हरि-गुण गाते हुए॥३॥ क्षीरसागर को गये, जहाँ वेदों के मुख्य प्रतिपाद्य लक्ष्मीपति (श्रीमन्नारायण) रहते हैं॥४॥ रमापति भगवान् हर्षपूर्वक उठकर उनसे मिले और ऋषि (नारद) के साथ आसन पर बैठे॥५॥

विशेष—(१) 'छीरसिंधु गवने...'—इस कल्प में क्षीर-सागरशायी के राम होने का प्रसंग है। जैसे कि श्वेतद्वीप के श्रीमन्नारायण का वाक्य नारदजी से है—"सन्ध्यांशे समनुप्राप्ते त्रेताया द्वापरस्य च। अहं दाशरथी रामो भविष्यामि जगत्पतिः॥" (महाभा० शान्ति० ३३९।८५), अर्थात् त्रेता और द्वापर के सन्ध्यांश में मैं दाशरथी राम रूप से अवतार लूँगा, तथा—"नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्यचिकीर्षया। समुद्र-निग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम्॥" (भाग० १।३।२२), अर्थात् देवताओं के कार्य करने की इच्छा से श्रीरामरूप होकर समुद्र-बन्धन और रावण-वध आदि अनेक पराक्रम किये। (इसमें श्रीमन्नारायण के ही अवतार लेने का प्रसंग है।) 'श्रुतिमाथा', यथा—"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः..." (गीता १५।१५)।

(२) 'हरषि मिलेउ उठि...'—जैसे भक्त को भगवान् के दर्शनों से आनन्द होता है वैसे ही भगवान् भी भक्त को देखकर सुखी होते हैं। हर्ष-सहित एवं उठकर मिलना शिष्टाचार भी है। 'उठि'—क्योंकि यहाँ आप 'सदा छीरसागर सयन' में ही रहते हैं।

हर्ष का यह भी हेतु कहा जाता है कि हर्ष से एवं उठकर मिलने से उनका और भी अभिमान बढ़ेगा, तब शिवजी के वचन बिलकुल भूल जायँगे। इससे लीला का अंग बनेगा और हमें कौतुक देखने एवं करने को मिलेगा।

(३) 'बैठे आसन'—भगवान् ने अपने आसन पर बराबर बैठाया, यह अति सत्कार किया। इससे नारदजी का अहंकार और भी बढ़ा कि हम त्रिदेवों से भी अधिक हैं, क्योंकि काम-क्रोध दोनों को जीता है। इसीसे भगवान् ऐसा मानते हैं, अहंकार में सेवक-धर्म भूल गये, इसीसे स्वामी के आसन पर और बराबर बैठे। प्रणाम भी न किया, क्योंकि मन में अपनेको उनसे श्रेष्ठ मानते हैं।

बोले बिहँसि चराचरराया। बहुते दिनन कीन्हि मुनि दाया ॥६॥
कामचरित नारद सब भाखे। जद्यपि प्रथम बरजि सिव राखे ॥७॥
अति प्रचंड रघुपति कै माया। जेहि न मोह अस को जग जाया ॥८॥

अर्थ—चराचर के राजा भगवान् हँसकर बोले—हे मुनि! (इस बार तो) बहुत दिनों पर आपने कृपा की है ॥६॥ यद्यपि श्रीशिवजी ने प्रथम ही बरज (मानकर) रक्खा था, तथापि नारदजी ने कामदेव का सारा चरित कहा ॥७॥ श्रीरघुनाथजी की माया अत्यन्त प्रचंड है, जगत् में ऐसा कौन उत्पन्न हुआ है, जिसे वह नहीं मोह सकती हो? ॥८॥

विशेष—(१) 'बोले बिहँसि···'—हँसकर क्यों बोले?—(क) सदा प्रसन्नमुख रहते एवं हँसकर बोलते हैं यह आपका स्वभाव ही है। (ख) हास आपकी माया है, यथा—"माया हास बाहु दिग-पाला। (लं० दो० १४), हँसे कि माया डाली। विश्वामित्र ऐश्वर्य कहने लगे तो आपने मुसकुरा दिया, तुरत मोहित होकर माधुर्य कहने लगे, देखिये दो० २१५-१६ एवं कौशल्याजी ने ऐश्वर्य कहना प्रारम्भ किया कि मुसकुरा दिया, बस, माधुर्य माँग लिया, दो० १६१-६२ देखिये। वैसे यहाँ हँसकर बोले कि मोहित होकर नारदजी भीतर की बातें सब कह दें। (ग) अपनी माया की प्रबलता पर हँसे, यथा—"निज माया-बल हृदय बखानी। बोले बिहँसि राम मृदु बानी॥" (दो० ५२), कि इसने सबके ज्ञानोपदेष्टा नारदजी को भी ऐसा मोहित किया!

(२) 'बहुते दिनन···'—अर्थात् पहले शीघ्र-शीघ्र आते थे, पर अबकी बहुत बेर लगा दी। शिवजी ने कहा था—'चलेहु प्रसंग ', वह प्रसंग चलाना यही है। अब नारद अवश्य ही सब कहेंगे कि ऐसे-ऐसे कारणों से देर हुई।

(३) 'अति प्रचंड रघुपति···' यथा—"हरि-माया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहि मोहि नचावा॥" (उ० दो० ५९)। यह ब्रह्माजी का वचन है। यहाँ श्रीनारायण और श्रीरघुपति में अभेद माना है।' अतः, नारायण के स्थान पर रघुपति कहा है।

(४) 'जेहि न मोह अस को ' यथा—"सुर-नाग-लोक महिमंडलहु को जु मोह कीन्हो जय न? कह तुलसिदास सो ऊबरै जेहि राख राम राजिवनयन॥" (क० उ० ११७)।

(५) देव-माया चंड, त्रिदेव-माया प्रचंड और रघुरति-माया अति प्रचंड है।

दोहा—रूख बदन करि बचन मृदु, बोले श्रीभगवान।
तुम्हरे सुमिरन ते मिटहिं, मोह मार मद मान ॥१२८॥

सुनु मुनि मोह होइ मन ताके। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाके ॥१॥
ब्रह्मचर्य-ब्रत-रत मतिधीरा। तुम्हहिं कि करइ मनोभव पीरा ॥२॥

अर्थ—श्रीभगवान् ने रूखा (उदासीन) मुख करके कोमल वचन कहा कि आपका स्मरण करने से (औरों के) मोह, काम, मद और अभिमान दूर हो जाते हैं, (तो ये कामादि आपको कैसे व्याप्त हो सकते हैं ?) ॥१२८॥ हे मुनि ! सुनिये, जिसके हृदय में ज्ञान-विराग नहीं रहते उसके मन में मोह होता है ॥१॥ आप तो ब्रह्मचर्य-व्रत में तत्पर रहते हैं और धीरबुद्धि हैं, (भला) कामदेव आपको क्या पीड़ित कर सकता है ? ॥२॥

विशेष—(१) 'रूख बदन करि···'—प्रथम भगवान् ने स्नेह का बर्ताव किया था, जिससे मुनि का अहंकार बढ़ता गया। स्नेह तैलवत् स्निग्ध (चिकनी) वस्तु है। चिकनी वस्तु राख-बेसन आदि रूखी वस्तुओं से मिटती है। वैसे नारद के हित करने को किंचित् काल के लिये भगवान् स्नेह हटाकर रूखे बन रहे हैं, यथा—"जिमि सिसु-तनु ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं ॥" (उ० दो० ७३)। रूखे बदन से सूचित कर दिया कि यह बात हमें प्रिय नहीं लगी। 'बचन मृदु'—आप सदा मृदु वचन ही बोलते हैं, पर आज तो यह भी ध्यान है कि नारद को इस व्यंग्य वचन से दुःख न हो। 'श्रीभगवान'—नारदजी का मन इस प्रकार मोहित होने योग्य न था, पर आप श्रीभगवान् हैं। जैसा चाहें—करें। इन्हें कौतुक का साज सजाना है। 'मोह' प्रथम कहा गया, क्योंकि वह राजा है। मार आदि इसके सुभट हैं।

(२) 'ज्ञान बिराग हृदय···'—ज्ञान राजा और वैराग्य उसका मन्त्री है, यथा—"सचिव-बिराग बिबेक नरेसू।" (अ० दो० २३४), इसका विरोधी मोह राजा है, अहंकार भाई और कामादि सुभट हैं, यथा—"मोह दसमौलि तद्भ्रात अहँकार···" (वि० ५८)। दो विरोधी राजा साथ नहीं रह सकते। व्यंग्य का आशय यह है कि आपके हृदय में अब मोह आया है। अतः, विवेक गया। यहाँ ग्रन्थकार ने भी मोह और ज्ञान-विराग को दो चरणों में पृथक्-पृथक् रक्खा है।

नारद कहेउ सहित अभिमाना। कृपा तुम्हारि सकल भगवाना ॥३॥
करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गर्ब - तरु भारी ॥४॥
बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी। पन हमार सेवक - हितकारी ॥५॥
मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करबि मैं सोई ॥६॥

अर्थ—श्रीनारदजी ने अभिमान के साथ कहा कि हे भगवान्! यह सब आपकी कृपा है ॥३॥ करुणानिधान भगवान् ने मन में विचार कर देखा कि अब इनके हृदय में अभिमान रूपी भारी वृक्ष का अंकुर जम आया है ॥४॥ उसे मैं शीघ्र ही उखाड़ डालूँगा, क्योंकि मेरा प्रण सेवक के हित करने का है ॥५॥ मैं अवश्य वही उपाय करूँगा, जिससे मुनि की भलाई और मेरा कौतुक हो ॥६॥

विशेष—(१) 'करुनानिधि मन ' '= सेवक का दुःख देखकर स्वामी का विकल हो जाना एवं उसके दुःख का नाश करके सुख सजना, यह करुणा रूप गुण है, यथा—"करुनामय रघुबीर गोसाईं। बेगि पाइयहिं पीर पराई ॥" (अ० दो० ८४)। इसी करुणा में आविष्ट होकर आप नारदजी का हित विचार रहे हैं। श्रीनारदजी को इस समय अहंकार हो गया है, यह भव का मूल है, यथा—"सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन-अभिमान न राखहिं काऊ ॥ संसृतिमूल सूलप्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना ॥ ताते करहिं कृपानिधि दूरी।"···से—"तिमि रघुपति निज दास कर, हरहिं मान हित लागि।" (उ० दो० ७४) तक। यह अहंकार भारी वृक्ष है, पर अभी-अभी अंकुरित हुआ है। अतः, उखाड़ डालना सुगम है, इसीसे कहते हैं—

(२) 'बेगि सो मैं···'—शीघ्र ही उखाड़ डालने में थोड़े ही कष्ट में भयंकर बाधा से मुनि बच

जायँगे। यदि यह सन्देह हो कि ये भी पराई वृद्धि नहीं देख सकते, इसलिये आगे कहते हैं—'प्रन हमार सेवक हितकारी' है। अतः, करुणावश ऐसा करते हैं, ईर्ष्या से नहीं।

(३) 'मुनि कर हित मम कौतुक···'—मुनि का हित होगा, संसृति से बचेंगे, साथ ही हमारा कौतुक होगा, क्योंकि मुनि शाप देंगे, उसीको निमित्त बनाकर हम कौतुक करेंगे, यथा—"लगे करन सिसु-कौतुक तेई।" (उ० दो० ८७), पूर्व कहा गया था—"भरद्वाज कौतुक सुनहु" (दो० १२७), उसका भाव यहाँ खुला कि कौतुक भगवान् का है—नारद का नहीं। इस कौतुक का आरम्भ यहाँ से हो रहा है। इसीलिये अपनी माया को प्रेरित करेंगे—

तब नारद हरिपद सिर नाई। चले हृदय अहमिति अधिकाई ॥७॥
श्रीपति निज माया तब प्रेरी। सुनहु कठिन करनी तेहि केरी ॥८॥

दोहा—बिरचेउ मग महँ नगर तेहि, सत जोजन बिस्तार।
श्री-निवास-पुर ते अधिक, रचना बिबिध प्रकार ॥१२९॥

शब्दार्थ—प्रेरी = नियुक्त किया। जोजन (योजन) = ४ कोस। श्री-निवास-पुर = वैकुंठ वा क्षीरसिंधु।

अर्थ—तब श्रीनारदमुनि भगवान् के चरणों में सिर नवाकर चले, उनके हृदय में अहंकार और अधिक हो रहा है ॥७॥ तब लक्ष्मीपति भगवान् ने अपनी माया प्रेरित की, उसकी कठिन करतूत सुनो ॥८॥ उसने मार्ग में चार सौ कोसों के लम्बे-चौड़े नगर की बहुत ही सुन्दर रचना की, जिसकी नाना प्रकार की रचनाएँ (बनावटें) वैकुण्ठलोक से भी अधिक थीं ॥१२९॥

विशेष—(१) 'हरि-पद सिरनाई।'—शिवजी ने इनका सत्कार विशेष नहीं किया, प्रत्युत शिक्षा देने लगे थे। यहाँ भगवान् उठकर मिले और बराबर बैठाया, यह विशेष आदर हुआ, यथा—"आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंहासन आसन देई ॥" (अ० दो० ९), इसीसे चलते समय यहाँ प्रणाम किया, यह भी अहंकार से है अथवा यही प्रणाम आगे के कल्याण का कारण भी है, यथा—"मंगलमूल प्रनाम जासु जग मूल अमंगल के खनै।" (गी० मुं० ४०), तथा—"त्वदङ्घ्रिमुद्दिश्य कदापि केनचिद्यथा तथा वापि सकृत् कृतोऽञ्जलिः। तदैवमुष्णात्यशुभान्यशेषतः शुभानि पुष्णाति न जातु हीयते ॥" (आलवंदार स्तोत्र)।

(२) 'चले हृदय अहमिति ··'—प्रथम चले थे, तब कहा था—"जिता काम अहमिति मनमाहीं।" और अब यहाँ—'चले···' से अधिकता कहते हैं, क्योंकि प्रथम अहंकार का बीजमात्र पड़ा था, शिवजी के मना करने से दबा पड़ा था। यहाँ भगवान् ने उन्हीं बातों की प्रशंसा की और आदर किया। इससे अंकुर प्रकट होकर बढ़ चला। मन में सोचते हैं कि ठीक शिवजी ने स्पर्द्धा से ही रोका था, भगवान् तो सुनकर प्रसन्न ही हुए।

(३) 'श्रीपति निजमाया···'—यहाँ 'श्रीपति' विशेषण के साथ निज माया कहने से श्री से भिन्न 'निज माया' को प्रकट किया, यथा—"नहिं तहँ रमा न राजकुमारी।" (दो० १३७)।

श्रीनारदजी पर इन्द्र की माया नहीं लगी थी, क्योंकि हरि-भक्तों पर औरों की माया नहीं लगती। यथा—"बिधि-हरि-हर-माया बड़ि भारी। सोउ न भरत-मति सकइ निहारी ॥" (अ० दो० २६४), किसी वैदिक विधि की स्थापना एवं अपनी लीला-विधि के लिये श्रीरामजी अपने भक्तों पर अपनी ही माया को प्रेरित करते हैं, यथा—"बहुरि राममायहिं सिर नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा ॥" (दो० ५५)। इसका प्रमाण भी पूर्व दो० १२७ के विशेष १ में दिया गया है।

'कठिन करनी'—क्योंकि इससे उस काल में नारदजी बड़ा दुःख समझेंगे, यथा—"देइहउँ स्राप

कि मरिहउँ जाई। जगत मोरि उपहास कराई॥" (दो० १३५) और "संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥" (अ० दो० ९४), अर्थात् मरने से भी अधिक दुःख मानेंगे।

(४) 'बिरचेउ मग महँ·····' चार सौ कोसों का विस्तार इसलिये रचा कि प्रायः विरक्त सन्त प्रसाद पाने (भोजन करने) पर बस्ती से अलग होकर जाते हैं, इसलिये इतना बड़ा रचा कि कहाँ तक दूर से होकर जायँगे? 'श्रीनिवास ·····' जहाँ साक्षात् श्रीजी ही निवास करती हैं, वहाँ की शोभा का क्या कहना? क्योंकि श्रीजी की कृपा-दृष्टि मात्र से लोकपालों का ऐश्वर्य प्राप्त होता है। वैकुंठ से अधिक रचा, क्योंकि वैकुंठ में श्रीनारदजी बराबर जाया ही करते हैं, कभी मोहित नहीं होते हैं। अतः, उससे अधिक चाहिये। सात्विक नारद को मोहना है, इससे शुद्ध सत्त्वमय नगर की-सी रचना की।

श्रीनारदजी वन, काम, कोकिल आदि की शोभा पर मोहित नहीं हुए थे, इसलिये इस बार इतना ऐश्वर्य भर दिया कि नगर देखकर मोहेंगे, यथा—"नारदादि··· ··देखि नगर बिराग बिसरावहिं।" (उ० दो० २६)। किसी-किसीका अनुमान है कि यह नगर जम्बू द्वीप ही में रचा गया, जब मुनि क्षीर-सागर से जम्बूद्वीप को आये। कोई-कोई कहते हैं कि यह स्थान आजकल काश्मीर में है। शीलनिधि की राजधानी 'श्रीनगर' में थी।

बसहिं नगर सुंदर नर - नारी। जनु बहु मनसिज-रति तनुधारी॥१॥
तेहि पुर बसइ सीलनिधि राजा। अगनित हय गय सेन समाजा॥२॥
सत सुरेस सम बिभव-बिलासा। रूप तेज बल नीति - निवासा॥३॥
बिस्वमोहिनी तासु कुमारी। श्री बिमोह जिसु रूप निहारी॥४॥
सोइ हरि-माया सब-गुन-खानी। सोभा तासु कि जाइ बखानी॥५॥

अर्थ—उस रमणीक नगर में ऐसे सुन्दर स्त्री-पुरुष निवास करते हैं, मानों बहुत-से काम और रति ने ही शरीर धारण कर रक्खे हों॥१॥ उस पुर में शीलनिधि नामक राजा रहता था। उसके अनगिनत घोड़े, हाथी, सेना और समाज थे॥२॥ सौ इन्द्रों के समान उसका वैभव-विलास था, वह (स्वयं) रूप, तेज, बल और नीति का तो मानो निवास-स्थान ही था॥३॥ उसकी कुमारी (लड़की) विश्वमोहिनी (नाम की) थी, लक्ष्मीजी भी जिसका रूप देखकर मोहित हो जायँ॥४॥ वही सब गुणों की खान भगवान् की माया थी, उसकी शोभा क्या बखानी जा सकती थी?॥५॥

विशेष—(१) 'बसहिं नगर·····'—इसमें 'सुंदर' शब्द दीपदेहली है। पूर्व नारद को एक काम नहीं मोह सका था, अब माया-नगर में काम-ही-काम सशक्ति बसाये गये, पर नारदजी इनपर न मोहेंगे, यह उनके वैराग्य की महिमा है। प्रजा से अधिक रूप-गुण राजा में हैं। अतः, आगे कहते हैं—

'सीलनिधि'—शील गुण अन्य गुणों की अपेक्षा अधिक है एवं और सद्गुणों का आश्रय है, यह उसका खजाना ही है। महाभारत शान्ति पर्व अ० १३५ में एक कथा है कि इन्द्र ब्राह्मण बनकर श्रीप्रह्लादजी से वचनबद्ध कर शीलगुण माँग लिया, तब शील के निकलते ही क्रमशः उनसे धर्म, सत्य, वृत्त, बल और श्रीजी भी पृथक् हो गये। वहीं पर कहा गया है, यथा—"धर्मः सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव तथाऽप्यहम्। शीलामूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः॥" (श्लोक ६२), अर्थात् श्री लक्ष्मीजी ने कहा है कि धर्म, सत्य, वृत्त, बल और मैं (श्री)—सब शीलमूलक हैं (शील के अनुगामी रहते हैं) इससे आगे के श्लोकों ६६-६८ में शील-गुण के लक्षण कहे गये हैं—"वचन, कर्म और मन से सब प्राणियों के विषय में अनिष्ट आचरण न करना, कृपा करनी और दान देना—ये शील के प्रशस्त अंश हैं। जो अपने पौरुष एवं कर्म औरों के हितकर न हों एवं जिनसे लज्जित होना पड़े, वे त्याज्य हैं, जिनसे सभा में बड़ाई हो, वैसे कार्य

करना चाहिये, ये शील के लक्षण हैं। इन्हीं सद्वृत्तियों के आधार पर उपर्युक्त धर्म, सत्य आदि मनुष्यों में रहते हैं।"

वह शीलनिधि राजा इस शील आश्रित सभी गुणों का खजाना था, शील आदि से सुख होता है, इससे आगे उसका सुख वैभव कहते हैं—

(२) 'सत सुरेस सम·····'—प्रथम इन्हें एक इन्द्र का वैभव नहीं मोह सका, इसलिये यहाँ सैकड़ो गुणा अधिक रचा गया। 'सत' शब्द यहाँ अनन्तवाची है, क्योंकि पूर्व वैकुंठ से अधिक रचना कही जा चुकी है। भोग-विलास में इन्द्र प्रधान है, यथा—"भोगेन मघवानिव।" (वा० मूलरामायण, एवं—"सुनासीर सत सरिस सो, संतत करइ बिलास।" (लं० दो० १२), इसलिये इन्द्र की उपमा दी गई।

(३) 'बिस्वमोहिनी तासु ··'—इतना रचने पर भी सन्देह है कि मोहित हों वा नहीं, इसलिये माया स्वयं मोहिनी-रूप धरकर राजकुमारी बनी। पूर्व रम्भा आदि के गुणों से मोहित नहीं हुए थे। अतः, यह विलक्षण गुणों की खान भी बनी। रूप में श्रीजी को नीचा दिखानेवाली है और इसमें गुण ऐसे हैं कि जो इसे बरे, वह अमर, शत्रुजित् एवं चराचर-सेव्य हो, यह आगे कहा जायगा।

(४) 'सोइ हरि-माया·····'—हरि की माया है, इसीसे अन्त में इसने हरि ही को ब्याहा।

(५) 'सोभा तासु कि जाइ·····'—यह विद्यामाया है, यथा—"हरिसेवकहिं न ब्याप अबिद्या। प्रभु-प्रेरित तेहि ब्यापइ बिद्या॥" (उ० दो० ७८), पुनः 'गुनखानी' एवं 'प्रेरी' से भी स्पष्ट है, यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥" (अर० दो० १४)। अतः, निःसीम गुणों एवं अतुलित शोभा के कारण अकथ्य है।

करइ स्वयंबर सो नृपबाला। आये तहँ अगनित महिपाला॥६॥
मुनि कौतुकी नगर तेहि गयेऊ। पुरबासिन्ह सब पूछत भयेऊ॥७॥
सुनि सब चरित भूपगृह आये। करि पूजा नृप मुनि बैठाये॥८॥

दोहा—आनि देखाई नारदहिं, भूपति राजकुमारि।
कहहु नाथ गुन दोष सब, येहि के हृदय बिचारि॥१३०॥

अर्थ—वही नृप-बाला (राजकन्या) अपना स्वयंवर कर रही थी, (इसीसे) असंख्य राजा वहाँ आये हुए थे॥६॥ कौतुक-प्रिय मुनि उस कौतुकी नगर में गये और उन्होंने पुरवासियों से सब समाचार पूछा॥७॥ (नारदजी) सब समाचार सुनकर राजभवन में आये। राजा ने पूजा करके मुनि को बैठाया॥८॥ राजा ने अपनी पुत्री को लाकर नारदजी को दिखलाया (और कहा) कि हे नाथ! अपने हृदय में विचारकर इसके सम्पूर्ण गुण-दोषों को कहिये॥१३०॥

विशेष—(१) 'मुनि कौतुकी·····'—भाँति-भाँति के खेलों एवं विनोद में दिल बहलाने का इनका स्वभाव है। स्वयंवर के लिये आये हुए राजा लोग पुर के बाहर जहाँ-तहाँ छावनियाँ डाले पड़े हैं, यथा—"पुर बाहेर सर सरित समीपा। उतरे जहँ-तहँ बिपुल महीपा॥" (दो० २१३), यह सब देखकर पुरजनों से पूछा कि यह कैसी भीड़ है? और यहाँ किसका एवं कैसा राज्य है? इत्यादि।

(२) 'करइ स्वयंबर···'—यह धर्म-रीति का विवाह है, इससे रचा। माया ने सोचा कि मुनि और प्रकार से अधर्म मानकर मुझे ग्रहण न करेंगे। यदि दूसरे की विवाहिता जानेंगे, तब भी इधर न ताकेंगे। स्वयंवर के लिये रूप की आवश्यकता होगी, हरि से माँगेंगे, इत्यादि।

(३) 'आनि देखाई नारदहि·····'—माया ने प्रथम नगर, पुरवासी, तब राजा को रचा और फिर स्वयं राजकुमारी बनी, उसी क्रम से नारदजी का देखना भी है।

(४) राजा ने हिमालय की भाँति कन्या से प्रणाम नहीं कराया और न कन्या ने ही किया, क्योंकि इस कन्या के द्वारा मुनि की दुर्दशा होनी है। जिसे प्रणाम करे, फिर उसकी दुर्दशा करनी योग्य नहीं।

(५) पार्वतीजी के हाथ देखने के प्रसंग में—"कहहु सुता के दोष-गुन" (दो० ६६) कहा गया है और यहाँ 'गुन-दोष' कहा गया है। इसका भाव यह कि वहाँ जो प्रथम दोष कहे गये, वे गुण ही हुए, यथा—"दोषउ गुन सम कह सब कोई।" (दो० ६८), और इस माया में अभी जो नारदजी गुण समझेंगे, वे दोष ही होंगे। इसलिये प्रथम गुण कहकर फिर दोष कहे गये, यथा—"सुनहु तात माया कृत, गुन अरु दोष अनेक। गुन यह उभय न देखियहि, देखिय सो अबिबेक॥" (उ० दो० ४१)।

देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी॥१॥
लच्छन तासु बिलोकि भुलाने। हृदय हरष नहिं प्रगट बखाने॥२॥
जो येहि बरइ अमर सोइ होई। समरभूमि तेहि जीत न कोई॥३॥
सेवहिं सकल चराचर ताही। बरइ सीलनिधि कन्या जाही॥४॥
लच्छन सब बिचारि उर राखे। कछुक बनाइ भूप सन भाखे॥५॥
सुता सुलच्छन कहि नृप पाहीं। नारद चले सोच मन माहीं॥६॥

अर्थ—(राजकुमारी के) रूप को देखते ही नारद मुनि अपना सारा वैराग्य भूल गये। उसे बड़ी देर तक देखते ही रह गये॥१॥ उसके लक्षण देखकर वे भ्रम में पड़ गये। हृदय में हर्षित हुए, प्रकट में कुछ नहीं कहा॥२॥ (हृदय में विचारते हैं कि) जो कोई इसे ब्याहेगा, वह अमर होगा, रणभूमि में उसे कोई जीत नहीं सकेगा॥३॥ जिसे शीलनिधि की लड़की ब्याहेगी, चर-अचर सभी जीव उसकी सेवा करेंगे॥४॥ सब लक्षण विचार कर अपने हृदय में रख लिये तथा कुछ और ही बनाकर राजा से कह दिये॥५॥ "लड़की सुलक्षणा है"—राजा से ऐसा कहकर नारदजी चल दिये, वे मन में सोचते जाते हैं॥६॥

विशेष—(१) 'देखि रूप मुनि बिरति ···'—मुनि कन्या का हाथ पकड़कर लक्षण देखने लगे, दृष्टि उसके रूप पर लग गई। राजा ने समझा कि मुनि विचार रहे हैं, पर मुनि का मन रूप में आसक्त हो गया। अतः, विराग चला गया।

(२) 'लच्छन तासु बिलोकि···'—यहाँ बुद्धि से लक्षणों का विपरीत अर्थ समझा। इसमें ज्ञान भी चला गया। मोह हृदय में छा गया। भगवान् ने कहा था—"सुनु मुनि मोह होइ मन ताके। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाके॥" (दो० १२८)। वह चरितार्थ हुआ, प्रथम वैराग्य गया, तब ज्ञान, क्योंकि ज्ञान का कारण वैराग्य है, यथा—"ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।" (उ० दो० ८९)। अतः, प्रथम कारण गया, तब कार्य का जाना योग्य ही है। दोनों के जाने पर मोह आया, इससे लक्षण-विचार में भूल गये। 'मुह-वैचित्ये' इस धातु से मोह शब्द सम्पन्न होता है, इससे कुछ-का-कुछ निश्चित किया, तथा—"जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआई बिमोह मन करई॥" (उ० दो० ५८), यह यहाँ चरितार्थ है।

(३) 'जो येहि बरइ ···'—इसका यथार्थ अर्थ तो यह था कि जो इसे ब्याहेगा, वह अमर है, अजित है और चराचरसेव्य है। पर मुनि उलटा ही समझ गये कि जो कोई इसको ब्याहेगा वह अमर, अजर एवं ब्रह्माण्ड-सेव्य हो जायगा। अतः, बलपूर्वक भी कन्या प्राप्त करने से अमरत्व आदि होंगे। पुनः मोहित बुद्धि से यह भी निश्चित हुआ कि जो इससे ब्याहा जायगा—जिसे शीलनिधि की कन्या ब्याहेगी, उसमें उक्त तीनो गुण आ जायँगे। यही भुलाना है।

(४) 'उर राखे—अमरत्व, अजित्व और ब्रह्मांड-सेव्यत्व इन तीनो बातों को हृदय में ही रक्खा कि दूसरा कोई न जानने पावे।

(५) 'सोच मन माहीं'—शोच कन्या के प्राप्त करने के लिये है, यथा—"एकउ जुगुति न मन ठहरानी। सोचत भरतहिं रैनि बिहानी ॥" (अ० दो० २५२)। सोचकर निश्चित उपाय आगे कहे जाते हैं—

करउँ जाइ सोइ जतन बिचारी। जेहि प्रकार मोहि बरइ कुमारी ॥७॥
जप तप कछु न होइ तेहि काला। हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला ॥८॥

दोहा - येहि अवसर चाहिय परम, सोभा रूप बिसाल।
जो बिलोकि रीझइ कुँअरि, तब मेलइ जयमाल ॥१३१॥

हरि सन माँगउँ सुन्दरताई। होइहि जात गहरु अति भाई ॥१॥
मोरे हित हरि सम नहिं कोऊ। येहि अवसर सहाय सोइ होऊ ॥२॥

अर्थ—(वहाँ) जा, विचार कर वही उपाय करूँ, जिससे वह कन्या मुझे ही ब्याहे ॥७॥ जप, तप—कुछ उस (स्वयंवर के) समय नहीं हो सकता (समय नहीं है और चित्त भी चंचल है)। हे विधाता ! किस उपाय से (वह) कन्या मिले ॥८॥ इस अवसर पर मुझे परम शोभा और विशाल रूप चाहिये, जिसे देखकर वह राजकन्या रीझ जाय, तब वह जयमाल पहना दे ॥१३१॥ (हाँ, एक बात हो सकती है कि) हरि (भगवान्) से सुन्दरता माँगूँ, परन्तु अरे भाई ! मुझे वहाँ जाने में भी तो देर लगेगी ॥१॥ हरि के समान मेरा कोई भी हितैषी नहीं है। वे ही इस अवसर पर सहायक हों ॥२॥

विशेष—(१) 'करउँ जाइ सोइ···' पूर्व में कह आये—'जो येहि बरइ' अर्थात् बलपूर्वक ब्याहे अथवा 'बरइ कन्या जाही' अर्थात् रूपवान् हो। बल और रूप—दो तरह से कन्या मिल सकती है, पर ये दोनों ही मुझमें नहीं हैं, अतएव विचारकर यत्न करूँ। नारदजी साधु हैं, इससे बल से लेने की कामना नहीं की, वह उपाय इन्हें नहीं रुचा। फिर यही निश्चित किया कि उपाय वही ठीक होगा 'जिससे कन्या ही मुझे वरण कर ले।'

(२) 'जप तप कछु न ··'—अब स्वयंवर उपस्थित है, उक्त कन्या को आकर्षित करने के लिये यदि जप-तप करूँ, तो समय नहीं है, स्वयंवर में उस समय सबके बीच में यह कैसे होगा ? (चित्त भी चंचल है) अतः, हे विधि ! आप ही कोई विधान बताइये, क्योंकि आप सबके विधाता हैं।

(३) 'येहि अवसर चाहिय···'—विधि ने सुन लिया, उपाय सुझा दिया कि विशाल रूप हो और उसमें परम शोभा हो। बस, इसीपर वह रीझेगी। रूप=शरीर का चढ़ाव-उतार, यथायोग्य गढ़न। शोभा=सुन्दरता। स्वयंवर में जो राजा आये हैं, उनमें रूप और शोभा है और मुझमें परम शोभा एवं विशाल रूप होना चाहिये। तभी तो वह सबको छोड़ मुझे ब्याहेगी। 'मेलइ जयमाल' अर्थात् जयमाल-स्वयंवर है।

(४) 'हरि सन माँगउँ···'—रूप देखने से मोहित होकर मिल जाय, यही उपाय चित्त में आया। हरि बड़े सुन्दर हैं वे ही मुझे सुन्दर रूप देकर मेरा क्लेश हरण करेंगे, यह हो सकता है, परन्तु—

(५) 'होइहि जात गहरु···' 'भाई' ! मन के प्रति सम्बोधन है। 'जाने में देर होगी'—इसपर शंका हो सकती है कि ये तो अव्याहत गति हैं, यथा—"गति सर्बत्र तुम्हारि" (दो० ६६), तुरन्त सर्वत्र जा सकते हैं। पुनः, योगबल से तुरन्त जा सकते थे। इसका समाधान यह है कि मुनि मायाबश हैं, यथा—"मायाबिबस भये मुनि मूढ़ा।" (दो० १३२)। इससे मन की अव्याहत गति भूले हुए हैं और चित्त चंचल होने से योग में भी विलम्ब ही होगा।

(६) 'मोरे हित हरि सम नहिं···'—श्रीनारदजी हरि के अनन्य हैं और हरि के समान उनका अपना हितू दूसरा नहीं है। रूप भी हरि के तुल्य सुन्दर और किसीका नहीं है। समय पड़ने पर सच्चा हितैषी ही सहायक होता है। हरि ही सबके सच्चे हितू हैं, यथा—"तुलसी प्रभु साँचो हितू तू हिये कि आँखिन हेर।" (वि० १९०)।

भक्त कारणवश अर्थार्थी भी होते हैं तो अपने प्रभु ही से माँगते हैं, यह शिक्षा भी है।

बहु बिधि बिनय कीन्हि तेहि काला। प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला ॥३॥
प्रभु बिलोकि मुनिनयन जुड़ाने। होइहि काज हिये हरषाने ॥४॥
अति आरति कहि कथा सुनाई। करहु कृपा करि होहु सहाई ॥५॥
आपन रूप देहु प्रभु मोही। आन भाँति नहिं पावउँ ओही ॥६॥
जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा ॥७॥

अर्थ—नारदजी ने उस समय बहुत प्रकार से विनती की, तब (उस समय) ही कौतुकी और कृपालु प्रभु प्रकट हुए ॥३॥ स्वामी को देखकर मुनि के नेत्र शीतल हुए और वे हृदय में हर्षित हो गये कि अब कार्य होगा ॥४॥ बहुत आर्त्त (कातर) होकर उन्होंने सारी कथा कह सुनाई और विनती की कि कृपा कीजिये, कृपा करके सहायक बनिये ॥५॥ हे प्रभो! मुझको अपना रूप दीजिये, क्योंकि अन्य प्रकार से उस राजकन्या को न पाऊँगा ॥६॥ हे नाथ! जिस प्रकार मेरा हित हो, वही (विधि) शीघ्र करिये, मैं आपका दास हूँ ॥७॥

विशेष—(१) 'बहु बिधि बिनय···'—'तेहि काला' दीपदेहली है। 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, तभी तो सर्वत्र पहुँच जाते हैं एवं प्रकट हो सकते हैं। पूर्व कहा था कि—"मुनिकर हित मम कौतुक होई।" इसीसे 'कौतुकी' और मुनि का हित चाहते हैं, इससे 'कृपाला' कहा।

(२) 'प्रभु बिलोकि मुनि···'—प्रभु का रूप देखकर मुनि के नेत्र ठंढे हुए। अतः, समझा कि यही रूप यदि मुझे मिलेगा, तो इसे देखकर राजकुमारी के नेत्र भी ठंढे हो जायँगे और वह मुझे ही जयमाला पहनावेगी, इसीसे हर्ष हुआ। 'काज' बुन्देलखंड एवं रीवाँ आदि प्रदेशों में विवाह के अर्थ में कहा जाता है। अतः, विवाह होगा, ऐसा समझकर हर्ष हुआ।

(३) 'अति आरति कहि···'—प्रथम मुनि ने भगवान् से काम-क्रोध का जीतना कहा था, उन्हीं से अब स्त्री के लिये पूर्ण कामी की तरह प्रार्थना कर रहे हैं, लज्जा नहीं आती, क्योंकि इस समय अत्यन्त आर्त्त हैं, यथा—"अति आरत अति स्वारथी···बोलहिं न बिचारी।" (वि० ३४), तथा—'रहत न आरत के चित चेतू।" (अ० दो० २६८)।

(४) 'पावउँ ओही'—प्रथम विश्वमोहिनी को बाला, कुमारी, कन्या आदि संज्ञा से कहते थे, भगवान् के प्रकट होने से पूर्ण विश्वास हो गया कि वह मेरी दुलहिन हो चुकी, सन्देह नहीं। अपनी दुलहिन का नाम नहीं लिया जाता। वह 'ओही' संज्ञा से कही जाती है, वैसे कहते हैं। यहाँ स्त्री के लिये आर्त्त होने में काम से और 'पावउँ ओही' में लोभ से पराजय हुई, आगे क्रोध से भी होगी।

(५) 'जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा।'—यह अर्द्धाली भगवान् की इच्छा के अनुकूल उनकी ही प्रेरणा से कही गई, यथा—"प्रन हमार सेवक हितकारी।" (दो० १२८), नहीं तो नारदजी का काम इसके बिना भी चल गया था फिर "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" (गीता ४।११) के नियम से भगवान् को वैसा ही करना पड़ता। परन्तु यहाँ तो लीला-विधि सम्पन्न करनी है—वैसे ही कर

रहे हैं। अब तो दास का हित जिसमें होगा, वही प्रभु करेंगे। 'बेगि' नारदजी अति आतुर हैं, इसलिये 'बेगि' चाहते हैं, आगे इस प्रकरण में सर्वत्र शीघ्रता ही रहेगी।

निज मायाबल देखि बिसाला। हिय हँसि बोले दीनदयाला ॥८॥

दोहा—जेहि बिधि होइहि परम हित, नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु, बचन न मृषा हमार ॥१३२॥

कुपथ माँग रुजब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि योगी ॥१॥
येहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयेऊ। कहि अस अंतरहित प्रभु भयेऊ ॥२॥

शब्दार्थ—कुपथ = कुपथ्य। रुज = रोग। ठयेऊ (ठानेऊ) = ठाना है। अंतरहित (अन्तर्हित) = अन्तर्धान।

अर्थ—अपनी माया का बहुत बड़ा बल देख दीनदयालु भगवान् मन में हँसकर बोले ॥८॥ हे नारद! सुनो, जिस विधि से तुम्हारा अत्यन्त भला होगा, वही मैं करूँगा और कुछ नहीं, मेरा वचन झूठा नहीं होता ॥१३२॥ हे योगी मुनि! सुनो, रोग से व्याकुल रोगी जैसे कुपथ्य माँगता है, पर वैद्य उसे नहीं देता ॥१॥ इसी प्रकार मैंने तुम्हारा हित निश्चित कर रक्खा है, ऐसा कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये ॥२॥

विशेष—(१) 'निज मायाबल···'—अपनी माया जब कोई भारी कौतुक दिखाती है, तब उसकी बड़ाई करते हैं, यथा—"निज माया-बल हृदय बखानी।" (दो० ५२)। इसने कामजित् नारद को निर्लज्ज बना दिया। पूर्व कहा था—"सुनहु कठिन करनी तेहि केरी।" (दो० १२८), उसीको यहाँ 'बल बिसाला' से कहा। 'हिय हँसि'—क्योंकि प्रकट हँसने से नारदजी को दुःख होगा और लीला में बाधा होगी।

(२) 'जेहि बिधि होइहि···'—नारद ने कहा—'हित मोरा होइ', उसपर भगवान् कहते हैं कि हित ही नहीं, किन्तु मैं तुम्हारा परम हित करूँगा। इस विवाह से नारद का अहित है, इसलिये न होने देंगे, इसे अर० दोहा ४३-४४ में भगवान् ने विस्तार से कहा है। वहाँ की दृष्टि से इस चरित्र में क्षणिक निष्ठुरता तो भगवान् में आती है, पर परिणाम की दृष्टि से इसमें परम दया है। इसलिये यहाँ 'कृपाला', 'दीनदयाला' आदि विशेषण बार-बार कहे गये हैं। 'बचन न मृषा हमार', यथा—"मुधा बचन नहिं ईस्वर कहई।" (उ० दो० ९३)।

(३) 'कुपथ माँग रुज···'—मुनि एवं योगी के लिये स्त्री कुपथ्य है, यथा—"सङ्गं न कुर्यात्प्रमदासु जातु योगस्य पारं परमारुरुक्षुः। मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो वदन्ति या निरयद्वारमस्य ॥" (भाग० ३।३१।३९), अर्थात् जो योग के परम पद पर आरूढ़ होना चाहता हो और जिसे मेरी सेवा से आत्मपद प्राप्त हो चुका हो, वह स्त्रियों का संग कभी न करे, क्योंकि इन्हें योगी के लिये नरक का द्वार कहा गया है। काम-वासना की प्रबलता रोग की व्याकुलता है। हम वैद्य-रूप हैं, कुपथ्य न देंगे। यह भी सूचित करते हैं कि प्रथम आपने ही योग की समाधि में इसे कुपथ्य मानकर त्यागा था और क्रोध जीतकर मुनिपना निबाहा था।

(४) 'अंतरहित प्रभु भयेऊ'—मुनि शीघ्र-शीघ्र सब काम चाहते हैं, इसलिये तुरन्त अन्तर्धान हो गये कि शीघ्र ही हित का काम हो वा यह इसलिये भी कि लीला के लिये इतना ही ठीक है, मुनि और न कुछ कहने पावें।

मायाबिवस भये मुनि मूढ़ा। समुझी नहिं हरिगिरा निगूढ़ा ॥३॥
गवने तुरत तहाँ रिषिराई। जहाँ स्वयंबर-भूमि बनाई ॥४॥

निज-निज आसन बैठे राजा। बहु-बनाव करि सहित समाजा ॥५॥
मुनिमन हरष रूप अति मोरे। मोहि तजि आनहिं बरिहि न भोरे ॥६॥

अर्थ—माया के विशेष वश होने से मुनि ऐसे मूढ़ हो गये कि उन्होंने भगवान् की 'निगूढ़' (जो गूढ़ नहीं = स्पष्ट) वाणी को (भी) नहीं समझ सके ॥३॥ ऋषिराज नारदजी तुरन्त ही वहाँ चले गये, जहाँ स्वयंवर की (रंग) भूमि बनाई हुई थी ॥४॥ बहुत बनाव (शृंगार) किये हुए राजा लोग समाज के साथ अपने-अपने आसन पर बैठे हुए हैं ॥५॥ मुनि के मन में हर्ष है कि रूप तो मेरा ही अत्यन्त अधिक है। अतः, मुझे छोड़कर (वह कन्या) भूल से भी दूसरे का वरण न करेगी ॥६॥

विशेष—(१) 'माया-बिबस···'—माया के वश तो संसार ही है, पर मुनि विशेष वश हुए हैं, क्योंकि माया ने देखा कि भगवान् भक्त से यथार्थ ही कहेंगे। यदि नारद विशेष मूढ़ न हो जायँगे तो उनके समझ लेने पर मेरा सारा उपाय ही व्यर्थ जायगा। अतः, नारद को यही समझ पड़ता है कि मेरा परम हित विश्वमोहिनी के ब्याह में ही है, यही भगवान् कह रहे हैं। 'निगूढ़' पद का सामान्य अर्थ तो 'गूढ़ आशय युक्त', 'गुप्त' ही होता है, पर 'नि+गूढ़' इस प्रकार 'नि' उपसर्ग का 'निषेध' अर्थ लेकर सीधा अर्थ 'नहीं गूढ़' अर्थात् 'स्पष्ट' होता है, यही यहाँ पर लागू है।

(२) 'गवने तुरत तहाँ ···'—प्रभु के अन्तर्धान होते ही नारद का विष्णु-रूप हो गया, ऐसा देखकर वे तुरन्त राजमहल न जाकर सीधे रंगभूमि ही को गये, ऐसा जान पड़ता है। 'रिषिराई'—नारदजी व्यास-वाल्मीकि आदि के गुरु हैं। इनकी भी माया ने यह दशा की, फिर और किस गिनती में हैं? नारदजी भरद्वाजजी के दादा गुरु और गरुड़जी के उपदेष्टा हैं। अतः, इनके वक्ता लोग भी इन्हें लक्ष्य कराते हैं कि देखो।

(३) 'मुनि-मन हरष रूप···'—श्रीनारदजी ने औरों की अपेक्षा अपना अति (अधिक) रूप देखा, इससे मन में हर्ष है कि 'रूप' तो सबको है, पर मुझको 'अतिरूप'-प्राप्त है।

मुनिहित कारन कृपानिधाना। दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना ॥७॥
सोउ चरित्र लखि काहु न पावा। नारद जानि सबहिं सिर नावा ॥८॥

दोहा—रहे तहाँ दुइ रुद्रगन, ते जानहिं सब भेउ।
बिप्रबेष देखत फिरहिं, परम कौतुकी तेउ ॥१३३॥

अर्थ—कृपानिधान भगवान् ने मुनि के हित के लिये उन्हें ऐसा कुरूप दिया कि जो कहा नहीं जा सकता ॥७॥ इस चरित्र को और किसीने नहीं लख पाया, नारद जानकर सभी ने उन्हें प्रणाम किया ॥८॥ वहाँ पर दो रुद्रगण भी थे, वे सब भेउ (रहस्य) जानते थे। ब्राह्मण-वेष से वे दोनों देखते-फिरते थे तथा परम कौतुकी वे भी थे।

विशेष—(१) 'मुनि हित कारन···'—भगवान् ने पहले ही से मुनि के हित पर दृष्टि रक्खी है—"पन हमार सेवक हितकारी।" "मुनि कर हित मम कौतुक होई।" फिर श्रीनारदजी ने भी हित रूप में ही भगवान् का वरण किया है—"मोरे हित हरि सम नहिं कोई।" "जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा। करउ सो बेगि" इसपर भगवान् ने कहा—"जेहि बिधि होइहि परम हित, नारद सुनहु तुम्हार। सोइ हम करब···" तथा "एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयेऊ।" उन छओं स्थलों के हित-कथन का भाव यहाँ खोला है कि मुनि का हित—"दीन्ह कुरूप न···" से है। इसीसे मुनि का हित हुआ। 'दीन्ह कुरूप' 'सो चरित्र'—समाज के लोगों की दृष्टि में नारदजी अपने ही रूप में हैं। यदि सब लोग कुरूप देख पाते तो हँसते, तब

नारदजी को भी सन्देह होता और शीशा आदि से देख लेते, फिर लीला का अंग बिगड़ जाता, इसीसे 'सो चरित्र लखि काहु न पावा" की व्यवस्था हुई। अपने जानने में वे विष्णु-रूप हैं, इसीसे उन्हें हर्ष है—'रूप अति मोरे।' हर गण और विश्व-मोहिनी की दृष्टि में हरिरूप अर्थात् वानर-रूप हैं। अतः, इसे 'चरित्र' कहा। सबके प्रणाम करने पर नारदजी ने यही माना कि मुझे विष्णु मानकर लोग प्रणाम कर रहे हैं। 'कृपानिधाना'—क्योंकि नारद की लोक-मर्यादा भी बचाई और ऋषित्व की मर्यादा भी रक्खी। 'बखाना'—कहा भी नहीं जाता, तब देखने की कौन कहे ?

(२) 'रहे तहाँ दुइ···'—रुद्रगण को भी लीला में सम्मिलित करना है, रावण-कुम्भकर्ण बनाना है। ये इसलिये वे सब भेद समझ सके—रुद्रगण हैं, इससे शिवजी की शिक्षा न मानना, भगवान् से गर्व पूर्वक कथन, विश्वमोहिनी पर मोहित होना, हरि से रूप माँगना और फिर वानर रूप धरना आदि सब रहस्य जानते थे। 'परम कौतुकी'—नारदजी कौतुकी हैं, यथा—"मुनि कौतुकी नगर तेहि गयेऊ।" (दो० १२९), ये उनका भी कौतुक देखते हैं। अतः, परम कौतुकी हैं। यहाँ लख पानेवालों का वर्णन किया गया।

जान पड़ता है कि जब नारद जी कैलास से चले, इनका रुख देखकर ये दोनों कौतुकार्थ, अलक्ष्य रूप से साथ हो लिये कि देखें, ये क्या-क्या करते हैं ?

जेहि समाज बैठे मुनि जाई। हृदय रूप-अहमिति अधिकाई ॥१॥
तहँ बैठे महेसगन दोऊ। बिप्रबेष गति लखइ न कोऊ ॥२॥
करहिं कूट नारदहिं सुनाई। नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई ॥३॥
रीझिहि राजकुअँरि छबि देखी। इनहिं बरिहि हरि जानि बिसेषी ॥४॥

अर्थ—जिस समाज में जाकर मुनि बैठे थे और उनके हृदय में अपने रूप का बड़ा अभिमान था ॥१॥ वहीं पर महादेवजी के दोनों गण भी ब्राह्मण वेष में बैठे थे, उनकी गति (चाल—माया) कोई लख नहीं सकता था ॥ २ ॥ वे नारदजी को सुना-सुनाकर कूट (व्यंग्य) वचन कहते थे—"हरि ने अच्छी सुन्दरता दी है ॥ ३ ॥ इनकी छवि देखकर राजकुमारी रीझ जायगी, इनको विशेष रूप से 'हरि' जानकर 'बरेगी'।" ॥ ४ ॥

विशेष—(१) 'जेहि समाज बैठे···तहँ बैठे ···'—यहाँ 'जेहि समाज' के साथ 'तहँ' का अर्थ 'तेहि समाज' है अर्थात् ये दोनों नारदजी के समाज में मिल गये कि जिससे लोग उन्हें नारद के शिष्य एवं साथी (ब्रह्मचारी) जान रंगभूमि में बैठने दें, तब कौतुक देखने को मिले। और, इसीलिये विप्र-वेष भी बना रक्खा है। साथ बैठे रहने से कूट करने का भी अच्छा अवसर मिला।

(२) 'करहिं कूट नारदहिं···'—नारदजी के समझनेवाले अर्थ ऊपर हैं। उनमें 'हरि' का अर्थ 'नारायण' और 'बरिहि' का ब्याहेगी है। पर वे कूट कर रहे हैं, बुरी वस्तु को अच्छी कहना कूट है। एक कहता है कि हरि ने इन्हें अच्छे प्रकार से वानर का रूप दिया है। तब दूसरा कहता है कि जी हाँ, इनकी ऐसी छवि है कि राजकुमारी रीझ ही तो उठेगी। भाव यह कि खीझ उठेगी—कुढ़ेगी। इन्हें वानर जानकर विशेष जल उठेगी। हरि का अर्थ 'नारायण' और 'वानर' एवं 'बरिहि' का 'ब्याहेगी' और 'जल उठेगी' है।

मुनिहि मोह मन हाथ पराये। हँसहि संभुगन अति सचु पाये ॥५॥
जदपि सुनहिं मुनि अटपटि बानी। समुझि न परइ बुद्धि भ्रम-सानी ॥६॥

काहु न लखा सो चरित बिसेखा। सो सरूप नृपकन्या देखा ॥७॥
मर्कटबदन भयंकर देही। देखत हृदय क्रोध भा तेही ॥८॥

शब्दार्थ—सनु = आनन्द, यथा—"बिनोद मुनि सनु पावहीं।" (दो० ९९)। अटपटि = उलटे-सीधे। देही = शरीर-वाला वा देह = शरीर, यथा—"बोचन मारि बिदारेसि देही।" (अर० दो० २८)।

अर्थ— मुनि को मोह व्याप्त था और उनका मन दूसरे (विश्वमोहिनी) के हाथ में था, शिवजी के गण अत्यन्त आनन्द पाते हुए हँस रहे थे। ॥ ५ ॥ यद्यपि मुनि उलटे-सीधे वचन सुन रहे थे, तथापि वे वचन उन्हें समझ नहीं पड़ते थे, क्योंकि उनकी बुद्धि भ्रम में पड़ी हुई थी ॥६॥ उस विशेष चरित को अन्य किसीने नहीं देखा, उस स्वरूप को राजकन्या ने देखा ॥७॥ वानर का-सा मुख और भयंकर शरीरवाला इनका रूप देखते ही उस कन्या के हृदय में क्रोध हुआ ॥८॥

विशेष—(१) 'मुनिहि मोह मन···'—मुनि ने जब से विश्वमोहिनी को देखा है, मन उसीमें लग गया, तत्सम्बन्धी ही संकल्प-विकल्प हो रहे हैं। इसीसे इनकी बुद्धि में भ्रम हो गया, यथा—"इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥" (गीता २।६७), इसीसे हर गणों की कूट की अटपट वाणी इन्हें समझ नहीं पड़ती। 'हँसहिं'—इनकी कामातुर दशा देखकर और प्रथम काम जीतने के अभिमान पर हँसते हैं।

(२) 'काहु न लखा सो ···'—पूर्व कहा था—"सो चरित्र लखि काहु न पावा।" (दो० १३२), उसीमें यहाँ इतनी विशेषता दिखाई कि नृपकन्या ने देखा। यह विशेषता दिखाने के लिये यहाँ फिर वैसा ही कहा। पुनरुक्ति नहीं है। और जो—'दीन्ह कुरूप' कहा था, उसे आगे—'मर्कट बदन' से खोलते हैं।

(३) 'मर्कट बदन भयंकर ···'—प्रश्न—भयंकर देह देखकर भय न हुआ, प्रत्युत क्रोध क्यों हुआ ?

उत्तर—(क) साथ में सखियाँ हैं और समाज है, इससे भय न हुआ। क्रोध होने का कारण यह कि नारदजी रंगभूमि के द्वार के पास ही बैठे हैं, जिससे वह प्रथम मुझे देख ले, नहीं तो प्रथम ही किसीको जयमाल न डाल दे। इसीसे उसकी दृष्टि प्रथम इन्हीं पर पड़ी, प्रवेश में प्रथम ही वानर का देखना अशुभ है, यह जानकर क्रोध हुआ। (ख) प्रथम की भाँति इस बार भी कुमारी को घूर-घूरकर देखने लगे, सभा में ऐसी निर्लज्जता पर उसे क्रोध हो गया। (ग) भगवान् के इस चरित को सहसा माया ने भी न जाना कि ये नारद हैं। अतः, क्रोध हुआ कि मैंने तो नारद को मोहने के लिये सारा ठाट रचा। यह अमंगल रूप वानर कैसे आ गया है ? (घ) वह वेष ही ऐसा था जिससे क्रोध हो, इसीसे नारदजी को स्वयं भी देखकर क्रोध ही हुआ, यथा—"बेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा।" (दो० १३४)।

भगवान् अपनी लीला का प्रबन्ध कर रहे हैं, वेष देखकर तदनुसार ही शाप होगा। वानरों से सहायता लेनी है, उन्हें भयंकर होना ही चाहिये, जिससे राक्षसों को भय हो। आगे नराकार द्विभुज भूप-वेष से स्वयं भी आवेंगे कि जिससे वैसा ही रूप धरने का शाप मिले।

दोहा—सखी संग लै कुँअरि तब, चलि जनु राजमराल।
देखत फिरइ महीप सब, करसरोज जयमाल ॥१३४॥

जेहि दिसि बैठे नारद फूली। सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली ॥१॥
पुनि-पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं। देखि दसा हरगन मुसुकाहीं ॥२॥

शब्दार्थ—उकसहिं = उचकते अर्थात् ऊपर को उठते हैं एवं जगह से उठकर आगे बढ़ते हैं।

अर्थ—तब वह राजकन्या सखियों को साथ लिये हुए, राजहंसिनी की तरह चली, वह कमलवत् हाथों में कमल की जयमाला लिये हुई सब राजाओं को देखती-फिरती है ॥१३४॥ जिस ओर नारदजी

(हर्ष से) फूले हुए बैठे हैं, उस ओर उसने भूल कर भी नहीं देखा ॥१॥ मुनि फिर-फिर उचकते हैं और अकुलाते हैं, इनकी यह दशा देखकर शिवजी के गण मुसकुराते हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'सखी संग लै···'—वंदी जन के सामने एक स्वयंवरा सखी होती है, जो सब राजाओं के वृत्तान्त जानती है। प्रत्येक राजा के सामने जाने पर उसका परिचय कहती हुई वह (सखी) स्वयंवरा कन्या के साथ रहती है। महाकवि कालिदास-कृत रघुवंश में कथित इन्दुमती-स्वयंवर में सुनन्दा भी ऐसी ही सखी थी।

प्रथम रूप देखकर मुनि का वैराग्य भूला था, 'देखि रूप मुनि -' लक्षण देखकर ज्ञान गया था, 'लच्छन तासु···' वैसे यहाँ उसने चाल से इनके हृदय को भी आकर्षित कर लिया कि उसीकी ओर को उचकते हैं। 'सरोज' दीप-देहली है, क्योंकि लक्ष्मीजी क्षीरसागर से निकलीं तब उनके हाथों में भी कमल ही की जयमाला कही गई है। 'देखत फिरइ' क्योंकि विश्वमोहिनी के मन का कोई नहीं है। अतः, रंगभूमि में सब राजाओं को देखती-फिरती है।

(२) 'पुनि पुनि मुनि ···'—मुनि ने समझा कि उसने अभी मुझे देखा ही नहीं, इससे उचकते एवं अकुलाते हैं कि किस प्रकार वह मुझे देख ले। 'हरगन मुसुकाहीं—अब कूद एवं हँसना रुक गया, केवल मन्द मुसुकराना है, क्योंकि बड़े राजा की कन्या है, स्वयंवर में उसके आने पर मर्यादा से सारा काम होने लगा।

धरि नृपतनु तहँ गयेउ कृपाला। कुँअरि हरषि मेलेउ जयमाला ॥३॥
दुलहिन लै गे लच्छिनिवासा। नृपसमाज सब भयेउ निरासा ॥४॥
मुनि अति बिकल मोहमति नाँठी। मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी ॥५॥

अर्थ—कृपालु भगवान् राजा का देह धरकर वहाँ गये। राजकुमारी ने प्रसन्न होकर जयमाला पहना दी ॥३॥ लक्ष्मीनाथ भगवान् दुलहिन ले गये। यह देखकर सारा राजसमाज निराश हो गया ॥४॥ मोह से मुनि की बुद्धि नष्ट हो गई, इससे वे अति व्याकुल हो गये। मानों अपनी मणि गाँठ से छूटकर कहीं गिर गई हो ॥५॥

विशेष—(१) 'धरि नृप-तनु तहँ···'—भगवान् राजा का शरीर धारण कर क्यों गये? इसके कारण ये हैं—(क) समाज के अनुकूल वेष चाहिये, यहाँ राजाओं का स्वयंवर था, इसलिये वैसा ही बने, यथा—"देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आये रनधीरा ॥" (दो० २५०)। (ख) यदि भगवान् चतुर्भुज रूप से आते और कन्या को लेकर चलते, तो नारदजी वहीं पर लड़ने लगते। (ग) नृप-तनु होने का शाप लेना है। 'कृपाला'—क्योंकि नारदजी का दुःख शीघ्र मिटाना चाहते हैं।

(२) 'दुलहिन लै गे···'—अभी तक उसे बाला, कुँअरि आदि कहते थे, ब्याह हो जाने से 'दुलहिन' कहा। इसीसे वे अपनी दुलहिन ले गये। ग्रन्थकार के शब्द रखने की सावधानी प्रशंसनीय है। 'लच्छि-निवासा'—यह विश्वमोहिनी भी एक प्रकार की लक्ष्मी ही है और भगवान् ही में उसका भी निवास है, तब दूसरे की दुलहिन वह कैसे हो सकती है?

(३) 'मुनि अति बिकल···'—सब राजा निराश हुए और मुनि अति विकल हुए, क्योंकि औरों को आशा थी, वे निराश हुए। मुनि तो उसको अपनी स्त्री मान चुके थे, यथा—"आन भाँति नहिं पावउँ ओही।" पर कहा गया। स्वयंवर में इन्हें निश्चय था कि वह मुझे ही वरेगी, यथा—"मुनि मन हरष रूप अति मोरे। मोहि तजि आनहिं बरिहि न भोरे ॥" (दो० १३२)। अतएव वह इनकी गाँठ की मणि थी। मणि बहुमूल्य होती है, वैसी वह अमूल्य लक्षणोंवाली थी, यथा—"जो येहि बरइ अमर···"। अपनी गाँठ की मणि गिर जाने से अत्यन्त विकलता होती है, वैसी दशा मुनि की हुई। मुनि को अपने

अति रूप का हर्ष था एवं उसकी प्राप्ति का अति निश्चय था, इसीसे अति विकल हुए। पुनः प्रथम जब वह सामने होकर निकल गई थी, तब विकल हुए थे—'उकसहिं' 'अकुलाहीं' से स्पष्ट है, पर आशा थी कि फिर इधर आवेगी। अब तो एकदम हाथ से चली गई। इससे 'अति विकल' हुए। यहाँ नृप-समाज का जाना नहीं कहा गया, क्योंकि सारा खेल मायामय था और प्रयोजन नारदजी ही से था। यहाँ पर कई कौतुकी एकत्र हुए—जैसे, प्रभु कौतुकी—"प्रकटे प्रभु कौतुकी कृपाला।" मुनि और नगर कौतुकी—"मुनि कौतुकी नगर तेहि गयेऊ।" इनमें 'कौतुकी' दीप-देहली है। रुद्रगण कौतुकी—"परम कौतुकी तेउ।" और, माया तो कौतुक के लिये है ही, इससे खूब कौतुक बना।

तब हरगन बोले मुसुकाई। निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई ॥६॥
अस कहि दोउ भागे भय भारी। बदन दीख मुनि बारि निहारी ॥७॥
बेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा। तिन्हहिं सराप दीन्ह अति गाढ़ा ॥८॥

दोहा—होहु निसाचर जाइ तुम्ह, कपटी पापी दोउ।
हँसेहु हमहिं सो लेहु फल, बहुरि हँसेहु मुनि कोउ ॥१३५॥

अर्थ—तब शिवजी के गणों ने मुसकुराकर कहा कि जाकर दर्पण में अपना मुँह तो देखिये ॥६॥ ऐसा कहकर वे दोनों गण भारी भय से भागे। मुनि ने जल में झाँककर अपना मुँह देखा ॥७॥ वेष देखकर अत्यन्त क्रोध बढ़ा, तब इन्होंने उन्हें अत्यन्त घोर शाप दिया ॥८॥ कि तुम (दोनों) कपटी-पापी हो। अतः, जाकर दोनों (कपटी-पापी) निशाचर हो, हमारी हँसी उड़ाई है तो उसका फल लो, (इतने में तृप्ति न हो तो) फिर किसी मुनि की हँसी करना ॥१३५॥

विशेष—(१) 'तब हरगन बोले……'—इस अर्द्धाली के बिना लीला का कोई अंग ही नहीं बनता, क्योंकि बिना वेष देखे क्रोध नहीं होता और न शाप ही देते तथा नारदजी की पराजय क्रोध से कैसे होती? सारा कौतुक यहीं समाप्त हो जाता। अतः, भगवान् की प्रेरणा से हरगण-द्वारा यह उक्ति कही गई।

'निज मुख…'—अयोग्यता-सूचक मुहावरा है कि अपना मुँह तो देखो, क्या उसे ब्याहने के योग्य था? 'जाई'—जहाँ दर्पण मिले, वहाँ जाकर देखो। यह भी भाव है कि जब तक मुनि दर्पण खोजेंगे, हमलोग भाग जायँगे।

(२) 'दोउ भागे…बदन दीख…'—इसलिये भागे कि हमने कूट किया है, मुख देखने पर क्रोध कर शाप देंगे। इनको भागते देख मुनि को और सन्देह हुआ। पास ही में जल था, शीघ्रता से उसीमें मुख देखा। मुनि शास्त्रज्ञ होते हुए भी मोहवश होने से मूढ़ हो रहे हैं! जल में मुख देखना निषिद्ध है, यथा—"न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा॥" (मनु० ४।३८), अर्थात् अपना रूप पानी में नहीं देखना चाहिये।

'क्रोध अति बाढ़ा'—प्रथम इन्होंने भगवान् के समक्ष काम-क्रोध जीतने की डींग हाँकी थी, उसी-का फल है, दोनों से पराजित हुए, तथा—"बचन कहे अभिमान के, पारथ पेखत सेतु। प्रभु तिय लूटत नीच भर, जय न मीचु तेहि हेतु॥" (दोहावली ४४०)।

(३) 'होहु निसाचर जाइ तुम्ह……'—'जाइ' तुरन्त राक्षस होने का शाप नहीं था, यथा—"सपदि होहि पच्छी चंडाला।" (उ० दो० १११), किन्तु आयु बीतने पर दूसरे जन्म में होंगे।

'कपटी—क्योंकि ये जानते थे कि हरि ने कुरूप दिया है तो भी नहीं बतलाया, यही कपट है। पापी'—"हँसत देखि नखसिख रिसि ब्यापी। राम तोर भ्राता बड़ पापी॥" दो० २७६), अर्थात् किसी

की हँसी करना बड़ा पाप है। 'बहुरि हँसेहु मुनि कोउ'—किसी भी साधु-ब्राह्मण की हँसी करना खेल नहीं है—ऐसा ही फल मिलेगा, यथा—"साधूनां समचित्तानामुपहासं करोति यः। देवो वाऽप्यथवा मर्त्यः स विज्ञेयोऽधमाधमः॥" (स्कन्द पु० माहे० के० १७।१०८), अर्थात् जो सम चित्तवाले साधुओं का उपहास करता है वह देव हो या मनुष्य, उसे अधम से अधम जानना चाहिये।

पुनि जल दीख रूप निज पावा। तदपि हृदय संतोष न आवा॥१॥
फरकत अधर कोप मन माहीं। सपदि चले कमलापति पाहीं॥२॥
देइहउँ स्राप कि मरिहउँ जाई। जगत मोरि उपहास कराई॥३॥
बीचहिं पंथ मिले दनुजारी। संग रमा सोइ राजकुमारी॥४॥
बोले मधुर बचन सुरसाईं। मुनि कहँ चले बिकल की नाईं॥५॥

अर्थ—फिर जल में (झाँककर) देखा तो अपना (नारद) रूप ही मिला, तथापि उनके हृदय में सन्तोष नहीं आया॥१॥ (मुनि के) होंठ फड़कते हैं, मन में क्रोध भरा हुआ है, तुरत ही कमलाकान्त भगवान् के पास चले॥२॥ (मन में सोचते जाते हैं कि) शाप दूँगा वा मर जाऊँगा, (क्योंकि) उन्होंने जगत् में मेरी हँसी कराई है। ३॥ दैत्यों के शत्रु भगवान् बीच मार्ग में ही मिल गये, उनके साथ में रमाजी और वही राजकुमारी थीं॥४॥ देवताओं के स्वामी भगवान् मधुर वचन बोले—"हे मुनि! विकल-से बने आप कहाँ चले जा रहे हैं?"॥५॥

विशेष—(१) 'पुनि जल दीख···'—पहले हर गणों को भागते देख जल्दी में ठीक से नहीं देखा था, अब उन्हें शाप देकर स्थिर हुए, तब भली-भाँति देखना चाहा। 'संतोष न···'—क्योंकि जब काम बनाना था, तब तो वानर का-सा मुख दिया था, अब पूर्ववत् हुआ तो क्या? अथवा अपना स्वरूप पाकर शान्त हो जाना चाहिये, पर अभी तो लीला के कई अंग शेष हैं। अतः, हरि-इच्छा से शान्त न हुए।

(२) 'फरकत अधर कोप···'—"क्रोध के परुष बचन बल" (अर० दो० ३८)। अतः, कटुवचन एवं शाप के वचन कहने के लिये ओष्ठ फड़क रहे हैं, यथा—"मापे लखन कुटिल भइ भौंहैं। रदपट फरकत नयन रिसौंहैं॥" (दो० २५१)।

(३) 'देइहउँ स्राप कि मरिहउँ···'—अच्छे मनुष्य का मान-भंग होने पर या तो वह मर ही जाता है, अथवा लज्जा से दूर देश चला जाता है, क्योंकि—"संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥" (अ० दो० ९४), तथा—"सम्भावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते।" (गीता २।३४)। दो सन्दिग्ध वचन कहने का प्रयोजन यह है कि भगवान् यदि शाप न लें तो उनपर कोई वश नहीं, क्योंकि वे समर्थ हैं, इसलिये कहते हैं कि अब तो अपकीर्त्ति से बचने का उपाय मर मिटना ही है।

(४) 'बीचहिं पंथ मिले···'—मुनि क्षीरसागर की ओर जा ही रहे थे, पर भगवान् बीच ही में मिल गये कि वहाँ जाते-जाते कहीं क्रोध कम हो जाय अथवा वह सात्त्विक स्थल है, इससे भी क्रोध कम हो जायगा तो लीला के लिये उपयुक्त शाप न होगा, इसलिये बीच ही में मिल गये। 'दनुजारी'—क्योंकि हर गणों को निशाचर (दनुज) होने का शाप मिल चुका है, उनके उद्धार के लिये उनके 'अरि' होने का शाप लेना है। पुनः नारद का क्रोधरूपी आसुरी विकार भी नष्ट करना है।

(५) 'संग रमा सोइ राजकुमारी।'—मुनि 'कमलापति' के पास चले, इसलिये कमला (लक्ष्मी) को भी साथ लिये हुए हैं, और उस राजकुमारी को भी, मुनि जिससे जान जायँ कि ये ही राजा बनकर गये थे और छल करके राजकुमारी को ब्याह लाये हैं, अभी लिये चले जा रहे हैं। ईर्ष्या बढ़ाने को

भी लक्ष्मीजी को साथ लिया है, इससे मुनि का क्रोध और भी बढ़ेगा कि इनके तो एक स्त्री थी ही, तब भी हमसे कपट किया।

(६) 'बोले मधुर बचन सुरसाईं।'—देवता सत्त्वगुणी होते हैं, ये उनके स्वामी हैं। अतः, मधुर वचन बोले वा शाप-द्वारा आगे निशाचर-वध कर देवताओं का हित करेंगे, इसलिये भी 'सुरसाईं' कहे गये। जो वचन कहे हैं, उन्हें मधुर रूप में कहना भी 'जले पर लोन' लगाना है, ये वचन ईर्ष्यावर्द्धक हैं।

सुनत बचन उपजा अति क्रोधा। मायाबस न रहा मन बोधा ॥६॥
परसंपदा सकहु नहिं देखी। तुम्हरे इरिषा कपट बिसेखी ॥७॥
मथत सिंधु रुद्रहिं बौरायहु। सुरन्ह प्रेरि बिषपान करायहु ॥८॥

दोहा—असुर सुरा बिष संकरहिं, आपु रमा मनि चारु।
स्वारथसाधक कुटिल तुम्ह, सदा कपटब्यवहारु ॥१३६॥

शब्दार्थ—बोधा = ज्ञान, समझ। बौरायेहु = बावला बनाया, बेवकूफ बनाया।

अर्थ—इतना वचन सुनते ही मुनि को बड़ा क्रोध उत्पन्न हुआ, माया के वश होने से उनके मन में ज्ञान न रहा ॥६॥ (बोले कि) तुम पराई सम्पत्ति (ऐश्वर्य) नहीं देख सकते, तुम्हारे (हृदय में) ईर्ष्या और कपट विशेष हैं ॥७॥ तुमने समुद्र मथते समय महादेवजी को बौरा (पागल) बना दिया और देवताओं को प्रेरित करके (तुम्ही ने) उनको विष पिलाया ॥८॥ दैत्यों को मदिरा, शंकर को विष (दिया) और अपने-आप सुन्दरी लक्ष्मी और कौस्तुभमणि (लीं), तुम स्वार्थ के साधनेवाले एवं कुटिल हो, सदा से तुम्हारा कपट-व्यवहार चला आता है ॥१३६॥

विशेष—(१) 'सुनत बचन उपजा···'—यहाँ मार्ग ही में मिलना, रमा और राजकुमारी को लेना, ईर्ष्याजनक मधुर वचन बोलना—ये सब अति क्रोध के कारण हुए। सर्वस्व-हरण करने पर और जगत् में उपहास कराने पर मधुर वचन ही व्यंग्य-रूप से दाहक होते हैं, यथा—"सीतल सिख दाहक भइ कैसे। चकइहि सरद-चंद निसि जैसे॥" (अ० दो० ६३)। 'उपजा अति क्रोधा' क्रोध तो प्रथम ही बड़ा था, यथा—"बेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा।" पर उसमें से हर गणों को शाप देने में खर्च हो गया था। अतः, भगवान् के ईर्ष्यात्मक मधुर वचन आदि से बढ़ गया, क्योंकि इन्होंने भी जगत् में उपहास कराया है। तब फिर 'अति' हुआ। 'मायाबस···'—बोध न रहने से क्रोध हुआ और क्रोध से कटु वचन निकल रहे हैं।

(२) 'पर-संपदा सकहु नहिं···'—विश्वमोहिनी को मुनि ने अपना ही स्त्रीरत्न मान लिया था। उसीको यहाँ 'पर-संपदा' कहा है। 'तुम्हरे इरिषा···'—ये दो विशेष हैं। और तो असंख्य अवगुण हैं ही। पराई सम्पत्ति न देख सकना ईर्ष्या है और उसे छिपकर ले लेना 'कपट' है। ध्वनि से 'खल' जनाया, यथा—"खलन्ह हृदय अति ताप बिसेखी। जरहिं सदा पर-संपति देखी॥" (उ० दो० ३८)।

(३) 'मथत सिंधु रुद्रहिं ···' शिवजी तो भोलेभाले हैं, देवताओं से कहलाकर और उन्हें अपनी बातों से चकमा देकर (आप देवों में ज्येष्ठ हैं। अतः प्रथम निकली हुई वस्तु—विष लें, ऐसा कहकर) विष पिलवाया। वे भाग्य से जीते रह गये। इसमें अपनी स्वार्थ-बुद्धि से काम कराना कपट है और विष पिलाना ईर्ष्या है कि जिससे वे पागल हो जायँ, तो हम रमा और मणि ले सकें।

(४) 'असुर सुरा बिष···'—असुर शत्रु हैं, उन्हें मदिरा पिलाई। शिवजी मित्र एवं भक्त हैं, उन्हें विष पिलाया। हम भक्त हैं, तब भी न छोड़ा अर्थात् तुम किसीको नहीं छोड़ते। 'आप रमा मनि चारु'

से स्वार्थ-साधकता, 'विष संकरहिं' से ईर्ष्या और 'असुर सुरा' से कपट-व्यवहार और मुझसे स्नेही बनकर कहा कुछ और किया कुछ, यह कुटिलता है।

श्रीनारदजी को विद्यामाया ही प्रेरित की गई है, परन्तु उन्हें पंचपर्वा अविद्या के सभी अंगों के सम्पर्क हुए (भले ही लीला-विधि-सम्पादन में हरि-इच्छा से ही हुए हैं) पंचपर्वा अविद्या, यथा—"तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः। अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥" (वि० पु० १।५।५), अर्थात् उस महात्मा (ब्रह्मा) जी से प्रथम तम (अविवेक), मोह, महामोह (भोगेच्छा), तामिस्र (क्रोध), और अन्धतामिस्र (अभिनिवेश-मरण विषयक भय) नाम पंचपर्वा (पाँच प्रकार की) अविद्या उत्पन्न हुई। भाग० ३।१२।२ में भी ये ही पाँचो कही गई हैं। नारदजी में—

तम, यथा—"माया बस न रहा मन बोधा।" (दो० १३५)।
मोह, यथा—"मुनिहिं मोह मन हाथ पराये।" (दो० १३३)।
महामोह, यथा—"हे बिधि मिलइ कवनि बिधि बाला।" (दो० १३०)।
तामिस्र, यथा—"सुनत बचन उपजा अति क्रोधा।" (दो० १३५)।
अन्धतामिस्र, यथा—"देइहौं स्राप कि मरिहौं जाई।" (दो० १३५)।

परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावइ मनहिं करहु तुम्ह सोई॥१॥
भलेहि मंद मंदहि भल करहू। बिसमय हरष न हिय कछु धरहू॥२॥
डहँकि डहँकि परिचेहु सब काहू। अति असंक मन सदा उछाहू॥३॥
करम सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा। अब लगि तुम्हहि न काहू साधा॥४॥

शब्दार्थ—डहँकि = ठगकर। साधा = ठीक किया। परिचेहु = परच गये, परचना = चसका पड़ना।

अर्थ—तुम परम स्वतन्त्र हो, तुम्हारे सिर पर कोई नहीं है, इससे जो मन में आता है, तुम वही करते हो॥१॥ अच्छे को बुरा और बुरे को अच्छा करते हो, बिस्मय (आश्चर्य वा भय) और हर्ष कुछ भी मन में नहीं लाते॥२॥ सब किसीको ठग-ठग कर परच गये हो, अत्यन्त निर्भय हो, मन में सदा उत्साह बना रहता है॥३॥ शुभ-अशुभ कर्मों की बाधा तुम्हें नहीं होती, अभी तक किसीने तुम्हें ठीक नहीं किया॥४॥

विशेष—(१) 'भलेहि मंद मंदहि भल···'—हम भक्त भले थे, उसको जगत् में मन्द कर दिखाया। अजामिल आदि मन्द थे, उनका भला किया, यही 'परम स्वतन्त्रता' अर्थात् उच्छृंखलपना है।

(२) 'अति असंक मन···'—सबको ठगते-ठगते चसका पड़ गया है, इन्हीं बातों के लिये मन में सदा उत्साह रहता है अर्थात् नारदजी के बकते हुए भी भगवान् मुस्कुरा रहे हैं।

(३) 'करम सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा।'—ब्रह्मा सबके कर्मों के फल देते हैं, यथा—"कठिन करमगति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फलदाता॥" (अ० दो० २८१)। वे भी तुम्हें फल नहीं दे सकते, यथा—"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा॥" (गीता ४।१४)। 'न काहू साधा'—निर्लिप्तता से कर्म-फल नहीं होता, पर जिनकी हानि करते हो, उनसे तो दंड मिलना चाहिये था, परन्तु अभी तक तुम्हें किसीने ठीक नहीं किया। जैसे शिवजी रहे, उन्हें बहका ही डाला, ब्रह्मा के हाथ कर्म की रस्सी है उससे अलग ही हो, देवता-दैत्यों को लड़ाया ही करते हो, तब फिर बचा कौन जो तुम्हें साधे?

इसी प्रकार ब्रह्माजी को वनवासी-स्त्रियों ने भी कहा है,—"निपट निरंकुस निठुर निसंकू। (अ० दो० ११८), ये तीनो दोष क्रमशः यहाँ की चौ० १,२, ३ में कहे गये हैं। वहाँ की स्त्रियों ने विषाद में और नारदजी ने क्रोधवश होने पर ऐसा कहा है, क्योंकि क्रोध अज्ञानमूलक है, यथा—"घोर क्रोध तम निसि···" (कि० दो० २०)।

भले भवन अब बायन दीन्हा । पावहुगे फल आपन कीन्हा ॥५॥
बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा । सोइ तनु धरहु स्राप मम येहा ॥६॥
कपि-आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी । करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी ॥७॥
मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी । नारि-बिरह तुम्ह होब दुखारी ॥८॥

दोह—स्राप सीस धरि हरषि हिय, प्रभु बहु बिनती कीन्हि ।
निज माया कै प्रबलता, करषि कृपानिधि लीन्हि ॥१३७॥

शब्दार्थ—जवनि = जो । आकृति = रूप, मुख । अपकार = अहित । करषि लीन्ह = खींच लिया । बायन = विवाहादि में पड़ोसी को भेंट में दी गई वस्तु, फिर उसमें भी उसका वैसा ही बदला मिलता है ।

अर्थ—अब अच्छे के घर में तुमने बायन दिया है । अतः, अपने किये का फल पाओगे ॥५॥ जिस देह को धारण कर (तुमने) मुझे ठगा है, उसी देह को धारण करो, यह मेरा शाप है ॥६॥ तुमने मेरा मुख एवं रूप वानर का-सा बना दिया था । अतः, तुम्हारी सहायता वानर ही करेंगे ॥७॥ तुमने हमारा भारी अनहित किया है । अतः, स्त्री के विरह में तुम दुखी होगे ॥८॥ प्रभु ने हृदय से हर्षित होकर शाप को शिरोधार्य किया और नारद से बहुत विनती की, फिर कृपानिधान प्रभु ने अपनी माया के प्रभाव को खींच लिया ॥१३७॥

विशेष (१) 'भले भवन अब···'—तुमने अभी तक गरीबों के ही घर बायन दिये थे, इससे वे लोग न लौटा सके । हम अमीर हैं । अतः, यथायोग्य बदला देंगे । विवाह के सम्बन्ध में हमें कुरूपता आदि बायन दिये हैं, उनके फल भी लो । हम भी तुम्हारे विवाह ही के उपलक्ष्य में देते हैं । जैसे-जैसे तुमने दिये, वैसे-वैसे हम लौटाते हैं । यहाँ तक दुर्वचन कहा, अब शाप देते हैं ।

(२) 'बंचेहु मोहि जवनि···'—'नृप-तनु' से भगवान् ने इनकी स्त्री को ब्याहा है—वही तनु धरने का शाप देते हैं । नर-तनु कर्म के अधीन होते हैं, दुःख-सुख के भागी होते हैं, वैसा ही हो, यथा—"राम भगत-हित नर-तनु धारी । सहि संकट किय साधु सुखारी ॥" (दो० २३), अर्थात् भगवान् लीला-रूप में दुःख-सुख भोगते से प्रतीत होते हैं । भाव यह कि तुम्हें कर्म-बाधा नहीं थी, सो हम देते है । ईश्वर से मनुष्य बनाते हैं ।

(३) 'करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी ।'—ईश्वर की कोई सहायता करे और वह भी वानर ! यह बड़ी हीनता है, यथा—"सुनत बचन बिहँसा दससीसा । जौ असि मति सहाय कृत कीसा ॥" (सु० दो० ५५), "सठ साखामृग जोरि सहाई । बाँधा सिंधु इहइ प्रभुताई ॥" (लं० दो० २७) ।

(४) 'मम अपकार···भारी ।'—स्त्री-हरण करना भारी अपकार है । छः प्रकार के आततायि-कर्मों में यह एक भारी कर्म है, इसीसे मुनि उसका नाम भी नहीं लेते । उत्तरार्द्ध के बायन से ही जनाते हैं । भाव, जैसे स्त्री-विरह में हम दुखी हैं, वैसे ही दुखी होगे ।

भगवान् ने प्रथम इन्हें वानर बनाया है, पीछे नृप-तनु धरा है, पर मुनि ने पीछे बन्दरों के सहायक होने और प्रथम नृप-तनु धारण करने को कहा । स्त्री-विरह प्रथम से होगा । तब वानर सहायक होंगे, इसमें भी क्रम-भंग है, क्योंकि नारदजी क्रोध-वश हैं । अतः, सँभाल नहीं है, क्योंकि "मुनि अति बिकल मोह मति नाठी ।" कहा ही गया है । इन तीनो (६-७-८) अर्द्धालियों के पूर्वार्द्ध में बायन देना और उत्तरार्द्ध में बदला कहा गया है ।

(५) 'स्राप सीस धरि···'—आप (भगवान्) भक्तों को बड़ा मानते हैं । अतः, उनके शाप-वचनों को

भी शिरोधार्य किया, यथा—"आज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी।" (दो० ७६)। मुनि को क्रोध बहुत है, उसको शान्त करने के लिये बहुत प्रार्थना की। प्रथम तो क्रोध बढ़ाते थे, पर अब लीला के सब अंग बन गये, अतः शान्त करते हैं। 'हरषि', क्योंकि लीला का साज बन गया। प्रसन्न रहना ही आपका स्वभाव भी है। 'कृपानिधि', क्योंकि कृपाकर नारदजी की दुःखद माया खींची, यथा—"छूट न राम कृपा बिनु" (उ० दो० ७१)।

"निज मायाबल देखि बिसाला" (दो० १३१) उपक्रम है और यहाँ "निज माया कै प्रबलता" उपसंहार है।

जब हरि माया दूरि निवारी। नहिं तहँ रमा न राजकुमारी ॥१॥
तब मुनि अति सभीत हरिचरना। गहे पाहि प्रनतारतिहरना ॥२॥
मृषा होउ मम स्राप कृपाला। मम इच्छा कह दीनदयाला ॥३॥

शब्दार्थ—निवारी = हटा दी। पाहि = रक्षा करो। मृषा = झूठा, व्यर्थ।

अर्थ—भगवान् ने जब माया को दूर हटा दिया। तब वहाँ न तो लक्ष्मी रह गईं और न वह राजकुमारी ही रही ॥१॥ तब अत्यन्त भयभीत होकर मुनि ने भगवान् के चरणों को पकड़ लिया और बोले—हे शरणागतों के आर्त्तिहरण! मेरी रक्षा कीजिये ॥२॥ हे कृपालो! मेरा शाप व्यर्थ हो जाय। दीनदयालु भगवान् ने कहा कि मेरी इच्छा ऐसी ही है ॥३॥

विशेष—(१) 'जब हरि माया···' ऊपर माया खींचने से 'कृपानिधि' कहा था, यहाँ 'हरि' भी कहा, क्योंकि भगवान् कृपा से माया एवं उससे उत्पन्न दुःख को हरण करते हैं, यथा—"अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटै राम करउ जौ दाया (कि० दो० २०), "छूट न राम-कृपा बिनु" (उ० दो० ७१)। नारदजी के दुःख हरने से 'हरि' कहे गये।

(२) 'नहिं तहँ रमा न ···' जब भगवान् कृपा करके अज्ञान दूर करते हैं, तब जीव रामजी को भगवान् से अभिन्न तत्त्व-रूप में और विद्यामाया को उनकी कृपात्मक इच्छा-रूप में पाता है। अतः, ये दोनों उनसे भिन्न नहीं रह जातीं।

(३) 'तब मुनि अति सभीत···' 'अति सभीत' से मन, 'चरना गहे' से कर्म और 'पाहि प्रनतारति-हरना' से वचन की शरणागति हुई।

(४) 'मृषा होउ मम स्राप कृपाला।'—शाप को झूठा करने की शक्ति मुझमें नहीं है। अतः, कृपा करके आप उसे मिथ्या (व्यर्थ) कर दें, जैसे भृगु के शाप को प्रथम अस्वीकार कर दिया था जो पहले लिखा गया है। पुनः, शाप के प्रति भी प्रभु विनती ही करते हैं, इसपर भी 'कृपाला' कहा है।

(५) 'मम इच्छा कह दीनदयाला।'—शाप व्यर्थ होने से नारदजी का ऋषित्व न रहेगा। इसलिये भक्त-हितकारी प्रभु उसे मिथ्या न करेंगे। यद्यपि नारदजी इष्ट के अपराध से दीन हैं, तथापि भगवान् की उनपर पूर्ण दया है। साथ ही हर-गणों की दीनता पर भी दृष्टि है। बिना इस शाप की स्वीकृति के उनका उद्धार भी न होगा। और—"नारद-बचन अन्यथा नाहीं।" (दो० ७०), इसपर दृष्टि तो है ही।

मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे। कह मुनि पाप मिटिहिं किमि मेरे ॥३॥
जपहु जाइ संकर-सत-नामा। होइहि हृदय तुरत बिश्रामा ॥४॥
कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे। असि परतीति तजहु जनि भोरे। ६॥
जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी ॥७॥
अस उर धरि महि बिचरहु जाई। अब न तुम्हहिं माया नियराई ॥८॥

अर्थ—मुनि ने (फिर) कहा कि मैंने आपको बहुत बुरे वचन कहे हैं, ये मेरे पाप अब कैसे मिटेंगे ? ॥४॥ भगवान् ने कहा कि जाकर 'शंकर-शतनाम' जपो, उससे हृदय शीघ्र शान्त हो जायगा ॥५॥ शिवजी के समान कोई मुझे प्रिय नहीं है, ऐसा विश्वास भूलकर भी नहीं छोड़ना ॥६॥ त्रिपुरारि शिवजी जिसपर कृपा नहीं करते, हे मुनि ! वह मेरी भक्ति नहीं पाता ॥७॥ ऐसा हृदय में धारण करके पृथ्वी पर जाकर विचरो, अब तुम्हारे निकट माया नहीं आवेगी ॥८॥

विशेष—(१) 'कह मुनि पाप मिटिहिं ···' पाप के प्रायश्चित्त के लिये शंकर-शतनाम जप रूप उपाय कहते हैं। इसमें 'मम इच्छा' नहीं कहा, क्योंकि पाप कर्म जीव अपनी प्रवृत्ति से ही करता है, उसमें हरि-इच्छा नहीं रहती, यथा—"तुलसी सुखी जो राम सों, दुखी सो निज करतूति।" (दोहावली ८८)। 'दुर्वचन' का प्रसंग—"सुनत बचन उपजा अति क्रोधा।"····· से—"पावहुगे फल आपन कीन्हा।" (दो० १३५-१३६) तक है।

(२) 'जपहु जाइ संकर···'—जैसे विष्णु सहस्रनाम एवं गोपाल सहस्रनाम हैं, वैसे ही शंकर-शतनाम-स्तोत्र भी है, यथा—"नारद उवाच—काशिनाथशिवस्वामी कन्दर्पघ्नस्तु शङ्करः।' से "शङ्करे शतनामानि····· शिवश्चण्डः प्रसीदति।" "इति श्रीब्रह्मयामले शङ्करशतनामस्तोत्रं समाप्तम् ॥" 'श्री राम-बालक दासजी रामायणी' की टिप्पणी में पूरा देखिये, कुल १८ श्लोकों में है। इसे जपना कहा, क्योंकि भागवतापराध भागवत भजन से ही छूटता है, जैसे दुर्वासा मुनि को अन्त में अम्बरीष की ही शरण में जाना पड़ा। इन्होंने शिवजी की उत्तम शिक्षा में ईर्ष्या एवं स्पर्धा की भावना की थी, यही इनसे भागवता-पराध हुआ है। भगवान् ने अपने प्रति कहे हुए पापों को तो पाप गिना ही नहीं, क्योंकि—"निज अपराध रिसाहिं न काऊ ॥ जो अपराध भगत कर करई। राम-रोष-पावक सो जरई।" (अ० दो० २१७)। यह श्रीरामजी का स्वभाव है। 'तुरत बिश्रामा' अर्थात् भागवत भजन का फल बहुत शीघ्र ही मिलता है।

(३) 'कोउ नहिं सिव-समान प्रिय···' भाव यह कि शिवजी हमारे प्रिय हैं, तुमने उनका उपदेश न मानकर भूल की है, वह हमें अप्रिय लगा।

(४) 'जेहि पर कृपा न···' शिवजी कृपा करते हैं, तब भक्ति मिलती है और तब उससे हमारी अनुकूलता रहती है, उससे माया डरती रहती है, यथा—"भगतिहि सानुकूल रघुराया।···" से—"तेहि बिलोकि माया सकुचाई।" (उ० दो० ११५) तक।

(५) 'अस उर धरि महि···'—सन्त परोपकार के लिये जगत् में विचरते हैं, यथा—"जड़ जीवन्ह को करइ सचेता। जग माहीं बिचरत यहि हेता॥" (वैराग्य सं० ९)। स्वयं भी इसीमें सुखी रहते हैं, यथा—"सब संत सुखी बिचरंति मही।" (उ० दो० १३), अर्थात् इस संवादात्मक बात का भी उपदेश करो। 'बिचरहु जाई' से यह भी सूचित किया कि विप्र (दक्ष) का शाप भी अन्यथा करने की बुद्धि न करो, क्योंकि दक्ष का ऐसा ही शाप है।

(६) 'अब न तुम्हहिं माया ···'—भाव, शंकर की अनुकूलता से मेरी भक्ति रहेगी, उसके भय से माया निकट न आवेगी।

श्रीनारदजी को मोह तीन कारणों से हुआ—१. विप्र-शाप मिथ्या करना, २. शिव-अपमान और ३. शेषशय्या पर बैठना। प्रथम दो के प्रतिफल पा लिये, तीसरे के लिये भगवान् ने क्षमा की, विनती भी की और सदा के लिये माया से निर्भय कर दिया।

दोहा—बहु बिधि मुनिहिं प्रबोधि प्रभु, तब भये अंतरधान।
सत्यलोक नारद चले, करत राम-गुन-गान ॥१३८॥

अर्थ—बहुत प्रकार से मुनि को समझाकर तब भगवान् अंतर्धान हो गये। फिर श्रीनारदजी भी श्री-राम-गुण गान करते हुए ब्रह्मलोक को चले।

विशेष—'बहु विधि'—जैसा ऊपर कहा गया, शाप होने पर यदि तुरत ही भगवान् चल देते, तो नारदजी को दुवचन आदि का पश्चात्ताप बना ही रहता, इसलिये समझाकर गये।

भगवान् ने पृथ्वी पर विचरने की आज्ञा दी। ये प्रथम सत्त्वप्रधान ब्रह्मलोक को गये, फिर रजोगुणी मृत्युलोक में और तब तमोगुणी पाताल में भी जायँगे, पृथ्वी भिन्न-भिन्न प्रकार से सब लोकों में है।

'करत राम-गुन-गान'—प्रथम जैसे किया करते थे, यथा—"एक बार करतल बर बीना। गावत हरि-गुन-गान प्रबीना॥"(दो० १२७)। फिर माया के वश होने से छूट गया था, अब मायामुक्त होने पर फिर 'राम-गुन-गान' होने लगा। कहा है—"राम दूरि माया बढ़ति, घटति जानि मन माँह। भूरि होति रवि दूरि लखि, सिर पर पगतर छाँह॥" (दोहावली ६९)। श्रीरामजी के हृदय में आने का अत्यन्त सुलभ साधन गुण-गान ही है, यथा—"नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेऽथवा। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥" (पद्मपुराण, कार्तिक माहात्म्य अ० ५।२१)। अतएव माया से बचने के लिये निरन्तर भजन में निरत रहना चाहिये।

हरगन मुनिहिं जात पथ देखी। बिगत मोह मन हरष बिसेखी॥१॥
अति सभीत नारद पहिं आये। गहि पद आरत बचन सुनाये॥२॥
हरगन हम न बिप्र मुनिराया। बड़ अपराध कीन्ह फल पाया॥३॥
स्राप अनुग्रह करहु कृपाला। बोले नारद दीनदयाला॥४॥

शब्दार्थ—अनुग्रह = अनिष्ट-निवारण। स्राप-अनुग्रह = शाप से उत्पन्न अनिष्ट निवारण।

अर्थ—शिवजी के गणों ने नारद मुनि को मोह-रहित और विशेष प्रसन्न मन राह में जाते देखा॥१॥ वे अत्यन्त डरे हुए नारदजी के पास आये और उनके चरणों को पकड़कर दीन वचन कहने लगे॥२॥ हे मुनिराज! हम दोनों शिवजी के गण हैं, ब्राह्मण नहीं हैं, हमने (आपका) बड़ा अपराध किया और उसका फल पाया॥३॥ हे कृपालो! शाप के अनिष्ट-निवारण की कृपा कीजिये, तब दीनदयालु नारदजी बोले॥४॥

विशेष—(१) 'हरगन मुनिहिं जात···'—हर-गण अनुग्रह के लिये मुनि की राह देखते थे, अतः देखा। प्रथम मुनि को मोह-विषाद-सहित देखा था, अब—'बिगत मोह मन हरष' देखा। विशेष हर्ष राम-गुण-गान से है।

(२) 'अति सभीत···'—हँसी करने पर भय था, यथा—"अस कहि दोउ भागे भय भारी।" (दो० १३४)। फिर शाप हुआ, तबसे 'अति सभीत' हैं। 'अति सभीत' से मन, 'गहि पद' से कर्म, 'आरत बचन सुनाये' से वचन, तीनों से शरणापन्न हुए। 'आरत बचन', यथा—"प्रनतपाल रघुबंस-मनि, त्राहि त्राहि अब मोहिं। आरत गिरा सुनत प्रभु, अभय करैगो तोहिं॥" (लं० दो० २०)।

(३) 'हरगन हम ···'—सन्त निश्छल वचन से प्रसन्न होते हैं, इसलिये अपना परिचय दिया। भगवान् ने शिवजी में नारदजी की निष्ठा कराई है, इसलिये उनके सम्बन्ध से अनुग्रह चाहते हैं। नारदजी को जैसे भगवान् को शाप देने का सोच था, वैसे विप्रों के शाप देने का भी होगा, उसके निवारण के लिये भी कहा कि हम ब्राह्मण नहं हैं।

(४) 'स्राप-अनुग्रह करहु कृपाला'—प्रथम क्रोध से शाप दिया गया है, अब कृपादृष्टि के अनुसार

अनुग्रह कीजिये, तब वह दुःखरूप से सुखरूप हो जायगा। 'दीनदयाल'—श्रीनारदजी सदा से ही दीनों पर दया करते आये हैं, यथा—"नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥" (अर० दो० १)। ऐसा ही सन्त-स्वभाव होता है, यथा—"कोमल चित दीनन पर दाया।" (उ० दो० ३७)।

निसिचर जाइ होहु तुम्ह दोऊ। बैभव बिपुल तेज बल होऊ॥५॥
भुजबल बिस्व जितब तुम्ह जहिया। धरिहहि बिष्नु मनुज-तनु तहिया॥६॥
समर मरन हरि हाथ तुम्हारा। होइहहु मुकुत न पुनि संसारा॥७॥
चले जुगल मुनिपद सिर नाई। भये निसाचर कालहिं पाई॥८॥

दोहा—एक कलप येहि हेतु प्रभु, लीन्ह मनुज-अवतार।
सुररंजन सज्जनसुखद, हरि भंजन-भुवि-भार॥१३९॥

शब्दार्थ—बैभव = ऐश्वर्य। जहिया = जब। तहिया = तब। कालहिं पाई = मरने पर।

अर्थ—तुम दोनों जाकर निशाचर बनो। तुम्हारे ऐश्वर्य, तेज और बल बहुत बड़े होंगे॥५॥ जब तुम अपनी भुजाओं के बल से संसार भर को जीतोगे, तब विष्णु भगवान् मनुष्य-शरीर धारण करेंगे॥६॥ तुम्हारा मरण युद्ध में भगवान् के हाथों होगा, तुम उससे मुक्त हो जाओगे, फिर तुम्हें संसार (का जन्म-मरण) न होगा॥७॥ दोनों (हर-गण) मुनि के चरणों में सिर नवाकर चले गये और समय पाकर निशाचर हुए॥८॥ देवताओं को प्रसन्न करनेवाले और सज्जनों को सुख देनेवाले एवं पृथ्वी का भार हरनेवाले प्रभु ने एक कल्प में इसलिये मनुष्य-अवतार लिया॥१३९॥

विशेष—(१) 'निसिचर जाइ···'—'जाइ' अर्थात् शरीर छूटने पर जो आगे—'कालहिं पाइ' से स्पष्ट है। 'बैभव बिपुल···' यहाँ तीन ही बातें दीं। राजाओं के पाँच अंग होते हैं, यथा—"सत सुरेस सम बिभव-बिलासा। रूप तेज बल नीति-निवासा॥" (दो० १२९)। इनमें रूप और नीति दो पदार्थ नहीं दिये, क्योंकि राक्षसों में ये दो नहीं होते। शाप तो रहा ही, पर उसे सुख-रूप कर दिया कि ऐश्वर्य, बल और तेज से पूर्ण हों और जिससे भगवान् ही के हाथों मारे जाने से मुक्त हो जायँ।

(२) 'भुजबल बिस्व···' यथा—"भुजबल बिस्व बस्य करि, राखेसि कोउ न सुतंत्र।" (दो० १८२)। श्रीनारदजी की दीनदयालुता ऐसी है कि एक प्रणाम में संसार-भर का राजा एवं विश्व-विजयी बना दिया। यह लोक बनाया और 'होइहहु मुकुत ···' से परलोक भी बनाया। 'चले जुगल'—इनका चलना कहा, नारदजी का नहीं, क्योंकि उनका चलना पूर्व ही कह चुके हैं, वे थोड़ा रुके, फिर चल दिये।

श्रीनारदजी ने श्रीहरि से क्षमा माँगी है, वैसे हरगणों ने भी। मिलान—

(वहाँ) श्रीनारदजी		(यहाँ) हर गण
जब हरिमाया दूरि निवारी।	१	हर गन मुनिहि जात पथ देखी।
तब मुनि अति सभीत हरिचरना।	२	अति सभीत नारद पहिं आये॥
गहे पाहि प्रनतारति हरना।	३	गहि पद आरत बचन सुनाये।
मृषा होउ मम साप कृपाला।	४	साप अनुग्रह करहु कृपाला।
मम इच्छा कह दीन दयाला॥	५	बोले नारद दीन दयाला॥
जपहु जाइ संकर सत नामा।	६	निसिचर जाइ होहु तुम्ह दोऊ।
होइहि हृदय तुरत बिश्रामा।	७	होइहहु मुकुत न पुनि संसारा॥
सत्य लोक नारद चले।	८	चले जुगल मुनि पद सिर नाई।

तब मुनि अति सभीत हरिचरना। गहे पाहि प्रनतारति हरना॥ ६ अति सभीत नारद पहिं आए। गहि पद आरत बचन सुनाए॥

येहि बिधि जनम करम हरि केरे। सुंदर सुखद बिचित्र घनेरे॥१॥
कलप-कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं॥२॥
तब तब कथा मुनीसन्ह गाई। परम पुनीत प्रबंध बनाई॥३॥
बिबिध प्रसंग अनूप बखाने। करहिं न सुनि आचरज सयाने॥४॥

शब्दार्थ—बिचित्र = रंग-बिरंग के आश्चर्यजनक। घनेरे = बहुत।

अर्थ—इस तरह भगवान् हरि के जन्म (अवतार) और कर्म (लीलाएँ) सुन्दर, सुखदायक, बिचित्र और बहुत हैं॥१॥ हरएक कल्प में (जब-जब) भगवान् अवतार लेते हैं और नाना भाँति के सुन्दर चरित करते हैं॥२॥ तब-तब परम पवित्र काव्य-रचना करके मुनीश्वरों ने कथा गाई है॥३॥ तरह-तरह के अनुपम प्रसंग कहे गये हैं, उन्हें सुनकर बुद्धिमान् लोग आश्चर्य नहीं करते॥४॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि···'—ऊपर दोहे में कहा है—'लीन्ह मनुज-अवतार'—यह जन्म है और—'सुररंजन ··भुबिभार'—यह कर्म है। चरित स्वयं 'सुंदर' हैं, और दूसरों के लिये 'सुखद' भी। 'बिचित्र'—'नाना बिधि' अर्थात् तरह-तरह के हैं। अतः, मिलकर आश्चर्यजनक हैं एवं वात्सल्य, सख्य, शृंगार आदि रसों के चरित्र किये हैं। 'घनेरे', यथा—"जल-सीकर महि-रज गनि जाहीं। रघुपति-चरित न बरनि सिराहीं॥" (उ० दो० ५१)।

(२) 'कलप कलप प्रति···' इसमें उपर्युक्त जन्म-कर्म का ही विवरण है, वे कल्प-कल्प के होने से घनेरे हैं।

(३) 'तब-तब कथा मुनीसन्ह···'—पूर्व कहा था—"प्रति अवतार कथा प्रभु केरी। सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी॥" (दो० १२३)। यहाँ 'कबिन्ह' को स्पष्ट किया कि मुनीश्वर ही कवि हुए।

(४) 'बिबिध प्रसंग अनूप···'—यहाँ 'बिबिध प्रसंग' में और पूर्व 'कथा अलौकिक' में आश्चर्य करने से रोका है, यथा—"कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी। नहिं आचरज करहिं अस जानी॥" (दो० ३२)। इसमें के 'ज्ञानी' और यहाँ के 'सयाने' एक ही हैं।

हरि अनंत हरिकथा अनंता। कहहिं सुनहिं बहु बिधि सब संता॥५॥
रामचंद्र के चरित सुहाये। कलप कोटि लगि जाहिं न गाये॥६॥
यह प्रसंग मैं कहा भवानी। हरिमाया मोहहिं मुनि ज्ञानी॥७॥
प्रभु कौतुकी प्रनत-हित-कारी। सेवत सुलभ सकल दुखहारी॥८॥

सोरठा—सुर नर मुनि कोउ नाहिं, जेहि न मोह माया प्रबल।
अस बिचारि मन माहिं, भजिय महा-माया-पतिहिं॥१४०॥

अर्थ—भगवान् हरि अनन्त हैं और उनकी कथा भी अन्त-रहित है, जिसे बहुत तरह से सब सन्त कहते-सुनते हैं॥५॥ श्रीरामचन्द्रजी के सुहावने चरित करोड़ों कल्पों तक भी नहीं गाये जा सकते॥६॥ हे भवानी! यह प्रसंग मैंने कहा कि ज्ञानी मुनि भी हरि-माया में मोहित होते हैं॥७॥ भगवान् कौतुकी एवं शरणागतों के हित करनेवाले हैं, वे सेवा करने में सुलभ और सारे दुःख हरनेवाले हैं॥८॥ देवता, मनुष्य और मुनि—इनमें कोई भी ऐसा नहीं है, जिसे बलवती माया मोह न लेती हो, मन में ऐसा समझकर महामाया के स्वामी (श्रीरामजी) का भजन करना चाहिये॥१४०॥

विशेष—(१) 'हरि अनंत···रामचंद्र के चरित···'—दो० ११३ चौ० ३-४ देखिये। 'यह प्रसंग··· प्रभु कौतुकी···'—यहाँ प्रसंग का सारांश कहा गया है कि ज्ञानी मुनि भी हरिमाया में मोहित होते हैं। भगवान् लीला की इच्छा से कौतुक करते और शरणागतों के दुःख दूर करते हैं। 'सेवत सुलभ' यथा—"सकृत प्रनाम किये अपनाये।" (अ० दो० २९८)। 'सकल दुखहारी', यथा—"सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया।" (वि० १३८)।

(२) 'सुर नर मुनि···'—सुर नर मुनि—ये ज्ञानवान् होते हैं, ये भी मोहित हो जाते हैं, तब और कौन है जो न मोहा जा सके? जो माया के पति का सेवक होगा, उसपर माया का बल न चलेगा। 'भजिय महा माया पतिहि', यथा—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥" (गीता ७।१४), अर्थात् यह दैवी त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है, जो मेरी ही शरणागति कर मेरा ही भजन करते हैं, वे ही इस माया से तरते हैं।

यहाँ शिवजी, याज्ञवल्क्यजी और गोस्वामीजी ने भी प्रसंग की इति लगाई है—

शिवजी— { उपक्रम—"यह प्रसंग मोहिं कहहु पुरारी। मुनि-मन मोह आचरज भारी॥" (दो० १२३)। उपसंहार—"यह प्रसंग मैं कहा भवानी। हरि-माया मोहहिं मुनि ज्ञानी॥" (उपर्युक्त)।

याज्ञवल्क्य— { उपक्रम—"कहउँ राम-गुन-गाथ" (दो० १२४), "भरद्वाज कौतुक सुनहु" (दो० १२७)। उपसंहार—"रामचंद्र के चरित सुहाये।" "प्रभु कौतुकी प्रनत हितकारी।" (उपर्युक्त)

गोस्वामीजी { उपक्रम—"भजु तुलसी तजि मान-मद" (दो० १२४)। उपसंहार—"भजिय महामायापतिहि।" (उपर्युक्त)

क्षीराब्धिवासी, अवतार एवं नारद मोह-प्रसंग समाप्त।
श्रीरामावतारों के त्रिविध भेद समाप्त।

मनु-शतरूपा-प्रसंग

अपर हेतु सुनु सैलकुमारी। कहउँ बिचित्र कथा बिस्तारी॥१॥
जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयेउ कोसलपुर-भूपा॥२॥
जो प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा। बंधु-समेत धरे मुनिबेखा॥३॥
जासु चरित अवलोकि भवानी। सतीसरीर रहिहु बौरानी॥४॥

अर्थ—हे शैलकुमारी (पार्वतीजी), अब और कारण सुनो, यह विचित्र कथा मैं विस्तारपूर्वक कहता हूँ॥१॥ जिस कारण से अजन्मा, गुणातीत, अरूप, ब्रह्म, अयोध्यापुरी के राजा हुए॥२॥ जिन प्रभु श्रीरामजी को भाई के साथ मुनि-वेष धारण किये हुए और वन में फिरते हुए तुमने देखा था॥३॥ हे भवानी! सती-शरीर में जिनके चरित्र देखकर तुम बावली (सी) हो रही थी॥४॥

विशेष—(१) 'अपर हेतु सुनु···'—'सैलकुमारी'—क्योंकि परोपकार के लिये प्रश्न किया। 'बिचित्र'—पूर्वोक्त तीन कल्पों की भी कथाएँ विचित्र थीं, यथा—"राम-जनम के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक ते एका॥" (दो० १२१),—उपक्रम और—"येहि बिधि जनम करम हरिकेरे। सुंदर सुखद बिचित्र घनेरे॥" (दो० १३९),—उपसंहार है। अतः, इस कथा को भी विचित्र कहा, पर इसे विस्तार पूर्वक कहने की प्रतिज्ञा करते हैं।

(२) 'जेहि कारन अज अगुन···'—अवतार के विषय में पार्वतीजी के दो पक्ष थे—एक तो विष्णु भगवान् का अवतार लेना वे मानती थीं, पर उनकी लीला में सन्देह था कि वे अज्ञ की तरह स्त्री कैसे खोजेंगे? और दूसरा—"की अज अगुन अलख गति कोई।" के विषय में प्रथम अवतार मानती ही न

थीं, फिर कैलास-प्रकरण सुनकर मान गईं, तब उनके अवतार के हेतु के लिये प्रश्न किये। उनमें विष्णु एवं क्षीरशायी भगवान् के चतुर्भुज से द्विभुज राम-रूप होने के तीन जन्मों के हेतु कह आये कि वे अमुक-अमुक के शापवश हुए। शाप-निर्वाह के लिये अज्ञ की तरह विरही होकर स्त्री खोजने आदि की उनकी लीलाएँ हैं और जो अज, अगुण, अरूप, परात्पर ब्रह्म नित्य द्विभुज श्रीसीतापति श्रीमनु-शतरूपा के प्रेमवश प्रकट होकर 'कोसलपुरभूप' हुए उनका जन्म-वृत्तान्त कहने का यहाँ संकल्प किया।

(३) 'जो प्रभु बिपिन···'—'फिरत' से सीताजी का खोजना और 'मुनि-वेषा' से राज्य त्याग जनाया।

(४) 'अवलोकि···रहिहु बौरानी'—मोह-रूपी पिशाच लगने से पागल-सी हो गई थीं।

अजहुँ न छाया मिटति तुम्हारी। तासु चरित सुनु भ्रम-रुज-हारी ॥५॥
लीला कीन्हि जो तेहि अवतारा। सो सब कहिहउँ मति-अनुसारा ॥६॥
भरद्वाज सुनि संकर-बानी। सकुचि सप्रेम उमा मुसुकानी ॥७॥
लगे बहुरि बरनइ बृषकेतू। सो अवतार भयेउ जेहि हेतू ॥८॥

दोहा—सो मैं तुम्ह सन कहउँ सब, सुनु मुनीस मन लाइ।
रामकथा कलि-मल-हरनि, मंगल-करनि सुहाइ ॥१४१॥

अर्थ—(यहाँ तक कि) अब भी उस बावलेपन की छाया नहीं मिटती। उन्हीं रामजी के भ्रम-रूपी रोग के हरनेवाले चरितों को सुनो ॥५॥ उस अवतार में जो लीलाएँ की गई हैं, उन सबको मैं अपनी मति के अनुसार कहूँगा ॥६॥ याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि हे भरद्वाज! शंकरजी की बात सुनकर पार्वतीजी सकुचकर प्रेम से मुसकुराने लगीं ॥७॥ फिर जिसलिये वह अवतार हुआ, धर्मधुरीण श्रीशिवजी उसका कारण वर्णन करने लगे ॥८॥ उन सब-(कारणों)-को मैं तुमसे कहता हूँ, हे मुनीश्वर श्रीभरद्वाजजी! मन लगाकर सुनो। राम-कथा कलियुग के पापों को दूर करनेवाली, मंगल करनेवाली और सुहावनी है ॥१४१॥

विशेष—(१) 'अजहुँ न छाया मिटति'—अब भ्रम की छाया-मात्र (सामान्य) रह गई है, यथा—"तब कर अस बिमोह अब नाहीं।" (दो० १०८), जो—"राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी। सर्ब रहित सब उर पुर बासी। नाथ धर्यो नरतनु केहि हेतू।" (दो० ११०), पर कहा गया कि वे चिन्मय, अविनाशी आदि हैं। उन्होंने किन कारणों से इन गुणों के विरुद्ध मानव-शरीर धारण किया? वही यहाँ के—'अज अगुन अरूपा···' से जनाया है।

(२) 'तासु चरित सुनु···'—पूर्व—"जासु चरित अवलोकि···" से भ्रम होना और यहाँ के "तासु चरित सुनु···" से भ्रम का छूटना कहा, अर्थात् चरित देखकर सती, गरुड़ आदि को भी भ्रम हुआ और वह भ्रम उसी चरित के सांगोपांग सुनने से दूर भी हुआ। पूर्व पार्वतीजी ने कहा था—"देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥" (दो० १०८), उसीके लक्ष्य से यहाँ 'भ्रम रुज हारी' कहा गया है।

(३) 'सकुचि सप्रेम उमा···'—'रहिहु बौरानी' 'अजहुँ न छाया मिटति···' के प्रति सकुच एवं मुसुकाकर उमा ने उसका अंगीकार करना व्यक्त किया, तथा—"तासु चरित सुनु···" से प्रेम हुआ।

(४) 'लगे बहुरि बरनइ···' 'बृषकेतू' अर्थात् धर्म पर दृष्टि किये हुए सत्य ही कहेंगे। 'सो अवतार' यहाँ का 'सो' पूर्वोक्त—"जो प्रभु बिपिन फिरत···" के 'जो' के प्रति है। पूर्वोक्त—"नाथ धरेउ नर-तनु केहि हेतू।" (दो० ११९) का उत्तर यहाँ के—'लगे बहुरि···' से चला।

(५) 'सो मैं तुम्ह सन···'—'मन लाय'—यह प्रसंग परम गुह्य है। अतः, मन लगाकर सुनने से ही धारण होगा। लाभ भी कहते हैं कि 'राम-कथा' स्वयं उपासना-रूपा है, साथ ही 'मंगलकरनि'—

मंगलमय मोक्ष करनेवाली अर्थात् ज्ञान-फलरूपा है, यथा—"ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना।" (अर० दो ०१५)। 'कलिमलहरनि'—पाप करने से कर्म-फलरूपा है। 'मुनीस'—याज्ञवल्क्यजी ने प्रथम ही कहा था कि मैं—'उमा-संभु-संवाद' सम्पूर्ण कहूँगा। अतः, दोनों संवाद एक ही हैं।

स्वायंभू मनु अरु सतरूपा। जिन्ह ते भइ नरसृष्टि अनूपा ॥१॥
दंपति-धरम आचरन नीका। अजहुँ गाव श्रुति जिन्हके लीका ॥२॥

अर्थ—(आदि मन्वन्तर में) स्वायम्भुव मनु और शतरूपाजी हुए (हुए थे), जिनसे उपमारहित मनुष्य-सृष्टि हुई (मनुष्य उत्पन्न हुए) ॥१॥ (वे) दोनों स्त्री-पुरुष उत्तम धर्माचरणवाले थे, जिनकी मर्यादा आज भी वेद गाते हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'स्वायंभुव मनु अरु···'—स्वयम्भू ब्रह्मा का नाम है, उनसे उत्पन्न होने से इनका नाम स्वायम्भुव हुआ। भाग० ३।१२।५२-५३ में कहा गया है कि "ब्रह्मा प्रथम मानसी सृष्टि करते थे। सृष्टि वृद्धि न होने से चिन्तित हुए और दैव की गति विचार रहे थे, त्योंही उनका शरीर दो खण्डों में विभक्त हो गया। उनमें से एक से पुरुष और दूसरे से स्त्री उत्पन्न हुई। इनसे सृष्टि की वृद्धि हुई। पुरुष को स्वायम्भुव मनु और उनकी स्त्री को शतरूपा कहते हैं॥" ब्रह्मा के एक दिन (कल्प) में १४ मनु भोग करते हैं। एक-एक मनु ७२ चतुर्युगियों के लगभग रहते हैं। यहाँ आदि के स्वायम्भुव मनु का प्रसंग है। आगे इन्हें 'मनु' नाम से ही कहेंगे।

'नर-सृष्टि अनूपा' यथा—"नर-तनु सम नहिं कवनिहुँ देही। जीव चराचर जाचत जेही॥" (उ० दो० १२०)। "मम माया संभव संसारा।··· ··सब ते अधिक मनुज मोहि भाये॥" (उ० दो० ८५)।

(२) 'दंपति धरम आचरन···'—ये मनु उत्तम धर्माचरण में प्रथम हैं। ब्रह्माजी से वेद प्रकट हुए और मनु भी। वेदों के धर्म मनु करते हैं। ये जो आचरण करते हैं, वेदों में मिलते हैं, इसीसे वेदों का गाना कहा गया। इनकी स्मृति धर्माचरण में मुख्य मानी जाती है।

नृप उत्तानपाद सुत तासू। ध्रुव हरिभगत भयेउ सुत जासू ॥३॥
लघुसुत नाम प्रियव्रत ताही। बेद पुरान प्रसंसहिं जाही ॥४॥
देवहूति पुनि तासु कुमारी। जो मुनि कर्दम कै प्रिय नारी ॥५॥
आदिदेव प्रभु दीनदयाला। जठरधरेउ जेहि कपिल कृपाला ॥६॥

अर्थ—उनके पुत्र राजा उत्तानपाद हुए, हरिभक्त ध्रुवजी जिनके पुत्र हुए थे ॥३॥ उन मनु के छोटे लड़के का नाम प्रियव्रत था, जिनकी प्रशंसा वेद-पुराण करते हैं ॥४॥ पुनः देवहूति उनकी एक कन्या थी जो कर्दम मुनि की प्यारी स्त्री हुई ॥५॥ जिसने अपने जठर (गर्भ) में आदिदेव, प्रभु दीनदयालु और कृपालु कपिल भगवान् को धारण किया ॥६॥

विशेष—(१) 'नृप उत्तानपाद ··'—मनु का धर्माचरण कहकर अब दिखाते हैं कि उत्तम धर्माचरण से ऐसी-ऐसी सन्तानें होती हैं जिनके लोक-परलोक दोनों बने हैं। उत्तानपाद का प्रथम नाम देकर ज्येष्ठ पुत्र जनाया, ज्येष्ठ राज्याधिकारी होता है। अतः, 'नृप' कहकर उनकी बड़ाई की। पुनः उनकी प्रशंसा ध्रुव ऐसे पुत्र के द्वारा की, यथा—"सो कुल धन्य उमा सुनु, जगतपूज्य सुपुनीत। श्री रघुवीर परायन, जेहि नर उपज बिनीत।" (उ० दो० १२७)। ध्रुवजी की कथा पूर्व दो० २५ में लिखी गई है।

(२) 'लघु सुत नाम प्रियव्रत···' (भाग० ३।१२।५५ में प्रियव्रत ज्येष्ठ और उत्तानपाद कनिष्ठ कहे गये हैं—यह कल्पभेद है) प्रियव्रत के ही वंश में ऋषभदेव भगवान् ने अवतार लिया। ये स्वयं परम वैराग्यवान्, विज्ञानी और भगवद्भक्त हुए। श्री नारदजी की सेवा और उनकी कृपा से इन्हें सहज ही

परमार्थतत्त्व का ज्ञान हो गया। ब्रह्मा, मनु आदि बड़ों की आज्ञा मानकर एवं भगवान् की इच्छा से इन्हें निवृत्ति-मार्ग से फिर प्रवृत्ति में आना पड़ा। ये चक्रवर्त्ती राजा हुए। सातो द्वीपों और सातो समुद्रों के विभाग इन्होंने ही किये हैं। इनके विजय की विस्तृत कथा श्रीमद्भागवत स्कन्ध ५, अ० १ में है। 'बेद पुरान प्रसंसत ताही' से इनके आचरणों को पिता के आचरणों के तुल्य जनाया।

(३) 'देवहूति पुनि ···'—प्रियव्रत के पीछे देवहूति का नाम देकर इसे उनसे छोटी जनाया, कन्याएँ तीन हुईं, परन्तु यहाँ एक का नाम दिया गया, जिसके पुत्र भगवान् हुए। 'प्रिय नारी' से पतिव्रता जनाया, यथा—"पारवती सम पतिप्रिय होहू।" (अ० दो० ११७)।

(४) 'आदिदेव प्रभु ···'—'आदिदेव' से सृष्टि के कर्त्ता, 'प्रभु' से संहारकर्त्ता और 'दीनदयाला' से पालक जनाया। उन कपिल भगवान् ने कृपा करके इनके गर्भ में रहना स्वीकार किया। अतः, 'कृपाला' कहा गया है।

सांख्यसास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना। तत्त्वबिचार निपुन भगवाना ॥७॥
तेहि मनु राज कीन्ह बहु काला। प्रभुआयसु बहु बिधि प्रतिपाला ॥८॥

दोहा—होइ न बिषय-बिराग, भवन बसत भा चौथपन।
हृदय बहुत दुख लाग, जनम गयेउ हरिभगति बिनु ॥१४२॥

शब्दार्थ—प्रतिपाला = माना, पालन किया। चौथपन = वृद्धावस्था।

अर्थ—जिन्होंने (कपिल ने) सांख्य शास्त्र का प्रकट बखान किया, वे भगवान् तत्त्वविचार में बड़े चतुर थे ॥७॥ उन स्वायम्भुव मनु ने बहुत समय तक राज्य किया और बहुत प्रकार से भगवान् की आज्ञाओं का पालन किया ॥८॥ घर में रहते-रहते चौथापन हो आया, पर विषयों से वैराग्य नहीं हुआ, (अतएव) हृदय में बहुत दुःख हुआ कि हरिभक्ति के बिना व्यर्थ ही जन्म बीत गया ॥१४२॥

विशेष—(१) 'सांख्य सास्त्र जिन्ह···' 'प्रकट' अर्थात् वेद भी भगवान् के ही श्वास से हुए हैं, उनमें सब कुछ है, पर भगवान् स्वयं प्रकट होकर आचार्य-रूप से सांख्य का वर्णन कर गये हैं, अपने मुख से माता के प्रति प्रत्यक्ष कहा, जो उत्तरार्द्ध में कहते हैं—

'तत्त्वबिचार-निपुन···'—प्रथम सांख्यशास्त्र ग्रन्थ कहा, अब उसका वर्ण्य विषय कहते हैं कि उसमें तत्त्व-विचार का वर्णन है। सांख्य शास्त्र में दो ही तत्त्व प्रधान माने गये हैं—प्रकृति और पुरुष। यह छः शास्त्रों में एक है। कहा भी है—"नास्ति सांख्य समं ज्ञानं नास्ति योग समं बलम्॥" (महा० शान्ति० ३१६।२), अर्थात् सांख्य ज्ञान के समान और ज्ञान एवं योगबल के समान दूसरा बल नहीं है।

(२) 'तेहि मनु राज कीन्ह···'—मनु ने जो बहुत काल तक राज्य किया, वह राज्य के लोभ से नहीं, किन्तु प्रभु की आज्ञा के पालन की दृष्टि से किया। प्रभु की आज्ञा वेद है, उसके अनुसार राज्य किया। 'बहुबिधि' अर्थात् वेद की एक-एक विधि को कई-कई प्रकारों से किया और संसार को सिखाया।

(३) 'होइ न बिषय बिराग···'—इनका वैराग्य समय के अनुसार ही जाग्रत हुआ, यथा—"सन्त कहहिं असि नीति दसानन। चौथेपन जाइहि नृप कानन॥" (लं० दो० ६)। इनमें विषयों से और घर से वैराग्य-उदय होना संसार की शिक्षा के लिये है, क्योंकि इनका विषयों में आसक्त होना नहीं कहा जा सकता। इनके कुल में प्रियव्रत, ध्रुव आदि हुए, उन्होंने भी अपने आचरण से यही दिखाया है कि घर में रहते हुए विषयों से वैराग्य होना कठिन है। श्रीमद्भागवत स्कन्ध ५, अ० १ के ३१ वें श्लोक में प्रियव्रत का कथन है—अहो! राज्यभोग में पड़कर मैं परमार्थ-मार्ग से भ्रष्ट हो गया। यह बहुत बुरा हुआ, इन्द्रियों ने मुझे अविद्या-रचित विषम विषयों के गढ़े में गिरा दिया। मेरा जन्म ही वृथा बीता जाता है। बस,

अब ये विषय भोग बहुत हो लिये। स्त्री के क्रीड़ामृग रूप मुझे धिक्कार है! धिक्कार है!! इस प्रकार उन्होंने अपनी बहुत निन्दा की और दृढ़ विचार किया कि अब विषयभोगों का त्याग करना चाहिये। ऐसा ही विचार यहाँ मनु का भी जानना चाहिये।

मनु का प्रथम धर्म-पालन करना कहा गया, तब विषयों से वैराग्य होना बताया और फिर भक्ति की लालसा कही, यथा—"प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती। निज-निज धर्म निरत श्रुति-रीती॥ येहि कर फल मन बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥" (अर० दो० १५)। मनु के धर्म निष्काम हुए थे, तभी परिणाम में वैराग्य हुआ, वैराग्य के लिये पश्चात्ताप होना त्याग की पहली अवस्था है।

बरबस राज सुतहिं तब दीन्हा। नारि-समेत गवन बन कीन्हा॥१॥
तीरथबर नैमिष बिख्याता। अति पुनीत साधक-सिधि-दाता॥२॥
बसहिं तहाँ मुनि-सिद्ध-समाजा। तहँ हिय हरषि चलेउ मनु राजा॥३॥
पंथ जात सोहहिं मतिधीरा। ज्ञान भगति जनु धरे सरीरा॥४॥

अर्थ—तब (मनु ने) बरबस (हठपूर्वक) पुत्र को राज्य दिया और ये स्वयं स्त्री के साथ वन को चले॥१॥ अत्यन्त पवित्र, साधकों को सिद्धि का देनेवाला और तीर्थों में श्रेष्ठ नैमिषारण्य तीर्थ प्रसिद्ध है॥२॥ वहाँ मुनियों और सिद्धों का समाज निवास करता है, वहीं को प्रसन्न मन होकर राजा मनु चले॥३॥ मार्ग में जाते हुए धीरबुद्धि राजा-रानी यों सोहते हैं, मानों ज्ञान और भक्ति शरीर धारण किये हुए जा रहे हैं॥४॥

विशेष—(१) 'बरबस राज सुतहिं···'—श्रीमद्भागवत से जान पड़ता है कि उत्तानपाद और उनकी सन्तान राज्य करते थे और यह भी विस्तार से कहा गया है कि मनु ने प्रियव्रत को बरबस राज्य देना चाहा। वे नहीं लेते थे, फिर ब्रह्माजी के बहुत समझाने पर राज्य ग्रहण किया। तब मनु तप के लिये गये। इसका तात्पर्य यह जान पड़ता है कि मनु को मन्वन्तर भोग करना होता है, पर उनकी सन्तानों को नहीं। उन्होंने अपने रहते हुए पृथ्वी का राज्य उत्तानपाद को दे दिया था, फिर ध्रुव आदि भोगते थे। प्रियव्रत नारदजी से ज्ञान पाकर निवृत्ति मार्ग पर आरूढ़ थे। मन्वन्तर-समाप्ति के पूर्व ही जब उत्तानपाद के वंश में कोई न रहा, तब मनु ने प्रियव्रत को बरबस राज्य दिया और स्वयं वन गये अथवा कल्प-भेद की दृष्टि से बरबस राज्य देना ज्येष्ठ पुत्र के विषय में भी ले सकते हैं। बरबस देने से राज्य लेने में पुत्र की पितृ-भक्ति दिखाई और 'नारि-समेत' से रानी का पातिव्रत्य कहा। पतिव्रता स्त्री के साथ वन जाने का विधान है, यथा—"पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा॥" (मनु० ६।३)।

ऊपर कहा था कि 'होइ न बिषय बिराग'—अतः, 'बरबस राज सुतहिं नृप दीन्हा' 'भवन बसत' अतः, 'गवन बन कीन्हा' और—'हृदय बहुत दुख लाग' 'जन्म गयो हरि भगति बिनु' अतएव—"बासुदेव-पद पंकरुह, दंपति मन अति लाग।" आगे है।

(२) 'तीरथ बर नैमिष···'—यह स्थान नैमिषारण्य (नीमखार) नाम से अवध-प्रान्त के सीतापुर जिले में है। इसकी दो प्रकार की कथाएँ प्रसिद्ध हैं। (१) वाराह पुराण में लिखा है कि इस स्थान पर गौरमुख नामक मुनि ने निमिष भर में ही असुरों की बड़ी भारी सेना भस्म कर दी थी। इसीसे यह स्थल नैमिषारण्य कहाया। (२) देवीभागवत में इसकी कथा इस प्रकार है कि ऋषि लोग कलिकाल के भय से बहुत घबराये। तब ब्रह्माजी ने उन्हें एक मनोमय चक्र दिया और कहा कि इस चक्र के पीछे-पीछे चले जाओ। जहाँ इसकी नेमि (घेरा—चक्कर) टूट-फूट जाय, उसे अत्यन्त पवित्र स्थान समझना। वहाँ कलि का भय न रहेगा। यहीं पर सौति मुनि ने ऋषियों से महाभारत और पुराणों की कथाएँ कही हैं। विष्णुपुराण में लिखा है कि वहाँ गोमती स्नान से पाप नष्ट होते हैं (हि० श० सा०)। 'साधक

सिधिदाता'—साधक लोग सिद्धि पाते हैं, इसलिये वहाँ जाते हैं और सिद्धि पाकर भी रहते हैं। 'अति पुनीत'—पुनीत तो सभी तीर्थ हैं, यह अति पुनीत है।

(३) 'बसहिं तहाँ मुनि ·····'—जगत् के जीव तीन प्रकार के होते हैं, यथा—"विषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥" (अ० दो० २७६)। इनमें यहाँ साधक और सिद्धि दो का बसना कहा गया, विषयी का नहीं। 'हिय हरषि'—कार्य-सिद्ध का शकुन है, यथा—"होइहि काज मोहि हरष बिसेषी" (सु० दो० १)।

(४) 'ज्ञान भगति जनु··· ·'—मनु स्त्री के साथ सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य छोड़कर नंगे पैरों जा रहे हैं, वैराग्य एवं साधन में मतिधीर हैं। अतएव सोहते हैं। भक्ति और ज्ञान भगवान् की प्राप्ति के साधन हैं, ये दोनों भी भगवान् ही की प्राप्ति के लिये जा रहे हैं। अतः, उपमा योग्य है।

पहुँचे ·जाइ धेनु-मति-तीरा। हरषि नहाने निरमल नीरा॥५॥
आये मिलन सिद्ध मुनि ज्ञानी। धरमधुरंधर नृपरिषि जानी॥६॥
जहँ-जहँ तीरथ रहे सुहाये। मुनिन्ह सकल सादर करवाये॥७॥
कृससरीर मुनिपट परिधाना। संतसमाज नित सुनहिं पुराना॥८॥

दोहा—द्वादस अच्छर मंत्र पुनि, जपहिं सहित अनुराग।
बासुदेव - पद - पंकरुह, दंपति-मन अति लाग॥१४३॥

अर्थ—वे धेनुमती (गोमती) नदी के किनारे जा पहुँचे और उसके निर्मल जल में हर्षपूर्वक स्नान किया॥५॥ उन्हें धर्मधुरन्धर राजर्षि जानकर बहुत से सिद्ध, मुनि और ज्ञानी उनसे मिलने के लिये आये॥६॥ जहाँ-जहाँ सुन्दर तीर्थ थे, उन सबको मुनियों ने आदर के साथ करा दिया॥७॥ दुर्बल शरीर-वाले मनु मुनियों के वस्त्र (मृगचर्म, कौपीन, आदि) पहने सन्तों के समाज में नित्य पुराण सुनते थे॥८॥ पुनः अनुराग-सहित द्वादशाक्षर मन्त्र का जप करते थे। भगवान् वासुदेव के चरण-कमलों में राजा-रानी का मन अत्यन्त लग गया॥१४३॥

विशेष—(१) 'हरषि नहाने निरमल नीरा।'—माहात्म्य सुनने से हर्ष हुआ, तब स्नान किया, यही विधि है, यथा—"पुनि प्रभु आइ त्रिवेनी, हरषित मज्जन कीन्ह।" (लं० दो० ११९), 'निरमल नीरा'—अर्थात् निर्मल शरद् ऋतु आ गई थी।

(२) 'आये मिलन सिद्ध·····'—क्योंकि मनु बड़े धर्मात्मा, वैराग्यवान् और हरि-अनुरागी हैं, राज्य छोड़कर वानप्रस्थ भी ले लिया है, गुणों का आदर करना ही चाहिये।

(३) 'जहँ-जहँ तीरथ····· '—इस क्षेत्र के तीर्थ मिश्रिख, पंचप्रयाग आदि हैं।

(४) 'कृस सरीर ···'—तीर्थ-वास, नीरस (फलाहार, आदि) भोजन, वल्कल वस्त्र आदि से शरीर दुबला हो गया। प्रथम तीर्थ दर्शन किये, फिर सन्तों से पुराण आदि की कथाएँ सुनीं।

(५) 'द्वादस अच्छर मंत्र पुनि···'—'सहित अनुराग' क्योंकि—"मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किये जोग तप ज्ञान बिरागा॥" (उ० दो० ६१)। मन्त्र-जप के साथ उसके देवता का ध्यान भी करना चाहिये, यथा—"तज्जपस्तदर्थभावनम्" (योगसूत्र), तथा—"मन्त्रोऽयं वाचको रामो वाच्यः स्याद्योग एतयोः। फलदश्चैव सर्वेषां साधकानां न संशयः॥" (श्रीरामतापनीय उ०)। यहाँ द्वादशाक्षर मन्त्र जपा गया है और उसके इष्ट देवता को वासुदेव संज्ञा दी गई है। अन्त में श्रीसीतारामजी प्रकट हुए। यह नियम है कि जिस देवता का मन्त्र द्वारा आराधन होता है, वही प्रकट होता है। अतः, वासुदेव श्रीरामजी को ही कहा है, और

इसका अर्थ भी अन्त में खोल दिया है कि—"बिस्वबास प्रगटे भगवाना।" (दो० १४५)। ये विश्व में बसनेवाले सीता-राम-रूप में ही प्रत्यक्ष हुए हैं, यथा—"सब के उर अंतर बसहु……" (अ० दो० २५७), "अंतरजामी रामसिय" (अ० दो० २५६), तथा—"नमोऽस्तु वासुदेवाय ज्योतिषां पतये नमः। नमोऽस्तु रामदेवाय जगदानन्दरूपिणे ॥" (सनत्कुमार सं० रामस्तवराज० ५१), अर्थात् वासुदेव श्रीरामजी का ही विशेषण है। पुनः—"सर्वे वसन्ति वै यस्मिन् सर्वस्मिन्वसतेऽपि वा। तमाहुर्वासुदेवञ्च योगिनस्तत्त्वदर्शिनः॥" (महारामायण ५२।८९), अर्थात् जिसमें सब बसते हैं और जो सबमें बसता है, वही वासुदेव है। अतः, श्रीरामजी ही वासुदेव हैं।

द्वादशाक्षर मन्त्र में दो मत हैं—(क) "ॐनमो भगवते वासुदेवाय" यही द्वादशाक्षर मन्त्र श्रीनारदजी ने ध्रुव को दिया था। ध्रुव राज्य-कामना से निकले थे। श्रीनारदजी ने उन्हें वहाँ चतुर्भुज रूप का ध्यान बताया था। वही स्वरूप प्रकट हुआ और उन्हें वर दिया।

वासुदेव मन्त्र चतुर्व्यूह गत वासुदेव और परवासुदेव दोनों का वाचक है। श्रीनारदपंचरात्र में परवासुदेव की मूर्त्ति का ध्यान यह लिखा है, यथा—"मरीचिमण्डले संस्थं वाणाद्यायुधलाञ्छितम्। द्विहस्तमेकवक्त्रं च रूपमाद्यमिदं हरेः॥" अर्थात् तेजोमंडल में स्थित वाण आदि आयुधों से चिह्नित, द्विभुज, एक मुख—यही हरि का आदि रूप है। मनु-शतरूपा ने पर-वासुदेव रूप का ध्यान-सहित निष्काम आराधन किया, दर्शन-मात्र चाहते थे। अतः, पर-स्वरूप ही युगल विग्रह से सामने आये।

(ख) द्वादशाक्षर युगल मन्त्र है, इसमें छः अक्षरों का श्रीराम-मन्त्र और छः अक्षरों का श्रीसीता-मन्त्र है। इन दोनों मन्त्रों का जप एक साथ किया जाता है। इसी मन्त्र के साथ ही सीतारामजी प्रकट हुए, यथा—"राम बाम दिसि सीता सोई।" (दो० १४७)। इसपर दो० १८ का विशेष भी देखिये।

करहिं अहार साक फल कंदा। सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा। १॥
पुनि हरि-हेतु करन तप लागे। बारि-अधार मूल फल त्यागे॥२॥
उर अभिलाष निरंतर होई। देखिय नयन परम प्रभु सोई॥३॥

अर्थ—(मनु) शाक (साग), फल, कन्द (मूल) का भोजन करते और सच्चिदानन्द ब्रह्म का स्मरण करते थे॥१॥ फिर हरि के लिये तप करने लगे और मूल-फल भी छोड़कर जल-मात्र के आधार पर रहने लगे॥२॥ उनके हृदय में यही लालसा निरन्तर हुआ करती थी कि हम उन्हीं परम प्रभु को आँखों से देखें॥३॥

विशेष—(१) 'करहिं अहार साक…'—जब से तीर्थ में बसे, तब से फलाहार पर रहते थे। प्रथम कन्द-मूल-फल, तब साग चाहिये, क्योंकि जैसे अन्न की अपेक्षा मूल-फल नीरस है, वैसे मूल-फल की अपेक्षा साग, परन्तु यहाँ कोई नियम नहीं है। जब जो कुछ मिल गया, खा लिया। श्रीपार्वतीजी अत्यन्त सुकुमारी एवं बालिका थीं, यथा—"अति सुकुमारि न तनु तप जोगू।" (दो० ७३)। अतः, उनका आहार क्रम से है और उनका आहार सहित तप भी कठिन तप है। इसीसे उनके आहार सहित तप की संख्या दी गई है और मनु ने निराहार रहकर तपस्या की, क्योंकि इनका निराहार तप ही भारी तप है। इसीसे श्रीपार्वतीजी के निराहार तप की और मनु के आहार-सहित तप की संख्या नहीं दी।

(२) 'पुनि हरि-हेतु करन तप…' यहाँ 'पुनि' शब्द तप एवं आहार बदलने के साथ है। 'हरि' शब्द का तात्पर्य—'रामाख्यमीशं हरिम्' (मं० श्लोक ६) से है, वे ही सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं, यथा—"राम सच्चिदानंद दिनेसा।" (दो० ११५)। पहले कोई चाह न थी, अब श्रीरामजी की चाह से तप करने लगे।

(३) 'उर अभिलाष…'—उन परम प्रभु का अनुभव प्रायः मुनि लोग ध्यान-द्वारा ही करते थे, मनु को नेत्रों से देखने की अभिलाषा होने लगी। इसका इन्हें दृढ़ विश्वास है। वही आगे कहते हैं—

अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी ॥४॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा ॥५॥
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना ॥६॥
ऐसेउ प्रभु सेवकबस अहई। भगत-हेतु लीलातनु गहई ॥७॥
जौ यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा ॥८॥

अर्थ—जो निर्गुण, अखंड (अविच्छिन्न), अन्त और आदि (मरण और जन्म) रहित हैं, जिनका परमार्थवेत्ता (तत्त्ववेत्ता) चिन्तन किया करते हैं ॥४॥ जिनका निरूपण वेद 'नेति नेति' कहकर करते हैं, जो स्वयं आनन्दरूप, उपाधि रहित और उपमा-रहित हैं ॥५॥ जिनके अंश से अनेक शम्भु, ब्रह्मा और विष्णु भगवान् उत्पन्न होते हैं ॥६॥ ऐसे प्रभु (समर्थ) भी सेवक के वश में हैं और भक्तों के लिये अपने शरीर में लीला को ग्रहण करते हैं ॥७॥ यदि यह वचन वेदों ने सत्य ही कहा है। तो हमारी अभिलाषा पूरी होगी ॥८॥

विशेष—(१) 'अगुन अखंड अनंत···' यथा—"गुनातीत सचराचर स्वामी। राम··· (अर० दो० ३८), "उमा एक अखंड रघुराई।" (लं० दो० ६०), "राम अनंत अनंत गुन···" (दो० ३३), "आदि अंत कोउ जासु न पावा।" (दो० ११७), "प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहँ ब्रह्म अनादी ॥" (दो० १०८)।

(२) 'नेति नेति जेहि बेद···' यथा—"निगम नेति सिव अंत न पावा।" (दो० २०२), दो० १२ भी देखिये। "जो आनंदसिंधु सुखरासी।" (दो० १६६), "निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा।" (उ० दो० ९१)।

(३) 'सम्भु बिरंचि बिष्णु···'—'नाना' शब्द अनेक ब्रह्मांडों के अनेक त्रिदेवों के लिये आया है, यथा—"लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्णु सिव मनु दिसित्राता ॥" (उ० दो० ८०)।

(४) 'ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई।'—जिनके अंश से त्रिदेव उपजते हैं वे भक्तों के लिये अपने शरीर में बाल, पौगंड आदि लीलाओं को ग्रहण करते हैं अर्थात् स्वयं उपजते-से दीखते हैं। यह भक्तों पर ममता है, यथा—"इच्छामय नर-बेष सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे ॥" (दो० १५१)।

(५) 'जौ यह बचन सत्य श्रुति भाषा।'—वेद के प्रमाण, यथा—"भद्रो भद्रया सचमान अगात् स्वसारञ्जारोऽभ्येति पश्चात्। सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्नुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात् ॥" (सामवेद सं० उ० १५।२।१।३)। इस मन्त्र में श्रीरामजी की लीला कही गई है जो मन्त्र रामायण के भाष्य में विस्तार से दिखाई गई है। श्रीबैजनाथजी की टीका में इस प्रसंग पर सातो काण्ड रामायण परक वेद मन्त्र उद्धृत हैं। वहीं देखिये।

अपने नित्य शरीर में लीला-ग्रहण के प्रमाण श्रीरामतापनीय उपनिषत्पूर्वार्द्ध ७-१० मन्त्रों में विस्तार से दिये गये हैं, वहाँ परात्पर ब्रह्म साकेताधीश श्रीरामजी के प्रति पंचधा कल्पनाएँ कही गई हैं—रूप, वर्ण, वाहन, शक्ति, सेना। ये पाँच कल्पनाएँ भाष्य में विस्तार से हैं, वहीं देखना चाहिये।

(६) 'तौ हमारि पूजिहि अभिलाषा।'—वेद भगवान् के वचन हैं, अतः, सत्य हैं। ऐसे विश्वास से अवश्य फल होता है। 'अगुन अखंड'···से—'लीला तनु गहई' तक की बातें हृदय की ही हैं—किसी-से संवाद-रूप में नहीं हैं।

न्याय के अनुसार प्रमाण के चार भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। यहाँ चारो आये हैं, यथा—'अगुन अखंड···' में 'चिंतहि' से अनुमान, 'निरूपा' से उपमान, वेद शब्द-रूप है, वह नेति-नेति कहता है। अतः, उसमें नहीं आता। 'लीलातनु गहई' यह प्रत्यक्ष है।

दोहा—येहि बिधि बीते बरष षट, सहस बारि-आहार ।
संबत सप्त सहस्र पुनि, रहे समीर-अधार ॥१४४॥

बरस सहस दस त्यागेउ सोऊ । ठाढ़े रहे एक पग दोऊ ॥१॥

अर्थ—इस प्रकार जल का आहार करते हुए उन्हें छः हजार वर्ष बीत गये, फिर सात हजार वर्ष तक वायु के आधार पर (हवा पीकर) रहे ॥१४४॥ दस हजार वर्ष इस (वायु-अहार) को भी छोड़े रहे, दोनो (मनु और शतरूपा) एक पाँव से खड़े रहे ॥१॥

विशेष—यहाँतक इनके तप की चार कोटियाँ क्रमशः अधिक कठिन होती गईं, जैसे (१) प्रथम तीर्थ में आने पर फल-मूल-शाक आदि के आधार पर अन्न त्यागकर रहते थे । उसकी वर्ष-संख्या नहीं दी गई थी, क्योंकि यह उनके लिये कोई कठिन बात न थी । (२) फिर फलाहार त्यागकर केवल जलाहार पर ही छः सहस्र वर्षों तक रहे । (३) तब जल भी त्यागकर केवल वायु के ही आधार पर सात सहस्र वर्षों तक रहे । (४) इतने पर भी मनोरथ-सिद्धि न देखकर निराहार एक पैर पर खड़े रहकर तप करने लगे । उक्त क्रम से इसमें आठ सहस्र वर्ष चाहिये पर इसमें कुछ आहार तो था ही नहीं कि जिसे छोड़कर दूसरा ग्रहण करते, इससे लगातार दस सहस्र वर्षों तक इसी नियम में रह गये । निष्ठा यही थी कि प्रभु के दर्शनों पर नियम समाप्त होगा । अपरिमेय भगवान् की प्राप्ति में कोई परिमित नियमित साधन एवं समय नहीं है, वे जब चाहें, कृपा से ही प्राप्त होते हैं । अतः, चौथी कोटि नियमहीन थी ।

बिधि-हरि-हर तप देखि अपारा । मनु-समीप आये बहु बारा ॥२॥
माँगहु बर बहु भाँति लोभाये । परम धीर नहिं चलहिं चलाये ॥३॥
अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा । तदपि मनाक मनहिं नहि पीरा ॥३॥

शब्दार्थ—अपारा = जिसका पार नहीं, बहुत बड़ा । अस्थि = हड्डी । मनाक (मनाक्) = किंचित्, थोड़ा ।

अर्थ—उनका बहुत बड़ा तप देख कर ब्रह्मा, विष्णु और शिव मनु महाराज के पास बहुत बार आये ॥२॥ बहुत प्रकार से उन्होंने लालच दिया कि वर माँगो, पर वे परम धीर थे । अतः, डिगाने से न डिगे ॥३॥ शरीर में हड्डी मात्र रह गई, तथापि उनके मन में कुछ पीड़ा नहीं हुई ॥४॥

विशेष—(१) 'मनु समीप आये बहु बारा ।'—आकाशवाणी ही से सन्तुष्ट नहीं किया, किन्तु समीप आये, क्योंकि इनका मनोरथ परम प्रभु के दर्शनार्थ है, यथा—"उर अभिलाष निरंतर होई । देखिय···" इसीलिये तीनों बार-बार आये कि हम परम प्रभु के अंश हैं । तीनों के दर्शनों से यदि इन्हें अंश-अंशी में अभेद दृष्टि से सन्तोष हो जाय तो परम प्रभु को क्यों आना पड़े ? 'बहु बारा'—एक बार छः सहस्र वर्षों के अनुष्ठान पर, फिर सप्त सहस्र वर्षों पर और फिर दस सहस्र पर भी आये । 'बहु भाँति लोभाये'—अपने-अपने लोकों की प्राप्ति का लोभ दिखाया, पर ये अपनी अनन्यता में परम धीर (दृढ़) थे, इससे न डिगे । 'चलहिं चलाये'—अन्य देवता अपने साधक की स्वयं परीक्षा लेते हैं, परम प्रभु की साधना में त्रिदेव ही आये और सब प्रकार से हार गये ।

(२) 'अस्थि मात्र होइ···'—पूर्व ही से शरीर कृश होने लगा था, यथा—"कृस सरीर मुनि-पट···" कहा गया । अब हड्डी मात्र रह गई, यथा—"अद्राक्षमहमेतत्ते हृत्सारं महदद्भुतम् । दंशभक्षितदेहस्य प्राणा ह्यस्थिषु शेरते ॥" (भाग० ७।३।१८), अर्थात् ब्रह्माजी कहते हैं कि मैंने तुम्हारे अद्भुत धैर्य को देखा कि दंश आदि तुम्हारे शरीर के मांस को खा गये, तुम्हारे प्राण अस्थिगत हो रहे हैं । फिर कुछ भी पीड़ा क्यों न हुई ? इसका कारण पूर्व ही कहा गया है कि—"बासुदेव-पद-पंकरुह, दंपति मन अति लाग ।" (दो० १४३),

अर्थात् इनका मन भगवान् में प्रीतिपूर्वक लगा है, फिर दुःख का अनुभव कौन करे ? यथा—"मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तनु दुख सुख सुधि केही ॥" (अ० दो० २७४), "बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहुँ बूझिय बिपत्ति कि ताही ॥" (सु० दो० ३१)।

प्रभु सर्वज्ञ दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृप रानी ॥५॥
माँगु माँगु बर भइ नभबानी। परम गँभीर कृपामृत-सानी ॥६॥
मृतक-जियाबनि गिरा सुहाई। श्रवन रंध्र होइ उर जब आई ॥७॥
हृष्टपुष्ट तन भये सुहाये। मानहुँ अबहिं भवन ते आये ॥८॥

दोहा—श्रवन-सुधा-सम बचन सुनि, पुलक प्रफुल्लित गात।
बोले मनु करि दण्डवत, प्रेम न हृदय समात ॥१४५॥

अर्थ—राजा रानी कि अनन्य गति देखकर सब जाननेवाले प्रभु ने उनको अपना (अनन्य) दास जाना ॥५॥ कृपा-रूपी अमृत से सनी हुई परम गम्भीर आकाशवाणी हुई कि 'वर माँगो, वर माँगो' ॥६॥ जब मरे हुए को जिलानेवाली वह सुहावनी वाणी कानों के छेदों में से होकर हृदय में आ गई ॥७॥ तब उनके शरीर हट्टे-कट्टे (मोटे-ताजे) हो गये, मानों अभी-अभी घर से आये हैं। ॥८॥ अमृत के समान वचन कानों से सुनते ही शरीर पुलकावली से खिल गया, हृदय में प्रेम नहीं समाता, मनु दण्डवत् प्रणाम करके बोले ॥१४५॥

विशेष—(१) 'प्रभु सर्वज्ञ दास·····', त्रिदेव तप देखते थे, परम प्रभु ने अपनी सर्वज्ञता से इनके अन्तःकरण का अनन्यता-सहित प्रेम देखा और अपना दास जाना, यथा—"एक बानि करुना-निधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की ॥" (अर० दो० ९), "तिन्हते पुनि मोहिं प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा ॥" (उ० दो० ८५)। प्रभु ने जान लिया कि अब ये बिना दर्शन दिये प्राण ही त्याग देंगे, तब आकाशवाणी की।

(२) 'माँगु माँगु बर·····'—यहाँ शंका की जाती है कि भगवान् सर्वज्ञ हैं। अतः, जानते ही हैं कि मनु दर्शन चाहते हैं। फिर माँगने को क्यों कहा ? इसका समाधान है—प्रभु का यह नियम है कि भक्त के मुख से कहलाकर आशा पूर्ण करते हैं। जैसे पट् शरणागति में 'गोप्तृत्ववरण' नामक एक शरणागति है जिसका अर्थ यह है कि रक्षा के लिये प्रभु का वरण करे (प्रार्थना-पूर्वक कहे)। यह भी कहा जाता है कि एकदम सम्मुख आने से अत्यन्त हर्ष से प्राण-त्याग की सम्भावना थी। अतः, प्रथम आकाशवाणी द्वारा थोड़ा सुख दिया, जिससे शरीर हृष्ट-पुष्ट हो गया। इससे परब्रह्म होने का विश्वास भी हुआ और अब दर्शनों का लाभ भी पूर्ण रीति से प्राप्त कर सकेंगे। इनके वर माँगने से यह भी निश्चय होगा कि ये किस रूप के दर्शन चाहते हैं ? 'माँगु माँगु' में आदरार्थ 'वीप्सा' अलंकार है। 'परम गँभीर' यथा—"भाई सो करत बात कौसिकहिं सकुचात बोल घनघोर से बोलत थोर-थोर हैं।" (गी० बा० ७१)।

(३) 'श्रवन सुधा···'—इसमें 'बोले' वचन, 'करि दंडवत' कर्म और 'प्रेम न···' में मन का भाव दिखाया। परम प्रभु ने इनका शरीर पूर्ववत् कर दिया, जो उनके लिये तप से सुखाया गया था। फिर भोग त्याग के बदले स्वर्ग का भोग भी दे देंगे। स्वयं केवल कृपा से प्राप्त होंगे, क्योंकि आप साधन-साध्य नहीं हैं। परिमित पदार्थ ही परिमित साधन से प्राप्त होता है, परम प्रभु नहीं, यथा—"नास्त्यकृतः कृतेन।" (मुण्डक १।२।१२)।

सुनु सेवक-सुरतरु सुरधेनू। बिधि-हरि-हर-बंदित-पद-रेनू ॥१॥
सेवत सुलभ सकल-सुख-दायक। प्रनतपाल सचराचर-नायक ॥२॥
जौ अनाथ हित हमपर नेहू। तौ प्रसन्न होइ यह बर देहू ॥३॥

अर्थ—हे सेवकों के कल्पवृक्ष और कामधेनु! सुनिये, आपके चरण-रज की वन्दना ब्रह्मा, विष्णु और महेश करते हैं ॥१॥ सेवा करने से सुलभ होनेवाले, सब सुखों के देनेवाले, शरणागत के रक्षक, चर और अचर के साथ सारे जगत् के स्वामी ॥२॥ और हे अनाथों के हित करनेवाले! जो आपका हमपर स्नेह है तो प्रसन्न होकर हमें यह वर दीजिये ॥३॥

विशेष—(१) 'सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू।'—ये दो उपमाएँ दी गई हैं, इनके भाव—(क) प्रथम कल्पवृक्ष कहा, फिर विचारा कि वृक्ष तो जड़ होता है, वहाँ तक पहुँचने की योग्यता चाहिये, वह हम दोनों में नहीं है। अतः, कामधेनु भी कहा। भाव यह कि आप दोनों प्रकार से इच्छापूरक हैं।

(ख) आकाशवाणी में 'माँगु-माँगु' के दो बार कहे जाने से परम प्रभु का शक्ति-सहित दो रूपों में होना समझ पड़ा, इसलिये प्रभु को कल्पवृक्ष और शक्ति को कामधेनु कहा।

(ग) आगे इसे 'दंपतिबचन' कहेंगे। अतः, मनु की तरफ से 'सुरतरु' और शतरूपा की ओर से 'सुरधेनु' कहे गये हैं।

(२) 'बिधि-हरि-हर-बंदित···'—पूर्व त्रिदेवों का अंश से उपजना कहा था, अब यहाँ दिखाते हैं कि वे आप ही के चरण-रेणु की वन्दना से अधिकार एवं उसमें सफलता पाते हैं, यथा—"देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका।···बंदत चरन करत प्रभु-सेवा ॥" (दो० ५३), "हरिहरहि हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता जो दई। सोइ जानकी पति···" (वि० १३५)।

(३) 'सेवत सुलभ सकल···' यथा—"सकृत प्रनाम किये अपनाये।" (अ० दो० २९८), "तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जौ चाहसि मन मेरो। तौ भजु राम काम सब पूरन करहिं···" (वि० १३२)।

(४) 'अनाथहित', यथा—"नाथ तू अनाथ को" (वि० ७९), "अनाथ पर कर प्रीति जो सो एक राम"—(उ० दो० १३०)।

जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं ॥४॥
जो भुसुंडि-मन-मानस-हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा ॥५॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति-मोचन ॥६॥

अर्थ—आपका जो स्वरूप शिवजी के मन में बसता है और जिसके लिये मुनि लोग यत्न करते हैं ॥४॥ जो काकभुशुण्डीजी के मन रूपी मानस-सर का हंस है, जो सगुण और निर्गुण हैं और जिसकी वेद प्रशंसा करते हैं ॥५॥ हे शरणागतों की विपत्ति छुड़ानेवाले! कृपा कीजिये कि हम आपके उस रूप को आँखें भरकर देखें ॥६॥

विशेष—(१) 'जो सरूप बस सिव···निगम प्रसंसा'—शिवजी भगवान् हैं, राम-भक्ति के आचार्य हैं, योग-ज्ञान-वैराग्य के निधि हैं। मुनि वाल्मीकि, व्यास आदि भी सर्वज्ञ हैं और भुशुण्डीजी के आश्रम के आस पास योजन तक माया नहीं व्यापती। ये लोग परात्पर रूप ही के नैष्ठिक होंगे और वेद भगवान् की वाणी है परम सत्य है, वह भी परात्पर को ही सगुण-निर्गुण कहेगा और प्रशंसा करेगा। ऐसा निश्चित करके तब कहते हैं कि हम वही रूप देखें।

(२) वेद काण्डत्रय रूप में प्रशंसा करता है। उसीके अनुसार शिवजी ज्ञानी, मुनि याज्ञवल्क्य आदि कर्मकाण्डी और भुशुण्डीजी उपासक होकर उसका साक्षात्कार भी कर चुके हैं। वही निश्चित तत्त्व रूप परम प्रभु है, यह मनु का अभिप्राय है। भाग ११।२०।६ में काण्डत्रय से ही जीवों को कल्याण एवं मोक्ष पाना कहा है।

'मुनि जतन', यथा—"करि ज्ञान ध्यान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं।" (अर० दो० ३१)।

(३) मनु ने केवल परम प्रभु की उपासना की है और उसके लिये उपर्युक्त प्रमाण दिये हैं, अब जो स्वरूप इनके समक्ष में आवेगा, वही परात्पर तत्त्व निर्विवाद रूप से सिद्ध है।

(४) 'देखहिं हम सो रूप···' शिव आदि समर्थ हैं, पर हम तो आपकी कृपा से ही दर्शन चाहते हैं। कृपा प्रणत पर होती है, हम प्रणत हैं और दर्शनों के लिये आर्त्त हैं, दर्शन देकर यह दुःख दूर कीजिये। शिवादि मन में ध्यान से देखते हैं और हम प्रत्यक्ष दर्शन चाहते हैं। अतः, यह कृपा ही से होगा।

दंपति-बचन परम प्रिय लागे। मृदुल बिनीत प्रेम-रस-पागे ॥७॥
भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना ॥८॥

दोहा—नीलसरोरुह नीलमनि, नील-नीरधर-स्याम।
लाजहिं तनुसोभा निरखि, कोटिकोटि-सत काम ॥१४६॥

शब्दार्थ—दंपति = स्त्री-पुरुष। पागे = सने हुए, ओतप्रोत। भगत-बछल = भक्तवत्सल। आश्रित के दोषों का भोक्ता होना वात्सल्य गुण है। गाय जैसे नवजात बछड़े को प्यार करती है और उसके घृणित विकारों को जीभ से साफ करती है, वैसे प्यार करना और दोष हरना वात्सल्य है।

अर्थ—दम्पती (मनु-शतरूपा) के वचन परम प्यारे लगे, (क्योंकि) वे कोमल, नम्र और प्रेम-रस में सने हुए थे ॥७॥ भक्तवत्सल, कृपानिधान, संसार-भर में बसनेवाले एवं जगत् में व्यापक, भगवान् प्रभु प्रकट हुए ॥८॥ नील कमल, नील मणि और नीले मेघ के समान श्यामवर्णवाले शरीर की शोभा को देखकर करोड़ों-अर्बों कामदेव लज्जित होते हैं। ॥१४६॥

विशेष—(१) 'दंपति-बचन···'—पूर्व केवल मनु का बोलना कहा गया है, यथा—"बोले मनु करि दंडवत" और यहाँ उसे दम्पती (मनु-शतरूपा)—दोनों—का वचन कहते हैं, यह विरोध क्यों ?

समाधान—मनु शब्द पुँल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनों हैं', यह "मनोरौ वा" इस सूत्र से स्त्रीलिंग भी सिद्ध होता है। अतः, राजा-रानी दोनों का बोध हुआ। बोलने में मनु ही थे, अर्द्धांगिभाव से रानी भी उसमें सहमत थीं।

(२) 'मृदुल बिनीत···'—कोमल वचन प्रिय होते हैं, विनीत भी होने से अति प्रिय और प्रेम-रस-पगे होने से परम प्रिय लगे। ऊपर दोहे में कहा गया—'प्रेम न हृदय समात'। ऐसे प्रेममय हृदय से वचन निकले हैं, इसीसे उक्त गुण का आना योग्य ही है। श्रीरामजी को केवल प्रेम प्यारा है, यथा—"रामहिं केवल प्रेम पियारा" (अ० दो० १३६), इसीसे वे प्रकट हो गये, यथा—"प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।" (दो० १८४)।

(३) 'भगतबछल प्रभु···'—प्रभु भक्तवत्सल हैं, समर्थ भी हैं, अर्थात् भक्त के लिये सबकुछ करने में समर्थ हैं। 'कृपानिधान' हैं, इसीसे प्रकट होते हैं, यथा—"भये प्रगट कृपाला ··" (दो० १९१)। 'बिस्वबास', यथा—"देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥" (दो० ९८४)। अतः, आपको कहींसे आना नहीं पड़ा, वहीं प्रकट हो गये, भक्त-हित सम्बन्ध से 'भगवाना' कहे गये हैं,

यथा—"भगत हेतु भगवान् प्रभु, राम धरेउ तनु भूप ॥" (उ० दो० ७२) । 'तेहि धारि देह···सो केवल भगतन्ह हित लागी ।" (दो० १२) ।

(४) 'नीलसरोरुह नीलमनि···'—यहाँ शरीर की श्यामता के लिये तीन उपमाएँ दी गई हैं। जीव तीन स्थानों के होते हैं, यथा—"जलचर थलचर नभचर नाना । जे जड़ चेतन जीव जहाना ॥" (दो० २), यहाँ कमल जल में, मणि स्थल में और मेघ आकाश में रहते हैं, अतएव श्यामता में तीन विशेषण दिये गये ।

शरीर के भिन्न-भिन्न धर्मों के लिये तीन उपमाएँ दीं । तीनो में १६ धर्म हैं । इनसे प्रभु के षोडश शोभामय गुण दिखाये हैं । कमल के छः धर्म हैं—सुन्दरता, कोमलता, सुकुमारता, सुगन्ध, मनोहरता और मकरन्द । वैसे प्रभु का शरीर सर्वांग सुठौर, कोमल, सुकुमार, सुगन्धयुक्त, मनोहर और माधुर्य रस युक्त है । मणि के आठ धर्म हैं—मणि उज्ज्वल, स्वच्छ, आवरण-रहित, शुद्ध, सुषमा, सदा एक रस रहना, एकरस, रसदीप्ति, आब । प्रभु का शरीर—तमोगुणादि रहित, निरंजन, निर्मल एकरस, तन मन शुद्ध, शोभा, नवयौवन, तेज और लावण्ययुक्त है । मेघ में दो गुण हैं—गम्भीर श्याम, बिजली-युक्त । वैसे प्रभु—गंभीर श्याम शरीर और पीतपट-युक्त हैं ।

(५) 'लाजहिं तनु सोभा निरखि···' अर्थात् शरीर में जैसा रंग और जैसी शोभा है, वैसा प्राकृत उपमाओं में यथार्थ नहीं आता, उपमाओं को अल्प अंश में ही जानना चाहिये, यथा—"नील कमल, मनि, जलद की उपमा कहे लघु मति होति ॥" (गी० बा० १९), तथा—"श्याम सरीर सुभाय सुहावन । सोभा कोटि मनोज लजावन ॥" (दो० ३३६) । कई उपमाएँ देते हुए समता न पाकर अन्त में—'लाजहिं···' से शरीर को अनुपम जनाया, यहाँ शरीर-शोभा समष्टि में कही, अब पृथक्-पृथक् अंग की शोभा कहते हैं—

सरद - मयंक - बदन छबिसींवा । चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा ॥१॥
अधर अरुन रद सुंदर नासा । बिधु-कर-निकर - बिनिंदक हासा ॥२॥
नव-अंबुज अंबक - छबि नीकी । चितवनि ललित भावती जी की ॥३॥
भृकुटि मनोज -चाप - छबि-हारी । तिलक ललाटपटल दुतिकारी ॥४॥

शब्दार्थ—मयंक = चन्द्रमा । कपोल = गाल । चिबुक = ठोड़ी । ग्रीवा = कंठ, गरदन । अधर = ओष्ठ । रद = दाँत । बिधु = चन्द्रमा । कर = किरण । निकर = समूह । अंबुज = कमल । अंबक = आँख । ललित = सुन्दर = स्नेह-भरी भावती = सुहानेवाली । पटल = तह वा समूह ।

अर्थ—उनका मुख शरदपूर्णिमा के चन्द्रमा के समान छवि की सीमा है, उनके गाल और ठोड़ी सुन्दर हैं और गरदन शंख के समान है ॥१॥ उनके ओष्ठ लाल, दाँत और नासिका सुन्दर हैं, हँसी चन्द्रमा की किरण-समूह को विशेष करके नीचा दिखानेवाली है ॥२॥ आँखों की छवि नये खिले हुए कमल के समान सुन्दर हैं, और सुन्दर चितवनि हृदय को भानेवाली है ॥३॥ भौंहें कामदेव के धनुष की छवि को हरनेवाली हैं, उनके विशाल ललाट-पटल पर तिलक प्रदीप्त हो रहा है ॥४॥

विशेष—(१) 'सरद-मयंक···' यहाँ शरद् मात्र में शरत्पूनो से तात्पर्य है, यथा—"सरद सर्वरी-नाथ-मुख···" (अ० दो० ११६) । 'सींवा' समुद्र को भी कहा जाता है, इस वर्णन का उपसंहार भी समुद्र ही पर हुआ है, यथा—"छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी ।" इससे सर्वांग में अगाध सौन्दर्य जनाया । जिस अंग की अल्पांश में भी उपमा पाते हैं, तो कहते हैं, अन्यथा निरुपम जानते हुए उनकी उपमा नहीं देते, जैसे यहाँ कपोल, चिबुक छोड़ दिये हैं । 'दर ग्रीवा' शंख के समान त्रिरेखायुक्त चढ़ा-उतार गला ।

(२) 'अधर अरुन रद·····हासा ।' हँसी के साथ ही अधर की ललाई और दाँतों की चमक भी

सोहती है। अतः, साथ कथित हैं, यथा—"मनहुँ सोन सरसिज महँ कुलिसन्ह तड़ित सहित किय बासा" (गी० उ० १२), चन्द्रमा की किरणें आह्लादमयी होती हैं, वैसे आपकी हँसी हार्दिक आनन्द का प्रकाश करनेवाली है, यथा—"हृदय अनुग्रह-इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥" (दो० १९७), अर्थात् आपका आनन्द-पूर्ण हास भक्तों के अनुग्रह के लिये होता है। इससे जनों का ताप दूर होता है, यथा—"जिय की जरनि हरत हँसि हेरत।" (अ० दो० २३८)।

(३) 'नव-अंबुज अंबक ··चितवनि···' नवीन पूरे खिले हुए कमल के समान नेत्र दीर्घ और लाल डोरे पड़े हुए कृपा-रस से पूर्ण हैं, यथा--"रुचिर पलक लोचन जुग तारक, स्याम, अरुन सित कोये।" (गी० उ० १२), 'चितवनि', यथा—"चितवनि चारु मार मनहरनी। भावति हृदय जाति नहिं बरनी॥" (दो० २४२)। 'ललित', यथा—"चितवनि भगत कृपाल" (गी० उ० २१)।

(४) 'भृकुटि मनोज चाप···' सामान्य धनुष में वैसी सुन्दरता नहीं होती, इसलिये काम के चाप की उपमा दी। भौंहें धनुष के समान टेढ़ी होती हैं।

(५) 'तिलक ललाटपटल···' यहाँ 'पटल' का अर्थ तह=पर्त (मस्तक का तल) और साथ ही (श्लेषार्थ से) पटला=बिजली भी ले सकते हैं, यथा—"अलप तड़ित जुग रेख इंदु महँ रहि तजि चंचलताई।" (वि० ६२), "भृकुटि भाल बिसाल राजत रुचिर कुंकम रेख। भ्रमर द्वै रवि किरन लावे करन जनु उनमेख॥" (गी० उ० ९), "भाल बिसाल बिकट भृकुटी बिच तिलक रेख रुचि राजै। मनहुँ मदन तम तकि मरकत धनु जुगल कनक सर साजै॥" (गी० उ० १२)।

यहाँ कवि ने मनु के वात्सल्य-भावानुसार छवि का वर्णन मुख से उठाया है, क्योंकि माता-पिता की दृष्टि पुत्र के मुख पर विशेष रहती है, यथा—"जननिन्ह सादर बदन निहारे।" (दो० ३५७), "निरखि बदन कहि भूप-रजाई॥" (अ० दो० ३८)।

कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा। कुटिल केस जनु मधुपसमाजा॥५॥
उर श्रीवत्स रुचिर बनमाला। पदिकहार भूषन मनिजाला॥६॥
केहरिकंधर चारु जनेऊ। बाहुबिभूषन सुंदर तेऊ॥७॥
करि-कर-सरिस सुभग भुजदंडा। कटि निषंग कर सर कोदंडा॥८॥

शब्दार्थ—मकर = मछली, मगर। भ्राजा = शोभित है। जाला = समूह। केहरि = सिंह। कंधर = कंधा। करिकर = हाथी की सूँड़। निषंग = तरकश। कोदंड = धनुष। कटि = कमर।

अर्थ—मकराकृत कुण्डल (कानों में) और मुकुट सिर पर शोभित है, टेढ़े (घुँघराले) सिर के केश मानों भ्रमरों के समाज हैं॥५॥ हृदय पर श्रीवत्स चिह्न एवं सुन्दर वनमाला और पदिक (हीरे) का हार तथा मणि-समूह के भूषण पहने हुए हैं॥६॥ सिंह के समान (ऊँचे) कन्धे हैं, जनेऊ सुन्दर एवं भुजाओं के भूषण भी सुन्दर हैं॥७॥ हाथी की सूँड़ के समान सुन्दर उनके भुजदंड हैं, कटि में तरकश और हाथों में धनुष और बाण हैं॥८॥

विशेष—(१) 'कुंडल मकर मुकुट···'—छोटी मछली या मगर का मुँह और पूँछ मिलाने से जैसा आकार होता है, वैसा गोलाकार कुंडल मकराकृत कहाता है। 'मुकुट'—सतखंडा है। केश काले, टेढ़े, चिकने और सघन हैं, यथा—"चिक्कन कच कुंचित गभुआरे।" (दो० १९८)। इसलिये भौंरों के समाज की उपमा दी गई है।

(२) 'उर श्रीवत्स रुचिर···'—श्रीवत्स=छाती पर पीताभ रोमावली का गुच्छा जो दक्षिणावर्त्त (भौंरी के रूप में) है। यह श्रीजानकीजी का प्रतिरूप कहा जाता है, श्रीरामजी सदा भक्ति आदि का

दान दिया करते हैं, इसलिये श्रीजानकीजी श्रीवत्सरूप से सदैव दक्षिणांक में रहती हैं, यथा—"श्रीवत्स-कौस्तुभोरस्कम्' (सनत्कु० सं० रामस्तवराज १५), अर्थात्—"महापुरुषत्वद्योतको वक्षोवर्त्ति पीतरोमात्मकचिह्न विशेषः श्रीवत्सशब्देनोच्यते ॥" (हरिदासकृत भाष्य)। 'बनमाला = तुलसी, कुन्द, मन्दार, पारिजात और कमल—इन पाँच पुष्पों की माला, यह गले से चरणों तक लम्बी होती है, यथा—"सुंदर पट-पीत बिसद, भ्राजत बनमाल उरसि, तुलसिका-प्रसून-रचित बिबिध बिधि बनाई ॥" (गी० उ० ३), इसमें तुलसिका और प्रसून ऐसा अर्थ करना चाहिये, तब उक्त चारों फूल और तुलसी की नई मंजरी भी आ जाती है।

(३) 'पदिकहार भूषन···'—'पदिक हार = नवरत्न चौकी, धुकधुकी, जो हार के बीच में वक्षःस्थल पर रहती है, यथा—"गजमनि माला बीच भ्राजत कहि जात न पदिक निकाई। जनु उडुगन-मंडल बारिद पर नव ग्रह रची अथाई ॥" (वि० ६२), 'भूषन मनिजाला'—मणियों और छोटे मोतियों का पँचलरी हार जो पदिक के नीचे शोभित है, फिर भूषणों एवं मणियों का चार अंगुल चौड़ा जाल उर पर विराजमान है।

(४) '···चारु जनेऊ। बाहु बिभूषन···'—पीत रंग का चमकता हुआ यज्ञोपवीत है, यथा—"पीत जनेउ महाछबि देई।" (दो० ३२६)। विभूषणों के प्रति 'तेऊ' बहुवचन कहकर बहुत भूषण जनाये, यथा—"भुज बिसाल भूषन जुत भूरी।" (दो० १९८)।

(५) 'करि-कर-सरिस···'—हाथी की सूँड़ चढ़ाव-उतार, सुडौल और बलिष्ठ होती है, वैसी ही भुजाएँ हैं, किन्तु सुभग अधिक हैं, यथा—"काम-कलभ कर भुज बलसींवा।" (दो० २३२)। यहाँ पुरुष की भुजा का प्रसंग है। अतः, कड़ी होने से 'भुजदंड' कहा है, स्त्री की भुजाएँ कोमल होती हैं, इसीसे वहाँ 'भुजबल्ली' कहते हैं, यथा—"चालति न भुजबल्ली" (दो० ३२७)। 'कर सर कोदंडा—क्रम से लिखकर दाहिने हाथ में बाण और बायें में धनुष जनाया है। यहाँ 'पूर्णोपमालंकार' है।

दोहा—तड़ितबिनिंदक पीतपट, उदर रेख बर तीनि।
नाभि मनोहर लेति जनु, जमुन-भँवर-छबि छीनि ॥१४७॥

पदराजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनिमन-मधुप बसहिं जिन्ह माहीं ॥१॥

अर्थ—बिजली को विशेष रूप से नीचा दिखानेवाला पीताम्बर है, पेट पर श्रेष्ठ तीन रेखाएँ (त्रिवली) पड़ी हुई हैं। मन को हरनेवाली नाभी मानों यमुनाजी के भँवरों की शोभा को छीने लेती है ॥१४७॥ जिनमें मुनियों के मन रूपी भौंरे बसते (लिपटे रहते) हैं—ऐसे चरण-कमलों का वर्णन किये नहीं बनता ॥१॥

विशेष—(१) 'तड़ितबिनिंदक पीतपट···' यहाँ सर्वांग में पीत ही वस्त्र है, क्योंकि पट के साथ कोई अंग-विशेष नहीं कहा गया। अतः, धोती, कमर में फेंटा और उपरना सब आ गये। पेट पर त्रिबली रेखाओं का होना सौन्दर्य एवं सुलक्षण है, यथा—"नाभी सर त्रिबली निसेनिका, रोमराजि सैवल छांव छावति। उर मुकुता मनि माल मनोहर मनहुँ हंस अवली उड़ि आवति ॥" (गी० उ० १७)। श्यामता के लिये यमुना की भँवर की उपमा दी है, यथा—"उतरि नहाये जमुन-जल, जो सरीर सम स्याम।" (अ० दो० १०९)।

छवि का छीनना यहाँ यों है कि नाभी में वह भौंर की आकृति सदा एक रस है, पर यमुना में भौंर होकर फिर मिट जाया करते हैं, मिट जाना उनका छीना जाना है। नाभी में सदा वह छवि रहती है, वही मानों छीनकर अपनी समता से रोकती है।

(२) 'पदराजीव बरनि नहिं···'—वर्णन न हो सकने का कारण यह है कि इन चरणों में जो

२४-२४ चिह्न हैं, उनसे अवतार सूचित होते हैं, अतएव उनका महत्त्व अपरिमेय है। हाँ, कुछ सरसता गुण कहते हैं कि लाल कमल के समान कोमलता मात्र तो कुछ मिलती है, पर गुण में बहुत भेद हैं। कमल में भ्रमर रहते हैं, वे श्याम रंग के और विषय रस के लोभी हैं और इनके भ्रमर मुनियों के मन हैं, जो सात्त्विक होने से श्वेत, विषय-रस-रहित और परमार्थरत हैं और सदा प्रेम-रस का पान करते हैं, यथा—"तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति। स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षते॥" (आलवंदारस्तोत्र)। अतः, उपर्युक्त उपमाओं के बिना नहीं कहे जा सकते।

बामभाग सोभति अनुकूला। आदिसक्ति छबिनिधि जगमूला॥२॥
जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥३॥
भृकुटिबिलास जासु जग होई। राम बामदिसि सीता सोई॥४॥

अर्थ—उनकी बाईं ओर आदिशक्ति, छवि की राशि और जगत् की मूल कारण-रूपा (पति के) अनुकूल सोहती हैं॥२॥ जिनके अंश से गुणों की खान अगणित लक्ष्मी, पार्वती और सरस्वती उत्पन्न होती हैं॥३॥ जिनके भौंह फेरने ही मात्र से जगत् उत्पन्न होता है, वही श्रीसीताजी श्रीरामजी की बाईं ओर स्थित हैं॥४॥

विशेष—(१) 'बामभाग ···'—यहाँ 'भाग' शब्द का भाव यह है कि ये अर्द्धांगिनी (आधा अंगरूपा) हैं, दोनों मिलकर अखंड पूर्ण ब्रह्म हैं, देखने मात्र में दो हैं, पर वस्तुतः एक ही हैं, देखिये दोहा १८। श्रीजानकीजी का ऐश्वर्य मात्र कहते हैं—नख-शिख नहीं, क्योंकि वे जगत्-जननी हैं, अतः अधिकार नहीं। कहना भी चाहें तो कह नहीं सकते, यथा—"जगतजननि अतुलित छबि भारी।" (दो० २४७); तो भी अधिकारियों के लिये 'छबिनिधि' और 'अनुकूला' से दिखला दिया है कि श्रीरामजी के अनुसार ही शोभा-सौन्दर्य इनका भी है, वे छबिसमुद्र हैं तो ये भी छबिनिधि हैं, उनसे त्रिदेव भगवान् होते हैं तो इनसे उनकी गुणखान शक्तियाँ। 'अनुकूला' का अर्थ पति की आज्ञानुकूला भी है, यथा—"पति-अनुकूल सदा रह सीता।" ··से "सोइ कर श्री सेवाबिधि जानइ॥" (उ० दो० २३) तक।

'आदिसक्ति'—सब शक्तियाँ श्रीजानकीजी की कला-अंश विभूति हैं, मूल प्रकृति महामाया है, वह श्रीजानकीजी का महत् अंश है। अंश-अंशी भाव से श्रीसीताजी को 'जगमूला' भी कहा है। महारामायण अ० ५१ में लिखा है कि श्री, भू, लीला आदि ३२ शक्तियाँ श्रीजानकीजी की अंशभूता हैं, वे ही जगत् के सभी कार्य उनके रुख पर किया करती हैं। इससे भी यहाँ 'जगमूला' कहा गया है, तथा—"माया सब सिय माया माहूँ।" (अ० दो० २५१)।

(२) 'जासु अंस उपजहिं गुन···'—प्रथम जिन्हें आदिशक्ति कहा था, उन्हींको यहाँ प्रकट किया और 'जगमूला' को आगे—'भृकुटि बिलास···' से जनाया है।

(३) दक्षिण भाग में श्रीरामजी के प्रत्येक अंग के शोभा-वर्णन से माधुर्य कहा और बाम भाग में श्रीसीताजी का ऐश्वर्य बतलाया। फिर 'अनुकूला' शब्द से दोनों की बातें दोनों में जनाईं। इस तरह दोनों के माधुर्य-ऐश्वर्य आ गये।

श्रीरामजी का ऐश्वर्य पूर्व ही दो० १४३ की ४-६ चौ० में—कहा था। ठीक वैसा ही ऐश्वर्य यहाँ श्रीसीताजी का भी जनाया और यह भी ध्वनित किया कि 'राम' और 'सीता'—यही इनके सनातन नाम हैं।

छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे नयनपट रोकी॥५॥
चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु-सतरूपा॥६॥
हरषबिबस तनुदसा भुलानी। परे दंड इव गहि पद पानी॥७॥

शब्दार्थ—एकटक = टकटकी लगाये । पानी (पाणि) = हाथ । तृप्ति = सन्तोष ।

अर्थ—शोभा के समुद्र भगवान् का रूप देखकर मनु और शतरूपा आँखों की पलकों को रोक कर टकटकी बाँधकर देखते रह गये ॥५॥ वे दोनों (मनु और शतरूपा) उस अनुपम रूप को आदर-पूर्वक देखते थे, वे दर्शनों से तृप्ति नहीं मानते थे ॥६॥ विशेष हर्षवश होने से शरीर की सुधि भूल गई और दण्ड की तरह हाथों से चरण पकड़कर पड़ गये ॥७॥

विशेष—(१) 'सरद मयंक बदन छविसींवा ।'—उपक्रम है और यहाँ—'छविसमुद्र हरिरूप···' पर उपसंहार है । दोनों साकार का ध्यान कहकर तब छवि-वर्णन की इति लगाई, इससे सूचित किया कि दोनों एक ही हैं । 'एकटक रहे' अर्थात् पलक मात्र का भी विक्षेप नहीं सह सकते थे । 'हरिरूप'—हरि ही के लिये वन आये—"जनम गयो हरि-भगति बिनु ।" (दो० १४२) और हरि ही के लिये तप किया—"पुनि हरि-हेतु करन तप लागे ।" (दो० १४३) । अतः, वे ही 'हरि' यहाँ प्राप्त हैं । ये छवि-समुद्र के हरि हैं, क्षीर-समुद्र के नहीं ।

(२) 'चितवहिं सादर रूप···', यथा—"पियत नयनपुट रूप-पियूषा । मुदित सुअसन पाइ जिमि भूखा ॥" (अर० दो० ११०) । 'अनूपा', यथा—"निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै ।" (उ० दो० ९२) । 'तृप्ति न मानहिं'—यह प्रभु का माधुर्य गुण है, यथा—"देखे तृप्ति न मानिये, सो माधुरी बखानि ।" ये तो हजारों वर्षों के प्यासे हैं, छवि-समुद्र पा गये, तब भी तृप्ति नहीं मानते ।

(३) 'हरष-बिवस तनु···'—रूप देखकर अत्यन्त हर्ष हुआ, देह-दशा की स्मृति भी न रही और दंडाकार चरणों पर पड़ गये । यहाँ 'दण्ड इव' कहा है । सुतीक्ष्ण मुनि और श्रीभरतजी के प्रति 'लकुट इव' (अर० दो० ९), 'लकुट की नाईं' (अर० दो० २३९) कहा गया है, क्योंकि वे लोग तितिक्षा एवं विरह से दुर्बल शरीर के थे । अतः, लकुट के समान कहे गये । लकुट पतली छड़ी को कहते हैं । मनु-शतरूपा हृष्ट-पुष्ट हो गये हैं, इससे दण्ड की तरह कहे गये । दण्ड मोटा होता है । यह शब्द-प्रयोग की सावधानी है ।

सिर परसे प्रभु निज-कर-कंजा । तुरत उठाये करुनापुंजा ॥८॥

दोहा—बोले कृपानिधान पुनि, अति प्रसन्न मोहि जानि ।
माँगहु बर जोइ भाव मन, महादानि अनुमानि ॥१४८॥

सुनि प्रभुबचन जोरि जुग पानी । धरि धीरज बोले मृदु बानी ॥१॥
नाथ देखि पदकमल तुम्हारे । अब पूरे सब काम हमारे ॥२॥

शब्दार्थ—परसे = स्पर्श किया । करुना (करुणा) = मन का वह विकार जो आश्रित एवं पराया दुःख दूर करने के लिये प्रबल प्रेरणा करे । पुंज = राशि, समूह । पूरे = पूर्ण हुए ।

अर्थ—करुणा की राशि भगवान् ने अपने कमल रूप हाथों से उनका सिर-स्पर्श किया और तुरत उनको उठा लिया ॥८॥ वे कृपानिधान फिर बोले कि मुझे अत्यन्त प्रसन्न जानकर और महान् दानी विचार कर जो मन में प्रिय हो, वही वर माँग लो ॥१४८॥ प्रभु के वचन सुनकर (वे) दोनों हाथ जोड़कर और धैर्य धारण कर कोमल वाणी बोले ॥१॥ हे नाथ ! आपके चरण-कमलों को देखकर अब हमारी सारी कामनाएँ पूरी हो गईं ॥२॥

विशेष—(१) 'सिर परसे प्रभु···'—इस ग्रन्थ में श्रीभरतजी, श्रीहनुमानजी और श्रीविभीषणजी आदि के दण्डवत् करने पर प्रभु ने उन्हें उठाकर हृदय में लगाया है । यहाँ वैसा बर्ताव नहीं हुआ, क्योंकि अभी दम्पती का प्रभु में निश्चित भाव नहीं है । राजा-रानी दोनों ने बराबर तप एवं आराधन किया है ।

इससे दोनों के सिरों पर हाथ फेरे और उठाया—हृदय से नहीं लगाया, क्योंकि यदि अकेले राजा को छाती से लगाते और रानी को नहीं तो रानी का अपमान होता। रानी को हृदय में नहीं लगा सकते, क्योंकि पराई स्त्री के प्रति यह अयोग्य है, अतएव केवल उठाना ही कहा। यह ग्रन्थकार की सावधानी है। यह भी भाव है कि यहाँ प्रभु का वात्सल्य दम्पती में है, अवध में दम्पती का वात्सल्य उनमें होगा, क्योंकि प्रभु पुत्र-रूप में रहेंगे। 'तुरत उठाये करुनापुंजा'—यदि सेवक स्वयं उठ पड़े तो उसके प्रेम की न्यूनता और देर में उठाने से स्वामी में निष्ठुरता आती है। फिर यहाँ तो स्वामी करुणापुंज हैं। अतः, तुरत उठाया, यथा—"करुनामय रघुबीर गोसाईं। बेगि पाइयहि पीर पराई॥" (उ० दो० ८२)।

(२) 'बोले कृपानिधान पुनि···'—मनुजी ने जो वर माँगा, उसे देकर अब अपनी ओर से और देने को कहते हैं, इसलिये 'कृपानिधान' कहा। पूर्व—"तौं प्रसन्न होइ···" कहा था, वह तो प्रसन्न होकर दे दिया, प्रभु अन्तर्यामी हैं। अतः, जानते हैं कि इनके हृदय में—"एक लालसा बड़ि उर माहीं।" है, उसके लिये 'अति प्रसन्न' और 'महादानि' कह रहे हैं कि जिससे उन्हें वह लालसा कहने में संकोच न हो। प्रभु मनु की उस लालसा पर भी अति प्रसन्न हुए। इतने पर भी मनु को संशय रहेगा ही। आगे कहेंगे—"तथा हृदय मम संसय होई।" क्योंकि वह लालसा ही ऐसी है—जगत्-पिता को पुत्र-रूप में माँगना।

'महादानि'—ब्रह्मा आदि दानी हैं। अतः, वे कुछ छुड़ाकर वर देते हैं, जैसे रावण के विषय में—"बानर मनुज जाति दुइ बारे।" (दो० १७६) कहला लिया, तब वर दिया, पर आप तो 'महादानि' हैं। अतः, अपने आप तक को दे डालेंगे।

(३) 'सुनि प्रभु-बचन जोरि···'—इस बार मनु ने हाथ जोड़े, क्योंकि ये हृदय में समझ रहे हैं कि हम बहुत बड़ा वर माँगेंगे तो ऐसा करें जिससे मिल जाय, यथा—"माँगउँ दूसर बर कर जोरी। पुरबहु नाथ मनोरथ मोरी॥" (अ० दो० २७)। पूर्व कहा था—"हरष-बिबस तनु-दसा भुलानी।" अतः, यहाँ धीरज धरना कहा। यह पूर्वापर सँभाल ग्रन्थ-भर में है।

(४) 'अब पूरे सब काम···'—क्योंकि मनुजी चारो फल एवं सब कुछ श्रीरामजी ही को जानते हैं, यथा—"मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।" (अ० दो० ७१)।

एक लालसा बड़ि उर माहीं। सुगम अगम कहि जाति सो नाहीं॥३॥
तुम्हहिं देत अति सुगम गोसाईं। अगम लाग मोहिं निज कृपनाई॥४॥
जथा दरिद्र बिबुधतरु पाई। बहु संपति माँगत सकुचाई॥५॥
तासु प्रभाव जान नहिं सोई। तथा हृदय मम संसय होई॥६॥
सो तुम्ह जानहु अन्तरजामी। पुरबहु मोर मनोरथ स्वामी॥७॥

अर्थ—मेरे मन में एक बहुत बड़ी लालसा है, वह सुगम और अगम दोनों है—इसीसे वह कही नहीं जाती॥३॥ हे गोसाईं! आपको देने में बहुत ही सुगम है, पर मुझे अपने ही कृपणता से अगम (अति कठिन) जान पड़ती है॥४॥ जिस प्रकार कोई दरिद्र कल्पवृक्ष को पाकर भी बहुत सम्पत्ति माँगने से संकोच (हिचक) करता है॥५॥ (क्योंकि) वह उसका प्रभाव नहीं जानता, वैसे ही मेरे हृदय में संशय होता है॥६॥ आप तो अन्तर्यामी हैं। अतः, उसे जानते हैं। इसलिये, हे स्वामी! मेरे उस मनोरथ को पूरा कीजिये॥७॥

विशेष—(१) 'एक लालसा बड़ि···'—प्रथम लालसा दर्शन-मात्र की थी—"उर अभिलाष निरन्तर होई। देखिय नयन···" "देखहिं हम सो रूप···"। पर इतने ही से तृप्ति न हुई। अब चाहते हैं कि जिससे सदा ही दर्शन होते रहें। यह काम इस प्रकार होगा कि आप हमारे पुत्र होंगे तो उस भाव

में मेरी प्रीति अत्यन्त होगी, यथा—"सुत की प्रीति···" (वि० २६८), और पुत्र कभी पिता से उऋण नहीं हो सकता। आगे—'देखि प्रीति सुनि बचन अमोले।'—देखिये। अतः, ये सदैव हमें सुलभ रहेंगे, इसलिये इस लालसा को बड़ी बतलाया।

(२) 'तुम्हहिं देत अति···' प्रथम सुगम-अगम कहा था, उसीको स्पष्ट किया कि अपनी ही कृपणता से अगम लगता है, यथा—"अपडर डरेउँ न सोच समूले" (अ० दो० २६६)। दानी को सुगम है और आप महादानी हैं। अतः, अति सुगम है।

(३) 'जथा दरिद्र बिबुधतरु···'—उपर्युक्त कृपणता को दृष्टान्त से दिखाते हैं कि दरिद्र को कल्पवृक्ष का मिलना ही कठिन है। दैव-योग से मिल भी जाय, तो बहुत धन माँगने में उसका साहस नहीं पड़ता, क्योंकि वह अपनेको उतने धन का पात्र नहीं समझता। इसीसे सन्देह करता है—मिले या न मिले—यद्यपि कल्पवृक्ष देने में पूर्ण समर्थ है।

यहाँ 'निज कृपनाई' में मनु की कार्पण्य शरणागति भी है। जीव कितने भी जप-तप करे, पर परिमित शक्ति से किया हुआ साधन अपरिमित ब्रह्म के समक्ष वास्तव में कुछ भी नहीं है। अतः, यथाशक्ति साधन करते हुए भी दीनता परम आवश्यक है, इसीसे प्रभु रीझते हैं।

(४) 'सो तुम्ह जानहु अंतरजामी।···'—प्रथम 'गोसाईं' कहा, फिर यहाँ अंतर्यामी भी कह रहे हैं। भाव यह है कि आप ही इन्द्रियों के स्वामी और उर-प्रेरक हैं और 'सुरतरु' जड़ है, वह दरिद्र के हृदय की नहीं जानता। अतः, उससे माँगना पड़ता है। आप मेरे हृदय की जानकर वर देने की कृपा करें। आप स्वामी हैं, मैं दास हूँ, इस नाते मेरा मनोरथ पूर्ण करना आपका धर्म है। 'गोसाईं'—अर्थात् आप इन्द्रियों के स्वामी हैं, अतः वाक्-इन्द्रिय से आप ही कहलावें, तो भले ही कहा जा सके। 'गो' इन्द्रियों का एक नाम है, यथा—"गो इंद्रिय दिक बाक जल, स्वर्ग सुदृष्टि अनंद। गो-भू गो-सुर गो-किरण, और बज्र गोबिंद॥" (नन्ददासकृत नाममाला)।

सकुच बिहाइ माँगु नृप मोही। मोरे नहिं अदेय कछु तोही॥८॥

दोहा—दानिसिरोमनि कृपानिधि, नाथ कहउँ सतिभाउ।
चाहउँ तुम्हहिं समान सुत, प्रभु सन कवन दुराउ॥१४९॥

अर्थ—(श्रीरामजी ने कहा) हे राजन्! तुम संकोच छोड़कर मुझसे माँगो, मेरे पास तुम्हारे लिये न देने योग्य (जो मैं तुम्हें न दे सकूँ) कोई भी पदार्थ नहीं है॥८॥ (मनु ने कहा) हे दानियों में शिरोमणि! हे कृपानिधि! हे नाथ! मैं अपना (हार्दिक) सच्चा भाव कहता हूँ, प्रभु से क्या छिपाना? मैं आपके समान ही पुत्र चाहता हूँ॥१४९॥

विशेष—(१) 'सकुच बिहाइ···'—मनु ने कहा था कि 'बहु संपति माँगत सकुचाई।' उसीके प्रति प्रभु ने 'सकुच बिहाइ' और 'मोरे नहिं अदेय···' कहा है, यथा—"जन कहँ नहिं अदेय कछु मोरे।" (अर० दो० ४१)। मनु ने प्रभु को 'सुरतरु-सुरधेनु' कहा था, इसीसे फिर भी प्रभु 'माँगु' कहते हैं, क्योंकि कल्पतरु से माँगा जाता है। जब देने को मैं स्वयं प्रस्तुत हूँ तो क्या संकोच? 'मोही' अर्थात् मुझसे और मुझको ही—मनु ने कहा था—"सो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी॥" इसका उत्तर 'मोही' शब्द से ध्वनित किया कि तुम मुझको ही चाहते हो, वही हम देते हैं। अतः, मुझसे मुझ ही को माँग लो। यह श्लेषार्थ हुआ। भगवान् ने वसुदेव-देवकी से भी कहा है—"ब्रियतां वर इत्युक्ते मादृशो वां वृतः सुतः।···अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम्। अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति श्रुतः॥" (भाग० १०।३।३८, ४१), अर्थात् जब मैंने कहा 'वर माँगो' तो तुमने मेरे समान पुत्र होने का वर

माँगा।···मुझे इस लोक में शील, उदारता और अन्यान्य गुणों में अपने समान कोई और दिखाई नहीं दिया, इसलिये मैं ही तुम्हारा पुत्र होकर पृश्निगर्भ नाम से प्रसिद्ध हुआ।

(२) प्रभु ने कहा भी—'सकुचि बिहाइ माँगु', पर मनु को संकोच रहा ही। अतः, आप ही पुत्र हों, यह न कह सके, क्योंकि अखिल ब्रह्माण्ड के पिता-माता को पुत्र होने के लिये कहने में बड़ी ही धृष्टता है, यथा—"प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई।"···तुम्ह ब्रह्मादि जनक जगस्वामी।" (दो० १४९)। अतः, उनके समान पुत्र माँगा। 'समान' शब्द में एक और भी रहस्यात्मक बात है—सभ्यता-युक्त परीक्षा, क्योंकि परात्परत्व के विषय में यह श्रुति है—"न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।" (श्वेता० ६।८), अर्थात् उसके समान और उससे अधिक कोई नहीं है, तथा—"न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः" (गीता ११।४३) और "जेहि समान अतिसय नहिं कोई।" (अर० दो० ५)। अतः, यदि प्रभु कहेंगे कि हमारे समान अमुक है, तो समझ जायँगे कि ये परतम प्रभु नहीं हैं, कोई और परतम है।

देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले ॥१॥
आप सरिस खोजउँ कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई ॥२॥
सतरूपहिं बिलोकि कर जोरे। देवि माँगु बर जो रुचि तोरे ॥३॥

अर्थ—राजा की प्रीति देखकर और उनके अमूल्य वचनों को सुनकर करुणासागर प्रभु बोले कि ऐसा ही हो ॥१॥ हे राजन्! मैं अपने समान और किसीको कहाँ जाकर खोजूँ, मैं ही आकर तुम्हारा पुत्र हूँगा ॥२॥ शतरूपाजी को हाथ जोड़े हुए देखकर प्रभु ने कहा कि हे देवि! तुम्हारी जो रुचि हो, वह वर माँग लो ॥३॥

विशेष—(१) 'देखि प्रीति सुनि···'—अन्तःकरण की प्रीति देखी और ऊपर के अमूल्य वचन सुने, तब 'एवमस्तु' बोले, क्योंकि प्रीति ही से श्रीरामजी मिलते हैं, यथा—"मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।" (उ० दो० ६१)। वचनों में अमूल्यता यह है कि इसका दाम चुकता हो ही नहीं सकता। पुत्र के वात्सल्य से निर्हेतु सेवा अत्यन्त परिश्रम से प्रेम-पूर्वक होगी, जिसका प्रत्युपकार पुत्र कर ही नहीं सकता, यथा—"निज कर खाल खैंचि या तनु ते जौ पितु पग पानहीं करावौं। होउँ न उऋन पिता दसरथ ते कैसै ताके बचन मेंटि पति पावौं॥" (गी० अ० ७२), तथा—"यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्। न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥" (मनु० २।२२७), अर्थात् सन्तान की उत्पत्ति में माता-पिता को जो क्लेश सहना पड़ता है, उससे सौ वर्षों में भी वह सन्तान निस्तार नहीं पा सकती। गीता ४।११ की रीति से भगवान् का भी वैसा ही प्रीत्यात्मक भाव से ऐसी पितृ-निष्ठा वाले के अधीन रहेंगे। तत्क्रतुन्याय से परलोक में भी इसी भावानुसार सदा यही सुख रहेगा।

(२) 'आपु सरिस खोजउँ कहँ···'—मेरे समान दूसरा नहीं है, ऐसा कहने में आत्मश्लाघा (आत्म-प्रशंसा) रूप दोष होता, क्योंकि श्रेष्ठ लोग अपने मुख से अपनी प्रशंसा नहीं करते। इसलिये ऐसा कहा कि कहाँ जाकर खोजें? अच्छा, मैं ही पुत्र हूँगा, इससे तुम्हारी इच्छा पूरी हो जायगी। भाव यह कि सर्वत्र मेरी ही विभूति है, उसमें मेरे समान दूसरा है ही नहीं, फिर उससे भिन्न और कुछ नहीं है, जहाँ जाकर खोजा जाय। 'आई' अर्थात् अन्य जीवों की तरह गर्भ से एवं कर्म-वश होकर नहीं, किन्तु स्वेच्छा से एवं 'निज इच्छा निर्मित तनु' से आकर प्रकट हूँगा।

(३) 'सतरूपहिं बिलोकि ··'—पूर्व दर्शनों की अभिलाषा में दम्पती एकमत थे, यथा—"दंपति-बचन परम प्रिय लागे।" इससे वहाँ रानी से पृथक् माँगने को नहीं कहा और यहाँ प्रथम ही श्रीरामजी का वचन राजा के प्रति है—'माँगु नृप मोही', फिर इसमें रानी को अत्यन्त ढिठाई के कारण कुछ कहने

की रुचि भी है, इसलिये हृदय की जानकर प्रभु ने इनसे पृथक् माँगने को कहा। हाथ जोड़े खड़ी रहने में कुछ रुचि प्रकट होती है।

शंका—इस प्रसंग में श्रीसीताजी प्रकट हुई हैं, पर इनका कुछ बोलना क्यों नहीं है?

समाधान—(क) दोनों तत्त्वतः अभिन्न हैं, यथा—"गिरा अरथ जल बीचि सम,···" (दो० १८), पर कहा गया। पुनः लोक-व्यवहार में पुरुष ही का प्राधान्य देखा भी जाता है, इस दृष्टि से श्रीरामजी के कथन में इनका भी आ गया। (ख) जब राजा ने पुत्र होने का वर माँग लिया तब श्रीसीताजी पुत्रवधू के नाते सकुच से न बोलीं। (ग) यहाँ पुत्र की चाह है। अतः, पुत्र होनेवाले ही बोले, क्योंकि—"दसरथ-सुकृत राम धरे देही।" (दो० ३०९), सीताजी के बोलने का प्रयोजन ही नहीं था। ये तो श्रीजनक महाराज की सुकृति-मूर्त्ति हैं, यथा—"जनक-सुकृत मूरति बैदेही।" (दो० ३०९)। अतः, उनके द्वारा वरण किये जाने पर वहाँ बोलेंगी और वर देंगी—यह भुवनेश्वर-संहिता की कथा कही जाती है। श्री बैजनाथ जी ने भी आगे दो० १५१ चौ० ४ पर ऐसा ही लिखा है। श्रीदशरथजी को श्रीरामजी के द्वारा श्रीजानकीजी प्राप्त हुईं और श्रीजनकजी को श्रीजानकीजी के द्वारा श्रीरामजी मिले, इससे दोनों राजा युगल स्वरूप के वात्सल्य रस के पूर्ण भोक्ता हुए।

शंका—तो फिर श्रीजानकीजी यहाँ प्रकट क्यों हुई?

समाधान—इनका परम प्रभु से नित्य संयोग है, जैसे सतीजी ने परीक्षा में सीताजी को लीलार्थ हरी जाने पर भी साथ ही पाया है—"सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता।" (दो० ५४), यथा—"कबहुँ जोग बियोग न जाके।" (दो० ४८), इससे श्रीजी साथ ही प्रकट हुईं, क्योंकि दोनों मिलकर अखंड ब्रह्म हैं और मनु ने अखंड ब्रह्म की ही आराधना की है, यथा—"अगुन अखंड अनंत अनादी।" (दो० १४३)।

जो बर नाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा ॥४॥
प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई। जदपि भगतहित तुम्हहिं सुहाई ॥५॥
तुम्ह ब्रह्मादिजनक जगस्वामी। ब्रह्म सकल - उर अंतरजामी ॥६॥
अस समुझत मन संसय होई। कहा जो प्रभु प्रमान पुनि सोई ॥७॥

अर्थ—हे नाथ! चतुर राजा ने जो वर माँगा है, हे कृपालु! वही मुझे अत्यन्त प्रिय लगा ॥४॥ परन्तु हे प्रभो! (इसमें) बड़ी ढिठाई हो रही है—यद्यपि भक्तों का हित करने के लिये आपको (यह भी) सुहाता है ॥५॥ क्योंकि आप ब्रह्मा आदि के उत्पन्न करनेवाले, जगत्-भर के स्वामी और सबके हृदय के अन्तर्यामी ब्रह्म हैं ॥६॥ ऐसा प्रभाव समझकर मन में सन्देह होता है, फिर भी जो प्रभु ने (एवमस्तु) कहा, वही प्रमाण (सत्य) है ॥७॥

विशेष—(१) 'जो बर नाथ चतुर नृप·····'—'चतुर' के भाव ये हैं कि जिन्हें शिव आदि ध्यान में पाते हैं, उन्हें हमारी आँखों के सामने प्रकट कर दिया। फिर दूसरा भी भाव है कि आगे के लिये भी माँग लिया कि पुत्र होने पर जन्म-भर देखते ही रहेंगे। पुनः इस वात्सल्य रस के भीतर सब रस आ जायँगे, जैसे बाल-लीला में हास्य, विवाह में शृंगार, आदि। एक ही वर में बहुत माँगना चातुर्य है।

(२) 'सोइ कृपालु मोहि अति प्रिय लागा।'—'सोइ' अर्थात् जो राजा ने माँगा है, वही मेरे लिये भी हो कि आप मेरा ही मातृत्व ग्रहण करें। ऐसा न माँगने से सम्भव था कि राजाओं के और भी रानियाँ होती हैं, किसी दूसरी के पुत्र हों। 'मोहिं अति प्रिय' का भाव यह कि इसमें प्रथम राजा से अधिक सुख प्राप्त करने एवं सेवा का अवसर मुझे ही रहेगा। हमारी तो नित्य गोद ही में रहोगे और

पिता से अधिक गौरव माता का रहता है, यथा—"तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।" (अ० दो० ५५), इसका विशेष देखिये।

(३) 'प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई।·····'—हमलोगों की तरफ से तो ऐसा माँगना अत्यन्त ढिठाई है ही, परन्तु आप भक्त-हितैषी हैं। अतः, गुण मानकर प्रसन्न होते हैं, यथा—"सो मैं सब बिधि कीन्हि ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई॥" (अ० दो० २९७)।

(४) 'तुम्ह ब्रह्मादिजनक···', यथा—संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥" (दो० १४३)। उपर्युक्त ढिठाई को यहाँ प्रकट करती हैं कि जो जगत् के पिता ब्रह्मादि के भी पिता हैं, उनको पुत्र बनाना एवं पुत्र-रूप से सेवा कराना, 'ब्रह्म' अर्थात् चराचर में व्यापक को परिमित रूप में छोटा बनाना और 'अंतरजामी' को अज्ञानी नरवत् होने को कहना अत्यन्त ढिठाई है, यही इन्होंने कौशल्या-रूप में भी कहा है—"अस्तुति करि न जाइ भय माना। जगतपिता मैं सुत करि जाना॥" (दो० २०१)।

जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं॥८॥

दोहा—सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति, सोइ निज-चरन-सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु, हमहिं कृपा करि देहु॥१५०॥

अर्थ—हे नाथ! आपके जो निज (अनन्य) भक्त हैं, वे जो सुख पाते और जिस गति को लाभ करते हैं॥८॥ हे प्रभु! वही सुख, वही गति, वही भक्ति, वही अपने चरणों का स्नेह, वही विवेक और वही रहनि (आचरण) कृपा करके हमको भी दीजिये॥१५०॥

विशेष—(१) 'जे निज भगत नाथ तव·····'—'निज भगत' के लक्षण पूर्व दो० १४४ चौ० ५ में भी कहे गये हैं। अपने भक्त (निज जन) सुतीक्ष्णजी भी कहे गये हैं, यथा—"देखि दसा निजजन मन भाये।" (अर० दो० ९), वहीं पर और उन्हींमें यहाँ के माँगे हुए सब लक्षण भी हैं—सुख—"जाग न ध्यान जनित सुख पावा।" गति—"···करत मनोरथ आतुर धावा।" भगति—"अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई।" चरन-सनेहु—"परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेममगन मुनिबर बड़ भागी॥" बिबेक—"देखि कृपानिधि मुनि-चतुराई।" रहनि—"मन क्रम बचन राम-पद-सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥"

वर मिलने पर कौशल्या-शरीर में ये छओ बातें प्राप्त हुईं—

'सुख'—"येहि सुख ते सतकोटि गुन, पावहिं मातु अनंद।" (दो० ३५०)। 'गति', (गति=गमन)—"देखि मातु आतुर उठि धाई।" (उ० दो० ८७), "ताहि धरै जननी हठि धावा।" (दो० २०२)। 'भगति'—"सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद॥" (दो० १९८)। 'चरन-सनेहु'—"तनु पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूँदि चरनन्हि सिर नावा॥" (दो० २०१)। 'बिबेक'—"ब्रह्मांडनिकाया निर्मित माया रोम-रोम प्रति बेद कहै।" (दो० १९१)। 'रहनि'—प्रेम-मगन कौसल्या, निसि दिन जात न जान। सुत-सनेह-बस माता, बाल-चरित कर गान॥" (दो० २००)।

यहाँ 'सोइ' शब्द बार-बार देकर दृढ़ता दिखाई गई है कि सन्त-मत के अतिरिक्त एक भी बात नहीं चाहिये और यह भी कि अन्य प्रकार के सामान्य भक्तों एवं ब्रह्मज्ञानियों की नहीं। 'कृपा करि देहु' अर्थात् मैं इतने की पात्री नहीं हूँ, अपनी कृपा से ही दीजिये।

सुनि मृदु गूढ़ रुचिर बच-रचना। कृपासिंधु बोले मृदु बचना॥१॥

जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं ॥२॥
मातु बिबेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे ॥३॥

अर्थ—ऐसी कोमल, गूढ़ और सुन्दर वचनों की रचना को सुनकर कृपा सागर भगवान् कोमल वचन बोले ॥१॥ जो कुछ तुम्हारे मन में इच्छा है, उन सबको मैंने दिया, इसमें सन्देह नहीं ॥२॥ हे माता! मेरे अनुग्रह (दया) से तुम्हारा अलौकिक विवेक कभी नहीं मिटेगा ॥३॥

विशेष—(१) 'सुनि मृदु गूढ़···'—"जो बर नाथ चतुर नृप माँगा। ·"—मृदु, "प्रभु परंतु सुठि···" से—"प्रमान पुनि सोई॥" तक गूढ़ और—"जे निज भगत···" से—"कृपा करि देहु।" तक रुचिर है। 'कृपासिंधु'—शतरूपाजी ने कहा था—"हमहिं कृपा करि देहु", अतएव देने पर प्रभु को कृपा-सिन्धु कहा। मनु के प्रति भी—"एवमस्तु करुनानिधि बोले" कहा गया है। अतः, दोनों पर बराबर कृपा दिखाई है।

(२) 'मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं।'—राजा को वर मिलने में संशय था—"तथा हृदय मम संसय होई।" अतः, उन्हें समझाना पड़ा था। रानी ने बहुत वर माँगा है, यह भी संशय न करें, इसलिये प्रथम ही संशय मिटा दिया। पुनः रानी ने 'अस समुझत मन ·' कहा था, उस संशय को भी मिटाया।

(३) 'मातु बिबेक अलौकिक ··'—रानी ने छः वस्तुएँ माँगी हैं, उनमें एक विवेक भी है। उसमें अलौकिकता आप अपनी ओर से देते हैं। लौकिक विवेक वह है जो शम-दम आदि साधनों से प्राप्त होता है, उसमें विघ्न भी होते हैं, यथा—"मुनि बिज्ञानधाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ॥" (अर० दो० ३८), अल्पज्ञ जीव के किंचित् चूकने से कामादि धर दबाते हैं अर्थात् लौकिक ज्ञान एकरस नहीं रहता। श्रीरामजी का ज्ञान नित्य एकरस है, यथा—"ज्ञान अखंड एक सीतावर" (उ० दो० ७७)। अतः, वह अलौकिक है, यही अपने अनुग्रह से देंगे। 'अनुग्रह मोरे' में यह भी ध्वनि है कि मैं अपनी लीला के लिये चाहूँगा, तो कुछ काल के लिये मिट भी जायगा, यथा—"माता पुनि बोली सो मति डोली।"··· से—"अब जनि कबहूँ ब्यापइ, प्रभु मोहिं माया तोरि॥" (दो० १९१-२०२) तक। किसी दूसरे विघ्न से नहीं मिटेगा।

विवेक को पुष्ट करने का कारण यह है कि लीला के लिये इसका प्रयोजन होगा। वन-यात्रा के वियोग में जीवित रखना है। पुनः यह भी कहा जाता है कि इन्होंने एक साथ ही सब वर विवेक से माँगे हैं। अतः, विवेक पर प्रभु प्रसन्न हुए हैं, इसीसे इसे अचल किया। यह विवेक इनका औरों से विलक्षण है, इसीसे अलौकिक कहा है।

'मातु'—रानी ने सन्देह किया था कि जगत्-भर के पिता हमारे पुत्र कैसे होंगे? वह यहीं पर मिटा दिया कि अवतार तो समय पर होगा, पर मैंने अभी से माता मान लिया।

बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी। और एक बिनती प्रभु मोरी ॥४॥
सुत-बिषयक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहइ किन कोऊ ॥५॥
मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना ॥६॥
अस बर माँगि चरन गहि रहेऊ। एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ ॥७॥

अर्थ—चरणों में प्रणाम करके मनु ने फिर कहा कि हे प्रभो! मेरी एक प्रार्थना और है ॥४॥ कि मेरी पुत्र-सम्बन्धी ही प्रीति आपके चरणों में हो—चाहे कोई मुझे बड़ा मूढ़ ही क्यों न कहे? ॥५॥ जैसे बिना मणि के साँप और बिना पानी के मछली होती है, वैसे ही आपके अधीन मेरा जीवन रहे ॥६॥

ऐसा वर माँगकर राजा भगवान् के चरण पकड़े रह गये, तब करुणासागर भगवान् ने कहा कि ऐसा ही हो ॥७॥

विशेष—(१) 'मोहि बड़ मूढ़ कहइ किन कोऊ।'—जो ईश्वर को न जाने, वह मूढ़ है, यथा—"ते किमि जानहिं रघुपतिहि, मूढ़ परे तमकूप।" (उ० दो० ७३), और जो ईश्वर को पाकर भी उसमें ईश्वर का भाव न रक्खे, वह बड़ा मूढ़ है।

रानी ने पुत्र तो पाया ही और अनन्य भक्ति भी माँग ली। राजा ने सोचा कि मैं भी वैसा वर माँग लूँ कि जिससे मेरी प्रीति सदा बनी रहे। अतः, फिर वर माँगा। यह भी कहा जाता है कि राजा ने समझा कि रानी ने व्यंग्य से 'चतुर नृप' कहा है, उन्हें मेरा केवल माधुर्य भाव का वर अच्छा नहीं लगा, इसीसे उन्होंने दूसरा भी वर माँगा। फिर मैं अपनी ही धारणा में दृढ़ क्यों न रहूँ? अतः, राजा ने इसी-को दृढ़ किया कि हम पुत्र ही समझे हुए रहें। इसपर पूर्वोक्त—बंदउँ अवधभुआल…" (दो० १६), उपर्युक्त १४६ चौ० १ भी देखिये।

'पद-रति', यथा…"अस कहि गे बिश्रामगृह, रामचरन चित लाइ॥" (दो० ३५५)।

यहाँ यह उपदेश है कि कोई निन्दा भी क्यों न करे, पर उसपर कान न देकर अपनी भावना में दृढ़ और निष्ठा में अचल रहना चाहिये।

(२) 'मनि बिनु फनि जिमि …' राजा ने 'सुत-विषयक' प्रीति माँगी, अब उसका प्रकार माँगते हैं कि जैसे मणि के बिना सर्प व्याकुलता के साथ जीता है, वैसे हम आपके बिना व्याकुल होकर जियें। पुनः जैसे जल के बिना मछली मर ही जाती है, वैसे मैं आपके बिना न जी सकूँ। यह वर श्रीरामजी की इच्छा से लीला के लिये माँगा गया, क्योंकि प्रथम बार मिथिला जाने में वियोग होगा, तब फणि बिनु मणि की दशा रहेगी, यथा—"सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे॥" (दो० ३०७), दूसरी बार वियोग चौदह वर्षों की वन-यात्रा में होगा, उसमें 'जल बिनु मीन' की दशा होगी कि प्राण छोड़ देंगे। मछली स्वतः जल से अलग होना नहीं चाहती, वैसे राजा स्वेच्छा से वन जाने की आज्ञा न देंगे, कैकेयी रूपी मलाहिन पृथक् करेगी।

मछली मरने पर भी जल की प्रीति निबाहती है, यथा—"मीन काटि जल धोइये, खाये अधिक पियास। रहिमन प्रीति सराहिये, मुयेहु मीत की आस॥" राजा दशरथ ने ठीक ऐसा ही किया कि वियोग में प्राण छोड़कर स्वर्ग में बैठे हुए श्रीरामजी में वैसा ही स्नेह रक्खे रहे। जब लंका-विजय पर आये, तब स्वयं कहा है—"न मे स्वर्गो बहुमतः सम्मानश्च सुरर्षभैः। स्वया राम विहीनस्य सत्यं प्रतिशृणोमि ते॥" (वाल्मी० ६।११९।१३) इसमें स्पष्ट है। फिर श्रीरामजी के द्वारा दृढ़ ज्ञान प्राप्त कर नित्य धाम गये।

राजा ने तीन बार वर माँगे हैं और तीनो बार श्रीरामजी ने कृपा-पूर्वक ही दिये हैं—१. "भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्ववास प्रगटे…" २. "एवमस्तु करुनानिधि बोले।" ३. "एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ।" अर्थात् इनपर आदि से अन्त तक एकरस कृपा रही।

अब तुम्ह मम अनुसासन मानी। बसहु जाइ सुरपति-रजधानी॥८॥

सोरठा—**तहँ करि भोग बिसाल, तात गये कछु काल पुनि।**
होइहहु अवध-भुआल, तब मैं होब तुम्हार सुत॥१५१॥

अर्थ—अब तुम मेरा कहा मानकर इन्द्र की राजधानी (स्वर्ग) में जाकर बसो॥८॥ वहाँ बृहत् भोग करके हे तात! कुछ काल बीतने पर जब तुम अयोध्या के राजा होगे, तब मैं तुम्हारा पुत्र हूँगा॥१५१॥

विशेष—(१) 'अब तुम मम···'—राजा को अब विषय-सुख भोग की इच्छा नहीं है, इसीलिये प्रभु कहते हैं कि हमारी आज्ञा से ग्रहण करो। प्रभु इनसे तप का फल भोग कराना चाहते हैं। तप का फल देकर अपनी प्राप्ति तो कृपा से ही करेंगे। राजा को वियोग असह्य समझकर प्रभु ने कहा कि 'कछु काल' में ही तुम बहुत भोग-विलास कर लोगे। इन्द्रपुरी के भोग के पीछे अवध का राज्य दिया, क्योंकि यहाँ का ऐश्वर्य स्वर्ग से अधिक है, यथा—"अवधराज सुरराज सिहाई।" (अ० दो० ३२३), अर्थात् प्रभु जिसपर कृपा करते हैं, उसे उत्तरोत्तर अधिक सुख देते हैं।

(२) 'तात'—जैसे रानी को 'मातु' कहकर माता माना, वैसे यहाँ भी राजा को 'तात' कहकर अभी से 'पिता' मान लिया।

शंका—इन्द्रलोक ही क्यों भेजा ?

समाधान—तप का फल स्वर्ग-भोग ही है। अतः, वहीं भेजे गये। भोग की अवधि भी इन्द्रपुरी ही है, यथा—"भोगेन मघवानिव" (वाल्मीकि मू०)।

इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे ॥१॥
अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउँ चरित भगत-सुख-दाता ॥२॥
जे सुनि सादर नर बड़भागी। भव तरिहहिं ममता मद त्यागी ॥३॥
आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया ॥४॥

अर्थ—अपनी इच्छा से मनुष्य वेष बनाये हुए तुम्हारे घर प्रकट हूँगा ॥१॥ हे तात ! अंशों के साथ देह-धर कर भक्तों के सुख देनेवाले चरित करूँगा ॥२॥ जिसे आदर से सुनकर बड़भागी मनुष्य ममता-मद छोड़ भवसागर तर जायँगे ॥३॥ जिसने जगत् को पैदा किया है, वह आदिशक्ति मेरी यह माया भी अवतार लेगी ॥४॥

विशेष—(१) 'इच्छामय नर-बेष ·····'—अर्थात् वह शरीर पांचभौतिक एवं कर्मपरिणाम न होगा, किन्तु इच्छामय होगा, यथा—"निज-इच्छा-निर्मित-तनु, माया गुन गोपार ॥" (दो० १९२), अर्थात् देही-देह विभाग-रहित शुद्ध सच्चिदानन्द विग्रह रहेगा, तथा—"समस्त कल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्ति-लेशावृतभूतवर्गः। इच्छागृहीताभिमतोरुदेहस्संसाधिताशेषजगद्धितो यः ॥" (वि० पु० ६।५।८४), अर्थात् वे सम्पूर्ण कल्याण गुणों के स्वरूप हैं, उन्होंने अपनी मायाशक्ति के लेशमात्र से ही समस्त जीवों को व्याप्त कर रक्खा है। वे अपनी इच्छा से अपने मन के अनुकूल महान् शरीर धारण कर सारे संसार का श्रेय-साधन करते हैं।

प्रश्न—नर-वेष तो अभी भी है, फिर 'सँवारे' क्यों कहा ?

उत्तर—नर-देह में बाल, पौगंड, कौमार आदि अवस्थाएँ होती हैं, वैसे मैं अपने दिव्य विग्रह में ये सब लीलाएँ दिखाऊँगा, अवस्थाओं के अनुरूप ही कर्म, वचन आदि बर्ताव होंगे। ये सब बातें इच्छानुसार होंगी, यही इच्छामय नर-देह सँवारना है। यही प्रथम—'भगत-हेतु लीलातनु गहई।' में भी कहा गया था, वह यहाँ स्पष्ट हुआ।

(२) 'अंसन्ह सहित देह धरि·····'—अंश दो प्रकार के होते हैं—एक महत्-अंश और दूसरा विभूति-अंश। जैसे गंगा आदि नदियों की धारा से स्रोत पृथक् निकल चले, पर धारा से मिला रहे—वह महत्-अंश है। जो गंगाजल घट आदि में भरकर अलग किया गया हो, वह विभूति-अंश है। भरत आदि पार्षद महत्-अंश हैं और राम-रूप ही हैं। यहाँ तीन विशेष महत्-अंशों के लिये कहते हैं कि धारक,

पालक और संहारक अंशों से तीनो भाई अवतीर्ण होंगे। यह भी सूचित किया कि अंशों के भी 'तात' (पिता) तुम्ही होगे।

(३) 'जेहि सुनि सादर नर·····' अर्थात् भाग्यवान् ही सुनते हैं, अभागे नहीं, यथा—"येहि सर निकट न जाहिं अभागा।" (दो० ३७), ममता और मद भव (जन्ममरण) के कारण हैं। अतः, इनका त्याग कहकर भव तरना कहा है।

(४) 'आदिसक्ति जेहि··· सोउ अवतरिहि····'—प्रणव-रूप होने से ब्रह्म को भी वेदान्त-सूत्र में 'प्रकृति' शब्द कहा गया है, उसी तरह यहाँ श्रीसीताजी के लिये भी 'माया' कहा गया है, यथा—"श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदानन्ददायिनी।·····प्रणवत्वात्प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः॥" (श्रीरामतापनीय उ०)।

श्रीसीताजी त्रिगुणात्मिका माया नहीं हैं, क्योंकि वह जड़ है और ये चिद्रूपा हैं, यथा—"हेमाभया द्विभुजया सर्वालंकृतयाचिता। श्लिष्टः कमलधारिण्या पुष्टः कोशलजात्मजः॥" (श्रीरामपूर्वतापनीय), तथा—यो सावयोध्याधिपतिः स परब्रह्मशब्दितः। तस्य या जानकीदेवी साक्षात्सा चिन्मयी स्मृता॥" (पद्मपु० पाताल० रामाश्व० २९।६३), जैसे सच्चिदानन्द ब्रह्म आनन्द गुण प्राधान्य से आनन्द संज्ञा से ही कहा जाता है, यथा—"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन॥" (तैत्त० २।९), "स एको ब्रह्मण आनन्दः।" (तैत्त० २।८) ब्रह्मसूत्र २।३।३० देखिये। इसी प्रकार कृपागुण प्राधान्य से भी माया कहा है, यथा—"माया दम्भे कृपायाञ्च", तदनुसार कहा है—"कृपारूपिणि कल्याणि रामप्रेयसि जानकि। कारुण्यपूर्णनयने कृपादृष्ट्यावलोकय॥" श्रीगोस्वामीजी ने इन्हें श्रीरामजी से अभिन्न तत्त्व कहा है—"गिरा अरथ जल बीचि सम·····" (दो १८) की व्याख्या भी देखिये। इस प्रसंग में भी ऊपर कहा गया है कि श्रीराम-सीता दोनों मिलकर पूर्ण ब्रह्म हैं, 'सोउ अवतरिहि'—अपने लिये तो 'होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे।' कहा है, पर इन्हें 'अवतरिहि' मात्र ही कहा, क्योंकि ये जगत् में अन्यत्र अवतीर्ण होंगी, उनके यहाँ (अवध में) नहीं।

पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। सत्य सत्य प्रन सत्य हमारा॥५॥
पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना। अंतरधान भये भगवाना॥६॥

अर्थ—मैं तुम्हारी अभिलाषा पूरी करूँगा, हमारा प्रण सत्य है, सत्य है, सत्य है॥५॥ फिर-फिर ऐसा कहकर कृपानिधान भगवान् अन्तर्धान हो गये॥६॥

विशेष—(१) 'पुरउब मैं अभिलाष···' राजा ने कहा था—'पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी', उसका उत्तर यहाँ है। सत्य तीन बार कहा, क्योंकि प्रतिज्ञा की रीति है कि वह त्रिवाचा (तीन बार) कही जाती है। यह भी कहा जाता है कि अपने, अपने अंशों के और शक्ति के अवतार के लिये तीन बार कहा।

(२) 'पुनि पुनि अस कहि···' फिर-फिर ऐसा कहने का कारण 'कृपानिधाना' से जनाया कि इनपर बड़ी कृपा है, इसलिये बार-बार प्रतिज्ञा की। भक्त के हेतु कृपा होने से इस प्रसंग को 'कृपानिधाना और 'भगवाना' से सम्पुटित किया, यथा—"भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥" (दो० १४५), उपक्रम है और यहाँ—"पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना। अंतरधान भये भगवाना॥" पर उपसंहार है, अर्थात् कृपा से ही प्रकट हुए और कृपा ही से मनु को सन्तुष्ट करके अन्तर्धान हुए—कृपा एकरस रही। प्रथम त्रिवाचा को 'पुनि-पुनि' कहने पर ३×३=९ बार हुआ। ९ संख्या की अवधि है। अतः, असंख्य बार कथन के समान पुष्ट किया है।

दंपति उर धरि भगति कृपाला। तेहि आश्रम निवसे कछु काला॥७॥
समय पाइ तनु तजि अनयासा। जाइ कीन्ह अमरावति-बासा॥८॥

दोहा—यह इतिहास पुनीत अति, उमहिं कहा बृषकेतु ।
भरद्वाज सुनु अपर पुनि, रामजनम कर हेतु ॥१५२॥

अर्थ—स्त्री-पुरुष (मनु-शतरूपा) दोनों ने कृपालु भगवान् की भक्ति हृदय में धारण कर उसी आश्रम में कुछ काल निवास किया ॥७॥ फिर समय पाकर उन्होंने बिना परिश्रम शरीर-त्याग किया और वे इन्द्र लोक में जा बसे ॥८॥ (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) हे भरद्वाज ! धर्मधुरीण महादेवजी ने यह अति पवित्र इतिहास पार्वतीजी से कहा। अब तुम श्रीराम-जन्म के और भी कारण सुनो।

विशेष—(१) 'दंपति उर धरि···' भक्ति की प्राप्ति से अन्य साधनों का क्लेश छूट जाता है, यथा—"जिमि हरि-भगति पाइ श्रम, तजहिं आश्रमी चारि ॥ (कि० दो० १६), इसीसे मनु-शतरूपा ने अब अखण्ड, अगुण आदि का ज्ञान एवं तप आदि कर्म छोड़ दिये, क्योंकि फलरूपिणी भक्ति प्राप्त हो गई, यथा—"तीर्थाटन साधन समुदाई।"···से—"सब कर फल हरि-भगति भवानी ॥" (उ० दो० १२५) तक। ये मनोरथ सिद्ध होने पर भी घर नहीं आये। अतः, वैराग्य अन्त तक एक रस रहा।

"भगति कृपाला' के स्थान पर श्रावण कुंज का 'भगत कृपाला' पाठ है। उसका अर्थ 'भक्त पर कृपा करनेवाले' यह होगा। श्रीरामजी ने बहुत प्रकार के वर दे कृतार्थ किया है। ऐसे प्रभु को हृदय में धारण कर कृतज्ञता रूप में उनकी भक्ति करते हुए वहाँ रहे। शेष भाव 'भगति कृपाला' के भी इस पाठ में हैं ही।

(२) 'समय पाइ तनु···'—मृत्यु का नियत काल पाकर देह छोड़ी। 'अनयासा'—और लोगों को जन्मते-मरते दुःसह दुःख होता है, यथा—"जनमत मरत दुसह दुख होई।" (उ० दो० १०८), वैसा दुःख जीवन्मुक्त भक्तों को नहीं होता, यथा—"जोइ तनु धरउँ तजउँ पुनि, अनायास हरिजान। जिमि नूतन पट पहिरै, नर परिहरै पुरान ॥" (उ० दो० १०९)।

यह श्रीरामावतार-प्रसंग यहीं रखकर बीच में रावणावतार-प्रसंग कहेंगे, फिर आगे इसे ही—"अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा ॥" (दो० १८७) पर मिलावेंगे।

(३) 'यह इतिहास···'—'पुनीत अति' से माहात्म्य कहा, यथा—"मन-क्रम-बचन जनित अघ-जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई ॥" (उ० दो० १२५)। पुनः इसमें शाप-दण्ड आदि की व्यवस्था नहीं है अनन्य भक्ति से अवतार-प्रसंग है। अतः, अति पुनीत है। "लगे बहुरि बरनइ बृषकेतू।" (दो० १४०) पर उपक्रम है और यहाँ—"उमहिं कहा बृषकेतु" पर उपसंहार है।

(४) 'अपर पुनि'—अर्थात् दूसरा फिर, भाव साकेतबिहारी परतम प्रभु के अवतार में एक हेतु मनु-शतरूपाजी हुए। दूसरा हेतु भी है, उसे अब कहता हूँ।

मनु-शतरूपा-प्रसंग समाप्त।

भानु-प्रताप-प्रसंग

सुनु मुनि कथा पुनीत पुरानी। जो गिरिजा प्रति संभु बखानी ॥१॥
बिस्वबिदित एक कैकय देसू। सत्यकेतु तहँ बसइ नरेसू ॥२॥
धरमधुरंधर नीतिनिधाना। तेज - प्रताप - सील बलवाना ॥३॥

अर्थ—हे मुनि ! वह पवित्र और पुरानी कथा सुनो, जिसको महादेवजी ने पार्वतीजी से कहा था ॥१॥ जगत् में प्रसिद्ध एक कैकय देश है, वहाँ सत्यकेतु नामक राजा रहता था ॥२॥ वह धर्मधुरन्धर, नीति का भण्डार, तेजस्वी, प्रतापी, सुशील और बलवान् था ॥३॥

विशेष—(१) 'कथा पुनीत पुरानी'—'पुनीत'—इसके पढ़ने-सुनने से पाप नष्ट होते हैं। इससे पहले के हेतु की कथा 'पुनीत अति' थी, वैसे यह भी 'पुनीत' है। 'पुरानी' यह इतनी प्राचीन है कि पुराणों में भी प्रायः नहीं सुनी जाती, यह आदिकल्प की है। इसे शिवजी ही जानते हैं, यथा—"हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥" (दो० १८४), ऐसे यह कथा भी वे ही जानते हैं। आजकल बहुत-से प्राचीन ग्रन्थ नष्ट भी हो गये हैं। उन्हीं में कहीं यह कथा रही होगी। 'सुनु'—ऊपर 'सुनु' जन्म हेतु के प्रति था और यहाँ 'कथा' के प्रति है।

'गिरिजा प्रति संभु'—इस कथा को महादेव-पार्वतीजी कहते-सुनते हैं। अतः, शिष्टपरिगृहीत है, तो सबके योग्य है। इस कथा को कल्याणमूलक और संसार का उपकार करनेवाली सूचित करते हुए, शम्भु और गिरिजा के नाम दिये हैं।

(२) 'बिस्वबिदित एक···'। 'बिस्वबिदित' कहकर देश को श्रेष्ठता कही, यथा—"जग-बिख्यात नाम तेहि लंका।" (दो० १७७) और 'सत्यकेतु' नाम से देश के स्वामी का महत्त्व बतलाया अर्थात् जिसकी सत्य की पताका फहराती है। अतः, धर्म की पूर्णता है, यथा—'धर्म न दूसर सत्य समाना।" (अ० दो० ९४), "सत्यमूल सब सुकृत सुहाये।" (अ० दो० २७)।

'कैकय देसू'—बहुतों के मत से यह सब काश्मीर राज्य में है जो 'कक्का कहलाता है।

(३) 'धरमधुरंधर नीति···'—उपर्युक्त सत्यकेतु नाम के अनुसार धर्मधुरन्धर होना योग्य ही है। ऊपर 'नरेसू' कहकर यहाँ 'नीतिनिधान' भी कहा, क्योंकि—"राज कि रहइ नीति बिनु जाने।" (उ० दो० १११)। पुनः धर्मधुरन्धर शब्द से चारों चरण युक्त धर्म से पूर्ण कहा गया, यथा—"चारिउ चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा···" (उ० दो० २०)। सत्य, दया, तप और दान ये चारो चरण धर्म के हैं।

(४) 'तेज-प्रताप-सील बल-बाना।'—ये चारो गुण चार लोकपालों के हैं। वे राजा में एक ही स्थान पर होते हैं, जैसे—अग्नि के समान तेजस्वी, सूर्य की भाँति प्रतापी, चन्द्रमा के समान शीलवान् और पवन के समान बलवान् है, यथा—" · प्रताप दिनेस से सोम से सील · " (क० उ० ४१), "पवनतनय बल पवन-समाना।" (कि० दो० २९)। "तेज कृसानु · " (दो० ३)।

तेहि के भये जुगल सुत बीरा। सब - गुन-धाम महा - रनधीरा॥४॥
राजधनी जो जेठ सुत आहो। नाम प्रतापभानु अस ताही॥५॥
अपर सुतहि अरिमर्दन नामा। भुजबल अतुल अचल संग्रामा॥६॥
भाइहि भाइहि परम समीती। सकल-दोष - छल - बरजित प्रीति॥७॥

शब्दार्थ—जुगल (युगल) = दो। राजधनी = राज्य का अधिकारी। अचल = न हटनेवाला, पर्वत-तुल्य। समीती = समानता, साम्य। अतुल = निःसीम। बरजित (वर्जित) = रहित।

अर्थ—उसके दो वीर पुत्र उत्पन्न हुए, वे सब गुणों के स्थान और महा रणधीर थे॥४॥ जो बड़ा पुत्र राज्य का अधिकारी था, उसका भानुप्रताप ऐसा नाम था॥५॥ दूसरे पुत्र का अरिमर्दन नाम था, उसकी भुजाओं में अतुलनीय बल था और वह लड़ाई में तो पर्वत के समान अचल था॥६॥ भाई-भाई में बड़ा ही साम्य एवं समस्त दोषों और छलों से रहित प्रीति थी॥७॥

विशेष—(१) 'तेहि के भये जुगल···'—प्रथम पिता के गुण कहकर अब सन्तान के कहते हैं कि पिता की तरह इसमें भी राजा के सब गुण हैं। यह अधिकता है—भानुप्रताप महारणधीर है, क्योंकि अपने बाहुबल से चक्रवर्त्ती भी हो जायगा।

(२) 'नाम प्रतापभानु अस'''भुज-बल अतुल अचल'''—भानुप्रताप में प्रताप सूर्य के समान है, अर्थात् सूर्यवत् प्रतापी है इसीसे भानुप्रताप यह सार्थक नाम था, अरिमर्दन भुजबल में अतुल है। ये ही दोनों जब रावण-कुम्भकर्ण होंगे, तब दोनों के गुण प्रकट होंगे। रावण में प्रताप, यथा—"कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भ्रुकुटि बिलोकत सकल सभीता॥ देखि प्रताप'''" (सुं० दो० १९) और कुम्भकर्ण में बल—जैसे श्रीहनुमानजी को रावण ने घूँसा मारा, पर वे भूमि में नहीं गिरे थे—"जानु टेकि कपि भूमि न गिरा।" (लं० दो० ८३), और कुम्भकर्ण के मारने पर—"घुर्मित भूतल परयो तुरंता। (लं० दो० ६४) कहा गया है।

(३) 'भाइहि भाइहि परम'''—मित्रता के दोष, यथा—"जे न मित्र दुख होहिं दुखारी।'''" से—"जाकर चित अहि-गति सम भाई॥" (कि० दो० ६) तक, छल अर्थात् कपट, यथा—"सोइ छल हनूमान सन कीन्हा। तासु कपट'''" (सुं० दो० २)। हृदय में स्वार्थसाधकता और ऊपर से सद्भाव दिखाना कपट है, इससे प्रीति नहीं रहती, यथा—"जल पय-सरिस बिकाय, देखहु प्रीति कि रीति भलि। बिलग होइ रस जाइ, कपट खटाई परत पुनि।" (दो० ५७)।

जेठे सुतहि राज नृप दीन्हा। हरि-हत आप गवन बन कीन्हा॥८॥

दोहा—जब प्रतापरवि भयेउ नृप, फिरी दोहाई देस।
प्रजा पाल अति बेद-बिधि, कतहुँ नहीं अघलेस॥१५३॥

शब्दार्थ—प्रतापरवि = प्रतापभानु। दोहाई (द्वि + आह्वा) = दोहरी पुकार, डंके के साथ राजा के अधिकार की घोषणा, यथा—"नगर फिरी रघुबीर-दोहाई।" (सुं० दो० १०)।

अर्थ—उस राजा ने बड़े पुत्र को राज्य दिया और स्वयं हरि (भजन) के लिये वन में चला गया॥८॥ जब भानुप्रताप राजा हुआ और देश में उसकी दुहाई फिरी, तब वह सम्यक् प्रकार वेद की रीति से अच्छी तरह प्रजा का पालन करने लगा, लेश-मात्र भी पाप कहीं नहीं रहा॥१५३॥

विशेष—(१) 'जेठे सुतहिं'''' ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देना और चौथेपन में वन जाना धार्मिक नीति है, यथा—"मैं बड़ छोट बिचारि जिय, करत रहेउँ नृप-नीति।" (अ० दो० ३१)। "सन्त कहहिं असि नीति दसानन। चौथेपन जाइहि नृप कानन॥" (लं० दो० ६)। धर्माचरण का फल वैराग्य होना युक्त ही है।

(२) 'अति बेद-बिधि'—इसमें 'अति' दीपदेहली है, वेद-विधि के साथ 'अति' का भाव यह कि वेद-विधि से तो सत्यकेतु भी प्रजा पालते थे, यह उनसे भी अधिक हुआ।

'नहीं अघलेस'—अर्थात् हिंसा, जुआ, चोरी, व्यभिचार आदि पाप-कर्म नहीं रह गये, यथा—"न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः। नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरो स्वैरिणी कुतः॥" (छान्दोग्य उ० ५।११।५), यह कैकय देश के राजा अश्वपति ने उद्दालक आदि ऋषियों से कहा है।

नृप-हितकारक सचिव सयाना। नाम धरमरुचि सुक्र समाना॥१॥
सचिव सयान बंधु बलवीरा। आप प्रतापपुंज रनधीरा॥२॥
सेन संग चतुरंग अपारा। अमित सुभट सब समर जुझारा॥३॥

शब्दार्थ—सुक्र (शुक्र) = शुक्राचार्य। सेन चतुरंग = रथ, हाथी, घुड़सवार और पैदल—ये चारो मिलकर चतुरंगिणी सेना कहाते हैं। जुझारा = जूझनेवाले बाँके वीर। बलवीरा = बलवान् और वीर एवं शूर-वीर वा बलवीर = बल में श्रेष्ठ, जैसे—दानवीर, कर्मवीर, आदि।

अर्थ—धर्मरुचि नाम का उसका मन्त्री था, वह शुक्राचार्य के समान चतुर और उस राजा का हितकारी था ॥१॥ उसका मन्त्री चतुर, भाई शूरवीर और वह आप (स्वयं राजा) बड़ा प्रतापी और रणधीर था ॥२॥ उसके साथ में अगणित चतुरंगिणी सेनाएँ थीं और अगणित योद्धा थे, जो सब-के-सब युद्ध में बाँके लड़ाके थे ॥३॥

विशेष—(१) 'नृप हितकारक सचिव···'—मन्त्री राजा का हितैषी हो और राजनीति एवं धर्म-नीति आदि का ज्ञाता हो तो उत्तम है, वे ही गुण इसमें थे।

'सुक्र समाना'—जैसे अपना निरादर सहकर भी शुक्राचार्य ने अपने राजा वलि का हित किया, वैसे यह था। शुक्रप्रणीत 'शुक्रनीति' राजनीति का प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

श्रीशुक्राचार्य देवता एवं सर्वज्ञ हैं, पर दैत्यों के आचार्य हैं और उनके पक्ष में रहते हैं। राजा वलि जब यज्ञ करते थे, वामन भगवान् ने देवताओं के हित के लिये जाकर उन (वलि) से अपने पैरों की नाप से तीन पग पृथ्वी माँगी। राजा वलि ने देने को स्वीकार कर लिया। सर्वज्ञ दैत्य-गुरु शुक्र ने भगवान् का उद्देश्य जानकर वलि को दान करने से रोका और बहुत नीति समझाई। उसमें यह भी कहा कि अपनी जीविका-रक्षा के लिये तुम अब भी 'नहीं' कर सकते हो। वलि ने न सुना, तब शुक्र ने डाँटा और शाप भी दिया। इस तरह अपमान सहकर भी राजा का हित चाहा। भाग० ८।१५-२३ में कथा है।

(२) 'सेन संग चतुरंग···'—चतुरंगिणी सेना—अक्षौहिणी में चतुरंगिणी सेना के चार अंगों से पृथक् पाँचवें में सुभट गिने जाते हैं। इसीसे यहाँ 'अमित सुभट···' अलग कहा गया। अक्षौहिणी में २१८७० हाथी, इतने ही रथ, इनके तिगुने घोड़े और पँचगुने पैदल—कुल २१८७०० होते हैं (हि० श० सा०)।

यहाँ 'अपार' शब्द से बहुत अक्षौहिणी और 'अमित' से असंख्य सुभट कहे।

सेन बिलोकि राउ हरषाना। अरु बाजे गहगहे निसाना ॥४॥
बिजय - हेतु कटकई बनाई। सुदिन साधि नृप चलेउ बजाई ॥५॥
जहँ तहँ परी अनेक लराई। जीते सकल भूप बरियाई ॥६॥
सप्त दीप भुजबल बस कीन्हे। लै लै दंड छाड़ि नृप दीन्हे ॥७॥

शब्दार्थ—गहगहे = धमाधम। निसान = डंका। कटकई = सेना। साधि = शोधकर। बजाई = डंका बजाकर। दंड = कर, वह धन जो अपराध से अपराधी के कारण लिया जाय। सप्तदीप (सप्त द्वीप) = जंबू, प्लक्ष, शाल्मली, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर—ये सातो क्रमशः एक से दूसरे दूने हैं। ये राजा प्रियव्रत के द्वारा विभक्त हुए हैं (भाग० ५।१।३२)।

अर्थ—अपनी सेना को देखकर राजा हर्षित हुआ और धमाधम नगाड़े बजने लगे ॥४॥ राजा ने दिग्विजय के लिये सेना सजाई, शुभ दिन (मुहूर्त्त) साधकर और डंका बजाकर वह चला ॥५॥ जहाँ-तहाँ अनेक लड़ाइयाँ हुईं। उसने सब राजाओं को बरजोरी जीत लिया ॥६॥ अपनी भुजाओं के बल से सातो द्वीपों को वश में कर लिया और दण्ड ले-लेकर उन द्वीपों के राजाओं को छोड़ दिया ॥७॥

विशेष—(१) 'सेन बिलोकि···'—सेना को अनुकूल देखकर हर्ष हुआ। हर्ष यात्रा के उपलक्ष्य में होना कार्य-सिद्धि का सूचक है। दिग्विजय के लिये डंका बजाने की प्रथा थी, यथा—"मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्हीं। मनसा बिस्वबिजय कहँ कीन्हीं ॥" (दो० २२९)।

(२) 'कटकई बनाई'—पूर्व—'सेन संग चतुरंग···' कहा गया था, वह नगर की सेना थी। यहाँ 'कटकई बनाई' का अर्थ युद्ध के लिये व्यूह रचकर चलने का है।

(३) 'जहँ तहँ परी···'—सर्वत्र लड़ना नहीं पड़ा, कोई-कोई राजा लड़े, कितने यों ही आकर अधीन हो गये, कुछ भाग गये। 'बरियाई'—सम्मुख लड़कर जीता, कपट-युद्ध से नहीं।

(४) 'सप्त दीप भुजबल···'। **शंका**—इन सातो द्वीपों के बीच-बीच में बड़े-बड़े समुद्र पड़ते हैं, यह राजा कैसे पार गया ? क्योंकि श्रीरामजी ने तो एक समुद्र पार करने के लिये सेतु बाँधा था।

समाधान—(क) प्रतापी को सभी राह दे देते हैं, इसीसे श्रीरामजी ने प्रथम राह माँगी थी, फिर सागर ने कहा भी है, यथा—"प्रभु-प्रताप मैं जाब सुखाई। उतरिहि कटक···" (सुं० दो० ५८)। (ख) उस समय भारत उन्नति पर था। अतः, पुष्पक विमान की तरह और विमान रहे होंगे। उस एक ही विमान (पुष्पक) पर श्रीरामजी सेना-समेत लंका से लौट आये थे।

सकल-अवनि-मंडल तेहि काला। एक प्रतापभानु महिपाला ॥८।

दोहा—स्वबस बिस्व करि बाहुबल, निज पुर कीन्ह प्रबेस।
अरथ-धरम कामादि सुख, सेवइ समय नरेस ॥१५४॥

अर्थ—उस समय समस्त पृथ्वी-मंडल में एक भानु-प्रताप ही राजा था ॥८॥ जगत्-भर को अपनी बाहु-बल से अपने वश में करके फिर उसने अपने नगर में प्रवेश किया। वह राजा अर्थ, धर्म और काम आदि सुखों का (उचित) समय-समय पर सेवन करने लगा ॥१५४॥

विशेष—(१) 'तेहि काला'—इसके पूर्वज माण्डलिक राजा न थे। इसने ही अपने प्रताप से यह पद प्राप्त किया था। श्रीरामजी के कुल में प्रथम से ही चक्रवर्त्ती होते आये हैं, इसलिये उनके वर्णन में 'तेहि काला' नहीं कहा गया है, यथा—"भूमि सप्त सागरमेखला। एक भूप रघुपति कोसला॥" (उ० दो० २१)।

(२) 'अरथ धरम कामादि···'—प्रातःकाल से पूजा-पाठ आदि धर्म के सेवन का समय, फिर राज्य-कार्य के द्वारा धन-लाभ में अर्थ-सेवन और शयन का समय काम-सुख-सेवन का है। वह राजा सत्संग के द्वारा मोक्ष-सुख का सेवन भी करता था, यथा—"तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला यक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग॥" (सुं० दो० ४)।

भूप प्रतापभानु - बल पाई। कामधेनु भइ भूमि सुहाई ॥१॥
सब - दुख - बरजित प्रजा सुखारी। धरमसील सुंदर नर-नारी ॥२॥
सचिव धरमरुचि हरि-पद-प्रीती। नृप-हित-हेतु सिखव नित नीती ॥३॥
गुरु सुर संत पितर महिदेवा। करइ सदा नृप सबकै सेवा ॥४॥

अर्थ—राजा भानुप्रताप का (चरित्र) बल पाकर पृथ्वी सुहावनी कामधेनु (की भाँति सर्व मनोरथदात्री) हो गई ॥१॥ प्रजा सारे दुःखों से रहित और सुखी रहती थी। समस्त स्त्री और पुरुष सुन्दर और धर्मात्मा थे ॥२॥ धर्मरुचि (नामक) मन्त्री का हरि-चरणों में प्रेम था, वह राजा के हित के लिये सदा नीति सिखाया करता था ॥३॥ गुरु, देवता, सन्त, पितृदेव और ब्राह्मण की वह राजा सदैव सेवा किया करता था ॥४॥

विशेष—(१) 'कामधेनु भइ भूमि···'—धर्मात्मा राजा के प्रभाव और प्रयत्न से पृथ्वी इच्छानुसार अन्न उपजाती थी, उसीसे धर्म और काम की सिद्धि भी होती थी, यथा—"धरनि-धेनु चारित चरिह, प्रजा सुबच्छ पेन्हाइ। हाथ कछू नहिं लागिहै, किये गोड़ की गाइ॥" (दोहावली ५१२, इसका 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये), अर्थात् राजा का उत्तम धर्माचरण चारा और प्रजा बछड़ा है। पृथ्वीरूप धेनु चरकर पन्हाती है तो अर्थ आदि दूध देती है, यथा—"रामे राजनि धर्मज्ञे सर्वभूतसुखावहे। वनानि नद्यो गिरयो वर्षाणि द्वीपसिन्धवः। सर्वे कामदुघा आसन्प्रजानां भरतर्षभ॥" (भाग० ९।१०।५२।५३), अर्थात् सर्वसुखद

एवं राजधर्म में निपुण श्रीरामजी के राज्य में वन, नदी, पहाड़, समुद्र, द्वीप और खण्ड—सभी प्रजा की मनचाही बातें पूर्ण करते थे।

(२) 'सब दुख बरजित···'—'दुख', यथा—"करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक बियोग।" (उ० दो० १००), अर्थात् भय, रोग, शोक और वियोग आदि दुःख हैं, तथा—"नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।" (उ० दो० १२०)। धर्मशील होने से सब सुखी हैं, यथा—"सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता।" (उ० दो० १०१)।

यहाँ 'कामधेनु भइ भूमि' से अर्थ, 'धर्मशील' से धर्म और 'सुन्दर नर-नारी' से काम का सेवन राजा की तरह प्रजा का भी जनाया। प्रसिद्ध ही है—"यथा राजा तथा प्रजा"।

(३) 'सचिव धरमरुचि हरि···'—मन्त्री में इसी जन्म से भक्ति का बीज पड़ा है, वही आगे विभीषण-शरीर में बढ़ेगा, क्योंकि भक्ति बीज का नाश नहीं होता, यथा—"न मे भक्तः प्रणश्यति।" (गी० ९।३१), तथा—"ताते नास न होइ दास कर।" (उ० दो० ७८)। पूर्व कहा था—"नृप-हितकारक सचिव सयाना।" उसीका यहाँ चरितार्थ हुआ है कि वह मन्त्री राजा के हित के लिये नित्य ही नीति सिखाता था, क्योंकि "राज कि रहइ नीति बिनु जाने।" (उ० दो० १११)।

(४) 'गुरु सुर संत पितर महिदेवा'—ये पाँचो पंचदेवता की तरह प्रायः एक साथ कहे जाते हैं, यथा—"द्विज, देव, गुरु, हरि, संत बिन संसार पार न पावई।" (वि० १३६)। यहाँ 'पितर' की जगह 'हरि' हैं, क्योंकि 'पितृरूपी जनार्दनः' कहा ही जाता है। इन पाँचो का एक साथ ही पृथक्-पृथक् महत्त्व-सहित वर्णन भी कि० दो० १६ के "जिमि सुख लहइ न संकरद्रोही।" से 'सद्गुरु मिले···" तक है। वहाँ 'सुर' की जगह 'संकर' कहे गये हैं, क्योंकि ये देव ही नहीं प्रत्युत महादेव हैं।

भूप-धरम जे बेद बखाने। सकल करइ सादर सुख माने ॥५॥
दिन प्रति देइ बिबिध बिधि दाना। सुनइ सास्त्रबर बेद पुराना ॥६॥
नाना बापी कूप तड़ागा। सुमनबाटिका सुंदर बागा ॥७॥
बिप्रभवन सुरभवन सुहाये। सब तीरथन्ह बिचित्र बनाये ॥८॥

शब्दार्थ—बापी=बावली, वह कुँआ जिसमें नीचे जल तक जाने की सीढ़ियाँ बनी होती हैं।

अर्थ—राजाओं के धर्म जो वेदों में कहे हुए हैं, उन सबको आदरपूर्वक और सुख मानकर करता था ॥५॥ वह प्रत्येक दिन विविध प्रकार के दान देता था और श्रेष्ठ शास्त्र एवं वेद-पुराण का श्रवण किया करता था ॥६॥ सारे तीर्थों में अनेक बावलियाँ, कुँए, तालाब, सुन्दर फुलवारियाँ, बाग, ब्राह्मणों के घर और देवताओं के सुहावने मन्दिर विचित्र-विचित्र बनवा दिये ॥७-८॥

विशेष—(१) 'भूप-धरम···'—प्रजा-पालन और देश-रक्षा आदि राजाओं के धर्म हैं जो वेद एवं उसके उपबृंहण (विस्तार) रूप महाभारत के शान्तिपर्व १३० अध्यायों के राजधर्म नामक उपपर्व में कहे गये हैं। पुनः, यथा—"मुखिया मुख सौं चाहिये, खान-पान को एक। पालइ पोसइ सकल अँग, तुलसी सहित बिबेक ॥ राजधरम सबस इतनोई। जिमि मन माँह मनोरथ गोई ॥" (अ० दो० ३१५)।

(२) 'दिन प्रति देइ···'—अन्यत्र प्रायः पर्व एवं उत्सव आदि अवसरों पर ही दान दिये जाते हैं, पर वह नित्य ही देता था। 'बिबिध बिधि', यथा—"गज रथ तुरग हेम गो हीरा। दीन्हें नृप नाना बिधि चीरा ॥ (दो० १९५)।

(३) 'सुनइ सास्त्र बर···'—'बर' अर्थात् राजस और सात्विक शास्त्र-पुराणों को ही सुनता था, तामस नहीं। प्रातःकाल वेद, मध्याह्न में पुराण और सन्ध्या-समय में धर्मशास्त्र सुनने का समय है अथवा यथावकाश ही सुनता था।

(४) 'बिप्रभवन सुरभवन···' अर्थात् देव-मन्दिर के साथ ही नित्य पूजा होने के लिये ब्राह्मण का भी घर बनवा देते थे। इसलिये दोनों को एक साथ लिखा है।

दोहा—जहँ लगि कहे पुरान श्रुति, एक एक सब जाग।
बार सहस्र सहस्र नृप, किये सहित अनुराग ॥१५५॥

हृदय न कछु फल - अनुसंधाना। भूप बिवेकी परम सुजाना ॥१॥
करइ जे धरम करम मन बानी। बासुदेव अरपित नृप ज्ञानी ॥२॥

शब्दार्थ—अनुसंधान = चेष्टा, इच्छा। अर्पित = आदरपूर्वक दिया हुआ। ज्ञानी = शास्त्रज्ञानी।

अर्थ—जहाँ तक वेदों और पुराणों में यज्ञ कहे गये हैं, उन सबमें एक-एक को राजा ने अनुरागपूर्वक हजार-हजार बार किया ॥१५५॥ राजा बड़ा विवेकी (विचारवान्) और चतुर था, (अतः) वह हृदय में कुछ भी फल की चेष्टा नहीं करता था ॥१॥ जो धर्म मन, वचन और कर्म से करता था, उसे वह ज्ञानी राजा मन-वचन-कर्म से वासुदेव भगवान् को अर्पित कर देता था।

विशेष—यहाँ—'करम मन बानी' दीपदेहली है। राजा शास्त्रज्ञानी था। अतः, कर्म, मन और वचन से सुकृत को भगवान् में अर्पित करता था, यथा—"हरिहिं समर्पे बिनु सतकरमा। श्रम फल किये···" (अर० दो० २०), अन्यथा सकाम कर्म बन्धन-रूप होता है। 'न कछु फल अनुसंधाना' अर्थात् निष्काम करता था, यथा—"एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानीति ···" (गीता १८।६)।

चढ़ि बर बाजि बार एक राजा। मृगया कर सब साजि समाजा ॥३॥
बिंध्याचल गँभीर बन गयेऊ। मृग पुनीत बहु मारत भयेऊ ॥४॥
फिरत बिपिन नृप दीख बराहू। जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू ॥५॥
बड़ बिधु नहिं समात मुख माहीं। मनहुँ क्रोधबस उगिलत नाहीं ॥६॥

शब्दार्थ—मृगया = शिकार, अहेर। बराह = शूकर। दुरेउ = छिपा है। समात = समाना।

अर्थ—एक बार राजा अहेर के सब सामान सजाकर और अच्छे घोड़े पर चढ़कर ॥३॥ विन्ध्याचल के सघन वन में गया और उसने वहाँ बहुत-से पवित्र मृग मारे ॥४॥ राजा ने वन में फिरते हुए एक शूकर को देखा (वह ऐसा मालूम होता था) कि मानों राहु चन्द्रमा को ग्रसकर वन में आ छिपा हो ॥५॥ चन्द्रमा बड़ा है। अतः, वह मुँह में समाता नहीं और मानों वह क्रोधवश उसे उगलता भी नहीं ॥६॥

विशेष—(१) 'बरबाजि'—तेज चालवाला एवं शिकार के अनुकूल रंगवाला हरा अथवा नीला घोड़ा जो वृक्षों के झुरमुट में छिप सके। 'पुनीत मृग'—वे मृग जो शास्त्र से मृगया के लिये ग्रहण करने योग्य माने गये हैं। मृग (मृ = वन, ग = गमन) = जंगली जानवर, यथा—"पावन मृग मारहिं जिय जानी।" (दो० २०४)।

(२) 'फिरत बिपिन···'—यह कालकेतु है। कपट से शूकर होकर फिर रहा है, जिससे राजा उसे देखे और पीछा करे। जैसे, मारीच मृग बनकर श्रीसीताजी के आसपास फिरने लगा था।

(३) 'बड़ बिधु नहिं···'—यहाँ 'बराह' उपमेय और 'राहु' उपमान हैं जो दोनों ही काले हैं। सनद (दाँत) उपमेय और चन्द्रमा उपमान—दोनो श्वेत रंग और गोलाकार हैं 'बड़ बिधु' पूर्णिमा का है। काले रंग के मुख से गोलाकार बाहर तक निकले और चमकते हुए दाँतों का दिखाई पड़ना उत्प्रेक्षा का विषय है।' जब बड़ा चन्द्रमा नहीं समाता तो उगल क्यों नहीं देता, इसपर कहते हैं, 'मनहुँ क्रोध बस'—क्षीर सागर से अमृत निकला, भगवान् देवताओं को बाँट रहे थे, उनमें राहु भी छल से आ बैठा था।

चन्द्रमा और सूर्य ने इशारे से छल बतला दिया, जिससे उसका सिर भगवान् ने काट डाला, वह उस वैर से क्रोध करता है।

कोल-कराल-दसन-छवि गाई। तनु बिसाल पीवर अधिकाई ॥७॥
घुरघुरात हय - आरव पाये। चकित बिलोकत कान उठाये ॥८॥

दोहा—नील महीधर - सिखर सम, देखि बिसाल बराह।
चपरि चलेउ हय सुटुकि नृप, हाँकि न होइ निबाह ॥१५६॥

शब्दार्थ—दसन = दाँत। पीवर = मोटा, स्थूल। कोल = शूकर। घुरघुराना = शूकर का शब्द करना। हय = घोड़ा। आरव = आहट। महीधर = पहाड़। सिखर = चोटी। चपरि = चपलता से। सुटुंक = चाबुक लगाकर। निबाह = बचाव।

अर्थ—यह छवि शूकर के भयंकर दाँतों की कही गई है, उसका शरीर बहुत ऊँचा एवं चौड़ा था और मोटाई अधिक थी ॥७॥ घोड़े की आहट पाकर शूकर घुरघुराता हुआ कान उठाये भौचक-सा हो (इधर-उधर) देख रहा था ॥८॥ नीला पर्वत के शिखर के समान भारी शूकर को देखकर राजा घोड़े को जोर से चाबुक लगाकर चपलता से हाँक चला (सरपट छोड़ा) कि जिससे शूकर का बचाव न हो सके ॥१५६॥

'घुरघुरात ···'—शूकर स्वभाव कहा गया है। 'देखि बिसाल···'—उपर्युक्त 'दीख बराहू' से प्रसंग लिया, बीच में उत्प्रेक्षा द्वारा उसका स्वरूप कहने लग गये थे। 'चपरि चलेउ···' राजा ने निकट जाकर खड्ग आदि से मारना चाहा था, अन्यथा दूर से बाण आदि से मारता।

आवत देखि अधिक रव बाजी। चलेउ बराह मरुतगति भाजी ॥१॥
तुरत कीन्ह नृप सरसंधाना। महि मिलि गयेउ बिलोकत बाना ॥२॥
तकि तकि तीर महीस चलावा। करि छल सुअर सरीर बचावा ॥३॥
प्रगटत दुरत जाइ मृग भागा। रिसबस भूप चलेउ सँग लागा ॥४॥

शब्दार्थ—बाजी = घोड़ा। रव = शब्द। संधाना = चढ़ाया। भाजी = भागकर।

अर्थ—बड़ी आवाज के साथ (तेजी से) घोड़े को आता देखकर शूकर वायु की चाल से (हवा के समान चाल से) भाग चला ॥१॥ राजा ने तुरत धनुष पर बाण चढ़ाया, उस बाण को देखते ही वह पृथ्वी में दुबक गया ॥२॥ राजा ने निशाना लगा-लगा कर तीर चलाया, छल करके शूकर शरीर बचाता गया ॥३॥ वह कभी प्रकट होता और कभी छिप जाता, इस प्रकार वह मृग (वन-पशु) भागता फिरता था और राजा भी क्रोध में भर कर उसके पीछे लगा हुआ चला जाता था ॥४॥

विशेष—(१) 'तुरत कीन्ह···'—घोड़े पर से तलवार-भाले आदि के द्वारा शिकार किया जाता है, उसका घात न पाकर तुरत ही बाण चढ़ाया। बाण चलाने में दोनों हाथों से काम पड़ता है, इस प्रकार सवारी में राजा की निपुणता दिखाई।

(२) 'तकि तकि तीर···'—यहाँ राजा ने सीधे चलनेवाले बाणों से ही काम लिया। पशु समझकर बाण-विद्या से अभिमन्त्रित बाणों का प्रयोग नहीं किया, अन्यथा नहीं बच सकता। पशु आदि अनभिज्ञों पर अभिमन्त्रित बाण न चलाना युद्धनीति है।

(३) 'करि छल···'—प्रकट होना, छिप जाना, तिरछा हो जाना छल है। छल करके इसे कपटी-मुनि के समीप तक ले जाना है।

(४) 'रिसबस'—शिकार की कामना-हानि होते देख राजा को क्रोध हुआ, उससे फिर मोह होता

है वह भी कपटी मुनि के यहाँ होगा, यथा—"कामात्क्रोधोऽभिजायते। क्रोधाद्भवति सम्मोह···" (गीता २।६२-६३)।

गयेउ दूरि घन गहन बराहू। जहँ नाहिन गज-बाजि-निबाहू ॥५॥
अति अकेल बन बिपुल कलेसू। तदपि न मृगमग तजइ नरेसू ॥६॥
कोल बिलोकि भूप बड़ धीरा। भागि पैठ गिरिगुहा गँभीरा ॥७॥
अगम देखि नृप अति पछिताई। फिरेउ महावन परेउ भुलाई ॥८॥

दोहा—खेद-खिन्न छुद्धित तृषित, राजा बाजिसमेत।
खोजत ब्याकुल सरित सर, जल बिनु भयेउ अचेत ॥१५७॥

शब्दार्थ—गहन = वन का गुप्त स्थान। पैठ = घुस गया। खेद = ग्लानि। खिन्न = दीन।

अर्थ—शूकर बड़े सघन वन के गुप्त स्थान में दूर निकल गया, जहाँ हाथी-घोड़े का निर्वाह नहीं हो सकता ॥५॥ यद्यपि राजा नितान्त अकेला है और वन में बहुत क्लेश भी है, तथापि वह उस मृग का पीछा नहीं छोड़ता ॥५॥ शूकर ने देखा कि राजा बड़ा धीर है, तब वह भागकर पर्वत की एक बड़ी गम्भीर (गहरी) गुफा में जा घुसा ॥७॥ उसमें अपना जाना दुर्गम देख राजा बहुत पछताकर फिरा, तो वह उस भारी घने वन में मार्ग भूल गया ॥८॥ ग्लानि से दीन चित्त और भूखा-प्यासा राजा घोड़े के साथ व्याकुल होकर नदी-तालाब खोजते हुए जल के बिना बेसुध हो गया ॥१५७॥

विशेष—'नरेसू'—राजा प्रायः हठी होते हैं, इससे वह पीछा नहीं छोड़ता था।

'बड़ धीरा'—इतनी दूर तक पीछा न छोड़ा। अतः, मार ही न डाले।

'अति पछिताई'—नाहक यहाँ आये, इतना परिश्रम हुआ। शिकार भी न मिला, अब जल के बिना प्राणों पर आ बीती, इत्यादि।

'खेद-खिन्न·····'—ऊपर 'परेउ भुलाई' कहा, उस भूलने का कारण यहाँ कहते हैं कि राजा का चित्त उदास है और घोड़ा भी शिकार निकल जाने से उदास हुआ तथा भूख-प्यास एवं थकावट तो दोनों को थी ही, फिर सन्ध्या का समय भी हो आया था। साथ के लोग महावन में पहले ही छूट गये थे। इन कारणों से राजा बेसुध होकर दिशा-भ्रम से मार्ग भूल गया, वहीं आस-पास में जलाशय की खोज में घूम-फिरकर रह गया, यथा—"लागि तृषा अतिसय अकुलाने। मिलइ न जल घन गहन भुलाने॥" (कि० दो० २३)।

फिरत बिपिन आश्रम एक देखा। तहँ बस नृपति कपट-मुनि-बेखा ॥१॥
जासु देस नृप लीन्ह छुड़ाई। समर सेन तजि गयेउ पराई ॥२॥
समय प्रतापभानु कर जानी। आपन अति असमय अनुमानी ॥३॥
गयेउ न गृह मन बहुत गलानी। मिला न राजहि नृप अभिमानी ॥४॥
रिस उर मारि रंक जिमि राजा। बिपिन बसइ तापस के साजा ॥५॥

शब्दार्थ—कपट = बनावटी। आश्रम = साधु का स्थान। समय = बढ़ती के दिन, भाग्य।

अर्थ—वन में फिरते हुए (राजा को) एक आश्रम देख पड़ा। जहाँ एक राजा कपट से मुनि-वेष बनाये हुए रहता था ॥१॥ उसका देश इसी राजा भानु-प्रताप ने छीन लिया था, (क्योंकि) वह युद्ध में सेना को छोड़कर भाग गया था ॥१॥ भानुप्रताप का सुसमय जानकर और अपना अत्यन्त असमय (दुर्दिन) समझकर ॥३॥ उसके मन में बहुत ग्लानि हुई, इससे वह घर लौटकर नहीं गया। वह अभिमानी राजा

था। अतः, उसने इस भानु-प्रताप से मिलाप (सन्धि) भी नहीं किया ॥४॥ हृदय में क्रोध मारकर वह राजा दरिद्र की तरह तपस्वी के साज (वेष) से वन में निवास करता था।

विशेष—(१) यहाँ क्रम से कारण कहे गये। कपट से मुनि वेष का कारण—उसका देश छिन जाना, देश छीनने का कारण उसका भाग जाना और अभिमान से न मिलना है। राजा का प्रताप ऐसा है कि वह साधुवेषधारी राजा ७० योजन पर, घोर वन में फिर भी वेष बदलकर भयभीत रहता है कि कहीं भानु-प्रताप जान पावेगा, तो मार ही डालेगा, क्योंकि ऐसी ही नीति है, यथा—"रिपु रिन रंच न राखब काऊ।" (अ० दो० २२८), "रिपु रुज पावक पाप, प्रभु अहि गनिय न छोट करि।" (अर० दो० २१)।

जैसे दुर्योधन सरोवर के भीतर जल को स्तम्भित कर उसमें सोता था। युधिष्ठिर ने उसे ललकार कर निकाला है और फिर युद्ध में भीमसेन के द्वारा वह मारा गया है (महा० शल्य० ३१।५८)।

(२) 'मिला न राजहिं·····'—साम, दाम, दंड, भेद ये चार नीति के भेद हैं। जब राजा अपनेको कमजोर देखे, तब 'दाम' नीति से कुछ देकर, शर्त आदि मानकर, प्रतिपक्षी से मेल कर लें, पर इसने ऐसा नहीं किया, क्योंकि अभिमानी था।

(३) रिस उर मारि·····'—जैसे कोई कंगाल एवं भिक्षुक अपमान सहते हुए प्रतिकार में असमर्थ होने से क्रोध को मन में ही दबा लेता है, वैसे इस कपटी राजा की दशा थी।

तासु समीप गवन नृप कीन्हा। यह प्रतापरवि तेहि तब चीन्हा ॥६॥
राउ तृषित नहिं सो पहिचाना। देखि सुबेष महामुनि जाना ॥७॥
उतरि तुरग ते कीन्ह प्रनामा। परम चतुर न कहेउ निज नामा ॥८॥

दोहा—भूपति तृषित बिलोकि तेहि, सरबर दीन्ह देखाइ।
मज्जन पान समेत - हय, कीन्ह नृपति हरषाइ ॥१५८॥

अर्थ—जब राजा उसके समीप गया, तब उसने पहचान लिया कि यही राजा भानु-प्रताप है ॥६॥ राजा प्यासा था, (इसी विकलता से) इसने उसे नहीं पहचाना, प्रत्युत सुन्दर वेष देखकर महामुनि मान लिया ॥७॥ और घोड़े से उतरकर उसे प्रणाम किया, (परन्तु) यह राजा बड़ा चतुर था, इससे इसने अपना नाम नहीं बतलाया ॥८॥ राजा को प्यासा देखकर उसने एक सरोवर दिखला दिया। राजा ने हर्षित होकर घोड़े के साथ स्नान और जलपान किया ॥१५८॥

विशेष—(१) 'उतरि तुरंग ते·····'—धर्म-शास्त्र की विधि है कि देवमन्दिर, तीर्थ एवं सन्त आदि बड़ों को देख सवारी से उतरकर और हथियार रखकर प्रणाम करना चाहिये। कपटी-मुनि को महामुनि समझकर राजा ने वही किया, परन्तु प्रणाम करते समय अपना नाम भी कहना चाहिये। यह रीति है, यथा—"मारुतसुत मैं कपि हनुमाना। नाम मोर सुनु·····" (उ० दो० १), "पितु समेत कहि-कहि निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा॥" (दो० २६८), इसने नाम न कहा, यह परम चतुरता है, यही आगे दो० १६३ में कपटी-मुनि कहेगा।

(२) 'भूपति तृषित बिलोकि तेहि ·····'—चेष्टा से ही जान लिया कि राजा प्यासा है। स्नान-पान से थकावट दूर होती है और प्रसन्नता भी होती है, यथा—"मज्जन कीन्ह पंथ-श्रम गयेऊ। सुचि जल पिअत मुदित मन भयेऊ॥" (अर० दो० ८६), "मज्जन कीन्ह परम सुख पावा।" (अर० दो० ४०)। वे ही गुण यहाँ भी हुए, जिन्हें 'हरषाइ' और आगे—'गै श्रम·····' में कहा है।

गै श्रम सकल सुखी नृप भयेऊ। निज आश्रम तापस लै गयेऊ ॥१॥
आसन दीन्ह अस्त रवि जानी। पुनि तापस बोलेउ मृदु बानी ॥२॥

को तुम्ह कस बन फिरहु अकेले। सुन्दर जुवा जीव परहेले ॥३॥
चक्रवर्ति के लच्छन तोरे। देखत दया लागि अति मोरे ॥४॥

शब्दार्थ—आसन दीन्ह = सत्कार के लिये कुछ वस्तु बैठने को दी। परहेलना (सं० प्रहेलन) = निरादर करना।

अर्थ—जब सारी थकावट दूर हुई और राजा सुखी हुआ, तब वह तपस्वी इसे आश्रम पर लिवा ले गया ॥१॥ सूर्यास्त का समय जानकर (राजा को) बैठने के लिये आसन दिया, फिर वह तपस्वी कोमल बचन बोला ॥२॥ तुम कौन हो ? वन में अकेले कैसे फिर रहे हो ? तुम्हारी सुन्दर युवा अवस्था है, फिर भी तुम अपने जीव (प्राणों) की परवाह नहीं करते अर्थात् प्राणों का निरादर करते हो ? ॥३॥ तुममें चक्रवर्ति राजाओं के लक्षण देखकर मुझको बड़ी दया लग आई है ॥४॥

विशेष—(१) 'निज आश्रम तापस लै गयेऊ।' अर्थात् सरोवर दिखाने के लिये साथ ही गया, फिर अपने आश्रम पर लिवा लाया।

(२) 'आसन दीन्ह·····'—आसन पर राजा नहीं बैठा, क्योंकि उसकी इच्छा तुरत चले जाने की थी। अतः, बातें प्रारम्भ कर दीं। कपटी मुनि ने सोचा कि मीठी-मीठी बातों में फँसाकर कुछ देर रोकने पर अँधेरा हो जायगा तो राजा अवश्य ही रुक जायगा, इस प्रकार कपट से दाँव लेना है।

(३) 'को तुम्ह ·····'—प्रश्न का प्रयोजन यह है कि यदि राजा स्वयं इधर आ निकला हो, तब तो रोकना ठीक नहीं और काल-केतु भटकाकर लाया हो तो इसे रोकना और अपनी सिद्धई आदि की बातें करनी ठीक होंगी, तदनुसार वह कर सकेगा।

(४) 'चक्रवर्ति के ·····'—उपर्युक्त 'सुंदर युवा·····' का कारण कहता है कि तुम्हारे लक्षण चक्रवर्त्ती के हैं, ऐसे राजा को अकेले ऐसे घोर वन में फिरना योग्य नहीं है। न जाने, कब कैसा विघ्न आ पड़े ? राजा की भलाई में प्रजा की भलाई है। अतः, मुझे अति दया लगी।

नाम प्रतापभानु अवनीसा। तासु सचिव मैं सुनहु मुनीसा ॥५॥
फिरत अहेरे परेउँ भुलाई। बड़े भाग देखेउँ पद आई ॥६॥
हम कहँ दुरलभ दरस तुम्हारा। जानत हौं कछु भल होनिहारा ॥७॥
कह मुनि तात भयेउ अँधियारा। जोजन सत्तरि नगर तुम्हारा ॥८॥

दोहा—निसा घोर गंभीर बन, पंथ न सुनहु सुजान।
बसहु आज अस जानि तुम्ह, जायेहु होत बिहान ॥
तुलसी जसि भवितव्यता, तैसी मिलइ सहाय।
आपुन आवइ ताहि पहिं, ताहि तहाँ लै जाइ ॥१५६॥

शब्दार्थ—आपुन = स्वयं, यह अवधी मुहावरा है—"वह काम अपुनै काहे नाहीं कर लेते"।

अर्थ—(राजा ने कहा—) हे मुनीश ! सुनिये। एक भानुप्रताप नाम का राजा है, उसका मैं मन्त्री हूँ ॥५॥ शिकार में फिरते हुए भूल पड़ा हूँ। बड़े भाग्य से आकर चरणों के दर्शन किये ॥६॥ मेरे लिये आपके दर्शन दुर्लभ हैं, समझता हूँ कि अब मेरा कुछ भला होनेवाला है ॥७॥ मुनि ने कहा कि हे तात ! अब अँधेरा हो गया और तुम्हारा नगर यहाँ से सत्तर योजन (५६० मील) पर है ॥८॥ हे सुजान ! सुनो, रात भयंकर एवं अँधेरी है, वन सघन है और यहाँ से कोई स्पष्ट मार्ग नहीं है, ऐसा जानकर आज यहीं रहो, प्रातःकाल होते ही चल देना ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जैसी भावी (हरि-इच्छा-रूपी प्रारब्ध)

होती है, वैसी ही सहायता भी मिल जाती है। या तो वह (भावी) आप ही (स्वयं) उसके पास आती है अथवा उसीको वहाँ ले जाती है ॥१५६॥

विशेष—(१) 'नाम प्रतापभानु···'—यह 'को तुम्ह' का उत्तर है। राजा ने समझा कि ये कोई भारी दैवज्ञ मुनि हैं, इसीसे मुझे चक्रवर्त्ती जान लिया। अतः, युक्ति से उत्तर दूँ कि राजाओं के जहाँ-तहाँ अनेक शत्रु होते हैं, इसलिये नाम छिपाने की नीति भी रहे और उत्तर भी हो जाय। फिर 'मंत्री' कहा। इससे जान पड़ता है कि मन्त्री में भी राज-लक्षण होते हैं।

अलंकार—'व्याजोक्ति', क्योंकि राजा ने राजनैतिक चातुरी से अपनेको छिपाकर उत्तर दिया है।

(२) 'फिरत अहेरे परेउँ भुलाई···'—यह 'कस बन फिरहु अकेले' का उत्तर है। इससे कपटी-मुनि ने जान लिया कि इसे कालकेतु ही यहाँ लाया है। अतः, अब ठहराने का उपाय रचेगा। 'बड़े भाग'—बहुत प्रयास से खोजने पर साधु मिलें तो भाग्य है और अनायास मिल जायँ तो बड़ा भाग्य है, यथा—"बड़े भाग पाइय सतसंगा।" (उ० दो० ३२)। मुनि के—'देखत दया लागि···' इस कथन के जोड़ में—'बड़े भाग देखेउँ···' कहा है।

(३) 'हम कहँ दुरलभ दरस ··'—हमलोग विषयों में लिप्त हैं और आप विशुद्ध सन्त हैं, ऐसे सन्त दैवयोग से ही मिलते हैं, यथा—"संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥" (उ० दो० ६८)।

(४) 'निसा घोर'—इससे कृष्णपक्ष की घोर अँधेरी रात अर्थात् अमावस्या जनाई। इसमें तान्त्रिक छल के प्रयोग भी किये जाते हैं। इसे यह योग भी मिल गया।

(५) 'तुलसी जसि भवितव्यता···'—यहाँ 'भवितव्यता' को हरि-इच्छा ही जानना चाहिये। शिव-संहिता के अनुसार श्रीरामजी के प्रतापी और बलवीर्य नामक दो सखा ही श्रीरामजी की आज्ञा से भानुप्रताप और अरिमर्दन हुए हैं। अतः, वे भगवान् युद्धरूप कौतुक के लिये ऐसे संयोग स्वयं रचते हैं। ये दोनों सखा अगले जन्म में राक्षस होने पर पूरे वैर से युद्ध करेंगे।

बुद्धिमान् होकर राजा क्यों ठगा गया? इसका समाधान याज्ञवल्क्य ने किया, क्योंकि यह प्रसंग कर्मवाद का है। उसीको गोस्वामीजी कहते हैं कि जैसी भावी होती है वैसे उसके सहायक (साधन) मिलते हैं, अर्थात् संयोग बनते जाते हैं। 'आपुन' अवधी मुहावरा है, इसका अर्थ 'स्वयं' होता है, यथा—"आपुन चलेउ गदा कर लीन्हीं।" (दो० १८१), "ऊपर आपुन हेठ भट ···" (लं० दो० ४१)। 'आपुन आवइ' अर्थात् भावी स्वयं 'ताहि पहिं' अर्थात् जिसपर भावी होनेवाली है, आती है। जैसे भानुप्रताप के पास कालकेतु भावी-प्रेरित शूकर बनकर पहुँच गया। अथवा 'ताहि' जिसपर भावी होनेवाली है, उसको 'तहाँ' भावी-प्रेरित बाधा के स्थान पर, ले जाती है, जैसे वह भानुप्रताप को ही कपटी मुनि के पास ले गई।

भलेहि नाथ आयसु धरि सीसा। बाँधि तुरग तरु बैठ महीसा ॥१॥
नृप बहु भाँति प्रसंसेउ ताही। चरन बंदि निज भाग्य सराही ॥२॥
पुनि बोलेउ मृदुगिरा सुहाई। जानि पिता प्रभु करउँ ढिठाई ॥३॥
मोहि मुनीस सुत सेवक जानी। नाथ नाम निज कहहु बखानी ॥४॥

अर्थ—'बहुत अच्छा, नाथ!' राजा ऐसा कह आज्ञा सिर पर रख (मान) कर और घोड़े को एक पेड़ में बाँधकर आ बैठा ॥१॥ राजा ने उसकी बहुत तरह से बड़ाई की तथा उसके चरणों की वन्दना कर उसके सम्बन्ध से अपना भाग्य सराहा ॥२॥ फिर सुहावने कोमल वचन बोला कि हे प्रभो! आपको पिता जानकर मैं एक ढिठाई करता हूँ ॥३॥ हे मुनीश्वर! मुझे अपना पुत्र तथा सेवक जानकर, हे नाथ! मुझसे अपना नाम बखान कर कहिये ॥४॥

विशेष—(१) 'बाँधि तुरग···' - अभी तक राजा घोड़े की बागडोर पकड़े खड़ा ही था कि अभी चल देंगे, पर कपटी-मुनि ने बातों-बातों में विलम्ब कर अँधेरा कर दिया और ठहरा लिया।

(२) 'बहु भाँति प्रसंसेउ···' राजा ने कपटी मुनि को श्रेष्ठ साधु मानकर—शास्त्रोक्त साधु-लक्षणों को कहकर— उनके अनुसार इसकी सराहना की, यथा—"बिधि हरिहर कवि कोबिद बानी। कहत साधु-महिमा सकुचानी॥" (दो० २), आप ऐसे महान् हैं कि आपकी चरण-वदना देवता भी करते हैं, मेरे भाग्य का क्या कहना है कि इन चरणों के दर्शन हुए!

(३) 'मृदुगिरा सुहाई', 'जानि पिता···'—कोमल वाणी तो तापस ने भी कही थी, पर उसके वचन छलसंयुक्त होने से 'सुहावने' न थे, राजा के वचन निश्छल हैं। अतः, 'सुहावने' हैं। मुनि ने राजा को 'तात भयो अँधियारा' में 'तात' कहा था। मुनि के सम्बन्ध में तात का अर्थ पुत्र ही लिया जायगा। अतः, राजा ने उसे 'पिता' कहा। महात्मा एवं स्वामी से ढिठाई अयोग्य है और बालक पिता से ढिठाई कर सकता है, इसलिये भी 'पिता' कहा।

(४) 'मोहि मुनीस सुत सेवक जानी।···'—पुत्र पर प्रीति स्वतः होती है, यदि पुत्र सेवक भी हो तो और अत्यन्त प्रीति होती है, इसलिये दोनों कहे। नाम का बखान कर कहना यह कि जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा आदि के जो नाम हों, उन्हें विस्तार से कहिये।

तेहि न जान नृप नृपहिं सो जाना। भूप सुहृद सो कपट सयाना॥५॥
बैरी पुनि छत्री पुनि राजा। छलबल कीन्ह चहत निज काजा॥६॥
समुझि राजसुख दुखित अराती। अवाँ अनल इव सुलगइ छाती॥७॥
सरल बचन नृप के सुनि काना। बैर सँभारि हृदय हरषाना॥८॥

दोहा—कपट बोरि बानी मृदुल, बोलेउ जुगुति - समेत।
नाम हमार भिखारि अब, निर्धन रहित - निकेत॥१६०॥

शब्दार्थ—सुहृद = शुद्ध हृदयवाला। अराति = शत्रु। सुलगइ = जलती है, भभकती है।

अर्थ—राजा ने उसे नहीं पहचाना, पर उसने राजा को पहचान लिया था। राजा का हृदय शुद्ध है, पर वह कपट में निपुण है॥५॥ एक तो वह शत्रु, फिर जाति का क्षत्रिय, उसपर भी राजा है। अतः, छल-बल से अपना कार्य करना चाहता है॥६॥ वह शत्रु अपने (पूर्व के) राज्य-सुख को समझकर दुखी है, उसकी छाती कुम्हार की भट्ठी (आँवा) की आग की भाँति (भीतर-ही-भीतर) भभक रही है॥७॥ राजा के सीधे वचन कानों से सुनकर और अपने पुराने वैर का स्मरण करके वह हृदय में हर्षित हुआ॥८॥ कपट रूपी पानी में डुबाकर युक्ति-युक्त कोमल वाणी बोला कि अब हमारा नाम भिखारी है, हम धन और धाम से रहित हैं॥१६०॥

विशेष—(१) 'तेहि न जान···'—प्रथम कहा गया था—"राउ तृषित नहिं सो पहिचाना। देखि सुबेष महामुनि जाना॥" (दो० १५७), पर अब राजा सुस्थिर एवं सुखी है और उसके सामने ही बैठा है, फिर पहचान क्यों नहीं लिया? इसका उत्तर यहाँ है कि राजा सुहृद = सरल स्वभाव होने से उसके कपट को नहीं भाँप सका, यथा—"सरल सुसील धरमरत राऊ। सो किमि जानइ तीय-सुभाऊ॥" (अ० दो० १६१), तथा—"नाथ सुहृद सुठि सरल चित,···" (अ० दो० २२७), अर्थात् सुहृद अपने समान सबको शुद्ध ही जानता है।

(२) 'बैरी पुनि छत्री पुनि राजा।···'—बैरी सदा अपने शत्रु पर आघात करना चाहता है,

यथा—"रिपु रिन रंच न राखब काऊ।" (अ० दो० २२८), "रिपु पर कृपा परम कदराई।" (अर० दो० १८)। क्षत्रिय जाति क्रोधी एवं बलवान् भी होती है और बदला लेती है, यथा—"तदपि कठिन दसकंठ सुमु; छत्रि-जाति कर रोष।" (लं० दो० २३)। राजा स्वार्थी होते हैं, जैसे बने, काम निकालते हैं, अभिमानी होने से एक देश में दो नहीं रह सकते। यहाँ यह तीन गुणों से तीनो बातें चाहता है—वैरी—छल, क्षत्रिय—बल और राजा—निज काज।

(३) 'समुझि राज-सुख···'—अर्थात् राज्य-सुख का छीनना वैर का कारण है। 'अवाँ इव', यथा—"तपइ अवाँ इव उर अधिकाई।" (दो० ५७)। प्रथम बल से राज्य नहीं बचा सका, अब छल से लेगा।

'बैर सँभारि···', यथा—"सत्रु सयानो सलिल ज्यों, राख सोस रिपु नाव। बूड़त लखि पग डुगत लखि, चपरि चहूँदिसि धाव॥" (दोहावली ५२०), यहाँ 'बैर सँभारि' में क्षत्रिय का स्वरूप दिखाया।

(५) 'कपट बोरि बानी···'—यहाँ कपटमय वचनों से अपना कार्य साधने में राजा का स्वरूप दिखाया। इस तरह की बातों से वह राजा का भेद लेना चाहता है कि उसने मुझे—'मुनीस सुत सेवक जानी' हृदय से कहा है या नहीं। राजा समझता है कि ये प्रथम बहुत ऐश्वर्यवान् थे, अब सब त्यागे बैठे हैं, अतएव बड़े महात्मा हैं। इसीसे नाम आदि नहीं बतलाये, क्योंकि—'सदा रहहिं अपनपौ दुराये।' 'अब' शब्द में इसकी युक्ति है कि यदि कहीं राजा जान ले, तब तो कह दूँगा, मैंने तो सत्य ही कहा है कि आपने राज्य ले लिया तो यहाँ भिखारी बनकर निर्वाह करता हूँ और यदि न जान पाया, तो आगे मुझे अपने को ब्रह्मा का पुत्र होना और तपोधन इत्यादि कहना है, अब तो मैं सब त्यागे बैठा हूँ। विरक्ति सिद्ध होगी।

कह नृप जे बिज्ञाननिधाना। तुम्ह सारिखे गलित अभिमाना॥१॥
सदा रहहिं अपनपौ दुराये। सब बिधि कुसल कुबेष बनाये॥२॥
तेहि ते कहहिं संत श्रुति टेरे। परम अकिंचन प्रिय हरि केरे॥३॥
तुम्ह सम अधन भिखारि अगेहा। होत बिरंचि सिवहिं संदेहा॥४॥
जोसि सोसि तव चरन नमामी। मो पर कृपा करिय अब स्वामी॥५॥

शब्दार्थ—गलित अभिमान = निरभिमान। अपनपौ = आत्मगौरव एवं अपने रूप को। अकिंचन = जिन्हें भगवान् के अतिरिक्त और कुछ भी चाह नहीं। अधन = निर्धन। अगेह = गृहरहित।

अर्थ—राजा ने कहा कि जो आपके समान विज्ञान के स्थान और निरभिमानी होते हैं॥१॥ वे सदा अपनी प्रतिष्ठा को छिपाये रहते हैं, (क्योंकि) वे कुत्सित वेष बनाये रहने में सब भाँति अपना कुशलक्षेम मानते हैं॥२॥ इसीसे सन्त और वेद पुकार-पुकार कर कहते हैं कि परम अकिंचन ही भगवान के प्यारे होते हैं॥३॥ आपके समान निर्धन, भिखारी और गृहहीन होने में ब्रह्मा-शिव को भी सन्देह होता है॥४॥ आप जो हैं, सो हैं, मैं आपके चरणों को प्रणाम करता हूँ, स्वामिन्! अब आप मुझपर कृपा करें॥५॥

(योऽसि सोऽसि = यः असि, सः असि = जो हैं, सो हैं अर्थात् जो भी हों, वही सही)।

विशेष—(१) 'जे बिज्ञाननिधाना···'—विज्ञानी शरीर के द्वारा होनेवाले गुणों को प्रकृति के गुण समझते हैं, इससे उनका अभिमानी न होना सहज है।

(२) 'सब बिधि कुसल कुबेष·····'—कुवेष देखने से उन्हें गँवार समझकर कोई पास नहीं आवेगा। नहीं तो कोई पुत्र, कोई धन, कोई विजय आदि की इच्छा से घेरे रहेंगे, इनसे भजन में बाधा होगी। यही समझकर भाग० ५।५।३२ में भगवान् ऋषभदेव ने घृणित रूप से रहते हुए अजगर

वृत्ति धारण की थी। मनु ने कहा है—"सम्मानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव। अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा॥ सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते। सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति॥" (२।१६२-१६३), अर्थात् सम्मान से ब्राह्मण को नित्य निरपेक्ष रहना चाहिये। अमृत के समान अपमान की सदा इच्छा रखनी चाहिये, क्योंकि अपमानित व्यक्ति सुख से सोता-जागता है, सुख से विचरता है और अपमान करनेवाला नष्ट होता है, यथा—'परम अकिंचन प्रिय हरि केरे', तथा—"त्वामकिञ्चन-गोचरम्॥ नमोऽकिञ्चनवित्ताय···" (भाग० १।८।२६-२७), अर्थात् कुन्तीजी ने कहा है—आप अकिञ्चनों को ही दर्शन देते हैं, क्योंकि वे आपके धन हैं, तथा—"निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः। तस्मात्प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति सुमध्यमे॥" (भाग० १०।६०।१४), अर्थात् हे सुन्दरी! हम तो सदा के अकिञ्चन हैं और अकिञ्चन लोगों से ही प्रेम करते हैं, इसलिये सम्पत्तिशाली पुरुष प्रायः हमें नहीं भजा करते।

(३) 'होत बिरंचि सिवहिं संदेहा।'—कुवेष-अकिंचन आदि भगवान् को प्रिय हैं, इनसे ब्रह्मा-शिव को सन्देह होता है कि इनको देने के योग्य हमारे पास कुछ नहीं है, क्या दें? क्योंकि ये दोनों तप आदि कर्मों के फल देनेवाले हैं, यथा—"मैं ब्रह्मा मिलि तेहि बर दीन्हा।" (दो० १७६), पुनः यह भी भाव है कि कहीं वे हमारे ही लोक लेने की इच्छा न करें अथवा ब्रह्मा और शिव भी इतने बड़े त्याग, वैभव पा सकने में सन्देह रखते हैं। यद्यपि उनमें स्वाभाविक विवेक है।

(४) 'मो पर कृपा करिय··· ···'—राजा ने सुत-सेवक बनकर नाम पूछा। उसने नहीं बताया। किन्तु, उदासीनता की बातों में टाल दिया। इसपर राजा ने समझा कि मुनि को अपना परिचय देना अभीष्ट नहीं है, अतएव प्रार्थना करता है कि आप कोई भी हों, पर मुझपर कृपा करें, मुझे सुत-सेवक मानें।

सहज प्रीति भूपति कै देखी। आप बिषय बिस्वास बिसेखी॥६॥
सब प्रकार राजहिं अपनाई। बोलेउ अधिक सनेह जनाई॥७॥
सुनु सतिभाउ कहउँ महिपाला। बहाँ बसत बीते बहु काला॥८॥

दोहा—अब लगि मोहिं न मिलेउ कोउ, मैं न जनावउँ काहु।
लोकमान्यता अनल-सम, कर तप-कानन दाहु॥
सो०—तुलसी देखि सुबेषु, भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।
सुंदर केकिहि पेखु, बचन सुधासम असन अहि॥१६१॥

शब्दार्थ—सहज = स्वाभाविक। आप बिषय = अपने ऊपर। अपनाई = अनुकूल करके। केकिहिं = मोर को। पेखु = देखो। असन = भोजन।

अर्थ—अपने ऊपर राजा की स्वाभाविक प्रीति और अधिक विश्वास देखकर॥६॥ और सब तरह से राजा को अपने अनुकूल करके अधिक स्नेह प्रकट करता हुआ बोला॥७॥ हे राजन्! सुनो, मैं सत्यभाव से कहता हूँ, यहाँ बसते हुए मुझे बहुत समय बीत गया॥८॥ अब तक कोई मुझे नहीं मिला और मैं अपनेको किसीके प्रति जनाता भी नहीं, क्योंकि लोक-बड़ाई तपस्या-रूपी वन को अग्नि के समान भस्म कर देती है॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (बनावटी) सुन्दर वेष देखकर मूर्ख ही नहीं प्रत्युत चतुर मनुष्य भी उसमें भूल जाते हैं। देखिये, मोर देखने में शरीर से सुन्दर होता है और उसके वचन भी अमृत के समान श्रवण-प्रिय होते हैं, परन्तु भोजन उसका साँप है॥१६१॥

विशेष—(१) 'सहज प्रीति''सब प्रकार''''—राजा की प्रीति-प्रतीति देखने के लिये कपटी मुनि ने जैसा वचन कहा था, वह देख लिया। जब विशेष विश्वास पाया, तब सब भाँति अधीन करके अब पूर्व की अपेक्षा अधिक स्नेह जताते हुए बोला।

(२) 'सुनु सतिभाउ''' भाव अब नहीं छिपायेंगे। अतः, आगे जो कुछ कहेंगे, सत्य ही कहेंगे। 'महिपाला'—राजा ने अपनेको मन्त्री कहा था, पर इसने महिपाल कहा, इससे अपनी सर्वज्ञता जनाई। इसीपर आगे कहेगा—'गुरु-प्रसाद सब जानिय'''। जब राजा को अपने अधीन जान लिया कि जो कहूँगा, वही मान लेगा, तब 'सतिभाउ' कहकर सिद्धई दिखाने लगा। 'बहु काला'—यह भी युक्ति का वचन है, राजा तो बहुकालीन महात्मा समझेगा और यह थोड़े ही समय से राज्य छिन जाने पर यहाँ आया है। 'बहुकाल' में दस-बीस दिन और बहुत कल्प—सभी का समावेश हो जाता है।

(३) 'अब लगि मोहि न''—सन्त के पास कोई आकर सिद्धई देखता है तो वह दूसरे से कहता नहीं है। ऐसे ही कानोकान ख्याति हो जाती है, अथवा स्वयं भिक्षाटन के बहाने चेताने निकले, तो अपने वचन-कर्म से अपनी सिद्धई प्रकट करते हैं। कपटी मुनि अपने में इन दोनों रीतियों का निषेध करता है, इसका कारण उत्तरार्द्ध में कहा। 'लोकमान्यता अनल''—दावानल सम्पूर्ण वन में फैलकर उसे भस्म कर देता है, ऐसे ही लोक-बड़ाई संसार में फैलकर तप का नाश कर देती है। जैसे विश्वामित्र की बहुत तपस्या को त्रिशंकु ने, कुछ अप्सराओं ने और कुछ विप्र-पुत्र ने लूटा, तथा—"सम्मानना परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते यतः। जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विन्दति॥ तस्माच्चरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन्। जनाँ यथावमन्येरन्गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम्। (वि० पु० २।१३।४२-४३), अर्थात् योग की प्राप्ति में अधिक हानि-कारक सम्मान ही है। योगी जो औरों से अपमानित होता है, वह योग सिद्धि पाता है। इसलिये योगी को चाहिये कि वह सन्मार्ग को दूषित न करता हुआ ऐसा आचरण रक्खे, जिससे लोग उसका अपमान करें और वह संग (संसारासक्ति) से दूर रहे, एवं—"सम्मानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव। अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥ सुखं ह्यवमनः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते। सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नव-मन्ता विनश्यति॥" (मनु० अ० २।१६२-१६३), अर्थात् ब्राह्मण को सम्मान से नित्य विष के समान निरपेक्ष रहना चाहिये। अमृत तुल्य अपमान की कांक्षा रखनी चाहिये, क्योंकि अपमानित व्यक्ति सुख से सोता है और सुख से जागता है एवं संसार में सुख से विचरता है, अपमान करनेवाला नष्ट होता है, तथा—माँगि मधुकरी खात ते, सोवत गोड़ पसारि। पाप-प्रतिष्ठा बढ़ि परी, ताते बाढ़ी रारि॥" (दोहावली ४९४), इसका 'सिद्धान्त-तिलक' भी देखिये।

(४) 'तुलसी देखि सुबेषु'''—राजा को प्रथम तापस वेष देखकर धोखा हुआ और यहाँ उसके स्नेहमय (साधुसम) वचनों पर भूला, इसीका समाधान ग्रन्थकार करते हैं जैसे मोर देखने में सुन्दर होता है, उसकी बोली (वर्षा में दूर से) सुहावनी होती है, इससे आपाततः लोग मोहित हो जाते हैं। वैसे ही साधु-वेष और उसके स्नेहमय वचनों से चतुर भी धोखे में पड़ जाते हैं, यथा—"बचन बेष क्यों जानिये, मन मलीन नर नारि। सूपनखा मृग पूतना, दसमुख प्रमुख बिचारि॥" (दोहावली ४०८), अर्थात् वचन-वेष से हृदय को परखना अति कठिन है।

हाँ, जैसे मोर की संगति करने से उसके स्वभाव का पता लग जाता है कि वह हिंसक एवं घोर सर्पों को पचानेवाला है, वैसे ही वेषधारी कपटी साधु का संग कुछ काल करने से उसकी हार्दिक वृत्ति छिप नहीं सकेगी, यथा—"कपट सीर-सूची सहस, बाँधि बचन पर बास। किय दुराउ चहै चातुरी, सो सठ तुलसी दास॥" (दोहावली ४१०), अर्थात् इससे जब राजा को 'महिपाला' कहा, तभी शंका करनी थी कि यह कोई भेदी न हो। मैंने तो इसे मन्त्री ही कहा था। पुनः कुछ काल सहवास करके हार्दिक स्थिति भी जान सकता था, पर यहाँ राजा भावी-वश एकाएक प्रीति-प्रतीति करके अधीन हो गया, जिससे परीक्षा-वृत्ति ही

न उठ सकी। अतः, चतुर होते हुए भी भूल गया। (जो समदृष्टि से वेषमात्र के उपासक हैं उन्हें परीक्षा की अपेक्षा ही नहीं है। अतः, उन्हें भूल कहना अयोग्य है।)

यहाँ कपटी मुनि मोर है जो भानुप्रताप के वंशरूप अहिकुल का नाशक होगा, यह भी ध्वनित है।

ताते गुपुत रहउँ जग माहीं। हरि तजि किमपि प्रयोजन नाहीं ॥१॥
प्रभु जानत सब बिनहि जनाये। कहहु कवन सिधि लोक रिझाये ॥२॥
तुम्ह सुचि सुमति परम प्रिय मोरे। प्रीति प्रतीति मोहि पर तोरे ॥३॥
अब जौ तात दुरावउँ तोही। दारुन दोष घटइ अति मोही ॥४॥

शब्दार्थ—किमपि = कुछ भी। घटइ = लगेगा। रिझाये = प्रसन्न करने से।

अर्थ—इसीसे मैं संसार में गुप्त रहता हूँ और भगवान् को छोड़कर अन्य कुछ भी प्रयोजन नहीं रखता ॥१॥ प्रभु तो बिना जनाये ही सब कुछ जानते हैं, कहो तो भला, लोक को रिझाने से क्या सिद्धि होगी ? ॥२॥ तुम पवित्र हो और तुम्हारी बुद्धि अच्छी है। (अतएव मुझे परम-प्रिय हो) मुझपर तुम्हारी प्रीति और प्रतीति है ॥३॥ (इससे) हे तात ! यदि अब भी मैं तुमसे कुछ बात छिपाऊँ तो मुझे अत्यन्त कठिन दोष लगेगा ॥४॥

विशेष—(१) 'ताते गुपुत···'—'ताते' जो प्रथम कहा कि—'लोकमान्यता अनल···'। राजा ने कहा था—'परम अकिंचन प्रिय···' उसीको तापस ने कहा—'हरि तजि किमपि···'।

(२) 'प्रभु जानत सब···'—प्रभु अर्थात् समर्थ हैं, बिना जनाये ही जानते हैं। अतः, सर्वज्ञ हैं अर्थात् वे स्वयं मन की जानकर मनोरथ-पूर्त्ति करने में समर्थ हैं। फिर अल्पज्ञ एवं स्वार्थी जगत् को रिझाने में क्या रक्खा है ? स्वार्थी जगत् के द्वारा भी प्रभु को ही प्रेरणा एवं संयोग करने से स्वार्थ सिद्ध होता है।

(३) 'तुम्ह सुचि सुमति···'—उपर्युक्त दो अर्द्धालियों से राजा कुछ उदास हो गया कि तब हमसे भी क्यों बतावेंगे। इसपर तापस कहता है कि 'तुम्ह सुचि···' 'अब जौ तात···' अर्थात् तुमसे छिपा नहीं सकता, इसीसे कहूँगा। पूर्वार्द्ध में 'सुचि-सुमति' और उत्तरार्द्ध में—'प्रीति प्रतीति' क्रमशः साधन-साध्य हैं, अर्थात् हृदय शुचि होने से प्रीति और सुन्दर मति के द्वारा हमें यथार्थ जानने से प्रतीति है।

(४) 'दारुन दोष घटइ...'—अपने में प्रीति करनेवाले से छिपाव रखना बड़ा पाप है और मैं तो साधु हूँ। मैं यदि ऐसे व्यक्ति से छिपाव करूँ तो मुझे अत्यन्त भारी पाप लगेगा।

जिमि-जिमि तापस कथइ उदासा। तिमि-तिमि नृपहिं उपज बिस्वासा ॥५॥
देखा स्वबस करम-मन-बानी। तब बोला तापस बकध्यानी ॥६॥
नाम हमार एकतनु भाई। सुनि नृप बोलेउ पुनि सिर नाई ॥७॥
कहहु नाम कर अरथ बखानी। मोहि सेवक अति आपन जानी ॥८॥

दोहा—आदि सृष्टि उपजी जबहिं, तब उत्पति भइ मोरि।
नाम एकतनु हेतु तेहि, देह न धरी बहोरि ॥१६२॥

अर्थ—जैसे-जैसे तपस्वी उदासीनता की बातें कहता था, वैसे-वैसे राजा को उसपर विश्वास (अधिक) उत्पन्न होता था ॥५॥ कर्म, मन और वचन से (राजा को) अपने वश में देख लिया, तब वह बक-ध्यानी (दम्भी) तपस्वी बोला ॥६॥ हे भाई ! हमारा नाम 'एकतनु' है। यह सुनकर राजा फिर प्रणाम करके बोला ॥७॥ कि मुझे अपना अत्यन्त (अनुगत) सेवक समझकर इस (एकतनु) नाम का अर्थ बखान

(विस्तारपूर्वक समझा)-कर कहिये ॥८॥ (वह बोला कि) सबसे पहले जब सृष्टि उत्पन्न हुई तभी मेरी उत्पत्ति हुई, एकतनु नाम उसी कारण से पड़ा कि फिर मैंने (दूसरा) देह-धारण नहीं किया ॥१६२॥

विशेष—(१) 'कथइ उदासा'—इसकी उदासीनता कथनमात्र है, फिर भी भावी-वश राजा को अन्ध-विश्वास होता जाता है।

(२) 'देखा स्वबस करम मन बानी।'—कर्म से, यथा—"जोसि सोसि तव चरन नमामी।" मन से, यथा—"सहज प्रीति भूपति कै देखी।" प्रीति मन का धर्म है - वचन से, यथा—"कह नृप जे बिज्ञाननिधाना।"—से—"होत बिरंचि सिवहिं संदेहा॥" (दो० १६०) तक।

'बकध्यानी'—जैसे वक ऊपर से सीधा बनकर ध्यान लगाये हुए रहता है, पर भीतर से उसे मछली खाने की ताक रहती है, वैसे ही यह ऊपर से वेष-मात्र से साधु बना है, पर भीतर से राजा के नाश का प्रयत्न कर रहा है, यथा—"जेहि रिपु छय सोइ रचेन्हि उपाऊ।" (दो० १६९)।

(३) 'नाम हमार एकतनु ·····'—इस नाम-कथन में 'भाई' सम्बोधन से ध्वनित होता है कि हम-तुम भाई अर्थात् एक वर्ग के हैं अर्थात् तुम राजा हो, हम भी राजा ही हैं। इसने बहुत प्रार्थना करवाकर तो नाम मात्र कहा। राजा ने बखानकर कहने की प्रार्थना की थी कि जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा (जो मन में आवे)—चार प्रकार के नाम होते हैं, सब कहिये, जिससे पूरा परिचय हो जाय। 'एकतनु' नाम से राजा को सन्देह होगा ही कि एकतनु तो सभीके होते हैं, यह कैसा नाम ? अतः, फिर प्रार्थना करेगा तो इसका अर्थ कहूँगा, वही हुआ।

(४) 'आदि सृष्टि उपजी·····'—इस नाम के अर्थ में भी तापस की युक्ति है। राजा तो समझेगा कि प्रथम कल्प में जब प्रथम सृष्टि हुई, तभी मैं पैदा हुआ। तब से अभी तक कितनी ही बार उत्पत्ति-प्रलय हो गये, पर मेरी वही देह बनी हुई है। पर यथार्थ यह है कि मेरे माता-पिता से जो आदि सृष्टि हुई, अर्थात् प्रथम सन्तान हुई, वही मैं हूँ, अर्थात् मैं ज्येष्ठ पुत्र हूँ। 'एकतनु भाई' का यह भी भाव है कि मैं अकेला भाई हूँ, जबसे पैदा हुआ, अभी तक जीता ही हूँ। अतः, दूसरी बार देह धारण नहीं करना पड़ा। 'आदिसृष्टि' ब्रह्म-पुराण के अनुसार ब्रह्मा ने चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को सूर्योदय के समय पहले-पहल सृष्टि की रचना की, यथा—"चैत्रे मासे जगद्ब्रह्मा ससर्ज प्रथमेऽहनि। शुक्लपक्षे समग्रन्तु यथा सूर्योदये सति॥ प्रवर्त्तयामास तदा कालस्य गणनामपि॥"

जनि आचरज करहु मन माहीं। सुत तप ते दुरलभ कछु नाहीं ॥१॥
तपबल ते जग सृजइ बिधाता। तपबल बिष्नु भये परित्राता ॥२॥
तपबल संभु करहिं संहारा। तप ते अगम न कछु संसारा ॥३॥

शब्दार्थ—सृजइ = रचता है। परित्राता = रक्षक एवं पालन-कर्त्ता। संहारा = प्रलय। अगम = अप्राप्य।

अर्थ—हे पुत्र ! अपने मन में यह सुनकर आश्चर्य मत करो, क्योंकि तप से कुछ भी दुर्लभ नहीं है ॥१॥ तप के बल से ही ब्रह्मा जगत् को उत्पन्न करते हैं, तप के बल से विष्णु भगवान् पालनकर्त्ता हुए ॥२॥ और तपस्या के ही बल से महादेवजी संहार करते हैं—तपस्या से संसार में कुछ भी अप्राप्य नहीं है ॥३॥

विशेष—(१) 'जनि आचरज·····'—उपर्युक्त बात पर राजा के मन में सन्देह हुआ कि यह तो असम्भव बात है, उसीको चेष्टा से जानकर समाधान करता है, कि—'जनि आचरज····'। प्रमाण—"यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्। सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥" (मनु० ११।२३८), तथा—"तपबल रचइ प्रपंच बिधाता।"····· से—"तप आधार सब सृष्टि भवानी॥" (दो० ७२) तक, यह प्रसंग भी देखिये।

'सुत'—राजा ने कई बार उससे 'सुत-सेवक' मानने को कहा और पिता कहा है। अतः, इसने भी

'सुत' कहा। भाव यह कि मैंने तुम्हें 'सुत' मान लिया। दूसरा यह भी भाव है कि इस नाते से ही गुप्त बातें भी कहता हूँ। आगे अपनी श्रेष्ठता की पुष्टि में परम श्रेष्ठ त्रिदेवों का प्रमाण भी देता है।

(३) 'तप ते अगम न कछु ·····' - भाव यह कि त्रिदेव ही नहीं, कोई भी संसार का ही व्यक्ति क्यों न हो, तप से त्रिदेवों का काम कर सकता है। जैसे, स्कन्दपुराण के अनुसार राजा दिवोदास ने तप करके अकेले ही त्रिदेवों के पद लेने की चेष्टा की थी। पर पीछे उसके नास्तिक हो जाने पर सिद्धि नहीं मिली। श्रीविश्वामित्रजी भी तपस्या के ही प्रभाव से सृष्टि करने लगे थे। वाल्मीकि १।६०।२१-३४ में प्रमाण है। इस प्रकार कपटी मुनि ने युक्ति से अपने को त्रिदेवों के तुल्य जनाया। तब राजा को निश्चय हो गया कि ये चिरकालीन महात्मा हैं।

भयेउ नृपहि सुनि अति अनुरागा। कथा पुरातन कहइ सो लागा ॥४॥
करम धरम इतिहास अनेका। करइ निरूपन बिरति बिबेका ॥५॥
उद्भव - पालन - प्रलय कहानी। कहेसि अमित आचरज बखानी ॥६॥

अर्थ—यह सुनकर राजा को अत्यन्त अनुराग उत्पन्न हुआ, तब वह मुनि पुरानी कथाएँ कहने लग गया ॥४॥ कर्म, धर्म और तत्सम्बन्धी अनेक इतिहास कहे, उन्हींके साथ ज्ञान-वैराग्य का भी निरूपण करता था ॥५॥ उत्पत्ति, पालन और संहार की अनेक प्रकार की बहुत आश्चर्ययुक्त आख्यायिकाएँ उसने कह सुनाईं ॥६॥

विशेष—(१) 'अति अनुरागा। कथा ··'—श्रोता का अनुराग देखकर कथा कहने लगा, यथा—"लागी सुनइ श्रवन मन लाई। आदिहुँ ते सब कथा सुनाई ॥ (सु० दो० १२)। 'पुरातन'—अपनी उत्पत्ति आदिकल्प में कही है। वही पुरानी कथाओं के वर्णन से सिद्ध करता है कि ये सब घटनाएँ हमारी आँखों के सामने हुई हैं। अतः, मैं जानता हूँ, वही कहता हूँ।

(२) 'करम धरम इतिहास···'—कर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है, यथा—"किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।····" से—"गहना कर्मणो गतिः ॥" (गीता ४।१६-१७) तक। कर्म-गति ब्रह्मा ही जानते हैं, यथा—"कठिन करम-गति जान बिधाता ॥" (अ० दो० २८१)। धर्म, यथा—"खोजत कतहुँ मिलइ नहिं धूरी। करइ क्रोध जिमि धर्महिं दूरी ॥" (कि० दो० १४), अर्थात् धर्म रजःकणों की तरह अनन्त एवं सूक्ष्म है। इन्हीं कर्म-धर्म के उदाहरण-रूप में अनेक इतिहास कहे कि अमुक कल्प में अमुक व्यक्ति ने अमुक कर्म किया और अमुक फल पाया। वैराग्य और ज्ञान का स्वरूप निरूपण किया, देखिये अर० दो० १४। इतिहासों में इनके भी साधकों एवं सिद्धों के उदाहरण कहे।

(३) 'उद्भव-पालन-प्रलय कहानी।·· '—सर्वप्रेरक नर-शब्द वाच्य श्रीरामजी को सृष्टि की इच्छा हुई तब उन्होंने जल उत्पन्न करके उसमें चतुर्भुज-रूप से शयन किया। अतः, नारायण नाम पड़ा। उनकी नाभी से कमल हुआ, उससे ब्रह्मा हुए, तब उन्होंने त्रिगुणात्मक संसार रचा। विष्णु नाना अवतार लेकर रक्षा करते हैं एवं प्रेरक-रूप से चराचर जगत् का पालन अन्योन्य सम्बन्ध से करते हैं और शिवजी संहार (प्रलय) करते हैं। कभी-कभी शेषजी और सूर्य भगवान् से भी प्रलय-व्यापार होते हैं। भाग० १२।४ में चार प्रकार के प्रलयों का विस्तृत वर्णन है, वहाँ १२।४।२८ में—नित्य, नैमित्तिक, प्राकृतिक और आत्यन्तिक, ये चारो प्रलयों के नाम भी कहे गये हैं, इत्यादि।

'कहेसि अमित आचरज ·····'—आश्चर्य यह कि कभी-कभी तीनो काम एक ही करते हैं, यथा—"उद्भव पालन प्रलय समीहा" (लं० दो० १४), यह विराट के प्रसंग में कहा है। कभी ब्रह्मा ही तीनो काम करते हैं, यथा—"जो सृजि पालइ हरइ बहोरी।" (अ० दो० २८१) और भी जहाँ-तहाँ विराट-प्रसंग में कही हुई आश्चर्य की बातें कहीं।

सुनि महीप तापसबस भयेऊ। आपन नाम कहन तब लयेऊ ॥७॥
कह तापस नृप जानउँ तोही। कीन्हेहु कपट लाग भल मोही ॥८॥

दोहा—सुनु महीस असि नीति, जहँ तहँ नाम न कहहिं नृप।
मोहि तोहि पर अति प्रीति, सोइ चतुरता बिचारि तव ॥१६३॥

अर्थ—(यह सब) सुनकर राजा उस तपस्वी के वश में हो गया और अपना नाम कहने पर हुआ ॥५॥ तब उस तपस्वी राजा ने कहा कि हे राजन्! मैं तुम्हें जानता हूँ। तुमने जो कपट किया है, वह मुझे अच्छा लगा ॥८॥ हे राजन्! सुनो, ऐसी नीति है कि अपना नाम राजा जहाँ-तहाँ नहीं कहा करते। वही तुम्हारी चतुरता समझकर तुमपर मेरी अत्यन्त प्रीति है ॥१६३॥

विशेष—'नाम कहन तब लयेऊ'—कहने को हुआ, पर कहने न पाया। बीच में ही तापस ने इसकी बात काटकर सर्वज्ञता दिखाने के लिये स्वयं कहने लगा।

'कीन्हेहु कपट लाग भल·····'—कपट किसीको भला नहीं लगता, क्योंकि वह प्रीति-प्रतीति का नाशक है, यथा—"जल पय सरिस बिकाय, देखहु प्रीति कि रीति भलि। बिलग होइ रस जाइ, कपट खटाई परत पुनि ॥" (दो० ५७)। पर तापस को अच्छा लगा। इसका कारण आगे दोहे में कहा है कि यह तो कपट नहीं, नीति की निपुणता है, यथा—"परम चतुर न कहेउ निज नामा ॥" (दो० १५७)। इसी 'परम चतुरता' पर तो तुमपर मेरी 'अति प्रीति' है।

नाम तुम्हार प्रतापदिनेसा। सत्यकेतु तव पिता नरेसा ॥१॥
गुरुप्रसाद सब जानिय राजा। कहिय न आपन जानि अकाजा ॥२॥
देखि तात तव सहज सुधाई। प्रीति प्रतीति नीतिनिपुनाई ॥३॥
उपजि परी ममता मन मोरे। कहउँ कथा निज पूछे तोरे ॥४॥
अब प्रसन्न मैं संसय नाहीं। माँगु जो भूप भाव मन माहीं ॥५॥

अर्थ—तुम्हारा नाम भानुप्रताप है और तुम्हारे पिता राजा सत्यकेतु थे ॥१॥ हे राजन्! मैं गुरु की प्रसन्नता (कृपा) से सब जानता हूँ, पर अपनी हानि समझकर नहीं कहता ॥२॥ हे तात! तुम्हारे स्वाभाविक सीधेपन, प्रीति, प्रतीति एवं नीति में निपुणता को देखकर ॥३॥ मेरे मन में ममत्व उत्पन्न हो आया है। अतः, तुम्हारे पूछने से मैं अपनी कथा कहता हूँ ॥४॥ अब मैं प्रसन्न हूँ, इसमें संशय नहीं। राजन्! जो मन में भावे, वह माँग लो ॥५॥

विशेष—(१) 'नाम तुम्हार···'—प्रथम राजा का नाम कहा, तब पिता का भी अर्थात् तुम्हीं को नहीं, तुम्हारे कुल भर को जानता हूँ, इस तरह अपनी सर्वज्ञता प्रकट की। यह भी भाव है कि दंडवत् करते समय राजा को अपने पिता-समेत नाम लेना था, उसकी पूर्त्ति कर दी।

(२) 'गुरुप्रसाद सब जानिय···'—प्रथम इसने अपने में तपोबल होना युक्ति से कहा था, अब गुरु-प्रसाद भी कहा, तात्पर्य यह कि साधन के साथ-साथ गुरु-कृपा भी चाहिये, क्योंकि—"बिनु गुरु होइ कि ज्ञान (उ० दो० ८९)। यह भाव भी ध्वनित करता है कि हमें गुरु करोगे तो हमारी कृपा से तुम भी ऐसा ही सिद्ध हो जाओगे।

'कहिय न आपन जानि···'—सर्वज्ञता की ख्याति से व्यवहार में फँस जाऊँगा, इससे भगवद्भजन छूट जायगा और तप नष्ट हो जायगा, यथा—'लोकमान्यता अनल सम···'।

(३) 'सहज सुभाई', यथा—"सरल बचन नृप के सुनि काना।" (दो० १५६)। शेष प्रीति-प्रतीति आदि अभी ऊपर कही गई हैं।

(४) 'उपजि परी ममता मन मोरे।···' सन्त निर्मम होते हैं, वैसे मैं भी निर्मम था, पर तुम्हारे उपर्युक्त गुणों के कारण मुझसे न रहा गया, ममता उपज ही पड़ी। ममता अर्थात् मदीयत्व रूप स्नेह, यह माता-पिता में पुत्र के प्रति होता है अर्थात् तुममें मेरा पुत्रभाव हार्दिक वृत्ति से है। तापस ने अपनी कथा कहने में दो हेतु कहे—'ममता' और 'पूछे तोरे' अर्थात् दो में एक भी न होता तो न कहता।

(५) 'माँगु जो भूप भाव मन माहीं।'—'संसय नाहीं' प्रथम जबतक तुमने कपट किया था, तब तक पूर्ण प्रसन्नता में संशय था, पर अब तुम निष्कपट हो गये। अतः, अब संशय नहीं। 'भूप'—भूमंडल के सातो द्वीपों के राजा तो तुम हुई हो। और लोकों का जो ऐश्वर्य चाहो, माँग लो। अच्छी तरह स्ववश में करके अब नाश का उपाय करता है।

सुनि सुबचन भूपति हरषाना। गहि पद बिनय कीन्हि बिधि नाना ॥६॥
कृपासिंधु मुनि दरसन तोरे। चारि पदारथ करतल मोरे ॥७॥
प्रभुहिं तथापि प्रसन्न बिलोकी। माँगि अगम बर होउँ असोकी ॥८॥

दोहा—जरा-मरन-दुखरहित तनु, समर जितइ जनि कोउ।
एकछत्र रिपुहीन महि, राज कलप सत होउ ॥१६४॥

अर्थ—सुन्दर वचन सुनकर राजा प्रसन्न हुआ और उस तपस्वी के चरण पकड़कर बहुत प्रकार से प्रार्थना की ॥६॥ हे कृपासागर मुनि! (यद्यपि) आपके दर्शनों से चार पदार्थ (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) मेरी हथेली पर हैं ॥७॥ तथापि प्रभु (परम समर्थ आप) को प्रसन्न देख दुर्लभ वर माँगकर शोकरहित हो जाना चाहता हूँ ॥८॥ बुढ़ापा और मृत्यु के दुःखों से रहित मेरा शरीर हो, मुझे संग्राम में कोई जीत न सके, पृथ्वी पर मेरा कोई शत्रु न रहे और सौ कल्पों तक एकच्छत्र मेरा राज्य हो ॥१६४॥

विशेष—(१) 'सुनि सुबचन भूपति···'—राजा मन, वचन, कर्म से शरणागत हुआ। 'हरषाना' मन, 'गहि पद' कर्म, 'बिनय कीन्हि' वचन है।

(२) 'चारि पदारथ करतल···'—चारो पदार्थ मुझे प्रथम ही प्राप्त थे, यथा—"अरथ धरम कामादि सुख···" (दो० १५८)। यहाँ इतनी विशेषता हुई कि अब हथेली पर हो गये, चाहे जिसको भी दे दूँ। यह आपके दर्शनों का महत्त्व है।

(३) 'प्रभुहिं अगम बर···'—भाव यह कि आप अगम (अप्राप्य) वर भी देने में समर्थ हैं।

(४) 'जरा-मरन-दुखरहित·····'—राजा को विश्वास है कि तपस्वीजी आदि कल्प से अभी तक 'एकतनु' से ही बने हैं तो हमें भी कर सकेंगे, शेष बातें तो इनके लिये सुगम हैं ही।

(५) 'कलप·····'—कल्प ब्रह्मा का एक दिन कहाता है जिसमें चौदह मन्वन्तर होते हैं। कल्प तीस हैं—(१) श्वेत वाराह, (२) नीललोहित, (३) वामदेव, (४) गाथान्तर, (५) रौरव, (६) प्राण, (७) बृहत्कल्प, (८) कन्दर्प, (९) सत्य, (१०) ईशान, (११) ध्यान, (१२) सारस्वत, (१३) उदान, (१४) गारुड़, (१५) कौर्म (ब्रह्मा की पूर्णिमा), (१६) नारसिंह, (१७) समाधि, (१८) आग्नेय, (१९) विष्णुज, (२०) सौर, (२१) सोम, (२२) पावन, (२३) भावन, (२४) सप्तमाली, (२५) वैकुण्ठ, (२६) आर्चिष, (२७) वल्मी, (२८) वैराज, (२९) गौरी और (३०) पितृकल्प (ब्रह्मा की अमावस्या)। इन तीस कल्पों का ब्रह्मा का एक महीना होता है और बारह महीनों का एक वर्ष। ऐसे सौ वर्षों की आयु ब्रह्मा भोगते हैं। अभी ब्रह्मा के पचास वर्ष बीत चुके हैं। ५१ वें वर्ष में श्वेत वाराह कल्प चल रहा है (विश्वकोष)।

शंका—यहाँ तो यह इसी शरीर की अजरता-अमरता माँग रहा है और सौ कल्प का राज्य भी। अनित्य देह एवं नश्वर राज्य-वैभव के माँगने में यहाँ अत्यन्त तृष्णा स्पष्ट है, फिर यह ज्ञान क्यों कहा गया था ?, यथा—"करइ जे धरम करम'''नृप ज्ञानी ॥" (दो० १५५)।

समाधान—(क) इसे केवल शास्त्रीय ज्ञान कर्म-धर्म विधि का था, वह लीला-विधि-विधायक प्रभु की इच्छा से विचलित हो गया। महा अज्ञानी की भाँति कर्म (रूपी कपटी मुनि) और तदनुसार काल (रूपी कालकेतु) के छल में पड़ गया। शिवजी ने कहा ही है—'ज्ञानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ ॥" (दो० १२४)।

कह तापस नृप ऐसेइ होऊ। कारन एक कठिन सुनु सोऊ ॥१॥
कालउ तुअ पद नाइहि सीसा। एक बिप्रकुल छाड़ि महीसा ॥२॥
तपबल बिप्र सदा बरियारा। तिन्हके कोप न कोउ रखवारा ॥३॥
जौ बिप्रन्ह बस करहु नरेसा। तौ तुअ बस बिधि बिष्नु महेसा ॥४॥

अर्थ—तपस्वी राजा ने कहा कि हे राजन् ! ऐसा हो हो, किन्तु इसमें एक कठिन कारण है, वह भी सुन लो ॥१॥ हे राजन् ! एक ब्राह्मण-कुल को छोड़कर काल भी तुम्हारे चरणों पर सिर झुकावेगा ॥२॥ (क्योंकि) तपस्या के बल से ब्राह्मण लोग सदा बलवान् रहते हैं। (अतः,) उनके कोप से कोई रक्षक नहीं है ॥३॥ हे राजन् ! जो तुम ब्राह्मणों को वश कर लो, तो तुम्हारे वश विधि, हरि और हर भी हो जायँ ॥४॥

विशेष—'कालउ तुअ पद'''—जब काल ही अधीन रहेगा तब मरण आदि के दुःख हो ही नहीं सकेंगे। इसमें जो एक कारण कहा, उसमें पूर्वोक्त अपने कथनानुसार तपोबल ही दिखाया था। विप्रों के वश होने से सहज ही में देवता और त्रिदेव भी वश हो जायँगे, यथा—"मन-क्रम-बचन कपट तजि, जो कर भूसुर-सेव। मोहिं समेत बिरंचि सिव, बस ताके सब देव ॥" (अर० दो० ३३)। फिर यहाँ तापस ने विप्र-वश करने का महत्त्व तो कहा, पर उपाय नहीं कहा, क्योंकि आगे इसे कहना है कि इस युक्ति को गुप्त रखना। यदि अभी स्वयं बतला दे, तो आगे राजा कह सकेगा कि आपने तो मुझे यों ही कह दिया, तो मैं क्यों न कहूँ ? अतः, राजा के आग्रह पर कहेगा।

'तिन्हके कोप न कोउ रखवारा।', यथा—"यस्य ह्येते सम्प्ररुष्टा मन्त्रयसि पराभवम्। न तस्य त्रिषु लोकेषु त्राता भवति कश्चन ॥" (महा० शान्ति० १३५।१७), अर्थात् ये (ब्राह्मण लोग) क्रुद्ध होकर जिसके पराभव की मन्त्रणा करते हैं, तीनों लोकों में कोई भी उसका रक्षक नहीं होता। "न स जातोऽजनिष्यद्वा पृथिव्यामिह कश्चन। यो ब्राह्मणविरोधेन सुखं जीवितुमुत्सहेत् ॥ दुर्ग्राह्यो मुष्टिना वायुर्दुःस्पर्शः पाणिना शशी। दुर्धरा पृथिवीराजन्दुर्जया ब्राह्मणा भुविः (महा० अनुशा० ३३।२६-२७)।

चल न ब्रह्मकुल सन बरियाई। सत्य कहउँ दोउ भुजा उठाई ॥५॥
बिप्रस्राप बिनु सुनु महिपाला। तोर नास नहिं कवनेहुँ काला ॥६॥
हरषेउ राउ बचन सुनि तासू। नाथ न होइ मोर अब नासू ॥७॥
तव प्रसाद प्रभु कृपानिधाना। मो कहँ सर्वकाल कल्याना ॥८॥

अर्थ—दोनों भुजाएँ उठाकर मैं सत्य कहता हूँ कि विप्रकुल से बल-प्रयोग नहीं चलता ॥५॥ हे राजन् ! सुनो, ब्राह्मणों के शाप के बिना तुम्हारा नाश किसी भी समय में नहीं है ॥६॥ उसके वचन सुनकर राजा हर्षित हुआ (और कहा कि) हे नाथ ! अब मेरा नाश नहीं होगा ॥७॥ हे कृपानिधान ! आपकी प्रसन्नता से मेरा कल्याण सब समय में है ॥८॥

विशेष—(१) 'चल न ब्रह्मकुल···' अर्थात् तुम्हारी बरियाई (बल-प्रयोग) राजकुल पर चली है, यथा—"जीते सकल भूप बरियाई।" (दो० १५३), वैसी विप्रकुल पर नहीं चलेगी। 'दोउ भुजा उठाई' यह शपथ की रीति है, यथा—"पन बिदेह कर कहहिं हम, भुजा उठाइ बिसाल॥" (दो० २४९), तथा—"भुज उठाइ पन कीन्ह" (अर० दो० ९)। पर इसने दोनों भुजाएँ उठाकर अपनी प्रतिज्ञा को अधिक सत्य दिखाया कि मैं अगम वर भी अवश्य सत्य कर सकता हूँ। इसकी यह प्रतिज्ञा अवरेव से सत्य ही निकलेगी। राजा के कुल-भर का नाश विप्रशाप ही से होगा। इसे अपने मित्र कालकेतु के कर्मों का विश्वास है। यह बार-बार नाश की ध्वनि से स्पष्ट है।

(२) 'हरषेउ····· सर्वकाल कल्याना।'—राजा को इच्छित वर मिलने से हर्ष हुआ। फिर विप्र-वश-द्वारा सर्वकाल के कल्याण का भी उपाय है, वह भी तापस की प्रसन्नता एवं कृपा-द्वारा हो जायगा (ऐसा राजा को विश्वास हो गया है)। यह अधिक मिला। अन्यथा काल ही को अपने वश में कर लेने से राजा शरीर से तो अमर रहता, पर उसका राज्य-सुख सौ कल्पों ही तक रहता, फिर पराधीन जीवन दुःखद होता, इसलिये 'सर्व काल कल्याना' भी माँगा है।

दोहा—एवमस्तु कहि कपट मुनि, बोला कुटिल बहोरि।
मिलब हमार भुलाब निज, कहहु त हमहिं न खोरि॥१६५॥

ताते मैं तोहि बरजउँ राजा। कहे कथा तव परम अकाजा॥१॥
छठे श्रवन यह परत कहानी। नास तुम्हार सत्य मम बानी॥२॥
यह प्रगटे अथवा द्विजस्रापा। नास तोर सुनु भानुप्रतापा॥३॥
आन उपाय निधन तव नाहीं। जौ हरि हर कोपहिं मन माहीं॥४॥

शब्दार्थ—एवमस्तु = ऐसा ही हो। कहहु त = कहोगे तो। बरजउँ = मना करता हूँ।

अर्थ—'ऐसा ही हो', कहकर उस कुटिल कपटी मुनि ने कहा कि हमारा मिलना और वन में अपना भटकना यदि कहीं कहोगे तो हमारा दोष नहीं॥१६५॥ इसीसे हम तुम्हें मना करते हैं कि हे राजन्! इस प्रसंग के कहने से तुम्हारी बड़ी हानि होगी॥१॥ छठे कान में इस कहानी (प्रसंग) के पड़ते ही तुम्हारा नाश होगा, यह हमारी वाणी सत्य है॥२॥ हे भानुप्रताप! सुनो, इस प्रसंग के प्रकट होने या ब्राह्मण-शाप से तुम्हारा नाश होगा॥३॥ यदि विष्णु और शिव मन में कोप करें तो भी अन्य उपायों से तुम्हारा नाश न होगा॥४॥

विशेष—(१) 'मिलब हमार ·····हमहिं न खोरि।' ऊपर से तो कहता है कि हमने गुप्त बात बतला दी, छिपाव नहीं किया, यथा—'दारुन दोष घटइ अति मोही।' तुम किसीसे कहोगे तो तुम्हारा नाश होगा, तब हमें दोष न देना। वास्तव में वह भीतर से शंकित है कि कहीं इसके सुजान मन्त्री लोग जान पावेंगे तो हमारा भंडा फूटेगा, फिर हमारा ही नाश होगा। इसलिये युक्ति से मना करता है।

(२) 'परम अकाजा'—अभी-अभी जो बड़ा वर माँगा है, वह व्यर्थ हो जायगा।

(३) छठे श्रवन····'—इस समय यह कहानी हमारे-तुम्हारे (२+२) चार कानों में ही है, जहाँ तीसरे मनुष्य के कानों में अर्थात् छठे कान में पड़ेगी, तभी नाश होगा। अतः, किसीसे भी न कहना। 'सत्य मम बानी' अर्थात् यह मेरा शाप समझो। अतः, ध्रुव सत्य है। यह इसके मन का डर है। 'छठे श्रवन' के श्लेषार्थ-द्वारा यह वाणी यथार्थ ही सत्य होगी, क्योंकि तीसरा कालकेतु है। उसके सुनते ही नाश का कार्य प्रारम्भ हो जायगा।

(४) 'यह प्रगटे'—मन के डर से इसे विप्रशाप से भी अधिक दिखाते हुए प्रथम कहा।

(५) 'आन उपाय·····'—यहाँ विप्रशाप को हरि-हर कोप से भी अधिक कहा, यथा—"इंद्र-कुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला॥ जो इन्ह कर मारा नहिं मरई। बिप्रद्रोह-पावक सो जरई॥" (उ० दो० १०८)। यहाँ हरि और हर दो ही कहे गये। 'हरि'—पालन न करेंगे तो नाश होगा, हर तो संहारकर्त्ता हैं ही। ब्रह्मा के कोप से रक्षण आगे दोहे में कहते हैं—

सत्य नाथ पद गहि नृप भाखा। द्विज-गुरु-कोप कहहु को राखा॥५॥
राखइ गुरु जौ कोप बिधाता। गुरुबिरोध नहिं कोउ जग त्राता॥६॥
जौ न चलब हम कहे तुम्हारे। होउ नास नहिं सोच हमारे॥७॥
एकहि डर डरपत मन मोरा। प्रभु महिदेव-स्राप अति घोरा॥८॥

दोहा—होहिं बिप्र बस कवन बिधि, कहहु कृपा करि सोउ।
तुम्ह तजि दीनदयाल निज, हितू न देखउँ कोउ॥१६६॥

अर्थ—मुनि के चरणों को पकड़कर राजा ने कहा कि हे नाथ! (आपका कथन) सत्य है, कहिये तो भला, ब्राह्मण और गुरु के कोप से रक्षा किसने की है? ॥५॥ जो विधाता कोप करें तो गुरु रक्षा कर सकते हैं, पर गुरु से विरोध करने पर जगत् में दूसरा कोई रक्षक नहीं है॥६॥ आपके कहने पर जो मैं न चलूँगा तो नाश हो जाय, मेरे हृदय में इसकी चिन्ता नहीं॥७॥ (परन्तु) प्रभो! एक ही डर से मेरा मन डरता है कि ब्राह्मणों का शाप बड़ा भयंकर होता है॥८॥ ब्राह्मण किस प्रकार मेरे वश में हों, वह भी कृपा करके कहिये। हे दीनदयालु! आपको छोड़कर मैं दूसरे किसीको भी अपना हितैषी नहीं देखता॥१६६॥

विशेष—(१) 'सत्य नाथ पद गहि···'—तपस्वी ने 'सत्य मम बानी' कहा था, उसीको प्रमाणित करते हुए, राजा ने भी 'सत्य नाथ' कहा। पुनः, उसने कहा था—"आन उपाय निधन तव नाहीं।" अतः, 'पद गहि' से कृतज्ञता दिखाई। उपर्युक्त दो० १६३ चौ० ६ भी देखिये।

(२) 'राखइ गुरु जौ कोप···' पहले 'हरिहर' का कोप कहा था, यहाँ विधि के कोप से भी रक्षण कहा। जैसे काकभुशुण्डीजी को शिवजी के कोप से उनके गुरु ने बचाया है, उ० दो० १८६-१०६ देखिये। तथा—"अभीष्टदेवे रुष्टे च गुरुः शक्तो हि रक्षितुम्। गुरौ रुष्टेऽभीष्टदेवो न हि शक्तश्च रक्षितुम्॥" (ब्रह्म वै० ४।५९।१५३), अर्थात् इष्टदेव के रुष्ट होने पर गुरु रक्षा कर सकते हैं, पर गुरु के रुष्ट होने पर वह इष्टदेव भी नहीं रक्षा कर सकता। गुरु-विरोध से जगत् भर में कोई रक्षक नहीं हो सकता। जैसे राजा त्रिशंकु ने गुरु वसिष्ठ से विरुद्ध होकर रक्षा चाही—उसे कोई बचा न सका। विश्वामित्र प्रस्तुत भी हुए तो परिणाम यह हुआ कि त्रिशंकु उलटा टँग गये!

(३) 'नहिं सोच हमारे'—तब तो अपने नाशक हम स्वयं होंगे, फिर शोच कैसा?

(४) 'एकहि डर···'—डर के कारण दो कहे गये—'यह प्रगटे अथवा द्विजसापा'—उनमें एक तो अपने अधीन है। मैं प्रकट न करूँगा और कुछ अनिष्ट न होगा। पर विप्र-शाप तो अपने वश की बात नहीं है, प्रत्युत हरिहर के कोप से भी भीषणतर है, यथा—"परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत्। ते ह्येनं कुपिता हन्युः सद्यः सबलवाहनम्॥ यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च महोदधिः। क्षयी चाप्यायितः सोमः को न नश्येत्प्रकोप्य तान्॥" (मनु० ९।३१३-३१४), अर्थात् घोर विपत्ति में भी राजा ब्राह्मण को क्रुद्ध न करे, क्योंकि क्रुद्ध होने पर वे सेना-वाहन के साथ राजा को शीघ्र नाश कर देते हैं। जिन ब्राह्मणों ने

अग्नि को सर्वभक्षी, समुद्र को अपेय और क्षयी चन्द्रमा को पूरा कर दिया है, उन्हें क्रुद्ध कर कौन नाश से बच सकता है।

(५) 'होहिं बिप्र बस कवन···'—'कृपा करि सोउ'—कृपा करके अगम वर दिया तो उसीका अंग-भूत यह (विप्र-वश का उपाय) भी कहिये। आप दीनों पर दयालु हैं और मैं दीन हूँ। 'हितू न देखउँ कोउ'—राजा तापस के वश हो गया है, इस कारण इसे वही हितैषी दिखता है, यथा—"तोहि सम हित न मोर संसारा। बहे जात कइँ भईसि अधारा॥" (अ० दो० २२), यह मन्थरा के वश होने पर कैकेयी ने कहा है।

सुनु नृप बिबिध जतन जग माहीं। कष्टसाध्य पुनि होहि कि नाहीं॥१॥
अहइ एक अति सुगम उपाई। तहाँ परंतु एक कठिनाई॥२॥
मम आधीन जुगुति नृप सोई। मोर जाब तव नगर न होई॥३॥
आजु लगे अरु जब ते भयेऊँ। काहू के गृह ग्राम न गयेऊँ॥४॥
जौं न जाउँ तव होइ अकाजू। बना आइ असमंजस आजू॥५॥

अर्थ—हे राजन्! सुनो, जगत् में बहुत प्रकार के उपाय हैं, पर उनका करना कठिन है, फिर भी वे सिद्ध हों अथवा न हों॥१॥ हाँ, एक उपाय अत्यन्त सुगम है, परन्तु उसमें भी एक कठिनाई है॥२॥ हे राजन्! वह युक्ति मेरे अधीन है, परन्तु तुम्हारे नगर में मेरा जाना नहीं हो सकता॥३॥ (क्योंकि) मैं जबसे उत्पन्न हुआ तबसे आज तक किसीके घर या गाँव में नहीं गया॥४॥ और, जो नहीं जाता हूँ तो तुम्हारा काम बिगड़ता है, यह बड़ा असमंजस (दुविधा, आगा-सीछा) आज आ पड़ा है॥५॥

विशेष—(१) प्रथम तो अन्य उपायों को कष्ट-साध्य कहा और उनकी सिद्धि में भी दुविधा दिखाकर उनसे राजा की रुचि हटाई। फिर अपने इच्छित उपाय को अति सुगम कहकर उस ओर राजा को श्रद्धा बढ़ाई। '···परंतु एक कठिनाई' अर्थात् वह ऐसी कठिनाई है कि दूसरा कोई उसे न तो जानता है और न कर ही सकता है।

(२) 'मम आधीन ···' 'आजु लगे···'—मेरे बिना वह युक्ति हो ही नहीं सकती। किसीके घर की कौन कहे, मैं किसी गाँव होकर भी नहीं निकला। प्रथम 'मम आधीन' कहा, तब राजा चलने को प्रार्थना करता, पर साथ ही इसने अपनी विरक्ति एवं दुर्लभता दिखाने के लिये—'आजु लगे···' भी कहा, तब राजा उदास हो गया कि ऐसा ऊँचा नियम ये मेरे लिये क्योंकर छोड़ेंगे? अतः, फिर कहा कि—'जौं न जाउँ···' अर्थात् दोनों ओर चित्त खिंचता है। 'बना आइ' अर्थात् मैं तुम्हें बुलाने तो गया नहीं था। यह असामंजस्य दैवात् आ पड़ा। भीतरी आशय यह कि चलूँगा अवश्य, कुछ विनती भी तो करो।

सुनि महीस बोलेउ मृदु बानी। नाथ निगम असि नीति बखानी॥६॥
बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं। गिरि निज सिरन्हि सदा तृन धरहीं॥७॥
जलधि अगाध मौलि बह फेनू। संतत धरनि धरत सिर रेनू॥८॥

दोहा—अस कहि गहे नरेस पद, स्वामी होहु कृपाल।
मोहि लागि दुख सहिय प्रभु, सज्जन दीनदयाल॥१६७॥

अर्थ—यह सुनकर राजा ने कोमल वाणी से कहा—हे नाथ! वेदों में ऐसी नीति कही गई है॥६॥ (कि) बड़े लोग छोटों पर स्नेह किया करते हैं, पहाड़ अपने सिरों (शिखरों) पर सदा तृणों को धारण किये रहते हैं॥७॥ अथाह समुद्र के सिर (ऊपरी भाग) पर सदा फेन बहा करता है और पृथ्वी धूलि-

कर्णों को सदा सिर पर धारण किये रहती है ॥८॥ ऐसा कहकर राजा ने कपटी मुनि के पाँव पकड़ लिये और कहा कि हे स्वामी ! मुझपर कृपा कीजिये, हे प्रभो ! हे सज्जन ! हे दीनदयालु ! मेरे लिये दुःख उठाइये ॥१६७॥

विशेष—(१) 'निगम असि नीति ···'—वैदिक नीति का प्रमाण दिया, क्योंकि इसे सन्त भी मानते हैं। अतः, मेरी प्रार्थना स्वीकृत होगी। राजनीति नहीं कही, क्योंकि उसे सन्त सर्वात्मना—पूरा-पूरा नहीं भी मानते हैं, फिर उससे इसकी अभीष्ट हानि होती, यथा—"प्रीति बिरोध समान सन, करिय नीति असि आहि।" (लं० दो० २३)। इस नीति से मुनि नहीं जा सकते थे।

(२) 'बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं।'—इसपर तीन दृष्टान्त दिये गये—पर्वत, समुद्र और पृथ्वी। संसार में ये तीन ही बड़े हैं। पहाड़ ऊँचे एवं ऊपर के हैं, सागर अगाध और नीचे का है, पृथ्वी चौड़ी और मध्य की है। 'गिरि' के साथ 'सिरनि' पद है, क्योंकि पहाड़ बहुत हैं और एक-एक में भी उनके शिखर रूप सिर अनेक हैं। पर्वत और पृथ्वी के साथ सदा और संतत पद दिया गया, समुद्र के साथ नहीं, क्योंकि उसमें फेन सदा नहीं रहता, यह सँभाल है। यहाँ सरित्पति समुद्र, गिरि और पृथ्वी के दृष्टान्त देकर इनके समान सन्त की परोपकार वृत्ति भी उद्दीप्त की है, यथा—"संत बिटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबन्ह कै करनी ॥" (उ० दो० १२४)।

(३) 'अस कहि गहे नरेस पद ···'—उपर्युक्त दृष्टान्तों से यह न पाया जाय कि यह भी हमारे सिर चढ़ना चाहता है, इसलिये राजा ने पैर पकड़े कि मैं चरणों का ही अधिकारी हूँ और आप स्वामी हैं। 'दुख' नियम छूटने का, 'प्रभु' अर्थात् हमारे कार्य में आप समर्थ हैं, 'सज्जन' अर्थात् सद्भाव से मेरी ओर देखें, सज्जन और सन्त पर्याय पद भी हैं। अतः सन्त भाव से परोपकार करें। 'दीनदयाल' हैं, अतः मुझ दीन पर दया करें।

जानि नृपहिं आपन आधीना। बोला तापस कपटप्रबीना ॥५॥
सत्य कहउँ भूपति सुनु तोही। जग नाहिंन दुरलभ कछु मोही ॥६॥
अवसि काज मैं करिहउँ तोरा। मन क्रम बचन भगत तैं मोरा ॥७॥
जोग-जुगुति - तप - मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहिं जब करिय दुराऊ ॥८॥

अर्थ—राजा को अपने अधीन में जानकर वह कपट में निपुण तापस बोला ॥१॥ हे राजन् ! सुनो, मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि मुझको जगत् में कुछ भी दुर्लभ नहीं है ॥२॥ मैं तुम्हारा काम अवश्य करूँगा, (क्योंकि) तुम मन, कर्म और वचन तीनो से मेरे भक्त हो ॥३॥ योग, युक्ति, तपस्या और मन्त्र के प्रभाव तभी फलते हैं, जब वे छिपाकर किये जाते हैं ॥५॥

विशेष—'मन-क्रम-बचन भगत तैं···'—देखिये दो० १६३ चौ० ६ वि० १।

'जोग-जुगुति-तप-मंत्र-प्रभाऊ।'—उपर्युक्त दो० १६५ में जो—'मिलब हमार···' से गुप्त रखने को कहा था, उसे यहाँ प्रकट किया कि ये चारो गुप्त रखने ही से फलते हैं, यथा—"विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः। उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥" (मनु० २।८५), अर्थात् विधि यज्ञ से जप यज्ञ दस गुना बड़ा है। उपांशु जप सौ गुना और मानस जप सहस्र गुना बड़ा है। यहाँ क्रमशः गुप्त जप में विशेषता कही गई है। यहाँ 'जुगुति' से तात्पर्य है, यथा—"मम आधीन जुगुति नृप सोई।" (दो० १६६)। मन्त्र आदि का देवताओं से सम्बन्ध रहता है और देवताओं के सब कार्य गुप्त रखने से ही सिद्ध होते हैं, यथा—"नैतत्परस्मा आख्येयं पृष्टयापि कथञ्चन। सर्वं सम्पद्यते देवि देवगुह्यं सुसंवृतम् ॥" (भाग० ८।१७।२०), अर्थात् भगवान् अदिति से कहते हैं कि हे देवि ! इस विषय में किसीके पूछने पर भी तुम कुछ मत कहना, क्योंकि देवताओं के सब काम गोपनीय रहने से ही अच्छी तरह सिद्ध होते हैं।

जौ नरेस मैं करउँ रसोई। तुम्ह परसहु मोहि जान न कोई ॥६॥
अन्न सो जोइ जोइ भोजन करई। सोइ सोइ तव आयसु अनुसरई ॥७॥
पुनि तिन्हके गृह जेंवइ जोऊ। तव बस होइ भूप सुनु सोऊ ॥८॥
जाइ उपाइ रचहु नृप येहू। संवत भरि संकलप करेहू ॥८॥

शब्दार्थ—अनुसरई = अनुसरण करेगा, अनुकूल रहेगा। संवत = एक वर्ष। अन्न = भोजन।

अर्थ—हे राजन्! जो मैं रसोई करूँ, तुम परसो और कोई मुझे न जान पावे ॥५॥ तो उस अन्न को जो-जो भोजन करेगा, वही-वही तुम्हारी आज्ञा का अनुसरण करेगा ॥६॥ फिर जो उनके घर भोजन करेंगे, हे राजन्! सुनो, वे भी तुम्हारे वश हो जायँगे ॥७॥ हे राजन्! तुम जाकर यह उपाय करो। एक वर्ष (नित्य-भोज) का संकल्प (प्रतिज्ञा) करना ॥८॥

विशेष—'संवत भरि संकलप ···'—क्योंकि ब्राह्मणों को वर्षाशन दिया जाता है, एक लाख ब्राह्मण एवं उनके परिवार मिलकर प्रत्येक दिन भोजन करेंगे। इसी अनुपात से साल भर में राज्य के सारे ब्राह्मण परिवार आजायँगे, इस विचार से भी संवत् भर का संकल्प करना कहा गया है। वा भावीवश ऐसा कह गया, क्योंकि इसीके अनुसार संवत्-भर में नाश होने का शाप होगा।

'पुनि तिन्हके गृह···'—मैं रसोई में ऐसी युक्ति कर दूँगा कि वह वश हो जायगा, फिर उसका सम्पर्की एवं उस सम्पर्की का सम्पर्की, इस क्रम से सर्वत्र के ब्राह्मण वश हो जायँगे। घर का एक भी यहाँ खा जायगा, तो उसका घर भर वश होगा, इत्यादि 'पुनि' पद में भाव है।

'संवत भर···'— कहता है कि राजा को ब्राह्मण-भोजन रूपी पुण्य में निष्ठा हो, कालकेतु तो प्रथम दिन ही शाप दिला देगा, यथा—"कुल समेत रिपु मूल बहाई। चौथे दिवस मिलब मैं आई ॥" यह आगे कहा गया है।

'नित नूतन···'—भाव यह कि किसीको दोबारा खिलाने की आवश्यकता नहीं, एक ही दिन में वश हो जायँगे।

दोहा—नित नूतन द्विज सहस सत, बरेहु सहित परिवार।
मैं तुम्हरे संकलप लगि, दिनहिं करब जेवनार ॥१६८॥

येहि बिधि भूप कष्ट अति थोरे। होइहहिं सकल बिप्र बस तोरे ॥१॥
करिहहिं बिप्र होम मख सेवा। तेहि प्रसंग सहजहिं बस देवा ॥२॥

शब्दार्थ—नितनूतन = नित्य नवीन। बरेहु = नेवता देना। मख = यज्ञ। जेवनार = भोजन।

अर्थ—नित्य नवीन परिवार-सहित एक लाख ब्राह्मणों को नेवता देना। मैं तुम्हारे संकल्प (एक वर्ष) पर्यन्त दिन ही में बराबर भोजन (प्रस्तुत) कर दिया करूँगा ॥१६८॥ हे राजन्! इस तरह बहुत-थोड़े ही कष्ट में सब ब्राह्मण तुम्हारे वशवर्त्ती हो जायँगे ॥१॥ ब्राह्मण लोग होम, यज्ञ और सेवा-पूजा करेंगे, उसके सम्बन्ध से देवता भी सहज ही में तुम्हारे वश में हो जायँगे ॥२॥

विशेष—'बरेहु सहित परिवार'—क्योंकि राजा का परिवार-सहित नाश कराना है। 'संकलप लगि'—अर्थात् इतनी रसोई नित्य कैसे तैयार हो जाया करेगी? इसकी चिन्ता नहीं, मैं तप के बल से शीघ्र तैयार कर दिया करूँगा। 'कष्ट अति थोरे'—अर्थात् तुम्हारे पास धन की तो कमी है ही नहीं, रसोई करना मुझे ही है। तुम्हें परसना भर है, वह शक्ति भी मैं दूँगा।

और एक तोहि कहउँ लखाऊ। मैं येहि बेष न आउब काऊ ॥३॥
तुम्हरे उपरोहित कहँ राया। हरि आनब मैं करि निज माया ॥४॥
तपबल तेहि करि आप समाना। रखिहउँ इहाँ बरष - परमाना ॥५॥
मैं धरि तासु बेष सुनु राजा। सब बिधि तोर सँवारब काजा ॥६॥

शब्दार्थ—लखाऊ = लक्ष्य, पहचान। परमाना = परिमाण, पर्यन्त।

अर्थ—तुमको एक और बात की पहचान कहता हूँ, मैं इस वेष से कभी नहीं आऊँगा ॥३॥ हे राजन्! मैं अपनी माया से तुम्हारे पुरोहित को हर लाऊँगा ॥४॥ और तप के बल से मैं उसे अपने समान बनाकर यहाँ पर एक वर्ष तक रक्खूँगा ॥५॥ हे राजन्! सुनो, मैं उसका वेष धरकर सब प्रकार से तुम्हारा कार्य सिद्ध करूँगा ॥६॥

विशेष—'लखाऊ'—लक्ष्य करने का संकेत जो तुम्ही लख सकोगे। 'तुम्हरे उपरोहित कहँ···'—भाव यह कि वह मेरी जगह पर मेरे रूप में रहेगा, जिससे मेरे दर्शनों के लिये अन्तरिक्ष से आनेवाले देवताओं और दिव्य ऋषियों को सन्देह न हो कि मैं कहीं चला गया। इस प्रकार अपना प्रभाव जना रहा है। उसका आन्तरिक भाव यह भी है कि कहीं कपट खुल जाय और राजा यहाँ आवे तो मुझे अपना पुरोहित जानकर न मारे अथवा पुरोहित रहेगा, तो इसकी रक्षा करेगा। अतः, उसके हरण का प्रबन्ध कर रहा है। 'निबाहब काजा'—विघ्नों से रक्षा करता हुआ कार्य पूरा करूँगा।

गइ निसि बहुत सयन अब कीजै। मोहि तोहि भूप भेंट दिन तीजे ॥७॥
मैं तपबल तोहि तुरग समेता। पहुँचइहउँ सोवतहि निकेता ॥८॥

दोहा—मैं आउब सोइ बेष धरि, पहिचानेउ तब मोहि।
जब एकांत बुलाइ सब, कथा सुनावउँ तोहि ॥१६६॥

सयन कीन्ह नृप आयसु मानी। आसन जाइ बैठ छल ज्ञानी ॥१॥
श्रमित भूप निद्रा अति आई। सो किमि सोव सोच अधिकाई ॥२॥

अर्थ—हे राजन्! बहुत रात बीत गई, अब सोओ, मुझसे तुमसे अब तीसरे दिन फिर भेंट होगी ॥७॥ मैं तप के बल से तुम्हें घोड़े के साथ सोते-ही-सोते घर पहुँचा दूँगा ॥८॥ मैं वही (पुरोहित का) वेष धारण कर आऊँगा। जब तुमको एकान्त में बुलाकर मैं सारी कथा सुनाऊँ, तब मुझे जान लेना ॥१६६॥ राजा ने उसकी आज्ञा मानकर शयन किया और वह छल में निपुण (वा छल से बना हुआ ज्ञानी) अपने आसन पर जा बैठा ॥१॥ राजा थका हुआ था, इससे उसे बड़ी नींद आई और वह (छल ज्ञानी) कैसे सोवे? उसे तो बहुत शोच है।

विशेष—(१) 'सयन अब कीजै'—आधी रात बीत गई। फिर कालकेतु के आने का समय भी जाना और कपटी मुनि यह भी जानता है कि राजा के सामने कालकेतु नहीं आवेगा। पुनः इससे अलग होकर उससे बिना सब कहे मेरे समस्त वचन झूठे पड़ेंगे। इसलिये राजा को सोने की आज्ञा दी। राजा भी इसकी बातों में मुग्ध था, इसीसे नींद भी न आई, कहने से सोया। 'दिन तीजे' अर्थात् दो दिनों के बाद तीसरे दिन। फिर ब्राह्मणों को नेवता दिया जायगा। समय पर मैं पहुँच जाऊँगा। अधिक समय के अन्तर को राजा नहीं सह सकता, ये ही तीन दिन उसे युग के समान बीतेंगे, यथा—"जुग सम नृपहिं गयो दिन तीनी।" (दो १७१)।

(२) 'पहिचानेउ तब···'—इसने सोचा कि कहीं मेरे धोखे से पुरोहित से यह कुछ कह न दे, इसलिये पहचान बतलाता है, जिससे मुनि के पहचानने में भ्रम न हो।

(३) 'सयन कीन्ह नृप ···'—एक तो महात्मा, फिर अपने परम हितकारी। अतः आज्ञा मानकर सोया, अन्यथा रुचि तो मुनि की बातों में ही थी। यह उसी शाला में सो रहा। साधु का आसन अलग था, इसलिये वह अपनी एकान्त जगह में गया, क्योंकि वहाँ कालकेतु से समागम का अवसर मिलेगा। कपट के सब विधान बड़ी सावधानी से निबाहे, इसलिये 'छल-ज्ञानी' कहा गया है।

(४ 'सो किमि सोव ···'—शोच में इसे नींद कैसे पड़े, यथा—"गयउ भवन अति सोच बस, नींद परइ नहिं राति॥" (अर० दो० २२)। इसे शोच बढ़ता जाता है कि अभी तक कालकेतु नहीं आया, उसके बिना मैं झूठा बनूँगा। फिर तो राजा जीता न छोड़ेगा। पुनः राजा के सर्वस्व नाश के लिये भी शोच है, यथा—"परिहरि सोच रहहु तुम्ह सोई। बिनु औषध बियाधि बिधि खोई॥" (दो० १७०)।

कालकेतु निसिचर तहँ आवा। जेहि सूकर होइ नृपहिं भुलावा॥३॥
परम मित्र तापस-नृप केरा। जानइ सो अति कपट घनेरा॥४॥
तेहि के सत सुत अरु दस भाई। खल अति अजय देव-दुखदाई॥५॥
प्रथमहिं भूप समर सब मारे। बिप्र संत सुर देखि दुखारे॥६॥

अर्थ—निशाचर कालकेतु वहाँ आया, जिसने शूकर होकर राजा को भुलाया था॥३॥ वह तपस्वी राजा का परम मित्र (दिली दोस्त) था और अत्यन्त बहुत सी कपट की प्रक्रियाएँ जानता था॥४॥ उसके सौ पुत्र और दस भाई बड़े खल, बड़े दुर्जय और देवताओं को दुःख देनेवाले थे॥५॥ ब्राह्मणों, सन्तों और देवताओं को दुखी देखकर पहले ही राजा ने उन सबको युद्ध में मार डाला था॥६॥

विशेष—(१) 'कालकेतु निसिचर तहँ···'—प्रथम यह शूकर-रूप में गुप्त था, इसीसे ग्रन्थकार ने भी इसे प्रकट नहीं किया था। अब यह राक्षस-रूप से आया, प्रकट हुआ तो ग्रन्थकार ने भी प्रकट कह दिया। 'भुलावा', यथा—"फिरत अहेरे परेउँ भुलाई।" (दो० १५८)।

(२) 'तापस नृप केरा'—कालकेतु की दृष्टि में तो यह नृप है, तापस बना है, इसलिये 'तापस नृप' कहा। भानुप्रताप मुनि-तपस्वी समझते थे, इससे अभी तक मुनि आदि ही कहते थे। पुनः यहाँ पर इस समय दो राजा हैं, पृथक्ता के लिये भी तापस कहा है।

(३) 'सो अति कपट घनेरा'—'घनेरा-कपट' तो तापस नृप भी जानता था, पर यह 'अति घनेरा' जानता है, क्योंकि राक्षस अति मायावी होते ही हैं। घनेरा=अनगिनत।

(४) 'खल अति अजय···'—इन्द्रादि देवता अजय हैं उन्हें भी जीता था। इसीसे 'अति अजय' थे, उनकी सम्पत्ति भी छीनी थी, इसीसे खल भी कहे गये, यथा—"खलन्ह हृदय अति ताप बिसेखी। जरहिं सदा परसंपति देखी॥" (उ० दो० ३८)। 'बिप्र संत सुर···'—स्पष्ट है कि भानुप्रताप राक्षसों और देवों से भी प्रबल था।

तेहि खल पाछिल बैर सँभारा। तापस नृप मिलि मंत्र बिचारा॥७॥
जेहि रिपुछय सोइ रचेन्हि उपाऊ। भावीबस न जान कछु राऊ॥८॥

दोहा—रिपु तेजसी अकेल अपि, लघु करि गनिय न ताहु।
अजहुँ देत दुख रवि-ससिहिं, सिर-अवसेषित राहु॥१७०॥

अर्थ—उसी दुष्ट (कालकेतु) ने पिछले वैर का स्मरण किया और उस तपस्वी राजा से मिलकर

सलाह की ॥७॥ वही उपाय रचा, जिससे सत्रु का नाश हो, राजा भावी-वश कुछ नहीं जान सका ॥८॥ तेजस्वी शत्रु अकेला हो, तथापि उसे छोटा नहीं जानना चाहिये। (देखिये) जिसका सिर-मात्र ही अवशिष्ट (बच) रहा है, वह राहु अब भी सूर्य-चन्द्रमा को दुःख दिया करता है ॥१७०॥

विशेष—(१) 'तेहि खल ···'—पहले 'खल अति अजय···' कहा था, यहाँ विश्वासघात एवं छल के कारण फिर खल कहा गया। 'सोइ रचेन्हि उपाऊ'—उपाय वही जो पूर्व ठीक किया है—"जाइ उपाय रचहु नृप येहू।"

(२) 'रिपु तेजसी···'—यह दोहा दोनों ओर लगता है, जैसे भानुप्रताप को चाहता था कि वह तेजस्वी शत्रु इस तापस नृप को तुच्छ जानकर नहीं छोड़ता प्रत्युत खोजकर अधीन रखता और या तो मार डालता। सिर-मात्र की तरह यह अपने सेना-रूप शरीर से अलग हो गया, तब भी राहु की तरह भानु-प्रताप और अरिमर्दन को सूर्य-चन्द्रमा की तरह ग्रसेगा। पुनः तापस नृप और कालकेतु का विचार है कि यह राजा सो रहा है, चाहें तो मार डालें, पर है तेजस्वी। यद्यपि अकेला भी है, तथापि इसे छोटा नहीं मानना चाहिये, कहीं जग पड़ा तो हम दोनों को जीता न छोड़ेगा। इस अर्थ में सेना-रूप शरीर से पृथक् राजा राहु और तापस नृप तथा कालकेतु सूर्य और चन्द्रमा हैं। नीति भी है—"रिपु रिन रंच न राखब काऊ।" (अ० दो० २२८)

तापस नृप निज सखहिं निहारी। हरषि मिलेउ उठि भयेउ सुखारी ॥१॥
मित्रहिं कहि सब कथा सुनाई। जातुधान बोला सुख पाई ॥२॥
अब साधेउँ रिपु सुनहु नरेसा। जौ तुम्ह कीन्ह मोर उपदेसा ॥३॥
परिहरि सोच रहहु तुम्ह सोई। बिनु औषध बिआधि बिधि खोई ॥४॥
कुलसमेत रिपुमूल बहाई। चौथे दिवस मिलब मैं आई ॥५॥

शब्दार्थ—सखहिं = मित्र को। साधेउँ = ठीक कर लिया, वश में कर लिया। बिआधि = व्याधि।

अर्थ—तपस्वी राजा अपने मित्र को देख हर्षित हो उठकर मिला और सुखी हुआ ॥१॥ उसने मित्र को सारी कथा कह सुनाई, तब वह राक्षस सुखी होकर बोला ॥२॥ हे राजन्! सुनो, जो मेरे उपदेश के अनुकूल तुमने किया तो शत्रु को अब मैंने साध (ठीक कर) लिया ॥३॥ अब तुम शोच छोड़कर सो रहो, ब्रह्मा ने बिना औषधि के ही रोग का नाश कर दिया है ॥४॥ वंश-सहित शत्रु की जड़ (उखाड़) बहाकर चौथे दिन मैं तुमसे आ मिलूँगा ॥५॥

विशेष—तापस राजा शोच में था, सखा को देखते ही सुखी हो गया, क्योंकि मनोरथ-सिद्धि की आशा हुई। कथा सुनकर सुखी होने में 'जातुधान' कहा गया, क्योंकि दूसरे के नाश से राक्षस ही को सुख होता है। 'जो तुम्ह कीन्ह मोर उपदेसा' अर्थात् इस राक्षस ने पहले ही सब कपट की बातें कपटी मुनि को सिखा रक्खी थीं कि किसी दिन जो मैं राजा को भटकाकर लाऊँ तो तुम इस प्रकार करना।

तापस नृपहिं बहुत परितोषी। चला महाकपटी अति रोषी ॥६॥
भानुप्रतापहिं बाजि समेता। पहुँचायेसि छन माँझ निकेता ॥७॥
नृपहि नारि पहिं सयन कराई। हयगृह बाँधेसि बाजि बनाई ॥८॥

दोहा—राजा के उपरोहितहिं, हरि लै गयेउ बहोरि।
लै राखेसि गिरि-खोह महँ, माया करि मति भोरि ॥१७१॥

अर्थ—तपस्वी राजा को बहुत भाँति से सन्तुष्ट करके वह महाकपटी (कालकेतु) अत्यन्त क्रोध करके चला ॥६॥ घोड़े के साथ भानुप्रताप को क्षण-भर ही में घर पहुँचा दिया ॥७॥ राजा को उसकी रानी के पास लिटाकर घोड़े को भलीभाँति घुड़सार में बाँध दिया ॥८॥ फिर राजा के पुरोहित को भी हर ले गया और अपनी माया से उसकी बुद्धि भ्रमित करके उसे पर्वत की कन्दरा में ला रक्खा ॥१७१॥

विशेष—(१) 'महाकपटी···'—आगे वैसा कर्म करेगा। 'अति रोषी'—पिछले वैर के स्मरण से अत्यन्त क्रोध है। 'नारि पहि सयन···'—यह पहले कपटी मुनि ने नहीं कहा था, वह मुनि एवं पितावत् था, तब कैसे कहता ? 'वाजि बनाई'—'बनाई' अर्थात् घुड़सार में जीन उतारकर और अगाड़ी-पिछाड़ी बाँधकर।

(२) 'राजा के उपरोहितहिं···'—भाव यह कि अन्य तपस्वी ब्राह्मणों पर इसकी माया नहीं लगती, यह राजधान्य (जो साधु के लिये निषिद्ध है) से पला है, इससे निस्तेज हो रहा है। अतः, हरा गया। राज-प्रतिग्रह (धान्य) का निषेध—"राजन्प्रतिग्रहो राज्ञां मध्वास्वादो विषोपमः।···अह्नापीह तपो जातु ब्राह्मणस्योपजायते। तदाव इव निर्दह्यात्प्राप्तो राजप्रतिग्रहः॥" (महा० अनुशा० ९३।३४-३६), अर्थात् हे राजन् ! राजाओं का प्रतिग्रह मधुर की भाँति स्वादयुक्त होता है, किन्तु वह विष के समान है।···ब्राह्मण की दिन भर में जो तपस्या संचित होती है, कदाचित् प्राप्त हुआ राज-प्रतिग्रह दावानल की तरह उसे जलाया करता है। इसके प्रति दो उपाय किये—एक तो बुद्धि 'भोरी' कर दी, दूसरे कन्दरा में रख आया। अभिप्राय यह कि यदि यों ही कन्दरा में रखने से पीछे वह चिल्ला उठे। यह जानकर कोई राजा को पता दे, तब तो पोल खुल जाय, इससे बुद्धि भी 'भोरी' कर दी कि चुप पड़ा रहेगा। पुनः बुद्धि ठीक रहने से सम्भव था कि जप, तप एवं मन्त्र-द्वारा कहीं राजा के पास पहुँच जाता तो भी भंडा फूटता।

आप बिरचि उपरोहित - रूपा। परेउ जाइ तेहि सेज अनूपा ॥१॥
जागेउ नृप अनभये बिहाना। देखि भवन अति अचरज माना ॥२॥
मुनिमहिमा मन महँ अनुमानी। उठेउ गवहिं जेहि जान न रानी ॥३॥
कानन गयेउ बाजि चढ़ि तेही। पुर नरनारि न जानेउ केही ॥४॥
गये जाम जुग भूपति आवा। घर घर उत्सव बाज बधावा ॥५॥

शब्दार्थ—सेज = दम्पती की शय्या, पलँग। अनभये = बिना हुए। गवहिं = चुप के से। तही = उसी। जाम जुग (याम युग) = दोपहर। बधावा = आनन्द-उत्सव के गान, बाजा।

अर्थ—वह राक्षस स्वयं पुरोहित का रूप बनाकर उसकी अनुपम (सुन्दर) शय्या पर जा पड़ा (लेटा) ॥१॥ राजा सवेरा होने से प्रथम ही जगा और अपने घर को देखकर उसने बड़ा आश्चर्य माना ॥२॥ मुनि की महिमा मन में विचार कर वह राजा चुपके से उठा जिससे रानी न जान पावे ॥३॥ और वह उसी घोड़े पर चढ़कर उसी वन को गया। पुर के स्त्री-पुरुष—किसीने भी नहीं जाना ॥४॥ दोपहर होने पर राजा आया, (यह जानकर) घर-घर उत्सव होने लगे और आनन्द-बधाइयाँ बजने लगीं ॥५॥

विशेष—(१) 'परेउ जाइ तेहि सेज अनूपा।'—अर्थात् पुरोहित की शय्या पर लेट रहा, पर घरवालों ने नहीं जाना कि यह दूसरा है। 'सेज' शब्द शय्या का अपभ्रंश है, यह सपत्नीक पलँग के अर्थ में कहा जाता है। 'अनूपा' अर्थात् जान पड़ता है कि वह सेज राजा से दान में मिली थी, इसीसे अनुपम थी।

(२) 'अति अचरज···मुनि महिमा···'—प्रथम उसके वचनों पर आश्चर्य था। अब जो प्रत्यक्ष देखा कि मैं महल में हूँ तो अति आश्चर्य हुआ। फिर इसे मुनि की महिमा मानकर समाधान कर लिया।

'उठेउ गवहिं···'—किसीने जाना नहीं। 'राजा कैसे आ गया ?' इस बात को छिपाने के लिये वह चुपके से उठा, अन्यथा जागेगी तो रानी मर्म जानने के लिये हठ करेगी। यह भी मालूम होता है कि रानी और पहरेदारों एवं पुरजनों को भी निशाचर ने मोहित कर दिया था। इसीसे किसीने नहीं जाना।

अलंकार—'अनुमान प्रमाण'।

(३) 'गये जाम जुग·· '—दोपहर के बाद आया। नहीं तो लोग अवश्य पूछते कि रात कहाँ ठहरे थे ? और, अब तो जानेंगे कि कहीं बहुत दूर निकल गये, तभी तो दोपहर में आये हैं।

'घर-घर उत्सव···'—लोग राजा का पता पाये बिना दुखी थे। अब बधावा बजने लगा।

उपरोहितहि देख जब राजा। चकित बिलोकि सुमिरि सोइ काजा ॥६॥
जुगसम नृपहिं गये दिन तीनी। कपटी मुनिपद रहि मति लीनी ॥७॥
समय जानि उपरोहित आवा। नृपहिं मते सब कहि समुझावा ॥८॥

दोहा—नृप हरषेउ पहिचानि गुरु, भ्रमबस रहा न चेत।
बरे तुरत सतसहस बर, बिप्र कुटुंबसमेत ॥१७१॥

शब्दार्थ—चकित = चौकन्ना, आश्चर्य-युक्त। लीनी = निमग्न, लगी हुई। मते = निश्चित बातें।

अर्थ—जब राजा ने उस पुरोहित को देखा, तब वह अपने उसी कार्य का स्मरण कर चकित हो उसे देखने लगा ॥६॥ राजा को वे तीन दिन तीन युगों के समान बीते, क्योंकि उसकी बुद्धि उस कपटी मुनि के चरणों में लगी रही ॥७॥ समय जानकर पुरोहित आया और राजा को (पूर्व की) निश्चित बातें कह समझाईं ॥८॥ राजा गुरु को पहचानकर हर्षित हुआ। भ्रम के वश में होने से उसे चेत (ज्ञान) न रहा। तुरत उसने एक लाख उत्तम ब्राह्मणों को परिवार के साथ नेवता भेज दिया ॥१७१॥

विशेष—(१) 'उपरोहितहि देख·····'—राजा के घर उत्सव कराने को पुरोहित आया, तब देखकर चकित हुआ।

(२) 'जुग सम नृपहिं·····'—(क) प्रथम राजा की मति परमेश्वर में लीन रही, उनकी कृपा से धर्म पूर्ण रहा और प्रताप उदित रहा। जब से कपटी राजा के पद में मति लीन हुई, तब प्रथम दिन सत्ययुग के समान ही रहा। कुछ अंश कपट का आया, तब सत्य गया। धर्म का एक पाँव नाश होने से दूसरा दिन त्रेता के समान बीता, तब शौच भी गया। दो चरण जाने से तीसरा दिन द्वापर के तुल्य बीता, फिर क्रमशः दया भी गई। तब चौथा दिन कलियुग के समान आने से एक चरण दान-मात्र रह गया है। यह युग राक्षस-रूप है। अतः, इसमें राक्षस कपट रूप से दान में विघ्न उपस्थित कर नाश कर डालेगा। तब पूर्ण धर्म का नाश होगा। (ख) कपटी मुनि में अत्यन्त प्रीति के कारण दर्शनों के लिये व्याकुलता में तीन दिन युग के समान बीते कि कब मुनि मिलें ?

(३) 'नृप हरषेउ पहिचानि गुरु·····'—राजा इस भ्रम में पड़ गया कि ये चिरकालीन महात्मा हैं, तब तो मुझे तपोबल से सोते ही घर पहुँचा दिया और ठीक-ठीक पुरोहित बन गये। इसीसे कुछ विचार नहीं किया कि एक लक्ष ब्राह्मणों को नित्य प्रति नेवता भेजना और भोजन कराना तथा इससे देवताओं और ब्राह्मणों को वश करना सम्भव है या नहीं। 'बरे तुरत'—कालकेतु ही माया के बल से निमन्त्रण भी तुरत दे आया। 'बर बिप्र'—कुलीन वेदपाठी ब्राह्मण।

उपरोहित जेवनार बनाई। छ रस चारि बिधि जसि श्रुति गाई ॥१॥
मायामय तेहि कीन्ह रसोई। बिंजन बहु गनि सकइ न कोई ॥२॥

बिबिध मृगन्ह करि आमिष राँधा। तेहि महँ बिप्रमांस खल साँधा ॥३॥
भोजन कहँ सब बिप्र बोलाये। पद पखारि सादर बैठाये ॥४॥

शब्दार्थ—बिंजन (व्यंजन)=तरकारी, अचार, आदि। राँधा=पकाया। आमिष=मांस। साँधा=मिलाया। छ रस (षट् रस)=खट्टा, मीठा, तीता, कषाय, नमकीन और कड़ुआ।

अर्थ—पुरोहित ने षट् रस और चारो प्रकार के भोजन बनाये, जैसे श्रुति (सूपशास्त्र) में कहा है ॥१॥ उसने अपनी राक्षसी मायामय रसोई को, व्यंजन बहुत थे, उन्हें कोई गिन नहीं सकता था ॥२॥ तरह-तरह के पशुओं के मांस पकाये, उनमें उस दुष्ट ने ब्राह्मण का मांस भी मिला दिया ॥३॥ सब ब्राह्मणों को भोजन करने के लिये बुलाया और पाँव धोकर उनको आदर के साथ बैठाया ॥४॥

विशेष—'मायामय तेहि कीन्ह···'—अकेले इसने लाखों ब्राह्मणों की रसोई कैसे बनाई? इसका उत्तर है कि इसने बाजीगर के खेल के समान रसोई बनाई। वे व्यंजन देखने-मात्र में बहुत थे, पर थे झूठे ही। 'बिबिध मृगन्ह कर···'—कहा जाता है कि आजकल कैकय देश में मांसाहारी ब्राह्मण भी बहुत हैं। सम्भवतः उस समय भी रहे हों। वैष्णवों की रसोई अलग रही हो, पर इसमें यह शंका है कि मांसाहारी 'बर विप्र' नहीं कहे जा सकते, क्योंकि ब्राह्मण धर्म सात्त्विक है और मांसाहार राजस। यहाँ प्रथम ही ग्रन्थकार ने 'मायामय' कहकर जना दिया है कि सब विचित्र ही हैं। पदार्थ ऐसे दिखते हैं कि उन्हें कोई जान नहीं सकता कि क्या हैं। पीछे राजा देखने गया, तो कुछ रह ही नहीं गया था, क्योंकि मायावी के अदृश्य होते ही उसकी माया से दिखनेवाले पदार्थ भी कुछ नहीं रह गये। जब प्रथम मायामय रसोई बनाता था, तब भी परदे के भीतर ही, क्योंकि माया ओट में ही की जाती है। राजा के परोसने के साथ ही आकाशवाणी से उसने कहा कि सब रसोई ब्राह्मण के मांस से हुई, जिससे शीघ्र ही ब्रह्मशाप हो जाय। अतः, इसने विप्रों को कुपित कराने के लिये ही ऐसा किया। राजा भी नहीं लख सका कि ये पदार्थ क्या हैं और न विप्रों ने ही जाना, क्योंकि सब विचित्र ही थे, जब आकाशवाणी से कहा गया कि विप्र-मांस है, तब तुरन्त सबने विश्वास मान लिया अर्थात् देखने से नहीं जान सके थे। इससे स्पष्ट है कि कोई भी ब्राह्मण मांसाहारी न थे, सब सात्त्विक एवं श्रेष्ठ थे, इसीसे उनका शाप भी लगा, अन्यथा रावणादि भी ब्राह्मण ही थे, इनका शाप कहीं क्यों नहीं लगा था?

मांसाहार-मीमांसा

इसपर प्रायः लोग कहा करते हैं कि शाप तो विप्रमांस से दिलाना था, फिर 'बिबिध मृगन कर आमिष' क्यों बनाया गया? इसका उत्तर यह है कि बनानेवाला राक्षस था, वह विविध मृगों का मांसाहारी था, उसे कभी-कभी संयोग से नर मांस एवं विप्रमांस मिल जाता था। अतः, वह अपने अभ्यास से बिबिध मांसमय व्यंजन बनाने की माया रची है, वह सब झूठी थी, यह ऊपर लिखा ही गया है।

मांसाहार मनुष्य का नहीं है, यह तो राक्षसों का एवं बाघ-सिंह आदि का ही आहार है। शास्त्रों में जहाँ कहीं इसकी चर्चा है, वहाँ निषेध के तात्पर्य से जानना चाहिये। मनु० अ० ५ में इसपर बहुत विचार किया गया है। अन्त में "निवृत्तिस्तु महाफलः" (श्लोक ५६) कहा गया है। मनु० ३।२६७-२७२ में मांस से श्राद्ध में पितरों की तृप्ति कहते हुए अमुक मांस से एक महीना पितृ-तृप्ति रहती है, अमुक से दो महीने आदि कहते हुए अन्त में "आनन्त्यमेव कल्पनो मुन्यन्नानि च सर्वशः॥" अर्थात् मुनि अन्न=नीवार (तिन्नी चावल) आदि अन्नों से पितर अनन्त काल तक तृप्त रहते हैं, ऐसा कहा है। इसका आशय यह कि अन्नाहार मांसाहार से बहुत अच्छा है। मांसाहारियों को मांस छोड़कर अन्न ही खाना चाहिये। मनु सृष्टि के आदि में हुए हैं, पहले लोग स्वाभाविक मांस खाते थे, उन्हें इन रीतियों से मनु ने मांस छुड़ाकर अन्न में लगाने की चेष्टा की है।

'यज्ञ-विधि में मांस खाना ग्राह्य है', इसपर कुछ विचार करना है। वेदों में अश्वमेध, गोमेध और नरमेध के विधान हैं। विचार करने पर इन यज्ञों के बहिरंग भाव से भी मांस त्याग की ही शिक्षा मिलती है। जैसे एक वर्ष अश्वमेध यज्ञ करने में कई लक्ष द्रव्य के विविध दान करने पर यज्ञ सम्पन्न होता है, तब थोड़ा-सा पवित्र मांस मिलता है। तात्पर्य यह कि इतने दानादि धर्म करने पर उतना मांस खा सकता है, अन्यथा यह त्याज्य ही है। इस दृष्टि से यह मांस छुड़ाने का ही उपाय है। वेदों के अभिप्राय गूढ़ होते हैं, इसीसे वे परोक्षवादी कहे गये हैं, यथा—"परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम्।" (भाग० ११।२१।३५), अर्थात् मन्त्रद्रष्टा-ऋषि परोक्षवादी होते हैं, वही भगवान् को प्रिय है। परोक्षवादी वेदों के इन यज्ञों का पारमार्थिक रूप तो यह है कि यह अहंकार-प्रधान शरीर घोड़ा है, विहित कर्मों के सम्पादन में इसे जगत्-शरीरी परमात्मा को (गीता १८।४६ की रीति से) आयु पर्यन्त लगा देना हवन करना है। पृथ्वी के साहाय्य से निष्पन्न बुद्धि गो है, इसे ज्ञानाराधन में आयु पर्यन्त लगा रखना गोमेध यज्ञ है और चित्त के देवता विष्णु-शरीर रूप जीवात्मा है, उसे उपासना में 'आयु' भर लगा रखना नरमेध यज्ञ करना है।

महा० शान्ति० अ० २६५ में अहिंसा प्रतिपादन करते हुए स्पष्ट कहा गया है—"अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता।" से "सुरां मत्स्यान्मधु मांसमासवं कृसरौदनम्। धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु कल्पितम्॥ विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः। पायसैः सुमनोभिश्च तस्यापि यजनं स्मृतम्।" (श्लोक० ६।९।११।१०।११) तक, अर्थात् प्राणियों की हिंसा न करना ही सब धर्मों में श्रेष्ठ है। मद्य, मांस, मछली, मधु, आसव और तिल मिले चावल का भक्षण धूर्तों के द्वारा प्रचलित हुआ है, यह वेदों में नहीं कहा गया है। ब्राह्मण लोग सर्वयज्ञों में विष्णु (व्यापक परमात्मा) को ही जानते हैं, ('यज्ञो वै विष्णुः' कहा है)। उनकी पूजा तो दूध और फूलों से हुआ करती है।

यह महाभारत का निर्णय है। महा० आदि० १।२७१-२७२ में महाभारत सरहस्य चारो वेदों से भी अधिक कहा गया है।

प्राकृतिक-विज्ञान दृष्टि

मांसाहार पर प्राकृतिक-विज्ञान की दृष्टि से भी देखिये। मांसाहारवाले बाघ, बिल्ली, कुत्ते आदि को एक ओर रखिये और मांस न खानेवाले गाय, बैल, घोड़े आदि को दूसरी ओर रखकर आप अपनी मानवी प्रकृति का मिलान कीजिये—

१—आहार ग्रहण करने का अंग दाँत है। वह मांसाहारियों का नोच-नोचकर मांस खाने योग्य नुकीला होता है। बाघ, बिल्ली और कुत्तों के दाँत देखिये। मांस न खानेवाले घोड़े-गाय आदि के दाँत वैसे न होकर चौभरि युक्त होते हैं, सामने के दाँत भी चौखुंटे होते हैं। मनुष्यों के दाँत भी इन्हीं के समान होते हैं। इस प्राकृत मिलान से मनुष्य का आहार मांस नहीं है।

२—मांसाहारी बाघ, बिल्ली एवं कुत्ते के शरीर में पसीना नहीं निकलता, इससे इनके देहों में दुर्गन्ध भी रहती है। परन्तु अमांसाहारी गाय, बैल, घोड़े आदि के शरीर से पसीना निकलता है, उसी प्रकार मनुष्यों के शरीर से पसीना निकलता है, इससे भी मांस खाना मानव-प्रकृति के विरुद्ध है।

३—मांसाहारी बाघ, बिल्ली और कुत्ते के बच्चे जन्मते समय आँख मुँदे पैदा होते हैं, चार-पाँच दिन पर उनकी आँखें खुलती हैं। परन्तु अमांसाहारी गाय, बैल, घोड़े के बच्चे आँख खुले ही पैदा होते हैं, वैसे ही मनुष्यों के बच्चे भी आँख खुले हुए ही पैदा होते हैं। अतः, इनकी प्रकृति मांसाहार के विरुद्ध है।

४—मांसाहारी बाघ आदि जीभ से उठा-उठाकर पानी पीते हैं और अमांसाहारी गाय स्वयं घूँट से पीते हैं, वैसे मनुष्य भी घूँट-घूँट से ही पानी पीते हैं। अतः, इनकी प्रकृति मांसाहारियों के विरुद्ध है।

५—मांसाहारी बाघ, बिल्ली एवं कुत्तों की स्त्री-प्रसंग में जननेन्द्रिय फूल आती है। पीछे बहुत देर

में उनके वीर्यपात होते हैं। गाय, बैल, घोड़े आदि में वैसा नहीं होता, इसी प्रकार मनुष्यों में भी यह विकार नहीं होता। अतः, इनकी प्रकृति मांसाहार के विरुद्ध है।

६—मांसाहारी बाघ आदि की आँखें तेज होती हैं, उन्हें रात में शिकार अपेक्षा से अधिक दिखाई देता है। परन्तु गाय-बैल एवं घोड़े आदि की वैसी तेज आँखें नहीं होतीं, वैसे ही मनुष्यों की भी आँखें होती हैं। अतः, इनकी प्रकृति मांसाहार की नहीं है।

७—मांसाहारी कच्चा मांस नोच-नोचकर खा लेते हैं। पर गाय आदि नहीं खाते। मनुष्यों की पहले आँखें नहीं मानतीं, इससे ये उसे चर्म, रोम, हड्डी आदि से पृथक् करते हैं, फिर जीभ नहीं मानती, इससे उबालते हैं, मसाला आदि देते हैं, फिर उदर भी स्वीकार नहीं करता, इससे प्रथम खिलाने से कै आदि भी होते हैं, फिर अभ्यास करके लोग खाते हैं। अभ्यास से अफीम-संखिया आदि भी पचाने लगते हैं।

शंका—मांसाहार यदि मानव प्रकृति के विरुद्ध है तो आज दिन भी संसार में अधिक लोग मांसाहारी हैं, यह क्यों ?

समाधान—बहुत लोगों के वैसा करने से प्राकृत औचित्य नहीं हो सकता। जैसे यदि जनतन्त्र में सभी विभागों में अधिक घूसखोरी, बेईमानी आदि दुर्गुण आ जायँ, तो इन दुर्गुणों का औचित्य नहीं कहा जायगा। यह प्रत्यक्ष भी देखा जाता है कि मांस-मदिरावाले भाँति-भाँति के रोगों से पीड़ित रहा करते हैं। यह प्राकृत प्रकोप ही है। इनके विरुद्ध सात्विक आहारवाले बहुत कम रोगी होते हैं।

प्रश्न—तब—"बिबिध मृगन्ह·····" में 'राँधा' और 'साँधा' क्रियाएँ क्यों हैं ?

उत्तर—राक्षसी माया उसकी प्रकृति के अनुसार है, उसने माया से विविध मृगों के मांस और विप्र-मांस मिलाकर रसोई बनाई थी। पर ऐसी विचित्र थी कि कहने से मांस की प्रतीति हो सकती थी।

परसन जबहिं लाग महिपाला। भइ अकासबानी तेहि काला ॥५॥
बिप्रबृन्द उठि-उठि गृह जाहू। है बड़ि हानि अन्न जनि खाहू ॥६॥
भयेउ रसोई भूसुर - माँसू। सब द्विज उठे मानि बिस्वासू ॥७॥
भूप बिकल मति मोह-भुलानी। भावी-बस न आव मुख बानी ॥८॥

अर्थ—जैसे ही राजा भोजन परोसने लगा, वैसे ही उसी समय आकाशवाणी हुई ॥५॥ कि हे ब्राह्मणो ! उठ-उठकर अपने-अपने घर जाओ, यह अन्न मत खाओ, इसके खाने में बड़ी हानि है ॥६॥ यह रसोई ब्राह्मणों के मांस से बनी है। सब ब्राह्मण आकाशवाणी पर विश्वास मानकर उठ गये ॥७॥ राजा व्याकुल है, उसकी बुद्धि मोह से भूली हुई है, होनहार-वश होने से उसके मुख से बोल तक न निकला ॥८॥

विशेष—(१) 'भइ अकासबानी तेहि काला'—यह आकाशवाणी देव-वाणी नहीं है, किन्तु उसी कालकेतु ही के अदृश्य होकर कहे हुए वचन हैं। 'तेहि काला' से 'उस कालकेतु की' यह ध्वनित भी है। यदि वह आकाशवाणी देवों की होती तो यह भी कहते कि कालकेतु राक्षस ने विप्र-मांस बनाया है। अतः, इसीने तुरत शाप दिलाने के लिये कहा है, क्योंकि आगे की शुद्ध आकाशवाणी को 'बर गिरा अकासा' कहा गया है। 'उठि-उठि' क्योंकि ब्राह्मणों के बहुत वृन्द हैं।

(२) 'है बड़ि हानि'—अन्य जीवों के मांस-भक्षण में हानि और विप्र-मांस भक्षण में बड़ी हानि है, क्योंकि और मांसों का प्रायश्चित्त भी है और विप्र-मांस का नहीं। तुरत कोप उत्पन्न करने के लिये केवल विप्र-मांस ही कहा गया।

(३) 'भावी-बस न आव मुख बानी।'—राजा के शरीर, मन और वचन तीनों को भावी ने ही प्रेरित किया, यथा—"तुलसी जसि भवितव्यता,·····ताहि तहाँ लै जाय।" (दो० १५९)। इसमें शरीर के ले जाने में, "भावी-बस न जान कछु राऊ।" (दो० १६९), इसमें मन में, क्योंकि जानना मन

से होता है और 'न आव मुख बानी' में वचन में भावी को प्रेरणा है, नहीं तो पैरों पर गिरकर हाल कह देता, तो कुछ न होता। यहाँ 'हरि इच्छा भावी बलवाना' है, इसीसे सब संयोग वैसे ही बनते जा रहे हैं।

दोहा—बोले बिप्र सकोप तब, नहिं कछु कीन्ह बिचार।
जाइ निसाचर होहु नृप, मूढ़ सहित परिवार ॥१७३॥

छत्रबंधु तैं बिप्र बोलाई। घालै लिये सहित समुदाई ॥१॥
ईस्वर राखा धरम हमारा। जइहसि तैं समेत परिवारा ॥२॥
संबत मध्य नास तब होऊ। जलदाता न रहिहि कुल कोऊ ॥३॥

अर्थ—तब ब्राह्मण लोग क्रोध करके बोले, क्योंकि उन्होंने कुछ विचार नहीं किया—अरे मूर्ख राजा! तू परिवार के साथ जाकर राक्षस हो ॥१७३॥ अरे छत्र-बन्धु (क्षत्रियाधम)! तूने समस्त ब्राह्मणों को नष्ट करने के लिये समुदाय (परिवार एवं समाज) के साथ बुलाया था ॥१॥ ईश्वर ने ही हमारा धर्म रक्खा, (फलतः) तू ही परिवार-सहित नष्ट होगा ॥२॥ एक वर्ष के भीतर तेरा नाश होगा, तेरे परिवार में कोई जल देनेवाला भी न रहेगा ॥३॥

विशेष—(१) 'बोले बिप्र सकोप तब ···' जब राजा कुछ न बोला तब, क्योंकि—'मौनं सम्मति-लक्षणम्' कहा जाता है। विप्र-मांस राक्षस ही खाते हैं, इसलिये राक्षस होने का शाप दिया कि जो तू हमें खिलाना चाहता था, वही तू खायेगा, तथा—"ये ब्राह्मणान्प्रद्विषन्ति ते भवन्तीह राक्षसाः।" (महा० शल्य० ४३।२२), अर्थात् जो ब्राह्मणों से द्वेष करते हैं वे इस संसार में राक्षस होंगे। इतनों का धर्म लेना चाहता था। अतः, भारी क्रोध किया और तुरत शाप दिया। 'सकोप' अर्थात् कोप से बोलने में विचार न रहा, इसलिये ये सब राक्षस होकर फिर इन्हीं ब्राह्मणों के वंश (विप्रों) को तो खायेंगे!

(२) 'ईस्वर राखा धरम···'—तूने तो नाश ही करना चाहा था, पर ईश्वर सबके धर्म के रक्षक हैं। अतः, हमारा धर्म भी बचाया।

(३) 'संबत मध्य नास ···'—क्योंकि संवत् भर नित्य ब्राह्मणों को खिलाने का संकल्प था, यथा—"संबत भरि संकलप करेहू।" (दो० १६७)। ब्राह्मणों ने समझा कि इसने किसी राक्षसी तान्त्रिक क्रिया से स्वयं अजर-अमर बनना चाहा। अतः, संवत् ही भर में नाश का शाप दिया। 'जलदाता न रहिहि···' अर्थात् तुम्हारी सद्गति का उपायकर्त्ता भी कोई न रहे, क्योंकि हम भी वंश समेत धर्म-भ्रष्ट होने से असद्गति को ही प्राप्त होते, वैसा ही फल तुम लो।

नृप सुनि स्राप बिकल अति त्रासा। भइ बहोरि बर गिरा अकासा ॥४॥
बिप्रहु स्राप बिचारि न दीन्हा। नहिं अपराध भूप कछु कीन्हा ॥५॥
चकित बिप्र सब सुनि नभबानी। भूप गयेउ जहँ भोजनखानी ॥६॥
तहँ न असन नहिं बिप्र सुआरा। फिरेउ राउ मन सोच अपारा ॥७॥
सब प्रसंग महिसुरन्ह सुनाई। त्रसित परेउ अवनी अकुलाई ॥८॥

अर्थ—राजा शाप सुनकर अत्यन्त डरा और अत्यन्त व्याकुल हो गया, तब फिर श्रेष्ठ आकाशवाणी हुई ॥४॥ "हे ब्राह्मणो! तुमलोगों ने भी विचारकर शाप नहीं दिया। राजा ने कुछ अपराध नहीं किया था ॥५॥ समस्त ब्राह्मण आकाशवाणी सुनकर चकित हो गये और राजा वहाँ (रसोईघर में) गया,

जहाँ भोजन के पदार्थ रक्खे थे ॥६॥ वहाँ न तो भोजन ही था और न वह रसोई करनेवाला ब्राह्मण ही, तब राजा मन में अत्यन्त शोच में व्यस्त होकर लौटा ॥७॥ और सारा प्रसंग ब्राह्मणों को सुनाया, फिर बड़ा ही व्याकुल और सभीत हो पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥८॥

विशेष—(१) 'अति त्रासा'—क्योंकि विप्रशाप अति घोर है—एक तो सकुटुम्ब नाश हो—वह भी अल्पकाल में ही, और राक्षस-योनि मिले, उसपर भी जलदाता न रहे। आकाशवाणी से दोषी भी बना। 'अति' शब्द दीप-देहली है।

'बहोरि बर गिरा अकासा'—अर्थात् पूर्व की आकाशवाणी श्रेष्ठ न थी, उसमें निरपराध राजा दोषी ठहराया गया था। अतः, जन्म-भर उसे ग्लानि रहती। यह श्रेष्ठ देववाणी है! अतः, राजा को परितुष्ट करेगी। 'बहोरि' शाप की व्याकुलता पर। 'बिप्रहु'—राजा ने तो भ्रम-वश कुछ सफाई न दी, पर तुमको तो ध्यान से जान लेना था कि कैसा दोष है और किसका है?

(२) 'चकित बिप्र सब···'—ब्राह्मण चकित हैं कि जब राजा दोषी नहीं तब अभी तक कहा क्यों नहीं था! राजा की प्रतीति अभी भी कपटी मुनि में है कि वे मेरी रक्षा करने में समर्थ हैं। इससे वह कहानी न कही, क्योंकि उसने कहने से मना किया था और गुरु के पास हो गया। जब वहाँ उसे न पाया तब अपार शोच हुआ अर्थात् शाप-जन्य दुःख-सागर से पार जाने में असमर्थ हो गया।

(३) 'सब प्रसंग महिसुरन्ह···'—आदि से सब हाल कहते हुए जब विप्रशाप पर आया, तब इसकी भीषणता पर डरकर रक्षा पाने के लिये ब्राह्मणों के सामने गिर पड़ा।

दोहा—भूपति भावी मिटइ नहिं, जदपि न दूषन तोर।
किये अन्यथा होइ नहिं, बिप्रसाप अति घोर ॥१७४॥

अस कहि सब महिदेव सिधाये। समाचार पुरलोगन्ह पाये।१॥
सोचहिं दूषन दैवहिं देहीं। बिचरत हंस काग किय जेहीं॥२॥

शब्दार्थ—सिधाये = गये। किये = उपाय करने से। अन्यथा = और प्रकार वा झूठा।

अर्थ—(ब्राह्मण बोले) हे राजन्! यद्यपि तुम्हारा दोष नहीं है, तथापि भावी नहीं मिटती। विप्रशाप अत्यन्त घोर है—उपाय करने से और प्रकार नहीं हो सकता ॥१७४॥ सब ब्राह्मण ऐसा कहकर चले गये, पुरवासियों ने यह सारा समाचार पाया ॥१॥ तो वे चिन्ता करते हुए ब्रह्मा को दोष देते हैं कि जिन्होंने हंस बनाते हुए कौआ कर डाला ॥२॥

विशेष—'किये अन्यथा होइ नहिं'—'अतिघोर'—एक ही ब्राह्मण का अपचार घोर है, यहाँ लाखों का है 'अतिघोर' है। ब्राह्मणों ने राजा को निर्दोष जानकर शापानुग्रह के लिये ध्यान धरकर प्रयत्न किया, पर वे कुछ पता ही न पा सके, क्योंकि यह परात्पर का गुह्यतम चरित है, उनकी इच्छा से ही सब बातें हुईं, उनको गम्भीर मनोवृत्ति का थाह किसे मिल सकता है? फिर ब्राह्मण लोग अनुग्रह कैसे करें? अतः, निरुपाय होकर रह गये। अन्यत्र कहा गया है कि राजा दोनों भाई पूर्व के श्रीरामजी के सखा हैं, उनकी रण-क्रीड़ा की इच्छा से प्रकट हुए हैं, यथा—"प्रतापी राघवसखा भ्राता वै सह राघवः। राघवेण तदा साक्षात्साकेतादवतीर्यते ॥" (शिव संहिता), इनपर अनुग्रह-निग्रह श्रीरामजी ही कर सकते हैं, यथा—"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादयः। भवन्ति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीय गम्भीर मनोनुसारिणः ॥" (आलवंदारस्तोत्र)।

'महिदेव सिधाये'—प्रथम की ही आकाशवाणी पर उठे थे—"सब द्विज उठे मानि बिस्वासू।" अब चल दिये। इन्हींसे जहाँ-तहाँ वृत्तान्त पहुँच गया।

'दूषन दैवहि देहीं' - क्योंकि दैवयोग से ही सब बातें हुईं, राजा को देववाणी ने ही निर्दोष किया। ब्राह्मणों ने पहले विचार नहीं लिया, इससे दोषी हुए। पर अनुग्रह के लिये प्रयत्न कर असफल होने पर वे भी निर्दोष ही हैं। 'बिरचत हंस काग किय'—नाना प्रकार के शुभ कर्मों से राजा हंस के समान हो रहा था, उनसे देवता होता, किन्तु राक्षस-रूप कौआ किया गया, यथा—"लिखत सुधाकर गा लिखि राहू।" (अ० दो० ५४), "सुधा देखाइ दीन्ह बिष जेहीं।" (अ० दो० ४८)।

अलंकार—'ललित' क्योंकि वर्ण्य का प्रतिबिम्ब कहा गया है।

उपरोहितहिं भवन पहुँचाई। असुर तापसहिं खबरि जनाई ॥३॥
तेहि खल जहँ तहँ पत्र पठाये। सजि सजि सेन भूप सब धाये ॥४॥
घेरेन्हि नगर निसान बजाई। बिबिध भाँति नित होइ लराई ॥५॥
जूझे सकल सुभट करि करनी। बंधुसमेत परेउ नृप धरनी। ६॥

अर्थ—पुरोहित को उसके घर पहुँचाकर उस असुर (कालकेतु) ने तापस (नृप) को सूचना दी ॥३॥ उस खल ने जहाँ-तहाँ पत्र भेजे। सब राजा सेना सजा-सजाकर दौड़ पड़े ॥४॥ और नगाड़े बजाकर उसके नगर को घेर लिया। नित्य नाना प्रकार से लड़ाई होने लगी ॥५॥ सब योद्धा अपनी (वीर) 'करनी' करके जूझ गये और भाई के साथ राजा (वीर करनी करके) धरती पर गिरा अर्थात् मारा गया ॥६॥

विशेष—'उपरोहितहिं भवन···'—कालकेतु विप्रों का शाप देखकर डरा हुआ था। अतः, पुरोहित को उसके घर पहुँचा दिया कि इसके भाई लोग मुझे भी न शाप दे डालें।

'तेहि खल'—प्रसंगतः तापस ने, पुनः शब्दध्वनि से कालकेतु ने भी, पत्र भेजने-भिजवाने का काम किया, यथा—"तेहि खल पाछिल बैर···" (दो० १६९), अर्थात् तापस राजा ने पत्र लिखा और कालकेतु ने राक्षसी माया से शीघ्र ही सर्वत्र पहुँचाये। 'जहँ-तहँ'—जिन्हें राजा भानुप्रताप ने जीता था, यथा—"जीते सकल भूप बरिआई।" (दो० १५१)। 'सब धाये'—वे राजा सब भी भानुप्रताप को जीतना चाहते थे। अवसर पाते ही दौड़ पड़े, यथा—"सत्रु सयानो सलिल ज्यों, राख सीस रिपु नाउ। बूड़त लखि, पग डगत लखि, चपरि चहूँ दिसि धाउ॥" (दो० ५२०), तथा—"वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालस्य पर्ययः। प्राप्तकालं तु विज्ञाय भिन्द्याद्घटमिवाश्मनि॥" (महा० शान्ति० १४०।१८), अर्थात् जब तक समय का परिवर्त्तन न हो तब तक शत्रु को कन्धे पर चढ़ाकर ढोना चाहिये। समय आने पर पत्थर पर फेंके हुए घड़े की तरह उसे नष्ट कर डालना चाहिये, यह राजनीति है। 'बिबिध भाँति'—तरह-तरह की व्यूह-रचनाओं और दिव्यास्त्रों द्वारा लड़ाई होती थी। 'करि करनी'—दीपदेहली है। इन सुभटों एवं भाई समेत राजा ने पहले करणी करके विश्व-विजय की थी, वही करणी करके सब जूझ मरे अर्थात् पीछे पाँव न दिये, पर क्या करें? शाप से नाश होना ही था।

सत्य-केतु-कुल कोउ नहिं बाँचा। बिप्र-साप किमि होइ असाँचा ॥७॥
रिपु जिति सब नृप नगर बसाई। निज पुर गवने जय जस पाई ॥८॥

दोहा—भरद्वाज सुनु जाहि जब, होइ बिधाता बाम।
धूरि मेरु सम, जनक जम, ताहि ब्याल सम दाम ॥१७५॥

अर्थ—सत्यकेतु के कुल में कोई भी नहीं बचा। भला, ब्राह्मणों का शाप झूठा कैसे हो सकता है? ॥७॥ सब राजा शत्रु को जीत, नगर बसा तथा जय और यश पाकर अपने-अपने नगरों को

गये ॥८॥ (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) हे भरद्वाज ! सुनो, जब ब्रह्मा जिसके वाम (टेढ़े) होते हैं, तब उसके लिये धूलि सुमेरु पर्वत के समान, पिता यम के समान और माला सर्प के तुल्य हो जाते हैं ॥१७५॥

विशेष—'बिप्र-स्राप किमि होइ···'—ब्राह्मण के द्रोह से कुल का नाश होता है, यथा—"जिमि द्विज-द्रोह किये कुल नासा।" (कि० दो० १५), तब शाप कैसे झूठा हो !

'नृप नगर बसाई'—लड़ाई के कारण नगर उजड़ गया था। अतः, सब राजाओं ने आपस में समझौता करके उस नगर को सुस्थिर करके बसाया। 'जय जस पाई'—क्योंकि पूर्व के छीने हुए राज्य मिलने से यश और सत्रु जीतने से जय मिली।

'धूरि मेरु सम जनक···'—राजा पर बीती हुई तीन बातों को दृष्टान्त से समझाते हैं कि कालकेतु के दस भाई और सौ पुत्र मारे गये। वह अकेला भागकर बचा। अतः, धूल की तरह था, उसीने पर्वत के समान होकर राजा को कुचला। कपटी मुनि को राजा ने पिता के समान माना था, वह यम के तुल्य हो गया और ब्राह्मण रत्नमाला के समान थे, राजा इनकी सार-सँभार करता और इस कार्य में शोभा मानता था। इन्होंने ही सर्प बनकर डँसा। यहाँ 'विरोधाभास-अलंकार' है।

उपक्रम—(क) "भरद्वाज सुनु अपर पुनि···" (ख) "सत्यकेतु तहँ बसइ नरेसू।" (दो० १५२)।

उपसंहार—(क) "भरद्वाज सुनु जाहि जब ···" (ख) "सत्यकेतु-कुल कोउ नहिं बाँचा।"

रावणादि जन्म-प्रकरण

काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा। भयेऊ निसाचर सहित समाजा ॥१॥
दस सिर ताहि बीस भुजदंडा। रावन नाम बीर बरिबंडा ॥२॥
भूपअनुज अरिमर्दन नामा। भयेउ सो कुंभकरन बलधामा ॥३॥
सचिव जो रहा धरमरुचि जासू। भयेउ बिमात्र बंधु लघु तासू ॥४॥
नाम बिभीषन जेहि जग जाना। बिष्नुभगत बिग्याननिधाना ॥५॥

अर्थ—हे मुनि ! सुनो। समय पाकर वही राजा अपने सारे समाज के साथ राक्षस हो गया ॥१॥ उसके दस सिर और बीस भुजाएँ हुईं, उसका नाम रावण था। वह बरिबंड (बलवन्त एवं उद्दण्ड) वीर था ॥२॥ राजा (प्रतापभानु) के अरिमर्दन नाम का भाई था जो बल का धाम था, वह कुम्भकर्ण हुआ ॥३॥ धर्म में जिसकी रुचि थी, उसका धर्मरुचि नाम था, वह मन्त्री उसका सौतेला छोटा भाई हुआ ॥४॥ जिसका नाम विभीषण था और जिसे संसार जानता है कि वह हरिभक्त और विज्ञान का भंडार था ॥५॥

विशेष—(१) 'मुनि सुनु'—भरद्वाज मुनि के प्रति सम्बोधन यहाँ से आगे नहीं पाया जाता, क्योंकि इनका प्रश्न प्रधानतया श्रीराम-तत्त्व के विषय में था, वह यहाँ तक हो गया। आगे के रामगुण गूढ़ में वे ऐसे निमग्न हुए कि उनकी शंकित चेष्टा न पाकर वक्ता को सम्बोधन की आवश्यकता ही न पड़ी, क्योंकि—"ते श्रोता बकता सम सीला। सबदरसी जानहिं हरि-लीला।" (दो० २९)।

(२) 'दस सिर ताहि बीस ···'—पुलस्त्य ऋषि ब्रह्मा के मानसिक पुत्र हैं। उनके पुत्र विश्रवामुनि हैं। कुबेर ने विश्रवा की सेवा के लिये तीन चतुर सुन्दरी निशाचर कन्याएँ (पुष्पोत्कटा, मालिनी और राका) दीं। इन्होंने सेवा करके मुनि को रिझा लिया। मुनि का वरदान पाकर पुष्पोत्कटा से रावण-कुम्भकर्ण, मालिनी से विभीषण और राका से खर (खर-दूषण-त्रिशिरा) और शूर्पणखा कन्या हुए (महाभारत, वनपर्व, अ० २७४-७५)। पैदा होते ही रावण के दस सिर थे। इसीसे इनका नाम 'दशग्रीव' था। पीछे जब कैलास को उठा लिया और फिर शिवजी के दबा देने से बहुत समय तक रोया, तब शिवजी ने

'रावण' नाम रक्खा और यह भी कहा कि तू जयंत को रुलानेवाला होगा। इससे भी रावण नाम से ख्यात है (वाल्मी० उ० सर्ग १६)।

रावण के दस सिर होने के कारण—कहा जाता है कि (क) इसकी माँ को पुत्र का वरदान देकर मुनि दस मास तक किसी अनुष्ठान में लगे रह गये, तब तक वह खड़ी रही और उसके दस रजोधर्म हो गये। इस कारण मुनि ने उसे दस शिरों का एक ही पुत्र दिया। (ख) यह मोह (शरीराभिमान) का स्वरूप है। उसमें दसो इन्द्रियाँ इसके दसो मुख हैं, यथा—"मोह दसमौलि ···" (वि० ५८)।

(३) 'सचिव जो रहा धरमरुचि जासू'—मन्त्री धर्मरुचि में नाम के अनुसार गुण भी था, यथा—"सचिव धरम रुचि हरिपद प्रीति।" (दो० १५४)। भक्ति का संस्कार दूसरे जन्म में भी गया, यथा—"बिष्नुभगत बिज्ञाननिधाना।" कहा है, "तातें नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहंगबर॥" (उ० दो० ७८)। 'जगजाना'—विभीषणजी द्वादश महाभागवतों में हैं, वे भगवान् के पार्षद भी हैं तथा रामायण में तो प्रसिद्ध ही हैं। यहाँ प्रथम राजा, उसके भाई और मन्त्री का राक्षस-योनि में जन्म कहकर तीनो के नाम रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण कहे और तीनो के गुण भी उसी क्रम से 'बीर बरिवंडा', 'बलधामा' और 'बिष्नुभगत बिज्ञाननिधाना' बतलाये।

रहे जे सुत सेवक नृप केरे। भये निसाचर घोर घनेरे ॥६॥
कामरूप खल जिनस अनेका। कुटिल भयंकर बिगतबिवेका ॥७॥
कृपारहित हिंसक सब पापी। बरनि न जाहिं बिस्व-परितापी ॥८॥

दोहा—उपजे जदपि पुलस्त्यकुल, पावन अमल अनूप।
तदपि महीसुर-स्राप-बस, भये सकल अघरूप ॥१७६॥

शब्दार्थ—जिनस = प्रकार, जाति। बिगत = रहित। परितापी = दुःख देनेवाले।

अर्थ—राजा भानुप्रताप के जो पुत्र और नौकर-चाकर थे, वे सब अत्यन्त घोर राक्षस होकर उत्पन्न हुए ॥६॥ वे सब इच्छारूपधारी दुष्ट, अनेक प्रकार एवं अनेक जातियों के, कुटिल, भयंकर, विवेकरहित, निर्दय, हिंसा करनेवाले, पापी और जगत् भर को दुःख देनेवाले हुए, जो कहने में नहीं आ सकते ॥७-८॥ यद्यपि वे पुलस्त्य मुनि के पवित्र, निर्मल और अनुपम कुल में उत्पन्न हुए थे, तथापि वे सब ब्राह्मणों के शाप-वश पाप-रूप हो गये ॥१७६॥

विशेष—(१) 'रहे जे सुत सेवक ···''जइहसि तैं समेत परिवारा।" यह शाप था फिर सेवक क्यों राक्षस हुए? उत्तर यह है कि यन्त्रराज-पूजन में हनुमान-सुग्रीव आदि सेवक होते हुए भी रामजी के परिवार ही माने गये हैं, वैसे राजा के मन्त्री और सेवक भी उसके परिवार ही हैं।

(२) 'कृपारहित हिंसक ···'—कृपारहित हैं, इसीसे हिंसक हैं और हिंसक होने से पापी हैं तथा इसीसे वर्णन के योग्य नहीं हैं, यथा—"येहि लागि तुलसीदास इन्हकी कथा कछु एक है कही। रघुबीर-सर-तीरथ ···" (सु० दो० २)। बहुत होने से भी अवर्णनीय हैं।

(३) 'उपजे जदपि पुलस्त्य-कुल ···'—कुल का प्रभाव सन्तान पर पड़ता है, पर विप्रशाप ऐसा प्रबल है कि ये कुल के विरुद्ध पाप-रूप हुए। अतः, कुल के प्रभाव से ब्राह्मणत्व का प्रभाव श्रेष्ठ है।

अलंकार—'विषम द्वितीय' क्योंकि कारण से कार्य भिन्न रूप का कहा गया है।

कीन्ह बिबिध तप तीनिउँ भाई। परम उग्र नहिं बरनि सो जाई ॥१॥
गयेउ निकट तप देखि बिधाता। माँगहु बर प्रसन्न मैं ताता ॥२॥

करि बिनती पद गहि दससीसा। बोलेउ बचन सुनहु जगदीसा ॥३॥
हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे ॥४॥
एवमस्तु तुम्ह बड़ तप कीन्हा। मैं ब्रह्मा मिलि तेहि बर दीन्हा ॥५॥

अर्थ—तीनो भाइयों ने अनेक प्रकार से अत्यन्त कठिन तप किये, जो कहे नहीं जा सकते ॥१॥ उनके तप को देखकर ब्रह्माजी समीप गये और कहा कि हे तात! वर माँगो, मैं प्रसन्न हूँ ॥२॥ दशग्रीव ने चरण पकड़ विनय करके यह वचन कहा—हे जगदीश्वर! सुनिये ॥३॥ हम बानर और मनुष्य दो जातियों को बारे अर्थात् छोड़कर किसीके मारे न मरें ॥४॥ शिवजी कहते हैं कि मैं और ब्रह्माजी ने मिलकर उसे वरदान दिया कि ऐसा ही हो, क्योंकि तुमने बड़ी भारी तपस्या की है।

विशेष—(१) 'कीन्ह बिबिध तप तीनिउँ भाई'—तीनों ने तीन तरह के तप किये—"रावण ने दस हजार वर्षों तक निराहार तपस्या की, प्रत्येक हजार वर्ष पर वह अपना एक-एक सिर अग्नि में हवन कर देता, दसवें सिर के हवन के समय ब्रह्माजी आये। कुम्भकर्ण गर्मी में पंचाग्नि-सेवन करता, वर्षा में मेघ-जल से भींगता और जाड़े में जल में रहता था। इस तरह दस हजार वर्ष बीते। विभीषणजी ने एक पैर पर खड़े रहकर पाँच हजार वर्ष बिताये, फिर पाँच हजार वर्ष तक सूर्य की आराधना की। मस्तक और बाहु ऊपर उठाकर स्वाध्याय करते रहे।" (वा० उ० स० १०), यही 'परम उग्र' तप है। अन्य तपस्वियों का तप उग्र था, इनका परम 'उग्र' क्योंकि राक्षस-शरीर सहिष्णु होते हैं।

(२) 'करि बिनती पद गहि'—इस तरह प्रसन्न करके भारी वर चाहता है।

(३) 'हम काहू के ' बानर मनुज'''—ब्रह्मा और शिवजी की प्रेरणा से उसने ऐसा कहा, यथा—"रावन कुम्भकरन बर माँगत सिव बिरंचि बाचा छले।" (गी० मु० ४१)। नहीं तो उसका काम अर्द्धाली के पूर्वार्द्ध से ही चल जाता। वाल्मीकीय में लिखा है कि उसने पहले अमर होना ही माँगा। उसे न मिलता देखकर 'बानर-मनुज' दो को 'बराब' कर माँगा, यहाँ यह भी ठीक मिल जाता है। बानर, शब्द गोपुच्छ भालू आदि का भी उपलक्षक है।

शंका—यह बानर से तो मरा नहीं, कहा है—"नर के कर आपन बध बाँची।" (लं० दो० २८), अर्थात् जानता भी था कि मनुष्य से मृत्यु है। फिर बानरों को क्यों बिलगाया?

समाधान—बानर और मनुष्य—दो को तृणवत् तुच्छ मानकर छाँट दिया, यथा—"तृणभूता हि ते मन्ये प्राणिनो मानुषादयः।" (वाल्मीकि उ० १०)। ये तो मेरे आहार हैं। इनसे अभयत्व माँगने में हँसी होगी। नर के हाथ मृत्यु को तो इसने झूठा ही माना था। हाँ, उसके शब्दों में वर की सार्थकता यों है कि 'हम' शब्द बहुवचन है। अतः, वह नर से और राक्षस लोग बानरों से मरे। पुनः शंका—यह भी तो लिखा है कि—'रावनमरन मनुज-कर जाँचा।" (दो० ४८), इसमें मनुज के हाथ मृत्यु माँगनी कही है और ऊपर तृणवत् मानकर छाँटना कहा है, फिर दोनों का ऐक्य कैसे हो?

समाधान—प्राकृत मनुष्य को तो तृणवत् ही मानता था, इस 'मनुज' शब्द का अर्थ मनु के तप से जायमान (उत्पन्न) होनेवाले अर्थात् परात्पर मनुष्याकार साकेतविहारी श्रीरामजी के हाथ से ही मरूँ, यह उसका अभिप्राय है, क्योंकि यह प्रतापी नाम का रामसखा है और साकेत से अवतीर्ण है। अतः, वैसा वर माँगा। इस ग्रन्थ में समग्र चरित साकेतविहारी श्रीरामजी और प्रतापभानु—रावण के हैं।

शंका—ब्रह्माजी का आना तो स्पष्ट है, वर देने में शिवजी कहाँ से आ कूदे?

समाधान—शिवजी का भी आना 'बिधाता' शब्द में हो जाता है, क्योंकि पुराणों में सृष्टि-विधान करना शिवजी का भी पाया जाता है। अथवा शिवजी मूर्तिरूप से वहीं थे, उन्हीं के समक्ष में तो वह सिर

काटता था, यथा—"हुने अनल महँ बार बहु, हरषि साखि गौरीस।" (लं० दो० २८)। ब्रह्माजी के आने पर शिवजी भी प्रकट हो गये।

पुनि प्रभु कुंभकरन पहिं गयेऊ। तेहि बिलोकि मन बिसमय भयेऊ ॥६॥
जौ येहि खल नित करब अहारू। होइहि सब उजारि संसारू ॥७॥
सारद प्रेरि तासु मति फेरी। माँगेसि नींद मास षट केरी ॥८॥

दोहा—गये बिभीषन पास पुनि, कहेउ पुत्र बर माँग।
तेहि माँगेउ भगवंत-पद-कमल अमल अनुराग ॥१७७॥

तिन्हहिं देइ बर ब्रह्म सिधाये। हरषित ते अपने गृह आये ॥१॥

अर्थ—फिर समर्थ ब्रह्माजी कुम्भकर्ण के पास गये, उसे देखकर उनके मन में आश्चर्य हुआ ॥६॥ (वे मन में विचारने लगे कि) जो यह दुष्ट नित्य भोजन करेगा तो सारा संसार उजड़ जायगा ॥७॥ सरस्वती को प्रेरित करके उसकी बुद्धि पलट दी (इससे) उसने छः महीने की नींद माँग ली ॥८॥ फिर श्री ब्रह्माजी विभीषणजी के पास गये और कहा कि पुत्र ! वर माँगो। उन्होंने भगवान् के चरण-कमलों में शुद्ध अनुराग माँगा ॥१७७॥ इस प्रकार उन्हें वर देकर ब्रह्माजी चले गये और वे सब भी प्रसन्न होकर अपने घर आये ॥१॥

विशेष—(१)—'पुनि प्रभु'—शिवजी कहते हैं, इसे ब्रह्माजी ने ही वर दिया।

'तेहि बिलोकि मन····· जौ येहि खल·····'—इसका पर्वताकार विशाल रूप देखकर आश्चर्य हुआ। यह खल है, किसी जीव को न छोड़ेगा, यथा—"कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं।" (सु० दो० २)।

(२) 'सारद प्रेरि तासु·····'—पैदा होते ही इसने हजार प्राणियों को खा डाला। इन्द्र ने बज्र चलाया, उसे भी सह लिया और उन्हींके ऐरावत का दाँत उखाड़कर ऐसा मारा कि वे भगे। (फिर यम ने दंड मारा। यह उसे निगल ही गया !) इसने सात अप्सराओं, दस देव-दूतों और बहुत ऋषियों को खा डाला था। उसकी गिनती नहीं हो सकती, जब ब्रह्माजी वर देने आये, तब देवताओं ने ब्रह्माजी से सब वृत्तान्त कहे। इससे उन्होंने सरस्वती-द्वारा इसकी वाणी फेर दी, तब 'छः महीने जगूँ और एक दिन सोऊँ' की जगह उल्टा माँग लिया वा इन्द्र (होने) की जगह निद्र (निद्रा) माँगा। वा 'मैं अनेक वर्षों तक सोया ही करूँ' ऐसा माँगा (वाल्मी० ६।१०।४५)।

रावण को तात और विभीषण को पुत्र कहा और इसे कुछ नहीं, क्योंकि इसके पास आने से ब्रह्मा स्वयं विस्मित हो गये थे !

(३) 'पुत्र बर माँग'—पुत्र अर्थात् जो पितरों को 'पुन्नाम' नरक से 'त्र' अर्थात् तारे। यह भक्त है, भक्ति माँगेगा, जिससे पितृगण भी तर जाते हैं। अतः, पुत्र कहा।

मयतनुजा मंदोदरि नामा। परम सुंदरी नारि ललामा ॥२॥
सोइ मय दीन्हि रावनहिं आनी। होइहि जातुधान-पति जानी ॥३॥
हरषित भयेउ नारि भलि पाई। पुनि दोउ बंधु बिआहेसि जाई ॥४॥

शब्दार्थ—तनुजा = कन्या। ललामा = रत्न, श्रेष्ठ। जातुधान = निशाचर। जानी = (जाया) स्त्री।

अर्थ—मय (दानव) के मन्दोदरी नाम की कन्या थी, वह परम सुन्दरी और स्त्रियों में रत्न

थी ॥२॥ उसे मय ने ले आकर रावण को यह जानकर दिया कि यह निशाचरपति की रानी बनेगी ॥३॥ (रावण) सुन्दर स्त्री पाकर हर्षित हुआ। फिर जाकर उसने दोनों भाइयों का भी विवाह किया ॥४॥

विशेष—'मय'—यह दैत्य दिति से उत्पन्न (कश्यप) का पुत्र था। यह बड़ा मायावी और शिल्पी था। हेमा अप्सरा से इसके दो पुत्र—मायावी और दुन्दुभी हुए और यह मन्दोदरी कन्या हुई, वाल्मी० ७।१२। यह पंच पुण्य स्त्रियों में है; यथा—'अहल्या, द्रौपदी, कुन्ती, तारा और मन्दोदरी।' इनका स्मरण करना पुण्य माना गया है।

'सोइ मय दीन्हि ···· होइहि जातुधानपति·····'—वाल्मी० उ० स० १२ में लिखा है, मय जान भी गया था कि यह पिता विश्रवा से शापित एवं क्रूर स्वभाव है, पर इस डर और लोभ से भी कन्या दी कि कन्या-रत्न पाकर क्रोध न करेगा। देने से इसका मान्य होऊँगा और यह निशाचरों का राजा होगा, क्योंकि भारी वर पा चुका है। 'बिआहेसि जाई'—इसका व्याह तो स्वतः वन में हो गया। दोनों भाइयों का विवाह उनकी ससुरालों में जाकर हुआ। वैरोचन की लड़की की लड़की (दौहित्री) वज्रज्वाला कुम्भकर्ण की और शैलूष गन्धर्वराज की कन्या सरमा विभीषण की स्त्री हुई।" (वाल्मी० १२।२३ २७)।

गिरि त्रिकूट एक सिंधु मँझारी। बिधिनिर्मित दुर्गम अति भारी ॥५॥
सोइ मयदानव बहुरि सँवारा। कनकरचित मनिभवन अपारा ॥६॥
भोगावति जसि अहि-कुल-बासा। अमरावति जसि सक्रनिवासा ॥७॥
तिन्ह ते अधिक रम्य अति बंका। जगबिख्यात नाम तेहि लंका ॥८॥

दोहा—खाईं सिंधु गँभीर अति, चारिहु दिसि फिरि आव।
कनककोट मनिखचित दृढ़, बरनि न जाइ बनाव ॥
हरिप्रेरित जेहि कलप जोइ, जातुधानपति होइ।
सूर प्रतापी अतुल बल, दलसमेत बस सोइ ॥१७८॥

शब्दार्थ—त्रिकूट=तीन शिखरोंवाला पर्वत—इसका एक शिखर सुन्दर नाम का था, जिसपर अशोकवाटिका थी, दूसरा सुबेल था, यह युद्ध का मैदान था। मध्य का शिखर नीलवर्ण था। उसका नाम निकुंभिला था, जिसपर ३० योजन चौड़ी और १०० योजन लम्बी लंका नगरी बसी थी। मँझारी=बीच में। निर्मित=रचा हुआ। दुर्गम=जिसमें दुःख से किसीकी पहुँच हो। बंका=टेढ़ा, सुन्दर।

अर्थ—सागर के बीच में ब्रह्मा का रचा हुआ, अत्यन्त भारी और दुर्गम त्रिकूट पर्वत था ॥५॥ मय दानव ने उसीको फिर से सुधारा, उसमें मणि-जड़ी हुई सोने के अनगिनत महल थे ॥६॥ जैसी नागकुल के निवास करने की भोगावती पुरी और इन्द्र का निवासस्थल अमरावती है ॥७॥ उनसे भी यह अधिक रमणीय और अत्यन्त बाँका (टेढ़ा) था। उसका संसार-प्रसिद्ध नाम लंका था ॥८॥ जिसकी चारो दिशाओं में बड़े गहरे समुद्र की खाई फिरी हुई थी। मणि-जड़ित सोने का दृढ़ किला था, जिसकी बनावट कही नहीं जा सकती ॥ भगवान् की प्रेरणा से जिस कल्प में जो शूर-वीर, प्रतापी, अतुलित बली निशाचरपति होता है, वही सेना समेत उसमें बसता है ॥१७८॥

विशेष—'दुर्गम अति भारी'—यथा—"देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्। अप्रधृष्यां पुरीं लङ्कां रावणेन सुरक्षिताम्॥" (वाल्मी० ६।१।४), "शकुनैरपि दुष्प्राप्ये।" (वाल्मी० उ० स० ५।२४)। भोगावती पाताल में और अमरावती स्वर्ग में है।

'बस सोइ'—कहा जाता है कि एक बार बल-परीक्षा के लिये गरुड़ और पवनदेव में सुमेरु पर विवाद हुआ। वायु के प्रचंड झोंके से सुमेरु का एक शिखर—जिसका नाम त्रिकूट था—टूटकर समुद्र में जा गिरा। उसीपर असुरों के लिये लंका-नगरी का निर्माण हुआ था।

रहे तहाँ निसिचर भट भारे। ते सब सुरन्ह समर संहारे ॥१॥
अब तहँ रहहिं सक्र के प्रेरे। रच्छक कोटि जच्छपति केरे ॥२॥
दसमुख कतहुँ खबरि असि पाई। सेन साजि गढ़ घेरेसि जाई ॥३॥
देखि बिकट भट बड़ि कटकाई। जच्छ जीव लै गये पराई ॥४॥

अर्थ—वहाँ भारी-भारी निशाचर सुभट रहते थे, उन सबको देवताओं ने युद्ध में मार डाला था ॥१॥ अब वहाँ इन्द्र की प्रेरणा से कुबेर के एक करोड़ रक्षक रहते हैं ॥२॥ कहीं दशानन (रावण) ने यह समाचार पाया तो सेना सजाकर उसने किले (लंका) को जा घेरा ॥३॥ बड़े विकट योद्धा और भारी सेना को देखकर यक्षगण अपने प्राण बचाकर भाग गये ॥४॥

विशेष—'रहे तहाँ निसिचर भट···'—पहले इसमें सुकेश के पुत्र माल्यवान्, सुमाली और माली रहते थे। विष्णु भगवान् ने देवताओं की रक्षा करते हुए उन्हें परास्त किया था। (६।५-८)। 'अब तहँ रहहिं ···'—फिर पिता की आज्ञा से कुबेर उसमें रहने लगे थे, जिनके मालिक इन्द्र हैं। 'दसमुख कतहुँ खबरि '—वाल्मीकीय उ० स० ११ में कथा है कि रावण के वर पाने पर उसके नाना माल्यवान् और मामा प्रहस्त आदि ने उक्त समाचार कहा है।

फिरि सब नगर दसानन देखा। गयेउ सोच सुख भयेउ बिसेखा ॥५॥
सुंदर सहज अगम अनुमानी। कीन्हि तहाँ रावन रजधानी ॥६॥
जेहि जस जोग बाँटि गृह दीन्हें। सुखी सकल रजनीचर कीन्हें ॥७॥
एक बार कुबेर पर धावा। पुष्पकजान जीति लै आवा ॥८॥

दोहा—कौतुक ही कैलास पुनि, लीन्हसि जाइ उठाइ।
मनहुँ तौलि निज बाहुबल, चला बहुत सुख पाइ ॥१७६॥

अर्थ—रावण ने घूम-फिरकर सारा नगर देखा, तब उसकी चिन्ता मिट गई और वह विशेष सुखी हुआ ॥५॥ स्वाभाविक सुन्दर और अगम विचार कर यहाँ रावण ने अपनी राजधानी बनाई ॥६॥ जिसके योग्य जो मकान थे, वैसे उनमें बाँट दिये और उसने सब निशाचरों को सुखी किया ॥७॥ (रावण ने) एक समय कुबेर पर आक्रमण किया और उनका पुष्पक विमान जीत कर ले आया ॥८॥ फिर उसने खेल ही में जाकर कैलास पर्वत को उठा लिया, मानों अपनी भुजाओं के बल को तौलकर वह बहुत प्रसन्न होता हुआ वहाँ से चला ॥१७६॥

विशेष—'अगम अनुमानी'—उपर्युक्त दुर्गमता आदि से अगम्य समझा। इसपर विश्वास था, तभी तो श्री रामजी के द्वारा पुल बँधना सुनते ही घबराकर दसों मुखों से एक साथ ही बोल उठा, लं० दो० ५ देखिये।

'जेहि जसजोग'—इसी रीति में श्रीविभीषणजी ने अपने योग्य घर पाया था, यथा—"भवन एक पुनि दीख···" (सुं० दो० ४)।

'एक बार कुबेर पर ···' कुबेरजी विश्रवा मुनि के पुत्र हैं। तपोबल से ये चौथे लोकपाल हुए। ये

इन्द्र की नओ निधियों के स्वामी, महादेवजी के मित्र, यक्षों के राजा और उत्तर दिशा के अधिष्ठातृ देवता तथा धन-मात्र के स्वामी माने जाते हैं। इनकी राजधानी अलकापुरी है। ये बड़े तेजस्वी हैं। इनके एक आँख, तीन पैर और आठ दाँत हैं (हिं० श० सा०)। 'पुष्पकजान'—यह विमान कुबेर का है। वाल्मी० उत्तर० सर्ग २।१६ के अनुसार ब्रह्मा ने इन्हें दिया है। वाल्मी० सुं० स० ७-८-६ में इसका विशद वर्णन है। यह विमान सुन्दर बहुमूल्य मणियों और तपे हुए सोने से बना था। यह मनोगामी और आकाश में उड़नेवाला था। हजारों आकाशचारी राक्षस इस विमान को चलाते थे। इसमें अच्छे-अच्छे बैठने और सोने के स्थान बने थे। जालीदार खिड़कियाँ बनी थीं। इसमें गाने-बजाने के भी सामान थे। इसपर चढ़ने के लिये सोने की सीढ़ियाँ बनी थीं और डंडे लगे थे। चन्दन की सुगन्धि से वह विमान गमगमा रहा था। यह विमान अच्छे विशाल भवन में रक्खा रहता था। ब्रह्माजी ने कुबेर से कहा था कि इसी विमान से तुम्हें देवत्व प्राप्त होगा। इसका रंग हंस की भाँति उज्ज्वल था, पर रत्नों की प्रभा से यह उगते हुए सूर्य के समान लाल देख पड़ता था।

'कौतुक ही कैलास'''—पुष्पक जीतने पर उसपर चढ़कर रावण कैलास होकर जाना चाहता था, नन्दीश्वर ने इसे वहाँ रोका। इसपर इसने क्रुद्ध होकर कैलास पर्वत को ही उठा लिया। तब इसे विश्वास हो गया कि मेरी भुजाओं में अतुल बल है—मेरा सामना कोई नहीं कर सकता, यथा—"निज भुजबल अति अतुल कहौं क्यों कंदुक लौं कैलास उठायो।" (गी० लं० ३)। यहाँ इसका श्रेय कहा जा रहा है, इससे कैलास से दबकर रोना आदि यहाँ नहीं कहा गया।

सुख संपति सुत सेन सहाई। जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई ॥१॥
नित नूतन सब बाढ़त जाई। जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई ॥२॥
अतिबल कुंभकरन अस भ्राता। जेहि कहँ नहिं प्रतिभट जग जाता ॥३॥
करइ पान सोवइ षट मासा। जागत होइ तिहूँ पुर त्रासा ॥४॥
जौ दिन प्रति अहार कर सोई। बिस्व बेगि सब चौपट होई ॥५॥
समरधीर नहिं जाइ बखाना। तेहि सम अमित बीर बलवाना ॥६॥
बारिदनाद जेठ सुत तासू। भट महँ प्रथम लीक जग जासू ॥७॥
जेहि न होइ रन सनमुख कोई। सुरपुर नितहिं परावन होई ॥८॥

दोहा—कुमुख, अकंपन, कुलिसरद, धूमकेतु, अतिकाय।
एक एक जग जीति सक, ऐसे सुभट निकाय ॥१८०॥

शब्दार्थ—प्रतिलाभ = लाभ के साथ। प्रतिभट = जोड़ का योद्धा। जाता = जन्मा। तिहूँ पुर = तीनो लोक। चौपट = नष्ट। बारिदनाद = मेघनाद। लीक = गणना, रेखा। परावन = भगदड़। कुमुख = दुर्मुख।

अर्थ—सुख, सम्पत्ति, पुत्र, सेना, सहायक, विजय, प्रताप, बल, बुद्धि और बड़ाई ॥१॥ ये सब नित्य नये-नये बढ़ते जाते हैं—जैसे लाभ के साथ-साथ अधिक लोभ बढ़ता है ॥२॥ उसका भाई अत्यन्त बली कुम्भकर्ण ऐसा था कि जगत् में उसके जोड़ का कोई योद्धा ही नहीं पैदा हुआ ॥३॥ वह मद्य पीता और छः महीने सोता था, उसके जागते ही तीनो लोक भयभीत हो जाते थे ॥४॥ जो वह प्रत्येक दिन भोजन करता तो संसार शीघ्र ही नष्ट हो जाता ॥५॥ संग्राम में ऐसा धीर था कि उसका वर्णन नहीं हो सकता, (लंका में) उसके समान बलवान वीर अनगिनत थे ॥६॥ मेघनाद उस-(रावण)-का ज्येष्ठ पुत्र था,

योद्धाओं में जिसकी गणना प्रथम थी ॥७॥ जिसके सामने लड़ाई में कोई खड़ा नहीं होता था, देवलोक में तो सदा भगदड़ ही होती रहती थी ॥८॥ दुर्मुख, अकम्पन, वज्रदन्त, धूमकेतु और अतिकाय—ऐसे-ऐसे झुंड-के-झुंड योद्धा थे जिनमें से एक-एक (प्रत्येक) अकेला ही सारे संसार को जीत सकता था ॥१८०॥

विशेष—(१) 'सुख संपति···जिमि प्रतिलाभ···'—सुख-सम्पत्ति आदि जैसे-जैसे उसे प्राप्त होती जाती थी, वैसे-वैसे उसे अधिक की चाह होती थी। नित्य प्रति उसी के बढ़ाने में लगा रहता था, जैसे लोभी धन के बढ़ाने में सन्तुष्ट नहीं होता। निन्यानबे का फेर प्रसिद्ध है, यथा—"काटत बढ़हिं सीस समुदाई। जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई ॥" (लं० दो० १०१)। लोभ के बढ़ने से अधर्म बढ़ता है, वैसे रावण का वंश बढ़ने से होगा।

(२) 'अतिबल कुंभकरन···' यह ऐसा बली था कि वानरों की सेना में अकेला जा पैठा—माया-छल से युद्ध नहीं किया और न पीछे पाँव दिये। रावण को इसके बल का बड़ा गर्व था, यथा—"कुंभकरन अस बंधु मम, सुत प्रसिद्ध सक्कारि।" (लं० दो० २७)। जब रावण सबसे हताश हुआ, तब व्याकुल होकर इसे ही जगाया, यथा—"ब्याकुल कुंभकरन पहिं आवा। बिबिध जतन करि ताहि जगावा ॥" (लं० दो० ६१)।

(३) 'करइ पान', यथा—"महिप खाइ करि मदिरा पाना।" (लं० दो० ६३)।

'तिहूँ पुर त्रासा'—अर्थात् न जाने किधर झुक पड़े तो साफ ही कर दे।

'समरधीर', यथा—"कोटि कोटि गिरिसिखर प्रहारा। करहिं भालु कपि एक एक बारा ॥ मुरयो न मन तनु टरयो न टारयो। जिमि गज अर्क फलन्हि को मारयो ॥" (लं० दो० ६४)।

(४) 'तेहि सम अमित बीर···'—पूर्व कहा—'नहिं प्रतिभट जग जाता' और यहाँ उसके समान अमित वीर कहते हैं, यह विरोध क्यों? उत्तर यह है कि जगत् में अन्यत्र उसके समान कोई न था, लंका में तो अनेक थे ही। लड़ाई बाहरवालों से होती है, घर में नहीं।

(५) 'बारिदनाद जेठ···'—यह जन्मते ही मेघ के समान गर्जा था, इसीसे मेघनाद नाम हुआ।

'भट महँ प्रथम लीक'—वाल्मी० उ० में अगस्त्यजी ने श्रीरामजी से कहा है कि जब आपने मेघनाद ही को जीत लिया तब रावण-वध बड़ी बात नहीं। मेघनाद प्रबल पराक्रमी और महामायावी था। इसे केवल वरदान-ही-वरदान मिले थे, शाप नहीं मिला था। यह न पहुँच जाता तो इन्द्र रावण को जीत लेते। इन्द्र को इसने जीता और इन्द्रजित् नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह काम का रूप भी कहा जाता है, यथा—"पाकारिजित काम···" (वि० ५८)। यह उस रूप में भी भटों में मुख्य है—"मारि के मार थप्यो जग में जाकी प्रथम रेख भटमाहीं।" (वि० ४)।

(६) 'एक एक जग जीति सक···'—**शंका**—जब एक-एक राक्षस जगत् को जीत सकते थे, तब वे सब वानरों के हाथ कैसे मारे गये?

समाधान—निशाचर लोग जगत् को जीत सकते थे और वानर-भालु तो जगत् को तृण के समान गिनते एवं लड़ने में बली थे, यथा—"द्विविद मयंद नील नल,···ये कपि सब सुग्रीव समाना। इन्ह सम कोटिन्ह गनइ को नाना ॥ रामकृपा अतुलित बल तिन्हहीं। तृन समान त्रैलोकहिं गिनहीं ॥" (सुं० दो० ५४)।

कामरूप जानहिं सब माया। सपनेहुँ जिनके धरम न दाया ॥१॥
दसमुख बैठ सभा एक बारा। देखि अमित आपन परिवारा ॥२॥
सुतसमूह जन परिजन नाती। गनइ को पार निसाचर-जाती ॥३॥
सेन बिलोकि सहज अभिमानी। बोला बचन क्रोध मद-सानी ॥४॥

अर्थ—सब इच्छारूपधारी थे (जो रूप जब चाहें, बना ले सकते थे) और सब (राक्षसी) माया जानते थे। स्वप्न में भी जिनके (हृदय में) धर्म और दया नहीं थी ॥१॥ रावण एक बार अपनी सभा में बैठा और उसने अपने अनगिनत परिवारों को देखा। २॥ पुत्र, सेवक, कुटुम्बी और नाती वृन्द-के-वृन्द थे, उन निशाचर जातियों को गिनकर कौन पार पा सकता है ? ॥३॥ सेना को देखकर स्वाभाविक ही घमण्डी रावण क्रोध और मद-भरे वचन कहने लगा ॥४॥

विशेष—'गनइ को पार निसाचर-जाती।'—वाल्मीकीय उ० स० ४ में कथा है कि विद्युत्केश की स्त्री सालकटङ्कटा (सन्ध्या की कन्या) ने गर्भ प्रसव करके मार्ग के पास छोड़ दिया था। वह रोता था, उधर से शिव-पार्वतीजी जा रहे थे। शिशु को पड़ा और रोता देखकर पार्वतीजी को दया हो आई, तब महादेव ने उस शिशु की उम्र उसकी माता के बराबर कर दी और उसे अमर बना दिया। उसे एक आकाशगामी विमान भी दिया। उसका नाम सुकेश हुआ जो माल्यवान् आदि का पिता था। उसी समय महादेवजी ने राक्षस और राक्षसी मात्र के लिये वर दिया कि वह शीघ्र ही गर्भधारण करे, शीघ्र ही प्रसव करे और नवजात बालक शीघ्र ही अपनी माता की अवस्था का हो जाय। इस प्रकार की वृद्धि में फिर इन्हें कौन गिन सकता है ?

सुनहु सकल रजनीचर जूथा। हमरे बैरी बिबुधबरूथा ॥५॥
ते सनमुख नहिं करहिं लराई। देखि सबल रिपु जाहिं पराई ॥६॥
तिन्हकर मरन एक बिधि होई। कहउँ बुझाइ सुनहु अब सोई ॥७॥
द्विजभोजन मख होम सराधा। सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा ॥८॥

दोहा—छुधाछीन बलहीन सुर, सहजहिं मिलिहहिं आइ।
तब मारिहउँ कि छाड़िहउँ, भली भाँति अपनाइ ॥१८१॥

अर्थ—हे राक्षसो ! सुनो, देव-समूह हमारे शत्रु हैं ॥५॥ वे सामने लड़ाई नहीं करते, शत्रु को प्रबल देखकर भाग जाते हैं ॥६॥ एक ही तरह से उनका मरण हो सकता है, मैं उसे अब समझाकर कहता हूँ, सुनो ॥७॥ ब्राह्मण-भोजन, यज्ञ, हवन और श्राद्ध—तुमलोग जाकर इन सबमें बाधा पहुँचाओ ॥८॥ भूख से दुबले, निर्बल होकर देवता सहज में ही हमसे आ मिलेंगे, तब मैं उनको मार डालूँगा अथवा अच्छी तरह अधीन करके छोड़ दूँगा ॥१८१॥

मेघनाद कहँ पुनि हँकरावा। दीन्ही सिख बल बैर बढ़ावा ॥१॥
जे सुर समरधीर बलवाना। जिन्हके लरिबे कर अभिमाना ॥२॥
तिन्हहिं जीति रन आनेसु बाँधी। उठि सुत पितु अनुसासन काँधी ॥३॥
येहि बिधि सबहीं आज्ञा दीन्ही। आपुन चलेउ गदा कर लीन्ही ॥४॥
चलत दसानन डोलति अवनी। गर्जत गर्भ स्रवहिं सुररवनी ॥५॥
रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु-गिरि-खोहा ॥६॥
दिगपालन्ह के लोक सुहाये। सूने सकल दसानन पाये ॥७॥
पुनि पुनि सिंहनाद करि भारी। देइ देवतन्ह गारि प्रचारी ॥८॥

शब्दार्थ—हँकरावा = बुलवाया। काँधी = कन्धे वा सिर पर रक्खा, स्वीकार किया। स्रवहिं = गिर जाते हैं। सुररवनी = देवताओं की स्त्रियाँ। सकोहा = क्रोधयुक्त। तके = ढूँढ़े, जा छिपे। नाद = गर्जन।

अर्थ—फिर मेघनाद को बुलवाया, उसे शिक्षा देकर उसके बल और देवताओं के प्रति वैर को उत्तेजित किया ॥१॥ (और कहा कि) जो देवता युद्ध में धीर और बलवान् हैं एवं जिन्हें लड़ने का अभिमान है ॥२॥ उन्हें युद्ध में जीतकर तुम बाँध लाना। उठकर पुत्र ने पिता की आज्ञा को शिरोधार्य किया ॥३॥ इसी तरह सभीको आज्ञा दी और स्वयं गदा हाथ में लेकर चला ॥४॥ रावण के चलने से पृथ्वी चलायमान होती है और उसके गर्जने से देव-स्त्रियों के गर्भ गिर जाते हैं ॥५॥ रावण को क्रोध-युक्त आता हुआ सुनकर देवतागण सुमेरु पर्वत की कन्दराएँ ढूँढ़ने लगे (उनमें जा छिपे) ॥६॥ लोकपालों के सब सुन्दर लोकों को रावण ने सूना पाया ॥७॥ बार-बार सिंह की तरह भारी गर्जन करके देवताओं को ललकार-ललकारकर गाली देता था ॥८॥

विशेष—(१) 'दीन्ही सिख बल बैर बढ़ावा।'—प्रथम युद्ध-नीति की शिक्षा दी। साम, दाम, भेद और दण्ड—ये नीति के चारो भेद समझाये। व्यूहरचना और उनके तोड़ने के उपाय बतलाये। पुनः यह भी कहा कि शत्रु को छोटा न जाने और न छोड़े, नहीं तो कभी वह शत्रु के द्वारा स्वयं नष्ट हो सकता है।

'बैर बढ़ावा'—सुर और असुर का वैर सदा से है। देवता छली होते हैं। छल से ही अमृत पीकर अमर हो गये। फिर लंका प्राचीन काल से हमीलोगों की थी, घात पाकर देवताओं ने ही छीन ली थी, इत्यादि।

(२) 'चलत दसानन डोलत अवनी'—इसने कैलास पर्वत को गेंद की तरह उठा लिया तो इसके चलने से पृथ्वी का डोलना भी सम्भव है, यथा—"जासु चलत डोल इमि धरनी। चढ़त मत्त गज जिमि लघुतरनी ॥" (लं० दो० २४), पुनः, यथा—"परम सभीत धरा अकुलानी॥ गिरि सरि सिंधु भार नहि मोही। जस मोहिं गरुअ एक परद्रोही ॥" (दो० १८३)।

'गर्जत ··सुरखनी'—इसका प्रतिफल भी राक्षसों को हनुमानजी के द्वारा मिला है, यथा—"चलत महा धुनि गर्जेसि भारी। गर्भ स्रवहिं सुनि निसिचर नारी ॥" (सु० दो० २७)।

रन-मद-मत्त फिरइ जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा ॥ ९ ॥
रवि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी ॥१०॥
किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबही के पंथहिं लागा ॥११॥
ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दस - मुख - बसबर्ती नरनारी ॥१२॥
आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता ॥१३॥

दोहा—भुजबल बिस्व बस्य करि, राखेसि कोउ न सुतंत्र।
मंडलीकमनि रावन, राज करइ निज मंत्र ॥
देव - जच्छ - गंधर्व - नर, किन्नर - नाग - कुमारि।
जीति बरीं निज बाहु-बल, बहु सुंदर बर नारि ॥१८२॥

शब्दार्थ—धनधारी = कुबेर। अधिकारी = जिन्हें लोक-शासन का अधिकार है, लोकपाल। मण्डलीकमनि = सार्वभौम सम्राट्।

अर्थ—लड़ाई के मद में मतवाला वह संसार-भर में दौड़ा फिरता था, पर अपने जोड़ का योद्धा कहीं नहीं पाता था ॥९॥ वह सूर्य, चन्द्रमा, पवन, वरुण, कुबेर, अग्नि, काल, यमराज—इन सब

लोकाधिकारियों और किन्नर, सिद्ध, मनुष्य देव और नाग—इन सभीके पीछे हठपूर्वक पड़ गया ॥१०-११॥ ब्रह्मा की सृष्टि में जहाँ तक शरीरधारी स्त्री-पुरुष थे, वे सभी रावण के अधीन बरतनेवाले थे ॥१२॥ सारे प्राणी डर के मारे उसकी आज्ञा का पालन करते थे और नित्य ही विनीत भाव से आकर उसके चरणों में प्रणाम करते थे ॥१३॥ अपनी भुजाओं के बल से जगत् भर को वश में करके रावण ने किसी-को भी स्वतन्त्र नहीं रहने दिया। सार्वभौम सम्राट् रावण अपनी ही मति (इच्छा—नियम) के अनुसार राज्य करने लगा ॥ देव, यक्ष, गन्धर्व, मनुष्य, किन्नर और नाग इन सबकी कन्याओं को एवं और भी बहुत श्रेष्ठ सुन्दरी स्त्रियों को अपने बाहु-बल से जीतकर रावण ने उनसे अपना ब्याह कर लिया ॥१८२॥

विशेष—(१) 'रवि ससि पवन···'—ये आठो दिशाओं के आठो लोकपाल हैं। अन्यत्र काल की जगह इन्द्र का नाम मिलता है।

(२) 'पंथहिं लागा'—अर्थात् कोई अपने अधिकार के अनुसार उद्यम नहीं कर पाता था।

(३) 'ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि···'—**शंका**—अवधेश, मिथिलेश, वालि, सहस्रार्जुन और बलि तो रावण के वशवर्त्ती न थे, फिर यहाँ रावण को विश्वविजयी कैसे कहा गया ?

समाधान—(क) जब सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा और संहारकर्त्ता शिवजी भी उसके वश में थे एवं सब लोकपाल हाथ जोड़े खड़े रहते थे तब बीच के इने-गिने वशवर्त्ती न भी पाये जायँ तो क्या ? इनलोगों ने उसे वश भी तो नहीं किया, यथा—"बेद पढ़ैं बिधि संभु सभीत पुजावन रावन सो नित आवैं। दानव देव दयावने दीन दुखी दिन दूरिहिं ते सिर नावैं ॥" (क० उ० २), "कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता ॥" (सुं० दो० १९)। देवताओं की अपेक्षा मनुष्य-वानर युद्ध में बहुत तुच्छ हैं, इसीसे तो रावण ने वर माँगने में इन्हें छाँट दिया था, यथा—"अवज्ञाताः पुरा तेन वरदाने हि मानवाः।" (वाल्मी० बा० स० १६।६)। (ख) साहित्य की रीति है कि जिस समय जिसका उत्कर्ष कहा जाता है, उसके साथ ही अपकर्ष नहीं कहा जाता। इसका दो-चार जगहों का जो थोड़ा अपकर्ष है, वह अंगद-रावण-संवाद में कह देंगे। वाल्मीकीय उ० में भी श्रीरामजी के पूछने पर अगस्त्यजी ने रावण की अपकर्ष की बातें अलग कही हैं। सामान्य रीति से तो यह विश्व-विजयी था ही। 'मण्डलीक'—१२ राजाओं के ऊपर कहाता है, 'मनि' से उनका भी स्वामी अर्थात् जगत्-सम्राट् ही अर्थ होगा।

इंद्रजीत सन जो कछु कहेऊ। सो सब जनु पहिलेहिं करि रहेऊ ॥१॥
प्रथमहिं जिन कहँ आयसु दीन्हा। तिन्हकर चरित सुनहु जो कीन्हा ॥२॥
देखत भीमरूप सब पापी। निसिचर-निकर देव-परितापी ॥३॥
करहिं उपद्रव असुर-निकाया। नानारूप धरहिं करि माया ॥४॥
जेहि बिधि होइ धरम निर्मूला। सो सब करहिं बेद-प्रतिकूला ॥५॥
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाँव पुर आगि लगावहिं ॥६॥
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई। देव बिप्र गुरु मान न कोई ॥७॥
नहिं हरि भगति जज्ञ तप ज्ञाना। सपनेहुँ सुनिय न बेद पुराना ॥८॥

अर्थ—मेघनाद से जो कुछ कहा गया, सबको मानों उसने पहले से ही कर रक्खा था ॥१॥ जिन्हें उसने पहले आज्ञा दी थी, उन्होंने जो चरित किये, उन्हें सुनो ॥२॥ देवताओं को दुःख देनेवाले निशाचर वृन्द देखने में भयंकर और पापी थे ॥३॥ वे असुर-समूह उपद्रव करते थे और माया से अनेक प्रकार के रूप धारण करते थे ॥४॥ जिस तरह से धर्म निर्मूल हो जावे, उसी प्रकार के सब वेद विरुद्ध

उपाय वे करते थे ॥५॥ जिन-जिन देशों में गायों और ब्राह्मणों को पाते थे, उन-उन नगरों, गाँवों एवं पुरों में आग लगा देते थे ॥६॥ (उनके भय से) शुभ आचरण (विप्र-भोजन, यज्ञ, दान, आदि) कहीं भी नहीं होते थे। देवों, ब्राह्मणों और गुरुओं को कोई नहीं मानता था ॥७॥ स्वप्न में भी हरिभक्ति, यज्ञ, तप एवं ज्ञान नहीं होते थे और न कहीं वेद-पुराण ही सुनने में आते थे ॥८॥

विशेष—(१) 'इन्द्रजीत सन जो···'—मेघनाद को जैसे ही आज्ञा मिली, उसने इतना शीघ्र इन्द्र को जीत लिया कि मानों उसने प्रथम ही से जीत रक्खा था। लाकर दिखा दिया है, इसीसे यहीं पर उसका 'इन्द्रजित्' नाम दिया गया।

(२) 'नगर गाँव पुर'—गाँव से बड़ा पुर होता है और उससे बड़ा नगर। एक भी ब्राह्मण या गाय के छिपा होने का सन्देह हो तो छोटे-बड़े नगर-गाँव आदि नहीं बचने देते, सबमें आग लगा देते थे।

छन्द—जप जोग बिरागा तप मखभागा श्रवन सुनइ दससीसा।
आपुन उठि धावइ रहइ न पावइ धरि सब घालइ खीसा॥
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धरम सुनिय नहिं काना।
तेहि बहु बिधि त्रासइ देस निकासइ जो कह बेद पुराना॥

सोरठा—बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति, तिन्हके पापहिं कवन मिति ॥१८३॥

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट पर-धन-पर-दारा ॥१॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा ॥२॥
जिन्हके यह आचरन भवानी। ते जानहु निसिचर सब प्रानी ॥३॥

शब्दार्थ—घालै खीसा = नष्ट कर डालता, यथा—"केहि के बल घालेहि बन खीसा।" (मुं० दो० २०)।

अर्थ—जप, योग, वैराग्य, तप, यज्ञ में देवताओं के भाग (जैसे ही, एवं जहाँ कहीं भी) रावण कानों से सुन पाता। (वैसे ही वह) स्वयं उठ दौड़ता, कुछ भी न रहने पाता, वह सबको नष्ट कर डालता था॥ ऐसा भ्रष्ट आचरण संसार में हो गया कि धर्म का नाम तो कानों से सुनने में नहीं आता था। जो कोई वेद या पुराण कहता, उसे वह बहुत प्रकार से डरवाता और देश से निकाल देता था॥ घोर निशाचरगण जो अन्याय करते थे उनका वर्णन नहीं हो सकता। हिंसा पर जिनकी अत्यन्त प्रीति है, उनके पापों की कौन सीमा ? ॥१८३॥ बहुत दुष्ट, चोर और जुआरी बढ़ गये, जो पराये धन और पराई स्त्रियों के कामुक रहते हैं ॥१॥ माता, पिता और देवता किसीको भी नहीं मानते और साधुओं से सेवा करवाते हैं ॥२॥ शिवजी ने कहा—हे भवानी ! जिनके ऐसे आचरण हों उन सब प्राणियों को तुम राक्षस ही (के समान) समझो ॥३॥

विशेष—'छंद'—यह चौपइया छन्द है, इसके प्रत्येक चरण में ३०-३० मात्राएँ होती हैं तथा १०, ८, १२ वीं मात्राओं पर विराम होता है, यथा—'भये प्रगट कृपाला दीनदयाला···' (दो० १९१)।

'भ्रष्ट अचारा'—आचार के गुण और उसके त्याग के दोष—"आचाराल्लभते ह्यायुराचाल्लभते श्रियम्। आचारात्कीर्त्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च॥ दुराचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत्। त्रसन्ति यस्माद्भूतानि तथा परिभवन्ति च॥ तस्मात्कुर्यादिहाचारं यदिच्छेत् भूतिमात्मनः। अपि पापशरीरस्य

आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चारित्रलक्षणाः। साधूनां च यथा वृत्तमेतदाचारलक्षणम् ॥" (महा० अनुशा० १०४।६-९)।

'हिंसा', यथा—"पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई।" (उ० दो० ४०)।

'ते जानहु निसिचर सब प्रानी।'—उपर्युक्त आचरण उन निशाचरों के स्वाभाविक थे, पर अन्य किसी भी जाति या देश के प्राणी ऐसे आचरण करें, तो वे भी निशाचरों के समान ही जानना चाहिये।

अतिसय देखि धरम कै ग्लानी। परम सभीत धरा अकुलानी ॥४॥
गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही ॥५॥
सकल धरम देखइ बिपरीता। कहि न सकइ रावन-भय-भीता ॥६॥
धेनु-रूप धरि हृदय बिचारी। गई तहाँ जहँ सुर-मुनि-झारी ॥७॥
निज संताप सुनायेसि रोई। काहू ते कछु काज न होई ॥८॥

छन्द—सुर मुनि गंधर्बा मिलि करि सर्बा गे बिरंचि के लोका।
सँग गो-तनु धारी भूमि बिचारी परम बिकल भय सोका ॥
ब्रह्मा सब जाना मन अनुमाना मोर कछू न बसाई।
जाकरि तैं दासी सो अबिनासी हमरेउ तोर सहाई ॥

सोरठा—धरनि धरहि मन धीर, कह बिरंचि हरिपद सुमिरु।
जानत जन की पीर, प्रभु भंजिहि दारुन बिपति ॥१८४॥

शब्दार्थ—ग्लानी = खेद, खिन्नता। धरा = पृथ्वी। झारी = सब। पीर = पीड़ा, दुःख।

अर्थ—धर्म की अत्यन्त खिन्नता देखकर पृथ्वी परम भयभीत और व्याकुल हो गई ॥४॥ (वह हृदय में विचारने लगी कि) मुझे पहाड़, नदी और समुद्र का बोझ वैसा भारी नहीं जान पड़ता, जैसा एक परद्रोही भारी जान पड़ता है ॥५॥ वह समस्त धर्म उल्टे देख रही थी, पर रावण से डरी हुई कुछ कह नहीं सकती थी ॥६॥ हृदय में विचार कर, गाय का रूप धरकर, वह वहाँ गई, जहाँ सब देवता और मुनि थे ॥७॥ उसने अपना दुखड़ा रोकर सुनाया, पर किसीसे भी उसका कुछ काम न हुआ ॥८॥ सुर, मुनि और गन्धर्व—सब मिलकर ब्रह्माजी के लोक को गये। डर और शोक से परम व्याकुल बेचारी भूमि भी गाय का रूप धारण किये हुई साथ थी ॥ ब्रह्माजी ने सारी बातें जान लीं और उन्होंने मन में विचार कर कहा कि इसमें मेरा कुछ वश नहीं चलेगा। जिसकी तू दासी है, वही अविनाशी परमात्मा हमारा और तेरा सहायक है। फिर ब्रह्माजी ने कहा कि हे पृथ्वी! मन में धैर्य धारण करो और भगवान् के चरणों का स्मरण करो, वे प्रभु अपने दासों की पीड़ा को जानते हैं। अतः, इस कठिन विपत्ति का नाश करेंगे ॥१८४॥

विशेष—(१) 'धरा अकुलानि'—क्योंकि पापियों का बोझ धारण करने में असमर्थ है। अतः, 'धरा' नाम दिया। 'धेनु रूप'—गाय दीनता-द्योतक और सभी की दया का पात्र है। 'गई तहाँ'—सुमेरु पर्वत पर गई, क्योंकि वहीं सब छिपे थे, यथा—"देवन्ह तके मेरु-गिरि-खोहा।" (दो० १८१)

'गे बिरंचि के लोका'—क्योंकि सृष्टि ब्रह्मा ही की रची हुई है और रावण को वर भी इन्होंने ही दिये हैं, उसीसे भय है और धर्म-हानि का शोक है। वे कुछ प्रबन्ध करेंगे ही। 'परम बिकल'—व्याकुलता

के साथ 'परम' विशेषण दिया गया है, क्योंकि अधर्म से डरकर व्याकुल होना, सद्वृत्ति है, यह सात्विक वृत्ति है। जैसे "सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर सोपान सुहाई॥ (अ० दो० १६९), इसमें राम-विरह से शरीर-त्याग करने से उनकी चिता सुहाई कही गई, अन्यथा उसकी शोभा का वर्णन नहीं किया जाता। 'मोर कछू न बसाई' वर तो दे ही चुके, अब मेरा भी कुछ वश नहीं, नित्य उसके यहाँ वेद सुनाने के लिये जाना पड़ता है। 'हमरेउ तोर सहाई'—हमारी भी पराधीनता छुड़ावेंगे और मेरे वरदान की रक्षा करते हुए, तेरी भी रक्षा करेंगे।

'सो अविनासी'—भाव यह कि किसी भी नाशवान् व्यक्ति के द्वारा वह न मरेगा, प्रभु अविनाशी हैं, वे ही नर-शरीर धारण कर मारेंगे, तब हम सबके दुःख दूर होंगे।

(२) 'धरनि धरहि मन ·'—पृथ्वी परम व्याकुल थी। अतः, धीर धरने को कहा और हरि-स्मरण भी करने के लिये उपदेश दिया, क्योंकि भय-शोक के हरनेवाले हरि ही हैं, यथा -"कह कपि हृदय धीर धरु माता। सुमिरु राम सेवक-सुखदाता॥ (सुं० दो० १४), अर्थात् धीर धरना और हरि-स्मरण—ये ही दुःख नाश के उपाय हैं। दुःख हरने के सम्बन्ध से 'हरि' और विपत्ति भंजन के सम्बन्ध से 'प्रभु' अर्थात् समर्थ विशेषण उपयुक्त हैं।

बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाइय प्रभु करिय पुकारा॥१॥
पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥२॥
जाके हृदय भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती॥३॥
तेहिं समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ॥४॥
हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥५॥
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥६॥
अग-जग-मय सबरहित बिरागी। प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥७॥
मोर बचन सबके मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना॥८॥

शब्दार्थ—पुकारा = दुःख सुनावें। दिसि बिदिसहु = चार दिशाएँ और चार विदिशाएँ तथा ऊपर और नीचा—ये सब मिलाकर दस दिशाएँ होती हैं। अग = स्थावर। जग = जंगम। बिरागी = ममता-रहित। साधु साधु (अव्यय) = ठीक है-ठीक है, धन्य-धन्य।

अर्थ—सब देवगण बैठे हुए विचार करने लगे कि प्रभु को कहाँ पावें कि उनको पुकारें? ॥१॥ कोई तो वैकुण्ठपुर जाने को कहता है और कोई कहता है कि वही प्रभु क्षीरसागर में बसते हैं ॥२॥ जिसके हृदय में जैसी भक्ति और प्रीति होती है, प्रभु उसी प्रकार से उसके लिये सदा वहीं प्रकट हो जाते हैं ॥३॥ हे पार्वती! उस समाज में मैं भी था। अतः, अवसर पाकर मैंने भी एक बात कही ॥४॥ कि भगवान् सब जगह एक समान व्याप्त हैं, वे प्रेम से प्रकट होते हैं, यह मैं जानता हूँ ॥५॥ कहिये तो, वह कौन देश और काल एवं दिशा और विदिशा है, जहाँ भगवान् नहीं है? ॥६॥ वे स्थावर-जंगम-मय हैं और सबसे पृथक् एवं रागरहित हैं, वे प्रभु प्रेम से ऐसे प्रकट हो जाते हैं, जैसे (लकड़ी से) अग्नि ॥७॥ मेरा वचन सबके मन में ठीक जँचा और ब्रह्माजी ने 'साधु-साधु' कहकर उसकी प्रशंसा की ॥८॥

विशेष—'बैठे सुर सब करहिं···'—एक कल्प में जय-विजय को शाप वैकुंठ में हुआ था और वृन्दा ने भी एक कल्प में वैकुण्ठाधीश को ही शाप दिया था, इन प्रमाणों से कितनों का मत था कि वैकुंठ से ही अवतार हो सकता है। श्रीनारदजी का शाप क्षीरशायी भगवान् को हुआ है, उस कल्प की दृष्टि से

कुछ लोग कहने लगे कि यहीं से अवतार होता है। पर ब्रह्माजी मन-ही-मन विचार रहे हैं। ये जानते हैं कि इस बार उक्त स्थलों से अवतार न होगा, क्योंकि इनकी आयु बहुत बड़ी है, एक कल्प ही इनका दिन है, यथा—"सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्रान्ताम्…" (गीता ८।१७)। और—"कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं।" (दो० १३९)। अतः, ब्रह्मा ने बहुत अवतार देखे हैं, इनके एक दिन में ही देवताओं के कई जन्म हो जाते हैं। ब्रह्माजी के हार्दिक भाव को शिवजी जानते हैं, यथा—"कह बिधि प्रभु तुम्ह अंतरजामी।" (दो० ८७)। अतः, शिवजी ने अवसर पाकर कहा, क्योंकि अवसर का वचन सार्थक होता है, यथा—"रानि राय सन अवसर पाई।…कहब समुझाई॥" (अ० दो० २८३)। "अवसर जानि सप्तरिषि आये।" (दो० ८८), वैसे यहाँ जय देवताओं का यथार्थ मत न हुआ, क्योंकि उन्होंने वैकुण्ठ एवं क्षीरसिन्धु में ही प्रभु की स्थिति कही। वे प्रभु सर्वत्र ही रहते हैं, ऐसा विचार कर अवसर पाकर शिवजी ने कहा। "हरि ब्यापक …जिमि आगी" अर्थात् वे चराचर के स्वामी प्रभु सर्वत्र प्राप्त होते हैं, यथा—"सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी॥" (दो० ११८)। 'प्रेम ते प्रगट होहिं', यथा—"जोई सुमिरे तेहि को तहँ ठाढ़े।" (क० उ० १२७) "जहँ न होहु तहँ देहु कहि।" (अ० दो० १२७)। 'मैं जाना'—शिवजी ही जानते हैं कि इस बार अवतार भानु-प्रताप से होनेवाले रावण के प्रति होना है और उसकी कथा शिवजी ही जानते हैं, यथा—"सुनु मुनि कथा पुनीत पुरानी। जो गिरिजा प्रति संभु बखानी॥" (दो० १५२)। 'जिमि आगी'—लकड़ी में अग्नि सर्वत्र व्याप्त रहता है, पर जहाँ रगड़ की विशेषता होती है, वहीं वह प्रकट होता है। यहाँ लक्षण से परात्पर श्रीरामजी का परिचय दे दिया, केवल नाम नहीं कहा, यथा—"अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत-प्रेम-बस सगुन सो होई॥" (दो० ११५)। इस बात को ब्रह्माजी ही यथार्थ जान गये, अतः साधु-साधु कहा। 'मोर बचन सबके मन माना।'—अर्थात् उक्त दोनों मतवालों को भी स्वीकार हुआ, क्योंकि विष्णु-नारायण भी तो व्यापक हैं ही। अतः, जिस रूप का आविर्भाव होना होगा, वही होगा। यही कारण है कि आगे स्तुति में और तदनुसार आकाशवाणी में एवं प्रगट होने पर सूतिकागृह में भी उक्त दोनों मतों के लिये सन्तोषप्रद बातें हुई हैं और इस परम गुह्य अवतार के चरित में सबको अपने ही इष्ट का बोध हुआ है।

दोहा—सुनि बिरंचि मन हरष तनु, पुलक नयन बह नीर।
अस्तुति करत जोरि कर, सावधान मतिधीर॥१८५॥

छन्द—जय जय सुरनायक जन-सुख-दायक प्रनतपाल भगवंता।
गो-द्विज-हितकारी जय असुरारी सिंधु-सुता-प्रिय-कंता॥
पालन सुर धरनी अद्भुत करनी मरम न जानइ कोई।
जो सहज कृपाला दीनदयाला करउ अनुग्रह सोई॥

अर्थ—मेरे वचन सुनकर ब्रह्माजी का मन हर्षित हुआ, उनका शरीर पुलकित हो गया और आँखों से आँसू बहने लगे। सावधानता-सहित वे धीरबुद्धि ब्रह्माजी हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे॥१८५॥ हे देवताओं के स्वामी! भक्तों को सुख देनेवाले! शरणपाल भगवन्! आपकी जय हो, जय हो॥ हे गायों और ब्राह्मणों के हित करनेवाले! असुरों के शत्रु! श्रीलक्ष्मीजी के प्रिय स्वामी! आपकी जय हो॥ जो देवताओं और पृथ्वी के पालन करने के लिये आश्चर्य कर्म करनेवाले हैं, जिनका भेद कोई नहीं जानता। जो स्वाभाविक कृपालु एवं दीनदयालु हैं, वे ही हम सबपर कृपा करें॥

विशेष—'सुनि बिरंचि···'—शिवजी ने कहा था—'प्रेम ते प्रगट होहिं···' इसलिये प्रथम ब्रह्माजी में प्रेम की दशा आई। परम भक्त शिवजी के वचन सुनकर प्रेम उमड़ आया। ब्रह्माजी ने ही रावण को वर दिया है और यहाँ सबमें ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ होने से सबके मुखिया हैं। ग्रन्थकार ने दोहे के तीसरे चरण में एक मात्रा कम करके ब्रह्माजी की प्रेम-विह्वलता प्रकट कर दी है। 'मन हरष' से मन, 'स्तुति करत' से वचन और 'जोरि कर' से कर्म सूचित किया है, यथा—"भलो मानि हैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइ है।" (वि० १३५)। 'जय जय सुरनायक···'—जय शब्द तीन बार कहकर इसे अनन्त बार जनाया, क्योंकि तीन बहुवचन है, आदरार्थ वीप्सा भी है और प्रेमातिशय्य एवं विह्वलता का सूचक भी। आप 'सुरनायक' हैं, इसलिये देवताओं के संकट हरें। 'जनसुखदायक' हैं, इसलिये साधु एवं ऋषि-मुनियों को अवतार से सुख दें। 'प्रनतपाल'—हम सब शरणागत हैं, रक्षा करें। 'भगवंता'—आप षडैश्वर्यपूर्ण हैं, आपके ऐश्वर्य-रूप जगत् को रावण से हानि पहुँच रही है। आप 'गोद्विज हितकारी' हैं और गो-ब्राह्मणों को रावण से दुःख है। 'असुरारी'—असुरों का नाश करना आप कैसे भूल रहे हैं? 'सिंधु सुता···'—लक्ष्मी के पिता तीर्थपति समुद्र भी नीच रावण के समर्ग से दुखी हैं। पुनः लक्ष्मीजी के ऐश्वर्य-स्वरूप द्रव्य आदि का भी रावण के द्वारा असद्व्यय (बुरे कामों में व्यय) हो रहा है। अतः, वे भी दुखी हैं। 'अद्भुत करनी'—अखिल ब्रह्मांडभक्षक काल भी आपका भृकुटि विलास है, आप देव-पृथ्वी के पालन के लिये मीन, कमठ, शूकर आदि बने, यह आश्चर्य ही है। आप 'सहज कृपाला' हैं, तब कृपा में देर क्यों? हमलोग दीन हैं, तो आपको दयालु होना ही चाहिये।

जय जय अबिनासी सब-घट-बासी ब्यापक परमानंदा।
अबिगत गोतीतं चरित पुनीतं मायारहित मुकुंदा॥
जेहि लागी बिरागी अति अनुरागी बिगत मोह मुनिबृंदा।
निसिबासर ध्यावहिं गुनगन गावहिं जयति सच्चिदानंदा॥

शब्दार्थ—अबिगत=जो जाना न जाय, अज्ञेय। मुकुंद=विष्णु, मुक्तिदाता।

अर्थ—अविनाशी, घट-घट में निवास करनेवाले, सबमें व्यापक, परम आनन्दरूप, अज्ञेय, इन्द्रियों से परे, पवित्रचरित, मायारहित, मुक्तिदाता, हे विष्णु! आपकी जय हो, जय हो॥ जिसके लिये वैराग्यवान् मुनि-समूह मोहरहित होकर अत्यन्त अनुराग-पूर्वक रात-दिन ध्यान करते और जिनके गुण समूह गाते हैं, उन सच्चिदानन्द भगवान की जय हो।

विशेष—इस छन्द में ज्ञान दृष्टि से कहते हैं—'सब घट बासी' होते हुए निर्लिप्त हैं, इससे उनके विनाश पर आप 'अविनासी' ही रहते हैं। सबमें 'व्यापक' हैं, फिर भी निर्लिप्त भाव से सबके दुःखों से असंग 'परमानंदा' रहते हैं। 'अबिगत' अर्थात् अज्ञेय हैं, क्योंकि 'गोतीत' हैं। आप माया-रहित हैं, वैसे पवित्र चरित करते हैं, जिनसे और लोग भी माया रहित एवं पवित्र होकर 'मुकुंदा' से मोक्ष प्राप्त करते हैं। आगे ऐसे प्रभु से लाभ उठाने की रीति कहते हैं—'जेहि लागि···'—मोह रहित हो संसार से वैराग्य का आप में अनुराग करते हुए दिन-रात ध्यान एवं गुणगान करते हुए 'मुकुंद' से मोक्ष पाते हैं···।

जेहि सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई संग सहाय न दूजा।
सो करउ अघारी चिंत हमारी जानिय भगति न पूजा॥

जो भव-भय-भंजन मुनि-मन-रंजन गंजन बिपतिबरूथा।
मन बच क्रम बानी छाड़ि सयानी सरन सकल-सुर-जूथा॥

शब्दार्थ—उपाई=पैदा की। त्रिबिध=तीन प्रकार की। चित=चिंतन, स्मरण।

अर्थ—जिन्होंने सृष्टि उत्पन्न कर उसे तीन प्रकार से बनाया। उनके इस काम में दूसरा संगी एवं सहायक नहीं है। वे पापनाशक हमारी सुधि लें, हम भजन-पूजन कुछ नहीं जानते॥ जो जन्म-मरण-रूप भय के नाशक, मुनियों को आनन्द देनेवाले और विपत्ति-जाल के नाशक हैं, हम सब देव-समूह चातुरी की बानि (प्रकृति) छोड़कर मन, वचन और कर्म से उनकी शरण हैं॥

विशेष—(१) 'त्रिबिध बनाई'—जगत की रचना में तीन कारण हैं—उपादान, निमित्त और सहकारी। जैसे घट के बनने में मृत्तिका उपादान, कुम्हार निमित्त और दण्ड, चक्र, सूत आदि सहकारी कारण हैं। वेदान्त मत से जगत के ऐसे ही तीनों कारण ईश्वर ही हैं। सूक्ष्म-चित्-अचित्-विशिष्ट ब्रह्म 'उपादान' कारण है, यथा—"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय।" (छां० ६।२।३), अर्थात् उस (ईश्वर) ने बहुभवन—बहुत होने का सकल्प किया। इसमें संकल्पकर्तृत्व से 'निमित्त' कारण भी वही हुआ तथा उत्पत्ति आदि के साथ साधक (कारण) ज्ञान-शक्ति आदि छओ ऐश्वर्य भी ईश्वर ही में रहते हैं। इससे 'सहकारी' कारण भी वे ही हैं। 'संग सहाय न दूजा'—अर्थात् उपर्युक्त तीनों कारणत्व ब्रह्म में ही हैं, यथा—"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्॥" (छां० ६।२।१)। इस वेद-वाक्य में एक सत्-रूप ईश्वर (ब्रह्म) की स्थिति कही है, एक और अद्वितीय शब्द से उपादान और निमित्त भी उसीको कहा है।

सम्यक् प्रकार से आधार जानकर हमलोग आपकी ही शरण में प्राप्त हैं। 'बानी' का अर्थ आदत, स्वभाव या प्रकृति करना चाहिये, अन्यथा पुनरुक्ति होगी, यथा—"एक बानि करुनानिधान की॥" (अर० दो० ९)। 'अघारी'—अघरूप राक्षस हैं, उनके आप शत्रु हैं। अथवा, भा० १०।१२ में अघासुर की कथा है। उसने अजगर-रूप से समस्त ग्वाल-बालों एवं बछड़ों को निगल लिया था। श्रीकृष्ण भी उसके मुख से पैठ अपना रूप बढ़ाकर उसको मार डाला और उन ग्वाल-बालों और बछड़ों की रक्षा की है। वैसे हमलोगों को भी अघासुर रूप (पापमय) राक्षस निगले जा रहे हैं, रक्षा करें, वे आपकी भक्ति-पूजा नहीं जानते थे, वैसे हमलोग भी—'जानिय भगति न पूजा', अर्थात् कुछ नहीं जानते। 'जानिय भगति न·····' अर्थात् हमलोग उपाय में असमर्थ हैं। शरणागति मात्र का भरोसा है।

(२) 'मन बच क्रम बानी···'—जब तक मन-वचन-कर्म की चातुरी रहती है, तबतक श्रीराम-कृपा नहीं होती, यथा—"मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥" (दो० १९९), पुनः बालि के प्रसंग में भी—"परा बिकल महि" में शरीर का, "हृदय प्रीति मुख·····" में मन का और "स्वामी सन, चल न चातुरी मोरि।" में वचन का अभिमान दूर हुआ, तो उसपर भी तुरत कृपा हुई, यथा—"बालि-सीस परसा निज पानी। अचल करउँ तनु···बालि कहा सुनु कृपानिधाना॥" (कि० दो० ९)।

सारद श्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहँ कोउ नहिं जाना।
जेहि दीन पियारे बेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना॥
भव-बारिधि-मंदर सब बिधि सुंदर गुनमंदिर सुखपुंजा।
मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा॥

दोहा—जानि सभय सुर भूमि सुनि, बचन समेत सनेह ।
गगनगिरा गंभीर भइ, हरनि सोक संदेह ॥१८६॥

अर्थ—सरस्वती, वेद, शेष और सम्पूर्ण ऋषि लोग—जिनको कोई नहीं जानते । जिन्हें दीन प्यारे हैं, ऐसा वेद पुकारकर कहते हैं, वे श्रीभगवान् हमपर कृपा करें ॥ हे संसार-सागर के (मथन के लिये) मन्दराचल (रूप) ! हे सब प्रकार से सुन्दर, हे गुणों के धाम और सुखराशि ! हे नाथ ! मुनि, सिद्ध और सब देवता परम भयभीत होकर आपके चरणारविन्दों में प्रणाम करते हैं ॥ देवताओं और पृथिवी आदि को भयभीत जान और प्रेम-युक्त वचन सुनकर शोक और सन्देह हरनेवाली गम्भीर (गूढ़ एवं मेघ-ध्वनि की तरह मधुर तथा सबके श्रवण-गोचर होनेवाली) आकाशवाणी हुई ॥१८६॥

विशेष—(१) 'सारद श्रुति सेषा··· ···' यथा—"त्वं हि लोकगतिर्देव न त्वां केचित्प्रजानते ।" (वाल्मीकीय दे० ११०।१०), "स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।" (गीता १०।१५) ।

(२) 'दीन पियारे'—दो० १८ भी देखिये ।

(३) 'भव-बारिधि-मंदर'—अर्थात् अपने ध्यान करनेवाले मुमुक्षु के हृदय-सिन्धु के मन्थन में आप मन्दर हैं, दैवी-आसुरी सम्पत्तियाँ मथनेवाली हैं, ११ इन्द्रियाँ और ३ अन्तःकरण शुद्ध होकर १४ रत्न रूप से प्रकट होते हैं । 'परम भयातुर···नमत'—"जौ सभीत आवा सरनाई । रखिहउँ···" (सुं० दो० ४३), इत्यादि रीति से अपनाइये ।

स्तुति के चार छन्दों में क्रमशः कर्म, ज्ञान, भक्ति और प्रपत्ति (शरणागति) गर्भित हैं । पुनः प्रथम में क्षीरशायी, दूसरे-तीसरे में वैकुण्ठनाथ और चौथे छन्द में साकेतविहारी के गुण-माहात्म्य का प्रत्यक्षीकरण है । विष्णु भगवान् और श्रीमन्नारायण का परात्पर श्रीरामजी से अंश-अंशी भेद होते हुए भी तत्त्वतः एवं गुणतः अभेद है, इसीसे श्रीराम-स्तुति में भी उन दो रूपों के गुण मिश्रित हैं ।

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा । तुम्हहिं लागि धरिहउँ नरबेसा ॥१॥
अंसन्ह सहित मनुज-अवतारा । लैहउँ दिनकर - बंस - उदारा ॥२॥
कस्यप अदिति महातप कीन्हा । तिन कहँ मैं पूरब बर दीन्हा ॥३॥
ते दसरथ कौसल्या रूपा । कोसलपुरी प्रगट नरभूपा ॥४॥
तिन्हके गृह अवतरिहउँ जाई । रघुकुल-तिलक-सो चारिउ भाई ॥५॥
नारद-बचन सत्य सब करिहउँ । परम सक्तिसमेत अवतरिहउँ ॥६॥
हरिहउँ सकल भूमि - गरुआई । निर्भय होहु देव - समुदाई ॥७॥

शब्दार्थ—सुरेसा = देवों के स्वामी, ब्रह्मा, आदि । अंसन्ह सहित = देखिये दो० १५१ चौ० २ । उदारा = श्रेष्ठ, अत्यन्त दानशील । परम सक्ति = आदिशक्ति (श्रीसीताजी) ।

अर्थ—हे मुनियो, सिद्धो और सुरेशो ! मत डरो, तुम्हारे लिये मैं मानव-शरीर धरूँगा ॥१॥ श्रेष्ठ सूर्यवंश में अंशों के साथ मैं मनुष्य का अवतार लूँगा ॥२॥ कश्यप और अदिति ने महान् तप किया था, मैंने उन्हें प्रथम ही वर दिया है ॥३॥ वे दोनों दशरथ-कौसल्या-रूप से श्रीअयोध्यापुरी में राजा-रानी होकर प्रकट हुए हैं ॥४॥ हम चारो भाई उनके घर जाकर अवतार लेंगे, क्योंकि वे रघुकुल में शिरोमणि हैं ॥५॥ श्रीनारदजी के सभी वचनों को सत्य करूँगा, अपनी परम (आदि) शक्ति के साथ अवतार लूँगा ॥६॥ और पृथ्वी के सब भार हरूँगा, हे देव-समूह ! तुम सब निर्भय हो जाओ ॥७॥

विशेष—'मुनि सिद्ध···'—आकाशवाणी में मुनि और सिद्ध को प्रथम कहा, क्योंकि वे जितेन्द्रिय होते हैं, यथा—ब्रह्मस्तुति में भी इन्हीं के नाम प्रथम आये हैं—"मुनि सिद्ध सकल सुर···'। 'दिनकर-वंस उदारा।'—ब्रह्माजी ने रावण-वध मनुष्य के हाथ कहा है, उसे मारने के लिये साकेत-विहारी प्राकृत मनुष्य की तरह अवतीर्ण होंगे। सूर्य-वंशी तेजस्वी और श्रेष्ठ होते आये हैं। अतः इसमें भगवान् छिप सकेंगे और उदारता आदि गुण भी इसमें ही घटित होंगे—"मंगन लहहिं न जिन्हके नाहीं।" (दो० २३०)।

इस ग्रन्थ में अशेषकारण पर श्रीरामजी का चरित है। इसी चरित में पार्वतीजी को मोह हुआ था। फिर उन्हीं के प्रश्नोत्तर-रूप में सम्पूर्ण कथा कही गई है। परन्तु अवतार-हेतु में तीन कल्पों के हेतु और लिखे गये, उनकी पूर्त्ति करके इस चौथे कल्प की कथा को मनुशतरूपा के प्रसंग से प्रारम्भ किया। फिर इसी कल्प में भानु-प्रताप के रावण होने का प्रसंग भी कहा और उसीके उत्पात से ब्रह्मादि ने स्तुति की, इसपर यह आकाशवाणी हुई।

परन्तु, स्तुति करनेवालों में तीन मत रखनेवाले लोग थे। ब्रह्माजी सबकी ओर से स्तुति में नियुक्त थे। अतएव, सबके भाव लेकर स्तुति की। तदनुसार सबको सन्तोष देने के लिये आकाशवाणी हुई। (क) प्रथम की दो अर्द्धालियों में प्रस्तुत कल्प का प्रसंग है, क्योंकि प्रतापभानु-रावण से डरे हुए लोगों को निर्भय करना है। मनु-प्रसंग में—'इच्छामय नरबेष सँवारे' कहा गया था वही यहाँ 'नरबेषा' कहा। पुनः—'अंसन्ह सहित देह धरि ताता' भी यहाँ वैसे ही कहा है। 'मनुज-अवतारा' से मनु से जायमान होनेवाला सूचित किया है। (ख) 'कस्यप अदिति···' से—'चारिउ भाई॥' तक जलन्धर और जय-विजयवाले का प्रसंग है, क्योंकि इन दो के लिये अवतार वैकुण्ठ से कहा गया है और इनके सम्बन्ध में ही—'कस्यप अदिति तहाँ पितु माता।' भी कहा गया था, वैसे ही यहाँ भी कहा गया है। (ग) 'नारद-बचन सत्य···' यह क्षीरशायी के अवतारवाले कल्प का सूचक है। इस प्रकार की आकाशवाणी से तीनों प्रकार के लोगों को सन्तोष हुआ। इसीसे तीन बार 'अवतार' लेने के पृथक्-पृथक् शब्द भी कहे गये हैं। क्षीरशायी के कल्प में दशरथ-कौसल्या का भेद नहीं है, कश्यप-अदिति ही होते हैं, यह वैकुंठवासी के साथ कहकर जना दिया। आगे प्रकट होने के प्रसंग में भी यहाँ का-सा रहस्य रहेगा। शेष चरित सब कल्पों के एक से ही होते हैं, जैसे वृन्दा का शाप केवल वैकुण्ठाधीश को पाषाण (शालग्राम) होने का हुआ, परन्तु स्वरूपा-भेद होने के कारण सभी विग्रह शालग्राम हुए, उनके पृथक्-पृथक् लक्षण पद्मपुराण आदि में कहे गये हैं। वैसे नारदशाप भी सब कल्पों के अवतारों में ग्रहण होता है, उसीको यहाँ कहा गया है, क्योंकि उसीके अनुसार ब्रह्मा देवताओं को वानर-शरीर धरने को कहेंगे। अन्यथा नारद-वचन निकाल दें तो अन्य कल्पों में लीला ही नहीं रह जायगी। परम प्रभु ने मनु-शतरूपा से कहा था कि—"तात गयें कछु काल पुनि, होइहहु अवध भुआल, तब मैं होब तुम्हार सुत॥" तो वे दूसरे कल्प का वियोग कैसे सह सकेंगे? अतएव यह अवतार मनु सम्बन्ध का ही है। यह वाणी 'गंभीर' अर्थात् गूढ़ आशय युक्त है। अतः, सबको सन्तोष हुआ।

शंका—यहाँ के—'नारदबचन···' और—'मोर स्राप करि अंगीकारा···'' (अ० दो० ४०), तथा—"पुनि नारद कर मोह अपारा।" (उ० दो० ६३), को लेकर कोई सारी कथा ही नारद-शाप-कल्प की कहते हैं।

समाधान—ऊपर के दो वचनों के उत्तर तो ऊपर आ ही गये। तीसरा भुशुण्डीजी का कथन गरुड़ जी के प्रश्न पर है। गरुड़ के प्रश्न वहाँ नहीं कहे गये, क्योंकि वे पार्वतीजी के प्रश्नों में ही आ गये हैं—"सुनु सुभ कथा भवानि,···कहा भुसुंडि बखानि, सुना बिहगनायक गरुड़॥" (दो० १२०), अर्थात् इन्हीं प्रश्नों के उत्तर वहाँ कहे गये हैं, वही मैं (वहाँ सुनकर) तुमसे कहता हूँ। अतः, जैसे यहाँ अवतार-हेतु

के प्रसंग में नारदमोह के प्रति गिरिजा ने प्रश्न किया तो शिवजी ने विस्तार से कहा, वैसे वहाँ गरुड़जी ने भी प्रश्न किया है, तब भुशुण्डीजी ने कहा है।

गगन ब्रह्मबानी सुनि काना। तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना ॥८॥
तब ब्रह्मा धरनिहिं समुझावा। अभय भई भरोस जिय आवा ॥९॥

दोहा—निज लोकहिं बिरंचि गे, देवन्ह इहइ सिखाइ।
बानरतनु धरि-धरि महि, हरिपद सेवहु जाइ ॥१८७॥

अर्थ—आकाश से हुई ब्रह्मवाणी को कानों से सुनकर देवताओं के हृदय शीतल हुए और वे शीघ्र ही लौटे ॥८॥ तब ब्रह्मजी ने पृथ्वी को समझाया, वह निर्भय हुई और उसके हृदय में भरोसा हुआ ॥९॥ देवताओं को यही सिखाकर कि 'वानर-शरीर धर-धर कर तुम पृथ्वी पर जाओ और भगवान् के चरण की सेवा करो' ब्रह्माजी अपने लोक को चले गये ॥१८७॥

विशेष—'तब ब्रह्मा धरनिहिं समुझावा।'—क्योंकि यह भय-शोक से परम विकल थी। अतः ब्रह्मवाणी नहीं समझ सकी थी। इसे फिर से ब्रह्माजी ने कहकर समझाया। 'निज लोकहिं बिरंचि'—साक्षात् देवता पृथ्वी पर पैर नहीं रखते, इसलिये वानर-शरीर धरकर पृथ्वी पर रहना कहा। रावण के वरदान में भी नर-वानरों को छोड़ दिया था और नारद वचन में—'करिहहि कीस सहाय तुम्हारी।' कहा है। अतः, वानर-शरीर धरना कहा।

प्रश्न—पूर्व लिखा गया कि भूमि सुर, मुनि आदि के पास सुमेरु पर्वत पर गई, वहाँ से सब मिलकर ब्रह्मा के लोक को गये। वहाँ से अन्यत्र जाना नहीं कहा गया, फिर यहाँ 'निज लोकहिं' में ब्रह्मा का जाना कैसे कहा गया है?

उत्तर—(क) श्रीमद्भागवत के मत से ब्रह्मा का एक स्थान सुमेरु पर्वत के शिरोभाग पर भी है वहाँ सभा-स्थान है, यथा—"ते सोमवचनादेवाः पितृभिः सह भारत। मेरुशृंगे समासीनं पितामहमुपागमन ॥" (महा० अनुशा० ९२।१), अर्थात् हे भारत युधिष्ठिर! पितरों के साथ वे सब देवगण चन्द्रमा के वचन सुनकर सुमेरु पर्वत के शिखर पर सुख से बैठे हुए ब्रह्माजी के पास गये। देवता लोग वहीं सुमेरु पर्वत पर पुकार किया करते हैं। वहीं इस बार भी गये थे। सभा-विसर्जन करके ब्रह्मा अपने सत्यलोक को गये। (ख) रावण के वरदाता ब्रह्मा और शिवजी दोनों हैं, यथा—"मैं ब्रह्मा मिलि तेहि वर दीन्हा।" (दो० १७६)। ब्रह्मलोक तक सबके जाने का प्रमाण स्पष्ट है, ब्रह्माजी ने अपनी असमर्थता प्रकट की, यथा—"मोर कछू न बसाई।" (दो० १८३)। तब शिवजी के यहाँ जाना चाहिये, वहाँ भी कार्य न हो तो वैकुंठ एवं क्षीरसागर जाने की रीति है। यहाँ ब्रह्माजी के यहाँ से जाना नहीं कहा गया, पर जहाँ सबकी बैठक होकर विचार होने लगा है वहाँ शिवजी कहते हैं—"तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ।" फिर विसर्जन पर भी शिवजी का कहीं जाना नहीं कहा गया और न पहले कहीं से एवं किसीके साथ उनका आना ही कहा गया था। शिवजी ब्रह्माजी के तुल्य किन्तु कहीं विशेष भी, माने जाते हैं, फिर उनके आने-जाने का उल्लेख न हो, यह भी असम्भव है इसका तात्पर्य यह है कि शिवजी स्वयं कथा कहते हैं। अतः, ब्रह्मादिक का अपने लोक में आना कहने में इष्ट-कथा के साथ अपनी महत्ता-सूचक घटना है। अतः, आत्मश्लाघा विचार कर नहीं कहा, प्रसंग से घटनास्थल का परिचय दिया कि वह बैठक कैलास पर हुई। यह काव्य का एक गुण भी है। शिवजी के यहाँ प्रथम देवताओं ने अपने विचार प्रकट किये, फिर शिवजी ने अत्यन्त नम्रतापूर्वक अपने विचार

से निर्णय किया। उस रीति से कार्य हो गया, तब—'निज लोकहिं बिरंचि गे' और—'गये देव सब निज निजधामा।' शिवजी वहीं रह गये।

गये देव सब निज निज धामा। भूमिसहित मन कहँ बिश्रामा ॥१॥
जो कछु आयसु ब्रह्मा दीन्हा। हरषे देव बिलंब न कीन्हा ॥२॥
बनचर-देह धरी छिति माहीं। अतुलित बल प्रताप तिन्ह पाहीं ॥३॥
गिरि-तरु-नख-आयुध सब बीरा। हरिमारग चितवहिं मति धीरा ॥४॥
गिरि कानन जहँ तहँ भरि पूरी। रहे निज निज अनीक रचि रूरी ॥५॥
यह सब रुचिर चरित मैं भाखा। अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा ॥६॥

अर्थ—सब देवता अपने-अपने धाम को चले गये, पृथ्वी के साथ सबके मन को विश्राम हुआ ॥१॥ जो कुछ आज्ञा ब्रह्माजी ने दी थी, उससे देवता हर्षित हुए और उसके करने में देर नहीं की ॥२॥ उन्होंने पृथ्वी पर वानर शरीर धारण किया। उनमें बल और प्रताप अपरिमित था ॥३॥ सब वीर हैं, पहाड़, वृक्ष और नख ही उनके हथियार हैं। धीरबुद्धि वे भगवान् का मार्ग देख रहे हैं ॥४॥ अपनी-अपनी उत्तम सेना बनाकर जहाँ-तहाँ पहाड़ों और वनों में भरे पड़े हैं ॥५॥ मैंने ये सब सुन्दर चरित्र कह दिये। अब उस (चरित) को सुनो, जिसे बीच में रख छोड़ा था ॥६॥

विशेष—(१) 'मन कहँ बिश्रामा'—आकाशवाणी के उपक्रम में कहा था—'हरनि सोक संदेह'। शोक और सन्देह मन में होता है, यहाँ उपसंहार में 'मन कहँ बिश्रामा' कहकर उक्त शोक-सन्देह की निवृत्ति दिखाई। 'भूमि सहित' क्योंकि इस उद्योग में भूमि प्रधान है। 'हरषे देव बिलंब न कीन्हा'—वानर-देह निषिद्ध है, उसमें दुःख मानना और विलम्ब करना था, पर नहीं किया, क्योंकि—(क) 'हरिपद सेवहु जाइ' कहा गया है, यथा—"सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जोइ तनु पाइ भजिय रघुबीरा॥" (उ० दो० ९५), "जेहि सरीर रति राम सों, सोइ आदरहिं सुजान।" (दोहावली १४१), "अधम सरीर राम जिन्ह पाये।" (दो० ११)। (ख) शोक-निवृत्ति का साधन है और रावण से बदला भी लिया जा सकेगा।

साक्षात् देवता अपने-अपने लोकों में रहे, उनके अंश वानर हुए, पर उनके बल-प्रताप उनके अंश रूपों में पूर्ण हैं, यथा—"पवनतनय-बल पवन-समाना।" (कि० दो० २९)। 'हरि-मारग चितवहिं' युद्ध के उत्साह में भरे हुए चाहते हैं कि कब प्रभु आवें और युद्ध हो? 'निज निज अनीक' देव-शरीर के नेताओं ने यहाँ भी नेता होकर अपने-अपने अनुयायियों की सेना सजाई है।

(२) 'यह सब रुचिर चरित मैं भाखा।' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"सुनु गिरिजा हरि-चरित सुहाये।" (दो० १२०) में है। इतने में 'अवतार-हेतु प्रकरण' कहा गया और गिरिजा के—"प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपुधारी॥" (दो० १०९) इस प्रश्न का उत्तर हुआ।

'अब सो सुनहु जो बीचहि राखा'—पूर्व मनु-शतरूपा के प्रति परम प्रभु का अवतार लेने का वर देना और—"तहँ करि भोग बिसाल ···" से आश्वासन करना कहकर, वह प्रसंग वहीं छोड़, बीच का रावण-अवतार-प्रसंग कहने लग गये थे। उसे कहकर फिर पूर्व के छोड़े हुए प्रसंग को उठाते हैं, यहाँ तक बालकाण्ड का पूर्वार्द्ध समाप्त हुआ।

अवतार-हेतु-प्रकरण समाप्त हुआ।

अवतार और बालचरित

अवधपुरी रघुकुल - मनि - राऊ। बेद-बिदित तेहि दसरथ नाँऊ ॥७॥
धरम-धुरंधर गुननिधि ज्ञानी। हृदय भगति मति सारँगपानी ॥८॥

दोहा—कौसल्यादि नारि प्रिय, सब आचरन पुनीत।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़, हरि-पद-कमल बिनीत ॥१८८॥

अर्थ—श्रीअयोध्यापुरी में रघुकुल में श्रेष्ठ दशरथ नाम के राजा हुए, जो वेदों में भी प्रसिद्ध है ॥७॥ वे धर्मधुरन्धर, गुणों के भण्डार और ज्ञानी थे. उनके हृदय में शार्ङ्गपाणि श्रीरामजी की भक्ति थी और उनकी बुद्धि उन्हींमें लगी रहती थी ॥८॥ कौसल्या आदि उनकी सभी प्यारी स्त्रियां के आचरण पवित्र थे। वे अपने पति की आज्ञाकारिणी थीं और पति में उनका दृढ़ प्रेम था। वे भगवान् के चरण-कमलों में (भी) विनम्र भाव से दृढ़ प्रेम रखती थीं ॥१८८॥

विशेष—(१) 'बेद-बिदित', यथा—"चत्वारिंशद्शरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणीं नयन्ति।" (ऋ० २।१।११)। भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान सब वेदों में बीजरूप से रहते हैं। पुनः अथर्व वेद की श्रीरामतापनीय उपनिषद् में भी दशरथजी प्रसिद्ध हैं।

'धरम धुरंधर' से कर्म, 'ज्ञानी' से ज्ञान और 'भक्ति' से उपासना कहकर तब बुद्धि का श्रीरामजी में लगना कहा, यथा—"सब साधन को एक फल, जेहि जान्यो सोइ जान। ज्यों-त्यों मन-मंदिर बसहिं, राम धरे धनुबान ॥" (दोहावली ९०), अर्थात् मनु शरीर का भक्ति-संस्कार बना रहा। 'सारँगपानी', यथा—"सुमिरत श्रीसारंगपानि छन में सब सोच गयो" (गी० बा० ४५)।

'कौसल्यादि नारि···'—राजा दशरथ के ७०० रानियाँ हैं, यथा—"पाँ-लागन दुलहियन्ह सिखावति सरिस सासु सत-साता।" (गी० बा० १०८)। इनमें कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी मुख्य हैं। इनमें भी कौसल्याजी प्रथम विवाहिता होने से मुख्य हैं, इसीसे इन्हें आदि कहा है। 'हरिपद' –पूर्व शतरूपा-रूप में जिनका आराधन किया था, यथा—"पुनि हरि-हेतु करन तप लागे।" (दो० १४३)। 'आचरन-पुनीत', यथा—"तुम्ह गुरु-बिप्र-धेनु-सुर-सेवी, तसि पुनीत कौसल्या देवी ॥" (दो० २९३)।

एक बार भूपति मन माहीं। भइ गलानि मोरे सुत नाहीं ॥१॥
गुरुगृह गये तुरत महिपाला। चरन लागि करि बिनय बिसाला ॥२॥
निज दुख सुख सब गुरुहिं सुनायेउ। कहि बसिष्ठ बहु बिधि समुझायेउ ॥३॥
धरहु धीर होइहहिं सुत चारी। त्रिभुवन-बिदित भगत-भयहारी ॥४॥

अर्थ—एक बार राजा दशरथ के मन में ग्लानि हुई कि मेरे पुत्र नहीं है ॥१॥ वे राजा तुरत अपने गुरुजी के घरपर गये और चरणों में प्रणाम करके बहुत स्तुति की ॥२॥ पुनः अपना सारा दुःख और सुख गुरुजी को कह सुनाया, तब वसिष्ठजी ने राजा को बहुत तरह से कहकर समझाया ॥३॥ कि धैर्य धारण करो, चार पुत्र होंगे, जो तीनो लोकों में विख्यात और अपने भक्तों के भय हरनेवाले होंगे ॥४॥

विशेष—(१) 'एक बार भूपति···'—राजा का चौथापन आ पहुँचा, इससे ग्लानि हुई कि पुत्र होने का समय बीत चला। पुत्र के बिना वंश-परम्परा जा रही है, नरकों से उद्धार कौन करेगा? फिर अब मुझे वन जाकर भगवद्भजन करना चाहिये, राज्य किसे दें? यदि यों ही चल दें तो प्रजा के दुखी होने से राजा को नरक होता है, इत्यादि।

(२) 'गुरु-गृह गये तुरत···'—एकाएक तीव्र ग्लानि हो उठी, क्योंकि परम प्रभु के प्रादुर्भाव का समय आ पहुँचा, इसीसे शीघ्र ही 'गुरु-गृह' गये। 'बिनय बिसाला', यथा—"भानु बंस भये भूप घनेरे।···" से—"असि असीसि राउरि जग जाना॥" (अ० दो० २५४) तक अर्थात् जब कभी कुछ भी अशुभ रघुवंशियों पर आ पड़ा, आप ही के आशीर्वाद से कल्याण हुआ है, मेरा भी मनोरथ पूर्ण कीजिये।

(३) 'निज दुख सुख···'—दुःख पुत्र के न होने का, सुख यह कि अयोध्या का यह ऐश्वर्य जो आपकी कृपा से प्राप्त है, उसे पुत्र के बिना कौन ग्रहण करेगा? व्यर्थ ही जायगा। 'बहुबिधि' समझाना आगे की अर्द्धाली में कहते हैं।

(४) 'धरहु धीर···'—तुम्हें एक ही पुत्र के लाले पड़े हैं, चार होंगे, वे भी—'त्रिभुवनविदित'—नागों को सुखी करने से पाताल में, देवताओं को सुखी करने से स्वर्ग में और धनुभंग आदि से इस लोक में प्रसिद्ध होंगे, यथा—"दसमुख-बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिनके जस अमर नाग नर सुमुखि स-नाहैं। (गी० उ० १३)। 'भगत-भयहारी'—भक्तों के भयहारी भगवान् हैं, वे ही प्रकट होंगे और शृंगी ऋषि के बुलाने एवं यज्ञ-विधि को भी कहकर समझाया। 'सुत चारी' से पूर्व जन्म का भी स्मरण कराया, यथा—"अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउँ चरित 'भगत-सुखदाता॥" (दो० १५१)।

अलंकार—'प्रहर्षण द्वितीय' क्योंकि एक पुत्र चाहते हुए चार मिले।

शृंगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा। पुत्रकाम सुभ जज्ञ करावा॥५॥
भगतिसहित मुनि आहुति दीन्हे। प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हे॥६॥
जो बसिष्ठ कछु हृदय बिचारा। सकल काज भा सिद्ध तुम्हारा॥७॥
यह हबि बाँटि देहु नृप जाई। जथाजोग जेहि भाग बनाई॥८॥

दोहा—तब अदृस्य भये पावक, सकल सभहिं समुझाइ।
परमानंदमगन नृप, हरष न हृदय समाइ॥१८९॥

अर्थ—फिर वसिष्ठजी ने शृंगी ऋषि को बुलवाया और पुत्र की कामना से शुभ यज्ञ करवाया॥५॥ मुनि ने भक्ति-सहित आहुतियाँ दीं, तब हाथ में पायस लिये हुए अग्निदेव प्रकट हुए॥६॥ उन्होंने कहा, हे राजन्! जो कुछ वसिष्ठजी ने हृदय में विचारा है, वह तुम्हारा सारा कार्य सिद्ध हुआ॥७॥ यह हविष्यान्न ले जाकर जो जिस योग्य हो, उसमें वैसा भाग बनाकर बाँट दो॥८॥ सब सभा को समझाकर तब अग्निदेव अदृश्य (अन्तर्धान) हो गये। राजा दशरथ परमानन्द में मग्न हो गये, उनके हृदय में हर्ष नहीं समाता था॥१८९॥

विशेष—(१) शृंगी ऋषि—इनके पिता का नाम विभाण्डक था और पितामह का नाम काश्यप। ये वन ही में पालित हुए और शरीर तथा मन से ब्रह्मचर्यनिष्ठ थे। (महा० वन० अ० ११०।३२-४० में यह भी कथा है कि इनका जन्म हरिणी के गर्भ से हुआ, वह हरिणी इनके जन्म से शाप-मुक्त होकर पुनः देवकन्या हुई। इनके सिर पर एक सींग था, इसीसे इनका नाम ऋष्यशृंग था।) ये श्रीगंगा-तट पर रहते थे। एक समय अंग देश में अवृष्टि हुई। वहाँ के राजा रोमपाद ने ऋषियों से इसका उपाय पूछा, तब उन्होंने कहा कि शृंगी ऋषि यहाँ आवें, तो वर्षा होगी। बहुत सोच-विचार कर युक्ति से लाने के लिये वहाँ वेश्याएँ भेजी गईं। वे शृंगी ऋषि के आश्रम के समीप ही ठहरीं। संयोग से ऋषि वहाँ आये। इनका सुन्दर रूप देखकर उन्हें स्नेह हो आया। बातचीत कर उन्हें अपने आश्रम पर ले गये, मूल-फल देकर

सत्कार किया। फिर ऋषि को भी उन वेश्याओं ने बुलाया और मोदक आदि मिष्टान्न फल कहकर दिया और यह भी कहा कि हमारे यहाँ ऐसे ही फल होते हैं। आप हमारे यहाँ चलें। शृंगी ऋषि साथ ही नौका पर चढ़कर चल दिये। इनके आते ही वर्षा हुई, राजा रोमपाद ने इनका पूजन किया और वर माँगा कि वे छल से लाये जाने पर क्रोध न करें। पुनः अपनी कन्या शान्ता इनको दी (वाल्मी० बा० स० ९-१०)। हरिवंश के अनुसार रोमपाद ही का नाम दशरथ भी था। अयोध्या के महाराज दशरथ से नाम-साम्य के कारण इनकी बड़ी मैत्री थी। शान्ता पर दोनों राजाओं का पितृतुल्य वात्सल्य था। पुनः भाग० ९।२३।७-८ में लिखा है—"सुतो धर्मरथो यस्य जज्ञे चित्ररथोऽप्रजाः। रोमपाद इति ख्यातस्तस्मै दशरथः सखा॥ शान्तां स्वकन्यां प्रायच्छेदृष्यशृङ्ग उवाह ताम्।···" अर्थात् (अङ्गवंशीय राजा दिविरथ हुए) जिनका पुत्र धर्मरथ था। उसके रोमपाद नाम से प्रसिद्ध चित्ररथ नामक पुत्र हुआ, वह पुत्रहीन था। अतः, उसे उसके मित्र राजा दशरथ ने शान्ता नाम की अपनी कन्या दी, जिसे ऋष्यशृङ्ग ने विवाहा था। तथा—"ततश्चित्ररथो रोमपादसंज्ञः॥१६॥ यस्य दशरथो मित्रं जज्ञे॥१७॥ यस्याजपुत्रो दशरथश्शान्तां नाम कन्यामनपत्यस्य दुहितृत्वे युयोज॥१८॥" (वि० पु० ४।१८), अर्थात् चित्ररथ जिनका रोमपाद नाम था। इस रोमपाद के मित्र श्रीदशरथजी थे। अज के पुत्र श्रीदशरथजी ने श्रीरोमपाद को सन्तानहीन देखकर उन्हें पुत्री-रूप में अपनी शान्ता नाम की कन्या गोद में दी थी।

(२) 'बसिष्ठ बोलावा'—श्रीमद्वाल्मीकीय बा० स० ११ में राजा दशरथ का स्वयं बुलाने के लिये जाना लिखा है और कहीं अपने बन्धु-वर्ग को भेजकर बुलवाना कहा गया है, कल्प-भेद से सभी ठीक हैं। यहाँ श्रीगोस्वामीजी ने सबके मतों की रक्षा करते हुए, वसिष्ठजी का बुलवाना कहा है। गुरुजी ने जिसे उचित समझा, भेजकर बुलवा लिया।

शृंगी ऋषि इस यज्ञ के विधान में परम निपुण थे। अतः, उन्हींसे यज्ञ कराया गया। वाल्मी० बा० स० ९-१०-११ में प्राचीन कथा भी सुमन्त्र जी ने कही थी कि शृंगी ऋषि के द्वारा ही यज्ञ होगा और उससे आपके पुत्र होंगे। यह यज्ञ श्रीसरयूजी के पार मनोरमा क्षेत्र में हुआ था। वसन्तारम्भ (चैत्र) से होने लगा, सालभर होता रहा। महा० शल्य० ३८।२४-२५ में लिखा है कि उत्तरकोसला (अयोध्या) में उद्दालक के द्वारा यज्ञ-समय उनके ध्यान करने से सरस्वती नदी मनोरमा नदी-रूप से आई। वही मुनियों से पूजित होकर अयोध्या में ख्यात हुई।

शंका—साल-भर यज्ञ हुआ, फिर रावण ने विघ्न क्यों नहीं किया?

समाधान—श्रीरामजी की इच्छानुसार ही जगत् के वृत्ति हो जाती है। जैसे श्रीकृष्ण-जन्म पर पहरेदार सो गये, द्वार खुल गये, यमुना सूखकर घट गई, इत्यादि, वैसे इस यज्ञ में महर्षि वसिष्ठ एवं शृंगोऋषि रक्षक थे। भारी-भारी ऋषियों से रावण डरता ही था। फिर इस यज्ञ में शिव-ब्रह्मा भी आये थे और रघुवंशी राजाओं का प्रभाव भी कई बार रावण देख चुका था। इत्यादि कारणों से रावण इधर नहीं आ सका था।

(३) 'प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हे।'—श्रीगोस्वामीजी ने स्वयं अग्निदेव का प्रकट होना कहा है। वाल्मी० बा० स० १६।११-१५ में जो ब्रह्माजी के यहाँ से पुरुष आकर प्रकट हुआ, उसके लक्षण कहे गये हैं। उसने कहा है कि यह पायस देवताओं ने बनाया है, इससे पुत्र होगा।

(४) 'जो बसिष्ठ कछु हृदय···'—यह विचार अग्निदेव ने गुप्त ही कहा, क्योंकि प्रथम ही वसिष्ठजी ने राजा से—'बहु बिधि समझावा' में कह रक्खा था कि यज्ञ में अग्निदेव पायस लेकर प्रकट होंगे। उसमें से आधा कौशल्याजी को, चौथाई कैकेयीजी को और चौथाई के दो भाग करके कौसल्या-कैकेयी के हाथों से सुमित्राजी को दिलाना।

(५) 'सकल सभहिं समुझाइ'—राजा तो अग्नि का कहना वसिष्ठजी के द्वारा प्रथम से ही जानते

थे, पर सभावाले सुनकर चकित हुए, तब वही बात अग्निदेव ने सभा को भी समझा दी कि इससे चार पुत्र होंगे, इत्यादि। 'परमानंदमगन नृप'—क्योंकि अग्निदेव और गुरुजी के वचन एक ही हुए और मनोरथ की सिद्धि हुई।

तबहिं राय प्रिय नारि बोलाईं। कौसल्यादि तहाँ चलि आईं ॥१॥
अर्द्ध भाग कौसल्यहिं दीन्हा। उभय भाग आधे कर कीन्हा ॥२॥
कैकेई कहँ नृप सो दयेऊ। रहेउ सो उभय भाग पुनि भयेऊ ॥३॥
कौसल्या कैकई हाथ धरि। दीन्ह सुमित्रहिं मन प्रसन्न करि ॥४॥

अर्थ—राजा दशरथ ने उसी समय अपनी प्यारी स्त्रियों को बुलवाया। कौसल्या आदि रानियाँ वहाँ चली आईं ॥१॥ राजा ने (पायस का) आधा भाग कौसल्याजी को दिया, (शेष) आधे के दो भाग किये ॥२॥ राजा ने वह (इसमें का एक भाग) कैकेयीजी को दिया, जो शेष रहा, फिर उसके दो भाग हुए ॥३॥कौसल्याजी और कैकेयीजी के हाथों पर रखकर मन प्रसन्न करके सुमित्राजी को दोनों भाग दिये ॥४॥

विशेष—'तहाँ चलि आईं'—अर्थात् समीप यज्ञशाला में ही तीनो रानियाँ थीं। अतः, चलकर आ गईं। 'मन प्रसन्न करि'—सुमित्राजी का मन प्रसन्न करके।

पायस-भाग रहस्य—वसिष्ठजी ने विज्ञान-दृष्टि से निश्चित करके राजा को समझा रक्खा था, वैसा ही राजा ने किया। कौसल्याजी सबसे बड़ी हैं, इनका पुत्र राज्याधिकारी होगा, इसलिये प्रथम आधा इन्हें दिया, क्योंकि इनसे साक्षात् परम प्रभु अवतार लेंगे। शेष में तीन भाग होंगे, क्योंकि तीनो भाई श्रीरामजी के शेष (सेवक) और श्रीरामजी शेषी (सेव्य) होंगे। फिर चतुर्थ भाग कैकेयीजी को दिया गया, उससे भरतजी होंगे। इसपर व्यावहारिक दृष्टि से श्रीसुमित्राजी ने अपना अपमान समझा, क्योंकि कैकेयीजी उनसे छोटी हैं, इनसे पहले उन्हें क्यों दिया गया? तब राजा ने शेष चतुर्थ अंश के दो भाग करके कौसल्याजी और कैकेयीजी के हाथों पर धर दिया। राजा का अभिप्राय जानकर इन दोनों ने सुमित्राजी का मन प्रसन्नकर (समझा-बुझाकर, कि लो, तुम्हारे दो पुत्र होंगे, इस तरह प्रसन्न कर) दिया। इस तरह राजा की ओर से लक्ष्मण-शत्रुघ्न का गर्भाधान कौसल्या और कैकेयी के प्रति ही हुआ, इसीसे लक्ष्मणजी रामानुज और शत्रुघ्न भरतानुज भी कहे गये हैं और—"मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता ॥" (लं० दो० ६०) की भी आंशिक संगति होती है।

येहि बिधि गर्भसहित सब नारी। भईं हृदय हरषित सुख भारी ॥५॥
जा दिन ते हरि गर्भहिं आये। सकल लोक सुख संपति छाये ॥६॥
मंदिर महँ सब राजहिं रानी। सोभा सील तेज की खानी ॥७॥
सुखजुत कछुक काल चलि गयेऊ। जेहि प्रभु प्रगट सो अवसर भयेऊ ॥८॥

दोहा—जोग लगन ग्रह बार तिथि, सकल भये अनुकूल।
चर अरु अचर हरषजुत, रामजनम सुखमूल ॥१९०॥

अर्थ—इस तरह सब स्त्रियाँ गर्भवती हो गईं और भारी सुख (के आगम) से हृदय में हर्षित हुईं ॥५॥ जिस दिन से हरि गर्भ में आये, समस्त लोक सुख और सम्पत्ति से भर गये ॥६॥ राजमहल में सारी रानियाँ सुशोभित हो रही हैं (क्योंकि) वे शोभा, शील और तेज की खान हैं ॥७॥ इस प्रकार कुछ समय

सुखपूर्वक चला गया और वह समय आया, जिसमें प्रभु श्रीरामजी प्रकट होते हैं ॥८॥ योग, लग्न, ग्रह, दिन और तिथि—सभी अनुकूल हो गये, चर और अचर प्रसन्न हैं, (क्योंकि) श्रीरामजी का जन्म सुख का मूल (कारण) है ॥१९०॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि'—अर्थात् पिंड-विधि से, रज-वीर्य से नहीं। 'भई' शब्द दीपदेहली है।

(२) 'हरि गर्भहिं आये।'—भगवान् अजन्मा हैं, उनका गर्भ में आना कैसा ? पुनः जन्म-समय में भी भगवान् प्रथम किशोर अवस्था से प्रकट हुए, फिर माता की प्रार्थना से बालकरूप हुए। इसलिये यहाँ 'हरि' शब्द का अर्थ वायु लिया जाता है, यथा—"वैश्वानरेऽथ हरिर्दिवाकरसमीरयो इति हेमः" अर्थात् भगवान् की इच्छा पर पवनदेव उदर में गर्भाधान की प्रतीति माता आदि को कराते हैं, यथा—"तस्या एवाष्टमो गर्भो वायुपूर्णो बभूव ह ॥" (ब्रह्मवैवर्त्त पु० कृष्णजन्म खंड ७।३७), अर्थात् देवकी का आठवाँ गर्भ वायु से पूर्ण हुआ। यदि भगवान् का ही गर्भ में आना मान लिया जाय तो भी कोई अड़चन नहीं। सर्वशक्तिमान लीला विहारी के लिये सभी युक्त है। लीला रूप में स्वेच्छा से जन्म लेने की क्रीड़ा भी उनके ऐश्वर्य में अयुक्त नहीं होगी। अंगुष्ठ मात्र परिमाण का परमेश्वर अन्तर्यामी सबके हृदय में कहा ही गया है—श्वेता० ३।१३।

(३) 'सोभा सील तेज की खानी।'—तीनो रानियों में तीनों गुण पूर्ण हैं, किन्तु एक-एक गुण का प्राधान्य भी भावी पुत्रों के अनुसार कहा जाता है कि क्रमशः इन तीन गुण रूप रत्नों की खान कौसल्या, कैकेयी और सुमित्रा हैं, क्योंकि उनके गर्भों में शोभाधाम श्रीरामजी, शीलमय भरत और तेजोनिधान लक्ष्मण-शत्रुघ्न हैं।

(४) 'सुख-जुत कछुक काल ···'—गर्भ बारह मास रहा—(वाल्मी० १।१८,८), पर उतने समय को 'कछु काल' कहा है, क्योंकि 'सुख जुत'—सुख के दिन जाते नहीं जान पड़ते।

(५) 'जोग लगन ग्रह ···'—यहाँ (योग) आदि पाँच ही नाम देकर पञ्चांग की सभी उत्तम विधियों का अनुकूल होना सूचित किया। 'जोग' योग फलित ज्योतिष के अनुसार विष्कम्भ आदि २७ माने जाते हैं, उनमें श्रीराम-जन्म पर 'सुकर्मा' योग था। 'लगन' लग्न भी मेष आदि बारह हैं। उनमें कर्क लग्न था। 'ग्रह' नव हैं—सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु। इनमें प्रभु के जन्म पर—मेष का सूर्य, मकर का मंगल, तुला का शनि, कर्क का बृहस्पति और मीन का शुक्र—ये पाँच परम उच्च ग्रहों का योग हुआ, यह मण्डलेश्वर योग है।

'बार'—मंगलवार था, यथा—"नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा ॥ जेहि दिन राम-जनम श्रुति गावहिं।" (दो० ३३)। इसके अर्थ में पूर्व लिखा गया, वहाँ भी देखिये, तथा—"नखत जोग ग्रह लगन भले दिन मंगल मोदनिधान।" (गीता० बा० २)। इसमें युक्ति से मंगल दिन भी कहा गया। जन्म-दिन कोई सोम और कोई बुध भी मानते हैं। सब मतों की रक्षा करते हुए ग्रन्थकार ने इस प्रकार जनाया है। 'तिथि'—पक्षों के अनुसार तिथियाँ दो प्रकार की होती हैं—कृष्णा और शुक्ला। इनके भी पाँच भेद हैं—नन्दा (१-६-११), भद्रा (२-७-१२), जया (३-८-१३), रिक्ता (४-९-१४) और पूर्णा (५-१०-१५-३०)। नौमी रिक्ता है। यहाँ नवमी तिथि थी। चैत्र शुक्ला ९, पुनर्वसु नक्षत्र और मेष का सूर्य—ये तीनों कभी एकत्र नहीं होते। यहाँ इस योग ने पड़कर प्रभु का अघटित घटन सामर्थ्य दिखाया है।

पुनः, यथा—"मंगलमय प्रभु-जन्म समय में अति उत्तम दस योग परे। अपने अपने नाम सदृश फल दसौ जनावत खरे खरे ॥ रितुपति-रितु, पुनि आदि मास-मधु, शुक्ल पक्ष नित धर्म भरे। अंक अवधि नौमी, ससि-बासर, नखत-पुनर्वसु, प्रकृति चरे ॥ योग-सुकर्म, समय मध्ये दिन, रवि प्रताप जहँ अति पसरे। जयदाता अभिजित मुहूर्त वर, परम उच्च ग्रह पाँच ढरे ॥ नवमि-पुनर्वसु-परम उच्च रवि,

कबहुँ न तीनिउँ संग अरे। यहि ते देवरूप कछु लखिये, गाइ गाइ गुन पतित तरे ॥" (रामसुधा), अर्थात् ऋतुराज और आदि मास के योग से रामजी ब्रह्मांडों के राजा और आदि पुरुष हैं। इनके उभय पक्ष (निर्गुण-सगुण एवं मातृ-पितृ) स्वच्छ हैं। अंकों की सीमा नव है, वैसे ये सबसे परे हैं। चन्द्र आह्लाद-कारक है, वैसे ये सबको सुखी करनेवाले हैं। (इन्होंने चन्द्रवार में जन्म माना है)। रामजी सुग्रीवादि को फिर राज्य देंगे। चर (विचरणशील) प्रकृति से विश्वामित्र आदि को सुखी करेंगे। दुष्टों को दण्ड देकर सुकर्म का प्रचार करेंगे। मध्याह्न के सूर्यवत् रामजी का प्रबल प्रताप संसार में प्रसरित होगा। अभिजित् के अनुसार विजयी होंगे, शेष के भाव ऊपर आगये, यह काष्ठजिह्व स्वामी (देव) का विचार है। वाल्मीकिजी ने भी लिखा है—"ततश्च द्वादशे मासे चैत्रे नावमिके तिथौ। नक्षत्रेऽदितिदैवत्ये स्वोच्च-संस्थेषु पञ्चसु ॥ ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्पताविन्दुना सह ॥" (वाल्मी० १।१८।८-९), अर्थात् तब बारहवें महीने चैत में नवमी तिथि को, जब पुनर्वसु नक्षत्र था। पाँच (रवि, मंगल, शनि, गुरु और शुक्र) ग्रह अपने-अपने उच्च स्थान में वर्त्तमान थे। बृहस्पति चन्द्रमा के साथ थे कर्कट लग्न में।

'अचर हरषजुत'—अर्थात् पाँचो तत्त्व विकसित हैं वही आगे कहते हैं—"मध्य दिवस अति सीत न घामा"—इसमें घाम से तेज (अग्नि) तत्त्व, "सीतल मन्द सुरभि बह बाऊ।"—वायु, "बन कुसुमित गिरि गन मनियारा।"—पृथ्वी, "सरितामृतधारा"—जल, "गगन बिमल संकुल सुर"—आकाश। इस प्रकार पाँचो तत्त्वों की सेवा भी सूचित की।

नौमी तिथि मधुमास पुनीता। सुकल पच्छ अभिजित हरिप्रीता ॥१॥
मध्य दिवस अति सीत न घामा। पावन काल लोकबिश्रामा ॥२॥
सीतल मंद सुरभि बह बाऊ। हरषित सुर संतन्ह मन चाऊ ॥३॥
बन कुसुमित गिरिगन मनियारा। स्रवहिं सकल सरितामृतधारा ॥४॥

शब्दार्थ—मधु = चैत। अभिजित = विजयी, इस नक्षत्र में तीन तारे घिघाड़े के आकार में मिले होते हैं, यह मूहूर्त्त ठीक मध्याह्न में आता है। सुरभि = सुगन्धित। बाउ = वायु। मनियारा = मणियों की खान से युक्त, यथा—"प्रगटी सुंदर सैल पर, मनि आकर बहु भाँति ॥" (दो० ६५)।

अर्थ—नवमी तिथि, चैत्र का पवित्र महीना, शुक्लपक्ष, भगवान् का प्यारा अभिजित् मुहूर्त्त ॥१॥ दिन के मध्य (दोपहर) में, जब न बहुत जाड़ा था और न घाम ही, लोगों को विश्राम देनेवाला पावन समय था ॥२॥ ठण्ढी, धीमी और सुगन्धित हवा चल रही थी। देवता आनन्दित थे और सन्तों के मन में उत्साह था ॥३॥ वन फूले हुए थे, पहाड़ों की श्रेणियाँ मणियों की खानों से सुशोभित थीं और समस्त नदियाँ अमृत की धारा बहा रही थीं ॥४॥

विशेष—'मधु मास पुनीता'—मेष के सूर्य का सम्बन्ध लेकर चैत्र को पुनीत कहा है।
'अभिजित हरिप्रीता'—यह श्रीरामजी को प्रिय है, क्योंकि वे सदा इसी मुहूर्त्त में प्रकट होते हैं।
'संतन्ह मन चाऊ'—क्योंकि जो शिव आदि के ध्यान में ही आते हैं, उनके दर्शन होंगे।
'गिरिगन मनियारा' से लोगों को सुख और 'सरितामृतधारा' से अमृतोपम जल का सुख है।

सो अवसर बिरंचि जब जाना। चले सकल सुर साजि बिमाना ॥५॥
गगन बिमल संकुल सुरजूथा। गावहिं गुन गंधर्ब - बरूथा ॥६॥
बरषहिं सुमन सुअंजलि साजी। गहगह गगन दुदुंभी बाजी ॥७॥
अस्तुति करहिं नाग मुनि देवा। बहु बिधि लावहिं निज-निज-सेवा ॥८॥

दोहा—सुर-समूह बिनती करि, पहुँचे निज निज धाम।
जगनिवास प्रभु प्रगटे, अखिल लोक-विश्राम ॥१९१॥

शब्दार्थ—संकुल=भरा हुआ, परिपूर्ण। बरूथ=वृन्द, समाज। अखिल=निःशेष, समस्त।

अर्थ—ब्रह्माजी ने जब वह अवसर जाना, तब वे और समस्त देवता अपने-अपने विमान साजकर चले ॥५॥ निर्मल आकाश देव-वृन्दों से भर गया, गन्धर्वों के समूह गुण गाते और सुन्दर अंजलि में (फूलों को) भर-भर कर फूल बरसाते थे। आकाश में नगाड़े धमाधम बज रहे थे ॥६-७॥ नाग, मुनि और देवता स्तुति करते और बहुत प्रकार से अपनी-अपनी सेवा (भेंट) लाने लगे थे ॥८॥ देव-वृन्द स्तुति करके अपने-अपने लोकों में जा पहुँचे, सब लोकों को विश्राम देनेवाले, संसार भर में व्यापक प्रभु श्रीरामजी प्रकट हुए ॥१९१॥

विशेष—(१) 'गगन बिमल'—आकाश धूल और मेघ आदि से रहित होने के कारण निर्मल है। 'सुअंजलि साजी'—फूलों को अंजुलियों में भर-भरकर बरसाते हैं और मंगलमय में हर्ष प्रकट करते हुए सेवा करते हैं।

(२) 'अस्तुति करहिं···'—नाग (पातालवासी), मुनि (मर्त्यलोकवासी) और देवता (स्वर्गवासी) गर्भ-स्तुति करते हैं। यह रीति है कि स्तुति होने पर प्रभु प्रकट होते हैं। इसीलिये अवसर जानकर ब्रह्मा आये हैं। 'बहु बिधि'—फूल बरसाकर, नाच-गाकर और स्तुति आदि करके सेवा करते हैं, यही सेवा भेंट रूप में जनाते हैं।

(३) 'पहुँचे निज निज धाम'—देवता लोग स्तुति करके चले गये, क्योंकि शीघ्र ही विभव त्यागकर (विमान आदि छोड़कर) भिखारी बनकर अयोध्या में आवेंगे, निछावर लेंगे, यथा—"राम-निछावरि लेन को हठि होत भिखारी।" (गी० बा० ६)। उत्सव में शामिल होंगे। देवता भूमि में पैर नहीं देते। पुनः देवताओं को अपने-अपने रूप में आने से श्रीरामजी का ऐश्वर्य प्रकट होगा, तब ब्रह्मा का वरदान झूठा होगा, यथा—"प्रभु बिधि-बचन कीन्ह चह साँचा।" (दो० ४८)।

शंका—आगे—"देखि महोत्सव सुर मुनि नागा। चले भवन बरनत निज भागा।" (दो० १९५) कहा है। बीच में फिर देवताओं का आना नहीं कहा गया और यहाँ चले ही गये तो वे देवता कौन हैं?

समाधान—विशेष ऐश्वर्यवान् देवता चले गये, भिखारी बनकर आवेंगे, सामान्य रह गये। वे ऊपर से ही गुप्त भाव में उत्सव देखेंगे और पीछे जायँगे, क्योंकि प्रथम आने में 'सकल सुर' कहे गये हैं और यहाँ 'सुर-समूह' मात्र का जाना कहा गया है।

'जगनिवास'—से मनु-प्रसंग के—"बिस्वबास प्रगटे भगवाना ॥" का स्मरण कराया है।

छन्द—भये प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या-हितकारी।
हरषित महतारी मुनि-मन-हारी अद्भुतरूप बिचारी ॥
लोचनअभिरामा तनुघनस्यामा निज आयुध भुज चारी।
भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी ॥

अर्थ—कृपा के स्थान, कौसल्याजी के हित करनेवाले, दीनदयालु प्रभु प्रकट हुए। मुनियों के मन को हरनेवाले आश्चर्य रूप को विचारकर माता हर्षित हैं ॥ सबकी आँखों को आनन्ददाता, मेघ के समान श्याम शरीरवाले, अपने आयुध भुजाओं में धारण किये (वा अपने आयुध चारो भुजाओं में लिये हुये)

हैं। (अंगों में यथायोग्य) भूषण और (गले में) वनमाला (पहने), बड़े-बड़े नेत्रोंवाले, शोभा के सागर और खरारि हैं ॥

विशेष—(१) 'भये प्रगट ···'—यहाँ रामजी प्रकट होने के सम्बन्ध से कृपालु कहे गये, यथा—"कृपा सिंधुजन-हित तनु धरहीं।" (दो० १२१)। ब्रह्मा की स्तुति से अखिल लोक को दीन जानकर प्रभु ने दया करके अवतार लिया है। अतः, 'दीनदयाला' कहे गये। 'कौसल्याहितकारी'—क्योंकि सूतिका-गृह में प्रकट होकर यह दर्शन देना केवल कौसल्याजी को है।

'बिचारी'—पूर्व तन से ही कौसल्याजी को अलौकिक विवेक प्राप्त है, उसीसे विचार का उदय हुआ है, जिससे अद्भुत रूप विचार करके परात्पर की स्तुति की है।

(२) 'लोचनअभिरामा' सबकी आँखों को सुख देनेवाले श्रीरामजी, यथा—"चले लोक-लोचन-सुखदाता।" (दो० २१८), अन्यथा नेत्र-वर्णन मानने से आगे के 'नयन बिसाला' में पुनरुक्ति होगी।

'तनुघनस्यामा' के साथ 'लोचनअभिरामा' कहकर सूचित किया कि इसी श्यामता का कणमात्र श्याम पुतली नेत्रों में है, जिससे प्रकाश होता है। वे लोचन अपनी निधि को पाकर सुखी होते हैं, यथा—"कोटि भानु जो ऊगवैं, तऊ उँजारु न होइ। नेकु श्याम की श्यामता, जो दृग परी न होइ ॥" (बिहारी), दर्शनानन्द नेत्रों से होता है। मेघ चलकर प्राप्त होते हैं, वैसे प्रभु स्वयं प्राप्त हुए।

'निज आयुध भुज चारी।'—पूर्व ब्रह्म-स्तुति और आकाशवाणी में कहा गया था कि वैकुंठाधीश और क्षीरशायी भगवान् के अवतारभूत श्रीरामरूप की निष्ठावाले भी सम्मिलित हैं। अतः, उनके सम्बन्ध की स्तुति भी की गई और उसी प्रकार आकाशवाणी से भी कहा गया, वैसे ही यहाँ भी ग्रन्थकार ने श्लेषालंकार से 'भुज चारी' शब्द ही में दोनो पक्षों का अर्थ जनाया है। पूर्वोक्त तीन कल्पों में कश्यप-अदिति दशरथ-कौसल्या होते हैं, उनके यहाँ जब-जब वैकुंठवासी एवं क्षीरशायी भगवान् प्रकट होते हैं, तब-तब प्रथम चतुर्भुज रूप से शंख, चक्र, गदा, पद्म—अपने इन आयुधों को लिये हुए दर्शन देते हैं। माता की स्तुति से और कहने से शिशु-रूप होते हैं। पुनः, जब इस कल्प के मनु-शतरूपा दशरथ-कौसल्या होते हैं, तब आप अपने नित्य किशोर द्विभुज रूप से अपने आयुध धनुष-बाण धारण किये हुए प्रकट होते हैं। इस पक्ष में 'चारी' शब्द का अर्थ 'प्राप्त'='धारण किया है' होगा, क्योंकि 'चारी' शब्द "चर-गति-भक्षणयोः" धातु से निष्पन्न होता है। गति का अर्थ प्राप्ति भी होता है। शतरूपा-शरीर में द्विभुज रूप में अनन्यता थी, वही देखा गया है। अब यदि चतुर्भुज रूप से आते, तो माता सुतीक्ष्ण की तरह व्याकुल हो उठतीं। अतः, इनके पक्ष में ऐसा ही अर्थ युक्त होगा।

(३) 'सोभासिंधु खरारी'—इसमें भी 'खरारी' शब्द श्लिष्ट है। "खर नाम का एक राक्षस पूर्व देवासुर-संग्राम में भगवान् विष्णु के हाथों मारा गया था, इससे विष्णु का नाम 'खरारि' पड़ा।" (हरिवंश), अथवा यह भी कहा जाता है कि चतुर्भुज भगवान् के सम्बन्ध में 'खरारी' का अर्थ 'खलारी' अर्थात् खलों के शत्रु होगा। व्याकरण में 'र' और 'ल' का अभेद भी होता है, यथा—"बिनु जर जारि करइ सोइ छारा।" (अ० दो० १६), "सरिता नस जारा।" (लं० दो० १४), इनमें 'जल' और 'जाला' के अर्थ हैं। द्विभुज रामरूप के सम्बन्ध में खर के शत्रु का अर्थ होता है। शोभातिशय्य दिखाने के लिये भविष्यत् की बात को लेकर भी कवि लोग वर्णन करते हैं, इसे भाविक अलंकार कहते हैं। खर शत्रु होते हुए भी रामजी की शोभा से मोहित हो गया, यथा—"प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी।···" से—"बध लायक नहिं पुरुष अनूपा ॥" (अर० दो० १८) तक वा यों भी कहा जाता है कि कौसल्याजी को प्रभु-कृपा से अलौकिक विवेक प्राप्त है, उस दृष्टि से वे पूर्व के अवतारों के चरित जानती हैं। अतः, खर के मोहित होने को भी जानती हैं।

कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करउँ अनंता।
मायागुन - ज्ञानातीत अमाना बेद पुरान भनंता॥
करुना-सुख-सागर सब-गुन-आगर जेहि गावहिं श्रुति संता।
सो मम हित लागी जनअनुरागी भयेउ प्रगट श्रीकंता॥
ब्रह्मांडनिकाया निर्मितमाया रोम रोम प्रति बेद कहै।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै॥
उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै।
कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै॥

शब्दार्थ—अमाना = परिमाण-रहित। भनंता = कहते हैं। श्रीकंता = श्रीसीताकान्त श्रीलक्ष्मीकान्त।

अर्थ—(माता) दोनों हाथ जोड़कर कहने लगीं कि हे अनन्त! मैं किस प्रकार आपकी स्तुति करूँ? आपको वेद-पुराण माया, गुण और ज्ञान से परे एवं परिमाण-रहित कहते हैं॥ वेद और सन्त जिनको करुणा और सुख के सागर एवं सब गुणों के धाम कहते हैं। वे ही (आप) भक्तों पर अनुराग करनेवाले 'श्रीकंत' मेरे हित के लिये प्रकट हुए हैं॥ वेद कहते हैं कि आपकी माया के रचे हुए ब्रह्मांडों के समुदाय आपके एक-एक रोम (कूप) में बसते हैं, वही (आप) मेरे गर्भ में रहे, इस हँसी की बात को सुनकर धीरों की बुद्धि भी ठिकाने न रहेगी॥ जब माता को ज्ञान उत्पन्न हुआ, तब प्रभु ने मुसकुरा दिया, (क्योंकि) वे अभी बहुत प्रकार के चरित किया चाहते हैं। माता को सुहावनी कथा कहकर समझाया कि जिस प्रकार उसको पुत्र के प्रेम प्राप्त हो॥

विशेष—(१) 'कह दुइ कर···माया गुन···'—इन दो चरणों में निर्गुण रूप का ऐश्वर्य कहा है और 'करुना···सो मम···'—इनमें सगुण रूप-वर्णित है। 'श्री' शब्द लक्ष्मी और सीताजी का बोधक है। अगस्त्यसंहिता में 'श्री' को सीता-मन्त्र का बीज ही कहा है। श्रीगोस्वामीजी ने तो बहुत जगह श्रीसीताजी को 'श्री' कहा है। अतः, उपर्युक्त रीति से 'श्रीकंत' से चतुर्भुज और द्विभुज दोनों रूपों के अर्थ हैं।

'सो मम उरबासी···'—अर्थात् जो सुनेगा, वही कहेगा कि ऐसा अपरिमित ब्रह्म कैसे कौसल्या के गर्भ में रहा होगा? उनका पेट कितना बड़ा रहा होगा? इत्यादि ज्ञानी लोग विश्वास न करेंगे, किन्तु हँसी में उड़ा देंगे। वह भी जन-अनुरागी आपने अपनी कृपा से कर दिखाया। 'धीर मति थिर न रहे', यथा—"ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद॥" (दो० ५०)। यहाँ 'अधिक अलंकार' का दूसरा भेद है, क्योंकि लघु आधार में बड़े आधेय का वर्णन है।

(२) 'उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना।'—पूर्व से प्राप्त अलौकिक ज्ञान उपज पड़ा अर्थात् बढ़ चला, तब प्रभु अर्थात् समर्थ, जो ज्ञानी को अज्ञानी और अज्ञानी को ज्ञानी करने में समर्थ हैं, मुसकुराये, अर्थात् हास के द्वारा इन्हें माया-मोहित किया, यथा—"माया हास···" (लं० दो० १४)। इनका ज्ञान पलट दिया, उसका कारण कहते हैं कि बहुत तरह के चरित आप करना चाहते हैं, इससे माता को वात्सल्य का सुख देंगे, वह कथा-द्वारा समझाते हैं—

'कहि कथा सुहाई'—अर्थात् तुमने पूर्वजन्म में तप करके अमुक-अमुक वर माँगे हैं, इसीसे मैं पुत्र होकर तुम्हें वात्सल्य सुख देने को प्रकट हुआ हूँ, वह सुख प्राप्त करो।

यहाँ प्रभु ने माता पर माया डाली है, आगे दो० २०० पर रंग-पूजा प्रसंग से उसे हरेंगे, वहाँ फिर विराट् रूप दिखाकर ज्ञान देंगे। यद्यपि इनका यह उपजा हुआ ज्ञान पूर्व के वर से था, तथापि सामान्य दृष्टि से स्वकीय ज्ञान ही था। जीव का ज्ञान परिमित होता है, उससे अपरिमित ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता। या तो प्रभु स्वयं ज्ञान करावें, अथवा कृपा-द्वारा सद्गुरु प्राप्त कराकर करावें, तभी वह ज्ञान यथार्थ होता है। इस मर्यादा की रक्षा के लिये भी अभी इनका ज्ञान आवृत करते (छिपा देते) हैं। आगे स्वयं कृपा करके विराट् रूप से प्रबोध करके देंगे। दो० १५० चौ० ३ भी देखिये।

माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा।
कीजै सिसुलीला अति-प्रिय-सीला यह सुख परम अनूपा॥
सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा।
यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भवकूपा॥

दोहा—बिप्र-धेनु-सुर-संत-हित, लीन्ह मनुज-अवतार।
निज-इच्छा-निर्मित-तनु, माया - गुन - गो-पार॥१९२॥

शब्दार्थ—डोली = फिर गई, डिग गई। सील (शील) = चरित, यथा—"शुचौ तु चरिते शीलमित्यमरः"

अर्थ—माता की वह बुद्धि फिर गई, तब वह फिर कहने लगी कि हे तात! यह रूप छोड़िये और अत्यन्त प्रियचरित शिशु-लीला कीजिये, (क्योंकि) इसका सुख बहुत ही अनुपम है॥ यह वचन सुनकर सुजान और देवताओं के स्वामी श्रीरामजी बाल-रूप होकर रोने लगे। इस चरित को जो गाते हैं, वे भगवत्-पद को प्राप्त होते हैं, फिर वे संसार-रूपी कुँए में नहीं गिरते॥ ब्राह्मणों, गायों, देवताओं और सन्तों के लिये (प्रभु ने) मनुष्य-अवतार लिया। भगवान् का तन (शरीर) माया के गुणों और इन्द्रियों से परे उनकी अपनी इच्छा से निर्माण किया हुआ है॥१९२॥

विशेष—(१) 'सिसु-लीला, अति-प्रिय-सीला', यथा—"बालचरित अति सरल सुहाये। सारद सेष संभु श्रुति गाये॥ जिन्ह कर मन इन्हसन नहिं राता। ते जन बंचित किये बिधाता॥" (दो० २०३)। गीतावली बा० पद ७-८-९ भी देखिये। 'परम अनूपा'—"तुलसिदास ऐसो सुख रघुपति पै काहू तो पायो न बिये।" (गी० बा० ७)। 'पुनि बोली'—क्योंकि एक बार प्रथम 'कह दुइ···' बोल चुकी थीं।

'होइ बालक सुरभूपा'—षोड़श वर्ष के नित्य किशोर रूप से बालक बन गये। सामान्य देवता भी रूप धर सकते हैं, आप तो उनके भूप हैं, देवताओं के शरीर दिव्य होते हैं, वैसे आपका शिशुरूप भी दिव्य ही है।

(२) 'सुजाना'—क्योंकि प्रभु ने माता के हृदय का पुत्र-विषयक भाव जान लिया और रोने लगे, यथा—"अन्तर-प्रेम तासु पहिचाना। मुनि-दुर्लभ गति दीन्ह सुजाना॥" (अर० दो० २६), तथा—"स्वामि सुजान जानि सबही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥" (अ० दो० ३१३)।

'यह चरित जे गावहिं···', यथा—"जिन्ह-जिन्ह देखे पथिक प्रिय, सिय समेत दोउ भाइ। भवमग अगम आनंद तेइ, बिनु श्रम रहे सिराइ॥ अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ। बसहु लखन सिय राम बटाऊ॥ राम धाम पथ पाइहि सोई।" (अ० दो० १२३)।

(३) 'बिप्र धेनु सुर···'—ब्राह्मण धर्म के संस्थापक हैं। गाय के दूध, घी, दही आदि से यज्ञ, पूजन आदि होते हैं, वह बछड़े से जगत् का हित करती है। देवता पूजा लेकर जगत् की रक्षा करते हैं

और सन्त परोपकारी होते हैं। ये सब रावण से दुखी थे। अतः, इनके हित के लिये अवतार लिया। 'धेनु' से यहाँ धेनु-रूपधारी भूमि का भी तात्पर्य है, क्योंकि वह तो अवतार-हेतु में मुख्य ही है। पूर्व मनु-शतरूपा के प्रति वचन दिया था—"इच्छामय नर-देह सँवारे। होइहउँ प्रकट निकेत तुम्हारे॥" (दो० १५.१) उसका विशेष देखिये। उसीकी पूर्त्ति यहाँ—'निज इच्छा···' से की।

शंका—सामान्य लोगों के घर में भी प्रसवकाल में और स्त्रियाँ रहती हैं, पर यहाँ यह संवाद किसीने नहीं जाना। 'सिसुरुदन' पर सब आईं, यह क्यों?

समाधान—भगवान् की लीला परम रहस्यात्मक है। जिसको भगवान् ही जनावें, वही जाने। वे विलक्षण संयोग से कोई भी कार्य कर लेते हैं, जैसे श्रीकृष्ण-जन्म पर पहरेवाले सो गये, फाटक खुल गये, इत्यादि।

सुनि सिसुरुदन परम प्रिय बानी। संभ्रम चलि आईं सब रानी॥१॥
हरषित जहँ तहँ धाईं दासी। आनँदमगन सकल पुरबासी॥२॥
दसरथ पुत्र-जन्म सुनि काना। मानहुँ ब्रह्मानंद समाना॥३॥
परम प्रेम मन पुलक सरीरा। चाहत उठन करत मति धीरा॥४॥
जा कर नाम सुनत सुभ होई। मोरे गृह आवा प्रभु सोई॥५॥
परमानंद पूरि मन राजा। कहा बोलाइ बजावहु बाजा॥६॥

शब्दार्थ—संभ्रम = आतुरता से, उत्कंठा-पूर्वक, यथा—"सहित सभा संभ्रम उठे, रविकुल-कमल-दिनेस।" (अ० दो० २७४)।

अर्थ—बच्चे के रोने की परम प्यारी वाणी सुनकर सब रानियाँ उत्कण्ठा पूर्वक वहाँ चली आईं॥१॥ दासियाँ प्रसन्न होकर जहाँ-तहाँ दौड़ गईं, समस्त पुरवासी आनन्द में निमग्न हो गये॥२॥ श्रीदशरथ महाराज पुत्र का जन्म होना कानों से सुनकर मानों ब्रह्मानन्द में समा (निमग्न हो) गये॥३॥ उनके मन में परम प्रेम है, शरीर पुलक से पूर्ण है। वे बुद्धि को धीर करके उठना चाहते हैं॥४॥ जिनका नाम सुनने से कल्याण होता है, वे ही प्रभु मेरे घर आये हैं॥५॥ राजा ने मन में परमानन्द से पूर्ण होकर (बाजेवालों को) बुलवाकर बाजा बजाने को कहा॥६॥

विशेष—(१) 'सुनि···चलि आईं'—रामजी के रुदन का शब्द परम गम्भीर है। अतः, मधुर मेघ-गर्जन की तरह सबको निकट ही सुन पड़ा, यथा—"बोल घनघोर से बोलत थोर थोर हैं॥" (गी० बा० ७१)। पूर्वोक्त 'रोदन ठाना' का प्रसंग यहाँ मिलाया।

(२) 'जहँ-तहँ धाईं दासी'—आवश्यक व्यवहारियों को बुलाने के लिये दासियाँ दौड़ीं। राजा आदि प्रमुख लोगों को यह समाचार प्रथम सुनाने से पुरस्कार पावेंगी, यथा—"प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाये। भूषन बसन भूरि तिन्ह पाये॥" (अ० दो० ७)। 'आनँदमगन'—अग्निदेव के वचनों से आशा थी, आज उसकी पूर्णता से आनन्द की पूर्णता हुई।

(३) 'मानहुँ ब्रह्मानंद···'—श्रीरामजी ब्रह्म ही हैं। अतः, उनके जन्म का समाचार ब्रह्मानन्द-रूप ही है, पर राजा का उनमें पुत्र-भाव है। अतः, उत्प्रेक्षा की दृष्टि से कहा है। ब्रह्मानन्द में देह की सुध-बुध नहीं रह जाती, वैसे ही आनन्द से राजा की दशा हो गई, सब अंग शिथिल पड़ गये। 'करत मति धीरा'—प्रथम मति आनन्द से अधीर हो गई थी, अब दर्शनों के लिये धीरज देते हैं। यहाँ 'परम प्रेम मन' में मन, 'पुलक सरीरा' में तन और 'जाकर नाम···' यह मन ही में वचन से कह रहे हैं, इस प्रकार तीनों में प्रेम की दशा व्याप्त है। तथा आगे—'कहा बोलाइ···' स्पष्ट भी वचन से कहा है। 'जाकर नाम सुनत सुभ

होई'—जिनके नाम सुनाकर काशी में शिवजी जन्तु मात्र को मुक्ति देते हैं, वे ही मेरे घर साक्षात् आये हैं। यहाँ 'सुभ' से मुक्ति का तात्पर्य है।

गुरु बसिष्ठ कहँ गयेउ हँकारा। आये द्विजन्ह सहित नृप-द्वारा ॥७॥
अनुपम बालक देखिन्ह जाई। रूपरासि गुन कहि न सिराई ॥८॥

दोहा—नंदीमुख सराध करि, जातकरम सब कीन्ह।
हाटक धेनु बसन मनि, नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह ॥१९३॥

अर्थ—गुरु वसिष्ठजी को बुलौवा गया, वे ब्राह्मणों के साथ राजा के द्वार पर आये ॥७॥ उन्होंने जाकर (ऐसे) बालक को देखा, जिसकी उपमा नहीं है, जो रूप की राशि है और जिसके गुण कहने से समाप्त नहीं हो सकते ॥८॥ (तब) राजा ने नान्दीमुख श्राद्ध करके जात-कर्म संस्कार के सब विधान किये और उसमें ब्राह्मणों को सोना, गायें, वस्त्र और मणियाँ दीं ॥१९३॥

विशेष—(१) 'आये द्विजन्ह सहित'—ब्राह्मण मंगलरूप हैं और इन्हें ही आगे नान्दीमुख श्राद्ध आदि में दान देना होगा। 'देखिन्ह जाई'—बाणभट्ट की कादम्बरी में भी लिखा गया है कि पुत्र-जन्म होने पर सूतिका-गृह में राजा तारापीड़ गुरु और मन्त्री के साथ शिशु को देखने गये थे। यहाँ यह देखना ऐश्वर्य-दृष्टि से भी है।

'रूपरासि', यथा—"रूपरासि बिरची बिरंचि मनो, सिला लवनि रति-काम लही री ॥" (गी० बा० १०४)।

'गुन कहि न सिराई'—गुण का तात्पर्य यहाँ लक्षण से है, यथा—"कहहु सुता के दोष गुन", "सब लच्छन संपन्न कुमारी। (दो० ६६), यहाँ गुण ही को लक्षण कहा है।

(२) 'नंदीमुख सराध करि···'—जीवों की सद्गति के लिये दस कर्म शास्त्रविहित हैं—गर्भाधान, सीमन्तक, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, यज्ञोपवीत, विवाह और मृतककर्म। इनमें जातकर्म से विवाह-पर्यन्त के आदि में अभ्युदयिक नान्दीमुख श्राद्ध का अधिकार है। यह श्राद्ध मांगलिक है। जन्म पर जातकर्म होता है। अतः, उसके प्रथम यह श्राद्ध करना चाहिये। इसमें पिता को पूर्वमुख बिठाकर, वेदिका पर दूब बिछाकर और चौरीठा (चावल का चूर्ण), बेर का फल, तिल, दधि, हल्दी मिलाकर इनके नौ पिण्ड दिलाये जाते हैं, फिर दक्षिणा दी जाती है। इससे पितर तृप्त होते हैं। 'नान्दीमुख' का अर्थ है वह श्राद्ध जो वृद्धि के लिये किया जाय—'नान्दौ वृद्ध्यर्थं मुखं यस्य'। इसके ग्रहण करने को पितृगण नाँद की तरह मुख फैलाये रहते हैं, इससे भी नाँदीमुख कहा जाता है। 'जातकर्म'—घृत और मधु मिलाकर पिता सोने के पात्र से बालक की जीभ में चार बार लगाता है। फिर कुश और जल से मन्त्र-सहित बालक का प्रोक्षण (सेचन) करके उसके दाहिने कान में आचार्य तीन बार आठो कण्डिकाएँ (यजुर्वेद के मन्त्र) सुनाते हैं। पंच विप्र (बालक के चारों ओर चार और बीच में एक ब्राह्मण) आकर बालक के जन्मस्थल (देश), बालक और माता को अभिमन्त्रित करते हैं। फिर माता अपना दाहिना स्तन धोकर बालक की नाल पर डालती है। विधिवत् घट और अग्नि स्थापन कर और गणेश आदि को पूजकर पीपल, सरसों, घृत से सात आहुतियाँ दी जाती हैं। फिर शिव-मन्त्र से सूत्र बाँधकर छुरे का पूजन करके नाल काटा जाता है। (इन दोनों कर्मों का विधिवत् वर्णन बैजनाथ-टीका में है), तथा—"प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते। मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥" (मनु० २।२९), अर्थात् पुरुष का जातकर्म नालच्छेदन से प्रथम ही किया जाता है और उस सद्यः शिशु को सोना, मधु

और घी का प्राशन वैदिक मन्त्र से कराना चाहिये। 'हाटक धेनु···दीन्ह'—नाल काटने के प्रथम ही दान दिया गया, क्योंकि पीछे सूतक होने पर दान का निषेध है। इसके प्रथम दान का बड़ा फल है।

ध्वज पताक तोरन पुर छावा। कहि न जाइ जेहि भाँति बनावा ॥१॥
सुमन-बृष्टि अकास ते होई। ब्रह्मानंद - मगन सब लोई ॥२॥
बृंद बृंद मिलि चलीं लोगाईं। सहज सिँगार किये उठि धाईं ॥३॥
कनक-कलस मंगल भरि थारा। गावत पैठहिं भूप - दुआरा ॥४॥
करि आरती निछावरि करहीं। बार बार सिसु - चरननन्हि परहीं ॥५॥

अर्थ—नगर में ध्वजाएँ, पताकाएँ और बन्दनवारें छा गईं, जैसी सजावट है, वह कही नहीं जा सकती ॥१॥ फूलों की वर्षा आकाश से हो रही है, सभी लोग ब्रह्मानन्द में निमग्न हैं ॥२॥ स्त्रियाँ झुण्ड-के-झुण्ड मिलकर चलीं, वे स्वाभाविक ही शृङ्गार किये हुई उठ दौड़ीं ॥३॥ सोने के कलशों और थालों में मंगल-पदार्थ भर-भरकर गाती हुई वे राजा के द्वार में पैठती हैं ॥४॥ वे स्त्रियाँ आरती करके न्योछावर करती हैं और बार-बार बच्चे के चरणों पर पड़ती हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'ध्वज पताक', यथा—"कदलि ताल बर ध्वजा पताका।" (अर० दो० ३७), अर्थात् ध्वजा चिह्न-युक्त है और पाँच हाथ लम्बी होती है। पताका (झण्डी) सात हाथ ऊँची होती है।

(२) 'बृंद बृंद मिलि चलीं·····'—अपनी-अपनी टोली साजकर चलीं।

'सहज सिँगार·····'—जो पिछड़ गईं, वे जैसे शृंगार किये बैठी थीं, वैसे ही उठ दौड़ीं कि जिससे भीड़ होने के प्रथम भीतर पहुँच जायँ, यथा—"जे जैसेहिं तैसेहिं उठि धावहिं।" (उ० दो० २)।

(३) 'कनक कलस मंगल·····'—कलश में श्रीसरयू का जल भरा था। वह आम के पल्लव, यव एवं दीपक से सज्जित था और थाल में दल-फल आदि सजे थे, यथा—"दधि दुर्बा रोचन फल फूला। नव तुलसी दल मंगल मूला ॥ भरि-भरि हेम थार भामिनी। गावत चलीं सिंधुरगामिनी ॥" (उ० दो० २)।

(४) 'बार बार सिसु-चरननन्हि परहीं'—अग्निदेव ने सभा को समझाया था। सभावालों ने अपने-अपने घरों में कहा, उस ऐश्वर्य-दृष्टि से देव - भाव लेकर चरणों में पड़ती हैं। पुनः ये सब नित्य परिकर हैं, प्रभु की आज्ञा से लीला के लिये अवतरित हैं, यथा—"हम सब सेवक अति बड़ भागी।·····निज इच्छा प्रभु अवतरइ, ··—सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं ···" (कि० दो० २६)। अतः, जैसे विप्र-वेष में भी श्री हनुमानजी का सिर झुक गया, यथा -"माथ नाइ·····" (कि० दो १), वैसे यहाँ इनमें भी प्रणाम की वृत्ति हो आई। यों तो सामान्य बालक के पाँव पड़ने की रीति नहीं है।

मागध सूत बंदिगन गायक। पावन गुन गावहिं रघुनायक ॥६॥
सरबस दान दीन्ह सब काहू। जेहि पावा राखा नहिं ताहू ॥७॥
मृग-मद-चंदन कुंकुम - कीचा। मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा ॥८॥

दोहा—गृह गृह बाज बधाव सुभ, प्रगटे सुषमाकंद।
हरषवंत सब जहँ तहँ, नगर नारि-नर-बृंद ॥१९४॥

शब्दार्थ—मागध—ये राग-ताल में कीर्त्ति गाते हैं। सूत = पौराणिक, श्लोकों में यश वर्णन करनेवाले। बंदी = भाट जो कवित्तों में विरद कहते हैं। गायक = कत्थक, भाँड़, आदि। सुषमा = अत्यन्त शोभा। कंद = मूल, मेघ।

अर्थ—मागध, सूत, वन्दीजन और गुणगाने वाले गवैये लोग रघुकुल के स्वामी दशरथ महाराज के पवित्र गुणों का गान करते हैं ॥६॥ सब किसीने सर्वस्व दान दिया, जिसने पाया, उसने भी नहीं रक्खा ॥७॥ सभी गलियों के बीच-बीच में कस्तूरी, चन्दन, कुंकुम (केसर) का कीचड़ फैल गया ॥८॥ घर-घर शुभ बधाइयाँ बज रही हैं, (क्योंकि) परम शोभा के कन्द (श्रीरामजी) प्रकट हुए हैं, नगर के स्त्री-पुरुषों के समूह, जहाँ देखो वहाँ ही, आनन्दित हैं ॥१९४॥

विशेष—(१) 'सरबस दान दीन्ह सब काहू ।·····' (क) यहाँ तीन प्रकार के दान कहे गये हैं, (१) राजदान—"हाटक धेनु बसन मनि, नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह ॥" (दो० १९३), (२) पुरवासियों का दान—"सरबस दान·····" इसमें 'सब काहू' से पुरवासी लिये गये। (३) याचक दान—"जो पावा राखा नहिं ताहू ॥" इसमें 'जो पावा' से याचक लिये गये। (ख) सबने अपना सर्वस्व दान में लुटा दिया। जिन्होंने पाया, उन्होंने भी लुटा दिया कि जो चाहे ले, सब रत्न नगर भर में बिखरे पड़े हैं, यथा—"बगरे नगर निछावरि मनि गन जनु जुवारि जव धान ।" (गी० बा० २)। अन्त में धन कहाँ गया ? यह प्रश्न ही व्यर्थ है अर्थात् दान की इति नहीं है। (ग) कोई-कोई बड़ी लम्बी दौड़ लगाते हैं कि यहाँ सभी ने लुटाया और भिखारी बनकर देवता लेते गये, यथा—"राम निछावरि लेन को हठि होत भिखारी। बहुरि देत तेहि देखिये मानहु धनधारी।" (गी० बा० ६), "भुवन चारि दस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी ॥" इसमें देवों का प्रसंग है। उन देवता लोगों ने एक को कोटि गुने करके वर्षा की, यथा—"रिधि सिधि संपति नदी सुहाई। उमँगि अवध अंबुधि कहँ आई ॥" (अ० दो० १)।

(२) 'सरबस दान', यथा—"उमँगि चल्यो आनंद लोक तिहुँ देत सबन्हि मंदिर रितये। तुलसिदास पुनि भरेइ देखियत, रामकृपा चितवनि चितये ॥" (गी० बा० ३), "पुरबासिन्ह प्रिय नाथ हेतु निज-निज संपदा लुटाई।" (गी० बा० १)।

(३) 'मृगमद चंदन···'—कस्तूरी, केसर, चन्दन आदि मिला अरगजा बनाकर महोत्सव में परस्पर छिड़कते हैं और गलियों में सींचते हैं, यथा—"बीथी सकल सुगंध सिंचाई ।" (उ० दो० ८), "कुंकुम अगर अरगजा छिरकहिं भरहिं गुलाल अबीर।" (गी० बा० २)।

'सुषमाकंद' क्योंकि ऊपर—"ध्वज पताक··" से—"बिचबीचा ॥" तक सबकी परम शोभा कही गई है। इसकी वर्षा करनेवाले (मेघ) श्रीरामजी ही हैं, और मूल (कन्द) कारण भी इनका प्रकट होना ही है।

'नारि बृंद' को प्रथम कहा गया है, क्योंकि शिशु के पास इनका प्रवेश प्रथम है।

कैकयसुता सुमित्रा दोऊ। सुंदर सुत जनमत भइँ ओऊ ॥१॥
वह सुख संपति समय समाजा। कहि न सकइ सारद अहिराजा ॥२॥

अर्थ—कैकेयी और सुमित्रा—इन दोनों ने भी सुन्दर पुत्र उत्पन्न किये ॥१॥ उस सुख, सम्पत्ति, समय और समाज को सरस्वतीजी और शेषजी भी नहीं कह सकते ॥२॥

विशेष—'दोऊ'—यह शब्द दीपदेहली है अर्थात् सुमित्रा ने दो पुत्र उत्पन्न किये—लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी। शत्रुघ्नजी के लिये गोस्वामीजी ने अन्यत्र स्पष्ट सुमित्रा का पुत्र कहा है, यथा—"जयति जय सत्रु करिकेसरी शत्रुहन···सर्वांग सुन्दर सुमित्रासुवन···लक्ष्मणानुज"·· (वि० ४०), "सुमिरि सुमित्रा-नाम जग, जे तिय लेहिं सनेम। सुअन लखन रिपुदमन से, पावहिं पतिपद-प्रेम" (रामाज्ञा ७।३।४)। 'सुंदर सुत जनमत भइँ ओऊ।'—श्रीगोस्वामीजी का प्रधान मत तो यही जान पड़ता है कि चारो भाई एक ही दिन प्रकट हुए, यथा—"जनमे एक संग सब भाई।" (अ० दो० ९), तथा—"पूत सपूत कौसिला जायो···जातकर्म करि पूजि पितर सुर दिये महिदेवन्ह दान। तेहि अवसर सुत तीनि प्रगट भये मंगलमुद कल्यान ॥" (गी० बा० २), "आजु महा मंगल कौसलपुर सुनि नृप के सुत चारि भयो।" (गी० बा० ३)।

पुनः मतभेद एवं कल्पभेद की दृष्टि से दो प्रकार और भी कहे गये हैं, यथा—"दिन दूसरे भूपभामिनि दोउ भई सुमंगलखानी।" (गी० बा० ४), इसमें दशमी को तीन पुत्रों का होना कहा है। "ज्यों आजु कालिहुँ परहुँ जागन होहिंगे नेवते दिये।" (गी० बा० ६), इसमें दशमी को भरत और एकादशी को लक्ष्मण-शत्रुघ्न का जन्म सिद्ध होता है, उसीके अनुसार तीन दिनों तक लगातार छठी हुई। वाल्मीकिजी ने भी श्रीराम-जन्म के दूसरे दिन भोर को भरतजी का और तीसरे दिन दोपहर को लक्ष्मण-शत्रुघ्न का जन्म माना है, यथा—"भरतो नाम कैकेय्यां जज्ञे सत्यपराक्रमः।···अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत्सुतौ॥ ···पुष्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधीः। सार्पे जातौ तु सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ॥" (सर्ग १८, श्लोक १२-१४)। 'वह सुख संपति समय समाजा।' —चौथेपन में एक भी पुत्र होता तो बहुत सुख होता और यहाँ तो एक साथ ही चार हुए, फिर सुख आदि का क्या कहना है? यथा—"जो सुख सिंधु सकृत सीकर ते सिव बिरंचि प्रभुताई। सोइ सुख अवध उमँगि रह्यो दसदिसि कौन जतन कहौं गाई॥" (गी० बा० १), "अष्टसिद्धि नवनिद्धि भूति सब भूपति भवन कमाहिं। समय समाज राज दसरथ को लोकप सकल सिहाहिं॥" (गी० बा० २)।

अवधपुरी सोहइ येहि भाँती। प्रभुहिं मिलन आई जनु राती॥३॥
देखि भानु जनु मन - सकुचानी। तदपि बनी संध्या अनुमानी॥४॥
अगरधूप बहु जनु : अँधियारी। उड़इ अबीर मनहुँ अरुनारी॥५॥
मंदिर-मनि - समूह जनु तारा। नृप-गृह - कलस सो इंदु उदारा॥६॥
भवन-बेद-धुनि अति मृदु बानी। जनु खग-मुखर-समय जनु सानी॥७॥

शब्दार्थ—अगर = एक सुगन्धित लकड़ी, जिसके साथ राल, चन्दन, गूगल आदि मिलकर धूप बनता है।

अर्थ—अवधपुरी उस तरह शोभती है मानो प्रभु से मिलने के लिये रात्रि आई है॥३॥ सूर्य को देखकर मानो वह मन में सकुच गई, तथापि विचार करके सन्ध्या बनकर यहाँ रह गई॥४॥ अगर के बहुत से धूप का धुआँ मानो सन्ध्याकाल का अँधेरा है, अबीर जो उड़ रहा है, मानो वही उसकी लाली है॥५॥ राजमहल की मणियों के समूह मानो तारागण हैं, राजभवन का कलश है, वही उदार चन्द्रमा है॥६॥ राजमहल में अत्यन्त कोमलवाणी से जो वेदध्वनि हो रही है, वही मानो समय से मिली हुई (समयानुसार) चिड़ियों की चहचहाट है॥७॥

विशेष—'अवधपुरी ···जनु राती'—अवधपुरी की शोभा का वर्णन करते हुए, ग्रन्थकार बालरूप श्रीरामजी से अयोध्या के रात्रिरूप में मिलने का रूपक बाँधते हैं। दोपहर के समय में ही अगर-धूप, अबीर, महल में जड़ी हुई मणियाँ, महल के शिखर का कलश और वेदध्वनि आदि की शोभा उत्प्रेक्षा के विषय हैं। सुर-नर-नाग आदि की उत्सुकता देखकर अवधपुरी भी रात्रिरूप होकर मिलने चली, पर वहाँ भानुकुल भानु को देखकर सकुच गई कि ये तो नित्य हमारी ही गोद में रहनेवाले हैं, जैसे दोपहर के सूर्य के समक्ष रात्रि सकुच जाय। फिर विचारकर बालसूर्य रूप श्रीरामजी के संयोग से सन्ध्या बन गई। (यहाँ प्रातः सन्ध्या समझना चाहिये)। रात्रि जीवों को विश्राम देनेवाली है, वैसे अयोध्यापुरी भी सब जीवों को विश्राम-स्थली है, इसलिये तो रात्रि का रूपक बाँधा है। पर रात्रि में सुषुप्त्यवस्था होती है और अयोध्या नित्य जाग्रत् अवस्था में रहती है, इसमें लोग श्रीरामजी का सम्यक् प्रकार से ध्यान धरते हैं। अतः, सन्ध्या का रूपक बाँधा। वेद-ध्वनि का सायं-सन्ध्या में अनध्याय रहता है और आगे 'पतंग भुलाना' का भी रूपक बाँधना है, इससे यहाँ प्रातः सन्ध्या ही युक्त है, श्रीअयोध्या का अभ्युदय काल भी है।

प्रश्न—रात्रि क्यों मिलने आई, सकुचकर भी रही ही और सन्ध्या-रूप से मिली, तो इसे क्या मिला ?

उत्तर—प्रभु ने जन्म-सम्बन्ध से दिन को कृतार्थ किया, तो रात्रि सोचती है कि मुझे भी विवाह के समय ग्रहणकर कृतार्थ करें, इसे यह अभीष्ट मिला भी, यथा—"पुरी बिराजति राजति रजनी" (दो० १५७)। 'बहु अँधियारी', यथा—"धूम, धूम नभ मेचक भयेऊ।" (दो० ३४६)। 'मंदिर मनि समूह···'—अरुणोदय में छोटे तारे नहीं दिखते—बड़े ही दिखते हैं, वैसे यहाँ 'मनि-समूह' अर्थात् बड़ी-बड़ी मणियाँ कही गई हैं, छोटी मुक्ताएँ नहीं। राजमहल के कलश को 'उदार' चन्द्रमा कहा। जो अपना सर्वस्व देने को उद्यत हो, वह उदार है, वैसे ही प्रातःकालिक चन्द्रमा सूर्य को सर्वस्व देता है। उदार श्रेष्ठ का भी वाचक है। अतः, पूर्णिमा के चन्द्रमा का अर्थ है—यद्यपि पूर्णिमा नहीं है। 'जनु खग मुखर···'—प्रातःकालीन पक्षियों की आनन्दपूर्ण ध्वनि सुहावनी लगती है, भले ही उसका कुछ अर्थ न हो। वैसे ही वेद की ऋचाएँ अर्थ न जाननेवालों को भी प्रिय लगती हैं, यथा—"लगे पढ़न रच्छा रिचा ऋषिराज बिराजे।" (गी० बा० ६)।

कौतुक देखि पतंग भुलाना। एक मास तेइ जात न जाना ॥८॥

दोहा—मास दिवस कर दिवस भा, मरम न जानइ कोय।
रथसमेत रवि थाकेउ, निसा कवनि बिधि होय ॥१९५॥

शब्दार्थ—पतंग = सूर्य। थाकेउ = ठहर गये, यह 'स्था = तिष्ठ' धातु से बना है और बंगला भाषा का शब्द है।

अर्थ—यह कौतुक देखकर (सूर्य) भी भूल गया। एक महीने का बीत जाना उसे न जान पड़ा ॥८॥ महीने-दिन (३० दिनों) का एक ही दिन हो गया, इस रहस्य को कोई नहीं जानता, सूर्य अपने रथ के साथ ठहरा रह गया, (तो फिर) रात किस प्रकार होती ? ॥१९५॥

विशेष—'रथसमेत'—अर्थात् रथी (सूर्य), सातो घोड़े और अरुण सारथी—सभी आनन्द में डूब गये, किसीको भी चेत होता, तब तो रथ चलता!

'मास दिवस कर दिवस भा'—(क) श्रीरामजन्म पर मेष का सूर्य, पुनर्वसु और शुक्ला नवमी—ये तीनों योग पड़े थे, यह सर्वसम्मत है। सामान्य दृष्टि से यह असम्भव है, क्योंकि आज अमावस्या को सूर्य-चन्द्रमा एक राशि पर रहते हैं। मेष के सूर्य के सम्बन्ध से अमावस्या को अश्विनी चाहिये, अश्विनी से पुनर्वसु सातवाँ नक्षत्र है। यह शुक्ला नवमी को नहीं पड़ सकता, किन्तु उस दिन मघा नक्षत्र पड़ेगा, जब अमावस्या को पूर्वभाद्रपद हो, तब नवमी को पुनर्वसु पड़े, पर इसमें अमावस्या के पूर्वभाद्रपद से मेष का सूर्य नहीं हो सकता था। हो सकता है कि श्रीरामजी के जन्म के समय में ग्रहों का सम्पात कुछ और भाँति का रहा हो और उस हिसाब से उस समय इसकी संगति लग जाती हो। कालक्रम से ग्रहसम्पात में तो परिवर्त्तन होता ही रहता है।

'मरम न जानइ कोइ'—उक्त असामंजस्य को सामंजस्य कर देने के मर्म को कोई न जान पाया। वही जान सकता है जिसे भगवान् स्वयं जना दें। श्रीगोस्वामीजी ने प्रथम 'सकल भये अनुकूल' ही कहकर छोड़ दिया था कि सर्व शक्तिमान् परमात्मा के लिये यह करना युक्त ही है। जन्म होते ही पहले सूतिका-गृह से आनन्द उमड़ा। पहले उसने राजा को डुबाया, फिर नगर को और इस प्रकार सारे संसार को आप्लावित करता हुआ सौर-मंडल पर्यन्त को डुबा दिया जिससे इस रहस्य को कोई नहीं जान सका। यह आनन्द भी उस आनन्दसिन्धु का 'सीकर' मात्र है। दो० १९६ की ५-६ चौ० देखिये।

(ख) सूर्य के रुक जाने का हाल जानना असम्भव है, इसीसे 'मरम न जानइ कोइ' कहा गया है। 'पतंग' अर्थात् 'पतन् सन् गच्छतीति पतंगः' वह गिरने वा अस्त होने के लिये चलता है। आनन्द में वह

अपना अस्त होना ही भूल गया। साथ ही सारा ब्रह्मांड आनन्द में डूब रहा, किसीको कुछ मर्म नहीं जान पड़ा। तब ग्रन्थ कार ने कैसे जाना ? उत्तर, यथा—"सारद दारुनारि···जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी ॥" (दो० १०४)।

यह रहस्य काहू नहिं जाना। दिनमनि चले करत गुनगाना ॥१॥
देखि महोत्सव सुर मुनि नागा। चले भवन बरनत निज भागा ॥२॥
औरउ एक कहउँ निज चोरी। सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी ॥३॥
काकभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुजरूप जानइ नहिं कोऊ ॥४॥
परमानंद प्रेम - सुख - फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले ॥५॥
यह सुभ चरित जान पै सोई। कृपा राम कै जापर होई ॥६॥

शब्दार्थ—रहस्य = गुप्त चरित, गुप्त-भेद। दिनमनि = सूर्य। बीथिन्ह = गलियों में।

अर्थ—इस गुप्त चरित को किसीने नहीं जाना, सूर्य (श्रीरामजी का) गुणगान करते हुए चल पड़े॥१॥ देवता, मुनि और नाग लोग महोत्सव देखकर अपना भाग्य सराहते हुए अपने-अपने लोकों को गये ॥२॥ हे गिरिजे ! तुम्हारी बुद्धि अत्यन्त दृढ़ है, इससे मैं तुमसे एक और भी अपनी चोरी (गुप्त रहस्य) कहता हूँ, सुनो ॥३॥ काकभुशुण्डजी और मैं—दोनों साथ-साथ मनुष्य-रूप से, जिसमें कोई न जाने ॥४॥ परम आनन्द और प्रेम के सुख में फूले, गलियों में निमग्न मन से अपनपौ भूले हुए फिरते थे ॥५॥ इस मांगलिक चरित को वही जान सकता है, जिसपर श्रीरामजी की कृपा हो जाय ॥६॥

विशेष—(१) 'यह रहस्य···'—पार्वतीजी ने पूछा था—"औरउ राम रहस्य अनेका। कहहु ·····" यह उसका एक उत्तर है। ऊपर 'मरम न जानइ कोइ' कहा ही था, फिर यहाँ क्यों कहा गया ? पुनरुक्ति की शंका नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त बात 'मास दिवस कर दिवस भा' इतने ही के साथ है और 'रथ समेत···' दोहे के इस उत्तरार्द्ध को कहकर उसके प्रति यहाँ—'यह रहस्य···' कहा गया है। 'औरउ एक कहउँ···'—पहले सूर्य की 'निज चोरी' कही। समय सूर्य का ही अंग है, उसकी चोरी उन्होंने की और उत्सव में सम्मिलित हुए, वे श्रीरामजी के माधुर्य में पुरखा हैं। जब उन्होंने चोरी का मार्ग खोल दिया, तब मैंने भी चोरी की। 'निज' अर्थात् अपने रूप की चोरी की कि छिप कर नर-वेष से गया। चोरी अर्थात् छिपाई हुई बात, जिसे अभी तक मैंने गुप्त रक्खा था। गिरिजा ने कहा था, कि—"जो प्रभु मैं पूछा नहीं होई। सोउ दयालु राखेउ जनि गोई ॥" (दो० ११०), उसका यह एक उत्तर है।

'सुनु गिरिजा···'—गिरि अचल होते हैं, वैसे ही तुम्हारी बुद्धि दृढ़ता में अचल है, यह मुझे विश्वास है, क्योंकि तुमने श्रीरामचरित के जानने में पूर्वजन्म से महान् प्रयास किया है तो प्राप्त करके अनधिकारी से नहीं कहोगी, उसमें भी गुप्त रहस्य को तो और भी गुप्त रक्खोगी।

(२) 'काकभुसुंडि संग हम···'—काकभुशुण्डीजी ने शिवजी से ही चरित पाया है, इससे वे शिष्य हैं, शिष्य-भाव से साथ रहते भी हैं, यथा—"बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो। सँग सिसु सिष्य···" (गी० बा० १४), अर्थात् शिवजी वृद्ध ब्राह्मण और भुशुण्डीजी शिशु चेला-रूप से अयोध्या में आते हैं। दोनों ही बालरूप के नैष्ठिक हैं। किन्तु, यहाँ काकभुशुण्डीजी का नाम प्रथम देकर उन्हें प्रधानता दी है, क्योंकि जब-जब श्रीरामावतार होता है, वे यहा आते हैं और शिशु-लीला तक बराबर रहते हैं, यथा—"जन्म-महोत्सव देखउँ जाई। बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई ॥" (उ० दो० ७४)। अतः, चरित के और गलियों के भेदी हैं, उनके साथ रहने से उत्सव का आनन्द अधिक मिलता था। पुनः शिवजी ने यह भी कहा है कि मैंने काकभुशुण्डीजी से सुनकर यह कथा कही है, यथा—"उमा कहेउँ सब

कथा सुहाई। जो भुसुंडि खगपतिहिं सुनाई ॥' (उ० दो० ५१)। अतः, उन्हें सम्मान दिया, यह शिवजी की साधुता है, यथा—"सबहिं मानप्रद आप अमानी।" (उ० दो० ३७)।

'मनुज रूप जानइ नहिं कोऊ।'—मनुष्य-रूप धरे हुए हैं कि कोई जाने नहीं कि ये शिवजी हैं, नहीं तो श्रीरामजी का ऐश्वर्य खुल जाने से ब्रह्मा का वचन झूठा होगा, यथा—"गुपुत रूप अवतरेउ प्रभु, गये जान सब कोइ।'''रावन-मरन मनुज कर जाँचा। प्रभु बिधि-बचन कीन्ह चह साँचा ॥" (दो० ४८), मनुष्य-रूप से सूतिका-गृह तक पहुँचने की भी आशा है और समाज के अनुकूल रूप से ही उसका यथार्थ आनन्द मिलता है।

(४) 'बीथिन्ह फिरहिं'''—मन का स्वभाव चंचल है, वह प्रेम के कारण विस्मृत हो गया, उधर-उधर का ज्ञान भी नहीं रह गया। जिधर पाया, उधर ही घूम पड़े, गलियों में सर्वत्र पुरवासिनी स्त्रियाँ और राजमहल की भी दासियाँ परस्पर शिशु के गुण का अनुकथन (बातचीत) करती हैं, उसके सुनने का आनन्द मिलता है।

तेहि अवसर जो जेहि बिधि आवा। दीन्ह भूप जो जेहि मन भावा ॥७॥
गज रथ तुरग हेम गो हीरा। दीन्हे नृप नाना बिधि चीरा ॥८॥

दोहा—मन संतोष सबन्हि के, जहँ तहँ देहिं असीस।
सकल तनय चिरजीवहु, तुलसिदास के ईस ॥१९६॥

अर्थ—उस समय जो जिस प्रकार आया, जो जिसके मन में रुचा, राजा ने उसे वही दिया ॥७॥ हाथी, रथ, घोड़े, सोना, गाय, हीरे तथा अनेक प्रकार के वस्त्र राजा ने दिये ॥८॥ सभी के मन में सन्तोष है, जो जहाँ हैं, वे वहीं आशीष देते हैं कि तुलसीदासजी के स्वामी, सब (चारो) पुत्र चिरजीवी हों अर्थात् बहुत काल जियें ॥१९६॥

विशेष—(१) 'जो जेहि बिधि आवा'—जैसे देवता याचक बनकर, वेद भाट बनकर, इत्यादि। 'गज रथ तुरग हेम गो हीरा'—इसमें 'रथ' को 'गज' और 'तुरग' के बीच में लिखकर सूचित किया कि गजरथ और अश्वरथ—हाथी जुते हुए रथ और घोड़े जुते हुए रथ—दिये। पृथक् भी हाथी-घोड़े दिये, इसी तरह 'हेम' और 'हीरा' के बीच में 'गो' शब्द देकर गायों को अलंकृत करके देना सूचित किया, यथा—"सब बिधि सकल अलंकृत कीन्हीं। मुदित महिप महिदेवन्ह दीन्हीं ॥" (दो० ३३०), और सोना, हीरा पृथक्-पृथक् भी दिये गये।

(२) 'मन संतोष सबन्हि के'''—सबको मनोवांछित मिला, इससे सन्तोष हुआ। अतः, आशीष बहुत प्रकार से देते हैं, यथा—"असही दुसही मरहु मनहिं मन बैरिन्ह बढ़हु बिषाद। नृप-सुत चारि चारु चिरजीवहु संकर-गौरि-प्रसाद ॥" (गी० बा० २)

'तुलसिदास के ईस'—(क) सबको सब कुछ मिला, ग्रन्थकार भी अपने लिये कुछ माँगते हैं। वह यह कि आपके चारो पुत्र मुझे अपना दास बना लें, आप इस दास के ईशत्व को स्वीकार करें। सबके साथ स्वयं भी आशीर्वाद देते हैं।

(ख) उस समय के याचकों एवं पुरवासियों के मुख से भविष्यत्कालीन दासत्व का निश्चय करा लेना साहित्य-रीति से 'भाविक' अलंकार है।

कछुक दिबस बीते येहि भाँती। जात न जानिय दिन अरु राती ॥१॥
नामकरन कर अवसर जानी। भूप बोलि पठये मुनि ज्ञानी ॥२॥

करि पूजा भूपति अस भाखा। धरिय नाम जो मुनि गुनि राखा ॥३॥
इन्हके नाम अनेक अनूपा। मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा ॥४॥

अर्थ—कुछ दिन इस तरह बीत गये, दिन और रात जाते हुए नहीं जान पड़े ॥१॥ नामकरण संस्कार का अवसर (दिन) जानकर राजा ने ज्ञानी मुनि (वसिष्ठजी) को बुलवा भेजा ॥२॥ उनकी पूजा करके राजा ने ऐसा कहा—हे मुनि! आपने जो नाम विचार रक्खे हैं, उन्हें ही धरिये (रखिये) ॥३॥ (वसिष्ठजी ने कहा) हे राजन्! इनके नाम बहुत और अनुपम हैं, मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहता हूँ ॥४॥

विशेष—(१) 'कछुक दिवस बीते···'—आनन्दोत्सव में ११ दिन बीत गये, क्योंकि नामकरण बारहवें दिन होता है। नामकरण के विधान गी० बा० ६ में विस्तार से कहे गये हैं। यह चौथा संस्कार है। सुख के दिन पल के समान बीत जाते हैं। अतः, जान न पड़े।

'जात न जानिय दिन अरु राती'—इस वाक्यखण्ड में छठी उत्सव का संकेत है, क्योंकि छठी उत्सव में रात जागरण होता है—"जागिय राम छठी सजनि···" (गी० बा० ५)। इस उत्सव में दिन के अतिरिक्त रात में भी समय जाता न जान पड़ा। आगे साथ ही नामकरण की अर्द्धाली है। छठी के पश्चात् यह होता ही है।

(२) 'मुनि ज्ञानी'—और संस्कारों में इतने विचार की आवश्यकता नहीं, पर इसमें ज्योतिष का ज्ञान चाहिये और यहाँ तो श्रीरामजी का यथार्थ स्वरूप जानकर तदनुसार ही नाम रखना है, इसलिये 'ज्ञानी' कहा है। 'गुनि राखा'—क्योंकि विचार का काम शीघ्रता में ठीक नहीं होता। अतः, मुनि ने प्रथम ही विचार रक्खा है, उन्हें तो जाना हुआ था ही कि अमुक दिन नामकरण होगा।

(३) 'इन्ह के नाम अनेक···'—अर्थात् ऐश्वर्य की दृष्टि से जगत् ही श्रीरामजी का शरीर है, तो सब चराचर की संज्ञाएँ आपही के नाम हैं, यथा—"सर्ववाच्यस्य वाचकः" (रा० पू० ता० ११२), तथा—विश्वरूपस्य ते राम विश्वे शब्दाहि वाचकाः।" यह स्मृति है। फिर भी श्रीरामनाम आपके साक्षात् सच्चिदानन्द स्वरूप का वाचक है, उसे ही गुरुजी अपनी बुद्धि के अनुसार कहेंगे।

जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी ॥५॥
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा ॥६॥
बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई ॥७॥
जाके सुमिरन ते रिपु-नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा ॥८॥

दोहा—लच्छनधाम रामप्रिय, सकल - जगत - आधार।
गुरु बसिष्ठ तेहि राखा, लछिमन नाम उदार ॥१९७॥

शब्दार्थ—सीकर (शीकर) = बूँद का कणमात्र। सुपासी = सुखी। अखिल = निःशेष, सम्पूर्ण। भरन (भरण) = पालन। पोषन (पोषण) = बढ़ाना, पालन करके बढ़ाना एवं पुष्ट करना।

अर्थ—जो आनन्द के सागर और सुख की राशि हैं, जिसके कण-मात्र (आनन्द) से तीनों लोक सुखी होते हैं ॥५॥ उन सुखस्थान का 'राम' ऐसा नाम है जो सम्पूर्ण लोकों को विश्राम देनेवाले हैं ॥६॥ जो जगत्-भर का पालन-पोषण करनेवाले हैं, उनका 'भरत' ऐसा नाम होगा ॥७॥ जिनका स्मरण करने से शत्रुओं का नाश होता है, उनका नाम वेदों से प्रकाशित 'शत्रुहन (शत्रुघ्न)' है ॥८॥ जो सुलक्षणों के स्थान, श्रीरामजी के प्यारे और सारे संसार के आधार-भूत हैं, उनका गुरु वसिष्ठजी ने 'लक्ष्मण'—यह श्रेष्ठ नाम रक्खा ॥१९७॥

विशेष—(१) 'आनंदसिंधु'—जैसे जल का अधिष्ठान समुद्र है, वैसे ही भगवान् आनन्द के अधिष्ठान हैं, यथा—"सुभ को सुभ मोद मोद को राम नाम सुनायो ॥ आलबाल कल कौसिला दल बरन सोहायो। कंद सकल आनंद को जनु अंकुरि आयो ॥" (गी० बा० ६), "आनँदसिंधु मध्य तव बासा।" (वि० १३६), "सत-चेतन-घन-आनँद रासी। (दो० २२)।

'सीकर ते त्रयलोक···'—"जो सुख सिंधु सकृत सीकर ते सिव बिरंचि प्रभुताई ॥" (गी० बा० १), तथा—"एषोऽस्य परमानन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥" (बृहदा० ४।३।३२), अर्थात् यह इसका परम आनन्द है, इस आनन्द की मात्रा के आश्रित और प्राणी जीते हैं। आगे "ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी" (दो० २१५) भी देखिये।

यहाँ सुखवाचक शब्द तीन बार आये हैं। ये तीन प्रकार के अधिकारियों की दृष्टि से कहे जाते हैं, जैसे ज्ञानी आनन्द के प्यासे रहते हैं उनके लिये रामजी आनन्द के समुद्र हैं। राशि दाने की ढेरी को कहते हैं, वैसे कर्मकाण्डी के लिये विविध सुखों की राशि हैं। उपासक प्रभु के सुखमय धाम की प्राप्ति चाहते हैं, यथा—"मुख्य रुचि होति बसिबे को पुर रावरे।" (वि० २१०)। पुनः वे भगवान् के विग्रह (देह) को ही सुख का स्थान मानते हैं, उनके लिये 'सुखधाम' हैं।

चारो भाइयों के नाम जगत् के हितसूचक हैं, यथा—'अखिल-लोकदायक बिश्रामा', 'बिस्वभरन पोषन कर', 'सुमिरन ते रिपु-नासा' और 'सकल जगत आधार' इन चारो विशेषणों से स्पष्ट हैं।

नामों के क्रम—नामकरण ऐश्वर्य-दृष्टि से हुआ है, इसीलिये उपक्रम में ही वसिष्ठजी को 'मुनि ज्ञानी' कहा है और उपसंहार में 'वेदतत्त्व'। वेद की माण्डूक्योपनिषद् में ॐकार की व्याख्या करते हुए, अ, उ, म् और अर्द्धमात्रा में चार अवस्थाएँ और उनके प्रकाशक आत्मा का नाम कहा है, वैसे श्रीरामतापनीय उ० में भी अ, उ, म् और अर्द्धमात्रा में क्रमशः लक्ष्मण, शत्रुघ्न, भरत और श्रीरामजी की व्याख्या की गई है, यथा—"अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः। उकाराक्षरसम्भूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः ॥ प्राज्ञात्माकस्तु भरतो मकाराक्षरसम्भवः। अर्द्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः ॥" (रा० उ० ता० ३।१-२)।

श्रीवसिष्ठजी ने उपनिषद् की रीति से नामकरण किया है। भेद केवल इतना ही है कि इन्होंने पूर्ण ब्रह्म से प्रारम्भ किया है, अंशों से नहीं। यहाँ ऐश्वर्य का प्रसंग है। अतः, माधुर्य की छोटाई-बड़ाई के विचार का प्रयोजन नहीं है। लक्ष्मणजी से पहले शत्रुघ्नजी का नामकरण होना इसी दृष्टि से है।

अलंकार—'विधि' क्योंकि तत्तद्गुणानुसार नामकरण हुए हैं।

धरे नाम गुरु हृदय बिचारी। बेदतत्त्व नृप तव सुत चारी ॥१॥
मुनिधन जन-सरबस सिव-प्राना। बाल-केलि-रस तेहि सुख माना ॥२॥
बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम-चरन-रति मानी ॥३॥
भरत सत्रुहन दूनउ भाई। प्रभुसेवक जसि प्रीति बड़ाई ॥४॥
स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी। निरखहिं छवि जननी तृन तोरी ॥५॥

शब्दार्थ—बेदतत्त्व = प्रणव, ॐकार, वेद के सर्वस्व। बारे = बालपन। मानी = माननेवाले। रति मानी = प्रीति माननेवाले। तृन तोरी = तृण तोड़ना—मुहावरा है, सुन्दर पदार्थ देखकर उसपर दृष्टि-दोष बचाने के लिये तृण तोड़ा जाता है कि नजर तृण ही पर पड़े, यथा—"सुंदर तन सिसु-बसन-बिभूषन नखसिख निरखि निकैया। दलि तृन, प्रान निछावरि करि-करि लेहैं मातु बलैया।" (गी० बा० ९)।

अर्थ—गुरुजी ने हृदय में विचार कर (सबके) नाम रख दिये। (और कहा)—हे राजन्! तुम्हारे चारो पुत्र वेदों के तत्त्व हैं ॥१॥ जो सब मुनियों के धन, भक्तों के सर्वस्व और श्रीशिवजी के प्राण

हैं, उन्होंने बाल-क्रीड़ा के रस में सुख मान रक्खा है ॥२॥ लक्ष्मणजी ने बालपन ही से अपना हितकारी और स्वामी जानकर श्रीरामजी के चरणों में प्रीति मानी है (वा प्रीति के मानी अर्थात् दृढ़प्रतिज्ञ हुए हैं) ॥३॥ भरत-शत्रुघ्न दोनों भाइयों ने, जिस प्रकार की स्वामी-सेवक की प्रीति की प्रशंसा है, उसी प्रकार प्रीति को, अर्थात् श्रीभरत में स्वामित्व और शत्रुघ्न में दासत्व प्रीति हुई ॥४॥ श्याम-गौर दोनों जोड़ियाँ सुन्दर हैं, माताएँ उनकी छवि तिनका तोड़-तोड़कर देखती हैं (जिसमें दीठि-नजर न लगे) ॥५॥

विशेष—(१) 'धरे नाम गुरु···'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—'धरिय नाम जो मुनि गुनि ···' में है। 'बेदतत्त्व नृप···'—यह पार्वतीजी के—"पुनि प्रभु कहहु सो तत्त्व बखानी। जेहि बिज्ञान मगन मुनि ज्ञानी ॥" (दो० ११०), इस प्रश्न का उत्तर है। वेदतत्त्व के प्रमाण ऊपर नामकरण में हैं। 'मुनिधन जन-सरबस ···'—यहाँ तीन के लिये उत्तरोत्तर अधिक प्रेमबोधक विशेषण दिये गये हैं—धन से सर्वस्व और उससे प्राण अधिक हैं, यथा—'माँगहु भूमि धेनु धन कोसा। सरबस देउँ आजु सहरोसा ॥ देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं ॥" (दो० २०७), अर्थात् मुनि से जन (भक्त) और जन से शिवजी का प्रेम अधिक है, शिवजी से भी अधिक अवधवासियों का प्रेम है, जिनके लिये आप बाल-केलि कर रहे हैं, यथा—"प्रानहुँ ते प्रिय लागहिं, सबकहँ राम कृपाल ॥" (दो० २०४), "जेहि सुख लागि पुरारि, असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नरनारि, तेहि सुख महँ संतत मगन ॥" (उ० दो० ८८)।

(२) 'मुनि धन', यथा—"लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।" (उ० दो० १३१), "जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।" (लं० दो० १०१), अर्थात् मुनिलोग नित्य प्रेम धन बढ़ाते हैं, मृत्यु के समय भी श्रीराम रूपी धन में ही चित्त रहता है। 'जन-सरबस', यथा—"जहँ लगि जगत सनेह सगाई।···मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।" (अ० दो० ७१), "स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन्ह के सब तुम्ह तात।" (अ० दो० १३०), "त्वमेव सर्वं मम देवदेव" (पाण्डवगीता)। क० उ० ३६ और ११० भी देखिये।

(३) 'बारेहिं ते निज हित ··भरत सत्रुहन'—पूर्व कहा गया था—"कौसल्या कैकई हाथ धरि। दीन्ह सुमित्रहिं···" (दो० १८९), उसका अभिप्राय यहाँ खुला कि कौसल्याजी के हाथ से दिये हुए पायस से लक्ष्मणजी हुए। अतः, वे कौसल्या-पुत्र के प्रीति-पूर्वक अनुगामी हुए और कैकेयीजी के हाथ के पायस-सम्बन्ध से शत्रुघ्नजी उनके पुत्र भरतजी के सप्रेम अनुगामी हुए। इन दोनों जोड़ियों की यह प्रीति जन्म-भर एकरस निबही, यह चरित में प्रसिद्ध है।

(४) 'स्याम गौर सुंदर···'—श्रीराम-लक्ष्मण श्याम-गौर की एक जोड़ी, वैसे ही भरत-शत्रुघ्न की दूसरी जोड़ी। पुनः श्रीराम-भरत श्याम की एक जोड़ी और लक्ष्मण-शत्रुघ्न गौर की दूसरी जोड़ी है।

चारिउ सील - रूप - गुन-धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा ॥६॥
हृदय अनुग्रह-इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा ॥७॥
कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना। मातु दुलारइ कहि प्रिय ललना ॥८॥

दोहा—ब्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन बिगत-बिनोद।
सो अज प्रेम-भगति-बस, कौसल्या के गोद ॥१९८॥

शब्दार्थ—सील (शील) = सद्वृत्ति और संकोच, सद्वृत्ति, यथा—"हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च वीमत्सैः कुत्सितैरपि। महतोऽच्छिद्र-संश्लेषं सौशील्यं विदुरीश्वराः ॥" (श्रीभगवद्गुणदर्पण), उदाहरण—"प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आप समान ॥ तुलसी कहँ न राम से, साहिब सीलनिधान ॥" (दो० २९), संकोच का स्वभाव, यथा—"सील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची ॥" (अ० दो० ३१२)। रूप = शरीर की उत्तम रचना और वर्ण, सौन्दर्य,

यथा—"रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम्। ददर्शुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः॥" (बाल्मी० अर० स० १।१३)। पलना=(सं० पल्यंक) खटोले के आकार का झूला (देखिये गी० बा० १९)। दुलारहिं=लाड़-प्यार की वे चेष्टाएँ जो बच्चों को प्रसन्न करने के लिये प्रेम से की जाती हैं। ललना=बच्चों के प्यार का नाम, यथा—'ललन लौने लेरुआ बलि भैया।" (गी० बा० १७)।

अर्थ—चारो भाई शील, रूप और गुणों के धाम हैं, तथापि सुख के समुद्र श्रीरामजी अधिक हैं ॥६॥ उनके हृदय में अनुग्रह रूपी चन्द्रमा प्रकाशित है, मनोहर हँसी (चन्द्र) किरणों को सूचित करती है ॥७॥ कभी गोद में लेकर, कभी उत्तम पालने में झुलाती हुई माताएँ प्यारे, लालन (आदि नाम) कह-कहकर उनका दुलार करती हैं ॥८॥ जो ब्रह्म व्यापक, निर्दोष एवं मायामुक्त, तीनो गुणों से परे, क्रीड़ारहित और जन्म-रहित है, वही प्रेम एवं भक्ति (वा प्रेमलक्षणा भक्ति) के वश में होकर कौसल्याजी की गोद में (क्रीड़ा कर रहा) है ॥१९८॥

विशेष—(१) 'चारिउ सील रूप गुन···' यथा—"यद्यपि बुद्धि, बय, रूप, सील, गुन समै चारु चार्‌यो भाई। तदपि लोक-लोचन-चकोर-ससि राम-भगत-सुखदाई॥" (गी० बा० १३)। इस पूरे पद में श्रीरामजी के गुणों का सुन्दर वर्णन है।

(२) 'अनुग्रह इंदु···हासा', यथा—"कृपा सों हेरत हँसि तुलसी की ओर हैं। (गी० बा० ७१)। इस हास से भव-ताप हरते हैं, यथा—"जिय की जरनि हरत हँसि हेरत।" (अ० दो० २३८)।

(३) 'कबहुँ बर पलना'—इसमें सूक्ष्म रीति से दोलारोहण-उत्सव जनाया है, इसका विस्तार गी० बा० १५, १६ और २० वें पदों में है। इस उत्सव में पालने पर शृंगार करके बच्चे को लिटाकर स्त्रियाँ गाती हैं।

(४) 'ब्यापक ब्रह्म निरंजन···'—इस दोहे में 'सूर्यावलोकन (सूर्य-दर्शन कराने का) उत्सव' सूचित किया गया है। कौसल्याजी बच्चे को शृंगार करके गोद में लेकर आज आँगन में निकलती हैं। अब सबके देखने में आये। इसीसे आगे सर्वांग माधुरी कहते हुए गोद का ध्यान दिखाया है।

'ब्रह्म' अर्थात् बहुत वृहत्, वृहत् से छोटे हुए। 'ब्यापक' हैं, वे ही एक जगह कौसल्याजी की गोद में हैं। 'निरंजन' माया से निर्लिप्त हैं, वे ही मायिक (माया से निर्मित) भूमि पर लीला करते हैं। 'निर्गुण' हैं, फिर भी गुण धारण किया है। 'बिगत बिनोद' हैं, फिर भी बालक्रीड़ा करते हैं। 'अज' हैं, फिर भी जन्म लिया। क्यों?

दशरथ-कौसल्याजी ने पूर्व मनु-शतरूपा-शरीर में प्रेम एवं अनन्य भक्ति से ब्रह्म को वश में कर लिया है, उन्हींके कारण भगवान् ये लीलाएँ करते हैं, यथा—"देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले॥···नृप तव तनय होब मैं आई।" (दो० १४९), "दंपति उर धरि भगति कृपाला।" (दो० १५१)।···यहाँ अति माधुर्य लीला जानकर ग्रन्थकार ने ऐश्वर्य भी कहा कि जिसमें किसीको मोह न हो। यहाँ 'विरोधाभास-अलंकार' है, क्योंकि विरुद्ध-भाव साथ ही कहे गये हैं। तथा—'अधिक द्वितीय' भी है, क्योंकि लघु आधार पर बड़ा आधेय है।

काम-कोटि-छबि स्याम सरीरा। नील-कंज बारिद-गंभीरा॥१॥
अरुन-चरन-पंकज-नखजोती। कमलदलन्हि बैठे जनु मोती॥२॥
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहै। नूपुर-धुनि सुनि मुनिमन मोहै॥३॥
कटि-किंकिनी उदर त्रय रेखा। नाभि गँभीर जान जिहिं देखा॥४॥

अर्थ—नीलकमल और गम्भीर (घने) मेघों के समान श्याम शरीर में करोड़ों कामदेवों की शोभा है॥१॥ उनके लाल-लाल चरण-कमलों के नखों की ज्योति (द्युति) ऐसी है, मानों कमल के दलों पर मोती बैठे हों॥२॥ उनके चरणों के तलवों में वज्र, ध्वजा और अंकुश के चिह्न सोहते हैं, पैंजनी के शब्द

सुनकर मुनियों के भी मन मोहित हो जाते हैं ॥३॥ कटि में किंकिणी (करधनी) तथा पेट पर त्रिबली (तीन रेखाएँ) हैं और नाभि गहरी है, जिन्होंने (इस छवि को) देखा है, वे ही जानते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'काम कोटि छवि स्याम···'—यहाँ श्यामता के लिये कमल और मेघ—दो ही की उपमा दी। मनु के प्रसंग में उपमा के लिये 'मनि' शब्द भी कहा था, क्योंकि वहाँ किशोर अवस्था से प्रभु प्रकट हुए थे। यहाँ शिशु-रूप में अत्यन्त कोमल हैं। मणि को कठोर एवं पुष्ट जानकर उससे उपमा नहीं दी। ब्रह्मांड-भर को सौन्दर्य से मोहने के लिये एक काम ही बहुत है और यहाँ करोड़ों कामों की छवि एकत्र है, तो कौन नहीं मोहेगा ?

(२) 'नख जोती···जनु मोती'—नखों में तलवों की ललाई झलक रही है। उसे उत्प्रेक्षा से लक्ष्य कराया कि मानो कमल के दलों पर मोती बैठे हों। कमल दल पर मोती रुक नहीं सकते, इसीसे बैठे हुए मोती कहे गये हैं। मोती अपने स्वच्छ वर्ण को छोड़कर कमल की ललाई ग्रहण करते हैं, वैसे तलवों की ललाई नखों में आ गई है। (तद्गुण अलंकार)

(३) 'रेख कुलिस ध्वज···'—श्रीरामजी के चरणों में ४८ (प्रत्येक चरण में २४+२४) चिह्न कहे गये हैं, उनमें विशेष प्रयोजनीय चार ही चिह्नों को ग्रन्थकार ने जहाँ-तहाँ कहा है। इन चार में भी यहाँ 'कमल' चिह्न नहीं कहा। इनका महत्त्व, यथा—"अंकुस मन गज बस करी। (वि० ६३), तथा—"मन ही मतंग मतवारो हाथ आवै नाहिं, ताके लिये 'अंकुश' लै धाख्यो हिये ध्याइये।··· ऐसे ही कुलिश पाप पर्वत के फोरिबे को, भक्ति-निधि जोरिबे को कंज मन ल्याइये।" "छिनु में सभीत होत कलि की कुचाल देखि, ध्वजा सों विशेष जानो अभै को विस्वास है।" (भक्तमाल टीका—भक्ति रस बोधिनी २१।२२)।

'मुनि-मन मोहै'—मुनियों के मन प्राकृत विषयों में मुग्ध नहीं होते। अतः, ये शब्द अप्राकृत हैं।

(४) कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा।—'त्रयरेखा' दो० १४७ देखिये। 'जान जिन्ह देखा'—यहाँ ब्रह्माजी पर लक्ष्य है। "भगवान् ने सृष्टि की इच्छा से जल पैदा किया, उसमें वे चतुर्भुज-रूप से शयन करने लगे। उनकी नाभी से कमल हुआ, उससे ब्रह्माजी हुए। ब्रह्माजी ने इधर-उधर कुछ न देखकर कमल के आधार का पता लगाने के लिये कमल-नाल के सूक्ष्म छिद्र में होकर प्रवेश किया। बहुत काल तक प्रयास किया, पर पता न लगा, तब समाधिस्थ हो गये। दिव्य सौ वर्षों के बाद भगवान् के दर्शन हुए" (भाग० स्कं० ३ अ० ८), अर्थात् उस गहराई का पता ब्रह्माजी भी नहीं पा सके तो और कौन पा सकता है ?

भुज बिसाल भूषनजुत भूरी। हिय हरिनख सोभा अति रूरी ॥५॥
उर मनिहार पदिक की सोभा। बिप्रचरन देखत मन लोभा ॥६॥
कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई। आनन अमित-मदन-छवि छाई ॥७॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे। नासा तिलक को बरनइ पारे ॥८॥

शब्दार्थ—हरिनख = बघनखा, यथा—'कंठा कंठ बघनहा नीके।" (गी० बा० २८), यह बच्चों को पहनाया जाता है कि वे डरें नहीं और वीर भी हों। भूरी = बहुत। रूरी = निराली, सुन्दर। पारे = पार पा सके।

अर्थ—लम्बी भुजाएँ (घुटनों तक लम्बी = आजानुबाहु) बहुत आभूषणों से परिपूर्ण हैं, हृदय पर बघनहे की शोभा अत्यन्त निराली है ॥५॥ छाती पर पदिक-सहित मणियों का हार शोभित है और ब्राह्मण के चरण का चिह्न (भृगुपद) देखते ही मन मुग्ध हो जाता है ॥६॥ उनका कण्ठ शंख के समान (चढ़ा-उतार त्रिरेखायुक्त) और ठोढ़ी बहुत ही सुन्दर है, उनके मुख पर तो असंख्य कामदेवों की छवि छाई हुई है ॥७॥ दो-दो (ऊपर-नीचे) दाँतों, लाल-लाल ओष्ठों एवं नासिका और तिलक का वर्णन कौन कर सकता है ॥८॥

विशेष—(१) 'बिप्र-चरन देखत मन लोभा'—यह भगवान् की क्षमाशीलता और हृदय की कोमलता का सूचक है, यथा—"उर बिसाल भृगु-चरना चारु अति सूचत कोमलताई।" (वि० ६२)। श्रीमद्भागवत स्कन्ध १०, अ० ८६, १-२० में कथा है कि एक समय सरस्वती नदी के तट पर उपस्थित ऋषियों में विचार होने लगा कि त्रिदेवों में श्रेष्ठ कौन हैं ? सबने ब्रह्माजी के पुत्र महर्षि भृगु को परीक्षा के लिये भेजा। वे प्रथम ब्रह्मलोक (ब्रह्माजी की सभा) में गये, ब्रह्मा के सत्त्व की परीक्षा के लिये पिता को प्रणाम-स्तुति कुछ न किया, इसपर ब्रह्मा को क्रोध आ गया। फिर भी उन्होंने पुत्र समझ कर क्षमा किया, तब मुनि कैलास गये। शिवजी भाई से मिलने के लिये प्रेम से उठे, तब इन्होंने कहा कि तुम लोक-वेद मर्यादा के विरुद्ध आचरण रखते हो, मैं तुमसे नहीं मिलना चाहता। ऐसे तिरस्कार पर शिवजी को अत्यन्त क्रोध हुआ, उनपर त्रिशूल उठाया। श्रीसतीजी ने उनको प्रार्थना कर शान्त किया। तब मुनि वैकुण्ठ पहुँचे, भगवान् को लक्ष्मीजी की गोद में सिर रक्खे हुए शयन करते देख उनकी छाती में एक लात कसकर मारी। भगवान् शीघ्र शय्या से उठ मुनि को प्रणाम कर मृदु वाणी से अपराध क्षमा कराने लगे और मुनि के चरण सहलाते हुए बोले, भगवन् मुझे आपके आने की सूचना नहीं थी, इससे मैं उठकर अगवानी नहीं कर सका, क्षमा कीजिये। पुनः कहा कि आपके कोमल चरणों में मेरी कठोर छाती से चोट लग गई होगी। इन तीर्थों को भी पवित्र करनेवाले चरणों का चरणामृत दीजिये। भगवन्, आपके चरण-स्पर्श से मेरे सारे पाप धुल गये। आज मैं लक्ष्मी का एकमात्र पात्र हो गया। अब आपके चरणों से चिह्नित मेरे उर-स्थल पर लक्ष्मी सदा निवास करेंगी। सुनकर भृगु परम सुखी हुए। मुनि का हृदय प्रेम से भर आया, आँसू चलने लगे, कण्ठ गद्गद होने से कुछ कह न सके। मुनि ने लौटकर ऋषि-समाज में सब हाल कहा और निश्चित करके सब उन्हीं सत्त्व रूप एवं प्रिय मूर्त्ति भगवान् विष्णु का भजन करने लगे।

'मन लोभा'—भगवान् की भक्तवत्सलता और क्षमाशीलता पर मन मुग्ध होता है।

शंका—मनु-शतरूपा-प्रसंग में श्रीरामजी का भृगुपद चिह्न नहीं कहा गया, फिर उन्हींके लीला-विग्रह में यहाँ क्यों आया ?

समाधान—(क) पूर्व कहा गया कि भगवान् श्रीरामजी से विष्णु-नारायण का तत्त्वतः एवं गुणतः अभेद है। अवतार गुण प्रकट करने के लिये होते हैं। अतः, विष्णु भगवान् के सम्बन्ध के गुण भी श्रीरामजी ने अपने में दिखाये, जैसे वृन्दा का शाप विष्णु भगवान् को ही हुआ था, पर श्रीराम, नृसिंह आदि सभी रूपों ने शालग्राम होना स्वीकार किया है। (ख) मिथिला-प्रान्त के नवाही के परमहंस १०८ श्रीस्वामी रामशरणजी महाराज कहते थे कि श्रीगोस्वामीजी का मानस उनके और ग्रन्थों से निराला है। उसमें तीन ही जगह विप्र-चरण की चर्चा है। १- यहाँ, २—'उर धरासुर-पद लस्यो' (लं० दो० ८६), ३—'विप्र-पादाब्जचिह्नम्' (उ० मं०)। तीनो जगह भृगु का नाम नहीं है। अतः, यह विप्र-चरण श्रीवसिष्ठजी का चरण-चिह्न है। गी० बा० १२ वें पद के अनुसार झड़वाने के पीछे कौसल्याजी ने प्रार्थना की कि बच्चे के वक्षःस्थल पर आप अपना चरण रख दें जिससे यह कभी डरे एवं चौंके नहीं। गुरुजी ने वैसा ही किया, वही चिह्न है। श्रीपरमहंसजी श्रीरामजी की रूपनिष्ठा की अनन्यता में प्रसिद्ध थे और उत्कृष्ट विद्वान् भी थे।

प्रश्न—परमहंसजी के उदाहृत पद में तो 'माथे हाथ देना' ही लिखा है, उरपर चरण रखना नहीं। वहाँ तो जोर से लात मारने का चिह्न बना, इस प्रसंग में वह बात नहीं है। इष्ट मान स्तुति करनेवाले वसिष्ठजी लात कैसे छाती पर धरेंगे ?

उत्तर—यह तो झड़वाने के पीछे की बात स्पष्ट लिखी है। वहाँ तो भगवान् नित्य किशोर अवस्था के युवक थे। अतः, छाती कुछ तो कड़ी थी और यहाँ तो शिशु रूप की परम कोमल छाती है। लीला

बिहारी की इच्छा पर क्यों नहीं चिह्नित होगी ? जो नर-नाट्य में चरण धुलाते, चरणामृत देते हैं, उन्हें छाती पर चरण रख माता को सान्त्वना देने में हिचक क्यों होगी ?

(२) 'आनन अमित मदन-छवि ···'—ऊपर सर्वांग के लिये 'कोटिकाम' की उपमा दी थी, मुख की शोभा अन्य अंगों से अधिक देखकर 'अमित' विशेषण दिया। 'तिलक' आदि दो० १४६ में देखिये।

सुंदर श्रवन सुचारु कपोला। अति प्रिय मधुर तोतरे बोला ॥ ९ ॥
चिकन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सवारे ॥१०॥
पीत झँगुलिया तनु पहिराई। जानु-पानि-बिचरन मोहि भाई ॥११॥
रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेखा। सो जानइ सपनेहुँ जेहि देखा ॥१२॥

दोहा—सुखसंदोह मोहपर, ज्ञान - गिरा - गोतीत।
दंपति परम प्रेमबस, कर सिसुचरित पुनीत ॥१९९॥

शब्दार्थ—गभुआरे = गर्भवाले (बाल) जो जन्म से ही रक्खे हैं। झँगुलिया = झंगा, ढीला कुरता (बच्चों का)। जानुपानि = बकैयाँ, हाथ और घुटने के बल से। संदोह = समूह, झुण्ड।

अर्थ—सुन्दर कान और बड़े सुन्दर गाल हैं, मीठी और तोतली बोली सुनने में अति प्रिय लगती है ॥९॥ चिकने और घुँघराले गभुआरे बालों को माता ने बहुत प्रकार से रचकर सँवारा है ॥१०॥ पीली झँगुली उनके शरीर पर पहनाई हुई है, उनका घुटना और हाथों के बल चलना मुझे बहुत अच्छा लगता है ॥११॥ उनके रूप का वर्णन वेद और शेष भी नहीं कर सकते। इस रूप को वही जान सकता है जिसने स्वप्न में भी देख लिया हो ॥१२॥ सुख के धाम (आनन्दराशि), मोह से परे, ज्ञान, वाणी और इन्द्रियों से भी न जानने योग्य श्रीरामजी राजा-रानी के अत्यन्त श्रेष्ठ प्रेम के वश में होकर पावन बाल-चरित कर रहे हैं ॥१९९॥

विशेष—(१) 'बहु प्रकार रचि ···'—ऐंछकर—झाड़कर सँवारना, गूथना और मढ़ना—आदि प्रकार से माता ने सँवारा है।

(२) 'जानुपानि बिचरनि'—इसमें सूक्ष्म रूप से 'भूमि-उपवेशन' (पृथ्वी पर बिठाने का) उत्सव कहते हैं कि सर्वांग शृंगार-सहित जरतार रेशमी पीत रंग की झँगुली श्याम शरीर में पहनाकर प्रथम-प्रथम भूमि पर आँगन में माता ने बिठाया। रामजी घुटनों के बल चलने लगे।

(३) 'दंपति परम···'—पूर्व 'कौसल्या की गोद' कहा था, अब आँगन में 'जानुपानि' चलना कहा गया, तब पिता को भी गोद में लेने का संयोग होने लगा। अतः, यहाँ 'दंपति परम प्रेम-बस' कहा गया है।

येहि बिधि राम जगत-पितु-माता। कोसलपुर-बासिन्ह सुखदाता ॥१॥
जिन्ह रघुनाथ-चरन-रति मानी। तिन्ह की यह गति प्रगट बखानी ॥२॥
रघुपति-बिमुख जतन कर कोरी। कवन सकइ भव-बंधन छोरी ॥३॥
जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे ॥४॥
भृकुटि-बिलास नचावइ ताही। अस प्रभु छाड़ि भजिय कहु काही ॥५॥
मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई ॥६॥

शब्दार्थ—कोरी = करोड़ों वा व्यर्थ। भय भाखे = बोलते डरती है। बिमुख = प्रतिकूल।

अर्थ—इस प्रकार सारे संसार के माता पिता श्रीरामजी अवधपुरवासियों के सुख देनेवाले हैं ॥१॥

हे भवानी ! जिन्होंने श्रीरामजी के चरणों की प्रेम-प्रतिज्ञा मानी है, उनकी यह दशा प्रत्यक्ष है ॥२॥ श्रीरघुनाथजी से प्रतिकूल होकर करोड़ों उपाय करें, उनका भव-बन्धन कौन छुड़ा सकता है ? ॥३॥ जिस माया ने चराचर जीवों को वश में कर रक्खा है, वह भी प्रभु से डरती हुई बोलती है एवं बोलते डरती है ॥४॥ जो प्रभु उस (माया) को भौंह के इशारे से नचाते हैं, उन ऐसे प्रभु को छोड़कर कहो तो (भला), किसका सेवन किया जाय ? ॥५॥ मन, कर्म और वचन से चतुराई (चालाकी) छोड़कर भजन करने पर श्रीरघुनाथजी कृपा करेंगे ॥६॥

विशेष—(१) 'तिन्ह की यह गति प्रगट···'—पूर्व में मनु-शतरूपा ने अनन्य प्रेम की प्रतिज्ञा का निर्वाह किया है। उसका फल प्रभु उन्हें दे रहे हैं, यह प्रत्यक्ष है। ऐसे ही अवधपुरवासियों ने भी प्रेम-प्रण निबाहा है। अतः, उन्हें भी प्रत्यक्ष सुख दे रहे हैं। 'रघुपति', 'रघुराई' आदि माधुर्य नामों से सगुण रूप के ही प्रेम का उक्त फल जनाया है।

(२) 'येहि बिधि राम···कोसलपुर···'—रामजी प्रथम गोद में थे, तब केवल माता के, आँगन में आने और 'जानुपानि' चलने में दम्पती के और अब विचरने लगे तो पुरवासियों के भी सुखदाता कहे गये। क्रम से होने से 'येहि बिधि' कहा गया है।

(३) 'रघुपति-बिमुख जतन···'—अर्थात् बिना श्रीरामजी की भक्ति के मुक्ति नहीं हो सकती, यथा—"विना भक्तिन्न मुक्तिश्च भुजमुत्थाय चोच्यते। यूयं धन्या महाभागा येषां प्रीतिस्तु राघवे ॥" (सत्योपाख्यान), "रघुपति-भगति बिना सुख नाहीं ॥···" से—"बिनु-हरि-भजन न भव तरिय, यह सिद्धांत अपेल ॥" (उ० दो० १२२) तक नौ असम्भव दृष्टान्तों से 'अपेल' (अटल) सिद्धान्त किया गया है।

(४) 'भृकुटि-बिलास नचावइ', यथा—"सोइ प्रभु भ्रूबिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा ॥" (उ० दो० ७१), अर्थात् चराचर को नचानेवाली माया प्रभु से डरती है तो उनके भजन से वह बाधा न कर सकेगी, यथा—"माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ।···भगतिहिं सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया ॥···तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई ॥" (उ० दो० ११५)।

(५) 'मन क्रम बचन छाड़ि···'—'चतुराई' अर्थात् उपायाभिमान। जब जीव सब प्रकार से अभिमान छोड़कर श्रीरामजी को ही एकमात्र उपाय बनाता है, तब वे कृपा करते हैं, यथा—"जिन्हके हौं हित सब प्रकार चित नाहि न और उपाउ। तिनहिं लागि धरि देह करौं सब, डरौं न सुजस नसाउ ॥" (गी० सुं० ४५), पर मन अपनी आदत नहीं छोड़ता, यथा—"नाम गरीबनेवाज को, राज देत जन जानि। तुलसी मन परिहरत नहिं, घुरबिनियाँ की बानि ॥" (दोहावली १३), इसका 'सिद्धान्त-तिलक' भी देखिये। पूर्वोक्त—"मन बच क्रम बानी छाड़ि सयानी···" (दो० १८५) का विशेष भी देखिये।

येहि बिधि सिसुबिनोद प्रभु कीन्हा। सकल नगरबासिन्ह सुख दीन्हा ॥७॥
लै उछंग कबहुँक हलरावै। कबहुँ पालने घालि झुलावै ॥८॥

दोहा—प्रेममगन कौसल्या, निसि दिन जात न जान।
सुत-सनेह बस माता, बालचरित कर गान ॥२००॥

अर्थ—इस तरह भगवान् श्रीरामजी ने बाल-क्रीड़ा की और सारे नगरवासियों को सुख दिया ॥७॥ (माता) कभी उन्हें गोद में लेकर हलराती (हिलाती) हैं और कभी पालने में पौढ़ाकर झुलाती हैं ॥८॥ प्रेम में डूबी हुई कौसल्याजी रात-दिन को बीतते नहीं जानतीं। पुत्र के स्नेह-वश माता उनके बालचरित का गान किया करती हैं ॥२००॥

विशेष—माता का बालचरित गाना गीतावली में देखने योग्य है, यथा—"होइहौ लाल कबहिं बड़े बलि मैया।···" (गी० बा० ८), "छोटी-छोटी गोड़ियाँ···चुटकी बजावति नचावति कौसिल्या माता, बालकेलि गावति···" (गी० बा० ३०), "सुभग सेज सोभित···बाल-केलि गावति हलरावति···" (गी० बा० ७), इत्यादि।

दो० १६८, १६६ और आगे का २०५—इन तीनों में ऐश्वर्य कहकर उसका माधुर्य में सम्मिश्रण दिखाया गया है। क्रमशः कौसल्याजी, राजा-रानी एवं भक्तों की परवशता कही गई है। दो० १६६, १६७ में नाम, १६८–१६६ में रूप, आगे २००-२०२ में लीला और २०२-२०४ में धाम-परत्व का विशेष प्रबोध के साथ वर्णन है।

एक बार जननीं अन्हवाये। करि सिँगार पलना पौढ़ाये ॥१॥
निज - कुल - इष्टदेव भगवाना। पूजा - हेतु कीन्ह अस्नाना ॥२॥
करि पूजा नैवेद्य चढ़ावा। आप गई जहँ पाक बनावा ॥३॥
बहुरि मातु तहँवा चलि आई। भोजन करत देखि सुत जाई ॥४॥

शब्दार्थ—नैवेद्य = वे भोजन आदि पदार्थ जो देवता को निवेदित किये जाने के लिये हों। पाक = पकान्न, रसोई।

अर्थ—एक बार माता ने बच्चे को नहलाकर शृंगार करके पालने में लिटा दिया ॥१॥ फिर अपने कुल के इष्टदेव (भगवान् श्रीरंगजी) की पूजा करने के लिये उन्होंने (माता ने) स्नान किया ॥२॥ पूजा करके नैवेद्य चढ़ाया, तब वे जहाँ पकान्न बनाया गया था, वहाँ (रसोईघर में) गईं ॥३॥ और फिर लौटकर माता वहीं (रंगजी के मन्दिर में) चली आईं तो देखा कि वहाँ जाकर पुत्र भोजन कर रहा है ॥४॥

विशेष—यहाँ ग्रन्थकार सूक्ष्म रीति से अन्नप्राशन-उत्सव कहते हैं (यह जन्मकाल से छठे महीने में होता है—मनु० २।३४) कि उस दिन बच्चे को प्रथम-प्रथम अन्न चटाने का शुभ दिन था। अतः, माता ने उबटकर नहलाया और बालोचित वस्त्र-भूषणादि पहना शृंगार करके लिटा दिया। शिशु रामजी सो गये।

(१) 'निजकुल इष्टदेव···'—रघुकुल के कुलदेवता श्रीरंगजी हैं। 'भगवाना' अर्थात् इस कुल के इष्ट देवता भगवान् विष्णु रूप श्रीरामजी ही हैं। अतः, यह कुल वैष्णव है, यथा—"किञ्चान्यद्वक्तुमिच्छामि राक्षसेन्द्र महाबल। आराधय जगन्नाथमिक्ष्वाकुकुलदैवतम्॥ आराधनीयमनिशं देवैरपि सवासवैः। तथेति प्रतिजग्राह रामवाक्यं विभीषणः" (वाल्मी० उ० स० १०८।२७-२८), अर्थात् श्रीरामजी ने परधाम प्रस्थान के समय विभीषणजी से कहा है कि तुम देवताओं के सहित इन्द्रादि से पूज्य इक्ष्वाकुकुल के कुलदेवता इन जगन्नाथ की सदा आराधना करो। रंगक्षेत्र-माहात्म्य में विस्तृत कथा है कि जब भगवान् श्रीमन्नारायण ने ब्रह्माजी को सृष्टि करने की आज्ञा दी, तब उन्होंने संसार से निर्लिप्त रहने के लिये आधार माँगा कि मुझे अपने कारण-रूप भगवान् का ध्यान रहे, तब भगवान् ने आराधन की विधि कही। भगवान् नारायण ने अपना साक्षात् श्री विग्रह ब्रह्माजी को प्रदान किया था। वैवस्वत मनु के पुत्र इक्ष्वाकु ने कठोर तपस्या करके ब्रह्माजी को प्रसन्न किया और उन्होंने विमान के साथ श्रीरंग की मूर्त्ति प्राप्त की, तभी से श्रीरंगजी श्रीअयोध्याजी में विराजमान हुए और इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के कुलाराध्य हुए। श्रीरामजी के समय तक उनकी पूजा होती आई। जब अयोध्या के प्राणिमात्र परमधाम जाने लगे, तब श्रीरामजी ने विभीषणजी को विमान के साथ श्रीविग्रह सौंप दिया। श्रीविभीषणजी उस दिव्य विग्रह को लेकर चले तो देवताओं को ऐसा लगा कि यह दिव्यमूर्त्ति लंका नहीं जानी चाहिये। लंका जाने के मार्ग में वहाँ कावेरी के द्वीप में विभीषणजी ने पूरे विमान को चन्द्रपुष्करणी के तट पर रक्खा और स्वयं नित्यकर्म

करने लगे। पश्चात् विभीषणजी ने उठाने का प्रयत्न किया, पर सफल नहीं हुए। उस समय श्रीरंगजी ने विभीषणजी से कहा—'विभीषण खिन्न मत हो, यह स्थल परम पवित्र है, राजा धर्मवर्मा ने मुझे पाने के लिये कठोर तप किया है, ऋषिगण उसे आश्वासन दे चुके हैं। अतः, मेरी इच्छा यहीं रहने की है। तुम यहीं आकर मेरा दर्शन कर जाया करो। मैं लंका की ओर मुख करके दक्षिण मुख होकर रहूँगा।' इसपर विभीषणजी लौटगये। कहा जाता है कि आजतक भी गुप्तरूप से विभीषणजी वहाँ पूजन करने आते हैं। कल्याण के तीर्थाङ्क में यह कथा है, पर उसमें इतना भेद है कि श्रीरामजी की राजगद्दी के समय 'मूर्त्ति का विभीषणजी को दिया जाना' लिखा है, पर वह उतना अंश वाल्मीकीय रामायण के विरुद्ध पड़ने से मैंने नहीं लिया, वाल्मीकीय का ही लिया है।

'पूजा हेतु कीन्ह···'—देव-पूजा के लिये पुनः स्नान किया। 'विचारा कि अपने कुलदेवता को पूजन करके भोग लगाकर तब बच्चे को प्रसाद खिलावें। यहाँ माता को वात्सल्य में ऐश्वर्य की सर्वथा विस्मृति हो गई है। इसीसे बच्चे को छूकर पूजा के लिये स्नान करती हैं। इसी अज्ञान को दूर करने के लिये आगे भगवान् विराट् रूप दिखावेंगे।

(२) 'करि पूजा नैवेद्य···'—षोड़शोपचार विधि से पूजन करके पकान्न का थाल श्रीरंगजी के आगे रखकर उन्हें निवेदित किया। नैवेद्य चढ़ाना अर्थात् भोग लगाना—यह मुहावरा है। 'गई जहँ पाक···' अर्थात् यह देखने के लिये वहाँ गई कि कोई वस्तु छूट तो नहीं गई है।

'भोजन करत देखि···'—शिशु के खिलाने के उद्देश्य से यह पकान्न बना है, और आज अन्नप्राशन है इसीसे प्रभु स्वयं आकर खाने लगे।

गइ जननी सिसु पहिं भयभीता। देखा बाल तहाँ पुनि सूता ॥५॥
बहुरि आइ देखा सुत सोई। हृदय कंप मन धीर न होई ॥६॥
इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मतिभ्रम मोर कि आन बिसेखा ॥७॥
देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी ॥८॥

दोहा—देखरावा मातहिं निज, अदभुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मंड ॥२०१॥

अर्थ—फिर डरी हुई माता बच्चे के पास गई तो उन्होंने बालक को देखा कि यह सोता ही है ॥५॥ फिर भगवान् के मन्दिर में भी आकर देखा, तो वही पुत्र (यहाँ भी था)। उनका हृदय काँपने लगा, मन में धैर्य नहीं होता ॥६॥ (माता सोचती हैं कि) मैंने यहाँ और वहाँ दो बालक देखे हैं, मेरी बुद्धि भ्रमित है या और कोई विशेष (खास) कारण है ? ॥७॥ प्रभु श्रीरामजी ने माता को व्याकुल देखकर मधुर मुसकान से हँस दिया ॥८॥ उन्होंने माता को अपना आश्चर्यमय अखंड रूप दिखलाया जिसके रोम-रोम में करोड़ों-करोड़ों ब्रह्माण्ड लगे हुए थे ॥२०१॥

विशेष—(१) 'भयभीता'—बालक को यहाँ किसने और कैसे लाकर बैठा दिया ?

'आन बिसेखा'—अन्य किसी देवता अथवा श्रीरंगजी ने ही तो यह प्रत्यक्ष भोजन के लिये बालक का रूप बना लिया हो या और कोई बात है !

(२) 'इहाँ-उहाँ'—जहाँ एक ही समय एक सम्बन्धी दो बातें दो जगहों में होती हैं, वहाँ ऐसा प्रयोग प्रायः होता है, यथा—"उहाँ राम रजनी अवसेषा। जागे ···" और—"इहाँ भरत सब सहित सहाये। मंदाकिनी पुनीत नहाये ॥" (अ० दो० २२५-२३२)। 'इहाँ'—शब्द से भोजन करनेवाले रूप के पास

कौसल्या का रहना और विचार करना है, क्योंकि बालक के सोते हुए में सन्देह नहीं है, वे तो ज्यों-का-त्यों सोते हैं। अतः, उसे 'तहाँ' कहा है।

(३) 'प्रभु हँसि दीन्ह···'—कौसल्याजी के हृदय में भय स्थायी था। प्रभु ने हास्यरस से उसे शान्त कर दिया, जब विस्मयमात्र स्थायी रह गया, तब अपना यथार्थ अद्भुत रूप दिखाया। यह मन्द मुसकान माता के भय-हरण के लिये है, यथा—"जिय की जरनि हरत हँसि हेरत।" (अ० दो० २३८)। यहाँ हँसने के साथ 'प्रभु' कहा, क्योंकि हँसकर माया-द्वारा अपनी प्रभुता दिखावेंगे, यथा—"माया हास ·" (लं० दो० १४)। मन्द मुसकान में ही हँसे, क्योंकि मुख के भीतर विराट् रूप दिखाना नहीं है। यहाँ रोम-कूपों में ही अणु की भाँति कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड दिखावेंगे, क्योंकि कौसल्याजी ने जन्म-समय की स्तुति में 'रोम-रोम प्रति' ही अमित ब्रह्माण्डों का होना कहा है। यहाँ प्रभु उसीको दृढ़ करेंगे।

(४) 'देखरावा मातहिं निज ··'—यहाँ 'दिखावा' न कहकर 'देखरावा' यह प्रेरणार्थक क्रिया दी गई है, क्योंकि जिस रूप से आप सोये हुए हैं, वह शैशव से क्रमशः नित्यप्रति बढ़ता है। उस रूप से पौगंड आदि होते हुए कुमार और किशोर होंगे। उसी रूप से ब्रह्माजी के वरदान के अनुसार मनुष्यत्व दिखावेंगे। अतः, उसमें विराट् नहीं दिखाया। किन्तु अपने दूसरे बालरूप से दिखाया, उसीसे भोजन करते हैं, इसलिये प्रेरणार्थक क्रिया है।

यहाँ विराट रूप दिखाने का प्रयोजन पूर्व 'कहि कथा सुहाई' (दो० १९१) के प्रसंग में कहा गया। यहाँ उसका अवसर है, क्योंकि माता आपके बालचरित-गान में अत्यन्त निमग्न रहकर ऐश्वर्य सर्वथा भूल गई हैं। कहाँ तो पूर्व जन्म में त्रिदेवों की ओर ताका भी नहीं, वे वर देने को आ-आकर लौट गये, इनको वृत्ति परम प्रभु में ही लगी थी, जिनके अंश से कोटि-कोटि त्रिदेव कोटि ब्रह्माण्डों में होते हैं। जब वे ही आप पुत्र-रूप से घर में आये हैं, तब आपसे भिन्न इष्टदेव मानकर उनका प्रसाद आपको खिलाना चाहती हैं। अतः, पूर्व का माँगा हुआ अलौकिक विवेक इन्हें देना चाहिये, जिसे जन्म-स्तुति के समय माया-द्वारा हरण किया था।

'रोम रोम प्रति लागे'—यहाँ ब्रह्माण्ड रोमों में बाहर लटके हुए हैं—ऐसा अर्थ नहीं है, क्योंकि भगवान् के शरीर से भिन्न कुछ है ही नहीं, यथा—"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।" (यजु० ईश० १)। अतः, रोम-रोम प्रति का अर्थ रोम-रोम के छिद्रों में होगा। रोमकूप कहते हैं जो सूक्ष्म छिद्र त्वचा के भीतर होते हैं, उन्हींसे पसीना निकलता है, यथा—क्वाहं तमोमहदहं खचराग्निवार्भू संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः। क्वेदृग्विधा विगणिताण्डपराणुचर्या वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्॥" (भाग० १०।१४।११), अर्थात् हे नाथ! कहाँ तो प्रकृति, महत्तत्त्व, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी रूप आवरणों से घिरा हुआ यह ब्रह्माण्ड ही जिसका (अपने परिमाण से) सात बित्ते का शरीर है, वह मैं, और कहाँ जिनके रोमकूप रूप झरोखों में ऐसे अगणित ब्रह्माण्ड परमाणुओं के समान आते-जाते रहते हैं, उन आपकी महिमा! भुशुण्डीजी, यशोदाजी और अर्जुन को भी शरीर के भीतर ही ब्रह्माण्ड दिखाया है।

अगनित रबिससि सिवचतुरानन। बहु गिरिसरित सिंधु महि कानन॥१॥
काल करम गुन ज्ञान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ॥२॥
देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी॥३॥
देखा जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही॥४॥
तनु पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूँदि चरननन्हि सिर नावा॥५॥

शब्दार्थ—गाढ़ी = प्रबला, यथा—"मम माया दुरत्यया" (गीता ७।१४), अर्थात् उल्लंघन करने के अयोग्य।

अर्थ—असंख्य सूर्य, चन्द्रमा, शिव, चतुर्मुख ब्रह्मा, बहुत से पहाड़, नदी, सागर, पृथ्वी, वन ॥१॥ काल, कर्म, गुण, ज्ञान, स्वभाव तथा और भी (चीजें) देखीं, जिन्हें कभी सुना भी न था ॥२॥ सब प्रकार प्रबल माया को देखा जो अत्यन्त डरी हुई हाथ जोड़े खड़ी है ॥३॥ जीव को देखा, जिसे वह (माया) नचाती है और वह भक्ति देखी, जो जीव को (माया के फन्दे से) छुड़ा देती है ॥४॥ (माता का) शरीर पुलकायमान हो गया, मुख से वचन न आया, उन्होंने आँखों को बन्द करके (प्रभु के) चरणों में सिर नवाया ॥५॥

विशेष—(१) 'बहु गिरि सरित···'—पहाड़ से नदियाँ निकलकर समुद्र को जाती हैं। समुद्र पर पृथ्वी है और उसपर वन—इसी क्रम से सब लिखे गये हैं।

(२) 'काल करम·····'—उपर्युक्त 'बहु' विशेषण यहाँ के 'सुभाऊ' पर्यन्त का है। अतः, इन काल आदि के भी बहुत रूप देखे गये।

(३) 'गाढ़ी'—अर्थात् बड़े कठिन बन्धनवाली है और सेना-सहित है, यथा—"माया-कटक प्रचंड।" (उ० दो० ७१)। 'अति सभीत·····' का भाव यह कि पास ही इसका अपराध भक्ति प्रकट कर रही है कि इसने बहुत काल तक जीव को बाँध रक्खा है और—"भगतिहिं सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥" (उ० दो० ११५) कहा ही है। भाव यह कि भजन करने से माया की करालता जान पड़ती है तो जीव दीन होकर रक्षा चाहता है और भगवान् माया पर शासन कर इसे मुक्त करते हैं, यथा—"चित्रकूट गये हौं लखी कलि की कुचालि सब, अब अपडरनि डखौ हौं। माथ नाइ नाथ सों कहौं हाथ जोरि खखो हौं॥" (वि० २६६)।

(४) 'देखी भगति ··'—भक्ति के देखते ही कौसल्याजी की आँखें खुल गईं। भूले हुए ऐश्वर्य को जान गईं। प्रभाव-स्मरण होने से पुलक हो आया। स्तुति करना चाहती थीं, पर गद्गद कंठ होने से मुँह से बात नहीं निकलती। साथ ही विराट् रूप पर दृष्टि होने से भयानक रस भी है। अतः, आँखें मूँद कर चरणों में प्रणाम किया। विराट् रूप दर्शन पर अर्जुन सरीखे वीर भी डर गये थे, तथा—"देखि सती अति भई सभीता।" (दो० ५४)

बिसमयवंति देखि महतारी। भये बहुरि सिसुरूप खरारी ॥६॥
अस्तुति करि न जाइ भय माना। जगतपिता मैं सुत करि जाना ॥७॥
हरि जननी बहुबिधि समुझाई। यह जनि कतहु कहसि सुनु माई ॥८॥

दोहा—बार बार कौसल्या, बिनय करइ कर जोरि।
अब जनि कबहूँ ब्यापइ, प्रभु मोहि माया तोरि ॥२०२॥

शब्दार्थ—बिसमयवंति = आश्चर्ययुक्त। ब्यापइ = असर करे, सतावे।

अर्थ—खर के शत्रु श्रीरामजी माता को आश्चर्य-युक्त देखकर फिर शिशु-रूप हो गये ॥६॥ (माता से) स्तुति करते नहीं बनता, क्योंकि वे डर गई हैं कि मैंने जगत् के पिता को पुत्र करके मान लिया था ॥७॥ दुःख हरनेवाले भगवान् श्रीरामजी ने अपनी माता को बहुत प्रकार से समझाया। (और कहा—) हे माता! सुनो, यह (रहस्य) कहीं मत कहना ॥८॥ कौसल्या जी हाथ जोड़कर बार-बार विनय करती हैं कि हे प्रभो! मुझे अब आपकी माया कभी भी न व्याप्त हो ॥२०२॥

विशेष—(१) 'बिसमयवंति देखि···'—प्रभु का रूप विभाव, गद्गद वचन अनुभाव, रोमांचस्तम्भ संचारी भाव, विस्मय स्थायी भाव,—इनसे पूर्ण अद्भुत रस आ गया। तब प्रभु फिर शिशु-रूप हो गये, अर्थात् प्रथम विराट रूप हो गये थे। 'खरारी'—खर राक्षस के मारने के समय भी आपने अपने रूप से कौतुक

किया था, यहाँ भी आश्चर्य-रूप दिखाया। अतः, 'खरारी' कहा। यहाँ श्रीरामजी ने देवत्व दिखाया है, देवता और उनके विशेषण अनादि होते हैं, यथा—"कोउ सुनि संसय करइ जनि, सुर अनादि जिय जानि॥" (दो० १००)।

(२) 'हरि जननी बहु बिधि ·· ··'—समझाकर विस्मय हरने से 'हरि' कहा है। समझाया कि तुमने पूर्व ही हमसे वर माँगा था कि हमें आपका विवेक बना रहे। इस समय तुम हमारे ऐश्वर्य को भूल गई थीं और हमसे भिन्न रंगजी को इष्टदेव मानकर उन्हें भोग लगाना और हमें वह प्रसाद खिलाना चाहती थीं। तुम्हारे इष्टदेव तो हम ही हैं, यथा—"देखिय नयन परम प्रभु सोई॥"···से—"ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत-हेतु लीलातनु गहई॥" (दो० १४३) तक। वही हम हैं जो तुम्हारे प्रेम-वश वात्सल्य माधुर्य सुख देने के लिये बाल-क्रीड़ा कर रहे हैं। 'जननी' को ही दिखाया, पिता को नहीं, क्योंकि उन्होंने केवल माधुर्य उपासना ही माँगी थी, यथा—"सुतबिषयक तव पद-रति होऊ।" (दो० १५०)।

(३) 'अब जनि कबहूँ ब्यापइ···'—प्रभु ने माता से कहा था कि दृश्य की चर्चा न करना, वैसे ही माता भी कहती हैं कि आपकी माया अब कभी मुझे न सतावे। यह माता ने वरदान माँगा और पाया है। इसपर व्यंग्योक्ति भी है। माता का कहना है कि आप मेरी न मानेंगे, तो मैं सर्वत्र पुकार कर यह विराट् रूप प्रदर्शन की कथा कह दूँगी।

बालचरित हरि बहु बिधि कीन्हा। अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा॥१॥
कछुक काल बीते सब भाई। बड़े भये परिजन-सुखदाई॥२॥
चूड़ाकरन कीन्ह गुरु जाई। बिप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई॥३॥
परम मनोहर चरित अपारा। करत फिरत चारिउ सुकुमारा॥४॥

अर्थ—भगवान् ने बहुत तरह के बाल-चरित किये और सेवकों को बहुत ही आनन्द दिया॥१॥ कुछ समय बीतने पर बड़े होकर चारो भाई कुटुम्बियों को भी सुख देनेवाले हुए॥२॥ गुरुजी ने जाकर उनका चूड़ा-करण संस्कार किया, ब्राह्मणों ने फिर भी बहुत दक्षिणा पाई॥३॥ चारो सुकुमार राजकुमार अत्यन्त मनोहर अनगिनत चरित करते फिरते हैं॥४॥

विशेष—(१) 'बालचरित हरि बहु बिधि कीन्हा।'—'बहु बिधि', यथा—"रोवनि, धोवनि, अनखानि अनरसनि, डिठि मुठि निठुर नसाइ हौं। हँसनि, खेलनि, किलकनि, आनंदनि भूपति-भवन बसाइ हौं॥" (गी० बा० १८)। ये सब चरित समय-समय पर किये गये।

(२) 'कछुक काल बीते सब भाई ··'—अब आँगन में विचरने भी लगे। अतः, 'परिजन-सुखदाई' भी कहे गये हैं। इसके पूर्व रनिवास को ही सुख देते थे, अब परिजन आदि भी गोद में खेलाते हैं।

(३) 'चूड़ाकरन कीन्ह···'—(चूड़ा अर्थात् शिखा) चूड़ाकरण अर्थात् चोटी रखना। यह दस संस्कारों में एक है। यह जन्म से प्रथम वा तृतीय वर्ष में होता है—मनु० २।३५। इसमें गर्भ के बाल प्रथम-प्रथम मुड़वाये जाते हैं और चोटी रक्खी जाती है। कोई-कोई कहते हैं कि चक्रवर्त्तीकुमार के सिर पर छुरा लगाने का निषेध है, पर यह बात नहीं है। अभिषेक होने पर उक्त निषेध की बात है। यह तो एक संस्कार है। 'जाई' अर्थात् घर से बाहर किसी देवस्थल एवं तीर्थ में जाकर यह संस्कार हुआ। 'पुनि'—नामकरण में दक्षिणा का वर्णन नहीं है, वहाँ का भी वर्णन यहाँ के 'पुनि' से जना दिया कि एक बार पाई थी, फिर भी अथवा, 'पुनि' शब्द 'तदनन्तर' के अर्थ में भी कहा जाता है, यह बुन्देलखंडी मुहावरा है, यथा—"मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई।" (अ० दो० ५८)। "मैं पुनि गयेउँ बंधु-सँग लागा॥" (कि० दो० ५), इत्यादि।

मन - क्रम-बचन-अगोचर जोई। दसरथ-अजिर बिचर प्रभु सोई ॥५॥
भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल-समाजा ॥६॥
कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुकि ठुमुकि प्रभु चलहिं पराई ॥७॥
निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरइ जननी हठि धावा ॥८॥
धूसरि धूरि भरे तनु आये। भूपति बिहँसि गोद बैठाये ॥९॥

दोहा—भोजन करत चपल चित, इत उत अवसर पाइ।
भाजि चले किलकत मुख, दधि-ओदन लपटाइ ॥२०३॥

शब्दार्थ—अगोचर = अविषय, जिसका अनुभव मन आदि इन्द्रियों से न हो सके। ठुमुकि = थोड़ी-थोड़ी दूर पर पैर पटकते हुए चलना, फुदक-फुदककर शीघ्रता से चलना। पराई = भागकर। धूसर = धूल लपेटे हुए यथा—"बाल-बिभूषन बसन बर, धूरि धूसरित अंग।" (दोहावली ११७), अर्थात् धूसर-धूरि का अर्थ—(शरीर में) धूल लपेटे। बिचर = चलते फिरते हैं। ओदन = भात। बोलन = बुलाने, यथा—"बोलि बिप्र गुरु ज्ञाति।" (दो० ३५४)।

अर्थ—जो प्रभु मन, कर्म और वचन के अविषय हैं, वे ही दशरथजी के आँगन में विचर रहे हैं ॥५॥ भोजन करते समय जब राजा उनको बुलाते हैं, तब आप बाल-सखाओं के समाज को छोड़कर नहीं आते ॥६॥ कौसल्याजी जब बुलाने जाती हैं, तब ठुमुक-ठुमुककर प्रभु भाग चलते हैं ॥७॥ जिन्हें वेद नेति-नेति कहते हैं और शिवजी ने जिनका अन्त नहीं पाया, उन्हींको माता हठपूर्वक पकड़ने के लिये दौड़ती है ॥८॥ (रामजी) शरीर में धूल भरे हुए आये, हँस-कर राजा ने गोद में बैठा लिया ॥९॥ भोजन करते हैं, पर चित्त चंचल है, इधर-उधर से अवसर पाकर किलकारी (हर्षध्वनि) करते हुए मुख में दही-भात लपटाकर (फिर) भाग चले ॥२०३॥

विशेष—(१) 'मन क्रम बचन···', यथा—"बेद-बचन मुनि-मन अगम,···" (अ० दो० १३६), "यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह॥" (तैत्तिरीय २।४), वे ही प्रत्यक्ष 'दसरथअजिरबिहारी' हो रहे हैं, क्योंकि 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं। अतः, अघटित घटना कर दिखाई। 'बिचर' शब्द में सब क्रीड़ाएँ आ जाती हैं। 'अजिर' अर्थात् उपर्युक्त 'परम मनोहर चरित···' भी अभी आँगन में ही होते हैं।

(२) 'कौसल्या जब बोलन···'—वात्सल्य में भी उपासना का निर्वाह स्वतः होता जाता है। राजा श्रीरामजी को खिला लेते हैं तब स्वयं खाते हैं, इसीसे तब तक बैठे रहते हैं। अतः, सतीशिरोमणि कौसल्या जी पति का रुख जानकर बुलाने जाती हैं। 'ठुमुकि-ठुमुकि···'—जब तक माता दूर रहती है तब तक ठुमुक-ठुमुक चलते हैं, निकट देखते हैं तब भाग चलते हैं। तब माता भी हठ पूर्वक दौड़ती है कि देखें कहाँ तक भाग सकते हो!

(३) 'सिव अंत न पावा'—शिवजी का अन्त ब्रह्मा आदि ने नहीं पाया, यथा—"जोतिलिंग-कथा सुनि जाको अंत पाये बिनु आये बिधि हरि हारि सांई हाल भई है॥" (गी० बा० ८४), वे शिवजी भी श्रीरामजी की महिमा का अन्त नहीं पाते, यथा—"जथा अनंत राम भगवाना।" (दो० ११३), शिवजी का इष्ट यह बालरूप ही है, यथा—"बंदउँ बाल-रूप सोइ रामू।···द्रवहु सो दसरथ-अजिर-बिहारी॥" (दो० १११), क्योंकि शिवजी ने सहज उद्गार से वहाँ यह मंगलाचरण किया है।

(४) 'इत उत'—इधर-उधर चपलता से देखते रहते हैं, इधर पिता-माता पर दृष्टि है और उधर बाल-समाज की ओर भी चित्त है कि अवसर मिले तो भाग चलें। प्रायः राजा के जल पीने के समय ऐसा अवसर मिलता है। बाल-स्वभाव से दही-भात में रुचि अधिक है, वही खाया है, मुख में लपटा है, बिना

मुख धोये ही अवसर पाने से भाग चले। 'किलकारी' अवसर पाने की प्रसन्नता से है, पुनः बाल-समाज के सुनाने के लिये भी है कि हम आ गये। 'दधि ओदन लपटाय' यह भुशुण्डीजी के लिये भी है, यथा—"जूठनि परइ अजिर महँ, सोइ उठाइ करि खाउँ।" (उ० दो० ७५), अथवा महाराजा के मुख में दही-भात लपटाकर भाग चले। इसमें महाराजा और रानियों को हास्यरस का सुख दिया, इसकी सफलता पर किलकते हैं।

अलंकार—'स्वभावोक्ति सहज' क्योंकि यहाँ पर बालकों का सहज स्वभाव श्रीरामजी के बाल-रूप में कहा गया है।

बालचरित अति सरल सुहाये। सारद सेष संभु श्रुति गाये ॥१॥
जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता। ते जन बंचित किये बिधाता ॥२॥
भये कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु-पितु-माता ॥३॥
गुरुगृह गये पढ़न रघुराई। अलप काल बिद्या सब आई ॥४॥
जाकी सहज स्वास श्रुति चारी। सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी ॥५॥

शब्दार्थ—कुमार = ५ वर्ष तक शिशु, फिर १० वर्ष तक कुमार, तन्त्र-मत से १६ वर्ष तक को कुमार कहते हैं।

अर्थ—(श्रीरामजी के) बाल-चरित अत्यन्त सीधे और सुहावने हैं, इन्हें सरस्वती, शेष, शिव और वेदों ने गाया है ॥१॥ जिनका मन इनसे नहीं पगा, उनलोगों को ब्रह्मा ने ठग लिया है ॥२॥ ज्यों ही सब भाई कुमार-अवस्था के हो चुके त्यों ही गुरु, पिता और माता ने उनका यज्ञोपवीत संस्कार किया ॥३॥ रघुराज श्रीरामजी (भाइयों के साथ) गुरुजी के घर विद्या पढ़ने के लिये गये, थोड़े ही समय में उन्हें सब विद्याएँ आ गईं ॥४॥ चारो वेद जिनके स्वाभाविक श्वास ही हैं वे भगवान् पढ़ते हैं—यह बड़ा भारी आश्चर्य है ॥५॥

विशेष—(१) 'अति सरल' अर्थात् कुटिलतादि दोषों से रहित। सीधे, यथा—"कबहूँ ससि माँगत आरि करैं···" (क० बा० ४)—इस पूरे छन्द में सरलता के चरित हैं। 'सुहाये', यथा—"पग नूपुर औ पहुँची कर कंजनि···"। (क० बा० २), "राम-लखन इक ओर भरत रिपुदवन लाल ···" (गी० बा० ४३)।

(२) 'ते जन बंचित···' अर्थात् मनुष्य-शरीर का विधान परमार्थ-प्राप्ति के लिये है। विधाता ने नर-शरीर तो दिया, पर उसकी सफलता के योग्य बुद्धि न दी, भक्ति रूप पारसमणि (स्पर्शमणि) के अधिकारी को विषय-रूपी काँच-किरच देकर ठग लिया, यथा—"जेहि देह सनेह न रावरे सो असि देह धराय के जाय जियै (क० उ० ३८), तथा—"देवदत्तमिमं लब्ध्वा नृलोकमजितेन्द्रियः। यो नाद्रियेत त्वत्पादौ स शोच्यो ह्यात्मवञ्चकः॥" (भाग० १०।६३।४१), अर्थात् हे भगवन्! जो अजितेन्द्रिय पुरुष आपके दिये हुए इस नर-शरीर को पाकर आपके चरण-कमलों का आदर (भजन) नहीं करता, वह अपनेको ठगनेवाला है, अतएव अत्यन्त शोचनीय है।

(३) 'भये कुमार · दीन्ह जनेऊ · '—कुमार हो चुकने पर अर्थात् ११ वें वर्ष में क्योंकि ८ वें में ब्राह्मण के लिये, ११ वें में क्षत्रिय के लिये, १२ वें में वैश्य के लिये सामान्य रूप से यज्ञोपवीत का विधान मनु० २।३६ में है। पीछे ब्राह्मण का १६ वर्ष, क्षत्रिय का २२ वर्ष एवं वैश्य का २४ वें वर्ष तक भी हो सकता है, तत्पश्चात् व्रात्य कहाते हैं—मनु० २।३८-३९। स्मृतियों में उपनयन-काल के सम्बन्ध में मतभेद भी है। 'कुमार' शब्द के अर्थों में अधिक लोगों ने ५ वर्ष तक अवस्था मानी है, तदनुसार भी कुमार हो चुकने पर छठे वर्ष की अवस्था में जनेऊ होना हो सकता है, क्योंकि मनुस्मृति २।३७ में यह भी कहा गया है कि ब्रह्मतेजाभिलाषी ब्राह्मण बालक का पाँचवें वर्ष में, बलार्थी (होनहार) क्षत्रिय का छठे वर्ष में और धनार्थी वैश्य का आठवें वर्ष में भी जनेऊ हो सकता है। 'दीन्ह' क्योंकि जनेऊ हाथ में पकड़कर पहनाते हैं, इसमें विधानकर्त्ता गुरु मुख्य हैं। अतः, गुरु को प्रथम कहा है।

(४) गुरु-गृह गये···'—ब्रह्मचर्य आश्रम की रीति से गुरुजी के यहाँ उतने दिनों तक रहे। 'अलप-काल' बहुत थोड़े दिनों में ही, कोई-कोई ८ दिन ही कहते हैं। 'विद्या सब'—चौदहो विद्याएँ—चारो वेद, छः वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष), मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण। (विश्वकोष)। इनके अतिरिक्त पशु-पक्षी आदि की विद्याएँ भी 'सब' शब्द में आ गईं। 'जाकी सहज स्वास श्रुति···' उपर्युक्त अल्पकाल में विद्या आने का समाधान यहाँ किया कि इनका पढ़ना तो नर-नाट्यमात्र है, क्योंकि विद्या के मूलरूप वेद इनके श्वासरूप हैं, यथा—"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसित-मेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः···" (बृह० २।४।१०), अर्थात् चारो वेद आदि उस महान् सत्य ब्रह्म के श्वासमात्र हैं।

बिद्या-बिनय-निपुन गुनसीला। खेलहिं खेल सकल नृपलीला ॥६॥
करतल बान धनुष अति सोहा। देखत रूप चराचर मोहा ॥७॥
जिन्ह बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई। थकित होहिं सब लोग लोगाई ॥८॥

दोहा—कोसल पुरबासी नर, नारि बृद्ध अरु बाल।
प्रानहुँ ते प्रिय लागत, सब कहँ राम कृपाल ॥२०४॥

शब्दार्थ—बिनय = नम्रता। थकित = मोहित एवं शिथिल। लोगाई = स्त्रियाँ।

अर्थ—विद्या, नम्रता, गुण और शील में निपुण हैं, वे सब राज्य-सम्बन्धी ही खेल खेलते हैं ॥६॥ हाथों में धनुष और बाण अत्यन्त शोभा दे रहे हैं, उनके (उस) रूप को देखकर स्थावर जंगम सभी जीव मोहित हो जाते हैं ॥७॥ जिन मार्गों से सब भाई विहरते हुए निकलते हैं, वहाँ के समस्त स्त्री-पुरुष स्नेह से शिथिल एवं मोहित हो जाते हैं ॥८॥ अयोध्या-वासी पुरुष, स्त्री, बूढ़े और बालक—सभीको कृपालु श्रीरामजी प्राणों से अधिक प्यारे लगते हैं ॥२०४॥

विशेष—(१) 'बिद्या-बिनय-निपुन'···'—विद्या पाकर नम्रता का होना उत्तम गुण है, यथा—"जथा नवहिं बुध बिद्या पाये।" (कि० दो० १३), और, गुणों के साथ शील होने से उनकी शोभा है। शील-निपुणता, यथा—"सीलसिंधु सुनि गुरु-आगमनू।'···से—"चले सबेगि राम तेहि काला।" (अ० दो० २४२) तक। "सील सराहि सभा सब सोची।" (अ० दो० ३१२)। "तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सीलनिधान।" (दो० २९)। 'बिनय-सील-करुना-गुन-सागर (दो० २८४)। 'नृपलीला'—यह आगे कहते हैं। "करतल बान'···", यथा—"पद-कंजन मंजु बनी पनही धनुही सर पंकज पानि लिये। लरिका सँग खेलत डोलत हैं सरजू-तट चौहट हाट हिये ॥···" (क० बा० ६)। सरयू-तट आदि को ही आगे 'बीथिन्ह' कहते हैं।

(२) 'थकित होहिं सब···', यथा—"थके नयन रघुपति-छबि देखे। पलकन्हिहूँ परिहरी निमेषे ॥ अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद-ससिहिं जनु चितव चकोरी ॥ (दो० २३१), देखि तुलसीदास प्रभु-छबि रहे सब पल रोकि। थकित निकर चकोर मानहुँ सरद-इंदु बिलोकि ॥" (गी० बा० ३८)। 'बृद्ध अरु बाल' कहकर नर-नारियों की मध्य की अवस्थाओं को जना दिया।

बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई। बन मृगया नित खेलहिं जाई ॥१॥
पावन मृग मारहिं जिय जानी। दिन प्रति नृपहिं देखावहिं आनी ॥२॥
जे मृग रामबान के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे ॥३॥

अनुज सखा सँग भोजन करहीं। मातु पिता आज्ञा अनुसरहीं ॥४॥
जेहि बिधि सुखी होहिं पुरलोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा ॥५॥

शब्दार्थ—मृगया = शिकार, आखेट (अहेर)। संजोगा = संघट। मृग = जंगली जानवर।

अर्थ—भाइयों और सखाओं को बुला लेते हैं एवं उन्हें साथ लेते हैं और नित्य वन में जाकर शिकार खेलते हैं ॥१॥ अपने जी (हृदय) से जानकर पावन मृगों को मारते हैं और प्रतिदिन उन्हें लाकर राजा को दिखाते हैं ॥२॥ जो मृग (जानवर) श्रीरामजी के बाणों से मारे गये, वे शरीर छोड़कर देवलोक को गये ॥३॥ भाइयों और सखाओं के साथ भोजन किया करते हैं, माता और पिता की आज्ञा का पालन करते हैं ॥४॥ जिस तरह पुर के लोग सुखी हों, कृपासागर श्रीरामजी वही संयोग कर देते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'लेहिं बोलाई'—यहाँ श्रीरामजी ने स्वामित्व गुण दिखाया है, क्योंकि आप सबमें बड़े हैं। ऊपर—'नृपलीला' कही गई, वही यहाँ भी है। आप इस कार्य में सबसे प्रथम उद्यत रहते हैं।

'बन मृगया ···' यथा—"हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्हसे खल मृग खोजत फिरहीं (अर० दो० १८), तथा—"कदाहं पुनरागम्य सरय्वाः पुष्पिते वने। मृगयां पर्यटिष्यामि मात्रा पित्रा च सङ्गतः ॥" (वाल्मी० अ० ४९।१४), अर्थात् श्रीसरयूतट के वनों में शिकार खेलने जाते थे, तथा—"सरजूबर तीरहिं तीर फिरैं रघुबीर सबा अरु बीर सबै।" (क० बा० ७)।

(२) 'पावन मृग मारहिं···'—जो पुण्यात्मा जीव किसी शाप एवं वर के कारण मृग-योनि को प्राप्त हैं और शापानुग्रह के अनुसार प्रभु के हाथों से मुक्त होने की बाट जोह रहे हैं, उन्हें हृदय से जानकर मारते हैं और राजा दशरथ को लाकर दिखाते हैं कि पिता प्रसन्न हों और उन्हें यह ज्ञान हो जाय कि कुमार के बाणों का लक्ष्य ठीक होने लगा है, क्योंकि आगे विश्वामित्र के साथ जाना है।

(३) 'जे मृग राम-बान···'—'सुरलोक' शब्द से स्वर्ग और साकेत दोनों अर्थ संगत हैं। सुर के अर्थ देवता और दिव्य पार्षद दोनों हैं, यथा—"तदस्त्रं तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम्। रामबाणासनक्षिप्त-मावहत्परमांगतिम् ॥ (वाल्मी० कि० १७।१८)। मृग, यथा—"प्रगटत दुरत जाइ मृग भागा।" (दो० १५६), इसमें मृग शूकर को कहा है, अर्थात् शूकर, गैंड़ा, व्याघ्र आदि मृग कहाते हैं, इसीसे इनका राजा सिंह मृगपति कहाता है। यहाँ श्रीरामजी लाकर राजा को दिखाते थे। अतः, बड़े-बड़े जानवरों का ही शिकार करते थे—"तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं।" ऊपर कहा गया है, यथा—"बन बेहड़ गिरि कंदर-खोहा। सब हमार प्रभु पग-पग जोहा। जहँ तहँ तुम्हहिं अहेर खेलाउब।" (अ० दो० १३५), अर्थात् वन के बीहड़स्थलों और कन्दर-खोहों में सिंह आदि हिंसक ही मृग रहते हैं, उन्हींका शिकार करते थे। सिंह आदि हिंसक जीवों को राजनीति में मारने की आज्ञा है, यह गुण भी दिखाते हैं, अन्यथा रामजी को शिकार का व्यसन नहीं था—"नात्यर्थमभिकाङ्क्षामि मृगयां सरयूवने। रतिर्ह्येषातुला लोके राजर्षिगण-संमता ॥" (वाल्मी० अ० ४९।१५), साथ ही उन पुण्यात्मा जीवों का उद्धार भी करते हैं, जो गन्धर्व आदि मृग योनि में प्राप्त हैं, जैसे सत्योपाख्यान में विल्व गन्धर्व का अरना भैंसा होना और फिर श्रीरामजी के बाणों से उसका मुक्त होना कहा गया है। गन्धर्व आदि स्वर्ग में जाते हैं और कोई साकेत जाते हैं। अतः, यहाँ क्षात्र-धर्म के साथ अहिंसा-धर्म भी है, क्योंकि जो सदय हृदय से आत्मा का उद्धार करने के लिये निग्रह है, वह वास्तव में अनुग्रह ही है। हिरण रूप में मारीच का वध किया है, क्योंकि वहाँ—"तब रघुपति जानत सब कारन।···" (अर० दो० ३), ऐसा कहा है। मारीच प्रभु के हाथ से मरकर मुक्त होने की कांक्षा से आया था। अतः, उसे मारकर सद्गति दी है। भारी-भारी मृगों का शिकार कर अपनी शूरता दिखाकर पिता को सुख देते हैं। 'दिखावहिं आनी' का यही अभिप्राय है। यहाँ मृगया के साथ आगे भोजन का प्रसंग है। इससे कोई-कोई यहाँ प्रभु के मांस खाने की बात कहते हैं। मृगया करने में मांस खाने का अभिप्राय

नहीं है। मांस खाना तो मानव मात्र के लिये अनुपयुक्त है—दो० १७२ चौ० २-३ का विशेष देखिये। फिर मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् में ऐसा भाव कैसे आ सकता है? ऊपर यह भी लिखा गया कि श्रीरामजी 'खल-मृग' का ही शिकार करते थे। उन व्याघ्र-चीता आदि के मांस तो मांस खानेवाले भी नहीं ही खाते।

(४) 'अनुज सखा सँग भोजन करहीं।'—यद्यपि चक्रवर्ती-राज्य के उत्तराधिकारी हैं, फिर भी अपने में कुछ विशेषता न ग्रहण करके भोजन प्रसाद भी छोटे भाइयों और सखाओं को संग ही लेकर करते हैं, यहाँ आपके सौभ्रात्र और सौहार्द्य गुण हैं। शिकार-प्रसंग के साथ यह अर्द्धाली होने से यह भी कहा जाता है कि घर से विविध पक्वान्न साथ जाया करते हैं और वन में अनुज-सखाओं की गोष्ठी में भोजन होता है। सखाओं के साथ भोजन करना नीति भी है, ऐसे सखा एवं सेवक कभी विरोधी नहीं होते।

(५) 'करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा।'—सुख का संयोग रचने से कृपानिधि कहा।

बेद पुरान सुनहिं मन लाई। आप कहहिं अनुजन्ह समुझाई ॥६॥
प्रातकाल उठिकै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा ॥७॥
आयसु माँगि करहिं पुरकाजा। देखि चरित हरषइ मन राजा ॥८॥

दोहा—व्यापक अकल अनीह अज, निर्गुन नाम न रूप।
भगत-हेतु नाना बिधि, करत चरित्र अनूप ॥२०५॥

शब्दार्थ—अकल = अवयव-रहित, अखण्ड, सर्वांगपूर्ण। अनीह = इच्छारहित।

अर्थ—वे मन लगाकर वेद-पुराण सुनते हैं और आप भी छोटे भाइयों को समझाकर कहते हैं ॥६॥ प्रातःकाल उठकर रघुनाथजी माता, पिता और गुरु को नित्य प्रणाम करते हैं ॥७॥ और उनसे आज्ञा माँग-कर नगर का काम करते हैं, राजा (उनके) चरित देखकर मन में प्रसन्न होते हैं ॥८॥ जो व्यापक, अकल, अनीह, अजन्मा, निर्गुण और नाम-रूप रहित है, वही भक्तों के लिये तरह-तरह के अनुपम चरित्र करता है ॥२०५॥

विशेष—(१) 'बेद पुरान'—वेद चार हैं। पुराण अठारह हैं, यथा—"म द्वयं भ द्वयं चैव ब्र त्रयं व चतुष्टयम्। अ ना प लिं ग कू स्कानि पुराणानि पृथक् पृथक्॥" अर्थात् दो मकार—मत्स्य और मार्कण्डेय, दो भकार—भविष्य और भागवत, तीन ब्र—ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त और ब्रह्माण्ड, चार व—विष्णु, वायु, वामन और वाराह, अ—अग्नि, ना—नारद, प—पद्म, लिं—लिंग, ग—गरुड़, कू—कूर्म और स्क—स्कन्द।

(२) 'आपु कहहिं अनुजन्ह...'—छोटे भाइयों पर वात्सल्य है। अतः, प्रेम से सिखाने की वृत्ति स्वतः रहती है। अनुज लोग भी श्रीमुख-वाणी सुनना चाहते हैं। अतः, प्रश्न भी करते हैं।

(३) 'मातु पिता गुरु नावहिं माथा।'—अभी माता के भवन में सोते हैं। अतः, प्रथम जागकर माता को, तब पिता को और बाहर जाने पर गुरु को प्रणाम करते हैं, वैसे ही क्रम से लिखा गया। कहा भी है—"मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत्॥ आचार्यमथवाप्यन्यं तथाऽऽयुर्विन्दते महत्॥" (महा० अनु० १०४।४३-४४), अर्थात् उठकर पहले माता-पिता को प्रणाम करना चाहिये, पुनः आचार्य एवं गुरु-जनों की वन्दना करनी चाहिये—इसमें बड़ी आयु बढ़ती है, तथा—"ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति। प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते॥ अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्यायशो बलम्॥" (मनु० २।१२०-१२१), अर्थात् पुरानों और बूढ़ों के आने पर छोटों के प्राण ऊपर को उच्छ्वसित हो उठते हैं। अतः, उठकर खड़ा होने और प्रणाम करने से वे प्राण फिर अपने ठिकाने पर आ जाते हैं। नित्य बड़ों की सेवा करनेवाले अभिवादनशील पुरुष की आयु, विद्या, यश और बल—ये चारो बढ़ते हैं। स्कन्द पु० काशी० पू० ३६।१३ में भी ऐसा ही कहा गया है।

(४) 'भगत-हेतु नाना बिधि·····' अर्थात् वेद-पुराण सुनकर गुरु को, भोजन करने में माता को, पुरकाज (राजकाज) से राजा को और विविध संयोगों से प्रजा को सुख देते हैं, क्योंकि ये सब भक्त हैं। यहाँ भी माधुर्य के साथ ऐश्वर्य कहा। व्यापक आदि विशेषणों के भाव पहले आ चुके हैं।

यहाँ तक—"बालचरित पुनि कहहु उदारा।" (दो० १०६) का उत्तर पूरा हुआ।

अवतार और बाल-चरित-प्रकरण समाप्त।

विश्वामित्र-आगमन एवं यज्ञ-रक्षा

यह सब चरित कहा मैं गाई। आगिल कथा सुनहु मन लाई ॥१॥
बिस्वामित्र महामुनि ज्ञानी। बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी ॥२॥
जहँ जप जज्ञ जोग मुनि करहीं। अति मारीच सुबाहुहिं डरहीं ॥३॥
देखत जज्ञ निसाचर धावहिं। करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं ॥४॥

अर्थ—ये सब चरित मैंने गाकर कहा, अब इससे आगे की कथा मन लगाकर सुनो ॥२॥ महामुनि और ज्ञानी विश्वामित्रजी वन को शुभ आश्रम जानकर वहाँ रहते थे ॥२॥ जहाँ मुनि जप, यज्ञ और योग करते थे और मारीच-सुबाहु से अत्यन्त डरा करते थे ॥३॥ (क्योंकि) यह देखते ही निशाचर दौड़ पड़ते और उपद्रव करते थे, जिससे मुनि दुःख पाते थे।

विशेष—(१) 'अगिल कथा सुनहु मन लाई।'—पूर्व बाल-चरित समाप्त किये, अब किशोर-अवस्था के चरित कहेंगे। इस समय श्रीरामजी का १५ वाँ वर्ष चल रहा है, यथा—"ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः।" (वाल्मी० बा० २०।२)। पार्वतीजी के चौथे प्रश्न—"कहहु जथा जानकी बिबाही।" (दो० १०९) का उत्तर यहीं से चला। यहाँ अपना गाना और श्रोता का मन लगाना सम्पूर्ण चरित में कहा गया है, अर्थात् मैंने यहाँ तक जैसे गाया, वैसे अगली कथा भी गाऊँगा और तुमने जैसे अभी तक मन लगाकर सुना, वैसे अगली कथा भी सुनो। इसी प्रकार—"सौंपे भूपति रिषिहिं···" (दो० २०८)। इसमें प्रणाम और आशीर्वाद दोनों पक्षों में लिया जाता है।

(२) 'बिश्वामित्र महा मुनि ज्ञानी···'—नीचे इनकी कथा दी जाती है -

महामुनि ज्ञानी विश्वामित्र

"ऋग्वेद के तीसरे मण्डल के समस्त सूक्तों के मन्त्रों के अभिव्यक्त करनेवाले विश्वामित्र या तद्वंशीय ऋषिगण हैं। उक्त मण्डलों से जान पड़ता है कि वे इषीरथ के अपत्य कुशिकवंशीय (ऋक् ३।१) थे। ऋक् ३।१६-२२ सूक्त में महाराज गाधि पुरुवंशीय और कान्यकुब्ज देश के नरपति कहे गये हैं। ऋक् संहिता ३।५३ सूत्र में सुदास राजा के यज्ञ की बात है, वहाँ विश्वामित्रजी महान् और ऋषि हैं।

अथर्ववेद ४।२६।५ और १८। ३।१५ मन्त्रों में ऋषियों ने विश्वामित्र की रक्षा के लिये स्तुति की है। इससे उनको ऋषियों के भी स्तवनीय कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण ६।१८ और ६।२० मन्त्रों में विश्व के मित्र विश्वामित्र दृष्ट सूक्तों के वामदेव ऋषि द्वारा पढ़ने की बात है। शतपथ ब्राह्मण १४।५।६, तैत्तरीय संहिता ३।१।७।३ और ५।२।३।४, पंशविंश ब्रा० १४।३।१२, शांख्यायन श्रौतसूत्र १५।२१।१, आश्वलायन गृह्यसूत्र ३।४।२ आदि वैदिक ग्रन्थों में विश्वामित्र का विवरण प्रकटित है।" (विश्वकोष)।

"श्रीविश्वामित्रजी की जन्म-कथा यों है। भरतवंश में आजमीढ़ राजा हुए, उनके पुत्र गंगाजी के पिता जह्नु हुए। जह्नु के सिन्धुद्वीप, उनके बलीकाश्व, उनके वल्लभ और वल्लभ के कुशिक हुए।

कुशिक के गाधि राजा पुत्र हुए। गाधि अनपत्य होने से वनवासी हुए। वहाँ उनके सत्यवती नाम की परम सुन्दरी कन्या हुई। वह महर्षि ऋचीक को ब्याही गई। उसने सेवा से ऋचीक को प्रसन्न किया। ऋचीक ने उसे पुत्र प्रदान करने को कहा। उसने अपनी मातासे भी कहा। उसकी माता ने भी पुत्र-प्राप्ति की कामना पुत्री के द्वारा जामाता ऋचीक से की। मुनि ने वह भी स्वीकार किया। मुनि ने कहा कि ऋतुमती होने पर तुम और तुम्हारी माता अश्वत्थ और उदुम्बर वृक्ष को आलिङ्गन करोगी, तब मेरे वचनानुसार पुत्र होंगे। फिर मुनि ने सत्यवती से कहा कि वह और तुम इन मन्त्रयुक्त दोनों चरुओं को भोजन करना। इससे दोनों के गुणवान् दो पुत्र होंगे। सत्यवती ने अपनी माता से कहा। इसपर माता ने कहा कि हे पुत्री! तुम्हारी मैं मान्या हूँ, इससे मेरी बात मानकर अपना चरु मुझे दो और मेरा तुम लो और हम तुम वृक्षों को भी बदलकर आलिङ्गन करें। तुम्हारे पति तुम्हारे लिये अवश्य उत्तम विधान किये होंगे, इसलिये मेरी अभिरुचि ऐसी है। इसमें तुम्हारा भाई श्रेष्ठ होगा, तुम वैसा ही चिन्तन करो।

सत्यवती ने भी वैसा ही किया, दोनो गर्भवती हुईं। ऋचीक ने सत्यवती को देखकर जान लिया और दुःखित होकर कहा कि यह चरु और वृक्षों में अदल-बदल करना अनुपयुक्त हुआ, मुझे स्पष्ट जान पड़ रहा है। मैंने तुम्हारे चरु में ब्रह्मतेज और उसके चरु में क्षत्रियतेज सम्पन्न किया था। अब तो तुम्हारी माता के उत्तम ब्राह्मण-पुत्र होगा और तुम उग्रकर्मा क्षत्रिय पुत्र पैदा करोगी।

सत्यवती ने बहुत दीन होकर मुनि से प्रार्थना की और यह माँगा कि मेरा पुत्र वैसा न हो। भले ही पौत्र हो तो हो। ऋचीक ने 'तथास्तु' कहा। इससे सत्यवती तो जमदग्नि ऋषि की माता हुई। जमदग्नि से परशुरामजी हुए, वे क्षात्र-प्रकृति के हुए और गाधिवल्लभा ने ब्रह्मर्षि विश्वामित्र की माता होने का सौभाग्य पाया। विश्वामित्रजी ने क्षत्रिय कुल में जन्म लेकर भी ब्राह्मणत्व का लाभ किया है।" (महा० अनु० अ० ४)। विश्वामित्र ने जिस प्रकार ब्राह्मणत्व प्राप्त किया है, यह इनकी करणी आगे—"मुनि मन अगम गाधिसुत करनी। मुदित बसिष्ठ बिपुल बिधि बरनी॥" (दो० ३५८) पर लिखा जायगा। यहाँ केवल उत्पत्ति-प्रसंग थोड़े में कहा गया। 'महा मुनि'—क्योंकि क्षत्रिय-शरीर से तप करके ब्रह्मर्षि हो गये और वेदों के ऋषि हुए। 'ज्ञानी'—क्योंकि अपने आश्रम ही से प्रभु का प्रादुर्भाव जान लिया।

'बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी।'—विश्वामित्रजी वन में बसते थे, क्योंकि महान् विरक्त थे। 'सुभ-आश्रम जानी।'—मुनि ने प्रथम ही से जान लिया था कि यह सिद्धाश्रम सिद्धपीठ है, क्योंकि पहले वामन भगवान् भी यहाँ कार्य सिद्ध कर चुके थे। अतः, यहाँ साधन की सिद्धि शीघ्र होगी, वही हुआ भी। श्रीरामजी ने विघ्नों का नाश करके इनका यज्ञ सिद्ध किया, यथा—"सिद्धाश्रममिदं सत्यं कृतं वीर महायशः।" (वाल्मी० बा० स० ३०)। आजकल यह सिद्धाश्रम बक्सर नाम से बिहार में प्रसिद्ध है जो गंगातट पर है।

(३) 'जहँ जप जज्ञ योग मुनि करहीं।'—जप से उपासना, यज्ञ से कर्म और योग से ज्ञान जनाया अर्थात् मुनि यथावकाश काण्डत्रय (कर्म, ज्ञान, उपासना) में तत्पर रहते थे। 'जहँ' अर्थात् उस सिद्धाश्रम पर। 'अति मारीच ····'—अर्थात् और राक्षसों से भी डरते थे, पर मारीच-सुबाहु से अत्यन्त डरते थे। इनसे डरने का कारण आगे कहते हैं।

(४) 'देखत जज्ञ निसाचर···'—अर्थात् जप-योग के समय सामान्य डर रहता था, पर यज्ञ का धुआँ दूर से देखकर राक्षस तुरत दौड़ते थे। इससे यज्ञ में 'अति डर' होता था। 'दुख पावहिं'—अर्थात् दुःख सहते हैं, पर प्रतिकार नहीं करते, क्योंकि शाप देने में क्रोध करना होता है। क्रोध से पाप होता है, यथा—"सापे पाप नये निदरत खल·····" (गी० बा० ४५)। वह यज्ञ ही ऐसा है कि इसमें शाप नहीं देना चाहिये, यथा—"न च मे क्रोधमुत्स्रष्टुं बुद्धिर्भवति पार्थिव॥ तथाभूता हि सा चर्या न

शापस्तत्रमुच्यते।" (वाल्मी० १।१९।७-८)। 'उपद्रव'—"राक्षस वेदी पर मांस फेंकते हैं और रुधिर की वृष्टि कर देते हैं।" (वाल्मी० १।१९।६)।

गाधितनय-मन चिंता ब्यापी। हरि बिनु मरिहिं न निसिचर पापी ॥५॥
तब मुनिबर मन कीन्ह बिचारा। प्रभु अवतरेउ हरन महिभारा ॥६॥
येहू मिस देखउँ पद जाई। करि बिनती आनउँ दोउ भाई ॥७॥
ज्ञान-बिराग-सकल-गुन-अयना। सो प्रभु मैं देखब भरि नयना ॥८॥

दोहा—बहु बिधि करत मनोरथ, जात लागि नहिं बार।
करि मज्जन सरजूजल, गये भूप दरबार ॥२०६॥

शब्दार्थ—मिस = बहाना। ब्यापी = विशेष उत्पन्न हुई, फैल गई। अयन = घर। बार = देर। दरबार = द्वार।

अर्थ—गाधिराजा के पुत्र विश्वामित्रजी के मन में विशेष चिन्ता हुई कि भगवान् के बिना पापी निशाचर नहीं मरेंगे ॥५॥ तब मुनिश्रेष्ठ ने अपने मन में विचार किया कि पृथ्वी का भार हरनेवाले प्रभु ने अवतार लिया है ॥६॥ इस बहाने भी जाकर उनके चरणों के दर्शन करूँ और प्रार्थना करके दोनों भाइयों को यहाँ लिवा लाऊँ ॥७॥ जो प्रभु ज्ञान, वैराग्य और सब गुणों के स्थान हैं, मैं उनको आँखें भरकर देखूँगा ॥८॥ बहुत प्रकार से मनोरथ करते हुए जाने में उन्हें देर नहीं लगी। सरयू नदी के जल में स्नान करके वे राजा दशरथ के द्वार पर गये ॥२०६॥

विशेष—(१) 'गाधितनय मन···'- चिन्ता राजाओं को होती है, मुनियों को नहीं, इसलिये (राज गाधि)-सम्बन्धी नाम दिया गया। यह भी भाव है कि मुनि राजा के पुत्र हैं और युद्ध-विद्या में कुशल भी हैं। फिर भी स्वयं मारने का उद्योग नहीं किया, क्योंकि ज्ञानी हैं, जानते हैं—"हरि बिनु मरिहिं न निसिचर पापी।" व्यर्थ ही युद्ध के उद्योग से कष्ट से पाये हुए ब्रह्मर्षि पद की हानि होगी।

(२) 'तब मुनिबर मन कीन्ह बिचारा···'—यहाँ विचार करने में 'मुनिबर' कहा गया, क्योंकि मुनि विचारवान् होते ही हैं। जैसे प्रभु का अवतार जाना, वैसे उपयुक्त समय भी जान लिया कि अब श्रीरामजी की शस्त्रास्त्रकुशलता का भी परिचय राजा को हो गया और साथ ही श्रीरामजी के लीला-कार्य के प्रारम्भ का समय भी जान लिया, क्योंकि मुनि त्रिकालज्ञ हैं, यथा—"तीनिकाल कर ज्ञान कौसिकहि करतल।" (जानकीमंगल ८६)।

(३) 'येहू मिस देखउँ पद···'—ये ज्ञानी हैं, अतएव जानते हैं कि प्रभु सब साधनों के फल हैं, यथा—"बिनु प्रयास सब साधन को फल प्रभु पाये (गी० अ० २)। उनको प्राप्त कर उनसे यज्ञरूप साधन की रक्षा कराना अयोग्य है। अतः, अपनी दृष्टि से वे चरण-दर्शन ही को जाते हैं। यज्ञ का तो केवल बहाना है, तथा—"मख मिस मेरो तव अवध गवन भो।" (गी० बा० ६४), तो फिर प्रभु से यज्ञ-रक्षा क्यों करावेंगे? इस उत्तर यह है कि प्रभु का अवतार ही 'हरन महिभारा' और 'धर्म संस्थापनार्थं' है। अतः, यह उनकी लीला का कार्य है। पुनः यह भी कहा जाता है कि यज्ञ-रक्षा के बहाने उनका ऐश्वर्य भी नहीं खुलेगा।

'करि बिनती आनउँ···'—राजा दशरथ ने बड़े सुकृत से प्रभु को प्राप्त किया है। देना कठिन है, पर उन्हें विनती से प्रसन्न करके माँग लाऊँगा, यथा—"राजन रामलषन जौ दीजै। जस रावरो, लाभ ढोटनिहूँ मुनि सनाथ सब कीजै॥" (गी० बा० ४८), "सादर समाचार नृप बुझिहैं हौं सब कथा सुनाइहौं। तुलसी है कृतकृत्य आश्रमहिं रामलषन लै आइ हौं॥" (गी० बा० ४६)।

(४) 'ज्ञान-बिराग-सकल-गुन-अयना।....'—ज्ञान से हमारे हृदय की जानेंगे और विराग से माता-पिता एवं गृह-सुख का सम्बन्ध छोड़कर हमारे साथ होंगे। 'सकल गुन' में कृपा, दया, युद्ध-विद्या आदि भी हैं अर्थात् हमारे ऊपर कृपा करेंगे। रण-कुशलता से राक्षसों का भय न करेंगे।

(५) 'बहु बिधि करत मनोरथ ...'—प्रभु-सम्बन्धी मनोरथ होने से प्रेमोद्गार के साथ जाने में मार्ग नहीं जान पड़ा। अतः, 'जत लागि नहिं बार' कहा गया है, यथा—"करत मनोरथ जात पुलकि, प्रगट आनंद भयो। तुलसी प्रभु-अनुराग उमँगि मग मंगलमूल भयो॥" (गी० बा० १५), मनोरथ, यथा—"आजु सकल सुकृत फल पाइहौं। सुख की सींव अवधि आनँद की, अवध बिलोकिहौं पाइहौं॥ सुतन्हि सहित दसरथहिं देखिहौं, प्रेम पुलकि उर लाइहौं। रामचंद-मुखचंद-सुधा-छबि नयन चकोरन्हि प्याइहौं॥ सादर समाचार..." (गी० बा० ४६)।

'करि मज्जन सरजू-जल, गये भूप दरबार।'—प्रथम नित्य क्रिया से निवृत्त होकर ही कहीं जाने की नीति है वा तीर्थ के भाव से प्रथम स्नान करके तब श्रीअवध में भीतर चले। 'दर-बार' का अर्थ वह द्वार जहाँ स्वतः जाने में वारण अर्थात् रुकावट हो। दर (फा०)=द्वार, वारना (क्रि० अ०)—मना करना, अर्थात् जहाँ डेवढ़ी लगती है, बिना आज्ञा लिये कोई नहीं जाने पाता, यथा—"यक प्रविसहिं यक निर्गमहि, भीर भूप दरबार।" (अ० दो० २३), यथा—"गयेउ सभा दरबार तब, सुमिरि राम-पद-कंज ..तुरत निसाचर एक पठावा। समाचार रावनहिं जनावा। सुनत बिहँसि बोला दससीसा। आनहु बोलि कहाँ कर कीसा॥" (लं० दो० १८)। यहाँ भी आज्ञा लेकर भीतर जाना दरबार पर कहा गया है।

इस दोहे के तीसरे चरण में एक मात्रा कम है, अतएव अन्तिम 'जल' शब्द के 'ल' को विकल्प से दीर्घ पढ़ना चाहिये। ऐसा नियम है, यथा—"पादान्तस्थो गुरुः विकल्पेन" (श्रुतबोध)।

मुनि-आगमन सुना जब राजा। मिलन गयेउ लै बिप्रसमाजा॥१॥
करि दंडवत मुनिहिं सनमानी। निज आसन बैठारेन्हि आनी॥२॥
चरन पखारि कीन्हि अति पूजा। मो सम आजु धन्य नहिं दूजा॥३॥
बिबिध भाँति भोजन करवावा। मुनिबर हृदय हरष अति पावा॥४॥

अर्थ—जब राजा दशरथ ने मुनि का आना सुना तब वे विप्र-समाज को साथ लेकर उनसे मिलने गये॥१॥ राजा ने दंडवत्-प्रणाम करके मुनि का सम्मान करते हुए उन्हें अपने आसन पर ला बैठाया॥२॥ (उनके) चरण धोकर उनकी सम्यक् प्रकार से पूजा की और कहा कि मेरे समान भाग्यवान् आज दूसरा कोई नहीं है॥३॥ उन्हें तरह-तरह के भोजन करवाये। मुनि-श्रेष्ठ हृदय में बड़े हर्षित हुए॥४॥

विशेष—(१) 'लै बिप्र समाजा'—विश्वामित्रजी ब्रह्मर्षि हैं। अतः, उनकी अगवानी विप्र-समाज को साथ लेकर की, क्योंकि सजातीय वृन्द देखकर उन्हें हर्ष होगा।

(२) 'करि दंडवत मुनिहिं...'—दंडवत् प्रणाम किया, अर्घ्य-पाँवड़े देते हुए लाकर पधराया, फिर राज-सिंहासन पर बैठाया, इस प्रकार सम्मान किया। 'निज आसन' देकर यह भी जनाया कि यह राज्य आप ही का है। 'अति पूजा'—षोड़शोपचार की एक-एक विधि प्रेम एवं विस्तार से की, क्योंकि मुनि ने स्वयं कृपा करके दर्शन दिये हैं, इससे अपना बड़ा भाग्य समझा। 'मो सम आजु धन्य ...'—यह सम्मान करने की बड़े लोगों की रीति है। यह भी ध्वनित होता है कि मुनि अभी तक किसी दूसरे राजा के द्वार पर नहीं गये थे, यथा—"देखि मुनि! रावरे पद आज। भयो प्रथम गनती में अवते हौं जहँ लौं साधु-समाज।" (गी० बा० ४७)।

(३) 'हरष अति पावा'—विप्र-समाज को साथ लेकर उनकी अगवानी की, सम्मान और अति

पूजा की, आगमन पर अपना भाग्य सराहा, षट्रस भोजन करवाया। राजा के इन सब कृत्यों से मुनि को आशा हुई कि यहाँ मेरा मनोरथ भी सिद्ध होगा, अतएव उनको अत्यन्त हर्ष हुआ।

पुनि चरनन्हि मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह बिसारी ॥५॥
भये मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरनससि लोभा ॥६॥
तब मन हरषि बचन कह राऊ। मुनि अस कृपा न कीन्हिहु काऊ ॥७॥
केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावउँ बारा ॥८॥

अर्थ—फिर अपने चारो पुत्रों को मुनि के चरणों पर डाला (प्रणाम कराया)। श्रीरामजी को देखकर मुनि अपने शरीर की सुधि भूल गये ॥५॥ (रामजी के) मुख की शोभा देखते ही वे ऐसे निमग्न हुए, मानो पूर्णचन्द्र को देखकर चकोर लुभा गया हो ॥६॥ तब राजा अपने मन में हर्षित होकर वचन बोले कि हे मुनि! आपने ऐसी कृपा तो कभी न की थी ॥७॥ आपका आगमन किस कारण हुआ? कहिये, मैं उसके (पूर्ण) करने में विलम्ब न करूँगा ॥८॥

विशेष—'भये मगन···'—स्नेह की मग्नता से देह-सुधि को भूलना—इससे प्रकट हो गया कि मुनि आशीर्वाद तक देना भूल गये—टकटकी लगाकर देखते ही रह गये। मुख पर दृष्टि रह जाना वात्सल्य भाव का सूचक है, यथा—"जननिन्ह सादर बदन निहारे।" (दो० ३५७)। 'तब मन हरषि···'—अपने पुत्रों पर मुनि की कृपादृष्टि, प्रसन्नता और स्नेह देखकर राजा को हर्ष हुआ।

असुरसमूह सतावहिं मोही। मैं जाचन आयेउँ नृप तोही ॥९॥
अनुज-समेत देहु रघुनाथा। निसिचर-बध मैं होब सनाथा ॥१०॥

दोहा—देहु भूप मन हरषित, तजहु मोह अज्ञान।
धरम सुजस प्रभु तुम्ह कहँ, इन कहँ अतिक ल्यान ॥२०७॥

अर्थ—हे राजन्! मुझे राक्षस वृन्द दुःख देते हैं, इसलिये मैं तुमसे माँगने आया हूँ ॥९॥ छोटे भाई (लक्ष्मण) के साथ रघुनाथ श्रीरामजी को दीजिये, (इनके द्वारा) निशिचरों का वध होने से मैं सनाथ हूँगा ॥१०॥ हे राजन्! प्रसन्न मन से दीजिये, मोह और अज्ञान छोड़िये, हे प्रभो! आपको धर्म और सुयश होगा और इनका अत्यन्त कल्याण होगा ॥२०७॥

विशेष—(१) 'मोही' और 'तोही'—अर्थात् मेरे समान याचक आपको दूसरा न मिला होगा और न आपके समान कोई दूसरा दानी है कि जिसके यहाँ मैं याचक बनता।

(२) 'अनुज-समेत देहु···'—अनुज तो भरत भी यहाँ साथ ही हैं, पर पायस के भाग के अनुसार कौसल्याजी के हाथ से दिये हुए भाग से लक्ष्मणजी रामानुज-रूप में मुख्य कहे जाते हैं, यथा—"रामअनुग जग जान" (अ० दो० २२९), तथा शत्रुघ्नजी 'भरतानुज' कहाते हैं, यथा—"सानुज निदरि निपातउँ···" (अ० दो० २२९)। पुनः पृथ्वी का भार उतारने के लिये लक्ष्मणजी का अवतार ही है—"सेष सहस्रसीस जग-कारन। जो अवतरेउ भूमि-भयटारन॥" (दो० १६)। अतः, इन्हींको साथ माँगा।

'होब सनाथा'—अभी मुझे अनाथ (रक्षकहीन) समझकर ये असुर बराबर सताया करते हैं। जब इनका वध होगा, तब रावण के शेष अनुचर समझ जायँगे कि मुनि के कोई समर्थ नाथ हैं। अतः, फिर नहीं सतावेंगे।

(३) 'देहु भूप मन···'—श्रीराम-लक्ष्मण का माँगना सुनते ही राजा की चेष्टा द्युत-हीन हो गई,

इसलिये मुनि 'नाहीं करने के पूर्व ही सावधान करते हैं कि हे राजन्! हर्ष-पूर्वक ही दान देना चाहिये, यथा—"देत···तुलसी जिन्हहिं न पुलक तनु, ते जग जीवत जाय ॥" (दोहावली ४२)।

'तजहु मोह अज्ञान'—मोह प्राकृत पुत्र भाव के प्रीति-रूप ममत्व को कहते हैं और इन पुत्रों का ऐश्वर्य न जानना अज्ञान है, यथा—"डरपत हौं साँचे सनेह बस सुत-प्रभाव बिनु जाने। बूझिय बामदेव अरु कुलगुरु, तुम्ह पुनि परम सयाने ॥ रिपु रन दलि, मख राखि, कुसल अति, अलप दिनन्हि घर ऐहैं। तुलसिदास रघुबंसतिलक की, कबिकुल कीरति गैहैं ॥" (गी० बा० ४८)।

(४) 'धरम सुजस प्रभु तुम्ह कहँ'—मुनियों की रक्षा, यज्ञ-रक्षा आदि से धर्म की प्राप्ति होगी, क्योंकि इससे धर्म का प्रचार और देवों का उपकार होगा। पुत्रों के बाहु-बल से राक्षस वध होने से और प्रजा के सुखी होने से तथा याचक की तृप्ति से आपका सुयश बढ़ेगा। 'इन्ह कहँ अति कल्यान'—पास ही उपस्थित चारो कुमारों की ओर इशारा करके कहते हैं कि दो जो साथ जायँगे, उनका तो ब्याह होगा ही, शेष दो का भी विवाह हो जायगा, यथा—"कल्यान काज बिवाह मंगल···" (दो० १०३)।

वाल्मी० बा० १८।३७-३९ से स्पष्ट है कि राजा पुरोहित और मन्त्रियों के साथ पुत्रों के विवाह के लिये चिन्तित थे, उसी समय विश्वामित्रजी आये। वहाँ भी विश्वामित्रजी का वचन है, यथा—"श्रेय आत्मै प्रदास्यामि बहुरूपं न संशयः।" (वाल्मी० १।१९।१०), अर्थात् मैं इनके कल्याण के लिये बहुत प्रकार की विधियाँ सम्पन्न करूँगा। इसमें विवाह-संयोग भी गर्भित है। इससे 'अति कल्यान' से विवाह का ही अर्थ है, यथा—"कौसिक मिस सीय-स्वयंबर गायो।" (गी० बा० १४)। इसमें धनुर्भंग से तीनो लोकों में इनका यश फैलेगा, तुम्हें किसीके ब्याह की चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी।

सुनि राजा अति अप्रिय बानी। हृदय कंप मुखदुति कुम्हिलानी ॥१॥
चौथेपन पायेउँ सुत चारी। बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी ॥२॥
माँगहु भूमि धेनु धन कोसा। सरबस देउँ आजु सहरोसा ॥३॥
देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं ॥४॥
सब सुत प्रिय मोहि प्रान कि नाईं। राम देत नहिं बनइ गुसाईं ॥५॥
कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुंदर सुत परम किसोरा ॥६॥

अर्थ—मुनि की अत्यन्त अप्रिय वाणी सुनकर राजा का हृदय काँपने लगा और उनके मुख की कान्ति फीकी पड़ गई ॥१॥ राजा ने कहा—हे विप्र! विचारकर आपने ये वचन नहीं कहे। मैंने चौथेपन (बुढ़ापे) में ये चार पुत्र पाये हैं ॥२॥ भूमि, गाय, धन, खजाना—जो इच्छा हो, माँगिये, मैं हर्ष एवं उत्साह के साथ आज सब कुछ दे डालूँगा ॥३॥ देह और प्राण से अधिक प्यारी कोई वस्तु नहीं होती, मैं पलक-मात्र में वह भी दे दूँगा ॥४॥ (यों तो) मुझे सब पुत्र प्राणों की तरह प्यारे हैं, पर हे गोस्वामी! राम को तो देते हो नहीं बनता ॥५॥ कहाँ वे अत्यन्त भयंकर एवं कठोर राक्षस और कहाँ परम किशोर अवस्था के ये परम सुन्दर (सुकुमार) पुत्र! ॥६॥

विशेष—(१) 'अति अप्रिय बानी'—प्रथम का वचन—'अनुज समेत देहु···' अप्रिय लगा, क्योंकि प्राण-प्रिय पुत्रों का वियोग होता। फिर—'निसिचर बध···' तो 'अति अप्रिय' लगा।

प्रथम राजा मन, वचन और कर्म से प्रसन्न थे, यथा—"तब मन हरषि बचन कह राऊ। केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावउँ बारा ॥" (दो० २०६)। अब तीनो से मलिन पड़ गये, यथा—"हृदय कंप"—मन, "मुख दुति कुम्हिलानी"—कर्म और—"राम देत नहिं बनइ गोसाईं ॥" वचन। राजा दान में वीर हैं, पर यह श्रीराम-प्रेम की महिमा है, यथा—"मोह मगन मति नहिं बिदेह की।

महिमा सिय रघुबर सनेह को ॥" (अ० दो० २८५) । परम प्रिय एवं अति कोमल पुत्रों का वियोग और उनका घोर राक्षसों से सामना होना हृदय में छा गया, धर्म-सुयशवाले वचनों के गूढ़ आशय पर वृत्ति जाने ही नहीं पाई ।

(२) 'चौथेपन पायेउँ सुत···'—तरुणावस्था होती तो और पुत्रों की भी आशा रहती । अतः, चौथेपन में उत्पन्न सन्तान का अति प्रिय होना सहज ही है । उस समय राजा साठ हजार वर्षों के हो चले थे, यथा—"षष्टि वर्ष सहस्राणि जातस्य मम कौशिक । कृच्छ्रेणोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि ।" (वाल्मी० बा० २०।११) ।

'बिप्र बचन नहिं···'—विप्र वेद के ज्ञाता होते हैं, यथा—"जानइ ब्रह्म सो बिप्रबर" (उ० दो० ९९) । आप तो वेद के ऋषि ही हैं । अतः, विचार कर बात कहनी चाहिये । आपने यह न सोचा कि चौथेपन में उत्पन्न सन्तान का वियोग पिता को कैसे सहन होगा और न यही विचारा कि बालक अत्यन्त सुकुमार हैं । तब देने की प्रतिज्ञा क्यों की ? उसपर आगे कहते हैं कि—'माँगहु भूमि ···'—राजा की दृष्टि में भूमि मुख्य है, उसे प्रथम कहा, अर्थात् ये सब चीजें माँगने की हैं, इन्हें माँगिये । मुनि ने कहा था—"मैं जाँचन आयेउँ ···' उसपर आप कहते हैं कि 'माँगहु···।'

(३) 'सरबस देउँ आजु सहरोसा'—'आजु' अर्थात् सर्वस्व देने की सदा श्रद्धा नहीं रहती, इसलिये 'आजु' कहते हैं, क्योंकि बड़े भाग्य से आप ऐसे याचक मिले हैं । 'सहरोसा' शब्द सहर्ष का विकृत रूप है, अर्थात् हर्ष या उत्साह-पूर्वक, यथा—"सुनु मुनि तोहिं कहउँ सहरोसा ।" (अर० दो० ४२), छन्दानुरोध से 'हरषा' का हरोषा, हरोसा किया गया है अथवा 'रोष' का अर्थ जोश भी होता है, यथा—"बंदउँ खल जस सेष सरोषा ।" (दो० ३), इससे 'सहरोसा' का अर्थ उत्साह-पूर्वक भी होगा ।

(४) 'देह प्रान ते प्रिय···'—प्रथम भूमि आदि प्रिय पदार्थ कहे, अब देह-प्राण रूप परम प्रिय पदार्थ देने को कहा, यथा—"सब के देह परम प्रिय स्वामी ।" (सुं० दो० २१) । देह-प्राण देने में कष्ट एवं कठिनता होती है, पर मैं उन्हें पलक भर में ही दे सकता हूँ । देह-प्राण देने का आशय यह है कि बालक अति सुकुमार हैं, उनके बदले मैं चलकर युद्ध में देह-प्राण दूँगा, क्योंकि युद्ध में ये ही काम आते हैं । वाल्मीकीय रामायण में राजा ने जब जाना कि उन राक्षसों का मालिक रावण है, तब कहा कि उससे तो देवता भी नहीं जीत सकते, हम मनुष्यों का क्या सामर्थ्य है (बा० स० २०) ? पर, यहाँ वह भाव उत्तम रूप में आया कि हम न भी जीतें, तो भी देह-प्राण देने को तैयार हैं ।

(५) 'सब सुत प्रिय मोहि ···'—अर्थात् भरत आदि को भी नहीं माँगे, उत्तरार्द्ध में श्रीरामजी को पृथक् करके कहा, क्योंकि मुनि ने प्रधान रूप से उन्हींको माँगा है—"अनुज समेत देहु रघुनाथा···"। 'राम देत नहि बनइ'—क्योंकि ये ज्येष्ठ पुत्र हैं जो पिता का अधिक प्यारा होता है । पुनः पूर्व मनु के वरदान के अनुसार—'जीवन राम-दरस आधीना ।' भी कारण है, यथा—"चतुर्णामात्मजानां हि प्रीतिः परमिका मम ॥ ज्येष्ठे धर्मप्रधाने च न रामं नेतुमर्हसि ।" (वाल्मी० बा० २०।१२), यहाँ श्रीरामजी को प्राणों से भी अधिक प्रिय कहा, यथा—"प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे ।" (अ० दो० १४) । क्योंकि ये प्राणों के भी प्राण अर्थात् प्रकाशक हैं, यथा—"प्रान प्रान के जीव के, जिय सुख के सुख राम ।" (अ० दो० २९०) ।

(६) 'कहँ निसिचर अति घोर '—अर्थात् वे राक्षस अति घोर, ये 'अति सुंदर', वे अति कठोर, ये 'मृदु परम किसोर'—इस अयोग्यता को भी आपने नहीं विचारा ! यह तो पृथ्वी और आकाश का-सा अन्तर है !

श्रीविश्वामित्रजी ने राजा से कहा था—'तजहु मोह अज्ञान' वह राजा के यहाँ के वचनों में प्रकट है—"सब सुत···राम देत नहिं बनै गोसाईं ॥" इसमें पुत्र मोह है और "कहँ निसिचर···कहँ सुंदर सुत ···" इसमें श्रीरामजी के प्रभाव का अज्ञान है, इन्हीं बातों को समझाकर वसिष्ठजी पुष्ट करेंगे ।

सुनि नृपगिरा प्रेम - रस सानी। हृदय हरष माना मुनि ज्ञानी ॥७॥
तब बसिष्ठ बहु बिधि समुझावा। नृपसंदेह नास कहँ पावा ॥८॥
अति आदर दोउ तनय बोलाये। हृदय लाइ बहु भाँति सिखाये ॥९॥
मेरे प्राननाथ सुत दोऊ। तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ ॥१०॥

दोहा—सौंपे भूप रिषिहिं सुत, बहु बिधि देइ असीस।
जननी-भवन गये प्रभु, चले नाइ पद सीस ॥

अर्थ—प्रेम-रस में सनी हुई राजा की बात को सुनकर ज्ञानी मुनि विश्वामित्रजी ने हृदय में हर्ष माना ॥७॥ तब वसिष्ठजी ने राजा को बहुत तरह से समझाया, (उससे) राजा का सन्देह नष्ट हुआ ॥८॥ और अत्यन्त आदर से दोनों पुत्रों को बुलाकर हृदय से लगाया और बहुत प्रकार से सिखाया ॥९॥ (विश्वामित्रजी से कहा—) हे नाथ ! ये दोनों ही पुत्र मेरे प्राण (प्राणों के आधार) हैं, हे मुनि ! अब इनके पिता आप ही हैं और कोई नहीं ॥१०॥ राजा ने बहुत प्रकार से आशीष देकर ऋषि को दोनों पुत्र सौंप दिये। तब प्रभु श्रीरामजी माता के महल में गये और (उनके) चरणों में सिर नवाकर चल दिये ॥२०७॥

विशेष—(१) 'हृदय हरष माना···'—मुनि कोरे ज्ञानी ही नहीं हैं, प्रेमी भी हैं। अतः, प्रेमरस में सानी हुई वाणी से हर्ष ही माना, क्योंकि प्रेम से ज्ञान की शोभा है, यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (अ० दो २७६)। हृदय में ही हर्ष माना, अर्थात् ऊपर से रुखाई भी दिखाई, अन्यथा उनके कार्य में बाधा होती। इसमें वाल्मी० बा० स० २०-२१ में कहा हुआ रोष भी जना दिया। पुनः मुनि ज्ञानी हैं, इसीसे राजा के सप्रेम वचनों पर हृदय से उमड़े हुए प्रेम को हृदय में ही छिपा रक्खा, अन्यथा कार्य बिगड़ता।

(२) 'तब बसिष्ठ बहु बिधि ···'—वसिष्ठजी ने अलग एकान्त में ले जाकर राजा को समझाया, क्योंकि आगे दोनों पुत्रों को विश्वामित्रजी के पास से बुलाना कहा गया है। 'अति आदर दोउ···' श्रीरामजी विश्वामित्रजी के पास थे। अतः, वहाँ पर नहीं समझाया, क्योंकि समझाने में श्रीरामजी का ऐश्वर्य भी कहना है जिसे सबपर प्रकट करना अनुचित होता। पुत्र (शिष्य) और सेवक आदि छोटों की प्रशंसा उनके सामने करने की रीति नहीं है, यथा—"प्रत्यक्षे गुरुवः स्तुत्याः परोक्षे सेवकाः सुताः ॥" (गरुड़पुराण)

'बहु बिधि'—(क) आप इक्ष्वाकु-वंश में परम धर्मात्मा है। प्रतिज्ञा-भ्रष्ट होने से सब धर्म नष्ट हो जाते हैं। अतः, आप धर्म न छोड़ें। श्रीरामजी रण के योग्य हों चाहे अयोग्य, जब महातेजस्वी विश्वामित्र रक्षक हैं तब भय न करें। साथ ही विश्वामित्र का महत्त्व भी खूब बतलाया और कहा कि ये आपके पुत्रों का विशेष कल्याण करेंगे, इत्यादि—(वाल्मी० बा० स० २१)। (ख) श्रीरामजी का ऐश्वर्य भी कहा, यथा—"गुरु बसिष्ठ समझाय कह्यो तब, हिय हरषाने जाने सेषसयन।" (गी० बा० ४९), तथा—"आयउ न उतरु बसिष्ठ लखि बहु भाँति नृप समुझायऊ। कहि गाधिसुत तप तेज कछु रघुपति प्रभाउ जनायऊ॥" (जानकी मंगल २७)।

समझाने के कारण—(क) विश्वामित्र बड़े क्रुद्ध हुए, पृथ्वी हिलने लगी, तब अवसर देखकर गुरुजी ने स्वयं समझाया। (ख) विश्वामित्रजी ने ही कहा था—"डरपत हौं साँचे सनेह बस सुत-प्रभाव बिनु जाने। बूझिय बामदेव अरु कुलगुरु तुम्ह पुनि परम सयाने॥" (गी० बा० ४८), राजा ने पूछा तो गुरुजी ने श्रीरामजी का ऐश्वर्य कहकर समझाया। (ग) राजा को प्रेम में बिह्वल देखकर गुरुजी ने स्वयं समझाया, यथा—"ठगि से रहे नृप सुनि मुनिबर के बयन। कहि न सकत कछु···गुरु बसिष्ठ समझाय

कह्यो तब···" (गी० बा०४९) । 'बहु बिधि' में बहुत प्रकार के कारणों से एवं बहुत प्रकार से समझाने की मतभेद एवं कल्पभेद से जो विभिन्न रीतियाँ हैं, इसमें सब आ गईं । 'अति आदर दोउ ···'—आदर से तो सदा ही बुलाते थे । आज वियोग जानकर और तुरत ही ऐश्वर्य जानने पर 'अति आदर' से बुलाया । 'हृदय लाइ'—यद्यपि ऐश्वर्य सुना था, तथापि रामजी के सम्मुख आने पर मुख देखते ही वात्सल्य ने ऐश्वर्य को भुला दिया । इससे हृदय लगाया और शिक्षा दे । लगे कि इन्हें (विश्वामित्रजी को) ही गुरु-पिता-माता जानकर इनकी सेवा करना और आज्ञा मानना । गुरु-सेवा का महत्त्व भी कहा, यथा—"जे गुरु चरन-रेनु सिर धरहीं । ते जनु सकल बिभव बस करहीं ॥" (अ० दो० २), वाल्मी० १।२६।२-४ में श्री रामजीने भी मुनि से कहा है कि मेरे पिता ने मुझे आपकी आज्ञानुसार सेवा करने की आज्ञा दी है, वह मैं अवश्य करूँगा, इत्यादि बहुत तरह सिखाना है ।

(३) 'मेरे प्राननाथ···'—ये दोनों मेरे प्राण हैं, यथा—"सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे । मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे ॥" (दो० ३०७) । अतः, इनकी रक्षा से मेरे प्राणों की रक्षा होगी । 'तुम्ह मुनि पिता'—यहाँ अपना पितृत्व मुनि में स्थापित किया । प्राण-रूप पुत्रों के वियोग में राजा कैसे जीते रहे ? यह दोहा १६ में लिखा गया है ।

(४) 'सौंपे भूप रिषिहिं सुत···'—मुनि को पिता बना चुके, तब अब श्रीरामजी उनके ही हैं । अतः, उनकी वस्तु उन्हें देने को सौंपना कहा । 'जननी-भवन···'—माता के यहाँ गये और माथा नवाकर तुरन्त चल दिये, क्योंकि मुनि के साथ जाने एवं पिता के वचन पालने में श्रद्धा है । 'बहु बिधि देइ असीस' और 'नाइ पद सीस' दोनों को दोनों ही स्थलों पर लगाना चाहिये कि दोनों स्थलों पर श्रीरामजी ने प्रणाम किये और आशीर्वाद पाये । यह काव्य-गुण एवं ग्रन्थकार की रीति है । पहले भी इसपर लिखा गया है ।

शंका—पिता तो वियोग समझकर इतने विह्वल हुए, पर माता ने कुछ न कहा ?

समाधान—माता को आगमी (ज्योतिषी) द्वारा जाना हुआ था कि कौशिक के द्वारा ब्याह होगा । यह गी० बा० १४ में कहा है । इन्हें अलौकिक विवेक प्राप्त है और वह अन्न-प्राशन के समय ऐश्वर्य देखने से दृढ़ भी हो गया है, किन्तु फिर भी कुछ ही दिनों के पीछे वात्सल्य से चिन्तित होंगी, यथा—"मेरे बालक कैसे धौं मग निबहैंगे ।···रिषि नृप-सीस ठगौरी सी डारी ।···" (गी० बा० ९७-९८), इन पदों में विस्तार से कहा है ।

सोरठा—**पुरुषसिंह दोउ बीर, हरषि चले मुनि-भय-हरन ।**
कृपासिंधु मतिधीर, अखिल-बिस्व कारन करन ॥२०८॥

अर्थ—पुरुषों में सिंह-रूप, कृपा के समुद्र, धीर बुद्धि और निःशेष जगत् के कारण और करण दोनों वीर मुनि के भय हरने के लिये हर्ष के साथ चले ।

विशेष—(१) 'पुरुषसिंह दोउ बीर···'—सिंह निर्भय अकेला ही हाथियों का नाश करता है, वैसे बिना सेना के ही ये दोनों वीर घोर निशाचरों का नाश करेंगे । सेना आदि के न लेने के कई कारण कहे जाते हैं । (क) इन राक्षसों को किसी मुनि का शाप था कि तुमलोग रथरहित बालक के द्वारा निरादर-पूर्वक मारे जाओगे । (ख) यह भी सम्भव था कि भारी सेना आदि देखकर वे लड़ने न आते तो भी मुनि का भय बना ही रहता । (ग) श्रीरामजी का लीला-विधान ऐसा ही था—यह तो प्रधान ही है । ये 'बीर' हैं । अतः, हर्ष-पूर्वक युद्ध के लिये चले और सेना तथा सहायक भी न लिये । मुनि के भय-हरण के लिये जाते हैं । अतः 'कृपासिंधु' कहे गये । माता-पिता एवं गृह के सुख के त्याग में उत्साह बना है । अतः, 'मतिधीर' कहे गये ।

(२) 'अखिल बिस्वकारन करन'—श्रीरामजी सम्पूर्ण जगत् के परम कारण हैं, यथा—"वन्देऽहं तमशेषकारणपरम् ..." (सं० श्लोक) और लक्ष्मणजी जगत्मात्र के करण हैं, क्योंकि जीवमात्र के नियामक एवं प्रतिनिधि हैं और सम्पूर्ण जीव जगत् के करण हैं। 'करण' का अर्थ यह है कि जिसके द्वारा कर्त्ता क्रिया को सिद्ध करता है। व्याकरण में यह एक कारक है, वैसे जीव के द्वारा ही भगवान् जगत् का व्यापार धारण करते हैं, यथा—'प्रकृतिं विद्धि में पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥" (गी० ७।५), तथा—"निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।" (गीता ११।३३)। अतः, पृथ्वी का भार उतारने में दोनों का प्रयोजन है।

'बीर'—वीरता पाँच प्रकार की है। यहाँ श्रीरामजी में इसके पाँचो भेद कहे गये हैं, यथा—"त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः। पराक्रममहावीरो धर्मवीरश्च शाश्वतः॥ पञ्चवीराः समाख्याता राम एव स पञ्चधा। रघुवीर इति ख्यातिः सर्ववीरोपलक्षणा॥" (श्रीभगवद्गुणदर्पण)। यहाँ 'पुरुषसिंह' में पराक्रम-वीरता, 'हरषि चले मुनि-भय-हरन' में धर्मवीरता, 'कृपासिंधु' में दयावीरता, 'मतिधीर' में त्यागवीरता और 'अखिल बिस्व कारन करन' में ऐश्वर्य दृष्टि से विद्यावीरता है। माधुर्य की युद्धविद्यावीरता आगे प्रकट होगी कि एक बाण से ताटका को, बिना फर के बाण से मारीच को और अग्निबाण से सुबाहु को मारेंगे। लक्ष्मणजी अकेले ही सारी सेना को मार डालेंगे।

अरुन नयन उर बाहु बिसाला। नीलजलद तनु स्याम तमाला॥१॥
कटि पट पीत कसे बर भाथा। रुचिर-चाप-सायक दुहुँ हाथा॥२॥
स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। बिस्वामित्र महानिधि पाई॥३॥
प्रभु ब्रह्मन्यदेव मैं जाना। मोहि निति पिता तजेउ भगवाना॥४॥

शब्दार्थ—ब्रह्मन्यदेव = ब्राह्मण ही जिनके देवता हैं, ब्राह्मणों पर श्रद्धा रखनेवाले।

अर्थ—(रामजी के) नेत्र लाल, छाती और भुजाएँ लम्बी-चौड़ी और शरीर नील मेघ और श्याम तमाल वृक्ष की तरह श्याम है॥१॥ कटि में पीताम्बर है उसमें श्रेष्ठ तरकश कसे हुए हैं और दोनों हाथों में सुन्दर धनुष और बाण हैं॥२॥ दोनों भाई सुन्दर हैं—एक साँवले और दूसरे गोरे, (मानों) विश्वामित्र ने बड़ी निधि पाई है॥३॥ (मुनि सोचते हैं,) मैंने जान लिया कि प्रभु ब्रह्मण्यदेव हैं, (क्योंकि) भगवान् ने मेरे लिये अपने पिता का भी त्याग किया है॥४॥

विशेष—(१) 'अरुन नयन उर...'—नेत्र की अरुणिमा से लेकर कमर तक ही का वर्णन है। अतः, यह ध्यान वीर रस का है, यथा—"लछिमन चले क्रुद्ध होइ, बान सरासन हाथ॥ छतज नयन उर बाहु बिसाला। हिमगिरि निभ तनु कछु एक काला॥" (लं० दो० ५२)। मेघ और वृक्ष दोनों परोपकारी हैं, श्रीरामजी भी परोपकार के लिये चले हैं। अतः, उपमाएँ युक्त हैं। यह ध्यान प्रपन्नों (शरणागतों) को सुखद और खलों को दुःखद है, यथा—"भुज प्रलंब कंजारुन लोचन। स्यामल गात प्रनत-भयमोचन॥" (सुं० दो० ४४)। श्रीरामजी भी मुनियों को सुख और खलों को दण्ड देने चले हैं। जलद की उपमा में दोनों युक्त हैं, यथा—"बरषि बिस्व हरषित करत, हरत ताप अघ प्यास। तुलसी दोष न जलद को, जो जल जरइ जवास॥" (दोहावली ३७८)। यहाँ पर यह वीर रस का ध्यान प्रथम दिग्विजय-यात्रा के लक्ष्य से है, क्योंकि इसमें निशाचर-वध, धनुर्भंग और परशुराम-पराजय से रामजी की दिग्विजय होगी।

(२) 'कटि पट पीत ...'—पीताम्बर भी वीर रस का ही साज है, यथा—"पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः।" (भाग० १०।३२।२)। 'बरभाथा'—अर्थात् तूण अक्षय्य है, इसमें से चाहे जितने ही बाण निकलें, किन्तु यह भरा ही रहता है। 'रुचिर'—सुन्दर एवं सफल, यथा—"करतल चाप रुचिर सर साँधा।" (अर० दो० २६), "जो मृग राम-बान के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे॥" (दो० २०४)।

(३) 'स्याम गौर···'—ऊपर 'दोउ बीर' से वर्णन प्रारम्भ करके बीच में केवल श्रीरामजी का ध्यान कहा और साथ में लक्ष्मणजी भी हैं, यहाँ श्याम-गौर कहकर केवल वर्णमात्र में भेद दिखाया। शेष वे ही बातें श्रीलक्ष्मणजी में भी हैं।

'महानिधि पाई'—निधि राजा के यहाँ से प्राप्त होती है, वैसे ये दोनों भाई भी राजा के यहाँ से प्राप्त हुए हैं। निधियाँ दो प्रकार की होती हैं—एक नील और दूसरी शंख वर्ण की, वैसे ही श्याम-गौर दोनों भाई हैं। 'महानिधि' अर्थात् असंख्य धन। 'पाई' अर्थात् पाया हुआ धन थोड़े काल तक रहता है, वैसे ये दोनों भाई फिर अयोध्या ही में आ जायँगे। निधि नव हैं—"महापद्मश्च पद्मश्च शंखो मकरकच्छपौ। मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ॥"

(४) 'प्रभु ब्रह्मन्यदेव·····' ब्राह्मणों पर श्रद्धा रखते हैं, यथा—"गर्भस्थान्ब्राह्मणान्सम्यङ्नमस्यति किल प्रभुः ॥" (महा० अनु० १५३।१०), अर्थात् भगवान् गर्भस्थ ब्राह्मणों को भी सदा नमस्कार करते हैं। श्रीरामजी ने स्वयं कहा है, यथा –"विप्रप्रसादात्कमलावरोऽहं विप्रप्रसादाद्धरणीधरोऽहम्। विप्रप्रसादाज्जगतीपतिश्च विप्रप्रसादान्मम राम नाम ॥" (स्कन्द पु० ब्राह्म० ध० मा० ३१।६०), अर्थात् मैं ब्राह्मण के ही प्रसाद से लक्ष्मीपति, धरणीधर और जगतीपति हूँ तथा ब्राह्मण के ही प्रसाद से मेरा राम नाम है। राक्षस-वध में प्रभु अर्थात् समर्थ हैं और भगवान् हैं। अतः, मेरी हार्दिक गति जान ली और भक्त जानकर रक्षार्थ पैदल आ रहे हैं—यद्यपि षडैश्वर्य पूर्ण हैं। अतः, मुझसे कोई प्रयोजन नहीं है। भगवान्, यथा—"उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥"(वि० पु० ६।५।७८), 'मैं जाना'—यह इनका स्वकीय ज्ञान है। अतः, इसे प्रभु माधुर्य लीला से आवृत कर देंगे, फिर आगे ताटका-वध से स्वयं अपनेको जनावेंगे, वही यथार्थ ज्ञान होगा। पूर्वोक्त "कहि कथा सुहाई" (दो० १९१) का विशेष भी देखिये।

चले जात मुनि दीन्हि देखाई। सुनि ताड़का क्रोध करि धाई ॥५॥
एकहि बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा ॥६॥
तब रिषि निज नाथहिं जिय चीन्ही। बिद्यानिधि कहँ बिद्या दीन्ही ॥७॥
जाते लागि न छुधा पिपासा। अतुलित बल तनु-तेज प्रकासा ॥८॥

दोहा—आयुध सर्व समर्पि कै, प्रभु निज आश्रम आनि।
कंद मूल फल भोजन, दीन्ह भगत-हित जानि ॥२०६॥

अर्थ—मुनि ने मार्ग में जाते हुए (ताटका को) दिखा दिया, (मुनि के वचन) सुनकर ताटका क्रोध करके दौड़ी ॥५॥ एक ही बाण से श्रीरामजी ने उसके प्राण हर लिये और दीन जानकर उसे 'निज पद' दिया ॥६॥ तब ऋषि ने अपने स्वामी को हृदय से जाना और उन विद्याओं के खजाने को विद्या दी ॥७॥ जिससे भूख और प्यास न लगे और शरीर में निःसीम बल और तेज का प्रकाश हो जाय ॥८॥ सब अस्त्र-शस्त्र समर्पण करके प्रभु श्रीरामजी को अपने आश्रम में ले आये और उन्हें भक्त-हितकारी जानकर कन्द-मूल-फल भोजन के लिये दिये ॥२०६॥

विशेष—(१) 'चले जात मुनि ·····'—वाल्मी० बा० स० २४-२६ में कथा है कि मुनि ने जाते हुए उस वन और ताटका का इतिहास कहा, तब श्रीरामजी ने धनुष का टंकार किया। ताटका शब्द सुनकर इधर को दौड़ी, श्रीरामजी स्त्री जानकर कुछ ढीले पड़े थे, उसका वेग बढ़ता देखकर मुनि ने हुंकार करके उसे डाँटा। इसे सुनकर वह और क्रुद्ध होकर दौड़ी। मुनि ने यहाँ ताटका-वन को एवं टंकार सुनकर आई हुई ताटका को दिखाया है और वह मुनि का हुंकार शब्द सुनकर अधिक क्रुद्ध हुई, तथा धूल आदि की वर्षा की, यह 'सुनि' का अर्थ है।

'दीन्हि देखाई' के पीछे 'मुनि' का यह भी भाव है कि मुनि के दिखाने पर रामजी ने उसे स्त्री जानकर उसपर अस्त्र-प्रयोग करना अयोग्य समझा। इसपर मुनि ने समझाया कि इस तरह की दुष्टा स्त्री के वध में दोष नहीं। इन बातों को निकट होने से ताटका ने भी सुना। अतः, क्रोध करके दौड़ी।

स्त्री अवध्य है, फिर क्यों मारा? इसका समाधान गुरु की आज्ञा का पालन है, यथा—"गुरु-पितु-मातु-स्वामि-हित-बानी। ··· उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरम जाइ सिर पातक भारू॥" (अ० दो० १७६)। मुनि ने ही ऐसी आज्ञा क्यों दी? इसका समाधान वाल्मी० बा० स० २५, श्लो० १७-२२ में है कि प्रजा की रक्षा के लिये ऐसी दुष्टा के मारने में दोष नहीं।

शंका—यहाँ प्रथम स्त्री-वध से ही असुरनाश का श्रीगणेश हुआ, वैसे श्रीकृष्णावतार में भी पूतना वध से ही प्रारम्भ है, यह क्यों?

समाधान—नाम-वन्दना में ताटका को दुराशा-रूप कहा है, यथा—"सहित दोष दुख दास दुरासा।" (दो० २३), और दुराशा के प्रथम नाश होने से शेष आसुरी सम्पत्ति का नाश होता है। अतः, दोनों अवतारों में प्रथम स्त्री ही से सामना हुआ। आसुरी सम्पत्ति के नाश के लिये ही अवतार होते हैं।

(२) 'एकहि बान प्रान·····'—निशाचरों को अपना पराक्रम दिखाने और मुनि का भय शीघ्र मिटाने एवं उनकी आज्ञा पालने के लिये शीघ्र ही मार डाला।

'दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा।'—यह प्रथम यक्षिणी थी। अगस्त्यजी के शाप से राक्षसी हुई थी। शापित होने और अबला एवं विधवा होने से दीन ही थी। 'निज पद'—परधाम साकेत को गई, यथा—"खल मनुजाद द्विजामिष-भोगी। पावहिं गति जो जाँचत योगी॥···देहिं परम गति···" (लं० दो० ४४)।

(२) 'तब रिषि निज ···'—प्रथम मुनि ने अपने आश्रम ही से प्रभु को जान लिया था, फिर अभी ऊपर 'मैं जाना' कहाँ आये, यहाँ फिर जी से 'चीन्हना' कहते हैं। इसका भाव यह कि जब दशरथजी ने अपना पितृत्व इन्हें दिया, यथा—"तुम्ह मुनि पिता·····" तब वात्सल्य अधिक हुआ। इधर श्रीरामजी ने भी साथ में आते समय अति माधुर्यलीला से इन्हें मोहित करके इनका स्वकीय ज्ञान आवृत कर दिया था, यथा—"पैठत सरनि सिलन चढ़ि चितवत खग मृग बन रुचिराई। सादर सभय सप्रेम पुलकि मुनि पुनि-पुनि लेत बुलाई॥ (गी० बा० ५०), "खेलत चलत करत मग कौतुक बिलमत सरित सरोवर तीर।·····" (गी० बा० ५२), इत्यादि। फिर अब उन्हें अपने कर्त्तव्य से जनाया, तब जो से पहचाना (चीन्हा)। पूर्वोक्त—"कहि कथा सुहाई" (दो० १९१) का विशेष भी देखिये।

'बिद्यानिधि कहँ बिद्या दीन्ही।'—'निधि' खजाना। रामजी सम्पूर्ण प्राणियों में प्राप्त-विद्याओं के निधान हैं, इन्हींसे सबको विद्याएँ प्राप्त होती हैं। जैसे समुद्र का ही जल अंजलि में लेकर समुद्र को दे, वैसे विश्वामित्रजी ने अपने में विद्यमान विद्याओं को उनकी निधि में समर्पित किया, यथा—"बिद्या दई जानि बिद्यानिधि बिद्यहु लही बड़ाई।" (गी० बा० ५३), तथा—"कामं बहु गुणाः सर्वे त्वय्येते नात्र संशयः (वाल्मी० १।२२।१९), अर्थात् ये यद्यपि तुममें विद्यमान हैं, तथापि इनको ग्रहण करो। इन विद्याओं के नाम दो हैं—बला और अतिबला।

(३) 'जाते लागि न·····' यथा—"क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्येते नरोत्तम। बलामतिबलां चैव पठतस्तव राघव॥" "न वाह्वोः सदृशो वीर्ये पृथिव्यामस्ति कश्चन।" "विद्ये तेजःसमन्विते॥" (वाल्मी० बा० स० २२)।

(४) 'आयुध सर्ब समर्पि कै ···'—इन आयुधों के नाम—"दण्डं चक्रं महदिव्यं···" से—तान्यस्त्राणि तदा विप्रो राघवाय न्यवेदयत्॥" (वाल्मी० बा० २७।४-२३) तक हैं।

माधुर्य का भाव यह है कि इनके पिता ने सौंपा है, कहीं कन्द-मूलाहार एवं भूख-प्यास से दुबले न

हो जायँ। अतः, विद्याएँ दीं। निशाचरों से कई दिनों तक लड़ना होगा, अतएव अस्त्र और उनके मन्त्र दिये।

ऐश्वर्य के भाव—(क) जीव जिस समय सर्व-शरीरी ब्रह्म को यथार्थ जानता है, तब विद्या आदि प्रकाश एवं साधनादि अस्त्र उसीके निश्चित होते हैं, क्योंकि जीव ब्रह्म का शरीर है, शरीर के गुण शरीरी के ही हैं। (ख) मुनि में ब्राह्मणत्व का अहंकार था—"प्रभु ब्रह्मन्यदेव मैं जाना। मोहि निति……" (उपर्युक्त)। उसे विद्या समर्पण द्वारा निवृत्त किया, क्योंकि विद्या ही ब्राह्मण का धन है और क्षत्रिय-अवस्था में तप-द्वारा अस्त्रों को प्राप्त किया था, उस क्षत्रिय-बल को भी अर्पित करके वह अहंकार भी दूर किया। इस प्रकार सर्वस्व-सहित आत्म-समर्पण किया तब भगवान् इनके सर्वोपाय रूप हुए और इनकी रक्षा की, यही शरणागति का जीता-जागता उदाहरण है। फिर मुनि को रक्षार्थ वरण की आवश्यकता नहीं पड़ी।

'कंद मूल फल भोजन, दीन्ह भगत……'—जब क्षुधा न लगने की विद्या ही दी तब भोजन क्यों दिया? फिर जब ऋद्धि-सिद्धि इनके अधीन हैं तब कन्द आदि ही क्यों दिये? इसका समाधान 'भगत-हित जानि' कहकर किया कि भक्तों के यहाँ जो कुछ आहार होता है, उसीको भगवान् भी प्रेम-पूर्वक अंगीकार करते हैं, तथा—"अर्चयित्वा यथान्यायं देवेभ्योऽन्नं निवेदयेत्। यदन्ना हि नरा राजंस्तदन्नास्तस्य देवताः॥" (महा० अनुशा० ६६।६१), अर्थात् न्यायपूर्वक देवताओं की पूजा करके अन्न निवेदन करना चाहिये। मनुष्य लोग जो अन्न खाते हैं उनके देवताओं का भी वही अन्न होता है। मुनि देखते हैं कि हमारे हित के लिये नंगे पैर सवारी के बिना हमारी तरह सभी आचरण कर रहे हैं, तो भोजन भी यही करेंगे। भक्त बिना भगवान् को भोजन कराये स्वयं कैसे करे? इसलिये भोजन भी दिया।

प्रात कहा मुनि सन रघुराई। निर्भय जज्ञ करहु तुम्ह जाई॥१॥
होम करन लागे मुनि झारी। आप रहे मख की रखवारी॥२॥
सुनि मारीच निसाचर कोही। लै सहाय धावा मुनिद्रोही॥३॥
बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा॥४॥
पावकसर सुबाहु पुनि मारा। अनुज निसाचर-कटक सँहारा॥५॥

शब्दार्थ—झारी = सब, समूह। फर (फल) = अनी, बाण का अग्र भाग अर्थात् नोक।

अर्थ—प्रातःकाल श्रीरघुनाथजी ने कहा कि आप जाकर बेखटके यज्ञ करें॥१॥ सब-के-सब मुनि होम करने लगे और आप (रामजी) यज्ञ की रखवाली में रहे॥२॥ (होम के स्वाहा शब्द एवं समाचार) सुनकर मुनियों के द्रोही, क्रोधी निशाचर मारीच ने सेना लेकर धावा किया॥३॥ श्रीरामजी ने बिना फलवाले बाण से उसे मारा, जिससे वह सौ योजनवाले सागर के पार जा गिरा॥४॥ फिर अग्निबाण से सुबाहु को मारा और छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजी ने कुल निशाचर-सेना का नाश किया॥५॥

विशेष—(१) 'प्रात कहा मुनि सन……'—श्रीरामजी मुनि के सब कृत्य का समय जानते हैं, यथा—"समय जानि गुरु-आयसु पाई। लेन प्रसून चले……" (दो० २२६), वैसे यहाँ भी यज्ञ का समय जान गये और कहा। 'निर्भय'—क्योंकि मुनि को भय है—"अति मारीच सुबाहुहि डरहीं।" (दो० २०५)। 'जाई' अर्थात् जाकर यज्ञ करने के लिये कहा, क्योंकि आश्रम से यज्ञशाला पृथक् है।

(२) 'होम करन लागे……'—यज्ञ करने को गये, वहाँ उसके अन्य सामान्य विधान करके होम करने लगे। मुख्य होने से होम ही कहा गया। 'लागे'—क्योंकि यह यज्ञ छः दिनों तक हुआ है, यथा—"षष्ठेऽहनि तथा गते" (वाल्मी० बा० ३०।७)। 'झारी'—अर्थात् प्रथम समर्थ मुनि ही यज्ञ करते थे। इस समय श्रीरामजी का बल पाकर सब-के-सब एक साथ ही करने लगे।

'आप रहे मख·····'—छः दिन-रात एकदम बिना सोये हुए दोनों भाई यज्ञ-रक्षा करते रहे, यथा—"राजपुत्रौ यशस्विनौ। अनिद्रं पडहोरात्रं तपोवनमरक्षताम्॥" (वाल्मी० बा० ३०।५)।

(३) 'मुनि मारीच·····'—प्रथम कहा गया था—"देखत जज्ञ निसाचर धावहिं।" क्योंकि मुनि लोग छिपे-छिपे यज्ञ करते थे, तब राक्षस धुआँ देखकर दौड़ते थे और अब एक साथ ही स्वाहा की गूँज हो गई, वही सुनकर दौड़े। 'कोही' अर्थात् क्रुद्ध होकर दौड़े। 'लै सहाय'—क्योंकि ताटका का वध एक ही बाण से हुआ। अतः, शत्रु को प्रबल जानकर सेना के साथ पूर्ण उत्साह से दौड़ पड़े। आकाश-मार्ग से आये, यथा—"आवार्य गगनं मेघो यथा प्रावृषि दृश्यते।" (वाल्मी० बा० स० ३०), तथा—"बेधे बरगद से बनाय बान-बान हैं।" (हनु० बाहुक ३९)।

(४) 'सत जोजन गा···'—अर्थात् लंका में ही एक भाग में जा गिरा, यथा—"जौ नाँघइ सत जोजन सागर।":(कि० दो० २८)। अतः, शत-योजनवाले सागर के पार गया, इससे आगे लीला का काम लेना है। अतः, जीवित रखने के लिये बिना फल के बाण से मारा। बिना फल के बाण से मारने में कारण के बिना कार्य हुआ। अतः, विभावना अलंकार है। यहाँ सर्वज्ञता दिखाई।

शंका—जब लंका में ही जा गिरा तब उसने रावण से क्यों नहीं कहा?

समाधान—श्रीरामजी ने बिना फल के बाण में मानवास्त्र योजित कर दिया था, जिससे वह मोहित होकर भ्रमित-चित्त से भयभीत हो सब ओर श्रीराम-लक्ष्मण ही को देखता था। इससे वन में तपस्वी बनकर पड़ा रहा। रावण के पास जाने की बुद्धि हो न हुई, यथा—"भइ मम कीट भृंग की नाई। जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई॥" (अर० दो० २४)। मारीच की कथा वाल्मी० बा० स० ३० में भी देखिये। ताटका आदि की कथाएँ दो० २३ चौ० ४-५ में लिखी गई हैं।

मारि असुर द्विज-निर्भय-कारी। अस्तुति करहिं देव-मुनि-झारी॥६॥
तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया॥७॥
भगत-हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना॥८॥

अर्थ—राक्षसों को मारकर ब्राह्मणों को निर्भय करनेवाले श्रीरामजी की सब-के-सब देव-मुनि स्तुति कर रहे हैं॥६॥ फिर वहाँ और कुछ दिन श्रीरघुनाथजी रहे और रहकर ब्राह्मणों पर दया की॥७॥ भक्ति के लिये मुनि ने बहुत-सी पुराणों की कथाएँ कहीं—यद्यपि प्रभु (श्रीरामजी) उन्हें जानते थे॥८॥

विशेष—(१) 'देव-मुनि'—मुनि लोग निर्भय हुए और देवताओं के यज्ञ-भाग की रक्षा हुई, इससे स्तुति करते हैं। यहाँ देव प्रथम लिखे गये, क्योंकि बहुत वर्षों पर इन्हें भाग मिला है। अतः, तृप्त होते ही प्रभु की स्तुति करने लगे। मुनि लोग श्रीरामजी की भुजा पूजने लग गये थे, यथा—"जे पूजी कौसिक-मख रिषयन्हि" (गी० उ० १३)। इसके पीछे स्तुति की, क्योंकि पूजा के पीछे स्तुति होती है।

(२) 'तहँ पुनि कछुक दिवस···'—यहाँ कोई ३, कोई ५ और कोई ७ दिन कहते हैं, सबके मतों की रक्षा है। 'बिप्रन्ह पर दाया'—दया यह कि ब्राह्मण लोग कुछ दिन और भी दर्शनानन्द चाहते थे, इससे उनपर दया करके रहे, नहीं तो पिता की आज्ञा भर का कार्य हो चुका था। चाहते तो श्रीअवध लौट आते। नीति से यह भी हेतु है कि कहीं मारीच के पक्ष का कोई बदला लेने आ जाय तो फिर मुनि दुःख पावेंगे।

(३) 'भगति हेतु बहु कथा ···'—कथा-प्रसंग में प्रीति होना भक्ति है, यथा—"दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।" (अर० दो० ३४)। कथा-द्वारा अपनी भक्ति करते थे, कुछ प्रभु को उपदेश देने के लिये नहीं, क्योंकि वे तो सब जानते ही हैं और मुनि प्रभु के ऐश्वर्य से अभिज्ञ हैं ही। 'बहु कथा'—क्योंकि त्रिकाल कथा होती थी—सवेरे से दोपहर तक—"बेद-पुरान बसिष्ठ बखानहिं। सुनहिं राम जद्यपि सब

जानहिं ॥" (उ० दो० २५), मध्याह्न से सन्ध्या तक—"करि भोजन मुनिबर बिज्ञानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी ॥" (दो० २३६), सन्ध्या से आधी रात तक—"कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी ॥" (दो० २२५), क्योंकि ऋषियों का कालक्षेप कथा-पुराणों में ही होता है।

यज्ञ-रक्षा-प्रकरण समाप्त

अहल्योद्धार-प्रकरण

तब मुनि सादर कहा बुझाई। चरित एक प्रभु देखिय जाई ॥ ६ ॥
धनुष-यज्ञ सुनि रघुकुल-नाथा। हरषि चले मुनिबर के साथा ॥१०॥
आश्रम एक दीख मग माहीं। खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं ॥११॥
पूछा मुनिहिं सिला प्रभु देखी। सकल कथा मुनि कही बिसेखी ॥१२॥

दोहा—गौतमनारी स्रापबस, उपल-देह धरि धीर।
चरन-कमल-रज चाहती, कृपा करहु रघुबीर ॥२१०॥

अर्थ—तब मुनि विश्वामित्रजी ने आदरपूर्वक समझाकर कहा कि हे प्रभो श्रीरामजी! एक चरित चलकर देखिये ॥६॥ रघुकुल के स्वामी श्रीरामजी धनुष-यज्ञ की बात सुनकर मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र के साथ हर्ष से चले ॥१०॥ उन्होंने मार्ग में एक आश्रम देखा, वहाँ पक्षी, पशु और जीव-जन्तु न थे ॥११॥ एक शिला (पत्थर) देखकर प्रभु श्रीरामजी ने मुनि से पूछा तो उन्होंने सारी कथा विस्तार से कही ॥१२॥ गौतम की स्त्री शाप के कारण पत्थर का शरीर धरकर (शाप-अनुग्रह के अनुसार आपके भरोसे) धैर्य धारण किये हुई, आपके चरण-कमल की धूल चाहती है। हे रघुवीर! इसपर कृपा कीजिये ॥२१०॥

विशेष—(१) 'तब मुनि सादर···'—इस समय श्रीरामजी ने प्रातःकाल नित्य-नियम से निवृत्त होकर मुनि को प्रणाम किया और पूछा कि अब मुझे क्या आज्ञा है, तब मुनि ने धनुष एवं धनुष-यज्ञ की प्रशंसा की जिससे वे वहाँ भी चलने के लिये उत्साह-पूर्वक उद्यत हों। फिर कहा कि यह चरित आपके देखने योग्य है। 'प्रभु'—अर्थात् वहाँ समर्थ ही का काम है। मुनि ने राजा दशरथजी से कहा था—"इन्ह कहँ अति कल्यान।" अब उसीके लिये ले जा रहे हैं। सत्योपाख्यान में लिखा है कि निशाचर-वध के पश्चात् ही राजा जनक का निमन्त्रण मुनि को आया था। अतः, मुनि ने वहाँ चलने की आज्ञा दी।

(२) 'धनुष-जज्ञ सुनि···'—मुनि ने धनुष की महिमा कही, इससे रामजी हर्ष के साथ चले, क्योंकि वहाँ वीरों का काम है और ये वीर रघुवंशियों में शिरोमणि हैं, यथा—"रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहइ न कोई।···बिद्यमान रघुकुलमनि जानी ॥" (दो० २५२ । हर्ष से चलना प्रयोजन-सिद्धि का शकुन भी है, यथा—"होइहि काज मोहिं हर्ष बिसेषी।" (सुं० दो० १)। 'रघुकुलनाथा'—चक्रवर्त्तीकुमार किसी राजा के यहाँ स्वयं नहीं जा सकते, पर यहाँ तो मुनिवर के साथ हैं। अतः, हर्ष से चले।

(३) 'आश्रम एक दीख मग माहीं'—यह आश्रम सिद्धाश्रम से पूर्व अहिरौली ग्राम में गंगातट पर है। गंगा पार उतरने पर जनकपुर मिलता है। वाल्मीकीय के अनुसार यह आश्रम तिरहुत में कमतौल (दरभंगा) स्टेशन के पास अहियारी गाँव में है। इसमें कल्पभेद समझना चाहिये। यह आश्रम मार्ग के पास वन में था, वन के वासी खग-मृग मुख्य हैं, जब वे न देख पड़े, तब सूक्ष्म 'जीव-जन्तु' पर भी दृष्टि दी। जीव-

जन्तु का अर्थ कीड़ा-मकोड़ा भी होता है। जब ये भी न दिखाई पड़े, तब मुनि से पूछा कि यह वन निर्जन क्यों है ? और, यह शिला कैसी है ?

(४) 'सकल कथा मुनि कही बिसेषी।' कथा नीचे दी जाती है—

अहल्या की कथा

"ब्रह्माजी ने पहले अपनी बुद्धि से एक वर्ण, एक भाषा और एक रूप की प्रजा उत्पन्न की। उनमें भेद होने के लिये उन्होंने एक स्त्री का निर्माण किया, उसमें कोई हल्य (विकृतरूपता) न था, इससे उन्होंने उसका नाम अहल्या रक्खा था। उसमें प्रजामात्र के सौन्दर्य का अंश था। फिर उसके योग्य वर की चिन्ता की। इन्द्र उच्च पदाधिकारी हैं और यह स्त्री रत्न है। अतएव वे उसे अपनी ही स्त्री समझते थे। ब्रह्माजी उसके लिये वर ढूँढ़ रहे थे। गौतम मुनि के यहाँ उसे थाती रूप में रक्खा। वर्ष दिन के पीछे आकर भी उन्होंने उसे ज्यों-की-त्यों पाया। उनकी स्थिरता एवं तपस्या की सिद्धि देखकर ब्रह्माजी ने वह कन्या गौतम मुनि को दे दी। वही मुनि की पत्नी हुई, इसपर देवगण निराश हुए।" (वाल्मी० ७।३०)

"किसी दिन गौतम मुनि कहीं दूर चले गये। तब इन्द्र गौतम का रूप धरकर वहाँ गये और अहल्या से सहवास की कांक्षा की। उसने इन्द्र को जानकर भी उसकी रुचि के अनुसार प्रसन्नतापूर्वक किया। फिर कहा कि मैं कृतार्थ हो गई। अब आप शीघ्र जायँ, मुनि से अपनी और मेरी रक्षा करते रहियेगा। इन्द्र हँसकर और स्वीकार कर बाहर निकले। उधर से गौतमजी स्नान किये हुए कुश, समिधा और जल लिये आ रहे थे। उन्होंने इन्द्र को अपने वेष में पा, क्रुद्ध होकर पूछा, तू कौन है ? इन्द्र को डरता हुआ (सब कह दिया) देखकर शाप दिया।" (वाल्मी० १।४८), तू उच्च होकर भी एक भग के लिये ऐसा निन्द्यकर्म किया है, इससे तेरे शरीर भर में सहस्रों भग हो जायँ। फिर इन्द्र के दीन होकर बहुत प्रार्थना करने पर मुनि ने अनुग्रह भी कर दिया कि श्रीराम-विवाह में उनके दर्शन में वे भग सब नेत्र हो जायँगे।" (महा० अनुशा० ३४।२७-२८), "फिर मुनि कुटी में गये तो अहल्या को डरी हुई देखा। उसने कहा कि इन्द्र ने आप ही के रूप से वैसा किया है। मुनि ने कहा, दुष्टे ! तूने जानकर ऐसा नीच कर्म किया है, इससे तू पत्थर की शिला होकर रह, तेरे समीप कोई जीव-जन्तु न रहेंगे। फिर उसके दीन होकर प्रार्थना करने पर अनुग्रह किया कि श्रीरामजी के चरण-रज स्पर्श से तू पूर्व से भी उत्तम रूप पा जायगी।" (स्कन्द पु० ब्राह्मखण्ड, धर्मारण्य माहात्म्य, तथा पद्मपुराण, रामाश्वमेध अ० ३६।१३)। वाल्मीकीय रामायण के उपर्युक्त उभय स्थलों पर शाप प्रसंग में भेद है वह कल्पभेद समझना चाहिये। मैंने रामचरित मानस के अनुसार कथाएँ ली हैं। "इस प्रकार शाप दे गौतम मुनि उस आश्रम को छोड़ कर रमणीक हिमवान् के शिखर पर जा तपस्या करने लगे।" (वाल्मी० १।४८।३४)

(४) 'कृपा करहु रघुबीर'—यहाँ 'दयावीरता' की ओर लक्ष्य कर मुनि उसके उद्धार के लिये कहते हैं। 'रघुवीर' पद में पाँचो वीरताएँ हैं—दो० २०८ में प्रमाण एवं कुछ उदाहरण देखिये। उनमें यहाँ 'दया-वीरता' है। 'त्याग-वीरता', यथा—"पितु आयसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर। बिस्मय हरष न हृदय कछु, पहिरे बलकल चीर॥" (अ० दो० १६५), 'विद्या-वीरता', यथा—"श्रीरघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान।" (लं० दो० ३), 'पराक्रम-वीरता' यथा—"सभय बिलोके लोग सब, जानि जानकी भीर। हृदय न हरष बिषाद कछु, बोले श्रीरघुबीर॥" (दो० २७०), धर्म-वीरता, यथा—"श्रवन सुजस सुनि आयउँ, प्रभु भंजन भव भीर। त्राहि-त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुबीर॥" (सुं० दो० ४५), इत्यादि।

छन्द—परसत पदपावन सोकनसावन प्रगट भई तपपुंज सही।
देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइ कर जोरि रही॥
अति प्रेम-अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवइ बचन कही।
अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही॥

अर्थ—पावन और शोकों के नाश करनेवाले श्रीरामजी के चरण का स्पर्श होते ही ठीक तपःपुंज (तपोमूर्त्ति वा तेजःपूर्ण) वह स्त्री अहल्या प्रकट हो गई। भक्तों को सुख देनेवाले रघुकुल के स्वामी श्रीरामजी को देखकर सामने हो हाथ जोड़े खड़ी रह गई॥ वह अत्यन्त प्रेम से विह्वल हो गई, शरीर पुलकित हो गया और उसके मुख से वचन नहीं निकलते थे। वह अत्यन्त भाग्यशालिनी है। अतः, श्रीरामजी के चरणों में लग गई, उसके दोनों नेत्रों से आँसुओं की धाराएँ बह रही हैं।

विशेष—'छन्द'—यह त्रिभंगी (मात्रिक) छन्द है। इसका प्रत्येक चरण ३२ मात्राओं का होता है। १०,८,८,६ मात्राओं पर विश्राम होते हैं और अन्तिम वर्ण गुरु होता है।

(१) 'परसत पद पावन सोकनसावन'—पावन गुण से उसके पाप नष्ट हुए और 'सोकनसावन' से पति-वियोग एवं शाप-से उत्पन्न शोक दूर हुआ, यथा—"प्रबल पाप पतिसाप दुसह दव दारुन जरनि जरी। कृपा सुधा सींची बिबुधबेलि ज्यों फिरि सुख-फरनि फरी॥" (गी० बा० ५५)। पाप कारण और शोक कार्य है, यथा—"करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक बियोग।" (उ० दो० १००)। अतः, एक गुण से कारण और दूसरे से कार्य भी निवृत्त किया। श्रीरामजी के नाम, रूप, लीला और धाम, चारो पावन हैं—"परसत पद पावन"—रूप, "तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघ पूग नसावन॥" (उ० दो० ९१)—नाम, "जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ गाइ भवनिधि नर तरिहहिं॥" (लं० दो० ६४)—लीला, "बंदउँ अवधपुरी अति पावनि।" (दो० १५)—धाम।

'तपपुंज सही'—अहल्या ने शाप से पूर्व गौतम के साथ तप किया था, यथा—"स चात्र तप अतिष्ठदहल्या सहितः पुरा। वर्षपूगान्यनेकानि···" (बाल्मी० १।४८।१६)। अतः, अहल्या तपोधन-पूर्ण तेजोमयी थी। शाप होने से निस्तेज पाषाण हो गई थी। शाप-निवृत्त होने पर ठीक पूर्ववत् तेजःपुंज रूप से प्रकट हुई। 'सही' शब्द पूर्व की रूपतुल्यता के प्रति है, यथा—"स्वंवपुर्धारयिष्यसि" (बाल्मी० १।४८।३२), अर्थात् शाप मुक्त होने से अपने पूर्व रूप को पावेगी, तथा—"सिला छोर छुवत अहल्या भई दिव्य देह गुन पेखे पारस के पंकरुह पाय के॥" (गी० बा० ६५), "राम-पद-पदुम पराग परी। रिपितिय त्यागि तुरत पाहन-तन छविमय देह धरी॥" (गी० बा० ५५), "परत पद पंकज रिषिरवनी। भई है प्रगट मानो दिव्य देह धरि जनु त्रिभुवन छवि छवनी॥" (गी० बा० ५६)। अतः, तपपुंज = प्रकाशमय, यथा—"बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।" (उ० दो० ८९)।

(२) 'सनमुख होइ···', यथा—"निगम-अगम मूरति महेस-मति जुबति बराय बरी। सोइ मूरति भइ जानि नयन-पथ इकटक ते न टरी॥" (गी० बा० ५५)।

(३) 'अति प्रेम अधीरा···'—चरण-स्पर्श से शापमुक्त होने पर प्रेम और प्रत्यक्ष दर्शनों के कारण अति प्रेम से अधीर हो गई, इसीसे इसने प्रणाम नहीं किया, क्योंकि देह की सुधि ही न रही। 'अति प्रेम अधीरा' से मन, 'पुलक सरीरा' से तन, 'नहिं आवइ बचन कही' से वचन की अधीरता प्रकट है।

(४) 'अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी···'—जप-तप आदि सुकृतवाले भागी, श्रीराम-चरणों में अनुरागवाले बड़भागी और जिसपर स्वतः श्रीरामजी कृपा करें, वह 'अतिसय बड़भागी' है, यथा—"जे

गुरुपदअंबुज अनुरागी। ते लोकहु बेदहु बड़ भागी॥ राउर जापर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू॥" (अ० दो० २५८)। श्रीरामचरणों के अनुरागी को सातो काण्डों में बड़-भागी कहा गया है—"ते पद पखारत भागभाजन जनक जय जय सब कहैं।" (दो० ३२४), "नाथ कुसल पद पंकज पेखे। भयउँ भागभाजन जन लेखे॥" (अ० दो० ८७), "भूरि भागभाजन भयो,···जो तुम्हरे मन छाड़ि छल, कीन्ह रामपद ठाउँ॥" (अ० दो० ७४), "परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी॥" प्रेम-मगन मुनिवर बड़-भागी॥" (अर० दो० ९), "सोइ गुनज्ञ सोई बड़भागी। जो रघुबीर-चरन-अनुरागी॥" (कि० दो० २२), "अहोभाग मम अमित अति, रामकृपा सुखपुंज। देखेउँ नयन बिरंचि सिव, सेव्य जुगल पद कंज॥" (सु० दो० ४७), "बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन-कमल चापत बिधि नाना॥" (लं० दो० १०), "अहह धन्य लछिमन बड़भागी। रामपदारबिंद-अनुरागी॥" (उ० दो० १)।

धीरज मन कीन्हा प्रभु कहँ चीन्हा रघुपतिकृपा भगति पाई।
अति निर्मल बानी अस्तुति ठानी ज्ञानगम्य जय रघुराई॥
मैं नारि अपावन प्रभु जगपावन रावनरिपु जन-सुखदाई।
राजीवबिलोचन भव-भय-मोचन पाहि पाहि सरनहिं आई॥

अर्थ—मन में धैर्य धारण कर उसने प्रभु को पहचाना और रघुनाथजी की कृपा से उसे भक्ति प्राप्त हुई। अत्यन्त निर्मल वाणी से वह स्तुति करने लगी—ज्ञान से गम्य (जानने योग्य) रघुनाथजी! आपकी जय हो॥ मैं अपवित्र स्त्री हूँ और हे प्रभो! आप जगत् को पावन करनेवाले, रावण के शत्रु और अपने भक्तों को सुख देनेवाले हैं। हे लाल कमल के समान नेत्रोंवाले! हे संसार के डर को छुड़ानेवाले! मैं आपकी शरण में प्राप्त हूँ, मेरी रक्षा कीजिये, मेरी रक्षा कीजिये॥

विशेष—'धीरज मन कीन्हा···'—जब श्रीरामजी ने कृपा की और अपनी भक्ति दी, तब इसे धैर्य हुआ और इसने प्रभु को पहचाना, तब चरण पकड़ लिये। अतः, वक्ता लोग इसका भाग्य सराहने लगे। धैर्य होने से उपर्युक्त मन, तन और वचन की अधीरता निवृत्त हुई, यथा—'धीरज मन कीन्हा'—मन, 'चरनन्हि लागी'—तन (कर्म), 'अस्तुति ठानी'—वचन। 'प्रभु कहँ चीन्हा'—पहले राजकुमार समझ रही थी। धैर्य होने से गौतम के वचन स्मरण हुए तब प्रभु समझा। विश्वामित्र की कृपा से चरण-स्पर्श हुआ, क्योंकि उन्होंने कथा कही थी। और श्रीरामजी की कृपा से भक्ति मिली। कृपासाध्य भक्ति श्रेष्ठ है।

(२) 'अति निर्मल बानी···'—चरण-स्पर्श से निर्मल और भक्ति पाने से अति निर्मल हृदय के अनुसार वाणी भी 'अति निर्मल' हो गई, यथा—"प्रेम-भगति-जल-बिनु रघुराई। अभिअंतर-मल कबहुँ कि जाई॥" (उ० दो० ४८)। 'ठानी'—देर तक की, यथा—"रोदन ठाना" (दो० १९१)। 'ज्ञान गम्य'—आप ज्ञान से जाने जाते हैं और मैं अज्ञ हूँ, यथा—"नारि सहज जड़ अज्ञ" (दो० ५७), अर्थात् आपकी कृपा से ही मुझे आपका ज्ञान हुआ, यथा—"तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन। जानहिं भगत···" (अ० दो० १२६)। प्रभु के ज्ञान के साथ ही इसे त्रिकाल का भी ज्ञान हुआ, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान होने पर कुछ जानना शेष नहीं रह जाता, क्योंकि जीव और माया उनके ही शरीर हैं।

(३) 'मैं नारि अपावन···'—आप जगत् भर को पावन करने में समर्थ हैं। अतः, मुझे भी पावन कर लिया। रावण को मारकर भक्तों को सुख देंगे। भविष्य की बात प्रथम कहने में यहाँ भाविक अलंकार है। इसे त्रिकाल का ज्ञान हो गया, इससे कहा।

(४) 'राजीवबिलोचन भव'''—राजीवलोचन विशेषण प्रायः रक्षा के प्रसंग में ही आता है, यथा—"राजिवनयन धरे धनुसायक। भगत-बिपति-भंजन सुखदायक ॥" (दो० १७)।

'सरनहिं आई' अर्थात् शरण में प्राप्त हूँ, क्योंकि प्रपत्ति में विश्वास आना मुख्य है। अतः, 'आई' कहा।

मुनि स्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना।
देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहइ लाभ संकर जाना॥
बिनती प्रभु मोरी मैं मतिभोरी नाथ न माँगउँ बर आना।
पद-कमल-परागा-रस अनुरागा मम मन मधुप करइ पाना॥

अर्थ—मुनि (गौतम) ने जो शाप दिया था, वह बहुत ही अच्छा किया। मैं उसे उनकी अत्यन्त दया मानती हूँ कि मैंने संसार के छुड़ानेवाले भगवान् को आँखें भरकर देखा। इसीको शिवजी भी लाभ समझते हैं॥ हे प्रभो! मैं बुद्धि की भोली हूँ। हे नाथ! मैं और कोई दूसरा वर नहीं माँगती, मेरी यही प्रार्थना है कि आपके चरण-कमल के रज के अनुराग-रूपी रस को मेरा मन रूपी भौंरा पान किया करे॥

विशेष—(१) 'मुनि स्राप जो '''—जिस किसी भी उपाय एवं संयोग से भगवान् के दर्शन हों, वही परम लाभ एवं परम अनुग्रह है, यथा—"लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी॥" (अ० दो० १०६), "बालि परमहित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥" (कि० दो० ६), "रामहिं चितव सुरेस सुजाना। गौतम-स्राप परमहित माना॥" (दो० ३१६)। इसीसे मैंने शाप देने को अति भला करना और तत्सम्बन्धी क्रोध को अनुग्रह मान लिया एवं तत्सम्बन्धी अनुग्रह करने को परम अनुग्रह मान लिया।

(२) 'हरि भवमोचन'—पूर्व कृपा-दृष्टि से भक्ति देकर भव-भय छुड़ाने में 'राजीव''''' कहा था और यहाँ आपके दर्शनों से भव छूटना कहा, इसे कल्याणकर लाभ कहा। साथ ही शिवजी का उदाहरण भी दिया, यथा—"निगम अगम मूरति'''" (गी० बा० ५५), अर्थात् शिवजी बराबर ध्यान ही किया करते हैं, क्योंकि यही उनका परम लाभ है। यहाँ 'अनुज्ञा-अलंकार' है, क्योंकि शाप को परम अनुग्रह मान रही है।

(३) 'बिनती प्रभु मोरी'''—'मोरी' अर्थात् अभी तक तो आप गौतम के अनुग्रह एवं गुरु की आज्ञा के अनुसार किया, अब मेरी प्रार्थना सुनिये। मैं मति की भोरी होने से शास्त्रों के मत-मतान्तरों को नहीं जानती, इससे 'आना' अर्थात् दूसरा वर नहीं माँग सकती, किन्तु जो स्वयं कृपा करके आपने दिया है—"रघुपति-कृपा भगति पाई।" बस, वही दृढ़ कर दीजिये, वह इस तरह—

(४) 'पद कमल परागा '—जैसे भ्रमर पराग में लोटता है और रस पीता है तथा उसीको वह परम लाभ मानता है, वैसे मेरा मन आपके पद-कमल में अनुराग-पूर्वक लुभाया रहे, यथा—"राम-चरन-पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥" (दो० १६), तथा—"तवामृतस्यन्दिनि पाद-पङ्कजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति। स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षते॥" (आलवंदार स्तोत्र)।

यहाँ अहल्या दिव्य शरीर एवं दिव्य बुद्धि पाने पर जो वर माँग रही है, वही आत्मविषयिनी सदसद्विवेकिनी बुद्धि का कर्त्तव्य है, यथा—"सहस सिला ते अति जड़ मति भई है। कासों कहौं कौने गति पाहनहि दई है॥" (वि० १८१, 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये।) पद-कमल-पराग में मन मधुप बनाने की

रीति एवं निष्ठा दृढ़ता "श्रीरामचंद्र कृपालु भजु मन···" (वि० ४५), इस पूरे पद के 'सिद्धान्त तिलक' में देखना चाहिये। यहाँ विस्तार भय से नहीं लिखा।

जेहि पद सुरसरिता परमपुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी।
सोई पदपंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी॥
येहि भाँति सिधारी गौतमनारी बार - बार हरि-चरन परी।
जो अति मन भावा सो बर पावा गइ पतिलोक अनंद भरी॥

दोहा—अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारनरहित कृपाल।
तुलसिदास सठ तेहि भजु, छाड़ि कपट जंजाल॥२११॥

अर्थ—जिस चरण से परम पवित्र गंगाजी प्रकट हुईं और शिवजी ने उन्हें सिर पर धारण किया। जिसकी ब्रह्माजी पूजा करते हैं वही चरण-कमल कृपालु भगवान् ने मेरे सिर पर रक्खा॥ इस प्रकार बार-बार भगवान् के चरणों पर पड़कर और जो मन को बहुत भाया था वही वरदान पाकर, गौतम की स्त्री चली और आनन्द में भरी हुई अपने पति के लोक को चली गई॥ समर्थ श्रीरामजी ऐसे दीनों के सहायक, दुःख हरनेवाले और बिना कारण ही कृपा करनेवाले हैं। हे शठ तुलसीदास! कपट और जंजाल छोड़कर उन्हीं प्रभु का भजन कर॥२११॥

विशेष—(१) 'जेहि पद सुरसरिता···'—जब भगवान् ने वामन-रूप से अवतार लिया और बलि से तीन पैर भूमि दान में लेते हुए, उसके नापने के लिये विशाल रूप हुए तब अपना दूसरा चरण सत्यलोक तक पहुँचा दिया। वहाँ ब्रह्माजी ने चरण धोकर उसे कमण्डल में रख लिया और चरण की पूजा की। वही परम पुनीत जल आकाशगंगा हुआ, यथा—"धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य पादावनेजन-पवित्रतयानरेन्द्र। स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्त्तिः॥" (भाग० ८।२१।४), अर्थात् हे राजेन्द्र! भगवान् उरुक्रम के पादप्रक्षालन से परम पवित्र हुआ वह ब्रह्माजी के कमण्डलु का जल ही श्रीगंगाजी हुईं, जो मानो भगवान् की पवित्र कीर्त्ति ही हैं। आकाश से पृथ्वी पर गिरती हुई तीनो लोकों को पवित्र करती हैं। फिर आराधना से ब्रह्माजी-द्वारा भगीरथ को प्राप्त हुआ। भगीरथ के तप से प्रसन्न होकर शिवजी ने गंगाजी को अपनी जटा में धारण किया, यथा—"गंगा भागीरथी शुभा।···तां धारयामास तदा दुर्धरा पर्वतैरपि॥ शतं वर्षसहस्राणां शिरसैव पिनाकधृक्।" (महा० भीष्म० ६।२९-३१), अर्थात् शिवजी ने सौ हजार (१ लाख) वर्ष सिर पर रक्खा। गंगाजल की पवित्रता शास्त्रों में तो प्रसिद्ध ही है। यह प्रत्यक्ष भी है कि उसमें कीड़े नहीं पड़ते और विज्ञान से सिद्ध है कि गंगाजल पड़ने से अनेक भयंकर रोगों के कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं।

ब्रह्माजी और शिवजी ने धोवन को ही पाया और मैं तो साक्षात् चरण ही पा गई, इस परम उपकार की कृतज्ञता प्रकट करते हुए, अहल्या बार-बार चरणों पर पड़ी, यथा—"मो पहि होइ न प्रति उपकारा। बंदउ तव पद बारहिं बारा॥" (उ० दो० १२४)।

'बर पावा'—गुरुजी पास खड़े हैं, इससे रामजी ने आत्मश्लाघा बचाने के लिये 'एवमस्तु' नहीं कहा, पर मन से वर दे दिया। उसीको वक्ता लोगों ने औरों को जना दिया। 'अनंद-भरी'—शाप से मुक्त हुई, अविरल भक्ति पाई, पति की प्राप्ति हुई—आदि आनन्द की बातों को हृदय में भरे हुई है। 'गइ पति-लोक'—"गौतम मुनि हिमवान् पर तप करते थे। वहीं से यहाँ का हाल जानकर आये और अहल्या

के विधिवत् पूजन करने के साथ स्वयं भी श्रीरामजी की विधिवत् पूजा की। अहल्या को पाकर सुखी हुए। फिर उसके साथ विधिपूर्वक तप करने चले गये।" (वाल्मी० १।४९।१८–२१), यथा—"गौतम सिधारे गृह गौनो सो लिवाइ कै।" (क० अ० ९), "राम के प्रसाद गुरु गौतम खसम भये···" (गी० बा० ६५)। "तुलसी ह्वै बिसोक पति-लोकहिं प्रभु गुन गनत गई।" (गी० बा० ५७)।

उपक्रम—'अतिसय बड़ भागी चरनन लागी।' है। उपसंहार—"एहि भाँति सिधारी·····बार-बार हरि चरन परी॥"

(२) 'अस प्रभु दीनबंधु ·····'—अहल्या को पति और पुत्र सभी ने त्याग दिया था। रामजी ने ऐसी दीना के शोक का हरण किया और उत्तम आचरण से रहित व्यभिचारिणी पर स्वयं जाकर कृपा की। अतः, 'कारन रहित-कृपाल' कहा है, यथा—"और भूप परखि सुलाखि तौलि ताइ लेत, लसम के खसम तुही पै दसरत्थ के।" (क० उ० २४), "कारुनीक बिनु कारन ही हरि, हरहु सकल भव भीर।" (वि० १४४)।

(३) 'तुलसिदास सठ·····'—श्रीगोस्वामीजी अपने को धिक्कारते हुए औरों को शिक्षा देते हैं। इसीको पूर्व कहा था—"आरति बिनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुबारि न थोरी॥" (दो० ४२)।

'कपट' भीतर का दुराव। 'जंजाल' बाहर का प्रपंच, यथा—"गृह-कारज नाना जंजाला। तेइ अति दुर्गम सैल बिसाला॥" (दो० ३७)। 'सठ' अर्थात् जड़। भाव यह कि क्या तू पत्थर से भी अधिक जड़ है? देख, शिला दिव्यरूपा हो गई, क्या तेरा सुधार न होगा? तू भी क्यों नहीं शुद्ध हृदय से एवं सब बाहरी आडम्बर छोड़-छाड़कर भजन करता है?

अहल्योद्धार-प्रकरण समाप्त।

श्रीमिथिला-यात्रा-प्रकरण

चले राम लछिमन मुनि संगा। गये जहाँ जगपावनि गंगा॥१॥
गाधिसूनु सब कथा सुनाई। जेहि प्रकार सुरसरि महि आई॥२॥
तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाये। बिबिध दान महिदेवन्ह पाये॥३॥
हरषि चले मुनि-बृंद-सहाया। बेगि बिदेहनगर नियराया॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी मुनि के साथ चल पड़े और जहाँ सारे जगत् को पवित्र करनेवाली गंगाजी हैं, वहाँ पहुँच गये॥१॥ राजा गाधि के पुत्र श्रीविश्वामित्रजी ने वह सारी कथा उनको कह सुनाई कि जिस तरह देवनदी गंगाजी पृथ्वी पर आईं॥२॥ तब प्रभु श्रीरामजी ने ऋषियों के साथ स्नान किया। ब्राह्मणों ने तरह-तरह के दान पाये॥३॥ मुनि-समूह के सहायक श्रीरामजी हर्षित होकर चले और शीघ्र ही जनकनगर से समीप पहुँच गये।

विशेष—(१) 'चले राम लछिमन···'—सिद्धाश्रम से चलने पर अहल्या के उद्धार के लिये रुकना पड़ा था। अतः, फिर चलना कहा गया। क्रम भी यही है—आगे मुनि हैं, उनके पीछे श्रीरामजी तब लक्ष्मणजी।

शंका—जहाँ-जहाँ चलना कहा गया है, वहाँ-वहाँ हर्ष भी कहा गया है, यथा—"हरषि चले मुनि-भय-हरन।" (दो० २०८), "हरषि चले मुनिबर के साथा।" (दो० २०९), तथा यहीं पर आगे भी—"हरषि चले मुनिबृंद·····"—कहा है। पर, केवल यहीं 'हर्ष' शब्द नहीं है, यह क्यों?

समाधान—भगवान् का यह अवतार मर्यादा-पुरुषोत्तम का है और अहल्या ब्राह्मणी है, उसे पैर से छूना पड़ा, जो क्षत्रिय राजकुमार के लिये अनुचित है। अतः, माधुर्य दृष्टि से ग्लानि है, इसीसे हर्ष नहीं लिखा गया, यथा—"सिला साप संताप बिगत भइ, परसत पावन पाउ। दई सुगति सो न हेरि हरष हिय, चरन छुए पछिताउ॥" (वि० १००)। गंगाजी जगत्पावनी हैं। अतः, इनको भी पावन (चिन्तारहित) करेंगी, इसलिये गंगा-स्नान के लिये 'मुनि संगा' अर्थात् मुनि लिवा गये। माहात्म्य सुनकर स्नान-दान से शुद्ध होंगे, तब तुरत ही हर्ष से चलेंगे, यथा—"हरषि चले मुनिबृंद सहाया" (उपर्युक्त)। यह माधुर्य का भाव है।

(२) 'गाधिसूनु सब कथा'''—मुनि नित्य ही भक्ति के लिये स्वयं कथा सुनाया करते थे, पर आज प्रभु के पूछने पर सुनाई। 'गाधिसूनु' कहने का भाव यह कि वाल्मी० १।३२-३४ में लिखा है—मुनि के साथ श्रीरामजी शोण (सोन) नदी के किनारे रात्रि में रहे तो श्रीरामजी के पूछने पर मुनि ने अपने कुल का पूरा वृत्तान्त कहा है। तब उसके पश्चात् सर्ग ३५ से गंगाजी की कथा प्रारम्भ की है। वैसे यहाँ 'गाधिसूनु' शब्द से ध्वनित है कि मुनि ने अपने वंश की कथा सुनाई, तब गंगाजी की कथा कही जो 'जेहि प्रकार'''' से स्पष्ट है। क्योंकि, अन्यत्र कथा कहने में मुनि को मुनि, विप्र, ऋषि आदि कहते थे, यथा—"बूझत प्रभु सुरसरि-प्रसंग, कहि निज-कुल-कथा सुनाई। गाधिसुवन'''" (गी० बा० ५३)।

'जेहि प्रकार सुरसरि महि आई।'—भाव यह कि गंगाजी देव-नदी हैं, तब पृथ्वी पर क्योंकर आईं? कथा—"इक्ष्वाकु-वंश में राजा सगर हुए। इनके दो रानियाँ थीं—केशिनी और सुमति। केशिनी के पुत्र असमंजस हुए और उनके पुत्र अंशुमान्। सुमति के साठ हजार पुत्र हुए। असमंजस पुरजनों के खेलते समय बालकों को मारकर सरयूजी में फेंक देते थे। प्रजा को पीड़ा पहुँचाने के कारण असमंजस को राजा सगर ने निकाल दिया। (भाग० ९।८।१८-१९ में कहा गया है कि पिता के द्वारा निकाले जाने पर असमंजस ने प्रजा के बालकों को योगबल से जिला दिया, यह देखकर प्रजा को आश्चर्य और राजा सगर को पश्चात्ताप हुआ। तब यह जाना कि उन्होंने वन जाने के लिये ही वैसा किया था।) राजा सगर ने अश्वमेध यज्ञ के लिये घोड़ा छोड़ा। इन्द्र ने घोड़ा चुराकर कपिल मुनि के आश्रम में बाँध दिया। सगर ने साठ हजार पुत्रों को घोड़ा खोजने के लिये भेजा। उन्होंने खोजते-खोजते पाताल में कपिल मुनि के समीप घोड़े को बँधा देखा। मुनि ध्यान में थे। इनलोगों ने 'चोर-चोर' कहकर हल्ला किया। मुनि की आँखें कोलाहल से खुल गईं। अपमान के कारण मुनि के क्रोध से वे सब भस्म हो गये। फिर सगर ने अंशुमान को भेजा। इन्होंने वहाँ आकर गरुड़ से हाल जाना। गरुड़ ने ही कहा कि ये गंगाजी के द्वारा उद्धार पावेंगे। इसका उपाय करना। घोड़ा लेकर अंशुमान् आये और सगर से सारा हाल बतलाया। सगर के बाद अंशुमान् राजा हुए। अंशुमान् पुत्र दिलीप को राज्य दे गंगा लाने के लिये ३२०० वर्ष तक तप कर स्वर्ग गये। राजा दिलीप को पितरों के तारने की चिन्ता बनी ही रही। वे भी कृतकार्य न हो सके। फिर उनके पुत्र भगीरथ ने बिना पुत्र हुए ही मन्त्रियों को राज्य सौंपकर तप करना प्रारम्भ किया। १००० वर्ष बीतने पर ब्रह्मा आये और वर देना चाहा। इन्होंने गंगाजी को माँगा और पुत्र भी। ब्रह्मा ने वर देकर कहा कि गंगा को धारण करने के लिये शिवजी को प्रसन्न करो। एक वर्ष के कठिन तप से शिवजी प्रसन्न हुए और गंगाजी के आने पर उनका वेग धारण किया। गंगाजी का गर्व देख शिवजी ने सवेग उन्हें अपनी जटा में ही छिपा लिया। बहुत वर्षों के पश्चात् भगीरथ की बड़ी तपस्या पर प्रसन्न हुए। (महा० भीष्म० ६।३०-३१ में कहा है कि एक लाख वर्षों तक गंगाजी जटा में ही रह गई थीं)। फिर शिवजी ने तपस्या से प्रसन्न हो धारा छोड़ी, तो आगे-आगे रथ पर भागीरथ चले और पीछे-पीछे गंगाजी चलीं। मार्ग में जह्नु ऋषि ने यज्ञ में बाधा होने पर गंगाजी का गर्व देख इनका सब जल पी गये। तब देवता एवं ऋषियों की स्तुति पर जह्नु ने कानों से निकाल दिया, तबसे गंगा

का जाह्नवी नाम हुआ। उसके बाद सगर-पुत्रों की राख पर पहुँचीं, इनसे उन सबका उद्धार हुआ ॥" (वाल्मी० १।३५-४४)। पृथ्वी पर यह गंगोत्तरी से निकलती हैं। मन्दाकिनी, अलकनन्दा आदि से मिलती हुई, हरद्वार के पास पथरीले मैदान में उतरती हैं। फिर प्रयाग, काशी, कलकत्ता होती हुई गंगासागर में समुद्र में मिलती हैं।

(३) 'तब प्रभु रिषिन्ह समेत'''—'तब' अर्थात् माहात्म्य सुनकर स्नान किया, क्योंकि इससे प्रीति और श्रद्धा होती है, तब मनोरथ सफल होता है और सुनने से विधि भी जानी जाती है।

'रिषिन्ह समेत'—अर्थात् सब कृत्य ऋषियों के साथ ही करते हैं, यथा—"हरषि चले मुनिबर के साथा।" "उतरे तहँ मुनि-बृंद समेता।" "रिषय संग रघुबंसमनि, करि भोजन बिश्राम।" "पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला। देखन चले'''" इत्यादि। वैसे यहाँ साथ ही स्नान किया और 'बिबिध दान' भी स्वयं दिये एवं ऋषियों से भी दिलवाये, यथा—"पुनि प्रभु आइ त्रिबेनी, हरषित मज्जन कीन्ह। कपिन्ह सहित बिप्रन्ह कहँ, दान बिबिध बिधि दीन्ह॥" (लं० दो० १२०)। जब वानरों से दान दिलाये, तब मुनियों से क्यों नहीं दिलाते? हाँ, इतना भेद है कि वहाँ वानरों के साथ 'दीन्ह' कहा गया है, क्योंकि पुष्पक बिमान रत्नों से भरा था और यहाँ 'पाये' शब्द है अर्थात् संकल्प कर दिया गया और कह दिया गया कि अयोध्याजी में जाकर लें। प्रसिद्ध श्रीमानों एवं राजाओं की रीति भी यही है। यह भी कहा जाता है कि पिताजी की जगह विश्वामित्र हैं, सिद्धियाँ उनकी दासी हैं तो दान के लिये क्या कमी है? बिबिध= गाय, स्वर्ण, रत्न, वस्त्र आदि के दान।

(४) 'बेगि बिदेहनगर'''—मार्ग में दो जगह ठहरना पड़ा था—एक जगह अहल्या-उद्धार में और दूसरी जगह गंगा-तट पर। गंगा-माहात्म्य आदि कथाओं के सुनने से रास्ता चलना नहीं जान पड़ा। शीघ्र ही मिथिला के निकट आ गये। अथवा उस समय की चाल से मिथिला निकट ही थी।

पुररम्यता राम जब देखी। हरषे अनुज - समेत बिसेषी॥५॥
बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधासम मनिसोपाना॥६॥
गुंजत मंजु मत्त रस भृंगा। कूजत कल बहुबरन बिहंगा॥७॥
बरन - बरन बिकसे बनजाता। त्रिबिध समीर सदा सुखदाता॥८॥

दोहा—सुमन-बाटिका बाग बन, बिपुल बिहंगनिवास।
फूलत फलत सुपल्लवत, सोहत पुर चहुँ पास॥२१२॥

अर्थ—श्रीरामजी ने जब जनकपुर की शोभा देखी, तब भाई के साथ बड़े प्रसन्न हुए॥५॥ अनेक बावलियाँ, कुँए, नदियाँ और सरोवर हैं, जिनमें अमृत के सदृश, जल और मणियों की सीढ़ियाँ हैं॥६॥ पुष्प-रस पीकर भौंरे मतवाले होकर मनोहर गुंजार कर रहे हैं। बहुत रंग-बिरंग के पक्षी सुन्दर शब्द कर रहे हैं॥७॥ रंग-बिरंग के कमल खिले हुए हैं। शीतल, मन्द, सुगन्धित—तीन प्रकार का पवन बहकर सदा सुख देता है॥८॥ फुलवारी, बाग और वन हैं उनमें बहुत-से पक्षी रहते हैं। वे फूलते-फलते और सुन्दर पत्तों से सम्पन्न नगर के चारो ओर सुशोभित हैं॥२१२॥

विशेष—(१) 'पुर-रम्यता राम'''—श्रीरामजी के आनन्दित होने से रम्यता (शोभा) सराहनीय है, यथा—"परम रम्य आराम यह, जो रामहिं सुख देत॥" (दो० २२७)। यहाँ 'हरषे' में मुनिबृंद को साथ नहीं कहा, क्योंकि राजसी पदार्थ देखने का सम्बन्ध है और मुनि लोग सात्त्विक होते हैं। इन्हें श्रीराम-सम्बन्धी एवं सात्त्विक वस्तुओं से ही प्रसन्नता होती है। जैसे लंका में श्री हनुमानजी को "रामा-

युध अंकित गृह···"—आदि ही से हर्ष हुआ। राजकुमारों को राजसी पदार्थ से हर्ष होना योग्य है। प्रथम—"धनुष-जज्ञ सुनि···हरषि चले·····" (दो० २०९), अर्थात् वहाँ मुनि से पुर का वर्णन सुनकर हर्ष हुआ था। यहाँ आकर उससे कहीं अधिक देखा। अतः, विशेष हर्ष हुआ। जब बाहर की यह शोभा है तो भीतर की तो अपूर्व ही होगी, इससे आगे भीतर नगर देखने की लालसा होगी और देखने जायँगे भी।

(२) 'बापी कूप···'—सीढ़ियाँ सब में हैं—बावलियों में नीचे उतरने को, कुँए में जगत पर चढ़ने को और नदी-तालाबों में घाटों को। आज दिन भी जनकपुर में अन्यत्र की अपेक्षा सरोवर बड़े-बड़े और बहुत हैं—विहार कुण्ड, अग्निकुण्ड, रतन सागर, गंगा सागर, आदि।

'गुंजत मंजु मत्त···'—यहाँ भौंरे और पक्षी जल-सम्बन्धी हैं।

'त्रिबिध समीर सदा···'—क्योंकि यहाँ सदा वसन्त ऋतु लुभाई हुई रहती है। इसीसे सदा सुख देना कहा है। पुनः यहाँ पाँचो विषय प्राप्त रहते हैं—'कूजत कल···'—शब्द, जो कान का विषय है, 'त्रिविध समीर···'—इसमें त्वचा का स्पर्श और नासिका का गन्ध—दोनों विषय हैं। 'सलिल सुधासम'—रस, जो जिह्वा का विषय है। कमल आदि के रंग-विरंग की सुन्दरता में नेत्र का रूप विषय है। इसीसे 'सदा सुखदाता' कहा गया है।

(३) 'सुमन-बाटिका बाग वन,···'—वृक्षों में दल, फल, फूल तीन सम्पत्तियाँ होती हैं। यहाँ तीनों की पूर्णता है—फुलवारी में फूल की, बाग में फल की और वन से पल्लव की शोभा है। यथासंख्य अलंकार है। पुर के भीतर की ओर से प्रथम चारो तरफ एक आवृत्ति फुलवारी की, फिर बाग की और तब वन की है। वाटिका आदि से पुर की शोभा है और पुर से इनकी शोभा है अर्थात् शोभा अन्योन्य सापेक्ष्य है।

'बिपुल बिहंग'—ये पक्षी स्थल के हैं—पूर्व जल के कहे गये थे। भौंरे यहाँ नहीं कहे गये, क्योंकि जो जल के प्रसंग में कहे गये हैं, वे ही स्थल के भी हैं—एक ही जाति के भ्रमर सर्वत्र होते हैं।

बनइ न बरनत नगर निकाई। जहाँ जाइ मन तहँइ लोभाई ॥१॥
चारु बजार बिचित्र अँबारी। मनिमय बिधि जनु स्वकर सँवारी ॥२॥
धनिक बनिक बर धनद समाना। बैठे सकल बस्तु लै नाना ॥३॥
चौहट सुंदर गली सुहाई। संतत रहहिं सुगंध सिंचाई ॥४॥
मंगलमय मंदिर सब केरे। चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे ॥५॥

शब्दार्थ—अँबारी = दोनों तरफ की दूकानों की पंक्ति वा छज्जा। चौहट—चौक। चित्रित = चित्र कढ़े हुए। चितेरा = चित्रकार, चित्र बनानेवाला। निकाई = सुन्दरता।

अर्थ—नगर की सुन्दरता तो कहते नहीं बनती, (क्योंकि) मन जहाँ जाता है, वहीं लुभा जाता है॥ ॥ सुन्दर बाजार हैं, मणिजटित (एवं मणि-सज्जित) विचित्र अंबारी है, मानों उन्हें ब्रह्माजी ने अपने हाथों से रचकर बनाया है ॥२॥ (श्रेष्ठ) कुबेर के समान अनेक श्रेष्ठ धनी बनिये सभी प्रकार की वस्तुएँ लेकर (दूकानों को सजाए हुए) बैठे हैं ॥३॥ सुन्दर चौकें और सुहावनी गलियाँ सदा सुगन्ध (अरगजा आदि) से सींची हुई रहती हैं ॥४॥ वहाँ सभीके घर मंगलमय हैं, उनमें चित्र कढ़े हुए हैं—वे मानों कामदेव-रूपी चित्रकार के बनाये हुए हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'बनइ न बरनत···'—बाहर के वन आदि कहे हैं, किन्तु नगर की सुन्दरता कहते नहीं बनती, क्योंकि मन की अधीनता में वाक् आदि इन्द्रियों के कार्य होते हैं। वही मन लुभा जाता है

तो कैसे कहा जाय ? मन सावधान हो, तब न कहते बने ! यथा—"सावधान मन करि पुनि संकर । लागे कहन कथा अति सुंदर ॥" (सु० दो० ३२) । आगे कहते क्यों हैं ? इसका समाधान यह है कि वह तो कुछ अंशों का दिग्दर्शन मात्र है ।

यह वर्णन वक्ताओं की ओर से है, क्योंकि आगे जब नगर देखने के लिये राजकुमार प्रवेश करेंगे तब वहाँ की सखियों के संवाद कहे जायँगे । नगर-वर्णन का अवसर नहीं मिलेगा । इसलिये यहाँ ही वर्णन करते हैं । अभी राजकुमारों ने नगर की बाहरी ही शोभा देखी है । किनारे से जाकर बगीचे में ठहरेंगे । जब जनकजी स्वयं आकर आदर से लिवा जायँगे, तब नगर में प्रवेश करना उचित होगा । यदि कहा जाय कि भीतर होकर ही गये हैं, तभी नगर-वर्णन हुआ है, तो सम्भव नहीं, क्योंकि आगे अपरिचित कुमारों के प्रवेश करने से तो कोलाहल मच जायगा और यहाँ जगत्प्रसिद्ध मुनि विश्वामित्र के साथ जाते, तो क्या यों ही चले जाते ? अतः, यह वर्णन ग्रन्थकार एवं वक्ताओं का है ।

(२) 'चारु बजार बिचित्र···'—'बिचित्र'—रंग-विरंग की मणियाँ जड़ी हैं एवं दूकानों में दोनों ओर रंग-रंग के मणिमय पदार्थ रक्खे हुए हैं । इससे अंबारियाँ विचित्र हैं ।

'बिधि जनु···'—ब्रह्मा मन के संकल्प से सृष्टि करते हैं । जिस वस्तु को वे हाथ से सँवारकर बनावेंगे, उसमें अवश्य ही उत्तमता होगी ।

(३) 'धनिक बनिक बर ···'—'बर' शब्द दीपदेहली है । धनिक वणिक् का ही विशेषण है, यहाँ हाट है, इसमें बनिये ही रहते हैं । वे नाना प्रकार की वस्तुएँ ले-लेकर बैठे हैं । कोई वस्तु ऐसी नहीं जो वहाँ न मिले । यद्यपि वे श्रेष्ठ कुबेर के समान हैं, तथापि वर्णधर्म-निष्ठ होने से व्यवसाय करते हैं ।

(४) 'सुगंध सिंचाई'—इसीका स्मारक अभी तक जनकपुर में 'अरगजा-कुंड' है ।

(५) 'मंगलमय मंदिर सब केरे ।···'—नीच से ऊँच तक सभी के मन्दिर मंगलमय हैं, यथा—"बंदनबार पताका केतू । सबन्हि बनाये मंगल-हेतू ॥" (उ० दो० ८) । धनुप-यज्ञ के अवसर पर नगर सजाया गया है । पुनः घरों में मणिमय मंगल चित्र स्वतः बने हुए भी हैं, यथा—"सुरप्रतिमा खंभन्हि गढ़ि काढ़ी । मंगलद्रव्य लिये सब ठाढ़ी ॥" (दो० २८६) । 'रतिनाथ चितेरे'—कामदेव शृङ्गाररस का प्रमुख नायक है, वह रचेगा तो अवश्य ही रचना में अत्यन्त सुन्दरता होगी । यहाँ तक मन्दिर आदि कहे, अब उनमें रहनेवालों को कहते हैं—

पुर-नर-नारि सुभग सुचि संता । धरमसील ज्ञानी गुनवंता ॥६॥
अति अनूप जहँ जनक-निवासू । बिथकहिं बिबुध बिलोकि बिलासू ॥७॥
होत चकित चित कोट बिलोकी । सकल-भुवन-सोभा जनु रोकी ॥८॥

दोहा—धवलधाम मनि पुरट पट, सुघटित नाना भाँति ।
सियनिवास सुंदर सदन, सोभा किमि कहि जाति ॥२१३॥

शब्दार्थ—बिथकहिं = विशेष दंग रह जाते हैं । धवल = श्वेत (स्फटिक मणि आदि के) । पुरट = सोना । पट = किवाड़ । सुघटित = सुन्दर रीति से गढ़े हुए ।

अर्थ—नगर के स्त्री-पुरुष सुन्दर, पवित्र आचरणवाले, सन्त-स्वभाव, धर्मात्मा, ज्ञानवान् और गुणवान् हैं ॥६॥ जहाँ महाराज जनक का अत्यन्त अनुपम निवास का स्थान है, वहाँ के भोग-विलासों को देखकर देवता भी विशेष दंग रह जाते हैं ॥७॥ उस नगर के किले को देखकर चित्त चकित हो जाता है, उसने मानों सब लोकों की शोभा को (अपने भीतर) रोक रक्खा है ॥८॥ श्वेत महल में मणि-जटित सोने के किवाड़

लगे हुए हैं, जो अनेक प्रकार की सुन्दर रीतियों से गढ़े हुए हैं। जहाँ श्रीसीताजी का निवास है, उस सुन्दर भवन की शोभा कैसे कही जा सकती है ? ॥२१३॥

विशेष—(१) 'पुरनर-नारि···'—'सुभग'—शरीर से सुन्दर हैं। 'सुचि' पवित्र आचरण है। 'संता'—साधु लक्षणवाले हैं। 'ज्ञानी'—देश-काल-वस्तु के जानकार और परमार्थ के भी ज्ञाता हैं। 'धर्मसील' वर्णाश्रम धर्म में नैष्ठिक हैं। 'धर्मसील'—कर्म, 'संत'—उपासना, 'ज्ञानी'—ज्ञान, अर्थात् काण्डत्रयनिष्ठ हैं।

(२) 'अति अनूप जहँ जनक···'—पूर्व-कथित भवन अनूप थे। प्रजा के घर देखकर विबुध थकित होते थे। यह राज-भवन है। अतः, विशेष थकित होते हैं।

(३) 'होत चकित चित कोट···'—यहाँ राजा का किला नगर से पृथक् है और किले के भीतर राज-भवन है। राज-भवन के चारो तरफ जो मणिमय कोट है, उसे देखकर चित्त चकित हो जाता है। मानों यहाँ सब भुवनों की शोभा को बटोरकर दुर्ग-रूपी सीमा से रोक रक्खा है। भाव—किले के भीतर की रचना-विलक्षणता शोभामय है, इस विलक्षणता का कारण अगले दोहे में कहते हैं।

(४) 'धवल धाम मनि···'—श्रीजानकीजी अभी बालिका हैं। अतः, रनिवास से पृथक् इनका महल नहीं हो सकता, अन्यथा माता-पिता के वात्सल्य में त्रुटि आवेगी। यहाँ समष्टि में राज-महल की शोभा कही जा रही है। श्री सीताजी के साक्षात् निवास से इस राज-सदन में विशेष महत्ता है, यथा—"सोभा दसरथ-भवन कै, को कवि बरनइ पार। जहाँ सकल सुर-सीसमनि, राम लीन्ह अवतार ॥" (दो० २९७), "बसइ नगर जेहि लच्छि करि, कपट नारि बर बेष। तेहि पुर कै सोभा कहत, सकुचहिं सारद सेष ॥" (दो० २८९)। प्रथम पुर के चारो ओर के वन आदि की, फिर पुर की, तब जनक-सदन की शोभा उत्तरोत्तर अधिक कही गई है, तथा—"देखि जनकपुर सुर अनुरागे। निज निज लोक सबहिं लघु लागे ॥" से "बिधिहि भयउ आचरज बिसेषी। निज करनी कछु कतहुँ न देखी ॥" (दो ११३) तक देखने से यहाँ की विभूति दिव्य है, यह स्पष्ट हो जाता है।

सुभग द्वार सब कुलिस कपाटा। भूप भीर नट मागध भाटा ॥१॥
बनी बिसाल बाजि - गज-साला। हय-गय-रथ-संकुल सब काला ॥२॥
सूर सचिव सेनप बहुतेरे। नृपगृहसरिस सदन सब केरे ॥३॥

शब्दार्थ—कुलिस = वज्र (हीरा)। कपाट = किवाड़। सेनप = सेनापति। संकुल = परिपूर्ण। नट = कत्थक, आदि। मागध = कीर्ति गानेवाली एक जाति। भाट = प्रताप कहनेवाले बन्दी।

अर्थ—सब द्वार सुन्दर हैं, सबमें हीरे के किवाड़ लगे हैं। (द्वारों पर) राजाओं, नटों, मागधों और भाटों की सदा भीड़ लगी ही रहती है ॥१॥ घोड़ों और हाथियों के रहने के स्थान बड़े विस्तृत (लम्बे-चौड़े एवं ऊँचे) बने हुए हैं, जो सब समय में घोड़ों, हाथियों और रथों से परिपूर्ण रहते है ॥२॥ वहाँ शूर, वीर, मन्त्री और सेनापति बहुत-से हैं, उन सबके महल भी राज-भवन के तुल्य है ॥३॥

विशेष—(१) 'सुभग द्वार सब···'—यह राज-द्वार का वर्णन है। देश-देश के राजा लोग श्रीविदेह-राज के दर्शनों के लिये आते हैं और भेंट देते हैं, वही 'भूप-भीर' है। ये राजा लोग द्वार पर एकत्र हैं, यथा—"पितु-बैभव बिलास मैं दीठा। नृप-मनि-मुकुट-मिलित पदपीठा ॥" (अ० दो० ९७)।

(२) बनी बिसाल बाजि···'—हथिसार विशाल इसलिये हैं कि बड़े-बड़े पर्वताकार हाथी भी उनमें बँधे रहें। वे घर भी ठसाठस भरे रहते हैं। अतः, हाथियों की अधिकता जनाई। उत्तरार्द्ध में 'रथ' भी कहे हैं अर्थात् अश्वरथ, गजरथ आदि हैं, जो घोड़ों और हाथियों के समीप रहते हैं। यहाँ हाथी, घोड़े और रथ तीन कहे गये। आगे—'सूर सचिव सेनप' ।···' भी कहकर चतुरंगिणी सेना सूचित की। 'सेनप' बहुत हैं तो उनकी सेनाएँ भी असंख्य होंगी। इससे पैदल सैनिक भी आ गये। 'सूर' से योद्धा कहे गये हैं। जो इन

चारो के अतिरिक्त हैं। 'सचिव' शूरों और सेनापतियों के बीच में रहते हैं, इसीसे ग्रन्थकार ने उन्हें दोनों के बीच में लिखा है। यह राजा की नीतिनिपुणता है, क्योंकि राजा के सात अंगों में मन्त्री मुख्य है—अ० दो० १०४ चौ० २ देखिये। उसके सुरक्षित एवं साथ रहने से गया हुआ राज्य भी आ जाता है, जैसे सुग्रीव और विभीषण के मन्त्री साथ थे तो उनका गया हुआ राज्य भी प्राप्त हो गया।

(३) 'नृप-गृह सरिस सदन···'—इससे भृत्यों पर राजा की प्रीति जानी गई कि मन्त्री आदि को इतना ऐश्वर्य दे रक्खा है जिससे उनके महल भी राजा के महल के तुल्य हैं। अतः, स्वामी के कार्य को अपनेपन के साथ करते हैं। यहाँ तक राज-कोट का वर्णन हुआ।

पुर बाहेर - सर - सरित समीपा। उतरे जहँ - तहँ बिपुल महीपा ॥४॥
देखि अनूप एक अँवराई। सब सुपास सब भाँति सुहाई ॥५॥
कौसिक कहेउ मोर मन माना। इहाँ रहिय रघुबीर सुजाना ॥६॥
भलेहि नाथ कहि कृपानिकेता। उतरे तहँ मुनि बृंद - समेता ॥७॥

अर्थ—नगर के बाहर नदियों और सरोवरों के समीप जहाँ-तहाँ बहुत-से राजा लोग उतरे हुए हैं ॥४॥ एक अनुपम आम की बगीची देखकर, जहाँ सब प्रकार की सुविधाएँ थीं और जो सब तरह से सुन्दर थी ॥५॥ श्रीविश्वामित्रजी ने कहा कि हे सुजान रघुवीर! मेरे मन ने तो मान लिया है कि यहाँ रहा जाय ॥६॥ कृपा के स्थान श्रीरामजी ने कहा—"हे नाथ! बहुत अच्छा" और वहीं मुनि-समूह के साथ उतरे (ठहर गये) ॥७॥

विशेष—(१) प्रथम बाहर से रचना कहते हुए भीतर तक पहुँच गये, अब फिर पुर से बाहर की बात करते हैं। बाहर के वर्णन में ही पूर्व कहा था कि—"बापी कूप सरित सर नाना" (दो० २११)। यहाँ 'सर सरित समीपा' में दो ही नाम दिये, क्योंकि द्वीप-द्वीप के राजागण आये हैं, उनका निर्वाह बापी-कूप से न होगा। अतः, सर-सरित ही के समीप ठहरे हैं, यथा—"छोनी में के छोनीपति छाजै जिन्हैं छत्र छाया, छोनी छोनी छाये छिति आये निमिराज के ॥" (क० बा० ८)।

(२) देखि अनूप एक ···'—आम की छाया सब ऋतुओं में अनुकूल रहती है। यह साधु-समाज के और राजकुमारों के लिये भी अनुकूल है अर्थात् फल-फूल, स्नान, ध्यान, जल और एकान्त—सभी सुभीते हैं।

(३) 'कौसिक कहेउ मोर···'—मुनि का राज-सम्बन्धी नाम दिया गया, क्योंकि उनका ध्यान विशेष कर राजकुमारों की प्रतिष्ठा पर है कि जब तक राजा जनक स्वयं आकर न लिवा जायँ, तब तक पुर के भीतर इनका जाना योग्य नहीं है। यही लक्ष्य जताने के लिये श्रीरामजी को भी 'रघुबीर सुजान' कहा है कि आप चक्रवर्त्तिकुमार हैं, सुजानता से विचारें कि ठीक है या नहीं।

(४) 'भलेहि नाथ कहि कृपानिकेता'—मुनि को नाथ कहा और उनकी बात को प्रामाणिक माना। इससे उनपर भी कृपा है। मुनि-वृन्द थके-प्यासे हैं, यहाँ शीघ्र विश्राम पावेंगे, इससे उतरे। अतः, उन सब-पर कृपा है इससे 'कृपानिकेता' कहा है, यथा—"येहि बिधि जाइ कृपानिधि, उतरे सागर-तीर। जहँ-तहँ लागे खान फल, भालु बिपुल कपि बीर ॥" (सुं० दो० ३५)।

'उतरे तहँ मुनि बृंद समेता'—उतरने में श्रीरामजी को प्रधानता दी गई है, क्योंकि उनकी ही मर्यादा से यहाँ उतरा गया है, नहीं तो मुनि मात्र-होते तो सीधे राज-दरबार में चले जाते, जैसे राजा दशरथ के यहाँ गये थे।

बिस्वामित्र महामुनि आये। समाचार मिथिलापति पाये ॥८॥

दोहा—संग सचिव सुचि भूरिभट, भूसुर बर गुरु ज्ञाति।
चले मिलन मुनिनायकहिं, मुदित राउ येहि भाँति ॥२१४॥

कीन्ह प्रनाम चरन धरि माथा। दीन्हि असीस मुदित मुनिनाथा ॥१॥
बिप्रबृंद सब सादर बन्दे। जानि भाग्य बड़ राउ अनंदे ॥२॥
कुसल प्रस्न कहि बारहिं बारा। बिस्वामित्र नृपहिं बैठारा ॥३॥

अर्थ—'महामुनि विश्वामित्रजी आये हैं'—यह समाचार मिथिला-नरेश (जनकजी) को मिला ॥८॥ (तब) राजा जनक ने मन्त्रियों, बहुत से निश्छल योद्धाओं, श्रेष्ठ ब्राह्मणों और ज्ञाति (जाति) के गुरु (वृद्ध) लोगों एवं गुरु शतानन्दजी को साथ लिया। इस प्रकार प्रसन्न मन से वे मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र से मिलने चले ॥२१४॥ (मुनि के) चरणों पर सिर रखकर प्रणाम किया, मुनि-नाथ विश्वामित्र ने प्रसन्नता-पूर्वक असीस दी ॥१॥ फिर उन्होंने सब ब्राह्मण-समाज को आदर के साथ प्रणाम किया और अपना बड़ा भाग्य जानकर राजा आनन्दित हुए ॥२॥ बारंबार कुशल-समाचार पूछ करके श्रीविश्वामित्रजी ने राजा जनक को बैठाया ॥३॥

विशेष—(१) 'महामुनि' और 'मिथिलापति'—बड़े से मिलने के लिये बड़े का समाचार लेते हुए सावधान रहना और जाना योग्य ही है। जनकजी मिथिला भर के पति हैं, सबके समाचार लेते रहते हैं। यहाँ तो मुनि समीप ही आ गये हैं, फिर क्यों न जानें। दूतों ने राजकुमारों का भी साथ होना कहा है। अतः, तदनुसार मिलने चलेंगे। वसिष्ठजी के शाप से निमि का शरीर छूट गया। ऋषियों ने उनका शरीर मथकर 'मिथि' नामक पुत्र उत्पन्न किया जिन्होंने मिथिला नगरी बसाई। तबसे इस वंश की तीन उपाधियाँ हुईं—१—'मिथिलेश', क्योंकि इस गद्दी के पूर्वज राजा मथने से हुए। २—'जनक', क्योंकि मिथि पिता (जनक) मात्र से उत्पन्न हुए। प्रजा का पितृवत् पालन करने से भी 'जनक' नाम से प्रसिद्ध हुए। ३—'विदेह', क्योंकि मिथि स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न नहीं हैं। अथवा योगक्रिया में देह-सुधि से रहित रहते हैं। इस गद्दी के सभी राजा ज्ञानी, योगी एवं भक्त होते आये हैं, तथा—"जननाज्जनकसंज्ञां चावाप ॥२२॥ अभूद्विदेहोऽस्य पितेति वैदेहः मथनान्मिथिरिति ॥२३॥" (वि० पु० ४।५), अर्थात् (पुत्रहीन निमिराजा का शरीर मुनियों ने मथा, इससे एक कुमार उत्पन्न हुआ) जो जन्म लेने के कारण 'जनक' कहलाया। इसके पिता विदेह थे, इसलिये यह 'वैदेह' कहलाता है और मन्थन से उत्पन्न होने के कारण 'मिथि' भी कहा जाता है।

'मिथिला'—बृहद्विष्णुपुराण में मिथिला की सीमा यों निर्धारित की गई है, यथा—कौशिकीन्तु समारभ्य गण्डकीमधिगम्य वै। योजनानि चतुर्विंशद्व्यायामः परिकीर्त्तितः॥ गङ्गाप्रवाहमारभ्य यावद्धैमवतं वनम्। विस्तारः षोडशः प्रोक्तो देशस्य कुलनन्दन॥ मिथिलानाम नगरी तत्रास्ते लोक-विश्रुता॥" अर्थात् कौशिकी से लेकर गण्डकी तक पूर्वी-पश्चिमी लम्बाई २४ योजन (९६ कोस) और गंगा की धारा से हिमालय के वन तक उत्तर-दक्खिन में चौड़ाई १६ योजन (६४ कोस) है। मिथिला की रामायणकालीन राजधानी जनकपुर धाम है। वह इस समय नेपाल राज्य में है। वह सीतामढ़ी से लगभग दस-बारह कोस पूरब है। उस समय के राजा जनक का नाम सीरध्वज और उनके छोटे भाई का नाम कुशध्वज था। महाराज जनक ने सांकाश्यनगरी के राजा सुधन्वा को जीतकर वहाँ का राज्य कुशध्वज को दिया था।

(२) 'संग सचिव सुचि···'—साथ का समाज साभिप्राय है। प्रतिज्ञा के कारण बहुत-से राजा विरोधी हो गये थे, उनसे साल-भर युद्ध हुआ था। (वाल्मी० १।६६।२१-२३)। वे बाहर पाकर छिपे

हुए कहीं आक्रमण न कर दें। अतः, सलाह के लिये मन्त्री और रक्षा के लिये 'भूरि भट' साथ हैं। उधर गुरु विश्वामित्र और विप्र-मण्डली हैं, तो इधर से भी गुरु शतानन्दजी और 'भूसुर बर' हैं। उधर राजकुमार हैं तो इधर जाति-वर्ग भी हैं। 'मुदित' शब्द पृथक् कहा, क्योंकि यह होना अत्यावश्यक है, कहा है—"चारि मिले चौंसठि खिले, बीस रहे कर जोरि। सज्जन सों सज्जन मिले, पुलके सात करोरि॥" अर्थात् मिलने में दोनों तरफ की चार आँखें सम्मुख हों, ३२+३२=६४ दाँत प्रसन्नता की हँसी से खिल जायँ, हाथ जोड़ने में १०+१०=२० अँगुलियाँ रहें और ३½+३½=७ कोटि रोएँ पुलक से खड़े हो जायँ!

(३) 'कीन्ह प्रनाम चरन···'—राजा ने चरण पर माथ धरकर प्रणाम किया तो मुनि ने मुदित होकर असीस दी। उपर्युक्त 'मुदित' के अनुरूप इधर भी मुदित शब्द है। विप्र-वृन्द के प्रणाम में 'सादर' शब्द से वैसे ही चरण पर माथा धरकर प्रणाम करना जनाया, जिससे फिर वही शब्द नहीं दिया जाय। विप्र-वृन्द को समष्टि में ही प्रणाम किया और अपने को बड़भागी माना, यथा—'भूसुर भीर देखि सब रानी। सादर उठीं भाग बड़ जानी॥" (दो० ३५१)। ब्राह्मणों का आशीर्वाद देना नहीं कहा गया, पर राजा के आनन्दित होने से पाया गया कि सबने पृथक्-पृथक् आशीर्वाद दिये। असीस मुनि के अनुरूप होने से पृथक् नहीं लिखी गई। थोड़े शब्दों से बहुत आशय दिखाना कविता का चमत्कार है।

(४) 'कुसल प्रस्न कहि···'—कुशल के प्रश्न बार-बार हुए, तदनुसार उत्तर भी बार-बार कहे गये। बार-बार धर्म, राज्य, सन्तान आदि के विषय में कुशल पूछी वा इनकी और इनके गुरु, मुनि आदि की कुशल पूछी, यथा—"पप्रच्छ कुशलं राज्ञो यज्ञस्य च निरामयम्। स तांश्चाथ मुनीन्पृष्ट्वा सोपाध्याय पुरोधसः॥" (वाल्मी० १।५०।९)। 'बारहिं बारा' दीपदेहली न्याय से बैठाने में भी है। बार-बार मुनि के बैठाने से राजा बैठे। आसन न दिया, क्योंकि राजा विवेकी एवं ब्रह्मण्यदेव हैं। अतः, महामुनि के समक्ष आसन पर नहीं बैठेंगे। ब्राह्मणों से प्रणाम हो जाने पर कुशल पूछने लगे, अन्यथा उनका अनादर होता।

तेहि अवसर आये दोउ भाई। गये रहे देखन फुलवाई॥४॥
स्याम गौर-मृदु बयस किसोरा। लोचन-सुखद-बिस्व-चित-चोरा॥५॥
उठे सकल जब रघुपति आये। बिस्वामित्र निकट बैठाये॥६॥
भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता॥७॥
मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेह बिदेह बिसेखी॥८॥

शब्दार्थ—बयस=अवस्था। किसोर=१६ वर्ष के भीतर की अवस्था। मधुर=मनोरंजक, लावण्य-युक्त।

अर्थ—उस अवसर पर दोनों भाई श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी आये, वे फुलवारी देखने गये हुए थे॥४॥ उनमें एक श्याम और दूसरे गौर थे, वे कोमल शरीर और किशोर अवस्थावाले, आँखों के सुखदायक और संसार के चित्त को चुरानेवाले थे॥५॥ जब श्रीरघुनाथजी वहाँ आये, तब सभी उठकर खड़े हो गये। श्रीविश्वामित्रजी ने उन्हें अपने पास में बैठा लिया॥६॥ दोनों भाइयों को देखकर सब लोग सुखी हुए, उन सबके नेत्रों में प्रेम के आँसू भर आये और शरीर पुलकित हो गये॥७॥ मधुर और मनोहर मूर्त्ति को देखकर विदेह राजा विशेष रूप से विदेह (देह-सुधि से रहित) हो गये॥८॥

विशेष—(१) 'तेहि अवसर आये दोउ···'—जब दोनों मिथिलेश और मुनि के समाज बैठ गये, तब अवसर जानकर श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी आये। देर होती तो कोई प्रसंग छिड़ जाने से आने

पर उसमें विघ्न होता। प्रायः वे अपनी मर्यादा के अनुसार अवसर पर ही आया करते हैं, यथा—"कहि मृदुबचन···बैठारे नरनारि।···राजकुँवर तेहि अवसर आये।" (दो० २४०)। वैसे यहाँ भी फुलवारी देखना सामान्य कारण है। राजा के आने पर अवस्था में छोटे होने के कारण इन्हें उठना चाहिये और उठने से चक्रवर्त्ती के कुल की मर्यादा के प्रतिकूल है। अतः, मुनि ने फुलवारी देखने के व्याज से पहले ही इन्हें वहाँ से उठा दिया था कि सबके बैठने पर इनके आने से सब खड़े होंगे। इनके वंश की प्रतिष्ठा रहेगी। फुलवारी देखने का भी प्रयोजन था, क्योंकि ये गुरुजी के लिये दल-फूल लाने की सेवा का नियम किये हुए हैं।

(२) 'लोचन सुखद बिस्व···'—लोचन को सुखदायक हैं। अतः, दृष्टि पड़ते ही चित्त लुभा जाता है। पूर्वोक्त "लोचन अभिरामा।" (दो० १९१) भी देखिये। यहाँ सबके चित्त चुराये, आगे भी ऐसा ही करेंगे, यथा—"राजत राज-समाज महँ, कोसल राजकिसोर। सुंदर स्यामल गौर तनु, बिस्वबिलोचन चोर॥" (दो० २४२)। नेत्रों के देखते हुए सुख देकर संसार भर के चित्त को चुरा लेते हैं, यथा—"चन्द्रकान्तानन रामममतीवप्रियदर्शनम्॥ रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम्।" (वाल्मी० २।३। २८-२९)। ये विलक्षण चोर हैं कि परम गुह्यस्थल हृदय है, उसे ही हर लेते हैं। फिर भी प्रियदर्शन होने के कारण इन्हें दण्ड न देकर लोग सर्वस्व ही अर्पित करते हैं।

(३) उठे 'सकल जब···'—इनका किंचित् ही प्रताप दूत अंगद को प्राप्त था, तो उनके सामने शत्रु की सभा उठ गई, यथा—"प्रभु-प्रताप उर सहज असंका।" (लं० दो० १७), "उठे सभासद कपि कह देखी।" (लं० दो० १८), फिर स्वयं इन्हें देखकर सब क्यों न उठें? यहाँ इनका तेज एवं प्रताप गुण प्रकट हुआ। सबने उठकर इनका सम्मान किया और गुरुजी ने वात्सल्य से निकट बैठाकर प्यार प्रकट किया।

(४) 'मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेह · '—पूर्वोक्त—'लोचन सुखद···' का चरितार्थ यहाँ है—'मधुर' से नेत्रों को सरस और लावण्ययुक्त जनाया, यही 'लोचनसुखद' का भाव है और 'मनोहर' से मन एवं चित्त हरनेवाले हैं। इसीसे विदेह विशेष विदेह हो गये अर्थात् प्रथम देह से चित्तवृत्ति सर्वथा हटाये हुए ब्रह्मानन्द में लीन रहने से विदेह थे। अब इनके दर्शनों से परमानन्द की प्राप्ति हुई जिससे उस ब्रह्मानन्दवृत्ति को भी चित्त ने त्याग दिया और इनमें अनुराग-सहित लग गया, यथा—"इन्हहिं बिलोकत अति।···" आगे कहते हैं। इससे 'विशेष बिदेह' कहे गये, यथा—"भये बिदेह बिदेह नेह-बस देह-दसा बिसराये। पुलक गात न समात हरष हिय, सलिल सुलोचन छाये॥" (गी० बा० ६३। "देखे रामलखन निमेषैं बिथकित भई प्रानहुँ ते प्यारे लागे बिनु पहिचाने हैं। ब्रह्मानंद हृदय दरस-सुख लोयनन्हि अनुभये उभय सरस राम जाने हैं॥" (गी० बा० ५९)। "अवलोकि रामहिं अनुभवत मनु ब्रह्म-सुख सौगुन दिये।" (जानकी मंगल ४५)।

यह भी भाव है कि इनके साथ के लोग सामान्य विदेह हुए और ये विशेष विदेह हो गये, यथा—"तुलसिदास प्रभु देखि लोग सब जनक-समान भये।" (गी० बा० ६१), तथा—"सुख के निधान पाये, हिय के पिधान लाये, ठग के से लाड़ू खाये, प्रेम मधु छाके हैं। स्वारथ-रहित परमारथी कहावत हे, भे सनेह-बिबस बिदेहता बिबाके हैं॥" (गी० बा० ६२)।

दोहा—प्रेममगन मन जानि नृप, करि बिबेक धरि धीर।
बोलेउ मुनिपद नाइ सिर, गदगद गिरा गँभीर॥२१५॥

कहहु नाथ सुन्दर दोउ बालक। मुनि-कुल-तिलक कि नृपकुल-पालक॥१॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥२॥

सहज बिरागरूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंदचकोरा ॥३॥
ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ ॥४॥
इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा ॥५॥

शब्दार्थ—गद्गद = प्रेम-विह्वल दशा के वचन। गँभीर = गूढ़ आशययुक्त, गहरी। तिलक = सिरमौर। उभय = दो। थकित = मोहित। बरबस = बलात्, बरजोरी।

अर्थ—अपने मन को प्रेम में डूबा हुआ जानकर राजा जनक विवेक से धैर्य धारण किये रहे और मुनि के चरणों में सिर नवाकर गम्भीर (गूढ़ आशय युक्त) और गद्गद वाणी बोले ॥२१५॥ हे नाथ! कहिये, ये दोनों सुन्दर बालक मुनिकुल के सिरमौर हैं वा राजाओं के कुल का पालन करनेवाले हैं? ॥१॥ क्या जिस ब्रह्म को वेद नेति कहकर गाते हैं, वही दो वेष (रूप) धरकर आया है? ॥२॥ (क्योंकि) मेरा मन, जो स्वाभाविक वैराग्य रूप है, वह इस तरह मोहित हो रहा है, जैसे चन्द्रमा को देखकर चकोर पक्षी ॥३॥ इसीलिये हे प्रभो! मैं आपसे सत्य भाव से पूछता हूँ, हे नाथ! कहिये, छिपाव न कीजिये ॥४॥ इनको देखते ही मेरा मन इनमें अत्यन्त अनुरागपूर्वक लग गया और उसने बरजोरी ब्रह्म-सुख को त्याग दिया है ॥५॥

विशेष—(१) 'प्रेम-मगन मन ·····'—राजा के मन, वचन और कर्म तीनों से अनुराग है। 'प्रेम मगन मन'—मन, 'नाइ सिर'—कर्म, 'गदगद गिरा'—वचन। विवेक-द्वारा बुद्धि से तीनों को सावधान करके जिज्ञासा-द्वारा विशेष निश्चय करना चाहते हैं।

(२) 'कहहु नाथ सुंदर दोउ·····'—सुन्दरता-द्वारा ही राजा का मन हरा गया है। अतः, इसे प्रथम कहा। मुनि के साथ हैं और (सम्भवतः) फुलवारी देखने गये थे, इससे धनुष-बाण साथ में नहीं हैं। इससे प्रथम 'मुनि-कुल-तिलक' कहा। फिर राजलक्षण ही नहीं, किन्तु चक्रवर्त्ती के लक्षण इनके अंगों में जानकर 'नृप-कुलपालक' का अनुमान किया, यथा—"राज लखन सब अंग तुम्हारे।" (अ० दो० १११)। इनका अप्रमेय तेज देखकर दोनों कुलों की श्रेष्ठता कही कि मुनि-कुल के होंगे, तो तप से तेज होना सम्भव है, यथा—"बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।" (उ० दो० ८९)। राजा में लोकपालों का तेज रहता है, दो० २७ चौ० ८ में 'ईस अंसभव' का विशेष देखिये, इससे तेजस्वी होंगे। राजकुमार हैं, तो मुनि के पूर्व के राजकुल के कोई सम्बन्धी होंगे। इससे राज-कुल का प्रश्न किया। यही प्रश्न—"ये कौन कहाँ से आये।" (गी० बा० ६३) पद में विस्तार से है। कोई-कोई यहाँ 'मुनिकुलतिलक' से 'नर-नारायण' और 'नृपकुल-पालक' से ब्रह्माण्डपालक नृप विष्णु का अर्थ लेकर और आगे के ब्रह्म को मिलाकर तीन प्रश्न क्रमशः हनुमानजी की तरह लगाते हैं जैसा कि० दो० १ में है।

(३) 'ब्रह्म जो निगम नेति·····'—परम ज्ञानी श्रीजनकजी का भी मत है कि निर्गुण ब्रह्म शरीर धरता है, यथा—"जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयो कोसलपुर-भूपा॥" (दो० १४०), "निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा।" (कि० दो० १६)। 'उभय वेष'—यहाँ ब्रह्म ही का दो वेष धारण करना कहते हैं। आगे पारस्परिक स्नेह देखकर ब्रह्म और जीव निश्चित करेंगे। यदि मुनि कहें कि अभी तो मुनि एवं राजा की दृष्टि थी। अब ब्रह्म कैसे कहते हो? तो उसपर कहते हैं—

(४) 'सहज बिराग रूप मन·····'—अर्थात् मेरा मन जन्म ही से प्राकृत विषयों से निर्लिप्त है, यथा—"मुनि गन गुरु धुर धीर जनक से। ज्ञान-अनल मन कसे कनक-से॥ जे बिरंचि निरलेप उपाये। पदुम पत्र जिमि जग जल जाये॥" (अ० दो० ३१६)। यदि साधन से प्राप्त वैराग्य होता तो उसका च्युत होना भी सम्भव था। ऐसा विराग-रूप मन भी इनमें थकित हो रहा है। जैसे चकोर चन्द्रमा

के कुल नाम आदि से परिचित नहीं रहता, क्योंकि वह जड़ पक्षी है, फिर भी चन्द्रमा पर देह की सुधि भूले हुए टकटकी लगाये रहता है। मेरे मन की यही दशा हो रही है।

(५) 'ताते प्रभु पूछउँ···'—'ताते'—इस साश्चर्य घटना तथा अपने आप न निश्चय कर सकने पर हार्दिक सत्य भाव से (वाद-दृष्टि से नहीं) अपने जानने के लिये पूछ रहा हूँ। छिपाइये नहीं। छिपाना सम्भव है, क्योंकि श्रीरामजी को अपना ऐश्वर्य प्रकट करना अच्छा नहीं लगता, इसीसे मुनि लोग भी उनके निकट का ऐश्वर्य गुप्त ही रखते हैं, यथा—"सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई।" (वि० १६४), "गुपुत रूप अवतरेउ प्रभु।" (दो० ४८)।

(६) 'इन्हहिं बिलोकत अति·····'। मन प्रथम ब्रह्म में अनुरागी था और ब्रह्मानन्द भोगता था, उसीने बलात् उसे छोड़ दिया, अर्थात् मेरे बहुत यत्न करने पर भी उसमें नहीं ठहर सका। इनको देखते ही इनमें अति-अनुरागपूर्वक लग गया और उस ब्रह्मानन्द की अपेक्षा अति सुख प्राप्त कर रहा है। यह रहस्य खोलकर कहिये।

कह मुनि बिहँसि कहेहु नृप नीका। बचन तुम्हार न होइ अलीका ॥६॥
ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी। मन मुसुकाहिं राम सुनि बानी ॥७॥
रघुकुल-मनि दसरथ के जाये। मम हित लागि नरेस पठाये ॥८॥

दोहा—राम लखन दोउ बंधु बर, रूप-सील-बल-धाम।
मख राखेउ सब साखि जग, जिते असुर संग्राम ॥२१६॥

शब्दार्थ—अलीक = मिथ्या, मर्यादारहित। प्रानी (प्राणी) = देहधारी जीव। साखि = साक्षी।

अर्थ—मुनि ने हँसकर कहा—हे राजन्! आपने अच्छा कहा, आपका वचन मिथ्या नहीं हो सकता ॥६॥ जगत् में जहाँ तक देहधारी जीव हैं, उन सभी को ये प्यारे हैं—श्रीरामजी मुनि के वचनों को सुनकर मन में मुसुकाते हैं—॥७॥ ये रघुकुल श्रेष्ठ दशरथ महाराज के पुत्र हैं, इन्हें राजा ने मेरे हित के लिये भेजा है ॥८॥ इनके राम-लक्ष्मण नाम हैं, दोनों श्रेष्ठ भाई रूप, शील और बल के घर हैं। सारा संसार साक्षी है कि इन्होंने राक्षसों को युद्ध में जीतकर मेरे यज्ञ की रक्षा की है ॥२१६॥

विशेष—(१) 'कह मुनि बिहँसि···'—हँसकर मुनि ने प्रसन्नता जनाई, क्योंकि जिसे मुनि प्रथम जानकर भी माधुर्य में भूल गये थे, फिर उनके जनाने से जाना, उसे राजा ने जान लिया। अतः, राजा बड़े चतुर हैं। मुनि ने अच्छा ही कहा है—'तुम्हारा (ब्रह्म-ज्ञानी का) वचन यथार्थ ही होता है'। इस तरह प्रथम राजा के वचन को प्रामाणिक किया। फिर स्वयं भी जनाते हैं।

(२) 'ये प्रिय सबहिं जहाँ···'—ये अर्थात् रामजी प्राणिमात्र को प्रिय हैं, क्योंकि ये प्राणों के भी प्राण हैं, यथा—"यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा" (बृह० ३।४।१), "येन प्राणः प्रणीयते"—श्रुतिः। ब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप है। वह सत्, चित्, आनन्द रूप क्रमशः स्थिर, कान्ति और प्रिय—इन तीन गुणों से जाना जाता है। यहाँ 'प्रिय' से जनाया, इसीको आगे जनकजी स्पष्ट करेंगे—"आनँदहू के आनँददाता।" श्रुति भी है—"एषोऽस्य परमानन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति॥" (बृह० ४।३।३२), तथा—"आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात्" (तै० ३।६।१), "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।" (तै० २।१), "रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परंब्रह्माभिधीयते॥ (रा० पू० ता० १।६) "स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।" से "न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति॥" (बृह० २।४।५) तक। अर्थात् इन दोनों ज्ञानियों

का संवाद श्रुतियों के अनुकूल ही है। पुनः, यथा—"सुद्ध सच्चिदानंदमय, कंद भानु-कुल-केतु।" (अ० दो० ८७), इत्यादि, श्रीगोस्वामीजी ने सर्वत्र कहा है। 'मन मुसुकाहिं राम···'—मन की मुसकान मुखचन्द्र की झलक से जानी। मुसकाने के हेतु—(क) जिसमें लोग लड़का ही जानें। (ख) आपकी हँसी माया है, अतः, मुसकाकर मुनि पर माया डाली और मति फेरी कि वे ऐश्वर्य न प्रकट करें, अन्यथा—"रावन मरन मनुज कर···" (दो० ४८), इत्यादि में बाधा होगी, वही हुआ। मुनि तुरन्त ही व्यवहार-दृष्टि से कहने लगे। (ग) मुसकाये कि हम कितना भी छिपाते हैं, तब भी प्रेमी भक्त लोग जान ही लेते हैं, यथा—"सुनि मुनि-बचन प्रेम-रस साने। सकुचि राम मन महँ मुसुकाने॥" (अ० दो० १२७)। मन ही में मुसकाये, क्योंकि प्रकट मुसकाने से आत्मश्लाघा रूप दोष होता—"निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।" (अर० दो० ४५)।

(२) 'रघुकुलमनि दसरथ ···'—राजा ने मुनि-कुल अथवा नृपकुल का सन्देह किया था, उसमें नृप-कुल की जगह 'रघुकुलमनि···' कहा। और जो मुनि के साथ होने से मुनि-कुल का सन्देह था, उसके विषय में 'मम हित लागि' कहकर समझाया। 'लागि'—अर्थात् वहीं तक के लिये इनके पिता ने भेजा था, यहाँ तो हम अपनी ओर से लिवा लाये हैं। इस तरह सारी कृतज्ञता का भार राजा पर धर दिया जिससे राजा ने चरणों के दर्शनों से भाग्य सराहकर कृतज्ञता प्रकट की है, यथा—"मुनि तव चरन देखि कह राऊ।" इस माधुर्य कथन से चरित-द्वारा भी ब्रह्म का ही परिचय दिया, क्योंकि इस तरह राजा जान लेंगे, यथा—"येह सब जागबलिक कहि राखा।" (अ० दो० २८४)। 'रघुकुलमनि दसरथ के जाये।' से अवतार कहा, यथा—"ते दसरथ कौसिल्या रूपा। कोसलपुरी प्रगट नरभूपा॥ तिन्हके गृह अवतरिहउँ जाई। रघुकुल-तिलक सुचारिउ भाई॥" (दो० १८६)। 'राम लखन दोउ बंधु' से नाम और रूप, 'ममहित लागि' से लीला और 'रघुकुलमनि' से धाम श्रीअवध भी जनाया। 'बंधुबर' अर्थात् दोनों ज्येष्ठ-ज्येष्ठ भाई हैं भरत-शत्रुघ्न (क्रमिक दोनों से) एक एक से छोटे भी हैं।

(३) 'रूप-सील-बल-धाम···साखि जग···'—रूप प्रथम कहा, क्योंकि उसका पूर्ण प्रभाव अभी ही राजा पर पड़ा है। प्रथम देखने पर मुनि स्वयं भी ऐसे ही हो गये थे। 'सील'—हमारा शील रखने के लिये माता-पिता, सुखमय गृह आदि छोड़े हुए साथ पैदल फिर रहे हैं। 'बलधाम' ऐसे हैं कि असुरों को संग्राम करके जीत चुके हैं। ये अत्यन्त सुकुमार हैं और राक्षस महान् क्रूर-कठोर हैं। उन्हें जीतने में सन्देह हो सकता है, इसलिये जगत्-भर का साक्ष्य (गवाही) दिया, अर्थात् मैंने इनके उत्कर्ष के लिये नहीं कहा।

मुनि तव चरन देखि कह राऊ। कहि न सकउँ निज पुन्यप्रभाऊ॥१॥
सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता। आनँदहू के आनँददाता॥२॥
इन्ह कै प्रीति परस्पर पावनि। कहि न जाइ मनभाव सुहावनि॥३॥
सुनहु नाथ कह मुदित बिदेहू। ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू॥४॥

अर्थ - तब राजा जनक ने कहा कि हे मुनि! आपके चरणों को देखकर मैं अपने पुण्यों के प्रभाव को कह नहीं सकता॥१॥ ये श्याम-गौर दोनों भाई सुन्दर हैं, आनन्द को भी आनन्द देनेवाले हैं॥२॥ इनकी आपस की प्रीति पवित्र और सुहावनी है, वह कही नहीं जा सकती, मन को भाती है॥३॥ राजा जनक ने प्रसन्न मन होकर कहा—हे नाथ! सुनिये, इनका स्वाभाविक स्नेह ब्रह्म-जीव की तरह है॥४॥

विशेष—(१) 'मुनि तव चरन देखि···'—एक तो पुण्यपुंज से सन्त मिलते हैं, फिर आप ऐसे सन्त हैं कि जो साक्षात् ईश्वर को लेकर ही आये। अतः, हमारे पुण्य अकथ्य हैं। इस प्रकार मुनि की प्रशंसा की। 'कहि न सकउँ'—से प्रतिज्ञा पूरी होने की भी आशा गर्भित है, जो अभी कहने की नहीं है।

(२) 'सुंदर स्याम गौर···'—पुण्य के प्रभाव से आनन्द मिलता है। अतः, प्रथम उसे कहकर तब

आनन्द की प्राप्ति जताई। इनकी सुन्दरता से आनन्द को भी आनन्द मिला। भाव, ब्रह्म आनन्द-रूप है, यथा—"आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात्॥" (तै० ३।६।१), "आनंदसिंधु मध्य तव बासा।" (वि० १३६)। उसमें तन्मय होकर मैं ब्रह्मानन्द का भोक्ता था। अतः, आनन्द-रूप था, मुझे भी इन्होंने उसे विशेष आनन्द दिया, यथा—"सुंदरता कहँ सुंदर करई।" (दो० २२९)। राजा राजकुमारों की सुन्दरता पर मुग्ध हैं। अतः, वही सराहते हैं।

(३) 'इन्ह कै प्रीति परस्पर ···'—ऊपर की सुन्दरता कहकर अब भीतर की प्रीति कहते हैं। 'पावनि', यथा—"प्रीति पुनीत भरत कै देखी।" (दो० २९०), "उपजी प्रीति पुनीत।" (दो० २२९), छल-रहित प्रीति पुनीत है और भाई-भाई में स्वभावतः होती है, यथा—"भाइहि भाइहि परम समीती। सकल दोष छलबरजित प्रीती॥ (दो० १५२), "नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई। प्रीति रही कछु बरनि न जाई।" (कि० दो० ५), तथा—"उपमा राम लखन की प्रीति की क्यों दीजै खीरनीरै।" (गी० लं० १५)। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि राजा ने देखने मात्र से अन्तरंग प्रीति को कैसे जाना? भाई-भाई में तो कहीं-कहीं कपट-प्रीति भी होती है। इसका उत्तर 'कहि न जाइ मन भाव' में गर्भित है, अर्थात् जैसे अनुभव-द्वारा ब्रह्म का निश्चय किया है वैसे ही अनुभव से प्रीति एवं ब्रह्म-जीव का नाता भी जाना, अनुभव मन में होता है, इसीको 'मनभाव' से कहते हैं। अनुभव की बात अकथ्य भी होती है, यथा—"उर अनुभवति न कहि सक सोऊ।" (दो० २८१)। वही 'कहि न जाइ' से सूचित किया है।

(४) 'सुनहु नाथ कह मुदित ···'—मुदित के साथ विदेह पद से जनाया कि आनन्द में देह-सुधि भूल गई है। 'ब्रह्म-जीव इव' यथा—"राम लखन सम प्रिय तुलसी के॥···ब्रह्म जीव इव सहज सँघाती॥" (दो० १९) में भी रा-म के क्रमशः अर्थ में ब्रह्म-जीव का प्रसंग है।

पुनि पुनि प्रभुहि चितव नरनाहू। पुलक गात उर अधिक उछाहू॥५॥
मुनिहि प्रसंसि नाइ पद सीसू। चलेउ लिवाइ नगर अवनीसू॥६॥
सुंदर सदन सुखद सब काला। तहाँ बास लै दीन्ह भुआला॥७॥
करि पूजा सब बिधि सेवकाई। गयेउ राउ गृह बिदा कराई॥८॥

दोहा—रिषय संग रघुबंस-मनि, करि भोजन बिश्राम।
बैठे प्रभु-भ्राता सहित, दिवस रहा भरि जाम॥२१७॥

अर्थ—राजा बार-बार प्रभु श्रीरामजी को देखते हैं, उनकी देह में पुलकावली होती है और हृदय में बहुत उत्साह होता है॥५॥ मुनि की प्रशंसा और उनके चरणों में सिर नवाकर राजा जनक उन्हें नगर को लिवा ले चले॥६॥ एक सुन्दर भवन जो सब काल में सुखदायक था, वहाँ ले जाकर राजा जनक ने इनको ठहराया॥७॥ सब तरह से मुनि की पूजा और सेवा करके राजा जनक विदा माँगकर घर चले गये॥८॥ रघुकुल में शिरोमणि श्रीरामजी ऋषियों के साथ भोजन और कुछ आराम करके भाई के साथ बैठे, उस समय एक पहर भर दिन रह गया था॥२१७॥

विशेष—(१) 'पुनि-पुनि प्रभुहि ···'—बार-बार देखकर राजा इनमें प्रभुता (सामर्थ्य) का भी अनुभव करते हैं, यथा—"सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझइ। तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ॥" (जानकीमंगल ६६), इसीसे यह निश्चय करते हैं कि ये धनुष भी तोड़ेंगे तब सीता इन्हें और उर्मिला लक्ष्मण को ब्याह देंगे—इसीका अति उत्साह और पुलक हो रहा है।

(२) 'मुनिहिं प्रसंसि नाइ ···'—प्रश्न का यथार्थ उत्तर मिला। अतः, कृतज्ञता के लिये प्रशंसा और प्रणाम किया। पुनः मुनि विरक्त वनवासी हैं, घर में रहने के लिये भी प्रार्थना एवं प्रणाम आदि हैं।

स्वीकृति होने पर लिवा ले चले। नगर को क्यों लिवा ले गये ?—(क) वहाँ सब प्रकार की सेवा का सुपास रहेगा, क्योंकि और राजा लोग तैयारी से आये हैं और ये चक्रवर्त्ति-कुमार हैं, पर मुनि की सेवा में हैं, यहाँ विरक्तों के बीच में वहाँ से कितना भी प्रबन्ध करेंगे, तो भी कुछ त्रुटि ही रहेगी। (ख) राजकुमार इक्ष्वाकुवंश की गद्दी के हैं और निमि-वंश भी वहीं की शाखा है, इस अपनपौ से भी किले के भीतर रक्खेंगे। (ग) राजा को नित्य प्रति बाहर आने में विशेष प्रबन्ध करना पड़ता, इसलिये भी भीतर लिवा ले गये।

(३) 'सुंदर सदन सुखद···'—देखने में सुन्दर है और उसमें सब ऋतुओं का सुपास भी है, क्योंकि कार्त्तिक में मुनि यहाँ आये हैं, इस शरत् ऋतु में गर्मी, वर्षा और जाड़ा—तीनों रहते हैं। एक ऋतु के अनुकूल गृह देने से उतने ही काल रखने की रुचि समझी जाती। 'लै दीन्ह'—साथ में ले जाकर, दिखाकर और उनकी रुचि जानकर वैसा भवन दिया। 'सुंदर सदन'—इस घर का नाम भी कहा जाता है।

(४) 'करि पूजा सब बिधि···' 'सब बिधि' दीपदेहली है। पूजा षोड़शोपचार से की और 'सेवकाई' से सेवक, वस्तु, वस्त्र और भोजन आदि का प्रबन्ध सूचित है। 'बिदा कराई'—यह शिष्टाचार है। यह भी गर्भित है कि राजा मुनि के अधीन हैं।

(५) 'रिषय संग रघुबंसमनि···'—ऋषियों को साथ लेकर भोजन करने से रघुवंशमणि कहा, क्योंकि बड़े लोग समाज के साथ ही भोजन करते हैं। भोजन करके विश्राम करना आयुर्वेद की आज्ञा है। भोजन के पीछे भी कथा होती थी, पर आज नहीं हुई, क्योंकि रामजी को नगर देखने जाना है। अथवा भोजन में श्रीरामजी की प्रधानता है। अतः, आज श्रीजनकजी के राजमहल में ही भोजन हुआ है, सत्योपाख्यान में ऐसा लिखा भी है। इससे पकान्न आदि के भोजन से विश्राम करना आवश्यक था, इससे भी कथा नहीं हुई। 'भरि जाम'—राजा की सेवा में सावधानी भी देखी गई कि आज ही मुनि, आये, राजा उनसे मिले, संवाद हुआ, नवीन बासा दिया, भोजन कराया, फिर विश्राम करने पर भी एक पहर दिन रह गया जो घूमने-फिरने एवं नगर देखने का उपयुक्त समय है।

यहाँ चार शास्त्रों के मत दिखाये—'रिपय' बहुवचन है (व्याकरण), 'करि भोजन बिश्राम'—(वैद्यक), 'बैठे प्रभु भ्राता सहित'—(नीति) और 'दिवस रहा भरि जाम' (ज्योतिष शास्त्र)।

लखन - हृदय लालसा बिसेखी। जाइ जनकपुर आइय देखी ॥१॥
प्रभुभय बहुरि मुनिहिं सकुचाहीं। प्रगट न कहहिं मनहिं मुसुकाहीं ॥२॥
राम अनुज-मन की गति जानी। भगतबछलता हिय हुलसानी ॥३॥
परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुरु - अनुसासन पाई ॥४॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी के मन में बड़ी लालसा है कि जनकपुर जाकर देख आवें ॥१॥ प्रभु का भय है और मुनि से संकोच करते हैं, इससे प्रकट नहीं कहते, किन्तु मन ही में मुसुका रहे हैं ॥२॥ श्रीरामजी ने भाई के मन की दशा जान ली, उनके हृदय में भक्तवत्सलता उमड़ आई ॥३॥ गुरुजी की आज्ञा पाकर बहुत नम्रता और संकोच के साथ मुसकुराकर बोले ॥४॥

विशेष—(१) 'लखन-हृदय लालसा बिसेषी'—लालसा आपको भी है, पर लक्ष्मण के हृदय में विशेष है, क्योंकि बाहर की रचना देखकर दोनों भाई विशेष हर्षित थे, यथा—"पुर-रम्यता राम जब देखी। हरषे अनुज समेत बिसेखी॥" (दो० २११), इससे भीतर नगर की भी रचना देखने की लालसा हुई। 'बिसेखी' अर्थात् उत्कृष्ट इच्छा हो पड़ी जिसकी चेष्टा नेत्र आदि में झलक आई, क्योंकि आगे—

'राम अनुज-मन की गति जानी' कहा है। मन अणु-स्वरूप है, उसकी गति वाह्य चेष्टाओं (आकार, संकेत, गति, चेष्टा, भाषण) से ही जानी जाती है, यथा—"आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च। नेत्रवक्त्रविकाराभ्यां लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः॥"—नीतिसार (गरुड़पुराण)। नगर-दर्शन के लिये लालसा संकोच की बात है, लक्ष्मण बालक हैं, उनमें लालसा होना योग्य है।

(२) 'प्रभु-भय बहुरि···'—प्रभु श्रीरामजी का भय छोटे भाई में होना योग्य ही है, यथा—"कहि न सकत रघुबीर-डर" (दो० २५२), "लखन राम-डर बोलि न सकहीं॥" (दो० २६६)। मुनि बड़े हैं। अतः, उनका संकोच होना भी युक्त है कि चपलता से रुष्ट होंगे। यह संकोच नगर-दर्शन के अन्त तक रहा है, यथा—"सभय सप्रेम बिनीत अति, सकुच सहित दोउ भाइ।" (दो० २२५)। लक्ष्मणजी की दृष्टि में प्रभु मुख्य हैं, यथा—"गुरु पितु मातु न जानउँ काऊ।···मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।" (अ० दो० ७१)। अतः, 'प्रभु-भय' प्रथम कहा है। लक्ष्मणजी जीवमात्र के आदर्श आचार्य हैं, उनकी तरह सबको प्रभु का भय सदा रहना चाहिये, यथा—"सुत की प्रीति प्रतीति मीत की नृप ज्यों डर डरि है।" (वि० २६८)।

(३) राम अनुज-मन की···'—मन की गति जानने के सम्बन्ध से 'राम' कहा गया है, क्योंकि जीवों के मन की गति ईश्वर ही जानेगा, यथा—"स्वामी सुजान जान सबही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥" (अ० दो० ३१३)। मुनि ने नहीं जाना, क्योंकि वे जीव हैं। जीव ध्यान-द्वारा ही आंशिक सर्वज्ञ होता है, वह सर्वज्ञता भी ईश्वर-उपेक्ष्य है। 'भगतबछलता···'—तुरन्त जन्मे हुए बछड़े में गाय का जो प्रेम होता है, उसको वात्सल्य गुण कहते हैं। श्रीरामजी का भक्त लक्ष्मणजी के प्रति इस समय वही गुण उमड़ पड़ा। अतः, उनका मनोरथ पूर्ण करना चाहते हैं। पुनः 'राम' शब्द के अनुरोध से प्रेमी भक्त जनकपुरवासियों पर भी वत्सलता गर्भित है। वे कर्म-रूप रज्जु में बँधे हैं, प्रभु के दर्शन रूप दूध के अभिलाषी हैं, उन्हें भी तृप्त करना है, क्योंकि आगे मुनि ने कहा है,—"करहु सफल सबके नयन" और श्रीरामजी के चलते समय भी यही कहा गया है, यथा—"चले लोक-लोचन-सुख-दाता।" (दो० २१८)।

(४) 'परम बिनीत सकुचि···'—'परम' शब्द 'बिनीत' और 'सकुचि' दोनों के साथ है। श्रीरामजी के तीन प्रकार के संकेतों से भी मुनि उनके हृदय की गति नहीं जान सके, तब श्रीरामजी ने आज्ञा पाकर वचन-द्वारा प्रकट किया वा तीनों संकेत इसलिये ही हैं कि मुनि समझ जायँ कि ये कुछ कहना चाहते हैं। इसीके अनुसार मुनि ने कहा है कि क्या कुछ कहोगे ? तब आपने कहा है। 'परम' का भाव यह भी है कि सामान्यतया तो ये तीनों गुण आपमें सदा ही रहते हैं, पर आज ऐसी आज्ञा माँगनी है, जिसमें कुछ चपलता एवं स्वतन्त्रता मानी जा सकती है। अतः, 'परम' विशेषण से यह दोष दूर किया।

नाथ लखन पुर देखन चहहीं। प्रभु-सँकोच-डर प्रगट न कहहीं॥५॥
जौ राउर आयसु मैं पावउँ। नगर देखाइ तुरत लै आवउँ॥६॥
सुनि मुनीस कह बचन सप्रीती। कस न राम तुम्ह राखहु नीती॥७॥
धरम - सेतु - पालक तुम्ह ताता। प्रेमबिबस सेवक - सुख - दाता॥८॥

दोहा—जाइ देखि आवहु नगर, सुखनिधान दोउ भाइ।
करहु सुफल सबके नयन, सुंदर बदन देखाइ॥२१८॥

अर्थ—हे नाथ ! लक्ष्मणजी जनक जी का नगर देखना चाहते हैं, परन्तु प्रभु (आप) के संकोच

और भय से प्रकट नहीं कहते ॥५॥ यदि मैं आपकी आज्ञा पाऊँ, तो इनको नगर दिखलाकर शीघ्र ले आऊँ ॥६॥ यह सुनकर मुनीश्वर विश्वामित्रजी ने प्रेम-पूर्वक वचन कहा कि हे राम ! भला तुम क्यों न नीति-मर्यादा की रक्षा करोगे ? ॥७॥ हे तात ! तुम धर्म की मर्यादा (सेतु) की रक्षा करनेवाले हो और प्रेम के विशेष वश होकर सेवकों को सुख देनेवाले हो ॥८॥ सुख के निधान तुम दोनों भाई जाकर नगर देख आओ और अपने सुन्दर मुख-कमल दिखाकर सबके नेत्र सफल करो ॥२१८॥

विशेष—(१) 'प्रभु-सँकोच डर·····'—प्रथम लक्ष्मणजी में श्रीरामजी का डर और मुनि का संकोच कहा गया, पर यहाँ श्रीरामजी ने वे दोनों बातें मुनि ही में कहीं, अन्यथा वैसा कहने में मुनि की बराबरी करने का भारी दोष आता। प्रथम प्रभु-भय प्रधान और मुनि का संकोच गौण कहा गया था, पर यहाँ श्रीरामजी की अनुकूलता से लक्ष्मण का डर गौण हो गया। मुनि का संकोच प्रधान रह गया।

(२) 'जौ राउर आयसु मैं·····'—यदि लक्ष्मण अकेले के लिये कहते तो सम्भव था कि मुनि बालक जानकर रोक देते। अतः, अपने लिये भी आज्ञा माँगी। दिन थोड़ा है और नगर बड़ा, कहीं बहुत विलम्ब न हो जाय, इसलिये 'तुरत' कहा है जिससे मुनि को आज्ञा देते ही बनेगा।

(३) 'सुनि मुनीस कह बचन ·····'—कुछ काल का वियोग स्मरण कर मुनि प्रीति से भर गये, तथा वात्सल्य गुण से इनकी इच्छा-पूर्त्ति के लिये प्रीति है। प्रीति के सम्बन्ध से 'मुनीस' कहे गये, यथा—"सोह न राम-प्रेम बिनु ज्ञानू।" (अ० दो० २७६)। 'नीती'—नम्रता, संकोच और मुसकान—यह नीति है। गुरु-जन के समक्ष में यही चाहिये।

(४) 'धरम-सेतु-पालक तुम्ह ··'—बड़ों की आज्ञा के अनुसार कार्य करना धर्म है, यथा—सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा ॥" (दो० ७६)। यह श्रीरामजी का आचरण लोक-शिक्षा के लिये है। प्रथम वेद-शास्त्र द्वारा धर्म-मर्यादा-स्थापना रूप पुल बाँधा गया था, वह अधर्मियों ने अनाचार से छिन्न-भिन्न कर दिया। आप उक्त धर्माचरण को चरित-द्वारा दृढ़ कर रहे हैं, यही सेतु-रक्षा है, यथा—" मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम।" (भाग० ५।१९।५), "चारित्रेण च को युक्तः।" (वाल्मी० मू०)।

'प्रेम-बिबस सेवक·····'—प्रेम के विशेष वश होकर सेवक श्रीलक्ष्मण एवं नगर-वासी लोगों को आप सुख देनेवाले हैं।

(४) 'जाइ देखि आवहु नगर ·····'—श्रीरामजी ने केवल साथ जाने को कहा था। मुनि दोनों भाइयों को देखने के लिये कहते हैं, क्योंकि मुनि को ऐसी आज्ञा न होने से सम्भव था कि श्रीरामजी इधर-उधर कुछ नहीं देखते। 'सुख-निधान' दीपदेहली है। मुनि ने प्रथम ही कहा था—"इन्ह कहँ अति कल्यान।" (दो० २०७)। अतः, भाव है कि तुम दोनों का ब्याह इस नगर में होगा तो तुम्हारे लिये यह नगर सुख का निधान होगा और तुम दोनों भी नगर के लिये सुख के निधान होगे। 'करहु सुफल···'—यथा—"होइहहिं सुफल आजु मम लोचन। निरखि बदन-पंकज भवमोचन ॥" (अर० दो० ९), "निज प्रभु-बदन निहारि-निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी (उ० दो० ७४), "निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं।" (अर० दो० २६)। 'देखि' और 'देखाइ' अर्थात् स्वयं रुचि से देखना और दर्शकों की रुचि के अनुसार भी देखना। भाव—जो पुष्प-वृष्टि आदि संकेत से आपके मुख-कमल की झाँकी चाहें उनकी ओर भी अवश्य देखना, तभी उनके भी नेत्र सफल होंगे।

मुनि के 'सप्रीति' वचन यहाँ चरितार्थ हैं, यथा—"जाइ देखि आवहु नगर', इसमें कहना था कि—'जाइ नगर देखि आवहु' पर ऐसा न कहकर 'नगर' शब्द अन्त में और 'आवहु' प्रथम ही कह दिया, अर्थात् हम भी देर तक वियोग न सह सकेंगे, शीघ्र आना। इसीसे 'जाइ' इस वियोग-सूचक शब्द के साथ

ही 'आवहु' संयोग का शब्द कहा गया है। 'सुख-निधान' अर्थात् हमारे भी सुख के निधान तुम्ही दोनों भाई हो। अतः, विशेष विलम्ब में दुःख होगा।

प्रथम 'देखि आवहु' माधुर्य में कहा, फिर ऐश्वर्य-दृष्टि से देखा कि इनकी माया से ब्रह्माण्ड-रचना हुआ करती है तो यह क्या अपूर्व वस्तु है, जो देखेंगे? अतः,—'करहु सुफल ·····' भी कहा।

मुनि-पद-कमल बंदि दोउ भ्राता। चले लोक-लोचन-सुख-दाता ॥१॥
बालक-बृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मन लोभा ॥२॥
पीतबसन परिकर कटि भाथा। चारु चाप सर सोहत हाथा ॥३॥
तनु अनुहरत सुचंदन खोरी। स्यामल गौर मनोहर जोरी ॥४॥

शब्दार्थ—लोक = लोग, यथा—"लोकस्तु भुवने जने।" अनुहरत = अनुकूल। खोरी (खौर) = मस्तक आदि पर चन्दन का लेपन करके उसपर अँगुली वा कंघी से खरोंचकर चिह्न बनाना। परिकर = (परि = चारो ओर, कर = किये) लपेटे हुए।

अर्थ—लोगों के नेत्रों को सुख देनेवाले दोनों भाई श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी मुनि के चरण-कमलों को प्रणाम करके चले ॥१॥ इनकी अति शोभा देखकर बालकगण के नेत्र और मन लुभा (मोहित हो) गये, इससे वे इनके साथ लग पड़े ॥२॥ (दोनों भाई) पीताम्बर पहने और कटि में भी लपेटे हैं, जिसमें तरकश बँधा हुआ है। सुन्दर धनुष-बाण उनके हाथों में शोभित हैं ॥३॥ शरीर के (वर्ण के) अनुकूल सुन्दर चन्दन की खौर लगी हुई है, यह साँवली-गोरी मन को हरनेवाली जोड़ी है ॥४॥

विशेष—(१) 'चले लोकलोचन·····'—पूर्व कहा गया कि यहाँ का नगर किले से बाहर है। राजकुमार किले के भीतर ही राजमहल में ठहरे हुए हैं। वहाँ बिना आज्ञा के साधारण लोग नहीं जाने पाते। उन्हें दर्शन देकर सुख देने को चले। जब बाहर निकले, तब बालकगण साथ लगे।

(२) 'देखि अति सोभा'—इस नगर के लोग स्वयं रूप-निधान थे, यथा—"नगर नारि नर रूप निधाना। ·· तिन्हहिं देखि सब सुर सुरनारी। भये नखत जनु बिधु उँजियारी ॥" (दो० ३१३), पर ये दोनों भाई अत्यन्त सुन्दर थे, इससे वे भी इन्हें देखते ही लुभा गये, यथा—"रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे ॥" (अ० दो० ११३), तथा—"हम भरि जनम सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई ॥" (अर० दो० १८)। प्रथम नेत्र लुभाये, तदनुसार मन भी लुभाया। कहा है—"मन सों अपर महीप नहिं, दृग सो नहीं दिवान। दृग दिवान जेहि आदरयो, मन तेहि हाथ बिकान ॥"

(३) 'पीतबसन परिकर·····'—पीत वस्त्र धारण वीर बाना है, यथा—"पीताम्बरधरःस्रग्वी-साक्षान्मन्मथमन्मथः।" (भाग० १०।३२।२), अर्थात् पीत फेंटा बाँधकर काम को जीता है, वैसे यहाँ भी शृंगारवीरता का काम है, सबके हृदय रूप किले में प्रवेश करके मन को हरण करना है। इसीलिये कटि से वर्णन प्रारम्भ किया है। वीर-रस का रूप वर्णन कटि से, शृंगार का सिर से और शान्त, दास, करुणा का वर्णन चरण से प्रारम्भ होता है।

'चारु चाप सर·····'—धनुष-बाण भी आपके परम सुन्दर शृंगार के अंग हैं।

(४) 'तनु अनुहरत सुचंदन···'—सु-चन्दन अर्थात् अच्छा चन्दन, केशर, कस्तूरी, कपूर आदि मिलाया हुआ। श्रीरामजी के श्याम शरीर पर पीत रंग और लक्ष्मणजी के गौर शरीर पर लाल रंग के अंगराग की खौर अनुकूल होती है अथवा पीत और श्याम रंग की कही जाती है। ग्रन्थकार ने 'अनुहरत' पद से सब मतों की रक्षा कर दी है।

केहरिकंधर बाहु बिसाला। उर अति रुचिर नाग-मनि-माला ॥५॥

सुभग सोन सरसीरुह-लोचन । बदन मयंक ताप-त्रय-मोचन ॥६॥
कानन्हि कनकफूल छबि देहीं । चितवत चितहिं चोरि जनु लेहीं ॥७॥
चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी । तिलक-रेख-सोभा जनु चाँकी ॥८॥

दोहा—रुचिर चौतनी सुभग सिर, मेचक कुंचित केस ।
नख-सिख-सुंदर बंधु दोउ, सोभा सकल सुदेस ॥२१६॥

शब्दार्थ—कंधर—गरदन । सोन (शोण) = लाल । कनकफूल = फूल के आकार के सोने के कुण्डल जो लौंग के समान होते हैं । बाँकी = टेढ़ी । चाँकी (चक = चाकी = बिजली का पर्यायी है) = बिजली वा चक्रांकित की हुई, वज्र की राशि पर चाकना, चक्रांकित करना कि उसमें से निकालने पर जान पड़े, यथा—"तुलसी त्रिलोक की समृद्धि सौंज सम्पदा सकेलि चाकि राखी रासि, जाँगर जहान भो ।" (क० सुं० ३२) । चौतनी = बच्चों की टोपी जिसमें चार बन्द लगे रहते हैं—हिं० श० सा० । मेचक = श्याम ।

अर्थ—(दोनों भाइयों के) सिंह के समान उन्नत कन्धे हैं, भुजाएँ लम्बी हैं और छाती पर अत्यन्त सुन्दर गजमुक्ता की मालाएँ हैं ॥५॥ उनके सुन्दर लाल कमल के समान नेत्र हैं और मुखचन्द्र तीनो तापों को छुड़ानेवाले हैं ॥६॥ कानों में कनकफूल शोभा दे रहे हैं, वे देखते ही मानों चित्त को चुरा लेते हैं ॥७॥ उनकी चितवनि सुन्दर (सौम्य, तिरछी कटाक्षादि-रहित, जो स्थैर्य-गुण की मुद्रा है), भौंहें श्रेष्ठ (बड़ी) टेढ़ी हैं, तिलक की रेखाएँ ऐसी हैं कि मानों शोभा (रूपराशि) चाक दी गई है वा तिलक की शोभा मानों बिजली है ॥८॥ सुन्दर सिर पर चौतनी टोपियाँ दे रक्खी हैं और काले घुँघराले सिर के केश हैं । दोनों भाई नख से शिखा पर्यन्त (सर्वांग) सुन्दर हैं, सर्वत्र की शोभा, जहाँ जैसी चाहिये, वैसी है ॥२१६॥

विशेष—(१) 'केहरिकंधर बाहु···'—इसमें जनु आदि वाचक शब्द न देकर सिंह-रूप ही जनाया (रूपकालंकार), सिंह के हाथ (आगे के पाँव) विशाल होते हैं, वैसे यहाँ भी बाहु विशाल हैं ।

'नागमनिमाला'—नाग के अर्थ हाथी, सर्प और पर्वत तीनो होते हैं । अतः, तीनो प्रकार की मणियों की मालाएँ पहने हुए हैं, यथा—"मनि-मानिक-मुकुता-छवि जैसी । अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी ॥" (दो० १०) ।

(२) 'सुभग सोन सरसीरुह···'—नेत्र लाल कमल (रतनार) कहे गये, क्योंकि इनसे दर्शकों को मोहेंगे । कहा भी है—"अमी हलाहल मद भरे, श्वेत श्याम रतनार । जियत मरत झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत यक बार ॥" (रसलीन) । इसमें यथासंख्यालंकार से लाल नेत्र से मोहना कहा गया है । 'तापत्रय'—धनुष-प्रतिज्ञा रूपी दैहिक ताप, खल-नृपों द्वारा (जो धनुर्भंग पर लड़ने को थे) भौतिक ताप और परशुराम (अचानक आये एवं दैवरूप—एक अवतार हैं) द्वारा दैविक ताप होने पर उन्हें दूर करेंगे । यहाँ 'बदन मयंक ···' में 'परिकरांकुर अलंकार' है ।

(३) 'कानन्हि कनकफूल·····'—कानन वन का और कनक धतूरे का भी नाम है । अतः, वन में धतूरे का नशा यात्री को देकर उसका धन हरा जाता है, वैसे यहाँ श्रवण वन, कनकफूल धतूरे का फूल, छवि उसका विष, 'देहीं' अर्थात् देते हैं तो चित्तरूपी वित्त (धन) को हर लेते हैं, यथा—"एक नयन-मग छवि उर आनी । होहिं सिथिल तनु मन बर बानी ॥" (अ० दो० ११३) । 'चोरि जनु लेहीं', यथा—"हेरत हृदय हरत, नहिं फेरत चारु बिलोचन कीने । तुलसी प्रभु किधौं प्रभु को प्रेम पढ़े प्रगट कपट बिनु टोने ॥" (गी० अ० २३) ।

(४) 'तिलक-रेख सोभा जनु चाँकी ।'—(क) तिलक की दो रेखाएँ पीत रंग की हैं, बीच की श्री

लाल रंग की है। श्री का अर्थ शोभा भी होता है, शोभा का भी रंग लाल है। अतः, बीच की श्री शोभा हुई, वह बगल की दोनों रेखाओं से घिरी है। यही चाकना है, राशि के चारो ओर गोबर आदि से निशान रूप में घेरा करना भी चाकना है कि उसमें से कोई कुछ ले न सके, अर्थात् समस्त शोभा यहीं चाक उठी (घेरी गई) है, अब कहीं जा नहीं सकती। यहाँ तिलक के बीच की श्री को, शोभा की तुलना पर्यायी होने और रंग की समता से की है। उत्प्रेक्षा घिरी होने के भाव में है। वास्तव में दोनों रेखाएँ श्री के साथ तिलक रूप में ही हैं। श्रीगोस्वामीजी के द्वादशो ग्रन्थों में बहुत स्थलों पर तिलक का वर्णन है, पर दो रेखाओं का ही स्पष्ट वर्णन मिलता है, श्री का नहीं। इसी स्थल पर श्री संयुक्त सम्पूर्ण तिलक का भाव लिया जा सकता है। भगवान् का तिलक श्री संयुक्त ही होता है। (ख) तिलक की दोनों रेखाओं की शोभा बिजली की कान्ति की तरह है, यथा—"···तिलक कहउँ समुझाई। अलप तड़ित जुगरेख इंदु महँ रहि तजि चंचलताई॥" (वि० ६२)।

(५) 'रुचिर चौतनी सुभग···'—कटि से सिर तक का वर्णन किया, शेष अंग 'नख-सिख सुन्दर' से जना दिया। वीर-रस की मर्यादा से कटि के नीचे का वर्णन नहीं किया, फिर भी 'सोभा सकल सुदेस' से जना दिया। अन्यत्र तो कहा ही है।

यह भी कहा जाता है कि अन्यत्र प्राकृत शरीरों की शोभा एकरस नहीं रहती, उसमें कभी अकाल पड़ता है और श्रीरामजी दोनों भाई दिव्य-विग्रह हैं, यहाँ सदा एकरस शोभा रहती है, यही शोभा का 'सुदेस' है।

शोभा वर्णन का उपक्रम—'बालक बृंद देखि अति सोभा।' से हुआ है, यहाँ 'सोभा सकल सुदेस' पर उपसंहार है।

देखन नगर भूपसुत आये। समाचार पुरबासिन्ह पाये॥१॥
धाये धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी॥२॥
निरखि सहज सुंदर दोउ भाई। होहिं सुखी लोचन-फल पाई॥३॥

अर्थ—(जब) जनक पुरवासियों को यह समाचार मिला कि (दोनों) राजपुत्र नगर देखने आये हैं॥१॥ (तब) सब घर और घर के कार्य (सब) छोड़कर (ऐसे) दौड़े, मानों दरिद्र खजाना लूटने के लिये दौड़े हैं॥२॥ वे स्वाभाविक ही सुन्दर दोनों भाइयों को देख नेत्रों का फल पाकर सुखी होते हैं॥३॥

विशेष—(१) 'समाचार पुरबासिन्ह पाये'—प्रथम जब श्रीजनकजी मिलने आये थे, उनसे मुनि से संवाद हुआ था, यह सम्पूर्ण वृत्तान्त उनके मन्त्री, ब्राह्मण आदि से घर-घर पहुँच गया था। सभी राज-कुमारों के दर्शनों के इच्छुक थे, पर यहाँ किले पर पहरा था कि एकान्तवासी महात्मा आये हैं, बिना उनकी आज्ञा के वहाँ कोई न जाय। जैसे राजकुमार बाहर निकले, बालकगण साथ हो लिये, कुछ ने दौड़-दौड़कर अपने-अपने घरों में जनाया, कानोंकान सर्वत्र समाचार फैल गया।

(२) 'धाये धाम काम सब ·····'—घर का छोड़ना यह कि उसको फिक्र न रही। खुला फाटक था, तो वैसे ही छोड़कर चल दिया। 'काम सब'—जिस तरह श्रीमद्भागवत स्कंध १० अ० २६ में कहा गया है कि जो गोपियाँ दूध दुह रही थीं, वे दुहना छोड़कर चल पड़ीं, जिसने दूध आग पर चढ़ाया था, वैसे उफनाता हुआ दूध छोड़कर चल दी। जो आँख में काजल लगा रही थी, एक में अंजन लगा और एक वैसी ही छोड़कर चल खड़ी हुई, इत्यादि, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। यहाँ यह अन्तर है कि वहाँ भगवान् ने बाँसुरी-द्वारा गोपी-मात्र को आकर्षित किया था, इससे उनके पति आदि रोकनेवाले थे, पर यहाँ तो सभी दर्शनों के लिये उत्सुक हैं, सभी दौड़े जा रहे हैं, कौन किसे रोके? दृष्टान्त-द्वारा कवि लक्ष्य

करते हैं कि जैसे भारी खजाने को लूट सुनकर कँगले दौड़ते हैं और एक दूसरे को पीछे ढकेलते हुए पीछे की ओर नहीं देखते, वैसे इन सबकी दृष्टि घर की ओर नहीं है, यथा—"परिहरि राम लखन बैदेही। जेहि घर भाव बाम बिधि तेही ॥" (अ० दो० २७९), यथा—'जरउ सो संपति सदन सुख, सुहृद मातु-पितु भाइ। सनमुख होत जो रामपद, करइ न सहस सहाइ ॥" (अ० दो० १८५)। 'निधि'—यह निधि वह है, जिसके लिये मनु-शतरूपा ने २३ हजार वर्ष कठिन तप किया, तब उन्हें मिली। विश्वामित्रजी भी महान् तपःप्रभाव से दूसरे ब्रह्मा हो गये। वे भी इस निधि के लिये याचक बने, तब मिली, यथा—बिस्वामित्र महानिधि पाई।" (दो० २०८)। वही निधि ये पुरवासी लूट में पा रहे हैं। 'मनहुँ'—लीला-अनुरोध से प्रत्यक्ष सम्बन्ध अभी न होने से ये लोग कँगलों की तरह दौड़ रहे हैं। वास्तव में यह 'निधि' श्रीजानकीजी की है, यथा—"हरषे जनु निज निधि पहिचाने।" (दो० २३१) और ये लोग श्रीजानकीजी के परिकर हैं, तब इनकी भी ये 'निज निधि' ही हैं।

(३) 'निरखि सहज सुंदर दोउ भाई।··· ···'—दोनों भाइयों की सुन्दरता भूषण-वस्त्र आदि से नहीं है, किन्तु स्वाभाविक ही है, जैसे भूषण-वस्त्र-रहित वनवासी-स्वरूप की शोभा कही गई है, यथा · "रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम्। ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः ॥" (वाल्मी० ३।१।१४)।

'होहि सुखी लोचन भल पाई।—गुरुजी ने कहा था—'सुख-निधान' वही यहाँ 'होहिं सुखी' में चरितार्थ हुआ और 'करहु सुफल' के अनुसार ही यहाँ 'लोचन फल पाई' भी कहा गया है।

जुवती भवन झरोखन्हि लागी। निरखहिं रामरूप अनुरागी ॥४॥
कहहिं परस्पर बचन सप्रीती। सखि इन्ह कोटि-काम-छबि जीती ॥५॥
सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनियति नाहीं ॥६॥

अर्थ—युवती स्त्रियाँ घर के झरोखों से लगी हुई श्रीरामजी के रूप को अनुरक्त होकर देख रही हैं ॥४॥ आपस में एक दूसरी से प्रीतिपूर्वक बातें कह रही हैं कि हे सखी! इन्होंने तो करोड़ों कामदेवों की शोभा को जीत लिया है ॥५॥ देवताओं, मनुष्यों, दैत्यों, नागों और मुनियों में कहीं भी ऐसी शोभा सुनने में नहीं आती ॥६॥

विशेष—(१) 'जुवती भवन ·····'—पूर्व पुरवासी-प्रेम कहा गया था—"धाये धाम काम सब त्यागी।" उनमें ये युवतियाँ नहीं हैं। ये लज्जा के कारण बाहर नहीं जा सकीं, किन्तु घरों के जँगलों में जा लगीं और अनुरागपूर्वक राम-रूप देखने लगीं। स्त्रियों को शृंगार प्यारा होता है, शृंगाररस का रंग श्याम है, श्रीरामजी का रूप भी श्याम है। अतः, ये इन्हें ही देखती हैं। अनुराग की स्थिति ही ऐसी है कि जिसमें यह होता है, वही सर्वत्र दीखता है, यथा—"व्यापकता जो प्रीति की, ज्यों सुठि बसन सुरंग। नयन द्वार दरसै चटक, सो अनुराग अभंग ॥" यथा—"सरग नरक अपबरग समाना। जहँ-तहँ दीख धरे धनु बाना ॥" (अ० दो० १३०)।

(२) 'कहहिं परस्पर बचन·····'—प्रथम अनुराग-पूर्वक देखना कहा गया, अब तदनुसार बचन कहना भी प्रीतिपूर्वक ही है, अर्थात् देखते हुए प्रशंसा करती हैं। कहना मात्र कहा है। सब प्रेम में भरी हैं। उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि कौन सुनता है और मैं किससे कहती हूँ? यहाँ तक समष्टि में 'कहना' कहा गया।

'सखि इन्ह कोटि··· ·'—यहाँ सीताजी की पुरवासिनी अष्ट सखियों का संवाद प्रारम्भ होता है · करोड़ों कामों की छवियों को इन्होंने जीत लिया है। भाव, छवि-रूप धन के गर्व से करोड़ों कामदेवों ने रामजी का सामना किया, तो भी वे इनके समक्ष में लज्जित हो गये, यथा—"स्याम सरीर सुभाय सुहावन।

सोभा कोटि मनोज-लजावन।" (दो० ३२६) वा यह भी कहा जाता है, करोड़ों कामों की छवि को जीत कर ले लिया है। काम का सब छवि-रूप धन यहाँ ही आ गया है।

(३) 'सुर नर असुर नाग·····'—'सुर' से स्वर्ग, 'नर-मुनि' से मर्त्यलोक और 'असुर-नाग' से पाताल लोक जनाया। इन तीनो लोकों में ऐसी शोभा नहीं सुनी जाती। शोभा देखना आँख का विषय है, पर यहाँ उसका सुना जाना कहा गया है, क्योंकि ये सब कुलाङ्गनाएँ हैं, बाहर नहीं निकलतीं। फिर तीनो लोक घूमकर कैसे देख सकती हैं? इन्होंने पुराणों की सुनी हुई बात कही है। यह ग्रन्थकार की सँभाल है। राक्षसी शूर्पणखा ने कहा था—"मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं।" (अर० दो० १६)। इससे श्रीरामजी ने तुरन्त ही जान लिया कि यह कुलटा एवं राक्षसी है, क्योंकि कुलटा ही पुरुषों को देखती फिरती है और राक्षसी ही तीनो लोक भ्रमण कर सकती है। पात्र के अनुकूल शब्द-योजना इन्हीं महाकवि के बाँटे पड़ी है!

बिष्नु चारिभुज बिधि मुखचारी। बिकट बेष मुखपंच पुरारी ॥७॥
अपर देव अस कोउ न आही। यह छवि सखी पटतरिय जाही ॥८॥

दोहा—बयकिसोर सुषमासदन, स्यामगौर सुखधाम।
अंग-अंग पर वारियहि, कोटि-कोटि सत काम ॥२२०॥

शब्दार्थ—बिकट = भयंकर। पटतर = तुल्यता, समता। वारना = निछावर करना।

अर्थ—विष्णु भगवान् चार भुजाओंवाले, ब्रह्माजी चार मुखोंवाले और त्रिपुर दैत्य के शत्रु शिवजी पाँच मुखों तथा विकट वेषवाले हैं ॥७॥ हे सखी! और देवताओं में कोई ऐसा नहीं है, जिससे इस छवि की समता (उपमा) दी जाय ॥८॥ किशोर-अवस्था, सुषमा के घर, श्याम और गौर (वर्ण)—दोनों सुख के स्थान हैं। इनके एक-एक अंग पर करोड़ों-अरबों कामदेवों को निछावर कर देना योग्य है ॥२२०॥

विशेष—तीनो लोकों के प्रधान-प्रधान सुन्दर पुरुषों को गिनाती हैं। विष्णु भगवान् मुख्य हैं। अतः, प्रथम कहे गये, इनकी सुन्दरता प्रसिद्ध है, यथा—"अति सुन्दर सुचि सुखद सुसीला।" (दो० ७९)। ये क्षीर-सागर-निवासी हैं, सागर नीचे (पाताल) है। शिवजी की सुन्दरता—"कुन्द-इन्दु-दर गौर सुन्दरम्।" (उ० मं०), "नीलकंठ लावन्यनिधि" (दो० १०६), इनका लोक कैलास पृथ्वी पर है। ब्रह्माजी संसार भर के रचयिता हैं। अतः, स्वयं भी सुन्दर हैं। इनका लोक ऊपर है। देवताओं में काम से बढ़कर सुन्दर और कोई नहीं है।

ये सब सुन्दर होते हुए भी योग्य नहीं हैं, क्योंकि शरीर के प्रमाण से एक अंगुली भी अधिक होती है अथवा नाक-कान कोई अंग भारी होता है, तो शोभा जाती रहती है। यहाँ तो चार भुजाएँ, चार मुख और पाँच सिर हैं। शिवजी तो भयंकर वेषवाले हैं ही (देखिये दो० ६१, ९४)। फिर भी त्रिपुर के वध के समय क्रुद्ध होने पर मुख जैसा लाल हो गया था, वैसा रहता है, यह 'पुरारी' से ध्वनित है। देवताओं में काम से अधिक सुन्दर कोई नहीं है, और मनुष्य तो और भी न्यून हैं। अतः, इनके नाम नहीं गिनाये। काम में यहाँ कोई दूषण प्रकट नहीं कहा गया, पर 'अंग-अंग' की ध्वनि से जना दिया है कि इनके अंग-अंग में सुन्दरता है और उसका अंग ही जल गया है, इसीसे 'अनंग' कहाता है, यथा—"रति अति दुखित अतनु पति जानी" (दो० २४६)।

सखियों द्वारा इस छवि-वर्णन का उपक्रम—"सखि इन्ह कोटि काम-छवि जीती।" से हुआ और—"कोटि-कोटि सत काम।" पर यहाँ उपसंहार है, अर्थात् कोटि काम-छवि जीतने से प्रारम्भ

करके अन्त में करोड़ों-अरबों कामों के निछावर करने पर समाप्त किया गया। और लोगों के विषय में दोनों भाइयों की सुखनिधानता का चारितार्थ होना ऊपर कहा गया था। यहाँ युवतियों के विषय में भी केवल रामरूप में सुख-निधानता चरितार्थ हुई।

कहहु सखी अस को तनुधारी। जो न मोह यह रूप निहारी ॥१॥
कोउ सप्रेम बोली मृदु बानी। जो मैं सुना सो सुनहु सयानी ॥२॥
ये दोऊ दसरथ के ढोटा। बाल-मरालन्हि के कल जोटा ॥३॥
मुनि-कौसिक-मख के रखवारे। जिन्ह रनअजिर निसाचर मारे ॥४॥

अर्थ—हे सखी! कहो तो भला, ऐसा कौन शरीर-धारी होगा, जो यह रूप देखकर मोहित न हो जाय ॥१॥ कोई (दूसरी सखी) प्रेमपूर्वक कोमल वाणी में बोल उठी कि हे सयानी! मैंने जो सुना है, वह भी सुनो ॥२॥ ये दोनों महाराजा दशरथजी के ढोटा (पुत्र) हैं, बाल-हंसों के-से सुन्दर जोटे (जोड़े) हैं ॥३॥ विश्वामित्र मुनि के यज्ञ के रखवाले हैं, जिन्होंने लड़ाई के आँगन (मैदान) में राक्षसों को मारा है ॥४॥

विशेष—(१) 'कहहु सखी अस को···'—इस सखी ने केवल सुन्दरता कही, पूर्ण शोभा देखकर अन्त में—'अस को तनु···' कहती हुई रह गई। 'जो न मोह यह रूप···', यथा—"करतल बान धनुष अति सोहा। देखत रूप चराचर मोहा॥" (दो० २०३), अर्थात् चेतन की कौन कहे, जड़ भी मोहित हो जाते हैं।

(२) 'कोउ सप्रेम बोली मृदु···'—दोनों भाइयों की शोभा देखते हुए हृदय में प्रेम उमड़ आया। अतः, यह राजकुमारों की जाति, ऐश्वर्य, नाम आदि का परिचय देगी। प्रथम सखी की तरह यह भी सुनी हुई ही कहती है। 'सयानी'—इसका कथन समझना सयानों का ही काम है।

(३) 'ये दोऊ दसरथ के ढोटा···'—पिता का नाम, जाति क्षत्रिय और चक्रवर्त्ती के पुत्र आदि परिचय और ऐश्वर्य कहे गये। 'बाल-मरालन्हि के···'—इसमें सुन्दरता के साथ बाल-क्रीड़ा भी सूचित की। 'रन-अजिर'—जैसे बालक आँगन में खेलते हैं, उसी अवस्था में उसी प्रकार लीला-पूर्वक राक्षसों को मारा है। यहाँ तक दोनों भाइयों का साथ-साथ वर्णन किया, अब आगे पृथक्-पृथक् लक्षण कहती हैं—

स्यामगात कल कंजबिलोचन। जो मारीच-सुभुज-मद-मोचन ॥५॥
कौसल्यासुत सो सुखखानी। नाम राम धनुसायकपानी ॥६॥
गौर किसोर बेष बर काछे। कर सर चाप राम के पाछे ॥७॥
लछिमन नाम राम-लघु-भ्राता। सुनु सखि तासु सुमित्रा माता ॥८॥

दोहा—बिप्रकाज करि बंधु दोउ, मग मुनिबधू उधारि।
आये देखन चापमख, सुनि हरषीं सब नारि ॥२२१॥

शब्दार्थ—सुभुज=सुबाहु। काछे=बनाये, साजे, धारण किये। चापमख=धनुष-यज्ञ।

अर्थ—जिनका शरीर श्याम है और नेत्र सुन्दर कमल के समान हैं। जो मारीच और सुबाहु के गर्व को छुड़ानेवाले और सुख की खान हैं, वे कौसल्याजी के पुत्र हैं। वे धनुष और बाण हाथों में लिये हुए हैं—उनका नाम 'राम' है ॥५-६॥ जो गौर वर्ण, किशोर अवस्थावाले, सुन्दर वेष बनाये हुए और हाथों में धनुष-बाण लिये हुए रामजी के पीछे हैं ॥७॥ वे रामजी के छोटे भाई हैं, उनका नाम 'लक्ष्मण'

है। हे सखी ! सुनो, उनकी माता का नाम सुमित्राजी है ॥८॥ दोनों भाइयों ने विप्र विश्वामित्रजी का कार्य किया और मार्ग में श्रीरामजी ने गौतम मुनि की स्त्री का उद्धार किया और फिर दोनों भाई यहाँ धनुष-यज्ञ देखने के लिये आये हैं।—यह सुनकर सब स्त्रियाँ हर्षित हुईं ॥२२१॥

विशेष—इनमें 'कल-कंज-बिलोचन' और 'सुखखानि' श्रीरामजी के विशेषण श्रीलक्ष्मणजी में और श्रीलक्ष्मणजी के 'किसोर' और 'बेषबर काछे' विशेषण श्रीरामजी में लगा लेने चाहिये। माताओं के नाम इसने कैसे जाने ? (क) अवधेश महाराज चक्रवर्त्ती थे। अतः, इनकी प्रधान रानियों के नाम प्रसिद्ध थे। यह भी सम्भव है कि मिथिलेश महाराज के मन्त्री आदि ने मुनि के द्वारा सम्बन्ध भी जान लिया हो, उनसे इसने सुना हो। (ख) कहा जाता है कि जनकपुर की कोई तमोलिन अवध में ब्याही हुई थी। वह चक्रवर्त्ती के यहाँ पान देने जाती थी। उस समय वह मिथिला में ही आई हुई थी, उसीसे इसने सुना था, यही कहा। (विजय-दोहावली)।

'बिप्र-काज करि···'—'बिप्र-काज'—में वीर्य (वीरता) गुण है, क्योंकि थोड़ी ही अवस्था में संग्राम करके भयंकर राक्षसों को मारा है। 'मुनिबधू उधारि'—में प्रताप गुण है, क्योंकि चरण की धूलि मात्र से उसका उद्धार हुआ। इन दोनों गुणों से धनुष तोड़ने का विश्वास हुआ। इससे सब स्त्रियाँ हर्षित हुईं, क्योंकि धनुष के उठाने एवं तोड़ने में प्रथम वीरता चाहिये। फिर वह शिवजी का धनुष है, विष्णु भगवान् के क्रोध से जड़ हुआ है। अतः, वैसा प्रताप भी चाहिये, तब वह टूट सकता है। यही बात अहल्योद्धार में है, क्योंकि वह भी गौतम मुनि के क्रोध से शापित एवं जड़ थी, उसका जड़त्व खण्डन किया तो धनुष के जड़त्व का भी खण्डन करेंगे, ऐसी प्रतीति हुई, यथा—"परसि जासु पद-पंकज-धूरी। तरी अहल्या-कृत अघभूरी ॥ सो कि रहिहिं बिनु सिव-धनु तोरे। यह प्रतीति परिहरिय न भोरे ॥ तासु बचन सुनि सब हरषानी।···" (दो० २२२)। वैसे यहाँ भी हर्षित हुईं।

शंका—यहाँ 'मग मुनि बधू उधारि' यह कर्म दोनों भाइयों का क्यों कहा गया ?

समाधान—प्रकरण के अनुसार अर्थ की व्यवस्था करनी चाहिये। अहल्योद्धार केवल श्रीरामजी का जानना चाहिये, यथा—"सभय रानि कह कहसिकिन, कुसल राम महिपाल। लखन भरत रिपुदमन सुनि, भा कुबरी उर साल।" (अ० दो० १३), इसमें 'भरत रिपुदमन' को पृथक् करके अर्थ होता है, तथा—"हृदय सराहत सीय लोनाई। गुरु समीप गवने दोउ भाई ॥" (दो० २३६), इसमें भी 'सीय लोनाई' सराहने में केवल श्रीरामजी हैं, गुरु समीप जाने में दोनों भाई हैं, "मुठिकन्ह लातन्ह दातन्ह काटहिं।" (लं० दो० ५१), इसमें 'काटहिं' क्रिया केवल 'दाँतन्ह' के साथ लगानी चाहिये।

देखि रामछवि कोउ एक कहई। जोग जानकिहि यह बर अहई ॥१॥
जो सखि इन्हहिं देख नरनाहू। पन परिहरि हठि करइ बिबाहू ॥२॥
कोउ कह ये भूपति पहिचाने। मुनिसमेत सादर सनमाने ॥३॥
सखि परंतु पन राउ न तजई। बिधिबस हठि अबिबेकहि भजई ॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी की शोभा देखकर कोई एक (तीसरी) सखी कहने लगी कि जानकीजी के योग्य ये वर हैं ॥ ॥ हे सखी ! जो इन्हें राजा देख पावें तो प्रतिज्ञा छोड़कर हठपूर्वक (श्रीसीताजी के साथ इनका) विवाह कर दें ॥२॥ कोई (चौथी) सखी कहने लगी कि राजा ने इन्हें पहचान लिया है और मुनि के साथ आदरपूर्वक इनका सम्मान भी किया है ॥३॥ पर हे सखी ! राजा प्रतिज्ञा नहीं छोड़ते, बिधि के वश होने से वे हठ कर, अविवेक का ही सेवन करते हैं अर्थात् अविचार को ही लिये हुए हैं, (क्योंकि उन्होंने इन्हें जानकर भी प्रण नहीं छोड़ा) ॥४॥

विशेष—(१) 'देखि राम-छवि···'—दूसरी सखी के जिस वचन पर सब प्रसन्न हुई थीं उसीको यह पुष्ट करती है। यह छवि के मेल से योग्यता का निर्णय करती है, यथा—'येहि बिरंचि रचि सीय सँवारी अरु रामहिं ऐसो रूप दियो री ॥ तुलसिदास तेहि चतुर बिधाता निज कर यह संजोग सियो री ॥" (गी० बा० ७७)। पुनः 'जोग' से दूसरी सखी के कथन में घर, कुल आदि की भी योग्यता अनुकूल कहती है।

(२) 'जो सखि इन्हहिं···'—इस सखी को यह नहीं मालूम है कि जनकजी मिल चुके और राज-सदन में ही लाकर ठहराया है। (ये अष्ट सखियाँ नगर की रहनेवाली हैं, परन्तु श्रीकिशोरीजी की सखियों में हैं।) 'नरनाहू' अर्थात् राजा स्वार्थी होते हैं, स्वार्थ के लिये प्रतिज्ञा का त्याग भी कर सकते हैं। 'पन परिहरि हठि···' 'हठि' शब्द दीप-देहली है, अर्थात् मन्त्रियों के रोकने पर भी हठ करके प्रतिज्ञा तोड़ देंगे और हठ करके विवाह भी करेंगे, किसीके रोके नहीं मानेंगे।

(३) 'सखि परंतु पन राउ···'—तीसरी सखी के कथन का खण्डन यह चौथी सखी करती है कि यों तो राजा बड़े चतुर हैं, पर वे इस समय विधि के वश हो रहे हैं, यथा—"भूप-सयानप सकल सिरानी। सखि बिधि-गति कछु जात न जानी ॥" (दो० २५५)।

'राउ'—राजा लोग प्रण (बात) का हठ करते हैं, यथा—"नृप न सोह बिनु बात नाक बिनु भूषन।" (जानकी-मंगल ७४)।

(४) 'बिधि-बस हठि अबिबेकहिं भजई।'—विवेक से हानि-लाभ का विचार होता है, वह राजा का नहीं रह गया, यथा—"अहह तात दारुन हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभ न हानी ॥" (दो० २५७), 'अबिबेक' यथा—"जनक मन की रीति जानि बिरहित प्रीति, ऐसियौ मूरति देखे रह्यो पहिलो बिचारु। तुलसी नृपहिं ऐसो कहि न बुझावै कोऊ 'पन और कुँवर दोऊ प्रेम की तुला धौं तारु' ॥" (गी० बा० ८०)। अर्थात् प्रेमान्ध दृष्टि से ही राजा अविवेकी कहे जा रहे हैं—वह भी विधि की ओट लेकर!

कोउ कह जौ भल अहइ बिधाता। सब कहँ सुनिय उचित-फल-दाता ॥५॥
तौ जानकिहिं मिलिहिं बरु येहू। नाहिंन आलि इहाँ संदेहू ॥६॥
जौ बिधिबस अस बनइ सँजोगू। तौ कृतकृत्य होहिं सब लोगू ॥७॥
सखि हमरे आरति अति तातें। कबहुँक ये आवहिं येहि नातें ॥८॥

दोहा—नाहिं त हम कहँ सुनहु सखि, इन्हकर दरसन दूरि।
यह संघट तब होइ जब, पुन्य पुराकृत भूरि ॥२२२॥

शब्दार्थ—कृतकृत्य = कृतार्थ, परितुष्ट। आरति = बड़ी उत्कृष्ट लालसा वा आर्त्ति, दुःख। संघट = संयोग। पुराकृत = पूर्व जन्म का किया हुआ। भूरि = बहुत।

अर्थ—कोई (पाँचवीं) सखी कहने लगी कि जो विधाता अच्छे हैं और सुना जाता है कि वे सबको उचित फल देनेवाले हैं ॥५॥ तो श्रीजानकीजी को यही वर मिलेगा, हे सखी! इसमें सन्देह नहीं है ॥६॥ जो भाग्यवश ऐसा संयोग बन जाय तो हमसब लोग कृतार्थ हो जायँ ॥७॥ हे सखी! हमारे हृदय में बड़ी लालसा हो रही है, इससे ये कभी तो इस नाते से आवेंगे ॥८॥ नहीं तो (यदि यह नाता न हुआ, तो) हे सखी! सुनो, इनके दर्शन हम सबको दुर्लभ हैं। तभी यह संयोग हो सकता है, जब पूर्व के कई जन्मों के किये हुए बहुत पुण्य एकत्र हों ॥२२२॥

विशेष—(१) 'कोउ कह जौ भल···'—उचित फलदाता के सम्बन्ध से 'बिधाता' (विधानकर्त्ता) कहा, क्योंकि इससे भला योग विधाता को अन्य में नहीं मिल सकता।

(२) 'नाहिं न आलि इहाँ···'—'आलि'—क्योंकि ये सब भ्रमरी की तरह श्रीराम-मुख-कमल के छवि-रस को पान करती हुई, प्रीति-पूर्वक कथन-रूप गुंजार कर रही हैं। 'इहाँ'—अर्थात् राजा के प्रतिज्ञा-त्याग में संशय है, पर ऐसे संयोग के रहते विधाता के विषय में नहीं।

(३) 'सखि हमरे अति आरति···'—हमारे हृदय में बड़ी लालसा है, इससे प्रतीति होती है कि कभी भी तो ये इस नाते से आवेंगे, क्योंकि विधाता का नियम है कि जिसमें जिसकी सच्ची लालसा (चाह) रहती है, वह उसे मिलता है, यथा—"जाकर जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलत न कछु संदेहू॥" (दो० २५८), "निगम अगम साहिब सुगम, राम साँचिलो चाह। अंबु असन अवलोकियत, सुलभ सबै जग माँह॥" (दोहावली ८०)।

(४) 'यह संघट तब होइ जब, पुन्य···' यथा—"हम सब सकल सुकृत कै रासी। भये जग जनमि जनकपुर-बासी॥ जिन्ह जानकी-राम-छवि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेखी॥ (दो० ३०९)।

बोली अपर कहेहु सखि नीका। येहि बिबाह अति हित सबही का॥१॥
कोउ कह संकर-चाप कठोरा। ये स्यामल मृदुगात किसोरा॥२॥
सब असमंजस अहइ सयानी। यह सुनि अपर कहइ मृदु बानी॥३॥
सखि इन्हकहँ कोउ कोउ अस कहहीं। बड़ प्रभाव देखत लघु अहहीं॥४॥
परसि जासु पद-पंकज-धूरी। तरी अहल्या कृत - अघ-भूरी॥५॥
सो कि रहिहिं बिनु सिवधनु तोरे। यह प्रतीति परिहरिय न भोरे॥६॥

शब्दार्थ—असमंजस (असामञ्जस्य) = दुविधा, अड़चन। कृत अघभूरी = बहुत पाप की हुई, घोर पापिनी।

अर्थ—और (छठी) सखी ने कहा, हे सखी! तुमने अच्छी बात कही। इस विवाह से सभी का अत्यन्त हित है॥१॥ कोई (सातवीं सखी) कहने लगी कि शिवजी का धनुष कठोर है, और ये श्यामल (राजकुमार) कोमल शरीरवाले और किशोरावस्था के हैं॥२॥ हे सयानी! सब प्रकार असामञ्जस्य-ही-असामञ्जस्य है। यह सुनकर और (आठवीं) सखी ने कोमल वाणी में कहा॥३॥ हे सखी! इनके विषय में कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि ये बड़े प्रभाववाले हैं, देखने ही में छोटे हैं॥४॥ जिनके चरण-कमल की धूल (रज) को छूकर वह अहल्या तर गई, जिसने बहुत घोर पाप किये थे॥५॥ वे क्या शिवजी के धनुष को बिना तोड़े रहेंगे? यह विश्वास भूलकर भी नहीं छोड़ना चाहिये॥६॥

विशेष—(१) 'येहि बिबाह अति हित···'—औरों के विवाह में अपने सगे-सम्बन्धी लोगों का ही हित होता है, पर इस विवाह में सुर-मुनि, विप्र आदि सभी का हित है। पुनः 'अति हित', यथा—"कहहिं परस्पर कोकिलबयनी। येहि बिबाह बड़ लाभ सुनयनी॥ बड़े भाग बिधि···बारहिं बार सनेह बस···बिबिध भाँति···तब-तब राम···" (दो० ३०९-१०)।

(२) 'सब असमंजस···' कई अड़चनें हैं—जयमाल में पिता का प्रण बाधक है, प्रण की पूर्त्ति में शिवजी का कठोर चाप बाधक है और उसके तोड़ने में इनकी कोमलता बाधक है। 'संकर-चाप'—जब विष्णु के हुंकार से जड़ हो गया, तब शिवजी से भी नहीं लचा। फिर भला ये परम कोमलशरीर किशोरावस्था के बालक उसे कैसे तोड़ेंगे? हे सयानी! विचारो, यथा—"कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा॥ बिधि केहि भाँति धरउँ उर धीरा। सिरस सुमन कन बेधिय हीरा॥" (दो० २५७)।

'मृदु बानी'—क्योंकि कोमलवाणी से दिया हुआ उपदेश प्रभाव डालता है, सबको प्रबोध कर देगी।

(३) 'कोउ-कोउ अस···बड़ प्रभाव ···'—इनका प्रभाव जानना दुर्लभ है। अतः, कोई-कोई ही जानते हैं और वे ही कहते हैं, अर्थात् जो कोई श्रेष्ठ लोग राजा जनक के साथ गये थे और मुनि तथा विदेह का संवाद-प्रसंग सुना था वे ऐसा कहते हैं। उन्होंने—"मख राखेउ सब साखि जग, जिते असुर संग्राम।" (दो० २१६), यह भी सुना है, पर यह वीरता का सामान्य प्रभाव है, बड़े प्रभाव को आगे कहती है—

(४) 'परसि जासु ··· कृत अघभूरी।'—अहल्या पतिवंचकता (पति को धोखा देने) से घोर पापिनी थी, यथा—"पतिबंचक पर-पति रति करई। रौरव नरक कलप सत परई॥ छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समझ तेहि सम को खोटी॥" (अर० दो० ४)। वाल्मी० १।४८।२०-२१,३४ में इसकी पतिवञ्चकता स्पष्ट है। इसने गौतम से छिपाकर इन्द्र के साथ व्यभिचार में कृतार्थ होना माना है। वह भी चरण-रज से तर गई।

(५) 'यह प्रतीति परिहरिय न भोरे।'—जैसे दूसरी सखी के वचनों से प्रतीति हुई और उसपर हर्ष भी हुआ था, वह थोड़ी ही देर में छूट गई, वैसे यह प्रतीति भूलकर भी न त्यागना। आगे पाँचवीं की संशयात्मक बातों को भी पुष्ट करती है—

जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि श्यामल बर रचेउ बिचारी॥७॥
तासु बचन सुनि सब हरषानी। ऐसेइ होउ कहहिं मृदु बानी॥८॥

दोहा—हिय हरषहिं बरषहिं सुमन, सुमुखि-सुलोचनि-बृंद।
जाहिं जहाँ जहँ बंधु दोउ, तहँ तहँ परमानंद॥२२३॥

अर्थ—जिस ब्रह्मा ने श्रीसीताजी को सँवारकर बनाया है, उसीने विचारकर श्यामल वर को भी रचा है॥७॥ इसके वचन सुनकर सब प्रसन्न हुईं और कोमल वाणी में कहने लगीं कि ऐसा ही हो॥८॥ सुन्दर मुखों और सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्रियों के झुंड हृदय में आनन्दित होते और फूल बरसा रहे हैं। जहाँ-जहाँ दोनों भाई जाते हैं, वहीं-वहीं परम आनन्द होता है॥२२३॥

विशेष—(१) 'जेहि बिरंचि···तेहि···'—भाव यह कि जो बड़े श्रम से रचा जाता है, वह व्यर्थ नहीं किया जाता। यदि श्रीसीताजी को साँवला वर न मिला तो फिर उनका बनाया जाना ही व्यर्थ हो जायगा। अतः, चतुर विधाता चूकनेवाला नहीं है। ऊपर दो० २२१ चौ० १ का विशेष भी देखिये।

अलंकार—'सम प्रथम', क्योंकि यथायोग्य संग कहा गया है।

(२) 'तासु बचन सुनि ···'—'सब' अर्थात् चौथी और पाँचवीं के संशय दूर हुए और सातवीं के 'असमंजस' का भी सामञ्जस्य हो गया। इससे सभी हर्षित हुईं। 'ऐसेइ होउ'—सातवीं ने भी कहा कि मेरी वाणी असत्य हो जाय, तेरी ही वाणी सत्य हो।

अष्ट सखियों के संवाद पर दार्शनिक दृष्टि—श्री जानकीजी से श्रीरामजी का विवाह हो जाय, इसपर सब विचार करने लगीं। अतः, यही विषय वाक्य है। इसमें पहली सखी ने श्रीरामजी की लोकोत्तर सुन्दरता कहते हुए,—"अस को तनुधारी। जो न मोह···" से सबको इनकी ओर आकर्षित किया। फिर दूसरी ने परिचय, योग्यता और राजा की प्रण-पूर्त्ति का सामर्थ्य भी इनमें लक्षित किया। तीसरी ने—'जोग जानकिहि यह बर अहई।' से विषय को प्रस्तुत कर दिया कि राजा के देखने मात्र की देर है—विवाह अवश्य होगा।

चौथी सखी ने राजा का प्रण न छोड़ना कहकर संशय किया कि उन्होंने विधिवश होकर प्रण का

हठ कर रक्खा है। इस अविवेक का क्या उपाय है? पाँचवीं सखी ने विधि की ही शरण में उपाय निकाला, परन्तु इसने 'जौ बिधि-बस···', 'नाहि त हम···' आदि वाक्यों से विधि की अनुकूलता में भी संशय ही रक्खा। पाँचवीं का विचारा हुआ उपाय—"हमरे अति आरति ··" था कि उत्कृष्ट लालसा को ब्रह्मा पूरी करते हैं, उसीमें सबको नियुक्त करने के लिये छठी सखी ने—'अति हित सबही का' कहा कि जिससे सभी की वैसी ही चाह हो, तो ब्रह्मा पूरी करें। अतः, ये तीनों 'संशय' में ही रह गईं।

सातवीं सखी ने शंकर-चाप की असाधारण कठोरता दिखाकर सबको असमञ्जस्य में डाल दिया कि जो शिवजी से भी नहीं लचा, उसे ये कैसे तोड़ सकेंगे? अतः, इनसे विवाह न हो सकेगा। यह 'पूर्व पक्ष' हुआ।

आठवीं सखी ने श्रीरामजी में धनुष तोड़ने का सामर्थ्य 'बड़ प्रभाव' से दिखाया और ब्रह्मा की अनुकूलता का भी पुष्ट प्रमाण देकर 'सिद्धान्त' कर दिया। फिर इस सिद्धान्त को सबने मुक्तकंठ से सहर्ष स्वीकार किया—'ऐसेइ होउ'। अतः, अभीष्ट विषय निश्चित कर हृदय से हर्ष के साथ फूल बरसाने लगीं।

यह संवाद पुष्पवाटिका-प्रसंग का कारण भी है, यहाँ सिद्धान्त करके इन सखियों ने राजकुमारों को पुष्पवाटिका में दूसरे दिन प्रातःकाल आने का संकेत किया है, आगे—'बरषहिं सुमन' प्रसंग देखें।

(३) 'हिय हरषहिं बरषहिं ··'—दिग्दर्शन की रीति से एक जगह का आनन्द ग्रन्थकार ने कहा। फिर कहते हैं कि जहाँ-जहाँ दोनों भाई जाते हैं, वहीं-वहीं ऐसा ही आनन्द होता है, यथा—"गाँव-गाँव अस होइ अनंदू। देखि भानु-कुल-कैरव-चंदू॥" (अ० दो० १२१)। श्रीरामजी के यश-वर्णन के सम्बन्ध से स्त्रियों को 'सुमुखि' और दर्शन-सम्बन्ध से 'सुलोचनि' कहा है।

(४) 'बरषहिं सुमन···'—राजकुमारों के स्वागत में भीतर से हर्ष प्रकट करती हैं और बाहर से फूल बरसाती हैं। सुन्दर मुखों से इनके यश वर्णन करती हैं और सुन्दर नेत्रों से दर्शन करती हैं।

फूल बरसाने के और भी भाव कहे जाते हैं—(क) पुष्प-वृष्टि करके मार्ग को इनके कोमल चरणों के अनुसार कोमल बनाती हैं। (ख) पुष्पवृष्टि मंगल का अंग है, यथा—"सुनह सुमंगल अवसर जाना। बरषहिं सुमन···" (दो० ३१३)। अतः, इनका मंगल बना रही हैं। (ग) श्रीरामजी बालकों के साथ सीधे चले जा रहे हैं, उनके ऊपर फूल बरसाने से ऊपर की ओर दृष्टि करेंगे तो वे कटाक्ष युक्त मुखारविन्द के दर्शन करेंगी। (घ) ये पुष्पवृष्टि-द्वारा क्रिया-चातुरी से संकेत कर रही हैं कि कल पुष्प-वाटिका में आइयेगा। सिर से लेकर फूल गिराती हैं कि हमारी स्वामिनी श्रीजानकीजी भी वहाँ आवेंगी। श्रेष्ठ फूल गुलाब एवं कमल बरसा कर सूचित करती हैं कि इनके खिलने के समय (प्रातःकाल) आना। इन फूलों के स्थल तालाब एवं उनके तट हैं, वहीं आकर रहना। फूल देवता को चढ़ते हैं, वे लोग देवी-पूजन को आवेंगी, आप भी देवी के मन्दिर के पास फूल लेने के बहाने से आइयेगा। (ङ) 'सु + मन' अपने-अपने सुष्ठु मन को न्योछावर करती हैं।

पुर पूरब दिसि गे दोउ भाई। जहँ धनु-मख-हित भूमि बनाई॥१॥
अति बिस्तार चारु गच ढारी। बिमल बेदिका रुचिर सँवारी॥२॥
चहुँ दिसि कंचनमंच बिसाला। रचे जहाँ बैठहिं महिपाला॥३॥
तेहि पाछे समीप चहुँ पासा। अपर मंच - मंडली बिलासा॥४॥

शब्दार्थ—भूमि बनाई = रंगभूमि, उत्सव के लिये सजाई हुई भूमि। गच = पक्का फर्श जो चूने और सुरखी के मेल से रंग-बिरंग का बना हुआ रहता है, यथा—"जातरूप-मनि-रचित अटारी। नाना रंग रुचिर गच ढारी॥" (उ० दो० २६), काँच का फर्श। ढारी = ढली हुई। गच ढारी = ढालुवाँ गच, यथा—"महि बहु रंग रचित गच काँचा।" (उ० दो० २६)। बेदिका = बेदी। मंच = मचान।

अर्थ—दोनों भाई नगर की पूर्व दिशा की ओर गये, जहाँ धनुष-यज्ञ के लिये भूमि बनाई गई थी ॥१॥ बहुत लम्बी-चौड़ी सुन्दर पक्की गच ढालुआँ बनाई गई थी, उसपर निर्मल सुन्दर वेदी सँवारी गई थी ॥२॥ (उस वेदी के) चारों ओर बड़े-बड़े सोने के मचान रचे (सुन्दर बने) हुए थे, जहाँ राजा लोग बैठें ॥३॥ उनके पीछे चारों ओर निकट ही और भी मंच (उन प्रत्येक राजाओं की अपनी) मंडली के लोगों के विलास (बैठने) के लिये हैं अर्थात् आगे राजा रहते हैं, उनके पीछे छत्र-चँवरबरदार आदि, बगल में मन्त्री आदि एवं उनके विभव-विलास का समाज रहता है ॥४॥

कछुक ऊँचि सब भाँति सुहाई । बैठहिं नगर लोग जहँ जाई ॥५॥
तिन्ह के निकट बिसाल सुहाये । धवलधाम बहुबरन बनाये ॥६॥
जहँ बैठे देखहिं सब नारी । जथाजोग निज कुल - अनुहारी ॥७॥
पुर-बालक कहि कहि मृदुबचना । सादर प्रभुहिं देखावहिं रचना ॥८॥

दोहा—सब सिसु येहि मिस प्रेमबस, परसि मनोहर गात ।
तनु पुलकहिं अति हरष हिय, देखि देखि दोउ भ्रात ॥२२४॥

अर्थ—जो (पूर्वोक्त मंचों से) कुछ ऊँचे पर और सब भाँति सुन्दर था, जहाँ जाकर नगर के लोग बैठें ॥५॥ उनके पास बहुत लम्बे-चौड़े सुहावने श्वेत घर रंग-विरंग के बनाये गये थे ॥६॥ जहाँ बैठकर सब स्त्रियाँ अपने कुल के अनुसार यथायोग्य रीति से देखें ॥७॥ जनकपुर के बालक कोमल वचन कह-कहकर आदरपूर्वक प्रभु श्रीरामजी को सारी रचना दिखाते हैं ॥८॥ सब बच्चे इस बहाने प्रेम के वः हो (इनके) मनोहर शरीर को छू-छूकर शरीर में पुलकते (रोमांचित होते) हैं और इन दोनों भाइयं को देख-देखकर उनके हृदय में अत्यन्त आनन्द होता है ॥२२४॥

विशेष—वेदी के चारों ओर प्रथम आवृत्ति राजाओं के मचानों की है, दूसरी आवृत्ति उनकी मंडली-विलास की है, तीसरी आवृत्ति पुरजनों के बैठकों की है और चौथी आवृत्ति स्त्रियों के लिये है। इसमें चौमहला मचान बने हैं जहाँ ऊपर ब्राह्मणी, फिर क्षत्राणी, इत्यादि क्रम से बैठें।

'सब सिसु येहि मिस'''—रचना दिखाने के बहाने हाथ पकड़कर कहते हैं, यह वस्तु तो देखिये। यहाँ कुछ श्रीराम-रहस्य भी है। सब बच्चे रचना दिखाते हैं, सब मनोहर शरीर स्पर्श करते हैं और सभी अपनी-अपनी रुचि से अपनी ओर बुला लेते हैं। यह आगे कहते हैं। अतः, भगवान् अनेक रूप होकर सबकी रुचि पूर्ण करते हैं, यथा—"अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथायोग मिले सबहि कृपाला ॥" (उ० दो० ५), "अस कपि एक न सेना माहीं। राम-कुसल जेहि पूछा नाहीं ॥" (कि० दो० २१)।

यद्यपि ये सब प्रेमवश हैं, तो भी भगवान् में अमित तेज देखकर स्पर्श नहीं कर सकते। दिखाने के बहाने स्पर्श करते हैं, इससे यहाँ 'पर्यायोक्ति-अलंकार' है, 'मिस करि कारज साधिये' यह इसका लक्षण है। यह भी सूचित किया कि प्रभु का स्पर्श कर्मकाण्डी, ज्ञानी आदि नहीं कर सकते, यह सौभाग्य प्रेमी ही को है, यथा—"रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा ॥" (अ० दो० १३६)।

प्रभु का शरीर दिव्य एवं सच्चिदानन्दमय है। अतः, स्पर्श होते ही आनन्द भर जाता है तो पुलक आदि लक्षण भी हो आते हैं, यथा—"परसत पद पावन·····अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा···" (दो० २१०)। "हरषि बंधु दोउ हृदय लगाये। पुलक अंग-अंबक जल छाये ॥" (दो० ३०६), "लागे पखारन पाय पंकज प्रेम तनु पुलकावली।" (दो० ३२३)। वैसे यहाँ बालकों की भी पुलकावली कही गई है। यहाँ बालकों के मन, वचन, कर्म तीनो श्रीरामजी में लगे हैं—'अति हरष हिय'—मन, 'कहि कहि मृदु बचना'—वचन, और 'परसि मनोहर गात'—कर्म।

सिसु सब राम प्रेमबस जाने। प्रीतिसमेत निकेत बखाने ॥१॥
निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई ॥२॥
राम देखावहिं अनुजहिं रचना। कहि मृदु मधुर मनोहर बचना ॥३॥
लवनिमेष महँ भुवन-निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया ॥४॥
भगति - हेतु सोइ दीनदयाला। चितवत चकित धनुष-मख-साला ॥५॥

अर्थ—श्रीरामजी ने सब बच्चों को प्रेम के वश जानकर प्रीतिपूर्वक निकेत (उनके दिखाये हुए रंगभूमि के स्थानों) की बड़ाई की ॥१॥ अपनी-अपनी रुचि के अनुसार वे सब इन दोनों भाइयों को बुला लेते हैं और ये प्रेमपूर्वक (उन स्थलों को देखने के लिये) जाते हैं ॥२॥ कोमल, मीठे और मनोहर वचन कहकर श्रीरामजी भाई लक्ष्मणजी को (रंगभूमि की) रचना दिखाते हैं ॥३॥ जिनकी आज्ञा से लव-निमेष (निमेष=पल। लव=निमेष का साठवाँ भाग) में माया समस्त लोकों को बना डालती है ॥४॥ भक्ति के कारण वे ही दीनदयालु धनुष-यज्ञ-शाला को चकित होकर देख रहे हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'निज निज रुचि···'—अर्थात् श्रीरामजी प्रेमियों की रुचि रखते हैं, यथा—"राम सदा सेवक-रुचि राखी।" (अ० दो० २१८)। 'दोउ भाई'—दोनों भाइयों का रहस्य कह रहे हैं कि सब शिशु दोनों भाइयों को भिन्न-भिन्न स्थानों पर ले जाते हैं। ये प्रत्येक के साथ जाते हैं, यथा—"जो जेहि भाव रहा अभिलाखी। तेहि-तेहि कै तसि-तसि रुख राखी॥" (अ० दो० २४३)।

(२) 'राम देखावहिं अनुजहिं···'—रामजी ने गुरुजी से कहा था कि—'नगर देखाइ···' उसी। चरितार्थ कर रहे हैं। यह रचना बालकों ने दिखाई है। अतः, उनके सन्तोष एवं स्नेह-वृद्धि के लिये उनका चमत्कार भाई को दिखाते और प्रशंसा करते हैं। मृदु-मधुर भाषण करना तो इनका स्वभाव ही है।

(३) 'लव निमेष महँ···'—जहाँ-जहाँ विशेष माधुर्य देखते हैं, वहाँ-वहाँ ग्रन्थकार ऐश्वर्य कह देते हैं जिससे किसीको मोह न हो, यथा—"व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम-भगति-बस, कौसल्या के गोद॥" (दो० १९८)। वैसे यहाँ भी ऐश्वर्य कहा है।

(४) 'भगति-हेतु'—भक्ति की महिमा दिखाने के लिये ऐसे चरित करते हैं जिससे लोग जान लें कि भगवान् भक्ति के अधीन हैं, भक्त की रुचि के पोषक हैं।

कौतुक देखि चले गुरु पाहीं। जानि बिलंब त्रास मन माहीं ॥६॥
जासु त्रास डर कहँ डर होई। भजनप्रभाव देखावत सोई ॥७॥
कहि बातैं मृदु मधुर सुहाई। किये बिदा बालक बरिआई ॥८॥

दोहा—सभय सप्रेम बिनीत अति, सकुच सहित दोउ भाइ।
गुरु-पद-पंकज नाइ सिर, बैठे आयसु पाइ ॥२२५॥

अर्थ—(भगवान् श्रीरामजी) वहाँ का कौतुक देखकर गुरुजी के पास चले, विलम्ब हुआ, यह जानकर उनके मन में डर है ॥६॥ जिनके डर से (साक्षात्) डर को भी डर होता है, वे ही भगवान् अपने भजन का प्रभाव दिखाते हैं ॥७॥ कोमल, मीठी और सुहावनी बातें कहकर बालकों को बलात् बिदा कर दिया ॥८॥ दोनों भाई अत्यन्त भय, प्रेम, नम्रता और संकोच के साथ गुरुजी के चरण-कमलों में सिर झुका उनकी आज्ञा पाकर बैठ गये ॥२२५॥

विशेष—(१) 'कौतुक देखि'—जब तक कौतुक देखने में मन लगा था, समय नहीं जान पड़ा था, अब विलम्ब जानकर डरे कि कहीं मुनि पूछ न बैठें कि इतनी देर क्यों लगाई ? यही माधुर्य है।

(२) 'जासु त्रास डर कहँ डर···'—बस, यहाँ फिर ऐश्वर्य कहने लगे। 'डर कहँ डर'—सबको काल से डर होता है, वह काल भी भगवान् से डरता है, यथा—"ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया ॥"···ते फलभच्छक कठिन कराला। तव डर डरत सदा सोउ काला ॥" (अर० दो० १२), तथा—"भीषाऽस्माद्वातः पवते ॥ भीषोदेति सूर्यः ॥ भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च ॥ मृत्युर्धावति पञ्चम इति ॥" (तैत्त० २।८), इस परमात्मा के भय से वायु चलती है, सूर्य उदित होता है, अग्नि, इन्द्र और मृत्यु भी दौड़ती है।

'भजन-प्रभाव देखावत सोई'—अर्थात् वे ही भगवान् भजन करनेवाले को पुत्र, शिष्य आदि बनकर सुख देते हैं, उसके अधीन रहते हैं, उससे डरते हैं, यथा—"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।" (भाग० ९।४।६३)।

(३) 'कहि बातैं मृदु मधुर···'—पुर-बालकों के बर्ताव—"पुर बालक कहि-कहि मृदु बचना। सादर···" तदनुसार—"कहि मृदु मधुर मनोहर बचना" एवं यहाँ "कहि बातैं मृदु मधुर सुहाई। बिदा किये बालक···" क्योंकि "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥ (गीता ४।११), यह यहाँ चरितार्थ है। बालक लोग साथ ही आकर डेरा देखना चाहते थे जिससे बराबर दर्शन हों, परन्तु मुनियों के यहाँ भीड़-भड़क्का ठीक नहीं, इसलिये उन बालकों को बलात् बिदा कर दिया, यथा—"किये धरम-उपदेस घनेरे। लोग प्रेम-बस फिरैं न फेरे ॥ सील सनेह छाड़ि नहिं जाई।" (अ० दो० ८४)। यहाँ बालकों का शील-स्नेह निबाहने के लिये 'मृदु मधुर सुहाई' बातें कहीं कि आपलोगों के माता-पिता राह देखते होंगे, देर होने से चिन्तित होंगे। इससे अब जाइये, हम फिर मिलेंगे, इत्यादि। मिलने का वादा 'सुहावना' है। एक पहर समय लगा, क्योंकि 'दिवस रहा भरि जाम' पर गये थे और आगे 'निसिप्रबेस ·' कहा है।

(४) 'सभय सप्रेम बिनीत ·'—देर होने में भय है। गुरु के प्रणाम-सम्बन्ध से प्रेम है, यथा—"रामहिं सुमिरत, रन भिरत, देत, परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तनु, ते जग जीवत जाय ॥" (दोहावली ४२)। 'बिनीत'—क्योंकि श्रीरामजी धर्मसेतु के रक्षक हैं। 'सकुच' आदि में भी था और यहाँ अन्त में भी है, क्योंकि पृथक् होकर खेल देखने गये थे, जिससे प्रौढ़ता नहीं समझी जाय।

निसिप्रबेस मुनि आयसु दीन्हा। सब ही संध्याबंदन कीन्हा ॥१॥
कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी ॥२॥
मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई। लगे चरन चाँपन दोउ भाई ॥३॥
जिन्ह के चरनसरोरुह लागी। करत बिबिध जप जोग बिरागी ॥४॥
तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुरु-पद-कमल पलोटत - प्रीते ॥५॥

शब्दार्थ—प्रबेस (प्रवेश) = आगमन। चाँपना—दबाना, पलोटना। संध्या-बंदन = भारतीय द्विजातियों का एक विशिष्ट कर्म जो नित्य प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्या समय होता है।

अर्थ—रात आने के समय मुनि ने आज्ञा दी, तब सभी ने सन्ध्योपासना की ॥१॥ फिर इतिहास की पुरानी कथाएँ कहते हुए सुन्दर रात दो पहर बीत गई ॥२॥ तब मुनि-श्रेष्ठ विश्वामित्रजी ने (आसन पर) जाकर शयन किया और दोनों भाई उनके पाँव दबाने लगे ॥३॥ वैराग्यवान् लोग जिनके चरण-कमलों के लिये तरह-तरह के जप-योग करते हैं ॥४॥ मानों प्रेम से जीते हुए वे ही दोनों भाई प्रीतिपूर्वक गुरु के चरणकमलों को दबा रहे हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'आयसु दीन्हा'—क्योंकि धर्म के लिये शासन करना गुरु का धर्म है। 'सब ही' मुनिगण और राजकुमार आदि सभी ने सन्ध्या-वन्दन कर लिया, क्योंकि शीघ्र ही कथा में उपस्थित होना है।

(२) 'कहत कथा इतिहास ···'—ऐसी पुरानी और अनूठी कथा कहने लगे, जिसमें प्रेम से आधी रात बीत गई। कथा सुनते हुए बीतनेवाली रात्रि को 'रुचिर' कहा है, क्योंकि जो समय भगवान् की कथा-वार्त्ता में बीते, वही सुन्दर है। इस तरह कथा का माहात्म्य कहा। यह भी कहा जाता है कि फूल के संकेत के अनुसार प्रातःकाल की अभिलाषा है, उसमें कथा से आधी रात तो सुन्दर रीति से बीती, अब शेष उद्वेग से कटेगी।

विश्वामित्रजी चिरकालीन ऋषि हैं। अतः, प्राचीन ही कथाएँ प्रायः कहा करते हैं—"भगति हेतु बहु कथा पुराना।···" (दो० २०९), "कौसिक कहि-कहि कथा पुरानी। समुझाई सब सभा सुबानी॥" (अ० दो० २७७)। देश के अनुरोध से कोई-कोई यहाँ पर राजा निमि और वसिष्ठ मुनि की कथा का होना कहते हैं।

(३) 'मुनिवर सयन कीन्ह···'—'जाई' अर्थात् कथा के स्थल से शयनागार पृथक् है।

(४) 'करत बिबिध जप जोग···'—वैराग्यवान् भी जप-योग आदि करते रहते हैं, फिर भी उनमें से किसी विरले ही को भगवान् मिलते हैं, वे भगवान् भी प्रेम से अनायास वश हो जाते हैं। मुनि का प्रेम—"कौसिक-रूप पयोनिधि पावन। प्रेम बारि अवगाह सुहावन॥ राम-रूप राकेस निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी॥" (दो० २६१), "दीन्हि असीस बिप्र बहु भाँती। चले न प्रीति-रीति कहि जाती॥" (दो० ३५९)। इसी प्रेम से वशीभूत होकर भगवान् मुनि के पैर दबा रहे हैं!

श्रीजनकपुर में आज पहली रात है। अतः, रात्रि-चर्या का वर्णन कर दिया। इसी प्रकार नित्य समझना चाहिये। जैसे उत्तरकाण्ड में श्रीसीताजी की चर्या एक जगह कह दी तो नित्य की समझी जाती है। यह भी कहा जाता है कि आज की चर्या इसलिये कह रहे हैं कि कल श्रीकिशोरीजी के प्रेम में विह्वल रहेंगे, तब इस चर्या में अन्तर पड़ेगा, जिससे वह भेद जाना जाय।

बार बार मुनि आज्ञा दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही॥६॥
चाँपत चरन लखन उर लाये। सभय सप्रेम परम सचुपाये॥७॥
पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता। पौढ़े धरि उर पद - जलजाता॥८॥

दोहा—उठे लखन निसिबिगत सुनि, अरुनसिखा-धुनि कान।
गुरु ते पहिले हि जगतपति, जागे राम सुजान॥२२६॥

अर्थ—जब मुनि ने कई बार आज्ञा दी, तब श्रीरघुनाथजी ने जाकर शयन किया॥६॥ श्रीलक्ष्मणजी राम-चरणों को हृदय से लगाये हुए डर और प्रेम से आनन्द-पूर्वक दबा रहे हैं॥७॥ प्रभु श्रीरामजी ने बार-बार कहा, हे तात! सोओ। तब हृदय में चरण-कमल रखकर लेट गये॥८॥ रात बीतने पर मुर्गे (कुक्कुट) के शब्द कानों से सुनकर श्रीलक्ष्मणजी उठ गये, संसार के स्वामी सुजान श्रीरामजी श्रीगुरुजी से पहले ही जाग गये॥२२६॥

विशेष— (१) 'बार बार मुनि···'—श्रीरामजी बार-बार कहने पर शयन करने के लिये गये, क्योंकि सेवा, भोजन और दान में गुरुजन की आज्ञा नहीं माननी चाहिये—"सेवा भोजन दान में, आज्ञा-भंग न दोष। पुनि-पुनि गुरुजन रोकहीं, तऊ न कीजे तोष॥" यह कहावत है, इसीसे बिना आज्ञा लिये ही चरण दाबते और बार-बार कहने पर भी नहीं छोड़ते थे। एक बार ही कहने पर

सेवा छोड़ देने से सेवक की अश्रद्धा समझी जाती है और यदि स्वामी बार-बार आज्ञा न दे तो उसमें कठोरता पाई जाती है। यहाँ दोनों में उत्तमता है। 'रघुबर जाइ···'—श्रीरामजी ही को शयन की आज्ञा दी, लक्ष्मणजी को नहीं, क्योंकि वे श्रीरामजी के भी सेवक हैं। गुरुजी उन्हें सोने की आज्ञा देते, तो उनका सेवक-धर्म भंग होता और शयन नहीं करते तो गुरु की आज्ञा टलती। 'जाइ'—क्योंकि गुरु के सामने सोना निषेध है, आगे प्रमाण देखिये।

(२) 'चाँपत चरन लखन·····'—अति प्रिय होने से चरण हृदय में लगाये हैं। 'सभय'—कहीं मेरे हाथ कड़े न पड़ें, जिससे सरकार की निद्रा भंग हो जाय, एवं कहीं मेरे हाथ चरणों में न गड़ जायँ वा सोने की आज्ञा शीघ्र ही न दे दें। 'सप्रेम'=अति दुर्लभ वस्तु चरण-सेवा है, यथा—"सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन-सेवकाई।" (लं० दो० २१), उसकी प्राप्ति से उसमें प्रेम है। श्रेष्ठ सेव्य बड़े भाई जानकर भी प्रेम है। 'परम सचुपाये'—समग्र सेवा का अधिकार यहाँ मुझ अकेले ही को आज प्राप्त है, इससे आनन्द है, घर में और भाई भी बँटा लेते थे, यथा—"सेवहिं सानुकूल सब भाई।" (उ० दो० २४)। पुनः चरण-सेवा का महत्त्व इनकी दृष्टि में अत्यन्त अधिक है, इसीसे उसकी प्राप्ति में अति आनन्द है।

(३) 'पौढ़े उर धरि पद·····'—चरण कमल हैं तो लक्ष्मणजी का हृदय सरोवर है। इस तरह जाग्रत् के समान ही स्वप्न की भी वृत्ति रहती है। 'पौढ़े'—इन्हें 'पौढ़े' मात्र लिखा है, वैसे ही आगे 'उठे लखन' कहा है अर्थात् ये सर्वत्र श्रीरामजी की सेवा में बड़े सावधान रहते हैं, यथा—"सयन कीन्ह रघुबंसमनि, पाय पलोटत भाइ॥" "उठे लखन प्रभु सोवत जानी। ···जागन लगे बैठि बीरासन॥" (अ० दो० ८९), "प्रभु पाछे लछिमन बीरासन। कटि निषंग कर बान सरासन॥" (लं० दो० १०) यहाँ तो श्रीरामजी मुनि की सेवा में हैं, वे सो रहे हैं, कहीं मुनि को कोई काम पड़े, उसे मैं कर दूँगा, तो श्रीरामजी को सेवा-विक्षेप (बाधा) का दुःख न होगा। यह भी भाव है। ग्रन्थकार ने कहीं भी बाहर श्रीरामजी के साथ में इनका सोना नहीं लिखा।

(४) 'उठे लखन निसि·····'—यहाँ से दोनों भाइयों की दिन की चर्या कहते हैं। जिस क्रम से सोना कहा गया, उसके व्यतिक्रम से जागना कहते हैं। सबसे पीछे लक्ष्मणजी लेटे थे, पहले ही उठे। तब श्रीरामजी जागे, पीछे मुनि, क्योंकि धर्म की ऐसी ही मर्यादा है, यथा—"हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ। उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्॥" (मनु० २।१९४), अर्थात् गुरुजी के समीप वस्त्रहीन वेष नहीं रहना चाहिये, गुरु से पीछे सोवे और पहले जागे। इसीसे यहाँ श्रीरामजी को 'सुजान' और 'जगत्पति' कहा है। 'सुजान', यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥" (अ० दो० २५३)। 'जगतपति' हैं, इसलिये जगत् को धर्म-मर्यादा का उपदेश कर रहे हैं, यथा—"मर्त्यावतारस्त्विहमर्त्यशिक्षणं·····" (भाग० ५।१९।५), तथा—"नीच ज्यों टहल करैं, राखे रुख अनुसरैं, कौसिक से कोही बस किये दुहुँ भाई हैं॥" (गी० बा० ६९)। धर्म से ही जगत् का पालन होता है—"धर्माद्धारयते प्रजाः" कहा है, यथा—"बरनाश्रम निज-निज धरम निरत···चलहिं सदा पावहिं सुख, नहिं भय सोक न रोग।" (उ० दो० २०)।

'जागे राम' के साथ 'जगतपति' से ऐश्वर्य पक्ष का यह भी भाव है कि ईश्वर की जागृति से जगत् की रक्षा होती है, और उसके सोने से जगत् सो जाता है। 'अरुनसिखा' अर्थात् यह ग्राम्य-पक्षी है और इस देश में नियमित समय पर बोलता है। अतः, इसके शब्द से ब्राह्म मुहूर्त्त में उठना जनाया। अभी तक वन में रहते थे, आज नगर में हैं। अतः, ग्राम्य-पक्षी लिखा है।

पुष्प-वाटिका-प्रकरण *

सकल सौच करि जाइ नहाये । नित्य निबाहि मुनिहिं सिर नाये ॥१॥
समय जानि गुरु-आयसु पाई । लेन प्रसून चले दोउ भाई ॥२॥
भूप-बाग बर देखेउ जाई । जहँ बसंतरितु रही लोभाई ॥३॥
लागे बिटप मनोहर नाना । बरन बरन बर बेलिबिताना ॥४॥
नव पल्लव फल सुमन सुहाये । निज संपति सुररूख लजाये ॥५॥

शब्दार्थ—सकल सौच = वे कृत्य जो प्रातःकाल उठकर सबसे पहले किये जाते हैं—हाथ-मुँह धोना, स्नान, आदि । श्रीरामजी के विषय में मल-त्याग आदि ग्राम्य धर्म नहीं लेना चाहिये, क्योंकि इनका शरीर चिदानन्दमय है, यथा—"चिदानंदमय

---

* नोट—पुष्पवाटिका-प्रसंग पर प्रायः कहा जाता है कि यह प्रसंग और रामायणों में नहीं है । श्रीगोस्वामीजी ने कैसे लिखा ? इसका उत्तर यह है कि यह भेद कल्पभेद की दृष्टि से है, यथा—"कलप भेद हरि चरित सुहाये । भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये ॥ (दो० ३२), दूसरा उत्तर, साहित्य की दृष्टि से यह है कि श्रीसीतारामजी का विवाह के द्वारा मिलन होने के पहले उनके पूर्वराग (पूर्वानुराग एवं प्रथमानुराग) का वर्णन परम आवश्यक है । उसीकी पूर्ति इस पुष्प-वाटिका प्रसंग से की गई है ।

पूर्वराग—"साहित्य में नायक अथवा नायिका की एक अवस्था जो दोनों के संयोग होने के पहले प्रेम के कारण होती है । वह प्रेम चाहे गुण सुनकर, चित्र देखकर और चाहे रूप देखकर हो । पूर्वराग उसी समय तक कहा जाता है जब तक परस्पर मिलन न हो । मिलन होने पर उसे प्रेम या प्रीति कहते हैं ।

विशेष—कुछ लोगों का मत है कि पूर्वराग केवल नायिकाओं में ही होता है । नायक को देखने पर या किसीके मुँह से उसके रूप-गुण आदि की प्रशंसा सुनने पर नायिका के मन में जो प्रेम उत्पन्न होता है, वही पूर्वराग कहा जाता है । जैसे, हंस के मुँह से नल की प्रशंसा सुनकर दमयन्ती में अनुराग का उत्पन्न होना (महा० वन० ५३।२६-३२, ५४।१-४ में) कहा गया है । (पर, यह मत सर्वतन्त्र नहीं है, भाग० १०।८६।३-१० में अर्जुन का सुभद्रा में पूर्वराग देखिये—भाष्यकार) ।

इसमें नायक से मिलने की अभिलाषा, उसके सम्बन्ध में चिन्ता, उसका स्मरण, सखियों से उसकी चर्चा, उसके मिलने के लिये उद्विग्नता, प्रलाप, उन्मत्तता, रोग, मूर्च्छा और मृत्यु ये दस बातें होती हैं ।" (हिन्दी शब्दसागर) ।

श्रीगोस्वामीजी ने नगर-दर्शन प्रसंग के अष्ट-सखी-संवाद से ही गुप्त रीति से इसका प्रबन्ध बाँधा है । इस फुलवारी-प्रसंग में प्रथम एक सखी ने दोनों राजकुमारों को देखकर उनके रूपों का वर्णन किया । सबको एवं विशेषकर श्रीजानकीजी को उनके दर्शनों की अभिलाषा बढ़ी । जब जाकर श्रीरामजी को देखा तब वे उनके रूप में मुग्ध हो गईं । पुनः सखियों की प्रेरणा से लौटीं और फिर उसी अभिलाषा की पूर्ति के लिये देवीजी से भी विनती करके वरदान माँगा । वर पाने पर दृढ़ आशा हुई । फिर भी धनुर्भंग के समय यह पूर्वराग विशेष रूप से कहा गया है । तब धनुर्भंग पर जयमाला देने से मिलन हुआ । इसके बीच में जो "सुमिरि सीय नारद बचन, उपजी प्रीति पुनीत ।" कहा गया है, वहाँ नारद-वचन से ब्याह की दृढ़ता पर ही उस पूर्वराग को प्रीति संज्ञा दी गई है ।

पुनः राजकुमार का पूर्वराग—"जासु बिलोकि अलौकिक सोभा । सहज पुनीत मोर मन छोभा ॥" से प्रारम्भ हुआ । पुनः—"प्रभु जब जात जानकी जानी ।.....परम प्रेममय मृदु मसि कीन्हीं । चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही ।" तक के प्रसंग से पूर्ण आशा हुई । उसीसे वहाँ भी 'परम प्रेम' संज्ञा पूर्वराग में दी गई है । उनका पूर्वराग बढ़ता ही गया । यहाँ तक कि गुरुजी से कहा, उन्होंने आशीर्वाद से उसे दृढ़ किया । फिर सन्ध्या करने के समय श्रीजानकी का ही ध्यान एवं स्तवन हुआ । रात में भी वही दशा थी । प्रातःकाल सूर्योदय की घड़ियाँ गिन रहे थे, पुनः स्वयंवर में जाकर धनुष तोड़कर उन्हें प्राप्त किया, इत्यादि श्रीगोस्वामीजी ने दोनों ओर से पूर्वराग माना है ।

देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी ॥" (अ० दो० १२६)। जाइ = नदी आदि में जाकर। नित्य निबाहि = सन्ध्या अग्निहोत्र आदि नित्य-कर्म करके। बितान = फैलाव, चँदोवा। सम्पति = धन, ऐश्वर्य। सुरतरु = कल्पवृक्ष।

अर्थ—समस्त शौच-क्रिया करके (दोनों भाइयों ने) जाकर स्नान किया और नित्य-कर्म का निर्वाह करके मुनिजी को प्रणाम किया ॥१॥ समय जानकर गुरु की आज्ञा पा दोनों भाई फूल लेने के लिये चले ॥२॥ उन्होंने राजा जनक के श्रेष्ठ बाग को जाकर देखा, जहाँ पर वसन्त ऋतु लुभाकर रह गई है ॥३॥ तरह-तरह के मनोहर (सुन्दर) वृक्ष लगे हुए हैं, रंग-विरंग की श्रेष्ठ बेलों के चँदोवे बने हुए हैं ॥४॥ नवीन पल्लव, फल और फूल शोभा दे रहे हैं, (इन वृक्षों ने) अपनी (तीनों) सम्पत्तियों से कल्पवृक्ष को भी लज्जित कर दिया है ॥५॥

विशेष—(१) 'सकल सौच करि···'—इसमें बाह्य-शुद्धि और 'नित्य निबाहि···' इसमें अन्तः-शुद्धि कही गई। 'जाइ नहाये' से नदी आदि में बाहर जाकर स्नान करना उत्तम स्नान है। 'समय जानि'—आगे 'लेन प्रसून' भी कहा है। अतः, दल-फूल लाने का एवं गुरुजी की पूजा का समय जानकर। 'गुरु-आयसु पाई'—स्वयं गुरुजी से आज्ञा प्राप्त की, गुरुजी को आज्ञा नहीं देनी पड़ी, यह उत्तम सेवक-धर्म है। 'समय जानि'—इसे श्लिष्ट मानकर और भी भाव कहे जाते हैं—(क) इस श्रेष्ठ बगीचे के फाटक खुलने का निश्चित समय जानकर। (ख) सरकार के गुप्त-प्रकट चरित अपने अवसर पर ही होते हैं। अतः, पुष्पवाटिका के इस चरित का समय जानकर। (ग) समय = संकेत, (विश्वकोष पृ० ५२२), तथा—"समयः शपथाचारः सिद्धान्तेषु···। क्रियाकारे च निर्देशे संकेते कालभाषयोः ॥" (मेदिनी), जैसे प्रथम लक्ष्मणजी की लालसा जानकर गुरु से आज्ञा ले नगर-दर्शन को गये थे, वैसे यहाँ पूर्व दो० २२३ में कहे हुए संकेत को एवं उसके नियत समय को जानकर फूल के ब्याज से गुरु की आज्ञा प्राप्त करके चले।

(२) भूप-बाग बर·····'—राजा जनक के और सब बागों से यह श्रेष्ठ है। राजा जनक योग-विभूति के भी राजा हैं, यथा—"जोगी-जागबलिक प्रसाद सिद्धि लही है।" (गी० बा० ८५), "भूमि भोग करत अनुभवत जोग-सुख।" (गी० बा० ८६)। अतः, राजा के योग-बल से इसमें त्रिपाद-विभूति का वैभव आ गया है। अतः, 'बर' कहा है। अथवा राजा की आराधना से श्रीजानकीजी के साथ ही साकेत के बाग आदि भी प्रादुर्भूत हुए हैं।

'जहँ बसन्त रितु·····'—वसन्त शब्द पुँल्लिंग है, ऋतु शब्द स्त्रीलिंग है, उसके योग से 'रही लुभाई' क्रिया स्त्रीलिंग दी गई है। यों तो ('ऋतु' शब्दरहित) 'वसन्त' को गोस्वामीजी ने पुँल्लिंग ही लिखा है, यथा—"देखहु तात बसंत सुहावा।" (अर० दो० ३५)। यह भी भाव है कि यहाँ श्रीकिशोरीजी आया करती हैं। अतः, वसन्त भी सखी-भाव से स्त्री-वेष धारण करके रह गया जिससे यहाँ रह सके और सखी-समाज के साथ आनन्द-भागी बने।

'रही लुभाई'—इस बाग की शोभा अलौकिक है। देखते ही वसन्त लुभाकर स्त्री-वेष भी धारण करके रह गया अर्थात् यहाँ सदा वसन्त से बढ़कर शोभा रहती है। यद्यपि अभी शरद ऋतु है, तो भी इसमें वसन्त से कहीं अधिक शोभा है। वसन्त-शोभा, अर० दो० ३६-४० देखिये।

(३) 'लागे बिटप मनोहर···'—इसमें 'नाना' दीपदेहली है। बेलें जब वृक्षों पर फैलती हैं तब वितान की तरह तन जाती हैं। यहाँ 'नाना बिटप' के साथ 'नाना बरन' के चँदोवे के आकार बने हैं, जैसे चम्पा पर विद्युत्कान्ता, चाँदनी पर इश्कपेंच, आम्र आदि द्रुम्ति पर कुन्दलता और तमाल पर हेमयूथिका, इत्यादि। यहाँ शृंगार रस का प्राधान्य है, शृंगार रस के उत्कर्ष में नायिका-नायक विशिष्ट भाव में रहते हैं, वैसे ही यहाँ बेलि-रूपिणी नायिकाएँ बिटप रूपी नायकों पर लिपटी हुई हैं। 'बर' विशेषण दिया गया है, क्योंकि इनके नीचे दिव्य चरित होनेवाले हैं।

(४) 'नव पल्लव फल सुमन···'—पहले वसन्त कहा गया, यहाँ से उसका धर्म कहते हैं—'नव' विशेषण तीनो का है। यों तो प्रत्येक वृक्ष में तीनो (पल्लव, फल, फूल) सुन्दर हैं। पर उपवनों में पल्लवों की बागों में फलों की और वाटिकाओं (फुलवारियों) में फूलों की प्रधानता रहती है। इस तरह बाग में तीनो का होना सूचित किया, यथा—"सुमन बाटिका बाग बन, फूलत फलत सुपल्लवत, सोहत पुर चहुँपास॥" (दो० २१२)। इसमें यथासंख्य अलंकार से क्रमशः तीनो के तीनो ऐश्वर्य कहे गये हैं। वैसे ही यहाँ भी तीनो हैं।

'भूप बाग बर'—बाग, 'परम रम्य आराम'—उपवन, यथा—"आरामः स्यादुपवनं कृत्रिमं वनमेव यत्।" (अमरकोष २।४।२), अर्थात् जो बनाया हुआ वन है, उसे आराम एवं उपवन कहते हैं। और—"करत प्रकास फिरति फुलवाई।"—फुलवारी है।

'निज संपति सुररूख लजाये।'—वृक्ष त्रय-सम्पत्ति भी कहे जाते हैं अर्थात् पत्ते, फूल और फल ही इनकी तीन सम्पत्तियाँ हैं, यथा—"फल भारन नमि बिटप सब, रहे भूमि नियराइ। पर उपकारी पुरुष जिमि, नवहिं सुसंपति पाइ॥" (अर० दो० ४०)। इन सम्पत्तियों से इन्होंने कल्पतरु को लज्जित कर दिया है। ग्रन्थकार शब्द-ध्वनि से यह भी जना रहे हैं, रूख का अर्थ सूखा भी होता है। अतः, इनकी त्रय-सम्पत्ति की शोभा के सामने कल्पवृक्ष सूखे काठ की तरह नीरस है, क्योंकि इनके नीचे आज परम रसीला रहस्य होनेवाला है, जो ध्यान करनेवालों को चारो फलों से अधिक फल देता है। 'लजाये' अर्थात् इसीसे कल्पतरु भाग कर स्वर्ग में जाकर छिप रहा।

श्रीरामजी और श्रीजानकीजी के श्रीअवध और मिथिलाजी में प्रादुर्भाव के साथ ही त्रिपाद-विभूति साकेत के वन-बागादि भी प्रादुर्भूत होते हैं। अतः, इनके आगे कल्पवृक्ष आदि का लज्जित होना स्वाभाविक ही है।

चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत बिहग नटत कल मोरा॥६॥
मध्य बाग सर सोह सुहावा। मनिसोपान बिचित्र बनावा॥७॥
बिमल सलिल सरसिज बहुरंगा। जलखग कूजत गुंजत भृंगा॥८॥

दोहा—बाग तड़ाग बिलोकि प्रभु, हरषे बंधुसमेत।
परम रम्य आराम यह, जो रामहिं सुख देत॥२२७॥

चहुँ दिसि चितइ पूछि मालीगन। लगे लेन दल फूल मुदित मन॥१॥

अर्थ—पपीहा, कोयल, तोता और चकोर आदि पक्षी (अपनी-अपनी बोलियाँ) बोल रहे हैं और सुन्दर मोर नाच रहे हैं॥६॥ उस बाग के बीच में सुहावना तालाब शोभा दे रहा है। उसकी सीढ़ियाँ मणियों की हैं, उनकी रचना विचित्र है॥७॥ (उसमें) जल निर्मल है, बहुत रंगों के कमल (खिल रहे) हैं, जलपक्षी कूजते हैं और भौंरे गुंजार कर रहे हैं॥८॥ उस बाग और तालाब को देखकर प्रभु भाई के साथ हर्षित हुए। यह उपवन परम रमणीय है, जो श्रीरामजी को सुख देता है॥२२७॥ (श्रीरामजी) चारो दिशाओं की ओर देखकर और मालियों से पूछकर (दोनों भाई) प्रसन्न मन से दल-फूल लेने लगे॥१॥

विशेष—(१) 'चातक कोकिल कीर चकोरा।···'—वन-उपवन आदि की शोभा-वर्णन में इन चिड़ियों का भी वर्णन होता है, यथा—"चक चकोर चातक सुक पिक गन। कूजत मंजु मराल मुदित

मन ॥ अलि गन गावत नाचत मोरा। जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा ॥" (अ० दो० २३५)। इनमें यहाँ पाँच ही चिड़ियों के नाम कहे गये हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि और पक्षी यहाँ हैं ही नहीं। हैं तो बहुत—"बिपुल बिहंगनिवास" (दो० २१२) पूर्व कहा गया है, पर यहाँ शृंगार रस कहेंगे, उसमें प्रथम उद्दीपन विभाव कह रहे हैं। ये पाँचो पक्षी रसग्राही हैं। अतः, इन्हें शृंगाररस का उद्दीपक समझकर लिखा है। साथ ही बाग, सर, कमल, जल, पक्षी और भ्रमर आदि के वर्णन से उद्दीपित शृंगार रस हुआ। वही कहते हैं—"जो रामहिं सुख देत।"

कोयल-कीर वसन्त में, मोर वर्षा में, चातक वर्षा और शरद् में तथा चकोर शरद् ऋतु में आनन्द माननेवाले हैं। इनमें यह शरद् का ही समय है, वसन्त लुभाकर ही रह गया है। रही वर्षा, वह इस तरह है—पुराने वृक्षों के हरे और श्याम सघन पत्ते काली घटा, सफेद पुष्पों के गुच्छे बगलों की पाँत, पीले पुष्प-समूह बिजली, लाल-पीले और हरे पुष्पों की कतार इन्द्रधनुष, लता-कुंजों में पवन के प्रवेश से शब्दों का होना मेघ-गर्जन, छोटी-छोटी लाल रंग की कलियाँ भूमि पर फैली हैं, वे वीर बहूटी और पुष्परस का टपकना जलवृष्टि की भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं, इससे मोर भी आनन्दित होकर नाचते हैं। यहाँ 'चातक' प्रथम कहा गया, क्योंकि वर्त्तमान शरद् ऋतु का है।

पूर्व कहा गया—'भूप बाग बर' उसका अर्थ श्रेष्ठ राज-बाग भी होता है, अर्थात् यह बाग अन्य बागों का श्रेष्ठ—राजा है। राजा के साज भी यहाँ हैं, जैसे बिटप ही भट हैं, कदली-ताल ध्वजा-पताकाएँ हैं, बेलें बितान (शामियाने) हैं, फूल बानाबन्द वीर, हाथी-घोड़े और नाच के साज पक्षी हैं। प्रमाण—"बिटप बिसाल लता अरुझानी।···" से—"चतुरंगिनी सेन सँग लीन्हें।" (अर० दो० ३७) तक देखिये।

यह भी कहा जाता है कि पाँच प्रकार के भक्त ही यहाँ पक्षि-वेष में अपने भावों को प्रकट कर रहे हैं—अर्थार्थी—चातक, जिज्ञासु—कोकिल, ज्ञानी—कीर, आर्त—चकोर और प्रेमी—मोर हैं, यथा—"खेलिवे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं।" (वि० २३१)।

(२) 'मध्य बाग सर सोह···'—यहाँ 'बाग-सर' और 'सोह-सुहावा' एक साथ एवं क्रम से लिखकर उनका अन्योन्य सापेक्षत्व दिखाया, क्योंकि बाग बिना सर के और सर बिना बाग के नहीं शोभित होते। सर स्वयं 'सुहावा' है, बाग के साहचर्य से अधिक सोहता है।

'मनि सोपान बिचित्र बनावा'—रंग-बिरंग की मणियों की सीढ़ियाँ और उनमें बेल-बूटा आदि बने हैं, जैसे कि श्वेत मणि की भूमिका, नील मणि की डालें, हरित मणि के पत्ते, पीत मणि के फूल और लाल मणि के फल बने हैं—यह विचित्रता है। पुनः सीढ़ियों पर वृक्ष-लता, पुष्प आदि और जल का आभास पड़ता है। जल में भी लता-वृक्षों और सीढ़ियों के आभास पड़ते हैं। अतः, जल में स्थल और स्थल में जल की प्रतीति विचित्रता है, यथा—"जल जुत बिमल सिलनि झलकत नभ बन प्रतिबिंब तरंग। मानहुँ जगरचना बिचित्र बिलसति बिराट अँग-अंग ॥" (गी० अ० ५०)।

(३) 'बहुरंगा'—यह कमल, जलपक्षी और भृंग में भी लग सकता है। अतः, कमल बहुत रंगों के हैं। पक्षी भी बहुत रंगों के हैं। यहाँ 'जल-खग' कहकर उपर्युक्त चातक आदि को स्थल के पक्षी सूचित किया। भ्रमर जल और स्थल दोनों जगहों के एक ही होते हैं। इससे ये स्थल के पक्षियों के साथ नहीं लिखे गये। भ्रमर जिस रंग के कमल की धूल में लोटता है, उसी रंग का हो जाता है, यथा—"नूपुर पद कल मुखर सोहाई। पीत पराग भरे अलिगन जनु जुगल जलज लिखि रहे लोभाई ॥" (गी० उ० १०६)। अतः, ये भी बहुत रंगों के हैं।

(४) 'परम रम्य आराम यह, जो रामहिं सुख देत।'—श्रीरामजी स्वयं आनन्द-सिंधु, सुख-राशि एवं सुखधाम (दो० १९६) हैं, उनको भी सुख दे रहा है, इसीसे 'परम रम्य' कहा गया है। 'हरषे'—

भूतकाल, 'सुख देत'—वर्त्तमान और आगे यहीं पर सीताजी की शोभा देखकर सुख पावेंगे। अतः, श्रीरामजी को निरन्तर सुखदायक है, यह जनाया है।

यहाँ तक वर्णन क्रम से हुआ। प्रथम चले तो समष्टि रूप में बाग देखा, इससे बाग का वर्णन हुआ—'भूप बाग बर देखेउ जाई।' आगे चलने पर बिटप देख पड़े—'लागे बिटप···' फिर बेलि देख पड़ी—'बरन बरन बर बेलि बिताना।' तब—'नव पल्लव फल ·····' फिर पक्षी देखे—"चातक कोकिल ··" तत्पश्चात्—'मध्य बाग सोह···' तब उसकी सीढ़ियाँ एवं कमल आदि देख पड़े।

(५) 'चहुँ दिसि चितइ पूछि···'—प्रथम चारो ओर देखा कि कहाँ-कहाँ किस-किस प्रकार के अच्छे-अच्छे फूल हैं। फिर मालीगण से पूछा, क्योंकि बिना पूछे फल-फूल भी लेने का शास्त्र में निषेध है, पुनः पूछकर लेना नीति का पालन एवं सभ्यता भी है। महा० शांति० अ० २३ में कथा है कि लिखित महर्षि अपने भाई शंख के आश्रम के फलों को बिना उनसे पूछे लेकर खा रहे थे। इसपर उन्हें चोरी का पाप लगा। वे राजा सुद्युम्न के यहाँ दंड रूप में अपने दोनों हाथ कटाकर पाप मुक्त हुए। फिर उन्होंने शंख के तपःप्रभाव से एवं बाहुदा नदी में स्नान करके नवीन हाथ प्राप्त किया था।

यहाँ पूछना एवं चारो ओर देखना फाटक के पास ही है, मालीगण फाटक के बाहर से चारो ओर के प्रबन्ध करते हैं। भीतर उनकी स्त्रियाँ ही रहती हैं, क्योंकि इस वाटिका में श्रीसीताजी आती हैं। रामजी मालियों के एक मुखिया से पूछने लगे। इनके रूप को देखकर बहुत-से आ गये। अतः, मालीगण से पूछना कहा गया।

शृंगार-दृष्टि से यह भी अर्थ किया जाता है कि मा-आली-गण अर्थात् लक्ष्मी के तुल्य सखीगण, जो वाटिका के प्रबन्ध में नियुक्त हैं, उनसे पूछा।

'लगे लेन दल फूल···'—प्रसन्न मन से दल-फूल लेने लगे, क्योंकि यहाँ उत्तम पुष्प हैं। अतः, गुरुजी प्रसन्न होंगे। 'दल' प्रथम कहा गया, क्योंकि पूजा में यह मुख्य है। दल से यहाँ तुलसी-दल ग्राह्य है। कोई चाहें तो और पत्ते का भी अर्थ ले सकते हैं। ग्रन्थकार ने सब मतों की रक्षा करते हुए 'दल' मात्र ही लिखा है। कोई-कोई शंका करते हैं कि फूल स्नान से पहले ही उतारा जाता है, यहाँ श्रीरामजी स्नान के पीछे क्यों गये? समाधान यह है कि अपनी पूजा के विषय में वह बात है। यहाँ तो गुरुजी के लिये फूल लेने आये हैं। फिर 'दल' भी उतारना है, यह तो स्नान करके ही उतारना चाहिये। अन्यथा दोष लगता है, यथा—"अस्नात्वा तुलसीं छित्त्वा यः पूजां कुरुते नरः। सोऽपराधी भवेन्नित्यं तत्सर्वं निष्फलं भवेत्।" (पुरोहितदर्पण)। यहाँ 'दल' शब्द प्रथम देकर मुख्य कहा गया है, अतः शंका नहीं है।

शृंगार-दृष्टि—लक्ष्मी के तुल्य सखीगण से संकेत के अनुसार पूछा, तब जाना कि अभी श्रीकिशोरीजी की अवाई होगी, तब प्रसन्न मन से दल-फूल लेने लगे। 'लगे' शब्द विलम्ब-सूचक है, जिससे तब तक वे आ जायँ। 'मुदित मन' अर्थात् पहले आते नहीं देखा तो कुछ विमन हो गये थे, जब आना सुना तो मुदित हो गये।

सम्बन्ध—दोनों भाइयों की कथा यहाँ तक कहकर तथा इन्हें दल-फूल लेने लगना कहकर अन्य प्रसंग कहते हैं—

तेहि अवसर सीता तहँ आई। गिरिजापूजन जननि पठाई ॥२॥
संग सखी सब सुभग सयानी। गावहिं गीत मनोहर बानी ॥३॥
सरसमीप गिरिजागृह सोहा। बरनि न जाइ देखि मन मोहा ॥४॥

मज्जन करि सर सखिन्ह समेता। गई मुदितमन गौरिनिकेता ॥५॥
पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग बर माँगा ॥६॥

अर्थ—उसी समय वहाँ श्रीसीताजी आईं, उनकी माता ने उनको देवी गिरिजाजी की पूजा करने के लिये भेजा है ॥२॥ साथ की सब सखियाँ सुन्दरी और सयानी हैं, वे मनोहर वाणी से गीत गा रही हैं ॥३॥ सरोवर के पास ही गिरिजाजी का मन्दिर शोभित हो रहा है, उसका वर्णन नहीं हो सकता, (क्योंकि) देखकर मन (ही) मुग्ध हो जाता है ॥४॥ (सीताजी) सखियों के साथ सरोवर में स्नान करके प्रसन्न मन से गौरीजी के मन्दिर में गईं ॥५॥ बड़े अनुराग से (गिरिजाजी की) पूजा की और अपने योग्य सुन्दर वर (दूल्हा) माँगा ॥६॥

विशेष—(१) 'तेहि अवसर सीता···'—यहाँ 'सीता' यह मुख्य नाम दिया गया, क्योंकि एक तो चरित-सम्बन्ध में प्रथम यही नाम आया है, फिर जानकी आदि और नामों में उर्मिला आदि का भी भ्रम होता। 'सीता' नाम से यह भाव भी ध्वनित है कि किशोरीजी पिता की प्रतिज्ञा से सन्तप्त हैं। यहाँ के रहस्य एवं गिरिजाजी के आशीर्वाद से शीतल होंगी तथा पूर्व के संकेत से अनुराग-पूर्वक आये हुए राजकुमार को दर्शन देकर शीतल करेंगी।

'तेहि अवसर'—जिस समय श्रीरामजी फूल उतारने आये, उसी समय श्रीजानकीजी भी विधि के संयोग से गिरिजा-पूजन के लिये आ गईं, यथा—"सखिन सहित तेहि औसर बिधि के सँयोग गिरिजाजू पूजिबे को जानकीजी आई हैं।" (गी० बा० ६९), पुनः जैसे श्रीरामजी संकेत के अनुसार आये, वैसे इधर से श्रीजानकीजी भी आईं। उपर्युक्त गी० के 'बिधि के सँयोग' से 'संकेत के अनुसार आये' का विरोध नहीं, प्रत्युत विधि के विधान द्वारा ही उक्त संकेत क्रियाएँ हुई हैं, ऐसा समझना चाहिये।

'गिरिजा पूजन जननि···'—माता ने इसलिये भेजा कि कल प्रतिज्ञा का अन्तिम दिन है। अतः, भगवती का पूजन करके अपने अनुरूप वर माँग आओ। यही आगे हुआ भी—"निज अनुरूप सुभग बर माँगा।" कहा है। जिस कन्या के विवाह में कठिनता होती है, उससे देवी का पूजन कराने की रीति थी, फिर इसमें तो शिवजी का ही धनुष था। अतः, शिव-पत्नी की कृपा से बहुत-कुछ आशा थी।

आगे कहा है—"पुनि आउब येहि बिरियाँ काली।" इससे यह भी निश्चित होता है कि इसी समय प्रायः आया करती थीं। उधर गुरु की आज्ञा से और इधर माता की आज्ञा से आना समान है। उधर संग 'अनुज' और इधर संग 'सखी' हैं।

शंका—इस समय तो भवानी का सती नाम था, क्योंकि श्रीरामजी के इसी अवतार के अगले वन-चरित में भ्रम होना है, फिर गिरिजा नाम क्यों दिया गया ?

समाधान—गोस्वामीजी ने प्रथम ही लिख दिया है कि—"कोउ सुनि संसय करइ जनि, सुर अनादि जिय जानि।" (दो० १००), श्रीजानकीजी कुँआरी हैं। अतः, देवी के 'गिरिजा, गौरि' नाम दिये जाते हैं, जब श्रीरामजी को हृदय में बसाकर आवेंगी, तब 'भवानी' अर्थात् भव-पत्नी नाम देंगे।

(२) 'संग सखी सब सुभग ··'—साथ में सखियाँ ही हैं। अतः, वाटिका किले के भीतर ही है; नहीं तो संग में सुभट कहते, क्योंकि इस समय देश-देश के राजा यहाँ पड़े हैं। सब सखियाँ 'सुभग' अर्थात् शरीर से सुन्दरी हैं एवं भूषण-वस्त्र से सुसज्जित हैं। 'सयानी' अर्थात् बुद्धि से चतुर हैं। अतः, भीतर-बाहर की शोभा से पूर्ण हैं, यथा—"चतुर सखी सुंदर सकल, सादर चलीं लिवाय।" (दो० २४६), "संग सखी सुंदर चतुर, गावहिं मंगलचार।" (दो० २६३)।

'गावहिं गीत मनोहर बानी।'—गिरिजा पूजन के अनुकूल गीत गा रही हैं। 'मनोहर' शब्द को दीपदेहली रूप में लें तो यह भी अर्थ होगा कि ऐसे मनोहर गीत गाती हैं कि जिसमें वाणी (सरस्वती)

का भी मन हर जाय। सरस्वती गाने में प्रसिद्ध हैं—"गावहिं जनु बहु बेष भारती।" (दो० ३४४)।

(३) 'सर समीप गिरिजा-गृह सोहा।.....'—प्रायः जलाशयों के समीप मन्दिर भी रहते हैं, यथा—"तीर-तीर देवन्ह के मंदिर।" (उ० दो० २८), "दीख जाइ उपवन बर, सर बिगसित बहु कंज। मंदिर एक रुचिर तहँ, बैठि नारि तप-पुंज॥" (कि० दो० २४)। वैसे यहाँ भी सर के पास गिरिजा-मन्दिर है। प्रायः प्राचीन काल के उपवनों में दो भाग होते थे। दोनों के बीच में तालाब होते थे। वैसे ही इस बाग में भी था। जिस 'बाग-तड़ाग' का प्रथम वर्णन हो आया, वह एक भाग का सर है और यह दूसरे भाग का। इसमें तट पर गिरिजा-मन्दिर भी है, जिसका वर्णन यहाँ किया गया, पर सर की शोभा नहीं कही, क्योंकि पूर्व बाग-तड़ाग-वर्णन में जो शोभा कही गई, वही यहाँ भी है। उपवन के दोनों सर प्रायः एक समान ही होते हैं। वर्त्तमानकाल में भी गिरिजा-सर और बाग-तड़ाग—ये दो सर प्रायः दो सौ गज के अन्तर पर हैं। ये जनकपुर के पास प्रसिद्ध हैं। आगे भी—"एक सखी सिय-संग बिहाई। गई रही देखन फुलवाई॥" "चली अग्र करि प्रिय सखि सोई।" "कंकन किंकिनि नूपुर-धुनि सुनि।" कहा है, जिससे उस सर का कुछ दूर होना जान पड़ता है।

यदि किसी तरह एक ही सर माना भी जाय तो जहाँ राजकुमार हैं, वहाँ पर-पुरुष के समीप में सखियों के साथ श्रीजानकीजी का स्नान किया जाना भी ठीक नहीं जान पड़ता।

'बरनि न जाइ देखि मन मोहा'—मन मोहित ही हो जाता तो उसके बिना वाणी कुछ कह ही नहीं सकती। यहाँ का वर्णन वक्ताओं की ओर से है। याज्ञवल्क्यजी वहाँ के राजा जनक के गुरु ही थे। यथा—'यस्याः स्वयं कुलगुरुः किल याज्ञवल्क्यः.....।' (प्रसन्न १।४६), भुशुण्डीजी और शिवजी ने देखा ही है। रहे गोस्वामीजी, इन्हें गुरु-कृपा से सूझा है, यथा—"सूझहिं राम-चरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥" (दो० १)।

(४) 'मज्जन करि सर.....'—सखियों के साथ पूजन के लिये मन्दिर में भी जायँगी, इसलिये साथ ही सब ने स्नान किया। स्नान के दस गुणों में मन का प्रसन्न होना भी एक है। देवी के पूजन के उत्साह से भी प्रसन्नता है और 'मुदित मन' से मन्दिर में जाना शकुन भी है, मनोरथ पूरा होगा।

'मज्जन कीन्ह' बाह्य-शुद्धि और 'मुदित मन' से अन्तःशुद्धि कही गई। ऐसा ही 'सकल सौच...' पर श्रीरामजी में लिखा गया है।

(५) 'पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा।.....'—पूजन की सामग्री में प्रेम ही मुख्य है, यथा—"मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।" (उ० दो० ६१)। अतः, नित्य ही प्रेम से पूजा करती थीं, पर आज माता ने 'निज अनुरूप बर माँगना' भी कहा है और प्रतिज्ञा का अन्तिम दिन भी है। इसलिये अधिक अनुराग से पूजन किया गया।

'बर माँगा'—वर मन-ही-मन माँगा गया, क्योंकि साथ में सखियाँ हैं, आगे भी—"मोर मनोरथ जानहु नीके।" कहा है। गिरिजा ने अभी वर दिया नहीं, क्योंकि उन्हें नारद-वचन भी सत्य कर दिखाना है। आगे जब श्रीरामजी में इनका मन रँग जायगा और फिर स्तुति करने आवेंगी, तब गिरिजाजी वर देंगी—"नारद-बचन सदा सुचि साँचा। सोइ बर मिलिहि...।" (दो० २३५)।

एक सखी सिय-संग बिहाई। गई रही देखन फुलवाई॥७॥
तेहि दोउ बंधु बिलोके जाई। प्रेमबिबस सीता पहिं आई॥८॥

दोहा—तासु दसा देखी सखिन्ह, पुलक गात जल नैन।
कहुकारन निज हरष कर, पूछहिं सब मृदु बैन॥२२८॥

अर्थ—(उनमें से) एक सखी श्रीसीताजी का साथ छोड़कर फुलवारी देखने गई थी ॥७॥ उसने उन दोनों भाइयों को जाकर देखा, वह प्रेम के विशेष वश (विह्वल) होकर श्रीसीताजी के पास आई ॥८॥ सखियों ने उसकी दशा देखी कि शरीर पुलकित हो गया है और आँखों में जल भरा है। सब सखियाँ कोमल वाणी से उससे पूछती हैं कि तुम अपनी प्रसन्नता का कारण कहो ॥२२८॥

विशेष—(१) 'एक सखी सिय-संग···'—श्रीगोस्वामीजी ने किसी सखी का नाम नहीं दिया, इससे कोई उस सखी का नाम 'गिरिजा' बतलाते हैं और कोई 'सुशीला'। और कोई सुभगा कहते हैं, किन्तु 'एक सखी' का अर्थ है मुख्य-सखी, श्रीजानकीजी की सखियों में श्रीचन्द्रकलाजी मुख्य एवं महा-यूथेश्वरी हैं। अतः, इनका होना विशेष संगत है, क्योंकि आगे इन्हीं को—"चली अग्र करि प्रिय सखि सोई।" कहा भी है।

'गई रही देखन फुलवाई।'—पूर्व सखियों को 'सयानी' कहा गया था। यहाँ उनका सयानप दिखाते हैं। वह स्नान साथ में करके श्रीसीताजी को मन्दिर में पहुँचा स्वयं फुलवारी देखने गई कि जिधर फूल-फल आदि की शोभा विशेष हो, उसी तरफ राजकिशोरीजी को दिखाने ले चलूँ अथवा सयानी है। नारद-वचन का स्मरण कर फुलवारी में देखने गई। उन्होंने कह रक्खा था कि श्रीसीताजी के भावी पति के दर्शन पुष्प-वाटिका में होंगे। अब प्रतिज्ञा का एक ही दिन रहा है। सम्भवतः कहीं आये हों। आगे के दोहे में स्पष्ट है।

(२) 'प्रेम-बिबस सीता पहिं आई।'—यद्यपि विह्वल हो गई थी, फिर भी वह परम सयानी है। अतः धैर्य धरकर किसी तरह श्रीसीताजी तक पहुँच ही गई। इसलिये कि ये अपूर्व कुमार हैं, इनके दर्शन स्वामिनीजी को करावें, ये विशेष कर उनके देखने योग्य हैं।

(३) 'तासु दसा देखी सखिन्ह···'—यहाँ पर हर्ष की पहचान में केवल 'पुलक गात' और 'जल नैन' कहे गये हैं। ये दोनों लक्षण प्रायः दुःख में ही होते हैं—सुख में कहीं-कहीं, यथा—"सकल सखी गिरिजा गिरि मैना। पुलक सरीर भरे जल नैना॥" (दो० ६७)। इसमें दोनों ही लक्षण गिरिजा में हर्ष के और सब में दुःख के कहे गये हैं। यहाँ इन सखियों ने हर्ष ही के लक्षण कैसे जाना? इसका उत्तर यह है कि दुःख में करुण रस की प्रधानता से आँसू उष्ण और पुलक में त्वचा संकुचित रहती है एवं दुःख के भी चिह्न होते हैं। हर्ष में अद्भुत रस की प्रधानता से आँसू शीतल, पुलक में त्वचा में प्रफुल्लित भाव और आँख एवं मुख पर हर्ष के चिह्न भी होते हैं, इन लक्षणों से जाना कि यह शृंगार रस के अन्तर्गत अद्भुत रस की विह्वलता है।

'पूछहिं सब मृदु बैन'—विह्वल होने से उसकी बोलती भी बन्द है। अतः, एक के पूछने पर न बोली तो क्रमशः सबने पूछा। 'मृदु'—क्योंकि (क) उसके मन का भेद लेना है। (ख) उसकी दशा देखकर सब प्रेम में भर गईं। अतः, वचन मृदु हो गये हैं। (ग) वह नवीं दशा को पहुँच गई हैं, कठोर वचनों से हृदय पर आघात पहुँचाने से दसवीं दशा को न प्राप्त हो जाय! (घ) श्रीसीताजी समीप ही गौरी के ध्यान में हैं, विघ्न न हो वा वे कहीं इसे देखकर स्वयं विह्वल न हो जायँ!

देखन बाग कुँअर दुइ आये। बयकिसोर सब भाँति सुहाये॥१॥
स्याम गौर किमि कहउँ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥२॥
सुनि हरषीं सब सखी सयानी। सियहिय अति उतकंठा जानी॥३॥

अर्थ—(उसने कहा)—दो कुँवर बाग देखने आये हैं, उनकी अवस्था किशोर है और वे सब प्रकार सुहावने हैं॥१॥ उनमें एक श्याम और दूसरे गोरे हैं, मैं उनका बखान कैसे करूँ? क्योंकि वाणी बिना आँख की है (अर्थात् उसने देखा नहीं कि वैसा ही कह दे) और आँखें बिना वाणी की हैं (नहीं तो जैसा

देखा है, कह देते) ॥२॥ यह सुनकर और श्रीसीताजी के हृदय की अत्यन्त उत्कंठा (लालसा) जानकर सभी सयानी सखियाँ हर्षित हुईं ॥३॥

विशेष—(१) 'देखन बाग कुँअर···'—इसने बाग में फिरते हुए देखा था। अतः, 'देखन बाग' कहा। फूल उतारना है, ऐसा नहीं कहा, क्योंकि सयानी है। अतः, समझा कि ऐसा कहने से किशोरीजी दोनों कुमारों को माली के लड़के समझेंगी तो उत्कंठित न होंगी। अतः, श्री किशोरीजी को, उत्कंठा बढ़ाने के लिये 'देखन बाग' मात्र कहा। 'कुँअर' शब्द राजकुमारों के लिये प्रयुक्त होता है। ये बाग-वाटिका देखने जाते ही हैं, यथा—"गये रहे देखन फुलवाई।" (दो० २१४)। "सुंदर उपवन देखन गये।" (उ० दो० ३१)।

'बय किसोर सब भाँति···'—जब तक राजकुमारों को राजगद्दी न मिले तब तक कुँवर कहे जाते हैं। सम्भवतः अधिक अवस्था के हों, तो देखने में संकोच होगा। अतः, देखने के योग्य 'बय किसोर' भी कहा। पुनः 'सब भाँति सुहाये' से सम्पूर्ण उत्तम राज-लक्षणों से सम्पन्न कहा, यथा—"सदैव प्रिय-दर्शनः॥ स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्द्धनः।" (वाल्मी० १।१।१६-१७)। गुप्त रीति से श्रीसीताजी के योग्य कहा, क्योंकि वे भी—"सर्वलक्षणसम्पन्ना" (वाल्मी० १।१।२७) हैं।

(२) 'गिरा अनयन···'—जो आँख से जैसा देखा जाता है, वह वैसा ही वाणी से भी कहा जाता है, यदि वाणी के अपनी आँखें हों, तब भी वही कहा जायगा। फिर ऐसा क्यों कहा गया? इसका उत्तर यह है कि श्रीरामजी के रूप-गुण अकथ्य हैं, यथा—"राम सरूप तुम्हार, बचन अगोचर···" (अ० दो० १२६)। अतः, उसके न कहने की एक युक्ति है कि यदि मैं कुछ अंश भी कहने लगूँगी और उधर राजकुमार चले गये तो सारा प्रयास ही व्यर्थ हो जायगा। अतः, रंग और अवस्था मात्र कह दी, शेष 'सब भाँति सुहाये' और 'गिरा अनयन···' से समाप्त कर दिया। भाव यह कि वे साक्षात् देखने ही के योग्य हैं। उत्कंठा बढ़ाने की यह उत्तम रीति है, यथा—"प्रभु सोभा सुख जानइ नयना। किमि कहि सकहिं तिन्हहि नहिं बयना॥" (उ० दो० ८७)। "या पश्यति न सा ब्रूते या ब्रूते सा न पश्यति।" (दक्षीभागवत), तथा—"नैनन को नहि बैन बैन को नैन नहीं हैं॥" (नंददासकृत-रासपंचाध्यायी)। यहाँ 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है।

(३) 'सुनि हरषीं सब सखी···'—सब हर्षित हुईं, क्योंकि सबने लालसा से पूछा था—'पूछहिं सब मृदु बैन'। सखी की उत्तम युक्ति और श्रीसीता के हृदय की उत्कंठा को जानने से हर्ष हुआ। इसीसे सब 'सयानी' कही गई हैं। आगे भी सयानपना करती हैं। वे आपस में ही राजकुमार की चर्चा करती हैं। जानती हैं कि राजकिशोरीजी से कहने में उन्हें संकोच होगा। 'सिय-हिय अति उत्कंठा'—उत्कंठा तो सबको है, पर श्रीराजकिशोरीजी को अत्यन्त है।

एक कहइ नृपसुत तेइ आली। सुने जे मुनि-सँग आये काली॥४॥
जिन्ह निज रूपमोहनी डारी। कीन्हें स्वबस नगर-नर - नारी॥५॥
बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू। अवसि देखियहि देखन जोगू॥६॥

शब्दार्थ—आली = सखी। काली = कल। मोहनी डाली = जादू डाला। स्वबस = अपने वश।

अर्थ—एक सखी कहने लगी कि हे सखी! ये वे ही राजपुत्र हैं, सुना है कि जो मुनि के साथ कल आये हैं॥४॥ जिन्होंने अपने रूप की मोहिनी डालकर नगर के सारे स्त्री-पुरुषों को अपने वश में कर लिया है॥५॥ जहाँ-तहाँ सभी लोग उनकी छवि का वर्णन करते हैं, अवश्य चलकर उन्हें देखना चाहिये, क्योंकि वे देखने योग्य हैं॥६॥

विशेष—(१) 'नृपसुत···मुनिसँग···'—राजपुत्र कहकर गौरव प्रकट किया। 'मुनि-सँग' से शान्तरसयुक्त एवं सदाचारी सूचित करती है। साथ ही मुनि के यज्ञ की रक्षा एवं अहल्या-उद्धार के प्रसंग के स्मरण से बली और प्रतापी भी कहा तथा परम तेजस्वी एवं त्रिकालज्ञ महर्षि का सहायक होना भी जनाया, जिससे धनुर्भंग की भी सम्भावना समझी जाय, यथा—"तीनि काल कर ज्ञान कौसिकहिं करतल। सो कि स्वयंबर आनिहि बालक बिनु बल।" (जानकीमंगल)

(२) 'जिन्ह निज रूपमोहिनी ···'—वशीकरण मन्त्र द्वारा मोहिनी डाली जाती है। यहाँ रूप ही मन्त्र है, दर्शन देना मोहिनी डालना है। 'नगर नरनारी' बड़े (नागर) चतुर होते हैं, शीघ्र नहीं मोहते, फिर भी इन कुमारों ने सबको वश में कर लिया। अतः, मोहने में बड़े समर्थ हैं। 'स्ववस'—सबके मन इन्हींमें लग गये, जैसे इस सखी की दशा हुई, वैसी ही दशा बहुतों की हुई। 'नरनारी' मात्र को वश किया अर्थात् जिन्हें देखना उचित है और जिन्हें नहीं, सभी ने देखा और मुग्ध हुए।

(३) 'बरनत छबि जहँ तहँ···'—यहाँ मोहित लोगों की दशा कहते हैं—जहाँ देखो, वहीं लोग उनकी ही छवि का वर्णन करते हैं। श्लिष्ट रीति से 'जहँ तहँ' के कई भाव हैं—(क) जहाँ जिस अंग पर जिसकी दृष्टि पड़ी, वह वहीं की (उसी अंग की) छवि देखता रह गया, उसीको कहता भी है, अर्थात् सर्वांग की छवि तो कोई कह ही नहीं सकता। (ख) जहाँ उनकी छवि कोई कहता है, वहीं सब लोग एकत्र हो जाते हैं। (ग) पतिव्रताओं को पर-पुरुष की छवि नहीं कहनी चाहिये, वे भी कहती हैं। (घ) सब छवि ही कहते रह जाते हैं, शील आदि गुण कहने का अवसर ही नहीं मिलता।

'अवसि देखियहि देखन जोगू।'—यहाँ तक सुनी हुई बातें कहीं। अब देखने की सम्मति भी देती हैं कि वे देखने योग्य हैं, और यहाँ देखने का योग (अवसर) भी है कि हमारे ही बाग में हैं। उनके साथ भी प्रौढ़ अवस्था का कोई नहीं है। पुनः नगर के सभी ने देखा है, तो हमलोगों को भी देखना योग्य है। 'जोगू' अर्थात् नारदजी की भविष्यवाणी भी इनमें घट रही है। अतः, देखना योग्य है।

तासु बचन अति सियहिं सोहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने ॥७॥
चलीं अग्र करि प्रिय सखि सोई। प्रीति पुरातन लखइ न कोई ॥८॥

दोहा—सुमिरि सीय नारद-बचन, उपजीं प्रीति पुनीत।
चकित बिलोकति सकल दिसि, जनु सिसुमृगी सभीत ॥२२९॥

अर्थ—उस सखी के वचन श्रीसीताजी को अत्यन्त प्रिय लगे, (राजकुमार के) दर्शनों के लिये आँखें व्याकुल हो गईं ॥७॥ उसी प्रिय सखी को आगे करके चलीं, उनकी पुरानी प्रीति कोई लक्ष्य नहीं कर पाता ॥८॥ श्रीनारदजी के वचनों के स्मरण से पवित्र प्रीति उत्पन्न हुई, वे सब दिशाओं में चकित होकर इस तरह देखती हैं, जैसे डरी हुई बच्ची हरिणी चौंक कर इधर-उधर देखे ॥२२९॥

विशेष—(१) 'तासु बचन अति सियहिं···'—यों तो इस चतुर सखी की बात सबको पसंद आई, पर किशोरीजी को अधिक जँची, क्योंकि इन्हें अत्यन्त उत्कंठा थी। 'तासु'—क्योंकि औरों ने शोभा आदि ही कही थीं, पर देखने को नहीं कहा था। इसने वैसा योग लगा दिया। 'लोचन अकुलाने'—कि कहीं चले न जायँ। आगे—'जनु सिसु मृगी सभीत' से भी यही डर है कि चले तो नहीं गये। कानों और मन को प्रशंसा सुनने से सुख हुआ, पर नेत्र देखने के लिये अकुला रहे हैं। जब सखी ने योग का निश्चय कर दिया, तब दर्शनों के लिये नेत्र विकल हो गये। इसके पूर्व मर्यादा में बँधे थे।

(२) 'चलीं अग्र करि प्रिय···'—'सोई'—जो पहले देख आई है, उसीको। 'प्रिय'—जो सेवक अति उत्तम भोग्य पदार्थ स्वामी ही को अर्पित करता है, वह स्वामी का प्यारा होता है और वही स्वामी

की दृष्टि में अग्रगण्य भी होता है। यह सखी स्वामी से मिलानेवाली है। अतः, प्रिय है। सखी को आगे इसलिये भी कर लिया कि किशोरीजी की पुरानी प्रीति और अत्यन्त उत्सुकता को कोई लख न सके, किन्तु यह समझे कि सखी ही लिवाये जा रही है। 'प्रीति पुरातन'—इन युगल सरकार का संयोग नित्य है। लीला के अनुरोध से नर-नाट्य में क्षणकालीन ही वियोग है। अतः, पुरानी प्रीति उमड़ पड़ी है। साकेत के रंग-महल में एक साथ विराजते थे, वही 'पुरातन प्रीति' है।

(३) 'सुमिरि सीय नारद-वचन···'—लोक-दृष्टि से धनुष के बिना टूटे किसीमें प्रीति का होना 'अपुनीत' है। इससे परकीयत्व दोष आता है। उसीके निराकरण के लिये यहाँ नारदजी के वचन कहते हैं कि जैसे नारदजी के वचन थे, उन्हींके अनुकूल प्रीति उत्पन्न हुई, अतएव 'पुनीत' है। इससे जान पड़ता है कि पहले ही कभी नारदजी ने कह रक्खा था कि पुष्पवाटिका में पति के प्रथम दर्शन होंगे, पीछे ब्याह होगा। इसके मिलान से जब श्रीसीताजी को निश्चय हो गया, तब प्रीति उपजी। अतः, पुनीत है। इस नवीन प्रीति को सबने लख लिया जो 'चकित बिलोकति' से प्रकट है।

नारदजी के वचन कब के हैं, यह अनुमान पर निर्भर है। कोई कहते हैं कि मुनि ने यहीं गिरिजा-पूजन के समय आकर सखियों के सामने ही किशोरीजी के प्रणाम करने पर कहा था और कोई राजमहल में राजा-रानी के समक्ष में कहा जाना कहते हैं। श्रीसीताजी का नामकरण भी नारदजी ने ही किया है।

(४) 'चकित बिलोकति सकल···'—'चकित'—क्योंकि शंका है कि राजकिशोर चले गये क्या ? यह प्रीति सखियाँ न लख लें। पुनः यद्यपि हृदय में नारद-वचन से उपपति की शंका नहीं है, तथापि पिता का प्रण अभी शेष है। अतः, लोक-लाज की शंका से भी चकित हैं कि कोई देखता तो नहीं। 'सकल दिसि'—सखियों से छिपाने के लिये राजकिशोर की दिशाओं से भिन्न दिशाओं की ओर भी देखती हैं। 'जनु सिसु मृगी सभीत'—डरी हुई मृगछौनी की चारो ओर 'चितवनि' की तरह श्रीसीताजी की दृष्टि सुन्दरता से पूर्ण और भोरी है। शिशु मृगी को बाधक जीवों और बधिकों का भय रहता है, वैसे ही इन्हें पिता के प्रण का, माता का, सखियों के लखने का और राजकिशोरों की छटा में फँस जाने का भय है। इससे चकित होकर देखती हैं।

इस चरित से शिक्षा भी है कि उपासना को ऐसा ही गुप्त रखना चाहिये कि भेदी ही चाहें तो जान सकें।

कंकन-किंकिनि-नूपुर-धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि ॥१॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्वबिजय कहँ कीन्ही ॥२॥
अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा। सियमुख-ससि भये नयन चकोरा ॥३॥
भये बिलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल ॥४॥

शब्दार्थ—गुनि = विचार कर। मनसा = इच्छा। सन = से। अचंचल = स्थिर। दृगंचल = पलक।

अर्थ—(श्रीसीताजी के) कंकण, किंकिणी और नूपुर के शब्द सुनकर श्रीरामजी हृदय में विचार करके श्रीलक्ष्मणजी से कहने लगे ॥१॥ (यह ध्वनि तो ऐसी आ रही है कि) मानों कामदेव ने सारे संसार को जीतने की इच्छा करके डंका बजाया है ॥२॥ ऐसा कहकर फिर उसी ओर देखने लगे (तब) सीताजी के मुखचन्द्र पर श्रीरामजी के नेत्र चकोर की भाँति लग गये ॥३॥ सुन्दर नेत्र ऐसे स्थिर (एकटक) हो गये कि मानों राजा निमि ने सकुचकर पलकों (पर के निवास) को छोड़ दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'कंकन-किंकिनि-नूपुर-धुनि···'—इन तीन भूषणों में शब्द होते हैं, हाथ हिलने पर कंकण, कटि हिलने पर किंकिणी और पग उठाकर रखने पर नूपुरों के शब्द गम्भीर होते हैं,

यथा—"कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं। चाल बिलोकि कामगज लाजहिं॥ (दो० ३१७)। इन शब्दों को सुनते ही हृदय लुब्ध हुआ। आगे ऊपरी लक्षणों से भी दशा प्रकट हो जायगी। प्रभु शुद्धहृदय हैं। अतः, लक्ष्मणजी से कहते हैं। यह काम-कला लक्ष्मणजी पर प्रभाव नहीं डाल सकी, क्योंकि इनका अवतार ही काम को जीतने के लिये है। मेघनाद काम-रूप है, यथा—"पाकारिजित काम बिश्रामहारी।" (बि० ५८)। उसको ये मारनेवाले हैं। इस विषय में लक्ष्मणजी की प्रशंसा अन्यत्र भी की है, यथा—"देखि गयेउ भ्राता सहित, तासु दूत सुनि बात। डेरा कीन्हेउ मनहुँ तब, कटक हटकि मनजात॥" (अर० दो० ३७)।

लोक-मर्यादा की दृष्टि से छोटे भाई के प्रति अपने हृदय की अचानक दशा और उसकी सफाई देना आवश्यक है, अन्यथा उनपर बुरा प्रभाव पड़ सकता है कि किसी भी पर-स्त्री पर दृष्टि डालने में दोष नहीं है। हमारे बड़े यदि ऐसा करते हैं तो हमारे लिये क्या दोष?

(२) 'मानहुँ मदन दुंदुभी··· '—रामजी अपने हृदय को परम शुद्ध समझते थे, पर आज उक्त ध्वनि से रस का उद्दीपन विभाव समझकर उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानों कामदेव आज विश्व-विजय का संकल्प करके चला है और उक्त ध्वनि-रूप में डंका बजाया है। "आपबीती जगत्बीती" कहावत है। यहाँ विश्व से तात्पर्य अपने पर है कि काम मानों हमें जीतना चाहता है। काम का परम बल स्त्री ही है, यथा—"येहि के एक परम बल नारी। तेहि ते उबर सुभट सोइ भारी॥" (अर० दो० ३०)। कंकण आदि ताल-स्वर से मानों काम के नगाड़े बजते हैं, यथा—"मंजीर नूपुर कलित कंकन ताल गति पर बाजहीं॥" (दो० ३२२)। डंके के तीन शब्द होते हैं—'कुड़ुक-कुड़ुक धुम'। इनमें कंकण और किंकिणी के शब्द मधुर हैं, नूपुर का शब्द धुम है।

काम आज श्रीकिशोरीजी का बल पाकर परम प्रबल है। अतः, वह तीनो लोकों में अजेय है।

ऐश्वर्य-दृष्टि से रामजी ही विश्व-रूप हैं, यथा—"बिस्वरूप रघुबंसमनि" (लं० दो० १४)। अतः, आप प्रथम ही हृदय से हार रहे हैं।

(३) 'अस कहि फिरि चितये ···'—यहाँ श्रीकिशोरीजी का मुख एकरस है। अतः, चन्द्रमा के समान कहा है और इधर श्रीरामजी में सात्विक भाव हो आया। अतः, चकोर की तरह आसक्त हो गये और एकटक देखते रह गये, यथा—"भये मगन देखत मुख-सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा॥" (दो० २०६)। 'तेहि ओरा'—जिधर से ध्वनि सुनी थी। 'सियमुख ससि···नयन चकोरा'—इसमें सांगरूपक अलकार तथा 'द्वितीय निदर्शना' भी है।

श्रीरामजी के मन, वचन, कर्म तीनो में क्षोभ हुआ—'हृदय गुनि'—मन, 'अस कहि फिरि चितये'—कर्म और—'कहत लखन सन ··'—बचन।

(४) 'भये बिलोचन चारु ···· '—अचंचल (स्थिर, एकटक) होने पर नेत्रों की शोभा नहीं रहती, पर श्रीरामजी के नेत्र अब भी चारु अर्थात् सुन्दर हैं। टकटकी की उत्प्रेक्षा करते हैं, मानों निमि पलक त्यागकर चले गये। पुनः जिन्होंने अपनी छवि से नगर-भर के नर-नारियों को मोह लिया था, वे ही श्रीसीताजी की छवि से कैसे मुग्ध हो गये? कोई विशेष कारण होगा, वह कारण उत्प्रेक्षा के रूप में कहते हैं कि निमि ही चले गये तो निमेष कैसे हो?

निमि—राजा इक्ष्वाकु की बारहवीं पीढ़ी में निमि राजा हुए। गौतम मुनि के आश्रम के पास वैजयन्त नाम नगर में रहते थे। इन्होंने पुरोहित वसिष्ठजी को यज्ञ के लिये वरण किया। वसिष्ठजी ने कहा कि मैं इन्द्र के यहाँ यज्ञ में वरण किया जा चुका हूँ, वहाँ से आकर तुम्हारा यज्ञ कराऊँगा। वसिष्ठजी के चले जाने पर महाराज निमि गौतम को पुरोहित बनाकर यज्ञ करने लगे। पाँच हजार वर्षों तक निमि ने यज्ञ किया। इन्द्र का यज्ञ समाप्त होने पर वसिष्ठजी आये और अपने स्थान पर गौतम को देखकर क्रोध

बड़ा क्रोध हुआ। थोड़ी देर निमि से मिलने की प्रतीक्षा की, पर उस समय निमि गाढ़ी नींद में सो रहे थे। वसिष्ठजी ने शाप दिया कि तुमने हमारा अपमान किया। अतः, तुम्हारा यह शरीर न रहे। जागने पर निमि ने भी उन्हें शाप दिया कि तुम्हारा भी यह शरीर न रहे। दोनों के शाप सत्य ही हुए। दोनों ही देहरहित हो गये। प्रथम वसिष्ठजी ने सूक्ष्म शरीर से ब्रह्माजी से दूसरा शरीर माँगा (यह कथा दो० २ चौ० ३ में दी गई है)। इधर निमि की यज्ञ-समाप्ति पर महर्षि भृगु और देवता लोगों ने प्रसन्न होकर इन्हें सचेतन बनाना चाहा, पर निमि की चेतना बोली कि मैं सब प्राणियों के नेत्रों पर रहना चाहती हूँ। देवताओं ने मान लिया। तब से निमि सबकी पलकों पर वायु-रूप से रहने लगे। इसीसे पलकों का नाम निमेष हुआ। पुनः इनका शरीर मथा गया, उससे जो पुरुष हुआ उसका नाम मिथि, विदेह एवं जनक हुआ। तबसे उस नगर का नाम मिथिला हुआ। उस गद्दी के राजा मिथिलेश, जनक और विदेह कहाने लगे। (वाल्मी० ७।५५)। फिर इस वंश के पुरोहित गौतम मुनि ही हुए। उनके बाद उनके पुत्र शतानन्दजी हुए। तभी से यह वंश रघुकुल से पृथक् हुआ और गोत्र भी दूसरा हुआ, इसीसे श्रीरामजी और श्रीसीताजी का ब्याह हुआ।

राजा निमि ने यहाँ अपने कुल की कन्या से दृष्टि का सम्बन्ध जानकर लज्जा से हट जाना ठीक समझा, क्योंकि अपनी सन्तानों का ऐकान्तिक रहस्य देखना मना है। श्रीरामजी का शरीर चिदानन्दमय है। इनकी पलकों पर निमि का वास नहीं है, यहाँ केवल एकटक नेत्र के लिये उत्प्रेक्षा-मात्र है।

देखि सीयसोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचन न आवा ॥५॥
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कह प्रगटि देखाई ॥६॥
सुंदरता कहँ सुंदर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई ॥७॥
सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरउँ बिदेह - कुमारी ॥८॥

दोहा—सियसोभा हिय बरनि प्रभु, आपनि दसा बिचारि।
बोले सुचि मन अनुज सन, बचन समय अनुहारि ॥२३०॥

अर्थ—श्रीरामजी ने श्रीसीताजी की शोभा देखकर जो सुख पाया। उसकी वे हृदय में सराहना करते हैं, उनके मुख से वचन नहीं निकलते ॥५॥ मानों ब्रह्माजी ने अपनी सारी कारीगरी रचकर संसार के सामने प्रत्यक्ष करके दिखा दी है ॥६॥ श्रीसीताजी की शोभा मूर्तिमान् सुन्दरता को भी सुन्दर करती है, मानों छवि रूपी घर में दीपक की लौ जलती हो ॥७॥ सब उपमाओं को कवि लोगों ने जूठी कर डाला है, इनमें विदेहकुमारी श्रीजानकीजी को किससे पटतर (उपमा) दूँ ? ॥८॥ श्रीसीताजी की शोभा हृदय में कहकर और अपनी दशा विचार कर प्रभु श्रीरामजी पवित्र मन से समयानुसार वचन भाई लक्ष्मणजी से बोले ॥२३०॥

विशेष—(१) 'देखि सीय-सोभा सुख……'—वे जिस सुख की चाह में थे, वह पा गये। ऐसे मुग्ध हो गये कि हृदय में ही सराहते हैं, बोलती बन्द हो गई, तब वह सुख दूसरा कैसे कहे ? यथा—"उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहइ कबि कोऊ ॥" (दो० २४१)। शृंगार-रस की दृष्टि से यह भी अर्थ है कि शोभा-रूपी बाण ('सर') से हृदय ('आहत') घायल हो गया, इससे बोलती बन्द हो गई।

(२) 'जनु बिरंचि सब निज……'—श्रीजानकीजी स्वयं भूमि से प्रकट हुई हैं, ब्रह्माजी की बनाई हुई नहीं हैं, यहाँ केवल सौन्दर्य-कथन के लिये उत्प्रेक्षा-मात्र है, यथा—"जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बर रचेउ बिचारी ॥" (दो० २३२)। उत्प्रेक्षा यथार्थ नहीं होती। 'बिरचि बिस्व कहँ

यथा—"सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन, यथाप्रदेशं विनिवेशितेन। सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्य-दिदृक्षयेव॥" (कुमारसम्भव, सर्ग १)।

(३) 'सुंदरता कहँ सुंदर·····'—यहाँ सखियाँ छवि-गृह हैं, उनके मध्य में किशोरीजी दीप-शिखा की तरह उन सबको भी प्रकाशित करती हैं। वे सभी सुन्दरता की मूर्त्ति हैं, तो भी आपके प्रकाश से अधिक सुशोभित हो रही हैं, यथा—"सोहति बनिता वृन्द महँ, सहज सुहावनि सोय। छवि ललनागन मध्य जनु, सुषमा तिय कमनीय॥" (दो० ३२२), "सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसे। छवि गन मध्य महा-छवि जैसे॥" (दो० २६३)। इसी प्रकार महाकवि कालिदास ने भी इन्दुमती की उपमा दीप-शिखा से दी है—"संचारिणी दीपशिखेव रात्रिं" (रघुवंश)।

(४) 'सब उपमा कवि रहे···'—कवियों ने प्रायः सब उपमाओं को प्राकृत, अतएव तुच्छ नारियों में लगा-लगाकर जूठी कर दिया। यथा चन्दवरदाई ने 'रासो' में संयुक्ता के वर्णन में तथा जायसी ने 'पद्मावत' में पद्मिनी के वर्णन में कोई उपमा उठा नहीं रक्खी। अतः, वे उपमाएँ विदेह-कुमारी (अयोनिजा) के योग्य नहीं रहीं, यथा—"उपमा सकल मोहि लघु लागी। प्राकृत नारि अंग अनुरागी॥" (दो० २४६)। जब उन उपमाओं से समता के योग्य नहीं कहने लगे, तब बड़ा नाम 'बिदेह-कुमारी' कहा और जहाँ वर्णन करना कहा—'सिय-सोभा हिय बरनि ··'। वहाँ 'सिय' यह छोटा-सा मधुर नाम दिया। भाव यह कि मैंने इनकी किंचित् शोभा की छटा का दिग्दर्शन कराया है। शब्दों का उचित प्रयोग प्रशंसनीय है!

(५) 'सिय-सोभा हिय बरनि ··'—इस शोभा-वर्णन का उपक्रम—"हृदय सराहत बचन न आवा।" से हुआ और यहाँ—"सिय-सोभा हिय बरनि" पर उपसंहार है। इसके भीतर—"जनु बिरंचि सब·····" से "·····बिदेहकुमारी।" तक का वर्णन शोभारूप रत्न है। उपक्रम नीचे का डब्बा है। वह छोटा होता है, वैसे वह चौपाई भी छोटी है। ऊपर का डब्बा (ढकना) बड़ा होता है, वैसे ही उपसंहार का दोहा भी बड़ा है। इस तरह यह रत्न डब्बे में रक्खा गया है।

'प्रभु'—क्योंकि अपने हृदय पर अब भी अधिकार है, इसीसे मीमांसा कर रहे हैं, क्योंकि 'प्रभु' का अर्थ समर्थ है। 'आपनि दसा बिचारि'—वर्णन तो हृदय में ही हुआ, पर स्वरभंग, स्वेद, स्तम्भ, कम्प, रोमांच, विवर्णता, अश्रुपात और प्रलय (मूर्च्छा) सात्त्विकानुभाव की आठो दशाएँ देह में प्रकट होने लगी हैं। प्रभु अपनी इस दशा का विचार करके बोले, क्योंकि आप पवित्र मनवाले हैं। शुचि अर्थात् छलरहित मन, यथा—"राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाव छुआ छल नाहीं॥" (दो० २३६)। 'सुचि मन' की व्याख्या आगे—'रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ।···' से करेंगे। यहाँ श्रीरामजी के अन्तः-करण चतुष्टय की वृत्ति प्रकट है—'सुचि मन'—मन, 'आपनि दसा बिचारि'—बुद्धि, 'मोहि अतिसय···'—अहंकार और आगे—'चारु चित्त भीती···'—इसमें चित्त की वृत्ति कही गई है। 'समय अनुहारी'—इस समय श्रीजानकीजी पास में हैं। अतः, उन्हींके विषय की वार्ता समय के अनुसार है। 'आपनि दसा बिचारि' में श्रीरामजी की धर्म-परायणता और सदाचार की दृढ़ता गर्भित है। आगे दशा को प्रकट करते हैं—

तात जनक - तनया यह सोई। धनुषजज्ञ जेहि कारन होई॥१॥
पूजन गौरि सखी लै आई। करत प्रकास फिरइ फुलवाई॥२॥
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥३॥
सो सब कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता॥४॥

अर्थ—हे तात! यह जनकजी की कन्या वही है, जिसके लिये यहाँ धनुष-यज्ञ हो रहा है॥१॥ गौरी पूजने के लिये इसे सखियाँ ले आई हैं। (वही) फुलवारी को प्रकाशित करती हुई घूम रही है॥२॥ जिसकी

अलौकिक (अनूठी) शोभा को देखकर मेरा स्वाभाविक पवित्र मन चलायमान हो गया ॥३॥ इन सब कारणों को तो विधाता जाने, पर हे भाई ! सुनो, मेरे शुभदायक दाहिने अंग फड़कते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'तात जनकतया यह···'—'सोई'—परिचित की तरह कह रहे हैं। इसपर रामचन्द्रिका में केशव कवि का कथन घटित होता है। उन्होंने कहा है कि विश्वामित्र के निमन्त्रण-पत्र के साथ श्रीजानकीजी के सहित यज्ञशाला का चित्र भी था। श्रीरामजी लक्ष्मणजी को उसीका स्मरण करा रहे हैं अथवा अलौकिक शोभा ही इन्हें अयोनिजा होने का अभिज्ञान करा रही है। इतना तो प्रसिद्ध ही था कि कन्या अयोनिजा और लोकोत्तर सुन्दरी है। आगे चौ० २-३ से इसीकी पुष्टि की है।

अलंकार—'प्रमाण (प्रत्यक्ष)' है, क्योंकि 'सोई' पद से सत्य कथन स्पष्ट है।

'धनुषजज्ञ जेहि कारन ··' अर्थात् इनकी प्राप्ति में धनुर्भंग ही मात्र साधन है।

(२) 'पूजन गौरि सखी लै आई'—राजकुमारी बालिका हैं, अतएव सखियों का ले आना कहा तथा इससे मर्यादा और गौरव भी जनाया। 'प्रकास'—पूर्व दीपशिखा की उपमा दी थी, उसीके अनुरूप यहाँ प्रकाश करना कहा गया।

(३) 'जासु बिलोकि अलौकिक ··'—इस कन्या में लोकोत्तर शोभा है। लौकिक स्त्री में मेरा मन, जो स्वाभाविक पवित्र है, लुब्ध नहीं हो पाता, अर्थात् इनकी प्राप्ति की इच्छा हुई। 'सहज पुनीत' के भाव आगे चौ० ५-८ में हैं। 'मोर मन'—यहाँ खड़े लक्ष्मणजी भी हैं, पर मन रामजी का ही लुब्ध हुआ है। इससे भी कुछ अनादिकालीन आत्मिक सम्बन्ध मालूम होता है। यहाँ तक 'सोई' की पुष्टि हुई। यहाँ 'हेतु प्रथम' अलंकार है, क्योंकि कारण और कार्य साथ ही वर्णित है।

(४) 'सो सब कारन जान बिधाता।'—प्रत्येक घटना किन्हीं कारणों से होती है, उनमें कर्म मुख्य है। फिर इसीके अनुरूप काल और स्वभाव भी होते हैं, इन सबकी व्यवस्था ब्रह्मा ही जानते हैं, यथा—"कठिन करम-गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फलदाता॥" (अ० दो० २८१), अर्थात् मेरे मन के लुब्ध होने के और सब कारण ब्रह्मा जानें। एक कारण तो इसकी अलौकिक शोभा ही मुझे प्रत्यक्ष है। 'सुभद अंग फरकहिं'—से प्रकृति भी कुछ दाहिने कन्धे, भुजा आदि के फड़कने से मानों वाम अंग को भूषित होने की सूचना देती है। (श्रीरामजी का तन प्राकृत नहीं है, यह कथन माधुर्य-लीला-रूप में है) फड़कने का भाव यह है कि दोनों अंग बराबर हैं तो एक को भारी लाभ जानकर दूसरा तड़फड़ाता है।

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पग धरइ न काऊ ॥५॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी ॥६॥
जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी। नहिं पावहिं परतिय मन डीठी ॥७॥
मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं। ते नरबर थोरे जग माहीं ॥८॥

दोहा—करत बतकही अनुज सन, मन सियरूप लुभान।
मुख-सरोज-मकरंद-छबि, करइ मधुप इव पान ॥२३१॥

अर्थ—रघुवंशियों का यह स्वभाव जन्म ही से होता है कि कभी भी उनका मन किसी बुरे मार्ग पर पैर नहीं रखता ॥५॥ मेरा तो अपने मन पर अत्यन्त विश्वास है कि उसने स्वप्न में भी कभी पराई स्त्री को नहीं देखा ॥६॥ लड़ाई में शत्रु लोग जिनकी पीठ नहीं पाते, अर्थात् वे सम्मुख लड़ते हैं, भागते नहीं और पराई स्त्रियाँ जिनके मन और दृष्टि नहीं पातीं, अर्थात् धीर होते हैं ॥७॥ माँगनेवाले जिनके यहाँ

कभी 'नाहीं' नहीं पाते अर्थात् खाली हाथ नहीं लौटते, ऐसे श्रेष्ठ पुरुष जगत् में थोड़े हैं ॥८॥ छोटे भाई से वार्त्ता कर रहे हैं, (पर) मन श्रीसीताजी के रूप पर लुभाया हुआ है। वह इनके मुख-कमल के छवि रूप मकरन्द (रस) को भौंरे की भाँति पी रहा है ॥२३१॥

विशेष—(१) 'रघुबंसिन्ह कर···'—यहाँ 'रघुबंसिन्ह' से लक्षण-द्वारा केवल अपने कुल—रघु से लेकर श्रीरामजी तक—का तात्पर्य है। मन के पैर नहीं होते, उनका चलायमान होना ही चलना है। पर-स्त्री पर दृष्टि देना कुपन्थ है। इसे ही आगे—'जेहि सपनेहुँ पर नारि···' से स्पष्ट करेंगे। 'काऊ'=कभी भी, जन्म से लेकर मरण-पर्यन्त भी।

(२) 'मोहि अतिसय प्रतीति···'। भाव यह है कि और तो जाग्रत् में ही सावधान रहते हैं, पर मेरी अपने मन पर अत्यन्त प्रतीति है कि उसने स्वप्न में भी पर-स्त्री की ओर नहीं देखा, यथा—"न रामः परदारान्स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति ॥" (वाल्मी० २।७२।४८), तथा—"कुतोऽभिलषणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम्। तव नास्ति मनुष्येन्द्र न चाभूत्ते कदाचन ॥ मनस्यपि तथा राम न चैतद्विद्यते क्वचित्। स्वदारनिरतश्चैव नित्यमेव नृपात्मज ॥" (वाल्मी० ३।९।५–६)। इस रीति से श्रीजानकीजी को अपनी ही शक्ति जनाया। नहीं तो मेरा मन और नेत्र उधर न जाते। अपना उत्कर्ष कहना अनुचित है, पर यहाँ वंश के प्रभाव से कहा है। वंश का गौरव मानना चाहिये, यथा - "कुलोचितमतिः क्षात्रं स्वधर्मं बहु मन्यते।" (वाल्मी० २।३।१६), अर्थात् अपने कुल-परम्परा बुद्धि से क्षात्रधर्म को श्रेष्ठ मानते हुए श्रीरामजी उसका पालन करते हैं।

पूर्व कहा गया कि लक्ष्मण से अपने हृदय की सफाई देना भी माधुर्य दृष्टि से आवश्यक है, उसी दृष्टि में यह आत्म-प्रशंसा भी है कि जिससे अनुयायियों को सच्चरित्रता का ज्ञान हो।

अलंकार—'आत्मतुष्टि प्रमाण'।

(३) 'नहिं पावहिं परतिय मन डीठी' प्रथम दृष्टि जाती है, तब मन भी जाता है, यथा—"जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा ॥" कहा गया है।

'ते नरबर थोरे जग माहीं'—ग्राम, नगर, देश आदि की कौन कहे, ऐसे मनुष्य जगत्-भर में भी थोड़े ही होंगे। 'सपनेहुँ'—यह माधुर्य में कहा गया है, श्रीरामजी में स्वप्न आदि अवस्थाएँ नहीं होतीं। दिव्य हैं।

'जिन्ह कै ··डीठी'—यथा—"सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या संस्तूयते जनैः। नारयो लेभिरे प्रद्युम्न वक्तः परयोषितः ॥" (भोजप्रबन्ध)। यहाँ 'स्वभावोक्ति-अलंकार' भी है।

यहाँ तीनों वर्णों के धर्म भी कहे गये हैं—'जिन्ह के लहहिं न रिपु···' में क्षात्र धर्म कि वे शत्रु के प्रति क्रोध करें, पीठ न दें। 'नहिं लावहिं परतिय मन डीठी।' में ब्राह्मण धर्म कि इन्हें इन्द्रियजित् (कामजित्) होना चाहिये। 'मंगन लहहिं न···' में वैश्य धर्म, इनके लिये लोभ जीतना प्रधान है, यथा—"सोचिय बैस कृपिन धनवानू।" (ज० दो० १७१)। ये तीनों बातें सबमें चाहिये, पर उक्त रीति से एक-एक गुण उनमें प्रधान रहेगा। यहाँ वक्ता श्रीरामजी क्षत्रिय हैं। इसलिये क्षात्र धर्म को प्रथम कहा है। पुनः—'नहिं पावहिं परतिय मन डीठी' का यहाँ मुख्य प्रसंग है, इसलिये मध्य में लिखकर इसे भी प्रधानता दी। ये तीनों गुण दुर्लभ हैं, यथा—"नारि-नयन-सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा ॥ लोभ-पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया ॥ यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ-कोई ॥" (कि० दो० २०)।

यहाँ रण में पीठ न देने में कर्म, पर-स्त्री से बचाव में मन और दान में 'नाहीं' न करने में वचन की श्रेष्ठता कही गई। पुनः रण में पीठ न देने का साधन पर-स्त्री से बचना है और उसका साधन दान-शीलता आदि पुण्य हैं जिनसे मन पवित्र रहकर कुमार्ग से बचता है।

(४) 'करत बतकही अनुज···'—यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—"बोले सुचि मन अनुज सन···" पर है। यहाँ भी—'करत बतकही'—वचन, 'मन सिय-रूप लुभान'—मन और 'मुख-सरोज-मकरंद···पान'—कर्म है। 'मन सिय-रूप लुभान'—पूर्व कहा गया—"सिय-मुख ससि भये नयन चकोरा।" चकोर चन्द्रमा में लुभाया रहता है, यथा—"जनु चकोर पूरन ससि लोभा।" (दो० २०६), वैसे श्रीरामजी का मन लुभाया हुआ है। यह रात का दृष्टान्त हुआ। पुनः उत्तरार्द्ध में दिन का दृष्टान्त कहते हैं। कमल दिन में खिला रहता है, अर्थात् श्रीरामजी का मन श्रीजानकीजी में भौंरे और चकोर की भाँति दिन-रात लुभाया रहता है।

भ्रमर मकरन्द पान के समय चुप रहता है, फिर कमल के आस-पास गूँजता है, वैसे ही श्रीरामजी श्रीसीताजी की मुख-छवि को निहारते हैं, तब मौन हो जाते हैं, फिर लक्ष्मणजी से बातें करने लगते हैं।

श्रीरामजी ने प्रथम उधर देखने में तर्क किया, जब सब कारणों पर दृष्टि दी, और शुभ अंगों के फड़कने से उनमें स्वकीयत्व का निश्चय हुआ, तब निःशंक मुख-छवि देखने लगे।

यहाँ श्रीरामजी की पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के सुख प्रकट हुए, यथा—"कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।'—श्रवण का, 'सियमुख ससि भये नयन चकोरा।' नेत्र का, 'बोले सुचि मन'—जिह्वा का—इन तीन के सुख प्रकट में कहे गये, शेष दो स्पर्श और गन्ध के सुख इस दोहे के—'मधुप इव पान' से गुप्त रीति से कहे गये, क्योंकि भौंरा कमल को स्पर्श करता है और उसकी सुगन्धि भी सूँघता है। अतः, त्वचा और नासा के सुख भी आ गये। वे दोनों अभी स्थूल रूप में अयोग्य हैं। रसना का रस विषय सुख भी भ्रमर के रस पान में आ गया।

श्रीरामजी श्रीलक्ष्मणजी से वार्ता करते हैं, पर वे बोले ही नहीं, यह छोटे भाई का शील अपूर्व है! 'बतकही' पर पूर्वोक्त दो० ८ चौ० २ भी देखिये।

अलंकार—'उक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा', क्योंकि यहाँ मुख उपमेय, सरोज उपमान, छवि विषय, और मकरंद विषय साथ कहे गये हैं।

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृपकिसोर मन चिंता॥१॥
जहँ बिलोक मृग-सावक-नैनी। जनु तहँ बरिस कमल-सित श्रेनी॥२॥
लता-ओट तब सखिन्ह लखाये। स्यामल गौर किसोर सुहाये॥३॥
देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥४॥
थके नयन रघुपति-छवि देखे। पलकन्हिहू परिहरीं निमेखे॥५॥

शब्दार्थ—मृग-सावक = हिरन का बच्चा। बरिस = वर्षा होती है। सित = श्वेत। श्रेनी (श्रेणी) = पंक्ति। लखाये = इशारे से दिखाया। निमेखे = पलक पड़ना, पलक मारना।

अर्थ—चौकन्नी होकर श्रीसीताजी चारो दिशाओं में देखती हैं, राजकिशोर कहाँ चले गये? यही उनके मन में चिन्ता है॥१॥ हिरन के बच्चे के समान नेत्रवाली श्रीसीताजी जहाँ देखती हैं, मानों वहीं श्वेत कमलों की पंक्ति बरसती है॥२॥ तब सुहावने श्याम-गौर वर्णवाले और किशोर अवस्थावाले कुमारों को सखियों ने लता की ओट में दिखलाया॥३॥ उनके ललचाये हुए नेत्र (श्रीरामजी के) रूप को देखकर प्रसन्न हुए मानों उन्होंने अपने खजाने को पहचान लिया॥४॥ श्री रघुनाथजी की छवि देखकर (श्री सीताजी के) नेत्र थक गये (स्थगित रह गये) और पलकों ने भी निमेष मारना छोड़ दिया अर्थात् टकटकी लग गई!

विशेष—(१) 'चितवत चकित चहूँ···'—श्रीसीताजी का प्रसंग प्रथम—"चकित बिलोकति सकल दिसि, जनु सिसु मृगी सभीत॥" (दो० २२६) पर छोड़ा था, वहीं से मिलाकर फिर उसे उठाते

हैं। अतः,– 'चितवति चकित···' कहा है। पूर्व कहा था—'सकल दिसि', वही यहाँ 'चहुँ दिसि' कहकर स्पष्ट कर दिया। वहाँ 'सिसु मृगी' कहा था, यहाँ 'मृग-सावक-नयनी' कहा। वहाँ 'सभीत' कहा था, यहाँ 'चिंता' से सूचित किया। चिन्ता यही है कि राजकिशोर चले तो नहीं गये। पाठान्तर 'मनचीता' भी है, इसका अर्थ होगा कि जिन्हें मन ने चुन लिया था, वरण किया था जो—'उपजी प्रीति पुनीत' पर कहा गया था। 'नृपकिसोर' कहकर स्वाधीनता एवं चंचलता सूचित की, क्योंकि राजपुत्र स्वतन्त्र होते हैं और किशोर अवस्था में चंचलता रहती है। अतः, चले तो नहीं गये।

(२) 'जहँ बिलोक मृगसावक···'—श्रीसीताजी की 'चितवनि' स्वच्छ है, इसलिये श्वेत कमलों की श्रेणी का बरसना कहा गया है। जिधर ये देखती हैं, उधर ही सखियों का समूह देखने लगता है, इस तरह कमल-श्रेणी का बरसना युक्त है। विद्यापति भी कहते हैं—"जहँ-जहँ नयन प्रकासे। तहँ-तहँ कमल बिकासे॥ (पदावली)।

शंका—नेत्रों की सुन्दरता, श्यामता और अरुणता में कही जाती है, यहाँ श्वेत रंग में किसलिये कही गई ?

समाधान—(क) श्वेत नेत्र अमृतमय प्रीति-भाव में, श्याम नेत्र विषमय वैर-भाव में और लाल नेत्र मदमय मध्यस्थ भाव में मोहकता के लिये कहे जाते हैं, यथा—"अमी हलाहल मद भरे, श्वेत श्याम रतनार। जियत मरत झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत यक बार॥"—(रसलीन), इस दोहे में तीनो गुणों की दृष्टि से तीन प्रकार की 'चितवनि' कही गई है। यहाँ श्रीजानकीजी की 'चितवनि' सात्त्विक है, इसलिये उसका रंग श्वेत कहा है। (ख) श्रीसीताजी की 'चितवनि' पवित्र, और निर्मल है। अतः, श्वेत कमल की उपमा दी गई है। बरसना इससे कहा है कि दार्शनिक दृष्टि से ज्योति भी परमाणुओं का ही समूह है। ऐसा महर्षि कणाद ने अपने वैशेषिक दर्शन में निरूपित किया है। चकित 'चितवनि' है। अतः, लगातार वृष्टि हो रही है। नेत्र रूप सरोवर से निकले हुए विमल 'चितवनि' रूपी श्वेत कमलों की पंक्ति बरस जाती है। (ग) राजकिशोरीजी अभी स्नान करके सखियों के साथ पूजा में थीं, इससे सात्त्विक ही शृंगार किया है, जिससे नेत्र में काजल नहीं है। कजरारे नेत्रों की उपमा श्याम सरोज (नीलकमल) से दी जाती है, यथा—"रूप-रासि जेहि ओर सुभाय निहारइ। नील-कमल-सर-श्रेनि मयन जनु डारइ॥" (जानकीमंगल ९२)। (घ) शृंगार-रस की दृष्टि में श्वेत नेत्र खटकेंगे अवश्य, पर इनका भी इसमें ही गौरव है। इस तरह कि यहाँ शोभा-समर का भी प्रसंग है। नेत्रों की दृष्टि ही बाण-वृष्टि है, कजरारे नेत्रों की दृष्टि अनी-सहित बाण है और बिना शृंगार के नेत्रों की दृष्टि बिना फर के (थोथे) बाण हैं। राजकिशोरीजी ने प्रतिपक्षी पर दया करके थोथे ही तीर चलाये हैं। वे इसीसे कैद कर लिये गये, यथा—"चली राखि उर स्यामल मूरति॥" (दो० २३४), तो फिर पैने बाणों की आवश्यकता ही नहीं रही, यथा—"गुड़ सों जो मरै ताहि माहुर न दीजिये"—कहावत प्रसिद्ध है।

(३) 'लता-ओट तब सखिन्ह···'—सब सखियों को एक साथ ही दृष्टि पड़ी। अतः, सब ने एक साथ ही संकेत से दिखाया कि ये—'स्यामल गौर···।' हैं। जो विशेषण पूर्व देखनेवाली सखी ने कहे थे, वे ही यहाँ भी कहकर लखाये गये—"बय किसोर सब भाँति सुहाये। स्याम गौर···" (दो० २२८)। 'लता ओट'—'ओट' शब्द तीन स्थानों में आया है, १. 'लता ओट···' (यहाँ)। २. "प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई।" (अर० दो० ९)—यह सुतीक्ष्ण मुनि के यहाँ है। ३. "बिटप-ओट देखहिं रघुराई।" (कि० दो० ७), —यह सुग्रीव-वालि के युद्ध-प्रसंग में है। इनमें १—में शृंगार रस का प्रसंग है। अतः, 'लता' स्त्रीवाचक नाम है, क्योंकि इस रस में प्रधानता स्त्री की है। २—में शान्त रस का प्रसंग है, इसलिये 'तरु' नाम है, तरु अर्थात् तारनेवाला—शान्त रस का नाम है। ३—में वीर रस का प्रसंग है, इसलिये 'बिटप' नाम है। यह

पुरुषवाचक है, क्योंकि वीरत्व पुरुषों में होता है, टवर्ग भी ओज गुणवाले वीर रस में आते हैं, तथा—"रन रस बिटप पुलक मिसफूला। (अ० दो० २२८)। रस के अनुकूल शब्दों का प्रयोग सराहनीय है। 'लखाये'—संकेत से ही, क्योंकि राजकिशोर पास ही हैं।

(४) 'देखि रूप लोचन ललचाने'।···'—(क) जब तक रूप नहीं देख पड़ता तब तक उसके लिये लालच रहता है, यथा—"पितु दरसन लालच मन माहीं।" (दो० ३०६), पर देखने पर ललचाना कैसा ? अतः, अवरेब से अर्थ होगा—'ललचाने लोचन रूप देखि हरषे' अर्थात् जो नेत्र पूर्व से ललचे थे, यथा—"दरस लागि लोचन अकुलाने।" (दो० २२८), वे अभीष्ट रूप को देखकर हर्षित हुए। (ख) रूप को देखकर नेत्र ललचे, भाव यह कि जितना देखा, उतना सुना न था। पुनः रामजी का ऐसा रूप ही है कि जैसे-जैसे देखो, चाह बढ़ती ही रहती है—तृप्ति नहीं होती, यथा—"चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥" (दो० १४७)। उनकी तो इतनी अभिलाषा बढ़ी कि सदा के लिये देखने का लालच हुआ, तब पुत्ररूप होने का वर माँगा कि जिससे सदा देखा ही करें।

'जनु निज निधि पहिचाने'—श्याम विग्रह सबके नेत्रों की निधि ही हैं, इन्हीं की श्यामता का अल्पांश पुतली-रूप से नेत्रों में प्राप्त है, जिससे प्रकाश होता है। अतएव रामजी लोचनों की 'निज निधि' हैं। 'जनु'—श्रीकिशोरीजी का रूप भी चिदानन्दमय ही है, श्रीरामरूप से अभिन्न तत्त्व है। लीलानुरोध से औरों की तरह कहते हुए 'जनु' कहा गया है। वास्तव में श्रीजानकीजी से क्षणमात्र भी श्रीरामजी का पार्थक्य (भिन्नता) नहीं है—दो० १८ का विशेष भी देखिये।

यह भी भाव है कि यह रूप श्रीजानकीजी की 'निज निधि' कहा गया। इनकी ही कृपा से यह रूप किसीको भी प्राप्त होता है। अगस्त्य-संहिता के 'जानकीस्तवराज' में कहा है कि शिवजी ने रामरूप-प्राप्ति के लिये तप करके वर माँगा तो श्रीरामजी ने कहा कि यदि मेरा रूप चाहते हो तो श्रीजानकीजी को प्रसन्न करके उनसे भी माँगो, तभी पाओगे, वैसा ही करके शिवजी ने पाया। 'पहिचाने'—इससे पूर्व का परिचय सिद्ध होता है। सम्भवतः नारदजी ने लक्षण भी कहे होंगे।

(५) 'थके नयन रघुपति-छबि ···'—"रामहि चितै रहे थकि लोचन" (दो० २६८)। बँगला भाषा में 'थाकना' ठहरने को कहते हैं। अतः, 'थके' छवि पर ठहर गये वा छवि-समुद्र की विस्तृत शोभा में थक गये, इससे टकटकी लग गई।

'पलकन्हहूँ परिहरीं निमेषे'—इसी तरह उधर भी—"मनहुँ सकुचि निमि तजेउ दृगंचल।" कहा गया है। दोनों ओर एक-सी आसक्ति हुई।

अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरदससिहि जनु चितव चकोरी॥६॥
लोचन-मग रामहिं उर आनी। दीन्हे पलककपाट सयानी॥७॥
जब सिय सखिन्ह प्रेमबस जानी। कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी॥८॥

दोहा—लता-भवन ते प्रगट भे, तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमलबिधु, जलद-पटल बिलगाइ॥२३२॥

अर्थ—अधिक-स्नेह के कारण देह की सुधि नहीं रह गई, जैसे शरद् ऋतु के चन्द्रमा को चकोरी देख रही हो॥६॥ नेत्रों के मार्ग से श्रीरामजी को हृदय में लाकर उन सयानी सीताजी ने पलक रूपी किवाड़ बन्दकर दिये॥७॥ जब सीताजी को सखियों ने प्रेमवश जाना, तब वे मन में बहुत सकुचाईं, पर कुछ कह नहीं सकती थीं॥८॥ उसी समय वे दोनों भाई लताओं के कुंज से ऐसे प्रकट हो गये, मानों दो निर्मल (निष्कलंक) चन्द्रमा मेघ-समूह को अलग (चीर) कर निकले हैं॥२३२॥

विशेष—(१) 'अधिक सनेह देह भइ ···'—स्नेह तो प्रथम सुनने पर ही था, अब देखने से अधिक हो गया। 'देह भइ भोरी'—मन से देह की सुधि नहीं रह गई, नेत्र अचल हो गये। चकोरी को भी देह की सँभाल नहीं रहती। लता की ओट में श्रीरामजी के होने से इधर से पूर्ण रूप से निःसंकोच दृष्टि पड़ी और तृप्ति भी हुई, इसलिये इधर के देखने में शरद्-चन्द्र का देखना और स्वयं चकोरी बनना कहा गया है। शरद्-चन्द्र में चकोरी पूर्ण रूप से तृप्त हो जाती है। उधर श्रीराम-पक्ष में सामान्य चन्द्र का देखना और उनके नेत्रों का ही चकोर होना कहा गया था, यथा—"सिय-मुख ससि भये नयन चकोरा।" इसीसे उस एक बार मात्र के देखने में पूर्ण तृप्ति नहीं हो पाई थी, तभी तो—'मुख सरोज मकरंद छबि, करइ मधुप इव पान।' में फिर भी देखना कहा है।

अन्योन्य चकोर और चकोरी कहकर परस्पर अनन्यता सूचित की है, यथा—"अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा॥" (वाल्मी० ५।२१।१५), "मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः। प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति। (वाल्मी० १।७७।२६), तथा—"प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई।" (अर० दो० ९६ , "तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥" (सुं० दो० १४)।

(२) 'लोचन-मग रामहिं ···'—अप्रकट रामरूप को शास्त्र से जानकर बुद्धि-द्वारा हृदय में लाया जाता है। यहाँ श्रीरामजी प्रत्यक्ष हैं। अतः, आँखों को राह से लाना कहा गया। प्रथम 'चितवनि को' कमल की श्रेणी कहा था। अतः, कमल के पाँवड़े देकर आदर सहित हृदय में लाईं।

श्रीरामजी अत्यन्त कोमल हैं, नेत्र भी वैसे ही कोमल हैं। अतः, योग्य मार्ग से लाईं। उत्तम वस्तु यत्न से रक्खी जाती है, वैसे इन्हें हृदयस्थल में रक्खा, फिर नेत्र रूप कपाट बन्द कर लिये। आँखें बन्द कर लीं कि सखियाँ हमारी विशेष आसक्ति न जानें। वे यही जानें कि गौरीजी का ध्यान कर रही हैं। यही सयानपन है। पर, सखियाँ भी तो सयानी ही हैं, वे जान ही लेंगी। पुनः उधर साथ लक्ष्मण हैं और इधर सखियाँ। अतः, प्रत्यक्ष में शृंगार की पूर्णता का अभाव है, अतएव एकान्तस्थल हृदय में ले जाकर पल्ला बन्द कर लिया।

(३) 'जब सिय सखिन्ह प्रेमबस ···'—सखियों ने लख लिया कि श्रीजानकीजी प्रेमवश हो गईं। अब इन्हें कुछ कहकर सावधान करना चाहिये, पर कुछ नहीं कह सकीं कि इनके मन में संकोच होगा। अन्त में उन्हें संकोच होगा ही—"सकुचि सीय तब नयन उघारे।"—आगे कहा है। पुनः राजकुमार समीप ही हैं, इससे भी कहने में संकोच है। सखियाँ सकुचा गईं, क्योंकि किशोरीजी को वहाँ लाकर प्रेमवश करने का उत्तरदायित्व इन्हींपर है। देर होने का डर, ध्यान छोड़ाने का डर, फिर सामने श्रीराजकिशोरजी हैं, दर्शनों का अवसर है, इनको न बतलाना भी अनुचित है, दर्शन न होने से भी पछतावा होगा, इत्यादि कई कारणों से सकुचा गई हैं।

(४) 'लता-भवन ते प्रगट भये ·····'—पूर्व 'लता ओट' कहा था, अब 'लता-भवन' कहते हैं। इससे सूचित किया कि लता का निकुंज बना था। पुनः परस्पर स्वीकार-भाव जानकर कवि ने गार्हस्थ्य सम्बन्ध जनाते हुए, कुंज न कहकर 'भवन' कहा है, यथा—"न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते। गृहं तु गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम्॥" (महा० शान्ति० १०५।६), अर्थात् घर-घर नहीं है, स्त्री ही घर है, स्त्री-हीन घर वन के समान है। तेहि अवसर'—श्रीराजकुमार अवसर-ज्ञान में बड़े प्रवीण हैं, इधर श्रीराजकुमारीजी प्रेमवश हैं, आँखें मुँदी हैं। तब श्रीरामजी सामने आये। इसमें—"प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना। (दो० १८४), इस नियम का निर्वाह किया। पुनः माधुर्य में सामना होने पर परस्पर आमने-सामने चार आँखों के होने की धृष्टता भी नहीं होने पाई। यह ग्रन्थकार की सँभाल है।

'निकसे जनु जुग बिमल ·····'—चन्द्रमा में लाञ्छन एवं कलंक रूप मल है, ये निष्कलंक हैं, यही विमलता है। दो भाई हैं। अतः, दो चन्द्रमा कहे गये। यद्यपि उपमान रूप चन्द्रमा एक होता

है और उपमेय दो कहे गये तथापि विरोध नहीं है। यहाँ कवि का प्रयोजन अपनी कल्पना से पाठकों का ध्यान मेघ की घटा को विलगाकर दो चन्द्रमाओं के निकलने की छटा की ओर ले जाना है। उत्प्रेक्षा अलंकार में ऐसा होता ही है, यथा—"दिविसूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।" (गीता ११।१२), इसमें एक सहस्र सूर्यों का एक साथ उदय की कल्पना की गई है।

'जलद-पटल बिलगाइ'—उस लता-भवन से निकलने का मार्ग कुछ दूर से था और श्रीरामजी प्रेम-बिवश हैं, इससे शीघ्रता-पूर्वक लताओं को फाड़कर प्रकट हो गये। इससे भी शीघ्र निकलना था कि श्रीजानकीजी कहीं और दिशा में न चली जायँ तो फिर ऐसा अवसर सम्भवतः नहीं मिलेगा। 'बिमल बिधु' के साहचर्य से 'जलद-पटल' भी शरद् ऋतु के हैं, उन श्वेत मेघों की तरह श्वेत रंग की पुष्पित लताओं का वह कुञ्ज था।

अलंकार—'उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा', क्योंकि उत्प्रेक्षा विषय पहले कहकर उत्प्रेक्षा की गई है।

सोभासींव सुभग दोउ बीरा। नील-पीत-जलजाभ-सरीरा ॥१॥
मोरपंख सिर सोहत नीके। गुच्छ बीच बिच कुसुमकलीके ॥२॥
भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाये। श्रवन सुभग भूषन छबि छाये ॥३॥
बिकट भृकुटि कच घूँघरवारे। नवसरोज लोचन रतनारे ॥४॥

शब्दार्थ—जलजाभ = कमल की आभा (कान्ति)। कुसुम = फूल। घूँघरवारे = घुँघराले। रतनारे = लाल।

अर्थ—ये दोनों वीर शोभा की सीमा हैं, (सु-भग =) सुन्दर ऐश्वर्यवान् हैं। नीले-पीले कमल की कान्ति के समान कोमलता एवं कान्तियुक्त शरीरवाले हैं ॥१॥ सिर पर बहुत अच्छी मोरपंखी टोपी सुशोभित है, जिसके बीच-बीच में पुष्पकली के गुच्छे बने हुए हैं ॥२॥ ललाट पर तिलक और पसीने की बूँदें सुहावनी लगती हैं, कानों में सुन्दर आभूषणों की शोभा छाई हुई है ॥३॥ भौंहें टेढ़ी, बाल घुँघराले और नवीन लाल कमल के समान लाल-लाल नेत्र हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'सोभासींव सुभग·····'—शोभा की सीमा हैं, सुभग से यदि सुन्दरता का ही अर्थ लें तो पुनरुक्ति होगी। अतः, सुष्ठु-भग अर्थात् ऐश्वर्यवान् हैं, यह अर्थ लेना होगा। इस सुभग का सम्बन्ध 'दोउ बीरा' से है अर्थात् वीरता के ऐश्वर्य तेज-प्रताप आदि से युक्त है। वीर कठोर होते हैं। अतः, आगे कमल के समान कोमल कान्तियुक्त कहा। उसमें तेज-प्रताप आदि को कान्ति में लेते हुए भी शरीर को कमल के समान कोमल कहा है।

(२) 'मोरपंख सिर सोहत·····'—'मोरपंख' अर्थात् मोरपंखी टोपी, जो आगे-पीछे कम चौड़ी, बीच में अधिक चौड़ी और लम्बी होती है, यथा—"मोर फूल बीनबे को गये फुलवाई हैं। सीसनि टिपारे·····" (गी० बा० ६९)। 'टिपारा' (हिन्दी—टि = तीन + फारसी—पारा = टुकड़ा) = तीन भागों की, मुकुट के आकार की एक टोपी, ऐसा हिन्दी-शब्द-सागर में प्रमाण है। यही टोपी उपर्युक्त मोरपंख में घटित होती है। 'मुकुट के आकार की कलँगीदार टोपी'—भार्गव आ० हि० श० कोष। इस मोर-पंखी टोपी का वर्णन अन्यत्र भी है, यथा—"सिरनि सिखंड सुमन दल मंडन बाल सुभाय बनाये।" (गी० बा० ५४). इसमें 'सिखंड' से मोरपंख कहा है और उससे उसी टोपी का अर्थ है।

नगर-दर्शन में भी टोपी (चौतनी) कही गई है—"रुचिर चौतनी सुभग सिर।" (दो० २१९), वहाँ लाल चमकदार टोपी, यहाँ मोरपंखी हरे रंग की टोपी और आगे धनुष-यज्ञ में—"पीत चौतनी सिरनि सुहाई।·····" (दो० २४२), अर्थात् पीत रंग की चौतनी है जो उपर्युक्त 'टिपारे' के अर्थ में मुकुट के आकार की कही गई है, यथा—"राजिवनयन बिधुबदन टिपारे सिर·····" (गी० बा० ७१), वहाँ राजाओं के समाज में मुकुटाकार 'कमरखी ताज' ही अर्थ ठीक है। अतः, तीनों जगह सिर पर टोपी

एवं ताज वर्णित है। यहाँ जो कोई मोर का पक्ष धारण करना कहते हैं, अथवा 'काकपक्ष' पाठ मानकर अर्थ करते हैं, उसमें सिर का नंगा होना पाया जाता है, और यहाँ तो आगे 'कच घूँघरवारे' से केश का वर्णन है ही। उसमें 'काकपक्ष' का भाव आ जाता है और मोर-पक्ष-धारण श्रीराम-रूप में कहीं नहीं पाया जाता।

'गुच्छ बीच बिच कुसुम·····'—रेशम और सुनहले-रुपहले तार आदि की कलियाँ टोपी पर कढ़ी हुई हैं, यथा—"कुसुम-कली बिच बीच बनाई।" (दो० २४२), इसमें सुस्पष्ट कहा गया है।

(३) 'भाल तिलक श्रमबिंदु'·····'—तिलक वर्णन पूर्व—"तिलक-रेख सोभा जनु चाँकी।" (दो० २१८) में हो गया है। 'श्रमबिंदु'—लता चीरकर निकलना पड़ा, प्रथम से भी फूल उतारने में कुछ श्रम था ही, इससे पसीने की बूँदें मोती की तरह झलकने से सुहावनी लगती हैं। 'सुहाये' का यह भी भाव है, कि श्रम की सफलता हुई जिससे राजकिशोरीजी के दर्शन हुए। 'श्रवन सुभग भूषन ··'—कानों के भूषण पूर्व—"कानन्ह कनक फूल छबि देहीं।' (दो० २१८) में कहे गये। 'छबि छाये'—अर्थात् छबि से परिपूर्ण हैं।

'बिकट भृकुटि', यथा—"मुकुर निरखि मुख राम भ्रू, गनत गुनहिं दै दोष। तुलसी से सठ सेवकन्हि, लखि जनि परइ सरोष॥" (दोहावली १८७), अर्थात् श्रीरामजी की भौंहें कान तक लम्बी और धनुष के समान टेढ़ी हैं, जितनी टेढ़ी औरों को क्रोध में होती हैं, यह शुभ लक्षण है। 'नव सरोज लोचन···' ऊपर लाल रंग के नेत्र मोहक कहे गये हैं। दो० २३१ चौ० २ का विशेष देखिये। तदनुसार इन नेत्रों के दर्शनों से सखियाँ मोहित होंगी—'बिसरा सखिन्ह अपान।' यह आगे कहा है। पुनः 'नव' अर्थात् झुके हुए (नीचे को), क्योंकि सामने श्रीजानकीजी और उनकी सखियाँ हैं। अतः, मर्यादानुसार प्रभु नीचे दृष्टि किये हुए हैं। शृंगार-रस की दृष्टि से यह भी भाव है कि 'सिय-मुख ससि' के सामने पड़ने से नेत्र कमल नय (झुक) पड़ेंगे ही!

चारु चिबुक नासिका कपोला। हासबिलास लेत मन मोला॥५॥
मुखछबि कहि न जाइ मोहि पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥६॥
उर मनिमाल कंबु-कल ग्रीवा। काम-कलभ-कर भुज बलसींवा॥७॥
सुमनसमेत बाम कर दोना। साँवर कुँअर सखी सुठि लोना॥८॥

दोहा—केहरिकटि पट पीत धर, सुषमा-सील-निधान।
देखि भानु-कुल-भूषनहिं, बिसरा सखिन्ह अपान॥२३३॥

शब्दार्थ—बिलास = क्रीड़ा। कलभ = हाथी का बच्चा। कर = सूँड़, हाथ। लोना = लावण्ययुक्त, सुन्दर। सुषमा = परम शोभा। सील = सद्वृत्ति। अपान = अपनपौ।

अर्थ—चिबुक (ठोढ़ी), नाक और कपोल सुन्दर हैं। मुसकान की क्रीड़ा तो मन को मोल लिये लेती है॥५॥ मुख की छबि तो मुझसे कही नहीं जाती, जिसे देखकर बहुत कामदेव लजा जाते हैं॥६॥ वक्षःस्थल पर मणियों की माला पड़ी है, शंख के समान सुन्दर गला है, कामदेवरूपी सुन्दर हाथी के बच्चे की सूँड़ के समान बल की सीमा भुजाएँ हैं॥७॥ बायें हाथों में फूलों से भरे दोने हैं। इनमें हे सखी! साँवले कुमार तो अत्यन्त सलोने (सुन्दर) हैं॥८॥ सिंह की-सी (पतली) कटि, उसमें पीताम्बर धारण किये हुए हैं, शोभा और शील के स्थान सूर्यकुल के भूषण को देखकर सखियों का अपनपौ (आत्मसुधि) भूल गया॥२३३॥

विशेष—(१) 'लेत मन मोला'—उनकी मुसकान की ओर दृष्टि जाते ही मन उन्हींके अधीन हो जाता है, तब शरीर के और इन्द्रियों के व्यापार बन्द हो जाते हैं, यही मुसुकान से मन का मोल लेना है।

(२) 'बहु काम लजाहीं'—बहुत काम एक साथ एकत्र करने से भी योग्य नहीं ठहरते।

(३) 'उर मनिमाल'—पूर्व—"उर अति रुचिर नाग-मनिमाला।" (दो० २१८) कहा गया था, इसलिये यहाँ मणिमात्र ही लिखकर उसीका संकेत किया है, अर्थात् वैसे ही यहाँ भी गजमुक्ता, सर्पमणि और माणिक्य की मालाएँ समझनी चाहिये। 'कंबुकल ग्रीवा' गरदन चढ़ाव-उतार तीन रेखायुक्त है, यथा—"रेखें रुचिर कंबुकल ग्रीवा। जनु त्रिभुवन सुषमा की सींवा॥" (दो० २४२)। 'काम कलभ कर···'—भुजाएँ हाथी के बच्चे की सूँड़ की तरह चढ़ाव-उतार और बलपूर्ण हैं, हाथी में सुन्दरता नहीं होती। इसलिये काम को हाथी होना कहा है।

(४) 'सुमन समेत बाम ···'—श्रीमिथिलेश महाराज की फुलवारी के सुन्दर पुष्पों से पूर्ण दोना बायें हाथ को भूषित करता है, यथा—"दोना बाम करनि सजोने भे सवाई हैं।" (गी० बा० ६९), पूर्व—'सोभासींव सुभग ' से यहाँ तक सखी का सखी से ही कहना है। यहाँ 'सखी' सम्बोधन प्रकट किया गया है। यह सखियों की चातुरी है। किशोरीजी ने अपना भाव छिपाने के लिये आँखों को मूँद लिया है, सखियाँ जान गई हैं, पर संकोच से कह नहीं सकीं। तब उनका ध्यान छुड़ाने के लिये कुमारों का छवि-वर्णन करने लगीं कि अब सामने हमलोग यह छवि प्रत्यक्ष देख रही हैं, आप भी आँखें खोलकर देखें। सफलता न होने पर अन्त में एक सखी हाथ पकड़कर ध्यान छुड़ावेगी। साथ ही यह भी चातुरी है कि जैसे श्रीरामजी ने किशोरीजी को समीप देखकर लक्ष्मणजी से 'समय अनुहारि' उन्हीं की शोभा का वर्णन किया था, वैसे ये सखियाँ भी कुमारों को समीप आये देख उन्हीं की शोभा का वर्णन परस्पर कर रही हैं।

(५) 'केहरि - कटि पट पीत·····'—यहाँ का शोभा-वर्णन शृंगार-रस से उठाया गया, यथा—"मोरपंख सिर·····"। शृंगार रस में सिर से वर्णन प्रारम्भ होता है और 'केहरि कटि' तक ही कहा अर्थात् वीररस पर विश्राम किया गया। पीताम्बर भी उसीके अनुकूल कहा है। केसरिया वेष वीरों का होता है। 'सुषमा सील···'—सुषमा (परम शोभा) की महत्ता शील-गुण से बढ़ जाती है, यथा—"सोभा सील ज्ञान गुन मंदिर···" (वि० ८५)। इसलिये 'सुषमा' के पीछे 'सील' भी कहा।

'भानुकुल-भूषनहिं'—सूर्यवंशी पर-स्त्री की ओर मन और दृष्टि नहीं देते, यथा—"नहिं पावहिं परतिय मन डीठी।" (दो० २३०), सखियाँ श्रीरामजी की शोभा पर मुग्ध हैं, पर आप उनकी ओर दृष्टि नहीं देते, ऐसा उत्तम स्वभाव रघुवंशियों का है, इसीसे वे महा तेजस्वी होते हैं। ये तो उनमें भूषण है। 'बिसरा सखिन्ह अपान'—प्रथम लता-ओट में देखा था, तब भलीभाँति देखने में नहीं आये थे। अब सामने खड़े हैं, इससे सर्वांग की शोभा भलीभाँति देखने से मुग्ध हो गईं, यथा—"जाइ समीप राम-छवि देखी। रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी॥" (दो० २६३)। यहाँ इन सबको टकटकी लग गई, इससे देह की सुध नहीं रह गई, यथा—"छवि-समुद्र हरि-रूप बिलोकी। एकटक रहे नयन पल रोकी॥ चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥ हरष-बिबस तनु-दसा भुलानी।" (दो० १४७)। ये सखियाँ श्रीकिशोरीजी को सावधान करने का प्रयत्न कर रही थीं, पर स्वयं बेसुध हो गईं।

धरि धीरज एक आलि सयानी। सीता सन बोली गहि पानी॥१॥
बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूपकिसोर देखि किन लेहू॥२॥
सकुचि सीय तब नयन उघारे। सनमुख दोउ रघुसिंह निहारे॥३॥
नखसिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पितापन मन अति छोभा॥४॥

अर्थ—एक चतुर सखी धैर्य धारण कर और (सीताजी का) हाथ पकड़कर सीताजी से

बोली ॥१॥ गिरिजाजी का ध्यान फिर पीछे कर लेना, अभी राजकिशोरों को क्यों नहीं देख लेतीं ? ॥२॥ तब श्रीसीताजी ने सकुचकर आँखें खोलीं, (तो उन्होंने) सामने रघुकुल के दोनों सिंहों को देखा ॥३॥ नख से शिखा तक श्रीरामजी की शोभा देखकर और फिर पिता की प्रतिज्ञा का स्मरण कर उनका मन बहुत ही क्षुब्ध हुआ ॥४॥

विशेष—(१) 'धरि धीरज एक···'—'एक'=प्रधान, मुख्य। यह वही सखी है जो प्रथम देख आई थी, दोबारा देखकर मोही थी, इसीसे इसे पहले चेत हुआ। यह सबमें मुख्य है, इससे इसका समयानुसार कार्य-क्रम पर ध्यान है। इसीसे इसने शीघ्र धैर्य धारण किया। 'सीता'—क्योंकि इस समय ध्यान से शीतलता को प्राप्त हैं। 'गहि पानी'—क्योंकि इस समय संकेत नहीं कर सकती, क्योंकि किशोरीजी आँखें मूँदे हुई हैं, यथा—"दीन्हें पलक कपाट सयानी।" कहा है। बोलना उचित नहीं है, क्योंकि राजकुमार सामने खड़े हैं, मर्यादा की दृष्टि से धृष्टता होगी। हाथ पकड़कर प्रकट कहने में भी सयानपन ही है कि संकोच से किशोरीजी आँखें नहीं खोल रही हैं। हम स्वयं कहेंगी, तब संकोच छोड़ देंगी। यह प्रथम 'प्रिय सखि' कही गई है। अतः, इसने ही यहाँ हाथ पकड़ने की ढिठाई का साहस किया।

(२) 'बहुरि गौरि कर ध्यान·····'—गौरीजी के ध्यान का तुम्हें कुछ अभ्यास-सा पड़ गया है, वह तो अपने वश की बात है। जब चाहो, कर सकती हो, पर ये भूपकिशोर हैं। अतः, स्वतन्त्र एवं चपल भी होंगे, कहीं चल दिये, तो फिर ऐसा अवसर नहीं मिलेगा। इसलिये गौरीजी का ध्यान फिर कभी कर लेना। यद्यपि सखी इनके हार्दिक भाव को जानती है, तथापि गौरीजी के ध्यान का आरोपण कर इनका संकोच छुड़ाना चाहती है।

अलंकार—'व्याजोक्ति' क्योंकि सखी ने वचन से सीताजी का संकोच छुड़ाने के लिये गौरी के ध्यान का व्याज कहा है।

'भूपकिसोर देखि ·····'—देखने को कहती है कि कहीं धनुष किसीसे न टूटा, तो जयमाल स्वयंवर ही होगा। ये राजकिशोर हैं और तुम राजकिशोरी हो। अतः, देखना योग्य है। इस समय देखे रहने पर फिर स्वयंवर में चूक न होगी।

(३) 'सकुचि सीय तब नयन·····'—सकुचकर आँखें खोलीं, क्योंकि जो बात छिपाये हुई थीं, वह प्रकट हो गई, सखी ने उसे जान लिया वा संकुचित अध-खुली ही आँखें खोलीं की कहीं सखी हँसी न करती हो। हम आँखें खोल दें, तो कहेगी कि देखो, ठीक-ठीक तुम गौरीजी का ध्यान नहीं करती थीं, तभी तो तुरन्त आँखें खोल दीं। तुम्हारे मन में तो ये ही बसे थे, गौरीजी के ध्यान का बहाना मात्र था। अतः, अध-खुली आँखों से जब जान लेंगी कि ठीक ही राजकुमार सामने हैं, तब पूरी आँखें खोल देंगी, नहीं तो फिर बन्द कर लेंगी वा इससे भी संकुचित आँखें खोलीं कि राजकुमार से बराबर दृष्टि न मिले। उधर जब रामजी ने लक्ष्मणजी की ओर दृष्टि कर ली, तब जानकीजी ने पूरी दृष्टि से देखा।

'दोउ रघुसिंह'—समिष्टि में श्रीरामजी का वीर-स्वरूप देख पड़ा, क्योंकि धनुष की प्रतिज्ञा के लिये वीरता की आवश्यकता है। ये प्रथम ध्यान के विषय थे, आँखें खोलने पर सम्मुख देखने में आये, जैसे पिंजड़े में बन्द सिंह खुलते ही सामने आ जाय। यह 'सिंह' के रूपक का भाव है।

(४) 'नखसिख देखि राम कै·····'—यहाँ नख से प्रारम्भ कर शिखा पर्यन्त देखना कहा गया है, क्योंकि उच्च कुल-प्रसूता कन्या की लजीली दृष्टि नीचे से ही उठती है। प्रथम समष्टि में वीरता देखने में आई थी, पर जब अंग-अंग की शोभा देखी गई, तब कहीं भी धनुष के योग्य कठोरता न मिली। शोभा में निस्सीम सुकुमारता है। वह अंग-अंग में पूर्ण है, फिर ये कठोर धनुष कैसे तोड़ेंगे ? यह स्मरण आते ही मन अत्यन्त क्षुब्ध हो जाता है, यथा—"निरखि-निरखि रघुबीर-छवि, बाढ़इ प्रीति न थोरि ॥ जानि कठिन सिव-चाप बिसूरति।" (दो० २३४), तथा—"नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितु पन सुमिरि

बहुरि मन छोभा ॥" (दो० २५७)। इसीसे श्रीजानकीजी के चित्त में स्थिरता नहीं आती, वे अंग-अंग में धनुभंग की योग्यता खोजती हैं और श्रीरामजी को अपने बल का पूर्ण विश्वास है कि मैं अवश्य धनुभंग करके ब्याह लूँगा। इससे वे इनकी मुख-शोभा पर ठहर गये हैं। प्रथम सहसा उनका भी मन क्षुभित हुआ था—"सहज पुनीत मोर मन छोभा।" यह कहा गया है।

प्रथम अचानक दृष्टि दोनों 'रघुसिंहों' पर पड़ी कि दोनों सामने खड़े हैं, पर श्रीजी ने श्रीरामजी का ही नखशिख शृंगार देखा, क्योंकि इनका मन नारद के वचनानुसार प्रथम ही से श्रीरामजी को वरण कर चुका था। पुनः अभी-अभी सखियों ने भी कहा है—"साँवर कुँअर सखी सुठि लोना।" इस तरह प्रथम ही से दैवयोग से धर्म की सँभाल है।

परबस सखिन्ह लखी जब सीता। भयउ गहरु सब कहहिं सभीता ॥५॥
पुनि आउब येहि बिरियाँ काली। अस कहि मन बिहँसी एक आली ॥६॥
गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी। भयेउ बिलंब मातु भय मानी ॥७॥
धरि बड़ि धीर राम उर आने। फिरी अपनपौ पितुबस जाने ॥८॥

शब्दार्थ—गहरु = विलम्ब। बिरियाँ = समय। अपनपौ = अपनापन, आपा।

अर्थ—जब सखियों ने श्रीसीताजी को पराये वश (प्रेम के अधीन) देखा, तब वे सब डरी हुई (आपस में) कहने लगीं कि 'देर हुई' ॥५॥ 'कल इसी समय फिर आवेंगी'—ऐसा कहकर एक सखी मन में मुसकाई ॥६॥ उसके गूढ़ वचनों को सुनकर श्रीसीताजी सकुच गईं, विलम्ब हुआ, इससे माता का भय माना ॥७॥ बड़ा धैर्य धारण कर श्रीरामजी को हृदय में ले आईं और अपने आपको पिता के बश जानकर वहाँ से लौट पड़ीं ॥८॥

विशेष—(१) 'परबस सखिन्ह लखी ...'—श्रीसीताजी श्रीरामजी के रूप में आसक्त होकर उनके वश में हैं। यह सखियों ने जान लिया कि किशोरीजी की शीघ्र घर चलने की इच्छा नहीं है। तब प्रकट रूप में उनका रुचि-भंग समझ भय से चलने को नहीं कह सकीं। 'बड़ी देर हुई'—ऐसा कहकर जनाया कि इस समय अवश्य चलना चाहिये। 'सभीता'—विलम्ब होनेपर कोई यहाँ आकर देखे और माता को कह दे कि ये लोग पूजा नहीं करतीं, किन्तु कुमारी को लेकर राजकुमारों को देख रही हैं तो हमलोग अपमानित होंगी, दंड पायेंगी और फिर साथ नहीं आने पावेंगी। अतः, सब कहती हैं—'भयउ गहरु'—बहुत दिन चढ़ गया—आज बड़ी देर हुई।

(२) 'पुनि आउब येहि बिरियाँ काली।'—इसे ही आगे स्वयं ग्रन्थकार 'गूढ़ गिरा' कह रहे हैं। अतः, गूढ़ता शब्दों से प्रकट की जाती है—'आउब' यह पद अवधी भाषा का है, इसके अर्थ तीन होते हैं—१. 'मैं आऊँगी', २. आप आइयेगा, ३. काकु से और भी दो अर्थ होंगे—'क्या आवेंगी ?' 'क्या आइयेगा ?', तदनुसार यह सखी अपने इस कथन से सखीगण, राजकुमारी और राजकुमारों के प्रति तीन बातें कहती है—१. प्रियवाद रीति, २. शिक्षा रीति और ३. भय रीति। (क) प्रथम प्रियवाद रीति से कहते हुए वियोग के वचन (जाब) को संयोग के (आउब) पद से ढँककर कहती है—ध्वनि से राजकुमारी और राजकुमारों को सूचित करती है कि 'कल इसी समय हमलोग फिर आयेंगी।' जब हम आयेंगी तो राजकुमारी भी साथ आयेंगी। राजकुमारों को सूचित करती हैं कि 'आप कल फिर इसी समय आइयेगा' यह 'आउब' सबको प्रिय है। (ख) शिक्षा रीति—सखी जान रही है कि राजपुत्र और राजपुत्री दोनों ओर से परस्पर शोभा में उरझे हैं, प्रथम अपनी ओर राजपुत्री को संयोग वचन कह वियोग प्रकट करती है कि हे राजकुमारी! 'कल इसी समय फिर आवेंगी।' अतः, ध्वनित करती है कि आज अब राजकुमार के

समय से महल चलना चाहिये। यही बात राजपुत्रों को भी—'कल इसी समय फिर आइयेगा' ध्वनित करती है कि आज अब अपने स्थान को जाइये। तथा सखियों से भी—आज चलना ही चाहिये।' (ग) भयरीति—गुप्त रीति से भय भी प्रकट करती हैं, परस्पर कहती हैं कि क्या कल फिर आने पाओगी? अर्थात् आज देर होती है, कल माताजी न आने देंगी। (घ) राजपुत्रों से भी जनाती हैं कि आज देर से जाओगे, तो क्या कल इस समय फिर आने पाओगे? भाव, गुरुजी न आने देंगे। अतः, आज इतना ही प्रेम-नेम पर्याप्त है। यहाँ 'गूढ़ोक्ति' अलंकार है।

'मन बिहँसी'—इससे राजकुमारी और उधर राजकुमारों को कुछ लज्जा के हेतु भी प्रकट करती हैं, क्योंकि अत्यन्त प्रेम पर लज्जा ही अंकुश है। इससे संकोच होगा, तब चलेंगे।

(३) 'भयो बिलंब मातु भय···'—माता विलम्ब होने से अप्रसन्न होंगी, यह भय मन में लाईं और सखियों के गूढ़ वचनों को समझकर एवं उनके हँसने से संकोच भी हुआ।

(४) 'धरि बड़ि धीर राम-उर आने'—श्रीसीताजी बड़े प्रेम से विशेष वश हो गई थीं, अतः, बड़ा धैर्य धरना पड़ा, तब लौटने की वृत्ति हुई। 'अपनपौ पितुबस ···' जब बड़े-बड़े वीर्यवान् राजा लोग धनुष न तोड़ सके, तो इनसे भी कैसे टूटेगा? अतः, अब तो हम पिता के अधीन हैं, वे चाहें तो इनसे ब्याह दें, पर मेरा कोई चारा नहीं। ऐसा समझकर फिरीं। लौटने में तीन कारण कहे गये—सखियों का संकोच, माता का भय और अपने को पिता के अधीन मानना—यह धर्म का भय। 'राम-उर आने'—हृदय में इसलिये लाईं कि प्रकट दर्शन छूटते हैं, तब ध्यान से ही देखेंगी। पुनः इन्हीं के लिये आगे भवानी से भी प्रार्थना करेंगी।

दोहा—देखन मिस मृग बिहँग तरु, फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर-छवि, बाढ़इ प्रीति न थोरि ॥२३४॥

जानि कठिन सिवचाप बिसूरति। चली राखि उर स्यामलमूरति ॥१॥

शब्दार्थ—बिसूरति = खेद करती, चिंता (सोच) करती, (सं०-विसूरण = शोक)—शब्दसागर।

अर्थ—मृग (हिरन एवं पशु), पक्षी और वृक्ष देखने के बहाने बार-बार लौट-लौट पड़ती हैं॥ रघुवीर श्रीरामजी की छवि देखकर कुछ थोड़ी प्रीति नहीं बढ़ती, अर्थात् बहुत अधिक बढ़ती है ॥२३४॥ शिवजी के धनुष को कठिन जानकर सोचती हुई अपने हृदय में साँवली मूर्त्ति को रखकर (सीताजी) चलीं ॥१॥

विशेष—(१) 'देखन मिस मृग···'—'मृग', 'बिहँग' और 'तरु'—ये सामान्य शब्द हैं। ये सब भाँति-भाँति के हैं, इनके बहाने बार-बार किशोरीजी पीछे फिर-फिरकर देखती हैं कि सखियाँ यही जानें कि मृग आदि को ही देखती हैं। अनेक बार फिरकर देखना जनाया। तीन ही नाम देकर यह भी जनाया कि इनकी प्रीति मन, वचन और कर्म से है।

यद्यपि आप उपर्युक्त कारणों से फिरती हैं, तथापि मन नहीं मानता। अतः, उसके सन्तोष के लिये, फिर-फिरकर देख लेती हैं, देखने से तृप्ति नहीं होती, उस रूप में ऐसी ही माधुरी है। इससे पूर्वानुराग पोषित होकर पुनीत प्रेम को स्थायी करेगा।

'देखन' और 'निरखि' में भेद है। देखना स्थूल दृष्टि और निरखना सूक्ष्म दृष्टि है। देखने में नख-शिख की शोभा से सुकुमारता का निश्चय करके अधीर हो गई थीं, तब पिता पर छोड़ निराश होकर चलीं। उस अधीरता को दूर करने के लिये इनकी वीरता का स्मरण करके फिर-फिरकर उसका तथ्य विचारती हैं कि मुनि के यज्ञ की रक्षा एवं अहल्या उद्धार तो इन्हीं ने किया है। अतः, वीर एवं प्रतापी हैं, तो धनुष भी

तोड़ेंगे—इसमें आश्चर्य ही क्या ? इस निरीक्षण पर प्रीति बढ़ चलती है। प्रथम—"सुमिरि सीय नारद-बचन, उपजी प्रीति पुनीत।" (दो० २२९) कहा ही था। अब वह प्रीति बढ़ चली।

अलंकार—'पर्यायोक्ति द्वितीय' है, क्योंकि यहाँ इन सबके देखने के व्याज से इष्ट दर्शन साधा गया है।

(२) 'जानि कठिन सिव चाप···'—कई बार मूर्त्ति को हृदय में रक्खा, फिर शिवजी के धनुष की कठोरता ने उसे निकाल दिया, यथा—"लोचन-मग रामहिं उर आनी।" वैसे ही—"सुमिरि पिता-पन मन अति छोभा।" में न रह गई, फिर—"धरि बड़ धीर राम उर आने", फिर वैसे ही—"जानि कठिन सिव-चाप बिसूरति" में मूर्त्ति ध्यान में नहीं रह पाई। अब फिर तीसरी बार—"चली राखि उर स्यामल मूरति।" से मूर्त्ति का हृदय में रखना कहा गया है। 'बिसूरति', यथा—"समुझि कठिन पन आपन लाग बिसूरन।" (जानकी मं०), "···रानि बिसूरति। कहाँ कठिन सिव-धनुष कहाँ मृदु मूरति ?॥" (जानकी मं०)। यहाँ 'बिसूरति' का अर्थ सोचना है। यह दीप-देहली है। अतः, पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध दोनों के साथ है। दो बार शिव-चाप की कठोरता ने मूर्त्ति को हृदय से निकाल दिया। अतः, अब फिर उसे हृदय में रखकर सोचती हुई उसकी स्थिति के लिये दैव-बल प्राप्त करने चलीं। मूर्त्ति को बार-बार हृदय में लाने का हेतु नारदजी का वचन है। अतः, दोष नहीं है। तीसरी बार देवी के वर से इसका निश्चय हो जायगा, तब मुदित मन होकर महल में जायँगी।

प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख-सनेह-सोभा-गुनखानी॥२॥
परम-प्रेम-मय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिखि लीन्हीं॥३॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी ने सुख, स्नेह, शोभा और गुणों की खान श्रीजानकीजी को जाते हुए जाना॥२॥ तब उन्होंने परम प्रेममयी कोमल स्याही बनाकर (उससे) उनकी मूर्त्ति को अपनी पवित्र चित्तरूपी दीवार पर अंकित कर लिया॥३॥

विशेष—(१) 'प्रभु जब जात···'—'प्रभु' शब्द सामर्थ्य का सूचक है, अर्थात आपने अपने सामर्थ्य का निश्चय करके इन्हें हृदय में बसाया है कि हम धनुष तोड़कर इन्हें अवश्य ब्याहेंगे। इसमें सन्देह नहीं। श्रीसीताजी के आगमन पर भी 'प्रभु' विशेषण है, वहाँ अपने मन के ऊपर प्रभुता रखने के लिये और यहाँ श्रीसीताजी के वरण करने का सामर्थ्य जनाने में है।

'जब···जानी'—पूर्व—'मुखसरोज मकरन्द छबि, करत मधुप इव पान।' कहा गया है, अब यहाँ के प्रसंग से जान पड़ा कि कैसे आसक्त हो गये थे कि श्रीकिशोरीजी लौट पड़ीं और फिर-फिरकर देखती हैं, तब आपने जाने का निश्चय किया और हृदय में उनका चित्र लिखा। श्रीसीताजी की सुन्दरता के विषय में कहा था—"छबि-गृह दीपसिखा जनु बरई।" उसका प्रभाव यहाँ चरितार्थ भी हुआ कि जैसे दीप-शिखा में मृग मोहित हो जाता है, फिर ज्यों-ज्यों दीप-शिखा दूर होती जाती है, त्यों-त्यों मृग में सावधानता आती जाती है, वैसी ही दशा यहाँ श्रीरामजी की भी हुई, यथा—"रूपदीपिका निहारि मृग मृगी नर नारि बिथके बिलोचन निमेषैं बिसराय कै॥ (गी० बा० ८२)।

उदाहरण—'सुख', यथा—"देखि सीय-सोभा सुख पावा"। 'सनेह'—"अधिक सनेह देह भइ भोरी।" 'सोभा'—"सुंदरता कहँ सुंदर करई।" 'गुन'—"गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी।" एवं 'मृग', 'बिहँग' और 'तरु' के देखने के बहाने फिर-फिरकर देखना भी गुण ही है। इन गुणों का स्मरण अब हो रहा है, क्योंकि संग छूटने पर ही गुणों की स्मृति होती है।

(२) 'परम प्रेममय मृदु ···'—राजकिशोरीजी अत्यन्त कोमलांगी हैं और सोने की तरह गोरी हैं, इसलिये उनका चित्र उतारने की सब वस्तुएँ अनुकूल ही प्रस्तुत कीं। 'चारु चित्त' रूपी दीवार अत्यन्त

कोमल है, पराकाष्ठा का प्रेम स्वतः कोमल होता है, फिर भी उसे और कोमल करके उसकी स्याही बनाई। स्याही काली होती है, पर किशोरीजी गोरी (स्वर्ण-वर्ण) हैं। प्रेम भी स्वर्णवर्ण का कहा गया है, इसीलिये 'मय' कहा है। मयट् प्रत्यय यहाँ स्वार्थ में है, यथा—लवण क्षारमय होता है, वैसे मसि भी परम प्रेममय है। इस मसि के बने हुए चित्र में भी वैसी ही कोमलता और रंग आवेगा, जैसा श्रीसीताजी के विग्रह में है। किसको लिख लिया ? यह ऊपर की अर्द्धाली के 'जब जात जानकी···' से लेना होगा। 'जब' का 'तब' से नित्य सम्बन्ध है। अतः, 'जानकी' शब्द कर्मकारक होकर 'लिखि लीन्ही' क्रिया से सम्बन्धित है।

श्रीरामजी ने हृदय में लिख लिया, क्योंकि लिखी हुई बात पक्की होती है, भूलती नहीं। इससे इन्हें सन्देह न होगा। श्रीजानकीजी ने हृदय में रख लिया है—"चली राखि उर स्यामल मूरति।" रक्खी हुई वस्तु भूल भी जाती है, वैसे धनुर्भंग के समय प्रेम की विह्वलता में श्रीजानकीजी इनकी मूर्त्ति में वीरता भूल जायँगी, तब जिस-तिस को मनाने लगेंगी, यथा—"तब रामहि बिलोकि बैदेही। सभय हृदय बिनवति जेहि तेही ॥···से—"प्रभु-तनु चितइ प्रेम-पन ठाना ॥' (दो० २५३-२५८) तक। श्रीरामजी का सीता-चरण में पूर्ण विश्वास है। अतः, लिख लिया। श्रीजानकीजी को आशामात्र है। अतः, अभी 'रखना' मात्र कहते हैं। श्रीरामजी ने चित्र-दर्शन और श्रीजानकीजी ने ध्यान-दर्शन ग्रहण किया।

गई भवानी - भवन बहोरी। बंदि चरन बोलीं कर जोरी ॥४॥
जय-जय गिरि-बर-राज-किसोरी। जय महेस - मुख - चंद-चकोरी ॥५॥
जय गज - बदन-षडानन-माता। जगतजननि दामिनि-दुति-गाता ॥६॥
नहिं तव आदि अंत अवसाना। अमित प्रभाव बेद नहिं जाना ॥७॥
भव-भव-बिभव-पराभव-कारिनि। बिस्वबिमोहिनि स्वबस-बिहारिनि ॥८॥

अर्थ—(सीताजी) फिर से गिरिजाजी के मन्दिर में गईं और उनके चरणों की वन्दना करके हाथ जोड़कर बोलीं ॥४॥ हे गिरिवर-राज-हिमालय की पुत्री ! आपकी जय हो ! जय हो ! हे महादेवजी के मुखचन्द्र की चकोरी ! आपकी जय हो ! ॥५॥ हे गणेश और स्वामिकार्त्तिक की माता ! जगन्माता ! बिजली की तरह कान्ति-युक्त शरीरवाली ! आपकी जय हो ! ॥६॥ आपके आदि और अन्त का विराम (समाप्ति) नहीं है, आपका अपार प्रभाव है, जिसे वेद भी नहीं जानते ॥७॥ आप संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाली हैं। आप संसार को विशेष मोहनेवाली और स्वतन्त्र इच्छा से विहार करनेवाली हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'गई भवानी-भवन ···'—'बहोरी' अर्थात् एक बार पहले ही पूजा कर चुकी है, अब फिर गईं, क्योंकि आते और जाते समय भी वन्दना करनी चाहिये। भीतरी अभिप्राय यह भी है कि जो मूर्त्ति हृदय में बसा आई हैं, वर माँग कर उसीको पुष्ट करें। चरण की वन्दना करनी और हाथ जोड़ना प्रार्थना की उत्तम रीति है, यथा—"भलो मानिहै रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइ है।" (वि० १३५)। 'बोलीं'—साभिप्राय विशेषणों से अपना प्रयोजन जनाती हुई स्तुति करनी हैं, यही रीति है। अतः, यहाँ गिरिजाजी के विशेषणों में परिकर अलंकार है।

(२) 'जय जय गिरिबर राज ···'—यद्यपि गौरीजी का वर्त्तमान में सती-शरीर था, तथापि देवता के रूप-गुण इत्यादि अनादि होते हैं। इस नियम से श्रीजानकीजी ने गिरिजाजी का ही पूजन किया है। पूर्व दो० २२७ की चौ० ४ भी देखिये। गिरिजाजी से नाता भी है। श्रीजानकीजी भूमि की पुत्री हैं, और वे पहाड़ की। भू और भूधर में सजातीय सम्बन्ध है। गिरि परोपकारी होते हैं, यथा—"संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि की करनी ॥" (उ० दो० १२४)। गिरिजाजी परोपकारी की

कन्या हैं। अतः मेरा भी उद्धार करेंगी। गिरि-राज के यहाँ जन्म लेकर आपने अपने विमुख स्वामी को भी प्रसन्न कर लिया। मेरे पिता के प्रण को इन श्यामल वर के अनुकूल करके इनकी प्राप्ति का सुख मुझे दीजिये। 'महेस-मुख-चंद-चकोरी।'—आप महान्-ईश अर्थात् परम समर्थ की सानुकूला पत्नी हैं, पति के द्वारा सामर्थ्य दिलाकर धनुष तोड़ाने का प्रबन्ध कर दीजिये। चकोरी चन्द्रमा में अनन्य होती है, वैसे ही आप अनन्य पतिव्रता हैं। मुझे भी वही धर्म प्राप्त कराइये कि इन्हीं श्यामल वर से ब्याह हो।

(३) 'जय गजबदन षडानन माता'—गणेशजी सिद्धिसदन, विघ्नहर्ता और मंगलदाता हैं, स्वामि-कार्त्तिक महान् प्रतापी हैं। उन्होंने तारकासुर को मारकर देवताओं को सुख से बसाया है। वैसे ही मेरी भी मनोरथ-सिद्धि हो। शिवधनुष रूपी तारकासुर को श्रीरामजी द्वारा नष्ट कर मुझे अपने मनोरथ स्थान में बसावें। पुनः जैसे आपके दो प्रबल प्रतापी पुत्र हैं, वैसे मेरे भी हों, यह भाव भी गर्भित है जो—"राम कामतरु पाइ बेलि ज्यों बौड़ी बनाय माँग कोखि पोपि तोषि फैलि फूलि फरि कै। रहोगो···" (गी० बा० ७२), इस गिरिजा की असीस से सिद्ध है।

'जगतजननि दामिनि-दुति-गाता।'—अब नाता भी दिखाती हैं कि आप जगत् की माता हैं, मैं भी जगत् में हूँ। इससे मेरी भी माता हैं। अतः, रक्षा कीजिये, यथा—"जिमि बालकहिं राख महतारी।" (अर० दो० ४२)। [कार्य-सिद्धि के लिये कोई नाता अवश्य चाहिये, यथा—"तोहिं मोहिं नाते अनेक मानिये जो भावे।" (वि० ७९),] अँधेरे में मार्ग नहीं सूझता, बिजली की चमक से देख पड़ता है, वैसे ही धनुष अन्धकार है, यथा—"टारि न सकहिं चाप तम भारी।" (दो० २३८), जिससे मुझे भविष्य नहीं देख पड़ता, उसीसे पिता को भी हानि-लाभ कुछ नहीं सूझता, यथा—"समुझत नहिं कछु लाभ न हानी।" (दो० २५७)। आप अपने प्रभाव से वह अन्धकार मिटा दीजिये अथवा मेरे पिता का प्रण-सम्बन्धी अज्ञान-अन्धकार दूर कीजिये।

(४) 'नहिं तव आदि अंत अवसाता।'—'आदि'—आपका जो दक्ष एवं गिरिराज के यहाँ जन्म और यज्ञ में शरीर-त्याग कहा जाता है, वह लीला-मात्र है। वास्तव में आप अनादि काल से हैं और कब तक रहेंगी', इसका भी पता नहीं, यथा—"अजा अनादि सक्ति अविनासिनी॥···निज इच्छा लीला वपु धारिनि॥" (दो० १७)। आप सब दिन रहनेवाली हैं।

(५) 'भव-भव बिभव···बिस्व बिमोहनि ···'—'भव' = संसार। 'भव' = उत्पत्ति, तथा—"जग संभव पालन लय कारिनि। निज इच्छा लीला वपु धारिनि॥" (दो० १७)। "स्वबस बिहारिनि'—काल, कर्म की पराधीनता आपको नहीं है—चाहें तो आप भाल के कुअंक भी मिटा सकती हैं। 'बिस्व-बिमोहनि' हैं, मेरे पिता को मोहित कर प्रतिज्ञा ही हटा दीजिये कि यों ही मुझे अभीष्ट वर से ब्याह दें।

यहाँ स्तुतिवाद है। अतः, उत्पत्ति, पालन और संहार-कार्य इनके द्वारा कहे गये हैं—इस विषय पर—"लिंग थापि ···" (अ० दो० १) का विशेष देखिये।

'जय जय गिरिबर···' में पिता-पक्ष की श्रेष्ठता, 'महेस-मुख-चंद ···' में पति-पक्ष की श्रेष्ठता और 'जय गज-बदन ···' में पुत्र-पक्ष की श्रेष्ठता कही गई। पुनः—'दामिनि-दुति-गाता।' तक माधुर्य और फिर—'स्वबस बिहारिनि' तक ऐश्वर्य कहा गया।

दोहा—पतिदेवता सुतीय महँ, मातु प्रथम तव रेख।
महिमा अमित न सकहिं कहि, सहस सारदा सेष॥२३५॥

सेवत तोहि सुलभ फल चारी। बरदायिनी पुरारि-पियारी॥१॥
देबि पूजि पदकमल तुम्हारे। सुर नर मुनि सब होहिं सुखारे॥२॥

मोर मनोरथ जानहु नीके। बसहु सदा उरपुर सबही के ॥३॥
कीन्हेउ प्रगट न कारन तेही। अस कहि चरन गहे बैदेही ॥४॥

शब्दार्थ—पति-देवता = पति ही जिनका देवता (इष्टदेव) हो, पतिव्रता स्त्री। रेख = गणना।

अर्थ—हे माता! श्रेष्ठ पतिव्रता स्त्रियों में प्रथम गणना आपकी ही है, आपकी महिमा निःसीम है, सहस्रों सरस्वती और शेष भी उसे नहीं कह सकते ॥२३५॥ हे वर देनेवाली! हे त्रिपुरों के शत्रु शिवजी की प्यारी! चारों फल आपकी सेवा करने से सहज ही में प्राप्त हो जाते हैं ॥१॥ हे देवि! आपके चरण-कमलों को पूजकर देवता, मनुष्य और मुनि सब सुखी हो जाते हैं ॥२॥ आप मेरे मनोरथ को भलीभाँति जानती हैं, (क्योंकि) सभी के हृदय रूपी पुर में सदा बसती हैं ॥३॥ मैंने इसी कारण से उसे प्रकट नहीं किया—ऐसा कहकर वैदेही श्रीसीताजी ने देवी के चरण पकड़ लिये ॥४॥

विशेष—(१) 'पतिदेवता सुतीय ···'—पतिव्रता होने से ही 'सुतीय' हैं। 'प्रथम रेख' अर्थात् यह मार्ग पहले से आपने ही स्थापित किया है। इसलिये आप इस धर्म की आचार्या हैं, दूसरों के लिये भी आचरण करके आपने दिखा दिया। अतएव मुझे भी इस मार्ग पर आरूढ़ कर दीजिये। इस धर्म के सम्बन्ध से भी आपकी महिमा अमित है। शेष पाताल के हैं और शारदा ब्रह्मलोक की, बीच में इनसे बढ़कर कोई है ही नहीं। अतः, दो ही कहे गये। पूर्व—'अमित प्रभाव बेद नहिं जाना।' कहा गया। वहाँ 'प्रभाव' से निर्गुण ऐश्वर्य कहा गया, इसीसे उसे न जान सकना कहा, क्योंकि वह जानने मात्र का विषय है, यथा—"जाहि न जानत बेद।" (दो० ५०)। महिमा सगुण वैभव की है, यह कहने की वस्तु है। 'भव भव बिभव ···' उपर्युक्त। अतः, यहाँ इसे अकथ्य कहा. तथा यहाँ अकथ्य महिमा पातिव्रत्य-धर्म सम्बन्ध की भी है। यह धर्म ऐसा श्रेष्ठ है कि इससे अधम से अधम स्त्री भी परम गति को पा जाती है, जो योगियों को दुर्लभ है, यथा—"नारि-धर्म कछु ब्याज बखानी। ·····" से—"अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥" (अर० दो० ४–५) तक।

शंका—प्राकृत पति की उपासना से स्त्री परमगति कैसे पा सकती है?

समाधान—वह पति को परमेश्वर-रूप ही मानकर उपासना करती है. उसकी भावना के अनुसार सिद्धि होती है. यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" गीता० ४।११), विश्वास के लिये शास्त्र हैं। जैसे एक प्राकृत देहधारी पंडित वैदिक यज्ञ में ब्रह्मा बनाया जाता है, यह वैदिक विधि है, वैसे ही पतिव्रता अधम से अधम पति को भी परमेश्वर बना लेती है और उसके साथ स्वयं भी तर जाती है। जलन्धर और वृन्दा की कथा इसका उदाहरण है।

(२) 'सेवत तोहि सुलभ ····' आपही की सेवा से चारों फल सुगमता से मिलते हैं। वे औरों की सेवा से अगम हैं। 'बरदायिनी'—आपसे बराबर सबको वर मिलता आया है. अन्तर्भाव यह भी है कि मैंने प्रथम पूजा के समय 'निज अनुरूप सुभग बर माँगा' है, वह मिलना चाहिये, क्योंकि उस समय 'एवमस्तु' नहीं कहा गया था। 'पुरारिपियारी'—पिनाक धनुष ही से त्रिपुरों का वध किया गया है, यथा—"घोर कठोर पुरारि-सरासन नाम प्रसिद्ध पिनाकु।" (गी० बा० ८७) "सोइ पुरारि-कोदंड कठोरा।" (दो० २४९)। आप शिवजी की प्यारी हैं। आपके कहने से वे इसे प्रेरणा करके हलका कर सकते हैं। पुनः पूर्व—'महेस-मुखचंद ···' में इनकी प्रीति शिवजी में कही गई थी. क्योंकि चन्द्रमा में चकोरी की एकांगी प्रीति होती है। यहाँ 'पुरारिपियारी' से पति शिवजी की भी इनमें प्रीति कहकर अन्योन्य प्रेम सूचित किया गया।

(३) 'देवि पूजि पद-कमल ···'—यहाँ फल के अधिकारी तीन ही कहे गये. सुर अर्थ के—"आये देव-सदा स्वारथी।" (लं० दो० १०९)। नर कामना के "मनकामना सिद्ध नर पावा।" (उ० दो० १२८)

और मुनि मोक्ष के—"ताते मुनि हरि-लीन न भयऊ।" (अर० दो० ८), अधिकारी हैं अर्थात् मुनि प्रायः लीन ही होना चाहते हैं। ऊपर—'सेवत तोहि सुलभ फल चारी।' कहा था। उसमें एक फल 'धर्म' का अधिकारी नहीं कहा, वही अपने लिये बचा रक्खा है कि मेरे धर्म की रक्षा हो। जिनको हृदय में बसा आई हूँ, वे ही वर मिलें, तभी मुझे धर्मफल की प्राप्ति हो सकेगी।

(४) 'मोर मनोरथ जानहु नीके···'—आप अन्तर्यामिनी-रूप से सदा हृदय में बसती हैं। अतः, मेरे हृदय की कामना और उसके प्रकट न कहने का संकोच जानती हैं, यथा—"अंतर्यामिनि भवभामिनि स्वामिनि सों हौं कही चहौं बात मातु अंत तौं हौं लरिकै॥" (गी० बा० ७०)। 'बसहु सदा'—सगुण रूप का सदा हृदय में बसना दुर्लभ है, पर अन्तर्यामी तो वहाँ बसा ही रहता है।

(५) 'कीन्हेउँ प्रगट न कारन···'—जब आप जानती ही हैं, तब मैं क्यों कहूँ? ऐसा कह चरण पकड़कर देह की सुधि से रहित हो गईं, यथा—"अस बर माँगि चरन गहि रहेऊ।" (दो० १५०)। पूर्व—'बंदि चरन बोली करजोरी।' उपक्रम है और यहाँ—'अस कहि चरन गहे' उपसंहार।

इस उपक्रम और उपसंहार के बीच में प्रार्थना की रीति दिखाई गई कि प्रथम कुल की प्रशंसा, फिर स्वरूप की बड़ाई और तब उदारता कहकर वर माँगने से मनोरथ की सिद्धि होती है तथा आदि-अन्त में प्रणाम भी करना चाहिये।

बिनय - प्रेम - बस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसुकानी॥५॥
सादर सिय प्रसाद सिर धरेऊ। बोली गौरि हरष हिय भरेऊ॥६॥
सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मनकामना तुम्हारी॥७॥
नारदबचन सदा सुचि साँचा। सो बर-मिलिहि जाहि मन राँचा॥८॥

अर्थ—भवानी श्रीगिरिजाजी (श्रीसीताजी के) विनय और प्रेम के वश में हो गईं। उनकी माला खसक पड़ी और मूर्ति मुसुकाई॥५॥ श्रीसीताजी ने उस माला-प्रसाद को आदरपूर्वक सिर पर धारण किया (पहन लिया)। गौरीजी का हृदय आनन्द से भर गया और वे बोलीं॥६॥ हे सीताजी! सुनो, हमारी असीस सत्य है, तुम्हारे मन की कामना पूरी होगी॥७॥ श्री नारदजी के वचन सदा पवित्र और सत्य ही होते हैं। जिसमें तुम्हारा मन रँग गया (अनुरक्त) है, वही वर तुमको मिलेगा॥८॥

विशेष—(१) 'बिनय-प्रेम-बस भई···'—'बिनय'—वचन, 'प्रेम'—मन, 'चरन गहे'—कर्म, सीताजी के इन तीनों से भवानी वश हो गईं।

विनय के शब्दों के भावों ने भवानी को वश कर दिया, जैसे—'गिरिबररराजकिसोरी' से गौरीजी को बालपन की सुधि आई कि पति की प्राप्ति के लिये हमें भी ऐसी ही आतुरता थी। इससे करुणा हुई। 'महेस-मुखचंद-चकोरी'—का भाव यह कि चकोरी की तरह हमारी एकांगी प्रीति थी, चन्द्रमा की तरह चन्द्रशेखर (शिवजी) उदासीन थे, उनके लिये हमने शरीर ही भस्म कर दिया, इससे और भी प्रेम उमड़ा। इसमें भाव यह है कि रघुपति परस्त्री से उदासीन हैं, और पिता का प्रण कठिन है, यदि वे न मिलें तो मैं (सीताजी) भी शरीर न रक्खूँगी। फिर माता का नाता कहकर दोनों चरण पकड़ लिये, यह कृत्य भी हृदयद्रावक है। 'बेदेही' शब्द हृदय की प्रेम-दशा को जना रहा है, इन कारणों से गिरिजाजी प्रेम-वश हो गईं। प्रसाद देने के विचार से माला खसका दी। यहाँ तक मूर्तिरूप में होने की मर्यादा का निर्वाह किया, क्योंकि मूर्ति पर से जो फूलमाला गिरकर अपनी ओर आवे, वह प्रसाद कही जाती है, इसीसे आगे उस प्रसाद का शिरोधार्य करना कहा गया है, यथा—"मूरति कृपालु मंजुमाल दै बोलत भई···" (गी० बा० ७०), फिर अधिक प्रेमवश होने से गिरिजाजी की मूर्ति-रूपता की सँभार नहीं रह गई। वे मुसुकाकर

बोलीं। प्रसाद देने के लिये माला कहाँ थी ? यह शंका नहीं उठती, क्योंकि प्रथम ही—"पूजा कीन्ह अधिक अनुरागा।" कहा है। उसी समय माला पहनाई गई थी, क्योंकि पूजा में माला पहनाना मुख्य है।

यहाँ यह भी कहा जाता है कि गिरिजाजी जब वश में हो ही गई हैं, मुसुकाई और बोली हैं तब चाहतीं तो आदर-पूर्वक ही माला-प्रसाद भी देतीं। मालाप्रसाद सिर में पहना देने की रीति है। यह गिरिजाजी ने नहीं किया, क्योंकि 'दूध का जला मट्ठा भी फूँककर पीता है' यह कहावत है। एक बार वे चूकी थीं। परीक्षा के लिये सीता-रूप बनाने पर त्यागी गईं। अब यहाँ सीताजी हृदय में श्रीरामजी को बसा आई हैं। इनके गले में माला डालने से कहीं वह श्रीरामजी में जयमाला न समझी जाय और भोलानाथ फिर वही बात न कर बैठें ! देवी तो इनके हृदय की जानती ही थीं।

शंका—अभी तो सती शरीर है, क्योंकि इसी अवतार की वन लीला में सती को मोह हुआ है, तब यह भाव कैसे ग्रहण हो ?

समाधान—दो० २२७ चौ० ४ का ही समाधान यहाँ भी है। जिस किसी भी कल्प में गिरिजाजी का प्रादुर्भाव हुआ होगा, वहाँ सती शरीर त्याग के पश्चात् ही। गिरिजा रूप के साथ उनके पूर्व-रूप के गुणों की व्यवस्था एवं महत्त्व अन्य कल्पों में भी जा सकता है। 'सुर अनादि' गुण के साथ हैं।

अलंकार—'सूक्ष्म', क्योंकि वहाँ विनय के सूक्ष्म भावों को गिरिजा ने जान लिया और उसी भाँति सूक्ष्म भाव से मुसकुरा कर उत्तर भी प्रकट कर दिया है।

'मूरति मुसुकानी'—मुसकाने के भाव—(क) सीताजी विधिवत् पूजन करके वर माँगकर हमारी स्तुति कर रही हैं, हमारी प्रतिष्ठा बढ़ा रही हैं। अतः, गिरिजाजी हर्ष से मुसकुरा पड़ीं। (ख) हम इनका ऐश्वर्य जानती हैं, यथा—"जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥" (दो० १४७)। इस माधुर्य में हम भूलने की नहीं। अतः, मुसुकाने में गूढ़ व्यंग्य है, यथा—"मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु-बानी। पूछेहु नाथ मोहि का जानी॥ ····ऊमरि तरु बिसाल तव माया।···ते तुम्ह सकल लोकपति साईं। पूछेहु मोहिं मनुज की नाईं॥" (अर० दो० १२)। (ग) नारद-वचन की परीक्षा भी मिल गई, फिर भी बाल-स्वभाव के कारण सन्तोष नहीं है। यद्यपि हम वर भी देंगी, तथापि ये धनुष टूटने तक बार-बार घबरायँगी।

(२) 'सादर सिय प्रसाद ····'—भूमि में खिसक पड़ने से माला का आदर न रहा, क्योंकि मालाप्रसाद सिर में पहनाने की रीति है, पर मूर्त्ति के द्वारा मर्यादा से वैसा ही दिया गया। अतः, उसके प्रति आदर देती हुई उस माला को लेकर माथे चढ़ाया और फिर गले में पहन लिया। प्रसाद को माथे चढ़ाने का नियम है, यथा—"सो प्रसाद मैं सिर धरि लेवा।" (अ० दो० १०१)।

'बोली गौरि हरष·····'—सीताजी की विधिवत् विनय से, प्रेम से, चरण पकड़ने से और फिर माला-प्रसाद शिरो-धार्य करने से गौरी का हृदय हर्ष से भर गया। जैसे श्रीजानकीजी ने मन, वचन और कर्म से प्रार्थना की थी, वैसे ही भवानी ने तीनों से वर भी दिया—'हरष हिय भरेऊ'—मन, 'बोली'—वचन और 'प्रसाद' दिया, यह—कर्म है।

शंका—मूर्त्ति का हँसना अमंगल कहा जाता है, यह क्यों हुआ ?

समाधान—पाषाण-विग्रह में ठठाकर हँसना अमंगल कहा जाता है, पर यहाँ तो मुसकाना मात्र है। फिर यहाँ मूर्त्ति-रूप में देवी साक्षात् रूप में प्रकट हैं, बातें कर रही हैं, प्रसाद एवं आशीर्वाद देकर स्वयं मंगल जना रही हैं, यथा—"सुर प्रगटि पूजा लेहिं देहिं असीस····(दो० ३२३)। अतः, यहाँ यह शंका नहीं है।

(३) 'सुनु सिय सत्य ·····'—देवी की असीस सच्ची ही होती है, पर दृढ़ता के लिये 'सत्य' कहती हैं। फिर भी सीताजी बाल-स्वभाव से आगे धनुर्भंग के समय घबरा जायँगी। 'मनकामना'—श्रीकिशोरीजी ने कहा था—"मोर मनोरथ जानहु नीके" उसीको 'मनकामना' कहा है।

(४) 'नारद-बचन सदा सुचि ···· '—श्रीकिशोरीजी श्रीरामजी की सुकुमारता और धनुष की कठोरता पर घबरा उठी हैं। नारदजी के वचनों पर प्रतीति नहीं रह गई, इसलिये गिरिजाजी उनका सदा सत्य होना कहती हैं, यथा—"बरु पावक प्रगटइ ससि माहीं। नारद-बचन अन्यथा नाहीं ॥" (दो० ७०), ऊपर अपनी असीस को 'सत्य' कहा था, यहाँ 'नारद-बचन' को 'सदा सुचि साँचा' कहा। भाव यह कि मैं देवी ही हूँ और वे तो देवर्षि हैं। अतः, उनके वचनों का गौरव अधिक है। वे गिरिजाजी के गुरु भी हैं। अतः, उनके वचन श्रेष्ठ हैं ही। 'सदा', क्योंकि इन्हें परीक्षा मिल चुकी है। 'सुचि'—जैसे हिरण्यकशिपु को ब्रह्माजी ने वर दिया, वह सच्चा था, पर अपवित्र था, क्योंकि उसमें उसकी मृत्यु के कारण गुप्त थे। यहाँ नारद के वचनों में कोई कारण गुप्त नहीं है, वे शुद्ध सच्चे हैं।

'सो बर मिलिहि जाहि ·····'—'नारद-बचन' के अनुसार ही श्रीकिशोरीजी का मन श्रीरामजी में रँगा है। दो० २२६ देखिये। उसीको लेकर गिरिजाजी असीस दे रही हैं। पूर्वार्द्ध में 'नारद-बचन' की महिमा कही, उत्तरार्द्ध में उसे प्रकट कर रही हैं अर्थात् नारदजी ने यही कहा था कि फुलवारी में जिससे तुम्हारा मन रँग जायगा, वही वर मिलेगा।

छन्द—मन जाहि राँचेउ मिलिहि सो बर सहज सुन्दर साँवरो।
करुनानिधान सुजान सील सनेह जानत रावरो ॥
येहि भाँति गौरि-असीस सुनि सिय-सहित हिय हरषीं अली।
तुलसी भवानिहिं पूजि पुनि पुनि मुदित मन मंदिर चली ॥

दोहा—जानि गौरि अनुकूल, सिय-हिय हरष न जाइ कहि।
मंजुल-मंगल-मूल, बाम अंग फरकन लगे ॥२३६॥

अर्थ—जिसमें तुम्हारा मन रँग (अनुरक्त हो) गया है, वही सहज (स्वाभाविक ही = बिना सजे-धजे) श्यामसुन्दर, पति तुम्हें मिलेगा। वे (श्रीरामजी) करुणानिधान और सुजान हैं। अतः, तुम्हारे शील और स्नेह को जानते हैं ॥ इस प्रकार श्रीगौरीजी को असीस सुनकर श्रीसीताजी के साथ सारी सखियाँ हर्षित हुईं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वे बार-बार भवानी का पूजा करके आनन्दित मन से घर को चलीं ॥ गौरीजी को अपने अनुकूल जानकर श्रीसीताजी के हृदय को जो हर्ष हुआ, वह कहा नहीं जा सकता। (उनके) सुन्दर मंगलों के कारण (सूचक) बायें अंग फड़कने लगे ॥२३६॥

विशेष—(१) 'मन जाहि राँचेउ·····'—श्रीकिशोरीजी ने स्तुति में इनमें अन्तर्यामित्व भाव प्रकट किया था, उसीका यहाँ चरितार्थ है। 'मोर मनोरथ जानहु नीके' इसके उत्तर में 'पूजिहि मनकामना' कहा। पर मन-कामना स्पष्ट नहीं हुई थी। अतः, 'मिलिहि सो बर' कहा अर्थात् जो इन्होंने—'निज अनुरूप सुभग बर माँगा' था, पर इसमें भी वर का स्पष्टीकरण नहीं हुआ, इसलिये 'सहज सुंदर साँवरो' कहा।

यहाँ वर देना तीन बार कहा गया—(क) 'पूजिहि मनकामना तुम्हारी।' (ख) 'सो बर मिलिहि···' (ग) 'मन जाहि राचेउ मिलिहि···'। गिरिजाजी ने अपने वचनों की दृढ़ता के लिये तीन बार कहा है। यथा—"सत्य सत्य पन सत्य हमारा।···पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना ॥" (दो० १७१)।

(२) 'करुनानिधान सुजान ····'—'सुजान' हैं, इससे शील-स्नेह जान लेंगे, यथा—"स्वामि सुजान जान सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की ॥" (अ० दो० ३१३)। शील और स्नेह-गुण

श्रीजानकीजी में विशेष रूप से हैं, इसीसे माता सुनयना ने भी कहा है—"तुलसी सुसील सनेह लखि निज किंकरी करि मानबी।" (दो० ३३६)। इन गुणों पर करुणा अवश्य होती है। रामजी करुणा के निधान भी हैं। गिरिजाजी इन दो गुणों का परिचय पा चुकी हैं, यथा—"मन महँ रामहिं सुमिरि सयानी।' (दो० ५८), तब सुजान श्रीरामजी ने जान लिया और शीघ्र ही वैसा संयोग कर दिया। पुनः शिवजी से' इनका सम्बन्ध कराने में भगवान् का करुण-गुण भी प्रकट हुआ था, यथा—"अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी ॥·····जाइ बिबाहहु सैलजहिं ·····" (दो० ७६)।

'सिय सहित हिय···'—यहाँ श्रीसीताजी के भीतर हर्ष अधिक है, पर ये संकोच के कारण छिपाये हुई हैं, क्योंकि इन्हें तो पहले भी गुप्त रूप से 'मन-कामना पूजिहि' के वर में ही उत्तर मिल गया था। पर यहाँ वर के लक्षण आदि प्रकट कहे गये, उन्हें सखियों ने भी सुना, इससे इन सबको प्रकट में विशेष हर्ष हुआ। अतः, हर्ष में सखियाँ ही प्रधान हैं।

(३) 'तुलसी भवानिहिं पूजि···'—'पुनि-पुनि'—श्रीकिशोरीजी कृतज्ञता प्रकट करते हुए उत्साह-पूर्वक बार-बार गिरिजाजी की पूजा करती हैं, यथा—"प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागीं।" (दो० ३३५)। मन-भाया वर मिला है। इसलिये अत्यन्त प्रेम है, बार-बार पूजा करती हैं। "गईं मुदित मन गौरिनिकेता।" में उपक्रम है और—"मुदित मन मंदिर चलीं।" पर उपसंहार। उपक्रम में पूजा के उत्साह में मुदित थीं और यहाँ वर पाने से 'मुदित मन' हैं। 'तुलसी'—वर पाने के लिये 'तुलसी' भी मानसिक रूप से पूजन में सम्मिलित हो गये कि ये ही श्यामसुन्दर मेरे भी स्वामी हों। साथ ही वर पाने से ये भी मुदितमन हैं।

(४) 'जानि गौरि अनुकूल··'—मन्दिर के भीतर थीं, तब सखियों का हर्ष प्रधान था। यहाँ मार्ग में श्रीजानकीजी का हर्ष प्रधान है जो सर्वथा अकथ्य है, उसको प्रकट करने के लिये एक सोरठा पृथक् ही लिखा गया। हर्ष के कारण भी इसीमें कहे गये हैं—गौरी का अनुकूल होना और मांगलिक बाम अंगों का फड़कना आदि हैं।

फुलवारी में श्रीसीताजी का आना पीछे कहा गया था, इसीसे इनका जाना पहले कहा गया। पुनः राजकुमारों का आना पहले हुआ था तो उनका जाना भी पीछे हुआ। अतः, तुल्य वर्णन है।

हृदय सराहत सीय - लोनाई। गुरुसमीप गवने दोउ भाई ॥१॥
राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाव छुआ छल नाहीं ॥२॥
सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्हीं। पुनि असीस दुहुँ भाइन्ह दीन्हीं ॥३॥
सुफल मनोरथ होहिं तुम्हारे। राम लखन सुनि भये सुखारे ॥४॥

अर्थ—दोनों भाई (श्रीराम-लक्ष्मण) गुरुजी के समीप चले। (श्रीरामजी) हृदय में सीताजी की सुन्दरता सराहते जाते हैं ॥१॥ श्रीरामजी ने श्रीविश्वामित्रजी से सारा हाल कह दिया (क्योंकि आप) सरल स्वभाव हैं, छल छू भी नहीं गया है ॥२॥ फूल पाकर मुनि ने पूजा की, फिर उन्होंने दोनों भाइयों को आशीर्वाद दिया—॥३॥ 'तुम्हारे मनोरथ सुफल हों'—यह सुनकर श्रीराम-लक्ष्मण प्रसन्न हुए ॥४॥

विशेष—(१) पूर्व श्रीकिशोरीजी का 'मंदिर' जाना कहा, क्योंकि उनका मन्दिर है, यथा—"सिय-निवास सुंदर सदन" (दो० २१३)। अब यहाँ से श्रीरामजी का प्रसंग कहते हैं। ये यहाँ गुरुजी के समीप से आये थे। अतः, वहीं को लौटना भी कहा। प्रथम—"लेन प्रसून चले दोउ भाई।" कहा था, उसीके जोड़ में यहाँ दोनों भाइयों का लौटना भी कहा गया। अन्यथा यह समझा जाता कि एक किसी कार्य से वहीं रह गये होंगे।

मानस मुखबन्ध में ग्रन्थकार ने कहा है—"जे गावहिं यह चरित सँभारे। ते येहि ताल चतुर रखवारे ॥" (दो० ३७), अर्थात् ग्रन्थ का पूर्वापर प्रसंग देखकर अर्थ करना चाहिये। यहाँ आपाततः

अक्षरार्थ लेने से 'हृदय सराहत' के कर्त्ता 'दोउ भाई' होते हैं, पर यह अयोग्य है। पूर्व में सराहना केवल श्रीरामजी की ही कही गई है, यथा—हृदय सराहत बचन न आवा।" (दो० २२९)। इसलिये चौपाई का अर्थ अवरेव से करना चाहिये। अन्वय करने में "गुरु समीप गवने दोउ भाई।" पहले पढ़कर तब—"हृदय सराहत सीय लुनाई" कहना चाहिये, तो आगे—"राम कहा सब···" से सम्बन्ध भी मिल जाता है, क्योंकि निश्छल हार्दिक भाव से प्रेरित होकर आपने गुरुजी को सारा समाचार कह सुनाया।

(२) 'राम कहा सब कौसिक···'—सरल स्वभाव का अर्थ यहाँ खोला गया है कि जो भीतर हो, उसे ज्यों-का-त्यों कहना ही सरलता है। विशेष करके गुरु से तो दुराव करना मना है, यथा—"होइ न बिमल बिवेक उर, गुरु सन किये दुराव॥" (दो० ४५)। 'छुआ छल नाहीं'—जैसे किसी काल-कर्म की प्रबलता से सन्तों के मन में छल आ भी जाता है, यही छू जाना है, तो वे उसे विचार-द्वारा हटा देते हैं। पर श्रीरामजी के हृदय में छल का स्फुरण ही नहीं होता, क्योंकि आप सत्यव्रत हैं।

(३) "पुनि असीस दुहुँ···"—जब श्रीरामजी ने सारा समाचार कह सुनाया तब गुरुजी ने उस समय असीस क्यों नहीं दी, प्रत्युत पूजा करके दी ? इसका उत्तर यह है कि धर्मशास्त्र से फूल लिये हुए प्रणाम और आशीर्वाद दोनों का देना मना है, अन्यथा वे फूल देवता के योग्य नहीं रहते, यथा—"पुष्प-हस्ते वारिहस्ते तैलाभ्यङ्गे जले स्थिते। आशीर्नमस्कर्त्तारावुभौ नरकगामिनौ॥" (कृत्यार्णव)। इसलिये मुनि ने फूल लेकर पूजा करके तब असीस दी और फूल लिये हुए थे, इसलिये राजकुमारों ने प्रणाम भी नहीं किया, अन्यथा फूल व्यर्थ होते। यह धर्मशास्त्र की सँभाल एवं लोक-शिक्षा भी है।

(४) 'सुफल मनोरथ होहिं···'—यहाँ आशीर्वाद दोनों भाइयों को दिया गया, पर मनोरथ श्री रामजी ने ही प्रगट किया था, तुलसी और पुष्प लाने में लक्ष्मणजी भी साथ थे, उन्हें अपना मनोरथ नहीं है, किन्तु श्रीरामजी की मनोरथ-सिद्धि ही उनका मनोरथ है। 'मनोरथ होहिं' यह बहुवचन है, श्रीरामजी के मनोरथ चारो भाइयों का साथ ही ब्याह होने के लिये हैं, यथा—"जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥ करनबेध उपबीत···" (अ० दो० ९)। अतः, आशीर्वाद के वचन वैसे ही कहे गये। नहीं तो यही कह देते, कि तुम्हें वह कन्या मिले।

इस पुष्प-वाटिका-प्रसंग में श्रीरामजी और श्रीसीताजी के दोनों पक्ष समान कहे गये हैं—

श्रीरामजी	श्रीजानकीजी
१—सकल सौच करि जाइ नहाये	मज्जन करि सर
२—समय जानि	तेहि अवसर
३—गुरु-आयसु पाई	जननि पठाई
४—लेन प्रसून	गिरिजा-पूजन
५—संग अनुज	संग सखी
६—लगे लेन दल फूल मुदित मन	गई मुदित मन
७—अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा	लता-ओट तब सखिन्ह लखाये
८—सिय-मुख ससि भये नयन चकोरा	सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी
९—भये बिलोचन चारु अचंचल	थके नयन रघुपति-छबि देखे
१०—मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल	पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेखे
११—देखि सीय-सोभा सुख पावा	देखि रूप लोचन ललचाने
१२—हृदय सराहन बचन न आवा	अधिक सनेह देह भइ भोरी
१३—सिय सोभा हिय बरनि प्रभु—	लोचन-मग रामहिं उर आनी—
१४—आपनि दसा बिचारि	दीन्हें पलक कपाट सयानी

१५—सहज पुनीत मोर मन छोभा — सुमिरि पिता-पन मन अति छोभा
१६—फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता — बाम अंग फरकन लगे
१७—चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही — चली राखि उर स्यामल मूरति
१८—गुरु समीप गवने दोउ भाई — गई भवानी-भवन बहोरी
१९—राम कहा सब कौसिक पाहीं — मोर मनोरथ जानहु नीके।
सरल सुभाव छुआ छल नाहीं। — बसहु सदा उर-पुर सब ही के॥
कीन्हेउँ प्रगट न कारन तेही।
२०—सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्ही — बिनय-प्रेम-बस भई भवानी
२१—पुनि असीस दुहुँ भाइन्ह दीन्ही — सुनु सिय सत्य असीस हमारी
२२—सुफल मनोरथ होहिं तुम्हारे — सो बर मिलिहि जाहि मन राचौं
२३—राम लखन सुनि भये सुखारे — सिय-हिय हरष न जाइ कहि

यह पुष्पवाटिका-प्रसंग प्रसन्नराघव नाटक के द्वितीय अंक में वर्णित है। उसके कतिपय अंश यहाँ के प्रसंगों से मिलते हैं।

करि भोजन मुनिबर बिज्ञानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी॥५॥
बिगत दिवस गुरु आयसु पाई। संध्या करन चले दोउ भाई॥६॥
प्राचीदिसि ससि उयेउ सुहावा। सिय-मुख-सरिस देखि सुख पावा॥७॥
बहुरि बिचार कीन्ह मन माहीं। सीय-बदन-सम हिमकर नाहीं॥८॥

दोहा—जनम सिंधु पुनि बंधु बिष, दिन मलीन सकलंक।
सिय-मुख समता पाव किमि, चंद बापुरो रंक॥२३७॥

अर्थ—विज्ञानी मुनि-श्रेष्ठ विश्वामित्रजी भोजन करके कुछ पुरानी कथाएँ कहने लगे॥५॥ दिन बीतने पर गुरु श्रीविश्वामित्र मुनि की आज्ञा पाकर दोनों भाई सन्ध्या (सन्ध्योपासना) करने चले॥६॥ पूर्व दिशा में सुहावना चन्द्रमा उदित हुआ। उसे श्रीजानकीजी के मुख के समान देखकर श्रीरामजी ने सुख पाया॥७॥ फिर उन्होंने मन में विचार किया कि श्रीजानकीजी के मुख के समान चन्द्रमा नहीं है॥८॥ समुद्र से तो इसका जन्म है और विष इसका भाई है, दिन में मलीन रहता है और कलंकी है। बेचारा (शोभा का) दरिद्र चन्द्रमा श्रीसीताजी के मुख की समानता कैसे पा सकता है ?॥२३७॥

विशेष—(१) 'करि भोजन मुनि···'—जहाँ भोजन में श्रीरामजी की प्रधानता है, वहाँ भोजन करके विश्राम करना कहा है, यथा—"रिषय संग रघुबंसमनि, करि भोजन बिश्राम।" (दो० २१७)। जहाँ मुनि प्रधान हैं, वहाँ भोजन करके कथा कहना कहा गया है, क्योंकि मुनियों का कालक्षेप कथा में ही हुआ करता है। यह भी कहा जाता है कि आज राजकुमार का चित्त चंचल है, इसलिये मुनि कथा सुनाने लगे, जिससे उनका मन बहले।

(२) 'बिगत दिवस गुरु···'—कोई बड़ी रोचक कथा थी जो दोपहर से सन्ध्या पर्यन्त हुई। फिर भी किसीकी उठने की इच्छा नहीं हुई। मुनि की आज्ञा से सन्ध्या करने चले। 'चले' अर्थात् कुछ दूर बाहर नदी, तालाब आदि पवित्र स्थान पर जाना सूचित किया।

(३) 'प्राची दिसि ससि उयेउ···'—पूर्व दिशा की ओर सन्ध्या करने गये, इससे सामने चन्द्रमा देखने में आया। इधर दिन बीता और उधर चन्द्रोदय हुआ, इससे पूर्णिमा का चन्द्रमा जनाया और इसी-

से 'सुहावा' भी कहा। श्रीजानकीजी का मुख देखकर सुख पाया था, यथा—"देखि सीय-सोभा सुखपावा।" (दो० २२९), वैसे ही सुख यहाँ भी मिला। यहाँ 'स्मरण' अलंकार है।

सन्ध्या करने चले, पर कर न सके, क्योंकि चित्त व्यग्र था, इसीसे 'सन्ध्या की' ऐसा नहीं लिखा गया। पुनः सायंकाल की सन्ध्या पच्छिम मुख बैठकर की जाती है, पर आपका पूर्व मुख बैठना पाया जाता है, तभी तो सामने पूरब में चन्द्रमा देख रहे हैं। नित्य गुरु-सेवा करके सोया करते थे, आज केवल प्रणाम-मात्र करना लिखा है, यथा—"करि मुनि-चरन-सरोज प्रनामा" (दो० २३७)। पूर्व शयन करना कहा गया था, यथा—"रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही।" (दो० २२५)। आज केवल विश्राम करना ही लिखा है, यथा—"आयसु पाइ कीन्ह बिश्रामा।" (दो० २३७), अर्थात् नींद भी नहीं पड़ी। इन सबका कारण ग्रन्थकार ने स्पष्ट भी कहा है, यथा—'हरषीं सहेली, भयो भावतो गावतीं गीत, गवनी भवन तुलसीस-हियो हरिकै॥' (गी० बा० ७०)। इसीसे सन्ध्या में श्रीकिशोरीजी का ही ध्यान और उन्हीं की शोभा-वर्णन रूपी स्तुति भी हुई।

किसी-किसीका यह भी मत है कि विधिवत् सन्ध्या करके तब चन्द्रमा की शोभा का वर्णन करने लगे। ग्रन्थकार सूक्ष्म रीति से ही सब जना देते हैं, यथा—"रघुबर संध्या करन सिधाये" (अ० दो० ८८), वहाँ भी सन्ध्या अवश्य की गई है, पर कहा नहीं गया है। इसी प्रकार अन्य दिनों की भाँति आज भी गुरु-सेवा करके ही शयन में आये होंगे। पूर्व में नित्यचर्या कह दी गई है।

(४) 'बहुरि बिचार कीन्ह मन···'—एकाएक दृष्टि पड़ने पर चन्द्रमा की शोभा मात्र में सीताजी के मुख की समता पाकर सुखी हुए, पर विरही को चन्द्रमा दाहक होता है। इससे कुछ ही देर में दाहकत्व होने से उसमें दोष देख पड़े, तब विचार करने पर बहुत दोष देखने (समझने) में आये। वही कहते हैं—'हिमकर'—अर्थात् अत्यन्त शीत करनेवाला है, पाला वर्षा कर सबको जड़ कर देता है। यहाँ प्रतीप अलंकार का चौथा भेद है। पर, 'सिय-मुख समता पाव किमि···' में प्रतीप का तीसरा ही भेद समझना चाहिये।

(५) 'जनम सिंधु पुनि···'—जन्म-स्थान, संग, शरीर और स्वभाव—इन चार से उत्तमता एवं निकृष्टता जानी जाती है। चन्द्रमा का जन्मस्थान समुद्र-जड़ है। संग विष का है, क्योंकि मन्थन के समय हालाहल विष समुद्र से ही प्रथम निकला था, पीछे चन्द्रमा भी निकला। अतः, विष इसका बड़ा भाई है। इससे यह उसका अनुयायी (दाहक) होगा ही। दिन में मलीन रहता है और गुरु-पत्नी-गमन से कलंकी है एवं शरीर रोग-ग्रस्त है। आगे—"घटइ बढ़इ बिरहिनि दुखदाई।···" आदि में स्वभाव की भी निकृष्टता कही है। इसकी चारो प्रकार की निकृष्टता कही गई। 'असम्बन्धातिशयोक्ति' तथा 'व्यतिरेक' अलंकार है।

घटइ बढ़इ बिरहिनि-दुखदाई। ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई॥१॥
कोक-सोकप्रद पंकजद्रोही। अवगुन बहुत चंद्रमा तोही॥२॥
बैदेही-मुख पटतर दीन्हे। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे॥३॥
सिय-मुख-छवि बिधुब्याज बखानी। गुरु पहिं चले निसा बड़ि जानी॥४॥
करि मुनि-चरन-सरोज प्रनामा। आयसु पाइ कीन्ह बिश्रामा॥५॥

अर्थ—यह घटता-बढ़ता है और वियोगियों को दुःख दिया करता है, अपनी सन्धि पाकर राहु इसे ग्रस लेता है॥१॥ चकवे-चकई को शोक देनेवाला और कमल का द्रोही है। हे चन्द्रमा! तुममें ऐसे-ऐसे बहुत अवगुण हैं॥२॥ विदेहकुमारी श्री सीताजी के मुख से उपमा देना—यह अनुचित कर्म है। इसके करने से बड़ा दोष होगा॥३॥ चन्द्रमा के बहाने श्री सीताजी के मुख की शोभा का वर्णन कर और रात बहुत बीत

गई जानकर गुरुजी के पास चले ॥४॥ वहाँ जाकर मुनि के चरण-कमलों में प्रणाम कर और उनकी आज्ञा पा, उन्होंने विश्राम किया ॥५॥

विशेष—(१) 'घटइ बढ़इ बिरहिनि ···'—घटना प्रत्यक्ष दोषरूप है। बढ़ने पर भी प्रथम तो बिरहियों को दुःख देता रहता है। फिर पूर्ण होनेपर 'संधि' अर्थात् अवसर पाकर, पूर्णिमा और प्रतिपदा के योग में राहु इसे ग्रसता है। अतः, बढ़ना भी दोष-रूप ही है। दोष दिखाने का उद्देश्य है, इससे 'घटइ' प्रथम कहा गया है।

महा० शल्य० ३५।४०-८२ में कथा है कि दक्ष प्रजापति ने नक्षत्र नाम की सत्ताईस कन्याओं का विवाह चन्द्रमा से कर दिया था। चन्द्रमा उनमें से एक रोहिणी ही के साथ विशेष रहते थे। शेष कन्याओं ने दक्ष से कहा। दक्षने चन्द्रमा को समझाया कि सबमें सम स्नेह रक्खें। फिर भी चन्द्रमा ने ध्यान नहीं दिया। पुनः उन कन्याओं ने पिता दक्ष से कहा, दक्ष ने चन्द्रमा को शाप देने का भय देकर भी समझाया, परन्तु चन्द्रमा ने फिर भी नहीं माना। कन्याओं के पुनः कहने पर दक्ष ने राजयक्ष्मा रोग को चन्द्रमा के पास भेजा, वह उनमें पैठकर उन्हें क्षीण करने लगा। चन्द्रमा यज्ञादि उपायों से भी सफल नहीं हुए। क्षीण होते ही गये। तब ओषधियाँ रस-वीर्य से हीन होने लगीं। उससे प्रजा का नाश होने लगा। मनुष्य दुर्बल होने लगे।

तब देवों ने चन्द्रमा से कारण पूछा, उन्होंने दक्ष का शाप कहा कि उसीसे मुझे यक्ष्मा का रोग हो गया है। तब देवगण ने दक्ष से जाकर प्रार्थना की कि कृपाकर शाप का निवारण करें। चन्द्रमा अब क्षीण हो चुके, थोड़े ही शेष हैं। इससे प्रजा का नाश हो रहा है।

दक्ष ने कहा कि मेरा शाप अव्यर्थ है, यदि चन्द्रमा अब भी सब स्त्रियों से सम बरतें तो शाप दूर हो सकता है। चन्द्रमा सरस्वती के तीर्थ में स्नान करें तो उनका तेज फिर वैसा ही हो जायगा। इतना तो रहेगा ही कि चन्द्रमा आधा महीना क्षीण होगा, फिर आधा महीना बढ़ता रहेगा। अभी ये पच्छिम समुद्र सरस्वती-सङ्गम पर (स्नान कर) शिवजी की पूजा करें तो तेज बढ़ेगा। चन्द्रमा अमावस पर वहाँ पहुँचे। सब कृत्य करने पर तब उनका तेज बढ़ने लगा और उनकी किरणें शीतल हुईं। फिर दक्ष ने चन्द्रमा को समझा कर विदा किया। इसीसे प्रभास क्षेत्र का माहात्म्य बढ़ा।

जीव तीन स्थलों के होते हैं, यथा—"जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना ॥" (दो० २)। तीनों को चन्द्रमा दुःखदायी हैं। यह सिद्ध करने के लिये तीनों के एक-एक उदाहरण देते हैं—'बिरहिनि'—स्थलचर, 'कोक'—नभचर और 'कमल'—जलचर। उदाहरण—"पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहुँ मोहि जानि हतभागी ॥" (सुं० दो० ११), "ससि-कर छुअत बिकल जिमि कोकू।" (अ० दो० २८), "सियरे बचन सूखि गये कैसे। परसत तुहिन तामरस जैसे ॥" (अ० दो० ७०)।

(२) 'अवगुन बहुत चंद्रमा तोही।'—अभी कहते रहे। अवगुण बहुत हैं। कबतक कहेंगे ? अतः, छोड़ दिया। श्री सीताजी के पटतर में इसे अवगुणनिधि कहकर उन्हें गुण-निधि जनाया। 'होइ दोष बड़'—इसमें 'बड़' दीप-देहली है। इस तरह मानों कवियों को मना करते हैं कि वे श्रीकिशोरीजी का पटतर इससे न दें। गणना में बारह दोष कहे गये। अतः, द्वादश अंगों से एवं द्वादश महीनों में यह सदोष ही रहता है।

(३) 'सिय-मुख-छवि बिधु···'—यहाँ बखान करना मन-ही-मन हुआ, क्योंकि प्रथम ही कह दिया गया है, यथा—"बहुरि बिचार कीन्ह मन माहीं। वहाँ से यहाँ तक बखान करना है। 'निसा बड़ि जानी'—बहुत रात बीत गई, शयन का समय हो गया (आधी रात बीत गई), क्योंकि पहुँचकर तुरन्त आसन पर जाकर लेटना कहा गया है।

पुष्प-वाटिका-प्रकरण समाप्त।

धनुष-यज्ञ-प्रकरण

बिगतनिसा रघुनायक जागे। बंधु बिलोकि कहन अस लागे ॥६॥
उयेउ अरुन अवलोकहु ताता। पंकज-लोक-कोक-सुख-दाता ॥७॥
बोले लखन जोरि जुग पानी। प्रभु-प्रभाव-सूचक मृदु बानी ॥८॥

अर्थ—रात बीतने पर श्रीरघुनाथजी जागे और भाई की ओर देखकर ऐसा कहने लगे ॥६॥ हे तात! कमल, लोक और चकवाक को सुख देनेवाला अरुण-उदय हुआ, देखो ॥७॥ इसपर श्रीलक्ष्मणजी दोनों हाथ जोड़कर प्रभु के प्रभाव को सूचित करनेवाली कोमल वाणी बोले ॥८॥

विशेष—(१) 'बंधु बिलोकि'—अर्थात् लक्ष्मणजी प्रथम ही उठकर पास बैठे थे।

(२) 'उयेउ' अरुन अवलोकहु···'—प्रातःकाल के सूर्य के अरुणोदय-दर्शन करने की शास्त्र में आज्ञा है। अतः, लक्ष्मणजी से देखने को कहते हैं। यह भी जान पड़ता है कि विरह में आँखें नहीं लगीं। प्रातःकाल की प्रतीक्षा करते थे। तीन दण्ड रात रहने पर पूर्व दिशा में कुछ ललाई आ जाती है, उसे ही अरुणोदय कहते हैं, यथा—"पञ्चपञ्च उषाकालः सप्तपञ्चारुणोदयः। अष्टपञ्च भवेत्प्रातः शेषः सूर्योदयो मतः।" (कृत्यशिरोमणि)। पूर्व चन्द्रमा का तीनों स्थलों के जीवों के लिये दुःखदायी होना कहा था, उन्हीं तीनों के लिये सूर्य का सुखदायी होना कहते हैं, कमल जलचर, कोक नभचर और लोक अर्थात् मनुष्य स्थलचर, मनुष्यों में विशेषकर विरही लोगों से तात्पर्य है। श्रीरामजी स्वयं विरही हैं। अतः, चन्द्रमा तप्त, दुःखदायी और सूर्य सुखद लगता है।

अलंकार—'हेतु प्रथम'।

(३) 'बोले लखन'—यहाँ श्रीरामजी के हृदय की व्यग्रता का लक्ष्य करके सान्त्वना देते हुए लक्ष्मणजी उनका प्रभाव कहेंगे, जिससे यह सिद्ध होगा कि धनुष प्रभु ही तोड़ेंगे। इससे प्रभु को प्रसन्नता होगी। प्रभु के हृद्गत भाव लक्ष्य करने के सम्बन्ध से 'लखन' कहा गया है। 'जोरि जुग पानी'—यह शिष्टाचार है। पुनः यह भी भाव है कि आपके (श्रीरामजी के) विषय में वेद भी नेति-नेति कहते हैं, मेरे (लक्ष्मणजी के) कहने के दोषों को और चपलता को क्षमा कीजियेगा।

दोहा—अरुनोदय सकुचे कुमुद, उडुगन-जोति मलीन।
जिमि तुम्हार आगमन सुनि, भये नृपति बलहीन ॥२३८॥

नृप सब नखत करहिं उजियारी। टारि न सकहिं चापतम भारी ॥१॥
कमल कोक मधुकर खग नाना। हरषे सकल निसा-अवसाना ॥२॥
ऐसेहि प्रभु सब भगत तुम्हारे। होइहहिं टूटे धनुष सुखारे ॥३॥

अर्थ—(हे नाथ!) अरुण-उदय हुआ, अरुणोदय होते ही कुमुद (कुईं) सकुच गये, तारागण की ज्योति मलिन हो गई। इसी प्रकार आपका आना सुनकर राजा लोग बलहीन हो गये हैं ॥२३८॥ सब राजा रूपी नक्षत्र उजाला करते हैं, पर धनुष रूपी भारी अन्धकार को वे नहीं हटा सकते ॥१॥ रात का अन्त होने पर अनेक कमल, चकवाक, भ्रमर और पक्षी—सभी हर्षित हुए ॥२॥ इसी प्रकार हे प्रभो! धनुष के टूटने पर आपके सब भक्त सुखी होंगे ॥३॥

विशेष—(१) 'अरुनोदय सकुचे···'—इसमें दो उपमेयों के लिये एक उपमान नृपति कहा है, यथा—"सकुचे सकल भुआल, जनु बिलोकि रवि कुमुदगन।" (दो० २६४), पुनः—"श्रीहत भये भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीप-छवि छूटे॥" (दो० २६२), अर्थात् कुमुद के द्वारा राजाओं की प्रतापहीनता और उडुगण के द्वारा तेजोहीनता कही गई। ये दोनों गुण एक-एक प्रकार के बल हैं।

अलंकार—'हेतु प्रथम'।

(२) 'टारि न सकहिं···'—सब तारागण मिलकर भी अन्धकार का निवारण नहीं कर सकते, वैसे सब राजागण एक साथ भी लगकर भारी धनुष नहीं हटा सकेंगे।

(३) 'कमल कोक मधुकर···ऐसेहि····'—कमल आदि रात के रहते चिन्तित रहते हैं, सूर्य के उदय पर सुखी होते हैं। वैसे यहाँ श्रीजानकीजी कमल की तरह प्रभु के प्रताप रूप सूर्य के उदय होने के आश्रित हैं, अन्यथा वे सम्पुटित ही रह जायँगी। उनके माता-पिता चकवे-चकई की तरह चिन्तित हैं। श्रीजानकीजी की सखियाँ भ्रमरों की तरह हैं, इन्हें श्रीजानकीजी के ही सुख में सुख है। जैसे कमल के विकास में भ्रमरों को सुख होता है। 'नाना खग' की तरह जनकपुर के रहनेवाले हैं। ये सब धनुष टूटने ही पर सुखी होंगे। उपमाओं में कहीं-कहीं लिंग-विरोध भी हो तो ग्रहण करना चाहिये—यदि धर्म मिलते हों, जैसे—"सरसइ ब्रह्म बिचार···(दो० १)। यहाँ ज्ञानी, आदि चार प्रकार के भक्तों को धनुर्भंग के निमित्त दुःख का प्रसंग नहीं है और उपर्युक्त लोगों में दुःख और सुख पूर्णतया घटित हैं। दुःख के उदाहरण ऊपर कह आये हैं। सुख के उदाहरण—"सीय-सुखहिं बरनिय केहि भाँती।" (दो० २६२)। सखियाँ इनके साथ ही सुखी हैं—"सखिन्ह सहित हरषीं सब रानी।" "जनक लहेउ सुख सोच बिहाई।" (दो० २६२), "मुदित कहहिं जहँ-तहँ नर-नारी। भंजेउ राम संभुधनु-भारी॥" (दो० २६१)।

उयेउ भानु बिनु श्रम तम नासा। दुरे नखत जग तेज प्रकासा॥४॥
रवि निज-उदय-ब्याज रघुराया। प्रभु-प्रताप सब नृपन्ह दिखाया॥५॥
तव भुज-बल-महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु-बिघटन-परिपाटी॥६॥
बंधुबचन सुनि प्रभु मुसकाने। होइ सुचि सहज पुनीत नहाने॥७॥
नित्यक्रिया करि गुरु पहिं आये। चरनसरोज सुभग सिर नाये॥८॥

शब्दार्थ—बिघटन = तोड़ने की। परिपाटी = रीति, परम्परा, प्रणाली। उदघाटी = उदयाचल की घाटी, खोलना।

अर्थ—सूर्य के उदय से बिना श्रम के अँधेरा नष्ट हो गया, नक्षत्र छिप गये और संसार में तेज प्रकाशित हुआ॥४॥ हे रघुनाथजी! सूर्य ने अपने उदय के बहाने से प्रभु (आप) का प्रताप सब राजाओं को दिखा दिया है॥५॥ आपकी भुजाओं के बल की महिमा को खोलकर दिखाने के लिये धनुष तोड़ने की यह परम्परा प्रकट हुई है अथवा आपकी भुजाओं के बल की महिमा उदयाचल की घाटी है जहाँ से धनुष तोड़ने की परिपाटी-द्वारा उपर्युक्त प्रताप-रूपी सूर्य प्रकट होता है, क्योंकि उदयाचल की घाटी में आने से ही सूर्य को संसार जानने लगता है॥६॥ भाई के इन वचनों को सुनकर प्रभु मुसुकाये, जो स्वाभाविक ही पवित्र हैं। उन्होंने शौच आदि से निवृत्त होकर स्नान किया॥७॥ नित्यकर्म करके वे गुरुजी के पास आये और उनके चरण-कमलों में सुन्दर सिर झुकाया॥८॥

विशेष—(१) 'रवि निज-उदय·····प्रभु-प्रताप···'—श्रीरामजी का प्रताप सूर्य है, यथा—"जब ते राम-प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा॥" (उ० दो० ३०)। राजा लोग उडुगण (तारे) हैं, यथा—"देखियत भूप भोर के से उडुगन गरत गरीब गलानि हैं।" (गी० बा० ७८)। यहाँ सूर्य ने दिखाया है कि जैसे भारी अन्धकार तारागण से नहीं हट सका था, वह हमारे उदय से बिना श्रम ही मिट

गया, वैसे सब राजा लोग श्रम से भी धनुष नहीं हटा सकेंगे और हमारे कुल के भूषण श्रीरामजी ही उसे तोड़ेंगे। राजाओं को तारागण कहा, क्योंकि वे बहुत हैं। यद्यपि चन्द्रमा भी सूर्य के सामने निस्तेज हो जाता है, तथापि यहाँ नहीं कहा, क्योंकि वह एक ही है और कुछ अंशों में अन्धकार हरता भी है, पर ये राजा अनेक हैं और धनुष को तिल भर भी नहीं हटा सकेंगे। पुनः आगे श्रीरामजी को चन्द्रमा भी कहना है, यथा—"राज-समाज बिराजत रूरे। उडुगन महँ जनु जुग बिधु पूरे॥"

यहाँ प्रभु-प्रताप रूप उदयकालीन सूर्य का उदय होना कहा गया है। इसके पहले के ताटका, मारीच-सुबाहु आदि के वध पर इसका अरुणोदय समझना चाहिये। विराध, खर-दूषण आदि के वध पर एक प्रहर दिन चढ़ने का और सपरिवार रावण का वधकर राजगद्दी पर बैठने तक मध्याह्न काल के सूर्य का प्रताप परिपूर्ण हुआ है, यथा—"जब ते राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा॥" (उ० दो० ३०)।

(२) 'बंधु-बचन सुनि प्रभु ·····'—'मुसकाने'—बड़ों के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर संकोच से मन में ही मुसकाते हैं, यथा—"सुनि मुनि-बचन प्रेम रस साने। सकुचि राम मन महँ मुसकाने॥" (अ० दो० १२७), लक्ष्मणजी छोटे हैं। अतः, संकोच नहीं है और प्रकट में मुसकुराये। 'प्रभु'—क्योंकि राजाओं का स्वभाव होता है कि प्रशंसा सुन मुसकाकर प्रशंसक का मन रखते हैं।

'बंधु बिलोकि कहन अस लागे।'—उपक्रम है, और 'बंधु-बचन सुनि···'—उपसंहार।

(३) 'नित्यक्रिया करि···'—नित्य नियम करके गुरु को प्रणाम करना चाहिये। इससे नित्यकर्म की भूलचूक भी पूर्ण हो जाती है। प्रभु सबको शिक्षा देते हैं, क्योंकि वे मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि अपना नित्य-नियम गुरुजनों के सामने से अलग करना चाहिये। 'सुभग सिर' प्रभु अपने आचरण से उपदेश देते हैं कि वे ही सिर सुभग हैं, जो हरि और गुरु को प्रणाम करें, यथा—"ते सिर कटुतुम्बरि समतूला। जे न नमत हरि-गुरु-पदमूला॥" (दो० ११३)।

अलंकार—'हेतु प्रथम' 'उयेउ भानु···' में।

सतानंद तब जनक बोलाये। कौसिक मुनि पहिं तुरत पठाये॥ ९॥
जनकबिनय तिन्ह आइ सुनाई। हरषे बोलि लिये दोउ भाई॥१०॥

दोहा—सतानंद-पद बंदि प्रभु, बैठे गुरु पहिं जाइ।
चलहु तात मुनि कहेउ तब, पठवा जनक बोलाइ॥२३६॥

अर्थ—तब श्रीजनकजी ने श्रीशतानन्दजी को बुलवाया और शीघ्र ही उन्हें विश्वामित्रजी के पास भेजा॥९॥ उन्होंने आकर राजा जनक की प्रार्थना सुनाई। मुनि प्रसन्न हुए और उन्होंने दोनों भाइयों को बुला लिया॥१०॥ श्री शतानन्दजी के चरणों को प्रणाम करके प्रभु श्रीरामजी गुरुजी के पास जा बैठे। तब मुनि श्रीविश्वामित्रजी ने कहा—हे तात! चलो, महाराजा जनक ने बुला भेजा है॥२३६॥

विशेष—(१) 'सतानंद तब···'—विश्वामित्र महा मुनि हैं, उनके सम्मान के लिये अपने गुरु को सबसे प्रथम भेजा। अन्य राजाओं के यहाँ मन्त्रियों को भेजा। मुनि महात्मा हैं, इससे भी इनके यहाँ महात्मा ही को भेजा। 'तुरत'—जिससे भीड़ न होने पावे, मुनि आ जायँ और वे प्रथम ही सम्मान-सहित बैठा दिये जायँ। राजा ने अपनी ओर से यह उचित किया। पर मुनि पीछे जायँगे, यह इन्हें उचित है, क्योंकि बड़े लोग सभा में पीछे आते हैं।

(२) 'बोलि लिये'—श्रीरामजी नित्य-क्रिया करके गुरुजी को प्रणाम कर मुनि-मंडली को प्रणाम

करते थे, इससे पास ही थे। अतः, मुनि ने बुला लिया। यह साधुओं में नियम है कि नित्य-नियम करके गुरु को प्रणाम कर फिर पास के सब लोगों को प्रणाम करना चाहिये।

(३) 'मुनि कहेउ तब'—जब श्रीरामजी शतानन्दजी की वन्दना करके आसन पर बैठ गये, तब मुनि ने कहा, अन्यथा ज्यों-के-त्यों खड़े ही रह जाते, इससे मुनि का प्रेम जाना गया।

यहाँ शतानन्दजी की वन्दना की। प्रथम जब ये जनकजी के साथ मिलने आये थे, तब नहीं की थी, क्योंकि परिचित न थे और सब ब्राह्मणों के साथ ये भी खड़े हुए थे, फिर कैसे जानते ?

सीय-स्वयंबर देखिय जाई। ईस काहि धौं देइ बड़ाई ॥१॥
लखन कहा जसभाजन सोई। नाथ कृपा तव जापर होई ॥२॥
हरषे मुनि सब सुनि बरबानी। दीन्हि असीस सबहिं सुख मानी ॥३॥
पुनि मुनि-बृंद-समेत कृपाला। देखन चले धनुष-मखसाला ॥४॥

अर्थ—वहाँ चलकर श्रीसीताजी का स्वयंवर देखा जाय। देखें, ईश्वर किसे बड़ाई देते हैं ? ॥१॥ श्रीलक्ष्मणजी ने कहा, हे नाथ ! जिसपर आपकी कृपा होगी यश का पात्र वही होगा ॥२॥ इस श्रेष्ठ वाणी को सुनकर समस्त मुनि प्रसन्न हुए और सुख मानकर सभी ने आशीर्वाद दिया ॥३॥ फिर कृपालु श्रीरामजी मुनि-समूह के साथ धनुष-यज्ञशाला देखने चले ॥४॥

विशेष—(१) 'सीय स्वयंबर देखिय···'—श्रीसीताजी का स्वयंवर चार प्रकार से कहा गया है—(क) वर-कन्या की इच्छानुसार, यथा—"चली राखि उर स्यामल मूरति।" और—"चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही।" (ख) प्रतिज्ञानुसार—"टूटत ही धनु भयेउ बिबाहू।" (ग) जयमाल-स्वयंवर—"सिय जयमाल राम-उर मेली।" (घ) कुल-रीति के अनुसार—"तदपि जाइ तुम्ह करहु अब, जथा बंस-ब्यवहार। ···कुँअरि कुँअर कल भाँवरि देहीं।" 'ईस' अर्थात् ईश्वर, महादेव, यथा—"तमकि ताहि ये तोरिहिं कहब महेस।" (बरवा १।१४)। ऐसा कोई-कोई कहते हैं कि धनुष श्रीशिवजी का है, वे चाहे जिसे बड़ाई दें। वस्तुतः यहाँ ईश्वर से परमात्मा का तात्पर्य है। विष्णु भगवान् के द्वारा जड़ किये जाने पर शिवजी स्वयं इसे नहीं लचा सके थे तो वे दूसरे से कैसे तोड़ा सकते हैं ? 'धौं'—यह दुविधाजनक अव्यय है। मुनि त्रिकालज्ञ होते हुए भी दुविधा कहते हैं, क्योंकि ईश्वर की गति को कोई भी सर्वथा जानने में असमर्थ है। जितने अंश में वह स्वयं जनाता है, वह भी ध्यान-द्वारा जाना जाता है। पुनः दैवयोग से भी ऐसा कहा गया, जिससे यात्रा में पूर्व ही मुनियों का आशीर्वाद भी हो गया।

मानस-मुखबन्ध में कहा है—"सीय-स्वयंवर कथा सुहाई। सरित सुहावनि सो छवि छाई ॥" (दो० ४०)। वह प्रसंग यहीं से प्रारम्भ है और—"रघुबर-उर जयमाल" (दो० २६४) पर समाप्त है। उससे आगे—"घोर धार भृगुनाथ रिसानी।" का प्रसंग है।

(२) 'हरषे मुनि सब सुनि···'—लक्ष्मणजी की वाणी में श्रेष्ठता यह है कि मुनि ने दुविधा कही थी, इन्होंने मुनि का प्रभाव आगे करके निश्चय कर लिया, क्योंकि मुनि दूसरे ब्रह्मा हैं, यथा—"रहै रघुनाथ की निकाई नीकी नीके नाथ हाथ सों तिहारे करतूति जाकी नई है।" (गी० बा० ८४)। यह भी श्रेष्ठता है कि यदि कहते कि आपकी कृपा से श्रीरामजी धनुष तोड़ेंगे तो इनमें गुरुजी से अधिक सर्वज्ञता पाई जाती, यह भी सँभाल है। यह वाणी सबको रुचिकर, गूढ़ आशय युक्त और स्नेह-वर्द्धक है कि हमारे ईश तो आप ही हैं। इससे मुनि स्वयं हर्षित नहीं हुए, क्योंकि इसमें उनकी प्रशंसा है और अन्य मुनियों के गुरुओं की श्रीलक्ष्मणजी के द्वारा प्रतीति और प्रशंसा है। इससे वे सब प्रसन्न हुए और आह्लादपूर्वक आशीर्वाद भी दिया—'तुम्हीं दोनों भाई यश के पात्र बनो।'

(३) 'पुनि मुनि-बृंद-समेत···'—'पुनि' अर्थात् आशीर्वाद पाने के पीछे वा एक बार नगर-दर्शन

के समय देख चुके हैं। अब दोबारा जा रहे हैं। अतः, 'पुनि' कहा है। 'कृपाला'—क्योंकि धनुर्भंग से बहुतों पर कृपा होगी। चलने में श्रीरामजी की प्रधानता है, क्योंकि राजाओं का स्वयंबर है। वहाँ राजाओं की ही प्रधानता चाहिये। पुनः वहाँ शृंगार और वीर-रस का प्रसंग है, इससे भी वीर और सुन्दर राज-कुमारों की प्रधानता है।

रंगभूमि आये दोउ भाई। असि सुधि सब पुरबासिन्ह पाई ॥५॥
चले सकल गृहकाज बिसारी। बाल जुवान जरठ नर नारी ॥६॥
देखी जनक भीर भइ भारी। सुचि सेवक सब लिये हँकारी ॥७॥
तुरत सकल लोगन्ह पहिं जाहू। आसन उचित देहु सब काहू ॥८॥

दोहा—कहि मृदु बचन बिनीत तिन्ह, बैठारे नर-नारि।
उत्तम मध्यम नीच लघु, निज निज थल अनुहारि ॥२४०॥

अर्थ—दोनों भाई (श्रीराम-लक्ष्मण) रंगभूमि में आये, ऐसी सूचना सब पुर-वासियों को प्राप्त हुई ॥५॥ घर के कार्य भुलाकर बालक, युवा, बूढ़े, स्त्री-पुरुष सभी चल पड़े ॥६॥ राजा जनक ने देखा कि भारी भीड़ हो गई, तब उन्होंने समस्त पवित्र सेवकों को बुलवा लिया ॥७॥ (और कहा कि) शीघ्र ही सब लोगों के पास जाओ और सब किसीको यथायोग्य आसन पर बैठाओ ॥८॥ उन्होंने कोमल और नम्र वचन कहकर उत्तम, मध्यम, नीच और लघु (छोटे)—समस्त स्त्री-पुरुषों को उनके योग्य स्थानों पर बैठाया ॥२४०॥

विशेष—(१) 'रंगभूमि आये दोउ···'—यहाँ शृंगार-रस प्रधान है। अतः, संग में भी मुनि का नाम नहीं कहा।

'चले सकल गृह···'—'चले'—क्योंकि यहाँ वृद्ध भी साथ हैं। अतः, धीरे-धीरे चल रहे हैं। नगर-दर्शन के समय—"धाये धाम काम सब त्यागी।" कहा है, वहाँ वृद्धों का साथ नहीं है। 'चले' अर्थात् शरीर से त्याग दिया और 'बिसारी' अर्थात् मन से त्यागा। इस तरह दोनों प्रकार से गृह-कार्य छोड़कर चले हैं। चलने की रीति भी सूचित की है कि 'बाल' और 'जरठ' के बीच में 'जुवान' शब्द है। अतः, युवा पुरुष एक हाथ से बच्चों और दूसरे से बूढ़ों को थामे हुए चलते हैं, ऐसे ही युवती स्त्रियाँ भी एक ओर लड़कियों और दूसरी ओर बुढ़ियों को सँभाले चल रही हैं।

(२) 'सुचि सेवक सब लिये···'—'सुचि', यथा—"अस बिचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहुँ निज धरम न डोले ॥" (अ० दो० १८१), अर्थात् जो स्वामी के आज्ञा-पालन-रूप स्वधर्म में दृढ़ नैष्ठिक हैं, ऐसे नहीं हैं कि कुछ घूस लेकर अथवा अपने लगाववाले को ऊँचे बैठा दें। 'सुचि' में सच्चरित्र, सदाचारी, चतुर एवं विश्वास-पात्र—सभी गुणवाले आ सकते हैं।

(३) 'तुरत सकल लोगन्ह···'—क्योंकि यदि पहले अनुचित जगह पर बैठ जायँगे तो उठना भी अनुचित ही होगा।

(४) 'कहि मृदु बचन···'—मन से शुचि, वचन से मृदु और तन से विनीत हैं अर्थात् हाथ जोड़कर मृदुवाणी से उचित सम्बोधन के साथ हार्दिक प्रीतिपूर्वक यथायोग्य बैठाया।

राजकुँअर तेहि अवसर आये। मनहुँ मनोहरता तनु छाये ॥१॥
गुनसागर नागर बर बीरा। सुंदर स्यामल - गौर - सरीरा ॥२॥
राज - समाज बिराजत रूरे। उडुगन महँ जनु जुग बिधु पूरे ॥३॥

शब्दार्थ—रूरे (सं० रूढ=प्रशस्त)=सुन्दर, सबमे श्रेष्ठ, विलक्षण, प्रकाशवान् ।

अर्थ—राजकुमार श्रीराम-लक्ष्मणजी उसी अवसर पर आये, मानों मनोहरता से उनके शरीर व्याप्त हैं ॥१॥ वे गुणों के सागर चतुर और श्रेष्ठ वीर हैं, सुन्दर श्याम और गोरे शरीरधारी हैं ॥२॥ राज-सभा में सबसे श्रेष्ठ शोभायमान हैं, मानों तारागणों के बीच में दो पूर्ण चन्द्रमा विराजमान हों ॥३॥

विशेष—(१) 'तेहि अवसर'—सम्पूर्ण सभा के बैठ जाने पर, बड़े लोगों के आने का यही अवसर है कि सभा भर के लोग जानें कि अमुक आये और राजा की ओर से उनका कैसा स्वागत हुआ, आदि। ये अवसर के जानने में बड़े निपुण हैं, यथा—"तेहि अवसर आये दोउ भाई।" (दो० २१४)। शोभा-वर्णन का प्रसंग है। अतः, 'राजकुँअर' नाम दिया। 'आये' और 'छाये' बहुवचन हैं। अतः, दोनों भाइयों के लिये हैं। औरों के शरीर वस्त्राभूषणों से भरे हैं, अर्थात् वे सजने-धजने से सुन्दर हैं और ये राजकुमार सहज ही सुन्दर हैं, अंग-अंग में मनोहरतापूर्ण है, यथा—"निरखि सहज सुंदर दोउ भाई। होहिं सुखी लोचनफल पाई॥" (दो० २१९) अर्थात् नेत्र तृप्त होने से मन भी हर जाता है, तथा—"रंग भूमि आए दसरथ के किसोर हैं।·····सहज सलोने राम लखन ललित नाम·····नख सिख अंगनि ठगौरी ठौर-ठौर हैं।" (गी० बा० ७१)।

(२) 'गुन-सागर नागर बरबीरा'—ये तीनो गुण यहीं पर आगे प्रकट होंगे, यथा—"जिन्हके रही भावना जैसी।"···से—"तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥" तक में गुणसागरता है, वचनों से परशुराम को पराजित करने में नागरता है, यथा—"जयति वचन-रचना अति नागर।" (दो० २८४), और धनुष तोड़ने में लोकोत्तर वीरता है अथवा गुण-सागर से कृपा, दया आदि सात्विक गुण और नागर से व्यावहारिक चातुर्य भी जनाया, यथा—"गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः॥" (वाल्मी० २।१।३२)। पुनः 'बर बीरा' कहने से कठोरता का सन्देह होता। अतः—'सुन्दर स्यामल···' कहा। यह भी जनाया कि दोनों में वर्ण-मात्र का भेद है—एक श्याम और दूसरे गौर, पर और सब गुणों में दोनों ही समान हैं।

(३) 'उड़गन महँ जनु जुग बिधु पूरे।'—यहाँ अभी धनुष रूपी 'तम' की (अँधेरी) रात बनी है। अतः, चन्द्रमा कहा, क्योंकि रात में चन्द्रमा के साथ तारा-गण शोभा पाते हैं, वैसे अभी राजा लोग भी सोहते हैं। आगे जब धनुष टूटने का समय आवेगा, तब श्रीरामजी को 'बाल पतंग' कहेंगे—"उदित उदय गिरि मंच···" (दो० २५४)। उस समय राजा लोग हारकर अत्यन्त फीके पड़ जायँगे, यथा—"देखियत भूपभोर के से उड़गन गरत गरीब गलानि हैं।" (गी० बा० ७८)। पूर्व—'रवि निज उदय ब्याज···' पर तो उदय की बात कही गई है, उसका कार्य तो आगे धनुर्भंग ही पर है। अतः, अभी चन्द्रमा ही कहना योग्य है।

जिन्हके रही भावना जैसी। प्रभुमूरति देखी तिन्ह तैसी ॥४॥
देखहिं भूप महा रनधीरा। मनहुँ बीररस धरे सरीरा ॥५॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी ॥६॥
रहे असुर छल छोनिप-बेखा। तिन्ह प्रभु प्रकट कालसम देखा ॥७॥
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन-सुख-दाई ॥८॥

दोहा—नारि बिलोकहिं हरषि हिय, निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप ॥२४१॥

अर्थ—जिनके (हृदय में) जैसी भावना थी, उन्होंने प्रभु श्रीरामजी की वैसी ही मूर्त्ति देखी ॥४॥ राजा लोग इन्हें महारणधीर देखते हैं, मानों वीर-रस ने ही शरीर धारण किया है ॥५॥ कुटिल राजा प्रभु को देखकर डर गये, मानों भारी भयावनी मूर्त्ति (उनके सम्मुख) है ॥६॥ जो असुर (दैत्य) लोग छल से राजा के वेष में थे, उन्होंने प्रभु को प्रत्यक्ष काल के समान देखा ॥७॥ नगरवासियों ने दोनों भाइयों को मनुष्यों में भूषण रूप और आँखों को सुख देनेवाले देखा ॥८॥ स्त्रियाँ हृदय में हर्षित होकर अपनी-अपनी रुचि के अनुसार श्रीरामजी को देखती हैं, मानों शृंगार-रस परम अनुपम मूर्त्ति धारण करके सोहता है ॥२४१॥

विशेष—(१) 'जिन्हके रही भावना···'—'यादृशी भावना यस्य' अर्थात् भगवान् लोगों के ध्यान के अनुसार दीखते हैं, यथा—"तुलसी प्रभु-सुभाव सुरतरु सम ज्यों दर्पन मुखकान्ति।" (वि० २३३), "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥" (गी० ४।११), तथा—"मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादि-भिर्युता। रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युतः॥" यह स्मृति है। इसीका प्रसंग यहाँ चरितार्थ है। सामान्यतया श्रीरामजी राजकुमार-रूप में ही हैं, उसीमें अनेक प्रकार देख पड़े।

(२) 'देखहिं भूप महा रनधीरा···'—मंच के क्रम से राजा लोग आगे हैं, ये सब धनुष तोड़ने आये हैं। अतः, वीर और रणधीर हैं, यथा—"बिपुल बीर आये रनधीरा।" (दो० २५०)। इसलिये प्रभु इन्हें वीर और रणधीर के रूप में देख पड़े। यहाँ वीर-रस का ध्यान है और वीर-रस प्रधान है, इसलिये इसीसे वर्णन आरम्भ हुआ। आगत राजाओं को निश्चय हो रहा है कि ये ही धनुष तोड़ेंगे। इसीसे आगे शीघ्र ही उठाने को दौड़ेंगे कि प्रथम ही हम तोड़ डालें।

(३) 'डरे कुटिल नृप···'—श्रीरामजी कुटिल राजाओं को भयंकर रूप में देख पड़े, यथा—"अपभय कुटिल महीप डेराने। जहँ-तहँ कायर गवहिं पराने॥" (दो० २८४)। ईश्वर-इच्छा में बँधे हैं, नहीं तो भाग जाते। 'प्रभुहिं—ये लोग स्वयं भी प्रभुतावाले हैं, यथा—"लेहु छुड़ाइ सीय कह कोऊ।" (दो० २६५), परन्तु श्रीरामजी तो इनसे भी 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं। 'भारी'—छोटा रूप भयानक भी हो तो विशेष भय नहीं होता। अतः, भारी देख पड़े। यहाँ भयानक रस है।

(४) 'रहे असुर छल···'—कपट वेष में देवता और असुर दोनों हैं, यथा—"देव दनुज धरि मनुज-सरीरा।" (दो० २५०)। उनमें जो असुर थे, उन्हें काल-रूप देख पड़े। 'प्रगट' अर्थात् काल मूर्त्तिमान् नहीं है, पर उन्हें प्रत्यक्ष देख पड़ा। यहाँ रौद्र रस है। (यहाँ तक प्रथम मंच के राजा लोग हुए)।

(५) 'पुरबासिन्ह देखे···'—पुरवासियों का भाव शृंगार रस का ही है, यह नगर-दर्शन में कहा गया है, यथा—"जिन्ह निज रूप-मोहनी डारी। कीन्हे स्वबस नगर-नर-नारी॥" (दो० २२८)। उसीको यहाँ—'नर-भूषन-लोचन सुखदाई।' कहकर जनाया है। यहाँ शृंगार रस की कली है, अगले दोहे में उसका विकास है। यहाँ दोनों भाई का देखना कहा गया है, क्योंकि इनकी दृष्टि में जो भाव है, उसमें श्रीरामजी के भाई के साथ भी वैसा ही भाव रहेगा।

(६) 'नारि बिलोकहिं हरषि···'—इन नारियों का श्रीजानकीजी से जैसा नाता है, उसीके अनुसार ये अपना नाता जोड़ती हैं। सबके हृदय में यही है कि ये श्रीसीताजी के स्वामी हों।

इनमें मुग्धा (वह नायिका जिसमें संकोच का भाव अधिक हो) शृंगार-मूर्त्ति, मध्या (वह नायिका जिसमें संकोच और काम दोनों समान हों।) परम शृंगार-मूर्त्ति और प्रौढ़ा (वह नायिका जिसमें संकोच कम हो।) परम अनूप शृंगार-मूर्त्ति देखती हैं।

बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा। बहु-मुख-कर-पग-लोचन-सीसा॥१॥
जनक जाति अवलोकहिं कैसे। सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे॥२॥

सहित बिदेह बिलोकहिं रानी । सिसु-सम प्रीति न जाइ बखानी ॥३॥
जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा । सांत-सुद्ध-सम सहज प्रकासा ॥४॥
हरिभगतन्ह देखे दोउ भ्राता । इष्टदेव इव सब सुखदाता ॥५॥

अर्थ—पण्डितों ने प्रभु को विराट् स्वरूप में देखा, जिसमें मुख, हाथ, पैर, नेत्र और सिर बहुत थे ॥१॥ राजा जनक के जाति-वर्ग (कुटुम्बी) श्रीरामजी को किस भाव से देखते हैं, जैसे सगे सजन (प्रियतम वा स्व-जन) प्यारे लगते हैं ॥२॥ जनकजी के साथ उनकी रानियाँ इन्हें बालक के समान देखती हैं, इनकी प्रीति कही नहीं जा सकती ॥३॥ योगियों को ये शान्त, शुद्ध, सम (एकरस), स्वाभाविक प्रकाशरूप और परम तत्त्वमय अनुभूत हुए ॥४॥ हरिभक्तों ने इन दोनों भाइयों को सारे सुखों को देनेवाले अपने इष्टदेव के समान देखा ॥५॥

विशेष—(१) 'विदुषन्ह प्रभु बिराटमय····'—विदुष (पण्डित) वेदों के ज्ञाता होते हैं। वेदों में प्रभु का विराट रूप कहा गया है, यथा—"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। सभूमिं विश्वतो वृत्वा त्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥····सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरो मुखम् ।····" (श्वे० ६।१४–१५)। इस सिर-मुख आदि के वर्णन में क्रम नहीं है, क्योंकि मुख, कर, पग कह कर फिर नेत्र और सिर कहा है, इसका कारण ऊपर के श्रुति-प्रमाण में स्पष्ट है कि जब सभी तरफ आँख-पग आदि हैं, तब क्रम कहाँ ? पग में भी नेत्र-सिर होंगे। यहाँ वीभत्स रस है।

(२) 'जनक जाति अवलोकहिं····'—'सजन सगे' अर्थात् सगे सम्बन्धी नातेदार जैसे प्रिय लगें। इसमें हास्य-रस एवं सख्य-रस है।

(३) 'सहित बिदेह बिलोकहिं रानी ।····'—शिशु पर माता का विशेष वात्सल्य रहता है, इसलिये यहाँ रानियों की प्रधानता कही गई है। 'सिसु-सम' अर्थात् बालक के समान। अतः, जामाता की प्रीति है। यहाँ करुणा और वात्सल्य-रस है। बच्चे के प्रति माँ-बाप में तरह-तरह के प्यार के भाव जाग्रत् होते हैं। इसीसे 'नहिं जाइ बखानी' कहा है।

जनक-जाति से राजा-रानी की और उनसे श्रीजानकीजी की अधिक प्रीति है, वैसे क्रमशः अधिक शब्द रक्खे गये हैं, यथा—'प्रिय लागहिं', 'प्रीति न जाइ बखानी' और 'सो सनेह सुख नहिं कथनीया'।

(४) 'जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा'—और रसों में देखना कहा गया है। यहाँ 'भासा' पद है, क्योंकि परम तत्त्व का अनुभव होता है, वह देखने की वस्तु नहीं है, यथा—"ब्रह्म-सुखहिं अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा ॥" (दो० २१)। शान्त—"बैठे सोह कामरिपु कैसे। धरे सरीर सांत रस जैसे ॥" (दो० १०६), शुद्ध अर्थात् विकाररहित। सम=भेद-रहित। सहज प्रकाश, यथा—"सहज प्रकासरूप भगवाना।" (दो० ११५)। यहाँ शान्त रस है।

(५) 'हरिभगतन्ह देखे····'—भक्तों के प्रसंग में दोनों भाइयों का देखना कहा है, क्योंकि भक्त लोग परिकर-सहित भगवान् का ध्यान करते हैं। हरि शब्द विष्णु, श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि सब रूपों का बोधक है। अतः, सब रूपों के भक्त इन दोनों भाइयों को अपने ही इष्ट के रूप में देखते हैं। इससे जनाया कि सब हरिरूप एक ही हैं और सब भक्तों के इष्ट हम ही हैं। 'इव' अपने ही इष्टदेव की तरह, यहाँ जो जिस रूप के उपासक हैं, उन्हें अपने ही इष्टदेव के रूप में देख पड़े। अतः, अद्भुत रस है। पुनः भक्त एवं उनके सुख देने के सम्बन्ध से दास-रस भी है। यहाँ तक १२ प्रकार के रस कहे गये हैं। वर्त्तमान काल के साहित्यिक कवि साहित्य के नौ रसों के साथ सख्य, वात्सल्य और दास्य रसों का भी वर्णन करते हैं जो पहले शृंगार के ही अन्तर्गत माने जाते थे। ('रसकलस' देखिये)

रामहिं चितव भाव जेहि सीया । सो सनेह सुख नहिं कथनीया ॥६॥

उर अनुभवति न कहि सक सोऊ । कवन प्रकार कहइ कवि कोऊ ॥७॥
जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ । तेहि तस देखेउ कोसलराऊ ॥८॥

दोहा—राजत राजसमाज महँ, कोसल - राज-किसोर ।
सुंदर-स्यामल-गौर-तनु, बिस्व-बिलोचन-चोर ॥२४२॥

अर्थ—श्रीसीताजी जिस भाव से श्रीरामजी को देखती हैं, वह स्नेह-सुख अकथ्य है ॥६॥ वे (उस स्नेह-सुख का) हृदय में ही अनुभव कर रही हैं, पर स्वयं भी नहीं कह सकतीं, फिर कोई भी कवि किस प्रकार कह सकेगा ? ॥७॥ जिस प्रकार से जिसके हृदय में जैसा भाव था, उसने कोशलराय श्रीरामजी को वैसा ही देखा ॥८॥ सुन्दर श्याम और गौर शरीरवाले, किशोर अवस्थावाले और संसार भर के नेत्रों के चुरानेवाले कोशलपुर के राजा के पुत्र श्रीराम-लक्ष्मण जी राजसभा में विराजमान हैं ॥२४२॥

विशेष—(१) 'रामहिं चितव भाव जेहि सीया ।···'—सपरिवार राजा जनक के वर्णन के साथ ही श्रीजानकीजी को कहना था, पर बीच में योगियों और हरिभक्तों को क्यों कहा ? इसका उत्तर यह है कि यहाँ सब रसों की झाँकी कही जा रही है, उनमें श्रीजानकीजी पृथक् हैं । इनका भाव अकथ्य है, कोई एक स्थिति अवश्य है, पर वे हृदय में ही उसका अनुभव कर रही हैं । बिना जनाये कवि नहीं कह सकते अर्थात् वह इन्हीं के भोगने योग्य है—कहने के योग्य नहीं । कवि जो कुछ अक्षर और अर्थ पावें, तो उसका विस्तार करें । इसलिये इन्हें सबके पीछे कहा है । पुनः यह भी भाव है कि राजा जनक योगी और हरिभक्त भी हैं । अतः, योगी और हरिभक्त जनकजी को अपने परिवार के समान प्रिय हैं, इसलिये ये दोनों बीच में रक्खे गये हैं । यहाँ एक ही को भिन्न-भिन्न रूपों से देखने में 'उल्लेख अलंकार' का पहला भेद है ।

(२) 'जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ···'—भगवान् को जो जैसे भजता है, उसे वे वैसे ही मिलते हैं, यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।" (गी० ४।११) । इसके उपक्रम में कहा है—'जिन्हके रही भावना जैसी । प्रभु-मूरति ··' । वहाँ 'भावना' के सम्बन्ध से 'मूरति' स्त्रीलिंग कथित है और यहाँ उपसंहार के—'जेहि बिधि···' में 'भाऊ' के सम्बन्ध से 'कोसलराऊ' पुँल्लिग का प्रयोग हुआ है । उपक्रम में ऐश्वर्य कहते हुए, 'प्रभु' पद दिया, फिर उसे ही माधुर्य में मिलाते हुए उपसंहार में 'कोसलराऊ' कहा है । श्रीमद्भागवत में भी बलरामजी के साथ श्रीकृष्ण के कंस की सभा में जाने पर वहाँ के लोगों ने इसी प्रकार अपनी-अपनी रुचि के अनुसार ही इन्हें देखा है, यथा—"मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः । मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां, वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ॥" (१०।४३।१७), तथा—"त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम् । यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥" (भाग० ३।९।११), अर्थात् हे नाथ ! जिनका मार्ग केवल गुण श्रवण से ही जाना जाता है, ऐसे आप निश्चय ही मनुष्यों के भक्तिभाव से पूर्ण हृदय-कमल में निवास करते हैं । हे पुण्यश्लोक ! आपके भक्त लोग जिस-जिस भावना से आपका चिन्तन करते हैं, उन साधुओं पर अनुग्रह कर आप वही-वही रूप धरते हैं ।

यहाँ श्रीजानकीजी अभी नहीं आईं, पर उनका देखना प्रसंग के योग में प्रथम ही कह दिया है, जब आवेंगी, तब उनका यह दृश्य होगा ।

(३) 'राजत राजसमाज महँ···'—इसका उपक्रम—"राज समाज बिराजत रूरे ।" (दो० २४०) में है और यहाँ—"राजत राज-समाज महँ" पर उपसंहार है । पुनः—"सुंदर स्यामल गौर सरीरा"

(दो० २४०), उपक्रम है और यहाँ—"सुंदर स्यामल गौर तनु" उपसंहार है। उपक्रम में कहा गया है—"राजकुँअर तेहि अवसर आये।" (दो० २४०)। यहाँ उपसंहार में बतलाया कि वे राजकुँअर—"कोसलराजकिसोर" हैं।

'बिस्वबिलोचन चोर'—यहाँ चोर-विद्या का उत्कृष्ट रूप वर्णित है। चोर की सबसे बड़ाई यह है जब वह आँख का काजल चुरा ले। ये उससे भी बढ़कर हैं कि संसार की आँखों को ही चुरा लेते हैं। चोर रात में भी छिपकर और राजकर्मचारियों से डरता हुआ चोरी करता है और ये राज-समाज में ही दिन-दहाड़े निडर रूप से विश्व (संसार) की आँखों को ही चुरा लेते हैं, जिनसे देखकर चोर पकड़ा जाता है। अब कौन देखे और कौन पकड़े ?

पूर्वोक्त—"लोचनसुखद बिस्वचितचोरा" (दो० २१४) भी देखिये। यह भी भाव है कि आँखों का स्वरूप स्याम और गौर (श्वेत) है, ये दोनों कुमार भी श्याम-गौर हैं। विशेष ज्योति सामान्य को अपने में खींच लेती है। अतः, इनके प्रकाशित स्वरूप से सबकी दृष्टि इनकी ओर खिंच गई। पूर्व यह भी कहा गया कि इनकी श्यामता का किंचित् अंश ही नेत्रों में पुतली के रूप से प्रकाशक है।

सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि-काम-उपमा लघु सोऊ ॥१॥
सरद-चंद-निंदक मुख नीके। नीरज नयन भावते जी के ॥२॥
चितवनि चारु मार-मन-हरनी। भावति हृदय जाति नहिं बरनी ॥३॥
कल कपोल श्रुति कुंडल लोला। चिबुक अधर सुंदर मृदु बोला ॥४॥

अर्थ—दोनों मूर्त्तियाँ स्वाभाविक ही (बिना सजेधजे) मनोहर हैं। (यदि इन्हें) करोड़ों कामदेवों की उपमा दी जाय, तो वह भी थोड़ी है ॥१॥ इनके मुख शरद् ऋतु के चन्द्रमा की अच्छी तरह निन्दा करनेवाले हैं और कमल के समान नेत्र जी को प्यारे लगनेवाले हैं वे शरद् ऋतु के कमल की निन्दा करनेवाले हैं ॥२॥ इनकी सुन्दर चितवनि काम के मन को हरनेवाली है जो हृदय को भाती (सुहाती) है, पर उसका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥३॥ सुन्दर कपोल हैं और कानों पर कुंडल हिल रहे हैं। ठोढ़ी और ओठ सुन्दर हैं, बोली कोमल है ॥४॥

विशेष—(१) 'सहज मनोहर मूरति·····'—ऊपर ऐश्वर्य रूप के दर्शन का वर्णन हुआ, यहाँ से माधुर्य रूप का वर्णन करते हैं—सब राजा सज-धजकर आये हैं, ये दोनों कुँवर साधारण ही आये हैं। दो० २४० चौ० १ भी देखिये। यहाँ 'चतुर्थ प्रतीप-अलंकार' है।

(२) 'सरद-चंद-निंदक मुख·····'—'नीके' शब्द दीप-देहली है। 'सरद' और 'निंदक'—इन दोनो शब्दों का क्रमान्वय 'नीरज' के साथ भी होना चाहिये। इस चन्द्रमा में यह निकाई (सौष्ठव) है कि मुखचन्द्र ने नेत्र-कमल को प्रफुल्ल रूप से अपने में बसा रक्खा है। इससे भी इसने शरद्-चन्द्र को लज्जित किया है। मुख-चन्द्र में भी विकसित रह सकने से नेत्र-कमल ने शरत्कालीन कमल को पराजित कर दिया है। उपमाओं के निन्दित होने पर कवि के भाव ही रह जाते हैं।

(३) 'चितवनि चारु मार-मन·····'—काम सबके मन को हर लेता है, राजकिशोर चारु अर्थात् सीधी (तिरछी नहीं) चितवन से ही काम के भी मन को हर लेते हैं। प्रथम नेत्रों की चोरी कही थी, अब मन का चुराना भी कहा, क्योंकि जहाँ नेत्र हर जाता है, वहाँ मन भी बिक जाता है, यथा—"लगे संग लोचन मन लोभा।" (दो० २१८) इसका विशेष देखिये।

'भावति हृदय जाति···'—जब हृदय ही हरा गया (आसक्त हो गया) तब कैसे कहा जाय ?

(४) 'सुंदर मृदु बोला'—यथा—"भाई सों करत बात कौसिकहिं सकुचात बोल घन-घोर से बोलत थोर-थोर हैं। सन्मुख सबहिं बिलोकत सबहिं नीके कृपा सों हेरत हँसि तुलसी की ओर हैं॥" (गी० बा० ७१),

अर्थात् विश्वामित्र के दोनों ओर दोनों कुमार बैठे हैं। मुनि के संकोच से थोड़ा-थोड़ा बोलते हैं, बोलने में कभी थोड़ी हँसी भी आ जाती है, उसीको आगे कहते हैं—'कुमुद-बंधु-कर-निंदक हासा।' तथा—"हृदय अनुग्रह-इंदु प्रकासा। सूचति किरन मनोहर हासा॥" (दो० १९७)।

कुमुद - बंधु - कर-निंदक हासा। भृकुटी बिकट मनोहर नासा॥५॥
भाल बिसाल तिलक झलकाहीं। कच बिलोकि अलि-अवलि लजाहीं॥६॥
पीत चौतनी सिरन्ह सुहाई। कुसुम-कली बिच बीच बनाई॥७॥
रेखें रुचिर कंबु कलग्रीवा। जनु त्रिभुवन सुषमा की सींवा॥८॥

दोहा—कुंजर-मनि-कंठा कलित, उरन्हि तुलसिका-माल।
बृषभकंध केहरिठवनि, बलनिधि बाहु बिसाल॥२४३॥

अर्थ—हँसी चन्द्र-किरण की निन्दा करनेवाली है। भौहें टेढ़ी हैं और नासिका मनोहर है॥५॥ इनके ऊँचे चौड़े ललाट पर तिलक झलक रहे हैं। सिर के केशों को देखकर भ्रमरों की पंक्तियाँ लज्जित होती हैं॥६॥ सिरों पर पीली चौगसी टोपियाँ सुहावनी लगती हैं जिनके बीच-बीच में फूलों की कलियाँ बनाई (काढ़ी) हुई हैं॥७॥ शंख के समान सुन्दर कण्ठ में सुन्दर (तीन) रेखाएँ पड़ी हुई हैं, वे मानों तीनो लोकों की परम शोभा की पराकाष्ठा हैं॥८॥ गजमुक्ताओं का कलित (सुन्दर वा विचित्र रीति से गाँथा हुआ) कंठा (गले में), और हृदय पर तुलसी (के दल और मंजरी) की माला है। बैलों के-से (उन्नत, चौड़े एवं पुष्ट) कन्धे, सिंह की सी ठवनि (अकड़ = मुद्रा) और बल के निधान लम्बी भुजाएँ (आजानुबाहु) हैं॥२४३॥

विशेष—(१) 'मनोहर नासा'—क्योंकि नाक अश्विनीकुमार का रूप है, यथा—"जासु घ्रान अस्विनीकुमारा।" (लं० दो० १४) और अश्विनीकुमार बड़े सुन्दर हैं, यथा—"अश्विनाविव रूपेण।" (वाल्मी० १।५०।१८)।

(२) 'कच बिलोकि अलि··· ···'—राजकुमारों के सिरों के बाल कन्धे तक लटके हुए हैं। बाल-समूह हैं। इसलिये भ्रमरों की पंक्ति की उपमा दी, इससे बालों की श्यामता और चमक जनाई है।

(३) 'पीत चौतनी'—चौतनी टोपी के आकार का ताज है, क्योंकि उसमें कुसुम-कली के समान लाल रंग का कसीदा भी कहा गया है। यहाँ राजाओं के बीच में चक्रवर्त्ति-कुमार के सिरों पर टोपी मात्र से शोभा नहीं है।

(४) 'रेखें रुचिर कंबु कल ·····'—शंख में तीन रेखाएँ होती हैं। उसीको उत्तरार्द्ध के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं कि तीनो लोकों की परम शोभा एक-एक रेखा के भीतर पड़ी है अर्थात् इससे अधिक शोभा तीनों लोकों में नहीं है। यहाँ आगे कंठ के भूषण भी कहते हैं।

(५) 'कुंजर-मनि-कंठा·····'—कंठा राजचिह्न है और तुलसी की माला ऋषि के शिष्य होने के चिह्न हैं। इन्हीं चिह्नों से राजा जनक ने दो प्रकार के प्रश्न किये थे, यथा—"मुनि-कुल-तिलक कि नृप-कुल-पालक।" (दो० २१५)। इसमें वर्त्तमान में मुनि के निकट होने से मुनि-कुल की कल्पना प्रथम हुई। 'उरन्हि तुलसिका-माल' यथा—"कबु कंठ उर बिसाल तुलसिका नवीन माल, मधुकर बर बास बिबस उपमा सुनु सो री। जनु कलिंदजा सुनील सैल तें धँसी समीप, कंद बृंद बरषत मधुर घोरि घोरी॥" (गी० उ० ७), तथा—"उरसि तरुन तुलसिमाल,···जनु कलिंदनंदनि···" (गी० उ० ४)। 'केहरि ठवनि' यथा—"ठाढ़ भये उठि सहज सुहाये। ठवनि जुवा मृगराज लजाये॥" (दो० २५३), अर्थात् सिंह की अकड़

निःशंकता को सूचित करती है। 'बलनिधि बाहु·····'—'निधि' समुद्र का भी वाचक है। आगे इन्हीं बाहुओं को सागर कहेंगे, यथा—"संकर-चाप जहाज, सागर रघुबर-बाहु-बल। बूड़ सो सकल समाज···" (दो० १६१)। अतः, अभी से वैसा ही रूपक बाँध रहे हैं।

कटि तूनीर पीतपट बाँधे। कर सर धनुष बाम बर काँधे ॥१॥
पीत - जज्ञ - उपवीत सुहाये। नखसिख मंजु महा छबि छाये ॥२॥
देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे ॥३॥
हरषे जनक देखि दोउ भाई। मुनि - पद - कमल गहे तब जाई ॥४॥
करि बिनती निज कथा सुनाई। रंग - अवनि सब मुनिहिं देखाई ॥५॥

अर्थ—कमर में तरकश हैं, उन्हें पीताम्बर में बाँध रक्खा है। (दाहिने) हाथ में बाण और श्रेष्ठ बाँयें कन्धे पर धनुष है ॥१॥ पीले यज्ञोपवीत सुहावने लगते हैं। इनके नख से चोटी तक सभी अंग सुन्दर हैं, उनपर महा शोभा छाई हुई है ॥२॥ देखकर सबलोग सुखी हुए, उनके नेत्र एकटक-से लग गये, तारे (आँखों की पुतलियाँ) नहीं चलते, अचल हो रहे हैं ॥३॥ दोनों भाइयों को देखकर राजा जनक प्रसन्न हुए। तब उन्होंने मुनि विश्वामित्रजी के चरण-कमलों को जा पकड़ा ॥४॥ स्तुति करके अपनी कथा सुनाई और मुनि को सारी रंग-भूमि दिखाई ॥५॥

विशेष—(१) 'कटि तूनीर पीतपट·····'—पूर्व कहा गया था—"पीत बसन परिकर कटि भाथा।" (दो० २१८), और यहाँ—"कटि तूनीर·····" अर्थात् वहाँ पीतपट को पहले और तरकश को पीछे लिखा था। यहाँ उसके विपरीत है। इसका कारण यह है कि वहाँ नगर-दर्शन के समय का शृंगार था। अतः, तरकश पीताम्बर में ढके हुए थे, इससे प्रथम 'पीत बसन' ही कहा गया। यहाँ राज-समाज है। अतः, वीरों में वीर-बाना धारण किये हुए हैं, इससे तरकश ऊपर दिखाई देते हैं। सब साज पीत ही हैं। पीत पट, पीत चौतनी, पीत यज्ञोपवीत आदि से वीर का केसरिया बाना सूचित है। इसीसे कटि तक का ही वर्णन हुआ। और अंगों की शोभा 'नख-सिख मंजु···' कहकर जना दी, जिससे यह न समझा जाय कि और अंग सुन्दर नहीं हैं।

(२) 'देखि लोग सब भये सुखारे।'—**शंका**—पूर्व कहा गया कि श्रीरामजी किसीको काल-रूप और किसीको भयानक-रूप में देख पड़े और यहाँ सबका सुखी होना कहा गया। यह क्यों?

समाधान—"सहज मनोहर मूरति दोऊ।" (दो० २४२) से यहाँ तक का जिनका ध्यान है, उन्हीं सब लोगों का सुखी होना जानना चाहिये, सारी रंगभूमि का नहीं।

(३) 'नख-सिख मंजु·····'—यह उपसंहार है और इसका उपक्रम—"मनहुँ मनोहरता तनु छाये।" (दो० २४०) में है।

(४) 'हरषे जनक देखि ···'—'देखि'—राजा जनक ने इनके अलौकिक तेज-प्रताप-रूप देखकर जाना कि ये बल से भी पूर्ण हैं। अतः, हमारा प्रण पूरा होगा, यथा—"तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ॥" (जानकी मं० ६६)। इसीसे आनन्दित हुए। मुनि की कृपा से ही इनके दर्शन हुए हैं। अतः, कृतज्ञता से मुनि के चरण पकड़ लिये। पुनः मुनि और ब्राह्मण को देखकर प्रणाम करना धर्म-नीति तो है ही।

(५) 'निज कथा सुनाई'—वाल्मीकीय बा० स० ६६ में इसी प्रसंग पर राजा जनक ने विश्वामित्रजी से कहा है कि राजा निमि के ज्येष्ठ पुत्र देवरात हुए। उन्हींको यह धनुष थाती-रूप में मिला था। दक्ष-यज्ञ-नाश के समय महादेव ने इस धनुष को चढ़ाया था। यज्ञ-नाश के पीछे अपने भाग-हरण के कारण

उन्होंने इसीसे देवताओं के भी सिरों को काटना चाहा था, तब देवताओं ने प्रसन्न किया। फिर प्रसन्न होकर शिवजी ने राजा देवरात को यह धनुष दे दिया। मैं (जनक) एक समय हल से खेत खोद रहा था। हल की नोक (सीता) से टकराकर एक कन्या निकली। इसीसे वह 'सीता' नाम से प्रसिद्ध हुई। इस अयोनिजा कन्या का शुल्क (वर-पक्ष से कन्या-पक्ष को मिलनेवाला द्रव्य) मैंने पराक्रम रक्खा है। अनेक राजाओं ने इस कन्या को माँगा, पर किसीने उक्त धनुष को नहीं चढ़ाया। अतः, मैंने नहीं दिया। अन्त में उन्होंने क्रोध से लड़कर कन्या को छीन लेना चाहा। एक वर्ष तक युद्ध हुआ। तब मैंने देवताओं से सहायता लेकर सबको परास्त किया।

फिर सर्ग ७५ में परशुरामजी ने भी इस पिनाक धनुष की कथा श्रीरामजी से कही है कि विश्वकर्मा के बनाये हुए दो धनुष थे। एक तो वह था जिससे महादेवजी ने त्रिपुरों का नाश किया था और जिसे आपने तोड़ डाला। दूसरा यह धनुष है, जो मेरे पास है। इसे भी कोई झुका नहीं सकता। देवताओं ने इसे विष्णु को दिया था। यह भी उक्त शिव-धनुष के समान है। एक समय शिव और विष्णु की पराक्रम-परीक्षा के लिये देवताओं ने ब्रह्माजी से कहा। उन्होंने (नारद-द्वारा) दोनों में विरोध करवाकर लड़ा दिया। तब शिव-विष्णु में रोमांचकारी युद्ध हुआ। शिवजी का महापराक्रमी धनुष ढीला पड़ गया और विष्णु भगवान् के हुंकार से शिवजी स्तम्भित हो गये। तब देवता, ऋषि आदि ने आकर दोनों को शान्त करने की चेष्टा की। दोनों शान्त होकर अपने-अपने स्थान को गये···।···सब ने विष्णु को अधिक माना। फिर शिवजी ने क्रुद्ध होकर वह धनुष (पिनाक) उक्त देवरात राजा को दे दिया और दूसरा धनुष विष्णु ने भृगु के पुत्र ऋचीक को दिया, फिर उनके पुत्र जमदग्नि के पास रहा,···उनसे मुझे (परशुराम) को मिला।

श्रीगोस्वामीजी भी यही कहते हैं, यथा—"सोइ पुरारि-कोदंड कठोरा।" (दो० २४९), "मयन-मथन, पुर-दहन-गहन जानि, आनि कै सबै को सार धनुष गढ़ायो है। जनक सहस जेते भले भले भूमिपाल किये बलहीन बल अपनो बढ़ायो है॥ कुलिस कठोर कूर्म-पीठ ते कठिन अति···" (क० बा० १०), अर्थात् पिनाक धनुष त्रिपुर दैत्यों के वध के लिये निर्मित हुआ था। (वाल्मीकीय में देवताओं का बनवाना और गोस्वामीजी के उक्त वचन से शिवजी का ही बनवाना मात्र थोड़ा भेद है। यह कल्प-भेद से हो सकता है।)

यह भी कथा है कि त्रिपुरों को मारकर शिवजी ने यह धनुष मिथिला में रख दिया था। एक समय खेल-ही-खेल में श्रीजानकीजी ने सखियों के समक्ष धनुष उठा लिया। यह सुनकर मैं (जनक) ने धनुष तोड़ने की प्रतिज्ञा की। सत्योपाख्यान में यह भी कहा है कि श्रीसीताजी के विवाह की चिन्ता से जनकजी कुश बिछाकर उसपर सो गये। तब शिवजी ने स्वप्न में कहा कि तुम मेरे जिस धनुष की पूजा करते हो, उसे तोड़ने की प्रतिज्ञा करो। जो तोड़े, उसीको कन्या विवाह दो। यह भी सुना जाता है कि शिवजी ने यह भी कहा है, जो इस धनुष को तोड़ेगा वही परात्पर ब्रह्म है। तभी विश्वामित्र आदि ज्ञानी मुनि निमन्त्रण देकर बुलाये गये थे कि सबके सामने ब्रह्म का निर्णय हो जाय, अन्यथा कन्या के स्वयंवर में मुनियों की क्या आवश्यकता थी ? यथा—"जेहि कर कमल कठोर संभु-धनु भंजि जनक संसय मेट्यो।" (वि० १३८)। इसमें ब्रह्मविषयक ही संशय विशेष संगत है, क्योंकि इसके पूर्व ब्रह्म के विषय में जो संशय था वह धनुष टूटने से निवृत्त हुआ और ज्ञानी लोग जनकजी के ही पास संशय मिटाने आते भी थे।

जहँ जहँ जाहिं कुअँरबर दोऊ। तहँ तहँ चकित चितव सब कोऊ॥६॥
निज निज रुख रामहिं सब देखा। कोउ न जान कछु मरम बिसेखा॥७॥
भलि रचना मुनि नृप सन कहेऊ। राजा मुदित महा सुख लहेऊ॥८॥

दोहा—सब मंचन्ह ते मंच एक, सुंदर बिसद बिसाल।
मुनिसमेत दोउ बंधु तहँ, बैठारे महिपाल ॥२४४॥

अर्थ—दोनों सुन्दर श्रेष्ठ कुमार जहाँ-जहाँ जाते हैं, वहाँ-वहाँ सभी लोग चकित होकर देखने लगते हैं ॥६॥ सबने अपनी-अपनी ही ओर मुख किये हुए रामचन्द्रजी को देखा, किसीने भी कुछ विशेष (खास) रहस्य नहीं जान पाया ॥७॥ मुनि विश्वामित्रजी ने राजा जनक से कहा कि यह रचना बहुत अच्छी है, (यह सुनकर) राजा मुदित हुए, उनको महान् आनन्द प्राप्त हुआ ॥८॥ एक मंच सब मंचों में से अधिक सुन्दर, उज्ज्वल और ऊँचा-चौड़ा था, राजा जनकजी ने मुनि के साथ इन दोनों भाइयों को उसपर बैठाया ॥२४४॥

विशेष—(१) 'तहँ तहँ चकित चितव·····—जब दूर थे, तब—'एकटक लोचन चलत न तारे' कहा गया और जब समीप आ जाते हैं तब लोगों को शोभा अच्छी तरह देखने में आती है। फिर वे चकित हो जाते हैं, यथा—"जाइ समीप राम-छबि देखी। रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी॥" (दो० २६६)।

(२) 'निज निज रुख रामहिं'·····—'रुख' (फा०) के अर्थ 'चेहरा, मुख, ओर एवं रुचि' भी होते हैं, यथा—"पति-रुख लखि आयसु अनुसरहू। (दो० ३३३)। 'मरम बिसेषा'—सबको रामजी अपने सामने ही देख पड़े, पीठ किसीकी ओर नहीं है, यह विशेष भेद कोई नहीं जान सका कि इस समय रामजी ने "सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्" (श्वे० ३।१६) की लीला भी की है। एक दूसरे की बात तक नहीं पूछते कि लोग पागल कहेंगे।

(३) 'भलि रचना मुनि····।'—सब देख चुके तब मुनि ने 'भलि' कहा कि जिससे सम्पूर्ण रचना की प्रशंसा हो जाय, बीच में जिसके प्रति बोलते, उसीकी बड़ाई और शेष की न्यूनता समझी जाती। 'मुदित महा सुख'—मुदित से भीतरी आनन्द और महा सुख से बाहरी आनन्द की चेष्टा—पुलक आदि जनाई। मुनि ने राजा त्रिशंकु के लिये दूसरा स्वर्ग ही रच दिया, तो जब इन्होंने इस रचना की प्रशंसा की, तब अवश्य हमारा श्रम सफल हुआ। इनकी प्रसन्नता से प्रतिज्ञा-पूर्त्ति की आशा हुई, क्योंकि ये त्रिकालज्ञ एवं महान् समर्थ हैं।

(४) 'सब मंचन्ह ते मंच···'—सबसे ऊँचे बैठाने के कई कारण हैं—(क) ये चक्रवर्त्ति-कुमार हैं। इनके (निमि) वंश की मूल गद्दी के हैं। (ख) ये 'मुनि समेत' हैं। (ग) मुनि इनके सहायक हैं तो निश्चय इनसे प्रतिज्ञा पूरी होगी, यथा—"तीनि काल कर ज्ञान कौसिकहिं करतल। सो कि स्वयंवर आनहिं बालक बिनु बल॥" (जानकी मंगल ८६)। (सम्भवतः) यह सिंहासन विजयी राजा के लिये बना था। मुनि के गौरव से प्रथम ही श्रीरामजी को उसपर बैठाया। 'मुनि समेत'—मुनि को गौण कहा है, क्योंकि यहाँ राजकुमार की ही प्रधानता है। दो० २३६ चौ० ४ भी देखिये। औरों को शुचि सेवकों एवं मन्त्री आदि ने बैठाया, इन्हें स्वयं 'महिपाल' ने। यह अधिक आदर हुआ। बैठने का प्रकार—"भूपति किसोर दुहूँ ओर बीच मुनिराउ, देखिवे को दाउँ, देखो देखिवो बिहाइ कै। उदय-सैल सोहैं सुंदर कुँवर जोहैं मानों भानु भोर भूरि किरन छिपाइ कै॥" (गीता बा० ८२)।

प्रभुहि देखि सब नृप हिय हारे। जनु राकेस उदय भये तारे ॥१॥
असि प्रतीति सब के मन माहीं। राम चाप तोरब सक नाहीं ॥२॥
बिनु भंजेहु भवधनुष बिसाला। मेलिहि सीय राम-उर माला ॥३॥
अस बिचारि गवनहु घर भाई। जस प्रताप बल तेज गँवाई ॥४॥

शब्दार्थ—राकेस = पूर्ण चन्द्रमा । सक (शक फा०) = सन्देह । भव = शिवजी ।

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी को देखकर सब राजा लोग हृदय से हार गये, जैसे पूर्ण चन्द्रमा के उदय होने पर तारे (प्रकाशहीन = फीके हो जाते हैं) ॥१॥ सबके मन में ऐसा विश्वास है कि श्रीरामजी धनुष को तोड़ेंगे, इसमें सन्देह नहीं ॥२॥ शिवजी के बड़े भारी धनुष के तोड़े बिना भी श्रीसीताजी श्रीरामजी के गले में जयमाला पहनावेंगी ॥३॥ ऐसा विचारकर, हे भाइयो ! यश, प्रताप, बल और तेज खोकर अपने-अपने घर को चल दो ॥४॥

विशेष—(१) 'प्रभुहिं देखि सब···'—यहाँ पूर्व के—"देखहिं भूप महा रनधीरा ।" (दो० २४०) से प्रसंग मिलाते हैं । वहाँ जो 'देखहिं भूप ···' कहा था, उसका परिणाम यहाँ कहते हैं कि वे सब हृदय से हार गये । पुनः वहाँ—"उडुगन महँ जनु जुग बिधु पूरे ।" कहा था, उसका ही यहाँ—"जनु राकेस उदय भये तारे ।" से उपसंहार किया ।

(२) 'असि प्रतीति सबके···'—ऊपर 'जनु राकेस···' कहा गया है, उससे इनका तेज देखकर विश्वास हुआ, यथा—"तेजवंत लघु गनिय न रानी ।" से—"सखी-बचन सुनि भइ परतीती ।" (दो० २५५-५६) तक । 'सबके'—यह राजाओं के लिये ही है, जो हृदय से हारे हुए कहे गये हैं । सुनयना आदि को श्रीरामजी के प्रति सन्देह होगा, फिर प्रतीति भी होगी । 'सक नाही'—तेजस्वी होने से बल भी जाना, इससे धनुष तोड़ने का निश्चय हुआ ।

(३) 'बिनु भंजेहु भव···'—ऊपर जहाँ श्रीरामजी का धनुष तोड़ना कहा, वहाँ बहुत छोटे 'चाप' शब्द का प्रयोग है, अर्थात् अल्प है, इससे टूट जायगा । पुनः जब 'बिनुभंजेहु···' कहा, तब बड़ा नाम—'भव-धनुष बिसाला' कह दिया कि यह शिवजी का धनुष बड़ा भारी है, सम्भवतः न टूटे । यह शब्द-प्रयोग की सँभाल है ।

(४) 'जस प्रताप बल तेज गँवाई ।'—इस समय श्रीरामजी के ही यश आदि प्रधान हैं । यह निश्चय राजाओं के ऊपर 'प्रभुहिं देखि···' में ही किया । 'प्रभुहिं' में सामर्थ्य (बल), 'हिय हारे' में प्रताप, 'जनु राकेस' में तेज और यश के भाव हैं । इनके आगे हमलोगों के यश-प्रताप आदि नहीं रह गये । भाव यह है कि यहाँ धनुभंग करके यश आदि बढ़ाने आये थे, वे रहे-सहे नाम भी इनके आगे नहीं रहे ।

अथवा यह भी भाव हो सकता है कि अभी चल देने से यश आदि बने हैं, धनुष के टूटने पर 'गँवाई' अर्थात् चले जायँगे, अभी तो कहने के लिये है भी कि जब श्रीरामजी ने धनुष तोड़ा तब हम तो थे ही नहीं, यथा—"बल प्रताप बीरता बड़ाई । नाक पिनाकहि संग सिधाई ॥" (दो० २६५), ये वचन रजोगुणी मध्यम राजाओं के हैं ।

बिहँसे अपर भूप सुनि बानी । जे अबिबेक अंध अभिमानी ॥५॥
तोरेहु धनुष ब्याह अवगाहा । बिनु तोरे को कुँअरि बिबाहा ॥६॥
एक बार कालहु किन होऊ । सियहित समर जितब हम सोऊ ॥७॥
यह सुनि अपर महिप मुसुकाने । धरमसील हरिभगत सयाने ॥८॥

सोरठा—सीय बिबाहबि राम, गरब दूरि करि नृपन्ह के ।
जीति को सक संग्राम, दसरथ के रनबाँकुरे ॥२४५॥

अर्थ—दूसरे राजा, जो अज्ञान से अन्धे और घमंडी थे, इन वचनों को सुनकर विशेष हँसे ॥५॥ और बोले कि धनुष तोड़ने पर भी विवाह का थाह (पता) नहीं अर्थात् यह दूर है, फिर भला बिना उसे तोड़े

कौन राजकुमारी को ब्याह सकता है ? ॥६॥ काल भी क्यों न हो, सीताजी के लिये हम एक बार उसे भी युद्ध में जीत लेंगे ॥७॥ यह सुनकर दूसरे धर्मात्मा, हरिभक्त और चतुर राजा मुसुकुराने लगे (और बोले—) ॥८॥ (इन) राजाओं के घमंड दूर करके श्रीरामजी सीताजी को ब्याहेंगे। भला, महाराज दशरथजी के रण में बाँके (विकट) पुत्रों को युद्ध में कौन जीत सकता है ? ॥२४५॥

विशेष—(१) 'जो अबिवेक अंध···'—ऊपर—'जनु राकेस उदय···' कहा गया है, वे इन्हें नहीं देख पड़े। अतः, 'अंध' हैं। पुनः—'अस बिचारि गवनहु···' पर विचार न किया, इससे 'अविवेकी' हैं। आगे अभिमान के वचन कहते हैं। अतः, 'अभिमानी' हैं। विवेकहीन होने से अन्धे कहे गये और इसीसे आगे अभिमान के वचन भी कहेंगे। 'बिहँसे'—हँसकर मध्यम राजाओं के वचनों का निरादर किया। 'अपर भूप'—ये तमोगुणी अधम राजा हैं।

(२) 'तोरेहु धनुष···'—भाव—धनुष टूटने पर भी घोर युद्ध-रूप गहरा सागर उमड़ पड़ेगा, जिसके पार जाना तो दूर है, इन्हें उसका थाह भी न मिलेगा। अतः, ब्याह दूर समझो।

(३) 'एक बार कालहु···'—'कालहु' का लक्ष्यार्थ काल के समान बलवान् पर है। काल से अधिक बली तो कोई है ही नहीं। हम ऐसे बली का भी सामना करेंगे। 'एक बार'—का भाव यह कि दूसरी-तीसरी बार चाहे वही हमें जीते, पर पहले तो हम जीतेंगे ही। 'समर जितब'—ये धनुष तोड़कर ब्याह नहीं करेंगे, क्योंकि उसे सम्भवतः न तोड़ सकें, और 'राम चाप तोरब···' की दृष्टि से धनुष चाहे रामजी ही तोड़ें, पर इन राजाओं को लड़ाई का अभिमान है।

(४) 'यह सुनि अपर···'—ये सत्त्वगुणी उत्तम राजा हैं, उपर्युक्त तमोगुणियों पर तिरस्कार की दृष्टि से मुसकुराये। 'धर्मसील' से कर्मकाण्डी, 'हरि-भगत' से उपासक और 'सयाने' से ज्ञानी होना सूचित किया अर्थात् ये काण्डत्रय-निष्ठ हैं।

(५) 'सीय बिवाहबि राम ··'—उपर्युक्त—'को कुँअरि बिवाहा' का उत्तर—'सीय बिवाहबि राम' है। 'समर जितब हम' का उत्तर—'जीति को सक···' है। 'दसरथ के'—राजा दशरथ भी समर में एक ही थे, इन्द्र भी राजा की सहायता चाहते थे, यथा—"सुरपति-बसइ बाँह-बल जाके।" (अ० दो० २४), ये उनके महापराक्रमी पुत्र हैं, यथा—"जिते असुर संग्राम" (दो० २१६)। यह विरद विख्यात है, ये स्वयं भी 'रण बाँकुरे' अर्थात् बाँके लड़ाके हैं, यथा—"सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहिं समर को जीतनिहारा ॥" (अ० दो० १८८)। राजा दशरथ ने शनैश्चर को भी रण में पराजित किया है, यह कथा पद्म-पुराण में प्रसिद्ध है, वहीं पर शनि-स्तोत्र भी है।

व्यर्थ मरहु जनि गाल बजाई। मनमोदकन्हि कि भूख बुताई ॥१॥
सिख हमारि सुनि परम पुनीता। जगदंबा जानहु जिय सीता ॥२॥
जगतपिता रघुपतिहिं बिचारी। भरि लोचन छबि लेहु निहारी ॥३॥
सुंदर सुखद सकल गुनरासी। ये दोउ बंधु संभु-उर-बासी ॥४॥

शब्दार्थ—गाल बजाना = व्यर्थ बातें करना। बुताई = बुझेगी। मोदक = लड्डू।

अर्थ—व्यर्थ ही गाल बजाकर मत मरो, क्या मन के लड्डू खाने से भूख बुझेगी ? ॥१॥ हमारी परम पुनीत शिक्षा सुनकर सीताजी को हृदय से जगत् की माता समझो ॥२॥ और श्रीरघुनाथजी को जगत् के पिता विचार आँखें भरकर उनकी शोभा देख लो ॥३॥ सुन्दर, सुख देनेवाले और सभी गुणों की राशि ये दोनों भाई शंकरजी के हृदय में निवास करनेवाले हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'व्यर्थ मरहु जनि···'—भाव, बहुत बकोगे तो संग्राम छिड़ जायगा और व्यर्थ में मारे जाओगे। 'मन मोदकन्हि'—राजकुमारी की प्राप्ति की इच्छा करना मन के लड्डू खाना है। 'भूख

बुताना' सीताजी को प्राप्ति है। तमोगुणी राजाओं के मन, वचन और कर्म—तीनों दूषित हैं, यथा—'जीति को सक संग्राम···' से इनके कर्म की निन्दा, 'मरहु जनि गाल बजाई' से वचन की निन्दा और—'मनमोदक···' से मन की निन्दा हुई।

अलंकार—'लोकोक्ति'—लक्षण दो० ७ चौ० ८ में लिखा गया है।

(२) 'सिख हमारि सुनि···'—भाव यह कि रजोगुणी राजाओं की शिक्षा भी 'पुनीत' थी, पर हमारी तो 'परम पुनीत' है। उन्होंने मर्यादा रहते हुए घर लौटना कहा था और हम यहीं बैठे हुए जन्म-फल पाने का उपाय कह रहे हैं। पुनः इससे श्रीसीतारामजी में प्रीति होगी।

(३) 'लेहु निहारी'—मध्यम राजाओं ने भाग चलने को कहा था, उन्हें ये कहते हैं कि जाते कहाँ हो, दैवयोग से ये मिल गये हैं, इनकी छवि देखकर जन्म सफल कर लो। श्रीसीताजी के विषय में 'जानहु' और श्रीरामजी में 'निहारी' कहा है। भाव यह कि तुम सीताजी को निहारने के भी अधिकारी नहीं हो। पुनः 'जानहु' और 'बिचारी' से यह भी सूचित किया है कि ये देखने में तो लड़की-लड़के-से हैं, पर विचारने से जगत् के माता-पिता हैं।

(४) 'सुन्दर सुखद सकल···'—सुन्दर, सुखद और सकल-गुण-राशि होने से ही दोनों भाई शिवजी के हृदय में बसते हैं। शिवजी वर माँगकर बसाते हैं, यथा—"अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु राम नृप मम उर अंतर॥" (लं० दो० ११४)। उपासक लोग परिकर-समेत प्रभु का ध्यान करते हैं, यथा—"अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान्नार्चयन्ति ये। न ते रामप्रसादस्य भाजना दाम्भिका जनाः॥" यह स्मृति है। बहुत जगह शंकर-हृदय में श्रीरामजी का ही बसना कहा है—"जय महेस-मन-मानस-हंसा।" (दो० २८४), "संकर सोइ मूरति उर राखी।" (दो० ७६) इत्यादि, इनमें प्रधानता से श्रीरामजी ही का नाम कहा गया है।

शंकर के ध्येय में सन्देह पर सतीजी ने श्रीरामजी का ऐश्वर्य देखा है तो वहाँ भी उपक्रम में—"आगे राम सहित श्रीभ्राता।" और उपसंहार में भी—"सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता॥" (दो० ५३-५४) कहा है। अतः, शिवजी सदा ही तीनो का ध्यान धरते हैं।

सुधासमुद्र समीप बिहाई। मृगजल निरखि मरहु कत धाई॥५॥
करहु जाइ जा कहँ जोइ भावा। हम तौ आजु जनमफल पावा॥६॥
अस कहि भले भूप अनुरागे। रूप अनूप बिलोकन लागे॥७॥
देखहिं सुर नभ चढ़े बिमाना। बरषहिं सुमन करहिं कल गाना॥८॥

दोहा—जानि सुअवसर सीय तब, पठई जनक बोलाइ।
चतुर सखी सुंदर सकल, सादर चलीं लिवाइ॥२४६॥

अर्थ—अमृत का समुद्र समीप में छोड़, तुम मृगतृष्णा के जल को देखकर क्यों दौड़ते मरते हो॥५॥ जिसको जो रुचे, वही जाकर करो, हम तो आज जन्म लेने के फल पा गये॥६॥ ऐसा कहकर भले राजा लोग अनुराग में निमग्न होकर इनके अनुपम रूप देखने लगे॥७॥ आकाश में देवता गण विमान पर चढ़े हुए देखते थे और सुन्दर गान करते हुए फूल बरसा रहे थे॥८॥ राजा जनकजी ने शुभ अवसर जानकर श्रीसीताजी को बुलवा भेजा, सभी सुन्दर और चतुर सखियाँ उनको आदर के साथ लिवा ले चलीं॥२४६॥

विशेष—(१) 'सुधासमुद्र समीप·····'—दोनों भाई अमृतमय समुद्र हैं, यथा—"ये जाने बिनु··· न तरु सुधासागर परिहरि कत···" (गी० बा० ६६), यही मानकर इन्हें शिवजी ने हृदय में बसाया है, यथा—"सुंदर सुखद सकल··· ···" कहा गया। 'मृगजल निरखि·····'—पूर्व मन-मोदक का भोजन कहा

गया, वैसा ही यहाँ जल भी कहा है। सुधासमुद्र समीप है अर्थात् इनके दर्शनों एवं भजन के द्वारा मृत्यु-रूप संसार से बचना सुलभ है और धनुष तोड़ना एवं श्रीसीता का प्राप्त करना तृष्णामात्र है, केवल मनोरथ की दौड़ लगाकर मरना भर है। 'धाई' अर्थात् तुम्हारे लिये बहुत दूर है। पास में अमृत सिन्धु छोड़कर मृग-जल के पीछे दौड़ना मूर्खता है। अतः, इन्हें मूर्ख कहा।

इन राजाओं को पूर्व काण्डत्रयनिष्ठ कहा है, वैसे ही उपदेश भी इन्होंने दिया है। श्रीसीतारामजी को माता-पिता जानने में 'धर्म' (कर्म), नेत्र-भर छवि देखने में उपासना और—'ये दोउ बंधु संभु-उर बासी।'—'मृगजल निरखि·····' में ज्ञान के भाव हैं।

(२) 'करहु जाइ जा कहँ·····कोई तो—'अस बिचारि गवनहु घर ··' वाले और कोई—'सिय हित समर ·····' वाले हैं, वे अपनी भावना चाहे छोड़ें वा न छोड़ें। 'करहु जाइ'—अर्थात् उन्होंने—'अबिबेक अंध अभिमानी।' होने से नहीं माना, क्योंकि अभिमानी किसीकी शिक्षा नहीं सुनते, यथा—"मूढ़ तोहिं अतिसय अभिमाना। नारि-सिखावनि करसि न काना॥" (कि० दो० ८)।

'हम तौ आजु·····'—अर्थात् राम-लक्ष्मण के दर्शनों से ही जन्म की सफलता है, यथा—"धन्य बिहँग मृग कानन चारी। सफल जनम भये तुम्हहिं निहारी॥" (अर० दो० १३५), तथा—"मुहूर्त्तमपि रामं त्वां येऽनुपश्यन्ति केचन। पाविताः स्वर्गभूताश्च पूज्यास्ते त्रिदिवेश्वरैः॥" (वाल्मी० ७।८२।१०)।

(३) 'अस कहि भले भूप·····'—ये दूसरे के ही उपदेष्टा नहीं हैं, प्रत्युत उपदेश के अनुसार चलते भी हैं। अतः, अनुराग-पूर्वक देखने लगे। देखते तो दुष्ट राजा भी हैं, पर वे दुर्भाव से देखते हैं।

(४) 'देखहिं सुर नभ·····'—कुछ देवता भूमि पर राज-रूप बनकर भी आये हैं, यथा—"देव दनुज धरि मनुज-सरीरा। बिपुल बीर आये·····" (दो० २५०), वे छल से नर-रूप में हैं, पर ये देवता अपने ही रूप से आकाश में हैं और श्रीसीतारामजी के आगमन पर सुमंगलद्योतक पुष्प-वर्षा कर रहे हैं। यहाँ तक श्रीरामजी के आगमन का प्रसंग था, अन्त में पुष्प-वर्षा हुई। आगे श्रीजानकीजी के आने पर भी फूल बरसेंगे। श्रीजानकीजी के आगमन के पूर्व देकर इनके साथ भी इसका सम्बन्ध जनाया है। पुष्प-वृष्टि का भाव सूचित किया, यथा—"सुरन्ह सुमंगल अवसर जाना। बरषहिं सुमन बजाइ निसाना॥" (दो० ३१३)।—श्रीसीताजी के आने के अन्त में इसका वर्णन है, यथा—"हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई। बरषि प्रसून अपछरा गाई॥" (दो० २४७)।

(५) 'जानि सुअवसर सीय·····'—सारी सभा स्थिर हो गई, मंगलमय पुष्प-वृष्टि हो रही है और देवताओं का मंगल-गान हो रहा है। शुभ लग्न भी आ गई है, इत्यादि सुअवर है. पुनः विना राजकुमारी के आये कोई राजा धनुष उठाने को नहीं उठेगा। अतः, राजकुमारी को बुलवाया। 'चतुर सखी'—सभी सखियाँ चतुर हैं, इसीसे मुहूर्त्त जाने हुए तैयार थीं, तुरन्त लिवा ले चलीं। उनमें दो-एक ऐसी भी थीं, जो सब राजाओं के नाम. गुण, कुल आदि से भी परिचित थीं। शेष और सब बातों में चतुर थीं। 'सादर' अर्थात् पालकी पर चढ़ाकर छत्र-चँवर आदि से सजे हुए साथ में गान करती हुई चलीं, यथा - "राजा की रजाइ पाइ सचिव सहेली धाइ, सतानंद ल्याये सिय सिबिका चढ़ाइ के।" (गी० बा० ८२)।

रंगभूमि आगमन-मिलान

श्री सीताजी		श्रीरामजी
जानि सुअवसर सीय तब·····।	१	राजकुँअर तेहि अवसर आए।
सिय सोभा नहिं जाइ बखानी।	२	श्रीराम-शोभा बखान कर कही गई।
जगदंबिका रूप-गुन-खानी।	३	गुन सागर नागर बर बीरा।
उपमा सकल मोहिं लघु लागी।	४	कोटि काम उपमा लघु सोऊ।

जानि सुअवसर सीय तब, पठई ।···	५	चलहु तात मुनि कहेहु तब, ··· ।
चली संग लै सखी सयानी ।	६	पुनि मुनि बृंद समेत कृपाला । देखन चले
सोह नवल तन सुंदर सारी ।	७	कटि तूनीर पीत पट बाँधे ।
रंग भूमि जब सिय पगुधारी ।	८	रंगभूमि आए दोउ भाई ।
देखि रूप मोहे नर नारी ।	९	देखि लोग सब भये सुखारे ।
हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई ।	१०	देखैं सुर नभ चढ़े बिमाना ।
पानि सरोज सोह जयमाला ।	११	कर सर धनुष बाम बर काँधे ।
भये मोह बस सब नरनाहा ।	१२	एकटक लोचन चलत न तारे ।

सियसोभा नहिं जाइ बखानी । जगदंबिका रूप - गुन - खानी ॥१॥
उपमा सकल मोहि लघु लागी । प्राकृत - नारि - अंग अनुरागी ॥२॥
सिय बरनिय तेइ उपमा देई । कुकवि कहाइ अजस को लेई ॥३॥

अर्थ—रूप और गुणों की खान एवं जगन्माता हैं, इससे श्रीसीताजी की शोभा का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥१॥ सब उपमाएँ मुझे तुच्छ जँचीं, क्योंकि वे प्राकृत-स्त्रियों के अंगों में अनुराग-पूर्वक लगी हुई हैं ॥२॥ उन्हीं उपमाओं को देते हुए श्रीसीताजी का वर्णन कर 'कुकवि' कहाकर कौन अपयश ले ? ॥३॥

विशेष—(१) 'सिय-सोभा नहिं·····'—श्रीरामजी के आगमन पर शोभा कही गई, वैसे ही श्रीजानकीजी की भी शोभा कहना चाहते हैं, पर वह नहीं कही जा सकती । न कह सकने के कारण अगले पूरे दोहे में कहते हैं । 'जगदंबिका' अर्थात् जगत् मात्र की माता हैं, पुत्र माता की शोभा कैसे कहे ? यथा—"जगत-मातु-पितु संभु-भवानी । तेहि सिंगार न कहउँ बखानी ॥" (दो० १०२) । यदि कोई हठ-धर्म से कहने का प्रयास भी करे तो नहीं कह सकेगा, क्योंकि 'रूप-गुन-खानी' हैं, यथा—"कोटिहु बदन नहिं बनइ बरनत जगजननि-सोभा महा ।" (दो० १००), इसपर यदि कहा जाय कि अच्छी उपमाओं द्वारा ही लक्ष्य कराइये, उसपर कहते हैं—

(२) 'उपमा सकल मोहि लघु ···'—सरस्वती (वाणी) उपमा रूपी द्रव्य से आदि शक्ति की पूजा करना चाहती हैं, पर सब उपमाएँ साधारण स्त्रियों में लगकर उनको जूठी हो चुकीं, उन्हें विदेहकुमारी के लिये कैसे दें ? यथा—"सब उपमा कवि रहे जुठारी । केहि पटतरउँ बिदेहकुमारी ॥" (दो० २२९) ।

'मोहिं'—अन्य कवियों ने भले ही यथार्थ मानकर उन उपमाओं से सीताजी का वर्णन किया हो, पर मुझे तो वे तुच्छ जान पड़ीं । 'सकल' सब-की-सब उपमाएँ किसी-न-किसी ग्रन्थ में प्राकृत नारियों में लगी हुई पाई जाती हैं ।

'प्राकृत-नारि-अंग अनुरागी ।—अर्थात् प्राकृत नारियों में वे उपमाएँ अनुराग-पूर्वक लगी हैं, क्योंकि प्राकृत नारियों के अंग उपमेय हैं, वे उपमाओं से लघु हैं । अतः, वहाँ उपमाएँ बड़ाई पाती हैं, इसीसे प्रसन्न रहती हैं, पर किशोरीजी में लगाने पर वे संकुचित हो जाती हैं, इनके दिव्य तन के समक्ष उनकी रही-सही शोभा भी संकुचित होने पर नहीं रह जाती, यथा—"भुजनि भुजग, सरोज नयनन्हि, बदन बिधु जित्यो लरनि । रहे कुहरनि सलिल नभ उपमा अपर दुरीं डरनि ॥" (गी० बा० २४) ।

(३) 'कुकवि कहाइ अजस को लेई ।'—कवि तीन प्रकार के होते हैं—कवि, कुकवि और सुकवि । जो प्राकृत लोगों के गुणों का वर्णन करें, वे कवि हैं, यथा—"सब उपमा कवि रहे जुठारी ।" जो प्राकृत उपमाओं को श्रीजानकीजी में लगावें, वे कुकवि हैं—"कुकवि कहाइ अजस को लेई ॥" और जो प्राकृत उपमाओं को अप्राकृत में न लगावें, वे ही सुकवि हैं, इस तरह श्रीगोस्वामीजी सुकवि हैं । यश के लिये

काव्य किया जाता है, जिसमें उल्टा अपयश हो, वह क्यों करें ? अपयश का कारण पाप है, यथा—"बिनु अघ अजस कि पावइ कोई।" (उ० दो० १११), चन्द्रमा आदि प्राकृत उपमाओं को सीताजी में लगाना पाप है, यथा—बैदेही-मुख पटतर दीन्हें। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे ॥" (दो० २३७)।

जौ पटतरिय तीय सम सीया। जग असि जुवति कहाँ कमनीया ॥४॥
गिरा मुखर तनु अरध भवानी। रति अतिदुखित अतनु पति जानी ॥५॥
बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिय रमा-सम किमि बैदेही ॥६॥

अर्थ—यदि श्रीसीताजी की समता में स्त्री की उपमा दी जाय तो जगत् में ऐसी सुन्दरी स्त्री है कहाँ ? ॥४॥ सरस्वती बहुत बोलनेवाली (बकी) हैं, पार्वती आधे अंग की हैं और रति अपने पति (काम) को बिना शरीर के जानकर अत्यन्त दुःखित है ॥५॥ विष और मदिरा जिनके प्यारे भाई हैं, उन लक्ष्मीजी के समान श्रीजानकी जी को कैसे कहें ? ॥६॥

विशेष—(१) 'जौ पटतरिय तीय···'—प्राकृत नारियाँ उपमाओं से ही लघु थीं, यहाँ उपमाएँ भी लघु लगीं। अब जगत् के तीनो लोकों की दिव्य तनवाली श्रेष्ठ स्त्रियों को तुलना के लिये मिलान करते हैं—

'गिरा मुखर तनु अरध···'—बहुत बोलना स्त्रियों में भारी दोष है। श्रीजानकीजी गम्भीर स्वभाव की हैं, यह स्वभाव-भेद है। पार्वतीजी आधे तन की ही सुन्दरी हैं, आधे तन में अमंगल वेषधारी शिवजी हैं। रति का पति कामदेव शरीर-रहित है, इससे वह अति दुःखित रहती है। पार्वतीजी आधे तन से दुःखित और रति अति दुःखित रहती हैं। श्रीजानकीजी सदा प्रसन्न रहती हैं, यह गुण में भेद है। लक्ष्मीजी सागर से प्रगट हुईं। अतः, नैहर के सम्बन्धी अश्व आदि भी उनके परिवार हैं, पर विष-वारुणी प्रिय बन्धु हैं, जिनका फल नरक है, अर्थात् विष खाकर मरे, तो अकाल मृत्यु होती है। वारुणी (मदिरा) पीने से लोग मतवाला होकर प्रमाद से पाप करते हैं, पर श्रीसीताजी की कृपा-दृष्टि से भगवत्-प्राप्ति होती है। अतः, लक्ष्मी की उपमा में क्रिया-विरोध है। इसलिये ये उपमाएँ अयुक्त हैं। प्रतीप अलंकार का तीसरा भेद एवं 'अधिक तद्रूपक' भी है।

यहाँ त्रिदेवों की शक्तियों के बीच में रति कही गई है, क्योंकि भवानी और रति में दुःख की समानता है, अर्थात् एक के पति बिना शृंगार के हैं, पुनः सर्पादि लपेटने से और भी दूषित हैं, और दूसरी के पति के अंग ही नहीं, तो शृंगार किसमें हो ? दुःख की क्रिया में समानता है, इसलिये साथ कहा है। जैसे—"सोचिय बटु"···से—"बैखानस सोइ·· " तक (अ० दो० १७०-१७२) में बटु, गृही, बैखानस और यति के वर्णन में क्रम-भंग करके गृही और यति को साथ कहा है, क्योंकि उनमें कर्म के त्याग और ग्रहण में समता है कि एक कर्म-मार्ग छोड़ने में दूषित है और दूसरा सकाम कर्म के लिये प्रपंच-रत होने में दूषित है। पुनः यह भी कारण है कि यहाँ क्रमशः अधिक दोष कहते हैं, गिरा का मुख भर ही बिगड़ा है, भवानी का आधा तन नष्ट है, रति के पति के तन ही नहीं। उसका अर्द्धाङ्ग मानों है ही नहीं, शेष तन में अत्यन्त दुःखी होने से और भी मलिन रहती है। लक्ष्मी में तो कई दोष आ पड़े हैं, इससे वे बिलकुल ही हीन हैं।

नगर-दर्शन के प्रसंग में श्रीरामजी की शोभा कहने में काम और त्रिदेव को न्यून कहा था वैसे यहाँ उनकी शक्तियों को कहा। पुनः जैसे वहाँ—"अपर देव अस कोउ न आही।" कहा था, वैसे यहाँ भी—"जग अस जुवति कहाँ कमनीया।" कहा है। अतः, दोनों जगह समान वर्णन किया है।

सम्बन्ध— पूर्व-कथित उपमाएँ दोषों के कारण अयुक्त हो गईं, तो नवीन उपमा बनाते हैं—

जौ छवि-सुधा-पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई ॥७॥
सोभा रजु मंदर सिंगारू। मथइ पानि-पंकज निज मारू ॥८॥

दोहा—येहि बिधि उपजइ लच्छि जब, सुंदरता - सुख - मूल।
तदपि सकोच - समेत कबि, कहहिं सीय समतूल ॥२४७॥

शब्दार्थ—छवि = लावण्य, शोभा, कान्ति।

अर्थ—जो छवि-रूपी अमृत का समुद्र हो और कच्छप भगवान् वे ही रहें, पर वे परम सुन्दर हों ॥७॥ शोभा रस्सी हो, शृंगाररस ही मन्दराचल हो और स्वयं कामदेव ही अपने कर-कमलों से (उस समुद्र को) मथे ॥८॥ इस तरह जब सुन्दरता और सुख की जड़ लक्ष्मी प्रकट हो, तो भी कवि संकोच के साथ ही कहेंगे कि वह श्रीसीताजी के समान है ॥२४७॥

विशेष—(१) 'जौ छवि सुधापयोनिधि···'—यों तो लक्ष्मी ही श्रेष्ठ मानी जाती हैं, पर उनके सम्बन्धी दोष बहुत हैं, इसलिये उनके दूषणमय अंशों को दूर करके उत्तम सामग्री से लक्ष्मी बनाते हैं कि उस समुद्र में तो दूध ही था, यहाँ छवि-रूप अमृत हो। दूध में अवगुण भी होते हैं, अमृत में गुण ही। 'जौ'—ऐसा तो होता नहीं, पर यदि दैव-योग से हो जाय। 'परम रूपमय···'—कच्छप भगवान् के अवतार हैं। अतः, वे ही रहें, पर प्रथम रूपमय ही थे, अब परम रूपमय हों। वहाँ वासुकी-नाग रस्सी रूप में थे, जो विषैले थे, पर यहाँ शोभा ही रस्सी हो। वहाँ मन्दराचल मथानी-रूप में था, पर्वत में सुन्दरता कहाँ? और, यहाँ शृंगार रस ही मन्दर बने। वहाँ देवता और दैत्य मथनेवाले थे, जिनमें दैत्य तो भयानक थे, यहाँ देवताओं से कहीं अधिक सुन्दर कामदेव है, वही अपने ही दोनों हाथों से मथे।

(२) येहि बिधि उपजइ लच्छि ···—इस प्रकार से जो लक्ष्मी होंगी, वे सुन्दरता और सुख की जड़ ही होंगी। दूसरा भाव यह भी है, लक्ष्मी जो उपजी थीं, वे असुन्दर एवं दुःख-मूलक थीं, क्योंकि उसके प्रकट होने की सामग्रियाँ सुन्दर न थीं और बड़े कष्ट से मन्थन पर प्रकट हुई थीं। यहाँ सब सामग्रियाँ सुन्दर हैं और सुख-पूर्वक उत्पन्न हुई हैं। अतः, ये लक्ष्मी सुन्दरतापूर्ण एवं सुखमूलक हैं।

'तदपि सकोच समेत···'—जब ऐसी अद्भुत उपमा मिल गई तब फिर संकोच किस बात का रहा? इसका उत्तर यह है कि उत्पत्ति दो कारणों से होती है—निमित्त और उपादान। जैसे घड़े की उत्पत्ति में मृत्तिका उपादान और कुलाल निमित्त कारण है। कार्य की श्रेष्ठता कारण की योग्यता के अनुसार रहती है। यहाँ कामदेव निमित्त कारण है, जो प्राकृतिक सृष्टि का एक अति स्वल्पांश है। उसमें इतनी योग्यता कहाँ कि श्रीसीताजी के तुल्य लक्ष्मी निकाले? यथा—"उपजहिं जासु अंस गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥" (दो० २४८),। यह उसकी कल्पना से भी बाहर है, इसलिये उक्त प्रकार की लक्ष्मी से भी उपमा देने में कवि को संकोच ही रहा। इसमें सम्भावना और प्रतीप अलंकार हैं।

चलीं संग लै सखी सयानी। गावति गीत मनोहर बानी ॥१॥
सोह नवल तनु सुंदर सारी। जगतजननि अतुलित छबि भारी ॥२॥
भूषन सकल सुदेस सुहाये। अंग-अंग रचि सखिन्ह बनाये ॥३॥
रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी ॥४॥
हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई। बरषि प्रसून अपछरा गाई ॥५॥

शब्दार्थ—सुदेस = यथायोग्य अंगों में। पग धारी = चरण रक्खे। मोहे = मुग्ध हो गये, एकटक देखते रह गये, प्रेमवात्सल्य से देह की सुधि न रही, यथा—"साँचेहु उनके मोह न माया।" (दो० ९६)। नवल = सुन्दर, नवीन।

अर्थ—सयानी सखियाँ मन को हरनेवाली वाणी से मनोहर गीत गाती हुई (श्रीसीताजी को) साथ लेकर चलीं ॥१॥ सुन्दर शरीर पर सुन्दर साड़ी सोह रही है। वे जगत् की माता हैं, उनकी भारी छवि उपमा-रहित है ॥२॥ सब भूषण यथायोग्य अंगों में शोभा दे रहे हैं, (जिन्हें) सखियों ने अंग-अंग में रचकर सजा दिये हैं ॥३॥ जब श्रीसीताजी ने रंगभूमि में चरण रक्खे, तब स्त्री-पुरुष उनका रूप देखकर मुग्ध हो गये ॥४॥ देवताओं ने हर्षित होकर नगाड़े बजाये, फूल बरसाये और फूल बरसाकर अप्सराएँ गाने लगीं ॥५॥

विशेष—(१) 'चलीं संग लै···'—इसमें 'मनोहर' शब्द दीपदेहली है, यथा—"संग सखी सब सुभग सयानी। गावहिं गीत मनोहर बानी॥" (दो० २२७)। यह चौपाई फुलवारी-प्रसंग की है, इसमें श्रीजानकीजी की प्रधानता है, क्योंकि वहाँ माताजी ने श्रीजानकीजी को ही गिरिजा-पूजन के लिये भेजा था, सखियाँ साथ में थीं। यहाँ राजा एवं गुरु की आज्ञा से सखियाँ ले आई हैं, सभा में होने से यहाँ श्रीसीताजी को संकोच भी है, इसलिये सखियाँ ही प्रधान हैं। 'सयानी'—स्वयंवर की सभी रीतियों के जाननेवाली हैं।

(२) 'सोह नवल तन सुंदर···'—सुन्दर दिव्य तनु के साहचर्य से साड़ी भी अत्यन्त सुहावनी हो गई है। 'जगत-जननि'—यहाँ शृंगार रस प्रधान है, पर उसके साथ शान्त रस को भी लेकर ऐश्वर्य कहते हैं कि सीताजी जगत्-भर की माता हैं। अतः, शृंगार कैसे कहा जाय? हाँ, इतना ही कहा जा सकता है कि इनकी भारी छवि तुलना के योग्य नहीं है। इस तरह समष्टि में शोभा कह भी दी और नख-शिख वर्णन के दोष से भी बच गये। आगे भूषण भी कहते हैं। अतः, भूषण-वस्त्र एवं छवि कहकर सब कह दिये। इस तरह भक्ति, कविता और शृंगार—सभी का निर्वाह किया।

(३) 'भूषन सकल सुदेस···' यथा—"सासुन्ह सादर जानकिहि, मज्जन तुरत कराइ। दिव्य बसन बर भूषन, अँग-अँग सजे बनाइ॥" (उ० दो० ११), इसी तरह यहाँ सखियों ने प्रीति-पूर्वक रच-रच कर गहने सजाये हैं।

(४) 'देखि रूप मोहे नरनारी।'—यहाँ 'मोहे' का अर्थ कामासक्ति नहीं है, किन्तु सुन्दर वस्तु पर लुभा जाना है, एकटक देखना मुग्ध होना है, यथा—"राजा की रजाइ पाइ सचिव सहेली धाइ सतानंद ल्याए सिय सिबिका चढ़ाइ कै। रूपदीपिका निहारि मृग मृगी नरनारि बिथके बिलोचन निमेषैं बिसराइ कै॥" (गी० बा० ८२)। यहाँ नर-नारियों का वात्सल्य भाव-सहित रूप पर मोहित होने का प्रसंग है, यथा—"देखत रूप सकल सुर मोहे।" (दो० ९९)। "रमा समेत रमापति मोहे।" (दो० ३१६)। उत्तरकाण्ड की चौ०—"मोह न नारि नारि के रूपा।" (दो० ११५) में कामासक्ति का प्रसंग है।

(५) 'हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई।'—ऊपर जनकपुर के नर-नारियों का मोहित होना कहकर अब देवताओं का भी वैसे आनन्द में मग्न होना कहते हैं। श्रीरामजी के आगमन पर देवताओं का फूल बरसाना और गाना कहा गया, यथा—बरषहिं सुमन करहिं कल गाना।" (दो० २४५), वैसे ही यहाँ उनकी स्त्रियों का फूल बरसाना और गाना कहा गया। देवताओं का नगाड़ा बजाना यहाँ अधिक है। इस तरह देवगणों ने युगल सरकार की सेवा की और मंगल शकुन भी जनाये, यथा—"सुर हरषत बरषत फूल बार-बार सिद्धि मुनि कहत सगुन सुभकरी है॥" (गी० बा० ९०)।

पानिसरोज सोह जयमाला। अवघट चितये सकल भुआला ॥६॥
सीय चकित चित रामहिं चाहा। भये मोहबस सब नरनाहा ॥७॥

जौ छवि-सुधा-पयोनिधि होई । परम रूपमय कच्छप सोई ॥७॥
सोभा रजु मंदर सिंगारू । मथइ पानि-पंकज निज मारू ॥८॥

दोहा—येहि बिधि उपजइ लच्छि जब, सुंदरता - सुख - मूल ।
तदपि सकोच - समेत कबि, कहहिं सीय समतूल ॥२४७॥

शब्दार्थ—छवि = लावण्य, शोभा, कान्ति ।

अर्थ—जो छवि-रूपी अमृत का समुद्र हो और कच्छप भगवान् वे ही रहें, पर वे परम सुन्दर हों ॥७॥ शोभा रस्सी हो, शृंगाररस ही मन्दराचल हो और स्वयं कामदेव ही अपने कर-कमलों से (उस समुद्र को) मथे ॥८॥ इस तरह जब सुन्दरता और सुख की जड़ लक्ष्मी प्रकट हो, तो भी कवि संकोच के साथ ही कहेंगे कि वह श्रीसीताजी के समान है ॥२४७॥

विशेष—(१) 'जौ छवि सुधापयोनिधि···'—यों तो लक्ष्मी ही श्रेष्ठ मानी जाती हैं, पर उनके सम्बन्धी दोष बहुत हैं, इसलिये उनके दूषणमय अंशों को दूर करके उत्तम सामग्री से लक्ष्मी बनाते हैं कि उस समुद्र में तो दूध ही था, यहाँ छवि-रूप अमृत हो। दूध में अवगुण भी होते हैं, अमृत में गुण ही। 'जौ'—ऐसा तो होता नहीं, पर यदि दैव-योग से हो जाय। 'परम रूपमय···'—कच्छप भगवान् के अवतार हैं। अतः, वे ही रहें, पर प्रथम रूपमय ही थे, अब परम रूपमय हों। वहाँ वासुकी-नाग रस्सी रूप में थे, जो विषैले थे, पर यहाँ शोभा ही रस्सी हो। वहाँ मन्दराचल मथानी-रूप में था, पर्वत में सुन्दरता कहाँ? और, यहाँ शृंगार रस ही मन्दर बने। वहाँ देवता और दैत्य मथनेवाले थे, जिनमें दैत्य तो भयानक थे, यहाँ देवताओं से कहीं अधिक सुन्दर कामदेव है, वही अपने ही दोनों हाथों से मथे।

(२) येहि बिधि उपजइ लच्छि ···—इस प्रकार से जो लक्ष्मी होंगी, वे सुन्दरता और सुख की जड़ ही होंगी। दूसरा भाव यह भी है, लक्ष्मी जो उपजी थीं, वे असुन्दर एवं दुःख-मूलक थीं, क्योंकि उसके प्रकट होने की सामग्रियाँ सुन्दर न थीं और बड़े कष्ट से मन्थन पर प्रकट हुई थीं। यहाँ सब सामग्रियाँ सुन्दर हैं और सुख-पूर्वक उत्पन्न हुई हैं। अतः, ये लक्ष्मी सुन्दरतापूर्ण एवं सुखमूलक हैं।

'तदपि सकोच समेत···'—जब ऐसी अद्भुत उपमा मिल गई तब फिर संकोच किस बात का रहा? इसका उत्तर यह है कि उत्पत्ति दो कारणों से होती है—निमित्त और उपादान। जैसे घड़े की उत्पत्ति में मृत्तिका उपादान और कुलाल निमित्त कारण है। कार्य की श्रेष्ठता कारण की योग्यता के अनुसार रहती है। यहाँ कामदेव निमित्त कारण है, जो प्राकृतिक सृष्टि का एक अति स्वल्पांश है। उसमें इतनी योग्यता कहाँ कि श्रीसीताजी के तुल्य लक्ष्मी निकाले? यथा—"उपजहिं जासु अंस गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥" (दो० २८८)। यह उसकी कल्पना से भी बाहर है, इसलिये उक्त प्रकार की लक्ष्मी से भी उपमा देने में कवि को संकोच ही रहा। इसमें सम्भावना और प्रतीप अलंकार हैं।

चलीं संग लै सखी सयानी । गावति गीत मनोहर बानी ॥१॥
सोह नवल तनु सुंदर सारी । जगतजननि अतुलित छबि भारी ॥२॥
भूषन सकल सुदेस सुहाये । अंग-अंग रचि सखिन्ह बनाये ॥३॥
रंगभूमि जब सिय पगु धारी । देखि रूप मोहे नर नारी ॥४॥
हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई । बरषि प्रसून अपछरा गाई ॥५॥

शब्दार्थ—सुदेस = यथायोग्य अंगों में। पग धारी = चरण रक्खे। मोहे = मुग्ध हो गये, एकटक देखते रह गये, प्रेमवात्सल्य से देह की सुधि न रही, यथा—"साँचेहु उनके मोह न माया।" (दो० ९६)। नवल = सुन्दर, नवीन।

अर्थ—सयानी सखियाँ मन को हरनेवाली वाणी से मनोहर गीत गाती हुई (श्रीसीताजी को) साथ लेकर चलीं ॥१॥ सुन्दर शरीर पर सुन्दर साड़ी सोह रही है। वे जगत् की माता हैं, उनकी भारी छवि उपमा-रहित है ॥२॥ सब भूषण यथायोग्य अंगों में शोभा दे रहे हैं, (जिन्हें) सखियों ने अंग-अंग में रचकर सजा दिये हैं ॥३॥ जब श्रीसीताजी ने रंगभूमि में चरण रक्खे, तब स्त्री-पुरुष उनका रूप देखकर मुग्ध हो गये ॥४॥ देवताओं ने हर्षित होकर नगाड़े बजाये, फूल बरसाये और फूल बरसाकर अप्सराएँ गाने लगीं ॥५॥

विशेष—(१) 'चलीं संग लै···'—इसमें 'मनोहर' शब्द दीपदेहली है, यथा—"संग सखी सब सुभग सयानी। गावहिं गीत मनोहर बानी॥" (दो० २२७)। यह चौपाई फुलवारी-प्रसंग की है, इसमें श्रीजानकीजी की प्रधानता है, क्योंकि वहाँ माताजी ने श्रीजानकीजी को ही गिरिजा-पूजन के लिये भेजा था, सखियाँ साथ में थीं। यहाँ राजा एवं गुरु की आज्ञा से सखियाँ ले आई हैं, सभा में होने से यहाँ श्रीसीताजी को संकोच भी है, इसलिये सखियाँ ही प्रधान हैं। 'सयानी'—स्वयंवर की सभी रीतियों के जाननेवाली हैं।

(२) 'सोह नवल तन सुंदर···'—सुन्दर दिव्य तनु के साहचर्य से साड़ी भी अत्यन्त सुहावनी हो गई है। 'जगत-जननि'—यहाँ शृंगार रस प्रधान है, पर उसके साथ शान्त रस को भी लेकर ऐश्वर्य कहते हैं कि सीताजी जगत्-भर की माता हैं। अतः, शृंगार कैसे कहा जाय? हाँ, इतना ही कहा जा सकता है कि इनकी भारी छवि तुलना के योग्य नहीं है। इस तरह समष्टि में शोभा कह भी दी और नख-शिख वर्णन के दोष से भी बच गये। आगे भूषण भी कहते हैं। अतः, भूषण-वस्त्र एवं छवि कहकर सब कह दिये। इस तरह भक्ति, कविता और शृंगार—सभी का निर्वाह किया।

(३) 'भूषन सकल सुदेस···' यथा—"सासुन्ह सादर जानकिहि, मज्जन तुरत कराइ। दिव्य बसन बर भूषन, अँग-अँग सजे बनाइ॥" (उ० दो० ११), इसी तरह यहाँ सखियों ने प्रीति-पूर्वक रच-रच कर गहने सजाये हैं।

(४) 'देखि रूप मोहे नरनारी।'—यहाँ 'मोहे' का अर्थ कामासक्ति नहीं है, किन्तु सुन्दर वस्तु पर लुभा जाना है, एकटक देखना मुग्ध होना है, यथा—"राजा की रजाइ पाइ सचिव सहेली धाइ सतानंद ल्याए सिय सिविका चढ़ाइ कै। रूपदीपिका निहारि मृग मृगी नरनारि बिथके बिलोचन निमेषैं बिसराइ कै॥" (गी० बा० ८१)। यहाँ नर-नारियों का वात्सल्य भाव-सहित रूप पर मोहित होने का प्रसंग है, यथा—"देखत रूप सकल सुर मोहे।" (दो० ९९)। "रमा समेत रमापति मोहे।" (दो० ३१६)। उत्तरकाण्ड की चौ०—"मोह न नारि नारि के रूपा।" (दो० ११५) में कामासक्ति का प्रसंग है।

(५) 'हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई।'—ऊपर जनकपुर के नर-नारियों का मोहित होना कहकर अब देवताओं का भी वैसे आनन्द में मग्न होना कहते हैं। श्रीरामजी के आगमन पर देवताओं का फूल बरसाना और गाना कहा गया, यथा—बरषहिं सुमन करहिं कल गाना।" (दो० २४५), वैसे ही यहाँ उनकी सखियों का फूल बरसाना और गाना कहा गया। देवताओं का नगाड़ा बजाना यहाँ अधिक है। इस तरह देवगणों ने युगल सरकार की सेवा की और मंगल शकुन भी जनाये, यथा—"सुर हरषत बरषत फूल बार-बार सिधि मुनि कहत सगुन सुभकरी है॥" (गी० बा० ९०)।

पानिसरोज सोह जयमाला। अवचट चितये सकल भुआला ॥६॥
सीय चकित चित रामहिं चाहा। भये मोहबस सब नरनाहा ॥७॥

मुनिसमीप देखे दोउ भाई। लगे ललकि लोचन निधि पाई ॥८॥

दोहा—गुरुजन-लाज समाज बड़, देखि सीय सकुचानि।
लागि बिलोकन सखिन्ह तनु, रघुबीरहिं उर आनि ॥२४८॥

अर्थ—(सीताजी के) कर-कमल में जयमाला शोभा दे रही है, उन्होंने अचानक दृष्टि से समस्त राजाओं की ओर देखा ॥६॥ श्रीसीताजी चकितचित्त होकर श्रीरामजी को ही देखने लगीं, इसपर सब राजा लोग मोह के वश हो गये ॥७॥ मुनि के समीप में दोनों भाइयों को देखा, तब उनके नेत्र अपना खजाना पाकर ललककर (प्रबल इच्छा-पूर्वक) वहाँ जा लगे ॥८॥ गुरुजनों और बड़े समाज को देखकर (उनकी लज्जा से) श्रीसीताजी सकुचा गईं और हृदय में श्रीरघुवीर को लाकर वे सखियों की ओर देखने लगीं ॥२४८॥

विशेष—(१) 'पानिसरोज सोह···'—हाथ कमल के समान सुन्दर हैं, वैसे ही माला भी सुन्दर है, यथा—"कर-सरोज जयमाल सुहाई। बिस्वबिजय सोभा जेहि छाई ॥" (दो० २६३), अर्थात् इसमें विश्वविजय की शोभा है।

जयमाल में मतभेद है। कहीं कमल की, कहीं स्वर्ण की, कहीं दूब की और कहीं महुए के फूल की माला कही गई है। इसलिये ग्रन्थकार ने सब मतों की रक्षा के लिये स्पष्ट नाम न देकर गुप्त रीति से कमल को ही जनाया है, यथा—"जयमाला जानकी जलज कर लई है। सुमन सुमंगल सगुन की बनाइ मंजु मानहुँ मदन माली आपु निरमई है ॥ ·····पिय-हिय सोहत सो भई है। मानस ते निकसि बिसाल सु तमाल पर मानहुँ मराल पाँति बैठी बनि गई है ॥" (गी० बा० ९४)। इसमें 'जलज कर' श्लेषार्थक है, इसका अर्थ 'कमल का' और 'हस्त-कमल' दोनों है तथा हंस की उपमा से श्वेत कमल लक्षित है। इसे ही आगे स्पष्ट कहते हैं कि मंगलशकुन-सूचक फूलों की बनी है। अन्यत्र चौपाइयों में भी 'सरोज' एवं इसके पर्यायी शब्द इसी तरह दीपदेहली रूप में रक्खे गये हैं, यथा—"कर सरोज जयमाल·····" ऊपर आया है एवं मूल में भी—'पानिसरोज सोह जयमाला।' है, तथा—"सीताजू रघुनाथ के, अमल कमल की माल। पहिराई जनु सबनि कै, हृदयावलि भूपाल ॥" (केशवकृत रामचन्द्रिका)। "तस्यांसदेश उशतीं नवकञ्जमालां माद्यन्मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टाम् ॥ तस्थौ निधाय निकटे तदुरः स्वधाम सव्रीडहासविकसन्नयनेन याता ॥" (भाग० ८।८।२४), अर्थात् लक्ष्मीजी जब क्षीरसमुद्र से प्रकट हुईं, तब उन्होंने मतवाले भ्रमर-निकर की गुञ्जार से युक्त वह नवीन कमलों की सुन्दर माला उनके (विष्णु भगवान् के) गले में डाल दी और सलज्ज मुसकान युक्त विकसित नेत्रों से अपने निवास स्थानरूप भगवान् के उरःस्थल की ओर निहारती हुई उनके पास खड़ी हो गईं, तथा—"लसत ललित कर कमल माल पहिरावत। कामफंद जनु चंदहिं बनज फँदावत ॥" (जानकी-मंगल १२२)।

'अवचट चितये·····'—'अवचट' अर्थात् इच्छा-रहित दृष्टि से, उन्हें श्रीरामजी के देखने की चाह है, इसलिये राजाओं में देखने के लिये उधर दृष्टि डाली। उस श्रेणी में न पाकर चकित हो गईं कि वे क्या आये ही नहीं? क्योंकि सुन चुकी हैं कि वे मुनि के संग में हैं। मुनि लोग विरक्त होते हैं। यहाँ राज-समाज समझकर सम्भवतः न आये हों।

(२) 'रामहिं चाहा'—'चाहा' का अर्थ देखना है, यथा—"सुचित चख-चाही।" (दो० २८), अर्थात् वे उस राज-समाज में श्रीराम ही को खोज रही हैं, इसीसे किसी राजा की ओर दृष्टि नहीं रुकी।

'भये मोह-बस सब·····'—यहाँ इन राजाओं का मोहना पूर्वोक्त—'देखि रूप मोहे नर-नारी।' से पृथक् रीति का है, इनका मोहित होना प्राकृत शृंगार-दृष्टि से है।

(३) 'मुनि-समीप देखे दोउ भाई।·····'—नेत्र चकित थे। अतः, ललककर लगे, यथा—"देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥" (दो० २३१), इसमें फुलवारी का प्रसंग था, वहाँ बहुत काल पर प्रथम दर्शन हुए थे। अतः, 'निजनिधि' कहा गया था। यहाँ उसके एक ही दिन बाद फिर देखती हैं। अतः, 'निधि' ही कहा है।

(४) 'गुरुजन लाज समाज बड़·····'—फुलवारी में कहा गया है—'सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी।' क्योंकि वहाँ एकान्त था। यहाँ थोड़ा ही देखने में सकुच गईं, क्योंकि एक तो बड़ा समाज है, फिर भी गुरुजन समीप हैं, इससे भारी लाज का स्थल है।

'सिय' शब्द शीतलता पाने पर कहा है और 'रघुबीर' शब्द वीरता देख पड़ने में है।

राम-रूप अरु सिय-छवि देखी। नर-नारिन्ह परिहरीं निमेखी॥१॥
सोचहिं सकल कहत सकुचाहीं। बिधि सन बिनय करहिं मन माहीं॥२॥
हरु बिधि बेगि जनक जड़ताई। मति हमारि असि देहि सुहाई॥३॥
बिनु बिचार पन तजि नरनाहू। सीय राम कर करइ बिबाहू॥४॥
जग भल कहिहि भाव सब काहू। हठ कीन्हे अंतहु उर दाहू॥५॥

अर्थ—श्रीरामजी का रूप और जानकीजी की छवि देखकर स्त्री-पुरुषों ने पलक गिराना छोड़ दिया (सब एकटक देखते ही रह गये)॥१॥ सभी हृदय में सोचते हैं, परन्तु कहने में सकुचाते हैं, वे मन में ब्रह्माजी से विनती करते हैं॥२॥ हे विधाता! बहुत शीघ्र ही जनकजी की मूर्खता को हर लीजिये और उन्हें हमारी ऐसी सुहावनी बुद्धि दीजिये॥३॥ जिससे बिना विचारे ही राजा प्रतिज्ञा को छोड़कर सीताजी का विवाह रामजी से कर दें॥४॥ संसार इसे भला कहेगा, क्योंकि सब किसीको यह बात रुचती है, अन्यथा हठ करने से परिणाम में भी छाती जलेगी॥५॥

विशेष—(१) 'राम-रूप अरु सिय-छवि·····'—श्रीरामजी के विषय में रूप का देखना कहा गया, रूप देखने में नख-शिख की आकृति, रंग, वस्त्र, आभूषण—सभी आ जाते हैं, क्योंकि इन्हें पूर्ण रूप से देखने का सबको अधिकार है। श्रीजानकीजी की छवि का देखना है, छवि में समष्टि सुन्दरता, दीप्ति और छटा के ही भाव रहते हैं, क्योंकि इनके विषय में इतना ही अधिकार है। 'रूप' पुँल्लिंग है और 'छवि' स्त्रीलिंग। दोनों शब्दों को यथास्थान ही रक्खा है। यह श्रीगोस्वामीजी की विलक्षण सँभाल है।

(२) 'बिधि सन बिनय करहिं·····'—ब्रह्माजी से ही विनती करते हैं, क्योंकि संसार का विधान इन्हींके हाथ है, वैसे ही यहाँ वर-कन्या का संयोग मिलाना ब्रह्मा ही का काम है, यथा—"जौ बिधि-बस अस बनइ सँजोगू।" (दो० २२१), "जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। अरु रामहिं ऐसो रूप दियो री। तुलसिदास सोइ चतुर बिधाता निजकर यह संजोग सियो री॥" (गी० बा० ७७)। 'मन माहीं', क्योंकि प्रजा का राजा को जड़ कहना अयोग्य है, सुननेवाले क्या कहेंगे? इसलिये मन ही में विनय करते हैं, कहने में संकोच है।

ये लोग मन, वचन, कर्म—तीनो से श्रीसीतारामजी में लगे हैं—'परिहरीं निमेखी'—कर्म, 'कहत सकुचाहीं—वचन और 'मन माहीं'—मन की वृत्ति है।

(२) 'हरु बिधि बेगि जनक ·· ···'—'बेगि'—क्योंकि अभी प्रतिज्ञा नहीं सुनाई गई, सुना देने पर फिर प्रतिज्ञा को छोड़ना अनुचित होगा वा किसीने धनुष तोड़ दिया, तब भी कुछ न हो सकेगा, फिर तो उसे ही कन्या देनी पड़ेगी।

(३) 'बिनु बिचार पन तजि·····'—विचार करने पर प्रतिज्ञा को छोड़ना नहीं हो सकेगा,

यथा—"सुकृत जाइ जौ पन परिहरऊँ।" (दो० २५१), तथा—"एक कहहिं 'भल भूप' बेहु जनि दूषन। नृप न सोह बिनु बचन नाक बिनु भूषन॥" (जानकीमंगल ४१)। 'नरनाहू'—राजाओं को अपना स्वार्थ और लाभ देखना चाहिये, यथा—"अहह तात दारुन हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभ न हानी॥" (दो० २५७), राजा को स्वार्थ (अर्थ, धन) पर विशेष दृष्टि रखनी चाहिये—महा० शान्ति० ८।१६-२३ में इसपर बहुत-कुछ कहा गया है। आगे दो० २५५ चौ० ५ का विशेष भी देखिये। लाभ प्रण छोड़कर सीताजी का श्रीराम से ब्याह करने में है।

(४) 'जग भल कहिहि·····'—यदि कोई कहे कि प्रण छोड़ने में अपयश होगा तो उसपर कहते हैं कि सबको तो यही रुच रहा है तो अपयश कौन देगा ? यदि प्रण का हठ करेंगे तो जैसे अभी छाती जलती है कि इनको न देखा था, नहीं तो ऐसा प्रण न करते, यथा—"ये जाने बिनु जनक जानियत पन करि भूप हँकारे। न तरु सुधासागर परिहरि कत कूप खनावत खारे॥" (गी० बा० ६६)। पुनः आगे यदि किसी अयोग्य से धनुष टूटा अथवा नहीं ही टूटा तो फिर हृदय में जलन होगी।

येहि लालसा मगन सब लोगू। बर साँवरो जानकी जोगू॥६॥
तब बंदीजन जनक बोलाये। बिरदावली कहत चलि आये॥७॥
कह नृप जाइ कहहु पन मोरा। चले भाट हिय हरष न थोरा॥८॥

दोहा—बोले बंदी बचनबर, सुनहु सकल महिपाल।
पन बिदेह कर कहहिं हम, भुजा उठाइ बिसाल॥२४६॥

अर्थ—सब लोग इसी लालसा में मग्न हैं कि श्रीजानकीजी के योग्य दूल्हा साँवला कुमार है॥६॥ तब राजा जनक ने बन्दीजनों को बुलवाया, वे वंश की कीर्त्ति कहते हुए चले आये॥७॥ राजा ने (भाटों से) कहा कि तुम जाकर मेरा प्रण सबसे कहो। (यह सुनकर) भाट चले, उनके हृदय में बहुत हर्ष है (वा थोड़ा भी हर्ष नहीं है)॥८॥ भाट लोग श्रेष्ठ वचन बोले कि हे सब राजा लोगो ! सुनिये, श्रीविदेहजी के प्रण को हम ऊँचा हाथ उठाकर कहते हैं॥२४६॥

विशेष—(१) 'येहि लालसा मगन सब·····'—इस लालसा का प्रसंग—'सोचहिं सकल·····' से यहाँ तक कहा गया, इसका विशद वर्णन—'रंगभूमि भोर ही जाइकै' (गी० बा० ६८) में है।

(२) 'तब बंदीजन जनक···'—'तब' का 'जब' से नित्य सम्बन्ध है, वह पहले ही कहा गया है, यथा—"रंगभूमि जब सिय पगु धारी।" वहीं यह प्रसंग छोड़कर कवि सबको दशा कहने लगे थे, फिर वहीं से उठाया। 'बंदीजन' अर्थात् वंश की कीर्त्ति कहनेवाले, उन्हें ही आगे—'बिरदावली कहत···' से सूचित किया है, यथा—"बंस-प्रसंसक बिरद सुनावहिं।" (दो० ३१५), "चातक बंदी गुन गन बरना।" (अर० दो० ३७)। 'बोलाये' और 'चलि आये' से जान पड़ता है कि राजा समाज के एक तरफ और बंदी दूसरी तरफ थे। बिरदावली कहते हुए आये कि जिससे राजा जनक के कुल की उत्तमता सबको मालूम हो जाय, यथा—"खोले निमि हेमखानि मिथिला सु पाले ग्राम जनक दया स्वशक्ति नारकी उधारे हैं। दानी उदायसु नंदिवर्द्धन सुकेतुकीर्त्ति देवरात सम्भु सेय बृहद्रथ भारे हैं। महाबीर सुधृत सधृष्टकेतु हरयाश्व मरुकीर्त्तिरथ के प्रतिधक धकारे हैं। देवमीड महीधृक सुकृती त्यों कीर्त्तिरात महारोम स्वर्णरोम यश के पँवारे हैं॥१॥ प्रकट ह्रस्व-रोम गुणपूर्ण रत्नाकर से ताके यश धवल सु चन्द्रमा सजाये हैं। सिद्ध याग्वल्क्य के प्रसाद योग भोग राज कर्षि हल भूतल ते तनुजा उपजाये हैं। कोरति प्रताप यश छायो सब लोक लोक सबल सुधन्वा मारि रन में गिराये हैं। निमिकुल शीशताज शीरध्वज महाराज बैजनाथ ता समाज कौन जात गाये हैं॥२॥

भाट लोग समय पर स्वयं आते हैं, पर आज बुलाना पड़ा, क्योंकि ये लोग भी उपर्युक्त—'लालसा

मगन सब लोगू।' में थे। अतः, प्रण कहने की इच्छा न थी। पहले 'बंदीजन' कहा, फिर 'भाट' कहकर उसका अर्थ भी प्रकट कर दिया।

(३) 'कह नृप जाइ कहहु ...'—'जाइ' अर्थात् राजा समाज से दूर पर थे। 'हरष न थोरा'—स्वामी की आज्ञा के अनुसरण करने में बहुत हर्ष होना उत्तम सेवकों का धर्म ही है। पुनः यह भी भाव है, इस कार्य में इन्हें कुछ भी हर्ष नहीं है, क्योंकि ये उपर्युक्त लालसावालों में हैं।

(४) 'बोले बंदी बचनबर...'—'बर' अर्थात् वचन श्रेष्ठ रोचक और राजाओं के आमर्ष बढ़ानेवाले हैं, वीरों को सुनकर हर्ष होगा। 'महिपाल' अर्थात् यह प्रण मुख्य करके राजाओं के लिये है, इसीलिये 'देव-दनुज' भी राजा बन-बनकर आये हैं। 'पन बिदेह कर'—राजा विदेह (ज्ञानी) हैं, उनका प्रण विचार-पूर्वक है। अतः, यह अन्यथा नहीं होगा, यथा—"बज्ररेख गजदसन जनकपन ..." (गी० बा० ८७), अर्थात् वज्र-रेखा की तरह अमिट है और हाथी के दाँत की तरह है जो लौटकर मुँह में पुनः आनेवाला नहीं होता, अर्थात् वचन निकला सो निकला। पुनः यह भी भाव है कि यह सबकी देह की सुध-बुध खोनेवाला प्रण है। 'बिदेह-कर', भाटों का अन्तर्भाव यह भी है कि देही ऐसा प्रण नहीं करेगा। जिसे देह ही पर ममता नहीं है वह कन्या पर कहाँ से ममत्व रक्खेगा? देही होते तो प्रण छोड़कर 'सीय-राम' का ब्याह ही करते!

'भुजा उठाइ बिसाल'—भुजा उठाकर प्रण कहने की रीति है, यथा—"भुज उठाइ पन कीन्ह।" (अर० दो० ९), "सत्य कहउँ दोउ भुजा उठाई।" (दो० १६४)। भुजा उठाना इसलिये होता है कि उस ओर सबकी दृष्टि और मन आ जाय। 'बिसाल' शब्द दीपदेहली है, अर्थात् ऊँची भुजाएँ देख लीजिये, पुनः प्रण भी विशाल है, सामान्य नहीं है। अन्तर्ध्वनि यह भी है कि जो विशाल भुज (भारी पराक्रमी) हों, वे ही उठें—यह नहीं कि भारी लाभ सुनकर सभी दौड़ पड़ें।

नृप-भुज-बल बिधु सिवधनु राहू। गरुअ कठोर बिदित सब काहू ॥१॥
रावन बान महाभट भारे। देखि सरासन गवहिं सिधारे ॥२॥
सोइ पुकारि-कोदंड कठोरा। राजसमाज आजु जोइ तोरा ॥३॥
त्रिभुवन - जय - समेत बैदेही। बिनहिं बिचार बरइ हठि तेही ॥४॥

अर्थ—राजाओं के बाहुबल रूपी चन्द्रमा के लिये शिवजी का धनुष राहु है। गरुअ (अधिक वजन का) और कठोर है, यह सब किसीको विदित है ॥१॥ रावण तथा बाणासुर जैसे भारी महाभट भी धनुष को देखकर गँव (चुपके) से चले गये ॥२॥ शिवजी के उसी कठोर धनुष को आज राजाओं के समाज में जो तोड़ेगा ॥३॥ उससे बिना किसी विचार के तीनो लोकों की विजय के साथ विदेह-नन्दिनी श्रीजानकीजी हठ-पूर्वक ब्याही जायँगी ॥४॥

विशेष—(१) 'नृप-भुजबल बिधु...'—भाव यह कि तुम सब राजाओं के भी बल को ग्रस लेगा। 'बिदित सब काहू'—हम भय दिखाने के लिये नहीं कहते, किन्तु सब किसीको ज्ञात है, आगे पुष्ट करते हैं।

(२) 'रावन बान'—इनके नाम देकर जनाया कि एक कैलास उठानेवाला और दूसरा सुमेरु उठानेवाला था। दोनों हार मानकर गये, छूने का भी साहस न पड़ा। 'गवहिं'—चुपके से एवं बहाना बनाकर। रावण ने कहा कि हमारे गुरु का धनुष है, हम कैसे तोड़ें? और बाणासुर ने कहा कि जानकीजी माता हैं—ऐसा कहकर दोनों चल दिये।

'सत्योपाख्यान में कहा है कि वह धनुष सभा के राजाओं में किसीको अजगर-रूप, किसीको सिंह-रूप और किसीको शिव-रूप से देख पड़ा। कोई उसके पास जाते ही अन्धा हो गया। बाणासुर को

शंका—धनुष का प्रमाण साढ़े तीन हाथ का है, उसमें दस हजार राजा कैसे लगे ?

समाधान—इस धनुष के विषय में सत्योपाख्यान का प्रमाण ऊपर कहा गया कि यह दिव्य था। अतः, अनेक रूपों से देख पड़ता था। वही बात गोस्वामीजी ने भी सूचित की है, यथा—"दाहिनो दियो पिनाक सहमि भयो मनाक महा ब्याल बिकल बिलोकि जनु जरी है॥" (गी० बा० ९०), "सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे। चितव गरुड़ लघु ब्यालहिं जैसे।" (दो० २५८)। अतः, जैसे धनुष को अनेक रूपों से देख पड़ने एवं सिकुड़ने की शक्ति थी, वैसे उसमें बढ़ने की भी शक्ति थी। जैसे-जैसे राजाओं के हाथ लगते गये—वह अधिक-अधिक बढ़ता गया। यह बात ऊपर के दोहे में ध्वनित है—"मनहुँ पाइ भट बाहुबल, अधिक-अधिक गरुआइ॥" इसमें बाहु के साथ अधिक-अधिक होना और बल के साथ उत्तरोत्तर गरुआना (भारी होना) कहा है। यह यथासंख्यालंकार से संगत है। ऐसे ही सुन्दरकाण्ड में श्रीहनुमानजी की पूँछ बढ़ने की भी बात है—"बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला।" (दो० २४)।

यहाँ जो 'एकहिं बार' से एक दिन का अर्थ करते हैं वह ठीक नहीं, क्योंकि इसी एक ही दिन में तो सभा का जुड़ना, प्रण सुनाना और राजाओं का लगना, फिर पीछे श्रीरामजी का तोड़ना आदि सब कार्य हुए। उनके लिये एक दिन कहाँ से बचा ? पुनः 'दस' से दशानन और 'सहस' से सहस्रबाहु अर्थ लेना भी ठीक नहीं, क्योंकि वे दोनों उठाने में लगे नहीं थे, उनके लिये तो 'गवहिं सिधारे', 'रावन बान छुवा नहिं चापा' कहा है। अतः, उपर्युक्त ही अर्थ ठीक है।

(२) 'डगइ न संभु-सरासन···'—सती (पतिव्रता) स्त्री का मन एक अपने पति ही में अनुरक्त रहता है, हजारों कामी लोगों के वचनों से उसका सत नहीं डिगता, वैसे यह धनुष भी दिव्य है, इसमें भी सत धर्म है, यथा—"पारबती-मन सरिस अचल धनु···" (जानकी मं० १०४), यह श्रीरामजी से ही अनुरक्त है। अतः, उन्हींसे टूटेगा, यथा—"जेहि पिनाक बिनु नाक किये जग, सबहिं बिषाद बढ़ायो। सोइ प्रभु कर परसत टूट्यो जनु हुतो पुरारि पढ़ायो॥" (गी० बा० ९१)। और—"नेदं धनुश्चलति किञ्चिदपीन्दुमौलेः। कामानुरम्य वचनामिव सन्निधानैरभ्यर्थितः प्रकृतिचारुमनः सतीनाम्॥" (प्राचीनगवत १।५६)।

(३) 'जैसे बिनु बिराग संन्यासी।'—यहाँ निवृत्ति का और ऊपर 'कामी बचन' से प्रवृत्ति का—ये दो दृष्टान्त दिये गये। ऐसे ही अंगदपैज पर भी दो ही दृष्टान्त हैं, यथा—"पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी। मोह-बिटप नहिं सकहि उपारी॥" "कोटि बिप्र ते संत कर, मन जिमि नीति न त्याग।" (लं० दो० ३३), क्योंकि दोनों जगह प्रतिज्ञा एक ही तरह है। वैराग्य के बिना संन्यासी मुँह पर हँसी करने योग्य हो जाता है कि वैराग्य नहीं था तो घर क्यों छोड़ा, वैसे ये लोग भी बल के बिना हँसने योग्य हुए। बल और बिराग समान हैं, यथा—"जब उर बल बिराग अधिकाई।" (उ० दो० १२१)।

(४) 'कीरति बिजय बीरता···'—वीरता से विजय और उससे कीर्त्ति होती है, इसलिये तीनों साथ ही कही गई हैं। 'भारी'—क्योंकि धनुष भी भारी है, यथा—"भंजेउ राम संभु-धनु भारी।" (दो० २६१)। 'चाप कर बरबस'—'बरबस' क्योंकि साधु राजाओं ने मना भी किया था। पूर्व कहा गया था—'जस प्रताप बल तेज गँवाई।' उसका यहाँ चरितार्थ हुआ। 'तेज' को आगे 'श्रीहत भये···' से कहते हैं।

पूर्व कहा गया था—"उठइ न चलइ लजाइ" (दो० २५०), उनका बैठना वहाँ नहीं कहा गया था। यहाँ भी—'चले चाप···' कहते हैं दोनों का आगे साथ ही बैठना कहते हैं—'बैठे निज निज···'। क्योंकि प्रथमवाले वहीं पास में खड़े देखते रहे कि देखें, इनसे टूटता है या नहीं। जब किसीसे न टूटा तब समाज में जाकर बैठे, क्योंकि अब कोई किसीको हँसनेवाला नहीं रह गया।

(५) 'श्रीहत भये हारि···', यथा—"नमित सीस सोचहिं सलज्ज सब श्रीहत भये सरीर।" (गी० बा० ८७), चाप तोड़कर कीर्त्ति आदि बढ़ाने आये थे। अपनी मूढ़ता के कारण गँवा बैठे। वही सोचते हैं,

यथा—"पश्य पश्य सुभटैः स्फुटभावं भक्तिरेव गमिता न तु शक्तिः। अञ्जलिर्विरचिता न तु मुष्टिर्मौलिरेव नमिता न तु चापः।" (प्रसन्न० १।३१)।

नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलाने। बोले बचन रोष जनु साने ॥६॥
दीप - दीप के भूपति नाना। आये सुनि हम जो पन ठाना ॥७॥
देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आये रनधीरा ॥८॥

दोहा—कुँअरि मनोहरि बिजय बड़ि, कीरति अति कमनीय।
पावनिहार बिरंचि जनु, रचेउ न धनुदमनीय ॥२५१॥

अर्थ—राजाओं को देखकर राजा जनक घबरा गये और ऐसे वचन बोले मानों वे क्रोध में मिले हुए थे ॥६॥ जो हमने प्रण किया था, उसे सुनकर द्वीप-द्वीप से अनेक राजा आये ॥७॥ मनुष्य शरीर धरकर देवता और दैत्य भी आये, और भी बहुत-से वीर रणधीर आये ॥८॥ मनोहर कन्या, बड़ी विजय और अत्यन्त सुन्दर कीर्ति को प्राप्त करनेवाले और धनुष तोड़नेवाले को मानों ब्रह्मा ने रचा ही नहीं ॥२५१॥

विशेष—(१) 'नृपन्ह बिलोकि जनक···'—जनक महाराज पूर्ण ज्ञानी हैं, इनकी दृष्टि में अज्ञान नहीं और बिना अज्ञान के द्वैत नहीं होता। पुनः द्वैत के बिना क्रोध नहीं हो सकता, यथा—"क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।" (उ० दो० १११), इसीलिये यहाँ 'रोष जनु साने' लिखा है, रोष (क्रोध) है नहीं, यह उनकी व्यावहारिक युक्ति है। प्रथम भाटों के अमर्षवाले वचनों पर मानो भट अत्यन्त फड़क उठे थे, कदाचित् अब भी कोई छिपे हों तो वे भी फड़क उठेंगे, वैसा ही हुआ भी—'माखे लखन···'। जनक महाराज के वचन उत्तेजित करनेवाले हैं, यथा—"तेहि समाज रघुराज के मृगराज जगाई। भंजि सरासन संभु को···" (गी० बा० १०१), अर्थात् उस समाज में रघुकुल शिरोमणि दशरथ महाराज के पुत्र रूप सिंह को जगाया गया (जनकजी ने वैसे वचनों से उत्तेजित किया), तब उन्होंने शिव-धनु का भंजन किया, यथा—"अनुहंकुरुते च घनध्वनिं नहि गोमायुरुतानि च केसरी।" (शिशुपालवध), अर्थात् सिंह मेघ के ही गर्जन पर गरजता है—गीदड़ों के बोलने पर नहीं, वैसे लक्ष्मणजी ने भाटों के वचनों पर ध्यान नहीं दिया था, राजा जनक की ही बातों से क्रुद्ध हुए।

(२) 'दीप-दीप के भूपति '—अर्थात् प्रत्येक द्वीप से बहुत-बहुत राजा प्रतिज्ञा सुनकर आये हैं। अतः, सब वीर ही हैं। कुछ यह नहीं कि निमन्त्रण से विवश होकर आये हों, यथा—"सप्त दीप नवखंड भूमि के भूपति बृंद जुरे। बड़ो लाभ कन्या कीरति को जहँ तहँ महिप मुरे ॥" (गी० बा० ८७)।

(३) 'देव दनुज धरि मनुज-सरीरा···'—देव से स्वर्ग, दनुज से पाताल और द्वीप-द्वीप से मर्त्यलोक के विपुल वीर जनाये। 'धरि मनुज-सरीरा'—क्योंकि यहाँ मनुष्यों का समाज है। अतः, इसी वेष में आना योग्य है, यथा—"धरि नृप-तनु तहँ गयेउ कृपाला।" (दो० १३४), इसमें क्षीरशायी भगवान् भी राज-समाज में राज-वेष से ही गये थे, तथा—"तब कछु काल मराल-तनु, धरि तहँ कीन्ह निवास।" (उ० दो० ५७)। वहाँ पक्षि-समाज में शिवजी पक्षी ही बनकर रहे।

(४) 'कुँअरि मनोहरि बिजय बड़ि···'—कुँवरि को मनोहर कहा, उससे अधिक बड़ी विजय, फिर उससे भी अधिक अत्यन्त सुन्दर कीर्ति कहकर उत्तरोत्तर अधिक लाभ दिखाया। यहाँ तीन वस्तुओं के लिये तीन विशेषण दिये गये हैं। अतः, 'मनोहरि' पद कुँअरि का ही विशेषण है, अन्यथा द्वीप-द्वीप के राजा क्यों दौड़े आते? उनमें हेर-फेर करने से अनुचित होगा। यदि कहा जाय कि अपनी कन्या का

शृंगार राजा ने कैसे कहा ? तो समाधान यह कि राजा ने अकुलाकर रोष में सने हुए वचन कहे हैं, ऐसी दशा मे लोक-लाज नहीं रहती, यथा—"सोक-बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा ॥" (अ० दो० २७५)। इसमें विजय को बड़ी और कीर्त्ति को अत्यन्त सुन्दर कहा है, इसमें रावण-बाणासुर से भी जीतने की कीर्त्ति होगी। वह सदा संसार में अचल रहेगी। 'जनु'—ब्रह्मा की गति पर जीव की पहुँच नहीं है। अतः, कुछ निश्चय नहीं रक्खा। सरस्वती ने राजा की वाणी से यह भी यथार्थ ही कहलाया, जो तोड़ेगा, वह ब्रह्मा की सृष्टि का नहीं है, यथा—"आपु प्रगट भये बिधि न बनाये।" (अ० दो० ११९)।

कहहु काहि यह लाभ न भावा। काहु न संकरचाप चढ़ावा ॥१॥
रहउ चढ़ाउब तोरब भाई। तिल भरि भूमि न सके छुड़ाई ॥२॥
अब जनि कोउ माखइ भट मानी। बीर - बिहीन मही मैं जानी ॥३॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि-बिबाहू ॥४॥
सुकृत जाइ जौ पन परिहरऊँ। कुँअरि कुँआरि रहउ का करऊँ ॥५॥
जौ जनतेउँ बिनु भट भुवि भाई। तौ पन करि होतेउँ न हँसाई ॥६॥

अर्थ—कहिये ! यह लाभ किसे नहीं रुचा ? परन्तु किसीने भी शिवजी का धनुष नहीं चढ़ाया ॥१॥ अरे भाई ! चढ़ाना और तोड़ना तो (दूर) रहे, कोई उसे भूमि से तिल भर भूमि भी तो नहीं छुड़ा सका ॥२॥ अब कोई अभिमानी वीर 'माख' न करे (क्रोध न करे, डींग न हाँके)। मैंने यह जान लिया कि पृथ्वी वीरों से रहित है ॥३॥ (सीता की) आशा छोड़िये, अपने-अपने घर जाते जाइये, ब्रह्माजी ने वैदेही का ब्याह लिखा ही नहीं ॥४॥ यदि मैं प्रतिज्ञा छोड़ दूँ, तो मेरा सुकृत (पुण्य) का नाश हो जायगा। अतः, मैं क्या कर सकता हूँ ? भले ही कन्या कुँआरी रह जाय ॥५॥ भाइयो ! यदि मैं जानता कि यह पृथ्वी बिना योद्धाओं की है तो प्रतिज्ञा करके मैं हँसी का पात्र नहीं बनता ॥६॥

विशेष—(१) 'यह लाभ न भावा'—हाथी, घोड़ा, द्रव्य आदि ऐश्वर्य तो सभी के पास हैं। पर यह लाभ नहीं है, क्योंकि—"सुनि पन सकल भूप अभिलाखे।" कहा ही है।

'संकर-चाप'—अर्थात् यह चाप तोड़नेवाले के लिये शं (कल्याण) कर (करनेवाला) था।

(२) 'रहउ चढ़ाउब तोरब···'—अर्थात् पूर्वोक्त—'राज-समाज आजु जोइ तोरा' में 'तोरा' का अर्थ चढ़ाकर तोड़ना था, वह यहाँ स्पष्ट हुआ। यह भी भाव है कि तोड़ना उत्तम, चढ़ाना मध्यम और तिल भर भूमि से छुड़ा देना निकृष्ट बल का कार्य था।

(३) 'अब जनि कोउ माखइ···'—यह पूर्वोक्त—'भटमानी अतिसय मन माखे।' के प्रति कहा गया है कि पूर्व बन्दियों के कहने पर फड़के सो फड़के, पर अब नहीं फड़कना। 'मही'—तीनो लोकों के वीरों और रणधीरों का आना कहा था, यहाँ पृथ्वी ही को कहते हैं, क्योंकि तीनो लोकों के वीर अभी यहीं पर—पृथ्वी ही में हैं।

शंका—राजा जनक श्रीरामजी का प्रभाव भी सुन चुके हैं, फिर एका-एक ऐसे वचन क्यों कह दिये—'बीर-बिहीन मही मैं जानी' ?

समाधान—राजा जनक एक तो व्याकुलता एवं परिताप में ये वचन कह रहे हैं, यथा—"मेटहु तात जनक-परितापा।" (दो० २५३), दूसरे इस समय श्रीरामजी में उनकी शिशु-दृष्टि है, यथा—"सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु-सम प्रीति न जाइ बखानी ॥" (दो० २४१)। अतः, इनमें वीर-दृष्टि रही ही नहीं। पुनः दैव-योग से भी ये वचन निकले हैं, क्योंकि श्रीरामजी चुप बैठे ही रह गये, इन्होंने भाटों के

कथन पर दृष्टि ही न दी, इन्हें वैसे ही आमर्ष के वचनों से जाग्रत् करना है, यथा—"तेहि समाज रघुराज के मृगराज जगाई।" (गी० १०१)। हनुमन्नाटक में ऐसा ही कहा है—"आद्वीपात्तरतोऽप्यमी नृपतयः सर्वे समाभ्यागताः, कन्यायाः कलधौतकोमलरुचेः कीर्त्तेश्च लाभः परः। नाकृष्टं न च टङ्कितं न नमितं नोत्थापितं स्थानतः, केनापीदमहो महद्धनुरिदं निर्वीरमुर्वीतलम्॥" (१।१०)।

(४) 'तजहु आस निज···'—राजाओं को आशा थी कि अब जयमाल-स्वयंवर होगा। उसका दृढ़ निराकरण करते हैं कि प्रण-पूर्त्ति के बिना ब्रह्मा ने ब्याह लिखा ही नहीं।

(५) 'सुकृत जाइ जौ···'—यदि कोई कहे कि कन्या को बिना ब्याहे रखना भी तो अयोग्य है, उसपर अपनी विवशता दिखाते हैं कि कन्या सुकृत से ही प्राप्त हुई है, प्रतिज्ञा छोड़ने ही सुकृत का नाश हो जायगा, यथा—"प्रतिश्रुत्य करिष्येति उक्तं वाक्यमकुर्वतः। इष्टापूर्तवधो भूयात्तस्माद्रामं विसर्जय॥" (वाल्मी० १।२१।८), "सत्यमूल सब सुकृत सुहाये।" (अ० दो० २७), तथा—"वसुर्यज्ञशतैरिष्ट्वा द्वितीय इव वासवः। मिथ्याभिधानेनैकेन रसातलतलं गतः॥" (महा० अनुशा० ६।३४), अर्थात् दूसरे इन्द्र के समान वसु ने सौ यज्ञ पूरा करके भी एक ही बार मिथ्या वचन कहने से रसातल में गमन किया। जैसे सुकृत बचने का उपाय प्रण का नहीं छोड़ना है, वैसे यदि कन्या के ब्याह का दूसरा उपाय होता तो करते, पर है नहीं तो क्या करें? जिस सुकृत ने ऐसी कन्या दी है, उसका निरादर तो उचित नहीं, यथा—"तुम्ह सम सुवन सुकृत जेहि दीन्हे। उचित न तासु निरादर कीन्हे॥" (अ० दो० ४२)।

(६) 'होतेउँ न हँसाई'—लोग हँसेंगे कि राजा जनक ज्ञानी होते हुए भी मूर्ख ही देखने में आये कि उन्होंने विचार कर प्रण नहीं किया जिससे कन्या कुँआरी ही रह गई, इत्यादि।

जनक - बचन सुनि सब नरनारी। देखि जानकिहिं भये दुखारी॥७॥
माखे - लखन कुटिल भईं भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौंहें॥८॥

दोहा—कहि न सकत रघुबीर-डर, लगे बचन जनु बान।
नाइ राम-पद-कमल सिर, बोले गिरा प्रमान॥२५२॥

शब्दार्थ—गिराप्रमान = प्रामाणिक वचन।

अर्थ—श्रीजनकजी के वचन सुनकर वहाँ के समस्त स्त्री-पुरुष श्रीजानकजी को देखकर दुखी हुए॥७॥ लक्ष्मणजी क्रुद्ध हुए, उनकी भौंहें टेढ़ी हो गईं, होंठ फड़कने लगे, नेत्र क्रोध-युक्त (लाल) हो गये॥८॥ श्रीरघुवीर के भय से कह नहीं सकते, पर जनकजी के वचन उन्हें बाणों की तरह लगे, श्रीरामजी के चरण-कमलों में सिर झुकाकर प्रामाणिक वचन कहने लगे॥२५२॥

विशेष—(१) 'जनक-बचन सुनि·····'—नर-नारी धनुष न टूटने से प्रसन्न थे कि अब जब जयमाल-स्वयंवर होगा, तब श्रीजानकीजी अवश्य ही श्रीरामजी को जयमाला पहनावेंगी, यथा—"बिनु भंजेहु भव-धनुष बिसाला। मेलिहि सीय राम-उर माला॥" (दो० २४४), पर जब राजा ने नाहीं कर दी, तब ये लोग दुखी हुए।

(२) 'माखे लखन·····'—भाटों के वचन पर इन्हें क्रोध नहीं हुआ था, पर तुच्छ राजा घबरा उठे थे। जब स्वयं राजा ने कहा—'बीरबिहीन मही·····' तब इन्हें क्रोध हो आया, क्योंकि इस वचन में श्रीरामजी का अपमान है—वे भी यहाँ बैठे हैं। इनके अपमान पर लक्ष्मणजी पिता तक को कठोर वचन कह डालेंगे, परशुराम को भी बहुत कुछ कहेंगे, भरत-शत्रुघ्न के प्रति भी कुछ उठा नहीं रक्खेंगे, फिर वे यहाँ इतनी बड़ी सभा में इष्ट के अपमान पर चुप कैसे रह सकते थे?

(३) 'कहि न सकत·····'—यद्यपि श्रीरामजी से डरते हैं कि ब्रह्मज्ञानी राजा के प्रति कठोर

कहने से ये अप्रसन्न होंगे, तथापि क्षमा के लिये प्रणाम करके बोले। पुनः, कार्यारम्भ में इष्ट को प्रणाम करना ही चाहिये।

'बचन जनु बान'—विषम बाण लगने पर हाहाकार किये बिना रहा ही नहीं जाता, वैसे ही रघुवीर के डर से बोलना अयोग्य होते हुए भी बिना बोले नहीं रहा गया। तथा—"वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि। परस्य नाममर्मसु ते पतन्ति तान्पण्डितो नावसृजेत्परेषु॥" (महा० शान्ति० २९८।९), अर्थात् जो वाक्य रूपी बाण मुख से बाहर होते हैं उससे घायल होकर लोग रात-दिन शोकार्त्त हुआ करते हैं, वे वाक्य बाण दूसरों के मर्मस्थल से अतिरिक्त अन्यत्र नहीं लगते। अतएव पण्डितों को उचित है कि वैसे वाग्बाणों से दूसरों को न बेधें।

'गिरा प्रमान'—अर्थात् जनकजी के वचन अप्रामाणिक थे। इससे ये योग्य वचन बोले कि जिसमें स्वामी का सम्मान हो और वे वचन अपने सामर्थ्य से बाहर भी न हों।

रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहइ न कोई॥१॥
कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुल-मनि जानी॥२॥
सुनहु भानु - कुल - पंकज-भानू। कहउँ सुभाव न कछु अभिमानू॥३॥
जौ तुम्हारि अनुसासन पावउँ। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावउँ॥४॥
काँचे घट जिमि डारउँ फोरी। सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी॥५॥
तव प्रताप - महिमा भगवाना। का बापुरो पिनाक पुराना॥६॥

अर्थ—रघुवंशियों में से कोई भी जहाँ रहता है, उस समाज में कोई ऐसा नहीं कहता॥१॥ जैसे अनुचित वचन राजा जनकजी ने, रघुकुल में शिरोमणि (आप) को उपस्थित जानते हुए भी, कह डाले हैं॥२॥ हे सूर्य-कुल-रूपी कमल के सूर्य! सुनिये, मैं अच्छे भाव से ही कहता हूँ, कुछ अभिमान से नहीं कह रहा हूँ॥३॥ यदि मैं आपकी आज्ञा पाऊँ तो गेंद की भाँति सारे ब्रह्माण्ड को उठा लूँ॥४॥ और उसे कच्चे घड़े की तरह फोड़ डालूँ। सुमेरु गिरि को मूली की तरह तोड़ सकता हूँ॥५॥ हे भगवन्! यह सब आपके प्रताप की महिमा है, इसके सामने बेचारा पुराना शिवजी का धनुष क्या है?॥६॥

विशेष—(१) 'रघुबंसिन्ह महँ जहँ···'—'कोउ'—कोई भी इस कुल का हो, वह समाज भर की मर्यादा रखता है, उसके होते हुए, अनजान में भी ऐसा कोई नहीं कह सकता। इन्होंने रघुकुल के शिरोमणि को जानते हुए भी ऐसा कहा है, यथा—"रघुकुल मनि दसरथ के जाये।·····जिते असुर संग्राम।" (दो० २१६)—यह विश्वामित्रजी से सुन चुके हैं।

(२) 'सुनहु भानु-कुल-पंकज·····'—श्रीजानकीजी के जानने में श्रीरामजी को 'मनि' कहा, अपनी परिभाषा में 'भानू' विशेषण कहा, अर्थात् जनकजी ने आपका तेज कम माना, क्योंकि मणि में प्रकाश अल्प होता है और मैं आपके सूर्यवत् प्रताप को जानता हूँ, तथा रघुकुल पद के सम्बन्ध में 'मणि' भी युक्त था, पर 'भानुकुल' पद के साथ 'मणि' कहने में ये निज कुल में न्यून समझे जाते। अतः, 'भानू' ही युक्त है।

'न कछु अभिमानू'—मैं केवल आपके प्रताप की महिमा कहता हूँ, इसमें मेरा अभिमान कुछ भी नहीं है। यह सफाई इसलिये देते हैं कि श्रीरामजी को जन का अभिमान नहीं सुहाता, यथा—'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन-अभिमान न राखहिं काऊ॥" (उ० दो० ७३)।

(३) 'जौ तुम्हारि अनुसासन·····'—'जौ' यह दुविधा वचन है, अर्थात् ऐसी आज्ञा मिल नहीं

सकती, क्योंकि अभी प्रलय का अवसर नहीं है। 'तुम्हारि·····'—क्योंकि ब्रह्माण्ड के स्वामी आप हैं, बिना आपकी आज्ञा से मैं कैसे कुछ कर सकता हूँ ?

(४) 'काँचे घट जिमि डारउँ फोरी।·····'—धनुष के विषय में उठाना और तोड़ना कहा गया था, इसलिये यहाँ ब्रह्माण्ड ही को गेंद के समान उठाना और उसे ही दोनों हाथों की हथेली से दबाकर फोड़ना कहा। गेंद फोड़ा नहीं जाता। अतः, 'काँचे घट' की भी उपमा दी। पटककर फोड़ना नहीं कहते, क्योंकि जब ब्रह्माण्ड ही उठा लेंगे, तब तो शून्य ही रह जायगा, फिर पटकेंगे किसपर ?

'सकउँ मेरु मूलक इव तोरी।'—ब्रह्माण्ड में तो सुमेरु भी आ ही गया, पर उसे पृथक् भी कहते हैं, क्योंकि जनकजी ने तीन भेद कहा था—चढ़ाना, तोड़ना और तिल भर भूमि से छुड़ाना। प्रतिज्ञा में 'गरुअ-कठोर' कहा गया था। उसकी पूर्त्ति में कहते हैं कि धनुष से बहुत अधिक भारी ब्रह्माण्ड है, हम उसे ही उठा लेंगे, तिल भर हटाना क्या ? चढ़ाने और तोड़ने के प्रति कठोर सुमेरु को कहते हैं—"का बापुरो पिनाक मेलि गुन मंदर मेरु नवावौं।" (गी० बा० ८७), अर्थात् सुमेरु में रौंदा चढ़ाकर मूली की तरह उसे तोड़ सकता हूँ !

(५) 'तव प्रताप महिमा भगवाना·····'—'भगवाना'—अर्थात् आप षडैश्वर्य पूर्ण हैं, उससे स्वाभाविक ही सृष्टि, पालन एवं प्रलय करते हैं, आपके प्रताप के आगे यह पुराना (देवरात जनक के समय से रक्खा हुआ) पिनाक को तोड़ना तो कुछ है ही नहीं।

ब्रह्मांड को—'डारउँ फोरी'—उत्तम बल, 'मंदर मेरु नवावौं'—मध्यम बल, 'ब्रह्मांड उठावउँ'—निकृष्ट बल और—'का बापुरो पिनाक पुराना' (इसका तोड़ना) अत्यन्त निकृष्ट बल की बात है। अन्त में—'तव प्रताप महिमा···' कहकर उपर्युक्त सब बातों का होना इसीसे जनाया।

नाथ जानि अस आयसु होऊ। कौतुक करउँ बिलोकिय सोऊ ॥६॥
कमलनाल जिमि चाप चढ़ावउँ। जोजन सत प्रमान लै धावउँ ॥८॥

दोहा—तोरउँ छत्रकदंड जिमि, तव प्रताप - बल नाथ।
जौ न करउँ प्रभु-पद-सपथ, कर न धरउँ धनु-भाथ ॥२५३॥

शब्दार्थ—छत्रकदंड = कठफूल, भुइँफोड़, कुकुरमुत्ता, यह वर्षा में स्वयं भूमि से छत्ते की तरह निकलता है। प्रमान = परिमाण, पर्यन्त।

अर्थ—हे नाथ ! ऐसा जानकर आज्ञा हो जाय तो कुछ कौतुक करूँ, वह भी देखिये ॥७॥ धनुष को कमल की डंडी की तरह चढ़ा दूँ और सौ योजन पर्यन्त उसे लिये हुए दौड़ जाऊँ ॥८॥ हे नाथ ! आपके बल और प्रताप से उसे मैं छत्रकदंड की तरह तोड़ डालूँ। यदि ऐसा न करूँ, तो हे प्रभो ! आपके चरणों की सौगंद करता हूँ कि धनुष और तरकस पर हाथ न धरूँ अर्थात् न छुऊँ।

विशेष—(१) 'नाथ जानि अस·····'—ऐसा जानकर कि आपके प्रताप से मैं यह सब कर सकता हूँ। 'आयसु होऊ'—प्रथम आज्ञा माँगने में 'जौ' कहा था, क्योंकि उसकी आशा न थी। यहाँ तो धनुष तोड़ने ही को रक्खा है। अतः, आशा है। पर आज्ञा का रुख न पाकर कहते हैं कि 'कौतुक करउँ' अर्थात् इसमें मुझे श्रम न होगा। फिर आप राजा हैं। राजा लोग कौतुक देखना चाहते हैं। अतः, मैं करूँ और आप देखें। 'कौतुक'—का यह भी भाव है कि मैं कौतुक के लिये धनुष उठाऊँ—तोड़ूँगा, प्रतिज्ञा के नियम से ब्याह के लिये नहीं, क्योंकि उसका फल तो मेरे लिये पाप है, यथा—"नतरु···चढ़ाइ चाप···फल पापमई है।" (गी० बा० ८३), अर्थात् योग्य बड़े भाई के रहते हुए छोटे का प्रथम विवाह होना स्मृतियों में दूषित है, यथा—"परिवित्तिः परिवेत्ता ब्रह्मघ्नो यश्च कुत्सकः।" (महा० शान्ति० ३४।४),

अर्थात् जेठ भाई के रहते हुए जो ब्याह करता है वह परिवेत्ता और उसका बड़ा भाई परिविक्ति कहाता है, यथा—"दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुतेयोऽग्रजे स्थिते। परिवेत्ता स विज्ञेयः परिविक्तिस्तु पूर्वजः ॥१७१॥ परिविक्तिः परिवेत्ता यया च परिविद्यते। सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥१७२॥ (मनु० ३)। प्रायश्चित्त, यथा—"कृच्छ्राद्वादशरात्रेण संयतात्मा व्रतेस्थितः। परिवेत्ता भवेत्पूतः परिविक्तिस्तथैव च ॥" (महा० शान्ति० ३५।२७)।

(२) 'कमल-नाल जिमि···'—बिना श्रम ही चढ़ा लूँ। 'सत' शब्द अनन्तवाची है। यह वचन 'तिल भरि भूमि···' के प्रति कहा गया है, यथा—"देखो निज किंकर को कौतुक क्यों कोदंड उठावौं। लै धावौं भंजउँ मृनाल ज्यों तव प्रभु-अनुग कहावौं ॥" (गी० बा० ८७)।

(३) 'तोरउँ छत्रकदंड जिमि···'—पूर्व सुमेरु को मूली की तरह तोड़ना कहा था। पिनाक को पुराना कहा है। अतः, इसे उसकी अपेक्षा बहुत ही तुच्छ दिखाते हुए, छत्रकदंड की तरह तोड़ना कहते हैं, क्योंकि वह छूते ही टूटता है। पूर्व—'तव प्रताप महिमा···' कहा था। वैसे यहाँ भी—'तव प्रताप-बल कहा। अन्यथा समझा जाता कि इसे ये अपने पुरुषार्थ ही से कर लेंगे। भाव, मैं किसी योग्य नहीं, आपका प्रताप ही चाहे जो करावे।

'जौ न करउँ प्रभुपद···'—इसका उपक्रम—'नाइ रामपद कमल सिर' से है, यहाँ—'जौं न करउँ प्रभुपद सपथ' पर उपसंहार हुआ है। यहाँ प्रभु-पद की शपथ के साथ 'धनु-भाथ' न छूने की शपथ है और मेघनाद वध के समय—'तौ रघुपति-सेवक न कहावउँ' कहा है, क्योंकि वहाँ सेवा का कार्य था, प्रभु ने स्वयं करने को कहा था। यहाँ क्षात्रधर्म का कार्य है। अतः, धनुष-तरकश के न छूने की शपथ की है। 'कर न धरउँ' किसी वस्तु पर हाथ रखना छूने के अर्थ में भी होता है, वह अर्थ यहाँ है। केवल 'धरउँ' से भी काम चल जाता, पर यहाँ यह भी दिखाना है कि जिस कर से उपर्युक्त कार्य करना कहा है, उसको क्रीड़ा एवं शोभा धनुष-बाण के सम्बन्ध से है, वह इनसे रहित रहेगा। तरकश के साथ बाण आ ही गये। ऐसा ही महानाटक में भी है—"देव श्रीरघुनाथ किं बहुतया दासोऽस्मि ते लक्ष्मणो, मेर्वादीनपि भूधरान्न गणये जीर्णः पिनाकः कियन्। तन्मामादिश पश्य पश्य च बलं भृत्यस्य यत्कौतुकं, प्रोद्धर्तुं प्रतिनामितुं प्रचलितुं नेतुं निहन्तुं क्षमः ॥" (हनु० १।११)।

अलंकार—'स्वभावोक्ति', क्योंकि 'कहउँ सुभाव न कछु···' से यहाँ तक स्वभाव-कथन और प्रतिज्ञा से पुष्टि है।

लखन सकोप बचन जब बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले ॥१॥
सकल लोक सब भूप डेराने। सियहिय हरष जनक सकुचाने ॥२॥
गुरु रघुपति सब मुनि मन माहीं। मुदित भये पुनि पुनि पुलकाहीं ॥३॥
सैनहिं रघुपति लखन निवारे। प्रेमसमेत निकट बैठारे ॥४॥

अर्थ—जब लक्ष्मणजी क्रोध भरे वचन बोले, तब पृथ्वी हिल गई और दिशाओं के हाथी डोलने लगे अर्थात् वे अचल न रह सके ॥१॥ सभी लोग और समस्त राजा डर गये। सीताजी के हृदय में हर्ष हुआ और जनकजी सकुचा गये ॥२॥ गुरु विश्वामित्रजी, श्रीरघुनाथजी और समस्त मुनि मन में प्रसन्न हो गये और फिर-फिर पुलकायमान हुए ॥३॥ श्रीरघुनाथजी ने संकेत से लक्ष्मणजी को मना किया और प्रेम के साथ अपने पास में बैठा लिया ॥४॥

विशेष—(१) 'लखन-सकोप बचन···'—लक्ष्मणजी के वचन प्रमाणित करने के लिये—'डगमगानि महि···' की घटना हुई। अन्यथा राजा लोग इनको डींग ही समझते। इसीसे इसके पीछे सब

लोगों और सब राजाओं का डरना कहा गया। सामान्य लोगों की अपेक्षा राजा लोग धीर होते हैं। अतः, सब लोगों से पीछे उनका डरना कहा गया।

'सकोप बचन'—जब तक भौंहें टेढ़ी हुईं, नेत्र लाल हुए एवं ओष्ठ फड़कते रहे, तब तक पृथ्वी आदि नहीं डोले, जब वचन सुने कि ये तो ब्रह्माण्ड ही तोड़ने-फोड़ने पर तुले हैं, तब काँपने लगीं कि हमारा ही नाश करेंगे। 'माखे लखन'—मन, 'रदपट फरकत'—कर्म, 'बचन बोले'—वचन, अर्थात् मन, वचन कर्म से लक्ष्मणजी कुपित हुए।

(२) 'गुरु रघुपति सब···'—मन में ही प्रसन्न हुए, क्योंकि जनकजी सकुचा गये हैं, प्रकट हँसने एवं लक्ष्मण को बधाई देने में वे बहुत ही लज्जित होते। समझ-समझकर बार-बार पुलकते हैं कि हैं तो बालक, पर कैसे उत्तम वचन कहे हैं कि अपनी वीरता श्रीराम-कृपा से ही कही और राजा जनक के प्रति अपमान के वचन भी नहीं कहे। निर्भीक एवं श्रीरामप्रतापप्रदर्शक वचन हैं। इससे गुरुजी और मुनियों को हर्ष हुआ। उत्साह एवं आशावर्द्धक होने से श्रीजानकीजी को हर्ष हुआ। राजा जनक सकुचा गये, क्योंकि मुनि से श्रीरामजी का बल एवं कीर्त्ति सुन चुके थे। फिर भी माधुर्य में भूले हुए थे।

अलंकार—'तुल्ययोगिता प्रथम', क्योंकि यहाँ अनेक उपमेयों का—एक धर्म कथन है।

(३) 'सैनहिं रघुपति लखन···'—संकेत से ही मना किया, प्रकट कहते कि बैठ जाओ तो उनका निरादर होता। कुटिल राजा लोग यह न समझें कि अब दोनों भाइयों में भी धनुष तोड़ने का झगड़ा होगा, इसलिये संकेत से बैठाकर सूचित किया कि ये मेरे अधीन हैं। 'निकट बैठारे'—लक्ष्मणजी प्रथम मुनि की बाईं ओर बैठे थे। समाज-भर को सुनाने के लिये खड़े होकर बोले थे, अब श्रीरामजी ने अपनी बगल में बैठा लिया। इससे अधिक स्नेह एवं आदर जनाया, यथा—"अति आदर समीप बैठारी।" (लं० दो० ३७), "कर गहि परम निकट बैठावा।" (सुं० दो० ३२)।

बिस्वामित्र समय सुभ जानी। बोले अति सनेहमय बानी ॥५॥
उठहु राम भंजहु भवचापा। मेटहु तात जनकपरितापा ॥६॥
सुनि गुरुबचन चरन सिर नावा। हरष-बिषाद न कछु उर आवा ॥७॥
ठाढ़ भये उठि सहज सुभाये। ठवनि जुवा मृगराज लजाये ॥८॥

दोहा—उदित उदयगिरि-मंच पर, रघुबर बालपतंग।
बिकसे संतसरोज सब, हरषे लोचनभृंग ॥२५४॥

अर्थ—विश्वामित्रजी शुभ समय जानकर अत्यन्त स्नेहमयी वाणी से बोले ॥५॥ हे राम! उठो, शिवजी के धनुष को तोड़ डालो, हे तात! जनकजी का सन्ताप मिटा दो ॥६॥ गुरुजी के वचन सुनकर (रामजी ने) उनके चरणों में सिर नवाया, उनके मन में कुछ हर्ष या दुःख नहीं आया ॥७॥ वे साधारण स्वभाव से उठ खड़े हुए उनकी ठवनि (शरीर की अकड़) से युवा सिंह लज्जित होते हैं ॥८॥ मंच-रूपी उदयगिरि पर रघुवर-रूपी बाल-सूर्य उदित हुए। सब सन्त-रूपी कमल प्रफुल्लित हुए, और (सबके) नेत्ररूपी भौंरे हर्षित हुए ॥२५४॥

विशेष—(१) 'बिस्वामित्र समय ···'—धनुष टूटने के योग्य शुभ मुहूर्त्त जानकर, तथा यह अवसर भी है, क्योंकि अब कोई राजा नहीं कह सकता कि श्रीरामजी ने तोड़ ही डाला, नहीं तो हम तोड़ते। अब तोड़ने से श्रीरामजी दोनों लोकों के विजयी होंगे, इत्यादि शुभ योग जानकर, अत्यन्त स्नेह से कहा। इसीसे धनुर्भंग पर प्रथम इन्हें ही सर्वाधिक प्रेम एवं सुख होगा।

(२) 'उठहु राम भंजहु भव···'—राजा लोग—'त्रिभुवन-जय समेत बैदेही।' के लोभ से उठे थे। लोभ अप्राप्त पदार्थ में होता है। श्रीरामजी पूर्णकाम हैं, पुनः श्रीसीताजी तो इन्हीं की आदिशक्ति हैं, इसीलिये इन्हें भक्त जनक का परिताप मिटाना कहा, क्योंकि प्रभु भक्त के दुःख को दूर करते हैं। 'भव-चापा'—यह ईश्वर शिव का धनुष है, कुछ मनुष्य का नहीं है कि आपकी लघुता हो। यदि यह कहा जाय कि शिवजी भी भक्त हैं, उनका धनुष क्यों तोड़ें तो इसपर कहते हैं—'जनक-परितापा' अर्थात् शिवजी ने जनकजी को दे ही दिया है, उसके टूटने ही से जनकजी का दुःख मिटेगा।

(३) 'हरष-बिषाद न कछु·····'—हर्ष-विषाद आदि बद्ध जीव के धर्म हैं, यथा—"हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव-धरम अहमिति अभिमाना॥" (दो० ११५)। श्रीरामजी इनसे रहित हैं, यथा—"बिसमय-हरष-रहित रघुराऊ।" (अ० दो० ११), पुनः हानि-लाभ से विषाद-हर्ष होता है, इसे भी श्रीरामजी नहीं मानते, यथा—"का छति लाभ जून धनु तोरे।" (दो० २७१)। सब राजा बड़ा लाभ सुनकर अकुला उठे थे, पीछे न टूटने पर उन्हें विषाद भी हुआ था। इससे रामजी का 'सहज स्वभाव' से खड़ा होना कहते हैं। इसपर राजा जनक को शोच हुआ, यथा—"सोचत जनक पोच पेंच परि गई है।···" (गी० बा० ८४), यह पूरा पद देखने योग्य है।

(४) 'बिकसे संत-सरोज·····'—बाल-सूर्य के उदय से कमल और भ्रमर दोनों को आनन्द प्राप्त होता है। 'सब' शब्द दीप-देहली है। सब सन्त कमल-रूप हैं, वे प्रफुल्लित हो गये। जब त्रिकालज्ञ सन्त प्रफुल्लित हो रहे हैं, पृथ्वी आदि के डोलने पर भी विश्वास है कि जब लक्ष्मणजी के वचन से ऐसा हुआ तब रामजी अवश्य ही धनुष तोड़ेंगे। ऐसा विचार कर सब लोगों के नेत्र-रूपी भौंरे प्रसन्न हुए। नेत्र का विषय रूप है, उसकी श्रेष्ठता पर वह आनन्दित होता है, यथा—"राम-रूप अरु सिय-छबि देखी। नर-नारिन्ह परिहरीं निमेषी॥" (दो० २४८), "पुर-बासिन्ह देखे दोउ भाई। नर-भूषन-लोचन सुखदाई॥" (दो० २४०), सरोज और भृंग भिन्न-भिन्न हैं। अतः, अंग-अंगी नहीं हो सकते कि दोनों बातें सन्तों में ही लगें। यदि कहो कि भ्रमर को सूर्य देखकर हर्ष नहीं होता तो इसका समाधान है—भ्रमर को सूर्य-उदय पर कमलों के खिलने से रस प्राप्त होता है, तब वे प्रसन्न होते हैं। वैसे ही यहाँ श्रीरामजी के खड़े होने पर सन्त प्रफुल्लित हुए और श्रीरामजी के धनुष तोड़ने का विश्वास हुआ, तब उनके रूप के दर्शनों से अधिक रस प्राप्त हुआ—अपने उचित नाते से प्रीति-पूर्वक देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए।

नृपन्ह केरि आसा निसि नासी। बचन नखतअवली न प्रकासी॥१॥
मानी महिप कुमुद सकुचाने। कपटी भूप उलूक लुकाने॥२॥
भये बिसोक कोक मुनि देवा। बरिसहिं सुमन जनावहिं सेवा॥३॥
गुरुपद बंदि सहित अनुरागा। राम मुनिन्ह सन आयसु माँगा॥४॥
सहजहि चले सकल-जग-स्वामी। मत्त - मंजु-बर- कुंजर - गामी॥५॥

अर्थ—राजाओं की आशारूपी रात्रि नष्ट हो गई, उनके वचन-रूपी नक्षत्र-पंक्ति का प्रकाश अब नहीं रह गया॥१॥ अहंकारी राजा-रूपी कुमुद (कुई) संकुचित हुए। छली राजा रूपी उल्लू (घुघू) छिप गये॥२॥ मुनिगण और देवगण-रूपी चकवे शोक-रहित हुए। वे पुष्पों की वर्षा करके अपनी-अपनी सेवा प्रकट कर रहे हैं॥३॥ अनुराग-पूर्वक गुरुजी के चरणों की वन्दना करके श्रीरामजी ने मुनियों से आज्ञा माँगी॥४॥ सम्पूर्ण जगत् के स्वामी श्रीरामजी सुन्दर मतवाले श्रेष्ठ हाथी के समान चाल से स्वाभाविक रूप में ही चले॥५॥

विशेष—यहाँ अभ्युदय दिखाना है, इसलिये प्रातःकालीन सूर्य का रूपक बाँधा है, जहाँ अगाधता कहनी होती है, वहाँ सागर का और जहाँ दुःखद भाव कहना होता है, वहाँ सायंकाल का रूपक बाँधते हैं—यह ग्रन्थकार का नियम-सा है।

(१) 'नृपन्ह केरि आसा निसि ···'—सूर्य-रूपी श्रीरामजी के उदय से जयमाल-स्वयंवर की आशा-रूपी रात नष्ट हुई, यथा—"बिनु रबि राति न जाइ।" (उ० दो० ७८)। यहाँ सूर्य का 'समस्त वस्तु-विषयक-सांग-रूपक' बाँधा गया है, क्योंकि धर्म की समानता है और वाचक का लोप है।

(२) 'गुरु-पद बंदि सहित·····'—गुरुजी ने 'अति-सनेह मय बानी' से आज्ञा दी थी, अतएव श्रीरामजी ने अनुराग से उनकी वन्दना की और सभी मुनियों से आज्ञा माँगी। बड़ों से आज्ञा लेकर कार्य करना नीति है। आप नीति मार्ग के संस्थापक हैं।

(३) 'सहजहिं चले सकल जग···'—सब राजा कुछ-कुछ भूमि के स्वामी थे, पुनः जीव होने से अल्प दृष्टिवाले थे, इससे बड़ा लाभ सुन अकुलाकर दौड़ पड़े थे। श्रीरामजी सम्पूर्ण जगत् के स्वामी हैं, सब इन्हीं के हैं। अतः, घबराये नहीं, हाथी की तरह धीर-गम्भीर चाल से चले। आगे भी इसीके अनुकूल कहना है, यथा—"तीनि लोक महँ जे भट मानी।···तहाँ राम रघुबंसमनि, सुनिय महा महिपाल। भंजेउ चाप प्रयास बिनु, जिमि गज पंकज-नाल॥" (दो० २९२)।

चलत राम सब पुर - नर-नारी। पुलक - पूरि-तनु भये सुखारी ॥६॥
बंदि पितर सुर सुकृत सँभारे। जौ कछु पुन्य - प्रभाव हमारे ॥७॥
तौ सिवधनु मृनाल की नाईं। तोरहु राम गनेस गोसाईं ॥८॥

दोहा—रामहिं प्रेम समेत लखि, सखिन्ह समीप बोलाइ।
सीता-मातु सनेहबस, बचन कहइ बिलखाइ ॥२५५॥

अर्थ—श्रीरामजी को चलते हुए देखकर नगर के स्त्री-पुरुष पुलकावली से पूर्ण हुए और सब सुखी हुए ॥६॥ वे पितरों और देवों की वन्दना कर और अपने सब पुण्यों का स्मरण करते हुए कहते हैं कि जो कुछ भी हमारे पुण्यों का प्रभाव हो ॥७॥ तो हे गणेश गोसाईं! श्रीरामजी शंकरजी के धनुष को कमल की डाँड़ी की नाईं तोड़ डालें ॥८॥ श्रीरामजी को प्रेमपूर्वक देखकर सखियों को पास बुला सीताजी की माता (सुनयनाजी) स्नेह-वश बिलखती हुई (दुःख सहितः) ये वचन कहती हैं ॥२५५॥

विशेष—(१) 'चलत राम सब·····'—पूर्व लोगों के नेत्र भौंरों के समान रूप पर प्रसन्न हुए थे, अब चाल पर सुखी हैं। पुनः पूर्व कहा गया—"जनक-बचन सुनि पुर-नर-नारी। देखि जानकिहिं भयउ दुखारी॥" (दो० २५१), अब वे सब सुखी हुए।

(२) 'जौ कछु पुन्य प्रभाव·····'—'जौ' यह सन्दिग्ध शब्द देकर जनाया कि कर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है, इसे विधाता ही यथार्थ जानते हैं, जीव नहीं जानते, यथा—"कठिन करम-गति जान बिधाता।" (अ० दो० २८१), "गहना कर्मणो गतिः।" (गीता० ४।१७)। यदि कुछ भी पुण्य हो तो वह श्रीरामजी को इस कार्य के लिये प्राप्त हो। इसमें पुरवासियों का सौहार्द्र है।

गणेशजी से कहते हैं, क्योंकि पुण्य कार्य में इनका प्रथम पूजन होता है। अतः, ये साक्षी हैं, पुनः विघ्ननाशक और सिद्धियों के दाता भी हैं। 'गोसाईं'—अर्थात् अन्तःकरण और बाह्य वृत्तियों के ये स्वामी हैं। अतः, हमारे हृदय के भाव को भी जानते हैं। यदि सत्य है तो वैसा ही हो।

(३) 'सीता मातु सनेह बस ··· '—पुरवासियों का प्रेम दिखाकर अब रनिवास का स्नेह दिखाते हैं। 'सीतामातु'—जनकजी के रानियाँ तो बहुत हैं, यथा—"रानिन्ह कर दारुन दुख दावा।" (दो० २५९),

"रानिन्ह सहित सोचबस सीया।" (दो० २६६), पर यहाँ मुख्य पटरानी श्रीसुनयनाजी को कहते हैं, जिन्होंने श्रीसीताजी को अपनी पुत्री माना है, यथा—"जनकपाटमहिषी जग जानी। सीय-मातु किमि जाइ बखानी॥" (दो० ३२३)। हरिवंश के अनुसार पितृकन्या होने से ये दिव्य नारी हैं। श्रीरामजी में इनका शुद्ध वात्सल्य भाव है, यथा—"सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाइ बखानी॥" (दो० २४१), श्रीसुनयनाजी अधिक स्नेह-वश हैं। अतः, चिन्ता है कि ये बालक अत्यन्त कोमल हैं, धनुष किस प्रकार तोड़ेंगे ? कठोर धनुष पकड़ने में हाथों में मोच आ जाने की शंका है।

सखि सब कौतुक देखनिहारे। जेउ कहावत हितू हमारे॥१॥
कोउ न बुझाइ कहइ नृप पाहीं। ये बालक असि हठ भलि नाहीं॥२॥
रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा॥३॥
सो धनु राजकुँअर-कर देहीं। बालमराल कि मंदर लेहीं॥४॥
भूपसयानप सकल सिरानी। सखि बिधि गति कछु जाति न जानी॥५॥

अर्थ—हे सखी ! जो हमारे हितैषी कहलाते हैं, वे सब लोग भी कौतुक ही देखनेवाले हैं॥१॥ कोई भी राजा से समझाकर नहीं कहता कि ये बालक हैं, इनके साथ ऐसा हठ करना ठीक नहीं है॥२॥ रावण और बाणासुर ने तो इस धनुष को छुआ तक नहीं और समस्त राजा घमंड करके हार बैठे॥३॥ वही धनुष अब राजकुमार के हाथों में दे रहे हैं, क्या बच्चा हंस मन्दराचल उठा ले सकता है ? ॥४॥ राजा की सभी चतुराई समाप्त हो गई, हे सखी ! विधाता की गति कुछ जानने में नहीं आती॥५॥

विशेष—(१) 'सखि सब कौतुक·····'—प्रथम रानी ने सभी सखियों को बुलाया है, फिर उनमें प्रधान चतुर सखी (एक) से कहने लगीं, इसीने समाधान भी किया है, यथा—"बोली चतुर सखी···"। राजा तो विधिवश होने से समझते ही नहीं हैं, यथा—"बिधिबस हठि अबिबेकहिं भजई।" (दो० २२१), पर हितैषियों को समझाना चाहिये, यथा—"कोउ समुझाइ कहै किन भूपहिं बड़े भाग आये इत ये री। कुलिस कठोर कहाँ संकरधनु मृदु मूरति किसोर कित ये री॥" (गी० बा० ७६), "जनक मन की रीति जानि बिरहित प्रीति, ऐसिअौ मूरति देखे रह्यो पहिलो बिचारु। तुलसी नृपहिं ऐसो कहि न बुझावै कोऊ, पन औ कुँअर दोऊ प्रेम की तुला धौं तारु॥" (गी० बा० ८०)। रानी का विचार है कि इन्हें सीधे ब्याह करने ही में चतुराई है, अभी इन्होंने हाथ भी नहीं लगाया है। अतः, ब्याह बिना प्रतिज्ञापूर्त्ति के ही हो सकता है।

(२) 'ये बालक असि हठ···'—और राजा लोग योद्धा थे। अतः, उनसे हठ योग्य था, पर ये तो बालक एवं परम सुकुमार हैं। 'असि हठ·····'—इनके साथ तो ऐसा हठ न कर दूसरा हठ भला है, यथा—"पन परिहरि हठि करइ बिबाहू।" (दो० २२१)। यहाँ 'नृप पाहीं' की जगह 'गुरु पाहीं' भी पाठ है कि गुरुजी ने ही श्रीरामजी को आज्ञा दी है। अतः, उनसे ही कहने को कहती हैं। किन्तु पूर्वापर के प्रसंग से 'नृप पाहीं' पाठ यों संगत है कि गुरुजी ने राजा के ही परिताप-निवारण के लिये आज्ञा दी है। गीतावली के उपर्युक्त प्रमाणों से भी समझाना राजा ही के लिये है। गुरुजी ने प्रथम ही कहा है, वे कुछ हठ नहीं कर रहे हैं। श्रावण कुञ्ज की सं० १६६१ का पाठ 'गुर पाहीं' ही पाठ है, उसकी संगति भी हो जाती है। जिस धनुष से रावण-बाणासुर डर गये। उसके लिये परम सुकुमार बालक को आज्ञा देना हठ ही है, यह बात रानी ही को नहीं, किन्तु विदेहजी को भी खटकी है—"सोचत जनक पोच पेंच परि गई है। जोरि कर कमल निहोरि कहैं कौसिक सों आयसु मो राम को सो मेरे दुचित ही है। बान जातुधानपति भूप दीप साजहू के···" (गी० बा० ८४)—पूरा पद देखिये। इस पाठ में आगे 'भूप सयानप···' से राजा के प्रति स्पष्ट अर्थ होगा।

(३) 'रावन बान छुआ···'—रावण और बाणासुर उस समय के प्रसिद्ध वीर थे, इसलिये प्रथम कहे गये। 'सकल भूप'—पृथक्-पृथक्, फिर सब मिलकर भी लगे, पर हार ही गये। 'करि दापा'—'तमकि धरहिं धनु मूढ़ ··' 'परिकर बाँधि उठे अकुलाई।' 'हारे', यथा—"श्रीहत भये हारि हिय राजा।" 'छुआ नहिं'—छुए भी नहीं, डरकर बहाना करके चल दिये, यथा—"गँवहिं सिधारे।" (दो० २४९)।

(४) 'बालमराल कि मंदर लेहीं।'—बाल-हंस चाल और सुकुमारता में प्रसिद्ध है, यहाँ सुकुमारता पर कहा गया है, यथा—"मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला। मंदर मेरु कि लेहिं मराला॥" (अ० दो० ७१), अर्थात् जैसे सुमेरु को समस्त देवता-असुर भी नहीं सँभाल सके थे, वैसे इस धनुष को भी सब उठाकर हार गये, उसे ये हंस के बच्चे के समान सुकुमार रामजी कैसे उठा सकते हैं?

'भूप सयानप सकल···'—दो० २४८ चौ० भी देखिये। राजा की चातुरी तो स्वार्थ साधन में थी, यथा—"लोकवृत्ताद्राजवृत्तमन्यदाह बृहस्पतिः। तस्माद्राज्ञाप्रमत्तेन स्वार्थश्चिन्त्यः सदैव हि॥" (महा० सभा० ५५।६)। अतः, स्वार्थ-सिद्धि इन राजकुमार को बिना प्रणपूर्त्ति ही के ब्याहने में है।

बोली चतुर सखी मृदु बानी। तेजवंत लघु गनिय न रानी॥६॥
कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा। सोखेउ सुजस सकल संसारा॥७॥
रविमंडल देखत लघु लागा। उदय तासु त्रिभुवन-तम भागा॥८॥

दोहा—मंत्र परम लघु जासु बस, बिधि हरि हर सुर सर्ब।
महामत्त - गजराज कहँ, बस कर अंकुस खर्ब॥२५६॥

काम कुसुम - धनु-सायक लीन्हे। सकलभुवन अपने बस कीन्हे॥१॥
देबि तजिय संसय अस जानी। भंजब धनुष राम सुनु रानी॥२॥
सखीबचन सुनि भइ परतीती। मिटा बिषाद बढ़ी अति प्रीती॥३॥

अर्थ—(तब) एक चतुर सखी ने कोमल वाणी से कहा कि हे रानी! तेजस्वी को छोटा नहीं गिनना चाहिये॥६॥ (देखिये) कहाँ अगस्त्यजी (अत्यन्त छोटे) और कहाँ अपार समुद्र? फिर भी उसे सोख लिया, यह उनका सुयश समस्त संसार में फैला हुआ है॥७॥ सूर्य का मण्डल देखने में ही छोटा लगता है, परन्तु उसके उदय होने से तीनो लोकों का अन्धकार दूर होता है॥८॥ मन्त्र अत्यन्त छोटा होता है, पर उसके वश में ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं सभी देवता हैं। छोटा-सा अंकुश महामतवाले गजेन्द्र को वश में कर लेता है॥२५६॥ फूल के ही धनुष-बाण लिये हुए कामदेव ने सब लोकों को अपने वश में कर लिया है॥१॥ ऐसा जानकर हे देवि! सन्देह छोड़िये। हे रानी! सुनिये, श्रीरामजी धनुष तोड़ेंगे॥२॥ इस सखी के वचन सुनकर विश्वास हुआ, दुख मिटा और अत्यन्त प्रीति बढ़ गई॥३॥

विशेष—(१) 'बोली चतुर सखी···'—सखी चतुर है। अतः, सब सन्देह निवृत्त कर देगी और इसीसे 'मृदु बानी' कहा है, क्योंकि प्रिय वाणी से उपदेश लगता है। रानी ने राजा एवं मन्त्रियों को दोष दिया था—उसका खण्डन नहीं करती, इसलिये कि प्रथम ही उनकी बात काट देने से कहीं अप्रसन्न हो जायँ तो फिर और उपदेश नहीं सुनेंगी। अतः, यह प्रथम तेजस्वी की महिमा कहते हुए फिर पृथक्-पृथक् भी दृष्टान्तों द्वारा श्रीरामजी के प्रभुता-सम्बन्धी गुणों को दिखाकर प्रबोध करती है। 'तेजवंत' दूसरे को पराजित करने का सामर्थ्य रखनेवाले।

(२) 'कहँ कुंभज कहँ सिंधु···' - घड़े से पैदा होनेवाले समुद्र को सोख लें। यह उनका प्रताप है, यथा—"कलसजोनि जिय जानेउ नाम-प्रताप। कौतुक सागर सोख्यो करि जिय जाप॥" (बरवा रा० ५५)। "रोक्यो बिंधि सोख्यो सिंधु घटजहूँ नाम-बल हार्‌यो हिय खारो भयो भूसुर-डरनि॥" (वि० २४७)। पुनः, महा० वन० अ० १००-१०१ में वृत्रासुर के वध की कथा है। अ० १०२ में लिखा है कि वृत्र के साथ के बचे हुए कालेय नामक दैत्य लोग समुद्र में जा छिपे, वहाँ किला बनाकर वे निर्भीक होकर रहने लगे। उन्होंने सम्मत करके तपोनिष्ठ साधुओं का नाश करना ही श्रेयस्कर समझा। अतः, अपने स्वभावानुसार उसीमें प्रवृत्त हुए। उन्होंने रात में वसिष्ठजी के साथ के १८८ ऋषियों को खाकर, और नव तपस्वियों को खा लिया। फिर च्यवन मुनि के आश्रित ऋषियों को भी खा लिया, इत्यादि। वे दैत्य समुद्र में छिपकर बच जाते थे। तब देवगण इन्द्र के साथ श्रीमन्नारायण की शरण गये। उनकी स्तुति की। विष्णु भगवान् ने कहा कि अगस्त्य महर्षि ही समुद्र को पी सकते हैं। बिना समुद्र के सोखने से, वे दैत्य मारे नहीं जा सकते। इसपर ब्रह्माजी की आज्ञा पाकर देवता लोग मित्रावरुण के पुत्र महातपस्वी अगस्त्यजी के पास गये और मुनि की स्तुति करने लगे कि हे मुनि! आपने ही नहुष से पीड़ित जगत् की रक्षा की है, उस लोक-कण्टक को आपने ही स्वर्ग से गिराया था। पुनः विन्ध्याचल सूर्य पर क्रोध कर बढ़ने लगा तब आपने ही उसे रोका है, उससे सूर्य, चन्द्र एवं ग्रहों के मार्गों की रक्षा हुई। प्रभो! अब हमलोगों की रक्षा के लिये आप समुद्र सोखें। मुनि ने कृपा करके प्रार्थना स्वीकार की। पुनः अ० १०५ में लिखा है कि अगस्त्यजी के साथ देवता, गन्धर्व और ऋषि लोग समुद्र तट पर गये, वहाँ अगस्त्यजी ने क्रोध में भरकर सब लोगों के देखते-देखते समुद्र को पी लिया। "समुद्र-मपिबत्क्रुद्धः सर्वलोकस्य पश्यतः।" तब इन्द्र आदि देवताओं ने उनकी पूजा और स्तुति की। पुनः उन देवताओं ने दैत्यों को खोजकर उनसे संग्राम करके उन्हें मार डाला। बचे हुए कुछ दैत्य भूमि को फाड़कर पाताल को भाग गये।

पुनः समुद्र को भरने के लिये देवताओं ने अगस्त्यजी से प्रार्थना की। मुनि ने कहा कि मैंने समुद्र को पचा लिया। आप लोग इसका दूसरा उपाय विचारें। देवताओं ने ब्रह्माजी से कहा, अ० १०६ में श्रीब्रह्माजी ने कहा है कि आप लोग कुछ काल की प्रतीक्षा करें। राजा भगीरथ के द्वारा गंगाजी के आने पर फिर समुद्र भरेगा। पुनः अ० १०९ तक गंगाजी के भूमि पर आने की कथा है, वह अधिकांश में श्रीमद्वाल्मीकीय के अनुसार ही है। गंगाजी के द्वारा समुद्र पुनः भर गया, तथा—"सगर-सुवन-सौंसति-समनि। जलनिधि जलभरनि।" (वि० २०)।

इस दृष्टान्त से श्रीरामजी का प्रताप दिखाया, यथा—"देखियत भूप भोर के से उड़गन गरत गरीब गलानि हैं। तेज प्रताप बढ़त कुँअरन को जदपि सकोची बानि हैं॥" (गी० बा० ७८), अर्थात् यद्यपि धनुष रूप सागर में सभी राजा डूब गये तो भी ये प्रताप से उसे सोख लेंगे।

अलंकार—'विषम प्रथम' क्योंकि अनमिल घटना का वर्णन है।

(३) 'रविमंडल देखत लघु···'—सूर्य के छोटे-से मण्डल में इतना अप्रमेय तेज है कि जिससे बिना श्रम ही सम्पूर्ण अन्धकार का नाश हो जाता है, यथा—"यन्मध्यगतो भगवांस्तपतांपतिस्तपन आतपेन त्रिलोकीं प्रतपत्यवभासयत्यात्मभासा।·····" (श्रीमद्भा० ५।२१।३)। इस प्रकार सूर्य तीनो लोकों के प्रकाशक कहे गये हैं, वैसे श्रीरामजी देखने में छोटे हैं, पर अपने तेज से धनुष-रूप अन्धकार का नाश कर देंगे, यथा—"टारि न सकहिं चाप तम भारी।" (दो० २३८), "कोउ कह तेज प्रताप पुंज चितये नहिं जात भियारे। छुवत सरासन सलभ जरैगो ये दिनकर-बंस-दियारे।" (गी० बा० ६६), यहाँ तेज गुण कहा।

(४) 'मंत्र परम लघु···'—मन्त्र से यहाँ ॐ का अर्थ है और इसके अ, उ, म, त्रिदेव के वाचक

है। वह तीनों का वशकारक है और भी यह जिस देवता के मन्त्र के साथ लगता है उसमें भी वशीकरण शक्ति देता है। अतः, यह सब देवताओं का भी वशकारक है। मन्त्र बुद्धि के द्वारा अर्थ के अनुसन्धान के साथ जप करने से सफल होता है, इस तरह यहाँ श्रीरामजी में बुद्धि का महत्त्व कहा गया। यदि कहा जाय कि बुद्धि-द्वारा चैतन्य प्राणी वश होते हैं, यह धनुष तो जड़ है। ऐसा नहीं है। धनुष में भी चेतनता है। पूर्व कहा गया कि यह घट-बढ़ सकता है, यथा—"होहि हरुअ रघुपतिहिं निहारी।" (दो० २५७)।

'महामत्त गजराज कहँ ' '—चौथा दृष्टान्त अंकुश का देती है कि वह महामतवाले हाथी को वश कर लेता है। वह कठोर और नोकीला होता है, उसमें यह गुण है। ऐसे श्रीरामजी गुणों से चाप को अधीन कर लेंगे।

(५) 'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे।···'—कामदेव अत्यन्त सुकुमार है। वह फूल ही के धनुष-बाण भी धारण करता है, तो भी उसमें अप्रमेय बल है, जिससे उसने चौदहो भुवनों को वश में कर रक्खा है, यथा—"येहि के एक परम बल नारी। तेहि ते उबर सुभट सोइ भारी॥" (अर० दो० ३७), इसमें नारी के द्वारा काम का बल कहा है। वैसे श्रीरामजी यद्यपि अत्यन्त सुकुमार और सुन्दर हैं, तथापि उनमें अप्रमेय बल है, यथा—"सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझइ। तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ॥" (जानकी मंगल ६६), बलगुण अन्त में कहा गया, क्योंकि धनुष तोड़ने में यही प्रधान है, यथा—"तव भुज-बल महिमा उदघाटी। प्रगटी धनुबिघटन परिपाटी॥" (दो० २३८)। "बय किसोर बरजोर बाहुबल मेरु मेलि गुन तानि हैं। अवसि राम राजीवबिलोचन संभुसरासन भानि हैं॥" (गी० बा० ७८)।

रानी ने कहा था कि—'बालमराल कि मंदर लेहीं।' अर्थात् ये छोटे और अत्यन्त सुकुमार हैं। अतः, धनुष कैसे तोड़ सकते हैं? इसपर चतुर सखी ने तेजस्वी के आकार की छोटाई पर चार दृष्टान्त देते हुए श्रीरामजी में प्रताप, तेज, बुद्धि और गुण दिखाये। फिर सुकुमारता पर काम का दृष्टान्त देकर अप्रमेय बल दिखाया, तब रानी को प्रतीति हुई, क्योंकि ये पाँचो ऐश्वर्य जिसमें हों, वह सारा कार्य करने में समर्थ होता है। जैसे भ्रम से रावण ने श्रीरामजी में इन पाँचो का न होना मानकर इनकी निन्दा की है, यथा—"बल प्रताप बुधि तेज न ताके॥ अगुन अमान जानि तेहि···" (लं० दो० ३०), अर्थात् ये पाँचो होते तो वे समर्थ कहाते, यह रावण का अभिप्राय है। यहाँ पाँचो गुण प्रकट करने के लिये पाँच दृष्टान्त दिये गये। इन पाँचों में किसीको किंचित् भी श्रम नहीं हुआ, ऐसे ही श्रीरामजी को धनुष तोड़ने में कुछ भी श्रम न होगा।

(६) 'देवि तजिय संसय अस जानी।···' 'देवि' अर्थात् आप स्वयं दिव्य ज्ञानवाली हैं, यथा—"को बिबेकनिधि-बल्लभहि, तुम्हहि सकइ उपदेसि॥" (अ० दो० २८३)। अतः, मैं आपको क्या समझाऊँ? 'अस···'—अर्थात् मैंने लक्ष्यमात्र कहा, आप स्वयं विस्तार से जानकर संशय छोड़ें।

अलंकार—'विभाघना द्वितीय', क्योंकि अपूर्ण हेतु से पूर्ण कार्य होना कहा गया है, 'मंत्र परम लघु···काम कुसुम···' दोनों में।

(७) 'सखी-बचन सुनि भइ·····'—श्रीरामजी का ऐश्वर्य जान पड़ा, इससे प्रतीति और प्रीति हुई। संशय दूर होने से विषाद मिटा, यथा—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥" (उ० दो० ८८), "तुम्ह कृपालु सब संसय हरेऊ। रामसरूप जानि मोहि परेऊ॥ नाथ-कृपा अब गयेउ बिषादा।" (दो० ११६) 'अति प्रीती'—प्रीति तो प्रथम से ही थी, अब अत्यन्त बढ़ चली कि हमारा जामाता महान् प्रतापी, तेजस्वी, बुद्धिमान्, गुणवान् और महाबलवान है। अतः, वह त्रैलोक्य-विजयी एवं यशस्वी होकर हमारी कन्या से विवाह करेगा।

तब रामहि बिलोकि बैदेही। सभय हृदय बिनवति जेहि तेहि॥४॥

मन-ही-मन मनाव अकुलानी। होहु प्रसन्न महेस - भवानी ॥५॥
करहु सुफल आपनि सेवकाई। करि हित हरहु चापगरुआई ॥६॥
गननायक बरदायक देवा। आजु लगे कीन्हिउँ तुअ सेवा ॥७॥
बार बार बिनती सुनि मोरी। करहु चापगरुता अति थोरी ॥८॥

दोहा—देखि देखि रघुबीर - तनु, सुरम नाव धरि धीर।
भरे बिलोचन प्रेमजल, पुलकावली सरीर ॥२५७॥

अर्थ—तब (चलते समय) श्रीरामजी को देखकर श्रीजानकीजी भय से हृदय में जिस-तिस की प्रार्थना करने लगीं ॥४॥ व्याकुल होकर वे मन-ही-मन मनाने लगीं कि महेश-भवानी ! प्रसन्न होइये ॥५॥ अपनी सेवा सफल कीजिये, मुझपर हित (प्रेम) करके धनुष के भारीपन को हर लीजिये ॥६॥ हे गणों के नायक श्रीगणेशजी ! हे वर देनेवाले ! हे देव ! आजतक मैंने आपकी सेवा की है ॥७॥ मेरी बार-बार प्रार्थना सुनकर धनुष की गरुआई (भारीपन) को बहुत कम कर दीजिये ॥८॥ रघुवीर श्रीरामजी की ओर देख-देखकर और धैर्य धारणकर देवताओं को मनाती हैं, उनकी आँखों में प्रेम के आँसू भरे हैं और शरीर में पुलकावली भरी है ॥२५७॥

विशेष—(१) 'तब रामहिं बिलोकि···'—'तब'—जब श्रीरामजी मंच पर से उतरकर चले—"चलत राम सब पुर नरनारी···"। तभी पुरवासीगण, सुनयनाजी और श्रीजानकीजी की पृथक्-पृथक् भावनाएँ हुईं, पर ग्रन्थकर्त्ता तो एक ही हैं। अतः, वे क्रमशः कह रहे हैं। प्रथम से दूसरे में और उससे भी तीसरे प्रसंग में प्रेम अधिक है। अतः, उत्तरोत्तर अधिक कहा। श्रीरामजी को देखकर किशोरीजी का 'वैदेही' नाम सार्थक हो गया, इनकी देह की सुधि नहीं रह गई। अतः, भयभीत होकर जो देवता स्मरण आते हैं, उन्हींकी प्रार्थना करने लग जाती हैं।

(२) 'मन-ही-मन मनाव·····'—इस समय विह्वलता में सीताजी गिरिजाजी का वरदान भूल गई हैं। श्रीरामजी की सुकुमारता पर घबरा गईं, इसीसे जिस-तिसको मना रही हैं। संकोचवश सखियों से भी नहीं कहतीं, नहीं तो उपर्युक्त चतुर सखी की तरह कोई प्रबोध कर देती। अतः, इनका दुःख धनुर्भंग पर ही मिटेगा। 'करहु सुफल···'—अर्थात् आपकी सेवा निष्फल नहीं होती।

(३) 'गननायक बरदायक···' 'गणनायक' अर्थात् आप गणों के नायक हैं। अतः, समर्थ हैं। 'बरदायक' अर्थात् उदार हैं। 'देवा' अर्थात् दिव्य ज्ञानपूर्ण हैं। अतः, मेरे हृदय के भावों को जानकर तथा उदारता से देने में प्रवृत्त होकर सामर्थ्य से मुझे कृतार्थ करें। 'कीन्ही तुअ सेवा'—सेवा ही की है—अभी तक कुछ माँगा नहीं।

(४) 'करहु चाप-गरुता अति थोरी।'—'गरुआई'=गुरुता तो 'महेस-भवानी' से दूर करा चुकीं, अब गणेशजी से उसे 'अति थोरी' करवाती हैं। यह भी भाव है कि लक्ष्मणजी ने दो प्रकार कहा था—'कमल-नाल जिमि चाप चढ़ावउँ' और—'तोरउँ छत्रकदंड जिमि'। उसीमें से पहले को पुरवासियों ने माँगा, यथा—"तौ सिव-धनु मृनाल की नाईं। तोरहु राम गनेस गोसाईं॥" और शेष दूसरा ये चाह रही हैं कि छत्रकदंड की तरह छूते ही तोड़ डालें।

(५) 'देखि देखि रघुबीर-तनु··· ·'—एक बार देखती हैं, फिर सकुच जाती हैं। जब धनुष की स्मृति आती है, तब श्रीरामजी की वीरता भूल जाती हैं। अधीर हो जाती हैं। फिर धीर धरकर देवता मनाने लगती हैं। अथवा बिना देखे कल नहीं पड़ती, इससे बार-बार देखती हैं, यथा—"देखन मिस

मृग बिहँग तरु, फिरइ बहोरि-बहोरि।" (दो० २३४)। यहाँ के 'सुर' से यदि 'सूर=सूर्य' का अर्थ लें, तो पञ्चदेव की प्रार्थना-पूर्त्ति हो जाती है, जो एक सनातन रीति है। सूर का अर्थ सूर्य, यथा—"तुलसी सूधे सूर ससि, समय बिडंबित राहु।" (दोहावली ३९७), "कैधौं कोटि सत सूर हैं।" (क० सुं० ३), ऊपर महेश, भवानी और गणेशजी आ गये और आगे—"तौ भगवान् सकल उर-बासी।" से विष्णु भी आ जाते हैं। यहाँ आँसू और पुलकावली प्रेम के हैं।

नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितुपन सुमिरि बहुरि मन छोभा ॥१॥
अहह तात दारुनि हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभ न हानी ॥२॥
सचिव सभय सिख देइ न कोई। बुधसमाज बड़ अनुचित होई ॥३॥
कहँ धनु कुलिसहुँ चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा ॥४॥
बिधि केहि भाँति धरउ उर धीरा। सिरस-सुमन-कन बेधिय हीरा ॥५॥

अर्थ—(श्रीजानकीजी ने) अच्छी तरह आँखें भरकर श्रीरामजी की शोभा देखी, पिता की प्रतिज्ञा का स्मरण कर फिर उनका मन क्षुब्ध हो गया ॥१॥ (वे सोचती हुई कहती हैं—) अहह (दुःख की बात है कि)! हे तात! आपने कठिन हठ कर लिया है, कुछ लाभ-हानि नहीं समझ रहे हैं। ॥२॥ सब मन्त्री डरे हुए हैं, कोई भी शिक्षा नहीं देता। बुद्धिमानों के समाज में यह बड़ा अनुचित हो रहा है ॥३॥ कहाँ तो यह वज्र से भी बढ़कर कठोर धनुष और कहाँ ये कोमल शरीर और किशोर अवस्थावाले श्यामल राजकुमार! ॥४॥ हे विधाता! मैं किस प्रकार हृदय में धैर्य धरूँ? क्या हीरे को सिरस के फूल का कण बेध सकता है? (वा सिरस के फूल के कण से हीरा छेदा जाता है?) ॥५॥

विशेष—(१) 'नीके निरखि नयन·····', यथा—"नखसिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता-पन मन अति छोभा॥" (दो० २३३), यहाँ धैर्य धारण करके भलीभाँति शोभा देख पाई हैं। इतना ही भेद है, अच्छी तरह देखने ही पर सुकुमारता अधिक जान पड़ी, तभी क्षुब्ध हुईं।

(२) 'अहह तात दारुन हठ·····'—'तात' शब्द श्लिष्ट मानने से पिता के अतिरिक्त सन्ताप देनेवाले कठिन हठ ठानने का भी अर्थ होता है। 'अहह' शब्द अगली अर्द्धाली के साथ भी है। 'बुध समाज' एक दो नहीं, प्रत्युत बुद्धिमानों का समाज ही है, फिर भी सामान्य नहीं, किन्तु बड़ा अनुचित हो रहा है, यह बड़े खेद की बात है!

(३) 'कहँ धनु कुलिसहुँ चाहि ·····'—'चाहि' [अव्यय सं० चैव = और भी]=अपेक्षाकृत (अधिक)। बँगला भाषा में भी इसका प्रयोग होता है, यथा—"एर चाहे ए भालो" कहा जाता है। अन्यत्र भी—"कुलिसहुँ चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहुँ चाहि।" (उ० दो० १९), "मरन नीक तेहि जीवन चाही।" (अ० दो० २०)। कुलिश (वज्र) इन्द्र के हाथ में रहता है, श्रीरामजी मृदु सुकुमार भूमि में हैं। अतः, कुलिश आकाश में, श्रीरामजी भूमि में—दोनों में पृथ्वी-आकाश का-सा अन्तर है। धनुष की कठोरता के लिये उपमा मिली, पर श्रीरामजी की सुकुमारता के लिये नहीं मिली। श्रीसुनयनाजी ने—'कर देहीं' कहा था। ये धनुष का स्पर्श भी नहीं चाहतीं। इतनी मृदुता चित्त में आ गई है!

(४) 'बिधि केहि भाँति धरउँ·····'—धनुष को ऊपर वज्र से भी कठोर कहा था, वही यहाँ हीरा कहकर भी जनाया। यहाँ हीरे के साथ सिरस के फूल के कण को ग्रहण किया, क्योंकि इससे अधिक सुकुमारता अन्य वस्तुओं में नहीं पाई जाती, यथा—"कमठपृष्ठ कठोरमिदं धनुर्मधुरमूर्त्तिरसौ रघुनन्दनः। कथमधिज्यमनेन विधीयतामहह तात पणस्तव दारुणः॥" (श्रीहनुमन्नाटक १।९)।

सकल सभा कै मति भइ भोरी। अब मोहि संभु-चाप गति तोरी ॥६॥

निज जड़ता लोगन्ह पर डारी। होहि हरुअ रघुपतिहिं निहारी ॥७॥
अति परिताप सीय-मन माहीं। लव-निमेष जुग सय सम जाहीं ॥८॥

दोहा—प्रभुहिं चितइ पुनि चितव महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज - मीन - जुग, जनु बिधुमंडल डोल ॥२५८॥

अर्थ—सम्पूर्ण सभा की बुद्धि भोली (बावली) हो गई है, हे शिवजी के धनुष ! अब मुझे तुम्हारी ही शरण (अन्तिम उपाय) है ॥६॥ श्रीरघुनाथजी को देखते हुए अपनी जड़ता लोगों पर डाल दीजिये और हलके हो जाइये ॥७॥ श्रीसीताजी के मन में अत्यन्त परिताप है, उनके निमेष (पल) का एक लव (साठवाँ भाग) भी सौ युगों के समान जा रहा है ॥८॥ प्रभु को देखकर (श्रीजानकीजी) फिर पृथ्वी की ओर देखती हैं, इसमें उनकी चंचल आँखें इस तरह शोभती हैं, मानों दो कामदेव रूपी मछलियाँ चन्द्र-मंडल पर हिंडोले में झूल रही हों ! ॥२५८॥

विशेष—(१) 'अब मोहि संभुचाप गति तोरी।'—क्रम से—'पिता', 'मंत्री', 'बुध समाज' फिर 'सकल सभा' को कहा कि सबकी मति ठीक नहीं, एक प्रकार से उन सबकी शरण हुई, पर कहीं सहारा न मिला, तब शम्भु-चाप की शरण में आई, व्याकुलता की पराकाष्ठा है !

(२) 'निज जड़ता लोगन्ह पर···'—धनुष से कहती हैं कि तुम जड़ हो, वह जड़ता निकाल दो और हलके हो जाओ। जड़ता रखने का स्थान भी कहती हैं कि लोगों पर डाल दो। यह इस तरह कि सारी सभा की बुद्धि भोरी हो रही है, उसीमें जड़ता डाल दो कि वह जड़वत् हो जाय, वह जान ही न पावे कि पिनाक हलका हो गया। इस तरह तुम्हारी (धनुष की) और श्रीरामजी की—दोनों की मर्यादा रह जायगी। कितने हलके हो जाओ ? इसपर भी कहती हैं—'रघुपतिहिं निहारी' अर्थात् इनकी सुकुमारता को देखकर तदनुसार ही हलके हो जाओ।

(३) 'अति परिताप सीय···'—यहाँ अत्यन्त परिताप है। कभी दैवबल प्राप्त कर कुछ सहारा पाने पर एक निमेष सौ युगों के समान बीतता है और कभी जब श्रीरामजी की सुकुमारता चित्त में आ जाती है, तब एक लव मात्र सौ युगों के समान हो जाता है, यही अति परिताप की दशा है और इससे पहले अपेक्षाकृत कम निमेष वाली दशा परिताप में परिगणित है।

(४) 'प्रभुहिं चितइ पुनि चितव महि—'—श्रीरामजी मंच से उतरकर नीचे धनुष की ओर जा रहे हैं। श्रीजानकीजी की दृष्टि एक बार श्रीरामजी की ओर जाती है, फिर पृथ्वी पर आती है। सिर के बिना हिले दृष्टि मात्र की यह क्रिया हिंडोले पर झूलने के समान है। चपल नेत्र की उपमा मछली से दी जाती है। यहाँ 'मनसिज मीन' से नेत्र की शोभा और 'राजत···लोल' से नेत्र के व्यापार की शोभा कही गई। 'बिधु-मंडल' से मुख की शोभा कही है। 'प्रभुहिं चितइ'—श्रीरामजी की कीर्त्ति, नारद-वचन, पार्वतीजी का वरदान आदि से प्रभुता पाई जाती है। उपर्युक्त 'अति परिताप' पर यहाँ फिर प्रभुता की स्मृति ने कुछ धैर्य दिया। फिर संकोच से नीचे दृष्टि हो जाती है। 'खेलत' का अर्थ कल्लोल ठीक नहीं, क्योंकि किशोरीजी चिन्तित हैं। अतः, हिलना-डोलना अर्थ लेकर झूलना ही ठीक है। प्रथम ही कहा गया है—'भरे बिलोचन प्रेम जल', अतः मछली के लिये हिंडोल में जल भी है ही। प्रेम और लज्जा झुलानेवाले हैं। प्रेम से दर्शनार्थ दृष्टि श्रीरामजी पर जाती है और लज्जा से भूमि की ओर आती है। इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार है।

प्रभु की ओर देखकर फिर भूमि की ओर दृष्टि जाने के भाव—(क) रंगभूमि गचढारी है, उसपर

श्रीरामजी का प्रतिबिम्ब देख पड़ता है। (ख) प्रभु से कहती हैं कि मैं आपको प्रभु (प्रभु) मान चुकी, यदि आप न मिले तो मैं इसी भूमि में समा जाऊँगी। माता पृथ्वी से भी कहती हैं कि अभी तक धनुष को पकड़े थीं—'तिल भरि भूमि न सकेउ छुड़ाई।' अब इन प्रभु के लिये उसे छोड़ दीजिये। संकेत से जनाती हैं कि मैं इन्हें ही वरण कर चुकी। दूसरे को नहीं कर सकती, अन्यथा मुझे जगह दीजिये। ग) प्रभु से कहती हैं—गिरिजा जी ने कहा है कि वे (आप) शील-स्नेह जानते हैं, फिर भी हमपर आपकी करुणा नहीं हो रही है, देर होने से मैं पृथ्वी में समा जाऊँगी, इत्यादि।

गिरा अलिनि मुखपंकज रोकी। प्रगट न लाजनिसा अवलोकी ॥१॥
लोचनजल रह लोचनकोना। जैसे परम कृपन कर सोना ॥२॥
सकुची ब्याकुलता बड़ि जानी। धरि धीरज प्रतीति उर आनी ॥३॥
तन मन बचन मोर पन साँचा। रघुपति-पद-सरोज चित राँचा ॥४॥
तौ भगवान सकल - उर - बासी। करिहहिं मोहि रघुबर कै दासी। ५॥

अर्थ—(श्रीकिशोरी जी के) मुखकमल ने (उनकी) वाणी-रूपी भ्रमरी को रोक लिया, लज्जारूपिणी रात्रि को देख वह प्रकट नहीं हो रही है ॥१॥ उनकी आँखों का जल आँखों के ही कोने में ही रह गया, जैसे बड़े कंजूस का सोना (घर के कोने में ही गड़ा हुआ पड़ा रह जाता है) ॥२॥ वे अपनी बड़ी व्याकुलता जानकर सकुच गईं और धैर्य धरकर हृदय में विश्वास धारण किया ॥३॥ जो शरीर (कर्म), मन और वचन से मेरा प्रण सच्चा है और मेरा चित्त श्रीरघुनाथजी के चरण-कमलों में रँगा हुआ है ॥४॥ तो सबके हृदय में बसनेवाले भगवान् मुझे रघुकुल के स्वामी श्रीरामजी की दासी करेंगे ॥५॥

विशेष—(१) 'गिरा अलिनि···'—भ्रमरी कमल के सम्पुटित होने के साथ रात को उसमें बन्द हो जाती है, चाहे तो काटकर निकल आ सकती है, किन्तु प्रेम से रात की मर्यादा रखती है, यथा—दारुभेदनिपुणोऽपि षडंघ्रिः निष्क्रियो भवति पङ्कजकोशे।" (सुभाषित०) वैसे श्रीजानकी की वाणी मुख-कमल में बन्द है, लज्जारूपी रात को मर्यादा की रक्षा के लिये बाहर नहीं निकलती। कुछ कहें तो भीतर दुःख कम हो, यथा—"कहेहू ते कछु दुख घटि होई।" (मु० दो० १४), पर लाज से नहीं कहतीं। यहाँ अभेद रूपक है।

(२) 'लोचनजल रह लोचन···'—पूर्व कहा था—"भरे बिलोचन प्रेम जल" (दो० २५७), वही लोचन-जल यहाँ कहा जा रहा है, लज्जा के कारण उसे न गिरने देती हैं और न पोंछती ही हैं, उसे नेत्रों के गोलक में ही कोने में छिपा रक्खा है, कि कोई देख न सके। जैसे—बड़ा कंजूस सोने को बड़ी युक्ति से रक्खे, वह न तो स्वयं खर्च करे और न किसीको जनावे। भाग्यवान् के ही यहाँ सोना रहता है, वैसे ही प्रेम के आँसू भी भाग्यवान् ही के आते हैं। इसमें दृष्टान्त अलंकार है।

(३) 'सकुची ब्याकुलता बड़ि···'—संकोच आदि से ही चला, यथा—"मन-ही-मन मनाव···" (आदि में), "प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि" मध्य में और यहाँ अन्त में भी बना है। यहाँ व्याकुलता छिपाने के लिये संकोच है। 'धरि धीरज प्रतीति···'—प्रथम भी धैर्य धरना कहा है, यथा—"सुर मनाव धरि-धीर", पर वह सुकृत और देवताओं के आधार से था, इससे पूर्णदृढ़ता नहीं हुई थी, यहाँ प्रेम के प्रण से धैर्य होगा तो निश्चलता आ जायगी।

(४) 'पद-सरोज चित राँचा।'—चित्त भ्रमर-रूप हुआ—"लुबुध मधुप इव तजइ न पासू।" (दो० १६)।

(५) 'तौ भगवान सकल···' - 'सकल उरबासी' से विष्णु-रूप सूचित किया, यथा—"विशप्रवेशने धातोर्विष्णुरिति विधीयते।" (महाभाष्य), विष्णु को कहकर उपर्युक्त पंचदेवों की प्रार्थना की भी पूर्त्ति

की। यह विष्णु-रूप भी श्रीरामजी का ही रूप है, यथा—"ततस्त्वमसि दुर्धर्षात्तस्माद्भावात्सनातनात्। रक्षां विधास्यन्भूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान्॥" (वाल्मी० ७।१०४।९)। इस रूप से आप रक्षा का विधान करते हैं, इसलिये श्रीजानकी ने माधुर्य-लीला में श्रीरामजी के उसी रूप से रक्षा की चाहना की है। 'भगवान'—यहाँ हृदय की गति जानने के उपलक्ष में भगवान् विशेषण परम उपयुक्त है, यथा—"उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥" (वि० पु० ६।५।७८), अर्थात् जीवों की उत्पत्ति, प्रलय, आना-जाना एवं उनकी विद्या और अविद्या को जो जानता है, वह भगवान् कहाता है।

जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥६॥
प्रभुतनु चितइ प्रेमप्रन ठाना। कृपानिधान राम सब जाना॥७॥
सियहिं बिलोकि तकेउ धनु कैसे। चितव गरुड़ लघुब्यालहिं जैसे॥८॥

दोहा—लखन लखेउ रघुबंस-मनि, ताकेउ हर-कोदंड।
पुलकि गात बोले बचन, चरन चापि ब्रह्मंड॥२५६॥

दिसि-कुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला॥१॥
राम चहहिं संकरधनु तोरा। होहु सजग सुनि आयसु मोरा॥२॥

अर्थ—जिसका जिसपर सत्य स्नेह होता है, उसे वह मिलता है, इसमें कुछ संशय नहीं॥६॥ (श्रीजानकीजी ने) प्रभु की ओर देखकर अपने प्रेम का प्रण दृढ़ किया, कृपा-निधान श्रीरामजी ने सब-कुछ जान लिया॥७॥ श्रीसीताजी को देखकर श्रीरामजी ने धनुष को किस प्रकार देखा जिस प्रकार छोटे साँप को गरुड़जी देखें॥८॥ लक्ष्मणजी ने लक्ष्य किया कि रघुकुल-मणि श्रीरामजी ने शिवजी के धनुष को देखा है, तब ब्रह्माण्ड को अपने चरणों से दबाकर और शरीर से पुलकित होकर वचन बोले॥२५६॥ हे दिग्गजो! हे कच्छप! हे शेष! हे वाराह! धैर्य रखकर के पृथ्वी को धारण करो कि वह डोलने न पावे॥१॥ श्रीरामजी शिवजी के धनुष को तोड़ना चाहते हैं, हमारी आज्ञा सुनकर सब सन्नद्ध हो जाओ॥२॥

विशेष—(१) 'जेहि के जेहि पर सत्य···'—उपर्युक्त 'सकल उरबासी' का कार्य कहती हैं, कि वे भगवान् साक्षी-रूप से हृदय को देखते रहते हैं, जिसके हृदय में जिसके लिये सच्चा स्नेह होता है, वही उसे जन्मान्तर में भी प्राप्त कराते हैं, यथा—"निगम अगम साहिब सुगम, राम साँचिली चाह। अंबु असन अवलोकियत, सकल सुलभ जग माँह॥" (दोहावली ८०), अर्थात् जल और भोजन के लिये सबको सच्ची चाह रहती है, उसे उन भगवान् ने सबके लिये सुलभ किया है, ऐसे ही प्रभु के लिये भी सच्ची प्यास हो, तो वे भी मिल जाते हैं। यथा—"रामहिं केवल प्रेम पियारा।" (अ० दो० १३६), तथा—"यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः। तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च॥ मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्। अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना। परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥" (गी० ८।६-८), इस प्रकार निरन्तर चिन्तन रूपी सच्ची चाह पर भगवान् भी मिल जाते हैं।

(२) 'कृपानिधान राम सब जाना।'—पूर्व गिरिजाजी ने कहा था—"करुनानिधान सुजान सील सनेह जानत रावरो।" (दो० २३६), वह यहाँ चरितार्थ हुआ, कृपा से इनके स्नेह को जाना। हृदय की जानी। अतः, 'राम' नाम दिया गया।

(३) 'सियहिं बिलोकि'···—यथा—"पेखि पुरुषारथ परखि पन प्रेम नेम, सिय हिय की बिसेषि

बड़ी खरभरी है। दाहिनो दियो पिनाक सहमि भयो मनाक, महा ब्याल बिकल बिलोकि मानों जरी है॥" (गी० बा० ९०), भाव यह कि जो सीताजी ने मेरे लिये देह-त्याग का भी निश्चय किया है तो मैं इस धनुष को अभी तोड़ता हूँ।

श्रीरामजी के इस एक बार के ही देखने में श्रीजानकीजी को आश्वासन है और लक्ष्मणजी को भी संकेत है, जिससे वे सबको आगे सजग करते हैं। छोटा सर्प गरुड़ के देखने से सिकुड़ जाता है, वैसे ही चाप भी डरकर छोटा होगा जिससे श्रीजानकीजी को भी सूक्ष्म देख पड़े, क्योंकि वे उसे बहुत कठिन जान रही थीं। यह भी जनाया कि सिकुड़े हुए सर्प को भी गरुड़ नहीं छोड़ता, वैसे मैं इसे नहीं छोड़ूँगा।

(४) 'लखन लखेउ ···'—श्रीलक्ष्मणजी वीर हैं। अतः, इन्हें यह वीरता प्रिय लगी, इसीसे पुलक से इनका हर्ष प्रकट हो गया, यथा—"अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा॥" (सुं० दो० ५७)। मंच ही पर से चरणों से ब्रह्माण्ड को कैसे दबाया? इसका उत्तर यह है, कि इनको चरण से संकेत-मात्र करना है, इनके संकल्प मात्र से सब विधान होते हैं। जैसे मन्त्र-जप का प्रभाव मन से ही देवताओं तक पहुँच जाता है, इसी तरह इनकी आज्ञा सर्वत्र पहुँच गई। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि ये शेष आदि सबके नियन्ता हैं।

(५) 'धरहु धरनि धरि धीर···'—यहाँ एक तो धैर्य धारण करना, पुनः पृथ्वी को धारण करना—दोनों कहते हैं। 'धरनि'—सबको धारण करती है, उसके हिलने से सभी का नाश होगा।

'दिसिकुंजरहु'—बहुवचन कहकर सब दिग्गजों को सूचित किया। दिग्गज आठ हैं—ऐरावत, पुंडरीक, वामन, कुमुद, अञ्जन, पुष्पदन्त, सार्वभौम और सुप्रतीक (विश्वकोष)। अनुरूप भाव, यथा—"पृथ्वि स्थिरा भव भुजङ्गम धारयैनां, त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः॥ दिक्कुञ्जराः कुरुत तत्त्रितये दिधीषां, रामः करोति हरकार्मुकमाततज्यम्॥" (हनुमन्नाटक १।२१)।

इस कृत्य से डींग हाँकनेवाले अभिमानी राजाओं पर भी आतंक पहुँचा कि लड़ाई के भरोसे न रहना। यहाँ ब्रह्माण्ड तक तो हिलाने-डुलानेवाले वीर हैं।

चाप - समीप राम जब आये। नरनारिन्ह सुर सुकृत मनाये॥३॥
सब कर संसय अरु अज्ञानू। मंद महीपन्ह कर अभिमानू॥४॥
भृगुपति केरि गरब-गरुआई। सुर-मुनि-बरन्ह केरि कदराई॥५॥
सिय कर सोच जनक-पछितावा। रानिन्ह कर दारुन-दुख-दावा॥६॥
संभुचाप बड़ बोहित पाई। चढ़े जाइ सब संग बनाई॥७॥
राम-बाहु - बल - सिंधु अपारू। चहत पार नहिं कोउ कनहारू॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी जब धनुष के समीप आये, तब स्त्री-पुरुषों ने अपने-अपने देवताओं को मनाया और पुण्यों का भी स्मरण किया॥३॥ सबका सन्देह और अज्ञान, मूर्ख राजाओं का अभिमान॥४॥ परशुरामजी के अहंकार की गुरुता, देवताओं और श्रेष्ठ मुनियों का कायरपना॥५॥ श्रीसीताजी की चिन्ता, श्रीजनकजी का पछतावा (पश्चात्ताप) और रानियों का दारुण दुःख रूपी दावानल॥६॥ ये सब मैत्री बनाकर, शिव-धनुष रूपी बड़े जहाज को पाकर उसपर चढ़ गये॥७॥ श्रीरामजी की भुजाओं का बल अपार सागर है। ये सब उसके पार जाना चाहते हैं, पर कोई कर्णधार (माँझी) नहीं दीखता॥८॥

विशेष—(१) 'चाप-समीप राम जब···'—पूर्व कहा गया था—"सहजहिं चले सकल जग-स्वामी।" ग्रन्थकार यह प्रसंग छोड़कर सबकी दशा कहने लगे थे। यहाँ लिखते हैं कि अब श्रीरामजी चाप के पास आ गये।

(२) 'सब कर संसय अरु ··'—संशय और अज्ञान तो सभी को है, अज्ञान-वश सभी को सन्देह है, शेष बातों में एक-एक ही उक्त व्यक्तियों में हैं। मूर्ख राजाओं को घमण्ड है कि हमसे न टूटा तो इस बालक से क्या टूटेगा! वा यह भी अभिमान है कि मुझसे न टूटा, और भी तो किसीसे नहीं टूटा, तो क्या हम किसीसे कम हैं? यह अभिमान धनुष के साथ टूटेगा।

(३) 'भृगुपति केरि गरब गरुआई।'—परशुरामजी को गर्व था कि जब तक शिवधनुष बना है, तब तक हमारी क्षत्रियों का संहार करनेवाली दिव्य शक्ति बनी है। उनका यह गर्व बहुत पहले से सवार था। धनुभंग की प्रतिज्ञा पर भी उन्हें निश्चय नहीं था कि कोई तोड़ सकेगा। टूटने की ध्वनि सुनकर दौड़ पड़े कि मुझसे अधिक बलवान् कोई हो चुका। यह प्रसंग और शेष संशय आदि सात साथियों को ग्रन्थकार ने ला बैठाया है कि ये सब पार जाना चाहते हैं। यहाँ राम-बाहु-बल अपार अथाह सिंधु है, यथा—"सठ चाहत रघुपति-बल देखा॥ जिमि पिपीलिका सागर थाहा।" (अर० दो० १), "अमित अमल बल जल परिपूरन।" (गी० उ० १३), तथा—"पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।" (श्वे० ६।८)। शिवधनुष को भारी जहाज जानकर उसपर चढ़े हैं, इन सबको विश्वास है, कि हम पार हो जायँगे, पर माँझी कोई नहीं दीखता, जो इस सागर से पार ले जाय अर्थात् अब चाप को टूटने से बचा सके। शिवजी इसके प्रथम कर्णधार रूप से रक्षक थे, तब विष्णु के समर में ही न बचा सके, यह जड़ हो गया था, तो अब राम बाहु-बल से क्या बचावेंगे? परशुराम भी आकर क्या कर लेंगे? इस जहाज का डूबना आगे दो० २६१ पर कहेंगे। श्रीरामजी के बाहु-बल की अगाधता का यह विलक्षण रूपक है। यहाँ 'तुल्ययोगिता प्रथम' है, क्योंकि अनेक उपमेयों का एक धर्म कहा गया है।

दोहा—राम बिलोके लोग सब, चित्र लिखे-से देखि।
चितई सीय कृपायतन, जानी बिकल बिसेखि॥२६०॥

देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलपसम तेही॥१॥
तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा। मुये करइ का सुधा-तड़ागा॥२॥
का बरषा सब कृषी सुखाने। समय चुके पुनि का पछिताने॥३॥
अस जिय जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेखी॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी ने देखा कि सब लोग लिखे हुए चित्र (तसवीर) की तरह देख रहे हैं। फिर उन कृपा के धाम ने श्रीसीताजी को देखा तो उन्हें बहुत व्याकुल जाना॥२६०॥ वैदेही श्रीजानकीजी को बहुत तरह से व्याकुल देखा कि एक निमिष उन्हें कल्प के सदृश बीतता है॥१॥ जो किसी प्यासे का शरीर जल के बिना छूट जाय, तो मरने पर अमृत का तालाब भी क्या करेगा?॥२॥ सब खेती सूख ही गई, तब वर्षा होने से क्या? समय पर चूकने से फिर पछतावा करने से क्या?॥३॥ ऐसा मन में जानकर श्रीजानकीजी की ओर देखा और उनकी विशेष प्रीति देखकर प्रभु श्रीरामजी पुलकित हो गये॥४॥

विशेष—(१) "तृषित बारि बिनु जो ··सुधा तड़ागा।" श्रीरामजी ने जब श्रीजानकीजी को अत्यन्त विकल देखा, तब विचार किया कि प्यासा यदि जल के बिना शरीर त्याग दे, तो फिर अमृत का तालाब भी प्राप्त होना उसके किस काम का? यहाँ प्यासी श्रीजानकीजी हैं, इन्हें श्रीरामजी के हाथ से धनुष टूटने की आशा रूप प्यास है, यथा—"आस पियास मनोमल हारी।" (दो० ४२), धनुष टूटने का सुख जल है, अमृत के तड़ाग श्रीरामजी हैं, यथा—"जगतपिता रघुपतिहिं बिचारी। भरि लोचन छबि लेहु निहारी॥···सुधासमुद्र समीप बिहाई।" (दो० २५५)। यदि थोड़ा विलम्ब होने से श्रीजानकीजी शरीर त्याग दें, तो पीछे धनुष तोड़कर उन्हें श्रीरामजी के प्राप्त ही हो जाने से क्या लाभ?

स्मरण रहे कि अमृत का गुण अमर करना है—कुछ मरे हुए को जिलाना नहीं है, यथा—"सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीच।" (दो० ५), अर्थात् जीवित आदमी अमृत पी ले तो अमर हो जाय और जो विष खा ले तो मर जाय। यदि अमृत पी ले और अमर हो जाय, फिर पीछे विष उसे मार न सकेगा और जो विष पीकर मर जाय, तो अमृत जिला न सकेगा। दोनों अपने-अपने गुणों में प्रशंसनीय हैं। जो मर गया, और उसका आत्मा कर्मानुसार अन्यत्र प्राप्त हो चुका, तो फिर अमृत में वह शक्ति नहीं कि वह उसे ला सके अथवा दूसरा आत्मा ही तैयार कर सके। यहाँ गूढोत्तर (चित्रोत्तर) अलंकार है।

यदि प्रश्न हो कि—"सुधा बरषि कपि भालु जियाये।" (लं० दो० ११३) क्यों कहा है तो उत्तर यह है कि वे वानर-भालु 'सुर-अंसिक' (देवताओं के अंश से) थे, वहाँ रघुपति की इच्छा से जी गये। फिर इन्द्र से क्यों अमृत बरसाने को कहा ? उत्तर यह है कि इन्द्र को बड़ाई देनी थी, उसने सेवा चाही थी, यथा—"प्रभु सक त्रिभुवन मारि जियाई। केवल सक्रहिं दीन्हि बड़ाई॥" (लं० दो० ११३)। अतः, वहाँ वानर-भालुओं का जीना रघुपति की इच्छा से हुआ। नहीं तो राक्षसों पर भी तो अमृत-वर्षा हुई, पर उन्हें जिलाने की इच्छा श्रीरामजी की नहीं थी। इससे वे नहीं जिये।

(२) 'का बरषा सब·····'—कृषि (खेती) श्रीजानकीजी की माता और उनकी सखियाँ हैं। धनुष टूटने पर कहा है, यथा—"सखिन्ह सहित हरषीं सब रानी। सूखत धान परा जनु पानी॥" (दो० २६२), इन्हें श्रीजानकीजी का ब्याह देखने की अभिलाषा है, यदि धनुष टूटने में देर होने से श्रीजानकीजी का अमंगल हो जाय तो अभिलाषा जाती रहेगी, यही सुखाना है, फिर यदि धनुर्भंग रूपी वर्षा हो, तो किस काम की ? पुनः श्रीजानकीजी को देर होने से कहीं अमंगल हो ही गया तो फिर समय चूककर मेरा पछताना व्यर्थ होगा। इसलिये धनुष तोड़ने में शीघ्रता होनी चाहिये। महाकवि विद्यापति भी कहते हैं—"अंकुर तपन ताप जदि जारब कि करब बारिद मेहे।" (पदावली)।

अलंकार—'चित्रोत्तर' है। प्रश्नोत्तर 'का बर्षा' पद में ही है।

(३) 'अस जिय जानि जानकी ···· '—'जानकी देखी' अर्थात् उनकी जान पर आ बनी है। 'लखि प्रीति बिसेषी'—श्रीजानकी ने श्रीरामजी को इस प्रसंग में सात बार देखा है और श्रीरामजी का उन्हें चार ही बार देखना लिखा है। अतः, उनकी प्रीति विशेष है।

युगल सरकारों की प्रीति और दृष्टि का मिलान

श्रीजानकीजी	श्रीरामजी
१—देखि-देखि रघुबीर-तनु·····(दो० २५७)।	१—सियहिं बिलोकि तकेउ धनु।
२—नीके निरखि नयन भरि सोभा (,,)।	२—चितई सीय कृपायतन।
३—प्रभुहिं चितइ-पुनि····· (दो० २५८)।	३—देखी बिपुल बिकल बैदेही।
४—प्रभु-तनु चितइ···((दो० २५८)।	४—अस जिय जानि जानकी देखी।
५—मुनि-समीप देखे दोउ भाई। (दो० २४७)	,,
६—देखि सीय सकुचानि। (दो० २४८)	,,
७—तब रामहिं बिलोकि बैदेही। (दो० २५६)	,,
पुलकावलि तरीर। (दो० २५७)	प्रभु पुलके लखि प्रीति···

गुरुहिं प्रनाम मनहिं मन कीन्हा। अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा॥५॥
दमकेउ दामिनि जिमि जब लयेऊ। पुनि धनु नभ-मंडल-सम भयेऊ॥६॥
लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े॥७॥

तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। भरेउ भुवन धुनि घोर कठोरा ॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी ने मन-ही-मन गुरुजी को प्रणाम किया और अत्यन्त शीघ्रता से धनुष उठा लिया ॥५॥ जब (उठा) लिया, तब वह बिजली की तरह चमका, फिर वह धनुष आकाश-मण्डल के समान हो गया ॥६॥ उसे लेते (उठाते), चढ़ाते (प्रत्यञ्चा चढ़ाते) और दृढ़ रीति से कान तक प्रत्यञ्चा (डोर) को खींचते, किसीने लक्ष्य नहीं कर पाया (कि कब एवं कैसे उठाया, चढ़ाया और जोर से खींचा)। सबने यही देखा कि खींचे हुए खड़े हैं ॥७॥ श्रीरामजी ने उसी क्षण के भीतर धनुष को बीच से तोड़ दिया। संसार में (धनुष टूटने की) घोर-कठोर ध्वनि भर गई ॥८॥

विशेष—(१) 'गुरुहिं प्रनाम मनहिं···'—यहाँ मन ही में प्रणाम किया, क्योंकि प्रकट करने में पाया जाता है कि साहस खो चुके हैं। अतः, गुरु से सहायता चाहते हैं। पुनः यहाँ मन से, पूर्व—"मुनि गुरु-बचन चरन सिर नावा।" (दो० २५३) में कर्म से और—"गुरु-पद-बंदि सहित अनुरागा। राम-मुनिन्ह सन आयसु माँगा॥" (दो० २५४) में वचन से, इस प्रकार तीन बार प्रणाम किया। 'अति लाघव उठाइ'—बड़ी फुर्ती से उठा लिया। तेजी से काम करना बाँरता है।

(२) 'दमकेउ दामिनि जिमि···'—'जिमि' शब्द के बिना सन्देह होता कि मेघ की बिजली ही चमकी है। लेने के समय बिजली-सी चमकी, चढ़ाने का कार्य—'नभ-मंडल सम' से सूचित किया कि श्रीरामजी सिर के ऊपर गोलाकार रोदा चढ़ा हुआ धनुष लिये हुए हैं।

(३) 'लेत चढ़ावत खैंचत···'—लेना (पकड़कर उठाना), चढ़ाना (रोदा चढ़ाना) और दृढ़ रूप से खींचना जिससे प्रत्यञ्चा कान तक चली जाय, इन कर्मों की तेजी का किसीने लक्ष्य नहीं कर पाया कि कैसे क्या किया ? सब यही देखते थे कि श्रीरामजी धनुष हाथ में लिये खड़े हैं। इसमें 'गाढ़े' शब्द क्रिया-विशेषण है जो 'खींचत' क्रिया के साथ है। यहाँ 'कारक दीपक अलंकार' है क्योंकि एक ही कर्त्ता के द्वारा कई क्रियाएँ साथ कही गई हैं।

(४) 'तेहि छन राम मध्य····'—जैसे लेने का कार्य बिजली-सी चमकना और चढ़ाने का 'नभ-मंडल सम' होना है, वैसे ही यहाँ 'गाढ़े खैंचत' का कार्य दिखाया कि बीचोबीच धनुष को तोड़ डाला। 'मध्य धनु'—इधर-उधर से तोड़ने से लोग कहते कि बगल पतला था, इससे तोड़ सके, बीच का भाग नहीं तोड़ पाते। धनुष पुराना था, इससे खींचने के साथ ही टूट गया।

यहाँ 'कृषी', 'बरषा', 'दामिनी का दमकना', 'नभ-मंडल सम धनुष' हैं और 'श्यामघन' उपमान की जगह श्रीरामजी घनश्याम हैं ही तथा आगे चातकी की तृप्ति एवं सूखते धान में पानी पड़ना भी कहा है। अतः, वर्षा का पूरा प्रसंग लक्षित किया है।

छन्द—भरे भुवन घोर कठोर रव रबिबाजि तजि मारग चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले॥
सुर असुर मुनि कर कान दीन्हे सकल बिकल बिचारहीं।
कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति बचन उचारहीं॥

सोरठा—संकरचाप जहाज, सागर रघुबर-बाहु-बल।
बूड़ सो सकल समाज, चढ़ा जो प्रथमहिं मोहबस॥२६१॥

अर्थ—भयावन और कड़ा शब्द लोकों में गूँज उठा। सूर्य के घोड़े अपना विहित मार्ग छोड़कर चलने लगे। दिग्गज चिंघाड़ने लगे। पृथ्वी हिलने लगी। शेष, वाराह और कच्छप छटपटा उठे॥ देवता, दैत्य और मुनि सब कान में हाथ दिये हुए व्याकुल होकर ऐसा विचार रहे हैं, (जान पड़ता है) कि श्रीरामजी ने धनुष तोड़ा है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (ऐसा समझकर) सब-के-सब श्रीरामजी की जय-जय का उच्चारण करते हैं। शिवजी का धनुष जहाज है, श्रीरघुनाथजी की भुजाओं का बल सागर है, वह सारा समाज (धनुर्भंग-रूपी जहाज के डूबते ही) डूब गया, जो प्रथम ही मोह के अधीन होकर उसपर जा चढ़ा था।

विशेष—'घोर कठोर'—क्योंकि आवाज ऊपर सूर्य तक और नीचे कच्छप तक पहुँची। आगे—'बिकल बिचारहीं' तक इस घोरता एवं कठोरता का ही प्रभाव है। 'घोर' से मन और कठोर से कान पर प्रभाव पड़ा। 'बिचारहीं'—कि ऐसा शब्द वज्रपात होने, पृथ्वी डोलने एवं पहाड़ गिरने से भी नहीं हो सकता, पीछे चित्त में आया कि श्रीरामजी शिव-चाप तोड़नेवाले थे, वही टूटा है। तब सभी जय-जयकार करने लगे। राक्षस भय से व्याकुल हो 'जय-जय' के उच्चारण में सम्मिलत हुए। 'सुर, असुर, मुनि' से क्रमशः स्वर्ग, पाताल और भूलोक जनाये।

'सकल समाज'—वे ही हैं, जो—"चढ़े जाइ सब संग बनाई।" (दो० २५९) पर कहे गये थे। धनुष के टूटने के शब्द से क्षुब्ध जगत् का चित्र हनुमन्नाटक में यों खींचा गया है—"त्रुट्यद्धीमधनुः कठोरनिनदस्तत्राकरोद्विस्मयं। त्रस्यद्वाजिरवेरमार्गगमनं शम्भोः शिरःकम्पनम्॥ दिग्दन्तिस्खलनं कुलाद्रिचलनं सप्तार्णवोन्मेज्जनं। वैदेहीमदनं मदान्धदमनं त्रैलोक्यसंमोहनम्॥" (१।२६)। अभेद रूपक है।

प्रभु दोउ चापखंड महि डारे। देखि लोग सब भये सुखारे॥१॥
कौसिक-रूप - पयोनिधि पावन। प्रेमबारि अवगाह सुहावन॥२॥
रामरूप - राकेस निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी॥३॥
बाजे नभ गहगहे निसाना। देववधू नाचहिं करि गाना॥४॥
ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा। प्रभुहिं प्रसंसहिं देहिं असीसा॥५॥
बरिसहिं सुमन रंग बहु माला। गावहिं किन्नर गीत रसाला॥६॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी ने धनुष के दोनों टुकड़े भूमि पर डाल दिये, देखकर समस्त लोग सुखी हुए॥१॥ श्रीरामरूप-पूर्णचन्द्रमा को देखकर अथाह और सुन्दर प्रेमरूपी जल से भरे हुए श्रीविश्वामित्र रूपी पवित्र सागर में पुलकावली रूपी भारी लहरें बढ़ने लगीं॥२-३॥ आकाश में धमाधम नगाड़े बजने लगे, देव वधूटियाँ गा-गाकर नाचने लगीं॥४॥ ब्रह्मा आदि देवता, सिद्ध और मुनीश्वर प्रभु श्रीरामजी की प्रशंसा करते और आशीर्वाद देते थे॥५॥ वे बहुत रंगों के फूल और उन फूलों की मालाएँ बरसा रहे थे, किन्नरगण सरस गीत गा रहे थे॥६॥

विशेष (१) 'प्रभु दोउ चाप-खंड···'—हल्ला कुछ कम पड़ा, तब धनुष के टुकड़े फेंके कि जिससे सब कोई देख लें, नहीं तो कुटिल राजा लोग कहते कि माया से तोड़ा होगा—पुरुषार्थ से नहीं। 'लोग सब'—पहले तो अकचका गये थे, क्षणिक घबराहट शान्त हुई तो देखकर सुखी हुए। ये रंगभूमि के ही लोग हैं।

(२) 'कौसिक-रूप पयोनिधि···'—विश्वामित्रजी ब्रह्मर्षि हैं, हर्ष-विषाद से इनका कोई सम्पर्क नहीं, पर इन्हें भी धनुष टूटने पर भारी हर्ष हुआ। हर्ष की अगाधता के लिये समुद्र का रूपक बाँधा

है, प्रेम-सम्बन्ध से 'पावन' कहा है। ऊपर के 'लोग सब' में ये भी आ जाते, पर श्रीरामजी के इस कार्य का गौरव दिखाने के लिये पृथक् कहे गये। इन्हें इतना अधिक हर्ष इसलिये हुआ कि इनकी आशा पूरी हुई।

(३) 'बरिसहिं सुमन रंग···'—इनलोगों ने प्रथम ही से मालाएँ भी रंग-विरंग की बना रक्खी थीं कि धनुष टूटने पर बरसावेंगे। 'गीत रसाला'—इनके गान उपर्युक्त देवनारियों के गानों से भी अधिक सरस हैं।

रही भुवन भरि जय-जय बानी। धनुष-भंग-धुनि जात न जानी ॥७॥
मुदित कहहि जहँ तहँ नर नारी। भंजेउ राम संभुधनु भारी ॥८॥

दोहा—बंदी मागध सूतगन, बिरद बदहिं मतिधीर।
करहिं निछावरि लोग सब, हय गय धन मनि चीर ॥२६२॥

अर्थ—जय-जयकार की वाणी (चौदहो) भुवनों में छा गई, धनुष के टूटने की ध्वनि को जाते किसीने नहीं जाना ॥७॥ प्रसन्न होकर जहाँ-तहाँ स्त्री-पुरुष कह रहे हैं कि श्रीरामजी ने भारी शंकरजी के धनुष को तोड़ डाला ॥८॥ भाट, मागध और सूत लोग धीर-बुद्धि से विरद (यश) कह रहे हैं। सभी लोग घोड़े, हाथी, धन, मणि और वस्त्र आदि निछावर कर रहे हैं ॥२६२॥

विशेष—(१) 'रही भुवनभरि···'—धनुष-भंग की ध्वनि थी ही कि जय-जय ध्वनि प्रारम्भ हो गई और यह इतनी अधिक हुई कि धनुर्भंग की ध्वनि का मिटना किसीको जान ही नहीं पड़ा, अर्थात् जय-जय ध्वनि ने उस ध्वनि को दबा दिया और फिर यह बड़ी देर तक रही, क्योंकि जैसे-जैसे लोग सावधान होते जाते थे, वैसे-वैसे जय-जय कहते जाते थे।

प्रथम आकाश के देवता, सिद्ध, मुनि आदि सावधान हुए, पीछे भूमिवाले, क्योंकि इनके निकट ही धनुष टूटा था। 'जहँ तहँ नरनारी'—ये लोग वे ही हैं, जो मंचों पर बैठे थे, जिनके विषय में ऊपर कहा गया था—"नर नारिन्ह परिहरी निमेखी।" "नर नारिन्ह सुर सुकृत मनाये।"

(२) 'बंदी मागध सूत·····'—'मतिधीर'—सावधानी से शुद्ध उच्चारण करते हैं, भाट कवित्तों में, मागध पदों में और सूत श्लोकों में विरदावली कह रहे हैं।

झाँझि मृदंग संख सहनाई। भेरि ढोल दुंदुभी सुहाई ॥१॥
बाजहिं बहु बाजने सुहाये। जहँ-तहँ जुवतिन्ह मंगल गाये ॥२॥
सखिन्ह सहित हरषीं सब रानी। सूखत धान परा जनु पानी ॥३॥
जनक लहेउ सुख सोच बिहाई। पैरत थके थाह जनु पाई ॥४॥
श्रीहत भये भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीपछवि छूटे ॥५॥

अर्थ—झाँझ, मृदंग, शंख, शहनाई, बड़े ढोल (ढक्के), ढोल और सुहावने नगाड़े ॥१॥ आदि सुहावने बाजे बहुत-से बज रहे हैं, जहाँ-तहाँ स्त्रियों ने मंगल गान किये ॥२॥ सखियों के साथ सब रानियाँ हर्षित हुईं, मानों सूखते हुए धान पर पानी (बरसकर भरपूर) पड़ा हो ॥३॥ श्रीजनकजी ने शोच त्याग कर सुख पाया, मानों तैरते हुए थक जाने पर थाह पा ली हो ॥४॥ धनुष के टूटजाने पर राजा लोग ऐसे शोभा-हीन हो गये, जैसे दिन (के प्रकाश) में दीपक की छवि जाती रहती है ॥५॥

विशेष—(१) 'दुंदुभी सुहाई'—लड़ाई में नगाड़े आदि घोर शब्द से बजाये जाते हैं, यथा—"पनव निसान घोर रव बाजहिं। प्रलय समय के घन जनु गाजहिं॥" (लं० दो० ७८), पर यहाँ ब्याह के

अनुकूल सुहावने ढंग से बज रहे हैं। पुनः बाजे एक दूसरे से मिले हुए भी सुहावने बजते हैं। पहले आकाश के वाद्य और नृत्य कहे गये, तब पीछे यहाँ के बाजे बजे, क्योंकि यहाँ लोगों में सावधानता पीछे हुई। यहाँ पहले गान हुआ—इसे आगे कहेंगे।

(२) 'सखिन्ह सहित हरषीं सब···'—यहाँ प्रथम रानियों का सुख कहते हैं कि सूखते हुए धान में कहीं भरपूर जल हो जाय, तो जैसे वह लहलहा उठे, वैसे इन्हें परम आह्लाद हुआ।

(३) 'जनक लहेउ सुख सोच···'—बुद्धि से विचार करना तैरना है—"तौ पन करि होतेउँ न हँसाई।" यहाँ से थकने लगे। "कुँअरि कुँआरि रहउ का करऊँ।" यहाँ बहुत ही थक गये। बहुत शोच में पड़ गये कि अब तो प्रण गया, यही प्राणों पर आ बनना है। श्रीरामजी के हाथ धनुष का टूटना, थाह पाना है, यहाँ सुख का अनुमान बताया गया कि जनकजी को वैसा सुख हुआ जैसा डूबते हुए को थाह पा जाने से होता है। यहाँ 'पर्याय द्वितीय अलंकार' है, क्योंकि एक आधार रूप हृदय में आधेय दो कहे गये।

(४) 'श्रीहत भये भूप···'—इनकी शोभा चली गई, यथा—"नमित सीस सोचहिं सलज्ज सब श्रीहत भये सरीर।" (गी० बा० ७७)। पूर्व भी इनका श्रीहत होना कहा गया था—'श्रीहत भये हारि हिय राजा।' पर वहाँ कोई दृष्टान्त नहीं दिया गया था, क्योंकि चाप-रूप भारी अन्धकार बना था। अतः, इनकी कुछ-कुछ कान्ति अवशिष्ट थी। अब धनुष टूटने पर वे नितान्त श्रीहीन हो गये। अतः, इसे 'दीप छवि छूटे' से सूचित किया। श्रीरामजी के प्रताप-रूपी सूर्य का उदय हुआ धनुष-रूप अन्धकार का नाश हुआ और दीपक-रूप राजा लोगों का प्रताप नहीं रह गया।

सीयसुखहिं बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जल स्वाती ॥६॥
रामहि लखन बिलोकत कैसे। ससिहिं चकोर-किसोरक जैसे ॥७॥
सतानंद तब आयसु दीन्हा। सीता गमन राम पहिं कीन्हा ॥८॥

दोहा—संग सखी सुंदर चतुर, गावहिं मंगलचार।
गवनी बाल-मराल-गति, सुषमा अंग अपार ॥२६३॥

अर्थ—श्रीसीताजी के सुख का वर्णन किस तरह किया जाय—जैसे स्वाती का जल पाकर चातकी (सुखी होती है।) ॥६॥ श्रीरामजी को श्रीलक्ष्मणजी किस प्रकार देखते हैं, जिस प्रकार चन्द्रमा को चकोर का बच्चा देखता है ॥७॥ तब शतानन्दजी ने आज्ञा दी तो श्रीसीताजी ने श्रीरामजी के समीप गमन किया ॥८॥ सुन्दर चतुर सखियाँ साथ में मंगलाचार के गीत गा रही हैं। बाल-हंसिनी की चाल से श्रीसीताजी चलीं, उनके अंग-अंग पर अपार परमा शोभा है ॥२६३॥

विशेष—(१) 'सीयसुखहिं बरनिय···'—प्रथम चातुर्मास की वर्षा होती है, पर चातकी स्वाती ही की प्रतीक्षा में रहती है। वैसे चारों दिशाओं के राजा लोग धनुष तोड़ने में लगे थे, पर सीताजी की दृष्टि उनपर नहीं गई। चातकी की पुकार स्वाती ही के लिये रहती है वैसे श्रीजानकीजी की भी पुकार—"मन ही मन मनाव अकुलानी।"···से—"प्रभु तन चितइ प्रेम-पन ठाना॥" तक श्रीरामजी के लिये है। जब धनुष तोड़कर श्रीरामजी स्वाती के जल की तरह प्राप्त हुए, तब वे चातकी की तरह सुखी हुईं। 'बरनिय केहि भाँती'—इनका सुख केवल अनुभव करने का है, यथा—"रामहि चितव भाय जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिं कथनीया॥ उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहइ कवि कोऊ॥" (दो० २४१)।

(२) 'रामहिं लखन बिलोकत···'—चकोर का बच्चा अग्नि-भक्षण करता है। अतः, उसके हृदय में

गर्मी बनी रहती है, वह चन्द्रमा के दर्शनों से शीतल होकर सुखी होता है। वैसे श्रीजनकजी के वचनों से लक्ष्मणजी के हृदय में क्रोध रूपी उष्णता थी, यथा—"माखे लखन···" कहा गया है, जब श्रीरामजी ने धनुष तोड़ दिया तब वह गर्मी दूर हुई और दर्शनों से शान्ति प्राप्त कर रहे हैं। श्रीजानकीजी को चातकी और इन्हें चकोर का बच्चा कहा, क्योंकि दोनों ही श्रीराम में अनन्य हैं यथा—"न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव मुहूर्त्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ ॥ (वाल्मी० २।५३।२१), अर्थात् श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामजी से कहा है कि मैं और श्रीसीताजी एक क्षण भी आपसे पृथक् रहकर नहीं जी सकते, जैसे जल से पृथक् कर देने से मछली नहीं जीती। श्रीलक्ष्मणजी 'चातक चतुर राम स्यामघन के।' (वि० ३७), तथा—"मीन दीन जनु जल ते काढ़े।" (अ० दो० ६९), कहे गये हैं और श्रीजानकीजी भी—"सरद ससिहि जनु चितव चकोरी ॥" (दो० ३३१), कही गई हैं। यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है।

(३) 'सतानंद तब आयसु दीन्हा···'—प्रतिज्ञा-स्वयंवर के लिये उधर के गुरुजी ने आज्ञा दी थी—"उठहु राम भंजहु भव-चापा।" (दो० २५३), और जयमाल-स्वयंवर के लिये पुरोहितजी की आज्ञा हुई, क्योंकि विवाह का विधान पुरोहित के अधीन है।

(४) 'संग सखी सुंदर ···'—इसके पूर्वार्द्ध में सखियों की और उत्तरार्द्ध में श्रीजानकीजी की शोभा कही गई। सखियाँ सुन्दरी हैं और उनकी शोभा का पार है, श्रीजानकीजी अति सुन्दरी हैं और इनकी शोभा अपार है। आगे चौपाई में दोनों को साथ कहते हैं।

सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसे। छवि-गन-मध्य महाछवि जैसे ॥१॥
कर-सरोज जयमाल सुहाई। बिस्व-बिजय-सोभा जेहि छाई ॥२॥
तनु सकोच मन परम उछाहू। गूढ़ प्रेम लखि परइ न काहू ॥३॥
जाइ समीप राम-छवि देखी। रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी ॥४॥
चतुर सखी लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई ॥५॥

अर्थ—श्रीसीताजी सखियों के बीच में कैसे सुशोभित हैं, जैसे छवि-समुदाय के बीच में महाछवि हो ॥१॥ कर-कमल में (कमल की) सुहावनी जयमाला है, उसपर मानों विश्व-विजय की शोभा छाई हुई है ॥२॥ उनके शरीर में तो संकोच है, परन्तु मन में परम उत्साह है। गुप्त प्रेम है, वह किसीको जान नहीं पड़ता ॥३॥ पास में जाकर श्रीरामजी की छवि को देखकर राजकुमारी श्रीसीताजी लिखी हुई तसवीर की तरह अचल रह गईं ॥४॥ यह देखकर चतुर सखी ने समझाकर कहा कि (श्रीरामजी को) सुहावनी जयमाला पहनाओ ॥ ॥

विशेष—(१) 'सखिन्ह मध्य सिय···'—जैसे छवि-समूह के बीच में महा छवि सोहे, वैसी शोभा है। यहाँ अन्योन्य शोभा सादृश्य है अर्थात् सखियों से श्रीजानकीजी की शोभा है और इनसे उन सबकी, यथा—"सुंदरता कहँ सुंदर करई। छवि-गृह दीपसिखा जनु बरई ॥" (दो० २२९)। यहाँ भी दृष्टान्त अलंकार है।

(२) 'कर-सरोज जयमाल···'—इसमें 'सरोज' दीपदेहली है, 'बिस्व-बिजय' अर्थात् इसमें धनुष से हारे हुए सुर, नर, नाग-असुर आदि तीनों लोकों के वीरों पर विजय है। विश्वविजयी ही इसको पहन सकता है।

(३) 'जाइ समीप राम ···'—पुष्पवाटिका में दूर से देखने पर चकोरी की तरह होना कहा गया था, यहाँ समीप से देखा तो अधिक निमग्नता होने से चित्र की तरह खड़ी रह गईं।

'चतुर सखी लखि···'—श्रीजानकीजी जब लिखित चित्र-सी रह गईं तब इसने लक्ष्य किया कि

इनकी हृदय-गति भूली हुई है, यथा—"परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥" (अ० दो २४०) "दास तुलसी नेह-बिवस बिसरी देह, जान नहिं आपु तेहि काल धौं को ही॥" (गी० अ० १८)। अतएव इसे बुझाकर कहा, इसीसे 'चतुर' कही गई।

सुनत जुगल कर माल उठाई। प्रेमबिवस पहिराइ न जाई॥६॥
सोहत जनु जुग जलज सनाला। ससिहि सभीत देत जयमाला॥७॥
गावहिं छबि अवलोकि सहेली। सिय जयमाल राम-उर मेली॥८॥

सोरठा—रघुबर-उर जयमाल, देखि देव बरिसहिं सुमन।
सकुचे सकल भुआल, जनु बिलोकि रबि कुमुदगन॥२६४॥

अर्थ—(चतुर सखी के वचन) सुनकर (सीताजी ने) दोनों हाथों से जयमाला उठाई, पर वे प्रेम के विवश हैं, इससे (इनसे वह माला) पहनाई नहीं जाती॥६॥ (दोनों हाथ) कैसे सोहते हैं, मानों दंडी के साथ डरे हुए दो कमल चन्द्रमा को जयमाल दे रहे हों॥७॥ छवि देखकर सखियाँ गा रही हैं। श्रीसीताजी ने श्रीरामजी के गले में जयमाला पहनाई॥८॥ श्रीरघुनाथजी के हृदय पर जयमाला देखकर देवगण फूल बरसा रहे हैं और सब राजा लोग सकुच गये, मानों सूर्य को देखकर कुमुदसमूह॥२६४॥

विशेष—(१) 'प्रेमबिवस पहिराइ···'—यहाँ प्रेम की स्तम्भ-दशा है, क्योंकि पूर्व ही—'चित्र अवरेखी' कहा गया है। 'प्रेम' पर यह भी भाव कहा जाता है कि किशोरीजी अभी ६ वर्ष की हैं, (क्योंकि वाल्मी० ३।४६।४,१७ के मिलान से १८-१२=६ वर्ष ही विवाह समय रह जाते हैं। आयोनिजा हैं। अतः, छः ही वर्ष में सयानी हो गई थीं।) इससे छोटी हैं और श्रीरामजी १५ वर्ष के हैं (वाल्मी० १।२०।२ देखिये)। अतः, ऊँचे होने से सिर तक हाथ नहीं पहुँच सकता। वे खड़ी हैं कि सिर झुकावें तो हम माला डाल दें, पर श्रीरामजी संकोच से सिर नहीं झुकाते।

(२) 'सोहत जनु जुग···'—यहाँ हाथ कमल हैं। बाहु-दंड नाल हैं। जयमाल रहने से हाथ संकुचित हैं, यही सभीत होना है। श्रीरामजी का मुख चन्द्रमा है। चन्द्रमा के समक्ष कमल संकुचित होता ही है। उत्प्रेक्षा अलंकार है।

(३) 'गावहिं छबि अवलोकि···'—सखियाँ विचारती हैं कि इस दशा में यदि फिर से कहा जाय तो इन्हें संकोच होगा। इससे जयमाला पहनाने के ही गीत गाने लगीं। श्रीजानकीजी ने सावधान होकर जयमाला पहना दी।

(४) 'सकुचे सकल भुआल···'—पूर्व कहा गया था—"अरुनोदय सकुचे कुमुद···" (दो० २३८), वहाँ अरुणोदय पर सकुचना कहा गया और यहाँ देखकर, क्योंकि वहाँ श्रीरामजी के आगमन की बात थी और यहाँ तो प्रभाव ही प्रकट हो गया है।

पुर अरु ब्योम बाजने बाजे। खल भये मलिन साधु सब राजे॥१॥
सुर किन्नर नर नाग मुनीसा। जय जय जय कहि देहिं असीसा॥२॥
नाचहिं गावहिं बिबुधबधूटी। बार-बार कुसुमांजलि छूटी॥३॥
जहँ-तहँ बिप्र बेदधुनि करहीं। बंदी बिरदावलि उच्चरहीं॥४॥
महि पाताल नाक जस ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥५॥

अर्थ—श्रीजनकपुर और आकाश में बाजे बजने लगे, और दुष्ट लोग मलिन मन हो गये, सब साधु (स्वभाव के) लोग प्रफुल्लित हुए॥१॥ देवता, किन्नर, मनुष्य, नागदेव और मुनीश्वर 'जय हो! जय हो!

जय हो !'—ऐसा कहकर आशिष देते हैं ॥२॥ देवताओं की स्त्रियाँ नाचती-गाती हैं, बार-बार उनके हाथों की अंजलियों से फूल छूट रहे हैं ॥३॥ जहाँ-तहाँ ब्राह्मण लोग वेद-ध्वनि कर रहे हैं। भाट वंश का यश वर्णन करते हैं ॥४॥ पृथ्वी, पाताल और स्वर्ग में यश व्याप्त हो गया कि श्रीरामजी ने धनुष को तोड़ डाला और श्रीसीताजी को ब्याहा है ॥५॥

विशेष—(१) 'पुर अरु ब्योम···'—जब धनुष टूटा था, तब आकाशवाले पहले सावधान हुए थे। इससे प्रथम ही बाजे बजाये और गीत गाये। यहाँ पुरवासियों ने पहले बाजे बजाये। अतः, 'पुर' शब्द प्रथम है, क्योंकि ये लोग पास में हैं, जयमाल का पड़ना पहले इन्होंने ही देखा है। इसीसे देवता फूल ही बरसाने में लगे हैं कि ये लोग पहले ही बाजे बजाने लगे, तब पीछे देवता लोगों ने भी बजाये।

(२) 'जय जय जय कहि···'—यहाँ आदर की वीप्सा है। धनुष-भंग पर 'प्रभुहिं प्रसंसहिं देहि असीसा।' कहा गया था, क्योंकि वहाँ सबसे न टूटनेवाले धनुष के तोड़ने की प्रशंसा भी करनी थी, यहाँ जयकार और आशिष का ही प्रयोजन है।

(३) 'नाचहिं गावहिं बिबुध···'—'बिबुध' अर्थात् विशेष बुद्धिमानों की स्त्रियाँ हैं। अतः, नाच-गान विद्या में निपुण हैं। 'बार-बार' अर्थात् नाच की गति एवं गान के साथ पुष्प-वर्षा होती है।

'जहँ-तहँ बिप्र···'—कुलरीति के ब्याह में भाँवरी के समय एकत्र होकर वेदध्वनि करेंगे। यहाँ कोई वैसी रीति नहीं है, फिर भी जयमाल पड़ना एक तरह का ब्याह ही है। अतः, जो जहाँ है वहाँ ही अपने-अपने वेदों की ऋचाओं से आशिष दे रहे हैं, यथा—"निज-निज बेद की सप्रेम जोग-छेम-मई मुदित असीस बिप्र बिदुषन दई है॥" (गी० बा० १४)। 'बंदी' के साथ उपर्युक्त दो० २६२ की रीति से मागध-सूत को भी समझना चाहिये।

(५) 'महि पाताल नाक···'—यहाँ तीनों लोकों के लोग आये हैं और धनुर्भंग के शब्द ने भी तीनों लोकों में यश फैला दिया है।

करहिं आरती पुर - नर - नारी। देहिं निछावरि बित्त बिसारी ॥६॥
सोहति सीय राम कै जोरी। छबि - सिंगार मनहुँ इक ठोरी ॥७॥
सखी कहहिं प्रभुपद गहु सीता। करति न चरनपरस अति भीता ॥८॥

दोहा—गौतम-तिय-गति-सुरति करि, नहिं परसति पग पानि।
मन बिहँसे रघुबंस-मनि, प्रीति अलौकिक जानि ॥२६५॥

अर्थ—जनकपुर के स्त्री-पुरुष आरती करते हैं, वे धन को भुलाकर (धन की स्थिति से कहीं अधिक) निछावर करते हैं ॥६॥ श्रीसीतारामजी की यह जोड़ी ऐसी सुहावनी लग रही है मानों छवि और शृंगार (मूर्त्तिमान होकर) एक स्थान पर हो गये हों ॥७॥ सखियाँ कहती हैं कि हे सीते ! प्रभु श्रीरामजी के चरणों का स्पर्श करो, पर वे अत्यन्त भय के कारण चरण-स्पर्श नहीं करतीं ॥८॥ गौतम मुनि की स्त्री अहल्या की गति को स्मरण करके वे हाथों से चरणों को स्पर्श नहीं करतीं, इस अलौकिक प्रीति को जान कर रघुवंशमणि श्रीरामजी मन में हँसे ॥२६५॥

विशेष—(१) 'करहिं आरती पुर-नर···'—धनुर्भंग पर भी निछावर हुई थी, यथा—"करहिं निछावर लोग सब, हय गय धन मनि चीर।" पर वहाँ आरती नहीं की गई, क्योंकि लोगों ने सोचा होगा कि जोड़ी एकत्र हो तो आरती की जाय। 'बित्त बिसारी'—हानि-लाभ की स्मृति नहीं रह गई, अपनी आर्थिक दशा से अधिक लुटा देते हैं।

(२) 'सोहति···जोरी', यथा—"बानी बिधि गौरी हर सेसहू गनेस कही, सही भरी लोमस भुसुंडि बहु बारिखो ।·····तिन कही जग में जगमगति जोरी एक,·····सीय-सी न तीय न पुरुष राम सारिखो ॥" (क० बा० १६) । 'छबि-सिंगार'—स्वर्ण वर्ण छविवाली श्रीजानकी और श्यामवर्ण शृंगार रूप श्रीरामजी हैं । छवि=कान्ति, दीप्ति और श्यामता एकत्र होने पर अद्भुत छटा हो रही है । कहा है—'जा तन की झाईं परै, स्याम हरित दुति होइ ।' (बिहारी) ।

(३) 'गौतम-तिय-गति-सुरति ···'—(क) गौतम की स्त्री श्रीरामजी के चरण-स्पर्श होते ही अपने पति-लोक को चली गई, उसी दशा का स्मरण करके श्रीजानकीजी श्रीरामजी के चरणों का स्पर्श नहीं करतीं कि स्पर्श करने से हमारा भी इन चरणों से वियोग हो जायगा । इस अलौकिक (छिपी हुई) प्रीति पर श्रीरामजी मन में विहँसे । (चरण-स्पर्श कराकर सखियाँ लिवा ले जायँगी, इससे ही यह मिस करके विलम्ब किया जा रहा है) । यहाँ भी 'सूक्ष्म' अलंकार है—दो० २३५।५ देखिये ।

(ख) अंगुलियों के भूषणों की मणियाँ नारी बनकर अनेक सौतें हो जायँगी, यह भय है । जैसा कहा है—"···दिव्योत्थिता जानकी । आगम्याशु ससंभ्रमं बहुतरां भक्तिं दधाना पुनस्तत्पादौ मणिकङ्कणोज्ज्वलकरा नैव स्पृशत्यद्भुतम् ॥ अहल्यावच्चरणस्पर्शमात्रेण कङ्कणमणयोऽपि योषितो मा भूवन्निति भावः ।" (हनु० १४।७) । कुछ देर और रहने के लिये इस भोरेपन की कल्पना का भाव भी हो सकता है अन्यथा भूषण बचाकर अंगुली के अग्र भाग मात्र से भी स्पर्श कर सकती थीं ।

तब सिय देखि भूप अभिलाखे । कूर कपूत मूढ़ मन माखे ॥१॥
उठि उठि पहिरि सनाह अभागे । जहँ तहँ गाल बजावन लागे ॥२॥
लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ । धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ ॥३॥
तोरे धनुष चाँड़ नहिं सरई । जीवत हमहिं कुँअरि को बरई ॥४॥
जौ बिदेह कछु करइ सहाई । जीतहु समर सहित दोउ भाई ॥५॥

शब्दार्थ—सनाह=कवच । चाँड़=स्वार्थ, यथा—"हित पुनीत सब स्वारथहि, अरि अशुद्ध बिनु चाँड़ ।" (दोहावली ३३०) । इसमें स्वार्थ की जगह 'चाँड़' कहा गया है ।

अर्थ—तब श्रीसीताजी को देखकर राजा ललचा गये । उनमें क्रूर, कुपूत और मूर्ख मन में क्रुद्ध हुए ॥१॥ वे अभागे उठ-उठकर और कवच पहनकर जहाँ-तहाँ गाल बजाने (व्यर्थ बात बड़बड़ाने) लगे ॥२॥ कोई कहता है कि सीता को छीन लो और दोनों राजकुमारों को पकड़कर बाँध दो ॥३॥ (कोई कहता है—) धनुष के तोड़ने से स्वार्थ नहीं सधेगा, अरे ! हमारे जीते-जी राजकुमारी को कौन वरण कर सकता है ? ॥४॥ (फिर कोई कहता है—) यदि राजा जनक कुछ सहायता करें तो युद्ध करके दोनों भाइयों के साथ उन्हें भी जीत लो ॥५॥

विशेष—(१) 'तब सिय देखि भूप···'—पहले भी इन लोगों ने श्रीसीताजी को देखकर अभिलाषा की थी, तब इनकी प्रसंशा ही हुई, यथा—"सुनि पन सकल भूप अभिलाखे । भटमानी अतिसय मन माखे ॥" (दो० २४९), 'मानी' प्रशंसा-रूप में है, क्योंकि वहाँ इन्हें पराक्रम का अभिमान था, इससे क्रोध होना युक्त था । अब वे पराक्रमहीन सिद्ध हो चुके, पुनः अधर्म की दृष्टि से श्रीजानकीजी को चाहते हैं । अतः, 'क्रूर' और बाप-दादों के भी नाम डुबाये, इससे 'कुपूत' हुए । पुनः साधु राजाओं के समझाने से भी नहीं समझा और लक्ष्मणजी के कोप से पृथ्वी आदि का काँपना देखा, फिर भी नहीं समझ पड़ा । अतः, 'मूढ़' कहे गये । चौ० ३, ४, ५ में इन 'क्रूर' आदि को क्रमशः भी ले सकते हैं ।

(२) 'उठि उठि पहिरि सनाह'···—कवच पहनकर लड़ाई के लिये तैयार हो रहे हैं । श्रीराम-विमुख

होने से 'अभागे' कहे गये, यथा—"ते नर नरक रूप जीवत जग भव-भंजन-पद-बिमुख अभागी ॥" (वि० १४०), ये मन, वचन, कर्म—तीनों से राम-विमुख हैं—'मन माखे'—मन, 'परिहरि सनाह'—कर्म और 'गाल बजावन लागे'—वचन है. यथा—"लाज तोरि, साजि साज राजा राढ़ रोषे हैं। कहा भौ चाप चढ़ाये, ब्याह ह्वै है बड़े खाये, बोलैं खोलैं सेल असि चमकत चोखे हैं ॥" (गी० बा० ९३)।

(३) लेहु छुड़ाय सीय ···'—ये बालक ही तो हैं। अतः, कोई भी छुड़ा ले सकता है। 'नृप-बालक' हैं। अतः, शत्रु-रूप में फिर इन्हें छोड़ना नहीं चाहिये, पकड़कर बाँध लो, यथा—"कोउ कह जियत धरहु दोउ भाई। धरि मारहु तिय लेहु छुड़ाई ॥" (अर० दो० १७), ऊपर कहा था—'गाल बजावन लागे' यही उसका चरितार्थ है कि—'छीन तो लो' यह व्यर्थ जल्पना है। हृदय से तो भय है, ऊपर से व्यर्थ बकते हैं।

(४) 'जौ बिदेह कछु करइ···'—'जौ' अर्थात् हम सबको देखकर वे खड़े न होंगे। यदि हों तो 'कछु' ही सहायता करेंगे, डर जायँगे, फिर उन्हें भी युद्ध करके जीत लो। 'नृप-बालक दोऊ' को तो पकड़ कर बाँध लो, क्योंकि वे बालक ही हैं। हाँ, विदेह के यहाँ सेना-सुभट हैं तो उन्हें समर करके जोत लो।

साधु भूप बोले सुनि बानी। राज-समाजहिं लाज लजानी ॥६॥
बल प्रताप बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहिं संग सिधाई ॥७॥
सोइ सूरता कि अब कहुँ पाई। असि बुधि तौ बिधि मुँह मसि लाई ॥८॥

दोहा—देखहु रामहिं नयन भरि, तजि इरिषा मद कोहु।
लखन - रोष -पावक प्रबल, जानि सलभ जनि होहु ॥२६६॥

अर्थ—इनके वचनों को सुनकर अच्छे राजा लोग बोले कि इस राज-समाज को देखकर तो लज्जा भी लजा गई ॥६॥ अरे! तुम्हारे बल, प्रताप, वीरता और बड़ाई की जो नाक (इज्जत, मर्यादा) थी, वह पिनाक (शिव-धनुष) के साथ ही चली गई ॥७॥ वही शूरता है, कि अब कहीं से और पा गये? ऐसी बुद्धि है तभी तो ब्रह्मा ने तुम्हारे मुख पर मसि (स्याही) लगा दी ॥८॥ अरे! ईर्ष्या, मद और क्रोध छोड़कर श्रीरामजी को आँखें भरकर (प्रीति दृष्टि से) देख लो, लक्ष्मणजी की क्रोध-रूपी प्रबल अग्नि में जानकर भी पतंगे मत हो ॥२६६॥

विशेष—(१) 'साधु भूप बोले·· '—इनके वचन सुनकर शीलवान् साधु राजाओं ने सिर नीचा कर लिया, यही समष्टि की मूर्त्तिमती लज्जा का लजाना है। अतः, ये महान् निर्लज्ज हैं, यह सिद्ध किया।

(२) 'नाक पिनाकहि संग···'—पिनाक इनसे न उठा। अतः, इनकी नाक उसने ले ली, फिर जिसने पिनाक को तोड़ा, उसने इनकी नाक के साथ पिनाक का भी नाश किया, यथा—"जेहि पिनाक बिनु नाक किये नृप सबहिं बिषाद बढ़ायो।" (गी० बा० ९१), अर्थात् पिनाक टूटने के साथ तुमलोगों की भी नाक कट गई। सहोक्ति अलंकार है।

(३) 'बिधि मुँह मसि लाई'—विधाता विधिवत् ही विधान करते हैं, तुम्हारी ऐसी क्रूर एवं तुच्छ बुद्धि देखकर ही तो ब्रह्मा ने तुम्हें धनुष में नियुक्त कर हराया और फिर उसे श्रीरामजी से तोड़वाकर तुम्हारे मुँह पर कालिख पोत दी है।

(४) 'तजि इरषा मद कोहु'—'ईर्षा'—श्रीरामजी को सीता-प्राप्ति देखकर डाह होना—"जीवत हमहिं कुँअरि को बरई।" 'मद'—बल का है, जिससे समर करने को कहते हैं। 'कोहु'—'मन माखे' कहा ही है। इन तीनों के छोड़ने ही से श्रीराम-रूप समझ पड़ेगा। 'लखन-रोष-पावक प्रबल···'—'जानि'—किंचित् कोप पर ब्रह्माण्ड डोल गया, यह प्रत्यक्ष देख चुके हो। पतंगे स्वयं अग्नि में गिरकर मरते हैं,

अग्नि का कुछ नहीं बिगड़ता, वैसे तुम स्वयं मर मिटोगे, उनका कुछ नहीं बिगड़ेगा और न वे तुम्हें मारना ही चाहते हैं। लक्ष्मणजी का क्रोध दीपक नहीं कहा गया, क्योंकि बहुत पतंगों के साथ गिरने से दीपक बुझ जाता है। अग्नि में जितने ही पतंगे पड़ते हैं, वह नहीं बुझता, प्रत्युत बढ़ता है, वैसे ये सब-के-सब साथ ही लड़ेंगे, तब भी तुरत मारे जायँगे, लक्ष्मणजी का उत्साह नहीं घटेगा।

'कोहु' की जगह 'मोहु' भी पाठान्तर है, मोह पाठ से आगे के प्रसंग से षट्-विकार की पूर्त्ति भी होती है।

बैनतेयबलि जिमि चह कागू। जिमि ससु चहइ नाग-अरि-भागू ॥१॥
जिमि चह कुसल अकारन कोही। सब संपदा चहइ सिवद्रोही ॥२॥
लोभी लोलुप कीरति चहई। अकलंकता कि कामी लहई ॥३॥
हरि-पद-बिमुख परमगति चाहा। तस तुम्हार लालच नरनाहा ॥४॥

शब्दार्थ—बैनतेय = विनता के पुत्र, गरुड़। ससु = खरहा। बलि = भाग, भेंट।

अर्थ—कौआ जैसे गरुड़ का भाग लेना चाहे और हाथी के शत्रु सिंह का भाग खरहा लेना चाहे ॥१॥ बिना कारण क्रोध करनेवाला जैसे अपना कुशल चाहे और शिवजी का द्रोही सारी सम्पत्तियाँ चाहे ॥२॥ जैसे लोभी-लोलुप (चटोरा) कीर्त्ति चाहे, अरे, कामी मनुष्य क्या निष्कलंकता पा सकता है? ॥३॥ जैसे भगवान् के चरणों से विमुख परमगति (मोक्ष) चाहे, हे राजाओ! वैसा ही तुम्हारा लालच है ॥४॥

विशेष—(१) 'बैनतेय बलि जिमि···'—यहाँ गरुड़ और सिंह श्रीरामजी हैं। कौए और खरहे क्रूर राजा लोग हैं। बलि एवं भाग श्रीजनकीजी हैं। साथ ही दो उपमाओं से दो प्रकार के भाव कहे गये हैं। 'बलि' देवताओं के लिये होती है, देनेवाला देता है। श्रीजनकजी ने बलि की योग्यता-परीक्षा के लिये प्रतिज्ञा रक्खी, उसे श्रीरामजी ने पूरा किया। अतः, वह बलि उनके ही लिये है। जनकजी काक-रूप अन्य राजाओं को बलि नहीं देंगे—भले ही वे काँय-काँय किया करें! यह "जौ बिदेह कछु करइ सहाई' के प्रति है। ये कामी होने से कौए के समान हैं, यथा—"कामी काक बलाक बिचारे।" (दो० ३७)। सिंह अपने भाग (हक) की रक्षा सामर्थ्य से स्वयं कर सकता है, खरहा उसका भाग चाहे तो उसका चाहना व्यर्थ होगा, वैसे श्रीरामजी स्वयं सिंह-रूप हैं यथा—"पुरुषसिंह बन खेलन आये।" (अर० दो० २१), उनसे खरहे रूप राजा लोग नहीं छीन सकते, यह—'लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ।' के प्रति है।

(२) 'लोभी लोलुप कीरति चहई···'—लोभी प्राप्त वस्तु की रक्षा करना चाहता है और उसके खो जाने के डर का भाव भी रखता है, यथा—"लोभिहि प्रिय जिमि दाम।" (उ० दो० १३१) और लोलुप प्राप्ति के लिये चञ्चलता का भाव रखता है, यथा—"लोलुप भ्रम गृहपसु ज्यों जहँ-तहँ सिर पदत्रान बजै।" (वि० ८९), तथा—"चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार-द्वार जग बागे।" वि० १७०)। यहाँ क्रूर राजाओं को सीताजी की अभिलाषा है और साथ ही युद्ध करने के लिये भी चंचल हैं, इसलिये एक साथ ही दोनों बातें संगत हैं। इनमें लोभ और लोभवश चंचलता भी है।

(३) 'तस तुम्हार लालच···'—'तस' के लिये 'जस' का भाव—"बैनतेय बलि"···से—"परम गति चाहा॥" तक है। यदि क्रूर-कपूत राजाओं का यह भाव हो कि ये राजकुमार क्षत्रिय एवं राजा हैं, वैसे हम भी हैं, तो हम इनसे क्यों न कन्या छीन सकेंगे? उसपर दो नभचरों का दो स्थलचरों का उदाहरण देकर ऐसे महान् अन्तर सूचित किये। तथा, तुमलोग न तो सीताजी को ब्याह की रीति से ही पाओगे और न लड़कर ही तुम्हारा कुशल होगा, शिवजी के इष्ट से द्रोह करने पर सब सम्पदा जायगी। अधर्म रीति से सीताजी की अभिलाषा करने से कीर्त्ति भी गई, कलंकी बने और हरि श्रीरामजी से

विरोध करने से परम गति भी गई, यह ध्वनित है। यों तो इनके अनौचित्य पर ही पुष्टि के लिये कई दृष्टान्त दिये गये हैं।

अलंकार—यहाँ चारो अर्द्धालियों में 'एकधर्मा मालोपमा' है।

कोलाहल सुनि सीय सकानी। सखी लिवाइ गईं जहँ रानी ॥५॥
राम सुभाय चले गुरु पाहीं। सियसनेह बरनत मन माहीं ॥६॥
रानिन्ह सहित सोचबस सीया। अब धौं बिधिहि काह करनीया ॥७॥
भूप-बचन सुनि इत उत तकहीं। लखन रामडर बोलि न सकहीं ॥८॥

दोहा—अरुन नयन भृकुटी कुटिल, चितवत नृपन्ह सकोप।
मनहुँ मत्त गजगन निरखि, सिंहकिसोरहिं चोप ॥२६७॥

शब्दार्थ—करनीया = करने की इच्छा। चोप = उत्साह, चाव। इत-उत = इधर श्रीरामजी की ओर और उधर राजाओं की ओर भी।

अर्थ– कोलाहल (हल्ला) सुनकर सीताजी डर गईं, इतने में सखियाँ उन्हें वहाँ लिवा ले गईं, जहाँ रानियाँ थीं ॥५॥ श्रीरामजी स्वाभाविक ही श्रीसीताजी के स्नेह का मन-ही-मन वर्णन करते हुए श्रीगुरुजी के पास चले ॥६॥ (इधर) रानियों के साथ श्रीसीताजी शोच के वश में हैं कि ब्रह्मा को अब न जाने क्या करने की इच्छा है ? ॥७॥ राजाओं के वचन सुन-सुनकर लक्ष्मणजी इधर-उधर देखते हैं, पर श्रीरामजी के डर से बोल नहीं सकते ॥८॥ उनकी आँखें लाल हैं, भौंहें टेढ़ी हो गई हैं, वे राजाओं की ओर क्रोध से देख रहे हैं, मानों मतवाले हाथियों के झुण्ड को देखकर सिंह के नौजवान बच्चे को (उनपर झपटने का) उत्साह हो गया हो ॥२६७॥

विशेष—(१) 'सीय सकानी'—यह सोचकर कि कहीं राजा लोग मुझे छू न लें। अतः, यहाँ ठहरना ठीक नहीं। यह जानकर सखियाँ तुरन्त लिवा ले गईं। पहले आने के समय—'गवनी बाल मरालगति' कहा। पर इस बार वैसा अवसर न देखकर शीघ्र ले गईं।

(२) 'राम सुभाय चले···'—'सुभाय' अर्थात् अहंकार-रहित, जैसे पूर्व आये थे, यथा—"सहजहि चले सकल जगस्वामी। मत्त मंजु बर कुंजरगामी ॥" (दो० २५४), 'सिय-सनेह···', यथा—"जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू।···प्रभु तन चितइ प्रेम पन ठाना। कृपा निधान राम सब जाना ॥" (दो० २५८), "मन बिहसे रघुबंस मनि, प्रीति अलौकिक जानि।" (दो० २६५)। अब प्रिया-प्रियतम का भाव भी हो गया, इससे स्नेह को सराहते हैं। पूर्व फुलवारी में केवल सुन्दरता मात्र सराही थी, यथा—"हृदय सराहत सीय-लुनाई।" क्योंकि धनुर्भंग शेष था।

(३) 'रानिन्ह सहित ···'—इसमें श्रीसीताजी का शोच प्रधान और रानियों का गौण है।

(४) 'चितवत नृपन्ह ···'—इन्हें तुच्छ जानकर दृष्टि मात्र से धमकी देते हैं, क्योंकि मारने में शोभा नहीं, यथा—"कंपहिं भूप बिलोकत जाके। जिमि गज हरिकिसोर के ताके ॥" (दो० २९२), तथा—"कुँवर चढ़ाई भौंहें अब को बिलोकै सौंहें जहाँ-तहाँ भे अचेत खेत के से धोखे हैं। देखे नर नारी कहैं, साग खाइ जाये माइ, बाँह पीन पाँवरनि पीना खाइ पोखे हैं ॥" (गी० बा० ९३)।

परशुराम-पराजय

खरभर देखि बिकल पुरनारी। सब मिलि देहिं महीपन्ह गारी ॥१॥
तेहि अवसर सुनि सिव धनु-भंगा। आयेउ भृगुकुल-कमल - पतंगा ॥२॥

देखि महीप सकल सकुचाने। बाज झपट जनु लवा लुकाने ॥३॥

अर्थ—(इस प्रकार) खलबली (गड़बड़ाहट) देखकर जनकपुर की स्त्रियाँ व्याकुल हो गईं और सब मिलकर राजाओं को गालियाँ देने लगीं ॥१॥ उसी समय शिवजी के धनुष का टूटना सुनकर भृगुवंश रूपी कमल के (विकसानेवाले) सूर्य-रूप परशुरामजी आ गये ॥२॥ उन्हें देखकर सब राजा ऐसे सकुचा गये, मानों बाज की झपट देखने से लवा छिप जायँ ॥३॥

विशेष—(१) 'खर भर देखि सकल……'—श्रीजानकीजी ने राजाओं का कोलाहल सुना—'कोलाहल सुनि सीय सकानी।' कहा है, क्योंकि पर-पुरुषों की ओर नहीं देखतीं। पुर की सामान्य स्त्रियों में उतना परदा नहीं है। अतः, उनका देखना कहा गया है। सब मिलकर गालियाँ देने लगी, अर्थात् किसीको कोई मना नहीं करती, क्योंकि इसमें सभी सहमत हैं। गाली, यथा—"देखें नर-नारी कहैं साग खाइ जाये माइ, बाहु पीन पाँवरनि पीना खाइ पोखे हैं।" (गी० बा० ९३)। रनिवास का गाली देना नहीं कहा गया, क्योंकि बड़े लोग गाली नहीं देते, यथा—"गारी देत न पावहु सोभा।" (दो० २७३)।

(२) 'तेहि अवसर सुनि सिव……'—'तेहि अवसर'—इस संकेत से दूसरा प्रकरण प्रारम्भ होता है—"तेहि अवसर सीता तहँ आई।" (दो० २२७)। जिस समय सब राजा लोगों ने खलबली मचा रक्खी है, उसी अवसर पर परशुराम का आना उत्तम हुआ। उन्हें देखते ही राजा लोग दुबक गये। फिर परशुराम दोनों भाइयों से वचनों ही में हार मानकर गये। श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी सर्वजेता परशुराम के हारने से ही संसार-भर के विजयी हुए और वह भी बिना युद्ध के तथा सबके समक्ष! ऐसा उत्तम अवसर अन्य रामायणों में परशुराम-आगमन का नहीं है। वहाँ इनका आना एक तो धनुष टूटने के महीनों पीछे है और वह भी मार्ग के सुनसान जंगल में। 'सुनि' शब्द सुनने से धनुष का टूटना जानकर, यथा—"भरे भुवन घोर कठोर रव…सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें।…" (दो० २६१)। जहाँ महीनों बाद आना है, वहाँ किसीसे सुनकर आना है। साहित्यिक दृष्टि से यह भी कहा जाता है कि यहाँ वीर-रस चरित्र के साथ ही यह—'घोर धार भृगुनाथ रिसानी' भी निवृत्त करके आगे आनन्दमय माधुर्य चरित्र ही बालकाण्ड-भर में एक रस ले चलेंगे। हनुमन्नाटक में भी धनुष टूटने का शब्द सुनकर ही परशुरामजी का आना लिखा है—"जामदग्न्यस्त्रुट्यद्भैरवधनुः-कोलाहलामर्षमूर्च्छितः प्रलयमारुतो-द्भूतकल्पान्तानलवत्प्रदीप्तरोषानलः।" (१।२८)।

श्री परशुरामजी की कथा

श्रीपरशुरामजी की कथाएँ ब्रह्म वैवर्त्त पु० गणेश खण्ड अ० २४-४१, भाग० ९।१५-१६, महा० आदि० अ० ६४, महा० शान्ति० अ० ४९, महा० कर्ण० ३४।१२८-१६३ तथा महा० वन० ११५-११७ में आई हैं। यहाँ महा० वन० के अनुसार कथा लिखी जाती है। हैहय वंशी कृतवीर्य के पुत्र (कार्त्तवीर्य) अर्जुन के सहस्र हाथ थे। दत्तात्रेय की कृपा से उसे सुवर्ण का विमान और ऐश्वर्य प्राप्त हुआ। वरदान के अभिमान से वह देवताओं, यक्षों और ऋषियों तथा सम्पूर्ण प्राणियों को सभी भाँति से पीड़ा देने लगा। तब सब देवताओं ने विष्णु भगवान् से प्रार्थना की। सुनकर भगवान् इन्द्र से विचार करने लगे। इन्द्र ने उपाय कहा, सुनकर भगवान् बदरिकारण्य आश्रम को चले गये। उसी समय कन्नौज देश में एक गाधि नाम के राजा हुए। वे वन में निवास करने लगे। वहाँ उनके एक सत्यवती नाम की कन्या उत्पन्न हुई, उसे भृगुवंशी ऋचीक मुनि ने माँगा। राजा ने उसके शुल्क में एक सहस्र श्वेत वर्ण के श्यामकर्ण घोड़े माँगे। ऋचीकजी ने वरुण से कहकर घोड़े प्राप्त किये। घोड़ों को पाकर राजा ने अपनी कन्या इन्हें दी। यह जानकर ऋचीक के पिता भृगुजी आये। पुत्र और पुत्रवधू ने उनको प्रणाम किया और पूजा की। भृगु ने प्रसन्न होकर पुत्रवधू से वरदान माँगने को कहा। उसने अपने और अपनी माता के लिये भी पुत्र माँगे।

भृगु ने उससे कहा कि जब तुम्हारा और तुम्हारी माता का ऋतु स्नान हो, उस दिन तुम गूलर से और तुम्हारी माता पीपल के वृक्ष से लपट जाना। और भी, तुमको दो चरु देते हैं। मैंने विराट् भगवान् की उपासना करके इनको पाया है। इन दोनों में इसे तुम और इसे तुम्हारी माता खायँ। ऐसा कहकर वे भृगु मुनि अन्तर्धान हो गये।

जब उन दोनों स्त्रियों का ऋतुकाल आया तब उन्होंने वृक्ष के आलिंगन करने में एवं चरु भक्षण करने में उलट-फेर कर दिया। भृगु ने दिव्य-दृष्टि से जान लिया। उन्होंने आकर सत्यवती से कहा कि तुमको तुम्हारी माता ने ठग लिया। तुमने अपनी खोर नहीं खाई। वृक्ष के लपटने में भी उल्टा हो हुआ। इससे तुम्हारा पुत्र होगा तो ब्राह्मण, परन्तु वह क्षत्रियों की-सी वृत्ति धारण करेगा। सत्यवती ने श्वसुर को बार-बार प्रसन्न कर यह वरदान प्राप्त किया कि वह क्षात्र प्रकृति पुत्र में न आकर पौत्र में हो। सत्यवती के पुत्र जमदग्नि हुए। उन्होंने वेदों को पढ़ा और धनुर्वेद का भी अध्ययन किया। जमदग्नि की स्त्री रेणुका हुई। उससे उनके पाँच पुत्र हुए। उनमें सबसे छोटे किन्तु गुणों में श्रेष्ठ परशुरामजी हुए। (सत्यवतीजी की माता के विश्वामित्रजी हुए)।

किसी दिन रेणुकाजी स्नान करने गईं। वहाँ इन्होंने राजा चित्ररथ को अपनी स्त्रियों के साथ जल क्रीड़ा करते देखा। तब इनकी चित्तवृत्ति दूषित हुई, जिससे ये जल ही में स्खलित हो गईं। फिर डरती हुई अपने आश्रम को आईं। जमदग्नि ने यह सब समाचार जान लिया। ऋषि ने अपने चारो पुत्रों (रुमण्वान्, सुषेण, वसु और विश्वावसु) से रेणुका का वध करने को कहा। परन्तु मातृस्नेह से उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया। ऋषि ने उन्हें जड़ होने का शाप दिया। पीछे परशुरामजी आये, पिता ने इनसे भी वही कहा। इन्होंने तुरत अपने फरसे से अपनी माता का सिर काट डाला। ऋषि इनपर प्रसन्न हुए और उन्होंने वरदान माँगने को कहा। इन्होंने अपनी माता का जीवन और भाइयों का पूर्ववत् हो जाना माँगा और यह कि मेरा यह कर्म भी माता को भूल जाय। युद्ध में मेरे समान कोई न हो और मुझे दीर्घायु भी प्राप्त हो, इन वरों को माँगा। ऋषि ने इन्हें ये सब वरदान दिये।

एक दिन परशुरामजी भाइयों के साथ कहीं वन को चले गये थे। उनके आश्रम पर कृतवीर्य के पुत्र आये। रेणुका ने उनकी पूजा की। परन्तु वे प्रसन्न नहीं हुए, प्रत्युत उनके आश्रम को उजाड़ दिया और बलात् यज्ञीय गौ के बछड़ों को छीन ले गये। परशुराम ने आकर सुना और गौओं को रोती हुई देखकर वे धनुष-बाण लेकर दौड़ पड़े। इन्होंने क्रुद्ध होकर कार्तवीर्य की सहस्र भुजाओं को काट डाला। उस अर्जुन के वंशवाले इनसे वैर रखने लगे। पीछे एक दिन आकर उन्होंने जमदग्नि ऋषि को ही मार डाला। परशुराम ने यह समझकर कि मेरे ही अपराधों से पिताजी का वध हुआ, बहुत क्रुद्ध हुए और कार्तवीर्य के पुत्रों और उनके संगियों को भी मार डाला। फिर इन्होंने इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियों से रहित किया और समन्तक क्षेत्र में पाँच तालाबों को उनके रुधिर से भर दिया तथा उन्हीं तालाबों से पितरों का तर्पण किया।

ऋचीक मुनि ने परशुराम को इस दारुण कर्म से रोका, तब इन्होंने यज्ञ करके इन्द्र को प्रसन्न किया और दक्षिणा में सारी पृथ्वी यज्ञ करानेवालों (कश्यप, आदि) को दे दी। कश्यप मुनि को सारी भूमि दान कर अब वे महेन्द्र पर्वत पर रहते हैं।

जब इक्कीस बार परशुराम ने क्षत्रियों का नाश किया तब इनकी वंश परम्परा कैसे रही? इसके उत्तर में कहा गया है—"बचे हुए क्षत्रिय सन्तानों ने परशुराम के भय से व्याकुल होकर गऊ, गोलांगूल, ऋक्ष, वानर और समुद्र के आश्रित अपनी प्राण-रक्षा की थी। पीछे पृथ्वी की प्रार्थना से कश्यपजी ने कृपाकर राजपूतों की रक्षा करके उन्हें राज्य दे पृथ्वी की धर्मपूर्वक रक्षा की है।" (महा० शान्ति० ४९-५०)।

"परशुरामजी ने शिवजी को प्रसन्नकर उनसे अनेक प्रकार के वरदान प्राप्त किये और बहुत-से दिव्य अस्त्र-शस्त्र भी पाये हैं।" (महा० कर्ण० ३४।१२८-१५७, ब्रह्मवैवर्त पु० गणेश० अ० २९-४०)। "परशुरामजी भगवान् वासुदेव के अंश हैं, ये पिता के प्रभाव को जानते थे कि वे माता को जिला देंगे, तभी इन्होंने वैसा दारुण कर्म (मातृ-वध) किया है।" (भाग० ९।१५)।

भृगु-कुल-कमल पतंगा'—भृगुजी ने विष्णु भगवान् को लात मारी थी, ये भी उन्हींके वंशज हैं, फिर किसीसे क्यों डरें ? ये अनुचित वचनों के ही प्रहार करेंगे। यह भी भाव है कि अब इनका कुल-सम्बन्धी ही नाम रह जायगा—वीरता ऐवं ईश्वरांश जानेवाला है।

श्रीरामजी का उदय बाल पतंग रूप से प्रथम ही—'उदित उदय गिरि मंच पर·····' कहा गया। परशुराम को 'पतंग' मात्र कहा गया। 'पतन्सन् गच्छतीति पतंगः' अर्थात् जो गिरने के लिये चले, इससे इन्हें दोपहर का सूर्य जनाया। ये अभी तपते हुए आते हैं फिर बातों-बात में गिरते हुए अस्त हो जायँगे। श्रीरामजी को बाल-पतंग कहकर उनका अभ्युदय जनाया। ब्रह्माण्ड में एक साथ दो सूर्य नहीं रहते। अतः, इनका तेज भी श्रीरामजी में ही लीन हो जायगा।

(२) 'देखि महीप सकल सकुचाने।'—इन राजाओं का गर्व दूर करने ही के लिये दैवयोग से परशुरामजी आ गये। ये लोग अस्त्र-शस्त्र, कवच आदि फेंककर गाय बन बैठे। 'लुकाने' अर्थात् मचानों के नीचे जा छिपे। 'झपट' अर्थात् परशुरामजी बड़े वेग से आये हैं, इन्होंने पृथ्वी कश्यपजी को दान कर दिया, तबसे महेन्द्र पर्वत पर रहते हैं, वहीं से मनोवेग से इसलिये आये हैं कि ऐसा कौन वीर पैदा हुआ जिसने पिनाक को तोड़ा है ? 'बाज झपट···'—इस उत्प्रेक्षा से परशुरामजी का अपनी अव्याहत-गति से आकाशमार्ग से आना सूचित किया, क्योंकि बाज आकाशमार्ग से वेगपूर्वक लवा आदि पर टूटता है। परशुरामजी 'बिस्व बिदित छत्रिय कुल द्रोही' हैं, इससे सभी राजा सकुचा गये, जिन्होंने कवच आदि धारण किया था, उन्हें तो लुकाना पड़ा, क्योंकि भय है वीर बानाधारी क्षत्रिय उनके समक्ष कैसे रह सकेगा।

गौर सरीर भूति भलि भ्राजा। भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा ॥४॥
सीस जटा ससिबदन सुहावा। रिसिबस कछुक अरुन होइ आवा ॥५॥
भृकुटी कुटिल नयन रिस राते। सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते ॥६॥
बृषभ-कंध उर बाहु बिसाला। चारु जनेउ माल मृगछाला ॥७॥
कटि मुनिबसन तून दुइ बाँधे। धनु सर कर कुठार कल काँधे ॥८॥

दोहा—सांत बेष करनी कठिन, बरनि न जाइ सरूप।
धरि मुनितनु जनु बीररस, आयेउ जहँ सब भूप ॥२६८॥

अर्थ—(श्रीपरशुरामजी के) गोरे शरीर पर विभूति अच्छी खिल रही है, ऊँचे और चौड़े ललाट पर त्रिपुण्ड्र शोभायमान है ॥४॥ सिर पर जटा है, सुहावना मुखचन्द्र क्रोध के कारण कुछ-कुछ लाल हो आया है ॥५॥ भौंहें टेढ़ी और नेत्र क्रोध से लाल हैं, स्वाभाविक ही देखते हैं तो जान पड़ता है कि क्रोध से भरे हैं ॥६॥ बैल के-से चौड़े एवं ऊँचे कन्धे, छाती चौड़ी और भुजाएँ लम्बी हैं। श्वेत वर्ण का जनेऊ माला और मृगछाला लिये हुए हैं ॥७॥ कमर में मुनिवस्त्र पहने और उसीमें दो तरकश बाँधे हुए हैं, हाथ में धनुष-बाण लिये और सुन्दर कुठार सुन्दर कन्धे पर रक्खे हैं ॥८॥ वेष तो शान्त है, पर कर्त्तव्य कठिन

है, उनके स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। मानों वीररस ही मुनि का शरीर धारणकर वहाँ आया है, जहाँ सब राजा हैं ॥२६८॥

विशेष—(१) 'त्रिपुंड'—शैवों की तरह भस्म की तीन आड़ी रेखाओं का तिलक। राते = लाल। 'चारु जनेउ'—इनका श्वेत रंग का जनेऊ है, चारु से स्वच्छ वर्ण अर्थ भी है। श्रीरामजी का पीत है—"पीत जनेउ महा छबि देई" (दो० ३२६)।

(२) 'तून दुइ बाँधे'—ये अर्जुन की तरह दोनों हाथों से बाण चलाना जानते थे, जिस कारण उनका नाम ही 'सव्य-साची पड़ गया था। इसलिये ये दोनों कन्धों के पृष्ठ-भाग में एक-एक तरकश रखते थे, जिस हाथ से बाण चलाते थे, उसकी दूसरी ओर के तरकश से बाण लेते थे।

(३) 'सांत-बेस करनी कठिन ·'—शान्तवेष के साज—'गौर शरीर', 'विभूति', 'त्रिपुण्ड्र' एवं जनेऊ आदि उज्ज्वल-ही-उज्ज्वल हैं, शीश पर जटा, मुनि-वस्त्र—ये सब अनुकूल हैं।

'करनी कठिन'—२१ बार पृथ्वी को क्षत्रियों से रहित किया, इनके कर्म ऐसे कठोर हैं, आगे स्वयं कहेंगे। वेष के विरुद्ध कर्म हैं, इसीसे स्वरूप वर्णन करने के योग्य नहीं है।

'धरि मुनि-तनु जनु बीररस···'—वीरों की सभा है। अतः, वीर-रस मुनि-वेष से आया, क्योंकि यों तो वीर वीर के चरणों पर नहीं गिरते, पर आज सभी दंड-प्रणाम करेंगे, इसलिये भी मानों वह मुनि-वेष में आया। यहाँ शान्त और वीर कहा, आगे 'बेष कराला' से रौद्र रस भी मिला देंगे और वेष तथा कर्म के विचित्र मेल के कारण अद्भुत रस होने से भी वर्णन नहीं हो सकता।

देखत भृगुपति - बेष कराला। उठे सकल भयबिकल भुआला ॥१॥
पितु समेत कहि निज निज नामा। लगे करन सब दंडप्रनामा ॥२॥
जेहि सुभाय चितवहिं हित जानी। सो जानइ जनु आइ खुटानी ॥३॥

शब्दार्थ—आइ = आयु, जिन्दगी। खुटानी = समाप्त हो गई।

अर्थ—परशुरामजी का कराल वेष देखते ही समस्त राजा भय से व्याकुल होकर उठ पड़े ॥१॥ पिता के साथ अपना-अपना नाम कहकर ये सभी दण्डवत् प्रणाम करने लगे ॥२॥ वे स्वाभाविक ही अपना हित जानकर जिसे देखते हैं, वह यही समझता है कि बस अब हमारी आयु ही बीत गई ! ॥३॥

विशेष—(१) 'उठे सकल भय-बिकल ·'—पहले दुबककर बैठ गये थे, अब भय से व्याकुल होकर उठ पड़े, क्योंकि न उठने से भी गर्वीले समझे जाते। वेष में करालता इस समय हो गई है सदा तो शान्त ही वेष में रहते हैं।

(२) 'पितु समेत कहि ··'—प्रणाम की रीति है। पर यहाँ यह भी भाव है जिससे परशुरामजी जान जायँ कि यह अमुक का पुत्र है, जिसे मैंने दीन जानकर छोड़ दिया था। अतः, दया का पात्र होने से क्षमा के योग्य है। परशुरामजी क्षत्रिय-कुल-द्रोही हैं, इससे भय से इन क्रूर-कुटिल राजाओं ने दण्ड-प्रणाम किया है। क्षत्रिय वैरी को दण्डप्रणाम नहीं कर सकता, पर ये ऊपर से ब्रह्मण्य बन कर प्रणाम कर रहे हैं। वास्तव में यदि इनमें कुछ भी धर्म भाव होता तो परशुरामजी से बहुत बड़े विश्वामित्रजी हैं, परशुरामजी के पिता के मामा हैं, ब्रह्मर्षि हैं, पर उनके आने पर इन लोगों ने कुछ भी वैसे सम्मान भाव के दण्डप्रणाम आदि नहीं किये।

(३) 'हित जानी'—कि मैंने इसके पिता पर दया की थी। अतः, यह भी दया का ही पात्र है।

'सो जानइ जनु···'—क्योंकि—'सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते।' कहा ही है, तथा—"जेहि बिलोक सोइ जाइ सुखाई।" (लं० दो० १७)।

जनक बहोरि आइ सिर नावा। सीय बोलाइ प्रनाम करावा ॥४॥
आसिष दीन्हि सखी हरषानी। निज समाज लै गईं सयानी ॥५॥
बिस्वामित्र मिले पुनि आई। पद-सरोज मेले दोउ भाई ॥६॥
राम लखन दसरथ के ढोटा। दीन्हि असीस देखि भल जोटा ॥७॥
रामहिं चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार-मद-मोचन ॥८॥

दोहा—बहुरि बिलोकि बिदेह सन, कहहु काह अति भीर।
पूछत जानि अजान जिमि, ब्यापेउ कोप सरीर ॥२६६॥

अर्थ—फिर राजा जनक ने आकर सिर झुका कर प्रणाम किया और श्रीसीताजी को बुलाकर प्रणाम कराया ॥४॥ परशुरामजी ने आशीर्वाद दिया, सखियाँ प्रसन्न हुईं और फिर वे सयानी इन्हें अपने (स्त्री-)समाज में ले गईं ॥५॥ फिर विश्वामित्रजी आकर मिले और दोनों भाइयों (श्रीराम-लक्ष्मण) को चरण-कमलों में डाला (प्रणाम कराया) ॥६॥ (मुनि ने कहा—) ये राम-लक्ष्मण राजा दशरथ के पुत्र हैं, अच्छी जोड़ी देखकर असीस दी ॥७॥ श्रीरामजी के कामदेव का मद छुड़ानेवाले अपार रूप को देखकर नेत्र स्थगित हो रहे (मुनि टकटकी लगाकर देखते रह गये) ॥८॥ फिर देखकर, जानते हुए भी अनजान की भाँति विदेह राजा जनक से पूछते हैं कि कहो, यह बड़ी भारी भीड़-भाड़ कैसी है? (कहते-ही-कहते) उनके शरीर में क्रोध भर गया ॥२६६॥

विशेष—(१) 'जनक बहोरि आइ ···'—सब राजाओं ने भय से साष्टांग दण्डवत् किया, पर जनकजी ने केवल सिर नवाया। इससे जाना गया कि इन्हें भय नहीं है, क्योंकि ये ज्ञानी हैं, यथा—"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।" (तैत्ति० २।९), इन्होंने पिता समेत नाम भी नहीं कहा, क्योंकि परशुरामजी इन्हें जानते थे, यथा—"कहु जड़ जनक···" कहा भी है। श्रीसीताजी को भी प्रणाम कराया कि आशीर्वाद मिल जाय। सखियाँ प्रसन्न हुईं, क्योंकि सीताजी को सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद मिला, ऐसा जान पड़ता है, इससे इनका और श्रीरामजी का भी कल्याण हुआ। वे सखियाँ 'सयानी' हैं। अतः, तुरन्त सीताजी को स्त्री-समाज में लिवा ले गईं, कि कहीं धनुष टूटा देखकर कुछ और न कह दें। यहाँ प्रथम अशीर्वाद दिया, इसीसे विश्वामित्रजी ने भी दोनों भाइयों को प्रणाम कराकर आशीर्वाद दिलाया है।

(२) 'विश्वामित्र मिले ···'—यद्यपि परशुरामजी विश्वामित्रजी की बहिन के पौत्र हैं, तो भी अभिमान वश उनके पास प्रणाम करने नहीं गये। दोनों कुमारों को आशीर्वाद दिलाना है। अतः, वे स्वयं आये और मिले। राजा दशरथ ने मुनि को अपना पितृत्व दे रक्खा है, यथा—"तुम्ह मुनि पिता आन नहि कोऊ॥" (दो० २०७), इससे पुत्रों को आशीर्वाद दिलाने स्वयं लेकर आये, उधर जनकजी ने पुत्री को आशिष दिलाई है।

(३) 'दीन्हि असीस देखि भल जोटा।'—राज्य-सम्बन्ध पर असीस नहीं दी, किन्तु सुन्दर जोड़ी देखकर ही दी। 'रूप अपार मार···'—इसमें 'अपार' शब्द दीप-देहली है, यथा—"सील सुधा के अगार, सुषमा के पारावार पावत न पर पार पैरि पैरि थाके हैं।" (गी० बा० ६२)।

(४) 'बहुरि बिलोकि बिदेह···'—आने के समय भी परशुरामजी की आँखें लाल थीं, किन्तु रामजी के देखने से कुछ ठंढे पड़ गये थे, फिर जब विदेह की ओर दृष्टि पड़ी, तब वही धनुभंग की बात चित्त में आ गई। इससे फिर कोप हुआ, किन्तु इस बार शरीर भर में क्रोध व्याप गया—सर्वांग लाल हो गया।

परशुरामजी धनुर्भंग की बात जानते हैं—एक तो टूटने का शब्द ही पहुँचा, फिर सभी सुर-सिद्ध-मुनियों कहा ही है, यथा—"कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति···" (दो० ३६१)। वाल्मी० बा० स० ७५ में कहा है, ("···"भेदनं धनुषस्तथा। तच्छ्रुत्वाहमनुप्राप्तः।") कि ये वृत्तान्त सुनकर आये हैं। पर यहाँ अनजान की भाँति पूछते हैं—जनकजी का दोष उनके मुख से कहलाना चाहते हैं।

समाचार कहि जनक सुनाये। जेहि कारन महीप सब आये ॥१॥
सुनत बचन फिरि अनत निहारे। देखे चापखंड महि डारे ॥२॥
अति रिस बोले बचन कठोरा। कहु जड़ जनक धनुष केइ तोरा ॥३॥
बेगि देखाउ मूढ़ नत आजू। उलटउँ महि जहँ लहि तव राजू ॥४॥

शब्दार्थ—लहि = लगि, पर्यन्त, तक। अनत = दूसरी ओर।

अर्थ—जिस कारण सब राजा लोग आये हुए थे, राजा जनक ने वह सारा समाचार कह सुनाया ॥१॥ उनके वचन सुन परशुरामजी ने फिरकर दूसरी ओर दृष्टि डाली, तो पृथ्वी पर पड़े हुए धनुष के टुकड़े देखे ॥२॥ वे बड़े क्रोध से कठोर वचन बोले—रे जड़ जनक! बतला, यह धनुष किसने तोड़ा? ॥३॥ अरे मूढ़! उसे (वा उस मूढ़ को) शीघ्र दिखा नहीं तो जहाँ तक तेरा राज्य है, वहाँ तक की पृथ्वी आज ही उलट दूँगा ॥४॥

विशेष—(१) 'कहु जड़ जनक धनुष केइ ···'—राजा जनक ने समाचार कहने में धनुष का टूटना और तोड़नेवाले का नाम—दोनों छिपा रक्खे थे, तभी तो परशुरामजी ने फिरकर देखा, तब धनुष को टूटा देखकर तोड़नेवाले का नाम पूछने लगे। 'अति रिस'—प्रथम ही शरीर भर में कोप व्याप्त था, अब अत्यन्त हो गया, क्योंकि आँखों से धनुष के टुकड़ों को देखा। क्रोध से कठोर वचन निकलते ही हैं, यथा—"क्रोध के परुष बचन बल" (अर० दो० ३८), परशुराम यह जानते हैं कि प्रण करके तोड़वानेवाले तो जनकजी ही हैं, पर ये उपस्थित हो गये हैं, इससे अभी इन्हें जड़-मूढ़ ही कह रहे हैं, तोड़नेवाला भी मिले तो प्रतिकार करेंगे।

(२) 'बेगि देखाउ मूढ़ नत···'—'बेगि'—जिसमें तोड़नेवाला भागने न पावे। 'देखाउ'—अर्थात् नाम मात्र परिचय पाने से उसे खोजना पड़ेगा और तब तक वह कहीं छिप जायगा। 'मूढ़' क्योंकि बिना विचारे प्रतिज्ञा कर धनुष तोड़ाया है।

'उलटउँ महि···'—राज्यभर की भूमि उलटने की धमकी इसलिये है कि यह राजा धर्मात्मा है, प्रजा का नाश नहीं सह सकेगा, क्योंकि—"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥" (अर० दो० ७०), इससे तुरन्त दोषी को सामने खड़ा कर देगा, अन्यथा राज्यभर के उलटने में वह भी जहाँ होगा, दबकर मर ही जायगा!

पृथ्वी का उलटना यहाँ इस प्रकार है, जैसे भूकम्प आदि में किसी भूखंड के गृह और सब जीव भीतर धँस जाते हैं—कहीं-कहीं ऊपर जल भी आ जाता है, जिससे पूर्व के नगर का नाम-निशान भी नहीं रहता।

अति डर उतर देत नृप नाहीं। कुटिल भूप हरषे मन माहीं ॥५॥
सुर मुनि नाग नगर-नर-नारी। सोचहिं सकल त्रास उर भारी ॥६॥
मन पछिताति सीयमहतारी। बिधि अब सबरी बात बिगारी ॥७॥
भृगुपति कर सुभाउ सुनि सीता। अरधनिमेष कलपसम बीता ॥८॥

दोहा—सभय बिलोके लोग सब, जानि जानकी भीरु।
हृदय न हरष बिषाद कछु, बोले श्रीरघुबीरु ॥२७०॥

अर्थ—बड़े भारी डर के कारण राजा (जनक) जवाब नहीं देते। कुटिल राजा लोग मन में हर्षित हुए ॥५॥ देवता, मुनि, नाग और नगर के स्त्री-पुरुष सभी चिन्ता कर रहे हैं और सबके हृदय में बड़ा भारी भय है ॥६॥ श्रीसीताजी की माता मन में पछता रही हैं कि ब्रह्मा ने अब सारी बनी-बनाई बात बिगाड़ दी ॥७॥ भृगुपति परशुरामजी का स्वभाव सुनकर श्रीसीताजी को आधा निमेष कल्प के तुल्य बीता ॥८॥ श्रीरघुवीर (श्रीरामजी) ने सब लोगों को भयभीत देखा और श्रीजानकीजी को डरी हुई जाना, तब बोले—उनके हृदय में कुछ भी हर्ष या विषाद नहीं है ॥२७०॥

विशेष—(१) 'अति डर उतर देत ····' 'डर' राज्य-भर उलटने का, 'अति डर'—कि श्रीरामजी के प्राणों पर न आ बीते। श्रीरामजी के माधुर्य में ऐश्वर्य भूले हैं, इससे अतिडर हो गया है। राजा विचारते हैं कि भले ही राज्य-भर उलट जाय, उससे हम नरक भले ही जायँ, पर श्रीरामजी का नाम नहीं बतावेंगे। कुटिल राजा प्रसन्न हुए, क्योंकि वे श्रीरामजी और जनकजी से अपने को तिरस्कृत मानते थे, जिससे अपना मरण समझते थे। अब यह देख-सुनकर प्रसन्न हैं कि भले बिना श्रम के ही बदला चुक जायगा। अथवा, पृथ्वी उलटने में तो ये भी मरेंगे ही, पर दूसरों के दुःखपर हर्ष होना कुटिलों का स्वभाव ही है "जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भये मानहुँ जग नृपती" (उ० दो० ३९)। 'मन माहीं'—ऊपर से प्रसन्न होने में डरते हैं कि कहीं परशुरामजी यह न समझें कि हमारे तो गुरु शिवजी का धनुष टूटा और ये लोग हँसते हैं।

(२) 'सुर मुनि नाग नगर ·····'—इनलोगों ने धनुष टूटने पर आशीर्वाद दिया है। अतः, डरते हैं कि वह व्यर्थ न हो जाय, यथा—"ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा। प्रभुहिं प्रसंसहिं देहिं असीसा।" (दो० २६१), "सुर किन्नर नर नाग मुनीसा। जय जय जय कहि देहिं असीसा॥" (दो० २६४), सबकी प्रीति श्रीरामजी में है, इससे डरते हैं।

(३) 'बिधि अब सबरी बात बिगारी।'—पहले राजाओं की खलबली पर रानी सुनयना के सन्दिग्ध वचन थे—"अब धौं बिधिहिं काह करनीया।" (दो० २६६), क्योंकि राजाओं का और श्रीरामजी का बल देख चुकी थीं। अतः, सन्देह था कि राजा लोग श्रीरामजी को जीत सकें या नहीं, पर अब तो लोक-विजयी परशुरामजी से सामना है, इनको तो श्रीरामजी नहीं ही जीत सकते। अतः, निश्चय ही सारी बात बिगड़ गई। इस तरह पछता रही हैं।

(४) 'अरध निमेष कलप ·····'—'भृगुपति कर सुभाउ', यथा—"रे सठ सुनेहि सुभाउ न मोरा॥ बालब्रह्मचारी अति कोही। बिस्वबिदित छत्रीकुल द्रोही॥" (दो० २७१), आधा ही निमेष (पल) बीतने पाया था कि इन्हें डरी जानकर श्रीरामजी ने तुरन्त उत्तर दिया। इनके निर्भीक उत्तर से उन्हें कुछ सन्तोष हो गया।

(५) 'सभय बिलोके लोग ·····श्रीरघुबीर'—श्रीरामजी सब आश्रितों के अभयदाता हैं, यथा—"अभयं सर्व-भूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।" (वाल्मी० ६।१८।३३), तथा—"जो सभीत आवा सरनाई। रखिहहुँ ताहि प्रान की नाई॥" (सुं० दो० ४३)। आश्रित को अभय देना वीर ही का काम है। ये सबके दुःख दूर करेंगे और परशुरामजी का भी गर्व हरेंगे। 'श्री' अब इन्हींमें रहेगी, परशुराम की श्री गई वा परशुराम के आगे सब राजाओं की श्री नहीं रह गई थी, पर श्रीरामजी निर्भीक हैं। अतः, श्री (शोभा) से पूर्ण हैं। 'हृदय न हरष बिषाद कछु'—इनका ऐसा सहज स्वभाव ही है, यथा—

"बिसमय हरष रहित रघुराऊ। (अ० दो० ११), यहाँ तो न धनुष तोड़ने का हर्ष है और न परशुराम की धमकी पर विषाद।

नाथ संभु - धनु - भंजनिहारा। होइहि कोउ एक दास तुम्हारा ॥१॥
आयसु काह कहिय किन मोही। सुनि रिसाइ बोले मुनि कोही। २॥
सेवक सो जो करइ सेवकाई। अरिकरनी करि करिय लराई ॥३॥
सुनहु राम जेइ सिव-धनु तोरा। सहसबाहु - सम सो रिपु मोरा ॥४॥
सो बिलगाउ बिहाइ समाजा। नत मारे जइहहिं सब राजा ॥५।

अर्थ—हे नाथ! शिवजी के धनुष का तोड़नेवाला कोई एक आपका दास ही होगा ॥१॥ क्या आज्ञा है? मुझे क्यों नहीं कहते? (यह) सुनकर क्रोधी मुनि (परशुरामजी) रुष्ट होकर बोले ॥२॥ सेवक वह है, जो सेवा करे, पर जो शत्रु का काम करे, उससे तो लड़ाई चाहिये ॥३॥ हे राम! सुनो, जिसने शिव-धनुष तोड़ा है, वह सहस्रबाहु के समान मेरा वैरी है ॥४॥ वह समाज छोड़कर अलग हो जाय, नहीं तो सब राजा मारे जायँगे ॥५॥

विशेष—(१) 'नाथ संभु-धनु·····'—श्रीरामजी के वचनों का उपक्रम यहीं से है, उपसंहार पर—"सुनि मृदु गूढ़वचन रघुबर के।" कहा जायगा। वह मृदुता एवं गूढ़ता यहीं से है, 'नाथ!' यह मृदुता की हद है। 'कोउ एक दास' यह गूढ़ है और मृदु भी। ऊपर से दास कहना मृदु है और 'एक दास' अर्थात् मुख्य दास, जिसने पद-प्रहार भी सहकर सेवा की और परीक्षा में पूर्ण उतरा, वही है, यह गूढ़ है। 'तुम्हारा' भृगुवंशी एवं ब्राह्मणमात्र का दास अर्थात् ब्रह्मण्यदेव ही होगा, यथा—"नमो ब्रह्मण्यदेवाय महापुरुषाय" (श्रीमद्भा० ५।१९।३)। पुनः 'संभु-धनु-भंजनिहारा' को अभिमान चाहिये कि त्रिलोक-विजयी धनुष को तोड़ा है, पर वह अपनेको दास कह रहा है, इससे भी उसका ईश्वर होना सिद्ध है, क्योंकि जीव में ऐसे भारी कार्य का अभिमान रहेगा ही, यथा—"हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव-धरम अहमिति अभिमाना॥" (दो० ११५), पर परशुरामजी क्रोधवश हैं, इससे समझ न सके। उन्होंने यही समझा कि इनसे भला वह कब टूट सकेगा? ये तो तोड़नेवाले की तरफ से निहोरा कर रहे हैं!

प्रश्न—श्रीरामजी ने सीधे क्यों नहीं कह दिया कि मैंने धनुष तोड़ा है?

उत्तर—मुनि लड़ाई करने के लिये प्रस्तुत हैं और ब्राह्मण हैं, सीधे कहने से लड़ने लगेंगे। फलतः ब्रह्म-हत्या होगी। इससे अच्छा है कि इन्हें बातों से ही परास्त कर दें। अतः, श्रीरामजी ने वचन-चातुर्य से ही जीतना उचित समझा, यथा—"जो मधु मरै न मारिये, माहुर देइ सो काउ। जग जिति हारे परसुधर, हारि जिते रघुराउ॥" (दोहावली ४३३)। यही भाव परशुरामजी ने स्वयं स्तुति में कहा है, यथा—"जयति बचन-रचना-अति नागर।" (दो० २८४)।

(२) 'आयसु काह कहिय किन·····'—पहले दास कहा था, तदनुसार आज्ञा-रूप सेवा माँग रहे हैं, यथा—"आज्ञा सम न सुसाहिब-सेवा।" (अ० दो० ३००)। 'किन मोही' अर्थात् मुझको क्यों नहीं कहते? जनकजी ने क्या बिगाड़ा है जो उन्हें 'जड़', 'मूढ़' कहते हैं? 'सुनि रिसाइ बोले मुनि कोही।' आदि में ही 'कोही' कहते हैं, यह क्रोध अन्त तक रहेगा। इसीसे तो इस प्रसंग को—"घोर धार भृगुनाथ रिसानी।" (दो० ४०) कहा है।

(३) 'सेवक सो जो···'—धनुष तोड़ना शत्रु का काम है, सेवा नहीं। अतः, यह काम करनेवाला शत्रु है, उसे लड़ाई करनी चाहिये। वह सेवक बनकर नहीं बच सकता। यहाँ 'विधि-अलंकार' भी है।

(४) 'सुनहु राम जेहि···'—सहस्रबाहु ने हमारे पिता को मारा था, इससे वह पितृ-द्रोही था,

जिसने हमारे गुरु शिवजी का धनुष तोड़ा है, वह गुरु का द्रोही है। अतः, दोनों तुल्य शत्रु हैं। जैसे मैंने सहस्रबाहु को मारा है, वैसे ही इसे भी मारूँगा। ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण के गणेश-खण्ड अ० २६–४० में लिखा है कि सहस्रार्जुन को मारने ही के लिये परशुरामजी ने शिवजी से विद्या पढ़ी थी और फरसा पाया। तब उन्होंने कार्त्तवीर्य का वध किया और २१ बार पृथ्वी को क्षत्रियहीन किया है। दो० २७४ अर्द्धाली ८ का विशेष भी देखिये।

(५) 'सो बिलगाउ बिहाइ···'—परशुरामजी ने देखा, जनकजी ने बतलाया नहीं कि मेरे बतलाने से वह मारा जायगा और मुझे पाप लगेगा। श्रीरामजी भी उसकी ओर से निहोरा कर रहे हैं, ये भी नहीं बतलाते। इससे सब राजाओं को मारे जाने की धमकी देते हैं कि वे ही लोग बतला दें। नहीं तो जैसे एक सहस्रबाहु के कारण सभी क्षत्रिय मारे गये थे, वैसे फिर भी मारे जायँगे। यह भी अर्थ है कि वह स्वयं अलग हो अथवा समाज ही उसे छोड़कर अलग हो जाय (जिससे वह स्वतः जाना जायगा कि यही है)।

'नत मारे जैहैं सब राजा'—'घोर धार भृगुनाथ रिसानी' की दृष्टि से इस प्रसंग का अर्थ समझना चाहिये। परशुराम पहले राजा के राज्य भर की पृथ्वी उलटने को प्रस्तुत थे। श्रीरामजी के वचनों से बहुत कुछ धारा का वेग कम हो गया, अब—'नत मारे जैहैं सब राजा।' पर ही क्रोध की मर्यादा आ गई।

सुनि मुनिबचन लखन मुसुकाने। बोले परसुधरहिं अपमाने ॥६॥
बहु धनुहीं तोरीं लरिकाईं। कबहुँ न असि रिस कीन्ह गोसाईं ॥७॥
येहि धनु पर ममता केहि हेतू। सुनि रिसाइ कह भृगुकुल-केतू ॥८॥

दोहा—रे नृपबालक कालबस, बोलत तोहि न सँभार।
धनुही सम त्रिपुरारि-धनु, बिदित सकल संसार ॥२७१॥

शब्दार्थ—परसुधरहिं = फरसाधारी, फरसे के अभिमानी परशुराम को। अपमाने = निरादर करते हुए।

अर्थ—मुनि के इन वचनों को सुनकर श्रीलक्ष्मणजी मुसकाये और परशुरामजी का अपमान करते हुए बोले ॥६॥ हे गोसाईं! मैंने लड़कपन में बहुत-सी धनुहियाँ तोड़ी थीं, पर आपने कभी ऐसा क्रोध नहीं किया ॥७॥ इसी धनुष पर किस कारण से आपका ममत्व है? ये वचन सुनकर भृगुकुल के पताका-रूप परशुरामजी कुपित होकर बोले ॥८॥ अरे राजपुत्र! तू कालवश है, इससे बोलने में तुझे सँभाल (विचार) नहीं है, क्या त्रिपुरासुरों के शत्रु शिवजी का धनुष (छोटी) धनुही के समान है जो सारे जगत् में प्रसिद्ध है? ॥२७१॥

विशेष—(१) 'सुनि मुनि-बचन लखन···'—'मुसकाने'—लक्ष्मणजी निरादरार्थ हँसे—ये मुनि हैं और वचन क्रोध से भरे बोल रहे हैं, कि वह शत्रु है, उसके कारण सब राजा मारे जायँगे। इन्हें तो शान्त रहना चाहिये, पर ये फरसे के अभिमानी हैं। मुनि के तो शत्रु कोई नहीं होते, पर इनके बहुत हैं। अतः, ये मूर्ख हैं वा चाहे जितने शस्त्र धारण करें, पर हैं तो ब्राह्मण ही!

'बोले परसुधरहिं अपमाने।'—अपमान का कारण मुख्य तो इनका फरसा धारण करना है, फिर इन्होंने श्रीरामजी की प्रार्थना (आप नाथ हैं, मैं दास हूँ) का कुछ विचार नहीं किया प्रत्युत उन्हें मारने की धमकी देकर अपमान किया। लक्ष्मणजी अपने प्रभु का अपमान नहीं सह सकते। अतः, अपमान-द्वारा ही प्रतिकार करते हैं, क्योंकि ब्राह्मण का अपमान करना ही मारने के समान है, यथा—"यदावमानं लभते महान्तं तदा जीवन्मृत इत्युच्यते सः॥" (महा० कर्ण० ६९।८१), अर्थात् महान्

लोगों का अपमान होना उनका मरना है। 'परसुधर' नाम से फरसा धारण-रूपी वीरता का ही अपमान सूचित किया—ब्राह्मणत्व का नहीं। आगे स्पष्ट कहा है—"व्यर्थ धरहु धनुबानकुठारा॥ जो बिलोकि अनुचित कहेउँ ··" (दो० २७२)।

(२) 'बहु धनुहीं तोरी लरिकाईं। कबहुँ न···'—भाव यह कि मैंने बालपन में खेल में बहुत-सी धनुहियाँ तोड़ डाली हैं, वैसे ही खेल-ही-खेल में इसे भी तोड़ डाला, यथा—"छोटे छोटे छोहरा छबीले रघुबंसिन के करत कलोलें यूथ निज निज जोरि जोरि। ए हो भृगुनाथ चलो अवध हमारे साथ देखो तहँ कैसे चहुँ खेलत हैं कोरि कोरि॥ 'रसिकबिहारी' ऐसी अमित कमानें सदा आनि गहि तानैं एक एकन ते छोरि छोरि। कोऊ झकझोरैं कोऊ पकरि मरोरैं यों ही खोरि खोरि नितहिं बहावैं बाल तोरि तोरि॥" (रामरसायन)।

परशुरामजी को धनुष के भंग करने पर क्रोध है, क्योंकि उसका बड़ा गौरव मानते हैं, उसीको लक्ष्मणजी धनुहिया मानकर खेल में तोड़ना कहते हैं, इससे वह अति लघु एवं तुच्छ सिद्ध होता है, यही परशुरामजी का अपमान है। परशुरामजी शिव-चाप का तो गौरव मानते हैं, पर जिसने उसे तोड़ा है, उसका नहीं प्रत्युत उसे मारने की धमकी दे रहे हैं। उसी पर श्रीलक्ष्मणजी उसे तुच्छ कह प्रत्युत्तर में उन्हीं-के मुख से उसका गौरव कहलावेंगे—"धनुहीं सम ··" तो वह गौरव उसके तोड़ने वाले का होगा। जिस पिनाक को विष्णु भगवान् ने जड़ कर दिया, जिससे उसकी लच मिट गई। शिवजी भी लचा नहीं सके, तब उन्होंने देवरात जनक को दे दिया था, उसे जिसने तोड़ डाला, वह कैसा अपरिमेय बल वाला है। 'कबहुँ न'—हमने बहुत बार तोड़े होंगे तब कभी आप नहीं गये थे, आज क्यों क्रोध करके दौड़े आये ?

इसपर लोग बहुत-सी कथाएँ लाकर लगाते हैं कि शिवजी ने दिव्यास्त्र संग्रह किया था, परशुराम रखवाले थे, लक्ष्मणजी ने बचपन में उन्हें तोड़ा है। दूसरी कथा—दिग्विजय करके परशुरामजी ने बहुत-से धनुष रक्खे थे। शेषजी बालक बनकर पृथ्वी माता के साथ उनसे अभय वर माँगकर रहते थे। एक दिन सबको तोड़ डाला, तब परशुरामजी क्षमा से नहीं बोले, इत्यादि। इनमें दोष है कि जब वे दिव्यास्त्र थे, तब यहाँ लक्ष्मणजी ने धनुही कहकर उन्हें तुच्छ क्यों कहा है ? पुनः जो उनकी क्षमा की सुधि करानी है, यह तो स्तुति है, अपमान के वचन नहीं। ये सब बातें एक बार की हैं और यहाँ 'कबहुँ न' से पाया जाता है कि हम रोज-रोज तोड़ते थे, पर आप वहाँ नहीं गये।

(३) 'येहि धनु पर ममता केहि हेतू।'—यह धनुष शिवजी का है, वे जनकजी के पूर्वजों को सौंप गये थे—अब जनकजी इसे चाहे तोड़वावें—चाहे रक्खें, इसके लिये आप क्यों दौड़े आये ? इसपर आपका कौन-सा अधिकार है, यथा—"रावरी पिनाक में सरीकता कहा रही।" (क० बा० १९), तथा—"जो पहिले हो पिनाक जनक को गयो सौंपि जिय जानि हैं।" (गी० बा० ७८)। शिवजी आपको दे गये होते तो आपका अधिकार रहता। लड़कपन में जो बहुत धनुहियों को तोड़ा है उस समय आप नहीं बोले थे, क्योंकि उनपर आपका कोई अधिकार न था, वैसे ही इसपर भी तो आपका बोलने का कोई अधिकार नहीं है।

'सुनि रिसाइ कह भृगुकुलकेतू'—प्रथम जब—'कबहुँ न असि रिस कीन्ह' कहा है, तब 'गोसाईं' सम्बोधन है और जब क्रोध करना कहा तब 'भृगुकुलकेतू' कहा कि महाक्रोधी के कुल के ध्वजा-रूप हैं, फिर क्रोध क्यों न करें ? भृगु ने भगवान् को ही लात मारी, ये उसी कुल के न हैं, तब क्यों न ऐसा क्रोध करें ?

(४) 'रे नृप-बालक काल-बस···'—लक्ष्मणजी ने दो प्रश्न किये थे। १—हमने बहुत धनुहियाँ तोड़ी हैं, तब क्रोध नहीं किया, अब क्यों करते हैं ? २—इस धनुष पर इतनी ममता क्यों है, अर्थात् आपका क्या अधिकार है ? इनमें पहले प्रश्न को लेकर कहते हैं कि जिस धनुष से त्रिपुरासुर मारे गये और

जो बड़े यत्न से बना एवं संसार में प्रसिद्ध है, यथा—"घोर कठोर पुरारि-सरासन नाम प्रसिद्ध पिनाकु। जो दसकंठ दियो बाबों, जेहि हर गिरि कियो है मनाकु॥" (गी० बा० ८७), "नृप भुज बल बिधु सिव धनु राहू। गरुअ कठोर बिदित सब काहू॥" (दो० २४९)। उसे तू धनुहियों के समान कहता है? अतः, तेरे बोलने में सँभार नहीं है, 'तोहि न···' अर्थात् तेरा भाई सँभालकर बोलता है, पर तुझे ही सँभाल नहीं है। इसीसे तू काल-वश है, क्योंकि प्रतिष्ठित पिनाक को 'धनुही सम' कहना दुर्वचन है - "सुनि दुर्बचन काल-बस जाना।" (लं० दो० ८९), इसी पर अपना क्रोध प्रकट किया। मुनि क्रोध वश इसे दुर्वचन मान रहे हैं, नैतिक वाद-विवाद में ऐसा कहने की रीति है, यथा "है कपि एक महा बल सीला" रावण के इस कथन पर अङ्गदजी ने—"रावन नगर अलप कपि दहई।···सो सुग्रीव केर लघु धावन॥" (लं० दो० २२), कहा है। वहीं पर अङ्गदजी ने ही—"कस रे सठ हनुमान कपि ··" कहकर हनुमानजी की बड़ाई की है, वैसे यहाँ भी श्रीलक्ष्मणजी ने इस धनुष की महत्ता प्रकट की है—"दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला।··· राम चहहि संकर धनु तोरा।···" (दो० २५९)। दूसरे प्रश्न का उत्तर नहीं दे सके; अधिकार अपना नहीं सिद्ध कर सके। प्रथम प्रश्न का जो उत्तर दिया है, आगे लक्ष्मणजी उसका भी खण्डन करते हैं।

लखन कहा हँसि हमरे जाना। सुनहु देव सब धनुष समाना॥१॥
का छति लाभ जून धनु तोरे। देखा राम नयेन के भोरे॥२॥
छुअत टूट रघुपतिहु न दोषू। मुनि बिनु काज करिय कत रोषू॥३॥

शब्दार्थ—जाना = जानते, समझ में। छति (क्षति) = हानि। जून = (जीर्ण) = पुराना, जून गुजराती भाषा का शब्द है। नयेन = नये ही। भोरे = धोखे से।

अर्थ—लक्ष्मणजी ने हँसकर कहा कि हे देव (भूदेव)! सुनिये, हमारे जानते तो सब धनुष एक समान ही हैं॥१॥ पुराने धनुष के तोड़ डालने में क्या हानि लाभ है? श्रीरामजी ने तो उसे नये धनुष ही के धोखे से देखा था॥२॥ पर वह छूते ही टूट गया। अतः, रघुनाथजी का भी तो कुछ दोष नहीं है, हे मुनि! आप बिना प्रयोजन क्यों क्रोध करते हैं?॥३॥

विशेष—(१) 'लखन कहा हँसि···'—हँसे इसलिये कि धनुष तोड़ डाला गया, फिर भी उसकी प्रशंसा करते हैं, उसे तुच्छ कहने पर रुष्ट होते हैं, ठीक उत्तर नहीं दे सकते तो उसे कोप से पूरा करते हैं, ऐसे नासमझ हैं ये! 'हमारे जाना'—हमसे न टूटता तो हम उसे बड़ा मानते, आप भले ही उसकी प्रशंसा करें, पर हमारी दृष्टि में तो सभी धनुष एक-से हैं।

(२) 'का छति लाभ जून ··'—श्रीजनकजी ने उसे हीरा-मणि आदि से भूषित कर रक्खा था, यथा—"धनुरानीयतां दिव्यं गन्धमाल्यविभूषितम्॥" (वाल्मी० १।६६।२), अर्थात् यह दिव्य धनुष चन्दन और पुष्प मालाओं से भूषित है, उसे लाओ। श्रीरामजी ने समझा कि विदेहराज ने कोई नवीन कठोर धनुष रखकर प्रतिज्ञा की है, इसी धोखे से उन्होंने उसपर दृष्टि डाली, नहीं तो उसे देखते भी नहीं। 'जून' शब्द में जीर्णता का भाव गुप्त है, वैसे धनुष में भी जीर्णता गुप्त थी।

(३) छुअत टूट रघुपतिहु न दोषू।' वह तो 'जून' - पुराना था। इससे छूते ही टूट गया अर्थात् श्रीरामजी ने उसे तोड़ा थोड़े ही, वह तो पुराना होने से सड़ा था, छूते ही आप-से-आप टूट गया। इसमें श्रीरामजी का कुछ दोष नहीं, यथा—"छुवतहि टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करउँ अभिमाना॥" (दो० २८२), यह श्रीरामजी ने स्वयं भी कहा है। सड़ा होने से उसके टूटने से कोई हानि नहीं और पुराना था, छूते ही टूटा। अतः, श्रीरामजी को तोड़ने का (श्रेय-रूपी) लाभ भी नहीं है। यहाँ 'सम तृतीय अलंकार' है।

'मुनि बिनु काज करिय···'—जिसमें कुछ हानि-लाभ नहीं, उस विषय पर क्रोध करना व्यर्थ ही है, इस तरह परशुरामजी को अकारण क्रोधित सूचित किया। यहाँ यदि लक्ष्मणजी कहते कि विदेहराज की प्रतिज्ञा-पूर्त्ति के लिये तोड़ा गया तो मुनि उन्हींसे जा भिड़ते और यदि कहते कि श्रीरामजी ने वीरता से तोड़ा तो उन्हींकी ओर झुकते। अतः ऐसे वचन कहे कि मुनि ही का दोष सिद्ध हो और वे कुछ न कह पावें। लक्ष्मणजी परशुरामजी की क्रोध-रूपी घोर धारा को फेर रहे हैं, देखिये—"घोर धार भृगुनाथ रिसानी।"

अलंकार—'लेश' क्योंकि गुण को दोष मानने का प्रसंग है।

बोले चितइ परसु की ओरा। रे सठ सुनेहि सुभाव न मोरा ॥४॥
बालक बोलि बधउँ नहिं तोही। केवल मुनि जड़ जानहि मोही ॥५॥
बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिस्वबिदित छत्रिय-कुलद्रोही ॥६॥
भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही। बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही ॥७॥
सहसबाहु-भुज-छेदनिहारा। परसु बिलोकु महीप-कुमारा ॥८॥

दोहा—मातुपितहि जनि सोचबस, करसि महीप-किसोर।
गरभन्ह के अरभक-दलन, परसु मोर अति घोर ॥२७२॥

शब्दार्थ—बोलि = समझकर, ठहराकर, यह बँगला भाषा है, यथा—'बालक बोले आमि छेड़े दिलुम्'। छेदनिहारा = काटनेवाला। गरभन्ह = गर्भों। अरभक (सं० अर्भक) = बालक, छोटा, अल्प।

अर्थ—(तब परशुरामजी) अपने फरसे की ओर देखकर बोले—अरे मूर्ख, तूने मेरा स्वभाव नहीं सुना है ॥४॥ मैं तो तुझे बालक समझ कर नहीं मारता और मूर्ख! तू मुझे कोरा मुनि ही समझता है ॥५॥ मैं बालब्रह्मचारी और बड़ा भारी क्रोधी हूँ। पुनः क्षत्रिय-कुल का द्रोही हूँ—यह संसार जानता है ॥६॥ मैंने अपनी भुजाओं के बल से पृथ्वी को राजाओं से रहित किया और बहुत बार उसे ब्राह्मणों को दे दिया ॥७॥ अरे राजकुमार! सहस्रबाहु की भुजाओं का काटनेवाला यह मेरा फरसा देख ॥८॥ अरे राजपुत्र! अपने माता-पिता को शोक के वश मत कर, अत्यन्त घोर (बड़ा कठिन एवं भयंकर) मेरा फरसा है, यह गर्भों के बच्चों का नाश करनेवाला है ॥२७२॥

विशेष—(१) 'बोले चितइ परसु···'—फरसे की ओर दृष्टि करके कहते हैं कि इसे देख ले, यदि सहने का सामर्थ्य हो तो बोल, इसीसे तुझे भी काटूँगा। क्या तुझे इसका भय नहीं है? 'रे सठ सुनेहि सुभाव न मोरा।'—सुना होता, तो ऐसा निःशंक नहीं बकता, यथा—"कीधौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही। देखउँ अति असंक सठ तोही॥" (सुं० दो० २०)। इसमें भी 'सठ' कहा है।

(२) 'बालक बोलि बधउँ नहिं···'—बालक का वध करना पाप है, यथा—"जे अघ तिय बालक बध कीन्हें।" (अ० दो० १६६), इसीसे मैं तुझे नहीं मारता। पर मूर्ख! तू मुझे कोरा मुनि ही समझता है कि मारेंगे नहीं। इस धोखे में मत रहना। मैं वीर भी हूँ, कोरा मुनि नहीं हूँ। मेरे शाप और आशिष ही का बल नहीं, किन्तु शरीर से भी समर्थ हूँ, आगे अपेक्षित वीरता कहते हैं।

(३) 'बालब्रह्मचारी अति···'—बालब्रह्मचारी से काम का जीतना कहा, जिसकी गणना वीरों में प्रथम है, यथा—"मारिके मार थप्यो जग में जाकी प्रथम रेख भट माहीं।" (वि० ४), बालब्रह्मचारी तो नपुंसक भी कहे जा सकते हैं, इसपर आगे पुरुषार्थ कहते हैं कि अत्यन्त क्रोध से संसार भर के वीर क्षत्रियों का नाश किया है। सारा संसार साक्षी है।

ब्रह्मचारी को दयालु होना चाहिये, पर उसकी विरुद्ध वृत्ति में बड़ाई मान रहे हैं, यह स्वभाव स्वयं सुना रहे हैं कि जिससे लक्ष्मणजी डरें, यथा—"आजन्मब्रह्मचारी पृथुलभुजशिलास्तम्भ-विभ्राजमान घाज्यातश्रेणिसंज्ञात्वरितवसुमतीचक्रजैत्रप्रशस्तिः" (हनु० १।३१)।

(४) 'भुजबल भूमि भूप बिनु···'—इनकी कथा दो० २६८ चौ० २ में देखिये, तथा महा० आदि० ६२।४ में भी परशुराम का २१ बार भूमि का निःक्षत्रिय करना कहा गया है, यथा—त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां पुरा। जामदग्न्यस्तपस्तेपे महेन्द्रे पर्वतोत्तमे ॥" दो० २७० चौ० ४ एवं आगे दो० २७५ चौ० २ भी देखिये।

'भुजबल' अर्थात् शाप से नहीं, किन्तु वीरता से मारा। 'बिपुल बार'—जब-जब क्षत्रिय बढ़ते गये तब-तब खोज-खोजकर मारा। 'महिदेवन्ह दीन्ही'—कुछ भूमि के लोभ से ऐसा नहीं किया, किन्तु भूमि ब्राह्मणों को दे दी। जब-जब क्षत्रिय बढ़ते थे, और ब्राह्मणों से भूमि छीन लेते थे तब-तब हम क्षत्रियों को मारकर ब्राह्मणों को भूमि देते थे। 'महिदेवन्ह' अर्थात् एक किसी विप्र को चक्रवर्त्ती नहीं बनाते थे, किन्तु सभी में भूमि बाँट देते थे। यदि समझें कि निर्बल क्षत्रियों को ही मारा होगा, इसपर आगे कहते हैं—

(५) 'सहसबाहु भुज···'—सहस्रबाहु को दत्तात्रेय भगवान् के वर से हजार भुजाएँ प्राप्त थीं—दो० ३ चौ० ३ में कथा देखिये। ऐसे को इसी फरसे से मारा है, यथा—"भुजान्कुठारेण कठोरनेमिना चिच्छेद रामः प्रसभं त्वहेरिव ॥" (भाग० ९।१५।३४), अर्थात् सहस्रार्जुन की भुजाओं को परशुरामजी ने अपने तीक्ष्णधार वाले फरसे से बड़ी फुर्ती के साथ सर्पों के समान काट डाला। उसके तो हजार भुजाएँ थीं, तेरे तो दो ही हैं। यह फरसा देख ले, सहने का ताव हो, तो बोल। 'महीपकुमारा'—अभी तो तू कुमार ही है, कुछ काल राज-सुख तो भोग ले, अभी ही क्यों मरना चाहता है?

(६) 'मातु पितहिं जनि···'—माता का स्नेह बच्चे पर अधिक होता है। अतः, उसे पहले कहा, तेरे माता-पिता ने तुझे वृद्धावस्था में पाया है, इससे तू उनका अत्यन्त प्यारा है, प्राण-नाशकरा कर उन्हें क्यों दुःख देगा? यहाँ धर्मनिष्ठता दिखाई, किन्तु देखा कि इससे तो और ढीठ होगा। अतः, क्रूरपना कहते हैं—'गरभन्ह के अरभक···' अर्थात् यह भी मत समझना कि बालक जानकर नहीं मारेंगे, किन्तु यह फरसा गर्भगत बालक को भी नहीं छोड़ता, यथा—"गर्भ स्रवहिं अवनिपरवनि, सुनि कुठार-गति घोर।" (दो० २७९), तू तो कुछ बड़ा हो गया, फिर सामने खड़ा है। यहाँ 'अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार' है, क्योंकि मारना रूप कारण न कहकर उसका कार्य 'मातु-पितहिं···' कहा गया है।

बिहँसि लखन बोले मृदुबानी। अहो मुनीस महा भटमानी ॥१॥
पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू। चहत उड़ावन फूँकि पहारू ॥२॥
इहाँ कुम्हड़बतिया कोउ नाहीं। जे तरजनी देखि मरि जाहीं ॥३॥
देखि कुठार सरासन बाना। मैं कछु कहा सहित अभिमाना ॥४॥

शब्दार्थ—तरजनी (तर्जनी) = अंगूठे के पास की अंगुली, जिससे लोग दूसरे को धमकाते हैं।

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी हँसकर कोमलवाणी से बोले—अहो! मुनीश्वर! आप तो बड़े ही अभिमानी योद्धा हैं ॥१॥ मुझे बार-बार कुल्हड़िया दिखाते हैं, (मानों) आप फूँककर पहाड़ उड़ाना चाहते हैं! ॥२॥ यहाँ कोई कुम्हड़े की बतिया नहीं है जो तर्जनी अंगुली देखकर ही मर जाय ॥३॥ कुल्हाड़ा और धनुषबाण देखकर ही मैंने अभिमान के साथ कुछ कहा है ॥४॥

विशेष—(१) 'बिहँसि लखन बोले···'—परशुरामजी जैसे-जैसे अपने गुण कहते हैं, वैसे-वैसे अधिक दोष प्रकट होते जाते हैं, जिससे लक्ष्मणजी की हँसी क्रमशः अधिक होती है, यथा—"सुनि मुनि-

बचन लखन मुसुकाने।" मुसकाना थोड़ा हँसना है। फिर—"लखन कहा हँसि हमरे जाना।" हँसने में मुसकान से अधिकता है। पुनः यहाँ 'बिहँसि' कहा है, यह विशेष हँसी का सूचक है कि वाह, 'गरभन्ह के अरभक-दलन···' पर विशेष हँसी आई कि आप भ्रूणहत्या के ही शूर हैं। अपने मुख से ऐसे-ऐसे कर्मों में अपने गुण कहने में आपको लाज नहीं लगती!

'अहो मुनीस महा भट ···'—जो मुनि होते हैं, वे योद्धा नहीं होते और योद्धा मुनि नहीं होते, क्योंकि मुनियों में शान्ति, समता, सुकृत आदि और वीरों में वैर, क्रोध, हिंसा आदि गुण हैं, आप दोनों के अभिमानी हैं। अतः 'अहो' अर्थात् आश्चर्यरूप हैं। यहाँ व्याजनिन्दा अलंकार है।

(२) 'पुनि पुनि मोहि देखाव···'- तीन बार कुठार दिखाया—'बोले चितइ परसु की ओरा।' 'परसु बिलोकु महीप कुमारा।' 'परसु मोर अति घोर'। अतः, 'पुनि-पुनि' कहा गया। 'चहत उड़ावन फूँकि···'—फूँकने से मच्छड़ उड़ते हैं अर्थात् आप वीर बनते तथा हमें मच्छड़ समझते हैं और चाहते हैं कि बातों की धमकी से ही डरा दें, जैसे फूँककर मच्छड़ उड़ाये जाते हैं। आपका फरसा फूँक के वायु के समान है और मैं क्षात्र-धर्म में अचल सुमेरु पर्वत के समान हूँ—उससे नहीं उड़ सकता, अर्थात् हटने-वाला नहीं हूँ, यह न कहकर इसका प्रतिबिम्ब कहा गया है। अतः 'ललित अलंकार' है।

(३) 'इहाँ कुम्हड़बतिया कोउ ···'—कुम्हड़े की छोटी बतिया तर्जनी दिखाने से सड़ जाती है, वैसे ही और राजा लोग आपको देखकर दुबक गये थे। अतः, वे कुम्हड़े की जई के समान हैं, यथा—"सरुष बरजि तरजिये तरजनी;कुम्लैहै कुम्हड़े की जई है।" (वि० १३९), तर्जनी ही में यह प्रभाव क्यों है? अन्य अँगुलियों में नहीं, क्योंकि 'तर्जनी' का अर्थ है, डाँटने वाली, इसीसे वह बतिया डर कर मर जाती है। पर मैं परिपक्व कुम्हड़ा हूँ। अतः, नहीं डरने का। 'कोउ नाहीं' से अपने और श्रीरामजी की ओर संकेत है।

(४) 'देखि कुठार सरासन ···'—मुनि के समक्ष अभिमान की बात नहीं कहनी चाहिये, पर मैंने कुठार आदि वीर बाने को देखकर ही कुछ कहा है।

भृगुसुत समुझि जनेउ बिलोकी। जो कछु कहहु सहउँ रिस रोकी। ५॥
सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इन्हपर न सुराई॥६॥
बधे पाप अपकीरति हारे। मारतहू पा परिय तुम्हारे॥७॥
कोटि-कुलिस-सम बचन तुम्हारा। ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा॥८॥

दोहा—जो बिलोकि अनुचित कहेउँ, छमहु महामुनि धीर।
मुनि सरोष भृगुबंस-मनि, बोले गिरा गँभीर॥२७३॥

शब्दार्थ—भृगुसुत = भृगुकुल, यहाँ सुत शब्द लक्षणा से कुल का वाचक है, अन्यत्र 'भृगुकुल' पाठान्तर है।

अर्थ—जो कुछ आपने कहा है, उसे मैं आपको भृगुवंशी समझकर और आपके जनेऊ को देखकर क्रोध को रोके हुए सहता जाता हूँ॥५॥ देवता, ब्राह्मण, हरिभक्त और गाय—हमारे कुल में इनपर शूरता नहीं दिखाई जाती॥६॥ (इन सबको) मारने पर पाप और हारने पर अपयश होता है, (इसलिये) आप मारें तो भी हमलोग आपके चरणों पर ही पड़ेंगे॥७॥ आपका वचन ही करोड़ों वज्रों के समान है, आप व्यर्थ ही धनुष-बाण और कुल्हाड़ा उठाये फिरते हैं॥८॥ इन्हें ही देखकर मैंने अनुचित कहा है, उसे हे धीर महामुनि! क्षमा कीजिये, यह सुनकर क्रोध में भरे हुए भृगुवंशशिरोमणि परशुरामजी गम्भीर वाणी बोले॥२७३॥

विशेष—(१) 'भृगुसुत समुझि···'—यहाँ श्रीलक्ष्मणजी परशुरामजी के लिये दो विशेषण देते हैं—एक भृगुवंशी होना और दूसरे जनेऊ धारण से ब्राह्मण होना। इन दो कारणों से क्रोध रोककर सहना पड़ता है, क्योंकि ब्राह्मण अवध्य हैं, यथा—"अवध्या ब्राह्मणा गावो ज्ञातयः शिशवः स्त्रियः। येषां चान्नानि भुञ्जीत ये च स्युः शरणागताः॥" (महा० उद्योग० ३६।६६), तथा—"न ब्राह्मणवधाद्भूयानधर्मो विद्यते भुवि। तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत्॥" (मनु० ८।३८१), ब्राह्मण के वध से पाप होता है, कहीं आपका वध न हो जाय, इसलिये सहते हैं। भृगुजी ने लात मारी तो भी विष्णु भगवान् ने प्रतिकार न करके उसका सहन ही कर लिया। विष्णु तो ब्रह्माण्ड भर के राजा हैं, उन्हींके नियम से हम भी प्रतिकार में समर्थ होते हुए भी सहते जाते हैं। 'जनेउ बिलोकी'—जनेऊ चिह्नमात्र से ही आप ब्राह्मण जान पड़ते हैं, शेष बातें तो प्रतिकूल ही हैं, यथा—"द्विज चिह्न जनेउ·····" (उ० दो० १००)। यह भी भाव है कि आप कुल्हड़िया दिखाते हैं, पर हम उसे नहीं देखते, नहीं तो आपका वध ही करना पड़े, प्रत्युत हम जनेऊ पर ही दृष्टि देते हैं, और इसीसे ब्रह्महत्या से डरते हैं। क्रोध रोकने के कारण आगे प्रकट कहते हैं—

(२) 'सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। '—'सुराई' अर्थात् 'शूरपना, अपकार का प्रतिकार करना, यथा—"असि रिस होति दसौ मुख तोरउँ।" (लं० दो० ३२), अर्थात् शूरता करते तो आपका सिर काट फेंकते, पर यह हमारे कुल का धर्म नहीं है, यथा—"निहन्तुं हन्त गोविप्रान्न शूरा रघुवंशजाः" (हनु० १।३९)। इसका भी कारण कहते हैं—

(३) 'बधे पाप अपकीरति···'—वीर को वीर मारे तो पाप नहीं होता, पर आप तो वीर हैं नहीं, ब्राह्मण हैं, इससे पाप होगा और हारने पर अपयश होगा कि एक भिक्षुक से हार गये। भाव यह कि लड़ने पर या तो आपको मार डालें, अथवा पाप से बचना चाहें तो हार ही मान लें, परन्तु हारने से संसार हँसेगा कि लड़ने गये और क्षत्रिय होकर भिक्षुक से हार गये। अतः, मैं प्रथम ही से आपके पाँवों पड़ता हूँ कि आप पूज्य हैं, वध्य नहीं। 'मारतहू पा परिय तुम्हारे', यथा—"उद्यम्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे। निगृह्णीयात्स्वधर्मेण धर्मापेक्षी नराधिपः॥२६॥·····एवं चैव नरश्रेष्ठ रक्ष्या एव द्विजातयः। सापराधानपि हि तान्विषयान्ते समुत्सृजेत्॥३१॥"···न शारीरं दण्डमेषां कदाचन॥३३॥ (महा० शान्ति० ५६), अर्थात् (महर्षि शुक्राचार्य ने कहा है—) वेद-वेदान्तज्ञाता ब्राह्मण यदि शस्त्र ग्रहण करके युद्धभूमि में आगमन करे तो धर्मात्मा राजा शस्त्र आदि के द्वारा उसे बाँधकर कैद कर ले, कदापि उसका वध न करे। ·····हे नरनाथ! ब्राह्मणों की अवश्य रक्षा करनी चाहिये, ब्राह्मण यदि अपराध करे तो उसे राज्य से बाहर करना चाहिये, (परन्तु वध नहीं ही करना चाहिये)।···शरीर दण्ड ब्राह्मण को नहीं ही देना चाहिये।

(४) 'कोटि-कुलिस-सम बचन···'—यदि आप अपने ब्राह्मणत्व पर रहें तो आपका एक ही वचन करोड़ वज्रों से अधिक काम कर सकता है, यथा—"इंद्र-कुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरि-चक्र कराला॥ जो इन्हकर मारा नहिं मरई। बिप्र-द्रोह पावक सो जरई॥" (उ० दो० १०८)। अतः, आप हथियार छोड़ दें, व्यर्थ इन्हें क्यों लटका रक्खा है, आपके शाप ही का भारी प्रभाव है।

(५) 'जो बिलोकि अनुचित···'—कुठार आदि हथियारों को ही देखकर हमने अनुचित कहा है। यहाँ इनके वीरतापूर्ण कथन का निरादर है, महामुनि भाव को लेकर क्षमा है। 'धीर' से क्रोध होना अनुचित सूचित करते हैं। 'महामुनि धीर' पर व्यंग्योक्ति समझकर मुनि क्रुद्ध होकर बोले। 'भृगुबंसमनि'—जब प्रथम आये, तब - 'भृगुकुल कमल पतंगा' कहे गये थे, लक्ष्मण की बातों से घटते-घटते अब मणि के समान ही रह गये, यथा—"भृगुपति सुनि सुनि निर्भय बानी। रिस तनु जरइ होइ बल

हानी ॥" (दो० २७७) । भृगुबंसमनि' से यह भी जनाया कि यह कुल ही क्रोधी है, फिर ये क्यों न क्रोध करें ?

कौसिक सुनहु मंद यह बालक । कुटिल कालबस निज-कुल-घालक ॥१॥
भानु - बंस - राकेस - कलंकू । निपट निरंकुस अबुध असंकू ॥२॥
कालकवल होइहि छन माहीं । कहउँ पुकारि खोरि मोहि नाहीं ॥३॥
तुम्ह हटकहु जौ चहहु उबारा । कहि प्रताप बल रोष हमारा ॥४॥

शब्दार्थ—घालक = नाश करनेवाला । निपट = नितान्त । निरंकुस = उच्छृंखल । कवल = ग्रास । खोरि = दोष ।

अर्थ—हे विश्वामित्र ! सुनो, यह बालक मन्द (नीच), कुटिल (टेढ़ा), काल के वश हो रहा है, और अपने कुल का नाश करनेवाला है ॥१॥ यह सूर्यवंश-रूपी पूर्ण चन्द्र में कलंक, नितान्त उच्छृंखल, बुद्धिहीन और निडर है ॥२॥ यह क्षण-भर में काल (के मुख) का कौर (ग्रास) हो जायगा, मैं पुकार-पुकारकर कहे देता हूँ, (फिर) मेरा दोष नहीं (देना) ॥३॥ यदि तुम इसे बचाना चाहते हो तो मेरा प्रताप, बल और क्रोध कहकर (समझाकर एवं डराकर) इसे रोको ॥४॥

विशेष—(१) 'कौसिक सुनहु मंद ' '—विश्वामित्रजी से कहते हैं, क्योंकि—(क) इन्होंने लाकर प्रणाम कराया है, इससे इनका कहना मानेगा । (ख) कुशवंशियों के मारते समय अपने वंश के बतलाकर इन्होंने बहुतों को मुझसे बचाया है । अतः, इसे भी यदि वैसे ही बचाना चाहते हैं, तो अभी से मना करें, नहीं तो क्रोध आने पर मारते समय फिर हम न सुनेंगे । (ग) ये दशरथ जी से माँगकर लाये हैं तब यदि यह मारा गया तो इन्हें कलंक लगेगा । अतः, ये इसे अवश्य चुप करेंगे ।

यहाँ पूर्वोक्त—"घोर धार भृगुनाथ रिसानी" (दो० ४०) का मुख दूसरी ओर फिरा ।

'कुटिल काल-बस···'—'कुटिल'—है, क्योंकि स्वयं, जो कल का बच्चा है, वीर बनता है, और हमको, जिसने कितनी बार संसार भर के वीर क्षत्रियों को मारा है, व्यर्थ कहता है । कुल के साथ अपने को ब्राह्मणपूजक कहता है और मेरा सिर भी काटने को तैयार है । इसीसे 'काल-वश' होने योग्य है । इसे मारकर फिर इसके कुल का भी नाश करूँगा । अतः,—'निज कुलघालक' है । परशुरामजी की दृष्टि सूर्य-कुल पर है, जैसे लक्ष्मणजी की दृष्टि—'भृगुसुत समुझि···' पर कही गई है, उसीके जोड़ में यह वचन है ।

(२) 'कहि प्रताप बल रोष हमारा ।'—भाव, यह कहकर मत मना करो कि ये बड़े बूढ़े ब्राह्मण हैं, जाने दो, अब न कुछ कहो । किन्तु हमारा प्रताप आदि कहकर, डराकर मना करो । प्रताप—"गर्भ स्रवहिं अवनिपरबनि, सुनि कुठार-गति घोर ॥" (दो० २७९), बल—"सहसबाहु - भुज - छेदनिहारा ।" (दो० २७१), रोष—"बालब्रह्मचारी अति कोही । बिस्व-बिदित छत्रियकुल - द्रोही ।" (दो० २७१), इत्यादि । ये सब स्वयं भी कहते हैं, पर समझते हैं कि कौशिक के कहने से विश्वास मानकर लक्ष्मणजी डर जायँगे ।

लखन कहेउ मुनि सुजस तुम्हारा । तुम्हहिं अछत को बरनइ पारा ॥५॥
अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी । बार अनेक भाँति बहु बरनी ॥६॥
नहि संतोष तौ पुनि कछु कहहू । जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू ॥७॥
बीरब्रती तुम्ह धीर अछोभा । गारी देत न पावहु सोभा ॥८॥

दोहा—सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आप ।
बिद्यमान रन पाइ रिपु, कायर कथहिं प्रताप ॥२७४॥

शब्दार्थ—पारा = सकता है (बँगला भाषा) । वीरव्रती = वीरवृत्ति, वीरों का बाना धारण करनेवाले ।

अर्थ—लक्ष्मणजी ने कहा—हे मुनि ! आपका सुयश आपके रहते हुए दूसरा कौन वर्णन कर सकता है ? ॥५॥ अपने मुँह से आपने अपनी करनी अनेक प्रकार से और बहुत बार कही है ॥६॥ यदि सन्तोष न हुआ हो तो फिर कुछ कहिये, क्रोध रोककर कठिन दुःख मत सहिये ॥७॥ आप वीरवृत्तिवाले हैं, धीर और क्रोध रहित हैं । अतः, गाली देते हुए (आप) शोभा नहीं पाते ॥८॥ जो शूर-वीर लड़ाई में करनी करते हैं, कहकर अपनेको नहीं प्रकट करते, युद्ध में शत्रु को सम्मुख पाकर कायर ही अपना प्रताप कथन करते हैं वा डींग हाँका करते हैं ॥२७४॥

विशेष—(१) 'लखन कहेउ मुनि सुजस ·····'—आपका सुयश जितना आप जानते हैं, उतना दूसरा नहीं जान सकता, इससे आप ही वर्णन करते जाइये, कौशिकजी को हरि-भजन करने दीजिये ।

(२) 'अपने मुँह तुम्ह आपनि····'—अपने मुख से अपनी बड़ाई करना निर्लज्जता है, यथा—"लाजवंत तव सहज सुभाऊ । निज मुख निज गुन कहसि न काऊ ॥" (लं० दो० २८) ।

(३) 'जनि रिस रोकि दुसह·····'—कह डालेंगे तो दुःख कुछ कम होगा, यथा—'कहेहू ते कछु दुख घटि होई ।" (सुं० दो० १४) ।

(४) 'बीरव्रती तुम्ह धीर अछोभा ·· '—आप ब्राह्मणत्व को नीचे करके वीरवृत्ति में अपना गौरव मानते हैं, प्रथम इस वृत्ति में धीरता एवं क्षोभहीनता भी थी, पर गाली बकने से उसकी शोभा चली गई, क्योंकि वीरवृत्तिवाले गाली नहीं बकते, यथा—"आजु करउँ खल काल हवाले । ····सुनि दुर्बचन··· जनि जल्पना करि सुजस नासहि···एक करहिं कहत न बागहीं ॥" (लं० दो० ९०), अर्थात् आपने शस्त्र धारण करके ब्राह्मणत्व की अवहेलना कर दी और गाली बकने से वीरत्व भी गँवा दिया । यह मुनि के—"भानुबंस राकेस-कलंकू ।"···से—"अबुध असंकू ॥" तक के प्रति कहा गया है ।

(५) 'सूर समर करनी····· '—यह मुनि के—'कालकवल होइहि ·· ' का उत्तर है कि शत्रु के सम्मुख रहते हुए कर्त्तव्य नहीं करके प्रताप कथन करना कायरता है, यथा—"न वै शूराः विकत्थन्ते दर्शयन्त्येव पौरुषम् ।" (श्रीमद्भागवत) । यहाँ समासोक्ति अलंकार है ।

तुम्ह तौ काल हाँक जनु लावा । बार-बार मोहि लागि बोलावा ॥१॥
सुनत लखन के बचन कठोरा । परसु सुधारि धरेउ कर घोरा ॥२॥
अब जनि देइ दोष मोहि लोगू । कटुबादी बालक बधजोगू ॥३॥
बाल बिलोकि बहुत मैं बाँचा । अब यह मरनिहार भा साँचा ॥४॥

अर्थ—आप तो मानों काल को हाँक लाये हैं और उसे बार-बार मेरे लिये बुलाते हैं ॥१॥ लक्ष्मणजी के ऐसे कठोर वचन सुनते ही (परशुराम ने) अपने घोर फरसे को सुधार कर हाथ में पकड़ा (और कहा) ॥२॥ अब मुझे लोग दोष न दें, कड़ुवा बोलनेवाला बालक वध करने के योग्य है ॥३॥ मैंने बालक समझकर इसे बहुत बचाया, अब यह सत्य ही मरनेवाला हो गया ॥४॥

विशेष—(१) 'तुम्ह तौ काल हाँक ·····'—हाँक लाना पशुओं के लिये कहा जाता है, अर्थात् काल-रूपी पशु को चरने के लिये हमें चारा मानकर बुलाते हैं, पर बार-बार के बुलाने पर भी वह नहीं आता, सम्भवतः उसे भूख ही नहीं है अथवा वह स्वयं डरता है कि मैं ही न उसे खा जाऊँ, यथा—"तुम्ह कृतांतभच्छक सुरत्राता ।" (लं० दो० ८३) ।

(२) 'सुनत लखन के बचन·····'—लक्ष्मणजी इस बार हँसकर भी नहीं बोले थे और कायर भी

कह डाला था, इससे परशुरामजी बहुत रुष्ट हुए। फरसा काँधे पर था, उसे हाथ में लिया, इसीसे मारना चाहते हैं, क्योंकि यह 'अति घोर' है और इसीसे सब क्षत्रियों को मारा था। लक्ष्मणजी भी क्षत्रिय-कुमार ही हैं।

(३) 'अब जनि देइ दोष ···'—पूर्व कहा था—'कहउँ पुकारि खोरि मोहि नाहीं।' अब फिर भी कहते हैं—'अब जनि·····' यह कहकर लोक से निर्दोष हुए। 'कटुवादी बालक ·····' यह कहकर वेद से भी निर्दोष बने।

(४) 'मरनिहार भा साँचा'—अभी तक तो मैं धमकाता ही था, पर बचाना चाहता था, अब नहीं छोड़ूँगा।

कौसिक कहा, छमिय अपराधू। बाल-दोष-गुन गनहिं न साधू ॥५॥
खर कुठार मैं अकरुन कोही। आगे अपराधी गुरुद्रोही ॥६॥
उतर देत छाड़उँ बिनु मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे ॥७॥
नत येहि काटि कुठार कठोरे। गुरुहिं उरिन होतेउँ श्रम थोरे ॥८॥

दोहा—गाधि-सूनु कह हृदय हँसि, मुनिहि हरियरइ सूझ।
अयमय खाँड़ न ऊखमय, अजहुँ न बूझ अबूझ ॥२७५॥

शब्दार्थ—अकरुन = अकरुण = निर्दय, पाठान्तर—'अकरन' भी है, उसका अर्थ बिना कारण है। सील (शील) = संकोच। अय (अयस्) = लोहा। हरियरइ = हरा-ही-हरा। खाँड़ = तलवार, शक्कर।

अर्थ—विश्वामित्रजी ने कहा—अपराध क्षमा कीजिये, बालकों के दोषों और गुणों को साधु नहीं गिनते ॥५॥ (परशुरामजी ने कहा—) मेरा कुठार तीक्ष्ण है और मैं निर्दय एवं क्रोधी हूँ, पुनः अपराधी गुरु का द्रोही सामने है ॥६॥ हे कौशिक! केवल आपके संकोच से उत्तर देते हुए भी बिना मारे इसे छोड़ता हूँ, ॥७॥ नहीं तो इसे इसी कठोर कुल्हाड़े से काटकर थोड़े ही परिश्रम में गुरु से उऋण (ऋण रहित) हो जाता ॥८॥ विश्वामित्रजी ने हृदय में हँसकर कहा कि मुनि को हरा-ही-हरा सूझ रहा है। यह लोहे का बना खाँड़ है, कुछ ऊख के रस का नहीं है। अब भी इन्हें नहीं समझ पड़ता—ऐसे बे-समझ हैं ये ॥२७५॥

विशेष—(१) 'कौसिक कहा छमिय···'—परशुरामजी ने श्रीविश्वामित्रजी से निहोरा किया था, वे लक्ष्मणजी का कोई अपराध तो देखते नहीं कि डाँटें, यदि परशुरामजी के दोष कहें तो वे और चिढ़ेंगे कि बालक को तो समझाते नहीं, उल्टे हमारा ही दोष कहते हैं, अतएव मुनि ने कहा कि आप साधु हैं, क्यों न बचावें? जैसे अभी तक बचा आये, वैसे और भी क्षमा करें, क्योंकि बालकों के दोषगुण साधु लोग नहीं देखते। यहाँ 'दोष-गुन' मुहावरा है, तात्पर्य दोष का ही है, जैसे किसीसे कोई दोष हो जाता है तो लोग प्रायः कहते हैं कि इसके 'गुण-दोष' का विचार नहीं है, यथा—"निसि दिन नहिं अवलोकहिं कोका।" (दो० ८४), इसी प्रकार द्वन्द्व की प्रायः रीति है।

अथवा 'दोष-गुन' का यथाश्रुत अर्थ लें, तो गुण न गिनने को इससे कहा है कि बालक के गुण अज्ञात दशा के और प्राकृतिक हैं। अतएव ये उसके नहीं कहा सकते। यह साधुओं की दृष्टि है। और लोग तो बालक के गुण को गुण मानते ही हैं।

(२) 'आगे अपराधी गुरुद्रोही।'—इसमें के 'अपराधी' के—'उतर देत···' में और—'गुरुद्रोही' के—"नत येहि काटि···" में फल का चरितार्थ है।

(३) 'नत येहि काटि कुठार···' ऊपर—'कटुवादी बालक' को 'बधजोगू' कहा, उसीको यहाँ कहते हैं कि जैसे यह कठोर बोलता है, वैसे ही कठोर कुठार से वध करने के योग्य है। 'नत'—आपके संकोच-वशात् हम गुरु के ऋणी रह गये हैं। महा० कर्ण० ३४।१२८-१६३ में कथा है कि परशुरामजी ने तपस्या करके शिवजी को प्रसन्न किया, इनको अस्त्र प्राप्ति की इच्छा जानकर शिवजी ने इन्हें पवित्र होकर अधिकारी बनने के लिये कहा, इन्होंने तप करके वह भी किया। तब शिवजी ने इनको असुरों से युद्ध करने को भेजा। वहाँ ये सफल हुए, उसपर प्रसन्न होकर शिवजी ने इन्हें अस्त्र और इच्छित वरदान दिये उसी ऋण पर यहाँ लक्ष्य है। —दो० २७० चौ० ३ में दी हुई कथा भी इससे मिलती है।

(४) 'गाधिसूनु कह हृदय···'—मुनि शान्त एवं गम्भीर होते हैं, हँसना राजसगुण है, उसके सम्बन्ध से इनका राज-सम्बन्धी नाम कहा गया।

'मुनिहिं हरियरइ सूझ'—श्रावण के अन्धे को हरा-ही-हरा सूझता है, यह लोकोक्ति है, यथा—"मोहिं तो सावन के अंधेहि ज्यों सूझत रंग हरो।" (वि० २२६), वैसे ही परशुरामजी ने बहुत बार पृथ्वी को क्षत्रिय-रहित किया, सहस्रबाहु ऐसे वीर को मारा, वही गर्व मन में भरा है कि ये भी तो वैसे ही क्षत्रिय हैं। यह नहीं देखते कि सब क्षत्रिय तो लवा की तरह दुबक गये और ये इतने निर्भीक होकर उत्तर दे रहे हैं, कैसे तेजस्वी हैं! जिस पिनाक को देखकर रावण-बाणासुर हार गये, उसे इन्होंने तोड़ डाला, इत्यादि से बूझ (समझ) लेना रहा, पर नहीं समझा। इसीपर विश्वामित्रजी हृदय में हँसते हैं कि मुनि बड़े अबूझ (मूर्ख) हैं और लोग कहते हैं—'अयमय खाँड़ न ऊखमय'—अर्थात् यह ऊख के रस की बनी हुई मिसरी नहीं है कि घोलकर पी जाओ, यह तो लोहे का खाँड़ है। पेट फाड़कर निकल जायगा अर्थात् प्राकृत क्षत्रियों में और इनमें ऊख के खाँड़ और लोहे के खाँड़ का-सा अन्तर है। खाँड़ तलवार को भी कहते हैं, अर्थात् ऊख के रस से बने खाँड़ को चूसकर खा जानेवाला, कहीं लोहमय खाँड़ मुँह में धरे, तो जो हालत होगी, वही परशुराम की आ बनी है।

परशुरामजी ब्राह्मण हैं। अतः, मधुरप्रिय हैं, अतएव यहाँ मिठाई की उपमा से 'अबूझ' कहा, ऐसे ही 'अबूझपन' का प्रसंग राक्षसों में आया है, वहाँ मांस की उपमा राक्षसों के अनुकूल है, यथा—"जिमि अरुनोपल-निकर निहारी। धावहिं खल सठ माँस-अहारी॥ चोंच-भंग दुख तिन्हहिं न सूझा। तिमि धाये मनुजाद अबूझा॥" (लं० दो० ३९)।

कहेउ लखन मुनि सील तुम्हारा। को नहिं जान बिदित संसारा॥१॥
मातहि-पितहि उरिन भये नीके। गुरु-रिन रहा सोच बड़ जी के॥२॥
सो जनु हमरेहि माथे काढ़ा। दिन चलि गयेउ ब्याज बड़ बाढ़ा॥३॥
अब आनिय ब्यवहरिया बोली। तुरत देउँ मैं थैली खोली॥४॥

शब्दार्थ—हमरेहि माथे = हमारे ही बल पर। काढ़ा = ऋण लिया। बोली = बुलाकर। ब्यवहरिया = व्यवहार (कर्ज) देनेवाला, महाजन। चलि गयेउ = बीत गये।

अर्थ—लक्ष्मणजी ने कहा कि हे मुनि! आपका शील कौन नहीं जानता है अर्थात् वह जगत्-प्रसिद्ध है॥१॥ माता और पिता से तो आप भली-भाँति उऋण हो गये, गुरु का ऋण रह गया है, (उसके लिये) मन में बड़ी चिन्ता है॥२॥ वह (ऋण) मानों आपने हमारे ही बल पर काढ़ा है, बहुत दिन बीत गये। अतः, उसका ब्याज भी बहुत बढ़ गया है॥३॥ अब महाजन (शिवजी) को बुला लाइये, मैं शीघ्र ही थैली खोलकर दे दूँ अर्थात् हिसाब चुका दूँ॥४॥

विशेष—(१) 'कहेउ लखन मुनि सील···'—यहाँ 'सील' शब्द में इसका वाच्यार्थ छोड़कर व्यंग्यार्थ से इसके विपरीत दुश्शील का भाव है। यह परशुरामजी के—"उतर देत छाड़उँ बिनु मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे ॥" के उत्तर में है।

(२) 'मातहिं-पितहि उरिन भये नीके।' कथा दो० २६८ चौ० २ पर दी गई है।

यहाँ आयुर्बल ही ऋण है, माता को प्रथम कहा, क्योंकि माता को पहले मारा था। माता की आयु प्रथम समाप्त कर उनसे उऋण हुए, पिता से जोर न चला, तब सहस्रबाहु के वंशजों से मरवा कर उनसे उऋण हुए (क्योंकि इन्हींके कर्त्तव्य के बदले में तो पिता मारे गये, यथा—"ममापराधात्तैः क्षुद्रैर्हतस्त्वं तात बालिशैः। कार्त्तवीर्यस्य दायादैर्वने मृग इवेषुभिः॥" (महा० वन० ११७।१), यह परशुरामजी ने ही कहा है।) अब रहे गुरु शिवजी, इनसे उऋण होने का सामर्थ्य आपमें नहीं है। अतः, हमारे मत्थे काढ़ा है। 'माथे काढ़ा'—का भाव यह कि कोई गरीब जब महाजन से कर्ज नहीं पाता, तब किसी दूसरे धनी को जामिन करके कर्जा पाता कि यदि वह कर्ज न दे सके, तो जामिनदार को देना पड़े। वही बात यहाँ है। शिवजी गुरु हैं, वे अविनाशी हैं। अतः, मर नहीं सकते। फिर उनसे कैसे उऋण हों? इसकी आपको चिन्ता है, फिर बहुत काल बीत गये, ब्याज भी बहुत बढ़ गया अर्थात् शिवजी बहुत दिनों से जीते ही रह गये। 'नीके' व्यंग्य है अर्थात् दुःशीलतापूर्वक सिर काट-काटकर उऋण हुए।

'अब आनिय ब्यवहरिया···'—अभी तक देने का योग न था। अब हम देने को तैयार हैं, हम तो जामिन ठहरे। आपको कैसे दें? महाजन को ही बुला लाइये। उन्हीं (शिवजी) को हम तुरत थैली खोलकर गिन दें, अर्थात् तरकश-रूपी थैली से बाण-रूपी द्रव्य गिन दें। उन्हें मारकर मूल चुका दें और उन्हीं की शिक्षा से बढ़े हुए ब्याजरूप आप हैं। अतः, आपको भी मारने से ब्याज चुक जायगा। 'तुरत'—पिता से उऋण होने में कुछ देर हुई थी, इसमें तुरत ही काम समाप्त हो जायगा।

सुनि कटु बचन कुठार सुधारा। हाय हाय सब सभा पुकारा ॥५॥
भृगुवर परसु देखावहु मोही। बिप्र बिचारि बचउँ नृप-द्रोही ॥६॥
मिले न कबहुँ सुभट रन-गाढ़े। द्विज देवता घरहि के बाढ़े ॥७॥
अनुचित कहि सब लोग पुकारे। रघुपति सैनहि लखन निवारे ॥८॥

शब्दार्थ—बचउँ = बचाता हूँ। गाढ़े = कठिन। भृगुवर = भृगुश्रेष्ठ, परशुराम।

अर्थ—परशुराजी ने कड़वे वचन सुनकर (मारने के लिये) फरसा सुधारा, (तब) सारी सभा हाहा करके पुकार उठी ॥५॥ लक्ष्मणजी बोले—हे परशुराम! आप मुझे फरसा दिखाते हैं, हे नृपद्रोही! मैं ब्राह्मण जानकर आपको बचाता हूँ ॥६॥ आपको कभी रण में कठिन योद्धा से भेंट नहीं हुई। हे ब्राह्मण-देव! अभी तक आप घर ही के बढ़े हुए हैं ॥७॥ 'अनुचित है'—'अनुचित है' ऐसा कहकर सभी लोग पुकार उठे, तब श्रीरामजी ने संकेत से लक्ष्मणजी को रोका ॥८॥

विशेष—(१) 'सब सभा'—कुटिल राजाओं को छोड़कर और सब उपस्थित लोग।

(२) 'बिप्र बिचारि बचउँ···'—आप नृप-द्रोही हैं। अतः, मार डालने योग्य हैं, पर ब्राह्मण जानकर मैं आपके प्राण बचाता हूँ।

(३) 'मिले न कबहुँ सुभट···'—अर्थात् पृथ्वी के राजा लोग भट थे, सहस्रबाहु सुभट था, पर गाढ़े सुभट से आज ही पाला पड़ा है। हे ब्राह्मण देवता! आप अभी तक घर ही के बढ़े हैं अर्थात् माता के सिर काटने में शूर हैं, बाहर के किसी मर्द से पाला नहीं पड़ा वा 'देवता' शब्द पुजाने में प्रयुक्त होता है अर्थात् आप अभी तक घर-घर पूजे जाते रहे, संग्राम से पाला नहीं पड़ा था।

(४) 'सैनहिं लखन निवारे'—आगे मुनि का कोप—अग्नि, लक्ष्मण के उत्तर—आहुति और श्रीरामजी के वचन—जल कहे जायँगे। प्रथम आहुति रोककर जल डालना चाहिये, तब अग्नि शान्त होता है। वैसे ही लक्ष्मणजी को मना किया, इससे सभा के भाव भी रक्खे। संकेत से बैठाकर लक्ष्मणजी का आदर भी जनाया कि वत्स ! अच्छी सेवा की।

दोहा—लखन-उतर आहुति सरिस, भृगुबर-कोप कृसानु।
बढ़त देखि जल-सम बचन, बोले रघुकुल-भानु ॥२७६॥

नाथ करहु बालक पर छोहू। सूध दूधमुख करिय न कोहू ॥१॥
जौ पै प्रभुप्रभाव कछु जाना। तौ कि बराबरि करत अयाना ॥२॥
जौ लरिका कछु अचगरि करहीं। गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं ॥३॥
करिय कृपा सिसु सेवक जानी। तुम्ह सम सील धीर मुनि ज्ञानी ॥४॥

शब्दार्थ—सूध = सीधा। दूध मुख = दूध पीनेवाला छोटा शिशु, जिसका माता का दूध पीना भी नहीं छूटा हो। अयाना = अज्ञान, भोला-भाला। अचगरि = अयोग्य कार्य, नटखटपन।

अर्थ—लक्ष्मणजी का उत्तर आहुति (होम द्रव्य) के और भृगुश्रेष्ठ परशुराम का कोप अग्नि के समान है, उसे बढ़ता हुआ देखकर रघुकुल के भानु (सूर्य) श्रीरामजी जल के समान (शीतल करनेवाले) वचन बोले ॥२७६॥ हे नाथ ! बालक पर दया कीजिये, यह सीधा है, दूधमुख है। अतः इसपर क्रोध न कीजिये ॥१॥ यह अज्ञानी जो आपका कुछ भी प्रभाव जाने हुए रहता तो क्या आपकी बराबरी करता ? ॥२॥ यदि लड़के कुछ नटखटपन करते हैं, तो गुरु, पिता और माता मन में आनन्दित होते हैं ॥३॥ बालक और सेवक जानकर इसपर कृपा कीजिये। आप तो समदृष्टिवाले, धीर, मुनि और ज्ञानी हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'लखन-उतर आहुति·····'—इसमें 'रघुकुल-भानु' शब्द ब्राह्मण के क्रोधाग्नि से कुल की रक्षा के सम्बन्ध में पड़ा है, क्योंकि—"दहइ कोटिकुल भूसुर-रोषू।" (अ० दो० १२५); "जिमि द्विज-द्रोह किये कुल-नासा।" (कि० दो० १५)। यहाँ रामजी विप्र-कोप की शान्ति का उपाय कर रहे हैं। पुनः आगे 'जल सम बचन' के लिये भी 'भानु' शब्द है, क्योंकि सूर्य से ही वृष्टि होती है।

यह 'सम तद्रूप रूपक अलंकार' है।

(२) 'नाथ करहु बालक पर···'—यह बालक है, आप माता-पिता के तुल्य हैं। मुनि ने लक्ष्मणजी को 'कुटिल' और 'कटुवादी' कहा है, उसपर श्रीरामजी कहते हैं कि नहीं, यह नितान्त सीधा और दूध-मुख (मधुरभाषी) है, जब तक बालक दूध पीता है, हृदय से सीधा और काम-क्रोध से रहित रहता है। ऊपर ही से चंचलता दिखती है। तब ऐसे वचन क्यों कहे ? वह आगे कहते हैं—

(३) 'जो पै प्रभु-प्रभाव···'—'कछु' अर्थात् किंचित् भी नहीं जानता, इसीसे 'अयाना' कहा है। केवल वेष देखकर ही ऐसा कहा है। श्रीरामजी तो—"बिप्र-बंस कै असि प्रभुताई।" (दो० २८३) का प्रभाव कह रहे हैं, पर मुनि अपने—'चाप श्रुवासर आहुति·····' के प्रभाव पर प्रसन्न होंगे। यह उत्तर के शब्दों में विलक्षणता है। यद्यपि लक्ष्मणजी किशोर हैं, तथापि 'अयाना' के सम्बन्ध से 'दूधमुख' कहे गये, क्योंकि बालक बुद्धिहीन कहे जाते हैं, यथा—"अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः॥" (मनु०)। इसमें आपका प्रभाव जानने की बुद्धि नहीं है। यदि मुनि कहें कि अवस्था के अनुरोध से इसे कुछ तो दण्ड होना ही चाहिये, उसपर कहते हैं—

(४) 'जौ लरिका कछु·····'—'जौ' से जनाया कि लक्ष्मण का कोई दोष नहीं है, दोष होने पर भी आपको मोद (प्रसन्नता) चाहिये, यथा—"डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरूणाम्।" (हनुमन्नाटक १।३८)। यहाँ 'लरिका' तथा ऊपर 'नाथ' और 'बालक' भी कहा गया है, आगे 'सिसु' भी कहते हैं अर्थात् आप 'गुरु-पितु-मातु' तुल्य हैं, और यह 'लरिका' बालक और शिशु के समान है। यहाँ लक्ष्मण में प्रीति कराना है। इसमें शिष्य के अतिरिक्त यदि पुत्र-भाव भी हो तो अधिक प्रीति होती है, फिर भी पुत्र एवं शिष्य यदि सेवक भी हुआ तो उसपर अत्यन्त प्रीति होती है। इसीलिये आगे प्रथम 'सिसु' तब सेवक कहा है।

(५) 'तुम्ह समसील धीर·····'—आप 'समशील' अर्थात् समता में प्रवृत्त रहनेवाले हैं। अतः, आपमें कोप और तद्विकार रूपी गाली नहीं चाहिये। 'धीर' हैं। अतः, उद्वेग नहीं चाहिये। 'ज्ञानी' हैं। अतः, वैर-बुद्धि नहीं चाहिये, यथा—"निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध। (उ० दो० ११२)।

राम-बचन सुनि कछुक जुड़ाने। कहि कछु लखन बहुरि मुसकाने ॥५॥
हँसत देखि नखसिख रिस ब्यापी। राम तोर भ्राता बड़ पापी ॥६॥
गौर सरीर स्याम मन माहीं। कालकूट - मुख पय - मुख नाहीं ॥७॥
सहज टेढ़ अनुहरइ न तोही। नीच मीच-सम देख न मोही ॥८॥

शब्दार्थ—अनुहरइ न=अनुकूल आचरण नहीं करता। जुड़ाने=ठंढे हुए, क्रोध शान्त हुआ। पयमुख=दूधमुख।

अर्थ—श्रीरामजी के वचन सुनकर परशुरामजी कुछ ठंढे हुए थे कि लक्ष्मणजी ने फिर कुछ कहकर मुसकुरा दिया ॥५॥ उन्हें हँसते देखकर (परशुरामजी को) नख से शिख तक क्रोध व्याप्त हो गया (और बोले) राम! तुम्हारा भाई बड़ा पापी है ॥६॥ यह शरीर से तो गोरा है, (परन्तु) मन का काला है। यह कालकूट-मुख है—दूध-मुख नहीं ॥७॥ यह स्वाभाविक ही टेढ़ा है, तुम्हारे अनुकूल आचरणवाला नहीं है। यह नीच मुझे मृत्यु के सदृश नहीं देखता ॥८॥

विशेष—(१) 'राम-बचन सुनि कछुक·····'—श्रीरामजी ने इनकी प्रशंसा तो बहुत की, पर ये कुछ ही ठंढे हुए, क्योंकि अत्यन्त सन्तप्त थे। पुनः इन्हें बीच-बीच में प्रभु ने 'मुनि ज्ञान' आदि ही कहा है, वीरता का महत्त्व स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा। 'कहि कछु लखन·····' क्या कहा? स्पष्ट नहीं कहा गया, ध्वनि से जान पड़ता है कि जब श्रीरामजी ने—'करिय कृपा सिसु···तुम्ह सम सील·····' कहा, तब लक्ष्मणजी ने व्यंग्य किया कि क्या खूब! अच्छे 'समसील···' आदि हैं। इनकी आकृति ही बतला रही है वा वाह! हमें तो अच्छे 'गुरु-पितु-मातु' मिले, जिनके कुल की रीति है कि गुरु-पिता-माता को मारकर उनसे उऋण होते हैं! इन्हें तो तीन को मारना पड़ा, हमको तो इन एक ही के मारने से तीनों से उऋण होना है। बड़े भाग्य की बात है!

(२) 'राम तोर भ्राता बड़ पापी।'—'बड़ पापी', जो ब्राह्मण को हँसे, वह पापी है, यथा—"होहु निसाचर जाइ तुम्ह, कपटी पापी दोउ। हँसेहु हमहिं सो लेहु फल, बहुरि हँसेहु मुनि कोउ॥" (दो० १५३), इसका भाष्य भी देखिये। 'बड़' का भाव यह कि अपनी बातों में तो कूट करता ही है, तुम्हारी सीधी बातों को लेकर भी कूट करता है।

(३) गोर सरीर स्याम मन···'—तुम धर्मात्मा हो, यह पापी है। यह ऊपर से तो गोरा है पर भीतर का काला है। तुम कहते हो कि यह दूध-मुख है, पर यह महाविष-मुख है, इसीसे इसके वचन, हँसी आदि सब विषैले होते हैं।

(४) 'सहज टेढ़ अनुहरइ न···'—यह सहज (जन्म ही से) टेढ़ है, नहीं तो तुम्हारे संग से

सुधर जाता, पर तुम्हारी अनुकूलता इसमें कुछ भी नहीं है—तुम नम्र होकर हाथ जोड़ते हो और यह मुझे कायर बनाता है। तुम मन के स्वच्छ और तन के श्याम हो। यह तन का उज्ज्वल और मन का काला है। तुम ऊँच तो, यह नीच। तुम मुझसे डरते हो, पर यह नहीं डरता।

दोहा—लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि, क्रोध पाप कर मूल।
जेहि बस जन अनुचित करहिं, होहिं बिस्वप्रतिकूल ॥२७७॥

मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया। परिहरि कोप करिय अब दाया ॥१॥
टूट चाप नहिं जुरिहि रिसाने। बैठिय होइहि पाय पिराने ॥२॥
जौ अति प्रिय तौ करिय उपाई। जोरिय कोउ बड़ गुनी बोलाई ॥३॥

शब्दार्थ—अनुचर = अनुगामी, सेवक, पीछे चलनेवाला।

अर्थ—(इतना सुनकर) लक्ष्मणजी ने हँसकर कहा—हे मुनि! सुनिये, क्रोध तो पाप का मूल कारण है, जिसके वश में होकर लोग अनुचित कर्म करते हैं और संसार के प्रतिकूल होते हैं ॥२७७॥ हे मुनिराज! मैं आपका अनुगामी हूँ। अतः, कोप त्यागकर दया कीजिये ॥१॥ टूटा हुआ धनुष क्रोध करने से नहीं जुड़ेगा। अतः, बैठ जाइये, पैर दुख गये होंगे ॥२॥ और जो (धनुष) बहुत ही प्यारा हो तो उपाय कीजिये, किसी बड़े भारी गुणी को बुलवाकर जुड़वा लीजिये ॥३॥

विशेष—(१) 'लखन कहेउ हँसि···'—हँसना व्यंग्योक्ति के साथ है। मुनि ने इन्हें 'बड़ पापी' कहा था। उसीके उत्तर में कहते हैं कि पाप की जड़ क्रोध है, वह तो आपके सिर पर सवार है, तब बड़े पापी हम हुए या आप? 'होंहि बिस्व-प्रतिकूल'—क्रोध-वश होकर ही आपने संसार भर के राजाओं को मारा, सबके प्रतिकूल हुए, क्योंकि राजाओं से संसार भर के धर्म की रक्षा होती है। सबके प्रतिकूल होना बड़ा पाप है, यथा—"बिस्व-द्रोह कृत अघ जेहि लागा।" (लं० दो० ३८)।

(२) 'मैं तुम्हार अनुचर···'—मैं आपको ही वाणी के अनुसार कटु कहता हूँ। आप यदि क्रोध छोड़कर दया करें तो मैं भी वैसा ही हो जाऊँ। आप मुनिराज हैं, तदनुसार आपमें दया चाहिये, वही कीजिये। कोप करना खल का स्वभाव है, यथा—"खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी।" (उ० दो० ३८), सन्त-स्वभाव—"कोमल चित दीनन्ह पर दाया।" (उ० दो० ३७) है।

(३) 'टूट चाप नहिं जुरिहि···'—कहीं रिसाने से भी काम होता है, यथा—"भय देखाइ लेइ आवहु" (कि० दो० १८), पर क्रोध से धनुष नहीं जुड़ने का।

(३) 'बड़ गुनी बोलाई'—क्योंकि यह चाप दधीचि की हड्डी का है, वह भी पुरानी हो गई। पुरानी हड्डी सामान्य डाक्टर-वैद्य से नहीं जुड़ती। अतः इसमें बड़े भारी गुणी का काम है कि जिससे इसमें जोड़ भी न मालूम हो।

बोलत लखनहिं जनक डेराहीं। मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं ॥४॥
थर थर काँपहिं पुर नर-नारी। छोट कुमार खोट बड़ भारी ॥५॥
भृगुपति सुनि सुनि निरभय बानी। रिस तनु जरइ होइ बलहानी ॥६॥
बोले रामहिं देइ निहोरा। बचउँ बिचारि बंधु लघु तोरा ॥७॥
मन मलीन तनु सुन्दर कैसे। बिष - रस - भरा कनकघट जैसे ॥८॥

दोहा—सुनि लछिमन बिहँसे बहुरि, नयन तरेरे राम।
गुरु-समीप गवने सकुचि, परिहरि बानी बाम ॥२७८॥

शब्दार्थ—मष्ट = चुप, यथा—"ते सब हँसे मष्ट करि रहहू।" (सुं० दो० ३६)। निहोरा = कृतज्ञता। नयन तरेरे = आँखो के संकेत से डाँटा। बाम = टेढ़ी।

अर्थ—लक्ष्मण जी के बोलने से राजा जनक डर रहे हैं, (अतः उन्होंने कहा कि) चुप रहो, यह अनुचित (वचन बोलना) अच्छा नहीं ॥४॥ जनक-नगर के स्त्री-पुरुष थर-थर काँपते हैं (और मन में कहते हैं कि) छोटा कुमार बड़ा भारी खोटा है ॥५॥ निर्भय वचन सुन-सुनकर परशुरामजी का शरीर क्रोध से जल रहा है (उसीसे) उनका बल घटता जाता है ॥६॥ श्रीरामजी पर कृतज्ञता जताते हुए बोले—तुम्हारा छोटा भाई समझकर मैं इसे बचाता हूँ ॥७॥ यह मन का मैला और शरीर से सुन्दर कैसे है, जैसे विष-रस से भरा हुआ सोने का घड़ा हो ॥८॥ लक्ष्मणजी यह सुनकर फिर हँसे, (तब) श्रीरामजी ने आँखों के संकेत से डाँटा। इसपर ये सकुचकर टेढ़ी वाणी छोड़ गुरुजी के पास चले गये ॥२७८॥

विशेष—(१) 'जनक डेराहीं'—जनकजी माधुर्य में भूल गये, इससे डरते हैं कि लक्ष्मणजी न बोलें, केवल श्रीराम ही बोलें तो मुनि शान्त हो जायँ। जब जनकजी डरे तब पुरवासी अत्यन्त ही डरे। वे थर-थर काँपने लगे। उन्होंने स्नेहमयी दृष्टि से—'खोट अति भारी' कहा है, यह मुहावरा है।

(२) 'मन मलीन तनु···'—पहले मुख ही में विष कहा था—'कालकूट, मुख'। अब कहते हैं कि इसके शरीर भर में (रग-रग में) विष-ही-विष भरा है, जो ऊपर की सुन्दरता में छिपा है। दृष्टान्त अलंकार है।

(३) 'गुरु-समीप···परिहरि बानी···'—लक्ष्मणजी कुछ और कहने ही के लिये हँसे थे। वह टेढ़ी वाणी छोड़कर गुरु के पास गये, क्योंकि प्रभु को अप्रसन्न देखा। अतः, रक्षक गुरु ही हैं—"राखइ गुरु जौ कोप बिधाता।" (दो० १६५)।

पूर्वोक्त 'घोर धार भृगुनाथ रिसानी' की धारा शिथिल पड़ती जाती है। प्रथम कौशिक की ओर फिरी थी, अब श्रीरामजी की ओर लौटी, फिर जनक की ओर फिरेगी। मुनि कभी बालक जानकर छोड़ने का बहाना करते हैं। श्रीरामजी ने तो कहा था कि 'सिसु-सेवक' जानकर इसपर कृपा कीजिये। पर मुनि कहते हैं कि तुम्हारा छोटा भाई जानकर छोड़ता हूँ। वास्तव में मुनि का हाथ ही नहीं उठता, यथा—"बहइ न हाथ दहइ रिस छाती" आगे कहा ही है।

अतिबिनीत मृदु सीतल बानी। बोले राम जोरि जुगपानी ॥१॥
सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना। बालक-बचन करिय नहिं काना ॥२॥
बररै बालक एक सुभाऊ। इन्हहिं न संत बिदूषहिं काऊ ॥३॥
तेहि नाहीं कछु काज बिगारा। अपराधी मैं नाथ तुम्हारा ॥४॥
कृपा कोप बध बंध गोसाईं। मो पर करिय दास की नाईं ॥५॥
कहिय बेगि जेहि बिधि रिस जाई। मुनिनायक सोइ करउँ उपाई ॥६॥

शब्दार्थ—बररै = बौराहा, पागल, बर-बर बरसनेवाला (ततैया अर्थ ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ अज्ञता के लिये दृष्टान्त है, बालक भी अज्ञान होते हैं, जिसमें लक्ष्मण निर्दोष सिद्ध हों)। बिदूषहिं = दोष लगाते।

अर्थ—श्रीरामजी ने दोनों हाथ जोड़कर अत्यन्त नम्र, कोमल और शीतल वचन कहा ॥१॥ हे नाथ! सुनिये, आप स्वाभाविक ही सुजान हैं, इसलिये बालक के वचनों पर आपको कान नहीं देना

चाहिये ॥२॥ बौराहे और अबोध बच्चे का एक-सा स्वभाव हुआ करता है, इनमें सन्त दोष कभी भी नहीं लगाते ॥३॥ उस (लक्ष्मण)-ने कुछ आपका कार्य भी नहीं बिगाड़ा, हे नाथ ! आपका अपराधी तो मैं हूँ ॥४॥ हे गोसाईं ! कृपा, कोप, वध, बंधन (जो इच्छा हो) मुझपर दास की तरह (मुझे दास जानकर) कीजिये ॥५॥ हे मुनिनायक ! जिस प्रकार आपका क्रोध दूर हो, वह शीघ्र कहिये, मैं वही उपाय करूँ ॥६॥

विशेष—(१) 'बररै बालक एक सुभाऊ।···'—बौराहे और अबोध बच्चे कुछ दोष कर डालते हैं तो उसे पण्डित लोग दोष नहीं मानते, क्योंकि जानते हैं कि इनकी चेतना ठीक नहीं है, इसीसे कानून में भी पागल और नाबालिग को अपराध से माफी मिलती है। ततैया में बुद्धि का विकास नहीं होता। अतः, नासमझी में उसका दृष्टान्त मनुष्य के लिये अयुक्त है।

जब साधनों (विद्या-अध्ययन आदि) के द्वारा पंडित होनेवाले लोग भी दोष नहीं देते तो आप तो सहज सुजान हैं, कैसे दोष देते हैं ! यदि कहिये कि अनुचित वचन क्षमा कर देंगे, पर धनुभंग तो असह्य है, तो उसपर कहते हैं कि—'तेहि नाहीं कछु·····'।

(२) 'कृपा कोप बध बंध···'—'गोसाईं' आप इन्द्रियजित् शुद्ध ब्राह्मण के रूप में स्वामी हैं और मैं ब्राह्मण-सेवक हूँ। अतः, आपका भी सेवक हूँ, इस नाते के अनुकूल कृपा आदि जो जैसा उचित समझें, करें। 'कृपा' को आदि में कहकर उसे प्रधान रक्खा, क्योंकि दास पर कृपा ही की जाती है, वध और बन्धन भी कृपा ही की दृष्टि से सुधारने के रूप में किये जाते हैं, न कि वैर-दृष्टि से। तात्पर्य यह कि वीर बनकर पुनः वैर-दृष्टि से उक्त 'वध-बंध' आदि में एक भी मुझे स्वीकार नहीं है। आप 'मुनिनायक' हैं। अतः, आपकी सब प्रकार की आज्ञाएँ शिरोधार्य हैं, मुनि के रूप से शीघ्र आज्ञा दीजिये।

कह मुनि राम जाइ रिस कैसे। अजहुँ अनुज तव चितव अनैसे ॥७॥
येहि के कंठ कुठार न दीन्हा। तौ मैं काह कोप करि कीन्हा ॥८॥

दोहा—गर्भ स्रवहिं अवनिप-रवनि, सुनि कुठार-गति घोर।
परसु अछत देखउँ जियत, बैरी भूपकिसोर ॥२७९॥

बहइ न हाथ दहइ रिस छाती। भा कुठार कुंठित नृप-घाती ॥१॥
भयेउ बाम बिधि फिरेउ सुभाऊ। मोरे हृदय कृपा कसि काऊ ॥२॥
आजु दैव दुख दुसह सहावा। सुनि सौमित्रि बिहँसि सिर नावा ॥३॥

शब्दार्थ—अनैसे = बुरी दृष्टि से, शत्रु-दृष्टि से। अवनिप-रवनि = राजाओं की स्त्रियाँ। बहइ = चलता।

अर्थ—मुनि ने कहा कि हे राम ! क्रोध कैसे दूर हो ? अभी भी तो तुम्हारा भाई बुरी दृष्टि (क्रोध-भरी दृष्टि) से देख रहा है ॥७॥ (अतः) इसके गले पर कुल्हाड़ा नहीं दिया तो मैंने क्रोध करके ही क्या किया ? ॥८॥ मेरे (जिस) कुठार की भयंकर करनी सुनकर रानियों के गर्भ गिर जाते हैं, उसके रहते हुए भी मैं वैरी राजपुत्र को जीता-जागता देख रहा हूँ ॥२७९॥ (क्या करूँ ?) हाथ नहीं चलता, क्रोध से छाती जली जाती है, राजाओं का मारनेवाला फरसा आज कुंठित (भोथरा) हो गया ॥१॥ विधाता टेढ़े हो गये (इससे) मेरा स्वभाव फिर गया, (अन्यथा) मेरे हृदय में कभी भी एवं किसी पर कृपा कैसी ? ॥२॥ आज दैव ने कठिन दुःख सहाया, यह सुनकर लक्ष्मणजी ने फिर सिर नवाया ॥३॥

विशेष—(१) 'अजहुँ अनुज तव···'—पहले कुछ कठोर वचन कहने को था, तुम्हारे डाँटने से रुक गया, पर वह कसर 'अनैसी' चितवन से निकाल रहा है !

(२) 'येहि के कंठ कुठार··'—श्रीरामजी ने कोप करके बध-बंधन दो बातें अपने प्रति करने को कहा, उसपर मुनि कहते हैं कि इसका वध न करने से मेरा कोप ही व्यर्थ हो गया। सामान्य कोप का फल बाँधना और अतिकोप का फल वध है, मुनि को अतिकोप ही है, क्योंकि बाँधने का तो ये नाम ही नहीं लेते।

(३) 'बहइ न हाथ दहइ रिस ··'—ऊपर कहा कि कुठार की घोर गति असह्य है, फिर क्यों नहीं मारते ? इसपर कहते हैं कि हाथ ही नहीं चलता और इसीसे क्रोध नहीं निकलता, छाती जलती है। न जाने राजाओं को काटते-काटते कुठार कुंठित हो गया या ब्रह्मा ही टेढ़े हुए, जिससे स्वभाव ही बदल गया। इस कारण अथवा शत्रु पर कृपा करने से कायर बना, यथा—"रिपु पर कृपा परम कदराई।" (अर० दो १८)।

(४) 'आजु दैव दुख···'—अभी तक कभी राजाओं पर कृपा नहीं की थी, पर आज ही दैवात् कृपा करके दुःसह दुःख उठाना पड़ा। 'मुनि सौमित्रि बहुरि···'—'सौमित्रि' अर्थात् ये सुमित्राजी के पुत्र सुष्ठुमित्र भाववाले हैं। अतः, परशुराम पर भी कोप नहीं है, इसीसे विहँस कर ऊपर से प्रतिउत्तर करते हैं। विहँसने का भाव यह है कि जहाँ कोप है, वहाँ कृपा नहीं रहती। आप साथ ही दोनों के अधिष्ठान हैं कि रिस से छाती जलती है और कृपा के मारे भी दुःख सहना कहते हैं। कृपा से तो हृदय शीतल होता है, पर आपके यहाँ उल्टा ही होता है। वाह ! आप धन्य हैं, इसी पर—'सिर नवाया' अर्थात् आप वन्दना करने योग्य हैं। सिर नवाना कुछ कहने का भी उपक्रम है।

बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत बचन झरत जनु फूला ॥४॥
जौं पै कृपा जरहिं मुनि गाता। क्रोध भये तनु राखु बिधाता ॥५॥
देखि जनक हठि बालक येहू। कीन्ह चहत जड़ जमपुर गेहू ॥६॥
बेगि करहु किन आँखिन्ह ओटा। देखत छोट खोट नृप-ढोटा ॥७॥
बिहँसे लखन कहा मुनि पाहीं। मूँदे आँखि कतहुँ कोउ नाहीं ॥८॥

अर्थ—आपकी कृपा रूपी वायु आपकी मूर्त्ति के ही अनुकूल है, आप वचन बोलते हैं, मानों फूल झड़ रहे हों ॥५॥ हे मुनि ! जो कृपा करने से आपका शरीर जलता है तो क्रोध होने पर उस शरीर को ब्रह्मा ही रक्खें ॥५॥ (यह सुनकर परशुरामजी ने कहा—) जनक ! देख, यह बालक हठ करके यमपुरी में अपना घर बनाना चाहता है ॥६॥ इसे क्यों नहीं शीघ्र ही आँखों के ओट कर देते हो ? यह राजपुत्र देखने में छोटा है, पर है खोटा ॥७॥ लक्ष्मणजी हँसे और मुनि बोले कि आँखें मूँद लेने से कहीं भी कोई नहीं रह जाता अर्थात् अपनी ही आखें मूँद लेना सुगम है, वही क्यों नही करते ? ॥८॥

विशेष—(१) 'बाउ कृपा मूरति अनुकूला'—भाव, जैसे आप सौम्यमूर्त्ति हैं, वैसी कृपा भी होनी ही चाहिये और तदनुसार मृदु वचन निकलते हैं, मानों फूल झरते हैं, यह व्यंग्य कथन है। तात्पर्य यह कि आप जैसे कराल मूर्त्ति हैं वैसे ही उसमें कोप रूपी पवन भरा है और तदनुसार ही वचन मानों अंगारे झर रहे हैं। मुनि ने कहा ही है—"मोरे हृदय कृपा कसि काऊ।"

(२) 'जौं पै कृपा जरहिं मुनि ·'—कृपा तो शीतल करनेवाला जल-रूप है, यथा—"कृपा बारिधर राम खरारी।" (लं० दो० ६९), अर्थात् जल से जो आपका शरीर जलता है, तो अग्नि-रूप क्रोध से ब्रह्मा ही शरीर बचाते होंगे, क्योंकि—"हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस बिधि हाथ ॥" (अ० दो० १७१)।

(३) 'देखु जनक हठि···'—कौशिक से कहा था, पर वे मुनि हो को समझाकर रह गये, फिर श्रीरामजी के डाँटने से थोड़ी देर चुप रहे, पर फिर लक्ष्मणजी बोलने लगे। मुनि से उत्तर देते नहीं बनता। इसीसे चाहते हैं कि यह सामने से हट जाय तो मैं मनमानी कह लूँ। अतः, अब जनकजी से कहते हैं,

क्योंकि इन्होंने प्रथम कहा था—'भष्ट करहु अनुचित भल नाहीं।' इसीके आधार पर कहते हैं कि यदि इस लड़के का उबार चाहो तो इसे यहाँ से हटा दो, नहीं तो यह अभी यमपुरी जायगा, तुम्हें पाप होगा। विश्वामित्रजी को हटकना ही कहा था, क्योंकि उनके तो वह साथ ही में है इससे अलग करना न कहा। जनकजी से दूर करने को कहते हैं, क्योंकि इनकी रंगभूमि है, इन्हें अधिकार है, चाहें तो हटा दें।

प्रथम ही कहा गया—'होइ बल हानी'—वही हो रहा है, जैसे-जैसे तेज घटता जाता है वैसे-वैसे एक-एक का निहोरा करते हैं। 'हठि'—क्योंकि इसे धृष्टता से प्रयोजन नहीं, धनुष तो श्रीरामजी ने तोड़ा है। 'जमपुर-गेहू'—अर्थात् बहुत काल तक नरक में रहेगा। नरक तो पाप से होता है, इनका भी पाप पूर्व कह आये हैं—"राम तोर भ्राता बड़ पापी।" 'बड़ पापी' है। अतः, बहुत काल तक नरक में रहेगा। वहाँ पाप कहा था, यहाँ उसका फल कहा।

(४) 'बिहँसे लखन कहा·····'—हँसे कि अभी तो कहा था कि हाथ ही नहीं उठता और अब यमपुर पहुँचाने को कहते हैं, इन्हें बात की सँभाल भी नहीं है। 'मूँदे आँखि···' अर्थात् यह तो अपने वश की बात है, फिर जनकजी से निहोरा करने की क्या आवश्यकता?

'मुनि पाहीं' की जगह 'मन माहीं' भी पाठान्तर है, जिसका भाव यह कहा जाता है कि यहाँ जनकजी के अपमान के संकोच से मन में ही कहा, क्योंकि उनसे निहोरा किया गया है। पर आगे परशुरामजी रुष्ट होकर श्रीरामजी से कह रहे हैं—"बंधु कहइ कटु संमत तोरे।", इससे जान पड़ता है कि उन्हें कुछ उत्तर दिया गया है। अतः, 'मुनि पाहीं' पाठ ही संगत है और प्राचीन तो है ही।

दोहा—परसुराम तब राम प्रति, बोले उर अति क्रोध।
संभु-सरासन तोरि सठ, करसि हमार प्रबोध॥२८०॥

बंधु कहइ कटु संमत तोरे। तू छल बिनय करसि कर जोरे॥१॥
करु परितोष मोर संग्रामा। नाहिंत छाड़ु कहाउब रामा॥२॥
छल तजि करहि समर सिवद्रोही। बंधुसहित न त मारउँ तोही॥३॥

अर्थ—तब हृदय में अत्यन्त क्रुद्ध होकर परशुरामजी ने श्रीरामजी से कहा—रे शठ! शिवजी का धनुष तोड़कर अब हमको ज्ञान सिखाता है!॥२८०॥ तेरी सम्मति से ही तेरा भाई कठोर वचन बोलता है और तू छल से हाथ जोड़े हुए विनती करता है॥१॥ संग्राम करके मुझे सन्तुष्ट कर, नहीं तो 'राम' कहलाना छोड़ दे (अपना नाम बदल डाल)॥२॥ अरे शिवद्रोही! छल छोड़कर युद्ध कर, नहीं तो भाई के साथ तुझे मार डालूँगा॥३॥

विशेष—(१) 'तब राम प्रति, बोले··· ···'—मुनि ने देख लिया कि कौशिक और जनकजी से बालक नहीं डरता और श्रीरामजी के नेत्र के संकेत से डर जाता है, ये मना करते तो वह नहीं बोलता, इसीसे अब इन्हीं पर उबल पड़े। 'संमत तोरे'—मन से, 'बिनय करसि'—वचन से और 'कर जोरे'—इसमें कर्म से छली सूचित किया।

(२) 'बंधुसहित न त मारउँ·····'—कटुवादी और छली दोनों ही मारने योग्य होते हैं। अतः, दोनों को मारूँगा। हाँ, बचने का उपाय यही है कि वाक्चातुरी रूपी छल छोड़कर हमें युद्ध में सन्तुष्ट कर, अन्यथा 'राम' नाम कहाना छोड़ दे, क्योंकि यह नाम शूर को ही शोभा देता है। यदि तुझमें शूरता नहीं है, तो मेरा-सा नाम क्यों रख लिया है! 'सिवद्रोही'—क्योंकि शिवजी का धनुष तोड़कर उनकी कीर्त्ति मिटाई है, उसी दोष से मैं तुझे मारूँगा।

भृगुपति बकहिं कुठार उठाये। मन मुसुकाहिं राम सिर नाये ॥४॥
गुनहु लखन कर हमपर रोषू। कतहुँ सुधाइहु ते बड़ दोषू ॥५॥
टेढ़ जानि बंदइ सब काहू। बक्र चंद्रमहि ग्रसइ न राहू ॥६॥
राम कहेउ रिस तजिय मुनीसा। कर कुठार आगे यह सीसा ॥७॥
जेहि रिस जाइ करिय सोइ स्वामी। मोहि जानिय आपन अनुगामी ॥८॥

अर्थ—परशुरामजी फरसा उठाये हुए बक रहे हैं और श्रीरामजी सिर नीचा किये हुए, मन-ही-मन मुसकुराते हैं ॥४॥ गुनाह (अपराध) लक्ष्मणजी का और क्रोध हमपर ! कहीं-कहीं सीधेपन से भी बड़ा दोष होता है ॥५॥ टेढ़ा जानकर सभी (चन्द्रमा को) प्रणाम (वन्दना) करते हैं, टेढ़े चन्द्रमा को राहु भी नहीं ग्रसता ॥६॥ श्रीरामजी ने कहा कि हे मुनीश्वर ! क्रोध का त्याग कीजिये आपके हाथ में कुल्हाड़ा है और सामने यह मेरा सिर ॥७॥ हे स्वामी ! जिससे क्रोध जाय, वही कीजिये, और मुझे अपना दास समझिये ॥८॥

विशेष—(१) 'भृगुपति बकहिं'—जब श्रीरामजी को शठ तथा छल-विनयी कहा और मारने की धमकी दी, तब ग्रन्थकार से नहीं सहा गया, इन्होंने परशुराम के कथन को 'बकहिं' कहकर असत्य भाषण डींग हाँकना कह ही डाला। अर्थात् रामजी छली आदि नहीं हैं और न लक्ष्मणजी के कटु कथन में इनका सम्मान ही है।

(२) 'गुनहु लखन कर ·····'—यह बात प्रत्यक्ष नहीं कही है, क्योंकि आगे लक्ष्मणजी को निर्दोष कहेंगे। लक्ष्मणजी का प्रति-उत्तर करना मात्र दोष है, वह भी परशुरामजी की दृष्टि के अनुसार है, क्योंकि उनके रोष करने पर ही विवेचना हो रही है कि वे लक्ष्मण का गुनाह मानते हैं, तो उनपर ही रोष करके निपटा लेना था, पर उधर से दृष्टि फेर ली और सीधा जानकर हमपर विजय चाहते हैं। 'कतहुँ सुधाइहु ते'·····'—सीधापन सर्वत्र अच्छा ही है, पर कहीं-कहीं बड़ा दोष भी है, यथा—"क्षममाणं नृपं नित्यं नीचः परिभवेज्जनः। हस्तियन्ता गजस्येव शिर एवारुरुक्षति ॥" (महा० शान्ति० ५६।३९), अर्थात् जैसे महावत क्षमाशील हाथी के सिर पर चढ़ने की इच्छा करता है, वैसे ही राजा के क्षमाशील होने पर नीच पुरुष उसकी आज्ञा के विरुद्ध चलते हैं, अर्थात् उसके सिर पर चढ़ते हैं। ऐसे ही कहीं-कहीं टेढ़ेपन में बड़ा गुण भी है—'लखन' का नाम ही लख न है। अतः, उनके गुनाह पर लक्ष्य नहीं करते, इससे परिकरांकुर अलंकार है। 'कतहुँ सुधाइहु···' में 'लेश-अलंकार' है।

(३) 'टेढ़ जानि बंदइ·····'—द्वितीया का चन्द्रमा टेढ़ा होता है, तो जगत् उसकी वन्दना करता है, यह टेढ़ाई का गुण और पूर्णमासी का चन्द्रमा सीधा होता है, वह राहु द्वारा ग्रसा जाता है, ये दोनों बातें कभी-कभी ही होती हैं। यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है, क्योंकि यहाँ एक वचन का दूसरे वचन से समर्थन करने का भाव है।

शंका—यहाँ परशुरामजी लक्ष्मणजी की वन्दना तो नहीं करते !

समाधान—यहाँ श्रीरामजी ने अपनी अत्यन्त सिधाई पर ही दोष कहा और उसीको अपेक्षा टेढ़ाई को गुण भी कहा है।

(४) 'कर कुठार आगे ····· ' यथा—"अयं कण्ठः कुठारस्ते कुरु राम यथोचितम् ॥" (हनु० १।३१), इसमें गूढ़ भाव यह भी है कि युद्ध क्या माँगते हैं ? सामने तो मैं खड़ा ही हूँ। 'मोहिं जानिय आपन···' अर्थात् ब्राह्मण वृत्ति से ही जो कीजिये, शत्रु दृष्टि से नहीं, इसमें गूढ़ आशय है कि मैं ब्रह्मण्यदेव हूँ। अतः, आपका अनुगामी हूँ।

दोहा—प्रभु सेवकहिं समर कस, तजहु बिप्रबर रोष।
बेष बिलोके कहेसि कछु, बालकहू नहिं दोष ॥२८१॥

देखि कुठार - बान - धनु - धारी। भइ लरिकहि रिस बीर बिचारी ॥१॥
नाम जान पै तुम्हहिं न चीन्हा। बंस-सुभाय उतर तेइ दीन्हा ॥२॥
जौ तुम्ह अवतेहु मुनि की नाईं। पदरज सिर सिसु धरत गोसाईं ॥३॥
छमहु चूक अनजानत केरी। चहिय बिप्रउर कृपा घनेरी ॥४॥

अर्थ—स्वामी और सेवक में लड़ाई कैसी ? अतः, हे विप्र-श्रेष्ठ ! आप क्रोध को त्याग दीजिये, बालक का भी दोष नहीं है, वेष देखकर ही उसने कुछ कहा है ॥२८१॥ कुठार और धनुष-बाण-धारी देखकर उसने वीर समझा, इससे उस लड़के को क्रोध हो आया ॥१॥ नाम तो जानता था, पर उसने आपको पहचाना नहीं, अपने वंश के स्वभावानुसार उसने उत्तर दिया ॥२॥ जो आप मुनि की तरह (अर्थात् धनुष-बाण और कुल्हाड़ा उतार कोपीन आदि मुनिवस्त्र-धारण किये हुए ही) आते, तो हे गोस्वामी ! यह बच्चा तो आपके चरणों की धूलि को सिर पर चढ़ाता (सम्भावना अलंकार है) ॥३॥ अतः, बिना जाननेवाले की चूक को क्षमा कीजिये, ब्राह्मण के हृदय में तो विशेष कृपा रहनी चाहिये ॥४॥

विशेष—(१) 'नाम जान पै तुम्हहिं न···'—यहाँ पहचानने का तात्पर्य ब्राह्मणत्व के महत्वपरक गुणों से है, यथा—"जो पै प्रभु-प्रभाव कछु जाना। तौ कि बराबरि करत अयाना ॥" (दो० २७६)।

(२) 'छमहु चूक अनजानत केरी'—अनजान की चूक क्षम्य है, यथा—"अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमा-मंदिर दोउ भ्राता ॥" (दो० २८४)

अलंकार—'सम्भावना'—'जौ तुम्ह अवतेहु···' में।

हमहिं तुम्हहिं सरबरि कसि नाथा। कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा ॥५॥
राम मात्र लघु नाम हमारा। परसु - सहित बड़ नाम तुम्हारा ॥६॥
देव एक गुन धनुष हमारे। नव गुन परम पुनीत तुम्हारे ॥७॥
सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे। छमहु बिप्र अपराध हमारे ॥८॥

दोहा—बार बार मुनि बिप्रबर, कहा राम सन राम।
बोले भृगुपति सरुष हसि, तहूँ बंधु सम बाम ॥२८२॥

अर्थ—हे नाथ ! हमसे और आपसे बराबरी कैसी ? कहिये न, कहाँ तो पाँव और कहाँ सिर ? ॥५॥ हमारा तो 'राम' मात्र यह छोटा-सा नाम है और आपका नाम 'परसु' के साथ होने से ('परशुराम' यह पाँच अक्षरों का होने से) बड़ा है ॥६॥ हे ब्राह्मण देव ! हमारे तो एक ही गुण धनुष है और आपके परम पवित्र नौ गुण हैं ॥७॥ अतः, हम सभी प्रकार से आपसे हारे हुए हैं, हे विप्र ! हमारे अपराधों को क्षमा कीजिये ॥८॥ श्रीरामजी ने परशुरामजी से बार-बार 'मुनि' और 'विप्रवर' कहा (वीरत्व एक बार भी नहीं कहा), तब परशुरामजी सक्रोध होकर बोले कि तू भी भाई के समान टेढ़ा (हसि =) है ॥२८२॥

विशेष—(१) 'कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा।'—आप सिर-रूप और मैं चरण-रूप, आप उत्तमांग-रूप ऊँचे और मैं अधमांग-रूप नीचे—ये विनीत वचन हैं। गूढ़त्व यह कि आप सिर के देवता

हैं और मैं चरण का हूँ। ब्राह्मण जब त्यागी होते हैं, तब इनके सिर पूजे जाते हैं और भगवान् के चरण पूजे जाते हैं, इससे अपना ऐश्वर्य भी सूचित किया।

(२) 'देव एक गुन धनुष···'—'गुन' शब्द के दो अर्थ हैं—एक गुण और दूसरा सूत्र एवं प्रत्यञ्चा। इनके भाव—(क) हमारे पास एक ही गुण है—धनुष धारण करना, यह पुनीत है, क्योंकि, इससे गो, विप्र, प्रजा आदि की रक्षा होती है और आपके नौ गुण हैं—"शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥" (गी० १८।४२), ये परम पुनीत हैं। 'हमारे' गुण हमें चाहिये और 'तुम्हारे' गुण तुम्हें—यह भाव गर्भित है। (ख) धनुष में प्रत्यञ्चा-रूप एक ही सूत्र होता है, वह अपुनीत है, क्योंकि उससे दूसरे पर प्रहार होता है। अतः, हिंसात्मक है। आपके यज्ञसूत्र (यज्ञोपवीत) में नौ सूत्र परम पुनीत होते हैं, जिनसे जप-तप आदि विशेष प्रभावान्वित होते हैं और पवित्र ब्रह्म कर्म का अधिकार होता है। यज्ञोपवीत के नौ सूत्रों में क्रमशः नौ देवता कहे गये हैं, यथा—"ॐकारः प्रथमे सूत्रे द्वितीयेऽग्निः प्रकीर्त्तितः। तृतीये कश्यपश्चैव चतुर्थे सोम एव च॥ पञ्चमे पितृदेवाश्च षष्ठे चैव प्रजापतिः। सप्तमे वासुदेवः स्यादष्टमे रविरेव च॥ नवमे सर्वदेवास्तु···"—इत्यादि। (ग) एक अंक से नीचा और नौ से ऊँचा कोई अंक नहीं है। (घ) गूढ़ार्थ यह भी कहा जाता है कि एक गुण (प्रत्यञ्चा) वाले शार्ङ्ग धनुष को हमारे (लिये) देव (दो) और तुम्हारे परम पुनीत नौ गुण (हैं) उन्हें लो। आगे इसी वाक्य के गूढ़ार्थ को समझकर मुनि शार्ङ्ग धनुष देंगे और स्तुति में नौ बार जय शब्द कहेंगे, जिनमें नवो गुणों की स्वीकृति का भाव है, तथा—"भो ब्रह्मन् भवता समं न घटते संग्रामवार्तापि नो सर्वे हीनबला वयं बलवतां यूयं स्थिता मूर्द्धनि॥ यस्मादेक गुणं शरासनमिदं सुव्यक्त-मुर्वीभुजामस्माकं भवतो यतो नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम्॥" (हनु० १।४०)।

(३) 'राम मात्र···'—में रूपक (तद्रूप न्यून) अलंकार है। 'राम' दो अक्षर और 'परशुराम' में पाँच अक्षर होते हैं, इससे वह बड़ा है।

निपटहि द्विज करि जानहि मोही। मैं जस बिप्र सुनावउँ तोही॥१॥
चाप स्रुवा सर आहुति जानू। कोप मोर अति घोर कृसानू॥२॥
समिधि सेन चतुरंग सुहाई। महामहीप भये पसु आई॥३॥
मैं एहि परसु काटि बलि दीन्हे। समरजज्ञ जप कोटिक कीन्हे॥४॥
मोर प्रभाव बिदित नहिं तोरे। बोलसि निदरि बिप्र के भोरे॥५॥
भंजेउ चाप दाप बड़ बाढ़ा। अहमिति मनहुँ जीति जग ठाढ़ा॥६॥

शब्दार्थ—निपटहि = कोरा, नितान्त। स्रुवा = यह आम आदि की लकड़ी से बना चमचे के समान होता है, जिससे यज्ञ में आहुति दी जाती है। समिधि = हवन में जलने की लकड़ी। दाप = घमंड।

अर्थ—तू मुझे कोरा ब्राह्मण ही समझता है। मैं जैसा ब्राह्मण हूँ, वह तुझे सुनाता हूँ॥१॥ धनुष को स्रुवा, बाण को आहुति (हवन-द्रव्य) और मेरे अत्यन्त घोर कोप को अत्यन्त घोर अग्नि जानो॥२॥ चतुरंगिणी सेना सुन्दर (शीघ्र जलनेवाली सूखी) लकड़ी है, बड़े-बड़े महाराजा आ-आकर उस यज्ञ के बलि-पशु हुए॥३॥ मैंने इसी (काटने की मुद्रा दिखाते हुए) फरसे से काट-काटकर उनके बलिदान दिये, इस तरह के करोड़ों युद्ध-यज्ञ मैंने जगत् में किये हैं॥४॥ मेरा प्रभाव तुझे मालूम नहीं है? (जो सामान्य) ब्राह्मण के धोखे से मेरा निरादर करता हुआ बोलता जाता है॥५॥ 'चाप' को तोड़ा है, इसीका बड़ा घमंड बढ़ गया है कि (अब) 'मैं ही हूँ'—ऐसा अहंकार किये हुए मानों जगत् को जीतकर खड़ा है॥६॥

विशेष—(१) 'निपटहि द्विज···'—जैसा तुम कहते हो, मैं वैसा ब्राह्मण नहीं हूँ, सामान्य ब्राह्मण, यथा—"एकाहारेण सन्तुष्टः षट्कर्मनिरतः सदा। ऋतुकालाभिगामी च स विप्रो द्विज उच्यते॥"

परशुरामजी इनमें गिने जाने में अपना निरादर मानते हैं, वही आगे—'बोलेसि निदरि बिप्र के भोरे।' कहा है। आगे अपने-क्षत्रिय-कर्म-कर्तृत्व को यज्ञ के रूपक में कहते हुए अपना महत्त्व दिखाते हैं। यहाँ समर-यज्ञ का सांग रूपक है। इसका वृहद्रूप महा० शान्ति० ९८।१५-४० में है। वहाँ अम्बरीष के पूछने पर इन्द्र ने समर-यज्ञ का सांग रूपक वर्णन किया है।

अलंकार—'प्रतिषेध', क्योंकि यहाँ सहज ब्राह्मणत्व का खण्डन कर मनमाने वीरत्व का प्रतिपादन करते हैं।

(२) भंजेउ चाप···'—यहाँ 'पिनाक', 'त्रिपुरारि-धनु' आदि महत्त्वसूचक विशेषण धनुष के लिये नहीं दिये, 'चाप' मात्र ही कहा, नहीं तो श्रीरामजी का गौरव पाया जाता और परशुरामजी का श्रीरामजी का व्यर्थ अभिमानी होना दिखाना है।

राम कहा मुनि कहहु बिचारी। रिस अति बड़ि लघु चूक हमारी ॥७॥
छुवतहि टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करउँ अभिमाना ॥८॥

दोहा—जौ हम निदरहिं बिप्र बदि, सत्य सुनहु भृगुनाथ।
तौ अस को जग सुभट जेहि, भयबस नावहिं माथ ॥२८३॥

देव दनुज भूपति भट नाना। समबल अधिक होउ बलवाना ॥१॥
जौ रन हमहिं प्रचारइ कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ ॥२॥
छत्रिय-तनु धरि समर सकाना। कुलकलंक तेहि पामर आना ॥३॥
कहउँ सुभाव न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी ॥४॥
बिप्रबंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहिं डेराई ॥५॥

शब्दार्थ—बदि = कहकर। सुखेन = सुख-पूर्वक। सकाना = डरा।

अर्थ—श्रीरामजी ने कहा कि हे मुनि! विचार कर कहिये, आपका क्रोध अत्यन्त बड़ा है और हमारी चूक थोड़ी है ॥७॥ वह पुराना धनुष था। अतः, छूते ही टूट गया. हम किस कारण अभिमान करें? ॥८॥ जो हम सत्य ही ब्राह्मण कहकर आपका निरादर करते तो हे भृगुनाथ! सत्य ही सुनिये, ऐसा जगत् में कौन सुभट है, जिसे हम भयवश सिर झुकावें? ॥२८३॥ देवता, दैत्य, राजा और अनेक योद्धा, चाहे वे समान बलवाले हों चाहे—अधिक बलवान् ॥१॥ उनमें जो कोई हमें रण में ललकारे तो चाहे काल ही क्यों न हो, हम उससे सुख-पूर्वक लड़ेंगे ॥२॥ क्षत्रिय-शरीर धारण कर जो लड़ाई में डरा. तो उसे कुल में कलंक और नीच जानना चाहिये ॥३॥ हम (वंश का) स्वभाव कहते हैं—कुछ कुल की प्रशंसा के रूप में नहीं कहते, रघुवंशी युद्ध में काल से भी नहीं डरते ॥४॥ ब्राह्मण-वंश की ऐसी प्रभुताई (महत्ता) है, जो आपसे डरे, वह (सबसे) निडर हो जाता है (वा, जो सबसे निडर है, वह भी आप से डरता है) ॥५॥

विशेष—(१) 'छुवतहि टूट पिनाक·····' अर्थात् इसपर मेरा अभिमान और आपका कोप दोनों व्यर्थ हैं। यहाँ 'सम तृतीय' अलंकार है।

(२) 'जौ हम निदरहिं·····'—हमने तो मुनि, विप्रवर आदि विशेषण आदर के लिये कहे हैं, आप अपना स्वरूप भूले हुए हैं। अतः, निरादर मानते हैं।

(३) 'देव दनुज भूपति'—से क्रमशः स्वर्ग, पाताल और मर्त्य लोक के योद्धाओं को जनाया। 'नाना' अर्थात् चाहे एक-एक हों या बहुत मिलकर।

'सम बल अधिक होउ'—श्रीरामजी के बराबर और अधिक तो कोई है ही नहीं, यथा—"न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" (श्वे० ६।८), पर यहाँ नर-नाट्य की रीति से शिष्टता है कि अपनी बड़ाई स्वयं नहीं की।

(४) 'लरहिं सुखेन काल किन कोऊ'—'सुखेन'—क्योंकि हर्ष के साथ ही युद्ध करना क्षात्र-धर्म है, यथा "रामहिं सुमिरत रन भिरत, देत परत गुरु-पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तनु, ते जग जीवत जाय।" (दोहावली ४२)। यद्यपि श्रीरामजी से रण में कोई जीत नहीं सकता, यथा—"सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहिं समर न जीतनिहारा॥" तो भी यही कहते हैं कि हम सुख-पूर्वक लड़ेंगे, यह भी शिष्टता है, यथा—"समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन्प्रजाः। न निवर्तेत संग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्॥" (मनु० ७।८७), अर्थात् समान बल, अधिक बल अथवा हीन बलवाले राजा से युद्धार्थ बुलाये जाने पर प्रजा का पालन करते हुए राजा को क्षात्र-धर्म का स्मरण कर युद्ध से मुँह न मोड़ना चाहिये।

(५) 'छत्रिय-तनु धरि·····'—यहाँ क्षत्रिय वर्ण का अधर्म कहा है, इसके विरुद्ध क्षात्र-धर्म है, यथा—"अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरणं भवेत्। विसृजन् श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवयन्॥ अविक्षतेन देहेन प्रलयं योऽधिगच्छति। क्षत्रियो नास्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः॥ न गृहे मरणं तात क्षत्रियाणां प्रशस्यते॥" (महा० शान्ति० ९७।२३-२५), तथा—"आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः। युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः॥" (मनु० ७।८९)।

(६) 'कालहु डरहिं न·····'—रघुवंशी की ओर से अपनी भी बड़ाई दिखाई कि काल से अधिक कोई नहीं, उससे भी हम नहीं डरते। यदि मुनि कहें कि हमसे क्यों डरते एवं हाथ जोड़ते हो? उसपर कहते हैं—'बिप्र बंस कै असि·····'—

अलंकार—'स्वभावोक्ति'—'कहउँ सुभाव···' यह स्पष्ट है।

सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के। उघरे पटल परसुधर-मति के॥६।
राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु मिटइ मोर संदेहू॥८॥
देत चाप आपुहि चलि गयेऊ। परसुराम मन बिसमय भयऊ॥८॥

दोहा—जाना राम - प्रभाव तब, पुलक प्रफुल्लित गात।
जोरि पानि बोले बचन, हृदय न प्रेम समात॥२८४॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी के कोमल और गूढ़ वचन सुनकर फरसा धारण करनेवाले (परशुराम) की बुद्धि के परदे खुल गये॥६॥ (परशुरामजी ने कहा—) हे राम! विष्णु भगवान् का यह धनुष लीजिये और खींचिये जिससे मेरा सन्देह मिट जाय॥७॥ देने के साथ ही वह धनुष स्वयं ही चला गया तब परशुरामजी के मन में बड़ा आश्चर्य हुआ॥८॥ तब परशुरामजी ने श्रीरामजी का प्रभाव जाना, इससे उनका शरीर पुलक कर प्रफुल्लित हो गया। वे हाथ जोड़कर वचन बोले, प्रेम हृदय के भीतर नहीं समाता (अर्थात् रोमांच-प्रेमाश्रु द्वारा उमड़ा आता है)॥२७४॥

विशेष—(१) 'सुनि मृदु गूढ़ बचन·····'—श्रीरामजी मृदु तो सदा ही बोलते हैं, पर परशुरामजी का क्रोध शान्त करना है, इससे और कोमल करके बोले हैं। मृदु, यथा—"हमहिं तुम्हहिं सरबरि कसि"·····से—"छमहु बिप्र अपराध हमारे।" (दो० २८१) तक, गूढ़— "जौ हम निदरहिं बिप्र

बदि"···से—"अभय होइ जो तुम्हहिं डेराई ॥" तक है, क्योंकि इनमें बहुत आशय भरे हैं, इन्हींसे श्रीरामजी अपना स्वरूप जनाया चाहते हैं। "बिप्र-बंस कै असि प्रभुताई।···" यह अन्तिम वाक्य है। प्रारम्भ में कहा था—"होइहि कोउ यक दास तुम्हारा।" उसीको यहाँ स्पष्ट किया कि जो अभय है, यथा—"जासु त्रास डर कहँ डर होई।" (दो० २२४), वह भी आप से डरता है, इस तरह अपना ऐश्वर्य जनाया, यथा—"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥" (कठ० २।६।४)।

'असि प्रभुताई'—पर कहा जाता है कि रामजी ने 'भृगुलता' भी दिखाई है, जिससे बोध हुआ, पर यहाँ 'सुनि' से सुनकर ही पटल या परदे का दूर होना कहा गया है—देखकर नहीं। हाँ, यह आशय वचनों से भी तो निकल आता है कि इन परशुराम के वंश के आदिपुरुष भृगु से अभय-रूप विष्णु भगवान् भी डरे थे, पद-प्रहार भी सहन कर लिया। ऐसा गौरव ब्राह्मणत्व में है। उसी प्रकार मैंने आपके दुर्वचन सहे हैं। 'उघरे पटल···'—उघरे बहुवचन है। अतः, कई परदे उनकी बुद्धि पर थे, वे ही हटे हैं और आगे कहा है, यथा—"जय मद-मोह-कोह-भ्रम-हारी।" मद अपने बल का, मोह श्रीरामपरत्व न जानने का, कोह (क्रोध) धनुर्भंग और लक्ष्मणजी के विवाद का और भ्रम श्रीरामजी को प्राकृत राजपुत्र होने का था, इत्यादि समस्त परदे हट गये। तब समझ पड़ा कि ये ईश्वर हैं, पर प्रत्यक्ष से भी निर्णय करने के लिये आगे कहते हैं—

उपक्रम में—'बोले परसुधरहिं अपमाने।' और उपसंहार में भी—'परसुधर-मति के' कहा गया है अर्थात् फरसा धारण के ही कारण प्रमाद की-सी लीला थी, वह बुद्धि हट गई। अतः, शस्त्र श्रीरामजी को सौंपते हैं।

(२) 'राम रमापति कर·····'—विष्णु भगवान् का शार्ङ्ग धनुष और किसीसे नहीं चढ़ता था, यह परशुरामजी को ज्ञात था कि जब इसे कोई चढ़ावेगा तब हमारे अवतार-प्रभाव का अन्त होगा। अतः, सन्देह-निवारण के लिये चढ़ाने को देते हैं।

(३) 'देत चाप आपुहि चलि···'—(क) देते समय धनुष स्वयं श्रीरामजी के हाथों में चला गया, इससे जनाया कि मैं इन्हीं का हूँ। जैसे कि श्रीरामजी के बाण आदेशानुसार कार्य करके उनके तरकश में आ जाते हैं, यथा—"मंदोदरि आगे भुज सीसा। धरि सर चले जहाँ जगदीसा॥ प्रबिसे सब निषंग महँ जाई।" (लं० दो० १०१) प्रभु आयुध चेतन होते हैं, वैसे ही यह धनुष स्वयं चला गया। (ख) परशुरामजी का वैष्णव तेज आप ही से चला गया, यथा—"ज्याघोषमरोद्वीरो वीरस्यैवाग्रतस्तदा। ततः परशुरामस्य देहान्निष्क्रम्य वैष्णवम्। पश्यतां सर्वदेवानां तेजो राममुखे विशत्॥" (नृसिंहपुराण), अर्थात् इनका वैष्णव तेज चला गया, कोरे मुनि रह गये, क्योंकि इनका आवेशावतार था, यथा—"यमाहुर्वासुदेवांशं हैहयानां कुलान्तकम्। त्रिःसप्तकृत्वो य इमां चक्रे निःक्षत्रियां महीम्॥" (भाग० ९।१५।१४), अर्थात् जिन्होंने २१ बार पृथ्वी को क्षत्रियों से रहित किया है, और जो हैहयवंश नाशक थे, जिसे वासुदेव भगवान् का अंश कहा जाता है। (ग) चाप देने के साथ परशुरामजी स्वयं खिंचे चले गये।

'परसुराम मन बिसमय भयेऊ।'—उपर्युक्त तीनों प्रकार के कार्य आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले हैं। श्रीमद्वाल्मीकीय में लिखा है कि श्रीरामजी ने परशुराम से धनुष लेकर उसपर तुरन्त रोदा चढ़ाते हुए कहा कि यह वैष्णवास्त्र निष्फल न होगा। आप हमारे गुरु विश्वामित्र के सम्बन्धी हैं। अतः, वध न करेंगे। हाँ, आपकी अव्याहत गति अथवा तपः-प्रभाव से अर्जित लोकों का इस बाण से नाश करेंगे। इसपर परशुरामजी की अनुमति से वह बाण छोड़कर इनके लोकों का नाश किया, बाण चढ़ाते ही इनका तेज नष्ट हो गया, यथा—"निर्वीर्यो जामदग्न्योऽसौ रामोराममुदैक्षत॥ तेजोभिर्गतवीर्यत्वाज्जामदग्न्यो जड़ीकृतः।" (वा० स० ७६।११-१२), तथा—"नाक भै पिनाकमिस बामता बिलोकि राम रोक्यो परलोक लोक भारी भ्रम भानि कै॥" (क० लं० २६), अतः, उपर्युक्त तीनों में मध्य का ही भेद प्रधान है।

(४) 'जाना राम-प्रभाव तब, पुलक···'—महाभारत वन पर्व अ० ६६ में लिखा है कि श्रीरामजी ने परशुरामजी के हाथ से जब शार्ङ्ग धनुष ले लिया, रोदा चढ़ाकर टंकार की, तब उस शब्द से सब प्राणी डर गये। पुनः परशुरामजी ने एक बाण भी दिया, श्रीरामजी ने उसे चढ़ाया और फिर परशुराम जी का अभिमान छुड़ाने के लिये उन्हें दिव्य दृष्टि देकर अपना विराट् रूप दिखाया और फिर उस बाण को छोड़ा, उससे पृथ्वी काँपने लगी, मेघ, बिजली और वर्षा हुई। परशुरामजी का तेज छीनकर उस बाण ने उन्हें व्याकुल कर दिया। परशुरामजी को मूर्च्छा आ गई। थोड़ी देर में चैतन्य हुए तो उन्होंने अपने में विष्णु-तेज नहीं पाया। फिर श्रीरामजी की आज्ञा से वे महेन्द्र पर्वत पर चले गये। यहाँ परशुराम जी को हारने से ग्लानि नहीं हुई, प्रत्युत आनन्द हुआ, उसका कारण राम-प्रभाव का जानना है, यथा—"अक्षय्यं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरेश्वरम्। धनुषोऽस्य परामर्शात्···न चेयं तव काकुत्स्थ क्रीड़ा भवितुमर्हति। त्वया त्रैलोक्यनाथेन यदहं विमुखीकृतः॥" (वाल्मी० १।७६।१७-१६), अर्थात् मनुष्यादि जीव-वर्ग से हारते तो लज्जा की बात थी।

जय रघुबंस-बनज-बन-भानू। गहन-दनुज-कुल-दहन कृसानू॥१॥
जय सुर-बिप्र-धेनु-हितकारी। जय मद-मोह-कोह-भ्रम-हारी॥२॥
बिनय-सील-करुना-गुन-सागर। जयति बचनरचना अतिनागर॥३॥
सेवक-सुखद सुभग सब अंगा। जय सरीर-छबि कोटि अनंगा॥४॥
करउँ काह मुख एक प्रसंसा। जय महेस-मन-मानस-हंसा॥५॥
अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता॥६॥
कहि जय जय जय रघुकुल-केतू। भृगुपति गये बनहिं तप हेतू॥७॥

अर्थ—हे रघुवंश-रूपी कमल-वन के सूर्य! हे दैत्यकुल-रूपी सघन वन को जलानेवाले अग्नि! आपकी जय हो! ॥१॥ हे देवता, ब्राह्मण और गाय के हित करनेवाले! आपकी जय हो! हे मद-मोह-क्रोध और भ्रम के हरनेवाले! आपकी जय हो॥२॥ हे नम्रता, शील और करुणा आदि गुणों के सागर! हे वचन-रचना में अत्यन्त निपुण! आपकी जय॥३॥ हे सेवकों को सुख देनेवाले! सब अंगों से मनोहर! करोड़ों कामदेवों की छवि युक्त शरीरवाले! आपकी जय॥४॥ मैं एक मुख से आपकी क्या प्रशंसा करूँ? हे शिवजी के मन रूपी मानस-सरोवर के हंस! आपकी जय॥५॥ मैंने अनजान में (आप दोनों भाइयों को) बहुत अनुचित वचन कहे, हे क्षमा के मन्दिर दोनों भाइयो! क्षमा कीजिये॥६॥ हे रघुकुल के ध्वजा-रूप! आपकी जय हो, जय हो, जय हो—इस प्रकार कहकर भृगुनाथ परशुरामजी तपस्या करने के लिये वन को चले गये॥७॥

विशेष—'जय रघुबंस-बनज-बन-भानू।'—श्रीरामजी ने कहा था—'कालहु डरहिं न रन रघुबंसी' तदनुसार यहाँ 'जयमान' होना कहा। कमल-वन को प्रफुल्ल करनेवाले सूर्य प्रातःकाल के होते हैं, इस तरह श्रीरामजी का अभ्युदय कहा। आदि में ही परशुरामजी को—'भृगुकुलकमलपतंगा' कहा है। इस तरह उनका अस्त होना जनाया, यह प्रथम ही कहा गया। पूर्वार्द्ध में रघुवंश में अवतार कहा, फिर उत्तरार्द्ध में उसकी लीला कही गई। पुनः उससे प्रयोजन-रूप सुर-बिप्र-धेनु का हित होना कहा गया। 'जय रघुबंस···' में 'उल्लेख अलंकार' है।

(२) जय मद-मोह-कोह···'—इसमें अपने हृदय के चारो परदों का दूर होना कहा है।

(३) 'बिनय सील करुना···'—'बिनय' यथा—"हमहिं तुम्हहिं सरबरि कसि"···से—"छमहु बिप्र अपराध हमारे॥" (दो० २४१) तक, यों तो आदि से अन्त तक प्रार्थना ही है। 'सील'—मुनि ने शठ

आदि कटु वचनों का प्रयोग किया था, पर उत्तर में भगवान् ने प्रार्थना ही की है। 'करुना'—समर्थ होते हुए भी कोई दंड नहीं दिया, प्रत्युत दया ही की।

(४) 'सेवक सुखद सुभग···'—ऊपर दनुज-नाश रूपी लीला से सुर-विप्र आदि का सुखी होना कहा गया, पर सेवक तो आपके सुन्दर रूप से ही सुखी होते हैं, यथा—"रूप बिंदु जल होहिं सुखारी।" (अ० दो० १२७)। अतः, आपके सब अंग सुन्दर हैं।

(५) 'जय महेस-मन मानस-हंसा।", यथा—"सुंदर सुखद सकल गुनरासी। ये दोउ बंधु संभु-उर-बासी॥" (दो० २४५)।

(६) 'अनुचित बहुत कहेउँ ···'—श्रीरामजी ने प्रथम ही कहा था—"छमहु चूक अनजानत केरी" (दो० २८१), उसी नियम को लेकर यहाँ परशुरामजी भी क्षमा कराते हैं। 'दोउ भ्राता'—दोनों भाइयों को ये बहुत अनुचित वचन कहे थे और वे क्षमा करते आये, इससे 'क्षमा के मंदिर' कहते हैं। अब इन्हें चेत हुआ, तब अपनी ओर से क्षमा माँगते हैं। यहाँ कुल स्तुति दोनों भाइयों के प्रति है।

(७) 'कहि जय जय जय···'—यहाँ तीन बार जय कहकर मन, वचन, कर्म से प्रार्थना सूचित की अथवा भूत, भविष्य और वर्त्तमान का जयमान होना कहा। यहाँ तक नौ बार जय-शब्द इस स्तुति प्रसंग में आया है, क्योंकि गिनती नौ ही तक है। इस तरह अनन्त बार जय सूचित की। नौ का पहाड़ा जोड़ने पर सदा एक रस रहता है, अर्थात् दूने-तिगुने आदि में एकाई-दहाई जोड़ने पर नौ ही रहता है। अतः, नौ संख्या का परिणाम नहीं है, इस तरह श्रीरामजी को नित्य एकरस स्थित कहा, यथा—"तुम चहुँ जुग रस एक राम ···" (वि० २६६), तथा—"वृक्ष इव स्तब्धोदिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥" (श्वेता० ३।९), वा, 'नव गुन परम पुनीत' के ग्रहण के प्रति कृतज्ञता-रूप में भी नौ बार जय-जयकार किया।

(८) 'भृगुपति गये बनहिं तप हेतू।'—ऊपर इनके तप से अर्जित लोकों का नाश होना श्रीरामजी के बाण के प्रभाव से कहा गया, उनके पुनः बनाने के लिये तप करने चले गये वा नव गुणों में 'तप' भी है, उसपर आरूढ़ होकर चले गये।

परशुराम-गर्व-हरण—इसका अधिकांश 'प्रसन्नराघव' और 'हनुमन्नाटक' से मिलता है। इसके कुछ भाव पूर्वोक्त—"तेहि अवसर सुनि सिव धनु भंगा।" (दो० २६७) पर भी कहे गये हैं।

इस प्रसंग के चरित्र-चित्रण पर प्रायः उद्धतपना रूप दोष लगाया जाता है, यह भ्रम है। आलोचकों को विचारना चाहिये कि—"बहइ न हाथ दहइ रिस छाती। भा कुठार कुंठित नृपघाती॥" (दो० २७९), से निश्चित होता है कि परशुरामजी की प्रतिकार की इच्छा थी, पर तदनुसार क्रिया करने में वे असमर्थ थे। उनकी शक्ति के ह्रास का कारण यह है—श्रीरामजी ही के तेज ने परशुरामजी में प्राप्त होकर आसुरी प्रकृति के क्षत्रियों का संहार किया था, उसका ह्रास इसी रीति से क्रोध के द्वारा क्रमशः होता था, उसीके अनुसार श्रीलक्ष्मणजी के वचनों की प्रवृत्ति थी। नहीं तो ब्राह्मण के अपमान के सम्बन्ध में वे स्वयं कहते हैं कि—"हमरे कुल इन्ह पर न सुराई।" पुनः—"जो तुम्ह अबतेहु मुनि की नाईं। पद रज सिर सिसु धरत गोसाईं॥" इत्यादि। परशुरामजी को मुनि, विप्र आदि ही बार-बार कहते थे। उसका भी रहस्य यही था कि वीरता के कार्य हमारे तेज से हुए हैं, यथा—"तेजस्तेजस्विनामहम्।" (गीता० १०।३६), अन्त में धनुष-ग्रहण के साथ ही अवशिष्ट तेज भी ले लिया। परशुराम ऋषि मात्र रह गये और श्रीरामजी का परत्व भी जान गये। अतः, कृतकृत्य होकर अपने सहज कर्म रूप तपस्या के लिये गये। भगवान् की लीला का रहस्य गम्भीर है। वे ही कृपा करें तो कुछ समझ में आ सके।

अपभय कुटिल महीप डेराने। जहँ तहँ कायर गवहिं पराने॥८॥

दोहा—देवन्ह दीन्ही दुदुंभी, प्रभु पर बरषहिं फूल।
हरषे पुर-नर-नारि सब, मिटी मोहमय सूल ॥२८५॥

अर्थ—कुटिल राजा लोग अपने व्यर्थ भय (जो श्रीरामजी से लड़ने को तैयार थे, श्रीरामजी बदला नहीं लेते, पर वे स्वयं बिना कारण ही डरे, इस भय) से डरे और वे कायर चुपके से जहाँ-तहाँ भाग गये ॥८॥ देवताओं ने नगाड़ों पर चोटें दीं और प्रभु पर फूल बरसने लगे। नगर निवासी सब स्त्री-पुरुष प्रसन्न हो गये और उनका मोहमय शूल (दुख) मिट गया।

विशेष—(१) 'अपभय···जहँ तहँ कायर ···'—जब से परशुरामजी आये, ये लोग खड़े ही थे, इसी अवसर में जिधर-तिधर भागने का गँव (घात) मिल गया और अपने-अपने आसनों पर जाने के बहाने चुपके से निकल भागे।

(२) 'देवन्ह दीन्ही दुंदुभी···'—धनुर्भंग पर देवताओं ने प्रथम नगाड़े बजाये और जयमाल में पुरवासियों ने पहले ही बाजे बजाये। इस बार फिर देवताओं के प्रथम बजाने की बारी है। इस तरह दोनों ओर उत्साह प्रकट किया गया। 'प्रभु पर'—क्योंकि यहाँ परशुरामजी की पराजय होने एवं शार्ङ्ग धनुष के ग्रहण से श्रीरामजी को प्रभुता प्रकट हुई, इसे देखकर देवता फूल बरसाने लगे। 'मोहमय सूल'—पुरवासी मोह से श्रीराम-प्रभाव नहीं जानते थे, इसीसे परशुराम के आने पर डर गये थे। वह भय अब दूर हो गया। राम-प्रभाव का ज्ञान हो गया।

अति गहगहे बाजने बाजे। सबहिं मनोहर मंगल साजे ॥१॥
जूथ जूथ मिलि सुमुखि सुनयनी। करहिं गान कल कोकिलबयनी ॥२॥
सुख बिदेह कर बरनि न जाई। जनम दरिद्र मनहुँ निधि पाई ॥३॥
बिगत त्रास भइ सीय सुखारी। जनु बिधु-उदय चकोरकुमारी ॥४॥

अर्थ—अत्यन्त धमाधम बाजे बजने लगे, सभी ने सुन्दर मंगलकारक साज सजाये ॥१॥ सुन्दर मुखों और नेत्रोंवाली, कोयल की तरह मधुर बोलनेवाली स्त्रियाँ झुंड-के-झुंड मिलकर गान करने लगीं ॥२॥ विदेह राजा का सुख-वर्णन नहीं किया जा सकता, मानों जन्म का दरिद्र (भारी) खजाना पा गया हो ॥३॥ श्रीसीताजी का भय दूर हुआ और वे सुखी हुईं, जैसे चन्द्रमा के उदय से चकोर की बच्ची (सुखी हो) ॥४॥

विशेष—(१) 'अति गहगहे···'—धनुष-भंग पर—"बाजे नभ गहगहे निसाना।" कहा गया, जयमाल पर—"पुर अरु व्योम बाजने बाजे।" और अब यहाँ—"अति गहगहे···" कहा गया अर्थात् जैसे-जैसे आनन्द विशेष होता गया, बाजों को मात्रा भी बढ़ती गई।

(२) 'जूथ जूथ मिलि···'—श्रीराम-यश-गान के सम्बन्ध से 'सुमुखि' और उनके दर्शनों के सम्बन्ध से 'सुनयनी' कहा गया है। यहाँ 'सुनयनी' में सुनयनाजी और 'सुमुखि' में उनकी सखियों को भी श्लिष्ट रीति से ले लेना चाहिये, क्योंकि धनुष टूटने पर श्रीजानकीजी, श्रीसुनयनाजी और विदेह महाराज का सुखी होना कहा गया, फिर परशुरामजी के आने पर श्रीसुनयनाजी का दुखी होना भी कहा गया, यथा—"सखिन्ह सहित हरषी अति रानी।" पुनः—"रानिन्ह सहित सोच-बस सीया।" अतः, परशुरामजी के जाने पर उनका भी सुखी होना स्वाभाविक है। 'जूथ-जूथ'—अपनी-अपनी अवस्था और जाति से मिलकर।

(३) 'सुख बिदेह कर···'—विदेह महाराज भी परशुरामजी के आने पर माधुर्य-दृष्टि के कारण डर गये थे—"अति डर उतर देत नृप नाहीं।" यह दरिद्र होना है, अब मानों खजाना पा गये।

(४) 'जनु बिधु-उदय चकोरकुमारी।'—दोपहर के सूर्य से तप्त चकोर-कुमारी चन्द्रोदय से सुखी होती है। वैसे सीताजी प्रथम—'भृगु कुल कमल-पतंग' के आने से दुखी हुई थीं, अब शीतल हो रही हैं।

परशुराम-पराजय-प्रकरण समाप्त।

श्री सियरघुवीर-विवाह

जनक कीन्ह कौसिकहि प्रनामा। प्रभुप्रसाद धनु भंजेउ रामा ॥५॥
मोहि कृतकृत्य कीन्ह दुहुँ भाई। अब जो उचित सो कहिय गोसाईं ॥६॥
कह मुनि सुनु नरनाथ प्रवीना। रहा बिबाह चाप - आधीना ॥७॥
टूटत ही धनु भयेउ बिबाहू। सुन नर नाग बिदित सब काहू ॥८॥

दोहा—तदपि जाइ तुम्ह करहु अब, यथा-बंस-व्यवहार।
बूझि बिप्र कुलबृद्ध गुरु, बेदबिदित आचार ॥२८६॥

दूत अवधपुर पठवहु जाई। आनहिं नृप दसरथहि बोलाई ॥१॥

अर्थ—जनकजी ने विश्वामित्रजी को प्रणाम किया, (और कहा कि) हे प्रभो! आपके अनुग्रह से श्रीरामजी ने धनुष तोड़ा ॥५॥ इन दोनों भाइयों ने मुझे कृतार्थ किया, हे गोस्वामी! अब जो (कार्य) उचित हो, वह कहिये ॥६॥ मुनि ने कहा—हे चतुर राजन्! सुनिये, विवाह धनुष के अधीन था ॥७॥ (यद्यपि) धनुष के टूटते ही विवाह हो गया, (यह) देवता, मनुष्य, नागदेव (क्रमशः स्वर्ग, भूमि और पाताल-वासियों में) सब किसीको विदित हो गया ॥८॥ तथापि अब आप जाकर जैसी अपने कुल की रीति हो, उसे ब्राह्मणों कुल के बूढ़ों और गुरु से पूछकर जो वेदों की प्रसिद्ध प्रथा है, वह कीजिये ॥२८६॥ अयोध्या नगर को दूत भेजिये, वे जाकर राजा दशरथ को बुला लावें ॥१॥

विशेष—(१) 'प्रभुप्रसाद धनु ··'—यद्यपि राजा जनक ने श्रीरामजी का पुरुषार्थ प्रत्यक्ष देखा है, फिर भी यहाँ मुनि का गौरव और श्रीरामजी में वात्सल्य दृष्टि से लाघव कहा, यही नीति है। मुनि को प्रणाम करना कृतज्ञता की दृष्टि से है।

(२) 'दुहु भाई'—लक्ष्मणजी ने ही इनकी व्याकुलता पर श्रीरामजी के उठने का संयोग लगाया और परशुराम-पराजय में भी उनके सहायक रहे, इत्यादि से दोनों भाइयों को कहा।

(३) 'तदपि जाइ तुम्ह···'—'तदपि' अर्थात् वंश-व्यवहार भी परम आवश्यक है। विप्र और गुरु वेद-रीति और कुल-वृद्ध लोग कुल-रीति एवं लोक-रीति बतलावेंगे।

(४) 'दूत अवध पुर पठवहु···'—'जाई' शब्द दीपदेहली भी है। ऊपर भी 'जाइ' पद आया है, वहाँ रंगभूमि से घर जाने के लिये है और यहाँ फिर देने का भाव यह कि घर जाकर तब वहाँ दूत भेजिये, और वे जाकर लिवा लावें। ऐसा कहने का प्रयोजन यह है कि मुनि की आज्ञा के बिना चक्रवर्त्ती महाराज को बुलाने में इन्हें संकोच होगा, यथा—"अपराध छमिबो बोलि पठये बहुत हौं ढीठ्यो कई।" (दो० ३२६), पुनः मुनि ने विचारा कि यदि चक्रवर्त्तीजी न बुलाये जायँगे, तो वे इस महान् सुख से वंचित रह जायेंगे, दूसरे यहाँ दोनों तरफ का व्यय जनकजी के ही द्वारा होगा—मानों दरिद्र का-सा

लड़का ब्याहा जायगा और शोभा भी नहीं होगी। पुनः अवधवासियों को भी बारात में बुलाकर सुख दें। मुनि त्रिकालज्ञ हैं, यह भी जानते हैं कि भरत-शत्रुघ्न का भी ब्याह यहीं होगा।

वाल्मी० २१।८।५०-५२ में कहा है कि श्रीरामजी के धनुष तोड़ने पर श्रीजनकजी ने कुश-जल लेकर कन्यादान करना चाहा, तब श्रीरामजी ने पिता का अभिप्राय बिना जाने दान लेना स्वीकार नहीं किया, तब राजा जनक ने चक्रवर्त्ती के बुलाने का आयोजन किया। यह भाव भी 'अब जो उचित सो कहिय गोसाईं।' के कारण (साधन) रूप में लिया जा सकता है।

मुदित राउ कहि भलेहि कृपाला। पठये दूत बोलि तेहि काला ॥२॥
बहुरि महाजन सकल बोलाये। आइ सबन्हि सादर सिर नाये ॥३॥
हाट बाट मंदिर सुरबासा। नगर सँवारहु चारिहु पासा ॥४॥
हरषि चले निज निज गृह आये। पुनि परिचारक बोलि पठाये ॥५॥

शब्दार्थ—महाजन = श्रेष्ठ पुरवासी, रईस लोग। हाट = बाजार। बाट = मार्ग। पासा = तरफ, ओर।

अर्थ—राजा जनक ने प्रसन्न होकर कहा, हे कृपालो! बहुत अच्छा। उसी समय दूतों को बुलाकर (श्री अवध) भेज दिया ॥ २ ॥ फिर समस्त महाजनों को बुलवाया, सबने आकर आदर से प्रणाम किया ॥३॥ (राजा ने उनसे कहा कि) बाजार, मार्ग, मन्दिर—जिनमें देवताओं का निवास है, और चारों तरफ नगर सजाओ ॥४॥ (वे महाजन लोग) प्रसन्न हो वहाँ से चले और अपने-अपने घर आये। फिर (राजा ने) परिचारकों (टहलुओं) को बुला भेजा ॥५॥

विशेष—(१) 'मुदित राउ कहि'' '—राजा प्रसन्न हुए, क्योंकि इनके हृदय में भी लालसा थी, पर चक्रवर्त्ती को कैसे बुलायें? यह अड़चन थी, वह मुनि की आज्ञा हो जाने से मिट गई। 'कृपाला'—क्योंकि पुराना टूटा हुआ सम्बन्ध मिला रहे हैं, पुनः स्वयं कृपा करके कहा, मुझे कहना भी न पड़ा।

(२) 'पठये दूत बोलि तेहि काला।'—मुनि ने कहा था कि घर जाकर दूत भेजो, पर राजा ऐसे आनन्दित हुए कि वह आज्ञा भूल गये और उसी समय वहीं पर दूत बुलाकर श्री अवध भेजा। वहींसे भेजने का यह भी भाव है कि जिससे मुनि की ही आज्ञा से दूतों का जाना और राजा दशरथ का बुलाया जाना हो तो उत्तम होगा।

(३) 'बहुरि महाजन सकल ''—'बहुरि' अर्थात् मुनि की आज्ञा का पालन प्रथम किया, तब बारात की अगवानी के सजाव में लगे। 'बहुरि' के अर्थ 'और, फिर, तत्पश्चात्' हैं। सभी आये और सादर सिर नवाये, क्योंकि सभी स्वामिभक्त हैं और राजा भी उनका स्नेह से पालन करते हैं।

(४) 'हाट बाट मंदिर सुरबासा। ''—नगर तो सदैव सुसज्जित ही रहता है, यथा—"बनइ न बरनत नगर-निकाई। जहाँ जाइ मन तहँइ लोभाई ॥" (दो० २१२), पर यहाँ प्रीति की रीति से—"बंदन बार पताका केतू। सबन्हि बनाये मंगल हेतू ॥" (उ० दो० ८) की तरह सजायेंगे, यथा—"जद्यपि अवध सदैव ''तदपि प्रीति कै रीति''" (दो० २१५)।

यहाँ धर्मात्मा राजा का राज्य है। अतः, देव-मन्दिर कहे गये हैं, ऐसे ही श्री अवध में भी हैं—"तीर तीर देवन्ह के मंदिर।" (उ० दो० २८), पर लंका में नहीं कहे गये, क्योंकि वहाँ तो देवता हाथ जोड़े खड़े रहते थे, उनकी पूजा कैसी? ऐसे ही राम-राज्य में ब्राह्मणों द्वारा अभिषेक किया जाना लिखा है—"प्रथम तिलक बसिष्ठ मुनि ''" (उ० दो० ११), और सुग्रीव के राज्य-समय में भी—"लछिमन तुरत बोलाये, पुरजन बिप्र-समाज।" (कि० दो० ११), पर विभीषण की राजगद्दी में नहीं कहा गया, क्योंकि विप्र और नर को तो राक्षस खा जाते थे, यथा—"खल मनुजाद द्विजामिष-भोगी।" (लं० दो० ४४)। अतः, ब्राह्मण वहाँ थे ही नहीं।

(५) 'हरषि चले निज निज···'—ये महाजन लोग हाट-बाट आदि सँवारने के उत्साह से हर्षित होकर अपने-अपने घर गये। तब राजा ने वितान रचनेवालों को बुलवाया।

रचहु बिचित्र बितान बनाई। सिर धरि बचन चले सचु पाई ॥६॥
पठये बोलि गुनी तिन्ह नाना। जे बितान-बिधि-कुसल सुजाना ॥७॥
बिधिहि बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा। बिरचे कनककदलि के खंभा ॥८॥

दोहा—हरितमनिन्ह के पत्र फल, पदुमराग के फूल।
रचना देखि बिचित्र अति, मन बिरंचि कर भूल ॥२८७॥

शब्दार्थ—सचु = आनन्द। पदुमराग = माणिक्य, लाल रत्न। भूल = धोखे में पड़ना, चकित होना।

अर्थ—(और कहा कि) विचित्र मण्डप तैयार कराओ, वे सब आज्ञा शिरोधार्य करके आनन्द पाकर चल दिये ॥६॥ उन्होंने अनेक गुणियों (कारीगरों) को बुला भेजा, जो वितान की रचना में निपुण और सुजान थे ॥७॥ उन्होंने ब्रह्माजी की वन्दना करके काम प्रारम्भ किया और सोने के केलों के खम्भे बनाये ॥८॥ हरी मणियों के पत्ते और फल एवं पद्मराग (मणि-लाल) के फूल (ऐसे) बनाये कि उस अत्यन्त विचित्र रचना को देखकर ब्रह्माजी का भी मन भूल में पड़ जाय अर्थात् वे चकित हो जायँ ॥२८७॥

विशेष—(१) 'सिर धरि बचन चले सचु पाई।'—ये उत्तम सेवक हैं। अतः, सुखी हुए, क्योंकि स्वामी की आज्ञा का पालन करना सेवक का सौभाग्य है, यथा—"आज्ञा सम न सुसाहिब-सेवा।" (अ० दो० ३००), "प्रभु-मुख-कमल बिलोकत रहहीं। कबहुँ कृपालु हमहिं कछु कहहीं ॥" (उ० दो० २४)। 'चले' अर्थात् परिचारक बहुत हैं, इसलिये कि एक-एक को एक-एक काम सौंप दिया जाय और शीघ्र हो।

(२) 'जे बितान-बिधि-कुसल सुजाना।'—'कुसल' कृति में (रचना करने में) और 'सुजान' यह बात जानने में कि कौन रचना कहाँ अनुकूल पड़ती है। ये दोनों बातों में दक्ष हैं।

(३) 'बिधिहि बंदि तिन्ह ···'—ब्रह्माजी जगत् रचना के आचार्य हैं और जगत् में ही यह रचना होगी। अतः, उनकी वन्दना से प्रारम्भ किया।

शंका—ब्रह्माजी शाप से अपूज्य हैं, इनकी वन्दना क्यों की गई?

समाधान—यह निषेध ब्रह्माजी की स्वतन्त्र पूजा के लिये है, कुछ नमस्कार तो निषिद्ध नहीं है, यहाँ तो वन्दना ही की गई है। यह भी पाया जाता है कि उस समय ब्रह्माजी की पूजा भी होती थी, यथा—"आजगाम ततो ब्रह्मा लोककर्त्ता स्वयं प्रभुः।···पूजयामास तं देवं पाद्यार्घ्यासनवन्दनैः। प्रणम्य विधिवच्चैनं···" (वाल्मी० १।२।२३-२५)। अतः, सम्भवतः शाप की बात उससे पीछे की होगी। 'बिरचे कनक कदलि के खंभा।'—केले मांगलिक हैं और मण्डप इन्हींके आश्रित रहेगा। अतः, इन्हें प्रथम रचा, केले के खम्भों का रंग स्वर्ण के रंग का होता है। अतः, सोने ही के केले बनाये, जिससे महीनों तक एक रंग शोभा और चमक-दमक भी रहे।

(४) 'हरितमनिन्ह के पत्र·····'—इसमें पहले फल कहकर तब फूल कहे गये, क्योंकि केले के घौद में फल और फूल साथ ही बढ़ते हैं और फल हरे एवं फूल लाल होते भी हैं। 'मन बिरंचि कर भूल'—यह बात आगे चरितार्थ है—"बिधिहि भयो आचरज बिसेखी। निज करनी कछु कतहुँ न देखी ॥" (दो० ३१३)। जब जगत् के रचयिता भूल गये, तब औरों की क्या कहना है? आगे ७ ही अर्द्धालियों पर दोहा है। अतः, यहाँ शोभा में मुग्ध होकर कवि भी भूले हैं, नहीं तो प्रायः सर्वत्र आठ से कम अर्द्धालियाँ नहीं रखते, ऐसे ही किन्हीं कारणों से दो-एक जगह और भी भूले हैं।

बेनु हरित मनिमय सब कीन्हे। सरल सपरव परहिं नहिं चीन्हे ॥१॥
कनककलित अहिबेलि बनाई। लखि नहिं परइ सपरन सुहाई ॥२॥
तेहि के रचि पचि बंध बनाये। बिच-बिच मुकुता दाम सुहाये ॥३॥
मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा ॥४॥

शब्दार्थ—बेनु (वेणु) = बाँस । सरल = सीधे । सपरव (सपर्व) = गाँठ के साथ । अहिबेलि = नाग बेलि, पान की लता । कलित = (सं० कलित) = बनाई हुई, सुन्दर । बंध = बन्धन । दाम = माला, झालर । रचि-पचि = कारीगरी से सजाकर, पचि (पच्ची, सं० पचित) = धातु निर्मित पदार्थ पर अन्य धातु के पत्तर का जड़ाव । कोरि = कोरकर, खोद-खोदकर । मरकत = पन्ना, गहरे हरे रंग का रत्न । पिरोज = (फीरोजा) = हरापन लिये हुए नीले रंग का रत्न ।

अर्थ—हरी हरी मणियों के सीधे और गाँठदार सब बाँस ऐसे बनाये गये, जो पहचाने नहीं जा सकते (कि कृत्रिम हैं) ॥१॥ सोने से रच-रचकर सुन्दर पान की लताएँ बनाईं, जो सुन्दर पत्तों के साथ होने से पहचानी नहीं जा सकती थीं ॥२॥ उन्हीं (नागवेलियों) को रचकर पच्चीकारी करके बन्धन बनाये, जिनके बीच-बीच में मुक्ता की झालरें शोभा दे रही हैं ॥३॥ माणिक्य, मरकत, हीरे और फीरोजे को चीरकर खोद करके (उनसे चारों रंगों के) कमल रचे ॥४॥

विशेष—(१) 'बेनु हरित मनिमय·····'—सब बाँस हरे ही बनाये गये, क्योंकि मण्डप हरे बाँसों के ही बनते हैं और हरे ही मांगलिक माने जाते हैं, पीले सूखे नहीं लगाये जाते। ये बाँस हरित-मणियों के हैं। अतः, बहुत काल तक रहने पर भी एक रंग हरे एवं दीप्तिमान् रहेंगे। और वस्तुओं—केला आदि में नाना प्रकार की भी मणियाँ लगी हैं। 'सरल'—क्योंकि बाँस के सीधे होने में ही शोभा है। 'सपरव'—बाँस गाँठ के साथ सुन्दर होते हैं, अन्यथा लाठी के समान होने से नहीं सुहाते। 'बेनु हरित ···' में 'मीलित अलंकार' है।

(२) 'कनककलित अहिबेलि·····' सोने के केले के खम्भे बन चुके, उनपर सोने की ही पान की लता चढ़ाई। पान की शोभा, पुराने होने से है और पुराने पान पीले हो जाते हैं। अतः, सोने के ही पान बनाये। 'सोहाई—क्योंकि इन्हींसे सुन्दर माँड़व छायेंगे।

(३) 'तेहि के रचि पचि बंध·····'—बिना बन्धन के बाँस ठिकाने पर नहीं रहते। अतः, पान की बेलि ही की पच्चीकारी करके पतले चमकीले बन्धन भी बनाये। बन्धनों के दो-दो फेरे और दो-दो गाँठें बनी हैं, जिनके बीच-बीच में मुक्ताओं की मालाएँ एवं झालरें सजाई गई हैं। ये बाँस-केले आदि की तरह कृत्रिम नहीं हैं, किन्तु सचमुच हैं। इसीसे इनको 'लखि नहिं परइ' एवं 'परहिं नहिं चीन्हे' आदि नहीं कहे।

(४) 'मानिक मरकत कुलिस पिरोजा।·····'—इस ग्रन्थ में कमल चार रंगों के (नील, पीत, श्वेत, रक्त) कहे गये हैं। उन्हींका चार प्रकार के रत्नों से बनना कहा जाता है, यथा—"बालचरित चहुँ बंधु के, बनज बिपुल बहु रंग।" (दो० ४०)। यह भी कहा जाता है कि पिरोजा से कमल पुष्प के ऊपर की पँखुरियाँ बनीं, क्योंकि यह हरा-नीला होता है और माणिक्य से लाल, मरकत से नील और हीरे से श्वेत रंग के कमल बनाये गये। पीत रंग के कमल के योग्य यहाँ रत्न नहीं कहे गये, इससे तीन ही रंग के कमल हैं। यथा—'छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहु रंग कमल कुल सोहा॥" (दो० ३६)। यहाँ पान ही की लताओं में कमल खिलाये, क्योंकि कमल पुष्प तो मांगलिक है, पर पुरइन की गणना मंगल द्रव्यों में नहीं है। अतः, इसकी चर्चा ही न की, क्योंकि यहाँ मंगल का प्रसंग है, यह युक्ति भी नहीं लख पड़ती कि पान में कमल कैसे खिले।

किये भृंग बहुरंग बिहंगा। गुंजहिं कूजहिं पवन-प्रसंगा ॥५॥
सुर-प्रतिमा खंभन्हि गढ़ि काढ़ीं। मंगल-द्रव्य लिये सब ठाढ़ीं ॥६॥
चौकें भाँति अनेक पुराई। सिंधुर-मनिमय सहज सुहाई ॥७॥

दोहा—सौरभपल्लव सुभग सुठि, किये नीलमनि कोरि।
हेमबौर मरकत घवरि, लसत पाटमय डोरि ॥२८८॥

शब्दार्थ—प्रसंगा = सहारे से। काढ़ी = निकाली। पुराई = पूरी गई, बनाई। घवरि = घौद, गुच्छा।

अर्थ—उनपर भौंरे और बहुत रंगों के पक्षी बनाये, जो हवा के सहारे से गुंजार करते और कूजते हैं ॥५॥ खम्भों में देवताओं की मूर्त्तियाँ गढ़कर निकाली गई हैं, वे सब मंगल पदार्थ लिये हुए खड़ी हैं ॥६॥ अनेक तरह की चौकें पुराई गईं, जो गजमुक्तामय (मुक्ताचूर्ण की बनी हुई) और स्वाभाविक ही सुन्दर हैं ॥७॥ नीलम को खोदकर अत्यन्त सुन्दर आम के पल्लव बनाये, सोने की बौर (मंजरी), पन्ने के घौद, रेशम की डोर में बँधे लटकते हुए, शोभा दे रहे हैं ॥२८८॥

विशेष—'किये भृंग बहु···'—ऊपर कमल कहे गये, तो साथ ही भ्रमर और हंस आदि पक्षी भी चाहिये ही। इन भ्रमरों और पक्षियों की रचना भी उपर्युक्त कमल के रत्नों की ही जाननी चाहिये, जैसे—"तेहि के रचि पचि बंध बनाये।" में नियम कहा गया। ये सब ऐसे विलक्षण बने हैं कि कुंजी आदि की भी आवश्यकता नहीं, केवल वायु लगने ही से कूजते—गूँजते हैं, जिससे कृत्रिम नहीं जान पड़ते।

(२) 'सुर-प्रतिमा खंभन्हि···'—केला स्वयं मांगलिक है, उसमें ही मङ्गलमय देवताओं की मूर्त्तियाँ भी बनाईं। वे मंगल द्रव्य—'दधि दूर्वा रोचन फल फूला।' आदि थालों में सजे हुए लिये खड़ी हैं, ये मंगल द्रव्य भी मणियों के बने हुए कृत्रिम ही हैं, सचमुच होते तो विवाह तक सूख जाते। किन्तु ये भी कृत्रिम नहीं जान पड़ते। 'ठाढ़ी'—यह कारीगरों की सुजानता है, क्योंकि बैठी हुई होने से श्रीरामजी के आगमन पर उठ नहीं सकेंगे तो इनका धर्म जायगा और लोग भी जान लेंगे कि ये कृत्रिम हैं।

(३) 'चौकें भाँति अनेक···' गज-मुक्ता श्वेत होती है। अतः, उसीसे चौक पूरी गई, यह सब मणियों से श्रेष्ठ भी होती है। 'भाँति अनेक'—चौकें बहुत प्रकार से पूरी गई हैं, पर हैं सब गजमुक्ता ही की, यथा—"चौकें चारु सुमित्रा पूरी। मनिमय बिबिध भाँति अति रूरी॥" (अ० दो० ७)।

(४) 'सौरभपल्लव सुभग सुठि···'—यहाँ आम का सौरभ नाम दिया गया है, यह आम की-सी सुगन्ध-युक्त भी है, क्योंकि 'सुरभि' का अर्थ सुगन्ध है। 'घवरि'—घौद मरकत मणि हैं, मरकत यहाँ पन्ना है, क्योंकि यह हरा होता है और फलों का गुच्छा भी हरा ही चाहिये। 'किये' सब वस्तुओं के साथ है।

ऐसी आश्चर्य-रचना उस समय की कारीगरी के उत्कर्ष का उदाहरण है। यह भी कहा जाता है कि ऐसी विलक्षण रचना-वर्णन का श्रेय और किसी कवि को नहीं मिला।

रचे रुचिर बर बंदनिवारे। मनहुँ मनोभव फंद सँवारे ॥१॥
मंगल-कलस अनेक बनाये। ध्वज-पताक पट चँवर सुहाये ॥२॥
दीप मनोहर मनिमय नाना। जाइ न बरनि बिचित्र बिताना ॥३॥
जेहि मंडप दुलहिनि बैदेही। सो बरनइ अस मति कबि केही ॥४॥
दूलह राम रूप-गुन-सागर। सो बितान तिहुँ लोक उजागर ॥५॥

अर्थ—सुन्दर और श्रेष्ठ वन्दनवार रचे गये, मानों कामदेव के फंदे (जाल) सजाये गये हैं॥१॥ बहुत-से मंगलकलश और सुन्दर ध्वजा, पताका, पाटाम्बर और चँवर बनाये ॥२॥ उसमें अनेको मनोहर मणियों के ही दीपक हैं, उस विचित्र वितान का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥३॥ जिस मंडप में विदेह-नन्दिनी श्रीजानकीजी दुलहिन रूप से हैं, उसका वर्णन करे, ऐसी किस कवि की बुद्धि है ? ॥४॥ जिस मंडप में रूप और गुणों के समुद्र श्रीरामजी दूलह बनकर बैठेंगे, वह तो तीनो लोकों से ऊपर प्रकाशित होनेवाला है ॥५॥

विशेष—(१) 'मनहुँ मनोभव फंद ···'—यहाँ शोभा का प्रसंग है, शोभा से सब वशीभूत होते हैं, वैसे फन्दा भी फँसाने के ही लिये होता है। यहाँ 'मनोभव' अर्थात् काम मन से होता है, मन ही को फँसाता है, यहाँ यह निर्लिप्त मुनियों के भी मन को फँसा लेगा, यथा—"मंडप बिलोकि बिचित्र रचना रुचिरता मुनि-मन हरे।" (दो० ३२०)।

(२) 'मंगल-कलस अनेक···'—कलश चाहे जिस धातु के हों, उनपर गणेश आदि देवताओं की स्थापना होती है और अक्षत, पल्लव, दीपक रक्खे जाते हैं, वे 'मंगल-कलश' कहाते हैं। वे प्रत्येक चौक में रक्खे जाते हैं। 'चौकें भाँति अनेक···' कहा गया। अतः, अनेक कलश भी होने ही चाहिये। 'मंगल' शब्द ध्वज-पताक आदि के साथ भी है। साथ ही 'दीप मनोहर मनिमय···' भी कहा गया, क्योंकि प्रत्येक कलश पर एक-एक दीप चाहिये। इनके अतिरिक्त मण्डप के चारों ओर भी दीपावली है।

(३) 'बरनि न जाइ बिचित्र ···'—यहाँ जो कुछ वर्णन हुआ, वह अमुक वस्तु से अमुक अंग बना, इतना ही कहा गया। यों तो मण्डप की शोभा का विस्तार अकथ्य है। 'रचहु बिचित्र बितान बनाई।' पर उपक्रम है और यहाँ 'बरनि न जाइ बिचित्र बिताना।' पर उपसंहार।

(४) 'जेहि मंडप दुलहिनि ···'—'बैदेही' विदेह की पुण्य-मूर्त्ति अयोनिजा हैं। अतः, इनका मंडप भी अप्राकृत है, फिर उसे प्राकृत उपमादि सामग्री द्वारा कोई कवि कैसे कह सकता है ? 'अस मति कवि केही'—श्रीजानकीजी के मण्डप का कुछ वर्णन उनकी ही दी हुई बुद्धि से ग्रन्थकार ने किया है, यथा—"जनकसुता···जासु कृपा निर्मल मति पावउँ॥" (दो० १०)। अन्य कवियों को ऐसी मति नहीं मिली, इसीसे वे इतना नहीं कह सके। कन्या के पिता के यहाँ कन्या की ही प्रधानता होती है, इसलिये दुलहिनि का मण्डप प्रथम कहा गया।

(५) 'दूलह राम रूप-गुन-सागर।···'—रूप और गुण से ही ख्याति होती है। श्रीरामजी दोनों के सागर हैं, इनके सम्बन्ध से मण्डप की ऐसी शोभा क्यों न हो ? 'उजागर' (उत् = ऊपर, जागर = प्रकाशमान्) अर्थात् यह वितान तीनो लोकों के ऊपर दीप्तिमान् है।

यहाँ दूलह-दुलहिनि के वर्णन से मण्डप का पूरा स्वरूप वर्णन हुआ, क्योंकि ये ही उनके अधिष्ठातृ-देवता हैं। इनके विराजने पर मण्डपों की शोभा पूर्ण होगी।

जनक-भवन कै सोभा जैसी। गृह-गृह प्रति पुर देखिय तैसी ॥६॥
जेहि तिरहुति तेहि समय निहारी। तेहि लघु लाग भुवन दसचारी ॥७॥
जो संपदा नीच - गृह सोहा। सो बिलोकि सुरनायक मोहा ॥८॥

दोहा—बसइ नगर जेहि लच्छि करि, कपट नारि बर बेष।
तेहि पुर कै सोभा कहत, सकुचहिं सारद सेष ॥२८९॥

अर्थ—राजा जनक के महल की जैसी शोभा है, वैसी ही जनक-नगर के प्रत्येक घर में देखी जाती है ॥६॥ उस समय जिसने तिरहुत (मिथिला) को देखा, उसे चौदहो भुवन (ब्रह्माण्ड भर) तुच्छ (फीके)

लगे ॥७॥ जो सम्पदा नीच के घर की शोभा बढ़ा रही है, इसे देखकर देवराज इन्द्र भी मोहित होते हैं ॥८॥ जिस नगर में लक्ष्मीजी कपट से सुन्दर स्त्री का वेष धारण करके बसती हैं, उस नगर की शोभा कहते हुए शारदा और शेष सकुचाते हैं ॥२८६॥

विशेष—(१) 'जनक-भवन कै ···'—राजा जनक ने पूर्व महाजनों को—'हाट बाट मंदिर··· नगर सवारहु ···' की जो आज्ञा दी थी, वही कार्य यहाँ कहते हैं। पूर्व यह भी कहा गया है—"सूर सचिव सेनप बहुतेरे। नृप-गृह सरिस सदन सब केरे ॥" (दो० २१३), अब यहाँ उनका सजाव भी राजभवन के तुल्य कहा है। श्रीजनक-महल में दूलह-दुलहिन के मण्डप कहे गये, वैसे सबके भी घरों में हैं, वे भी सफल होंगे, क्योंकि अन्य रामायणों में लिखा है कि जितने कुमार श्रीअवधपुर से गये थे, उनका भी विवाह जनकपुर में ही हुआ है। वह भी—'गृह-गृह प्रति···' में ध्वनित है। 'भुवन दस चारी'— ऊपर के सात लोक (भूः, भुवः, स्वः, महः, जन, तपः, सत्य) और नीचे के सात लोक (तल, अतल, वितल, सुतल, तलातल, धरातल और पाताल)।

अलंकार—'उदात्त'—'जेहि तिरहुत···' 'जो संपदा ···' में।

(२) 'सो बिलोकि सुरनायक मोहा'—नीच आदि की सम्पत्ति देखकर इन्द्र का मोहना आश्चर्य सा है, उसपर दोहे में समाधान करते हैं—

(३) 'बसइ नगर जेहि···'—श्रीजानकीजी के अंश से अगणित लक्ष्मीजी होती हैं। अतः, अंशी-अंश अभेद से श्रीजानकीजी को भी लक्ष्मी कहा कि वे अपना ऐश्वर्य छिपाने के लिये स्वयं कपट से स्त्री का सुन्दर वेष धारण करके यहाँ बसती हैं। 'करि' से कर्मवश जन्म का निषेध कहा गया। श्रीजानकीजी की दृष्टि मात्र से लोकपाल होते हैं, यथा—"लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरे ॥" (अ० दो० १०३), तो उनके साक्षात्-निवास के संसर्ग से शोभा-सम्पदा का क्या कहना ?

यह भी कहा जाता है कि श्रीसीताराम का विवाह देखने के लिये यहाँ लक्ष्मीजी कपट से सुन्दर स्त्री का वेष धारण करके बसती हैं जो आगे कहा जायगा, यथा—सची सारदा रमा भवानी। जे सुरतिय सुचि सहज सयानी ॥ कपट नारि बर बेष बनाई। मिली सकल रनिवासहिं आई ॥" (दो० ३१०), उन्हीं-को लेकर यहाँ नगर का महत्त्व कहा गया है।

'सकुचहिं सारद सेष'—शारदा से सबसे ऊपर का ब्रह्मलोक और शेष से पाताल लोक नीचे का कहा गया। मर्त्यलोक में इनसे श्रेष्ठ वक्ता है ही नहीं। कहने की लालसा होती है, पर शोभा का अलगांश भी कहते नहीं बनेगा। अतः, वे सब सकुच जाते हैं।

पहुँचे दूत राम-पुर पावन। हरषे नगर बिलोकि सुहावन ॥१॥
भूपद्वार तिन्ह खबरि जनाई। दसरथ नृप सुनि लिये बोलाई ॥२॥
करि प्रनाम तिन्ह पाती दीन्ही। मुदित महीप आप उठि लीन्ही ॥३॥
बारि बिलोचन बाँचत पाती। पुलक गात आई भरि छाती ॥४॥
राम लखन उर कर बर चीठी। रहि गये कहत न खाटी मीठी ॥५॥

शब्दार्थ—पाती = पत्रिका। खाटी मीठी = बुरी-भली, अप्रिय-प्रिय।

अर्थ—(राजा जनक के) दूत श्रीरामजी के पवित्र नगर अयोध्या में पहुँचे, शोभायमान नगर को देखकर प्रसन्न हुए ॥१॥ उन दूतों ने राजा के द्वार (दरबार) पर से राजा दशरथ को सूचना दी। उन्होंने सुनकर बुला लिया ॥२॥ उन दूतों ने प्रणाम करके पत्रिका दी, आनन्द मन से राजा ने स्वयं उठकर उसे लिया ॥३॥ पत्रिका पढ़ते ही राजा की दोनों आँखों में आँसू भर आये, शरीर पुलकित हो गया और छाती

भर आई ॥४॥ श्रीराम-लक्ष्मण राजा के हृदय में हैं और हाथ में श्रेष्ठ चिट्ठी है (उसे हाथ में लिये) स्तब्ध रह गये, बुरा-भला कुछ नहीं कहते ॥५॥

विशेष—(१) 'पहुँचे दूत राम-पुर पावन।'—'रामपुर' कहा गया है, क्योंकि (क) दूत लोग श्रीरामजी से परिचित हैं, उनके पास से आ रहे हैं, उनकी दृष्टि से यहाँ ग्रन्थकार रामपुर कह रहे हैं। (ख) जैसे श्रीजनकपुर की शोभा-वर्णन के अन्त में—'बसइ नगर जेहि लच्छि···' कहा है, अर्थात् वहाँ का शोभाधिक्य श्रीजानकीजी के सम्बन्ध से है, वैसे यहाँ 'राम-पुर' कहकर शोभा के हेतु श्रीरामजी को जनाया। 'पावन' पुर का विशेषण है, यथा—"बंदउँ अवधपुरी अति पावनि।" (दो० १५), "पावनि पुरी रुचिर यह देसा।" (उ० दो० ३)। श्रीराम-पुर होने से तीर्थ-रूप है। अतः, पावन है और राजधानी के सम्बन्ध से नगर है, वह सुहावन है। तीर्थ पवित्र होते हैं, पर यह नियम नहीं है कि वहाँ सुन्दरता भी हो ही। यहाँ दोनों हैं। पूर्वार्द्ध में शान्त रस की शोभा और उत्तरार्द्ध में शृंगार रस की पूर्णता कही गई है। 'हरषे नगर बिलोकि···'—ये जनकपुर के रहनेवाले हैं, वहाँ की रचना पर—'मन बिरंचि कर भूल' 'जो बिलोकि सुरनायक मोहा।' कहा गया है। वैसी अयोध्या की शोभा देखी। अतः, हर्ष हुआ कि योग्य सम्बन्ध होगा। श्रीअवध की शोभा पर भी ब्रह्माजी और इन्द्रादिक का मोहना कहा गया है, यथा—"देखत अवध को आनंद···" (गी० उ० २३)—यह पूरा पद देखना चाहिये।

(२) 'भूपद्वार तिन्ह···'—राजा ने द्वारपालों से सुना और तुरत बुलाया, जैसे श्रीराम-लक्ष्मण का सन्देश जाना कि शीघ्र बुलाया और द्वारपालों ने लौटकर कहा, तुरन्त ही दूत लोग राजा के पास आये। वैसी ही शीघ्रता कवि ने भी की कि एक ही अर्द्धाली में सब कह दिया।

(३) 'करि प्रनाम तिन्ह पाती···'—अपना नाम-ग्राम आदि प्रथम ही द्वारपालों से कहला भेजे थे, इससे यहाँ केवल प्रणाम करके पाती (पत्रिका) देना ही कहा गया। गीतावली में श्रीशतानन्दजी का आना लिखा है, पर यहाँ के—'करि प्रनाम' से उसका निराकरण है।

'मुदित महीप आप···'—अत्यन्त वात्सल्य में श्रीराम-प्रेम वश इतना विलम्ब नहीं सह सके कि मन्त्री लेकर वाचें एवं पहुँचावें, प्रत्युत स्वयं उठकर लिया। यह भी कहा जाता है कि राजा जनक योगिराज भी हैं। अतः, उन्हें आदर देने को उनका भेजा हुआ पत्र स्वयं ही उठकर लिया।

(४) 'बारि बिलोचन बाँचत ···'—यहाँ राजा के प्रेम की उत्कृष्ट दशा प्रकट हुई, यथा—"तासु दसा देखी सखिन्ह, पुलक गात जल नैन।" (दो० २२८), छाती भर आई अर्थात् कंठ गद्गद हो गया, प्रेम से विह्वल हो गये। अतः, वचन नहीं कह सकते। सभा के लोग राजा की दशा पर बुरे-भले, दोनों की तर्कना करते हैं, पर राजा कुछ कह न सके। खट्टा-मीठा बुरे-भले के लिये मुहावरा है। श्रीराम-लक्ष्मण के समाचार पढ़ते ही उनका ध्यान हृदय में आ गया, राजा ज्यों-के-त्यों स्तब्ध रह गये।

(५) 'बर चीठी'—क्योंकि इसमें श्रीराम-लक्ष्मण का यश है। अतः, श्रीरामजी से भी अधिक है, यथा—"प्रभुते प्रभु-चरित पियारे।" (गी० बा० ४४)। पुनः, इसीसे ध्यान छोड़कर चरित बाँचा, यथा—"मगन ध्यान रस···हरषित बरने लीन्ह" (दो० १११) "जीवन्मुक्त ब्रह्मपर, चरित सुनहिं तजि ध्यान।' (उ० दो० ४२)।

'खाटी मीठी'—पर कहा जाता है कि ताटका-वध, यज्ञ-रक्षा, अहल्या-उद्धार, धनुर्भंग, परशुराम-पराजय और विवाह—ये ही (छः—षट् = षट्—मीठी एवं) खट्टी-मीठी बातें हैं। यहाँ प्रत्येक में प्रथम अप्रिय, फिर प्रिय बातें हैं—जैसे ताटका खाने दौड़ी—यह खट्टी, उसे एक ही बाण में मारा—यह मीठी, यज्ञ-रक्षा में मारीच आदि से युद्ध हुआ—यह खट्टी, उन्हें मारकर सुयश पाया—यह मीठी, अहल्या को निर्जन वन में पत्थर बनी देखा - यह खट्टी, उसका उद्धार किया—यह मीठी, धनुष की कठोरता का वर्णन

एवं रावण आदि का उससे हारना—यह खट्टी, उसे क्षण भर में तोड़ बहाया—यह मीठी, परशुराम क्रोध-पूर्ण आये—यह खट्टी, शस्त्र देकर प्रणाम करके गये—यह मीठी। आप बरात सजकर आवें—यह मीठी !!

पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची। हरषी सभा बात सुनि साँची ॥६॥
खेलत रहे तहाँ सुधि पाई। आये भरत सहित हित भाई ॥७॥
पूछत अति सनेह सकुचाई। तात कहाँ ते पाती आई ॥८॥

दोहा—कुसल प्रानप्रिय बंधु दोउ, अहहिं कहहु केहि देस।
सुनि सनेह-साने बचन, बाँची बहुरि नरेस ॥२९०॥

अर्थ—फिर धैर्य धरकर चिट्ठी पढ़ी, सारी सभा (उसमें लिखी हुई) सच्ची बात सुनकर प्रसन्न हुई ॥६॥ जहाँ खेल रहे थे वहीं श्रीभरतजी ने समाचार पाया तब वे मित्रों और भाई शत्रुघ्न के साथ (दौड़े) आये ॥७॥ अत्यन्त प्रेमपूर्वक सकुचते हुए पूछते हैं कि हे तात! यह चिट्ठी कहाँ से आई है? ॥८॥ कहिये तो प्राणप्यारे दोनों भाई कुशल से तो हैं? और वे किस देश में हैं? ऐसे प्रेम में सने हुए वचन सुनकर राजा ने पत्रिका फिर से पढ़ सुनाई ॥२९०॥

विशेष—(१) 'हरषी सभा बात सुनि साँची।'—इससे जान पड़ता है कि पहले भी कुछ उड़ती हुई खबर मिलती थी, पर आज लिखित प्रामाणिक समाचार आये, इससे सभा भर को हर्ष हुआ।

(२) 'आये भरत सहित हित भाई।'—'हित' का अर्थ सखा है, सखाओं के साथ खेल रहे थे, यथा—"नहिं आवहिं तजि बाल-समाजा।" (दो० २०२), वे सब सखा भी श्रीरामजी के प्रेमी हैं। अतः, श्रीभरतजी के साथ सब हो लिये और खेल छोड़कर दौड़े आये।

(३) 'पूछत अति सनेह सकुचाई।'—श्रीभरतजी का स्वभाव संकोचयुक्त है, यथा—"महूँ सनेह सँकोच-बस, सनमुख कही न बैन।" (अ० दो० २६०), "तब मुनि बोले भरत सन, सब सँकोच तजि तात।" (अ० दो० २५९), किन्तु यहाँ स्नेह की अधिकता ने संकोच को जीत लिया कि बिना पूछे नहीं रहा गया। प्रश्न का उत्तर तो इतने ही में हो जाता कि जनकपुर से पाती आई है, वहीं पर कुशल से दोनों भाई हैं, पर इनका स्नेह देखकर राजा ने विचारा कि बिना पूरा सुने सन्तोष न होगा। अतः, फिर से पढ़ सुनाया। गी० बा० १०६ में भी देखिये।

'प्रान-प्रिय'—प्राणों से प्रिय और कुछ भी नहीं है, यथा—"देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।" (दो० २०७), श्रीराम-लक्ष्मण भरतजी को प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं।

सुनि पाती पुलके दोउ भ्राता। अधिक सनेह समात न गाता ॥१॥
प्रीति पुनीत भरत कै देखी। सकल सभा सुख लहेउ बिसेखी ॥२॥
तब नृप दूत निकट बैठारे। मधुर मनोहर बचन उचारे ॥३॥
भैया कहहु कुसल दोउ बारे। तुम नीके निज नयन निहारे ॥४॥
स्यामल गौर धरे धनु-भाथा। बय किसोर कौसिक मुनि साथा ॥५॥
पहिचानहु तुम्ह कहहु सुभाऊ। प्रेमबिबस पुनि पुनि कह राऊ ॥६॥
जा दिन ते मुनि गये लिवाई। तब ते आजु साँचि सुधि पाई ॥७॥
कहहु बिदेह कवन बिधि जाने। सुनि प्रिय बचन दूत मुसुकाने ॥८॥

उनके विषय में हे नाथ! आप पूछते हैं कि उनको कैसे पहचाना? क्या हाथ में दीपक लेकर सूर्य देखा जाता है? ॥३॥ सीताजी के स्वयंवर में अनेक राजा और एक-से-एक अधिक सुभट एकत्र हुए ॥४॥ महादेवजी के धनुष को कोई न हटा सके, सभी बली वीर हार गये ॥५॥ तीनो लोकों में जो-जो अभिमानी सुभट थे, उन सबकी शक्ति को शिवजी के धनुष ने तोड़ डाला ॥६॥ जो बाणासुर सुमेरु पर्वत को उठा सकता था वह भी हृदय से हारकर परिक्रमा (वा युक्ति—बहाना) करके चला गया ॥७॥ जिस रावण ने खेल-ही-खेल में कैलासपर्वत को उठा लिया था, उसने भी उस सभा में हार मानी ॥८॥ वहाँ (उस सभा में) हे महाराजाधिराज! सुनिये, रघुकुल शिरोमणि श्रीरामजी ने धनुष को बिना परिश्रम के ऐसे तोड़ डाला, जैसे हाथी कमल की दण्डी को (तोड़ता है) ॥२६२॥

विशेष—(१) 'पूछन जोग न तनय···'—इस तरह के प्रश्नों से वे पूछने के योग्य नहीं हैं, क्योंकि वे सिंह के तुल्य हैं, सिंह के समान सामर्थ्यवान् और प्रतापी हैं, सिंह जिधर जा निकलता है उधर स्वयं हल्ला हो जाता है। सब जान जाते हैं, उसके प्रताप से सब दब जाते हैं। ऐसे ये आपके कुमार अपने यश-प्रताप-रूप के उजाले से तीनो लोकों को प्रकाशित करनेवाले हैं। आपके पुत्रों ने अपने सामर्थ्य सम्बन्धी तेज-प्रताप से तीनो लोकों में उजाला कर दिया। इसीकी व्याख्या अगली अर्द्धाली में है।

(२) 'जिन्हके जस प्रताप के···'—यहाँ यथासंख्यालंकार से यश को चन्द्रमा से और प्रताप को सूर्य से उपमित किया है, यथा—"नव बिधु बिमल तात जस तोरा। (अ० दो० २०८), "जब ते राम-प्रताप खगेसा। उदित भये अति प्रबल दिनेसा॥" (उ० दो० ३०), "काम से रूप प्रताप दिनेस से···" (क० उ० ४३), इनके यश के आगे चन्द्रमा फीके और प्रताप के सामने सूर्य ठंढे लगते हैं तो और कौन है जो समता कर सके? यहाँ प्रतीप अलंकार है। कोई-कोई यहाँ 'व्यतिरेक' मानते हैं, क्योंकि यहाँ उपमान में उपमेय से हीनता दिखाई गई है।

यहाँ बाहु-बल के अभिमानी राजा लोग चन्द्रमा-रूप थे—"नृप भुज-बल बिधु सिव-धनु राहू।" (दो० २४९), वे सब मलिन पड़ गये—"श्रीहत भये भूप धनु टूटे।" (दो० २५२), और सूर्यवत् प्रतापी परशुरामजी आये—"आये भृगुकुल कमल पतंगा।" (दो० २५७), वे प्रथम तपते हुए आये, फिर ठण्ढे होकर गये—"छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता।" (दो० २८४)।

(३) 'तिन्ह कहँ कहिय नाथ···'—छिपी हुई वस्तु दीपक से देखी जाती है, चन्द्रमा और सूर्य की तरह जिनका यश और प्रताप है, उनके पहचानने के लिये विदेह को अपने ज्ञान-दीपक की आवश्यकता नहीं पड़ी। यह—'कहहु बिदेह कवन···' के प्रति है, वा, राजा ने कहा था—'पहिचानहु तुम्ह कहह सुभाऊ।' तदनुसार उनके कहे हुए उपाय—"स्यामल गौर धरे धनु भाथा। बयकिसोर कौसिक मुनि साथा॥" आदि दीपक तुल्य हैं।

(४) 'सीय-स्वयंबर भूप···'—एक-से-एक अधिक बलवाले सुभट चारों ओर से एक ही दिन जुड़ आये, सबके आने का कारण सीय-स्वयंवर था, यथा—"दीप-दीप के भूपति नाना। आये सुनि हम जो पन ठाना॥ देव दनुज धरि मनुज-सरीरा। बिपुल बीर आये रनधीरा॥" (दो० २५०)। 'एक ते एका'—एक उठा, उसके हारने पर उससे अधिक बलवाला उठा, इस क्रम से एवं सबका साथ उठना भी ले सकते हैं।

(५) 'संभु-सरासन काहु न टारा'—'टारा' यथा—"तिल भरि भूमि न सकेउ छुड़ाई।" (दो० २५१)। 'हारे सकल बीर···' यथा—"भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरइ न टारा॥" (दो० २५०)। 'हारे', यथा—"कीरति बिजय बीरता भारी। चले चाप कर बरबस हारी॥" (दो० २५०)।

'तीनि लोक महँ जे·····'—ये शिव-धनुष तोड़ने को अभिमान करके चले, पर शिव-धनुष ने ही इनकी शक्ति तोड़ डाली।

(६) 'सकइ उठाइ सरासुर·····'—'सकइ' मेरु को उठाया नहीं, पर उठा सकता है। उपर्युक्त—'सकल बीर' में भट, 'भट मानी' में सुभट और ये बाणासुर-रावण महाभट हैं, यथा—"रावन बान महाभट भारे।" (दो० २४९)।

(७) 'तहाँ राम रघुबंस-मनि···'—दोनों भाई रघुबंश-मणि हैं, उनमें 'राम' कहकर तोड़नेवाले को स्पष्ट किया। उपक्रम में—'सुनहु महीपति-मुकुटमनि' कहा, उपसंहार में 'सुनिय महामहिपाल' कहा है। उपक्रम और उपसंहार में चक्रवर्त्तीजी की बड़ाई के कारण साथ ही लिखे हैं—'राम लखन जिन्हके तनय' 'राम रघुबंसमनि···भंजेउ चाप'। 'प्रयास बिनु'—अर्थात् और राजा लोग श्रम करके भी कुछ न कर सके, इन्होंने बिना श्रम ही तोड़ा—"छुवतहिं टूट पिनाक" (दो० २८२), 'जिमि गज पंकज नाल', यथा—"तौ सिव-धनु मृनाल की नाईं। तोरहु राम गनेस गोसाईं॥" (दो० २५४), ये जनकपुर-वासियों के वचन हैं। ये दूत भी उन्हीं में से हैं। अतः, वही भाव कह रहे हैं।

सुनि सरोष भृगुनायक आये। बहुत भाँति तिन्ह आँखि देखाये॥१॥
देखि रामबल निज धनु दीन्हा। करि बहु बिनय गवन बन कीन्हा॥२॥
राजन राम अतुल बल जैसे। तेजनिधान लखन पुनि तैसे॥३॥
कंपहिं भूप बिलोकत जाके। जिमि गज हरिकिसोर के ताके॥४॥
देव देखि तव बालक दोऊ। अब न आँखि तर आवत कोऊ॥५॥

अर्थ—(धनुर्भंग) सुनकर क्रोध-भरे परशुरामजी आये और उन्होंने बहुत तरह से आँखें दिखाईं॥१॥ श्रीरामजी का बल देखकर उन्होंने अपना धनुष दिया और बहुत विनय करके वन को चले गये॥२॥ हे राजन्! जैसे श्रीरामजी अतुलित बली हैं, वैसे ही तेजोनिधान फिर लक्ष्मणजी भी हैं॥३॥ जिनके देखते ही (दृष्टि मात्र से) राजा लोग ऐसे काँपते हैं, जैसे सिंह के नवयुवक बच्चे के देखने पर हाथी काँपे॥४॥ हे देव! आपके दोनों बालकों को देखकर अब और कोई आँखों के तले (सामने) नहीं आता (सुहाता)॥५॥

विशेष—(१) 'सुनि सरोष भृगुनायक···'—'सुनि', यथा—"तेहि अवसर सुनि सिवधनु भंगा। आये···" (दो० २६७), 'सरोष' के साथ 'भृगुनायक' देकर जनाया कि जैसे भृगु क्रुद्ध होकर विष्णु भगवान् को मारने गये थे, वैसे ये भी आये। 'बहुत भाँति तिन्ह···', यथा—"बोले चितइ परसु की ओरा।" (दो० २७२), फिर स्वयं बोलता कही, कौशिक से भी कहा—"कहि प्रताप बल रोष हमारा।" (दो० २७४), फिर फरसे की घोरता बतलाई—"परसु मोर अति घोर।" (दो० २७२), पुनः—"चाप-श्रुवा···" से—"समर जज्ञ जग···" (दो० २८४), तक, इत्यादि कहे, तथा—"काल कराल नृपालन के धनु-भंग सुने फरसा लिये धाये।··· महा रिसि ते पुनि आँखि देखाये॥" (क० वा० २२), अर्थात् बहुत तरह से डरवाना चाहा।

(२) 'देखि राम-बल निज धनु···'—उन्हें पहले अपने बल का मद था, जब वह क्रमशः क्रोध द्वारा घट गया, यथा—"रिस तन जरइ होइ बल हानी।" (दो० २७७), तब श्रीरामजी का बल उन्हें देख पड़ा, तब रमापति का शार्ङ्ग धनुष चढ़ाने को देकर सन्देह मिटाना चाहा—"देत चाप आपुहि चलि गयेऊ।" पर बल का निश्चय हो गया, तो वही शार्ङ्ग-धनुष श्रीरामजी को दे डाला। इस तरह अपना धनुष (हथियार) शत्रु को देना अपनी पूर्णतया हार को स्वीकार करना है, यथा—"विजिताश्चारयो ह्येते शस्त्रोत्सर्गान्मृतोपमाः॥" (महा० द्रोण० २००।२९), अर्थात् शत्रुओं ने जब पराजित होकर शस्त्र त्याग दिया है, तब उन्हें मरा हुआ ही जानना चाहिये यह अश्वत्थामा ने दुर्योधन से कहा है।

(३) 'राजन राम अतुल बल ···'—दूतों ने धनुष तोड़ने से श्रीरामजी का अतुल बल देखा, यथा—"तब भुज-बल-महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी॥" (दो० २३८), लक्ष्मणजी का तेज देखा, यथा—"कुँवर चढ़ाई भौंहें अब को बिलोकै सौंहें जहाँ-तहाँ भे अचेत खेत के से धोखे हैं।" (गी० बा० ९३)। यही आगे—'कंपहि भूप ' से कहते हैं। पुनः जैसे अतुलबल राम हैं, वैसे तेजोनिधान लक्ष्मणजी भी हैं, इस तरह बल और तेज दोनों भाइयों में कहा, यथा—"सुनु पति जिन्हहिं मिला सुग्रीवा। ते दोउ बंधु तेज बल सींवा॥" (कि० दो० ६)।

अलंकार— 'प्रतिवस्तूपमा'।

'जिमि गज हरिकिसोर·····', यथा—"अरुन नयन भृकुटी कुटिल, चितवत नृपन्ह सकोप। मनहुँ मत्त गजगन निरखि, सिंह-किसोरहिं चोप॥" (दो० २६७), किशोर अवस्था के सिंह में उत्साह अधिक होता है, उपमेय लक्ष्मणजी भी किशोर ही हैं।

(४) 'देव देखि तव बालक दोऊ ·····', ऐसे पुत्रों के सम्बन्ध से आप देव-रूप हैं, जब से आपके पुत्रों को देखा है, तब से आँखों के सामने पृथ्वी भर में और वीर देख ही नहीं पड़ता। प्रथम राजकुमारों को सूर्य-रूप कह आये—"देखिय रवि कि दीप कर लीन्हे।" जो सूर्य को देखता है, उसे और कोई नहीं दिखाई देता। यह—'तुम्ह नीके निज नयन निहारे।' का उत्तर है।

दूत-बचन-रचना प्रिय लागी। प्रेम प्रताप-बीर - रस - पागी॥६॥
सभासमेत राउ अनुरागे। दूतन्ह देन निछावरि लागे॥७॥
कहि अनीति ते मूँदहिं काना। धरम बिचारि सबहिं सुखमाना॥८॥

दोहा—तब उठि भूप बसिष्ठ कहँ, दीन्हि पत्रिका जाइ।
कथा सुनाई गुरुहि सब, सादर दूत बोलाइ॥२९३॥

अर्थ—इस प्रकार दूतों के प्रेम, प्रताप और वीर रस में सने हुए वचनों की रचना दशरथजी को प्यारी लगी॥६॥ सभा के साथ महाराजा अनुराग-पूर्ण हुए और दूतों को न्योछावर देने लगे॥७॥ तब उन्होंने 'यह अनीति है'—यह कहकर (हाथों से) कान बन्द कर लिये, (इसपर) धर्म विचारकर सभी ने सुख माना॥८॥ तब राजा ने उठकर श्रीवसिष्ठजी के पास जा उनको चिट्ठी दी और दूतों को आदर-पूर्वक बुलाकर श्रीगुरुजी को सारी कथा आदरपूर्वक सुनाई॥२९३॥

विशेष—(१) 'दूत-बचन-रचना ···'—महाराज ने मधुर मनोहर वचन कहे थे, उत्तर में दूतों ने भी प्रेम, प्रताप और वीर-रस में पगे हुए वचन कहे हैं, इन वचनों में—"सुनहु महीपति मुकुटमनि।" से—"पुरुष सिंह तिहुँ पुर उँजियारे॥" तक विशेष प्रेम रस के पगे, "जिनके जस प्रताप के आगे।" से—"देखिय रवि कि दीप कर लीन्हे॥" तक प्रताप रस के पगे, और "सीय स्वयंबर भूप अनेका।" से—"अब न आँखितर आवत कोऊ॥" तक वीर रस के पगे वचन हैं। यों तो समष्टि में सभी वचन प्रेम आदि रसों से पगे हैं। 'बचन रचना'—युक्ति-पूर्वक क्रमशः लचीले शब्दों से सभ्यता के साथ कहना।

'दूतन्ह देन निछावरि लागे।'—दूतों ने बहुत-सी मंगलमयी प्रिय बातें एक साथ ही सुनाईं, जिन एक-एक बातों पर न्योछावर करना योग्य था। जैसे धनुष टूटने पर जनकपुर-वासियों ने किया है, यथा—"करहिं निछावरि लोग सब, हय गय धन मनि चीर।" (दो० २६२)। पुनः "प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाये। भूषन बसन भूरि तिन्ह पाये।" (अ० दो० ७), इन लोगों के समक्ष तो ये सब बातें मानों अभी ही हुई हैं। अतः, सभी अनुराग-युक्त हुए और न्योछावर देने लगे।

(२) 'कहि अनीति ते···'—ये दूत लोग राजा जनक के मन्त्रि-वर्ग हैं, यथा—"कौशिकस्तु तथेत्याह राजा चाभाष्य मन्त्रिणः । अयोध्यां प्रेषयामास" (वाल्मी० १।६७।२७), इससे ये राजा के सखा के तुल्य हैं, जैसे सुमन्त्र मन्त्री को राजा दशरथ सखा कहते थे । अतः, ये दूत श्रीजानकीजी को कन्या के समान मानते हैं । कन्या की ससुराल के ग्राम का, लोग जल तक नहीं पीते, यह भारतवर्ष के धार्मिकों का नियम है, फिर ये लोग द्रव्य कैसे लें ? अतः, कान मूँदते हैं कि लेने की बात तो दूर है, हमलोग कानों से भी सुनना नहीं चाहते, क्योंकि यह हमारे धर्म के विरुद्ध है ।

'तब उठि भूप···'—गुरुजी सभा में न थे, प्रेम के मारे राजा स्वयं अकेले ही गुरुजी के पास चले गये । 'उठि'—क्योंकि दूतों से चिट्ठी लेकर बैठ गये थे । 'सादर' दीपदेहली रूप से कथा सुनाने और दूत बुलाने में भी है । दूतों को इससे बुलाया कि सब बातें उनके सामने की हैं, पुनः वे उसे प्रेम, प्रताप और वीर रस से मिलाकर कहेंगे, यही सादर सुनाना है । दूतों को सादर बुलाना श्रीराम-सन्देश लाने के सम्बन्ध से है । राजा ने गुरु से स्वयं नहीं कहा, क्योंकि बड़ों के सामने पुत्रों का यश कहना अनुचित है ।

सुनि बोले गुरु अति सुख पाई । पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई ॥१॥
जिमि सरिता सागर महँ जाहीं । जद्यपि ताहि कामना नाहीं ॥२॥
तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाये । धरमसील पहिं जाहिं सुभाये ॥३॥
तुम्ह गुरु - बिप्र - धेनु-सुर-सेवी । तसि पुनीत कौसल्या देवी ॥४॥
सुकृती तुम्ह समान जग माहीं । भयेउ न है कोउ होनेउ नाहीं ॥५॥
तुम्ह ते अधिक पुन्य बड़ काके । राजन राम-सरिस सुत जाके ॥६॥
बीर बिनीत धरम - ब्रत - धारी । गुनसागर बर बालक चारी ॥७॥
तुम्ह कहँ सर्वकाल कल्याना । सजहु बरात बजाइ निसाना ॥८॥

दोहा—चलहु बेगि सुनि गुरुबचन, भलेहि नाथ सिर नाइ ।
भूपति गवने भवन तब, दूतन्ह बास देवाइ ॥२९४॥

अर्थ—(कथा) सुनकर गुरुजी अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले कि पुण्यात्मा पुरुषों के लिये सारी पृथ्वी सुख से छाई हुई है ॥१॥ जैसे नदियाँ (स्वयं) सागर में जाती हैं, यद्यपि उसे इनकी कामना नहीं रहती ॥२॥ वैसे ही सुख-सम्पत्ति बिना बुलाये स्वाभाविक ही धर्मात्मा के पास जाती हैं ॥३॥ जैसे आप गुरु, ब्राह्मणों, गायों और देवताओं की सेवा करनेवाले हैं, वैसी ही पवित्र (आचरण करनेवाली) कौसल्या देवी भी हैं ॥४॥ संसार में आपके समान सुकृती न कोई हुआ, न है और न होनेही वाला है ॥५॥ हे राजन् ! आपसे अधिक बड़ा पुण्य और किसका है कि जिनके राम के समान पुत्र हैं ॥६॥ आपके वीर, विशेष नम्र और धर्म के व्रत धारण करनेवाले, गुणों के सागर श्रेष्ठ चार बालक हैं ॥७॥ आपको सभी (भूत, वर्त्तमान और भविष्य तीनों) कालों में कल्याण है । अतः, डंका बजाकर बरात सजिये ॥८॥ शीघ्र चलिये, (यह) गुरुजी के वचन सुनकर, सिर नवा 'नाथ ! बहुत अच्छा' ऐसा कह और दूतों के ठहरने का प्रबन्ध करके महाराजा अपने महल में गये ॥२९४॥

विशेष—(१) 'सुनि बोले गुरु अति···'—पत्रिका देखी और दूतों से संवाद भी सुना, इससे इन्हें अति सुख हुआ, जैसे पूर्व राजा का सुख होना कहा गया । 'अति' न होने से सब सभा के समान ही इनका सुख भी समझा जाता । 'छाई'—सर्वत्र सुख-ही-सुख है ।

(२) 'जिमि सरिता ' तिमि सुख ···', यथा—"भुवन चारिदस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी ॥ रिधि सिधि संपति नदी सुहाई। उमँगि अवध-अंबुधि कहँ आई ॥" (अ० दो० १), 'यद्यपि ताहि कामना नाहीं।' यथा—"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।" (गीता० २।७०)। भाव यह भी है, कामनावालों को सम्पत्ति प्रायः नहीं मिलती, यथा—"दिये पीठ पाछे लगे, सनमुख होत पराय। तुलसी संपति छाँह ज्यों, लखि दिन बैठ गँवाय ॥' (दोहावली २५७)।

(३) 'बिनहिं बुलाये' अर्थात् अभीष्ट-सिद्धि तो होती है, न चाहने पर भी सुख-साज हो जाते हैं।

(४) 'तुम्ह गुरु-बिप्र-धेनु ·····'—ऊपर सुकृत का फल कहा अब सुकृत का स्वरूप कहते हैं, साथ ही कौसल्याजी को भी कहते हैं, क्योंकि उपर्युक्त फल दोनों के सुकृतों के फल हैं, पहले सुकृत किये थे, फल पाकर पूर्व स्वभावानुसार फिर भी सुकृत ही करते हैं।

(५) 'तुम्हते अधिक पुन्य ···'—प्रथम कह चुके कि तीनों कालों में आपके समान सुकृती नहीं है, अब उसका प्रमाण देते हैं कि—'राम सरिस सुत जाके'। फल देखकर सुकृत का अनुमान किया जाता है, परब्रह्म परमात्मा रामजी स्वयं पुत्र होकर फल रूप में प्राप्त हुए, यथा—"दसरथ सुकृत राम धरे देही।" (दो० ३०९), अन्यत्र भी कहा है, यथा—"दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिक कहाँ जेहि सम जग नाहीं ॥ जासु सनेह सकोच बस, राम प्रगट भये आय।" (अ० दो० २०९), इसपर सन्देह होता, कि केवल श्रीराम ही सुकृत के फल होंगे। अतः, आगे चारो भाइयों को कहते हैं—

(६) 'बीर बिनीत धरम ब्रतधारी।·····'—धनुष तोड़ना वीरता है, परशुराम के कठोर वचन सहना विनीत भाव और मुनि के यज्ञ की रक्षा आदि धर्म के कार्य हैं, गुण, यथा—"गुन सागर नागर बर बीरा।' (दो० २४०), "चारिउ सील रूप गुन धामा।" (दो० १९७), पुनः भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न की वीरता क्रमशः हनुमानजी को बिना फर के बाण से गिराने, मेघनाद वध और लवणासुर के वध से प्रसिद्ध है, तथा—"भरतहिं धरम धुरंधर जानी।" (अ० दो० २५८)। ग्रन्थ में शेष सब बातें सब भाइयों की बहुत हैं।

(७) 'तुम्ह कहँ सर्बकाल ·····'—ईश्वर ने ही जिनके अधीन होकर पुत्रत्व स्वीकार किया है, उनके कल्याण में प्रतिकूल भी काल आदि अनुकूल हो जायँगे, यथा—"माया जीव काल के करम के सुभाय के करैया राम वेद कहैं साँची मन गुनिये।" (हनु० बाहुक ४४)। इससे जान पड़ता है कि ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से अगहन मास ज्येष्ठ पुत्र के विवाह के लिये निन्दित है, राजा के हृदय में यह खटका था, उसपर गुरुजी ने ऐसा कहा।

(८) 'चलहु बेगि सुनि·····'—'बेगि'—क्योंकि सभी अवधवासी दोनों भाइयों के दर्शनों के लिये उत्सुक हैं, यथा—"सबके उर निर्भर हरष, पूरित पुलक सरीर। कबहिं देखिबे नयन भरि, राम लखन दोउ बीर ॥" (दो० ३००)। पुनः दूत लोगों ने भी शीघ्रता की प्रार्थना की थी। 'दूतन्ह'—क्योंकि कई दूत आये थे।

राजा सब रनिवास बोलाई। जनकपत्रिका बाँचि सुनाई ॥१॥
सुनि संदेस सकल हरषानी। अपर कथा सब भूप बखानी ॥२॥
प्रेमप्रफुल्लित राजहिं रानी। मनहुँ सिखिनि सुनि बारिदबानी ॥३॥

शब्दार्थ—रनिवास = रानियों के रहने के महल, पर यहाँ सब रानियों से तात्पर्य है, यथा—"आयो जनक राज रनिवासू।" (अ० दो० २८०), "मन जोगवत रह नृप रनिवासू।" (दो० ३५१)।

अर्थ—राजा दशरथ ने सारे रनिवास को बुला श्रीजनकजी की चिट्ठी बाँचकर सुनाई ॥१॥ समाचार सुनकर सब प्रसन्न हुईं, (फिर) और कथा (जो दूतों से सुनी थी) राजा ने कही ॥२॥ रानियाँ

प्रेम से प्रफुल्लित (प्रसन्नचित्त) ऐसी शोभायमान हो रही हैं, मानों मेघों के शब्द सुनकर मोरनी (सुखी हो) ॥३॥

विशेष—(१) 'राजा सब रनिवास बोलाई···'—सबको बुला लिया, तब बाँचा, नहीं तो पीछे आनेवाली के लिये, फिर पढ़ना पड़ता। 'जनकपत्रिका'—क्योंकि उसमें जनकजी की बड़ी प्रार्थना है, वह मुखाग्र कहने से यथार्थ नहीं बनती। अतः, उसे बाँच कर सुनाया। 'सकल'—सब आ गई थीं, पुनः सबके हृदय में श्रीराम लक्ष्मण पर स्नेह है। अतः, हर्षित हुईं। 'अपर कथा'—'सीय स्वयंबर भूप अनेका।' से—'जिमि गज हरि···' तक।

'प्रेम प्रफुल्लित', यथा—"बारि बिलोचन बाँचत पाती। पुलक गात आई भरि छाती॥" (दो० २८९), अर्थात् राजा के समान ही इनका भी प्रेम है।

'मनहु सिखिन···'—जैसे ग्रीष्म से तप्त मोरनी मेघों के शब्द सुन और पावस के जल को पाकर शीतल होती है, वैसे ये रानियाँ श्रीराम-लक्ष्मण के वियोग रूपी ग्रीष्म को तपी हुई थीं, यथा—"मेरे बालक कैसे धौं मग निबहैंगे।·····तुलसी निरखि हरषि उर लैहौं बिधि ह्वै है दिन सोऊ॥" (गी० बा० ९७), "सिरस-सुमन-सुकुमार कुँवर दोउ, सूर सरोष सुरारी। पठए बिनहि सहाय पयादेहि केलि बान धनु धारी॥ अति सनेह कातरि माता कहैं, सुनि सखि बचन दुखारी।···" (गी० बा० ९८), "जबते लै मुनि संग सिधाए। राम लखन के समाचार, सखि! तबते कछुअ न पाए॥···" (गी० बा० ९९)—इन तीनो पदों में माताओं की विरह दशाएँ स्पष्ट हैं। राजा के मधुर गम्भीर स्वर से भाषण-रूप मेघ-गर्जन सुनकर और श्रीराम सुयश-रूपी जल पाकर शीतल एवं प्रफुल्ल हुईं। 'बारिद' अर्थात् जो वारि (जल) दे, यथा—"बरषहिं राम सुजस बर बारी।" (दो० ३५), राजा का भाषण मेघ-गर्जन के समान होता भी था, यथा—"दुन्दुभिस्वरकल्पेन गम्भीरेणानुनादिना। स्वरेण महता राजा जीमूत इव नादयन्॥" (वाल्मी० २।२।२)।

मुदित असीस देहिं गुरुनारी। अति-आनंद-मगन महतारी॥४॥
लेहिं परसपर अति प्रिय पाती। हृदय लगाइ जुड़ावहिं छाती॥५॥
राम-लखन कै कीरति करनी। बारहिं बार भूपवर बरनी॥६॥
मुनिप्रसाद कहि द्वार सिधाये। रानिन्ह तब महिदेव बोलाये॥७॥
दिये दान आनंद-समेता। चले बिप्रबर आसिष देता॥८॥

अर्थ—गुरु-नारियाँ प्रसन्न मन से आशीर्वाद दे रही हैं, माताएँ अत्यन्त आनन्द में निमग्न हो गई हैं॥४॥ उस अत्यन्त प्यारी पत्रिका को एक-दूसरी से ले-लेकर हृदय से लगा-लगाकर छाती ठंढी करने लगीं॥५॥ महाराजा ने श्रीराम-लक्ष्मण की कीर्त्ति और करणी का वर्णन बारंबार किया॥६॥ 'सब मुनि के अनुग्रह से हुआ' ऐसा कहकर महाराजा द्वार पर गये, उधर रानियों ने ब्राह्मणों को भीतर बुलवाया॥७॥ और आनन्दपूर्वक दान दिया, वे ब्राह्मण श्रेष्ठ आशीर्वाद देते हुए चले॥८॥

विशेष—(१) 'मुदित असीस देहिं ·'—'देहिं' बहुवचन के योग से गुरु-नारी शब्द बहुत गुरु-पत्नियों का बोधक है, इससे गुरु वसिष्ठ की स्त्री अरुन्धतीजी के अतिरिक्त और गुरु वर्ग (ब्राह्मणों एवं कुल वृद्धों) की स्त्रियों को भी जनाया है, अथवा आदरार्थ भी बहुवचन का प्रयोग होता है, गुरु-नारी का आशीर्वाद अमोघ है। अतः, माताओं को 'अति आनंद' हुआ। समाचार से आनन्द और आशीर्वाद से अति आनन्द हुआ।

(२) 'लेहिं परसपर अति···'—दोनों पुत्र अत्यन्त प्रिय ह.. यथा—[illegible] मोहि प्रान कि

नाईं।" (दो० २०७), इस पत्र में उनके चरित हैं। अतः, यह भी 'अति प्रिय' है। प्रिय के सम्बन्ध की वस्तु भी वैसी ही प्रिय होती है, यथा—"राम सखा सुनि स्यंदन त्यागा। चले उतरि उमँगत अनुरागा ॥··· भरत लीन्ह उर लाय।" (अ० दो० १९३), "कनक बिंदु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे ॥" (अ० दो० १९८), "हरषहिं निरखि राम पद अंका।"···"रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं ॥" (अ० दो० २३७)।

'राम-लखन कै कीरति···'—मुनि-मख-रक्षा, अहल्योद्धार, धनुर्भंग, परशुराम पराजय, ब्रह्माण्ड को चरण से दबाना, परशुराम को पराजित करना इत्यादि करनी हैं, इनसे जो यश फैला वही कीर्त्ति है, यथा—"मुनितियतरी लगत पग धूरी। कीरति रही भुवन भरि पूरी ॥" (दो० ३५६), "महि पाताल नाक जस ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा ॥" (दो० २६४)। 'बारहिं बार'—रानियों से प्रथम बार कहा, फिर उनका स्नेह देखकर दोबारा कहा, पुनः गुरु-नारियों के आशीर्वाद पर कहा, इत्यादि प्रेम के कारण बार-बार कहते हैं। 'भूप बर'—श्रीराम प्रेम के सम्बन्ध से 'बर' विशेषण है।

'मुनि प्रसाद···'—हमारे पुत्र तो मृदु, सुकुमार बालक हैं? वे क्या कर सकते हैं, ये सब बातें मुनि की कृपा से उनके द्वारा हुई हैं। ऐसे ही श्रीजनकजी ने भी कहा है—"प्रभु प्रसाद धनु भंजेउ रामा" (दो० २८५), तथा—"सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे ॥" (दो० ३५६), ये कौसल्या जी के वचन हैं। यही माधुर्य की प्रबलता है जो ऐश्वर्य को दबा देती है। 'रानिन्ह'—सब रानियों ने अपने-अपने महलों में पृथक्-पृथक् दान दिये।

'दिये दान आनंद···'—दान आनन्द-सहित ही देना चाहिये, यथा—"रामहिं सुमिरत रनभिरत, देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तन, ते जग जीवत जाय ॥" (दोहावली ४२)। 'बिप्र बर' अर्थात् वेदपाठी ब्राह्मण, यथा—"तिन्ह चढ़ि चले बिप्र-बर-बृंदा। जनु तनु धरे सकल-श्रुति-छंदा ॥" (दो० २९९)।

सोरठा—जाचक लिये हँकारि, दीन्हि निछावरि कोटि बिधि।
चिरजीवहु सुत चारि, चक्रवर्ति दसरत्थ के ॥२९५॥

कहत चले पहिरे पट नाना। हरषि हने गहगहे निसाना ॥१॥
समाचार सब लोगन्ह पाये। लागे घर घर होन बधाये ॥२॥
भुवन चारि दस भरा उछाहू। जनक-सुता-रघुबीर-बिवाहू ॥३॥

शब्दार्थ—कोटि = करोड़, पर यहाँ बहुत के अर्थ में है, यथा—"कहि कहि कोटिक कथा प्रसंगा।" (अ० दो० ८६)।

अर्थ—भिक्षा माँगनेवालों को बुला लिया और उन्हें बहुत प्रकार की न्योछावरें दीं। वे नाना प्रकार के वस्त्र पहने हुए, ऐसा कहते हुए चले कि चक्रवर्त्ती महाराज दशरथ के चारो पुत्र चिरंजीवी (दीर्घायु) हों। हर्षपूर्वक धमाधम नगाड़े बजे ॥२९५-१॥ समस्त पुरवासी लोगों ने समाचार पाया और उनके घर-घर बधाई उत्सव होने लगे ॥२॥ चौदहो भुवनों में उत्साह भर गया कि श्रीजानकीजी और रघुवीर श्रीरामजी का ब्याह है।

विशेष—'जाचक लिये हँकारि···'—प्रथम ब्राह्मणों को दान कहा गया, यहाँ याचकों को न्योछावर, क्योंकि वे दान लेने के अधिकारी हैं और ये न्योछावर के। याचक भी प्रत्येक उत्सव के द्वारा पाते-पाते धन्य हो गये हैं, यथा—"याचक जन भये दानी।" (गी० बा०)।, "याचक जहँ तहँ करहिं कबार।"

(गी० बा० २)। इससे न्योछावर के लिये बुलाना पड़ता है, नहीं तो ये बिना बुलाये ही आनेवाले हैं। अथवा ये रानियाँ घर से बाहर नहीं जा सकतीं, इसलिये भीतर बुलाना कहा गया। 'कोटि बिधि', यथा—"करहिं निछावरि मनिगन चीरा।" (दो० ३४७)। 'सुत चारि'—क्योंकि चारो पुत्रों की न्योछावरें पृथक्-पृथक् दी गई हैं। 'चक्रवर्ति दसरत्थ के'—भाव यह कि इसी तरह पुत्र भी चक्रवर्त्ति-पद का राज्य भोगें। बहुत अधिक धन पाने से भी ऐश्वर्य सूचक 'चक्रवर्ति' नाम कहते हैं।

'कहत चले'—पूर्व भी कहा गया—'चले बिप्र बर आसिष देता।' अर्थात् अत्यन्त हर्ष से गली-गली आशिष देते जाते हैं। 'पहिरे पट नाना'—पाने के साथ ही वस्त्र पहन लिये, जिससे देनेवाले को हर्ष हो।

(२) 'हरषि हने गहगहे···' प्रथम ही गुरुजी ने कहा था कि—"सजहु बरात बजाइ निसाना।" (दो० २९३), तदनुसार बाजे बजाये गये कि जिसमें तैयारी जानकर बरात सजे। याचकों और ब्राह्मणों के द्वारा खबर गली-गली हो गई, पुनः डंके के द्वारा भी दूर तक सूचना हो गई।

(३) 'लागे घर-घर होन बधाये।'—महाराज में अपनपौ एवं श्रीराम प्रेम के कारण महाराज के उत्सव को लोग अपना ही उत्सव मानते हैं। अतः, घर-घर बधावे होने लगे, यथा—"वारहिं मुकुता रतन राज महिषी पुर सुमुखि समान।" (गी० बा० २)।

(४) 'भुवन चारि दस भरा उछाहू।'—प्रथम 'चारि' कहकर 'दश' कहा गया, अर्थात् उत्साह प्रथम थोड़ी जगह से उठा फिर क्रमशः अधिक व्याप्त हो गया। प्रथम राजा को, तदनन्तर सभा को, गुरु को, रनिवास को, नगर को, अन्त में पुनः चौदहो भुवनों में फैल गया। यह भी भाव है कि जब यहाँ घर-घर बधावे होने लगे, तब चौदहो भुवनों के लोग भी वैसा ही उत्साह मनाने लगे, इन्हें खबर कैसे मिली ? यह उत्तरार्द्ध से स्पष्ट है कि—'जनक सुता-रघुबीर बिवाहू' अर्थात् जनक-प्रतिज्ञा-पूर्त्ति में श्रीरामजी ने वीरता की है, उससे यश फैल गया—"महि पाताल नाक जस ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥" (दो० २६४)। यह भी कहा जाता है कि आनन्द के समुद्र श्रीसीतारामजी मिथिला में हैं, प्रथम वहीं उत्साह हुआ, वहाँ से एक छलक (लहर) पत्रिका द्वारा अयोध्या पहुँची, उसने क्रमशः राजा, सभा, गुरु, रनिवास, नगर और चौदहो भुवनों को भर दिया, फिर लौटती लहर की तरह सबको घसीटते हुए मिथिला-समुद्र ही में डाल दिया, क्योंकि सभी वहाँ आये।

सुनि सुभ कथा लोग अनुरागे। मग गृह गली सँवारन लागे॥४॥
जद्यपि अवध सदैव सुहावनि। रामपुरी मंगलमय पावनि॥५॥
तदपि प्रीति कै रीति सुहाई। मंगलरचना रची बनाई॥६॥
ध्वज पताक पट चामर चारू। छावा परम बिचित्र बजारू॥७॥
कनकलस तोरन मनिजाला। हरद दूब दधि अच्छत माला॥८॥

दोहा—मंगलमय निज-निज-भवन, लोगन्ह रचे बनाइ।
बीथी सींची चतुरसम, चौके चारु पुराइ॥२९६॥

शब्दार्थ—चतुरसम (चतुस्सम) = एक गन्ध द्रव्य, जिसमें दो भाग कस्तूरी, चार भाग चन्दन, तीन भाग कुंकुम और तीन भाग कपूर मिले रहते हैं—हिं० श० सा०। ऐसा ही 'अरगजा' भी होता है, यथा—"गली सकल अरगजा सिँचाई।" (दो० ३४३), तथा—"मृग-मद चंदन-कुंकुम कीचा। मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा॥" (दो० १९३)।

अर्थ—शुभ समाचार सुनकर लोग अनुराग में मग्न हो गये, वे लोग मार्ग, घर और गली सजाने लगे॥४॥ यद्यपि अयोध्या सदा ही सुहावनी है, (क्योंकि यह) श्रीरामजी को मंगलमय पावनि पुरी है॥५॥

तो भी यह (मंगल-रचना) प्रीति की सुहावनी रीति है, इससे बनाकर मंगल रचना रची गई ॥६॥ सुन्दर ध्वजाएँ, पताकाएँ, पाटम्बरों और चँवरों से बाजार बहुत ही विचित्र छाया हुआ है ॥७॥ सोने के कलशे, वन्दनवारें, मणियों की झालरें, हल्दी, दूब, दही, अक्षत (चावल) और मालाओं से ॥८॥ लोगों ने अपने-अपने घरों को रचकर मंगलमय बनाया, गलियों को अरगजा से सींचा और सुन्दर चौकें पुराईं ॥३९६॥

विशेष—(१) 'सुनि सुभ कथा···' —श्रीरामजी के मिथिला चरित्र ऐसे हैं कि लोगों को अनुराग हो ही जाता है, यथा—"सभा समेत राउ अनुरागे।" (दो० २९२)। 'गृह' से यहाँ देवालय लेना चाहिये, क्योंकि आगे—'निज निज भवन' कहेंगे।

'जद्यपि अवध···तदपि···'—लोग 'सुहावन' को सुहावना करते हैं—"छावा परम विचित्र बजारू।" 'मंगलमय' को मांगलिक करते हैं—"मंगल रचना रची बनाई।" और 'पावन' को पावन करते हैं—"बीथी सींची चतुर···" यह क्यों ? उत्तर में कहा गया है—"प्रीति कै रीति···।" 'तदपि' अर्थात् आवश्यकता नहीं रहने पर भी।

'हरद दूब दधि···'—यह सब सोने के थाल में सजे हैं, यथा—"दधि दुर्बा रोचन फल फूला। नव तुलसी दल मंगल मूला॥ भरि भरि हेम-थार भामिनी। गावत चलीं···" (उ० दो० २)।

'चौके चारु'—'चारु' से गजमुक्ताओं से पूरना जनाया, यथा—"चौकें भाँति अनेक पुराई। सिंधुर मनि मय सहज सुहाई॥" (दो० २८७)।

जहँ तहँ जूथ जूथ मिलि भामिनि। सजि नवसप्त सकल-दुति-दामिनि॥१॥
बिधुबदनी मृग-सावक-लोचनि। निज सरूप रति-मान-बिमोचनि॥२॥
गावहिं मंगल मंजुल बानी। सुनि कलरव कलकंठि लजानी॥३॥
भूप-भवन किमि जाइ बखाना। बिस्वबिमोहन रचेउ बिताना॥४॥
मंगलद्रव्य मनोहर नाना। राजत बाजत बिपुल निसाना॥५॥

अर्थ—जहाँ-तहाँ, बिजली की-सी कान्तिवाली, चन्द्रवदनी, हरिणी के बच्चे की-सी आँखोंवाली, अपने स्वरूप से कामदेव की स्त्री रति के गर्व को दूर करनेवाली, सब स्त्रियाँ सोलहो शृंगार किये हुए, झुंड-झुंड बना, सब मिलकर ॥१-२॥ सुन्दर वाणी से सुन्दर मंगलाचार के गान कर रही हैं, उनके मनोहर स्वरों को सुनकर कोकिलाएँ लजा गईं ॥३॥ राजमहल का बखान कैसे किया जाय ? संसार भर को मोहित कर लेनेवाले मंडप (माँड़व) का निर्माण किया गया ॥४॥ अनेक सुन्दर मंगल पदार्थ सुसज्जित हैं, अनेक नगाड़े बज रहे हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'जहँ-तहँ जूथ···'—'जूथ' अर्थात् एक साथ चालीस-पचास मिलकर, 'नवसप्त' अर्थात् सोलहो शृंगार युक्त, इससे सौभाग्यवती जनाया। स्त्रियों के सोलह शृंगार, यथा—"अंग शुची मज्जन वसन, माँग महावर केश। तिलक भाल तिल चिबुक में, भूषण मेंहदी बेश॥ मिस्सी काजल अरगजा, बीरी और सुगंध। पुष्पकली युत होय कर, तब नव सप्त प्रबंध॥ (कवि-प्रिया)।

(२) 'बिधु बदनी मृग···'—चन्द्रमा में लांछन (चिह्न) की तरह इनके मुख चन्द्र में नेत्र हैं।

'गावहिं मंगल···'—ये मंगल प्रजा के घर-घर के हैं, राज-भवन का आगे कहा गया है—

(३) 'भूप भवन किमि···'—जनकपुर में वितान रचना विस्तार से कह दी गई, वही रचनाएँ यहाँ भी हैं, यहाँ उसे—'बिस्वबिमोहन' से सूचित कर दिया। ऊपर पुरवासियों का कहा गया—'मंगलमय निज निज भवन···' उसी समय यहाँ भी रचना हुई। जनकपुर में—"सुर प्रतिमा खंभन्हि गढ़ि काढ़ी।

मंगल द्रव्य लिये सब ठाढ़ी ॥" कहा गया, वही यहाँ—"मंगल द्रव्य मनोहर नाना। राजत" से जनाया। 'बाजत'—अर्थात् बज रहे हैं, ऐसा कहा है, इनका बजाना पूर्व ही कह चुके हैं—"हरषि हने गहगहे निसाना।"

कतहुँ बिरद बंदी उच्चरहीं। कतहुँ बेदधुनि भूसुर करहीं ॥६॥
गावहिं सुंदरि मंगलगीता। लेइ लेइ नाम राम अरु सीता ॥७॥
बहुत उछाह भवन अति थोरा। मानहु उमगि चला चहुँ ओरा ॥८॥

दोहा—सोभा दसरथ भवन कइ, को कबि बरनइ पार।
जहाँ सकल सुर-सीस-मनि, राम लीन्ह अवतार ॥२९७॥

शब्दार्थ—मंगल-गीता = इस गीत में प्रथम देवता के पुरुष-स्त्री के नाम गाकर तब वर-दुलहिन के नाम ले-लेकर गान किया जाता है।

अर्थ—कहीं भाट लोग विरुदावली का उच्चारण कर रहे हैं और कहीं ब्राह्मण लोग वेद पाठ कर रहे हैं ॥६॥ सुन्दरी स्त्रियाँ रामजी और सीताजी के नाम ले-लेकर माङ्गलिक गीत गा रही हैं ॥७॥ उत्साह बहुत है, पर घर अत्यन्त छोटा है। (अतः,) मानों वह उत्साह चारो ओर उमड़कर फैल चला हो ॥८॥ जहाँ सब देवताओं के शिरोमणि भगवान् श्रीरामजी ने अवतार लिया है। उस महाराज दशरथ के महल की शोभा का वर्णन करने में कौन कवि पार पा सकता है? ॥२९७॥

विशेष—(१) 'राम अरु सीता'—यहाँ वर-पक्ष प्रधान होने से राम नाम प्रथम कहा गया।

(२) 'मानहुँ उमँगि चला चहुँ ओरा।'—महाराज के यहाँ मंगल आदि हुए, नगाड़े बजे, वे सर्वत्र गूँज उठे। यही उमड़ कर चारो ओर जाना है, फिर पुरवासियों के—"मगलमय निज निज ··" पर वैसे उमड़कर चला, तो बाजार आदि को डुबाता हुआ चौदहो भुवनों को डुबा दिया।

(३) 'सोभा दसरथ-भवन ··'—दो० ३९४ चौ० ६ की भाँति यहाँ भी श्रीराम-सम्बन्ध से ही शोभा का आधिक्य कहा गया है। 'दसरथ-भवन' सम्बन्ध से भी, तथा—"दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं ॥" (अ० दो० २०८), वैसे ही उनके भवन की भी शोभा अवर्ण्य है।

भूप भरत पुनि लिये बोलाई। हय गय स्यंदन साजहु जाई ॥१॥
चलहु बेगि रघुबीर - बराता। सुनत पुलक पूरे दोउ भ्राता ॥२॥
भरत सकल साहनी बोलाये। आयसु दीन्ह मुदित उठि धाये ॥३॥
रचि रुचि जीन तुरग तिन्ह साजे। बरन बरन बर बाजि बिराजे ॥४॥
सुभग सकल सुठि चंचल करनी। अय इव जरत धरत पग धरनी ॥५॥
नाना जाति न जाहिं बखाने। निदरि पवन जनु चहत उड़ाने ॥६॥
तिन्ह सब छयल भये असवारा। भरतसरिस बय राजकुमारा ॥७॥
सब सुंदर सब भूषनधारी। कर सर-चाप तून कटि भारी ॥८॥

दोहा—छरे छबीले छयल सब, सूर सुजान नवीन।
जुग पदचर असवार प्रति, जे असि-कला-प्रवीन ॥२९८॥

शब्दार्थ—साहनी = प्रबन्धक। छयल = बने-ठने। छरे = छँटे, चुने हुए। छबीले = छवियुक्त।

अर्थ—फिर राजा ने भरतजी को बुला लिया (और आज्ञा दी कि) जाकर घोड़े, हाथी और रथ

सजाओ ॥१॥ और शीघ्र रघुवीर श्रीरामजी की बरात में चलो, यह सुनते ही दोनों भाई पुलक से पूर्ण हो गये ॥२॥ भरतजी ने सब (हाथी, घोड़े, रथ के) प्रबन्धकों को बुलाकर आज्ञा दी, वे प्रसन्न मन से उठ दौड़े ॥३॥ उन्होंने रुचि (फबती हुई) जीनों (जो जीन जिस घोड़े के योग्य थी, उन जीनों) से रचकर घोड़ों को सजाया। रंग-बिरंग (वा, जाति-जाति) के श्रेष्ठ घोड़े विराजमान हो रहे हैं ॥४॥ सभी मनोहर और अत्यन्त चंचल करणी (चाल) के हैं, वे पृथ्वी पर ऐसे पैर धरते हैं, मानों जलते हुए लोहे पर धरते हों ॥५॥ वे अनेक जातियों के हैं, कहे नहीं जा सकते, मानों हवा का निरादर करके उड़ना चाहते हैं ॥६॥ उन सबपर भरतजी की समान अवस्थावाले बने-ठने राजकुमार सवार हुए ॥७॥ सभी सुन्दर और समस्त आभूषणों को पहने हुए, हाथों में धनुष-बाण और कमर में भारी तरकश धारण किये हुए हैं ॥८॥ वे सभी छैल छबीले और चुने हुए, शूरवीर, सुजान और नवीन अवस्था के हैं, प्रत्येक सवार के साथ दो-दो पैदल हैं, जो तलवार की कला में निपुण हैं ॥२९८॥

विशेष—'भूप भरत पुनि लिये ····'—राजा जब रनिवास में गये, तबसे भरतजी का साथ छूटा है। इसीसे फिर बुलाना पड़ा। गुरुजी ने कहा था—'सजहु बरात···' उसीके अनुसार आज्ञा दे रहे हैं—'हय गय स्यंदन···' यहाँ चतुरंगिणी में तीन ही कहे गये, पैदल नहीं, क्योंकि वे तो बिगुल (डंका) होने पर स्वयं सजकर आ जायँगे।

(२) 'चलहु बेगि रघुबीर·····'—गुरुजी ने कहा था—"चलहु बेगि।" (दो० २९४), वही सिलसिला आ रहा है। 'सुनत पुलक पूरे'—क्योंकि श्रीराम-दर्शन की लालसा है, यथा—"सबके उर निर्भर हरष, पूरित पुलक सरीर। कबहिं देखिबे नयन भरि, राम लखन दोउ बीर।" (दो० ३००)। प्रथम इन्हें यह भी शंका थी कि दो भाई बाहर ही हैं, शत्रुघ्नजी लड़के हैं, कहीं हमें श्रीअवध की रक्षा में न छोड़ जायँ। अतः, 'चलहु' सुनकर पुलकित हो गये। 'उठि धाये'—उपर्युक्त 'बेगि' के अनुसार है।

(३) 'तुरग' अर्थात् तेजी से गमनवाले। इसे ही—'निदरि पवन ···' से पुष्ट किया है। घोड़ों का साज आगे दो० ३१५ में श्रीरामजी की सवारी पर कहेंगे, इसीसे यहाँ थोड़े में कह दिया, वहींसे जानना चाहिये। 'बरन-बरन'—श्याम कर्ण, सब्जा, कुम्मैत, अबलक, खुरखाब, अरबी, ताजी, हंस, आदि। 'नाना जाति···'—घोड़ों की जाति के भेद बहुत हैं, उनमें मुख्य भेद कुछ कहे गये भी हैं—'अय इव जरत धरत पग धरनी।'—थलचर, 'निदरि पवन जनु चहत उड़ाने।'—नभचर, 'जे जल चलहिं थलहिं की नाईं।'—जलचर, इत्यादि इन तीनों भेदों में अनेक हैं।

(४) 'तिन्ह सब छयल भये·····'—ये सब किशोर अवस्था के हैं। 'भरत सरिस···'—से जनाया कि भरतजी आगे हैं, क्योंकि महाराज ने इन्हें आज्ञा दी थी—'चलहु बेगि', इसलिये ये पहले चले, जिससे सब शीघ्रता करें। समान अवस्थावालों के साथ होने से शोभा है।

'सब सुंदर सब भूषन··· ···'—इसके पूर्वार्द्ध शृंगार और उत्तरार्द्ध में वीर रस कहा गया है, जैसे कामदेव सुन्दर होता हुआ भी भटों में मुख्य है, यथा—"जाकी प्रथम रेख भट माहीं।" (वि० ४), (इसमें काम का प्रसंग है।) 'भूषन धारी' के साथ ही 'कर सर चाप' भी कहा गया, क्योंकि धनुष-बाण भी क्षत्रियों का भूषण है। 'तून कटि भारी'—क्योंकि सुन चुके हैं कि धनुर्भंग पर बहुत-से राजा अपना अपमान समझकर लड़ने पर सन्नद्ध थे, इसलिये ये लोग तैयारी से हैं। छैल आदि कोमल होते हैं। अतः, वीरत्व भी कहा गया है।

(५) 'छरे छबीले छयल·····'—उपर्युक्त गुण यहाँ एकत्र कहे हैं—'राजकुमारा' को 'छरे', 'सब सुन्दर' को 'छबीले', 'सब भूषण धारी' को 'छैल', 'कर सर चाप···' को 'सूर सुजान'। सुजान का अर्थ यह कि बाण चलाने और दिव्यास्त्रों के मन्त्र-भेदों के भी ज्ञाता हैं और 'भरत सरिस बय' को 'नवीन' से सूचित किया है।

'असि-कला प्रबीन'—घोड़ों और उनके सवारों की रक्षा के लिये तलवार में कुशल की आवश्यकता है जिससे वे दोनों बगल से सावधान रहा करें। 'असि' से अश्व का भी अर्थ लिया जाता है, अश्व में एक मात्रा बढ़ जाती, इसलिये 'असि' रक्खा गया है, यथा—"अंगद गद बिकटासि" (मुं० दो० ५४), इसमें भी विकटास्य की जगह बिकटासि है। इसका प्रयोजन यह कि दोनों बगलों में दो रहेंगे, घोड़े भारी हैं, जहाँ कहीं राजकुमार उतरें वहाँ एक तो घोड़ा थामे और दूसरा कुमार की सेवा में रहे।

बाँधे बिरद बीर रन गाढ़े। निकसि भये पुर बाहेर ठाढ़े ॥१॥
फेरहिं चतुर तुरग गति नाना। हरषहिं सुनि सुनि पनव निसाना ॥२॥
रथ सारथिन्ह बिचित्र बनाये। ध्वज पताक मनि भूषन लाये ॥३॥
चँवर चारु किंकिनि धुनि करहीं। भानु-जान-सोभा अपहरहीं ॥४॥
सावकरन अगनित हय होते। ते तिन्ह रथन्ह सारथिन्ह जोते ॥५॥
सुंदर सकल अलंकृत सोहें। जिन्हहिं बिलोकत मुनिमन मोहें ॥६॥
जे जल चलहिं थलहि की नाईं। टाप न बूड़ बेग अधिकाईं ॥७॥
अस्त्र सस्त्र सब साज बनाई। रथी सारथिन्ह लिये बोलाई ॥८॥

दोहा—चढ़ि चढ़ि रथ बाहेर नगर, लागी जुरन बरात।
होत सगुन सुंदर सबहि, जो जेहि कारज जात ॥२९९॥

शब्दार्थ—पनव=ढोल, छोटा नगाड़ा। अपहरहीं=हर रहे हैं, छीन लेते हैं। ध्वजा चिह्न-युक्त एवं केले की ऊँचाई का और पताका बिना चिह्न का ताल (ताड़) की ऊँचाई का होता है, यथा—"कदलि ताल बर ध्वजा पताका।" (अर० दो० ३७)। सावकरन (श्यामकर्ण)=वह घोड़ा जिसके सर्वांग श्वेत और कान काले होते हैं। होते=यज्ञ में हवन के योग्य। पहले अश्वमेध यज्ञ के हवन में श्यामकर्ण घोड़े ही लिये जाते थे।

अर्थ—कठिन युद्ध के वीरों का बाना रक्खे हुए सब राजकुमार अवधपुर के बाहर निकल कर आ खड़े हुए ॥१॥ वे अपने-अपने चतुर घोड़ों को अनेक चालों से फेर रहे हैं, ढोलों और नगाड़ों के शब्द सुन-सुनकर हर्षित होते हैं ॥२॥ ध्वजाओं, पताकाओं, मणियों और भूषणों को लगाकर सारथियों ने रथों को विचित्र बना दिया है ॥३॥ उनपर सुन्दर चँवर लगे हैं और घंटियाँ शब्द कर रही हैं, (वे रथ) सूर्य के रथ की शोभा का हरण कर रहे हैं ॥४॥ सारथियों ने उन रथों में अगणित हवन के योग्य (दुर्लभ) श्यामकर्ण घोड़े जोते ॥५॥ वे सभी देखने में सुन्दर और अलंकारों से सुसज्जित सोह रहे हैं। उन्हें देखते ही मुनियों के भी मन मोहित हो जाते हैं ॥६॥ जो जल में भी पृथ्वी पर चलने के समान चलते हैं, ऐसे अधिक वेग से चलनेवाले हैं कि टाप भी नहीं डूबने पाती ॥७॥ अस्त्र-शस्त्र और समस्त साज सजाकर सारथियों ने अपने-अपने रथ की सवारियों को बुला लिया ॥८॥ रथों पर चढ़-चढ़कर बरात नगर के बाहर इकट्ठी होने लगी। जो-जो भी जिन-जिन कामों को कहीं जाते हैं उन सभी को सुन्दर शकुन होते हैं ॥२९९॥

विशेष—(१) 'बाँधे बिरद बीर···'—उपर्युक्त राजकुमारों का ही वर्णन हो रहा है। 'पुर-बाहर'—क्योंकि वहीं से सजकर बरात चलेगी। 'फेरहिं'—घोड़े चंचल हैं, आगे बढ़ना चाहते हैं, सवार लोग लगाम खींच-खींचकर रोकते हैं, फिराते हैं और तरह-तरह की चालों से नचाते हैं, उसीके अनुकूल 'पनव निसान' भी बज रहे हैं। अतः, आनन्दित होते हैं। यहाँ सुभटों को एकत्र देखकर मारू राग बजी

दिया गया जिससे वे आनन्दित होते हैं, यथा—"मारू राग सुभट सुखदाई।" (लं० दो० ७), "बाजहिं ढोल निसान जुझाऊ। सुनि धुनि होइ भटन्ह मन चाऊ॥" (ल० दो० ३९)।

(२) 'किंकिनि धुनि करहीं ··'—अभी घोड़े जोते नहीं गये, पर जब नाधने के लिये लोग रथ खींच-खींचकर लाते हैं, तब उनकी किंकिणियाँ बजती हैं। 'भानु-जान' अर्थात् सूर्य के रथ की तरह दीप्तिमान हैं। 'मुनिमन मोहे'—मुनि वैराग्यवान् होते हैं, जब उनका मन मोह जाता है, तब औरों की क्या बात? पूर्व राजकुमारों का शृंगार कहा गया, पर घोड़ों का नहीं और रथ के घोड़ों का शृंगार कहा गया, पर रथियों का नहीं। अतः, यहाँ के घोड़ों का शृंगार वहाँ के घोड़ों में और वहाँ के राजकुमारों का शृंगार यहाँ के रथियों में लगा लेना चाहिये। यह काव्य-कौशल है।

'जे जल चलहिं ·· '—पूर्व सवारी के घोड़ों को—'निदरि पवन जनु चहत उड़ाने।' कहा गया, पर यहाँ वे घोड़े नहीं हैं, वे यदि रथ में हों और लेकर उड़ें, तो रथ टँग जाय और सवार गिर पड़ें। अतः, यहाँ दरियाई घोड़े हैं कि नदी आदि में जल पर भी चले जायँ।

'अस्त्र-सस्त्र सब साज ·'—क्षत्रियों के अस्त्र-शस्त्र मुख्य हैं। अतः, उन्हें प्रथम कहा। ऊपर घोड़े के सवारों को बुलाना नहीं कहा गया, क्योंकि वे सवार के आने पर तुरन्त कस दिये गये। पर रथ सजाने में देर लगती है। अतः, सजने पर सवारी बुलाये गये। जो यन्त्र वा मन्त्र द्वारा फेंका जा सके वह अस्त्र और इसके भिन्न शस्त्र हैं, यथा—बाण आदि अस्त्र और तलवार आदि शस्त्र हैं।

'चढ़ि चढ़ि रथ···'—जब तक चक्रवर्त्ती महाराज आ जावेंगे, तब तक यहीं पर बरात जुटती जावेगी। पुरवासी लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल जिस अभीष्ट-पूर्त्ति के लिये जाते हैं, उसमें शकुन होते हैं और तदनुसार कार्यों की सिद्धि होती है।

कलित करिबरन्हि परी अँबारी। कहि न जाइ जेहि भाँति सँवारी॥१॥
चले मत्त गज घंट बिराजी। मनहुँ सुभग सावन-घन-राजी॥२॥
बाहन अपर अनेक बिधाना। सिबिका सुभग सुखासन जाना॥३॥
तिन्ह चढ़ि चले बिप्र-बर-बृंदा। जनु तनु धरे सकल-श्रुति-छंदा॥४॥
मागध सूत बंदि गुनगायक। चले जान चढ़ि जो जेहि लायक॥५॥
बेसर ऊँट बृषभ बहु जाती। चले बस्तु भरि अगनित भाँती॥६॥
कोटिन्ह काँवरि चले कहारा। बिबिध बस्तु को बरनइ पारा॥७॥
चले सकल - सेवक - समुदाई। निज निज साज-समाज बनाई॥८॥

दोहा—सबके उर निर्भर हरष, पूरित पुलक सरीर।
कबहिं देखिबे नयन भरि, राम लखन दोउ-बीर॥३००॥

शब्दार्थ—कलित = सुसज्जित। अँबारी = हाथी की पीठ पर रखने का हौदा, जिसके ऊपर एक छज्जादार मंडप होता है, (अ० अमारी)—हि० श० सा०। राजी = समूह, पंक्ति। सिबिका (शिबिका) = पालकी। सुखासन = सुखपाल (तामजाम) जो कुर्सी के आकार का होता है, जिसमें बाँस नीचे की ओर रहता है। जान = विमान, सवारी। बेसर = खच्चर। काँवरि = बहँगी। निर्भर = परिपूर्ण। पारा = सकता है।

अर्थ—सुसज्जित श्रेष्ठ हाथियों पर सुसज्जित अँबारियाँ पड़ी हैं। वे जिस तरह सजाई हुई हैं, कहते नहीं बनता॥ ॥ मतवाले हाथी घंटों से सुशोभित होकर चले, मानों सुन्दर श्रावण के मेघों की

श्रेणियाँ हैं ॥२॥ सुन्दर पालकी, सुखपाल और विमान आदि और भी बहुत प्रकार की सवारियाँ हैं ॥३॥ उनपर चढ़कर श्रेष्ठ ब्राह्मण-वृन्द चले, मानों सब वेदों के छन्द शरीर धारण किये बैठे हैं ॥४॥ मागध, सूत, वन्दी और गायक जो जिस योग्य हैं, वे वैसी ही सवारियों पर चढ़-चढ़कर चले ॥५॥ बहुत जातियों के खच्चर, ऊँट और बैल अगणित भाँति की वस्तुएँ लादकर चले ॥६॥ करोड़ों (अनगिनत) कहार काँवर भर-भरकर चले, जिनमें तरह-तरह की वस्तुएँ हैं, उनका वर्णन कौन कर सकता है ? ॥७॥ समस्त सेवक-समूह अपना-अपना साज-समाज बना-बनाकर चले ॥८॥ सबके अन्तःकरण में हर्ष परिपूर्ण है, शरीर पुलकावली से पूर्ण है, (यही लालसा है कि) दोनों वीर राम-लक्ष्मणजी को आँखें भरकर कब देखेंगे ? ॥३००॥

विशेष—(१) 'कलित करिबरन्हि'—पर्वताकार हाथियों पर वैसी अँबारियाँ हैं। 'मनहुँ सुभग सावन-घन···'—श्रावण के मेघ काले होते हैं और प्रथम पावस के होने से चढ़ती अवस्था के होते हैं, वैसे हाथी काले और चढ़ती अवस्था के हैं, इससे 'मत्त' कहे गये हैं, यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है।—हाथी रंग-विरंग के चित्रित किये गये हैं, वे ही इन्द्रधनुष हैं। जहाँ काली रह गई हैं, वे ही काली घटाएँ हैं। मोतियों की झालरें बगुलों की पंक्तियाँ हैं। मणियों की चमक बिजली की दमक है, चलने में शब्द होना गर्जन है, मत्तगजों का मद झरना वर्षा है, दर्शकगण खेती हैं, वे हर्षित होते हैं, चक्रवर्त्ती महाराज किसान हैं। श्रावण की घटा सुभग (सुंदर—प्रिय) लगती है। वैसे ही यह साज-समाज प्रिय एवं सुन्दर है।

महाराजा ने भरतजी को···'हय गय स्यंदन साजहु जाई' कहा था, उन्हीं तीनों का विस्तार से वर्णन किया गया। अन्य सवारियों को 'बाहन अपर अनेक बिधाना।' मात्र कहकर समाप्त कर दिया। सर्वत्र सवारियों को कहकर सवारों का चढ़ना कहा है, वैसे यहाँ भी कहते हैं—

'तिन्ह चढ़ि चले बिप्र···'—ब्राह्मणों की शोभा वेद-पठन से है, वही यहाँ कहते हैं—'जनु तनु धरे सकल···' अर्थात् एक-एक ब्राह्मण को सम्पूर्ण वेद कंठस्थ है वे सब-के-सब मानों वेद की मूर्त्ति हो रहे हैं। इनके नाम—"वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिरथ कश्यपः। मार्कण्डेयस्तु दीर्घायुर्ऋषिः कात्यायनस्तथा॥ एते द्विजाः प्रयान्त्वग्रे···" (वाल्मी० १।६९।४-५.)। ये ब्राह्मण आगे बारात में थे।

(२) 'बेसर ऊँट···कोटिन्ह काँवरि··'—इन्हें अभी मालूम नहीं है कि राजा जनक ने नदियों में पुल बनवा दिये हैं, नहीं तो बैलगाड़ियों पर ही सब सामान ले चलते ! लौटती समय प्रायः गाड़ियों पर ही आवेगा, यथा—"कनक बसन मनि भरि भरि जाना।" (दो० ३३२)। यह जनकजी ने भेजा है।

'सबके उर निर्भर···'—हर्ष से भीतर की और पुलक से बाहर की दशा कही गई। श्रवण समाचार सुनकर तृप्त हुए, पर आँखें दर्शनों के लिये व्याकुल हैं। 'वीर'—क्योंकि वहाँ इन दोनों वीरों ने वीरों के बीच में भारी-भारी वीरता के काम किये हैं। वही दृश्य सबके चित्त में है।

गरजहिं गज घंटाधुनि घोरा। रथरव बाजिहिंस चहुँ ओरा ॥१॥
निदरि घनहिं घुम्मरहिं निसाना। निज पराइ कछु सुनिय न काना ॥२॥
महा भीर भूपति के द्वारे। रज होइ जाइ पखान पवारे ॥३॥
चढ़ी अटारिन्ह देखहिं नारी। लिये आरती मंगलथारी ॥४॥
गावहिं गीत मनोहर नाना। अति आनंद न जाइ बखाना ॥५॥
तब सुमंत्र दुइ स्यंदन साजी। जोते रबि-हय-निंदक बाजी ॥६॥

दोउ रथ रुचिर भूप पहिं आने । नहि सारद पहिं जाहिं बखाने ॥७॥
राजसमाज एक रथ साजा । दूसर तेज - पुंज अति भ्राजा ॥८॥

दोहा—तेहि रथ रुचिर बसिष्ठ कहँ, हरषि चढ़ाइ नरेस ।
आप चढ़ेउ स्यंदन सुमिरि, हर गुरु गौरि गनेस ॥३०१॥

शब्दार्थ—हिंस = हिनहिनाहट । घुम्मरहि = ऊँचे शब्द से बजते हैं । पँवारे = फेंके, चलाये ।

अर्थ—हाथी गरजते हैं, उनके घंटों का घोर शब्द होता है, रथों की घरघराहट और घोड़ों की हिनहिनाहट चारों ओर हो रही है ॥१॥ मेघों का निरादर करते हुए नगाड़े ऊँचे शब्द से बजते हैं, अपना-पराया कुछ भी कानों से नहीं सुन पड़ता ॥२॥ राजा के द्वार पर बड़ी भारी भीड़ है । यदि पत्थर भी फेंका जाय तो वह भी चूर्ण होकर धूल हो जाय ॥३॥ थालियों में मंगल आरती लिये स्त्रियाँ अटारियों पर चढ़ी हुई देख रही हैं ॥४॥ वे अनेक मनोहर गीत गा रही हैं, अत्यन्त आनन्द है, वह कहा नहीं जा सकता ॥५॥ तब दो रथ सजाकर सुमन्त्रजी ने उनमें सूर्य के घोड़ों को (अपनी चालों से) लज्जित करनेवाले घोड़े जोते ॥६॥ और उन दोनों सुन्दर रथों को राजा दशरथ के पास लाये, सरस्वतीजी से भी जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥७॥ एक रथ राजसी सामग्री से सजाया गया है और दूसरा (जो) तेजः-पुंज है और अत्यन्त शोभायमान है—॥८॥ उस सुन्दर रथ पर हर्ष-पूर्वक राजा ने वसिष्ठजी को चढ़ाकर, (फिर) हर, गुरु, गौरी और गणेशजी का स्मरणकर स्वयं भी रथ पर चढ़े ॥३०१॥

विशेष—(१) 'गरजहिं गज···'—ऊपर श्रीभरतजी की सवारी का वर्णन किया गया, इससे वहाँ घोड़ों को प्रथम कहा गया, क्योंकि घोड़े चंचल होते हैं, वैसे लड़के भी चंचल होते हैं । अब यहाँ से महाराज की सवारी का वर्णन होता है अतः, प्रथम हाथी कहे गये, क्योंकि महाराज और उनके साथी वृद्ध हैं, वैसे हाथी भी शान्त होते हैं ।

(२) 'महाभीर भूपति के द्वारे ।'—भरतजी के आगे जाने से उनके साथी तो बाहर निकल गये, चक्रवर्त्तीजी के साथवाले रह गये हैं, उनकी भीड़ द्वार पर है । जब महाराज चलेंगे तब ये लोग भी साथ चलेंगे । चारो घाटों के वक्ताओं का अनुमान है कि वहाँ यदि पत्थर फेंका जाय तो भीड़ में कुचलकर धूल हो जाय !

(३) 'चढ़ी अटारिन्ह देखहिं···'—उपर्युक्त महा भीड़ के साथ ही ये स्त्रियाँ भी कही गई हैं । अतः, अटारियों पर भी ऐसी ही भीड़ है । मंगल के लिये थाल में सजी हुई आरती के अर्थ में 'लिये आरती' शब्द आया है, दूल्हा बरात में होता, तो आरती करतीं, क्योंकि दूल्हे को आरती उतारी जाती है ।

'गावहिं गीत···अति आनंद ···'—आनन्द ही का वर्णन नहीं हो सकता, यहाँ तो 'अति' है, क्योंकि द्वार पर और अटारियों पर भी है, फिर भी वर्णन करने का कारण मन है, वह गान द्वारा हरा गया है ।

(४) 'तब सुमंत्र दुइ···'—'तब' अर्थात् जब उपर्युक्त सारथियों ने रथ सजाये हैं, तभी सुमन्त्र ने भी दोनों रथ सजाये हैं, (सुमन्त्रजी महाराज के मन्त्री और सारथी भी हैं) । 'साजी' अर्थात् जैसे ऊपर रथ के साज कहे गये, वैसे ही इनका भी साज जानना चाहिये । 'रबि-हय निंदक बाजी'—पूर्व श्यामकर्ण घोड़े रथों में कहे गये, पृथ्वी में वे ही श्रेष्ठ जाति के हैं, उन पूर्व के घोड़ों से अधिकता दिखाने के लिये सूर्य के घोड़ों की उपमा देकर उनसे भी अधिक कहा ।

'दोउ रथ···नहिं सारद···'—पूर्व सारथियों ने रथियों को ही बुलाया था, जिससे उन्हें कुछ चलना भी पड़ा था, पर यहाँ राजा के पास ही लाये, यह विशेषता है । पूर्व—'भानु-जान सोभा अपहरहीं ।' कहकर वर्णन किया था । यहाँ शारदा से भी अवर्ण्य कहकर अत्यन्त विशेषता कही ।

(५) 'राज समाज एक रथ···'—इसमें उपर्युक्त—'अस्त्र सस्त्र सब साज सजाई ।' की तरह सामग्री है, इसमें और भी चँवर, छत्र, सूर्यमुखी आदि हैं। 'दूसर तेज पुंज···'—इसमें सात्त्विक सामग्री—होम आदि सामग्री—पुस्तक, मुनि-वस्त्र, पूजा के सामान आदि हैं, इससे इस रथ में ब्रह्मतेज प्रकट है। अतः, 'अति भ्राजा' कहा गया है।

'तेहि रथ रुचिर···'—'हरषि चढ़ाइ'—यात्रा में हर्ष होना मंगल है, पुनः गुरुसेवा में हर्ष चाहिये ही। यहाँ राजा ने गुरुजी को अपने हाथ से चढ़ाया। 'सुमिरि हर गुरु गौरि गनेस'—यहाँ पंचदेवों में तीन तो स्पष्ट हैं, शेष सूर्य और विष्णु को भी गुरु शब्द से सूचित किया है, क्योंकि अज्ञान-तम नाशक होने से गुरु भी सूर्य रूप हैं—"जासु बचन रविकर निकर।" (मं० मो०), पुनः-'गुरुर्विष्णुः' भी कहा जाता है। 'हर' और 'गौरि' को एक साथ रखना कहा है, क्योंकि ये दो अपृथक् रूप हैं, पर 'गुरु' पद बीच में दिया गया है, क्योंकि 'हर' को विश्वास रूप और 'गौरि' को श्रद्धारूपा कहा गया है—"भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।" (मं० श्लोक), गुरु श्रद्धा और विश्वास दोनों के करानेवाले हैं। अतः, बीच में देकर इन्हें दोनों के साधक जनाया। पुनः गकार की वर्णमैत्री भी मिल गई।

सहित बसिष्ठ सोह नृप कैसे। सुर - गुरु - संग पुरंदर जैसे ॥१॥
करि कुलरीति बेदबिधि राऊ। देखि सबहि सब भाँति बनाऊ ॥२॥
सुमिरि राम गुरुआयसु पाई। चले महीपति संख बजाई ॥३॥
हरषे बिबुध बिलोकि बराता। बरषहिं सुमन सुमंगल-दाता ॥४॥
भयेउ कोलाहल हय गय गाजे। ब्योम बरात बाजने बाजे ॥५॥
सुर नर नारि सुमंगल गाई। सरस राग बाजहिं सहनाई ॥६॥
घंट-घंटि - धुनि बरनि न जाहीं। सरव करहिं पायक फहराहीं ॥७॥
करहिं बिदूषक कौतुक नाना। हासकुसल कलगान सुजाना ॥८॥

दोहा—तुरग नचावहिं कुअँर बर, अकनि मृदंग निसान।
नागर नट चितवहिं चकित, डगहिं न ताल-बँधान ॥३०२॥

शब्दार्थ—पुरंदर = इन्द्र। ब्योम = आकाश। अकनि (आकर्ण्य) = सुनकर। डगहिं = चूकते। ताल = नाचने गाने में उसके मध्यवर्त्ती काल और क्रिया का परिमाण, ताल के 'सम' का नाम 'बंधान' है, यथा—"उघटहिं छंद प्रबंध गीत पद राग तान बंधान।" (गो० बा० २)। पायक = पैदल सिपाही, यह दीप-देहली न्याय से 'फहराहीं' साथ भी है। अतः, पैदल लोगों के हाथों में फरहरे (पताके) फहरा रहे हैं—यह अर्थ होगा।

अर्थ—वसिष्ठजी के साथ राजा दशरथ कैसे शोभायमान हो रहे हैं, जैसे देवताओं के गुरु (बृहस्पतिजी) के साथ इन्द्र हों ॥१॥ राजा ने कुल की रीति और वेद-विधान करके तथा सबको सब प्रकार से बने-ठने देखकर ॥२॥ (मन में) श्रीरामजी का स्मरण कर और गुरुजी की आज्ञा पा पृथ्वीपति महाराज दशरथजी शंख बजाकर चले ॥३॥ देवतागण बरात देखकर प्रसन्न हुए, सुन्दर मंगलदायक फूलों की बरसा कर रहे हैं ॥·॥ हाथी और घोड़े चिंघाड़ने एवं हिनहिनाने लगे, इससे बड़ा कोलाहल (हल्ला) मच गया, आकाश और बरात में बाजे बजने लगे ॥५॥ देवताओं और मनुष्यों की स्त्रियाँ (आकाश और भूमि पर) सुन्दर मंगल गा रही हैं, रसीले राग में शहनाई (रौशनचौकी) बज रही है ॥६॥ घंटों और घंटियों की ध्वनि का वर्णन नहीं किया जा सकता। पायक (पैदल सिपाही) लोग तरह-तरह के सरों

(श्रम या कसरत के खेल) दिखाते जाते हैं, उनके हाथों में फरहरे उड़ रहे हैं ॥७॥ विदूषक (मसखरे भाँड़) लोग बहुत तरह से तमाशे करते हैं, वे हँसी करने में निपुण और सुन्दर गान में प्रवीण हैं ॥८॥ सुन्दर राजकुमार मृदंगों और नगाड़ों (की तालगति) को सुनकर घोड़ों को उनके अनुसार नचाते हैं। प्रवीण नट चकित होकर देखते हैं कि घोड़े ताल के सम नहीं चूकते ॥३०२॥

विशेष—(१) 'सुर गुरु संग पुरंदर जैसे'—इन्द्र की उपमा ऐश्वर्य सम्बन्ध से है, यथा—"जे गुरु चरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं ॥ मोहिं सम यह अनुभयउ न दूजे।" (अ० दो० २), यह श्रीदशरथजी ने ही कहा है। 'कुल-रीति' और 'बेद-बिधि' रथ ही पर कर ली। अतः, ये विधियाँ सामान्य ही थीं। 'सुरगुरु-संग···' में दृष्टान्त अलंकार है।

(२) 'सुमिरि राम गुरु ···'—श्रीरामजी का वात्सल्य भाव से स्मरण होते ही उतावली से गुरु की आज्ञा लेकर चले। ऐश्वर्य भाव से भी यात्रा में राम-स्मरण युक्त है, यथा—"अस कहिगे बिश्राम गृह, रामचरन चित लाई।" (दो० ३५५), शंख-मांगलिक है। अतः, उसे बजाकर चले। 'हरषे बिबुध···'—'बिबुध', क्योंकि विशेष बुद्धिमानी का काम किया कि बरात के प्रस्थान पर फूलों की वर्षा की।

(३) 'भयेउ कोलाहल ···'—कुञ्जरीति आदि होने के कारण हल्ला बन्द हो गया था, फिर कोलाहल हुआ, जैसे पहले—'निज पराइ कछु सुनिय न काना।' कहा गया था। कोलाहल के कारण भी साथ ही कहते हैं कि हाथी, घोड़े गरजते हैं, आकाश और भूमि पर बाजे बजते हैं और मंगल गान हो रहे हैं।

'सुर नर नारि सुमंगल ···'—आकाश में देवताओं की स्त्रियाँ और भूमि पर नरों की स्त्रियाँ सुमंगल गा रही हैं, ये दो० ३०० चौ० ४ में कथित अटारियों पर की स्त्रियाँ नहीं हैं। बरात को पहुँचानेवाली अवध नगर की स्त्रियाँ हैं।

(४) 'सरस राग बाजहिं···'—शहनाइयों का स्वर ऊँचा होता है, पर यहाँ वे मंगल गान से मिलकर रसीले रागों में बज रही हैं।

'सरब करहि पायक फहराहीं'—'सरब' का अर्थ 'श्रम' के अनुसार कसरत होता है, पूर्व में 'सरों' पटेबाजी आदि को भी कहते हैं। 'फहराहीं'—'पायक' शब्द दीप-देहली से 'फहराहीं' के साथ में भी होकर 'फरहरा-पताका' के अर्थ के साथ भी होगा, इस तरह झंडियों का फहराना अर्थ होगा।

'कल गान सुजाना'—गान में स्वर भी अच्छा है और वे उनके ताल-मात्रा आदि के ज्ञान में सुजान हैं।

(५) 'तुरग नचावहिं कुँअर ···'—पूर्व कहा था—'फेरहिं चतुर तुरग गति नाना।' वहींसे प्रसंग मिलाया और यह भी जनाया कि अब महाराज वहाँ तक पहुँच गये जहाँ भरतजी हैं। इसीसे घोड़े नचाये जाते हैं।

बनइ न बरनत बनी बराता। होहिं सगुन सुंदर सुभदाता ॥१॥
चारा चाष बाम दिसि लेई। मनहुँ सकल मंगल कहि देई ॥२॥
दाहिन काग सुखेत सुहावा। नकुल-दरस सब काहू पावा ॥३॥
सानुकूल बह त्रिबिध बयारी। सघट सबाल आव बर नारी ॥४॥
लोवा फिरि फिरि दरस देखावा। सुरभी सनमुख सिसुहि पियावा ॥५॥
मृगमाला फिरि दाहिनि आई। मंगलगन जनु दीन्हि देखाई ॥६॥

छेमकरी कह छेम बिसेखी । स्यामा बाम सुतरु पर देखी ॥७॥
सनमुख आयेउ दधि अरु मीना । कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रबीना ॥८॥

दोहा—मंगलमय कल्यानमय, अभिमत - फल - दातार ।
जनु सब साँचे होन हित, भये सगुन एक बार ॥३०३॥

शब्दार्थ—बनी = सजी । चापु = नीलकंठ । छेमकरी = एक चील, जिसका मुख श्वेत और सर्वांग लाल होता है, यह 'क्षेम-क्षेम' बोलती है । स्यामा = एक प्रसिद्ध काला पक्षी, इसके पैरमात्र पीले होते हैं, इसका स्वर मधुर और कोमल होता है । लोवा = लोमड़ी । सुखेत = अच्छे खेत में ।

अर्थ—बरात ऐसी सजी है कि उसका वर्णन करते नहीं बनता, शुभदायक सुन्दर शकुन हो रहे हैं ॥१॥ नीलकंठ पक्षी बाईं ओर चारा ले रहा है, वह मानों सब मंगलों को कहे देता है ॥२॥ कौआ दाहिनी ओर अच्छे खेत में शोभायमान हो रहा है, सब किसीने नेवले के दर्शन पाये ॥३॥ तीनों प्रकार की (शीतल, मन्द, सुगन्धित) हवा सानुकूल चल रही है । सौभाग्यवती स्त्री घड़े और बालक के साथ आ रही है ॥४॥ लोमड़ी पीछे घूम-घूम कर अपने दर्शन देती है । सामने खड़ी हुई गाय अपने बछड़े को दूध पिलाती है ॥५॥ हिरनों के झुण्ड बाईं ओर से घूमकर दाहिनी ओर आये, मानों सभी मंगलों के समूह दिखाई पड़े ॥६॥ क्षेमकरी (बोल-बोलकर) विशेष कल्याण कह रही है और बाईं ओर सुन्दर वृक्ष पर श्यामा पक्षी देख पड़ी ॥७॥ दही, मछली और हाथ में पुस्तक लिये हुए दो विद्वान् ब्राह्मण सामने आये ॥८॥ मङ्गलमय, कल्याणमय और वांछित फल देनेवाले सारे शुभ शकुन मानों सच्चे होने के लिये एक बार ही प्रकट हुए ॥३०३॥

विशेष—(१) 'बनइ न बरनत···'—इसके पूर्वार्द्ध में बरात-वर्णन का उपसंहार किया । इसका उपक्रम —"चलहु बेगि रघुबीर बराता ।" (दो० २९७) पर है । आगे शकुन कहते हैं—'सुंदर सुभदाता'—अपने शरीर से सुन्दर और दूसरों को शुभदायक हैं । 'चापु ··कहि देई' अर्थात् कुछ बोलता भी है । इसका 'बाम दिसि' रहना ही शकुन है । 'दाहिन काग सुखेत···'—यह दाहिनी ओर और अन्नयुक्त एवं हरे-भरे खेत में हो तभी शकुन है । 'नकुल' के विषय में दिशा नहीं लिखा । अतः, सब ओर से शुभ ही है । 'दरस सब काहू पावा'—नेवला प्रायः मनुष्यों को देखकर भागता है, पर उस समय निडर होकर विचर रहा था कि सब कोई देख लें । 'सानुकूल बह त्रिबिध···'—यात्रा में पीछे की ओर से वायु का चलना शकुन है और इसके विरुद्ध (सामने से आना) अपशकुन है वह तो मानों रोकता है । 'सघट सबाल···'—'आव' अर्थात् स्त्री का सामने से आना शकुन है, वह 'बर' अर्थात् सधवा (सौभाग्यवती) हो । इसके विरुद्ध अर्थात् विधवा एवं पीछे से आती हुई तथा खाली घड़ा लिये एवं बाँझ का आना अपशकुन है । एक ही अर्द्धाली में स्त्री और वायु को कहना था, इसलिये वायु को स्त्रीलिंग के रूप में 'बयारि' कहा । पुनः एक का पीछे से, दूसरी का आगे से आना शुभ है इसलिये भी साथ वर्णन किया गया ।

(२) 'लोवा फिरि ··'—यह आगे को चलती हुई घूम-घूमकर पीछे देखती जाय, मानों अपने दर्शन सबको दिखा रही है, तभी शकुन है । इसका खड़ी रह जाना अथवा एकदम भागना भी अपशकुन है । 'दरस' का अर्थ (दर्शय) स्वरूप का है, यथा—"भरत दरस देखत खुलेउ, मग लोगन्ह कर भाग ।" (अ० दो० २३) । 'सुरभी···'—गाय सामने खड़ी बच्चे को दूध पिलाती हो, तभी शकुन है । 'मृगमाला फिरि···'—मृग वन्यपशुमात्र को कहते हैं, पर यहाँ 'माला' शब्द भी साथ देकर हिरनों को ही सूचित किया, क्योंकि ये झुंड- के-झुंड साथ चलते हैं । मृगों का झुंड बाईं ओर घूमकर सम्मुख होकर (परिक्रमा करने की भाँति) दाहिनी ओर आवे तब शकुन है । 'मंगल गन' का भाव यह कि आपलोग अभी एक विवाह के

लिये जा रहे हो, वहाँ चार होंगे। अन्य रामायणों के अनुसार श्रीअवध के और भी कुमारों के ब्याह वहाँ होंगे।

'छेमकरी कह छेम···'—'कह' अर्थात् यह बोलती भी है। 'बिसेखी' अर्थात् यह भारी शकुन है। 'सुतरु' जैसे आम, पीपल, वट आदि, इसका वर्णन—"कुंकुम रंग सुअंग जितो मुख-चंद सों चंद सों होड़ परी है। बोलत बोल समृद्धि चुवै, अवलोकत सोच बिषाद हरी है॥ गौरी कि गंग बिहंगिनि बेष, कि मंजुल मूरति मोद भरी है। पेखि सप्रेम पयान समय सब सोचबिमोचन छेमकरी है॥" (क० उ० १८०) तथा—"छेमकरी बलि बोलि सुबानी। कुसल छेम सियराम लखन कब ऐहैं, अंब? अवध रजधानी॥, ससिमुख, कुंकुम बरनि, सुलोचनि, मोचिनि-सोचनि बेद बखानी। देवि दया करि देहि दरस फल जोरि-पानि बिनवहिं सब रानी॥ सुनि सनेहमय बचन निकट ह्वै, मंजुल मंडल कै मड़रानी। सुभ मंगल आनन्द गगन-धुनि अकनि-अकनि उर जरनि जुड़ानी॥" (गी० लं० २०) इस पद में इसके दर्शन और बोलने का फल शोक दूर करना और इसके लक्षण एवं यह भी कि यह यदि आकाश में मंडलाकार होकर बोले तब शकुन है—कहे गये हैं। तन्त्रसार में इसके नमस्कार का श्लोक लिखा है—"कुंकुमारुणसर्वाङ्गि! कुन्देन्दुधवलानने। मत्स्यमांसप्रिये देवि, क्षेमङ्करि नमोस्तु ते॥"

'सनमुख आयो दधि·····'—एक ही व्यक्ति दोनों लिये हो, क्योंकि 'आयो' यह क्रिया एकवचन की है। मछली जीवित ही जल के साथ हो, सामने से अपनी ओर को लिये हुए वह व्यक्ति आता हो। 'बिप्र प्रवीना'—अर्थात् शास्त्र चर्चा करते हुए ये भी सामने से अपनी ओर को आते हों।

'मंगलमय कल्यानमय ·····'—ऊपर 'मंगल' एवं 'सुभ दाता' शब्द तीन ही जगह आये हैं। अतः, यहाँ उपर्युक्त सबके लिये—'मंगलमय···' कहा गया है। यह भी सूचित किया कि जितने गिनाये गये, उतने ही नहीं हुए, किन्तु जितने मंगलमय आदि हैं, वे सब हुए। 'मंगलमय' से मंगल करनेवाले और 'कल्यानमय' से उनको निर्विघ्न निबाहनेवाले हैं। यह भी भाव है कि वे मंगलमय—कल्याणमय अभिमत फल देनेवाले हैं। ये सब एक साथ ही क्यों हो पड़े? इसका समाधान उत्तरार्द्ध से करते हैं—'जनु सब साँचे···' अर्थात् शकुनों ने सोचा कि श्रीरामजी साक्षात् ब्रह्म हैं, इनके सम्बन्ध का मंगल तो स्वतः होगा ही, यदि आज हमलोग जाकर प्रकट होंगे तो भविष्य में लोग हमें शकुनों में मानकर पूजेंगे कि इन्हींके द्वारा श्रीरामजी के मंगल हुए हैं और उनका मनोरथ सिद्ध हुआ। इनके द्वारा हमारे भी मनोरथ सिद्ध होंगे। यहाँ 'जनु···' यह उत्प्रेक्षा है। आगे इनके सत्य होने के हेतु कहकर स्वयं शुभ-शकुनों ने ही सत्य होना कहा है—"मंगल सगुन ··· सुनि अस ब्याह सगुन सब नाचे। अब कीन्हें बिरंचि हम साँचे॥" शकुन, यथा—"भेरी मृदङ्ग मृदु मर्दल शंख वीणा वेदध्वनिर्मधुर मङ्गल गीत घोषाः। पुत्रान्विता च युवती सुरभिः सवत्सा धौताम्बरश्च रजकोभिमुखः प्रशस्ताः॥" (रत्नमाला)।

मंगल सगुन सुगम सब ताके। सगुन ब्रह्म सुंदर सुत जाके॥१॥
राम-सरिस बर दुलहिनि सीता। समधी दसरथ जनक पुनीता॥२॥
सुनि अस ब्याह सगुन सब नाचे। अब कीन्हे बिरंचि हम साँचे॥३॥
येहि बिधि कीन्ह बरात पयाना। हय गय गाजहिं हने निसाना॥४॥

अर्थ—जिसके सगुण ब्रह्म ही सुन्दर पुत्र हैं उसके लिये सभी मंगल शकुन सुलभ हैं॥१॥ श्रीराम जैसे वर और श्रीसीताजी-सी दुलहिन तथा दशरथजी और जनकजी-से पवित्र समधी हैं॥२॥ ऐसा ब्याह सुनकर सारे शकुन नाचने लगे (यह समझकर) कि अब ब्रह्मा ने हमें सच्चा कर दिया॥३॥ इस भाँति बरात ने प्रस्थान किया, घोड़े-हाथी गरजते हैं और डंकों पर चोट पड़ रही है॥४॥

विशेष—(१) 'मंगल सगुन सुगम ·'—जहाँ पर साक्षात् सगुन ब्रह्म ही पुत्र रूप में हैं, वहाँ एक साथ ही सब शकुनों का होना सुगम ही है, न होता तो आश्चर्य था।

'राम सरिस बर दुलहिनि सीता।···'—का भाव यह कि—"जिन्ह कर नाम लेत जग माहीं। सकल अमंगलमूल नसाहीं॥ करतल होहिं पदारथ चारी। तेइ सिय राम···" (दो० ३१४), जब वे ही वर-दुलहिनि हैं, तो मंगल-शकुन क्यों न सुगम हों? 'पुनीता'—क्योंकि दोनों ने बड़े पुण्य से दोनों को पुत्र-पुत्री-रूप में प्राप्त किया है, यथा—"जनक सुकृत मूरति बैदेही। दसरथ सुकृत राम धरे देही॥ इन्ह सम काहु न सिव अवराधे।" (दो० ३०९)। एक भी श्रेष्ठ योग के कारण मंगल होते हैं, यहाँ तो कई योग उत्तम ही उत्तम हैं, फिर क्यों न हों।

(२) 'सगुन सब नाचे···'—आनन्दित मन से बरातियों के समक्ष नाच उठे, अर्थात् विचरकर इनके दर्शनों से अपने को कृतार्थ कर रहे हैं। भला हुआ कि ब्रह्मा ने ऐसे ब्याह का संयोग कर दिया। हमलोग आज से सच्चे गिने जायँगे। सब एक बार ही प्रकट हुए, वास्तव में शकुन अपना ही मंगल कर रहे हैं।

'येहि बिधि कीन्ह ·'—महाराजा की सवारी निकली, तब सब चले, शकुन होते जाते हैं।

आवत जानि भानु-कुल-केतू। सरितन्हि जनक बँधाये सेतू॥५॥
बीच बीच बर बास बनाये। सुरपुर-सरिस संपदा छाये॥६॥
असन सयन बर बसन सुहाये। पावहिं सब निज-निज मन भाये॥७॥
नित नूतन सुख लखि अनुकूले। सकल बरातिन्ह मंदिर भूले॥८॥

दोहा—आवत जानि बरात बर, सुनि गहगहे निसान।
सजि गजरथ पदचर तुरग, लेन चले अगवान॥३०४॥

शब्दार्थ—सेतु = पुल। सयन = शय्या, यथा—"मयन-सयन-सय-सम सुखदाई।" (अ० दो० १३९)।

अर्थ—सूर्यवंश के ध्वजारूप राजा दशरथ को आते हुए जानकर जनक ने नदियों पर पुल बँधा दिये थे॥५॥ बीच-बीच में ठहरने के लिये श्रेष्ठ निवास स्थान (पड़ाव) बनाये थे जिनमें देव लोक के समान सम्पदा छा दिये (भर दिये) थे॥६॥ अपने-अपने मनोऽनुकूल सुहावने उत्तम भोजन, शय्या और वस्त्र सब कोई पाने लगे॥७॥ अपने अनुकूल नित्य नया सुख देखकर सब बराती अपने-अपने घरों को भूल गये॥८॥ धमाधम नगाड़ों के शब्द सुन और इससे श्रेष्ठ बरात को आती हुई जानकर (कन्या पक्षवाले) हाथी, रथ, पैदल और घोड़े सज-सज कर अगवानी लेने चले॥३०४॥

विशेष—(१ 'आवत जानि भानु···'—जो दूत पत्रिका लेकर श्रीअवध गये थे, उनमें से कुछ ने शीघ्र ही लौटकर समाचार दिया तथा सूर्यवत् प्रतापी राजा का आगमन सबको विदित हो गया, जैसे सूर्य का उदय स्वयं सब जान जाते हैं। पुनः इनकी बरात के योग्य बड़े-बड़े पुल बनाये। 'जनक बँधाये सेतू'—श्री जनकजी ने अपने विभव से ही पुल बँधवाया एवं पड़ाव का प्रबन्ध किया है, सिद्धियों एवं दैव-बल से नहीं, नहीं तो वैसा लिखा जाता, यथा—"सिधि सब सिय-आयसु अकनि।" (दो० ३०६), "सुनि रिधि सिधि अनिमादिक आई।" (अ० दो० २१२)।

(२) 'निज निज मन भाये।'—मुनि, विप्र, एवं क्षत्रियगण अपने-अपने अनुकूल ही पाते हैं।

'नित नूतन सुख···' —जो सुख आज है, उससे भिन्न ही भिन्न पदार्थ दूसरे दिन मिलते थे। जो अनुकूलता अपने ही घर में हो सकती है, वह सर्वत्र मिलती गई। अपने घर से अधिक अनुकूलता मिलने

लगी, तब अपने घर बरातियों को भूल गये। अवध वासियों का सुख, यथा—"अवधपुरी बासिन्ह कर सुख संपदा समाज। सहस सेष नहिं कहि सकहिं, जहँ नृप राम बिराज॥" (उ० २६), ऐसे सुख भी भूल गये। इस प्रकार बरातियों की सेवा श्री विदेह जी ने अपने विभव से की है। लौटती बार भी उन्हींकी ओर से मार्ग का ऐसा ही कुल प्रबन्ध था। इससे अयोध्या से मार्ग-व्यय के लिये गई हुई वस्तुओं का काम ही नहीं पड़ा, यथा—"बेसर ऊँट बृषभ ''कोटिन्ह काँवरि चले कहारा। बिबिध बस्तु को बरनै पारा॥" (दो० २९९)।"

(३) 'सुनि गहगहे निसान'—कोई-कोई इसे राजा जनक की तरफ का बजाया जाना भी अर्थ करते हैं कि सुनकर अगवानी का सजाव हो। पर 'गह-गहे' का 'बजाना' अर्थ नहीं है, किन्तु 'धमाधम' एवं घने का है, यथा—"अरु बाजे गहगहे निसाना।" (दो० १५३), यहाँ गहगहे के साथ 'बाजे' शब्द पृथक् दिया गया है।

कनककलस भरि कोपर थारा। भाजन ललित अनेक प्रकारा॥१॥
भरे सुधासम सब पकवाने। भाँति भाँति नहिं जाहिं बखाने॥२॥
फल अनेक बर बस्तु सुहाई। हरषि भेंट हित भूप पठाई॥३॥
भूषन बसन महामनि नाना। खग मृग हय गय बहुबिधि जाना॥४॥
मंगल सगुन सुगंध सुहाये। बहुत भाँति महिपाल पठाये॥५॥
दधि चिउरा उपहार अपारा। भरि भरि काँवरि चले कहारा॥६॥
अगवानन्ह जब दीखि बराता। उर आनंद पुलक भर गाता॥७॥
देखि बनाव सहित अगवाना। मुदित बरातिन्ह हने निसाना॥८॥

दोहा—हरषि परसपर मिलन हित, कछुक चले बगमेल।
जनु आनंदसमुद्र दुइ, मिलत बिहाइ सुबेल॥३०५॥

शब्दार्थ—कोपर = बड़ा थाल, परात, सरलता से उठाने के लिये जिसमें कोंड़ा लगा रहता है। भाजन = पात्र, बर्तन। पकवान = पक्वान्न, घी में पके हुए खाने के पदार्थ। महामणि = बहुमूल्यमणि। उपहार = भेंट। सुबेला = समुद्र का सुन्दर किनारा, मर्यादा।

शब्दार्थ—सोने के कलश जल भरे हुए, कोपर, थाल और अनेकों प्रकार के सुन्दर बर्तन, सब भांति-भाँति के अमृत-समान पकवानों से भरे हुए, जिनके वर्णन नहीं किये जा सकते॥१-२॥ अनेकों प्रकार के उत्तम फल और उत्तम-उत्तम सुहावनी वस्तुएँ राजा जनक ने प्रसन्नता से भेंट के लिये भेजीं॥३॥ नाना प्रकार के भूषण, वस्त्र और महामणि, बहुत प्रकार के पक्षी, मृग, घोड़े, हाथी और रथ एवं सवारियाँ तथा बहुत तरह के सुन्दर मंगल सगुन के पदार्थ, सुगन्ध (अतर, गुलाब आदि) राजा जनक ने भेजे॥४-५॥ दही, चिउरा तथा और भी अनगिनत उपहार की वस्तुएँ कहार काँवरों में भर-भरकर ले चले॥६॥ अगवानियों ने जब बरात देखी, तब उनके हृदय आनन्द से और शरीर पुलक से भर गये॥७॥ (इधर के) अगवानियों को सजे-धजे देख (उधर) बरातियों ने प्रसन्न होकर नगाड़े बजाये॥८॥ हर्षित होकर एक-दूसरे से मिलने के लिये (दोनों ओर से) कुछ-कुछ बाग ढीले करके उन्हें मिलाये हुए चलकर आ मिले, मानों आनन्द के दो समुद्र अपनी-अपनी मर्यादा छोड़कर मिल रहे हैं॥३०५॥

विशेष—'कनककलस भरि'' '—इन सुवर्ण-कलशों में मंगल जल भरा है। अतः, 'भरि' कहा है।

'भरे सुधासम···'—मार्ग में—'सुरपुर सरिस संपदा छाये।' कहा गया है, सुरपुर में अमृत होता है, उसकी जगह यहाँ 'सुधा सम' कहा गया है, अर्थात् मार्ग से यहाँ कम नहीं है। 'भाँति-भाँति', यथा—"चारि भाँति भोजन बिधि गाई। एक-एक बिधि बरनि न जाई॥" (दो० ३२८)। 'फल अनेक'—तरह-तरह के स्वादिष्ट फल। 'बर बस्तु' और भी उत्तम-उत्तम जो योग्य थीं। 'हरषि भेंट···'—राजा ने सब पदार्थ स्वयं देखे, तब योग्य जानकर प्रसन्न हुए और भेजे। 'खग'—शुक, सारिका, मयूर, कोकिल, चकोर, आदि। 'मृग'—चीता, गैंड़ा, हिरन, चिकरा, स्याह, आदि। 'मंगल'—हल्दी में रँगा हुआ चावल, आदि।

(२) 'हरषि परसपर ··कछुक चले बगमेल'—जब बरात कन्या-पक्ष के द्वार के पास पहुँचती है, तब इधर से भी लोग अगवानी के लिये चलते हैं। समीप पहुँचने पर कुछ रुककर लोग दोनों ओर से कुछ-कुछ आगे बढ़ते हैं। समधी के पास पहुँचकर अगवानी लोग उन्हें भेंट आदि से सत्कृत कर साथ लेकर चलते हैं, यह रीति है। वही बात यहाँ बरती गई। दोनों ओर के लोग पास पहुँच रुक-रुक कर घोड़ों की बागें ढीली कीं और बढ़कर मिल गये। यहाँ दोनों तरफ के समाज हर्षित हैं। अतः, आनन्द के समुद्र हैं। बीच का चलना मर्यादा है। आगे के घोड़-सवारों की श्रेणियाँ लहर हैं, उनका बढ़-बढ़कर मिलना, लहरों का लहरों से मिलना है। 'बगमेल' के अर्थ—'दूसरे के घोड़े के साथ बाग मिलाये चलना, पाँत बाँधकर चलना, बराबर-बराबर चलना' (हिन्दी शब्दसागर), यथा—"आइ गये बगमेल, धरहु···" (अर० दो० १८)। 'बेला' का अर्थ समुद्र का किनारा होता है, 'सु' उपसर्ग सुन्दर के अर्थ में है। दोनों तरफ के सवार प्रथम रुक गये, यही मर्यादा बँध गई, मिलने की आतुरी में बढ़े, मानों मर्यादा छोड़ी।

बरषि सुमन सुरसुंदरि गावहिं। मुदित देव दुंदुभी बजावहिं॥१॥
बस्तु सकल राखी नृप आगे। बिनय कीन्हि तिन्ह अति अनुरागे॥२॥
प्रेम-समेत राय सब लीन्हा। भइ बकसीस जाचकन्हि दीन्हा॥३॥
करि पूजा मान्यता बड़ाई। जनवासे कहँ चले लेवाई॥४॥
बसन बिचित्र पाँवड़े परहीं। देखि धनद धनमद परिहरहीं॥५॥
अति सुंदर दीन्हेउ जनवासा। जहँ सब कहँ सब भाँति सुपासा॥६॥

अर्थ—देवताओं की स्त्रियाँ फूल बरसाकर गा रही हैं, आनन्दित होकर देवता गण नगाड़े बजाते हैं॥१॥ उन अगवानियों ने भेंट की सब वस्तुएँ राजा दशरथ के सामने रख दीं, और अत्यन्त अनुराग-पूर्वक स्तुति की॥२॥ राजा ने प्रेम के साथ सब वस्तुएँ ले लीं, बख्शीशें हुईं, वे वस्तुएँ याचकों को दी गईं॥३॥ पूजा, सम्मान और बड़ाई करके उनको भी जनवासे में लिवा ले चले॥४॥ तरह-तरह के विचित्र वस्त्र पाँवड़े में पड़ रहे हैं, जिन्हें देखकर कुबेर अपने धन का गर्व छोड़ देते हैं॥५॥ सबको अत्यन्त सुन्दर जनवासा दिया गया, जहाँ सबको सब भाँति की सुविधाएँ हैं॥६॥

विशेष—(१) 'बरषि सुमन सुर·····'—बरात के प्रस्थान के समय—"सुरनर नारि सुमंगल गाई।" कहा गया था, यहाँ केवल 'सुरसुन्दरि' हैं, क्योंकि अगवानियों के साथ नर-नारियों के आने की रीति नहीं है और वहाँ तो स्त्रियाँ बरात पहुँचाने की रीति में थीं। मिलने पर दोनों ओर के बाजे बजे, तब देवताओं ने भी नगाड़े बजाये।

'बिनय कीन्ह तिन्ह·····'—भेंट रखकर प्रार्थना की, अन्यथा अभिमान समझा जाता। अनुराग-पूर्वक होने से विनय सच्चे भाव की समझी गई। अतः, राजा ने भी प्रेमपूर्वक ग्रहण किया। 'करि पूजा

मान्यता बड़ाई'—पूजा कुछ पुष्प आदि वस्तुओं के द्वारा की जाती है, 'मान्यता' अपने से ऊँचा समझने के भाव को कहते हैं। बड़ाई प्रशंसा के वचनों को कहते हैं।

(२) 'बसन बिचित्र पाँवड़े·····'—'परहीं' अर्थात् जो वस्त्र पाँवड़े में बिछाये जाते हैं, वे वहीं पड़े ही रहते हैं, यह नहीं कि उन्हें हो उठाकर आगे बिछावें। यह देखकर कुबेर अपने धन का मद छोड़ देते हैं, विचारते हैं कि जैसे-जैसे बहुमूल्य वस्त्र पाँवड़े में पड़ रहे हैं, वैसे हमारे यहाँ खजाने में भी न मिलेंगे। पुनः आगे न जाने कितना दहेज आदि में दिया जायगा, इससे देने का मद भी नहीं रह गया। धनद का अर्थ है, जो धनवान् होते हुए धन दे भी। इस तरह के दोनों मद (धनी होने एवं धन देने के) छूट जाते हैं।

यहाँ पावड़े में पड़नेवाले वस्त्रों को देखकर धनद का लजाना कहा गया है। ऐसे ही श्रीदशरथजी के धन को सुनकर भी—"दसरथ धन सुनि धनद लजाई।" (अ० दो० ३२३) भी कहा गया है। कोई-कोई यहाँ के 'देखि' और वहाँ के 'सुनि' शब्द पर अवध की विशेषता कहते हैं कि सुनकर ही लजाते हैं तो देखनेपर न जाने क्या दशा होती? वे थोड़ा विचार से काम लें तो पता चल जायगा कि यहाँ तो पाँवड़े में पड़नेवाले अल्प वस्त्र-रूप धन की बात है और वहाँ 'दसरथ धन' सारा खजाना लगा दिया गया है!

'अति सुंदर दीन्हेउ·····'—सुन्दर निवास स्थान तो मार्ग ही में दिया था—"असन सयन बर बसन सुहाये। पावहिं सब निज·····" (दो० ३०३), यहाँ 'जनवासा' अपने नगर में है। अतः, उससे भी अधिक सुन्दर है।

जानी सिय बरात पुर आई। कछु निज महिमा प्रगटि जनाई ॥७॥
हृदय सुमिरि सब सिद्धि बोलाई। भूप - पहुनई करन पठाई ॥८॥

दोहा—सिधि सब सिय आयसु अकनि, गईं जहाँ जनवास।
लिये संपदा सकल सुख, सुरपुर - भोग-बिलास ॥३०६॥

निज निज बास बिलोकि बराती। सुरसुख सकल सुलभ सब भाँती ॥१॥
बिभवभेद कछु कोउ न जाना। सकल जनक कर करहिं बखाना ॥२॥
सियमहिमा रघुनायक जानी। हरषे हृदय हेतु पहिचानी ॥३॥

अर्थ—श्रीजानकीजी ने जाना कि बरात नगर में आ गई, तब उन्होंने कुछ अपनी महिमा प्रकट कर दिखाई ॥७॥ उन्होंने हृदय में स्मरण कर सारी सिद्धियों को बुलाया और राजा की पहुनई करने को भेज दिया ॥८॥ श्रीसीताजी की आज्ञा सुनकर वे सारी सिद्धियाँ सब सम्पदा, सुख और देवलोक के भोग-विलास (की सामग्री) लिये हुए, जहाँ जनवासा था, वहाँ गईं ॥३०६॥ बराती लोगों ने अपने-अपने वास-स्थल देखे और उनमें देवताओं के सब सुख सब तरह सुलभ पाये ॥१॥ ऐश्वर्य का भेद किसीने कुछ भी नहीं जाना, सभी जनकजी की बड़ाई कर रहे थे ॥२॥ श्रीजानकीजी की महिमा को श्रीरघुनाथजी ने जाना और उनके हृदय की प्रीति जानकर प्रसन्न हुए ॥३॥

विशेष—(१) 'कछु निज महिमा·····'—ऐसी ही पहुनई भरतजी की भरद्वाजजी ने की है, पर वहाँ उन्हें उसके लिये शोच हुआ और बड़ी महिमा प्रकट की। पर यहाँ कुछ ही महिमा में काम चल गया, क्योंकि मुनि जीव हैं और ये ईश्वरी हैं, इनकी महिमा अपरिमित है, यथा—"सुनु रघुबीर प्रिया बैदेही। तव प्रभाव जगबिदित न केही॥ लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहिं सेवहिं सब सिधि कर जोरे॥"

(अ० दो० १०२), "उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता।" (उ० दो० २३)। दो० १८ की व्याख्या देखिये। वहाँ मुनि को मन्त्र द्वारा आवाहन करना पड़ा है—"सुनि रिधि सिधि अनिमादिक आई।" (अ० दो० २१२), पर यहाँ स्मरण करते ही आ गईं और हाथ जोड़े आज्ञा चाहने लगीं। यह ईश्वर-जीव का भेद जनाया। 'प्रगटि जनाई'—श्रीरामजी को ही जनाया। अतः, वे ही जान गये। अन्यथा सभी जानते। 'पठाई', क्योंकि जब तक सम्बन्ध न होगा, चक्रवर्त्तीजी भीतर नहीं जायँगे। अतः, सिद्धियों को जनवासे में ही भेजा।

(२) 'लिये संपदा सकल सुख, सुरपुर भोग ···'—यहाँ सब पदार्थ सुरपुर ही के हैं, इसीसे 'सरिस' आदि वाचक पद नहीं दिये गये, यथा—"सुधा सरिस नहिं जाहिं बखाने।" (दो० ३२८), "भरे सुधा-सम सब पकवाने।" (दो० ६०४), इन सबमें जनकजी की विभूति है। अतः, सुधा सरिस आदि कहा है।

(३) 'निज निज बास बिलोकि···'—प्रथम वासस्थान सबकी रुचि के अनुकूल दिये, तब देव-लोक की भोग-विभूति दी। केवल 'सुर सुरभी सुरतरु···' (अ० दो० २१४), नहीं कहा गया, क्योंकि उससे स्पष्ट स्वर्ग की विभूति समझी जाती, फिर जनकजी का विभव कोई न कहता। 'सुर सुख सकल सुलभ सब भाँती।' में वह प्रभाव आ ही गया। हाँ, यहाँ वे सब दासी-दासों के द्वारा इच्छा पर प्राप्त होते हैं। 'बिभव भेद···'—बराती-बराती किसीने भी न जाना, क्योंकि राजा जनकजी ने मन्त्रियों से प्रबन्ध के लिये आज्ञा दी थी ही, सब यही कहते हैं कि ऐसा आश्चर्य विभव तो देवलोक ही में सुनते थे, पर यहाँ देखते हैं, क्यों न हो, राजा जनक योगीश्वर हैं, जो कर दिखावें, वही थोड़ा।

(४) 'हरषे हृदय हेतु पहिचानी।'—'हेतु' के अर्थ प्रीति और कारण दो होते हैं, यहाँ दोनों प्रकार के भावों में यह हेतु पद सार्थक है। (क) हमपर इतनी प्रीति है कि हमारी बरात भर की पहुनई कर रही हैं। (ख) हमने धनुर्भंग एवं नगर-दर्शन आदि से मिथिला-वासियों को सुख दिया है, उसी कारण से ये हमारे अवध-वासियों को दिव्य-सुख दे रही हैं। श्रीरामजी ने ही जाना, यथा—"सीय सासु प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई॥ लखा न मरम राम बिनु काहू।" (अ० दो० २५१)।

पितुआगमन सुनत दोउ भाई। हृदय न अति आनंद अमाई॥४॥
सकुचन्ह कहि न सकत गुरु पाहीं। पितु-दरसन-लालच मन माहीं॥५॥
बिस्वामित्र बिनय बड़ि देखी। उपजा उर संतोष बिसेखी॥६॥
हरषि बंधु दोउ हृदय लगाये। पुलक अंग अंबक जल छाये॥७॥
चले जहाँ दसरथ जनवासे। मनहुँ सरोवर तकेउ पियासे॥८॥

दोहा—भूप बिलोके जबहिं मुनि, आवत सुतन्ह समेत।
उठे हरषि सुखसिंधु महँ, चले थाह-सी लेत॥३०७॥

अर्थ—पिता का आना सुनते ही दोनों भाइयों को इतना अधिक आनन्द हुआ, कि वह हृदय में नहीं अँटता॥४॥ गुरुजी से संकोच-वश कह नहीं सकते, पर पिताजी के दर्शनों का लालच मन में है॥५॥ इनकी बड़ी नम्रता देखकर विश्वामित्रजी के हृदय में विशेष सन्तोष उत्पन्न हुआ॥६॥ उन्होंने हर्षपूर्वक दोनों भाइयों को छाती से लगाया, उनका शरीर पुलकित हो गया और आँखों में प्रेम के आँसू भर आये॥७॥ जहाँ जनवासे में दशरथ महाराज हैं, वहाँ को चले, मानों तालाब ही प्यासे को ताक कर उसके पास जाय॥८॥ राजा ने ज्योंही देखा कि मुनि पुत्रों के साथ आ रहे हैं वे आनन्दित होकर उठ पड़े और सुख-सागर में थाह लेते हुए की तरह चले॥३०७॥

विशेष—(१) 'हृदय न अति आनंद अमाई।'—वह आनन्द मुख द्वारा आज्ञा माँगने के रूप में निकलना ही चाहता है, पर संकोच है कि मुनि यह न समझें कि हमसे पिता को अधिक समझते हैं, लज्जा-रूप में भी संकोच है कि अपनी बरात देखने की लालसा है। अतः, लज्जा से भी नहीं कहते, यथा—"गिरा, अलिनि···प्रगट न लाज निसा अवलोकी॥" (दो० २५८)।

(२) 'बिनय बड़ि···'—'देखी' अर्थात् मुख की चेष्टा और नम्रता द्वारा लख लिया। 'बिनय बड़ि' के योग से सन्तोष 'बिसेखी' उपजा—यह समझकर कि हमें पिता से भी अधिक मानते हैं।

'पुलक अंग'—दोनों भाइयों के आनन्दमय शरीर हैं। अतः, स्पर्श होते ही आनन्द भर आता है, इसीसे पुलक आदि होते हैं, यथा—"सब सिसु येहि मिसु प्रेम बस, परसि मनोहर गात। तनु पुलकहिं अति हरष हिय, देखि देखि दोउ भ्रात॥" (दो० २२४), प्रेम के कारण नेत्रों में आँसू आ गये हैं, हृदय लगाना वात्सल्य भाव में स्वाभाविक है।

(३) 'मनहुँ सरोवर तकेउ पियासे।'—(क) प्यासा सरोवर के पास जाता है, यह कहावत है, पर यहाँ सरोवर ने ही प्यासे को ताका है, श्रीराम-लक्ष्मण सरोवर हैं, श्रीचक्रवर्त्तीजी और अवधवासी प्यासे हैं—"सबके उर निर्भर हरष, पूरित पुलक सरीर। कबहिं देखिबे नयन भरि, राम-लखन दोउ बीर॥" (दो० ३००)। (ख) मानों प्यासे ने तालाब देखा—इसमें पिता का अंग सरोवर, रूप-दर्शन जल और प्यासे दोनों भाई हैं—"पितु-दर्सन लालच मन माहीं।" (उपर्युक्त), पर '(क)' में विशेषता है।

'उठेउ हरषि सुख सिंधु महँ, चले थाह सी लेत।'—पुत्रों के समेत मुनि को आते देख हर्षित होकर उठे, क्योंकि महात्माओं को आगे चलकर लेना चाहिये, पर इनके हृदय में प्रेम और आनन्द का समुद्र उमड़ा, जिससे चलने की शक्ति न रह गई, यथा—"मोद-प्रमोद बिबस सब माता। चलहिं न चरन सिथिल भये गाता॥" (दो० ३४५), इससे छड़ी के सहारे रुक-रुककर चलने लगे, जैसे अगाध जल में लोग पैर सँभालकर धरते हैं, फिर थोड़ा रुककर दूसरा डेग (कदम) रखते हैं, तथा—"सिथिल अंग पग मग डगि डोलहि।" (अ० दो० २२४)।

मुनिहि दंडवत कीन्ह महीसा। बार-बार पदरज धरि सीसा॥१॥
कौसिक राउ लिये उर लाई। कहि असीस पूछी कुसलाई॥२॥
पुनि दंडवत करत दोउ भाई। देखि नृपति उर सुख न समाई॥३॥
सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे॥४॥

अर्थ—महाराजा ने मुनि (विश्वामित्र) को दण्डवत् प्रणाम किया और उनके चरणों की धूलि बार-बार सिर पर रक्खी॥१॥ विश्वामित्र मुनि ने राजा दशरथ को हृदय से लगा लिया और आशिष देकर कुशल पूछी॥२॥ फिर दोनों भाइयों को दण्डवत् प्रणाम करते देखकर महाराजा के हृदय में सुख नहीं समाता॥३॥ पुत्रों को हृदय से लगाकर (उन्होंने) असह्य दुःखों को दूर किया, मानों मरे हुए शरीर को फिर प्राण मिल गये हों॥४॥

विशेष—(१) 'बार बार पद-रज धरि सीसा।'—इन रजःकणों का प्रभाव—"जे गुरु-चरन-रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं॥···सबु पायेउँ रज पावनि पूजे॥" (अ० दो० २)। राजा मानों ऐसा कहते हुए बार-बार रज सिर पर रखते हैं।

(२) 'कौसिक राउ ·····'—राजा से मिलने में कौशिक नाम दिया गया, यह राज्य-सम्बन्धी नाम है, क्योंकि अभी तक राजा दशरथ का श्रीराम-विषयक पितृत्व इनमें था, मानों वे राजा-रूप थे, अब वह राजा दशरथ को मिलने के द्वारा सौंप रहे हैं। राजा के—'पद रज धरि सीसा' के प्रति 'लिये उर लाई' और 'दंडवत' के प्रति 'कहि असीस' है। 'पूछी कुसलाई' अपनी ओर से है।

'पुनि दंडवत करत दोउ भाई।'—प्रायः श्रीरामजी का सिर नवाना ही लिखा है, यथा—"प्रात काल उठि कै रघुनाथा। मातु-पिता गुरु नावहिं माथा॥" (दो० २०४), पर आज साष्टांग पड़ रहे हैं, क्योंकि बहुत दिनों पर मिलने से विशेष प्रेम है, पुनः सन्तों में रहकर दण्डवत् की रीति भी सीखी है। पिता के दर्शनों के लिये दोनों भाइयों को कहा गया—'हृदय न अति आनंद अमाई।' वैसे यहाँ—'देखि नृपति उर सुख न समाई।' कहा है, अर्थात् भगवान् भक्तों से भाव में बढ़े रहते हैं—"ये यथा मां···" (गीता ४।११)।

(३) 'मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे'—पुत्रों को मुनि के प्रति सौंपते समय राजा ने कहा था कि—"मेरे प्राननाथ सुत दोऊ।" (दो० २०७), प्राण-रूप पुत्रों के वियोग में अभी तक राजा मृतक तुल्य रहे, मरने में दुःसह दुःख होता है—"जनमत मरत दुसह दुख होई।" उ० दो० १०८)। अतः, अभी तक राजा को दुःसह दुःख था, वह पुत्रों के मिलने से मिट गया, प्राणों का मुख्य स्थल हृदय है। अतः, पुत्रों को हृदय में ही लगाया, देखिये दो० १६ भी।

पुनि बसिष्ठपद सिर तिन्ह नाये। प्रेममुदित मुनिवर उर लाये॥५॥
बिप्रबृंद बंदे दुहुँ भाई। मनभावती असीसैं पाई॥६॥
भरत सहानुज कीन्ह प्रनामा। लिये उठाइ लाइ उर रामा॥७॥
हरषे लखन देखि दोउ भ्राता। मिले प्रेम-परिपूरित गाता॥८॥

दोहा—**पुरजन परिजन जातिजन, जाचक मंत्री मीत।**
मिले जथाबिधि सबहि प्रभु, परम कृपाल बिनीत॥३०८॥

अर्थ—फिर दोनों भाइयों ने वसिष्ठजी के चरणों में सिर नवाया, प्रेम और आनन्द के साथ मुनि-श्रेष्ठ ने उन्हें छाती से लगा लिया॥५॥ दोनों भाइयों ने ब्राह्मण-समाज को वन्दना की और सबसे मनभाई असीसें पाईं॥६॥ जब श्रीभरतजी ने भाई के साथ प्रणाम किया, तब श्रीरामजी ने उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया॥७॥ दोनों भाइयों को देखकर श्रीलक्ष्मणजी हर्षित हुए और प्रेमपूर्ण शरीर से मिले॥८॥ परम दयालु, विनीत प्रभु श्रीरामजी पुरवासियों, कुटुम्बियों, जाति के लोगों, याचकों, मन्त्रियों और मित्रों (सभी) से जिससे जैसी रीति योग्य थी, मिले॥३०८॥

विशेष—(१) 'बसिष्ठ-पद सिर तिन्ह नाये···बिप्रबृंद बंदे'—पिता का प्रेम सबसे ऊँचा है, तब कुल-गुरु का और फिर विप्रों का। वैसे प्रणाम में भी क्रमशः दंडवत्, सिर नवाना और वन्दना, क्रमशः न्यून है। 'मन भावती', यथा—"सुफल मनोरथ होहिं तुम्हारे।" (दो० २३६)।

(२) 'लाइ उर रामा'—दोनों भाइयों को एक साथ ही उठाकर हृदय में लाये, अन्यथा एक को पीछे उठाने पर उसके प्रति प्रेम की विशेषता नहीं रहती इसलिये 'रामा' कहा गया कि ये तो जगत्-भर को साथ ही रमा सकते हैं।

(३) 'हरषे लखन ···मिले ···'—जिस समय श्रीराम-लक्ष्मणजी ने पिता को प्रणाम किया, उसी समय श्रीभरत दोनों भाइयों ने विश्वामित्रजी को प्रणाम किया और शत्रुघ्नजी का लक्ष्मणजी को प्रणाम करना 'मिले' शब्द में आ जाता है। विस्तार भय से संकेत में जनाया।

'पुरजन परिजन···'—इनसे यथाविधि मिलने में 'प्रभु, परम कृपालु, विनीत' ये तीन विशेषण हैं। अतः, बड़ों से नम्रता पूर्वक मिले, छोटों पर कृपा की, बराबरवालों से अंकमाल देकर 'मिले'। 'प्रभु' पद

देकर शीघ्रता ही में सभी से एक साथ मिलने का समाधान किया कि यहाँ पर प्रभुता से काम लिया है, यथा—"सानुज मिलि पल महँ सब काहू। कीन्हि दूरि दुख दारुन दाहू॥" (दो० २४३), "छन महँ सबहिं मिले भगवाना" (उ० दो० ५)।

रामहिं देखि बरात जुड़ानी। प्रीति कि रीति न जाति बखानी॥१॥
नृप-समीप सोहहिं सुत चारी। जनु धन धरमादिक तनुधारी॥२॥
सुतन्ह समेत दसरथहि देखी। मुदित नगर-नर-नारि बिसेखी॥३॥
सुमन बरषि सुर हनहिं निसाना। नाकनटी नाचहिं करि गाना॥४॥
सतानंद अरु बिप्र सचिवगन। मागध सूत बिदुष बंदीजन॥५॥
सहित बरात राउ सनमाना। आयसु माँगि फिरे अगवाना॥६॥
प्रथम बरात लगन ते आई। तातें पुर प्रमोद अधिकाई॥७॥
ब्रह्मानंद लोग सब लहहीं। बढ़हु दिवस निसि बिधि सन कहहीं॥८॥

दोहा—राम सीय सोभा - अवधि, सुकृत-अवधि दोउ राज।
जहँ तहँ पुरजन कहहिं अस, मिलि नर - नारि-समाज॥३०६॥

अर्थ—श्री रामजी को देखकर बराती (हृदय से) शीतल हुए, उनकी प्रीति की रीति कही नहीं जा सकती॥१॥ राजा दशरथ के पास चारों पुत्र ऐसे शोभित हो रहे हैं मानों धन-धर्म आदि (चारो फल) शरीर धारण किये हुए (विराजमान) हैं॥२॥ पुत्रों के साथ राजा दशरथ को देखकर जनक नगर के स्त्री-पुरुष विशेष आनन्दित हैं॥३॥ फूल बरसाकर देवता लोग नगाड़े बजा रहे हैं, अप्सराएँ गा-गाकर नाचती हैं॥४॥ श्रीशतानन्दजी, ब्राह्मणों, मन्त्रियों, मागधों, सूतों, पण्डितों और बन्दीजनों ने बरात के साथ राजा का सम्मान किया, फिर ये अगवानी लोग आज्ञा माँगकर लौटे॥५-६॥ लग्न से पहले बरात आ गई है, इससे सारे नगर में आह्लाद बढ़ता जा रहा है॥७॥ सब लोग ब्रह्मानन्द प्राप्त करते हैं और ब्रह्माजी से कहते हैं (प्रार्थना करते हैं) कि दिन और रात बढ़ जायँ॥८॥ श्रीरामजी और श्रीसीताजी शोभा की सीमा हैं और दोनों राजा पुण्य की सीमा हैं। जहाँ-तहाँ नगरवासी स्त्री-पुरुषों के समाज मिल-मिलकर आपस में ऐसा कहते हैं॥३०६॥

विशेष—(१) 'रामहिं देखि बरात जुड़ानी'—बरात के नेत्र दर्शनों के लिये व्याकुल एवं सन्तप्त थे, यथा—"कबहिं देखिबे नयन भरि, राम-लखन दोउ बीर॥" (दो० ३००), "बिरह अगिन तन तूल समीरा। स्वास जरइ छन मोह सरीरा॥" (सुं० दो० ३०), वे नेत्र शीतल हुए, यथा—"कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदुगाता॥" (सुं० दो० १३), यहाँ उपर्युक्त—'मनहुँ सरोबर तकेउ पियासे।' अर्थ (क) चरितार्थ हुआ।

'प्रीति कि रीति न जाइ···'—(क) मिलने एवं बातचीत में जो प्रेम के भाव प्रकट होते हैं, वे अकथ्य हैं। (ख) बरातियों को सुरपुर के भोग-विलास प्राप्त हुए तो भी उनके हृदय श्रीराम के बिना सन्तप्त ही थे, अब दर्शन पाकर शीतल हुए, यही तो प्रीति की रीति निराली है और इसीसे अकथ्य है। ऐसे ही—"सब बिधि सब पुर-लोग सुखारी। रामचंद्र मुख-चंद निहारी॥" (अ० दो० १) में भी कहा है कि देह के सब सुख रहते हुए भी आत्म-रूप श्रीराम-दर्शनों से ही सुखी हैं। प्रीति-रीति में यह सहज में प्राप्त है, अन्यथा देह-सुख ही प्रधान रहता है।

(२) 'नृप-समीप सोहहिं सुत ···'—'नृप'—क्योंकि राजाओं के यहाँ ही अर्थ-धर्मादि की शोभा होती है, विरक्तों के यहाँ ये हों भी तो शोभा नहीं पाते। राजा दशरथ को धन-धर्मादिक सहज में ही प्राप्त थे, तो अब शोभा कैसे कहते। अतः, अर्थादि का 'तनुधारी' होना कहा। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष-रूप क्रमशः शत्रुघ्न लक्ष्मण, भरत और श्रीरामजी हैं। आगे—"क्रियन्ह सहित फल चारि' (दो० ३३५) पर भी देखिये। यों तो ये चार फलों के भी फल हैं, पर यहाँ उपमा मात्र है।

(३)'सुतन्ह सहित दसरथहिं·····'—पुत्रों से श्रीचक्रवर्त्तीजी की और पिता से शोभा पुत्रों की है। जैसे ऐश्वर्यवान् महाराज हैं, वैसे सर्वगुणसम्पन्न परम सुन्दर उनके चारो पुत्र हैं। अतः, अन्योन्य शोभा-सापेक्षत्व है। यह देखकर नर-नारियों को विशेष आनन्द हुआ। विशेष हर्ष का यह भी हेतु हो सकता है कि इन्हीं चार पुत्रों के अनुरूप राज जनक के चार कन्याएँ भी हैं।

'नाकनटी नाचहिं·····'—प्रायः राजा-रइसों के ब्याह में वेश्याएँ नृत्य के लिये जाती हैं, पर यहाँ उनकी जगह आकाश (सुरलोक) की अप्सराएँ कही गई हैं, इससे वेश्या-नृत्य की प्रथा को दूषित जनाया। अतः, इस प्रथा का त्याग होना चाहिये।

(४) 'सतानंद···सहित बरात·····'—अगवानियों में इतने लोग विशेष करके सम्मान करने के लिये गये। अपने गुणों से राजा एवं बरात का सम्मान किया, क्योंकि बरातियों के साथ ही सम्मान करने से राजा प्रसन्न होंगे। राजा जनक अभी नहीं आये, क्योंकि बिना 'सामध' हुए ये चक्रवर्त्तीजी से अभी नहीं मिलेंगे, यह रीति है। 'आयसु माँगि·····'—यह शिष्टाचार है।

(५) 'प्रथम बरात लगन ते·····'—बरात आने के पहले ही लग्न निश्चित थी, यथा—"लिखि लगन तिलक समाज सजि कुलगुरुहि अवध पठायऊ॥ ··दीन्हि लगन कहि तिलक राउ हरषानेउ।" (जानकी मंगल ७०, ७३)। अगहन शु० ५ को ब्याह का मुहूर्त्त है और बरात कार्त्तिक कृष्णपक्ष ही में आ गई। अतः, लगभग सवा महीने पहले ही आई। इससे प्रकर्ष मोद है कि नाना प्रकार के उत्सव-आनन्द होंगे। 'ब्रह्मानन्द लोग सब·····'—चारो भाई सच्चिदानन्द-विग्रह हैं। अतः, इनके दर्शनों से सबको ब्रह्मानन्द मिल रहा है। पहले विदेह महाराज ही ब्रह्मानन्द-भोगी थे। 'बढ़हु दिवस निसि'—गिनती में तो दिन-रात बढ़ नहीं सकते। हाँ, इन्हीं दिन-रात को बढ़ाना चाहते हैं, इसके लिये 'बिधि' से कहते हैं, क्योंकि वे विधान-कर्त्ता हैं, पुनः इनके दिन-रात सबसे बड़े होते हैं, यथा—"सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः। रात्रि युगसहस्रां तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥" (गीता ८।१७)। अतः, अपने दिन-रात की तरह इन दिन-रातों को कर दें, यह प्रीति की दशा है। इनका भाव यह है कि ऐसा ही सदा देखते रहें, यथा—"प्रेम मगन माँगत महेस सो देखत ही रहिये नित ये री।" (गी० बा० ७६)।

(६) 'राम सीय सोभा-अवधि·····'—इसी दोहे की व्याख्या आगे के दोहों में है—'पुरजन कहहिं अस··· ···'—यहाँ उपक्रम है। आगे—"येहि बिधि सकल मनोरथ करहीं।" (दो० ३११) पर उपसंहार है।

जनक - सुकृत - मूरति बैदेही। दसरथसुकृत राम धरे देही॥१॥
इन्ह सम काहु न सिव अवराधे। काहु न इन्ह समान फल लाधे॥२॥
इन्ह सम कोउ न भयेउ जग माहीं। है नहि कतहूँ होनेउ नाहीं॥३॥
हम सब सकल सुकृत कै रासी। भये जग जनमि जनकपुर-बासी॥४॥
जिन्ह जानकी राम-छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेखी॥५॥
पुनि देखब रघुबीर - बिवाहू। लेब भली बिधि लोचन लाहू॥६॥

शब्दार्थ—अवराधे = आराधना की, पूजा की । लाधे = लब्ध किये, प्राप्त किये, पाये ।

अर्थ—श्रीजनकजी के पुण्यों की मूर्त्ति श्रीजानकीजी हैं और श्री दशरथजी के पुण्य देह धरे हुए श्रीरामजी हैं ॥१॥ इनके समान शिवजी की आराधना किसीने भी नहीं की और न किसीने इनके समान फल ही पाये हैं ॥२॥ इनके समान कोई भी कहीं जगत् में न हुआ, न है और न होनेवाला ही है ॥३॥ हम सब सभी पुण्यों की राशि हैं कि जगत् में जन्म लेकर जनकपुर के वासी हुए ॥४॥ जिन्होंने श्रीजानकीजी और श्रीरामजी की छवि देखी, ऐसे हमलोगों के समान विशेष पुण्यात्मा कौन है ? ॥५॥ (यही नहीं, किन्तु आगे) श्रीरघुवीर का ब्याह भी देखेंगे और भलीभाँति नेत्रों के लाभ लेंगे ॥६॥

विशेष—(१) 'जनक-सुकृत-मूरति···'—ऊपर दोहे में सुकृत-अवधि दोउ राज' कहा गया, फल द्वारा दोनों राजाओं के सुकृत का स्वरूप कहते हैं । ये 'सुकृत-अवधि' इससे हैं कि इनके ही सुकृत ने मूर्त्तिमान होकर दर्शन द्वारा हमसब को सुकृती बना दिया । आगे शिवजी की आराधना को इनके 'सुकृत-अवधि' होने का साधन कहा कि इसी साधन से इन्हें श्रीसीतारामजी मिले हैं ।

(२) 'को सुकृती हम सरिस·· '—'हम' और 'जिन्ह' बहुवचनों से सभी जनकपुरवासी आ गये । 'भये जग जनमि' से भूतकाल, 'जिन्ह जानकी-राम-छवि देखी ।' से वर्त्तमानकाल और 'पुनि देखब रघुबीर बिवाहू ।' से भविष्यत्काल के लिये भी अपनेको धन्य कहा ।

कहहिं परसपर कोकिलबयनी । येहि बिवाह बड़ लाभ सुनयनी ॥७॥
बड़े भाग बिधि बात बनाई । नयनअतिथि होइहहि दोउ भाई ॥८॥

दोहा—बारहिं बार सनेहबस, जनक बोलाउब सीय ।
लेन आइहहिं बंधु दोउ, कोटि - काम - कमनीय ॥३१०॥

बिबिधि भाँति होइहि पहुनाई । प्रिय न काहि अस सासुर माई ॥१॥
तब तब राम-लखनहिं निहारी । होइहहिं सब पुरलोक सुखारी ॥२॥

अर्थ—कोकिला के समान मधुर-प्रिय बोलनेवाली स्त्रियाँ आपस में कहती हैं कि हे सुन्दर नेत्रोंवाली ! इस विवाह में हमें बड़े लाभ हैं, हमारे बड़े भाग्य से विधाता ने बात सँवार दी कि दोनों भाई नेत्रों के पाहुन होंगे ॥७॥ (जब-जब) प्रेम के वश बार-बार श्रीजनकजी श्रीसीताजी को बुलाया करेंगे, करोड़ों कामदेवों से भी सुन्दर दोनों भाई लेने (लिवा जाने को) आया करेंगे ॥३१०॥ अनेक प्रकार से पहुनई होगी । हे माई ! ऐसी ससुराल किसे प्रिय नहीं लगेगी ? ॥१॥ तब-तब श्रीराम-लक्ष्मणजी को देख-देखकर सारे पुरवासी सुखी हुआ करेंगे ॥२॥

विशेष—(१) 'कहहिं परसपर कोकिल···'—ऊपर पुरुषों के वचन थे । यहाँ से स्त्रियों के वचन हैं । श्रीराम-यश-सम्बन्धी वाणी की 'कोकिलबयनी' कहकर सराहना की और 'बिवाह' देखने के योग से 'सुनयनी' विशेषण है । 'बड़ लाभ' के योग में 'बड़े भाग' कहा है, पूर्व अपने को—'को सुकृती हम सरिस' कहा गया है । सुकृत के अनुसार भाग्य ब्रह्मा बनाते हैं, यथा—"कठिन करम-गति जान बिधाता । जो सुभ असुभ सकल फलदाता ॥" (अ० दो० २८१), इससे 'बिधि बात बनाई' कहा गया है । यदि कहा जाय कि विवाह हो जाने पर तो श्रीजानकीजी भी चली जायँगी, तब कौन्ही के भी दर्शन न होंगे । उसपर कहती हैं—'बारहिं बार···' 'कोटि काम कमनीय'—यह विशेषण इन्होंने अपनी दृष्टि से दिया है, क्योंकि स्त्रियों को शृंगार अत्यन्त प्रिय है, यथा—"नारि बिलोकहिं हरषि हिय, निज निज रुचि अनुरूप । जनु सोहत शृंगार धरि, मूरति परम अनूप ॥" (दो० १४१) ।

(२) 'बिबिध भाँति होइहि···'—यह भी नहीं कि आकर दो-चार दिनों ही में चले जायँ, किन्तु तरह-तरह की पहुनइयों में १०-१५ दिन तो महाराज के ही महलों में लगेंगे, फिर उनके भाइयों, मन्त्रियों एवं कोषाध्यक्ष आदि के यहाँ भी तीन-तीन दिन पहुनई होगी, फिर तो कई महीने रहेंगे, क्योंकि—'प्रिय न काहि·· ' अन्यत्र से चाहे जी ऊब भी जाय, पर ऐसी ससुराल भला किसे न प्यारी होगी ? यथा—"असारे खलु संसारे सारं श्वशुरमन्दिरम् । हिमालये हरः शेते हरिः शेते पयोनिधौ ॥" (भोज-प्रबन्ध) ।

श्री मिथिलाजी में यह बात आजकल भी प्रसिद्ध है कि वहाँ की-सी दामाद की पहुनाई भारतवर्ष के किसी भी प्रान्त में नहीं होती ।

सखि जस राम लखन कर जोटा । तैसइ भूप संग दुइ ढोटा ॥३॥
स्याम गौर सब अंग सुहाये । ते सब कहहिं देखि जे आये ॥४॥
कहा एक मैं आजु निहारे । जनु बिरंचि निज हाथ सँवारे ॥५॥
भरत राम ही की अनुहारी । सहसा लखि न सकहिं नर-नारी ॥६॥
लखन सत्रुसूदन एकरूपा । नख सिख ते सब अंग अनूपा ॥७॥
मन भावहिं मुख बरनि न जाहीं । उपमा कहँ त्रिभुवन कोउ नाहीं ॥८॥

अर्थ—हे सखी ! जैसी श्रीराम-लक्ष्मण की जोड़ी है, वैसे ही राजा के साथ दो पुत्र और हैं ॥३॥ एक श्याम हैं और दूसरे गौर, सभी अंगों से सुन्दर हैं—जो देख आये हैं, वे सभी ऐसा कहते हैं ॥४॥ एक ने कहा कि मैंने आज ही उन्हें देखा है, मानों ब्रह्मा ने उन्हें अपने हाथों से सँवारकर बनाया है ॥५॥ भरतजी श्रीरामजी की ही तरह हैं, एकाएक स्त्री-पुरुष कोई उन्हें पहचान नहीं सकते ॥६॥ लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी एक-रूप हैं, उनके नख से शिखा तक सभी अंग उपमारहित हैं ॥७॥ वे मन-ही-मन भाते हैं, मुख से नहीं वर्णन किये जा सकते, उनकी उपमा के योग्य तीनो लोकों में कोई नहीं है ॥८॥

विशेष—'कहा एक मैं आजु···'—तू कल की, वह भी सुनी हुई, कहती है और मैंने तो आज ही प्रत्यक्ष देखा है । उन्हें ब्रह्मा ने स्वयं हाथों से सँवारकर रचा है । इस तरह शोभा को अत्यन्त कहा, यथा—"स्यामल गौर किसोर मनोहरतानिधि । सुखमा सकल सकेलि मनहुँ बिरचे बिधि ॥ बिरचे बिरंचि बनाइ बाँची रुचिरता रंचौ नहीं । दसचारि भुवन निहारि देखि बिचारि नहिं उपमा कहीं ॥" (जानकी मंगल १९-२०) ।

'भरत रामही की···लखन सत्रु···', यथा—"कहहिं सप्रेम एक यक पाहीं । राम लखन सखि होहिं कि नाहीं ॥ बय बपु बरन रूप सोइ आली । सील सनेह सरिस सम चाली ॥" (अ० दो० २२१) । एक स्थल पर 'अनुहारी' और दूसरे स्थल पर 'एकरूपा' कहकर दोनों का एक ही अर्थ जनाया ।

अलंकार—'सामान्य', क्योंकि दोनों भाई एक रूप कहे गये हैं ।

'मन भावहिं मुख···'—तीनो लोकों की उपमा योग्य न पाकर वक्ता के मन का भाव ही रह गया । पहले—'नख सिख ते सब अंग अनूपा ।' कहा था, तब इसी लोक की उपमाएँ समझी गई थीं ।

छन्द—उपमा न कोउ कह दास तुलसी कतहुँ कबिकोबिद कहैं ।
बल - बिनय-बिद्या-सील - सोभा - सिंधु इन्ह से एइ अहैं ॥
पुर-नारि सकल पसारि अंचल बिधिहि बचन सुनावहीं ।
ब्याहियहु चारिउ भाइ एहि पुर हम सुमंगल गावहीं ॥

सोरठा—कहहिं परसपर नारि, बारिबिलोचन पुलक तनु ।
सखि सब करब पुरारि, पुन्य-पयोनिधि भूप दोउ ॥३११॥

येहि बिधि सकल मनोरथ करहीं । आनँद उमगि-उमगि उर भरहीं ॥१॥

अर्थ—श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि इनकी उपमा के योग्य कहीं कोई नहीं है । कवि और पण्डित लोग कहते हैं कि बल, विनय, विद्या, शील और शोभा के सागर इनकी तरह ये ही हैं ॥ अंचल फैलाकर सब जनकपुर की स्त्रियाँ ब्रह्माजी को ये वचन सुनाती हैं कि—चारो भाई इसी पुर में ब्याहे जायँ और हम सुन्दर मंगल का गान करें ॥ नेत्रों में जल भरे और शरीर से पुलकित होकर स्त्रियाँ आपस में कहती हैं कि हे सखि ! त्रिपुरारि शिवजी सब मनोरथ पूरा करेंगे, (क्योंकि) ये दोनों राजा पुण्य के सागर हैं ॥३११॥ इस तरह सब (स्त्रियाँ) मनोरथ कर रही हैं और उत्साह-पूर्वक उमँग-उमँग कर आनन्द से हृदय को भर रही हैं ॥१॥

विशेष—(१) 'बल, बिनय, बिद्या, सील, सोभासिंधु···'—ये पाँच गुण पुर-नारियों ने देखे हैं, इससे इन्हींको कहती हैं, अन्यथा गुण तो भगवान् में अनन्त हैं । 'बल' धनुष तोड़ने में, 'विद्या' यथा—"अति लाघव उठाय धनु लीन्हा । लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े । काहु न लखा···" (दो० २६०), विनय और शील परशुराम-संवाद में देखे हैं, यथा—"बिनय सील करुना गुनसागर ।" (दो० २८४), और शोभा-समुद्र का होना तो नगर-दर्शन ही से सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया । "इन्ह-से एइ" में अनन्वयोपमा अलंकार है ।

(२) 'पसारि अंचल'—यह देवता एवं बड़े से याचना की मुद्रा है, इसमें दीनता, विनय और अत्यन्त अभिलाषा के भाव रहते हैं, यथा—"चरन नाइ सिर अंचल रोपा ।" (लं० दो० ५), "हिंडोल-साल बिलोकि सब अंचल पसारि । लागीं असीसन राम सीतहिं···" (गी० उ० १८) ।

'बिधिहि बचन सुनावहीं'—प्रथम धनुर्भंग के पहले भी ब्रह्मा से विनय करती थीं, किन्तु उस समय भय से मन ही में कहती थीं—"बिधि सन बिनय करहिं मन माहीं ।" (दो० २४८), यहाँ भय नहीं है । अतः, प्रकट में सुनाते हैं । 'येहि पुर' अर्थात् नगर-भर में चाहे कहीं हो, पर हम सुमंगल गावें, यही लालसा है कि चारों के सुमंगल गाने को मिले ।

(३) 'सखि सब करब पुरारि···'—शिवजी ने त्रिपुरासुरों को मारकर तीनो लोकों को सुखी किया, वैसे ही हमें भी सुखी करेंगे । शिवजी की प्रसन्नता के साधन भी पूर्व कहे गये—"इन्ह सम काहु न सिव अवराधे ।" अतएव 'सब करब पुरारि' कहा, अर्थात् नगर-भर में ब्याहे जाने की बात क्या कहती हो ? महाराज के ही यहाँ चारो ब्याह होंगे, क्योंकि इनके योग्य 'पुन्यपयोनिधि' ये ही हैं, इसीसे सब प्रकार पूर्ण हैं ।

जे नृप सीय - स्वयंबर आये । देखि बंधु सब तिन्ह सुख पाये ॥२॥
कहत रामजस बिसद बिसाला । निज-निज भवन गये महिपाला ॥३॥
गये बीति कछु दिन येहि भाँती । प्रमुदित पुरजन सकल बराती ॥४॥
मंगलमूल लगन दिन आवा । हिमरितु अगहनमास सुहावा ॥५॥
ग्रह तिथि नखत जोग बर बारू । लगन सोधि बिधि कीन्ह बिचारू ॥६॥
पठइ दीन्हि नारद सन सोई । गनी जनक के गनकन्ह जोई ॥७॥
सुनी सकल लोगन्ह यह बाता । कहहिं जोतिषी आहिं बिधाता ॥८॥

दोहा—धेनु - धूरि - बेला बिमल, सकल - सुमंगल-मूल।
बिप्रन्ह कहेउ बिदेह सन, जानि सगुन अनुकूल ॥३१२॥

अर्थ—जो (अच्छे) राजा श्रीजानकीजी के स्वयंवर में आये हुए थे, वे इन सब भाइयों को देखकर सुखी हुए ॥२॥ श्रीरामजी का विशाल (विस्तृत) निर्मल यश कहते हुए वे राजा लोग अपने-अपने घर को चले गये ॥३॥ इस तरह कुछ दिन बीत गये, समस्त पुरवासी और बराती विशेष आनन्दित हैं ॥४॥ मंगलों का मूल लग्न का दिन (विवाह का मूहूर्त्त) आ गया, हेमन्त ऋतु में सुहावना अगहन महीना ॥५॥ और श्रेष्ठ ग्रह, तिथि, नक्षत्र, योग, दिन और लग्न शोधन कर ब्रह्माजी ने विचार किया ॥६॥ उसीको नारदजी के हाथ से उन्होंने भेज दिया, जिसे प्रथम ही राजा जनक के ज्योतिषियों ने विचार रक्खा था ॥७॥ सब लोगों ने (जब) यह बात सुनी, तब कहने लगे—ज्योतिषी विधाता (ही) हैं ॥८॥ निर्मल और सब सुन्दर मंगलों की जड़ गोधूलि समय को अनुकूल शकुन जानकर ब्राह्मणों ने विदेह (जनक) जी से कहा ॥३१२॥

विशेष—(१) 'कहत राम-जस बिसद बिसाला।'—'बिसद', यथा—"जिन्हके जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रवि सीतल लागे॥" (दो० २६१)। 'बिसाला', यथा—"महि पाताल नाक जस ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥" (दो० २६४)।

(२) 'गये बीति कछु दिन'—सवा महीने बीत गये, पर कुछ ही दिन कहे गये, क्योंकि सुख के दिन जाते नहीं जान पड़ते, यथा—"सुख समेत संवत दुइ साता। पल सम होहिं न जनियहि जाता॥" (अ० दो० २७९)।

(३) 'मंगल मूल लगन ·····'—अगहन सब महीनों में श्रेष्ठ एवं भगवान् की विभूति है, यथा—"मासानां मार्गशीर्षोऽहं···" (गीता० १०।३५), इसीसे इसे 'मंगलमूल' और 'सुहावा' कहा गया। यह भी भाव है कि इस महीने में ब्याह-संयोग से जगत्-भर का मंगल होगा, जो रावण-द्वारा उठ गया है। कहा भी है—"मङ्गलेषु विवाहेषु कन्यासंवरणेषु च। दश मासाः प्रशस्यन्ते चैत्र-पौष-विवर्जिताः॥"

आजकल अगहन महीना ब्याह के लिये मध्यम माना जाता है। कारण यह कहा जाता है कि इस महीने में श्रीरामजी का ब्याह हुआ, उन्हें वनवास आदि कष्ट हुए। यह भ्रम है। भगवान् लीला स्वेच्छा से करते हैं, उन्हें उसमें दुःख की अनुभूति नहीं हुई। परिणाम तो १०००० वर्ष महान् सुख रहा। फिर अन्त में वाल्मीकि आश्रम जाने का सीता-वियोग भी दोनों की शुभकामनाओं और स्वेच्छा से हुआ, इसका विचार उ० दो० २४ चौ० ६-७ पर 'सीता वनवास मीमांसा' शीर्षक पर देखिये। पूर्व में अगहन का ब्याह मंगलमूल ही माना जाता था।

'धेनु-धूरि-बेला·····'—सूर्यास्त से दो घड़ी पूर्व ही से जब गायें वन से चरकर लौटती हैं, उस समय उनके पग से जो धूल उड़कर आकाश में छा जाती है, उसीमें सूर्य-किरण पड़ती है, उस समय को गोधूलि वेला (समय) कहते हैं, यह समय निर्मल है, क्योंकि जब कोई शुभ लग्न ठीक न बने, तब भी इसमें कार्य करना शुभ माना जाता है। दिन आदि स्थूल हैं, उन्हें मंगल मूल कहा और वेला उससे सूक्ष्म है, इसे 'सकल सुमंगल मूल' कहा है।

उपरोहितहि कहेउ नरनाहा। अब बिलंब कर कारन काहा॥१॥
सतानंद तब सचिव बोलाये। मंगल सकल साजि सब ल्याये॥२॥
संख निसान पनव बहु बाजे। मंगलकलस सगुन सुभ साजे॥३॥
सुभग सुआसिनि गावहिं गीता। करहिं बेदधुनि बिप्र पुनीता॥४॥

लेन चले सादर येहि भाँती। गये जहाँ जनवास बराती ॥५॥
कोसलपति कर देखि समाजू। अति लघु लाग तिन्हहिं सुरराजू ॥६॥
भयेउ समय अब धारिय पाऊ। यह सुनि परा निसानन्हि घाऊ ॥७॥
गुरुहि पूछि करि कुलबिधि राजा। चले संग मुनि-साधु - समाजा ॥८॥

दोहा—भाग्यबिभव अवधेस कर, देखि देव ब्रह्मादि।
लगे सराहन सहसमुख, जानि जनम निज बादि ॥३१३॥

शब्दार्थ—समाजू, = साज, सभा, शोभा के वैभव इत्यादि सभी अंग इसमें आ जाते हैं।

अर्थ—राजा जनकजी ने अपने पुरोहित (शतानन्दजी) से कहा कि अब विलम्ब होने का क्या कारण है ? ॥१॥ तब शतानन्दजी ने मन्त्रियों को बुलाया तो वे सारी मंगल की वस्तुएँ सजाकर ले आये ॥२॥ बहुत-से शंख, नगाड़े और ढोल बजने लगे, मंगल कलश और शुभ शकुन (दधि, दूर्वा, रोचन, फल, फूल आदि) सजाये गये ॥३॥ सुन्दर सौभाग्यवती स्त्रियाँ गीत गाने लगीं और पवित्राचरणवाले ब्राह्मण पवित्र वेद-ध्वनि करने लगे ॥४॥ इस तरह आदर-पूर्वक (बरात को) लाने के लिये चले, जहाँ जनवासे में बराती लोग थे, वहाँ गये ॥५॥ अयोध्यापति राजा दशरथ का समाज (ऐश्वर्य) देखकर उन्हें देवराज इन्द्र और उसका राज-ऐश्वर्य अत्यन्त तुच्छ जँचा ॥६॥ (उन्होंने प्रार्थना की कि) अब समय हो गया। अतः पधारिये (चलिये), यह सुनकर नगाड़ों पर चोट पड़ी ॥७॥ गुरु से पूछकर और कुलविधि करके राजा दशरथ मुनियों और साधुओं के समाज के साथ चले ॥८॥ ब्रह्मा आदि देवता अवधपति श्रीदशरथजी के भाग्य और ऐश्वर्य को देखकर (इनके समक्ष में) अपना जन्म व्यर्थ मान हजारों मुखों से उनकी सराहना करने लगे ॥३१३॥

विशेष—(१) 'सादर येहि भाँती'—'मंगल सकल···' से 'विप्र पुनीता' तक आदर के विधान हैं।
'परा निसानन्हि घाऊ।'—सुनते ही बजानेवालों ने स्वतः (बिना आज्ञा ही) बजाया।

(२) 'चले संग मुनि साधु समाजा···।'—राजा के राजसी अंग सेना, परिजन आदि को नहीं लिखा, क्योंकि इनका होना तो स्वाभाविक है। अतः, हैं ही, जो बिना लिखे नहीं समझे जा सकते, वे मांगलिक मुनि-साधु-समाज कहे गये। यह भी रीति है कि अवधेशजी के साथ मुनि-साधु-समाज सदा ही रहते हैं।

(३) 'लगे सराहन सहस मुख·····'—यहाँ बहुत-से देवता एक साथ सराहते हैं। अतः, 'सहस-मुख' कहा गया। वा, एक ही मुख से अत्यन्तः उत्साहपूर्वक सराहते हैं, मानों हजार मुखों से कह रहे हैं, यथा "सहस बदन बरनइ पर दोषा।" (दो० ३ के अर्थ में कहा गया है। 'जानि जनम निज बादि' —राजा दशरथ को यह सुख पूर्व-कृत अनन्य भक्ति से प्राप्त है, देवता लोग उसीकी सराहना करते हुए कहते हैं और उसके बिना अपना जन्म व्यर्थ समझते हैं, यथा—"परिजन सहित राय-रानिन्ह कियो मज्जन प्रेम प्रयाग। तुलसी फल ताके चाखों मनि मरकत पंकज राग॥" (गी० बा० २६), "हम देवता परम अधिकारी। स्वारथ रत तव भगति बिसारी॥ भव-प्रवाह संतत हम परे।" (लं० दो० १०८), राजा दशरथ का विभव अप्राकृत है, यथा—"नाकेस-दुर्लभ भोग लोग करैं न मन बिषयन्हि हरै।" (गी० उ० १९)।

सुरन्ह सुमंगल अवसर जाना। बरषहिं सुमन बजाइ निसाना ॥१॥
सिव ब्रह्मादिक बिबुधबरूथा। चढ़े बिमानन्हि नाना जूथा ॥२॥

प्रेम - पुलक - तनु हृदय उछाहू । चले बिलोकन रामबिबाहू ॥३॥
देखि जनकपुर सुर अनुरागे । निज निज लोक सबहि लघु लागे ॥४॥
चितवहिं चकित-बिचित्र बिताना । रचना सकल अलौकिक नाना ॥५॥
नगर - नारि - नर रूपनिधाना । सुघर सुधरम सुसील सुजाना ॥६॥
तिन्हहिं देखि सब सुर सुरनारी । भये नखत जनु बिधु उजियारी ॥७॥
बिधिहि भयेउ आचरज बिसेखी । निज करनी कछु कतहुँ न देखी ॥८॥

शब्दार्थ—अलौकिक = लोकोत्तर, अद्भुत, अप्राकृत । सुघर = सुडौल । सुधरम आदि में सु' उपसर्ग अच्छा, श्रेष्ठ, सुन्दर आदि के अर्थ में है । करनी = करतूत, कारीगरी ।

अर्थ—देवतागणों ने सुन्दर मंगल का अवसर जानकर नगाड़े बजा-बजाकर फूल बरसाये ॥१॥ शिव-ब्रह्मा आदि देवताओं के वृन्द नाना प्रकार की टोलियाँ बनाकर विमानों में चढ़े ॥२॥ और प्रेम से पुलकित शरीर एवं हृदय में उत्साह के साथ श्रीरामजी का ब्याह देखने चले ॥३॥ जनकपुर को देखकर देवतागण अनुराग-सहित हो गये और उन्हें अपने-अपने लोक तुच्छ लगे ॥४॥ वे विचित्र माँड़व को आश्चर्ययुक्त होकर देख रहे हैं—जितनी रचनाएं नाना प्रकार की हैं, वे सब अलौकिक हैं ॥५॥ जनक-नगर के स्त्री-पुरुष रूप के खजाना हैं, उनके सभी अंग सुडौल हैं, वे श्रेष्ठ धर्मात्मा, सुशील और सुजान हैं ॥६॥ उन्हें देखकर सब देवता और देवांगनाएँ ऐसे फीके जँचते हैं, मानों चन्द्रमा के उजाले में तारा-गण ॥७॥ ब्रह्माजी को विशेष आश्चर्य हुआ, (क्योंकि) उन्होंने अपनी 'करनी' कुछ भी कहीं नहीं देखी ॥८॥

विशेष—(१) 'सुमंगल अवसर जाना ।'—उपर्युक्त सुमंगल मूल वेला है, विवाह के लिये यात्रा है, स्त्रियाँ मंगल गा रही हैं, वेद-ध्वनि हो रही है । अतः, हमें भी मांगलिक पुष्प-वर्षा करनी चाहिये ।

(२) 'सिव ब्रह्मादिक बिबुध ···'—शिवजी को प्रथम कहा, क्योंकि आगे ये ही सबको समझायँगे 'बरूथा' विबुध के साथ है और 'जूथ' विमानों के साथ । विमान कई प्रकार के होते हैं, उनमें एक-एक भाँति के एक साथ एक टोली में हैं ।

'नगर-नारि-नर रूप···'—पहले समष्टि में रूप-निधान से सुन्दरता कही, फिर शरीर की गठन 'सुघर' से सराही । तब गुणों का वर्णन किया कि सब धर्मात्मा सुशील एवं व्यवहार में चतुर हैं । 'नारि' को प्रथम कहा है, क्योंकि वे सुन्दरता में पुरुषों से अधिक हैं ।

(३) 'तिन्हहिं देखि सब सुर···'—पहले कहा गया कि जनकपुर को देखकर देवताओं को अपने-अपने लोक लघु लगे । अब यहाँ कहते हैं कि यहाँ के स्त्री-पुरुष के आगे 'सुर-सुरनारी' अपने-अपने रूप में भी फीके पड़ गये, चन्द्रमा की उपमा से रूप के अतिरिक्त शील आदि में भी फीका होना जनाया, क्योंकि चन्द्रमा रूपवान् और शीलवान् भी है, यथा –"सोम से सील···" (उ० दो० ४३), चन्द्रमा धर्मात्मा भी है, क्योंकि इसने राजसूय यज्ञ किया है । इस प्रकार यहाँ स्थान और स्थानी दोनों हार गये ।

'बिधिहि भयेउ आचरज···'—जैसे देवताओं के रूप और स्थान के गर्व जाते रहे, वैसे ही ब्रह्माजी की सृष्टि-रचना के गर्व का जाना भी कहते हैं । ब्रह्मा की सृष्टि प्राकृत है । अतः, उसमें गुण के साथ अव-गुण भी रहते हैं, यथा—"बिधि-प्रपंच गुन अवगुन साना ।" (दो० ५), पर यहाँ की सारी रचना त्रिपाद-विभूति साकेत की है । अतः, दिव्य है, इसमें अवगुण कुछ है ही नहीं । इससे ब्रह्मा चकित हुए कि क्या बात है, कोई दूसरा ब्रह्मा तो नहीं हो गया !

दोहा—सिव समुझाये देव सब, जनि आचरज भुलाहु ।
हृदय बिचारहु धीर धरि, सिय - रघुबीर - बिवाहु ॥३१४॥

जिन्ह कर नाम लेत जग माहीं । सकल - अमंगल-मूल नसाहीं ॥१॥
करतल होहिं पदारथ चारी । तेइ सिय-राम कहेउ कामारी ॥२॥
येहि बिधि संभु सुरन्ह समुझावा । पुनि आगे बरबसह चलावा ॥३॥

अर्थ—(तब) शिवजी ने सब देवताओं को समझाया कि आश्चर्य में न भूलिये । धैर्य धरकर हृदय में विचार कीजिये कि यह श्रीसीतारामजी का ब्याह है ॥३१४॥—"जिनका नाम लेते ही जगत् में समस्त अमंगल के कारण ही नष्ट हो जाते हैं ॥१॥ तथा चारो पदार्थ अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष करतल (अनायास प्राप्त) होते हैं, ये वे ही सीतारामजी हैं"—ऐसा काम-शत्रु शिवजी ने कहा ॥२॥ शिवजी ने इस प्रकार सब देवताओं को समझाया, फिर उन्होंने अपने श्रेष्ठ बैल (नन्दीश्वर) को आगे बढ़ाया ॥३॥

विशेष—(१) 'जिन्हकर नाम लेत···'—अमंगल के मूल काल, कर्म आदि हैं, इन्हींके द्वारा जीव नाना क्लेशों के भाजन हो रहे हैं, यथा—"आकर चारि लच्छ चौरासी । जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी ॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा । काल करम सुभाव गुन घेरा ।" (उ० दो० ४३), ये चारो नाम की चर्चा से भी दब जाते हैं, यथा— 'काल, करम, गुन, सुभाव सबके सीस तपत । राम-नाम-महिमा की चरचा चले चपत ॥" (वि० १३०), 'करतल होहिं पदारथ चारी'—करतल होना, प्राप्त होना एवं किसी-को चाहे तो दे सकना भी अर्थ होता है, श्रीरामनाम के द्वारा चारो फलों की अप्रमेय प्राप्ति एवं जापक का दूसरों के बीच भी लुटाना पूर्व ही दो० १८ की चौ० ३--७ में सप्रमाण लिखा गया, नामवन्दना-प्रकरण देखिये ।

'तेइ सिय राम···'—श्रीशिवजी ने सुअवसर पाकर यहाँ युगल नामाराधन से योग-क्षेम की व्यवस्था कहकर ब्रह्मादिक को परम उपदेश किया है । दो० १८ चौ० ३-७ में रामनाम के द्वारा चारो फलों की अप्रमेय प्राप्ति कही गई । उस प्रसंग में प्रथम ही दो० १८ के अर्थ में 'सीता-राम' को एक तत्त्व सिद्ध किया गया । फिर आगे रामनाम से चारो फलों की प्राप्ति एवं औरों को भी देने का महत्त्व प्राप्त होना कहा गया है । वहाँ क्रमशः मोक्ष, काम, अर्थ और धर्म फल की प्राप्ति कही गई है । उसीमें क्रमशः काल, कर्म, गुण और स्वभाव से रक्षण के भाव हैं—इसका कुछ विस्तृत विवेचन मेरे 'श्रीमन्मानस-नाम-वन्दना' ग्रन्थ में है ।

इस प्रकार रामनाम से चारो फलों का योग और अमंगलमूल काल-कर्म आदि से क्षेम की व्यवस्था है ।

उसकी विशेष विधि यहाँ शिवजी ने प्रकट की है । 'जिन्ह कर नाम लेत···' फिर आगे 'तेइ सिय राम···' कहा है । भाव यह कि वह व्यवस्था 'सीता' और 'राम' इन दोनों नामों से है ।

यद्यपि दोनों तत्त्वतः एक हैं, फिर भी जीवों के श्रेय-साधन के लिये माता-पिता रूप में रहते हैं, यथा—"त्वं माता सर्वलोकानां देवदेवो हरिः पिता । त्वयैतद्विष्णुना चाम्ब जगद्व्याप्तं चराचरम् । (वि० पु० १।९।१२६), अर्थात् हे श्री जी ! आप ही सब जीवों की माता हैं और देवाधिदेव श्रीहरि पिता हैं । आप दोनों से यह चराचर जगत् व्याप्त है । जैसे माता शिशु को नहला कर शृंगार कर देती है तो पिता हर्ष-पूर्वक पुत्र को गोद में बैठा लेता है । वैसे ही प्रथम श्रीसीताजी शरणागत को निर्मल बुद्धि (सद्बुद्धि-विवेकिनी

बुद्धि) देकर इसे अधिकारी मुमुक्षु बना देती हैं, तब शुद्ध शरण मानकर श्रीरामजी इसके पूर्ण उपाय हो जाते हैं।

श्रीसीताजी का पुरुषकारत्व वि० ४१ में और युगल नामाराधन रहस्य वि० २५४ एवं दोहावली ५६६-५७० में हैं—इन सबके 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये।

उनमें से एक सरल लक्ष्य यहाँ भी लिखता हूँ। 'सीता राम' इस नाम में प्रथम 'सीता' लेने पर श्रीसीताजी में कृपा-गुण प्रधान है, वह उद्दीप्त होगा। कृपा के उदय होने पर जीव का दोष उनकी दृष्टि में नहीं रह जाता, यथा—"रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः। इति सामर्थ्यसन्धाना कृपा सा पारमेश्वरी।" (श्रीभगवद्गुण दर्पण), अर्थात् सम्पूर्ण जीवों की रक्षा करने में मैं ही परम समर्थ हूँ, (ईश्वर की) इस सामर्थ्य का अनुसन्धान करनेवाली वह परमेश्वर की कृपा है। इस गुण के उदित होने पर भगवान् की दृष्टि में जीवों के दोष नहीं रह जाते। जीवों के पापरत हो जाने में वे अपनी असावधानी मान लेते हैं कि मैंने इसे पूर्ण (विवेक) सामर्थ्य नहीं दिया था, इसीसे इसकी दुर्गति हो रही है। अतः, इसका उद्धार करना चाहिये। जैसे कोई चरवाहा अपने सामर्थ्य पर ध्यान देता है, तब उसकी गाय कहीं अपने दोष से मारी जाती है और उसके पाँव टूटने आदि में वह अपनी असावधानी मानकर लज्जित होता है और उसका उपाय कर उसे अच्छा करता है। वह विचारता है कि इसका रक्षण मेरा कर्त्तव्य था, पर मैंने नहीं सँभाला, इसीसे यह मारी गई। दो० २७ चौ० ३ का विशेष भी देखिये।

इस प्रकार प्रथम 'सीता' इस नाम से जीव भगवान् से रक्षा पाने का अधिकारी हो जाता है। तब 'राम' यह पद उच्चरित होने पर श्रीरामजी के अपने इस ऐश्वर्य को उद्दीप्त करेगा, यथा—"जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी॥ सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोकदायक बिश्रामा॥" (दो० १९६), इसका विशेष भी देखिये, इस ऐश्वर्य के समक्ष एक जीव का सुखी करना, उनके लिये कुछ बात ही नहीं रह जाती। बहुत शीघ्र सुखी कर देते हैं।

इस रीति से युगल-उपासना से जीवों का शीघ्र कल्याण होता है। सन्तों में युगल-उपासना ही प्रचलित है।

'तेइ सिय-राम कहेउ कामारी।'—सब विकारों का मूल काम है, ये उसे जीते हुए हैं, इसीसे इन्हें मोह नहीं है, प्रत्युत औरों को भी समझाया कि ये वही सीतारामजी हैं, अर्थात् त्रिपाद-विभूति के स्वामी हैं और इन्हींका विवाह है। अतः, वैवाहिक सब पदार्थ त्रिपाद विभूति के हैं, इनके आश्चर्य में मत भूलो, नहीं तो इन्हींमें उलझे रह जाओगे, तब पीछे पछताना होगा कि ब्याह नहीं देख सके।

(२) 'येहि बिधि संभु सुरन्ह···'—मोह तो प्रधान रूप से ब्रह्मा को था, पर देवताओं को समझाया, क्योंकि ब्रह्माजी सबसे बड़े हैं और पितामह कहे जाते हैं। स्पष्ट कहने से वे संकुचित हो जाते। अतः, देवताओं के उपदेश में उन्हें भी बोध हो गया। 'येहि बिधि' अर्थात् नाम-प्रताप के द्वारा, उपासना रीति से शीघ्र समझा दिया। 'संभु'—क्योंकि आप स्वयं कल्याण-रूप हैं। अतः सबका कल्याण किया। 'पुनि आगे बर···'—समझाने के लिये ठहर गये थे, फिर आगे को बढ़े, क्योंकि बहुत-कुछ देखना है।

देवन्ह देखे दसरथ जाता। महामोद मन पुलकित गाता॥४॥
साधु-समाज संग महिदेवा। जनु तनु धरे करहिं सुख सेवा॥५॥
सोहत साथ सुभग सुत चारी। जनु अपबरग सकल तनुधारी॥६॥
मरकत-कनक-बरन बर जोरी। देखिसुरन्ह भइ प्रीति न थोरी॥७॥
पुनि रामहिं बिलोकि हिय हरषे। नृपहि सराहि सुमन तिन्ह बरषे॥८॥

दोहा—रामरूप नख-सिख-सुभग, बारहि बार निहारि ।
पुलक गात लोचन सजल, उमासमेत पुरारि ॥३१५॥

शब्दार्थ—अपवर्ग = मोक्ष—यह सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य—भेद से चार प्रकार के हैं ।

अर्थ—देवताओं ने देखा कि महाराज दशरथजी मन में बड़े प्रसन्न और तन से पुलकित चले जा रहे हैं ।। ४॥ उनके साथ में साधु-समाज और विप्र-समाज (सुशोभित) है मानों शरीर धारण किये हुए (सब प्रकार के) सुख सेवा कर रहे हैं ॥५॥ और साथ में सुन्दर चारो पुत्र ऐसे शोभा दे रहे हैं, मानों सभी (चारो प्रकार के) मोक्ष शरीर धारण किये हुए (शोभायमान) हैं ॥६॥ मरकत मणि और स्वर्ण के रंग की श्रेष्ठ जोड़ियों को देखकर देवताओं को थोड़ी प्रीति नहीं हुई, अर्थात् उन्हें बहुत प्रीति हुई ॥७॥ फिर वे श्रीरामजी को देखकर हृदय में प्रसन्न हुए और राजा की प्रशंसा करके उन्होंने पुष्पों की वर्षा की ॥७॥ श्रीरामजी के नख से शिखा तक सुन्दर रूप को बार-बार देखकर पार्वतीजी के साथ शिवजी का तन पुलकित हो गया और उनके नेत्रों में प्रेम के आँसू भर आये ॥३१५॥

विशेष—(१) 'देवन्ह देखे दसरथ···'—शिवजी के उपदेश का प्रभाव पड़ा, देवता लोग इधर-उधर से दृष्टि बटोरकर बरात देखने लगे । राजा दशरथ को बड़ा आनन्द है, क्योंकि साथ में साधु-समाज एवं सुन्दर पुत्र हैं । जनवासा दूर है, इससे सब सबारी पर हैं, जहाँ से पैदल चलेंगे वहाँ से पाँवड़े पड़ेंगे ।

(२) 'जनु तनु धरे करहिं सुख सेवा ।'—'सुख', यथा—"अरथ-धरम-कामादि-सुख, सेवइ समय नरेस ॥" (दो० १५४), सुख अनेकों चिन्ता एवं कष्टों से बचे हुए मन की प्रिय अनुभूति को कहते हैं । यह दो प्रकार के हैं—पहला नित्य, जो परमात्मा के साथ में मुक्तावस्था में प्राप्त होता है । दूसरा जन्य, जो सुत-वित्त आदि की प्राप्ति एवं अरोगता तथा भोग आदि से प्राप्त होता है । यहाँ राजा को साधु-समाज से नित्य सुख और विप्र-समाज से जन्य सुख की अनुभूति है, यथा—"संत संग अपबरग कर" (उ० दो० ३३), और विप्र लोग धर्म-कर्म द्वारा लौकिक सुखों के दाता हैं, यथा—"सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता ।" (उ० दो० १०१) । ऊपर राजा का महामोद कहा था, उसे ही यहाँ उपमा द्वारा स्पष्ट किया । 'सेवा' करना आनन्दित करने के अर्थ में उपमान में है, वैसे ही उपमेय में भी साधु-विप्र से राजा आनन्दित हैं । ये उभय प्रकार के सुख तो राजा को सहज में प्राप्त हैं, इसीसे 'तनुधरे' से आज विशेषता दिखाई ।

'सोहत साथ जनु अपबरग···'—पूर्व—'नृप समीप···जनु धन धरमादिक···' कहा गया था, क्योंकि नृप की धन-धर्म आदि से शोभा होती है । यहाँ साधु-समाज के संग से राजा को अपवर्ग के अधिकारी दिखाकर तब 'तनुधारी अपबर्ग' की प्राप्ति कही और आज की विशेषता दिखाई, क्योंकि नित्य साधु-समाज-सेवन से सामान्य अपवर्ग तो इन्हें सहज ही है । प्रथम साधु-ब्राह्मणों का संग कहकर तब मोक्ष की प्राप्ति की उत्प्रेक्षा की गई, क्योंकि साधु-ब्राह्मणों के संग से मोक्ष मिलता है ।

यहाँ श्रीरामजी मानों सायुज्य हैं, उनके तुल्य रूप से भरतजी सारूप्य, प्रभु के पार्श्ववर्त्ती होने से लक्ष्मणजी सामीप्य और भरतजी के निकटवर्त्ती होने से शत्रुघ्नजी सालोक्य हैं ।

(३) 'मरकत कनक बरन···'—श्रीरामजी और भरतजी श्याम वर्ण मरकत मणि के समान और श्रीलक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी गौर वर्ण स्वर्ण के समान हैं । श्याम-गौर की दो, अथवा श्याम-श्याम और गौर-गौर की दो जोड़ियाँ हैं ।

'पुनि रामहिं बिलोकि···'—जोड़ी देखकर फिर श्रीराम ही को देखने लगे, क्योंकि—"चारिउ सील रूप गुन धामा । तदपि अधिक सुख सागर रामा ॥" (दो० १९०) । 'नृपहिं सराहिं—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—'भाग्य बिभव अवधेस कर···लगे सराहन सहसमुख···' है । उपक्रम में स्वार्थ की सराहना

है और यहाँ उपसंहार में परमार्थ की, अर्थात् इनके समान स्वार्थ और परमार्थ और किसीने नहीं पाये। पुनः—'सुमन तिन्ह बरषे' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"बरषहिं सुमन" (दो ३१३) है। देवताओं के मन, वचन, कर्म तीनों लगे हैं—'हरषे'—मन, 'सराहि'—वचन और 'बरषे'—कर्म है।

(४) 'रामरूप नखसिख···'—शिवजी का बार-बार निहारना कहकर और देवताओं से अधिक प्रेम होना जनाया, यथा—"दरसन तृपिति न आजु लगि, प्रेम पियासे नैन।" (अ० दो० २६०), यह रूप ही ऐसा है कि बार-बार देखे बिना तृप्ति ही नहीं होती, यथा—"तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥" (दो० १४७)। 'पुरारि'—क्योंकि आज श्रीरामरूप के दर्शनों से जो सुख मिल रहा है, वह त्रिपुरासुरों की विजय के सुख से कहीं अधिक है, यथा—"मानहुँ समर सूर जय पाई॥ येहि सुख ते सत कोटि गुन, पावहिं मातु अनंद। भाइन्ह सहित बियाहि घर, आये रघुकुलचंद॥" (दो० ३५०)। देवताओं के लिये 'देखि सुरन्ह' कहा गया है और शिवजी का नख-शिख रूप को 'बारहिं बार' निहारना कहा गया। अतः, शिवजी का सुख भी अधिक है।

केकि-कंठ-दुति स्यामल अंगा। तड़ितबिनिंदक बसन सुरंगा॥१॥
ब्याहबिभूषन बिबिध बनाये। मंगलमय सब भाँति सुहाये॥२॥
सरद-बिमल-बिधु-बदन सुहावन। नयन नवल-राजीव-लजावन॥३॥
सकल अलौकिक सुंदरताई। कहि न जाइ मन ही मन भाई॥४॥
बंधु मनोहर सोहहिं संगा। जात नचावत चपल तुरंगा॥५॥
राजकुँअर बरबाजि देखावहिं। बंस-प्रसंसक बिरद सुनावहिं॥६॥
जेहि तुरंग पर राम बिराजे। गति बिलोकि खगनायक लाजे॥७॥
कहि न जाइ सब भाँति सुहावा। बाजिबेष जनु काम बनावा॥८॥

अर्थ—मयूर के कंठ की कान्ति के समान श्याम अंग है, बिजली की भी विशेष निन्दा करनेवाले श्रेष्ठ (पीत) रंग के वस्त्र (पहने) हैं॥१॥ मंगलमय और सब प्रकार से शोभायमान अनेकों प्रकार के विवाह के भूषण अंग-अंग में सजाये हुए हैं॥२॥ शोभायमान मुख शरद् ऋतु के निर्मल चन्द्रमा को और नेत्र नवीन खिले हुए लाल कमल को लज्जित करनेवाले हैं॥४॥ सब सुन्दरता अलौकिक है, कही नहीं जा सकती, किन्तु मन-ही-मन अच्छी लगती है॥४॥ साथ में मनोहर भाई शोभित हैं, जो चंचल घोड़ों को नचाते हुए जा रहे हैं॥५॥ राजकुमार अपने-अपने श्रेष्ठ घोड़ों को दिखा रहे हैं, वंश की प्रशंसा करनेवाले (भाँट) लोग विरुदावली सुनाते जा रहे हैं॥६॥ जिस घोड़े पर श्रीरामजी विराजमान हैं उसकी चाल को देखकर गरुड़जी भी लजा गये॥७॥ वह सब प्रकार सुन्दर है, कहा नहीं जा सकता, मानों कामदेव ने ही घोड़े का वेष बनाया है॥८॥

विशेष—(१) 'केकि कंठ दुति···'—यह शिवजी के ध्यान के अनुसार वर्णन है। देवताओं की दृष्टि में 'मरकत मणि' और 'कनक वर्ण' की उपमा दी गई थी, क्योंकि उनकी दृष्टि में द्रव्य बसा था, इसीसे वे माँड़व के देखने में मोहे थे और शिवजी विरक्त हैं, यथा—"वैराग्याम्बुजभास्करं···" (अर० मं०)। अतः, वन के मोर के कंठ की उपमा दी गई। मोर श्याम मेघ का प्रेमी है, वैसे शिवजी श्याम विग्रह के प्रेमी हैं। मोर-कंठ से क्षण-क्षण पर नवीन चमक उठती-सी प्रतीत होती है। वैसे ही श्रीरामरूप क्षण-क्षण पर नवीन ही दीखता है, यथा—"संकर सोइ मूरति उर राखी।" (दो० ७६)।

'बन्धु मनोहर···'—जो शृङ्गार श्रीरामजी का है, वही भाइयों का भी है।

'चंचलता' के योग से 'तुरंग' (तुरग) कहा गया, अर्थात् जो तेजी से गमन करे।

'बर बाजि देखावहिं'—अपने-अपने घोड़ों के हुनर (गुण) दिखा रहे हैं।

(२) 'कहि न जाइ सब भाँति···'—'सब भाँति' यह आगे कहा है—'बय, बल, रूप, गुन, गति' इन सब प्रकारों में सुहावना ही है। अतएव 'कहि न जाइ' पर काम के 'बाजि बेष' द्वारा कुछ दिग्दर्शन कराते हैं। सवार के लिये भी ऐसा ही कह आये—"सकल अलौकिक सुंदरताई। कहि न जाय मन ही मन भाई॥" वहाँ उत्प्रेक्षा न मिली थी। अतः, नहीं कहा।

और राजकुमार लोग घोड़ों को विधिवत् नचाते हैं, पर श्रीरामजी का घोड़ा स्वयं उत्तम गति से चलता है, पुनः ये सबमें बड़े हैं और विवाह समय के अनुसार इनमें गम्भीरता है।

छन्द—जनु बाजिबेष बनाइ मनसिज रामहित अति सोहई।
आपने बय बल रूप गुन गति सकल भुवन बिमोहई॥
जगमगत जीन जराव जोति सुमोति मनि-मानिक लगे।
किंकिनि ललाम लगाम ललित बिलोकि सुरनर मुनि ठगे॥

दोहा—प्रभु मनसहिं लयलीन मन, चलत बाजि छवि पाव।
भूषित उड़गन तड़ित घन, जनु बर बरहि नचाव॥३१६॥

अर्थ—मानों कामदेव श्रीरामजी के लिये घोड़े का वेष बनाकर अत्यन्त शोभित हो रहा है। वह अपनी अवस्था, बल, रूप, गुण और चाल से सभी लोकों को विशेष मोहित करता है॥ सुन्दर मोती, मणि और माणिक्य लगी हुई जड़ाऊ जीन की ज्योति जगमगा रही है। रमणीय किंकिणी और सुन्दर लगाम देखकर देवता, मनुष्य और मुनि ठगे-से रह गये (मोहित हो गये)॥ प्रभु श्रीरामजी के मन में अपने मन को लवलीन किये (उनकी इच्छानुसार) चलता हुआ घोड़ा इस प्रकार शोभा पा रहा है मानों बिजली और तारागणों से भूषित (अर्थात् युक्त) मेघ किसी सुन्दर मयूर को नचा रहा हो॥३१६॥

विशेष—(१) 'रामहित अति सोहई'—कामदेव ने सोचा कि हम जब अत्यन्त सोहेंगे तभी अत्यन्त सुन्दर गर्वीला जानकर श्रीरामजी हमें स्वीकार करेंगे, नहीं तो घोड़े तो वहाँ अनन्त हैं और वे सभी सोहते हैं। काम सोहता पहले भी था, पर आज श्रीरामजी के लिये घोड़ा बना है। अतः, 'अति सोहई' कहा गया है। कामदेव के पाँच बाण हैं, जिनसे वह सबको मोहता है, वैसे उसके अश्व-रूप में भी बय, बल, रूप, गुण और गति ये पाँच गुण हैं, इन्हींसे वह 'सकल भुवन' को मोहता है। अतः, उसके ये ही पाँचों बाण हैं। आज श्रीरामजी सवार-रूप से सहायक मिल गये, इससे विशेष मोहित करता है। 'सकल भुवन' में शिवजी आदि भी आ गये। कामदेव श्रीरामजी की शोभा-वृद्धि के लिये घोड़ा बनकर आया, इसीसे प्रभु के प्रभाव से उसे यह श्रेय मिला। 'किंकिनि ललाम···बिलोकि सुर···' अर्थात् किंकिणी आदि भी मोहने में सहायक हैं।

'भूषित उड़गन तड़ित···'—मेघ एक योजन भर पर रहता है, तब भी उसके सम्बन्ध से मोर नाचता है और यदि मेघ मोर की पीठ पर ही आ बैठे तब तो वह अत्यन्त आह्लादपूर्वक नाचेगा। वैसे यहाँ श्रेष्ठ घोड़े का उपमान समझकर 'बरहि' (बरही) को भी 'बर' (श्रेष्ठ) कहा गया है। यहाँ श्रीराम जी मेघ हैं, यथा—"लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा" (दो १९१), मणि-मुक्ताओं की लड़ें तारागण हैं,

यथा—"मंदिर मनि समूह जनु तारा।" (दो० १९४), प्रभु का पीताम्बर तड़ित है, यथा—"तड़ित बिनिंदक बसन सुरंगा।" (दो० ३१५), और श्रेष्ठ घोड़ा श्रेष्ठ बरही (मोर) है, यथा—"मोर चकोर कीर बरबाजी" (अर० दो० ३७)।

जेहि बर बाजि राम असवारा। तेहि सारदउ न बरनइ पारा ॥१॥
संकर राम-रूप-अनुरागे। नयन पंचदस अति प्रिय लागे ॥२॥
हरि हितसहित राम जब जोहे। रमासमेत रमापति मोहे ॥३॥
निरखि रामछबि बिधि हरषाने। आठेउ नयन जानि पछिताने ॥४॥
सुर-सेनप-उर बहुत उछाहू। बिधि ते डेवढ़ सुलोचन-लाहू ॥५॥
रामहिं चितव सुरेस सुजाना। गौतमस्राप परम हित माना ॥६॥
देव सकल सुरपतिहि सिहाहीं। आजु पुरंदर-सम कोउ नाहीं ॥७॥
मुदित देवगन रामहिं देखी। नृपसमाज दुहुँ हरष बिसेषी ॥८॥

शब्दार्थ—सिहाहीं = अभिलाषा के साथ प्रशंसा करते हैं, अन्यत्र ईर्ष्या, स्पर्द्धा, डाह भी अर्थ होता है।

अर्थ—जिस श्रेष्ठ घोड़े पर श्रीरामजी सवार हैं, उसका वर्णन सरस्वती भी नहीं कर सकतीं ॥१॥ शङ्करजी श्रीरामरूप पर आसक्त (अनुरक्त) हुए, (उस समय) उनको अपने पन्द्रहों नेत्र अत्यन्त प्रिय लगे ॥२॥ विष्णु भगवान् ने प्रेम से जब श्रीरामजी को देखा, तब वे लक्ष्मी के पति लक्ष्मी के साथ भी मोहित हो गये ॥३॥ श्रीरामजी की छवि देखकर ब्रह्माजी हर्षित हुए, (पर) आठ ही नेत्र जानकर पछताये (कि और नेत्र न हुए) ॥४॥ स्वामि-कार्त्तिक के हृदय में अधिक उत्साह है कि (हम) ब्रह्माजी से डेवढ़े नेत्रों का लाभ प्राप्त कर रहे हैं ॥५॥ सुजान इन्द्र ने श्रीरामजी को देखकर गौतम मुनि के शाप को परम हितकारी माना ॥६॥ सभी देवता सुरराज इन्द्र को सिहाते हैं कि आज इन्द्र के बराबर (धन्य) दूसरा नहीं है ॥७॥ देव-समाज श्रीरामजी को देखकर आनन्दित है और दोनों ओर के राज-समाजों में बड़ा आनन्द है ॥८॥

विशेष—(१) 'जेहि बर बाजि राम···'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"जेहि तुरंग पर राम बिराजे।" है। 'जेहि' अर्थात् 'बर बाजि' तो सभी राजकुमारों के घोड़े हैं—"बरन बरन बर बाजि बिराजे" (दो० २९७), "राजकुँअर बर बाजि देखावहिं।" (दो० ३०५), पर जिसपर श्रीरामजी बिराजे हैं, वह विलक्षण है, इसीसे उसे शारदा भी नहीं कह पातीं। शारदा वक्तृत्व में श्रेष्ठ हैं, यथा—"सुक से मुनि, सारद से बकता ···" (क० उ० ३३)।

(२) 'संकर राम-रूप अनुरागे···'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"राम-रूप नख सिख···" है। 'नयन पंचदस···'—शिवजी ने पन्द्रह नेत्रों की प्राप्ति हरि-दर्शनार्थ ही की है। ब्रह्म वैवर्त्तपुराण, श्रीकृष्ण-जन्मखण्ड, अ० ३६ में कथा है—श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है कि एक समय शिवजी ने १२००० वर्ष तपस्या की, तब उन्होंने अत्यन्त मनोहर किशोर मूर्त्ति (विष्णु-रूप में) मुझ श्यामसुन्दर के दर्शन पाये। उस समय उन्होंने अपने एक मुख और उसके तीन ही नेत्रों पर पश्चात्ताप करते हुए प्रेम विह्वल होकर रुदन किया है और कहा है कि सहस्रवदन शेष एवं चतुर्मुख ब्रह्माजी बड़े भाग्यवान् हैं। मैं एक ही मुख से कितनी स्तुति करूँ और तीन ही नेत्रों से कितना देखूँ? इस महती लालसा पर उन्होंने अपने एक-एक मुख और नेत्र से चार-चार और उत्पन्न कर पञ्चानन और पञ्चदशनेत्रवाले हो गये। पुनः आगे कहा है—"पञ्चवक्त्रेण मन्नाम यशो गायन्त्यहर्निशम्। मद्रूपध्यायते शश्वन्न भक्तः शङ्करात्परः ॥११५॥" इनका

सदा दो ही नेत्रों से काम चलता था, पन्द्रहो आज ही काम आये, जिनसे प्रिय प्रभु के दर्शन का विशेष आनन्द मिला। (अग्नि नेत्र से काम को भस्म किया था, तब क्रोध था और यहाँ अनुराग दृष्टि है। अतः, शंका नहीं।) शिवजी देव-समाज में मुख्य प्रेमी हैं और इनका सबके आगे होना पूर्व कहा भी गया था। अतः, इनका वर्णन प्रथम हुआ। नख से शिखा पर्यन्त देखना कहा गया। अतः, इनका दास-भाव है। 'अनुरागे' अर्थात् इनकी सर्वात्मना चित्त-वृत्ति लगी है।

(३) 'हरि हित सहित राम···'—इसमें कोई-कोई 'हरि' का अर्थ घोड़ा करते हैं, वह ठीक नहीं, क्योंकि 'संकर', 'बिधि', 'सुरेश' एवं 'देवगन' को घोड़े सहित देखना न कहकर राम-रूप ही देखना कहा गया है—'राम-रूप अनुरागे', 'निरखि राम छवि', 'रामहिं चितव', 'रामहिं देखी' इत्यादि वाक्य इसी प्रसंग में कहे गये हैं, तो विष्णु भगवान् पर क्या केवल राम-रूप का असर नहीं पड़ा कि उन्हें घोड़े सहित देखने पर मोह हुआ ? इस अर्थ में श्री राम-छवि का अपकर्ष है।

फिर यदि कहा जाय कि तब तो 'रमापति' शब्द से पुनरुक्ति होगी। उसका समाधान यह है—'रमापति' शब्द हरि के विशेषण रूप में विलक्षणता दिखाने के लिये है कि रमाजी स्वयं रम्य रूपा हैं, उन्होंने जिन्हें पति बनाया (जयमाल देकर चुना) वे अवश्य ही परम सुन्दर हैं। रम्यरूपा लक्ष्मीजी के सहित उनके पति परम रम्यरूप विष्णु भगवान् भी मोहित हो गये। 'हित सहित' अर्थात् प्रेम-पूर्वक अपने अंशी को देखा, यथा—"उपजहिं जासु अंस ते नाना। बिष्नु···" (दो० १४३); केवल 'हरि' पद में अतिव्याप्ति भी थी, वह 'रमापति' कहने से निवृत्त हुई। अन्य कल्पों के विष्णु के ही अवतार-प्रसंग में इस समय के अनूठे दूलह-वेष में मोहना अर्थ होगा।

(४) 'बिधि हरषाने'—शिव-विष्णु तो शक्ति-सहित कहे गये, ब्रह्मा नहीं, क्योंकि इनकी शक्ति तो घोड़े के वर्णन में लगी है—'तेहि सारदउ न बरनइ पारा।' (उपर्युक्त), यहाँ शिवजी का दास्य, विष्णु का सख्य और ब्रह्मा का वात्सल्य भाव है।

(५) 'सुर-सेनप उर···'—इन्हें देव-सेनापति होने की अपेक्षा यहाँ अधिक सुख है, क्योंकि सब देवताओं के पितामह से डेवढ़े नेत्र हैं (इनके छः मुख और बारह नेत्र हैं)।

(६) 'सुरेस सुजाना···गौतम स्राप···'—अहल्या के सम्बन्ध में गौतम मुनि ने इन्द्र को शाप दिया था कि तेरे शरीर में सहस्रों भग हो जायँ, फिर प्रार्थना पर अनुग्रह किया कि तुम जब श्रीरामजी का दूलह-वेष देखोगे, तब ये ही भग नेत्र हो जायँगे। इन्द्र ने कृतज्ञता-पूर्वक उसी चरित का स्मरण किया है इसीसे वे 'सुजान' कहे गये, यथा—"हरषि राम भेटे हनुमाना। अति कृतज्ञ प्रभु परम सुजाना॥" (ल० दो० ६०)। 'परम हित माना'—क्योंकि उसीसे श्रीराम-दर्शन का अत्यन्त आनन्द मिला, यथा—"बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेउ राम तुम्ह समन बिषादा॥" (कि० दो० २), अर्थात् शत्रु परम हित और उसका कोप प्रसाद है, यदि उससे श्रीरामजी की प्राप्ति हो। यहाँ 'अनुज्ञा-अलंकार' है।

'मुदित देवगन···'—यहाँ तक देवताओं का श्रीराम-दर्शनानन्द कहा गया।

छन्द—अति हरष राजसमाज दुहुँ दिसि दुंदुभी बाजहिं घनी।
बरषहिं सुमन सुर हरषि कहि जय जयति जय रघुकुल-मनी॥
येहि भाँति जानि बरात आवत बाजने बहु बाजहीं।
रानी सुआसिनि बोलि परिछन हेतु मंगल साजहीं॥

दोहा—सजि आरती अनेक बिधि, मंगल सकल सँवारि।
चलीं मुदित परिछन करन, गजगामिनि बर नारि ॥३१७॥

अर्थ—दोनों तरफ के राज-समाजों में अत्यन्त हर्ष है, और घने (बहुत) नगाड़े बज रहे हैं। प्रसन्न होकर और 'रघुकुलमणि की जय हो, जय हो, जय हो' ऐसा कहकर देवतागण फूल बरसाते हैं॥ इस तरह बरात को आते हुए जानकर बहुत बाजे बजने लगे। रानी (श्रीसुनयनाजी एवं और भी जनकजी की रानियाँ) सौभाग्यवती स्त्रियों को बुलाकर परिछन के लिये मंगल वस्तु सजाने लगीं॥ अनेक तरह से आरती को सजकर और सम्पूर्ण मंगलों को सजाकर, हाथी की चाल से चलनेवाली श्रेष्ठ स्त्रियाँ प्रसन्नता पूर्वक परिछन करने चलीं॥३१७॥

विशेष—(१) 'अति हरष राज···'—दोनों राज-समाज समीप से श्रीराम-छवि देखते हैं। अतः, इन्हें अत्यन्त हर्ष है, यथा—"जाइ समीप राम-छवि देखी। रहि जनु कुँअरि चित्र-अवरेखी॥" (दो० २६३)। 'बरषहिं सुमन'—कर्म, 'हरषि'—मन और 'कहि···'—वचन—देवगण तीनों से सेवा में लगे हैं।

'बाजने बहु बाजहीं'—यहाँ सब प्रकार के सब बाजे बजे, इसीसे बहुत कहे गये हैं।

(२) 'सजि आरती अनेक···'—आरती कई प्रकार की, अर्थात् ५, ७, ९, १०, १५ आदि बत्तियों की, पुष्पों की एवं कर्पूर आदि की होती है और परिछन का थाल भी खूब सजाया जाता है। अतः, 'अनेक बिधि' दीपदेहली रूप में लिया जायगा। बहुत-सी सासें हैं, उन सबका निराले ढंग से सजाना ठीक ही है। 'मंगल सकल' यथा—"दधि दूर्बा रोचक फल फूला। नव तुलसी दल मंगल मूला॥ भरि भरि हेम थार···" (उ० दो० २)। 'गजगामिनि' से युवा अवस्था का और 'बर' से सौभाग्यवती का होना सूचित किया।

बिधुबदनी सब सब मृगलोचनि। सब निज तनु-छबि रति-मद-मोचनि॥१॥
पहिरे बरन बरन बर चीरा। सकल बिभूषन सजे सरीरा॥२॥
सकल सुमंगल अंग बनाये। करहिं गान कलकंठि लजाये॥३॥
कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं। चाल बिलोकि काम गज लाजहिं॥४॥
बाजहिं बाजन बिबिध प्रकारा। नभ अरु नगर सुमंगल चारा॥५॥

अर्थ—वे सभी स्त्रियाँ चन्द्रवदनी और मृगनयनी हैं एवं सभी अपने शरीर की शोभा से कामदेव की स्त्री रति के अभिमान को छुड़ानेवाली हैं॥१॥ वे सभी रंग-विरंग के श्रेष्ठ वस्त्र पहने हुए हैं और सब भूषण शरीर में सज रक्खे हैं॥२॥ सभी सुन्दर मांगलिक वस्तुओं से अंगों का सजाव किये हुए कोकिलाओं को भी लजाती हुई (सुन्दर स्वर से) गा रही हैं॥३॥ उनके कंकण, किंकिणियाँ और नूपुर बज रहे हैं, उनकी चाल को देखकर कामदेव-रूपी हाथी लज्जित हो जाते हैं॥४॥ तरह-तरह के बाजे बज रहे हैं, आकाश और नगर (दोनों) में सभी जगह सुन्दर मंगलाचार हो रहे हैं॥५॥

विशेष—(१) 'बर चीरा' से सोलहो शृंगार करना जनाया, क्योंकि वस्त्र उनमें आदि है। 'सकल बिभूषन' से बारहो आभूषण आ गये—नूपुर, किंकिणी, चूड़ी, अँगूठी, कंकण, बिजायठ, हार, कंठश्री, बेसरि, बिरिया, टीका और शीशफूल—ये क्रमशः द्वादश आभूषण हैं। बारहो आभूषणों से सधवा होना जनाया।

'सकल सुमंगल···'—यावक, अरगजा, सिंदूर, रोरी, कज्जल आदि मांगलिक द्रव्य हैं, इन्हें अंगों में लगाया है।

(२) 'कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं···'—ये भूषण चाल के साथ बजते हैं। अतः, साथ ही चाल का

भी वर्णन किया है। 'चाल बिलोकि काम···'—इनके सभी व्यवहार कामरूप उपमानों को लज्जित करने-वाले हैं, जैसे—'चाल बिलोकि काम-गज लाजहिं।' 'करहिं गान कलकंठि लजाये।' और—'कलगान सुनि···काम-कोकिल लाजहीं।' (दो० ३२२), 'सब निज तनु छबि रति-मद-मोचनि', इत्यादि।

(३) 'सुमंगल चारा'—कदली के पंखे झलना, माला पहनाना, चावल छिड़कना, फूल बरसाना, खील बरसाना आदि मंगल-सूचक आचरण हैं।

सची सारदा रमा भवानी। जे सुरतिय सुचि सहज सयानी ॥६॥
कपट-बारि-बर-बेष बनाई। मिलीं सकल रनिवासहिं जाई ॥७॥
करहिं गान कल मंगल बानी। हरष बिबस सब काहु न जानी ॥८॥

छन्द—को जान केहि आनंद बस सब ब्रह्म बर परिछन चलीं।
कल गान मधुर निसान बरषहिं सुमन सुर सोभा भलीं ॥
आनंदकंद बिलोकि दूलह सकल हिय हरषित भईं।
अंभोज-अंबक-अंबु उमगि सुअंग पुलकावलि छईं ॥

दोहा—जो सुख भा सिय-मातु-मन, देखि राम-बर बेष।
सो न सकहिं कहि कलप सत, सहस सारदा सेष ॥३१८॥

नयन नीर हठि मंगल जानी। परिछन करहिं मुदित मन रानी ॥१॥
बेदबिहित अरु कुल-आचारू। कीन्ह भली बिधि सब ब्यवहारू ॥२॥

शब्दार्थ—कपट बेष = बनावटी वेष, वास्तविकता छिपाये हुए कि कोई जान न सके। हठि = रोककर। आचारू = रीति। बेदबिहित = वेद मे विधान किया हुआ (गौरी-गणेश-भूमि की पूजा आदि)।

अर्थ—इन्द्राणी, सरस्वती, लक्ष्मी, उमा (आदि) देवताओं की स्त्रियाँ, जो स्वाभाविक पवित्र और निपुण हैं ॥६॥ वे सब सुन्दर स्त्रियां का बनावटी श्रेष्ठ वेष बना रनिवास में जा मिलीं ॥७॥ और सुन्दर वाणी से मनोहर मंगल गान करने लगीं, सब हर्ष के विशेष वश हैं, इससे किसीने उनको नहीं जाना ॥८॥ कौन किसे जाने ? सभी आनन्दवश हैं, वे सब ब्रह्म दुलहे की परिछन करने चली हैं। सुन्दर गान हो रहा है, (तदनुसार ही) मधुर नगाड़े बजते हैं। देवता लोग फूल बरसा रहे हैं, अनूठी शोभा है। वे सभी स्त्रियां आनन्दकन्द दुलहे को देखकर हृदय में हर्षित हुईं। उनके कमल के समान नेत्रों में जल उमँग आया और सुन्दर अंगों में पुलकावली छा गई ॥ श्रीरामजी का दूलह-वेष देखकर श्रीसीताजी की माता के मन में जो सुख हुआ, उसको लाखों शारदाएँ और शेष, लाखों कल्पों तक भी नहीं कह सकते ॥ ३१८ ॥ मंगल अवसर जानकर नेत्रों के जल को रोक प्रसन्न मन से रानी परिछन करने लगीं ॥ १ ॥ वेद-विधान के अनुसार और कुल की रीति से सभी व्यवहार अच्छी प्रकार किये गये ॥२॥

विशेष—(१) 'सची सारदा रमा···'—शची आगे जाकर मिलीं, इससे इन्हें प्रथम कहा है। 'सहज' दीपदेहली है। 'सुचि सहज सयानी' कहकर कपट से रूप धरने का दोष निराकृत किया कि इन्होंने पवित्र भाव से अपना ऐश्वर्य छिपाने और पुर-नारियों के साथ निकट से दिव्य आनन्द लेने के

लिये निपुणता से वेष बदला है। पुनः 'सुरतिय' से अप्सराएँ भी कही जाती हैं। इसलिये 'सुचि' से विवाहिताओं को जनाया और 'सहज अपावनि नारि' (अर० दो० ५) में कथित दोष भी दूर किया। 'सहज सयानी' से—"सहज जड़ नारि अयानी" (दो० ११९) का दोष भी हटाया।

(२) 'कपट नारि बर बेष'''—वेष बनावटी है, पर श्रेष्ठ है, इसीसे इनको न पहचानकर भी उमा-रमा आदि का-सा इनका सम्मान किया गया, यथा—"उमा रमादिक सुरतिय मुनि प्रमुदित भईं। कपट नारि-बर बेष बिरचि मंडप गईं॥ मंगल आरति साजि बरहिं परिछन चलीं। जनु बिगसीं रबि उदय कनक-पंकज-कलीं॥" (जानकी मंगल ८२)। अस्तु, न पहचाना, तो भी पूछताछ तो करनी थी, इसका समाधान करते हैं कि—'को जान केहि आनंद-बस'''—अर्थात् आनन्द में मुग्ध होने से अपनी ही सुधि भुला गई, तो दूसरी को कौन पूछता? 'आनंदकंद' आनन्द के मूल, जिनसे अभी आनन्द पाते हैं, यथा—"जो आनंद-सिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रयलोक सुपासी॥ सो सुखधाम राम'''" (दो० १९६), "एतस्यैवानन्दस्याऽन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।" (बृह० ४।३।३२), "आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात्।" (तैत्ति० ३।६)।

(३) 'जो सुख भा सियमातु'''—इन्हें एक तो रामजी का वर-वेष देखकर सुख है, दूसरे यह कि हमारी पुत्री को ऐसा उत्तम वर मिला। 'सत-सहस' अर्थात् लाख, यह दीपदेहली है। 'परिछन करहिं मुदित मन रानी' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"चलीं मुदित परिछन करन" (दो० ३१७) पर है।

पंच सबद धुनि मंगल गाना। पट पाँवड़े परहिं बिधि नाना॥३॥
करि आरती अरघ तिन्ह दीन्हा। राम गवन मंडप तब कीन्हा॥४॥
दसरथ सहित समाज बिराजे। बिभव बिलोकि लोकपति लाजे॥५॥
समय-समय सुर बरषहिं फूला। सांति पढ़हिं महिसुर अनुकूला॥६॥
नभ अरु नगर कोलाहल होई। आपन पर कछु सुनइ न कोई॥७॥
येहि बिधि राम मंडपहिं आये। अरघ देइ आसन बैठाये॥८॥

छन्द—बैठारि आसन आरती करि निरखि बर सुख पावहीं।
मनि बसन भूषन भूरि वारहिं नारि मंगल गावहीं॥
ब्रह्मादि सुरबर बिप्रबेष बनाइ कौतुक देखहीं।
अवलोकि रघुकुल-कमल-रवि-छवि सुफल जीवन लेखहीं॥

दोहा—नाऊ बारी भाट नट, राम-निछावरि पाइ।
मुदित असीसहिं नाइ सिर, हरष न हृदय समाइ॥३१९॥

शब्दार्थ—पंच सबद (पंच शब्द)=पाँच प्रकार के मंगलसूचक बाजे—तन्त्री, ताल, झाँझ, नगाड़ा और तुरही (सं० तूर)। वा पाँच प्रकार की शब्द-ध्वनियाँ, यथा—"जय-धुनि बंदी-बेद-धुनि, मंगल गान निसान।" (दो० ३२४)। अरघ (अर्घ्य) = षोड़शोपचार पूजा की एक विधि, जल, दूध, कुशाग्र, दही, सरसों, तंडुल और यव को मिलाकर देवता को अर्पण करना अथवा सामने जल गिराना। पाँवड़ा = वह वस्त्र का बिछौना जो आदर के लिये किसीके मार्ग में बिछाया जाता है।

अर्थ—पंच शब्दों की ध्वनि और मंगल-गान हो रहे हैं, नाना भाँति के वस्त्र पाँवड़े पड़ रहे हैं॥३॥

उन रानियों ने आरती करके अर्घ्य दिया, तब श्रीरामजी मंडप में गये ॥४॥ श्रीदशरथजी समाज के साथ सुशोभित हुए। लोकपाल उनके ऐश्वर्य को देखकर लज्जित होते हैं ॥५॥ समय-समय पर देवता फूल बरसाते हैं और ब्राह्मण (समय के) अनुकूल शान्ति-पाठ करते हैं ॥६॥ आकाश और नगर में कोलाहल मच रहा है। अपना-पराया कोई कुछ नहीं सुनता ॥७॥ श्रीरामजी इस प्रकार मण्डप में आये, उन्हें अर्घ्य देकर आसन पर बैठाया गया ॥८॥ स्त्रियाँ आसन पर बैठा, आरती उतार, वर को देखकर सुख पा रही हैं। वे मणि-वस्त्र-भूषण-समूह न्योछावर करती और मंगल के गीत गा रही हैं। ब्रह्मा आदि श्रेष्ठ देवता ब्राह्मण का वेष बनाकर कौतुक देख रहे हैं। रघुकुल-रूपी कमल के (प्रफुल्लित करनेवाले) सूर्य-रूप श्रीरामजी की छवि देखकर अपना जीवन सफल मान रहे हैं ॥ नाई, बारी, भाट और नट श्रीरामजी की न्योछावर पाकर माथा नवा प्रसन्न हो-होकर आशीर्वाद देते हैं, उनके हृदय में आनन्द नहीं समाता ॥३१६॥

विशेष—(१) 'पट पाँवड़े परहिं···'—यहाँ तक के विधान घोड़े पर ही हुए थे। 'पाँवड़े', देखिये दोहा ३०५ चौ० ५ भी। 'राम गवन मंडप···'—अभी चक्रवर्त्तीजी मंडप में नहीं गये, क्योंकि सामध की रीति अभी शेष है।

(२) 'समय-समय सुर···'—जब दूलह-दुलहिन मण्डप में आते हैं तब शान्ति-पाठ पढ़ा जाता है, वही समय है। वेद के मन्त्र विघ्न-शान्ति के लिये पढ़े जाते हैं, यथा—"ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः।···" (तैत्ति० १।१।१), "ॐ सहनाववतु। सहनौ भुनक्तु···" (तैत्ति० २।१।१), इत्यादि।

(३) 'मनि बसन भूषन···'—यहाँ मणि और भूषण के बीच में वस्त्र रखकर उन वस्त्रों की बहु-मूल्यता सूचित की। 'ब्रह्मादि सुर बर बिप्र···'—जैसे शची आदि के लिये 'सुचि सहज सयानी' कहा गया था, वैसे यहाँ भी 'बर' विशेषण है। 'कौतुक देखहीं'—ये लोग वेद-पाठ नहीं करते, क्योंकि इनकी वाक्-पटुता पर ध्यान धरके ऋषि लोग लख लेंगे। अतः, केवल कौतुक देखते हैं। 'सुफल जीवन लेखहीं'—अर्थात् श्रीरामदर्शनों के बिना देव-शरीर भी व्यर्थ ही है।

(४) 'नाऊ बारी भाट···'—नाई का विशेष नेग होता है। अतः, उसका नाम प्रथम आया। 'राम-निछावरि पाइ···हरष न हृदय समाइ'—'राम-निछावरि' पाने के लिये देवता भी भिखारी बनते हैं, यथा—"भूमिदेव देव···राम-निछावरि लेन को हठि होत भिखारी।" (गी० बा० ६)। वही न्योछावर हमें मिलती है। अतः, हर्ष है। 'हरष न हृदय समाइ'—मन, 'असीसहिं'—वचन, 'नाइ सिर'—कर्म, अर्थात् ये लोग मन, वचन, कर्म से प्रसन्न हैं।

मिले जनक दसरथ अति प्रीती। करि बैदिक लौकिक सब रीती ॥१॥
मिलत महा दोउ राज बिराजे। उपमा खोजि खोजि कवि लाजे ॥२॥
लही न कतहुँ हारि हिय मानी। इन्ह सम एइ उपमा उर आनी ॥३॥
सामध देखि देव अनुरागे। सुमन बरषि जस गावन लागे ॥४॥
जग बिरंचि उपजावा जब ते। देखे सुने ब्याह बहु तब ते ॥५॥
सकल भाँति सम साज समाजू। सम समधी देखे हम आजू ॥६॥
देवगिरा सुनि सुंदर साँची। प्रीति अलौकिक दुहुँ दिसि माँची ॥७॥
देत पाँवड़े अरघ सुहाये। सादर जनक मंडपहिं ल्याये ॥८॥

शब्दार्थ—सामध = समधियों का मिलाप, वर और कन्या के पिता परस्पर समधी कहाते हैं। माँची = फैल गई।

अर्थ—वैदिक और लौकिक रीतियों को करके राजा जनक और राजा दशरथ अत्यन्त प्रीतिपूर्वक

मिले ॥१॥ उस समय दोनों महाराज मिलते हुए अत्यन्त शोभित हुए, (इनके लिये) कवि लोग उपमा खोज-खोजकर लजा गये ॥२॥ कहीं भी उपमा न मिली, तब हृदय में हार मानी और मन में निश्चय किया कि इनके समान ये ही उपमान हैं ॥३॥ इन समधियों का मिलाप देखकर देवता गण अनुरक्त हो गये और फूल बरसाकर इनके यश का गान करने लगे ॥४॥ जब से ब्रह्मा ने जगत् (वा जगत् में हमें) उत्पन्न किया, तब से बहुत-से ब्याह हमने देखे और सुने हैं ॥५॥ पर सब भाँति से साज और समाज एक समान और बराबर के समधी आज ही हमने देखे हैं ॥६॥ यह सुन्दर और सच्ची देवताओं की वाणी सुनकर दोनों ओर अलौकिक प्रीति छा गई ॥७॥ सुहावने पाँवड़े और अर्घ्य देते हुए श्रीजनकजी श्रीदशरथजी को आदर के साथ मण्डप में ले आये ॥८॥

विशेष—(१) 'मिले जनक दसरथ···'—श्रीजनकजी प्रथम आकर मिले। अतः, प्रथम कहे गये। 'अति प्रीति' को 'लौकिक वैदिक' रीति से प्रथम कहा, क्योंकि सब विधान हो, पर प्रीति न हो, तो मिलने की शोभा नहीं है। कहा भी है—"चारि मिले चौंसठि खिले, बीस रहे कर जोरि। हरिजन सों हरिजन मिले, पुलके सात करोरि ॥" यहाँ भेंट रखना, इत्र-चन्दन आदि लगाना, कन्धे-से-कन्धे मिलाकर मिलना एवं वेद-विधान भी हुए, पर प्रीति मुख्य है। यहाँ 'अति प्रीती' के योग से 'बिराजे' पद है, अर्थात् विशेष शोभित हुए। 'लाजे'—प्रयत्न करने पर भी सफलता न पाकर लज्जित हुए, फिर भी कवि-स्वभाव से 'इन्ह सम एइ उपमा' कहकर सन्तोष किया। यह अनन्वयोपमा अलंकार है।

(२) 'जग बिरंचि ···'—जगत् के उत्पन्न होने के साथ ही अधिकार के साथ देवता भी उत्पन्न हुए, ब्याह में सर्वत्र इनका आवाहन होता ही है। अतः, 'देखे' कहा है और जिनका आवाहन नहीं होता, उन्होंने इनसे सुना है। अतः, उनके लिये 'सुने' कहा है।

(३) 'सकल भाँति सम ···'—एक के यहाँ ब्रह्म और दूसरे के यहाँ उन्हीं की आदि-शक्ति (अर्द्धांगिनी) का आविर्भाव हुआ, दोनों तत्त्वतः एक एवं तुल्य हैं, यथा—"गिरा अरथ जल बीचि···" (दो० १८), देखिये। पुनः घर, पुत्र, कन्या, बरपक्ष, कन्यापक्ष, विभव, कुल आदि में भी दोनों तुल्य हैं, यथा—"गुन सकल सम समधी परस्पर मिलत अति आनँद लहे। जय धन्य जय जय धन्य धन्य बिलोकि सुर-नर मुनि कहे ॥ तीनि लोक अवलोकहिं नहिं उपमा कोउ। दसरथ जनक समान जनक दसरथ दोउ ॥" (जानकीमंगल ८०-८१)। 'देव-गिरा सुनि···'—यह वाणी सुनने में प्रिय है। अतः, सुन्दर कहा। देवता सत्य ही बोलते हैं, अन्यथा देवत्व से च्युत हो जायँ। साँची का यह भी भाव है कि प्रशंसा-रूप में बढ़ाकर यह वाणी नहीं कही गई। वाणी की शोभा सत्य और प्रिय होने में है—"कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी ॥" (अ० दो० १२९)।

अलंकार—'सम', क्योंकि यथायोग्य संग कहा गया है।

(४) 'देत पाँवड़े···'—श्रीरामजी को रानियाँ ले गईं और महाराज को श्रीजनकजी ले आये।

छन्द—मंडप बिलोकि बिचित्र रचना रुचिरता मुनि-मन हरे।
निज पानि जनक सुजान सब कहँ आनि सिंहासन धरे ॥
कुल-इष्ट-सरिस बसिष्ठ पूजे बिनय करि आसिष लही।
कौसिकहिं पूजत परम प्रीति कि रीति तौ न परइ कही ॥

दोहा—बामदेव आदिक रिषय, पूजे मुदित महीस।
दिये दिव्य आसन सबहिं, सब सन लही असीस ॥३२०॥

अर्थ—मंडप की विचित्र रचना और सुन्दरता देखकर मुनियों के मन हर गये। सुजान (निपुण) राजा जनक ने सबके लिये अपने हाथों से ला-लाकर सिंहासन रक्खे॥ अपने कुल-देवता की भाँति श्रीवसिष्ठजी की पूजा की और प्रार्थना करके उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया। विश्वामित्रजी को अत्यन्त प्रीति से पूजते हैं, उस (परम प्रीति) की रीति तो कहते ही नहीं बनती॥ (फिर) आनन्द-पूर्वक राजा ने वामदेव आदि सभी ऋषियों की पूजा की, सबको (बैठने के लिये) दिव्य आसन दिये और सबसे असीसें पाईं॥३२०॥

विशेष—'निज पानि जनक ···'—'धरे' क्रिया भूतकाल की है। अतः, सिंहासन प्रथम ही से रक्खे थे, नौकरों से लेकर अपने हाथों से सजाकर यथायोग्य रक्खे, इसीसे 'सुजान' कहा गया है। सुजानता की दृष्टि से ही आपने सत्कारार्थ सेवक-भाव ग्रहण किया है। अभी एक-एक ला-लाकर रखने में तो लग्न ही बीत जाता। प्रथम पृथक्-पृथक् सत्कार किया, फिर देर होने के भय से वामदेव आदि की समष्टि में ही पूजा की।

'मुनि-मन हरे—मुनि विषय-रस से रूखे होते हैं, जब इनका ही मन हर जाता है, तब औरों का क्या कहना ?

'कुल-इष्ट सरिस बसिष्ठ···'—ये रघुकुल के गुरु एवं इष्ट हैं, यथा—"तुम्ह सुरतरु रघुबंस के देत अभिमत माँगे।" (गी० बा० १२), उस कुल से समधी (तुल्य-बुद्धि) का नाता हो गया। अतः, हमारे भी इष्ट हैं, इस विचार से कुल-इष्ट के समान पूजा की। 'बिनय करि···'—निमि-कुल के भी प्रथम के पुरोहित वसिष्ठजी ही थे, राजा निमि के साथ परस्पर शाप से पार्थक्य हुआ था, तब से निमि-कुल के गौतमजी एवं उनके पुत्र शतानन्दजी पुरोहित हुए। आज बहुत विनती से प्रसन्न कर राजा जनक ने वसिष्ठजी से आशीर्वाद प्राप्त किया। 'कौसिकहिं पूजत परम प्रीति···'—क्योंकि इस सम्बन्ध के मुख्य कारण ये ही हैं। प्रसंगतः इनसे भी आशीर्वाद पाया। 'आसिष-लही' दीपदेहली है।

बहुरि कीन्ह कोसलपति पूजा। जानि ईस सम भाव न दूजा॥१॥
कीन्हि जोरि कर बिनय बड़ाई। कहि निज भाग्य बिभव बहुताई॥२॥
पूजे भूपति सकल बराती। समधी सम सादर सब भाँती॥३॥
आसन उचित दिये सब काहू। कहउँ काह मुख एक उछाहू॥४॥
सकल बरात जनक सनमानी। दान मान बिनती बर बानी॥५॥
बिधि हरिहर दिसिपति दिनराऊ। जे जानहिं रघुबीर - प्रभाऊ॥६॥
कपट - बिप्र - बर - बेष बनाये। कौतुक देखहिं अति सचु पाये॥७॥
पूजे जनक देवसम जाने। दिये सुआसन बिनु पहिचाने॥८॥

अर्थ—फिर जनकजी अयोध्या के पति श्रीदशरथ महाराज की पूजा उन्हें 'ईश' के समान जानकर की, दूसरे भाव से नहीं॥१॥ अपने भाग्य-वैभव का बाहुल्य कहकर हाथ जोड़कर उनकी प्रार्थना और बड़ाई की॥२॥ राजा जनक ने समधी के समान ही आदर के साथ सब बरातियों की सब प्रकार पूजा की॥३॥ सब किसीको यथायोग्य आसन दिया, उस उत्साह को मैं एक मुख से क्या कहूँ ?॥४॥ राजा जनक ने सारी बरात का दान, मान, विनती और श्रेष्ठ वाणी से सम्मान किया॥५॥ ब्रह्मा, विष्णु, महेश, लोकपाल और सूर्य, जो श्रीरघुनाथजी का प्रभाव जानते हैं॥६॥ वे बनावटी श्रेष्ठ ब्राह्मण का वेष बनाकर कौतुक (उत्सव के आश्चर्य रूप साज) देखते हैं और अत्यन्त आनन्द पाते हैं॥७॥ राजा जनक ने देव-तुल्य जानकर उनका पूजन किया और बिना पहचाने भी उन्हें उत्तम आसन दिये॥८॥

विशेष—'जानि ईस सम'—श्रीवसिष्ठजी को इष्ट (भगवान्) के समान माना। राजा दशरथ उनके शिष्य एवं सेवक हैं। अतः, इन्हें शिवजी के समान माना, क्योंकि शिवजी भी भगवान् (श्रीरामजी) के सेवक हैं। 'भाव न दूजा' अर्थात् दूसरा तुल्यता का भाव (समधी-भाव) नहीं आने देते। 'जोरि कर बिनय ' '—इनमें शिवजी का-सा भाव है। शिवजी हाथ जोड़ने से शीघ्र प्रसन्न होते हैं, यथा—"सकत न देखि दोन करजोरे।" (वि० ६)। अतः, हाथ जोड़कर स्तुति की। 'आसन उचित···'—पूजा में तो बरातियों को समधी के अंग मानकर समान रूप से सबका सत्कार किया। पर आसन में यथायोग्य का भाव है, यह व्यवहार-दृष्टि है, क्योंकि बरात में कई वर्णों के लोग हैं। 'दान मान बिनती बरबानी'—ब्राह्मणों को दान से, क्षत्रियों को बिनती से, वैश्यों को मान से और शूद्रों को बर-बाणी अर्थात् प्रियवाणी से आश्वासन-द्वारा सम्मानित किया, यथा—"सनमानि सकल बरात आदर दान बिनय बड़ाइ के।" (दो० ३३५)। 'बिधि हरिहर'—'दिसिपति' से पृथक् भी सूर्य को कहा, क्योंकि वे यद्यपि अष्ट लोकपालों में हैं, तथापि श्रीरामजी के कुल के पुरखा हैं। 'जे जानहिं रघुबीर···'—वे जानते हैं कि श्रीरामजी परात्पर ब्रह्म हैं, और गुप्त रूप में नरनाट्य कर रहे हैं, इसलिये वे भी अपना ऐश्वर्य छिपाकर आनन्द लूटने आये हैं, अन्यथा श्रीरामजी का ऐश्वर्य खुलना लीला के विरुद्ध होगा।

श्रीरामजी को कपट नहीं भाता—"मोहिं कपट छल छिद्र न भावा।" (सुं० दो० ४३)। पर वे लोग कपट वेष से ही आये, क्योंकि उनका यह कपट किसीको ठगने के लिये नहीं है, किन्तु श्रीरामजी का ऐश्वर्य न खुले एवं अपना भी महत्त्व प्रकट न हो, इसपर श्रीरामजी भी प्रसन्न हैं। 'दिये सुआसन···'—प्रथम 'सिंहासन' 'दिव्य आसन' और 'उचित आसन' कह आये, यहाँ 'सुआसन' कहकर राजा की सावधानता सूचित की। 'बिनु पहिचाने' भी 'सुआसन' दिये, क्योंकि किसी भी वेष में स्थित तेजस्वियों के तेज को अनुभवी लोग लख ही लेते हैं, यहाँ भी ज्ञानी राजा ने उन्हें देवतुल्य मानकर उनका सम्मान किया।

छन्द—पहिचान को केहि जान सबहि अपान सुधि भोरी भई।
आनंदकंद बिलोकि दूलह उभय दिसि आनँदमई॥
सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दये।
अवलोकि सील सुभाव प्रभु को बिबुध मन प्रमुदित भये॥

दोहा—रामचंद्र - मुख - चंद्र - छवि, लोचन चारु चकोर।
करत पान सादर सकल, प्रेम प्रमोद न थोर॥३२१॥

शब्दार्थ—अपान = अपनी। मानसिक = मन की कल्पना से बिना द्रव्य की पूजा।

अर्थ—कौन किसे पहचाने और जाने, अपनी ही सुध सबको भूल गई है। आनन्दकन्द दुलहे को देखकर दोनों ओर (मिथिला-अवध के लोग) आनन्मदमय हो रहे हैं॥ सुजान श्रीरामजी ने देवताओं को देखा तो (पहचान कर) उनकी मानसिक पूजा करके उन्हें मानसिक आसन दिये। प्रभु के इस शील-स्वभाव को देखकर देवता मन में विशेष आनन्दित हुए॥ श्रीरामजी के मुखरूपी चन्द्रमा की छवि को सभीके सुन्दर नेत्ररूपी सुन्दर चकोर आदर-पूर्वक पान कर रहे हैं और उनमें प्रेम और प्रमोद कुछ थोड़ा नहीं है अर्थात् बहुत है॥३२१॥

विशेष—(१) 'पहिचान को केहिजान···'—ऊपर बिना पहचाने सु-आसन देना कहा गया, उस न पहचानने का कारण यहाँ कहा कि अपनी ही सुधि नहीं, तो दूसरे को कौन पूछे? इसका भी कारण—

'आनंदकंद···' कहा गया। 'सुर लखे राम सुजान···'—मुनि लोग ध्यान-द्वारा देवताओं को जानते हैं, पर श्रीरामजी ने यों ही जान लिया। अतः, माधुर्य दृष्टि से ये 'सुजान' कहे गये, 'अन्यथा ईश्वरीय दृष्टि में ब्रह्माण्ड-भर का निरावरण ज्ञान सदा रहता है। 'मानसिक' दीपदेहली है। प्रकट पूजन एवं आसन देने में सर्वज्ञता आदि से श्रीरामजी का ऐश्वर्य प्रकट होता और देवताओं का भी कपट खुल जाता, इसलिये मानसिक ही पूजा की और आसन भी दिये। आपने नर-नाट्य की मर्यादा से विप्र-वेष में देखकर उनकी पूजा की, अन्यथा स्वर्ग के देवता तो श्रीराम ही को पूजते हैं—"सुर प्रनाम करि बरिसहिं फूला।" (दो० ३२२)।

(२) 'अवलोकि सील सुभाव प्रभु को···'—इतने बड़े प्रभु होते हुए भी हम छोटों का आदर करते हैं, यह शील-स्वभाव देखकर देवगण आनन्दित हुए, यथा—"ठाकुर अतिहि बड़ो, सील सरल सुठि, ध्यान अगम सिवहू, भेंट्यो केवट उठि॥" (वि० १३५)। 'बिबुध'—प्रभु के दिये हुए मानसिक पूजन एवं सम्मान को जान लिया। अतः, देवता वि-बुध = विशेष बुद्धिमान् कहे गये।

(६) 'रामचंद्र-मुख-चंद्र···'—'चारु' शब्द दीपदेहली है। छवि अमृत है, यथा—"जौ छवि सुधा-पयोनिधि···" (दो० २४६), लोचन श्रीराम-मुख-चन्द्र को देख रहे हैं, इसीसे 'चारु' हैं और उनके उपमान रूप चकोर भी 'चारु' कहे गये। 'प्रेम' मुखचन्द्र देखने में और 'प्रमोद' छवि के आनन्द-अनुभव से है। 'रामचंद्र' ही नाम कहा गया, क्योंकि चन्द्रवत् सबको सामने ही देख पड़ते हैं। अतः, सबके नेत्र कौतुक से हटकर चकोरवत् इन्हीं के प्रति लग गये हैं, यथा—"मुनि समूह महँ बैठे, सन्मुख सबकी ओर। सरद इंदु तन चितवत, मानहु निकर चकोर॥" (अर० दो० १२)।

समय बिलोकि बसिष्ठ बोलाये। सादर सतानंद मुनि आये॥१॥
बेगि कुअँरि अब आनहु जाई। चले मुदित मुनि आयसु पाई॥२॥
रानी मुनि उपरोहित-बानी। प्रमुदित सखिन्ह समेत सयानी॥३॥
बिप्रबधू कुलबृद्ध बोलाई। करि कुलरीति सुमंगल गाई॥४॥
नारिबेष जे सुर-बर-बामा। सकल सुभाय सुंदरी स्यामा॥५॥
तिन्हहिं देखि सुख पावहिं नारी। बिनु पहिचानि प्रान ते प्यारी॥६॥
बार बार सनमानहिं रानी। उमा-रमा-सारद-सम जानी॥७॥
सीय सँवारि समाज बनाई। मुदित मंडपहि चलीं लिवाई॥८॥

अर्थ—वसिष्ठजी ने समय जानकर शतानन्दजी को आदरपूर्वक बुलाया, वे सुनकर आदर-सहित आये॥१॥ (वसिष्ठजी ने कहा कि) अब जाकर शीघ्र कन्या को लाइये, मुनि की आज्ञा पा, वे प्रसन्न होकर चले॥२॥ सयानी रानी पुरोहित के वचन सुनकर सखियों के साथ बड़ी प्रसन्न हुई॥३॥ ब्राह्मणियों और कुल की वृद्धा स्त्रियों को बुलाकर (उनके साथ) सुन्दर मंगल गाती हुई कुलरीति की॥४॥ श्रेष्ठ देवताओं की श्रेष्ठ स्त्रियाँ जो (प्राकृत) नारि-वेष में (आई) हैं, वे सब स्वाभाविक ही सुन्दरी और श्यामा (षोड़श-वर्षीया स्त्री) हैं॥५॥ उन्हें देखकर स्त्रियाँ सुख पाती हैं, (अतः) बिना पहचानी होने पर भी वे प्राणों से अधिक प्यारी लगती हैं॥६॥ रानीगण उन्हें उमा, रमा और शारदा के समान जानकर बार-बार उनका सत्कार करती हैं॥७॥ वे सब श्रीसीताजी का शृंगार करके और अपना समाज बनाकर आनन्दित मन से (सीताजी को) मण्डप को लिवा ले चलीं॥८॥

विशेष—'समय बिलोकि बसिष्ठ···'—वसिष्ठजी पुरोहित हैं। अतः, सावधानता से लग्न का समय जाना, इससे 'समय बिलोकि···' कहा गया। शीघ्रता के लिये ही उधर के पुरोहित से कहा कि लग्न न बीत

जाय, वे भी इसके ज्ञाता हैं। 'सयानी' क्योंकि लग्न के अनुसार प्रथम ही से सब प्रबन्ध कर रक्खे हैं।

'विप्रबधू' गाने के लिये और 'कुलबृद्ध' कुल की रीति बतलाने के लिये बुलाई गईं।

'बार-बार सनमानहि रानी।···'—देव गण विप्र रूप से आये, राजा जनक ने उन्हें देव तुल्य मान कर सम्मान किया था, फिर श्रीरामजी ने सुजान से भी पूर्त्ति की थी, किन्तु इन देव-नारियों से सुख मिला एवं प्राण से प्यारी लगीं, इससे रानियों ने इन्हें उमा-रमा आदि की भाँति मानकर बार-बार सम्मान किया। रानियों के पक्ष में विशेषता है।

'समाज बनाई'—अपना समाज ठीक करके अर्थात् श्रीजानकीजी के हाथ में सिंदूरदानी रखकर, अपने में यह ठीक करके कि कौन दाहिने, बायें एवं पीछे कौन द्रव्य लेकर रहेंगी···। जैसे, उधर देववृन्द कपट वेष में साथ हैं, वैसे इधर उनकी स्त्रियाँ नारि-वेष में हैं, दोनों ओर बराबर साज हैं।

छन्द—चलि ल्याइ सीतहि सखी सादर सजि सुमंगल भामिनी।
नवसप्त साजे सुंदरी सब मत्त कुंजर-गामिनी॥
कलगान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं कामकोकिल लाजहीं।
मंजीर नूपुर कलित कंकन तालगति बर बाजहीं॥

दोहा—सोहति बनिताबृंद महँ, सहज सुहावनि सीय।
छबि-ललना-गन मध्य जनु, सुखमा तिय कमनीय॥३२२॥

शब्दार्थ—मंजीर=मधुर ध्वनि करनेवाला गहना (विश्वकोष), यहाँ यह कटि-किंकिणी के अर्थ में है, यथा—"हाटक-घटित जटित मनि कटि तट रट मंजीर।" (गी० उ० २१), कंकण, किंकिणि और नूपुर ये तीन बजनेवाले भूषण हैं, ये बहुत स्थलों पर साथ कहे गये हैं, यथा—"कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।" (दो० २२६), "कंकन किंकिनि नूपुर बाजहि। चारु बिलोकि···" (दो० ३१७), "मंजीर-नूपुर-वलय-धुनि जनु काम-करतल तार॥" (गी० उ० १८)। "नूपुर किंकिनि धुनि अति सोहाइ।" (गी० उ० २२)। 'नूपुर' अर्थ किसी-किसीने लिया है, वह लेने से पुनरुक्ति होगी, क्योंकि वह पृथक् कहा ही गया है। ललना=स्त्री। सुषमा=परम शोभा। कमनीय=कामना करने योग्य, सुन्दर।

अर्थ—सुन्दर मंगल साज सजकर स्त्रियाँ और सखियाँ श्रीसीताजी को आदर के साथ लिवा ले चलीं। सब सुन्दरी सोलहो शृङ्गार किये हुई हैं और सभी मतवाले हाथियों की-सी सुन्दर चालवाली हैं॥ उनका सुन्दर गान सुनकर मुनि लोग ध्यान त्याग देते हैं और कामदेव-रूपी कोकिल लजा जाते हैं। किंकिणी, नूपुर और सुन्दर कंकण ताल की गति पर उत्तम ध्वनि में बज रहे हैं॥ स्वाभाविक ही सुन्दरी सीताजी स्त्रियों के झुंड में ऐसी शोभित हो रही हैं, मानों छवि-रूपी स्त्री-समाज के मध्य में कमनीय परम-शोभा-रूपिणी स्त्री हो॥३२२॥

विशेष—'सजि सुमंगल···', यथा—"सकल सुमंगल अंग बनाये।" (दो० ३१७) पर कहा गया तथा दधि, दूर्वा आदि भी थालों में मंगल के लिये सजाये हैं। 'नव सप्त साजे' से सौभाग्यवती और 'मत्त कुंजरगामिनी' से युवती एवं धीमी चालवाली जनाया है। सोलहो शृङ्गार, यथा—"प्रथम अंग शुचि एक विधि, मज्जन द्वितिय बखान। अमल बसन पहिरन त्रितिय, जावक चार सुजान॥ पंचम केश सँवारिबो, षष्टम माँग सिंदूर। भाल खौर सप्तम कहत, अष्ट चिबुक तिल पूर॥ मेंहदी कर पग रचन नव, दसम अरगजा अंग। ग्यारह भूषन नग जटित, बारह पुष्प प्रसंग॥ बास राग मुख तेरहो, चौदह रँगिबो दाँत। अधर राग गनि पंच दस, कज्जल षोड़स भाँति॥" (रामायणी रा० बा० दा०-टिप्पणी)।

'कल गान सुनि ···' यथा—"कुहू-कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं॥" (अर० दो० ३९), और यहाँ तो 'काम-कोकिल लाजहीं' कहा गया है। 'लाजहीं' बहुवचन है, अर्थात् कामदेव ने बहुत कोकिलाओं का रूप बनाकर स्वर मिलाना चाहा, फिर भी उसे लजाना ही पड़ा। 'सोहति बनिता-बृंद'—ऊपर जिन्हें 'भामिनी' और 'स्यामा' कहा था, उन्हें ही यहाँ 'बनिता' शब्द से कहा। 'सहज सुहावनि'—बनिता-वृन्द के साहचर्य से सीताजी की शोभा नहीं है, किन्तु स्वाभाविक है, प्रत्युत इनकी ही छटा से बनिता-वृन्द शोभित हैं, यही उपमा से जनाते हैं—'छबि ललनागन···'—पूर्व कह चुके हैं कि "उपमा सकल मोहिं लघु लागी।" (दो० २४६), इसलिये नई उपमा रचते हैं कि मूर्त्तिमती होकर 'छवि' बहुत-से सुन्दर स्त्री-रूप बने, उनके बीच में जैसी परमा शोभा सुशोभित हो, वैसी शोभा हो रही है, यथा—"सखिन्ह मध्य सिय सोहइ कैसे। छबिगन मध्य महा छबि जैसे॥" (दो० २६३), तथा—"सुंदरता कहँ सुंदर करई। छबि-गृह दीपसिखा जनु बरई॥" (दो० २२९)।

सिय-सुंदरता बरनि न जाई। लघु मति बहुत मनोहरताई॥१॥
आवत दीखि बरातिन्ह सीता। रूपरासि सब भाँति पुनीता॥२॥
सबहि मनहि मन किये प्रनामा। देखि राम भये पूरनकामा॥३॥
हरषे दसरथ सुतन्ह समेता। कहि न जाइ उर आनँद जेता॥४॥
सुर प्रनाम करि बरिसहिं फूला। मुनि-असीस-धुनि मंगलमूला॥५॥
गान-निसान-कोलाहल भारी। प्रेम-प्रमोद-मगन नर-नारी॥६॥
एहि बिधि सीय मंडपहिं आई। प्रमुदित सांति पढ़हिं मुनिराई॥७॥

अर्थ—श्रीसीताजी की सुन्दरता का वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि बुद्धि तो छोटी है और सुन्दरता बहुत है॥१॥ बरातियों ने रूप की राशि और सब भाँति से पवित्र श्रीसीताजी को आते हुए देखा॥२॥ सभी ने उनको मन-ही-मन प्रणाम किया और श्रीरामजी को देखकर वे पूर्ण काम हो गये॥३॥ पुत्रों के साथ श्रीदशरथजी हर्षित हुए, जितना आनन्द उनके हृदय में है, वह कहा नहीं जा सकता॥४॥ देवता प्रणाम करके फूल बरसाने लगे, मंगल-मूल मुनियों की आशिष की ध्वनि हो रही है॥५॥ गान और नगाड़ों का भारी हल्ला है, स्त्री-पुरुष प्रेम और उत्कृष्ट आनन्द में मग्न हैं॥६॥ इस तरह श्रीसीताजी मंडप में आईं, मुनिराज प्रकर्ष आनन्द के साथ शान्ति-पाठ कर रहे हैं॥७॥

विशेष—(१) 'सबहि मनहि मन···'—'सीताजी रूप-राशि' हैं। अतः, सबके मन खिंच गये। 'सब भाँति पुनीता' हैं, अर्थात् तन, मन, वचन से पवित्र भाववाली हैं। अतः, असाधारण प्रभाव देख सबको प्रणाम करने की बुद्धि हो आई, किन्तु कन्या को प्रणाम करना लोकरीति के विरुद्ध है। अतः, मन-ही-मन किया, तथा—"उठे सकल जब रघुपति आए।" (दो० २१४)—मिलान कीजिये। ये सब श्रीजी के नित्य-परिकर हैं, नित्य विभूति से साथ आये हैं, यथा—"तात राम कहँ नर जनि मानहु।···" से "सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥" (कि० दो० २६), इससे माधुर्य चरित में भी इष्ट देवी श्रीसीतादेवी के प्रति प्रणाम मन से किया ही, जैसे किष्किन्धाकाण्ड दो० ४ चा० ६ में विप्र रूप में रहते हुए भी श्रीहनुमानजी ने प्रभु को क्षत्रिय रूप में भी प्रणाम किया ही है। पुनः श्रीरामजी को देख (छवि जोड़ मिलाकर) पूर्ण-काम हो गये, क्योंकि इन्हें कामना थी कि श्रीरामजी के योग्य दुलहिन होती, वह पूरी हुई।

(२) 'सुर प्रनाम करि···'—देवतागण आकाश में अपने विमानों पर हैं। अतः, ऐश्वर्य दृष्टि से

उनका प्रकट प्रणाम करना कहा गया, क्योंकि वे तो इन्हें आदिशक्ति जानते ही हैं। भरत आदि भाई आनन्द में मग्न हैं—'कहि न जाइ उर आनँद जेता।' अतः, इनका प्रणाम करना नहीं है।

(३) 'येहि बिधि सीय मंडपहिं···'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"मुदित मंडपहिं चलीं लेवाई।" (दो० ३२१) है। 'प्रमुदित सांति···'—'मुनिराई' अर्थात् वसिष्ठ-विश्वामित्र आदि तो शान्ति-पाठ कर रहे हैं। आज के पाठ में इन्हें प्रकर्ष मोद मिल रहा है। सामान्य मुनि लोग आशिष की ध्वनि कर रहे हैं—"मुनि असीस धुनि मंगल-मूला।" ऊपर कहा है।

श्रीसीतारामजी के मंडप-प्रवेश का मिलान

श्री सीताजी	श्रीरामजी
१. "सीय सँवारि···मुदित मंडपहि चलीं लिवाई॥"	"राम गवन मंडप तब कीन्हा।"
२. "चलि ल्याइ सीतहि ··सजिसुमंगल भामिनी॥"	"सकल सुमंगल अंग बनाये॥"
३. "कल गान सुनि···काम-कोकिल लाजहीं॥"	"करहिं गान कल-कंठि लजाये।"
४. "मंजीर नूपुर कलित कंकन···बाजहीं॥"	"कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं॥"
५. "सोहति बनिता-बृंद महँ।"	"बंधु मनोहर सोहहि संगा॥"
६. "सुर प्रनाम करि बरिसहिं फूला॥"	"समय-समय सुर बरिसहिं फूला॥"
७. "गान निसान कोलाहल भारी॥"	"नभ अरु नगर कोलाहल होई।"
८. "प्रमुदित सांति पढ़हिं मुनिराई॥"	"सांति पढ़हिं महिसुर अनुकूला॥"
९. "येहि बिधि सीय मंडपहिं आई।"	"येहि बिधि राम मंडपहि आये।"

तेहि अवसर कर बिधि ब्यवहारू। दुहुँ कुलगुरु सब कीन्ह अचारू॥८॥

छन्द—आचार करि गुरु गौरि गनपति मुदित बिप्र पुजावहीं।
सुर प्रगटि पूजा लेहिं देहिं असीस अति सुख पावहीं॥
मधुपर्क मंगलद्रव्य जो जेहि समय मुनि मन महँ चहैं।
भरे कनककोपर कलस सो तब लियेहि परिचारक रहैं॥
कुलरीति प्रीतिसमेत रबि कहि देत सब सादर किये।
येहि भाँति देव पुजाइ सीतहि सुभग सिंहासन दिये॥
सिय-राम-अवलोकनि परसपर प्रेम काहु न लखि परै।
मन - बुद्धि - बरबानी - अगोचर प्रगट कबि कैसे करै॥

दोहा—होम-समय तनु धरि अनल, अति सुख आहुति लेहिं।
बिप्रबेष धरि बेद सब, कहि बिबाह - बिधि देहिं॥३२३॥

शब्दार्थ—बिधि = कार्यक्रम। ब्यवहारू = रीति। अचारू = रीति-रस्म।

अर्थ—उस समय के जो कार्य-क्रम की रीतियाँ थीं, उनको दोनों कुलगुरुओं (वसिष्ठजी-शतानन्दजी) ने किया॥८॥ दोनों कुलगुरुओं ने कुलाचार कराये, ब्राह्मण लोग प्रसन्नतापूर्वक गौरी और गणेश का

पूजन करा रहे हैं। देवता प्रकट होकर (प्रत्यक्ष रूप से) पूजा लेते, आशिष देते और अत्यन्त सुख पाते हैं॥ मधुपर्क (दही, घी और मधु, बराबर मिलित पदार्थ) आदि जिस मंगल पदार्थ को जिस समय मुनि मन में चाहते हैं, उसे उसी समय सोने के परातों और कलशों में भरे लिये हुए सेवक लोग खड़े रहते हैं॥ सब कुल-रीतियों को प्रीति के साथ सूर्य भगवान् बता देते हैं, वे सब रीतियाँ आदर-पूर्वक की गईं। इस भाँति देवताओं की पूजा कराके श्रीसीताजी को सुन्दर सिंहासन दिया गया॥ श्रीसीतारामजी का आपस का देखना और प्रेम किसीको लख नहीं पड़ता। (क्योंकि) वह मन, बुद्धि और श्रेष्ठ वाणी से परे है, तो उसे कवि कैसे प्रकट करे ?॥ हवन के समय अग्नि शरीर-धारण करके अत्यन्त सुख से आहुति लेते हैं और ब्राह्मण-वेष धरकर सब वेद विवाह की विधि बतला देते हैं॥३२३॥

विशेष—(१) 'सुर प्रगटि पूजा लेहिं···'—श्रीसीतारामजी के हाथ से पूजा लेने के लिये प्रकट होने में 'सुख' और आशिष देने में 'अति सुख' होता है। 'परिचारक रहैं'—मुनि लोग भी बहुत हैं, उन प्रत्येक के सामने बहुत-से सेवक सब वस्तुएँ ठीक किये हुए खड़े रहते हैं, कहना नहीं पड़ता कि दे देते हैं। 'कुल-रीति प्रीति समेत रवि···'—सूर्य इस कुल के पुरखा हैं, वे सब कुल-रीतियाँ यथार्थ जानते हैं। अतः, समय-समय पर कह देते हैं, और कुलवृद्धों के बतलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, यथा—"बूझि बिप्र कुलबृद्ध गुरु···" (दो० २८३)।

'मंगल द्रव्य'—जैसे ओषधि, चन्दन, कुश, तीर्थ-जल, दूब, इत्यादि। यहाँ देवताओं के प्रकट होने में ऐश्वर्य प्रकट होने की शंका नहीं है, क्योंकि इसमें लोग वसिष्ठ आदि ऋषियों की बड़ाई समझते हैं, कि उनके द्वारा शुद्ध-शुद्ध उच्चरित मन्त्र का प्रभाव है।

'सिय राम अवलोकनि···'—पूर्व कहा गया—"गुरु जन लाज समाज बड़, देखि सीय सकुचानि।" (दो० २४८), पर यहाँ पिता और गुरुओं के सामने बैठे एक-दूसरे को देख रहे हैं, क्योंकि विवाह पद्धति में ऐसी विधि है, कि वर और दुलहिन एक दूसरे को देखें। वही रीति यहाँ हुई। ऋषियों की आज्ञा से देखते हैं, पर इनके आपस में जो प्रेम है, कि परस्पर अवलोकन में महान् सुख पाते हैं, उसे कोई नहीं लख पाता, यथा—"राम दीख जब सीय, सीय रघुनायक। दोउ तन तकि-तकि मयन सुधारत सायक॥" (जानकी मं० १४)।

'बरबानी-अगोचर'—यहाँ सबसे श्रेष्ठ वाणी वेदों का अर्थ है—"वेद बचन मुनि मन अगम।" (अ० दो० ११६)।

'होम समय तनु···'—अग्नि की ज्वाला का उठ-उठ कर आहुति लेना शकुन है, क्योंकि इसमें अग्नि-देव की प्रसन्नता प्रकट होती है और यहाँ तो अत्यन्त प्रसन्नता से मूर्त्तिमान् होकर आहुति ले रहे हैं। 'बिप्र बेष धरि बेद···'—यद्यपि वेदों के ऋषि ही विश्वामित्र और वसिष्ठ आदि हैं, तो त्रुटि नहीं रह सकती, तथापि वेद लोग विप्र-वेष से जो विधि कहते हैं उससे वे अपनी सेवा प्रकट करते हैं, जैसे कि राजगद्दी के समय बंदी वेष में आवेंगे। और, देवता गण भी तो अपनी सेवा जना रहे हैं, यथा—"अस्तुति करहिं नाग मुनि देवा। बहुबिधि लावहिं निज निज सेवा॥" (दो० १९०), "समय-समय सुर बरिसहिं फूला।" (दो० ३१८)।

जनक - पाट - महिषी जग जानी। सीय-मातु किमि जाइ बखानी॥१॥
सुजस सुकृत सुख सुंदरताई। सब समेटि बिधि रची बनाई॥२॥
समय जानि मुनिबरन्ह बोलाईं। सुनत सुआसिनि सादर ल्याईं॥३॥
जनक - बाम-दिसि सोह सुनयना। हिमगिरि संग बनी जनु मयना॥४॥

शब्दार्थ—पाट-महिषी = प्रधान रानी, जो राजा के साथ सिंहासन पर बैठ सकती हो। सुआसिनि = उसी नगर की विवाहिता कन्या, सौभाग्यवती स्त्री। (सं० सुवासिनी)

अर्थ—श्रीजनकजी की जगत्-प्रसिद्ध प्रधान रानी, श्रीसीताजी की माता कैसे बखानी जा सकती हैं ? ॥१॥ ब्रह्माजी ने सब सुयश, पुण्य, सुख और सुन्दरता समेटकर इन्हें भलीभाँति बनाकर रचा है ॥२॥ समय जानकर मुनिवरों ने उन्हें बुलाया, सुनते ही सुहागिनी स्त्रियाँ उन्हें आदर-पूर्वक ले आईं ॥३॥ श्रीजनकजी की 'बाम-दिसि' सुनयनाजी शोभित हो रही हैं, मानों हिमाचलराज के साथ मैनाजी विराजी हों।

विशेष—(१) 'जनक-पाट-महिषी···'—जनकजी के और भी बहुत रानियाँ हैं, यथा—"आयउ जनकराज रनिवासू।" (अ० दो० २८०)। उनमें ये मुख्या एवं पटरानी हैं, जगत्-भर में इन्हींकी प्रसिद्धि है। ये विवेक में भी जनकजी के तुल्य हैं—"को बिबेक निधि बल्लभहिं तुम्हहिं···" (अ० दो० २८३ , 'सीय मातु···' श्रीसीताजी की माता होने की महिमा तो अकथ्य है।

(२) 'सुजस सुकृत सुख···'—'सुजस'-रूपा होने से जगत् में ख्याति है, 'सुकृत'-रूपा होने से श्रीसीताजी की माता हुईं, यथा—"जनक सुकृत मूरति बैदेही।" (दो० ३०९), सुकृत की ही अगाधता से सुख और सुन्दरता भी है, यथा—"सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता।" (उ० दो० १०१), "चारिउ चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा···सब सुंदर सब बिरुज सरीरा।" (उ० दो० २०)। उत्तमता की पहचान चार तरह से होती है—जन्म, संग, शरीर और स्वभाव से। सुयश, सुकृत आदि से विधि ने बनाकर रचा है, इससे जन्म, 'जनक पाट-महिषी···' इससे संग, 'सुख सुंदरताई' से शरीर और 'सीय मातु···' से स्वभाव की उत्तमता कही गई है, यथा—"रावरो सुभाव रामजन्म ही से जानियत···" (क० अ० ४)। सन्तान की योग्यता से माता-पिता की महिमा होती है, यथा—"महिमा अवधि राम पितु माता।" (दो० १५)।

इन गुणों से श्रीसुनयनाजी में कन्यादान की योग्यता कही गई है।

'समय जानि···सुनत···'—अब कन्यादान का समय आया, तब बुलाई गईं। 'सुनत' शब्द से सूचित किया कि वे भी तैयार बैठी थीं। अतः, सुनते ही सुवासिनें ले आईं।

(३) 'जनक बाम दिसि सोह···'—विशेष प्रचलित प्रथा है कि कन्यादान के समय पत्नी दाहिने बैठती है और किसी-किसी स्मृतिकार के मत से बाईं ओर ही बैठने का विधान है। यहाँ 'बाम दिसि' पद से दोनों मतों की रक्षा हो जाती है—(क) 'बाम' शिवजी का नाम है, उनकी दिशा ईशान है, विवाह में वर पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठता है और कन्या के माता-पिता पच्छिम-मुख रहते हैं। इस तरह सुनयनाजी ईशान में पड़ती हैं। वा, इसमें सुनयना (एवं मयना) जी का वर्णन है। अतः, उनका प्राधान्य है। तब जनकजी के बाम दिशि में होने से (अर्थात् 'जनक बाम दिसि' होने से सुनयना जी कैसी सोहती हैं जैसी हिमगिरि को संग लेकर बैठने से मयनाजी की शोभा थी।—इस प्रकार अर्थ करने से) सुनयना उनके दाहिने पड़ती हैं, इसमें सुनयना अंगी और राजा अंग हुए। वा, अभी बैठक-मात्र कहा गया है, कन्यादान के समय दाहिने बैठ जायँगी। (ख) ग्रन्थकार को दाहिने लिखना होता तो स्पष्ट लिखते। अतः, बाईं ओर बैठने का उपर्युक्त एकमत इन्हें इष्ट था, ऐसा भी जान पड़ता है।

'बनी जनु मयना'—जगज्जननी भवानी की माता होने से मयनाजी की शोभा थी, वैसे ही जगज्जननी श्रीसीताजी की माता होने से यहाँ इनकी भी शोभा है, यथा—"मंगल मूल राम सुत जासू। जो कछु कहिय थोर सब तासू॥" (मा० अ०)।

कनककलस मनिकोपर रूरे। सुचि - सुगंध - मंगल - जल-पूरे ॥५॥
निज कर मुदित राय अरु रानी। धरे राम के आगे आनी ॥६।

पढ़हिं बेद मुनि मंगलबानी। गगन सुमन झरि अवसर जानी ॥७॥
बर बिलोकि दंपति अनुरागे। पाय पुनीत पखारन लागे ॥८॥

अर्थ—पवित्र, सुगन्धित और मांगलिक जल से भरे हुए सोने के सुन्दर कलश और मणियों के रूरे (श्रेष्ठ) कोपर (परात) राजा और रानी ने प्रसन्नता-पूर्वक श्रीरामजी के आगे अपने हाथों से लाकर रक्खे ॥५-६॥ मुनि मंगलमय वाणी से (गाते हुए) वेद पढ़ रहे हैं, शुभ-अवसर जानकर आकाश से पुष्पों की झड़ी होने लगी ॥७॥ दूलह को देखकर राजा और रानी अनुरक्त हो गये और उनके पवित्र चरणों को धोने लगे ॥८॥

विशेष—(१) 'कनककलस मनि···'—'मनिकोपर रूरे' से दो कोपर जनाये, क्योंकि यह बहु-वचन है, यथा—"राज समाज बिराजत रूरे। उड़ गन महँ जनु जुग बिधु पूरे॥" (दो० २४०)। दो पात्र इसलिये लाये हैं कि श्रीजानकीजी अपना चरण श्रीराम-पद-प्रक्षालन जल में न धुलावेंगी, यथा—"प्रभु पद रेख बीच बिच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता॥" (अ० दो० १२२)। सुनयनाजी ने इनके रुख से यह भाव जान लिया, यथा—"लखि रुख रानि जनायेउ राऊ।" (अ० दो० २८६)। 'सुचि सुगंध···'—'शुचि'—तीर्थ जल है, 'सुगंध'—इतर आदि मिश्रित है, 'मंगल'—चन्दन, हल्दी आदि मिश्रित है। 'धरे राम के आगे आनी।' इससे जनाया कि प्रथम श्रीरामजी की पूजा होगी।

'पढ़हिं बेद···गगन सुमन···'—यहाँ जब गा-गाकर वेद पाठ होने लगा तो मन्त्रों से पद-प्रक्षालन का अवसर जान आकाश से सुनकर देवता लोग समय जान फूल बरसाने लगे। यह 'अवसर जानी' पद में सन्निहित है।

(२) 'बर बिलोकि दंपति···'—स्त्री-पुरुष एक साथ धो रहे हैं, इससे 'दंपति' कहा है। शृंगार-युक्त साँवली छटा ही अनुराग का कारण है। अतः, 'बर बिलोकि' कहा है। 'लागे' अर्थात् धीरे-धीरे इन चरणों की शोभा एवं महत्त्व को विचारते हुए धो रहे हैं। 'पुनीत' और आगे 'पाय-पंकज' भी कहते हैं, क्योंकि इनकी दृष्टि में चरणों की पवित्रता और शोभा दोनों हैं, वही आगे कहेंगे। केवट के चरण धोने में 'चरन-सरोज पखारन लागा' मात्र कहा है, क्योंकि वह इनकी तरह माहात्म्य का ज्ञाता नहीं था। पुनः उसके धोने में 'सुर सकल सिहाहीं' कहा गया है, क्योंकि वह इनके धोने का अधिकारी नहीं था, केवल सप्रेम गँवारी आडम्बर से धो लिया और यहाँ तो ये लोग परम सुकृती हैं, अतएव अधिकारी भी हैं और कन्यादान करते हुए चरण धोते हैं, इसलिये यहाँ देवताओं का फूल बरसाना ही कहा गया है, यथा—"गगन सुमन झरि अवसर जानी।"

छन्द—लागे पखारन पाय-पंकज प्रेम तन पुलकावली।
नभ नगर गान-निसान जय धुनि उमगि जनु चहुँ दिसि चली॥
जे पद-सरोज मनोज-अरि-उर-सर सदैव बिराजहीं।
जे सकृत सुमिरत बिमलता मन सकल कलिमल भाजहीं॥
जे परसि मुनि-बनिता लही गति रही जो पातकमई।
मकरंद जिन्ह को संभुसिर सुचिता अवधि सुर-बर-नई॥
करि मधुप मुनि मन जोगिजन जे सेइ अभिमत गति लहैं।
ते पद पखारत भाग्यभाजन जनक जय जय सब कहैं॥

शब्दार्थ—सुर-बर-नई=देवताओं की श्रेष्ठ नदी, श्रीगंगाजी। इसमें 'नई' शब्द 'नदी' के अर्थ में है। हिं० श० सा० में 'नई' पद को नदी का तद्भव रूप मानकर 'नदी' अर्थ भी किया है, जैसे लोचन का लोयन, बीज का बिया, दीप का दीया, क्रोध का कोह आदि पद भाषा में होते हैं। इस प्रसंग में टीकाकारों ने इसका 'देवताओं की श्रेष्ठ नदी' अर्थ किया है, यह यहाँ विशेष संगत है।

अर्थ—चरण-कमलों को धोने लगे, उनके शरीर में प्रेम से पुलकावली हो रही है। आकाश और नगर में गान की ध्वनि, नगाड़ों की ध्वनि और जय-ध्वनि मानों चारो दिशाओं में उमड़ चली। जो पद-कमल शिवजी के हृदय-रूपी सरोवर में सदा ही बिराजते हैं। एक बार भी जिनका स्मरण करने से हृदय में निर्मलता आ जाती है और सब पाप दूर हो जाते हैं॥ जिनका स्पर्श करके गौतम मुनि की स्त्री अहल्या ने उत्तम गति पाई, जो पापमयी थी। जिन (पाय पंकज)-का मकरन्द पवित्रता की पराकाष्ठा श्रीगङ्गाजी श्रीशिवजी के मस्तक पर (विराजमान) हैं॥ मुनि और योगी लोग अपने-अपने मन को भ्रमर बनाकर जिन चरणकमलों का सेवन कर मनोवांछित गति पाते हैं। उन चरणों को भाग्य के पात्र (भाग्यशाली) जनकजी धोते हैं और सब लोग 'जय-जय' कह रहे हैं॥

विशेष—(१) 'जे पद-सरोज मनोज···'—चरण, कमलरूप हैं। अतः, शिवजी के हृदय-रूपी तालाब में रहते हैं। 'सदैव' अर्थात् सती वियोग-रूपी राग में भी सम्पुटित न हुए। इसका कारण 'मनोज-अरि' से जनाया कि इन्होंने काम को जीता है, यथा—"जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।" तथा—"जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत? (वि० १८५)। शिवजी ने सदा हृदय में इन्हें क्यों बसाया है? इसका कारण कहते हैं—

(२) 'जे सकृत सुमिरत बिमलता···'—अर्थात् एक बार के स्मरण से भी मन, वचन, कर्म के सब पाप छूट जाते हैं। फिर आगे अहल्या का उदाहरण भी दिया है। 'रही जो पातकमई' यथा—"तरी अहल्या कृत अघ भूरी।" (दो० २२२), 'मकरंद जिन्ह को संभुसिर ··'—अर्थात् चरण-कमल को हृदय में और मकरंद-रूप उसका धोवन सिर पर, इसीसे भीतर-बाहर पवित्र रहते हैं। कमल और मकरन्द कहकर उनके भोक्ता भ्रमर भी कहते हैं—'करि मधुप मुनि मन···'—'अभिमत गति' अर्थात् चाहे जो गति लें। मुक्ति के कई भेद होते हैं, वे सब प्रकार की मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं। 'मकरंद···संभु सिर' से मज्जन और 'करि मधुप मुनि मन' से पान सूचित किया, यथा—"मज्जनपान पाप हर एका।" (दो० १४)।

'ते पद पखारत भाग···'—जिसे शिवजी ध्यान ही में पाते हैं, उसे जनकजी प्रत्यक्ष धो रहे हैं, अतएव ये भाग्य-भाजन हैं। 'भाग्यभाजन' पर—"अतिसय बड़ भागी" (दो० २१०) देखिये।

बर कुअँरि करतल जोरि साखोच्चार दोउ कुलगुरु करैं।
भयो पानिगहन बिलोकि बिधि सुर मनुज मुनि आनंद भरैं॥
सुखमूल दूलह देखि दंपति पुलक तनु हुलस्यो हिये।
करि लोक-बेद-बिधान कन्यादान नृपभूषन किये॥
हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्री सागर दई।
तिमि जनक रामहिं सिय समरपी बिस्व कल कीरति नई॥
क्यों करइ बिनय बिदेह कियो बिदेह मूरति साँवरी।
करि होम बिधिवत गाँठि जोरी होन लागी भाँवरी॥

दोहा—जय धुनि बंदी बेद धुनि, मंगलगान निसान।
सुनि हरषहिं बरषहिं बिबुध, सुरतरु सुमन सुजान ॥३२४॥

शब्दार्थ—साखोच्चार = विवाह के समय उभय पक्ष की वंशावली का कथन। पानिगहन (पाणिग्रहण) = विवाह की एक रीति, जिसमें कन्या का पिता उसका हाथ वर के हाथ में देता है।

अर्थ—दोनों कुल-गुरु वर और कन्या की हथेलियों को मिलाकर शाखोच्चार करने लगे। पाणिग्रहण हुआ, यह विधान देखकर ब्रह्मा (आदि) देव, मनुष्य और मुनि आनन्द में भर गये। सुख के मूल दूल्हे को देखकर दम्पति (राजा और रानी) के शरीर पुलकित हो गये और उनके हृदय में आनन्द का उल्लास हुआ। राज-शिरोमणि श्रीजनकजी ने लौकिक और वैदिक विधान करके कन्यादान किया। जिस प्रकार हिमाचलराज ने पार्वतीजी शिवजी को और सागर ने लक्ष्मीजी हरि-भगवान् को दीं, उसी प्रकार जनकजी ने श्रीरामजी को सीताजी का समर्पण किया, जिससे सारे संसार में सुन्दर नवीन कीर्त्ति फैल गई॥ विदेहजी विनती कैसे करें, उस साँवली मूर्त्ति ने तो उन्हें विदेह (देहाध्यास-रहित) ही कर दिया। विधि-पूर्वक हवन करके गाँठ जोरी गई और भाँवरी होने लगी। जय-ध्वनि, वन्दी-ध्वनि, वेद-ध्वनि, मंगल-गान और नगाड़ों की ध्वनि सुनकर विशेष बुद्धिमान् देवतागण प्रसन्न होते हैं और कल्पवृक्ष के फूल बरसा रहे हैं॥२२४॥

विशेष—'साखोच्चार दोउ कुल-गुरु करैं'—वाल्मी० १।७०।१६-४५ में वसिष्ठजी ने राजा दशरथ के वंश का उच्चारण किया है, किन्तु जनकजी ने वाल्मी० १।७१।१-२० में अपनी ओर से स्वयं कहा है। श्री-गोस्वामीजी के कल्प में उधर भी कुलगुरु ने ही कहा है, यथा—"इत बसिष्ठ मुनि उतहि सतानँद, बंस बखान करैं दोउ ओरी।" (गी० बा० १०३)। 'भयो पानिगहन', यथा—"अब्रवीज्जनको राजा कौसल्या नन्दवर्धनम्। इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव॥ प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना। पति-व्रता महाभागा छायेवानुगता सदा॥ इत्युक्त्वा प्राक्षिपद्राजा मन्त्र-पूतं जलं तदा।" (वाल्मी० १।७३।२६-२८), इसमें 'कन्यादान' का भी अर्थ खुल गया है। 'नृप-भूषन'—क्योंकि चक्रवर्त्ती को भी इन्होंने दान दिया, यथा—"प्रतिग्रहो दातृवशः श्रुतमेतन्मयापुरा।" (वाल्मी० १।६९।१४)। इसमें चक्रवर्त्तीजी ने स्वयं जनकजी को दाता और अपने को प्रतिग्रहीता स्वीकार किया है।

'हिमवंत जिमि गिरिजा···'—हिमाचलजी ने श्रीनारदजी से जाना कि—"गिरिजा सर्वदा संकर-प्रिया।" (दो० ९८), तब—"भवहिं समरपी जानि भवानी।" (दो० १००), अर्थात् शिवजी की शक्ति जानकर उन्हें उनकी वस्तु का समर्पण किया। वैसे ही क्षीरसागर-मन्थन से लक्ष्मीजी प्रकट हुईं, सागर ने भी हरि भगवान् की शक्ति जानकर उन्हें उनकी शक्ति का समर्पण किया। वैसे ही यहाँ श्रीजनकजी ने भी श्रीसीताजी के धनुष उठाने (हटाने) से और श्रीरामजी के उसे तोड़ने से इन्हें उनकी ही शक्ति जानकर उनकी वस्तु उन्हें ही समर्पण किया, अर्थात् दातृत्व के अहंकारी बनकर नहीं, तथा—"जिमि संकरहि गिरिराज गिरिजा, हरिहि श्रीसागर दई॥" (जानकीमंगल ९०)। श्रीजनकजी की इससे संसार में सुन्दर नवीन कीर्त्ति हुई कि अखिल ब्रह्माण्ड के स्वामी को भी इन्होंने दान दिया और उन्होंने लिया। इसे राजा जनक आगे विश्वामित्रजी से स्वयं कहेंगे—"जो सुख सुजस लोकपति चहहीं। करत मनोरथ सकु-चत अहहीं॥ सो सुख सुजस सुलभ मोहिं स्वामी। सब सिधि तव दरसन अनुगामी॥" (दो० ३४२)। हिमाचल तुषारमय श्वेतवर्ण एवं क्षीरसागर भी श्वेतवर्ण हैं, वैसे जनकजी भी ज्ञानी हैं। अतः, सत्वगुण-प्राधान्य से वर्णसाम्य भी है। यहाँ 'एकधर्म मालोपमालंकार' है।

उपासकों के दो भेद हैं, एक मत से श्रीजानकीजी श्रीअवध आईं और आजन्म वहीं रहीं, उसके

लिये गिरिजाजी की उपमा है, क्योंकि गिरिजाजी फिर कैलास ही पर रहीं। दूसरे मत से श्रीजानकीजी के सम्बन्ध से श्रीरामजी भी (अप्रकट रीति से) नित्य जनकपुर में रह गये, उसके लिये 'श्री' की उपमा है क्योंकि श्रीजी के सम्बन्ध से भगवान् नारायण का भी क्षीर-सागर में ही निवास है।

'कीरति नई'—पुरानी कीर्त्ति तो यह थी कि श्रीसीताजी श्रीरामजी की अनादि शक्ति हैं। अब नई कीर्त्ति यह चली कि ये श्रीजनकजी से दान में दी हुई श्रीराम प्रिया हैं। इस सम्बन्ध से जनकजी की कीर्त्ति बढ़ी, यथा—"पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोऊ॥ जिति सुरसरि कीरति सरि तोरी। गवन कीन्ह बिधि अंड करोरी॥" (अ० दो० २८६), तथा—"जनकानां कुले कीर्त्तिमाहरिष्यति मे सुता। सीता भर्तारमासाद्य रामं दशरथात्मजम्॥" (वाल्मी० १।६७।२२), अर्थात् मेरी पुत्री सीता महाराज दशरथजी के पुत्र श्रीरामजी को अपना पति बनाकर मेरे कुल की कीर्त्ति बढ़ायेगी।

'क्यों करइ बिनय···'—विनय करना था कि ये तो आप ही की शक्ति हैं, हमें केवल यश हुआ। आपने हमें कृतार्थ किया इत्यादि, पर प्रेम-विह्वलता में न कह सके। 'गाँठ जोरी' अर्थात् श्रीरामजी का पीताम्बर और श्रीजानकीजी की चूनरी के छोर बाँधे गये। इसे गँठि-बन्धन कहा जाता है। 'बिधिबत्'—विवाह-पद्धति के अनुसार।

'जय-धुनि बंदी···'—इसमें कल्पतरु के फूल बरसाने से देवताओं को 'बिबुध' (विशेष बुद्धिमान्) और 'सुजान' कहा गया है, क्योंकि इस मुख्य अवसर के लिये ही इन्होंने इन पुष्पों को बचा रक्खा था और इन्हें समय पर बरसाया।

कुअँर कुअँरि कल भाँवरि देहीं। नयनलाभ सब सादर लेहीं॥१॥
जाइ न बरनि मनोहर जोरी। जो उपमा कछु कहउँ सो थोरी॥२॥
राम सीय सुन्दर प्रतिछाहीं। जगमगाति मनि खंभन्ह माहीं॥३॥
मनहुँ मदन रति धरि बहु रूपा। देखत रामबिवाह अनूपा॥४॥
दरसलालसा सकुच न थोरी। प्रगटत दुरत बहोरि बहोरि॥५॥
भये मगन सब देखनिहारे। जनक समान अपान बिसारे॥६॥
प्रमुदित मुनिन्ह भाँवरी फेरी। नेगसहित सब रीति निबेरी॥७॥

शब्दार्थ—प्रतिछाहीं = परछाईं। नेग = नियमित पुरस्कार। निबेरी = निबटाई, चुकाई। कल = सुन्दर।

अर्थ—कुमार श्रीरामजी और कुमारी श्रीसीताजी सुन्दर भाँवरे फेर रहे हैं, और सब दर्शक लोग आदरपूर्वक अपने नेत्रों का लाभ ले रहे हैं॥१॥ इस मनोहर जोड़ी का वर्णन नहीं हो सकता, जो कुछ भी उपमा कहें, वह थोड़ी ही है॥२॥ श्रीसीतारामजी की सुन्दर परछाईं मणि के खम्भों में जगमगा रही है॥३॥ मानों कामदेव और रति बहुत से रूप धर करके अनुपम श्रीरामजी का विवाह देख रहे हैं॥४॥ (उनके मन में) दर्शन की लालसा और संकोच (दोनों) थोड़े नहीं हैं, अर्थात् बहुत हैं। (अतः,) बार-बार प्रकट हो जाते हैं और छिप जाते हैं॥५॥ सब देखनेवाले (प्रेम एवं आनन्द) मग्न हो गये, राजा जनकजी के समान सभी अपनापन भूल गये॥६॥ मुनियों ने आनन्द-सहित भाँवरी फिराई और सब रीति नेग के साथ निबटाई (समाप्त की)॥७॥

विशेष—'राम सीय सुंदर···मनहुँ मदन रति···'—साक्षात् श्रीसीतारामजी के लिये उपमा न मिली, तो उनकी परछाईं के विषय में उत्प्रेक्षा करते हैं कि कामदेव रति के सहित इनकी परछाईं के सदृश भी नहीं है। कामदेव और रति को श्रीराम-ब्याह देखने की लालसा हुई इसलिये वे बहुत रूपों से आये, पर सम्मुख होते ही सङ्कोच कर छिप जाते हैं। सङ्कोच यह है, कि कोई देखेगा, तो इनके समक्ष

में हमें तुच्छ जान कर हँसेगा। इसलिये लालसा से तो प्रकट होते हैं, और सकुच से छिप जाते हैं। भाँवरी फिरते समय जोड़ी जब एक खम्भे के सामने से दूसरे पर पहुँचती है, तो परछाँही पीछेवाले खम्भे से हट कर आगेवाले पर चली जाती है, उसी पर यह उत्प्रेक्षा है। एक सीध में भी कई खम्भे हैं। अतः, बहुत रूप देख पड़ते हैं।

'राम विवाह अनूपा', यथा—"देखे हैं अनेक ब्याह, सुने हैं पुरान बेद, बूझे हैं सुजान साधु नर नारि पारखी। ऐसे सम समधी समाज न बिराजमान, राम से न बर, दुलही न सीय सारखी॥" "बानी बिधि गौरी हर सेवहू गनेस कही सही भरी लोमस भुसुंडि बहु बारिखो। चारिदस भुवन निहारि नर नारि सब, नारद को परदा न नारद सो पारिखो॥ तिन्ह कही जग में जगमगति जोरी एक, दूजो को कहैया औ सुनैया चषचारिखो। रमा रमा रमन, सुजान हनुमान कही, "सीय सी न तीय न पुरुष राम सारिखो॥" (क० बा० १५-१६)।

'जनक समान अपान बिसारे', यथा—"सिल पोहनी करि मोहनी मन हरयो मूरति साँवरी॥" (जानकी मंगल ९०)। "प्रिय पाहुने जानि नरनारिन नयननि अयन दिये। तुलसिदास प्रभु देखि लोग सब जनक समान भए॥" (गी० बा० ६१)।

प्रभुदित मुनिन्ह भाँवरी फेरी ···'—उपक्रम में—'कुअँर कुँअरि कल भाँवरि देहीं' कहा था, और यहाँ भाँवरी होने का उपसंहार है। उपक्रम में 'कल' शब्द है, उसका गिनना भी अर्थ होता है, अर्थात् भाँवरें गिन कर पड़ती हैं, उपसंहार तक में सात अर्द्धालियाँ हैं, इससे सात भाँवरें पड़ना सूचित किया। 'प्रभुदित' और 'नेग सहित' कहने का भाव यह है, कि अन्तिम भाँवरी पर पुरोहित भाँवरी को रोक देते हैं, अपना नेग लेकर तब पूरी होने देते हैं। वही हुआ। नेग चुकाया गया, तब प्रसन्नता-पूर्वक भाँवरी पूरी हुई।

राम सीय-सिर सेंदुर देहीं। सोभा कहि न जाति बिधि केहीं॥८।
अरुन पराग जलज भरि नीके। ससिहि भूषअहि लोभ अमी के॥९॥
बहुरि बसिष्ठ दीन्हि अनुसासन। बर दुलहिनि बैठे यक आसन॥१०॥

छन्द—बैठे बरासन राम जानकि मुदित मन दसरथ भये।
तनु पुलक पुनि पुनि देखि अपने सुकृत-सुरतरु-फल नये॥
भरि भुवन रहा उछाह रामबिवाह भा सबही कहा।
केहि भाँति बरनि सिरात रसना एक यह मंगल महा॥
तब जनक पाइ बसिष्ठ आयसु ब्याह-साज सँवारि कै।
मांडवी श्रुतकीरति उर्मिला कुअँरि लई हँकारि कै॥
कुस-केतु-कन्या प्रथम जो गुन-सील-सुख-सोभा-मई।
सब-रीति-प्रीति-समेत करि सो ब्याहि नृप भरतहि दई॥
जानकी-लघु-भगिनी सकल सुंदरि-सिरोमनि जानि कै।
सो तनय दीन्ही ब्याहि लखनहि सकल बिधि सनमानि कै॥

जेहि नाम श्रुतिकीरति सुलोचनि सुमुखि सब गुनआगरी।
सो दई रिपुसूदनहि भूपति रूप - सील - उजागरी॥

अर्थ—श्रीरामजी जब श्रीसीताजी के सिर में सिन्दूर देने लगे तब वह शोभा किसी तरह भी नहीं कही जा सकती ॥८॥ (मानों) कमल अच्छी प्रकार से लाल रज को (अपने में) भर कर उससे अमृत पाने के लोभ से चन्द्रमा को भूषित कर रहा है॥९॥ फिर (सिन्दूरदान के अनन्तर) वसिष्ठजी ने आज्ञा दी, तब वर और दुलहिन एक आसन पर बैठे ॥१०॥ श्रीरामजानकीजी (दोनों) वरासन (वर के लिये बिछे हुए आसन) पर बैठ गये, महाराजा दशरथ मन में हर्षित हुए। अपने पुण्य रूपी कल्पवृक्ष में नये फल देखकर बार-बार उनका शरीर पुलकित हो रहा है॥ चौदहो भुवनों में उत्साह भर गया, श्रीरामजी का विवाह हुआ, ऐसा सभी ने कहा। एक ही जिह्वा है और यह मंगल महान् है तो वह किस प्रकार उसके वर्णन करने से समाप्त हो सके। तब श्रीवसिष्ठजी की आज्ञा पाकर राजा जनक ने ब्याह का साज सजाकर मांडवी, श्रुतिकीर्त्ति और उर्मिला (इन) कुमारियों को बुला लिया॥ पहले राजा कुशध्वज (राजा जनक के छोटे भाई) की बड़ी कन्या, जो गुण, शील, सुख और शोभा-रूपिणी ही थी, प्रीति-पूर्वक सब रीति करके राजा ने भरतजी को ब्याह दी॥ श्रीजानकीजी की छोटी बहन (उर्मिलाजी) जो सब सुन्दरियों में शिरोमणि हैं, ऐसा जानकर उस तनया (कन्या) को सब प्रकार सम्मान-सहित लक्ष्मणजी को ब्याह दिया। जिसका नाम श्रुति-कीर्ति है, जो सुलोचनी, सुमुखी और सब गुणों से भरी हुई एवं रूप-शील में प्रख्यात है, राजा ने उसे शत्रुघ्नजी को ब्याह दिया।

विशेष—(१) 'अरुन पराग जलज भरि नीके ···'—पहले तो कहा था कि शोभा किसी प्रकार नहीं कही जाती, अर्थात् बुद्धि की युक्ति एवं अनुभव आदि से अकथ्य है, पर अब कवि-स्वभाव से कुछ लक्ष्य कराते हैं। सिन्दूर पाँचो अंगुलियों से चुटकी में लेकर दिया जाता है। श्रीजानकी के मुखचन्द के ललाट भाग के ऊपरी भाग—माँग में सिन्दूर दिया जाता है। इसकी उत्प्रेक्षा करते हैं कि श्रीरामजी की हथेली कमल और बाहु उसकी नाल है, सिन्दूर अरुण-पराग है। श्रीजानकीजी का मुख चन्द्रमा है, चन्द्रमा के सामने कमल जाने से सम्पुटित हो ही जाता है, चुटकी में सिन्दूर लेने से वही दशा हस्त-कमल की है। चन्द्रमा का कमल से बैर है, वह शीत से कमल को जला देता है, जिससे कमल की मृत्यु हो जाती है। अतः, वह प्रीति एवं कृपा-दृष्टि-रूपी अमृत के लोभ से चन्द्रमा को भूषित करता है कि जिससे वह उसे न जलावे। कृपा-दृष्टि, यथा—"अमिय बिलोकनि करि कृपा मुनिवर जब जोये। (गी० बा० १२)। उपमेय में अमृत का लोभ यह है कि सिन्दूर सोहाग का चिह्न है, स्त्री का सोहाग अचल होना पुरुष का अमरत्व है। यही अमृत का गुण है।

'भूषअहि' क्रिया है, इसका अर्थ 'भूषित करता है'। कोई-कोई 'भूष+अहि' का पदच्छेद करके सर्प का कमल द्वारा चन्द्रमा को भूषित करना अर्थ करते हैं, पर उसमें श्रीरामजी की हथेली कमल और भुजा सर्प-रूप होती हैं, प्रथम-प्रथम प्रिया-मुख चन्द्र के स्पर्श में सर्प की उपमा योग्य नहीं, विवाह मंगल का समय है। पुनः भुजा को सर्प और हथेली को कमल, ये भिन्न-भिन्न उपमाएँ एक हाथ के लिये भी युक्त नहीं हैं।

अलंकार—'रूपकातिशयोक्ति' क्योंकि केवल उपमान कह कर उपमेय का बोध कराया गया है।

(२) 'सुकृत सुरतरु फल नये'—कल्पवृक्ष में अर्थ, धर्म, काम रूप फल ही होते हैं, वैसे अभी तक सभी सुकृती को उपर्युक्त अर्थ, धर्म, काम ही प्राप्त हुए। हमारे ही सुकृत-रूप कल्प-वृक्ष में श्रीसीतारामजी पुत्र-पतोहू रूप फल लगे हैं। अतः, ये नवीन फल हैं।

'भरि भुवन रहा उछाह', यथा—"भुवन चारि दस भरा उछाहू। जनक सुता रघुबीर बिवाहू॥" (दो० २९५)। 'सबही कहा'—यह भी रीति है कि सब कोई कहें कि अमुक का ब्याह हुआ।

'केहि भाँति बरनि सिरात·····', यथा—"प्रभु बिवाह जस भयउ उछाहू। सकहिं न बरनि गिरा अहिनाहू॥" (दो० ३६०)।

(३) 'तब जनक पाइ बसिष्ठ ·'—वाल्मी० बा० स० ७२ के अनुसार श्रीविश्वामित्र और वसिष्ठजी ने सम्मत करके और तीन कन्याओं के लिये राजा जनक से कहा कि एक और कन्या आपकी उर्मिला है और दो आपके भाई कुशध्वज की कन्याएँ हैं। उन्हें हम इन तीन कुमारों के लिये ब्याह देना चाहते हैं। इसपर जनकजी दोनों भाई बड़े प्रसन्न हुए। पुरातन आर्यसभ्यता का ऐसा ही ऊँचा आदर्श था कि यद्यपि स्त्री-पुरुष में पुरुष की प्रधानता मानी जाती थी, फिर भी स्त्रियों की गौरव-मर्यादा के रक्षार्थ कन्याओं की मँगनी होती थी और तब विवाह होता था। यह प्रथा अब भी दक्षिण में प्रचलित है। यहाँ 'जानकी लघु भगिनी' से उर्मिलाजी को कहा है, क्योंकि वे श्रीजनकजी की निजी कन्या हैं। 'भूपति' और 'नृप' संज्ञा से कुशध्वज महाराज को सूचित किया है। उपर्युक्त 'नृप भूषन' और 'जनक' संज्ञा से विदेह राजा शीरध्वजजी कहे गये हैं। श्रीजानकीजी को कहा था कि—"सिय सुंदरता बरनि न जाई।" (दो० ३२२), वैसी ही उनकी लघु भगिनी भी हैं—"सुंदरि सिरोमनि जानि कै" कहा है। वैसी ही मांडवीजी—'गुन-सील-सुख-सोभा-मई' और उनकी लघु भगिनी—'सुलोचनि सुमुखि सब गुन आगरी—रूप-सील उजागरी' कही गई हैं। इनमें भी गुणों में समता है। श्रीसीताजी और मांडवीजी गोरी और शेष दो श्याम-वर्ण की हैं।

अनुरूप बर दुलहिनि परसपर लखि सकुचि हिय हरषहीं।
सब मुदित सुंदरता सराहहिं सुमन सुरगन बरषहीं॥
सुंदरी सुंदर बरन्ह सह सब एक मंडप राजहीं।
जनु जीव-उर चारिउ अवस्था बिभुन सहित बिराजहीं॥

दोहा—मुदित अवधपति सकल सुत, बधुन्ह समेत निहारि।
जनु पाये महिपाल मनि, क्रियन्ह सहित फल चारि॥३२५॥

अर्थ—(चारो) दुलहे और दुलहिनें आपस में अपने-अपने अनुकूल जोड़ी देख सकुच कर हृदय में हर्षित हैं। सब लोग आनन्द-पूर्वक इनकी सुन्दरता की बड़ाई करते हैं, देवता गण फूल बरसाते हैं॥ सब सुन्दरियाँ सुन्दर दुलहों के साथ एक ही मंडप में ऐसी शोभायमान होती हैं, मानों जीव के हृदय में चारो अवस्थाएँ अपने-अपने विभुओं (स्वामियों) के साथ बिराजती हैं॥ सब पुत्रों को बहुओं के साथ देखकर अवधेश श्रीदशरथजी ऐसे आनन्दित हुए। मानो राज-शिरोमणि महाराज ने क्रियाओं के साथ चारो फल प्राप्त किये हैं॥३२५॥

विशेष—(१) 'अनुरूप बर दुलहिनि·····'—श्रीरामजी और श्रीभरतजी श्याम हैं, इनकी दुलहिनें श्रीसीताजी और श्रीमांडवीजी गोरी हैं। श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी गोरे हैं, इनकी दुलहिनें उर्मिलाजी और श्रीश्रुतिकीर्तिजी श्याम हैं। अतः, चारो जोड़ियाँ एक दूसरे के अनुकूल हैं, अर्थात् श्याम-गौर की जोड़ी विशेष शोभित हैं। अवस्था, रूप एवं गुण में भी वर-दुलहिन एक-दूसरे के योग्य हैं।

'सुंदरी सुंदर बरन्ह सह·····'—सुन्दरी दुलहिनों की शोभा का वर्णन उत्प्रेक्षा का विषय है।

इनकी शोभा सुन्दर वरों के साथ होने से है, जैसे कि चारो अवस्थाओं की शोभा उनके विभुओं के साथ में होती है। 'एक मंडप'—एक मंडप में एक ही वर-दुलहिन रहते हैं, वैसे ही जीव के उर में भी एक समय में एक ही अवस्था और उसके विभु रहते हैं, पर यहाँ चारो एक साथ कही गई हैं।

परमार्थ पक्ष में अवस्थाएँ क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय ये चार हैं। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। जाग्रत् अवस्था २४ तत्त्वों से युक्त रहती है—१० इन्द्रियाँ, ५ तत्त्व, ५ विषय और मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। इस अवस्था में जीवात्मा की संज्ञा विश्व होती है, अर्थात् जीवात्मा का विश्व के सत्त्वांश से सम्बन्ध रहता है। विश्व-निष्ठ होने से इसकी विश्व संज्ञा होती है, यथा—"यो यच्छ्रद्धः स एव सः।" (गीता १७।३), इस अवस्था का विभु विराट् है। विराट् के संयुक्त (विराट् के ज्ञानसहित) यह अवस्था निर्विकार रहती है, क्योंकि जगत् को भगवान् के शरीर में देखने से राग-द्वेष का अवसर नहीं आता। यही इसकी शोभा है, यथा—"मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।" (कि० दो० ३), "निज प्रभु मय देखहिं जगत्, केहि सन करहिं बिरोध।" (उ० दो० ११२)।

स्वप्न अवस्था १७ तत्वों से युक्त रहती है। ५ प्राण, मन, बुद्धि और १० इन्द्रियाँ ये—१७ तत्व हैं। मन की तैजस संज्ञा है। इस अवस्था में राजस अहंकार (मन) की प्रधानता रहती है। अतः, इस अवस्था में प्राप्त जीवात्मा की तैजस संज्ञा होती है। इस अवस्था के विभु हिरण्य-गर्भ (ब्रह्माजी) हैं। कर्म के अनुसार मन की प्रवृत्ति है, कर्म के यथार्थ ज्ञाता एवं नियामक ब्रह्माजी हैं। अतः, इनके संयुक्त (ज्ञानसहित) यह अवस्था निर्विकार रहती है, यही इसकी शोभा है।

सुषुप्ति अवस्था तमोगुण प्रधान है, इसके विभु ईश्वर (शिवजी) हैं, इनके परिज्ञान सहित यह अवस्था निर्विकार रहती है, क्योंकि शिवजी जगत् के तामसांश (भूत, प्रेत, सर्प, बिच्छू आदि का संग एवं भाँग, धतूर आदि के सेवन) सहित भी निर्विकार रहते हैं। इनको विकार स्पर्श नहीं कर पाता, प्रत्युत ये आनन्द रूप रहते हैं, इस अवस्था में जीवात्मा की संज्ञा प्राज्ञ होती है, क्योंकि घोर निद्रा में प्रज्ञा (बुद्धि) का कार्य सुख-दुःख का ज्ञातृत्व यह स्वयं करता है। यह प्राज्ञ जीव शिवजी की-सी दृष्टि से जगत् को तमोगुणमय देखता हुआ, उससे निर्लिप्त रहता है। जैसे लोगों को घोर निद्रा में जगत् का भान नहीं रहता। यही इस अवस्था की शोभा है।

तुरीयावस्था ज्ञानमय आनन्दरूपा है, इसका विभु अन्तर्यामी ब्रह्म है, यह अवस्था अन्तर्यामी के सहित परम शोभा-रूपा है।

जीवन्मुक्तों के हृदय में तुरीयावस्था के प्राधान्य में तीनों अवस्थाएँ वर्त्तती हैं, वैसे यहाँ श्रीजानकीजी के प्राधान्य में तीनो कुमारियाँ हैं। यहाँ मण्डप जीव है उसका भीतरी अवकाश हृदय है, चारो कुमारियाँ चारो अवस्थाएँ और वर उनके विभु हैं। 'जनु' वाचक है औत 'राजहीं' 'बिराजहीं' धर्म हैं। यहाँ शोभायमान होना रूप धर्म-मात्र से उत्प्रेक्षा का प्रयोजन है। यदि कहा जाय कि मण्डप जड़ है और जीव चेतन है यह उपमान-उपमेय में धर्म-विरोध है तो यह विरोध नहीं, क्योंकि उपमा में सर्वांश नहीं देखा जाता। जैसे—"गये जहाँ रावन ससि राहू।" (अर० दो० २७), इसमें चन्द्रमा की उपमा रावण को और राहु दैत्य की उपमा श्रीरामजी को दी गई है। अन्यत्र प्रायः चन्द्रमा की उपमा श्रीरामजी को दी जाती है और राहु दैत्य की उपमा रावण जैसे असुरों को। यहाँ कवि ने उपमा के धर्म से ही प्रयोजन रक्खा है। ऐसे ही—"जाहिं सनेह सुरा सब छाके।" (अ० दो० २२४), इसमें भी रामस्नेह की उपमा मदिरा से दी गई है, इत्यादि। श्रीरामोत्तरतापनीयोपनिषद् में चारो भाई चारो अवस्थाओं के नियामक कहे भी गये हैं। नाम-करण प्रसंग देखिये।

'मुदित अवधपति·····' प्रथम कहा गया है—"बैठे बरासन राम जानकि मुदित मन दशरथ भये।" (उपर्युक्त), वहाँ केवल एक पुत्र को वधू-समेत देखा था और यहाँ चारो को देख रहे है, इससे

फिर भी 'मुदित मन' होना कहा गया, क्योंकि चारो पुत्र समान प्रिय हैं। चारो पुत्र उपमेय हैं और चारो फल उपमान हैं, क्योंकि पुत्र और फल पुँल्लिग हैं। वधूगण उपमेय और क्रियाएँ उपमान हैं, ये दोनों स्त्रीलिंग हैं। अर्थ-धर्म आदि की अपेक्षा राजाओं को हुआ करती है। अतः, 'अवधपति' और 'महिपाल मनि' कहा गया है। राजाओं को क्रियाओं के सहित फलों की प्राप्ति में आनन्द होता ही है।

सेवा, श्रद्धा, तपस्या और भक्ति क्रमशः अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की क्रियाएँ हैं, वैसे ही क्रमशः, श्रुतिकीर्ति, उर्मिला, मांडवी और सीताजी भी शत्रुघ्न, लक्ष्मण, भरत और श्रीरामजी की बहुएँ हैं। यहाँ कुमारों को अंगी और कुमारियों को अंग कहा गया है। क्रियाओं के सहित होने से फल अक्षय रहते हैं। यह सामान्यतया चार फल-प्राप्ति की अपेक्षा यहाँ विशेषता है। अर्थ प्राप्त कर उससे निष्काम सुकृत करके हृदय शुद्ध किया जाता है, तब काम-क्रोध आदि शत्रुओं से विजय प्राप्त होती है, वह शत्रुघ्नजी के नाम-स्मरण का ही फल कहा गया है। धर्म का फल श्रीराम-स्नेह होना है, यथा—"वेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू॥" (दो० २६), वह श्रीराम-स्नेह श्रीलक्ष्मणजी का जीवनाधार ही है। काम फल का शुद्ध रूप श्रीभरतजी ने दिखाया है। इनको कामना केवल श्रीरामजी की ही थी। सम्पूर्ण वैभव पर इन्होंने दृष्टि नहीं दी। श्रीरामजी मोक्षफल रूप ही हैं। सदा आनन्द रूप ही रहते हैं।

जसि रघुबीर-ब्याह-बिधि बरनी। सकल कुअँर ब्याहे तेहि करनी॥१॥
कहि न जाइ कछु दाइज भूरी। रहा कनकमनि मंडप पूरी॥२॥
कंबल बसन बिचित्र पटोरे। भाँति भाँति बहुमोल न थोरे॥३॥
गज रथ तुरग दास अरु दासी। धेनु अलंकृत कामदुहा-सी॥४॥
बस्तु अनेक करिय किमि लेखा। कहि न जाइ जानहिं जिन्ह देखा॥५॥
लोकपाल अवलोकि सिहाने। लीन्ह अवधपति सब सुख माने॥६॥
दीन्ह जाचकन्हि जो जेहि भावा। उबरा सो जनवासेहि आवा॥७॥
तब कर जोरि जनक मृदुबानी। बोले सब बरात सनमानी॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी के ब्याह की जैसी विधि कही गई, उसी क्रिया (रीति) से सब राजकुमार ब्याहे गये॥१॥ दहेज की अधिकता कुछ कही नहीं जा सकती, सारा मण्डप सोने और मणियों से भरा हुआ है॥२॥ तरह-तरह के बहुत-से कम्बल (ऊनी वस्त्र), विचित्र वस्त्र (सूती) और विचित्र पाटम्बर (रेशमी वस्त्र) आदि बहुमूल्य पदार्थ भी थोड़े नहीं थे, अर्थात् बहुत थे॥३॥ हाथी, रथ, घोड़े, दास और दासी-गण, भूषित कामधेनु-सरीखी गायें॥४॥ ऐसी अनेक वस्तुएँ थीं, उनकी गणना कैसे की जाय। वे कही नहीं जा सकतीं, जिन्होंने (उन्हें) देखा है, वे ही जाने॥५॥ लोकपाल गण देखकर सिहाने लगे, अवधनरेश ने सभी वस्तुओं को सुख मानकर लिया॥६॥ जिन याचकों को जो रुचा, वही उन्हें दिया गया, जो बच गया, वही जनवासे में आया॥७॥ तब राजा जनक सारी बरात का सम्मान करके हाथ जोड़कर कोमल वाणी बोले॥८॥

विशेष—'ब्याहे तेहि करनी'—तीनो भाइयों का ब्याह ऊपर कहा गया, शेष रीतियाँ भी यहाँ कह दीं। 'रहा कनक मनि···'—पूर्व कहा गया था—"मरकत कनक बरन बर जोरी" वैसे ही मण्डप में भी मरकत मणि और स्वर्ण-वर्ण की ही जोड़ियाँ हैं, तदनुसार इन्हीं द्रव्यों के विशेष दहेज दिये गये। 'गजरथ तुरग···अलंकृत···'—इनमें 'अलंकृत' शब्द अन्त में होने से गज आदि सभीके साथ है। पुनः 'गज' और 'तुरग' के बीच में 'रथ' होने से गजरथ और तुरगरथ दोनों प्रकार के रथ भी सूचित किये हैं। 'कहि

न जाइ जानहिं···'—अर्थात् देखनेवाले जानकर भी नहीं कह सकते। 'लीन्ह अवधपति···' अर्थात्—"अवधराज सुर राज सिहाहीं। दसरथ धन लखि धनद लजाहीं॥" (अ० दो० ३२३), ऐसे पुर के राजा होते हुए भी जनकजी के सम्मानार्थ उनके दिये हुए सब पदार्थ सुख मान कर लिये, यद्यपि आपके यहाँ कोई कमी नहीं है। 'दीन्ह जाचकन्हि·· '—उधर राजा जनक की देने में उदारता है, वैसे ही इधर निस्पृहता है कि सामान्य आज्ञा देते हैं कि जिसे जो रुचे वह ले लेवे। सबके तृप्त हो जाने पर भी बच रहा। 'तब करजोरि···'—देने के पीछे यदि प्रार्थना न की जाय तो दाता में अहंकार पाया जाता है, इसलिये विनय करते हैं।

छन्द—सनमानि सकल बरात आदर दान बिनय बड़ाइ कै।
प्रमुदित महा मुनिबृन्द बंदे पूजि प्रेम लड़ाइ कै॥
सिर नाइ देव मनाइ सब सन कहत कर संपुट किये।
सुर साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जलअंजलि दिये॥
कर जोरि जनक बहोरि बंधुसमेत कोसलराय सों।
बोले मनोहर बयन सानि सनेह सील सुभाय सों॥
संबंध राजन रावरे हम बड़े अब सब बिधि भये।
येहि राज साज समेत सेवक जानिबे बिनु गथ लये॥
ये दारिका परिचारिका करि पालिबी करुनामई।
अपराध छमिबो बोलि पठये बहुत हौं ढीठ्यो कई॥
पुनि भानु-कुल-भूषन सकल-सनमान-निधि समधी किये।
कहि जाति नहिं बिनती परसपर प्रेम परिपूरन हिये॥
बृंदारकागन सुमन बरिसहिं राउ जनवासेहि चले।
दुंदुभी जयधुनि बेदधुनि नभ नगर कौतूहल भले॥
तब सखी मंगलगान करत मुनीस-आयसु पाइ कै।
दूलह दुलहिनिन्ह सहित सुंदरि चलीं कोहबर ल्याइ कै॥

दोहा—पुनि पुनि रामहि चितब सिय, सकुचति मन सकुचै न।
हरत मनोहर - मीन - छवि, प्रेम पियासे नैन॥३२६॥

शब्दार्थ—प्रेम लड़ाइ कै = लाड़ (दुलार) प्रेम-सहित। कर संपुट किये = हाथ जोड़े हुए। बृंदारकागन = देवगण। कौतूहल = कौतुक, तमाशा। कोहबर = ब्याह में कुछ कुलरीतियों के किये जाने का घर, जहाँ वर-कन्या के क्रीड़ा-कौतुक होते हैं, (कौतुक-घर)।

अर्थ—राजा जनक ने आदर, दान, विनय और बड़ाई करके सारी बरात का सत्कार कर बड़े ही आनन्द के साथ महा मुनियों के समूह की लाड़-प्रेम-सहित पूजा करके उनको प्रणाम किया ॥ प्रणाम-पूर्वक देवताओं को मनाकर हाथ जोड़े हुए सबसे कहने लगे कि देवता और साधु तो भाव चाहते हैं, क्या एक अंजलि जल देने से समुद्र को सन्तोष हो सकता है ? ॥ फिर भाई-समेत राजा जनक हाथ जोड़कर कोशल-राज दशरथजी से स्वाभाविक शील और स्नेह से सने हुए सुन्दर वचनों से बोले ॥ हे राजन् ! आपके सम्बन्ध से हम अब सब प्रकार से बड़े हो गये। इस राज-साज के साथ हमको बिना मूल्य का लिया हुआ दास समझिये ॥ हे करुणामय ! इन लड़कियों को सेवकिनी जानकर करुणा-दृष्टि से इनका पालन कीजियेगा। मेरे अपराधों को क्षमा कीजिये, जो मैंने बुला भेजा—यह बड़ी ढिठाई की है ॥ फिर सूर्य-कुल-भूषण श्रीदशरथजी ने समधी को सम्मान का भंडार कर दिया। उनकी आपस की प्रार्थना कही नहीं जा सकती, दोनों के हृदय प्रेम से परिपूर्ण हैं ॥ जब राजा जनवासे को चले, तब देवतागण फूल बरसाते हैं। नगाड़े की ध्वनि, जय-ध्वनि और वेद-ध्वनि हो रही है—आकाश और नगर, दोनों में अच्छे कौतुक हो रहे हैं ॥ तब मुनीश्वर वसिष्ठ की आज्ञा पाकर सुन्दर सखियाँ मंगलगीत गाती हुई दुलहिनों के साथ दुलहों को लिवा लेकर कोहबर घर को चलीं ॥ श्रीसीताजी श्रीरामजी को बार-बार देखती हैं, (फिर) सकुच जाती हैं, पर मन नहीं सकुचता। प्रेम के प्यासे उनके नेत्र मनोहर मछली की छवि को हरते हैं ॥३२६॥

विशेष—'सिंधु कि तोष जलअंजलि दिये'—समुद्र तीर्थ-पति होने से देवता है, उसकी पूजा करते हुए हम यदि अर्घ्य के लिये अंजलि से जल देते हैं, तो उसे हमारी पूजा के भाव से तो 'तोष' होता है, पर उसे अल्प जल की मात्रा से सन्तोष नहीं होता, क्योंकि वह तो स्वयं ही जल का भंडार है। वैसे ही धन एवं प्रतिष्ठा के तो आप स्वयं सागर हैं, मैं जो कुछ दे रहा हूँ, यह अंजुली भर जल के समान है, इस रूप में मैं केवल अपना सद्भाव प्रकट कर रहा हूँ। समुद्र-देव की तरह आप मेरे भक्ति-भाव को ही ग्रहण कर प्रसन्न होंगे। कहा भी है—"अपांनिधिं वारिभिरर्चयन्ति दीपेन सूर्यं प्रतिबोधयन्ति। ताभ्यां तयोः किं परिपूर्णताऽस्ति भक्त्यैव तुष्यन्ति महानुभावाः ॥" (विनायकी टीका)।

'ढीठ्यो' पद भाववाचक कर्मकारक है, 'ढीठ्यो कई' अर्थात् ढिठाई की है।

'सनमान निधि समधी कियो'—'समधी' अर्थात् यद्यपि जनकजी ने अपने में सेवक-भाव ही कहा है, तथापि ये अपने तुल्य ही का भाव रखते हुए सम्मान करते हैं, इतना आदर किया कि उन्हें सम्मान का समुद्र ही बना दिया, इस तरह कि आप दान के दाता हैं, हम तो प्रति-ग्रहीता हैं, दाता की बड़ाई को प्रति-ग्रहीता कहाँ तक पहुँच सकता है ? यह नम्रता आपकी साधु-भाव से है, इत्यादि।

'पुनि पुनि रामहिं···'—प्रेम के कारण दर्शनों की प्यास है, पर देखने में सखियों का संकोच है, जब वे मंगल-गान में लगती हैं, तब श्रीरामजी को बार-बार देखती हैं, जैसे मछली जल की प्यासी ही रहती है। पर सखियों के संकोच से फिर दृष्टि हटाकर नीचे कर लेती हैं, अवसर पाकर फिर देखती हैं, जैसे मछली जल के लिये आतुरता से उछलकर उसमें पड़ती है।

स्याम सरीर सुभाय सुहावन। सोभा कोटि-मनोज-लजावन ॥१॥
जावकजुत पदकमल सुहाये। मुनि-मन-मधुप रहत जिन्ह छाये ॥२॥
पीत पुनीत मनोहर धोती। हरति बाल-रवि-दामिनि-जोती ॥३॥
कल किंकिनि कटिसूत्र मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुंदर ॥४॥
पीत जनेउ महाछबि देई। करमुद्रिका चोरि चित लेई ॥५॥
सोहत ब्याहसाज सब साजे। उर आयत उर-भूषन राजे ॥६॥

पियर उपरना काँखा सोती । दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती ॥ ७ ॥
नयन कमल कल कुंडल काना । बदन सकल सौंदर्यनिधाना ॥ ८ ॥
सुंदर भृकुटि मनोहर नासा । भाल तिलक रुचिरता निवासा ॥ ९ ॥
सोहत मौर मनोहर माथे । मंगलमय मुकुतामनि गाथे ॥१०॥

शब्दार्थ—जावक (यावक) = महावर । काँखा सोती = जनेऊ की भाँति दुपट्टा डालने का ढंग ।

अर्थ—(श्रीरामजी का) साँवला शरीर स्वाभाविक ही शोभायमान है, उसकी शोभा करोड़ों कामदेवों को भी लजानेवाली है ॥१॥ महावर के साथ (लगे हुए) चरण कमल शोभा दे रहे हैं, मुनियों के मन रूपी भौंरे जिनमें छाये रहते हैं ॥२॥ पवित्र मनोहर पीली धोती प्रातःकाल के बाल-सूर्य और बिजली की चमक-दमक को हरे लेती है ॥३॥ सुन्दर किंकिणी और कटि-सूत्र (सूत की करधनी) मन को हरनेवाले हैं, सुन्दर लम्बी (आजानु) बाहुओं में विभूषण पहने हुए हैं ॥४॥ पीले रंग का जनेऊ बड़ी ही शोभा दे रहा है और हाथ की अँगूठी दर्शकों के चित्त को चुरा लेती है ॥५॥ (श्रीरामजी) सब ब्याह के साज सजे हुए सोह रहे हैं, चौड़ी छाती है, उसपर उर-भूषण सुशोभित हैं ॥६॥ पीले रंग का दुपट्टा काँखा सोती पड़ा हुआ है, उसके दोनों छोरों (किनारों) पर मणि और मोती लगे हुए हैं ॥७॥ सुन्दर कमल के समान नेत्र हैं, कानों में सुन्दर कुंडल पड़े हैं और मुख तो सारी सुन्दरता का भंडार ही है ॥८॥ भौंहें सुन्दर और नासिका मनोहर है, ललाट पर तिलक सुन्दरता का निवास (केन्द्र) है ॥९॥ मस्तक पर मनोहर, मंगलमय मुक्ता-मणियों से गुथा हुआ, सुन्दर मौर शोभा दे रहा है ॥१०॥

विशेष—'स्याम सरीर···कोटि मनोज लजावन', यथा—"नील सरोरुह नीलमनि नील नीरधर स्याम । लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम ॥" (दो० १४६) । 'जावकजुत पदकमल···'—चरण तो लाल कमल की तरह स्वाभाविक ही सुन्दर हैं, यावक से रंग-विशेषता नहीं है, पर यह विवाह के मंगल का अंग है, पुनः इसमें भाँति-भाँति की चित्रकारी रचना है, इससे विशेष शोभा हो रही है । 'मुनि मन मधुप' से माहात्म्य कहा है ।

'पीत पुनीत मनोहर धोती···'—पीताम्बर रेशमी है, इससे 'पुनीत' कहा गया ।

'बाल-रबि-दामिनि···'—कुछ ललाई लिये हुए पीत रंग है, उसपर दृष्टि नहीं ठहरती, इसलिये सूर्य की उपमा और चमचमाहट से बिजली की उपमा है । 'उरभूषण'—वनमाला, वैजयन्ती-माला, मणि-मुक्तामाला और धुकधुकी, आदि । 'मंगलमय'—मंगल कार्य में दागवाले मणि-मुक्ता आदि अमंगल माने जाते हैं । 'सौंदर्य निधाना'—अर्थात् विश्व-भर में प्रसरित सुन्दरता का भण्डार यही है, सुन्दरता यहीं से सबको प्राप्त है ।

छन्द—गाथे महामनि मौर मंजुल अंग सब चित चोरहीं ।
पुरनारि सुरसुंदरी बरहि बिलोकि सब तृन तोरहीं ॥
मनि बसन भूषन बारि आरति करहिं मंगल गावहीं ।
सुर सुमन बरिसहिं सूत मागध बंदि सुजस सुनावहीं ॥
कोहबरहिं आने कुअँर कुअँरि सुआसिनिन्ह सुख पाइ कै ।
अति प्रीति लौकिक रीति लागीं करन मंगल गाइ कै ॥

लहकौरि गौरि सिखाव रामहि सीय सन सारद कहैं।
रनिवास हास-बिलास-रस-बस जनम को फल सब लहैं॥
निज-पानि-मनि महँ देखियति मूरति सु-रूप-निधान की।
चालति न भुजबल्ली बिलोकनि-बिरह-भय-बस जानकी॥
कौतुक बिनोद प्रमोद प्रेम न जाइ कहि जानहिं अली।
बर कुअँरि सुंदर सकल सखी लिवाइ जनवासेहिं चली॥
तेहि समय सुनिय असीस जहँ तहँ नगर नभ आनँद महा।
चिरजिअहु जोरी चारु चारिउ मुदित मन सबही कहा॥
जोगींद्र सिद्ध मुनीस देव बिलोकि प्रभु दुंदुभि हनी।
चले हरषि बरषि प्रसून निज-निज-लोक जय-जय-जय भनी॥

दोहा—सहित बधूटिन्ह कुअँर सब, तब आये पितु पास।
सोभा मंगल मोद भरि, उमगेउ जनु जनवास॥३२७॥

शब्दार्थ—तृन तोरहीं=बुरी दृष्टि बचाने का यह एक टोटका है—तिनका तोड़ना। लहकौरि=(लघुकौर वा कौर लहना) यह एक विवाह की रीति है कि दूलह-दुलहिन एक-दूसरे के मुख में दही-बतासे आदि के कौर देते हैं। प्रतिमूरति=प्रतिबिम्ब। भुजबल्ली=भुजलता, नाजुक होने से स्त्रियों की भुजाएँ भुजबल्ली और बलयुक्त पुरुषों की भुजाएँ भुजदण्ड कहाती हैं।

अर्थ—मनोहर मौर में महामणियाँ गुथी हुई हैं, उनके सभी अंग दर्शकों के चित्त को चुराये लेते हैं। पुर की स्त्रियाँ और देवताओं की स्त्रियाँ वर को देख-देखकर तिनका तोड़ती हैं (कि जिससे नजर न लगे)। मणि, वस्त्र और आभूषण को निछावर करके आरती करती और मंगल गाती हैं। देवगण फूल बरसाते हैं, सूत, मागध और वन्दीगण सुयश सुना रहे हैं॥ सौभाग्यवती स्त्रियाँ सुख-पूर्वक कुमार और कुमारियों को कोहवर में ले आईं और मंगल गा-गाकर अत्यन्त प्रीति-सहित लोक-रीति करने लगीं। पार्वतीजी श्रीरामजी को लहकौरि सिखाती हैं और सरस्वतीजी श्रीसीताजी को (सिखाती हुई) कहती हैं। सारा रनवास हास-विलास के रस में निमग्न है, सभी अपने जन्म लेने के फल पाती हैं॥ श्रीजानकीजी अपने हाथ की (भूषणों की) मणियों में स्वरूप-निधान श्रीरामजी का प्रतिबिम्ब देखकर दर्शनों के वियोग के भय-वश अपनी भुजबल्ली और चितवनि को नहीं हटातीं। कौतुक, हास-विलास-क्रीड़ा, प्रकर्ष आनन्द और प्रेम कहा नहीं जा सकता, उसे सखियाँ ही जानती हैं। फिर सब सुन्दर दूलह-दुलहिनों को सारी सखियाँ जनवासे में लिवा ले चलीं॥ नगर और आकाश में जहाँ देखो तहाँ ही उस समय आशीर्वाद सुना जाता है, महान आनन्द है। सभी आनन्दपूर्वक कहते हैं कि सुन्दर चारो जोड़ियाँ चिरजीवी बनी रहें। प्रभु को देखकर योगीश्वरों, सिद्धों, मुनीश्वरों और देवताओं ने नगाड़े बजाये और फूल बरसा कर जय, जय कहते हुए वे हर्षपूर्वक अपने-अपने लोकों को चले॥ तब सब कुँवर बहुओं के साथ पिता के पास आये। शोभा, मंगल और आनन्द से भरकर जनवासा मानों उमड़ पड़ा॥३२७॥

विशेष—'गाथे महामनि मौर···'—सात खण्ड का मौर है, वह महामणियों के योग से झलकता है। नख से सिखा पर्यन्त सब अंगों की शोभा में चित्त हर जाता है। यहाँ 'मौर' के शोभा-वर्णन में प्रथम 'मनोहर माथे' का सम्बन्ध और फिर 'गाथे महामनि' का सम्बन्ध कहा गया है, अर्थात् मनोहर मस्तक के साथ होने से शोभा बढ़ गई है और महामणियों के विविध भेदों से भी शोभा बढ़ गई है। चित्त हरना यहाँ चरितार्थ भी है, यथा—'मनि बसन भूषन बारि···'—यहाँ प्रथम आरती करके निछावर करना चाहिये था, यथा—"करि आरति नेवछावर करहीं।" (दो० १९३), एवं दो० ३४८ चौ० १-२ आदि। सो उल्टा कर गईं कि पहले ही निछावर करके आरती कीं, तथा—"रूप सिंधु सब बंधु लखि, हरषि उठा रनिवासु। करहिं निछावर आरती, महामुदित मन सासु॥" (दो० ३३५), यहाँ भी सासें अत्यन्त हर्ष से महामुदित होने से विह्वल हैं, इससे उल्टे-सीधे का ध्यान नहीं रहा।

'मनि' और 'भूषन' के बीच में 'बसन' शब्द देकर वस्त्रों का बहुमूल्य होना जनाया।

'सुर सुमन बरिसहिं ··'—यह कोहवर-गृह-प्रवेश पर है। 'सुख पाइ कै'—क्योंकि वहाँ मनमाने हास-विलास करेंगी। 'लहकौरि गौरि···रनिवास हास···'—पार्वतीजी श्रीरामजी को सिखाती हैं कि यह दधि-मिश्री दुलहिन को खिलाओ, उनके संकोच करने पर अपने हाथ से उनका हाथ पकड़कर खिला देती हैं। इसी तरह शारदाजी श्रीसीताजी का हाथ पकड़कर श्रीरामजी को खिलाती हैं और हँसी करती हैं कि दुलहिन के जूठे में बड़ा स्वाद होता है, और खा लीजिये। पुनः थाल में भूषण डालकर जुआ खेलाती हैं। जब किशोरीजी प्रथम उठा लेती हैं तब सासुवर्ग श्रीरामजी की माँ को गाली देकर हँसी करती हैं और जब श्रीरामजी प्रथम उठा लेते हैं तो किशोरीजी के फूफूवर्ग इन्हें भी वैसे ही हँसती हैं। वर की ही जूती चूनरी से छिपा देवता बनाकर उसे वर से पुजाने की चेष्टा करती हैं, उसमें भी तरह-तरह के हास-विलास करती हैं, यथा—"चतुर नारि बर कुँवरिहि रीति सिखावहिं। देहिं गारि लहकौरि समौ सुख पावहिं॥ जुआखेलावत कौतुक कीन्ह सयानिन्ह। जीति-हारि-मिस देहि गारि दुहुँ रानिन्ह॥" (जानकी मंगल ९३)। 'चालति न भुजबल्ली···'—श्रीजानकीजी सबके समक्ष में श्रीरामजी को प्रकट देखने में सकुचाती हैं, इसलिये अँगूठी के नगों में उनका प्रतिबिम्ब देखने लगती हैं, हाथ हटाने से दर्शन न होने पर विरह सतावेगा इस भय से भुजा नहीं हटातीं, यथा—"दूलह श्रीरघुनाथ बने, दुलही सिय सुंदर मंदिर माहीं।·····राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं। याते सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं।" (क० बा० १७)। यद्यपि हटाने को कहा भी जाता है—इसपर इनकी भौजाइयाँ हँसी करती हैं। 'जोगीन्द्र'—याज्ञवल्क्य आदि, 'सिद्ध'—कपिल आदि, 'मुनीश'—नारद आदि, 'देव'—इन्द्रादि। 'सहित बधूटिन्ह···सोभा मंगल···'—चारो दुलहों से जनवासा पहले से भरा हुआ था, आज चारो दुलहिनें भी आईं, तब वह उमंग चला, देवों का जय जय कहकर जाना, उस उमंग के प्रवाह का उदाहरण है।

पुनि जेवनार भई बहु भाँती। पठये जनक बोलाइ बराती॥१॥
परत पाँवड़े बसन अनूपा। सुतन्ह समेत गवन कियो भूपा॥२॥
सादर सबके पाय पखारे। जथाजोग पीढ़न्ह बैठारे॥३॥
धोये जनक अवधपति - चरना। सील सनेह जाइ नहिं बरना॥४॥
बहुरि राम-पद - पंकज धोये। जे हर-हृदय-कमल महँ गोये॥५॥
तीनिउ भाइ राम - सम जानी। धोये चरन जनक निज पानी॥६॥
आसन उचित सबहि नृप दीन्हे। बोलि सूपकारी सब लीन्हे॥७॥
सादर लगे परन पनवारे। कनक कील मनि पान सँवारे॥८॥

शब्दार्थ—जेवनार = भोजन के पदार्थ। बहु भाँती = चारि भाँति और षट्रस के अनेक प्रकार। सूपकारी = रसोइया, सूप दाल को कहते हैं, भोजन के पदार्थों में दाल मुख्य है, इसलिये रसोइये को सूपकारी कहते हैं।

अर्थ—फिर बहुत प्रकार की रसोई बनी, श्रीजनकजी ने बरातियों को बुलौवा भेजा ॥१॥ राजा दशरथ अपने पुत्रों के साथ चले। (मार्ग में) अनुपम वस्त्रों के पाँवड़े पड़ते जाते हैं ॥२॥ आदर के साथ सबके चरण प्रक्षालन किये और सबको यथा योग्य पीढ़ों पर बैठाया ॥३॥ राजा जनक ने राजा दशरथ के चरण धोये, उनके शील और स्नेह का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥४॥ फिर उन्होंने श्रीरामजी के उन चरण-कमलों को धोया, जिन्हें अपने हृदय-कमल में छिपा श्रीशिवजी रखते हैं ॥५॥ तीनों भाइयों को श्रीरामजी के समान जानकर जनकजी ने अपने हाथों से उनके भी चरण धोये ॥६॥ सबको राजा जनक ने उचित आसन दिये। (फिर) सब रसोइयों को बुलवाया ॥७॥ (उनके द्वारा) आदर से पत्तलें पड़ने लगीं, जो सोने की कीलों और मणियों के पत्तों से बनाई गई थीं ॥८॥

विशेष—(१) 'बहु भाँती', यथा—"भाँति अनेक···चारि भाँति···छरस···"—यह आगे कहा गया है। 'पठये जनक बोलाइ बराती'—रसोई प्रातःकाल से प्रारम्भ होकर दोपहर के प्रथम ही तैयार हो गई। इधर बराती भी नित्य-कर्म से निवृत्त हुए तब जनकजी ने उनको बुला भेजा। भोजन के लिये बुलाने में बरातियों को प्रधान रक्खा गया है, क्योंकि समधी दहेज पाने से, वर दुलहिन पाने से और बराती उत्तम रीति से भोजन पाने से प्रसन्न होते हैं।

(२) 'परत पाँवड़े बसन अनूपा···'—प्रथम कहा गया था—"देत पाँवड़े अरघ सुहाये।" (दो० ३१९), अर्थात् वहाँ 'देत' और यहाँ 'परत' कहा गया है, क्योंकि वहाँ चौखट से मंडप तक चक्रवर्तीजी के लिये ही पाँवड़े देने थे। अतः, जनकजी ने अपने हाथों से दिये थे और यहाँ सब बराती भोजन के लिये पाटाम्बर आदि वस्त्र पहनकर पैदल चल रहे हैं, पाकशाला कुछ दूर है, पाँवड़े बहुत पड़ेंगे। अतः, सेवक लोगों के द्वारा पड़ रहे हैं। अतः, 'परत' कहा गया। राजा अकेले कहाँ तक देते? पुनः 'परत' का यह भी भाव है कि जो पाँवड़े पड़ते हैं वे फिर उठाकर दूसरी जगह नहीं बिछाये जाते, पड़े ही रहते हैं। यह भी भाव है कि पहले से ही यदि बिछे रहते तो पशु-पक्षीगण बिगाड़ देते। अतः, जैसे-जैसे बराती चलते हैं तुरत-तुरत पाँवड़े पड़ते जाते हैं। 'अनूपा' यथा—"बसन बिचित्र पाँवड़े परहीं। देखि धनद धन-मद परिहरहीं॥" (दो० ३०५)। 'भूपा—राजा हैं, अतः इनके साथ पुत्रों के अतिरिक्त मन्त्री, परिजन, साधु, ब्राह्मण आदि भी हैं। 'सादर सबके पाय पखारे'—'सादर'—सोने की चौकी पर मखमली गद्दे पड़े हैं, उनपर बिठाकर स्वर्ण-थाल में पद-प्रक्षालन कर अँगोछे से पोंछते हैं। यहाँ 'पखारे' शब्द से ब्राह्मणों के चरण धोये गये, क्योंकि 'पीढ़न बैठारे' में सादापन और सात्विकता है। आगे 'धोये' और 'आसन उचित' से क्षत्रियों के चरण धोना और विविध प्रकार के बहुमूल्य आसन आ जाते हैं। 'जथा जोग'—प्रथम मंडप की बैठक में कुछ क्रम कहे गये कि प्रथम वसिष्ठजी तब विश्वामित्रजी, फिर वामदेव आदि को उचित स्थल पर बिठाया, वैसे ही यहाँ भी क्रम समझना चाहिये।

(३) 'धोये जनक अवध···'—'पखारे' छोड़कर 'धोये' शब्द देकर यहाँ क्षत्रियों का प्रसंग अलग किया, और इनके चरण दूसरे थाल में धोये गये। 'अवधपति'—ये परम पवित्र चरण हैं, क्योंकि सर्व पापनाशिनीअयोध्या के पति के हैं, यथा—"देखत पुरी अखिल अघ भागा।" (उ० दो० २८), इस महत्त्व पर चित्त दिये हुए चरण धोते हैं। 'सील सनेह···'—'सील' यह कि बराबर दृष्टि तक नहीं करते, यथा—"गुरु नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी॥ सील सराहि सभा सब सोची।" (अ० दो० ३१२), स्नेह के चिह्न प्रकट हैं। राजा जनक के इस शील-स्नेह का प्रभाव राजा दशरथ पर पड़ा, यथा—"जनक सनेह सील करतूती, नृप सब भाँति सराह बिभूती॥" (दो० ३३१), तथा—"जनकराज

गुन सील बड़ाई। प्रीति रीति संपदा सुहाई॥ बहुबिधि भूप भाँट जिमि बरनी। रानी सब प्रमुदित सुनि करनी॥" (दो० ३५३)।

(४) 'बहुरि राम ··हर हृदय-कमल···'—शिवजी कामारि हैं, उनका हृदय-कमल निर्विकार है, इन पवित्र चरणों ने भी वहीं रहना स्वीकार किया, शिवजी भी परम दुर्लभ मान कर इन्हें छिपा रखते हैं और कृपा करके अधिकारी को प्राप्त कराते हैं। गो० सुं० २८ के अनुसार विभीषणजी पर भी शिव-कृपा हुई, तब उन्होंने कहा है—"हर उर सर सरोज पद जेई। अहो भाग्य मैं देखिहौं तेई॥" (सुं० दो० ४१)। "राज, मराल बिराजत बिहरत जे हर हृदय तड़ाग।" (गी० बा० २६)। राजा जनक ने भी शिव-धनुष-प्रतिज्ञा से श्रीरामजी को जाना है, इससे प्राप्ति में उनकी कृपा मानते हैं। अतः, इन चरणों को ईश्वर दृष्टि से माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वक धोया है, यह भाव यहाँ स्पष्ट है। जामातृ भाव मात्र ही नहीं है, तथा—"गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज। नमत जिन्हहिं सुर मुनि संकर अज॥" (अ० दो० ४)। 'तीनिउ भाइ ··'—तीनों में भी श्रीरामजी के तुल्य बुद्धि रक्खी है। ये श्रीरामजी के विशेष अंश हैं, इनमें श्रीलक्ष्मणजी के प्रभाव बहुत कुछ देख भी चुके हैं। जामातृ भाव में तुल्यता तो है ही। 'आसन उचित'—ब्राह्मणों को 'जथा जोग पीढ़न' कहा था, वैसे क्षत्रियों को यहाँ कहा। इस तरह ब्राह्मणों की पंक्ति का अलग बैठना सूचित किया।

(५) 'सूपकारी सब'—जिससे सब तरह की वस्तुएँ परोसने में विलम्ब न हो, एक-एक व्यञ्जन के प्रति कई-कई रसोइये हैं। 'सादर लगे परन पनवारे'—धीरे से पत्तल डालते हैं कि शब्द न हो, सँभालकर फेरना 'सादर' है। यहाँ आदि मध्य और अन्त में 'सादर' कहा गया है—'सादर सबके पाय पखारे।—आदि, यहाँ मध्य, और आगे—'आदर सहित आचमन दीन्हा।'—अन्त में है, अर्थात् बराबर एकरस आदर बना रहा। भोजन कराने में आदर ही मुख्य है। 'मनि पान' से यहाँ पन्ना मणि जानना चाहिये।

दोहा—सूपोदन सुरभी सरपि, सुंदर स्वादु पुनीत।
छन महँ सबके परुसि गे, चतुर सुआर बिनीत॥३२८॥

पंच कवल करि जेवन लागे। गारि-गान सुनि अति अनुरागे॥१॥
भाँति अनेक परे पकवाने। सुधा-सरिस नहिं जाहिं बखाने॥२॥
परसन लगे सुआर सुजाना। बिंजन बिबिध नाम को जाना॥३॥

शब्दार्थ—सूपोदन = दाल-भात। सुरभी = गाय, सुगन्धित। सरपि = घी। सुआर = सूपकार = रसोइया। बिनीत = विनययुक्त। पंच कवल = पाँच ग्रास अन्न जो स्मृति के अनुसार खाने के पूर्व कुत्ते, पतित, कोढ़ी, रोगी और कौए आदि के लिये अलग निकाल दिया जाता है, अग्रासन (हिन्दी शब्द सागर), भोजन के समय पंच प्राणों के उद्देश्य से भी पाँच कवल खाकर आचमन किया जाता है। जेवना = भोजन करना। बिंजन (व्यंजन) = पका हुआ भोजन।

अर्थ—चतुर और विनीत रसोइये सुन्दर स्वादिष्ट एवं पवित्र दाल, भात और गौ का सुगन्धित घी क्षणमात्र में सबको परस गये॥३२८॥ पंच कवल (की विधि) करके सब भोजन करने लगे, गालियों का गाना सुनकर अत्यन्त अनुरक्त (प्रीति युक्त) हुए॥१॥ अमृत के समान (स्वादिष्ट) पकवान अनेक प्रकार के पड़े (परोसे गये), वे बखाने नहीं जा सकते॥२॥ चतुर रसोइये परोसने लगे, अनेकों भाँति के व्यंजन हैं, उनके नाम कौन जानता है?॥३॥

विशेष—'सूपोदन सुरभी सरपि···'—नाता मिलाने के लिये प्रथम दाल कही गई, फिर भात कहा गया, क्योंकि दोनों मिलाकर खाये जाते हैं और स्नेह-वृद्धि एवं तत्सम्बन्धी कीर्ति-रूप सुगन्ध के लिये सुगन्धित घी कहा गया। इस कच्चो रसोई के खाने से ही पक्का नाता माना जाता है। इससे प्रथम दिन भात

के ही रस्म का दिन था, यह भी जनाया। 'सुंदर स्वाद पुनीत'—जिस गाय को ब्याई २० दिन हो गये हों और उसका बछड़ा भी जीवित हो, उसका घी पुनीत माना जाता है, वह देखने में सुन्दर और खाने में स्वादिष्ट होता है। ये सब विशेषण 'सूपोदन' के साथ भी हैं। 'सूपोदन' भी देखने में सुन्दर, सुगन्धित, स्वादिष्ट और पवित्र (शास्त्र से ग्राह्य) हैं, जैसे छिलके के साथ दाल देखने में सुन्दर नहीं होती और मसूर की दाल अपुनीत मानी जाती है, भुजिया चावल भी अपुनीत कहा जाता है और नवसूतिका एवं मृतवत्सा गाय का घी अपुनीत होता है। 'चतुर सुआर बिनीत'—परोसने में कहीं इधर-उधर न गिरे और न कम-बहुत पड़े। नम्रता-पूर्वक और शीघ्रता में परोसा जाय, ये सब बातें सूचित कीं। 'सुधा सरिस' अमृत की तरह स्वादिष्ट, मधुर और पौष्टिक जनाया।

चारि भाँति भोजन बिधि गाई। एक एक बिधि बरनि न जाई ॥४॥
छ रस रुचिर बिंजन बहु जाती। एक एक रस अगनित भाँती ॥५॥
जेंवत देहिं मधुर धुनि गारी। लै लै नाम पुरुष अरु नारी ॥६॥
समय सुहावनि गारि बिराजा। हँसत राउ सुनि सहित समाजा ॥७॥
येहि बिधि सबही भोजन कीन्हा। आदर सहित आचमन दीन्हा ॥८॥

दोहा—देइ पान पूजे जनक, दसरथ सहित समाज।
जनवासहिं गवने मुदित, सकल - भूप सिरताज ॥३२९॥

शब्दार्थ—आचमन दीन्हा = हाथ-मुँह धोवाये। सिरताज—शिरोमणि।

अर्थ—शास्त्रों में भोजन की विधियाँ चार प्रकार की (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य) कही गई हैं, उनमें से एक-एक विधि का भी वर्णन नहीं किया जा सकता ॥४॥ छओं रसों (मीठे, खट्टे, खारे, कड़ुए, तीते और कसैले) के बहुत प्रकार के सुन्दर व्यंजन हैं, उनमें एक-एक रस के अगणित भाँति के पदार्थ हैं ॥५॥ भोजन करते समय मधुर राग में पुरुषों और स्त्रियों के नाम ले-लेकर गालियाँ देने लगीं ॥६॥ समय (के अनुसार) की गाली भी सुहावनी (रुचिकर) होने से सुशोभित है, उन्हें सुनकर समाज के साथ राजा हँसते हैं ॥७॥ इस प्रकार सभी ने भोजन किया, उन्हें आदर के साथ कुल्ली कराई गई ॥८॥ राजा जनकजी ने पान देकर समाज के साथ राजा दशरथ की पूजा की, सभी राजाओं के शिरोमणि श्रीचक्रवर्त्तीजी प्रसन्नता-पूर्वक जनवासे को चले ॥३२९॥

विशेष—(१) 'चारि भाँति····· छ रस रुचिर·····'—इन सबके अर्थ एवं भाव दो० ९८ में भी देखिये।

(२) 'जेँवत देहिं मधुर·····'—इसपर दो० ९९ छन्द का अर्थ भी देखिये। प्रथम देवता-सम्बन्धी मंगल-गारी गाकर तब उसीके योग में श्रीमिथिला के पुरुषों और योग्य नाते के अनुसार अवध की स्त्रियों से सम्बन्ध लगाकर गाली गाती हैं।

(३) 'हँसत राउ सुनि····'—कहा जाता है कि स्त्रियाँ गाली गाते-गाते श्रीरामजी की छवि में मुग्ध होकर उल्टी गाली गा गईं—जनकजी के जनवास से अवधेश महाराज को लगाकर गाली गा गईं, इसपर सब हँस पड़े और चक्रवर्त्तीजी भी हँसे या गानेवाली स्त्रियाँ गाते-गाते रुक गईं, इसपर इधर हँस पड़े कि बस, इतना ही जानती थीं ? अब चुक गईं, इत्यादि।

'देइ पान पूजे·····'—पान देकर माला पहनाना, इत्र लगाना एवं चक्रवर्त्तीजी को भेंट चढ़ाना आदि पूजा शब्द से सब जना दिया, यथा—"अचइ पान सब काहू पाये। सुमग-सुगंध-भूषित छबि छाये॥" (दो० ३५८)।

नित नूतन मंगल पुर माहीं । निमिष सरिस दिन जामिनि जाहीं ॥१॥
बड़े भोर भूपति-मनि जागे । जाचक गुनगन गावन लागे ॥२॥
देखि कुअँर बर बधुन्ह समेता । किमि कहि जात मोद मन जेता ॥३॥
प्रात-क्रिया करि गे गुरु पाहीं । महाप्रमोद प्रेम मन माहीं ॥४॥
करि प्रनाम पूजा कर जोरी । बोले गिरा अमिअ जनु बोरी ॥५॥
तुम्हरी कृपा सुनहु मुनिराजा । भयेउँ आजु मैं पूरन काजा ॥६॥
अब सब बिप्र बोलाइ गोसाईं । देहु धेनु सब भाँति बनाई ॥७॥
सुनि गुरु करि महिपाल बड़ाई । पुनि पठये मुनिबृंद बोलाई ॥८॥

दोहा—बामदेव अरु देवऋषि, बालमीकि जाबालि ।
आये मुनिबर-निकर तब, कौसिकादि तपसालि ॥३३०॥

शब्दार्थ—जामिनी (यामिनी) = रात । पूरनकाजा = पूर्णकाम, कृतकृत्य ।

अर्थ—श्रीजनकपुर में नित्य नये मंगल उत्सव होते हैं, दिन और रात पलक के समान ही बीतते जाते हैं ॥१॥ बड़े सबेरे राज-शिरोमणि दशरथजी जागे, याचक लोग उनके गुण-गण का गान करने लगे ॥२॥ सुन्दर बहुओं के साथ सुन्दर कुमारों को देखकर जो सुख उनके मन में है, उसे कौन कह सकता है ? ॥३॥ महाराज दशरथ जी प्रातःकाल की नित्य-क्रिया करके वे गुरु वसिष्ठजी के पास गये, उनके मन में महान आनन्द और प्रेम है ॥४॥ प्रणाम और पूजा करके दोनों हाथ जोड़कर वे ऐसी वाणी से बोले मानो वह अमृत में डुबाई हुई है ॥५॥ हे मुनिराज ! सुनिये, आज मैं आपकी कृपा से पूर्णकाम हुआ ॥६॥ हे गोसाईं ! अब सब ब्राह्मणों को बुलवाकर उन्हें सब प्रकार से भूषित गायें दीजिये ॥७॥ यह सुनकर गुरुजी ने राजा की बड़ाई की और फिर मुनि-मण्डली को बुलवा भेजा ॥८॥ वामदेव, देवर्षि नारद, वाल्मीकि, जाबालि और विश्वामित्र आदि तपोनिधि श्रेष्ठ मुनियों के समूह आये ॥३३०॥

विशेष—'नित नूतन मंगल पुर माहीं ···'—राजा के यहाँ की पहुनई कहकर कहते हैं कि वैसी ही नित्य नई पहुँनाई पुरवासियों के यहाँ भी हुई, क्योंकि सभी राजा के प्रिय एवं तुल्य श्रीमान् हैं, यथा—"सूर सचिव सेनप बहुतेरे । नृप गृह सरिस सदन सब केरे ॥" (दो० २१३) । 'बड़े भोर···', यथा—"पछिले पहर भूप नित जागा ।" (अ० दो० ३७) । राजा की गुरु-भक्ति मन, वचन, कर्म से है—'प्रेम मन माहीं'—मन, 'प्रनाम करजोरी'—कर्म और 'बोले गिरा···'—वचन है । 'तुम्हरी कृपा'—क्योंकि गुरुजी के ही समझाने से विश्वामित्र के साथ पुत्रों को लगा दिया था । 'देहु धेनु'—'धेनु' अर्थात् थोड़े दिनों की ब्याई गाय, यहाँ संख्या नहीं खोली, क्योंकि गुरुजी जानते हैं कि चार लाख गौओं का संकल्प हो चुका है जो आगे—'चारि लच्छ बर···' पर खुलेगा । गोदान उत्तम ब्राह्मणों का देना चाहिये, कौन ब्राह्मण किस प्रकार की गाय के योग्य हैं, इसे गुरु ही जानते हैं, इसलिये उन्हें ही देने को कहा, तदनुसार 'गोसाईं' सम्बोधन भी ध्वनित कर रहा है कि गोदान में गायों के स्वामी आप ही हैं । 'सब बिप्र' से वेदपाठी एवं क्षमावान् आदि जानकर इन्हें सुपात्र भी जनाया । 'महिपाल बड़ाई'—'महिपाल' शब्द में बड़ाई के भाव भी आ गये कि आप जैसे पुण्यात्माओं से ही पृथ्वी का पालन होता है । वसिष्ठजी धर्ममन्त्री भी हैं, मन्त्रियों को राजा की बड़ाई करके सम्मति देनी चाहिये । अतः, बड़ाई कर बोले ।

दंड प्रनाम सबहि नृप कीन्हे । पूजि सप्रेम बरासन दीन्हे ॥१॥

चारि लच्छ बर धेनु मँगाई। काम-सुरभि-सम सील सुहाई ॥२॥
सब बिधि सकल अलंकृत कीन्ही। मुदित महिप महिदेवन्ह दीन्ही ॥३॥
करत बिनय बहु बिधि नरनाहू। लहेउँ आजु जग जीवन-लाहू ॥४॥
पाइ असीस महीस अनंदा। लिये बोलि पुनि जाचक-बृन्दा ॥५॥
कनक बसन मनि हय गय स्यंदन। दिये बूझि रुचि रबि-कुल-नंदन ॥६॥
चले पढ़त गावत गुन-गाथा। जय जय जय दिनकर-कुल-नाथा ॥७॥
येहि बिधि राम-बिवाह-उछाहू। सकइ न बरनि सहसमुख जाहू ॥८॥

दोहा—बार बार कौसिक चरन, सीस नाइ कह राउ।
यह सब सुख मुनिराज तव, कृपा-कटाच्छ-प्रभाउ ॥३३१॥

शब्दार्थ—पमसील = तुल्य स्वभाव। सब विधि अलंकृत—सींग सोने से, खुर चाँदी से और पीठ ताँबे से मढ़ाई, काँसे की दोहनी, रेशमी झूलें पड़ी हुई। नंदन—आनन्द देनेवाले।

अर्थ—राजा ने सभीको दण्डवत प्रणाम किया और प्रेम के साथ पूजा करके उनको बैठने के लिये उत्तम आसन दिया ॥१॥ फिर चार लाख उत्तम गायें मँगवाईं, वे कामधेनु के समान सुन्दर स्वभावशाली थीं ॥२॥ उन सबको सब प्रकार भूषणों से सजाया और राजा ने प्रसन्नता-पूर्वक ब्राह्मणों को दान दीं ॥३॥ राजा बहुत प्रकार से प्रार्थना करते हैं कि जगत् में आज मैंने जीवन का लाभ पाया ॥४॥ आशिष पाकर राजा आनन्दित हुए, फिर उन्होंने याचकों को बुलवा लिया ॥५॥ उनसे बूझकर और रुचि जानकर सोना, वस्त्र, मणि, घोड़ा, हाथी और रथ सूर्यकुल नन्दन श्रीदशरथजी ने दिये ॥६॥ वे गुणगाथ पढ़ते और गाते हुए चले, सूर्यकुलनाथ की जय हो, जय हो, जय हो, ऐसा कहते जाते हैं ॥७॥ इस प्रकार श्रीरामजी के विवाह का उत्सव हुआ, जिसके हजार मुख हैं, वह भी उसका वर्णन नहीं कर सकता ॥८॥ राजा दशरथ विश्वामित्रजी के चरणों में बार-बार सिर नवाकर कहते हैं कि हे मुनिराज! यह सब सुख आपकी कृपा-कटाक्ष के प्रभाव से हुआ ॥३३१॥

विशेष—(१) 'दण्ड प्रनाम सबहिं···'—अभिमान छोड़कर दण्डाकार पड़ गये, यथा—"पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यामुरसा शिरसा तथा। मनसा वचसा दृष्ट्या प्रणामोऽष्टाङ्ग उच्यते॥" (स्कन्द पु० वै० मा० मा० १०।३०), अर्थात् दोनों पैर, दोनों हाथ, दोनों घुटने, छाती, मस्तक, मन, वचन और दृष्टि से जो प्रणाम किया जाता है, साष्टाङ्ग प्रणाम है। 'मुदित···दीन्हीं'—क्योंकि दान हर्ष के साथ ही देना चाहिये, यथा—"रामहिं सुमिरत रन भिरत, देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तनु, ते जग जीवत जाय॥" (दोहावली ४२)। 'मुदित महिप महिदेवन्ह···'—राजा की प्रसन्नता पृथ्वी के पालने से होती है, वह कार्य पुण्य से होता है और ब्राह्मण-पूजा ही पुण्य है। 'करत बिनय···'—क्योंकि दान देकर विनय करना विधि है, इससे दान आदरपूर्वक होता है। चार कन्याएँ दान में ली गई हैं, उन एक-एक के प्रति एक-एक लाख गायों के दान किये गये। दान तो कुमारों ने लिये हैं, पर प्रतिग्रह के प्रायश्चित-रूप दान राजा ने किया, क्योंकि मुनि जानते हैं कि श्रीरामजी ब्रह्म हैं, श्रीसीताजी उन्हीं की शक्ति हैं, ऐसे ही उनके अंश-भूत भाइयों की भी व्यवस्था है, उनकी शक्तियाँ उन्हे समर्पित हुई हैं—"रामहिं सिय समरपी" (दो० ३२३), कहा भी गया है। राजा दशरथ की माधुर्य दृष्टि है। अतः, दान उन्हीं से दिलवाया। दान लेने के अधिकारी ब्राह्मण हैं, उन्हें देकर तब याचकों को बुलाया।

(२) 'कनक बसन मनि·····'—'कनक' और 'मनि' के बीच में 'बसन' शब्द देकर वस्त्रों को भी बहुमूल्य सूचित किया। 'रवि कुल नंदन'—इस कुल के लोग उदार और दान देने में ही आनन्द मानते हैं, यथा—"मंगन लहहिं न जिन्ह के नाहीं।" (दो० २३१)।

(३) 'चले पढ़त गावत ·····'—सूत आदि श्लोकों में गुण-गण पढ़ते और भाट-कत्थक आदि गुण गाते हुए चले। ब्राह्मणों का आशीर्वाद देना ऊपर कहा गया, पर चलना नहीं कहा गया। यदि यहाँ उनका भी चलना लें तो उनका आशीर्वाद आदि के श्लोक पढ़ना भी ले सकते हैं। 'बार-बार कौसिक चरन····· '—बार-बार प्रणाम से कृतज्ञता और प्रेम की अधिकता प्रगट हुई, यथा—'भये परस्पर प्रेम बस, पुनि-पुनि नावहिं सीस।' (दो० ३४२), "मोपहिं होइ न प्रति-उपकारा। बंदौं तव पद बारहिं बारा।' (उ० दो० १२४)।

जनक सनेह सील करतूती। नृप सब भाँति सराह बिभूती ॥१॥
दिन उठि बिदा अवधपति माँगा। राखहिं जनक सहित अनुरागा ॥२॥
नित नूतन आदर अधिकाई। दिन प्रति सहस भाँति पहुनाई ॥६॥
नित नव नगर अनंद उछाहू। दसरथ गवन सोहाइ न काहू ॥४॥
बहुत दिवस बीते एहि भाँती। जनु सनेह-रजु बँधे बराती ॥५॥
कौसिक सतानंद तब जाई। कहा बिदेह नृपहि समुझाई ॥६॥
अब दसरथ कहँ आयसु देहू। यद्यपि छाँड़ि न सकहु सनेहू ॥७॥
भलेहि नाथ कहि सचिव बोलाये। कहि जय जीव सीस तिन्ह नाये ॥८॥

दोहा—अवधनाथ चाहत चलन, भीतर करहु जनाउ।
भये प्रेमबस सचिव सुनि, बिप्र सभासद राउ ॥३३२॥

शब्दार्थ—बिभूती = बहुतायत (शब्द सागर)। दिन = प्रतिदिन। जय जीव = जय हो और जियो, यह अभिवादन है।

अर्थ—राजा दशरथजी श्रीजनकजी के स्नेह, शील और कर्तृत्व की सब प्रकार बहुतायत (अधिकता) सराहते हैं ॥१॥ अवध के महाराज प्रतिदिन विदाई की आज्ञा माँगते हैं और जनकजी उन्हें अनुराग-पूर्वक रोक रखते हैं ॥२॥ नित्य नये-नये आदर बढ़ते जाते हैं, प्रत्येक दिन सहस्रों प्रकार की पहुनाई होती है ॥३। नगर में भी नित्य नया आनन्द-उत्सव होता रहता है, राजा दशरथ का जाना तो किसीको भी नहीं सुहाता ॥४॥ इसी प्रकार बहुत दिन बीत गये, मानों बराती लोग स्नेह-रूपी रस्सी से बँध गये हैं ॥५॥ तब विश्वामित्रजी और शतानंदजी ने जाकर विदेह महाराज को समझाकर कहा ॥६॥ कि अब श्रीदशरथजी को (श्रीअवध जाने के लिये) आज्ञा दीजिये, यद्यपि स्नेह (के कारण आप उन्हें) छोड़ नहीं सकते ॥७॥ राजा जनक ने—'हे नाथ! बहुत अच्छा' ऐसा कहकर अपने मन्त्रियों को बुलवाया, 'जय जीव'—कहकर उन लोगों ने सिर नवाया ॥८॥ (जनकजी ने कहा) अवधनाथ चलना चाहते हैं, भीतर सूचना दो, यह सुनते ही मन्त्री, ब्राह्मण, सभासद और राजा जनक (स्वयं भी) प्रेम के वश हो गये ॥३३२॥

विशेष—(१) 'बिदा अवधपति माँगा'—अवध की रक्षा पर चित्त है, अवध आपको प्रिय है, उसका स्मरण कर बिदा माँगते हैं। 'सुहाइ न काहू'—प्रथम कहा गया—'देइ पान पूजे जनक' पुनः—

'नित नूतन मंगल पुर माहीं।' फिर—'राखहिं जनक सहित अनुरागा।' पुनः—'नित नव नगर अनंद उछाहू।' कहा गया है, अर्थात् राजा-प्रजा किसीको भी अवधेश का जाना नहीं सुहाता। 'बहुत दिवस बीते येहि भाँती।' लग्न से—सवा महीने पूर्व ही बरात आई थी, वहाँ भी कहा गया—"गये बीति कछु दिन येहि भाँती।" (दो० ३११), वहाँ 'कछु दिन' ही कहा था, क्योंकि तब लग्न की चाह थी और अब जाना चाहते हैं, इससे इधर के दो-तीन महीने 'बहुत दिवस' कहे जाते हैं, क्योंकि अब जाने पर चित्त है, अगहन सुदि ५मी को ब्याह हुआ। जनकजी दोनों भाइयों के यहाँ दो-दो दिन भी स्वागत मानें तो चार दिन गये। फिर राजा जनक के चचेरे भाई आठ हैं। उनके यहाँ एक-एक दिन भी स्वागत मानें तो पूस लग गया। फिर 'सूर सचिव सेनप बहुतेरे। नृप गृह सरिस सदन सब केरे॥' इन सबकी लालसा कैसे ठुकराई जाती। अतः, पूस बीत गया (ब्याह के पीछे १६ दिन तक विदाई हो सकने का समय बीत गया)। फिर माघ लगा तो मिथिला वासी बिना वसन्त खेलाये दूल्हा को कैसे विदा करें? उधर वसन्त लगने पर घर-घर होली-उत्सव भी होने लगे। फाल्गुन भर होली के मध्य ससुराल से दूल्हे को विदाई असह्य थी। फिर चैत लग गया। वह खरमास है उसमें विदाई कैसे हो? इससे इतने दिन बीत गये। 'जनु सनेह रजु··· ··'—स्नेह बड़ा दृढ़बन्धन है, यथा—"बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेम-रज्जु दृढबन्धनमाहुः। दारु-भेद-निपुणोऽपि षडंघ्रिर्निष्क्रियो भवति पङ्कज-कोशे॥" अर्थात् भ्रमर यद्यपि काठ छेदने में निपुण है, फिर भी जब कमल में रहा हुआ रात में बन्द होने पर बँध जाता है तब कमल की कोमल पँखुरियों को भी नहीं काट पाता, क्योंकि कमल में स्नेह रहता है। अतः, स्नेह दृढ़बन्धन है। यही दशा बरातियों की है, राजा जनक के स्नेह में बँध गये हैं। 'कौसिक सतानंद··· ·'—विश्वामित्रजी ही श्रीराम-लक्ष्मण को लाये और बरात के भी बुलाने में मुख्य कारण हैं। अतः, इनका जनकजी पर दबाव है। शतानन्दजी को भी साथ लिया, क्योंकि वे उनके कुल-गुरु हैं, उनकी भी आज्ञा राजा को माननी होगी। अतः, ये ही आज्ञा दिलाने के लिये गये।

(२) 'कहा बिदेह नृपहि ·'—भाव जैसे आप देह-सुधि भूले रहते हैं, वैसे विदा करना एवं अवध-रक्षा का प्रबन्ध भी भूल गये। अब दोनों जगहों के राज्य-प्रबन्ध की भी हानि है, आधे चैत से नया संवत् लगता है। चक्रवर्त्ती जी के यहाँ सातो द्वीपों के राजागण भेंट देने आते हैं और वर्ष का नया प्रबन्ध प्रारम्भ होता है। इससे अब विदा करना ही चाहिये। ऐसा कह गुरुओं ने विदा करने का अनुरोध किया—"अब दसरथ कहँ आयसु देहू।···" आगे अयोध्या पहुँचने पर कहा गया है—"व्यजन चारु चाँवर सिर ढरहीं।" (दो० ३४९), इससे वैशाख लगना स्पष्ट है, क्योंकि गर्मी से ही पंखे चलते थे। अतएव विदा करने ही से बनेगा। फिर जब आप बुलावेंगे तो वे फिर भी आवेंगे, इत्यादि समझाकर कहा। 'भीतर करहु जनाउ'—क्योंकि भीतर विदाई की तैयारी की जायगी। 'भये प्रेमबस' अर्थात् प्रेम के कारण विह्वल हो गये, यथा—"सत्य गवन सुनि सब बिलखाने।" आगे कहा है।

पुरबासी सुनि चलिहि बराता। बूझत बिकल परसपर बाता॥१॥
सत्य गवन सुनि सब बिलखाने। मनहुँ साँझ सरसिज सकुचाने॥२॥
जहँ जहँ आवत बसे बराती। तहँ तहँ सिद्ध चला बहु भाँती॥३॥
बिबिधि भाँति मेवा पकवाना। भोजनसाज न जाइ बखाना॥४॥
भरि भरि बसन अपार कहारा। पठये जनक अनेक सुआरा॥५॥
तुरग लाख रथ सहस पचीसा। सकल सँवारे नख अरु सीसा॥६॥
मत्त सहस दस सिंधुर साजे। जिन्हहि देखि दिसिकुंजर लाजे॥७॥

कनकबसन मनि भरिभरि जाना । महिषी धेनु बस्तु बिधि नाना ॥८॥

दोहा—दाइज अमित न सकिय कहि, दीन्ह बिदेह बहोरि ।
जो अवलोकत लोकपति, लोक-संपदा थोरि ॥३३३॥

सब समाज येहि भाँति बनाई । जनक अवधपुर दीन्ह पठाई ॥१॥

शब्दार्थ—बिलखाने = व्याकुल हुए, दुखी हुए । सिद्ध = सीधा, आटा-दाल आदि कच्चा अन्न ।

अर्थ—बरात चलेगी, यह सुनकर पुरवासीगण विकल हो गये, वे एक दूसरे से पूछने लगे ॥१॥ 'सत्य ही जायँगे' यह सुनकर सब दुखी होकर उदास हो गये, मानों सन्ध्या समय में कमल संकुचित हो (मुरझा) गये ॥२॥ बराती आते समय जहाँ-जहाँ निवास किये थे, वहाँ-वहाँ के लिये बहुत प्रकार का सीधा भेजा गया ॥३॥ तरह-तरह के मेवे, पकान्न और भोजन की सामग्री जो कही नहीं जा सकती ॥४॥ अगणित बैलों और कहारों पर भर-भरकर; पुनः राजा जनक ने अनेकों रसोइयों को भेजा ॥५॥ एक लाख घोड़े, और पचीस हजार रथ थे, सब नख से चोटी तक सजाये हुए थे ॥ ६ ॥ दस हजार मतवाले हाथी साजे हुए, जिन्हें देखकर दिग्गज लजा जायँ ॥ ७ ॥ सोना, वस्त्र और मणि गाड़ियों एवं रथों में भर-भरकर, भैंसें, गायें नाना भाँति की चीजें ॥ ८ ॥ (इस तरह के) अमित दायज (दहेज) फिर से राजा जनक ने दिये, जो कहे नहीं जा सकते, जिन्हें देखकर लोकपालों के लोकों की सम्पदा थोड़ी जान पड़ती थी ॥ ३३२ ॥ राजा जनक ने इस प्रकार सब सामग्री को ठीक करके अवधपुर भेज दिया ॥१॥

विशेष—(१) 'सत्य गवन···'—राजा दशरथ का जाना तो नित्य ही सुनते थे, पर फिर सुना जाता था कि नहीं जाने पाये, पर आज का जाना सत्य ही निकला। 'बिलखाने'—नित्य नवीन पहुनाई देख-देखकर प्रफुल्लित रहते थे, अब सन्ध्या के कमल की भाँति संकुचित हो गये, उदासीनता आ गई। कमल को पुनः प्रातःकाल होने पर प्रफुल्ल होने की आशा रहती है, वैसे इन्हें भी नाते के सम्बन्ध से कुमारों के आने और दर्शनों से प्रफुल्लता की आशा है—दो० ३१० चौ० १-२ देखिये।

(२) 'तहँ-तहँ सिद्ध चला···'—क्योंकि बनाया हुआ भोजन कई दिनों में बिगड़ जाता है। साथ में रसोइयों को भी भेजा, जिससे सर्वत्र ताजा भोजन मिले। सब मंजिलों पर एक साथ ही भेज दिया गया, क्योंकि बराती जाने में आतुर हैं, न जानें, किस-किस मंजिल पर जाकर ठहरें।

(३) 'दाइज अमित···बहोरि···'—'बहोरि' अर्थात् जितना प्रथम दिया था उतना ही फिर भी दिया, यथा—"कहि न जाइ कछु दाइज भूरी।···लोक पाल अवलोकि सिहाने।" (दो० ३२५), वैसे ही यहाँ भी—"दाइज अमित न···लोक पति लोक संपदा थोरि।" कहा गया है। 'अवधपुर दीन्ह पठाई।'—(क) यदि यहाँ देते तो चक्रवर्त्ती जी सब यहीं लुटा देते, जैसे पहले किया था—"दीन्ह जाचकन्ह···" (दो० ३२५)। अतः, सीधे अवधपुर भेज दिया कि समधिनें एवं वहाँ के लोग भी जो बरात में नहीं आये हैं, देखें कि दहेज में क्या मिला? (ख) देकर फिर घर तक पहुँचा देना आदर दान है।

चलिहि बरात सुनत सब रानी । बिकल मीनगन जनु लघु पानी ॥२॥
पुनि पुनि सीय गोद करि लेहीं । देइ असीस सिखावन देहीं ॥३॥
होयेहु संतत पियहि पियारी । चिर अहिवात असीस हमारी ॥४॥
सास-ससुर - गुरु - सेवा करेहू । पति-रुख लखि आयसु अनुसरेहू ॥५॥

अति - सनेह-बस सखी सयानी । नारिधरम सिखवहिं मृदु बानी ॥६॥
सादर सकल कुअँरि समुझाई । रानिन्ह बार-बार उर लाई ॥७॥
बहुरि बहुरि भेटहिं महतारी । कहहिं बिरंचि रची कत नारी ॥८॥

दोहा—तेहि अवसर भाइन्ह सहित, राम भानु-कुल-केतु ।
चले जनक-मंदिर मुदित, बिदा करावन हेतु ॥३३४॥

शब्दार्थ—चिर = दीर्घकाल । अहिवात = सौभाग्य । नारिधरम, यथा—"नारि-धरम पति देव न दूजा ।" (दो० १०१), नारि-धर्म शिव-पुराण के पार्वतीजी के विदाई-प्रसंग में विस्तार से कहा गया है तथा अर० दो० ४ भी देखिये ।

अर्थ—'बरात चलेगी' यह सुनते ही सब रानियाँ विकल हो गईं मानों मछलियाँ थोड़े जल में छट-पटा रही हों ॥२॥ वे बार-बार श्रीजानकीजी को गोद में लेती हैं और आशिष देकर शिक्षा देती हैं ॥३॥ सदैव पति की प्यारी हो, दीर्घ काल तक तुम्हारा अहिवात हो, यही हमारी आशिष है ॥४॥ सास, ससुर और गुरु वर्ग की सेवा करना और पति का रुख देखकर उनकी आज्ञा के अनुसार चलना ॥५॥ अत्यन्त स्नेह-वश सयानी सखियाँ कोमल वाणी से स्त्री-धर्म सिखाती हैं ॥६॥ रानियों ने आदर के साथ चारो कुमारियों को (नारी-धर्म) समझाकर बार-बार छाती से लगाया ॥७॥ माताएँ फिर-फिर भेंटती और कहती हैं कि ब्रह्माजी ने स्त्री क्यों बनाई ? ॥८॥ उसी समय सूर्य-कुल के ध्वजा रूप श्रीरामजी भाइयों के साथ श्रीजनकजी के मन्दिर में प्रसन्नता पूर्वक विदा कराने के लिये चले ॥३३४॥

विशेष—(१) 'बिकल मीन गन···'—पुरजनों को कमल कहा था रानियों को मीन कहा, क्योंकि सूर्य और कमल की अपेक्षा जल और मीन में प्रेम की अधिकता है, वैसे ही रानियों का प्रेम पुरजनों से अधिक है । 'लघु पानी'—अब विदाई पर्यन्त ही दर्शन और रह गये हैं ।

(२) 'होयेहु संतत···चिर अहिवात'—'होयेहु संतत·····' यह 'सिखावन' (शिक्षा) है और —'चिर अहिवात···' यह आशिष है । पूर्वार्द्ध साधन और उत्तरार्द्ध फल है, क्योंकि पतिव्रता होने से उसका पति किसीसे मर नहीं सकता । पति का जीवन ही स्त्री का जीवन है—"जिय बिनु देह नदी बिनु बारी । तैसिय नाथ पुरुष बिनु नारी ॥" (अ० दो० ६४) । अतः, कुँअरि को 'चिर' नहीं कहा ।

(३) 'सासु ससुर गुरु···'—गुरु (उपाध्याय) से पिता और पिता से भी माता का पद बड़ा है, यथा—"उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता । सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥" (मनु० २।१४५), अर्थात् उपाध्याय से दश गुणा आचार्य और आचार्य से सौगुणा पिता तथा पिता से सहस्रगुणा माता का गौरव है । ये पतिदेव के भी आराध्य हैं । अतः, इनकी सेवा भी पातिव्रत्य में है । पति—प्रसन्नता का हेतु है । 'पति - रुख लखि आयसु ···' बहुत-सी आज्ञाएँ ऐसी भी होती हैं, जिनका लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न होता है । अतः, पति का अभिप्राय-सहित वचन मानना । सब धर्म पति के रुख रखने में हैं । यह भी भाव है कि कहना न पड़े, रुख-मात्र से समझकर व्यवहार करना ।

(४) 'अति-सनेह-बस ···'—यद्यपि श्रीसीताजी सब जानती हैं, तथापि अत्यन्त स्नेह का स्वभाव ही है कि वह सिखाने में प्रवृत्त कर देता है । 'नारिधर्म'—अर० दो० ४-५ देखिये । 'सयानी'—अवस्था एवं बुद्धि में श्रेष्ठ ।

(५) 'सादर सकल कुअँरि···'—'सकल कुअँरि' को बीच में कहा गया, अर्थात् सबों को प्रथम सखियों ने समझाया, फिर रानियों ने भी । 'रची कत नारी'—लड़कियाँ पर घर की होती हैं, इस नियम से

इन बालिकाओं को विदा करना पड़ता है, यथा—"कत बिधि सृजी नारि जगमाहीं। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं॥" (दो० १०१), वा हमलोग नारि होने से रङ्क हैं, पुरुष होतों तो जाकर देख भी आया करती, पर हमें तो विरह-दुःख सहना ही पड़ेगा।

'चले जनक-मंदिर मुदित ···'—यहाँ अवध जाने की उत्सुकता में मुदित हैं, अन्यथा अपवाद होता कि ससुराल प्रिय हो गई, छोड़ी नहीं जाती, यह लोक-दृष्टि का निर्वाह है।

चारिउ भाइ सुभाय सुहाये। नगर-नारि-नर देखन धाये॥१॥
कोउ कह चलन चहतहहिं आजू। कीन्ह बिदेह बिदा कर साजू॥२॥
लेहु नयन भरि रूप निहारी। प्रिय पाहुने भूप-सुत चारी॥३॥
को जानइ केहि सुकृत सयानी। नयन अतिथि कीन्हे बिधि आनी॥४॥
मरनसील जिमि पाव पियूखा। सुरतरु लहइ जनम कर भूखा॥५॥
पाव नारकी हरिपद जैसे। इन्ह कर दरसन हम कहँ तैसे॥६॥
निरखि राम-सोभा उर धरहू। निज मन-फनि-मूरति-मनि करहू॥७॥
येहि बिधि सबहि नयन फल देता। गये कुअँर सब राजनिकेता॥८॥

दोहा—रूपसिंधु सब बंधु लखि, हरषि उठी रनिवास।
करहिं निछावरि आरती, महा मुदित मन सास॥३३५॥

शब्दार्थ—मरनसील = मरणप्राय, मरनेवाला। नारकी = नरक में रहनेवाला वा नरक के योग्य पापी।

अर्थ—स्वाभाविक सुन्दर चारो भाइयों को देखने के लिये नगर के स्त्री-पुरुष दौड़ पड़े॥१॥ कोई कहते हैं कि ये आज ही जाना चाहते हैं, विदेहजी ने विदा का सब सामान सम्पन्न कर दिया है॥२॥ प्रिय पाहुन चारो राजकुमारों के रूपों को आँखें भरकर देख लो॥३॥ हे सयानी! कौन जानता है कि किस पुण्य के प्रभाव से ब्रह्मा ने यहाँ लाकर इनको हमारे नेत्रों के पाहुन बनाया है॥४॥ जैसे मरनेवाला अमृत पावे, जन्म का भूखा कल्पवृक्ष पावे और नरक में रहनेवाला जैसे हरिपद (भगवद्धाम) पा जाय—वैसे ही हमारे लिये इनके दर्शन हैं॥५-६॥ श्रीरामजी की शोभा को देखकर अपने हृदय में रख लो, अपने मन को साँप और इनकी मूर्त्ति को मणि कर लो॥७॥ इस तरह सब राजकुमार, सबको नेत्रों के फल देते हुए राजमहल में गये॥८॥ रूप के सागर सब (चारो) भाइयों को देखकर सारा रनिवास प्रसन्न हो उठा, सासें अत्यन्त आनन्दित मन से न्योछावर करने और आरती उतारने लगीं॥३३५॥

विशेष—(१) 'देखन धाये', यथा—"धाये धाम काम सब त्यागी।" (दो० २१९)।

'कीन्ह बिदेह बिदा कर साजू'—कोई देही भला ऐसे पाहुनों को कैसे विदा करेगा? जिसे देह ही में ममता नहीं है, उसे देह-सम्बन्धी नातों में कब प्रीति दृढ़ हो सकती है—यह व्यंग्य है।

(२) 'को जानइ केहि सुकृत···'—इनके दर्शन सुकृत के फल हैं, यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम-सिय दरसन पावा॥" (अ० दो० २०९)। सुकृत की व्यवस्था ब्रह्मा ही जानते हैं, यथा—"कठिन करम गति जान बिधाता" (अ० दो० २८१), इसीसे कहा कि—'कीन्हे बिधि आनी'। 'अतिथि'—इनके दर्शन अचानक प्राप्त हो गये।

(३) 'मरनसील जिमि पाव ··'—हमलोग मानस-रोग से मरनेवाले थे, इनके दर्शनों से अमृतवत् प्रेमाभक्ति प्राप्त हुई, जिससे अब पुनर्जन्म-रूप मृत्यु से बचेंगे, यथा—"सुधा समुद्र समीप बिहाई।" (दो० २४५), "राम भगत अब अमिय अघाहू।" (अ० दो० २०८)।

'सुरतरु लहइ जनम···'—जब किसीसे धनुष नहीं टूटा तब इन्हें उसकी भूख थी कि कुरूप से भी टूटता तो उस कुअन्न से भी भूख मिट जाती, श्रीरामजी से टूटा तो मानों कल्पतरु द्वारा सुअन्न से भूख मिटी, परम सुन्दर चार विवाह हुए और सभीके सभी प्रकार के मनोरथ पूरे हुए, इन्हींके विषय में इन लोगों ने कहा भी था—"जौं बिधि बस अस बनइ सँजोगू। तौ कृतकृत्य होहिं सब लोगू॥" (दो० २२२)। 'पाव नारकी हरिपद···'—अभी तक हमलोग सांसारिक नातों में आसक्त रहने से नरक के पात्र थे, अब इनके दर्शनों से इनमें दृढ़ प्रीति हुई और सांसारिक आसक्ति छूट गई, यथा—"निरखि राम सोभा उर धरहू। निज मन-फनि-मूरति-मनि करहू॥" आगे कहते हैं। इससे हरिपद की प्राप्ति होगी, यथा—"मद्भक्ता यान्ति मामपि।" (गीता० ७।२३)।

(४) 'निरखि राम-सोभा उर धरहू। निज मन··' पहले दर्शन कहकर यहाँ हृदय में धरने को कहा, फिर इनपर ध्यान रहना कहते हैं कि जैसे सर्प मणि के प्रकाश में सुखी रहता है और उसके बिना व्याकुल-बिहाल होकर जीता है, यथा—"मनि बिना फनि जिये ब्याकुल बिहाल रे।" (वि० ६७), वैसे ही हमलोग इनके दर्शन-रूप प्रकाश में सुखी और वियोग में प्रेम से व्याकुल बिहाल होकर जीवन व्यतीत करें, अर्थात् क्षण-भर भी इनका विस्मरण न हो।

(५) 'रूपसिंधु सब बंधु···'—प्रथम रानियों को कहा गया था—"बिकल मीन गन जनु लघु पानी।" (दो० ३३३), यहाँ 'रूपसिंधु' पाकर प्रसन्न हो उठीं। 'हरषि उठीं'—हर्षित हुईं, यथा—"सकल सभा सुनि लै उठी।" (वि० २७९)। 'महा मुदित मन' होने ही से सँभाल न रही, इससे प्रथम ही निछावर करके तब आरती की, यह उल्टा कर गईं। आरती करके निछावर की जाती है, यथा—"करहिं आरती पुर नर-नारी। देहिं निछावरि बित्त बिसारी॥" (दो० २६४)। 'रूपसिंधु', यथा—"सील-सुधा के अगार, सुखमा के पारावार, पावत न पैरि पार पैरि पैरि थाके हैं।" (गी० बा० ६२), इस अगाध शोभा सिन्धु में सासें हर्षित हुईं, यथा—"सुखी मीन जे नीर अगाधा।" (कि० दो० १६)। ऊपर इन्हें मीन कहा गया है।

देखि राम-छबि अति अनुरागीं। प्रेम-बिबस पुनि-पुनि पद लागीं॥१॥
रही न लाज प्रीति उर छाई। सहज सनेह बरनि किमि जाई॥२॥
भाइन्ह सहित उबटि अन्हवाये। छरस असन अति हेतु जेंवाये॥३॥
बोले राम सुअवसर जानी। सील सनेह-सकुचमय बानी॥४॥
राउ अवधपुर चहत सिधाये। बिदा होन हम इहाँ पठाये॥५॥
मातु मुदित मन आयसु देहू। बालक जानि करब नित नेहू॥६॥
सुनत बचन बिलखेउ रनिवासू। बोलि न सकहिं प्रेम-बस सासू॥७॥
हृदय लगाइ कुअँरि सब लीन्हीं। पतिन्ह सौंपि बिनती अति कीन्हीं॥८॥

छन्द—करि बिनय सिय रामहि समरपी जोरि कर पुनिपुनि कहै।
बलि जाउँ तात सुजान तुम कहँ बिदित गति सबकी अहै॥
परिवार पुरजन मोहिं राजहि प्रानप्रिय सिय जानबी।
तुलसीस सील सनेह लखि निज किंकरी करि मानबी॥

सोरठा—तुम्ह परिपूरन काम, जानसिरोमनि भाव-प्रिय।
जन-गुन-गाहक राम, दोष-दलन करुनायतन ॥३३६॥

अस कहि रही चरन गहि रानी। प्रेमपंक जनु गिरा समानी ॥१॥

अर्थ—श्रीरामजी की छवि देखकर अत्यन्त अनुरक्त हो गईं, प्रेम के विशेष वश होने से बार-बार चरणों में लगीं ॥१॥ लज्जा न रह गई, (क्योंकि) प्रीति हृदय में छा गई, उनका वह स्वाभाविक स्नेह कैसे कहा जा सकता है ? ॥२॥ उन्होंने भाइयों के साथ श्रीरामजी को उबटन लगाकर स्नान कराया और अत्यन्त प्रीति-पूर्वक षट्रस भोजन कराया ॥३॥ सुन्दर अवसर जानकर श्रीरामजी शील, स्नेह और संकोच के साथ वचन बोले ॥४॥ "राजा अवधपुर को जाना चाहते हैं, उन्होंने विदा होने के लिये हम सबको यहाँ भेजा है ॥५॥ हे माता ! प्रसन्न मन से आज्ञा दीजिये, हमको अपना बालक जानकर सदा हमपर स्नेह रखियेगा" ॥६॥ इन वचनों को सुनते ही रनवास विलख उठा (दुखी हो रो दिया), सासें प्रेम-वश हो जाने से बोल नहीं सकतीं ॥७॥ उन्होंने सब कुमारियों को हृदय से लगा लिया और पतियों को सौंपकर उनसे अत्यन्त विनती की ॥८॥ विनती करके श्रीसीताजी को श्रीरामजी के हाथों समर्पित किया, हाथ जोड़कर फिर-फिर कहती हैं—हे तात ! हे सुजान ! मैं बलिहार जाती हूँ, तुम्हें सबकी दशा मालूम है। परिवार को, पुरजनों को, मुझको और राजा (जनक) को सीता प्राणों से भी अधिक प्यारी जानो। हे श्रीतुलसीदास के ईश ! इसके शील (सद्वृत्ति) और स्नेह को देखकर इसे अपनी दासी करके मानना ॥ हे श्रीरामजी ! तुम सब प्रकार से पूर्णकाम हो, ज्ञानियों में शिरोमणि हो, तुम भाव-प्रिय हो, जनों (भक्तों) के गुण-ग्रहण करनेवाले, दोषों के नाश करनेवाले और करुणा के स्थान हो ॥३३६॥ ऐसा कहकर रानी श्रीरामजी के चरणों को पकड़कर रह गईं, मानों प्रेमरूपी कीचड़ में उनकी वाणी समा (फँस) गई हो ॥१॥

विशेष—(१) 'रही न लाज प्रीति···'—ऊपर प्रेम के विवश होने पर दामाद के पैरों में लगना कहा गया, उसीका समाधान करते हैं कि सास को यह उचित नहीं है, पर क्या करें, प्रेम की व्याकुली में लज्जा नहीं रह जाती, क्योंकि प्रीति नदीरूपा है, उसमें लज्जा बह जाती है, यथा—"प्रभु पद प्रीति सरित सो बही।" (सुं० दो० ४८), "सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा ॥" (अ० दो० २७५)।

(२) 'बोले राम सुअवसर जानी'—सासें जब उबटन, स्नान एवं भोजन करा चुकीं और सावधान होकर बैठीं, तब विदा की बात चलाई, यही सुन्दर अवसर है।

(३) 'सील सनेह-सकुचमय बानी', यथा—'राउ अवधपुर···' यह शीलमय वाणी है, क्योंकि पिता की ओट से विदा की बात कही। 'बिदा होन हम···' यह सकुचमय है, क्योंकि यह नहीं कहा कि हमलोग विदा होने आये हैं और 'मातु मुदित···' यह अत्यन्त स्नेहमय वाणी की है। विदाई की बातों पर सासों में उदासीनता देखकर 'मुदित मन' से आयसु देना कहा, उससे मुद-मंगल होगा, यथा—"आयसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुद मंगल···" (अ० दो० ५२)।

(४) 'करि बिनय सिय···'—ऊपर चारो भाइयों से विनती करना कहा गया, आगे उसकी विशेष व्यवस्था श्रीरामजी से ही कहती हैं, क्योंकि ये सबमें बड़े हैं, फिर इनके ही उत्तर में सबके उत्तर आ जायँगे। 'सील सनेह लखि···'—भाव यह कि इसका शील और स्नेह तो ऐसा है कि आप इसे अत्यन्त प्रियतमा मानेंगे। श्रीसीताजी के इन दो गुणों को ऐसा ही गिरिजाजी ने भी कहा है—"करुना निधान सुजान सील-सनेह जानत रावरो।" (दो० २३६)। वा रानी अपने विषय के शील स्नेह को कह रही हैं

कि हमारे शील और स्नेह की ओर देखकर···वा, आप अपने शील-स्नेह को देखकर इसके दोष क्षमा करके इसपर स्नेह रक्खेंगे। 'किंकरी करि मानबी' दासी करके मानने को कहती हैं, क्योंकि श्रीमुख वचन है—"मोरे अधिक दास पर प्रीती।" (उ० दो० १५)। 'तुलसीस सील··'—यहाँ 'भाविक अलंकार' है, क्योंकि यहाँ ग्रन्थकार पूर्व के पात्र (सुनयनाजी) के मुख से अपना भविष्य का सम्बन्ध दृढ़ कर रहे हैं।

(५) 'तुम्ह परिपूरन काम···'—भाव यह कि तुम कुछ हमारे दान एवं सीता के गुण आदि से प्रसन्न हो—यह बात नहीं है, क्योंकि तुम पूर्णकाम हो, हमारे ज्ञान से भी प्रसन्न नहीं हो, क्योंकि तुम ज्ञानियों में शिरोमणि हो, मैं केवल इसी बल पर कहती हूँ कि तुम भाव-प्रिय हो। अतः, हमारे सद्भाव को ग्रहण करोगे। अपने जनों के गुणों को ग्रहण करते हो। अतः, सीता के शील-स्नेह आदि गुणों को ग्रहण करोगे और उसके दोषों को क्षमा करते हुए उसपर करुणा रक्खोगे, यथा—"देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने॥" (अ० दो० २९८), "जन गुन अलप गिनत सुमेरु करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारनें॥ (वि० २०६)।

(६) प्रेम पंक जनु गिरा···'—पूर्व—'प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागी।' कहा गया, वहाँ बार-बार पद लगने की सावधानता थी, यहाँ वह भी नहीं रह गई, क्योंकि चरण पकड़े रह गईं, यथा—"माँगेउ बिदा राम तब, सुनि करुना भरी। परिहरि सकुच सप्रेम पुलकि पायन्ह परी॥" (जानकी मंगल १०३), कंठ गद्गद हो गया, वाणी ही नहीं निकलती, मानों कीचड़ में फँस गई है।

सुनि सनेहसानी बर बानी। बहु बिधि राम सास सनमानी॥२॥
राम बिदा माँगत कर जोरी। कीन्ह प्रनाम बहोरि बहोरी॥३॥
पाइ असीस बहुरि सिर नाई। भाइन्ह सहित चले रघुराई॥४॥
मंजु मधुर मूरति उर आनी। भईं सनेह-सिथिल सब रानी॥५॥
पुनि धीरज धरि कुअँरि हँकारी। बार बार भेंटहिं महतारी॥६॥
पहुँचावहिं फिरि मिलहिं बहोरी। बढ़ी परस्पर प्रीति न थोरी॥७॥
पुनि पुनि मिलत सखिन्ह बिलगाई। बाल बच्छ जिमि धेनु लवाई॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी ने स्नेह में सनी हुई श्रेष्ठ वाणी सुनकर सासों का बहुत तरह से सम्मान किया॥२॥ श्रीरामजी ने हाथ जोड़कर बिदा माँगी और बार-बार प्रणाम किया॥३॥ आशीर्वाद पाकर फिर सिर झुका कर भाइयों के साथ श्रीरघुनाथजी चले॥४॥ सुन्दर मधुर मूर्त्ति को हृदय में लाकर सब रानियाँ स्नेह से शिथिल हो गईं॥५॥ फिर धीरज धारण करके कुमारियों को बुलाकर माताएँ, बार-बार भेंटती (गले लगकर मिलती) हैं॥६॥ कन्याओं को पहुँचाती हैं, वे लौटकर फिर से मिलती हैं, आपस में थोड़ी प्रीति नहीं है—अर्थात् दोनों ओर से बहुत प्रीति है॥७॥ फिर-फिर मिलने में सखियों ने (माताओं और कुमारियों को) पृथक्-पृथक् किया है। जैसे नई जनमी हुई बछिया और नई ब्याई हुई गाय के परस्पर मिलने में उन्हें लोग पृथक् करते हैं।

विशेष—(१) 'सुनि सनेहसानी बर बानी।'—यह उपर्युक्त—"बलिजाउँ···" से "करुनायतन" तक है। 'बहु बिधि राम सास···'—प्रथम आश्वासन-पूर्वक सावधान किया और कहा कि आपकी सब आज्ञाएँ शिरोधार्य हैं, पुनः बार-बार प्रणाम आदि सम्मान के अंग हैं, अत्यन्त प्रेम से एवं चलने के लिये भी बार-बार प्रणाम करते हैं। आशिष पाकर फिर सिर नवाना आशिष के प्रति कृतज्ञता एवं उसे शिरोधार्य करने में है। 'मंजु मधुर मूरति···'—जैसे प्रवेश समय पुरवासियों को—'निरखि राम सोभा उर

धरहू ।···' कहा गया है, वैसे यहाँ रानियों ने चलते समय की छवि को हृदय में धारण किया। 'कुअँरि हँकारी'—क्योंकि स्नेह से शिथिल हो गई हैं, यथा—"चलहिं न चरन सिथिल भये गाता।" (दो० ३४५)। अतः, कुमारियों के निकट तक न जा सकीं। 'पहुँचावहिं फिरि···'—सखियाँ पहुँचाती हैं पर कुमारियाँ लौट-लौटकर माताओं से मिलती हैं। 'परस्पर' अर्थात् इधर से माताएँ लौट-लौट कर मिलती हैं, उधर से वैसे ही कुमारियाँ भी मिलती हैं। इसीको अगली अर्द्धाली में स्पष्ट किया गया है।

दोहा—प्रेम-बिवस नरनारि सब, सखिन्ह सहित रनिवास।
मानहुँ कीन्ह बिदेहपुर, करुना-बिरह-निवास ॥३३७॥

सुक सारिका जानकी ज्याये। कनक-पिंजरन्हि राखि पढ़ाये ॥१॥
ब्याकुल कहहिं कहाँ बैदेही। सुनि धीरज परिहरइ न केही ॥२॥
भये बिकल खग मृग एहि भाँती। मनुजदसा कैसे कहि जाती ॥३॥

अर्थ—सब स्त्री-पुरुष और सखियों के साथ रनिवास प्रेम के विशेष वश हैं, विदेह-पुर में मानों करुणा और विरह ने निवास ही कर लिया है ॥३३७॥ श्रीजानकीजी ने जिन तोतों और मैनाओं को जिलाया (पाला) था और सोने के पिंजरों में रखकर उन्हें पढ़ाया था ॥१॥ वे (पक्षी) व्याकुल होकर कहने लगीं कि वैदेहीजी कहाँ हैं? यह सुनकर भला किसको धैर्य न छोड़ देगा ॥२॥ जहाँ के पक्षी और पशु इस प्रकार व्याकुल हुए वहाँ के मनुष्यों की दशा कैसे कही जाय? ॥३॥

विशेष—(१) 'प्रेम-बिवस नर-नारि···'—करुणा नारि रूप में और विरह नर-रूप में मानों मूर्त्तिमान हैं। 'निवास' अर्थात् आजन्म रहेंगे, तभी तो भक्ति पुष्ट होती है, यथा—"प्रीतम बिरह तो सनेह सरबस···" (गी० सुं० ७)। 'बिदेहपुर'—यह तो विरक्तों का पुर था, यहाँ करुणा और विरह नहीं होना चाहिये, पर श्रीजानकीजी के सम्बन्ध से करुणा-विरह का होना ज्ञान-वैराग्य की शोभा है, यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (अ० दो० २७६)।

(२) 'सुक सारिका जानकी···'—पढ़ाई गई हैं, इससे ये अपना विरह शब्दों द्वारा प्रकट कर रही हैं और 'खग-मृग' केवल विकल हैं। विचारवान् लोग धैर्य धरते हैं, पर धैर्य ही उन्हें त्याग देता है तो ऐसे मनुष्यों की दशा कैसे कही जाय? यथा—"जहँ असि दसा जड़न कै बरनी। को कहि सकइ सचेतन करनी ॥" (दो० ८४), "जासु बियोग बिकल पसु ऐसे। प्रजा मातु पितु जीहहिं कैसे ॥" (अ० दो० ९९), यद्यपि दास-दासी साथ में दिये गये, पर शुक-सारिका नहीं, क्योंकि ये यहाँ श्रीजानकीजी के नाम लेकर उन्हें पुकारती थीं और वहाँ ससुराल में ऐसा कहा जाना अनुचित है, वहाँ तो श्रीजानकीजी लाड़ली बहू आदि कही जायँगी।

बंधुसमेत जनक तब आये। प्रेम उमगि लोचन जल छाये ॥४॥
सीय बिलोकि धीरता भागी। रहे कहावत परम बिरागी ॥५॥
लीन्हि राय उर लाइ जानकी। मिटी महामरजाद ज्ञान की ॥६॥
समुझावत सब सचिव सयाने। कीन्ह बिचार अनवसर जाने ॥७॥
बारहिं बार सुता उर लाई। सजि सुंदर पालकी मँगाई ॥८॥

दोहा—प्रेम-बिवस परिवार सब, जानि सुलगन नरेस।
कुअँरि चढ़ाई पालकिन्ह, सुमिरे सिद्ध गनेस ॥३३८॥

अर्थ—तब भाई के साथ राजा जनक आये, प्रेम की उमंग से उनके नेत्रों में जल छा गया ॥४॥ श्रीसीताजी को देखकर उनका धैर्य भाग गया—(यद्यपि वे) परम वैराग्यवान् कहे जाते थे ॥५॥ राजा (जनक) ने श्रीजानकीजी को हृदय से लगा लिया, उनके ज्ञान की महामर्यादा मिट गई ॥६॥ सब प्रवीण मन्त्री समझाते हैं, (करुणा का) अवसर न जानकर विचार किया ॥७॥ और बार-बार पुत्री (वर्ग, मांडवी प्रभृति) को हृदय से लगाकर सजी हुई सुन्दर पालकियाँ मँगाईं ॥८॥ सब परिवार प्रेम के विशेष वश हैं, ऐसा जानकर और सुन्दर लग्न समझ राजा ने सिद्ध गणेश का स्मरण करके कुमारियों को पालकियों पर चढ़ाया ॥३३८॥

विशेष—(१) 'बंधुसमेत जनक···'—श्रीजनकजी बाहर ही विदाई के विशेष प्रबन्ध में लगे हुए थे, जब कुमारियाँ द्वार तक आ गईं तब उन्हें दर्शन देने के लिये प्रेम की उमंग हुई। 'सीय बिलोकि धीरता···' औरों की धीरता ने उन्हें त्याग दिया, पर इनकी धीरता तो भाग गई, ये अत्यन्त विकल हुए। 'रहे कहावत···'—पहले कहाते थे, पर अब हैं नहीं।

(२) 'लीन्ह राय उर लाइ···'—विह्वलता में ज्ञान, वैराग्य और धैर्य नहीं रहते, यथा—"सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा॥" (मा० अ० २७५)। मिथिलेशजी ज्ञान की पराकाष्ठा थे, यथा—"जासु ज्ञान रबि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥ तेहि कि मोह ममता नियराई। यह सियराम-सनेह बड़ाई॥" (अ० दो० २७६)। आज वे भी ज्ञान, वैराग्य और धैर्य से रहित होकर रो रहे हैं, इसीसे ज्ञान की 'महामर्यादा' का मिटना कहा गया। ऐसे ही श्रीचित्रकूट में भी कहा गया है—"लीन्हि लाइ उर जनक जानकी···। मोह मगन मति नहिं बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की॥" (अ० दो० २८५)। पुत्री में ममता होना ज्ञान-मर्यादा का मिटना है, यथा—"ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।" (कि० दो० १५), पर यहाँ तो यह ममता जगदीश्वरी में है। अतः, इससे ज्ञान की शोभा है, ऊपर प्रमाण हैं।

(३) 'नरेस। कुँअरि चढ़ाईं···'—परिवार के लोग विकल हैं, माता सुनयना को तो सुध ही नहीं है। अतः, राजा ने लग्न के अनुसार स्वयं कुमारियों को पालकी पर चढ़ाया। श्रीकौसल्याजी और श्रीजनक जी की विज्ञानावस्था और श्रीचक्रवर्त्तीजी और श्रीसुनयनाजी की माधुर्यवृत्ति रहती है।

बहु बिधि भूप सुता समुझाईं। नारिधरम कुलरीति सिखाईं॥१॥
दासी दास दिये बहुतेरे। सुचि सेवक जे प्रिय सिय केरे॥२॥
सीय चलत ब्याकुल पुरबासी। होहि सगुन सुभ मंगलरासी॥३॥
भूसुर सचिव समेत समाजा। संग चले पहुँचावन राजा॥४॥
समय बिलोकि बाजने बाजे। रथ-गज-बाजि बरातिन्ह साजे॥५॥
दसरथ बिप्र बोलि सब लीन्हे। दान-मान परिपूरन कीन्हे॥६॥
चरन-सरोज-धूरि धरि सीसा। मुदित महीपति पाइ असीसा॥७॥
सुमिरि गजानन कीन्ह पयाना। मंगलमूल सगुन भये नाना॥८॥

दोहा—सुर प्रसून बरषहिं हरषि, करहिं अपछरा गान।
चले अवधपति अवधपुर, मुदित बजाइ निसान॥३३९॥

अर्थ—राजा जनक ने कन्याओं को बहुत प्रकार से समझाया, उन्हें स्त्रियों के धर्म और कुल की

रीति सिखाई ॥१॥ बहुत-सी दासियाँ और दास दिये, जो श्रीसीताजी के प्रिय और पवित्र सेवक थे ॥२॥ श्रीसीताजी के विदा होते समय पुरवासी व्याकुल हो गये, शुभ और मंगल के समूह शकुन हो रहे हैं ॥३॥ ब्राह्मणों, मन्त्रियों और समाज के साथ राजा जनक साथ में पहुँचाने के लिये चले ॥४॥ अवसर देखकर बाजे बजने लगे, बरातियों ने रथ, हाथी और घोड़े सजाये ॥५॥ महाराजा दशरथजी ने सब ब्राह्मणों को बुलवा लिया और उन्हें दान, मान से सन्तुष्ट कर दिया ॥६॥ राजा ने उनके चरण-कमलों की रज को माथे चढ़ाया, उनकी आशिष पाकर प्रसन्न हुए ॥७॥ गणेशजी का स्मरण करके उन्होंने प्रस्थान किया, (उस समय) अनेकों मंगल-मूलक शकुन हुए ॥८॥ प्रसन्न होकर देवता फूल बरसा रहे हैं। अप्सराएँ गान कर रही हैं। राजा दशरथ डंका बजाकर आनन्द के साथ अवधपुर को चले ॥३३६॥

विशेष—(१) 'बहु बिधि भूप···'—कन्याओं को वियोग से कातर जानकर समझाया कि ससुराल ही कन्याओं का अपना घर है, फिर वहाँ के लोग शीलवान् हैं, कोई कष्ट न होगा। हम शीघ्र बुला लेंगे। तुम चार बहनें साथ हो, अनुकूल दासी-दास भी साथ जाते हैं। चक्रवर्त्ती महाराज की तुम पुत्र-वधू हो, वहाँ सब प्रकार के पूर्ण सुख हैं। जब तब तुम्हें देखने को तुम्हारा भाई जाया करेगा, इत्यादि। 'नारिधरम कुलरीति···'—'नारि-धर्म' पातिव्रत्य धर्म, 'कुलरीति'—समशीलता, उदारता, क्षमा, गुरुजनों का आदर करना आदि, यथा—"अभ्युत्थानमुपागते गृहपतौ तद्भाषणे नम्रता, तत्पादार्पितदृष्टिरासनविधिस्तस्यापिचर्या स्वयम्। सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति, प्राच्यैः पुत्रि निवेदितः कुलवधूसिद्धान्तधर्मागमः ॥ (विनयकी टीका), अर्थात् जिस समय पति घर में आवे, उस समय खड़ी हो जाना और नम्रतापूर्वक पति के साथ बातचीत करनी, उनके चरण में चित्त रक्खे हुए उन्हें आसन देना, उनकी सेवा करनी, उनके सोने पर सोना और उनसे पहले उठना, प्राचीन शास्त्रों में कुलवधुओं की चर्या इस प्रकार कही गई है। 'होहिं सगुन'—पुरवासी लोग स्वयं व्याकुल हैं, मंगल कौन करे ? अतः, स्वयं शकुन मंगल होते हैं। शकुन दो० ३०२-३०३ में कहे गये हैं।

(२) 'दान-मान परि···'—मान पूर्वक दान से पूर्ण किया, वा दान से और जो दान न लेनेवाले हैं, उन्हें मान से पूर्ण किया। 'सुर प्रसून बरषहिं···'—पुष्प-वृष्टि भी मंगल है, केवल अप्सराएँ गा रही, क्योंकि पुरनारी तो सीता-वियोग में दुखी हैं। 'मुदित'—प्रस्थान में हर्ष होना मंगल है, पुनः पुत्रों और पुत्र-वधुओं के साथ जाने से हर्ष है। फिर बहुत दिन हो गये, अवधपुरी छूटी थी, वहाँको जा रहे हैं, इससे भी हर्ष है। 'सुमिरि गजानन ··सगुन भये'—गणेशजी का स्मरण किया, इससे कामना-पूरक शकुन होने लगे।

नृप करि बिनय महाजन फेरे। सादर सकल माँगने टेरे ॥१॥
भूषन-बसन बाजि गज दीन्हे। प्रेम पोषि ठाढ़े सब कीन्हे ॥२॥
बार-बार बिरदावलि भाखी। फिरे सकल रामहि उर राखी ॥३॥
बहुरि-बहुरि कोसलपति कहहीं। जनक प्रेमबस फिरै न चहहीं ॥४॥
पुनि कह भूपति बचन सुहाये। फिरिय महीस दूरि बड़ि आये ॥५॥
राउ बहोरि उतरि भये ठाढ़े। प्रेमप्रवाह बिलोचन बाढ़े ॥६॥
तब बिदेह बोले कर जोरी। बचन सनेह-सुधा जनु बोरी ॥७॥
करउँ कवन बिधि बिनय बनाई। महाराज मोहि दीन्हि बड़ाई ॥८॥

दोहा—कोसलपति समधी सजन, सनमाने सब भाँति।
मिलनि परसपर बिनय अति, प्रीति न हृदय समाति ॥३४०॥

शब्दार्थ—सजन = स्वजन। महाजन = महान् लोग, प्रतिष्ठित लोग।

अर्थ—राजा दशरथ ने प्रार्थना करके प्रतिष्ठित बड़े लोगों को लौटाया और आदर-पूर्वक याचकों को बुलाया ॥१॥ सबको भूषण, वस्त्र, घोड़े एवं हाथी दिये और प्रेम से पोषण करके उन सबको खड़ा किये ॥२॥ बार-बार विरदावली वर्णन करके और श्रीरामजी को हृदय में रखकर वे सब लौटे ॥३॥ अवध नरेश बार-बार लौटने को कहते हैं, परन्तु प्रेमवश जनकजी फिरना ही नहीं चाहते ॥४॥ राजा ने फिर सुहावने वचन कहे—राजन्! आप बहुत दूर निकल आये। अतः, अब लौटिये ॥५॥ फिर राजा रथ से उतर कर खड़े हो गये, उनके दोनों नेत्रों में प्रेमाश्रु की धारा उमड़ चली ॥६॥ तब विदेह राजा जनकजी हाथ जोड़कर बोले, उनके वचन स्नेह-रूपी अमृत में मानों डुबाये हुए थे ॥७॥ मैं किस प्रकार बनाकर आपसे प्रार्थना करूँ? महाराज! मुझे आपने बड़ाई दी है ॥८॥ अवधपति दशरथजी ने स्वजन समधी का सब भाँति सम्मान किया, उनका वह आपस का मिलना, परस्पर की अत्यन्त नम्रता और प्रीति हृदय में नहीं समाती थी ॥३४०॥

विशेष—'नृप करि बिनय महाजन'''—यहाँ प्रसंगानुसार जिन ब्राह्मणों को दान-मान से सन्तुष्ट किया था, वे प्रेम के साथ आते थे, उनसे विनय कर उन्हें लौटाया। अन्यत्र महाजन का अर्थ धनवान्, सेठ आदि होता है, यथा—"बहुरि महाजन सकल बोलाए। आइ सबन्हि सादर सिर नाए॥" (दो० २८३), ये तो स्वयं राजा को सिर नवाते और आज्ञाकारी रहते हैं, इनसे राजा का विनय करना आदि ठीक नहीं। 'प्रेम-पोषि' अर्थात् प्रेम-युक्त वचन कहकर सबको खड़ा किया, क्योंकि वे लोग साथ नहीं छोड़ना चाहते थे। 'बिनय बनाई'—अर्थात् आपके गुण-गण अनन्त हैं, यथा—"बिधि हरि हर सुरपति दिसि नाथा। बरनहिं सब दसरथ गुन गाथा॥" (अ० दो० १७२), 'दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिक कहा जेहि सम जग नाहीं॥" (अ० दो० २०८)। अतः, मैं कितना भी बनाकर (युक्ति से) कहना चाहूँ तो नहीं कह सकता। 'मोहि दीन्हि बड़ाई' आपने इतने बड़े चक्रवर्त्ती होकर मुझे समधी-भाव से बड़ाई दी, जिससे हम आपके तुल्य कहायेंगे—'संबंध राजन रावरे हम बड़े अब सब बिधि भये। (दो० ३२३)। 'सनमाने सब भाँति' यथा—"पुनि भानुकुल भूषन सकल सनमान निधि समधी किये।" (दो० ३२३)। 'मिलनि परसपर बिनय'''—दोनों तरफ से दोनों बातें हैं, पर जनकजी में 'विनय' और चक्रवर्त्ती जी में 'मिलन' प्रधान है। 'न हृदय समाति' अर्थात् प्रीति अश्रुरोमांच आदि के द्वारा प्रकट हो रही है।

मुनिमंडलिहि जनक सिर नावा। आसिरबाद सबहि सन पावा ॥१॥
सादर पुनि भेंटे जामाता। रूप-सील-गुन-निधि सब भ्राता ॥२॥
जोरि पंकरुह-पानि सुहाये। बोले बचन प्रेम जनु जाये ॥३॥
राम करउँ केहि भाँति प्रसंसा। मुनि-महेस-मन - मानस - हंसा ॥४॥
करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोह मोह ममता मद त्यागी ॥५॥
ब्यापक ब्रह्म अलख अबिनासी। चिदानंद निरगुन गुनरासी ॥६॥
मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ॥७॥
महिमा निगम नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस अहई ॥८॥

दोहा—नयनबिषय मो कहँ भयउ, सो समस्त-सुख-मूल।
सबइ लाभ जगजीव कहँ, भये ईस अनुकूल ॥३४१॥

अर्थ—राजा जनक ने (श्रीदशरथजी के साथ के) मुनियों की मंडली को सिर झुकाकर प्रणाम किया और सभी से आशीर्वाद पाया ॥१॥ फिर वे दामादों से आदर-पूर्वक भेंटे (मिले) जो सब भाई रूप, शील और गुणों के भाण्डार हैं ॥२॥ फिर सुन्दर कर-कमलों को जोड़कर मानों प्रेम से पैदा हुए वचन बोले ॥३॥ हे राम ! मैं किस प्रकार से आपकी बड़ाई करूँ, आप तो मुनियों और महादेवजी के मनरूपी मानस-सरोवर के हंस हैं ॥४॥ योगी लोग जिसके लिये क्रोध, मोह, ममता और मद त्यागकर योग-साधन किया करते हैं ॥५॥ जो ब्रह्म, व्यापक, अलक्ष्य, अविनाशी, ज्ञान और आनन्द-रूप, निर्गुण (जगत् से निर्लिप्त एवं मायिक गुणों से परे) और दिव्य गुणों की राशि है ॥६॥ जिसको मन के साथ वाणी नहीं जान सकती, सभी अनुमान करनेवाले जिसकी विवेचना नहीं कर सकते ॥७॥ जिसकी महिमा का वर्णन वेद, 'न इति' ही कह-कहकर करता है। जो तीनों कालों (भूत, वर्त्तमान और भविष्य) में एक रस रहता है ॥८॥ वही समस्त सुखों का मूल मेरी आँखों का विषय हुआ, (यह भी सत्य ही है कि) ईश्वर के अनुकूल होने से संसार में जीव को सभी लाभ मिल जाते हैं ॥३४१॥

विशेष—(१) 'मुनि-महेस-मन···'—मुनियों और महेश का मन निर्मल है। अतः, वहाँ आप सदा रहते हैं, जैसे हंस मानस-सर में रहते हैं। 'कोह मोह ममता···'—ये सब बड़े कष्ट से छूटते हैं तब योगी लोगों की चित्त-वृत्तियों का निरोध होता है पश्चात् ब्रह्म में प्रवृत्ति होती है। 'निर्गुन' अर्थात् मायिक गुणों से परे और 'गुनरासी' अर्थात् दिव्यगुणों की राशि—दो० २२ चौ० ६-७ देखिये।

(२) 'मन समेत जेहि···', यथा—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते ॥ अप्राप्यमनसा सह ॥" (तैत्ति० २।४)। 'तरकि न सकहिं सकल ···'—वह ब्रह्म अप्रमेय होने के कारण परिमित बुद्धिवाले मनुष्यों के अनुमान और तर्क में नहीं आ सकता, यथा—"प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्म-शुद्धिमभीप्सता ॥ आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥" (मनु० १२।१०५-१०६), अर्थात् धर्मशुद्धि चाहनेवाले पुरुष को प्रत्यक्ष, अनुमान और विविधप्रकार के शास्त्र—इन तीनों (प्रमाणों) को भलीभाँति समझ लेना चाहिये। ऋषियों के द्वारा देखे हुए वेद और (स्मृति आदि) धर्मोपदेश का जो वेद-शास्त्र के अनुकूल तर्क के द्वारा अनुसन्धान करता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नहीं। इन प्रमाणों से वेद-शास्त्र के बाहर के शुष्क तर्कों का निषेध है। अचिन्त्यभाव-वाले ब्रह्म के विषय में शुष्क तर्कों का पौराणिक निषेध भी है, यथा—"अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।" (ब्रह्मसूत्र-आनन्द भाष्य २।१।११), इत्यादि। 'महिमा निगम नेति ··'—वेद यद्यपि ब्रह्म-वाणी हैं तथापि आपकी अपरिमित महिमा को सम्पूर्ण करके कहने में असमर्थ हैं। अतः, 'न इति' अर्थात् 'यही नहीं', 'इतना ही नहीं' ऐसा कहकर, विवशता प्रकट करते हुए भी कहा करते हैं, क्योंकि यह उनकी भक्ति है, यथा—"हम तव सगुन जस नित गावहीं।" (उ० दो० १२)। दो० १२ का भाष्य देखिये। 'जो तिहुँ काल एक रस अहई।' यथा—"तुम चहुँजुग रस एक राम···" (वि० २६६)। "वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" (श्वेता० ३।९)।

(३) 'नयनबिषय मोकहँ ··'—'सो समस्त सुखमूल', यथा—"एषोऽस्य परम आनन्द। एतस्यवा-नन्दस्याऽन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥" (बृह० ४।३।३२), अर्थात् यह इसका परम आनन्द है, इसीके आनन्द की मात्रा से अन्य प्राणी जीते हैं, तथा—"जो आनंदसिंधु सुख रासी। सीकरते त्रैलोक सुपासी ॥" (दो० १६६), वही मेरे नेत्रों का विषय हुआ। भाव यह कि जो औरों के मन-बुद्धि का भी विषय यथार्थ में नहीं है, वह मुझे प्रत्यक्ष है, यह 'ईश' अर्थात् परम समर्थ ईश्वर की अनुकूलता का फल है, यथा—"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" (कठ० १।२।२३)

(४) 'मानस हंसा'—उपमान, 'तरकि न सकहिं···'—अनुमान, 'निगम-कहई'—शब्द, 'नयन बिषय' प्रत्यक्ष—इस प्रकार से यहाँ न्याय के चारो भेदों से श्रीरामतत्त्व-विषयक स्तुति है।

सबहि भाँति मोहि दीन्हि बड़ाई । निज जन जानि लीन्ह अपनाई ॥१॥
होहि सहस दस सारद सेखा । करहिं कलपकोटिक भरि लेखा ॥२॥
मोर भाग्य राउरि गुनगाथा । कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा ॥३॥
मैं कछु कहउँ एक बल मोरे । तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे ॥४॥
बार-बार माँगउँ कर जोरे । मन परिहरइ चरन जनि भोरे ॥५॥
सुनि बर बचन प्रेम जनु पोषे । पूरनकाम राम परितोषे ॥६॥
करि बर बिनय ससुर सनमाने । पितु कौसिक बसिष्ठ सम जाने ॥७॥
बिनती बहुरि भरत सन कीन्ही । मिलि सप्रेम पुनि आसिष दीन्ही ॥८॥

दोहा—मिले लखन रिपुसूदनहि, दीन्हि असीस महीस ।
भये परसपर प्रेमबस, फिरि फिरि नावहिं सीस ॥३४२॥

बार-बार करि बिनय बड़ाई । रघुपति चले संग सब भाई ॥१॥

अर्थ—सभी प्रकार से आपने मुझे बड़ाई दी और अपना सेवक जानकर अपना कर लिया ॥१॥ यदि दसहजार भी सरस्वती जी और शेषजी हों और वे करोड़ों कल्पों तक लेखा (गणना) करते रहें ॥२॥ तोभी, हे रघुनाथजी ! सुनिये, मेरे भाग्य और आपके गुणों की कथा को कहकर पूरा नहीं कर सकते ॥३॥ मैं जो कुछ कहता हूँ, वह अपने इस एक बल पर कि आप बहुत थोड़े स्नेह से भी प्रसन्न होते हैं ॥४॥ मैं हाथ जोड़कर बार-बार आपसे यही वर माँगता हूँ कि मेरा मन भूलकर आपके चरणों को कभी भी न छोड़े ॥५॥ प्रेम से मानों पोसे हुए इन श्रेष्ठ वचनों को सुनकर पूर्णकाम श्रीरामजी सन्तुष्ट हुए ॥६॥ और उन्होंने श्रेष्ठ प्रार्थना करके ससुर का सम्मान किया, उनको पिता, विश्वामित्रजी और वसिष्ठजी के समान समझा ॥७॥ फिर श्रीभरतजी से प्रार्थना की, प्रेम के साथ भेंट कर फिर उन्हें असीस दी ॥८॥ फिर राजा जनक लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी से मिले और उन्हें असीसें दी, आपस में प्रेमवश हो गये । अतः, फिर-फिर कर सिर नवाते हैं ॥३४२॥ बार-बार प्रार्थना और बड़ाई करके रघुनाथजी सब भाइयों को साथ लिये हुए चले ॥१॥

विशेष—(१) होहि सहस दस···'—यदि दस हजार हों तो शारदा 'मोर भाग्य' और शेष 'राउरि गुनगाथा' कहें । एक ब्रह्म लोक के और एक पाताल के वक्ता हैं । मर्त्यलोक में इनके समान कोई हैं ही नहीं । दोनों वक्ता एक-एक ही विषय लें तो भी न कह सकेंगे ।

(२) 'तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे', यथा—"रामहिं केवल प्रेम पियारा ।" (अ० दो० १३६) । 'सुनहु रघुनाथा'—'सुनहु' कहा, क्योंकि श्रीरामजी अपनी बड़ाई नहीं सुनते, यथा—"निजगुन श्रवण सुनत सकुचाहीं ।" (अ० दो० ४५), यह सज्जनों का लक्षण है । 'एक बल मोरे' अर्थात् मुझे यह विश्वास है और मेरे पास यही एक सहारा है भी । इसीकी पुष्टि के लिये आगे वर भी माँगते हैं कि मेरा मन चरणों से क्षण-भर भी पृथक् न हो, यही उत्तम स्नेह है । 'बार-बार माँगउँ'—बार-बार माँगते हैं, क्योंकि श्रीरामजी सब कुछ तो शीघ्र ही दे देते हैं, पर भक्ति बहुत रीझने पर, फिर भी बहुत माँगने पर देते हैं, क्योंकि यह अति दुर्लभ है, यथा—"प्रभु कह देन सकल सुख सही । भगति आपनी देन न कही ॥ भगति हीन गुन सब सुख ऐसे । लवन बिना बहु व्यंजन जैसे ॥" (उ० दो० ८३), 'मन परिहरइ चरन जनि'—अर्थात्

इन चरणों में जनकजी का स्नेह है—"जाहि रामपद गूढ़ सनेहू।" (दो० १६) यहाँ उसकी अचलता माँगते हैं। ज्ञान की इसीसे शोभा है।

(३) 'करि बर बिनय ससुर···'—श्रीजनकजी को पिता के तुल्य माना, क्योंकि श्रीजानकीजी आपकी अर्द्धांगिनी हैं, ये उनके पिता हैं, तो श्रीरामजी के भी पिता-तुल्य हुए। विश्वामित्रजी के समान माना, क्योंकि जैसे उन्होंने यज्ञ के सम्बन्ध से श्रीरामजी को प्राप्त किया, वैसे इन्होंने धनुषयज्ञ के द्वारा। वसिष्ठजी के समान जाना, क्योंकि जैसे वसिष्ठजी ने ज्ञान में अपना प्रेम गुप्त रक्खा, वैसे ही इन्होंने योग में—"जोग भोग महँ राखेउ गोई।" (दो० १६), "भूप बोलि पठये मुनि ज्ञानी।" (दो० १९६)।

(४) 'पूरनकाम राम परितोषे'—श्रीजनकजी के वचनों का उपक्रम—'बोले बचन प्रेम जनु जाये।' से है और उपसंहार—'प्रेम जनु पोषे' है। अतः, प्रेममय वचनों से श्रीरामजी परितुष्ट हुए, क्योंकि आप प्रेम ही के भूखे हैं। अतः, 'परितोषे' कहा। परितोष से उपर्युक्त वर का देना भी सूचित किया, माधुर्य-दृष्टि से श्वसुर को प्रकट में वर नहीं दिया। 'पूरनकाम'—यद्यपि श्रीरामजी और बातों से पूर्ण-काम हैं, तथापि प्रेम से भूखे की तरह परितुष्ट हुए। इसी प्रकार "कृपासिंधु के मन अति भाये।" (उ० दो० ४६) में भी पूज्य वसिष्ठजी को वर देना है।

'फिरि फिरि नावहिं सीस'—यहाँ प्रथम तो लक्ष्मण-शत्रुघ्न से मिले और असीस दी, फिर अत्यन्त प्रेम-वश होने पर परस्पर वही व्यवहार बार-बार होने लगा, अर्थात् राजा बार-बार मिलते और असीस देते हैं और ये दोनों बार-बार प्रणाम करते हैं। यहाँ मिलना तीन रीतियों से हुआ—श्रीरामजी से हाथ जोड़कर विनती की और इन्होंने उत्तर में—'करि बर बिनय ससुर सनमाने' अर्थात् सम्मान ही किया, इनका प्रणाम करना नहीं कहा गया। अतः, इनसे पूर्ण ऐश्वर्य-दृष्टि से मिले। श्रीभरतजी से बिनती की, फिर असीस भी दी। अतः, ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों रक्खे। श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्न में केवल माधुर्य भाव है, इनसे बिनती नहीं की।

चारो भाइयों के प्रसंग में प्रेम-पूर्ण रहा—श्रीरामजी की स्तुति में प्रेम-पूर्णता ऊपर कही गई। श्रीभरतजी में—'मिलि सप्रेम पुनि आसिष दीन्हीं।' श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्न में—'भये परसपर प्रेम बस।' कहा है।

(५) 'बार-बार करि बिनय···'—जैसे श्रीरामजी ने 'बर बिनय' की है, वैसे इन तीनो भाइयों ने भी विनय और बड़ाई की है।

जनक गहे कौसिकपद जाई। चरनरेनु सिर नयनन्हि लाई ॥२॥
सुनु मुनीसबर दरसन तोरे। अगम न कछु प्रतीति मन मोरे ॥३॥
जो सुख सुजस लोकपति चहहीं। करत मनोरथ सकुचत अहहीं ॥४॥
सो सुख सुजस सुलभ मोहि स्वामी। सब सिधि तव दरसन-अनुगामी ॥५॥
कीन्हि बिनय पुनि पुनि सिर नाई। फिरे महीस आसिषा पाई ॥६॥
चली बरात निसान बजाई। मुदित छोट बड़ सब समुदाई ॥७॥
रामहिं निरखि ग्राम - नर-नारी। पाइ नयनफल होहिं सुखारी ॥८॥

दोहा—बीच बीच बर बास करि, मगलोगन्ह सुख देत।
अवध समीप पुनीत दिन, पहुँची आइ जनेत ॥३४३॥

अर्थ—श्रीजनक महाराज ने जाकर श्रीविश्वामित्रजी के चरण पकड़े और उनके चरणों की धूल

अपने सिर और आँखों में लगाई ॥२॥ (और बोले—) हे मुनीश्वर ! सुनिये, आपके श्रेष्ठ दर्शनों से कुछ भी दुर्लभ नहीं है, ऐसा मेरे मन में विश्वास है ॥३॥ जो सुख और सुयश लोकपाल चाहते हैं, पर उसका मनोरथ करते हुए भी वे सकुचते हैं ॥४॥ हे स्वामिन् ! वही सुख और वही सुयश मुझे सुगमता से प्राप्त हो गया, क्योंकि सब सिद्धियाँ आपके दर्शनों की अनुगामिनी (पीछे-पीछे चलनेवाली) हैं ॥५॥ इस प्रकार बार-बार प्रार्थना की और फिर-फिर प्रणाम कर आशीर्वाद पा राजा जनक लौटे ॥६॥ बरात डंका बजाकर चली, छोटे और बड़े सभी समुदाय प्रसन्न हैं ॥७॥ (मार्ग में) ग्रामों के स्त्री-पुरुष श्रीरामजी को देख-देखकर आँखों का फल पाकर सुखी होते हैं ॥८॥ बीच-बीच में श्रेष्ठ निवास करती हुई और मार्ग में लोगों को सुख देती हुई जनेत (बरात) अवधपुरी के समीप पवित्र दिन पर आ पहुँची ॥३४३॥

विशेष—(१) 'जो सुख सुजस लोक'—ब्रह्म रामजी हमारे दामाद हों, यह अलभ्य सुख है, पुनः वे हमारे हाथों से दान लें, यह सुयश भी परम दुर्लभ है, इसकी इन्द्र आदि देवता लालसा करते हुए भी सकुचते हैं। 'सुख', यथा—"सुख बिदेहकर बरनि न जाई।" (दो० २८५), "सुख-मूल दूलह देखि दंपति पुलक तन हुलस्यो हियो।" (दो० ३२३), 'सुजस', यथा—"तिमि जनक रामहिं सिय समरपी बिस्व कलकीरति नई" (दो० ३२३), विश्वामित्रजी सबसे प्रथम आये थे और सबसे पीछे विदा हुए, क्योंकि ये ही इस आनन्द उत्सव के मूल हैं, यथा—"यह सब सुख मुनिराज तव कृपा कटाच्छ पसाउ॥" (दो० ३३१)।

(२) 'चली बरात निसान'''—श्रीजनकजी आगे से मिलते हुए पीछे लौटते आ रहे हैं, इससे बरात के चलने का क्रम भी सूचित किया है कि आगे चक्रवर्त्तीजी हैं, उनके साथ मुनिमंडली है, फिर भाइयों के साथ रामजी हैं, तब विश्वामित्रजी और उनके पीछे बरात है। 'छोट-बड़ सब समुदाई' में बराती, सेवक, वाहन सभी आ गये।

(३) 'बीच-बीच बर बास', यथा—"बीच बीच बरबास बनाये। मरपुर सरिस" (दो० ३०३)।

हने निसान पनव बर बाजे। भेरि-संख-धुनि हय गय गाजे ॥१॥
झाँझि बीन डिंडिमी सुहाई। सरस राग बाजहिं सहनाई ॥२॥
पुरजन आवत अकनि बराता। मुदित सकल पुलकावलि गाता ॥३॥
निज निज सुंदर सदन सँवारे। हाट बाट चौहट पुर द्वारे ॥४॥
गली सकल अरगजा सिंचाई। जहँ तहँ चौकें चारु पुराई ॥५॥
बना बजार न जाइ बखाना। तोरन केतु पताक बिताना ॥६॥
सफल पूगफल कदलि रसाला। रोपे बकुल कदंब तमाला ॥७॥
लगे सुभग तरु परसत धरनी। मनिमय आलबाल कल करनी ॥८॥

दोहा—बिबिध भाँति मंगलकलस, गृह-गृह रचे सँवारि।
सुर ब्रह्मादि सिहाहिं सब, रघुबर-पुरी निहारि ॥ ३४४॥

शब्दार्थ—भेरि = नगारा, तुरही, नफीरी। डिंडिमी = डुगडुगिया या डुगी नाम का बाजा। आलबाल = थाला।

अर्थ—नगाड़ों पर चोटें पड़ने लगीं, श्रेष्ठ ढोल बजने लगे, तुरही और शंख की ध्वनि हो रही है, हाथी, घोड़े गरज रहे हैं ॥१॥ झाँझें, वीणाएँ और डुगडुगियाँ सोह रही हैं, रसीले राग में शहनाइयाँ बज रही हैं ॥२॥ पुरवासी बरात को आती हुई सुनकर आनन्दित हैं, उन सबके शरीर में पुलकावलि हो रही

है ॥३॥ उन्होंने अपने-अपने सुन्दर घरों, बाजारों, मार्गों, चौराहों और नगर के बाहरी फाटकों को सजाया ॥४॥ सब गलियों को अरगजे से छिड़काव हुआ। जहाँ-तहाँ (जगह-जगह) सुन्दर चौकें पुराई गईं ॥५॥ बन्दनवार, ध्वजा, पताका और चन्दोवों से बाजार ऐसा सजा हुआ है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥६॥ फलदार सुपारी, केले, आम, मौलसिरी, कदम्ब और तमाल के पेड़ लगाये गये ॥७॥ वे लगे हुए सुन्दर पेड़ पृथ्वी को (फलों के भार से झुके हुए) छू रहे हैं, उनके थाले मणिमय हैं जो सुन्दर कारीगरी से बने हैं ॥८॥ घर-घर अनेकों प्रकार के मंगल कलश सजाकर रचे गये हैं, रघुवर श्रीरामजी की श्रेष्ठ पुरी अयोध्या को देखकर ब्रह्मा आदि देवता सिहाते हैं ॥३४४॥

विशेष—(१) 'हने निसान पनव···'—पूर्व—"लागी जुरन बरात" से—"येहि बिधि कीन्हि बरात पयाना। हय गय गाजहिं हने निसाना ॥" (दो० २९९-३०३), तक जो विधि कही गई, उसी विधि से यहाँ से भी चली। 'झाँझि बीन···'—प्रथम ऊँचे स्वर के बाजे कहे गये, यहाँ झाँझ आदि से मधुर ध्वनि के बाजे कहते हैं। शहनाई को अन्त में कहकर उसमें मिलकर इन झाँझ आदि का बजना जनाया। 'पुरजन आवत अकनि···'—इनका ही प्रसंग अगले दोहे तक है। 'मुदित'—इससे भीतर का आनन्द और 'पुलकावलि गाता' पद से बाहर की आनन्द-चेष्टा कही गई है। 'गली सकल अरगजा·····'—यथा—"बीथी सींची चतुर सम, चौकें चारु पुराइ।" दो० २९६)। 'सकल' अर्थात् जिधर से होकर बरात आवेगी, वही पंथ नहीं, किन्तु सब गलियाँ सिंचाई गईं। 'सफल पूगफल···'—'लगे सुभग तरु···'—फले-फूले हुए बड़े-बड़े पेड़ तुरत नहीं लगते, पर यहाँ श्रीरामजी के प्रभाव से 'परसत धरनी' लग गये, मानों यहीं पूर्व ही से लगे हुए हैं, तथा—"सफल रसाल पूगफल केरा। रोपहु बीथिन्ह पुर चहु फेरा ॥" (अ० दो० ५)। पहले 'सफल' कहा था, फिर उन्हें ही 'सुभग' कहकर जनाया कि फलों के अतिरिक्त वे फूलों और पल्लवों से भी सुहावने हैं। 'सफल' लगाये जिससे चारों जोड़ियाँ फूलें-फलें।

भूपभवन तेहि अवसर सोहा। रचना देखि मदनमन मोहा ॥१॥
मंगल सगुन मनोहरताई। रिधि सिधि सुख संपदा सुहाई ॥२॥
जनु उछाह सब सहज सुहाये। तनु धरि-धरि दसरथ-गृह आये ॥३॥
देखन हेतु रामबैदेही। कहहु लालसा होहि न केही ॥४॥
जूथ-जूथ मिलि चलीं सुआसिनि। निज छबि निदरहिं मदनबिलासिनि ॥५॥
सकल सुमंगल सजे आरती। गावहिं जनु बहु बेष भारती ॥६॥
भूपति-भवन कोलाहल होई। जाइ न बरनि समय सुख सोई ॥७॥
कौसल्यादि राम-महतारी। प्रेमबिबस तन-दसा बिसारी ॥८॥

दोहा—दिये दान बिप्रन्ह बिपुल, पूजि गनेस पुरारि।
प्रमुदित परम दरिद्र जनु, पाइ पदारथ चारि ॥३४५॥

अर्थ—उस समय राजा का महल ऐसा सोह रहा है कि उसकी सजावट देखकर कामदेव का भी मन मोहित हो (लुभा) जाता है ॥१॥ मंगल, शकुन, मनोहरता, ऋद्धि, सिद्धि, सुख और सुहावनी सम्पदा ॥२॥ मानों सभी सहज सुन्दर उत्साह देह धर-धरकर श्रीदशरथजी के घर आये हैं ॥३॥ श्रीरामजी और वैदेही श्रीसीताजी के दर्शनों के लिये कहिये तो भला, किसे लालसा न होगी ? ॥४॥ झुंड-झुंड मिलकर सौभाग्यवती स्त्रियाँ चलीं, वे अपनी छवि से कामदेव की विलासिनी (स्त्री) रति का निरादर कर रही

हैं ॥५॥ सभी समस्त मंगलों के साथ आरती सजे हुए गा रही हैं, मानों शारदा बहुत वेष धारण किये हुए (गा रही) हैं ॥६॥ राजा के महल में कोलाहल हो रहा है, उस समय का सुख कहा नहीं जा सकता ॥७॥ कौसल्या आदि श्रीरामजी की सब माताएँ प्रेम के विशेष वश होने से शरीर की सुधि भूल गई हैं ॥ ८॥ गणेशजी और शिवजी की पूजा करके उन्होंने ब्राह्मणों को बहुत-से दान दिये, इससे वे परम आनन्दित हुईं, जैसे परम दरिद्र चारो पदार्थ पाकर (आनन्दित हो) ॥३४५॥

विशेष—'भूपभवन तेहि···'—ऊपर 'रघुबर पुरी निहारि' ब्रह्मादि देवताओं का सिहाना कहा और यहाँ राजमहल की रचना पर काम का मोहना कहकर इसे श्रेष्ठ जनाया। पूर्व कहा गया था—"भूपभवन किमि जाइ बखाना। बिस्वबिमोहन रचेउ बिताना ॥" (दो० २९६), यहाँ उसकी रचना पर विश्व-विजयी काम का भी मोहित होना कहकर विशेषता दिखाई, क्योंकि अब चारो दूलह-दुलहिनों के साथ आकर इसमें विराजेंगे। मंगल सगुन आदि शरीर धरकर क्यों आये? इसीकी पुष्टि में कहते हैं कि—'देखन हेतु राम···'। यहाँ तक पुरुषों के कृत्य कहे गये, आगे—'जूथ-जूथ···' से स्त्रियों के कृत्य कहते हैं—'बहु बेष भारती'—शुद्ध उच्चारण एवं मधुर स्वर के लिये सरस्वती की उपमा है। 'कोलाहल'—सुवासिनियों के गान और बाजों के शब्द से अपना पराया नहीं सुन पड़ता, उत्सव की इन बातों से सुख छा रहा है। माताओं को परिछन में आगे चलना चाहिये, पर वे प्रेम के विशेष वश होने से देह-सुधि ही भूल गई हैं। 'परम दरिद्रजनु···'—परम दरिद्र दुःख की सीमा है, यथा—"नहि दरिद्र सम दुख जगमाहीं (उ० दो० १२०), और वह अचानक एक साथ ही चारो फल पा जाय यह सुख की सीमा है। यहाँ चार वर और उनकी दुलहनों की प्राप्ति 'क्रियन्ह सहित फल चारि' की प्राप्ति है।

मोद-प्रमोद-बिवस सब माता। चलहिं न चरन सिथिल भये गाता ॥१॥
रामदरस-हित अति अनुरागीं। परिछन साज सजन सब लागीं ॥२॥
बिबिध बिधान बाजने बाजे। मंगल मुदित सुमित्रा साजे ॥३॥
हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूगफल मंगलमूला ॥४॥
अच्छत अंकुर रोचन लाजा। मंजुल मंजरि तुलसि बिराजा ॥५॥
छुहे पुरटघट सहज सुहाये। मदन सकुन जनु नीड़ बनाये ॥६॥
सगुन सुगंध न जाहिं बखानी। मंगल सकल सजहिं सब रानी ॥७॥
रची आरती बहुत बिधाना। मुदित करहिं कल मंगल गाना ॥८॥

दोहा—कनकथार भरि मंगलन्हि, कमल-करन्हि लिये मात।
चलीं मुदित परिछन करन, पुलकपल्लवित गात ॥३४६॥

शब्दार्थ—अंकुर = जव, चना आदि के अंकुर मंगल माने जाते हैं। रोचन = एक पीले रंग का सुगन्धित द्रव्य, जो गाय के हृदय के पास पित्त से निकलता है, अष्टगन्ध में है, पवित्र एवं मांगलिक है, यथा—"चिर रुचि तिलक गोरोचन को कियो है।" (गी० बा० १०), कहा जाता है कि गाय के कान में स्वाती नक्षत्र का जल-बिन्दु पड़ने से गोरोचन होता है। रोचन = गोरी (भी अर्थ है)।

अर्थ—सब माताएँ मोद-प्रमोद के विशेष वश हो गईं, उनके शरीर शिथिल हो गये, इससे चरण नहीं चलते ॥१॥ श्रीरामजी के दर्शनों के लिये अत्यन्त अनुरक्त हो गईं, सभी परिछन करने के साज सजने लगीं ॥२॥ अनेक प्रकार के बाजे बजने लगे, सुमित्राजी ने आनन्द के साथ मंगल साज सजाये ॥३॥ हल्दी,

दूर्वादल, दही (गाय का), पल्लव (आम आदि के), फूल, पान, सुपारी आदि मंगल मूलक वस्तुएँ ॥४॥ अक्षत (धोये चावल), अंकुर, गोरोचन, धान की खीलें और सुन्दर मंजरी युक्त तुलसी शोभायमान हैं ॥५॥ छुहे (ऐपन से पोते और गोंठे) हुए सोने के कलश स्वाभाविक ही सुन्दर हैं, मानों कामदेव (रूपी पक्षी) ने (अपने रहने के लिये) घोंसले बनाये हैं ॥६॥ शकुन, सुगन्ध (गुलाब, केवड़ा, चन्दन, कपूर आदि) का बखान नहीं किया जा सकता, सब रानियाँ समस्त मंगल सजा रही हैं ॥७॥ बहुत प्रकार की आरतियाँ रची हैं और आनन्द सहित सुन्दर मांगलिक गाने गा रही हैं ॥८॥ सोने के थालों को मांगलिक पदार्थों से भरकर माताएँ कमल के समान हाथों में लिये हुई आनन्द पूर्वक परिछन करने के लिये चलीं; उनके शरीर पुलकावली से फूले (रोयें खड़े) हुए हैं ॥३४६॥

विशेष—(१) 'मोद-प्रमोद-बिवस···' (क) पुत्रों के देखने को मोद (आनन्द) है और नई दुलहिनों के देखने के लिये प्रमोद (प्रकर्ष-आनन्द) है। (ख) अधिकता दिखाने को भी दोनों शब्द एक साथ आते हैं, यथा—"आनंद महँ आनंद अवधं०" (गी० बा० २)।

(२) 'रामदरस-हित अति अनुरागीं', यथा—"सबके उर निर्भर हरष, पूरित पुलक सरीर। कबहिं देखिबे नयन भरि, राम-लखन···" (दो० ३००)।

(३) 'मंगल मुदित सुमित्रा साजे'—मंगल सजाने एवं चौक पूरने में श्रीसुमित्राजी प्रवीण थीं, इससे प्रायः जहाँ-तहाँ इन्हींका नाम आता है, यथा—"चौकें चारु सुमित्रा पूरी।" (अ० दो० ७)।

(४) 'मदन सकुन जनु नीड़ बनाये'—सोने के घड़े ऐसे बने हैं कि (पेट बड़े मुँह छोटे) जिन्हें देखकर काम पक्षी बनकर उनमें इस डर से छिप बैठा है कि श्रीराम-जानकी की सुन्दरता के आगे हम फीके पड़ जायँगे। पाठान्तर 'सकुचि' भी है, इसमें अर्थ होगा कि उन घड़ों में काम (पक्षी) सकुचकर छिपा बैठा है, हेतु उपर्युक्त ही है, परन्तु इसमें अध्याहार से पक्षी को लाना क्लिष्ट कल्पना हो गई। 'आरती बहुत बिधाना'—आरती मणियों और पुष्पों की, कपूर की, दीपबत्तियों की, इन बत्तीवाली में भी समबत्ती ४, ६, ८ की, दूसरी विषमबत्ती ३, ५, ७ इत्यादि की होती है तथा और भी बहुत-से विधान पाये जाते हैं।

'कनकथार भरि मंगलन्हि···', यथा—"मंगल बिटप मंजुल बिपुल दधि दूब अच्छत रोचना। भरि थार आरति सजहिं सब सारंग-सावक-लोचना॥·····सजि साज परिछन चली रामहि···" (जानकी मंगल १५५)।

धूपधूम नभ मेचक भयेऊ। सावन घनघमंड जनु ठयेऊ ॥१॥
सुरतरु-सुमन-माल सुर बरषहिं। मनहुँ बलाक अवलि मन करषहिं ॥२॥
मंजुल मनिमय बंदनिवारे। मनहुँ पाकरिपु - चाप सँवारे ॥३॥
प्रगटहिं दुरहिं अटन्ह पर भामिनि। चारु चपल जनु दमकहिं दामिनि ॥४॥
दुंदुभिधुनि घनगरजनि घोरा। जाचक चातक दादुर मोरा ॥५॥
सुर सुगंध सुचि बरषहिं बारी। सुखी सकल ससि पुर-नर-नारी ॥६॥
समय जानि गुरु आयसु दीन्हा। पुर - प्रबेस रघुकुल-मनि कीन्हा ॥७॥
सुमिरि संभु गिरिजा गनराजा। मुदित महीपति सहित समाजा ॥८॥

दोहा—होहिं सगुन बरषहिं सुमन, सुर दुंदुभी बजाइ।
बिबुधबधू नाचहिं मुदित, मंजुल मंगल गाइ ॥३४७॥

शब्दार्थ—ठयेऊ (ठानेऊ)=ठहर गये, छा गये। घमंड=घुमड़कर। पाकरिपु=इन्द्र। सस्य (शस्य) = खेती-बारी।

अर्थ—धूप के धुएँ से आकाश ऐसा काला हो गया कि मानों सावन के महीने में बादल घुमड़कर छा गये हैं ॥१॥ देवतागण कल्पवृक्ष के फूलों की मालाएँ बरसाते हैं, वे मानों बगुलों की पंक्तियाँ हैं, वे (शोभा से दर्शकों के) मन को खींचे लेती हैं ॥२॥ सुन्दर मणियों से युक्त बन्दनवारें ऐसी जान पड़ती हैं कि मानों इन्द्र धनुष सजाकर रक्खे गये हैं ॥३॥ अटारियों पर स्त्रियाँ प्रकट होती और फिर छिपती हैं, मानों सुन्दर चपल बिजलियाँ (आकाश में) दमक रही हैं ॥४॥ नगाड़ों की आवाज बादलों की घोर गर्जना है। चातक, मेढक और मोर भिक्षुक हैं ॥५॥ देवता पवित्र सुगन्ध की जल-वृष्टि कर रहे हैं, खेती रूपी नगर के सभी स्त्री-पुरुष सुखी हैं ॥६॥ समय (मुहूर्त) जानकर गुरु वसिष्ठजी ने आज्ञा दी, तब रघुकुल-शिरोमणि दशरथजी ने अपने पुर श्रीअयोध्याजी में प्रवेश किया ॥७॥ शिवजी, पार्वतीजी और गणेशजी का स्मरण करके राजा दशरथ समाज के साथ आनन्दित हैं ॥८॥ शकुन हो रहे हैं, देवगण नगाड़े बजाकर फूल बरसा रहे हैं, देवताओं की स्त्रियाँ आनन्द पूर्वक सुन्दर मंगल गान गा-गाकर नृत्य कर रही हैं ॥३४७॥

विशेष—(१) 'धूप-धूम नभ···'—यहाँ से वर्षा का पूरा रूपक बाँधते हैं, अयोध्या के ऊपरी भाग की शोभा कहते हैं, यथा—"धवल धाम ऊपर नभ चुंबत।" (उ० दो० २६)। वर्षा में मेघ मुख्य हैं। अतः, प्रथम कहा, श्रावण के मेघ काले होते भी हैं। 'बलाक अवलि' अर्थात् कल्प-वृक्ष के फूल श्वेत होते हैं, क्योंकि बगुले श्वेत होते और बादल देखकर पंक्ति बाँधकर उड़ते भी हैं।

(२) 'मनहुँ पाकरिपु-चाप···'—इन्द्र-धनुष में सात रंग माने जाते हैं। अतः, इस उपमा से बन्दनवारों को रंग-बिरंग की मणियों से युक्त होना सूचित किया। चाप शत्रु के लिये सवाँरा जाता है, इसलिये इन्द्र का 'पाकरिपु' (पाक नामक दैत्य के शत्रु) नाम दिया गया है, यथा—"जनु इंद्र-धनुष अनेक की बरबारि तुंग तमाल ही।" (लं० दो० १००), यहाँ रूपक में कहा गया है, पर इसका देखना और दिखाना मना है, इसीसे किष्किन्धाकाण्ड के वर्षा-वर्णन में नहीं कहा गया, क्योंकि वहाँ देखने और दिखाने का प्रसंग है।

(३) 'प्रगटहिं दुरहिं अटनि पर···'—स्त्रियाँ ऊँचे-ऊँचे कोठों पर शीघ्रता से इधर-उधर आती जाती हैं, उनके कान्ति-युक्त गौर-अंग जँगलों से बिजली की चमक की तरह दिखाई देकर तुरत छिप जाते, हैं, वा वे जँगलों से झाँक-झाँक कर छिप जाती हैं।

'दुंदुभिधुनि घनगरजनि···'—बिजली दमकने के साथ ही गर्जन भी कहते हैं। पर्वताकार हाथियों एवं ऊँटों पर नगाड़े बज रहे हैं, वे ही मेघ-गर्जन हैं। जो याचक श्रीराम-रूप के अनन्य हैं, उन्हींके विरुद कहते और निछावर चाहते हैं, वे चातक रूप हैं, जो जय-जयकार करते हैं, वे मेढक हैं, और जो आनन्द से भरे नृत्य कर रहे हैं, वे मोर हैं। इनमें मागध, सूत, वन्दी और नट सब आ जाते हैं।

(४) 'सुर सुगंध सुचि···'—देवता जल बरसाते हैं; यथा—"देवन बरषहिं धरनि पर" (उ० दो० १०१), वैसे यहाँ देवतागण सुगन्धों की वर्षा कर रहे हैं, मानों वर्षा हो रही है। वर्षा से खेती हरी-भरी होती है, वैसे ही यहाँ पुर नर-नारी सुखी हैं।

(५) 'सुमिरि शंभु गिरिजा···'—श्रीअवध से बरात चलने के समय कहा गया है,—"आपु चढ़उ स्यंदन सुमिरि, हर गुरु गौरि गनेस।" (दो० ३०१), यहाँ पुनः प्रवेश में भी वही स्मरण विधि है, गुरु का स्मरण उनकी आज्ञा पाकर चलने में है। 'होहिं सगुन'—शकुन भी यात्रा समय में विस्तार से कहे गये हैं, उन्हें ही यहाँ भी जानिये। 'मुदित'—यह भीतरी शकुन भी साथ ही है।

मागध सूत बंदि नट नागर । गावहिं जस तिहुँ लोक उजागर ॥१॥
जयधुनि बिमल बेद-बर-बानी । दस दिसि सुनिय सुमंगल सानी ॥२॥
बिपुल बाजने बाजन लागे । नभ सुर नगर लोग अनुरागे ॥३॥
बने बराती बरनि न जाहीं । महामुदित मन सुख न समाहीं ॥४॥
पुरबासिन्ह तब राय जोहारे । देखत रामहिं भये सुखारे ॥५॥
करहिं निछावरि मनिगन चीरा । बारि बिलोचन पुलक सरीरा ॥६॥
आरति करहिं मुदित पुरनारी । हरषहिं निरखि कुअँर बर चारी ॥७॥
सिबिका सुभग ओहार उघारी । देखि दुलहिनिन्ह होहिं सुखारी ॥८॥

दोहा—येहि बिधि सबही देत सुख, आये राजदुआर ।
मुदित मातु परिछन करहिं, बधुन्ह समेत कुमार ॥३४८॥

अर्थ—मागध, सूत, भाट और चतुर नट तीनो लोकों में प्रकाशित (श्रीदशरथजी एवं श्रीरामजी के) यश गा रहे हैं ॥१॥ जयध्वनि और निर्मल श्रेष्ठ वेद की वाणी सुन्दर मंगलों से सनी हुई दशों दिशाओं में सुनी जाती हैं ॥२॥ अनेक बाजे बजने लगे, आकाश में देवता और नगर में लोग अनुरक्त हो गये ॥३॥ बराती ऐसे बने (सजे-धजे) हैं कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता, वे मन में बड़े आनन्दित हैं, उनके हृदय में सुख नहीं समाता ॥४॥ पुरवासियों ने तब राजा को सिर झुकाया, वे श्रीरामजी को देखते ही सुखी हुए ॥५॥ (वे लोग) मणियाँ और वस्त्र न्योछावर कर रहे हैं, उनके नेत्रों में जल है और सबके शरीर पुलकित हैं ॥६॥ नगर की स्त्रियाँ आनन्दित मन से आरती कर रही हैं, चारो सुन्दर कुमारों को देखकर हर्षित हो रही हैं ॥७॥ सुन्दर पालकी के सुन्दर परदे उठा-उठाकर दुलहिनों को देख-देख प्रसन्न होती हैं ॥८॥ इस भाँति सभीको सुख देते हुए चारो राजकुमार बहुओं के साथ राजद्वार पर आये, तब माताएँ बड़े आनन्द से उनकी परिछन करने लगीं ॥३४८॥

विशेष—'जस तिहुँ लोक उजागर'—श्रीरामजी का और श्रीचक्रवर्त्तीजी का यश, यथा—"महि पाताल नाक जस ब्यापा । राम बरी सिय भंजेउ चापा ॥" (दो० २६४), "त्रिभुवन तीनिकाल जग माहीं । भूरि भाग दसरथ सम नाहीं ॥" (अ० दो० १)। 'बिपुल बाजने'—पूर्व बाजों के नाम कहे गये हैं। 'बने बराती···'—इस पूर्वार्द्ध में इनका वाह्य सुख ठाट-बाट का कहा गया है और 'महामुदित मन···' इस उत्तरार्द्ध में इनके मानसिक आनन्द का वर्णन है। 'आरति करहिं ··· ऊपर पुरुषों का निछावर करना कहा और यहाँ स्त्रियों का आरती करना है। द्वार-द्वार पर स्त्रियाँ आरती सजे खड़ी हैं, राजा धीरे-धीरे आ रहे हैं। अतः, सर्वत्र आरती होती आती है। 'मुदित मातु परिछन ···'—बाहर मार्ग में कुमार और बधुएँ भिन्न-भिन्न सवारियों पर आये, परन्तु राजद्वार के समीप आने पर एक साथ वर-दुलहिन सवार हुए, इसीसे 'बधुन्ह समेत कुमार' की एकत्र परिछन लिखी है।

करहिं आरती बारहिं बारा । प्रेम प्रमोद कहइ को पारा ॥१॥
भूषन मनि पट नाना जाती । करहिं निछावरि अगनित भाँती ॥२॥
बधुन्ह समेत देखि सुत चारी । परमानंद - मगन महतारी ॥३॥
पुनि-पुनि सीयराम-छबि देखी । मुदित सुफल जग-जीवन लेखी ॥४॥
सखी सीयमुख पुनि-पुनि चाही । गान करहिं निज सुकृत सराही ॥५॥

बरषहिं सुमन छनहिंछन देवा। नाचहिं गावहिं लावहिं सेवा ॥६॥
देखि मनोहर चारिउ जोरी। सारद उपमा सकल ढँढोरी ॥७॥
देत न बनहि निपट लघु लागी। एकटक रही रूप अनुरागी ॥८॥

दोहा—निगमनीति कुलरीति करि, अरघ पाँवड़े देत।
बधुन्ह सहित सुत परिछि सब, चलीं लिवाइ निकेत ॥३४६॥

अर्थ—वे बार-बार आरती करती हैं, उस प्रेम और प्रमोद को कौन कह सकता है ? ॥१॥ अगणित प्रकार के एवं अनेक जातियों के भूषण, मणि और वस्त्र अगणित प्रकार से न्योछावर करती हैं ॥२॥ बहुओं के साथ चारों पुत्रों को देखकर माताएँ परम आनन्द में मग्न हैं ॥३॥ फिर-फिर श्रीसीतारामजी की छवि को देख अपने जीवन को संसार में सफल मानकर सुखी हुईं ॥४॥ सखियाँ श्रीसीताजी का मुख बार-बार देखकर अपने पुण्यों की प्रशंसा करके गान कर रही हैं ॥५॥ क्षण-क्षण पर देवता फूल बरसाते हैं और नाचते-गाते हुए अपनी सेवा पहुँचाते हैं ॥६॥ मन हरनेवाली चारों जोड़ियों को देखकर सरस्वती ने सारी उपमाएँ खोज डालीं ॥७॥ पर कोई उपमा देते नहीं बनी, सभी नितान्त तुच्छ समझ पड़ीं, (तब सब ओर से हारकर) इन्हींके रूपों को अनुराग-पूर्वक एकटक देखती रह गईं ॥८॥ वेद-विधान और कुल-रीति करके अर्घ पाँवड़े देती हुई सब पुत्रों की बहुओं के साथ परिछन करके महल में लिवा ले चलीं ॥३४६॥

विशेष—'करहिं आरती बारहिं···'—विविध-विधान की आरतियाँ रची गई हैं। अतः, करने में 'बारहिं बारा' कहा गया, तथा—"सुत बिलोकि हरषी महतारी। बार-बार आरती उतारी ॥" (उ० दो० १२), परिछन की उत्सुकता में 'मोद-प्रमोद बिबस···' कहा गया था, यहाँ प्रत्यक्ष दर्शन होने पर अपार 'प्रेम-प्रमोद' हुआ। पुरवासियों को आनन्द हुआ, माताओं को 'परमानंद मगन' कहा गया। 'सीयराम-छबि' को 'पुनि-पुनि' देखना कहकर इन्हें तीन जोड़ियों की अपेक्षा अधिक सुखसागर जनाया, यथा—"चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा ॥" (दो० १९७), 'मुदित सकल···', यथा—"नैन लाहु लहि जनम सफल करि लेखहिं ।" (जानकी मंगल ११७)। पुनः इस जोड़ी में श्रीसीताजी को उत्तमतर देखकर सखियाँ इनको फिर-फिर देखती हैं। अतः,—'सखी सीय मुख पुनि-पुनि चाही। कहा है। 'एकटक रही रूप···'—जब कहीं उपमा योग्य न मिली, तब मुग्ध होकर इन्हीं को देखती रह गई' कि इनके समान बस ये ही हैं। 'अनुरागी'—प्रीतिपूर्वक देखती ही रह गई। 'निगम नीति कुल रीति···'—वसिष्ठजी ने वेद-रीति कराई और कुल-वृद्धों ने कुल-रीतियाँ कराईं। यहीं से पैदल चलना है, इससे 'अरघ पाँवड़े देत' कहा गया है।

चारि सिंहासन सहज सुहाये। जनु मनोज निज हाथ बनाये ॥१॥
तिन्ह पर कुअँरि कुअँर बैठारे। सादर पाय पुनीत पखारे ॥२॥
धूप दीप नैबेद बेद - बिधि। पूजे बर - दुलहिनि मंगलनिधि ॥३॥
बारहिं बार आरती करहीं। ब्यजन चारु चामर सिर ढरहीं ॥४॥
बस्तु अनेक निछावरि होहीं। भरी प्रमोद मातु सब सोहीं ॥५॥
पावा परमतत्त्व जनु जोगी। अमृत लहेउ जनु संतत रोगी ॥६॥
जनमरंक जनु पारस पावा। अंधहि लोचनलाभ सुहावा ॥७॥
मूकबदन जनु सारद छाई। मानहुँ समर सूर जय पाई ॥८॥

दोहा—येहि सुख ते सत-कोटि-गुन, पावहिं मातु अनंद ।
भाइन्ह सहित बिबाहि घर, आये रघुकुल-चंद ॥
लोकरीति जननी करहिं, बर दुलहिन सकुचाहिं ।
मोद बिनोद बिलोकि बड़, राम मनहिं मुसुकाहिं ॥३५०॥

अर्थ—स्वाभाविक ही सुन्दर चार सिंहासन हैं, मानों कामदेव ने उन्हें अपने हाथों से बनाया है ॥१॥ उनपर कुमारों और कुमारियों को बैठाया और आदर के साथ उनके पवित्र चरण धोये ॥२॥ वेद-रीति के अनुसार धूप-दीप-नैवेद्य आदि से मंगल के निधान दूलहों और दुलहिनों की पूजा की ॥३॥ फिर वे बार-बार आरती कर रही हैं, सुन्दर पंखे और चँवर सिर पर झले जा रहे हैं ॥४॥ अनेक वस्तुएँ न्योछावर हो रही हैं, परम आनन्द में भरी हुई सब माताएँ सुशोभित हैं ॥५॥ (उनका वह आनन्द ऐसा था) मानों किसी योगी ने परम-तत्त्व पाया हो वा किसी जन्म के रोगी को अमृत मिला हो ॥६॥ वा जन्म के दरिद्र ने पारस पाया हो, एवं अन्धे को सुन्दर नेत्रों का लाभ हुआ हो ॥७॥ मानों गूँगे के मुख में (जिह्वा पर) सरस्वती बस गई हों, अथवा मानों लड़ाई में किसी शूरवीर ने जय पाई हो ॥८॥ माताएँ इन सुखों से सौ करोड़ गुने सुख पा रही हैं। जब रघुकुल के चन्द्र श्रीरामजी भाइयों के साथ ब्याह कर घर आये ॥ माताएँ लोक-रीति करती हैं और वर-दुलहिनें सकुचती हैं, इस बड़ी आनन्द-क्रीड़ा को देखकर श्रीरामजी मन-ही-मन मुसकुराते हैं ॥३५०॥

विशेष—(१) 'सहज सुहाये'—इनकी स्वाभाविक रचना ही सुन्दर है, सजाने की आवश्यकता नहीं। "सादर पाय पुनीत···" से—"आरती करहीं ॥" तक षोड़शोपचार पूजा जनाई। 'सादर'—इन्हीं चरणों से परम पावनी गंगाजी भी प्रकट हुई हैं एवं अहल्या तरी है, इत्यादि महत्त्व-दृष्टि से माताएँ और भी प्रेम-पूर्वक धोती हैं। यहाँ देव-पूजन की रीति से आरती की गई। 'बेद-बिधि' अर्थात् वेदोक्त मन्त्रों के साथ पूजा की गई, 'मंगल-निधि'—मंगल के लिये मंगल-निधि की पूजा की गई। 'व्यजन चारु···'—पंखे के सम्बन्ध से वैशाख मास सूचित किया, क्योंकि बरात कार्त्तिक में जनकपुर पहुँची, अगहन में ब्याह हुआ, पूस, माघ, फागुन पहुनाई में बीत गये, चैत में विदाई हो नहीं सकती थी। अतः, वैशाख में सब लौट कर आये। अतः, पंखों की आवश्यकता हुई। यदि कहा जाय कि वैशाख मास मानने में—"सुंदर बधुन्ह सासु ले सोई। फनिकन्ह जनु सिरमनि उर गोई ॥" (दो० ३५७)—इससे विरोध पड़ेगा तो समाधान यह है कि राजा ने कहा था—"राखेहु नयन पलक की नाईं" (दो० ३५४), इसके अनुसार तो सासों को आँख में रखना चाहिये था, वैसा क्यों नहीं किया ? साँप चारो ओर पिंडी सी बाँधकर मणि को बीच रखकर छिपा रखता है, वैसा भी तो सासें नहीं कर सकतीं। अतः, यहाँ समयानुसार इनको प्यार से रखने का तात्पर्य है। यदि वैशाख है तो सासें अपने पास में उन्हें लिटाकर स्वयं भी वहीं सोई हैं। उनकी सार-सँभाल वैसे ही करती हैं, जैसे साँप मणि की। कौसल्याजी ने कहा भी है—"जिअन मूरि जिमि जोगवत रहऊँ।···" (अ० दो० ५८), इन सब वचनों का तात्पर्य वधुओं को प्यार से संरक्षण एवं सार-सँभाल का है। 'भरी प्रमोद मातु···'—पूर्व कहा था—'प्रेम-प्रमोद कहइ को पारा।' उसी दशा को यहाँ तक एक रस दिखाते हुए 'भरी प्रमोद' कहा है।

(२) 'पावा परम तत्त्व ···'—जबसे श्रीराम-लक्ष्मणजी विश्वामित्रजी के साथ गये, तबसे कौसल्या आदि माताएँ दुःखी रहती थीं, अब चारो भाई दुलहिनों के साथ आये, तो उस दुःख की निवृत्ति और इस सुख की प्राप्ति को ग्रन्थकार छः दृष्टान्तों से कहते हैं—यह पहली उपमा है। योगी लोग परम तत्त्व की प्राप्ति के लिये दुःख से चिन्तन करते रहते हैं और उसकी प्राप्ति पर सुखी होते हैं, उसी तरह माताएँ

श्रीरामजी के लिये सदा दुःख से चिन्तन करती थीं, माताओं की वह दशा गी० बा० ६७-६६, इन तीन पदों में देखिये। अतः, दुलहिनों के साथ श्रीराम आदि की प्राप्ति से इन्हें योगियों से सौ करोड़ गुने आनन्द हुए, क्योंकि श्रीरामजी परम तत्त्व रूप हैं, यथा—"जोगिन्ह परम तत्त्व मय भासा।" (दो० २४१)। 'अमृत लहेउ जनु···'—यह दूसरी उपमा है। माताएँ पुत्र-मोह-रूप मानस-रोग (आधि) से रोगी की तरह दुःखी थीं, इन्हें खाना-पीना नहीं सुहाता था—"सरुज सरीर बादि बहु भोगा" (अ० दो० १७७) कहा ही है। जब अमृत-रूप श्रीराम आदि के दर्शन हुए, यथा—"सुधा समुद्र समीप बिहाई। मृगजल निरखि मरहु कत धाई॥" (दो० २४५) तब वह दुःख निवृत्त हुआ और रोगी से सौ करोड़ गुने सुख की प्राप्ति हुई। 'जनम रंक जनु पारस पावा।'—यह तीसरी उपमा है। दरिद्री द्रव्य-हीन होने से खाने-पहनने से दुःखी रहता है। उसे यदि पारस प्राप्त हो गया, तो खाने-पहनने का पूर्ण सुख प्राप्त हो गया। उसी तरह माताओं को श्रीरामजी के विरह में खाना-पहनना नहीं सुहाता था, दरिद्र की-सी दशा में रहती थीं, क्योंकि वे जानती थीं कि ऋषि लोगों के साथ श्रीरामजी कन्द-मूल आदि ही खाते होंगे। जब श्रीरामजी आकर प्राप्त हुए, तब सब सुख माताओं को पुनः प्राप्त हुए, जैसे दरिद्र को पारस की प्राप्ति से हों। 'अंधहिं लोचन लाभ सुहावा'—यह चौथी उपमा है। माताएँ श्रीरामजी के विरह में दुःखी बैठी रहती थीं, अन्धे की भाँति बुद्धि से कोई बात नहीं सूझती थी, जब नेत्र रूप श्रीरामजी प्राप्त हुए, तब सब सूझ हो गई, चलने-फिरने लगीं। अतः, इन्हें उस अन्धे से शत कोटि गुण सुख मिले। नेत्र-रूप श्रीरामजी हैं, यथा—"निज कर नयन काढ़ि चह दीखा।" (अ० दो० ४६)। 'मूक बदन जनु सारद छाई'—यह पाँचवीं उपमा है। श्रीराम-वियोग में माताएँ गुमसुम बैठी रहती थीं, किसीसे बोलना नहीं सुहाता था, जब श्रीरामजी आ गये, तब उनसे बोलने लगीं और इससे जो सुख हुआ वह गूँगे को सरस्वती की प्राप्ति से शत-कोटि गुण है, यहाँ श्रीराम-जी शारदा-रूप हैं, यथा—"सारद कोटि अमित चतुराई।" (उ० दो० ९१)। 'मानहु समर सूर जय पाई'—यह छठी उपमा है। शूर-वीर प्रथम प्राण अर्पण करके समर करता है, संयोग से विजय के साथ प्राण सुरक्षित पाकर अत्यन्त सुखी होता है। वैसे ही माताओं ने प्राण-रूप पुत्रों को ताटका, मारीच आदि से संग्राम के लिये दिया था। इसीसे माताओं की उपमा शूर की है। इन्हें विजय-रूपा श्रीजानकीजी के साथ प्राण-रूप पुत्र सुरक्षित आकर प्राप्त हुए, इससे उस शूर से शतकोटि-गुण सुख माताओं को हुए। इन छः प्रकार के भावों को दिखाने के लिये छः उपमाएँ दी गई हैं। अथवा आनन्द मात्र के आधिक्य दिखाने के लिये उसे कई प्रकार से पुष्ट किया।

(२) 'लोकरीति जननी करहिं'—श्रीरंगजी के मन्दिर में ले जाकर वहाँ गाँठ जोर वर-दुलहिनों को चौक पर बैठा, श्रीरंगजी एवं गौरी-गणेश आदि का पूजन कराया, लहकौर कराके थाल में भूषण डालकर जुआ खेलाती हैं। भरत आदि की स्त्रियाँ जेठों के सामने सकुचाती हैं। इसी तरह भरत आदि भी बड़ों के बीच में यहाँ सकुचाते हैं। हार-जीत पर सखियाँ उभय पक्षों को गाली गाती हैं, इसपर भी उभय पक्ष सकुचते हैं। 'राम मनहि मुसुकाहिं'—इसलिये कि जो जोगियों को ध्यान में भी अगम है, उसे इन्होंने लोक-रीति में बाँध रक्खा है।

देव पितर पूजे बिधि नीकी। पूजी सकल बासना जी की॥१॥
सबहि बंदि माँगहिं बरदाना। भाइन्ह सहित राम-कल्याना॥२॥
अंतरहित सुर आसिष देहीं। मुदित मातु अंचल भरि लेहीं॥३॥
भूपति बोलि बराती लीन्हे। जान बसन मनि भूषन दीन्हे॥४॥
आयसु पाइ राखि उर रामहिं। मुदित गये सब निज-निज धामहिं॥५॥

पुन-नर-नारि सकल पहिराये। घर-घर बाजन लगे बधाये ॥६॥
जाचक जन जाचहिं जोइ जोई। प्रमुदित राउ देहिं सोइ सोई ॥७॥
सेवक सकल बजनिआ नाना। पूरन किये दान सनमाना ॥८॥

दोहा—देहिं असीस जोहारि सब, गावहिं गुन-गन-गाथ।
तब गुरु-भूसुर-सहित गृह, गवन कीन्ह नरनाथ ॥३५१॥

अर्थ—मन की सब वासनाएँ (इच्छाएँ) पूरी हुईं, इससे देवताओं और पितरों की उत्तम विधान से पूजा की ॥१॥ (पुनः) सबकी वन्दना करके उनसे यह वरदान माँगती हैं कि "भाइयों के साथ श्रीरामजी का कल्याण हो" ॥२॥ देवता अन्तर्हित (अदृश्य) रूप से असीसें देते हैं, आनन्दपूर्वक माताएँ अंचल भर-भरकर लेती हैं ॥३॥ फिर महाराज दशरथ ने बरातियों को बुला लिया, और उन्हें सवारियाँ, वस्त्र, रत्न और भूषण दिये ॥४॥ आज्ञा पाकर और श्रीरामजी को हृदय में रखकर आनन्द पूर्वक सब अपने-अपने घर गये ॥५॥ नगर के सभी स्त्री-पुरुषों को (वस्त्र) पहनाये, घर-घर बधाइयाँ बजने लगीं ॥६॥ भिक्षुक लोग जो-जो माँगते हैं, उन्हें आनन्द-पूर्वक राजा वही-वही देते हैं ॥७॥ सभी सेवकों (नाऊ-वारी आदि को) और अनेक बाजेवालों को दान और सम्मान से परिपूर्ण कर दिया ॥८॥ सब लोग प्रणाम करके असीस देते हैं और (राजा के) गुणगणों की कथा का गान करते हैं, तब गुरु और ब्राह्मणों के साथ राजा ने घर में प्रवेश किया ॥३५१॥

विशेष—(१)—'देव पितर पूजे'—विश्वामित्र के साथ श्रीराम-लक्ष्मण के जाते समय मनौतियाँ मानी गई थीं कि यज्ञ-रक्षा करके कुशलपूर्वक आवेंगे तब अमुक-अमुक विधान से पूजेंगी, वे सब अच्छी विधि से की गईं। 'भाइन्ह सहित राम···'—क्योंकि श्रीरामजी के तुल्य ही सभी प्रिय हैं। पुनः, श्रीरामजी भी भाइयों के सुख में सुखी होते हैं, यथा—"जनमे एक संग सब भाई" से "बड़ेहि अभिषेकू।" (अ० दो० ९) तक। 'अन्तरहित सुर···'—देवता अदृश्य रूप में बोलते हैं, क्योंकि उनका मूर्त्तिरूप से बोलना अमङ्गल है। जहाँ प्रकट बोलना है, वहाँ प्रायः, मन्त्रों द्वारा आवाहन पर है, अथवा प्रत्यक्ष होकर बोलना है। 'जान बसन मनि-भूषण दीन्हें।'—'जान' से यहाँ सब सवारियों का तात्पर्य है, यथा—"चले जान चढ़ि जो जेहि लायक।" (दो० २९९), 'आयसु पाइ · मुदित···'—इन्हें 'जान-बसन' आदि के पाने से नहीं, किन्तु श्रीरामजी को हृदय में रखने में आनन्द हुआ।

(२) 'जाचक जन···प्रमुदित राउ ···'—जैसे-जैसे याचक लोग माँगते हैं, राजा को आनन्द बढ़ता जाता है। अतः, 'प्रमुदित' कहा है। 'सेवक·· दान सनमाना'—सेवक आदि के सम्बन्ध से दान का अर्थ देने मात्र का है, संकल्प पूर्वक दान नहीं।

जो बसिष्ठ अनुसासन दीन्ही। लोक-बेद बिधि सादर कीन्ही ॥१॥
भूसुर-भीर देखि सब रानी। सादर उठीं भाग्य बड़ जानी ॥२॥
पाय पखारि सकल अन्हवाये। पूजि भली बिधि भूप जेंवाये ॥३॥
आदर दान प्रेम परिपोषे। देत असीस चले मन तोषे ॥४॥
बहु बिधि कीन्हि गाधि-सुत-पूजा। नाथ मोहि सम धन्य न दूजा ॥५॥
कीन्हि प्रसंसा भूपति भूरी। रानिन्ह सहित लीन्हि पगधूरी ॥६॥
भीतर भवन दीन्ह बर बासू। मन जोगवत रह नृप रनिवासू ॥७॥

पूजे गुरु - पद - कमल बहोरी। कीन्हि बिनय उर प्रीति न थोरी ॥८॥

दोहा—बधुन्ह समेत कुमार सब, रानिन्ह सहित महीस।
पुनि पुनि बंदत गुरुचरन, देत असीस मुनीस ॥३५२॥

अर्थ—फिर श्रीवसिष्ठजी ने जो आज्ञा दी, उस लोक और वेद-विधि को आदर के साथ उन्होंने किया ॥१॥ ब्राह्मणों की भीड़ देख सब रानियाँ अपना बड़ा भाग्य जानकर आदर पूर्वक उठीं ॥२॥ चरण धोकर सबको स्नान करवाया, फिर भलीभाँति से पूजन करके राजा दशरथ ने उनको भोजन करवाया ॥३॥ आदर, दान और प्रेम से पाले हुए वे मन से सन्तुष्ट होकर असीस देते हुए चले गये ॥४॥ गाधिपुत्र विश्वामित्रजी की पूजा बहुत विधान पूर्वक की, 'हे नाथ! मेरे समान धन्य दूसरा नहीं है, (इत्यादि रीतियों से) ॥५॥ राजा ने उनकी बहुत बड़ाई की और रानियों के साथ उनके चरणों की धूलि को लिया (शिरोधार्य किया) ॥६॥ भीतर महल में उन्हें श्रेष्ठ निवासस्थान दिया, राजा और रनिवास उनके मन को जुगाते रहते हैं ॥७॥ फिर गुरु (वसिष्ठजी) के चरण-कमलों की पूजा और विनती की, उनके हृदय में थोड़ी प्रीति नहीं है, अर्थात् अत्यन्त प्रीति है ॥८॥ बहुओं के साथ चारो राजकुमार और सब रानियों के साथ राजा बार-बार गुरुचरणों को प्रणाम करते हैं और मुनीश्वर वसिष्ठजी आशीर्वाद देते हैं ॥३५२॥

विशेष—(१) 'जो वसिष्ठ अनुसासन···'—अब यहाँ से भीतर के कृत्य कहने हैं।

(२) 'सादर उठीं भाग्य···'—एक ही ब्राह्मण विश्वामित्र के आने से कितना मंगल हुआ, अब तो बहुत-से एक साथ आये हैं। अतः, बड़ा भाग्य है, ऐसा जानकर उन सबके सत्कार के लिये सब उठीं। उठना आदर है, चरण धोकर स्नान करवाकर पीताम्बर पहनवाया। ये ब्राह्मण बरात के हैं, इससे बाहर से आये हैं। अतः, स्नान भी किया। तब तक गुरु-आज्ञा के कृत्य करके राजा आ गये, तब शेष कृत्य भोजन आदि राजा ने करवाये।

(३) 'गाधि सुत पूजा'—पूजा के समय इस महत्त्व पर दृष्टि थी कि ये राज-पुत्र से ब्रह्मर्षि हो गये, ऐसे तपस्वी हैं। 'मोहि सम धन्य न दूजा'—क्योंकि आपने पधारकर मेरे भवन को पवित्र किया और पुत्रों के बहुत तरह से कल्याण किये, इन्हीं उपकारों के प्रति एवं उनके महत्त्व के अनुसार भूरि प्रशंसा की। 'जोगवना'—यत्न-पूर्वक सार-सँभार करना, यथा—"दासी दास साज सब लीन्हें। जोगवत रहहिं मनहिं मन दीन्हें॥" (अ० दो० २१३)।

(४) 'पूजे गुरु-पद-कमल···'—राजा जनकजी ने वसिष्ठजी, विश्वामित्रजी और ब्राह्मणों की पूजा की थी, पर यहाँ उसका उल्टा हुआ, क्योंकि प्रधान की पूजा पहले और पीछे भी होती है। दो जगहों में दोनों रीतियाँ दिखाई गई हैं।

'बधुन्ह समेत ···'—'पुनि-पुनि' से प्रेमाधिक्य और 'देत' से बहुत आशीर्वाद जनाये।

बिनय कीन्हि उर अति अनुरागे। सुत संपदा राखि नृप आगे ॥१॥
नेग माँगि मुनिनायक लीन्हा। आसिरबाद बहुत बिधि दीन्हा ॥२॥
उर धरि रामहि सीयसमेता। हरषि कीन्ह गुरु गवन निकेता ॥३॥
बिप्रबधू सब भूप बोलाईं। चैल चारु भूषन पहिराईं ॥४॥
बहुरि बोलाइ सुआसिनि लीन्ही। रुचि बिचारि पहिरावनि दीन्ही ॥५॥
नेगी नेग जोग सब लेहीं। रुचि - अनुरूप भूपमनि देहीं ॥६॥
प्रिय पाहुने पूज्य जे जाने। भूपति भली भाँति सनमाने ॥७॥

देव देखि रघुबीर - बिवाहू । बरषि प्रसून प्रसंसि उछाहू ॥८॥

दोहा—चले निसान बजाइ सुर, निज निज पुर सुख पाइ ।
कहत परसपर रामजस, प्रेम न हृदय समाइ ॥३५३॥

अर्थ—हृदय में अत्यन्त अनुराग के साथ पुत्रों और सम्पत्ति को उनके सम्मुख रखकर राजा ने प्रार्थना की ॥१॥ मुनि-श्रेष्ठ ने अपना नेग माँगकर ले लिया और बहुत प्रकार से राजा को आशीर्वाद दिया ॥२॥ सीताजी के साथ श्रीरामजी को हृदय में धरकर गुरु आनन्दित हो घर को चले ॥३॥ राजा ने सब ब्राह्मणियों को बुलवाया तथा उनको सुन्दर वस्त्र और भूषण पहनवाये ॥४॥ फिर सुहागिनी स्त्रियों (गाँव की ब्याही हुई लड़कियों) को बुलवाया और उनकी रुचि समझकर उनके पहनने योग्य वस्त्र और आभूषण दिये ॥५॥ सब नेगी (नाई, बारी आदि) अपनी इच्छा के अनुसार नेग लेते हैं, राज-शिरोमणि दशरथजी उनकी रुचि के अनुकूल ही देते हैं ॥६॥ जिन प्यारे पाहुनों को पूजा के योग्य समझा, राजा ने उनका भली-भाँति सम्मान किया ॥७॥ देवतागण रघुवीर श्रीरामजी का ब्याह देखकर और उत्सव की प्रशंसा करके फूल बरसाते हैं ॥८॥ देवतागण आपस में रामयश कहते हुए नगाड़ा बजाकर सुख-पूर्वक अपने-अपने लोकों को चले, उनके हृदय में प्रेम समाता नहीं था ॥३५३॥

विशेष—(१) 'रुचि बिचारि'—क्योंकि ये सब श्रीमान्-घरों की हैं, पूछने पर संकोच होगा। अतः, उनके योग्य विचार कर दिया। 'प्रिय पाहुने पूज्य'—कन्या-बहन आदि सुवासिनियों के पति। 'प्रेम न हृदय समाइ'—अश्रु आदि से प्रकट हो आता है।

(२) 'बिनय कीन्हि उर···'—ऊपर जो बिनय की गई, वह पूजा के सम्बन्ध की है, और यह अर्पित वस्तुओं के ग्रहण करने के लिये है। 'नेग माँगि···'—जो इस अवसर पर पुरोहितों को मिलता है, उतना ही माँग लिया, क्योंकि ये 'मुनि नायक' हैं, इनकी कृपा-दृष्टि से दूसरे कुबेर के समान हो सकते हैं इन्हें क्या कमी है ? इन्हें भी राजा के सर्वस्व देने एवं अपने त्याग एवं सन्तोष आदि पर हर्ष नहीं हुआ, किन्तु—'उर धरि रामहि सीय समेता।' पर ही हर्ष हुआ, राजा ने 'सुत-संपदा' सब दिये, पर इन्होंने पुत्र रामजी को ही भाव-मात्र से लिया।

'चले निसान बजाइ'—इसमें इनके तन एवं कर्म की भक्ति है, 'कहत परस्पर राम जस'—इसमें बचन की और 'हरष न हृदय समाइ'—इसमें मन की भक्ति है।

सब बिधि सबहि समदि नरनाहू । रहा हृदय भरि पूरि उछाहू ॥१॥
जहँ रनिवास तहाँ पगुधारे । सहित बधूटिन्ह कुअँर निहारे ॥२॥
लिये गोद करि मोद समेता । को कहि सकइ भयेउ सुख जेता ॥३॥
बधू सप्रेम गोद बैठारी । बार बार हिय हरषि दुलारी ॥४॥
देखि समाज मुदित रनिवासू । सबके उर अनंद कियो बासू ॥५॥
कहेउ भूप जिमि भयेउ बिवाहू । सुनि सुनि हर्ष होत सब काहू ॥६॥
जनकराज - गुन सील बड़ाई । प्रीतिरीति संपदा सुहाई ॥७॥
बहु बिधि भूप भाट जिमि बरनी । रानी सब प्रमुदित सुनि करनी ॥८॥

दोहा—सुतन्ह समेत नहाइ नृप, बोलि बिप्र गुरु ज्ञाति ।
भोजन कीन्ह अनेक बिधि, घरी पंच गइ राति ॥३५४॥

शब्दार्थ—समदि (सम्+अदि)—भलीभाँति वश (राजी) करके, वा समदन (संज्ञा स्त्री०) = भेंट, नजर, (क्रि० अ०) = प्रेम से मिलना, (संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर)।

अर्थ—सब प्रकार से सबको भलीभाँति वश (भेंट एवं प्रेम से राजी) करने पर राजा का हृदय उत्साह से भर रहा था ॥१॥ जहाँ रनिवास था, (राजा) वहाँ गये और बहुओं के साथ कुमारों को देखा ॥२॥ उन्हें आनन्द से गोद में ले लिया, इससे उन्हें जो सुख हुआ, उसको कौन कह सकता है ? ॥३॥ गोद में बैठाये हुए बहुओं को प्रेम-सहित बार-बार आनन्दित हो दुलारा ॥४॥ यह सुख समाज देखकर रनिवास आनन्दित है, सभी के हृदय में आनन्द ने घर ही कर लिया है ॥५॥ जिस प्रकार विवाह हुआ, वह सब समाचार राजा ने कह सुनाया। सुन-सुनकर सबको हर्ष होता था ॥६॥ राजा दशरथ ने भाट की नाईं महाराज जनक के गुण, शील, बड़ाई और सुन्दर प्रीति, रीति एवं सम्पदा का बखान किया। उनकी करनी को सुनकर सारी रानियाँ अति प्रसन्न हुईं ॥७-८॥ पुत्रों के साथ स्नान करके राजा दशरथ ने ब्राह्मण, गुरु और जाति-वर्ग को बुलाकर (सबके साथ) अनेक प्रकार के भोजन किये। इस प्रकार पाँच घड़ी रात बीत गई ॥३५४॥

विशेष—(१) 'जनकराज-गुन सील···'—'सील', यथा—"धोये जनक अवध-पति चरना। सील सनेह जाइ नहिं बरना ॥" (दो० ३२३), 'बड़ाई', यथा—"संबंध राजन रावरे हम बड़े अब सब बिधि भये।" (दो० ३२७), 'प्रीति', यथा—"मिले जनक दसरथ अति प्रीती।" (दो० ३१६), 'रीति', यथा—"बहुरि कीन्हि कोसल पति पूजा।" (३२०), 'संपदा', यथा—"जो अवलोकत लोक पति लोक संपदा थोरि।" (दो० ३३३), इत्यादि।

(२) 'प्रमुदित सुनि···'—प्रथम तो जो बात इन्हें सुनने की लालसा थी, वह सब बिना पूछे ही राजा सुनाने लगे, तब हर्ष हुआ, अब राजा जनक के गुण, शील आदि के सुनने पर अत्यन्त हर्ष हुआ कि हमें ऐसे योग्य समधी मिले और कन्याओं में भी पिता के से शील आदि गुण होंगे, तो हमारे घर की शोभा बढ़ेगी। 'भाट जिमि' भाट की तरह कहने में थकते नहीं। उत्साह-पूर्वक कहते हैं। 'घरी पंच गइ राति' रात के पहले ही पहर में भोजन करना उत्तम है, सवा पहर तक निशि-भोजन है, फिर आसुर भोजन है। ऐसी भीड़ में भी समय का सँभाल है।

मंगलगान करहिं बर भामिनि। भइ सुखमूल मनोहर जामिनि ॥१॥
अँचइ पान सब काहू पाये। सुग-सुगंध-भूषित छबि छाये ॥२॥
रामहिं देखि रजायसु पाई। निज-निज-भवन चले सिर नाई ॥३॥
प्रेम प्रमोद बिनोद बड़ाई। समय समाज मनोहरताई ॥४॥
कहि न सकहिं सत सादर सेसू। बेद बिरंचि महेस गनेसू ॥५॥
सो मैं कहउँ कवन बिधि बरनी। भूमिनाग सिर धरइ कि धरनी ॥६॥
नृप सब भाँति सबहि सनमानी। कहि मृदु बचन बोलाई रानी ॥७॥
बधू लरिकिनी पर घर आईं। राखेहु नयन-पलक की नाईं ॥७॥

दोहा—लरिका श्रमित उनींदबस, सयन करावहु जाइ।
अस कहि गे बिश्रामगृह, रामचरन चित लाइ ॥३५५॥

अर्थ—श्रेष्ठ स्त्रियाँ मंगल गा रही हैं, वह मनोहर रात्रि सुख की मूल (उपजानेवाली) हुई ॥१॥ आचमन करके सभी ने पान पाये, माला और सुगन्ध (इत्र आदि) से भूषित होने से सभी पर शोभा

छाई हुई है ॥२॥ श्रीरामजी को देखकर और महाराजा की आज्ञा पा प्रणाम करके (वे सब) अपने-अपने घरों को चले ॥३॥ वह प्रेम, प्रमोद, क्रीड़ा, बड़ाई, समय, समाज और मनोहरता ॥४॥ सैकड़ों सरस्वती, शेष, वेद, ब्रह्मा, महादेव और गणेशजी भी नहीं कह सकते ॥५॥ उसे मैं किस प्रकार वर्णन करके कहूँ ? क्या केंचुवा (चारा—चाली) पृथ्वी को अपने सिर पर धारण कर सकता है ? ॥६॥ राजा ने सभी का सब तरह सम्मान किया और कोमल वचन कहकर रानियों को बुलाया ॥७॥ "बच्ची बहुएँ दूसरे घर आई हैं, इन्हें नेत्र और पलक के समान रखना ॥८॥ थके हुए लड़के नींद के वश हैं, इन्हें जाकर सुलाओ"—ऐसा कह और श्रीरामजी के चरणों में चित्त लगाकर राजा दशरथ विश्राम-स्थान (शयनागार) में गये ॥३५५॥

विशेष—(१) 'मंगलगान करहिं···'—ससुराल में भोजन के समय गाली गान होता है और अपने घर में मंगल गान होता है। 'भइ सुखमूल मनोहर जामिनि'—रात में दो अवगुण हैं, दोष और दुःख, यथा—"सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नाम जिमि रवि निसि नासा ॥" (दो० २३), तथा—"मिटहिं दोष दुख भव-रजनी के।" (दो० १), यहाँ इसे सुखमूल कहकर दुःख से रहित होना और 'मनोहर' कहकर अन्धकार-रूप दोष से रहित होना जनाया, अर्थात् चाँदनी रात थी। 'चले सिर नाई'—ब्राह्मण आदि भी भोजन में थे, यथा—"बोलि बिप्र गुरु ज्ञाति" उनका राजा को प्रणाम करना अयोग्य है। अतः, यहाँ परस्पर का सिर नबना अर्थ है। 'प्रेम प्रमोद बिनोद ··'—'प्रेम प्रमोद', यथा—"प्रेम प्रमोद कहइ को पारा।" (दो० ३४८)। 'बिनोद', यथा—"मोद-बिनोद बिलोकि बड़" (दो० ३५०), 'बड़ाई', यथा—"भाग्य बिभव अवधेश कर" (दो० ३१३), 'समय', ब्याह मंगल का। 'समाज', यथा—"कोसलपति कर देखि समाजू। अति लघु लाग ··" (दो० ३१२), यहाँ प्रेम आदि सात बातें कही गईं, वैसे इनके वक्ता भी शारद आदि छः कहे गये हैं, एक और श्रीगोस्वामीजी को लेकर सात होते हैं। प्रेम आदि सात ही कहकर सातों समुद्रों की तरह इन्हें अगाध जनाया। 'सो मैं कहउँ···'—वे बहुमुख और ईश्वर कोटि हैं, मैं एक मुख और मनुष्य, फिर वे भी जब सैकड़ों-सैकड़ों असमर्थ हैं, तब एक मैं क्या कह सकता हूँ, इसीको शेष और केंचुए के दृष्टान्त से समझाया।

(२) 'नयन पलक की नाईं'—जैसे पलकें नेत्रों की रक्षा करती हैं, वैसे रक्षा करना, यथा—'पलक बिलोचन गोलक जैसे।" (अ० दो० १४१)। 'लरिका श्रमित···राम चरन चित लाइ।' यहाँ माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों है, यथा—'लरिका' और 'बधू लरिकिनी' माधुर्य दृष्टि से कहा है और 'राम चरन चित लाइ' ऐश्वर्य दृष्टि से हैं, क्योंकि पूर्व मनु-रूप में आपने ऐसा ही वर माँगा था, यथा—"सुत बिषइक तव पद रति होऊ।" (दो० १५०)। इसमें 'सुत' भाव में माधुर्य और 'पदरति होऊ' में ऐश्वर्य है, वही यहाँ भी है। 'अस कहि गे···'—ऐसा न कह जाते तो यहाँ चित्त लगा रहता। अतः, नींद न आती।

भूपबचन-सुनि सहज सुहाये। जटित कनकमनि पलँग डसाये ॥१॥
सुभग-सुरभि-पय-फेन समाना। कोमल कलित सुपेती नाना ॥२॥
उपबरहन बर बरनि न जाहीं। स्रग सुगंध मनिमंदिर माहीं ॥३॥
रतन दीप सुठि चारु चँदोवा। कहत न बनइ जान जेहि जोवा ॥४॥
सेज रुचिर रचि राम उठाये। प्रेमसमेत पलँग पौढ़ाये ॥५॥
आज्ञा पुनि पुनि भाइन्ह दीन्ही। निज-निज सेज सयन तिन्ह कीन्ही ॥६॥
देखि स्याम मृदु मंजुल गाता। कहहिं सप्रेम बचन सब माता ॥७॥
मारग जात भयावनि भारी। केहि बिधि तात ताड़का मारी ॥८॥

दोहा—घोर निसाचर बिकट भट, समर गनहिं नहिं काहु ।
मारे सहित सहाय किमि, खल मारीच सुबाहु ॥३५६॥

अर्थ—राजा दशरथ के स्वाभाविक ही सुन्दर वचन सुनकर, (रानियों ने) मणि-जटित सोने के पलँग बिछवाये ॥१॥ सुन्दर गाय के दूध के फेन के समान कोमल, बढ़िया, सफेद तोशक बिछाया ॥२॥ और बहुत-से श्रेष्ठ तकिये हैं, जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता। उस मणि-मन्दिर में माला, सुगन्ध ॥३॥ सुन्दर रत्न-दीप और चँदोवे हैं, वे कहते नहीं बनते, जिन्होंने देखे हैं, वे ही जानें ॥४॥ सुन्दर शय्या रचकर श्रीरामजी को उठाया और प्रेम पूर्वक पलँग पर सुलाया ॥५॥ श्रीरामजी ने बार-बार भाइयों को आज्ञा दी, तब उन्होंने अपनी-अपनी शय्या पर शयन किया ॥६॥ फिर साँवले, कोमल, सुन्दर शरीर को देख-देखकर सब माताएँ प्रेम-पूर्वक वचन कहने लगीं ॥७॥ हे तात ! तुमने मार्ग में जाते हुए भारी भयंकर ताटका को किस तरह मारा ? ॥८॥ दुष्ट मारीच-सुबाहु और घोर निशाचरों को, जो विकट योद्धा थे और जो किसीको लड़ाई में कुछ नहीं गिनते थे, सहायकों के साथ उनको कैसे मार डाला ? ॥३५६॥

विशेष—(१) 'नाना' शब्द अगली अर्द्धाली के 'उपबरहन' के साथ है। 'मनिमंदिर' कहा है। अतः, 'रत्नदीप' कहा, क्योंकि रत्न में मणि से अधिक ज्योति होती है। 'सेज रुचिर', यथा—"यत्र चित्र-वितानानि पद्मरागासनानि च। पयःफेननिभाः शय्या मुक्तादामपरिच्छदाः ॥" (भाग० ७।४।१०)। 'आज्ञा पुनि-पुनि ···'—भाइयों को शयन के लिये बार-बार आज्ञा देते हैं, तब वे शयन के लिये सेवा छोड़कर गये, यह सेवा-धर्म की रीति जनाई। 'केहि बिधि तात·····'—अर्थात् वे राक्षस, पर्वताकार, भयानक और कठोर थे, तुम मनुष्य, छोटे बालक, सुन्दर और कोमल हो, अतः, कैसे मारा ? 'गनहिं नहिं काहु'—देव, दैत्य, नर, नागादि किसीको नहीं गिनते थे, यथा—"एक-एक जग जोति सक" (दो० १८०)।

मुनिप्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरैं टारी ॥१॥
मख - रखवारी करि दुहुँ भाई। गुरुप्रसाद सब बिद्या पाई ॥२॥
मुनितिय तरी लगत पग धूरी। कीरति रही भुवन भरि पूरी ॥३॥
कमठपीठि पबिकूट कठोरा। नृप समाज महँ सिव धनु तोरा ॥४॥
बिस्व बिजय जस जानकि पाई। आये भवन ब्याहि सब भाई ॥५॥
सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे ॥६॥
आज सुफल जग जनम हमारा। देखि तात बिधुबदन तुम्हारा ॥७॥
जे दिन गये तुम्हहिं बिनु देखे। ते बिरंचि जनि पारहि लेखे ॥८॥

दोहा—राम प्रतोषी मातु सब, कहि बिनीत बर बैन ।
सुमिरि संभु-गुरु-बिप्र-पद, किये नींदबस नैन ॥३५७॥

शब्दार्थ—करवरैं = बाधाएँ। पबिकूट = वज्र समूह, वज्र और पर्वत की चोटी।

अर्थ—हे तात ! मैं तुम्हारी बलि जाऊँ, मुनि के अनुग्रह से ईश्वर ने तुम्हारी अनेकों बाधाएँ टालीं ॥१॥ तुम दोनों भाइयों ने यज्ञ की रक्षा करके गुरु के अनुग्रह से सब विद्याएँ पाईं ॥२॥ गौतम मुनि की स्त्री अहल्या चरण की धूलि लगते ही तर गई, कीर्त्ति भरपूर सब लोकों में फैल गई ॥३॥ कच्छप भगवान की पीठ और वज्र-समूह से भी कठोर शिव-धनुष को तुमने राज-समाज में तोड़ा है ॥४॥

संसार-विजय, यश और जानकीजी को पाया और सब भाइयों को (भी) ब्याहकर घर आ गये ॥५॥ तुम्हारे सभी कर्म अमानुष (मनुष्य की शक्ति से परे, विलक्षण) हैं, केवल विश्वामित्रजी की कृपा ने सब सुधारा है ॥६॥ हे तात ! तुम्हारा चन्द्र-वदन देखकर संसार में आज हमारा जन्म सफल हुआ ॥७॥ जो दिन तुम्हारे दर्शनों के बिना बीत गये, उन्हें ब्रह्मा (मेरी आयु की) गिनती में न कर सकें ॥८॥ श्रीरामजी ने बहुत ही नम्र श्रेष्ठ वचन कहकर सब माताओं को सन्तुष्ट किया और शिवजी, गुरुजी और विप्रों के चरणों का स्मरण करके आँखों को नींद के वश में किया ॥३५७॥

विशेष—(१) 'मुनि प्रसाद बलि ·'—स्वयं उत्तर भी दे लेती हैं कि उक्त बातें मुनि की कृपा से हुईं। 'अनेक करवरें'—निशाचरों से युद्ध एवं परशुराम आक्रमण, आदि। 'सब विद्या'—बला, अतिबला आदि विद्याएँ जो पूर्व कही गईं। यहाँ मुनि-मख-रक्षा करने के पीछे सब विद्याओं की प्राप्ति कही गई है, और चरित में ताटका वध पर ही प्रसन्न हो एवं श्रीरामजी का ऐश्वर्य जानकर उन्हें विद्याएँ दी हैं एवं समर्पित की हैं। पीछे मुनि-मख-रक्षा हुई है। समाधान यह है कि मुनि यज्ञ-रक्षा के लिये श्रीराम-लक्ष्मण को लाये हैं, वह कार्य प्रधान है और ताटका-वध उसीका मुख्य अंग है, उससे मुनि को मख-रक्षण की प्रतीति हो गई, इसी पर तो उन्होंने ब्राह्मणत्व के उपायाङ्ग विद्या और पूर्व क्षत्रियत्व के उपाय रूप अनेक आयुध, सब उनकी निधि में अर्पित कर दिये, यह मुनि की शुद्ध शरणागति है, तब प्रभु ने इनके पूर्ण उपाय होकर इनकी यज्ञ-रक्षा की है। माताएँ मुख्य मख-रक्षण प्रथम कहकर उनके अंगभूत गुण कहती जाती हैं। अथवा, माताएँ यहाँ प्रेम में निमग्न हैं। अतः, जैसे-जैसे गुण स्मरण पथ में आते हैं, कहती जाती हैं। 'लगत पगधूरी'—ब्राह्मणी को चरण छुआने की बात पर रामजी को पछताना होता है, इसलिये छुवाना न कहकर 'लगत' कहा है। 'कमठ पीठ पबिकूट'—से तीनो लोकों की कठोरता सूचित की, क्योंकि 'कमठ पीठ' से पाताल, 'पवि' से स्वर्ग और 'कूट' के पर्वत अर्थ से भूलोक की उपमा कही गई। 'कूट' का पर्वत अर्थ, यथा—"पन-पिनाक पवि मेरु ते गुरुता कठिनाई।" (गी० बा० १०१)। अतः, यहाँ पर्वत से वज्र और उससे कमठ-पीठ अधिक कठोर कहा गया। कमठ-पीठ नहीं तो वज्र के समान, वह भी नहीं तो पर्वत-समान तो था ही। 'बिस्व बिजय जस···'—धनुर्भंग में तीनो लोकों के वीर एकत्र थे, वह किसीसे न टूटा, तब इन्होंने तोड़ा। अतः, विश्व-विजय प्राप्त हुई। 'जस', यथा—"महि पाताल नाक जस व्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥" (दो० २६४) "भंजि सरासन संभु को जग जय 'कल कीरति, तिय तियमनि सिय पाई।" (गी० बा० १०१), तथा—"कन्या, कल कीरति, बिजय बिस्व की बटोरि कैधौं करतार इन्हहीं को नि मई है॥" (गी० बा० ८४), "त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहि बिचार बरै हठि तेही॥" (दो० २४९)।

(२) 'सकल अमानुष करम ·'—यथा—"जेहि ताड़का सुबाहु हति, खंडेउ हर कोदंड। खर-दूषन-त्रिसिरा बधेउ, मनुज कि अस बरिबंड।" (अर० दो० २५)।

(३) 'आज सुफल जग···'—श्रीराम-दर्शनों से ही, जन्म सफल होता है, यथा—"राम चरन बारिज जब देखउँ। तब निज जनम सफल करि लेखउँ॥" (उ० दो० १०९)।

(४) 'जे दिन गये तुम्हहिं···'—इन्हें ब्रह्मा गिनती में न ले सकें, यह प्रार्थना ईश्वर से है जो ब्रह्मा का भी नियन्ता है। प्रारब्ध कर्मानुसार आयु का विधान ब्रह्मा करते हैं, यथा—"कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ-असुभ सकल फल दाता॥" (अ० दो० २८१), अर्थात् मेरे सफल जीवन में इस निष्फल जीवन को न मिलावें। माता की प्रार्थना केवल इन्हीं कुछ महीनों के लिये थी, पर श्रीरामजी ने अपने जन्म के प्रथम की बीती हुई आयु को भी ब्रह्मा के हिसाब से हटा दिया, क्योंकि माताएँ श्रीरामजी के पृथ्वी पर प्रकट रहने की अवधि के समीप तक रहीं, यथा—"दस वर्ष सहस्राणि वाजिमेधानथाकरोत्। ···अथ दीर्घस्य कालस्य राममाता यशस्विनी। पुत्रपौत्रैः परिवृता कालधर्ममुपागमत्॥ अन्वियाय सुमित्रा च कैकेयी च यशस्विनी। धर्मं कृत्वा बहुविधं त्रिदिवे पर्यवस्थिता॥" (वाल्मी० ७।१०० । ९—१६)। 'राम

प्रतोषी···कहि बिनीत ···'—श्रीरामजी ने कहा, माता ! ये सब कार्य गुरुओं की कृपा से, पिताजी के धर्म-बल से और आपलोगों के पातिव्रत्य धर्म की सहायता से हुए, हम तो निमित्त मात्र हैं, आपके सभी मनोरथ सफल ही होंगे। 'सुमिरि संभु गुरु बिप्र पद'—यह जगत् के लिये मर्यादा दिखाई, यथा—"मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः। कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व आत्मनः सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य ॥" (श्रीमद्भागवत ५।१९।५)।

नींदउ बदन सोह सुठि लोना। मनहुँ साँझ सरसीरुह सोना ॥१॥
घर घर करहिं जागरन नारी। देहिं परस्पर मंगल गारी ॥२॥
पुरी बिराजति राजति रजनी। रानी कहहिं बिलोकहु सजनी ॥३॥
सुंदरि बधुन्ह सासु लै सोई। फनिकन्ह जनु सिर मनि उर गोई ॥४॥
प्रात पुनीतकाल प्रभु जागे। अरुनचूड़ बर बोलन लागे ॥५॥
बंदि मागधन्हि गुनगन गाये। पुरजन द्वार जोहारन आये ॥६॥
बंदि बिप्र सुर गुरु पितु माता। पाइ असीस मुदित सब भ्राता ॥७॥
जननिन्ह सादर बदन निहारे। भूपति-संग द्वार पगु धारे ॥८॥

दोहा—कीन्ह सौच सब सहज सुचि, सरित पुनीत नहाइ।
प्रातक्रिया करि तात पहिं, आये चारिउ भाइ ॥३५८॥

शब्दार्थ—जागरन = जागने की क्रिया। सोना (शोण) = लाल, शोणः कोकनदच्छविरित्यमरः, रक्तोत्पलं कोकनदमित्यमरः = अर्थात् लाल कमल।

अर्थ—नींद में भी अत्यन्त सुन्दर मुख सोह रहा है, मानों सन्ध्या के समय का लाल कमल ॥१॥ घर-घर में स्त्रियाँ जागरण कर रही हैं और एक दूसरी को मंगल गालियाँ देती हैं ॥२॥ रानियाँ कहती हैं कि हे सखी ! देखो, (आज) रात शोभायमान है और (उससे) पुरी भी विशेष शोभित है ॥३॥ सासें सुन्दर बहुओं को लेकर सोईं, मानों साँपों ने सिर की मणि को अपने हृदय में छिपा रक्खा हो ॥४॥ प्रातःकाल पवित्र समय (ब्राह्ममुहूर्त्त) में प्रभु जगे, मुरगे बोलने लगे ॥५॥ भाटों और मागधों ने गुण-गण का गान किया, द्वार पर पुरवासी प्रणाम करने आये ॥६॥ ब्राह्मण, गुरु, देवता, पिता और माता को प्रणाम कर असीस पा सब भाई आनन्दित हुए ॥७॥ माताओं ने आदर पूर्वक मुख-कमल के दर्शन किये, तब वे राजा के साथ द्वार पर गये ॥८॥ सब शौचादि क्रिया कर और पवित्र सरयू नदी में स्नान करके स्वाभाविक ही पवित्र चारो भाई पिता के पास आये ॥३५८॥

विशेष—(१) 'नींदउ बदन···मनहुँ साँझ सरसी···' साँझ के समय कमल संकुचित हो जाता ही है, वैसे ही यहाँ लाल कमल (राजीव) के समान नेत्र अधमुँदे से हैं, ललाई की कुछ वैसी ही झलक है, जैसे हरे दलों के भीतर लाल दलों की लालिमा संकुचित लाल कमल में झलकती है। यहाँ बदन के मुख्यांश आँखों पर ही उत्प्रेक्षा है। यहाँ 'सोना' का अर्थ 'सो जाना' नहीं है। 'साँझ' कहने ही से सो जाना (संकुचित होना) आ गया।

(२) 'पुरी बिराजति राजति···'—ऊपर राज-महल की बातें कहकर अब नगर की व्यवस्था कहते हैं। आज जागरण की रीति है। राज-महल में तो दूलह-दुलहिनें श्रमित होकर आये हैं, सो रहे हैं, इसलिये यहाँ उनकी निद्रा-भंग के भय से केवल जागरण हो रहा है। रानियाँ बैठी हुई आपस में पुरी की शोभा कह रही हैं। पर नगर-भर में सजावट है, मंगल-गान हो रहे हैं, घर-घर में सर्वत्र चहल-पहल है, (सम्राटा

नहीं है)। चाँदनी रात है। रानियाँ कहती हैं—हे सजनी! देखो तो आज की रात्रि कैसी सुहावनी है जिससे सारी पुरी विशेष शोभायमान है।

(३) 'सुंदरी बधुन्ह सासु लै '—सुलाने के लिये सासें भी साथ में बहुओं को हृदय में लगाकर एवं पास में सुला कर सोईं, जैसे सर्प सोते समय प्राण के समान मणि की रक्षा करता है, वैसे ही सासों का इनकी रक्षा पर ध्यान है, क्योंकि राजा ने भी कहा है—'राखेउ नयन पलक की नाईं।'

(४) 'बंदि मागधन्हि ···'—प्रथम प्रभु जगे, तब मुरगे बोलने लगे, वह शब्द सुनकर समयानुसार बन्दी, मागध आदि आकर गुण-गान करने लगे।

(५) 'बंदि बिप्र सुर गुरु ···'—ब्राह्मणलोग दर्शन देने के लिये द्वार पर आते हैं। अतः, प्रथम ब्राह्मणों की, फिर गुरु की तब पिता-माता की वन्दना की। वात्सल्य-रस की दृष्टि बच्चों के मुख पर ही रहती है, यथा—"निरखि बदन कहि भूप रजाई।" (अ० दो० ३८)। अतः, यहाँ भी—'बदन निहारे' कहा है।

भूप बिलोकि लिये उर लाई। बैठे हरषि रजायसु पाई ॥१॥
देखि राम सब सभा जुड़ानी। लोचन-लाभ-अवधि अनुमानी ॥२॥
पुनि बसिष्ठ मुनि कौसिक आये। सुभग आसनन्हि मुनि बैठाये ॥३॥
सुतन्ह समेत पूजि पद लागे। निरखि राम दोउ गुरु अनुरागे ॥४॥
कहहिं बसिष्ठ धरम इतिहासा। सुनहिं महीस सहित रनिवासा ॥५॥
मुनिमन-अगम गाधि-सुत-करनी। मुदित बसिष्ठ बिपुल बिधि बरनी ॥६॥
बोले बामदेव सब साँची। कीरति कलित लोक तिहुँ माँची ॥७॥
सुनि आनंद भयेउ सब काहू। राम-लषन-उर अधिक उछाहू ॥८॥

दोहा—मंगल मोद उछाह नित, जाहिं दिवस येहि भाँति।
उमगी अवध अनंद भरि, अधिक अधिक अधिकाति ॥३५६॥

अर्थ—राजा दशरथ ने उन्हें देखते ही छाती से लगा लिया, आज्ञा पाकर वे हर्ष के साथ बैठे ॥१॥ श्रीरामजी को देख इनके दर्शनों को नेत्रों के लाभ की सीमा समझकर सम्पूर्ण सभा शीतल हुई, अर्थात् सभीके तप्त हृदय शीतल हुए ॥२॥ फिर बसिष्ठ और विश्वामित्र मुनि आये, राजा ने उन मुनियों को सुन्दर आसनों पर बैठाया ॥३॥ और पुत्रों के साथ उनकी पूजा करके चरणों में लगे, अर्थात् प्रणाम किया। श्रीरामजी को देखकर दोनों गुरु अनुरक्त हो गये ॥४॥ बसिष्ठजी धर्म के इतिहास कहते हैं और रनिवास के साथ राजा सुनते हैं ॥५॥ बसिष्ठजी ने आनन्द के साथ गाधि राजा के पुत्र विश्वामित्रजी की करनी बहुत तरह से कही जो मुनियों के मन को भी अगम है ॥६॥ बामदेवजी ने कहा कि यह सब सत्य है, इनकी सुन्दर कीर्त्ति तीनों लोकों में फैली हुई है ॥७॥ सुनकर सब किसीको आनन्द हुआ, श्रीराम-लक्ष्मण के हृदय में विशेष उत्साह हुआ ॥८॥ मंगल, मोद एवं उत्सव नित्य ही होते हैं, इसी तरह दिन व्यतीत होते हैं। अयोध्यापुरी आनन्द से भरकर उमड़ पड़ी, उत्तरोत्तर अधिकाधिक होती जाती है ॥३५६॥

विशेष—(१) 'पुनि बसिष्ठ मुनि ···'—पुनि श्रोता समाज एकत्र होने पर। 'धरम इतिहासा'—क्योंकि राजाओं को विशेष कर धर्म का ही प्रयोजन रहता है, प्रजा-पालन धर्म से ही होता है। धर्म, जैसे वर्णाश्रम और पातिव्रत आदि। 'सहित रनिवासा'—क्योंकि धर्माचरण में रानियाँ भी साथ रहती हैं।

(२) 'मुनि मन अगम गाधिसुत ···'—जो करनी करने की कौन कहे और मुनियों के हृदय में उन

बातों के लिये मनोरथ भी नहीं हो सकता। 'करनी'—विश्वामित्र के अलौकिक कार्य। शतानन्दजी ने राजा जनक से इस 'करनी' का वर्णन किया है—

श्रीविश्वामित्र की करणी

श्री विश्वामित्रजी की जन्म-कथा दो० २०५ चौ० २ में लिखी गई है। यहाँ इनके पुरुषार्थ प्रसंग भी लिखे जाते हैं कि जो ये क्षत्रिय से ब्रह्मर्षि हुए, चाण्डाल रूप में त्रिशंकु को स्वर्ग पहुँचाया और उनके लिये दूसरा स्वर्ग भी निर्माण करने लगे थे, इत्यादि।

"महा तेजस्वी विश्वामित्रजी ने प्रथम राजा रूप में सहस्रों वर्षों तक राज्य किया। एक समय ये एक अक्षौहिणी सेना ले घूमने निकले, घूमते हुए श्री वसिष्ठजी के आश्रम पर पहुँचे। वह बड़ा ही रमणीय था। ब्रह्मर्षियों और देवर्षियों से सुशोभित था। नाना वृत्तियों के महात्माओं से परिपूर्ण था। वह आश्रम मानों दूसरा ब्रह्मलोक ही था।

श्रीविश्वामित्रजी ने वसिष्ठजी को विनीत भाव से प्रणाम किया। श्रीवसिष्ठजी ने समुचित बर्ताव किया। उन्हें आसन दे बैठाया। कुशल प्रश्न होने के पश्चात् श्रीवसिष्ठजी ने विश्वामित्रजी के दल-बल-सहित आतिथ्य का अनुरोध किया। बहुत कहने पर विश्वामित्र ने स्वीकार किया। वसिष्ठजी ने कामधेनु के द्वारा सबकी रुचि के अनुसार भोजनादि सेवा सत्कार की व्यवस्था की। विश्वामित्रजी समाज के साथ बहुत प्रसन्न हुए।

फिर विश्वामित्रजी ने उस कामधेनु के बदले में लाखों अलंकृत गौएँ देने का लोभ देकर एवं फिर, और भी बहुत सी गौएँ देने का प्रलोभन कहकर उसे माँगा। वसिष्ठजी ने किसी प्रकार भी उसे देना स्वीकार नहीं किया। अन्त में राजा बलात् कामधेनु को ले चले। वह नौकरों से छूटकर रोती हुई वसिष्ठजी से बोली कि मुझे आपने क्यों त्याग दिया? मुनि ने कहा, यह राजा बलवान् है। अतः, बलात् ले जा रहा है।

तब कामधेनु ने कहा, इसका सामना करने के लिये मुझे आज्ञा दीजिये। मुनि की आज्ञा पा कामधेनु ने वैसी सेना पैदा की। वह म्लेच्छ सेना विश्वामित्र के सामने ही उनकी सेना का नाश करने लगी। विश्वामित्र ने भी मारना प्रारम्भ किया, कई बार कामधेनु ने भिन्न-भिन्न सेनाएँ पैदा कीं। विश्वामित्र की सेना नष्ट हो गई। अन्त में विश्वामित्र के सौ पुत्रों ने वसिष्ठजी पर आक्रमण किया। वसिष्ठजी के एक ही हुंकार से वे दल के साथ सब भस्म हो गये।

विश्वामित्रजी बड़े लज्जित हो चिन्तित हुए। फिर उन्होंने अपने एक पुत्र को राज्य दे स्वयं वन को चल दिये। हिमालय पर जाकर वहाँ उन्होंने शिवजी को तपस्या कर प्रसन्न किया। शिवजी वर देने को प्रस्तुत हुए। विश्वामित्रजी ने अङ्ग-उपाङ्ग के साथ धनुर्वेद और दानवों, महर्षियों एवं गन्धर्वों आदि के प्रसिद्ध अस्त्र माँगे। शिवजी ने दिये।

विश्वामित्र ने उत्साहपूर्वक फिर वसिष्ठजी का सामना किया। उनका आश्रम सूना हो गया, अस्त्र वर्षा से सब भाग गये। वसिष्ठजी ने सान्त्वना दी और विश्वामित्र को ललकार कर उन्होंने अपना ब्रह्मदण्ड उठाया, और कहा—क्षत्रियाधम! शिवजी से प्राप्त अस्त्र दिखा। विश्वामित्र के सभी अस्त्रों को वसिष्ठजी ने एक ब्रह्मदण्ड से ही भस्म कर दिया। ब्रह्मास्त्र तक को शान्त कर दिया। फिर तपस्वियों की प्रार्थना से वसिष्ठजी ने क्रोध शान्त किया। तिरस्कृत विश्वामित्र ने ग्लानि से कहा—"धिग्बलं क्षत्रिय बलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्। एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे॥" अतः, अब मैं ब्राह्मण होने के लिये ही तप करूँगा।

उन्होंने रानी के साथ दक्षिण दिशा में जा कठिन तप करना प्रारम्भ किया। एक सहस्र वर्ष पश्चात् ब्रह्माजी ने आकर इन्हें 'राजर्षि' कहा। विश्वामित्रजी इसपर लज्जित हुए, इसे तपस्या का फल नहीं माना। वे फिर कठिन तप करने लगे। उसी समय इक्ष्वाकुवंशी त्रिशंकु, राजा हुए। उनकी सशरीर स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा हुई। गुरु वसिष्ठजी से उन्होंने कहा। गुरुजी ने कहा कि यह असम्भव है। तब राजा दक्षिण दिशा

में तप करते हुए वसिष्ठजी के पुत्रों से वही बात कही, गुरुपुत्रों ने कहा कि जिसे ब्रह्मर्षि वसिष्ठजी ने असम्भव कहा है, उसे हमलोग क्या, कोई भी कैसे करा सकता है ? तब त्रिशंकु ने कहा कि तब मैं अब दूसरे की शरण जाता हूँ। तब क्रुद्ध हो गुरुपुत्रों ने शाप दिया कि 'चाण्डाल हो जाओ'। राजा तुरत चाण्डाल हो गये। चाण्डाल रूप से त्रिशंकु विश्वामित्रजी की शरण गये। उन्होंने आश्वासन दिया। विश्वामित्रजी ने यज्ञ प्रारम्भ किया। 'जहाँ क्षत्रिय यज्ञ करानेवाला और यजमान चाण्डाल है, वहाँ हम नहीं जायँगे' ऐसा कहते हुए वसिष्ठपुत्रों को विश्वामित्र ने घोर शाप दे निषाद आदि योनियों का भोग दिया।

जब उस यज्ञ में देव भी नहीं आये, तब मुनि ने अपने तपोबल से त्रिशंकु को स्वर्ग भेजा, वहाँ से देवों ने गिरा दिया, तब मुनि ने वहीं रोककर दूसरा स्वर्ग बनाना प्रारम्भ किया। कुछ रचना के बाद देवों के कहने पर शान्त हुए। त्रिशंकु इनके रचे स्वर्ग में रहने लगे।

फिर विश्वामित्र ने वहाँ पर विन्न विचार पश्चिम दिशा में जाकर तप करना प्रारम्भ किया। वहाँ का भी बहुत तप इनके भगिने शुनःशेफ की रक्षा में समाप्त हो गया।

सहस्र वर्ष पूर्त्ति पर ब्रह्माजी ने आकर इन्हें 'ऋषि' पद दिया। विश्वामित्रजी फिर तप करने लगे। वहाँ मेनका अप्सरा पर आसक्त हो गये। दश वर्ष बीत गये, पर इन्हें एक रात ही जान पड़ी। पीछे मुनि पछताने लगे कि इसमें भी मेरी बहुत तपस्या नष्ट हुई। फिर वे उत्तर दिशा में हिमालय पर जाकर तप करने लगे। एक सहस्र वर्ष बीतने पर ब्रह्माजी ने इन्हें 'महर्षि' पद दिया।

फिर ब्रह्मर्षि पद के लिये जितेन्द्रिय होने की आवश्यकता समझ भारी तप करने लगे। इन्द्र ने डरकर रम्भा अप्सरा को भेजा। मुनि ने क्रुद्ध हो उसे सहस्र वर्ष तक शिला होकर रहने का शाप दिया। मुनि क्रोध होने पर पछताए और फिर महान् तप करने लगे। उत्तर दिशा त्यागकर पूर्व दिशा में तप करने लगे, फिर एक सहस्र वर्ष हो गये। बहुत विघ्न आये, पर मुनि सावधान रहे। सहस्र वर्ष पर जब मुनि भोजन करने बैठे तब इन्द्र ब्राह्मण बनकर आ गये। मुनि ने वह भोजन दे दिया, स्वयं वैसे रह गये। फिर एक सहस्र वर्ष श्वास रोककर तप किया। इसपर सभी घबराये। तब ब्रह्माजी ने आकर 'ब्रह्मर्षि' पद दिया, फिर देवों ने वसिष्ठजी से कहा, उन्होंने इन्हें ब्रह्मर्षि कहा और दोनों में मेल हो गया।" (वाल्मी० बा० ५१-६५)।

'मुदित वसिष्ठ···'—यद्यपि पहले विश्वामित्रजी ने वसिष्ठजी के पुत्रों को घोर शाप दिया था तथापि अब वह वैर नहीं है। प्रसन्न मन से बहुत प्रकार से प्रशंसात्मक रूप में वर्णन किया है।

(३) 'बोले बामदेव सब साँची···'—बहुत महत्त्व कथन से प्रशंसा मात्र एवं झूठा मानने की सम्भावना थी, इसलिये वामदेव ने 'साँची' कहकर सारी कथा का समर्थन किया और फिर उसे तीनों लोकों की प्रसिद्धि से पुष्ट किया।

(४) 'राम-लखन-उर अधिक उछाहू।'—क्योंकि इनके गुरु हैं। पुनः यह भी सुना था कि पूर्वावस्था में वसिष्ठजी और विश्वामित्रजी में विरोध था, तब सन्देह था कि दोनों की सेवा एकत्र में कैसे बनेगी ? एक की सेवा से दूसरे के हृदय में भेद होगा। आज वसिष्ठजी ने अपने मुख से उनकी प्रशंसा की, तब वह सन्देह भी दूर हो गया।

(५) 'मंगल मोद उछाह नित···' जैसे माँडव सेराना, कुलदेव-पूजन आदि के उत्सव होते हैं।

सुदिन सोधि कल कंकन छोरे। मंगल मोद बिनोद न थोरे ॥१॥
नित नव सुख सुर देखि सिहाहीं। अवध जनम जाचहिं बिधि पाहीं ॥२॥
बिस्वामित्र चलन नित चहहीं। राम-सप्रेम-बिनय - बस रहहीं ॥३॥
दिन दिन सयगुन भूपति-भाऊ। देखि सराह महा-मुनि - राऊ ॥४॥
माँगत बिदा राउ अनुरागे। सुतन्ह समेत ठाढ़ भे आगे ॥५॥

नाथ सकल संपदा तुम्हारी। मैं सेवक समेत सुत नारी ॥६॥
करब सदा लरिकन्ह पर छोहू। दरसन देत रहब मुनि मोहू। ७॥
असकहि राउ सहित सुत रानी। परेउ चरन मुख आव न बानी ॥८॥
दीन्हि असीस बिप्र बहु भाँती। चले न प्रीति-रीति कहि जाती ॥९॥
राम सप्रेम संग सब भाई। आयसु पाई फिरे पहुँचाई ॥१०॥

दोहा—रामरूप भूपतिभगति, ब्याह उछाह अनंद।
जात सराहत मनहिं मन, मुदित गाधि-कुल-चंद ॥३६०॥

अर्थ - अच्छा दिन (मुहूर्त्त) शोधकर सुन्दर कंकन खोले गये। उस दिन मंगल, आनन्द और विनोद थोड़े नहीं हुए ॥१॥ नित्य नये सुख देखकर देवता ललचाते हैं और ब्रह्माजी से श्रीअवध में जन्म होना माँगते हैं ॥२॥ श्रीविश्वामित्रजी नित्य प्रति चलना (विदा होना) चाहते हैं, पर श्रीरामजी की प्रेम सहित प्रार्थना के वश होकर रह जाते हैं ॥३॥ दिन-पर-दिन राजा का सौगुना प्रेम देखकर महामुनिराज सराहना करते हैं ॥४॥ विदा माँगते समय राजा दशरथ अनुराग से पूर्ण होकर पुत्रों के साथ आगे खड़े हो गये ॥५॥ (और बोले कि) हे नाथ ! यह सारी सम्पदा आपकी है, मैं स्त्री-पुत्रों के साथ आपका सेवक हूँ ॥६॥ लड़कों पर सदा दया करते रहियेगा और हे मुनि ! मुझे भी (कभी-कभी) दर्शन देते रहियेगा ॥७॥ ऐसा कहकर राजा पुत्रों और रानियों के साथ चरणों पर पड़ गये, उनके मुख से वचन नहीं निकलते ॥८॥ विप्र विश्वामित्रजी ने बहुत प्रकार से असीस दी और चले, उस समय की प्रीति की रीति कही नहीं जाती ॥९॥ सब भाइयों के साथ श्रीरामजी प्रेम पूर्वक पहुँचाकर और मुनि की आज्ञा पाकर लौटे ॥१०॥ श्रीरामजी के रूप, राजा की भक्ति, विवाह और उत्सव आनन्द को गाधि कुल के चन्द्र-रूप विश्वामित्रजी आनन्दित होकर मन-ही-मन सराहते हुए चले जा रहे हैं ॥३६०॥

विशेष - (१) 'सुदिन सोधि कल '—'कंकन'— 'एक धागा, जिसमें सरसों आदि की पुटली पीले कपड़े से बाँधकर लोहे के एक छल्ले के साथ विवाह के समय से पहले दूलह और दुलहिन के हाथ में रक्षार्थ बाँधते हैं। विवाह में देशाचार के अनुसार चोकर, सरसों, अजवायन आदि की नौ पोटलियाँ पीले कपड़े में लाल-पीले नागे से बाँधते हैं। एक तो लोहे के छल्ले के साथ दूलह और दुलहिन के हाथ में बाँध दी जाती है, शेष आठ मूसल, चक्की, ओखली, पीढ़े, हरिस, लोढ़े, कलश आदि में बाँधी जाती हैं।" (हि० श० सा०)। कंकन खोलना भारी उत्सव है, इसका मुहूर्त्त कई दिनों के शोधने पर मिला। 'बिनोद'—स्त्रियाँ गाती हुई पुरुषों पर जल छिड़कती हैं।

(२) 'बिस्वामित्र चलन नित ···'—**शंका**—श्रीराम-दर्शन और अवध का सुख छोड़कर मुनि वन को क्यों जाते हैं ?

समाधान—(क) व्यवहार की रीति से, जैसे सभी आये हुए लोग विदा हुए वैसे ये भी जाना चाहते हैं। (ख) जिस भजन से श्रीरामजी शिष्य होकर मिले, उसके आदर के लिये वन को जाते हैं, क्योंकि भजन वन में उत्तम होता है।

(३) 'राउ अनुरागे'—यह मन की भक्ति है, 'नाथ सकल संपदा ···'—यह वचन की और 'परेउ चरन ···'—यह कर्म की भक्ति है।

(४) 'लरिकन पर छोहू'—लड़के मुनि के शिष्य हैं। अतः, उनपर वात्सल्य से विशेष छोह रक्खेंगे और उस नाते से आकर दर्शन भी देंगे। अतः, अपनेको गौण में कहा। 'असीस बहुभाँती', क्योंकि प्रणाम करनेवाले राजा भी स्त्री-पुत्र आदि के साथ बहुत भाँति के हैं।

(५) 'रामरूप भूपतिभगति···'—'रामरूप'—"रूप सिंधु सब बंधु" (दो० ३३५)। 'भूपति-भगति'—"दिन-दिन सय गुन भूपति भाऊ।" 'ब्याह-उछाह'—"प्रभु बिवाह जस भयेउ उछाह। सकहि न बरनि गिरा अहिनाहू॥" आगे कहा है। 'अनंद'—"बसे अनंद अवध सब तबते।" आगे कहा है। 'गाधि-कुल-चंद'—मुनि स्वयं भी राजा के पुत्र थे, वहाँ भी सन्त-सेवा एवं विवाह आदि उत्सव देखे थे, पर यहाँ तो उन्हें सब आश्चर्य ही देख पड़े।

वामदेव रघुकुल - गुरु ज्ञानी। बहुरि गाधिसुत कथा बखानी॥१॥
सुनि मुनि सुजस मनहि मन राऊ। बरनत आपन पुन्यप्रभाऊ॥२॥
बहुरे लोग रजायसु भयेऊ। सुतन्ह समेत नृपति गृह गयेऊ॥३॥
जहँ तहँ रामब्याह सब गावा। सुजस पुनीत लोक तिहुँ छावा॥४॥
आये ब्याहि राम घर जबते। बसे अनंद अवध सब तबते॥५॥

अर्थ—वामदेवजी और रघुकुल के गुरु ज्ञानी वसिष्ठजी ने फिर भी श्रीविश्वामित्रजी की कथा बखान कर (उत्साह पूर्वक) कही॥१॥ मुनि का सुन्दर यश सुनकर मन-ही-मन राजा अपने पुण्यों के प्रभाव का बखान करते हैं॥२॥ राजा की आज्ञा हुई, और सभा के लोग अपने-अपने घरों को बहुरे अर्थात् लौटकर गये, पुत्रों के साथ राजा घर गये॥३॥ जहाँ-तहाँ सभी लोग श्रीरामजी का ब्याह गा रहे हैं, तीनो लोकों में पवित्र यश छा गया है॥४॥ जबसे श्रीरामजी विवाह करके घर आये, तबसे सब आनन्द श्रीअयोध्याजी में आ बसे॥५॥

विशेष—(१) 'बहुरि गाधि-सुत कथा ·'—पहले मुनि की कथा मुनि के सामने कही गई थी, उससे यह भी समझा जाता कि उनकी प्रसन्नता के लिये कही होगी, इसलिये उनके परोक्ष में भी आनन्द के कारण फिर से उसका विस्तार किया, प्रथम कुछ संक्षेप में कहा था।

(२) 'बसे अनंद अवध सब तबते'—जबसे विश्वामित्रजी श्रीराम-लक्ष्मण को साथ ले गये थे, तबसे श्रीअवध के सब प्रकार के आनन्द उजड़ गये थे, वे फिर आ बसे। अथवा, इनके वियोग से लोग सब दुःखित थे, वे आनन्द से बसे। अथवा, आनन्द के मूल श्रीसीतारामजी हैं, दोनों के वहाँ पर आ जाने से सब तरह के आनन्द यहीं पर आ बसे।

प्रभुबिवाह जस भयेउ उछाहू। सकहिं न बरनि गिरा अहिनाहू॥६॥
कबि-कुल-जीवन - पावन जानी। राम - सीय - जस मंगलखानी॥७॥
तेहि ते मैं कछु कहा बखानी। करन पुनीत हेतु निज बानी॥८॥

छन्द—निज गिरा-पावनि-करन-कारन रामजस तुलसी कह्यो।
रघुबीर-चरित अपार बारिधि पार कबि कवने लह्यो॥
उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं।
बैदेहि-राम-प्रसाद ते जन सर्बदा सुख पावहीं॥

सोरठा—सिय - रघुबीर - बिवाह, जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।
तिन्ह कहँ सदा उछाह, मंगलायतन रामजस॥३६१॥

इति श्रीमद्रामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने सुख सम्पादनो नाम
॥ प्रथमः सोपानः समाप्तः ॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी के व्याह में जैसा उत्साह हुआ, उसे शारदा और शेष भी नहीं कह सकते ॥६॥ श्रीसीतारामजी के यश को कवि-समूह का जीवन, पावन करनेवाला और मंगलों की खान जानकर अपनी वाणी पवित्र करने के लिये मैंने कुछ थोड़ा सा बखान कर कहा है। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि मैंने अपनी वाणी पावन करने के लिये (ही) राम-यश कहा। (नहीं तो) श्रीरघुवीर-चरित अपार समुद्र की तरह अपार है, किस कवि ने उसका पार पाया है ? जो लोग यज्ञोपवीत, व्याह, उत्साह और मंगल को सुनकर आदर सहित गावेंगे, वे लोग श्रीसीतारामजी की प्रसन्नता से सदा सुख पावेंगे ॥ श्रीसिय-रघुवीर के विवाह को जो प्रेम के साथ गाते और सुनते हैं, उनको सदा उत्साह होता है, (क्योंकि) श्रीराम-यश मंगल का स्थान ही है ॥३५१॥ समस्त कलियुग के पापों को विध्वंस करनेवाले श्रीमद्रामचरित-मानस में 'सुख-सम्पादन' नाम का पहला सोपान समाप्त हुआ ॥१॥

विशेष—(१) 'अपार बारिधि पार···'—श्रीराम-चरित अपार समुद्र है, इसका पार किसीने नहीं पाया, तो मैं कैसे पाऊँगा। मैंने तो अपनी वाणी की पवित्रता के लिये कहा है, कुछ पार पाने के लिये नहीं। इसी तरह सातो सोपान मानो सातो समुद्र हैं।

(२) 'उपवीत व्याह-उछाह मंगल···'—अब इस काण्ड की फलश्रुति कहते है। 'व्याह-उछाह' तो बहुत विस्तार में कहा गया है, पर यज्ञोपवीत की एक ही अर्द्धाली है—"भये कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु-माता ॥" (दो० २०३), तो इसे क्या गावें ? इसका उत्तर यह है कि विवाह के जो मातृका पूजा एवं होम आदि कृत्य होते हैं, वे ही सब यज्ञोपवीत में भी होते हैं। भेद यही है कि विवाह में भाँवरी और इसमें जनेऊ। 'उछाह', यथा—"प्रभुबिवाह जस भयेउ उछाहू ॥" (उपर्युक्त), मंगल'—"प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविसर्जनम्। एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥" (बृहस्पतिः)।

(३) 'बैदेहि-राम-प्रसाद···'—सुख सुकृत से मिलता है और वह परिमित है, पर यह यश-गानरूप सुकृत नित्य है। अतः, इसका फल रूप-सुख 'सर्वदा सुख' पाना कहा है। प्रसाद के विषय में पिता की अपेक्षा माता प्रधान है। अतः, बैदेहीजी को प्रथम कहा गया है, यथा—"कबहुँक अंब अवसर पाइ। मेरियो सुधि द्याइबी···" (वि० ४१)।

(४) "सिय-रघुबीर-बिवाह·· सदा उछाह···"—व्याह से उछाह की वृद्धि होती है, यथा—"प्रभु-बिवाह जस भयेउ उछाहू ॥" इसीसे वक्ता-श्रोता को उछाह (उत्साह) सदा होता है। पुनः, उत्साह से सुख होता है, इसीसे आगे 'सुख-संपादन' सोपान का महत्त्व कहते हैं।

'इति श्रीरामचरितमानसे···'—ग्रन्थकार अपने कृत इस ग्रन्थ के एक भाग रूप प्रथम सोपान की इति लगाते हैं, चरित की नहीं, उसे तो ऊपर 'अपार बारिधि' कह आये हैं। 'कलि-कलुष विध्वंसने', यथा—"मनक्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मनलाई ॥" (उ० दो० १२५), इस सोपान में कहे हुए उपवीत-विवाह आदि कर्म एवं सुकृत हैं, इनका फल सुख है, ऊपर 'सर्वदा सुख पावहीं' कहा भी है। अतः, इस सोपान का नाम 'सुख-संपादन' कहा गया है।

यहाँ तक पार्वतीजी के चार प्रश्नों के उत्तर आ गये। इस सोपान का प्रारम्भ भाषा में सोरठा छन्द से हुआ था, उसीसे यहाँ समाप्त भी हुआ है।